॥ श्रीः ॥

साहित्य-वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ

प्रधान-संपादक

वासुदेवशरण अग्रवाल

संपादक-मंडल

गुलाबराय

गोरीशंकर 'सत्येंद्र'

गोपालप्रसाद व्यास

एवं

जवाहरलाल चतुर्वेदी

आयोजक

अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल

मथुरा

प्रकाशक

प्रधान-मंत्री—अखिल-भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल

मथुरा

अक्षय-तृतीया

संवत् २०१०

मुद्रक

के० सी० बोस

बिनानी प्रिंटर्स लि०,

कलकत्ता

ब्रज-साहित्य-मंडल, मथुरा : परिचय

प्राचीन ब्रजभाषा-साहित्य को प्रकाश में लाने, उसका अनुसंधान करने तथा ब्रज की संस्कृति और लोकजीवन की गवेषणा के निमित्त ब्रजमंडल के केंद्र-स्थल मथुरा में हिंदी-साहित्य-परिषद्-द्वारा आयोजित एक संमेलन में कार्तिक कृष्णा ५ संबत् १९९७ रविवार तारीख २ अक्टूबर सन् १९४० को ब्रज-साहित्य-मंडल स्थापित किया गया। इसके मुख्य उद्देश्य थे ब्रज-साहित्य की रक्षा, उसका प्रचार, लोक-संस्कृति में सौष्ठव की प्राण-प्रतिष्ठा तथा हिंदी-साहित्य की उन्नति व उसके प्रचार का प्रयत्न।

इसी अवसर पर ब्रज-साहित्य की खोज-पत्रिका 'ब्रजभारती' का प्रकाशन करने का भी निश्चय किया गया, जिसका प्रथम अंक फाल्गुण १९९७ में प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका-द्वारा ब्रजभाषा-साहित्य के अनेक प्राचीन कवियों के संबंध में नवीन शोध-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई तथा ब्रज-क्षेत्र की संस्कृति, उसके उत्सव व त्यौहार, ब्रज के महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र, ब्रज के ग्राम-गीत, ग्राम-कहानियाँ व पारिभाषिक शब्द और ब्रज की विविध कलाएँ, ब्रजभाषा-व्याकरण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर निबंध प्रकाशित किये जाते रहे। इस प्रकार करीब १० वर्ष से ब्रजभारती निरंतर प्रकाशित हो रही है। पहले यह मासिक थी, किंतु अब त्रैमासिक कर दी गई है।

मंडल ने चैत्र शुक्ला १-२ संबत् २००१ तदनुसार २५-२६ मार्च सन् १९४४ को विक्रम-सहस्राब्दी महोत्सव मनाया और एक विक्रम-ग्रंथ प्रकाशित किया। डा० सीताराम इसके अध्यक्ष थे।

ब्रज-साहित्य-मंडल का द्वितीय वार्षिक अधिवेशन ३० मार्च सन् १९४५ को श्री पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी की अध्यक्षता में दिल्ली में हुआ, जिसका उद्घाटन माननीय श्री श्रीप्रकाश जी के करकमलों-द्वारा हुआ। इस संमेलन के साथ महाकवि 'निराला' जी की अध्यक्षता में एक भव्य कवि-संमेलन भी हुआ जिसका उद्घाटन स्वर्गीय भूलाभाई देसाई ने किया था। इसी अवसर पर मंडल ने 'अष्ट-छाप'-प्रदर्शन का आयोजन किया जिसमें ब्रजभाषा के अष्ट-छाप के कवियों के काव्य का ही नहीं, तत्कालीन वेष, भूषा तथा कला का प्रदर्शन भी किया गया।

दिल्ली-संमेलन के बाद संस्था को अखिल भारतीय रूप में संगठित किया गया। इसी काल से ब्रज-साहित्य के अनुसंधान के कार्य को बढ़ाने के लिये मंडल ने अपने केंद्र दिल्ली, गोवर्धन, कोसी, सुरीर, बरसाना, वृंदावन में स्थापित किए, जिनकी संख्या अब लगभग ६० है। इन केंद्रों से बहुत से प्राचीन ग्रंथों का पता लगा तथा खोज-कार्य में प्रगति हुई।

ग्राम-साहित्य के संकलन का कार्य भी व्यवस्थित रूप से इसी समय प्रारंभ कर दिया गया! ब्रज-भाषा-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना पर 'श्री निवासदास-पुरस्कार' देने की घोषणा भी दिल्ली में की गई। मंडल के शोध-केंद्रों को प्रोत्साहन देने के लिये 'भारतेंदु-कलश' की स्थापना की गई जो प्रति वर्ष अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कार्य करनेवाले केंद्र को प्रदान किया जाता है।

वैशाख कृष्णा ३-४ संबत् २००२ ता० १९-२० अप्रैल सन् १९४६ को मंडल का तृतीय अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी की अध्यक्षता में शिकोहाबाद में मनाया गया। इस अधिवेशन का उद्घाटन साहित्य मनीषी श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने किया। उसके साथ ही ब्रजभाषा-साहित्य पर गंभीर विचार के लिये एक ब्रजभाषा-परिषद् भी हुई।

इस वर्ष मंडल के लिये भवन-निर्माण के कार्य पर विशेष ध्यान दिया गया और बहुत विचार-विनिमय के उपरांत मथुरा की सीमा पर वृंदावन की ओर स्थित 'अंबरीष-टीला' नामक प्रसिद्ध पौराणिक स्थान मंडल के भवन के लिये चुन लिया गया। इस भूमि के क्रय का व्यय पोद्दार हीरक-जयंती के अवसर पर पोद्दार-परिवार के कुछ उत्साही युवकों ने उठाने का निश्चय किया और भूमि खरीद ली गई।

माघ शुक्ला ४-५ संबत् २००२ तदनुसार २६-२७ जनवरी ४७ को काव्य-शास्त्र के देशमान्य आचार्य साहित्य-वाचस्पति सेठ श्री कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'हीरक-जयंती-उत्सव' मंडल-द्वारा श्री कृष्ण

दत्त जी पालीवाल के सभापतित्व में मनाया था। श्रद्धेय राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने इस महोत्सव का उद्‌घाटन किया। दूसरे दिन वसंतोत्सव मनाया गया जिसके अध्यक्ष श्री वियोगीहरि जी थे। इस जयंती-महोत्सव के समय पोद्दार जी को एक ग्रंथ भेंट करने की भावना जयंती के स्वागत मंत्री श्री रामकृष्ण जी अग्रवाल के हृदय में उत्पन्न हुई। वह अल्पायु में स्वर्गवासी हो गए, किंतु 'पोद्दार-अभिनंदन-ग्रंथ' तैयार करने के लिये हीरक-जयंती पर की गई घोषणा के अनुसार उसे तैयार कराने की व्यवस्था मंडल-द्वारा की गई।

वैशाख शुक्ला ५-६ संबत् २००४ ता० २५-२६ अप्रेल १९४७ को मंडल का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन फिरोजाबाद में श्री श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल की अध्यक्षता में हुआ। इसी वर्ष भाद्रपद कृष्णा ७ संबत् २००४ सितंबर १९४७ को शिक्षण-शिबिर का उद्‌घाटन किया गया। यह शिबिर १५ दिन तक चलता रहा, जिसमें अनेकों विद्वानों-द्वारा ब्रज की लोक-वार्ता, कला, संगीत, इतिहास, साहित्य, लिपि आदि विषयों पर व्याख्यान दिए गए, जिनका संकलन करके 'ब्रज-लोक-संस्कृति' नामक पुस्तक प्रकाशित की गई। इसी वर्ष 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' नामक लोक-साहित्य की पुस्तक मंडल-द्वारा प्रकाशित की गई।

ब्रज-साहित्य-मंडल का पंचम अधिवेशन भी एटा में २१ मई १९४८ को श्री श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल के सभापतित्व में हुआ। इस वर्ष मंडल ने 'सूरदास जी की जयंती' का भव्य आयोजन किया, जिसमें सूर-साहित्य पर गंभीर चर्चाएँ हुईं तथा सूरदास जी के चित्र का उद्‌घाटन किया गया। इस जयंती को दिल्ली-रेडियो ने प्रसारित किया और तभी से 'सूर-जयंती' मनाने की अखिल भारतीय परंपरा का सूत्रपात हुआ। इसी वर्ष मथुरा में आयोजित सूर-जयंती का उद्‌घाटन करने के लिये माननीय श्री जगजीवनराम जी मंडल में पधारे और उनकी अध्यक्षता में अत्यंत सफलता से उत्सव मनाया गया। मंडल का छठा अधिवेशन सहारनपुर में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की अध्यक्षता में अप्रैल सन् १९५० में हुआ। इसी वर्ष माननीय श्री संपूर्णानंद जी मथुरा पधारे, उनके संमान में चैत्र शुक्ला १-२ संबत् २००८ दिनांक ७-८ अप्रेल को मंडल की ओर से ब्रज के साहित्यिकों और कलाकारों की एक गोष्ठी की गई।

मंडल ने मथुरा के इतिहास प्रसिद्ध अंबरीष-टीले पर जो भूमि भवन-निर्माण के लिये प्राप्त की है, वहाँ श्री कृष्ण-जन्माष्टमी संबत् २००७ के पुण्य अवसर पर उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री पंडित गोविंदवल्लभ पंत के कर-कमलों-द्वारा प्राचीन सांस्कृतिक विधि-विधान पूर्वक भवन का शिलान्यास संपन्न हुआ। इसी वर्ष भवन-निर्माण-संबंधी कोष-संचय का शुभ श्री गणेश भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू-द्वारा प्रदत्त चैक से हुआ।

चैत्र शुक्ला १-२ संबत् २००८ को सप्तम वार्षिक अधिवेशन मथुरा में आचार्य श्री गुलाबराय जी के सभापतित्व में हुआ। उसका उद्‌घाटन माननीय नरहरि विष्णु गाडगिल ने किया। श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी ब्रज-साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष थे।

संबत् २००९ में हाथरस-संमेलन हुआ। यह सेठ गोविंददास जी की अध्यक्षता में हुआ और इसका उद्‌घाटन महामहिम राष्ट्रपति श्री राजेंद्रप्रसाद जी ने किया। इस अवसर पर निम्न विशेष कार्य हुए—

१, ब्रजनाट्य-परिषद् का उद्‌घाटन। २, ब्रजभाषा-भाव-विभूति का प्रदर्शन।

३, हिंदी जनपदीय परिषद् की स्थापना, जिसकी प्रेरणा ब्रज-साहित्य-मंडल की स्थायी-समिति ने हाथरस-संमेलन का कार्यक्रम निश्चित करते समय की।

४, नवलकिशोर पुरस्कार की घोषणा। ५, महाकवि तुलसीदास के जन्मस्थान की विधिवत शोध के लिए एक समिति का निर्माण।

कृष्ण-मेला—सहारनपुर संमेलन में मेले का प्रस्ताव हुआ, परंतु उस वर्ष माननीय पंत जी का परामर्श मानकर मेला स्थगित कर दिया गया था। पुनः संबत् २००८ व २००९ में मंडल ने श्री कृष्णजन्म-भूमि पर मेले का आयोजन किया। माननीय श्री कन्हैयालाल-माणिकलाल जी मुंशी के सभापतित्व में मंडल का एक विशेष अधिवेशन मथुरा में हुआ।

नमोवाक

साहित्य-वाचस्पति श्री सेठ 'कन्हैयालाल जी' पोद्दार के अभिनंदन की इस सुंदर योजना में जिन-जिन महानुभावों ने ग्रंथ के बीजांकुर से लेकर अंतिम रूप-संपादन तक सहयोग और श्रम-दान दिया है, उनके मधुर कार्यों के प्रति 'नमोवाक' अर्पित है।

ऋग्वेद के 'आ नो भद्रीयं' सूक्त के द्रष्टा ने बहुत ही सुंदर कल्पना की है—

"शतमिन्नु शरदो अंति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवंति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गंतोः॥"

आयु के शत-संमित वर्षों की निधि देवों ने हमारे पास रख दी है। संवत्सरों के उस सैकड़े पर पहुँच कर हमारे तनु जीर्ण होंगे। वहाँ तक पहुँचते हुए हम पुत्रों को पिता बनता हुआ देखेंगे और तृप्त होंगे। हमारे आयुष्य की वेगवती धारा मध्य में कहीं रिसे नहीं।

श्री सेठ जी का सुंदर पुत्र-पौत्रीण रूप, साहित्यिक-यश की पावमानी स्थिति में पहुँचा हुआ जीवन शतसांवत्सरिक हो, यही उनके सुहृन्मित्रों की अभिलाषा है। इस अभिनंदन-ग्रंथ का पुण्यफल इसी रूप में उन्हें प्राप्त हो।

मथुरा के 'ब्रज-साहित्य-मंडल' ने अपने द्वादशवार्षिक जीवन में साहित्य की वेदि को नई-नई दृष्टियों से पवित्र किया है।

साहित्य की संस्था सचमुच लोक-कल्याण-कारिणी होती है। उससे निकले हुए साहित्य के निर्झर जन-मानस का मंगल-विधान करते रहते हैं। जहाँ साहित्यक मनीषी सौमनस्य के भावों से एकत्र मिलकर बैठते हैं, ऐसा स्थान देवों की सुधर्मा सभा से कम धन्य नहीं कहा जा सकता। वहाँ से साहित्यक गंगा-यमुनाओं की वेगवती धाराएँ जन्म लेती रहती हैं। मंडल ने अपने क्षेत्र में कई उपयोगी कार्य किए हैं। ब्रज के साहित्यिक ऋषि सूरदास जी की जयंती का प्रचार किया, उनके चित्र का उद्घाटन कराया, परासौली में सूर-कुटी पर उत्सव किया, अब उस स्थान के पुनरुद्धार के लिये योजना को आगे बढ़ाया है, कृष्ण-जन्म-भूमि (कटरा केशवदेव) पर कृष्ण मेले का आरंभ किया (आशा है कालांतर में इस स्थान पर कृष्ण का एक भव्य सांस्कृतिक स्मारक जन्म लेगा), ब्रज के जनपदीय साहित्य का संग्रह कराया, जनपदीय कार्य की शिक्षा देने के लिये जनपदीय शिक्षण-शिबिर की योजना की (इसके प्राण श्री सत्येंद्र जी की महत्त्वपूर्ण सेवाओं को नहीं भुलाया जा सकता), मथुरा के इतिहास की सामग्री का संकलन किया, ब्रज के प्राचीन स्थलों की रक्षा का आंदोलन किया, करहला की प्रसिद्ध कदंबखंडी और कुदरबन के रमणीय स्थान को कटने से बचाया, हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की, ब्रज-साहित्य के प्रकाशन की प्रेरणा दी, ब्रज-जनपद की लोक-कहानियों का ब्रज-बोली में ही प्रकाशन किया, 'ब्रजभारती' पत्रिका द्वारा मंडल की साहित्यिक गति-विधि को अनुप्राणित किया, हिंदी के प्रमुख साहित्यिक और कवियों की कीर्ति-रक्षा के अवसरों में भाग लिया, मथुरा, वृंदावन, आगरा, एटा, सहारनपुर, शिकोहाबद, फिरोजाबाद, हाथरस आदि केंद्रों में अपने वार्षिक अधिवेशन मनाकर ब्रज के क्षेत्र में साहित्यिकों को प्रेरणा दी, ब्रज के गाँवों में साहित्य और संस्कृति का नया उत्साह जाग्रत् किया एवं नागरिक-साहित्य और लोक-साहित्य के बीच के अंतर को दूर किया। ब्रज-साहित्य-मंडल अपने कार्यकर्ताओं के विषय में भाग्यशाली रहा है। ब्रज की जनता और साहित्यिक कार्यकर्ताओं के अपूर्व उत्साह के कितने ही मधुर चित्र नेत्रों के सामने आ जाते हैं। अनेक साहित्यिक मित्रों का मुझे स्मरण आता है, जिन्होंने मंडल के इन सांस्कृतिक कार्यों में अपने समय, शक्ति और धन का उन्मुक्त दान दिया। सर्व श्री सत्येंद्र जी, जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, प्रभुदयाल जी मीतल, जोशी बाबा राधेश्याम, गोपालप्रसाद जी व्यास, बाबू गुलाबराय जी, महेंद्र जी, रामनारायण जी अग्रवाल, कृष्णदत्त जी वाजपेयी, मदनमोहन जी नागर, गोपालदत्त जी शर्मा, बनारसी-

दास जी चतुर्वेदी, बालकृष्ण जी 'नवीन', द्वारकाप्रसाद परीख, जगदीशप्रसाद जी चतुर्वेदी, सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, कामेश्वरनाथ जी, चंद्रभान जी आदि कितने ही संमानित साहित्यिकों का स्मरण मन को प्रसन्न करता है। इस परिवार के और भी गावों में फैले हुए कितने ही सदस्य हैं। काम को उत्साह पूर्वक बाँट कर आगे बढ़ाने में उन्होंने सदा तत्परता का परिचय दिया और मुझे एक भी अवसर ऐसा याद नहीं जब इन सज्जनों को साहित्यिक कार्य के लिये दी हुई प्रेरणा फलवती न हुई हो।

हमारे इस सुखी सारस्वत कुटुंब के 'पितामह' सेठ जी थे। सब उनके साथ प्रेम के मधुर बंधन में बँध गए थे। प्रत्येक कार्य में वे युवक-सदृश उत्साह से प्रेरणा बाँटते, परिपक्व अनुभव से पथ-प्रदर्शन करते और सकल कार्यों की उस 'रीढ' से भी सहायता करते जिसके भरोसे ऐसे कार्य संपन्न हुआ करते हैं। मंडल के भवन का निर्माण करने के लिये अंबरीष-टीले की भूमि का क्रय उनकी ही सहायता से संभव हुआ। मंडल के कार्यकर्ता सेठ जी के इस अभिनंदन में अपनी ही साहित्यिक भावनाओं को मूर्तिमान् देखते हैं। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। साहित्य, संस्कृति और धर्म के साथ उनका संबंध नित्य महत्त्व रखता है। सेठजी के निमित्त से इस अनुष्ठान की पूर्ति देखकर आज हम सब प्रसन्न हैं। जैसा श्री सत्येंद्र जी ने भूमिका में लिखा है—'पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ' का प्रथम संकल्प स्वर्गीय रामकृष्ण अग्रवाल के मन में आया और २६ जनवरी १९४७ को अभिनंदन-ग्रंथ-निर्माण का निश्चय मंडल की प्रबंध समिति ने किया, आरंभ में श्री सत्येंद्र जी ने ही इस कार्य को मुख्य रूप से सँभाला। उन्होंने इसकी रूपरेखा तैयार की और अनेक लेखकों को पत्र लिखकर लेखों का संग्रह किया। पीछे ग्रंथ का कार्य कई कारणों से मंद पड़ गया और सन् १९४९ के आरंभ में लगभग ऐसी स्थिति हो गई कि ग्रंथ-प्रकाशन के विषय में संदेह होने लगा। संयोग से जून १९४९ के अंतिम सप्ताह में मैं मथुरा गया, वहाँ ब्रज-साहित्य-मंडल की बैठक हुई, साहित्यिक मित्र ग्रंथ के विषय में चिंतित थे। सोचा गया कि इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण आयोजन को असमाप्त न रहने देना चाहिए। अतएव अभिनंदन-ग्रंथ संबंधी समस्त कार्य की पूर्ति के लिये मेरे सुझाव पर एक समिति अलग बना दी गई जिसमें श्री सत्येंद्र जी, श्री गुलाबराय जी, श्री गोपालप्रसाद व्यास और मेरा नाम रक्खा गया। इस समिति को ग्रंथ की तैयारी संपादन और प्रकाशन के पूरे अधिकार दे दिए गए। तदनुसार सत्येंद्र जी को दिल्ली बुलाकर उस समय तक की आई हुई सब सामग्री मैंने देख ली। आगे के लेखों की रूपरेखा बनवा दी और समिति की एक बैठक में यह तै किया कि संपादन का कार्य दिसंबर १९४९ तक पूरा हो जाय और जनवरी १९५० में ग्रंथ प्रेस में दे दिया जाय। इन निश्चयों की सूचना २७।७।४९ के पत्र में मैंने अपने प्रिय बंधु श्री मदनगोपाल जी पोद्दार को कलकत्ते में दी और जैसे-जैसे ग्रंथ की प्रगति होती रही उससे उन्हें सूचित करता रहा। ग्रंथ की तैयारी वेग से आगे बढी, किंतु प्रयत्न करने पर भी काम को समेटने में डेढ वर्ष का समय और लग गया, इसमें मेरा ही उत्तरदायित्व है जिसके लिये क्षमा चाहता हूँ। अंततः २५।६।५१ को सब लेख सामग्री लगभग १३० चित्रों के साथ श्री मदनगोपाल जी को भेजकर मैंने प्रार्थना की कि कृपया ग्रंथ के मुद्रण का प्रबंध कलकत्ते में करा दें, जहाँ कागज और छपाई दोनों की सुविधा है। इस संबंध में मैं श्री मदनगोपाल जी का उपकार कभी नहीं भूल सकता। वे साहित्यिक अभिरुचि लेकर जन्मे हैं। उनका रोम प्रति रोम साहित्यिक रस में पगा है, जो अब भी उन्हें अपनी ओर खींचता रहता है। कलकत्ते में वे अत्यंत व्यस्त एटार्नी का जीवन व्यतीत करते हैं; फिर भी उन्होंने ग्रंथ की सामग्री देखकर ९।७।५१ के पत्र में सामग्री के परिवर्धन और संशोधन के संबंध में अनेक उपयोगी सुझाव दिए और तब से निरंतर उसके मुद्रण-कार्य को संपन्न कराने में अपना बहुमूल्य समय देते रहे हैं। यह उन्हीं की प्रबंध-कुशलता का फल है कि ग्रंथ के लिये इतना बढ़िया कागज और सुंदर छपाई उपलब्ध हो सकी। जब इस ग्रंथ के आयोजन का निर्णय हुआ था, उस समय मदनगोपाल जी को इस विषय में कुछ भी ज्ञात न था और अरसे बाद जब वे मथुरा आए, उस समय बात होने पर मंडल के अर्थाभाव को यथासंभव कम करने के लिये उनके कलकत्ते के परिचय का लाभ

मंडल के कार्यकर्ताओं ने उठाना चाहा और उन्होंने विश्वास दिलाया कि कलकत्ते में इसके प्रबंध करने का वे भी उद्योग कर देंगे। हम सब इस आश्वासन से अत्यंत लघुभार हुए। मुझे अतिशय प्रसन्नता है कि उनके बहुविध सहयोग से ग्रंथ इस रूप में संपन्न हो सका है। अपने २६।३।५१ के पत्र में उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि ब्रज-साहित्य-मंडल के एक हितैषी के नाते और साहित्य में कुछ रुचि है इसी प्रेरणा से मैं भी आप लोगों की तरह इस कार्य में सहयोग दे रहा हूँ और साहित्यिक कार्य समझ कर ही इसमें प्रेरित हूँ। यहाँ पर मैं ब्रजभाषा के अनन्य भक्त और ब्रज-साहित्य के उद्धार के लिये रात-दिन चिंतित रहनेवाले श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता। संयोग है कि अप्रैल १९५१ में वे मदनगोपाल जी से कलकत्ते में मिले और ग्रंथ की चर्चा आने पर उन्होंने अपने सहयोग का आश्वासन दिया। अतएव जब जून ५१ के अंत में लेख-सामग्री कलकत्ते पहुँची तो जुलाई में श्री जवाहरलाल जी ने उसे सँभाल लिया और प्रूफ, छपाई-संबंधी सब देख-रेख का भार अपने ऊपर ले लिया। यदि वे ऐसा न करते तो न जाने ग्रंथ के प्रकाशन में अभी कितना विलंब और होता। कलकत्ते में ही रहकर मुद्रण-कार्य को उन्होंने अथक परिश्रम से पूरा कराया। उनके उस श्रम की मधुर स्मृति इस अभिनंदन-ग्रंथ की पूर्णाहुति के समय मेरे मन में है। यदि ग्रंथ को और प्रतीक्षा में न रखकर रामनवमी संवत् २०१० के लगभग प्रकाशित करने का आग्रह न होता तो 'छठे खंड' में ब्रज-काव्य-माधुरी का चयन और 'सातवें खंड' में ब्रजभाषा के ग्रंथों की सूचियाँ—नायिकाभेद, नखशिख, रीतिग्रंथ, अलंकारग्रंथ, गद्यग्रंथ, संग्रहग्रंथ, विविधग्रंथ और ब्रजभाषा-कवि-नामावलि, जिन्हें जवाहरलाल जी ने तैयार करने का वचन ही नहीं दिया था, वरन् प्रस्तुत भी कर लिया था और भी संमिलित की जातीं। मुझे इस बात का खेद है कि श्री गोपालप्रसाद जी व्यास, जिन्होंने अपने मंत्रित्व-काल में और बाद में भी अभिनंदन-ग्रंथ की तैयारी और संगठन में बहुत सहयोग दिया था, सूरसागर के कठिन शब्दों का कोश, जो वे मेरे अनुरोध से बना रहे थे, समय पर उसे न तैयार कर सके और ब्रजभाषा की वह मूल्यवान् सामग्री, जिसके लिये मैं व्यक्तिगत रूप से उत्सुक था, इसमें न जा सकी।

अंत में मैं अपने उन समस्त मित्रों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ की तैयारी में अपना सहयोग सहर्ष प्रदान किया। इस प्रसंग में लगभग दो वर्षों तक कितने ही विद्वानों से पत्र-व्यवहार का मुझे अवसर मिला। वह मेरे लिये प्रसन्नता का विषय था। कभी-कभी ग्रंथ में अप्रत्याशित विलंब के कारण मुझे ऐसा लगता था कि विद्वान् लेखकों के साथ अन्याय हो रहा है, किंतु आशा है कि अब इस कार्य-समाप्ति के अवसर पर उससे उत्पन्न आनंद में वे भी संमिलित होंगे। श्री जगन्नाथ जी अहिवासी जिनकी जन्मभूमि ब्रज के बलदाऊ जी नामक स्थान में है, देश के प्रसिद्ध चित्रकारों में हैं। उन्होंने ग्रंथ के लिये ठाकुर जी की वेशभूषा के संबंध में ८५ मूल्यवान् चित्र बनाकर दिए, इसके लिए मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। श्री नंद बाबू के शिष्य जगदीश जी मित्तल भी होनहार चित्रकार हैं, उन्होंने प्राचीन मथुरा-कला के आधारपर अनेक रेखा-चित्र दिल्ली में रहकर मेरे अनुरोध से तैयार किए जो लेखों की पुष्पिका के रूप में छपे हैं, उनका भी मैं आभारी हूँ। बंधुवर श्री मोतीचंद्र जी ने बालगोपाल-स्तुति के सादे और रंगीन ब्लाक अपनी देख-रेख में बंबई में तैयार कराए और श्री राय कृष्णदास जी ने युगलमूर्ति और गोवर्धनधारी के रंगीन ब्लाक ग्रंथ के लिए प्रकाशनार्थ दिए। श्री कल्याण जी भाई (करमसी दामजी) बंबई तथा श्री गोपीकृष्ण जी कानोड़िया कलकत्ता के 'होली' 'कृष्णगढ़-शैली में राधाकृष्ण' और 'सूरसागर' के पद पर राजस्थानी का एक चित्र दिये हैं। इसके लिये मैं उनका उपकार मानता हूँ। जिन जिन महानुभावों ने आर्थिक सहायता देकर इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में सहयोग दिया है उनका भी मैं आभारी हूँ। श्री बाबू गुलाबराय जी और श्री सत्येंद्र जी तो आदि से अंत तक इस आयोजन से संबंधित रहे हैं। एक प्रकार से यह उनके अपने ही परिश्रम का फल है। उनके लिये पदे-पदे कृतज्ञता मेरे मनमें रही है। इस अवसर पर मैं अपने मित्र स्वर्गीय श्री एरिक डिकिंसन का

भी कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करता हूँ। वे लाहौर में मयोकालेज के प्रिंसिपल थे। १९४७ के आरंभ में मेरा उनसे परिचय हुआ। अंग्रेज होकर भी भारतीय कला और हिंदी के वे अत्यंत भक्त थे। मुझे अत्यंत आश्चर्य और आनंद हुआ जब 'कवि जान' कृत 'कथा-कुतूहली' का अंग्रेजी अनुवाद एक दिन दिल्ली आकर उन्होंने मुझे सुनाया। उसके लालित्य को किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता। मेरी भूमिका के साथ ग्रंथ को छपाने की बात थी। दुःख है कि उनके अकस्मात् देहावसान से वह अनुवाद लुप्त हो गया। पोद्दार-ग्रंथ के लिये उन्होंने अपना अत्यंत सुंदर अंग्रेजी लेख 'कृष्णगढ की राधा' नामक चित्र पर, जिसके आविष्कार का श्रेय पूर्ण मात्रा में उन्हीं को था, लिख कर दिया। वयोवृद्ध पं० रामदहिन जी मिश्र का भी लेख-रूप में आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। खेद है कि वे भी ग्रंथ को प्रकाशित रूप में न देख सके।

कुछ लेख ऐसे भी हैं कि जो ग्रंथ के लिये प्राप्त होने पर भी स्थान की मर्यादा के कारण इसमें संमिलित न किए जा सके। विद्वान् लेखकों से संपादक-मंडल के साथ मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

कलकत्ते के बिनानी प्रिंटिंग वर्क्स लिमिटेड के अध्यक्ष सेठ श्री गोवर्धनदास जी बिनानी को भी धन्यवाद है जिन्होंने अति तत्परता से मुद्रण-कार्य समाप्त किया। श्री चंद्र भूषण त्रिवेदी ने लेख-टाइप करने और मुद्रणार्थ पांडुलिपि तैयार करने में जो परिश्रम किया उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे आशा है कि ब्रज-साहित्य-मंडल के कार्यकर्ता अपने उत्साहयुक्त कार्यों के लिये नए-नए कीर्ति-स्तंभ स्थापित करेंगे। साहित्यिक कार्य विशाल जनायन पंथ है। इस पर चलने का सबको आवाहन है। सरस्वती के उदार प्रांगण में सबके लिये अवकाश है। ब्रज की भागवत संस्कृति, जिसके एक भद्र प्रतिनिधि इस ग्रंथ द्वारा अभिनंदनीय सेठ जी हैं, समन्वय की संस्कृति है। वह किसी का निराकरण नहीं करती। देव की अनेक विभूतियों में से अपनी-अपनी रुचि या रस के अनुकूल ग्रहण करती हुई सबके प्रति सौमनस्य भाव से आगे बढती है। मथुरा-जनपद ने इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण के निर्माण और प्रसार में दो सहस्राब्दियों तक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। एक प्रकार से समन्वय-प्रधान भागवत दृष्टि-कोण हमारा राष्ट्रीय दृष्टि-कोण ही बन गया है। मेरा आवाहन है कि ब्रजभूमि के कार्यकर्ता अपने इस प्राचीन मंत्र को कभी न भूलें। इस दृष्टि-कोण में अनंत रस का स्रोत है।

काशी-विश्वविद्यालय
अक्षय तृतीया
२०१०

वासुदेवशरण

भूमिका

ब्रज-साहित्य-मंडल एक महान् संस्था है, उसके उद्देश्य और कार्य महत्त्वपूर्ण हैं। लेखक, कवि, कलाकार तथा नवजीवन के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग देनेवाले महानुभावों का संमान करना ऐसा उपयोगी कार्य है, जिसे मंडल ने सदा प्रमुख स्थान दिया है। इसी सुंदर उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त एक दिन ब्रज-साहित्य-मंडल की कार्य-कारिणी ने यह निश्चय किया कि सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार की 'हीरक-जयंती' मनाई जाय। इस कार्य-कारिणी में एक अत्यंत उत्साही नवयुवक भी था, जिसका नाम रामकृष्ण अग्रवाल था। मंडल का और हमारा दुर्भाग्य है कि यह नवयुवक अल्पायु में स्वर्ग सिधार गया। विशेष खेद इस लिये है कि उसका स्वप्न जिस समय पूर्ण हो रहा है, उस समय उसे देखने के लिये वह स्वयं जीवित नहीं। इस युवक ने हीरक-जयंती के समस्त आयोजन का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया और उसे निभाने में वह पूर्णतः सफल हुआ। जिस कार्य-कारिणी में हीरक-जयंती-समारोह-संपन्न कराने का निश्चय किया गया था, उसी में इस युवक ने इस बात पर जोर दिया कि हीरक-जयंती मना लेने से ही हमें संतोष नहीं होना चाहिए इस अवसर की स्मृति में कोई ठोस कार्य होना चाहिए। तभी अभिनंदन-ग्रंथ का विचार उदय हुआ और श्री रामकृष्ण के विशेष आग्रह से अभिनंदन-ग्रंथ प्रस्तुत करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वर्गीय रामकृष्ण अग्रवाल! आज तुम्हारा संकल्पित कार्य पूर्ण हो रहा है। यह सत्य है कि रामकृष्ण अग्रवाल ने न तो इस ग्रंथ के प्रकाशन में योग दिया है, न संपादन में, न किसी अन्य प्रकार से सहायता वह दे सका है, क्योंकि ऐसे किसी भी प्रकार के सहयोग के लिए वह जीवित ही नहीं रह सका, फिर भी बीज उसी का बोया था। इसी लिए हम करुणार्द्र होकर यों स्मरण कर रहे हैं।

स्वरूप और संपादक मंडल

इस निश्चय का सभी ने मुक्त कंठ से स्वागत किया, इसका एक कारण था। अभिनंदन-ग्रंथों की एक अच्छी परंपरा है। इस परंपरा में इन ग्रंथों के संपादक भी बहुत उच्च कोटि के विद्वान् रहे, किंतु इस परंपरा में उस समय तक के सभी ग्रंथों में कई ऐसी बातें थीं जिन्हें दोष अथवा अभाव कहा जा सकता था। इनमें किसी व्यवस्थित स्वरूप का पता नहीं चलता, केवल बड़े से बड़े विद्वानों के उनके मनचाहे लेख इन ग्रंथों में संमिलित कर दिए जाते थे, ग्रंथ एक उद्देश्यहीन संग्रह होता था। इसमें अधिकांश भाग अभिनंदनीय व्यक्ति के जीवन के विषय में अथवा उसके व्यक्तित्व के विषय में रहता था। मंडल की कार्य-कारिणी ने एक नयी दृष्टि प्रदान की। उसने आरंभ में ही यह लक्ष्य स्वीकार किया, कि इस अभिनंदन-ग्रंथ को ब्रज का 'विश्वकोश' बनाया जाय। उसने यह भी निर्देश किया कि ग्रंथ में अभिनंदनीय व्यक्ति के संबंध में ४०-५० पृष्ठ के लगभग ही दिए जायँ। इस नवीन दृष्टिकोण के कारण मंडल के इस विचार का हार्दिक स्वागत किया गया। मंडल का लक्ष्य ऊँचा था, लगभग एक हजार पृष्ठों का ग्रंथ हो, ब्रज-विषयक समस्त सामग्री पर प्रामाणिक निबंध हों, एवं उसकी छपाई-सफाई का स्तर भी ऊँचा हो। इतना ऊँचा लक्ष्य यों ही तो पूरा नहीं हो सकता था। उसके लिए धन का प्रबंध होना आवश्यक था। धन के प्रबंध के संबंध में मंडल को अधिक चिंतित नहीं होना पड़ा। कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित सेठ श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार तथा सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के एक सुपुत्र कलकत्ता के प्रभावशाली अटर्नी श्री मदनगोपाल पोद्दार ने इसका उत्तरदायित्व सँभाल लिया। उन्होंने कहा कि हम कलकत्ता से इसकी व्यवस्था कर लेंगे। धन के इस प्रबंध से कठिन कार्य था अभिनंदन-ग्रंथ के संपादक-मंडल का निर्माण, इस ओर काफी सोच विचार के उपरांत यह निश्चय किया गया कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल को प्रधान संपादक बनाया जाय। डा० अग्रवाल उस समय दिल्ली में एशियन ऐंटिक्विटीज म्यूजियम के सुपरिंटेंडेंट थे और मथुरा के बहुत निकट। डा० सत्येंद्र को यह कार्य सौंपा गया

कि वे डा० अग्रवाल से यह भार सँभालने की स्वीकृति प्राप्त कर लें, किंतु उस समय डा० अग्रवाल इतने अधिक व्यस्त थे कि बहुत लिखा-पढ़ी के उपरांत भी यह कार्य सँभालना स्वीकार नहीं किया। डा० सत्येंद्र को लिखा हुआ उनका अंतिम पत्र इस प्रकार था—

नई दिल्ली

ता० २०।१।४७

प्रिय सत्येंद्र जी,

आप का ६।१।४७ का कृपापत्र लाहौर में मिला था। परसों प्रातः मैं लौट कर आया। आशंका है फिर एक बड़ी यात्रा के लिए न जाना पड़े। अपनी वर्तमान परिस्थिति में मेरे लिए अभिनंदन-ग्रंथ किंवा तत्सदृश अन्य साहित्यिक योजनाओं में सहयोग असंभव है। ऐसा कई बार लिखने पर भी आपको विश्वास नहीं हुआ, यह आप के स्नेह का ही सूचक है। परंतु सत्य से हम सब बँधे हैं और सत्य वही है जो मैं लिख चुका हूँ। मेरी यह इच्छा है कि इस ग्रंथ का संपादन आप ही करें। आप की महती साधना का भी जनता को परिचय होना आवश्यक है।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ग्रंथ के लिए आर्थिक प्रश्न हल हो गया है, आशा है इसे ब्रज का सांस्कृतिक कोश बनाने का आप का उद्देश्य सफल होगा।

भवदीय

[illegible]

तब पोद्दार जी की हीरक-जयंती के अवसर पर मंडल की स्थायी समिति ने सर्व श्री गुलाबराय जी तथा डा० सत्येंद्र को इस ग्रंथ का संपादक नियुक्त किया। बड़ी प्रगति से कार्य आरंभ हुआ, ग्रंथ की विस्तृत योजना प्रसारित हुई, लेखकों से संपर्क स्थापित हुए, उनके बचन आए और उनके निबंध आने आरंभ हो गए, किंतु सभी बड़े कार्यों में कुछ न कुछ विघ्न उपस्थित होते ही हैं। इतना कार्य करके कुछ व्यस्तता के कारण मुझे संपादन कार्य से विरत होना पड़ा। कुछ समय के लिए कार्य रुक गया। एक बार पुनः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से प्रार्थना की गयी, इस बार सौभाग्य से डा० साहब ने कार्य सँभाल लिया। यह हम सबके लिए सौभाग्य और प्रसन्नता की बात थी। मंडल उनका चिर ऋणी है और मेरे लिए तो यह ठीक वैसी ही आनंददायक थी जैसे भक्त की भगवान पर विजय आनंदप्रद होती है। देर से सही, ग्रंथ के हित में मेरा जो पहला संकल्प था कि डा० वासुदेव शरण ही इसके प्रधान संपादक हों वह पूर्ण हुआ। इसका शुभ परिणाम यह सुंदर ग्रंथ स्वयं प्रस्तुत है। हाँ, तब, एक संपादन-समिति का निर्माण किया गया। कार्य की शिथिलता दूर हुई और संपादन कार्य भी चल पड़ा। इस समिति की बैठकें दिल्ली में हुईं। ग्रंथ की समस्त रूप-रेखा दुहरायी गयी। अब सामग्री व्यवस्थित करके और अन्य आवश्यक निबंध मँगाकर प्रकाशन का कार्य आरंभ कराया गया।

प्रकाशन की समस्या कम कठिन नहीं थी—कहाँ छपे, कौन छपाई का कार्य सँभाले, कौन प्रूफ देखे, कौन उसके सौष्ठव का उत्तरदायित्व ले। इस कार्य में श्री मदनगोपाल पोद्दार ने बहुत सहायता पहुँचाई। उन्होंने छपवाने की संपूर्ण व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। बहुत अच्छे प्रेस का प्रबंध कलकत्ते में किया और अपने मित्र पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी को छपाई और सौष्ठव की देख-भाल के लिए नियुक्त किया। पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी तो इस फन के उस्ताद ठहरे, मनोयोग से कार्य करने में प्रवृत हुए। १६५२ के जून के महीने में मैं भी इस कार्य के लिए कलकत्ता रहा।

संपादन और मुद्रण के अंतर्गत ही एक और महत्त्वपूर्ण भाग रहता है, चित्र और सज्जा का। मेरे संपादन काल में ब्रज के प्रसिद्ध चित्रकार जगन्नाथ जी अहिवासी ने इस दिशा में पूर्ण सहयोग देने का बचन दिया था। उन्होंने ग्रंथ-सज्जा के लिए कितने ही अभिप्राय अंकित कर भेजे थे। बाद

में श्री वासुदेवशरण जी और पं० जवाहरलाल जी चतुर्वेदी ने अभिप्रायों का संकलन किया। श्री वासुदेवशरण जी ने बहुमूल्य ऐतिहासिक और प्रामाणिक चित्रों की व्यवस्था करायी।

इस प्रकार २६ जनवरी १९४७ को जिसका संकल्प किया गया था वह महान् और पुनीत कार्य आज संपूर्ण हो रहा है, ६ वर्ष की दीर्घ अवधि और उसी के अनुकूल परिश्रम के उपरांत।

ग्रंथ की मूल रूप–रेखा

यह ग्रंथ एक हजार पृष्ठ से कम का नहीं होगा। इसमें भारत के प्रसिद्ध चित्रकारों के अनूठे चित्रों की भी यथास्थान संयोजना रहेगी। विविध लेख भी यथा संभव सचित्र होंगे।

यह ग्रंथ अपने ढंग का बिल्कुल नया होगा। इसमें सेठ जी का परिचय तो होगा ही, इसके अतिरिक्त निम्न खंड रहेंगे—

१. अलंकार साहित्य-खंड : इस खंड में संस्कृत और हिंदी के अलंकार-शास्त्रों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से विशद अध्ययन और शोध-पूर्ण सामग्री रहेगी।

२. ब्रज संस्कृति कला-खंड : ब्रज की संस्कृति और कला संबंधी प्रायः प्रत्येक ज्ञातव्य बातों पर शोध-पूर्ण निबंध इसमें रहेंगे।

३. धर्म-खंड : इसमें ब्रज की धार्मिक देन और विविध संप्रदायों पर रचनाएँ रहेंगी।

४. पुरातत्व और इतिहास-खंड : इसमें ब्रज का भूगोल, पुरातत्व और इतिहास संबंधी विषयों का निरूपण होगा।

५. साहित्य-शोध-खंड : ब्रज-भाषा और साहित्य की शोध का विस्तृत दिग्दर्शन इस खंड का विषय होगा।

६. हिंदी साहित्य-खंड : हिंदी-साहित्य के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक रूपों का परिचय।

७. ब्रज-परिचय खंड : ब्रज का विविध दृष्टियों से परिचय—पशु, पक्षी, जन, उद्योग-धंधे आदि।

८. बृहत्तर ब्रज-खंड में ब्रज का संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी आदि में जो रूप और महत्त्व रहा है उसका परिचय रहेगा। इनके साथ उच्च कोटि के कवियों की कविताओं का भी संग्रह इसमें होगा।

९. मारवाड़ तथा मारवाड़ी-साहित्य पर भी एक खंड रहेगा।

संक्षेप में यह अभिनंदन-ग्रंथ प्रमुखतः "ब्रज का सांस्कृतिक विश्व-कोश होगा", पर यह सिद्ध सत्य था कि न तो रूप-रेखा से किसी लेखक को पूर्णतः बाँधा जा सकता था और न लेखक प्रत्येक विषय पर साधिकार लिख सकते थे। प्रत्येक लेखक अपनी सीमाओं को स्वीकार करके ही सहयोग दे सकता था। फलतः उक्त योजना के अनुसार पूर्ण सफलता मिलना तो संभव कहाँ था, इसी कारण संपादन-समिति ने उसे दुहराया। इस समिति ने ग्रंथ को जो रूप प्रदान किया था उसके अनुसार सामग्री का संकलन और संपादन हो चुकने पर जब पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी जी को मुद्रण का भार सौंपा गया और उन्होंने समस्त सामग्री का निरीक्षण किया तो उन्होंने भी कितने ही उपयोगी सुझाव रखे। प्रधान संपादक ने उनसे परामर्श करके ग्रंथ को अंतिम रूप दिया। इसी अंतिम रूप में यह ग्रंथ प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ पांच खंडों में है—

प्रथम—जीवन और अभिनंदन-विषयक खंड।

दूसरा—साहित्य खंड।

तीसरा—संस्कृति (लीला) खंड।

चौथा—इतिहास खंड।

पाँचवाँ—जनपदीय खंड।

इनके अतिरिक्त 'ब्रज-काव्य-चयन' और ब्रज-साहित्य-संबंधी-ग्रंथों की सूचियाँ भी देने का विचार छठे-सातवें खंड के रूप में था, किंतु ग्रंथ के अतिशय विस्तार के कारण वह अंश स्थगित कर देना पड़ा। आशा है 'ब्रज-भारती' के द्वारा वह सामग्री कभी सुलभ की जा सकेगी।

प्रत्येक खंड में अधिकारी विद्वानों के विचार पूर्ण प्रामाणिक निबंध दिये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि साहित्य-खंड सबसे बड़ा खंड हुआ है। कारण स्पष्ट है सेठ जी की भी रुचि साहित्य में विशेष रही है। उच्च साहित्यक के नाते यह अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है, इसी के साथ ब्रज-भाषा-साहित्य-प्रेमी लेखकों का समुदाय भी अधिकांशतः साहित्यिक है। कुछ विद्वानों ने हमारे आग्रह से सांस्कृतिक ज्ञान-वर्द्धक विषयों पर लिखना स्वीकार भी किया, उस कार्य में प्रवृत्त हुए, सामग्री एकत्र कर ली, मौलिक और प्रामाणिक साक्ष्य जुटा लिये, अध्ययन कर लिया और अब लिखकर निबंध पूरा करने का विचार कर रहे हैं। उदाहरणार्थ एक मित्र ने ब्रज के पशु-पक्षियों का स्वयं निरीक्षण और अध्ययन करके निबंध लिखना आरंभ कर दिया है, दूसरे ने ब्रज के वृक्ष-बनस्पति पर पूरी तैयारी के बाद लेखनी उठा ली है, एक ब्रज के वर्तमान तथा ऐतिहासिक भूगोल का अध्ययन कर चुके हैं—आदि; किंतु यह अभिनंदन-ग्रंथ अब उनकी साधना के परिणाम का लाभ नहीं उठा सकेगा। इस ग्रंथ के संपादकों को प्रसन्नता केवल यह होगी कि उनकी प्रेरणा से ब्रज के जनपदीय अध्ययन की किन्हीं दिशाओं में कुछ अभाव की पूर्ति हो सकी। फिर भी अनेकों ऐसे क्षेत्र शेष हैं, जिनका सुझाव हम लोगों ने प्रस्तुत किया, किंतु कुछ भी कार्य नहीं हो सका, आशा है कि भविष्य में उन विषयों पर भी विद्वान् लेखक प्रवृत्त होंगे और 'ब्रज-भारती' के द्वारा अपने प्रयत्नों का फल प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि मूल योजना में हेर-फेर हुई है, फिर भी मूल-दृष्टि-बिंदु से ग्रंथ च्युत नहीं हुआ। ब्रज के छोटे-से 'विश्वकोश' का कार्य यह भली प्रकार दे सकता है। प्रायः सभी ज्ञातव्य विषयों पर यत्किंचित यहाँ मिलेगा और वह अधिकारी लेखनी से लिखा गया सप्रमाण। हम अनुभव करते हैं कि ब्रज-विषयक अध्ययन और शोध के समय इस ग्रंथ का उपयोग विद्वानों के लिए अनिवार्य हो जायेगा।

ब्रज के साहित्य, धर्म, संस्कृति ने भारतीय राष्ट्र के ऐक्य और समन्वय में बड़ा भाग लिया है। फलतः ब्रज का अपना जनपदीय रूप तो है ही ब्रज का बृहत्तर भारतीय रूप भी है। ब्रज अपनी भूमि में अपने सस्य वृक्ष, लता, भवन, पर्वत, सरिताओं और प्राणियों में अब भी सजीव है, उससे भी अधिक यह ब्रज समस्त भारत के जन-जन में भाषा तथा प्रकृति की सीमाओं की अवहेलना करके व्याप्त है नामों में, भावों में, उत्सवों में, त्यौहारों में; अनुष्ठानों में, ब्रज दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम में विद्यमान है। इसने साहित्य, संगीत और कला में प्रेरणा प्रदान की है, इस ग्रंथ में इन दोनों का स्वरूप दीख सकता है। इसमें उस ब्रज की अनुभूति पाई जा सकती है, जिसे हृदयंगम कराने के लिए बीसवीं शताब्दी में 'अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल' सचेष्ट है।

इस युग में ब्रज-साहित्य-मंडल ने कितने ही दिशादर्शक कार्य किये हैं। क्या उसका लोक-संस्कृति विषयक दृष्टिकोण, क्या उसका लोक-संस्कृति-परायण शिक्षण-शिविर, क्या उसका लोक-संग्रहालयों का आयोजन, क्या उसका कवियों की स्मृति-रक्षा का उद्योग, क्या उसका ऐतिहासिक-रक्षा का भाव, क्या उसका गाँवों में साहित्य का दीप प्रज्वलित करने का आयोजन तथा क्या गाँव-गाँव में साहित्यिक और सांस्कृतिक जागरण का अभिनिवेश—सभी में ऐसा कुछ रहा है जो प्रभावित, आकर्षित और उत्साहित कर सके। उसी प्रकार यह अभिनंदन-ग्रंथ भी आगे के लिए दिग्दर्शक हो सकता है, ऐसा हमारा अनुमान है।

अंत में हमारा यह कर्त्तव्य है कि उन समस्त विद्वान् लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें, जिन्होंने इस आयोजन को सफल बनाने के लिए अपनी अमूल्य रचना हमें प्रदान की, उन कलाकारों का आभार मानें जिनकी कला ने इस ग्रंथ को शोभनीय और उपयोगी बनाया है, उन दानदाताओं को बधाई के पुष्प अर्पित करें जिनके त्याग से ग्रंथ प्रकाशित हो सका है। ग्रंथ की तैयारी,

संपादन, मुद्रण और प्रकाशन में जिन-जिन सज्जनों ने सहयोग और सहायता दी है उन सबके प्रति हम कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

हम सबके अभिनंदनीय और वंदनीय सेठ कन्हैयालाल पोद्दार जी के जो इष्ट देव हैं, उनकी पुण्य भूमि को नमस्कार कर, सेठ जी के निमित्त से ब्रज के समस्त भक्तों का अभिनंदन करने के लिए यह ग्रंथ आज हिंदी की साहित्य-वेदी पर समर्पित है।

आगरा
अक्षय तृतीया
२०१०

सत्येंद्र

चित्र-सूची

लेख-सूची

श्रद्धांजलि

प्रथम-खंड

साहित्य

द्वितीय-खंड

श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ

तृतीय-खंड

इतिहास, पुरातत्त्व और कला

चतुर्थ-खंड

ब्रजजनपदीय

पंचम-खंड

अभिनंदन

जियो, काव्य के जगत्सेठ, तुम कृती कन्हैयालाल ;
भावों का व्यापार तुम्हारा चला करे चिरकाल ।

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

॥ 'श्रीहरिः ॥

मंगलाचरण

— :o: —

वदन्तितत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद् ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेतिपरमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
—श्रीमद्भागवत,

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥
—महाभारत, आरण्यक पर्व ८६।२२,

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मंगलानां च मंगलम् ॥
—महाभारत, आरण्यक पर्व ८६।२३,

राग—सारंग

जाकों बेद रटत, ब्रह्मा रटत, संभु रटत, सेस रटत,
नारद-सुक-ब्यास रटत पावत नहिं पार-री ।
ध्रुव-जन-पैहलाद रटत, कुंती के पूत रटत,
द्रुपद-सुता रटत नाथ-नाथन प्रतिपार-री ॥
गनिका-गज-गीध-रटत, गौतम की नारि रटत,
राजन की रमनी रटत सुतन करि-करि प्यार-री ।
'नंददास' श्रीगुपाल, गिरिबरधर रूप जाल,
जसुधा कौ कुँमर लाल, राधा-उर-हार-री ॥

राग—भैरव

मंगल माधौ-नाम उचार ।
मंगल बदन, कमल-कर मंगल, मंगल-जन के सदाँ सँहार ॥
देखत मंगल, पूजत मंगल, गावत मंगल चरित उदार ।
मगल स्रवन, कथा-रस मंगल, मंगल-तन बसुदेव-कुँमार ॥

गोकुल मंगल, मधुबन मंगल, मंगल रुचि बृंदावन-चंद।
मंगल करन गोबरधनधारी, मंगल भेष जसोदा-नंद ।।
मंगल धेनु-रेनु-भुव मंगल, मंगल मधुर बजावत बेंन।
मंगल गोप-बधू-परिरंभन, मंगल कालिंदी-पय-फेंन ।।
मंगल चरन-कमल-मनि मंगल, मंगल कीरत जगत-निबास।
अनुदिन मंगल ध्यान धरत मुनि, मंगल मति 'परमाँनंदास' ।।

राग—केदारा

हरि जू की आरती बनी।
अति बिचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी सेस-फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी ।।
रवि-ससि-जोति जगत परिपूरन, हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उडुगन नभ अंतर अंजन घटा घनी ।।
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर, नर, असुर अनी।
काल-करम-गुन-आदि-अंत नहिं, प्रभु इच्छा रचनी ।।
यह प्रताप दीपक सु निरंतर लोक सकल भजनी।
'सूरदास' सब प्रगट ध्यान में, अति बिचित्र सजनी ।।

राग—केदारा

बंदौं चरन-सरोज तिहारे।
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे ।।
जे पद-पदम सदाँ सिव के धन, सिंधु-सुता उरते नहिं टारे।
जे पद-पदम तात-रिस-त्रासत, मन-बच-क्रम पैहलाद सँभारे ।।
जे पद-पदम-परसि जल पावन, सुरसरि-दरस कटत अध भारे।
जे पद-पदम परसि रिषि-पतिनी, बलि, नृग, व्याध पतित बहु तारे ।।
जे पद-परम रमत बृंदाबन, अहि-सिर धरि अगनित रिपु मारे।
जे पद-पदम परसि ब्रज-भामिनि सरबस दै सुत-सदन बिसारे ।।
जे पद-पदम रँमत पांडव-दल, दूत भए सब काज सँवारे।
'सूरदास' तेई पद-पंकज, त्रिबिध-ताप-दुख-हरन हमारे ।।

कवित्त

एठ बाँध्यौ मुकट, सँमेट घुँघरारे-बार, कुंडल चढाए काँन कँलगी सुघट की।
जाँघिया जकरिकैं, अकरि अंग-राग करि, कटिमें लपेटी कसि पेटी पीत-पट की ।।
भृगु-पद अंक ढाल सकति तियाकौ चिन्ह, 'सूदन' सनाह बनमाल लाल टटकी।
कोटँन सुभट की, निहारि मति सटकी, सो सुंदर गुपाल की धरँन भेष नट की ।।

श्रद्धांजलि

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

पूज्यचरण भाई साहेब सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार हिंदी-जगत् के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान, सुप्रसिद्ध समालोचक तथा श्रेष्ठ कवि हैं,—पुराने साहित्यिक महारथियों में से एक हैं। आचार्य द्विवेदीजी के बाद प्राचीन शैली के आलोचकों और विचारकों में आपका सबसे ऊँचा स्थान है। आधुनिक आलोचना-साहित्य पर विदेशी शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय साहित्यिक परंपरा का अध्ययन और अनुशीलन करके उसी दृष्टि से साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करनेवाले विद्वान् प्रायः कम देखने में आते हैं। सेठ कन्हैयालालजी ऐसे ही विरल विचारकों में संमानित स्थान के अधिकारी हैं। अग्रवाल समाज के सुप्रसिद्ध व्यापारी-कुल में जन्म लेकर भी लक्ष्मी की सेवा में न लगकर आपने अपने जीवन का अधिकांश समय सरस्वती की सेवा में ही लगाया। आपका संस्कृत और हिंदी-ज्ञान अगाध है। संस्कृत रचनाओं के मर्म तक आपकी बुद्धि पहुँची है। आपके लेख और कविताएँ बहुत वर्षों से हिंदी के पाठ्यग्रंथों में अध्ययन के लिए संकलित हैं। 'काव्य-कल्पद्रुम' में आपने काव्य के सभी अंगों का मार्मिक विवेचन किया है। काव्य-प्रकाश के निर्माता आचार्य मम्मट तथा ध्वन्यालोक के लिए लोचन प्रदान करनेवाले आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस-सिद्धांत की जो गंभीर आलोचना की है, वह बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी दुरूह है। काव्य-कल्पद्रुम में उन सबकी छाया लेकर बड़े मार्मिक ढंग से आलोच्य विषयों को स्पष्ट किया गया है। **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** इस भरत-सूत्रपर जो भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपाद की विभिन्न व्याख्याएँ हैं, उनका मर्म समझने में साहित्य के विद्यार्थी प्रायः भूल कर जाते हैं। श्रीकन्हैयालालजी ने अपने ग्रंथ में उपर्युक्त आचार्यों के क्रमशः आरोपवाद, अनुमितिवाद, भोगवाद और अभिव्यक्तिवाद का एक-दूसरे से अंतर बताते हुए स्पष्ट विवेचन करके अध्ययनशील छात्रों का महान् उपकार किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-वृत्तियों के निरूपण में भी आपको पर्याप्त सफलता मिली है। महिमभट्ट के मतका निराकरण करते हुए व्यंजना वृत्तिकी स्थापना का प्रकरण भी आपने अच्छी तरह हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है। साहित्य-पर्यालोचकों में आचार्य मम्मट के सिद्धांतपर ही आपकी अधिक आस्था है और उनके सिद्धांत को आपने बड़ी सफलता के साथ स्पष्ट किया है। अलंकारों के लक्षण-विवेचन के साथ ही अनुकूल उदाहरण रूप में हिंदी-साहित्यसे उत्तमोत्तम पद्यों का उद्धरण देकर आपने ग्रंथकी सरसता एवं उपादेयता को बहुत आगे बढ़ा दिया है।

आपका दूसरा ग्रंथ 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' है, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसके द्वारा भी हिंदी में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। इसमें संस्कृत-काव्य-परंपरा, काव्यगत विशेषताओं की आलोचना-परंपरा तथा साहित्य-समीक्षक विद्वानों की संप्रदाय-परंपरा का जो क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है, वह हिंदी में अद्वितीय है। प्रत्येक पृष्ठ में, जहाँ दृष्टि जाती है, लेखक के गंभीर अध्ययन, दीर्घकालिक मनन, सूक्ष्म दर्शन तथा चमत्कारपूर्ण विवेचन-कलाका परिचय मिलता है। संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन से आपकी ज्ञान-गरिमा बढ़ी है और प्रतिपादन-शैली में बड़ी प्रौढ़ता आ गयी है। इन दोनों के अतिरिक्त भी कई छोटे-मोटे ग्रंथ आपने हिंदी-जगत्को भेंट किये हैं। निबंध लिखने की कला में भी आप सिद्धहस्त हैं। महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवत आदि

पौराणिक साहित्य का भी आपने गहरा अध्ययन किया है। आपके साहित्यिक ही नहीं, धार्मिक निबंध भी बड़े मार्मिक होते हैं। प्रायः प्राचीन साहित्य-समीक्षक लौकिक रति को ही रस मानते आये हैं। देवविषयक या भगवद्विषयक रति को उन्होंने 'भाव' माना है। संस्कृत में सर्वप्रथम गौडीय विद्वानों ने भगवद्विषयक रति को ही वास्तविक रस मानने की बात उठाई है। हिंदी में सर्वप्रथम केवल सेठ कन्हैया-लालजी पोद्दार ने 'कल्याण' में एक लेख लिख कर 'भक्तिरस' को सर्वोत्कृष्ट 'रस' सिद्ध किया है और इस प्रकार रसतत्त्व का निरूपण करनेवाले हिंदी के साहित्यिकों के समक्ष एक नूतन सिद्धांत विचार के लिए प्रस्तुत किया है। संभव है, उसे पढ़कर आधुनिक आलोचक अबतक की मानी हुई धारणा को बदलें और भक्तिरस को ही 'रसराज' की उपाधि से विभूषित करें। कल्याण के 'श्रीकृष्णांक' में सेठ श्री कन्हैयालालजी ने अवतारों के भेद-उपभेदों की शास्त्रीय दृष्टिसे जो सूक्ष्म विवेचना की है, वह अनुपम है, उससे आपकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। आपने 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए निःस्वार्थ भावसे ही हिंदी-साहित्य की सेवा तथा श्रीवृद्धि की है। आपमें संस्कृत के श्लोकों का उसी छंद में हिंदीं-अनुवाद करने की अद्भुत प्रतिभा देखी जाती है। कालिदास के 'मेघदूत' का हिंदी पद्यानुवाद आपने इसी प्रकार किया है और वह अनुवाद भाव तथा भाषा सभी दृष्टियों से सफल हुआ है। सेठजी ने दीर्घकालतक हिंदी-साहित्य को अपनी विचार-पूर्ण कृतियों के द्वारा समुन्नत एवं संमानित किया है; यह हिंदी-जगत् के लिये सौभाग्य की बात है। हिंदी-जगत् आपके इस उपकार का बदला नहीं चुका सकता। इस 'अभिनंदन-ग्रंथ' द्वारा हम लोग अपने देश की इस अनुपम विभूति की यत्किंचित् अर्चना करके अपने-आपको ही गौरवान्वित कर रहे हैं। उनका गौरव तो स्वतःसिद्ध है। आपकी विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ ही आपके नाम और यश को सदा प्रकाशित करती रहेंगी। भारतवर्ष को सेठजी के सदृश धर्मपरायण, संयमी, सदाचारी तथा प्रतिभाशाली विद्वान् साहित्यकार की सदा आवश्यकता रहेगी। जीवन के शेष भाग में आप स्वयं भगवच्चिन्तन करते हुए साहित्यकों के जीवन में भी भगवद्भाव को बढ़ानेवाली प्रेरणाएँ देते रहें। इन शब्दों के साथ मैं आपकी सेवा में अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ और छोटे भाई के नाते आपके श्रीचरणों में श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करता हुआ ऐसा आशीर्वाद चाहता हूँ कि जिससे मेरा शेष जीवन अब श्रीभगवान् के स्मरण-चिंतन में ही व्यतीत हो।

सेठजी के व्यक्तित्व सूत्र

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

सेठजी से मेरा परिचय सन् १९३१ में हुआ, जब मैं मथुरा-संग्रहालय में कार्य करने गया। मथुरा में जिन साहित्यिक मित्रों ने मुझे अपनी ओर खींचा, उनमें श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार मुख्य थे। 'मेघदूत' पर लिखी हुई उनकी टीका से मैं पहले ही परिचित हो चुका था, परंतु अब सेठजी के खिलखिलाते व्यक्तित्व की परिधि का मैं अंग बन सका।

स्वामीघाट के निकट चूरूवालों का महल भव्य स्थान है। मथुरा के अनेक साहित्यिक मित्र वहाँ समय-समय पर एकत्र होते और गोष्ठी-सुख का अनुभव करते थे। यह सब मेरे उदीयमान मन के लिये आकर्षण की वस्तु थी और उसमें सेठजी की बालसुलभ सरलता, उनका उन्मुक्त हास्य, आठ पहर खुला हुआ स्वागत-भाव और हिंदी तथा संस्कृत-साहित्यों से संबंध रखनेवाली प्रत्येक बात में गहरी रुचि, ऐसा घरेलू वातावरण उत्पन्न करती थीं कि वे गोष्ठियाँ साहित्य-सेवियों के लिये सचमुच रस-तृप्ति की साधन बन गई थीं। एक बात जो हम सबके मन पर असर डालती, वह यह थी कि साहित्यिकों के साथ सेठजी सोलह आने सरस्वती-पुत्र की तरह ही संपर्क में आते। एक भी उदाहरण ऐसा याद नहीं, जब धन-संबंधी नीरसता ने बीच में व्यवधान डाला हो। यही कारण था कि मित्र लोग स्वच्छंदतया वहाँ जमते और सारस्वत गोत्रियों का जो सरल आनंद है उससे छककर लौटते एवं बार-बार उसका स्वाद लेने यमुना तट के समीप उस भवन में एकत्र होते। आज मथुरा पीछे छूट गई है, परंतु दस वर्षों तक अजस्र प्राप्त साहित्यिक बैठकों के वे सुख भूलने के नहीं।

जीवन में रच-पचकर बहुत से सेठ-सेठिये धन के सुमेरु खड़े करते हैं, पर साहित्यिकों को उसमें अमरता की गंध नहीं आती। कहते हैं सोने में सुगंध नहीं होती, इसी कारण साहित्य के भ्रमर वहाँ नहीं पहुँचते। परंतु सरस्वती का कमल जहाँ खिलता है, वहाँ भीना सौरभ चारों ओर फैलता ही है। सेठजी ने भी जीवन में सफल व्यापार किया है। वैश्यों की सहज पैनी बुद्धि से इस क्षेत्र में प्राप्त सिद्धि उनके लिये सच्चे संतोष का कारण है। किंतु उनका साहित्यिक भावों का व्यापार विलक्षण ही है, जिससे उन्होंने अपने मानस के देवायतन में शारदा के लिये पूजा के कुछ फूल चढ़ाए। आज इसीलिये हम उनका 'अभिनंदन' करते हैं।

अस्सी वर्ष की आयु में भी सेठजी के मन में साहित्य-संस्कृति-संबंधिनी रुचि के वे अंकुर विद्यमान हैं, जो केवल सरस्वती-पुत्रों के ही बाँट में आते हैं। उनका मन द्विधा विभक्त नहीं है; जीवन में जिस वस्तु की उन्होंने उपासना की उसे पाया, यह संतोष उनके श्रद्धावान् मन को आज प्रसन्न रखता है। पाणिनी के शब्दों में कहें तो 'पुत्र-पौत्रमनु भवति' वाले उनके पुत्र-पौत्रीण रूप को देखकर आज उनके मित्र हृदय से प्रसन्न हैं। जीवन में सबको परिमित समय और शक्ति ही मिलती है, उनका सदुपयोग यदि समय रहते किया जा सके तो यही लाभ है।

सेठजी प्राचीन परंपरागत जीवन-विधि के प्रति आस्थावान् हैं। वे उस परंपरा के प्रतीक हैं, जो शास्त्रानुमोदित धर्म-कर्मों के श्रद्धायुत प्रतिपालन पर आश्रित है। किंतु उनके ये विचार और जीवन-चर्या एकानंतः निजी व्यक्तित्व की परिधि में सिमटे हुए हैं। अतएव वे सर्वथा निर्विरोध रहकर जगत् के नितप्रति परिवर्तनशील नूतन विधि-विधानों के साथ टकराते नहीं। यह उनके और

उनके मित्रों के लिये पारस्परिक समझौते का कारण तो है ही, स्वयं उन्हें वर्तमान समाज से खीझने का अवसर नहीं देता।

साहित्य के क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण इसी भाव से प्रेरित है। कालिदास, तुलसीदास, व्यास, वाल्मीकि के चार दृढ़ स्तंभों पर जिस भवन का निर्माण भारतीय संस्कृति कर सकी, उसके वे एक नागरिक हैं। उन्होंने परंपरागत आलोचनात्मक-तंतुओं से इन काव्यों का निरंतर रसपान किया है। साहित्यिक जीवन में इसे वे अपनी पूंजी मानते हैं। किसी भी प्रकार की प्रयत्न-साध्य शिक्षा के बिना इन अमर काव्य-ग्रंथों की कृपा से ही वे भारतीय साहित्य और संस्कृति का सान्निध्य प्राप्त कर सके हैं।

एक बात जो हमारे लिये पहेली रही है और आगे भी जिसकी गुत्थी खुलेगी ऐसी आशा नहीं, वह सेठजी का अलंकारों के क्षेत्र में 'गजावलोकन'—हाथी की तरह घूम कर पूरी तरह देखना—है; अथवा हम इसे 'शृंगग्राहिकया' प्रवेश कहें तो उपयुक्त रहेगा, अर्थात् अलंकारों के 'मरखना बैल' के सींग पकड़ कर उसे सीधा कर लेना, इसे सचमुच हम सेठजी का साका कहते हैं। हमारी निजी प्रवृत्ति तो साहित्य की उस अनलंकृता शकुंतला की ओर रही है, जिसके लिये कालिदास ने लिखा था—

किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ?

किंतु इच्छा से, अनिच्छा से, अलंकारों की महिमा तो माननी ही पड़ेगी। उनसे सचमुच काव्य का शरीर सजता है। उनकी परख दुरूह भले ही हो, वे हैं साहित्य के आवश्यक अंग। सेठजी अलंकारों के विषय को अपने साहित्यिक आँगन में 'कलोर बछड़े' की तरह खेलते हुए पा सके, यह उनकी जन्मांतर सिद्धि है।

ब्रज-साहित्य-मंडल के लिये सेठजी सांस्कृतिक दृष्टि से मथुरा के जनपदीय प्रतिनिधि हैं। उनका अभिनंदन ब्रज-संस्कृति का अभिनंदन है। साहित्य, संस्कृति, धर्म, कला और लोक के रूप में ब्रज-मंडल का जो रूप इतिहास के पृष्ठों में संपादित हुआ है, उसका परिचय 'ब्रज-साहित्य-मंडल' और उसके संस्थापक-संवर्धक श्री सेठजी दोनों के हृदय की वस्तु है। इसी भाव से यह सामग्री प्रस्तुत है। परिमित होते हुए भी यह श्रद्धा की वस्तु है, अतएव ग्राह्य है।

श्रद्धा के कुछ पुष्प

श्री देवीदत्त शुक्ल

विजेता मुसलमानों-द्वारा हिंदी के अपदस्थ कर दिये जाने पर भी वह अपदस्थ नहीं हो सकी। हिंदी-भाषियों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण इतने ऊँचे स्तर पर था कि राजनैतिक पराधीनता की दुरवस्था में भी वे मातृभाषा का प्रेम नहीं त्याग सके। या यों कहें कि उस दृष्टिकोण के फलस्वरूप उनमें कालांतर में समय-समय पर ऐसे साहित्य-रत्न निकलते आए, जो बरबस हिंदी-भाषियों को अपनी ओर बराबर आकृष्ट ही नहीं किए रहे, किंतु उनपर ऐसा प्रभाव भी डालते रहे, जिससे उनमें साहित्यानुराग निरंतर बढ़ता ही रहा। यह इसी महान् सतत प्रयत्न का महा फल है कि आज हिंदी देश के साहित्य-क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान ही नहीं प्राप्त किए है, किंतु उसने अपना स्वाभाविक पद भी प्राप्त कर लिया है और वह आज देश की सरकार-द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण की गई है। यह सब उन स्वार्थत्यागी तथा अनन्य मातृभाषा-प्रेमी विद्वानों की बदौलत हो सका है, जो असुविधाओं और विषम परिस्थितियों की परवा न करते हुए स्वात्म-सुखाय उसकी और उसके साहित्यकारों की सेवा-अर्चा में बराबर संलग्न रहे हैं। प्रसन्नता की बात है कि हम अपनी उस प्राचीन परंपरा को आज भी अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

जैसी हमारी क्षमता और शक्ति रही है, हमने बराबर मातृभाषा के साहित्य की अभिवृद्धि भी की है और अपने लोक-समादृत साहित्यकारों की पूजा भी। ऐसी ही पूजा-अर्चा का एक अभिनव थाल आज हम लेकर फिर उपस्थित हुए हैं, जिसकी भेंट एक ऐसे ठोस साहित्यिक को की जा रही है, जो आत्म-प्रशंसा या 'प्रोपेगेंडा' से सदैव दूर रहा है और जिसने एकमात्र हिंदी के साहित्य का व्यापक अध्ययन कर अपने 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक एक बृहत् ग्रंथ से सहस्रों हिंदी-भाषियों की ज्ञान-वृद्धि के लिए एक अमूल्य साधन ही नहीं उपस्थित कर दिया है, किंतु अपनी सुकृति से मातृभाषा के साहित्य-भंडार के गौरव को बढ़ाया भी है। वे स्वनामधन्य साहित्य-मनीषी हैं मथुरा के वयोवृद्ध सेठ क़न्हैयालाल पोद्दार। उनकी इस अवसरपर इस प्रकार अभ्यर्थना और पूजा कर इसके संयोजकों ने अपने कर्त्तव्य का पालन ही नहीं किया है, किंतु अपनी इस सुकृति से उन्होंने मातृभाषा का भी गौरव बढ़ाया है। अतएव इस सत्कार्य के लिए वे लोग भी कम प्रशंसा के पात्र नहीं हैं।

सेठजी का नाम मैंने छात्रावस्था में मित्र-मंडली की गोष्ठियों में सुना था और उनके 'अलंकार-प्रकाश' के भी दर्शन किए थे, परंतु उनके वास्तविक रूप का दर्शन मुझे उनके 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ में हुआ। सेठजी के संपर्क में आने का सौभाग्य मुझे तब प्राप्त हुआ, जब पंडित किशोरीदास वाजपेयी जी ने 'काव्य-कल्पद्रुम' की एक समालोचना 'सरस्वती' में छपवाई। इसका उत्तर पोद्दारजी ने तुरंत ही दिया, जो यथा-समय 'सरस्वती' में छपा। तदुपरांत वाजपेयी जी ने फिर एक लेख लिखा और जब पोद्दारजी ने उसका भी समुचित उत्तर दिया, तब वाजपेयी जी चुप हो गए और वह विवाद एक प्रकार से अधूरा ही रहा। उसका कोई उपयुक्त निष्कर्ष न निकल सका। यह देख कर मुझे दुःख हुआ और मैंने इस बातका अनुभव किया कि वाजपेयी जी के लेख को छापकर मैंने 'सरस्वती' के पृष्ठों को व्यर्थ ही बरबाद किया और एक आदरणीय वयोवृद्ध साहित्यिक को दुःख पहुँचाया, परंतु पोद्दारजी के जो पत्र मुझे मिले थे, उनको पुनः पढ़कर मैंने अपना समाधान कर लिया। उन पत्रों में

जो सात्विक भाव तथा सद्विचार सेठजी ने व्यक्त किए थे, वे सर्वथा उनके अनुरूप थे। इसके बाद पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी जी ने 'सरस्वती' में 'रामचरितमानस' के संबंध में अपनी लेखमाला छपवाई तब पोद्दारजी ने उसके विरुद्ध लेख लिख कर भेजा। उसे मैंने आदर के साथ 'सरस्वती' में छापा। यहाँ मैं इतना अवश्य कहूंगा कि पोद्दारजी अपनी आस्तिकता के अतिरेक के कारण धोखा खा गए। वाजपेयी जी ने उक्त लेखमाला विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी थी। यों वाजपेयी जी व्यक्तिगत रूप से आस्तिक ही नहीं, नियमपूर्वक ब्राह्मणोचित पूजा-अर्चा के बालपन से अभ्यासी हैं। तो भी यह विवाद साहित्यिकों के लिए रुचिकर ही रहा। इन दो प्रसंगों के कारण पोद्दारजी से मेरा जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उससे मैं भले प्रकार जान सका था कि वे साहित्यानुरागी तो हैं ही, उदात्त चरित के सदसद्विवेकी, संयमशील भक्त पुरुष भी हैं।

ऐसे महान् पुरुष की आज उनके ८१ वें वर्ष के वय में हिंदी के साहित्यानुरागियों-द्वारा जो अभिनंदन किया जा रहा है, उसमें सहयोग करना प्रत्येक मातृभाषा-प्रेमी का कर्तव्य है और नगण्य होते हुए भी इस सत्कार्य में भाग लेने का मित्रवर पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं भी सेठजी के कर-कमलों में यह 'शब्द-पुष्पांजलि' अर्पित करता हूँ और जगदीश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतंजीवी हों।

स्वर्गीय संत श्री गुलाबराव महाराज

पोद्दारजी का घराना और पोद्दारजी

पं० श्री झाबरमल्ल शर्मा

"यथा चतुर्भिः रत्नं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनताप ताड़नैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते ज्ञानेन शीलेन कुलेन कर्मणा ।।"

देश "शेखावाटी" राजस्थान-जयपुर विभाग के अंतर्गत एक उप-विभाग है। वहाँ आँबेर—जयपुर के कछवाहा राजवंश की एक बलिष्ठ एवं बहु-संख्या विशिष्ट शेखावत-शाखा का आधिपत्य है। कछवाहा-वंश की शाखावत-शाखा का मूल पुरुष आँबेर के तेरहवें अधिपति राजा 'उदयकरण' (वि० सं० १४२३-१४४५ तदनुसार सन् १४८०-१५०२ ई०) के अन्यतम पुत्र 'राव बाला' का प्रतापी पौत्र 'राव शेखा' (सं० १४९०-१५४५) हुआ, जिसने स्व-बाहुबल से अपनी सत्ता स्थापित की। राव शेखा, जोधपुर-राज्य के संस्थापक वीरवर 'राव जोधा' का सम-सामयिक एवं सम-शील योद्धा था। शेखावतों का अधिकार स्थापित होने के अनंतर ही इस भाग का नाम 'शेखावाटी' प्रसिद्ध हुआ। 'वाटी' पट्टी का नामांतर है। उदयपुरवाटी[1] झुंझुनूवाटी, नरहड़वाटी, सिंघाटनावाटी, सीकरवाटी और फतहपुरवाटी इत्यादि शेखावाटी के ही अंतर्गत हैं। वाँसूर (अलवर) तथा नाण-अमरसर और खंडेला के इलाके भी पुरानी शेखावाटीके ही अंग हैं। कारण वहाँ शेखावत वंश की ही प्रधानता रही है।

रामायण के समय में यह प्रदेश 'मरुकांतार' के अंतर्गत था और महाभारत-काल में इसकी गणना 'मत्स्य देश' में की जाती थी, जिसकी राजधानी का गौरव वर्तमान "वैराठ" को प्राप्त था। वैराठ का ही प्राचीन नाम 'विराट नगर' है। वैराठ की समीपवर्तिनी एक पहाड़ी की चट्टानपर बौद्ध सम्राट् अशोक का एक अभिलेख प्राप्त हो चुका है, जो विक्रम संवत् के प्रायः २०० वर्ष पूर्व का है। यह लेख 'भाब्रू का शिला लेख' के नाम से प्रसिद्ध है और 'रायल एसियाटिक सोसायिटी बंगाल' के संग्रहालय में सुरक्षित है।

दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी—चोहाणों के शासन-काल में इस प्रांत का 'सपाद लक्ष'[2] एवं 'अनंत'[3] नाम होना पाया जाता है। तत्परवर्ती-समय में चोहाण, निर्वाण, मोरी, चंदेल और जोड़ इत्यादि क्षत्रिय वंशों के अतिरिक्त यहाँ कायमखानी और नागड़ पठान भी शासन कर चुके हैं। कायमखानियों के झुंझुनू और फतहपुर—दो राज्य थे और नागड़ पठानों का परगना था नरहड़। विक्रम की १८ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में शेखावत वीर 'शार्दूलसिंह' (उदयपुर) और 'राव शिवसिंह' (सीकर) ने जयपुर-प्रतिष्ठाता महाराजाधिराज 'सवाई जयसिंह' की सहानुभूति और सहायता से उक्त परगनों पर अधिकार स्थापित कर अपने 'शेखावत उपनिवेश' की सीमा बढ़ायी।[4]

रामगढ़

सीकर-संस्थान के 'राव देवीसिंहजी' (सं० १८२०-१८५२) ने अपनी सीमा के अंतवर्ती नोसा गाँव की जगहँ संवत् १८४८ में 'रामगढ़' की नींव डाली और वहाँ चूरू (बीकानेर) से सेठ

[1] यह उदयपुर, मेवाड़ के उदयपुर से भिन्न है।
[2] डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा—'राजपूताना के विभिन्न भागों के नाम'—पृष्ठ ५।
[3] हर्ष के पहाड़ का 'शिलालेख'—श्लोक १६ वाँ, एपिग्राफिया इंडिका–भाग २।
[4] इस लेख के लेखक-द्वारा लिखित 'शेखावाटी के शिलालेख' शीर्षक लेख।

भगोतीरामजी पोद्दार[1] को उनके पुत्रों-सहित आदर पूर्वक लाकर बसाया, अतएव वह छोटासा गांव कस्बे का रूप धारण कर "सेठों का रामगढ़" कहलाया[2]। सेठ भगोतीरामजी के कारण थोड़े ही समय में रामगढ़ की आबादी ही नहीं, प्रत्युत स्मृद्धि के साथ ख्याति भी बढ़ गई और उसकी गणना शेखावाटी के मुख्य बारह शहरों में हुई।

पोद्दारजी के पूर्व पुरुष

कहा जाता है, चूरूके तत्सामयिक ठाकुर साहब से जगात के प्रश्न को लेकर सेठ भगोतीरामजी की अन-बन हो गई थी। उस समय राव देवीसिंह जी ने वंश-परंपरा के लिये राज-संमान के साथ अपनी ओर से सब तरह की सुविधाएं देकर उन्हें रामगढ़ में बसने के लिये उत्साहित किया था। सेठ भगोतीरामजी तीन पुत्रों के पिता और आठ पौत्रों के पितामह थे। उनके पुत्रों में ज्येष्ठ सेठ चतुर्भुजजी ने एक सिद्ध महात्मा यति की श्रद्धापूर्वक सेवा की थी। यतिजी ने कृपापूर्वक उन्हें व्यापार के लिये यात्रा करने का मुहूर्त बताया। तदनुसार चतुर्भुजजी घरसे विदा होकर शहर से बाहर पहुँचे तो मार्ग में दाहिनी ओर एक काला सर्प फन उठाये दृष्टि-गोचर हुआ। सर्पको देखते ही अपशकुन समझकर सेठजी लौट आये और सीधे यतिजी के पास पहुंचे—उन्हें अपने मन की बात कही। यतिजी ने सोचकर कहा—तुमने लौटकर अच्छा नहीं किया, वह अप-शकुन नहीं—शुभ शकुन था और फलतः तुम्हारे सरपर छत्र फिरता, अब भी विलंब न कर तुरंत चले जाओ तुम्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी और तुम्हारा प्रताप बढ़ेगा। अपने श्रद्धेय महात्मा का आशीर्वाद पाते ही चतुर्भुजजी पुनः प्रस्थानित हुए और नोहर से भटिंडे पहुँचकर अपनी कोठी की स्थापना की और विपुल रूप में धनार्ज्जन किया। पंजाब का भटिंडा नगर उन दिनों व्यापार का एक प्रधान केंद्र बना हुआ था। भटिंडे का नाम सेठ भगोतीरामजी के कृतज्ञ कुल में अब भी बड़ा शुभदायक समझा जाता है। चतुर्भुजजी-द्वारा प्रतिष्ठित भगवान् श्री चतुर्भुज जी का मंदिर रामगढ़ में उनके पवित्र नाम का स्मरण दिलाने के लिये विद्यमान है।

सेठ गुरुसहायमलजी

सेठ चतुर्भुजजी के पुत्र ताराचंदजी सरल स्वभाव के स्वधर्मनिष्ठ सज्जन थे। अपने पुत्रद्वय गुरुसहाय-मलजी और हरसहायमलजी को छोड़कर वे युवावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे। सेठ गुरुसहायमलजी और उनके कनिष्ठ सहोदर हरसहायमलजी का परस्पर में बड़ा स्नेह रहा। इन दोनों ही भाइयों ने अपने विशिष्ट गुणों के कारण यथेष्ट ख्यातिलाभकर स्व-कुल का गौरव बढ़ाया। गुरुसहायमलजी ने संवत् १८९०-९१ के लगभग भाई से पृथक होकर अपना वैभव विस्तार किया। व्यापार में पृथकता रहने पर भी पारस्परिक स्नेहभाव में भाइयों ने किसी प्रकार का अंतर नहीं आने दिया। गुरुसहायमलजी ने जिस प्रकार प्रचुर परिमाण में धनार्ज्जन किया, उसी प्रकार मुक्त हस्त होकर उसका धर्म के कामों में विनियोग किया। हिंदी के अन्यतम निर्माता सुदर्शन-संपादक स्वर्गीय पंडित माधवप्रसादजी मिश्रके शब्दोंमें उनकी धर्मनिष्ठा, ईश्वर-परायणता, साधु-सेवा और ब्रह्मण्यता का चित्र सहस्रों लोगों के हृदय-पटलपर अंकित है। उनके चरित से अनेक उपदेशों के साथ यह शिक्षा मिलती है कि दीन-दुखियों की सहायता, विद्वानों का आदर और परोपकार करने से मनुष्य बड़ा होता है—केवल रुपये के बल से नहीं। सेठ गुरुसहायमलजी की महत्ता का इससे बढ़कर उत्कृष्ट उदाहरण क्या हो सकता है कि लोग परस्पर वार्त्तालाप में कहा करते थे कि **'ऐसा तू बड़ा गुरुसहायमल सेठ आ गया जो, दुःख-**

[1] 'पोद्दार-अल्ल' वृत्ति मूलक है। किसी बादशाह या नवाब की पोतेदारी करने के कारण पोद्दार कहलाये। 'पोद्दार' बाँसल गोत्र के अग्रवाल वैश्य हैं।

पोद्दार शब्द का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र प्रकरण ३७ में—"पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान् कारयेत्" आया है। विभिन्न व्यवसाय-वाणिज्य के उपयोगी, अर्थात् रस, रत्न से लेकर वस्त्र और पत्थर तक की माप-तोल और बाँटों का निर्धारण करने का अधिकारी।

[2] सीकर का इतिहास पृष्ठ १०१।

दूर कर देगा।' सेठजी का व्यापार भारत के बड़े नगरों, कस्बों और प्रसिद्ध व्यापारिक मंडियों तक फैला हुआ था। यही नहीं—दूर देश चीन के 'हांग-कांग' और 'संघाई' में भी उनकी कोठियाँ थीं[1]। वैसे तो आपकी कोठियों पर सराफे के साथ-साथ उस समय के प्रचलित सभी व्यापार होते थे, पर अफीम और बीमा का व्यापार मुख्य था। मालवा प्रांत से अफीम खरीद कर बंबई-द्वारा चीन भेजी जाती थी। उस समय अफीम का व्यापार बड़ी उन्नतावस्था में था और सेठ जी उस क्षेत्र में अग्रगण्य थे। बीमाका व्यापार उस समय किसी विदेशी या स्वदेशी कंपनी के हाथ में नहीं था। वह लूट-खसोट का जमाना था—रक्षा के साधन भी बहुत स्वल्प थे। उस स्थिति में एक स्थान की वस्तु दूसरे स्थान तक सुरक्षित पहुँचा देने का भार उठाने का साहस सेठजी की कोठियाँ ही करती थीं[2]। व्यापार में जो लाभ होता था उसका एक विशेष भाग पुण्यार्थ-व्यय करने के लिये पृथक् रक्खा जाता था और जो भाग पृथक् रक्खा जाता था उससे भी अधिक व्यय करने में वे आनंदानुभव करते थे। मथुरा-वृन्दावन की यात्रा सेठ गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी ने संवत् १६०० के लगभग की थी।

गुरुसहायमलजी के पुत्र घनश्यामदासजी भी साथ थे। उस यात्रा में उनके हृदय में ब्रज में निवास करने का अनुराग उत्पन्न हुआ और वे वर्ष में छह महीने मथुरा और छह महीने रामगढ़ रहने लगे। संवत् १६०५ में अपने इष्टदेव श्री गोविंददेवजी का मंदिर निर्मित कराके उसके भोगरागकी स्थायी व्यवस्था के लिये लक्षाधिक रुपये की स्थावर और जंगम संपत्ति समर्पित की। मथुरा में सेठजी का घराना चूड़ीवालों के नाम से प्रसिद्ध है। वह मुहल्ला भी 'चूड़ीवाले सेठों की गली' कहलाता है। चूरूवाल का अपभ्रंश 'चूड़ीवाल' होगया।

सेठ घनश्यामदासजी

सेठ गुरुसहायमलजी ने काशी की यात्रा के उद्देश्य से जाकर वहाँ मीरघाट के पास एक कोठी खरीदी, जो 'बड़ी कोठी' के नाम से विख्यात है। उसी कोठी में सश्रद्धा उन्होंने शिवालय की प्रतिष्ठा की और 'गुरुसहायमल घनश्यामदास' के नाम से अपना व्यापार आरंभ किया। काशी, मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार आदि तीर्थस्थानों में उनकी ओर से अन्नक्षेत्रों की समुचित व्यवस्था थी। दीन-दुखियों का दुःख-

[1] हांगकांग और शंघाई में अफीम के व्यापार के लिये पहले-पहल गद्दी खोलने का साहस राजस्थानी—मारवाड़ी व्यवसायियों में सेठ भगोतीरामजी पोद्दार के वंशजों ने ही किया था। उनकी चार कोठियाँ थीं, जिनके नाम थे—(१) ताराचंद गुरुसहायमल, (२) स्योजीराम भगतराम, (३) स्योजीराम जोखीराम और (४) स्योजीराम हरगोविंद।

[2] सेठजी के यहाँ बीमा के व्यापार का प्रकार यह था कि जो वस्तु जिस जगह से जो कोई व्यक्ति जिस किसी स्थान को भेजने का इच्छुक होता, वहीं सेठजी की गद्दीके मुनीम-गुमास्ते पहुँचा देते। उसको 'हुंडा-भाड़ा' कहते थे। बीमा की दर प्रायः एक रुपया सैकड़ा और नीचे में बारह आने सैकड़ा तक नियत थी। प्रामाणिकता के साथ शुद्धता इतनी थी कि वस्तु को देखते तक नहीं थे। यदि कोई अपनी वस्तुओं की लाखों की जोखम बेंचना चाहता तो उसके लिये भी तैयार रहते थे। जोखम या बीमाकी वस्तु के बोझ का भाड़ा अलग लिया जाता था। बीमाकी लिखावट यों होती थी—

श्रीरामजी सहाय

भाई नवलकिशोरजी से नारायणप्रसाद का रामराम बंचना। अपरंच (कपड़े का, या अफीम का या गहने का) 'हुंडा-भाड़ा' मंदसौर से बंबई तक तुम्हारा लिया, जिसका रुपया रोकड़ी लिया। ताती, सीली, चोरी, जोरी, आई, अनआई हमारी छै। मिती-संवत् और मुनीम का हस्ताक्षर।

एक बार शेखावाटी के प्रसिद्ध डाकू डूंगजी-जुहारजी ने एक 'सागा' (चालान) लूट लिया था। फिर भी बीमा बेचनेवालों को उसके १३ लाख रुपये देने में किंचित् भी विलंब या संकोच नहीं किया गया था। ऐसे सद्व्यवहार और उदार प्रवृत्ति के कारण ही सेठजी की गद्दी को मारवाड़ी समाज में सर्वोच्च सरपंच होने का संमान प्राप्त हुआ था।

मोचन करने के लिये वे सदा तत्पर रहे। विद्वानों का सत्कार और अतिथि-सेवा उनके जीवन का व्रत था। राजस्थान के ऋषिकल्प विद्वान् पंडित 'मंगलदत्तजी' और पंडित 'तुलसीरामजी' जैसे त्यागशील, तपोधन महानुभावों के सत्संग और उपदेश का उन्होंने विशेष लाभ उठाया था। विद्याप्रचार-कार्य में सेठजी उनके सहायक स्तंभ रहे। महात्मा पंडित मंगलदत्तजी एवं पंडित तुलसीरामजी के साथ शत और अर्द्ध शत संख्या में अध्ययनशील ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का समूह चलता था। वे प्राचीन भारत के कुलपतियों के प्रतीक थे। सेठ गुरुसहायमलजी विमल यश, अतुल संपत्ति और बड़ा परिवार छोड़कर ज्येष्ठ शुक्ल ४ संवत् १९२४ को स्वर्गवासी हुए। रामगढ़ में उनके दाह-स्थानपर स्मारक के रूप में एक विशाल छत्री बनी हुई है।

सेठ गुरुसहायमलजी के पुत्र साधु स्वभाव सेठ घनश्यामदासजी अपने स्वर्गीय पिता के आदर्श-पर व्यापार करते हुए धार्मिक कार्यों में संलग्न रहे। श्री जगदीशपुरी और श्री रामेश्वर-धाम की यात्रा से प्रत्यावर्तित होते समय जब उनका कलकत्ता और बंबई जाना हुआ, तब दोनों ही स्थानों पर उनके प्रति मारवाड़ी समाज के तत्सामयिक प्रमुख सज्जनों ने अपना पूर्ण संमान प्रकट किया था। पंच-पंचायती के कार्यों में सर्वत्र आपके फर्म का नाम सर्वप्रथम लिखने की परंपरा चली आरही है।

सेठ घनश्यामदासजी ने प्रथम पत्नीके देहावसान हो जाने पर अपना दूसरा विवाह किया था। पहली धर्मपत्नी से उनके पुत्र हुए सेठ जयनारायणजी और सेठ लक्ष्मीनारायणजी। दूसरी धर्मपत्नी के गर्भ से सेठ राधाकृष्णजी, सेठ केशवदेवजी और सेठ मुरलीधरजी का जन्म हुआ। ये पाँचों ही भाई परम प्रतापी और स्वनाम-ख्यात हुए।

सेठ जयनारायणजी

इनमें ज्येष्ठ जयनारायणजी का जन्म विक्रम संवत् १९०६ में हुआ था। अपने पितामह सेठ गुरुसहायमलजी के जीवनका उनपर विशेष प्रभाव पड़ा था। बाल्यकाल से ही पितामह के सान्निध्य में बैठकर प्रतिदिन वे श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और योगवाशिष्ठ आदि की कथाएँ श्रवण करते और यथावकाश उन कथाओं को लिपिबद्ध भी करते रहते थे। उस समय उनके हृदयमें धर्म की भावना दृढ़ता से जम चुकी थी। उनकी दिनचर्या आदर्श थी। वे ब्राह्म मुहूर्त में गात्रोत्थानकर सूर्योदय पर्यन्त गीता आदि पंचरत्नों का पाठ करते रहते थे। प्रतिदिन श्रीमद्भागवतका पाठ और कथा सुनते थे। संध्योपासनादि नित्यकर्म से लगभग ११ बजे निवृत्त होने के अनंतर अपने पितामह-द्वारा संस्थापित श्री गोविंददेवजी के मंदिर में १०८ परिक्रमा करने का उनका अवश्य पालनीय नियम था। उनके यहाँ ब्रजके प्रसिद्ध विद्वानों और साधु-संतों की उपस्थिति सदा बनी रहती थी। वे स्वभाव से ही उदार थे। उनकी ओर से धार्मिक ग्रंथों के पाठ और गायत्री के जपानुष्ठान भगवत्प्रीत्यर्थ होते ही रहते थे।

सेठ जयनारायणजी ने संवत् १९३२ विक्रमाब्द में सकुटुंब श्री जगदीशपुरी की यात्रा की थी। उस समय रेल रानीगंज तक ही थी। आगे बैल गाड़ियों में जाना पड़ता था। मार्ग में मेदिनीपुर में विश्राम करने के लिये आपका संग ठहरा हुआ था कि रात्रिको अचानक मेदिनीपुर की नदी में बाढ़ आ गई। बाढ़ का वेग प्रबल था। जहाँ सेठजी का पड़ाव था, वह स्थान चारों ओर से बाढ़ के जल द्वारा घिर गया। उस दु:स्थिति में सेठजी ने अपने इष्टदेव का स्मरण किया। कहा जाता है, उस समय एक श्यामकाय पुरुष ने हस्तावलंबन पूर्वक पानी के प्रवाह से निकाल कर सेठजी को सपत्नीक और सपुत्र एक ऊँची टेकड़ी पर खड़ा कर दिया। इस विपत्ति से उद्धार पाने के लिये भगवान् का परम अनुग्रह मानकर उनके प्रीत्यर्थ सेठजी ने एक लक्ष ब्राह्मण भोजन का संकल्प किया। इस प्रकार ब्रज में एक बार नहीं कई बार स्वसंकल्पानुसार ब्राह्मणों, साधुओं और दीन-दरिद्रों को भोजन कराके उन्होंने अपनी धर्मनिष्ठा प्रकट की थी। वे कृश-काय होने के साथ-साथ प्राय: अस्वस्थ ही रहते थे। संवत् १९४० में उनपर रोगका प्रबल आक्रमण हुआ। अपने रोग की असाध्यावस्था में उन्होंने बहु संख्यक स्वर्ण-मुद्राओंका दान अनाथों—असमर्थों को देकर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया था। उनकी

अमित दान करने की गुप्त और प्रकट प्रवृत्ति से चिंतित होकर एक बार उनके पिताजी ने कहा कि तुम गृहस्थ हो, बड़े कुटुंबी हो इसलिये व्यय करने में किंचित् बद्धमुष्ट रहने की आवश्यकता है, इसपर जय-नारायणजी ने विनीत भाव से उत्तर दिया कि आपने जितना मुझे दिया है, उतना जब आपकी इच्छा हो, तब सँभाल लीजिएगा। मैं जो कुछ दान-पुण्य करता हूँ, भगवदर्पण करता हूँ। आश्विन शुक्ला १० संवत् १९४० को श्री गोविंददेवजी के चित्र का दर्शन करते-करते उन्होंने अपने नश्वर शरीरका त्याग किया। उस समय उनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी और उनके पिता सेठ घनश्यामदासजी विद्य-मान थे। अपने जीवन में सेठ घनश्यामदासजी के लिये ऐसा कोई विशेष दुःखद प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ था। अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र के वियोग का शोकाघात वे सहन नहीं कर सके। पुत्र की असाम-यिक मृत्यु का दुःसंवाद सुनते ही उनके मुँहसे "जैनू नहीं है?" केवल इतना ही निकला और वे अवाक् हो गए। इसके बाद न बोले, न खाया और न पीया। इसी स्थिति में रहकर पाँचवें दिन वे चल बसे। उनकी धर्मपत्नी ने तपस्विनी के रूप में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। वे एक लक्ष भगवन्नाम का प्रतिदिन जापकर भोजन करती थीं। कोई याचक उनके पास पहुँच कर रिक्त-हस्त नहीं लौटता था। अंत में संवत् १९५२ में हरिद्वार में श्रीगंगाजी के प्रवाह में उस देवीने अपनी देह उत्सर्ग कर शांतिपद-प्राप्त किया।

सेठ जयनारायणजी के कनिष्ठ सहोदर अनन्य भगवद्भक्त, जीवन-मुक्त सेठ लक्ष्मीनारायणजी ब्रज के पुण्य-स्थल नंदगाँव और बरसाने के बीच 'प्रेम-सरोवर' के तट पर एक विशाल मंदिर[1] बनाकर अपना अमर यश छोड़ गये हैं। भक्तवर लक्ष्मीनारायणजी को व्यवसाय में कभी हानि उठानी नहीं पड़ी और जो लाभ हुआ, उसमें से कुछ भाग अपने पुत्रों को देकर अवशिष्ट संपूर्ण संपत्ति उन्होंने श्रीकृष्णार्पण कर दिया। सेठ राधाकृष्णजी बड़े प्रेमी, मिलनसार, उदार, गुण-ग्राहक और पोद्दार-वंश की चिरसंचित कीर्ति के संबर्द्धक हुए। वे शौकीन भी एक ही थे। चित्रकूट में उन्होंने संवत् १९७४ में एक सुंदर शिवालय की प्रतिष्ठा की थी। वहीं संवत् १९७७ में उनका स्वर्गवास हुआ। सेठ केशव-देवजी भी अपने पूर्व-पुरुषों के अनुरूप स्वधर्मभक्त और श्रद्धालु सज्जन थे। उन्होंने हरिद्वार के पवित्र गंगातट को अपना आवासस्थल बना लिया था। हरिद्वार में ही संवत् २००७ में उनकी शुद्ध, सात्विक जीवन-लीला समाप्त हुई। अपने पाँचों भाइयों में सबसे कनिष्ठ सेठ मुरलीधरजी थे। वे वीतराग

[1] यह दर्शनीय मंदिर पत्थर का सुदृढ़ बना हुआ है और कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऊपर की मंजिल में रहने के उपयुक्त भव्य एवं विशाल कमरे बने हुए हैं। बाहरी आहते में धर्मशाला, विद्यालय, अन्नक्षेत्र तथा शोभनीय उद्यान है। ब्रज के दर्शनार्थी और परिक्रमा करने वाले श्रद्धालु जन यहाँ विश्राम के साथ भगवान् के दर्शन-लाभ कर कृतार्थ होते हैं। यहाँ भाद्रपद-शुक्ला ११ को जलझूलनी के उपलक्ष में प्रतिवर्ष मेला लगता है। भगवान की सवारी 'प्रेम-सरोवर' पर पधारती है। श्री ठाकुर जी नाव में विराज कर जल-विहार करते हैं और रासलीला होती है। इस प्रेम-सरोवर के संबंध में ब्रज में यह दोहा प्रसिद्ध है—

प्रेम सरोवर प्रेम की, भरी रहै दिन रैन।
राधाजू के चरन पै कृष्ण धरें दोउ नैन।।

भक्तों की भावना है कि श्रीराधाकृष्ण का प्रथम मिलन इसी प्रेम-सरोवर पर हुआ था। इसकी वर्णना में सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार-द्वारा रचित एक सवैया यों है—

"उतै आवतहे जु गुविंद अहो! इतै आत रही बृषभानु-कुमारी,
प्रेम-सरोवर भेंट भई यह प्रेम-निकुंज नवीन निहारी।
प्रिय पुष्पित वाटिका मंजु यहाँ रहियै यह कीन बिनै जब प्यारी,
नव नित्य निवास कियौ इत है मिलि राधे-गुविंद निकुंज-बिहारी।।"

थे। जीवन-भर उत्तराखंड (टेहरी-गढ़वाल) में एक साधु के रूप में रहे। सेठ केशवदेवजी से पहले उनका देहांत मथुरा में हो चुका था।

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार

हमारे चरित नायक सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार, स्वर्गीय सेठ जयनारायणजी के ज्येष्ठ पुत्र है। आपका जन्म मथुरा में विक्रम संवत् १९२८ में हुआ। आपके कनिष्ठ सहोदर हुए श्री गोविंद प्रसादजी और श्री कृष्णप्रसादजी। इनमें सेठ गोविंदप्रसादजी का शरीर नहीं रहा।

सेठ कन्हैयालालजी का कुल लक्ष्मी का चिरंतन कृपापात्र तो था ही, आप लक्ष्मी के साथ-साथ सरस्वती का भी कृपा-वर लब्ध करने में सफल हुए। हिंदी-साहित्य-संसार में सेठ साहब एक सुगृहीत-नामधेय काव्यालंकार-मर्मज्ञ, वयोवृद्ध साहित्यकार के रूप में सुपरिचित हैं। भारतवर्ष की स्वनामधन्य प्रसिद्ध संस्था—'काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा, आपको "साहित्य-वाचस्पति"—पदवी से विभूषित कर अपना संमान प्रकट कर चुकी है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों में संस्कृत-श्लोकों का सरल समश्लोकी हिंदी-पद्यानुवाद करने में आप सिद्ध हस्त हैं। मारवाड़ी समाज में आपको अपने कुलानुरूप प्रतिष्ठा प्राप्त है। युक्त प्रांतीय मारवाड़ी अग्रवाल सभा (अधिवेशन-स्थान—हाथरस सं० १९८० वि०), अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी पंचायत (अधिवेशन-स्थान—बंबई, सं० १९८५ वि० तथा कलकत्ता स० १९२८ ई०) और अखिल भारतवर्षीय सनातन-धर्मावलंबीय मारवाड़ी युवक-संमेलन (अधिवेशन स्थान—लक्ष्मणगढ़—सीकर—राजस्थान) आदि संस्थाओं के सभापति-पद को आप अलंकृत कर चुके हैं। अध्यक्षासन से दिये हुए आपके सभी भाषण विचारपूर्ण और सामंजस्य-स्थापक थे। आप सनातन धर्मानुयायी परमास्तिक, श्रद्धालु, स्व-संस्कृति-भक्त और धर्मविरुद्ध सुधारों के समर्थक महानुभाव हैं।

कन्हैयालालजी को उस समय की प्रथा के अनुरूप दस वर्ष की अवस्था में ही विवाह-बंधन में बंधना पड़ा। संवत् १९३८ में फतहपुर निवासी **'श्रीतुंगनरामजी'** चौधरी की पुत्री का आपने पाणिग्रहण किया। वधू-पक्ष फतहपुर से विवाह करने के लिये मथुरा आ गया था। उभय पक्ष की उदारता और उत्साह से विवाहोत्सव मथुरा में संपन्न हुआ था। आपकी धर्मपत्नी यथार्थ रूप में सहधर्मिणी सिद्ध हुई है। पाँच वर्ष की वय होनेपर आपकी शिक्षा का श्रीगणेश 'महाजनी' से हुआ। बुद्धि आपकी तीक्ष्ण थी। पट्टी-पहाड़ों के साथ-साथ विष्णु-सहस्रनाम और गीता के श्लोक आपको कंठस्थ करने पड़ते थे। आपके प्रारंभिक शिक्षा-गुरु थे मथुरा-निवासी पंडित हरिश्चंद्रजी जोशी। इन्हीं पंडित हरिश्चन्द्रजी ने 'राजा लक्ष्मणदासजी' को पढ़ाया था। पंडितजी की अवस्था उस समय ६० वर्ष के लगभग थी। बड़ी शांत प्रकृति के देवता पुरुष थे। पंडित हरिश्चंद्रजी से ही आपने 'हसांत' तक व्याकरण पढ़ा।

संवत् १९४० वि० में एक साथ—पाँच दिन के भीतर आपको अपने पूज्य पिता और पितामह के वियोग का असह्य दुःख सहन करना पड़ा। उम्र आपकी उस समय केवल १२ वर्ष की थी। पिता की मृत्यु से ज्येष्ठत्व के कारण घर-गृहस्थी के साथ ही पैतृक व्यवसाय के संचालन का भार भी आप पर आ गया। इस दशा में नियमित रूप से किसी विद्यालय में प्रविष्ट होकर पढ़ने का सुयोग तो आपके लिये नहीं रहा, पर स्वाध्याय का आपने क्रम-भंग नहीं होने दिया। तब तक साढ़ेतीन अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता अर्थ-सहित आप पढ़ चुके थे। तदनंतर श्रीमद्भागवत, श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण और रामचरितमानस के नित्य पाठ का आपने नियम ग्रहण किया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रामचरितमानस के पाठ में आपका मन अधिक संलग्न हुआ। उसपर महंत रामचरणदासजी अयोध्या निवासी की विशद एवं विस्तृत टीका थी। टीका की भाषा थी अवधी। उसकी तीन-चार आद्योपांत आवृत्तियाँ आपने मनायोग से कीं। इसके अतिरिक्त आप 'भारतेंदु हरिश्चंद्रजी' की गद्य-पद्य रचनाओं का अवलोकन करते रहते थे। निरंतर और नियमित ग्रंथावलोकन की प्रवृत्ति ने आपको केवल साहित्यानुरागी ही नहीं, प्रत्युत साहित्य-पारंगत विद्वान् बनाया। इसी अवसर में राजस्थान के प्रसिद्ध काव्यकलाविद् गुसाँईं 'गणेशपुरीजी' के तीन दिन के सत्संग का लाभ उठाने का आपको सुयोग प्राप्त

पोद्दारजी की वंशावली

—०:*:०—
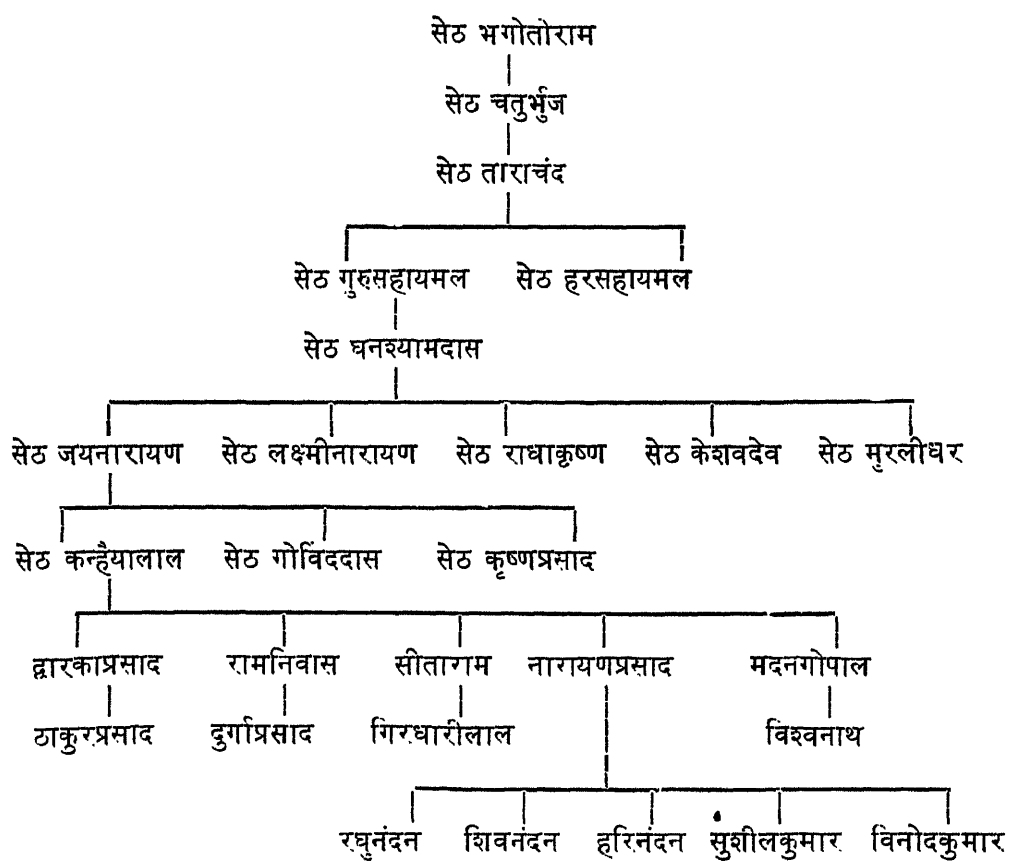
हुआ। गणेशपुरीजी वंशभास्कर-रचयिता महाकवि 'सूर्यमल्लजी मिश्रण' के पट्टशिष्य और स्वयं वीररस की ओजपूर्ण कविता-रचना में सिद्धहस्त थे। संवत् १९४७ वि० के लगभग आपका गणेशपुरीजी के साथ समागम हुआ और उनसे 'भाषाभूषण' का कुछ अंश केवल तीन दिन आपने पढ़ा, जिससे अलंकार-शास्त्र में आपकी अभिरुचि हुई। गणेशपुरीजी ने 'महाराणा सज्जनसिंह जी' (उदयपुर-मेवाड़-धराधीश) के अनुरोध से 'अलंकार-रत्नाकर' नामक पुस्तक का संपादन किया था। वह पुस्तक मँगाकर पढ़ने की उन्होंने सेठजी को संमति दी। तदनुसार सेठजी ने पुस्तक मँगाने में विलंब नहीं किया और अपने ज्ञान को बढ़ाया। आपके पितृव्य सेठ राधाकृष्णजी की गुण-ग्राहकता से उनके पास गुणीजनों का सदा जमाव रहता था। विद्वद्वर गणेशपुरीजी भी उनके आग्रह से रामगढ़ पधारे हुये थे। समागत एवं समुपस्थित विद्वानों तथा गुणियों से प्रशंसापूर्ण शब्दों में आपका परिचय देकर मिलाने का आपके पितृव्य महोदय का नियम-सा हो गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस प्रशंसा के अनुरूप अपनी योग्यता बढ़ाने की लगन आपको लगी और हृदय से लगी, जिसने आपकी प्रतिभा को जगा दिया। एक पंडित रामलालजी दिल्ली के निकटवर्ती ग्राम सदर-सराय के रहनेवाले थे। पंडितजी को उनके पांडित्य के विचार से आपके श्री गोविंददेवजी के मंदिर की संस्कृत-पाठशाला के प्रधानाध्यापक-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। वे सर्व शास्त्रदर्शी विद्वान् तो थे ही—वेदांत में उनकी गति विशेष थी। सेठजी ने उनसे 'काव्य-प्रकाश' पढ़ाने का अनुरोध किया। उन्होंने काव्य-प्रकाश पढ़ाना स्वीकार करने के साथ ही अपनी ओरसे 'पंचदशी' पढ़ने का भी आग्रह प्रकाश किया। सेठजी के संमत होने पर पंडित रामलालजी ने काव्य-प्रकाश का अलंकार विषयक दशमोल्लास पढ़ाया और उसके पश्चात् अपना अभिलषित वेदांत ग्रंथ 'पंचदशी' भी। इसके अतिरिक्त व्यापार-क्षेत्र में निरंतर काम करने के कारण साधारण अंगरेज़ी का भी अभ्यास आपको हो गया। इस प्रकार आपका विद्यानुराग, सत्संग और अध्यवसाय ही आपकी ज्ञान-वृद्धि का आधार बना। आपका चिर अभ्यस्त ग्रंथावलोकन-क्रम इस समय भी चालू है।

संस्कृत और हिंदी-काव्यों के अनुशीलन से आपकी प्रवृत्ति रचना की ओर आकृष्ट हुई। आपकी रचना का प्रारंभ पद्य से ही हुआ। उन दिनों हिंदी का पहला दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' काला-काँकर (अवध) से प्रकाशित हो रहा था। उसके संपादकीय आसन पर स्वनाम धन्य पंडित 'मदनमोहनजी' मालवीय, पंडित 'प्रतापनारायणजी' मिश्र और बाबू 'बालमुकुंदजी' गुप्त जैसे महारथी विराजमान थे। हिंदोस्थान के स्तंभों में काव्य-चर्चा के लिये भी स्थान निर्दिष्ट था। उसमें पहले समस्या और उसकी पूर्तियाँ प्रकाशित हुआ करती थीं। समस्या-पूर्ति करनेवालों में पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी आदि थे। हमारे पोद्दारजी भी उस समय समस्या-पूर्ति करके भेजने लगे। जब हिंदोस्थान में पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी कृत 'शिव महिम्नस्तोत्र' का पद्यानुवाद निकलने लगा, तब आपने भी उसमें संस्कृत के 'भर्तृहरि-शतकत्रय' का पद्यानुवाद कर प्रकाशित कराया, जो छह महीने तक क्रमशः निकलता रहा। खेद का विषय है कि आपकी इस प्रारंभिक रचना की मूल हस्तलिखित प्रति खो गई, इसलिये वह आज उपलब्ध नहीं है। भर्तृहरि के तीनों शतकों का पद्यात्मक अनुवाद आपने संवत् १९५० के लगभग किया था। अनंतर 'सरस्वती' इंडियन प्रेस प्रयाग-द्वारा सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुई, तब 'महाकवि भारवि' पर आपका एक परिचयात्मक लेख उसके पहले वर्षमें ही प्रकाशित हुआ, जिसको पाठकों ने बहुत पसंद किया था। वह आपका पहला गद्य लेख था। पश्चात् पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादन-काल में समय-समय पर आपकी रचनाएँ 'सरस्वती' में निकलती रहीं और आपका रचनानुराग बढ़ता ही गया। साहित्यावलोकन ने आपको साहित्यालोचन के लिये उत्साहित किया।

अलंकार-प्रकाश

आपने देखा कि जितने रीति-ग्रंथ मिलते हैं, उन सभी में अलंकारों के लक्षण पद्यमें ही दिये गये हैं और लक्षणों को समझने के लिये भी उन ग्रंथों में गद्य में स्पष्टता नहीं की गई, इसलिये पाठकों को विषय के समझने में जटिलता प्रतीत होती है। इस अभाव की पूर्ति के लिये आपने एक ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता का अनुभव किया जिसमें 'अलंकार' जैसे गहन

विषयको समझने और समझाने के लिये गद्य में अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरणों के रूप में लक्षणों का समन्वय समझाने को पद्य में स्पष्टता की जाय। यद्यपि अलंकारों का विषय आपका समझा हुआ था, तथापि अपने ज्ञान को और भी अधिक परिपुष्ट करने के लिये आपने पुनः संस्कृत के अलंकार विषयक ग्रंथों का अनुशीलन आरंभ किया और तदनंतर ग्रंथ-रचना में हाथ लगाया, जो "अलंकार-प्रकाश" के नाम से संवत् १९५९ वि० में 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस बंबई' में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। उस समय हिंदी-साहित्य-संसार में उसका यथेष्ट समादर हुआ। बड़े-बड़े विद्वानों ने प्रशंसापूर्वक शब्दों में उसपर अपनी संमतियाँ भेजीं। अपने समय के प्रख्यात समालोचक बाबू बालमुकुंद गुप्तजी ने 'भारत-मित्र' के चार कालमों में विस्तृत आलोचना कर पोद्दारजी के सफल प्रयास की सराहना की थी। यह ग्रंथ हिंदी-साहित्य-संमेलन प्रयाग द्वारा उसकी मध्यमा-परीक्षा के पाठ्यक्रम में रक्खा गया।

गंगालहरी और पंचगीत

पोद्दारजी की तत्परवर्ती रचना पंडितराज जगन्नाथ-प्रणीत गंगालहरी के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंधान्तर्गत श्रीकृष्ण-चरित संबंधीय वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत एवं महिषीगीत—इन पाँचों मनोहर और रसावह गीतों का व्रजभाषा में समश्लोकी पद्यानुवाद है। 'गंगालहरी' और 'पंचगीत' नामक दोनों ही पुस्तकें संवत् १९६०-६१ वि० में प्रकाशित होकर हिंदी-रसिकों के कर-कमलों में पहुँची थी।

हिंदी मेघदूत-विमर्श

आपकी चतुर्थ महत्त्वपूर्ण कृति है—'हिंदी मेघदूत-विमर्श।' संस्कृत-वाङ्मय में महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का स्थान बहुत उच्च है। इस काव्य पर केवल भारतीय विद्वान् ही नहीं, पश्चिमी विद्वान् भी मुग्ध हैं। हमारे पोद्दारजी, हिंदी में उसी मेघदूत का सुंदर समश्लोकी पद्य तथा गद्यात्मक अनुवाद के साथ टीका करके साहित्य-पारखी विद्वानों के विशेष प्रशंसा-भाजन हुए हैं। पुस्तक की गवेषणापूर्ण ११० पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में मेघदूत का परिचय, कालिदास की कविता-शक्ति, मेघदूत पर यूरोपीय विद्वानों के मत, मेघदूत का योरप में प्रचार, मेघदूत की टीकाओं का विवरण, मेघदूत और रामायण, मेघदूत के अनुकरण काव्य, मेघदूत के हिंदी-अनुवाद, इस अनुवाद और टीका के संबंध में विनीत निवेदन, कालिदास का समय निरूपण, कालिदास और उनके सम-सामयिक कवि एवं सम्राट् तथा कालिदास का जन्मस्थान—आदि विषयों पर विशद विवेचन करते हुए पूर्ण प्रकाश डाला गया है। टीका में मूल संस्कृत-श्लोक देकर गद्य-पद्यात्मक अनुवाद तथा कवि की वर्णना में आये हुए ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थानों का परिचय, समान भाव-व्यंजक दूसरे कवियों के अवतरण तथा कविके वचन से प्राप्त होनेवाली शिक्षा, अलंकार—इत्यादि समाविष्ट हैं। थोड़े शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मेघदूत-संबंधी जितनी तथ्यपूर्ण सामग्री का समावेश इस ग्रंथ में किया गया है, वह किसी एक ग्रंथ में उपलब्ध नहीं हो सकती। वस्तुतः यह पोद्दारजी के तुलनात्मक अध्ययन, रचना-नैपुण्य और असाधारण काव्य-मर्मज्ञता का परिचायक है। इसका प्रकाशन संवत् १९७८ (सन् १९२१ ई०) में हुआ था। "हिंदी मेघदूत-विमर्श" को पाकर द्विवेदी-युग के प्रवर्तक स्वनामधन्य स्वर्गीय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने दौलतपुर—रायबरेली से अपने २४ जनवरी सन् १९२२ ई० के एक पत्र में ग्रंथकर्त्ता पोद्दारजी को लिखा था—

> **"....आपने यह पुस्तक बड़ी अच्छी लिखी। बड़ा परिश्रम किया है। बिखरी हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातों को एकत्र कर दिया है। मेघदूत का इतना विस्तृत संस्करण इतनी ज्ञातव्य बातों से पूर्ण मैंने और कोई नहीं देखा। आपको अनेक धन्यवाद और बधाइयाँ। आपके इस प्रणयोपहार को बड़े मोल का समझ कर मैं सादर अपने संग्रह में रक्खूंगा। मेरा कृतज्ञताज्ञापन स्वीकार कीजिए....।"**

रस-मंजरी और अलंकार-मंजरी

पोद्दारजी अपने रचित 'अलंकार-प्रकाश' के द्वितीय संस्करण में अलंकार-विषय के अतिरिक्त रस, भाव-आदि सभी विषयों का समावेश विस्तृत रूप में करना चाहते थे, पर अवकाशाभाव

के कारण अपने विचारानुसार परिवर्द्धन तो नहीं कर सके, फिर भी संक्षेप में रस-भावादि का विषय बढ़ाकर—"काव्य-कल्पद्रुम" का नाम दे दिया, जिसको 'नागरी-प्रचारिणी सभा आगरा' ने प्रकाशित किया। इसके बाद के काव्य-कल्पद्रुम के संस्करण दो-भागों में—"रस-मंजरी" और "अलंकार-मंजरी" के नामसे अब तक उत्तरोत्तर परिवर्द्धित और परिवर्तित रूप में निकलते रहे हैं। इनमें शब्द, अर्थ, अभिधालक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, रस-भावादि, गुणीभूत-व्यंग्य एवं काव्य के गुण-दोष और अलंकारों का विश्लेषण किया गया है। हिंदी में यद्यपि साहित्य विषयक प्राचीन रीति-ग्रंथ अनेक हैं और काव्य-कल्पद्रुम के प्रकाशित होने के अनंतर भी सुयोग्य लेखकों-द्वारा कतिपय ग्रंथ लिखे गये हैं, तथापि काव्य-कल्पद्रुम में काव्य-साहित्य के सभी विषयों का पांडित्यपूर्ण आलोचनात्मक विवेचन किया गया है, जिसकी शैली नवीन और अपूर्व है। यह 'हिंदी-साहित्य-संमेलन' प्रयाग की 'रत्न-परीक्षा' और कलकत्ता, आगरा-आदि के विश्वविद्यालयों तथा कई विद्यापीठों के पाठ्य-क्रम में स्वीकृत है। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण 'अलंकार-प्रकाश' के प्रकाशित होने के अनंतर जितने ग्रंथ प्रस्तुत विषय के अन्य लेखकों-द्वारा लिखे गये हैं, उनमें अलंकार-प्रकाश के अनुकरण रूप में लक्षण वार्त्तिक (गद्य) में लिखा जाना प्रचलित हुआ है। यही नहीं, प्रत्युत बाबू जगन्नाथदासजी 'भानु' ने काव्य-प्रभाकर में, लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अलंकार-मंजूषा और व्यंग्यार्थ-मंजूषा में, श्री रामशंकरजी शुक्ल ने अलंकार पीयूष में, अलंकार-प्रकाश और काव्य-कल्पद्रुम की सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है। पोद्दारजी ने हिंदी-साहित्य-संमेलन के अनुरोध से संमेलन की मध्यमा (विशारद) परीक्षा के लिये अपनी अलंकार-मंजरी को संक्षेप में एक पृथक् पुस्तक का रूप देकर—'संक्षिप्त अलंकार-मंजरी' के नाम से भी संकलित कर दी है, जिसका स्वत्वाधिकार संमेलन को दे दिया गया है।

संस्कृत का इतिहास

पोद्दारजी की अमर कृतियों के परिचय-प्रकरण में 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' भी उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ के दो भाग हैं। दोनों सन् १६३८ ई० में एक साथ प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में वैदिक काल से आरंभकर भरतमुनि और उनके नाट्य-शास्त्र, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और अग्निपुराण पर लिखते हुए भामह से पंडितराज जगन्नाथ-तक के साहित्याचार्य और उनके ग्रंथों के संबंध में ऐतिहासिक आलोचनात्मक वर्णना की गई है। द्वितीय भाग में साहित्य-ग्रंथों के विषय और साहित्य के पाँच संप्रदायों (स्कूलों)—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पर काव्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के समय-तक काव्य के उक्त पाँचों संप्रदायों के विकास-क्रम के ऐतिहासिक विवेचन के साथ ही संस्कृत के विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गये काव्य के लक्षणों एवं विषयों पर गंभीर विचार-विमर्श किया गया है। यह ग्रंथ भी आपके गहरे अध्ययन और सतत अनुशीलन का निदर्शक है।

साहित्य-समीक्षा

साहित्य-शास्त्र-पारंगत पोद्दारजी के समय-समय पर लिखे हुए कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों का संग्रह गत वसंत पंचमी (सं० २००७ वि०) के अवसर पर 'साहित्य-समीक्षा' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें काव्य के मिश्रित भेद, लुप्तोपमा और असम, श्लेष अलंकार की व्यापकता, विभावना-विभ्राट्, भक्ति रस है या भाव, गोस्वामी तुलसीदासजी और कालिदास, कालिदास का काव्य-वैचित्र्य, शब्दार्थ अथवा भावार्थ-साम्य तथा महाकवि भारवि शीर्षक निबंधों के साथ आधुनिक रीति-ग्रंथोंपर और भी छह आलोचनात्मक लेखों का समावेश है, जिनके शीर्षक ये हैं:—(१) तुलसीकृत रामायण और पं० अंबिका प्रसादजी वाजपेयी, (२) श्री विद्याभास्करजी का काव्य-सर्वस्व, (३) कविराजा का जसवंत-जसोभूषण, (४) श्री रामशंकरजी शुक्ल एम० ए० रसाल का अलंकार-पीयूष, (५) दीनजी की अलंकार-मंजूषा और (६) भानुजी का काव्य-प्रभाकर। कुल निबंधों की संख्या पंद्रह है। सभी निबंध उच्च समालोचनादर्श से लिखे हुए हैं। आपकी समालोचना-शैली निष्पक्ष तथा विचार-पूर्ण है। हिंदी के प्राचीन और आधुनिक रीति-ग्रंथों के देखने के प्रसंग में जहाँ आपको दोष दिखाई पड़े तथा जिन विद्वानों के साहित्य विषयक प्रकाशित लेखों में सिद्धांत-विरोध दृष्टिगत हुआ

उन्हींको आपने अपनी आलोचना का पात्र बनाया और अपने पक्ष का साधिकार, सप्रमाण प्रतिपादन किया। आपने अपने विषय की परीक्षा और अन्वीक्षा के साथ समीक्षा की है। निस्संदेह आप हिंदी के गद्य-पद्य के उत्कृष्ट लेखक ही नहीं, एक उच्च कोटि के साहित्य-समीक्षक भी हैं।

आपकी साहित्यिक प्रतिभा के साथ-साथ आपके रचित और प्रकाशित ग्रंथों तथा लेखों का संक्षेप में दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है। यहाँ आपके गुंफित फुटकल पद्य-समूह से कुछ सुमधुर सूक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

श्री गंगा-स्तुति

भागीरथी, बिगरी गति मैं अरु तू बिगरी-गति की है सुधारक।
रोगी हों मैं भव-भोगी डस्यौ अरु याकी प्रसिद्ध है तू उपचारक ॥
मैं तृषना अति व्याकुल हों, तू सुधा-रस आकुल ताप-निवारक।
मैं जननी, सरनागत हों अरु तू करुना-रत है जग-तारक ॥

विधि वंचित ह्वै, करि किंचित पाप, भयौ जिनके चित खेद महा।
तिनके अघ-जारन कों जननी, अवनीतल तीर्थ अनेक यहाँ ॥
जिनकौ न समर्थ उधारन कौ अघ-नाशक कोउ न कर्म कहा।
उनकों भव-सागर तारन कों इक तो-सी तुही बस है, अघ-हा ॥

भीष्म-प्रतिज्ञा

पांडु-व्यूह-बीरन प्रसिद्ध रनधीरन कों, तीरन बिवीरन कै धीरज छूटै हों मैं।
पारथ के सस्त्र और अस्त्रन अकारथ करि, सारथिहू तथा रथ-हाँकन भुलैहों मैं ॥
कीन्ही हों भीषम महाभीषम प्रतिग्या ताहि, गाजि कहों आज करि पूरन दिखैहों मैं।
कै तौ हरि-हाथन में सस्त्र पकरैहों आज, कै लै करों पान धनु-बान न उठैहों मैं ॥

अन्योक्तियाँ—

उन्मत्त-मृग

सुमनावलि-गंध-प्रलुब्ध, लिये हरिणी सँग मोद रहा भर है।
अनुरक्त हुआ मधुपावलि-गान, हरे तृण तुच्छ रहा चर है ॥
वृक-संमुख लुब्धक पृष्ठ खड़ा जिसको शर-लक्ष्य रहा कर है।
फिर भी यह दौड़ रहा मृग मूढ़, उसी पथ में न रहा डर है ॥

भ्रांत भ्रमर के प्रति

इस पंकज के विकसे बन में, न यहाँ भ्रम तू मधु-मत्त-अली।
सुख-लेश नहीं अति क्लेशमयी यह नाशक है सब रंग रली ॥
मतिमूढ़ अरे, इस कानन का, वह भक्षक है गजराज बली।
उड़जा अविलंब, विनाश न हो जब लों रुकके इस कंज कली ॥

वसंत

अलि पुंजन की मद गुंजन सों बन कुंजन मंजु बनाय रह्यौ।
लगि अंग अनंग तरंगन सों रति-रंग-उमंग बढ़ाय रह्यौ ॥
विकसे सर कंजन कंपित कै रजरंजन लै छिरकाय रह्यौ।
मलयानिल मंद बसों दिसि मैं मकरंद अमंद बहाय रह्यौ ॥

शरद

सुर-चाप नखक्षत से जिसके यह अंकित पांडु पयोधर हैं।
सखि, जोकि प्रभावित हो उस से शरदेंदु प्रसिद्ध हुआ फिर है।।
यह देख शरद्-ऋतु का व्यवहार, न जो प्रतिकार सका कर है।
रवि के तन ताप बढ़ा इतना, वह सह्य नहीं धरणी पर है।।

चन्द्रमा और कमलिनी

नलनी जग-जन्म निरर्थक है, करके कवि-वृंद प्रलोभित भी।
जब देख सकी न कभी वह है, निशिराज नभस्थल शोभित भी।।
रजनीपति का जग जन्म तथा कहते हम हैं, न प्रशंसित भी।
मन-मोहक जो नलिनी-प्रतिभा वह देख सका न प्रफुल्लित भी।।

मेघ

पाके ग्रीष्म-घोर चातक हुआ जो दग्ध संताप से,
तेरा ही रख ध्यान नित्य दिन वे काटे बड़े ताप से।
दैवाधीन अदीन दर्शन उसे तेरे हुए आज हैं,
डालै जो करिका पयोद, अब तू ए रे तुझे क्या कहूं।।

हंस

पय निर्मल मानसरोवर का, कर पान सुगंधित नित्य महा।
जिसका सुख से सब काल व्यतीत हुआ विकसे कल कंज वहाँ।।
विधि के वश राज-मराल वही इस पंकिल ताल गिरा अब हा!
बिखरे जल-जाल शिवाल तथैव रहे भर भेक अनेक जहाँ।।

श्री गंगाजी (हरिद्वार) का दृश्य

जाती ऊपर नील-मेघपटली छाया गिरे आ कभी,
है वो श्वेत-प्रवाह किंतु उससे आधा बने श्याम भी।
आती है मिलने कलिंद-तनया भागीरथी-द्वार में,
मानो संगम हो यहाँ फिर मिली वे जा रही साथ में।।

श्री यमुनाजी

दर्शनीय अति रम्य मनोहर है कलिंद-तनया का तीर,
कल्लोलित है विमल तरंगित मंद-मंद श्यामल शुचि नीर।
लतिकाओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर धीर-समीर,
मधुर-मधुर लेता है उनका सुमन-गंध मनहर गंभीर।।

घन रंभन थंभन पाँतन सों रु कदंबन सों सरसावनों है।
अति मंजु लतानि के कुंजन में अलि-गुंजन सों मन-भावनों है।।
मलयानिल सीतल मंद बहै, हिय काम-उमंग बढ़ावनों है।
लखु चंदमुखी, जमुना-तट तू सहजैं यह कैसौ लुभावनों है।।

मरुस्थल के मार्ग-तरु की परिस्थिति

रितु निदाघ दुःसह समय, मरु-मग पथिक अनेक ।
मटैं ताप कितेन कौ, यह मारग-तरु एक ॥

स्थान-भ्रष्ट गजराज के प्रति

यूथप, तेरे मान सम, थान न इतै लखाँहि ।
क्यों हू काटि निदाघ-दिन, दीरघ कित इत छाँहि ॥

मृग को धन्यवाद

धन-अंधन के मुख कों न लखै, करि चाटुता झूंठ न बोलतु है ।
न सुनैं कटु-गर्व-गिरा उनकी, करि आस भज्यौ नहिं डोलतु हैं ॥
मृदु-खाय समे पै हरे तृन औ जब नींद लगैं सुख सोवतु हैं ।
धन रे मृग मित्र, बताय हमैं तप कीन्हों कहा जिहिं भोगतु है ॥

प्रभात-वर्णनात्मक—

प्रातःसंध्या

अरुण कांतिमय कोमल जिसके हस्तपाद हैं कमल स-नाल ।
मधुपावलि ही शोभित कज्जल नीलेंदीवर नयन विशाल ॥
प्रातः संध्या कल-खग-रव का करती-सी आलाप महान ।
भगी जा रही निशि के पीछे अल्पवयस्का सुता-समान ॥

चंद्रास्त

प्रिया कुमुदिनी हुई निमीलित रही दृष्टि-पथ रजनी भी न ।
हुए समस्त अस्त तारागण रहा सुपरिजन चिन्ह कहीं न ॥
चिंताग्रस्त इसी से हिमकर होकर विगत-प्रभा सु प्रभात ।
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज-निकट आकर अचिरात ॥

उदयकालीन सूर्य

उदयाचल-रूढ़ दिवाकर की प्रतिभा कुछ गूढ़ लगी विकसाने ।
कर-कोमल का जब स्पर्श हुआ, नलिनी मुख-खोल लगी मुसकाने ॥
अनुरक्त हुए रवि को वह देख, सहास-विलास लगी दिखलाने ।
मकरंद-प्रलुब्ध स्वभाविक ही, मधुपावली मंजु लगी मँडराने ॥

चंद्रोदय

तरल-तारका-रजनी-मुख को कर निज मृदुल करों से स्पर्श ।
रजनी-पति ने ग्रहण कर लिया, क्रमशः हो अनुरक्त सहर्ष ॥
रागावृत उत्सुक हो वह भी, विकसित होने लगी सुहान ।
स्खलित हुआ तिमिरांशुक सारा, उसका भी कुछ रहा न ध्यान ॥

गगन-सरोवर का प्रफुल्लित कमल

कल व्योम-सरोवर में निखरा सखि, है यह नीलिम-नीर भरा।
अति भूषित है उडुपावलि का मुकलावलि-मंडल रम्य घिरा॥
कर षोडस हैं नव पल्लव ये जिनकी छवि से यह है उभरा।
शशि-कंज विकासित है जिसमें स्थित है यह अंक मिलिंद गिरा॥

विविध—

मान और अपमान

विष भी युत-मान दिया यदि हो, कर पान उसे मर जाना भला।
सहके अपमान सुधारस ले, निज जीवन को न गिराना भला॥
यह गौरवपूर्ण उदार चरित्र पवित्र सदा अपनाना भला।
वह कुत्सित वृत्ति कदापि कहीं, अति निंद्य नहीं दिखलाना भला॥

राजनीति और वेश्या

कभी सत्य तथैव असत्य कभी, मृदु-चित्त कभी, अति क्रूर लखाती।
कभी हिंसक और दयालु कभी, सुउदार कभी अनुदार दिखाती॥
धन-लुब्धक भी बनती कब ही, व्यय में कर-मुक्त कभी दृग-आती।
नृप-नीति की है न प्रतीति सखे, गणिका सम रूप अनेक बनाती॥

दृढ़ व्रत

सूर-सस्त्र अरु कृपन-धन कुल-कामिनि कुल-कान।
सज्जन पर उपकार कों छाँडतु हैं गत-प्रान॥

नर और शर

लघु पुनि मलिन सपच्छ, गुन-च्युत ह्वै नर और सर।
पर भेदन में दच्छ, भय-दायक किहिं कं न हों॥

अस्ताचल गत सूर्य-द्वारा उपदेश

दूसरों को व्यर्थ करते ताप, वे—
संपदा चिरकाल तक पाते नहीं।
हो रहा है अस्त ग्रीष्म-दिनांत में,
दिवस-मणि करता हुआ सूचित यही॥

चिता और चिंता

वहन करती चिता तन जीवन-रहित,
दुःख का अनुभव अतः होता नहीं।
रात-दिन करती वहन जीवन-सहित,
है न चिंता-ज्वाल की सीमा कहीं।

विष और पर-पीड़क

निरपराधी-जनों को करना दुखित,
विषम-विष से भी अधिक है हीन यह।
जहर करता मात्र भक्षक को विनष्ट,
सा-मूल कुल को किंतु करता क्षीण यह ।।

अपमानित नर और धूलि

अपमान को कर सहन रहते मौन जो,
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं।
चरण का आघात सहती है न जो,
शीश पर चढ़ बैठती है तुरत ही ।।

उत्कंठा

स्मरणमात्र से तरुणातप को कर करुणा हरता निःशेष।
जिसके निकट चमत्कृत रहतीं अगणित चपलाएँ सविशेष ।।
अखिल विश्व निज कृपा-वृष्टि से आप्यायित करता निष्काम।
उत्कंठित हूँ संतत कब हो, वह दृग-पथ अभिनव घनश्याम ।।

भ्रांत पथिक के प्रति

यमुना-तट कानन में स्थित है, मिलता करने पर खोज, पता।
जन-आश्रित जो रहते, उनका पथ-खेद सभी हरता रहता ।।
कनकाभ-लता अवलंबित है, वह श्याम-तमाल सदा स्फुरता।
अविलंब शरण लेरे, उसकी अब क्यों यह ताप वृथा सहता ।।

संतजन

भव-ग्रीषम की तन-ताप प्रचंड, असह्य हुई जलते-जलते।
बल से अविवेक-जँजीर उखाड़, नहीं रुकते चलते-चलते ।।
उस आत्म-सुधा-सर के तट जा सुकृती जन मज्जन हैं करते।
अति शीतल निर्मल-वृत्तिमयी झरने जिसमें रहते झरते ।।

व्रजस्थ प्रेम-सरोवर

चित्ताकर्षक दृश्य प्रेमसर का, नैसर्ग्य शोभामयी।
चक्राकार सुघाट शोभित जहाँ हैं दिव्य बुर्जें कयी ।।
जिसका निर्मल जो हरी कुमुदिनी-छाया हुआ नीर है।
वो अत्यंत सुमिष्ट शीतल सदा सुस्वादु गंभीर है ।।

आते हैं जन जीवजंतु मनमें आशा लगाये हुए।
पाते जीवन-दान हैं सब वहाँ होते हताशा न वे ।।
हैं ये तो गुण-वान, हीन-गुण ये, जिसके न ये भेद ही।
जो है नित्य उदार चित्त उनका संकीर्ण होता नहीं ।।

चारों ओर लता-पता सघन जो झूमें झुकी हैं भली।
फूले फूल कदंब-कूल उनकी सौरभ्य आती चली ॥
छाया भी रहती निरंतर जहाँ संतापहारी घनी।
है निष्पंक अतीव तीर, उसकी शोभा मनो मोहिनी ॥

है स्वातंत्र्य लगी निकट ही नीरंध्र वृक्षावली।
गोलाकार कहीं, कहीं सहज ही सौंदर्य श्रेणी भली ॥
शाखा भूमि लगी विनीत उनकी, है नील पत्रावली।
फूली चित्र विचित्र मंजुल जहाँ अन्यत्र पुष्पावली ॥

क्रीडासक्त कहीं कपोत फिरते उन्मत्त होके महा।
गाती कोकिल-पुंज मंजुल कहीं स्वर्गीय तानें जहाँ ॥
छत्राकार कलाप नृत्य-रत है प्यारी मयूरावली।
है अत्यंत सुहावनी सुतट की प्रांतीय वन्यस्थली ॥

जो है शांत कुटीर तीर उनकी शोभा मनोमोहिनी।
वे एकांत नितांत प्रांत उनमें है स्वच्छताई घनी ॥
आती धीर समीर शीतल सदा सौरभ्य साली हुई।
प्रायः संत जहाँ निवास करते होके समाधिस्थ ही ॥

सुरभित हरियाली में जहाँ मत्त होके,
मुखरित विहँगाली चित्त को है लुभाती।
सुमधुर रसवाली बोलियों को सुनाके,
मन हर पथिकों को पास मानो बुलाती ॥

प्रति-प्रति तरुओं की डालियों पास जाके,
भ्रमरित भ्रमराली क्या यही है बताती।
यह बन-लतिकाएँ भाग्यशाली महा हैं,
प्रतिदिन करते श्री कृष्ण लीला यहाँ हैं ॥

बंबई का समुद्र-तट

सायंकाल समीर नीर-निधि की नीरोग कारी महा,
प्रायः शिक्षित, सभ्य लोग सब हैं आते इसी से यहाँ।
बैठे हास्य-विनोद मोद करते सानंद वे दो घड़ी,
शोभा दृश्य-विचित्र की तब वहाँ सौंदर्य होती बड़ी ॥

होती है तब दिव्य वारि-निधि की क्या ही प्रभा मोहिनी,
संध्याकाल गिरे दिनेदाकर की रक्ताभ आके घनी।
नीचे से जब बार-बार उठती ऊँची तरंगावली,
आती है बढ़ के सुदूर फिर वे जाती वहीं है चली ॥

है उद्यान लगी मनोहर जहाँ सौंदर्य वृक्षावली,
फूली है कुसुमावली सुमधुरा सौरभ्य आती चली।
बैठी स्वागत-सी जहाँ कर रही प्यारी विहंगावली,
चित्ताकर्षक है बड़ी जलधि की स्वर्गीय प्रांतस्थली ।।

आती हैं मृगलोचनी सुललना नाना प्रभा-धारिणी,
वस्त्राभूषण-भूषिता स्मित मुखी, हैं वे मनोहारिणी।
हास्यालाप-निमग्न वे विचरती स्वच्छंदता से वहाँ,
आते बालक भी अनेक करने सानंद क्रीड़ा जहाँ ।।

आते हैं जन जो वहाँ श्रमित हो आशा लगाए यही—
जाके धीर-समीर शीतल बड़ी स्वच्छंद सेवें वहीं।
देके स्पर्श करे यथेष्ट उनका आतिथ्य वो भी तथा—
खोती है श्रम-स्वेद और तनकी सारी मिटाती व्यथा ।।

सुभग सदन-श्रेणी प्रांत में दीखती है,
प्रति-प्रति भवनों में वाटिकाएँ बनीं हैं।
सुरभित हरियाली चातुरी से लगी है,
विकसित कुसुमाली कुंडिका भी सजी है ।।

सुरुचिर-सुखावली रम्य हर्म्यस्थली वे,
विविध-विधि सजाये साज-शोभामयी वे।
जिस समय वहाँ हो भव्य दीपावली है,
प्रकटित तब मानो नित्य दीपावली है ।।

विलसित मदिराक्षी जो वहाँ कामिनी हैं,
अनुपम-छविवाली वे मनोभाविनी हैं।
दृग-पथ करने से चित्त आता यही है,
सुर-पुर-वनिता ही क्या यहाँ आ गई हैं ।।

शोभा समुद्र-तट-प्रांत विनांत की वो,
जैसी विचित्र अति नित्य नितांत ही हो।
होता यथावत न वर्णन है तदीय,
है दृश्य केवल अहो, वह दर्शनीय ।।

कोकिल

गत जब रजनी हो, किंतु वो शेष भी हो,
उडुगण-क्षय भी हो दीखते भी कहीं हों।
मधुर-मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा,
तब पिक करती तू शब्द आरंभ तेरा ।।

अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य गाती,
सहृदय जन को तू नींद से है जगाती।
मन-हरण सुना के माधुरी वो प्रभाती,
अलसित चित को भी सत्य ही तू लुभाती।।

विहँग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे,
उस समय दिखाते शब्द-सौंदर्य सारे।
विरस तब सभी के शब्द तू है बनाती,
जब पिक, अपनी तू चातुरी है दिखाती।।

सघन उपवनों में, बाटिका में कभी तू,
गिरि-सरित-तटों के प्रांत में भी कभी तू।
सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू,
सुमधुर मतवाली कूक को कूजती तू।।

पीती स्वयं है, न किसे पिलाती,
प्रमत्त हो तू ध्वनि ही सुनाती।
तथापि उन्मत्त अहो बनाती,
बता कहाँ मादक-द्रव्य पाती ?

मिला अहो मंजु रसाल डाल से ?
किंवा किसी गुंजित भृंग-माल से ?
न सर्वथा ही उनसे मिला तुझे,
न दे दिखाई उनमें कहीं मुझे।।

तुझे मिला है रितुराज से यही,
अवश्य देता सबको न है वही।
मिले न तेरी समता उसे कहीं,
मिली प्रिया तू उसको अलभ्य ही।।

वसंत जाता जब है यहाँ से,
किसे सुनाती ध्वनि भी नहीं तू।
वसंत के आगम में पुनः वही,[1]
अवश्य मीठी करती ध्वनि है।।

सदैव तू कोकिल, मंजुभाषिणी,
अतः सभी का मन-मोहती है।
वियोगियों की दयनीय वो दशा,
कभी नहीं तू कुछ सोचती है।।

कवि-जन गुण तेरे नित्य गाते तथापि--
अति परिचय से हो, तू न फीकी कदापि।
बस अधिक कहूं क्या तू मनोभाविनी है,
अनुपम गुणवाली पूर्ण सौभागिनी है।।

पर दुःख-कातर सहृदय सेठजी पाँच[१] सुयोग्य पुत्रों के भाग्यशाली पिता और "बुद्धिवान मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः" के मूर्त्तिमान उदाहरण हैं। मिलनसार इस कोटि के हैं कि एक बार मिलनेवाला सदा के लिये आपके प्रेम-सूत्र में बँध जाता है। स्वधर्मनिष्ठा के साथ अतिथि-सत्कार-परायणता आपका कुल-परंपरागत गुण है। प्रायः २५ वर्ष हुए, आप व्यापारिक कार्यों से अवकाश-ग्रहण कर चुके हैं। इस समय आपके दो ही कार्य मुख्य हैं--एक भगवदाराधन और दूसरा साहित्य-सेवा। आपकी साहित्य-सेवाका विशेष महत्त्व इसलिए है कि उसमें व्यवसाय की भावना नहीं। अवस्था ८० वर्ष के लगभग होगी, पर हृदय में उत्साह युवकों के समान है। ईश्वर आपको दीर्घायु प्रदान करें। आपकी गुण-गरिमा से समस्त राजस्थान गौरवान्वित है। आप के "अभिनंदन" के शुभोप-लक्ष्य में इन पंक्तियों का लेखक भी आंतरिक संमान प्रकट कर अपने कर्त्तव्य से उपराम होता है।

[१] आप के सुपुत्र हैं--(१) श्री द्वारका प्रसाद पोद्दार (२) श्री रामनिवास पोद्दार (३) श्री सीताराम पोद्दार (४) श्री नारायण प्रसाद पोद्दार और (५) श्री मदनगोपाल पोद्दार। इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ व्यवसाय-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं तथा पाँचवें श्री मदनगोपाल पोद्दार कलकत्ता-हाईकोर्ट के एक प्रसिद्धि-प्राप्त प्रभावशाली एटर्नी-एट-लॉ हैं। कलकत्ता के धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यों में उनका प्रकट और अप्रकट सहयोग रहता है। व्यवसाय-पटु श्री रामनिवास बाबू राजनीति और अर्थशास्त्रविद् होने के साथ ही साहित्यिक भी हैं। वे 'भारत में रेल-पथ' जैसा उपयोगी ग्रंथ लिख कर हिंदी-साहित्य-संसार में सुख्याति अर्जित कर चुके हैं। उनका कार्य-क्षेत्र बंबई है। बाबू नारायण प्रसाद भी मधुर हिंदी लिखते हैं। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख समय-समय पर निकलते रहते हैं। वे मथुरा में अपने पिताजी की सेवा में रहते हैं और वहाँ के कारोबार को सभालते हैं।

पोद्दारजी का प्रभाव

पं० श्री हरिशंकर शर्मा

श्रद्धेय सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का नाम बचपन से ही सुनता आया हूँ। मेरे स्वर्गीय पिता (पंडित श्री नाथूराम शंकर शर्मा) सेठजी की प्रशंसा मुक्तकंठ से किया करते थे। उस समय कभी-कभी मैं भी पिताजी के पुस्तकालय से सेठजी का लिखा 'अलंकार-प्रकाश' लेकर पढ़ लेता था, पर समझ में कुछ न आता था। उदाहरण का यदि कोई छंद समझ में आ जाता तो उसी के आधार पर मैं अपने को गर्वपूर्वक 'अलंकार-प्रकाश' का विशेषज्ञ समझ लेता था। पूज्य पिताजी के अभिन्न मित्र तथा मेरे आचार्य स्व० पंडित 'पद्मसिंहजी शर्मा' वर्ष में कई बार हमारे घर (हरदुआ गंज) पधार कर, पंद्रह-बीस दिन रह जाया करते थे। खूब साहित्य-चर्चा रहती थी। रात के दो-दो बजे तक पिताजी और शर्माजी काव्य-विनोद में रत रहते थे। उन्हीं दिनों कभी-कभी साहित्याचार्य पंडित शालिग्राम शास्त्री, पंडित ज्वालादत्त शर्मा, आचार्य नरदेव शास्त्री, महाकवि रत्नाकर, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, विद्वद्वर पंडित भीमसेन शर्मा, अध्यापक श्री रामदास गौड़-आदि भी पधारते थे। साहित्य-मर्मज्ञों की बात छिड़ने पर संपादकाचार्य पंडित रुद्रदत्त शर्मा और श्रीमद् सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का उल्लेख अवश्य होता था। उस समय से मैं समझने लगा कि सेठजी वास्तव में बड़े विद्वान् और साहित्य-मर्मज्ञ हैं। जिस विद्वान् को साहित्य के धुरंधर विद्वान् भी विद्वान् कह रहे हैं, उनकी विद्वत्ता में किसी को संदेह ही क्या हो सकता है। यह सब कुछ सुनकर श्रद्धेय सेठजी के दर्शन करने की लालसा मेरे हृदय में जागृत हुई।

सन् १९२३ या २४ की बात है। मैं अपने कई मित्रों के साथ आगरा में यमुना-तट पर बैठा था, मेरठ के कविवर मराल (स्वर्गीय श्री हरिशरण श्रीवास्तव, बी० ए०, एल० एल० बी०) भी हमारी मंडली में थे। वे अपनी कविता-सुधा का पान करा रहे थे। उनकी हृदय-हारिणी कविता और पीयूष-वर्षिणी वाणी के प्रभाव से सारी मंडली मुग्ध थी। थोड़ी देर में ही काव्य-मर्मज्ञों और कलाकारों की चर्चा चलने लगी। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का जिक्र आया। पंडित रामस्वरूप शास्त्री-काव्यतीर्थ उनके काव्य-ज्ञान की महिमा वर्णन करने लगे। अन्य लोगों ने भी उनकी ताईद की। मैंने कहा—"भाई, ऐसे विद्वान् के दर्शन करने चाहिए। तुम तो आज सेठजी की प्रशंसा करते हो; मैं तो बहुत पहले से, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा उनकी तारीफ सुनता आ रहा हूँ।" बातों ने जरा गंभीर रूप धारण किया। संध्या हो चुकी थी, अंधेरा छाने लगा था। इतने ही में एक झुरमुट से सहसा गुरुवर पंडित श्री भीमसेन शर्मा प्रकट हुए। मैंने और शास्त्रीजी ने उनके चरण छुए। वे बोले—"भाई, मैं बहुत देर से तुम्हारी बातें सुन रहा था। मरालजी के कविता-पाठ में तो सचमुच जादू-का-सा प्रभाव है। खूब पढ़ते हैं! अच्छा, दो-चार छंद और सुनाइये। फिर तुमको सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के दर्शन कराये जायँगे।" मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"गुरुजी, कब—कहाँ?" वे बोले—"अभी, और आगरे में ही।" सुनकर हमारी उत्सुकता का ठिकाना न रहा।

खैर, 'मरालजी' ने अपनी स्वर-लहरी-द्वारा फिर श्रोताओं को मुग्ध करना प्रारंभ किया, पर अब की बार रंगत नहीं जमी। एक तो सेठजी के दर्शनों की उत्सुकता और दूसरे गुरुजी की विद्यमानता, हम लोग भीगी-बिल्ली की भाँति शांत बैठे रहे—सबकी जुबानें बंद थीं, न 'वाह' निकलती थी, न 'आह'! गुरुजी भी हम लोगों की मनोवृत्ति को ताड़ गए। वे बोले—"अच्छा, चलो तुमको सेठजी के दर्शन करावें।"

आगे-आगे गुरुजी और पीछे-पीछे आठ-दस रंगरूट। हम लोग गुरुजी से तीस-चालीस क़दम पीछे चल रहे थे, जिससे वे हमारे मनोविनोद को सुनने न पावें। थोड़े ही चले होंगे कि गुरुजी ने 'बेलन गंज' के एक फाटक में प्रवेश किया। हम भी उनके साथ-साथ घुसे। उस समय एक वयोवृद्ध व्यक्ति कुएँ या नल पर बैठे नहा रहे थे, नहाते में कुछ गुनगुनाते भी जाते थे। गुरुजी को देखते ही बोले—"आइये महाराज, प्रणाम! आज प्रातःकाल आपके दर्शन नहीं हुए, किधर रम गए थे?"

गुरुजी ने सेठजी की बात सुनी-अनसुनी-सी करके कहा—"देखिये, ये लोग आपके दर्शनों को आए हैं, सब नवयुवक और साहित्य-प्रेमी हैं। मेरा, मरालजी का और रामस्वरूप शास्त्री का गुरुजी ने अति संक्षिप्त-सा परिचय भी दिया। अन्य मित्रों को वे जानते न थे। वे लोग कालिज के अध्यापक थे।

सेठजी ने बड़ी विनम्रता से कहा—"पंडितजी, क्यों बनाते हो! भला मैं भी कोई दर्शन की चीज़ हूँ।" ख़ैर, उन दोनों विद्वानों में विनोद प्रारंभ हो गया और हम लोग प्रणाम करके अपने-अपने घरों को रवाना हुए। बेलन गंज से लोहामंडी तक बराबर सेठजी की विनम्रता और विद्वत्ता की चर्चा चलती रही। पंडित रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, सेठजी की विद्वत्ता की विशेष प्रशंसा करते आए, क्योंकि उन्होंने उनके ग्रंथों का विधिवत् अध्ययन किया था।

संभवतः १९२९ ई० की बात है। आचार्य श्री पंडित पद्मसिंह शर्मा, बृंदावन—गुरुकुल-महोत्सव के कवि-संमेलन का सभापति-पद सुशोभित करने पधारे थे। उत्सव की समाप्ति पर गुरुकुल से आगरा चलने का प्रोग्राम बना। आचार्यजी ने कहा—"भाई, मथुरा में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार से मिलते चलेंगे। क्यों, ठीक है न?" सबने कहा—'ज़रूर-ज़रूर।'

पूज्य शर्माजी की मंडली ताँगों में सवार हो मथुरा के लिए रवाना हुई। मंडली में विद्वद्वर पंडित किशोरीदास वाजपेयी, दर्शन-केसरी पंडित उदयवीर शास्त्री, पंडित रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, पंडित अमृतलाल चतुर्वेदी और मैं—कुल नौ-दस व्यक्ति थे। भाई सत्येंद्र एम० ए० के घर सामान रखा और सब लोग श्री सत्येंद्रजी के ही नेतृत्व में तुरंत सेठजी के यहाँ चल दिए। सत्येंद्रजी के सिवा सेठजी किसी को न पहचानते थे। सत्येंद्रजी ने सर्वप्रथम पूज्य शर्माजी का परिचय कराया। कठिनता से उन्होंने नाम ही लिया होगा कि सेठजी शर्माजी से लिपट-चिपट गए और गद्गद् कंठ से अपने को बार-बार 'धन्य-धन्य' कहने लगे। दो साहित्य-महारथियों के संमिलन का वह दिव्य दृश्य देखने ही लायक था। सेठजी श्री किशोरीदास वाजपेयी के भी दर्शन कर अति प्रसन्न हुए। शेष लोगों में से सबको तो नहीं, पर कई को पहले से ही जानते थे—नाम से परिचित थे। उनमें से एक व्यक्ति इन पंक्तियों का लेखक भी था।

बातों ही बातों में साहित्य-चर्चा प्रारंभ हो गई। श्री वाजपेयीजी और श्री सेठजी का किसी विषय पर मतभेद हुआ। पूज्य शर्माजी सब बातें बड़े शांत भाव से सुनते रहे। अंत में, शर्माजी से व्यवस्था माँगी गई और उन्होंने सेठजी के पक्ष की पुष्टि की। विदा माँगने पर सेठजी बोले—"शर्माजी, कुछ भी हो; आप आज संध्या को बिना भोजन किये नहीं जा सकते। यदि चले जायँगे, तो मुझे घोर दुःख होगा।" सहृदय-शिरोमणि शर्माजी ने सेठजी का आग्रह बड़े विनीत भाव से स्वीकार कर लिया और सब लोग मथुरा ठहर गए।

रात्रि को प्रीति-भोज हुआ। नगर के कई अन्य साहित्यिक भी उसमें संमिलित थे। वास्तव में वह प्रीति-भोज ही था। सेठजी स्वयं बड़े प्रेम से परोस कर अपनी हार्दिक प्रीति का प्रशंसनीय परिचय दे रहे थे। उनका मधुर प्रेम फूटा पड़ता था। वे आतिथ्य में आनंद-विभोर थे—प्रसन्नता का पारावार न था।

भोजन के पश्चात् कवियों का कविता-पाठ हुआ। आगरा के सुकवि श्री अमृतलाल चतुर्वेदी ने ब्रज-काव्य-माधुरी की मनोमुग्धकारिणी विमल धारा बहाकर समाँ बाँध दिया। आनंद की गंगा

उमड़ पड़ी। कविता-कल्लोलिनी में बाढ़-सी आ गई। बीच-बीच में साहित्याचार्य पंडित श्री पद्मसिंह शर्मा ने संस्कृत, फारसी और उर्दू-कविता का पुट देना शुरू किया। सारा वायुमंडल 'वाह-वाह' से गूंज उठा। सैकड़ों कवि-संमेलनों में भी वैसा मजा नहीं आ सकता, जैसा उस दिन उस गोष्ठी में आया।

रात्रि के बारह बज गए! दिसंबर की कड़कड़ाती सर्दी! परंतु काव्य-धारा में निमग्न मंडली अपने आपको भूल चुकी थी। कैसी रात और कैसा जाड़ा!

आधी से अधिक रात बीत जाने पर गोष्ठी का उपसंहार हुआ। उपसंहार करने वाला चायामृतपान और बिहारी के दोहों का रसास्वादन था। सब लोग भाई सत्येंद्रजी के घर आए और सेठजी के साहित्य-ज्ञान और आतिथ्य की चर्चा करते-करते सो गए। सुबह पार्टी ने लोरी-द्वारा आगरे को प्रस्थान किया।

इस सुखद घटना को काफी समय हो गया। वर्षों बीत गए, परंतु उसकी ताजगी बराबर बनी हुई है। आचार्य श्री पद्मसिंह शर्मा नहीं रहे, परंतु उनके वे शब्द अबतक कानों में गूंज रहे हैं—

"हरिशंकरजी, मथुरा का प्रोग्राम बनाओ। चलो, एक बार फिर सेठजी से मिल आवें; फिर न जाने क्या हो! तुमको ऐसे जंगम तीर्थों के बार-बार दर्शन करने चाहिएँ।"

कवियों की श्रद्धांजलि

कवित्त

देव श्री गुबिंद के पदारबिंद सेबी भक्त, गुन-अनुरक्त रस पोखन प्रथा के हैं।
प्रेम के पुजारी, धुनि-बिंजना बिबेकधारी, अलंकार-पिंगल प्रबीन कबिता के हैं।।
'पोद्दार' पूखन सनातनी समृद्धसाली, बैस्य बंस भूषन अदूखन अर्वा के हैं।
काब्य-कल्पद्रुम के रचैया श्री कन्हैयालाल, साहित-समुद्र के मथैया मथुरा के हैं।।

—सुकवि श्री गोविंद चतुर्वेदी

नब-रस बारौ रस अति छबि बारौ दिपै, भाबन भँमर भूरि हाबन उद्धार हैं।
'लला कबि' ज्वार-बिंजनान कौ प्रकार चारु, कूल-कल्पनांन कौ अनूठौ हितकार हैं।।
अलंकार-संजुत तरी है खरी ब्यंग-ढंग, नायिका-बिभेद बादबान जुक्ति डार हैं।
साहित के सिंधु की सु सैर करबाबै खूब, परम उदार 'पोद्दार' पतबार हैं।।

केंद्र मथुरा के श्री कन्हैयालाल पोद्दार, मंजु मत महत बिराजत गुथी-गथी।
'लला कबि' काब्य-कल्पतरु कौ सुरूप-रूप, सुमन सुहाबै सर्वा सवन सुधी-मथी।।
सुकबि-समाज कौ सुबृद्ध बपुधारी भीष्म, ग्रीष्म-दोष-भटन भजाबत लथी-पथी।
हरि-रस-रति बारौ, बिरस-बिरति बारौ, तीब्रगति-मति बारौ, साहित-महारथी।।

गोखादार, मोखादार, झोखादार, खिरकी तें, ऐंठदार अधिक उमेंठदार सगड़ी।
'लला कबि' रंग चंदनी की अभिबंदनीय, बंदनीय बिमल बिलासन तें झगड़ी।।
जित-जित धाबै तित आदर महान पाबै, लाबै ना बिलंब दरसाबै छटा तगड़ी।
बगड़ी बलन-आगें, रगड़ी चलै न रंच, परम-प्रबीन पोद्दार जू की पगड़ी।।

पंडित, प्रबीन, पेख रूपक, सिहामें सर्वां, अतिसै, उल्लास, उल्लेख, गुन-आबृती।
'लला कबि' उभय, अभय बय बारी सजी, झूमका झमक दर्स, दृग भ्रमराकृती।।
प्रासन-प्रसार, संदेह, उतप्रेच्छनीय, उपमा, प्रमान, है प्रदीप, ब्याज, संसृति।
पूरन ससी-सी मुख बारी सर्वां सुख बारी, पोद्दार बारी बनी मंजरी अलंकृती[1]।।

—श्री रामलला 'लला कवि'

आई रितु सुखद सुहासिनी बिलासनी हूं, छाई मंजु-महिमा ज्यों सौरभ दिगंत-री।
सुहृद-सनेह-चित्त सहज द्रबन लागे, चैल पैल ब्रज में अनूप छबि संच-री।।
गंध-हीन किंसुक अपत से दिखांन लगे, मोहकता तेरी लखि मोह्यौ मन-कंजरी।
पुंज-पुंज भौंर-भीर गुंजरन लागी द्वार, फूली देखि सरस सुकाब्य-'रस-मंजरी'।।

—श्री चुन्नीलाल 'शेष'

[1] अलंकार-मंजरी।

विनम्र श्रद्धांजलि

श्री भगवानदास केला

मेरे जीवन में बहुत एकांगीपन और संकोच रहा है। बिना किसी खास मतलब के अपने पास रहनेवालों से भी मिलना-जुलना कम रहा है और किसीसे मिलनेपर भी कुछ डरता-झिझकता-सा रहा हूँ। वृंदावन में सन् १९२० से १९४० तक रहने पर भी वहाँ के इने-गिने व्यक्तियों के संपर्क में आया हूँ और मथुरा के तो और भी कम। मुझे श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दारसे मिलाने का श्रेय श्री सत्येंद्रजी को है, और मुझे श्री सत्येंद्रजी की योग्यता और साहित्य-सेवा का पता भी वृंदावन-आने के कई वर्ष बाद लगा था। अस्तु सन् १९३२ के लगभग जब मैं राजनीतिक शब्दावली के संशोधन के प्रसंग में श्री सत्येंद्रजी की सहायता ले रहा था। तब उन्होंने मुझे श्री रामनिवासजी पोद्दार से मिलाया। श्री रामनिवासजी ने इस कार्य से बहुत सहानुभूति दरशाई। बहुत से अंग्रेजी-शब्दों के हिंदी-पर्यायों पर विचार विनिमय करके अधिक उपयुक्त शब्द सुझाए। यही नहीं, आपने अंग्रेजी के कितने ही नये शब्दों का संग्रह करके उनकी व्याख्या और पर्याय भी तैयार किए। आपसे इस कार्यके लिए समय-समय पर मिलना होता रहा, मन का संकोच हट गया और विविध सामयिक विषयों पर भी चर्चा होने लगी।

इस सिलसिले में श्री रामनिवासजी के पिता श्री सेठ कन्हैयालालजी के दर्शन होना स्वाभाविक था। पर आपसे कुछ बातचीत करने में बड़ा संकोच था। श्रद्धेय पोद्दारजी वयोवृद्ध होने के अतिरिक्त अपनी वेशभूषा में मारवाड़ी सेठ थे। क्रमशः मुझे ज्ञात हुआ कि आपने हिंदी की बहुत सेवा की है, 'अलंकार' और 'रस' के आप एक माने हुए पंडित हैं और 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' लिख कर आपने राष्ट्र-भाषा के भंडार में एक अमूल्य और अनूठी भेंट प्रदान की है। यही नहीं, आप अपनी वृद्धावस्था में भी भरसक लिखने-पढ़ने का काम करते हैं। आप विविध पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन करते हैं और जब कभी किसी लेखक की साहित्य-संबंधी भूल देखते हैं तो आप उसका परिमार्जन करनेका प्रयत्न करते हैं। इन बातों को देख-सुन कर मैं क्रमशः आपकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होता रहा। आपके निजी पुस्तकालय से मैं बहुत लाभ उठाने लग गया। अनेक बार जब मेरा वृंदावन से मथुरा आना होता तो आपके दर्शन करने और आपके सत्संग से कृतार्थ होने का अवसर चुकाना ठीक न समझता।

श्रद्धेय सेठजी, अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण 'हिंदी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग' से **"साहित्य-वाचस्पति"** की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। ब्रज-साहित्य-मंडल ने आपको 'ताम्र-पत्र' भेंट किया है और आपकी हीरक जयंती भी मनाई है। इन बातों से आपकी योग्यता और विद्वत्ता का सहज ही परिचय मिल जाता है। पर मेरे लिए आपका सबसे बढ़िया गुण आपकी विनम्रता या विनयशीलता है। प्रायः जिस आदमी के पास दो पैसे हो जाते हैं, या जो कुछ विद्वान् हो जाता है, अथवा कुछ सार्वजनिक प्रतिष्ठा पा जाता है, उसमें कुछ न कुछ अहंकार या दंभ बढ़ जाता है। कुछ लोग तो दूसरों से अच्छी तरह बात करना भी अपनी शान के खिलाफ समझने लगते हैं। पर श्री पोद्दारजी हैं कि अपने मृदुभाषण और विनयशीलता में विलक्षण रूप से बढ़े हुए हैं। अपने से उम्र में छोटों तथा कम शिक्षितों से भी ऐसा व्यवहार करते हैं कि सहसा आपके सामने नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। आपसे जब-जब भेंट हुई है तो उससे संस्कृत की कहावत 'विद्या ददाति विनयं' याद आती रही है। आजकल

के विद्वान् और प्रतिष्ठा प्राप्त सज्जन श्री पोद्दारजी से विनयशीलता का नागरिक गुण प्राप्त करने की शिक्षा लें तो हमारे स्वतंत्र भारत का नागरिक जीवन कितना अधिक सुखमय हो जाय।

श्री पोद्दारजी ने समय-समय पर साहित्य-कार्य के लिए सहायता या दान करके अपनी उदारता का परिचय दिया है। ब्रज-साहित्य-मंडल के भवन के लिए भूमि आप तथा आपके परिवार-द्वारा दिये गए धन से खरीदी गई है। इससे स्पष्ट है कि आप खास कर ब्रज-साहित्य से कितना अनुराग रखते है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि व्यवसायी होते हुए भी आपने अपने जीवन का बहुत-सा मूल्यवान समय साहित्य-सेवा के लिए अर्पण किया है। आज कल कितने व्यवसायी सेठ हैं, जो साहित्य की गति-विधि से परिचित रहते हैं और कुछ साहित्य-कार्य करने के लिए अवकाश निकाल पाते हैं? प्राय: व्यवसायी होना और साहित्य-कार्य करना दो बेमेल बातें समझी जाती हैं। श्री पोद्दारजी जैसे महानुभाव ऐसी धारणाको हटाने में सहायक ही हुए हैं। आपका उदाहरण बहुत शिक्षाप्रद है। यदि देश का व्यवसायी समाज आपका अनुकरण कर कुछ लोभ का त्याग करे और प्रवृत्त हो तो हमारे हिंदी-साहित्य-भंडार के कई प्रकार के अभाव शीघ्र ही दूर होने की आशा हो।

ऐसे महानुभाव को जो व्यवसायी होते हुए भी साहित्य-प्रेमी और साहित्य-सेवी है, जो अपने विषय के प्रकांड विद्वान् होते हुए भी विनम्र हैं, जो वयोवृद्ध होते हुए भी अपने से छोटी उम्र वालों तथा युवकों के प्रति मिष्ट-भाषी हैं, उनके प्रति हमारी 'विनम्र-श्रद्धांजलि' सादर समर्पित है।
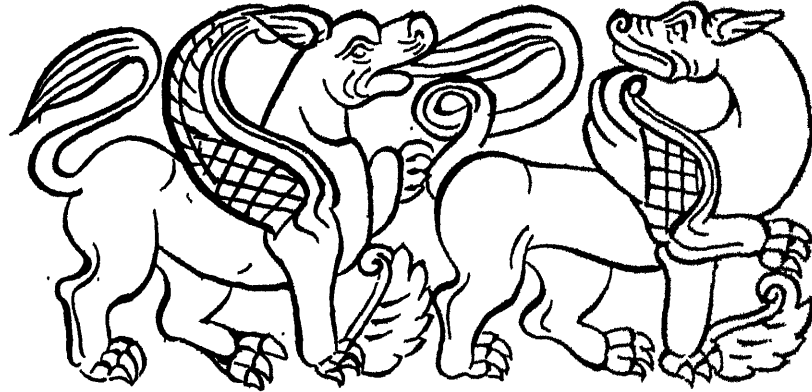
प्रणामांजलि

श्री गोपालप्रसाद व्यास

श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार द्विवेदी-युग के प्रख्यात कवि, हिंदी में रस और अलंकार-विषय के प्रतिभावान आचार्य, साहित्य-शास्त्र के प्रामाणिक आलोचक और हिंदी में संस्कृत-साहित्य के इतिहास को प्रथम बार शृंखलाबद्ध-रूपमें प्रस्तुत करने वाले तथा यशस्वी निबंध-लेखक हैं। आपकी हिंदी-सेवाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हिंदी के इस वयोवृद्ध पितामह-साहित्य-गुरु के संमुख हमारा मस्तक सहज श्रद्धा से नत हो जाता है।

लक्ष्मी की जगमगाहट में प्रथम नेत्रोन्मीलन से आज तक स्नात रहते हुए भी उसकी चमक ने इन्हें विमूढ़ नहीं किया, व्यापारिक बाधाओं की लहरियाँ उनके तटस्थ, अचल व्यक्तित्त्व से टकरायीं, पर वे विचलित नहीं हुए, युवावस्था के रागों की उद्दाम-धाराएँ भी उन्हें पथ-भ्रष्ट न कर सकीं और आज वृद्धावस्था की अस्वस्थता भी उन्हें साहित्य-सेवा से विरत करने में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है। सेठजी को हम आयु-पर्यंत साहित्य के महासाधक के रूप में देखते हैं। उनकी साठ वर्ष की साहित्यिक प्रगति उनके संस्कारी मन और परम आस्तिक स्वभावका चिन्तन करते हुए आज किसका मन अभिनंदन के भावों से नहीं भर जाता? कारण यह है कि सेठजी के साहित्य-सर्जन की भूमि ठोस है, वह प्रचार की आकांक्षा से प्रेरित नहीं हुई, वरन् मन की अंतर्निव अनुभूति पर आश्रित है।

सेठजी ने जब साहित्य में प्रवेश किया तब न ऐसे प्रेस थे और न ऐसी पत्रिकाएँ थीं। हिंदी के आन्दोलन के लिए तब सभा-संमेलनों ने भी बल नहीं पकड़ा था। हिंदी भाषा और उसके साहित्य में नवोन्मेष भरने वाली 'सरस्वती' (पत्रिका) का भी जन्म तब तक नहीं हुआ था।

'सरस्वती' हमारे साहित्य में नूतन प्रकाश लेकर अवतरित हुई। आरंभ से ही सेठजी की रचनाएँ उसमें छपने लगीं। पहले वर्ष में ही उसमें लेखकों की जो चित्रावली प्रकाशित हुई, उसमें अंगुलियों पर गिने जाने वाले तत्कालीन साहित्य-महारथियों में सेठजी संमिलित थे। इस घटना को घटे आज ५० वर्ष बीत गए। इस अर्द्ध शताब्दी में हिंदी में कितनी उथल-पुथल नहीं हुई? युग आयें और गये। वाद चले और समाप्त हुए। किंतु सेठजी साहित्य-सर्जन के अपने लक्ष्य पर अडिग, स्थिर रहे और दृढ़ता से पैर उठाते हुए अपने पथ पर चलते रहे।

पोद्दारजी जैसे सजग और अध्यवसायी लेखक का जीवन-वृत्त आज की पीढ़ी के लिए प्रेरणाओं से भरा हुआ है। उनके व्यक्तित्त्व के विकास में हिंदी के विकास की कहानी छिपी हुई है।

वंश-परिचय

राजस्थान की वीर-प्रसविनी भूमि रण-बाँकुरों के लिए ही नहीं, व्यवसाय-व्यापार शिरोमणि श्रेष्ठियों के लिए भी प्रसिद्ध रही है। राजस्थान के उज्ज्वल इतिहास में जहाँ अनेकानेक क्षत्रिय वीरों की प्राणों को प्रकंपित करने वाली गाथाओं के प्रमाण मिलते हैं, वहाँ ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि यहाँ के मारवाड़ी व्यापारी समुदाय ने देश-विदेशों से केवल धन का ही संचय नहीं किया, अपितु अपनी परोपकारी वृत्ति से अक्षय धर्म का भी संचय किया है। बिगड़े दिनों में भारत के सामाजिक शील, साहित्यिक अनुराग और राजनीति के उत्कर्ष को भी मारवाड़ी जाति से प्रचुर प्रोत्साहन मिला है। मारवाड़ियों का व्यक्तिगत चरित्र गुलामी के दिनों में भी अपनी धुरी से नहीं हटा। ऐसे ही उज्ज्वल कीर्ति एवं गौरवान्वित मारवाड़ी समाज के पोद्दार-वंश में 'श्री कन्हैयालालजी' ने जन्म लिया।

इस पोद्दार-वंश में सेठ भगोतीरामजी पोद्दार बड़े भाग्यशाली हुए हैं। वे बीकानेर राज्य के चुरू नामक नगर के निवासी थे और अग्रवाल वंशीय पोद्दार कहलाते थे। सेठ भगोतीरामजी के सबसे बड़े पुत्र का नाम चतुर्भुजदासजी था। सेठ चतुर्भुजदास की एक साधु में बड़ी श्रद्धा थी। साधु ज्योतिष-विद्या में निष्णात थे। उन्होंने सेठजी को व्यापारार्थ प्रस्थान करने के लिए एक मुहूर्त शोध कर बताया। सेठजी उसी शुभ मुहूर्त में चल दिये और पंजाब के भटिंडा शहर में आकर दुकान जमा ली।

यहाँ कुछ समय-उपरांत एक घटना घटी। एक रात्रि को कुछ यात्रियों ने आपकी दुकान से खाद्य पदार्थ मोल लिए। उनके पास रुपया नहीं था, उन्होंने अपनी कुछ थालियाँ उनके पास रख दीं और बदले में आवश्यक सामान ले गए। दूसरे दिन प्रातःकाल शहर के बाहर तंबुओं में आग लगी हुई देखी गई। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि कुछ डाकुओं ने वहाँ डेरा डाला था, परन्तु जब उन्होंने देखा कि लोग उनका पीछा कर रहे हैं तो वे तंबुओं में आग-लगा कर भाग गए। सेठजी ने अनुमान लगाया कि रात्रि में जो पुरुष खाद्य-वस्तु खरीदने आए थे वे डाकू ही थे। अब उन्होंने परीक्षा की दृष्टि से उन थालियों को देखा। वे थालियाँ पीतल की न होकर सोने की थीं। बाद में जब सेठजी को यह विदित हुआ कि जले हुए तंबुओं का सामान नीलाम हो रहा है तो सेठजी ने उनका सब सामान नीलाम में खरीद लिया। उस सामान में कई घोड़ों के तोबड़े थे। वे डाकुओं के द्वारा लूटे हुए सोने-चाँदी और हीरे-मोतियों से भरे हुए थे। कुछ समय के अनंतर सेठजी दुकान का काम मुनीमों को सौंपकर अपने जन्मस्थान चुरू आ गए।

अब तो सेठजी की अनेक स्थानों पर दूकानें चलने लगीं। जगात (कर) के संबंध में चूरू के ठाकुर साहब से अनबन होजाने पर सेठ चतुर्भुजदासजी सीकर के रावराजा देवीसिंहजी बहादुर (राज्य-काल सं०–१८२७ वि० से सं०–१८५९ वि० तक) से मिले। रावराजाजी के अनुरोध करने पर वे सीकर राज्यांतर्गत "नोसा" ग्राम में (जो चुरू से लगभग ५ कोस अर्थात् १० मील की दूरी पर है) अपने पिता सेठ भगोतीरामजी के साथ रहने लगे। सेठजी के वहाँ आबसने पर आसपास के गाँवों के और लोग भी नौसा गाँव में आ बसे। यही नौसा गाँव आगे चलकर 'सेठों का रामगढ़' कहलाया।

रामगढ़ में सेठ चतुर्भुजजी ने अपने नाम के अनुसार भगवान् चतुर्भुजजी के मंदिर की स्थापना की। उनके एक पुत्र का नाम ताराचंदजी था। सेठ ताराचंदजी के वंशजों में सभी महानुभाव बहुत प्रसिद्ध धार्मिक एवं यशस्वी हुए हैं। सेठ ताराचंदजी बड़े सरल स्वभाव के संयमी और धार्मिक व्यक्ति थे। इनका स्वर्गवास तरुणावस्था में ही हो गया था। उनके दो पुत्र थे—गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी। ये दोनों ही अत्यंत प्रभावशाली थे। राजपूताने में आज भी 'हरसा-गुरसा' कहकर इन दोनों भाइयों के सद्गुणों की प्रशंसा की जाती है। सेठ गुरुसहायमलजी के एकमात्र पुत्र सेठ घनश्यामदासजी हुए।

सेठ गुरुसहायमलजी बड़े आदर्श पुरुष थे। भिवानी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा सुदर्शन-पत्र के संपादक पंडित माधवप्रसादजी मिश्र ने कलकत्ता से प्रकाशित 'वैश्योपकारक मासिक पत्र' में आपके विषय में लिखा था कि परस्पर की बातों में लोग कहा करते थे कि 'तू बड़ा गुरुसहायमल सेठ है, जो झूठ नहीं बोलता।' इनके विषय में ऐसी अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि ये बड़े संयमी और सत्यवादी थे। इनके व्यापारका केंद्र केवल बड़े-बड़े नगरों में ही सीमित नहीं था, परंतु छोटे-छोटे अनेक शहरों और मंडियों से भी इनका व्यापार-संबंध था। हांगकांग और शंघाई में भी आपकी कोठियाँ थीं। सभी स्थानों पर आपके मुनीम लोग कार्य करते थे। आपकी इन कोठियों पर सराफे का ही काम नहीं होता था, उस समय के प्रायः सभी प्रचलित व्यापार होते थे, पर अफीम और बीमा लेने का व्यापार सब में प्रधान था। मालवा-प्रांत से अफीम खरीदी जाती थी। वहाँसे बंबई आती थी और बंबई से शंघाई जाती थी। उस समय अफीम का व्यापार बड़ी उन्नतावस्था में था और उस व्यापार में सेठजी अग्रगण्य माने जाते थे। जल-थल सभी प्रकार के

बीमे का काम सेठजी के यहाँ होता था। उस समय बीमे का व्यापार किसी विदेशी या स्वदेशी कंपनियों के हाथ म न था। व्यापार में जो लाभ होता था उसका विशेष भाग धर्मार्थ के लिये पृथक् रखा जाता था। सेठ गुरुसहायमलजी और घनश्यामदासजी दोनों पिता-पुत्र में धार्मिक भावना अत्यंत बद्धमूल थी। आपने अपने जन्मस्थान रामगढ़ में श्री बद्रीनाथ के मंदिर की स्थापना की और धर्मशाला बनवाई।

सं० १६०० वि० के लगभग दोनों पिता-पुत्र मथुरा की यात्रा के लिये आए। यहाँ आपने श्री गोविंददेवजी के मंदिर की स्थापना की और उसके नित्त-नैमित्तिक व्यय के लिए लाखों रुपए की स्थावर और जंगम संपत्ति दान में दी। इसके अतिरिक्त अन्नसत्र (सदाव्रत) का भी आयोजन किया। मथुरा में अपने निवास के लिए भी एक विशाल भवन निर्माण कराया जो श्री यमुना-तट के निकट चुरूवाले सेठों की गली में श्री गोविंददेवजी के मंदिर के समीप है। उसी समय से सेठ गुरुसहायमलजी अपने जन्मस्थान रामगढ़ से सपरिवार आकर अधिकतया मथुरा में रहने लगे। मथुरा में आपका घराना चूड़ीवालों के नाम से प्रसिद्ध है। चुरूवालों का अपभ्रंश ही 'चूड़ीवाले' हो गया है। आपने काशी में मीरघाट के पास अपनी कोठी के एक भाग में विशाल शिवालय की स्थापना की। काशी, हरिद्वार और वृंदावन-आदि अनेक अन्य तीर्थस्थानों पर भी आपने अन्नसत्रों की आयोजना की। ये राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित मंगलदत्तजी और चिड़ावा (जयपुर) के पंडित तुलसीरामजी जैसे वीतराग महात्माओं के उपदेश सुनते थे और उनका सत्संग करते रहते थे। यों तो श्री भगवद्-सेवा के लिए विद्वान् पुजारी नियुक्त थे, परंतु सेठजी स्वयं नियमित रूप से भगवान् की सेवा करते थे। विद्वानों का सत्कार और अतिथि-सेवा तो आपका व्रत था। सेठ गुरुसहायमलजी अलभ्य यश, अतुल संपत्ति और सत् परिवार छोड़ कर संवत् १६२४ के लगभग स्वर्गवासी हो गए। आपकी अंत्येष्टि-क्रिया में लाखों रुपयों का दान किया गया था। रामगढ़ में जिस स्थान पर सेठजी का दाह-कर्म हुआ वहाँ एक विशाल धार्मिक स्थापत्य बनाया गया। ऐसे स्मारक शेखावाटी में 'छत्री' कहलाते हैं।

सेठ घनश्यामदासजी अपने स्वर्गीय पिता के आदर्श पर व्यापार और धार्मिक कार्य में संलग्न रहते हुए उत्तरोत्तर वृद्धि करते गए। अपने समय में उनकी ऐसी प्रथा थी कि मारवाड़ी समाज तो आपको अपना अग्रगण्य ही मानता था। जब सेठजी श्री जगदीश की यात्रा के बाद कलकत्ते और श्री रामेश्वर की यात्रा से लौटते हुए बंबई गए तो दोनों स्थानों पर वहाँ की समस्त मारवाड़ी समाज ने बड़े उत्साह पूर्वक आपका स्वागत-सत्कार किया। जहाँ-जहाँ सेठजी की कोठियाँ थीं, वहाँ-वहाँ के मारवाड़ी पंचों में आपके फर्म का नाम सबसे पहले लिखा जाता रहा है। सेठजी को अपने जीवनकाल में दुःख-सहन करने का कोई अवसर नहीं आया। अपनी मृत्यु से केवल पाँच दिन पहले आपको एक बार ही हृदय-विदारक दुःख देखना पड़ा था। उसी दुःख ने ५५ वर्ष की अवस्था में ही मिती आश्विन शुक्ला १५ सं० १६४० वि० को आपके प्राणों की बलि ले ली। आपके ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हुआ और उसके अनंतर आप केवल पाँच दिन अचेतन अवस्था में ही जीवित रहे। सेठजी की प्रथम पत्नी के दो पुत्र थे—सेठ जयनारायणजी व लक्ष्मीनारायणजी। द्वितीय पत्नी से तीन पुत्र—सेठ राधाकृष्ण जी, सेठ केशवदेवजी और सेठ मुरलीधरजी हुए।

सेठजी के स्वर्गवास के पश्चात् आपकी पत्नी ने तपस्विनी के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। एक लक्ष भगवत्-नाम का प्रतिदिन जप कर आप भोजन करती थीं। आप बड़ी दानशीला एवं दया की मूर्ति थीं। आपने सं० १६५२ वि० में हरिद्वार में श्री गंगा के प्रवाह में अपने प्राण-विसर्जन किए। सेठ घनश्यामदासजी के पाँचों पुत्र बड़े प्रभावशाली थे। इनमें सबसे बड़े सेठ जय-नारायणजी थे। इनका जन्म सं० १६०६ वि० में हुआ। आप बड़े भगवद्भक्त, दानशील और पुण्यात्मा थे। अपने पितामह के साथ आप भी प्रतिदिन योगवाशिष्ठ, श्रीमद्भागवत आदि पौराणिक कथाओं का श्रवण करते और तदनंतर उनको लिपिबद्ध करते थे। बाल्यावस्था से ही आपके हृदय में

धार्मिक संस्कार दृढ़मूल हो गए थे। आपकी दिनचर्या आदर्श थी। ब्राह्म मुहूर्त में शय्या-छोड़कर सूर्योदय पर्यन्त गीता आदि पंचरत्नों का पाठ करते रहते थे। आपका शरीर कृश होने के कारण अस्वस्थ ही रहा करता था। फिर भी आप नित्य श्री यमुना-स्नान करते थे और नियमित रूप से श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करते थे। संध्योपासनादि, नित्यकर्म से लगभग ११ बजे निवृत्त होकर आप अपने पितामह-द्वारा स्थापित श्री गोविंददेवजी के मंदिर में १०८ परिक्रमा करते थे। व्यापार-संबंधी पत्रों को सुनकर और मुनीम-गुमास्तों को आदेश देने के पश्चात् आप श्रीमद्भागवत, रामचरित-मानस एवं विनयपत्रिका आदि का पाठ करते थे। आप पर ब्रज के प्रसिद्ध विद्वानों और साधु-महात्माओं की बड़ी कृपा रहती थी।

सेठ जयनारायणजी बड़े ही ब्रह्मण्य थे। आपके यहाँ सैकड़ों ब्राह्मण प्रतिदिन श्री भागवतादि का पाठ और गायत्री-आदि का जप किया करते थे। प्रतिदिन अनेक ब्राह्मण और अतिथियों को भोजन कराया जाता था। समय-समय पर महीनों तक सैकड़ों ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराया जाता था। आपने मथुरा के चतुर्वेदियों को, जिनकी संख्या लगभग ४००० है—कई बार भोजन कराया और प्रति मनुष्य एक रुपया दक्षिणा दी। व्यापारिक कार्य में आप बहुत ही कम समय देते थे। सेठजी की अपने इष्टदेव श्री गोविंददेवजी पर घोर श्रद्धा और अटल विश्वास था। सं० १९३२ वि० में आप सकुटुंब श्री जगदीश-यात्रा को गए। उस समय रानीगंज से आगे बैलगाड़ियों में जाना होता था। रास्ते में मेदनीपुर में पड़ाव किया तो रात में मेदनीपुर की नदी में भयंकर बाढ़ आ गई। सेठजी के पड़ाव का स्थान चारों ओर से जलमग्न हो गया। कहते हैं कि उस समय सेठजी ने अपने इष्टदेव श्री गोविंददेवजी का स्मरण किया और प्रत्यक्ष-दर्शियों का कहना है कि उस समय एक श्यामकाय पुरुष ने कहीं से प्रादूर्भुत होकर अपना हस्तावलंबन देकर पत्नी और पुत्र के सहित सेठजी को एक ऊँची टेकरी पर ले जाकर खड़ा कर दिया। उसी समय आपने एक लक्ष ब्राह्मण-भोजन का संकल्प किया। सं० १९४० वि० में आप रोगग्रस्त हो गए। जब आपको रोग असाध्य प्रतीत होने लगा तो आप स्वर्णमुद्राओं का मुक्त हस्त से अखंड दान करने लगे। आश्विन शुक्ला १० सं० १९४० वि० को श्री गोविंददेवजी के चित्र के दर्शन करते-करते आपका वैकुंठवास हो गया।

जन्म

इन्हीं जयनारायणजी के ज्येष्ठ पुत्र हमारे सेठ श्री कन्हैयालालजी हैं। आपका जन्म मथुरा में भादों सुदी १, संवत् १९२८ को हुआ। अपने कुल की दीर्घ परंपरा से ही इन्हें गहन भगवद्भक्ति के साथ दान-मान और कुल-शील के संस्कार बड़े स्थिर रूप में प्राप्त हुए हैं। शास्त्रों के अध्ययन की निष्ठा, विद्वज्जनों की संगति और साधुजनों की सेवा का निरंतर पीढ़ियों से चले आने वाला तप हमारे सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के व्यक्तित्त्व में आकर फलीभूत हुआ और साथ ही लक्ष्मी के प्रसाद से समाज में अनंत संमान प्राप्त करने वाले इस यशस्वी कुल पर सरस्वती की भी कृपा हुई।

शिक्षा और संस्कार

पोद्दारजी ने किसी विद्यालय में विधिवत अध्ययन नहीं किया। क्योंकि आपके पिताजी का वैकुंठवास, जब आप केवल १२ वर्ष के ही थे, तभी हो गया था। इसलिए बाल्यावस्था में ही गृहस्थी और व्यापार का भार, आप पर आ पड़ा और गुरु-गृह या विद्यालय की शिक्षा से आप वंचित रह गए। जो कुछ भी शिक्षा आपको मिली वह घर पर मिली। घर की इस शिक्षा में साधारण गणित एवं बही-खाता और संस्कृत में पंचरत्न, कुछ अमरकोष और कुछ सारस्वत तक ही आपकी पढ़ाई सीमित रही। आपके पिताजी अंग्रेजी-शिक्षा के बड़े विरोधी थे, इसलिए उसका प्रसंग ही प्रारंभ में नहीं उठा, किंतु बाद में सतत व्यापार-क्षेत्र में काम पड़ने से आपको अंग्रेजी का भी साधारण ज्ञान हो गया।

असली शिक्षा तो आपको भगवान् व्यास की श्रीमद्भागवत और गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस से ही प्राप्त हुई। आपका यज्ञोपवीत संस्कार ९ वर्ष की अवस्था में ही हो गया

थीं। तभी से श्रीमद्भागवत और तुलसी-कृत रामायण आपके दैनिक पठन-पाठन के ग्रंथ बन गए। टीकाओं-द्वारा इन महान् ग्रंथों की अनेकानेक पाठावृत्तियों ने पोद्दारजी के ज्ञान-कपाट खोल दिए और यही टीकाएँ आपको साहित्य-क्षेत्र की ओर प्रेरित करने का कारण बनीं। फिर आप विधिवत् संस्कृत और हिंदी के साहित्यिक ग्रंथों को मँगा-मँगा कर पढ़ने लगे। विद्वान् पंडितों और साहित्यकारों के सत्संग ने इस रुचि को और पुष्ट किया।

राजस्थान के बूंदी निवासी राजमान्य महाकवि सूर्यमल्लजी के पट्ट शिष्य गणेशपुरीजी से आपने अलंकार-विषय का प्रसिद्ध ग्रंथ "भाषाभूषण" पढ़ा। यद्यपि यह पढ़ाई केवल तीन दिन ही चली, लेकिन इससे अलंकार-विषय में सदा के लिए आपकी अभिरुचि हो गई। मारवाड़ के गंग कवि से आपने पिंगल भी पढ़ा।

यह पहले बताया जा चुका है कि आपने प्रातः पूजा के समय श्रीमद्भागवत का पठन पहले कुछ दिनों हिंदी-भाषा-टीका के साथ किया, तदनंतर संस्कृत-टीका के साथ करने लगे और इस तरह कई आवृत्तियाँ कीं, जिससे आपको संस्कृत समझने की बहुत कुछ शक्ति उपलब्ध हो गई और आप संस्कृत के काव्य, नाटक आदि देखने और समझने लगे। साथ-साथ आप हिंदी-भाषा के काव्य-नाटक भी देखते रहे। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र आदि के नाटकों से आपकी हिंदी-साहित्य की ओर विशेष अभिरुचि हुई। श्री रामचरितमानस का पाठ तो आप प्रतिदिन करते ही थे। इसपर श्री रामचरणदासजी और बैजनाथजी की टीकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत हैं। उनकी भी आपने कई आवृत्तियाँ कीं। शनैः-शनैः आपका अभ्यास बढ़ता गया। आप सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजने लगे और काव्य-रचना करने लगे। जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने "सरस्वती" का प्रकाशन आरंभ किया तो प्रथम वर्ष ही आपका महाकवि भारवि पर एक उत्कृष्ट निबंध आपके चित्र के साथ निकला था। साहित्य-विषय में आपकी उत्तरोत्तर रुचि बढ़ती गई।

पहली रचना

आपकी सबसे पहली पुस्तक—"भर्तृहरि-शतक का भाषानुवाद" है। यह १९५० के आस-पास की रचना है। यह अनुवाद कालाकाँकर से निकलने वाले दैनिक 'हिंदोस्थान पत्र' में क्रमशः प्रकाशित हुआ था और तब उसकी बड़ी सराहना भी हुई थी।

आपका सबसे पहला लेख भी महामना श्रीमालवीयजी के प्रधान संपादकत्त्व में 'हिंदोस्थान' में ही छपा। उसकी कहानी भी रोचक है। आपने संपादक को पत्र लिखा कि आप जो लेख छापते हैं, उनकी छपाई भी कुछ लेते हैं या यों ही छाप देते हैं? संपादक ने उत्तर देते हुए लिखा कि हम सुंदर लेखों को तो छाप देते हैं और शेष रद्दी की टोकरी में फेंक देते हैं। इस पर आपने वहाँ लेख भेजने प्रारंभ किए। आपका पहला लेख 'गेहूँ' और दूसरा 'अफीम-निर्यात' पर था। साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होते समय जहाँ हमें एक ओर 'भर्तृहरि-शतक' के नीति-गर्भित-काव्य में इनकी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, वहीं दूसरी ओर देश के व्यवसाय-व्यापार से संबंधित आर्थिक विषयों की ओर भी प्रवृत्ति मिलती है। इस दिशा में इनके अपने प्रत्यक्ष व्यापारिक अनुभवों से इन्हें प्रेरणा मिली थी, इस ओर भी यदि ये अपनी अभिरुचि बनाये रहते तो आज आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्र को कुछ मौलिक सामग्री मिली होती।

अलंकारों की ओर

पोद्दारजी से पहले हिंदी-ग्रंथों में अलंकारों का विषय प्रायः पद्य-बद्ध था। प्राचीन कविगण राज-समाज और पंडित-प्रवीणों में आदर-प्राप्त करने के लिए रीति-ग्रंथों की रचना किया करते थे। उन ग्रंथों में प्रधान प्रतिपाद्य नायिका-भेद था और अलंकार-विषय भी था, पर किंचित गौण। इन ग्रंथों में अलंकारों के प्रतिपादन के लिए अधिकतया संस्कृत के चंद्रालोक और कुवलयानंद को ही आधार माना गया प्रतीत होता है। संस्कृत-ग्रंथों में अलंकारों के पद्यात्मक लक्षणों का प्रथम तो

ग्रंथकारों ने स्वयं अपनी वृत्ति में ही स्पष्टी-करण कर दिया है, फिर उन पर प्रकांड विद्वानों-द्वारा लिखी गई टीकाओं में विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया। पर हिंदी के रीति-ग्रंथकारों ने प्रथम तो अलंकार-विषय को समझने का कष्ट ही नहीं उठाया, फिर उनके लक्षण भी पद्य में लिखे। पद्य में दिये गए लक्षण कभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं होते, उन पर वृत्ति या व्याख्या की आवश्यकता होती ही है। किंतु हिंदी में उनका कुछ भी स्पष्टी-करण गद्य में नहीं किया गया। फलतः हिंदी-साहित्य के पाठकों एवं विद्यार्थियों तक के लिये इन ग्रंथों की कोई उपयोगिता नहीं हो सकी। अलंकारों की प्रतिपादन तथा स्पष्टी करण और उनकी व्याख्या-आदि के लिये, अत्यंत गहन विवेक तथा सूक्ष्म तत्वदर्शी मेधा की आवश्यकता होती है। उस मेधा के बिना तथा तत्संबंधी विवाद, व्यापक पांडित्य के बिना अलंकारों के सूक्ष्म भेदों के मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकते। हिंदी में उसका एकांत अभाव था।

पोद्दारजी ने हिंदी के रीति-ग्रंथों की इस त्रुटि को लक्ष्य में रखकर संस्कृत के उपलब्ध प्राचीन साहित्य-ग्रंथों का विशद अध्ययन किया और उनके आधार पर अपने ग्रंथों की रचना की। पोद्दारजी से पूर्व हिंदी-साहित्य के विद्वानों ने संस्कृत के प्राचीनतम आचार्यों की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया था। भामह, दंडी, उद्भट, वामन, रुद्रट्, ध्वनिकार एवं रुय्यक-आदि और पंडितराज जगन्नाथ-आदि-द्वारा प्रणीत काव्यालंकार, काव्यादर्श, काव्यालंकार-सार-संग्रह, काव्यालंकार-सूत्र, काव्यालंकार, ध्वन्यालोक एवं अलंकार-सर्वस्व और रस-गंगाधर आदि ग्रंथ उनके लिए अस्पर्श्य ही रहे थे। पहली बार पोद्दारजी ने ही काव्य-प्रकाश, कुवलयानंद और साहित्य-दर्पण के अतिरिक्त उपर्युक्त समस्त संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर विधिवत् वैज्ञानिक प्रणाली से अपने साहित्य-ग्रंथों में साहित्य-शास्त्र की विवेचना की।

पोद्दारजी के इस परिश्रम से साहित्य के अध्येताओं को बहुत लाभ हुआ। पोद्दारजी के अलंकार-संबंधी ग्रंथ उनके लिए वरदान सिद्ध हुए। आपने अलंकार जैसे जटिल विषय को अत्यंत सरल बना दिया और उसमें जो दुरूहता और प्राचीन पंडिताऊपन था उसे निकाल कर उसके स्थान पर ऐसा वैज्ञानिक विवेचन किया जो नवीन शिक्षा-प्रणाली के विद्यार्थियों की क्षमता के अधिक अनुकूल था। अलंकारों के लक्षणों को पद्य-बद्ध लिखने की परिपाटी आपने बदल दी। आपने ये गद्य में लिखे। उनके उदाहरण श्रेष्ठ कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं में से चुन-चुन कर रखे। प्राचीन परिपाटी के रीति-ग्रंथों में उदाहरण-संबंधी बहुत प्रमाद था। सेठजी ने अपने अध्यवसाय से शुद्ध उदाहरण ही चुन कर प्रस्तुत किए। जहाँ अन्य विद्वानों के श्रेष्ठ उदाहरण नहीं मिले वहाँ पोद्दारजी ने अपने स्वयं के लिखे उदाहरण दिये और इस प्रकार अलंकार-शास्त्र का प्रथम बार प्रामाणिक प्रणयन हिंदी में आपके द्वारा हुआ, जिसमें आपने अलंकारों के वर्गीकरण और विवेचन की प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही प्रणालियों का उपयोगी समन्वय प्रस्तुत किया।

अलंकार-प्रकाश

अलंकार-विषय पर आपकी पहली कृति 'अलंकार-प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुई। इसे बंबई के वेंकटेश्वर प्रेस ने छापा था। इस पुस्तक का हिंदी में बड़ा उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। तत्कालीन विद्वानों ने इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की, पत्र-पत्रिकाओं में इसकी महत्वपूर्ण चर्चा हुई और परीक्षाओं में भी इसे स्थान दिया गया। बाबू बालमुकुंद गुप्त ने अपने 'भारतमित्र' में इसकी प्रशंसात्मक आलोचना लिखी थी। यह ग्रंथ पोद्दारजी ने स्वांतःसुखाय ही लिखा था। हिंदी वालों ने इसे बड़ी हार्दिकता से अपनाया तो सेठजी ने अपने आपको इस शास्त्र की सेवा के लिये और अधिक विनियुक्त किया।

काव्य-कल्पद्रुम

पोद्दारजी का विचार था कि 'अलंकार-प्रकाश' का दूसरा संस्करण केवल अलंकारों के प्रतिपादन तक ही सीमित न रखा जाय। वे उसमें रस, भावादि सभी विषयों का समावेश करना

चाहते थे। पर समयाभाव से वे अपने विचारानुकूल वह संस्करण प्रस्तुत नहीं कर सके। फिर भी संक्षेप में रस-भावादि का विषय उन्होंने बढ़ा दिया और उसको 'काव्य-कल्पद्रुम' का नाम देकर नागरी-प्रचारिणी-सभा आगरा के द्वारा प्रकाशित कराया गया। इस प्रकार 'अलंकार-प्रकाश' समृद्ध हुआ और काव्य-कल्पद्रुम बन गया। काव्य-कल्पद्रुम के बाद के समस्त संस्करण दो भागों में विभक्त होकर 'रस-मंजरी' और 'अलंकार-मंजरी' के नाम से निकलते रहे हैं। ये दोनों ग्रंथ उत्तरोत्तर परिवर्द्धित और परिवर्तित होते गए हैं। पोद्दारजी में सार-ग्राहिणी वृत्ति सदा ही अत्यंत प्रबल रही है। उनका अध्यवसाय तथा अध्ययन अखंड और अटूट रहा है। इसी कारण प्रत्येक नये संस्करण में उन्होंने महत्त्वपूर्ण परिवर्द्धन और परिवर्त्तन किए। नये-से-नये प्रकाशनों का भी मनोयोग पूर्वक आपने पारायण किया, और उसमें से सार-ग्रहण करके स्वतंत्र मनन-पूर्वक अपने ग्रंथ में उसका समावेश किया, इस प्रकार ग्रंथ प्रगति के साथ पूर्ण बनता गया। यों तो हिंदी में साहित्य-विषयक प्राचीन रीति-ग्रंथ अनेक हैं। 'काव्य-कल्पद्रुम' के बाद भी आधुनिक लेखकों-द्वारा कुछ ग्रंथ लिखे गए हैं, पर जिस नवीन शैली से 'काव्य-कल्पद्रुम' में काव्य-साहित्य के सभी विषयों का विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक विषद विवेचन किया गया है, वह अपूर्व है और पोद्दारजी की साहित्य-विषयक विद्वत्ता का परिचायक है। पोद्दारजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से गहराई में पैठ कर संस्कृत के आचार्यों तक के प्रमाद का उद्धार करने में संकोच नहीं किया और ऐसा उन्होंने श्रद्धापूर्वक सास्वत-धर्म समझ कर ही किया। हिंदी ही नहीं, संस्कृत के भी अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ पर अपनी बहुमूल्य प्रशंसित संमतियाँ प्रदान की हैं। अलंकार-प्रकाश के प्रकाश में आने के बाद जितने भी ग्रंथ इस विषय के अन्य लेखकों-द्वारा हिंदी में लिखे गए हैं, उनमें अलंकार-प्रकाश के अनुकरण पर गद्य में लक्षण लिखा जाना प्रचलित हुआ है। उन दिनों अलंकार-प्रकाश, अलंकार-विषय के लेखकों के लिए आधार-ग्रंथ का काम देता था। बाबू जगन्नाथ प्रसादजी 'भानु' ने अपने 'काव्य-प्रभाकर' में लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अपनी 'अलंकार-मंजूषा' तथा 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' में, और श्री रामशंकरजी शुक्ल 'रसाल' ने 'अलंकार-पीयूष' में, 'अलंकार-प्रकाश' और 'काव्य-कल्पद्रुम' की सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है।

रस, ध्वनि और अलंकार-विषय पर सेठजी ने जो प्रशंसनीय कार्य किया, उसकी महत्ता को हिंदी के मान्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। आचार्य द्विवेदीजी, पंडित रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदरदास, डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल आदि ने आपके ग्रंथों की भूरि-भूरि सराहना की। 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' लिखनेवाले पंडित श्री कृष्णशंकर शुक्ल की संमति देखिये—

> **"हिंदी में अलंकारों के ठीक-ठीक उदाहरण ढूँढ़ना बहुत परिश्रम का काम है और जो उदाहरण लक्षण की माँग पूरी करते हैं, उनमें उतना कवित्व नहीं रह जाता। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद करने में भी कठिनाइयाँ हैं। मैंने आपकी पुस्तक (अलंकार-मंजरी) भूमिका-सहित पढ़ी। आपका अध्ययन गंभीर है। हिंदी-साहित्य का भी आप घरेलू परिचय रखते हैं। घरेलू से मेरा तात्पर्य 'निकट' का है। पुस्तक बहुत अच्छी बन पड़ी है। इसे मैं तो अपने साहित्य की इस विषय की सर्वश्रेष्ठ रचना मानता हूँ।"**

पोद्दारजी ने अलंकार-विषय पर जहाँ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भ्रमों और भूलों का परिमार्जन किया है, वहाँ अपने समकालीन लेखकों को नयी शैली और नया प्रकाश भी प्रदान किया है।

रस, ध्वनि-आदि रीति-विषयों पर तो हिंदी में पहली बार साधिकार लेखनी पोद्दारजी ने ही उठाई और इन्होंने ही इन विषयों का प्रथम बार हिंदी में वैज्ञानिक विवेचन किया।

कवि-रूपमें

रस और अलंकार-विषय पर सेठजी ने जो हिंदी में सर्वप्रथम और सर्वोत्तम कार्य किया, उसके प्रकाश में आज आपका कविरूप ढक-सा गया है, लेकिन कविता के क्षेत्र में भी आपकी सेवाएँ

द्विवेदी-काल के किसी अन्य कवि से कम उल्लेखनीय नहीं। यह ठीक है कि आपने मौलिक रचनाएँ कम लिखीं, आपके सभी काव्य-ग्रंथ संस्कृत से अनूदित हैं, लेकिन संस्कृत का समश्लोकी अनुवाद और उसके साथ-साथ कवित्व के गुणों का सम्यक् निर्वाह, अनुवाद की इन दो महत्वपूर्ण विशेषताओं को निबाहने में सेठजी, हिंदी में अकेले ही सफल हो सके हैं। आपके चार काव्य प्रकाशित हुए हैं:— (१) भर्तृहरिशतक (२) गंगालहरी, (३) पंचगीत और (४) हिंदी मेघदूत-विमर्श। 'भर्तृहरिशतक' का अनुवाद आपने 'ब्रजभाषा' में किया था। यह संवत् १९५० के आसपास की रचना है। यह कालाकांकर के हिंदोस्थान में क्रमशः छपा था। इन्हीं दिनों द्विवेदीजी का भी गंगालहरी का अनुवाद हिंदोस्थान में छप रहा था। पोद्दारजी ने पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' और 'पंचगीत' अर्थात् श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध के पाँच अध्यायों का समश्लोकी अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

हिंदी मेघदूत-विमर्श

कवि रूप में सबसे अधिक ख्याति आपको 'हिंदी मेघदूत-विमर्श' से मिली। इसमें मूल संस्कृत के श्लोकों के साथ बोलचाल की भाषा में समश्लोकी पद्यानुवाद है। पद्य के साथ-साथ गद्य में भी मूल के अर्थ को बड़े ही सरल ढंग से समझाया गया है। समश्लोकी अनुवाद के कुछ उदाहरण देखिए—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां-
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपांडुः ॥१।१८

पद्यानुवाद—

वन्याम्रों के तरु फल-पके छा रहे प्रांत भाग-
बैठेगा तू शिखर-गिरि के स्निग्ध-वेणी-समान।
देखेंगे सो ललित-छवि वो, देव-देवांगना यों
मानो गोरे-भुवि-उरज के बीच में श्यामता हो ॥१।१८

दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां—
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः ॥१।३२

पद्यानुवाद—

चेतोहारी ध्वनि मद-भरी सारसों की बढ़ाके,
प्रातः फूले कमल-रज की गंध को भी उड़ाके-
शिप्रा-वायु प्रिय-सम जहाँ प्रार्थना से रिझाता,
कांताओं का श्रम, सुरत का स्पर्श से है मिटाता ॥१।३२

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पाः,
हंसश्रेणीरचितरसना नित्यपद्मानलिन्यः।
केकोत्कंठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा-
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥२।३

पद्यानुवाद—

भृंगाली से मुखरित जहाँ वृक्ष हैं नित्य पुष्पा,
हंस-श्रेणी-लसित-रसना-पद्मिनी नित्य-पद्मा।

पिच्छाभा से युत गृह-शिखी नित्य-उत्कंठ-घोषा-
हैं ज्योत्स्ना से विगत-तम की नित्य-रम्या प्रदोषा ।।२।३

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया—
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तंन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लंबालकत्वा—
दिंदोर्दैंन्यं त्वदनुसरण क्लिष्टकांतेर्बिभर्त्ति ।।२।२३

पद्यानुवाद—

निश्चै उसके अति रुदन से सूजे हुए जो ।
हुए रूखे-अधरयुत भी तप्त-निश्वास पा वो ।।
छूटे केशों-गत मुख, धरा हाथ पै होयगा सो ।
धारें तेरे अनुगत अहो, चंद्र की दीनता को ।।२।२३

नत्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलंबे-
तत्कल्याणित्वमपि नितरां मागमः कातरत्वम् ।
कस्यैकांतं सुखमुपनतं दुःखमेकांततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशाश्चक्रनेमिक्रमेण ।।२।४८

पद्यानुवाद—

आशा से मैं दृढ़-चित किये धारता प्राण जो कि-
तू भी होना न दुखित यही सोच कल्याणि, क्योंकि-
किसको होता अति-सुख तथा दुःख किसको सदा है ?
ऊँची-नीची चलित-रथ के चक्र की-सी दशा है ।।२।४८

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कंठलग्ना पुरा मे ।
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सत्वरं विप्रबुद्धा ।।
सांतर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे ।
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ।।२।५०

पद्यानुवाद—

बोला है यों फिर, सुन, कभी साथ तू सो रही थी ।
पाके निद्रा कुछ चकित-सी शीघ्र रोती उठी थी ।।
पूछा मैंने बहुत तब यों बोलके तू हँसी थी—
अन्य-क्रीड़ा-रत ठग, तुम्हें स्वप्न में देखती थी ।।२।५०

कालिदास के मंदाक्रांता-छंद की विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए और कला-पक्ष के साथ-साथ भाव-पक्ष का भी रसपूर्ण निर्वाह करते हुए पोद्दारजी ने समूचे मेघदूत का हिंदी में अनुवाद किया है। इस अनुवाद के साथ पोद्दारजी ने पांडित्यपूर्ण भूमिका भी इसमें जोड़ दी, जिससे सोने में सुगंध आ गई। इस अनुवाद को देखकर आचार्य द्विवेदीजी ने बड़ी प्रशंसा की थी।

'कलकत्ता-समाचार' ने तो अपने १४ मई १९२२ अंक के संपादकीय अग्रलेख—'हिंदी की श्रीवृद्धि'—शीर्षक में यहाँ तक लिखा था—

"हम इसे हिंदी का गौरव-वर्द्धक ग्रंथ समझते हैं। मेघदूत के कई गद्यात्मक एवं पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, किंतु आलोच्य पुस्तक में अन्य अनुवादों से अंतर ही नहीं,

महद्-अंतर है। अब तक इसके समान विशद-व्याख्या-संयुक्त मेघदूत का संस्करण समृद्धशाली बंग-भाषा या महाराष्ट्र-भाषा में भी प्रकाशित नहीं हुआ।"

मेघदूत की भूमिका बड़ी शोधपूर्ण और उपयोगी है। उसमें मेघदूत का परिचय, कालिदास की कविता-शक्ति, मेघदूत की टीकाओं का विवरण, मेघदूत और रामायण, मेघदूत के अनुकरण पर रचे गए काव्य, मेघदूत के हिंदी-अनुवाद आदि विषयों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

कालिदास किस समय हुए—इस विषय को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। इस प्रश्न पर पोद्दारजी ने जो युक्तियाँ उपस्थित की हैं वे सप्रमाण और अनूठी हैं। पोद्दारजी ने महाकवि भास को 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का समकालीन माना है। कालिदास को वे भास के बाद और भामह से पहले हुआ मनते हैं। भामह ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश की टीका लिखी है और वररुचि का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। इसलिए भामह का इस समय के पीछे होना सिद्ध है। मगध के अंतिम राजा बृहद्रथ के बाद पुष्पमित्र हुआ। उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। इसका उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में है। यह ईसा से पहले दूसरी शताब्दी की रचना कही जाती है। इसी पुष्पमित्र का पुत्र अग्निमित्र था, जिसके नाम पर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा है। पुष्पमित्र का समय ईसा से १८१ से १४८ वर्ष पहले बताया जाता है। अग्निमित्र इसके बाद आता है। अस्तु सेठजी का कथन है कि मालविकाग्निमित्र का काल ही कालिदास का काल समझना चाहिए।

पोद्दारजी ने कालिदास के बंगाली होने की कल्पना का भी सप्रमाण खंडन किया है और उनकी जन्मभूमि काश्मीर मानी है और कहा है कि उन्होंने अपनी युवावस्था और प्रौढ़ावस्था उज्जयिनी में व्यतीत की थी। स्मरण रहे कि अग्निमित्र पहले यहाँ के प्रांतपति थे।

इस प्रकार सेठजी ने मेघदूत के समश्लोकी अनुवाद के साथ मेघदूत-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की गवेषणा भी की और कालिदास के समय-निरूपण के प्रसंग को इतिहास-वेत्ताओं की भाँति तर्कपूर्ण भाषा में सिद्ध किया। फलतः 'मेघदूत-विमर्श' केवल काव्य-रसिकों के आनंद की ही वस्तु नहीं रह गया, वह विद्वानों के अध्ययन और विचार के योग्य भी हुआ है। किसी काव्य या उसके अनुवाद को ऐसी विस्तृत शोधमयी आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित करने की परिपाटी भी हिंदी के लिए नयी थी और उसका गौरव तथा गरिमा बढ़ाने वाली यह प्रणाली संस्कृत में भी कहाँ प्रचलित थी। स्पष्ट ही पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा निर्देशित नई प्रणाली सेठजी ने भारतीय निष्ठा के साथ इस ग्रंथ के रूप में प्रदान की। इसके द्वारा सेठजी की तत्ववेत्री प्रतिभा का प्रथम किंतु पुष्ट दर्शन हिंदी को मिला।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

कालिदास के मेघदूत का विद्वत्तापूर्ण विमर्श उपस्थित करने के बाद सेठजी की रुचि संस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक अनुसंधान की ओर और भी तीव्र हो गई। उसका एक बड़ा कारण था। सेठजी को भारतीय पूर्वजों के ज्ञान में अपूर्व श्रद्धा है। उन्होंने मेघदूत के अध्ययन के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के भ्रमों का भी अवलोकन किया। उनकी नई प्रणाली तो इन्हें पसंद आई, पर प्रमाणों और निष्कर्षों तथा सामग्री के उपयोग में व्याप्त मनोवृत्ति से इन्हें बहुत धक्का लगा। इन्होंने उन्हीं की प्रणाली से उनको उत्तर देने और उनके भ्रम को दूर करने का निश्चय किया। तत्संबंधी देशी-विदेशी समस्त सामग्री का इन्होंने गंभीर अध्ययन किया और उसका फल 'संस्कृत-साहित्य के इतिहास' के रूप में प्राप्त हुआ।

यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। प्रथम-भाग में वैदिक काल से लेकर भरतमुनि और उनके नाट्य-शास्त्र, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और अग्निपुराण पर लिखकर फिर भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक के साहित्याचार्य और उनके ग्रंथों के विषय में ऐतिहासिक आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। द्वितीय-भाग में साहित्य-ग्रंथों के विषय और साहित्य के प्रचलित पाँचों

संप्रदायों (स्कूलों)—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पर विचार किया गया है। इसमें काव्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के समय तक काव्य के विकास-क्रम का भी सतर्क सप्रमाण प्रतिपादन है और उनका ऐतिहासिक विवेचन भी है। इतिहास में संस्कृत के विभिन्न आचार्यों-द्वारा लिखे गए काव्य के लक्षणों पर गंभीर आलोचना की गई है, जिसके द्वारा पोद्दारजी के साहित्य-विषयक गहरे अध्ययन का पर्याप्त परिचय मिलता है।

हिंदी में यह अपने विषय का प्रथम ग्रंथ है। श्री 'काणे' और 'दे' महोदय के अंग्रेजी भाषा के ग्रंथों को यदि छोड़ दिया जाय तो अन्य भाषाओं में भी यह अपने विषय का प्रथम ग्रंथ है।

बाह्य सामग्री के अभाव में यह ग्रंथ स्वतंत्र रूप से लिखा गया है और इसलिए इसमें एक नवीन दृष्टिकोण और मौलिकता है। संस्कृत-कवियों के समय-निरूपण और उनके कवित्व के विश्लेषण में पोद्दारजी ने विद्वत्ता और सहृदयता का परिचय दिया है। ग्रंथ के प्रथम-भाग में आपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर लिखनेवाले देशी और विदेशी विद्वानों की त्रुटियाँ दिखाई हैं और पाश्चात्य विद्वानों के अंधानुकरण का साहसपूर्वक खंडन किया है। स्वयं श्री एस० के० दे ने 'माडर्न-रिव्यू' में पोद्दारजी के इस ग्रंथ की सराहना की और इसे भारतीय भाषा के माध्यम से संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का परिचय प्राप्त करने के लिए उपयोगी साधन बताया तथा लेखक के स्वतंत्र चिंतन और विषय-विवेचन की सराहना की। स्वर्गीय डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की इस ग्रंथ के संबंध में संमति विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है:—

> **"यह ग्रंथ विस्तृत अध्ययन और गहन पांडित्य का परिचायक है। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र के क्रम-विकास पर इस ग्रंथ से पूर्ण प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध सामग्री का इसमें अच्छा उपयोग किया गया है और स्वतंत्र चिंतन से काम लेने के कारण ग्रंथ का महत्त्व बढ़ गया है।"**

निस्संदेह 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' पोद्दारजी की सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण रचना है।

निबंध-लेखन

सेठजी ने समय-समय पर आलोचनात्मक निबंध भी प्रचुर मात्रा में लिखे हैं। इन निबंधों का हिंदी में अपना स्थान है।

'काव्य-कल्पद्रुम' लिखते समय आपको हिंदी-भाषा के प्राचीन और आधुनिक ग्रंथों को देखने का अवसर हुआ तो आपने अनुभव किया कि उन ग्रंथों के लेखकों-द्वारा अपने अधिकृत विषयों का निरूपण बहुत ही अनधिकारपूर्ण किया गया है। इसका परिणाम पाठकों के लिए हानिकारक होने के कारण आपने उनकी आलोचना करना आवश्यक समझा। आपने अवकाशानुसार हिंदी के ऐसे ग्रंथों की निष्पक्ष एवं निर्भीक आलोचना लिखना प्रारंभ कर दिया। सबसे प्रथम आपने श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'काव्य-प्रभाकर' की आलोचना लिखी[१]। दूसरी आलोचना काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी 'दीन' कृत 'अलंकार-मंजूषा' और 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' की लिखी[२]। श्री बाबूरामजी वित्थरिया के 'हिंदी में नवरस' पर भी आपने अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए[३]। श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'अलंकार-पीयूष' पर भी आपकी आलोचना प्रकाशित हुई[४]। जोधपुर के राज्य-कवि कविराजा मुरारीदान कृत 'जसवंतजसोभूषण' हिंदी-भाषा के साहित्य-ग्रंथों में केवल

[१] **माधुरी, अगस्त सन् १९२८।**

[२] **माधुरी, अगस्त सन् १९२८। भूदेव शर्मा के नाम से।**

[३] **माधुरी, सन् १९२८।**

[४] **माधुरी, वर्ष—८, खंड—२, संख्या—३,५।**

सेठजी का साहित्यिक यशःशरीर

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

कवियों ने लक्ष्मी और सरस्वती में सपत्नी-भाव, अर्थात् सौहार्द्र के अभाव का वर्णन किया है[1] और इसी प्रकार 'सुवर्ण में सुगंध' तथा 'सुगंध में सुवर्ण'[2] की कल्पना भी कवि-मुखों से ही कही-सुनी जाती आई है। इन कवि-मुख-वर्णित 'लोक-वदंतियों का यदि कभी कहीं संगम दिखलाई पड़ जाता है तो वह गंगा-यमुना के सुंदर नैसर्गिक संगम की रमणीय शोभा से कम शोभा-प्रद नहीं होता। उक्त उभय-गुण-विशिष्ट साहित्य-जगत के सुनाम-ख्याति "साहित्य-वाचस्पति" 'सेठ कन्हैया-लालजी पोद्दार' ऐसे-ही गिने-चुने साहित्य-सृजेताओं में हैं, जिन्होंने प्रशंसा से दूर 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' की भाँति सरस्वती को तथा साहित्य-रचयिताओं और साहित्यिक संस्थाओं के लालन-पालन के लिए लक्ष्मी को अपनाया। वह समय, जिस समय सेठजी ने हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया था, ऐसा ही था। भारतेंदुजी से आदि लेकर कुछ इने-गिने साहित्यिक महानुभाव ही थे, जिन्होंने सेठजी की भाँति 'माता भारती' का आह्वान पा उसकी 'लोकनमस्कृत-डेवढ़ी' पर अपने-अपने रचना-प्रसून चढ़ाए। इन भारती-भक्तों में सेठजी के अतिरिक्त प्रातःस्मरणीय श्री मदनमोहनजी माल-वीय, बाबू बालमुकुंद गुप्त, पंडित बालकृष्ण शर्मा भट्ट, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, तथा कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, शोभाराम धेनुसेवक, गिरिधर शर्मा नवरत्न, ठा० गोपालशरणसिंह आदि कितने ही ज्ञात-अज्ञात हिंदी के वरद-पुत्र थे, जिन्होंने अपने-अपने ध्येय से हिंदी-साहित्य की अभूत सेवा की। सेठजी ने भी हिंदी-साहित्य के कठोर तथा बनजर अलंकार-क्षेत्र को चुना और उसमें स्वकीर्त्ति-रूप 'अलंकार-प्रकाश' नाम का एक छोटासा बोध-गम्य 'बिरवा' का आरोपण किया, जो आगे चलकर—'काव्य-कल्पद्रुम' के रूप में पल्लवित होकर 'रस-मंजरी' और 'अलंकार-मंजरी' के रूप में फला-फूला। सम-श्लोकी-अनुवाद करने में पटु पोद्दारजी ने समय-समय पर 'भर्तृहरि-शतक, मेघदूत, श्रीमद्भागवत के पंच-गीत—वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, महिषीगीत, और गंगालहरी आदि संस्कृत-काव्य-ग्रंथों के हृदयहारी अनुवाद किए तथा संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा।

साहित्य

साहित्य के आलोचकों ने साहित्य को कला के साथ संबंधित कर कुछ अनुचित ही किया है। साहित्य तो शाश्वत सत्य तथा शिवत्त्व का अति सुंदर रूप है। साहित्य-सृजन तथा परिशीलन से परे कोई अन्य आनंद है, कहा नहीं जा सकता। भारतीय वाङमयकारों ने साहित्य को—"ब्रह्मानंद सहोदरः" जैसे संमाननीय संबोधन से संबोधित कर साहित्य-सृजेताओं को—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।"

कह कर स्तुति की है। सेठजीने इस साहित्य शब्द की उपयुक्त सुंदर व्याख्या करते हुए—"साहित्य क्या है, वह कैसे बना, उसकी व्युत्पत्ति क्या है, साहित्य शब्द का प्रयोग काव्यके लिए ही क्यों किया जाय"—आदि का विवेचन बड़े सुंदर ढंग से किया है। जिसे हम उनके ही शब्दों में यहाँ उद्धृत करते हैं।

[1] **कुटिला लक्ष्मीर्यत्र प्रभवति न सरस्वती बसति तत्र।**
प्रायः श्वश्रुस्नुयोर्न दृश्यते सौहृदं लोके॥

[2] **सोंने में सुगंध, ना सुगंध में सुन्यों-री सोंनों, सोंनों औ सुगंध तो में दोंनों देखियतु हैं।**

"वंदे कवींद्रवक्त्रेंदुलास्यमंदिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्तिपरिस्पंदसुंदराभिनयोज्ज्वलाम् ।।"

'साहित्य' शब्द सहित शब्द से भाव के अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय के संयोग से बनता है। सहित का अर्थ है मेलन—सहित×ष्यञ्=साहित्यम् (मेलनम्)—'सहितस्य भावः साहित्यं', अर्थात् जिसमें एक से अधिक वस्तु मिली हों वह 'साहित्य' कहा जाता है। शब्दशक्ति-प्रकाशिका-आदि ग्रंथों में साहित्य की जो—'तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेषविषयत्वं साहित्यं'—इत्यादि परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें भी यही अर्थ सिद्ध होता है। इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयों का ग्रंथ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है। व्याकरण, न्याय, मीमांसा-आदि शास्त्रों के ग्रंथ-समूह के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

"साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं,
काव्यामृतं रक्षत हे कवींद्राः ।
यत्तस्य दैत्या इव लुंठनाय
काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवंति ।।"

—विक्रमांकदेव-चरित १।११

इसमें संस्कृत के समस्त विषयों के ग्रंथ-समूह के लिए सामान्यतया साहित्य शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। किंतु प्राचीनकाल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के पर्यायवाची विशेष अर्थ में प्रचलित है। जैसे—

"पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः ।"

—कविराज राजशेखर-काव्यमीमांसा पृ०-४

"व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् ।"

—मुकुल भट्ट-अभिधावृत्तिमातृका पृ०-२१

"मीमांसासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात् ।
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः सौरिपादाब्जभृंगात् ।।"

—प्रतिहारेंदुराज[1]

"विना न साहित्यविदा परत्र गुणाः कथंचित्प्रथते कवीनाम् ।"

—महाकवि मंखक–श्रीकंठचरित २।१२

इन वाक्यों में काव्य के लिये ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों-द्वारा किया गया है। अब यह विवेचनीय है कि सभी शास्त्रों के लिये व्यापक रूप में प्रयोग किये जानेवाले 'साहित्य' शब्द का 'काव्य' के विशेष अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है। ऊपर जिनके वाक्य उद्धृत किये गए हैं, वे साहित्याचार्य या काव्य-लेखक हैं और वे सभी लगभग ईसा की दशम शताब्दी में हुए हैं। किंतु, इनके पूर्व भी काव्य के लिये 'साहित्य' का प्रयोग प्राचीन समय में अन्य शास्त्रकारों-द्वारा भी किया गया है। भर्तृहरि का समय मेक्समूलर के मतानुसार ६५० ई० है। भर्तृहरि महान् वैयाकरण भी थे। इनकी 'सार' नामक महाभाष्य की टीका का परिचय कराते हुए व्याकरणाचार्य कैय्यट अपनी 'प्रदीप' टीका में कहते हैं—

"तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रंथसेतुना ।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तोऽस्मि पंगुवत् ।।"

ऐसे महान् व्याकरणाचार्य श्री भर्तृहरि ने भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के लिए ही किया है—

[1] उद्भट के 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' की व्याख्या का अंतिम पद्य।

"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।"

उक्त उपलब्ध ग्रंथों में ईसा की सप्तम शताब्दी के लगभग से काव्य के विशेष अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है और इसका कारण यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों संमिलित रूप में प्रयुक्त होते हैं। आचार्य्य भामह ने जो ईसा की सप्तम शताब्दी के ही लगभग हुए हैं, काव्य का लक्षण—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।"

—काव्यालंकार १।२६

लिखा है। किंतु प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रों में भी शब्द और अर्थ संमिलित ही रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ में ही क्या विशेषता है, जिसके कारण काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा गया ? इस प्रश्न का समाधान राजशेखर की दी हुई साहित्य की—

"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।"

—काव्यमीमांसा, पृ० ५

इस परिभापा-द्वारा हो जाता है। इस परिभाषा में 'यथावत् सहभाव' पद-द्वारा स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप में तुल्य-कक्ष होना अपेक्षित है, जब कि अन्य शास्त्रों में केवल अर्थ की प्रतीति के लिये ही शब्द का आश्रय लिया जाता है, किंतु काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ का और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। जैसा कि राजानक रुय्यक ने कहा है—

"न चे काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम् ।"

—व्यक्तिविवेक-व्याख्या

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुंतक ने साहित्य शब्द का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। कुंतक का कहना है —

"वाच्यार्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोयमेतयोः ।।
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पंदसुंदरः ।।"

—वक्रोक्तिजीवित १।८-९

अर्थात् प्रथम तो अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रों में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किंतु काव्य में वर्णनीय अर्थ के वाचक अन्य बहुत से शब्दों के होते हुए भी ऐसे ही शब्द का प्रयोग होता है, जो कवि के केवल विवक्षित (ईप्सित) अर्थ का ही वाचक होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में जो अर्थ होता है, वह भी काव्य-मर्मज्ञ सहृदय-जनों के चित्त को एक बार ही आह्लाद से परिप्लुत करनेवाला होता है। फिर काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव (साहित्य) भी अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षण होता है। अतः काव्य के लिये 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किये जाने में यही विशेषता है। कहा है—

"साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः ।।"

—वक्रोक्तिजीवित १।१७

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनातिरिक्त परस्पर में स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है। साहित्य में वाचक (शब्द) की वाचकांतर के साथ और वाच्य (अर्थ) की वाच्यांतर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप में स्थिति अन्य शास्त्रों में न रहकर काव्य में ही रहती है। जैसे—

"द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कांतिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।"

—कुमारसंभव ५।७१

इस पद्य में भगवान् शंकर के साथ विवाह के लिए तपश्चर्या करती हुई पार्वतीजी के प्रति प्रेम-परीक्षा लेने को ब्रह्मचारी का छद्मवेश-धारण कर गये हुए स्वयं श्री शंकर की उक्ति है—"हे पार्वती, तेरे द्वारा कपाली (महादेव) के समागम की प्रार्थना किये जाने के कारण अब दो व्यक्ति शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। एक तो कलाधारी चंद्रमा की वह कांतिमती कला और दूसरी तू जो अखिल विश्व के नेत्रों को आह्लादकारिणी है।"

भगवान् शंकर के नाम-वाचक सहस्रों शब्दों के होते हुए भी यहाँ 'कपाली' (नर-कपालों की माला धारण करने वाला) शब्द का प्रयोग ही कवि के विवक्षित अर्थ का (जो शंकर की अत्यंत घृणास्पद और निंद्य सूचन करना है, उस अर्थ का) वाचक है। यदि 'कपाली' के स्थान पर यहाँ 'पिनाकी'-आदि शंकर के नाम-वाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह कवि के इस विवक्षित अर्थ का वाचक नहीं हो सकता था। प्रत्युत 'पिनाकी' (धनुष धारण करने वाला) आदि शब्द-द्वारा शंकर का वीरत्व-आदि सूचन होता जो कि शंकर की निंदा के प्रसंग-विरुद्ध है। फिर यहाँ 'संप्रति' और 'द्वयं' ये दोनों शब्द भी कवि के इस विवक्षित अर्थ के वाचक होने के कारण इनका प्रयोग भी बहुत उपयुक्त हुआ है, अर्थात् अब से पहले कपाली के संसर्ग में रहने के कारण एक चंद्रकला ही लोक में सोचनीय हो रही थी; पर 'संप्रति' अब 'कपाली' जैसे घृणास्पद व्यक्ति के समागम की प्रार्थना करने वाली दूसरी तू भी उसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है। यहाँ 'प्रार्थनया' शब्द भी अपना एक महत्त्व रखता है। अर्थात् तेरी यह शोचनीय दशा 'काकतालीय' घटना-द्वारा अकस्मात् नहीं हो गई है, किंतु तू तो समझबूझ कर ऐसे अमंगल और घृणास्पद व्यक्ति की प्राप्ति के लिये घोर तपश्चर्या-द्वारा प्रार्थना कर रही है। इन शब्दों के अतिरिक्त यहाँ 'कलावतः' 'कांतिमती' और 'लोकस्य च नेत्रकौमुदी' ये विशेषणात्मक शब्द भी क्रमशः चंद्रकला और पार्वती जी के अलौकिक सौंदर्य के उत्कर्षक और कपाली के साथ उनके संबंध की अयोग्यता-सूचक होने के कारण शोचनीय अवस्था की परिपुष्टि कर रहे हैं। अतः यहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ स्पर्द्धापूर्वक समान रूप में चमत्कारक है। यह प्रधानतया शब्द-सौंदर्य विन्यास के परस्पर साहित्य का दिक्‌दर्शन है। अब देखिये, परस्पर वाच्य (अर्थ) के रमणीय साहित्य का भी एक उदाहरण, जैसे—

"तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धांडजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।।"

—रघुवंश १४।७०

इसमें भगवान् श्री रामचंद्र की आज्ञा-वश सीताजी को लक्ष्मणजी-द्वारा वन में छोड़ने के बाद का वर्णन है कि—'कुश और समिधा लेने को जाते हुए कवि (महर्षि वाल्मीकि) सीताजी के रुदन का अनुसरण करते हुए उनके (सीताजी के) सन्मुख प्राप्त हुए। कौन से कवि?—वही कवि-जिनका वह शोक, जो व्याध-द्वारा विद्ध किये गये क्रौंच पक्षी को देखने से उत्पन्न होकर श्लोक में परिणत हो गया था।'

यहाँ 'कवि' शब्द-द्वारा निर्देश किये हुए मुनि का परिचय 'वाल्मीकि' कह देने मात्र से दिया जा सकता था। किंतु यहाँ पद्य के उत्तरार्द्ध में महर्षि वाल्मीकिजी का परिचय पूर्वानुभूत क्रौंच पक्षी के वृतांत-द्वारा देकर कविशेखर कालिदास ने यह सूचित किया है कि जिन परम कारुणिक मुनि के अंतःकरण का वह शोकोद्‌गार, जो एक पक्षी की शोचनीय दशा देखने पर उत्पन्न हुआ था—श्लोक-रूप में बलात् मुख से निकल पड़ा था, उनके अन्तःकरण की वह करुणाप्लावित विवश-दशा, जो निर्जन वन में परित्यक्ता जनकराज-पुत्री साकेताधिपति महाराजाधिराज श्री रामचंद्र जी की प्राणप्रिया गर्भिणी सीताजी की तादृश अत्यंत शोचनीय अवस्था को देखने पर हुई, किस प्रकार कथन की जा सकती है—अनिर्वचनीय है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ जिस प्रकार 'करुण रस' से परिपूर्ण है ; उसी प्रकार उत्तरार्द्ध का अर्थ करुण रस का परिपोषक होने के कारण दोनों अर्थ स्पर्द्धापूर्वक सहृदय-जनों के हृदय के आह्लादक हैं।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में जिस प्रकार वाचक के साथ वाचकांतर की तथा वाच्य के साथ वाच्यांतर की समान रूप में सौंदर्य-स्थिति है, उसी प्रकार वाचकों (शब्दों) की वाच्यों (अर्थों) के साथ भी तुल्य-कक्षता है—वर्णनीय विषय के अनुकूल पदावली है। शब्द और अर्थ की परस्पर तुल्य-कक्षता का एक उदाहरण और भी देखिये—

"ततोऽरुणपरिस्पंदमंदीकृतवपुः शशी ।
दध्ने कामपरिक्षामकामिनीगंडपांडुताम् ।।"[1]

अरुणोदय के प्रारंभ-समय में अस्तायमान निष्प्रभ चंद्रमा को यहाँ काम-पीड़ा से क्षीण-काय होने वाली कामिनी के कपोलों की पांडुता-धारण करने वाला कहा गया है। अतः जिस प्रकार यहाँ 'निदर्शना' अलंकार की स्थिति-द्वारा अर्थ की चमत्कृति है उसी प्रकार 'स्पंद-मंद'–आदि में वर्णों की साम्यता के कारण वृत्यानुप्रास है—उसके द्वारा शब्द की चमत्कृति भी है। यहाँ अर्थ और शब्द परस्पर स्पर्द्धापूर्वक शोभायमान हैं। इसके विपरीत जहाँ शब्द या अर्थ का समान रूप में सह-भाव (साहित्य) नहीं होता, वहाँ वह वर्णन साहित्य या सत्काव्य-पद के अधिकार से च्युत भी हो जाता है। इसका भी एक उदाहरण देखिये—

"कल्लोलवेल्लितवृषत्परुषप्रहारै रत्नान्यमूनि मकराकर मा वमंस्था ।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम यांचाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ।।"

—भल्लट शतक

इस पद्य में अन्योक्ति रूप से समुद्र को उपालंभ दिया गया है कि—हे मकराकर, तू अपनी उत्तुंग तरंगावली से संचालित पाषाणों के भयंकर प्रहार से इन रत्नों का तिरस्कार न कर। देख, कौस्तुभ रत्न ने तेरा कैसा यश प्रसिद्ध कर दिया है—जिसके लिये स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण ने हाथ पसार कर तेरे से याचना की थी।

यद्यपि अन्य शास्त्रों के समान शब्दों-द्वारा यहां अर्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है, किंतु काव्योपयोगी शब्द-प्रयोग समान रूप से यहाँ नहीं हो पाया है। यहाँ सामान्य रूप में रत्नों की अवहे-लना करने का समुद्र को उपालंभ देकर कवि का ईप्सित तात्पर्य यह है कि उन रत्नों में के एक रत्न ने ही तेरा कितना उपकार किया है। पर उत्तरार्द्ध में सामान्य रूप में रत्नों का महत्त्व न बतला कर एक विशेष रत्न 'कौस्तुभ' का प्रयोग किया है, जिसके द्वारा सामान्यतया सभी रत्नों का महत्त्व सूचन नहीं हो सका है—केवल कौस्तुभ की ही प्रशंसा सूचित होती है। इस कथन से कवि के दिये हुए उपालंभात्मक अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकी है—कौस्तुभ के सिवा अन्य रत्न ऐसे महत्त्वपूर्ण न होने के कारण उनका तिरस्कार समुद्र-द्वारा किया जाना अनुचित नहीं हो सकता। यदि तीसरे पाद में 'किं कौस्तुभेन विहितो' के स्थान पर 'एकेन किन्न विहितो' ऐसा प्रयोग किया जाता तो कवि के विवक्षित अर्थ (उपालंभ) की पुष्टि हो जाने से अर्थ के अनुरूप शब्द-न्यास हो सकता था, क्योंकि उसका अर्थ यह होता है—'जिनकी तू अवहेलना कर रहा है उनमें के एक रत्न ही ने तेरा दिगंत-व्यापी यश प्रसिद्ध कर दिया।'

इस विवेचन-द्वारा स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का तुल्य-कक्ष सहभाव काव्य में ही होता

[1] इस पद्य को सुभाषितावली संख्या २१५३ में श्री वाल्मीकिजी का और काव्यप्रकाश की वामनाचार्य की टीका पृ० ५९९ में महाभारत के द्रोणपर्व का कमलाकर भट्ट के अनुसार बताया गया है, किंतु यह वाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनों ही में नहीं मिलता है।

है और इसलिये साहित्य शब्द का वास्तविक प्रयोग काव्य के लिये ही उपयुक्त और समीचीन है। अस्तु, वर्तमान काल में साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रंथों के लिये ही रूढ़ हो रहा है।

काव्य या साहित्य क्या है? इस विषय पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने अनेक रीति-ग्रंथ लिखे हैं। उनमें काव्य-शास्त्र-संबंधी अत्यंत गवेषणापूर्ण गंभीर विवेचन किया गया है। काव्य के रहस्य से अभिज्ञ होने के लिये, एवं उसके आनंदानुभव के लिये, काव्य-संबंधी 'रीति-ग्रंथ' ही एक-मात्र साधन हैं। केवल व्याकरण-आदि शास्त्रों के जो विद्वान् हैं वे 'कर्णावतंस' और 'जघनकांची'-आदि प्रयोगों के साहित्यिक रहस्यों को नहीं समझ सकते। साहित्य के अध्ययनशील विद्वान् ही यह जान सकते हैं कि इन शब्दों के प्रयोग में कौन-सा निर्दोष है और कौन-सा सदोष[1] है। रघुवंश-आदि महाकाव्यों में किस-किस शब्द, पद अथवा वाक्य का प्रयोग स्थल विशेष पर क्यों किया गया है और उन प्रयोगों में क्या विशेषता है—उन प्रयोगों के व्यंग्यात्मक या अलंकारात्मक रचनाओं में क्या चमत्कार है, उसका दिक्दर्शन ऊपर कराया ही गया है। इस रहस्य को साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं। व्याकरण-आदि शास्त्रों के ज्ञान से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महाकवियों के रचना-रहस्य का। आलंकारिकों के शिरोभूषण महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्॥"

—ध्वन्यालोक १।७

काव्य-कल्पद्रुम

अनेक विद्वानों ने हिंदी में रीति-ग्रंथों की रचना की है। इनमें कुछ रीति-ग्रंथों का निर्माण हिंदी के सुप्रसिद्ध आचार्यों-द्वारा भी हुआ है। अतः इस विषय के जो भी ग्रंथ अब तक दृष्टिगत हुए हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्रंथ किसी न किसी संस्कृत के रीति-ग्रंथ के आधार पर लिखा गया है। फलतः किसी ग्रंथ में केवल अलंकार-विषय का प्रतिपादन है और किसी में केवल रस-विषय का। किसी-किसी ग्रंथ में प्रतिपादित प्रधान विषय के अतिरिक्त काव्य के अन्य अंगांगों का भी संक्षिप्त उल्लेख है। हिंदी के रीति-ग्रंथों में विषयों का जो प्रतिपादन किया गया है, वह स्थूल दृष्टि से किया गया है, अर्थात् संस्कृत के ग्रंथों में विषयों का जो मार्मिक विवेचन है वह किसी भी हिंदी-भाषा के ग्रंथों में दृष्टिगत नहीं होता। दूसरी बात यह है कि इन ग्रंथों में वार्तिक (गद्य) में कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। अतएव उल्लिखित विषयों का यथार्थतः समझना बहुत कठिन है।

पोद्दारजी का 'काव्य-कल्पद्रुम' इस कमी को पूरी करता है। उन्होंने महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र, आचार्य भामहके काव्यालंकार, उद्भट के काव्यालंकारसार-संग्रह, वामनाचार्य के काव्यालंकार-सूत्र, रुद्रट् के काव्यालंकार, ध्वनिकारों के ध्वन्यालोक, मम्मटाचार्य के काव्यप्रकाश, रुय्यक के अलंकारसर्वस्व, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण, जयदेव के चंद्रालोक, अप्पय दीक्षित के कुवलयानंद एवं चित्र मीमांसा और पंडितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर-आदि ग्रंथों का आश्रय लेकर अपने ग्रंथ का निर्माण किया है।

बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने अपने काव्य-प्रभाकर में, पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अलंकार-पीयूष में तथा और भी आधुनिक रीति-ग्रंथों के रचयिताओंने अपने-अपने ग्रंथों में—सहायक ग्रंथों की नामावली में प्रायः संस्कृत के सभी प्रधान ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया है। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उल्लेख केवल उन ग्रंथों को गौरवान्वित करने मात्र के लिये किया गया है। वास्तविक वस्तुस्थिति का परिज्ञान पोद्दारजी-द्वारा इन ग्रंथों की आलोचनाओं से ही हो सकता है[2]।

[1] 'कर्णावतंस' का प्रयोग निर्दोष और 'जघनकांची' के प्रयोग में दोष है।

[2] ये आलोचनाएँ समय-समय पर 'माधुरी'-आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, अब ये पोद्दारजी के आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह "साहित्य-समीक्षा" में प्रकाशित हुई हैं।

हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथों से पोद्दारजी के काव्य-कल्पद्रुम में जो विशेषताएँ हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१—काव्य-कल्पद्रुम से पहले के जो भी हिंदी के रीति-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उनमें अलंकार-आदि के लक्षण और उदाहरण दोनों पद्यों में लिखे गये हैं और जो पद्यात्मक उदाहरण दिये गये हैं उनका लक्षणों के साथ किस प्रकार संतुलन और समन्वय होता है यह नहीं समझाया गया है। काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम संस्करण 'अलंकार-प्रकाश' में सर्वप्रथम काव्य और उसके भेद तथा उपभेदों के लक्षण गद्य में लिखकर उदाहरणों में लक्षणों का समन्वय किस प्रकार होता है, यह समझाया गया है। जिससे विषय के समझने में कुछ भी कठिनता नहीं रहती है। काव्य-कल्पद्रुम के उक्त प्रथम संस्करण के पश्चात् हिंदी के जितने भी रीति-ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें काव्य-कल्पद्रुम के आदर्श पर वार्तिक में लक्षण-लिखना प्रारंभ हुआ है।

२—काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम भाग—'रस-मंजरी' में शब्द और अर्थ एवं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों के भेद-उपभेदों का उदाहरणों के साथ जो विस्तृत विवेचन है वह अन्य किसी हिंदी-ग्रंथ में देखने को नहीं मिलता है।

३—ध्वनि के लक्षणा-मूला 'अविवक्षितवाच्य' के चार और अभिधा-मूला 'विवक्षितवाच्य' के सैंतालीस भेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है। विवक्षितवाच्य-ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि के अंतर्गत नव-रस-प्रकरण में आलंबन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के निरूपण में जो विवेचन पोद्दारजी ने किया है, वह भी अपूर्व है।

४—स्थायी भावों की रस अवस्था और रस की अभिव्यक्ति के विवेचन में भट्ट लोल्लट् के आरोप-वाद, श्री शंकुक के अनुमानवाद, भट्ट नायक के भोगवाद और श्री अभिनवगुप्ताचार्य के व्यक्तिवाद का पोद्दारजी ने नाट्य-शास्त्र की अभिनवभारती-व्याख्या एवं काव्य-प्रकाश के अनुसार बहुत ही विद्वत्तापूर्ण मार्मिक एवं विशद विवेचन किया है, किंतु इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अन्य किसी ग्रंथ में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है।

५—भाव क्या पदार्थ है, रस और भाव में क्या अंतर है, इस पर भी काव्य-कल्पद्रुम में विशद विचार किया गया है। यह प्रकरण भी हिंदी के किसी अन्य ग्रंथों में दिखाई नहीं देता है।

६—काव्य-प्रकाश के आधार पर 'व्यंजना-शक्ति' के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी महिम भट्ट-आदि का जो खंडन काव्य-कल्पद्रुम में किया गया है, वह हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथों से एक नवीनता है।

७—गुण और अलंकार दोनों रस के उपकारक माने गये हैं। रस का गुण के साथ और अलंकारों का रस के साथ क्या संबंध है तथा अलंकारों की स्थिति किस अवस्था में रस की उपकारक हो सकती है—इत्यादि रस-विषय की जो मीमांसा काव्य-कल्पद्रुम में मिलती है इसका अन्य हिंदी-ग्रंथों में सर्वथा अभाव है।

८—गुणीभूत-व्यंग्य की चरचा अन्य किसी हिंदी के रीति-ग्रंथों में नहीं-मिलती है, काव्य-कल्पद्रुम में इस विषय का बहुत ही मार्मिक विवेचन किया गया है। जैसे—काकु-उक्ति-व्यंग्य, गुणीभूत-व्यंग्य का विषय है और 'काक्वाक्षिप्त'-व्यंग्य ध्वनि-काव्य के अंतर्गत है, इस प्रकार की विभिन्नताओं को काव्य-कल्पद्रुम में भली-भाँति समझाया गया है। गुणीभूत-व्यंग्य का हिंदी के अन्य एक-दो रीति-ग्रंथों में बहुत संक्षिप्त तथा स्थूल रूप में निर्देशमात्र किया गया है। कतिपय आधुनिक रीति-ग्रंथोंकारों ने काव्य-कल्पद्रुम के इस विवेचन का अनुकरण किया है, किंतु वे इस कार्य में बिलकुल सफल नहीं हो सके हैं। अस्तु गुणीभूत-व्यंग्य का विवेचन काव्य-कल्पद्रुम में वस्तुतः उल्लेखनीय है।

९—काव्य-कल्पद्रुम के दूसरे भाग 'अलंकार-मंजरी' में उक्ति वैचित्र्य-द्वारा किसी एक विषय के वर्णन में किस प्रकार विभिन्न अलंकारात्मक वर्णन होता है—इसका जो विवेचन किया गया है, वह अन्य हिंदी-ग्रंथों में नहीं देखा जाता। संस्कृत के साहित्याचार्यों-द्वारा अलंकारों का क्रम-विकास एवं अलंकारों की संख्या में किस प्रकार क्रमशः वृद्धि होती रही और किस-किस आचार्य-द्वारा कितने-

कितने अलंकार माने गये हैं तथा किन-किन आचार्यों ने किन-किन नवीन अलंकारों का आविष्कार किया है, इन विषयों का ऐतिहासिक विवरण जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण और उपादेय है; सर्व प्रथम पोद्दारजी ने ही किया है।

१०—अलंकारों के जो नाम हैं वे अलंकारों के स्थूल चमत्कार के आधार पर हैं। इस विषय में जोधपुर के कविराजा मुरारीदानजी ने 'नाम ही लक्षण' इस सिद्धांत का जो प्रतिपादन किया है, उसका काव्य-कल्पद्रुम में विद्वत्तापूर्ण खंडन किया गया है।

११—अलंकार का विषय मनोवैज्ञानिक होने के कारण अत्यंत गहन है। बहुत से अलंकार ऐसे हैं जिन के उदाहरणों में दूसरे अलंकार का भ्रम हो जाता है। कितने ही अलंकार ऐसे हैं जिनमें किसी दूसरे अलंकार से बहुत सूक्ष्म अंतर है, ऐसे अलंकारों के विवेचन में उनके विषय-विभाजन को जिस सुंदर रीति से श्री पोद्दारजी ने स्पष्ट किया है, वह बात किसी भी हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथों में देखने को नहीं आती है।

१२—अलंकार-आदि के लक्षण निर्माण करने में यदि कुछ असावधानी हो जाती है तो लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष आ जाते हैं। हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथों में इस प्रकार की असावधानी के अनेक प्रमाण मिलते हैं। काव्य-कल्पद्रुम में इस प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये बहुत सावधानी रखी गई है।

अस्तु इस प्रकार की अनेक विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य-कल्पद्रुम में विषय-प्रतिपादन तथा उनके सम्यक् उदाहरणों की अनेक विशेषताएँ हैं।

काव्य-कल्पद्रुम की आलोचना करते हुए हिंदी के कुछ मान्य विद्वानों ने लिखा था कि "काव्य-कल्पद्रुम में संस्कृत-साहित्य के आचार्यों के मतों का ही प्रतिपादन है—हिंदी (ब्रजभाषा) के आचार्यों का नहीं।" पोद्दारजी का कहना है—"ब्रजभाषा के आचार्यों का कोई स्वतंत्र मत नहीं है। उनकी रचनाओं के मूल-स्रोत संस्कृत-साहित्य के ही विविध-ग्रंथ हैं। महाकवि केशव की 'कवि-प्रिया' हरिचरणदास का 'सभा-प्रकाश' और भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय'-आदि के मूलाधार क्रमशः दंडी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्यमीमांसा, केशवमिश्र का अलंकारशेखर एवं विश्वनाथ का साहित्यदर्पण है। जोधपुर-नरेश महाराज जसवंतसिंहजी का भाषाभूषण, पद्माकरजी का पद्माभरण, और ग्वाल कवि का अलंकारभ्रम-भंजन-आदि अलंकार-ग्रंथ भी कुवलयानंद और चंद्रालोक के आधारपर ही लिखे गये हैं। ब्रजभाषा का नायका-भेद जो अपनी बारीकी तथा सुंदरता में संस्कृत के साथ भारतीय अन्य साहित्यों से भी बढ़-चढ़ कर है, संस्कृत की रसमंजरी, रस-तरंगिणी और साहित्य-दर्पण पर ही अवलंबित है। सेठजी कहते हैं—"ब्रजभाषा के प्राचीन कवि निःसंदेह बड़े प्रतिभाशाली थे और उनका प्रधान ध्येय अपने-अपने आश्रय-दाताओं के मनोरंजन के बहाने ब्रजभाषा-साहित्य की श्रीवृद्धि करना था। उन्होंने प्रायः शृंगार-रस के आलंबन-उद्दीपन-विभावों के अंतर्गत नायिका-भेद और षट्ऋतु-आदि अनुभावोंके वर्णन में, उनके [illegible] विषय को पल्लवित करने में ही अपनी प्रतिभा को समाप्त कर दिया है। संस्कृत-साहित्य-ग्रंथों में वर्णन किये गये गंभीर और मार्मिक विवेचन को उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। अतः दुष्परिणाम यह हुआ कि इन ब्रजभाषा-साहित्य-रचयिता अति प्रतिभाशाली विद्वानों-द्वारा जहाँ गंभीर रीति-ग्रंथ लिखे जाने चाहिये थे, वहाँ वे विविध नायिकाओं के वर्णन में उलझ कर, नायिका-भेदादि के विवेचनात्मक-ग्रंथ संस्कृत-जैसे नहीं लिख पाये हैं। यही नहीं, ये साहित्य के विषय को भी कहाँ तक समझ पाये हैं और अपने ग्रंथों के आधारभूत संस्कृत-ग्रंथों के अनुसार विषयों को समझाने में भी कहाँ तक सफल हुए हैं, इस पर प्रकाश डालना ब्रजभाषा-साहित्य के लिये यशस्कर है। उदाहरण-रूप सेठजी का कहना है—"ब्रजभाषा के आचार्यों ने संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर अपने ग्रंथों में यह बात तो अवश्य लिखी कि 'रस और उसके स्थायी एवं संचारी भावों का (उन्हीं) शब्दों में स्पष्ट कथन करना साहित्य-दोष है—रस-दोष है।" किंतु इन महानुभावों ने अपने ग्रंथों में इस-विषय के

जो भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्राय: रस और उनके स्थायी भावों का स्पष्ट रीति से नामोल्लेख किया है। उदाहरण जैसे—

**"मींडि मारचौ कलह, बियोग मारचौ बोरिकें, मरोरि मारचौ अभिमान भरचौ भय भांन्यों है।
सबकौ सुहाग-अनुराग लूटि लीन्हों, दीन्हों राधिका कुँवरि कहँ सब सुख-सांन्यों है ।।
कपट-झटाके डरचौ निपटिकै (जु) औरन सों, भेंटी पैहचाँन मन में हूँ पैहचांन्यों है ।
जीत्यौ रति-रन, मथ्यौ मनमथ हू कौ मन 'केसौराइ' कोंन हू पै 'रोष' उर आंन्यों है ।।"**

यह छंद महाकवि केशव ने 'रसिक-प्रिया' के रौद्र-रस' के उदाहरण में दिया है। अतः रौद्र के स्थायी भाव 'रोष' का यहाँ स्पष्ट कथन होने से आपका यह उदाहरण काव्य-दोष-रहित नहीं कहा जा सकता। भिखारीदासजी के 'काव्य-निर्णय' में भी इस प्रकार के दोष हैं, जैसे—

**"कोऊ एक दास काऊ साहब की आसमें कितेक दिन बीतें रीत्यौ सबै भाँति बल है ।
बिथा जो बिनै सों करै ऊत्तर याहि सो लहै, सेबा-फल ह्वै-ही रहै, यामें नाहिं चल है ।।
एक दिन 'हास'-हित आयौ प्रभु-पास, तन राखे ना पुराने बास कोऊ एक थल है ।
करत प्रनाम सो 'बिहँसि' बोल्यौ यैं कहा, कह्यौ कर-जोरि देब-सेबा ही कौ फल है ।।"**

इस पद्य में भी हास्य-रस का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दासजी ने 'हास' तथा 'बिहँसि' शब्दों का स्पष्ट प्रयोग कर वही दोष किया है।

सोमनाथजी ने भी अपने 'रस-पियूष' में इस प्रकार की भूलें की हैं। एक उदाहरण जैसे—

**"गेंद के लाइबे के मिस कै, हँसिकें कढि ग्वालन-संग बिहार तें ।
पीत-पटी कटि सों कसिकें, उर में डरप्यौ न कालिंदी की धार तें ।।
ए 'ससिनाथ' कहा कहिए, जु बढ़ी अरुनाई 'उछाह' अपार तें ।
काली फनिंद के कंदन कों, चढ़ि कूद्यौ गुबिंद कदंब की डार तें ।।"**

इस छंद में भी वीर-रस के स्थायी भाव उत्साह (उछाह) का स्पष्ट कथन होने से रस-दोष आ गया है। वेनीप्रवीन ने 'नवरस-तरंग' में, पद्माकार ने 'जगत-विनोद' में, रसलीन ने 'रस-प्रबोध' में और ग्वाल कवि ने अपने 'रस-रंग' में इसी प्रकार 'रस-दोष' की भूलें की हैं।"

यहाँ सेठजी के आलोचक कह सकते हैं कि ऐसे 'दोष' तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने 'मानस' में अनेक स्थलों पर किये हैं। उदाहरण जैसे—

**"सुनि केवट के बेंन, प्रेम-लपेटे अटपटे ।
'बिहँसे' करुना-ऐंन, चितै जानकी-लखन-तन ।।"**

यहाँ साहित्यिक बारीकी पकड़ने पटु पोद्दारजी कहते हैं कि 'इस दोहे में विहसे पद से हास-स्थायी-भाव का शब्द-द्वारा स्पष्ट कथन अवश्य है, पर यहाँ वह काव्य वा रस-दोष नहीं है। क्योंकि केवट के अटपटे वचन अनुभाव हैं, जिससे हास्य की ही नहीं, विस्मय-आदि की भी प्रतीति होती है।

अलंकार-विवेचन

अलंकार-प्रकाश और उसके परिवर्धित-रूप-काव्य-कल्पद्रुम तथा काव्य-कल्पद्रुम के भी परिवर्त्तित और परिवर्धित-रूप अलंकार-मंजरी में सेठजी ने बड़े गहरे पैठ कर अलंकारों की पहिचान, उनकी पृथक्ता तथा जहाँ अनेक अलंकारों का आधिक्य हो वहाँ किस की प्रधानता-आदि पर गंभीर मनन-योग्य सामग्री प्रस्तुत की है। सेठजी का कहना है—"अलंकारों का विषय अत्यंत जटिल एवं वहु विवादास्पद है और उसका परि-मार्जित तथा निर्दोष निरूपण किया जाना अति दु:साध्य-व्यापार है। अलंकारों के आचार्य श्री मम्मट्–जिन्हें विद्वद्समाज सरस्वती का अवतार कहता है, उन्होंने भी उक्त विषय पर अत्यंत विचार और बड़ी गंभीरता के साथ अपनी लेखनी उठाई है। संस्कृत-साहित्य के आचार्यों तथा विद्वान् व्याख्याताओं का अलंकारों के विषय में काफी—गहरा मतभेद है। ऐसी परिस्थिति में अलंकारों का यथार्थ तात्पर्य समझना और दूसरे को समझाना या आलोचनात्मक विवेचन करना अथवा उनकी एक दूसरे से पृथक्ता और श्रेष्ठता बतलाना हँसी-खेल नहीं

है। यों तो सभी अलंकारों का विवेचन कठिन है, पर विशेषकर—"श्लेष, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, निदर्शना तथा पर्यायोक्ति"—आदि का तो इतना गहन और मिलाजुला विषय है कि उसपर अलंकार-शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने भी बहुत कुछ सोच-समझकर ही लिखा है।" उदाहरण रूप में 'श्लेष-अलंकार' पर सेठजी के विचार संक्षिप्त रूप से उन्हीं के शब्दों में नीचे देखिये। जैसे—

श्लेष-अलंकार

श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किये जाने को 'श्लेष' कहते हैं। 'श्लेष' शब्द 'श्लिष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है चिपकना—मिलना। श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे या मिले रहते हैं। अतः जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं, उसे 'श्लिष्ट' शब्द कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—सभंग और अभंग। जिस पूर्ण-शब्द के दो अर्थ होते हों वह 'अभंग' और जिस शब्द के भंग करने (तोड़ने) पर दूसरे-दूसरे अर्थ होते हों, उसे 'सभंग'-श्लिष्ट कहा जाता है। अभंग-सभंग श्लेषों में जहां दोनों अर्थों, अर्थात् जब दो से अधिक अर्थ हों उन सभी अर्थों में 'प्रकृत'[1] का वर्णन किया जाय, वहां 'प्रकृत-मात्र आश्रित श्लेष' और जहाँ सभी अर्थों में 'अप्रकृत'[2] का वर्णन किया जाय वहां 'अप्रकृत मात्र आश्रित श्लेष' कहा जाता है। एवं जहां एक अर्थ में प्रकृत वर्णन और दूसरे अर्थ में, या एक से अधिक अर्थ हों वहां उन सभी में, 'अप्रकृत' का वर्णन होता हो वहाँ 'प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष' कहा जाता है। श्लेष में विशेषण पद तो सर्वत्र श्लिष्ट ही होते हैं, किन्तु विशेष्य-पद कहीं श्लिष्ट और कहीं अश्लिष्ट नहीं होते।
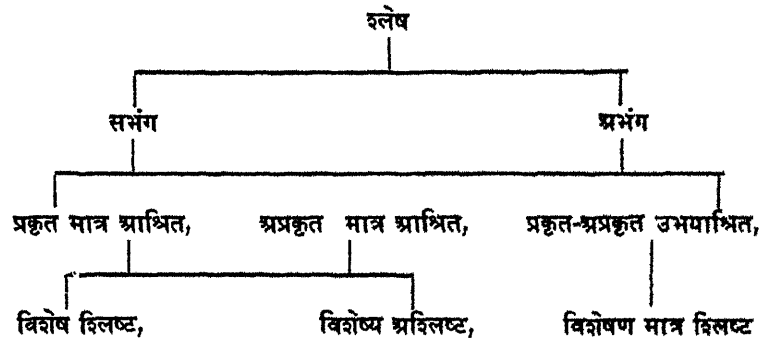
प्रकृत और अप्रकृत मात्र—आश्रित श्लेष में विशेष्य का श्लिष्ट होना नियत—अनिवार्य नहीं। क्योंकि कहीं विशेष्य श्लिष्ट होता है और कहीं विशेष्य श्लिष्ट न होकर केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है, पर प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में—केवल विशेषण-ही श्लिष्ट होता है, विशेष्य नहीं। क्योंकि जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट होंगे वहाँ 'शब्द-शक्ति-मूला ध्वनि' होगी, न कि श्लेष अलंकार। इसके अतिरिक्त प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में—विशेषण मात्र की श्लिष्टता में, प्रकृत और अप्रकृत (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों-द्वारा कथन होना आवश्यक है, केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द-द्वारा कथन होने पर 'समासोक्ति' अलंकार होगा, श्लेष नहीं।"

सेठजी कहते हैं—"श्लेष, शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार इस विषय में भी अलंकार-आचार्यों में मत-भेद है। रुय्यक का मत है कि 'सभंग-श्लेष' शब्दालंकार और 'अभंग-श्लेष' अर्थालंकार है, क्योंकि

[1] जिसका वर्णन करना कवि को प्रधानतया अभिष्ट होता है उसे प्रकृत या प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक अर्थ कहते हैं। प्रकृत या प्रस्तुत-आदि का प्रयोग प्रायः उपमेय के लिये किया जाता है।

[2] जिसका वर्णन किया जाना प्रधान न हो उसे अप्रकृत या अप्रस्तुत अथवा अप्राकरणिक कहते हैं। इसका प्रयोग उपमान के लिये किया जाता है।

सभंग-श्लेष में "जतु काष्ठ-न्याय"[१] से दूसरा शब्द या पद भिन्न होने पर भी एक शब्द या पद में मिला रहता हैं, इसलिए वह शब्दालंकार है और अभंग-श्लेष में—"एक वृंत फल द्वयं[२]" के न्यायानुसार एक-ही शब्द या पद में दो अर्थ लगे रहते हैं, अतः वह अर्थालंकार है।"

आचार्य उद्भट् ने सभंग और अभंग को क्रमशः शब्द तथा अर्थ-श्लेष बता कर दोनों को अर्थालंकार ही माना है। केवल शब्द की विचित्रता के कारण सभंग को शब्द-श्लेष मानते हुए भी उसे शब्दालंकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः श्लेष अर्थ के ही आश्रित है और जब तक श्लेष-अलंकार में एक से अधिक अर्थों की प्रतीति न हो तब तक उसे श्लेष-अलंकार कहा ही नहीं जा सकता। अतः श्लेष को अर्थालंकारों के अंतर्गत मानना ही युक्ति-युक्त है।

आचार्य मम्मट् ने अभंग और सभंग दोनों श्लेषों को शब्दालंकार माना है। मम्मट् कहते हैं—गुण, दोष और अलंकारों का शब्द तथा अर्थ-गत विभाग 'अन्वय'[३] और 'व्यतिरेक[४]' पर निर्भर है। अभंग-श्लेष जहाँ अर्थाश्रित होगा वहीं अर्थालंकार माना जायगा, शब्दाश्रित होने पर नहीं और जहाँ शब्दाश्रित अभंग-श्लेष होगा वहाँ वह शब्दालंकार ही माना जायगा। अभंग-श्लेष अर्थालंकार वहाँ ही हो सकता है, जहाँ शब्द-परिवर्त्तन करने पर भी दो अर्थ बने रहें। आचार्य मम्मट् ने उद्भटाचार्य के मत की आलोचना करते हुए आगे कहा है कि 'सभंग को शब्द-श्लेष और अभंग को अर्थ-श्लेष स्वीकार कर फिर दोनों को अर्थालंकार कहना कहाँ का न्याय है? क्योंकि विचित्रता ही अलंकार के प्राण हैं। अतः जहाँ अर्थ में विचित्रता हो वहाँ अर्थालंकार और जहाँ शब्द में विचित्रता हो वहाँ शब्दालंकार मानना चाहिये। केवल अनेक अर्थ होने के कारण अर्थ का सहयोग मान कर श्लेष को अर्थालंकार नहीं कहा जा सकता। अर्थ के सहयोग की अपेक्षा तो अनुप्रास, वक्रोक्ति और यमक में भी रहती है, फिर वे अर्थालंकार न माने जाकर शब्दालंकार क्यों माने जाते हैं? यही क्यों, शब्द के गुण और दोषों में भी अर्थ का सहयोग अपेक्षित है, क्योंकि वहाँ अर्थ के सहयोग-द्वारा ही गुण और दोषों का निर्णय हो सकता है तथा अर्थ के गुण-दोषों में भी शब्द के सहयोग की अपेक्षा रहती है,—शब्द के द्वारा ही उनका प्रतिपादन किया जाता है, फिर भी गुण और दोषों का शब्द तथा अर्थ-गत विभाग है। निष्कर्ष यह है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक के सहयोग-बिना दूसरे में गुण, दोष और अलंकार का प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतएव जहाँ जिसकी प्रधानता हो वहाँ वही माना जाना चाहिये[५]। अर्थात् जिस अलंकार की विचित्रता शब्दाश्रित हो उसे शब्दालंकार और जिस अलंकार की विचित्रता अर्थ के आश्रित हो उसे अर्थालंकार मानना उचित है। अतः जहाँ शब्द बदल देने पर श्लेष न रहे ऐसा अभंग-शब्द-अपरिवर्त्तनशील श्लेष और सभंग दोनों श्लेषों में शब्द के आश्रित चमत्कार होने के कारण इन्हें शब्दालंकार मानना ही उचित है।

श्लेष की अन्य अलंकारों से पृथक्ता

सेठ जी का कथन है कि "श्लेषका विषय बहुत व्यापक है, क्योंकि श्लेष की स्थिति बहुत से

[१] जतु—लाख लकड़ी से भिन्न होती हुई भी उसीपर चिपकी रहती है, इस न्यायानुसार।

[२] एक गुच्छे में दो फल।

[३] कारण के रहने पर कार्य का अवश्य रहना 'अन्वय' कहा जाता है। अर्थात् जिसके रहने पर उसके साथ रहने वाले दूसरे की स्थिति भी रहती हो जैसे—धूआँ होने पर अग्नि की प्रतीति।

[४] कारण के अभाव में कार्य का न होना 'व्यतिरेक' है। अर्थात् जिसके न रहने पर उसके साथ-रहने वाले दूसरे की स्थिति भी नहीं होती, जैसे जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूआँ भी नहीं होता।

[५] प्राधान्येनव्यपदेशा भवंति।

—न्याय,

अलंकारों में रहती है। वह प्रायः सभी अलंकारों का शोभाकारक है[१]। अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण और विवाद-ग्रस्त है। संस्कृत-ग्रंथों में श्लेष पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है, पर हिंदी के किसी भी रीति-ग्रंथ में इस विषय पर कुछ भी कहने योग्य नहीं है।"

"काव्यालंकार-सार-संग्रह के प्रणेता उद्भटाचार्यादि का मत है कि 'जहां श्लेष होता है, वहां दूसरा अलंकार अवश्य रहता है—अन्य अलंकार से विविक्त (स्वतंत्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता। प्रकृत अथवा अप्रकृत मात्र के वर्णन में श्लेष के उदाहरणों में प्रकृत-अप्रकृत के एक धर्म का कथन होने के कारण श्लेष के साथ 'तुल्ययोगिता'[२] अलंकार रहता है। इसी प्रकार प्रकृत-अप्रकृत दोनों के वर्णन वाले श्लेष के उदाहरणों में एक धर्म के कथन से श्लेष के साथ 'दीपक'[३] अलंकार और साथ ही ऐसे उदाहरणों में 'संदेह'[४] अलंकार भी रहता है।

मुदित करन जन-मन बिमल, राजत है असमान।
रम्य सकल-कल पुर लसत, यह ससि-बिंब-समान ॥

आदि उदाहरणों में श्लेष के साथ 'उपमा'[५] अलंकार भी है। अतः इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि इस प्रकार श्लेष का स्वतंत्र उदाहरण नहीं हो सकता और यदि इस प्रकार के उदाहरणों में अन्यान्य अलंकार मान लिये जायँगे तो श्लेष नाम का अलंकार ही नहीं रह सकता। अतएव जहां श्लेष के साथ तुल्य-योगिता-आदि अन्यान्य अलंकार हों वहाँ श्लेष को—अन्य अलंकार का आभास (झलक) मात्र समझ कर "निरवकाशो विधिरपवादः"[६] के न्याय-द्वारा उस अन्य अलंकार का—जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है, बाधक—अर्थात् अन्य अलंकारों को हटाने वाला मान कर श्लेष को प्रधान समझना चाहिये और इस रीति से श्लेष स्वतंत्र अलंकार माना जा सकता है।

सेठ जी कहते हैं—"आचार्य मम्मट् को यह मत स्वीकार नहीं। मम्मट् का कहना है कि यह बात नहीं कि दूसरे-दूसरे अलंकारों के बिना विविक्त (स्वतंत्र) श्लेष नहीं हो सकता। जहाँ तुल्ययोगिता श्लेष के साथ कही जाती है वह तो शुद्ध श्लेष का उदाहरण है, क्योंकि तुल्ययोगिता में जिन प्रकृत-अप्रकृत का वर्णन किया जाता है, उनका एक ही धर्म कहा जाता है। इसके विपरीत श्लेष में, जिन प्रकृत-अप्रकृतों का अथवा दोनों का एक साथ वर्णन किया जाता है, वहाँ उन सबके लिए श्लिष्ट (दो-अर्थ वाले) शब्दों-द्वारा पृथक्-पृथक् धर्म कहे जाते हैं। तुल्ययोगिता-मिश्रित श्लेष के जो उदाहरण देखनेमें आते हैं, वहाँ केवल शुद्ध श्लेष है और जो दीपक-मिश्रित श्लेष के उदाहरण हैं वहाँ भी शुद्ध श्लेष ही है, क्योंकि दीपक में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म ही कहा जाता है, पर उदाहरणों में पृथक्-पृथक् धर्म कहे गए हैं—इत्यादि। सेठ जी कहते हैं कि आचार्य मम्मट् के मत का यह तात्पर्य नहीं है कि श्लेष के साथ अन्य अलंकार मिश्रित नहीं होते। उनका कहना तो यह है कि श्लेष शुद्ध भी होता है और अन्य अलंकारों से मिश्रित भी। किंतु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलंकार संमिलित होता है वहाँ न तो सर्वत्र श्लेष ही माना जा सकता है और न अन्य अलंकार ही, किंतु दोनों में जिसकी प्रधानता हो उसे ही मानना चाहिये।

[१] श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। —काव्यादर्श, २।३६३,

[२] तुल्ययोगिता—तुल्य-पदार्थों के योग को कहते हैं। जहाँ अनेक प्रस्तुतों का अनेक अप्रस्तुतों के गुण वा क्रिया-रूप एक धर्म में योग—संबंधादि का कथन किया जाय, वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार माना जाता है।

[३] प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एकधर्म कहने को 'दीपक' अलंकार कहते हैं।

[४] किसी वस्तु के विषयमें सादृश्य-मूलक संशय होने में 'संदेह' अलंकार होता है।

[५] दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान-उपमेय भाव से कहने पर 'उपमा' अलंकार होता है।

[६] जिस वस्तु के रहने के लिए किसी विशेष स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान नहीं होता, वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को (जिसके लिए अन्यत्र स्थान भी हो) उसके स्थान से हटा कर वहाँ स्वयं प्रधानता प्राप्त कर ले उसे उक्त न्याय कहते हैं।

जिन उदाहरणों में श्लेष के साथ 'संदेह' का मिश्रण कहा गया है, वहाँ संदेह गौण है—संदेह का आभास मात्र है, अर्थात् श्लेष का वह अंग है, श्लेष का सहायक होकर उसकी पुष्टि करता है। वहाँ प्रधान चमत्कार श्लेष ही में है, जो कवि को अभीष्ट है। किंतु—"मुदित करन जन-मन विमल" में उपमा के साथ श्लेष मिश्रित होने पर भी यहाँ उपमा प्रधान है, श्लेष नहीं। अतः यह उपमा का उदाहरण ही हो सकता है। यदि यहाँ श्लेष को उपमा का बाधक मान कर श्लेष ही माना जाय तो फिर 'पूर्णोपमा' का कोई उदाहरण न मिलेगा। पूर्णोपमा में इस प्रकार के श्लेष का होना अनिवार्य है। यदि यह भी कहा जाय कि श्लेष-रहित पूर्णोपमा के भी उदाहरण जैसे—"पुर ससि बिंब समान" हो सकते हैं, पर यहाँ समान धर्म का कथन न होने से धर्म-लुप्ता (लुप्तोपमा) का उदाहरण होगा, पूर्णोपमा का नहीं।

निष्कर्ष यह कि उद्भटाचार्य-आदि तो समान-धर्म-द्योतक होने वाले पदों में शब्द-श्लेष होने के कारण श्लेष को उपमा का बाधक मान कर श्लेष अलंकार मानते हैं, पर आचार्य मम्मट् कहते हैं कि "इसे यदि इस प्रकार श्लेष मानते हो तो जहाँ अर्थ-श्लेष हो वहाँ उसे उपमा का बाधक क्यों नहीं मानते ? और यदि शब्द-श्लेष को ही उपमा का बाधक मानते हो तो अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक क्यों नहीं मानते ? जिस प्रकार अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक नहीं माना जाता, उसी प्रकार शब्द-श्लेष भी उपमा का बाधक नहीं माना जा सकता। प्रत्युत पूर्णोपमा का श्लेष के बिना स्वतंत्र स्थान न होने के कारण पूर्वोक्त—"निरव-काशो विधिरपवादः"—न्याय से उपमा, श्लेष की बाधक है, अतः वहाँ उपमा ही है, श्लेष नहीं।"

आचार्य मम्मट् यह भी कहते हैं कि यह आपत्ति भी नहीं हो सकती कि उपमा, गुण या क्रिया के के सादृश्य में ही हो सकती है, शब्द-मात्र के सादृश्य में नहीं। अस्तु, जहाँ गुण-क्रियात्मक सादृश्य नहीं है केवल शब्द-मात्र का सादृश्य है, वहाँ उपमा किस प्रकार संभव है ? वहाँ सेठ जी कहते हैं कि "वास्तव में बात यह नहीं है, केवल शब्द मात्र-सादृश्य में भी उपमा होती है। आचार्य रुद्रट् ने गुण और क्रिया की भाँति शब्द-साम्य को भी उपमा के सादृश्य का प्रयोजक बतलाया है[1]। अतः उक्त स्थलों पर उपमा ही है, श्लेष नहीं। केवल उपमा ही नहीं, श्लेष-मिश्रित अन्य अलंकारों में भी अनेक स्थलों पर श्लेष गौण होकर अन्य अलंकारों की भी पुष्टि करता है। एक उदाहरण, जैसे—

"सखि, यह अचरज है हमें, लखि तुव दृगन - बिलास।
कृष्ण-रंग-रत तउ करत करन - निकट नित बास॥"

यहाँ 'कृष्ण' और 'करन' शब्द श्लिष्ट हैं, अतः विरोधाभास के साथ श्लेष है। इसलिए श्लेष की प्रधानता नहीं, केवल उसका आभास मात्र है, अर्थात् श्लेष विरोधाभास का अंग है, क्योंकि श्लेष के बिना यहाँ विरोध का आभास नहीं हो सकता। अतः श्लेष का बाधक होकर विरोधाभास ही प्रधान है। प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार विरोध के आभास में 'विरोधाभास' अलंकार माना जाता है, उसी प्रकार श्लेष के आभास में श्लेष क्यों नहीं मान लिया जाय ? सेठ जी कहते हैं—"इसका उत्तर यह है कि वास्तविक विरोधात्मक वर्णन में तो दोष माना गया है, इसलिये विरोध के आभास में ही अलंकार माना जाता है, किंतु वास्तविक श्लेष में कोई दोष नहीं और न श्लेष के आभास में चमत्कार ही है। जहाँ श्लेष की प्रधानता होती है, वहाँ ही श्लेष अलंकार माना जा सकता है। इस उदाहरण में विरोध के आभास में ही चमत्कार होने के कारण विरोधाभास की ही प्रधानता है, अतः पूर्वोक्त "प्राधान्येन व्यपदेशा भवंति"—न्याय से विरोधाभास ही माना जाना युक्ति-संगत है।"

"अरि-कमला संकोच रवि गुनि-मानस सु मराल।"

[1] **स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ। किंतु आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥**
—काव्यालंकार, ४।३२,

आदि पदों में रूपक के साथ श्लेष है, पर यहां मानस शब्द श्लिष्ट होते हुए भी कवि का अभीष्ट अर्थ 'राजा को विद्वानों के मन-रूप मानसरोवर में निवास करने वाला हंस कहने का है, अतः यहां रूपक प्रधान है, पर मानस के श्लेषार्थ मानसरोवर के कहे बिना रूपक भी नहीं बन सकता, अतः यहां रूपक का श्लेष अंग है।

"नहिं भंगुर गुन कंज-सम, तुम गाढे गुनवार ।"

यहाँ भी व्यतिरेक के साथ श्लेष है, क्योंकि गुण-शब्द श्लिष्ट है। परन्तु राजा को कमल की अपेक्षा उत्कृष्ट कहना अभीष्ट होने से व्यतिरेक होने के कारण श्लेष उसका पोषक होकर अंगीभूत है।

"अनुरक्ता संध्या तथा दिन हूँ सनमुख आत ।
तउ न समागम हूँ अहो, बिधि-गति कही न जात ॥"

यहाँ सायंकाल के वर्णन में 'अनुरक्ता'-आदि श्लिष्ट शब्दों के विशेषणों-द्वारा परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति भी कवि ने कराई है, इसलिए समासोक्ति के साथ श्लेष है। यहां प्रकरण के अनुसार सायंकाल के वर्णन की प्रधानता होने के कारण श्लेष समासोक्ति का सहायक मात्र है।

सेठ जी कहते हैं—"आचार्य मम्मट के इस मत को उनके परवर्ती हेमचंद्र और विश्वनाथ-आदि ने भी स्वीकार किया है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति होती है, वहां किस अलंकार को प्रधान मानना चाहिये, इस निर्णय के लिये यही देखना आवश्यक होगा कि उनमें कौन-सा अलंकार प्रधान है और जहाँ जिस अलंकार की प्रधानता हो वहाँ वही मानना चाहिये।"

श्लेष अलंकार और ध्वनि का पृथक्-करण

सेठ जी कहते हैं—"अलंकारों के अतिरिक्त श्लिष्ट शब्दों का ध्वनि-काव्य के साथ भी गहरा संबंध है। श्लेष-मय अलंकारों में श्लिष्ट शब्दों-द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते हैं, वे सब अभिधा-शक्ति-द्वारा वाच्यार्थ ही तो होते हैं। श्लेष की ध्वनि में अतिव्याप्ति न होने के लिये ही श्लेष अलंकार के लक्षण में 'अभिधान' पद का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् श्लेष में जो दो या दो से अधिक अर्थ होते हैं, वहाँ वे शब्द-द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं। श्लेष के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उसमें एक से अधिक सभी अर्थ अभिधा-शक्ति के अभिधेय—वाच्यार्थ होने के कारण उनका एक ही साथ ज्ञान हो जाता है। ध्वनि में एक के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का एक संग बोध नहीं होता, अपितु अभिधा-द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण-आदि के कारण अभिधा की शक्ति रुक जाती है। वह दूसरे-दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती। उसके बाद ही दूसरा अर्थ (व्यंग्यार्थ) ध्वनित होता है।

अप्पय दीक्षित ने, जहाँ विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता है, वहाँ प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित गूढ़ श्लेष अलंकार ही माना है, ध्वनि नहीं। दीक्षित जी कहते हैं कि इस प्रकार के उदाहरणों में काव्य-प्रकाश-आदि में जो शब्द-शक्ति मूला ध्वनि मानी गई है, वहाँ उपमेय-उपमान भाव के कारण उपमा की ही प्रतीति होती है और उसी में वह संभव भी है, अप्राकृत-वर्णन में नहीं। यहाँ शंका हो सकती है कि जहाँ अप्राकृत शब्द के अर्थ का बोध शीघ्र नहीं होता, वहाँ ध्वनि क्यों नहीं मानी जाय? —'यह ठीक है कि, अप्राकरणिक शब्द-वा पद के अर्थ का प्राकरणिक शब्दार्थ के समान उतना शीघ्र बोध नहीं होता, पर तनिक विलंब से अर्थ का बोध होने मात्र से भी तो ध्वनि नहीं मानी जा सकती। यदि अप्राकृतिक शब्द का अर्थ विलंब से प्रतीत होता है तो उसे 'गूढ़ श्लेष' कहा जा सकता है, ध्वनि नहीं। सेठ जी कहते हैं कि "हमारे विचार से दीक्षित जी का यह मत उपयुक्त नहीं, ऐसे उदाहरणों में श्लेष न मान कर ध्वनि मानना ही युक्ति-संगत है। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथ जी ने अति विस्तार से विवेचन किया है। यद्यपि दंडी ने ऐसे स्थलों पर श्लेष अलंकार ही माना है, क्योंकि दंडी के समय ध्वनि-सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं हुआ था।"

सेठजी का रस-विवेचन

भरतमुनि के सूत्र—"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" पर सेठजी के अपने मौलिक और गंभीर विचार हैं। वे कहते हैं—"काव्य में रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कारक होने के नाकर

ग्रास्वादन करने योग्य पदार्थ है। रस के स्वरूप का ज्ञान ग्रौर उसका ग्रास्वादन ही काव्य के ग्रध्ययन ग्रौर मनन का सर्वोपरि फल है।"

लोक-व्यवहार में रति-ग्रादि चित्त-वृत्तियों के—मनोविकारों के जो कार्य ग्रौर सहकारी कारण होते हैं, वे नाटक ग्रौर काव्य में रति-ग्रादि स्थायी भावों के कारण, कार्य ग्रौर सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।" इन विभादिकों के द्वारा ही स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है[1]।

विभाव के कारण निमित्त ग्रौर हेतु पर्यायवाची शब्द हैं, जो एक ही ग्रर्थ के बोधक हैं[2]। रति-ग्रादि एक प्रकार के विशेष मनोविकार हैं; वे काव्य-नाटकों में स्थायी-भाव कहे जाते हैं। ये रति-ग्रादि स्थायी एवं व्याभिचारी भाव सामाजिकों—काव्य-पढ़नेवालों तथा नाटक देखनेवालों के हृदयों में वासना रूप से ग्रत्यंत सूक्ष्म रूप में स्थित रहते है उन भावों को ये विभावन करते हैं—ग्रास्वाद के योग्य वनाते हैं, ग्रतः ये ही रस के उत्पादक हैं[3]।" पोद्दारजी, इस प्रकार ग्रनुभाव, सात्विक भाव, संचारी भाव ग्रौर स्थायी भावों का वर्णन-विश्लेषण करते हुए ग्रागे 'स्थायी भावों की रस-ग्रवस्था' पर ग्रपने सुलझे विचार इस प्रकार प्रकट करते हुए कहते हैं—"विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है[4]।" व्यक्त का ग्रर्थ है दूसरे रूप में परिणत हो जाना, जैसे—दूध से दही। ग्रस्तु, रति-ग्रादि स्थायी भाव, जो सामाजिकों के ग्रंतःकरण में वासना-रूप से पहिले से ही विद्यमान रहते हैं, उनके साथ जब विभावादि का संयोग होता है, तब वे ही रूपांतरित हो 'रस'-रूप में व्यक्त होने लगते हैं। मिट्टी के नये पात्र में गंध पहिले से है, पर उसकी प्रतीति नही होती, जलके संयोग होने पर वह व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय-जनों के हृदयों में पूर्वानुभूत रत्यादि-मनोविकार ग्रव्यक्त रहते हुए भी काव्य के पढ़ने-सुनने ग्रथवा नाटक देखने से—रति-ग्रादि मनोविकार विभावादि का संयोग पाकर जाग्रत हो जाते हैं ग्रौर उससे ग्रानंदानुभव होने लगता है। ग्रतः इस प्रकार रति-ग्रादि स्थायी भाव ही रस-संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।"

रस : ग्रभिव्यक्ति

रस की ग्रभिव्यक्ति के संबंध में पोद्दारजी कहते हैं—"विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर व्यभिचारी भावों को रति-ग्रादि स्थायी-भावों के क्रमशः कारण, कार्य ग्रौर सहकारी कारण का रूप बतलाया गया है, पर इनकी कारण, कार्य ग्रौर सहकारी कारण के रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीति रस के उद्‌बोध होने के पूर्व-ही होती है, उसके उद्‌बोध के समय इनकी पृथक्ता की प्रतीति नहीं होती। उस समय विभावन के ग्रलौकिक व्यापार-द्वारा ही विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर संचारी समूह-रूप से रसको व्यक्त करते हैं ग्रौर उस समय ये तीनों समूह-रूप से

[1] **कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च।**
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानिचेन्नाटचकाव्ययोः॥
विभावानुभावास्तत् कथ्यंते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रस स्मृतः॥

—काव्यप्रकाश, ४।३७-३८,

[2] **विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।**

—भरत-नाटचशास्त्र,

[3] **बहवोऽर्थाविभाव्यंते वागंगाभिनयाश्रयाः॥**
ग्रनेन यस्मात्तेनायं विभावइति कथ्यते॥

—भरत-नाटचशास्त्र, ६।६

[4] **व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्मृतः।**

—काव्यप्रकाश, ४।३८,

कारण बन जाते हैं[1]। अर्थात् रस के आनंदानुभव के समय ये तीनों अपनी पृथकता-त्याग कर समूह-रूप से मिलकर, स्थायी भाव को 'प्रपानक-रस' की भांति अखंड रस के रूप में परिणत कर देते हैं। जैसे अन्न में डालने से प्रथम चीनी, मिर्च, जीरा, हींग और नमक-आदि का स्वाद विभिन्न होते हुए भी इन सबको मिलाने के बाद उनका भिन्नत्व न रहकर एक विलक्षण-आस्वाद युक्त पेय बन जाता है, उसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखंड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। सेठजी का कथन है कि "विभावादि के संमिलित होने पर ही व्यंजनीय रस की व्यंजना हो सकती है, केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भावों के स्वतंत्र रूप से अकेले रहने पर नहीं। क्योंकि विभावादि स्वतंत्र-रूप से अकेले किसी रस के नियत नहीं हैं। जैसे सिंह-आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के कारण होते हुए भी 'भयानक रस' के आलंबन-विभाव कहे जाते हैं? पर वे वीर-पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण भी बनते हैं और इस प्रकार वीर और रौद्र रस के आलंबन भी होते हैं। अश्रु-पातादि प्रिय-वियोग में होते हैं, इसलिए ये विप्रलंभ-शृंगार के अनुभाव हैं, पर भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, वहाँ ये भयानक एवं करुण रस के अनुभाव हैं। चिंता-आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलंभ-शृंगार के संचारी हैं, पर भय और शोक में भी चिंता-आदि भाव होते हैं, जो भयानक और करुण रस के संचारी हैं। अतः पोद्दारजी कहते हैं—"इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रहकर भी किसी रस विशेष के व्यंजक नहीं हो सकते, अपितु जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव एक साथ जिस विशेष रस में होते हैं, वे ज्यों के त्यों मिले हुए किसी दूसरे रस में नहीं हो सकते। अतः विभावादि तीनों के संमिलन पर ही रस की अभिव्यक्ति होती है। जिससे रस—विभावादि-समूहालंबनात्मक कहा जाता है।

यों तो किसी-किसी वर्णन में कहीं अनुभाव और संचारी के बिना केवल विभाव, कहीं विभाव और संचारी के बिना केवल अनुभाव तथा कहीं विभाव-अनुभाव के बिना केवल संचारी दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ रस की व्यंजना भी होती है। अतएव इस अवस्था में प्रश्न हो सकता है कि फिर विभावादि तीनों के संमिलित होने पर ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? यहाँ पोद्दारजी कहते हैं—"बात यह है कि जहाँ केवल विभाव या अनुभाव अथवा संचारी ही हों वहाँ भी रस की व्यंजना 'विभावानुभावसंचारी' के समूह-द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस किसी भाव की स्थिति रहती है वहाँ वह व्यंजनीय रस का असाधारण संबंधी होने के कारण किसी अन्य रस की व्यंजना नहीं होने देता। अपितु एक भाव से ही अन्य दो भावों का आक्षेप-संमिलन हो जाता है। अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा देता है।"

रसास्वाद

"रस का आस्वाद—आनंदानुभव किस को होता है। रति-आदि स्थायी भाव जो एक प्रकार के मनोविकार हैं वे नायक-नायिकादि आलंबनों में उत्पन्न हो रति-आदि—विभावानुभावसंचारी के संयोग से रस रूप हो जाते हैं, इसलिए रस का आनंदानुभव उन्हीं नायक-नायिकादि को होना है, सामाजिक[2] जिन पूर्वकालीन दुष्यंत-शकुंतला-आदि के चरित्र काव्य में पढ़ते या नाटक में देखते हैं, उनका न तो कभी सामाजिकों से साक्षात् हुआ है और न वे सामाजिकों के सामने रहते ही हैं, और न सामाजिकों का उनसे कोई संबंध ही है। ऐसी परिस्थिति में दुष्यंतादि के रति-जन्य रस के अनुभवों का आनंद सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? अन्य के दिये हुए आनंद का अनुभव अन्य व्यक्ति को किस प्रकार हो सकता है, इत्यादि पर भरत-मुनि के उपर्युक्त सूत्र—विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' को आधार मान उनके परवर्ती संस्कृत के

[1] **कार्यं कारणं संचारिरूपा अपि हि लोकतः।**
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येवते मताः॥

—काव्यप्रकाश,

[2] **काव्य के पाठक-श्रोता तथा नाटकों के दर्शक—सामाजिक कहे जाते हैं।**

महान् साहित्याचार्यों ने अति गंभीर विवेचन करते हुए विभिन्न मत प्रदर्शित किये हैं जो आरोपवाद, अनुमान-वाद, भोगवाद और व्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं[१]।

अस्तु, सेठजी कहते हैं—"भरत-सूत्रके प्रथम व्याख्या-कर्ता मीमांसक भट्ट लोल्लट् हैं। उनका मत है कि शृंगारादि रसों के रति-आदि भाव नायक-नायिका रूप आलंबन और चंद-चाँदनी, पुष्प-वाटिका-आदि उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होते हैं और इन आलंबन विभावों के कटाक्ष एवं भुजाक्षेप (हस्तसंचा-लनादि) चेष्टात्मक अनुभावों से प्रतीति के योग्य होकर उत्कंठादि व्याभिचारी भावों से जो पुष्ट होता है वह 'रस' है। यद्यपि यह रस, मुख्यतया जिनका काव्य-नाटकों में वर्णन या अभिनय किया जाता है उन्हीं दुष्यंत-शकुंतलादि में रहता है, अर्थात् उनकी रति-आदि का वास्तविक रसानुभव उन्हींको उपलब्ध है। किंतु जब पूर्व कालिक व्यक्तियों का काव्य-नाटकों में वर्णन अथवा अभिनय किया जाता है, तब दुष्यंतादि के रूप में नट को तदनुरूप चेष्टाएँ करता हुआ देख कर सामाजिक—नाटक के दर्शक और काव्य के पाठक, नट में दुष्यंतादि का 'आरोप'[२] कर लेते हैं। अतः उन सामाजिकों को नट में रस की प्रतीति होने लगती है।

अनुमानवाद के आचार्य नैयायिक श्री शंकुक भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याता हैं। उन्होंने भट्ट-लोल्लट् के उक्त आरोपवादी मत को युक्ति-युक्त नहीं माना है। क्योंकि दुष्यंत-आदि में रहने वाले रस का आनंदानुभव सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? जब कि सामाजिक दुष्यंतादि तथा अनुकरण करने वाले नटादि से भिन्न हैं। यदि आरोप करने मात्र से ही रसानुभव होना संभव हो तो शृंगारादि रसों के नाम सुन लेने एवं अर्थ-समझ लेने से भी रसानुभव होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। अतः उन्होंने भरतसूत्र की व्याख्या न्याय-शास्त्रानुसार यह की है कि "रस की निष्पत्ति विभावादिकों से अनुमाप्य-अनु-मापक भाव के संबंध से होती है, अर्थात् विभाव—आलंबन-उद्दीपन, अनुभाव—आलंबनों की चेष्टाएँ और व्यभिचारिजन्य औत्सुक्यादि तीनों रस के अनुमापक (अनुमान करने वाले) हैं और रस उनके द्वारा अनुमेय—अनुमान होने वाला है। जैसे धूआँ और अग्नि के अनुमाप-अनुमेय (व्याप्य-व्यापक) संबंध से जहाँ धूआँ वहाँ अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी होते हैं वहाँ रस होने का अनुमान अवश्य हो जाता है। इसका निष्कर्ष-कथन करते हुए सेठजी कहते हैं कि "रस मुख्यतया तो दुष्यंतादि में ही रहता है, पर विभावादि-द्वारा सामाजिकों को नट में रस का अनुमान हो जाता है।" श्री शंकुक अपने उक्त मत को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "संसार में चार प्रकार के ज्ञान—सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य, प्रसिद्ध हैं। सम्यक्-(यथार्थ) ज्ञान जैसे—"देवदत्त को देवदत्त ही समझना", मिथ्या-ज्ञान जैसे—"कोई व्यक्ति पहिले देवदत्त ज्ञात हो बाद में यह जाना जाय कि वह देवदत्त नहीं है", संशय-ज्ञान जैसे—"यह देवदत्त है या नहीं?" इसी प्रकार सादृश्य-ज्ञान जैसे—"किसी व्यक्ति को देवदत्त जैसा समझना।"

इन लोक-प्रसिद्ध चारों ज्ञानों के अतिरिक्त एक प्रकार का ज्ञान और भी है, जिसे—"चित्र-तुरग-न्याय" कहते हैं। अर्थात् चित्र-लिखित घोड़े को देख कर कहा जाय कि यह घोड़ा है। सेठ जी कहते हैं कि यह ज्ञान पूर्वोक्त चारों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। क्योंकि इस में सम्यक्-ज्ञान की भाँति चित्र-लिखित घोड़े को देख कर ऐसा कहा जा सकता है कि यही घोड़ा है और न मिथ्या-ज्ञान की भाँति चित्रांकित घोड़े को पहिले घोड़ा मान कर, बाद में यह कहा जाय कि यह घोड़ा नहीं है तथा संशय-ज्ञान की भाँति न यह कहा जा सकता है कि यह घोड़ा है या नहीं। इसी प्रकार सादृश्य-ज्ञान की भाँति यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह घोड़ा जैसा है। अतः चतुःज्ञानः विलक्षण चित्र-तुरग-ज्ञानानुसार नट को दुष्यंतादि के वेश में देखकर

[१] नाट्यशास्त्र पर अभिनव गुप्ताचार्य की "अभिनव-भारती" व्याख्या पृ०—२७४ तथा काव्यप्रकाश का चतुर्थ-उल्लास—रस-प्रकरण।

[२] किसी वस्तु को वस्तुतः वह न होते हुए भी दूसरी मान लेने को 'आरोप' कहते हैं। अर्थात् एक व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति मान लेना। जैसे नट को दुष्यंतादि न होने पर भी दुष्यंतादि समझ लेना।

"यही दुष्यंत है" यह समझ लेना चाहिये। तदनंतर उस नट में विभावादि-द्वारा रस सामाजिकों को दृष्टि-पथ होने लगेंगे। क्योंकि नाट्य-कला-कुशल नट दुष्यंतादि के अनुकरण (अभिनय) करने में अत्यंत अभ्यस्त होता है, जिससे अनुकरण के समय उसे स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि मैं किसी का अनुकरण—अभिनय कर रहा हूँ। उस समय तो वह अपने को दुष्यंतादि ही समझने लगता है और उनकी संपूर्ण अवस्थाओं को अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास तथा काव्य के अनुसंधान —कवि के अभीष्ट को साक्षात् के समान अनुभव करने के बल पर नट विभावादि को प्रगट करता है, अतः नट की चेष्टाएँ कृत्रिम प्रतीत नहीं होतीं और दुष्यंतादि के रति-आदि भावों का सामाजिकों को अनुमान होने लगता है। यद्यपि सामाजिक नट में ही दुष्यंतादि की रति का अनुमान करते हैं, तथापि काव्य-नाटकों के वस्तु-सौंदर्य के प्रभाव से उसमें रसनीयता आ जाती है। अतः वे रति-आदि भाव अन्य अनुमेय से विलक्षण हो जाते हैं। सामाजिकों को यह ध्यान ही नहीं रहता कि हम दूसरों की रति-आदि का अनुमान कर रहे हैं। अतः अपने में न रहता हुआ रस सामाजिकों की अपनी वासना से आस्वादित होता हुआ रसानुभव होने लगता है।"

भरत-सूत्र के तीसरे व्याख्याता हैं भोगवादी सांख्यमतानुयायी भट्ट नायक। ये शंकुक के उक्त अनुमानवाद को संतोषप्रद नहीं मानते। आप का मत है कि अन्य व्यक्ति में उद्भूत होने वाले रस का अन्य व्यक्ति अनुमान करके आस्वाद नहीं कर सकता वह तो प्रत्यक्ष-ज्ञान से ही रसास्वादन कर सकता है। अर्थात् अन्य की आत्मा में स्थित (दुष्यंतादि में स्थित शकुंतला-विषयक) रति के आनंद का अन्य की आत्मा (अनुकरण करने वाले नटों और सामाजिकों की आत्मा) में अनुमान करने से रसास्वाद कदापि नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि शकुंतलादि विषयक दुष्यंतादि की आत्मा में स्थित रति की प्रतीति सामाजिकों को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष हैं। कहाँ वे धर्मात्मा, यशस्वी सम्राट् और कहाँ हम वर्त्तमान्‌कालीन क्षुद्र जीव। शकुंतला-विषयक प्रेम का हमारे हृदय में उदय होना एक बार-ही महान् पाप-वृत्ति है, क्योंकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र बनाना चाहते हैं उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने का औचित्य आवश्यक है। उसका केवल स्त्री होना-ही पर्याप्त नहीं है। स्त्री तो भगिनी-आदि भी होती है। अतः सामाजिकों के प्रेम के शकुंतलादि आलंबन कदापि नहीं हो सकते और आलंबन के बिना रति स्थायी का आविर्भाव होना असंभव है, अतः रसास्वाद कहाँ? इस प्रकार अनुमान-ज्ञानजन्य 'रसास्वाद' की कल्पना निस्सार मान कर भट्ट नायक कहते हैं—

> **"भरत-सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ है 'भोज्य-भोजक-भाव-संबंध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'भुक्ति'। अर्थात् काव्य की क्रियाएँ हीं रस के उद्बोध का कारण हैं। क्योंकि काव्य शब्दात्मक है और उस शब्द के तीन व्यापार हैं—"अभिधा, भावना और भोग।"**

अभिधा-द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है और भावना का व्यापार है—'साधारणी-करण'। अतः इस व्यापार-द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत रति-आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत संबंध छोड़कर साधारण (सामान्य) रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम का इन दोनों (दुष्यंत-शकुंतला) से व्यक्तिगत संबंध न रह कर सामान्य दांपत्य-प्रेम-रूप से प्रतीत होना। इस भावना के व्यापार-द्वारा रति-आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्य होना-आदि विरोधी-ज्ञान हट जाता है, फल यह होता है कि यही भावना संपूर्ण बातों को साधारण बना देती है और तब उसमें किसी व्यक्ति विशेष या देश-काल-आदि का संबंध प्रतीत न हो कर रसास्वाद का प्रतिकूल-आवरण हट जाता है।

भोग-व्यापार-द्वारा भावना के प्रभाव से, अर्थात् अपना और परायापन दूर हो जाने पर साधारणीकृत विभावादि से सामाजिकों को निर्बाध रसास्वादन होने लगता है। भोग का अर्थ है—

"सत्वोद्रेक प्रकाशानंद संविद् विश्रांतिः।"

अर्थात् सत्त्वगुण के उद्रेक[1] से प्रादुर्भूत प्रकाश-रूप आनंद का अनुभव। यह आनंदानुभव वेद्यांतरसंपर्कशून्य है, अन्य-संबंधी-ज्ञान से रहित है—लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है। इसी 'भोग-व्यापार'-द्वारा रस का आस्वाद सामाजिकों को होता है।

सेठ जी कहते हैं—"भट्ट नायक के उक्त मत का निष्कर्ष यह है कि "काव्य-नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य जैसे—प्रथम उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसकी—काव्य-नाटकों में देखे-सुने की, भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह अनुभव नहीं कर पाते कि काव्य-नाटकों में जो सुना-देखा है, वह किसी दूसरे से संबंध रखता है, या यह हमारा ही है। इसके बाद सत्त्व-गुण के उद्रेक से और आत्मचैतन्य से प्रकाशित[2] साधारणीकृत रति-आदि स्थायी भावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।"

व्यक्तिवाद के आचार्य अभिनवगुप्त[3] तथा मम्मट्, भट्ट नायक के मत 'भोगवाद' को युक्ति-युक्त नहीं मानते। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि में वस्तुतः 'व्यंग्य-व्यंजक'—प्रकाश्य-प्रकाशक संबंध है। अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, जिसके अलौकिक विभावन-व्यापार यानी साधारणी-करण के द्वारा सामाजिकों की वासना[4] जाग्रत् हो जाती है, वही रस की अभिव्यक्ति है—निष्पत्ति है। सेठ जी कहते हैं कि "ये अभिनवगुप्त और मम्मट्, भट्ट नायक-द्वारा प्रतिपादित साधारणी-करण को तो मानते हैं, पर इनका कहना है कि भावना और भोग को शब्द के व्यापार मानना निर्मूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दों-द्वारा न तो भावना ही उत्पन्न हो सकती है और न भोग[5]। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यंजना-द्वारा व्यंजित होकर ही हो सकती है। अर्थात् ये भी अंततः व्यंजना पर ही अवलं-बित हैं[6]। निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्ताचार्य-आदि भट्ट नायक के अनुसार साधारणी-करण भावना का व्यापार नहीं, किंतु व्यंजना का अलौकिक विभावन—व्यापार मानते हैं। इस विभावन-व्यापार के, अर्थात् साधारणी-करण के प्रभाव से सहृदय-सामाजिक[7] विभावादिकों में—'अयं निजः परोवेत्ति', अर्थात् 'ये मेरे ही हैं',

[1] सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक वा प्राधान्य का अर्थ है, अपने से भिन्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण-तमोगुणों को दबा कर सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का प्रभाव आनंद का प्रकाश करना है और उस आनंद का अनुभव 'भोग' है।

[2] 'आत्म चैतन्य से प्रकाशित' का भाव यह है कि आत्मा और अंतःकरण दो दर्पण-रूप हैं। इनमें आत्म-रूप-दर्पण चैतन्यमय आनंद-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है तथा अंतःकरण रूप-दर्पण रजोगुण-तमोगुणों के आवरणों से मलिन रहता है। सत्त्वोद्रेक से रजो-तमोगुणों के दब जाने पर वह—अंतःकरण रूप दर्पण, स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अंतःकरण रूप-दर्पण में जब आत्म-चैतन्य आनंद-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिंब या प्रकाश पड़ता है तब वह भी आनंद-स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ-दर्पण में अभिमुख वस्तु का प्रतिबिंब पड़ने से दर्पण का तदाकार हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

[3] अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती-व्याख्या, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश—रस-प्रकरण।

[4] पहिले किसी समय की अपनी रति (प्रेम-व्यापार) आदि के आनंदानुभव का अपने अंतःकरण में जो संस्कार हो जाता है, उसे 'वासना' कहते हैं।

[5] न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् .... भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते।

[6] अंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत्।
—ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ७०

[7] अभिनवगुप्त और मम्मट् के मतानुसार सहृदय सामाजिक, काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो नायक-नायिका की चेष्टा-आदि से उनकी पारस्परिक रति-आदि का अनुभव करने में सुदक्ष होते हैं और जिनको तत्काल ही नाटकादि में प्रदर्शित और वर्णित पात्रों की रति-आदि का अनुभव हो जाता है।

'ये दूसरे के हैं', 'मेरे नहीं हैं' वा 'ये दूसरे के नहीं हैं'-इत्यादि संबंध विशेष का अनुभव नहीं करते। फलतः अपने को तथा काव्य-नाटकों के दुष्यंत-शकुंतलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं। उनको—मैं दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं रहता और न यही ज्ञान रहता है कि मैं—'अपने प्रेम-व्यापार का आनंदानुभव कर रहा हूँ', अर्थात् सामाजिक काव्य-नाटकों के विभावों के प्रेम-व्यापार का आनंदानुभव अभिन्नता से करते हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को काव्य-नाटकों के दुष्यंत-शकुंतलादि के विभावों में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार-आदि की प्रतीति होती है तो ऐसा होने में लज्जा और पापाचरण-आदि[1] दोष आते हैं और यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को दुष्यंतादि के प्रेम-व्यापार का ही आनंदानुभव होता है, तब प्रथम तो साक्षात् संबंध न होने के कारण अन्य-द्वारा किये प्रेम के व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनंदानुभव हो ही नहीं सकता, दूसरे अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निंद्य है, ऐसी दशा में काव्य-नाटकों के द्वारा आनंदानुभव कहां? अतएव 'रस' के व्यक्त करने वाले जो विभावादि हैं उनमें जो रस प्रकट करने की शक्ति है, वही व्यक्तिगत विशेष संबंध को हटा कर रसास्वाद कराने वाला साधारणी-करण है। अभिनवगुप्त और मम्मट दोनों आचार्यों का कहना है कि जैसे मिट्टी के पात्र में गंध रहते हुए भी वह व्यक्त नहीं होती, जल के संयोग से ही वह तत्काल प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिकों के अंतःकरण में रति-आदि की वासना पहिले से ही अव्यक्त-रूप में वर्त्तमान रहती है और वह काव्य-नाटकों[2] के विभावादि व्यंजकों के संयोग से अभिव्यक्त—जाग्रत् या उत्तेजित हो जाती है। अर्थात् रति-आदि स्थायी भावों के आनंद का अनुभव होने लगता है। वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।"

रस अलौकिक है

आलंबन-उद्दीपन विभावों के अनुभाव और संचारी यद्यपि लौकिक हैं, तथापि काव्य-नाटकों के अंतर्गत होने से उनमें विभावन-आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिकों को अलौकिक कहते हैं। जब विभावादि अलौकिक हैं तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना चाहिये, क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होते हैं। यदि यह कहा जाय कि शृंगारादि रस तो लौकिक ही हैं? इस शंका का निवारण करते हुए सेठ जी कहते हैं—"रस का चमत्कार तो वास्तव में अलौकिक ही है, पर दुष्यंत-आदि के हृदय में जो शकुंतला-आदि विषयक वास्तविक रति उत्पन्न हुई, वह साधारण दांपत्य-रति थी, इसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने के कारण वह लौकिक अवश्य थी। यदि काव्य-नाटकों में दुष्यंत-शकुंतलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने से (पर रहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण) रस-आस्वाद के अयोग्य होगी। अतः वास्तव में काव्य-नाटकों में दुष्यंत-शकुंतला-आदि की रति, विभावन के अलौकिक व्यापार-द्वारा अपने-परायेपन के भेद से रहित होकर—लज्जास्पद न रह कर रस का आस्वाद कराती है, अतः रस अलौकिक ही है।"

"दुष्यंत-शकुंतला-आदि में जो रति उत्पन्न हुई उसका आनंद दुष्यंत-शकुंतलादि तक ही सीमित था। किंतु काव्य-नाटकों में विभावादि-द्वारा प्रदर्शित रति स्थायी भाव, जो रस-रूप से व्यक्त होता है, दुष्यंतादि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोताओं और दृष्टाओं के द्वारा एक ही साथ समान रूप से आस्वादनीय होता है। अतः वह अपरिमित होने के कारण अलौकिक है।"

"लौकिक-पदार्थ या तो ज्ञाप्य[3] होते हैं या कार्य-रूप, किंतु रस को न तो ज्ञाप्य ही कह सकते

[1] शकुंतलादि संमान्य व्यक्तियों के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापाचरण कहा जाता है।

[2] काव्य में केवल शब्दों-द्वारा और नाटकों में शब्दों और पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं-द्वारा।

[3] जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के द्वारा होता है, उसे 'ज्ञाप्य' कहते हैं और जिसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान हो उसे ज्ञापक कहा जाता है। जैसे—अंधेरे में दीपक-द्वारा घड़ा-आदि का ज्ञान होने में घड़ा ज्ञाप्य और दीपक ज्ञापक होता है।

हैं और न कार्य, क्योंकि ज्ञाप्य वही हो सकता है, जो ज्ञापक-हेतु के आने पर प्रत्यक्ष हो जाय। जैसे पहिले से विद्यमान 'घट' अपने ज्ञापक-हेतु दीपक या प्रकाश के आने पर स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है, पर रस पहिले से तो विद्यमान होता नहीं, उसका अनुभव तो तभी होता है जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग होता है, अतएव उसे ज्ञाप्य नहीं कह सकते। रस को कार्य भी किस प्रकार कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है। जैसे—कुम्हार और चाक-आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो रस भी अपने कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर स्थित रहना चाहिये, किंतु वह उपलब्ध नहीं होता, अथवा कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नहीं होता। यदि विभावादिकों को कारण और रस को कार्य मान लिया जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। किंतु रस और विभावादि तो 'समूहालंबनात्मक[1]' हैं—रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति भी होती ही है। अतः रस को कार्य नहीं कहा जा सकता।" यदि यह शंका की जाय कि रस कार्य नहीं है, तो विभावादि रस के कारण क्यों कहे गये? सेठ जी कहते हैं—"इसका समाधान यह है कि रस की चर्वणा—उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ-सा और चर्वणा (आस्वाद) के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ-सा ज्ञात होता है। वास्तव में चर्वणा की उत्पत्ति ही रस है। लोक-व्यवहार में रस को विभावादि का का कार्य कहना केवल उपचार[2] मात्र है।"

"लौकिक वस्तु की भाँति रस को नित्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि नित्य वस्तु असंवेदन[3]-काल में नष्ट नहीं होती, पर रस असंवेदन-काल में नष्ट हो जाता। अर्थात् रस की विभावादिक-ज्ञान के पूर्व स्थिति नहीं होती। इसलिए भी रस अलौकिक है।"

"लौकिक पदार्थ भूत्, भविष्यत् और वर्त्तमान् होते हैं। रस न तो भविष्य में होने वाला है और न भूतकालीन ही है। यदि ऐसा होता तो उस (रस) का साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता था। क्योंकि कल होने वाली वस्तु का, या जो वस्तु हो चुकी है उसका साक्षात्कार आज नहीं हो सकता और न रस को वर्त्तमान ही कह सकते हैं, क्योंकि वर्त्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किंतु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य। इसी प्रकार "रस निर्विकल्पक-ज्ञान[4] का विषय भी नहीं है। निर्विकल्पक-ज्ञान में नाम, रूप, जाति-आदि किसी विशेष प्रकार के संबंधों का भान नहीं होता। किंतु रस विशेषरूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति में श्रृंगार, हास्य, करुण-आदि रस विशेषरूप से विदित होते हैं। रस' सविकल्पक-ज्ञान' का विषय भी नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक-ज्ञान के विषय घट-पटादि शब्द-द्वारा कहे जा सकते हैं, किंतु रस शब्दों-द्वारा नहीं कहा जा सकता, अर्थात् रस, रस पुकारने से रसानुभव नहीं हो सकता। जब वह विभावादि-द्वारा व्यक्त होता है—व्यंजना-द्वारा व्यंजित होता है, तब आस्वादनीय होता है। रस की यह भी अलौकिकता है।"

आगे सेठजी कहते हैं—"रस का ज्ञान परोक्ष का विषय भी नहीं, क्योंकि परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता और रस का साक्षात्कार होता है। रस अपरोक्ष भी नहीं, अपरोक्ष-पदार्थ का प्रत्यक्ष

[1] अनेक पदार्थों का समूह रूप से एक ही साथ प्रतीत होना—"समूहावलंबन-ज्ञान" है। जैसे—घट, पट, लकुटादि बहुत से पदार्थों पर दृष्टि जाने पर वे एक ही साथ समूह-रूप से प्रतीत होते हैं और जैसे—दीपक के प्रकाश में घट-पटादि के साथ दीपक भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार रसास्वाद के समय भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव जो स्थायी भाव को व्यक्त (प्रकाश) करते हैं, वे स्थायी भाव के साथ प्रकाशित होते हैं।

[2] किसी वस्तु के धर्म का, किसी विशेष संबंध के कारण दूसरी वस्तु में प्रतीत होना 'उपचार' है।

[3] ज्ञान के अभाव-काल में, अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं होता वह समय।

[4] घट-पट-आदि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः 'कुछ है' ऐसा प्रतीत होना 'निर्विकल्पक-ज्ञान' है।

होना संभव है, पर रस प्रत्यक्ष दृष्टिगत नहीं हो सकता। उसकी शब्दार्थ-द्वारा केवल व्यंजना होती है। यह भी उसकी अलौकिकता है।"

कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, निर्विकल्पक और सविकल्पक-ज्ञान का विषय तथा परोक्ष-अपरोक्ष-आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं, उन सभी का रस में अभाव है। तब प्रश्न होता है कि फिर वह क्या वस्तु है? और उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है? सेठजी कहते हैं—"वस्तुत: रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखंड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिए उसका रसास्वाद—"ब्रह्मानंद सहोदर"[1]; कहा गया है। जैसे ब्रह्मानंद का अनुभव विरले योगी-जन ही कर पाते हैं, उसी प्रकार रस का आस्वादन भी सहृदय-जन ही कर सकते हैं[2] और रस के अस्तित्व में सहृदय काव्य-मर्मज्ञोंकी चर्वणा, अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है। चर्वणा से रस अभिन्न है।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि आनंदानुभव को ही 'रस' कहा जाता है तो करुण, बीभत्स और भयानक-आदि-द्वारा जब प्रत्यक्षतया दुःख, घृणा और भय-आदि उत्पन्न होते हैं तब उन्हें रस क्यों माना जाता है? सेठ जी कहते हैं कि "शोकादि कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार में है—श्रीराम-वन-गमनादिक लोक में ही दुःख के कारण होते हैं और जब वे काव्य-रचना में निबद्ध हो जाते हैं या नाटकों के अभिनयों में दिखलाए जाते हैं, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अत: विभावादि-द्वारा उनसे आनंद ही होता है, लोक में चाहे वे दुःख के ही कारण क्यों न हों। यदि करुण-आदि रस दुःखोत्पादक ही होते तो करुण रसादि प्रधान काव्य-नाटकों को कौन पढ़ता, सुनता और देखता? पर वे शृंगार-रसात्मक काव्य-नाटकों के समान ही सहर्ष पढ़े, सुने और देखे जाते हैं। इस विषय में सहृदय-जनों का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यद्यपि करुण-प्रधान हरिश्चंद्रादि के चरित्रों-द्वारा सामाजिकों के अश्रुपातादि अवश्य होते हैं, किंतु वे चित्त के द्रवीभूत होने-से होते हैं। चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक-ही नहीं, आनंद का आधिक्य भी होता है। अत: आनंद-जन्य अश्रुपात भी होता है[3]।"

वह सेठजीका मेघदूत-विमर्श

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' पर पाश्चात्य और एतद्देशीय अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। मेघदूत के अनेक पद्यमय अनुवाद भी किये गये हैं, जो सभी अच्छे हैं। परंतु श्री पोद्दार जी के 'हिंदी मेघदूत-विमर्श' में इन सबसे विशेषता तथा अपूर्वता है। इस ग्रंथ में जो समश्लोकी हिंदी-पद्यानुवाद है, उसमें कविकुल-मुकुट-मणि कालिदास कृत जैसी-ही सुंदर, सरल तथा स्वाभाविक रचना का आस्वाद भली-भाँति उपलब्ध होता है और जो गद्यानुवाद है वह भी अन्य-अनुवादों की अपेक्षा अधिक सुंदर तथा उसके गूढ़ भावों को समझने में अद्वितीय है। प्रत्येक पद्य का प्रासंगिक भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विवेचन बड़ा विद्वत्तापूर्ण है। अन्य महा कवियों ने मेघदूत की सदुक्तियों के अनुकरण पर जो पद्य-रचनाएँ की हैं, उनकी तुलनात्मक आलोचना की गई है। ११० पृष्ठों की 'भूमिका' अनेक दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें मेघदूत विषयक अनेक ज्ञातव्यबातों का उल्लेख जिस सुंदर ढंग से किया गया है, वह दर्शनीय है। महाकवि कालिदास के समय-निरूपण करने के

[1] यहाँ 'ब्रह्मानंद' से संप्रज्ञात (सविकल्प) समाधि से तात्पर्य है, क्योंकि उसीमें आनंद और अस्मिता-आदि आलंबन रहते हैं। पातंजलि-सूत्र (समाधिपाद सूत्र—१७) में कहा है कि "वितर्क विचारानंदास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।" इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावादि आलंबन रहते हैं। अतएव संप्रज्ञात समाधि के आनंद के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, असंप्रज्ञात-समाधि के समान नहीं, क्योंकि वह निरालंब है।

[2] पुण्यवंतः प्रमिण्वंति योगिवद्रस संततिम्।

[3] आनंदामर्षाभ्यां धूमांजनजृंभणाद्भयाच्छोकात्।
अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाभवेदास्रम्॥

—भरत-नाट्यशास्त्र ७।१५२

संबंध में प्रसंग-वस 'महाकवि भास', सम्राट् 'महापद्मनंद', सम्राट् 'चंद्रगुप्त' मौर्य, सम्राट् 'अशोक', महाराज 'पुष्पमित्र', भास और 'चाणक्य', भास और 'पणिनि', भास के समय पर अनेक विद्वानों के मत, भास और कालिदास, कालिदास और 'भामह', कालिदास और 'दिङ्नाग', कालिदास और 'विक्रमादित्य', कालिदास और 'अग्निमित्र'—आदि के समय पर साहित्यिक और ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। ऐसा विवेचन हिंदी के मेघदूत-विषयक अन्य ग्रंथों में देखने में नहीं आता। अस्तु, मेघदूत जैसे विश्व-विश्रुत् सरस काव्य का आस्वादन पोद्दारजी के उक्त ग्रंथ-द्वारा ही भली प्रकार हो सकता है। इस ग्रंथ की भारत के सभी प्रतिष्ठित और अगणित विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

संस्कृत-साहित्य का इतिहास—नाम से हिंदी में और भी कई ग्रंथ विद्वानों-द्वारा लिखे गये हैं, जिनमें प्राचीन् कवियों और महाकवियों के समय और उनके काव्य-नाटकों का नाम निर्देश किया गया है। पोद्दारजी प्रणीत 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' हिंदी साहित्य में एकदम नई चीज़ है। यह ग्रंथ दो-भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में निम्नलिखित शीर्षकों में गवेषणापूर्वक संस्कृत के इतिहास का महत्त्वपूर्ण विशद विवेचन है—

१—'साहित्य' शब्द के अर्थ और प्रयोग का क्रमशः विकास।

२—काव्य-रचना का वैदिक काल से कालक्रमानुसार विकास।

३—श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण', भरतमुनि प्रणीत—'नाट्य-शास्त्र', 'महाभारत और अग्निपुराण की रचना-काल के विषय में पाश्चात्य और एतद्देशीय अन्य विद्वानों के मत पर आलोचनात्मक गंभीर विवेचन।

४—भट्टि, भामह, उद्भट्, वामन, दंडी, रुद्रट्, ध्वनिकार, राजशेषर, महाराज भोज, क्षेमेंद्र, भट्टाचार्य, रुय्यक, मंखक, केशव मिश्र, श्री रूपगोस्वामी, हेमचंद्र जैनाचार्य, वाग्भट्, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पंडित राज जगन्नाथ-आदि संस्कृत के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के समय पर आलोचनात्मक विवेचन और उनके ग्रंथों का परिचय।

५—संस्कृत-साहित्य के विभिन्न रीति-ग्रंथों का विषद विवरण।

६—काव्य के प्रयोजन और काव्य के हेतु के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का विवेचन।

७—भिन्न-भिन्न साहित्याचार्यों-द्वारा निर्मित काव्य के लक्षणों पर आलोचनात्मक विस्तृत विवेचन में काव्यप्रकाशोक्त 'काव्य-लक्षण' पर चंद्रालोक-कर्त्ता जयदेव तथा साहित्यदर्पण-प्रणेता विश्वनाथ-द्वारा किये गये कटु आक्षेपों का विद्वत्तापूर्ण खंडन।

८—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-काव्य के जो ये पाँच संप्रदाय स्थूल रूप से प्रचलित हैं, इन संप्रदायों के आचार्य तथा इन संप्रदायों के विषय में भिन्न भिन्न आचार्यों-द्वारा की गई आलोचना और इस प्रसंग पर पोद्दारजी का मत।

९—काव्य के दोषों पर विवेचन।

१०—दृश्य और श्रव्य-काव्य के भेद तथा उपभेदों का विवरण।

हिंदी-साहित्य में इस शैली का यह अनुपम ग्रंथ हैं। इस ग्रंथ के समकक्ष का और कोई ग्रंथ हिंदी में अब तक दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है।

सेठ जी का आलोचक-रूप

कवि-जगत् का कहना है—'काव्य के तत्त्व को बिरले ही जान-पहिचान सकते हैं। यों तो पुष्पों के सौंदर्य से सभी का मन प्रसन्न होता है, पर उसमें स्थित मधुर रस का मर्मज्ञ भ्रमर ही होता है[1]। इसी प्रकार

[1] **तत्त्वं किमपि काव्यानां, जानाति विरलो भुवि।**
मार्मिकः को मरंदाना मंतरेण मधुव्रतम्॥

"सरस कविन के चित्त कों बेधत है, सो कौंन ।"

जैसेगूढ़ प्रश्न का उत्तर देने वाले साहित्य के वे ही पारखी हैं, जो अपनी पैनी दृष्टि से साहित्य के अंतर्निहित भावों को निरखने-परखने में पटु और उसके अनुभवी हैं । अतः वे ही उसके उत्तर रूप में अपने हृदय से कह सकते हैं—

"असमझवार सिराहिबौ, समझवार कौ मौंन ।"

सेठ जी ऐसे ही साहित्य-रस के लोभी भ्रमर और उसके रहस्य को समझने वाले रसज्ञ, एक ही व्यक्ति हैं । वे किसी की, वह चाहे कवि हो या कविराजा, साहित्य के प्रति 'मदान्धनर्तनजा' को चुपचाप देखते रहना, उसके प्रति कुछ न कहना उपयुक्त नहीं समझते । फलतः सेठ जी आलोचना-क्षेत्र में भी काफी सफल रहे । यहाँ भी आपने अपनी प्रतिभा से 'चार-चांद' लगाये । स्वर्गीय पंडित रामचंद्र जी शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपनी साहित्य-मर्मज्ञता की 'चकदक' चारु चांदनी से आलोचना-क्षेत्र को अवश्य जगमगा दिया था, पर वह पाश्चात्य-विचार (आलोचना) शैली से प्रभावित जैसी है । शुक्लजी भारतीय-विचार-वीथी से—उसकी परंपरा से दूर-दूर रहे हैं । सेठ कन्हैयालाल जी ने अपनी प्राचीन आलोचना-परिपाटी को पाश्चात्य-शैली का नया जामा पहिनाकर एक नई सुंदरता उत्पन्न की है । उदाहरण-रूप में सेठ जी के एक आलोचनात्मक-निबंध को उनके ही शब्दों और विचारों में नीचे उद्धृत करते हैं, जैसे—

अलंकार के नामों में ही हैं लक्षण यह नव सिद्धांत,
इस जसवंतजसोभूषण में, प्रतिपादित, वह भ्रांत नितांत ।
भरत-आदि पूर्वाचार्यों पर मिथ्याक्षेप, सगर्व महा—
किया उसी का इस निबंध में खंडन है द्रष्टव्य यहाँ ।।

"जोधपुर-नरेश महाराजा 'जसवंतसिंहजी' के राज-कवि चारण-कुलावतंस कविराजा मुरारी-दान जी ने अपने उक्त आश्रय-दाता महाराजा के नाम को चिरस्थायी रखने के लिये 'मोल और तोल में भारी' 'जसवंत जसोभूषण' की रचना की । उक्त ग्रंथ का हिंदी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है । कविराजा ने 'सुब्रह्मण्य शास्त्री' जैसे उत्कट विद्वान्-द्वारा साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी । शास्त्री जी को उदयपुराधीश स्वनामधन्य स्वर्गीय महाराणा 'सज्जनसिंह जी' बहादुर ने इसीलिए जोधपुर भेजा था । कविराजा मुरारी-दान स्वयं भी साहित्यिक विद्वान् थे । फिर इस ग्रंथ की रचना में शास्त्रीजी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था । यही नहीं, श्री शास्त्रीजी-द्वारा जसवंतजसोभूषण का संस्कृत-भाषा में अनुवाद भी—'यशवंतयशोभूषण' नाम से प्रणीत किया गया था । अस्तु: इस ग्रंथ में कविराजा मुरारीदान जी ने अत्यंत गर्व के साथ यह घोषणा की—

"अलंकारों के नामों में ही अलंकारों के लक्षण हैं और इस रहस्य को आज तक किसी भी प्राचीन आचार्यों ने नहीं समझा । यदि वे इस रहस्य को जानते तो अलंकारों के लक्षण निर्माण न करते आदि . . . . ।"

किंतु, कविराजा की यह गर्वोक्ति केवल मिथ्यालाप है । न तो इस रहस्य से प्राचीन आचार्य अनभिज्ञ-ही थे और न सभी अलंकारों के नामों के अर्थ में लक्षण ही हैं । एवं न कविराजा अपने इस भ्रांत-मत को निर्भ्रांत सिद्ध ही कर सके हैं । कविराजा ने अपने इस भ्रांत-मत की पुष्टि में एक विभ्राट् प्रमाण भी उपस्थित किया है । वे कहते हैं कि 'जयदेव' प्रणीत' चंद्रालोक' की—

"स्यात्स्मृतिभ्रांतिसंदेहस्तदंकालं कृति त्रयम् ।"

इस कारिका-द्वारा सिद्ध होता है कि श्री जयदेव के मत में भी इन्हीं तीन—स्मृति, भ्रांति और संदेह अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के नामों में लक्षण नहीं । पर चंद्रालोक की उक्त कारिका-द्वारा कविराजा के कथन का समर्थन कदापि नहीं होता । इस कारिका का अभिप्राय केवल यही है कि इन स्मृति, भ्रांति और संदेह

अलंकारों में 'लोक-प्रसिद्ध वैचित्र्य' है, इसलिए इनके लक्षण लिखना अनावश्यक है, इनके नाम ही 'लक्षण-रूप' हैं। इन तीनों के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण अलंकार इतने सुबोध नहीं, जिनका यथार्थ-स्वरूप नाम-मात्र के सुनने से समझ में आ जाय। अलंकारों के नामों में केवल उनके स्थूल चमत्कारों का संकेत-मात्र सूचित है, जो प्राचीन आचार्यों को स्वीकृत थे। वे नाम में ही लक्षण वाली बात नहीं मानते थे। क्योंकि अलंकारों के नामों में लक्षण नहीं हो सकता। यदि प्राचीन संस्कृत-साहित्याचार्यों को यह ज्ञात न होता कि 'अलंकारों के नाम उनके स्थूल चमत्कार के संकेत-सूचक हैं', तो वे काव्यप्रकाशादि अपने साहित्य-ग्रंथों में अलंकारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दिखाई जा सकती थी ? काव्यप्रकाश की वामनाचार्य कृत 'बालबोधिनी' टीका में अलंकारों के नामार्थ, व्युत्पत्ति-द्वारा इस प्रकार समझाये गये हैं।

१, उपमेयोपमा—'उपमेयेन उपमा—उपमेयोपमा।'

२, समासोक्ति—'समासेन—संक्षिप्तेणार्थ द्वयकथनं समासोक्तिः।'

३, निदर्शना—'निदर्शनं—दृष्टांतकरणम्।'

४, दृष्टांत—'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टांतः।'

५, दीपक—'एकस्यैव समस्तवाक्यदीपनात्—दीपकम्।'

यह नामार्थ-व्युत्पत्ति का दिग्दर्शन मात्र है और कविराजा-द्वारा की गई अलंकारों के नामार्थ की स्पष्टता भी प्रायः इसी का अनुकरण मात्र है। जैसे—

"१, उपमेयोपमा—उपमेयेन उपमा।

२, समासोक्ति—संक्षेप ये सब पर्याय हैं।

३, निदर्शना—कर दिखाना।

४, दृष्टांत—दृष्टः अंतः निश्चयो यत्र स दृष्टांतः।

५, दीपक—दीपयतीति दीपकम्।"

जसवंत-जसोभूषण के इन अवतरणों से स्पष्ट है कि 'कविराजा ने नामार्थ स्पष्ट करने में प्रायः काव्यप्रकाश का ही अनुसरण किया है। फिर भी आप 'उपमा' का नामार्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

> **'यहाँ उप—उपसर्ग का अर्थ है—समीपता। कहा है 'चिंतामणिकोष'कार ने—'उप सामीप्ये। माङ् धातु से 'मा' शब्द बना है। माङ् धातु 'मान'-अर्थ में है—कहा है धातुपाठ में 'माङ्-माने', उप-सामीप्याद् मा मानम्—उपमा। समीपता करके किया गया मान, अर्थात् विशेष ज्ञान। यह उपमा का अक्षरार्थ है। उपमा के नाम का यह साक्षात् अर्थ प्राचीनों के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो यह 'व्युत्पत्ति क्यों नहीं लिखते।"**

खेद है, कविराजा जैसे मान्य विद्वान्-द्वारा ऐसे मिथ्या वाक्य लिखे गये हैं। जब कि उपमा का नामार्थ काव्यप्रकाश में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

> **"उपमेति। उपसमीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेय कर्म) अनयेत्युपमा। उप-पूर्वात् माङ्-माने—इति जौहोत्यादिकान्माधातोः 'आतश्चोपसर्गे (३-३,१०६) इति पाणिनि सूत्रेण करणे अङ् प्रत्ययः त अकर्तरि कारके इत्यनुवृत्तेरिति बोध्यम्।—पंकजादिवत् योगरूढ़मिदमुपमा-पदम्।"**

कहना अनावश्यक है कि काव्यप्रकाश में उपमा के नामार्थ की व्याख्या में जो कुछ कहा गया है, कविराजा ने उसी का भावार्थ हिंदी में लिख दिया है। अतएव कविराजा की—'अलंकारों के नामार्थ का ज्ञान प्राचीन आचार्यों को न था', यह गर्वोक्ति अकांड-तांडव मात्र है।

कविराजा जी का आक्षेप यह भी है कि 'प्राचीनाचार्यों को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यों लिखते।' इसका उत्तर यह है कि सभी अलंकारों के नाम-मात्र में लक्षण हो ही नहीं सकते। उदाहरण रूप में—'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाला 'वक्रोक्ति'—अलंकार को लीजिये।

इस अलंकार में 'वक्र' (टेढ़ी) उक्ति में चमत्कार होता है, जो उसके नामार्थ-द्वारा स्पष्ट नहीं होता। अतः 'काव्यप्रकाश' में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥"

अर्थात् अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का दूसरे व्यक्ति-द्वारा श्लेष या काकु-उक्ति से अन्य अर्थ—वक्ता के कहे हुए वाक्य का अन्य (दूसरा) अर्थ कल्पित किया जाय, वहां 'वक्रोक्ति' अलंकार होता है। उस अन्य-अर्थ की कल्पना श्लेष या काकु-उक्ति-द्वारा होती है। किंतु वक्रोक्ति के नामार्थ से यह बात स्पष्ट नहीं होती। इसलिए लक्षण-निर्माण किया जाना अनिवार्य था।

नाम में ही लक्षण कहने वाले कविराजा जी ने वक्रोक्ति-अलंकार के नामार्थ की स्पष्टता इस प्रकार की है—

"वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल और इसके पर्याय हैं—बांका, टेढ़ा इत्यादि तथा वक्रोक्ति-नाम की व्युत्पत्ति है—'वक्री कृता उक्ति', बांकी की हुई उक्ति। उक्ति का बांका करना तो पर की उक्ति का ही हो सकता है।... .वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होता है, परंतु वह गौण रहता है।"

इतना लिख कर कविराजा आगे फिर लिखते हैं—

"बक्र-करन पर-उक्ति कों, नृप बक्रोक्ति-निहार।
स्वर-बिकार स्लेषादि सों, होत जु बहुत प्रकार॥"

अतः कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ यह जो लिखा कि 'उक्ति का बांका करना तो पर की-उक्ति का ही होता है', 'यह अर्थ वक्रोक्ति के अक्षरों से, कहां और कैसे निकलता है, समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त—स्वर-विकार और श्लेषादि अर्थ भी वक्रोक्ति-शब्द के अक्षरों से नहीं निकलता है और उनका यह कहना भी कि वक्रोक्ति, 'पर' अर्थात् अन्य की उक्ति की ही की जा सकती है', सर्वथा मिथ्या-प्रलाप है। क्योंकि वक्रोक्ति स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में भी कर सकता है, जैसे—

"चीराणि किं पथि न संति दिशंति भिक्षाम्,
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्य शुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किम जितोऽवति नोपसन्नान्—
कस्माद्भजंति कवयो घनदुर्मदान्धान्॥

—श्रीमद्भागवत, २।२।५,

उक्त पद्य में श्री शुकदेवजी ने अपनी ही उक्ति में वक्रोक्ति की है। उन्होंने कहा है कि क्या मार्ग में चिथड़े (फटे वस्त्र) नहीं मिलते? क्या वृक्ष फल नहीं देते? क्या नदियों का जल सूख गया है? क्या रहने के लिये गिरि-कंदराएँ बंद हो गई हैं? क्या शरणागतों की भगवान् रक्षा नहीं करते? अतः फिर विद्वज्जन धन-मदांधों की क्यों इच्छा करते हैं। किंतु काकु-उक्ति-द्वारा इसका यह अर्थ होता है कि 'पहनने के लिये मार्ग में वस्त्र अवश्य ही मिल सकते हैं, भोजन के लिये वृक्षों में फल भी हैं, पीने के लिये नदियों में जल भी प्रस्तुत है, रहने के लिये गिरि-गुहाएँ भी हैं और शरणार्थियों की भगवान् रक्षा भी अवश्य करते हैं, इसलिए विद्वज्जनों को धन-मदांधों से किसी वस्तु की इच्छा न करनी चाहिये।' यहाँ वक्रोक्ति होते हुए भी वक्रोक्ति-अलंकार नहीं है। क्योंकि प्राचीनाचार्यों ने वक्रोक्ति-अलंकार को वक्ता की उक्ति का किसी अन्य व्यक्ति-द्वारा अन्यार्थ कल्पित किये जाने में ही उसे सीमाबद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में वक्रोक्ति करता है, वहाँ वक्रोक्ति-अलंकार न होकर 'काक्वाक्षिप्त-गुणीभूतव्यंग्य' अथवा अवस्था विशेष में 'काकु-ध्वनि' काव्य होता है। वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार तो पर तथा वक्ता की स्व-उक्ति दोनों-ही ग्रहण की जा सकती हैं। इसीलिए अगत्या कविराजा जी को भी वक्रोक्ति के नाम के अक्षरों में संभव न होने पर भी—'पर की उक्ति' जैसा वाक्य अधिक जोड़ना पड़ा है। कविराजा का 'नामार्थ में ही लक्षण है'—वाला सिद्धांत तो तभी सिद्ध हो सकता था जब कि वे ऊपर से कुछ भी अधिक न कह केवल वक्रोक्ति के

अक्षरार्थ में ही वक्रोक्ति-अलंकार का सर्वांगपूर्ण लक्षण स्पष्ट करके दिखलाते। अतएव कविराजाजी के 'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धांत में अतिव्याप्ति-दोष अनिवार्य रूप से आ गया है। ऐसी अवस्था में उनकी यह गर्वोक्ति कि—'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धांत में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति-दोष नहीं हो सकता', मन-मोदकों का आस्वाद मात्र है। आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में कविराजा जी ने केवल प्राचीन साहित्याचार्य महामुनि भरतादि महानुभावों पर ही नहीं, भगवान् श्री वेदव्यास जी पर भी आक्षेप किया है, उसी लक्षण-निर्माण के सुगम-पथ का स्वयं उन्होंने भी अनुसरण किया है। यहाँ तक कि आप ने अलंकारों के लक्षणों के लिये जो भी भाषा-छंद निर्माण किये हैं, वे प्रायः संस्कृत-साहित्य-ग्रंथों में कथित लक्षणों का कोरा—नीरस अनुवाद मात्र है।

सत्य तो यह है कि अलंकारों के स्वरूप समझने-समझाने के लिये महानुभाव प्राचीन साहित्याचार्यों ने जो बात लक्षणात्मक कारिका या सूत्र-द्वारा संक्षेप में कह दी है, उसे समझाने के लिए कविराजा जी ने कोषादि के अनेक प्रमाणों-द्वारा अत्यंत विस्तार के साथ बड़ी कष्ट-कल्पनाएँ एवं अनुपयुक्त खेंचातानी करने के बाद भी वे अपने सिद्धांत की स्थापना करने में तनिक भी सफल नहीं हो सके हैं। अंततोगत्वा उन्हें भी प्राचीन-आचार्यों का ही अनुसरण करना पड़ा है। ऐसी अवस्था में उनकी इस गर्वोक्ति का मूल्य क्या हो सकता है—

"भोज-समैं निकसी नहीं, भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवँत-समैं, भए भाग अनुकूल॥"

यही नहीं, इसी नामार्थ में लक्षण के सिद्धांत-रूप चक्र में भ्रमित होकर आप ने बहुत से स्वतंत्र अलंकारों को दूसरे-दूसरे अलंकारों में समावेश कर दिया है, जिसकी आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा है। साहित्य-विद्वानों के लिये उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है।"

श्री पोद्दारजी के 'सत्यं शिवं सुंदरं' रूप रस, अलंकार, हिंदी मेघदूत-विमर्श, संस्कृत-साहित्य का इतिहास-आदि और आलोचना के गहन विचार-युक्त अवतरण उनके शब्दों में ही दिये हैं, ये उनके गहरे साहित्य-परिशीलन की एक झलक मात्र हैं। इस से अधिक उन्हें निरखने-परखने के लिये उनके ही वे शब्द पर्याप्त हैं, जो उन्होंने इस लेख के अंत में दिये हैं—

"......आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा है। साहित्य-विद्वानों के लिये उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है।"

॥ श्रीः ॥

सेठजी के साहित्यिक लेखों की सूची

शीर्षक	पत्रिका,	वर्ष,	संख्या,	पृष्ठ,	
१. महाकवि भारवि,	सरस्वती	१९००	जनवरी	२१३-२१६	
२. महाकवि माघ,	सरस्वती	१९०६	जनवरी	२८७-२९६	
३. हिंदुस्थान का वस्त्र-व्यवसाय,	सरस्वती	१९१४	जून	३१८	
४. व्यंग्यार्थ-मंजूषा (आलोचना)	माधुरी	१९२८	अप्रैल	३१३-३१८	हितैषी के नाममें।
५. काव्य-प्रभाकर (आलोचना)	माधुरी	१९२८	अगस्त	५४-६२	
६. काव्य-प्रभाकर (आलोचना)	माधुरी	१९२८	अगस्त	८३२-८३७	
७. हिंदी-काव्य में नवरस,	माधुरी	१९२८		१०-१५	
८. "दीनजी" की अलंकार-मंजूषा,	माधुरी	१९२८	अगस्त	९०-९९	भूदेव शर्मा विद्यालंकार के नाममें।
९. अलंकार-पीयूष (आलोचना)	माधुरी	वर्ष ८	खंड २ संख्या ३	२९०-२९५	
१०. अलंकार-पीयूष (आलोचना)	माधुरी	वर्ष ८	खंड २ संख्या ५	५८६-५९२	
११. विद्यापति ठाकुर का एक पद्य,	माधुरी	१९३३	वैशाख सं० १९९० वि०	५१०-५१२	
१२. महाभारत,	माधुरी	१९३३	श्रावण वर्ष ११ खंड १ संख्या १	५१-५७	
१३. साकेत और रामचरित-मानस,	माधुरी	१९३६	मार्च	१७७-१८०	
१४. अलंकारों का क्रम विकास,	माधुरी	१९३६	अगस्त	३-१२	
१५. महाकवि कालिदास और दिङ्नाग,	माधुरी	१९३७	जुलाई	८६४-८६७	
१६. काव्य में अलंकार क्या पदार्थ हैं ?	सुधा	१९३७	अगस्त	५५-५९	
१७. काव्य में रस-अलंकार,	वीणा	१९३७	सितंबर	८३५-८३८	भाद्रपद १९९४
१८. लुप्तोपमा और असम,	सुधा	१९३९	सितंबर	२२५-२३०	
१९. शब्दार्थ-साम्य अथवा शब्दापहरण,	माधुरी	१९३९	अगस्त	४७-५१	
२०. असम और लुप्तोपमा,	मराल	१९३९	दिसंबर	७ संख्या २२	
२१. 'विभावना' अलंकार,	माधुरी	१९४२	अगस्त	७४-७८	
२२. श्लेष अलंकार और उसकी व्यापकता,	वीणा	१९४३	मई	२६३-२६८	
२३. तुलसीकृत रामायण की आलोचना,	सरस्वती	१९४३	जनवरी	१९३-१९८	पौष १९९९
२४. रामायण में इतिहास,	सिद्धांत	१९४३	सितंबर २८	१६७-१६८	
२५. तुलसीकृत रामायण और वाजपेयीजी,	सिद्धांत	१९४३	नवंबर २	२०७-२०८	
२६. क्या विभावना अलंकार असंकीर्ण है ?	माधुरी	१९४५	मई	४६८-४६९	
२७. विभावना अलंकार,	माधुरी	१९४५	अक्टूबर	२४३-२४४	
२८. श्री विद्याभास्करजी की मृत विभावना,	माधुरी	१९४६	जनवरी	४७९-४८५	
२९. काव्य-कल्पद्रुम और विद्याभास्करजी,	माधुरी	१९४७	फरवरी	५२-५५	
३०. श्री विद्याभास्करजी का काव्य सर्वस्व,	माधुरी	१९४७	मई	३९९-४०२	

साहित्य

साहित्य

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्—
जगद्ग्राव प्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्य प्रसर सुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयनात् ॥
—अभिनवगुप्ताचार्य,

कीरत भनति भूति भलि सोई ।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥
—गोस्वामि तुलसीदास,

शौरसेनी भाषा की प्राचीन परंपरा

श्री सुनीतकुमार चाटुर्ज्या

भाषा के विषय में आज हम अनिश्चितता की कुहेलिका में नहीं हैं। जो अपरिहार्य और अवश्यंभावी था, उसे हमारे राष्ट्र-परिचालकों ने मान लिया है। हर्ष है कि अब आगे से भाषा के विषय में समस्त विवाद, विचार-वितंडा, तर्कजाल भारतीय जनता को और विभ्रांत नहीं कर सकेंगे। निखिल-भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिंदी प्रतिष्ठित हो गई है। जिस ओर प्रकृति की गति थी, वहाँ रुकावट की आकांक्षा और चेष्टा व्यर्थ हो गई है। आदर्श की प्रतिष्ठा हो गई है, एवं आदर्श -विपर्यय के डर से हम मुक्त हो गए हैं। अब हिंदी-हिंदुस्तानीवाली लड़ाई मिट गई है। पर समस्या का अंत नहीं हुआ है। जीवन तो रणांगनों की समष्टि है। नई समस्याएँ हमारे दृष्टिपथ पर आ खड़ी हुई हैं। इन्हें भी हल करना हमारा महान् कर्तव्य होगा।

राष्ट्र-परिचालकों ने इस समय हिंदी को जो मर्यादा दी है, वह उसके अपने अधिकार की की स्वीकृति ही है। यह मर्यादा बहुत पहले ही हिंदी को मिलनी चाहिए थी। हिंदी का आधुनिक महत्त्व केवल इन दिनों के प्रचार का फल नहीं है। हिंदी की आंतःप्रादेशिकता कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों का फल है। इस समय जिनके द्वारा अपनी शिक्षा तथा बाहरी जीवन के क्षेत्रों में हिंदी व्यवहृत की जाती है, उनकी संख्या कोई चौदह करोड़ से कम नहीं होगी। भारतवर्ष में इन चौदह करोड़ मनुष्यों को लेकर इस विशाल देश का 'हिंदी-संसार' बना है। पर यह भी विचारणीय है कि इन चौदह करोड़ों में पाँच करोड़ से अधिक लोग हिंदी को अपनी मातृभाषा के रूप में घरेलू बोली के तौर पर नहीं बोलते। अधिक से अधिक पाँच करोड़ मनुष्य उन बोलियों को (जिन्हें शास्त्रीय दृष्टि से हम 'पछाँही हिंदी' बोलते हैं और जो हिंदी की जड़ हैं) मातृभाषा के रूप में बोलते हैं, जैसे— दिल्ली की खड़ी बोली, मेरठ-रोहिलखंड आदि स्थानों की 'जानपद हिंदी', बाँगड़ (जाटू या हरियानी), ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली। इन सबों के लिए हिंदी अपने पितृ-पुरुषों से प्राप्त 'मिरास' या 'रिक्थ' है। इनके अतिरिक्त 'हिंदी-संसार' के अवशिष्ट नौ करोड़ लोग घर में और भाषाएँ बोलते हैं, जैसे हिंदकी पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, विभिन्न राजस्थानी बोलियाँ तथा मालवी, कोसली या पूर्वी हिंदी, भोजपुरी, सदानी या छोटा नागपुरिया, मगही और मैथिली। परंतु हिंदी को इन्होंने अपनाया है, हिंदी के सिवा इस समय इनका ध्यान और दूसरी किसी भाषा या बोली पर नहीं है। हम जो 'हिंदी-संसार' के साथ अंतरंग नहीं बने, पर हिंदी से जिनका सहयोग और साहचर्य घनिष्ठ रूप से है— अर्थात् गुजराती, मराठी, उड़िया, बँगला, आसामी आदि स्वतंत्र भाषाओं के बोलनेवाले उनके लिए ऐसी परिस्थिति कुछ आश्चर्यजनक है। पर यह बात पृथ्वी में कोई नई या असाधारण नहीं है। भाषा मुख्यतः संस्कृति का प्रकाश-क्षेत्र है। सांस्कृतिक संयोग या प्रभाव के कारण पड़ोस की भाषा का असर अक्सर किसी भाषा पर आ पड़ता है, खास करके जहाँ के शिक्षित लोग अपनी मातृभाषा के संबंध में उदासीन रहते हैं, या एक या एकाधिक ऐतिहासिक कारणों से जहाँ के जन-समाज के परिचालक-स्वरूप उच्च वंश के मनुष्य अपनी खास प्रांतीय जनता की भाषा छोड़ कर और किसी नजदीक की भाषा की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे हिंदी के दो रूप ब्रजभाषा और खड़ीबोली का गहरा प्रभाव पंजाब तथा राजस्थान एवं पूरब अर्थात् कोसल की बोलियों और बिहार-प्रांत की बोलियों पर आ गया है, यहाँ तक कि

इन सब जगहों के लोगों ने हिंदी को साग्रह अपना लिया है। यह सांप्रतिक इतिहास है। अस्तु, इतिहास जो हो सो हो, पर यह बात है कि पंजाबी (कुछ सिक्ख पंडितों की बात छोड़ कर), राजस्थानी, कोसली, गढ़वाली, कुमाऊँनी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि भाषाओं के बोलनेवाले बड़े अभिमान के साथ अपने को हिंदी-भाषी कहते हैं, और पछाहीं हिंदी बोलनेवालों से भी ज्यादा जोश के साथ हिंदी की सेवा में आत्म-नियोजित हुए हैं। यह तो सच ही है कि हिंदी के प्रसार के लिए भोजपुरी, मैथिली, मगही और कोसली बोलनेवालों ने, राजस्थानी और पंजाबी बोलनेवालों ने, जो अनमोल काम किया है, वह आधुनिक भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक बड़ी भारी लक्षणीय वस्तु है।

हिंदी-संसार के अलावा—अर्थात् पछाँही हिंदीवालों और उनके साथ ही हिंदी को अपनाए हुए लोगों के अलावा भारत के 'आर्य-संसार' या आर्य-भाषी जनों की संख्या बारह करोड़ होगी। 'हिंदी-संसार' के चौदह करोड़ और गैरहिंदी आर्य-भाषियों के बारह करोड़, सबसे से छब्बीस करोड़ सदस्यों में हिंदी भाषा किसी न किसी रूप में चालू है। हिंदी-संसार के बाहर के आर्य-भाषी लोगों की स्वाभाविक और सहज आंतः-प्रादेशिक भाषा हिंदी ही है। भारत के छब्बीस करोड़ आर्य-भाषियों में (जो समग्र भारत की जनसंख्या के तिहत्तर प्रतिशत होते हैं) हिंदी की प्रतिष्ठा है। संख्या के विचार से हिंदी पृथ्वी की तो तीसरी भाषा है। उत्तरी चीनी और अंग्रेजी इन दोनों के बाद हिंदी का स्थान है। हिंदी के पीछे हमें इन भाषाओं को मानना पड़ेगा—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, बंगला और फ्रांसीसी। संस्कृति की दृष्टि से फ्रांसीसी की जो मर्यादा है, वह आधुनिक जगत् में न रूसी की है, न चीनी की और न हिंदी की। पर इसे संस्कृति-वाहिनी, आधुनिक भाषाओं में एक मुख्य भाषा बनाने की ज़िम्मेदारी हम भारतीयों की ही है, क्योंकि आधुनिक भारत की यह भाषा अपनी संख्या और अपने खास वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभू-स्थानीय भाषा बनी है। इसे अपने बहुल प्रचार के कारण तथा सहज-बोधता के कारण हम 'समानासु प्रथमा' मानते हैं।

हिंदी भारतीय जनता के कल्याण के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्तर-भारत को छोड़ दीजिए। द्राविड़-भाषी दक्षिण-भारत की आम जनता के कुछ लोग शहरों में अंग्रेजी बोल लेते हैं, यह सच है, परंतु उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाओं में यदि कोई भी भाषा सब से अधिक लोगों की समझ में आती है, तो वह हिंदी ही है। निखिल भारतीय जनों के लिए जो तीर्थ-स्थान बने हैं, ऐसे मंदिर या क्षेत्र—जैसे तिरुपति या बालाजी, मदुरा, श्रीरंगम्, सेतुबंध रामेश्वर, कन्याकुमारी, तिरुव्-अनंतपुरम्, मैसूर, श्रवण-बेलगोला इत्यादि स्थानों में हिंदी बोलनेवाले पंडे, दुकानदार, व्यापारी, होटल-वाले आदि बहुत से मिलेंगे। भारत के दूसरे अनार्यभाषी लोगों में भी हिंदी का ही प्रचार दिखाई देता है। अपने देश से प्रेम रखनेवाले, जो भारतीय राष्ट्र को एक और अखंड मानते हैं, वे अवश्य स्वीकार करेंगे कि हमारी राष्ट्रीय, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक एकता के लिए हिंदी भाषा एक बड़े भारी कार्य का साधन है—यहाँ तक कि मैं इस खंड, छिन्न और विक्षिप्त देश में तो, संस्कृत के बाद हिंदी को ही ईश्वर के आशीर्वाद-स्वरूप मानता हूँ। हमारे इस विराट् विशाल देश में—जो अपने आयतन में रूस को छोड़ कर सारे योरप-खंड के समान है और जहाँ एक दर्जन से अधिक बड़ी-बड़ी भाषाएँ चालू हैं, और विरोधी मनोवृत्ति तथा भारत-विरोधी जनों के कथनानुसार जहाँ कई सौ भाषाएँ और उप-भाषाएँ चालू हैं—वहाँ हिंदी ही के द्वारा हमें भाषा-संकट से छुटकारा मिल गया है। इंग्लैण्ड और फ्रांस में केवल ३० मील की इंग्लिश चैनल का व्यवधान 'डोवर' और 'कैले' बंदरगाहों का अंतर है; पर अंग्रेज जब इंग्लैण्ड से फ्रांस आता है तब वह दुस्तर भाषा-संकट में पड़ जाता है। फिर कई मीलों के बाद पच्छिमी बेलजियम में फ्लेमिश भाषा मिलती है, और इधर जर्मनी, जहाँ की भाषा फ्रांसीसी से भी एकदम अलग है। जिसे अच्छी तरह से इन तीन-चार भाषाओं का ज्ञान न हो, उनके लिए योरप की सैर में बड़ी दिक्कत होती है। पर हमारे भारत में—विशेषतः उत्तर-भारत में—भाषा की चिंता हमें नहीं होती। कोई बँगाली बंबई आवे, या कोई सिंधी, गुजरात, महाराष्ट्र या

आसाम तक जाय, तो वह कभी भी भाषा के संबंध में सोचता ही नहीं। टूटी-फूटी बाजारू हिंदी के सहारे हम कश्मीर और पेशावर तक आसानी से काम चला सकते हैं। अखिल-भारतीय राष्ट्रीय एकता का एक मुख्य प्रतीक हमारी हिंदी भाषा है। इस विचार को हमारे देश के लोगों ने निःशब्द भाव से मान लिया है कि जो केवल अपनी प्रांतिक भाषा जानता है, वह प्रादेशिक और सीमित रह जाता है, और जिसका हिंदी से परिचय है, वह सचमुच निखिल-भारतीय बन जाता है।

हिंदी के इस सर्वजन-स्वीकृत अखिल-भारत-व्यापी प्रभाव का ऐतिहासिक कारण क्या है? हिंदी का अपना देश है—आधुनिक पूर्वी पंजाब और पश्चिमी संयुक्त या उत्तर-प्रदेश। इस स्थान का प्राचीन नाम है 'मध्यदेश'। कुरु-पांचाल राष्ट्र या कुरुक्षेत्र-मंडल यह तो इस मध्यप्रदेश का ही एक अंश है। ईसा के जन्म के पूर्व की पहली सहस्राब्दी के आरंभ में मध्यप्रदेश आर्यभाषामय भारत का केंद्र था। इसके पूर्व में थे 'प्राच्य' या पूरब के देश, कोसल या अवध, काशी या भोजपुर–प्रदेश, विदेह या उत्तर-बिहार, और मगध अर्थात् मगही-भाषा का प्रांत; पश्चिम और उत्तर में था 'उदीच्य' देश—मद्र या उत्तर-पंजाब, कैकय और गांधार या पश्चिम-पंजाब; और दक्षिण में थी राजपूताने की मरुभूमि। इस मध्यदेश को, जो भारतीय आर्य तथा आर्य-पूर्व (द्राविड़, निषाद और किरात) जातियों के सांस्कृतिक मिश्रण का केंद्र था, हम हिंदू-ब्राह्मण सभ्यता का भी केंद्र या जन्मभूमि कह सकते हैं। इसी प्रांत में ईसा के जन्म के पूर्व लगभग दसवीं शती में मिश्र-आर्यानार्य संस्कृति ने अपना विशिष्ट रूप प्राप्त किया था। इसलिए इस देश का एक खास महत्त्व सबों ने माना है। इसी स्थान पर महर्षि वेदव्यास ने ब्राह्मणों के मुंह से सुने गए चार वेदों की संहिताओं का संग्रह किया था और आर्यों तथा भाषा के अनुसार द्राविड़, निषाद, किरात आदि अनार्यों की पुराण-कहानी का संग्रथन करना शुरू किया था। इसी जगह पर श्री कृष्ण वासुदेव ने अपनी शिक्षा का प्रचार किया था, जिसमें हिंदू चिंता-धाराओं का एक महान् समन्वय सामने आया। 'निगम' अर्थात् वेद और 'आगम' अर्थात् वेद-बाह्य तंत्रादि शास्त्र, इन दोनों की उपासना-रीति अलग-अलग थी। वेद-मार्ग में अग्नि द्वारा हवन और देवताओं के उद्देश्य से पशुओं के मांस-मेदादि की आहुति दी जाती थी, और तंत्र या आगमिक मार्ग की पूजा-रीति में देवता की मूर्ति पर या दूसरे प्रतीक पर फूल, पत्ते, फल, चावल, पानी, खाद्य मिठाई (नैवेद्य) आदि चढ़ाए जाते थे। इन दोनों को एक साथ मिला देने की सार्थक चेष्टा कृष्ण वासुदेव ने ही की थी। भारतीय सभ्यता ने आर्यों के आगमन के बाद वेद, पुराण और गीता को लेकर, मध्यदेश ही में अपनी खास विशिष्टता प्राप्त की थी। मध्यदेश की संस्कृति अखिल आर्य प्रांतों की एकमात्र संस्कृति बनी और यहाँ के बौद्धिक नेताओं की विद्वत्ता, लोक-परिचालन-शक्ति प्रभृति गुणों के कारण यहाँ के लोगों की भाषा सभी आर्य-भाषियों के लिए एक प्रामाणिक भाषा मानी गई। केंद्रीय स्थान की भाषा होने के कारण दूर-दूर के प्रांतों के लोग इसे ही समझ सकते थे। पर इनमें एक प्रांत के लोग सुदूर प्रांतों की बोली समझने में कठिनाई अनुभव करते थे। पश्चिम-पंजाब या महाराष्ट्र के आर्य-भाषी लोग पूरब के बिहार-प्रांत के आर्य-भाषी की बोली को दुर्बोध्य समझते हैं, और वैसा अतीत में भी समझते थे; पर बीच की बोली होने के कारण मध्यदेश की बोली का सब कोई पीढ़ी-दर-पीढ़ी अच्छी रीति से उपयोग करते आए हैं और करते हैं। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के इतिहास के प्राथमिक या आरंभिक युग में इस मध्यदेश में प्रचलित संस्कृत भाषा ही हमारी सभ्यता या संस्कृति का अनमोल प्रकाश-स्तंभ या माध्यम बनी। पंजाब और मध्यदेश से यह नवीन हिंदू सभ्यता जब समग्र उत्तर-भारत में फैली, तब से संस्कृत भाषा इसका माध्यम या वाहन बनी। हिंदू-सभ्यता का वाहन और साथ ही इसका प्रतीक बन कर यह संस्कृत भाषा समग्र भारत भूमि पर फैल गई, और साथ ही मध्यदेश की यह भाषा यथा-संभव सब लोगों से अपनाई गई। पिछले काल में संस्कृत परिवर्तित होकर प्राकृतिक और अपभ्रंश में रूपांतरित हो गई। परंतु मध्यदेश की प्राकृत, जो संस्कृत का ही परिवर्तित रूप थी, संस्कृत की ही राह पर चली। बुद्धदेव के समय में, अर्थात् ईसा के पूर्व की सहस्राब्दी के मध्यभाग में, संस्कृत

जब (खास कर के प्राच्य देश या पूरब में) कुछ पुरानी और अप्रचलित होनेवाली हो गई, तब बौद्ध और जैन धर्म-नेताओं ने जनता की लोकभाषा प्राकृत को साहित्य की भाषा के रूप में अपनाया। इसका फल यह हुआ कि आम लोगों में चालू सौरसेनी या पूर्वी बोलियों में साहित्य-सर्जना का आरंभ हुआ। यों जैनों और बौद्धों के अपने-अपने धर्म-स्थापकों के उपदेश की भाषा पूर्वी प्राकृत में उच्च कोटि का दर्शन और विचार-मूलक साहित्य बन गया। महावीर स्वामी की जीवन-कथाओं और उनके उपदेशों के आधार पर जो लोकभाषामय नया साहित्य बन गया, वही भविष्य काल में कुछ परिवर्तित होकर हमारे सामने अंत में जैन अर्ध-मागधी साहित्य के रूप में विद्यमान है। यह जैन अर्धमागधी महावीर स्वामी के समय की पूरब की भाषा का उत्तर-कालीन कुछ-कुछ परिवर्तित निदर्शन है। बुद्धदेव ने तो साफ-साफ कह दिया था कि अपने उपदेश लोग अपनी-अपनी खास भाषाओं या बोलियों में सुनें। उनकी शिक्षा पहले-पहल मगध की बोली में ही दी गई थी। शिक्षापदों का पहला संग्रह इसी प्राच्य या पूरब की मागधी भाषा में हुआ था। पर तुरंत बुद्ध-वचनों के विभिन्न अनुवाद विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में होने लगे। निदान यह हुआ कि मूल बुद्धोपदेश, जो कि मागधी में सब से पहले लिपिबद्ध हुआ था, इस समय संपूर्णतया अवलुप्त हो गया है। पर इसके अस्तित्व के कुछ प्रमाण हमें मिलते हैं। इधर अशोक की धर्म-लिपि (इस अवलुप्त बुद्धवचन) से दो-चार वाक्य मिल गए हैं, उधर दूसरी प्राचीन शिला-लिपियों के कुछ शब्द और वाक्य तथा पालि में उपलब्ध बौद्धग्रंथों में कहीं पालि के अंतराल में उसके पहले की पूर्व प्राकृत में लिखे गए मूल-स्वरूप बौद्ध शास्त्र की भाषा के कुछ शब्द-रूप और दूसरे चिह्नावशेष मात्र मिले हैं। हमें अब पता चला है कि प्राचीन भारत में बुद्धवचन के कम से कम तीन अनुवाद हुए थे—एक पालि में, दूसरा बौद्ध संस्कृत में और तीसरा उदीच्य या उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित प्राकृत में (जिस प्राकृत को हम 'गांधारी' प्राकृत कह सकते हैं)। इन तीनों के अतिरिक्त प्राच्य भाषा में लिखा हुआ मूल बुद्धवचन या बौद्धशास्त्र तो था ही। उदीच्य की बोली में लिखी गई बुद्धवचन की पुस्तकें न केवल आजकल के पंजाब, कश्मीर और सीमांत-प्रदेश में चालू थीं, पर उन प्रांतों से सब मध्य-एशिया में भी फैल गई थीं, जहाँ उदीच्य के लोग भारतवर्ष से आर्य संस्कृति तथा भाषा लेकर कुस्तन (खोतन) आदि नगर बना कर बस गए थे। मध्य-एशिया के खंडहरों में से इस उदीच्य प्राकृत में लिखे हुए बौद्ध शास्त्र-ग्रंथों के कुछ अंश मिले हैं। उनसे इस लुप्त साहित्य की सूचना मिली है। संस्कृत में अनुवाद किए बौद्ध शास्त्रों का बहुत अंश नेपाल के बौद्धों ने बड़े ही यत्न के साथ संरक्षित किया है। वह हमें प्राप्त हुआ है। पालि-भाषा में जो अनुवाद हुआ था वह सिंहल के बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अबतक सुरक्षित होकर चला आया है। सिंहल से हीनयान मत के बौद्धों के शास्त्र के रूप में यह पालि-अनुवाद बर्मा, कंबोज और स्याम में लाया गया। वहाँ के भिक्षुओं में यह पालि-शास्त्र अब भी जीवित है। हीनयान मत के थेरवाद या स्थविरवाद संप्रदाय के बौद्ध लोगों ने भारतवर्ष ही में इस पालि अनुवाद को बनाया था। कब और कहाँ ? इसका स्थिर निश्चय अब तक नहीं हुआ। पर जहाँ तक हमें पता चला है, हमारा विचार यह है कि यह अनुवाद मध्यदेश की प्राकृत के बोलनेवाले बौद्ध गुरुओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। महाराज अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा का जन्म मालव-देश के एक प्रधान नगर विदिशा में हुआ था। उनकी माँ देवी नाम की सेठघर की बेटी अशोक से व्याही गई थी, जिस समय राजकुमार अशोक अपने पिता मौर्य सम्राट् बिंदुसार अमित्रघात के प्रतिनिधि बन कर मालव-सूबे का शासन करते थे। बचपन में राजघराने के ये दो भाई-बहन विदिशा में ही पालित हुए थे। वहाँ की बोली, जो मध्यदेश की ही प्राकृत थी, इनकी अपनी भाषा बनी। अपने पिता अशोक की घरेलू बोली उनसे दूर रहने के कारण इनकी बोली नहीं हो सकी। बुद्ध-वचन इन्होंने इसी मध्यदेश की भाषा में ही पढ़े; और जब बाद में अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए अपनी पुत्री और पुत्र को लंका द्वीप भेजा, तब ये जो बुद्धशास्त्र वहाँ से साथ लाए वह मध्यदेशीय प्राकृत ही में लिखा हुआ था। पिछले समय उनका नाम बना पालि। पर सिंहल के

भिक्षुओं का उत्तर-भारत की भाषा-विषयक हालत से कुछ भी परिचय नहीं था। वे जानते थे कि बुद्धदेव मगध के थे, और प्रांतीय मागधी प्राकृत में उपदेश किया करते थे। और मगध से मौर्य सम्राट् के द्वारा प्रेषित होकर मगध ही से शास्त्र लेकर जब राजघराने के प्रचारक आए, तो उनके लाए हुए शास्त्र की भाषा मागधी के सिवा और हो ही क्या सकती थी? यों तो गलती से सिंहल के पालि-शास्त्र की भाषा का 'मागधी' नाम हुआ, पर प्राकृत भाषा-तत्त्व की एक साधारण बात यह है कि पालि का मेलजोल उस मागधी प्राकृत से बिलकुल नहीं है, जिस मागधी प्राकृत के व्याकरण तथा कुछ निदर्शन मिले हैं। इसका सादृश्य पुरानी 'शौरसेनी' प्राकृत ही से है। अतः हम कह सकते हैं कि बौद्ध साहित्य की एक प्रौढ़ भाषा पालि मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी के प्राचीन रूप पर ही आधारित है। संस्कृत नाटकों से हमें पता चलता है कि ईसा के आसपास की शतियों में जितनी प्राकृत या आर्य लोक-भाषाएँ उत्तर-भारत में चालू थीं, उनमें शौरसेनी प्राकृत—यानी मध्यदेश के अंतर्गत शूरसेन या ब्रजमंडल की प्राकृत सब प्राकृतों में उन्नत, शिष्ट और भद्र मानी जाती थी। जहाँ नाटकों के पात्रों को अपने अभिजात्य के कारण संस्कृत ही में बोलना चाहिए था, वहाँ नारी या शिशु होने के कारण जिनसे संस्कृत बोली नहीं जाती थी, वे सहज रूप में शौरसेनी प्राकृत ही बोलते थे। ऐसे ही जब प्राकृत परिवर्तित होकर अपभ्रंश की अवस्था में आ पहुँची, तब भी हम देखते हैं कि और सब प्रांतीय अप-भ्रंशों का शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रंश के सामने कोई भी मर्यादापूर्ण स्थान नहीं था। लगभग ८०० ईस्वी से शुरू कर १२००-१३०० तक शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो 'नागर अपभ्रंश' भी कहलाने लगी, उत्तर भारत में एक विराट् साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश ही का स्थान उस समय था। विभिन्न प्रांतीय अपभ्रंश भाषाएँ थीं तो सही, पर उनमें साहित्य-सर्जना मानो नहीं होने के बराबर ही थी। चार-छः सौ वर्षों तक सिंधु-प्रदेश से पूर्वी-बंगाल तक और कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र और उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। राजपूत राजाओं का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है। पर मेरी राय में इससे उत्तर-भारत का एक साधारण भाषा-साम्य या भाषा-विषयक सहज-बोधता भी प्रमाणित होती है। शौरसेनी अपभ्रंश में सिंध, महाराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर, बिहार, और बंगाल तक के कवियों के पद और दूसरी कविताएँ मिली हैं। साथ ही किसी-किसी प्रांत में प्रांतीय भाषाओं की उत्पत्ति के समय इनमें भी स्थानीय कवि लोग रचना करते थे—जैसे बंगाल और मिथिला में। पछाँह-खंड में, जो कि शुद्ध हिंदी का अपना देश है, और मालव, राजस्थान तथा गुजरात में तो शौरसेनी अपभ्रंश की निजी भूमि ही थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि लगभग ८००-१००० ईस्वी में किसी उत्तर-भारतीय आर्यभाषी को यदि देशाटन करना और साथ-साथ साधारण जनों तथा शिष्ट जनों से मिलना होता था, तो संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी अपभ्रंश के सिवा उसका काम ही नहीं चलता था। यह सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों की आंतःप्रादेशिक भाषा ही थी और आजकल की ब्रजभाषा, खड़ी बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिंदी का उद्‌भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है। अब की तरह एक हज़ार वर्ष पहले हिंदी ही अपने पूर्व रूप में आंतःप्रादेशिक भाषा के रूप में अखिल उत्तर-भारत पर फैली थी और तमाम आर्य-भाषी लोगों में पढ़ी-पढ़ाई और लिखी जाती थी।

इस तरह मध्यदेश की ही भाषा सिलसिलेवार विभिन्न युगों में भारत की मुख्य राष्ट्रिक तथा सांस्कृतिक एवं एकमात्र आंतःप्रादेशिक भाषा (संस्कृत के बाद यह तो मानना ही है) बन कर चली आई है। इसका सांप्रतिक इतिहास और भी स्पष्ट है। यद्यपि बीच की कुछ बातें हमारे लिए व्यास-कूट या संशयमय बन रही हैं। विदेशी तुर्क लोगों ने मुसलमान-धर्म लेकर जब भारत पर चढ़ाई की और हिंदू-भारतीयों को हराकर उत्तर-भारत के राजा बने, तब उत्तर-भारतीय आधुनिक भाषाएँ अपने-अपने सूतिकागार में थीं। पंडितों में शिष्ट भाषा, ज्ञान-विज्ञान के लिए आंतःप्रादेशिक काम-काज की भाषा तो संस्कृत थी, पर जनता में शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रचलन था। शौरसेनी अपभ्रंश मौखिक

चालू बोलियों के मुकाबले कुछ प्राचीन भाव-ग्रस्त थी। फिर मुसलमान राज्य कायम होने का पहला फल यह हुआ कि राजपूत हिंदू-राजाओं की सभाओं में अपभ्रंश के लेखक और कवियों को जो पृष्ठ-पोषकता मिलती थी, मुसलमान सुल्तानों के दरबारों में वह खतम हो गई। उधर लोक-भाषाओं के प्रकट होने का समय आया। मुसलमान राज के पहले दो शती तक नवीन लोक-भाषाएँ बच्चों की तरह पद-स्खलन करती हुई आगे बढ़ीं। हिंदू-जनता और हिंदू-राजाओं को इन नवीन लोक-भाषाओं ने अपने वश में कर लिया। अपभ्रंश को अब ज्यादातर जैन संस्थाओं के पंडित और साधु लोगों के पास ही आश्रय मिला। पर धीरे-धीरे अपभ्रंश के दिन लद चुके थे। पंजाबी (पश्चिमी और पूर्वी), सिंधी, मारवाड़ी, गुजराती, ब्रजभाषा, कोसली (या बैसवाड़ी), मैथिली, बंगला, उड़िया, आसामी, मराठी आदि सब बोल-चाल में अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हुईं, और इनमें कुछ भाषाओं के लिए कवि लोग भी सचेत हुए एवं अपनी मातृभाषा समझ इन्हें भी प्रीति-भरी दृष्टि के साथ देखने लगे। जैसे बंगदेश के एक अज्ञातनामा कवि ने, जो सिर्फ 'बंगाल कवि' नाम से परिचित है, ईस्वी १२०० वर्ष से पहले ही अपनी मातृभाषा के संबंध में 'सदुक्तिकर्णामृत' नाम की श्लोक-संग्रह पुस्तक में जो सि. १२०५ ईस्वी के आस-पास बंगाल के अंतिम हिंदू राजा लक्ष्मण सेन की सभा में अवस्थित पंडित और अमात्य श्रीधर-दास द्वारा बनाई गई थी, यह कविता लिखी है—

"घनरसमयी गँभीरा वक्रिमसुभगोपजीविता कविभिः।
अवगाढ़ा च पुनीते गंगा बंगाल वाणी च ॥"

अर्थात् गंगा तथा बंगवाणी, इन दोनों में अवगाहन करने से ये मनुष्य को पवित्र कर देती है। गंगा प्रचुर जलमयी है, बंगभाषा नाना काव्य-रस से भरी है; गंगा गहरी नदी है, बंगभाषा अर्थ या भाव-गंभीर है; गंगा नदी टेढ़ी-बाँकी रीति से प्रवाहिता है, सुंदर है और कवियों के द्वारा वर्णित है, और बँगला भाषा में बाँकापन या सावलील सौंदर्य है—यह भाषा सुंदर है, बहुत से कवि लोगों ने इसमें लिखा है और अब भी लिखते हैं।

यों बँगला, मैथिली, उड़िया, कोसली, ब्रजभाषा तथा प्राचीन राजस्थानी-गुजराती और मराठी को साहित्यिक मर्यादा मिली; पर अपभ्रंश का पुराना स्थान रातों-रात नहीं मिटने का था। अखिल-भारत पर उसका प्रभाव चलता ही रहा। धीरे-धीरे मध्यदेश की दो भाषाएँ अपभ्रंश की वारिस बनीं—आगरा, मथुरा और ग्वालियर की ब्रजभाषा और दिल्ली की खड़ी बोली। बैसवाड़ी या कोसली को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला, जो भाषा मध्यदेश से संपर्कित अयोध्या में चालू थी। मध्ययुग के उत्तर-भारत के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा का स्थान सबको विदित है। ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला, नये आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया। उधर बंगाल से लेकर महाराष्ट्र और पश्चिम-पंजाब तक ब्रजभाषा कविता संगीत और राधा-कृष्ण-विषयक वैष्णव शास्त्र-ग्रंथों की भाषा बनी। बंगाल के कवियों की लिखी ब्रजभाषा कविता मिली है, जैसे शौरसेनी अपभ्रंश की। कवि भूषण ने अपनी ओजमयी ब्रजभाषा में महाराष्ट्र-कुल-भूषण हिंदू-तिलक श्री शिवराज की प्रशस्ति की, जो शिवाजी महाराज के लिए उद्दीपनामय अनुप्राणना बनी। मराठे 'पोवाड़ा' या युद्धगीत के लेखक लोग भी कभी-कभी ब्रजभाषा या दूसरी मध्यदेशीय भाषा का व्यवहार करते थे। सिक्ख गुरुओं के धर्मोपदेश की भाषा तो अपने मूल में ब्रज और खड़ी बोली ही है। उसमें जो पंजाबीपन दिखाई देता है, वह केवल स्थानीय भाषाओं के असर या प्रभाव के तौर पर। तुर्क और पठान सुलतानों के राज्यकाल में, दिल्ली में और उसके बाद अकबर बादशाह के समय में आगरे में जब मुसलमान सल्तनत की राजधानी प्रतिष्ठित हुई और आखिर जब दिल्ली फिर पायतख्त बनी, तब ब्रजभाषा और दिल्ली की खड़ी बोली, हिंदी के ये दो रूप उत्तर-भारत में फिर प्रतिष्ठित हुए। उधर ईस्वी १५ वीं शती में संत कबीरदास की रचनाओं में दिल्ली की खड़ी बोली को स्थान मिला, कभी शुद्ध रूप में, कभी ब्रजभाषा से मिले-जुले रूप में। दक्षिण-

भारत में हिंदी की ही एक शाखा ईस्वी १४ वीं शती से प्रतिष्ठित हुई और उसके सहारे १६वीं शती में दक्षिण में 'दकनी' या 'दखनी' भाषा और साहित्य की नींव डाली गई। फिर इसी दकनी के प्रभाव के कारण दिल्ली में १८ वीं शती के मध्य भाग में 'मुसलमानी हिंदी' या उर्दू की प्रतिष्ठा हुई। इसके बाद लगभग सन् १८०० में कलकत्ते में हिंदी-उर्दू दोनों ने आधुनिक उत्तर-भारत के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने स्थान बना लिये, और आजकल की 'साधु' या गद्यशैली की हिंदी का साहित्यिक प्रसार होने लगा। धीरे-धीरे शिक्षा के विस्तार के साथ ही साथ पछाँह के बाहर पंजाब, पूरबी राजस्थान, मालवा, बिहार, मध्य-प्रदेश आदि प्रांतों में एक विराट् नया 'हिंदी-संसार' १९ वीं शती के द्वितियार्द्ध से तैयार होने लगा।

हिंदी अब अपने प्रसार के कारण मध्यदेश की भाषा के गौरवमय इतिहास की नयें तौर पर उत्तराधिकारिणी बनी। मध्यदेश का प्राचीन गौरव और उस स्थान की आधुनिक भाषा की संख्या-भूयिष्ठता दोनों एकत्र हो गए। अखिल-भारत की अखंडता के सम्बन्ध में हमारे राजनीतिक तथा सांस्कृ--तिक नेता लोग बड़े जोर के साथ सोचने लगे—खास करके बंगाल के कुछ प्रख्यात बौद्धिक नेता। इन्होंने हिंदी को भी अखिल भारतीय ऐक्य के संगठन की दृष्टि से देखा, और भारत के आयंदा युग के इतिहास में हिंदी के स्थान और हिंदी द्वारा होनेवाली एकता बढ़ने की संभावना पर उन्होंने दूर-दृष्टिसंपन्न भविष्यवादी की नजर से देखा। यों ईस्वी सन् १८७५ में बंगाल में केशवचंद्र सेन ने अपने समाचार-पत्र में 'हिंदी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्र भाषा बनने के योग्य है', इस विषय पर निबंध लिखा। सन् १८७७ ई० में बंकिमचंद्र चाटुर्ज्या द्वारा संपादित "बंग दर्शन" पत्रिका में, राष्ट्रीय एक्य के क्षेत्र में हिंदी की उपयोगिता के विषय में निहायत अनुकूल एक लेख निकला था, जो निश्चित रूप से स्वयं बंकिमचंद्र का अनुमोदित था। गुजरात प्रांत से आए हुए महर्षि दयानंद सर-स्वती ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अपनी अनमोल सेवा कर श्रीगणेश इसी समय से कर दिया था;' जिसने पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान में बड़ा ही काम किया। १८०२ में राज नारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुखुर्ज्या ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने के लिए हिंदी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालत की। सन् १९०५ से जब बंगाल में बंग-भंग के बाद स्वदेशी आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता संग्राम की नींव पड़ी, उस समय कालीप्रसन्न 'काव्य-विशारद' जैसे कुछ बंगाली नेताओं ने हिंदी के पक्ष में प्रयत्न किया कि हिंदी के सहारे जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आकांक्षा फैलाई जाय। फिर १९२० के बाद गांधी जी राष्ट्र-संग्राम के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और हिंदी को उन्होंने भारत के राष्ट्रीय और आंतः-प्रादेशिक जीवन में फौरन अपना यथायोग्य स्थान दिया। कुछ वर्षों तक हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी मामले के कारण देश में आदर्श-विपर्यय आ गया। बहुत से लोग विभ्रांत हो गए पर अब अंत में यह आवर्त शांत हो गया और हिंदी अपने अधिकार से "समानासु प्रथमा" मानी ही गई है।

ऐसे भारत में आर्य भाषा के इतिहास की पर्यालोचना करते हुए हम देखते हैं कि हिंदी *कम से कम तीन हजार वर्षों की एक धारा—एक सिलसिले*—के अंत में आ रही है। हिंदी एक प्रवाह या परंपरागत वस्तु है, अचानक सामने आकर खड़ी हुई कोई नई चीज नहीं है। मध्यदेश की भाषा-परंपरा में निम्नलिखित धारा के अनुसार हिंदी को आंतःप्रादेशिकता की मर्यादा मिली है: (१) संस्कृत; (२) प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है 'पालि'; (३) शौरसेनी प्राकृत; (४) शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसी का रूप-भेद नागर अपभ्रंश; (५) राजस्थान की 'पिंगल' भाषा तथा पुरानी ब्रजभाषा; (६) मध्यकालीन ब्रजभाषा, ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली मिश्र शैली; (७) दकनी; (८) दिल्ली की खड़ी बोली; (९) आधुनिक नागरी हिंदी और उसका मुसलमानी रूप उर्दू, जिस उर्दू को अपनी स्वाभाविक गति मिलेगी—"सागरे मिलावत सागर-लहरी-समाना"—शुद्ध हिंदी ही के सागर में इस मुसलमानी हिंदी यानी उर्दू की लहर मिल जायगी।

यह तो हिंदी का बाहरी इतिहास है। भारत के गौरव के साथ ही साथ यह इतिहास और भी गौरवमय बनेगा। भारत के दो-तिहाई से अधिक लोगों में तो हिंदी किसी न किसी रूप में चालू है ही, पर समग्र भारतीय जनता के लिए भी हिंदी ही गृहीत होनेवाली है। अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्रनीति के क्षेत्र में भारत का महत्त्व बढ़ता जाता है। इसी के साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा का महत्त्व भी बढ़ेगा। विश्व-राष्ट्रसंघ में इस समय संसार की जो प्रमुख भाषाएं मानी गई हैं, वे पांच हैं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, हिस्पानी, रूसी और चीनी। हमारी राय में भाषा-भाषियों की संख्या के हिसाब से इनमें हिंदी को भी स्थान मिलना चाहिए। हमारा विश्वास है, एक दिन वह मिलेगा भी। परंतु इस दायित्वपूर्ण परिस्थिति के लिए हमें तैयार होना चाहिए।

यह सच है कि इस समय अहिंदी प्रांतों के लोगों के लिए, जिनमें बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू आदि साहित्य-समृद्ध भाषाएं चालू हैं, सिर्फ राष्ट्रीयकरण के सिवा अर्थात् राजनीतिक ऐक्य में सहायक होने के सिवा हिंदी के प्रति और कोई आकर्षण नहीं है। इनके लिए हिंदी अब तक संस्कृतिवाहिनी भाषा नहीं बन सकी। राजनीतिक आवश्यकता को छोड़ देने से बहुतेरे अहिंदी-भाषियों के विचार में हिंदी अनावश्यक है। हिंदी जिनकी मातृभाषा है, या जिन्होंने हिंदी को अपनाया है, उनको इस बात पर गौरव करना चाहिए। जिससे हमारी मानसिक और आत्मिक पुष्टि हो, रस-साहित्य के पर्याप्त परिमाण में नहीं होने से हिंदी लोकाकर्षक नहीं होगी। हम अहिंदी-प्रांतके लोगों का सहज अधिकार तो इस विषय में है नहीं, हिंदी हमारी पुर्व-पुरुषागत मिरास या रिक्थ तो है नहीं; अतएव अपनी-अपनी मातृ-भाषा छोड़ कर हिंदी में साहित्य सर्जना की शक्ति हमें मिलनी असाधारणतया कठिन होगी। पर हम मामूली तौर पर कुछ ज्ञान या विद्या तो यथाशक्ति हिंदी के माध्यम से परोस ही सकते हैं। हिंदी को सूचनात्मक साहित्य के योग्य भाषा बनाने के लिए कुछ जिम्मेदारी, कुछ अधिकार, कुछ शक्ति, हम अहिंदी बोलनेवालों में अवश्य है। यदि न हो, तो इसके लिए हमें योग्यता का अर्जन करना होगा। हमारे इस विषय पर दत्त-चित्त होने से अखिल-भारत का कल्याण ही होगा।

और एक बात है। आजकल अंग्रेजी के विरोध में कहीं-कहीं जनमत तैयार करने की कोशिश हो रही है। हमारी राय में यह मत भ्रांत और आत्मघाती है। हम कभी अंग्रेजी से संबंध तोड़ नहीं सकते, क्योंकि हमारे आधुनिक सांस्कृतिक मंदिर के जीवन में बाहर से हवा और रोशनी आने के लिए अंग्रेजी एकमात्र वातायन-पथ बनी है। इसे कभी रुद्ध नहीं करना चाहिए। अपनी भारतीय जाति की कई पीढ़ी-व्यापी अभिज्ञता के अनुसार सांस्कृतिक व्यापार के संबंध में, साहित्य-सर्जन के संबंध में, दृढ़-निश्चय होकर हम सलाह देते हैं कि हिंदी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को पुष्ट और सुसमृद्ध करना चाहो, तो अच्छी तरह से अंग्रेजी भी सीखो। एक साधारण अंतर्राष्ट्रीय मान या विचार-बोध, आधुनिक जगत् के लिए उपयोगी विश्व-मानवता, अंग्रेजी के सिवा हमें कहां मिलेगी? हमारे मध्ययुग के भक्त कवि और अनुभवी कवि जो थे, जैसे कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, स्वामी हरिदास, हितहरिवंश, अष्टछाप के अन्य कवि, हरीराम व्यास, चाचा वृंदावनदास, दाऊदयाल, मीराबाई, गुरु नानक, आनंदघन तथा हिंदी के अन्य दूसरे संत कवि लोग—उनकी बात छोड़ दीजिए; वे सदा के लिए आध्यात्मिक रस-पिपासु मानव के चित्त को पुलकित करते हुए जीवित रहेंगे। पर आजकल की बात दूसरी है। क्या अंग्रेजी जाने बिना रवींद्रनाथ और गांधी जी अपने प्रभाव को दूरगामी बना सकते थे? अंग्रेजी भाषा अब केवल अकेले अंग्रेजों की ही संपत्ति नहीं है। यह विश्व-सभ्यता का एकमात्र साधन, वाहन या माध्यम हो गई है। विश्व से हम बाहर नहीं हैं।

अखिल भारत के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय ऐक्य के लिए, अहिंदी-भाषियों के लिए जैसे हिंदी आवश्यक की जायगी, वैसे ही हिंदी-संसार के लिए भी उसके परिवर्त्तन में किसी एक प्रमुख भारतीय भाषा को अपने सुभीते या रुचि के मुताबिक चाहे वह मराठी हो, चाहे गुजराती, चाहे बँगला, चाहे

तेलगू, चाहे उड़िया, चाहे कन्नड़ अवश्य पढ़नी होगी। भावग्राही होकर, देश का सर्वांगीण कल्याण सोचकर सब को इस बात की युक्तिमत्ता पर ध्यान देना चाहिए। अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक भाषा अरबी की अरबों ने जिस उच्छ्वसित भाव से तारीफ की थी कि "अल्-हम्दु लिल्लाहि, अल्लधी खलक़-लू-लिसान-ल्-अरबिय्यह, अल्-लिसान-ल्-अह्‌ सन मिन् कुल्लि-ल्-अलसान्" अर्थात् ईश्वर की स्तुति इसलिए हो कि उन्होंने अरबी भाषा को बनाया, जो सब भाषाओं में सुंदरतम है, उसीके मुताविक हम भी कहेंगे—

"सर्वज्ञं तदहं वंदे परं ज्योतिस्तमोहपम्।
प्रवृत्ता यन्मुखाद् देवी सर्वभाषासरस्वती॥
आर्याणां भारतीयानां विश्वसंस्कृतिवाहिनी।
बहुरूपा च सा नित्या प्रत्ननूत्नप्रभेदतः॥
एतज्जातीयभाषासु सर्वास्तुल्यास्थाप्यसौ।
नव्या हैंदवी भाषा स्याद् राष्ट्रैक्यवर्धनी॥"

पाँच प्राचीन-पद

श्रीभट्ट--(सं १३५२ वि०)

(राग-केदार)

ब्रज-भूमि मोंहनी में जाँनी ।
मोंहन कुंज, मोंहन बृंदावन, मोंहन जमुना-पाँनी ।।
मोंहन नारि सकल गोकुल की, बोलति मोंहन बाँनी ।
'श्रीभट' के प्रभु मोंहन नागर, मोंहन राधा-राँनी ।।

जाकौ मन बृंदा-बिपिन हरयौ ।
निरखि निकुंज पुंज-छबि राधे-कृष्ण-नाम उर धरयौ ।।
स्याँमा-स्याँम-सरूप-सरोवर - परि स्वारथ बिसरयौ ।
'श्रीभट' राधे-रसिकराइ तहँ सरबस दै निबरयौ ।।

हरिव्यासदेवाचार्य--(सं०--१३२० वि०)

(राग-बिहाग)

जगमगै चंद-बदन की जोति ।
अति सुंदर सोभा की सीमा लखि चकचोंधी होति ।।
पीतम के मुख-अंबुज-रस करि, चित्रिन अमित उदोति ।
लखि सुख 'श्रीहरि-प्रिया' हितू सखि, बारति है लर-मोति ।।

(राग-आनंदसिंधु)

हों कहा कहों, सुख-फूल-मई ।
फूलें फूल फबे सब बन में, तन-मन की सब सूल गई ।।
फूल बिसँन-बिबिसँन में फूले, छिति-अंबर में फूल छई ।
फूली लता, द्रुम, सरित,-सरँन में, खग, मृग सब ठाँ फूल ठई ।।
फूल निकुंज-निलय-निकरनि में, बरन-बरन में फूल नई ।
'श्रीहरि-प्रिया' निरखि नैंनन-छबि, फूलँन के उर फूल भई ।।

✓परसुरामदेव--(सं०--१४५० वि०)

(राग-बिहागरी)

मन श्री मोंहन के रंग रँग्यौ, सो न जात निचोरयौ ।
रंग तजें फीक्यौ परै, झाँसै झकझोरयौ ।।
हरि-सनमुख जब-हीं चल्यौ, तब मैं न बहोरयौ ।
हरि सों मिलि सरबसु दियौ, मोतें मुख-मोरयौ ।।
पलटि प्रान तहँ कौ भयौ, मोतें चित चोरयौ ।
हरि-आधीन कुरंग ज्यों, डोलत संग डोरयौ ।।
जतन-जतन करि प्रीति सों, पैहलें मैं जोरयौ ।
तापन-परसि प्रबल भयौ, टूटत नहिं तोरयौ ।।
मन, मो तन चितयौ नहीं, मैं हूँ न निहोरयौ ।
नैंन उभै सुख-सिंध त्यों, आवत न अहोरयौ ।।
एकमेक पिय-प्रेम सों, अंग-संग बुहोरयौ ।
'परसा' पै-पाती मिल्यौ, बिछुरत न बिछोरयौ ।।

भाषामणि ब्रजभाषा

श्री चंद्रबली पांडे

मुगल-दरबार के गवैये जिस भाषा को भाषामणि कह कर उसका गान करते थे और मुगल बादशाह भी जिसमें रचना कर अपने को धन्य समझते थे, उसी का अपकार अंगरेजी शासन में कैसे हो गया, यह विचार करने की बात है। इसकी सच्ची जानकारी के बिना हमारी आँख नहीं खुल सकती और न हम अपनी राष्ट्रभाषा का मर्म ही इसके अभाव में पा सकते हैं। कहने को तो ब्रिटिश शासन की छाया में रहते हुए श्री लल्लूजी लालने भी अपनी 'लालचंद्रिका' की भूमिका में लिख दिया—

पौरुष कविता त्रिबिध हैं, कवि सब कहत बखानि।
प्रथम देवबानी बहुरि, प्राकृत भाषा जानि॥
देस-भेद लें होति सो, भाषा बहुत प्रकार।
बरनत हैं तिन सबनि में, ग्वारियरी रस सार॥
ब्रजभाषा भावत सकल, सुरबानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महा रस-मूल॥

किंतु स्वयं 'फोर्ट विलियम' में रह कर किया यह कि 'ब्रजभाषा' को 'रेखता' में ढालने लगे। सुनिये, उन्हीं का कहना है—

"एक दिन साहिब ने कहा कि 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली में कहो? मैंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखने वाला दीजे, तौ भली-भाँति लिखी जाय।' उन्होंने दो शाइर मेरे तैनाथ किये, मजहर अली खान विला औ मिरजा कामज अली जवाँ। एक बरष में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया।"

'ब्रजभाषा' के ग्रंथों का अनुवाद 'रेखते की बोली' में न होना तो आगे चल कर क्या होता इसे कौन नहीं जानता? निश्चय ही ब्रजभाषा ही आज हमारी राष्ट्रभाषा होती और फलतः देश में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का कोई कांड भी नहीं उठता। शासन की सुविधा अथवा कूटनीति के चक्कर में पिस कर ब्रजभाषा कैसे पीछे छूट गई और उसकी उपजीवी 'रेखता' उर्दू तथा 'हिंदुस्तानी' के रूप में आगे बढ़ निकली, यह इतिहास की बात ठहरी। किंतु कृतज्ञ रहिए 'डाकतर गिलकिरिस्त साहिब' के कि उन्होंने ब्रजभाषा को भी कुछ सहारा दिया। कारण स्वयं श्री लल्लूजी लाल का लेख है—

"संबत् १८५७ में आजीविका कंपनी के कालेज में स्थित हुई। इसे उन्नीस बरष हुए। इसमें जो पोथियाँ ब्रजभाषा औ खड़ी बोली और रेखते की बनाईं सो सब प्रसिद्ध हैं।"

श्री लल्लूजी लाल ने 'लालचंद्रिका' की भूमिका में अपना जो यह परिचय दिया है वह बड़े महत्त्व का है। कारण हम देखते हैं कि 'ब्रजभाषा' जब तक मैदान में रही 'खड़ी बोली' से उसका द्वंद्व चलता रहा, और जब राजाश्रयहीनता के कारण वह पीछे छूट गई तब 'खड़ी बोली' और 'हिंदुस्तानी' का झगड़ा छिड़ गया। मानो श्री लल्लूजी लाल को इसी 'तिकड़म' के हेतु फोर्ट विलियम कालेज में चाकरी मिली थी। जो हो, साहिबों ने आगे चलकर 'ब्रजभाषा' का सर्वथा बहिष्कार कर दिया और धीरे-धीरे वह कविता के क्षेत्र से भी ओझल हो गई। सोचिये तो सही, कहाँ श्री लल्लूजी लाल ने उल्लास में आप ही लिखा था—

ब्रजभाषा भावत सकल सुरबाँनी सम तूल ।

कहाँ स्थिति यह हो गई कि 'भाखा' करके उसकी अवहेलना होने लगी और—

ताहि बखानत सकल कवि जानि महा रस मूल ।।

के स्थान पर ब्रजवासी भी उसके बखान में मुँह मोड़ने लगे । उसके अंतिम नाट्य का विषाद है—

बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देस में ।
अटक कटक पर्यंत कहिय भारत असेस में ।।
एक राष्ट्र भाषा की त्रुटि जो पूरत आई ।
इतने दिन सों करति रही तुम्हरी सिवकाई ।।
सत समरथ कवियनु की कविता प्रमान जामें ।
निरखहु नैन उघारि कहाँ लौं सबनु गिनामें ।।
इकदिन जो माधुर्य कांतिमय सुखद सुहाई ।
मंजु मनोरम मूरति जाकी जग जिय भाई ।।
देखत तुम निहचिंत जात ताके अब प्राना ।
अभागिनी सोकारत कहहु को तासु समाना ।।
लिखन रह्यौ इक ओर तासु पढ़िबौहू त्यागौ ।
माता सों मुख मोरि कहाँ तुव मन अनुराग्यौ ।।
सुभ राष्ट्रीय बिचारनु कौ जब पुन्य-प्रचारा ।
कैसौ याके संग कियौ तुम्हनें उपकारा !!
रह्यौ बनावनु याहि राष्ट्रभाषा इक ओरी ।
उलटौ जासु अनिष्ट करन लागे बरजोरी ।।
या जीवन-संग्राम माहिं पावत सहाय सब ।
नाम लैन हूं तज्यौ किंतु तुम्हनें याकौ अब ।।
क्यों यासों मन फिरयौ कृपा करि कछुक जतावौ ।
बृथाँ आत्मा या ब्रजभाषा की न सतावौ ।।
जिनके तुम बस परे अहहिं ते सकल बिमाता ।
ब्रजभाषा ही सुद्ध संस्कृत साँची माता ।।

कविरत्न श्री सत्यनारायणजी का यह विषाद कितना साधु है इसके विवाद में हम नहीं पड़ते, पर प्रसंगवश 'विमाता' के प्रसंग में इतना कह ही देते हैं कि समय पर सचेत न होने का परिणाम है 'विमाता' के हठ से देश का विभाजन ! पाकिस्तान !! कौन नहीं जानता कि उर्दू बनी नहीं कि ब्रजभाषा पर वज्रपात हुआ, पर साथ ही इतना और कितने लोग जानते हैं कि उर्दू बनी ही क्यों । जो हो, उर्दू के अमर अदीब मौलाना 'आजाद' का अपनी प्रसिद्ध रचना 'आबे हयात' के आरंभ में ही कहना है—

"इतनी बात हर शख्श जानता है कि हमारी उर्दू जबान ब्रजभाषा से निकली है और ब्रजभाषा खास हिंदुस्तानी जबान है ।"

परंतु आज इस सब की जानी हुई बात को माननेवाले कितने हैं ? भाषामनीषी कुछ भी कहते रहें पर उर्दू का इतिहास साक्षी है इस कथन का कि उर्दू ब्रजभाषा पर से बनाई गई । 'आजाद' फिर भी अभी कल के प्राणी हैं । उनसे कितने दिन पहले मद्रास के बाबा बाकर 'आगाह' ने कहा था सन् १७९८ ई० में कि—

"और हिंदुस्तान मुद्दत लग जबान हिंदी कि उसे ब्रजभाखा बोलते हैं रिवाज रखती थी ।"
(मद्रास में उर्दू, इब्राहीमिया मशीन प्रेस. हैदराबाद, १९३८ ई०, पृ० ४६) तथा—

"पीछे मुहावरा ब्रज में अल्फ़ाज अरबी वो फ़ारसी बतदरीज दाखिल होने लगे और असलूब खास को खोलने लगे । सबब से इस ग्रामेजिश के यह ज़बान रेखता से मुसंमा हुई ।" (वही).

'रेखता' और 'उर्दू' के इतिहास में जाने से कोई लाभ नहीं । संक्षेप में कहना यहाँ यह है कि जब दिल्ली की अंजुमन में उर्दू का निर्माण हुआ तब—

"हिंद के मिरजाओं और फ़सीह सूफ़ियों की बोलचाल की भाषा को लिया गया । इसके अतिरिक्त चारों ओर की भाषा यहाँ तक कि हिंदी को जिसे 'भाखा' कहते हैं छोड़ दिया गया ।"

उर्दू के आदि उस्ताद शाह हातिम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दीवानज़ादा' की भूमिका में इसे स्पष्ट लिखा और खुल कर कह दिया कि अब 'उर्दू' अथवा मुगल दरबार में ब्रजभाषा का मान नहीं । अब तो वहाँ सत्कार है वहीं की बोली का । मुगल राजकुमारों और गहरे मज़हबी सूफियों की बानी का ।

उधर 'दरबार' में ब्रजभाषा की अवहेलना हुई तो उसके बाहर भी उसका मोल घटा, किंतु इसके ठीक पहले स्वयं दरबार की स्थिति यह थी कि भाषा में प्रमाण 'ब्रज' का ही माना जाता था । ध्यान देने की बात है कि धाकवाले खान आरज़ू,—जिनका निधन उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष श्री हातिम के 'दीवानज़ादा' का उदय, 'उर्दू की ज़बान' को प्रमाण नहीं मानते । उनके इस विचार को देख कर उर्दू के लोग विस्मय में पड़ जाते हैं । सुनिये, श्री हाफ़िज़ महमूद शेरानी साहब फरमाते हैं—

"इस सिलसिला में बाज़ वक्त उन्होंने मुसन्निफ़ पर चोटें भी की हैं । सबसे ज़यादा जिस बात से तग्राज्जुब होता है यह है कि खान देहली की ज़बान और उर्दू को भी वक़ग्रत की निगाह से नहीं देखते । उनके नज़दीक हिंदुस्तानी ज़बानों में सबसे ज़यादा शाइस्ता और मुहज्ज़ब ज़बान ग्वालियारी है ।"

श्री शेरानी साहब ने अपने लेख (ओरियंटल कालेज मैगज़ीन लाहौर नवंबर सन् १९३१ ई०) में अनेक अवतरण दिये हैं जिनसे समझ में आता है कि 'ग्वालियारी' और ब्रजभाषा में कोई ऐसा भेद नहीं कि दोनों को एक दूसरे से अलग माना जाय । श्री चिंतामणि का कथन है—

"जो न प्रयोगी सत कविन, भाषा काँची जाँन ।
मथुरा मंडल, ग्वालियर की परिपक्व बखाँन ।।"

'चिंतामणि' और 'खान आरज़ू' में कैसी एकता है ! कैसा था वह समय !! जी हाँ, तो पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इस जन ने सिद्ध कर दिया है कि सन् १७४४-४५ में कभी दिल्ली में 'उर्दू की ईजाद' हुई और इसके ११-१२ वर्ष बाद खान आरज़ू का निधन हुआ । अजब नहीं कि उनके निधन से ही हातिम को विशेष बल मिला हो और उन्होंने 'दीवानज़ादा' का निर्माण 'भाषा' के विनाश के लिये किया हो । जो हो, इस परिशीलन से इतना तो पक्का हो गया कि लगभग १७५० ई० के उर्दू से ब्रजभाषा को गहरा धक्का लगा और चलते-चलते सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम में पहुँच कर अँगरेजी शासन में वह चित्त हो गई । इसके पहले बंगाल में इसका कितना महत्त्व था, यह इसी से जाना जा सकता है कि वहाँ 'ब्रजबूली' का अलग साहित्य ही बन गया है । श्री सत्यनारायण जी कविरत्न ने ठीक ही तो कहा है—

"बरनन को करि सकत भला तिह भाषा-कोटी ।
मचलि, मचलि, माँगी जामें हरि माँखन-रोटी ।।"

पर विधि की विडंबना तो देखिये कि आज उसी रोटी के अभाव के कारण आज उसको कोई पूछता भी नहीं है । खोज के लोग भी 'खड़ी बोली' के ही खोजी बन रहे हैं । हा हंत !

किंतु एक दिन था कि अपनी महिमा के कारण ब्रजभाषा का सर्वत्र संमान था । यहाँ तक कि कट्टर औरंगजेब के शासन में उसके आदेश से राजकुमारों को सीखने के लिये उसका व्याकरण भी फारसी में रचा गया । उसके रचयिता मीरज़ा खां ने उसमें स्पष्ट कहा—

"ब्रजवासियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे—चंदवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चंदवार एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित प्रांत है। चूँकि इसी भाषा में प्रिय-प्रिया की प्रशंसा और सरस तथा अलंकृत कविता है। एवं यही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है, इसलिये इसके व्याकरण की रचना की जाती है।" (ए ग्रामर आव ब्रजभाषा, विश्वभारती, १९३५, पृ० ५८)

श्री मीरजां खां की इस गवाही के सामने श्री सत्यनारायण जी का यह कथन कितना साधु और सटीक ठहरता है—

"सुरपद बरन सुभाव, बिबिध रसमय अति उत्तम।
सुद्ध संस्कृत सुखद आत्मजा अभिनव अनुपम॥
देसकाल-अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥
ईस्वर मानव-प्रेम दोउ इक संग सिखावति।
उज्ज्वल-स्यामल-धार जुगल यों जोरि मिलावति॥
भेद-भाव तजिबे की प्रतिभा जब रस-ऐनी।
जोग गहत तिनसों तब सुंदर बहति त्रिबेनी॥
करी जाय जवि जासु परीच्छा सबिधि जथारथ।
याही में सब जग को स्वारथ अरु परमारथ॥"

इसी परम लाभ के विचार से तो अवध के 'रसलीन' बिलग्रामी ने अपनी अनूठी रचना 'अंग-दर्पण' में लिखा सन् १७३७ ई० में—

"ब्रजबानी सीखन रची, यह 'रसलीन' रसाल।
गुन, सुबरन, नग, अरथ लहि, हिय धरियो ज्यों माल॥"

और अवध के भिखारीदास जैसे आचार्य ने कहा यह कि—

"ब्रजभाषा हेत ब्रज-बास ही न अनुमानों, ऐसे-ऐसे कविन की बानी हूँ सों जानिऐं।"

इतना ही नहीं, कृपा कर उन्होंने इतना और भी स्पष्ट कर दिया—

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥"

स्मरण रहे 'ब्रजभाषा' की यह व्यवस्था संवत् १८०३ वि० अर्थात् सन् १७४६ ई० की है। कहलें उर्दू की ईजाद के ठीक बाद की। 'उर्दू क्यों कर पैदा हुई', इसे सैयद इंशा अल्लाह के मुंह से सुनिये। किस सचाई से साफ़ कह जाते हैं कि शाहजहानाबाद के—

"खुशबयानों ने मुत्तफ़िक़ होकर मुताहिद जबानों से अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अलफ़ाज में तसर्रुफ़ करके और जबानों से अलग एक नई जबान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा।"

तो फिर इस कतर-ब्योंत और हेरफेर से बनी उर्दू की किसी सहज 'भाषा' से कैसे निभ सकती थी। फलतः 'भाखापन' की उपेक्षा हुई और लोग 'भाका' से चिढ़ने लगे। मुहम्मदशाह 'रँगीला' का रँगीला शासन इस प्रकार 'भाषामणि ब्रजभाषा' के लिये घातक सिद्ध हुआ और वह गाने की चीज भर रह गई। अँगरेजी शासन में प्रमाद और नीतिवश जब उर्दू ही हिंदुस्तानी के नाम से लोकभाषा मान ली गई तब ब्रजभाषा की रही-सही प्रतिष्ठा भी जाती रही और निदान 'डाक्टर गिलक्रिस्त'

साहब को भी पछताना तथा कोसना पड़ा कि 'ब्रजभाषा' के साथ ही 'खड़ी बोली' को भी छोड़ कर 'फोर्ट विलियम' वालोंने छात्रों का बड़ा अहित किया। उनका मूल कथन है—

> I very much regret that along with Brij Bhasa, the Khuree bolee was omitted since this particular idiom or style of the Hindoostanee would have proved highly useful to the student of that language. (*The Oriental Fabulist,* 1803, *p.* 5)

अर्थात् मुझे बड़ा खेद है कि ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली को छोड़ दिया गया, क्योंकि हिंदुस्थानी का यह विशेष मुहावरा वा शैली उस भाषा के विद्यार्थी के लिये विषेश रूपसे लाभदायक सिद्ध हो सकती थी।

फलतः उपयोगिता के कारण 'खड़ी बोली' का फिर नाम फिरा और उसका दोहरा द्वंद्व छिड़ा। राजकाज में उसकी उर्दू से मुठभेड़ हुई तो गद्य-पद्य में ब्रजभाषा से। गद्य के क्षेत्र में तो ब्रजभाषा अधिक नहीं अड़ी पर पद्य के क्षेत्र में उसकी 'खड़ी बोली' से ठन गई और अंत में हार भी उसी की हुई। फलतः आज 'खड़ी बोली' किंवा 'नागरी' का राज है। इस राज्य के संबंध में संप्रति इतना ही कहना है कि स्वर्गीय श्री प्रतापनारायण मिश्र जी की वाणी में—

"ब्रजभाषा भी नागरी देवी की सगी बहिन है। उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छुरी फेरना है।"

निश्चय ही इस 'छुरी' से बचना चाहिए, अन्यथा राष्ट्र का सारा गौरव मिट्टी में मिल जायगा। और स्मरण रखना चाहिए कि श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र जैसे पारखी की भाषा में ब्रजभाषा के—

"कवियों ने अर्थ के लिये अपने व्यक्तित्व का, अपने आदर्श का, अपनी प्रतिभा का सर्वथा विनाश ही कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। अपने आश्रय दाताओं की वैयक्तिक प्रशंसा या विरुदावली इन्होंने दो ही चार छंदों में गाई है। पूरा काव्य उन्हींके बखान में रचा हो, ऐसा नहीं। जो चाटुकारिता वर्तमान स्वतंत्र भारत में राजकीय मंत्रियों को अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित करने में हिंदी के कविंमन्य और पंडितंमन्य महानुभावों के द्वारा देखी जा रही है, उस का शतांश ही उनमें मिल सकता है। दरबारी मनोवृत्ति संप्रति आज कहीं अधिक है और राजनीति के नाम पर साहित्य न्यौछावर हो रहा है। रीतिबद्ध कवि 'नीति गलित' नहीं थे और न वैसा करके धन बटोरना चाहते थे। सभ्यता अपने विकास के साथ सचाई छिपाने के जितने अधिक साधन और मार्ग आज निकाल चुकी है, उतने उस समय नहीं थे। जितने थे भी उनका उपयोग कोई कवि कुटिलता पूर्वक नहीं करता था। उन्होंने जो कुछ किया या जो कुछ लिखा, प्रत्यक्ष किया और लिखा। इस प्रत्यक्षवादिता के लिए सांप्रतिक राजनीति-संवलित कवि-पुंगवों और साहित्यिकों से अधिक प्रशंसा के भाजन अवश्य हैं। वे अर्थ की अपेक्षा राजसभा में बड़प्पन पाने के अभिलाषी थे। वे स्वार्थ-सिद्धि के स्थान पर समाज-सिद्धि का भी ध्यान रखते थे। रीतिबद्ध-काव्य हिंदी को शृंगार की उक्तियों का जैसा भारी भांडार सौंप गया है उसमें कूड़ा-करकट या केवल अशिष्ट या अश्लील वर्णन ही नहीं है, उसमें शृंगार की प्रभूत परिमाण में अच्छी-अच्छी उक्तियाँ भी संचित हैं। जितनी संस्कृत क्या किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इसे इसकी कड़ी से कड़ी अलोचना करने वाले महानुभावों ने भी स्वीकार किया है।"

—बिहारी, वाणी-वितान- ब्रह्मनाल काशी, पृ० ६३-४

कहने का तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा का गहरा अनुशीलन होना चाहिए और किसी आसमानी चरखा में आ कर उससे जी चुराना छोड़ देना चाहिए। 'प्रगति' या 'प्रयोग' के प्रेमी यदि 'पहचान' और 'परख' से जी बचाना चाहते हैं तो चार दिन के लिये चाहे जैसा रंग जमा लें, किन्तु अंत में उतरना है उन्हें भी उसी घाट जिसे कहते हैं 'शृंगार वा रसराज'। 'प्रगटन दुग्न' वे आ भी रहे हैं उसी मार्ग पर। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक है कि इस 'भाषामणि' की परीक्षा और उसके परिशीलन में दत्तचित्त हो कुछ चित्तवृत्ति को जाना जाय और मनसाराम को परख कर ही नित नया-नया मनसूबा बाँधा जाय। जिससे—

"जगमगाय जातीय प्रेम सुधरं चरित्र-बल ।
सब के हों आदरस उच्च उत्तम अरु उज्जल ।।
बिद्या, बिनय, बिबेक, प्रकृति छबि मनहिं लुभावैं ।
दुख कौ हो बस अंत देस भारत सुख पावै ।।"

—सत्यनारायण

सोलहवीं शती में सगुण भक्ति के मेघजल

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल

भारतीय धार्मिक विचार-धारा म तीन बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं। पहली क्रांति वेदव्यास के द्वारा हुई, जिन्होंने वैदिक तत्त्वज्ञान को लोक म व्याप्त निषाद-संस्कृति के धार्मिक आचार-विचारों के साथ मिला कर महाभारत में दोनों का समन्वय किया। दूसरी बड़ी क्रांति विक्रम संवत् के लगभग भागवत-धर्म और महायान-धर्म के समन्वय-प्रधान चिंतन के रूप में आरंभ हुई, जिसके द्वारा मोक्ष-प्रधान संन्यास-मार्ग और प्रवृत्ति-प्रधान गृहस्थ-मार्ग के बीच में पड़ी हुई खाई को पाटा गया, जिसके अंत में 'प्राप्तो गृहस्थैरपिमोक्षमार्गः" वाला चौड़ा मार्ग या महायान प्रचारित हुआ। शुंग, कुषाण और गुप्तकाल के समस्त धार्मिक आंदोलन इसी सेतुबंध की ओर लक्ष्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का धार्मिक इतिहास भागवत-धर्म के समन्वयात्मक प्रयत्नों का इतिहास है। इन प्रयत्नों में जैन, बौद्ध, शैव सभी ने एक ही मूल प्रेरणा से केवल नाम-भेद रखते हुए भाग लिया। भागवतों के जगत् में अचिंत्य ब्रह्मतत्त्व विष्णु बन कर प्रकट हुए। सब प्राणियों को, सब विचार-धाराओं को अपने में व्याप्त कर लेना, सब में स्वयं व्याप्त हो जाना, यही विष्णु की विशेषता थी। अतएव इस अन्वर्थ नाम की ओर इस सहस्राब्दी में समन्वय के प्रयत्न अपना ताना-बाना बुनते रहे। कालिदास ने अपने समन्वय प्रधान दृष्टिकोण से इसी युग-सत्य को विष्णु की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—

> "बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
> त्वय्येव निपतंत्योघा जान्हवीया इवार्णवे ॥"
>
> —रघुवंश १०।२६

'सिद्धि को प्राप्त करानेवाले अनेक मार्ग आगम-सिद्धांतों के अनुसार अलग-अलग बढ़े हैं, किंतु वे सब तुम्हारे पास ही पहुँचते हैं, जैसे गंगा के प्रवाह समुद्र में मिलते हैं।'

विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में फिर एक क्रांति के लिये जगह बनी। शुष्क तर्क-प्रतिपादित निर्गुण अद्वैत-तत्त्व का भार मानवी-बुद्धि के लिए दूभर हो गया। विचार-जगत् में पंडित-वर्ग और लोक एक दूसरे से बिछुड़ गए। पंडितों के पास तर्क की पैनी कैंची थी। निर्गुण तत्त्व की उससे मनमानी कतर-ब्योंत की जा सकती थी। बौद्धों के अनेक प्रकार के अद्वैतवादी तर्क निर्गुणरूपी वज्र को काटते-छेदते रहे। शंकराचार्य और उनके उत्तराधिकारी दार्शनिकों के मायावाद में भी बुद्धि पर आश्रित तर्क का ही बोलबाला था। आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक पनपनेवाले सिद्ध और उनके उत्तराधिकारी नाथ गुरू निर्गुण की बात ही जनता की भाषा में कहने का प्रयत्न करते रहे, किंतु उनकी रची हुई बारहखड़ी से जनता के लिये हृदयग्राही रसानुभूति की कोई विशेष बात न बन सकी। आत्माराम इस शरीर रूपी कुडुल्ली या कुटिया में रम रहा है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा की कला करने से उसे वश में किया जा सकता है, यह बात कितनी ही ठीक भी हो, पर थी एकदम नीरस। उसे सुन कर लोक के मन में किसी तरह की फरहरी या गुदगुदी उत्पन्न नहीं होती थी। निर्गुणी काव्य के क्षेत्र में कबीर की वाणी अंतिम पराकाष्ठा है। उसमें ओज और कविता का भरपूर आनंद है, पर रसानुभूति के लिये उसकी असफलता का साक्षी प्रायः प्रत्येक पाठक का अपना मन है। आकाश में विचरने वाले दार्श-निकों की फटकार से लोक का क्या भला हो सकता है? उसके लिये जिस क्रांतिमय परिवर्तन की

आवश्यकता थी, वह विष्णु स्वामी, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, रामानंद, वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्यों, संतों और भक्तों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। उस क्रांति की सबसे विशेषता प्रदेश-संगत और भक्ति का समन्वय था। लोक-मानस के जिस सरोवर में शताब्दियों से सूखापन आ गया था वहीं भक्ति-जन्य मनोभावों का अटूट जल बरस पड़ा। सगुण-लीलाओं को गाने के लिये जनता तरस रही थी, उसके लिये द्वार खुल गया। तुलसी के शब्दों में साधुरूपी मेघ राम के यश का सुंदर जल लेकर चारों ओर बरसने लगे—

बरषहिं राम सुजस बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

प्रेम उस जल का मिठास था, भक्ति उसकी शीतलता थी। वही लोक के मनरूपी सरोवर में भर गया। वैसे एक सरोवर की कल्पना तुलसीदास का रामचरितमानस है। उस मानस में जिसने डुबकी लगाई उसी का मन आनंद से भर गया। तुलसी आदि भक्त संतों का मत वेदमत (ऊँचा दार्शनिक ज्ञान), पुराणमत (कथा-कहानी, देवचरित आदि) और संतमत (भक्तिज्ञान द्वारा साक्षात् अनुभव), इन तीनों का समन्वय था। तुलसी ने कहा है कि रामभक्ति की जो गंगा है, वेदमत और लोकमत उसके दो किनारे हैं, जिनको सींचती हुई वह जलधारा बही है।

सोलहवीं शताब्दी में इस प्रकार की वेगवती भावधारा देश के प्रत्येक भाग में बह निकली। राम और कृष्ण उसके प्रतीक बने। वे ही रस-तत्त्व के सगुण और साकार रूप बन कर लोक में मान्य हुए। जहाँ निर्गुण का ताना बुना हुआ था, वहीं सगुण रूप का गान करके भक्तों ने अपने मन की शक्ति से भरपूर रस उंडेला और लोक के मानसपट को खूब भिगोया। भारतीय इतिहास की यह अनूठी विशेषता है कि उसमें समय-समय पर होनेवाली धार्मिक हलचलों की छाप प्रायः सारे देश पर एक सी पड़ी है। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों के धार्मिक आंदोलन ने प्रत्येक प्रांतीय भाषा के साहित्य को सराबोर कर दिया। असम भाषा के श्री शंकर नामक महाकवि ने अपनी प्रतिभा से भागवत का महान् काव्यानुवाद किया जो आज भी उस भाषा का भूषण है। रामसरस्वती नामक महाकवि ने फेंटा बाँध कर रामायण और महाभारत दोनों ही काव्यों का असम भाषा में अनुवाद कर डाला। बंगाल में तो चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण को केंद्र में रख कर भक्ति की बढ़िया ही बहा दी जिसका प्रभाव उड़ीसा, वृंदावन और कर्नाटक तक हुआ। चंडीदास की 'कृष्ण-भक्ति-पदावली' पद-साहित्य का वैसा ही प्रयत्न है जैसा हिंदी-साहित्य में पदनिर्माता कवियों ने किया। जब गुसाँईजी ने रामचरितमानस लिखा उसी समय कीर्तिवास ओझा ने बंगीय रामायण लिखी। उड़ीसा में सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जगन्नाथदास ने भागवत, बलराम ने रामायण, शारदादास ने महाभारत और अच्युतानंद ने हरिवंश के काव्यानुवाद उत्कल भाषा में तैयार किए, लेकिन उत्कल भाषा का कंठहार सोलहवीं शती में ही निर्मित 'रस-कल्लोल' नामक मनोहर काव्यग्रंथ है, जिसमें राधाकृष्ण के लीला-विलास का वर्णन हुआ है। लगभग इसी समय भक्त शिरोमणि पोतनामात्य ने तेलगु भाषा में भागवत का अनुवाद किया।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में विजयनगर सम्राट् कृष्णराय के समय में धारवाड़ जिले के कुमार व्यास कवि ने कन्नड़ महाभारत की रचना की। इसी शताब्दी में कुमार वाल्मीकि ने कन्नड़ रामायण बनाई। चाटु विठ्ठलनाथ ने इसी शताब्दी में भागवत पुराण का कन्नड़ भाषा में काव्यानुवाद किया। कन्नड़-साहित्य की एक विशेष विभूति वैष्णवों के रचे हुए पद हैं, जिनकी रचना गाँव-गाँव में पैदल घूमते हुए भक्तों ने मध्वाचार्य और चैतन्य की शिक्षा के अनुसार की। दासर पदगल (दासों की पदावली) नाम से इन पदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनमें सबसे प्रसिद्ध पंढरपुर के निवासी पुरंदरदास थे जिनकी १५६४ ई० में मृत्यु हुई। इन्हीं के समकालीन 'कनकदास' थे जिन्होंने कृष्ण के संबंध में पौराणिक कथाओं को लेते हुए 'मोहन तरंगिणी' नामक ग्रंथ की रचना की। पुरंदरदास और कनकदास कन्नड़ भाषा के सूर और तुलसी हैं। मध्वाचार्य और चैतन्य के प्रभाव से

दाससंज्ञक भक्तों ने जिस वैष्णव धर्म की स्थापना की वह कन्नड़ प्रदेश का समन्वय-प्रधान जातीय धर्म बन गया और उसी की गोद में जैन एवं लिंगायत धर्म की धाराएँ भी लीन हो गईं। सोलहवीं शताब्दी में पाटण गुजरात के महाकवि भालण ने भागवत दशमस्कंध का बहुत ही ललित पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इससे पूर्व भी संवत् १५२८ में प्रभास पट्टन के कायस्थ केशवहृदयराय ने भागवत दशमस्कंध का पद्यानुवाद रचा था। उसके कुछ ही वर्ष बाद संवत् १५४१ में सिद्धपुर पाटण के भीमनायक कवि ने 'हरिलीला षोडश-कला' नामक कृष्ण-चरित की रचाना की। गुजराती पदों की रचना में कवि परमानंद (१७ वीं १८ वीं शती) का स्थान बहुत ऊँचा है। इस प्रकार प्रायः प्रांतीय साहित्य ने सोलहवीं शती की भक्ति-प्रधान क्रांति में और साहित्यिक पुनरुत्थान में भाग लिया।

हिंदी के क्षेत्र में तुलसी और सूर इस युग के मुख्य प्रतिनिधि हैं, जिनमें एक ही युगधारा राम और कृष्ण को प्रतीक बना कर दो रूपों में प्रकट हुई। कृष्ण-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा में वल्लभाचार्य (जन्म सं० १५३५, मृत्यु सं० १५८७) और उनके प्रतिभाशाली पुत्र विट्ठलनाथ (जन्म सं० १५७२, मृत्यु १६४२) ने प्रमुख भाग लिया। वल्लभाचार्य ने यों तो सारे देश में भ्रमण किया था, किंतु ब्रज को विशेष रूप से अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। उनके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ में लोक-संग्रह की विलक्षण शक्ति थी। उन्होंने कला, साहित्य और संगीत की योजना से वल्लभाचार्य के भक्ति धर्म को बहुत ही स्वरूपवान् बना दिया। कृष्ण-भक्ति के गायक आठ कवियों को लेकर अष्टछाप की कल्पना का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। अष्टछाप के आठों विद्वानों का कार्य-काल सोलहवीं शताब्दी ही है। इनमें से कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास के दीक्षा-गुरु वल्लभाचार्य और गोविंद-स्वामी, नंददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास के दीक्षा-गुरु विट्ठलनाथ थे। अष्टछाप के कवियों का हिंदी-साहित्य के लिये बहुत ही महत्त्व है। उत्तरभारत के लोकमानस से निर्गुण परंपरा हटाकर उसमें सगुण भावों के प्रति आस्था भरने का बहुत अधिक श्रेय अष्टछाप के महायानी कवियों को है। हिंदी-जगत् के धार्मिक इतिहास की जमी हुई तहों को जब हम खोलना चाहेंगे तब अष्टछाप का उद्घाटन किए बिना हमारा काम नहीं चलेगा।

श्री सूर के प्रति

श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय

ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी।
गूँजती ब्रज-बीथियों में, अमृतमय वाणी तुम्हारी।।

कवि, तुम्हें पा कर धरा ने, व्यक्ति की अभिव्यक्ति पाई,
कवि, तुम्हें पा कर धरा ने, सृजन की नव शक्ति पाई!
स्वप्न था संसार, तुम ने सत्य धरणी पर उतारा,
कवि, तुम्हें पा कर स्वयं भगवान ने निज भक्ति पाई!
आदि कवि की भाँति मुखरित हो रही वाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी!

सहज शैशव रूप धारण कर सजल घनश्याम आये,
प्रेम की वंशी तुम्हारी, लहरियों पर स्वर[1] बजाये;
चित्र अति सुकुमार तुम ने था बनाया राधिका का,
कृष्ण आ कर के तुम्हारी तूलिका में मुस्कराये!
भक्त उद्धव की कहानी, कह रही वाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी।

कवि, तुम्हारी पंक्तियों में झूमतीं घन की घटाएँ,
कवि, तुम्हारी पंक्तियों में गूँजती मधु की निशाएँ[2]।
कृष्ण-सुधि में सजल स्यामल आत्म-विस्मृत दीपिकाएँ[3]
उतर आती हैं तुम्हारी पंक्तियों में गोपिकाएँ!
आँसुओं में डूबती ही जा रही, वाणी तुम्हारी,
रूपमय वाणी तुम्हारी, ज्योतिमय वाणी तुम्हारी।

[1] स्वर लहरियों पर,
[2] झूमती धुन की दिशाएँ,
[3] कृष्ण-सुधि की सिसकियों में सजल दीपक को जला कर,

अष्टछाप की मधुर भक्ति

श्री दीनदयालु गुप्त

हिंदी ब्रजभाषा के नीचे कहे आठ कवि 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं । सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास अधिकारी, नंददास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी और छीतस्वामी। इनमें प्रथम चार आचार्य श्री वल्लभ (संवत् १५३५ से संवत् १५८७ तक) के शिष्य थे और अंतिम चार आचार्यजी के उत्तराधिकारी गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी (संवत् १५७२ से संवत् १६४२) के शिष्य थे । ये आठों भक्त कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवासमें एक-दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन की सेवा और वहीं रहकर भगवद्भक्ति रूप में पद-रचना किया करते थे । उस समय के वल्लभ संप्रदायी अनेक कवियों का उल्लेख उक्त संप्रदाय की वार्ताओं में आता है । परंतु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने संप्रदाय के अनुयायी भक्त कवियों में से सर्वश्रेष्ठ भक्त, काव्याकार और संगीतज्ञ इन्हीं आठ सज्जनों को छाँटा तथा इन पर अपनी प्रशंसा और आशीर्वाद की छाप लगाई । गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की इस मौलिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ये महानुभाव 'अष्टछाप' कहलाने लगे ।

ये आठों कवि उच्चकोटि के भक्त, कवि तथा संगीताचार्य थे । अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किये हैं, वे काव्य की दृष्टि से वास्तव में उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, हास्य और शांत-भावों की भक्ति का जो स्रोत अपने काव्य में इन भक्तों ने खोला है वह भी अत्यंत सुखकारी है । लौकिक तथा अध्यात्मिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान् है ।

'शांडिल्य—भक्तिसूत्र' में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** ईश्वर में अत्यंत अनुरक्ति ही भक्ति है और 'नारद-भक्तिसूत्र' में भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा ।२। अमृत स्वरूपा च ।३। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।४।

अर्थात् "ईश्वर के प्रति प्रेम का नाम भक्ति है, वह अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है । फिर वह किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता, न वह शोक करता है और न द्वेश । न किसी सांसारी वस्तु में आसक्त और न उस वस्तु से उत्साहित होता है ।"

श्रीमद्भागवत के स्कंध ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३ में भक्ति के विषय में कहा गया है कि सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में जब लगती है, तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं । श्री वल्लभाचार्यजी ने इन सब व्याख्यानों का समन्वय करके 'तत्त्वदीप निबंध शास्त्रार्थ-प्रकरण' श्लोक ४६ में भक्ति का लक्षण बताया है—

"भगवान् में माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ़ और सतत् स्नेह ही भक्ति है । मुक्ति का इससे अधिक और सरल उपाय नहीं है ।" माहात्म्य-ज्ञान और भगवान् के प्रति स्नेह के विषयमें श्री हरिराय गोस्वामी ने कहा है—

"श्री आचार्यजी के मारग कौ स्वरूप कहा है, जो महात्म्य-ज्ञान पूर्वक दृढ़ स्नेह तौ सर्वोपरि है सो ठाकुरजी कों बहुत प्रिय है, परंतु जीव माहात्म्य राखै । सो काहे ते । जो माहा-

त्म्य-बिना अपराध कौ भय मिट जाय तासों प्रथम दशा में माहात्म्य-युक्त-स्नेह अवश्य कहिए। तासों माहात्म्य बिचारै और अपराध सों डरपै। जब सर्वोपरि स्नेह होइगो तब आपसी तें स्नेह ऐसौ पदार्थ जो माहात्म्य कों छुड़ाइ देयगो।"

अष्टछाप-भक्तों ने जहाँ कृष्ण को वात्सल्य, सख्य, दास्य और कांता भावों में भजा है, वहाँ उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है। ईश्वर कृष्ण के लोक-चरित्रों के वर्णन में भक्त की चित्त-वृत्ति कहीं लोक में ही न फँसी रह जाय, इसलिये वे बार-बार याद दिला देते हैं कि ये बालवत् या किशोरवत् लीलाएँ मनुष्य रूप में अवतरित भगवान की हैं, मायिक मनुष्य की नहीं है।

भक्ति दो प्रकार की कही गई है—'गौणी' और 'परा।' साधन दशा की भक्ति गौणी कहलाती है और सिद्ध दृश्य की भक्ति परा भक्ति है। गौणी भक्ति के पुनः दो भेद हैं—'वैधी' तथा 'रागानुगा'। जिस भक्ति का साधन शास्त्रोक्त विधिपूर्वक होता है और जिसके विविध अंगों का नियमपूर्वक साधन होता है उसे वैधी भक्ति कहते हैं। वैधी भक्ति को कुछ लोग मर्यादा भक्ति भी कहते हैं—

"शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते।
इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमाविषु॥"

—हरिभक्ति रसामृत सिंधु पूर्वभाग, लहरी २, श्लोक ४.

जिस प्रेम भाव की अनुभूति से भक्त के हृदय में परम शांति और आनंद का उदय हो जाता है उसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। श्री रूप गोस्वामीजी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' के पूर्व विभाग लहरी २, श्लोक ६३ में इसे दो प्रकार का कहा है—एक 'काम रूपा' और दूसरी 'संबंध रूपा'। इंद्रियों की तृप्ति की कामना लोक से न कर भगवान् से करने की इच्छा भक्ति पक्ष में 'काम' कहलाती है तथा दास, सखा, पिता-माता, पुत्र-पति-आदि के संबंध में जो काम-रहित प्रेम है वह संबंध-स्वरूपा—'रागात्मिका भक्ति' है। वैधी और रागानुगा भक्तियाँ दोनों साधन दशा की ही भक्ति हैं। जब भक्त पूर्ण शांति की अवस्था को पहुँच जाता है तब इसे किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती। कामना-रहित प्रेमानंद में ईश्वर से प्रेम करना ही 'परा भक्ति' है। 'गौड़ी भक्ति' और परा भक्ति को 'साध्य भक्ति' भी कहते हैं।

मंत्र योग की अंग स्वरूपा भक्ति के अतिरिक्त वैधी और रागानुगा भक्ति को एक स्वतंत्र साधन भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने माना है और इसमें मंत्र योग के कुछ विधान जैसे—ईश्वर-मूर्ति की पूजा, अर्चना तथा ईश्वर-नाम रूप का ध्यान भी प्रविष्ट कर लिये गये हैं। 'शांडिल्य-भक्तिसूत्र', 'नारद-भक्तिसूत्र', 'हरिभक्ति-रसामृत सिंधु'—आदि ग्रंथों में स्वतंत्र भक्तिमार्ग की वैधी, रागानुगा तथा परा भक्तियों का विवेचन है। साधन स्वरूपा भक्ति की सिद्धि की दो अवस्थाएँ हैं—एक पूर्ण ज्ञान की अवस्था, दूसरी पूर्ण प्रेम भाव की अवस्था। श्री वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान के साधन रूप में भक्ति का प्रचार नहीं किया। यद्यपि वल्लभ संप्रदाय में 'साधन भक्ति' और 'साध्य भक्ति' दोनों प्रकार की भक्तियों को अंगीकार किया है। परंतु साधन भक्ति का लक्ष्य ज्ञान अथवा मोक्ष न होकर इस मार्ग में पूर्ण प्रेम अवस्था का प्राप्त करना ही है। वैधी साधन भक्ति में आचार्य जी और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने पूजा, अर्चा, सेव्य स्वरूप (मूर्ति) का ध्यान, नाम-स्मरण आदि तथा आठ प्रहर की स्वरूप-सेवा-विधि को स्थान दिया है। भाव-भक्ति-द्वारा परा भक्ति का, निष्काम प्रेम या प्रेमलक्षणा भक्ति का प्राप्त करना इस संप्रदाय की भक्ति का ध्येय है। परा भक्ति अहेतुकी है; उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) नहीं चाहिये। साधन-स्वरूपा रागानुगा-भक्ति की सिद्ध अवस्था में आकर भक्त प्रेमोन्मत्त होकर विधि-निषेधों को भूल जाता है और प्रेम-भक्ति की व्याकुल विरहाग्नि में उसके सब पाप-कर्म भुन जाते हैं।

श्रीमद्भागवत (स्कंध ३, अध्याय २९ श्लोक ७।१४) में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की कही गयी है। इस प्रकार का विभाजन वल्लभ संप्रदाय में तथा सूरदास-द्वारा भी किया गया है। श्रीमद्भागवत का गुरु संमत अनुकरण करते हुए सूरदास जी कहते हैं—

"माता भक्ति चारि परकार, सत, रज, तम-गुन सुद्धासार।
तमोगुनी चाहै या भाइ, मम बैरी क्यों हूँ मरि जाइ।
भक्ति सात्वकी चाहति मुक्ती, रजोगुनी धन, कुटुम-अनुरक्ती।
सुद्धा भक्ती मोच्छ न चाहै, मुक्तिहु कों सो नहिं अवगाहै।"

इस प्रकार से सूरदास ने दो प्रकार के भक्त कहे हैं—एक 'सकाम भक्त' और दूसरे 'निष्काम भक्त'।

भक्ति की प्रथम साधन अवस्था में वल्लभाचार्य जी ने गृहस्थाश्रम में रह कर धर्म-पालन करने का आदेश दिया है और गृहस्थ के कर्मों को कृष्ण की इच्छा मान कर करने का उपदेश दिया है[1]। वहाँ पर आचार्य जी ने प्रेम-भक्ति का अंकुर उगाने के लिए कर्म और भक्ति का मेल कर दिया है। इसी प्रकार उन्होंने जब यह कहा है—"भगवान् सब कुछ हैं, उन्हीं का रूप सर्वत्र है और उन्हीं से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, भक्त को ऐसा माहात्म्यज्ञान धारण करना चाहिये", उस समय उन्होंने साधन-रूप में ज्ञान को भक्ति में स्थान दे दिया है। यह बात ध्यान करने की है कि वल्लभाचार्य और अष्टछाप-कवियों के मत में कर्म और ज्ञान, ये प्रेम-भक्ति की अवस्था प्राप्त करने के साधन-मात्र ही हैं, लक्ष्य रूप नहीं हैं।

वल्लभ-संप्रदाय के उपास्य देव सगुण रस-रूप श्री परब्रह्म श्री कृष्ण हैं। वहाँ यह भी बताया गया है कि इस मत में कृष्ण के दो रूप मान्य हैं,—एक 'पूर्ण पुरुषोत्तम रस-रूप ब्रज-कृष्ण' और दूसरे 'धर्म-संस्थापक व्यूहात्मक रूपधारी, (ऐश्वर्य-रूप) मथुरा-द्वारिका के वासुदेव'। अष्टछाप भक्तों की आस्था ईश्वर के सगुण, निर्गुण, पंचदेव और चौबीस लीलावतार सभी रूपों में थी, परंतु उनकी प्रेमाभक्ति के उपास्य देव बाल, पौगंड और किशोर अवस्थाओं में लीलाधारी ब्रज-कृष्ण ही थे। एक स्थल पर गोपी-वचनों में सूरदास जी कहते हैं—

"हौं कैसें कै दरसन पाऊँ।
सुनहुँ पथिक, वा देस-द्वारिका जो तुम्हरे सँग जाऊँ॥
बाहर भीर बहुत भूपन की, बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग-भामिनि की, तिहि ठाँ कौंन पठाऊँ॥
बुधि-बल-जुक्ति-जतन करि वा पुर, हरि-पिय पै पहुँचाऊँ।
अब बन-बसि निसि कुंज-रसिक-बिन, कोंनहिं दसा सुनाऊँ॥
स्रम कै 'सूर' जाउँ पिय-पासहिं, मन में भलें मनाऊँ।
नव-किसोर-मुख-मुरली-बिन, इन नैनन कहा दिखाऊँ॥"

"हे पथिक, मैं प्यारे कृष्ण के कैसे दर्शन पाऊँ। मैं तुम्हारे साथ द्वारिका चल सकती हूँ, परंतु वहाँ तो कृष्ण के राजसी ठाट होंगे। वहाँ भोग-भरे भवन में मेरी पहुँच नहीं है। यदि अपनी बुद्धि और यत्नों के साधन से मैं वहाँ पहुँच भी जाऊँ तो ब्रज-निकुंज के रसिक बिना किसको अपने विरह-दृश्य सुनाऊँगी। मैं, नव किशोर-तन मुख-मुरलीधारी कृष्ण के बिना इन नेत्रों को क्या दिखाऊँगी।" चतुःश्लोकी (षोडश ग्रंथ) में श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—

"सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो व्रजाधिपः"

भगवान सर्वदा सर्वभाव से भजनीय हैं। प्रेम से, द्रोह से, भाव-कुभाव से अर्थात् सर्व भावों से यदि कृष्ण का ध्यान किया जाय तो वे भाव कल्याणकारी ही होते हैं। भागवतकार का भी कथन

[1] **श्रीवल्लभाचार्य—भक्तिवर्धिनी श्लोक–५,**

है कि "काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ कर ईश्वरीय हो जाते हैं।" नारद-भक्तिसूत्र में कहा गया है कि "यदि सब आचार भगवान को अर्पण करने पर भी काम, क्रोध अभिमानादि मानसिक भाव पीछा न छोड़ते हों तो उन्हें भी परमात्मा के प्रति करना चाहिये।" इन कथनों का वास्तव में तात्पर्य यही है कि किसी भी भाव से सही परमात्मा का सर्वदा ध्यान होना चाहिये और सब प्रकार के भावों का अवलंबन ईश्वर ही हो। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की चंचल-मनोवृत्ति लोक से हट कर ईश्वर में ही केंद्रीभूत हो जाती है। यह भाव का योग है। भाव-द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध है।

मानव अनुभूति के विविध प्रकार के भावों में से भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने केवल प्रेम-प्रीतिके भावों को ही चुना है और उन्हीं को लोक से उठा कर ईश्वर में लगाया है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यतः चार प्रकार से होती है। वास्तव में मानव-प्रेम के जितने रूप हैं उन सभी में प्रीति-संबंधों को भक्तों ने परमात्मा से जोड़ा है और उसी के अनुसार भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति के भावों का नाम-करण कर दिया है। जैसे—

"१. परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामि-भक्त दास हूँ। यह दास्य-प्रीति या दास्य-भक्ति है।

२. परमात्मा दुःख-सुख, आमोद-प्रमोद में मेरा साथी है, वह मेरा परम मित्र है, बंधु है, उसके सिवाय मेरा अन्य कोई ऐसा मित्र या बंधु नहीं है। यह सख्य-प्रीति या सख्य-भक्ति है।

३. परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसकी पालक माता हूँ,—धात्री हूँ, मैं उसका पिता हूँ। शिशु के प्रति यह भाव वात्सल्य-प्रीति अथवा वात्सल्य-भक्ति है।

४. परमेश्वर पति है, मैं उसकी पत्नी हूँ, अथवा परमेश्वर प्रिय है, मैं उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी है और मैं उसकी प्रिया हूँ। यह रति-प्रेम अथवा माधुर्य-भक्ति है।

भक्ति के ऊपर कहे चार-भावों के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव शांता-भक्ति का भी है। उक्त चारों भावों की ईश्वरोन्मुख अनुभूति से, संसार की अस्थिर अवस्था तथा तत्त्व के ज्ञान से और वासनाओं के शमन से जो चित्त की स्थिर अवस्था होती है, उसे भक्ति का 'शम' भाव अथवा 'शांता-भक्ति' कहते हैं।

सगुण ईश्वरके उपासक भक्तों ने पीछे कहे संबंधों में ईश्वर को तीन रूपों में देखा—एक स्त्री-रूप में, दूसरे पुरुष-रूप में और तीसरे युगल-रूप में। स्त्री-रूप के उपासकों ने भगवान को मातृ-रूप तथा प्रिया-रूप इन दो रूपों में भजा है। भारतवर्ष के शाक्त उपासकों की एक शाखा ने परम-तत्त्व ईश्वर की आराधना 'मातृ-भाव' अथवा 'जननी-जन्य-भाव' से की है। प्रिया-रूप में अथवा 'माशूक' के रूप में भजने वालों में सूफी प्रेमी हुए हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपों की उपासना करने वाले भक्तों ने ईश्वर को एक तो पुरुष-रूप मान कर उससे सभी संबंध जोड़े हैं दूसरे उसको स्त्री-पुरुष दोनों की समष्टि-भावना में भी देखा है। पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है, वह अद्वैत वैष्णव संप्रदायों के अनुसार उसी की शक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनों अभिन्न हैं और एक ही के वे दो रूप हैं। इसलिये भक्तों ने यदि भगवान् को पालक 'पिता' कहा तो भगवान् की शक्ति को 'माता' और यदि भगवान् को 'रस-रूप-परम पुरुष' कहा तो उसकी शक्ति को उसकी 'प्रिया'। अष्टछाप-कवियों की रचनाएँ राधाकृष्ण के युगल-रूप तथा केवल कृष्ण-रूप दो प्रकार के उपास्य की द्योतक हैं। ईश्वर को केवल स्त्री-रूप में देख कर जैसी भक्ति शाक्त और सूफ़ी-मतावलंबी-उपासना पद्धति में है, वैसी इन भक्तों की रचनाओं में नहीं है।

मर्यादा-भक्ति में भगवान् के साथ वे ही भाव जुड़ते हैं जो लोक-मर्यादा से संमत हैं। परंतु रागानुगा-भक्ति में विधि-निषिद्ध का ध्यान नहीं है। इसमें अच्छे-बुरे सभी संबंध परमात्मा के साथ

जुड़ते हैं। प्रीति चाहे काम-रूपा हो, चाहे संबंध-रूपा उसका एक रूप स्त्री-पुरुष-रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इस रति-भाव-जन्य आनंद को 'मधुर-रस' कहते हैं और लोक-पक्ष में इसे 'श्रृंगार-रस'। काव्य-शास्त्र में स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति चाहे स्वकीय-भाव की हो चाहे परकीय-भाव की श्रृंगार-रसाभास का कारण होती है। भक्ति में श्रृंगार-रस तथा श्रृंगार-रसाभास दोनों के भाव को 'मधुर-रस' की संज्ञा दी जाती है। काव्य-शास्त्र में मधुर भावादि की भक्ति के आनंद को रस की संज्ञा नहीं दी गई, केवल भाव-कोटि में ही इसे गिना गया है। जिस प्रकार की रस-सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव) श्रृंगार-रस अथवा श्रृंगार-रसाभास की होती है उसी प्रकार की रस-सामग्री 'मधुर-रस' या 'उज्ज्वल-रस' की है। अंतर केवल इतना ही है कि मधुर-रस में जो प्रेम 'पति' अथवा 'जार' भाव से किया जाता है, उसका आलंबन लोक-नायक न होकर ईश्वर या ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है। चैतन्य संप्रदाय के श्री रूपगोस्वामी जी ने अपने ग्रंथ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु' में भक्ति-रस के विवेचन के अंतर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है। ब्रज-कृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (भक्त) इस रस के आलंबन हैं। मुरली का मधुर स्वर, सखा, सखी—आदि इसके अनुभाव हैं तथा निर्वेद, हर्षादि जो श्रृंगार-रस के व्यभिचारी भाव हैं वे इसके भी हैं। कृष्ण में रति इस रस का स्थायी भाव है–इत्यादि। श्रृंगार-रस की तरह मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—'संयोगात्मक' और 'वियोगात्मक'। संयोग-वियोग की वे ही अवस्थाएँ भक्ति-शास्त्र में कही गई हैं जो काव्य-शास्त्र में मानी गई हैं। क्योंकि प्रेम-भाव का मनोविज्ञान दोनों अवस्थाओं में (लौकिक प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम) एक-सा ही रहता है। इसी से भक्ति-प्रेम तथा लोक-प्रेम के चित्रण हमें एक-से प्रतीत हुआ करते हैं। मर्यादा-भक्ति जैसे दास्य, 'शीतल-भक्ति' भी कहलाती है और अमर्यादित भक्ति जैसे 'मधुर'—'उष्ण-भक्ति' कहलाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य मात्र का सबसे अधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। प्रीति के जितने संबंध हैं उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण होता है, इसके अंतर्गत भी या तो प्रेम की पूर्वराग-अवस्था में अथवा स्वकीय-प्रेम की अपेक्षा परकीय-प्रेम या स्वकांत की अपेक्षा पर-पुरुष-प्रेम में अधिक तीव्रता, गहनता और टीस के आनंद होते हैं। इसीलिये अनेक आध्यात्मिक साधकों ने जहाँ प्रेम का साधन मार्ग लिया है, वहाँ उन्होंने वात्सल्य, सख्य, दास्य और दांपत्य-भावों की अपेक्षा 'पूर्वराग' अथवा 'जार'—प्रेम पर अधिक जोर दिया है। लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध की व्यापकता को देख ज्ञानी साधकों ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक संबंध की अनुभूतियों को लौकिक श्रृंगार की भाषा तथा अन्योक्तियों में प्रकट किया है। काव्यशास्त्रकारों ने रति-भाव के रस को 'रस-राज' कहा है, क्योंकि एक तो यह व्यापक भाव है, दूसरे अन्य मानव-अनुभूत भावों का भी समावेश इसमें बड़ी हद तक हो जाता है। भक्त-शास्त्रियों ने भी मधुर-रस को भक्ति का मुख्य और सर्व श्रेष्ठ रस माना है। कांता-भाव की प्रीति में प्रेम की आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था पूर्णरूप में आ जाती है। आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण, प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन के साधन में जो अंतिम अवस्था आत्म-निवेदन की कही गई है वह कांता-भाव में ही पूर्ण होती है और विशेष रूप से 'जार-भाव' में।

अष्टछाप-भक्तों की रचनाओं के देखने से पता चलता है कि उनकी रागानुभक्ति प्रेम के विविध संबंधों में प्रकट हुई है; परंतु इन सब संबंधों में उनकी मानसिक वृत्ति मधुर-प्रेम में अधिक रमी है और मधुर-प्रेम की जितनी अवस्थाएँ होती हैं उन सब का व्यक्तीकरण उन्होंने किया है। इन भक्तों का वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी-भाव से वे भगवान् के सहवास में अखंड आनंद-लाभ करें। वियोग और संयोग अवस्थाओं में स्त्री रूप को लेकर उन्होंने जो प्रेमानु-भूति की है वह बहुधा स्वकीय भाव की ही है। परकीय भाव की व्यक्तीकरण इनकी रचनाओं में

अल्प है। इन भक्तों की रचना में व्यक्त राधा और गोपियों के प्रेम के भीतर इन्हीं भक्तों की अंतरात्मा छिपी है। कृष्ण के संयोग में जब गोपिकाएं आनंद-मग्न होती हैं तब इनका हृदय इष्ट के संयोग-सुख में गोते लगाता है और जब वे कृष्ण-वियोग में छटपटाती हैं तब भी इनका मन प्रिय-मिलन को व्याकुल होता है। अष्टछाप की रचनाओं में स्त्री-भाव की भक्ति का अधिक परिचय है। सूरदास और नंददास ने श्रीमद्भागवत, गीता तथा श्री वल्लभाचार्य जी के कथनों का अनुकरण करते हुए कहा है कि भगवान् सर्वभावों से भजनीय हैं। फिर भी इनकी भक्ति में प्रधानता स्त्री-भाव की ही है, जो स्वकीया, परकीया तथा मातृ-हृदय के रूप में प्रकट हुई है। जैसे—

"तनक हरि, चितवौ मेरी ओर ।
मेरें तौ मोहन तुम्ह-हीं इक, मो-सी तुम्ह कों लाख-करोर ।।
कब की में ठाड़ी अरज करति हों, सुनि हो नंद-किसोर ।
'कृष्णदास' के प्रान जीवन-धन करुना-निधि चित-चोर ।।"

स्वकीय भाव की मधुर-भक्ति

कृष्ण से माधुर्य-भाव का प्रेम करने वाली दो प्रकार की गोपियां थीं। एक वे कुमारिकाएँ थीं, जिन्होंने आरंभ से ही कृष्ण की रूप-माधुरी और गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें अपना पति माना था, उनमें से कुछ का उनसे वरण भी हो गया था। दूसरी वे विवाहिता गोपिकाएँ थीं, जिन्होंने पर-पुरुष रूप कृष्ण से परकीय-रूप में प्रेम किया था। अष्टछाप-भक्तों ने गोपियों के स्वकीय मधुर-भाव का अधिक चित्रण किया है। यद्यपि कुछ गोपियों का उनसे विवाह नहीं हुआ था, फिर भी वे लोक-लाज-कुल-कांनि-छोड़ कर कृष्ण से ही प्रेम करती रहीं। परकीय-भाव की भक्ति का स्वरूप अल्प है। जहाँ गोपियों के 'मान' और 'खंडिता'-भावों को प्रकट किया है, वहाँ भी इन भक्तों ने उन गोपियों को 'अनन्य-पूर्वा' अथवा 'स्वकीया' ही रखा है। इन स्थलों में उन पर उपालंभ सौनिया-भाव में हुआ है। राधा को समान रूप से आठों भक्तों ने कृष्ण की विवाहिता पत्नी के रूप में चित्रित किया है। अस्तु, अनन्य-भाव से सूरदास अपने प्रिय इष्ट कृष्ण से कहते हैं—

"बिनती सुनों दीन की चित दै, कैसें तब गुन-गावै ।
❀
मेरे तौ तुम्ह-हीं पति, गति तुम्ह, तुम्ह समाँन को पावै ।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरी कृपा-बिन, को मो दुख-बिसरावै ।।"

और परमानंददास कहते हैं—

"मनावति हार परी मेरी माई ।
❀
राधे तू बड़-भागिनी, कौंन तपस्या कीन ।
तीन-लोक के नाथ हरि, सो तेरे आधीन ।।
❀
तनक सुहागौ गारि कें, जड़ कंचन पिघलाइ ।
सदाँ सुहागिनि राधिका, क्यों न कृष्ण ललचाइ ।।"

अष्टछाप के परकीय भाव-सूचक पदों का एक उद्धरण ये हैं—

"में तौ प्रीति स्यांम सों कीन्हीं ।
कोऊ निंदौ, कोऊ बंदौ, अब तो यह करि दीन्हीं ।।

जो पतिब्रत तौ या ढोटा सों, इन्हें समरपी देह ।
जो बिभिचार तौ नंद-नँदन सों, बाढ़्यौ अधिक सनेह ।।
जो ब्रत गह्यौ सो और न भायौ, मरजादा कौ भंग ।
'परमानंद' लाल गिरधर कौ, पायौ मोंटौ संग ।।"

मधुर प्रेम की पूर्वराग-अवस्था

प्रेम में पूर्वराग की अवस्था नायक के गुण-श्रवण अथवा स्वप्न, चित्र या साक्षात् रूप-दर्शन से होती है। जब प्रेमी के हृदय में रति उत्पन्न हो जाती है तब उसको प्रिय-मिलन की लालसा होती है। इस दशा में विरह की सी दशाएँ प्रेमी के मन में उपस्थित हो जाती हैं। कभी काल्पनिक संयोग से वह प्रिय के सहवास का आनंद-लाभ करता है और हर्ष तथा चपलता से प्रफुल्लित हो जाता है। कभी प्रिय की रूप-माधुरी उसे लुभाती है, तो कभी स्मृति, कभी लोक-लाज-कुलकाँन की चिंता और कभी कामना उसे सालती है। कभी साहस, उन्माद और विकलता आदि संचारी-भाव उनके मन को मथते हैं। सूरदास—आदि अष्टछाप-कवियों ने प्रेम की इन स्वानुभूति मानसिक अवस्थाओं के बहुत ही प्रभावशाली चित्र उपस्थित किये हैं, जिनमें गोपियों के अनन्य प्रेम के साथ इनकी मधुर-भक्ति उमड़ी पड़ती है।

किशोर कृष्ण के रूप-लावण्य ने ब्रज की कुमारी युवतियों के ऊपर एक मोहिनी-सी डाल दी है। वे अज्ञात रूप से उसके रूप, उसके गुण और उसकी वाणी पर मुग्ध हैं। किसी को वह पन-घट के रास्ते में मिलते हैं, तो किसी को दधि बेचने के समय। साक्षात् दर्शन में बार-बार निहारने पर भी उस रूप के अमृतपान से उनकी तृप्ति नहीं होती। गोपियों के इस आसक्ति के चित्रण-द्वारा इन भक्तों की मानसिक वृत्ति लोक-रूप और लोक-गुणों से हट कर अपार रूप-धारी भगवान् श्री कृष्ण में केंद्रीभूत होती है। गोपी-रूप सूर कहते हैं—

"आवति ही जमुना भरि पाँनी ।
स्याँम-बरन काहू कौ ढोटा, निरखि-बदन घर गई भुलाँनी ।।
उन्ह मो तन, मैं उन्ह-तन चितयौ, तब ही ते उन्ह-हाथ बिकाँनी ।
उर धकधकी टकटकी-सी लागी, तन-ब्याकुल, मुख फुरत न बाँनी ।
'सूरदास' प्रभु मोंहन-देखत, जनु बारिधि-जल बूंद-हिराँनी ।।"

इस प्रकार के पूर्वाराग संबंधी प्रेम के अनेक पद 'सूरसागर' में विद्यमान हैं। परमानंद कहते हैं—

जब ते प्रीति स्याँम सों कीन्हीं ।
तादिन ते मेरे इन नैंनन, नेंकहु नींद न लीन्हीं ।।
सदाँ रहत चित चाक-चढ्यौ-सौ, और कछू न सुहाइ ।
मन में रहै उपाइ मिलन कौ, इहै बिचारत जाइ ।।
'परमानंद' पीर-प्रेम की, काहू सों नहिं कहिऐ ।
जैसें बिथा मूक-बालक की, अपने तन-मन सहिऐ ।।

नंददास जी, कृष्ण के नाम और गुण-श्रवण के प्रभाव को गोपी-रूप में इस प्रकार देते हैं—

कृष्ण-नाम जबते स्रवन सुन्यों-री आली,
भूली-री भवन में तौ बावरी भई-री ।
भरि-भरि आवें नैंन, छिन-हूँ न परत चैंन,
तन की दसा कछु औरें भई-री ।।
जेतक नेम धरम कीन्हे-री में बहु-बिधि,
अंग-अंग भई हों तौ स्रमित मई-री ।

'नंददास' प्रभु जाके नाम-सुनत ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई-री ।।

चाहे प्रेम अनन्य-पूर्व (स्वकीय) हो अथवा अन्य-पूर्व (परकीय) हो, शृंगार-रति की उत्कट पूर्वराग-अवस्था में प्रेमी लोक-लाज और कुल-मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाते हैं, ठीक यही दृश्य मधुर-प्रेम की 'पूर्वराग-अवस्था' में भक्तों का होता है। लोक-मर्यादा की दृष्टि से देखे हुए अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संसार को पीछे छोड़ा है तथा वे विधि-निषेध के भावों की उपेक्षा कर द्वंद्व-पूर्ण संसार से ऊँचे उठे हैं। परंतु इस विषय में एक बात ध्यान रखने की यह है कि सभी कृष्ण-पूजा-संप्रदायों ने साधन की आरंभिक अवस्था में मर्यादा का लगाव रक्खा है। अन्यथा ईश्वरोन्मुख-प्रेम की असिद्ध-अवस्था में साधक के आरंभ से ही पथ-भ्रष्ट होने की आशंका होती है। प्रेमी भक्तों ने लौकिक प्रेम-भाव को एक दम छोड़ा नहीं है। उनका प्रेम लोक से हट कर ईश्वर की ओर मुड़ा है। जिसके संसर्ग में सभी भाव सम-अवस्था में आ जाते हैं। अष्टछाप-भक्तों ने भी गोपी-प्रेम-द्वारा अपनी प्रेम-लक्षणा-भक्ति का परिचय देते हुए लोक-लाज तथा लोक-वेद की उपेक्षा का भाव प्रकट किया है।

मधुर प्रेम का संयोग-सुख

गोपी-कृष्ण-कथा में भागवत्कार से लेकर सभी लेखकों ने कुंज-लीला में गोपी-कृष्ण का संयोग कराया है। हिंदी-भाषा के भक्त कवियों ने इस प्रसंग को बहुत विस्तार दिया है। यह संयोगावस्था एक तो गोपियों की उत्कट अभिलाषा-द्वारा उनके मानसिक जगत के काल्पनिक-मिलन में प्रकट हुई है, दूसरे वृंदाविपिन की कुंजों के रास-रूप में। काल्पनिक संयोग-सुख भी गोपियों की पूर्वराग-अवस्था में तथा उनके प्रवास-वियोग में, इन दो स्थलों पर प्रकट हुआ है। इस प्रकार के मिलन को काव्य-शास्त्र में 'वियोग में संयोग' कहा है। अष्टछाप कवियों ने इन प्रसंगों के चित्रण में अपने हृदय की प्रगाढ़ अनुभूति का परिचय दिया है।

प्रेम के जो उत्कर्ष-वर्द्धक-भाव होते हैं, जो संचारी रूप से मुख्य भाव के सहायक बनते हैं तथा कुछ वस्तुएँ और व्यापार भी जो उद्दीपन-विभाव रूप में प्रेम की वृद्धि करते हैं, उन सबका समावेश भक्ति-शास्त्र में किया गया है। अष्टछापी कृष्ण-भक्तों ने राधा के मान, गोपियों की खंडिता, वासकसज्जा, अभिसारिका-आदि अवस्थाओं तथा सखी-सखा, नख-शिख की शोभा, ऋतु-वर्णन, यमुना, चंद्र-चाँदनी, मोर, मुरली-गान-आदि के विशद वर्णन में कृष्ण-प्रेम के उत्कर्ष-वर्द्धक उपकरणों का चित्रण किया है। उनके उदाहरण सहित विवरण यहाँ विषय विस्तार के भय से नहीं दिये जा रहे हैं। प्रेम के इन सब लोकानुभूत-प्रसंगों के चित्रण में इन भक्तों की सांग मधुर-भक्ति का ही दृष्टिकोण है।

मधुर-भक्ति का वियोग-पक्ष

वल्लभ-संप्रदायी भक्ति-पद्धति में ही नहीं, प्रेम-भक्ति के सभी उपासकों ने प्रिय परमात्मा से प्रेमी आत्मा के बिछुड़ने के ज्ञान और उससे पुनर्मिलन की विकल अभिलाषा को भक्ति के साधनों में एक आवश्यक अनुभूति माना है। 'नारद-भक्तिसूत्र' में भी भक्ति की ११ आसक्तियों में से एक 'परम विरहासक्ति' भी बताई गई है। सच्चे प्रेम की गहराई का परिचय, चाहे वह प्रेम लौकिक हो, चाहे भगवान् के प्रति, वास्तव में प्रेमी की विरह-व्याकुलता ही से मिलता है। बहुधा देखा गया है कि विरुद्ध-संसर्ग से ही किसी अनुकूल भाव का प्रस्फुटन होता है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि, इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी व्याकुलता की मधुर-भावना पतित-पावनी गंगा की तरह भक्त की हृदय-भूमि में उसके भावों को और उसके कर्मों को पवित्र करती हुई विराट्-प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है। प्रेमीजन अपने प्रिय परमात्मा की

याद में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उनको आत्म-विस्मृति हो जाती है और वे अपने आपको प्रिय ही में मिला पाते हैं, अथवा प्रिय को ही अपने में और अपने से सर्वत्र देखते हैं[1]। प्रेम में विरह-भाव की अनुभूति की आवश्यकता तथा उसकी महत्ता का वर्णन सूरदास, परमानंद दास और नंददास ने कई स्थलों पर अपनी रचनाओं में किया है। सूरदास जी विरह की महत्ता के विषय में कहते हैं—

"बिरह-बुंद जहँ नाहिं जाँमत, नाहिं उपजत प्रेम।"

अथवा—

"ऊधौ, बिरही, प्रेम करैं।
ज्यों बिन-पुट पट गहत न रँग कों, रंग न रसै परै॥
ज्यों घर दहैं बीज-अंकुर गिरि, तौ सत फरन फरै।
ज्यों घट-अनल दहत तन अपनौं, पुनि पय अमी भरै॥
ज्यों रन-सूर सहैं सर सनमुख, तौ रबि-रथ हूँ अरै।
'सूर' गुपाल-प्रेम-पथ चलिकैं, क्यों दुख-सुखन डरै॥"

अष्टछाप भक्तों ने अनेक प्रकार से अपनी विरह-जन्य मानसिक अवस्था के चित्र अंकित किये हैं। काव्य-शास्त्र में कही हुई वियोग की सभी अवस्थाओं के जैसे—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता-आदि तथा विरह-वेदना से प्रताड़ित शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों के जैसे—मलिनता, पांडुता, कृशता, अरुचि, दैन्य, तन्मयता—आदि बड़े ही हृदय-ग्राही वर्णन उन्होंने किये हैं। इन वर्णनों में इन कवियों का, मुख्यतः सूरदास, परमानंददास तथा कुंभनदास का सच्चा भक्त-रूप प्रकट होता है। इन गोपी-रूप-भक्तों की विरह-वेदना दैन्य-भाव धारण कर उन्हें तन्मय बना देती है। उस समय वे अपने भाव-जगत में जीवन-मुक्ति के परमानंद का अनुभव करने लगते हैं। "दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।"

"मधुकर कौंन मनायौ मानैं।
हम अपने ब्रज ऐसेंहि रहि हैं, बिरह-बाइ-बौरानैं॥
जागत, सोवत, स्वप्न, दिवस-निसि, रहि हैं रूप परवाँनैं।
बारक लाल किसोरी-लीला सोभा-समुद समाँनैं॥
जिनके तन, मन, प्रान 'सूर' सुनि, मुख-मुसिकाँनि बिकाँनैं।
परी जो पय निधि अल्प-बूंद जल, सु पुनि कौंन पैहचाँनैं॥

जो कोऊ बिरहिनि कौ दुख जाँनैं।
तौ तजि सगुन साँवरी मूरति, कित उपदेसै ग्याँनैं॥
कुमुद, चकोर मुदित बिधु-निरखत, कहा करै लै भाँनैं।
चातक सदाँ स्वाँति कौ सेवक, दुखित होत बिन पाँनैं॥
भँमर, कुरंग, काग, कोइल कौ कवि-जन कपट बखाँनैं।
'सूरदास' जो सरबस दीजै, कारौ, कृति-ही न माँनैं॥"

अष्टछापी कवियों की रचनाओं में शृंगार-भाव की जिस मधुर-भक्ति का हमें परिचय मिलता है, उसकी परंपरा इन कवियों से पहले की है और उनके समकाल में तो उसका बहुत ही प्रचलन हो गया था। नारद-भक्तिसूत्र, 'श्रीमद्भागवत' तथा 'भागवत' के अनेक टीकाकारों ने इस भक्ति को स्वीकार

[1] **हौं जानौं पिय-मिलन तें, बिरह अधिक सुख होइ।**
मिलतें मिलिऐ एक तें, बिछुरैं सब ठाँ सोइ॥
—नंददास

किया है। दक्षिण भारत के आउवार भक्त, निंबार्काचार्य—आदि के कृष्णोपासक लगभग सभी संप्रदायों ने इस प्रकार की भक्ति को अपनाया था। चैतन्य संप्रदायी श्री रूपगोस्वामी जी ने मधुर-रस की भक्ति का विस्तार से विवेचन, अपने ग्रंथ 'उज्वलनील-मणि' तथा 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु' में किया है। संस्कृत-कवि जयदेव ने इसी भाव को लेकर राधाकृष्ण-अनुराग के मधुर पद लिखे। सूरदास के पूर्व-वर्ती मैथिल कोकिल विद्यापति के राधाकृष्ण-विषयक शृंगार-काव्य से तो हिंदी-जगत भिज्ञ ही है। हिंदी-भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के कृष्णोपासक भक्त कवियों ने भी, जैसे—बंगला के चंडी-दास, गुजराती के नरसी महता और मीरा—आदि भक्त, इस भाव का अनुगमन किया था।

पीछे कहा गया है कि मानव-अनुभूति में यह भाव व्यापक और स्वाभाविक होते हुए भी, लोक-मर्यादा की दृष्टि से संयम और संकोच में ही रक्खा गया है और इसके उत्कर्ष को निंदनीय ही कहा गया है। भक्ति-पक्ष में मधुर-भाव की निर्दोषिता पर भागवतकार से लेकर अब तक के कृष्णो-पासक आचार्य और भक्त-जन कथन करते आये हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी-टीका के 'रास-प्रकरण' में कहा है—

"कृष्ण-रास में काम की सब क्रियाएँ हैं, परंतु उनमें लौकिक-काम नहीं है। निष्काम भगवान् के संसर्ग-द्वारा गोपियों के लौकिक-काम का शमन और अलौकिक-काम की पूर्ति हुई। यदि लौकिक-काम से काम की पूर्ति होती तो संसार उत्पन्न होता, परंतु गोपियों को तो संसार से निवृत्ति[1] हुई।"

संन्यास-निर्णय ग्रंथ में उन्होंने कहा है—

"विषयाक्लांत देहानां नावेशः सर्वथा हरेः।"

जिनका मन विषयों से आक्रांत है उनमें प्रभु-प्रेरणा का आवेशकारी नहीं होना।

भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने इस भाव के अनुगमन के अधिकारी, भक्ति के साधन की एक विशेष अवस्था पर पहुँचे हुए भक्त ही बताये हैं। भाव-भक्ति की प्रथम सीढ़ी वल्लभ-मत में 'बाल-भाव-भक्ति' मानी गई है और अंतिम सीढ़ी मधुर-भक्ति की है; जिसके काल्पनिक संयोग और वियो-गात्मक अभ्यास से चित्त की वृत्ति का कृष्ण में निरोध होता है और पुण्य और पापों का शमन होता है।

मधुर-भाव की उच्चता और अनुकरण की निर्दोषिता के विषय में भी इस मार्ग के अनु-गामी भक्त ये तर्क रखते हैं—

१. इस भाव के नायक अप्राकृत देहधारी ईश रूप, परब्रह्म श्री कृष्ण हैं।

२. विकार-पूर्ण लौकिक भावों का कृष्ण के साथ आरोप उनके संसर्ग से शुद्ध हो जाता है।

३. जैसे भगवान् के साथ माता-पिता, बंधु-सखा, पुत्रादि के संबंध जुड़ते हैं, उसी प्रकार 'पति' और 'जार' के संबंध भी उनके साथ जुड़ सकते हैं।

[1] क्रिया सर्वत्र सैवाऽपि परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य संपूर्त्तिर्निष्कामेति तास्यता ॥
कामेन पूरित कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।
कामाभावेन्पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशसय ॥
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलाऽपि च।
अतएतच्छ्रुतेर्लोको निष्कामः सर्वदा भवेत् ॥
भगच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते।
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ॥

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध-फल-प्रकरण-कारिका,

श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध अध्याय २९, श्लोक १५ में कहा गया है कि, काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ ईश्वरीय हो जाते हैं[1]। इसी अध्याय के ११ वें श्लोक में भागवतकार ने कहा है—

"जिन्होंने परमात्मा का जार-बुद्धि से ध्यान किया, उनके भी बंधनों का क्षय हो गया और गुणमय शरीर से मुक्ति मिल गई। गोपियों का काम-भाव लोक से हटकर साधनावस्था में भगवान् से लगा था। जब ससीम भाव निस्सीम हो जाय और भाव और भावुक एक हो जायँ तभी भाव-रूप भगवान् का साक्षात्कार है[2]।"

लौकिक काम श्रृंगार को मिटाने के लिये इस प्रकार की मधुर-भक्ति में काम-श्रृंगार-भाव का ही प्रयोग किया गया है। विष की दवा विष अथवा काँटे से काँटा निकालने के सिद्धांत में विष और काँटे के प्रयोग की सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा ये घातक हो सकते हैं। नंददास ने 'रूप-मंजरी' ग्रंथ में एक स्थान पर इस प्रकार की मधुर भक्ति के विषय में कहा है कि इस भक्ति में गरल और अमृत एक जगह ही रक्खे हुए हैं। जो 'नीर-क्षीर-विवेक' से इनको अलग-अलग कर केवल अमृत-ग्रहण करता है वही भगवान के सानिध्य का सुख लाभ करता है, अन्यथा वासना के गर्व में और भी मानव फँसता है—

गरल-अमृत इक ठाँ करि राखे, भिन्न-भिन्न करि बिरले चाखे।
नीर-छीर निरवारै जोई, या मग प्रभु-पद पावै सोई।

और रास तथा रास में व्यक्त मधुर-भाव के विषय में नंददास ने अपनी पुस्तक 'सिद्धांत-पंचाध्यायी' में कहा है—

"सघन सच्चिदानंद नंद-नंदन ईस्वर-जस।
तैसेई तिनके भगत, जगत में भए भरे रस।।
नहिं कछु इंद्रिय-गाँमी-काँमी काँमिन के बस।
सब घट अंतरजाँमी स्वाँमी परम एक रस।।"

❀

"नाहिंन कछु सिंगार कथा यै पंचध्याई।
सुंदर अति निरवृत्ति-परातें इती बड़ाई।।
जे पंडित सिंगार-ग्रंथ-मत यामें साँनें।
ते कछु भेद न जानें, हरि कों विषई माँनें।।
अनाकृष्ट मन कृष्ण दुष्ट-मद-हरन पियारे।
जहँ-जहँ उज्जल परम धरम ताके रखवारे।।

अथवा—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः—
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः

[1] **कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।**
नित्यं हरौ विदधतो यांति तन्मयतां हि ते।।

[2] **तमेव परमात्मानं जारबुद्धयाऽपि संगताः।**
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं—
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध ३३।४०

राग-द्वारा राग को हटाकर बीतराग बनने तथा मानसिक मैल-काटने का यह साधन आरंभिक साधन नहीं कहा गया है। अष्टछाप-भक्तों ने पहले अपनी मानसिक वृत्ति भगवान् के बाल-रूप में रमाई थी। उनकी भुक्ति उत्तरोत्तर सख्य और दास्य में होती हुई कांता-भाव में प्रविष्ट हुई थी और अंत में इस भाव की तन्मय आत्म-निवेदन अवस्था में उन्होंने मुक्ति पाई थी। यह एक अत्यंत कठिन मार्ग है। लोक-व्यवहार में यह मार्ग अनुकरणीय नहीं है और सब अवस्था के पाठकों के लिये इस भाव का कुछ अंश में; अष्टछाप-काव्य भी पढ़ने की वस्तु नहीं है।

सूरदास का काव्य

श्री नंददुलारे वाजपेयी

महाकवि सूरदास का काव्य, अबतक सम्यक् रूप से हमारे अध्ययन और समीक्षण का विषय नहीं बन सका है। इसके जो दो मुख्य कारण हमें दीखते हैं, उनमें पहला यह है कि सूरदास जी के प्रधान काव्य-ग्रंथ 'सूरसागर' का कोई ऐसा संस्करण अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है जिसे सुंदर और विशिष्ट तो क्या, संतोषजनक भी कहा जा सके। दूसरा कारण जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और जो बहुत अंशों तक पहले के लिए जिम्मेदार भी है—वह है, आधुनिक साहित्य के विद्वानों की मनोवृत्ति! यह मनोवृत्ति ऐसी है जो सूरदास जी की काव्यगत विशेषताओं की परख के लिए अनुकूल नहीं कही जा सकती। पहले तो हम सूरदास जी के वात्सल्य और शृंगार-रस प्रधान काव्य को, अपनी ऊँची आदर्शवादिता के कारण, श्रेष्ठकाव्य मानने में ही हिचकते हैं; फिर उसे धार्मिक काव्य की श्रेणी में रखना तो हमारे लिए और भी कठिन हो जाता है। काव्य और धार्मिक काव्य दोनों ही के संबंध में हमने जो पैमाने बना रखे हैं, उनमें सूरदास जी की कविता किसी तरह पूरी नहीं उतरती। हमारे कहने का यह आशय नहीं कि हम सूरदास जी को कवि ही नहीं मानते, पुरानी प्रथा के अनुसार हम उनकी गणना गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ भी कर लिया करते हैं। पर हम हृदय से यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सूरदास को गोस्वामी तुलसीदास की बराबरी का पद दिया जाना चाहिए। आज तक मेरे देखने में ऐसी एक भी समीक्षा नहीं आई जिसमें स्पष्ट रूप से प्रमाण देकर सूरदास के काव्य को तुलसीदास जी के काव्य की बराबरी में रखा गया हो। कहीं तो प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य के कृत्रिम विभेद खड़े कर, कहीं जीवन परिस्थितियों की व्यापकता और विस्तार की दुहाई देकर तथा कहीं लोकधर्म, मर्यादा और शील का नाम लेकर सूरदास जी की हेठी दिखाई गई है। इस सब के मूल में जो स्थूल आदर्शवादी और शुष्क नीतिवादी विचारणा है, वह काव्य के मूल्य-निरूपण में बड़ी हद तक बाधक रही है। किंतु इस विचारणा से यह सारा युग आक्रांत है। सूक्ष्म, किंतु जीवन की गहराई में स्थित स्थिर मनोवेगों का उद्घाटन और चित्रण क्या जीवन-परिस्थितियों की व्यापकता और विस्तार का बदला नहीं चुका लेते? लोकधर्म, मर्यादा और शील के निरूपण की अपेक्षा बाल्यकाल की निर्द्वंद्व क्रीड़ाओं, नटखटपन और नैसर्गिक स्नेहोद्गम का चित्रांकण और ग्राम्य तथा वन्य जीवन की सहज सुषमा का प्रदर्शन क्या काव्य और कला के लिए कम उपयोगी या उत्कर्ष-साधक हैं? प्रबंध और मुक्तक के बाहरी भेदों के आग्रह करने की अपेक्षा काव्य के अंतरंग गुणों—रस की प्रगाढ़ता और उसकी मानस-प्रक्षालन-क्षमता—की परीक्षा क्या कला-विवेचन के लिए अधिक आवश्यक नहीं? पर हम कब इन कार्यों में प्रवृत्त होते हैं? कब तटस्थ होकर और आगे आनेवाली आदर्शवादिता को किनारे रखकर, विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य-चर्चा करते हैं?

सूरदास जी का सूरसागर केवल काव्य ही नहीं है, वह धार्मिक काव्य भी है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उसका संमान जन-समाज में तो है, किंतु विद्वानों के बीच अक्सर इस विषय के विवाद उठा करते है कि सूरसागर की गणना धार्मिक काव्य-ग्रंथों में होनी चाहिए या नहीं? धार्मिक काव्य के विषय में इन विद्वानों के विचार बहुत कुछ विलक्षण हैं। अधिकांश लोगों का ऐसा ख्याल है कि त्याग, संन्यास और वैराग्य की शिक्षा देनेवाली रचनाएँ ही धार्मिक काव्य कहला सकती हैं। इस दृष्टि से हिंदी में कबीर और दादू आदि को ही धार्मिक कवि माना जा सकता है। तुलसीदास

को हम इस श्रेणी में इसलिए स्वीकार कर लेते है कि उन्होंने नीति और मर्यादा-बद्ध राम के उदात्त चरित्र का चित्रण किया है और भक्ति की महिमा सुनाई है। शेषांश में हम सूर, मीरा आदि की उन रचनाओं को भी धार्मिक काव्य कह लेते हैं, जो भजनों के रूप में प्रचलित हो गई है तथा जिनमें किसी चरित्र-विशेष का उल्लेख नहीं। किंतु जब श्रीकृष्ण के और गोपियों के चरित्र की बात आती है तब हमारे विद्वान् पशोपेश में पड़ जाते हैं। वे या तो कृष्ण-गोपी-चरित्र को आत्मा-परमात्मा का रूपक कह कर टाल देते हैं, या फिर विरोधी आलोचना करने में प्रवृत्त होते हैं। 'ईश्वर की छीछा-लेदर' और 'राधाकृष्ण' के संबंध में निकले हुए व्यंग्यात्मक लेख हिंदी-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ये दोनों ही दृष्टिकोण सूरदास जी के काव्य और उसकी कलात्मक विशेषताओं के अध्ययन में विशेष रूप से बाधक हैं। इनमें से पहला जो आरंभ ही से सारे चरित्र को रूपक मान लेता है, काव्य के द्वारा उत्पन्न किए गए चारित्रिक महत्त्व और उसके प्रभावों का अनुभव करने का अवकाश ही नहीं देता। कवियों की कलाजन्य विशेषताएँ और काव्यजन्य उत्कर्ष प्रदर्शित ही नहीं हो पाते, क्योंकि हम तो पहले से ही मान बैठे हैं कि राधा और कृष्ण में से एक आत्मा है और दूसरा परमात्मा। जहाँ मान ही लेने की बात हो, वहाँ कवि और कवि-कर्म की परीक्षा कैसे हो सकती है? कवि-कवि में जो अंतर है उसका आकलन कैसे किया जा सकता है और सच तो यह है कि उस दशा में काव्य और कला के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। इसी प्रकार दूसरा दृष्टिकोण जो राधा और कृष्ण के चरित्रों का नाम सुनकर ही चौंक पड़ता है और भड़क उठता है, कविकी रचना-चातुरी और मनोभावना की सम्यक् परीक्षा के बिलकुल विपरीत है। इसे हम एक प्रकार का स्थूल और उजड्ड दृष्टिकोण कह सकते हैं, क्योंकि इसमें भी काव्य गुणों के अनुसंधान का प्रयास नहीं है। केवल कथा की बाहरी रूप-रेखा सुनकर जो काव्य पर आक्रमण आरंभ कर देते हैं उन्हें काव्य या कला-विवेचक कौन कहेगा? कुमारी मरियम को कौमार्य में ही ईसामसीह उत्पन्न हुए थे। अब यदि केवल इस ऊपरी बात को लें तो कितनी अविश्वसनीय और अपवादजनक यह प्रतीत होगी। किंतु इसी को लेकर ईसाई कलाकारों ने संसार की श्रेष्ठ कला कृतियों—मूर्तियों और चित्रों का निर्माण किया है जिनके दर्शन से हृदय में पवित्र भावना का प्रवाह बह चलता है। इस अवस्था में उस ऊपरी और अपवादजनक बात का क्या मूल्य रहा और उसी को मुख्यता देनेवाले व्यक्तियों की क्या वक़त हो सकती है? कथा या कहानी तो बिना खराद का वह ऊबड़-खाबड़ पत्थर है जिस पर कलाकार अपना कार्य आरंभ करता है। मूर्ति के निर्माण हो जाने पर जब हम उस कला-वस्तु के सामने उपस्थित होते हैं तो क्या उस पत्थर की भी याद हमें आती है, जिसे काट-छाँट कर सँवारा गया और अशेष परिश्रम व्यय कर यह मूर्ति बनाई गई है? और क्या मूर्तियाँ भी सब एक-सी होतीं हैं? रचयिता की मनोभूमि जितनी ही प्रशस्त और परिष्कृत होगी, जितनी ही दिव्य और उदात्त कल्पनाओं का वह अधिपति होगा, साथ ही तराश के काम में जितना ही निपुण होगा—जितनी बारीकी से जितने गहरे प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखेगा, मानव-हृदय के रहस्यों को समझने और तदनुकूल अपनी कलावस्तु का निर्माण करने में वह जितना ही कुशल होगा, उसकी कला उतनी ही उदात्त और प्रशंसनीय कही जाएगी। कला विवेचक का कार्य यह नहीं होता कि वह मूल कहानी या कच्चे माल को देखकर ही कोई धारणा बना ले अथवा अपने किन्हीं व्यक्तिगत संस्कारों और प्रेरणाओं से परिचालित होकर कोई राय कायम कर ले, बल्कि उसे कला निर्माण संबंधी विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी, कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन करना होगा और अंततः कवि की मूल संवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है।

इसी दृष्टि से हम सूरदासजी के काव्य का अध्ययन आरंभ करेंगे। पाठकों को यह विदित है कि सूरसागर ही सूरदासजी का प्रमुख काव्य-ग्रंथ और उनकी कीर्ति का स्थायी स्तंभ है। सूर-

सागर में यद्यपि श्रीमद्भागवत की कथा का अनुसरण किया गया है और भागवत के ही अनुसार इसमें भी बारह स्कंध रक्खे गए हैं, किंतु वास्तव में सूरदासजी का मुख्य उद्देश्य श्रीकृष्ण के चरित्र का ही आलेख करना था। इसीलिए उन्होंने एक चौथाई से भी कम हिस्से में सूरसागर के ग्यारह स्कंध समाप्त कर शेष तीन चौथाई से अधिक मात्रा में एक ही (दशम) स्कंध को पूरा करने में लगाया है। यही दशम स्कंध कृष्ण-चरित्र है, जिसमें कवि की काव्यकला का सर्वाधिक विकास हुआ है। शेष स्कंधों की रचना को हम परंपरा-पालन अथवा भूमिका मात्र मान सकते हैं। प्रस्तुत संग्रह में इसीलिए हमने कृष्ण-चरित्र के ही चुने हुए अंश एकत्र किए हैं। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि इन ग्यारह स्कंधों में यत्र-तत्र बिखरे हुए आख्यानों और विचारों को लोग सूरदासजी की अपनी रचना और अपने विचार मान कर उद्धृत करते हैं। वास्तव में सूरदासजी का स्वतंत्र कौशल और उनकी निजी विचारणा यदि कहीं व्यक्त हुई है तो एकमात्र दशम स्कंध में ही। शेष सभी स्थल अधिकांश श्रीमद्भागवत के संक्षेप-मात्र हैं। उनसे सूरदास का संबंध केवल अनुवाद कर्त्ता का-सा है। इस बात को ध्यान में न रखने के कारण अक्सर ऐसे स्थलों और विचारों से सूरदासजी का संबंध जोड़ दिया जाता है, जिनसे उनका कुछ भी वास्तविक संपर्क नहीं। इस ग़लतफ़हमी से बचने के लिए ही ऊपर का उल्लेख है।

सूरदासजी का काव्य यद्यपि अधिकतर गीतिबद्ध है, पर साथ ही छोटे-छोटे कथा प्रसंग और घटनाएँ भी गीतों के भीतर वर्णित हैं। यदि हम सूरसागर के दशम स्कंध को ही लें तो देखेंगे कि श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनके बाल्य और कैशोर वय के चरित्र तथा उनका मथुरागमन और कंसवध तक की मुख्य घटनाएँ भी यहाँ संग्रहीत हैं। सूरदासजी के काव्य की एक विशेषता यह है कि उसमें एक साथ ही श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी भी मिल जाती है और अत्यंत मनोरम रूप और भाव सृष्टि भी। प्रायः मुक्तक गीत ऐसे प्रसंगों को लेकर रचे जाते हैं जिनमें कथा का कोई क्रमबद्ध सूत्र नहीं मिलता, बल्कि कथा-अंश की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें दूसरे विवरणों का आश्रय लेना पड़ता है। गीतमात्र में केवल रूप या सौंदर्य आलेख के टुकड़े, सूक्ष्म मानसिक गतियाँ अथवा किसी विशेष अवसर पर उठने वाले मनोवेगों का प्रदर्शन ही प्राप्त होता है। स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाएँ; यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गोचारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसंग कथात्मक हैं, किंतु उन कथाओं को भी सजा कर सुंदर भावगीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौंदर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर घटना का विकास देख रहे हैं। इन दोनों के संमिश्रण में अद्भुत सफलता सूरदासजी को मिली है।

कहीं कथनोपकथन की नियोजना करके (जैसे दानलीला में) और कहीं कथा की पृष्ठ-भूमि को ही (उदाहरणार्थं वन में विचरण, अथवा वन से ब्रज को लौटना) गीत में सज्जित करके समय, वातावरण और कथासूत्र का हवाला दे दिया गया है। सूरदासजी किसी नाटकीय स्थिति-विशेष अथवा किसी ऐकांतिक मनोभावना-विशेष से आकर्षित होकर परिचालित नहीं हुए हैं। कृष्ण के संपूर्ण बालचरित्र पर ही वे मुग्ध हैं। फलतः वे मुक्तक गीतों के अंतर्गत सारे कथा सूत्र की रक्षा करने में समर्थ हुए हैं। अवश्य जहाँ काव्य अधिक अंतरमुख और मनोमय हो उठा है—जैसे वंशी के प्रति उपालंभ, नेत्रों के प्रति आरोप, विरह, भ्रमर-गीत आदि में—वहाँ भाव ही कथा-रूप में परिणत हो गए हैं। कथा की पृथक् योजना वहाँ हम नहीं पाते।

अब हम सूरसागर के अन्य अनावश्यक अंशों को छोड़कर मुख्य दशम स्कंध को लें। वर्षा-ऋतु भाद्रपद मास (कृष्णपक्ष) अष्टमी की अंधेरी आधी रात को चंद्रमा उदय होने के समय कृष्ण

का आविर्भाव होता है। सूरदास इस बात का उल्लेख करना नहीं भूले हैं कि आकाश चंद्रोदय के समय भी अंधेरा है, किंतु पृथ्वी पर नवज्योति का आगमन हुआ है। कृष्ण-काव्य की परंपरा के अनुसार कृष्ण का चार भुजा धारण कर अवतार लेना सूरदासजी ने भी दिखाया है, किंतु वह चतुर्भुज मूर्ति भी शिशु स्वरूप में हैं और उसके पृथ्वी पर आते ही माता उन अप्राकृतिक चिन्हों को छिपा देती है। बालक कृष्ण अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने आते हैं। कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी संभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतने गहरे वह नहीं पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े, यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हलकी आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।

असंभव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति को और भी क्षीण करने में सहायक होना है—कृष्ण का उसी रात स्थानांतरित होना, जन्म स्थान छोड़कर गोकुल पहुंचाया जाना। मार्ग में कृष्ण की ज्योति का न छिपना और बढ़ी हुई यमुना का कृष्ण के पैर स्पर्श करते ही रास्ता दे देना, पिता वसुदेव की प्रसन्नता और उत्साह का सूचक है। साथ ही मानव-व्यापार में प्रकृति के सहयोग की कल्पना भी इसमें निहित है।

असंभव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति के स्थान पर उसकी एक सहज योजना कृष्ण के गोकुल आने से हो जाती है। वह योजना है कृष्ण के अयोनिज होने की। इसकी बड़ी नैसर्गिक और कलात्मक प्रतिष्ठा की जाती है। यह स्पष्ट है कि कृष्ण यशोदा के अंगजात नहीं हैं और योनिज संबंध न होने पर भी यशोदा के मन में परिपूर्ण पुत्र-भाव स्थापित होता है। क्योंकि कृष्ण यशोदा की अंगजा के स्थानापन्न होकर आए हैं। यशोदा को इसकी सुध नहीं, किंतु पाठक इसे जाने रहते हैं। इस द्विविधा के द्वारा काव्य के भाव-सौंदर्य की वृद्धि होती है और आध्यात्मिकता अपने सहज कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित होती है।

यशोदा का यह प्रौढ़ावस्था का पुत्र है, जबकि माता यौवन की सीमा पर पहुँच कर ठहर चुकी है और निराशा के साथ नीचे ढलना आरंभ कर रही है। इस संधि-काल का स्पर्श करना कृष्ण-काव्य की एक बड़ी कलात्मक सूझ है। कृष्ण के प्रति अकेले और बड़े साध के बाद पाए हुए पुत्र का प्यार उभर पड़ता है। कुमारी मरियम का पुत्र यौवन के अनबींधे आरंभ का है। और यशोदा का पुत्र यौवन के अंतिम अवशेष क्षण का है। युवती की प्रतिमा दोनों ओर है—एक यौवन के इस पार, दूसरी उस पार। एक का पुत्र आशा के पहले और दूसरे का आशा के पश्चात् प्राप्त होता है।

कृष्ण का व्यक्तित्व कुछ अपने सौंदर्य के, कुछ माता के स्नेहातिरेक के कारण—ये दोनों ही नैसर्गिक अनुपात में हैं; इसलिए काव्य के कलात्मक विकास में सहायक भी—तथा शेष कुछ पिता के ग्रामाधिपति होने के कारण (यह एक आकस्मिक अथवा संयोग सिद्ध प्रसंग है, जिस पर आवश्यक भार कवि ने कभी नहीं चढ़ने दिया) प्रमुख रूपसे सामने आता है और अंत तक निसर्गतः प्रमुख ही रहता है। प्रमुखता तो काव्यों के सभी नायक मात्र के लिए आवश्यक होती है, किंतु कृष्ण की प्रमुखता कुछ ऐसी विशेषताएँ रखती है जो आध्यात्मिक काव्य के लिए आवश्यक है। इनमें सबसे पहली और मुख्य विशेषता है चरित्र के अंतर्गत एक रहस्यात्मक पुट की। रहस्यात्मक पुट तो जो भी जितना चाहे रख सकता है; किंतु काव्य में मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता भी अतिशय आवश्यक होती है। इन दोनों का सामंजस्य स्थापित करने में ही धार्मिक अथवा आध्यात्मिक काव्य की सफलता है। कोरे धर्म ग्रंथ और उन्नत धार्मिक काव्य में यही मुख्य अंतर है कि एक में हमारे विश्वास को असीम मानकर बर्ता जाता है और दूसरे में हमारे स्वस्थ मानसिक उपकरणों के साथ न्याय किया जाता है। लक्ष्य दोनों का एक ही होता है—चरित्र की अलौकिकता की नियोजना करना, किंतु इन दोनों की प्रणालियों में सारा अंतर हुआ करता है।

जिन असाधारण और क्षिप्रवेग से घटी प्रथम दिन की घटनाओं का विवरण हम दे चुके हैं और साथ ही जिन मानसिक परिस्थितियों और प्रतिक्रियाओं का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं उनके बाद कृष्ण चरित्र की असाधारणता के लिए ज़मीन तैयार है, ऐसा कहा जा सकता है। देखना यह है कि वह असाधारणता अथवा रहस्यात्मकता कितने नैसर्गिक रूप से प्रस्फुटित होती है। कृष्णजन्म की बधाई बज चुकी है और विशेष उत्सव मनाए जा चुके हैं। अन्नप्राशन और जन्म दिन की तिथियाँ बड़े समारोह के साथ संपन्न हुई हैं। दिन-भर गाँव-भर की भीड़ नंद के आँगन में रहा करती है, बालक कृष्ण की क्रीड़ाएँ देखने के लिए गोपियों का आवागमन लगा ही रहता है। नंद का आँगन मणियों का बना है, खंभे कंचन के बने हैं, इतनी अतिरिक्त सौंदर्य-योजना आसानी से खप जाती है।

तीन वर्ष बीतते ही बीतते कृष्ण आरंभ करते हैं चोरी, घर के भीतर नहीं, बाहर समाज में चोरी, गोपियों के घर-घर में माखन और दही की चोरी और उत्पात। चोरी सामाजिक धारणा में एक अपराध है, पाप है और गोपियों को रोज-रोज तंग करना भी कोई सदाचार नहीं। पर ग्राम के वातावरण और गोपियों की मनःस्थिति में बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य निर्लिप्त दीख पड़ती है। चोरी करते हुए भी वे गोपियों के मोद के हेतु बनते हैं और अपने उत्पातों-द्वारा उनके प्रेम के अधिक निकट पहुँचते हैं। पाप-पुण्य निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किए कैसे होती? अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्यवर्णना का अंग बन कर आया है, यही सूरदास की विशेषता है। सूर के भक्तिकाव्य का यह कौशल ध्यान देने योग्य है।

कृष्ण के इस स्वाभाविक नटखटपन के साथ जिस रहस्य की सृष्टि हो गई है, कवि समस्त काव्य में उसकी रक्षा और प्रवर्धन करता रहता है। स्वाभाविकता में अलौकिकता का विन्यास सूरदास की मुख्य काव्य साधना है। इस साधना में सर्वत्र वे सफल ही हुए हों यह नहीं कहा जा सकता; कहीं-कहीं वे रूढ़ियों में भी फँस गए हैं, वहाँ काव्य का मनोवैज्ञानिक सूत्र खो गया है; फिर कहीं-कहीं वे परंपरा प्राप्त 'मान' आदि के विस्तृत विवरणों में इतने व्यस्त हो गए हैं कि उनका रहस्यात्मक पक्ष नीचे दब गया है, ऊपर आ गई है कोरी और स्थूल शृंगारिकता। मैं इन स्थलों को सूरदास के काव्य की असफलता मानता हूँ, किंतु सफलता के स्थल असफलता से कहीं अधिक हैं।

यहाँ मैं असफलता के कुछ हवाले दूँगा। कृष्ण के बाल्य-चरित्र में कतिपय राक्षसों और राक्षसिनियों के वध किये जाने के आख्यान मिलते हैं। कतिपय विद्वानों ने इन आख्यानों में कृष्ण की शक्तिमत्ता का निदर्शन पाया है। जब से आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने शक्ति, सौंदर्य और शील की पराकाष्ठा राम के चरित्र में दिखाई है, तब से लोगों ने समझ लिया है कि ये तीनों गुण काव्य चरित्रों के लिए अनिवार्य हैं और जहाँ कहीं अवसर आए इनकी ओर इंगित कर देना चाहिए। यह भ्रांति कला की विवेचना में अत्यधिक बाधक हो रही है। केवल शक्ति की, सौंदर्य की अथवा शील की पराकाष्ठा दिखाना किसी काव्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। काव्य का लक्ष्य तो होता है रस-विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्य-लक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है। फिर तो किसी पात्र में किन्हीं गुणों की योजना कर देना—वे गुण चाहे काव्य शैली से प्रभावोत्पादक अथवा विश्वसनीय बनाए जा सकें हों या नहीं—कवि कर्म समझा जाने लगता है। यह कलात्मक और काव्यात्मक ह्रास का लक्षण है। कृष्ण के साथ बाल्यावस्था में राक्षस वध की जो अलौकिक लीलाएँ जुड़ी हुई हैं, जब तक उनका संकेतात्मक मानसिक आधार नहीं मिलता, तब तक काव्य की दृष्टि से उसका क्या मूल्य है? कोई यह नहीं कह सकता कि कृष्ण ने वास्तव में वे कार्य नहीं किए थे, किंतु काव्य कृति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि असंभव के आधार पर वह अपना कार्य आरंभ न करे। प्रतीति के लिए उन मानस-सूत्रों का संग्रह आवश्यक है जो उन घटनाओं को विश्वसनीय ही नहीं वास्तविक भी बना सके। काव्य में किसी चरित्र के साथ किसी गुण की पराकाष्ठा नियोजित करना पर्याप्त नहीं है; उसकी प्रतीति की पराकाष्ठा भी नियोजित करनी होगी।

कई राक्षस पक्षी, बछड़े, गदहे और आँधी आदि का वेष बना कर आए थे, कृष्ण के द्वारा उनका पछाड़ा जाना स्वाभाविक रूपमे चित्रित है; पर कतिपय आख्यानों में सूरदासजी ने परंपरा का पालन भर कर दिया है, कथा को कला का स्वरूप देने की चेष्टा नहीं की। ब्रह्मा-द्वारा बछड़ों के हरे जाने पर नए बछड़े गोपबालक उत्पन्न करने वाला आख्यान पूतना-वध तथा ऐसे ही अन्य कतिपय प्रसंग अपना सम्यक् मनोवैज्ञानिक आधार सूर के काव्य में नहीं पा सके हैं। इंद्र का देवताओं सहित कृष्ण के पास ब्रज आना केवल पौराणिक चित्रण है।

इसी प्रकार सूरदासजी के द्वारा चित्रित गोपिका-मान-प्रसंग को भी लीजिए। सूरदासजी ने उसका मूलगत रहस्यात्मक आशय खूब अच्छी तरह समझा था। उन्होंने आरंभ में बड़े सुंदर ढंग से इस रहस्य की सूचना दी है। राधा का मान वास्तव में भ्रांतिमूलक था। उन्होंने कृष्ण के हृदय में अपनी परछाहीं देख कर यह समझ लिया कि इनके हृदय में कोई दूसरी गोपी बसती है। बस इसी कल्पना के आधार पर वे रूठ गईं। कवि का प्रारंभिक आशय यह दिखाना रहा है कि गोपियाँ राधा की ही परछाहीं या प्रतिरूप हैं। कृष्ण का उनसे सम्पर्क राधा के प्रति ही सम्पर्क है। सोलह हज़ार एक सौ आठ गोपिकाओं से कृष्ण का संबंध दो दृष्टियों से प्रदर्शित है। एक तो कृष्ण के प्रेम की व्यापकता और सार्वजनीनता दिखाने के लिए (जिसमें ऐंद्रिय भाव संस्कृत और कलात्मक उद्यमों, नृत्य, गीत आदि में लीन हो जाए) और दूसरा कृष्ण चरित्र को निसर्गतः रहस्यात्मक या अलौकिक स्तर पर पहुँचाने के लिए। किंतु हुआ क्या? हुआ यह कि काव्य में कृष्ण का बहुनायकत्व ही अधिक उभर उठा है। रहस्यात्मक पक्ष पिछड़ गया है। कृष्ण एक-एक रात एक-एक गोपी के साथ व्यतीत करते और प्रातःकाल रक्तिम नेत्र, विचित्र वेष बनाकर दूसरी गोपिका के घर पहुँचते हैं। वहाँ उनका जैसा स्वागत होना चाहिए वैसा ही होता है। फलतः यहाँ कृष्ण थोड़ी-सी निर्लज्जता भी धारण करके स्थिति का सामना करते हैं। एक तो इस प्रसंग को इतना अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है कि मूल भाव सँभाले नहीं सँभलता और दूसरे इसकी वर्णना में रहस्यात्मक व्यभिचार (सब गोपिकाओं से, जो वास्तव में एक ही गोपी की प्रतिरूप हैं, समान प्रेम) ने स्थूल जारत्व का रूप धारण कर लिया है। मेरे विचार से सूरदास की कला इस प्रसंग में उस उच्च उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकी है जिसके लिए इस प्रसंग की नियोजना की गई थी। यहाँ वह अपने उच्च लक्ष्य और समुन्नत मानसिक धरातल से स्खलित होकर रूढ़ि के अनुसरण में संलग्न हो गई है।

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग को यहाँ रखने का उद्देश्य केवल कृष्ण की इस प्रतिज्ञा की पूर्ति करना है कि जो कोई उन्हें जिस भाव से भजता है, उसको वे उसी भाव में मिलते हैं। सब गोपिकाओं ने मिलकर उन्हें पति रूप में भजा था, इसलिए सबके प्रति वे समान व्यवहार दिखाना चाहते हैं। किंतु इस प्रतिज्ञा को इस हद तक खींचना ठीक न होगा कि काव्य में कृष्ण व्यभिचारी और कामुक के रूप में दिखाई देने लगें। गोपिकाओं की कामना पूर्ति बड़े सुंदर, स्वाभाविक और रहस्यात्मक रूप में रास-रचना द्वारा हो चुकी थी। बाह्य ऐंद्रिय संबंध को शब्दशः पूर्णता तक पहुँचाना सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि का लक्ष्य नहीं हो सकता। मालूम होता है उस युग की बहुपत्नी-प्रथा के दुष्परिणाम से सूरदासजी का काव्य भी कोरा न रह सका। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ह्रासोन्मुखी साहित्यिक रूढ़ियों का अनिवार्य प्रभाव भी सूरदास के काव्य पर पड़ा।

किंतु ऐसे स्थलों को हम अपवाद स्वरूप ही ले सकते हैं। मुख्यतः सूरदास जी की कला उदात्त मानसिक भूमि पर ही खड़ी है। अवश्य कई बार राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों में शारीरिक संयोग की भी चर्चा आई है। हमारे देश के कवियों ने प्रेम के इस परिपाक को स्वाभाविक मानकर स्वीकार किया है, 'रोमांटिक' ढंग से किनारा काटने की प्रथा उनकी नहीं थी। पर ये स्थल, काव्य में अन्य स्थलों की भाँति ही प्रसंगतः आ गए हैं, इनके लिए कतिपय अतिवादी कवियों की भाँति कोई खास तैयारी सूरदास जी ने नहीं की है।

मेरी अपनी धारणा यह अवश्य है कि सूरदास जी को ऐसे स्थल बचा देने चाहिए थे, अथवा संकेत से काम ले लेना था; क्योंकि धार्मिक काव्य के रचयिता को सामाजिक मर्यादा अधिक बर्तनी होती

है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि स्नायुओं को विकृत कर देनेवाली आजकल की दीर्घसूत्री अनुराग चर्चाओं की अपेक्षा सूरदास जी का उपक्रम फिर भी बुरा नहीं। अवश्य उन्हें प्रेम या अनुराग की यह परिणति दिखाने से कोई नहीं रोकता—बल्कि यह आज के समाज के लिए किसी अंश तक उपयोगी भी है; किंतु शिष्टाचार के विचार से ऐसे प्रसंगों को मर्यादा की सीमा में रखना था। सर्वत्र सूरदास जी ने ऐसा नहीं किया है, उनके समय की काव्य परिपाटी में जान पड़ता है, इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं था।

ऐसे ही, चीरहरण के अवसर पर कृष्ण के मुख से गोपियों से यह कहलाना कि तुम हाथ ऊपर कर जल से निकलो और अपने-अपने वस्त्र लो, सूरदास जी की सुरुचि का परिचायक नहीं है। सच्चे प्रेम की अगोपनीयता प्रकट करने के लिए कवि के पास कोई दूसरा उपाय नहीं था, यह मैं नहीं कह सकूँगा। उनके उद्देश्य के संबंध में शंका न रखते हुए भी यहाँ उनकी शैली को मैं निर्दोष नहीं कह सकता।

पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ये इने-गिने स्थल अपवाद स्वरूप ही हैं और सूरदास जी के वृहत् काव्य पर कोई गहरा धब्बा नहीं लगाते। जो धब्बे हमें आज की दृष्टि से देख भी पड़ते हैं वे संभव हैं किसी युग-विशेष में क्षम्य भी हों। कम से कम यह तो कोई नहीं कह सकता कि सूरदास जी के काव्य में विचित्र राधा और कृष्ण का प्रेम अतिरिक्त भावात्मक उद्रेक या उबाल का द्योतक है। अथवा उसमें विषाक्त कामुकता या दंपति-वासना के लक्षण हैं। यदि यह त्रुटि नहीं है तो और सब आरोप गौण हो जाते हैं। यदि अनुराग के आरंभ में तीव्र आकर्षण, ऐकांतिक मिलनेच्छा और सामाजिक मर्यादालंघन की प्रेरणाएँ काम करती हैं तो प्रथम मिलन के पश्चात् तत्काल ही राधा में प्रेम-गोपन चातुरी, वाग्विलास आदि की सामाजिक भावना जागृत हो जाती है जो प्रेम के स्वस्थ विकास का परिचायक है।

अब मैं कृष्ण की माखन-चोरी-वाले प्रसंग पर छूटी हुई सूरसागर की अपनी सरसरी आलोचना के सूत्र को फिर से पकड़ लूँ। मैं कह चुका हूँ कि यह प्रसंग जहाँ एक ओर गोपियों के स्नेह की सहज धारा प्रवाहित कर देता है वहीं यह पाप-पुण्य से निर्लिप्त कृष्ण के उपास्य और रहस्य शुद्धाद्वैत के बाल रूप का भी उद्घाटन करने में सहायक हुआ है।

इसके पश्चात् सूरदास जी निरंतर नायक (कृष्ण) का सहज और साथ ही रहस्यमय गौरव दिखाते हुए और उपासना की दोहरी आवश्यकता-पूर्ति करते गए हैं। माखन चोरी का ही वय प्राप्त स्वरूप कृष्ण की दानलीला में दिखाई देता है। यहाँ प्रेम कला के खुले हुए दृश्य हमें दिखाई देते हैं। कृष्ण के दधिदान (दधि पर लगने वाला कर) माँगने पर गोपियों को कृष्ण से उलझने, वाग्युद्ध करने, धमकी देने और बदले में धमकी पाने का अवसर मिलता है। अंत में एक ओर राधा और उनकी सब सखियाँ तथा दूसरी ओर कृष्ण तथा उनके सब सखा खुलकर आपस में कहा-सुनी करते हैं। हाथा-पाई की नौबत भी आती है और अंत में गोपी-दल सखा-समेत कृष्ण को भरपूर माखन और दधि-दान देकर, अपने सामने भोजन करा निवृत्त होता है। गोपियों के प्रेम की यह दूसरी बड़ी स्वीकृति कृष्ण ने दी है।

इसके पूर्व ही राधा का कृष्ण से परिचय—समागम हो चुका है। राधा की भावी सास (यशोदा) ने उसकी माँग गूँथी और नई फरिया (बिना सिला लहँगा) भेंट की है। अंचल में मेवे डाले हैं। राधा की माता को पुत्री के सामने गाली दी और पिता को भी विनोद-वचन कहे, जिस पिछले का बदला वह राधा के द्वारा ही पा चुकी है। फिर उसने सूर्य की ओर अंचल-पसार कर उनसे आशीर्वाद माँगा है कि नई दंपति का कल्याण हो।

इस रमणीय प्रेम और गार्हस्थ्य पुनः रहस्य की आभा से अनुरंजित करने के लिए सूरदास जी ने समस्त कुमारिकाओं से कात्यायनी व्रत कराया और पति रूप में कृष्ण को पाने की कामना करके कार्तिक चतुर्दशी को उपवास और रात्रि-जागरण के पश्चात् पूर्णमाशी को यमुना स्नान करते हुए दिखाया है। यही अवसर चीर-हरण का है।

भागवत में राधा का व्यक्तित्त्व परिस्फुट नहीं हो पाया है, इसलिए वहाँ व्यक्तिगत प्रेमालाप, वैवाहिक लोकाचार आदि का अवसर ही नहीं आया। बिना व्यक्तित्त्व के प्रेम की प्रगाढ़ता कैसे प्रकट होती?

सूरदास जी ने इस अंश की सम्यक् पूर्ति की और फिर भागवत की ही भाँति उपास्य कृष्ण की भी स्थापना कर दी। जिस कौशल के साथ राधा और कृष्ण के एकनिष्ठ, व्यक्तिगत, प्रगाढ़ प्रेम संबंध को सामूहिक स्वरूप सूरदास जी ने दिया है,—कृष्ण की प्रेम-मूर्ति को जिस चातुरी के साथ समाजव्यापी आराधना का पात्र बना दिया है, धार्मिक काव्य के इतिहास में उसके जोड़ की कोई वस्तु शायद ही मिले।

कृष्ण के सौंदर्य को राधा की अनुरक्त दृष्टि ने रहस्यमय बना दिया है, गोपियाँ जब कि कृष्ण के अंग-अंग के सौंदर्य का वर्णन करती हैं तब राधा कहती हैं मैंने तो कृष्ण को देखा ही नहीं। एक अंग पर दृष्टि पड़ते ही आँखें भर आती हैं, सारे अंगों को देखने की कौन कहे? उनके अंगों पर कभी निगाह ही नहीं ठहरती। सौंदर्य भी प्रतिक्षण और ही रूप धारण कर लेता है। यह रहस्यमय सौंदर्य दर्शन है, जिसकी शिक्षा गोपियाँ राधा से लेती हैं।

राधा तो कृष्ण प्रेम की प्रयोग कर्त्री हैं। वे स्वतः प्रेम की आकर हैं। किन्तु सूरदास जी का प्रयोजन एकमात्र आकर से ही नहीं सिद्ध होता; वे घर-घर उस आकर का प्रसार भी चाहते हैं। एतदर्थ राधा की सखियों की नियोजना की गई है जो प्रयोग कर्त्री राधा के संदेश को शतशः प्रणालियों से सारी दिशाओं में फैला देती हैं। ब्रज की रज-रज में कृष्ण-प्रेम की सुगंधि व्याप्त हो गई है। भक्ति की बेल इसी रस में से अंकुरित होती, बढ़ती और छा जाती है।

राधा श्रीकृष्ण की भक्त हैं अथवा प्रेमिका? सूरसागर में वे सर्वत्र कृष्ण की समानाधिकारिणी प्रेमिका हैं। उनकी श्री—शोभा पर कृष्ण मुग्ध हैं। कृष्ण के रूप-लावण्य पर राधा रीझी हैं। क्या यह भक्ति का संबंध है? नहीं यह प्रेमी-प्रेमिका का संबंध है। किन्तु इसी प्रेमी-प्रेमिका-संबंध का जब सामाजीकरण होता है, जब प्रत्येक गोपी राधा बन कर कृष्ण की आराधना करती है तब स्वभावतः भक्ति का आगमन होता है। प्रेमी कृष्ण के द्वारा ही आराध्य कृष्ण की स्थापना सूरदास जी ने जिस सुचारु कोटिक्रम से कराई है वह काव्य-जगत में एक दम अनोखा है।

रास वह स्थल है जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का संबंध समाज-व्यापी होकर रहस्यमयी भक्ति में परिणत हो जाता है। श्रीकृष्ण सहस्रों गोपिकाओं के साथ रास में संमिलित होते और सबकी कामना-पूर्ति करते हैं। यहाँ प्रेमिका का व्यक्तिगत संबंध-धारणा और तज्जन्य गर्व का निराकरण भी किया गया है। राधा यह संबंध-धारणा रखती थी, इसलिए कृष्ण कुछ काल के लिए अंतर्धान हो जाते हैं। जब राधा का यह गर्व दूर होता है तब कृष्ण पुनः उसके सामने आते हैं।

प्रेमी-प्रेमिका-संबंध की यह अंतिम परिणति ध्यान देने योग्य है। यह व्यक्तिगत संबंध का पूर्ण सामाजीकरण है, जिसे हम भक्ति कह सकते हैं। रास में असंख्यों गोपियों का भाग लेना, नृत्य-गीत आदि के द्वारा सबकी कामनापूर्ति, रहस्यमय रूप से सारी मंडली का कृष्ण-केंद्र में संकलित होना और फिर रास में कृष्ण के वंशी-वादन का प्रभाव—पाषाणों का द्रवित होना, यमुना की गति का स्तंभित होना, चंद्रमा का ठहर जाना, सभी एक ही लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं—शांत का अनंत में, व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान। इसलिए कृष्ण का रास अनंत कहा गया है। यह वह आदर्श-स्थिति है जिसमें पूर्ण सामञ्जस्य की स्थापना हो गई है, विक्षेप का कहीं अस्तित्त्व नहीं। संकीर्णता के हेतुभूत गर्व और अहंकार गलित हो गए हैं,—धुल कर बह गए हैं और धुल कर निकली है दुग्ध-धवल चंद्रिका में सब ओर छिटक रही उज्ज्वल कृष्ण भक्ति।

यह न समझना चाहिए कि हम आज दिन बाजारों में रासलीला संबंधी जो भद्दे चित्र देखा करते हैं वही सूरदास का भी रास है। रास नाम तो दोनों में समान है; किंतु उसके अंकन में सूरदास जी की समता करना साधारण चित्रकारों का काम नहीं। रास की वर्णना में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक उँचाई पर पहुँच गया है। श्रीमद्भागवत की परंपरागत अनुकृति कवि ने नहीं की है; वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठ भूमि बनाई है, जिस प्रशांत और समुज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो सज्जा, गोपियों का

जैसा संघठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केंद्रीकरण दिखाया है तथा रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरुक आध्यात्मिक मूर्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशांति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अंतर्दृष्टि के द्योतक हैं। उनके काव्य-चमत्कार की तुलना में बाजारू चित्रों को रखना, मणियों का मूल्य शाक-भाजी-द्वारा आँकना है।

रास के पश्चात् विशेषतः मान का वर्णन कवि ने किया है, जिसके संबंध में हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। मान का हेतु है राधा का अन्य गोपियों से अपने को पृथक् समझना, जब कि कवि की रहस्योन्मुख कला में वे राधा की प्रतिच्छाया मात्र हैं। इस लीला का आशय इस रहस्य को मुखरित करना ही था; किंतु वर्णन की अतिरंजना में कवि का मूल उद्देश्य विलुप्त हो गया और राधा की भ्रांति के स्थान पर कृष्ण का अपराधी रूप ही उभर आया है। निश्चय ही यह कवि की भावना के अनुरूप सृष्टि नहीं है।

कला की दृष्टि से मान-प्रसंग का एक दूसरा प्रयोजन राधा के व्यक्तित्व की, विशेषतः उसके सौंदर्य की प्रतिष्ठा करना भी हो सकता है—वह सौंदर्य. जिसका आकर्षण कृष्ण को भी विभ्रांत कर देता है (गोपियों की तो हस्ती ही क्या ?) और वह व्यक्तित्व जिसके सामने कृष्ण भी झुक कर प्रार्थी होते हैं। किंतु इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं कहा जा सकता। इसमें राधा का सौंदर्याकर्षण यद्यपि प्रमुख हुआ है, किंतु उससे भी प्रमुख हो गई है उनकी गोपियों के प्रति ईर्षा। क्या कवि का यह उद्देश्य (ईर्षा को प्रमुखता देना) हो सकता है ?

उच्च कला और सौंदर्यस्थापन की दृष्टि से इसका समर्थन नहीं किया जा सकता, यद्यपि एक प्रकार के श्रद्धालु यह कहेंगे कि राधा की ईर्षा उनके अन्य गोपियों की अपेक्षा सुंदर सज्जा करने और कृष्ण-प्रेम की एकांत अधिकारिणी बनने में सहायक हुई हैं। उस समर्थक वर्ग की दलील भी हम सुन चुके हैं जो यह कहता है कि प्रत्येक गोपी ने जिस-जिस भाव से कृष्ण को भजा उसकी पूर्ति उन्होंने की। उन्हीं में के कुछ यह भी कहेंगे कि बिना शारीरिक संयोग के गोपियों में उस विरह की जागृति दिखाना संभव न था जो कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् समस्त ब्रज में छा गया है। इस प्रकार की विचारणा उस विशेष वर्ग की है जो तांत्रिक रहस्यवादी पद्धतियों का अनुगामी है। मेरे विचार से श्रेष्ठ कला और दर्शन की आवश्यकताएँ इससे भिन्न हैं।

मान-मोचन के बाद ही बसंत और होली के अवसर आते हैं, जिनमें सामूहिक गान, वाद्य और छीना-झपटी के चटकीले और रंगीन दृश्य दिखाई देते हैं। इसके पश्चात् सागर-स्नान और स्नानान्तर स्वच्छ नूतन वस्त्र धारण करना और फिर पुष्प मालाओं से आच्छादित स्वर्ण-हिंडोल में गोपियों से परिवेष्ठित राधा-कृष्ण की झूलती हुई ऐश्वर्यशालिनी झाँकी। यहीं कृष्ण की ब्रजलीला समाप्त होती है। पर्दा गिरता है। प्रशांत ओजस्विता और प्रसन्न समादर के प्रभाव लेकर दर्शक मंडली (ब्रज की गोप-गोपियाँ) घर लौटती हैं।

इस अवसर पर जब ब्रज में सब ओर सुख-समृद्धि छा गई है और हिंडोल-स्थित राधा-कृष्ण की किशोर मूर्ति चरम आकर्षण का विषय बन चुकी है, एक ऐसी निष्क्रियता और आत्मनिद्रा की संभावना है जो स्वभावतः ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होती है। शेषशायी भगवान नारायण के-से दिव्य, किंतु अस्थिर और गति-हीन स्वरूप का उद्घाटन करना सूरदास की कला का लक्ष्य नहीं था, नहीं तो वे इसी स्थान पर अपना काव्य समाप्त कर देते। पर वे सारे ब्रजमंडल को चौंका देते हैं, कृष्ण की मथुरा जाने की सूचना दे कर। असंभाविक रूप से एक ऐसा झोंका आता है जो सुख के प्रशांत पारावार को दुःख की तरंगों से अभिभूत कर देता है। सब के सब व्यथित हो रहते हैं और कर्तव्य-शून्य होकर क्षोभ के महानद में डूबते-उतराते हैं। काव्य में जीवन की प्रगति का यही स्वरूप है। कृष्ण का कार्य अब ब्रज में नहीं मथुरा में है। इसलिए वे समस्त काम्य-संबंधों और प्रेम-बंधनों को दूसरे ही क्षण तोड़ देने को (हृदय पर पत्थर रख कर) तैयार हो जाते हैं।

विजय का पूर्ण विश्वास प्रतिक्षण मन में रखते हुए भी, अर्थात् भीतर से निश्चिन्त होते हुए भी, बाहर विकट संघर्षों का सामना कृष्ण को करना पड़ता है। वे सच्चे अर्थ में क्रांतिकारी का आत्म-विश्वास और उसी की-सी कष्ट सहिष्णुता लेकर इस नाग नाट्य में प्रवेश करते हैं। अदने से अदना कार्य वे अपने हाथों करते हैं। क्योंकि वे किसी समृद्धि सेना के नायक नहीं, नाग क्रांतिकारी हैं और अदनी से अदनी बात सुनने को तैयार रहते हैं। सूरसागर के इस प्रसंग को देखने पर इसकी अद्भुत समानता उन रचनाओं से देख पड़ती है जिनमें प्रचलित समान व्यवस्था अथवा राज व्यवस्था के विरुद्ध क्रांतिकारी चरित्रों की अवतारणा की गई है। रजक के साथ कृष्ण का झगड़ा, उसके कपड़े छीन कर अपने साथियों को पहनाना (बहाना यह कि राजा के दरबार में मैले कपड़े पहन कर कैसे जायँ!) पाश्चात्य क्रांतिकारी प्रसंगों की याद दिलाता है। मल्लयुद्ध के पूर्व कुबरी का मिलना और तिलक सारना एक ऐसा विचित्र और शुभ-सूचक मनोवैज्ञानिक उपादान है जो आधुनिक क्रांतिमूलक रचनाओं में भी किसी न किसी रूप में मिल जाता है। कंस-बध के पश्चात् कृष्ण सबसे पहले कूबरी के घर जाकर ही उसका स्वागत-सत्कार स्वीकार करते हैं। कंस के दुराचारों के भार से दब कर ही मानो वह कूबरी हो गई थी और कृष्ण के आते ही वह सुंदर अंगवाली हो जाती है।

यहाँ, ब्रज में, कृष्ण कितने कोमल प्रेम-तंतुओं को छिन्न-भिन्न कर गए हैं, इसका कुछ अंदाज गोपियों की विरह कातर पुकार से लग सकेगा। आज के समीक्षक को यह एतराज है कि कृष्ण के कुछ मील दूर मथुरा जाने पर गोपियों के रोने-धोने का इतना बड़ा पवाँरा सूरदास ने क्यों एकत्र किया? यही नहीं, सूरसागर काव्य के जो उत्कृष्ट स्थल हैं—वंशी को लक्ष्य करके दिए गए सैकड़ों उपालंभ, जिनमें सूक्ष्म प्रेम-भावना भरी हुई है, नेत्रों पर किए गए अनेकानेक आरोप जिनमें रहस्यात्मक सौंदर्य-व्यंजना है, इन आलोचकों की व्यर्थ की मानसिक उधेड़-बुन और एक अतिभावुक युग का काव्यावशेष समझ पड़ता है। किंतु यह समझ एकदम भ्रांत है। असल में इन्हीं वर्णनाओं में, जो कवि की उत्कृष्ट तल्लीनता और सूक्ष्म मानसिक पहुँच और अधिकार की द्योतक है, कवि ने कृष्ण के रहस्यमय स्वरूप का निर्देश किया है, वह स्वरूप जो भक्ति का आधार और भक्तों का इष्ट है। भक्ति और भक्त का नाम सुन कर कोई मिथ्या धारणा नहीं बना लेनी चाहिए। मैं कह चुका हूँ कि व्यक्तिगत प्रेम का सामूहिक सामाजिक स्वरूप ही भक्ति है और साथ ही मैं कवि सूरदास की उन काव्य-चेष्टाओं की भी कुछ सूचना दे चुका हूँ, जिनमें उन्होंने इस समाज-व्यापिनी कृष्ण-भक्ति की नियोजना की है। इन्हीं चेष्टाओं के सर्वश्रेष्ठ अंश वे हैं जिन्हें उपर्युक्त आलोचक मानसिक विजृंभणा कह कर टाल देना चाहते हैं। पर इस प्रकार वे टाले नहीं जा सकेंगे। व्यक्त सौंदर्य की जो अव्यक्त और निगूढ़ अंतर्गतियाँ कवि ने दिखाई हैं वे कृष्ण को रहस्य स्वरूप प्रदान करती हैं। इसी रहस्यमय स्वरूप से उपास्य कृष्ण की प्रतिष्ठा होती है। जो प्रेम प्रसंग व्यक्तिगत और बाह्य घटनाओं से प्रकट हैं उनका उपयोग भी क्रमशः अनिर्वचनीय, रहस्यमय, सामूहिक प्रेम (भक्ति) की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। सूरदास की यही मुख्य काव्य-साधना है।

ब्रज रहते, कृष्ण का जो प्रेम, गोपियों में इधर-उधर बिखरा था, अब उनके मथुरा जाने पर वह छनकर एकत्र हो रहा है। गोपियों के विरह-गीतों में उसका समाजवादी स्वरूप धारण करना जारी है। मिलने के अवसर पर जो रहे-सहे भेद-भाव थे, अब मिट गए हैं (जिन लोगों ने यह शंका की है कि सूरसागर में सोलह हज़ार गोपिका-सहचरियों से कृष्ण का प्रेम संबंध क्यों दिखाया गया है? उन्हें ऊपर के उत्तर से समाधान कर लेना चाहिए)। प्रेम-भावना अपना रहस्यमय सामाजिक स्वरूप धारण कर रही है।

और जब उद्धव निर्गुण का संदेश लाते हैं तथा गोपियाँ भ्रमर को संबोधित कर उन्हें मर्मस्पर्शी उत्तर देती हैं, तब तो रहस्य खुल ही जाता है। गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म का तिरस्कार क्यों करती हैं? क्योंकि वे जिसकी प्रेमिका या उपासिका हैं, वह निर्गुण से क्या कम है? निर्गुण से क्या कम सुंदर है? क्या कम श्रेष्ठ है? जिसको योगी योग द्वारा समाधि साध कर प्राप्त करते हैं उसे ही (नामान्तर से) गोपियों ने प्रेम-परि-चर्या से प्राप्त किया है। क्यों वे इसे छोड़कर उसे लें? क्या विशेषता है उसमें, जो इसमें नहीं है? क्या

रहस्य है उसमें, जो इसमें नहीं है ? जो विशेषण उसके साथ लगते हैं, वे सब इसके साथ भी लगते हैं। यह कोई व्यक्ति कृष्ण नहीं; यह तो रहस्यमयी परमसत्ता, परम उपास्य ही कृष्ण है और यहीं आकर सूरदास जी की आरंभिक प्रतिज्ञा भी सार्थक हो जाती है—

अविगत - गति कछु कहत न आवै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं 'सूर' सगुन-पद गावै ।।

अविज्ञात निर्गुण के समकक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय लीला-पद सूरदास सुनाते हैं।

हम अलि, गोकुलनाथ-अराध्यौ

महाकवि सूरदास

राग—सोरठ

हम अलि, गोकुलनाथ-अराध्यौ ।

मन, बच, क्रम हरि सौं धरि पतिब्रत, प्रेम-जोग-तप-साध्यौ ।।
मात-पिता हित प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख भ्रम नाख्यौ ।
मान, अमान परम परितोषी, अस्थिर-थित मन राख्यौ ।।
सकुचासन कुल, सील करषि करि, जगतबंद करि बंदन ।
मान, अपवाद पवन अवरोधन, हित-क्रम काम-निकंदन ।।
गुरुजन-कानि अगिनि चहुँ दिसि, नभ तरनि ताप बिन देखे ।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ, अपजस स्रवन अलेखे ।।
सहज समाधि बिसारि बपु बानक निरखि, निमेष न लागत ।
परम जोति प्रति अंग माधुरी, धरत यहै निसि जागत ।।
त्रिकुटी संग भ्रू-भंग तराटक, नैन, नैन लगि लागे ।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि, चंद-सूर अनुरागे ।।
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि अनहद नाद प्रमाने ।
बरसत रस रुचि बचन संग सुख, पद आनंद समाने ।।
मंत्र दियौ मन जात भजन लगि ग्यान-ध्यान हरि ही कौ ।
'सूर' कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीकौ ।।

राग-मलार

प्रीति वा देस, न कोऊ जानत ।

तू तौ बात कहत अलि, ऐसी, बिथा नाहिं पहिचानत ।।
जो गुपाल ब्रजमें घर-घरते, दूध दह्यौ लै खात ।
सो अब दुःख देत ब्रज-बासिन्ह, निठुर भए पुर-जात ।।
नख-सिख-लौं बिष-रूप बसत है, मधुबन नाम कहावत ।
'सूर' कुटिलता सो सुनियत है, लोग पुरातन गावत ।।

राग-मलार

मधुकर, तुम्ह रस-लंपट लोग ।

कमल-कोष-बस रहत निरंतर, हमें सिखावत जोग ।।
अपने काज फिरत बन अंतर, निमिष नाहिं अकुलात ।
पुहुप गएँ बहुरौ बेलिन के, नैंक निकट नहिं जात ।।
तुम्ह चंचल, वे चोर सकल अँग, बातन्ह को पतियात ।
'सूर' बिधाता दोउ रचे हैं, मधुप-स्याँम इक गात ।।

श्री सूरदासजीके एक पद पर प्राचीन राजस्थानी-चित्र

सूरसागर का विकास और उसका रूप

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

बहुत दिन से मन में कुछ विचार संघर्ष कर रहे थे कि 'श्रीसूर' के 'सागर' का वर्त्तमान—"भागवत-अनुसार द्वादशस्कंधात्मक" रूप सूरदास कृत नहीं हैं। इसके कुछ कारण थे और थी उनमें सत्यता। फिर भी विचार व्यतिक्रम के कारण पकड़ में नहीं आ रहे थे। उन पर श्रद्धा-अश्रद्धा का आवरण जब-तब उतरता-चढ़ता रहता था। वे कारण थे—श्री गोकुलनाथजी की 'वार्त्ता', उस पर श्री हरिरायजी का 'प्रकाश', नाभादास जी का 'भक्तमाल', प्रियादासजी की भक्तमाल पर 'टीका', भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह आदि से लेकर अनेक 'भक्त-चरित्रात्मक' विवरणों के रचयिताओं के अनंतर हिंदी-साहित्य के वे इतिहास-ग्रंथ जो 'शिवसिंह-सरोज' से लेकर अबतक प्रकाश में आ चुके हैं। इन सब ग्रंथों में सूर और उनके सागर के प्रति विभिन्न मत होते हुए भी इस एक बात को सब ने दुहराया है कि श्रीसूर ने 'लक्षावधि' वा 'सहस्रावधि'-पद-रचना की, जो विचारणीय है; किंतु यहाँ लक्षावधि वा सहस्रावधि संज्ञा किसी हद वा परिमाण की द्योतक नहीं, उसकी अपारता की द्योतक है। फिर भी उदयपुर के मोतीलाल मेनारिया एम० ए० ने इस सहस्रावधि-पद संख्या को ही आधार मान कर अपने एक लेख में सूर के सागर को एक हज़ार पदों की परिधि में समाप्त होने वाला ग्रंथ बतलाया है। यह हजार पदों की संख्या का दायरा उदयपुर और बीकानेर के सरस्वती-भंडारों से प्राप्त प्रतियों पर अवलंबित है। अन्य प्रतियाँ जो उनके इस दायरे से कहीं अधिक है, उनके लिये शायद आप के हृदय में स्थान नहीं। सूरसागर के रूप पर भी उन्होंने कुछ प्रकाश नहीं डाला है कि वह संग्रहात्मक है या भागवत-अनुसार द्वादशस्कंधात्मक, यद्यपि इन भंडारों की प्रतियाँ उनके देखने में आ चुकी थीं। सूर के संबंध में लिखे गये अनेक ग्रंथों के साथ-साथ समय-समय पर सूरसागर की प्रतियाँ यत्र-तत्र से हमारे देखने में भी आईं, जो सब द्वादशस्कंधात्मक, अर्थात् भागवत-अनुसार प्रथम स्कंधसे लेकर द्वादशस्कंध तक अनुवाद जैसी थीं और इन्हें अप्रमाणिक मानने में किसी आधार के बिना लोक-लज्जा थी। फिर भी हृदय सागर के इस द्वादशस्कंधात्मक रूप को मानने में विवश था—इनकार कर रहा था, क्योंकि 'नवलकिशोर प्रेस लखनऊ' की प्रति जो मुद्रित प्रतियों में उस समय सब से प्राचीन थी और जिसके—प्रथम संस्करण का संपादन ब्रजभाषा के जाने-माने कवि महाराज मानसिंहजी उपनाम 'द्विजदेव' अयोध्या की देख-रेख में उस समय के किन्हीं पं० कालीचरण ने किया था और जिसके अनेक संस्करण आज तक निकल चुके हैं। वह संस्करण संग्रहात्मक है,—द्वादशस्कंधात्मक नहीं। द्विजदेवजी ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे—उसके मर्मज्ञ थे और थे उस (ब्रजभाषा) के कवियों से, उसके इतिवृत्त से तथा उसके साहित्य से परिचित एवं विज्ञ। जब उन्होंने अपनी देख-रेख में प्रकाशित होने वाले 'सूरसागर' को संग्रहात्मक रूप में प्रकाशित कराया, तब उसकी मान्यता के कुछ कारण अवश्य होने चाहिये, जो आज अज्ञात हैं। द्विजदेवजी-द्वारा मान्य सूरसागर का संग्रहात्मक रूप मोटे तौर पर विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत इस प्रकार है—

"सूरसारावली (सवालाख पदों की सूची), नित्यकीर्त्तन (विभिन्न गेय-पद-रचयिता कवियों का संग्रह), बधाई के पद, बाल-लीला (माटी-भक्षण), माखन चोरी, दामोदर लीला, वत्सहरण लीला, राधा कृष्ण प्रथम मिलन—चकई-भोरा खेलन लीला, गोलवर्धन लीला, गोचारण लीला, कालीदमन-लीला, दावानल-पान लीला, गोदोहन लीला, भुवंगम-डसन लीला, व्रतचर्या—वस्त्रहरण लीला, पनघट-लीला, दान लीला, अनुराग लीला, मुरली के पद, रास लीला, विनय के पद, मथुरा-गमन लीला और भ्रमरगीत-संबंधी पद।"

वार्ता तथा भक्तमाल-आदि ग्रंथों में जैसा लिखा जा चुका है कि श्रीसूर ने लक्षावधि या सहस्रावधि, अर्थात् किसी संख्या के दायरे में न आनेवाले रूपमें भगवान श्रीकृष्णके लीलात्मक पदों की रचना की। इस प्रमाण की अपुष्टता के प्रति कोई दलील नहीं दी जा सकती। यहां असत्यता की भी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वार्ता तथा भक्तमाल के उभय-रचयिता सूरदासजी के समकालीन थे। उन्होंने सूर के पदों का संकलन भागवत-अनुसार द्वादशस्कंधात्मक रूपमें नहीं देखा था, जिस से सागर के द्वादशस्कंधात्मक होने में प्रमाण की अपुष्टता ही सिद्ध होती है। फिर भी समय-समय पर सूर के सागर का द्वादश-स्कंधात्मक रूप ही प्राप्त होने से उसका यह रूप मानने में संकोच होता था। यह बात सच है—

"जिन खोजा तिन पाइयाँ, गँहरे पानी पैठ।"

अस्तु, कुछ काल बाद "सूरसागर" की खोज में ही 'जयपुर' जाना पड़ा। वहां अनेक राजकीय बाधाओं के रहते हुए भी उस समय के उच्च अधिकारी 'सर मिर्जाइस्माइल', तथा 'विजयानंदजी चतुर्वेदी' की कृपा से बड़ी कठिनाइयों के बाद राज्यपुस्तकालय (पोथीखाना) से सूरसागर की एक प्रति दो खंडों में लिखी मिली। पुस्तक अति सुंदर अक्षरों में जयपुर के साँगानेरी कागज पर काली चमकती स्याही से सुनहरे बार्डरों के बीच लिखी हुई थी। पुस्तक की शोभा, उसकी सज-धज देखते ही बनती थी। प्रति देख कर मन तो प्रसन्न हुआ ही; बहुत दिन की साथिन शंका भी दूर हो गयी, क्योंकि पुस्तक संग्रहात्मक थी—द्वादशस्कंधात्मक नहीं। फिर तो उदयपुर, काँकरोली, कुचामन, किशनगढ़, कोटा, बूँदी, जोधपुर, बीकानेर-आदि से जितनी भी सूरसागर की प्रतियाँ देखने में आई, वे सब संग्रहात्मक थीं।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान में रखने की है कि ये सब संग्रहात्मक प्रतियां सूरसागर के द्वादशस्कंधात्मक रूप वाली प्रतियों से कहीं अधिक पुरानी हैं। इनमें-उनमें सौ वर्ष का अंतर है। ये प्रतियां पाठ में शुद्ध, सुंदर और ब्रजभाषा की उच्चारण प्रणाली के भी अति निकट थीं। बात जंच गयी और हृदय ने उसे स्वीकार कर लिया। श्री सूर ने महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य की शरण में आने से पूर्व जो कुछ गेय-पद रूप में साहित्य-सृजन किया वह विनय के—दीनता रूप अधकचरे बरसाती पानी के समान नीरस और स्वाद-हीन था। बाद में जब सूर—

"सूर ह्वै कें काहे कौं घिघियात हौं, कछु भगवद लीला बरनन करौ"

के सुहागे से उज्ज्वल हुए तब लीलात्मक पद-रचना करने लगे, जिसका श्रीगणेश निम्न पद से हुआ था—

"ब्रज भयौ मैंहर कें पूत, जब यै बात सुनीं।"

यह रचना-क्रम उस समय तक निर्बाधगति से चलता रहा जबतक कि आपने अपने भौतिक शरीर का त्याग नहीं किया। तब आप को भागवत-अनुसार द्वादशस्कंधात्मक पद-रचना करने का अथवा अपने सागर को तद्-रूप क्रम बैठाने का कब समय मिला? यह विचारणीय था, संदिग्ध था और मानने के योग्य नहीं था। वास्तव में श्री सूर-कृत सागर का रूप संग्रहात्मक ही होना चाहिये, क्योंकि सूर लेखक न थे,—रचयिता थे।

"स्वांत सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।"

की तरह कृष्ण-गाथा के, उनकी लीलाओं के गायक थे। वे लिखा नहीं करते थे, गाया करते थे। श्री गिरिराजजी के ऊपर स्थापित अपने आराध्य देव श्री श्रीनाथजी की मूर्त्ति के सन्मुख अपने बनाये नित्य नयें लीलात्मक पद गाकर आत्म-विभोर हुआ करते थे। श्रीहरिरायजी के प्रकाश के अनुसार सूर जन्मांध थे—मिलपट अंधे, अर्थात् दोनों पलक जुड़े हुए बरौनियाँ-रहित। अतः सूर-द्वारा अपने सागर का द्वादशस्कंधात्मक रूप रचने वा क्रम के देने का प्रश्न ही नहीं उठता? आप तो भगवल्लीला के उन्मुक्त गायक थे, जो गाते थे। रचने वाले थे, जो नित्य नये-नयें रूप में अपनी जन-मन-मोहनी सुमधुर ब्रजवाणी में पद रच कर और अपने प्रभु के सानिध्य में गाकर अपने को धन्य किया करते थे। न उनमें संग्रह की चाह थी और न थी उनमें कोई क्रम बैठाने की उमंग। उनका कार्य था अपने प्रियकी गुणावली गाना, उसके रसमें विभोर हो झूमना और भगवान श्रीकृष्ण की विविध बाल-लीलाओं से लेकर पौगंड तक की लीलाओं में तदात्मभाव से मग्न होना। वहाँ अन्य बातों या किसी क्रम को बैठानेके लिये स्थान ही कहाँ था—उस नित्य नये सुमधुर रस से बिलगाव ही कहाँ था, जो इस द्वादशस्कंधात्मक-रचना वा उसके क्रम के बैठाने के पचड़े में पड़ते। किंतु सूर तथा उनके संगी अष्टछाप के

कवियों—"कृष्ण दास, गोविंद स्वामी, कुंभन दास, नंद दास, चतुर्भुज दास, परमानंद दास तथा छीत स्वामी" के साथ-साथ इनके अन्य अनुयाई कवियों—पद-रचयिताओं के पदों का संग्रह—सांप्रदायिक क्रम के अनुसार उन (सूर) के समय में हो चुका था, जो 'नित्य-कीर्त्तन' तथा 'वर्षोत्सव' के नाम से पुकारे जाते हैं, क्योंकि श्री आचार्य महाप्रभुके पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी के समय में ही 'श्रीनाथजी' से भिन्न उनकी अन्य सेव्य-मूर्त्तियाँ श्री विट्ठलनाथजी के वंशजों-द्वारा ब्रज से बाहर यत्र-तत्र जाने लगीं थीं। कारण जो कुछ रहा हो, पर वे गयीं और अपने साथ अष्टछाप के कवियों के वे कीर्त्तनों (पदो) के संग्रह भी जिन्हें—नित्य-कीर्त्तन और वर्षोत्सव के पद नाम से संज्ञा दी जा चुकी थी, लिखवा कर—लिपि-प्रतिलिपि कराकर लेती गयीं। पुष्टि, अर्थात् वल्लभ संप्रदाय में, उसकी सेवा-प्रणाली में "साहित्य, संगीत और कला" का जो सुमधुर मिश्रण किया गया है वह अन्यत्र नहीं। सुबह से लेकर साँझ तक जो कुछ सेवा का क्रम नियुक्त किया गया है, वह साहित्य, कला तथा संगीत से ऐसा ओत-प्रोत है कि वर्णन नहीं किया जा सकता। कीर्त्तन के बिना सेवा नहीं और सेवा के बिना कीर्त्तन नहीं। इसी प्रकार साहित्य और कला का संमिश्रण किया जो उनकी सेवा प्रणाली में, उनके वस्तु-विन्यास में सुंदर से सुंदरतम रूप में समाई हुई है। अस्तु, वे कीर्त्तन, संग्रह रूप में प्रस्तुत होकर गये जो आज भी आचार्य-घरों में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ही सही, पर सच्चे रूप में मिलते हैं। कुछ समय बाद ये संग्रह बोझिल हो जाने के कारण तीन रूपों—'नित्य-कीर्त्तन, वर्षोत्सव तथा वसंत-धमार संग्रह' में परिणत हो गये। पुष्टिमार्गीय वैष्णवों ने भी इनके प्रसार में सहायता दी, फलस्वरूप आज हजारों-लाखों घरों में ये संग्रह ग्रंथ दो वा तीन रूपों में विराज कर उन्हें उज्ज्वल और पावन बना रहे हैं। यह पूर्व-अनुमोदित क्रम आज भी चल रहा है तथा आगे भी चलते रहने की आशा है, क्योंकि इस में श्रेय और प्रेय का जितना लोक-रंजक मधुर मिश्रण हुआ है वह अन्य संप्रदायों में कठिनता से ही मिलेगा। इन संग्रह-ग्रंथों की संख्या आज गिनती से परे है। मुद्रण-यंत्रों ने भी इस प्रवाह में अमोघ गति ही बढ़ायी। यह गति मथुरा के लीथो प्रेसों से लेकर गुजरात के अनेक प्रेसों-द्वारा बढ़ती गयी। वैष्णव ठाकुरदास सूरदास, लल्लू भाई छगनलाल देसाई, वसंत-राम हरिकृष्ण शास्त्री, भारत के प्रसिद्ध चित्रकार जगन्नाथ अहिवासी तथा इस लेख के लेखक से आदि लेकर अनेक महानुभावों, प्रकाशकों तथा मुद्रण-यंत्राधिकारियों ने इनके प्रसार में अति सहयोग दिया, जो अवर्णनीय हैं। ये संग्रह-ग्रंथ ही मूल रूप में 'सूरसागर' के धाता-विधाता बने, उसकी उत्पत्ति के कारण बने—जनक बने। आगे चलकर इन नित्य-कीर्त्तन, वर्षोत्सव तथा वसंत-धमार संग्रहों से सूर-पदों का सागर ही नहीं, अष्ट-छाप के प्रायः सभी कवियों के 'सागर' बने, जिन में तीन—'सूर-सागर', 'कृष्ण-सागर' और 'परमानंद-सागर' मिलते हैं। नंद-सागर, अर्थात् नंददास जी के पदों के सागर का नाम-भर सुना जाता है, देखने में नहीं आया है। गोविंद स्वामी के दो सौ बावन पदों का संग्रह भी बहुत देखने में आता है। इसी प्रकार, कुंभनदास, चतुर्भुजदास तथा छीत स्वामी के भी छोटे-मोटे पदों के संग्रह यत्र-तत्र मिलते हैं। फिर तो यह विकास नित्य नया रूप धारण करने लगा, फलस्वरूप सूर-पदों के तीन रूप, संग्रहात्मक तदनंतर द्वादशस्कंधात्मक तथा साहित्य-लहरी जो सूर के कूट पदों का संकलन है बने, जिनके निर्माण का—संग्रह का इतिहास आज समय के पृष्ठों पर से धुल-पुछ गया है। सूर के सागर का यह संग्रहात्मक रूप मोटे तौर पर इस प्रकार है—

"भगवान श्रीकृष्ण की जन्म-बधाई, उनकी बाललीला—(पालना-आदि), ब्रज की अन्य लीला-रासादिक से लेकर विरह-पदावली तक, जिसे भँवरगीत नाम से उल्लेख किया जाता है। तदनंतर तीनों—नृसिंह, बावन और राम-जयंतियों के बाद विनय के पदों पर समाप्त हो जाता है।"

ये विनय-पदावली वही है जिसे श्री सूर ने श्री वल्लभ-चरण-शरण के आने से पूर्व रचा था। किन्हीं रसज्ञ व्यक्ति ने इन संग्रहों से कुछ विशिष्ट दृष्टिकूट (अर्थ-संगति में कठिन) पदों का संकलन 'साहित्य-लहरी' नाम से किया। सूर को दृष्टि-कूट, अर्थात् अर्थ में कठिनता उत्पन्न करने वाले पद-रचना करने की प्रेरणा महाभारत से मिली अथवा कहीं अन्यत्र से, यह कहना कठिन है, परंतु—सूर के समय यह प्रणाली इस प्रकार की रचनाओं के लिये चल पड़ी थी।'

सूर के सागर का दुसरा रूप द्वादशस्कंधात्मक, अर्थात् भागवत-अनुसार बना। वह कब और किसने बनाया वा संग्रह किया, इसका आज कुछ पता नहीं चलता। अस्तु, सूर के पद रूप शाखाओं में—लीलात्मक पद, जयंति-पद, विरह-पद (भंवरगीत) और विनय के पदों में ये निबंधन-समान कथात्मक पद कब और किसने मिला दिये कुछ कहा नहीं जा सकता। उपलब्ध सामग्री से यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सागर का वर्त्तमान—द्वादशस्कंधात्मक रूप सत्रहवीं शताब्दी तक नहीं बन सका था, उससे प्रथम वह अपने संग्रहात्मक रूप में था। पर जैसा कि कहा जा चुका है आगे चलकर वह द्वादश स्कंधात्मक रूप में कब परिणत हुआ इसका इतिहास अभी अंधकार में है। अस्तु, सूर के पद रूप हीरों से इन काँच के मनियों का पृथक् किया जाना दुस्तर कार्य है और जिसे समय ही जगहीं कर अपने से पृथक् करेगा। पर आज तो ये सूर-पद-प्रेमियों के लिये एक समस्या बन रहे हैं, इस सत्यता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। सूरसागर का वर्त्तमान रूप (द्वादशस्कंधात्मक) विनय-पदों के अनंतर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थस्कंधादि में परिणत व परवर्धित होकर द्वादशस्कंधात्मक बन गया है। यह क्रम आज भी चल रहा है। प्रमाण में वेंकटेश्वर प्रेस बंबई-द्वारा प्रकाशित प्रति, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित (दो खंडों में) बृहत् रूप, तत्पश्चात् वियोगी हरि, मिश्रबंधु, डा० बेणीप्रसाद आदि अनेक संपादकों-द्वारा संपादित सूरसागर के संक्षिप्त वाल्य-रूपों का नाम लिया जा सकता है। यही नहीं, सूरसागर की अंतर्गत लीलायें भी पृथक्-पृथक् अपनी रुचि अनुसार संग्रह की गयीं और छापी गयीं। सूरसागर से एक-एक विषय के जैसे—विनय के पद गोस्वामी तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' के रूप में, राम-चरित्रात्मक पद 'सूर-रामायण' के रूप में, नेत्र-संबंधी पद 'सूरदास : नयन' के रूप में, मुरली-संबंधी पद 'मुरली-माधुरी' के रूप में तथा विरह-संबंधी पद 'भ्रमर-गीत' रूप में पृथक् हुए,—संग्रह हुए और यत्र-तत्र छपे। विनय पदावली के भी छोटे-मोटे रूप बने, जिन्हें—सूर-साठी, सूर-सतक आदि नाम दिये गये। इनके भी अनेक संस्करण मुद्रित और हस्तलिखित रूप में आज मिलते हैं। भगवल्लीलात्मक पदों का भी विभाजन हुआ। राम और कृष्ण-लीलायें भी पृथक्-पृथक् संग्रह और प्रकाशित हुईं। कृष्ण-लीला के भी विभिन्न रूपों से संग्रह हुए और छपे। इन लीलाओं से भी भक्त-चरित्रात्मक लीलायें पृथक् हुईं। बाल लीला, गोवर्धन लीला, चीरहरण लीला, रास लीला ही नहीं, मोरध्वज लीला, ध्रुव लीला, प्रहलाद लीला आदि-आदि, जो इस लेख के अंत में दिये गये वंश वृक्ष से क्रमानुसार अधिक सुगमता से समझ में आ सकेगा।

उपरोक्त वंश वृक्ष से सागर के मूल वंश-विकाश के अतिरिक्त श्री सूर की इन संपूर्ण कृतियों को एक नजर में भी देखा जा सकता है। जैसे—

१. साहित्य-लहरी,

२. सूर सागर (संग्रहात्मक, द्वादशस्कंधात्मक तथा संक्षिप्त और पृथक्-पृथक् लीलायें)—"गोपालगारी, गोवर्द्धन लीला—छोटी-बड़ी, चीरहरण लीला, दशमस्कंध भागवत, दान लीला, दीनता-आश्रय के पद, नाग लीला (काली-दमन), पदसंग्रह, प्रान-प्यारी (श्याम सगाई), बाँसुरी लीला, बारह-मासा (मासी), बाल लीला, ब्याहुलौ (व्याह के पद), भगवच्चरण-चिह्नवर्णन, भागवत, मान-लीला, मानसागर (मान के पद), श्री राधा नख-शिख, राधा-रस-केलि-कौतुक, रामजन्म के पद, रामायण-पद, रास लीला के पद, वैराग्य-सतक, सूर-छत्तीसी, सूरदास के पद, सूर-पचीसी, सूर-बहोत्तरी, सूरसागर-सार, सूर-साठी तथा रुक्मिणी मंगल और सुदामा चरित्र वा लीला।"

३. सूर-गीता, (गीता का अनुवाद)[1]

४. सेवाफल, (गद्य)[2]

५. सूर-सारावली, (अनेक दृष्टियों में)

[1] यह पुस्तक जयपुर (राजपुताना) से प्राप्त हुई है।

[2] यह पुस्तक श्री वल्लभाचार्य के संस्कृत ग्रंथ 'सेवाफल' का ब्रजभाषा-अनुवाद है।

सूरसागर की प्रतियाँ

सूरसागर की हस्त-लिखित तथा मुद्रित-प्रतियाँ—संग्रहात्मक तथा द्वादशस्कंधात्मक जो हमारे देखने-सुनने[1] में आई हैं, उनके प्राप्त-स्थानों का विवरण अकारादि क्रम के अनुसार लिपि काल-सहित नीचे दिया जाता है।

हस्तलिखित

अज्ञात स्थानों की प्रतियाँ—

१. सूरसागर, सं० १७३५ की प्रति

२. सूरसागर, सं० १८१६ की प्रति[2]

बाबू राधाकृष्ण-द्वारा उल्लिखित—

१. सूरसागर, (प्रथमस्कंध से नवमस्कंध तक) प्रा० स्था०—खड्ग-विलास प्रेस पटना,

२. सूरसागर, (दशमस्कंध पूर्वार्द्ध) भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र-पुस्तकालय, काशी,

३. सूरसागर, (दशमस्कंध उत्तरार्द्ध से द्वादशस्कंध तक) काशी राज्य—रामनगर की प्रति,

मिश्रबंधुओं-द्वारा उल्लिखित—

सूरसागर, (पद-संख्या बारह हजार) खत्री मुहल्ला लखनऊ,

अमदाबाद (गुजरात)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक) प्रा०—पं० केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायिटी, भद्रकाली।

अलीगढ़ (याज्ञिक-पुस्तकालय)—

१. सूरसागर प्रथमस्कंध, नं०—२६७।२६,

२. सूरसागर (संपूर्ण), नं०—२६६।५४, सं० १८५४ की प्रति[3],

३. सूरसागर (अपूर्ण), नं०—३७५।२६,

४. सूरसागर (अपूर्ण), नं०—४०१।२६, सं० १६०० की प्रति,

५. सूरसागर (अपूर्ण), नं०—४०२।२६, सं० १६०० की प्रति,

६. सूरसागर (दशम, अपूर्ण), नं०—८१३।२६,

उज्जैन (मध्यभारत)—

सूरसागर, प्रा०—ओरियन्टल मनस्क्रप्ट लायब्रेरी—उज्जैन,

उदयपुर (मेवाड़) सरस्वती-भंडार—

१. सूरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक), सं० १६६७ की प्रति,

२. सूरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक), सं० १७६३ की प्रति,

३. सूरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक),

अन्य—

१. सूर-पदावली (संक्षिप्त), सं० १७६० की प्रति,

२. सूर-सारावली (संक्षिप्त), अंतिम पद—"ब्रज ते पावस पै न गई।"

[1] यहाँ 'सुनने' का आशय उन खोज-रिपोर्टों से है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई हैं।

[2] द्वे० खोज-रिपोर्ट सन्—१६०६,

[3] ये पुस्तकें अब 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' में आ गई हैं।

कलकत्ता—
१. पूर्णचंद नाहर—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
२. हनुमानप्रसाद पोद्दार, फर्म—"ताराचंद घनश्यामदास"
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं० १८६६ की प्रति
काँकरौली[1] (मेवाड़) "सरस्वती-भंडार"—
१. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-१,
२. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-७, पुस्तक-सं०-५
३. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-२।४६, पुस्तक-सं०-५,
४. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-४७, पुस्तक-सं०-५,
५. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-६६, पुस्तक-सं०-१,
६. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-८१, पुस्तक-सं०-५,
७. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), सं०-१६१२ की प्रति,
८. सूरसागर (दशमस्कंध), बंध-सं०-४६, पुस्तक-सं०-५,
९. सूरदास के पद (स्फुट), बंध-सं०-१०४, पुस्तक-सं०-३,
१०. सूरदास के पद (स्फुट), बंध-सं०-२५, पुस्तक-सं०-४,
कामवन (भरतपुर) "देवकीनंदनाचार्य-पुस्तकालय"[2]—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक),
कालाकाँकर (अवध), राज्यपुस्तकालय,—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१८८९ की प्रति,
काशी, "नागरी प्रचारिणी सभा"—
१. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं०१८८० की प्रति,
२. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं०१९०९ की प्रति 'सूबा साहिब वाली' प्रति
३. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं०१९१६ की प्रति,
४. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक),
५. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), बा० श्यामसुंदरदास वाली प्रति,
अन्य—
१. शाह केशवदास 'रईश' काशी—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१७५३ की प्रति,
२. जानीमल खजांची, काशी[3]—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं०१९०२ की प्रति,
३. राय कृष्णदास काशी—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१९२६ की प्रति,

[1] यहाँ ब्रजभाषा-साहित्य की हस्त-लिखित पुस्तकों का बड़ा भारी और सुंदर संग्रह है।

[2] कामवन के 'देवकीनंदन-पुस्तकालय' में—श्री सूर कृत 'गोवर्धनलीला' तथा 'प्रानप्यारी'—(स्याम सगाई) भी है।

[3] बा० राधाकृष्णदास ने स्व-संपादित वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से मुद्रित सूरसागर की भूमिका में इनका नाम—जानीमल खाँनचंद लिखा है।

—दे० वेंकटेश्वर की प्रति सं०-१९५३ का संस्करण,

४. गोकुलदास, 'रईश'—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
५. पं० रघुनाथराम, गायघाट,—काशी[1]—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
६, ला० रामरत्न छागरा, सगरा वाला, २४।२ लक्कड़ गली, काशी,—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
७, काशीराज—राज्य-पुस्तकालय 'सरस्वती-भंडार' रामनगर—(काशी)—
सूरसागर, (पूर्ण दो खंडों में, द्वादशस्कंधात्मक)

किशनगढ़, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भंडार,—
सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

कुचामन, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भंडार,—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६७५ की प्रति,

कोटा, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भंडार,—
१. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६७० की प्रति,
२. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

खोज रिपोर्ट[2] (रिसर्च) के अनुसार

१, खोज रिपोर्ट सन् १९०१,-४ तथा ६, (उत्तरप्रदेश सरकार-द्वारा प्रकाशित)—
१. सूरसागर, सं०१७९२ की प्रति,
२. सूरसागर, सं०१८५३ की प्रति,
३. सूरसागर, सं०१८६६ की प्रति,
४. सूरसागर, सं०१८७३ की प्रति,

२, खोज रिपोर्ट सन्—१९०९,-१० तथा ११, पृ०—७, ८—
सूरसागर,

३, खोज रिपोर्ट सन्—१९०२,—
सूरदास के पद, (स्फुट)

४, खोज रिपोर्ट, सन्—१९०६,-७,-८,—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६९७ की प्रति,

छतरपुर (बुंदेलखंड) 'राज्य पुस्तकालय',—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

जयपुर, (राजपूताना) राज्य 'पुस्तकालय'—
सूरसागर (पूर्ण दो खंडों में, संग्रहात्मक) सं०१८५४ की प्रति,

[1] यह प्रति बहुत सुंदर तथा पाठ भी शुद्ध है, सभा ने अपने सूरसागर का संपादन व मुद्रण कराते समय इसका उपयोग नहीं किया है।

[2] खोज-रिपोर्ट के अनुसार इन सूरसागरों का ठीक-ठीक पता प्राप्त न होने से संपादन में किसी ने इनका उपयोग नहीं किया है। इन खोज-रिपोर्टों में—'पद-संग्रह' (खो० रि० सन् १९०२ तथा ६), 'श्री आचार्य वल्लभाचार्य के 'उत्सव-पद' (खो० रि० सन् १९०२), 'कीर्त्तन'-पद (खो० रि० सन् १९०६) तथा इसी प्रकार—'ख्याल-टप्पा' (खो० रि० सन् १९०२)—आदि संग्रह-ग्रंथों में श्री सूर के पदों का बहुत अधिक संग्रह है।

अन्य स्थान—'गिरधारी जी का मंदिर'—जयपुर—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जामनगर[१] (सौराष्ट्र) "बड़ी हवेली" (मंदिर)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जूनागढ़[२] (सौराष्ट्र) "बड़ी हवेली" (मंदिर)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जौनपुर (उत्तरप्रदेश), पं० गणेशबिहारी मिश्र (मिश्रबंधु) के पास लखनऊ—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८५४ की प्रति,

झालरापाटन, (राजपूताना) 'राज्य पुस्तकालय'—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६७८ की प्रति,

२. सूरदास जी के पद, (स्फुट-संग्रह)

दरियाबाद—(लखनऊ) राय राजेश्वरबली सिंह,—पुस्तकालय,

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१८८२ की प्रति, लिपि-'फारसी'

दतिया (बुंदेलखंड) राज्य पुस्तकालय,—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१८०६ की प्रति,

२. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

दिल्ली,—प्रो० नगेंद्र-द्वारा प्राप्त—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१८७७ की प्रति

नाथद्वारा[३] (मेवाड़) सरस्वती-भंडार—'श्रीनाथ जी का मंदिर'—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६५८ की प्रति,

पवायाँ (शाहजहाँपुर—उत्तरप्रदेश) पं० [illegible] —

सूरसागर, (पूर्ण, तीन खंडों में द्वादशस्कंधात्मक)

पूना, 'दक्खिन कालेज' पुस्तकालय—

सूर-पदावली, (स्फुट)

प्रयाग—

१. म्यूनिस्पिल-म्यूजियम (अजायबघर)—

१. सूरसागर, (केवल दान के पद) बं०सं०—२१८, पु०सं०—६५,

२. सूरसागर, (रास के पद) बं०सं०—२१६, पु०सं०—७४ (१)

३. सूरसागर, (अपूर्ण) पद संख्या २०११, बं०सं०—२१६, पु०सं०—८८

४. सूरसागर, (अपूर्ण) पद संख्या २५१६, बं०सं०—२१३, पु०सं०—१७, सं०१७४३ की प्रति

५. सूरदास के पद (छोटा संग्रह), बं०सं०—२०८, पु०सं०—५,

६. सूरपदावली, (खंडित प्रति), बं०सं०—२१७, पु०सं०—१३३,

७. सूरदास-भजनावली, (नई प्रति) बं०सं०—१८६, पु०सं०—३५,

८. सूर-तुलसी-भजनावली, (संग्रह) बं०सं०—२१६, पु०सं०—२०१,

[१,२] जामनगर और जूनागढ़ (सौराष्ट्र) की इन हवेलियों में हिंदी (ब्रजभाषा) साहित्य का बहुत कुछ भंडार है, जो देखने योग्य है।

[३] नाथद्वारा के सरस्वती-भंडार में हिंदी (ब्रजभाषा) साहित्य का अक्षय भंडार है, जो अभी तक देखने में नहीं आया है। यहाँ के पुराने अध्यक्ष श्री स्वर्गीय श्री रामनाथजी देवर्षि-द्वारा एक ही 'सूरसागर' की प्रति का उल्लेख आया है, वैसे यहाँ सूरसागर की बहुत अधिक प्रतियाँ हैं।

२. बिहारी जी का मंदिर (निंबार्क-पुस्तकालय) महाजनी टोला—

सूरसागर, (संग्रहात्मक खंडित प्रति)

३. हिंदी साहित्य-संमेलन—

१. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) बं०सं०—२१६, पु०सं०—४७, सं०१८५० की प्रति,**

२. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) बं०सं०—२१६, पु०सं०—३, सं०१८३६ की प्रति,**

३. **सूरसागर के पद, (संग्रह) बं०सं०—१४६, पु०सं०—२०८,**

४. **सूरदास के पद, (संग्रह, लिपि-फारसी) पु०सं०—८६१,**

५. **सूरदास के भजन, (संग्रह, लिपि-फारसी) पु०सं०—८५५,**

बंबई, 'वेंकटेश्वर प्रेस'—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) बा० राधाकृष्णदास काशी की प्रति—यत्र-तत्र उन्हीं-द्वारा संशोधित,

बरौली (भरतपुर स्टेट) पो० पहाड़ी, ठा० रामप्रसाद सिंह—

सूरसागर, (पुस्तकनाम—"भागवत सूरदास कृत", पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७६८ की प्रति,

बाजपेयी का पुरबा, (बहरायच) पो० सिसिया, पं० शिवनारायण वाजपेयी—

सूरसागर, (पूर्ण द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८६६ की प्रति,

बिजावर (बुंदेलखंड) स्टेट,—राज्यपुस्तकालय,—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८७३,

बीकानेर (राजपूताना) अनूप संस्कृत-लायब्रेरी (पुस्तकालय) राज्य, 'कोट' में—

१. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६८१ की प्रति, बुरहानपुर, (दक्षिण) वाली,**

२. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६६५ की प्रति, पं० वेणी जी की लिखी,**

३. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६६८ की प्रति, मथुरा (केशवदेवजी का मंदिर मल्ल-पुरा) के वैद्य विष्णु भट्ट की लिखी,**

४. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७७३ की लिखी,**

५. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)**

६. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)**

७. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)**

८. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)**

९. **सूरसागर, (खंडित, संग्रहात्मक)**

१०. **सूरसागर, (खंडित, संग्रहात्मक)**

सूर-छत्तीसी (छोटा-सा संग्रह)

सूर-पच्चीसी (छोटा-सा संग्रह)

बूंदी (राजपूताना) राज्यपुस्तकालय—'सरस्वती-भंडार'—

सूरसागर री पोथी, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६८१ की प्रति,

बेसवाँ (अलीगढ़) ठा० मतंगध्वजप्रसाद सिंह का पुस्तकालय—

१. **सूरसागर, (प्रथमस्कंध से नवमस्कंध तक) सं०१८७६ की प्रति,**

२. **सूरसागर, (दशमस्कंध से द्वादशस्कंध तक) सं०१८७६ की प्रति,**

भरतपुर (स्टेट) राज्य,—पब्लिक-लायब्रेरी—

१. **सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)**

२. **सूर-पच्चीसी, (छोटा-सा संग्रह)**

भिनगा स्टेट (बहरायच) राज्य-पुस्तकालय—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) पद-सं०—२१२४.

मथुरा—

१. पं० नटवरलाल चतुर्वेदी, सीतला पाइसा, नई बस्तीवालों के पास—

१. सूरसागर, (पुस्तकनाम—भागवत सूरदास कृत) पूर्ण, संग्रहात्मक, सं० १६८८ की प्रति, तथा कुछ अंश सं०-१७४५ का लिखा पृथक्,

२. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति,

२. पं० गोपालशंकर नागर—बिहारीपुरा (सेठ भीखचंद गली)—

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७५८ की प्रति,

३. जवाहरलाल चतुर्वेदी, कबावाली गली.—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६४४ की प्रति, (यह प्रति सब में प्राचीन है)

महावन (मथुरा) बा० कृष्णजीवन लाल वकील.

१. सूरसागर, (पुस्तक नाम—'भागवत-पद' पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८१० की प्रति,

२. सूरसागर, (खंडित—स्कंधात्मक) दशमस्कंध के अतिरिक्त प्रथमस्कंध से द्वादशस्कंध तक पूर्ण, सं० १८६७ की प्रति,

३. सूरपच्चीसी (स्फुट पद)

मिर्जापुर (बहरायच) पो०—बहरायच, बिट्ठलदास महंत—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १६०४ की प्रति,

रीवाँ (बघेलखंड) राज्य पुस्तकालय,—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति,

२. सूरसागर, (खंडित प्रति)

रेवाड़ी (गुड़गावाँ) पं० रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, संस्कृत अध्यापक—अहीर हाईस्कूल—

१. सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)

२. रासलीला, (सूरदास कृत)

लखनऊ—

१, ला० श्यामसुंदरदास अग्रवाल, मसकगंज,—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८६६ की प्रति,

२, पं० बद्रीनाथ भट्ट बी० ए०, प्रो०—लखनऊ युनिवर्सिटी—

१. सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)

२. सूरसागर, (खंडित प्रति) द्वादशस्कंधात्मक

अन्य.—

१. भ्रमरगीत—सूरदास,

२. रुक्मिणीमंगल—सूरदास,

३. सुदामा-चरित्र—सूरदास,

३, पं० श्यामबिहारी मिश्र (मिश्रबंधु)—

सूरसागर-सार, (स्फुट पदों का संग्रह)

लबेदपुर (बहरायच) बा० पद्मबकस सिंह,

सूरसागर, (पूर्ण, दशमस्कंध)

शरेगढ़(मथुरा) बा० गोकुलप्रसाद सक्सेना,

सूरसागर, (पुस्तक नाम—'सूरदास के पद' पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६८२ की प्रति,

स्वागीदयाल का पुरबा (बहरायच) पो०—सिसिया, पं० स्वामीनारायण, वाजपेयी—

१. **सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८६६ की प्रति,**

२. **भ्रमरगीत,—सूरदास, (संग्रह) सं० १८६१ की प्रति,**

अन्यत्र

भारत से बाहर अमरीका और यूरोप में भी 'सूरसागर' की प्रतियाँ मिलती हैं। जैसे—

अमरीका, "हार्डवर्ड यूनिवर्सिटी-लायब्रेरी"—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

पेरिस, (फ्रांस) "पेरिस लायब्रेरी"—

१. **सूरसागर-किताब, (लिपि-फारसी, स्कंधात्मक) सं० १७६६ की प्रति,**

२. **सूरसागर-किताब, (लिपि-फारसी, संग्रहात्मक) सं० १७७१ की प्रति,**

लंदन, "बृटिश-म्यूजियम",—

१. **सूरसागर, (कापी) पूर्ण—द्वादशस्कंधात्मक, सं० १७८० की प्रति,**

२. **भँवरगीत—सूरदास, सं० १७६६ की प्रति, श्यामजू पाँडे लिखित,**

मुद्रित प्रतियाँ

सूरसागर की मुद्रित प्रतियों के दोही संस्करण—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, तथा वेंकटेश्वर प्रेस वंबई के कहे-सुने जाते रहे हैं,—मिलते भी यही थे। कलकत्ता से भी एक छोटा-सा संग्रह—'सूर संगीत-सार' नाम से प्रकाशित हुआ था। 'राग-कल्पद्रुम' में भी—जो तीन खंडों में कलकत्ता से ही प्रकाशित हुआ था, ब्रजभाषा के अनेक पद-रचयिताओं के पदों के साथ श्री सूर के अधिकाधिक पद छपे हैं, पर इन सब मुद्रित प्रतियों में नवलकिशोर प्रेस की प्रति ही सब से पुरानी है। इधर खोज से 'सूरसागर' की इनसे भी पुरानी मुद्रित प्रतियाँ मिली हैं, जिन का विवरण निम्न प्रकार है—

आगरा—

१. **सूरसागर, प्र०-मु०—मतबग्र ईजाद प्रेस (लीथो), सन् १८६७, तीसरी बार**

२. **सूरसागर, प्र०-मु०—मतबग्र कृष्णलाल प्रेस, संग्रहात्मक, (लीथो) सन् १८८२,**

कलकत्ता—

१. **सूर-संगीत-सार, प्र०—अरुणोदयराय, मु०—बंगबासी प्रेस, सन् १६०२, "विनय तथा बाल-लीला से लेकर भ्रमरगीत के पदों तक का संक्षिप्त संग्रह"**

२. **राग-कल्पद्रुम, भाग—१, २, ३, संग्र०—कृष्णानंद 'राग सागर', सं०—नगेंद्रनाथ बसु, प्र०—बंगीयसाहित्य-परिषद् कलकत्ता, मु०—विश्वकोष प्रेस कलकत्ता, सं०—१६७१-७३,**

काशी—

१. **सूरसागर-रतन, (संग्रहात्मक पूर्ण) सं०—रघुनाथदास, मु०—बनारस लाइट प्रेस, सन् १८६७, (लीथो)**

२. **सूरसागर, सं०—'रत्नाकर', प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, मु०—इंडियन प्रेस बनारस-शाखा, सं० १६३४, आठ खंडों में (अपूर्ण)**

३. **सूरसागर, (ऊपरवाला पूर्ण, दो खंडों में) प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) मु०—हिंदी टायमटेबुल प्रेस, सं०—२००५,**

जयपुर—(राजपूताना)—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—मतबग्र ई ईजाद प्रेस (लीथो) सन् १८६५,

दिल्ली—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—मतबग्र इलाही प्रेस, (लीथो) सन् १८६०,

मथुरा—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—मुंबैउल उलूम प्रेस, (लीथो) सन् १८६०,

बंबई—

१. सूरसागर, (पूर्ण, बड़ा आकार—द्वादशस्कंधात्मक) सं०—बा० राधा कृष्णदास काशी, प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९५३,

२. सूरसागर, (पूर्ण मँझोला आकार—द्वादशस्कंधात्मक) प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९९१,

लखनऊ[1]—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—नवलकिशोर प्रेस, सन् १८६४ प्रथम बार (लीथो)

२. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक प्रथमवाला) सं०—पं० कालीचरण, प्र०—नवलकिशोर प्रेस, (टायप में)

३. सूरसागर, (ऊपर वाला ही) सं०—पं० रामरत्न बाजपेयी, प्र०—नवलकिशोरप्रेस, सं०-१८७४ (टायप में) तथा आठवीं बार सं० १९०२ में,

दृष्टिकूट पद (साहित्य-लहरी),

हस्त-लिखित प्रतियाँ

कांकरौली (मेवाड़)—सरस्वती-भंडार—

१. सूरदास जी के 'दृष्टिकूट-पद', बं०सं०—१२४, पु०सं०—१, (मूल)

२. सूरदास जी के 'गूढार्थ पद', (सटीक) टी०क०—अज्ञात, बं०सं०—३४, पु०सं०—६

३. सूरदास जी के दृष्टिकूटों की टीका[2], टीका-कर्त्ता—श्रीबालकृष्ण, बं०सं०—८८, पु०सं०१।

काशी—नागरी प्रचारिणी सभा (याज्ञिक-पुस्तकालय)—

दृष्टिकूट के पद कौ अर्थ (केवल दो पद)

मुद्रित-प्रतियाँ

आगरा—

दृष्टिकूट-पद, प्र०—हाजी प्रेस (लीथो), सन् १८६२

काशी—

दृष्टिकूट, (सटीक), टीका-कर्त्ता—सरदार कवि (काशीराज के आश्रित), प्र०—गोपीनाथ पाठक, मु०—बनारस लायट प्रेस, सन् १८६९ ई०, द्वितीय बार सन् १८७९ ई०[3]।

दिल्ली—

सूरदास जी का 'दृष्टिकूट-पद', प्र०—हुसैनी प्रेस (लीथो) सन् १८५२ ई०।

मथुरा—

दृष्टिकूट पद, सूरदास कृत, प्र०—मुंबैउल-उलूम प्रेस, (लीथो) सन् १८६४।

[1]. नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित ये सभी सूरसागर सूरसागर—"रागकल्पद्रुम" नाम से प्रकाशित हुए हैं। सूरसागर प्रथम अयोध्या के महाराज श्रीमानसिंह जी उपनाम "द्विजदेव" के तत्त्वावधान तथा मुंशी—जमनाप्रसाद की देख-रेख में पं०कालीचरण-द्वारा संशोधित होकर सं०१९२०में प्रकाशित हुआथा।

[2]. इस प्रति का उल्लेख खोज रिपोर्ट सन्१९०० तथा १९०६ में भी है।

[3]. ये दोनों प्रतियाँ काशी—रामनगर के राज्य-पुस्तकालय में हैं।

पटना—

१ सूर-सतक (पूर्वार्द्ध) सटीक, 'सूरदास कृत' दृष्टिकूट पदों की टीका, टीकाकर्त्ता—बालकृष्ण दास, संपा०, संशो० तथा परिवर्धक भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र, प्र० खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, सन् १८८६, प्रथम बार।

२, साहित्य-लहरी (सूरदास जी के दृष्टिकूट पद सटीक), संग्रा० तथा संपा०—भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र, प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर-पटना, सन् १८६२, पुस्तक में टीकाकार का नाम—सूरदास लिखा है, जैसे—"इतिश्री कूटपद, सूरदास-टीका संयुक्त, संपूर्णम्।

लखनऊ—

श्री सूरदास का दृष्टिकूट, (सटीक), टी०क०—सरदार कवि, प्र०—नवल किशोर प्रेस, सन् १६१२ ई०, चौथी बार[1]

लहेरियासराय (दरभंगा)—

साहित्य-लहरी—महात्मा सूरदास कृत (सरल टीका सहित), टी०—महादेव प्रसाद एम० ए० (संस्कृत-हिंदी), प्र०—पुस्तक भंडार लहेरियासराय, मु०—विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय, सं० १६६६। विषय—'वक्तव्य, प्रस्तावना—१, व्यक्ति सूर, २, भक्त सूर, ३, कवि सूर, अकारादिनुक्रम से पद-सूची, साहित्य-लहरी।

सूरसागर और दृष्टिकूट की इन उपलब्ध प्रतियों में—अमदाबाद, अलीगढ़, उज्जैन, उदयपुर (मेवाड़), काँकरौली (मेवाड़), कामवन (भरतपुर), किशनगढ़, कुचामन, कोटा, (राजपूताना), खोज रिपोर्ट सन् १६०६, छतरपुर, (बुंदेलखंड), जयपुर, (राजपूताना), जामनगर, जूनागढ़, (सौराष्ट्र), झालरापाटन (राजपूताना), दतिया (बुंदेलखंड), नाथद्वारा, (मेवाड़), प्रयाग—विहारी जी का मंदिर, हिंदी साहित्य संमेलन, बरौली (भरतपुर), बिजावर (बुंदेलखंड), बीकानेर, बूंदी (राजपूताना), भरतपुर, मथुरा, महाबन (मथुरा), रीवाँ, शेरगढ़ (मथुरा) और भारत से बाहर अमरीका तथा पेरिस की हस्तलिखित प्रतियाँ एवं आगरा (मतवअ-ईजाद प्रेस), काशी (सूरसागर - रतन), जयपुर, दिल्ली, मथुरा और लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस की मुद्रित प्रतियाँ 'संग्रहात्मक' हैं और द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों से कहीं अधिक पुरानी हैं। इन प्रतियों से यह भली-भाँति प्रगट हो जाता है कि श्री सूर के 'सागर' का सत्य रूप 'संग्रहात्मक' ही था—द्वादशस्कंधात्मक नहीं। वह अपने संग्रहात्मक रूप स्वाभाविक साज-सज्जा को त्याग कर स्व-प्रकृति से विपरीत द्वादशस्कंधात्मक के निर्जीव खलड़े (शरीर) में कब प्रविष्ट हुआ यह साहित्य के इतिहासकारों को आज विचारणीय है।

सूर के पदों का शुद्ध पाठ भी आज भ्रांति का विषय बना हुआ है। वह इन द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों के कारण अपने मूल रूप से कितना भिन्न और विकृत हो गया है, यह भी इन संग्रहात्मक प्रतियों तथा सूरसागर के मूलपुरुष-रूप 'नित्यकीर्त्तन' और 'वर्षोत्सव' की प्रतियों से सहज ही जाना जा सकता है। श्री सूर के पदों का शुद्ध रूप जब से उन (सूर) के कलकंठ से विलग हुआ तब से आजतक अपने मूलरूप में —नित्यकीर्त्तन और वर्षोत्सव की प्रतियों के साथ इन संग्रहात्मक प्रतियों में सुरक्षित है। सौ वर्ष के अंतर ने सूर के पदों का मूल पाठ इन द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों में कितना—'भ्रष्ट, कितना—कर्ण-कटु और कितना—ब्रजभाषा की श्रुत-मधुर प्रणाली से परे बना दिया, वह अकथनीय है। श्री वेंकटेश्वर प्रेस बंबई की बात छोड़िये, काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' जो एक सर्वमान्य संस्था है, सूरसागर के शुद्ध पाठ की ओर दृष्टिपात न कर स्वर्गीय श्री रत्नाकर जी के सिद्धांतों के विपरीत उनके नाम पर पाठ-भ्रष्टता के चार चाँद लगा दिये हैं।

१. इस प्रति के पृ०—७७ पर "इति दूसरा-भाग" लिखा है, पर यह द्वितीय-भाग कहाँ से प्रारंभ होता है, कुछ पता नहीं चलता।

श्रीः

सूरसागर-मूलपुरुष

- नित्यकीर्तन,[1] पश्चिमी दक्षिणी शाखा,
- वर्षोत्सव—वसंत-धमार पूर्वी-उत्तरी शाखा
  - १, सूरसागर (संग्रहात्मक) जन्म-बधाई से प्रारंभ[2],
    - १, पूर्ण, हस्त-लिखित, मुद्रित (नवलकिशोर प्रेस)[5] लखनऊ अनेक संस्करण
    - २, संक्षिप्त
      - १, दशम स्कंध
        - १, बाललीला,
        - २, भ्रमरगीत,
          - १, पूर्ण
          - २, संक्षिप्त
      - २, पृथक्-पृथक् लीलाएँ
        - १, रामलीला
        - २, कृष्णलीला
        - ३, भक्तलीला
          - १, एकादशीकथा,
          - २, रुक्मांगदकथा,
          - ३, मोरध्वजलीला,
      - ३, विरह-पद (बारहमासा या मासी),
      - ४, विनय-पद
        - १, सूरछत्तीसी,
        - २, सूरपच्चीसी,
        - ३, सूरसाठी,
  - २, दृष्टिकूट, साहित्यलहरी,[4]
    - १, पटना,[6]
    - २, लखनऊ,[7]
    - ३, पटना,[8]
    - ४, काशी,[9]
  - (कृष्णलीला)
    - १, गोपालगारी,
    - २, गोवर्धनलीला,
    - ३, चीरहरणलीला,
    - ४, दानलीला,
    - ५, प्रानप्यारी,
    - ६, बाँसुरीलीला,
    - ७, बाललीला,
    - ८, बिसातिनलीला,
    - ९, मानसागर,
    - १०, राधा नख-सिख,
    - ११, रासलीला,
    - १२, रुक्मणीमंगल,
    - १३, सुदामाचरित्र,[10]
  - ३, सूरसागर (द्वादश स्कंधात्मक) विनय के पदों से प्रारंभ,[3]
    - पूर्ण,
      - १, आगरा,[11]
      - २, जयपुर,
      - ३, दिल्ली,
      - ४, मथुरा,
      - ५, कलकत्ता,[12]
      - ६, काशी,[13]
      - ७, बंबई,[14]
    - संक्षिप्त,
      - १, आगरा,
      - २, कलकत्ता,
      - ३, काशी,
      - ४, दिल्ली,
      - ५, प्रयाग,
      - ६, मथुरा,
      - ७, लखनऊ,
      - ८, बंबई,
        - १, मुरली-माधुरी,
        - २, विनय-पत्रिका,
        - ३, सूरदामः नयन,
        - ४, सूर-रामायण,

[1] सं० १६३० की प्रतियाँ, नित्य-कीर्त्तन और वर्षोत्सव के आगे चलकर पाँच रूप हुए—नित्य-कीर्त्तन, वर्षोत्सव, वसंत-धमार, ग्रीष्म-पद, तथा रास के पद। [2] सं० १६४४ की प्रति। [3] सं० १७५७ की प्रति। [4] इसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ विशेष नहीं मिलतीं। [5] सं० १९२० प्रथम। [6] सन् १८९२ प्रथम। [7] सन् १८९० प्रथम। [8] सं० १९९६ प्रथम। [9] सन् १८६९ प्रथम। साहित्य-लहरी (दृष्टिकूट) प्रथम मथुरा, आगरा तथा दिल्ली से भी प्रकाशित हो चुकी है। [10] ये लीलाएँ भी अनेक स्थानों से छप चुकी हैं। [11] लीथो में। [12] टाइप में। [13] दो संस्करण। [14] दो संस्करण।

ब्रजभाषा का काव्य और शृंगार रस

श्री रामप्रसाद त्रिपाठी

हिंदी-काव्य का दर्शन सबसे पहिले उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य का ह्रास और भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में विप्लवात्मक परिवर्तन हो रहा था। हिंदी के कवि प्रायः भाट या चारण होते थे। इनका मुख्य काम था अपने आश्रयदाता राजा के वंश का गुण-गान करना और अपनी ओजस्विनी कविता से योद्धाओं को उत्तेजित और रणाभिलाषी बनाना। तत्कालीन विद्वानों में हिंदी का विशेष आदर हो ही कैसे सकता था? उसके भविष्य का ज्ञान भी किसी को न था? हिंदी-कविता यद्यपि ओजस्विनी और सबल हो चली थी, परंतु उसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कोई बात न थी। हिंदू-राज्य की सत्ता ज्यों-ज्यों शिथिल होती गई त्यों-त्यों कविता भी निर्बल अथच निस्सार होती गई। यद्यपि ऐसा बिरला ही दरबार था, जहाँ भाट या चारण न हों; परंतु उनमें कोई विशेष रूप से उल्लेख्य नहीं।

विक्रम की नवीं शताब्दी से लेकर भारत में जो परिवर्तन हुआ उस पर सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है, क्योंकि हिंदी-साहित्य के साथ उसका घना संबंध है और उसके जाने बिना हिंदी-साहित्य की उन्नति का तथा उसके रूप का ठीक-ठीक ज्ञान होना कठिन है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का संबंध उस देश या जाति के साहित्य से होता है और कोई कारण नहीं कि यह नियम भारत के लिए चरितार्थ न हुआ हो।

भारत में मुसलमानों के आगमन से कुछ पूर्व, धार्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिंदू-धर्म बल पकड़ने लगा था। उसमें व्यापकता के लक्षण भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो गए थे। वैदिक धर्म के कर्मकांड की जड़ को बौद्ध लोग पहले ही हिला चुके थे। उस जड़ को मजबूत करने के लिए किए गए गुप्तवंशी राजाओं के सारे प्रयत्न निष्फल हुए, किंतु समय के फेर से बौद्ध-धर्म भी लोगों को रुचिकर न रहा। उस पर वेदांत ने विजय तो प्राप्त कर ली, पर उसमें जो संन्यास और वैराग्य के आदर्श थे वे जनता को कठिन और दुर्गम जँचे। अतएव थोड़े ही समय में, पुराण-प्रतिपादित भागवत-धर्म की उन्नत्ति होने लगी और उत्तरोत्तर उसकी इतनी वृद्धि हुई कि चौदहवीं शताब्दी से लगभग अठारहवीं शताब्दी तक भारत में इस विषय का आंदोलन जोरों पर रहा। भागवत-धर्म और भक्ति-मार्ग से वैष्णव-मत का यद्यपि बहुत घना संबंध है, तथापि इसका प्रभाव तत्कालीन अन्य मतों पर भी पड़ा।

नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की राजनैतिक अवस्था अत्यंत शोचनीय रही। इस समय उत्तरी और दक्षिणी साम्राज्यों का अंत हो चुका था। भारत के बंग, गुर्जर और कान्यकुब्ज राजाओं के साम्राज्य-विधायक उद्योग निष्फल हो चुके थे। इस समय भारत में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इन्हें आपसी झगड़ों से ही फ़ुरसत न थी। तुर्कों ने भी इसी समय धीरे-धीरे पैर फैलाना आरंभ कर दिया। बारहवीं शताब्दी का अंत होते-होते उन्होंने सिंधु नदी से लेकर गोमती तक सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। अगली दो शताब्दियों में तुर्कों ने धीरे-धीरे समग्र उत्तरी भारत और दो तिहाई के लगभग दक्षिण देश को भी अधिकार-भुक्त कर लिया। इससे हिंदुओं की राजनैतिक स्वतंत्रता तो चौपट हो ही गई, उनकी सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता पर भी गहरा धक्का लगा। साहित्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। निराशा-मरूभूमि में साहित्य-सरस्वती के विलुप्त होने की भी कुछ दिनों तक आशंका रही। इस समय गुण-ग्राहकता का बाजार इतना ठंडा पड़ गया था कि उसमें आने का साहस सहृदयों को भी न होता था। इस संबंध में हमें फारसी का एक शेर याद आता है—

"चुनी क़हतसाली शुद अंदर दमिश्क़ ।
कि याराँ फ़रामोशकर्दन्द इश्क़ ।।"

बाहरवालों के समागम से हमारी सामाजिक अवस्था भी डाँवाडोल थी । पवित्रता-प्रिय आर्यजाति बाहरी जाति के साथ एकाएक कोई सामाजिक संबंध कैसे स्थापित कर सकती थी । धन्य है उस समय के समाज-धुरंधरों को जिन्होंने इस विकट समस्या को भी हल करने का प्रयत्न किया । पर तुर्कवंशी मुसलमानों के आक्रमण से यह काम अधूरा ही रह गया । इस समय हमारे सामाजिक जीवन का अंत तो नहीं हुआ, हाँ शरीर सूख कर काँटा अवश्य हो गया ।

बंगाल की अवस्था और प्रांतों से कुछ भिन्न थी । स्वतंत्र मुसलमानी राज्य वहाँ आरंभ ही से स्थापित हो गया था । दिल्ली के कई बादशाहों ने समय-समय पर उसे अपने अधिकार में लाने की चेष्टा की, पर उन्हें स्थायी सफलता न हुई । इसका कारण यह था कि बंगाल के सुलतानों ने हिंदू प्रजा से सहानुभूति प्राप्त कर ली थी । मुसलमानों की नीति और प्रांतों की अपेक्षा बंगाल में कुछ नरम थी । अतएव हिंदी-साहित्य की सेवा राजस्थान, दक्षिण और बंगाल में ही थोड़ी बहुत होती रही, क्योंकि दक्षिण और राजस्थान में ही हिंदू नरेशों की वास्तविक सत्ता थी ।

जिन्होंने रामायण, महाभारत तथा पुराण-आदि पढ़े या सुने हैं वे जानते हैं कि भगवान् के अवतार लेने का कारण 'धर्म की ग्लानि' और 'दुष्कृतों की प्रबलता' होना बतलाया गया है । असुरों के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी, गाय का रूप धारण कर विधाता को दुखड़ा सुनाने गई । पृथ्वी और देवताओं की यह हालत देख कर विधाता को दया आई । उन्होंने अपनी ओर से तथा देवताओं की ओर से भी प्रार्थना की । प्रार्थना स्वीकृत हुई और नये युग का आरंभ हुआ । सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हिंदुओं पर अगणित आपत्तियाँ पड़ीं । पहिले की तरह उन्हें असुर-निकंदन की शरण लेनी पड़ी । रघुवंश (१०, ३४, ३८), कुमार संभव (३, ५१) और माघ (१, ७२, ७३) आदि साहित्य-ग्रंथों में ये भाव भरे पड़े हैं । पृथ्वीराज-विजय-काव्य के निर्माता 'जोनराज' कवि ने तो खासा उपालंभ दिया है—

"त्वयाऽपि नूनं कलिकाल रात्रौ निद्राविधेयत्वमुपागतेन ।
केशान्धनार्न्वाजितघूर्णनेन हित्वा स्थितं शांतितया जिनत्वे ।।"

मनुष्यों के हृदय में इसी प्रकार के भाव स्थान पा रहे थे । अतएव उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र और योगेश्वर श्री कृष्णचंद्र के चरित्र अधिक रुचिकर और आशाजनक ज्ञात हुए । इसी से मनुष्यों की प्रवृत्ति भागवत-धर्म की ओर सहज ही हो गई ।

आत्मिक कष्ट के समय उत्तरी भारत को दक्षिण से श्री शंकराचार्य-द्वारा सहायता मिल चुकी थी । वहीं के श्री रामानंद कृष्णोपासना के प्रचार के लिए अग्रणी बने । यहाँ, उत्तरी भारत में कई परिवर्तन भी हो गए । पठान-साम्राज्य का अंत हो गया । राजस्थान में मेवाड़ ने अच्छी उन्नति की । समयानुकूल सिद्धांत ग्रहण करने के लिए जनता भी प्रस्तुत हो गई थी । इसी समय महात्मा 'रामानंद' दक्षिण से बंगाल होते हुए मध्यदेश में धर्म प्रचार करने पधारे । धर्म को सब के ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए 'बाबा गोरख-नाथ' आदि ने हिंदी भाषा में उपदेश देना आरंभ किया था । अतएव रामानंदजी ने भी हिंदी भाषा का ही सहारा लिया । आप के शिष्य 'कबीरदासजी' ने ऐसा ज्ञानामृत बरसाया कि मरुभूमि में भी ज्ञान का सोता बह निकला । आपके ज्ञान-सागर से संतुष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' की सृष्टि की ।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में तैलंग देश से महाप्रभु वल्लभाचार्यजी मथुरा के समीप ठहरे । आप बड़े भारी विद्वान् थे । शीघ्र ही आप की प्रतिष्ठा होने लगी । आपके आगमन से ब्रज में फिर प्रेम की यमुना बहने लगी । आज भी ब्रज के मुख्य-मुख्य स्थानों को देख कर हृदय पुलकित हो जाता है । तब, वल्लभाचार्यजी का और उनके पुत्र भक्त-शिरोमणि विट्ठलनाथजी का हृदय भावमय हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? कविवर विहारीलाल ने ठीक ही कहा है—

"सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ।।"

—विहारी-सतसई

कृष्ण-भक्त्यात्मक धर्म ग्रहण करने के लिए ब्रजवासी तैयार थे ही। वल्लभाचार्य के उपदेश सुन कर उनके हृदय गद्गद् हो गए। उनके भाव, काव्य के रूप में प्रकट हो गए। ब्रजमंडल और ब्रजवासी प्रेम में किसी से पीछे कैसे रहते ? ब्रजवासियों और ब्रजबालाओं की भाव-लतिका, भाषा और जीवनचर्या रसमयी तथा लालित्य-पूर्ण थी। अतएव कविता के लिए ब्रज से बढ़कर उत्तम क्षेत्र और कौन हो सकता था। 'मुरली मनोहर' ने यहीं तो मधुर मुरली बजाई थी। आपके रस-रास का क्रीड़ा-स्थल भी यही स्थान था।

सच पूछिए तो हिंदी-साहित्य की उन्नति और काव्य की सरसता ब्रजवासियों की भावुकता का ही फल है। इसके पहिले इने-गिने दो-चार कवियों और काव्य-पुस्तकों को छोड़ कर हिंदी में और था ही क्या। गोरख, कबीर और अन्य संत-महंतों की रचना ज्ञान से पूर्ण है सही और काव्य में वह रत्न-सदृश तथा आदरणीय भी है, पर उसमें विशेष रस नहीं। इनकी रचना के कारण कविता-सरिता के आगे बह निकलने में सहायता भी खूब मिली, परंतु वह रचना उच्च श्रेणी में नहीं रक्खी जा सकती। हिंदी-काव्य तो कृष्ण के उपासक ब्रजवासियों की सहृदयता और मधुर ब्रजभाषा का ही प्रसाद है।

हिंदी-कविता की वृद्धि का कारण राजस्थान के मेवाड़वंश की उन्नति भी है। इससे हिंदुओं के हृदय आशान्वित होकर भाव-पूर्ण कविता लिखने की ओर झुके। राना संग्रामसिंह की हार से कविता की उन्नति में ठेस लग जाती, यदि ब्रज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट् अकबर राजधानी को न उठा लाते। राजधानी और राजदरबार का ब्रजमंडल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिए दृढ़ कारण हो गया। अकबर के दरबार और दरबारियों में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खासी चहल-पहल रही। साहित्य-सेवा की इच्छा से फारस और अन्यान्य देशों से आ-आकर, सहृदय कवि राजधानी में बस गए। फारसी आचार-विचार, भाव और काव्यशैली की उन्नति ब्रजभाषा और कविता के लिए सहायक हुई। ब्रजवासी सहृदय, प्रेमी, सौंदर्य के उपासक, श्रृंगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे। इनके बीच एक प्रकार की मित्रता हो गई। सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव, सेना-नायक एवं राजकवि ब्रजभाषा के प्रेमी हो गए। इनकी देखा-देखी औरों में भी ब्रजभाषा का आदर बढ़ा। छोटे-छोटे राजाओं और नवाबों के दरबारों में भी ब्रजभाषा और हिंदी-काव्य की पहुँच हो गई, क्योंकि बड़े दरबारों की नक़लें ही तो छोटी बैठकें हैं। भाषा-कवियों के भाग्य खुल गए। वे राजसी ठाट-बाट से रहने लगे। इनका आदर देख और लोग भी हिंदी-कविता और ब्रजभाषा का अध्ययन, ध्यान लगा कर करने लगे। क्योंकि इससे मनोविनोद तो होता ही था, साथ ही आर्थिक लाभ की भी आशा थी। भक्ति और श्रृंगार-विषयक कविता कुछ हिंदू ही न करते थे, मुसलमानों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। कवि 'होलराय' ने एक प्रकार से ठीक ही कहा है—

"दिल्ली ते न तखत ह्वै है, बखत ना मुगल कैसो, ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर ते।
गंग ते न गुनी, तानसेन ते न तानबाज, मान ते न राजा औ न दाता बीरबर ते ।।
खान खानखाना ते न, नर नरहरि ते न, ह्वै है ना दिवान कोऊ बेडर टडर ते ।
नऔ खंड, सात दीप, सात हू समुद्र पार, ह्वै है ना जलालदीन साह अकबर ते ।।"

ब्रजभाषा के काव्य और उसकी उत्पत्ति पर विचार हो चुका। अब देखना है कि वह काव्य कैसा है। ब्रजभाषा में कृष्णभक्त्यात्मक और खास कर श्रृंगार-रस की कविता है। डाक्टर ग्रियर्सन आदि कुछ विद्वानों और तदनुकूल विचार रखने वाले कुछ भारतीय विद्वानों की भी समझ में श्रृंगार-रस का प्राधान्य तत्कालीन भोग-विलासिता का द्योतक है और इसका प्रभाव हमारे विचारों पर तथा भारतीय आचरण पर बुरी तरह पड़ा है। अतएव इस ओर भी सावधानी से विचार कर लेना आवश्यक है।

साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा कई प्रकार की बनाई है, परंतु उनके मुख्य आशय में विशेष अंतर नहीं। भाव-लहरी, पद-लालित्य और सुंदर-शब्दावली की गूढ़ और मृदु मैत्री से काव्य की उत्पत्ति हो जाती है। भाव और रस के मुख्य भेदों को कवियों ने गिनाया है, परंतु वास्तव में इनकी संख्या करना आकाश की तारावली गिनना है। सहृदय और तरंगित हृदयों में पात्र के अनुकूल ये उत्पन्न होते रहते हैं; परंतु इनको वाक्य-तंतुओं से बाँध लेना कवियों ही का काम है। जातीय काव्य का उद्भव तभी होता है जब एक ही काल में बहुत से व्यक्तियों के हृदयांतर्गत समान भावों की जागृति होती है। यह अवस्था समय-विशेष की सामाजिक, आत्मिक, राजनैतिक तथा अन्यान्य सर्वव्यापक कारणों के योग से उपस्थित हो जाती है। अतएव जातीय साहित्य और काव्य, कालक्रम के अनुसार स्थिर किया जाता है। संसार की सभी जातियाँ उनका कार्यक्रम और ऐतिहासिक संसरण एक-सा नहीं होता। सब में किसी न किसी प्रकार की विशेषता अथवा भिन्नता अवश्य रहती है। सब फूलों और लताओं के रंग-रूप एक-से नहीं होते। उनके गुणों और सौरभ में भी समता या सादृश्य नहीं होता। इसी कारण, प्रत्येक जाति का साहित्य भी भिन्न-भिन्न होता है। यदि किसी देश का साहित्य बुरा है तो उससे यह फल निकलता है कि उस देश की साधारण अवस्था अवश्य बुरी होगी। साहित्य की हीनता पर शोक प्रकट करने के पहिले तत्कालीन इतिहास और सभ्यता पर दो आँसू डालना न्याय-संगत और स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्य की श्रेष्ठता और परिपूर्णता से जातीय श्रेष्ठता और परिपूर्णता का भी अनुमान किया जा सकता है।

हम पहिले लिख चुके हैं कि पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भागवत धर्म की उन्नति हो रही रही थी; परंतु भक्तिमार्ग के वैष्णव-संप्रदाय की प्रबलता थी। यही भाव मनुष्यों के हृदयों को आंदोलित कर रहे थे। इन्हीं भावों का विकास कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ। ब्रजभूमि में पहुँच कर वैष्णव-धर्म ने और भी बल प्राप्त किया और इस पर एक विशेष रंग चढ़ गया। ब्रजनायक श्री कृष्णचंद्र के जीवन-चरित्र का प्रथमांक यहीं पर खेला गया था और वही रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदयों में प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव उनकी रुचि और भक्ति उस भाव और उस कला की ओर विशेष रूप से झुक गई। जो सज्जन इस रस-काव्य को शृंगार-रस से संयुक्त होने के कारण भोग-विलासिता का प्रतिबिंब समझते हैं वे भगवद्भक्तों की शृंगारमय उपासना तथा उनके भावों की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते। भारत-वर्ष में 'व्यास जी' के सदृश कोई सम्यक् दृष्टिवान् और महाकवि नहीं हुआ और यह बात भी प्रसिद्ध है कि उनके काव्य में 'भागवत' का स्थान सबसे ऊँचा है। श्रीमद्भागवत में 'रासपंचाध्यायी' दूध में मक्खन के तुल्य है। भक्त लोगों का हृदय उसे पढ़ अथवा सुनकर आज भी गद्गद् हो जाता है। ऐसे महर्षि के भक्त-मनोहारी और रोमांचकारी काव्य को व्यभिचार और भोगविलासिता का प्रतिपादक और प्रचारक समझना केवल दृष्टि-दोष और ज्ञान-दोष ही है। इन्हीं महात्मा के काव्य का स्तब्ध स्रोत अनुकूल समय पाने पर ब्रजभूमि में पुनः प्रवाहित हो गया। इस काव्य को नवीन काव्य और इस भाव को नवीन भाव कहना भूल है। यह तो उसी वंशी का प्रतिनाद है; जिसको व्यासजी शब्दों और वाक्यों में भर कर, भारतीयों के शोक और संताप के नाश के लिए छोड़ गए थे। ब्रजभूमि तो पूर्णकला-प्रवीण मुरलीमनोहर की रंगस्थली ही थी; उसका कहना ही क्या। बंग और विहार में जयदेव, विद्यापति ठाकुर और चंडीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर तन्मय हो गए थे। उनके गीतों और पदों को श्री चैतन्य महाप्रभु नेत्रों में आँसू भर-भर कर गाते थे। भारत-वासियों को जब तक अपने आत्मीयत्व का स्मरण रहेगा, वे इन कवियों और इनके काव्य का मान और अभिमान करते रहेंगे। किसी को यह काव्य बुरा और दुराचार-युक्त भले ही देख पड़े, पर भक्तों को तो यह प्राणों से भी प्यारा है। कविवर "विहारीलाल" भी इसकी गवाही देते हैं—

"ब्रजवासिन कौ उचित धन, सो धन रुचित न कोइ।
सुचित न आयौ सुचितई, कहौ कहाँ ते होइ ॥"

इस पर यदि कतिपय न्यायपंचानन हमारे कथन को भक्तों के धार्मिक काव्य के लिए ही उपयुक्त समझें, औरों के लिए नहीं; तो हम इस शंका पर भी सूक्ष्म रूप से विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

हिंदी-काव्य की सृष्टि पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक हुई है। कतिपय सज्जन इसे धार्मिक और मानुषिक दो मुख्य भागों में विभक्त करते हैं। धार्मिक काव्य मुख्यत: वह है जिसका प्रादुर्भाव भक्तों के द्वारा हुआ। इस श्रेणी में सूर, तुलसी, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, नंददास, मीरा, रसखान, कबीर इत्यादि की गणना है। दूसरा, अर्थात् मानुषिक काव्य वह है जिसे राजकवियों तथा भक्तेतर मनुष्यों ने लिखा है। इस श्रेणी में गंग, मतिराम, विहारी, घनानंद और देव और पद्माकर आदि कवि माने जाते हैं। इन दो मुख्य श्रेणियों के अंतर्गत और भी अनेक भेद बतलाये गये हैं, जिनमें दो-चार जानने लायक हैं। धर्म-काव्य में एक तो संतों का ज्ञानात्मक दूसरे भक्तों की भक्ति और राम-कृष्ण-लीलात्मक भेद है। इसी प्रकार मानुषिक काव्य में शृंगार-रसात्मक, सदाचार-शिक्षक और वीर-काव्य ये तीन भेद विशेष हैं। हमारी संमति में काव्य का यह विभाग उत्तम नहीं। यहाँ हम इसके मुख्य दोषों का संकेत कर देना अनुचित नहीं समझते। प्रथम दोष तो यह है कि इसमें एक श्रेणी के गुण दूसरी श्रेणी में विद्यमान हैं। दृष्टांत के लिए नंददास-कृत 'रासपंचाध्यायी', विद्यापति ठाकुर-कृत 'पदावली' आदि ग्रंथ लीजिए। इनमें शृंगार-रस का इतना आधिक्य है कि इन्हें हम धर्म-काव्य से निकाल कर शृंगार के अंतर्गत कर दे सकते हैं। अंतर यह हो जायगा कि ये कवि देव, मतिराम और विहारी की श्रेणी में आ जायँगे। दूसरा दोष यह है कि यह विभाग बहुत कुछ अर्गलाबद्ध-सा है। दृष्टांत के लिए तुलसीदास जी का काव्य, जो एक प्रकार से किसी भी श्रेणी में नहीं आता। यह धर्म-ग्रंथ उसी प्रकार का है जैसा कि महर्षि वाल्मीक का आदि काव्य। परंतु क्या वाल्मीकि की रामायण को धर्म-ग्रंथों में रखना संस्कृतज्ञ उचित समझते हैं? क्या वे इसे इतिहास की श्रेणी में नहीं रखते? फिर तुलसीदास की रामायण और विनय-पत्रिका काव्य की दृष्टि से, एक ही श्रेणी के अंतर्गत नहीं? तीसरा दोष यह है कि इसमें नायिका-भेद आदि विषयक ग्रंथ भी मिला लिए गए हैं। दृष्टांत के लिए मतिराम-कृत 'रसराज', पद्माकर-कृत 'जगद्विनोद'। यह ठीक है कि ये कवि काव्य करने बैठे थे, परंतु इनका मुख्य आशय नायक-नायिका-भेद, हाव-भाव वर्णन आदि भी था; अतएव इनकी सरस्वती स्वतंत्र और अप्रतिबद्ध न सही, किंतु कतिपय भाव-विशेषों को उद्भासित करने में व्यग्र हो पड़ी थी। जिससे इनको निर्धारित स्रोत में बलात् बहना ही पड़ा।

हिंदी-काव्य के विभाजन की किसी नई शैली पर हम विचार नहीं करना चाहते। हम तो यह आशा करते हैं कि साहित्य-मर्मज्ञ यूरोपियनों की बताई हुई शैली का अवलंब छोड़ कर स्वतंत्र रूप से विचार किया करें, क्योंकि यूरोपियनों की शैली संतोषजनक नहीं है। हिंदी के माध्यमिक काव्य तथा ब्रजभाषा के काव्य पर विचार करते समय इस पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि इस स्रोत का मूल वैष्णव-भगवद्भक्ति में है, राज-सभाओं में नहीं। यह काव्य न तो भाट और चारणों की सृष्टि है और न 'भोग-विलासिता' की उपज। वास्तव में ब्रजभाषा का काव्य ब्रजकिशोर, राधारमण, नटवर श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं से प्रस्फुटित हुआ है। इनकी लीलाओं में जो वैचित्र्य है, वह ब्रजभाषा के काव्य में थोड़ा बहुत प्रतिबिंबित है। अतः जिस प्रकार कृष्णलीलाओं पर विचार किया जाता है उसी प्रकार इन कवियों के भावों पर भी विचार होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ब्रजभाषा के काव्य पर श्रीमद्भागवत् तथा वेदव्यास का बहुत प्रभाव पड़ा है। अतएव इस ग्रंथ के प्रकाश में उस पर विचार करना ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय-संगत होगा। भागवत के दशमस्कंध में लौकिकता और अलौकिकता दोनों विद्यमान हैं, वही बात भाषा-काव्य में भी है। इसलिए इसको केवल एक दृष्टि या एक ही भाव से देखना अपर्याप्त और अपूर्ण होगा। यह भी भूलना न चाहिए कि इस काल की भाषा में गद्य का अभाव था। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह वास्तविक कवि हो या न हो, अपने भले-बुरे विचारों को छंदोबद्ध करने को बाध्य था। कवित्व एक ईश्वरदत्त शक्ति है, जो हर एक व्यक्ति में नहीं पाई जाती और काव्य में भावोद्घाटन करना सर्वसाधारण के सामर्थ्य से बाहर है। अतएव काव्य पर समालोचना करते समय रँगे और गढ़े कवियों को उसके अंतर्गत कर लेना कूड़ा-कर्कट को काव्य समझना होगा। काव्य का स्थान ऊँचा है। उसको दूषित करने से ऊटपटाँग समालोचना होने की सर्वदा आशंका है। उस पर विचार करते समय देख लेना चाहिए कि किस वास्तविक कवि की कहाँ तक पहुँच है और काव्य की उत्ताल तरल-तरंग-माला किस शिखर तक कब पहुँची। इस पर भी जो सज्जन शृंगार का नाम

लेते ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उससे दूर भागते हैं, उनसे हम प्रार्थना करते हैं कि वे परमात्मा से सविनय सहृदयता का दान माँगें और ज़रा भक्त की दृष्टि से उस पर विचार करने की कृपा करें।

इन विचारों पर दृष्टि रखते हुए यदि हिंदी-काव्य की आलोचना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उसमें न तो शृंगार-काव्य की इतनी अकथनीय अधिकता है और न शृंगार-रस ही इतना बुरा है कि उससे भय उत्पन्न होने की शंका हो। यदि प्रेम और शृंगार-रस को आप निकाल दें तो क्या काव्य की सर-सता उतनी रह सकती है ? और क्या ऐसा करना हिंदी के माध्यमिक साहित्य को निर्जीव करने के सदृश नहीं ? मनुष्य के हृदय में प्रेम के सदृश कोई उच्च भाव नहीं और साधारण मनुष्य के लिए सौंदर्य से बढ़ कर कोई उपासना नहीं। यह प्रेम, स्वार्थ और कुत्सित विचारों से दूषित होकर, कुपात्र-द्वारा भयानक और राक्षसी भाव ग्रहण कर लेता है। परंतु ऐसी अवस्था में उसे प्रेम न कह कर 'विषय-वासना' कहना ही ठीक होगा। इस भेद को हिंदी-भाषा के कवि भली भाँति समझते थे और यद्यपि उसमें परकीया तथा अन्य नायि-काओं के अथवा उनके प्रति भावों का भी वर्णन किया गया है, परंतु वह विषय के वैज्ञानिक अथवा यों कहिए कि अन्य अंगों की पूर्ति के लिए है, अनुकरण के लिए नहीं। देखिए न, 'वात्स्यायन' ने 'कामसूत्र' की रचना करते हुए स्पष्ट कह दिया है—

"धर्मं अर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्येतस्य तत्त्वज्ञो न च रागात्प्रवर्तते॥

तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना।
विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थोस्य संविधिः॥

असंगृहीत भार्यां च ब्रह्मस्त्रीं यंश्चगच्छति।
सूतकं सततं तस्य ब्रह्महत्या दिने दिने॥"

देव कवि ने 'सुजानविनोद' में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

"बिषई जन व्याकुल बिषै, देखें बिष न पियूष।
सीठी मींठी सी उन्हैं, जूठी जदपि मयूष॥"

"यै बिचारि प्रेमीन कौ, बिषई जन कौ नाहिं।
बिषै बिकाने जनन की, प्रेमी छियत न छाँहिं॥

जप, तप, व्रत, रितु नेंम सों, प्रेमी जन नर ख्यात।
पूरन प्रेम प्रसन्न मन, ब्रह्मानंद समात॥"

यह तो हुई केवल साधारण और सांसारिक दृष्टि, पर यदि आप इसे कृष्ण-भक्त की दृष्टि से देखें तो परकीया आदि नायिकाएँ गोपों की प्रेम-मदमाती गोपिकाएँ हैं, श्रीकृष्णजी ने इनके साथ रासक्रीड़ा की। अतः कवियों ने भी अपनी कीर्तन-शैली के अंतर्गत इस विषय को कर लिया। इस पर राजा परीक्षित ने शंका की तब श्रीशुकदेव ने कहा—

"यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबंधाः।
स्वैरं चरंति मुनयोऽपि न नह्यमाना स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बंधः॥"

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध ३३।३५,

यह विषय अलौकिक है, इसको अछूता रखना साहित्य-सेवियों का परम धर्म है। हिंदी के कवियों ने अपने काव्य के नायक और नायिका को प्रायः स्पष्ट बतला दिया है और इस पर भी यदि कोई अपने दृष्टि-दोष से अन्यथा समझे तो इसमें उनका क्या दोष है। देखिए न—

"सत्य रसायन कविन कों, श्री राधा-हरि सेब।"

❀

"माया देवी नाइका, नाइक पुरुष जु आपु।
सबै दंपतिन में प्रगट, देब करै तिहि जापु।।
बरनि नाइका-नायकन, रच्यौ ग्रंथ मतिराम।
लीला राधारमन की, सुंदर जस अभिराम।।"

—रसराज

"या अनुरागी चित्त की, गति जानत नहिं कोइ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याँम रँग, त्यों-त्यों ऊजर होइ।।"
"तजि तीरथ हरि राधिका, तन-दुति कर अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि-निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग।।"

—विहारी

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, परंतु हमारे कथन के लिए यही पर्याप्त हैं तो भी इस अलौकिक प्रेम की टिप्पणी में परकीया ऐसी नायिका का प्रेम-विषयक सवैया सुन कर फिर आगे चलिए—

"क्यों इन नैंनन सों निरसंक ह्वै, मोंहन कौ तन पानिप पीजै।
नेंकु निहारें कलंक लगै, इहि गाँव बसें कहु कैसेंकै जीजै।।
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाइ बड़ौ तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिऐं लगिऐ अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै।।"

—रसराज

अब दूसरा प्रश्न यह है कि इस काव्य का प्रभाव सर्वसाधारण के हृदय पर कैसा पड़ा ? हम सुनते-सुनते थक गए कि इस काव्य का प्रभाव युवकों पर बुरा पड़ा ; परंतु हमें इसकी पुष्टि के लिए अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। इस काव्य से हमारे सामाजिक जीवन में कौन सी बुराई उत्पन्न हो गई ? हमारी समझ में इससे कोई हानि-विशेष नहीं हुई। हां, इससे ब्रजभाषा के काव्य में मधुरता और सरसता अधिक बढ़ गई, जिससे उसका और कृष्ण-भक्ति का प्रचार खूब हुआ। श्रृंगार-रस हिंदी-साहित्य का कलंक नहीं वह तो उसका शिरोभूषण है।

कतिपय सज्जन कह बैठते हैं कि हिंदी-साहित्य श्रृंगार-रस से इतना भरा पड़ा है कि उससे जी ऊब जाता है और उसमें विषय-वैचित्र्य का शोचनीय अभाव है। उनकी यह धारणा हिंदी-साहित्य का समुचित प्रकाश न होने के कारण है। इसमें न्यूनाधिक रूप में नवों रसों का समावेश है। योरोपियन साहित्य के पढ़नेवालों को यह शंका विशेषतया इस कारण होती है कि उसमें मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे से भिन्न माना है। अतः दोनों एक दूसरे से बिलकुल पृथक् प्रतीत होते हैं, परंतु हमारे देश में, मनुष्य और प्रकृति विभिन्न नहीं। दोनों का पारस्परिक योग ही ठीक माना गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता पर हमारे धर्म और शास्त्रों ने इतना जोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी जाती है। अतः हमारे कविगण जब कभी नैसर्गिक और प्राकृतिक विषयों का वर्णन करते हैं तब उनका तात्पर्य नायक अथवा नायिका, या यों कहिये कि पुरुष और स्त्री के गुणों को और भी उत्कर्षित करना तथा प्रकृतिवत् मानसिक भावों का तारतम्य दिखाना होता है, उसे मनुष्य की दूसरी प्रेयसी अथवा नायिका की सौत बनाना नहीं। इस भाव के लिए न ब्रजभाषा

का दोष है और न कवियों का, क्योंकि यह हमारे मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का स्वाभाविक फल है। शोक करने की इसमें कोई बात नहीं और न कोई अपूर्णता है। प्रत्युत यदि आप सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो इसमें पूर्णता ही दीख पड़ेगी।

इस लेख को और अधिक बढ़ाना अनावश्यक है। इतने पर भी यदि प्रेम और शृंगार के रस और मर्म में किसी को संदेह रह गया हो तो हम उनकी सेवा में वही उत्तर देते हैं जो कि वृथा की टाँय-टाँय करनेवाले उद्धव को व्रज-वनिताओं ने दिया था—

"मति अति आपकी अबल अबला सी लगै, सागर-सनेह कहो कैसें पार पावैंगी।
खोलिऐ न जीह और लीजिऐ न नाम इत, 'बलदेव' ब्रजराज जू की सुधि आवैंगी॥
सुनतहिं प्रलय-पयोधि माँहिं एक ऐसी, कैहेर करनहारी लैहैर सिधावैगी।
राधे-दृग-सलिल-प्रबाह माँहि आज ऊधौ, रावरे समेत ग्याँन-गाथा बहि जावैगी॥"

और स्वर्गीय श्री जगन्नाथ दास (रत्नाकर) जी के शब्दों में भी यही कहना उपयुक्त होगा—

"कीजै ग्याँन-भाँनु कौ प्रकास गिरि-सृंगन पै, ब्रज में तिहारी कला नैंकु खटि है नहीं।
कहै 'रतनाकर' न प्रेम-तरु पैहै सूखि, याकी डार-पात तृन-तूल घटि है नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी हैं ऊधौ, पी-पी की बिहाइ और रट रटि है नहीं।
लौटि-पौटि बात कौ बबंडर बनावत क्यों, हिय तें हमारे घनस्याँम हटि है नहीं॥"

(सरस्वती से)

श्री सूर का एक पद

गो० श्री व्रजभूषणलाल

"सूर आयौ सीस पै, छाया आई पाँइन तर, पंथी सब झुकि रहे देखि छाँह गैहरी ।
धंधी-जन धंधि-छाँड़ि रहे-री सब धूप ही ते, पसु, पंछी, जीव,जंतु चिरैयाँ चुप्प चैहरी ।।
व्रज के सुकुमार लोग दै-किंवार सोइ रहे, उपवन की ब्यार तामें क्यों न सुख लैहरी ।
'सूर' अलबेली चलि काहे कों डरात जिय, माघ-मधि-रात जैसी जेठ की दुपैहरी ।।"

श्री सूरदास का यह पद स्थूलरूप से प्रगट में रीति-शास्त्र के अनुसार एक नायिका विशेष का निरूपण है, जिसका पर-पुरुष से प्रेम है ; इसलिए धर्मानुसार यह नायिका—'परकीया' है[1] । परकीया में प्रणय की उत्कृष्टता, प्रेम की अनन्यता और लगन की एकनिष्ठ महत्ता अन्य नायिकाओं से कहीं अधिक कही गई है । वह 'ऊढा'[2] भी है, क्योंकि पर-पुरुष से प्रेम रखती है और कामार्त्त होकर स्वयं नायक के पास—रूप-जनित कुछ मान के कारण अनमनी-सी होते हुए भी, जाने को उद्यत होने के कारण 'अभिसारिका'[3] भी है । दिन में ही मिलन के कारण से वह 'दिवाभिसारिका'[4] है । दूती,[5] नायिका के अंतर्निहित मिलन रूप

[1] दुरें-दुरें पर-पुरुष सों, सुंदरि करै जु प्रीति ।
बुद्धि, चतुरई, चौगुनीं, 'परकीया' की रीति ।।
—मनोज-मंजरी—२।२७

[2] जो ब्याही तिय और की, करति और सों प्रीति ।
'ऊढा' तासों कहत हैं, हिऐं राखि रस रीति ।।
—मनोज-मंजरी—२।२८

[3] केलि-हेत पिय-थल गमन, करै बिलच्छन कोइ ।
पिय-हिं बुलावै आपु-थल, 'अभिसारिका' जु होइ ।।
—हित-तरंगिनी—कृपाराम

[4] संस्कृत-रीति ग्रंथों में 'अभिसारिका' के ज्योत्स्नाभिसारिका, दिवाभिसारिका और तमोभिसारिका नाम से तीन भेद कहे हैं। व्रजभाषा के आचार्य 'केशव' ने प्रथम—स्वकीया-सामान्याभिसारिका का कथन कर उसके—प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका तथा कामाभिसारिका विभेद करते हुए प्रत्येक के 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' नाम से दो-दो भेद और किए हैं। चिंतामणि ने संस्कृत रीति-ग्रंथों के अनुसार ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोभिसारिका तथा दिव्याभिसारिका नाम से तीन भेद माने हैं, परंतु सर्वसंमति से अभिसारिका के शुक्ला, कृष्णा तथा दिवाभिसारिका भेद ही अधिक प्रचलित हैं ।

[5] मिलि न सकें जे तिय-पुरुष, तिहि चित हित उपजाइ ।
छल, बल आँन मिलाव ही, सो दूती ठहराइ ।।
—मनोज-मंजरी—३।९

उत्कंठा को अपने मधुर वचनों द्वारा और भी सचेत कर 'अभिसार' के लिए प्रेरित कर रही है, इसलिए दूती भी उत्तमा[1] है, क्योंकि—'क्यों न सुख लेहरी' उसका संकेत है और 'अलबेली' जैसा सार्थक संबोधन है। नायिका में लज्जा और काम दोनों समान रूपसे हैं जिससे उसे 'मध्या'[2] भी कहा जा सकता है। जेठ की दुपहरी (मध्याह्न) तथा उपवन की ब्यारि (हवा) दोनों ही लज्जा और सुख की कामना के द्योतक होने के साथ-साथ काम-भाव के कारण भी हैं। अभिसार का समय केवल दिन या प्रकाशमय समय ही नहीं, जेठ की टीक दुपहरी (दिन का मध्य भाग), अर्थात् अति प्रकाशपूर्ण समय है। अतः प्रस्तुत पद की नायिका को—'दूती-प्रेरित परकीया मध्यादिवाभिसारिका" कहा जा सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त नायिका ब्रज की कोई यौवनवती—अलबेली गोपिका है। वह कामवती है, उद्बोधिता है, साथ ही गुरुजन-सभीता है, अतएव दुःस्साध्या है तथा नायक ब्रजराज कुँवर स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जिनकी रस-केलि से ब्रज के समस्त वन-उपवन, निकुंज-कुंज, सर-सरिता-तट उल्लसित हैं। ब्रज, एक ऐसे नैसर्गिक मधु-अंचल में अवस्थित है जहाँ के मनुष्य ही नहीं पशु और पक्षी भी भावुक हैं। प्रकृति की मादक और कोमल गोद में पले होने के कारण वे सहज ही सुकुमार हैं। इसलिए कामभाववशविलत-नायक-नायिकाओं का सुकुमार होना निस्संदिग्ध है। कवि उसी व्यापक सुकुमारता का निदर्शन कर रहा है।

ज्येष्ठ मास के मध्याह्न का तीव्रतम उत्ताप है। प्राणीमात्र के लिए वह असह्य है। सूर्य भी ठीक शिरोबिंदु (माथे के ऊपर) पर आ गया है। प्राणियों वा पदार्थों की छाया उसके पद-तल में सिमिट कर केंद्रीभूत हो गई है। इस समय पथिक-गन गहन छाया ढूँढ़ वहाँ दुपहरी बिताने के लिए 'शुक'—अति असक्त-से शीघ्र ठहरने की कामना करते हैं। यही दशा श्रमिक वर्ग की है। वे श्रम तभी तक करना चाहते हैं जब तक कि वह उनके लिए उल्लासमय हो—असह्य कष्ट साध्य नहीं। जब मनुष्य की यह दशा है तब अन्य पशु-पक्षी—जीव-जंतु तो इनकी अपेक्षा निर्बल वा कोमल-तर हैं। वे निदाघ-दाघ के प्रमत्त वेग को कैसे सह सकते हैं—

> **"कहिलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।**
> **जगत तपोबन-सौ कियौ, दीरघ दाघ-निदाघ॥"**
>
> —बिहारी.

अतः, वृक्ष-लताओं के निभृत्त कोटरों में, उनकी तल-छाया में निस्तब्ध, निःस्वन होकर वे विश्राम करना चाहते हैं। ब्रज के इन कोमल पशु-पक्षियों की कोमल वृत्ति को देखिए कि वे इस तीव्र-ताप में उत्तापित हो चहकने के मीठे स्वरों से भी मुक्ति चाह कर पूर्ण विश्राम की कामना करते हैं। उधर ब्रज के नागरिक-जन ग्रीष्म की अति उत्तप्त पवन और विषम धूप के प्रकाश से सुरक्षित होने के लिए अपने-अपने गृह-कपाटों को बंद किए सो रहे हैं। वे दूसरे देशों की तरह जड़-यंत्र की भाँति ग्रीष्म की इस जलती दुपहरी में निरवधि चलायमान रहना नहीं चाहते। वे सारे दैनन्दिन व्यापार को स्थगित कर विश्राम कर रहे हैं। आखिर जीवन निरंतर पिसते और जलते रहने के लिए ही तो नहीं। उसमें कुछ क्षण स्वस्थता और शांति के लिए भी सुरक्षित होने चाहिए। ये ब्रज-वासी मानो अपने उस नागरिक अधिकार को खोना नहीं चाहते। ब्रज का माधुर्य-क्रोड ही ऐसा है। इस प्रकार प्रकृति के साथ-साथ नागर-जीवन में भी एक शांत निस्तब्धता और

[1] **मधुरे बचन सुनाइ कें, जो तिय-मन-हरि लेत।**
तासों उत्तम दूतिका, सकल सुकवि कहि देत॥

—सुंदरी-सर्वस्व

[2] **मुग्धा जामें पाइऐ, जोबन-आगम-रीति।**
मध्या में लज्जा-मदन, प्रौढा में पति-प्रीति॥

—रसप्रबोध—रसलीन

जन-रव वा जन-व्यापार के कोलाहल का अभाव है। उधर शीतल-मंद-सुगंध से अनुप्राणित ब्रज के वन, उपवन और निकुंजों में सुख, शांति तथा शीतलता खेल रही है। ऐसे समय प्रिय-मिलन कितना सुखद, कितना सरस होगा, यह रसिक हृदय ही जान सकते हैं।

अभिसार, वह भी एक मध्या परकीया का, अधिक से अधिक गोपन और अपने अनुकूल उपकरण वा वातावरण चाहता है। अभिसारिका घर से निकल कर अभिसार-पथ पर बढ़ेगी। संभव है गुरुजन वा पुर-जन उसकी अनुगामिनी छाया को देख कर कुछ भ्रम करलें, पर इस समय वह भी भय नहीं है, क्योंकि—

"छाया आई पाँइन तर।"

छाया पावों-तले आगई है। फिर यह छाया दृष्टिगत न भी हो, नायिका स्वयं ही दृष्टि पड़ जाय, पर उसे भी यहाँ कौन देखेगा? क्योंकि—

"ब्रज के सुकुमार लोग दै-किवार सोइ रहे।"

जो सुकुमार हैं, वे बंद कपाटों के रंध्रों से भी प्रकाश व तप्त वायु न आजाय, ऐसा प्रबंध कर सोये होंगे और जब सो-ही गए तब देखेगा कौन? यही नहीं, उनकी निद्रा को गहन वा उन्हें निद्रागत करने में असहायक पशु-पक्षियों के कलरव का भी अभाव है। अतः प्रकृति की निस्तब्धता में किसी का जागरुक रहना असंभव है। उधर उपवन का ग्राम-मार्ग है—जन-व्यापार से शून्य, क्योंकि पशु-पक्षियों की भाँति मार्ग के बटोही एवं "धंधी-जन" निष्क्रय और निःशब्द होकर विश्राम कर रहे हैं। सघन छाया की शीतलता की ओर से आँख हटाकर इस चिलकती धूप की ओर कौन देखने का साहस करेगा? अस्तु, यह जेठ मास की दुपहरी माघ मास की मध्य रात्रि की भाँति एकांत, शांत और निर्भ्रांत है। यहाँ श्री सूर के शब्दों की कितनी सुंदर ध्वनि है। अभिसार की समग्र अनुकूलताएँ यहाँ समधिगत हैं।

इन्हीं अनुकूलताओं से लाभ उठाने के लिए दूती—सखी, अपनी 'अलबेली' नायिका को उद्बोधित कर रही है। अलबेली शब्द जहाँ नायिका की उत्कृष्टता का द्योतक है वहाँ उसके मधुर यौवन के साथ-साथ काम-जनित मनोभावों को भी प्रगट करता है। इसमें एक अनुपम रस-वृत्ति है, उसके प्रतिफलन की कामना में एक अनूठापन है—अटपटापन है। अतः ऐसी 'टीक दुपहरी' की विभीषिका में भी उसके अंतरस्तर में एक स्निग्ध भाव-रस की धारा उसके मानस को तरल भाव-बीचियों के साथ आपूरित कर रही है। वह अपनी रस-धारा में मानो ग्रीष्म की ऊष्मा को डुबो देगी—अपने चिर संतप्त हृदय को उपवन की शीतल-सुगंधित-समीर के झकोरों से आलोडित कर तीव्र-तपन को शमित कर देगी। काम का तीव्र-उद्वेग, भावों की झंझा, स्नेह का निर्वाध प्रवाह, स्थूल प्रकृति के प्रभावों को भी आमूल परिवर्त्तन कर प्रणयी के अनुकूल बना देते हैं। वह अणु-अणु को अपनी भाव-धारा में निमज्जन करता हुआ पाता है। उसके लिए प्रकृति अपने गुण-धर्मों को छोड़ देती है। यह तीव्र संवेदनशीलता भावुकता की पराकाष्ठा है। इसीलिए जेठ मास की दुपहरी नायिका को माघ मास की मध्य रात्रि की भाँति एकांत और शीतलता देने वाली है। दूती, नायिका के मन के विकारों को,—उसके विज्ञान को परखती है और उसकी सुकुमारता को जानते हुए भी ऐसी टीक दुपहरी में उपवन की शीतल बियार में प्रिय-मिलन का सुख लेने के लिए प्रेरित करती है। मार्ग में, एक तो अभिसार के मादन भावों में डूबी हुई नायिका को जेठमास की टीक दुपहरी का उत्ताप अनुभव ही न होगा और यदि किंचित् हुआ भी तो उपवन की शीतल समीर उसे निवृत्त कर देगी। प्रिय के आश्लेष और परिरंभण का महासुख ही ऐसा है कि उससे ऐसे कष्टतम मार्ग की समस्त क्लांति की निवृत्ति मिलन के एक पल मात्र में हो जाती है। फिर समग्र प्रकृति उसके अनुकूल है। एकांत निस्तब्ध वातावरण में लोक-लज्जा का भय भी नहीं। माघ की मध्य-रात्रि में जहाँ अभिसार के लिए निरापदता होती है वहाँ, वसंतकालीन निसर्ग सुषमा-बीच मादक काम-भाव और उसकी पूर्त्ति के अनुरूप उल्लासमय वातावरण भी होता है। जेठ की दुपहरी में भी निकुंजश्री के प्रमत्त केलि-स्थलों में यही बात है। अतएव दूती की उक्ति—

"काहे कों डरात जिय ।"

संगत और समीचीन है। इधर निकुंज-स्थित नायक की तीव्र उत्कंठा की भी कल्पना करें कि दूती-प्रेषण के बाद प्रेष्टतमा नायिका के साथ इस अल्प कालीन मध्याह्न-व्यापिनी उपवन के समीर सुखोपयोग के लिए वह कितना उत्कंठित है—उल्लसित है।

प्रस्तुत पद, 'संयोग-शृंगार'[१] का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। नायक-नायिकाओं के हृदय में परस्पर मधुर मिलन की समुत्सुकता उनके रति-भाव की द्योतक है। रति, हृदय का एक मादन भाव है और भाव, अंतस्तल की एक कोमल वृत्ति है—हृदय का एक तरल स्पंदन है। अतः जब यह भाव हृदय में स्थायित्व पाकर अपने आलंबन का संबल ले तथा उद्दीपन, संचारी-विभाव और अनुभावों से परिपुष्ट होता है तब वह परिपक्व रस-संज्ञा पाता है।[२] रस, एक भाव चमत्कृति है,—मानव-मन के संवेदनशील कोमल तंतुओं की एक स्निग्ध झंकृति है। इसलिए रस में एक सहज सुकुमारता है। रति-भाव में यह सुकुमारता और भी निखरती है। रति, हास, शोक, भय, उत्साह-आदि भाव मानव-हृदय में बीज रूप से स्थिर रहते हैं। अतएव इन्हें स्थायी भाव[3] कहा गया है। स्थायी-भावों का कोई आलंबन होता है, जिसके आश्रय से उनकी स्थिति संभव है। रति के आलंबन विभाव नायक-नायिका वा प्रेमपात्र होते हैं[४]। आलंबन को पाकर वाह्य उपकरणों के द्वारा स्थायी-भाव उद्दीप्त होता है[५]। ये वाह्य उपकरण वा रस-सामिग्री भावों में तीव्रता लाकर उन्हें उत्तेजित करती है, जिसे साहित्य-शास्त्र 'उद्दीपन-विभाव' कहते हैं[६]। रति की उद्दीपन-सामिग्री रस-शास्त्रों में अनेक गिनाई गई हैं। इन स्थायी भावों की सर्वोपरिता होते हुए भी जल-निधि-तरल-तरंगों की भाँति हृदय में अनेक आनुषंगिक भावनाएँ संचारित होकर उठती-बैठती हैं। अतएव इन तात्कालिक उद्भावनाओं को 'संचारी-भाव' संज्ञा मिली है। प्रमुखतः इनकी गणना तेंतीस की गई है। ये रति में भी संचारित होते हैं। हृदय जब इस भाव-भूमि पर पहुंच जाता है तब उसकी संवेदना आंतर परिवेष्ठन में चिरबंदिनी नहीं रह पातीं और तब जलधि-उर्मियों की भाँति सीमाबद्ध मर्यादाओं का अतिलंघन कर वाह्य इंद्रियों के माध्यम से वह प्रकट चेष्टा रूप में परिलक्षित होती है। ये ही अनुभाव हैं।

[१] **मिलि दंपति बहु भाँति की, क्रीड़ा करत अछेह।
तांहि 'सँजोग सिंगार' बुध, बरनत सहित सनेह।।**

[२] **विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।**

—भरत नाट्य-शास्त्र, अ०—६

[3] **नायक सब-ही भाव कौ, टारें टरै न रूप।
तासों 'थाई' रूप कहिं, बरनत हैं कवि-भूप।।**

—रस-पियूष—सोमनाथ

[४-५] **रस उपजै 'आलंब' जिहि, सो 'आलंबन' होइ।
रस-हिं जगावै दीप ज्यों, उद्दीपन कहि सोइ।।**

—भाव-विलास—देव

[६] **थाई कारन कों सुकवि, कहत बिभाव बिसेख।
सो द्वै बिधि आलंबनरु, उद्दीपन अबरेख।।
सखा, सखी, दूती, सुबन, षट्रितु, उपबन, पौन।
उद्दीपन हिं बिभाव में, बरनत कवि मति-भौन।।
चंद, चाँदनी, चंदनहुँ, पुहुप, पराग समेत।
यों ही और सिंगार सब, उद्दीपन के हेत।।**

—मनोज-मंजरी—अजान

अनुभावों की भी अपरिमित गणना है, जिसमें आठ सात्त्विक अनुभावों का विशेष विचार किया गया है। रति-भाव में भी इनमें से अधिकांश समावेश होते हैं और रस की सृष्टि करते हैं। प्रस्तुत पद में इसी प्रक्रिया से शृंगार रस का परिपाक हुआ है।

शृंगार को 'रस-राज' कहा गया है। सृष्टि का मूल ही शृंगार है। द्वित्व या युग्म की भावना—एकत्व में अनेकत्व की कल्पना, यही तो सृष्टि है और काम-वृद्धि की प्राप्ति ही उसका आदि कारण है। शब्दाँतर में यही शृंगार है, जिससे काम-भाव अंकुरित होता है। अतएव समस्त रस शृंगार पर आधारित हैं। शृंगार रस के देवता स्वयं रसेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं, जिनका वर्ण 'श्याम' माना गया है। इसीलिए श्री कृष्ण को—

"रसो वै सः।"

कहा गया है। सूरदास ने इन्हीं रस-रूप श्रीकृष्ण को अपनी साहित्य-साधना का केंद्रविंदु मान उनमें अधिष्ठित शृंगार रस को अपने काव्य का आधार बनाया है। भाव-जगत में तो श्रीकृष्ण, सूर के सर्वस्व आराध्य हैं, वे उनके सखा हैं, स्वामी हैं,—सहचर हैं। इस दृष्टि से सूर के काव्य और भक्ति का चरम आदर्श अभिन्न है।

कवि सूर ने अपनी चरित्र-नायिका को अभिसारिका के रूप में इसी उद्दाम शृंगार के काम-भाव का स्फुरण निर्देशित किया है। उसके स्थायी भाव रति के आलंबन सामान्य नायक नहीं, शृंगार, काव्य और भक्ति के आदर्श अधिपति 'श्यामसुंदर श्रीकृष्ण' ही हैं। उनके मधुर मिलन के लिए वह आर्त्तभाव से उत्कंठित है। सूर्य का सिर पर आजाना, छाया का पद के तल में पहुँचना, निकुंज में गहन तरु-बल्लरियों की गहन-छाया का विस्तार, पक्षियों का कोटरों में झुक रहना, धंधीजनों का धंधे को त्याग किसी शीतल स्थान में निस्तब्ध हो जाना, पशु, पक्षी, जीव, जंतुओं का मौन-साधन, व्रज के सुकुमार लोगों द्वारा दुरंत जेठ की टीक दुपहरी से घबड़ा कर विश्रामार्थ किए गए निज-निज घरों के बंद-कपाट, उपवन की शीतल पवन और उससे सुख-उपभोग की मृदु कल्पना तथा जेठ मास की दुपहरी-जनित न सह सकने योग्य तीव्र-ताप के कारण सर्वत्र नगर तथा अभिसार-मार्ग एवं केलि-स्थलों में सहज निस्तब्धता की अनुकूलताएँ और दूती-द्वारा तत् ओर संकेत किया जाना आदि नायिका के रति-भाव को उत्तेजित करने वाली संपूर्ण रस-सामग्री—उद्दीपन विभाव है। अलबेली के हृदय में, किसी की दृष्टि में उसका अभिसार न आजाय, यह जो वितर्क, शंका, चिंता और तज्जनित भय के भाव हैं, वे क्रमशः एक के बाद एक उत्पन्न और विलीन होते रहने के कारण ही संचारी-भाव हैं। दूती की उपस्थिति और उसकी प्रेरणा वा संदेश भी उद्दीपन में सहायक हैं। कामार्त्तता और मिलन की तीव्र इच्छा होते हुए भी नायिका अभिसार में प्रवृत्त न होकर स्थिर भाव से जो अपने स्थान पर बैठी है, यह उसका स्तंभ रूप बाह्य-चेष्टा अथच अनुभाव है। इस प्रकार कवि ने शृंगार रस के परिपाक के उपयुक्त सभी अंग-उपांगों का इस पद में समावेश किया है। शृंगार की सफल व्यंजना सूर के समग्र काव्य में प्राप्त होती है। यही वस्तुतः उनका काव्य-सौंदर्य और भाव-पूर्णता है। तथ्य तो यह है कि कवि स्वयं अपने उस भावोन्मादिनी नायिका के भावावेश से ओतप्रोत है। किसी भाव-विशेष से हृदय का तादात्म्य वा तद्रूपता ही भाव-सृष्टि की चरम कोटि है और वही कवि कवि है; कलाकार—सच्चा कलाकार है। सूर में यही बात है।

अस्तु, इस अभिसारिका में हम सूर के हृदय की ही छाया पाते हैं। उसमें उन्हीं की गोपी-भाव-विभूषित सरस अनुरक्ति का अभिनिवेश है। इस नायिका-भेद की पृष्ठभूमि में सूर ने वह उच्चस्तर का आध्यात्मिक आदर्श भरा है जो उनकी जीवन-साधना का साध्य—(आदर्श) और उनके साहित्य का सर्वस्व है। सूर-सदृश विरक्त महानुभाव के लिए यह सर्वथा संभव नहीं कि वे किसी सामान्य वा लौकिक कामिनी के मनोविकारों का विश्लेषण करते हुए क्षुद्र ऐहिक शृंगार रस में अपनी दिव्य प्रतिभा को डुबो दें। जो त्यागी संत, बड़े से बड़े वैभव को ठुकरा कर, कामिनी-कांचन की मोह-मरीचिका से मुख मोड़ चुका, वह फिर

उसके मनोभाव रूप कलुषित रस-वृत्ति में उलझ नहीं सकता। अतएव उनके शृंगार में—उनकी ललित उद्भावनाओं के अंतस्थल में, उस महान् मिलन के भाव गूँज रहे हैं जिसकी प्राप्ति के साधन-मार्ग में उनके परम गुरु श्रीवल्लभाचार्य ने उन्हें नियोजित किया था। वे गुरु-चरणों का आश्रय ले उस पुष्टिमार्ग पर गतिशील हैं जो दैवी जीव को उसकी अहंता-ममता का निरसन कर, मोह-ज्वाला के ताप-दाप से निवृत्त कर, माया से निरावृत्त विशुद्ध सच्चिदानंद मय ब्रह्म से संबद्ध कराता है। वे उस प्रेमलक्षणा-भक्ति-पथ के पथिक हैं, जिसमें प्रभु का अनुग्रह ही सर्वस्व है, जहाँ का सर्वस्व निवेदन—शरणागति ही मूलमंत्र है। श्री सूर ने एक ऐसा साधन पाया है जो जीव के समस्त दोषों की निवृत्ति कर विशुद्ध स्वरूप में सख्य और आत्म-निवेदन की चरम कोटि की भक्ति-द्वारा प्रभु की प्राप्ति कराता है। क्योंकि जीव साधक है, प्रभु साध्या हैं, भक्ति साधन है और गुरु, प्रभु-प्राप्ति के माध्यम हैं। अतएव उनकी साहित्य-कला की साधना का चरम ध्येय वे ही प्रभु हैं।

सूर-काव्य के मूल में यही सांप्रदायिक-सिद्धांत की भावना समा रही है, उसके कण-कण में विरम रही है। अस्तु, इस विवेच्य पद की अभिसारिका एक दैवी जीव के स्थानापन्न है और नायक श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म स्वरूप हैं। नायिका उसी अखंड ब्रह्म का एक अणुरूप है। जो उस (ब्रह्म) का एक अभिन्न अंश होते हुए भी विकेंद्रित होकर लीलामय के इस कौतुकपूर्ण क्रीड़ाभांड-जगत में उसकी प्रेरणा से आता है। ब्रह्म और जीव के बीच माया का एक झीना आवरण है। जिसके हटने पर ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होगी, किंतु इसके लिए उसमें तीव्र उत्कंठा चाहिए—गहरी आकुल पिपासा होनी चाहिए। जब जीव का पृथक् अहंत्व वा लिंगत्व नष्ट हो जाता है, वह द्वैध-भाव को भूल कर एकत्व की उपलब्धि के लिए उल्लसित होता है, तब ब्रह्म की ओर प्रधावित होकर उससे तादात्म्य पाकर एक अनिर्वचनीय आनंद को समाधिगत करता है। प्रकृति और पुरुष, स्थूल और सूक्ष्म वा पार्थिव और चेतन, इन द्वि-विध भासमान् तत्वों के दोनों पार्श्व मिलकर ही पूर्णत्व की कोटि में आते हैं। इसी में द्वित्व की निवृत्ति और एकत्व की स्थापना है। सृष्टि-चक्र एकत्व की प्रसूति है, द्वित्व की अनंत-क्रीड़ा है और पुनः एकत्व में पर्यवसित हो जाना उसकी चरम साधना की पराकाष्ठा है। नायक-नायिकाओं की संसृष्टि, उनके मूल में चेतनाओं का आकर्षण-विकर्षण अथवा मिलन-विरह उसी जीव-ब्रह्म के परस्पर आकर्षण-प्रत्याकर्षण वा संयोग-वियोग का प्रतीक विधान है। जिसे कवियों ने सहज संवेद्य मनोहर रूप देकर मानव सुलभ रस-वृत्ति को प्रोज्जीवन देते हुए उसी परात्पर अचिंत्य ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत किया है।

सूर की नायिका में नायक श्रीकृष्ण के मधुर मिलन और तद्रूपता में उसकी चरम परिणिति के लिए तीव्र—उत्कट लालसा है। उसमें समुद्भूत उद्दाम प्रणय वा काम-भावना ही उसे नायक श्रीकृष्ण की ओर खींच रही है, किंतु उस (नायिका) के और नायक के बीच लोक-मर्यादा बाधक बन रही है। उसमें अभी अहंभाव है, वह अभी अपना पृथक् अस्तित्व मान रही है। अतः जब तक उसमें यह द्वैध-भावना है तब तक उस (ब्रह्म) के मिलन में विलंब है। नायक (ब्रह्म) तो अपनी अहैतुकी कृपा की डोर से उसे खींच रहा है। दूती-प्रेषण का उद्देश्य भी यही है, किंतु अभी नायिका में लज्जा है, संकोच है और शील है। वह ऐहिक मर्यादाओं—विधि-निषेध और लोक-सीमाओं की बंदिनी है। जिस दिन सांसारिक अहंता-ममता के बंधन से वह मुक्त हो जायगी, तभी उसे परम नायक श्रीकृष्ण की प्राप्ति होगी और तभी वाह्य जगत् के तीव्र निदाघ-ताप से बच कर निकुंज-व्यापिनी निस्सीम शीतलता से हृदय और जीवन को चिर सुखी कर सकेगी।

गुरु, भक्त और भगवान के बीच की एक मधुर पर दृढ़ कड़ी है जो दोनों को मिलाती है, अनेकत्व को एकत्व में परणित करती है। वे प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का निदर्शन कर बाधक तत्वों से निवृत्ति और साधक तत्वों से अनुरक्ति का साधन देते हैं। सामान्य निस्साधन जीव प्रभु की सहज में प्राप्ति नहीं कर सकता। वह गंभीर ज्ञान और अनुभव के अभाव में समीचीन पथ से विचलित हो सकता है। इसलिए गुरु पथ-प्रदर्शक हैं। यहाँ दूती, गुरु-स्थानापन्न है जो नायक ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण से नायिका रूप जीव, अर्थात् अलबेली अजा-

गना को महा मिलन के लिए प्रेरित कर रही है। उसके निर्मूल भय और लोक-लज्जा वा मर्यादा रूप माया के झीने आवरण को निवारण कर निकुंज-स्थित परम प्रभु नायक की ओर अभिसार करने का उद्बोधन दे रही है।

सूर के काव्य में नायिका-भेद का यही रहस्य है। अभिसारिका (नायिका) का अंतरंग स्वरूप भी यही है। वाह्यतः वे लौकिक शृंगार अथच मानवीय रस-वृत्ति का निरूपण करते-से प्रतीत होते हैं, किंतु महा भाव के ग्राहक 'सूर' के लिए ऐसी कल्पना करना भी हेय और असंगत है। उनके काव्य की यही विशेषता है, जिसमें हम उनके भक्त और कलाकार दोनों रूपों के विश्व-मंगल का दिव्य-दर्शन पाते हैं।

श्री सूर के पाँच नये पद

राग—अड़ाना

सुंदर बदन सदन सोभा कौ, निरखि नैंन-मन थाक्यौ।
हौं ठाढ़ी बीथिन्हि ह्वै निकस्यौ, उझकि झरोखें झाँक्यौ।।
मौंहन इक चतुराई कीन्हीं, गेंद-उछारि गगँन-मिस ताक्यौ।
बारौं-री लाज, बैरिन भई मो कौं, हौं गँमारि मुख-ढाँक्यौ।।
चितबन में कछु करि गयौ टौंनौं, अब न रहत मन राख्यौ।
'सूरदास' प्रभु सरबस लै कें, हँसत-हँसत रथ हाँक्यौ।।

राग—रामकली

तुम्हें कोऊ टेरति है जू काँन।
भोरी-सी गोरी थोरे दिनैंन्ह की, बारी बैस उठाँन।।
छूटीं अलक, नील-पट ओढ़ें, चंचल चतुर सुजाँन।
कहा कहौं वाके मुख की सोभा, मानौं ऊग्यौ भाँन।।
बंसीबट की ओर गई है, रसिक सिरोमनि जाँन।
'सूरदास' उठि चले जु मौंहन, नई करैंन पैहचाँन।।

राग—सारंग

तब लौं किएँ रहति हो माँन।
जोबन-गुन-गरबित सुनि सजनी, तज्यौ नाहिं अग्याँन।।
आज खिरक ते निकसे मौंहन, अँग-अँग रूप-निधाँन।
निरखि बदन-छबि उरझि परयौ मन, भूली सबै सयाँन।।
को जानैं तब ते नैंनन की, कहा भई गति आँन।
'सूर' सु को जु रहै अपने बल, सुनत बैंनु-कल-गाँन।।

राग—मलार

सखी-री, साँमन दूल्है आयौ।
चार मास कौ लगन लिखायौ, बदरन्हैं अंबर छायौ।।
बिजुरी चपल, बराती बगुला, कोकिल सबद सुनायौ।
दादुर, मोर, पपीहा उँमगे, इंद्र निसाँन बजायौ।।
हरित भूमि पै जरद देखियत सबज बिछौंना छायौ।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन कौं, सखियँन्ह मंगल गायौ।।

राग—मलार

बरसै मेहा मंद, मंद।
कँसुभी चीर अंग पै भीजै, निरखि हँसे नँद-नंद।।
मुरि मुसिकाइ चली, फिरि सकुची, कर दै आँनन-चंद।
'सूर' स्याँम पट-पीत उढ़ावत, पुलकत आँनद-कंद।।

ब्रजभाषा में नव रस

श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

"नारायन ब्रज भूमि कों, को न नवावै माथ ।
जहाँ आइ गोपी भए, श्री गोपेस्वर नाथ ।।"

"ब्रजभाषा" इसी पुण्य भूमि ब्रज की भाषा है। इसी भाषा के पियूष पयोधि में "मंचलि-मंचलि माँगी हरि माँखन-रोटी।" इसी सरल भाषा में भक्त और संत कवियों ने प्रेम-पयस्वनी की दिव्य धाराएँ बहाई हैं। जिस समय समस्त भारतवर्ष मुग़लों एवं यवनों के अत्याचारों से आक्रांत था। जिस समय लोगों में गज की टेर सुनकर आने वाले खरारि एवं द्रौपदी का आर्त्तनाद सुनकर आने वाले मुरारि में विश्वास नहीं रह गया था। उस समय इस भाषा के महात्मा कवियों ने ब्रज माधुरी-द्वारा अपने मानस को सरस सुहामना बनाया और दशों दिशाओं में जगन्मोहन की मधुर मुरली सुनाई।

इन दिनों एक ओर संत-ज्ञानियों के वेदांती उपदेशों के द्वारा सांसारिक निस्सारता का प्रतिपादन हो रहा था और दूसरी ओर आक्रमण कारियों के अत्याचारों के कारण हिंदू जाति में जीवन के प्रति प्रायः कोई आकर्षण शेष न रह गया था। इस प्रकार देश का जीवन नैराश्यमय ही था। इन महात्मा कवियों ने अपने दिव्य प्रेम संगीत-द्वारा जीवन की मधुरिमा को उपस्थित किया तथा जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। इस प्रेम-सुधा-धारा में लोक के सुखद पक्ष के दर्शन हुए, फैली हुई उदासी या खिन्नता बह गई।

जयदेव की कोमलकांत पदावली युक्त देववाणी की स्निग्ध सुधा-धारा जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरिता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चल कर ब्रज के करील-कुंजों में फैली और मुरझाये मनों को सुधारस का पान कराकर हराभरा करने लगी।

महाकवि जयदेव ने स्वयं ही कहा था कि लोक का चित्त रमाने के लिए ही उन्होंने भगवान की भक्ति के लिए काव्य रचना की तथा विलासपूर्ण शैली को अपनाया है। यथा—

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास कलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कांत पदावलीं श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।।"

—गीतगोविंद

आगे चल कर ब्रजभाषा के कवियों ने भी इसी परंपरा को अपनाया और कृष्ण-नाम की रसायन को शृंगार के मधुरावेष्टन में पर्यवेष्ठित कर जाति को नव किसलय युक्त मधुर जीवन प्रदान किया।

इसी सुशीतल प्रेम निकुंज की सुखद छाया में सहस्रों संसार-संतप्त प्राणियों ने शांति पाई थी। प्रेमोन्मत्त मन इसकी भनक पड़ते ही आज भी आपे को भूलकर नाच उठते हैं।

"वह मुरली अधराँन की, वह चितवन की कोर ।
सघन कुंज की वह छटा, और वह जमुन हिलोर ।।"

"होत रहैं मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाइ बड़ौ तप कीजै ।
ह्वै बन माल हिऐं लगिऐ अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै ।।"

जब तक भारत की भारती और भारतीयता शेष है, जब तक गंगा-जमुना में जल शेष है, जब तक हमारे हृदय पटल पर ब्रज-वल्लभ की मधुर मूर्त्ति खचित है, तब तक ब्रज की वीणाएँ कृष्ण-कीर्त्तन करती रहेंगी और ब्रजभाषा-साहित्य हमारी अक्षुण्ण निधि के रूप में बचा रहेगा।

"साँईं कै सँग सासुर आई ।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं ।।
जना चारि मिलि लगन सुधायौ, जना पांच मिलि माँड़ौ छायौ ।
भयौ बिवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई ।।"

इस काल के बाद तो ब्रजभाषा का स्रोत ही फूट पड़ा था तथा अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं । चलती हुई ब्रजभाषा में सर्वप्रथम साहित्यिक रचना करने वाले कवि हैं साहित्य संसार के सूर्य महात्मा सूरदास । इनकी साहित्यिक रचना इतनी मधुर, प्रगल्भ और काव्यांग पूर्ण है कि अन्य कवियों की रचनाएँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं । इसका अभिप्राय यह है कि विक्रम की १५वीं शताब्दी तक ब्रज-भाषा का साहित्यिक भाषा के रूप में सफलतापूर्वक प्रयोग होने लगा था । 'सूरसागर' परंपरागत साहित्यिक भाषा का विकास है,—चलने वाली परंपरा का मूल रूप नहीं । सूर गीत-परंपरा के पहिले ही कवि नहीं थे । उनके हाथों वह पूर्ण रूप में निखरी अवश्य है, परंतु उनके पूर्ववर्त्ती 'बैजू बावरा' के कुछ शृंगार-गीत प्राप्त हुए हैं, जिनसे स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचना पहले से ही होती आ रही थी । देखिए—

"मुरली बजाइ रिझाइ लई मुख मोंहन तें ।
गोपी रीझि रहीं रस-तॉनन सों, सुध-बुध सब बिसराई ।।
धुनि सुनि मन मोहे मगन भई देखत हरि आँनन ।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्राँनन ।।
'बैजू' बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन-चंद, बस किए सुनतहि काँनन ।।"

ब्रजभाषा के शृंगार साहित्य का जो निखरा हुआ रूप सूरदास की रचना में दिखाई देता है, वह एकदम नहीं बन गया था । ब्रज-गीतों की स्थानीय परंपरा तथा चैतन्य महा प्रभु-द्वारा लाई गई जयदेव, चंडीदास तथा विद्यापति की वैष्णव-गीत-परंपरा का उसमें सुखद संमिश्रण हो गया था ।

अन्य भाषाओं की भाँति ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप भी मिश्रित ही था । प्राचीन रूप पिंगल में, खड़ी बोली, पंजाबी, राजस्थानी तथा गुजराती के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक मिले रहते थे । आज दिन भी गुज़-रात में ब्रजभाषा के अनेक शब्द प्रचलित हैं । वास्तव में ब्रजभाषा बहुत दिनों तक मिश्रित बनी रही । चंद ने स्वयं कहा है—'षट् भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' । इस षट् भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिए भिखारीदास का निम्न दोहा विचारणीय है—

"ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यमन भाखानि ।
सहज पारसी हू मिलै, षट् बिधि कहत बखानि ।।"

परंतु यह मिश्रण ऐसा नहीं था कि ब्रजभाषा अपनापन छोड़ देती ।

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ ।
मिलि संसकृत पारस्यौ पै अति प्रकट जु होइ ।।"

सूरदास जी की भाषा में भी पंजाबी के प्रयोग पाए जाते हैं, जैसे 'महरि' के अर्थ में 'प्यारी' शब्द । सूर के परवर्त्ती कवियों की रचनाओं में तो फारसी के शब्दों का भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग होने लगा था । ये सब बातें ब्रजभाषा के व्यापक अस्तित्व को सूचित करती हैं तथा इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रज-भाषा परंपरागत एवं चिर प्रतिष्ठित देश की व्यापक साहित्यिक भाषा है ।

ब्रजभाषा-काव्य की अक्षय निधि को पूर्ण करने में कितने महा कवियों ने योग दिया है, इसका बताना सहज नहीं । सूरदास के बाद नंददास, सेनापति, विहारी, पद्माकर, ग्वाल, देव, मतिराम, घनानंद आदि अनेक ब्रजभाषा के महारथी हुए । इनका एक-एक शब्द नाविक का तीर है । भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के समय से ब्रजभाषा का प्रयोग कम हो चला है । आज कल भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा में रचनाएँ होती रहती हैं । नवनीत चतुर्वेदी, रत्नाकर तथा सत्यनारायण एक प्रकार से ब्रजभाषा के अंतिम कवि कहे जा सकते हैं ।

अभी हाल में 'प्रेमी' नाम के मुसलमानी कवि की एक हस्त लिखित पुस्तक मिली है। यह फ़ारसी लिपि में होते हुए भी ब्रजभाषा में है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्राचीन गद्य भी ब्रजभाषा में ही है। संवत् १४०० के आस-पास रचे हुए हठ योग, ब्रह्म योग से संबंध रखने वाले अनेक गोरख-पंथी ग्रंथ मिलते हैं। इनकी भाषा में प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप उपलब्ध है। भक्ति काल में कृष्ण भक्ति-शाखा के अंतर्गत रचे गए गद्य ग्रंथों में आते-आते तो ब्रजभाषा का स्वरूप बहुत कुछ व्यवस्थित हो चुका था। गोस्वामी विट्ठलनाथ विरचित "श्रृंगाररस-मंडन" के अतिरिक्त 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' इन दो सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथों का उल्लेख आवश्यक है। इनके अतिरिक्त भी ब्रजभाषा में अनेक गद्य-ग्रंथ मिलते हैं; यथा अष्ट छाप—नाभादास, अगहन महात्म्य तथा वैसाख महात्म्य—वैकुंठमणि शुक्ल, नासिकेतोपाख्यान, वैताल पच्चीसी—सूरति मिश्र, आईने अकबरी की भाषा वचनिका आदि।

काव्य की आत्मा रस

भक्ति-काल में ब्रजभाषा के स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और रीति-काल में उसे खूब साज-सँवारकर एक दम परिष्कृत एवं सर्व रसोनुकूल तथा सर्व विषयोपयोगी बना दिया गया था। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू":—जिस प्रकार वैदिक वाणी के प्रथम प्रकाशक ब्रह्म को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्व प्रथम वर्णपिता महर्षि वाल्मीकि भी "आदि कवि" की पदवी से विभूषित हुए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की है—

> **"जिस प्रकार आत्मा की मूलावस्था का नाम ज्ञानदशा है अथवा सिद्धावस्था है, ठीक उसी प्रकार हृदय की मूलावस्था का नाम "रसदशा" है। इसी रसदशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी समय-समय पर जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम "कविता" है।"**

निस्संदेह काव्य वही है जिसमें चित्त रमण करे, जो चित्त को अपने आप में लगा ले। काव्यानंद लोकोत्तर आनंद है। वह स्वार्थ संबंधों से सर्वथा परे है। उसका उपभोग सहृदय जन ही कर सकते हैं।

कविता की यह परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का ही रूपांतर है। रस ही काव्य की आत्मा है। अपनी-अपनी रुचि तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से चाहे उसे अलंकार कहें, चाहे वक्रोक्ति अथवा ध्वनि परंतु सहृदयों के लिए 'रस' ही सुख है। नीलकंठ दीक्षित इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं—

> **"रसं रसज्ञाः कलयांति वाचि परे पदार्था न परे पदानि।**
> **वस्त्रं कुविंदा वणिजो विभूषां रूपं युवानश्च यथा युवत्याम् ॥"**

रसज्ञ (रसिक) कविता में रस ढूँढ़ते हैं, दूसरे विषय को ढूँढ़ते हैं, तीसरे पद लालित्य पर दृष्टि देते हैं, जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा उसके स्वरूप को सराहते हैं, जुलाहे, वस्त्र के व्यापारी, वस्त्र की प्रशंसा करते हैं और सर्राफ़ उसके आभूषणों पर परख की दृष्टि डालते हैं।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अध्ययन' में इसी का आश्रय लेकर विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है—

> **"प्रति कवि की भाषा भाव प्रधान, किंतु क्षुद्र वैयक्तिक संबंधों से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के साँचे में ढली हुई, श्रेय की प्रेय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। प्रभावोत्पादक शब्द-द्वारा भाषा की शक्तियों और अलंकारादि के साथ पाठक को ओर भी संकेत हो जाता है।" इस परिभाषा में प्रायः सभी बातें आ जाती हैं। किंतु उसमें वह लाघव नहीं जो "वाक्यं रसात्मं काव्यं" में है। वास्तव में यह उसका बृहत् संस्करण है।**

रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। रस, ध्वनि अथवा रस-चमत्कार ही वास्तव में काव्य का सर्वस्व है। शब्दाडंबर-युक्त एवं सालंकार पंक्तियाँ नीरस होने पर व्यर्थ ही हैं, क्योंकि जीवन ज्योति-रहित शव विभिन्न वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होने पर भी मिट्टी ही है। चमत्कृत भाव भाषा की अपेक्षा नहीं करते, उन्हें किसी प्रकार व्यक्त किया जाये, वे अपना प्रभाव डाल ही देते हैं—

"जामें रस कछु होत है, ताहि पढ़त सब कोइ ।
भाव अँनूठौ चाहिऐ, भाषा कोऊ होइ ।।"

क्योंकि—

"नहीं मुहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी ।"

साहित्यदर्पणकार ने काव्य के विभिन्न अवयवों का स्थान निर्धारित करते हुए उसके स्वरूप की इस प्रकार प्रतिष्ठा की है—

"काव्यस्य शब्दार्थः शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽव-यव संस्थानं विशेषवत्, अलंकाराः कटककुंडलादिवत् इति ।"

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा रसादि आत्मा हैं, माधुर्यादि शौर्य-शीलादि की भाँति गुण हैं, श्रुतिकटुत्वादिक दोष काणापन की भाँति है । वैदर्भी, पांचाली-आदि रीतियाँ अवयवों के संगठन के सदृश्य हैं । अलंकार कुंडल और कंकण की भाँति हैं । काव्य की कला से समता कर रीति-गुण-आदि का यथार्थ स्थान बता दिया है ।

रस ही काव्य की आत्मा है, उसका जीवन है । मम्मट्टाचार्य ने भारती की बंदना "आह्लादेक-मयीं" करके की है । यह आह्लाद मानसिक होता है, जो 'रस'-द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है ।

'रस्यते इति रसः', अर्थात् जिसका स्वाद लिया जाय, वह रस है । यह 'रस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'आस्वादन करना है' अथवा स्वाद लेना है । स्वाद आनंददायक वस्तु में ही आता है । अतः आस्वादन का अर्थ केवल चखना ही नहीं वरन् चखकर आनंद लेना है । वेद में परमात्मा को 'रस' कहा गया है—'रसो वै सः ।' काव्य-जन्य आनंद रस का स्वरूप है, अतः अनिर्वचनीय है, किंतु सहृदय जनों-द्वारा ही उसका आस्वादन या अनुभव किया जा सकता है ।

'रस' के मर्म को सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि-मुनियों ने ही समझा था । इसकी कल्पना संस्कृत-ग्रंथों में ही हुई है । महामुनि भरत के कथनानुसार 'द्रुहिण, नामक किन्हीं आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ था

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।

—भरत नाट्य-शास्त्र

हालाँकि भरत मुनि को इस विषय का आविष्कारक तो नहीं कहा जा सकता, परंतु फिर भी संसार में रस प्रकरण के विवेचक वे ही हैं । शास्त्र के रूप में तत्संबंधी विधिवत वर्णन करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है । इस प्रकार भरतमुनि कृत "नाट्य-शास्त्र" ही इस विषय का प्राचीनतम ग्रंथ ठहरता है । नाट्य-शास्त्र का समय कम से कम आज से दो हजार वर्ष पूर्व का है । आचार्य विश्वनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है—

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेतिरत्यादि स्थायिभावाः सचेतसाम् ।।"

—साहित्य-दर्पण

अर्थात् सहृदयों के हृदयों में स्थित वासना रूप रति-आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं ।

भाव से रस की उत्पत्ति मानी गई है । काव्य शास्त्र के आचार्यों ने मानसिक विकार अथवा वासना को ही भाव माना है । वास्तव में भावों की परिपक्वता ही रस है । आचार्य भरत मुनि ने भाव और रस को अन्योन्याश्रित कहा है—

"न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।"

—भरत नाट्य-शास्त्र

रसों की संख्या

मनुष्य के हृदय में अनेक भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इनमें कुछ भाव तो ऐसे होते हैं, जो कुछ समय तक अपना प्रभाव दिखाकर विलीन हो जाते हैं। उनकी स्थिति सागर की लहरों के समान माननी चाहिए, इन्हें 'संचारी भाव' कहते हैं और कुछ भाव ऐसे होते है जो विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते, अपितु विरुद्ध भावों को भी अपने रूप में परिणत कर लेते हैं, इन्हें 'स्थायी भाव' कहते हैं। ये ही स्थायी भाव विभावादिकों के संबंध से 'रस रूप' बन जाते हैं। 'स्थायी भाव' वास्तव में वासना रूप से हृदय में विद्यमान रहते हैं और जब विभावादि-द्वारा उनको उद्बुध होने का अवसर मिलता है, तभी वे जाग्रत होकर अनुभाव तथा संचारी भावों की सहायता से रस रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार रस के पूर्ण परिपाक के लिए निम्नलिखित सामग्री आवश्यक है। स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव (आलंबन तथा उद्दीपन) तथा अनुभाव (अंतर्भावों की सूचक बाह्य चेष्टाएँ आदि)। जो भाव को विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं वे 'विभाव' कहलाते हैं। यद्यपि विभावों, संचारियों और अनुभावों में कार्य-कारण संबंध है तथापि रस की निष्पत्ति में ये सभी कारण हैं। इसीलिए भरत मुनि ने इसी सामग्री को रस की निष्पत्ति में कारणता दी है—

"विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।"

और किसी काव्य की रसात्मकता प्रमाणित करने में इसी सामग्री की खोज की जाती है।

स्थायी भाव नौ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य तथा निर्वेद। प्रत्येक स्थायी भाव के आधार पर एक-एक रस की कल्पना की गई है। यथा—शृंगार रस, हास्य रस, करुण रस, रौद्र रस, वीर रस, भयानक रस, वीभत्स रस, अद्‌भुत रस तथा शांत रस। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने दसवाँ—'वात्सल्य रस' भी माना है। वात्सल्य रस का स्थायी भाव 'स्नेह' है, जो छोटों के प्रति प्रेम—रति का ही एक भेद होने के कारण 'शृंगार रस' के ही अंतर्गत आ जाता है। इस प्रकार रसों की संख्या नौ ही ठहरती है।

ब्रजभाषा-काव्य के अंतर्गत नवों रसों से संबंधित सुंदर रचनाएँ हुई हैं। ब्रजभाषा के कवियों ने किसी भी रस को अछूता नहीं छोड़ा है। सभी का पूर्ण परिपाक हुआ है। ब्रजभाषा केवल शृंगार, करुण तथा शांत जैसे कोमल रसों के ही उपयुक्त नहीं, वरन् उसमें रौद्र, वीर-आदि कठोर रसों के भी परिपाक की क्षमता है। वह पूर्ण सामर्थ्यवान् है।

शृंगार रस

शृंगार रस के संयोग और वियोग दो पक्ष होते हैं। यद्यपि आचार्यों ने दांपत्य-रति को ही शृंगार रस का मूल माना है और पुत्र-विषयादिक रतियों को भाव कहा है, तथापि आलंबन-भेद से और इसमें प्रत्यक्ष चमत्कार होने के कारण पुत्र-विषयक रति को 'स्नेह' के नाम से 'वात्सल्य' का 'स्थायी भाव' माना है। कुछ आचार्यों ने इसी प्रकार भक्ति को भी स्वतंत्र स्थान दिया है। संस्कृत के आचार्यों ने रति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।"

अर्थात् मन के अनुकूल अर्थ में हृदय के द्रवीभूत होने को 'रति' कहते हैं। इसी भाव को महाकवि देव ने इस प्रकार कहा है—

"नेंकु जो प्रिय जन देखि-सुनि, आँन भाव चित होइ।
अति कोविद-पति-कबिन के, सुमति कहति रति सोइ॥"

संयोग शृंगार-वर्णन

दर्श, स्पर्श, संलापादि जनित अश्रु-पुलकादि से व्यंजित परस्परानंद का वर्णन 'संयोग शृंगार' का विषय बनता है। यथा—

"ए री! आज कालिह कुल-कॉनि सब त्यागि दोऊ; सीखे हैं सबैं बिधि सनेह सरसाइबौ।
कहैं 'रसखाँन' दिना द्वै में बात फैलि जै है, कहाँ लों सयाँनी चंद हाथँन्ह दुराइबौ॥

कालि ही निहार्यौ बीर निपट कलिंदी तीर, दोउन कौ दोउ न सों मुरि मुसिकाइबौ।
दोऊ परें पइयाँ, दोऊ लेत हैं बलैइयाँ, उन्हें भूलि गईं गैयाँ, इन्हें गागरि उठाइबौ ॥"

'सनेह' शब्द से 'रति स्थायी' व्यंजित है। कृष्ण तथा राधिका आलंबन हैं। एकांत कालिंदी-कूल उद्दीपन विभाव है। बात फैल जाने का डर, शंका एवं चिंता संचारी भाव हैं। दोनों की पारस्परिक चेष्टाएँ, 'दोउन कौ दोउन सों मुरि मुसिकाइबौ', तथा 'पैयाँ पड़ना' एवं 'बलैयाँ' लेना कायिक अनु-अनुभाव एवं हाव-भाव हैं। गैयाँ-भूल जाना तथा गागर (घड़े) का ध्यान न रहना 'स्तंभ' सात्विक अनुभाव है। महा कवि नंददास-द्वारा किए गए रास वर्णन का अवलोकन कीजिए—

"दौरि लिपटि गईं ललित लाल, सुख कहत न आवै।
मीन उछरि ज्यौं पुलि न परे पै पानी पावै ॥"

* * *

"नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल, मंजुल, मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग, एकहि सुर जुरली ॥
तैसिय मृदु पद पटकनि, चटकनि कट तारन की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुंडल, हारन की ॥
सुघर साँवरे पिय-संग, निरतति यों ब्रज-बाला।
ज्यौं घन मंडल मंजुल खेलति दामिनि-माला ॥"

श्रृंगार रस का परिपाक एवं निर्देशन तो है ही, साथ ही नृत्य का सजीव स्वरूप भी सम्मुख उपस्थित हो जाता है। भाषा सर्वदा भावों की अनुगामिनी और ध्वनि मात्र से अर्थ की व्यंजक है। इसके शब्द ध्वन्यात्मक हैं। वे नृत्य की ताल-स्वर मय गति के द्योतक हैं। इन पदों में शब्द नृत्य के हर्षोल्लास-पूर्ण गति मय पद-संचारण के द्योतक हैं। भाषा भावानुसारिणी होने के कारण रस के परिपाक में पूर्ण सहायक हुई है। रास-नृत्यादि श्रृंगार के उद्दीपन माने गए हैं। इसमें 'हर्ष' संचारी है। मिलन से पूर्व जो उत्कंठा होती है, उसकी भी व्यंजना 'मीन उछरि ज्यौं पुलिनि परे पै पानी पावै' कह कर की गई है। अन्य उदाहरण, जैसे—

"बतरस-लालच लाल, की मुरली धरी लुकाइ।
सोंह करै, भौंहन हँसै, दैंन कहै नटि जाइ ॥"

—विहारी,

यहाँ 'भ्रू-विलास' अनुभाव का जीता जागता उदाहरण है। 'सोंह करै, दैंन कहै नटि जाइ', में 'अनुभाव' तथा 'हाव' दोनों का सुखद् संमिश्रण है। यहाँ शब्दों में ही 'चल-चित्र' की-सी गति आ जाती है। एक के बाद दूसरा दृश्य उपस्थित हो जाता है। गोपियों की सजीवता तथा मन की चंचलता व्यंजित है। 'चपलता' संचारी भाव है।

विप्रलंभ श्रृंगार

नायक-नायिका के पारस्परिक क्षणिक या चिरकालीन सान्निध्य, विच्छेदअथवा मानसिक साम्य न रहने के कारण जो मिलन के सुख का अभाव रहता है, वही 'वियोग श्रृंगार' का विषय होता है। यथा—

"मोहि तजि मोंहनें मिल्यौ है मन मेरौ दौरि, नैंन हू मिले हैं देखि-देखि साँवरौ सरीर।
कहै 'पदमाकर' त्यों ताँन-मय काँन भए, हौं तौ रही जकी, थकी, भूली-सी, भ्रमी-सी बीर ॥
दई निरदई ताते इनकों दया न दई, ऐसी दसा भई जाते कैसें धरों मन धीर।
हो तो मन हूँ कें मन नैंननि के नैंन जो पै, काँनन कें काँन, तौ पैं जानते पराई पीर ॥"

प्रथम दर्शन में प्रेम उत्पन्न हो जाने पर गोपिका कृष्ण से न मिल सकने के कारण अधीर है। अतः पूर्वानुराग-हेतुक विप्रलंभ श्रृंगार है। गोपी का जकी-सी, थकी-सी, भ्रमी-सी, भूली-सी रह जाना

अनुभाव हैं। कानों में मुरली की टेर समा जाने के कारण रति उत्पन्न हुई है। श्रम, आलस्य, मोह, दीनता तथा जड़ता संचारी भाव हैं।

"दूरि जदुराई, 'सेनापति' सुखदाई, रितु पावस की आई, न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी है, दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की, हीए में आनि खरकी, तू मेरी प्रान-प्यारी ए पीतम की बतियाँ।
बीती औध आवन की, लाल मनभावन की, डग भई बावन की, सावन की रतियाँ॥"

यहाँ प्रवास-हेतुक विप्रलंभ शृंगार है, पावस की ऋतु, सावन का महीना और अंधेरी रात में पानी बरसना, किसे अपने प्रीतम की याद न दिलायेंगे? ये उद्दीपन हैं। प्यारे की सुधि तक न मिलना और आने की अवधि बीत जाना तरह-तरह के वितर्क उत्पन्न करते हैं। 'शंका' एवं 'वितर्क' संचारी भाव है। छाती में धड़कन होना मानसिक अनुभाव है। प्रियतम की बातों (प्राण प्यारी कह कर बुलाना—आदि) की याद आना 'स्मृति' एवं 'गर्व' संचारी भाव की व्यंजना है। 'डग भई बावन की सावन की रतियाँ'—यह द्योतित करता है कि वह उत्सुकता पूर्वक बाट जोह रही है और उसे नींद नहीं आ रही है। यहाँ 'उत्सुकता', 'विषाद' एवं 'उद्वेग' संचारी भाव हैं।

'प्रिय-वियोग' में सुखदायक वस्तुएं भी दुखदाई लगती हैं। शीतल मंद समीर, लू की लपट की भाँति उष्ण लगती है। चंद्र की शीतल किरणें अंगार जान पड़ती हैं—

"बिन गुपाल बैरिन भईं कुंजें।
जो वे लता लगत तन सीतल, अब भई बिषम अनल की पुंजें॥
बृथाँ बहत जमुना तट सगरौ, बृथाँ कमल-फूलन अलि गुंजें।
पवन, पाँनि, घनसार, सुमन हूँ, दधि-सुत-किरनि भानु सी भुंजें॥
ए ऊधौ, कहियो माधौ सों, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजें।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कों, मग जोवत अँखियन भइ धुंजें॥"

गोपाल आलंबन है। लताएँ, शीतल वायु, यमुना-तट आदि उद्दीपन विभाव हैं। दरस कों मग जोवत से उत्कंठा और उत्सुकता तथा 'मदन मारि कीन्हीं हम लुंजें' से जड़ता संचारी भाव व्यंजित है। प्राचीन सुखों की याद 'स्मृति संचारी' भाव है। मग जोते आँखों का धुंजें (धुँधला) हो जाना कायिक अनुभाव है तथा इनके द्वारा अश्रु सात्विक व्यंजित है। ये सब उद्दीपन विभाव हैं। एक ही उद्दीपन दृश्य-स्थिति-भेद से संयोग में सुख की अनुभूति को तीव्रता प्रदान करता है और 'वियोग' में पूर्वानुभूति की स्मृति दिला कर वियोग के ताप को बढ़ा देता है। इस पद का सानुस्वार शब्द-विन्यास माधुर्य गुण का सूचक है।

केवल प्रिय-दर्शन की लालसा शेष है, संयोग जन्य सुख प्राप्ति की इच्छा तक नहीं, प्रेम में आत्मोत्सर्ग की यही पहिचान है।

उद्दीपन आदि का स्वतंत्र वर्णन

शृंगार रस वर्णन के अंतर्गत उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का स्वतंत्र वर्णन भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। नायिका भेद, नख-शिख-निरूपण और ऋतु वर्णन इन्हीं के उपांग समझने चाहिए।

"रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥"

—विहारी

यहाँ मंद पवन का वर्णन किया गया है। मंद समीर की हाथी से समता की गई है। जिस प्रकार मत्त मतंगज मद टपकाता, घंटा घहराता मंद गति से चलता है, उसी प्रकार कुंज-समीर भ्रमर गुंजन रूपी घंटा-रव करता एवं मधुर रस रूपी दान टपकाता हुआ मन्थर गति से चला आ रहा है। वसंत ऋतु का संश्लिष्ट योजना-युत वर्णन भी देख लीजिए—

"कूकि उठी कोकिला, सु गूँजि उठी भौंर-भीर, डोलि उठे सौरभ समीर तरसावने।
फूलि उठी लतिका हैं लौंगन की लोंनी-लोंनी, झूमि उठी डारियाँ कदंब सरसावने।।
चहकि चकोर उठे, कीर करि सोर उठे, टेरि उठीं सारिका बिनोद उपजावने।
चटकि गुलाब उठे, लटकि सरोज पुंज, खटकि मराल रितुराज सुनि आवने।।"

ऋतुराज की अगवानी करने के लिए प्रकृति पूरी तरह से तैयार है। कण-कण में चहल-पहल है। वसंत मदन महीप का बालक है[1]। जड़ चेतन सब मस्त बने हुए मदन-महिमा का प्रदर्शन कर रहे हैं। स्पष्ट है कि ब्रजभाषा के अंतर्गत श्रृंगार रस का सांगोपांग एवं प्रचुर वर्णन तथा निरूपण हुआ है।

आलंबन के अंतर्गत नायक-नायिका आते हैं नायिकाओं के विश्लेषण और वर्गीकरण में ब्रजभाषा के कवि कुछ बदनाम से हो गए हैं, किंतु जहाँ आज कल का विज्ञान कीट-पतंगों तक का वर्गीकरण करता है वहाँ यदि मनोदशाओं के आधार पर सजीव नायिकाओं का वर्गीकरण किया जाय तो हानि ही क्या है? 'नायिका भेद' वर्णन में ब्रजभाषा के कविगण अपने अग्रज संस्कृत-आचार्यों को भी पीछे छोड़ गए हैं।

वात्सल्य रस का वर्णन

जहाँ 'स्नेह' भाव की पुष्टि होती है वहाँ 'वात्सल्य रस' माना गया है। पुत्र, शिष्य, शिशु आदि बालक रूप इसके 'आलंबन विभाव' माने गए हैं। देखिए—

"बर दंत की पंगति कुंद कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकें घन-बीच जगै छबि मोतिन-माल अमोलन की।।
घुंघराली लटें लटकें मुख-ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करै 'तुलसी' बलि जाउँ लला इन बोलन की।।"

—गोस्वामी तुलसीदास

बालक राम आलंबन हैं। मुख पर लटकती हुई घुंघराली लटें, मोतियों की माला आदि 'उद्दीपन' हैं। उनकी मधुर छवि, अवलोकन, चितवन अनुभाव हैं तथा हर्ष संचारी भाव है। पूर्ण रसत्व है।

ब्रजभाषा-साहित्य-सागर में श्रीकृष्ण के बाल्यकाल से संबंधित वात्सल्य-रस की सरिता अबाध रूप से बहाई गई है। महा कवि अंधे 'सूर' की अंतर्दृष्टि से इसका कोई कोना अछूता रहा ही नहीं है। इस रस का उनके द्वारा अद्भुत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। वियोग-जन्य वात्सल्य रस का परिपाक भी देख लीजिए—

"सँदेसौ, देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो।।
उबटन, तेल और तातौ जल, देखत ही भजि जाते।
जोई-जोई माँगत सोई-सोई देती, धरम-करम के नाते।।

'डार-द्रुम पलना, बिछोंना नव पल्लब कौ, सुमन झगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी-कीर बतराबें 'देव', कोकिल हुलाइ हुलसावै कर तारी दै।।
पूरित पराग सो उतारौ करै राई-लोंन, कुंज-कली नाइका लतांनि सिर सारी दै।
मदन महीप जू कौ 'बालक बसंत' ताहि, प्रात-हीं जगावत गुलाब चुटकारी दै।।"

तुम तौ टेब जानति ही ह्वै हौ, तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाड़-लड़ैतेहि, माँखन-रोटी भावै ।।"[१]

यहाँ पर वियुक्त प्रिय पुत्र का 'गुण' कथन है तथा सुख के अनिश्चय की शंका तक न पहुँचती हुई भावना, 'दीनता' और क्षोभ जन्य 'उदासीनता' उपर्युक्त वचनों से टपक रही है। दूसरी ओर बालकों को माता-पिता की याद किस प्रकार आती है, तनिक उसे भी सुन लीजिए—

"नीकें रहियो जसुमति मैया ।
जा दिन तें हम तुम ते बिछुरे, कोऊ न कहत कन्हैया ।।
प्रात न काहु कलेबा दीन्हौं, साँझ न पीन्हीं धैया ।

* * *

कहियो जाइ नंद बाबा सों, निपट कठिन हिय कीन्हौं ।
'सूर' स्याम पहुँचाइ मधुपुरी, बहुरि सँदेस न लीन्हौं ।।"[२]

इसमें उपालंभ है, जो 'मति' संचारी के नाम से आता है। 'स्मृति' तथा 'उत्कंठा' संचारी भी हैं। यहाँ प्रेम के उद्दीपनों का प्रभाव दिखाया गया है।

कुछ आलोचकों का कथन है यदि उसे हम आक्षेप कहें, तो अनुचित न होगा कि ब्रजभाषा की कोमल-कांत-पदावली शृंगार रस के ही अनुकूल है, अन्य रसों के परिपाक की उसमें क्षमता नहीं। यहाँ हम निवेदन कर देना चाहते हैं कि ब्रजभाषा-साहित्य की अक्षुण्ण निधि में सब प्रकार के रत्न हैं। उसमें अन्य रसों पर भी कविता हुई है और खूब हुई है। भाषा किस प्रकार भावों के अनुगामिनी बन जाती है तथा उसमें अन्य रसों के परिपाक की कितनी क्षमता है, यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट विदित हो जायगा।

[१] सँदेसौ देवकी सों कहियो ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो ।।
जदपि टेउ तुम्ह जाँनत उनकी, तऊ मोहि कहि आवे ।
प्रात होत मेरे लाड़-लड़ैते, माँखन-रोटी भावै ।।
तेल,उबटनों औ तातौ जल, ताहि देखि भजिजाते ।
जोई-जोई माँगत सोई-सोई देती, क्रम-क्रम करिकें न्हाते ।।
अलक-लड़ैतौ मो मन-मोंहन, ह्वै है करत सँकोच ।
'सूर' पथिक सुनि मोहि रैंन-दिन, बढ्यौ रहत उर सोच ।।

[२] नींकें रहियो, जसुमति मैया ।
आमेंगे दिन चार-पाँच में, हम हलधर दोउ भैया ।।
नोई, बेंत, बिखाँन, बाँसुरी, द्वार अबेर-सबेरे ।
लै जिन जाइ चुराइ राधिका, कछू खिलोंना मेरे ।।
जा दिन ते हम तुम्हते बिछुरे, कोउ न कहत कन्हैया ।
उठ न सबेरें कियौ कलेबा, साँझ न पीई घैया ।।
कहियो इतौ नंद बाबा सों, कितौ निठूर मॅन कीन्हौं ।
'सूर' दास पोंहचाइ मधुपुरी, फेरि न सुधि तुम्ह लीन्हौं ।।

हास्य रस

इसका स्थायी भाव 'हास' है 'कौतुकार्थ' अनुपयुक्त वचन वा विकृत-रूप रचना से आह्लाद-युक्त मनोविकार को 'हास' कहते हैं। यथा—

"चंदकला चुनि चूनरी चारु दई पहिराइ लगाइ सु रोरी।
बेंदी बिसाखा रची 'पदमाकर', अंजन आँजि समाजि कै गोरी।।
लागी जबै ललिता पहिरावन, कान्ह कों कंचुकी केसर-बोरी।
हेरि हरें मुसिकाइ रही, अँचरा मुख-दै बृषभाँन किसोरी।।"

कृष्ण को कंचुकी पहनाते समय सखियों को हँसी आ जाना स्वाभाविक ही है। यह 'स्मित' हास है।

"आध पाव तेल में तयारी भई रोसनी की, आध पाव रुई में पुसाक बनी बर की।
आध पाव छोले के गिनोरे दिए भाइन कों, माँगि-माँगि लायौ है पराई चीज घर की।।
आधी-आधी जोरि 'कवि बेनी' की बिदाई कीन्हीं, ब्याहि आयौ जब तें न बोलै बात थिर की।
देखि देखि कागज तबियत सु मादी भई, सादी कहा भई बरबादी भई घर की।।"

इसमें किसी कंजूस मक्खी-चूस का सुंदर खाका उड़ाया गया है। इसमें उसकी कंजूसी विकृति की अवस्था तक पहुँच जाती है। कहाँ शादी का सुअवसर और कहाँ यह कंजूसी।

साधारणतया विवाहादि के अवसर पर लोग उदार बन जाते हैं और वे प्रसन्न बदन रहते हैं। यहाँ कंजूस शादी को बर्बादी समझता है, सभी वस्तुओं के हास्यास्पद मात्रा में खर्च होने पर यही विकृति अथवा अनुपयुक्तता हास्य का मूल है।[1]

सूरदास तथा नंददास के भ्रमरगीत में 'असूया' भाव से प्रेरित कुब्जा और कृष्ण के ऊपर सुंदर व्यंग्य मिलते हैं, जैसे—

"ऊधौ, जान्यों ग्यांन तिहारौ।
जानें कहा राज-गति लीला, अंत अहीर बिचारौ।।
आवत नांहि लाज के मारें, मानहुँ काँन्ह खिसाँन्यों।
हम जु अयाँनी, एक सयाँनी कुब्जा सों मन मान्यों।।
ऊधौ, जाहु बाँह धरि लाओ, सुंदर स्याँम पियारौ।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहिं काँन्ह हमारौ।।"[2]

—सूरदास,

[1] हास्य के प्रथम—उत्तम, मध्यम और अधम भेद होते हैं। तदनंतर इनके दो-दो भेद जैसे—उत्तम के—स्मित और हसित, मध्यम के—विहसित और उपसहित तथा अधम के अपहसित और अतिहसित भेद होते हैं। ब्रजभाषा-काव्य में इनके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं और वे आज तक नहीं चुने गए।

[2] ऊधौ, जान्यों ग्यांन तिहारौ।
जानें कहा नीति राजन की, अंत अहीर बिचारौ।।
भली भईं हम सबै अयाँनीं, स्याँनी सों मन-मानों।
आवत नांहि लाज के मारें, भयौ बीर, खिसियानों।।
लै आऔ हम कछू न कहि हैं, मिलि है प्राँन-पियारौ।
ब्याहौ बीस, धरौ दस कुबजा, अंत-हिं स्याँम हमारौ।।
सुनि-री सखी, कछू नांहि कहिऐ, माधौ-हि आँमन दीजै।
'सूरदास' प्रभु आँन मिलें जब, हाँसी करि-करि लीजै।।

"कोऊ कहै रे मधुप, होंहि तुम्ह से जो संगी।
क्यों न होंहि तन-स्याम, सकल बातन चौरंगी॥
गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहि मुरारि।
मदन-त्रभंगी आपु है, करी त्रभंगी नारि॥
—रूप-गुन-सील की"

—नंददास

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति के अंतर्गत 'हास' का सुंदर समावेश किया है—

"बिधि के बासी, उदासी, तपोब्रत-धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी', सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चंद-मुखी, परसें पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनाइक जू, करुना करि कानन कों पग धारे॥"

बहुत संभव है कि फ्राइड के मतावलंबी मनोवैज्ञानिक इसमें लैंगिकता का उभार देखें तथा दाम्पत्य-रति की व्यंजना का आभास पावें। हमारा उनसे निवेदन है कि गोस्वामी जी का अभिप्राय केवल भगवान की चरण-रज की पावनता का दिग्दर्शन कराना मात्र है? स्त्री-भावना आदि की ओर तो उनका ध्यान ही न था।

"माजू महारानी कों बुलावौ महाराज हू कों, लीजै मत कैकई-सुमित्रा हू के जिय को।
रातैंन के बीच सात रिषिन के बिलसत, सुनौ उपदेस ता अरुंधती के पिय को॥
'सेनापति' बिस्व में बखाने बिस्वामित्र नाम, गुरू बोलि पूछिऐ, प्रबोध करें हिय को।
खोलिऐ निसंक यह धनुष न संकर कौ, कुँवर मयंक-मुख कंकन है सिय को॥"

शिष्ट हास्य का यह एक अत्यंत सुंदर उदाहरण है।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। प्रिय-पदार्थ के वियोग—'रति' के विनाश से उत्पन्न हुए रति-रहित मनोविकार को 'शोक' कहते हैं। विप्रलंभ-शृंगार में प्रिय-मिलन की आशा रहती है, करुण में नहीं। यथा—

"पियरी परी ओप कपोलन की, तन में दुबराई बढ़ी अति भारी।
लटकाऐं लटें बिखरी मुख पै, उर सोचति मोचति लोचन-बारी॥
अति दीखति आकुल सोग-सनी, करुना-रस की मनु मूरति प्यारी।
तन-धारी बयोग बिथा-सी किधों, बन आइ रही मिथिलेस-दुलारी॥"

—सत्यनारायण कविरत्न

निर्जन वन में भगवान राम तथा अयोध्या का चिर वियोग उद्दीपन है। अश्रु, मुख का विवर्ण हो जाना, गात्र की शिथिलता, मुख का पीला पड़ जाना—आदि अनुभव हैं। चिंता तथा विषाद 'संचारी भाव' है।

करुण रस का नाम आ जाना रस-दोष अवश्य है, पर वैसे जानकी जी साक्षात् करुणा की मूर्ति बनी हुई हैं।

"मेरो सब पुरुषारथ थाकौ।
बिपति-बटावन बंधु-बाहु बिन, करौं भरोसौ काकौ॥
सुनु सुग्रीव, साँचें हुँ मोपर, फेरचौ बदन बिधाता।
ऐसे समै सँमर-संकट हौं तज्यौ लखन सौ भ्राता॥

गिरि, काँनन जै हैं साखामृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच-भरी छाती।।
'तुलसी' सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि, सकल बिकल हिय हारे।
जामबंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे।।"

—गीतावाली

लक्ष्मण का मृत शरीर 'आलंबन विभाव है', 'समर-संकट' एवं 'बानर-निकर' 'उद्दीपन विभाव' हैं। राम के शोक-पूर्ण बचन कायिक अनुभाव है। 'सोच भरि छाती' मानसिक अनुभाव की व्यंजना करता है। 'अश्रु' सात्विक अनुभाव है। वैराग्य, निर्वेद, चिंता, स्मृति, व्याधि, दैन्य तथा वितर्क संचारी भाव हैं। अतः शोक स्थायी पूर्णतया पुष्ट होकर 'करुण रस' हुआ।

रौद्र रस

रौद्र का स्थायी भाव 'क्रोध' है। अपमानादि से उत्पन्न हुए, हर्ष के प्रतिकूल मनोविकार को 'क्रोध' कहते हैं। मन की चंचलता और आवेग रस की विशेषता है। इंद्रियों की प्रबलता इसका सबसे बड़ा लक्षण है। यथा—

"बारि-टारि डारौं, कुंभकरनहिं बिदारि डारौं, मारौं मेघनादै आजु, यौं बल अनंत हौं।
कहैं 'पदमाकर' त्रिकूट हू कौं ढाइ डारौं, डारत करेई जातुधानन कौ अंत हौं।।
अच्छहि निरच्छ, कपि-रुच्छ ह्वै उचारौं इमि, तोसे तिच्छ तुच्छन कछू वै न गनंत हौं।
जारि डारौं लंकहि, उजारि डारौं उपबन, मारि डारौं रावन कौं तौ मैं हनुमंत हौं।।"

यहाँ पर हनुमान जी वंश-सहित रावण के नाश करने का प्रण कर रहे हैं। रावण-कुंभकर्णादि शत्रु-वर्ग आलंबन हैं। हनुमान जी को बाँध लाना, कटु वाक्य कहना-आदि राक्षसों की चेष्टाएँ 'उद्दीपन विभाव' हैं। ललकारना तथा अपने बल-विक्रम का बखान करना अनुभाव तथा 'गर्व' 'अमर्ष' तथा क्रूरता 'संचारी भाव' हैं। अतएव क्रोध स्थायी की पूर्ण पुष्टि है।

उक्त पद की शब्दावली विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। टकार, डकार युक्त वर्ण तथा अच्छहि, निरच्छ, रुच्छहि, तिच्छ, तुच्छन-आदि शब्द हनुमान जी के रौद्र रूप को सजीव बना देते हैं। रौद्र-रस में ऐसी ही ओजमयी पदावली का विधान है। यहाँ पर भाषा भाव की अनुगामिनी है। निम्न सवैया में परशुराम जी के क्रोध का वर्णन है—

"गर्भ के अर्भक काटन कौं पटु धार कुठार कराल है जाकौ।
सोई हौं बूझत राज-सभै, धनु को दलि हौ, दलिहौं बल ताकौ।।
छोटे मुँह उत्तर देत बड़ौ, लरि है, मरि है, करि है कछु साकौ।
गोरौ गरुर गुमान भरौ कहौ कौसिक, छोटौ-सौ ढोटा है काकौ।।"

टूटा हुआ धनुष आलंबन है। लक्ष्मण जी के उपाहास्यास्पद-वाक्य उद्दीपन हैं। परशुराम जी द्वारा बल एवं तेज का बखान तथा कुठार दिखाना अनुभाव हैं। बाल-वध-द्वारा पाप का भाव 'वितर्क' संचारी भाव है।

वीर रस

वीर का स्थायी भाव उत्साह है। वैरी, भिक्षुक वा दीन को देख कर, वैरी को परास्त करना तथा भिक्षुक और दीन का कष्ट निवारण करने की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इच्छा में आनंदानुभूति का होना उत्साह है। पराक्रम, शरीर-बल, आत्मरक्षा, साहस, हिम्मत, बहादुरी, दृढ़तापूर्वक कार्य करने की शक्ति, निर्भयता और युद्ध-आदि करने की तत्परता-आदि कार्यों से 'वीर रस' का ग्रहण किया जाता है। यथा—

"छूटत कँमान और तीर, गोली, बाँनन के, मुसकिल होत मुरचाँन हू की ओट में।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो, दावा बाँधि परे वीर बीर भट जोट में।।
'भूषन' भनत तेरी हिम्मत कहा लौं कहौं, किम्मत इहाँ लगि है जाकी भट-झोट में।
ताव दै-दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै-दै, अरि-मुख घाव दै-दै कूद परे कोट में।।"

यहाँ पर 'युद्ध वीर' का सजीव वर्णन है। अवयव स्पष्ट हैं। शत्रु तथा उसका ऐश्वर्य आलंबन है। शत्रुओं की चेष्टाएं तथा रण-क्षेत्र एवं अस्त्र-शस्त्र की झंकार उद्दीपन है और 'हुंकार', 'सैन्य-संग्रह', 'मूँछों पर तावदेना', 'अंग स्फुरण' तथा 'रोमांच' अनुभाव हैं। 'उग्रता' एवं 'गर्व' संचारी भाव व्यंजित है। 'वीर-रस' के तीन अन्य भेद भी होते हैं—दानवीर, दयावीर, और धर्मवीर।

"बेचि देह-दारा-सुअन, होद दास हू मंद।
रखि हों निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद।।"

यह 'धर्म वीर' का उदाहरण है।

भयानक रस

भयानक का स्थायी भाव 'भय' है। अपराध, विकृत शब्द, भयदा वा विकृति-जीवादि से उत्पन्न हुए मनोविकार को भय कहते हैं और इंद्रिय-विक्षोभ-सहित भय की परिपुष्टता को 'भयानक रस' कहते हैं। देखिए—

"कोल कच्छ देव फैन फैलत फनी के मुख, धँसि गई धरा, धराधर उर धर के।
हरके रहे न भाँनु भरके तुरंग कहूँ, भागि चले बाहन बिरंचि, हरि-हर के।।
झंपित गगन झुकि कंपित भुवन हले, कंपित दुवन, गुन खैंचें रघुबर के।
दंती दबे आसन, सकाने पाक सासन, न कोऊ थिर आसन, सरासन कै करकै।।"

यहाँ शिव जी के धनुष-टूटने का भयानक शब्द 'आलंबन विभाव' है। धरा का धसकना, पर्वतों का विदीर्ण होना आदि भयोत्पादक दृश्य उद्दीपन है। अस्त इंद्रादि देवताओं का सकपकाना, दिग्गजों का काँप उठना अनुभाव है। 'त्रास', 'दैन्य', तथा 'शंका' संचारी भाव है।

निम्न पद में दावानल के वर्णन में भयानक रस पूर्ण परिपुष्ट है —

"भँहरात, झँहरात, दावानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर, अंधर बन, धरनि-अकास चहुँ पास छायौ।।
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-काँस, जरि उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, पटकि फूल, फूटत द्रुम फटि चटकि लट लटकि नवायौ।।
अति अगिन-झार, भँभार धुंधारि करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन-पात, भँहरात, झँहरात, अररात तरु महा, धरनी गिरायौ।।
तृना, केसी, सकट, बकी, बक, अघासुर, बाम कर गिरि राखि ज्यों उबारयौ।।"

उक्त पद में झंकार, हुंकार, शब्द भीषणता का भाव उत्पन्न करने में सहायक हैं।

"हाट, बाट, कोट, ओट अटनि अगार पोरि, खोरि-खोरि दौरि-दौरि दीन्हीं अति आगि है।
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू, ब्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि हैं।।
बालधी फिराबै, बार-बार झहराबै, झरैं, बुँदियाँ-सी लंक पिघलाइ पाग-पागि है।
'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधाँनी कहैं, चित्रहू के कपि सों निसाचरु न लागि है।।"

लंका-दहन का सजीव एवं चित्रात्मक वर्णन है। चारों ओर उद्दीपन ही उद्दीपन है। लोगों का भागना, चिल्लाना अनुभाव है। 'मोह', 'शंका', 'त्रास' तथा 'विषाद' संचारी भाव हैं। 'चित्रहू के कपि सों निसाचरु न लागि हैं' से 'भय' स्थायी स्पष्ट ही व्यंजित है। अतः 'भयानक रस' का पूर्ण परिपाक है।

वीभत्स रस

जुगुप्सा जनितेंद्रिय-संकोचकारी रस को 'वीभत्स' कहते हैं। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा या ग्लानि है। मरघट में चिताओं की चरचराहट, मांस-मेद की दुर्गंधि, श्वान-आदि का मांस-भक्षण, गिद्ध-कौओं-द्वारा अँतड़ियाँ निकाला जाना तथा कृमी-इत्यादि 'वीभत्स' रस के उद्दीपन विभाव हैं। यथा—

"सिर पै बैठ्यौ काग, आँख दोउ खात निकारत।
खेंचत जीभहिं स्यार, अतिहि आँनद उर-धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि-खोदि कें माँस उपारत।
स्वाँन आँगुरिन काटि-काटि कें खाँन-बिचारत॥

बहु चील नोंचि लै जात तुच, मोद-मढ्यौ सब कौ हियौ।
मनु ब्रह्म-भोज जिजमाँन कोउ, आजु भिखारिन कहँ दियौ॥"

निम्न पद में फूहड़ स्त्री का ग्लानि उत्पन्न करने वाला वर्णन भी देख लीजिए—

"भौड़े मुख-लार बहै, आँखिन में ढीड़, राधि काँन में, सिनक रेंट भीतन पै डार देति।
खर्र-खर्र खुरचि खुजावे मटुका सौ पेट, टूंड़ी लों लटकते कुचन कों उघार देति॥
लौटि-लौटि चीन घाँघरे की बार-बार फिरि, बीनि-बीनि डींगर नखन धरि मार देति।
लूगरा गँधात, चढी चीकट-सी गात, मुख धोवै न अन्हात प्यारी फूहर बहार देति॥"

इन घिनौनी बातों को देख कर नाक सिकोड़ना, आँख फेरना तथा थूकना-आदि अनुभाव प्रकट होना स्वाभाविक ही हैं। वीभत्स रस के अंतर्गत हमें श्मशान के अनेक वर्णन मिलते हैं।

अद्‌भुत रस

अनिवार्य विस्मय के परिपाक को 'अद्‌भुत रस' कहते हैं। स्थायी भाव 'आश्चर्य' है। समझ में न आने वाली वस्तुओं को देखने-सुनने वा स्मरण करने से उत्पन्न हुए मनोविकार को 'आश्चर्य' कहते हैं। देखिए—

"आयु सिता-सित रुप चितैचित, स्याँम सरीर रगे रँग रातें।
'केसव' काँनन हीं न सुनें, सु कहै रस की रसना बिन बातें॥
बेंन किधों कोउ अंतरजामी हीं, जानति बातन बूझति तातें।
दूर लौं दौरत हैं बिन पाँइन, दूर-दुरी दरसै मति जातें॥"

वह बिना कानों के सुनता और बिना वाणी के बोलता है। नेत्र न होते हुए भी घट-घट की बातें देखता और बिना पैरों दूर तक दौड़ लगाता है। ये लोकोत्तर कार्य-कलाप आलंबन विभाव हैं। 'रोमांच' तथा 'संभ्रम', सात्विक अनुभावों की व्यंजना है। 'वितर्क' एवं 'हर्ष' संचारी भाव है।

"देखिरी देखि, अद्‌भुत रीत।
जलज-रिपु सों रिपु कियौ हित, छाँड़ि दई अनीत॥
कीर, कमठ, कपोत, कोकिल, कियौ ढिंग-ढिंग बास।
धनुष-ऊपर तिलक-रेखा, भयौ न रिपु कौ भास॥
जलज-माल सुढार ऊपर, निरखि मुदित अनंग।
'सूर' स्याँम-निहारि यै छबि, भई मनसा पंग॥"

अनिवार्य विस्मय स्पष्ट है।

"लंकनाथ हरि जाके लरजि रह्यौ है हिय, मंदर उठायौ जो दिगंबर सुबेस कौ।
राजा, राज कुँवर, सुभट पुर तीन हू के, बल करि थाक्यौ जो थकावन सुरेस कौ॥
कवि 'लछिराम' जोर-सोर अचरज छायौ, कंप सरसायौ पल ही में देस-देस कौ।
कर में तिनूका-सम करिकें कुँमार राम, मंद मुसिकाइ तोरचौ धनुष महेस कौ॥"

जिस रावण ने मंदराचल को उठा लिया था, वह भी शिव जी के धनुष को न उठा सका, परंतु रामचंद्र जी ने उसे पल भर में तिनके की तरह उठा कर तोड़ डाला। कुमार राम का यह अद्भुत कार्य किसे आश्चर्य में नहीं डाल देगा ?

यहाँ 'रोमांच', 'गद्गद् स्वर', 'नेत्र विकास' एवं 'संभ्रम' अनुभावों की व्यंजना है। 'गर्व', 'भ्रांति' एवं 'हर्ष' संचारी भाव है। विस्मय का परिपाक होने से 'अद्भुत' रस हुआ।

वैष्णव-आचार्यों ने चार प्रकार का 'अद्भुत रस' माना है—दृष्ट, श्रुत, संकीर्तित और अनुमित। ब्रजभाषा-काव्य में प्रत्येक से संबंधित छंद उपलब्ध हैं।

शांत रस

"नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु सशांतः प्रथितो रसः॥"

अर्थात् जहाँ न सुख है न दुःख है, न द्वेष है, न मात्सर्य और जहाँ पर सब भूतों में समान भाव रहता है, वह 'शांत रस' कहा जाता है।

काम-क्रोधादि शमन पूर्वक निर्वेद की परिपुष्टता को 'शांत रस' कहते हैं, अर्थात् शांत रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। ज्ञान के विकास से सांसारिक पदार्थों में तिरस्कार-बुद्धि का होना 'निर्वेद' कहलाता है।

संसार की असारता और अनित्यता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप-बोध इसके आलंबन हैं। सद्गुरु-प्राप्ति, सत्संग, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकांत वन, श्मशान एवं मृतक व्यक्ति-आदि उद्दीपन हैं।

रोमांच, आनंदाश्रु, गद्गद् कंठ-आदि शांत रस के अनुभाव हैं। धृति, मति, हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया-आदि इसके संचारी भाव हैं। निर्वेद जब तत्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है, तब वह स्थायी भाव होता है और जब निर्वेद इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट की प्राप्ति से होता है तब वह व्यभिचारी (संचारी) भाव कहा जाता है। यथा—

"सबै दिन गए बिषै के हेत।
तीनों पन्ह ऐसें ही बीते, केस भए सब सेत।
आँखिन अंध, स्रबन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि-तज पूजत प्रेत॥
मन-बच-क्रम जो भजै राम कों, चार पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँड़ि क्यों भटकै, अजहूँ चेत अचेत॥
राँम-नाँम बिन क्यों छूटौगे, चंद-गहैं ज्यों केत।
'सूरदास' कछु खरच न लागत, राँम-नाँम मुख लेत॥"

वृद्धावस्था में अंग-शैथिल्य के कारण संसार की असारता का बोध उत्पन्न होना ही 'निर्वेद' है। आँखों से दिखाई न देना, कानों से सुनाई न देना-आदि तथा सत्संग-द्वारा राम-नाम की महिमा का ज्ञान आना उद्दीपन है। भगवान का स्मरण करते समय रोमांच एवं आनंदाश्रु अनुभाव हैं तथा पुराने कृत्यों का स्मरण तथा तद्जन्य पश्चाताप, धृति एवं वितर्क संचारी भाव हैं। अतएव 'निर्वेद' पुष्ट होकर शांत रस के रूप में परिणत हुआ है।

क्लांति और वैफल्य, व्यक्ति को किस प्रकार तत्व-चिंतन की ओर प्रेरित करती है यह रस-भोग की प्रतिक्रिया नीचे लिखे छंद में स्पष्ट ही व्यक्त की गई है। इसे स्वयं कवि के राग की थकान ही समझना चाहिए—

"हाइ कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलाँनी।
हौं समुझाइ कियौ रस-भोग, न 'देव' तऊ तिसनाँ बिनसाँनी॥
दाड़िम, दाख, रसाल, सिता, मधु, ऊख पिए औ पियूष से पाँनी।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधराँन के पीबे की प्यास बुझाँनी॥"

अथवा—

"ऐसौ जो हौं जानतो कि जै है तू बिषै के संग, एरे मन मेरे हाथ-पाँइ तेरे तोर तो।
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि, नेह सौं निहारि हारि बदन निहोर तो॥
चंचल न देतो 'देव' चंचल अचल करि, चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोर तो।
भारी प्रेम-पाथर नगारौ दै गरे तें बाँधि, राधावर-बिरद के बारिधि में बोर तो॥"

यही कारण है कि उन्हें जीवन के सभी प्रकार के विषयों से विरक्ति हो गई। इस भोग की यही प्रतिक्रिया 'निर्वेद' की जननी है।

ब्रजभाषा में समस्त रसों से संबंधित प्रचुर एवं सफल काव्य-रचना हुई है। स्थानाभाव के कारण यहाँ तो प्रत्येक रस के एक-एक दो-दो उदाहरण देकर केवल दिग्दर्शन कराना मात्र ही अभीष्ट था।

पाश्चात्य सभ्यता के झोंकों तथा खड़ी बोली के आन्दोलन की लहरों के कारण ब्रजभाषा-काव्य-सरिता अवरुद्ध ही नहीं हो गई है बल्कि उसके अवयव भी छिन्न-भिन्न हो गए हैं। यही कारण है कि इस प्रेम-पयोधि के रस-रत्नों के सुधारस पान से हम बंचित बने हुए हैं। देखें यह नीरसता कब दूर होती है।

"सघन सजन घनस्याँम, अब दीजै रसु बरसाइ।
जासों ब्रजभाषा-लता, हरी-भरी लैहराइ॥"

ब्रजभाषा : साहित्य-शशि 'तुलसी' के तीन पद

राग-केदारौ,

रघुबर, बाल-छबि कहों वरनि ।
सकल सुख की सींव, कोट-मनोज-सोभा-हरनि ।।
बसी मानों चरन-कमलन्हुँ, अरुनता तजि तरनि ।
रुचिर नूपुर, किंकिनी मन-हरत रुँनझुँन-करनि ।।
मंजु मेचक, मृदुल-तन, अनुहरत भूषन-भरनि ।
जनु सुभग सिंगार-सिसु-तरु, फरचौ अदभुत फरनि ।।
भुजँन भुजंग, सरोज नेंनन, बदन बिधु-जित लरनि ।
रहे कुहरँन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ।।
लसत कर प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरुवन-चरनि ।
जनु जलज-संपुट सुछबि भरि-भरि धरत उर धरनि ।।
पुन्न-फल अनुभवति, सुत-हिं बिलोकि दसरथ-घरनि ।
बसत 'तुलसी'-हृदें प्रभु-किलकँनि, ललित लरखरनि ।।

राग-केदारौ

नेंकि बिलोकि धों रघुबरनि ।
चारु फल त्रिपुरारि तो कों, दिए कर नृप-घरनि ।।
बाल भूषन, बसँन, तन सुंदर रुचिर रज-भरनि ।
परसपर खेलँन अजिर, उठि चलँन, गिरि-गिरि धरनि ।।
झुँकान झाँकन, छाँह सों किलकँन, नटँन, हठि लरनि ।
तोतरें बोलँन, बिलोकँन, मोंहनी मन-हरनि ।।
सखि-बचँन सुनि कोंसिला, लखि, सुढर पाँसे ढरनि ।
लेति भरि-भरि अंक सेंतत, पेंत जनु दुहु करनि ।।
चरित निरखत बिबुध 'तुलसी' ओट दै जल-धरनि ।
चँहत सुर सुरपति भयौ, सुरपति भयौ चँहें तरनि ।।

राग-कान्हरौ

आँगन फिरत, घुटुरुवन धाए ।
नील-जलद-तन-स्यौंम-रौंम-सिसु, जननि निरखि-मुख निकट बुलाए ।।
बंधुक-सुमन-अरुन-पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए ।
नूपुर जनु मुनिबर-कल-हंसँन्ह, रचे नीड़ दै बाँह बसाए ।।
कटि-मेखला, बर हार ग्रीव-दर, रुचिर बाँह भूषन पैहराए ।
उर श्रीबच्छ मनोहर हरि-नख, हेंम-मध्य मनि-गन बहु ल्याए ।।
सुभग चिबुक, द्विज, अधर, नासिका, स्रबन, कपोल मोहि अति भाए ।
भ्रू सुंदर, करुना-रस-पूरन, लोचन मनों जुगल जलजाए ।।
भाल बिसाल, ललित लटकन बर, बाल-दसा के चिकुर सुहाए ।
मनु दोउ गुर-सनि कुज-आगें करि, ससि-हिं मिलन तम के गन आए ।।
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट-पीत उढ़ाए ।
नील-जलद पै उड़गन निरखत, तजि सुभाव मनों तड़ित छिपाए ।।
अंग-अंग पै मार-निकर मिलि, छबि-समह लै-लै जनु छाए ।
'तुलसि दास' रघुनाथ-रूप-गुन, तौ कहों जो बिधि होंहि बनाए ।।

दिव्य कवि सूरदास[१]

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

"हाथ सितारौ सुर करचौ, मुख मैं मधरा बोल।
कान्हड़ै कै रंग मैं, सूरदास कौ चोल ।।"

दिव्य कवि सूरदास व्यक्ति विशेष नहीं, व्यक्ति सामान्य हैं। कइयों का व्यक्तित्व जिस में घुल मिल कर एक हो गया है उस कवि सूरदास ने मुक्तक गेय पदोंमें रचना की है, उस रचना में गीति काव्य के श्रेष्ठतम कवियों रवींद्रनाथ, विद्यापति और मीरा की रचनाओं में, का-सा हृदय-जात विराट् संगीत चाहे कितनी ही अल्प मात्रा में क्यों न हो, है अवश्य। गीति काव्य और गेय काव्य दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। गेय काव्य, गीति काव्य न हो यह हो सकता है। सूर के पदों में शास्त्रीय संगीत है। दोहे[२] कवित्त[३] भी रागों में ढले हैं। किसी भी संगीत-प्रेमी के द्वारा राग-रागिनियों में गाये जा सकते हैं, किंतु सूरदास स्वयं भी संगीतज्ञ थे। तानसेन और नाभादास ने उनके पदों के झुमा देने वाले संगीत की प्रशंसा की थी और उन्होंने भी अपने संगीत-ज्ञान के बूते पर तानसेन की तान की दाद दी होगी—

"बिधिना अस जिय जानि कें, सेसहिं दिए न काँन।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की ताँन ।।"

सूरसागर के अभी तक छपे संस्करणों में जो पद हैं वे बिलावल, सारंग धनाश्री, केदारा, कान्हरा मलार, देवगांधार, गौरी, आसावरी, सोरठ, मारू, रामकली, नट, कल्याण, बिहागरौ और गूजरी आदि-आदि में मिलते हैं। यदि स्वयं सूरदास भी उन्हें इन्हीं रागों में गाते रहे हों तो प्रतीत होता है कि बिलावल,सारंग और धनाश्री राग उन्हें अधिक प्रिय थे। इन में भी बिलावल का स्थान उनकी नजरों में सब से ऊँचा था। सूरसागर (राधाकृष्ण-संस्करण) का आरंभ बिलावल से हुआ है और बिलावल में ही उसकी समाप्ति हुई है। यही नहीं, सागर का प्रत्येक स्कंध केवल दशम को छोड़ कर बिलावल से आरंभ हुआ है। दशम स्कंध का परिचयात्मक आरंभ सारंग राग से किया है; किंतु लीला आरंभ के लिए उसमें भी बिलावल ही चुना गया है। रागों में होने से पदों में श्रुति-मधुरता आ जाती है अन्यथा फीके पद भी सुनने पर प्रभाव पूर्ण प्रतीत होते हैं। पहली पंक्ति की टेक भी सौंदर्य को बढ़ाती है। दोहा, रोला और टेक का संमिश्रण जो कि जनमुकुंद कृत 'भ्रमरगीत' में अपने भव्यतम कलात्मक रूप में पहुँचा है और जिसे पहली बार स्वामी अग्रदास ने अपनाया था, सूरदास में मिलता है, किंतु शिथिल रूप में। मारू राग एक प्रकार से आल्हा का ही संत-भजनीय संस्करण है। युद्धों के लिये प्रेरणा देने वाली उत्साह भावना संतों के द्वारा इस राग के प्रयोग से ईश्वरोन्मुखी कर दी गई।

सूरदास ने महाभारत-रामायण की परंपरा को न अपनाकर भागवत और गीतगोविंद की परंपरा को अपनाया है। सूर सागर में उन्होंने कहा भी है—

[१] ना. प्र. सभा के सूरसागर-संस्करण, पृष्ठ ७०, छंद संख्या १३२ में पंक्ति है—
"तौ जानों जौ मोहि तारि हौ, 'सूर' कूर कवि ठोठ ।।"

[२] वही पृष्ठ १७०, छंद संख्या ३२५

[३] वही पृष्ठ २७७, छंद संख्या ४३२

**"ब्यास कहे सुकदेव सों, द्वादस कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे, पद भाषा कर गाइ।।"**

किंतु सूरसागर, भागवत का अनुवाद मात्र नहीं है। उसमें मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं। अनुवाद जहाँ है वहाँ प्रायः कथा-प्रसंग अथवा राग-समाप्त होने पर कह दिया है-'सुक **ज्यों नृप कों कहि समुझायौ, सूरदास त्योंही कहि गायौ।**' जहाँ स्वतंत्र उद्भावनाएँ हैं वहाँ ऐसा नहीं कहा। कथा शैली और मुक्तक शैली, सूरसागर को पौराणिक ढंग का महाकाव्य और स्वतंत्र मुक्तक काव्य दोनों एक साथ बना देती हैं, पर उस में तुलसी के ग्रंथों की-सी सुसंबद्धता नहीं है, भावों का दुहराव है। घोर से घोर नग्न शृंगार है। प्रच्छन्नहास और पुलकित गंभीर वात्सल्य तथा उल्लास पूर्ण सख्य, कोमल माधुर्य, ओजस्वी वीर, प्रतापी रौद्र, स्निग्ध शांत, करुण-दास्य, विस्मित वीभत्स और चकित कर देनेवाला अद्भुत रस है। वस्त्र, भोजन और मिष्ठान्न की लंबी-चौड़ी सूची तथा रहन-सहन और सामान्य विश्वासों के लंबे-चौड़े ब्यौरे चाहे कितने ही जीवनोपयोगी क्यों न हों, तनिक भी काव्योपयोगी नहीं हैं। कथा-क्रम को जोड़नेवाले नीरस स्थलों की ऊब को दसम स्कंध के विपुल-विस्तार से दूर किया है। इसी स्कंध में प्रेमा-भक्ति की उदार हरि-लीला कथा है, जिस के यशोगान में सूर की अपनी प्रतिभा खूब खिली है। नवम स्कंध में गंगा-जन्म के पश्चात् त्रिवेणी पर गंगा का आंखों देखा भव्य चित्रण सूरदास की अपनी देन है। ये तीन पद गंगा-विष्णुपादोदकी की स्तुति में बिलावल, भैरों और बिलावल में रचे हैं। जान पड़ता है सूर उस समय प्रयाग में थे और राम-कथा लिखने के लिये काशी, जहाँ कि गोस्वामी तुलसीदास जी थे, जा रहे थे। राम-कथा को सूर ने भागवत के अनुकूल ही, किंतु भावुकता के साथ लिखा है। परंतु सूर की प्रतिभा की त्रिवेणी सागर के दशम-स्कंध में है जिसमें हरिदास, हित हरिवंश और बल्लभ की भी जलधाराएँ मिली हुई हैं।

**"तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र यत्राच्युतोदार कथा प्रसंग।।"**

सूर की प्रेम-भक्ति की कथा कृष्ण-जन्म तथा उनकी रम्य बाल-लीलाओं से आरंभ होती है। कृष्ण-जन्म और बधाई आदि के बाद यदुवंश का वह राजकुमार, गौवों के बीच में प्यार से पलने लगता है। यशोदा की गोद भर उठती है। मातृ-हृदय का प्राणवान स्वरूप, सूर ने यशोदा में अंकित किया है। माँ-पुत्र के आपस के स्नेह पर ऐसे सुंदर अनेकों पद रचे हैं, जिन्होंने साहित्य-शास्त्रियों को, अपत्य प्रेम को स्थाई रूप में स्वीकारने को बाध्य किया। यशोदा अपने लाल को कभी तो लोरी दे सुलाती है, उसकी एक-एक क्रिया देखती है और वह सुख पाती है जो कि अमर-मुनियों को भी दुर्लभ है। कभी वह अपने पुत्र को आँचर-तले ढक कर दूध पिलाती है और कभी मुँह देख फूली नहीं समाती। मातृ-हृदय की इस अनन्य आनंद-अनुभूति को ही समझ कर सूर ने कहा-'**धन्य सूर एकौ पल या सुख, का सत कलप जिऐं**'। वास्तव में जिसने उस सौंदर्य के दर्शन पल भर कर लिए हैं उसका जीवन सफल हो गया। यशोदा फिर कभी अपने कृष्ण को अँगुलियों के बल चलना सिखाती है। लोरी दे यदि सुलाती है तो प्रभात के समय उन्हें कृष्ण-मन-भावनी चतुराई-भरी बातें कह-कह कर जगाती है। कृष्ण कभी तो नहाने के नाम से चिल्ला उठते हैं, चंद्र के लिए कभी मचलते हैं, कभी दूध पीने से आनाकानी करते हैं, चोटी बढ़ने का लालच पा दूध पीते ही चोटी टटोल कहने लगते हैं!

**"मैया, कब बाढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहि दूध पियति भई, यै अजहूँ है छोटी!"**

कृष्ण धीरे-धीरे कुछ बड़े होते हैं। खेलने बाहर जाते हैं तो लोग उन्हें चिढ़ाते हैं, "गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कित स्यांम सरीर?"। तंग आ, घर आ, यशोदासे पूछते हैं तो यशोदा का ममत्व-भरा उत्तर मिलता है, "मोहिं गोधन की सों, हों माता तू पूत"। अहीरों के लिए गोधन से बढ़कर है ही क्या? उसी गोधन की सौंह दे विश्वास उत्पन्न कराती हैं। इस विश्वास, इस प्रेम से यह भी ध्वनित हो जाता है कि पराये पुत्र को भी प्रेम से किस प्रकार अपना ही निजी सगा बनाया जा सकता है और यही प्रेम आगे चलकर देवकी को सँदेशा भिज-वाता है—'मैं तो कृष्ण की धाय भर रही, माता तुम ही हो, तब भी उसकी आदतों को मैं अच्छी तरह जानती

हूँ, नहाने से दूर भागता है, सौ तरह के लालच दिलाकर काबू में आता है। उठते ही उसे माखन रोटी चाहिए'—आदि।

कृष्ण कुछ और बड़े होते हैं और गायें चराने जाते हैं। बलराम उन्हें घने कुंज में ले जाकर—'काटि खाउ रे हाऊ,' को सौंप देते हैं। ग्वाले उन्हें छितरी गायों को समेटने दौड़ाते हैं, उनका कंवल छिपा देते हैं। लौटने पर कृष्ण अपना कंवल ढूँढने लगते हैं तो उन्हें तंग किया जाता है—अरे उसे तो गाय खा गई, वह देखो यमुना में बही चली जा रही है'—इत्यादि[1]। कभी उन्हें अपनी गायें अलग कर लेने की धमकी देते हैं, पर वे अलग होते कब हैं! इसी तरह उनकी बाँसुरी बजती है, गोधूलि से कुंचित केशों युक्त ग्वाले साँझ को घर की ओर लौटते हैं और सूरदास उनके सौंदर्य के गान में तल्लीन हो जाते हैं—"सोभा कहत कहें नहिं आवै।" दृष्टि जहाँ-जहाँ जाती है, वहीं-वहीं लवलीन हो जाती है। इसी प्रकार न जाने कितने पद सूर ने कहे!

धीरे-धीरे कृष्ण किशोरावस्था में पहुँचते हैं। उनकी बाँसुरी की ध्वनि सुन, गोपियाँ घरबार छोड़, खिंची चली आती हैं। अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं—

"अंगनि की सुधि भूलि गई,
स्याँम-अधर मृदु सुनत मुरलिका, चकित नारि भई!"

मुरली के प्रसंग में लोगों ने माया-जीव और ब्रह्म के दार्शनिक अर्थ भी जोड़े हैं। सूर भी इस भाव की अभिव्यक्ति कर उठते हैं, पर ये पद वैसे ही हो जाते हैं जैसे कि बाल-वर्णन में प्रलय-मथनी आदि वाले चित्र।

धीरे-धीरे ये कृष्ण और गोप-गोपियां बड़े हो जाते हैं। मुरली अपने यौवन के स्वर सुनाने लगती है। एक ओर सौंदर्य, दूसरी ओर कंपन, बचपन का स्नेह प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। संयोग शृंगार के अनेक चित्र सूर ने इस अवस्था के अंकित किए हैं। गोपियाँ कृष्ण के रूप को देखकर रीझने लगती हैं। सदैव उस रूप का पान करना चाहती हैं, पर आंखें तो दो ही हैं। विधाता को अपने वश में कर सकती तो यही माँगती रोम-रोम को आँखों में परिणित कर दो। कृष्ण की माधुरी ने उन्हें मोल लिया है। उनके नेत्रों को कृष्ण की सुख-शोभा को ही निहारते रहने की टेव पड़ गई है—

"अँखियन यह ई टेब परी।
कहा करों बारिज-मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी!"

सूरदास की ये गोपियाँ, ग्राम-बालाओं की तरह अत्यंत भोली हैं। उन्होंने छल-कपट नहीं सीखा, बात बनाना नहीं जाना, अपने हृदय की दशाओं को वे सीधे से कह देती हैं।

एक दिन ब्रज को ऐसी स्थिति में छोड़, कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। सारा ब्रज उनके वियोग में पागल हो उठता है—

"ब्रज के बिरही लोग दुखारे।
बिन गुपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुरबल तन भारे।।"

यशोदा बेचारी अपने प्रियपुत्र को खो विकल हो जाती है। वह खीझकर नंद से कहती है—तुमने दशरथ की राह क्यों नहीं अपनाई? "छाँड़ि सनेह चल मथुरा कह दौरी न भीर गह्यौ, फाटि न गई बज्र की छाती, कित यह सूल सह्यौ!" यशोदा का नंद को उलहना देना, यह सोचना कि जिस दुख से उनकी छाती फटी जा रही है उसको यह ब्रजभूमि कैसे झेल रही है, यशोदा के मातृ-हृदय के दर्शन कराने को बहुत है।

[1]. **मैया, मेरी काँमरि चोरि लई।**
एक कहै काँन्हा तेरी काँमरि, सुरभी खाई लई।
एक कहै काँन्हा तेरी काँमरि, जमुनाँ में जात बही।
'सूरदास' जसुधा के आगें, नेंनन-नदी बही।।

—राग-आसावरी

धीरे-धीरे उसकी यह झुँझलाहट दीनता का रूप ले लेती है और वह दीनता—"संदेसौ देवकी सों कहियो" में फूट पड़ती है।

बेचारी भोली-भाली गोपियाँ तो इस वियोग से पगला जाती हैं, उनका मन उनके हाथ में नहीं रहता। ब्रज की भूमि, उस के वन-उपवन, वे ही परिचित मधुवन उन्हें काटने को दौड़ते हैं। वे उन्हें कोसने लगती हैं—"मधुबन तुम कित रहत हरे? विरह-बियोग स्याँम-सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे?" पपीहा उन्हें प्रियतम की याद दिलाता है, उनकी पीड़ा को बढ़ाता है और वे झुँझला कर कहती हैं—"हौं तौ मोहन के विरह जरी रे! तू कित जारत? रे पापी तू पंखि पपीहा! 'पिउ-पिउ-पिउ' अधि रात पुकारत!" कभी वह संवेदक बन जाता है। आकाश में घिरे मेघ, कृष्ण की याद उन्हें दिलाते हैं—"आजु घनस्याँम की अनुहारि, आए उनै साँवरे सजनी, लेहु रूप निहारि।"

गोपियाँ इसी तरह जीवन काट रही थीं। उद्धव का आना उनकी विरहाग्नि में घी डाल देना है। इतने दिन की वेदना बरस पड़ती है और वे अपना सारा क्रोध उद्धव पर ही निकाल बैठती हैं। भँवर को संबोधित कर सारे व्यंग उसी पर कसे जाते हैं। वे भोली-भाली गोपिकाएँ, कृष्ण के ऐसा संदेश भेजने की बात पर विश्वास नहीं कर पातीं। अभी कल-परसों तक तो राग-रंग में वे मस्त थे, योग की गठरी कहाँ से अब मोल ले दी! उनकी सरल बुद्धि यही समझती है। कृष्ण ने अवश्य ही उद्धव को बेवकूफ बनाया है और इसी से वे पूछने लगती हैं—"साँच कहौ तुम कों अपनी सौं बूझति बात निदाने; 'सूर' स्याँम जब तुम्हें पठाए, तब नेंकहु मुसकाने?", किंतु बेचारियों की रही-सही आशा भी खो जाती है तो उद्धव से वे कहती हैं—हम ब्रज की भोली बनिताएँ हैं। हमारे पास एक ही मन था वह तो कृष्ण के हाथों बिक गया अब किस मन से निर्गुण को भजें!—"ऊधौ, मन नाहीं दस-बीस, एकहुतो सो गयौ स्याँम-सँग को आराधै ईस!" आंखें तो हरि-दर्शन की भूखी हैं। ये योग की बातें उनको नहीं रुचतीं। मन ठिकाने नहीं है, उसे तो कृष्ण ले गये—"ऊधौ, मन नहिं हाथ हमारे, रथ-चढ़ाए हरि संग गए लै, मथुरा जबै सिधारे।" यह सब जानते हुए भी कृष्ण कैसा संदेशा भेज रहे हैं! उन्हें विश्वास नहीं होता और उद्धवसे वे कहती हैं—"ऊधौ, जाहु तुम्हें हम जाने, स्याँम तुम्हें यहाँ नाहिं पठाए, तुम्ह हौ बीच भुलाने; ब्रजवासिन सों जोग कहत हौ, बातहु कहत न जाने!" अंत में वे निराश होकर कह उठती हैं—"ऊधौ, अब नहिं स्याँम हमारे!" उनकी आंखें निशिदिन बरसती ही रहती हैं। लोगों को कम से कम स्वप्न में तो सुख मिल जाता है, परंतु इन बेचारियों को स्वप्न में भी सोच है। जैसे ही दिखलाई दिया कि हरि ने उन्हें कंठ लगाया है, वैसे ही नींद उचट गई। विधाता को काल्पनिक मिलन से भी ईर्ष्या मानो होती है। कालिदास के यक्ष की तरह वे भी सोचने लगती हैं। चकई अपने प्रतिबिंब को चकवा समझ कर सुख पा रही थी। विधाता ने वैरिन निद्रा को उचटा दिया। पवन ने लहरों को कँपा दिया। प्रतिबिंब को भी मिटा दिया! उत्प्रेक्षा का इससे अधिक मार्मिक सुंदर प्रयोग और क्या हो सकता है। उद्धव के विदा होते समय वे कहती हैं,—"ऊधौ, इतनी कहियो जाइ, अति कृस गात भईं ए तुम बिन परम दुखारी गाइ!" ध्वनि हुई—गायों की यह दशा है तो हमारी क्या दशा होगी! इंद्रियाँ इतनी विकल हैं तो मन पर क्या बीत रही होगी! पशु होकर भी स्नेह को ये समझती हैं और प्रेमी ईश्वर पुरुष होकर भी प्रकृति की इस विकलता को, हमारी इस वेदना को तुम बिसारे हुए हो! ऐसा संदेशा भेज रहे हो!

गोपियों का व्यक्तित्व सामूहिक है, किंतु उन में से सूर ने एक राधा को अलग अंकित किया है। बचपन से ही कृष्ण की वह अधिक प्रिय रही है। खेल में भी और यौवन में भी, सभी से वह ऊँची है। दूध की धार उसीके मुखपर पड़ी है, 'तुम्हारा क्या चोर लेंगे'—सुनने का सौभाग्य उसी को प्राप्त हुआ। राधा का संयम-पूर्ण कलात्मक दिव्य-चित्र सूरदास की वह अपूर्व देन हिंदी साहित्य को है जो उन्हें कालिदास की कोटि का दिव्य कलाकार कवि बनाकर बल्लभ-संप्रदाय के महत्वाकांक्षी गर्व राहु को खुली चुनौती दे रहा है। सूरदास बल्लभ-संप्रदाय के ही नहीं राधाबल्लभीय संप्रदाय के भी हैं, हित हरिवंश और हरिदास स्वामी का भी उन पर गहरा-प्रभाव पड़ा है। रास के एक पद में सूरदास ने वहाँ रहने की चाह भी प्रकट की है जहाँ कि हित-हरिवंशी और हरिदासी लोग रहते हैं। यथा—

"निस दिन स्यांम सेश्रों मैं तोहिं, इहै कृपा करि दीजै मोहिं।
नव निकुंज सुख पुंज मैं, हरिबंसी-हरिदासी जहाँ, हरि करि कृपा राखहु तहाँ ॥"

भ्रमरगीत के सारे प्रसंग में सूर ने राधा को चित्रपट के पीछे कर दिया है, उसकी व्यथा अकथनीय है, शब्दों में सामर्थ्य नहीं जो उसे व्यक्त कर सके। सूरदास यदि अपनी वाणी को मूक पाते हैं तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गान में। गोपियाँ व्यंग भी कर लेती हैं, हँसी भी उड़ा लेती हैं; रो भी लेती हैं, पर राधा मौन है। इस मौन से ही सूरदास ने राधा की शाश्वत कलात्मक दिव्य मूर्ति अंकित की है। बाल-लीला के पदों में चित्र हैं, सजीवता है, स्वाभाविक प्रसन्नता है, पर कलात्मक संयम की वह निपुणता जो कि एक बार रघुवंश के कालिदास में देखी गई थी और जिस की कुछ किरणें विद्यापति के पदों में खिली हैं, सूरदास की राधा में एक बार फिर सौंदर्य के शृंगों पर पहुँच जाती हैं। राधा की जो दिव्य मूर्ति सूरदास ने हमें दी है, अकेली वह ही उन्हें विश्व के महान् से महान् कलाकार कवि के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है।

"लरिकाई कौ प्रेम कैसें अलि भूलि है[1]"—

यदि सत्य है तो इस बट-बीज से जो विशाल वृक्ष राधा के प्रेम का सूरदास ने अपने सागर में विकसित किया है, उसीके पत्रों पर बाल गोविंद खेलते हैं, अपने पाँव का अँगूठा मुँह में डाले रहने के कारण कभी बूढ़े नहीं होते। उसी बट-वृक्ष की घनी छाया में गोप-गोपिकाएँ, गाएँ तथा ब्रज के प्राणी कृष्ण की शाश्वत सुरीली विकल मुरली, शरद ज्योत्सना में थिरकती कालिंदी के तीर सुनते हैं। संयोग और वियोग में सौंदर्य का ज्योत्स्ना-सिंधु, सूरदास ने लहराया है। उसीमें रस-रूपिणी राधा की मौन वेदना है। राधा मौन है, पर सूरदास ने उसकी वेदना को व्यंजना का मुख दिया है। गोपियाँ कहती हैं,—"बिनु माधौ, राधा-तन सजनी, सब बिपरीत भई।" मथुरा से कृष्ण अपना संदेशा यशोदा तथा नंद के लिये भेजते हैं—"जादिन ते हम तुम ते बिछुरे कोऊ न कह्यौ कन्हैया, कहियो जाइ नंद बबा सों बहुत निठुर मन कीन्हों, सूरदास पहुँचाइ मधुपुरी बहुरि न सोधौ लीन्हों।" उद्धव भी मथुरा लौटने पर कहते हैं—"गोकुल की सुरति छाँड़ि कें कहाँ बसे हौ आइ!" कृष्ण एक आह भर छोड़ते हैं—"ऊधौ, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं!" कंचन की नगरी द्वारिका में पहुँच कर भी वे ब्रज को नहीं भूल पाते, 'रह-रह कर रुक्मिणी से कहते हैं चलो उस ब्रजभूमि को चलें, जहाँ हंस-सुता के तीर सुंदर सरल जीवन है, जहाँ हमारी बचपन की एक सखी रहती है। इस सखी (राधा) के दर्शन कुरूक्षेत्र में पर्व के दिन कृष्ण ने रुक्मिणी को भी करवाये और सूरदास ने इस अवसर पर इतना ही कहा—"दोनों ऐसे ही मिलीं जैसे कि बहुत समय से बिछुड़ी हुई एक बाप की दो बेटियाँ मिलती हैं।" सूर का सागर, तलैया भर रह जाता, यदि उसमें राधा-गोविंद की यह गंभीर प्रेम-भावना और उससे संबंधित अभिव्यक्ति-नैपुण्य न होता।

भावनाओं की सुंदरता को देखने में सूर की दृष्टि जितनी पेनी है उतनी ही तीव्र वह उन्हें कलात्मक ढंग से व्यक्त करने में भी है। सूर की अनुभूति जन्य भाव-प्रवण-कल्पना, उनके सधे हुए संगीत स्वरों और मधुर कोमलकांत-लीलाओं से मिल कर एक हो गई है। क्षण भर में वह यशोदा की दृष्टि बन जाती है, क्षण ·

[1] **लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि, कैसें छूटत।**
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित, अंतरगत लूटत ॥
वह चितवन, वौ चाल मनोहर, वौ मुसकाँन, मंद-धुनि गावन।
नटवर-भेष नंद-नंदन कौ,वह बिनोद,वो बन ते आवन ॥
चरन-कँमल की सौंह करति हौं, पै संदेस मोहि बिष लागत।
'सूरदास' पल मोहिं न बिसरत, मोंहन-मूरत सोबत-जागत ॥
—राग-धनाश्री

भर में ही राधा और गोपियों की। कृष्ण का रूप अभी धारण कर लीलाएँ करने लगती है और थोड़ी ही देर में उन लीलाओं का सरस गुण गान करने के लिए लौट कर भावुक भक्त की आत्मा में प्रवेश कर जाती है।

साहित्य में सजीवता बोलचाल के शब्दों और मुहावरों को अपनाने से आती है। सूरदास ने जन-जीवन की भाषा के शब्दों तथा मुहावरों को सहृदय स्वच्छंद रूप से अपनाये हैं। मँझार, परालब्ध, लुटासौ, सिवसिवता, घालि, ब्रीड़त, फुरई, ताती, आँच, नान्हे-नून्हे, घुरत निसान, सेंन-मेंन, ढुकाई, नैन-पसार, मुखागर, रबकि-रबकि, हरि बैठत गोद, रई घमरकौ होइ, घमकि मथनिया होइ, मुंहाँचुही, मैंगल मन, सरनाई, दगाबाज, कुतबाल, नफा, मुस्तौफी, पटबारी, कपटी, रुक्का, तकसीम, जमानत, जिम्मे-उन के, बरामद, फौज, दामनगीर, आयौ बाज, गरीब निवाज, मसकत, हबस, मुहकम, अरगाई, (विस्मित); माइन (संमानित, पूज्य), ढाढ़ी (दमामी), लोचैं (देखते हैं), जेठरौ (पुत्र), थरस (स्तंभित, कंपित), पैंड़े (रास्ता) और (ताख), किलकत, घुटरुन, गभुआरे, अचगरि (नटखट), मह्यौ, छाक, खिरक (खुली-गोठ, गोस्थली), ढिंगनि (किनारी), गाँस (पट्टी पढ़ाना); नोआ (पाँव बाँधने की रस्सी), चेंडाई (शीघ्रता), किनका (कण), खोरि (गली)—आदि-आदि सहज स्वाभाविक जन-वाणी-प्रवाह के प्रयोग उनके पदों के सौंदर्य को बढ़ा रहे हैं।

शब्द-चुनाव और शब्द के संघटन में सूर की पटुता लक्षित होती है। बाल कृष्ण के छोटे-छोटे नये दूध-दंतों के लिए 'दूध की दँतुली' का प्रयोग जितना सुंदर है, उतना ही सुंदर प्रयोग गर्भ के बालों के अर्थ में 'गभुआरे' शब्द का भी है। 'हम कों सपने हूँ में सोच' वाले पद में 'बैरिन भई निंदिया' और 'निठुर विधाता' प्रयोग मार्मिक सुंदर हैं। गोचारण लीला के उपालंभ-प्रसंग में रिंगाइ, दौराइ आदि-आदि एक से एक सुंदर शब्द हैं। विषय के अनुकूल शब्द सूरदास ने चुने हैं। उनके विषयों में कोमल लीलाएँ अधिक हैं, इस-लिए वीर-रसोपयोगी ओजस्वी शब्दों की ढूँढ़ अधिक नहीं करनी चाहिए। फिर भी उनकी भाषा में ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों ही गुण मिल जाते हैं। सूरदास जी ने ब्रजभाषा को अपने पदों के लिए अपनाया। ब्रज की लीलाओं का गुणगान करने के लिए गोप-वेष-विष्णु-नंदिनी सौरसेनी अपभ्रंश प्रसूत ब्रजभाषा उसी तरह उपयुक्त थी जिस तरह अर्द्ध मागधी प्रसूत अवधी राम-काव्य तथा अन्य प्रबंध काव्यों के लिए थी। कृष्ण-काव्य की मुक्तक लीलाओं के लिए ब्रजभाषा ही अधिक उपयुक्त उस युग में हो सकती थी, जिसमें उसका आधिपत्य उत्तर भारत के संपूर्ण जागरूक जीवन पर एक मनोन्मादिनी लहर की भाँति हो रहा था। माधुर्य, लालित्य और लोच ने ब्रजभाषा को संगीतमय मधुर, कोमल पदों के लिए अधिकार सिद्ध बना दिया था। सूरदास ने उसे अपना कर बहुत अच्छा काम किया। उनके पदों ने ब्रजभाषा की काव्य-संपत्ति को गौरव प्रदान किया है। भावों के अनुकूल अलँकारों का प्रयोग रस-सिद्ध कवियों के काव्य में सौंदर्य व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। सूरदास, अलंकार शास्त्री नहीं थे; किंतु काव्य-शास्त्र तथा संगीत-शास्त्र के संपूर्ण अंगों के साथ अलंकारों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। नाभादास ने उनके उक्ति वैचित्र्य तथा अनुप्रास विधान की प्रशंसा की है; किंतु उनके हाथों व्यंजनात्मक उत्प्रेक्षाएँ ही सबसे अधिक खिली हैं। रूपक पर जिस प्रकार का असाधारण अधिकार गोस्वामी तुलसीदास जी का है, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा पर सूरदास जी का है। लाला भगवानदीन ने उन्हें 'उत्प्रेक्षाओं का बादशाह' ठीक ही कहा है। सूरदास की प्रतिभा-पूर्ण दृष्टि सौंदर्योपयोगी अलंकार-उपकरणों पर पड़ कर उसी प्रकार चमकने लगती है, जिस प्रकार सूर्य किरण, मणियों पर पड़ कर चमकती है। "गोपी, गाइ, ग्वाल, गोसुत सब, अति ही दीन बिचारे, सूरदास प्रभु बिनु यों सोभित चंद बिना ज्यों तारे", 'बारिज-मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी', "चितवति रहति चकोर चंद ज्यों, बिसरति' नाहिन घरी", "आयु घटति ज्यों अंजुलि पानी", "रावन पै लै गए सकल मिलि ज्यों लुब्धक पसु-जाल", "टूटत धनु लुके जहाँ-तहँ ज्यों तारागन भोर", "कनक-भूमि पर कर-पग-छाया", "यह उपमा इक राजति, करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी भ्राजति", "कदली-दल-सी पीठ मनोहर", "कछुक कुटिल कमनीय सघन सुर गोरज-मंडित केस", "सोभित मनु अंबुज पराग रुचि रंजित मधुप सुदेस", "फिरि-फिरि जात निरखि मुख छिन-छिन सब गोपिन के लाल, बिन बिकसे कल कमल कोस है मनु मधुकर की माल", "हमकों सपनेहूँ में सोच,

जा दिन तें बिछुरे नँद-नंदन ता दिन तें यह पोच", "मनों गुपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही, कहा करों बैरिन भई निंदिया, निमिष न और रही", ज्यों "चकई प्रतिबिंब देखि कें आनंदी पिय जानि, सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियौ जल आनि"—आदि-आदि भाव प्रवण कल्पना के रस सिद्ध अलंकारों के चित्रोज्ज्वली सौंदर्योत्तेजक एक से एक सुंदर उदाहरण सूरदास की पदावली में भरे पड़े हैं।

उपरोक्त उदाहरणों में से अंतिम तीन की ओर ध्यान दीजिए। पहिले चित्र में बन से लौटते समय कृष्ण के शोभन रूप का वर्णन है। केशों का वर्णन करते समय सूर की कल्पना, भौंरों में साम्य देखती है। यदि पहिली ही पंक्ति रही होती तो बालों का उतना सुंदर चित्र नहीं खिंच पाता जितना कि उपयुक्त और सुंदर साम्य के आ जाने से हो गया है। बाल कुछ घुँघराले हैं, सघन भी हैं और धूल से भरे हुए हैं, मानो, कमल के पराग से रंजित भौंरे हों। भौंरों का लाना, घुँघरालेपन का भाव तो दे ही देता है, किंतु पराग और धूल का साम्य भी सामने आ जाता है। साथ ही बन से घर आती हुई दौड़ती गाएँ, डूबते सूर्य की रश्मियों से रंजित अरुण सुनहरी धूल का कोमल सुंदर चित्र दिखलाई देने लगता है और सौम्य-शांत प्रभाव का अनुभव होने लगता है।

दूसरे चित्र में, कृष्ण को सोया देख ग्वाल-बाल वापिस लौट जाते हैं, यह ऐसा ही है जैसा कि कमल के न दिखने पर मधुकरों का आ-आ कर लौट जाना। समय प्रभात का है, पद्म-सौंदर्य से आकर्षित हो-हो भौंरे कमल की ओर जैसे जाते हैं, ग्वाल-सखा अपने प्रिय कृष्ण की ओर वैसे ही आ रहे हैं। वापिस लौटने में निराशा का और बार-बार जाने में आशा, औत्सुक्य, उत्कंठा तथा स्नेह गांभीर्य का साम्य है।

तीसरे चित्र में मार्मिक वेदना के साथ सौंदर्य-प्रभाव का साम्य व्यंजना सहित है। स्वप्न के के टूटने पर गोपी की वही हालत हो रही है जो कि चकई की तब होती है जब कि वह अपने ही प्रतिबिंब को जल में देख उसे प्रिय चकवा समझ खुश होने लगती है; पर उसी समय निठुर विधाता पवन को भेज कर जल को हिला देता है, उसका भ्रम-सुख मिट्टी हो जाता है[1] और इस अवस्था को देखने वाले पाठक के मुख से सहसा निकल पड़ता है—"**क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतांतः**" और उसे शिव प्राप्ति की कामना करने वाली सती की तीसरे पहर रात की—"**असत्यकंठार्पित बाहु बंधना**" की दशा याद आ जाती है। इस कोमल कठोर वेदना-चित्र में व्यंजना है, 'जिस की स्वप्न में यह दशा है उसकी जाग्रत अवस्था में क्या दशा होगी?' स्वप्न का वर्णन दो-एक पंक्तियों में ही करके जाग्रत की सारी कल्पना, कवि ने पाठक पर छोड़ दी है। थोड़े से थोड़े शब्दों में उत्प्रेक्षा के द्वारा जो कुछ संभव है कवि ने कह दिया है, जितना कहा है उससे अधिक ध्वनित किया है। इसी में कला की निपुणता है। इसी भाँति की व्यंजना—"ऊधौ इतनी कहियो जाइ" तथा—

"बरु ए बदरा हू बरषँन आए।
अपनी अबध जाँन नँदनंदन, गरजि गगँन घँन छाए॥
कहियत है सुर लोक बसत सखि, सेवक सदाँ पराए।
चातक पिक की पीर जाँनि कें, तेउ तहाँ ते धाए॥

[1] हम कों, सपने-हू में सोच।
जा दिन ने बिछुरे नँदनंदन, ता दिन ते यह पोच॥
जनु गुपाल आए मेरे घर, हँसि-करि भुजा गही।
कहा कहों बैरिन भई निंदिया, निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि कें, आँनंदै पिय-जाँनि।
'सूर' पवन-मिलि निठुर बिधाता, चपल कियौ जल आँनि॥
—राग-मलार

द्रुम किए हरित, हरखि बेलीं मिली, दादुर मृतक-जिवाए।
साजत निबिड नीड़ तृन सजि-सजि, पंछिन हूं मन-भाए ।।
समझति नाहिं चूक सखि अपनी,बौहतै हरि दिन लाए ।
'सूरदास' प्रभु रसिक-सिरोमनि, मधुबन-बसि बिसराए ।।

—राग-मलार

—आदि पदों में सूर की भाव-प्रवण कल्पना अत्यंत सजीव हो गई है ।

श्रीमद्‌भागवत की प्रेम-पयस्विनी, गीतगोविंद की कोमलकांत सरस्वती तथा विद्यापति की सरस पदावली और मीरा की संगीत मंदाकिनी के प्रसवित होने के समय से लेकर आज तक न जाने कितने कवियों ने गोविंद-गुणगान किया, न जाने कितने प्रेमी संतों, भक्तों और संगीतज्ञों ने श्याम मूर्ति को नयनों में धारण किया पर उन सूर के सधे संगीत के स्वरों की कुछ बात ही निराली है, जिनके हृदय से वह श्याम मूर्ति छिन भर भी इधर-उधर नहीं गई—

"चलत, चितवत, दिवस, जागत, सुपन सोवत रात ।
हृदे तें वह स्यामँ-मूरति, छिन न इत उत जात ।।"

सूर ने अपना अस्तित्व ही हरि-गुणगान में लीन कर दिया था । "सोई रसना जो हरि गुण गावै" के विश्वासी इस दिव्य कवि के लिए 'सौ बातन की एकै बात' यही थी कि "हरि हरि हरि सुमिरौ दिन-रात", इसीलिए वे अपने पदों में बार-बार गाते रहे हैं—"हरि-हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ, हरि-चरनारबिंद उर धरौ" । हरि-राधिका के चरण-कमलों की वंदना कर वे अपने हृदय के अनिर्वचनीय इंद्रियातीत अविगत एक रस आनंद को रूप और वाणी देने के लिए सगुण-लीला के पदों में लीन हो जाते हैं—

"रूप-रेख-गुन जाति जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें, 'सूर' सगुन लीला पद गावै ।।"

उनकी सगुण लीला के पदों के केंद्र में दिव्य ज्ञान-स्वरूप वह भुवन मोहन बालक है जिसका बास योगी और संतों की शब्दावली में उस गगन शिखर में है जहाँ कोई बस्ती नहीं तथा—

चंद्र-बिहीन चाँदनी जहाँ सदैव खिलती है ।

वैष्णवों ने शेषशायी, बट-वृक्ष-बासी, शाश्वत पुराण पुरुष बालक उसे कहा है और उसकी प्राप्ति के लिए विनय की सात भूमिकाओं—(१) दीनता, (२) मानमर्षता, (३) भय दर्शन, (४) भर्त्सना, (५)आश्वासन, (६) मनोराज्य, (७) विचारण और 'रहनि' के छःनियमों—(१) अनुकूल संकल्प, (२) प्रनिकूल वर्जन, (३) रक्षित-विश्वास, (४) गोप्तत्व वर्णन, (५) आत्म निक्षेप, (६) कार्पण्य; तथा 'भक्ति' के छःरसों—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) माधुर्य, (४) शृंगार, (५) वात्सल्य, (६) और शांत का विधान किया है। सूर ने सत्य के लिए उद्धव, सुंदर के लिए राधा-गोविंद-गोपी और शिव के लिए माथे-तिलक चंद्रमा तथा गले में शेष नाग लपटाने वाले बाल जोगी को प्रतीक बनाया है । बालक में ब्रह्म और ब्रह्म में बालक का तथा विराट विश्व में के, हरि जू की आरती बनाने का काम सूरदास ने दूध की चाँदनी से किया है। सूर ने आँखें मूँदीं तो साहित्याकाश में तुलसी का उदय हुआ ।

"मन समुद्र भौ सूर कौ, सीप भए चख लाल ।
हरि-मुक्ताहल परत ही, मूँदि गए ततकाल ।।"

ब्रज साहित्य के श्रृंगार रस की मीमांसा

श्री गुरुप्रसाद टंडन

साहित्य की आत्मा रस है। रस-शून्य भाव साहित्य की कोटि में नहीं आ सकता। रस में भी विशेष रस को ही महत्व दिया गया है। जो रस विशेष प्रभावशाली और मनमोहक होता है, उसे ही रसिक उत्तम ठहराते हैं। जिस प्रकार ईश्वर ने संसार की विविध वस्तुओं को श्रृंगार से विभूषित कर रखा है, उसी प्रकार साहित्य के लिए 'श्रृंगार रस' की उपयोगिता आवश्यक मानी गई है। जगत का यह स्वतः सिद्ध नियम है कि श्रृंगार-युक्त वस्तु ही अधिक आनंदप्रद होती है। यद्यपि ब्रह्म ज्ञानी, योगी, महात्मा-आदि विरक्त मार्गावलंबी श्रृंगार को हेय समझते हैं, तो भी किसी न किसी रूप से वे श्रृंगार के उपासक हैं। जब वे अपने उपास्य देव का वर्णन करेंगे तो अवश्य ही श्रृंगार-युक्त सुंदर मूर्ति के रूप में उनका स्तवन होगा। अतएव श्रृंगार का, जो जगत के अणु-अणु में रम रहा है और जिसके प्रेम से सभी बँधे हैं, साहित्य में उसका उच्च स्थान होना अभिन्न सत्य है। लेखक एवं कवि तो इसे पग-पग पर अपनाते ही हैं, किंतु साधारण बोलचाल में भी लोग इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। साधारण व्याख्यान-दाता भी प्रायः भाषा-शैली ऐसे सुंदर रूप में अलंकृत करते हैं कि जिससे श्रोताओं में विशेष आनंद का संचार हो और जनता भी उनकी ओर आकर्षित हो जाय। लेखक और कविगण रस की भावुकता में तन्मय होकर पीयूष वर्षी-धारा से सरस्वती का अभिषेक करते हैं। साहित्याचार्यों ने श्रृंगार रस को प्रधान रस इसी लिए माना है कि बिना इस रस से प्रेम किए कोई लेखक या कवि, यथार्थ में उस पदवी के उपयुक्त नहीं ठहरता। बिना इस रस के उसकी रचना रचना ही नहीं कही जा सकती।

मानव श्रृंगार, दैव श्रृंगार या प्राकृतिक श्रृंगार में से किसी न किसी श्रृंगार को कविगण अवश्य ही अपनाते हैं। यह बात दूसरी है कि वे अपने काव्यों में प्रधानता एक रस को दें अथवा दूसरे को। यह कवियों की नैसर्गिक रुचि, जन-समाज-दशा तथा देश-स्थिति के ऊपर निर्भर है। आदि सृष्टि से आज तक के जितने कवि हुए हैं और यदि वे कवि कहलाने योग्य हैं तो उनके हृदय में श्रृंगार रस के प्रति अत्यंत प्रेम-भाव रहा है और रहेगा। जिस प्रकार मिठाई का प्राकृतिक गुण मिठास है, प्रकृति का गुण रम्यता है, अथवा शिशु का गुण कोमलता है, उसी प्रकार कवि का जन्म से ही नैसर्गिक गुण कवितागत श्रृंगार है। पुण्य प्रभात, सरल संध्या एवं निर्मल निर्झर-आदि प्राकृतिक श्रृंगार की सामग्रियों को देख कवि के हृदय में मधुर मादकता छलका करती है। सारांश सृष्टि मात्र में श्रृंगार रस का साम्राज्य है।

भक्ति और श्रृंगार

साहित्यिक नियमानुसार संसार की सभी भाषाओं पर श्रृंगार रस का आधिपत्य है। ब्रजभाषा में इस रस की अधिक विशेषता है। ब्रजभाषा की उन्नति का एक प्रधान कारण यही रस है। इस रस का आधिपत्य ब्रजभाषा पर प्रादुर्भाव काल से ही है। श्रृंगार, माधुर्य्य और भक्ति का घनिष्ठ संयोग है। भक्ति ही के प्रभाव से ब्रजभाषा और श्रीकृष्ण का अत्यंत घनिष्ठ संबंध दृढ़ हो चुका है। ब्रज-साहित्य श्रीकृष्णात्मक है। ब्रह्मा ने गोपी, ग्वाल और श्रीकृष्ण के प्राकट्य के साथ ही ब्रज की प्रकृति को भी मनोहरता की चरम सीमा तक अलंकृत किया था जिसका अवशिष्ट अंश आज भी 'निधिवन', 'सेवाकुंज' आदि कतिपय स्थानों में उस दिव्य दृश्य को प्रदर्शित करता है। ब्रजभाषा ने उत्पत्ति काल से ही इसी भक्ति के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण किया है। भारतवर्ष के कवियों की प्रकृति आदि काल से दैव-भाव-संयुक्त रही है। दैव-भाव पर ही संस्कृति

और प्राकृतिक साहित्य भरा है। इस प्रकार सभी मनोवांछित साधन उपस्थित रहने से ब्रजभाषा ने प्राचीन कवियों की परिपाटी को विशेष उत्तेजन दिया। वैसे तो ईश्वरीय भाव मात्र कविता के उत्कर्ष का अच्छा साधन है, किंतु श्रीकृष्ण विषयक ईश्वरीय भाव अन्य ईश्वरीय भावों की अपेक्षा अधिक विशिष्टता रखता है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि श्री राम-आदि अन्य अवतार उसमे कम महत्वशाली थे, किंतु भाव यह है कि श्रीकृष्णावतार में भगवान ने भक्ति का सुललित स्रोत बहा और गीता का उपदेश दे मानव समाज के कर्त्तव्यों तथा सुख-प्राप्ति के उपायों का जो निदर्शन किया है वह अन्य अवतारों में अलभ्य है। यह विषय अक्षत है। महात्मा व्यास जी ने ठीक ही कहा है—

"भरतखंड की सुकवि मंडली, बरनत हू न अघात।"

इधर भारतेंदु जी भी स्वर मिला रहे हैं—

**"जदपि कह्यौ बहु बिधि कविन, बरनि अनेक प्रकार।
तदपि सदाँ नित-नित नवल, कृष्ण-चरित्र उदार॥"**

भक्ति का शृंगार के साथ नित्य संबंध है। जब हम किसी शृंगार सुसज्जित सुंदर वस्तु को देखते हैं तो उसके प्रति स्वभावतः मन आकर्षित हो जाता है। सुंदर शृंगार से विभूषित प्रकृति हृदय में रस विशेष उपजाती है। भगवद्भक्ति-प्रचार के निमित्त विशुद्ध शृंगार-पूर्ण वर्णन कई ग्रंथों में विशेष लाभदायी होते हैं। श्रीकृष्ण के दिव्य रहस्य का आश्रय पाकर ब्रजभाषा में शृंगार रस की विशेष प्रसिद्धि हुई है। श्रीकृष्ण के रहस्यों का श्रद्धा और विचारपूर्वक जिन्होंने मनन किया है वे ही विज्ञ-जन ब्रज-साहित्य का पूर्णतः रसास्वादन कर सकते हैं।

ब्रजभाषा के कवि समुदाय ने दो दृष्टियों से शृंगार रस को अपनाया है। पहिली तो यह है कि उन्हें भगवान् की ललित लीलाओं का वर्णन शृंगारमय करना ही पड़ता था। भगवद्-भक्ति के निमित्त शृंगार-पूर्ण वर्णन अत्यंत मनोहर होते थे। विरक्त होकर भी शुकदेव, समर्थ रामदास, ज्ञानदेव, चैतन्य देव, स्वामी हरिदास-आदि महात्माओं ने भगवद्शृंगार का बड़ा ही अलौकिक और हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। दूसरी बात यह है कि कवियों ने शृंगार रस को एक केंद्र मानकर अपनी काव्य-कला प्रदर्शित की है।

ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने नायक-नायिका भेदोपभेद तथा उनके नख-शिख-आदि का विपद वर्णन गोपिकाओं और श्रीकृष्ण के संबंध पर घटा डाला है। कुछ कवियों ने स्वतंत्र रूप से भी नायक-नायिका भेद-इत्यादि शृंगारपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। नायक-नायिका भेद अथवा नख-शिख वर्णन में शृंगार की प्रचुरता होनी अनिवार्य है। अवस्थानुसार शृंगार को संकुचित रूप भी दिया जा सकता है, किंतु अंग-प्रत्यंग के वर्णन में कविगण अश्लीलता के गंदे गड्ढे की तह तक इस तरह डूब जाते हैं कि उन्हें दीन और दुनियाँ का कुछ विचार भी नहीं रहता। यद्यपि उस सांसारिक विषय-लिप्त शृंगारी साहित्य में मानव समाज के घृषित व्यवहारों की दुर्गंध आती है और उसके लिये हम कवियों को दोषी भी ठहरा सकते हैं, तथापि उसमें बड़े-बड़े चमत्कारपूर्ण वर्णन देखने में आते हैं। उस रस में मस्त होकर कवि को अनूठी-अनूठी कल्पनाएँ सूझती हैं, उन्हीं कल्पनाओं-द्वारा वह अपना काव्य-पीयूष बरसाता है।

हमारे आचार्यों ने शृंगार को सर्व श्रेष्ठ रस मान रखा था। इसी से उसकी ओर सहस्त्रों कविगण आँख बंद किए फिसलते ही चले गए। फलतः ब्रजभाषा में दो तिहाई भाग शृंगारी साहित्य है और शेष भाग में अन्य रस विभक्त हैं। शृंगारी साहित्य दो प्रकार का है। एक में तो बड़े-बड़े विरक्त महात्माओं ने उच्चकोटि का भगवद्शृंगार वर्णन किया है और दूसरे में नायक-नायिका भेद-प्रधान मानव-शृंगार का वर्णन संसारी कवियों ने किया है। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं कि ब्रजभाषा में दिव्य तथा लौकिक दोनों ही प्रकार का प्रचुर शृंगारी साहित्य है।

दिव्य शृंगार

दिव्य शृंगार 'शृंगार' के किसी भेद का नाम नहीं है, किंतु वह शृंगार रस की उस उच्चावस्था का द्योतक है जहाँ स्वार्थ का अभाव और तन्मयता की पराकाष्ठा रहती है। दिव्य शृंगारसे तात्पर्य उसी

श्रृंगार-रस-संबंधी साहित्य से है जो भगवद्-संबंधी गोप्य रहस्यों से युक्त हो । श्रीकृष्णचंद्र भक्ति और प्रेम के नायक हैं । प्रेम के पथ में उनका रूप ज्ञानमार्गियों के 'अदृष्ट', 'अव्यक्त' ब्रह्म का-सा नहीं है, यहाँ तो उनका पद दूल्हा का है । 'प्रत्येक आत्मा इनकी दुलहिन है ।' भक्तों के मत से दूल्हा-दुलहिन का यह संबंध नित्य है, अक्षत है । गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति इसी प्रकार का प्रेम है । श्रीकृष्णचंद्र में सौंदर्य, प्रेम, ज्ञान, दया और सेवा का अच्छा विकास हुआ था । उनके सौंदर्य और प्रेम के दर्शन वृंदावन में, ज्ञान के मथुरा और कुरुक्षेत्र में तथा सेवा और दया के द्वारका में होते हैं । श्रृंगार रस के यही कृष्णचंद्र देवता हैं । प्रेमियों का मत है कि वृंदावन वाले कृष्ण में ही मधुरता का सबसे अधिक समावेश हुआ है । श्रृंगार रस की कविता में कृष्ण के नायक और राधिका के नायिका होने का यही रहस्य है । श्रीकृष्ण या अन्य अवतारी महापुरुष संबंधी जितना साहित्य ब्रजभाषा में है वह सभी उच्च कोटि का दिव्य श्रृंगार है; उसमें काव्यकला का पर्याप्त प्रदर्शन है । यद्यपि कुछ दुराग्रही नास्तिक या वैज्ञानिक उक्त दिव्य श्रृंगारी साहित्य को भी अश्लील की नाक से सूंघेंगे, किंतु यथार्थ में उसे हम अश्लीलतापूर्ण कदापि नहीं कह सकते । जिनके हृदय में भाव विभोरता, तन्मयता और कसक है वही दिव्य रहस्य का अनुभव कर सकते हैं, ज्ञानी, ध्यानी नहीं । तभी तो बख्शी हंसराज कहते हैं—

> **"कोऊ कहूं भूलि जिन कहियो, नेमी सों यह बाँनी ।**
> **कैसें भिदै तासु उर अंतर, ज्यों पाथर में पाँनी ।।"**

जो सज्जन भगवद्श्रृंगार में अश्लीलता का आरोप करते हैं उनसे हम यह पूछते हैं कि एक पाँच वर्ष के नग्न खेलते हुए सुंदर बालक को देखकर उनका हृदय वात्सल्य या प्रेम रस से क्यों परिपूर्ण हो जाता है ? और एक नवयुवती को देखतेही वह क्यों विषय-तरंगों में तैरने लगता है ? इन प्रश्नों का उत्तर प्राकृत और अप्राकृत श्रृंगार का भेद बता देगा । बालक ही की सहज स्वभाव परमहंसावस्था में ईश्वरीय द्युति की झलक आती है, जिसके प्रभाव से हम उसके शुद्ध स्नेह में प्लावित हो अपने को भूल जाते हैं । भगवद्श्रृंगार का यही सहज सुंदर रूप है । जिन भगवद्-भक्तों ने अपने उत्कृष्ट प्रेमावेश में श्री राधा-कृष्ण का नख-शिख या गोपिकाओं का विरह वर्णन किया है, उसे हम किसी प्रकार अश्लीलतापूर्ण नहीं कह सकते । वृंदावन के कृष्ण का जीवन गोप-जीवन की मनोरम प्रतिकृति है । विद्वानों का मत है कि यह जीवन नितांत सरल, निर्दोष और कुटिलता शून्य है । ऐसे जीवन का वर्णन पढ़ने से प्रेम भक्ति की रमणीयता ही प्रकट होगी । सूरदास, स्वामी हरिदास, स्वामी हित हरिवंश प्रभृति विरक्त महात्माओं ने भगवद्श्रृंगार का बड़ा अलौकिक वर्णन किया है । स्थान-स्थान पर श्री राधिका जी के अंग-प्रत्यंग का भी वर्णन आ गया है । तो क्या इन विरक्त महात्माओं ने उस वर्णन का विषय वासना की दृष्टि से प्रत्यक्ष अनुभव किया था ? कदापि नहीं । वे महात्मागण अपनी उत्कृष्ट भक्ति दर्शाते हुए श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उनके सामने मूर्तिमान विशुद्ध श्रृंगार नाचने लगता था । उन्होंने अपनी भक्ति के प्रभाव से भगवद् लीलाओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया था; वे उन अनूठे उद्गारों को ललित काव्य के रूप में प्रकट करते थे । भक्त कवियों के श्रृंगार वर्णन में लाक्षणिता का भी उचित समावेश है । 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' के अनुसार कृष्ण के कुछ विलास कृत्य अलौकिक माने जा सकते हैं, परंतु इस समाधान की आवश्यकता नहीं । भक्त कवियों की यह प्रतिपत्ति सराहनीय है कि उन्होंने काव्य को रसात्मकता से वंचित नहीं होने दिया ।

कहते हैं कि 'ब्रह्मात्मैक्य' में ही तन्मयता की पूर्ण अनुभूति होती है, पर जिस स्पष्ट रूप में प्रेमियों के हृदयों में हम तन्मयता की दशा देखते हैं उस रूप में ब्रह्मात्मैक्य-वादियों को कदाचित् ही कभी वह अनुभव में आती हो । वे कहते हैं 'सोऽहमस्मि' (वह मैं हूँ), अथवा 'तत्वमसि' (वह तू है) । यहाँ 'सः' और 'अहं' अथवा 'तत्' और 'त्वम्' इन शब्दों का कुछ न कुछ स्मरण रहता ही है, पर भक्तों को तो 'वह' मुझमें है या 'मैं' उसमें हूँ, वह 'मैं' है या मैं 'वह' हूँ इसका विचार ही नहीं रहता । हरिदास-इत्यादि भक्तजनों की तन्मयता ऐसी थी—

"कॉन्ह भए प्रान-मय, प्रान भए कान्ह-मय, हिय में न जान परै कॉन्ह हैं कि प्रॉन हैं।"

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

तन्मयता की इस मस्ती पर जिगर का एक शेर याद आ रहा है—

"कुछ खटकता तो है, पहलू में मेरे रह-रह कर।
अब खुदा जाने तेरी याद है, या दिल मेरा।।"

यह नहीं, इन भक्तों की प्रीति एक रस और अनन्य थी। जिस ठाकुर की वे अनन्यता के साथ उपासना करते थे उसके स्वरूप वर्णन में, सांसारिक दृष्टि से वे मर्यादा पालन करना उचित न समझते थे। उनकी शृंगार-पूरित रचनाओं में हृदय के मनोवेगों की झलक है; काव्य-रचना के उद्देश्य से प्रेरित हो उनकी रचना हुई थी, प्रत्युत भक्ति-प्रदर्शन ही उनका अभीष्ट था। इस अनन्यता की सुकवि ठाकुर ने बड़ी सुंदर व्याख्या की है—

"कॉनन दूसरौ नाम सुनें नहिं, एक ही रंग-रँग्यौ यह डोरौ।
धोखेंहुँ दूसरौ नाम कढ़ै, रसना मुख-बाँधि हलाहल-बोरौ।।
'ठाकुर' चित्त की वृत्ति इही, हम कैसेंहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाउ, जो साँवरौ-छाँड़ि निहारतीं गोरौ।।"

कितनी चोज-भरी गर्वीली उक्ति है, पर सूरदास जी 'निहारने'—इत्यादि की कष्ट-कल्पना में नहीं पड़े। उनका घर तो पहिले ही से भरा हुआ है, फिर भला वे दूसरे की खोज क्यों करें—

"नाहिन रहो मन में ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसें, आँनिएँ उर और।।
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत रात।
हृदे ते वौ स्यॉम मूरति, छिन न इत-उत जात।।"[1]

अस्तु, तन्मयता और अनन्यता के उपर्युक्त रूपों को समझ लेने पर सूरदास, हितहरिवंश अथवा हरिदास के शृंगारी पदों की दिव्यता का सहज अनुमान हो सकता है। उनमे किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं है। उक्त अप्राकृत शृंगार से प्रेम और भक्ति की वृद्धि होती है। श्री राधा-कृष्ण प्रकृति और पुरुष के अवतार थे। गोपिकाएँ कोई मायाजन्य विकारों से युक्त संसारी नायिकाएँ नहीं थीं, प्रत्युत वे प्रेम के उच्चादर्श और भक्ति की उच्चावस्था को प्राप्त दैव मूर्तियाँ थीं। श्रीमद्भागवत में तो इन्हें वेद की ऋचाएँ कहा है। भारतेंदु जी ने "श्री चंद्रावली नाटिका" में नारद जी के मुख से इन महाभाग गोपिकाओं के विषय में क्या ही अनूठा पद कहलाया है—

"गोपिन की सरि कोऊ नाँहीं।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब, तोरी हरि-रस माँहीं।।
जिन निज बस कीन्हें नँद-नंदन, बिरही दै गल बाँहीं।
सब संतन के सीस रहौ इन चरन-छत्र की छाँहीं।।"

गोपियों के चरण संतों के छत्र हैं—यह भक्ति का गूढ़ रहस्य है, आलोचकों के हँसने की बात नहीं। गोपियाँ, निस्संदेह प्रेम की शुभ्र मूर्तियाँ थीं। श्री कृष्णात्मक साहित्य से वे भिन्न नहीं की जा सकतीं और न ऐसे साहित्य को हम अश्लील ही कह सकते हैं। उसी भगवद्शृंगार पर मोहित हो कितने ही महात्माओं ने परमहंसावस्था प्राप्त की है। अतएव उक्त दिव्य शृंगार को हम साहित्य में सर्वोच्च स्थान

[1] **कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग लोभ दिखाइ।**
कहा करौं मन प्रेम-पूरन, घट न सिंधु समाइ।।
स्याँम गात, सरोज आँनन, ललित मृदुमुख-हास।
'सूर' इनके दरस कारन मरत लोचन प्यास।।

पर सुशोभित करेंगे। ब्रज-साहित्य का अधिकांश भाग दिव्य श्रृंगार-संयुक्त है। उसके पढ़ने से हृदय में दिव्य रस का उद्दीपन होता है। ऐसे श्रृंगार के हम सदैव उपासक रहेंगे।

लौकिक या अश्लील श्रृंगार

अश्लील का अर्थ है—अशिष्ट, लज्जाजनक कामोद्दीपक भाव। जिस वस्तु में लज्जाजनक व्यवहार प्रतीत हो वही अश्लील है। साधारणत: अश्लीलता की परिभाषा यही है, किंतु दूसरों को वैसी नहीं प्रतीत होती। हृदय के भावानुसार यह अपवाद प्रायः सभी जगह रहता है। जो बात सर्व साधारण को लज्जाजनक ज्ञात हो, शाब्दिक परिभाषा के अंतर्गत वह भले ही न आवे, पर वही अश्लील है। संसारी जनों की दृष्टि में जो बात अश्लील है, वही उच्चावस्था-प्राप्त योगियों को तथा भोले-भाले बालकों को अश्लील नहीं ज्ञात होती। *इसका कारण यह है कि बालकों की बुद्धि अनाघ्रात-कलिका के सदृश्य निर्मल होती है, वे संसारी-*प्रपंचों से अनभिज्ञ रहते हैं। यथार्थ में बालक का सौंदर्य और उसकी प्रतिभा इसी सरलता में है। कितने ही महात्मा भी इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। श्री शुकदेव जी, राजर्षि जनक और रामकृष्ण परमहंस इसी अवस्था के राजयोगी थे, किंतु यह बात पहुँचे हुए योगियों के लिये है, जिन्हें श्लीलता अथवा अश्लीलता का आभास तक नहीं होता, साधारण लोगों के लिये नहीं। साधारण जन को तो अवश्य ही साधनावस्था में इससे बचना चाहिये। इसके अतिरिक्त कितने ही भक्त-गण या आस्तिक-जन ऐसे होते हैं कि उन्हें भगवद्संबंधी गुप्त-साहित्य में अश्लीलता नहीं ज्ञात होती, किंतु वही बात दूसरों को अवश्य ही अश्लील प्रतीत होगी। वस्तुतः अश्लीलता को कोई भी निश्चित रूप नहीं दिया जा सकता, क्योंकि देश, समाज और प्रकृति के अनुसार उसके रूपों में अंतर होता रहता है। फिर भी साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हमारा यही मत है कि साहित्य स्वयं उतना अश्लील या अहितकर नहीं है, जितना भावों की रुचि के अनुरूप वह बनाया जाता है।

पुस्तक की अश्लीलता के संबंध में दिसंबर १९२८ में एक मनोरंजक मुकदमा 'इंगलैंड' में हुआ था। उसका सार हम नीचे देते हैं—

मिस 'रैडक्लिफ़ हाल' के उपन्यास "दी वाल आफ लोनलीनेस" को अश्लीलतापूर्ण बतला कर 'सर चार्ल्स बिरन' ने उसकी प्रतियाँ नष्ट करने की आज्ञा दी थी। लेखिका ने अपने उपन्यास में यूरोप की उन ललनाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की है जो कुलवती स्त्रियों की भाँति जीवन नहीं व्यतीत करतीं और स्वेच्छाचार करती हैं। यही नहीं, उनके पक्ष का सुंदर भाषा में समर्थन करते हुए लेखिका ने ईश्वर का आह्वान किया है कि संसार के भिन्न-भिन्न समाज चाहे उक्त स्त्रियों का परित्याग कर दे, पर ईश्वर के आगे उन्हें स्थान मिलना ही चाहिए। मिस हाल के पक्ष वाले वकील ने कहा था—" The book could not be described fairly as obscene because in the course of it there were no filthy words—that it was well written and should be regarded as a work of literature."

अर्थात् पुस्तक की रचना सुंदर ढंग से हुई है, उसमें अशिष्ट शब्द नहीं है। इसलिये उसे अश्लील न कह कर साहित्य में स्थान दिया जाना चाहिए।

जज ने 'obscene' शब्द के अर्थ कोष के अनुसार ये बतलाए—'offensive to chastity, delicacy or decency or offensive to the moral senses as to excite lustful passions', और कहा—"The better an obscene book is written the greater the public to whom it is likely to appeal, the more palatable the poison the more insidious".

अर्थात् एक अश्लील पुस्तक जितनी सुचारु रूप से लिखी जायगी उतनी ही अधिक संख्या में जनता उसे अपनावेगी। जितना स्वादिष्ट विष होगा उतनी ही अधिक उसकी भयंकरता होगी।

उक्त उपन्यास वाले मुकदमे में 'filthy words' (अशिष्ट शब्द) और "To excite lustful passions (विषय भोग की उत्तेजना) विचारणीय है। प्रायः हिंदी-साहित्य के समालोचक अश्लीलता की परख 'अशिष्ट शब्दों' से करते हैं। इस परख में सबसे बड़ा दोष यह है कि 'अश्लीलता' के गुण का आरोप शब्दोंमें हो जाता है, आंतरिक भाव से उसका कोई संबंध नहीं और जैसा कि हम पहिले कह चुके

हैं 'अश्लीलता' भाव की वस्तु है। अश्लीलता की परिभाषा में "To excite lustful passions". रखने से वह परिभाषा संकुचित हो जाती है, क्योंकि अश्लीलता के कई प्रकार हो सकते हैं।

अस्तु, विद्वानों की अधिकांश रुचि के अनुसार ही ब्रज-साहित्य के अश्लील भाग पर विवेचना करना उचित है। ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने स्पष्ट शब्दों में नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया है, जैसा कि हम कह आये हैं। ब्रजभाषा में अश्लील शृंगार का साहित्य मुसल्मानी साम्राज्य के संसर्ग से विशेष रूप से आया है। उस समय नायक-नायिका भेद, तदीय नख-शिख आदि के वर्णन की ऐसी प्रथा चल गई थी कि कवियों ने उस पर सहस्त्रों ग्रंथ रच डाले। कितनों ने तो नायक-नायिका लक्ष्य रख, गोपिकाओं और श्रीकृष्ण को लपेट लिया है, उसे हम अवश्य अश्लील कहेंगे। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि वह भी तो भगवद्शृंगार है, उसे क्यों अश्लील कहा जाता है? इसका उत्तर यही है कि कवि की वर्णन-शैली ही स्पष्ट बतला देती है कि इसने अपना मुख्य विषय संसारी शृंगार का वर्णन रखा है, न कि विशुद्ध शृंगारात्मक भक्ति-भाव प्रदर्शन। भक्त कवियों की विशुद्ध भावुकता में और अलंकृत काल के कवियों की रीतिबद्ध कविता में अंतर मनोवैज्ञानिक दृष्टि का है। चाहे नख-शिख शृंगार हो या भगवल्लीला वर्णन, कवि की वास्तविक संवेदना छिप नहीं सकती। इस शैली के कवियों में कितने तो आजन्म शृंगार रस में डूबे रहे और कितनों ने अन्य विषयों का वर्णन किया भी तो उसमें भी शृंगार को ला ठूंसा। इस घृणित कार्य के लिये वे कवि अत्यंत दोष-भागी हैं। यदि वे राधा-कृष्ण के गुणगान के मिस कवित्व-उपासना करते तो उसे हम दिव्य शृंगार में परिणत कर सकते थे, किंतु उन्होंने तो अपने रीति-ग्रंथों के प्रत्येक विषय को राधा और कृष्ण पर घटाया है, यह विचार ही नहीं रखा कि वहाँ कहाँ तक हमारे विषय की संगति रह सकती है। राधा-कृष्ण हमारे पूज्य आराध्यदेव हैं, आर्य मात्र की उन पर दृढ़ श्रद्धा है, अतएव, उन्हें संसारी शृंगार का विषय मान कर कलंकित करना अत्यंत निंदनीय और नीचता-पूर्ण कार्य है। ये विषय कुरुचि के उत्पादक हैं। उनसे वैष्णव-भक्ति पर भी आघात पहुँचा है। विधर्मियों को हिंदू-धर्म पर कुटिल आक्षेप करने का अवसर मिला है।

अतः ऐसे साहित्य को जिसके द्वारा श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम को कलंकित करने की गर्हणीय कुचेष्टा की गई है, उसे हम उपेक्षणीय समझने के पक्षपाती हैं, भले ही उसमें काव्य के उत्कृष्ट गुण हों। ऐसे साहित्य से हम उस साहित्य को श्रेष्ठ समझते हैं जिसमें नायक-नायिका-भेद साधारणतः नायक-नायिका के रूप में वर्णन किया गया है।

रीति-काल में अलंकार, पिंगल, रस-आदि जितने कुछ काव्य के विषय थे उन सब पर शृंगार रस का आधिपत्य था। रीति-ग्रंथ लिखने की कुछ चाल सी पड़ गई थी। इनके प्रत्येक अंगोपांग को, उदाहरणों के रूप में कवियों ने शृंगार रस में डुबोया है। षट्ऋतु-वर्णन किया है तो वह भी हाव-भाव से अछूता न रह सका। सारांश, वह युग शृंगार का था। जो कवि नायक-नायिका के ही पीछे पड़े रहे, उनके ग्रंथों में अश्लीलता की यत्र-तत्र खूब दुर्गंध मिलती है। इस साहित्य के परिपोषक मुख्यतः केशव, बलभद्र, मतिराम, सुखदेव, पजनेश, बोधा, पद्माकर, द्विजदेव-आदि हैं। विहारी और देव ने दिव्य और लौकिक दोनों ही प्रकार के शृंगार का वर्णन किया है और भी कितने ही कवियों के काव्यों में यत्र-तत्र उभय प्रकार के शृंगार का समावेश पाया जाता है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र एक स्थान पर लिखते हैं—

> **"इन कवियों की निंदा इस कारण होनी चाहिए कि उन्होंने शृंगार रस के उस सुंदर रूप को भी क्यों नहीं दिखलाया, न कि इस कारण कि जो रूप उन्होंने दिखाया है, वह उन्हें दिखलाना ही न चाहिए था। विषय-रस में सराबोर कविता में भी रमणीयता है। उसके लिए उन्हें शाप देने की आवश्यकता नहीं है।.... उन्होंने प्रतिकूल समय में कविता के दीपक को बुझने से तो बचाया। क्या हुआ, जो बुरे तेल के कारण दीपक से कुछ मलिन धुंआ भी निकला।"**

मिश्र जी कितनी ही उदारता से क्यों न विचार करें, पर उनके विचार सर्व संमत नहीं कहे जा सकते। जिस नग्न रूप को कवियों ने शृंगार रस में दिखाया है उसे मिश्र जी किसी अंश तक उचित समझते

हैं। विषय-रस-पूर्ण कविता में रमणीयता है, किंतु क्या केवल रमणीयता ही कविता के लिए अपेक्षित है? कविता का एक प्रधान गुण है कि जिन भावों को कवि की थिरकती हुई कल्पना प्रकट करती है उनके फल-स्वरूप पाठक अथवा श्रोता के हृदय में भी एक प्रकार की कल्पना करने की शक्ति अथवा सूझ ((Creative power)) जागृत हो जाय। रीति-विषय अथवा केवल नायक-नायिका भेद-विभेद वर्णन करने में कवि की कल्पना-शक्ति संकुचित हो जाती है, मानव चरित्र का वास्तविक चित्र नहीं उपस्थित होता। इसके अतिरिक्त रमणीयता तो नवीनता में रहती है। ब्रज-साहित्य के श्रृंगारी भाग पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होगा कि विहारी, देव-आदि कतिपय कवियों को छोड़ कर प्रायः अन्य कवियों के श्रृंगारी वर्णन पिष्ट-पेषण हैं, नवीन नहीं और फिर विशुद्ध रस की सत्ता वहाँ कितनी है? हमें ध्यान रखना होगा कि कुरुचि-पूर्ण रचनाओं को आचार्यों ने रस नहीं रसाभास की कोटि में रखा है। हाँ, इन श्रृंगारी कवियों का पक्ष-समर्थन एक दूसरे रूप से किया जा सकता है। वह है देश, काल और परिस्थिति का प्रभाव। आधुनिक युग के सदृश उस काल में मनोरंजन के अनेकानेक साधन अनुपस्थित थे। उपन्यास, गल्पादि-विषयों पर कदाचित् ही कोई ग्रंथ उस युग में लिखा गया हो। उस समय इन्हीं रीति-विषयक ग्रंथों से समाज का मनोरंजन होता था। प्रकृति, जन-रुचि, नैतिक व सामाजिक अवस्था तथा स्वभाव का कवि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कवि केवल एक सामयिक अवस्था का निरीक्षक और प्रदर्शक है।

अश्लील श्रृंगार के संबंध में सहृदयवर स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'विहारी सतसई' की भूमिका में लिखा है—

"ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति-भ्रष्ट और कुरुचिसंपन्न बनाने से नहीं होता; ऐसे प्रसंग पढ़ कर धूर्तविटों की गूढ़ लीला के दावघात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके—इस विषय में सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग वर्णन का प्रयोजन है।"

इससे स्पष्ट है कि शर्मा जी की राय में अश्लील श्रृंगार भी लोकोपकारी हो सकता है, किंतु इसमें संदेह के लिये स्थान है। धूर्तविटों के जाल में किसी कामिनी को फँसा, उसका चरित्र-भ्रष्ट कर उससे यह शिक्षा ग्रहण करना कि "धूर्तविटों से जनता सचेत हो जाय" कहाँ तक ग्राह्य है, कुछ समझ में नहीं आता। यह तो पाश्चात्य-सभ्यता का आदर्श है कि दुःखांत अभिनय-द्वारा जनता को उपदेश दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टांत से हमें तो यही शिक्षा मिलती है कि हम भी अनाचार में प्रवृत्त हों? प्राच्य-आदर्श तो यह है कि यदि हमें विरक्ति-भाव उत्पन्न करना है तो हम नायक या नायिका के सूक्ष्म शरीर का ऐसा वीभत्स और घृणित वर्णन करें कि वह हमें एक नारकीय कीड़ा समझ पड़े। उसके द्वारा विरक्ति हो सकती है न कि किसी कामिनी को व्यभिचार में प्रवृत्त कर गार्हस्थों को नष्ट-भ्रष्ट कर यह परिणाम निकालना कि कामिनी हेय वस्तु है। इसका परिणाम तो व्यभिचार-वृद्धि ही होगा।

ब्रजभाषा के श्रृंगारी साहित्य के प्रथक्-प्रथक् विवेचन के अतिरिक्त हमें यह निर्णय भी करना चाहिये कि ब्रजभाषा में श्रृंगाराधिक्य क्यों है और जनता को उससे क्या-क्या हानि-लाभ हुए, एवं आधुनिक साहित्य-संसार की उस पर कैसी रुचि है।

ब्रजभाषा में श्रृंगार कविता अधिक क्यों हुई?

संक्षेप में, ब्रजभाषा में श्रृंगाराधिक्य के निम्नलिखित कारण दृष्टिगट होते हैं—

१. संस्कृत तथा प्राकृत में श्रृंगार रस का प्रचुर साहित्य है। काव्यांगों की दृष्टि से स्वतंत्र रीति-ग्रंथ भी उन भाषाओं में लिखे गए हैं। ब्रजभाषा पर स्वभावतः उन भाषाओं की छाया पड़ी और रीति-ग्रंथ के विस्तार में श्रृंगार रस को सहारा मिला।

२. श्री कृष्ण-संबंधी रहस्य की कल्पनाएँ करके कवियों ने गोपिकाओं और श्रीकृष्ण का प्रेम वर्णन प्राकृत श्रृंगार-युक्त किया है। श्री कृष्ण की लीलाएँ ही भक्ति-पूर्ण हैं, इसलिए उसमें श्रृंगार का अस्तित्व अनिवार्य था।

३. ब्रजभाषा की माध्यमिक अवस्था में शृंगार रस की विशेष वृद्धि हुई है। उस समय मुगल-दरबार से ब्रजभाषा को अच्छा संमान प्राप्त हुआ। मुसलमान बादशाह प्रायः शृंगार-प्रिय थे। उन्हें शृंगारी वर्णन सुहाता था, उनके मनोरंजनार्थ कवियों को शृंगार रस-पूर्ण ग्रंथ लिखने पड़ते थे। बहुत से देशी नरेश भी शृंगार के अत्यंत रसिक थे। राजाओं को या बादशाहों को राज्य-मद के कारण भोग-विलास विशेष प्रिय था, शृंगारी कामोत्तेजक कविताएँ सुनने का विशेष चाव था। शृंगारी कविताओं पर कवियों को यथेष्ट पुरस्कार भी प्राप्त होता था, फिर भला वे स्थिति के अनुसार कविताएँ क्यों न करते ?

४. फारसी तथा उर्दू भाषा में शृंगार का विशाल साहित्य है। उनमें आशिक-माशूक की प्रेम-पहेलियों पर शृंगार-पूर्ण वर्णन करने की सनातन प्रथा है। ब्रजभाषा का फारसी से संपर्क रहा है इसलिए मुसलमानों की रुचि के अनुसार भारतीय कवियों ने भी अपनी कविताओं को शृंगार रस-पूर्ण प्रारंभ किया। फिर भी मुसलमानी शृंगारी-साहित्य और भारतीय शृंगारी-साहित्य में अधिक अंतर रहा है। पहिला मानव-भाव-प्रधान है तो दूसरा देव-भाव-प्रधान, किंतु फारसी-साहित्य की छाया से ब्रजभाषा का साहित्य अछूता नहीं रहा और धीरे-धीरे इसी प्रभाव से प्रभावित होकर देव-भाव में भी ह्रास होता गया और विषय-लिप्त शृंगारी साहित्य की वृद्धि होती गई।

५. मुसलमानी साम्राज्य में विशेषतः मुगल साम्राज्य में जनता को शांति, सुख, व्यापार, वाणिज्य-आदि का सुभीता था। यद्यपि मुसलमानों के अत्याचार होते जाते थे, तो भी ऐश-आराम की विशेष वृद्धि थी। तत्कालीन जनता पर भी सत्ताधारियों का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार जब देश में शृंगार रस को राज्य की ओर से सहायता प्राप्त हुई तब ब्रजभाषा में भी कवियों ने उसी रस की प्रधानता रखी।

६. संगीत और शृंगार रस का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। संगीत मनुष्य की हृदय-रंजिनी-शक्ति पर विशेष प्रभाव डालता है। जब से मुसलमान भारत में आए तभी से वे राग-रंग, नाच-गान के प्रेमी थे। केवल भारतीय संगीत को ही उन्होंने आश्रय न दिया प्रत्युत ब्रज-साहित्य के संगीत-संगत पदों को उनसे बड़ा उत्तेजन मिला। भजन, कीर्तन और रास-लीला की दृष्टि से महात्मा सूरदास, स्वामी हितहरिवंश, हरिदास, चाचा हित वृंदावनदास—इत्यादि कवि और भक्त जनों के पदों में पद-लालित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। इन पदों का प्रचार केवल ब्रजमंडल में ही सीमा बद्ध न था, किंतु गुजरात, मारवाड़ और बंगाल के अनेकों प्रांतों में वे पद बड़े चाव से गाए जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रज-साहित्य के शृंगार रस का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत होता गया। उपासकों और पुजारियों की वृष्टि पर ध्यान रख कर भक्त गण कविता रचते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने गोपाल नायक का, अकबर ने तानसेन का, बैरम खां ने बाबा रामदास का और शाहजहाँ ने पं० जगन्नाथ राय त्रिशूली का जो संमान किया था वह किसी से छिपा नहीं है। कहना न होगा कि नर्तकियों-द्वारा उर्दू-गजलें-आदि गाने से प्रथम अब भी लोग ब्रजभाषा की मधुर रागिनी गाने का अनुरोध करते हैं। अस्तु, लौकिक और पारिलौकिक दोनों दृष्टियों से संगीत ने ब्रजभाषा में शृंगार-वृद्धि की है।

७. जिन संप्रदायों में श्री राधिका जी की भक्ति को प्रधानता दी गई, अथवा जिनमें स्त्री-वेश-द्वारा श्री कृष्ण की अनन्य प्रेमिका का भाव प्रदर्शित करने की प्रथा प्रचलित की गई, उनसे ब्रजभाषा के शृंगार रस को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। पहिली श्रेणी में हितहरिवंश का राधावल्लभी संप्रदाय मुख्य है और दूसरी में हरिदास का टट्टी संप्रदाय या सखी संप्रदाय। देव, बिहारी, चाचा हित-वृंदावनदास, व्यास-आदि कविगण राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। इसी प्रकार नागरीदास, आनंद-घन, सहचरिशरण, भगवत रसिक—इत्यादि कविगण 'टट्टी संप्रदाय' के अनुयायी थे। जिस प्रकार राधिका जी की भक्ति में शृंगार रस की विशेषता स्वाभाविक थी, उसी प्रकार अपने में स्त्री रूप का आरोपण करने से स्त्री-सुलभ शृंगार-प्रियता का भाव आना स्वतः सिद्ध था। यही कारण है कि हित-

हरिवंश जी के अनेकों श्रृंगार-परिप्लुत रहस्यपूर्ण पदों को 'हित निकुंज' के गोसाई जी प्रकाशित करने का साहस नहीं करते। निस्संदेह अनधिकारियों के हाथों में उन पदों की दुर्गति होने की ही संभावना है। पंडित या ज्ञानी, प्रेम-प्रीति के अधिकारी नहीं होते। सखी संप्रदाय के उपासकों को शिक्षित समुदाय ढोंगी कह सकता है, किंतु एक आलोचक की दृष्टि से हम यही कहेंगे कि उक्त मत के गोप्य रहस्यों तथा सिद्धान्तों को समझने वाले नियम-नियंत्रण से परे भुक्तभोगी ही हो सकते हैं। तभी तो भगवत रसिक ने लिखा है—

"भगवतरसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोऊ समझि सकै ना।"

❀

"तेरौ मुख चंद, चकोर री मेरे नैंना।
अरबरात मिलबे कों निस-दिन, ऐसे मिलें मनों कबहुँ मिले ना॥
अति आरत अनुरागी लंपट, भूल गई गति पल-हु लगै ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें, बिना रसिक कोऊ समझि सकै ना॥"

—राग-टोड़ी

विरह-व्यथित 'आनंदघन' जी एक पग आगे बढ़ कर कहते हैं—

"जग की कविताई के धोखें रहैं, ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।
समझै कविता 'घनआँनद' की, हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥"[1]

ब्रजभाषा के दिव्य तथा लौकिक श्रृंगार रस से साधारणतः निम्नांकित लाभ हुए हैं—

"साहित्य के प्रचार में श्रृंगार रस से बड़ी सहायता मिलती है। जनता ने श्रृंगारी रुचि होने के कारण ब्रजभाषा के श्रृंगारी साहित्य को अपना कर हिंदी के प्राचीन साहित्य को बड़ा उत्तेजन दिया है। यदि तत्कालीन प्रवाह के साथ ब्रजभाषा में श्रृंगार का महत्व न होता तो ब्रजभाषा को अन्य रसों-द्वारा कदाचित् उतना उत्तेजन न मिलता जितना कि मिला है। श्रृंगारी रचनाओं के कारण अनेकों कवियों को राजाश्रय मिला है। यह प्रलोभन कवियों की यथेष्ट वृद्धि में सहायक हुआ। मुसलमानों में ब्रज-साहित्य के पठन-पाठन की रुचि बढ़ गई। उनके हृदय में उसके प्रति आदर भाव हुआ। परोक्ष रीति से अनेकों के हृदय में भगवद्भक्ति का भी उदय हुआ।

श्रृंगाराधिक्य से निम्न लिखित हानियाँ संभूत हुई हैं। श्रृंगार वर्णन की प्रथा चल जाने से कवियों ने श्रृंगार रस को ही अपना मुख्य विषय बनाया। सूरदास जी के समय में अन्य लोकोपकारी विषयों की रचनाएँ प्रायः रुक सी गईं। वही पुराना पिष्ट-पेषण बहुत काल तक स्थायी बना रहा। अन्य रसों को लोगों ने भुला दिया।

श्रृंगारी साहित्य के प्रचार से धार्मिक शैथिल्य भी बढ़ चला। ब्रजभाषा के प्रारंभिक युग में वैष्णव-धर्म तथा मुसलमानी राज्यों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। उस समय दिव्य श्रृंगार का काल था। कुछ कालांतर में मुसलमानी-आदर्श से प्रभावित हो ब्रजभाषा के श्रृंगारादि वर्णनों से जनता में कुविचार फैलने लगा। उस समय के युग का विपरीत प्रभाव आज भी उसी प्रकार स्थित है।

जिन कवियों ने राधाकृष्ण को अपने विषयायुक्त वर्णन की वस्तु बनाकर क्षुद्र श्रृंगार के रूप में चित्रित किया है उन्होंने समाज के प्रति अन्याय किया है। इसके कारण आर्य-समाजी-आदि मूर्ति-खंडक उन

[1] प्रेम सदाँ अति ऊँचौ लहै, सु कहै इहि भाँति कि बात छकी।
सुनिकैं सब के मन लालच-दौरि, पै बौरे लखें सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखें रहैं ह्याँ प्रबीनन की मति जति जकी।
समझै कविता 'घनआँनद' की, हिय-आँखिन नेह की पीरतकी॥

पर दोष आरोपित कर उनके चरित्र को कलंकित करने का दुस्साहस करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इसी दोष के कारण ब्रज-साहित्य के शुभ्र यश पर कुछ कालिमा लगी है।

शृंगारी साहित्य के कारण जब अंग्रेजी राज्य में रुचि पलटी तब ब्रजभाषा में शैथिल्य आने लगा। आधुनिक शिक्षित समाज ब्रज-साहित्य मात्र को अश्लील कह कर उसकी उपेक्षा करने लगा।

बालिकाओं को ब्रज-साहित्य का परिचय देने में संकोच होता है। यों तो सूरदास-आदि महात्माओं के भजन प्रचलित हैं ही, किंतु देव, बिहारी, मतिराम, केशव—आदि ब्रजभाषा के रसिकाग्रगण्यों की ललित रचनाओं का अवगाहन किये बिना ब्रज-साहित्य का रसास्वादन पूर्णतः नहीं प्राप्त हो सकता, पर इन कवियों की कविताओं में ऐसे-ऐसे विचित्र शृंगारी वर्णन आये हैं कि जिन्हें बालिकाओं के गुरु, पिता या भाई संकोच-वश उन्हें पढ़ाने में असमर्थ हैं। इसी से किसी अंश तक स्त्री-शिक्षा पर बड़ा कुठाराघात हुआ है।

ब्रज-साहित्य के शृंगार रस में एक अंग की कुछ कमी है। शृंगार में आध्यात्मिक भाव के मधुर संकेत कम हैं। कवियों ने रहस्य-पूर्ण लौकिक प्रेम का चित्रण प्रायः नहीं किया, जिसका लक्ष्य कभी-कभी पारलौकिक प्रेम की ओर होता है। इस प्रेम में साधारण प्रेमी अथवा प्रेमिका में दिव्य गुणों का आरोप किया जाता है, 'इश्क मिजाज़ी' के द्वारा 'इश्क हक़ीकी' का लक्ष्य रहता है। आधुनिक 'छायावाद' अथवा 'रहस्यवाद'-पूर्ण कविताओं में उसी आदर्श की हमें झलक मिलती है। जिस लौकिक प्रेम में सच्ची लगन या व्यथित हृदय की एक हूक उठती है, वही समय पाकर पारलौकिक प्रेम में परिणत हो सकता है। जफ़र ने यह भाव क्या अच्छा प्रकट किया है—

"न कुछ हम हँस के सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, किसी के होके सीखे हैं।।"

इसी पर वियोगी हरि लिखते हैं—

"जब तक तुम किसी के हो नहीं गये, तब तक बेखुदी का मीठा-मीठा मजा मिलने का नहीं।"

परंतु ब्रज-साहित्य में 'आनंदघन' को छोड़ कर किसी ने लौकिक प्रेम का रहस्यात्मक शृंगार-पक्ष नहीं लिया है।

आधुनिक रुचि

आधुनिक युग में ब्रज-साहित्य के शृंगार रस को प्रायः अंग्रेजी पढ़े-लिखे सज्जन उपेक्षणीय समझते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जहाँ हमें अश्लील साहित्य दुःख पहुँचाता है, वहीं दिव्य शृंगारी साहित्य से हमारा मन आनंदोत्फुल्ल हो जाता है और फिर अश्लील साहित्य का तिरस्कार कविगण कैसे कर सकते थे, जब कि हम 'राजशेखर' को यह लिखते हुए देखते हैं—

"तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।"

अर्थात् इस प्रकार का साहित्य जिसे हम अश्लील और असभ्य समझते हैं, श्रुतियों और शास्त्रों में भी पाया जाता है।

इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि हम नायक-नायिका-भेद जानें या नख-शिख पढ़ें। हमें आवश्यकता है सूर और मीरा के हृदय बेधक पदों की, केशव और देव के उत्कृष्ट कवित्तों की, बिहारी, रहीम और वृंद के मंत्र-फूंकने वाले दोहों की। जहाँ हमें अश्लीलता का आभास मिले वहाँ काव्य-वैचित्र्य पर ही ध्यान देना चाहिए। यदि हम अपने विचारों को अच्छे प्रवाह में बहायेंगे तो सुललित काव्य-प्रसून मिलेंगे, अन्यथा अवश्य ही काँटों में छिन्न-भिन्न होना पड़ेगा। जिनके विचार स्वभावतः घृणित होते हैं, उन्हें पद-पद पर अश्लीलता ज्ञात होती है। इसके विपरीत सहृदयों को लौकिकता में भी दिव्यता का आनंद प्राप्त हो सकता है। कवि के काव्य-कौशल, दूर दर्शिता और नैसर्गिक प्रवाह का आदर्श हमें ग्रहण करना चाहिए। जहाँ पर कवि

ने अश्लील वर्णन किया है, वहाँ पर हमें उस वर्णन के अंगोपांगों को देख उस विषय में तल्लीन हो आसक्त होने की आवश्यकता नहीं, वरन् कवि की अनूठी उक्तियों की प्रशंसा करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

कोई-कोई मन चले ब्रज-साहित्य के श्रृंगाराधिक्य को सामाजिक ह्रास का एक प्रधान कारण बतलाते हैं। खड़ी बोली वाले भी प्राय यह दोष ब्रजभाषा पर आरोपित करते हैं। इस बात पर बड़ी हँसी आती है। यह लोग इस बात को भूल जाते हैं कि सामाजिक पतन का प्रधान कारण गंदे उपन्यासों का प्रचार है, क्योंकि उपन्यासों तथा रसीली कहानियों के रसिक आपको लाखों मिलेंगे, ब्रज-साहित्य के पढ़ने और समझने वाले एक प्रति सैकड़ा भी न होंगे। पात्रापात्र का विचार कर श्रृंगारी-साहित्य का पठन-पाठन उचित है। बालक, ब्रह्मचारी, योगी, यती को श्रृंगारी-साहित्य पढ़ाने की आवश्यकता नहीं; परिपक्व विचार वाले पुरुषों को ही साहित्य-रसास्वादन के निमित्त उसमें योग देना चाहिए।

समयानुसार कवियों की रुचि में परिवर्त्तन होता है। ब्रज-साहित्य के कवियों ने अपने मनोरंजनार्थ तथा सामाजिक सुरुचि के अनुसार श्रृंगार रस का विशेष परिपोषण किया। समाज को उन्नत अथवा अवनत करने की दृष्टि से उन्होंने सामयिक काव्य नहीं रचे थे। उनका मुख्य तात्पर्य मनोरंजन था। उसी साहित्य में ब्रजभापा के रत्न भरे पड़े हैं। विहारी की सतसई, प्रेम-चंद्रिका, ललित-ललाम, सुजान-सागर-आदि काव्य अंगूठी पर नगीने से जड़े हैं। इनमें ओज, प्रसाद, रचना चातुर्य, भाव गांभीर्य-आदि लोकोत्तर साहित्यिक चमत्कारों का समावेश हुआ है। अंत में हम अपने पाठकों से यही कहेंगे कि वे नीर-क्षीर विवेकी बनकर दिव्य और लौकिक साहित्य का विश्लेषण कर उसके उत्तम रत्नों का जौहर परखें।

गोस्वामी तुलसीदास : श्री कृष्ण-गीतावली

राग-बिलावल

माता, उछंग गोबिंद-लै मुख बार-बार निरखै ।
पुलकित तन आँनदघन, छिन-छिन मन-हरखै ।।
पूंछत तुतरात बात, मात-हिं जदुराई ।
अतिसै सुख कामें तोहिं, मोहिं कहौ माई ।।
देखत तब बदँन-कँमल, मन-अनंद होई ।
कहै कौंन, रसनाँ मौंन, जानें कोइ-कोई ।।
सुंदर मुख नित दिखाउ, इच्छा यै मोरें ।
मम सँमान पुन्न-पुंज, नाहीं केहु औरें ।।
'तुलसी'-प्रभु प्रेम-बिवस, मनुज-रूप-धारी ।
बाल-केलि-लीला-रस, ब्रज जन-हितकारी ।।

राग-आसावरी

तोहि स्याँम की सौंह जसोधा, आइ देखि घर मेरे ।
कैसौ हाल करचौ तो ढोठा, छोटे, निपट अनरे ।।
गोरस-हाँन सहौं, न कहौं कछ, या ब्रज-बास-बसेरे ।
दिन-दिन बासँन कौंन बिसाहै, घर निधि काहू केरे ।।
किऐं तिहारे हँसत, खिझत, नँहि डाटत नैंन-तरेरे ।
अब-ही ते ए सीखे काधौं चरित, ललित सुत तेरे ।।
बैठ्यौ सकुचि साधु भयौ चाँहत, मात-बदन-तन हेरे ।
'तुलसीदास'-प्रभु, कहौं वे बातें, जो कहि भजे सबेरे ।।

मोकौं, झूंठें-हीं दोष लगावत ।
मैया, इन्हें बाँन पर-घर की, नाना जुगत बनावत ।।
इनके लिऐं खेलिबौ छाँड्यौ, तऊ न उबरँन पावत ।
भाजन-फोर, बिथोर सु गोरस, दैंन उराहनौं आवत ।।
कबहूँ बाल-रुबाइ, पाँनि-गहि, मिस-मिस करि उठि धावत ।
करें आप, सिर-धरत आँन के, बचन-बिरंचि-हरावत ।।
मेरी टेउ बूझि हलधर सौं, संतत संग खिलावत ।
जे अन्याइ करत काहू कौ, ते सिसु मोहिं न भावत ।।
सुनि-सुनि बचन-चातुरी ग्वालिनि, हँसि-हँसि बदन दुरावत ।
बाल गुपाल-केलि-कल-कीरत, 'तुलसिदास' मुनि गावत ।।

कबहू न जात पराए धाँम-हिं ।
खेलति-ही देखौं निज आँगन, सदाँ सहित-बलराँम-हिं ।।
मेरें कहा टोट गोरस कौ, नव-निधि-मंदिर जाँम-हिं ।
ठालीं ग्वारि उराहने के मिस, आइ बकें बेकाँम-हिं ।।
हौं बलि जाँउ जाहु कितहूँ जिन, मात सिखावत स्याँम-हिं ।
बिन कारँन हठि दोष लगावत, तात गऐं गृह ताँम-हिं ।।
हरि-मुख निरखि, पुरुष-बाँनी सुनि, अधिक-अधिक अभिराँम-हिं ।
'तुलसिदास'-प्रभु देख्यौ-ही चाँहें, श्रीउर ललित ललाँम-हिं ।।

स्वामी हरिदास जी की वाणी

श्री गोपालदत्त

नित्य वृंदावन की निकुंज-केलि के माधुर्य का वर्णन तो बहुतों ने किया, परंतु उसका आस्वादन केवल रसिक शिरोमणि स्वामी 'हरिदास' जी ने ही किया। अनन्य रसिकता के बाँके पथ से चलकर वे उस भाव-भूमि में अवतीर्ण हो चुके थे जहाँ उनकी स्वामिनी श्यामा और स्वामी कुंजविहारी का हँसना, खेलना, बोलना, मिलना, परस्पर बीरी खाना और खिलाना तथा दामिनी और घन की मिथःक्रीड़ा जैसा सुरत का दान और प्रतिदान हरिदास जी के नयनों के आगे नाचता था। अर्ध निशा है; श्यामा और श्याम का अंत-रंगांतरंग दरबार लगा है; सखियाँ तार, रबाव, अघौटी, बीन और मृदंग बजा रही हैं; श्रुतियाँ 'घुरि' रही हैं, राग केदारा तो सशरीर उपस्थित है और निकुंज-केलि में सहचरी रूप ललितावतार स्वामी श्री हरिदास अपने दिव्यांतश्चक्षुओं से बहु-भाँति के उस परम सुख को 'रोर' रहे हैं—

राग-केदारौ

**"हँसत, खेलत, बोलत, मिलत देखौं मेरी आँखिन सुख।
बीरी परसपर लेत-खवावत, ज्यौं दामिनी घन-चमचमात सोभा बहु भाँतिन सुख॥
स्रुति घुरि राग केदारौ जम्यौ अध-रात निसा रोरों सुख।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी के गावत, सुर देत भोर भयौ परम सुख॥"[1]**

[1], स्वामी हरिदास जी के केवल १२६ ध्रुपद मिलते हैं, जिनमें से १८ उपदेशात्मक हैं, जो 'सिद्धांत के पद' कहे जाते हैं। शेष १०८ (किसी-किसी के अनुसार ११०) श्री राधाकृष्ण के निकुंज-विहार के वर्णन विषयक हैं, जिनका संग्रह 'श्रीकेलि-माल' नाम से अभिहित होता है।

स्वामी हरिदास जी के पदों को 'पद' न कह कर 'ध्रुपद' कहना अधिक युक्ति-युक्त है। इनकी लंबी शब्द-योजना और यति के विलक्षण प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि ये पढ़ने के लिये नहीं, केवल (ध्रुपद) गाने के लिये ही लिखे गये हैं। ध्रुपद के गायन में बिना दुबारा श्वास लिये जैसा लंबा स्वर का साधन करना पड़ता है, उसके अनुकूल शब्द-योजना के लिये लंबी-लंबी पंक्तियाँ ही अधिक उपयुक्त होती हैं। इनका प्रत्येक ध्रुपद—अस्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग नामक ध्रुपद-संगीत के शास्त्रीय विभागानुसार चार खंडों में बँटा रहता है। ध्रुपद की चारों पंक्तियों में समान वर्ण योजना की कोई आवश्यकता नहीं रहती और न पढ़ने के लय-सौकर्य्य का ही ध्यान रखा जाता है। वर्ण-योजना का एकमात्र आधार यही होता है कि वर्णों की लय ध्रुपद की ताल पर ठीक बैठे। यही कारण है कि स्वामी जी के पद जो यों ही पढ़ने में कुछ अटपटे-से लगते हैं, वे किसी ध्रुपद के गायक के मुख से सुनने में अद्भुत शक्ति और प्रवाह से भरे ज्ञात होते हैं। साधा-रण पाठक को इनकी गमक और नाद-सौंदर्य का यत्किंचित् आभास भी तभी हो सकता है जब इन्हें ध्रुपद की लय में पढ़ा जाय। इन छंदों की इस विलक्षणता के कारण ही इनके प्रति, 'पद' शब्द का प्रयोग न कर 'ध्रुपद' शब्द का प्रयोग किया है। इन छंदों के लिये 'ध्रुपद' शब्द का प्रयोग पहले से भी विविक्त रूप से होता आया है। प्रमाण के लिये विभिन्न छंदों के अलग-अलग अधिकारी कवियों का नाम-ग्राहक यह कवित्त देखिये—

**"चंदजू कौ छंद, छप्पै नाभा औ बैतालजू की, केसौ कौ कवित्त, दोहा बिहारी के गाँस कौ।
बल्लभरसिकजू की माँझ, गिरधर कवि कुंडलिया, बाजिद की अरिल जो अतिसै प्रकाश कौ।
रसरास रेखता औ बात बीरबलजू की, तुलसी की चौपई असलोक बेदब्यास कौ।
भनत 'गुपाल' ए जहाँन बीच जाहिर हैं, सूर कौ पद औ धुरपद हरिदास कौ।"**

यही परमसुख स्वामी जी का परम काव्य है, उनके लोक-परलोक की इयत्ता है। अनन्य रसिक की कामना है कि इस अखिल विश्व ब्रह्मांड में न किसी और को देखूँ, न किसी और को जानूँ, न कहीं और जाऊँ और न किसी और से अनुराग करूँ, अहर्निश नेत्रों की वृत्ति युगल-स्वरूप में लगी रहे। प्यारे की भाँवती लाड़िलीजू और भाँवती के प्यारे लालजू बस इन्हीं दो से जान-पहचान हो। एकतान वृत्ति से 'श्रीवन' का सेवन करूँ; किसी भी परिस्थिति में यहाँ से इधर-उधर हटना न पड़े। नेत्र, बुद्धि और मन का यावत् दृश्य ज्ञेय और प्रेय है, उस सब को छेंक कर श्यामा और कुंजबिहारी की वही कुंज-क्रीड़ासक्त बाँकी-झाँकी जब निरंतर आँखों में झूलती रहे तभी तो जीवन-ग्रहण का चरम साफल्य है—

राग-कान्हरौ

"ऐसें-हीं देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं।
प्यारे की भाँवती, भाँवती के प्यारे, जुगल-किसोरै जानौं।।
छिन न टरौं, पल न होंउ इति-उत, रहौं एक तानौं।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, मन-रानौं।।"

इस अनन्य प्रेमाभक्ति के दिव्य आलंबन युगलकिशोर स्वयं सहज-स्वरूप हैं। अनादिकाल से उनकी निकुंज-केलि इसी भाँति चलती आई है और अनंत काल तक इसी भाँति चलती रहेगी। भूत, वर्तमान और भविष्य में यह जोड़ी ही तो एकमात्र अपरिवर्त्तनीय है। सदा वही घन-दामिनी से उज्ज्वल वर्ण, वही सुघराई, वही सुंदरता और वही किशोर वयस! हरिदास जी जैसे किसी विरले साधक के सम्मुख ही यह चिरंतन ज्योति-पुंज सहज-युगल आविर्भूत होता है—

राग-कान्हरौ

"माई, सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर-स्याँम घन-दाँमिनी जैसें।
प्रथम हूँ हुती, अबहूँ, आगे हूँ रहि है, न टरि है तैसें।।
अंग अंग की उजराई, सुघराई, सुंदरता ऐसें।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कुंजबिहारी सम-बैस बैसें।।"

श्यामा-श्याम के अगणित लीला-विलास स्वामी जी के नेत्रों के आगे किसी अनंत चलचित्र के बदलते हुए दृश्यों की भाँति निरंतर आते चले जाते हैं। प्रत्येक ऋतु की अलग-अलग लीलाएँ हैं और प्रत्येक प्रहर का अलग-अलग खेल। शरदृतु का पूर्ण चंद्र आकाश में उदित है। त्रिविध पवन बह रहा है। वृंदावन की कुंज-कुंज फूलों से महक रही है। ऐसे अनुकूल समय में किशोरी और किशोर रासमंडल में नृत्य कर रहे हैं। सखियाँ बीन, तार, अघौटी, झिरनाँ, किन्नरी, चंग, उपंग, रबाव, हुरक, बेंनु, बाँसुरी, भेरि, महुवरि, सहनाई (सहदान), राइ गिरगिरी, रुंज, मृदंग, पखावज, आवज, ढोल, ढोलकी, निसान, दुंदुभी, ढफ, ढफिया, मुरज, झाँझ-आदि वाद्य बजा रही हैं। समय-समय पर ध्रुपद की आचार्या ललिता सखी विचित्र वाणी में गायन कर सिद्ध राग-रागिनियों के यूथ के यूथ साकार उपस्थित कर देती हैं। नृत्य के अनुकूल राइ, उपंग, चर्चरी, झपतार, ध्रुवा, चंद्रागति की तालों का बंधान बँध रहा है, मृदंग की तत्तथेई, तत्तथेई, थुंग, थुंग, धन्ननना, तन्ननना, तक्-तक् थुंग-ध्वनि पर युगलकिशोर के श्रीचरण सहज गति से उठते चले जा रहे हैं। कभी लाड़लीजू देसी में नाचती हैं तो लालजू त्रिभंगी-युत सुघंग में। तांडव, लास्य-आदि अगणित नृत्य-भेद प्रकट हो रहे हैं। उरप, तिरप, सुलप, सुघर, औघर गति के मानों की लागडाट, इक गुन, दुगुन, तिगुन, चतुरागुन होकर बढ़ रही हैं। युगल नर्त्तकों के नृत्यानुकूल अभिनय में हस्तक-भेद, मस्तक-भेद, नेत्र-भेद, भ्रू-भेद और ग्रीवा-भेद के अगणित प्रकारों का सम बँधा है। इस महा रास के अलौकिक स्वरूप का दर्शन कर यमुना स्तब्ध हो अपनी गति भूल गईं। कामदेव इस छवि पर तृण तोड़ता है। देव-गण पुष्प बरसाते हैं। इस अलौकिक रस का वर्णन करने में किसकी रसना समर्थ हो सकती है—

राग-केदारौ

"अद्भुत गति, उपजत अति नृत्तत दोऊ मंडल कुँवर-किसोरी।
सकल सुघंग अंग-अंग भरि भोरी पीय नृत्तत मुसकँन मुखमोरी, परिरंभन रस रोरी।।
ताल धरें बनिता मृदंग चंद्रागति घात बजै थोरी-थोरी।
समै पाइ भाषा बिचित्र ललिता गायन चित-चोरी।।
श्री बृंदावन फूलन फूल्यौ, पूरन ससि, त्रिबिध पवन बहै थोरी-थोरी।
गति बिलास रस हास परसपर भूतल अद्भुत जोरी।।
जमुना-जल बिथकित पुहपनि बरषा, रति-पति डारत तृन तोरी।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंज बिहारीजू कौ रस, रसना कहै को री।।"

शीत ऋतु आ गई है। भीनी-भीनी ठंड पड़ने लगी है। रात हो आई, परंतु राधाजू मान किये बैठी हैं; शयन नहीं करतीं। तब प्यारेजू अनुनय करते हैं—'खाली चुनरी में तो जाड़ा लगता होगा। अब सुखतल्प पर चलिये। आप तो घड़ी-घड़ी में रूसती हैं और हर बार मनाने में एक-एक पहर बीत जाता है। रात तो यों ही निकल जायगी। उठिये, मैं सदके जाऊँ, बलैया लूँ, ऐसी प्रकृति तो न होनी चाहिए। प्रेमियों का व्यवहार तो कामदेव ही निर्धारित किया करता है—

राग-विभास

"चूंनरी में जाड़ौ लागत ह्वै है री, कीजिऐ सुख सेंन।
घरी-घरी के रूसने पहर मनावत जात मीठें बेंन।।
उठि सदकै बलाइ लौंइ प्रकृति यों न चाहिऐ, धाइऐ ज्यों मेंन।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी गहि, लपटाइ रहे माँन सबै सुख चेंन।।"

श्रीवन में वसंत का पदार्पण हुआ। रसिक विहारी और विहारिनि का रति-चोज नित नूतन बढ़ने लगा। अब तो लाल को सखियों की उपस्थिति का व्यवधान भी नहीं सुहाता। कहते हैं—'चलो जी, उस निभृत निकुंज में वसंत खेलें जहाँ सखी तो क्या कोई पंछी तक न पहुँचे। वहाँ दोनों जने एक दूसरे के मुख पर 'बूका' छिरकेंगे।' फिर बड़े चाव से बोले—'अब के वसंत का खेल न्यारे ही रह कर खेलना है। यह निश्चय कर लिया है कि तुम्हारे अतिरिक्त और किसी के साथ वसंत खेलेंगे ही नहीं। दुचित्ते रहने में कुछ मजा नहीं आता। तुम्हें हमारी सौगंध, तुम भी इन दिनों किसी सखी से मत मिलो, फिर देखो राग-रागिनियों का क्या रंग जमता है'—

राग-वसंत

"चलि री, भीर ते न्यारे खेलें। कुंज निकुंज मंजु में झेलें।।
तहाँ पंछिन सहित सखी न संग कोऊ, तिहि बन चलि मिलि खेलें।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा, प्रेम परसपर बूका बंदन मेलें।।"

राग-वसंत

"अब कें बसंत न्यारेई खेलें, काहू सों न मिलि खेलें री तेरी सों।
दुचिते होत कछू न सचु पाइऐ, तू काहू सखी सों न मिलि मेरी सों।।
देखैगी जु रंग उपजैगौ परसपर, राग-रागिनीन के फेरा फेरी सों।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, राग ही में रँग रहे एरी सों।।"

निकुंज-भवन में 'होरी' हो रही है। सखियाँ गोल बाँधे ढफ-तार बजाती, होरी गाती, प्यारे और प्यारीजू को होरी खिला रही हैं। बीच-बीच में 'हो-हो-होरी' की उच्च ध्वनि गूँज उठती है। दोनों ही 'हुरिहार' बड़े सुकुमार हैं। श्रम-कणों ने वैसे ही अंग में अरगजा की कीच मचा रखी है, उस पर जवाद, कपूर, कस्तूरी छिड़के जा रहे हैं। अबीर उड़ रहा है। कुमकुमा और बूका ताक-ताक कर चलाये

जा रहे हैं। बातों ही बातों के विनोद से अनुराग बढ़ रहा है। युगल किशोर निकुंज की निभृति वीथियों की ओर दौड़-दौड़ जाते हैं। होरी खेलते में दोनों जो परस्पर भिड़ गये तो क्या छबि बनी है, मानो श्याम तमाल से कंचन की तन्वंगी लता उलझ रही हो—

राग-कान्हरौ

"दिन ढफ-तार बजावत, गावत, भरत परसपर छिन-छिन होरी।
अति सुकमार बदन स्रम बरसत, भले मिले रसिक किसोर-किसोरी।।
बातन बत-बतात राग-रंग रमि रह्यौ, इत-उत चाइ चलत तकि खोरी।
सुनि 'हरिदास' तमाल स्यांम सों, लता लपटि कंचन की थोरी।।"

सखियों की भीड़ से दूर जब लाडली और लाल एकांत निकुंज में प्रविष्ट हो गये तो सखियाँ भटकने लगीं। कुछ दिन तो यों ही बीते फिर उनमें से एक बोली—'चलो री चलो, कुंज-भवन में चलें। रसिक विहारी को 'चैत' भी दे आवेंगे और उनकी 'भाँवती' के दर्शन भी कर आवेंगे।' ढूँढ़ती-ढूँढ़ती अचानक उसी ठौर आ निकलीं, जहाँ श्यामा-श्याम विराजे थे तो क्या देखती हैं कि श्यामाजू श्याम से पैर चँपा रही हैं। सच्चिदानंदघन जिनके पाँव दवाएँ उन नवल किशोरी की महिमा का क्या कहना—

रागिनी-गौरी

"चलौ सखी, कुंज-बिहारी सों मिलि चैत दै, देखें हम उनकी भाँवती।
सुंदर सों सुंदरि मिलि खेलत, कैसें धों गावती।।
औचक आइ परीं सखी तहाँ, जहाँ पिय पै पाँइ चपावती।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा सो मिलि पौढ़ी, तन-मन रावती।।"

ग्रीष्म ऋतु में कभी राधिकाजी ग्राम की अन्य गोपियों के साथ यमुना-स्नान को गईं। नटनागर भी उधर आ निकले। अपरिचित स्त्रियों को देख सीधे राधा से बात न कर सके, परंतु मिलने की आतुरता उत्कट थी। कुछ न बना तो गोपियों से राधा का नाम-पता ही पूछने लगे। राधिकाजी बोलीं—सखियो, तुम चुप रहो, मैं ही उत्तर देती हूँ—ललन, तुम यहाँ से चले जाओ। यह गाँव बाय से बावला हो रहा है। न जाने क्या-क्या अपवाद लगावेगा।' सखियाँ तो 'छिरका' खेलने लगीं। राधा ने कहा—'तुम सब ठहरना, तब तक मैं स्नान कर लूं।' जल में डुबकी जो ली तो उधर कृष्ण भी डुबकी लेकर गले में आ लगे। अब तो बड़े असमंजस में पड़ गईं लाड़ली जू—

राग-विभास

"कहौ यै काकी बेटी, कहौ धों कहा है कुंवरि कौ नाँउ।
तुम सब रहौ री, हों ही ऊतर वैहों, चले किनि जाउ ढोटा, बाइ-बावरौ गाँउ।।
सब सखि मिलि छिरका खेलन लागीं, तौलों तुम रहौ री, जौलों हों न्हाँउ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, लै डुबकी गरें लागे, चोंकि परी कहाँ हों जाँउ।।"

श्रीवन में हिंडोला पड़ गया। 'विहारी-विहारिनि' डोल झूल रहे हैं। सखियाँ वाद्य बजा रही हैं—गा रही हैं, कोई-कोई अरगजा छिड़क रही हैं। क्रीड़ा के कौतुक में श्यामा और श्याम ने डोल की डंडियाँ हाथों से छोड़ दीं और बढ़-बढ़ कर 'झोटा' लेते गए। आश्चर्य है उनके पैर कैसे जमे रहे! नागरी और नागर दोनों ही झूलने में बड़े निपुण हैं। उनके खेल को भला कोई पा सकता है!

राग-कल्याण

"डोल झूलत बिहारी बिहारिनि, राग रमि रह्यौ।
काहू के हाथ अघौटी, काहू के बीन, काहू के मृदंग, कोऊ गहें तार, काहू के अरगजा छिरकत रंग रह्यौ।।
डाँड़ी छाँड़ें खेल बढ़यौ जो परसपर, नाहीं जानियत पग क्यों रह्यौ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी कों खेल खेलत काहू ना लह्यौ।।"

सखी रूप से स्वामी हरिदास जी प्रत्येक क्रीड़ा में युगल किशोर की सेवा को उपस्थित रहते हैं। कैसा अद्‌भुत सौभाग्य है। 'डोल-झूलने' के अवसर पर कभी श्याम स्वामिनीजू पर अबीर छिड़कते हैं तो कभी स्वामिनीजू श्याम पर, किंतु हरिदासजी दोनों पर समान रूप से अबीर छिड़क-छिड़क कर जीवन का सार प्राप्त कर रहे हैं। युगल सरकार की खवासी का यह अधिकार तो महामुनियों को भी नहीं मिलता:—

राग-विभास

"डोल झूलत एक समें इकांत बन में कुंजबिहारी।
झोंटा देत परसपर सब मिलि, अबीर उड़ावत डारी।।
कबहुँक वे उनके वे उनके, हौं दुहून के इक सारी।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कुंजबिहारी, रह्यौ रंग भारी।।"

वर्षाकाल में घटाएँ उमड़-घुमड़ कर घिर आईं। बादल की गरज सुन वनांत में मोर नाच उठे। उधर नटवरलाल का नृत्य भी प्रारंभ हुआ। दोनों ही नाचने में एक से एक चतुर। मोरों में और श्याम में होड़ बद गई। श्याम बोले—'देखें, किसका रंग जमता है। बढ़-बढ़ कर गति लेते जाओ। हमारे-तुम्हारे बीच राधाजी मध्यस्थ हैं और किसीसे न्याय कराना चाहो तो उससे करा लो।' फिर क्या था! दुगुन, तिगुन, चतुरागुन की चालें चलने लगीं—

राग-विभास

"होड़ परी मोरन्ह और स्याँमै।
आवहु मिलहु मधि सच की गति लेंहि, रंग धों काँमै।।
हमारे तुम्हारे मध्यस्थ राधे, और जाहि बदौ बूझि देखौ तिह्न दै कहा है याँमै।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी कौ चौपरि कौ सौ खेल, इक गुन, दुगुन, तिगुन, चतुरागुन री जाके नाँमै।।"

अलौकिक नृत्य-समाज जुड़ा है। श्याम मोरों के संग नाच रहे हैं। कोकिला अलाप ले रही है। पपीहा सुर भरता है। मेघ मृदंग बजाता है। दामिनि दीप दिखा रही है। सारी प्रकृति ही नटवर किशोर के नृत्त-विलास में सहयोग दे रही है। कृष्ण ने अपनी कला से राधेजू को मुग्ध कर लिया और स्वामिनीजू ने उन्हें कृपाकर आलिंगन का पुरस्कार दिया—

राग-मलार

"नाँचत मोरँन-संग स्याँम मुदित स्याँमा रिझावत।
तैसीऐ कोकिला अलापत, पपीहा देत सुर, तैसौई मेघ गरजि मृदंग-बजावत।।
तैसीऐ स्याँम घटा निसि कारी, तैसीऐ दाँमिनी कौंधि दीप-दिखावत।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी, रीझि राधे हँसि कंठ लगावत।।"

घटा घहरा आई। बूंदें गिरने लगीं। नन्हीं-नन्हीं बूंदों की फुहार बड़ी भली लग रही हैं। युगल किशोर का भवन में जाने को मन नहीं करता। रसिकवर बोले—'अपने श्रीअंग की चुनरी मुझे दे दीजिए। कहीं भींग न जाय और फिर अपने वक्षस्थल में आपको ऐसा छुपा लूंगा जो बौछार की फुहिएँ भी न लगेंगी। बिजली कोंध रही है। अब 'हाँ' कीजिए, यह 'हूँ' करने का अवसर नहीं—

राग-मलार

"बूंदें सुहावनी री लागत, मति भींजै तेरी चूनरी।
मोहिं दै उतार धरि राखौं बगल में सों तूनरी।।
लगि लपटाइ रहे छाती सों छाती, जो न आवै तोहि बौछार की फूनरी।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी कहत, बीजुरी कौंधें करि हाँ कि हूँ न री।।"

उधर बौछारें आईं और इधर रस बरसने लगा—

राग-मलार

"भींजन लागे री, दोऊ जन।
अँचरा की ओट करत दोऊ जन ।।
अति उनमत्त रहत निसि-बासर, राग ही के रंग रँगे दोऊ जन।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, प्रेम परसपर नृत्य करत दोऊ जन।।"

कविजन, सावधान ! कहीं श्यामा-श्याम के इस नृत्त-विहार को दामिनी और मेघ की परस्पर क्रीड़ा की उपमा न दे बैठना, वरना झूठे बनोगे। युगलकिशोर की केलि को देख दामिनी मेघ से कहती है, 'जिन्होंने इन दोनों की उपमा हम से दी वे बड़े अनजान थे। सच्चे मेघ तो घनश्याम हैं और सच्ची विद्युल्लता श्यामाजू। भला कभी किसी ने सुना है कि कण बूंद से बड़ा होता है या बूंद समुद्र से श्रेष्ठ है। अटल-प्रीति के मचैया इन कन्हैया और किशोरी के देह-सौंदर्य के आगे हम जड़ लोगों की भला क्या गिनती—

राग-मलार

"दामिनि कहत मेघ सों हमारी उपमा देंहि ते झूंठे, एई मेघ, एई बीजुरी साँची।
जिन-जिन हमारी उपमा दींन्ही, तिन-तिन की मति काँची ।।
ऐसी कहूँ सुनीं जु बूंद तें कन न्यारी, ता पटतर क्यों दीजै समुद्र राँची।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, अटल प्रीति माँची।।"

मालूम होता है कि स्वामी हरिदास जी को श्रीवन (निधिवन) की वर्षाऋतु अन्य सब ऋतुओं से प्यारी लगती है। चारों ओर मोरों की कुहकन, मेघ की गर्जन, वृंदावन के लता-वृक्षों की शोभा, इंद्र-धनुष की छटा, हरी-हरी भूमि, उसपर लाल-लाल बीर बहूटियों का रेंगना—क्या ही अद्भुत दृश्य है! वे कामना करते हैं कि ऐसी ऋतु तो सदा सर्वदा बनी रहे। इसी ऋतु में तो विहारी और विहारिनि का रति-रंग दिन दूना वृद्धि पाता है। यही तो उनके मिल कर मलार गाने का समय है—

राग-मलार

"ऐसी रितु सदाँ सरबदा जो रहै बोलति मोरनि।
नींके बादर, नींकौ धनुष चहूँ दिसि, नींकौ श्रीबृंदाबन आछी नींकी मेघनि की घोरनि ।।
आछी नींकी भूमि हरी-हरी, आछी नींकी बूढ़िनि की रेंगनि, काम की रोरनि।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी के मिल गावत, जम्यौ राग मलार किसोर-किसोरनि।।"

प्रियाजू की एक-एक झाँकी, उनके श्रीअंग की एक-एक झलक निराली है। प्यारे श्यामसुंदर के लोचन भ्रमर उस रूप-मकरंद का पान करते कभी अघाते ही नहीं। लाड़लीजू सोंधे से स्नान कर फुलवारी में बैठीं अलकें सुखा रही हैं—वे अपनी कोमल चंपकली सी अँगुलियों से बिखरी लटों को 'सुरझा' रही हैं। मसृण, चिक्कण, श्यामल सटकारे, केशों में उलझे उनके ज्योतिष्मन् नख जब चमकते हैं तो ऐसी शोभा होती है मानों नव-घन से तारागण झाँक रहे हों—

रागिनी-गौरी

"सोंधें न्हाइ बैठी पैहेरि पट सुंदर, जहाँ फुलवारी तहाँ सुखबत अलकें।
कर-नख-सोभा कल केस सँम्हारत, माँनो नवघन में उड़गन झलकें।।
बिबिध सिंगार लिएँ आगें ठाड़ी प्रियसखी, भयौ भरुआँनि रति-पति-दल-दलकें।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी की छबि निरखत लागत नाहीं पलकें।"

काम-कला-कोविद नवल नटनागर प्यारी को लाड़ लड़ाने में सदा व्यस्त रहते हैं। उन्हें रिझाने का कोई भी अवसर वे हाथ से नहीं जाने देते। चाटु वचनों में बड़े चतुर हैं। "प्यारीजू को स्नान किये बैठे देखा तो बोले—आपकी वेणी मैं ही गूथूँगा। इस कला में मेरी 'रीस' (होड़—बराबरी) कोई नहीं कर सकता। सिर पर ऐसी 'सिलसिली पाटी' डालूं, अलकों के बीच-बीच में चंपकली और स्वर्ण

यूथिका गुह कर, डोरी और चंद्रिका बाँध, रोरी और सिंदूर की 'पनारी' निकाल, सुंदर 'चुटिला' देकर वह सुढार वेणी गूँथूँ जो आपकी सूक्ष्म कटि के मणिमंजीर-युक्त प्रदेश में 'रुरकती' डोले—

राग-सारंग

"बेंनी गूँथ कहा कोउ जानें, मेरी-सी तेरी सों ।
बिच-बिच फूल सेत, पित, रातें, और को करि सकै एरी सों ।।
बैठे रसिक सँम्हारन बारन, कोमल कर ककही सों ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, नख-सिख लों-बनाइ दै काजर नख ही सों ।।"

इधर प्यारीजू की बैनी गुँथ रही है, उधर सखियों ने अंग-अंग के प्रसाधन और वस्त्राभूषण सामने ला रखे। अनेक प्रकार के 'बागे' हैं—"नील निचोल, सुखसारी, लाही-अँगिया, अतलस का लाल अतरौटा, नारी कुंजर का सिलसिला लहँगा, सार की उढ़ैनी, झूमक सारी, श्याम-कंचुकी, चूनरी। हाथों के नखों को मेहदी, पाँव के तलुओं को कुंकुम, चरण नखों को महावर। पाँवों को मृगमद।" आभूषण तो अनगिनती हैं—"सिर के लिए टिपारौ, हँसिखंड, चुंग, चँदिवा, वेणी को चुटिला और चंद्रिका, माथे को तिलक, कंठ को जंगाली पोत की दुलरी, लाल पाट की चौकी, लटकन, मखतूली पोत, कंठसिरी, हीरक-हार, गजमोतिन के गजरे और कनक-कमल की दो कली ; कानों को खुभी (खुहनी), खुटिला, झुलमुली, तरकुली, बीरें, श्रवण-फूल, कुंडल और मणि के ताटंक; 'सुवासारी' नाक को नकफूल, गजमुक्ता, लटकन और नकबेसर ; हाथों को चार-चार सादा चुरी, एक-एक कंकण, वलय, खमक, मखतूली, पहुँची, बाँहों को चौपहलू नवैया और अँगुलियों को नगजरी मुँदरी ; कटि को किंकिनी, तिरनी, मनि-मंजीर और चंद्रांक तथा दोनों चरणों को इकसार चौधारी (चौपहलू) चूरा, घुंघरू और नूपुर।" सोलह शृंगार कर बनी-ठनी स्वामिनीजू जब सुख-सिंहासन पर बैठीं तो श्री विहारी लाल अति आधीन आतुर हो लटपटाने लगे —

राग-कान्हरौ

"जोबन-रंग रँगीली सोंने-से गात, ढरारे नेंना, कंठ पोत मखतूली ।
अंग-अंग अनंग झलकत, सोहत काननि बीरें सोभा देत, देखत ही बनें जोंन्ह में जोंन्ह-सी फूली ।।
तन सुखसारी, लाही अँगिया, अतलस अतरौटा, छबि चार-चार चूरी—
पहुँचिन पहुँची खमकि बनी, नकफूल जेब, मुखबीरा चौका कोंधें संभ्रम भूली ।
ऐसी नित्य बिहारिन श्री बिहारीलाल संग, अति आधीन आतुर—
लटपटात ज्यों तरु तमाल कुंज-द्वार 'श्री हरिदासी' जोरी सुरत-हिंडोरें झूली ।।"

सुरतांत में उन्हीं प्यारीजू की अल्पाभरण छवि लालजू के मन को और भी मोह लेती है। सौंदर्य की अधिष्ठात्री स्वामिनीजू के श्रीअंग की अलंकरण तो अनुहार भी नहीं करते—

राग-कान्हरौ

"द्वै-लर मोंतिन की, एक पुंजा पोत कौ सादा, नेंनन वृष्टि लागौ जिनि मेरी ।
हाथँन चारि-चारि चूरी, पाँयन इकसार चूरा चौपहलू, इकटक रहे हरि हेरी ।।
एक मरगजी सारी, तन ते कंचुकी न्यारी, अरु अँचरा की बाँई गति मोरि उरसन फेरी ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, या रस-बस भए हरें-हरें सरकन नेरी ।।"

श्री राधिका जी का सौंदर्य क्षण-क्षण में नवीनता प्राप्त करता है, पल-पल में दूना होता है। कवि तो चकित हैं कि यह क्या बात है, ऐसा सौंदर्य तो त्रिभुवन में और त्रिकाल में कहीं न होगा—

राग-कल्यान

"यह कोंन बात जु अबहिं और, अबहिं और, अबहिं औरें ।
देव-नारि, नाग-नारि, औरों नारि, ते न होंहिं और की औरें ।।
पाछें न सुनीं ऐसी, अबहूँ, आगे हूँ न ह्वै हें, यै गति रूप की अदभुत और की औरें ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, या रस ही बस भए यह भई और की औरें ।।"

श्री निकुंजविहारी स्वामिनी जी के पूर्णत: आधीन हैं। वे ही तो उनके प्राणों की रक्षा करने वाली हैं। सदा उनके यश का बखान करने में लगे रहते हैं, फिर भी पार नहीं पाते। राधिका जी के गुण भी तो ऐसे हैं जिन्हें गाने बैठो तो वात में से बात निकले। एक जिह्वा भला उनका क्या पार पायेगी—

राग-केदारौ

"रोंम-रोंम जो रसना होती, तौऊ तेरे गुन न बखाने जात।
कहा कहों एक जीभ सखी री, बात की बात बात॥
भाँनु भ्रमित और ससि हू भ्रमित, भईं और जुबति जात।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कहत री प्यारी, तू राखत प्रान जात॥"

कोई पूछे—'भला ऐसी क्या बात है जिसके कारण कृष्ण भी राधाजी की इतनी चाटुकारी करते हैं। इतनी अनुनय-विनय करते हैं, इतनी कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं? अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के कर्ता, भर्ता और हरता की एक गोप-वधू के संमुख इतनी चिरौरी (खुशामद) तो शोभा नहीं देती!' स्वामी हरिदास जी इस शंका का उत्तर देते हैं—'स्वामिनी जू के महत्व को पहचानो। उनके कृपा कटाक्ष से ही विहारी, विहारी हो सके हैं। जिसके दिये गुणों ने उन्हें इस पदवी पर पहुँचाया उसके कृतज्ञ न होंगे। विश्व में और सब से वे बड़े हैं, पर स्वामिनी जू से बड़े नहीं हो सकते—

राग-कान्हरौ

"सुघर भए बिहारी, याही छाँह ते।
जे-जे गटी सुघर जानपने की, ते-ते याही बाँह ते॥
हूते तौ बड़े अधिक सब ही ते, पै इनकी कस न खटात याहि ते।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, जकि रहे चाहि ते॥"

रसिक बिहारी हैं तो बड़े आधीन पर आखिर को हैं तो वही—"चौरजारशिखामणि"। कभी-कभी चोरी पकड़ी जाती है तो बड़ी बेढब अटकती है। राधाजी को जहाँ संदेह हुआ कि मान कर बैठीं। कभी-कभी तो सखियाँ मध्यस्थ बन जाती हैं, पर जब कोई सखी आसपास नहीं होती तो मनमोहन स्वयं ही समझाने की चेष्टा करते हैं—'सोचिये तो प्यारीजू, हम-तुम में से ही एक रूठ जायगा तो प्रीति के पन की रक्षा कैसे होगी? हमारी वेदना को जानने वाला यहाँ और कौन बैठा है? मैं और तुम दोनों एक दूसरे का दूतत्त्व कर रहे हैं तो औरों को बीच में डालने और उनसे निपटारा कराने की क्या आवश्यकता है—

राग-विभाग

"प्यारी, हम-तुम दोऊ एक कुंज के सखा, रूठें क्यों बनें।
इहाँ न कोऊ मेरौ न तेरौ हितू, जो यह पीर जनें॥
हौं तेरौ बसीठ, तू मेरी, तो मेरे बीच और न सनें।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, कहत प्रीति पनें॥"

कभी-कभी अपने समझाने से बात नहीं बनती तो श्री हरिदास जी (सखी भाव में स्वामी हरिदास जी) की गवाही दिलानी पड़ती है। हरिदास जी का विश्वास स्वामिनी जू को भी बहुत है। उनकी बात मान व 'रिस' छोड़ देती हैं—

राग-कान्हरौ

"राधा सों रसिक कुंज-बिहारी कहत, जु हौं न कहूँ गयौ सुनि-सुनि राधे तेरी-सों।
मोहि न पत्याहु तौ संग हरिदासी हुती, पूछि देखि, भटू कहि धों कहा भयौ मेरी-सों॥
प्यारी तोहि गठोंद न प्रतीति, छाँड़ि छीया जान दै इतनी अब ए री-सों।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, गहि लटपटाइ रहे दोऊ छैल, छाती सों छाती लगाइ फेर फेरी-सों॥"

परंतु हरबार ऐसा सस्ता दाँव नहीं चलता। स्वामिनी रूठ कर जा बैठीं, रासमंडल में आती ही नहीं। प्रीतमजू बाट देखते-देखते थक गये। तब हरिदासी जी गईं, किसी-किसी भाँति मना-मनू कर कुंज-भवन में लाईं। राधाजू के आरोप तो सच्चे थे, अतः श्याम उन्हें देख केवल हाथ जोड़ मौन होकर रह गये। कुछ कहते न बना। हरिदासी जी कहती हैं—लला, खोट तो आप करते हो और फिर चाहते हो कि प्यारीजू तुम्हारा केलि का आमंत्रण स्वीकार कर लें। क्यों करें? भला 'जात के हेटे' की राँधी खीर कौन सा ऊँच जाति का खा लेगा!' वह तो यह कहो कि मैं न जाने कैसे-कैसे इन्हें मना लाई—

राग-केदारौ

"प्यारी अब क्यों हूँ-क्यों हूँ आई है।
तुम इत बहुत भ्रमित मनमोहन, मैं क्यों हूँ समझाई है।।
उत हठ करत बहुत नव नागरि, तैसी यै नई ठकुराई है।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, कर जोर मौन ह्वै दूबरे की राँधी खीर कहौ कौंनें खाई है।।"

धन्य हैं वे संत शिरोमणि स्वामी हरिदास जिन्होंने श्री श्यामा और कुंजविहारी के नित्य विहार की इस प्रकार प्रत्यक्षवत् अनुभूति प्राप्त की और अपने अनन्य राग और परम विराग का चरमोत्कृष्ट मार्ग साधकों को दिखा गये और संसार को उपदेश दे गये कि हित करना है तो कमल-नयन से करो, जिसके प्रेम के आगे सभी प्रेम फीके हैं, या साधु-संगति से हित करो, जिससे मन की शुद्धि हो। संसार का हित तो ऐसा है जैसे बासी फूल का रंग और कुंजविहारी का हित ऐसा है जैसे मजीठ का रंग जो धोये न धुले। इसी प्रेम से जीव के हित का चरम साधन होता है :—

"हित तौ कीजै कमल-नैंन सों, जा हित के आगें और हित लागै फीकौ।
कै हित कीजै साधु संगति सों, कल-मल जाइ जी कौ।।
हरि कौ हित ऐसौ जैसौ रंग मजीठ, संसार कौ हित जैसौ कसूम दिन दुती कौ।
कहि 'श्री हरिदास' हित कीजै बिहारी सों, और निवाहु जानि जी कौ।।"

स्वामी जी ने बताया कि हरि के नाम लेने में आलस्य मत करो। काल सिर पर मँडरा रहा है, न जाने कब आवेगा और आँधी की तरह उड़ा ले जायेगा। तब हीरा-जवाहर हाथी-घोड़े, और बनी-ठनी बनिता कोई साथ नहीं जायगा। इसलिये तुरंत संसार का मोह छोड़ हरि की शरण गहो—

"हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे, काल फिरत सर-साँधे।
बेर-कुबेर कछू नहिं जानत, चढ़चौ फिरत है काँधें।।
हीरा बहुत जबाहर संचे, कहा भयौ हस्ती दर बाँधें।
कहि 'श्री हरिदास' महल में बनिता बनि ठाढ़ी, एकौ न चलत जब आवत अंत की आँधें।।"

संसार भ्रम में पड़ जाय, परंतु हे वैष्णव! तुम भ्रम में न पड़ जाना। जिस पति की शरण में आने को गले में कंठी बाँधी है उसे छोड़ किसी दूसरी ओर ताकना भी तुम्हारे पातिव्रत को दूषित कर देगा। भक्ति के पथ में चलनेवाला जब हरि के चरणों की अनन्य प्रीति प्राप्त करने के लिए संसार को छोड़ता है, तब उसके सभी बंधनों को तोड़ कर आता है। सहज भक्ति के मार्ग में यज्ञ और देव-पूजा, पितृ-तर्पण और श्राद्ध सभी कुछ बाधक हैं। अग्नि, देवता और पितरों को मनाने में लोग रहे तो प्यारे कुंजविहारी को क्या मुँह लेकर रिझाओगे—

"लोग तौ भूलें भलें, तुम मति भूलौ माला धारी।
अपनों पति छाँड़ि औरन सों रति, ज्यों दारन में दारी।।
स्याँम कहत ते जीब मोसों बिमुख भए, ऐसौऊ कौंन जिनि दूसरी करि डारी।
कहि 'श्री हरिदास' जग्य, देवता, पितरँन कों स्रद्धा भारी।।"

भक्त के लिये एक ही धर्म है, एक ही मार्ग है। संसार के सारे नबाजमें को छोड़ मृत्तिका का करुवा हाथ में ले और श्यामा तथा कुंजविहारी की पावन चरण-रेणु से अंकित ब्रज-बीथियों को बुहारा करे। प्रीतम के शृंगार के अर्थ श्रीवन (निधि वन) की लताओं मे गुंजा एकत्रित कर उनकी माला पिरोये। गौओं, बछरों, मृगी और मृग-छौनों को छोड़ किसी और के शरीर पर दृष्टि भी न डाले। अनन्य प्रीति के पथ में एक-एक पग फूंक-फूंक कर रखना पड़ता है। जैसे गूजरी का चित्त प्रतिक्षण अपने सिर पर रखी मटकी में लगा रहता है कि ध्यान बँटा और मटकी हाथ से गई, उसी प्रकार एकतान वृत्तिसे श्यामा और कुंजविहारी से लौ लगी रहे। यही भक्त के जीवन का परम पुरुषार्थ है—

"मन लगाइ प्रीति कीजै कर करवा सों, ब्रज-बीथिन दीजै सोंहनी।
बृंदाबन सों, उपबन सों, गुंज माल पोंहनी।।
गो-गो-सुतनि सों, मृगी-मृग-सुतनि सों, और-तन नेंकु न जोंहनी।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी सों चित्त, ज्यों सिर पै दोंहनी।।"

इस लेख में वस्त्राभूषणों तथा नृत्य-गीत-वाद्यादि के भेदों के जितने भी नाम प्रयुक्त हुए हैं उनमें से अधिकांश 'स्वामी हरिदास जी की वाणी' के हैं। शेष स्वामी जी के ही समकालीन बृंदावन-निवासी महानुभावों यथा—श्री हरिराम व्यास प्रभृति की वाणी से लिये गये हैं।

ऋचारूपी गोपियाँ

●

श्रुत्यंतर रूपाणां गोपिकानाम् ।

—वल्लभाचार्य

●

ब्रजसुंदरि नहिं नारि, रिचा-स्रुति को सब आहीं ।
मैं ब्रह्मा अरु सिब पुनि लछमी, तिन सँम कोऊ नाहीं ॥

—सूरसागर

●

बेद-रिचा होइ गोपिका, हरि सों कियौ बिहार ।

—सूरसागर

●

वल्लभाचार्य : वचन सूर-प्रति

"सूर हैं कें ऐसौ काहे घिघियातु है, कछु भगवद्-जस बरनन करि ।"

—चौरासी वैष्णव : वार्त्ता

वल्लभाचार्य का साधन मार्ग

श्री बलदेव उपाध्याय

वल्लभाचार्य भारतवर्ष के माननीय आचार्यों में अन्यतम हैं। इन्होंने पंद्रहवीं शताब्दी में रुद्र संप्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा की। इस संप्रदाय के माननीय आचार्य थे—श्रीविष्णु स्वामी, परंतु कराल कलि के विलास से उनका आचार्य रूप में केवल अभिधान ही अवशिष्ट है। वैष्णव-ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेख उनके जीवन-वृत्त विषयक हमारी जिज्ञासा को कथमपि शांत नहीं करते। नाभादासजी के 'भक्तमाल' से पता चलता है कि विष्णु स्वामी के संप्रदाय में ही गंभीर मति ज्ञानदेव नामक संत हुए थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धाद्वैत मूलक पुष्टि-मार्ग चलाया। यदि ये ज्ञानदेव, सुप्रसिद्ध गीता-व्याख्या ज्ञानेश्वरी के रचयिता 'ज्ञानदेव' (१२७५–१२९६ ई०) ही हों, तो यह उल्लेख अपना ऐतिहासिक मूल्य रखता है। रसेश्वर-दर्शन के प्रसंग में माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में इनका एक पद्य प्रमाण रूप से उद्धत किया है। इन्हीं वैष्णवों के रुद्र संप्रदाय के प्रवर्तक श्री विष्णु स्वामी के मत का उद्धार किया श्री वल्लभाचार्य (जन्म १४७९ ई०) ने। ब्रज-भाषा का सर्वातिशायी मधुर साहित्य वल्लभाचार्य के व्यापक महत्त्व को सदैव उद्घोषित करता रहेगा। 'अष्ट-छाप' के विख्यात भक्त कवियों की कविता आप ही के छाप के कारण इतनी समादृत हुई थी। हिंदी-साहित्य-गगन के सूर्य स्थानीय सूरदास जी आचार्य वल्लभ के ही पट्ट शिष्य थे तथा सूर की पदावली में वल्लभ के भक्ति-सिद्धांतों की झलक स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रही है, इसे हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञों के सामने उद्घाटन करने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

आचार्य वल्लभ की दार्शनिक दृष्टि शुद्धाद्वैत की है, जिसका व्यवहार पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रख्यात है। आचार्य जीव और ब्रह्म की नितांत एकता के पक्षपाती हैं, परंतु उनके विचार में ब्रह्म नितांत विशुद्ध माया के संपर्क लेश से भी सर्वथा अस्पष्ट रहता है। माया शबल ब्रह्म के मानने वाले शांकर-वेदांत से अपने मत की भिन्नता दिखलाने के लिये उन्होंने 'अद्वैत' से पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग कर अपने मत को शुद्धाद्वैत के नाम से व्यवहृत किया है। 'शुद्धाद्वैतमार्तंड' इस विचित्र नामकरण का यही कारण बतलाता है—

> **"माया संबंध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।**
> **कार्य कारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।।"**

माया के संबंध से रहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध कहा जाता है और यही माया रहित स्वतंत्र ब्रह्म इस संसार में कार्य तथा कारण रूप सर्वत्र व्यापक है। इसी कारण यह मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस मत में ब्रह्म सर्व-धर्म-विशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की सत्ता भी नित्य है। अद्वैत-वेदांत के अनुसार ब्रह्म का श्रेष्ठ रूप निर्गुण है। वह माया के संबंध से सगुण रूप धारण करता है। वह सगुण के सम प्रतीत होता है, परंतु शुद्धाद्वैती-वल्लभ माया की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म-विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती, प्रत्युत वह स्वाभाविकी है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है। अखिल रसांमृत मूर्ति श्री आनंद-कंद कृष्ण ही यह परम ब्रह्म हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। भगावान् सच्चिदानंद रूप है। वह अपनी इच्छा से अपने तीनों गुणों को लेकर ईश्वर रूप से प्रकट होता है। वे अपने आनंदांश को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते हैं और चित् तथा आनंद-दोनों को तिरोहित कर जड़ जगत् की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार ईश्वर में सत्, चित् तथा आनंद इन तीनों गुणों का विकास रहता है और 'आनंद' की ही प्रधानता रहती है। जीव में आनंद को छोड़कर शेष दो गुण विद्यमान

रहते हैं और चित् की प्रधानता रहती है। जगत् में एक ही गुण विद्यमान रहना है और वह है केवल 'सत्', अर्थात् जड़ में सत्ता की ही एकमात्र स्थिति रहती है।

भगवान् ही इस सृष्टि के कर्ता हैं। इच्छा वाला ही व्यक्ति किसी कार्य का कर्ता या संपादक बनता है, भगवान् तो ठहरे आप्त काम। तब स्पृहा कैसी ?'—'आप्त कामस्य का स्पृहा"। इसका उत्तर वल्लभाचार्य देते हैं कि भगवान् स्वतंत्र हैं। यह जगत् उनकी लीला का विलास है। वह स्वेच्छया क्रीड़ा में निरत होते हैं। सृष्टि जिस प्रकार लीला है, संहार भी उसी प्रकार लीला है। वह लीला-निकेतन ललित लीलाएँ किया करता है। हमारी क्रीड़ा या बालक की क्रीड़ा तथा भागवती क्रीड़ा में विशेष अंतर है। इस भेद का स्पष्टीकरण यह श्लोक करता है—

"क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः॥"

अर्भक की क्रीड़ा में तीन बातें साफ दीख पड़ती हैं—उद्यम, बालक का प्रयत्न, काम-इच्छा तथा दूसरे के साथ की अपेक्षा, परंतु भगवान् तो स्वतः तृप्त ठहरे, समग्र कामनाएँ तृप्त हैं तथा सदा दूसरे से निवृत्त ठहरे। अतः उनमें उद्यम तथा अन्य-संपर्क की आवश्यकता ही नहीं रहती। हां, विलास की इच्छा अवश्य रहती है। यही तो लीला है, परंतु पूर्णानंद रूप भगवान् में यह न तो कोई प्रयास उत्पन्न करती है और न कोई बाहरी कार्य ही पैदा करती है। इस लीला-तत्त्व की व्याख्या सुबोधिनी में आचार्य चरण ने बड़े ही सुंदर शब्दों में की है—

"लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्याबहिः कार्यं जन्यते जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किंतु अंतःकरणे पूर्णे आनंदे तदुल्लासेन कार्यजनन सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।"

—सुबोधिनी, भागवत तृतीय-स्कंध

द्विविध मार्ग

वल्लभाचार्य के अनुसार मार्ग दो प्रकार के होते हैं—मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। मर्यादामार्ग वैदिक मार्ग है, जिसमें लोक-मर्यादा की रक्षा प्रधान लक्ष्य है। मर्यादामार्ग का मूल मंत्र है—'कर्मानुरूपं फलम्'। जीव जैसा कर्म करेगा, भगवान उसे वैसा ही फल देते हैं। कर्म की विशेष महिमा है। कर्म के द्वारा जीवबद्ध है और फल देने के लिए भगवान् भी कर्म के द्वारा परतंत्र हैं। भगवान् फल देने के लिये जीव के कर्मों की अपेक्षा रखते हैं। कर्म का करना प्रयत्न के ऊपर सापेक्ष है। प्रयत्न में काम की अपेक्षा है। काम में प्रवाह की अपेक्षा रहती है। इसी मर्यादा की रक्षा करने के लिये भगवान् ने वेद की रचना की। इसलिए ब्रह्म में दोष का गंध भी नहीं है और न इससे उनमें ऐश्वर्य-भाव का ही अभाव संपन्न होता है। मर्यादामार्ग की विशिष्टता ही ऐसी है कि ब्रह्म फल प्रदान करने के लिए जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखते हैं। वे स्वयं इस विषय में परतंत्र हैं। आचार्य के शब्दों में ही मर्यादामार्ग की विचित्रता देखिए—

"फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकारये प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामेप्रवाहापेक्षः। इति मर्यादा रक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मादि दोषगंधोऽपि न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्।"

—अणु-भाष्य-सूत्र, २।३।४२,

मर्यादामार्ग का भी अंतिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और यह फल शास्त्र विहित ज्ञान और कर्म के आचरण से ही मिलता है। इस मार्ग का पथिक शास्त्रों में विहित स्वकीय आश्रम-धर्म तथा कर्म का विधिवत् निष्पादन करता है और ज्ञान के द्वारा दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति पाने में समर्थ होता है।

पुष्टिमार्ग

पुष्टिमार्ग इससे नितांत विलक्षण है। यह मार्ग श्रीमद्भागवत पुराण के ही सुंदर सिद्धांतों का विलास है। पुष्टि शब्द भी भागवत की देन है। पुष्टि का अर्थ है 'भगवदनुग्रह', भगवान् का अनुग्रह, भगवान् की कृपा, उनकी दया—

"पोषणं तदनुग्रहः[1] ।"

—भागवत २।१०।४

ज्ञान-कर्म की अपेक्षा मर्यादामार्ग में रहती है। पुष्टिमार्ग इनके निरपेक्ष रहता है। पुष्टि का प्रधान साधन है भक्ति–प्रपत्ति। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए मुक्ति नहीं होती और यह भक्ति भी 'आनंद-कंद श्री ब्रजचंद' के अनुग्रह से ही साध्य है। जगत का साधारण व्यापार भी बिना भागवती कृपा के सुलभ नहीं होता, तब भक्ति जैसे पदार्थ की प्राप्ति भी उसके बिना सुतरां दुष्कर है। भागवत जिसे 'पुष्टि' के नाम से पुकारता है वही है तंत्रों की भाषा में 'शक्तिपात'। क्रिष्टी धर्म में इसी का नाम है—

Descent of Divine Grace (**डिसेंट आव् डिवाइन ग्रेस**)

जीव में भगवत् कृपा का पतन होने पर ही वह अकुंठित शक्ति होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, भक्ति करने का अधिकारी बनता है। वल्लभाचार्य के शब्दों में पुष्टिमार्ग—

"अनुग्रहैक साध्यः प्रमाणामार्गाद् विलक्षणः ।"

—ब्र० सू०–४।४।६ पर अणुभाष्य

पुष्टिमार्ग एक अनुग्रह के ही द्वारा साध्य होता है, इसकी सिद्धि का अन्य मार्ग है ही नहीं। इसलिए यह प्रमाणमार्ग (मर्यादामार्ग) से विलक्षण होता है। पुष्टिमार्ग वही है जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयों को त्याग कर अपनी देह, वासना, कामना-आदि समस्त पदार्थों का समर्पण भगवान् में कर देता है—

"समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि ।
समर्पणं च देहादेः 'पुष्टिमार्ग' स कथ्यते ।।"

इस मार्ग में भक्ति ही प्रधान साधन है। भगवान् सर्वथा स्वतंत्र हैं। फल देने के लिए वे कर्म की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखते। वह सर्वशक्तिशाली प्रभु अपनी दया से आत्म समर्पणशील जीवों का उद्धार करता है। वह उनके न तो कुकर्मों पर दृष्टि डालता है और न वह उनके अज्ञान की ही ओर अपना ध्यान देता है। इस मार्ग में भगवान् की भगवत्ता तथा सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण रक्षण है। भगवान् को कर्मापेक्षी मानने वाले मार्ग भगवान् की शक्तिमत्ता का निर्वाह क्या अच्छे ढंग से कर सकते हैं ?

व्यवहार-पक्ष

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धांत। अब इसके व्यावहारिक साधन की ओर ध्यान दीजिए। इसका जिस विधि के द्वारा व्यावहारिक रूप निष्पन्न होता है उसका संप्रदाय में अभिधान है—"**ब्रह्म संबंध**"। आचार्य वल्लभ ने अपने 'सिद्धांत रहस्य' नामक प्रख्यात स्तोत्र में इस अनुष्ठान का उल्लेख स्वयं किया है। इस अनुष्ठान के द्वारा भागवत-तत्ववेत्ता गुरु, मुमुक्षु शिष्य का भगवान् के साथ संबंध जोड़ देता है। अधिकारी शिष्य को ही सुयोग्य गुरु '**शरणमंत्र**' का उपदेश देते हैं। यह मननीय मंत्र है—

"श्रीकृष्णः शरणं मम ।"

आचार्य पाद ने स्वयं इस मंत्र के विषय में अपने 'नवरत्न' में कहा है—

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं 'श्री कृष्णः शरणं मम ।'
वर्वदिभरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ।।"

—नवरत्न, ९

इसके अनंतर गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रहके पास ले जाताहै, कंठी और माला देकर 'दीक्षामंत्र' का उपदेश देता है। यह सुतरां गोप्य मंत्र 'आत्मनिवेदन मंत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधक अपनी समस्त

[1] **स्थितिर्वैकुंठविजयः 'पोषणं तदनुग्रहः ।**
मन्वंतराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ।।

वस्तुओं को अपनी देह, इंद्रिय, प्राण, अंतःकरण को, उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भी भगवान् को निवेदन कर देता है। वह मंत्र यह है—

"सहस्र परिवत्सरमितकालजात कृष्ण वियोग जनित तापक्लेशानंद तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेंद्रिय प्राणांतःकरणानि तद् धर्मांश्च दारागार पुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।"

सुनते हैं कि श्री कृष्ण ने ही *आचार्यचरण को इस मंत्र का स्वयं उपदेश दिया था।* इस मंत्र-दीक्षा के अनंतर साधक का नवीन जन्म संपन्न हो जाता है। मर्यादामार्ग में जीव के दो ही जन्म होते हैं, परंतु पुष्टिमार्ग में दीक्षा के द्वारा जीव का तृतीय जन्म होता है। भक्त को गोपियों का आदर्श पालन करना चाहिए। भगवान् को आत्म-समर्पण के अनंतर भक्त को अपने जीवन पर तनिक भी ममता नहीं—स्वतंत्रता नहीं। वह तो यंत्रवत् भगवान् की ही प्रेरणा से प्रपंच में निरत रहे, तो भी उसके पतन का कोई भय नहीं, परंतु साधक में होनी चाहिए सच्ची प्रपत्ति, सत्यनिष्ठा, ऐकांतिकी भक्ति, अनन्या भक्ति। भागवत की यह उक्ति यथार्थ है—

"तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहंगृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण! न ते जनाः॥"

—भागवत १०।१४।३६

राग-द्वेष तभी तक चोर के समान हृदयकी शांति को चुराते हैं; तभी तक गृह कारागृह है—जेल-खाने के समान भयानक तथा स्वतंत्रता का अपहर्ता है, तभी तक मोह पैर का बंधनहै; जब तक हे कृष्ण, हम आपके जन, सेवक, दास, शरणापन्न नहीं हो जाते।

जगत् के प्रपंच से भागने की आवश्यकता नहीं है। भाग कर कोई जा ही कहाँ सकता है? आवश्यकता है इसी ब्रह्म-संबंध की; अपनी समग्र वृत्तियों को, समग्र कामनाओं को भगवान् के समर्पण कर देने की। भगवान् के दास, भगवज्जन, भवदीय होते ही भक्त की सत्ता ही प्रथग्रूपेण नहीं रहती। उसका जीवन भगवन्मय हो जाता है और इसी कारण संसार में साधारणतया जो पदार्थ बंधन का कार्य करते हैं वे ही इस दशा में मुक्ति के साधक बन जाते हैं। यह परिवर्तन तथा परिणाम ब्रह्मसंबंध की स्थापना पर ही सिद्ध होता है।

मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग

अतः मर्यादामार्ग से पुष्टिमार्ग की विलक्षणता स्पष्ट है। मर्यादामार्ग वैदिक है जो 'अक्षर ब्रह्म' की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परंतु पुष्टिमार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् शरीर से निकला है। ध्येय की भी दोनों में विभिन्नता है। मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवण-आदि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति ही ध्येय है, परंतु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना 'आत्मसमर्पण' तथा 'विप्रयोग' रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनंद-धाम भगवान् के साक्षात् *अधरामृत का पान ही मुख्य फल है। हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग की विशिष्टता अतीव सुंदर शब्दों में* अभिव्यक्त की है —

"अनुग्रहेणैव सिद्धिः लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गं स कथ्यते॥"

भक्ति साधन भी है और साध्य भी है। साधन-भूता भक्ति से ज्ञान का उदय होता है और इस ज्ञान के उदय से भक्ति उत्पन्न होती है। गीता के अनुसार भी साधन-मार्ग का यही क्रम है। गीता का साधन-क्रम भी यही है—कर्म-ज्ञान-भक्ति। कर्म के यथावदनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में ही ज्ञान-धारण करने की योग्यता है। पूर्णज्ञान के उदय होने पर भक्ति की उत्पत्ति होती है, परंतु यह भक्ति साधन-रूपा न होकर साध्य-रूपा है। साधन-रूपा भक्ति ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है, परंतु प्रेम-रूपिणी भक्ति का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जो पूर्ण ज्ञान से संपन्न होता है। गीता ने भक्ति को ज्ञान का साधन स्पष्टतया उद्घोषित किया है—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ।।"

—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।५५

साधक भक्ति के द्वारा भगवान् को तत्वतः जानता है । तत्व-ज्ञान की दो रूप से प्राप्ति होती है—"यावान् और यः"—भगवान् का विस्तार तथा भगवान् का तात्विक स्वरूप । जगत् का यह विस्तार उपाधिकृत है । यह समग्र जगत् ही उसके विस्तार का पर्यवसान है, परंतु यह समस्त उपाधिनिर्मित है, भगवान् का

"तत्वतो यश्चास्मि ।"

तात्विक रूप समग्र उपाधियों से रहित है । वह उत्तम पुरुष है तथा आकाश के समान निरंजन, अद्वैत तथा अमर है । इसकी उपलब्धि भक्ति के द्वारा होती है ।

भक्ति-मीमांसा

संपूर्ण ज्ञान होने पर ही सच्ची भक्ति का उदय होता है । शांडिल्य के शब्दों में भक्ति ईश्वर में परा, श्रेष्ठ अनुरक्ति है—**"सा परानुरक्तिरीश्वरे"** । भक्ति परम प्रेम-रूपा है । भक्त शिरोमणि रूप गोस्वामी ने भक्ति का बड़ा ही सुंदर तथा तात्विक लक्षण इस प्रकार किया है—

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।।"

—भक्तिरसामृतसिंधु १।१।११

भगवान् श्री कृष्ण परमस्नेहास्पद हैं । अतः उनके अनुशीलन को भक्ति कहते हैं, जिसमें अन्य किसी पदार्थ की अभिलाषा न हो, ज्ञान (निर्गुण ब्रह्मानुसंधान) तथा कर्म (स्मृति में प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक-आदि) का आवरण न हो, परंतु कृष्ण के अनुकूल होनेवाली प्रवृत्ति की सत्ता हो । इस भक्ति का उदय ज्ञान के के अनंतर ही होता है । इसी लिए ज्ञानी भक्त की गीता में सर्वश्रेष्ठ भक्त के रूप में गणना है । इतना ही क्यों ? ज्ञानी भक्त तो भगवान् की ही आत्मा है—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" । ज्ञानी भक्त की इस महती प्रतिष्ठा का एक कारण है । आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त सकाम रहते हैं, क्योंकि वे अपनी किसी कामना की पूर्ति में निरत रहते हैं, परंतु ज्ञानी होता है आप्त काम, अर्थात् निष्काम भक्त । कामना विरहित होने से ही ज्ञानी भक्त भगवान् का विशेष प्यारा होता है । गीता के ऐसे कथन को 'ब्रह्मसूत्र' भी प्रमाणित कर रहा है । ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट कथन है कि भगवान् मुक्त पुरुषों के द्वारा उपसर्पणीय होते हैं—

"मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।" १।२।४

भागवत पुराण भी इसी तत्व का प्रतिपादन विभिन्न शब्दों में इसी प्रकार करता है—

"आत्मा हि मुनयो निर्ग्रन्थाअप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्तिमित्थंभूत गुणो हरिः ।।"

—भागवत

आशय यह है कि भगवान् श्री कृष्णचंद्र इतने कमनीय गुणों के आगार हैं कि संसार की ग्रंथियों का उन्मोचन करने वाले भी, आत्मा में रमण करने वाले संत लोग भगवान् में बिना किसी कामना के ही भक्ति किया करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णज्ञानी ही भक्ति का विशिष्ट अधिकारी होता है, परंतु यह साधन-भक्ति न होकर साध्य-रूपा भक्ति है । चैतन्य संप्रदाय के लोग भक्ति की तीन भूमिकाएँ मानते हैं—(१) साधन-भक्ति, (२) भाव-भक्ति तथा (३) प्रेमा-भक्ति । साधन-भक्ति वैधी तथा रागानुगा रूप से दो प्रकार की है । साधन-भक्ति का उत्कृष्ट रूप भाव-भक्ति है और यह घनीभूत भाव ही प्रेमा-भक्ति के नाम से कहा जाता है । रूप गोस्वामी के शब्दों में अंतिम दोनों भक्तियों के रूप इस प्रकार हैं—

"रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ।
भावः स एव सांद्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ।।"

गौड़ीय वैष्णवों की भक्ति के इन तीन प्रकारों को वल्लभ दो ही प्रकार की भक्ति के अंतर्गत मानते हैं। एक है मर्यादाभक्ति और दूसरी है पुष्टिभक्ति। जिनमें पहली है साधन-रूपा और दूसरी है साध्य-रूपा। भक्ति होने में यही सर्वतोभावेन श्रेष्ठ साधन है।

इस प्रकार वल्लभाचार्य के मत से भगवान् श्री कृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। उनके अनुग्रह से ही जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। इसका प्रधान साधन साध्य-रूपा भक्ति है। वल्लभ-मत के अनुसार संसार में तीन ही मुख्य लक्ष्य हैं—(१) आचार्य वल्लभ का आश्रय। (२) भागवत् पुराण की वल्लभाचार्य रचित रहस्योद्घाटिनी सुबोधनी नामक टीका। (३) भगवान् राधिकानाथ श्री कृष्ण की उपासना। बस वल्लभ-मत में ये ही तीन सार हैं।

"नाश्रितो वल्लाभाधीशो न त दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतल॥"

और स्तुति-रूप में—

"मायावादिकरींद्र दर्पदलने नास्येंदु राजोद्गत,
श्रीमद्भागवताख्यदुर्लभ सुधावर्षेण वेदोक्तिभिः।
राधावल्लभसेवया तदुचितेप्रेम्णोपदेशैरपि,
श्रीमद्वल्लभनामधेयसदृशो भावी न भूतोऽस्त्यपि॥"

—स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, ५

नंददास : अष्टछाप

श्री राकेश गुप्त

उस युग में भी, जब कि समालोचना का एक शास्त्र के रूप में विकास नहीं हुआ था और लेखकों की भाषा, भाव तथा शैली संबंधी विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन करने के लिए बड़े-बड़े लेख अथवा ग्रंथ नहीं लिखे जाते थे, हमारे देश के सहृदय काव्य-प्रेमी किसी भी कवि का वास्तविक मूल्य पहचानने में प्राय: कोई भूल नहीं करते थे। वे विज्ञ रसिक अपने अध्ययन के निचोड़ के रूप में कभी-कभी किसी लेखक के संबंध में सूत्र रूप में कोई ऐसी बात कह देते थे जो अपनी यथार्थता के कारण शीघ्र ही व्यापक प्रचार पा जाती थी। महाकवि नंददास के संबंध में भी इसी प्रकार की एक अत्यंत प्रसिद्ध उक्ति है—

"नंददास जड़िया, और सब गढ़िया।"

यद्यपि इस उक्ति के कहनेवाले का परिचय आज हमें प्राप्त नहीं है, पर इसके औचित्य एवं सार्थकता की सराहना एक स्वर से हिंदी के सभी समालोचकों ने की है। नंददास ने अपनी रचनाओं में कहीं पर तो संस्कृत की सुसंस्कृत मनोहर पदावली की योजना की है और कहीं पर नित्य प्रयोग में आनेवाले बोलचाल के शब्दों की स्वाभाविक छटा दिखलाई है, पर दोनों स्थलों पर शब्दों का चुनाव इतना संयत एवं उपयुक्त है कि वे सचमुच ही कविता की स्वर्णमयी स्रोतस्विनी में रत्न-दीपों की भाँति चमकते हुए प्रतीत होते हैं।

बोलचाल की ब्रजभाषा के सहज एवं स्वाभाविक सौंदर्य के दर्शन हमें नंददास के 'भँवरगीत' में होते हैं। इस रचना में लेखक ने माधुर्य और प्रसाद की एक अजस्र-धारा प्रवाहित करने के साथ ही साथ अपनी प्रबंध-पटुता एवं संगीत-मर्मज्ञता का भी परिचय दिया है। 'भँवरगीत' के जिस मार्मिक विषय को महाकवि सूरदास ने मुक्तक के रूप म अत्यंत विस्तार के साथ गाया था, उसी को नंददास ने प्रबंध-काव्य के एक छोटे, किंतु सुसंगठित वस्तु-विन्यास में ढाल दिया है। एक रोला तथा एक दोहे के पश्चात् दस मात्राओं की एक टेक के क्रम ने इस रचना की संगीतात्मकता को बहुत बढ़ा दिया है। उद्धव जब ब्रज में आकर गोपियों को श्रीकृष्ण का संदेश सुनाते हैं तथा उनके शीघ्र लौटकर आने की बात कहते हुए उन्हें सांत्वना देने का प्रयत्न करते हैं, तो प्रेममयी गोपियाँ श्रीकृष्ण के मधुर रूप का स्मरण करती हुईं मूर्च्छित हो जाती हैं—

"सुनि मोंहन-संदेस, रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
पुलकित आँनन अलक अंग आवेस जनायौ॥
बिह्वल ह्वै धरनी परीं, ब्रज बनिता मुरझाइ।
दै जल-छींट प्रबोधहीं ऊधौ बात बनाइ॥
सुनों ब्रज नागरी॥"

बस यहीं से गोपियों के इस अलौकिक प्रेम को उनका मोह मात्र समझते हुए उद्धव उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना आरंभ कर देते हैं और गोपियाँ अपनी अनुभूति और तर्क के आधार पर उद्धव की समस्त उक्तियों का विदग्धता-पूर्ण खंडन करती चलती हैं। उद्धव और गोपियों के इस उत्तर-प्रत्युत्तर में, इस सजीव कथोपकथन में, एक विशेष नाटकीय सौंदर्य की सृष्टि हुई है, जिस तक पहुँचने में भँवरगीत के परवर्ती लेखक समर्थ नहीं हो सके। निर्गुण ब्रह्म को ज्ञान की आँखों से देखने के लिए कहने पर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

"कौंन ब्रह्म को जोति ? ग्यांन का सों कहौ ऊधौ ?
हमरे सुंदर स्यांम, प्रेम कौ मारग सूधौ॥

नैंन, बैंन, स्रुति, नासिका, मोंहन-रूप दिखाइ ।
सुधि-बुधि सब मुरली हरी, प्रेम-ठगोरी लाइ ।।
सखा सुनि, स्यांम के ।।"

और इसके पश्चात् ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन वे कितने आत्म-विश्वास के साथ करती हैं—

"जौ उनकें गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ तें ?
बीज-बिना तरु जमैं, मोंहि तुम कहौ कहाँ तें ?
वा गुन की परछाँइ री, माया-दरपन-बीच ।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल बारि मिलि कीच ।।
सखा सुनि, स्यांम के ।।"

उद्धव के साथ इस प्रकार कुछ समय तक वाद-विवाद कर चुकने पर गोपियाँ फिर प्रेम-विह्वल हो जाती हैं और इस अवस्था में उनके प्रियतम का चित्र उनके नेत्रों के आगे छा जाता है। अब वे उद्धव की ओर से अपना ध्यान हटाकर अपने प्यारे कृष्ण को ही संबोधित करती हुई अत्यंत दीन और करुण वाणी में उनको ये मर्मस्पर्शी उपालंभ देती हैं —

कोऊ कहै अहो स्यांम, कहा इतराइ गए हौ ।
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ ।।

तथा—

कोऊ कहै अहो स्यांम, चहँत मारन जौ ऐसें ।
गिरि-गोबरधन-धारि, करी रच्छा तुम कैसें ?
ब्याल, अनल, बिष-ज्वाल तें, राखि लईं सब ठौर ।
अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंद किसोर ।।
चोरि चित लै गयौ ।।"[1]

गोपियों के इस उपालंभ में श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनन्य प्रेम तथा उनके हृदय की विवशता-पूर्ण वेदना मानों मूर्त हो उठी है। उनके प्रेम के इस वेग-युक्त प्रवाह में यदि उद्धव का 'नेम' बह गया और वे उनकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण करने को तैयार हो गए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसी समय कहीं से एक भौंरा उन ब्रज-बालाओं के बीच में उड़कर गुंजारने लगा। गोपियों को उसके रूप में मानों एक अवलंब मिला। उद्धव से सीधे कुछ अप्रिय बात कहना कदाचित् शालीनता और शिष्टाचार के विरुद्ध होता, पर अब तो वे उस मधुकर के बहाने से उद्धव और कृष्ण दोनों पर कठोर व्यंग्य-वाणों की वर्षा करने लगीं। 'नावक के तीरों' की भाँति पैने ये व्यंग्य-वाण न केवल उद्धव को ही बेधते हैं, वरन् सहृदय पाठकों के भी मर्मस्थल में गहरा घाव करते हैं। उद्धव के योग की उपमा काले विषाक्त सर्प से देती हुई वे कहती हैं—

"कोउ कहै री बिस्व-माँझ, जेतिक हैं कारे ।
कपटी, कुटिल, कठोर, परम मानस मसि हारे ।।
एक स्यांम-अँग परसि कें जरत आज लौं अंग ।
ता पाछें फिर मधुप यै लायौ जोग-भुजंग ।।
कहा इन कों दया ।।"

[1] **विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।**
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयावृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ।।
—भागवत १०।३१।३

श्रीभगवानके इस शुकोच्छिष्ट अनुवाद-रूप अमृत फल में—**'अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंदकिशोर, चोरि-चित लै गयौ'** रूप उलाहने की अनूठी मिश्री मिलाकर कितनी मधुरता बढ़ा दी है, धन्य कवि . . .।

फिर वे श्रीकृष्ण को कपटी और गोरस-चोर विशेषणों से विभूषित करती हुई आपस में एक-दूसरी को सावधान करती हैं—

"कोउ कहै रे मधुप, भेष उनहीं कौ धारचौ ।
स्याँम-पीत गुंजार, बेंन किंकिनि झनकारचौ ।।
वा पुर गोरस चोरि कें, फिरि आयौ या देस ।
इनकों जिनि मानों कोऊ, कपटी इनकौ भेस ।।
चोरि जिनि जाइ कछु ।।"

श्रीकृष्ण ने गोपियों को छोड़ कर कुब्जा से अपना जो नवीन प्रेम-संबंध जोड़ा है, उसे स्त्रियाँ होने के नाते वे कैसे सहन कर सकती हैं ?—

"कोउ कहै रे मधुप, तुम्हैं लाजौ नहिं आवै ।
स्वाँमी तुम्हरौ स्याँम, कूबरीनाथ कहावै ।।
ह्याँ नीच पदवी हुती, गोपीनाथ कहाइ ।
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी जूठन खाइ ।।
मरत कहा बोल कों ।।"

पर गोपियों के व्यंग्य-बाणों का तूणीर अक्षय तो नहीं था। अंत में वह रिक्त हुआ और उसके रिक्त होने के साथ ही उनके विरह-संतप्त हृदय से प्रेम का समुद्र आँखों की राह बाहर उमड़ चला। उनके आँसुओं की इस बाढ़ से न केवल उनकी कंचुकियाँ और हार ही भीगे, वरन् उसमें उद्धव और उनकी ज्ञान की मेंड़ भी बह चली। उद्धव को विश्वास हो गया कि उनका ज्ञान-मार्ग गोपियों के प्रेम-मार्ग की तुलना में वैसा ही है जैसा हीरे की तुलना में कांच—

"जो ऐसें मरजाद-मेंटि, मोंहन कों ध्यावै ।
क्यों नहिं परमानंद प्रेम-पदवी कों पावै ।।
ग्याँन, जोग सब करम ते, प्रेम परे ही साँच ।
हों यहि पटतर देत हों, हीरा-आगें काँच ।।
बिषमता बुद्धि की ।।"

और यह विश्वास होने पर उद्धव के मन में गोपियों और उनके ब्रज के प्रति इतनी श्रद्धा उत्पन्न होती है कि वे ब्रज की धूलि अथवा लता बनने की कामना करते हैं।[१]

संस्कृत की सुललित पद-योजना के सहारे माधुर्य गुण की पराकाष्ठा का निदर्शन है नंददास की रास-पंचाध्यायी। अपनी इस छोटी-सी रचना में लेखक ने अपनी संपूर्ण भावुकता और काव्य-कौशल को मानों 'गागर में सागर' के समान भर दिया है। उन्होंने इस कृति के अंत में स्वयं लिखा भी है—

"यह उज्जल रस-माल, कोटि जतनन करि पोई ।
सावधान ह्वै पहिरौ, इहिं तोरौ मति कोई ।।"

शृंगार के वियोग और संयोग दोनों पक्षों से संबंध रखनेवाली अनेक भावनाओं और परिस्थितियों का चित्रण इस रचना में इस कुशलता के साथ किया गया है कि पढ़ते समय नेत्रों के सामने चल-चित्र सा खिंचता चला जाता है। अनुप्रास की अबाध छटा, उत्प्रेक्षा की मधुर उड़ान से इस रचना का स्वाभाविक सौंदर्य और भी निखर आया है। इसके अतिरिक्त क्लिष्टता के अभाव ने इस रचना के बीच से स्वच्छंदता-पूर्वक बहते हुए रस के प्रवाह की गति को सर्वदा अप्रतिहत रहने दिया है।

[१] **आसामहोचरण रेणुजुषामहंस्यां वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।**
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजर्मुकंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।
—भागवत १०।४७।६१

शरद-पूर्णिमा की रात्रि को दूर वन-प्रांत से श्रीकृष्ण की मुरली का मनोहर संगीत सुनकर गोपियाँ उनसे मिलने के लिए, माता और पिता, पति और भाई के अवरोध का उल्लंघन करके, घर से चल पड़ीं। उनके निकट आने पर श्रीकृष्ण ने प्रेम की जिस तल्लीनता से उनका स्वागत किया, उसकी कितनी सुंदर व्यंजना इन पंक्तियों में है—

> "तिनके नूपुर-नाँद सुने जब परम सुहाए ।
> तब हरि के मन-नैंन सिमटि सब स्रवननि आए ।।
> रुनुक-झुनुक पुनि भली भाँति सों प्रगट भई जब ।
> पिय के अँग-अँग सिमटि मिले हैं रसिक नैंन तब ।।"

कामदेव को भी मोह लेनेवाले श्रीकृष्ण जिनके बस में हैं, ऐसी गोपियाँ यदि अपने रूप, गुण और प्रेम पर अभिमान करें तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है, पर भगवान् अभी उनके अपने प्रति प्रेम को और भी अधिक बढ़ाना चाहते हैं और इसी लिए वे थोड़ी देर के लिए कुंज में छिप जाते हैं। लेकिन गोपियाँ?—उनके लिए तो पलकांतर का वियोग भी करोड़ों युगों के बराबर है। फिर भला वे इस अवस्था में पागल कैसे न बनें?

> "ह्वै गईं बिरह बिकल मन, बूझत द्रुम बेली बन ।
> को जड़, को चेतन्न, कछु न जानत बिरही जन ।।[1]
> ❀
> हे चंदन, दुख-कंदन सब की जरनि जुड़ावहु ।
> नँद-नंदन जग-बंदन, चंदन, हमहिं बतावहु ।।"

पुष्पित लताओं तथा प्रसन्न-नयन हरिणियों को देखकर उन्हें सरल विश्वास हो जाता है कि अवश्य ही उन्हें (हमारे) प्रियतम का स्पर्श और दर्शन प्राप्त हुआ है—

> "पूंछौ री, इन लतनि, फूलि रही फूलन जोई ।
> सुंदर पिय के परस बिना, अस फूल न होई ।।
> हे सखि, ए मृग-बधू, इनहिं किन पूंछहु अनुसरि ।
> डहडहे इनके नैंन, अबहिं कहुँ देखे हैं हरि ।।"

पर वे वृक्ष और लताएँ, वे पशु और पक्षी, वह पवन और पृथ्वी उन्हें क्या उत्तर देते? अंत में इनके उत्तर न देने पर इतना ही व्यंग्य करके रह गईं—

> "जमुन-निकट के बिटप-पूंछि भई निपट उदासी ।
> क्यों कहि हैं सखि, महा कठिन ए तीरथ-बासी ।।"

जब उनका विरह-उन्माद और बढ़ा, तो वे श्रीकृष्णमयी होकर अनेक प्रकार से उन्हीं की लीलाएँ करने लगीं। तत्पश्चात् अत्यंत दीन वाणी में श्रीकृष्ण को पुकार-पुकारकर वे उनसे प्रकट होने की प्रार्थना करने लगीं। ऐसा करते हुए प्रेम में अत्यंत विह्वल होकर जब वे अटपटे वचन बोलने लगीं, तब अपनी मंद और मधुर मुस्कराहट को बिखेरते हुए श्रीकृष्ण एकाएक उनके बीच में प्रकट हो गये। इस समय अपने बिछुड़े हुए प्रियतम से मिलने के लिए गोपियों की आतुरता का दृश्यांकन इन पंक्तियों में कितने स्वाभाविक तथा आकर्षक रूप में हुआ है—

> "पियहि निरखि तिय बृंद उठे सब इक बेर यों ।
> घट आएँ ज्यों प्रान, बहुरि उझकत इंद्री ज्यों ।।
> महा-छुधित कों ज्यों भोजन सों प्रीति सुनी हैं ।
> ताहू ते सतगुनी, सहस किधौं कोटि गुनी हैं ।।"

[1] धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः-
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे-
कामार्त्ताहि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।। —मेघदूत—कालिदास ५.

"दौरि लिपटि गई ललित लाल, सुख कहत न आवै ।
मीन उछर सर-पुलिन परै पुनि पाँनी पावै ।।
कोउ चटपट सों कर लपटी, कोउ उर बर लपटी ।
कोउ गर लपटी कहति भले जू काँन्हर कपटी ।।"

और इसके बाद वे श्रीकृष्ण को उनकी निष्ठुरता के लिए उपालंभ देना नहीं भूलतीं—

"इक भजते कों भजै, एक बिन भजते भजहीं ।
कहौ कृष्ण, वे कौंन आंहि, जे दोहुन तजहीं ?"

पर श्रीकृष्ण गोपियों के इस मधुर उपालंभ का उन्हें क्या उत्तर देते ? लोक और वेद की सुदृढ़ शृंखलाओं को तृण के समान तोड़कर जिन गोपियों ने सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया है, उनके तो वे अनंतकाल के लिए ऋणी हैं—

"तब बोले ब्रजराज कुँवर, हों रिनी तिहारौ ।
अपने मन ते दूरि करौ, किन्‌ दोष हमारौ ।।
कोटि कलप-लगि तुम्ह प्रति कछु उपकार करहुँ जौ ।
हे मन-हरनी, तरुनी, उरनी नांहि होंहु तौ ।।
सकल बिस्व अप बसकरि मो माया मोहत है ।
प्रेम-मयी तुम्हरी माया सो मो मोहत है ।।
तुम्ह जु करी सो कोउ न करै सुनौं नवल किसोरी ।
लोक, बेद की सुदृढ़ सृंखला तृन-सम तोरी ।।"

मिलन-उद्वेग के कम होने पर अब उस 'महारास' का प्रारंभ होता है जिसका सुख स्वर्ग के देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। दो-दो गोपियों के बीच में श्रीकृष्ण की शोभा तथा उनके साथ उनके चंचल नृत्य का दृश्यांकन करते हुए उनके संबंध में लेखक की उत्प्रेक्षाएँ कितनी सजीव और मोहक हैं—

"नव मरकत-मनि स्यांम, कनक-मनि-गन ब्रजबाला ।
बृंदाबन कों रीझि मनों पैहराई माला ।।
साँवरे पिय-सँग निर्त्तत चंचल ब्रज की बाला ।
जनु घन-मंडल मंजुल खेलति दाँमिनि-माला ।।"

और निम्नांकित पंक्तियों को पढ़ते समय तो उस दिव्य रास के संगीत और नृत्य की झंकार मूर्त होकर कानों में गूंजने लगती है—

"नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली ।
ताल, मृदंग, उपंग चंग एकहि सुर जुरली ।।
मृदुल मुरज-टंकार, तार झंकार मिली धुनि ।
मधुर जंत्र के तार, भँवर गुंजार रली पुनि ।।
तैसिय मृदु पद-पटकनि, चटकनि कट तारन की ।
लटकनि, मटकनि, झलकनि कल कुंडल हारन की ।।"

इस नाद-सौंदर्य-पूर्ण शब्द-योजना के माधुर्य की समता करनेवाली पंक्तियाँ स्वभावतः मधुर ब्रजभाषा के भी दूसरे कवियों की रचनाओं में कठिनता से ही मिलेंगी ।

रास के पश्चात् संयोग का यह दृश्य अश्लीलता की सीमाओं को बचाता हुआ भी कितना मादकता-पूर्ण सरस और चित्रोपम है—

हार, हार में उरझि, उरझि बहियाँ में बहियाँ ।
नील पीत-पट उरझि, उरझि बेसर नथ महियाँ ।।

और फिर यमुना में कृष्ण के साथ जल-विहार करते हुए ब्रज-बालाओं की भाव-भंगी का यह दृश्य जितना स्वाभाविक है, उतना ही मनोहर भी है—

**"छिरकत हैं छबि छैल, जमुन-जल अंजुलि भरि-भरि ।
अरुन कमल-मंडली फाग खेलत जनु रँग करि ।।
रुचिर दृगंचल चंचल अंचल में झलकत अस ।
सरस कनक के कंजन खंजन जाल परे जस ।।"**

इस प्रकार अनेक सरस दृश्यों एवं मधुर भावनाओं के संविधान से युक्त नंददास की यह अनुपम रचना समाप्त होती है ।

नंददास की कीर्ति को अमर बनाने के लिए यद्यपि उनकी ये दो छोटी रचनाएँ—भँवरगीत और रास पंचाध्यायी ही पर्याप्त थीं, पर उन्होंने इनके अतिरिक्त और भी सुंदर कृतियों की सृष्टि की है । यहाँ पर उनके संबंध में विस्तृत विवेचन करने का तो अवकाश नहीं है, पर उनका संक्षिप्त निर्देश अवश्य किया जाना चाहिये ।

'रूप-मंजरी' एक रस-पूर्ण प्रेम-कहानी के आवरण में वास्तव में एक रूपक-कथा है । इसमें पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों का प्रेम-साधना के क्षेत्र में व्याप्त व्यावहारिक रूप निदर्शित किया गया है । नंददास कहते हैं—

**"भूत छिऐं, मदिरा पिऐं, सब काहू सुधि होइ ।
प्रेम-सुधा-रस जो पिऐं, तिहि न रहे सुधि कोइ ।।
जदपि अगम ते अति अगम, निगम कहत हैं ताहि ।
तदपि रँगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि ।।"[1]**

रूप मंजरी के सुंदर वय का वर्णन भी सुंदर हुआ है जैसे—

**"ता भूपति के भवन की, उदै निवारै साँझ ।
बिन हीं दीपक दीप जनु, दिए कुँवरि घर-माँझ ।।
बाल-बैस को रूप जनु, दीप जग्यौ जग ऐंन ।
उड़ि-उड़ि परत पतंग ज्यों, नर-नारिन के नैंन ।।"**

इस रचना में प्रसंगवश षट्-ऋतु वर्णन को भी स्थान मिला है ।

'विरह-मंजरी' में एक ब्रजबाला के विरह-वर्णन के बहाने 'बारह मासा' लिखा गया है । कवि ने संयोग में वियोग का कारण देते हुए कितना सुंदर कहा है—

**"हों जानों पिय-मिलन ते बिरह अधिक सुख होइ ।
मिलि तें मिलिऐ एक तें, बिछुरें सब ठाँ सोइ ।।
और भाँति ब्रज कौ बिरह, बनें न काहू अंग ।
पूरनता हरि ब्रह्म की, परत न ता में भंग ।।**

**'प्रस्न भयौ इक, सुंदर स्याँम, सदाँ बसत बृंदाबन-धाँम ।
वाकों बिरह जु उपज्यौ महा, कहौ 'नंद' सो कारन कहा ।
परम प्रेम उच्छलन कों, बढ्यौ जु तन-मन-मैंन ।
ब्रज-बाला बिरहिन भई, कहत चंद सों बैंन ।।**

**जलचर ज्यों जल-भीर में, परसत नाहिंन पीर ।
बिछुर परैं जब तीर पै, तब जानें गुन-नीर ।।"**

और इस प्रकार नंददास ने विरह के चारों अंग—प्रत्यक्ष, पलकांतर, वनांतर और देशांतर का वर्णन वर्ष के बारह महीनों के साथ किया है । जैसे—

वैशाख

**या बिधि बल बैसाख जो, बीत्यौ सुख-दुख लागि ।
सँडसी भई लुहार की, छिन पाँनी छिन आगि ।।**

ज्येष्ठ

"तनक न रही उमेंठ, कहियो . नंदकिशोर सों ।
निपट निलज यै जेठ, धाइ धाइ बधुश्रँन गहत ।।

भादों

भादों अति दुख-ऐंन, कहियो चंद गुबिंद सों ।
घन औ धन के नैंन, होइन बरसत रैंन-दिन ।।

क्वार

कहियो उड़प उदार, सुंदर नंद किसोर सों ।
अस कुस कीन्हीं क्वार, हार-भार हू डरत जिय ।।

[माघ

माह मास के कदन करि, मास रह्यौ नहिं देह ।
सांस रही घट लिपट कें, बदन-चहन के नेह ।।"

'स्याम-सगाई' में कृष्ण और राधा की सगाई के संबंध में कुछ सरस प्रसंगों की उद्भावना करके कवि ने एक मनोहर कथा कही है। सारी रचना प्रसाद गुण-पूर्ण सरस पद्यों से भरी पड़ी है!

"इक दिन राधा कुँवरि, नंद-घर-खेलन आई ।
चंचल और बिचित्र देखि, जसुमति मन-भाई ।।
नंद मैंहैरि मन में कह्यौ, देखि रूप की रासि ।
यै कन्या मो स्यांम-लगि, गोबिंद-पुँजिवै आस ।।
—कि जोरी सोंहनी ।
तेरी राधे कुँवरि, स्यांम मेरौ अति नींकौ ।
तुम किरपा करि करौ, लाल मेरे कौ टीकौ ।।
सब भाँतिन सुख होइगौ, हम-तुम्ह बाढे प्रीति ।
और न कछु मन में चहों, यही जगत की रीति ।।
—परसपर कीजिऐ ।
रांनी उत्तर दियौ, नांहि यै करों सगाई ।
मेरी राधा सुधि, स्यांम तेरौ अतिहि चबाई ।।
वौ ढोठा लंगर महा, दधि-मांखन कौ चोर ।
कहँत-सुनँत लज्जा नहीं, करत और सों और ।।
—कि लरिका अचपलौ ।
मन हरि लीन्हों स्यांम, परी राधे मुरझाई ।
बौहौत सिथिलि भई देह, बात कछु कहत न जाई ।।
दौरि सखी कुंजन चलीं, नैंनन डारत नीर ।
अरी बीर, कछु जतन करि, व्याकुल-बिरह-सरीर ।।
—हरचौ मन मोंहनाँ ।"

'रुक्मिनी-मंगल' में श्रीकृष्ण-द्वारा रुक्मिणी-हरण की कथा है। जैसे—

"सिसुपालहिं कों देति, रुकिमिनी बात सुनीं जब ।
चित्र लिखी-सी रही, दई यै कहा भई अब ।।
चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी-माल ते ।
भयौ बदँन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल ते ।।

अलि पूँछति बलि बात, कहौ नेंनन क्यों पाँनी ।
पुहुप-रेंनु उड़ि परी, कहति तिन्ह सों मृदु-बाँनी ।।
टप, टप, टप, टप, टपकि नेंन सों अँसुवा ढर-हीं ।
मनु नवनील-कमल-दल ते भल मुतियाँ झर-हीं ।।

सुक, पिक, चातक-सबद, सुमींठी-धुँन यों रट-हीं ।
मनों मार-चटसार, सुढार चटा से पढ़-हीं ।।
ओर बिहंगम रंगन-भरि, बोलत हिय-हर-हीं ।
मनु तरुबर रस-भरे, परसपर बातें कर-हीं ।।"

सिद्धांत-पंचाध्यायी में रास-पंचाध्यायी के आध्यात्मिक पक्ष को पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों के आधार पर स्पष्ट किया गया है। दशम स्कंध में श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के पहले उनतीस अध्यायों की कथा संक्षेप में चौपाई तथा दोहा छंदों में कही गई है। यह ग्रंथ यद्यपि रचना-परिमाण की दृष्टि से सबसे बड़ा है, पर कवि नंददास की सहज भावुकता के दर्शन इसमें प्रायः नहीं होते। हाँ, दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन की दृष्टि से अवश्य इसका महत्व है।

नंददास के स्फुट पद भी काव्य-कला की दृष्टि से असाधारण कोटि के हैं। वे भाषा के कोमल और सरस साँचे में ढल कर संगीत की ध्वनि पर थिरकते हुए अनोखे सुंदर रूप में अवतरित हुए हैं। जैसे—

राग-आसावरी

"जुरी चलीं हैं बधावन नंद मैहेर-घर, सुंदर ब्रज की बाला ।
कंचन-थार-हाथ चंचल छबि, कहि न परत तिहिं काला ।।
डहडहे मुख कुंमकुम-रँग-रंजित, राजत रस के ऐंना ।
कंजन पर खेलत मनों खंजन, अंजन जुत बने नेंना ।।
दमकत कंठ पदक, मनि-कुंडल, नवल प्रेम-रँग बोरी ।
आतुर गति मनु चंद उदै भऐं, धावत त्रिषित चकोरी ।।
खसि-खसि परत सुमन सीसँन ते, उपमा कहा बखानों ।
चरन चलन पर रीझि चिकुर-बर, बरखत फूलँन मानों ।।
गावत गीत, पुनीत करत जग, जसुमति-मंदिर आँईं ।
बदन-बिलोक बलैयाँ लै-लै, देति असीस सुहाई ।।
मंगल-कलस निकट दीपावलि, देखि-देखि मन भूल्यौ ।
मानों आगम नंद-सुवन के, सुबरन-फूल ब्रज फूल्यौ ।।
ता पाछें गँन-गोप ओप सों आए, अति सै सोहें ।
परमानंद कंद रस-भींने, निकर-पुरंदर को हैं ।।
आँनदघन ज्यों गाजत राजत, बाजत दुंदुभि-भेरी ।
राग-रागिनी गावत हरखत, बरखत सुख की ढेरी ।।
परम धाँम, जग-धाँम, स्याँम अभिराँम श्रीगोकुल आए ।
मिटि गए दुंद 'नंद दासन' के, भए मनोरथ भाए ।।"

—बधाई-पद

राग-अड़ाना

"जरि जाऔ-री लाज, मेरें ऐसी कौन काज आवै, कमल-नेंन नीकें करि देखन न दींने ।
बन ते आवत मारग में भेंट भई, सकुचि रही-री इन लोगँन के लींने ।।

कोटि जतन करि हारी-री निहारिबे कों, अँचरा की ओट दै-दै कोटि स्रम कीने ।
'नंददास' प्रभु-प्यारी ता दिन ते मेरे नैंना, उनहीं के अंग-अंग-रंग-रस भीने ।।"

——शयन-समय

"तेरी भौंह की मरोरैंन ते ललित त्रिभंगी भयौ, अंजन दै चितई तौ भए स्याँम बाँम ।
तेरी मुसिकाँनि देखि दाँमिनि-सी कोंध जात, दीन ह्वै जाँचत प्यारी लेत राधे आधौ नाँम ।।
ज्यों-ज्यों नचायौ चहैं, तैसे-हीं हरि नाचत बलि, अब तौ मया कीजै चलिऐ निकुंज-धाँम ।
'नंददास' प्रभु बोलौ तौ बुलाइ लाऊँ, उनकों तौ कलप बीतैं, तेरी घरी जाँम ।।"

——राग-अड़ाना

"तुम्ह पैहलें तौ देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल,
पाछे तें मनाइ लीजै प्यारे हो गुबिंदा ।
कर पर धरि कपोल, प्यारी रही नैंन-मूंदि,
कमल-बिछाइ मानों सोयौ सुख चंदा ।।
रिस-भरी भौंह ता पै भौंरा बैठे अरबरात,
इंदु तर आयौ मकरंद-हित अरबिंदा ।
'नंददास' प्रभु ऐसी काहे कों रुसैऐ बाल,
जाके मुख देखे ते मिटत दुख-द्वंदा ।।"

——मान

नंददास के पद-साहित्य पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है—खाटी स्वर्ण को कसौटी पर कसकर देखने जैसा है ।

नंददास केवल कवि और दार्शनिक ही नहीं, भाषा और साहित्य-शास्त्र के भी आचार्य थे । मान-मंजरी, (नाममाला) नामक ग्रंथ में उन्होंने अमरकोष के आधार पर एक पर्यायवाची शब्द-कोष का निर्माण किया है । इसकी एक अद्भुत विशेषता यह है कि जिन शब्दों के पर्याय लिखे गये हैं, उन्हीं शब्दों को लेकर राधा की मान-कथा का भी वर्णन किया गया है और यह वर्णन इतने सुंदर तथा आकर्षक ढंग से हुआ है कि कहीं पर कृत्रिमता अथवा अस्वाभाविकता की झलक भी नहीं दिखायी देती । 'अनेकार्थ-मंजरी' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दोहों में दिये गये हैं । 'रस मंजरी' नायक-नायिका-भेद संबंधी रचना है । हिंदीमें कृपाराम मिश्र की 'हिततरंगिणी' इस विषय का पहला ग्रंथ है और यह दूसरा । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकारकी नायिकाओं के लक्षण इसमें इतनी सरसता से दिये गये हैं कि उनसे न केवल नायिकाओं का स्वरूप ही स्पष्ट होता है, वरन् मौलिक काव्य-रस का आनंद भी प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए उत्कंठिता का लक्षण देखिये—

"बाँधि सँकेत पीउ नहिं आवै ।
चिंता करि तिय अति दुख पावै ।।
आरति कर संताप जुड़ाई ।
तन तोरति अरु लेति जँभाई ।।
भरि-भरि नैंन अवस्था कहै ।
उत्कंठिता नाइका सु अहै ।।"

नंददास के संबंध में यह कथन समाप्त करने से पहले उनके उस 'रसिक मित्र' का स्मरण और वंदन करना आवश्यक है जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ निर्मित कर ब्रज-भारती को अर्पित कीं । नंददास से जो माधुर्य-गुण-पूर्ण श्रेष्ठ काव्य-संपदा हिंदी को प्राप्त हुई है, उसके लिए हिंदी-संसार को नंददास से भी अधिक उनके इस 'विचित्र मित्र' का आभार स्वीकार करना चाहिये ।

नंददास रचित-ग्रंथों के प्रति बड़े भ्रामक विचार रहे हैं। उनकी संख्या कोई कुछ और कोई कुछ मानता था। यही नहीं, एक ही ग्रंथ विशेष को, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में लिखे नाम-भेद के कारण पृथक्-पृथक् कई ग्रंथों के रूप में मान लिया गया है। उदाहरण के लिए 'नंददास' की 'अनेकार्थ-मंजरी' के "अनेकार्थ-भाषा, अनेकार्थ-मंजरी, अनेकार्थमणि-मंजरी, अनेकार्थनाम-माला, अनेकार्थ-मणिमाला और अनेकार्थ-माला" नाम मिलते हैं, जिन्हें हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों ने पृथक्-पृथक् ग्रंथ मान लिया था। इसी प्रकार और भी...। भला हो 'जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा' का जिन्होंने सर्वप्रथम कलकत्ता के 'विशाल भारत' में, जब कि उसके संपादक माननीय बनारसीदास चतुर्वेदी थे, नंददास के वास्तविक ग्रंथों पर प्रकाश डाला। अस्तु नंददास की प्रामाणिक ग्रंथ-रचनाएँ इस प्रकार है—

"पांच मंजरी-ग्रंथ—रस-मंजरी, विरह-मंजरी, अनेकार्थ-मंजरी, मान-मंजरी, रूप-मंजरी। रास-पंचाध्यायी, श्यामसगाई, गोवर्धनलीला, भ्रमरगीत, रुक्मिणीमंगल, सुदामा-चरित्र, भागवत-दशम स्कंध, सिद्धांत-पंचाध्यायी, मालिनलीला, वीणावादिन,-लीला, प्रेम-बारहखड़ी (नवीन खोजसे प्राप्त) और पदावली।"
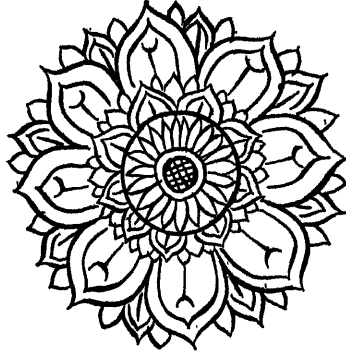
पुष्टिमार्गीय सिद्धांत की आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि

श्री प्रो० कंठमणि

सांस्कृतिक परंपराओं से ओतप्रोत भारतीय दिव्य जीवन के मूल-स्रोतों में जिन मौलिक तत्वों का समावेश है, उनमें अध्यात्मवाद अपने आप में परिपूर्ण, अगाध अथच सर्वतोविलक्षण एक ऐसा तत्व है जिसकी कोई उपमा नहीं और नहीं जिसका कोई प्रतिबिंब। वह सहृदयैक संवेद्य शाश्वत सत्य, शिव, सुंदर विज्ञान है जो आप ही आप भारतीय जीवन-धारा को अनंत काल से अविच्छिन्न प्रवाहित करता आया है और करता रहेगा। उसे 'लौकिक' कहो चाहे 'अलौकिक', अध्यात्म वाद की परिस्फुटना समय-समय पर उन गंभीर विचारशील महापुरुषों की गवेषणाओं के द्वारा होती रहती है जो अपने युग के प्रवर्तक, विभूति एवं आदि पुरुष माने जाते हैं।

भारतीयता के विशाल अंचल में जिन कल्याणकारी आदर्शों की समय-समय पर अभिव्यंजना हुई है, उनमें जीवन को सरल, सुखद और सरस बनानेवाला एक मार्ग भक्तिमार्ग है जो अनादिकाल से मातृत्व-भावना के प्रतिफल रूप वात्सल्य, विश्व-बंधुत्व की भावना के प्रतिफल रूप सख्य और दांपत्यभावना के प्रतिफल रूप माधुर्य-भाव से विश्व की क्रीड़ास्थली में मानव-जीवन के साथ अनुस्यूत होता चला आ रहा है। मानव-समाज ने जब से मानवता की उपाधि धारण की यह तीनों उसके जीवन के मूल आधार रहे हैं और भविष्य में रहेंगे।

पाश्चात्य आदर्श की भाँति भारतीय आदर्श कभी एकांगी नहीं रहा है। वह भौतिकता के परिधान से वेष्टित होता हुआ भी उसकी सीमा को लाँघ कर कहीं दूर, बहुत दूर उस व्यापक क्षेत्र तक विस्तृत हो गया है जिसमें भौतिक, आत्मिक और दैविक इन तीनों वादों का पर्यवसान हो जाता है।[1] यह सूक्ष्म ईक्षिका उन विचारशील महापुषों के द्वारा व्यक्त होती आई है, जिन्हें वैदिक-संज्ञा में मंत्र-दर्शी ऋषि, पौराणिक-संज्ञा में 'व्यास' और सांप्रदायिक-संज्ञा में 'आचार्य' के अभिधान से अभिहित किया जाता है।

निगम-कल्पतरु की शुभोदर्कोदयशालिनी लहलहाती भक्ति-शाखा में भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे कई मनोहर सुमनों का यथा समय विकास हुआ है जो सामयिकता की अंतर्वाणी में मरणोन्मुख-जीवन को ओजस्विनी चेतना प्रदान करने वाले ही नहीं थे, अपितु विविध आपदा-विपदाओं के संघर्षों से उसे सुरक्षित रख कर भविष्य के लिये विश्व-कानन को स्वकीय आध्यात्मिक सौरभ से सुवासित करने वाले थे। भारत के प्रांगण में वही मत, वही संप्रदाय, वही आदर्श पनप सका जो जन-जीवन के लिये अनिवार्य आवश्यक लौकिक और अलौकिक इन उभयवादों का मौलिक रूप में व्यावहारिकतया समन्वय कर सका। स्थिति-स्थापकता की उपेक्षा न कर निजी मौलिकता के अर्थ उद्ग्रीव रह सका। शेष ? शेष ग्रस्त, ध्वस्त और परास्त हो जाने के कारण उन्मूलित कर फेंक दिये गये। इतिहास इसका साक्षी है और सुधी-समुदाय इसका निर्देशक है।

धार्मिक तत्व

वेद-शास्त्रादि प्रतिपादित विश्व जनीन एक ही धर्म, प्रादेशिक संघर्षों पर विजय पाने के लिये देश-काल-व्यवस्था, सामाजिक संघर्षों पर विजय पाने के लिये वर्ण-व्यवस्था, पारिवारिक संघर्षों से बचाने के लिये तत्तदधिकारानुकूल आश्रम-व्यवस्था और एषणाओं पर विजय लाभ के लिये नित्य-नैमित्तिक काम्य-कर्म आदि कर्त्तव्य व्यवस्था के कारण विविध रूप हो जाता है। त्रिविध गुण एवं विभिन्न परिस्थितियों के विभेद-वश तो

[1] आध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभय विच्छेदः सःस्मृतो आधिभौतिकः॥

इस धर्म में विशेष विभिन्नताएँ विज्ञात होने लगती हैं, जिससे धर्म का वास्तविक मौलिक स्वरूप साधारण कोटि के जन-समाज के मस्तिष्क में नहीं आता। फलतः जहाँ कुछ स्थूल-प्रज्ञ व्यक्ति उसका समन्वय न कर सकने के कारण उसका विरोध करते हुए निष्कारण समाज के संमुख धर्म को एक विभीषिका के रूप में उपस्थित करते हैं, वहाँ स्थित-प्रज्ञ आचार्यवर्य उसके वास्तविक रूप से सामयिक समाज को अपने उपदेशों-द्वारा परि-चित करा उस की उपादेयता का प्रचार करते हैं; तदुपरि आपाततः आगत आवरणों का निवारण करते हैं। उक्त परिस्थितियों को ध्यान-पथ में रख कर जब प्रशस्य धर्म-रहस्य समझने की चेष्टा की जाती है, तभी उसका स्वच्छ सर्वजनीन स्वाभाविक रूप हृदयंगम होता है। अन्यथा वह परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होने लगकर विवाद एवं अव्यावहारिकता का विषय बन जाता है।

"यस्तर्केणानु संधत्ते सधर्मं वेद नेतरः।"

इस वाक्य के 'तर्क' शब्द से यही स्वारस्य प्रकट होता है।

भारतीय काल-गणना के आधार पर निर्धारित चतुर्युग का एक विशेष महत्व है जो देश के मानव-जीवन के व्यापक कार्य-क्रम को परिदर्शित करने वाला एक प्रकार से नैतिक स्तर का सूचक परिपत्र है।

कृतयुग में सामूहिक जीवन-स्तर को सूचित करनेवाले धर्म के चार चरण—तप, शौच, दया और सत्य वर्तमान रहते हैं। त्रेता में तप के अंतर्हित हो जाने पर धर्म त्रिपाद्, द्वापर में तप और शौच के अंतर्हित हो जाने से द्विपाद् और कलि में तप, शौच तथा दया इन तीनों के अंतर्हित हो जाने से वह धर्म एकपाद् माना जाता है। समय-प्रवाह से अंतर्हित धर्म के उक्त साधन तत्तद्युगों में सर्वथा नष्ट न होकर न्यून प्रचार, कष्ट-साध्य एवं फल-दान में प्रायः असमर्थ हो जाते हैं। इसीलिये अपवाद रूप में इनका क्वचित्-क्वचित् अनुष्ठान परिलक्षित होता रहता है।

धर्म का प्रतिपक्षी अधर्म है। उसके भी चार चरण हैं, जो स्मय (गर्व), संग, मद और अनृत के रूप हैं। भागवतीय प्रथम स्कंध के 'पृथ्वी-धर्म संवाद' के अध्यायों में धर्म को 'वृषभ' स्वरूप कहा गया है, जिसका गंभीर वैज्ञानिक रहस्य है। इधर अधर्म, अहंकार किंवा अविवेक रूप होने के कारण, रासभ स्वरूप है। धर्म के चरणों के लिये जहाँ प्रमाण-प्रवृत्ति रूप दो शफों (खुरों) की आवश्यकता है, वहाँ अधर्म प्रवृत्ति रूप एक शफ (खुर) वाला ही है। उसके लिये प्रमाण की आवश्यकता न होकर केवल मात्र प्रवृत्ति ही पर्याप्त है। आप्त शास्त्रों के प्रमाण-वाक्य और आदर्श पुरुषों की प्रवृत्ति के उदाहरण जन-समाज को धर्माचरण के लिये उद्बोधित एवं उत्साहित करते हैं, वहाँ पापाचरण के लिये न तो किसी प्रमाण-वाक्य की अपेक्षा होती है और न प्रवृत्ति के किसी उदाहरण की परमुखापेक्षिता की ही। उसमें स्वाभाविकतया जीवों की प्रवृत्ति हो जाया करती है। अतः इन दोनों के चरणों की विभिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है। संक्षेपतः धर्म द्वि शफ है और अधर्म एक शफ।

सामयिक वैशिष्ट्य

धर्माधर्म की स्थिति एवं प्रचार के लिये देश-काल की अपरिहार्य उपयोगिता है। देशात्मक यह समस्त-धरा-मंडल किसी एक के चार चरणों के ही प्रतिष्ठान के लिये परिमित है। फिर वे चाहे केवल धर्म के हों किंवा अधर्म के अथवा व्यतिक्रम रूप से दोनों के। धर्म और अधर्म यह दोनों स्वकीय स्थिति का विस्तार देश की विशालता के अनुरूप कर लिया करते हैं। क्षेत्र का परिणाह उभय के लिये समान है। इसी प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति भेद से काल भी दोनों के लिये समान है, उसमें किसी एक के लिये पक्षपात नहीं है। युग-प्रवृत्ति में काल-धर्म का संस्थापक और युग-निवृत्ति में वही अधर्म का संस्थापक होता रहता है। इस कारण जहाँ किसी एक के चरणांश की प्रवृत्ति होती है, वहाँ अन्य की स्वतः निवृत्ति होने लग जाती है। प्रकृति परिवर्तन के कारण से ही अपरिच्छिन्न काल कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन अवच्छेदकों (खंडों) के द्वारा वाचा व्यवहृत होता है।

इस कथन का यह निष्कर्ष है कि केवल धर्म के अवच्छेदक काल की संज्ञा 'कृतयुग' है और केवल अधर्म के अवच्छेदक काल की कलि। भागशः दोनों के अवच्छेदक काल को त्रेता और समशः दोनों के अवच्छेदक काल को द्वापर कहते हैं।

"ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्।"

इत्यादि श्रुति इसी अर्थका प्रतिपादन करती है।[1]

उपर्युक्त स्मय, संग, मद और अनृत इन चार चरणों वाले अधर्म-प्रचुर कलियुग में जब कि धर्म का एक ही चरण सत्य, अनृत से बाधित न होकर प्रवृत्तिशील रहता है तो एक ऐसा मनोरम अवसर भी उपलब्ध होता है जो साधन-हीन साधकों के लिये क्षिप्र फल-दायक गिना जाता है। वह समय कलि के आद्य दश सहस्र वर्षों का है।[2]

ब्रह्मांड पुराण में कलियुग के आदिम दश सहस्र वर्षात्मक समय की सार-युक्तता और अवशिष्ट समय की सार-हीनता का युक्ति-पूर्ण विशद वर्णन किया गया है। वहाँ कलियुग को पुच्छ-सहित यव की उपमा देकर उसके प्राथमिक दस हजार वर्षों को 'यवाकारवत्' एवं अवशिष्ट वर्षों को यव की सत्वहीन तुषमात्र पुच्छ के समान बतलाया गया है। जिस प्रकार यव, सत्व-संपन्न होते हुए भी अपेक्षाकृत अत्यधिक अपनी सत्वहीन पुच्छ से अतिशय अल्प होता है, उसी प्रकार कलिका आदिम १०००० वर्षात्मक काल स्वल्प होते हुए भी सत्व-विशिष्ट और अवशिष्ट भाग अधिक होते हुए भी, सर्वथा सार-विहीन है। यहाँ सत्व (सार) का तात्पर्य उस अगाध आध्यात्मिकता से है, जो भारतीय संस्कृति का मेरुदंड है। जिसके बिना उसकी स्थिति सर्वथा असंभव है। निःसत्वता से तात्पर्य उस भौतिकता से है जो मृत कलेवरवत् है।

यव के प्रारंभिक भाग में केवल तुष की एक तीखी नोंक होती है, उसके ऊपरी भाग में तुष और भीतर प्रारंभ में क्रमशः वर्द्धिष्णु सत्व होता है। मध्यभाग में पूर्ण सत्व और अंतिम भाग में क्रमशः क्षयिष्णु सार-भाग होता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति कलियुग की भी कही गई है। कलि की निःसारता धर्मग्लानि और सत्वविशिष्टता उसकी धर्म-स्थिति तथा धर्म-संरक्षण की सूचक है। कलि के प्रारंभिक काल से अद्यावधि घटित धार्मिक इतिहास की घटनाओं का सिंहावलोकन करने से यह कथन अक्षरशः चरितार्थ हो जाता है।

कलि की प्रारंभिक अवस्था में यव की नोंक के समान निःसत्वता। रूप जब धर्म-ग्लानि का समय आया तब धर्म-चक्र के आधिदैविक धर्मी स्वरूप परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण अपने लीलानाट्य का संवरण कर अंतर्हित हो गये। अनंतर उसके आधिभौतिक स्वरूप धर्मराज युधिष्ठिर भी स्वक्रिया-शक्तियों के साथ भूतल का परित्याग कर गये। भागवत में वर्णित 'पृथ्वी-धर्म-संवाद' तथा 'कलि-निग्रह' नामक प्रसंग हमारे सन्मुख इसी वृत्तांत का चित्रपट उपस्थित करते हैं।

इस प्रारंभिक धर्म-ग्लानि के अनंतर यव के समान कलि में क्रमशः सत्व स्वरूप आध्यात्मिक भागवत-धर्म का विकास होने लगा। यद्यपि यव के उपरितन तुष के तुल्य परितः निःसत्वता के कारण समय-समय पर धर्म परिम्लान होता था, पर साथ ही साथ मध्यस्थ सत्व की क्रमिक अभिवृद्धि होते रहने से उसका सर्वथा लोप होना संभव नहीं था। ऐतिहासिक परंपरा के साथ एकवाक्यता करते हुए इस समय का परिचय हमें उस रूप में उपलब्ध होता है जब भगवान बुद्धावतार के द्वारा वैदिक धर्म का उच्छेद हुआ और तदनु नास्तिकता के प्रबल आघात से भौतिक भोगवाद का जन्म हुआ। इसके अनंतर कुमारिल भट्ट, मंडन मिश्र जैसे प्रकांड पंडितों और जगद्गुरु शंकराचार्य के द्वारा वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा से आस्तिकता पनपी, फूली और फली। कठोर कर्मवाद

[1] तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः।
अधर्मांशै स्त्रयो भग्नाः स्मय संगमदैस्तव॥
—भाग० प्र० स्कं० अ० १७।२३ सुबोधिनी

[2] कलौ दश सहस्रेण विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम्।
तदर्द्धं जान्हवीतोयं तदर्द्धं सर्वे देवताः॥
—ब्रह्मांड

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौतद्धरिकीर्तनात्॥
—भागवत प्र० स्कं०-कारिका

की श्रृंखलाओं को तोड़कर जन-जीवन ने ज्ञान-विज्ञान के उन्मुक्त वातावरण में सांस ली। इस परिवर्तन के अनंतर यव की क्रमिक वर्धिष्णु अंतःसारतावत् यथा समय श्री विष्णुस्वामी, उनके सिद्धांत-प्रवर्तक अनेक आचार्य, पूजनीय रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य-आदि ने अवतार लेकर अपने उपदेशामृतसिंचन-द्वारा जीवों के कल्याणार्थ भागवत धर्म की अभिवृद्धि की। यह समय कलि के दो हजार से चार हजार वर्षों के भीतर का माना जा सकता है।[1]

यवाकार के प्रतिरूप कलि का सत्व-विशिष्ट मध्यभाग उसके ४५०० वर्षों के अनंतर ५५०० वर्षों के भीतर मानना चाहिये। इसमें भी अधिक सत्व-पूर्ण विशिष्ट मध्य भाग तो ५००० वर्षों के लगभग ही परिगणित किया जा सकता है। कलि के पांच हजार वर्ष पूरे हो जाने पर यवाकारवत् उसकी क्रमिक सत्वहीन स्थिति का प्रारंभ होने लगता है। अंततोगत्वा निःसत्वावस्था में उसके दस हजार वर्ष पूर्ण हो जाते हैं। अवसान में यव की पुच्छ के समान उसका सार-विहीन अंतिम अधिक लंबा भाग अवशिष्ट रह जाता है। कलि के इस सार-वृद्धि-ह्रास के अनुरूप धार्मिक भावनाओं एवं क्रिया-कलापों में समाज-रुचि का भी वृद्धि-ह्रास होता रहता है। अंत में एक ऐसा भी समय आता है जब केवल मात्र प्रभूत भौतिकवाद ही व्याप्त हो जाता है। सर्वथा आध्यात्मिक भावना से विहीन भौतिकता ही जन-जीवन का उपादेय पुरुषार्थ मानी जाती है। इस समय को पुराण अपनी परिभाषा में 'घोर कलि-काल' नाम से पुकारते हैं।

भारतीय निगमागम के कथनानुसार जन-समाज के लिये कल्याण मार्ग के निर्माण का ऐसा सुअवसर-तथाकथित कलि के आद्यदशसहस्र वर्षों के मध्यभाग जैसा फिर नहीं आता। वास्तव में विक्रम की सोलहवीं शताब्दी, जो उक्त निर्दिष्ट अवधि के भीतर आई—आध्यात्मिकता के लिये सुवर्ण-काल थी। यही तो आर्य जाति के पुनः जागरण का वह उषःकाल था, जब भागवत-मूर्धन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य ने अपने हरि-संकीर्तन की ध्वनि-द्वारा सुषुप्त समुदाय के कर्ण-कुहरों में आत्म-चेतना का परिषेचन किया था। गिरिधर गोपाल के प्रोद्दाम प्रेम-रस में मदमाती मीरा ने आत्मिक-भावना में विभोर होकर अपनी कोमलकांतपदावली गाकर जन-मानस को उल्लसित किया था। रामचरित-मानसकार महात्मा तुलसीदास ने अभिनव उच्च आदर्श स्थापित कर समाज की रग-रग में रक्त का संचार किया था। बाल गोपाल की रूप-माधुरी पर निछावर होने वाले, 'द्विविध आँधरे' भक्त कवि सूरदास ने जगत को साहित्यिक दिव्य प्रकाश प्रदान किया था। इस महापुण्यमय संक्रांति के अवांतर काल में जिन अन्य महानुभावों ने अवतार लिया, उन्होंने अपनी-अपनी साहित्यिक साधना की सुर-सरिता के आध्यात्मिक प्रवाह से समस्त भारत को आप्लावित कर दिया था।

इसी समय जबकि भारतीय सांस्कृतिक-आध्यात्मिक परंपरा को सर्वविध क्रांति ने आक्रांत कर कलुषित कर दिया था, सं० १५३५ वि० में वंदनीय विभूति वल्लभाचार्य का प्राकटच हुआ। इस महापुरुष ने स्वीय करुणापूर्ण वाणी में तत्सामयिक भारतीय मानव-जीवन के रेखा-चित्र को हमारे सम्मुख उपस्थित किया—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खल धर्मिणि।
पाषंड प्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥

[1] **यवाकारः कलिर्ज्ञेयः काल रूपेण केवलम्।**
सपुच्छस्तु यवो ज्ञेयः पुच्छं शुष्कमिति स्मृतम्॥
आद्यं दश सहस्त्रं तु यवरूपं प्रकीर्त्तितम्।
तदूर्ध्वं पुच्छ संज्ञं स्यात् कलिकालंतु नीरसम्॥
तुषाधिकोऽल्पसत्वश्च ह्यादावंते यवो भवेत्।
सत्वाधिको मध्य भागे पुच्छे सारांश वर्जितः॥

—संप्रदायप्रदीपस्थ ब्रह्मांड पुराण-वाक्य

म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्र लोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
नानावाद विनष्टेषु सर्व कर्म व्रतादिषु ।
पाषंडैक प्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
अपरिज्ञान नष्टेषु मंत्रेष्वव्रत योगिषु ।
तिरोहितार्थ दैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।

—कृष्णाश्रय स्तोत्र

अपरिग्रह वृत्ति, सौम्य साधुजीवन को कार्य रूप में प्रतिफलित कर समस्त भारत का त्रिवार पदातिपरिभ्रमण करते हुए प्रसुप्त समाज को उपदेशामृत पिलाकर जागृत किया । सिद्धांत-प्रतिपादन-द्वारा उन्होंने मस्तिष्क को विवेकशील वनाया और विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिये उसके शरीर को सुदृढ़ साँचे में ढाला ।

यौगिक समन्वय

आप श्री ने स्वकीय सिद्धांतों-द्वारा ऐसे मार्ग का प्रचार किया जिसमें न तो कठोर कर्मवाद की जड़ता थी, न थोथे ज्ञानवाद की उलझी हुई पहेलियाँ थीं और न था नीरस भक्तिवाद का आडंबर । यह सत्य है कि भारतीयता ने कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों के योग (कर्म कौशल की समन्वयात्मक पद्धति) को नैज उभय-विध उन्नति का साधन माना था, पर मूल आचार्यों के अनंतर विषयाववोध के लिये विरचित मीमांसा और भाष्यों ने जैसे-जैसे प्रतिपाद्य वस्तु को विशद बनाने की चेष्टा की वह और दुर्ज्ञेय होती गयी ।

कर्म रहस्य की मौलिक धारणा लुप्त प्रायः हो गई और उसके विधि-विधानों, क्रिया-कलापों, आचार-विचारों और बाह्याडंबरों ने समाज-जीवन को इतना ढक लिया कि जहाँ उसके सैद्धांतिक शुद्ध स्वरूप के दर्शन दुर्लभ हो गए वहाँ उस की अवांछनीय अनुशासन प्रणाली से उस को विराग हो गया । ज्ञान-विज्ञान के महान् भार और उस की उलझी हुई पहेलियों को सुलझाते-सुलझाते विचारशील सर्व संन्यास-पूर्वक कर्मक्षेत्र से निर्वासित होकर कैवल्य मोक्ष की साधना में तप्तर हो गये । समाज में संन्यास-धर्म की बाढ़ आ गई । नीरस भक्तिवाद के घटाटोप ने मानव जीवन के लिये एक विचित्र समस्या उपस्थित कर दी जिसके कारण वह उस की 'हेयोपादेयता' को भी न समझ सका, पूजा मार्ग का प्रवाह चल पड़ा ।

फलतः कर्मवाद ने ज्ञान-भक्ति का ; ज्ञानवाद ने कर्म-भक्ति का और भक्तिवाद ने कर्म-ज्ञान की निःसारता का उद्घोष कर दिया था । जिस का परिणाम यह हुआ कि वे तीनों व्यवहार जगत् की वस्तु न रह कर केवल अध्ययन की सामग्री बन गये ।

दूसरे शब्दों में हम उक्त कथन को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जहाँ भारतीय जीवन शरीर, मस्तिष्क और हृदय इन तीनों के सापेक्षिक संतुलन अथच समन्वय से संवलित होना चाहिए था, वहाँ यह तीनों परस्पर विद्रोही बन गये थे । परिश्रमशील शरीर के आगे विज्ञानशील मस्तिष्क और भावनाशील हृदय की कुछ न बन पड़ी । उसने विचार और विवेक के नियंत्रणको मानने से जहाँ विद्रोह कर दिया, वहाँ भावुकता को कायरता का रूप मान कर उसे तिलांजलि दे बैठा । विचारशील मस्तिष्क ने शारीरिक नश्वरता का इदमत्थतया निर्णय कर आत्मिक कोमल भावनाओं को तर्क के द्वारा ऐसी ठोकर लगाई कि वे फिर पनप न सकीं । हृदय ने भी अपने को उभयतः असहाय पाकर श्रम और विचार दोनों से अपना पिंड छुड़ा लिया, वह भावुकता का अपना अलवेला अलग वजाने लगा ।

प्रथक्-प्रथक् वर्ग की स्थापना और उसकी स्वतंत्रता समाज के लिये घातक हो जाती है, यदि उसमें संभूयसमुत्थान के सौष्ठव का सर्वथा लोप हो जाय । वे एकांगीवर्ग अन्य का सहयोग न पाकर जहाँ स्वयं विनष्ट हो जाते हैं, वहाँ दूसरे वर्ग के विनाश के लिये भी वे कारण छोड़ जाते हैं । अतः समय की आवश्यकता थी कि उक्त तीनों सिद्धांतों का संकलन एवं यथोचित उपयोग किया जाय और उनके मौलिक समन्वय से जन-जीवन को आगे बढ़ने के लिये सक्षम बनाया जाय ।

इस प्रकार की सामयिक परिस्थिति के पर्यालोचन के अनंतर आचार्य महाप्रभु श्री वल्लभ ने जिस सिद्धांत की नींव डाली, उसे वाद-विवादों और समर्थ-विद्वानों की शास्त्रार्थ-सभाओं में प्रतिपादित वैदिक पद्धति पर प्रतिष्ठित 'शुद्ध-अद्वैतवाद' कहा जाता है। सिद्धांत और उपदेश-ग्रंथों में इसे शास्त्र-रीत्या प्रतिपादित 'निर्गुण-भक्ति' मार्ग कहते हैं और स्थापित सेवा-प्रणाली के रूप में हार्दिक भावना के अनुरूप 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। इस मार्ग में शारीरिक, मानसिक उभयविध शुद्धि के लिये कर्म की आवश्यकता है, अंध श्रद्धा के विनिवारण एवं विवेक-पूर्ण आचरण के लिये ज्ञान-मार्ग की उपादेयता है और उच्छृंखलता एवं पाषंड के अपाकरणार्थ वैष्णव-शास्त्र में प्रतिपादित भक्तिमार्ग की उपयोगिता है। नारद पंचरात्रादि वैष्णव-शास्त्रों में निर्णीत भक्तिमार्ग त्रिगुण पर अवलंबित होने के कारण सगुण भक्तिमार्ग कहा गया है। गुणत्रय से परे शुद्ध अंतःकरण की अभिव्यक्तिको—जिसे शमदमोपेत मानसिक निर्मल संवेदना किंवा आध्यात्मिकता की कोमल भावनाएँ कहा जा सकता है—विशेष प्रश्रय देने के कारण वल्लभाचार्य के सिद्धांत को निर्गुण[1] भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिमार्ग[2] यह संज्ञा प्रदान की गई है।

वास्तव में अमुक वस्तु में गुण और दोष की बुद्धि करना ही दोष-बुद्धि है और इन दोनों से रहित उसके शुद्ध रूप की बुद्धि करना ही गुण-बुद्धि है—यही निर्गुणता की दृष्टि है। निर्दोष सम ब्रह्मकी सृष्टि में परमार्थतः दोष और गुण वस्तुगत न होकर बुद्धिगत हैं जिनका पदार्थों पर आरोप कर लिया जाता है।[3] गुणबुद्धि से की गई प्रवृत्ति और दोषबुद्धि से की गई निवृत्ति इन दोनों मे ऊपर उठकर असक्त बुद्धि से की गई अनवच्छिन्न भगवद्विषयक मनोगति ही इस पुष्टि-मार्ग का मूल कारण है। येनकेनाप्युपाय से की गई ईश्वर-विषयक मनोगति में गुण-दोष-बुद्धि के अवरोधक साधन नहीं आने चाहिये। गंगा-प्रवाहवत् शाश्वत आनंदोदधि में लीन होने के लिये जिस मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही भगवत्कृपामार्ग है, अनुग्रहमार्ग है, पुष्टिमार्ग है।

प्रामाण्य परिदर्शन

महाप्रभु श्री वल्लभ-द्वारा संस्थापित शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग, किसी नवीन कल्पित धारणा के आश्रय एवं उच्छृंखलता के अभिशाप से उसे सुरक्षित रखने के लिये ही किसी शास्त्रीय वाक्य-प्रामाण्य पर अवलंबित नहीं किया गया है, अपितु भारतीय सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परंपरा की सुरक्षा के लिये उसे उसी साँचे में ढाला गया है जिसमें उनके पूर्ववर्ती महर्षि उसे ढालते आये थे।

चारों वेद, जो सत्य के संशोधक, ईश्वरीय निःश्वास रूप एवं ज्ञान-विज्ञान के अनंत भंडार होने के कारण स्वतः प्रमाणमूर्धन्यता को प्राप्त हो चुके हैं, शब्दशः प्रमाण हैं। परस्पर प्रश्नोत्तर-रूप अन्य वाक्यों को छोड़ कर गीतोक्त श्रीकृष्ण-वाक्य, ज्ञानावतार महर्षि वेदव्यास कृत ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) और महापुराण सात्वतसंहिता भागवत की समाधिभाषा, इस प्रमाण चतुष्टय की भित्ति पर इस अनुपम भक्ति-सिद्धांत का प्रासाद खड़ा किया गया है।[4]

[1] **त्रैगुण्य विषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन ॥**—गीता

[2] **भागवत शास्त्रके अपरिज्ञान के कारण कुछ अतिविमलप्रज्ञ संप्रदाय की वर्तमान कालिक स्थिति को देखकर 'पुष्टि' शब्द का विकृत अर्थ कर इस भक्तिमार्ग को भोग-विलास का पंथ बतलाते और उसे उपहासास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं, पर वे "विषायाक्रांत देहानांनावेशः सर्वथा हरेः" (संन्यास निर्णय) तथा "काम क्रोधौ हरि प्राप्ति-प्रतिबंधक पर्वतौ"—इत्यादि सिद्धांत-वाक्यों पर दृष्टि निक्षेप नहीं करते। पुष्टि शब्द का तात्पर्य "पोषणं तदनुग्रहः" से ईश्वरीय अनुग्रह का अर्थ होता है।**

[3] **गुण दोष दृशि दोषः गुणस्तूभयवर्जितः** ।—भागवत तृतीय स्कंध

[4] **वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।**
समाधिभाषाव्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥

—शास्त्रार्थ-निबंध

वल्लभाचार्य के पूर्ववर्ती सिद्धांत-स्थापक अन्य आचार्यों ने वेद, गीता एवं व्याससूत्र को ही प्रमाण मान कर प्रस्थानत्रयी की परिपाटी चलाई थी, पर श्री वल्लभ ने आध्यात्मिक ज्ञान के अगाध वारिधि भागवत की प्रामाणिकता का अपलाप नहीं किया। निगमकल्पतरु के देव-दुर्लभ अमृत-द्रव संयुत, परमहंस शुक-मुख से आस्वादित इस सुपक्व फल की मधुरिमा से कैसे वंचित रहा जा सकता था? जिसका आविर्भाव ही निःसाधन, दीन, हीन, स्त्री, शूद्र, द्विज-बंधुओं के लिये ही हुआ था। श्री भागवत को प्रमाण-कोटि में सन्निविष्ट कर आचार्य वल्लभ ने जहाँ प्रस्थान चतुष्टय-कोटि का आविष्कार किया था, वहाँ उसका एक तात्विक उपयोग भी था।

अल्पायुष्ट्व रूप सहज दोष, चित्त जाड्य (आलस्य), मंदमतित्वरूप ज्ञानेंद्रिय दोष तथा मंदभाग्यता रूप अदृष्ट दोष इन चतुर्विध आगंतुक दोषों से परिग्रस्त मानव-देहधारी जीवों के लिये सुस्पष्ट रूप से वैदिक रहस्य को समझ लेना जहाँ सरल नहीं था[1] वहाँ उसके परिज्ञान में पदे-पदे उद्भूत संदेहों के निवारण का साधन भी सुदुर्लभ था। एतदर्थ वल्लभाचार्य ने गीता के श्री कृष्ण-वाक्यों का आश्रय लिया। गीता के संशयों की निवृत्ति के लिये व्यास-सूत्रों और उसमें उद्गत शंकाओं के अपाकरणार्थ सात्वत-संहिता भागवत शास्त्र को अवलंब बनाया।

इस प्रकार चारों की एक वाक्यता-द्वारा प्रतिफलित सिद्धांत पुष्टिमार्ग के रूप में स्वीकार किये गये। श्रुति-वाक्यों की विविधता, स्मृतियों के बाहुल्य, मुनियों के प्रथक्-प्रथक् मतों की विभिन्नता के कारण धर्म का सहृदय हृदयैकसंवेद्य-तत्व किसी अज्ञात गुहा में निहित हो गया था। प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की कसौटी एक कठिन समस्या थी, जिसका कोई हल नहीं था। वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र इन तीनों की परस्पर विसंवादी प्रतीत होने वाली उलझी हुई गुत्थी आचार्य वल्लभ ने सर्वसंदेह-संदोहवारक भागवत शास्त्र के द्वारा सुलझाई और उक्त प्रमाण चतुष्टय की एकवाक्यता से इंच भर भी विरुद्ध जानेवाले विचार की अग्राह्यता, अथच इससे अविरुद्ध सभी विचारों की मान्यता का निःशंक समर्थन किया।[2]

भागवत-वैशिष्ट्य

अशेष संशयोच्छेदक भागवत के अभिप्राय परिज्ञानार्थ आचार्य महाप्रभु ने एक विशिष्ट व्याख्यान-शैली को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि भागवत एक शास्त्र है, जिसमें कई स्कंध हैं। स्कंधों में कई प्रकरण, उनमें कई अध्याय और अध्यायों में कई श्लोक (वाक्य) हैं। वाक्यों में पद और पदों में कई अक्षर हैं। अतः जिस प्रतिपाद्य विषय का भागवत में प्रतिपादन होता है, उसकी निःसंदिग्धता के लिये शास्त्र, स्कंध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य और पद तथा अक्षर इन सातों के अर्थों की एक वाक्यता होना नितांत आवश्यक है। यदि वे सभी एक दूसरे से विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, एक दूसरे से विसंवादी हो जाते हैं, तो भागवत की मौलिकता, प्रामाणिकता और सर्वसंदेहवारकता ही क्या? अविरोध-पद्धति से सात प्रकार से प्रतिपादित एकार्थ की ही परि-

[1] **प्रायेणाल्पायुष सभ्य : कलावस्मिन्युगे जनाः ।**
मंदाः सुमंदमतयो मंद भाग्याह्यु पद्रुताः ॥
—भाग० प्र० स्कं० ५ अ० १० श्लोक सुबोधिनी

[2] **उत्तरं पूर्व संदेह वार कं परिकीर्तितम् ।**
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं नतन्मानं कथंचने ॥

अविरुद्धं तु यत्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ॥८ ॥

अर्थोऽयमेव निखिलैरपिवेद वाक्यैः—
रामायणैः सहित भारत पंच रात्रिः ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्व सूत्रैः—
निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥१०८ ॥
—शास्त्रार्थ-निबंध

पुष्टि होनी चाहिये।[१] ऐसा होने पर ही भागवत-ज्ञान का परम फल प्राप्त हो सकता है। यह परम फल अहंताम-मतात्मक संसार के नाशके अनंतर होने वाली जीव की स्वरूपावस्थिति है और यही कृतार्थता अथवा मुक्ति है। पंचपर्वा अविद्या के द्वारा जीव ने आत्मस्वरूप को विस्मृतकर जो अन्यथा स्वरूप-ज्ञान कर लिया है उससे छुटकारा पाकर परमानंद की प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है।[२]

यहाँ यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि सच्चिदानंद की लीलात्मक सृष्टि सद्‌रूप प्रपंच एक नित्य कारण का कार्य है, जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और नाश नहीं। अहंताममतात्मक संसार एक मानसिक भावना है, जिसका ज्ञान के द्वारा निराकरण करना स्वरूपावस्थान (मोक्ष) के लिये अपरिहार्य है। सद्‌रूप प्रपंच अविकृत परिणामवाद-रूप में ब्रह्म कारण का कार्य होने से ब्रह्मरूप है और अहंताममतात्मक संसार अविद्या का कार्य होने से त्याज्य है। मुक्ति में संसार का तो लय हो जाता है, पर प्रपंच का नहीं।[३]

श्री महाप्रभु ने भागवत के शास्त्र, स्कंध, प्रकरण, अध्याय-आदि सातों के अर्थ का समन्वय कर उसी भागवत-तत्व-विज्ञान की पुष्टि की जो अविरोध रूप में एक दूसरे में अनुस्यूत होता चला जाय। 'भागवतार्थ-निबंध' ग्रंथ में महाप्रभु ने शास्त्र, स्कंध और प्रकरण इन तीनों की एकार्थता का और भागवत-सुबोधिनी में अध्याय, वाक्य, पद और अक्षरों की उसी एकार्थता का प्रतिपादन किया है। फलतः भागवत-शास्त्र का अर्थ सच्चिदानंद, अक्लिष्ट कर्मा, परमात्मा, श्री हरि की आनंदमयी लीला का वर्णन ही है।

इस भागवत में त्रिविध भाषाओं का वर्णन है। 'भाषा' शब्द से तात्पर्य व्याख्यान से है, अर्थात् इस अनुपम ग्रंथ-रत्न में 'लौकिक', 'परमत' और 'समाधि' नामक तीन भाषाओं में शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन हुआ है। प्रस्तुत भाषात्रय का परिज्ञान कोई जटिल प्रश्न नहीं है। साधारणतया (१) जिस स्थल में लौकिक विषयों का प्रसंगवश वर्णन हुआ है, वह लौकिक भाषा है—जैसे पुर, ग्राम, नगर-यात्रादि का वर्णन और नागरिक जीवन का उल्लेख। (२) सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए जहाँ अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख किया गया है, वहाँ 'परमत भाषा' मानी गई है और (३) महामुनि वेद व्यास ने स्वयं समाधि में अनुभव कर जिस सिद्धांत का निरूपण किया है वह 'समाधि-भाषा' कही जाती है। संक्षेपतः 'लौकिक' और 'परमत' भाषा (व्याख्यान) को छोड़ कर अवशिष्ट भागवतीय सिद्धांत 'समाधि-भाषा' कही जाती है। उक्त दोनों भाषाएँ समाधि-भाषा की पोषिकाएँ हैं। अतः उन-उन भाषाओं के वक्ताओं के अभिप्राय परत्वेन उन को प्रमाणि कोटि में गिना जा सकता है। साक्षात् प्रतिपादित सिद्धांत के संबंध में समाधि-भाषावत् उनका प्रामाण्य नहीं माना जाता। इन दोनों भाषाओं का स्पष्टतया उल्लेख आचार्य ने स्वनिर्मित सुबोधिनी में तत्तत्स्थलों पर कर दिया है।[४]

[१] **शास्त्रे स्कंधे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे।**
एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते ॥२॥
—भागवतार्थ-निबंध

[२] **अहंता ममता नाशे सर्वथा निरहंकृतौ।**
स्वरूपस्थो यदाजीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥
—षोडश-ग्रंथ

[३] **प्रपंचोभगवत्कार्यस्तद्रूपो मायया भवत्।**
—शास्त्रार्थ-निबंध
संसारस्यलयोमुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित् ॥
—षोडश-ग्रंथ

[४] **एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामित तेजसः।**
लौकिकीचान्य भाषा च समाधेः पोषिकेतु ते ॥
ते प्रमाणमभिप्रायात्सर्वथा पूर्ववन्नहि ॥ १२ ॥—भागवतार्थ-निबंध

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वल्लभाचार्य के प्रतिपादित यावन्मात्र सिद्धांतों की मौलिकता आध्यात्मिक स्वरूप में भागवत की समाधि-भाषा पर आकर अवलंबित हो जाती है। जिसके परिज्ञान से सर्वसंदेह-निवारण पूर्वक वास्तविक तत्व का परिज्ञान होता है।

इस समाधि-भाषा का समस्त व्याख्यान शुद्ध-अद्वैत साकार ब्रह्मके प्रतिपादन, उसकी सर्वोत्तम शक्ति-रूप माया के निरूपण, इस शक्ति के द्वारा सर्वत्र होने वाले संमोह एवं उससे मोचन करानेवाली भक्ति के सांगोपांग वर्णन में समाविष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार आधिभौतिक रूप में यावन्मात्र ब्रह्मांड रूप में अवस्थित आधिदैविक रूप में अंतर्वहि व्याप्य-व्यापकतया विद्यमान एवं तदतिरिक्त अचिंत्य, अनंत शक्तिमान् वाङ्मनोगोचरातीत रूप में अवशिष्ट, अथच आध्यात्मिक रूप में सर्वांतर्यामी, रसस्वरूप, परिपूर्ण, आत्मकाम, आनंदमय उस परमात्मा सर्वदुःख-हर्ता श्री हरिकी लीलाओं का प्रतिपादन संपूर्ण भागवत का शास्त्रार्थ है।

इस समग्र शास्त्र में बारह स्कंध हैं, जिन में तृतीय से लेकर द्वादश स्कंध तक दस स्कंधों में (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊति, (६) मन्वंतर, (७) ईशानुकथा, (८) निरोध, (९) मुक्ति और (१०) आश्रय इन दशविध लीलाओं का वर्णन किया गया है।[2] अचिंत्य, अनंत शक्तिमान् परब्रह्म की शक्ति-द्वारा व्यापक ब्रह्मांड में प्रतिक्षण अनायास ही घटित होनेवाली क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का नाम ही भागवत शास्त्र में 'लीला' है। समस्त भागवत में इन्हीं लीलाओं का प्रतिपादन है, जैसे—

(१) इन ईश्वरीय लीलाओं के अभिज्ञानार्थ अधिकारी श्रोता और वक्ता के लक्षणों का परिज्ञान आवश्यक है, अतः प्रथम स्कंध में इसका इदमित्थतया निरूपण किया गया है।

(२) द्वितीय स्कंध में भागवतीय रहस्य-ज्ञान के लिये अपेक्षित साधनों का निरूपण है। जिसमें तत्व-ध्यानहृत्प्रसाद और मनन इन तीन प्रकरणों का १० अध्यायों में विश्लेषण किया गया है।

(३) 'सर्ग' (भौतिक सृष्टि) लीला प्रतिपादक तृतीय स्कंध में लौकिक-बंध-सृष्टि और अलौकिक-मुक्त-सृष्टि इन दो प्रकरणों का ३३ अध्यायों में विस्तार है।

(४) 'विसर्ग' (दैव-सृष्टि) लीला प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ स्कंध में चतुर्विधपुरुषार्थ के चार प्रकरण हैं, जिन के अंगोपांगों का वर्णन ३१ अध्यायों में हुआ है।

(५) 'स्थान' (सर्वोत्कृष्टता) लीला के प्रतिपादक पंचम स्कंध में प्राकृत पदार्थ जय और आत्म-जय नामक दो प्रकरणों का वर्णन २६ अध्यायों में हुआ है।

(६) 'पोषण' (पुष्टि—भगवदनुग्रह) लीला के निरूपक षष्ठ स्कंध में नाम, ध्यान और अर्चन नामक तीन प्रकरण हैं, जिन का १९ अध्यायों में वर्णन है।

(७) 'ऊति' (कर्मवासना) लीला निरूपक सप्तम स्कंधमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप त्रिविध कर्म अथवा असद्वासना, सद्वासना और मिश्रित वासना इन त्रिविधि-वासनाओं का विश्लेषण १५ अध्यायों में है।

(८) 'मन्वंतर' (सद्धर्म) लीला निरूपणात्मक अष्टम स्कंध है। जिसमें हरिस्मरण, दान, स्वोक्त निर्वाह तथा मत्स्यचरित्र नामक चार प्रकरण और २४ अध्याय हैं।

[1] साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा।
तया सर्वत्र संमोह साक्षाद्भक्तिश्चमोचिका॥

[2] आनंदस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधाहिसा
अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वंतरेशानु कथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि।
—भागवतार्थ-निबंध

(९) **'ईशानुकथा' नामक लीला के निरूपक नवम स्कंध में ईश और उसके अनुवर्ती भक्तों के चरित दो प्रकरणों में वर्णित हैं, जिसमें २४ अध्याय हैं ।**

(१०) **'निरोध' (आत्मशक्तियों के साथ ब्रह्मकी स्थिति) लीला-निरूपक दशम स्कंध में—जन्म प्रकरण, तामस प्रकरण, राजस प्रकरण, सात्विक प्रकरण और गुण प्रकरण ऐसे पाँच प्रकरण हैं, जिसके विभागों का वर्णन ८७ अध्यायों में किया गया है । वत्स-हरण-प्रसंग के तीन अध्याय प्रक्षिप्त माने गए हैं ।**

(११) **'मुक्ति' (मोक्ष—स्वरूपावस्थान) लीला निरूपक एकादश स्कंध में जीव-मुक्ति और ब्रह्म-मुक्ति दो प्रकरण हैं, जिसमें ३१ अध्याय है ।**

(१२) **'आश्रय' (सर्वाधिष्ठान) लीला के प्रतिपादक द्वादश स्कंध में कृष्णाश्रय, जगदाश्रय, वेदाश्रय, भक्तियोगाश्रय तथा भागवताश्रय नामक पाँच प्रकरणों का समावेश १३ अध्यायों में किया गया है ।**

अधिकारी नर-समाज की श्रेयोबुभुत्सा और कर्तव्य-विधित्सा को लक्ष्य में रखकर भागवत-सिद्धांत में जिन त्रिविध कर्म, ज्ञान और भक्ति के योगों का आविष्कार किया गया था,[१] वल्लभाचार्य के पूर्व उसका कोई समन्वयात्मक प्रत्यक्ष आकार व्यवहार रूप में दृष्टिगत नहीं होता था । अद्यावधि कर्म, ज्ञान, भक्ति इस त्रितय का एकीकरण शरीर, मस्तिष्क और हृदय के सामंजस्य रूप में प्रफिलित नहीं हो पाया था—भगवती गीता का त्रिविध योगोपदेश अपना प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दे पाया था ।

गीता-सिद्धांत के अनुसार कर्मक्षेत्र (भू मंडल) में अवतरित कोई भी जीव जब क्षण भर भी 'अकर्मकृत्' होकर नहीं रह सकता तो सर्वतोभावेन उसका त्याग किस प्रकार संभव है ? अतः कहा गया है कि अनासक्ति योग (फलाभिसंधिराहित्य) पूर्वक कृष्णार्पणता की वृद्धि ही उस का उपयोग है । अतः बाह्याभ्यंतर शुद्धि जिसमें त्रिविध कर्म-फलों के वासना-संशोधन का भी समावेश हो जाता है के निमित्त कर्म करते रहने की नितांत आवश्यकता है । तात्विक वस्तु-परिज्ञान के अतिरिक्त गंतव्य पथ, उपादेय लक्ष्य और प्राप्तव्य पुरुषार्थ की प्राप्ति सर्वथा असंभव है । हेयोपादेयता एवं इतिकर्तव्यता का परिज्ञान भी नितरां आवश्यक है । ऐसी अवस्था में कर्म-ज्ञान दोनों की संशोधित रूप में स्वीकृति से विमुख नहीं हुआ जा सकता । साधन रूप गुणात्मिका भक्ति के सतत अनुष्ठान से ही गुणातीत साध्य भक्ति की उपलब्धि होती है ।

फलतः वल्लभाचार्य के सिद्धांत में उभयविध शुद्धि के अर्थ शास्त्रोदित कर्म करने की, सच्चिदानंद पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण के लीला माहात्म्यावबोध के लिये ज्ञान की एवं विधिनिषेधात्मक रूप में प्रतिपादित शास्त्रीय साधन-रूपाभक्ति की आवश्यकता का निर्देश है । ऐसी अवस्था में ही परमप्रेमरूप व्यसनात्मिका (एकतानता) रूप साध्य (फलरूपा) निर्गुणभक्ति की सिद्धि हो सकती है । सर्वतः-पर अभीष्ट वस्तु में गंगा के अविच्छिन्न प्रवाह के समान अहैतुकी और अव्यवहित चित्त की सतत एकतानता का नाम ही निर्गुणता है ।[२]

आनंदघन परब्रह्म श्रीकृष्ण विषयक उक्त सतत मानसी भावना के लिये (चित्त की तत् प्रवणता प्राप्त करने के लिये) आचार्य महाप्रभु ने तनुजा (शारीरिक) और वित्तजा (आर्थिक) सेवा को साधन रूप से ग्रहण किया है । तनुजा-वित्तजा इस उभयविध सेवा के सतत आचरण से मानसी (आध्यात्मिक) सेवा-भावना

[१] **योगास्त्रयो मयाप्रोक्ताः नृणांश्रेयोविधित्सया ।**
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कश्चन ।।
—भागवत एकादश स्कंध २० अ०

[२] **मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।**
मनोगतिरविच्छिन्ना यथागंगांभसोऽम्बधौ ।।
लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्यह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।
—भागवत ३।२९।११-१२

की प्राप्ति होती है और ऐसा करने से ही सांसारिक दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानंद रूप ब्रह्म-बोधन होता है। इस मार्ग में दुःखाभाव और सुख-प्राप्ति यह दो पुरुषार्थ माने गये हैं।[1]

अधिकारिता

इस स्वकीय सिद्धांत की स्थापना वल्लभाचार्य ने जिस जिज्ञासु-वर्ग के लिये प्रतिष्ठापित की है, उसकी कक्षा उन सांसारिक जीवों की अपेक्षा बहुत ऊंची है, जो भौतिक आवरण में आच्छन्न होने के कारण अतःपर किसी अनंत, अविकारी अजर, अमर आनंद-रूप आत्मिक वस्तु का दर्शन नहीं कर सकते। ऐसे जीवों को "प्रवाहमार्गस्थजीव"–संज्ञा दी गई है। अहंता, ममता की गर्हित सांसारिक आवागमन एवं भोग-विलास की एषणा के चक्र में पड़े रहना अथवा तदुत्पादक कारणों का आश्रय लिये रहना ही जिन का एकांततः स्वभाव-सा बन गया है–गीता की दृष्टि में द्विविध सृष्टि के अंतःपाती वे आसुरी संपद् के जीव हैं और तदातिरिक्त दैवी संपद् क।

ऐसे भौतिकवाद को प्रश्रय देने वाले किंवा तदीय रस में आपादचूड निमग्न रहने के अभिवलाषुक जीवों का इस पावन पंथ में समावेश नहीं हो सकता। तुच्छ विषय रस के कीटाणु स्वच्छ आनंदांबुनिधि क अमृत रसास्वादन में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ?

शुद्धाद्वैत का सिद्धांत, भक्ति-मार्ग की सरणि, पुष्टि का अनुपम पंथ उन्हीं अधिकारी जीवों के उपयोग की वस्तु है जो गीता के मतमें दैवी-संपद् में अभिजात हुए हैं। स्वभाव, प्रकृति की अपेक्षा अधिक, वेद-शास्त्रादि ? विहित अलौकिक-आध्यात्मिक-कार्य करने वाले विशुद्ध सात्विक पुरुष ही इसके अधिकारी हैं। दैवी संपत्ति के गुणों से विभूषित अथवा जिनकी हृदय-भूमि में इन गुणों के बीज विद्यमान हैं वही भगवत् सेवक हैं, वही निष्काम होने के कारण मुक्ति के अधिकारी हैं। ऐसे अधिकार से संपन्न मानवों के—जिन्होंने एतदर्थ ही चरम शरीर प्राप्त किया है, अंतःकरण में इस आध्यात्मिक तत्व का प्रतिफलन हो सकता है।

इस आध्यात्मिक तत्व-प्राप्ति की योग्यता के लिये सत्वपरिमार्जित बुद्धि, मानवीय जीवन की उपयोगिनी पूर्ण स्वस्थ आयु, सहज और आगंतुक दोषों का अभाव एवं बीज-भाव से विद्यमान भगवद्‌विषयक सुदृढ़ सर्वतोऽधिक स्नेह, ये आवश्यक गुण माने गये हैं। जिसमें ये गुण नहीं है उसे भला अधिकारिता क्या प्राप्त हो सकती है[2] ?

भागवतशास्त्र के अनुसार इस सदनुष्ठान में सबसे अधिक फल का बाधक 'मद' (दर्प) है। इसका उल्लेख अधर्म के चार चरणों के रूप में किया जा चुका है। साधारणतया जब इस मद का स्वल्पांश भी मानसी-सेवा (आध्यात्मिक भावना) के अनुसरण में बाधक हो जाता है तब यदि वर्द्धमान-दशा में यह विद्यमान हो तो फिर इसकी उग्रता का क्या कहना ? उच्चकुल में प्राप्त जन्म, राज्यादि के द्वारा अधिगत ऐश्वर्य, शास्त्राध्ययनोत्थ ज्ञान, एवं विभूति-रूप में समागत श्री के द्वारा यह मद अभिवृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि सत्कुलीन जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्राध्ययन-आदि सद्‌गुण परमार्थ साधना में सहायक हैं, परंतु वे ही अविवेक-वश मदोत्पादक हो जानेके कारण अधःपात के आदि कारण हो जाते हैं। दृष्टांततया तंडुलादिधान्य ओदन के रूप में पितृ-देव-मनुष्यों को तृप्ति-जनक अथच अमृत-स्वरूप होने पर भी विकृत अवस्था में मदिरा-रूप में पर्यवसित होने पर त्याज्य हो जाते हैं, एतावता उसका संग्रह अपेक्षणीय नहीं हो सकता। इसी प्रकार आसुरी

1. **कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता ।**
   चेतस्तत् प्रवणं सेवा तत् सिद्धयै तनुवित्तजा ।।
   ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिब्रह्मबोधनम् ।। —सिद्धांत-मुक्तावली
   दुःखाभावः रुषार्थ खंद्वपुसुचैवयं मतम् । —सर्वनिर्णय-निबंध
2. **सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ।**
   भवांत संभवा दैवा स्तेषामर्थे निरूप्यते ।।
   बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः ।
   यस्य नैते भविष्यंति तस्य ना स्याधिकारिता ।।
   —शास्त्रार्थ-तत्वद्वीप-निबंध

संपद् के समावेश से जन्म, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा श्री भी उन्मादक हो जाते हैं। जो शुद्ध गोत्रोद्भवता अविकृत रूप में कहीं अधिक अधिकारिता से संयुक्त हो सकती थी, वह ऐश्वर्य जो—अपने अविकृत रूप में धार्मिक प्रशासन का कारण हो सकता था—मद-संवलित हो जाने से लोकोद्वेजक हो जाता है। वह शास्त्र-ज्ञान जो सौशील्य एवं विवेक का आश्रय पाकर जनता का सन्मार्ग-दर्शक हो सकता था, मदाभिभूत होने से वितंडावाद का कारण और असत् मत का संस्थापक हो जाता है। वह श्री, जो अपने लोकोत्तर निर्मलरूप में लोकोपकारिणी हो सकती है मदाधिष्ठित होने से विलासोत्पादिका और कुमार्ग-गामिनी हो जाती है[1]।

इस प्रकार के किसी भी मद से आविष्ट पुरुष जो, उस मद की पक्वावस्था में आगे चलकर आप्त सज्जन-गुरु-आदि के द्वारा भी अनियम्य हो जाते हैं, इस भक्ति-मार्ग के अनधिकारी गिने गये हैं। वे किसी सत्कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनका ऐश्वर्य देवस्थानीय है, उनका शास्त्रीय ज्ञान गंभीर है, उनकी श्री परोपकार-क्षम है आदि हेतु उनकी मदाविष्टता के कारण संग्राह्य नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियों की अधिकारिता का स्वरूपतः निराकरण नहीं किया जाता, क्योंकि भक्ति-मार्ग सर्व सुलभ है, उन्मुक्त कपाट है, फलतः केवल उनकी अनधिकारिता सिद्ध होती है। संक्षेपतः अनधिकारिता का कारण ऐसे पुरुषों के हृदय में भगवदावेश का अभाव ही है। उनके मुख से होने वाला ईश्वरीय गुणानुवाद परमार्थतः न होकर व्यवहार मात्र होता है। अतः भक्ति-मार्ग की अधिकार सिद्धि के लिये विषयों का सर्वथा त्याग, दुःसंग का परिवर्जन, काम-क्रोध-मदादि आसुरी-संपद् के लक्षणों का राहित्य और शम-दमादि दैवी संपद के गुणों का आविर्भाव अत्यावश्यक है[2]।

ब्रह्म-संपत्ति

भक्तिमार्ग की अधिकार-प्राप्ति में मानवता की दृष्टि से निराकरणीय जहाँ कई स्वयंभावित मानसिक अवरोध हैं, वहां उसकी सर्व सुलभता का भी लोप नहीं हो जाता। सत्कुलीन जन्म, उच्च जाति, कमनीय रूप, उदात्त विद्या, विपुल धन, पवित्र देश और अनुकूल काल-आदि किसी प्रकार की साधन-संपत्ति की सापेक्षिता उसके लिये अनिवार्य नहीं है—आत्मा से संबंधित होने के कारण यह मानव-जीवन तक ही परिसीमित नहीं है। इसमें व्यावहारिक जगत् की नीचातिनीच और उच्चातिउच्च परिगणित कक्षाओं की जीव-श्रेणी का समानाधिकार है[3]। अनात्म्य धर्मों से असंपृक्त आत्मा और हृदय जहाँ भी विद्यमान है वहीं अंकुरित ईश्वरीय प्रेम-बीज अनुकूल वातावरण पाकर पनप सकता है। सुदृढ़ एवं सर्वतोऽधिक होने तक उस स्नेह-लतिका को विपरीत वातावरण से सुरक्षित रखने के लिये साधनों की आवश्यकता आ पड़ती है। इसीलिये शास्त्रीय साधनानुष्ठान की महत्ता का

[1] जन्मैश्वर्यश्रुत श्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचन गोचरम्॥२५॥
—भागवत १।८।२५ सुबोधिनी

[2] न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिंचनेषु सत्सु॥
—भागवत ४।३१।२१

दैवी संपद् विमोक्षाय निबंधायासुरी मता॥
—गीता १६।५

[3] देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गंधर्व एव च।
भजन्मुकुंदचरणं स्वस्तिमान्स्याद् यथा वयम्॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वंवासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुंदस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
—भागवत ७।७।५०-५१

खगामृगाः पापजीवाः संति ह्यच्युततांगता॥
—भागवत ७।७।५४

यत्र-तत्र प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा तो यह मार्ग निःसाधन जनोद्धारक ही है। गुणात्मक विधि-निषेध तो देह-इंद्रियों के ही संबंधी हैं, निर्गुण आत्मा के लिये परमार्थतः इनकी आवश्यकता नहीं हैं।

रस-स्वरूप आनंदमय परमात्मा की लीला-सृष्टि में तारतम्य का कारण केवल मात्र उसकी इच्छा ही है। सजातीय, विजातीय, स्वगतद्वैतवर्जित उस ब्रह्म के संबंध में किसी अन्य वस्तु की व्यवधान-सत्ता का स्वीकार करना कोई महत्व नहीं रखता। अतः उसकी इच्छा ही एकमात्र कारण है। विभिन्नता एवं वैचित्र्य का अपर नाम ही सृष्टि है। जहाँ एक रसता और एक रूपता है वहाँ सृष्टि कैसी? दृष्ट-दृश्यत्व, ज्ञातृ-ज्ञेयत्व, प्राप्त-प्राप्तव्य इन भेदाऽसहिष्णु अभेदों का मौलिक कारण सर्वकाम परब्रह्म की वह कामना है जो सृष्टि के आदि में अभिव्यक्त होती है[1]। वैदिक सृष्टि-पद्धतिके अनुरूप जगत् को निरानंद, जीवों को गुप्तानंद और ब्रह्म को पूर्णानंद की स्थिति में अवस्थित माना गया है। ऐसी परिस्थिति में अपने खोये हुए आनंद की संप्राप्ति के लिये स्पृहयालु तथाच प्रयत्नशील होना जीवात्मा का स्वाभाविक कर्तव्य है, नैसर्गिक अभिरुचि है और वास्तविक धर्म है। वही उसका गंतव्य पथ है, प्राप्तव्य लक्ष्य है और ज्ञातव्य रहस्य एवं दर्शनीय दृश्य है[2]।

अतएव जीवात्मा के लिये अपने परम ध्येय की प्राप्ति में किसी भौतिक कारण की अवरोधकता को स्वीकार करना भागवत शास्त्रानुसार श्री वल्लभाचार्य को संमत नहीं है। वह एक प्रकार का आत्मावसादन ही है। बिना किसी भेद-भाव के जीवात्मा के इस अधिकार की प्राप्ति और प्रापण का नाम ही पुष्टि-मार्ग में 'ब्रह्म-संबंध' करना और कराना कहा गया हैं। यह एक प्रकार की अधिकार-प्राप्ति किंवा दीक्षा है। दीक्षित-जन अपने ध्येय के प्रति अग्रसर होता है।[3] वह ब्रह्म-संबंध के द्वारा स्वकीय काल, कर्म, स्वभाववश आये हुए अविद्या जनित दोषों से निवृत्त होकर निर्दुष्ट शुद्ध स्वरूपावस्थित होकर निर्दोष सर्व सम ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति करता है।

इस सर्वोच्च आध्यात्मिक 'ब्रह्म-संबंध' के रहस्यकी संप्राप्ति अन्य साधारण साधनोंके द्वारा संभव नहीं है। जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, साधनों की उपयोगिता तभी तक है जब तक आत्मा की एकतानता (प्रवणता) नहीं हो जाती। उस के अनंतर देह और इंद्रियों के द्वारा अनुष्ठित साधनों की उतनी उपादेयता नहीं रहती जितनी साधनावस्था में प्रथम गिनी जाती है। इस आत्मिक प्रवणता के लिये निःसाधनता--साधनराहित्य की भावना (दैन्य भाव)की नितांत आवश्यकता है[4]। इस दैन्यभावना के अनंतर आत्म-साक्षात्कार--जिसे शब्दांतरों में परमात्मदर्शन, ब्रह्मसायुज्य किंवा भगवत्-प्राप्ति कह सकते हैं--फल की प्राप्ति हो जाती है। औपनिषद-सिद्धांत में जिसे 'आत्मवरण' कहते हैं पुष्टि मार्ग में उसे ब्रह्म-संबंध इस अभिधान से प्रसिद्ध किया गया है।

यह औपनिषद-आत्मवरण उसी को समधिगत होता है जिसको परमात्मा स्वयं स्वीकार करता है, जिस पर उस दयार्णव की दया होती है, जिस दैवी जीव पर उस कृपा-निकेतन का अनुग्रह फलित होता है। परमात्मा

[1] **सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय।**
—श्रुति

[2] **गुप्तानंदा यतो जीवा निरानंद जगद्यतः।**
पूर्णानंदोहरिस्तस्याज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः॥
—भागवत सुबोधिनी-दशम-कारिका

[3] **सर्वेषां प्रभु संबंधो न प्रत्येकमिति स्थितिः।**
—नवरत्न ३

ब्रह्मसंबंध करणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोष निवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः॥
—सिद्धांत-रहस्य २

[4] **भक्तानां दैन्यमेकं हि हरि तोषण साधनम्॥**
—भागवत-सुबोधिनी दशम स्कंध-कारिका

की प्राप्ति के मार्ग का यह प्रकार ही 'कृपा मार्ग', 'अनुग्रह मार्ग' किंवा 'पुष्टि मार्ग'—आदि कितने ही नामों से संबोधित किया जाता है। [1]

इस 'अनुग्रह-मार्ग' का पथिक बन कर अधिकारी जीव, आनेवाली विपद्-बाधाओं, सांसारिक विभीषिकाओं और वैषयिक प्रलोभनों से सावधान रह कर आत्मिक आनंद के रूप में सर्वत्र सुलभ, परमानंद-रस-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के सतत चिंतन से ही उन्हें समधिगत कर सकता है। [2]

वेदांत-शास्त्र में जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है, स्मृति अथवा पुरानों में जो परमात्मा शब्द से संज्ञित है, भागवत शास्त्र में जसे 'भगवान्' शब्द से व्यक्त करते हैं, वही पुष्टि-मार्ग में रस-स्वरूप 'श्रीकृष्ण' है। नाम-रूप के विभेद से यही अनंत नामा और अनंत रूप है। यही सकल कलानिधि अपनी अचिंत्य, अनंत शक्ति रूपी लक्ष्मी से सेव्यमान होकर बाह्याभ्यंतर इन उभयवृत्तिवाली कामना रूप रसनाओं से संयुक्त सहस्रानन वाले अंतःकरण रूप शेष-शय्या पर सुखशायी होकर लीला-क्षीराब्धि में विराजमान हैं। [3]

यही विशुद्ध, 'योगिभिर्ध्यान गम्य' परम तत्व—आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिये दांपत्य-भावना की मधुरिमा के साकार प्रतिफल रूप में कोटिकंदर्प लावण्यांबुनिधि-'राधाकृष्ण' हैं, यही सख्य-भावना की गरिमा स्वरूप में 'सुदामा-कृष्ण' हैं और यही जगत् के सर्वस्व वात्सल्य-भावना की महिमाके आदर्श 'यशोदोत्संग लालित नंद-नंदन' हैं। इसकी इस त्रिविध सौंदर्य-सुधा पर वाणी के रूप में महानुभाव संत कवियों का काव्य-जगत्, व्यवहार के रूप में विश्व-सुहृद महात्मा साधु पुरुषों का नैतिक जगत् तथा दिव्य आध्यात्मिक रूप में भावुक भक्तों का रसात्मक जगत् अनुस्यूत हो रहा है—प्रेरित हो रहा है, अथच स्वयं निछावर होकर कृतकृत्य होता चला जा रहा है। और—

"यही जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य के सिद्धांत की अध्यात्मिक पृष्ठभूमि है।"

[1] **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो—**
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः—
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूस्वाम्।
—छ०उ०

[2] **तस्मात् श्रीकृष्ण मार्गस्थो विमुक्तः सर्व लोकतः॥**
आत्मानंद समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिंतयेत्।
—सिद्धांत-मुक्तावली १५।१६

[3] **नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम्।**
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्॥
—भागवत-सुबोधिनी दशम स्कंध-कारिका

परमानंद-सागर : परमानंद दास

श्री ललितकुमार देव

"परमानंद और सूर मिल, गाई सब ब्रज-रीति ।
भूलि जात बिधि-भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति ।।"

—ध्रुवदास

अष्टछाप के प्रातः स्मरणीय रमणीय रत्नों में परमानंद स्वरूप "परमानंद दास' का इतिवृत्त भी अन्य अष्टछाप के कवियों—भक्तों की भाँति समय के पन्नों पर कुछ ऐसा छिप गया है जो आज ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता। संप्रदाय में प्रचलित 'वार्ता' तथा उस पर श्रीहरिराय की 'भाव-प्रकाश' टीका के आधार पर कहा जा सकता है कि आपका जन्म उत्तर प्रदेशके "कन्नौज" नगरमें मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी सं० १५५० वि०को "कान्य-कुब्ज-ब्राह्मण के कुल" में हुआ था। यही समय श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के रचयिता प्रसिद्ध "श्री गोकुलनाथ जी" का भी है। परमानंददास जी के माता-पिता का नामोल्लेख वार्ता तथा भाव-प्रकाश में नहीं है, किंतु उससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि आपका कुल अच्छा खाता-पीता—संपन्न था। कहते हैं कि जिस दिन परमानंददास जी का जन्म हुआ उस दिन आपके पिता को नगरके किसी संपन्न सेठ ने दान में विशेष धन दिया था, जिससे उन्हें 'परम-आनंद' हुआ था, फलतः आपने अपने पुत्र का नाम—"परमानंद" रख दिया। नाम-करण के समय राशि- गणनानुसार ज्योतिषी ने भी यही नाम रखने का आग्रह किया।

परमानंददास जी के माता के कोमल-क्रोड़ से उतरने पर उनके लालन-पालन के साथ-साथ शिक्षा-दीक्षा का सुंदर प्रबंध किया गया। विशेषकर साहित्य और संगीत की प्रचुर शिक्षा उन्हें दी गई, जिससे ये अपने समय के योग्य कवि और श्रेष्ठ गायक—कीर्त्तन-कर्त्ता बने। ये नित्य नई पद-रचनाकर उन्हें विविध रागानुसार गाते रहते थे। परमानंददास गुणी होने के कारण गुणी-जनों का भी अति आदर किया करते थे और उन्हें अपने साथ रखा करते थे। एक समय कन्नौज में भारी अकाल पड़ा तो वहाँ के हाकिम ने इनके पिता का सारा धन लूट लिया, जिससे वे बहुत दुःखी हुए। फलतः परमानंददास जी से धनोपार्जन के लिये कहा। परमानंददास जी के पास संगीत और काव्य में निपुण होने के कारण धन की कुछ कमी न थी, पर ये उदार-हृदय उसका संचय न कर उसको अपनी प्रवृत्ति के वश गुणीजनों और साधुओं में वितरण कर दिया करते थे। आपके पिता धन के प्रति इनकी इस प्रकार विरक्ति देखकर अप्रसन्न हो द्रव्य के लिए दक्षिण-देश चले गये। पिता के बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी आपने विवाह नहीं किया।

संवत् १५७६ वि० के लगभग ये माघ-स्नान के लिए अपने दलबल के साथ 'प्रयागराज' गये। वहाँ भी आपके काव्य और सुढंगमय विविध रागों में गाने की विज्ञता की धूम मच गई। प्रयाग के आस-पास के अनेकानेक गुणीजन, साधु-महात्मा इनके सुमधुर कीर्त्तन का आस्वादन करने के लिए वहाँ आने-जाने लगे। जिन दिनों परमानंददास जी प्रयाग में अपने कलकंठ से निसृत कीर्त्तनों का समा बाँध रहे थे, उन्हीं दिनों प्रयाग के उस पार अड़ैल, प्राचीन नाम 'अलर्कपुर', में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी विराज रहे थे। परमानंददास जी के कमनीय कीर्त्तनों की चारु चर्चा आपके समीप भी चली। अतः आपने कहा—

"परमानंददास दैवी जीव है, वाकी ख्याति होंनी ही चाहिए।"

यह बात भी आचार्य-चरण के एक शिष्य 'कपूर क्षत्री' ने भी सुनी, जो पोरबंदर (सौराष्ट्र) का रहने वाला था और आप (वल्लभाचार्य जी) की जल-सेवा (पानी भरने का कार्य) किया करता था। अतः

कपूर संगीत-प्रेमी होने के कारण परमानंददास जी के कीर्त्तन सुनने को लालायित हो उठा और वहाँ जाने का अवकाश ढूंढ़ने लगा। ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी की रात्रि को वह श्री आचार्य-चरणों के सो जाने के बाद यमुना के उस पार प्रयाग जाने और परमानंददास जी के कीर्त्तन सुनने को प्रस्तुत हुआ। ज्येष्ठ की श्रीयमुना आज कल की देश-संपत्ति की भाँति संकीर्ण हो चुकी थी, उसमें पहिला (श्रावण-भाद्रपद) जैसा प्रवाह व विस्तार न था। कपूर यमुना के उस पार जाने का कोई साधन न पा जल में तैर कर वहाँ पहुँचा जहाँ परमानंददास जी का कीर्तन समाज जुड़ रहा था। कपूर के पहुँचने पर वहाँ उपस्थित श्री आचार्य के अन्य सेवकों ने उसे पहिचानकर आदर के साथ आगे बिठलाया। परमानंददास जी ने कीर्त्तन करना प्रारंभ किया और भगवल्लीला के रात्रि के विविध रागों में गाये जाने वाले पदों के बाद कुछ विरह संबंधी पद भी गाये। संगीत-मुग्ध कपूर कीर्तन-समाज की समाप्ति पर परमानंददास जी को भगवत्स्मरण—'जयश्रीकृष्ण' कह कर उसी प्रकार पुनः तैर कर अड़ैल पहुँचा। इधर परमानंददास जी कीर्तन-सेवा से कुछ श्रमित होने के कारण निद्रित हुए, तो उन्हें रात्रि के उस पिछले पहर में एक सुंदर स्वप्न दिखलाई दिया कि कपूर की गोदी में बैठे हुए साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण 'नवनीतप्रिय' के रूप में कीर्त्तन सुन रहे हैं। परमानंददास जी पर इस स्वप्न का बड़ा प्रभाव पड़ा और वे कपूर क्ष त्री से मिलने को उतावले हो गये। प्रातः काल होते ही ये 'अड़ैल' पहुँचे और वहाँ श्री आचार्य-चरणों के दर्शनों से बहुत प्रभावित हुए। श्री आचार्य ने भी परमानंददास का परिचय पाकर उन्हें निकट बैठने का अनुरोध करते हुए कोई लीलात्मक पद सुनाने का आग्रह किया। परमानंददास जी ने आप की आज्ञा पा एक विरह-संबंधी पद गाया, जो इस प्रकार है—

"जिय की साध, जियहिं रही री।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाए, बिलपति कुंज अहीरी॥
इक दिन सो जु सखी, या मारग बेचन जात दही री।
प्रीति-केलि-दाँन-मिस मोंहन, मेरी बाँह गही री॥
बिन देखें छिन जात कलप-भरि, बिरहा-अनल दही री।
'परमाँनद' स्वाँमी बिन दरसँन, नैंनन-नदी बही री॥"[1]

अथवा—

"सुधि करत कमल-दल-नैंन की।
भरि-भरि लेति नीर अति आतुर, रति बृंदाबन चैंन की॥
दैं-दै गाढे आलिंगन सों मिलन लता-द्रुम-कुंज ऐंन की।
वे बतियाँ कैसें करि बिसरें, बाँह उसीसा सैंन की॥
बसि निकुंज में रास रचायौ, बिथा गँमाई मैंन की।
'परमाँनद' प्रभु सो क्यों जीवें, जे पोखीं मृदु-बैंन की॥"

श्री वल्लभाचार्य जी ने पद सुने और इनकी काव्य तथा संगीतज्ञता पर मुग्ध होते हुए परमानंददास को कोई अन्य बाल-लीलात्मक पद सुनाने का आग्रह किया, तो ये बोले—

"जै, मोहि बाल-लीला कौ अनुभव नाहीं।"

श्री आचार्य-चरणों ने परमानंददास से यह सुन कर और उन्हें स्नान करवा कर स्व-संप्रदाय की दीक्षा दी।

परमानंददास जी के शरण (दीक्षा) का समय ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी सं० १५७६ वि० कहा जाता है, पर यह समय आपके बैठक-चरित्रों के अनुसार आपकी हरिद्वार-यात्रा' का होता है। इसके बाद ही आप (पर-

[1] **इस अंतिम तुक के दो पाठ-भेद और मिलते हैं, जैसे—**
"नैंनन-नींद बही-री।"
"नैंनन-नीर बही-री।"

मानंददास) शरण में आए होंगे। अतएव इन के चरण-शरण का संवत १५७७ वि० मानना अधिक उपयुक्त होगा। परमानंददास जी की अवस्था भी इस समय बीस से तीस वर्ष के मध्य होनी चाहिये।

श्री यदुनाथ जी कृत 'वल्लभ-दिग्विजय' में लिखा है कि सं० १५७२ वि० में गोस्वामी श्री विट्ठल-नाथ जी के जन्मोत्सव के बाद श्री आचार्य चूनार (चर्णाद्रि) से अडैल पधारे थे और वहाँ उन्होंने विट्ठलनाथ का यज्ञोपवीत-संस्कार किया था, इसके बाद 'जगदीशपुरी' की यात्रा। यह समय संप्रदाय में सं० १५७६ वि० माना जाता है। जगदीशपुरी से लौटने पर आप पुनः 'अड़ैल' पधारे। इसी समय 'संभलपुरवाले' दामोदरदास के पास से 'श्री द्वारिकानाथ जी' का स्वरूप अड़ैल पधराया गया था। श्री द्वारिकानाथ जी की 'प्रागटच-वार्ता' में भी यह समय (सं० १५७६ वि०) ही माना गया है। वल्लभ-दिग्विजय के कर्त्ता 'श्री यदुनाथ' जी कहते हैं—

"तत्र सं० १५७२ द्विसप्तत्युत्तर पंचदशशतेऽब्दे महालक्ष्म्यां गोस्वामी श्री विट्ठलनाथानां प्रादुर्भावः समभवत्। अथ पुनर्व्रजयात्रा कृता। ततः श्री गोपीनाथ यज्ञोपवीत महोत्सवः समभूत्। ततो जगदीशयात्रायां गंगासागर प्राप्तिः। कृष्णचैतन्यमिलनम्। रथयाश्रोत्सवोजातः। ततो जगदीशात्प्रत्यागमनं चाभूत्। ततो हरि-द्वार यात्रा। ततः पुनरलर्कपुरे समागमनमभूत्। तत्र कविराजा शिक्षणं कृतम्। कान्यकुब्ज परमानंद मनुगृह्य-लीलादर्शनं च कारितम्। तत श्री विट्ठलेशानां यज्ञोपवीतोत्सवः कृतः। ततः द्वारिकेशागमनम्...।"

—पृ०-५२-५३

इससे भी शरण का समय पूर्व-निश्चित सं० १५७७ वि० ही प्रकट होता है।

उक्त समय के बाद, अर्थात् संवत् १५८२ वि० के आस-पास श्री महाप्रभु ने विट्ठलनाथ जी को श्री नाथ जी के चरण-स्पर्श कराने के लिए ब्रज की ओर गमन करने का निश्चय किया तो परमानंददास जी ने भी सेवा में साथ चलने के लिए निवेदन करते हुए यह पद गाया—

"यै माँगों, गोपीजन-बल्लभ।
मानुष-जनम और हरि-सेवा, ब्रज-बसिबौ कीजै मोंहि सुल्लभ॥
श्री बल्लभ-कुल कौ रहों चेरौ, बैस्नव-जन कौ दास कहाऊँ।
श्रीजमुनाजू नित-प्रति न्हाऊं, मन-बच-करम क्रस्न-गुन-गाऊँ॥
श्रीभागवत स्रबन सुनों नित, इन तजि चित्त कहूँ अँनत न लाऊँ।
'परमानंददास' यै माँगत, नित निरखों कबहूँ न अघाऊँ॥"

अस्तु; परमानंददास जी भी आचार्य-चरणों के साथ ब्रज आने लगे तो मार्ग में आपका नगर—'कन्नौज' पड़ा। वहाँ परमानंददास जी ने श्री आचार्य-चरणों को अपने घर बड़े ठाटबाट के साथ पधराकर अर्चना-वंदनादि के बाद यह पद सुनाया—

"हरि, तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल-नैंन मन-मोंहन मूरत, मन-मन चित्र बनावै॥
एक बार जिहि मिलत मया करि, सो कैसें बिसरावै।
मुख मुसिकाँन, बंक अवलोकँन, चाल मनोहर-भावै॥
कबहूँ निबिड़ तिमिर आलिंगन, कबहूँ पिक-सुर गावै।
कबहूं नैंन-मूंदि अंतरगत, मनि-माला पैहरावै।
'परमाँनंद' प्रभु स्याँम-ध्याँन करि, ऐसें बिरह-गँमावै॥"

वार्त्ताकार कहते हैं—श्री आचार्य महाप्रभु को यह पद सुनकर तीन दिन तक देहानुसंधान नहीं रहा और बार-बार उक्त पद की पुनरावृत्ति करते हुए निरंतर अश्रुधारा बहाते रहे। इस विमुग्ध-दशा के बाद श्री आचार्य परमानंददास की अनन्य भक्ति-जन्य निष्ठा और उनके कोमल काव्य-कौशल की प्रशंसा करते हुए ब्रज पधारे तथा उन्हें "श्री नवनीत प्रिय" तथा "श्री श्रीनाथ" जी के दर्शन करा सामीप्य में कीर्तन-करने की सेवा सोंपी। परमानंददास, श्री गिरिराज जी की सुंदर तलहटी में स्थित—'सुरभीकुंड' (जतीपुरा) पर जहाँ

इंद्र ने सुरभि-गौ के दुग्ध से भगवान श्रीकृष्ण का 'गोविंदाभिषेक' किया था, श्यामतमाल वृक्ष के नीचे कुटी बना कर रहने और श्रीनाथ जी की श्री सूर के साथ कीर्तन-सेवा करने लगे।

परमानंद जी का निधन-समय संप्रदाय-साहित्य के अनुसार 'भाद्रपद कृष्णा नवमी सं० १६४१ वि० माना जाता है, जो कि साहित्य-सूर्य 'सूर' के अस्ताचलगमन-काल से एक वर्ष बाद का है। श्री सूर का निधन-काल सं० १६४० वि० है। वार्त्ता-साहित्य में कहा गया है कि परमानंददास जी ने अपने अंतिम समय पर किसी वैष्णव को लक्ष्य कर श्री वल्लभाचार्य जी की स्तुति-युक्त यह यह पाद गाया था—

"प्रात समें उठि करिऐ श्री लछमन-सुत-गाँन ।
प्रघट भऐं 'बल्लभ प्रभु', देत भक्ति-दाँन ।।
'बिट्ठलेस' महाप्रभु रूप के निधाँन ।
'गिरिधर' श्री गिरिधर, उदै भए भाँन ।।
'गोविंद' आनंद-कंद, बरनों गुन गाँन ।
'बालकृस्न' बाल-केलि, रूप ही सुहाँन ।।
'गोकुलनाथ' प्रघट कियौ, मारग बखाँन ।
'रघुनाथ लाल' देखि-देखि, मनमथ लजाँन ।।
'श्री जदुनाथ' महाप्रभु, पूरन भगवाँन ।
'श्री घनस्याँम' पूरन काँम, पोथी में ध्याँन ।।
पाँडुरंग बिट्ठलेस, करत बेद-गाँन ।
'परमानंद' निरखि लीला, थके सुर-बिमाँन ।।"

वैष्णव-प्रति गाये गए इस उद्‌बोधन-रूप पद में परमानंददास जी ने श्री आचार्य-चरणों के साथ-साथ आपके पुत्र गोस्वामि श्री विट्ठलनाथ जी तथा उनके सातों पुत्रों का अंतःपरिचय-सहित स्मरण व वंदन किया है, यह तनिक विचारणीय है।

गोस्वामी जी के सातवें लाल जी (पुत्र) श्री घनश्यामलाल जी का जन्म सं० १६२८ वि० कहा गया है। परमानंददास जी ने आप के प्रति—

"श्रीघनस्याँम, पूरन-काँम, पोथी में ध्याँन ।।"

रूप वंदना करते हुए दो विशेषणों—"पूरन काँम, पोथी में ध्याँन" का प्रयोग किया है। इन साभिप्राय विशेषणों से ज्ञात होता है कि श्री घनश्याम लाल जी आप के समय १२ या १३ वर्ष की वय में रहे होंगे। संप्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का लीला-प्रवेश संवत् १६४२ वि० माना जाता है। परमानंददास जी का निधन आपके लीला-प्रवेश से प्रथम का है। अस्तु, श्री घनश्याम जी के जन्म-समय में यदि १२ या १३ वर्ष की संख्या और बढ़ा दी जाय तो आप (परमानंददास) के निधन का समय ऊपर लिखा स्पष्ट हो जाता है।

परमानंददास—कवि, गायक (संगीतज्ञ) और भक्त थे। ब्रजभाषा साहित्य-सूर्य 'श्रीसूर' की भाँति आपने भी 'सख्य-भक्ति' को अपने जीवन का अवलंबन बनाया। भाव-प्रकाश में आपकी उक्त भक्ति-भावना का द्योतक एक सुंदर प्रसंग है——

"एक समय कोई राजा कुटुंब-सहित श्री गिरिराज में श्रीनाथ जी के दर्शन के लिये ब्रज आया। उनकी कुल-मर्यादानुसार अंतःपुर-वासिनियों के लिए दर्शनों के समय परदे का प्रबंध किया गया। ब्रज के ठाकुर (एक मात्र पुरुष) के भी सामने परदा.....? यह श्री श्रीनाथ जी (भगवान) को अरुचिकर प्रतीत हुआ। तुरंत इच्छा-शक्ति ने मंदिर का मुख्य-द्वार खोल दिया। बाहर खड़ी दर्शनार्थी भीड़ भीतर भर गई। परदा करने का संपूर्ण आयोजन निष्फल हो गया। परमानंददास पास ही कीर्तन कर रहे थे, उन्हें आप (श्रीनाथजी) की यह 'मदाखलत-बेजा'—पसंद न आई। शीघ्र ही एक नये पद की रचना कर कीर्तन करने लगे——

"कोंन यै खेलिवे की बाँन ।"

श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी श्रीनाथजी की सेवा में संलग्न थे। अतः आप को परमानंददास का यह उलहने का कीर्तन पसंद न आया और उन्हें टोकते हुए आज्ञा-रूप में बोले—"परमानंद, यै ठीक नाहीं, या पद कों या प्रकार गाओ"—

"भली यै खेलिबे की बाँन ।"

श्री आचार्यचरणों-द्वारा 'कोंन' के स्थान पर 'भली' को तरजीह देना—बदलना, आपके ब्रजभाषा-ज्ञान और उसके सुष्ठु प्रयोग का अच्छा-खासा परिचय देता है। साथ ही ब्रजभाषा में आपकी कितनी गति थी, काव्य के अंतर्गत भावों के अनुकूल शब्द-चयन में कितनी सावधानी थी, यह आपके इस अल्प परिवर्तन से जानी जा सकती है। वास्तव में 'कोंन' के स्थान पर 'भली' में अपनापन लिए गहरा व्यंग है, जो देखते-समझते बनता है।

श्री हरिराय जी ने अपने भाव-प्रकाश में उक्त प्रसंग का उल्लेख करते हुए लिखा है—"परमानंद दास दास हैं, उन्हें प्रभु के प्रति "कोंन" ऐसों कहनों उचित नाहीं।" यह संपूर्ण पद इस प्रकार है—

"भली यै खेलिबे की बाँनि ।
मदनगुपाल लाल काहू की, राखत नाँहिन काँनि ।।
अपने हाथ देत बनचरनन्हैं, दूध, भात, घृत-साँनि ।
जौ बरजों तौ आँख दिखावत, पर घर कूद निदाँनि ।।
सुनि-री जसुधा करतब सुत के, यै लै माँट-मथाँनि ।
फोरि, ढोरि, दधि डारि अजिर में, कोंन सहैं नित हाँनि ।।
ठाढ़ी हँसति नंदजू की राँनी, मूंद-कमल-मुख-पाँनि ।
'परमानंददास' जानत है, बोलि बूझि धों आँनि ।।"

श्री गोकुलनाथ जी ने—'चौरासी वैष्णव की वार्त्ता' में तथा नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में परमानंददास जी के कीर्त्तनों की, भक्ति की और भावों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वास्तव में परमानंददास भगवान श्रीकृष्ण की बाल, पौगंड और किशोर लीलाओं के वर्णन में बेजोड़ हैं। वार्त्ता में उनके इस साहित्य-सृजन को प्रथम 'अवतार-लीला', फिर 'निकुंजलीला' (रासादिक), तदनंतर 'चरण-वंदनादि', 'स्वरूपवर्णन' और 'प्रभु-माहात्म्य' में विभक्त कहा गया है। जैसे—

"मोंहन, नंदराइ-कुँमार ।
प्रघट ब्रह्म निकुंज-नाइक, भक्त-हित औतार ।।
प्रथम चरन-सरोज बंदों, स्यांम घन गोपाल ।
मकर-कुंडल-गंड-मंडित, चारु नेंन बिसाल ।।
राम-सहित बिनोद-लीला, सेस-संकर हेत ।
'दास परमानंद' प्रभु हरि, निगम बोलत नेत ।।"

भक्ति-दृष्टि से भी आपका काव्य-बाल, कांता और दास-भाव की भक्ति से परिपूर्ण है।

वार्ता में कहा गया है कि परमानंददास जी समय-समय पर नित्य नये पद रचकर श्री नवनीत-प्रिय जी के और अनोंसर (अन्य अवसर) होने पर श्री आचार्य-चरणों के समक्ष ब्रजलीला-संबंधी पद गाया करते थे। साथ ही श्री आचार्य-मुख से भागवत-सुबोधिनी टीका, जो आप की एक अद्वितीय भावाविशिष्ट रचना है, सुनते और तदनुसार पद-रचना कर श्री आचार्य महाप्रभु को सुनाया करते थे। फलतः आपके रचे कीर्तनों (पदों) की संख्या हजारों पर पहुंच गई। इन्हीं को बाद में संकलित करके 'सागर' नाम दिया गया। श्री गोकुलनाथ जी ने अपनी वार्त्ता में अपने पितृ-चरण गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ के वे बचन जो आपने परमानंददास और उनके सागर (परमानंद सागर) के प्रति कहे थे अविकलरूप से दुहराते हुए कहा है—

"वैष्णव तौ औरहू अनेक श्री आचार्य जी के कृपा-पात्र हैं, पर सूरदास और परमानंददास ए दोऊ 'सागर' भए। इन दोउन के कीर्तनन की संख्या नाहीं।"

"पुष्टि मार्ग में दोइ 'सागर' भए। एक तौ सूरदास और दूजे परमानंददास। सो तिन कौ हृदय अगाध-रस सागर जहाँ भगवल्लीला के रतन भरे परे हैं।"

अस्तु, खोज से 'परमानंदसागर' की जो प्रतियाँ मिली हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. परमानंद सागर, प्राप्ति स्थान—विद्याविभाग काँकरौली (मेवाड़), बंध-सं० ४५, पुस्तक सं० १। पृष्ठ-सं० ११४, पद-सं० ८५०। सं० १६८० के लगभग लिखी हुई प्रति (अपूर्ण)।
२. परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान—विद्याविभाग काँकरौली (मेवाड़), बंध-सं० ५७, पुस्तक-सं० ४। पृष्ठ-सं० ६ से १५३ तक। लिपि-समय वही सं० १६८० के लगभग। अपूर्ण, जीर्ण होते हुए भी सुंदर।
३. परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरौली (मेवाड़), बंध-सं० ५७, पुस्तक-सं० ३। पृष्ठ-सं० १५२, पद-सं० ११०२। अंत में लिखा है— "इति श्री परमानंददास जी के पद संपूर्ण, पोथी वैष्णव हरिदास की। पृ० १५२ से १५४ तक परमानंददास जी के कुछ और पद भी लिखे हैं।
४. परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरौली (मेवाड़), बंध-सं० ३६, पुस्तक-सं० ४। पृष्ठ-सं० १७६, पद-सं० ७४१। लिपि सुंदर, सुवाच्य और शुद्ध। पुस्तक में शीर्षक रूप से—"परमानंददास के कीर्तन" लिखा है।
५. परमानंद सागर (गुटका), प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरौली (मेवाड़), बंध-सं० १६, पुस्तक-सं० ६। पृष्ठ-सं० ३१४, पद-सं० १०००। हासिये पर—"परमानंद०" लिखा है जिससे—'परमानंदसागर' और कीर्तन दोनों ही शीर्षक समझे जा सकते हैं।
६. परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान—श्री द्वारिकाधीश काँकरौली (मेवाड़) के कीर्तनियाँ पं० छोटे लाल। प्रति सुंदर और पद संख्या ऊपर लिखी प्रतियों से कहीं अधिक।
७. परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान— जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा। पुस्तक अल्प है, पद संख्या—लगभग ७००। प्रामाणिकता में विशेष शुद्ध। चतुर्वेदीजी का कहना है कि "यह पुस्तक—बाई राधा भट्टड़, ३२, बाँसतल्ला गली कलकत्ता की है।"
८. परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान—प्रसिद्ध कीर्तनियाँ जमुनादास—गोकुल (मथुरा) अथवा नाथद्वारा (मेवाड़) पुस्तक नई लिखी-सी प्रतीत होती है, फिर भी सुंदर है।

इनके अतिरिक्त काँकरौली (मेवाड़) के विद्या-विभाग में परमानंददास जी के कीर्तनों की और भी छोटी-मोटी संग्रहात्मक प्रतियाँ हैं। साथ ही वहाँ सांप्रदायिक नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के पद-संग्रहों की भी गिनती से परे प्राचीन तथा नवीन लिखी हुई अनेक प्रतियाँ हैं, जिनमें अष्टछाप के अन्य कवियों के साथ परमानंददास जी के कीर्तन भरे पड़े हैं। इन प्रतियों अर्थात् 'परमानंद सागर' की इन विविध प्रतियों में तथा नित्यकीर्तन और वर्षोत्सवों में परमानंददास जी के ऐसे अनेक पद हैं जो एक-दूसरे में नहीं हैं। अस्तु, परमानंद सागर की इन उपलब्ध प्रतियों के आधार पर पद-संकलन का विषय-क्रम इस प्रकार है—

"१ मंगलाचरण, २ जन्म-समय के पद, ३ पलना के पद, ४ छठी के पद, ५ स्वामिनीजू के जन्म-समय के पद, ६ बाल-लीला के पद, ७ उराहने के बचन गोपिकाजू के रानीजू सों, ८ जसोदाजू कौ उत्तर गोपिका जू सों, ९ जसोदाजू कौ बरजिबौ प्रभुजू प्रति, १० गोपिकाजू के बचन प्रभुजू प्रति, ११ प्रभुजू के बचन जसोदाजू प्रति, १२ परस्पर हास्य-बचन, १३ सखन सों खेल, १४ असुर-मर्दन, १५ श्री यमना जूके तीर-मिलन, १६ मिथांतर दर्शन, १७ गोदोहन-प्रसंग, १८ बन-क्रीड़ा छाक के पद, १९ गोचारण समय २० दान-प्रसंग, २१ द्विज-पत्नि कौ प्रसंग, २२ बन तें ब्रज कों पाँउधारिबौ, २३ वेणु गान, २४ गोपिकाजू के आसक्ति बचन, २५ आसक्ति कौ वर्णन, २६ आसक्ति की अवस्था, २७ साक्षात् स्वामिनीजू के आसक्ति बचन, २८ साक्षात् भक्तन की प्रार्थना प्रभुजू प्रति, २९ साक्षात् प्रभुजू के बचन भक्तन प्रति, ३० प्रभु कौ स्वरूप-वर्णन, ३१ स्वामिनीजू कौ स्वरूप वर्णन, ३२ जुगलरस वर्णन, ३३ व्रतचर्या प्रसंग, ३४ रास समय के पद, ३५ अंतर्ध्यान समय, ३६ जल-क्रीड़ा, ३७ सुरतांत, ३८ खंडिता के बचन, ३९ खंडिता कौ प्रत्युत्तर, ४० मानापनोद, ४१ मध्या के बचन, ४२ प्रभुजू कौ मनाइबौ, ४३ प्रभु कौ मान, ४४ किसोर लीला, ४५ फूल-मंडली के पद, ४६ दीप-मालिका, गोवर्धनोद्धारण

अन्नकूट के पद, ४६ प्रबोधिनी के पद, ४८ बसंत-समय के पद, ४६ धमार (होरी) के पद, ५० डोल-उत्सव के पद, ५१ स्वामिनीजू की उत्कर्षता, ५२ संकेत के पद, ५३ ब्रजवासिन कौ माहात्म्य, ५४ मंदिर की सोभा, ५५ ब्रज कौ माहात्म्य, ५६ श्री जमुनाजू के पद, ५७ अक्षय तृतीया के पद, ५८ स्नान-यात्रा के पद, ५६ रथ-यात्रा के पद, ६० वर्षा-रितु के पद, ६१ हिंडोरा के पद, ६२ पवित्रा के पद, ६३ रक्षाबंधन के पद, ६४ दशहरा के पद, ६५ अपनों दीनत्व, प्रभु कौ माहात्म्य तथा बिनती, ६६ समुदाय पद, ६७ मथुरा-गमनादि के पद, ६८ गोपिन के विरह के पद, ६६ भ्रमर गीत, ७० जसोदा तथा नंदजू के बचन उद्धव-प्रति, ७१ उद्धव के बचन प्रभु सों, ७२ जरासंध के युद्ध कौ प्रसंग, ७३ द्वारिकालीला, ७४ रामोत्सव, ७५ नरसिंघजू के पद , ७६ बामनजू के पद ,७७ समुदाय पद, ७८ फुटकर पद—इत्यादि ।"

यह संपूर्ण विषय-क्रम सूर के 'सागर' का ही रूपांतर है, जो अपनी भाव-व्यंजना, काव्य-सौष्ठव तथा कला के उपकरण—छंद (राग), अलंकार के साथ-साथ स्वभावोक्ति के सहज माधुर्य गुण में लिपटा साफ-सुथरी भाषा का परिचायक है । उदाहरण जैसे—

राग-बिलावल

बाल-बिनोद गुपाल के, देखत मोहि भावें ।
प्रेम-पुलकि आँनंद-भरि, जसुमति गुन-गावें ।।
बल-सँमेत घन-साँमरौ, आँगन में धावें ।
बदन-चूँमि कौरें लिऐं, सुत जाँनि खिलावें ।।
सिब, बिरंचि, मुनि, देवता, जा कौ अंत न पावें ।
सो 'परमाँनद' ग्वारि कौ, हँसि भलौ मनावें ।।

राग-सारंग

रहि-री ग्वारि, जोबन-मद-माँती ।
मेरे छगँन-मगँन से लाल हि, कित लै उछँग लगावति छाती ।।
खीझत ते अब ही राख्यौ है, न्हाँनी उठत दूध की दाँती ।
खेलन दै, घर जाहु आपने, डोलति कहा इती इतराती ।।
उठि चली ग्वारि, लाल लगे रोंमन, तब जसुमति बुलाइ बहु-भाँती ।
'परमानंद' ओट दै आँचर, फिरि आई नेंनन-मुसिकाती ।।

राग-सारंग

कोऊ मैया, बेर बेचँन आई ।
सुनत हि टेरि नंद-रावरि में, भीतर लई बुलाई ।।
सूखत धाँन परे आँगन में, कर-अंजुली बनाई ।
ठुमक-ठुमक चलत अपने रँग गोपी-जन बलि जाँईं ।।
लए उठाइ, लगाइ हृदे सों, मुख-चूंमत न अघाई ।
'परमाँनद' स्वाँमी आँनंदे, बौहौत 'बेर' जब पाई ।।

राग सारंग

एक समें जसुमति सखियँन सों बातें कहति बनाइ ।
मो देखत कब धों मेरौ लालन, भूमि-धरैगौ पाँइ ।।
फिर मोसों मैया कब कहि है, कुँमर कछुक तुतराइ ।
अरि है कभू दूध के कारन, तन गोरज-लपटाइ ।।
खिरक-दुहाँमन-जाति मोहि कब, आँन मिलैगौ धाइ ।
वौ धों द्यौस होइगौ कबहूँ, ललँन दुहैगौ गाइ ।।

सौंपि देंहुगी सुतहि चरावँन, गैयाँ घर, बनराइ ।
ए अभिलाष करत जसुमति जिय, 'परमाँनद' बलिजाइ ।।

राग-रामगिरि बिलावल

यै तन वारि डारों कमल-नैंन पर, साँमलिया मोहि भावै ।
चरन-कमल की रेंनु जसोधा, लै-लै सिरहि चढावै ।।
लै उछंग मुख निरखन लागी, रहि-रहि लोंन उतारै ।
कौंन निरासी दीठि लगाई, लै-लै अंचर झारै ।।
तू मेरौ बालक हो नँद-नंदन, तोहि बिसंभर राखै ।
'परमाँनद'-स्वाँमी चिरजीऔ, बार-बार यों भाँखै ।।

राग-धनाश्री

जसोधा, चंचल तेरौ पूत ।
आँनंद्यौ ब्रज-भीतर डोलै, करै अटपटे सूत ।।
दह्यौ, दूध, घृत लै आगें करि, जहँ-जहँ धरों दुराइ ।
अँधियारे-घर कोहू न जानें, तहाँ पैहलें हीं जाइ ।।
गोरस के सब भाजन फोरै, माँखन खाइ चुराइ ।
लरकँन्ह के कर-काँन मरोरै, तहँ ते चलै पराइ ।।
बांट देत बनचरँन्ह कौतुकी, करै बिनोद बिचारि ।
'परमाँनद'-प्रभु गोपी-बल्लभ, भावै मदन-मुरारि ।।

राग-सारंग

ढोटा, रंचक माँखन खायौ ।
काहे कोह करत तू ग्वालिनि, सब ब्रज गाजि हलायौ ।।
जा कौ जितनों होइ बाबरी , दूनों मोपै लेहु ।
मेरौ काँन्ह यहै इकलौतौ, सब असीस मिलि देहु ।।
कमल-नैंन मो अखियँन-तारौ, कुल-दीपक ब्रज-गेह ।
'परमानंद' कहति नँद-राँनी, सुत-प्रति अधिक सनेह ।।

राग-सारंग

दुहि-दुहि ल्यावत, धौरी गैया ।
कँमल-नैंन कों अति भावत है, मथ-मथ प्यावत घैया ।।
हँस-हँस ग्वाल कहत सब बातें, सुन गोकुल के रैया ।
ऐसौ स्वाद कभू नहिं पायौ, अपनी सोंह कन्हैया ।।
मोंहन अधिक भूंख जो लागी, छाक बाँट दै भैया ।
'परमानंद दास' कों दीजै, पुनि-पुनि लेत बलैया ।।

राग-गौरी

नैंकि पढै, गिरिधर कों मैया ।
रही भिलसाइ, पतयाइ न औरें, इनके हाथ लगी मेरी गैया ।।
ग्वाल-बाल सब सखा सयाँने, पचिहारे बलदाऊ भैया ।
हूंक-हूंक इनहीं तन चितबत, चाँहत नाहिंन अपनों लैया ।।
सुन्ह ए बचन हाथ कौरें रह्यौ, दुहुँ दिसि चितवत कुँमर कन्हैया ।
'परमाँनद' जसुमति मुसकाँनी, संग दियौ गोकुल कौ रैया ।।

राग-बिलावल

नेंकि लाल, टेकौ मेरी बहियाँ ।
औघट-घाट चढ़्यौ नहिं जाई, रपटति हौं कालिंदी-महियाँ ।।
सुंदर, स्याँम, कमल-दल-लोचन, देखि सरूप ग्वारि उरझाँनी ।
उपजी प्रीति, काँम-अंतरगत, तब नागर नागरि पैहचाँनी ।।
हँस ब्रजनाथ गह्यौ कर-पल्लब, ज्यों गागर-सिर गिरन्ह न पावै ।
'परमानंद' सयाँनी ग्वारिनि, कमल-नेंन-तन परस्यौ भावै ।।

राग-आसावरी

साँमरौ बदन देखि लुभाँनी ।
चले जात फिरि चितयौ मो तन, तब ते संग लगाँनी ।।
वे वा घाट चरावत गैयाँ, हौं इत तें गई पाँनी ।
कमल-नेंन उपरेंनाँ फेरयौ, 'परमानंद' हि जाँनी ।।

राग-सारंग

गोरस बेचति ही ठगी ।
कहा करों वाके बस नाहीं, मनसा अँनत लगी ।।
खेलत बीच मिल्यौ नँद-नंदन, कालिंदी के तीर ।
चितयौ तनक कमल-दल-लोचन, मन-मोंहन बल-बीर ।।
और सखी सब बूझन लागीं, करत कोंन कौ मोल ।
'परमानंददास' बलिहारी, मींठे तेरे बोल ।।

राग-आसावरी

अरी, गुपाल सों मेरौ मन-मान्यों, कहा करैगौ कोउ री ।
अब तौ चरन-कमल लपटाँनी, जो भावै सो होउ री ।।
माइ रिसाइ, बाप घर-मारै, हँसैं बटाऊ लोग री ।
अब तौ जिय ऐसी बनि आई, बिधनाँ रच्यौ सँजोग री ।।
बरु यै लोक जाइ किन्हि मेरौ, अरु परलोक नसाइ री ।
नँद-नंदन हौं तऊ न छांड़ों, मिलों निसाँन-बजाइ री ।।
बहुरें यै तन धरि काँ पैहों, बल्लभ-भेष मुरारि री ।
'परमाँनद'-स्वाँमी के ऊपर, सरबस दै हौं वारि री ।।

राग-धनाश्री

भावै मोहि मोंहन बेंन-बजावन ।
मदनगुपाल देखि हौं रीझी, भोंहन की मटकावन ।।
कुंडल लोल, कपोल लोल मधु, लोचन चारु चलावन ।
कुंतल कुटिल, मनोहर आँनन, मींठें धेंनु-बलावन ।।
स्याँम सुभग तन चंदन-मंडित, उर, कर, अंग, नचावन ।
'परमानंद' ठगी नँद-नंदन, दसँन-कुंद-मुसकावन ।।

राग-धनाश्री,-सारंग

जब ते प्रीति स्याँम सों कीन्हीं ।
ता दिन ते मेरे इन नेंनन, नेंक-हु नींद न लीन्हीं ।।
सदाँ रहत चित चाक-चढ़्यौ सौ, और कछू न सुहाइ ।
मन में रहै उपाइ मिलन कौ, यहै बिचारत जाइ ।।

'परमानंद' यै पीर प्रेम की, काहू सों नाहिं कहिऐ ।
जैसें बिथा मूक बालक की, अपने तन-मन सहिऐं ।।

राग-सारंग

मन, हरयौ कमल-दल नैंना ।
चितवन चारु चतुर चिंतामनि, मृदु, मधु माधौ-बैंना ।।
कहा करौं घर गयौ न भावै, चलन-बलन गति थाकी ।
स्याँम सुंदर हठि दासी कीन्हीं, लखि न परै गति ताकी ।।
कहि उपदेस सैहचरी मोसों, कहाँ जाँउ, कहाँ पाँऊं ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, जहाँ लै नैंन मिलाँऊं ।।

राग-धनाश्री

मैं, तू कै बिरियाँ समझाई ।
उठि-उठि,उझकि-उझकि हरि-हेरति, चंचल टेब न जाई ।।
छिन-छिन, पल-पल, रहयौ न परै तब, सैहचरि ग्रोट लगाई ।
कमल-नैंन कौं फिरि-फिर चितबत,, लोक की लाज मिटाई ।।
को प्रति उत्तर देइ सखी कों, गिरिधर बुद्धि चुराई ।
मदनमोंहन-राधा-रस-लीला, कछु 'परमाँनद' गाई ।।

राग-सारंग

सोहत नव कुंजन छबि भारी ।
अदभुत रूप-तमाल सों लिपटी, कनक-बेलि सुकमारी ।।
बदन सरोज, डहडहे लोचन, निरखि छबी सुखकारी ।
'परमाँनद'-प्रभु-मत्त-मधुप है, बृषभाँन-सुता फलवारी ।।

राग-सारंग

नव-रँग कंचुकी तन गाढ़ी ।
नव-रँग सुरँग चूनरी ओढ़ें, चंद-बधू सी ठाढ़ी ।।
नव-रँग मदनगुपाल लाल सों, प्रीति निरंतर बाढ़ी ।
स्याँम-तमाल-लाल-मन लिपटी, कनक-लता सी आढ़ी ।।
सब रँग सुंदर नवल किसोरी, कोक-कला गुन-पाढ़ी ।
'परमाँनद'-स्वाँमी की जीवन, रस-सागर-मथि काढ़ी ।।

राग-सारंग

सुनत हि जिय-धरि मुरि मुसकाँनी ।
कौंन स्याँम, नंद-सुत कैसौ, अनगढ़-छोली-बाँनी ।।
कछु अनुराग जनायौ मन कौ, अलकलड़ी मन-ठाँनी ।
लै स्याँमला नैंन में राखी, अंजन-रेख सयाँनी ।।
जिय की बात न प्रगट जनावत, चोंप रहत क्यों छाँनी ।
'परमानँद' प्यारी बिचित्र मति, मुख रूखी, हिय साँनी ।।

राग-बिलावल

चली उठि, कुंज-भँमन तें भोर ।
डगमगात, लटकत लट छूटीं, पैहरें पीत-पटोर ।।
अरुन नैंन घूंमत आलस-बस, जन रस-सिंध-हिलोर ।
गिरि-गिरि परत गलित कुसुमावलि, सिथिल सीस कच-डोर ।।

पद-नख अंक जुगल राजत बर, सुभग-हिऐं तन-गोर ।
'परमाँनद' प्रभु रमी निसा, अब लिपटि हँसी मख-मोर ।।

राग-सारंग

छाँड़ि देत झूंठौ अभिमौन ।
मिल रस-रीति-प्रीति करि हरि सों, सुंदर हैं भगवाँन ।।
यै जोबन-धन दिवस च्यारि कौ,पलटत रँग ज्यों पाँन ।
बौहौरि कहाँ यै औसर मिलि है, गोप-भेख कौ ठाँन ।।
बारंबार दूतिका सिखवत, करि-री, अधर-रस पाँन ।
'परमाँनद'-स्वाँमी सुख-सागर, सब गन रूप-निधाँन ।।

राग-कान्हरौ

मानिनी ऐतौ मान न कीजै ।
यै जोबन अंजलि कौ जल ज्यों, जब गुपाल माँगै तब दीजै ।।
दिन-दिन घटै, बढ़ै नहिं सुंदरि, जैसें कला चंद की छीजै ।
पूरन पुन्न, सुकृत फल तेरौ, क्यों न रूप नेंन-भरि पीजै ।।
चरन-कमल की सपथि करत हौं, ऐसौ जीवन दिन-दस जीजै ।
'परमाँनंद'-स्वाँमी सों मिलकें, अपनों जनम सफल करि लीजै ।।

राग-सारंग

काँन्ह, कमल-दल नेंन तिहारे ।
अरुन, बिसाल, बंक अवलोकँन्ह, हठि मन हरत हमारे ।।
तिन्ह पै बनी कुटिल अलकावलि, माँनों मधुप झँकारे ।
अतिसै रसिक, रसाल, रस-भरे, चित ते टरत न टारे ।।
मदन कोटि, रबि कोटि, कोटि ससि, ते तुम्ह-ऊपर वारे ।
'परमानंद दास' के जीवन, गिरिधर, नंद-दुलारे ।।

राग-कल्यान

अँमृत-निचोइ, कियौ इक ठौर ।
तेरौ बदन सँवारि सुधा-निधि, ता दिन बिधिनाँ रची न और ।।
सुनि राधे, का उपमा दीजै, स्याँम मनोहर भए चकोर ।
सादर पियत, मुदित तोहि देखत, तपत काँम उर नंद-किसोर ।।
कोंन-कोंन अँग करों निरूपन, गुन औ सींव रूप की रासि ।
'परमाँनद-स्वाँमी-मन बाँध्यौ, लोचन, बचन प्रेंम की फासि ।।

राग-सारंग

बिधिनाँ, बिधि करी बिपरीत ।
स्याँम मनोहर बिछुरन लागे, बाल-पने के मीत ।।
लै अक्रूर चले मधुबन कों, सब ब्रज अति भै-भीत ।
साँचे भए तब-ही हम जानें, गन जो गाए गीत ।।
चूक परी सेवन नहिं पाए, चरँन-सरोज पुनीत ।
'परमाँनद' अब कब हिं मिलेंगे, सुबल-सीदामा-मीत ।।

राग-केदारा

रेंन, पपीहा बोल्यौ-री माई ।
नींद गई, चिंता चित बाढ़ी, सुरति स्याँम की आई ।।

साँमन--माँस देखि बरखा-रितु, हौं उठि आँगन धाई ।
गरजत गगँन, दाँमिनी दमकत, तामें जीउ उड़ाई ।।
राग मलार कियौ जब काहू, मुरली मधुर बजाई ।
बिरहिन बिकल 'दास परमाँनद', धरनि परी मुरझाई ।।

राग-सारंग

मोंहन, वौ क्यों प्रीति बिसारी ।
कहत, सुनत, सँमझत, उर-अंतर, दुख लागत है भारी ।।
एक दिवस खेलत बन भीतर, बेंनी हाथ सँम्हारी ।
बीनत फूल गयौ चुभि काँटौ, ऐसी सही बिथा री ।।
हम पै कठिन ह्वै अब कीन्हों, लाल गुबरधन-धारी ।
'परमाँनद' बल-बीर बिना हम, मरत बिरह की मारी ।।

राग-गौरी

ब्रज की औरें रीति भई ।
प्रात-समें अब नाहिंन सुनियत, घर-घर चलत रई ।।
ससि की किरन तरनि-सम लागत, जागत निसा गई ।
उदभट भूप मकर-केतन की, आग्या होत नई ।।
बृंदाबन की भूमि भाँमती, ग्वालँन्ह छाँड़ि दई ।
'परमाँनद'-स्वाँमी के बिछुरें, बिधि कछु और ठई ।।

राग-सारंग

गोबिंद, बीच दै सर मारी ।
उर-तन-कुटी बिरह-दावानल, फूंक-फूंक सँधि जारी ।।
सोच-पोच तन छींन भयौ अति, कैसी देह बिगारी ।
जो पैहलें बिधि हरि के कारन, अपने हाथ सँवारी ।।
बरु गोपी-घर जनम न लेती, रहत गरभ में डारी ।
'परमाँनद' एती कित ब्रज में नाँउ धरचौ ब्रज-नारी ।।

राग-सारंग

ता दिन, सरवस देंहुगी बधाई ।
जा दिन दौरि कहै कोहु सजनी, आए कुँवर कन्हाई ।।
में अपनों-सौ बौहौत करत हौं, लाल न देति दिखाई ।
सोवत, जागत, दिन अवलोकत, वौ मन कबहुँ न जाई ।।
मेरी उनकी प्रीति निरंतर, बिछुरत पल न घटाई ।
'परमानंद' बिरहनी हरि की, सोचत बरु पछिताई ।।

राग-सारंग

किते दिन गए रेंन सुख-सोएं ।
कछू न सुहाइ गुपालहिं-बिछुरें, रही पूंजी-सी खोएं ।।
जब ते गए नँदलाल मधपुरी, चीर न कोहू धोए ।
मुख न तँबोर, नेंन नहिं काजर, बिरह सरीर बिगोए ।।
ढूँढत बाट, घाट, बन, परबत, जहाँ-जहाँ हरि खेले ।
'परमाँनंद' प्रभु अपनों पीतांबर, मेरे सिर पै मेले ।।

राग-कल्यान

हरि-बिन, बैरिन रैंन बढ़ी।
हम अपराधिन निठुर बिधाता, काहे सँवारि गढ़ी।।
तन, धन, जोबन बृथाँ जात है, बिरहा अनल रढी।
नंदनँदन कौ रूप बिचारत, निस-धर होरि चढ़ीं।।
जिहिं गुपाल मेरे बस होते, सो बिद्या न पढ़ी।
'परमाँनद'-स्वाँमी न मिले तौ, घर ते भली मढ़ी।।

राग-सारंग

ऊधौ, नाहिंन परत कही।
जब ते हरि मधपुरी सिधारे, बौहौतहि बिथा सही।।
सुँमरि-सुँमरि वौ सुरति स्याँम की, बिरहा बौहौत दही।।
निकसत प्राँन अटकि में राखे, अबध्यौ जाँन रही।
'परमाँनद'-स्वाँमी के बिन अब नेंनन नदी बही।।

राग-बिहाग

माईरी, चंद लग्यौ दुख देंन।
कहाँ वौ देस, कहाँ मन-मोंहन, कहाँ वौ सुख की रैंन।।
तारे गिनत गई-री सब निस, नेंक न लागे नेंन।
'परमाँनद'-प्रभु पिय बिछुरे ते, पल न परत चित चेंन।।

राग-गौरी

बदरिया, तू कित ब्रज पै दौरी।
असलँन साल सलाँमन लागी, बिधनाँ लिख्यौ बिछौरी।।
रहौ, जु रहौ, जाहु घर अपने, दुख पावत है किसोरी।
'परमाँनद'-प्रभु सो क्यों जीबै, जा की बिछुरी जोरी।।

राग-सारंग

पतियाँ, बाँचेंहू न आवै।
देखत अंक नेंन जल पूरे, गदगद प्रेंम जनावै।।
नंदकिसोर सुहथ अच्छर लिखि, ऊधौ-हाथ पठाए।
समाचार-मधुबन गोकुल में, मुख-ही बाँचि सुनाए।।
ऐसी दसा देखि गोपिन की, भक्त भरँम सब जाँन्यों।
मन, क्रम, बचन, प्रेंम-पद-अंबुज, 'परमाँनद' मन माँन्यों।।

राग-सारंग

गुपाल-बिन कैसें ब्रज रहिबौ।
धूसर अंग उठाइ गोद लै, लाल कोंन सों कहिबौ।।
जो मधुपुरी दिवस लागत हैं, सोच सूल तन सहिबौ।।
'परमाँनद' स्वाँमी कों तजिकें, सरँन कोंन की गहिबौ।।

राग-सारंग

बंदसि बनीं कमल-दल-लोचँन।
चितवन चारु चतुर चिंतामनि, बिन गुन चाँप मदन-सर मोचँन।।
कटि पीतांबर, लाल उपरेंनाँ, माथें पाग, मनोहर कुंडल।
मुक्ता कंठ, हाथ में बीरा, पाँइ पाँमरी, गति ब्रज-मंगल।।

नंद-किसोर कूल-कालिंदी, संग गुपाल सभा कौ मंडन।
'परमानंददास' बलिहारी, जै जगदीस कंस-कुल-खंडन ।।

राग-सारंग

मारग, माधौ कौ जोवै।
वौ अनुहारि न देख्यौ कोऊ, जो नेंनन-दुख-खोवै ।।
बाल-बिनोद किए नँद-नंदन, सुँमरि-सुँमरि गुन रोवै।
बासर प्रति गृह-काज न भावै, निस भरि नींद न सोवै ।।
अंतरगत की बिथा मानसी, सो तन अधिक बिगोवै।
'परमानंददास' गोविंद-बिन, अँसुवन-जल उर धोवै ।।

राग-सारंग

मेरौ मन-गह्यौ माई, मुरली कौ नाँद।
आसन पोंन, ध्यांन नहिं जाँनों कोंन करे अब बाद-बिबाद ।।
मुक्ति देहु संन्यासिन कों हरि, काँमिनि-देहु कांम की रास।
धरमिन देहु धरम कौ मारग, मो मन रहै पद-अंबुज-पास ।।
जो कोऊ कहै ज्योति सब यामें, सपनेहु छियों न तिहारौ जोग।
'परमानंद' स्यांम-रँगराती, सबै सहों मिलि इक अँग लोग ।।

राग-गूजरी

वौ मुख, देख्यौ ही मोहि भावै।
मदन गुपाल जगत कौ ठाकुर, बन ते जब घर आवै ।।
लोचन लोल, नासिका सुंदर, कुंडल ललित कपोल।
दसँन कुंद, बिंबाधर राते, मधु ते मींठे बोल ।।
कुंचित केस पीत-रज मंडित, जनु भौंरन की पाँत।
कँमल-कोस ते कढि ढिंग बैठे, पाँडुर बरन सुजात ।।
चंदक चारु मुकट सिर सोहत, बीच-बीच मनि-गुंजा।
गोपी-मोंहन अभिनव मूरत, प्रघट प्रेम के पुंजा ।।
कंठ कंठमनि, स्यांम मनोहर, पीतांबर बनमाल।
'परमानंद' स्रबँन मनि मंगल, कूंजत बेंनु रसाल ।।

राग-सारंग

जाकों तुम्ह, अंगीकार कियौ।
तिन्हें के कोट बिघँन हरि टारे, अभै प्रताप दियौ ।।
बहु सासनाँ दई पैहलादै, तऊ निसंक जियौ।
निकसे खंभ-मध्य ते नरहरि, आपुन राखि लियौ ।।
दुरबासा अमरीष-सतायौ, सो पुनि सरँन लियौ।
राखि प्रतिग्या मदन मोंहन उन-ही पै पठै दियौ ।।
मृतक भएँ हरि सबै जिवाए, दीठ हिं अमृत पियौ।
'परमानंद' भगत के बस सो, उपमाँ कोंन बियौ ।।

परमानंददास जी के सागर में 'वार्त्ता' के अनुसार पूर्व में कहे गए बाल्य से लेकर कांता और दास भाव-विभूषित भक्ति के–स्नेह के जितने भी भव्य और आकर्षक चित्र हो सकते हैं, वे सब उनकी व्यंजनाविभूषित भाषा के सहारे ,सत्यानुभूति के साँचे में ढल कर कुछ इस प्रकार निखर कर काव्य-भूमि पर उतरे हैं कि उनके संकलन में—उदाहरण छाँटने और प्रस्तुत करने में, नंददास जी की यह उक्ति—

"भरे भँवन के चोर भए बदलत ही हारे ।"

बार-बार विवश कर देती है । सागरके रत्न-रूप पदोंकी व्याख्या करने वा सुंदरताके विषय में कुछ कहने-सुनने में भी विचार उत्पन्न होता है कि कहीं अल्पज्ञता वश उनके काव्यरूप यशः शरीर की किसी 'रग' पर कठोर कलम का नस्तर न लग जाय—उनके भाव-भरे कोमल हृदय के किसी कोने को इस प्रकार न छू दिया जाय कि वह कराह उठे । सच तो यह है कि परमानंददास ने उस समय की राष्ट्रभाषा—ब्रजभाषा की लोक-पावन-प्रणालिका के सहारे ब्रजभारती का वह अजस्र सहज स्रोत बहाया जो 'सत्यम् शिवं सुंदरं' के स्वाभाविक रूप में परिणत होकर "ब्रह्मानंद-सहोदर काव्यानंद" कहा जाता है । परमानंददास जी ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, भाव-प्रवणता और कल्पना के स्वानुभूति पूर्ण सहज रंगों के सहारे मानव की लोकरंजक-भावनाओं की पृष्ठ-भूमि पर ऐसे अलौकिक चित्र अंकित किए हैं, जिससे श्रोता-वक्ता, बिना किसी कठिन कल्पना के अपनी ही आत्म-अनुभूतियों में डूबता-उतराता श्रीकृष्ण-भक्ति में निमग्न हो अपने को भूल जाता है—रस तृप्त हो जाता है । अस्तु, संगीत-प्रवीण परमानंददास जी की रचना उच्चकोटि की है, उसमें रस प्रवाहिनी काव्य-शक्ति का रूप मुग्धकर है—आकर्षक है । भाषा सजीव है, सरल है, सुबोध और मधुर है । स्वाभाविक रूप से आए हुए अलंकारों के साथ काव्योचित अन्य गुणों और रीतियों का जाल नहीं, उनमें सच्ची स्वाभाविकता है । आपका शब्द-विन्यास नाद-सौंदर्य की तरल-तरंगों पर अठखेलियाँ करता हुआ काव्य के अंतर्गत भावों को दबने नहीं देता, अपितु उन्हें *अधिकाधिक खिलाता है । शब्दों के अर्थ संकेत के साथ उनकी लाक्षणिक ध्वनि बड़ी विलक्षण है जो भाव-*भूमि को और भी उर्बरा बनाती हुई उसकी श्री को अनुपम रूप से उद्भासित करती है। लोकरुचि, परमानंददास जी को, प्रेम के अंतर्गत भाव-क्षेत्र में सीमित रहनेवाला कह सकती है, वे सूर की भाँति वहाँ अधिक गहरे न उतरे हों, यह भी हो सकता है ; पर अपनी अनुभूतिके छोटे से दायरे में ही सही, वे बड़े गहरे उतरे हैं । वहाँ उनकी पेनी दृष्टि अधिक प्रखर हुई है ।

पुष्टि-संप्रदाय में अष्टछाप के कवियों के प्रति सुंदर भावनाएँ प्रचलित हैं । ये भावनाएँ उसकी निराली सूझ-बूझ की द्योतक तो हैं ही साथ ही सांप्रदायिक रहस्य के समझने में भी बड़ी सहायक हैं । अतएव उक्त भावनानुसार परमानंददास—

"सारस्वत कल्प में गोलोक वासी भगवान श्रीकृष्ण के सखा तोष, श्री राधा-सहचरी—चंद्रभागा, वर्ण-केसरिया, प्रिय रितु—शिशिर, प्रिय कुंज—मान, प्रिय मनोरथ—गुप्तरस, सेवा कार्य—चित्रकारी, वृतीपन, कामशास्त्र, वशीकरण और स्वांत बोलना एवं श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के समय आपका प्रिय स्वरूप नवनीत प्रिय, प्रिय शृंगार-ग्वालपगा, प्रियलीला-बाल कही गई है । आपके अंग गायक थे—पद्मनाभदास, गोपालदास, आसकरण, गदाधरदास, सगुनदास, हरिजीवनदास, मानिकचंद, और रसिक बिहारी ।"

पद्मनाभदास जी के पद मुद्रित होकर पृथक् रूप से प्रकाश में आ चुके हैं । अन्य अंग-स्वरूप कवियों की कृतियाँ—नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव में संकलित हैं ।

परमानंदसागर का संपादन जैसा सुंदर ढंग से होना चाहिए था, वैसा हो चुका है । उदयपुर (मेवाड़) 'साहित्य-संमेलन' के अवसर पर जब हम लोग परम श्रद्धेय राजर्षि टंडन जी के साथ 'काँकरौली' (मेवाड़) गये थे, तब उसे देखा था । सागर के संपादक हैं—ब्रजभाषा के चिरपरिचित मर्मज्ञ तथा उसके प्रसिद्धि-प्राप्त ज्ञाता—'जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा' । अब तो उसके प्रकाश में आने की देर है । काँकरौली नरेश गोस्वामी श्री ब्रजभूषण लाल जी महाराज उसके मुद्रण की चेष्टा में प्रयत्नशील हैं । गोस्वामी जी ने चतुर्वेदी जी को काँकरौली में अपने पास रख कर तथा अपने सुमधुर सहयोग दे परमानंद-सागर का संपादन कराया था ।

परमानंददास जी की कुछ अन्य रचनाएँ भी कही-सुनी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

दानलीला, उद्धवलीला, ध्रुवचरित्र और संस्कृत-रत्नमाला ।

ये रचनाएँ अभी प्रकाश में नहीं आई हैं । हो सकता है कि ये रचनाएँ किसी अन्य 'परमानंददास जी' की हों, पर उनका भी तो पता लगना चाहिये, उनका इतिवृति भी तो प्रकाश में आने की चाह रखता है ।

परमानंद-सागर में परमानंददास जी की नाम-छाप भिन्न-भिन्न हैं, **जैसे—"परमानंद, परमानंद-दास, परमानंद प्रभु, परमानंद स्वामी और दास परमानंद।"**

डा. 'दीनदयाल गुप्त, लखनऊ' ने एक और नई छाप –जो हमारे देखने में नहीं आई **'परमानंद सारंग'** का अपनी पुस्तक–"अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ०–११३" पर उल्लेख किया है तथा प्रमाण की–पुष्टि में 'भक्तमाल'–नाभादास' का यह पद दिया है—

"बाल, पौगंड, किसोर-गोप-लीला सब गाई।
अचरज का यै बात, हती पैहले जु सिखाई।।
नेंनन नीर-प्रबाह, रहत रोंमांच रेंन दिन।
गदगद-गिरा उदार स्यांम-सोभा-भींज्यौ तन।।
'सारंग' छाप ता की भई, स्रबन सुनत आबेस देत।
ब्रज-बधू-रीति कलिजुग बिषै, परमांनद भौ प्रेम-केत।।"

डा. गुप्त लिखते हैं कि "परमानंददास जी के जितने पद उपलब्ध हैं इनमें दो-तीन पदों में ही लेखक (डा० गुप्त) ने कवि के नाम के साथ 'सारंग' शब्द देखा है"..........और उदाहरण के लिये नीचे टिप्पणी (नोट) में यह अधूरा पद दिया है—

"जेहि भुज गोबर्धन राख्यों जिहि भुज कमला धर आनी।
जिहि भुज कंसादिक रिपु मारे, परमानंद प्रभु 'सारंग' पानी।।"

—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० –११४

यहाँ 'सारंग' शब्द छाप- रूप में नहीं 'प्रभु' के साथ 'पानी' (पाणि) से संबद्ध होकर भगवान श्रीकृष्ण के एक नाम-विशेष के रूप में आया है। साथ ही–'गोबर्धन' और 'राख्यों -शब्द-ब्रजभाषा की कोमल-शब्द-योजना तथा उसके अर्थ के प्रति कितना कुठाराघात कर रहे हैं! इसी प्रकार–'प्रभु' और 'स्वामी' छाप भी भगवान् श्रीकृष्ण की द्योतक हैं। इनकी अर्थ-संगति उन्हीं के साथ बैठती है– 'परमानंद' के साथ नहीं।
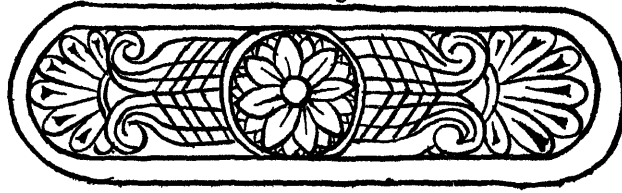
हरिवंश और हिंदी वैष्णव काव्य

श्री ब्रजेश्वर वर्मा

उपोद्घात

वाल्टर रूबेन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि हरिवंश वस्तुतः महाभारत का 'रिबल' तथा समस्त पुराणों के पहले की रचना है[१]। उन्होंने हरिवंश के प्रक्षिप्त अंशों का अनुमान करके उसके मूल रूप में वर्णित कृष्ण-कथा का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की थी[२]। यदि महाभारतोपरांत कृष्ण-कथा का मूल रूप हरिवंश से जाना जा सके तो कृष्ण-साहित्य के विकास-क्रम को समझने में बहुमूल्य सहायता मिलेगी। परंतु अपने वर्तमान रूप में, अनेक प्रक्षेपों का समावेश किए हुए भी, हरिवंश से हिंदी के कृष्ण-काव्य की ही नहीं, उत्तर भारत के समस्त वैष्णव साहित्य की पृष्ठभूमि समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। वस्तुतः हिंदी-वैष्णव-काव्य के साथ वर्तमान हरिवंश की तुलना करने में उसके प्रक्षिप्त अंश बाधक नहीं, अपितु सहायक हैं; क्योंकि जैसा कि हम आगे देखेंगे मूल और प्रक्षेप—संपूर्ण हरिवंश की रचना हिंदी-कृष्ण-काव्य के बहुत पहले हो चुकी होगी। हरिवंश और हिंदी भक्ति-काव्य के बीच पर्याप्त व्यवधान और कालांतर है। उस व्यवधान में पौराणिक, साहित्यिक तथा विकासशील लोकाचारिक अनेक शृंखलाएँ हैं। श्रीमद्भागवत इन शृंखलाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शृंखला कही जा सकती है, जिसमें हिंदी-कृष्ण-काव्य से ही नहीं, समस्त वैष्णव-साहित्य से अत्यधिक निकटता एवं घनिष्ठता पाई जाती है।

हरिवंश में कृष्ण-कथा एवं कृष्ण-भक्ति का ही वर्णन प्रधान है; विष्णु के अन्य अवतारों की कथाएँ अत्यंत संक्षेप से आनुसंगिक रूप में आई हैं, परंतु ऐसा नहीं कि हरिवंश से केवल कृष्ण-काव्य की ही समानता हो; उससे उस समस्त वैष्णव-काव्य की तुलना की जा सकती है जिसमें कृष्ण और राधा-कृष्ण की भक्ति वाले समस्त संप्रदायों की रचनाएँ ही नहीं, अपितु राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएँ भी आ जाती हैं। इस हिंदी वैष्णव-काव्य के अंतर्गत कृष्ण और राम की भक्ति के स्वरूप तथा परिणामतः उनसे संबद्ध काव्य एक दूसरे से बहुत भिन्न दिखाई देते हैं; तथापि दोनों में हरिवंश-वर्णित वैष्णव-भक्ति के भिन्न-भिन्न पहलुओं से विलक्षण समता है। हिंदी कृष्ण-काव्य में विभिन्न संप्रदाय-संमत विविध प्रकार की रचनाएँ हैं, परंतु सामान्यतः हम भक्त-प्रवर 'सूरदास' को उसका प्रतिनिधि कवि मान सकते हैं। राम-भक्ति के तो एक मात्र समर्थ कवि गोस्वामी 'तुलसीदास' ही हैं। अतः हरिवंश से हिंदी वैष्णव-काव्य की तुलना करने में इन्हीं दो कृष्ण और राम-भक्ति के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं को लक्ष्य किया गया है।

हिंदी के वैष्णव-काव्य में इसका संकेत भी नहीं मिलता कि मध्ययुग का वैष्णव-आंदोलन प्राचीन वासुदेवोपासना अथवा नारायणीय-धर्म का पुनरुत्थान था[३]। हिंदी काव्य के कृष्ण तो केवल वसुदेव-पुत्र होने के कारण वासुदेव हैं, उनके वासुदेवत्व की ऐतिहासिकता का कहीं संकेत नहीं मिलता,[४] परंतु जिस प्रकार

१. पौराणिक वीखंश—जर्नल ऑव दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९४१, पृष्ठ २४७-२५६

२. हरिवंश तथा कुछ पुराणों में कृष्णचरित—जर्नर ऑव दी अमेरिकन ओरिएंटल-सोसाइटी, ६१, १९४१, पृष्ठ ११५-१२७

३. दे० वैष्णववाद, शैववाद एवं अवर धार्मिक पद्धतियाँ—आर० जी० भंडारकर, भाग १,७-९

४. सूरसागर के तीसरे पद में अवश्य वासुदेव नाम से विष्णु की वंदना की गई है, जो कृष्ण-चरित से सीधे संबंधित न होने से पुरातन वासुदेव को संकेत करती हुई कही जा सकती है, परंतु इस पद में भी अंत में 'जदुनाथ गुसाईं' का उल्लेख हो गया है। —दे० सूरसागर (वें० प्रे०),

गीता के श्रीकृष्ण अपने को 'वृष्णियों में वासुदेव'[१] घोषित करते हैं, हरिवंश में अनेक स्थलों पर बताया गया कि श्रीकृष्ण ही दूसरे वासुदेव हैं। कृष्ण-जन्म की भविष्य-वाणी में ही कहा गया है कि वसुदेव से 'दूसरे' वासुदेव का जन्म होगा[२]। 'दूसरे' वासुदेव का पद पाने के लिए अन्य समसामयिक व्यक्तियों ने भी प्रयत्न किया था, परंतु श्रीकृष्ण ने उन्हें परास्त करके अपना वासुदेवत्व प्रमाणित किया। करवीरपुर का शृगाल वासुदेव इसी प्रकार युद्ध में पराजित किया गया। श्रीकृष्ण से युद्ध करते हुए शृगाल वासुदेवत्व की प्रतियोगिता का संकेत करता हुआ कहता है कि तुम्हारे मरने से मैं ही 'एक' वासुदेव रहूँगा और मेरे मरने से तुम्हीं 'एक' वासुदेव रहोगे[३]। हरिवंश के प्रथम पर्व में इस प्रकार के अनेक संकेत हैं जिनके द्वारा श्रीकृष्ण को प्राचीन भागवत-धर्म के वासुदेव से अभिन्न सिद्ध करने का उद्योग किया गया है। उन्हीं वासुदेव ने माथुर-कल्प में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया[४]।

दूसरे वासुदेव कृष्ण

उपर्युक्त शृगाल वासुदेव की भाँति पौंड्र नामक राजा भी वासुदेव नाम से विख्यात होना चाहता था। वह नारद से कहता है—"आप जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ-वहाँ तप-सिद्धि के लोक विख्यात हैं और वहाँ-वहाँ मैं पौंड्र वासुदेव नाम से विख्यात हूँ। शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग, तूणीर, धारण किए हुए मैं राजसिंहों का विजेता सर्वदा सबका दाता हूँ। जो यह गोप वासुदेव कहा जाता है उस मेरे नाम धारण करने वाले में वीर्य और बल नहीं है। यह गोप-बालक व्यर्थ मेरा नाम धारण करता है। हे विप्रेंद्र, ऐसा निश्चित कहो कि मैं ही 'एक' रहूँ। इस जगत् में उस बलिष्ठ यदु को जीत कर मैं ही वासुदेव कहलाऊँ और सब वृष्णियों को बल से मार कर उस पुरी का नाश करूं[५]।" नारद ने पौंड्र के इस दुःसाहस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि "सर्वत्रगामी विष्णु, दुष्टों को उनके बंधुओं सहित मार कर स्थित हैं, फिर उन हरि के होते हुए दूसरा कौन

१. **वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि,**
—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०, श्लोक ३७

२. **द्वितीयोवसुदेवाद्वै वासुदेवो भविष्यति ।**
—विष्णु पर्व, अध्याय २२, श्लोक ६०

३. **लोकेस्मिन्वासुदेवोऽहं भविष्यामि हते त्वयि ।**
हते मयि त्वमप्येको वासुदेवो भविष्यसि ॥
—विष्णु पर्व अध्याय, ४४, श्लोक २२

४. **विष्णोस्तु माथुरे कल्पे यत्रते संशयो महान् ।**
वासुदेव गतिश्चैव सामया समुदाहृता ॥
—विष्णु पर्व, अ० १२८, श्लोक २६

५. **नारदेदं वदत्वं हि यत्र यत्र गतो भवान् ।**
तत्र तत्र तपः सिद्धो लोके प्रथित वीर्यवान् ।
पौंड्र एव च विख्यातो वासुदेवेति शब्दितः ॥
शंखी चक्री गदी शार्ङ्गी खड्गी तूणी तनुत्रवान् ।
विजेता राजसिंहानां दाता सर्वस्य सर्वदा ॥
योऽद्य गोपकनामासौ वासुदेवेति शब्दितः ।
तस्य वीर्यबलेनस्तो नाम्नोस्य मम धारणे ॥
सहि गोपो वृथा बाल्याद्धारयत्येव नाम मे ।
इदं निश्चिनु विप्रेंद्र एक एव भवाम्यहम् ॥
वासुदेवो जगत्यस्मिन्निर्जित्य बलिनं यदुम् ।
वृष्णीन्सर्वान्बलात् क्षिप्त्वा निहनिष्येचतां पुरीम् ॥
—भविष्य पर्व, अ० ९२, श्लो० ७,८,१०,११,१२

वासुदेव नाम रख सकता है[१] ?" इन कथनों से स्पष्ट है कि उस समय तक यह सर्वमान्य नहीं हो पाया था कि श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं।

आदि पुरुष **अद्वैत विष्णु** **विष्णु**

ऋग्वेद में विष्णु-संबंधी बहुत कम ऋचाएँ हैं ; फिर भी ब्राह्मण-काल तथा उससे कहीं अधिक महाभारत एवं पौराणिक-काल में विष्णु को जो उत्तरोत्तर महत्ता और महिमा प्राप्त होती गई उसका सूत्र वैदिक साहित्य में मिलता है[२]। पुराणों में तो विष्णु को 'परब्रह्म' और आदिपुरुष' के रूप में उपस्थित किया गया है। हरिवंश भी उन्हें अव्यय, सहस्र-नेत्र, सहस्र-मुख, सहस्र-भुज, सहस्र-शिर, सहस्र-कर, सहस्र-जिह्वा और सहस्र-मुकुट बता कर[३] पुरुष सूक्त में वर्णित आदिपुरुष से अभिन्न घोषित करता है। श्रुति के वचनों[४] का मानो इससे भी अधिक घनिष्ठ उल्था करते हुए शिव के मुख से विष्णु के संबंध में कहलाया गया है—"तुम सहस्र शीर्ष पुरुष, सहस्राक्ष, सहस्र-पाद, सहस्र-प्रकार, सहस्र-मुख, सहस्रात्मा और स्वर्गपति हो। तुम इस समस्त भूमि में व्याप्त हो कर सप्त द्वीपों और सागरों में व्याप्त हो और अणु रूप से सर्वत्र दशांगुल देश में स्थित हो[५]।" विष्णु की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए शिव ही के द्वारा सृष्टि-काल में ब्रह्मा स्थिति काल में विष्णु और संहार काल में रुद्र और इस प्रकार त्रिधाम वाले कहलाया गया[६]। यही नहीं, उनमें वैदिक इंद्र, चंद्रमा, शुक्र, वृहस्पति आदि का भी समाहार किया गया[७]। हिंदी के वैष्ण-काव्य में विष्णु को त्रिदेव में सर्वश्रेष्ठ एवं तीनों के एकात्मक रूप में तो उपस्थित किया ही गया, उनके अवतार कृष्ण और राम को त्रिदेव से भी उच्च-आदि सनातन, परात्पर ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है[८]। हिंदी के भक्ति-काव्य ने इस दिशा में पुराणों से भी अधिक प्रगति की।

१. विष्णौ सर्वत्रगे देवे दुष्टान्हत्वा सबांधवान्।
वासुदेवेति को नाम तिष्ठत्यस्मिन्हराविति ॥
—भविष्य पर्व अ० ९२, श्लो० १९

२. दे० वैष्णववाद शैववाद एवं अवर धार्मिक पद्धतियाँ—(आर० जी० भंडारकर, भाग १)

३. सहस्राक्षं, सहस्रास्यं सहस्रभुजमव्यम्।
सहस्र शिर संवेदं सहस्रकरमव्ययम् ॥
सहस्र जिह्वं भास्वंतं सहस्र मुकुटं प्रभुम्।
सहस्रदं सहस्रादिं सहस्रभुजमव्ययम् ॥
—प्रथम पर्व, अ० ४१, श्लो० ३,४

४. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिॱ सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
—य० अ० ३१

५. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सहस्र धारः साहस्री सहस्रात्मा दिवस्पतिः ॥
भूमिं सर्वामिमां प्राप्य सप्त द्वीपां ससागराम्।
अणुः सर्वत्रगो भूत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
—भविष्य पर्व, अ० ८८, श्लो० ३३,३४

६. ब्रह्मात्वं सृष्टि कालेतु स्थितौ विष्णरसि प्रभो।
संहारे रुद्र नामाऽसि त्रिधामा त्वमसि प्रभो ॥
—भविष्य पर्व, अ० ८८, श्लो० ३१

७. हरिवंश प्रथम पूर्व, अ० ४२, श्लो० ४

८. दे० तुलसीदास—आध्यात्मिक विचार शीर्षक अध्याय—डा० माताप्रसाद गुप्त तथा—सूरदास इष्टदेव शीर्षक अध्याय—डा० ब्रजेश्वर वर्मा

वैदिक देवताओं में इंद्र की अपेक्षाकृत अधिक महत्ता है, क्योंकि वे देवासुर-संग्राम में सुरों का नेतृत्व करते हैं। उनका बल, वीर्य और पराक्रम अद्वितीय है। अतः पुराणों के चतुर रचयिताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे विष्णु के समक्ष इंद्र की हीनता दिखा कर विष्णु में अद्वितीय वीरता और सुरों की रक्षा की सामर्थ्य प्रतिष्ठित करें। स्पष्टतः इसी उद्देश्य से हरिवंश में देवता और असुरों के तारक-मय संग्राम का विस्तार के साथ वर्णन किया गया। असुरों-द्वारा विजित भयाक्रांत देवताओं को विष्णु भगवान् ही अभयदान दे कर आश्वस्त करते हैं। इस महा भयंकर संग्राम में असुरों का नेतृत्व करने वाले असुर श्रेष्ठ कालनेमि को विष्णु-सहित मंदराचल के समान विशाल तथा नारायण की भाँति पराक्रमशाली कहा गया[1] तथा देवताओं पर विजय प्राप्त करने के बाद दैत्यों-द्वारा उसी प्रकार उसका स्तवन कराया गया, जिस प्रकार विष्णु का किया जाता है[2]। कालनेमि अतुलित बलशाली था, परंतु विपरीत कर्म करने के कारण उसे वेद, धर्म, क्षमा, सत्य एवं नारायण की आश्रित श्री न प्राप्त हो सकी। इसी से रुष्ट हो कर वह 'वैष्णवपद' की इच्छा से नारायण के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ[3]। इंद्रादि देवताओं के विरोधी कालनेमि को इंद्र से भी अधिक महिमाशाली चित्रित करने का उद्देश्य विष्णु की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित करना ही है। कालनेमि के वैष्णव पद की इच्छा तथा उसके वेदादि से हीन होने में पुनः विष्णु की अद्वितीय महत्ता की व्यंजना है।

विष्णु और इंद्र

देवासुर-संग्राम में विष्णु ने इंद्रादि को पराजित करने वाले दैत्यों का नाश कर के भयाकुल, शरणहीन देवताओं को निर्भय किया। इसी प्रकार जब पृथ्वी पर ईर्ष्यालु राजाओं की वृद्धि हुई, नगर-नगर में एक-एक राजा तथा उन सबके पास कोटि-कोटि सैनिक-दल हो गए, तो उनके परस्पर विग्रह से व्यथित, भाराक्रांत पृथ्वी[4] का बोझ हलका करने के लिए विष्णु भगवान् ने पहले देवताओं को पृथ्वी पर अंशावतार लेने का आदेश दिया। अस्तु, अनंत बलशाली देवता सैकड़ों,-सहस्रों की संख्या में वृष्णि-वंश में उत्पन्न हुए; कुरु और पांचाल में भी देवताओं ने अवतार लिया[5]। दूसरी ओर दैत्यों ने भी भिन्न-भिन्न रूपों में पृथ्वी पर जन्म लिया। शौरसेन वंशी उग्रसेन का पुत्र कंस स्वयं कालनेमि का अवतार था तथा केशी, वृषभ, कुवलयापीड़, प्रलंब, धेनुक, मुष्टिक और चाणूर—सभी किसी न किसी दैत्य के अवतार थे। भौमासुर और नरकासुर क्रमशः मय और तारक थे। पृथ्वी पर इन दैत्यों के अत्याचारों से भारत कुल की रक्षा के निमित्त नारद ने विष्णु भगवान् से अवतार लेने की प्रार्थना की।[6] अस्तु, भगवान् विष्णु ने कश्यप के अवतार वसुदेव के यहाँ, जिनकी देवकी और रोहिणी नाम की पत्नियाँ क्रमशः अदिति और सुरभी की अवतार थीं जन्म लेने की इच्छा की[7]। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु ने वस्तुतः देवताओं की रक्षा के ही अर्थ पृथ्वी पर अवतार लिया था। उनको इंद्र के नेतृत्व में लड़ने वाले देवताओं की रक्षा करने के योग्य, अतः इंद्र से भी अधिक पूज्य, बनाने के लिए देवताओं का ही सगा भाई बनाया गया। इस प्रकार पृथ्वी पर विष्णु के रक्षा और संहार के कार्यों में देवासुर-संग्राम की ही पुनरावृत्ति हुई।

हिंदी वैष्णव-काव्य में भी हरिवंश तथा अन्य पुराणों की भाँति कृष्ण और राम के माता-पिता को अदिति और कश्यप का अवतार तथा कृष्ण और राम के द्वारा मारे हुए दुष्टों को दैत्यों का अवतार कहा गया,

[1]. हरिवंश प्रथम पर्व अ० ४६ श्लो० ५६-६१
[2]. वही, अ० ४६
[3]. प्रथम, पर्व, अ०४८, श्लो० १-२
[4]. वही, अ० ५१, श्लो० २१
[5]. वही, अ० ५३, श्लो० ७३-७४
[6]. वही, अ० ५४, श्लो० ६४-७७
[7]. वही, अ० ५५

एवं उनके उद्धार-कार्य को पृथ्वी का भार उतारना और देव, मुनि-आदि की रक्षा बताया गया, किंतु इस कार्य को देवलोग के देवासुर-संग्राम से संबद्ध नहीं किया गया। हिंदी-काव्य में कालनेमि और मय-तारक-संग्राम का उस प्रकार का उल्लेख नहीं आया जिस प्रकार का हम हरिवंश में पाते हैं। हिंदी-काव्य के राम और कृष्ण मानव-लीला में ही व्यस्त हैं, देवताओं की ओर उनका ध्यान कम जाता है। निश्चय ही उस समय तक देवताओं की हीनता तथा उनके राजा इंद्र की अपेक्षा विष्णु की अतर्क्य श्रेष्ठता लोक-विश्वास में इतनी बद्धमूल हो चुकी थी कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। हिंदी के राम और कृष्ण इतने मानव हो गये कि उनके देवोद्धार-कार्य को शंका और संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। अक्रूर के साथ मथुरा जाते हुए कृष्ण के प्रति सूरदासव्यंग से कहते हैं कि 'कंस-निकंदन ने देवों को सनाथ करने के लिये ब्रजवासियों को अनाथ करके आतुरता से रथ हँकवाया'[1] और, गोस्वामी तुलसीदास तो राम-बनवास के वर्णन में बारंबार 'स्वार्थी और कुचाली' देवताओं की कटु आलोचना करते हैं।

विष्णु को इंद्रादि देवताओं का रक्षक प्रमाणित करने मात्र से पुराणों का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। यह तो इंद्रादि के स्थान पर विष्णु की एकमात्र पूजा-आराधना प्रचलित कराने के प्रयत्नों की केवल भूमिका है।

कृष्ण और इंद्र

हरिवंश में वर्णित कृष्ण और इंद्र-संबंधी उपाख्यानों से सूचित होता है कि उस समय तक इंद्र की हीनता का उस निर्भीकता एवं स्वच्छंदता से उल्लेख नहीं हो सकता था, जो कालांतर में दिखाई देता है। हरिवंश के अनुसार ब्रजवासी इंद्र देवता को मेघों का राजा मानते थे। उनका विश्वास था कि इंद्र की आज्ञा से ही मेघ जल बरसाते हैं, जिससे धान्य उत्पन्न होता है। पुरहूत पुरंदर ही सूर्य की जलवाली किरणों को दुह कर मेघों को जल देते हैं। इंद्र के द्वारा धान्य और शस्य की वृद्धि होने पर पृथ्वी तृप्त होकर अमृतमय दिखाई देती है, गाएँ दूध और बछड़े देतीं तथा वृषभ पुष्ट होते हैं। मेघों के द्वारा आकाश में अभिनव श्री और शोभा का संपादन हो जाता है तथा समग्र प्राणियों को सुख मिलता है। इसी कारण राजा और प्रजा सब मिल कर इंद्रदेव की अर्चा करते हैं[2]। गो-धन और कृषि पर आश्रित देश में वर्षा के देव इंद्र की पूजा और मान्यता स्वाभाविक है। इस लोक-विश्वास को भंग करने के लिये पुराणों ने देवलोक में विष्णु-द्वारा देवों के रक्षा-कार्य का वर्णन पर्याप्त न समझ कृष्णावतार में गोवर्धन-धारण के प्रसंग की सृष्टि की। यह दिखाया गया कि इंद्र की अति वृष्टि से रक्षा करने वाले एकमात्र कृष्ण ही हैं तथा गौओं को तृण देने वाले कृष्ण-रूप गोवर्धन देव हैं। अतः इन्हीं की पूजा-अर्चा करनी चाहिए। अपनी वार्षिक पूजा न पाकर इंद्र जब घनघोर जल-वर्षण से भी ब्रज को नहीं बहा सके, तब उन्होंने जाना कि ब्रज के रक्षक स्वयं सुर-त्राता विष्णु भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं। अतः उन्होंने ब्रज में आकर गोवर्धन की शिला पर स्थित गोपवेश-धारी कृष्ण-विष्णु का अभिनंदन किया। उन्होंने स्वीकार किया कि कृष्ण एकमात्र देवता—लोकों के सनातन देव हैं; उनकी समता दूसरा कोई नहीं कर सकता[3]। वे ही जगत के उपादान कारण भी हैं। जिस प्रकार धातुओं से कांचन बनता है, उसी प्रकार ब्रह्मा ने यह जगत् कृष्ण से बनाया है[4]। श्री कृष्ण का गो-लोक सब लोकों से ऊपर स्थित है। पाताल, जल, पर्वत, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और सूर्य-लोक क्रमशः उत्तरोत्तर उच्च और श्रेष्ठ हैं। इनसे भी उच्च देव-लोक है जहाँ इंद्र देवराज पद पर आसीन हैं। देवलोक से भी ऊपर ब्रह्म-लोक है तथा सबसे ऊपर

१. सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ४६० पद ३४
२. विष्णुपर्व, अ० १५, श्लो० ५–१९
३. एकस्त्वमसि देवानां लोकानां च सनातनः।
द्वितीयं नानुपश्यामि यस्तेषां च धुरं वहेत ॥
—विष्णु पर्व १९।३५
४. त्वच्छरीर गतं कृष्ण जगत्प्रकरणं त्विदम्।
ब्रह्मणा साधु निर्दिष्टं धातुभ्य इव कांचनम् ॥
—वही, १९।२३

महाकाश में स्थित गोलोक है। ब्रह्मा भी जिस गोलोक का परिचय इंद्र को न दे सके, वही श्री कृष्ण के साथ पृथ्वी पर अवतरित हुआ। इस प्रकार इंद्र ने कृष्ण का स्तवन करके गौओं की प्रशंसा की और कृष्ण को गौओं का राजा तथा स्वयं अपना इंद्र कह कर अभिषिक्त किया। इसी कारण कृष्ण पृथ्वी पर 'गोविंद' कहलाते हैं[१]। हरिवंश में गोविंद की यह व्याख्या महाभारत से भिन्न है[२]। जो हो, हिंदी-कृष्ण-काव्य के गोपाल-कृष्ण से इसका संदर्भ मिल जाता है,[३] परंतु कृष्ण की अनुपम महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भी हरिवंश ने उनके आगे इंद्र को इतना हीन नहीं चित्रित किया जितना हम परवर्ती कृष्ण-साहित्य, विशेषतया हिंदी-कृष्ण-काव्य में, पाते हैं। हरिवंश के अनुसार पृथ्वी पर अवतरित गोलोक में गौओं के राजा गोविंद के रूप में कृष्ण का अभिषेक स्वयं इंद्र करते हैं और कहते हैं--'हे कृष्ण, मैं भतपति देवराज पुरंदर हूँ और अदिति के गर्भ-पर्याय से तुम्हारा पूर्वज--ज्येष्ठ भ्राता हूँ[४]।' इसी कारण कृष्ण स्वर्गलोक में उपेंद्र कहे जाते हैं[५]। इंद्र का संमान ही नहीं, हरिवंश में उनकी पूजा भी सुरक्षित रखी गई। उन्होंने वर्षा का पूर्वार्ध अपनी पूजा के लिए सुरक्षित रख कर उत्तरार्ध, अर्थात् शरद्-काल कृष्ण-पूजा के लिए निर्धारित कर दिया[६]।

इसके विपरीत सूरदास के इंद्र ब्रज को बहा देने के प्रयत्न में विफल होने पर अज्ञान में हुए अपने अपराध की उसी प्रकार क्षमा माँगते हैं जिस प्रकार ब्रह्मा ने बाल-वत्स-हरण के अपराध पर माँगी थी। वे

१. विष्णु पर्व--१९--१८--४६

२. डा० भंडारकर के अनुसार गोविंद ऋग्वेद के गोविंद--गायों के ढूंढने वाले--का परिवर्तित रूप है। गोविंद का प्रयोग वेद में इंद्र के लिए हुआ है। वहीं इंद्र के लिए केशि-निषूदन भी आया है। महाभारत के आदि और शांति पर्व में विष्णु को वाराह रूप धारण कर जल-मग्न पृथ्वी को ढूंढ लाने के कारण गोविंद कहा गया है। भगवद्गीता में भी गोविंद का प्रयोग मिलता है।

--दे० वैष्णवाद, शैववाद, एवं अ० धा० प०, भाग १, ९

३. उपर्युक्त गोलोक की उच्च कल्पना भी 'सूरसागर' में संकेतित 'गोलोक' से मेल खाती है। सूरदास ने गोलोक सहित ब्रज में अवतरित श्रीकृष्ण के मुरली-वादन पर वैकुंठवासी नारायण और कमला तक को मुग्ध होते चित्रित किया है। सूरदास की कल्पना निश्चय ही उनके भक्तिभाव से प्रभावित है। यथा--

"मुरली धुनि बैकुंठ गई।
नाराइन, कमला सुनि दंपति अति रुचि हृदें भई।।
सुनों प्रिया यह बानी अद्भुत बृंदाबन हरि देखौ।
धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ।।
रास-बिलास करत नँदनंदन, सो हमते अति दूरि।
धनि बन धाँम, धन्य ब्रज-धरनी, उड़ि लागै जो धूरि।।
यै सुख तिहूँ भुवन में नाहीं, जो हरि-सँग पल एक।
'सूर' निरखि नाराइन इक टक, भूले नैंन निमेष।।

--सूरसागर (वें० प्रे०), पृ० ३४७ पद ५१

४. अहं भूतपतिः कृष्ण देवराजः पुरंदरः।
अदिते गर्भ पर्याये पूर्वजस्ते पुराकृतः।।

--विष्णु पर्व १९।३७

५. उपेंद्र इति कृष्णात्वां गास्यंति दिवि देवताः।।

--विष्णु पर्व १९।४६

६. ये चे मे वार्षिका मासाश्चत्वारो विहितामिमम्।
एषामर्धं प्रयच्छामि शरत्कालंतु पश्चिमम्।।

--विष्णु पर्व १९।४७

श्रीकृष्ण के चरणों में लोटते तथा उन्हें ही माता, भ्राता, जगदाता आदि सभी कुछ मान कर उसी प्रकार अपनाने की प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार माता अपने अबोध शिशु के अनजाने अपराधों को क्षमा करके अपनाती है[१]। सूरदास ने इंद्र को कृष्ण-भक्तों में भी कोई उच्च स्थान नहीं दिया, उनके पूज्य होने की तो बात ही दूर है। गोस्वामी तुलसीदास ने खलों की बंदना करते हुए उनकी, जिन्हें 'सुरानीक' हितकारी' हैं,[२] ऐसे शक्र से समानता करके इंद्र पर जो आरंभ में ही हलका सा व्यंग्य किया है वह आगे स्पष्ट हो जाता है, जब वे 'पोची मति' वाले 'कुचाली' ईर्ष्यालु देवताओं के 'ऊँचे निवास और नीची करतूत' का वर्णन करते हैं[३]। इसी प्रकार गोस्वामी जी ने अनेक बार 'कुटिल अमरपति' तथा अन्य देवताओं को बुरा-भला कहा है[४]। उनके पूज्यों में गणेश, सूर्य, शिव-अर्धनारीश्वर, भैरव, दुर्गा, कालिका, गंगा, यमुना, चित्रकूट, सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान आदि तो हैं, पर इंद्रादि देवताओं पर उनकी सदैव वक्र दृष्टि ही रही।

हरिवंश में गोवर्धन-धारण के प्रसंग की भाँति पारिजात-आनयन की कथा में कृष्ण और इंद्र का एक और संघर्ष वर्णित है। रुक्मिणी के पास पारिजात-पुष्प देख कर कृष्ण की प्रिय पत्नी 'सत्यभामा' को ईर्ष्या हुई। जब वह किसी प्रकार प्रसन्न न हो सकी, तब श्रीकृष्ण ने पुष्प के स्थान पर पारिजात-वृक्ष लाने का वचन दिया, परंतु कृष्ण का संदेश पाकर इंद्र ने न केवल पारिजात देना अस्वीकार किया, वरन उन्हें स्त्रैण आदि कह कर अपमानित भी किया[५]। परिणामतः कृष्ण को इंद्र से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में हरिवंश ने कृष्ण की अपेक्षाकृत अधिक वीरता की व्यंजना करते हुए भी उन्हें युद्ध-विजयी नहीं बनाया, अपितु दोनों के माता-पिता अदिति-कश्यप के द्वारा उनमें समझौता करा दिया है। शांत होकर कृष्ण से इंद्र ने कहा—'तुम सब लोक के प्रभु हो, हमने तुम्हें राज्य में स्थापित किया है; फिर तुम मेरी अवमानना क्यों करते हो? हे कमल-पत्राक्ष,

१. सुरपति, चरन परयौ गहि धाइ।
जुग गुन धोइ सेस गुन जान्यौं, सरनहि राखिलेउ सरनाइ॥
हम बिसरे तुम्हरी माया में, तुम्ह बिनु नाहीं और सहाइ।
सरन-सरन पुनि-पुनि कहि-कहि मोहिं, राखि-राखि त्रिभुवन के राइ॥
मोते चूक परी बिनु जानें, मैं कीन्हे अपराध बनाइ।
तुम्ह माता, तुम्हही जगदाता, तुम्ह भ्राता अपराध छिमाइ॥
जौ बालक जननी सों बिरुझै, माता ताकों लेइ मनाइ।
ऐसेहिं मोहिं करौ करुनामय, 'सूर' स्याम ज्यों सुत-हित माइ॥

—सूरसागर पृ० २१६, पद ७६

२. बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥
—रामचरित मानस, बालकांड, दोहा ३।५

३. बार-बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध मति पोची।
ऊँच निवास नीचि करतूती। सकहिं न देखि पराइ बिभूती।
—रामचरित मानस, अयोध्याकांड, दोहा ११।३

४. माँगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिए उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ॥
—रामचरित मानस अयोध्याकांड, दोहा ३१६

५. विष्णु पर्व अ० ६७–७३

भाई होकर मेरी ज्येष्ठता भुला कर तुम मेरे निर्वाण की इच्छा क्यों करते हो[१] ? शची ने भी कहा—'हे उपेंद्र, पारिजात लेकर जाओ और अपनी वधू को उसके मनोनुकूल पुष्प प्राप्त कराओ[२] ।' बिदा होते समय कृष्ण माता-पिता अदिति-कश्यप के साथ शची और इंद्र का भी अभिवादन करते हैं और शची उनकी सोलह सहस्र रानियों के लिए वस्त्राभूषण की भेंट देकर प्रेमपूर्वक बिदा करती हैं[३] । अस्तु, कृष्ण और इंद्र का यह झगड़ा गृह-कलह से अधिक नहीं जान पड़ता, यद्यपि हरिवंशकार उसके द्वारा सूक्ष्म व्यंजना के साथ कृष्ण की सापेक्ष महत्ता-प्रतिपादन का अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेता है। यह स्पष्ट है कि उस समय तक हिंदी के कृष्ण-काव्य की तरह इंद्र के प्रति पूज्य भाव निःशेष नहीं हुआ था ।

इंद्र की ऐंद्रिय लोलुपता की पुराणों में अनेक कथाएं हैं, परंतु हरिवंश में केवल 'भविष्य पर्व' में अजितेंद्रिय इंद्र के मृत घोड़े में प्रवेश करके जनमेजय की पत्नी वपुष्टमा से व्यभिचार करने का उल्लेख है । जिसके फलस्वरूप जनमेजय ने उन्हें शाप दिया था कि आज से अश्वमेध में तुझे कोई न पूजेगा[४] । बहुत संभव है यह उल्लेख उपर्युक्त प्रसंगों के बाद रचा जा कर हरिवंश में मिलाया गया हो, क्यों कि इसमें इंद्र की हीनता की व्यंजना कहीं अधिक गहरी है ।

वैदिक देवताओं में इंद्र के अतिरिक्त केवल वरुण और हैं, जिन्हें उषा-अनिरुद्ध-विवाह के प्रसंग में वैष्णवास्त्र-द्वारा पराजित होकर कृष्ण की पूजा करते हुए दिखाया गया है[५] । सूरसागर में श्रीमद्भागवत के अनुसार एक भिन्न प्रसंग में वरुण को श्री कृष्ण के समक्ष हीन चित्रित करके उनके प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करते हुए दिखाया गया है[६] । ऋत के रक्षक महान् वैदिक देवता वरुण उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होते गए और पौराणिक तथा भक्ति-काल में उनका नाम-मात्र शेष रह गया।

कृष्ण और वरुण

हरिवंश में श्रीकृष्ण की महत्ता विष्णु की सर्वश्रेष्ठता एवं अद्वैतता के वर्णन में विशेष रूप से व्यंजित है; स्वयं उन्हें आदि देव 'सनातन-चराचर-स्वामी' आदि बताते हुए भी विष्णु का अंशावतार ही कहा गया है[७] । इसके विपरीत जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, हिंदी के वैष्णव-काव्य में राम और कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म तथा त्रिदेव के विष्णु से भी उच्च बताया गया है । कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता के प्रतिपादन में हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों ने बाल-वत्स-हरण लीला के द्वारा ब्रह्मा की हीनता का प्रतिपादन तो किया,[८] परंतु शिव के संबंध में केवल उक्तियोंसे ही संतोष कर लिया गया है; उनको कृष्ण

कृष्ण-विष्णु और शिव

१. त्वं प्रभुर्लोक कृत्कृत्स्न राज्येऽहं स्थापितस्त्वया ।
स्थापयित्वा कथं नाम पुनर्मामवन्यसे ।।
भ्रातृत्वमुपगम्यैवं ज्येष्ठत्वं चाप्यपोह्य च ।
कथं कमलपत्राक्ष निर्वाणं कर्तुमिच्छसि ।।
—वही, अ० ७५।२८-२९

२. वही, अ० ७५।३८

३. विष्णु पर्व, अ० ७५, श्लो० ४१, ४२

४. अद्य प्रभृति देवेंद्रमजितेंद्रियमस्थिरम् ।
क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यंतीति शौनक ।।
—भविष्य पर्व अ० ५ श्लो० १७

५. वि० प०, अ० १२७

६. सूरसागर (वें. प्रे.) पृ० २३२-२३३

७. अंशावतरणे कृत्स्नं जाने विष्णोर्विचेष्टितम् । —भविष्य पर्व ४६।३२

८. अनजानत य करी मैं तुमसों बरिआई। ए मेरे अपराध छमहुँ त्रिभुवन के राई ।
ज्यों बालक अपराध सत जननी, लेति सँभारि । सरन गऍं राखत सदाँ अवगुन सकल बिसारि ।
——सूरसागर (वें० प्रे) पृ० १५७।४३०-२८

से हीन प्रमाणित करने के लिये किसी स्वतंत्र प्रसंग की अवतारणा नहीं की गई। उक्त प्रसंग में ब्रह्मा ही के द्वारा शिव को भी कृष्णके समक्ष नगण्य कहलाते हुए कृष्ण का स्तवन कराया गया है,[1] परंतु हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रत्यक्ष रूप में शिव और शिव-भक्तों की निंदा नहीं की और न उन्हें राम-भक्त तुलसीदासकी भाँति विष्णुभक्तों में संमिलित किया। भ्रमरगीत में अवश्य उद्धव को योगी बना कर 'शैवों' की हीनता व्यंजित की गई है,[2] परंतु वहाँ भी शैवों से अधिक निर्गुणवादी 'अलख, अलख' चिल्लाने वाले गोरख-पंथी हठ-योगियों को लक्ष्य किया गया है।[3] एक पद में अवश्य सूरदास प्रकारांतर से शैवों की प्रत्यक्ष हीनता चित्रित करते पाये जाते हैं[4] तथा एक

१. मैं ब्रह्मा इक लोक कौ, ज्यों गूलर बिच जीव।
प्रभु तुम्हरे इक रोंम प्रति, कोटि ब्रह्म अरु सीव॥

तथा— —सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० १५८।४३०-२६

आदि सनातन हरि अबिनासी। सदाँ निरंतर घट-घट बासी॥
पूरन ब्रह्म पुराँन बखाँनैं॥ चतुरानन सिव अंत न जानैं।

—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० १६०।५३

२. गोकुल सब गोपाल उपासी।
जे गाहक साधन के ऊधौ, ते सब बसत ईस पुर कासी॥

—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५४७।१५

३. हमतौ तबहीं जोग लियौ।
जबही ते मधुकर मधुबन कों, मोंहन गमन कियौ॥
रहित सनेह सरोरुह सब तन, श्रीखँड भसँम चढ़ाए।
पैंहैरि मेखला चीर पुरातन, पुनि-पुनि फेरि सियाए॥
स्रुति, ताटंक, नैंन मुद्रावलि, औधि अधार-अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलत, लोचन-पत्र पसारी॥
बाँधौ बेंनु कंठ सिंगी पिय, सुमिरि-सुमिरि गुन गावत।
करबर बेंत दंड डर डरत न, सुनत स्वाँन दुख धावत॥

❀

गोरख सबद पुकारत आरत, रस रसना अनुराग।
भोग भुगति भूलेंहु भावै नहिं, भरी बिरह बैराग॥

तथा— —सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५२६।२५

यह उपदेस कह्यौ है माधौ। करि विचार सनमुख ह्वै साधौ॥
इँगला, पिंगला सुषमना नारी। सून्य सहज, में बसहिं मुरारी॥
ब्रह्म-भाव करि में सब देखौ। अलख निरंजन ही कौ लेखौ॥
पद्मासन इक मन चित ल्यावौ। नैंन-मूंदि अंतरगत ध्यावौ॥
हृदै-कमल में ज्योति प्रकासी। सो अच्चुत अविगत अबिनासी॥

—सूरसागर (वें प्रे०) पृ० ५५६।८

४. अपनी भक्ति देहु भगवान।

❀

जरत ज्वाला, गिरत गिर तैं, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस॥

—सूरसागर (सभा) १०६

अन्य स्थल पर वे श्रीकृष्ण के धूल-धूसरित रूप में जटा-जूट युक्त शिव-वेश का संकेत करके मानों शैवों को कृष्ण की रूप-राशि की ओर आकृष्ट करते पाये जाते हैं तथा उन श्याम-शिव का ध्यान करने को कहते हैं जिनके अंग देख कर अनंग भी झिझकता है[1]। इससे अधिक उन्होंने शिव और शिव-भक्तों की ओर ध्यान नहीं दिया।

इस संबंध में मर्यादावादी स्मार्त गोस्वामी तुलसीदास की स्थिति भिन्न है। उन्होंने ब्रह्मा की हीनता का कोई वर्णन नहीं किया तथा शिव को राम के भक्तों में सर्वोच्च स्थान देकर उनकी महिमा इतनी अधिक बढ़ा कर बताई कि स्वयं राम उनकी भक्ति करते हैं। उन्होंने शिव-भक्ति के बिना नर को राम-भक्ति का अधिकारी तक नहीं माना[2]। रामचरितमानस में राम-भक्ति के साथ शिव-भक्ति का मणि-कांचन संयोग हुआ है, परंतु फिर भी इसमें संदेह नहीं रहता कि गोस्वामी जी की शिव-भक्ति राम-भक्ति का एक साधन अथवा अंग मात्र है[3]। शैवोपासना को मधुर वैष्णव-ढंग से आत्मसात् कर लेने का यह चतुरतापूर्ण उपाय समन्वय कहा जाता है, परंतु यह ढंग नया नहीं है। वैष्णव पुराणों में इसी प्रकार विष्णु की सापेक्ष महत्ता का प्रतिपादन होता आया है। तुलसीदास जी में यह एक विशेषता अवश्य है कि उन्होंने अपने समन्वय कार्य में शिव और राम का संघर्ष कहीं नहीं दिखाया। जब शिव राम के अनन्य भक्त हैं तो संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, परंतु हरिवंश में शिव को राम का भक्त इतनी सरलता से नहीं बनाया जा सका। कदाचित् उस समय तक शैवोपासना का पर्याप्त जोर था। फलतः उसमें स्थान-स्थान पर शिव की महिमा का प्रतिपादन किया गया है और शिव और कृष्ण-विष्णु में अत्यंत चतुरतापूर्वक समन्वय-जैसा दृष्टिकोण रखते हुए विष्णु और कृष्ण की सापेक्ष महत्ता प्रमाणित की गई है। इस विषय में हरिवंश और गोस्वामी तुलसीदास में विलक्षण समता दिखाई देती है।

पारिजात के संबंध में कृष्ण-इंद्र-युद्ध-रूपी गृह-कलह को रोकने के लिये उनके पिता कश्यप भूतगणों के ईश्वर सौम्य स्वभाव महात्मा शिव की स्तुति करते हुए उन्हें अनंतमूर्ति, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगत् और जीवन के आदि कारण आदि अनेक विशेषणों से युक्त तथा अपने प्रसाद से सत्व गुण-प्रधान विष्णु को उत्पन्न करने वाला बताते हैं[4]। इसी प्रसंग में स्वयं कृष्ण पारिजात-प्राप्ति के लिये शिव की आराधना, अर्चना और स्तुति करते दिखाये गए हैं[5]। श्री कृष्ण शिव की स्तुति करते हुए उन्हें भक्तों के भक्त, ईश्वरों के ईश्वर, अव्यक्त, अक्षरेश, महेश्वर, विश्वकर्मा, अमोघवीर्य, सर्वव्यापक, सूर्य को प्रकाशित करने वाले तथा ब्रह्मा, कपिलदेव एवं स्वयं कृष्ण को उत्पन्न करने वाले आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। शिव जी ने इस स्तवन को सुन कर कृष्ण को वरदान दिया कि तुम्हें पारिजात प्राप्त होगा[6]। तदनंतर श्रीकृष्ण और शिव दोनों ने 'परियात्र पर्वत' पर अपनी-अपनी प्रतिमा के पूजन का माहात्म्य बताया और इस प्रकार परियात्र-स्थित विल्वोदकेश्वर महादेव की पूजा के साथ कृष्ण की प्रतिमा का पूजन भी संमिलित कर दिया गया। इसी अवसर पर महादेव ने श्रीकृष्ण को पारियात्र-पर्वत की गुफाओं में बसने वाले उन समस्त दैत्यों को मारने का आदेश दिया जिन्हें स्वयं शिव ने अवध्यता

१. **सखीरी नंद नंदन देखि।**
धूरि-धूसर जटा-जटुली हरि कियौ हर-भेष॥
—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ७८८,

२. **सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥**
संकर बिमुख भगति चहँ मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास॥
—रामचरित मानस, लंकाकांड दोहा ७–८

३. **होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि।**
—रामचरित मानस लंकाकांड, दोहा ३, चौ० ३

४. **विष्णु पर्व अ० ७२**

५. **विष्णु पर्व अ० ७४**

६. **विष्णु पर्व, अ० ७४**

का वरदान दिया था[१]। इसी प्रकार पेचीले ढंग से शिव के द्वारा रक्षा का वरदान पाए हुए निकुंभ दैत्य का श्री कृष्ण-द्वारा बध दिखा कर श्री कृष्ण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यह बध भी श्रीकृष्ण ने विल्वोद-केश्वर महादेव की इच्छा से उन्हें नमस्कार करके किया था। अंत में विल्वोदकेश्वर महादेव ने इस पर अत्यंत प्रसन्नता प्रकट की थी[२]।

कृष्ण, विष्णु और महादेव के संबंध में उपर्युक्त समन्वयात्मक, किंतु निश्चित रूप से वैष्णव दृष्टि-कोण के साथ हरिवंश मे दोनों के बीच सीधा संघर्ष भी दिखाया गया है। सबसे भीषण संघर्ष शिव-भक्त अहं-कारी वाणासुर के आख्यान में वर्णित है। जब दैत्यगण युद्ध में श्रीकृष्ण के शस्त्र-प्रहार से भयभीत होकर भागने लगे तब स्वयं महादेव और स्वामी कार्तिक उनके सहायतार्थ आ उपस्थित हुए। विष्णु और रुद्र के घोर संग्राम की भयंकरता से समस्त पृथ्वी व्याकुल हो उठी[३]। उसने अपना संकट ब्रह्मा को सुनाया। पृथ्वी को आश्वासन देकर ब्रह्मा ने शिव को स्मरण दिलाया कि कृष्ण उन्हीं के आत्मारूप हैं। यथार्थ ज्ञान होने पर शिव जी युद्ध से विरत हुए और तब शिव और कृष्ण दोनों प्रीति पूर्वक मिले[४]। ब्रह्मा ने शिव का हरि-रूप से और नारायण का शिव-रूप से चिंतन किया। उन्होंने देखा जो विष्णु है, वह रुद्र है; जो रुद्र है वह ब्रह्मा है, ये तीनों रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा एक मूर्ति हैं[५]। रुद्र के परमरूप विष्णु और विष्णु के परमरूप शिव हैं। एक ही आत्मा द्विधारूप हो कर लोक में नित्य विचरता है। शंकर के बिना विष्णु नहीं और केशव के बिना शिव नहीं, इसलिए रुद्र और उपेंद्र एक ही हैं[६]। अस्तु, ब्रह्मा ने हरिहरात्मक स्तोत्र के द्वारा दोनों को भूरि-भूरि नमस्कार किया[७]।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ के अवसर पर भी विष्णु और रुद्र के युद्ध का वर्णन किया गया है। यहाँ भी सूक्ष्म संकेतों-द्वारा विष्णु की महत्ता व्यंजित है,[८] परंतु इस विषय का सबसे अधिक विस्तार पुत्र-प्राप्ति-हेतु कृष्ण की कैलाश यात्रा के उपाख्यान में मिलता है[९]। रुक्मिणी को संतुष्ट करने के लिये कृष्ण ने 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' से अविनाशी, विरूपाक्ष, आदि देव, अज, विभु, सब प्राणियों के हित में संलग्न, नील लोहित महादेव शंकर को प्रसन्न करके पुत्र-प्राप्ति के लिये कैलाश को प्रस्थान किया[१०]। उन्होंने वहाँ बारह वर्ष पर्यंत घोर तप किया,

१. विष्णु पर्व अ० ७४
२. वही, अ० ८५
३. वही, अ० १२४
४. वही, अ० १२५, श्लो० १२–२२
५. यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पिता महः।
एको मूर्तिस्त्रियो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः॥ —वही, अ० १२५, श्लो० ३१
६. रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः।
एक एव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यशः॥
न विना शंकरं विष्णुर्न विना केशवं शिवः।
तस्मादेकत्व माया तौ रुद्रोपेंद्रौ तु तौ पुरा॥
—विष्णुपर्व, अ० १२५ श्लो० ४१-४२
७. वही, श्लो० ४३–४६
८. भविष्य पर्व, अ० ३२
९. वही अ० ७३-९०
१०. तत्रोपास्य महादेवं शंकरं नील लोहितम्।
ततो लब्धास्मि पुत्रं ते भवाद्भूतहितेरतात्॥
तपसा ब्रह्मचर्येण भवं शंकरमव्ययम्।
तोषयित्वा विरूपाक्षमादिदेवमजं विभुम्॥
—वही, अ० ७३, श्लो० ३६, ३७

जिसे देखने के लिये इंद्र, धर्मराज, वरुण, आदित्य, वसु, समस्त रुद्र, सिद्ध, मुनि, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, अप्सरा आदि और अंत में पार्वती-सहित स्वयं शिव आए। शिव के आने पर भूत, पिशाच, राक्षस, गुह्य, श्रेष्ठ मुनि सबने मिल कर श्री कृष्ण को विष्णु से अभिन्न बताते हुए उनकी स्तुति की[१]। विष्णु भगवान ने समाधि से जाग कर अपने को शिव की स्तुति में असमर्थ बताते हुए 'सर्वात्मिन्, सर्व भूतेश, हर' से क्षमायाचनापूर्वक रक्षा की प्रार्थना की[२]। शिव जी ने अत्यंत आदर और प्रेम के साथ 'चक्रपाणि, जगत्पति, जनार्दन, देवेश्वर' विष्णु की इच्छा जान उन्हें पुत्र-प्राप्ति का वरदान दिया तथा सांख्य के अनुसार तत्व-विचार करके बताया कि सृष्टि के आदि कारण विष्णु ही हैं[३]। विष्णु में उन्होंने केवल ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की एकता का ही वर्णन नहीं किया, वरन् उन्हें 'सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष'—आदि विशेषणों वाला आदि पुरुष बतलाया[४]। शिव जी ने गीता के विभूतियोग (दशम अध्याय) की भाँति विष्णु की अनंत विभूति का वर्णन किया तथा उन्हें—जगत्पति, देवेश, विभु, भूत-भावन, सर्वात्मन्' आदि उन्हीं विशेषणों से विभूषित किया जिनका प्रयोग क्षणभर पहले स्वयं उनके लिये कृष्ण ने किया था[५]। इस परस्पर स्तुति-कथन में यद्यपि शिव और विष्णु की एकता का प्रतिपादन है, तथापि विष्णु की सापेक्ष श्रेष्ठता, शिव की महत्ता को भी स्वीकार करते हुए, असंदिग्ध रूप में व्यंजित की गई है। स्वयं शिव अपने भक्त मुनियों को एक मात्र विष्णु की आराधना का उपदेश देकर कहते हैं—'विष्णु नारायण से परे जगत में और कोई देव नहीं है। अतः सदा 'ओम्' नाम से केशव का ही ध्यान और पाठ करना चाहिए। उसी से निःश्रेयस की प्राप्ति होगी'[६]। शिव के अघोर-पंथी आराधकों के लिये तो कैलाश-यात्रा के आरंभ में ही, घंटाकर्ण और उसके भाई,—दो महा भयानक पिशाचों की विष्णु-भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। ये पिशाच पूर्वजन्म में विष्णु के विरोधी होने के कारण शिव की आराधना करने पर भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके और जब शिव के कहने से उन्होंने जाना कि विष्णु-शरणागति ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है, तब वे कृष्ण-विष्णु की शरण में गए। कृष्ण-विष्णु ने उन्हें अभीप्सित मुक्ति प्रदान की और इस बात का विचार नहीं किया वे कि ब्रह्म-हत्या के अपराधी थे[७]।

'हंस-डिभक" की कथा में भी प्रकारांतर से हरिवंश शिव की अपेक्षा विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन करता है। शिव के भक्त हंस और डिभक, महादेव के परम पराक्रम तथा भृंगी और रिटि दो भूतों की सहायता प्राप्त करके भी, श्रीकृष्ण और बलराम-द्वारा परास्त होते हैं और वैष्णवास्त्र के आगे रौद्रास्त्र कुंठित होते दिखाया जाता है[८]।

१. वही अ० ८५

२. क्षमस्व भगवन्देव भक्तोऽहं त्राहिमां हर।
सर्वात्मन्सर्वभूतेश त्राहिमां सततं हर॥
—वही, अ० ८७, श्लो० ३७

३. भविष्य-पर्व अ० ८८, श्लो० ३–६

४. वही, श्लो० ३१–३४

५. वही, श्लो० ५४–६७

६. नान्यो जगति देवोस्ति विष्णोनारायणात्परः।
ओमित्येवं सदा विप्रा पठत ध्यात केशवम्॥
ततो निःश्रेयस प्राप्तिर्भविष्यति न संशयः।
एवं ध्यातो हरिः साक्षात्प्रसन्नो वो भविष्यति॥
—वही, अ० ६६, श्लो० ६,१०

७. वही, अ० ८०–८३

८. भविष्य पर्व, अ० १०३–१२६

गोस्वामी तुलसीदास ने विष्णु की महत्ता के प्रतिपादन में शिव और विष्णु की आराधना के बीच समन्वय का जो दृष्टिकोण उपस्थित किया उसमें, जैसा कि पीछे कह आए हैं, हरिवंश की भाँति संघर्ष और विरोध नहीं दिखाया गया। राम के अनन्य भक्त तुलसीदासजी के लिए राम का विरोध और विरोधी सह्य नहीं। उनके शिव श्रेष्ठ राम-भक्त हैं और इसी कारण पूज्य हैं। इसी नाते गौरी, पार्वती या देवी भी पूज्य हैं। पतिव्रता स्त्रियों के लिये स्वामीजी ने गौरी की विशेष मान्यता बताई है। स्वयं सीता पति-प्राप्ति के लिये गौरी-पूजन करती हैं[1]।

कृष्ण और शक्ति अथवा देवी

इस संबंध में सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का भाव भिन्न है। सूरदास की गोपयाँ श्रीकृष्ण की पति-रूप में प्राप्ति के लिये गौरी की नहीं, गौरी-पति शिव और रवि की आराधना करती हैं,[2] यद्यपि भागवत में गोपियों को कात्यायनी देवी की पूजा करते हुए दिखाया गया है[3]। इन्हीं कात्यायनी देवी को आगे महा-माया, महायोगिनी, भद्रकाली—आदि कहा गया है, परंतु सूरदास की एकांत भाव-निष्ठा अनन्य कृष्ण-भक्ति में यदि कोई देवी पूज्य है तो आदि शक्ति की अवतार कृष्ण की अर्द्धांगिनी राधा। हिंदी के अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भी राधा-कृष्ण के अतिरिक्त किसी देवी-देव को पूज्य नहीं माना, परंतु साथ ही किसी कृष्ण-भक्त कवि ने देवी की विगर्हणा भी नहीं की। कदाचित् शाक्त-मत उस समय तक या तो वैष्णव मत में किसी न किसी रूप में घुलमिल गया था अथवा उसके द्वारा आच्छादित हो गया था, किंतु हरिवंश में शाक्तों को पर्याप्त महत्व दिया गया है तथा शैवों की भाँति उन्हें भी विष्णु-पूजा की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। हरिवंश में महादेवी, महाशक्ति की महिमा का विस्तार पूर्वक वर्णन और उनके अनंत गुणों का बारंबार कथन किया गया है, किंतु फिर भी हरिवंश ने उन्हें मूलतः विष्णु की "कालरूप निद्रा" मात्र माना है। मनुष्य रूप में वे सर्व प्रथम यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई। इन्हीं 'कालरूप निद्रा देवी' ने विष्णु की आज्ञा से अपने में अंतर्हित षड्गर्भा दैत्यों को क्रमशः देवकी के गर्भ में स्थापित किया था तथा सातवें गर्भ को सातवें महीने में 'संकर्षण' कर रोहिणी के गर्भ में पहुँचाया था[4]। विष्णु ने उन्हें पहले ही बता दिया था कि तुम कंस-द्वारा पटके जाने पर मेरे समान श्याम-छवि और संकर्षण-समान आनन-वाली, त्रिशूल, खड्ग, कवच-आदि धारण कर भुजंग के समान भीम भुजाओं से दश दिशाओं को शोभित करते हुए घोर प्राणियों से युक्त मेरी आज्ञा की अनुवर्तिनी कौमार-व्रत में स्थित हो स्वर्ग को सिधारोगी। इंद्र मेरे बताये विधान से तुम्हारा अभिषेक करके भगिनी के समान ग्रहण करेंगे। कुशिक-गोत्र में होने से तुम कौशिकी होगी। इंद्र तुम्हें विंध्याचल पर्वत में शास्वत स्थान देंगे तथा बाद में तुम सहस्रों स्थानों में स्थित हो पृथ्वी को शोभित करोगी। तुम्हीं शुंभ-निशुंभ दानवों का अनुचरों सहित नाश करोगी। नवमी के दिन तुम, मांस और बलि के सहित पूजा को प्राप्त करोगी। मेरे प्रभाव को जानने वाले जो व्यक्ति तुम्हारी बंदना करेंगे, उनके लिए पुत्र और धन कुछ भी दुर्लभ न होगा। जो भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र से तुम्हारी स्तुति करेंगे मैं उन्हें नहीं मारूंगा तथा वे

१. जय गजबदन षडानन-माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता।
नहिं तब आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहिं जाना।
भव-भव विभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि।
पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तब रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि, सहस सारदा सेस॥
—रामचरित मानस, बालकांड, दोहा २३४, २३५-२३६

२. सूरसागर (वें० प्रे०) चीर-हरण लीला, पृ० १९६ पद ५–६

३. हेमंते प्रथमे मासि नंदव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुंजानाः कात्ययन्यर्चनव्रतम्॥
—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध पूर्वार्ध अ० २२, श्लो० १

४. विष्णुपर्व, अ० २, श्लो० २५–३५

भी 'मेरा नाश नहीं करेंगे'[1]। इस आर्या स्तोत्र में श्री कृष्ण ने देवी को सिद्धि, धैर्य, कीर्ति, विद्या, संतति, बुद्धि, प्रभा, आभा, पुष्टि, तुष्टि, क्षमा, दया-आदि भाव-वाचक विशेषणों; संध्या, रात्रि, निद्रा, कालरात्रि, रजनी-आदि अवस्था-सूचक विशेषणों; ब्रह्मचारिणी, उग्रकर्मा, महाबला, ज्येष्ठा, नीलवस्त्रा, बहुरूपा, विरूपाक्षी, मृत्युस्वरूपा, विशालाक्षी, कलहप्रिया-आदि गुण-सूचक विशेषणों तथा नारायणी, त्रिभुवनेश्वरी, कात्यायनी, कौशिकी, स्कंद-माता, जया, विजया, शकुनी, पूतना, रेवती, मोहिनी, पौराणी, पार्वती, अरुंधती-आदि नामों से अभिहित किया। साथ ही उन्हें यम की भगिनी, 'बलदेव की भगिनी', नंदगोप-सुता' एवं सुरा-मांस और बलि की इच्छा करने वाली भी कहा[2]। इन देवी को संपूर्ण यादव मन से पूजने लगे, क्योंकि इन्हीं के द्वारा कृष्ण की रक्षा हुई थी[3]।

देवी के उद्भव की उपर्युक्त कथा के अनंतर जहाँ भी देवी की आराधना-स्तुति का अवसर आया वहीं हरिवंश ने उन्हें इसी प्रकार विष्णु के अधीन घोषित किया। बाण-पुत्री 'उषा' के महल में बंदी अनिरुद्ध ने रक्षा-निमित्त जब 'कोटवती देवी' की स्तुति की तो उसने सर्व प्रथम अनंत, अक्षय, दिव्य, आदि देव, सनातन, जगत के प्रभु नारायण को नमस्कार किया। तदनंतर उन्हीं नामों से देवी की स्तुति की जिन नामों से स्वयं हरि ने की थी। उसने भी देवी को 'महेंद्र और विष्णु की भगिनी', 'कंस की भयदायिनी' तथा 'नंद और यशोदा की आनंद-वर्द्धिनी, कहा[4]। स्तुति से प्रसन्न हो कर देवी उसे केवल इतना वरदान दे सकी कि 'श्री कृष्ण' आकर वाणासुर की सहस्र भुजाओं को काट कर तुम्हें इस बंधन से छुड़ायेंगे'[5]। इस आर्या स्तोत्र के पाठ का फल सब पाप से छूट कर 'विष्णुलोक' की प्राप्ति बताया गया है[6]।

उषा-अनिरुद्ध के ही आख्यान में स्वामिकार्तिक के साथ श्रीकृष्ण के युद्ध का वर्णन है जिसमें स्वामि-कार्तिक के द्वारा आहूत शक्ति की महा हुंकार मात्र से एकबार श्री कृष्ण भी गिर जाते हैं। पुनः श्री कृष्ण के चक्र सुदर्शन सँभालने पर स्वामिकार्तिक के रक्षार्थ सुतनु, दिग्वसना, लंबमाना कोटवी, महाभागा पार्वती के अष्टमांग से उत्पन्न चित्रा, कनक-शक्ति वाणासुर की माता नंगी हो कर आ उपस्थित हुईं। नग्न देवी को देख कर श्रीकृष्ण ने मुँह फेर लिया तथा समझा-बुझा कर उन्हें हटाने का प्रयत्न किया, परंतु देवी किसी प्रकार नहीं मानीं, फिर भी श्रीकृष्ण ने उनके साथ बल का प्रयोग नहीं किया। इस प्रकार देवी के द्वारा स्वामिकार्तिक की रक्षा तो हो गई पर साथ ही श्रीकृष्ण की वीरता, उनके शील-सौजन्य तथा उनकी उच्चतर महत्ता की भी असंदिग्ध रूप में व्यंजना हो गई[7]।

प्रचलित वैष्णव-मतवाद को देखते हुए स्वयं श्रीकृष्ण-द्वारा देवीपूजा में उपर्युक्त मांस-मदिरादि की स्वीकृति विचित्र सी जान पड़ेगी, परंतु हरिवंश में उपर्युक्त घंटाकर्णादि ब्राह्मण-मांस-भक्षी पिशाच, शैवों तथा देवी को वीभत्स बलि देने वाले शाक्तों के हिंस्र, जघन्य और अवैष्णव-कर्मों से भी अधिक वामाचारियों की क्रियाओं को स्वयं वैष्णव-मत के अंग-रूप वर्णित किया गया है।

वैष्ण मत और वामाचार

कृष्ण के द्वारा प्रेरित गोप गोवर्धन की पूजा में दूध, घी, चावल आदि के साथ मांस के ढेर और मेष, महिषादि की बलि भी चढ़ाते हैं[8]। बलराम का मदोन्मत्त तामस रूप एवं तालरस

१. विष्णुपर्व, श्लोक ३९–५५
२. वही, अ० ३, श्लो० १–२४
३. वही, अ० ४, श्लो० ४८
४. वही, अ० १२०, श्लो० १–७
५. वही, श्लो० ४१
६. वही, श्लो० ४८
७. वही अ० १२६, श्लो० १८–२९
८. वही, अ० १६, श्लो० १४०,१५,१८

और मदिरा का प्रेम तो श्रीमद्भागवत[1] और सूरसागर[2] तक किसी न किसी रूप में चला आया; किंतु हरिवंश ने उनके इस मदोन्मत्त उच्छृंखल रूप के अपेक्षा-कृत अधिक विशद चित्र दिए हैं। हरिवंश के बलराम मदिरा के इतने प्रेमी हैं कि एकबार गोमंत पर्वत पर अकेले विचरण करते हुए मद्य-पवन की गंध पाकर वे प्यास से विकल हो गए और उनका मुख सूख गया। दूसरे दिन उसी स्थान पर जाकर बड़ी तत्परता से उन्होंने वर्षा ऋतु के फूले हुए कदंब के ऊपर एक कोटर में एकत्र वारुणी खोज ही तो ली। आर्त के समान उसका पान करने से वे मदोन्मत्त हो झूमने लगे और उनकी आंखें लाल हो गईं। वह 'मदिरा कादंबरी' कही जाने लगी तथा देवताओं की प्रिय बन गई[3]। यही नहीं, वारुणी के साथ बलराम को मदोन्मत्त अवस्था में मदिरा, कांति और श्री नाम की तीन देव-स्त्रियाँ भी उपलब्ध हुईं[4]।

बलराम की ब्रज-यात्रा में उनके मद्य और तालरस पान करने तथा यमुना के सतीत्व को नष्ट करने वाले उच्छृंखल व्यवहार का भी हरिवंश में विशद वर्णन है,[5] परंतु पिंडार-यात्रा के अवसर पर कृष्ण, बलराम, नारद और समस्त यादवों की जिस नग्न-क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन हरिवंश ने किया, उसके समक्ष तांत्रिक चक्र-पूजादि वामाचार भी मानों फीके पड़ जाते हैं। उग्रसेन व वसुदेव को नगर-रक्षा के लिए छोड़ कर समस्त यादव सहस्रों वेश्याओं को लेकर लोकनाथ जनार्दन के साथ पिंडार-यात्रा पर गए। मदोन्मत्त बलराम रेवती तथा सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ-साथ सर्वदृक् गोविंद की जल-क्रीड़ा और रमण के चित्रों में[6] हरिवंश ने गोपी-कृष्ण-विहार की भाँति कृष्ण के दक्षिण नायकत्व, स्त्रियों के किंचित् भक्ति-भावना समन्वित ईर्ष्या-हीन प्रेम-भाव, परितृप्ति, प्रेम, गर्वादि के साथ अन्य विवरण भी दिये हैं[7]। यह कुतूहल जनक बात है कि इस उद्दाम इंद्रियोपभोग से परिपूर्ण वर्णन में

१. दे० दशम स्कंध उत्तरार्द्ध, ६७, ८–१६

२. ताल रस के पान ते अति मत्त भे बलराइ।

—सूरसागर (वें० प्रे०), पृ० १५०, पद ६८

और—

बारुनी बल घूर्न लोचन, बिहरत बन सचुपाए।
मनहुँ महा गजराज बिराजत, करनि-जूथ सँग लाए॥

तथा— —सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५८०, पद ३८

बारुनी बलराम पियारी।

—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५८० पद ३९

३. विष्णुपर्व, अ० ४१, श्लो० ५–१३

४. वही, श्लो० १४–३५

५. वही, अ० ४६, श्लो० २२,४४,४५,

६. वही, अ० ८८, श्लो०–८–१३

७. सर्वाःसुरत चिह्नांग्यः सर्वाःसुरत तर्पिताः।
मान मुहुश्चताः सर्वा गोविंदे बहुमानजम्॥
अहमिष्टाऽहमिष्टेति स्निग्धे परिजनेतदा।
नारायण स्त्रियः सर्वामुदाश श्लाघिरे शुभाः॥
करजद्विज चिह्नानि कुचाधरमतानिताः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा जहृषिरेदर्पणे कमलेक्षणाः॥
एकार्पित मनो दृष्ट्यो नेर्ष्यां ताश्चक्रिरेंगनाः।
नारायणेन देवेन तर्प्यमाण मनोरथाः॥

—विष्णु पर्व, अ० ८८ श्लो० १५, १६, १७,२०

भी जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, कृष्ण के प्रति स्त्रियों की प्रेम-विवशता में भक्ति-भावना का आभास दिखाई देता है। सूरदास की रास की गोपियों के समान कमल-लोचना, तनुवस्त्रावृता-रमणियों के साथ केलि करते हुए कृष्ण जिस स्त्री का जो भाव है उसके साथ उसी भाव से रमण करते हैं और सब स्त्रियाँ तदनुरूप भावों से भगवान को वश में करती हैं,[१] परंतु सूरदास के कृष्ण के भावमय अलौकिक कृष्ण तथा सूरसागर के शत प्रति शत धार्मिक वातावरण से हरिवंश के शरीर-धर्म से आबद्ध कृष्ण एवं उसके ऐंद्रिय वातावरण में पर्याप्त अंतर है। इस वातावरण में उत्तरोत्तर नग्नता एवं वीभत्सता बढ़ती जाती है और ऐंद्रिय भोग में भक्ति-भावना ढूंढे भी नहीं मिलती। सब यादव-कुमार स्त्रियों के साथ समुद्र के जल में जब स्वच्छंद-क्रीड़ा में मग्न होते हैं, तब श्री कृष्ण अपने प्रभाव से पंचचूड़ तथा कुबेर और महेंद्र की अप्सराओं को बुला कर नृत्य, गीत, अभिनय-आदि से उन्हीं के समान समस्त यादवों को प्रसन्न करने का आदेश देते हैं[२]। इस उन्मुक्त केलि-विहार[३] में कादंबिनी के मद में चूर बलराम ही नहीं, रेवती, सत्यभामा, सुभद्रा अर्जुन, गद-सारण, पृद्युम्न, सांब, सात्यकि, चारुदेष्ण, निशठ, उल्मुक, अक्रूर, शंकु-आदि के साथ स्वयं श्रीकृष्ण संमिलित होते हैं[४]। यहाँ तक कि एकांत-सेवी नारद भी नहीं बचते[५]। स्वयं अप्रमेय भगवान कृष्ण महा-मुनि नारद का हाथ पकड़ कर सत्राजित की पुत्री (सत्यभामा) और अर्जुन के साथ सागर में कूदते हैं।

१. तनुवस्त्रावृतास्तन्व्यो लीलयंत्यस्तथा पराः ।
विक्रीडुर्वासुदेवस्य जले जलजलोचनाः ॥
यस्या यस्यास्तु यो भावस्तांतां ते नैव केशवः ।
अनुप्रविश्य भावज्ञो निनायात्म वशं वशी ॥

मिलाओ— —वही, श्लो० ३१,३२

काम क्रोध में नेह सुहृदता, काहू बिधि कहै कोई ।
धरैं ध्यान हरि कौ जो दृढ़करि 'सूर' सो हरि सौ होई ॥

—सू०सा० (वें० प्रे०) पृ० ३४० पद ९४

और—

भजै जेहि भाव जो मिलैं ताहि त्यों भेदभेदा नहीं पुरुष नारी ।
'सूर' प्रभु स्याम ब्रज-बाँम आतुर-काम, मिलीं बन-धाम गिरिराज-धारी ॥

—वही पृ० ३४०, पद ९५

२. पृथग्गोष्ठ्यः कुमाराणां प्रकाशं स्त्री गणैः सह ।
अलं चक्रुर्जलं वीराः सागरस्य गुणाकराः ॥
पंचचूडां ततः कृष्णः कौबेर्यश्चवराप्सराः ।
माहेंद्रीश्चानयामास विश्वरूपेण हेतुना ॥
क्रीडा युवत्यो भैमानां प्रविशध्वमशंकिताः ।
मत्प्रियार्थं वरारोहा रमयध्वं च यादवान् ॥
दर्शयध्वं गुणान्सर्वान्नृत्य गीतै रहः सु च ।
तथाऽभिनय योगेषु वाद्येषु विविधेषु च ॥
एवं कृते विधास्यामिश्रेयो वामनसेप्सितम् ।
मच्छरीर समाह्योते सर्वे निरवशेषतः ॥

—वही श्लो० ३६, ३९, ४१, ४२, ४३

३. वही, अ० ८९

४. विष्णु पर्व, अ० ८९, श्लो० १८–२१

५. वही, श्लो० २३

इस जल-क्रीड़ा को भी हरिवंश 'रास' नाम से अभिहित करता है[1]। श्रीकृष्ण की आज्ञा से समुद्र का खारी जल मधुर हो जाता है और उसमें सुंदर भ्रमर-सेवित कमल खिल जाते हैं तथा गौड़ी, माध्वी, पैष्टी मदिराओं से भरे कलश जल पर उतराने लगते हैं[२]। इस पृष्ठभूमि में हरिवंश ने सत्यभामा, नारद और अर्जुन की जलक्रीड़ा का जो वर्णन किया है वह नग्न, गर्हित और अश्लील ही कहा जाएगा[3]। निर्द्वंद्व और उन्मत्त केलि-विलास के उपरांत पक्व मांस, अम्ल फल, चूकि, दाड़िम, शूल पर भुने हुए मांस, मृगों के मांस, घृत में तर किए मांस-खंड, कटु रस तथा पक्षियों से युक्त घृत, मैरेय, माधवी सुरा, आसव-आदि अनेक पदार्थ सब स्त्री-पुरुष मिल कर खाते-पीते हैं। केवल उद्धव मांस नहीं खाते और शाक एवं फल का आहार करते हैं[४]। द्वारिका-वासी श्रीकृष्ण के इस आहार-विहार की परिणति गान, वाद्य और नृत्य में होती है, जिसमें सभी स्त्री-पुरुष पूर्ववत् संमिलित होते हैं। विशेष रूप में रंभा, उर्वशी, हेमा, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा और मेनका अपने-अपने नृत्य, गायन-आदि से श्री कृष्ण को प्रसन्न करती हैं। स्वयं श्रीकृष्ण नृत्य और मुरली-वादन, अर्जुन मृदंग-वादन तथा नारद वीणा-वादन के द्वारा सबको आनंदित करते हैं[५]। श्रीकृष्ण के इस विलक्षण रास-विहार में वाममार्गियों की चक्र-पूजा से अद्भुत समता है। कदाचित ऐंद्रिय भोग-प्रवृत्त शाक्तों और तांत्रिकों को वैष्णवता की ओर आकृष्ट करने का यह भी एक उपाय किया गया था, जिसमें कालांतर में अलौकिकता और रहस्यात्मकता का समावेश होता गया।

यह विस्मयजनक है कि हरिवंश के ब्रजवासी कृष्ण उपर्युक्त द्वारकावासी कृष्ण की भाँति उच्छृंखल नहीं हैं। केवल 'रास' अथवा 'हल्लीस क्रीड़ा' के वर्णन में उन्हें शरद की मनोहर रात्रि में चंद्रकिरणों से पूर्ण वन को देख कर विहार की इच्छा करते हुए और गोप-युवतियों को प्रसन्न करते दिखाया गया है[६]। हल्लीस-क्रीड़ा के इस वर्णन में वरांगना, गोप-युवतियों के उत्तुंग, प्रथुल अंग, कटाक्षपूर्ण नेत्र और रति-प्रियता में पति, माता, भ्राता-आदि की अवहेलना का उल्लेख तो है, परंतु पिडांर-यात्रा जैसा ऐंद्रिय वातावरण नहीं[७]। रास-मंडल में श्रीकृष्ण चक्रवाल से शोभित, शरद् ऋतु की चंद्रिका-चर्चित मनोहर रात्रियों में गोपियों के साथ क्रीड़ा करके अति प्रसन्न होते हैं[८]।

१. रासावसाने त्वथ गृह्य हस्ते महामुनिं नारदमप्रमेयः ।
पपात कृष्णो भगवान्समुद्रे सात्राजितं चार्जुनमेवचाथ ॥
—वही, श्लो० ३०

२. वही, श्लो० ३३–३७

३. इतीदमुक्तवा भगवान्समुद्रं ततः प्रचिक्रीडसहार्जुनेन ।
सिषेच पूर्वं नृप नारदं तु सात्राजिती कृष्णमुखेंगितज्ञा ॥
—वही, श्लो० ३९

४. वही, श्लो० ५७–६५

५. वही, श्लो० ६७–७२

६. कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशिचंद्रमसोवनम् ।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रेरितं प्रति ॥
—वही, अ० २०, श्लो० १५

७. विष्णुपर्व, अ० २०, श्लो० १५

और—

तावार्यमाणा पतिभिर्भ्रातृभिर्मातृभिस्तया ।
कृष्णं गोपांगना रात्रौ मृगयंते रतिप्रियाः ॥
—वही, श्लो० २४

८. एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः ।
शारदीषु सचंद्रासु निशासु मुमुदे सुखी ॥
—वही, श्लो० ३५

श्रीकृष्ण के अतिरिक्त हरिवंश में शिव और पार्वती की भी विहार-क्रीड़ा का वर्णन है, जिसमें गंधर्व-पतिओं सहित सैकड़ों अप्सराओं के विहार, नृत्य, गायन, वादन-आदि का उल्लेख है, परंतु पिंडार-यात्रा के समान विशद और विस्तृत रूप में नहीं। फिर भी चित्ररेखा के साथ शिव-रूप में उनके पार्षदों की एकांत-क्रीड़ा और उसे देख कर अप्सराओं के 'किलकिला' शब्द करके हँसने का वर्णन वामाचार की कोटि का ही है[1]। हरिवंश के अन्य घोर शृंगारी वर्णनों में उषा-अनिरुद्ध के संयोग और गंधर्व-विवाह का वर्णन भी उल्लेख-योग्य है[2]।

हिंदी-कृष्ण-काव्य की राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण लीलाओं में शृंगारी वर्णनों की प्रचुरता है, तथापि जितनी नग्नता और निर्लज्जता हरिवंश में मिलती है उतनी उन वर्णनों में नहीं मिल सकती। दूसरे हिंदी-कृष्ण-काव्य के शृंगारिक-भाव केवल श्रीकृष्ण में सीमित है, उनके अंतरंग सखा भी उनकी शृंगारिक लीलाओं की छाया तक नहीं छू पाते। स्वयं श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में बारंबार दुहराकर ही नहीं, सूक्ष्म रहस्यात्मक संकेतों-द्वारा अलौकिकता की गूढ़ व्यंजना की गई है तथा समस्त वातावरण उस अनिर्वचनीय व्यक्तित्व के प्रति भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। सूरदास ने तो गोपी-कृष्ण लीला की प्रतीकात्मक व्याख्या भी दे दी है[3]। इसके विपरीत हरिवंश में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार कहने के अतिरिक्त उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता की व्यंजना नहीं की गई; वरन् उनके समस्त क्रिया-कलाप सर्वथा पार्थिव और घोर ऐंद्रिय रूप में उपस्थित किए गए हैं। हिंदी-कृष्ण-काव्य में परमानंद-रूप श्रीकृष्ण की सुख-क्रीड़ा का वर्णन होते हुए भी हम उसे उस अर्थ में भोगपूर्ण नहीं कह सकते। हरिवंश की भाँति उसमें कहीं मांस, मदिरा, वेश्या संमिलित-रमण-आदि वीभत्स दृश्यों का उल्लेख नहीं है। फिर भी कृष्ण और राधा की नग्न तथा किसी अर्थ में तथा-कथित अश्लील रति-क्रीड़ाओं के वर्णन का सूत्र हरिवंश के उपर्युक्त वर्णनों से जोड़ा जा सकता है।

हरिवंश-वर्णित गोपियों की केलि-क्रीड़ा रास-विहार तक ही सीमित है और उसका भी जैसा कि हम देख चुके हैं, अत्यंत संक्षेप में वर्णन है। हिंदी-कृष्ण-काव्य के रास-विहारी कृष्ण की उपर्युक्त पिंडार-यात्रा के कृष्ण से अंशतः समानता प्रतीत होती है, परंतु इस केलि-विहार में कृष्ण के दक्षिण नायकत्व और गोपियों की मान-मनुहार का सूत्र नहीं मिलता। इसका सूत्र हमें पारिजात-पुष्प के संबंध में सत्यभामा और कृष्ण के मान-मनुहार में मिल सकता है[4]। सत्यभामा के मान-कोप से भयभीत कृष्ण अत्यंत चाटुकार और स्त्रैण रूप से चित्रित किए गए हैं। सत्यभामा का शोक उन्हें भस्म किए देता है, जिसके कारण वे अपने प्राणों की शपथ लेकर उसकी आज्ञा-पालन के लिए उद्यत होते हैं[5]। सत्यभामा खंडिता गोपियों की भाँति[6] उन्हें धूर्त, छली, चंचल, जन-वंचक, चोर के समान प्रच्छन्न,

रतिनायक कृष्ण

१. वही, अ० ११७, श्लो० १–१२

२. वही, अ० ११८, श्लो० ७०–७७

३. सू० सा० (वें० प्रे०) पृ० २६३–२६४

४. विष्णु पर्व, अ० ६५–६७

५. दहतीवममांगानि शोकः कमललोचने।
किमुतकारणं येन त्वमेवमति विक्लवा॥

❀

शापितासि मम प्राणैराचक्ष्वानत्ययो यदि।
श्रोतव्यं यदि भक्तेन भर्त्रा सर्वांग शोभने॥

—वही, अ० ६७ श्लो. २,३

६. सूरसागर (वें० प्रे०) खंडिता-समय, पृ० ३७२–३८१

वाणी मात्र से मधुर, शठ-आदि अनेक प्रेमयुक्त दुर्वचनों से धिक्कारती है[१]। श्रीकृष्ण नाना-प्रकार उससे अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करके पारिजात-पुष्प के स्थान पर समूचा पारिजात-वृक्ष लाने का वचन देते हैं[२]। सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए ही उन्हें ज्येष्ठ भ्राता महेंद्र से युद्ध करना पड़ा।

सूरदास की खंडिता गोपियों के दक्षिण नायक कृष्ण का किंचित् रूप यहाँ मिल जाता है, परंतु हरिवंश के कृष्ण के इस कार्य की सूरदास के दक्षिण नायक कृष्ण की भाँति भक्ति-परक आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती।

हिंदी कृष्ण-काव्य की भाँति हरिवंश में विष्णु अथवा कृष्ण-भक्ति को एकांतिक धर्म नहीं बताया गया और न योग, यज्ञ, जप, तप-आदि की विगर्हणा की गई, अपितु उसमें उपवास, व्रत, तप, दान-आदि धर्माचरण का नियमित विधान किया गया और सदाचार की महत्ता बताई गई है। इस संबंध में यह एक रोचक बात है कि धर्माचरण का विधान विशेषतया स्त्रियों के लिये और सदाचरण का माप भी उन्हीं से संबंधित रखा गया है। हरिवंश में अनेक स्थलों पर स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म की प्रशंसा की गई है। पार्वती के द्वारा अरुंधती को सुनाई

उपवास, व्रत, दान-आदि धर्माचरण एवं सदाचार

हुई 'पुण्यक व्रत' की कथा में बताया गया है कि असती स्त्रियों-द्वारा दिया हुआ दान, उपवास, पुण्य-आदि सुकृत तथा पुण्यक व्रत भी निष्फल होता है। भर्ता की वंचना करने वाली योनि-दुष्ट स्त्री पुण्य-फल को नहीं प्राप्त होती, वरन् नरक-गामिनी होती है[३]। ऐसी स्त्री का प्रायश्चित भी नहीं होता। सहस्र कल्पांतर में भी उसकी गति नहीं होती और वह तिर्यक् योनि पाती है। यदि किसी प्रकार मनुष्य-योनि भी मिली तो वह कुत्ते का भोजन करने वाली चांडाल-योनि में जन्म लेती है[४]। व्याधि-युक्त, पतित, दीन अथवा कैसा भी पति क्यों न हो उसका त्याग करना उचित नहीं है; यही सनातन धर्म है। अकार्य करने वाले, पतित, गुणहीन पति को भी साध्वी स्त्री अपने साथ तार ले जाती है[५]। स्त्रियों का देव सदा पति ही है; जिसका भर्ता उससे प्रसन्न है वही स्त्री सती है[६]। पुण्यक-व्रत का विधान भी मन, वचन और कर्म से पातिव्रत को दृढ़ करनेके ही निमित्त है। पातिव्रत और पति-भक्तिसे संबंधित उपर्युक्त विचारों से गोस्वामी जी के तत्संबंधी विचार अत्यंत साम्य रखते हैं[७], परंतु गोस्वामी जी का दृष्टिकोण हरिवंश की अपेक्षा अधिक कठोर और अपरिवर्तनवादी है। वे किसी भी दशा में स्त्री के दुराचरण को सहन नहीं कर सकते। इसके विपरीत हरिवंश में जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा के विषय में जो छली इंद्र के साथ व्यभिचार-दोष से दूषित

१. विष्णुपर्व, अ० ६७, श्लो० २२–२६
२. वही, श्लो० २८–३२
३. वही, अ० ७८, श्लो० ५,-६
४. वही, श्लो० ११, १३, १४
५. व्याधितः पतितोवाऽपि दीनोवाऽपि कथंचन।
न त्यक्तव्यः स्त्रिया भर्ता धर्म एष सनातनः॥
अकार्य कारिणं वाऽपि पतितं वाऽपि निर्गुणम्।
स्त्री पतिं तारयत्येव तथात्मानं शुभानने॥
—वही, श्लो० ९,१०
६. भर्ता देवः सदा स्त्रीणां सद्भिर्दृष्टस्तपोधने।
यस्या हि तुष्यते भर्ता सा सती धर्मचारिणी॥
—वही, श्लो० १५
७. बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा।
—रामचरितमानस आरण्यकांड, दोहा ४, चौपाई ४–५

थी, कहा गया है कि वह पाप-रहित है और त्यागने के योग्य नहीं है। अपापा स्त्री को त्यागने से वह शाप देती है। अदुष्ट और विशेषत: दिव्य स्त्री को त्यागना नहीं चाहिए[१]। स्त्री भानु की प्रभा, अग्नि की शिखा, होता की वेदी है। स्वयं उसकी इच्छा के बिना भोगी हुई स्त्री दूषित नहीं होती। विद्वानों को सदैव उनका ग्रहण, सत्कार और पूजन करना चाहिए। शीलवती स्त्रियाँ नमस्कार योग्य और लक्ष्मी के समान पूजनीय हैं[२]। स्वयं जनमेजय इस स्त्री को त्याग देना चाहता था, क्योंकि उसके विचार से ऐसी स्त्री को ग्रहण करने से मनुष्य न तो भोजन में स्वाद ले सकता है और न सुख की नींद सो सकता है। अत: ऐसी स्त्री कुत्ते की छुई हुई हवि के समान त्याज है[३]। जनमेजय के इस विचार को बदलने के लिये ही गंधर्वराज विश्वावसु के मुख से उपर्युक्त व्यवस्था दिलाई गई। काशिराज की पुत्री वपुष्टमा का दोष इस लिए मार्जनीय था कि वह वस्तुत: रंभा नामक अप्सरा थी जिसके साथ इंद्र ने मृत घोड़े में प्रवेश करके इस लिए भोग किया था कि वह जनमेजय के यज्ञ-फल-त्याग करने के कारण उससे डर गया था। नहीं तो वह अपने पौत्र की भार्या के साथ ऐसा व्यवहार कभी न करता[४]। सामान्यतया स्त्रियों के संबंध में हरिवंश के विचार मध्ययुगीन हिंदी के भक्त-कवियों, विशेषतया गोस्वामी तुलसीदास के विचारों से अधिक उदार कहे जायेंगे। वस्तुत: हिंदी के सभी भक्त-कवियों ने नारी को काम-प्रवृत्ति का प्रतीक मान कर अपने वैराग्यपूर्ण विचारों के अनुरूप उसकी कटु आलोचना की है। इसी कारण मनुष्य को सचेत करने के लिये विरक्त साधु गोस्वामी तुलसीदास ने स्त्री के सामान्य अवगुणों पर इतना ज़ोर दिया है। हरिवंश तथा पुराणों के प्रवृत्ति-मार्ग से इसका अंतर स्पष्ट समझ में आ जाता है।

स्त्री के लिये पातिव्रत सबसे बड़ा धर्म है और पति-सेवा सबसे बड़ा कर्म; परंतु यदि किसी स्त्री से तन-मन से यह धर्म-कर्म न बन सके तो उसके लिए हरिवंश ने साधनरूप 'पुण्यक व्रत' का विधान किया है। शरीर और मन की शुद्धि के जिन विविध उपायों का उल्लेख किया गया उसमें पति की सेवा के साथ श्वसुरादि गुरुजनों की सेवा भी संमिलित की गई है[५]। इस व्रत में स्नान, ध्यान, उपवासादि धर्म-कृत्यों में ब्राह्मणों को भाँति-भाँति की दान-दक्षिणा देने का बड़े विस्तार से विधान है। दान में देने योग्य सामान्य वस्तुओं की लंबी सूची में भोजन की समस्त सामग्रियाँ, भाँति-भाँति के वस्त्राभूषण, बहु-मूल्य धातुओं की देव-प्रतिमाएँ तथा ग्रह, नक्षत्र आदि संमिलित किए गए हैं। इस सूची में भर्ता के कते सूत के वस्त्र और स्वयं के कते सूत का विधान रोचक है। दान के संबंध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई भी दान पति-आज्ञा के बिना नहीं करना चाहिए[६]। विशेष फलों की प्राप्ति के लिये विशेष-विशेष दान भी बताए गए हैं। उदाहरणार्थ ललाट को सुंदर बनाने के लिये चाँदी का वस्त्र, भ्रू की सुंदरता के लिए पके फल, सोने के उर्द, दक्षिणा, लवण, घृतपात्र, कानों के सौंदर्य के लिये घी और दूध में डाल कर सोने के कान, नेत्रों को मृग के समान बनाने के लिए कमल-पत्र से मंडित दुग्ध-पात्र, ओष्ठ की सुंदरता के लिए मूँग, दाँतों को लाल वर्ण करने के लिए दूध में डाल कर चाँदी के दाँत, मुख के सौंदर्य के

१. भविष्यपर्व, अ० ५ श्लो० २५–३८

२. भानोः प्रभा शिखा वह्नेर्वेदी होत्रे तथाहुतिः ।
परामृष्टाऽप्यसंसक्तानोपदुष्यंति योषितः ॥
ग्राह्या लालयितव्याश्च पूज्यांश्च सततं बुधैः ।
शीलवत्यो नमस्कार्याः पूज्याः श्रिय इवस्त्रियः ॥
—वही, श्लो० ३९,४०

३. न स्वादु सोऽश्नाति नरः सुखं स्वपितिवारहः ।
अन्वास्तेयः प्रियां भार्यां परेण मृदितामिह ॥
पुनर्नैवोपि भुंजंति श्वावलीढं हविर्यथा ॥
—वही, श्लो० २३, २४

४. वही, श्लो० २५—३८

५. विष्णुपर्व, अ० ७८, श्लो० १९–२५

६. वही, अ० ७९

लिए चाँदी का चंद्रमा, स्तनों को तालफल के समान बनाने के लिए दक्षिणा सहित सोने के दो बैल, उदर-क्षीणता के लिए फूल-युक्त जाति लता, हाथों के लिए दो सुवर्ण कमल, श्रोणी के लिए लवण तथा प्रजापति के मुख के आकार की स्वर्ण-प्रतिमा, पूर्ण-रत्न और लाल वस्त्र ; वाणी के लिए दक्षिणा सहित लवण, गुल्फ को गूढ़ और शिर-चरण को सुंदर बनाने के लिए घृत में स्थापित चांदी के दो कच्छप और स्वर्ण के दो कमल तथा बंधुओं को गुणी बनाने के लिए स्वर्ण का वृक्ष और सोने का दीपक दान करने का विधान किया गया है। इन दान-दक्षिणादि के साथ अनेक प्रकार के व्रत, उपवास आदि धर्म-कर्मों का भी आदेश है। उदाहरणार्थ भोजन में शशक, तुंबी-फल, उत्पादिका वर्जित हैं। गंगा-स्नान का भी विशेष माहात्म्य है ।

हरिवंश के उपर्युक्त धर्म-कर्म के विधानों के विपरीत हिंदी कृष्ण-काव्य में कृष्ण और राधाकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त सब प्रकार की पूजा, व्रत, यज्ञादि का स्पष्ट प्रत्याख्यान मिलता है। कृष्ण-भक्ति-संप्रदायों में नाना प्रकार की भोग-सामग्रियों को कृष्ण की सेवा में ही नियोजित करने की व्यवस्था है। अतः प्रकारांतर से उसमें भी दान का माहात्म्य है, यद्यपि काव्य में इस प्रकार के विवरण नहीं मिलते। भोग-सामग्रियों में सूरदासजी ने केवल नाना-प्रकार के शाक और अन्न-भोजनों की लंबी-लंबी सूचियाँ दी हैं। तुलसीदासजी का दृष्टिकोण इस संबंध में किंचित् भिन्न है। उन्होंने भक्ति के साधन अथवा अंग रूप में जप, तप, व्रत, दानादि की महत्ता को तो स्वीकार किया, किंतु भक्ति के अतिरिक्त उनके किसी इतर फल का प्रलोभन नहीं दिया। उन्होंने न तो दानादि के विस्तार दिए और न भोग-सामग्रियों को ही अपने वैराग्य-पूर्ण भक्ति-मत में संमिलित किया।

हरिवंश के साथ हिंदी के वैष्णव-काव्य की कृष्ण और राम-भक्ति-धाराओं की तुलना से यह स्पष्ट विदित होता है कि किस प्रकार ये दोनों भक्ति-धाराएँ पुराणों के समान स्रोत से विकसित हो कर भी अपना अलग-अलग स्वरूप सुरक्षित रख सकीं। जहाँ एक ओर सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने पुराणों के ऐंद्रिय भोग को, सूक्ष्म कल्पना, तीव्र भावना और आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा, अतिलौकिक और रहस्यात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया और श्री कृष्ण की एकांतिक भक्ति में सांसारिक फल देने वाले किसी देवी-देवता की पूजा तथा व्रत, जप, तप आदि बाह्याचारों को कोई महत्व नहीं दिया, वहाँ दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने वैष्णव-प्रचार के चतुर पौराणिक ढंग को और अधिक चतुराई के साथ प्रयुक्त करके वैष्णव पुराणों के समन्वय जैसे दृष्टिकोण में समन्वयात्मक प्रतीति की और अधिक वृद्धि कर दी ; पुराणों के व्रत, तप, दानादि को भक्ति का ही अंग और साधन बना कर उनके सांसारिक फल का निराकरण कर दिया, एवं पुराणों के भोगवाद के स्थान पर वैराग्यवाद की प्रतिष्ठा कर दी ।

कृष्ण और राम-भक्ति की धाराएँ स्वरूप में भिन्न होते हुए भी अनेक बातों में समान हैं। उनमे सबसे महत्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों ने पौराणिक वैष्णव मतवाद को अपने-अपने ढंग से भोग से वैराग्य, पार्थिवता से अलौकिकता, स्थूलता से सूक्ष्मता तथा अनेकता और विशृंखलता से एकता और व्यवस्था की ओर उन्मुख करने में अतीव सहायता पहुँचाई। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी की इन काव्य-धाराओं को उनकी भक्ति-भावना के प्रतिपादक आचार्यों से अत्यधिक प्रेरणा और सहायता मिली, फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन काव्य-धाराओं के प्रतिनिधि सूर और तुलसी की विचार-धारा में मौलिकता ही विशेष है। गोस्वामी तुलसीदास की अमर रचना तो इस दृष्टि से एक स्वतंत्र वैष्णव धर्म उपस्थित करने वाली भाषा-पुराण ही कही जा सकती है, जिसमें पुराणों की वैष्णव अद्वैतता और समन्वयवाद को चरम परिणति पर पहुँचाया गया तथा वैष्णव धर्म को न केवल पुराणों के स्थूल भोगवाद से, अपितु कृष्ण-भक्ति के सूक्ष्म, आध्यात्मिक, अतिलौकिक, किंतु भयावह भोगवाद से बचाने का भी उपक्रम किया गया। कृष्ण-भक्ति काव्य में तांत्रिक वामाचार जैसी उद्वेगजनक क्रियाओं को जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति में संमिलित करके उनका दैवीकरण और अतिलौकिकी-करण किया गया तथा सांसारिक सिद्धियों के हेतु किए जाने वाले जप, तप आदि बाह्याडंबरों की निंदा की गई उसके लिए ये कवि भी कम सराहनीय नहीं हैं।

रूप-रसिक जी की वाणी

धमार

हो घनस्यांम, भरौ जिन मो तन, चोबा छिरकन भोरे ही।
अपने रंग मिलायौ चाँहत, सहत नांहि कछु गोरे ही।।
जानति हों पछितावत हौ मन, लखि मो अंगँन ओरे ही।
'रूपरसिक' बिधना के सारे स्रबँन होत बरजोरे ही।।

राग-काफी

दुरि-मुरि खेल कहा यै खेलत, खरे रहौ नैक सनमुख दोऊ।
हम हूँ निरखि सकें छबि नेंसुक, छैल कहावत निज मुख दोऊ।।
अलि बलि अभिलाषत हैं सबही, होत बनें नहिं सनमुख दोऊ।
'रूपरसिक' पै होइ रपदई, रूप रहै पदरँन मुख दोऊ।।

प्यारे, हँम नहिं खेलें होरी।
हो-हो करत, अरत ही आवत, दिखरावत बरजोरी।।
नए खिलार लाड़िले, मुख पै लै लपटावत रोरी।
'रूपरसिक' ई जाँन परी अब, देखत हैं सब गोरी।।

राग-सारंग

स्यांम-घन-तन चंदन छबि देत।
देखौरी, देखौ अति अदभुत, चितै चुराऐं लेत।।
मनों मंजु मनि नील सैल पर, खिली चाँदनी सेत।
कै भीतर ते बाहर प्रगटयौ, प्रान-प्रिया कौ हेत।।
नहिं समाँन पटतर दैके कौ, उपमा आन अचेत।
'रूपरसिक' रस उपजा मन मनु मीन केत कौ खेत।।

चलि, वा कदँम-कुंज की ओट।
यै देखौ घन छाइ रह्यौ बन, करत न चहुँ दिस कोट।।
अब न सँम्हरि है तब कहा करि है, परि है पाँनी-पोट।
'रूपरसिक' ह्वै जैहै ततछिन, अँग-अँग सगबगरोट।।

राग-मलार

स्यांमघन, उँमगि-उँमगि इत आवै।
कीट, मुकट, कुंडल, पीतांबर, मनु दामिनि दमकावै।।
मोंतिन-माल लसत उर-ऊपर, मनु बग-पाँति लखावै।
मुरली-गरज मनोहर धुनि सुनि, स्रबँन मोर सकुचावै।।
हम पै कृपा करी हरि मांनों नीर-नेह-झर लावै।
'रूपरसिक' यै सोभा निरखत, तन, मन, नैंन सिरावै।।
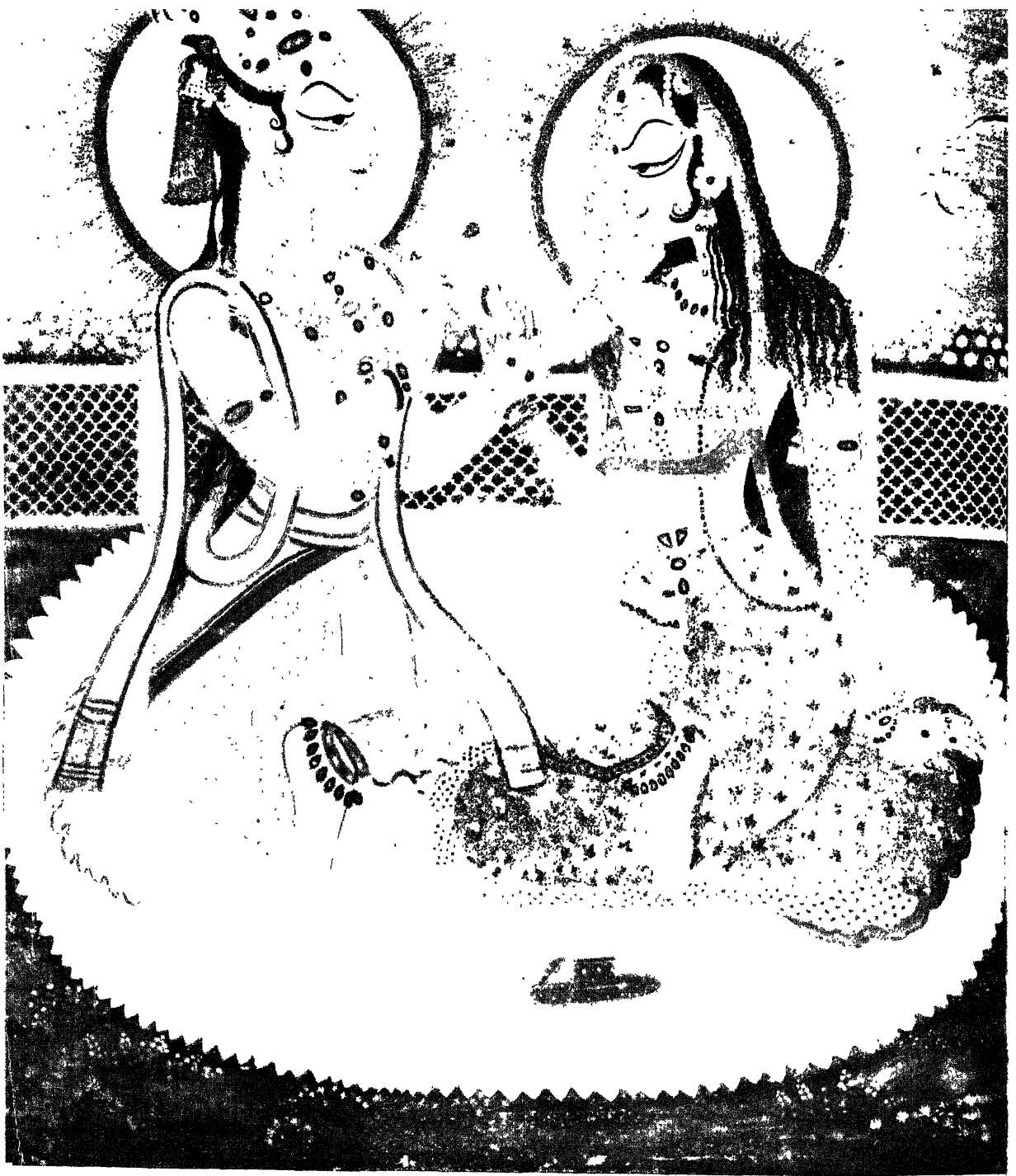
नित-प्रति एकत ही रहत, बैस-बरँन-मन एक ।
चहियतु जुगल किसोर-लखि, लोचँन जुगल अनेक ॥

—बिहारी

हिंदी साहित्य में राधा-कृष्ण की भावना का विकास

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

कृष्ण और राधा भारतीय जीवन में अति प्राचीन काल से विद्यमान हैं, किंतु जिस प्रकार बीज से वृक्ष का विकास, वर्द्धन और परिवर्तन अवस्थानुकूल होता रहता है उसी प्रकार कृष्ण और राधा की भावना का भी बीज तो वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में विद्यमान है, पर उसका स्फुटन, विकास, वर्द्धन, परिवर्तन आगामी युगों में क्रमशः सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल होता चला आ रहा है। हिंदी (ब्रज) साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में यह धारा संस्कृत-साहित्य तथा भक्ति के आचार्यों से होकर आई है, इसलिए हिंदी के क्षेत्र में उसका स्वरूप समझने से पहले उसके पूर्वरूप से परिचित हो जाना नितांत आवश्यक है।

वेदों में 'द्यु'-लोक का अधिष्ठाता देवता आदित्य था। मध्य-लोक और भू-लोक का इंद्र था। आदित्य अपने प्रकाश तथा ताप से सृष्टि को जीवन देता था। ताप से वृष्टि होती थी। वृष्टि से वनस्पति, अन्न, फल, फूल उत्पन्न होते थे, जिस से गाय, पशु, मनुष्य आदि सब प्राणी जीवित रहते थे, किंतु वृष्टि का संबंध मध्य-लोक तथा भू-लोक से ही विशेष कर समझा जाता था, इसलिये इंद्र वृष्टि, वनस्पति, ब्रजभूमि और जीवन की खाद्य सामग्री का देवता—'राधानां पति' हो गया[1]। आदित्य अंधकार को प्रकाश-द्वारा दूर करता था। हेमंत और शिशिर की ठिठुरी हुई पृथ्वी में प्रकाश के कारण वसंत में जीवन आ जाता था। इसलिये जीवन-मरण के दुःख को दूर करने वाले देवता 'विष्णु' का उदय हुआ जो आदित्य का भी देवता समझा जाने लगा और 'सूर्यलोक' से भी परे 'गोलोक' में उसका निवास माना जाने लगा[2]। धीरे-धीरे इस विष्णु का यह महत्व इतना बढ़ गया कि इंद्र को लोग भूल से गये[3]। अब अन्य देवताओं की कथाएँ भी विष्णु से संबद्ध होने लगीं और विष्णु ही 'त्रिविक्रम विश्वस', 'भुवनस्यराजा' और 'राधानांपति' हो गये। सूर्यलोक के अतिरिक्त ब्रजभूमि में भी उनकी 'गो-मंडली' समझी जाने लगी। वे ब्रजभूमि के गोपति हो गये[4]। ऐतरेय-ब्राह्मण में विष्णु सब देवताओं में श्रेष्ठ हो गये[5]। राधानां पति की भावना के इस विकास के अनुकूल ही राधा का अर्थ अब अन्न-वनस्पति के स्थान पर संपत्ति (श्री, लक्ष्मी) लिया जाने लगा[6]। तैत्तरीय आरण्यक में विष्णु एक प्राचीन ऋषि नारायण में समाहित हो गये और पांचरात्र-धर्म में उनकी पूजा होने लगी। बाद को यह सब भावनाएँ एक देवता वासुदेव में मिल गईं, जिसकी पूजा पाणिनि के

१. अग्नौ प्रास्ताहुति सभ्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टिरन्नं ततः प्रजा ॥

—मनुसंहिता

"अस्मा अवमघवन् गोभति व्रजे। यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः ।
स्तोत्रंराधानांपते गिवाहो वीर यस्तते ॥"

—ऋग्वेद ५।६।४६।१३

२. शतपथ ब्राह्मण — १।५।३।१४,

३. शतपथ ब्राह्मण— १।६।३।१०

४. व्रजंच विष्णु सचिवां अपोर्णुते । —ऋग्वेद

५. के० ऐम० मुंशी—'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' १२६–१२७,

६. डा० बी० के० गोस्वामी—'भलाटी कल्ट इन् इन्संट इंडिया' पृ० ४०५–६

(ई० पू० समय ५०० शताब्दी) में जनसाधारण में प्रचलित थी[१]। पतंजलि ने अपने भाष्य में 'विष्णु' और 'वासुदेव कृष्ण' में कोई अंतर नहीं रखा है। इसलिये पतंजलि के समय (१५० शताब्दी ई० पू०) से पहले ही विष्णु की भावना वासुदेव कृष्ण में मिल गई होगी[२]। पांचरात्र-धर्म महाभारत के नारायणीखंड से ही[३] गीता की 'भक्ति' के पश्चात् विकसित हुआ,[४] क्योंकि उसमें ऐसी बातें आ गई हैं जो गीता और अर्थ-शास्त्र में साधारण रूप में है। गीता में वासुदेव की गिनती वृष्णियों में हुई है, अर्थ-शास्त्र में संकर्षण का उल्लेख है, किंतु वहाँ उसका वह महत्व नहीं है जो पांचरात्र में। पांचरात्र में प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण और वासुदेव चारों व्यूह माने गये हैं। गीता की रचना 'गौतम बुद्ध' के बाद हुई[५] और अर्थशास्त्र का समय ई० पूर्व चार सौ माना जाता है। गौतम ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में विद्यमान थे। अस्तु, पांचरात्र-धर्म का विकास ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी के बाद हुआ होगा, वासुदेव की पूजा पाणिनि के समय ५०० शताब्दी ई० पू० में जनसाधारण में प्रचलित थी। वासुदेव की गिनती गीता में वृष्णियों में हुई है। वृष्णि, भंडारकर के अनुसार, 'यादव' या 'सात्वत-वंश' का नाम था और वासुदेव इसी वंश में ईसा-पूर्व सौ में एक महान व्यक्ति हुए, जिन्होंने ईश्वर के एकत्व का प्रचार किया। मृत्यु के बाद स्वयं वे ही भगवान वासुदेव-रूप से पूजे जाने लगे[६]। भगवान-रूप में उनकी पूजा ईसा-पूर्व पांच सौ और छ सौ के बीच प्रचलित हो जानी चाहिए। ५०० शताब्दी ई० पू० में तो जनसाधारण में भी उनकी पूजा प्रचलित हो गई थी, कदाचित् भगवान् शब्द गौतम के नाम के साथ, 'मारविजय' की उस कल्पना के कारण जो कि प्राचीन आदित्य भाग के अंधकार और प्रकाश के बीच के युद्ध का ही प्रतीकात्मक रूपांतर थी--तब तक जुड़ गया था और गौतम के इस गौरव-प्रदर्शक शब्द से वासुदेव धर्मावलंबी भी अपने महान व्यक्ति को गौरवान्वित करना चाहते थे। आदर-प्रदर्शक शब्दों का इस प्रकार लिया जाना एक साधारण सी बात है, किंतु इन वासुदेव के साथ भगवान के अतिरिक्त कृष्ण शब्द भी प्रयोग में आता था। वासुदेव से इस शब्द के संयोग होने के दो कारणों की संभावना बतलाई जाती है। पहले तो यह कि कृष्ण एक वैदिक ऋषि थे, जिन्होंने ऋग्वेद के अष्टम मंडल की रचना की थी। छांदोग्य उपनिषद में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में आते हैं। ऋग्वेद के समय से छांदोग्य उपनिषद के समय तक कोई जन-श्रुति (कृष्ण-संबंधी) चली आती होगी। इसी के आधार पर प्राचीन कृष्ण का साम्य वासुदेव से तब हुआ होगा जब वे देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए होंगे। दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि जातकों की गाथा के भाष्यकार के अनुसार कृष्ण एक गोत्र (जिसका पूरा नाम कृष्णायन है) का नाम है। वासुदेव इसी गोत्र के क्षत्रिय थे, इसलिये वे वासुदेव कृष्ण कहलाये[७]।

वासुदेव कृष्ण के साथ विष्णु-नारायण की भावना तो पतंजलि के समय के पूर्व ही मिल चुकी थी, किंतु गोपाल-कृष्ण की भावना संभवतया ईसवी की पहली और तीसरी शताब्दी में बीच के आभीरों के देवता गोपाल कृष्ण के कारण आई। महाभारत में आभीरों का उल्लेख इधर-उधर घूमने वाले गोपालों के रूप में हुआ है। संभवतया सन् १५० ई० के पूर्व से आभीरों ने पंजाब के कई अंशों पर अधिकार कर लिया था। सन् १९१ ई० के क्षत्रप रुद्रसिंह के लेख से पता चलता है कि उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूमि आभीर थे। फिर सन् ३०० ई० के नासिक के गुफा-लेख से पता चलता है कि उन दिनों वहाँ नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्त के पुत्र थे) का राज्य था।

१. के० ऐम० मुंशी--'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर पृ० १२६-१२७

२. इंडियन इन्टीक्वेरी--३-१६, जनरल आव् रायल एसियाटिक सोसायिटी स० १९०८, पृ० १७२,

३. डा० आर० सी० मजूमदार--रिलीजियो फी लोफिक कलचर आव् इंडिया,

४. विश्वनाथ --रोसियल सीन्थेसीस आव् हिंदू-कलचर, पृ० २००

५. भंडारकर--वैष्णविज्म, शेविज्म एण्ड अदर रिलीजियस सिस्टम्स पृ० ३, एफ डा० मैकिनिकौल

६. इंडियन थीइज्म पृ० ७६ ८, इंडियन थीइज्म पृ०--३३,

७. हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५६६,

३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तंभ-लेख से पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और इनका अधिकार समूचे राजस्थान पर हो गया था[१]। ये आभीर गोपालकृष्ण के उपासक थे और संभवतया अपने साथ क्राइस्ट शब्द भी लाये थे। फलस्वरूप वासुदेव-कृष्ण और गोपाल-कृष्ण को एक कृष्ण में मिल जाने में देर न लगी[२]।

दार्शनिक विकास के साथ विष्णु की भावना में भी अत्यधिक विकास हो चुका था, जिसके फलस्वरूप उपासना के लिये भी एक दृढ़ आधार मिल गया था। उपासना-पद्धति अब अधिक कठिन न रह गई थी, किंतु अभी मनुष्य के हृदय को विश्वास से भर देने के लिये विष्णु को मानव-रूप देने की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही अवतार की भावना का उदय हुआ। महाभारत में विष्णु अवतार धारण कर दिव्य शक्तिशाली नीतिज्ञ कृष्ण के रूप में जनसाधारण के सामने आते हैं। प्रेम-प्रवण और नीति-निपुण कृष्ण की ओर दृष्टिपात करते ही जन-समुदाय के हृदय में प्रेम और विश्वास एक साथ जागरित हो गया। कृष्ण ने जनता के हृदय के कोमल-तंतुओं का ही स्पर्श नहीं किया था, उनके हृदय में अपने द्वारा सुरत्व की दृढ़-भावना भी बद्धमूल कर दी थी। कृष्ण के प्रेम में जनता ने अर्जुन के समान ही अपने आप को सुरक्षित समझा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले 'चंद्रगुप्त मौर्य' की सभा में रहने वाले यवन राजदूत मेगास्थनीज ने जिस 'हिरेक्लीज' (हरि-कृष्ण) को उन 'शौरसेनियों का उपास्य देव बतलाया था, जिनके देश में मथुरा नगरी अवस्थित है और यमुना प्रवाहित होती है,' वह कृष्ण ही था। पांचरात्रों के कारण यह ऐकांतिक धर्म (जिसका प्रवर्तन संभवतः बदरिकाश्रम में हुआ था) पांचरात्र और सात्वतों के कारण सात्वत-धर्म कहलाया। नारायण के साथ एकरूप होकर कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे, इसलिये वह वैष्णव-धर्म कहलाया। इनके भगवान या भगवत् कहलाने से इस धर्म की 'भागवत' संज्ञा भी हुई। ईसा के १४० वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा, 'एंटिआल्काइडस' का राजदूत, 'डिओस' का पुत्र 'हेलिओडोरस' जो विदिशा के राजा 'काशिपुत्र भगभद्र' की सभा में रहता था, भागवत था। उसने 'देवदेव वासुदेव' का गरुड़ध्वज स्तंभ बनवाया था जिस पर उसने अपने आप को स्पष्टतया 'भागवत' लिखा था। 'गुप्तराजकुल' जिसका समय चौथी से आठवीं शताब्दी तक है, वैष्णव था। गुप्त राजा अपने आपको 'परम भागवत' कहा करते थे। उनके सिक्के तथा बिहार, मथुरा और भिटारी के उनके शिलालेख इस बात के साक्षी हैं[३]।

दक्षिण भारत में भागवत तथा पांचरात्र-धर्म पहिली सदी ईसवी में जनसाधारणके जीवनमें व्याप्त था, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। तामिल भाषा के प्रकांड पंडित महामहोपाध्याय 'स्वामीनाथ अय्यर' ने प्राचीन तामिल कवियोंकी कविताओं का एक संग्रह 'परोपदल' प्रकाशित किया है। उस में 'इलम पेरुवदि' 'कदुवन इलवेयिनन', 'किरांडेन्यर' और 'नल्लेलुनेयर' आदि चार कवियों की विष्णु-भक्ति की कविताएँ हैं, जिनमें पांचरात्र-पूजा-विधान तथा कृष्ण की बाललीलाओं का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इन कवियों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है[४]। इसलिए यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति और पांचरात्र-धर्म दोनों ही ईसवी सन् १०० से पहले ही धुर दक्षिण मदुरा तक पहुँच गए थे[५]। फिर 'चोलमंडल' (कारामंडल) तट पर वेंगी के पल्लवों के शिलालेखों से पता चलता है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पल्लवराजाओं में भी भागवत-धर्म का संमान था[६]। गुजरात के वलभियों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके छठी शताब्दी

१. हिंदी-साहित्य की भूमिका, पृ० २४,

२. भंडारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स, पृ० ३८

३. हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय पृ० ६–१०—डा० पी० बड़थ्वाल।

४. अर्लि हिस्ट्री आव् वैष्णविज्म इन् साऊथ इंडिया, पृ० ६०—आर० एस० कृष्णस्वामी।

५. दे० भंडारकर—"देअर इज़ नथिंग टू शो दैट वैष्णविज्म हैड नॉट पैनिट्रेटेड टूद तामिल कंट्री अर्लियर दैट इज़ ऐबाउट द फर्स्ट सेंचुरी

६. कनिंघम—आर्केलॉजिकव सर्वे,

के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। शंकर-दिग्विजय के अनुसार शंकर को पांचरात्र और भागवत दोनों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था[1]। फिर दूसरी से नवीं शताब्दी तक के आल्वार-संत भागवत-धर्मावलंबी थे[2] जिनकी कविताओं से प्रभावित 'रामानुज' ने भागवत धर्म को दार्शनिक सिद्धांतों के अनुकूल प्रचारित किया। इनसे उन आचार्यों की परंपरा आती है, जिनके कारण भक्ति की लहर समस्त भारत में फैल गई।

पांचरात्र-धर्म और भागवत-धर्म के विकास के साथ भक्ति में सांसारिक प्रेम के सब गुणों का आरोप हुआ। नारद ने भक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेम-स्वरूपा बतलाया है–**"सा तस्मिन परम प्रेम रूपा।"** शांडिल्य ने उसे ईश्वरोन्मुखी अनुराग कहा—**'भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे'**।'

जब प्रेमा-भक्ति का प्राधान्य हो गया तो गो-लोक के गोपाल की पूजा होने लगी और समयानुसार 'राधानांपति' के अर्थ में भी विकास हुआ। राधा का अर्थ आराधना से लिया जाने लगा और जब कृष्ण में विष्णु की भावना मिल गई तो 'राधा' शक्ति का अवतार मानी जाने लगी। तब ब्रजभूमि तथा गोमंडली का संबंध विष्णु-पूजा से हो गया[3]।

दक्षिण के आचार्यों ने विष्णु स्वामी और निंबार्क से पहले विष्णु के गोपाल-रूप और राधा की ओर ध्यान नहीं दिया था। विष्णु स्वामी और निंबार्क का ध्यान इधर गया। इन्होंने गोपाल-कृष्ण और राधा को भक्ति में प्रधानता दी। पौराणिक काल की रुक्मिणी तथा लक्ष्मी से कहीं अधिक सजीव मानवी राधा की उत्पति प्रेमा-भक्ति के कारण सन् ८०० ई० से पहले ही हो चुकी थी[4]। इसके पश्चात् 'आनंद-वर्द्धन' के 'ध्वन्यालोक' (८५० ई०) में राधा का उल्लेख मिलता है[5] और धारा के अमोघवर्ष के सन् ६६० ई० के शिलालेख में राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है[6]। ग्यारहवीं शताब्दी में 'लीलाशुक' के 'कृष्ण-कर्णामृत' की रचना हुई[7]। अपनी सरसता और तन्मय-भावना के कारण यह ग्रंथ सारे भारतवर्ष में शीघ्र ही फैल गया।

बारहवीं शताब्दी में निंवार्क (११५० ई०) हुए। इनका जन्म भागवत कुल में, संभवतया विलारी जिले के तैलंग ब्राह्मण-वंश में हुआ। इन्होंने भेदाभेद सिद्धांत में वैष्णव धर्म की पुष्टि की। रामानुज की श्री, भू और लक्ष्मीके स्थान पर इन्होंने राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। इनके अनुसार राधा कृष्ण (परब्रह्म) की अनन्य संगिनी हैं और उनके ही साथ गोलोक में निवास करती हैं। वह प्रेम-स्वरूपा, सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली, शृंगार की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं और ब्रज में अपनी आठों प्रधान सखियों

१. हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय पृ० १०,
२. अर्लि हिस्ट्री आव वैष्णविज्म, पृ० ६०
३. भक्ति कल्ट इन ऐन्संट इंडिया।
४. के० ऐम्र मुंशी—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर,
५. तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणम्।
क्षेत्रं भद्र कलिंदराजतनयातीरे लतावेश्मनाम्॥
६. के० ऐम० मुंशी—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर,
७. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी-साहित्य की भूमिका।
८. अष्ट-सखि नाम जैसे—"चंद्रावली, ललिता, विशाखा, चंपकलता, चंद्रभागा, राधा, श्यामा और भामा। अन्य मत—"ललिता, विशाखा, तुंगविद्या, रंगदेवी, इंदुरेखा, चंद्रभागा और चंपकलता।" तृतीय मत—"ललिता, विशाखा, चंद्रभागा, श्यामा, भामा, कुसुमा, तुलसी तथा माधवी।" चतुर्थ मत से—"ललिता विशाखा, चंद्रभागा, चंपकलता, चित्रा, स्वर्णलेखा, इंदुमती एवं संध्यावली।"

तंत्र-मतानुसार इनकी संख्या सोलह है, जैसे—"ललिता, चंद्रावली, श्यामला, चित्ररेखा, श्रीमती, चंद्रा, हरिप्रिया, मदनसुंदरी, विशाखा, प्रिया, शैव्या, मधुमती, पद्मा, शशिरेखा, भद्रा और रसप्रिया।" यही नहीं, कोई इनकी संख्या दस, कोई ग्यारह और कोई बारह भी मानते हैं।

(जो कि आठों रसों की प्रतीक हैं) तथा अन्य सब गोपियों (जो कि संचारी भावों की प्रतीक हैं) के सहित कृष्ण की ही भाँति अवतरित होती हैं। ब्रज-रूपक में संसार की उत्पत्ति है। यमुना जीवन की धार है और कृष्ण की वंशी नादब्रह्म की प्रतीक है। राधा, उसकी सखियाँ तथा गोपिकाएँ परब्रह्म कृष्ण की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, जो लीला के हेतु तया जीवों में आनंद-रूपा-भक्ति उत्पन्न करने के लिए कृष्ण के साथ ब्रजभूमि में अवतरित होती हैं। राधा और कृष्ण की भक्ति उनकी कृपा से प्राप्त होती है, इस लिये कृपा की कामना के लिये प्रेम-भाव से उनकी भक्ति करनी चाहिए। कृष्ण-भक्ति के लिये निंबार्क ने 'ब्रजभूमि' को ही उत्तम समझा, इसलिये वहीं राधा-कृष्ण की भक्ति में अपना जीवन बिताया। इनके प्रधान ग्रंथ 'वेदांतसूत्र पर भाष्य—'वेदांत पारिजात सौरभ' और 'दश श्लोकी' हैं।

महाभारत और पौराणिक काल में कृष्ण विष्णु के अवतार थे, गीता में वे एकांत ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित हो गये। निंबार्क के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं। कृष्ण की कृपा पर भक्ति के अवलंबित होने की भावना एकांतिक धर्म में महाभारत काल में ही आ गई थी। उपनिषदों में भक्ति का उपाय आत्म-चिंतन था, किंतु महाभारत काल में वह परमात्मा सजीव और अधिक निकट कृष्ण के रूप में आ गया। इस कृष्ण की कृपा पर ही भक्ति निर्भर है। कृष्ण के दर्शन वही कर सकता है जिसे वह अपनी कृपा दें[1]। भगवान की कृपा के बिना ज्ञान और कर्म भी जीवन-मरन के बंधन से मुक्त करने में सफल न होंगे। महाभारत में कृष्ण का महत्व जहाँ उनकी क्रिया-कुशलता और नीति के कारण है वहाँ उनकी शक्ति विष्णु का अवतार होने के कारण। गीता से शरणागति और प्रपत्ति की भावना का आरंभ होता है। भगवान—'यदा यदाहि धर्मस्य' कह कर अपने अवतार लेने का कारण बताते हैं। विराट् रूप में अपनी शक्ति का परिचय देते हैं, अर्जुन उन्हें पूर्ण ब्रह्म की विभूतियों में मानते हैं[2]। भगवान ने अर्जुन को योग-प्राप्ति के अनेक मार्गों को बताने के उपरांत अंत में सब धर्म-छोड़ कर शरण हो जाने को कहा—'सर्वं धर्मान्परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज'—इससे भी स्पष्ट रूप में आगे चल कर वे कहते हैं—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥"

—गीता ९।२६

भागवत के कृष्ण में अलौकिक-लीलाओं का समावेश है। राधा का उसमें नाम नहीं, किंतु गोपियों के विरह-वर्णन, चीर-हरण तथा रास-लीला के द्वारा जीव और परब्रह्म की लीलाओं का आदर्श जनता के सामने रखा गया। फिर भी आध्यात्मिकता की इस पुट के कारण कृष्ण विद्वानों की सीमा से बाहर नहीं आ सके। निंबार्क ने कृष्ण और राधा को परब्रह्म तथा उसकी शक्ति तो माना, किंतु मधुर प्रेम की भावना की पुट देकर उसे जन-साधारण के लिये भी सुलभ कर दिया। माधुर्य की पुट आ जाने से नायक-नायिका भेद के लिये कृष्ण-चरित्र में पर्याप्त स्थान निकल आया। राधा को प्रेम का अवतार मानने से संस्कृत-साहित्य के 'रस-सिद्धांत' के विकास के अनुसार उसमें 'रसराज श्रृंगार' की स्थापना हो गई। संस्कृत में रस-सिद्धांत का विकास नाट्य-शास्त्र (जिसमें नायक-नायिका-भेद का पर्याप्त विकास हो चुका था) के आधार पर हो रहा था, इसलिये नायक-नायिका-भेद का समावेश रस-रूप कृष्ण के चरित्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। राधा की आठ प्रधान सखियाँ आठ रसों की और अन्य गोपिकायें संचारी भावों की प्रतीक मानी जाने लगीं। जब कृष्ण-भक्ति का यह रूप बंगाल में पहुँचा तो कृष्ण-भक्ति की माधुर्य भावनाओं को नायक-नायिका-भेद की

[1]. महाभारत १२। ३३७। २०.

[2]. त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता पुरातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

—गीता ११।१८

सूक्ष्म से सूक्ष्म नालियों में बहते देर न लगी। बंगाल की सामयिक भाव-धारा के संयोग से कृष्ण-भक्ति का रूप ही बदल गया।

बंगाल में दशवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म की वज्रयान-शाखा ने तांत्रिक-भावनाओं से प्रभावित हो कर 'सहजिया संप्रदाय' का रूप धारण कर लिया था। भक्ति के लिये कुमारी-पूजा और युवतियों के संपर्क में रहना अत्यंत आवश्यक समझा जाने लगा था। सखा-भाव और गुरु-भाव अथवा कर्ता-भाव की इस भक्ति में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त सखियों को अपना शरीर भी गुरु को अर्पण करना होता था। काण्ह भट्ट (दशवीं शताब्दी) जिस समय इस प्रकार के विकृत बौद्ध-धर्म का प्रचार बंगाल में कर रहा था, उस समय तक राधा और कृष्ण की कथाएँ लोक-गीत और उत्सवों के द्वारा जन-साधारण तक पहुँच चुकी थीं। अतः इन दोनों भाव-धाराओं ने मिल कर कृष्ण-भक्ति को नया ही रूप दे दिया।

"ग्यारहवीं शताब्दी में 'उमापति' (९९९ ई०) और बारहवीं में निंबार्क के शिष्य जयदेव (११९३ ई०) ने अपने हृदय के मृदुल श्रृंगारी-उद्‌गारों को प्रकट किया[१]। शीघ्र ही जयदेव के जगत-प्रसिद्ध 'गीतगोविंद' की, राधा-माधव के क्रीड़ा-कलापों की प्रतिध्वनि मैथिल कोकिल 'विद्यापति' (१३९३ ई०) की कोमलकांत 'पदावली' में सुनाई दी।। विद्यापति संस्कृत-साहित्य के प्रकांड पंडित और रसिक-प्रवृत्ति के थे, इसलिये उन्होंने अपनी भावुकता को साहित्य-शास्त्र के ढाँचे में ढाल कर राधा-कृष्ण के चरित्र को नायक-नायिका-भेद का अनुकरणीय जाल बना दिया। विद्यापति के राधा-कृष्ण भक्तों के राधा और कृष्ण न रह कर काम-शास्त्र में निपुण नायिका और नायक हो गये। विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें बासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्य-भाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में उन्मत्त एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनंद ही उसका उद्देश्य है और शरीर ही उसका क्रिया-कलाप। यौवन ही से उसके जीवन का विकास है[२]। विद्यापति की राधा का दर्शन हम उस समय करते हैं जब वह बेचारी विचित्र उलझन में पड़ी थी। उसके शैशव और यौवन आपस में जूझ रहे थे—एक उसके केशों को ढँकता तो दूसरा उन्हें बिथुरा देता था[३]। एक उसे हँसाता था[४] तो दूसरा उसके मुख पर आँचल ला देता था; एक उसकी आँखों को कोनों की ओर फेर देता[५] तो दूसरा उसके हाथ के अंचल को धूल में गिरा देता था[६]। देखते ही देखते यौवन विजयी हो जाता है। चरणों की चपल गति अब लोचनों में आ जाती है[७]। मुकुर लेकर श्रृंगार करने का अब नित्य-नियम हो गया है'[८]। चित्त-लगा कर अब वह रस-कथा सुना करती है[९]। उसकी शोभा देख कर सब

[१]. हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १९६
—डा० रामकुमार वर्मा

[२]. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५९३.
—डा० रामकुमार वर्मा

[३]. कबहुँ झाँपय कच कबहुँ विथार,

[४]. छन छन दसन छटा छट हास,

[५]. छन छन नयन कोन अनुसरई,

[६]. छन छन बसन धूलि तनु भरई,

[७]. चरन चपल गति लोचन लेल,

[८]. मुकुर लइ अब करइ सिंगार,

[९]. सुनत रस कथा थापए चीत,

चकित हो रहे हैं। उसके अभिराम यौवन[१] को देखकर त्रिभुवन के लावण्य-सार कृष्ण तक भी मूर्छित हो गये हैं[२]।

और अब राधा एक विचित्र खेल शुरू करती है—वह गजगामिनी सखियों के साथ चलती हुई पलट कर कृष्ण को देख हँस देती है[३]।' श्वास से कभी उसका अंचल उठ जाता है और उसकी तड़ित लता-सी देह कृष्ण को दीख जाती है[४], कभी घाट पर स्नान करती हुई वह कृष्ण के हृदय पर पंचवाणों की वर्षा कर देती है,[५] उसकी वाक्पटुता का क्या कहना? एक दिन कुंज-भवन से अकेली बाहर निकल कर क्या देखती है कि कृष्ण उसकी राह रोके खड़े हैं और टलते नहीं—वह दुहाई देने लगती है, कहती है—'माधव,मैं तुम्हारे ही नगर में रहती हूँ, बटमारी मत करो[६]। एक दिन घाट पर उसकी सखियाँ उसे अकेली छोड़ कर चली गईं; लेकिन कृष्ण वहीं थे। वह बड़ी मिन्नत करती है, कहती है—'कन्हैया मुझे पार कर दे, तुझे एक हार दूँगी'[७] और अंत में कृष्ण जब एक दिन उससे सुरत माँगते हैं तो वह आश्चर्य प्रकट कर कहती है—"वह सुरत नाम का आदमी कहाँ रहता है[८]?" विद्यापति की राधा यौवन की मूर्तिमती वासना है और कृष्ण मूर्तिमान यौवन।

विद्यापति की शृंगारी पदावली ने बंगाल की सामयिक प्रवृति को और अधिक उत्तेजित कर दिया। इस उत्तेजना को विद्यापति के समसामयिक 'चंडीदास' ने जो 'सहज संप्रदाय' में दीक्षित हो चुके थे रामी धोबिन के प्रति रचे गये प्रेम के गीतों से और भी आगे बढ़ा दिया। इस समय बंगाल में चैतन्य (विश्वंभरनाथ मिश्र), १४८५ ई०—१५३३ ई०, कृष्ण-भक्ति से प्रभावित हो चुके थे। माध्व संप्रदायी 'माधवेंद्रपुरी' के शिष्य 'ईश्वरपुरी' से दीक्षित होकर वे भक्ति का प्रचार करने लगे। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की शृंगारी-पदावलियों को गा-गा कर वे मस्त रहने लगे। विद्यापति और चंडीदास की उन्मत शृंगारी कविताओं में चैतन्य की भक्ति-भावना से भक्ति का संयोग हो गया और नायिका-भेद की भावना के अनुकूल कृष्ण-भक्ति को देखा जाने लगा। परकीया-प्रेम की भावना चैतन्य को कृष्ण-प्रेम के अधिक उपयुक्त ज्ञात हुई। भागवत की इस भक्ति में विद्यापति की नायिकाएँ मिल गईं। कृष्ण-भक्ति गोपी-भाव से होने लगी। चैतन्य गोपी की भाँति कृष्ण के विरह में व्याकुल रहते थे। चैतन्य ने वैधी-भक्ति के स्थान पर रागानुगा भक्ति को प्रधानता दी। रागानुगा भक्ति में भी माधुर्य उन्हें रुचि कर हुआ—ऐश्वर्य नहीं। माधर्य की पाँच शाखाओं-शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य में से अंतिम माधुर्य-भावना की भक्ति चैतन्य तथा बंगाल की प्रकृति के अनुकूल थी। इसलिये माधुर्य-भावना की ही भक्ति की प्रधानता चैतन्य में है। चैतन्य के अनुसार राधा (जो कि प्रेम की प्रतीक है) की स्थिति कृष्ण में है और कृष्ण राधा के बिना नहीं रह सकते। कृष्ण में कर्षण है वह समस्त प्रकृति को अपनी ओर खींचत हैं। उनकी मुरली-ध्वनि ही वह अनादि प्रेम-संगीत

१. की ओर नव जोवन अभिरामा,

२. मुरछि परल छिति तन लावन-सार,

३. गेलि कामिनि गजहुगामिनी
विहसि पालटि नेहारि

४. ससन परस खस अंबर रे देखल धनि देह
कामिनि करइ सिनाने

५. हेरइत हृदय हनत पंचवाने

६. कुंज भवन सँई निकसल रे

७. कर धर करु मोहिं पारे
देव मैं अपरूब हार कन्हैया

८. सुरतक नाम सुनल हम आज
न जानिअ सुरत करए कौन काज

है जिसमें प्रकृति को नाम ले-लेकर वह अपने पास बुलाते हैं। इस ध्वनि को सुन लेने वाली प्राण-रूपी गोपिकायें सब वस्तुओं को त्याग कर प्रियतम कृष्ण के पास चली जाती हैं--रोके नहीं रुकतीं। यथार्थ में राधा तथा गोपिकाएँ ही परम प्रेम-स्वरूपा हैं। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल रहा करती थीं। एक पलक भी उन्हें कल्प के समान लगता था। यह इसलिये कि कृष्ण के प्रति उनका परम प्रेम था और कृष्ण की प्राप्ति उन्हें सहज नहीं हो सकती थी। वे परकीया थीं। सामाजिक बंधन उनके मार्ग में काँटे (रोड़े) थे। उन पर चल कर वे प्रेम नहीं कर सकती थीं, इसलिये वे प्रेम की आदर्श हैं। कृष्ण की भक्ति परकीया-भाव से कर के ही भक्त कृष्ण को प्राप्त कर सकते हैं। चैतन्य की भक्ति आवेशात्मक थी, उनमें कृष्ण का अनन्य प्रेम था, इसलिये उनकी भक्ति में उनके लिये कोई दोष न था, किंतु उनके पश्चात् के दार्शनिक वैष्णव-भक्तों को उनकी परकीया-भाव की भक्ति की कमियाँ खटकने लग गईं थीं। परकीया-भाव को पवित्र सिद्ध करने के लिये अनेक दार्शनिक तर्क चैतन्य के शिष्य 'रूप गोस्वामी' और 'कृष्ण कविराज' आदि भक्तों ने किये। रूप गोस्वामी के अनुसार कृष्ण ने गोपियों से गंधर्व विवाह किया था; इसलिये वे परकीया न होकर यथार्थ में स्वकीया थीं। इसी भाँति राधा, जो साधारण रीति से ब्रज के एक गोप आयन (ऐहृण अथवा अभिमन्य) की स्त्री समझी जाती हैं, कृष्ण के सत्, चित् और आनंद स्वरूपों में से आनंद-शक्ति का अवतार हैं, इसलिये कृष्ण का राधा-प्रेम भी परकीया-प्रेम नही वरन स्वकीया-प्रेम है[1]। कृष्णदास कविराजके अनुसार राधा कृष्णकी ह्लादिनी-शक्ति की प्रतीक है। राधा और कृष्ण दो शरीर एक प्राण हैं। कृष्ण में दैवी शक्ति थी, जिसके कारण गोपों ने उस समय जब कि गोपियाँ कृष्ण के साथ रास में लीन थीं उन्हें अपने ही पास पाया[2]। कृष्ण किशोर थे, किशोर अवस्था में शुद्ध प्रेम होता है, गोपियों का कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम था। कृष्ण और गोपियों का प्रेम उन पतितों के उद्धार का भी आयोजन करता है, जिन्हें जीवन में आनंद की कोई आशा नहीं रहती[3]।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति के आचार्यों तथा कवियों ने इस प्रकार की सफाई दे कर राधा और कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रचार किया, किंतु वे उससे पड़ने वाले बुरे प्रभाव को न रोक सके। माधुर्य-भाव की कृष्ण-भक्ति में इसके लिये कोई उपाय न था। राधा-कृष्ण की केलि-कथाओं का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अंग बन गया था। ऐश्वर्य-बोध के लिये उसमें स्थान रखा ही नहीं गया इसलिये दास्य भावना की (सूर के अतिरिक्त किसी में भी) जागर्ति न हुई, फलस्वरूप राधा-कृष्ण की वह भक्ति आदर्श और भावना की पवित्रता के अभाव में जनता को भौतिकता की ओर ही ले गई। समाज की चिंता रखने वाले भक्त तो इस विष से जातीय जीवन की रक्षा करना चाहते थे, इसलिये महाराष्ट्र में 'नामदेव' (१३१०--१४४० ई०) तथा 'तुकाराम' (१६०३--१६५०ई०) ने कृष्ण-भक्ति में राधा के स्थान पर स्वकीया 'रुक्मिणी' को प्रधानता दी। मध्यप्रदेश में 'कबीर' ने 'निर्गुण-भक्ति' और तुलसी ने 'राम-भक्ति' का प्रचार किया। राधा और कृष्ण के चरित्र की अपेक्षा सीता और राम के चरित्र में आदर्श और मर्यादा के लिये अधिक स्थान था। तुलसीदास जी ने दास्य-भाव की भक्ति-द्वारा ऐश्वर्य की भावना को प्रधानता देकर भक्ति-मार्ग को पतन से बचा लिया। राम और सीता, कृष्ण और राधा की भाँति, आनंद ही आनंद देकर जाति का दुःख भुलाने के साधन मात्र न थे उनमें आनंद को सुरक्षित रखने वाली शक्ति और शील भी था। तुलसी के राम और सीता निराश जनता को कृष्ण-भक्त-कवियों के राधा-कृष्ण की अपेक्षा कहीं अधिक आशा और विश्वास दिलाने में समर्थ हुए, पर विलासी-वृत्ति को अपनी ओर मोड़ने में राधा-कृष्ण की ही जीत रही।

१. उज्जलनीलमणि : रूप गोस्वामी

२. नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायिया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ।।

—भागवत १०।३३।३८

३. पोष्ट चैतन्य-सहजिया कल्ट पृ० २४, २५, २६, ३८

जिस समय बंगाल में चैतन्य भक्ति का प्रचार कर रहे थे, उस समय मध्यदेश में 'वल्लभाचार्य' का संप्रदाय बहुत प्रबल हो चुका था। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतों को निंबार्क के कृष्ण-चरित्र से मिला कर राधा-कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रचार संगठित रूप से किया। प्रसिद्ध महात्मा 'सूरदास' को अपने संप्रदाय में इन्होंने ले लिया, जिससे इनका संप्रदाय महत्वपूर्ण हो गया। आत्म-समर्पण की भावना का पवित्र पुट पाकर पुष्टिमार्ग (संप्रदाय) खूब संपन्न हुआ। वल्लभाचार्य भक्त से बढ़ कर विद्वान और प्रचारक थे ।।

वल्लभ-संप्रदाय में कृष्ण-भक्ति के सबसे बड़े कवि सूरदास हुए। सूरदास के कृष्ण गोपियों के वल्लभ होने के अतिरिक्त गोपों के सखा और यशोदा के बाल-गोविन्द और भक्तों के साकार परब्रह्म भी हैं। वे अलौकिक होते हुए भी लौकिक हैं। सूरदास उद्धव के अवतार कहे जाते हैं—उन्होंने अपने उपास्य-देव को एक सखा की भाँति प्यार किया। महाभारत और गीता के कर्मयोगी कृष्ण के प्रति सूरदास की कुछ भी सहानुभूति नहीं है। वे शील तथा शक्ति के उपासक नहीं, सौंदर्य के उपासक थे। उन्हें उस ब्रह्म से कुछ भी सहानुभूति नहीं, जिसमें रूप, रेखा, रंग, गुण कुछ भी नहीं है। जो लोग संसार को माया तथा मिथ्या कहते हैं, उनसे भी उन्हें कुछ सहानभूति नहीं। उनके गुरु (वल्लभाचार्य) ने उन्हें बतलाया था कि यह संसार मिथ्या नहीं, यह संसार माया नहीं। माया तो केवल ममत्व में होती है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा ही माया है। ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति, कृष्ण और राधा—यह उनका युगल स्वरूप है जिसमें वे कल्प-कल्प तक निमग्न रहते हैं। बैकुंठ-रूप नित्य ब्रज में होने वाली इस लीला में गोपी-रूप में संमिलित होना ही जीव की परमगति है[१]।

सूरदास ने उस गोपी की भाँति कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन किया है जिसने अपनी आँखों से एक दिन ब्रज में नंद के दरवाजे के आगे बधाइयाँ बजती सुनी हों[२], अपनी आँखों से बालक कृष्ण को घुटनों के बल चलते देखा हो[३], अपनी आँखों से हठी बालगोविंद को चंदा मांगते हुए देखा हो[४] और घर का माखन चुराने पर खीझ कर जो कृष्ण को पकड़ कर यशोदा के पास ले गई हो; लेकिन फिर भी मुंह में अँगूठा डाले हुए बालक को देख जो यह न भूल गई हो कि उसके इस कृत्य से शिव सोच में पड़ गये हैं और ब्रह्मा विचार करने लग गये हैं। फिर यौवन के आने पर उन्होंने एक भोली गोपी की भाँति कृष्ण की छवि को प्यार किया है और उनके साहचर्य का सुख प्राप्त किया है। उसे कृष्ण के पलभर 'अंतरधान' हो जाने से भी रुलाई आ जाती है[५], वह पास रह कर भी वियोग-दु:ख का अनुभव करती है[६] और विरह में तो उसकी दशा अनोखी हो जाती है। वह अपने संदेशों से कुँए भर देती है[७], पानी भरने नहीं जाती। उसकी आँखों से यमुना बह उठती है[८], वह पपीहे को कोसती

१. सदा एक रस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि-कलप बीतत नहिं जानत, बिहरत जुगल सरूप ।।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि, माया सब बिधि काल।
प्रकृति-पुरुष श्रीपति-नाराइन, सब है अंस गुपाल ।।
करम जोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ।
श्रीबल्लभ प्रभु तत्व सुनायौ, लीला-भेद बतायौ ।।

२. आजु हो बधाई बाजै नंदराय के ......।

३. आँगन चलत घुटुरुवन . . . . .

४. ऐसौ हठी मेरौ बाल गोविंदा।

५. नागरि मन गई, उरझाइ। —ना० प्र० स० काशी पृ० ४६८,

६. चलन चँहत पग, चलें न घर कों। —ना० प्र० स० काशी पृ० ५१६,

७. सँदेसनि मधुवन कूप भरे।

८. भरि-भरि जमुना उमड़ि चली है, इन नैननि के नीर।

है[१],—मधुबन को धिक्कारती है[२], प्रिय का पत्र पाकर उसे बार-बार छाती से लगाती है, उसे अपने आँसुओं से भिगो देती है[३]। उसकी आँखें सदा बरसती रहती है[४], वह सदा अधोमुख रहती है, ऊपर नहीं देखती[५], —संक्षेप में सूर के राधा-कृष्ण लौकिक-अलौकिक दोनों एक ही साथ हैं।

वल्लभ-संप्रदाय के कवियों (जिनकी संख्या बताना कठिन है) के अतिरिक्त 'मीरा' भी प्रत्यक्षत: कृष्ण-भक्त है। उसकी वाणी में स्थल-स्थल पर कृष्ण का उल्लेख है। उसका बहुत सा अंश कृष्ण ही को संबोधित कर कहा गया है। मीरा ने स्वयं कहा है कि 'मोर मुकुटधारी नंदनंदन' ही मेरे पति हैं। 'गिरिधर-गोपाल' के अतिरिक्त किसी दूसरे से वह अपना संबंध ही नहीं मानती थी[६]। कृष्ण ही की बाँकी-साँवली-छवि, टेढ़ी अलकों और त्रिभंगी मूर्ति पर उसकी लुभाई हुई आँखे अटकी रहती थी[७]।

अपने आप को गोपी कल्पित कर वह भाग्यशालिनी गोपियों के भाग्य पर ईर्ष्या करती है—

स्याँम म्हाँसूँ ऐंड़ौ डोलै हो।
औरन सूं खेलै धँमार, म्हाँसूं मुखहू ना बोलै हो।
म्हारी गलियाँ ना फिरै, बाके आँगन डोलै हो।
म्हारौ अँचरा ना छुवै, बाकौ घूंघट खोलै हो।
'मीरा' कौ प्रभु साँवरौ, रँग-रसिया डोलै हो।

परंतु यदि गहरे पैठ कर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि उसका उतना ध्यान अवतार की ओर नहीं है जितना ब्रह्म की ओर। जिस नंद-नंदन गिरिधर गोपाल के विरह में वह 'अँसुअन की माला' पिरोया करती है[८], जिसकी बाट जोहते-जोहते उसकी 'छमासी' रात बीतती है[९], जिसके रूप पर मुग्ध होकर उसे लोक-परलोक कुछ नहीं सुहाता है[१०], जिससे वह अपनी बाँह-मुड़वाना और घूंघट-खुलवाना चाहती है[११], जिसके लिये

१. तू पापी रे पंखि पपीहा।
२. मधुबन तुम्ह कत रहत हरे!
३. निरखत अंक स्यामसुंदर के, बार-बार लावति छाती।
४. निसिदिन बरसत नैंन हमारे।
५. अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति।
६. मेरे तौ गिरिधर गुपाल दूसरौ न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरौ पति सोई॥
७. निपट बंकट छबि अटके मेरे नैंना, निपट बंकट छबि अटके।
देखत रूप मदन-मोहन कौ, पियत मयूखन मटके॥
बारिज भँवर, अलक टेढ़ी मनों अति सुगंध रस अटके।
टेढ़ी कटि औ मुरली टेढ़ी, टेढ़ी पाग लर लटके॥
'मीरा' प्रभु के रूप-लुभानी, गिरिधर नागर नटके।
८. इक बिरहिनि हम देखी, अँसुवन की माला पोवै—
—वानी पृ० २३,५१
९. एक टकटकी पंथ निहारूं, भई छमासी रैंन।
—वानी-पृ० २३,५३
१०. जब से नंदनँदन दृष्टि परयौ माई।
तब से लोक-परलोक कछू ना सुहाई॥
—वानी-पृ० २९,६७
११. म्हारी अँगुली ना छुवै, बाकी बहियाँ तोरै हौ।
म्हारौ अँचरा ना छुवै, बाकी घूंघट खोलै हौ॥ —वानी ५३,२

वह घायल होकर तड़पती फिरती है,[१] जिसको वह 'छप्पन भोग' 'छत्तीसों व्यंजन' परोसती है,[२] जिस 'मिठ-बोला' के लिये विकलता ने उसके दिल की घुंडी खोली है,[3] वह पूर्ण ब्रह्म है,[४] इसी निर्गुण का सुरमा वह अपनी आँखों में लगाती है,[५] वह उसे पूर्णरूप से अपने अंदर देखती है[६]। उस निर्गुण ब्रह्म का 'गगन-मंडल' में निवास है[७]। गगन-मंडल में बिछी हुई सेज पर ही प्रिय के मिलने की उत्कंठा वह अपने मन में रखती है[८]। सुरति-निरति का वह दीपक बनाती है, जिसमें प्रेम के बाजार में बिकने वाला (प्रेम का) तेल भरा रहता है और मनसा (इच्छा) की बत्ती जलती रहती है[९]। उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की गली में ले जाता है[१०]। उसका मन सुरत की आसमानी-सैर में लगा हुआ है[११]। वह अगम के देस जाना चाहती है, जहां प्रेम की वापी में शुद्ध आत्मा-हंस क्रीड़ा किया करते हैं[१२]। राणा को डाट कर वह कहती है कि मैं आज की नहीं तब की हूँ जब से सृष्टि बनी है[१३]। कबीर के मार्ग की भाँति उसकी भी ऊँची-नीची-रपटीली राह है, जिसे वह 'झीनापंथ' (सूक्ष्मज्ञान मार्ग) कहती है[१४]। निर्गुनियों का अभ्यास मीरा के निम्न लिखित पद में आगया है—

१. घायल फिरूं तड़पती, पीर नहिं जानें कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरौ पति सोई। —वानी पृ० ५१, ५२

२. छप्पन-भोग छत्तीसों बिंजन, सनमुख राखौ थाल जी। —वानी पृ०, ५२

३. साजन घर आवौ मिठ बोला।
तुम देख्याँ बिन कल न परत है, कर धर रही कपोला।
'मीरा' दासी जनम-जनम की, दिल की घुंडी खोला। —वानी पृ०-१७, ३२

४. मात पिता तुमकौं दियौ, तुम हीं भल जाँनों हो।
तुम तजि और भतार को, मन में नहिँ आँनों हो।
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म, पूरन पद दीजै हो। —वानी पृ० १२

५. सुरत सुहागिन नार- - - निरगुन सुरमौ सार। —वानी पृ० ३१, ७२

६. मेरे पिया मोहि माँहि बसत हैं, कहूँ न आती-जाती। —वानी पृ० १०, १६
औरों के पिया परदेस बसत हैं, लिख-लिख भेजें पाती।
मेरे पिया हिरदे में बसत हैं, गूँज करूँ दिन-राती। —वानी, पृ० २७, ६२

७. गगन-मंडल में सेज पिया की किस विधि मिलना होई। —वानी पृ० ४, ३

८. तेरा कोई नहिं रोकनहार, मगन होइ मीरा चली।
ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निरगुन-सेज बिछी॥- - -
सेज सुखमणा 'मीरा' सोवै, सुभ है आज घरी। —वानी पृ० ११, १९

९. सुरत-निरत का दिवला सँजोले, मनसा की कर बाती।
प्रेम हटी का तेल बना ले, जगा करै दिन राती॥ —वानी पृ० १०, १६

१०. मान-अपमान दोउ धर पटके, निकली हूँ ग्यान-गली। —वानी पृ० ११, १३

११. मीरा' मन मानी सुरति, सैल असमानी। —वानी पृ० १९, ४१

१२. चलौ अगम के देस काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम का हौज, हंस केला करै॥ —वानी पृ० १३

१३. आज-काल की मैं नहिं राणा, जद यह ब्रह्मंड छायौ। —वानी पृ० ६७, ३२

१४. ऊँची-नीची राह-रपटीली, पाँव ना ठहराइ।
सोच-सोच पग धरूं जतन से, बार-बार डिग जाइ॥
ऊँचा-नीचा महल पिया का, हम से चढ्या न जाइ।
पिया दूर पंथ थांरा झीणा, सुरत-झकोला खाइ॥ —वानी पृ० २७

"नैंन बनज बसाऊँ री, जो मैं साहिब पाऊँ री।
इन नैंनन मोरा साहब बसता, डरती पलक न लाऊँ री ।।
त्रिकुटी-महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न-महल में सुरति जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री ।।"

इसमें त्रिकुटी-ध्यान और भ्रू-मध्य-दृष्टि की ओर स्पष्ट संकेत है। मीरा का ध्येय है 'पूरन पद'[१], निरंजन का वह ध्यान करती है[२]। अनाहत नाद को सुनती है[३] और 'आदि-अनादि साहब को' पाकर भव-सागर से तर जाती है[४]।

मीरा की सगुण-भावना, निर्गुण-भावना का प्रतीक मात्र थी। वह अवतार-भावना की विरोधिनी नहीं है, परंतु उधर उसका उतना ध्यान नहीं। वल्लभ-संप्रदाय के कवियों की भाँति उसका उद्देश्य कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना नहीं, अपनी अनुभूति का प्रकाश करना था। वह परब्रह्म कृष्ण की गोपी थी[५]। उसके कृष्ण मोर, मकुट वाले 'गिरिधर गोपाल' होते हुए भी परब्रह्म ही हैं।

वल्लभ-संप्रदाय की माधुर्य भाव की भक्ति में 'रसिक रसखान' (१५७६–१६१४ ई०) ने डुबकी लगाई थी। वे अनन्य प्रेमी थे, इसलिये प्रेम ही रसखान का महामंत्र था। वे श्री राधिका को 'प्रेम की अयनि' और नंदनंदन को 'प्रेम वरन' मानते थे।

"प्रेम अयनि श्री राधिका, प्रेम वरन नँदनंद।"

रसखान के कृष्ण परब्रह्म हैं, जिनके गुणों को 'सेस, गनेस, महेस, दिनेस और सुरेस' भी निरंतर गाते रहते हैं, जिनको वेद—'अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद' बताते हैं; जिसका पार नारद, शुक और व्यास सरीखे पच-पच कर हारने पर भी न पा सके, किंतु जिन्हें प्रेम के बल से 'अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर नाच' नचा सकती हैं—

"सेस, गनेस, महेस, सुरेस, दिनेसहु जाहि निरंतर गावें।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावें ।।
नारद से सुक ब्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावें।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरि छाछ पै नाच नचावें ।।"

रसखान की भाँति घनानंद भी कृष्ण-प्रेमी कवि थे, किंतु उनकी दीक्षा निंबार्क संप्रदाय में हुई थी। निंबार्क-मत में राधा कृष्ण की अनन्य संगिनी और श्रेय-शक्ति हैं। वह कृष्ण की ही भाँति भक्त की सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली हैं। कृष्ण के साथ वह 'गोलोक' में निवास करती हैं और लीला के हेतु अपनी अन्य सखियों (जो कि कृष्ण की ही अन्य शक्तियाँ हैं) सहित ब्रजभूमि में अवतरित होती हैं। अनन्य भाव से राधा तथा कृष्ण को आत्म-समर्पण करने तथा उन्हीं के विरह में रहने से उनकी कृपा प्राप्त होती है। इस कृपा के प्राप्त हो जाने से ही ज्ञान की सार्थकता है। अकेले ज्ञान (अनुभूतिहीन, भक्तिरहित ज्ञान) से राधा और कृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। कृष्ण परब्रह्म हैं। परब्रह्म अचिंत्य है। उसकी प्राप्ति का आनंद प्रेमाभक्ति (जिसे आचार्यों ने दशधा-भक्ति का भी नाम दिया है) से हो सकता है। जीव उसी परब्रह्म का अंश है और क्रियाशील होने से उस परब्रह्म से अपनी भिन्न सत्ता समझता है। यथार्थ में वह परमात्मा से अलग भासित होने पर ठीक वैसे ही मिला हुआ है, जैसे लहर समुद्र में। परब्रह्म शांत समुद्र है, जीव क्षुब्ध उठी हुई जल-राशि। जीव मुक्त होने से ही शांत-

१. **तुम प्रभु पूरन ब्रह्म, पूरन पद दीजै हो।** —बानी पृ० १९२
२. **जा को नाम निरंजन कहिए, ताको ध्यान धरूँगी हो।** —बानी पृ० २४, ५४
३. **बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झंकार रे।** —बानी पृ० ४२, ९
४. **साहब पाया आदि अनादी, नातर भव में जाती ।।** —बानी पृ० ९, ९
५. **डा० बड़थ्वाल (१) मीराबाई और वल्लभाचार्य (२) हिंदी काव्य की निर्गुणधारा।**

अवस्था को प्राप्त होता है। क्रिया-शक्ति का शांत हो कर आनंदावस्था में लीन होने का ही नाम मुक्ति है। आनंदानुभव तो जीव ब्रह्म की ही भाँति कर लेता है, किंतु विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसके अधीन नहीं, ब्रह्म के अधीन हैं, किंतु विश्व की भी ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं है। वह ब्रह्म का ही व्यक्त--भासित रूप है और इस कारण एकाएक असत्य भी नहीं है।

इन सिद्धांतों में दीक्षित घनानंद ने कृष्ण-विरह में एक गोपिका की भाँति जीवन बिताया, साँवरे की रसमयी छवि उनकी आँखों में बस गयी थी, इसीलिये और सब बातें उन्हें आग-सी लगती थीं। वे घर, वन, वीथियों में सर्वत्र कृष्ण को ही ढूंढते रहते थे। अपनी भावना की तल्लीनता के कारण उन्हें सर्वत्र कृष्ण नजर आते थे। कभी स्वप्न में भी कृष्ण को देख कर चौंक पड़ते थे, किंतु दूसरे ही क्षण सत्यता का बोध होते ही वे बेचैन हो जाते थे। बेचैनी बढ़ने पर आकाश, पाताल, आग, पानी सब जगह वे हरि को ढूंढने लगते थे। दादू की भाँति प्रियतम के दीदार देखने की मीठी चाह उनके हृदय में भी उठा करती थी। प्रिय का रूप-भर देखने से उन्हें शांति नहीं होती थी, वे स्वाति बूंद को भी, प्रेम घट जाने की आशंका से, न पीने वाले चातक-हृदय तुलसी की भाँति प्रेम की बढ़ती प्यास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते थे। मीरा की भाँति वे भी अपने को जन्म-जन्म का विरही समझते थे। प्रिय-मिलन की आनंदानुभूति न हो पाने पर वे बेचैन होने लगते थे। उन्हें यही दुःख बना रहता था कि वे उस रस-राशि आनंदघन को नहीं पा सके हैं जो 'चाह का आलवाल' और अचाह का कल्पतरु है, जो निष्काम है, जो अमल, अपूरब, उजागर, अखंड है, जो तारात्रों को प्रकाश देता है, जो मित्र-मंडल की शोभा है, जिसकी ज्योति के रस में डूबे रसिकों की टकटकी उसी की ओर चकोर की भाँति लगी रहती है, जो आनंद, अमृत-कंद-सुषमा की संपत्ति है, और जिसके रूप के सामने कामदेव भी भिखारी लगता है।

घनानंद विरहिन गोपिका की भाँति कृष्ण के प्रेम में घुलते रहे। उनकी आँखें प्रिय का मग माँपते-माँपते थक गई। वे आशा और निराशा में अपने जीवन को प्रिय का नाम ले-लेकर जिलाते रहे। कभी किसी पथिक को आता देख कर प्रिय का संदेश पूछने लगते थे, कभी प्रिय के देश की ओर जाने वाले मेघ से अपने आँसुओं को सुजान के आँगन में ले जा कर बरसा देने की[1] प्रार्थना विरही यक्ष की भाँति करते थे और कभी जगत के प्राण पवन से प्रिय के चरणों की धूल ले आने की[2] विनती करते थे। वे उस घड़ी के लिये सदैव उत्कंठित रहते थे, जब उनकी तृषित आँखें 'छवि के सदन' कृष्ण को देख सकेंगी, जब आनंदघन कृष्ण चटकीले वेष में, मंटकीली-चाल से, अधरों पर शोभित मुरली को लटकाते हुए आयेंगे, लोचन ढुरा कर, मीठी हँसी से बात कर उनके विरह-बीरान हृदय को हरा-भरा कर देंगे। उस घड़ी उस सिंगार-मूर्ति के दर्शन से आँखें शांत होंगी, ऐसी कल्पना घनानंद करने लगते हैं और सोचते हैं 'उस समय अपनी रसना से मैं उनके पावों को चूम लूंगा, अपने कपोलों से उन पैरों की धूल पोंछ लूँगा। मेरा सब दुःख उन्हें देखते ही मिट जाएगा।'

उस दिन को देखने के लिये,—उस प्रेम को पाने के लिये, मोर-पंखों के वाह्य रूप में ही न भटके रह-कर उस सूक्ष्म रूप को भी देख सकने के लिये जिसे योगी ही हृदय में धारण करते हैं, घनानंद ने भगवान से ज्ञान की आँखें माँगीं और स्वयं सब साधनों की सार उस कृपा को अपने हृदय में सँवारा जिसके तनिक भी आ

१. **पर कारज देह कों धारें फिरौ, परजन्न जथारथ ह्वै दरसौ।**
निधि-नीर सुधा के सँमान करौ, सबही बिधि सज्जनता सरसौ॥
'घनआनँद' जीवन-दाइक हौ, कछु मेरीहु पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवान कों लै बरसौ॥

२. **एरे बीर, पौन तेरौ चहूँ ओर गौंन, तो सौ और कौंन मनहि ढरकौंहीं बॉन दै।**
जगत के प्राँन, ओछे-बड़े सो सँमान 'घनआँनद' निधाँन सुख-दाँन दुखियाँन दै॥
रूप उजियारे, गुनवारे, वे सुजान प्यारे, अब ह्वै अमोही बैठे पींठ पतियाँन दै।
बिरह बिथा की मूरि, आँखिन में राखों पूरि, धूरि तिन्ह पाँइन की हा-हा नेंकु आँन दै॥

जाने से नीरस हृदय भी रस-राशि हो जाता है, ऊसर में भी सर उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे मनुष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं, जो विरह की अग्नि में जलते हुए को भी शीतलता प्रदान करती है और मूढ़ को भी पंडित बना देती है। घनानंद ने प्रियतम को मिला देने वाली इस कृपा की ही कामना सदैव की। ज्ञान, ध्यान, जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि की जरा भी परवाह न कर वे अपनी प्रेमा-भक्ति में ही लीन रहते थे। उनका पक्का विश्वास था कि कृपा ही वह साधन-रत्न है, जिससे सहज ही अनूप गुणी कृष्ण का नाम रूप-अरूप प्राप्त हो जाता है। उनकी मति 'कृपा ठकुराइन' के पावों की चेरी हो कर रहने लगी। उन्होंने अपने मन-भ्रमर को श्याम-हृदय-सरोज के कृपा-मकरंद में ही रमाया। विश्वास के वोहित, जहाज, पर चढ़ कर कृपा-सिंधु में अवगाहन किया।

घनानंद भगवान की प्राप्ति मनुष्य-रूप में ही चाहते थे। भगवान को मनुष्य रूप में पाकर ही मनुष्य का विश्वास उनमें जम सकता है—**'पीरिति-रतन करिबौ जतन, जदि सयाने-सयाने हय।'**

ईश्वर, ईश्वर रह कर हमारी श्रद्धा भले ही पाले, किंतु बिना रूप-आकार के वह हमारे दृढ़ विश्वास पर अवलंबित प्रेम का भाजन सहज ही नहीं हो सकता। इसीलिये मनुष्य ने माता, पिता, सखा, भ्राता, बंधु, पुत्र, पत्नी आदि नाना रूपों में ईश्वर की कल्पना कर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिये दृढ़ आधार ढूँढ निकाला है। इस दृष्टि से किसी (संभवतया रूसो) ने ठीक ही कहा था कि ईश्वर ने मनुष्य बनाया हो या न बनाया हो, किंतु मनुष्य ने ईश्वर जरूर बनाया है।

घनानंद न अपनी सच्ची प्रेमानुभूतियों और एकनिष्ठ लगन के कारण सुजान कृष्ण और राधा की भिन्न भिन्न लीलाओं को देखने में समर्थ हुए। कभी त्रिभंगी कृष्ण की मीठी मुरली उनके हृदय में आनंद देने वाली राग-रागिनी-तरंग की धुनि उपजाती थी, कभी मंजु मोर-चंद्रिका सहित पंचरंगी पाग और झीने नीमा पहने कृष्ण सामने दिखाई देते थे, और कभी उनके अंग-अंगों से द्युति की उठती हुई तरंगे अपनी भव्य शोभा की सौंदर्यमयी झलक दिखलाती हुई दिग्दिगंत में बिखर जातीं और कभी हँसी-भरे बोलों में फूलों की शोभा नजर आती। कभी काननचारी दृग गोरे मुख पर सौंदर्य की वृद्धि करते तो कभी कानों में लटकते कमल ध्यान को अपनी ओर खींच लेते। प्रत्येक अंग में सौंदर्य अपने उभार से उमड़ता था जिसे देख-देख हृदय में आनंद के फूलों की वर्षा हो जाती थी। कभी वे उस उदार रास-विहारी का रूप देख कर भ्रम में पड़ जाते थे।

कृष्ण की जो अनुभूति उन्हें हुई उसका वर्णन करने में उन्होंने वाणी को असमर्थ पाया, किंतु कृष्ण के सामीप्य के आनंद का अनुभव उन्हें होने लगा और वे उसी आनंद में डूबे रहने की चाहना करते रहे[1]।

संक्षेप में घनानंद ने जिस कृष्ण की नाना लीलाओं को अपनी प्रेम-भावना की तल्लीनता के कारण देखा वह अखंड, नित्य, रसनायक, सहज ही रीझने वाला, उदार शृंगार-मूर्ति परब्रह्म कृष्ण है, जिसने प्रेम के कारण सोलह कलाओं को धारण कर चंद्र-वंश में जन्म लिया और यशोदा को अपनी माता बनाया। राधिका के मुख-चंद्र का चकोर वही कृष्ण घनानंद का मनोरथ था और मनोरथ को पूर्ण करने वाला 'सुजान' प्रिय भी।

घनानंद रीति-काल में उत्पन्न हुए थे। कृष्ण और राधा की भिन्न-भिन्न लीलाओं में भिन्न-भिन्न नायक-नायिकाओं का पूर्ण विकास उस समय तक हो चुका था। इस प्रवृत्ति का पूर्ण प्रभाव कृष्ण-भक्ति के तथा शृंगार-काव्य के कवियों पर पड़ा। यद्यपि घनानंद ने लक्षण-ग्रंथों को अपना आदर्श बना कर कविता नहीं की, फिर भी विरहिन गोपिकाओं की भिन्न-भिन्न दशाओं के चित्रण में भिन्न-भिन्न नायिकाओं के जो चित्र पाठकों के सामने आते हैं वे नायिका-प्रभाव की तथा 'विरही घनानंद' की स्वात्म-अनुभूति की सूचना देते हैं। इन मानसिक दशाओं के चित्रण में भावना की पवित्रता सर्वत्र बनी है। कहीं भी उसमें शिथिलता अथवा उच्छृंखला नहीं आने पाई है। वह स्वाभाविक, सरल, स्पष्ट और हृदय-स्पर्शी है। कृष्ण की पवित्रता पूरी बनी

१. रसखान और घनानंद (नागरी प्रचारिणी सभा काशी-संस्करण) छंद संख्या—३३६, ६७, १५३, १६८, २११, २३, ६७, ३५६, १४६, ३३२, २८८, १११, २२, १३१, ७२, ५, १४६, २११, ३३३, ३३४, ३४२, ३३६. ३५४, ३५५, ३४१, ३४३, १८१, ३५६, ४००, ४, १७०, ३१०, २८१।

ही हुई है। वे अपने ब्रह्मत्व के पद तथा आनंद-रस-रूप से नीचे नहीं गिरे हैं। इसलिये उनमें रीतिकाल के अन्य कवियों की सी कामुक लंपटता का अभाव पाया जाना स्वाभाविक ही है। सच्चे हृदय की स्वाभाविकता में घनानंद के राधा और कृष्ण का सरल सौंदर्य निखर गया है।

वल्लभ-संप्रदाय में समर्पण की भावना थी। इसमें मन, धन के साथ शरीर का भी समर्पण करना होता था। यह समर्पण एक दिन सहजिया-संप्रदाय के समर्पण के रूप में विकृत हो गया। कृष्ण-भक्ति की इस अवस्था में 'सूर' और 'नंददास' के राधा-कृष्ण को लोग भूल गये। सूर और नंददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के राधा और कृष्ण ब्रह्म और गोप-कुमार, सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में थे। उनमें आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों थीं, किंतु भक्ति की वह भावना जो संप्रदायों में पहले थी वह अब न रह गयी थी। आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता की ओर अधिक प्रवृत्तिथी। फलस्वरूप राधा और कृष्ण के चरित्र से आध्यात्मिकता जाती रही, वे विकृत भावनाओं को प्रकट करने के साधन रह गये।

कृष्ण-भक्ति का यह विकृत रूप जनता को आदर्श से गिरा रहा था, उस समय शक्तिहीन राजाओं में, वैभव की समृद्धि में डूबे हुए बादशाहों की विलास-प्रवृत्ति के अनुकरण की होड़ लग रही थी। फलतः कुत्सित श्रृंगारी-साहित्य को प्रोत्साहन मिल रहा था। हाल और गोवर्द्धनाचार्य के श्रृंगारी साहित्य का विकास अलंकार-शास्त्र के साथ और भरत के नाट्य-शास्त्र तथा वात्सायन के कामसूत्र से प्रभावित नाटक-साहित्य का विकास रस-संप्रदाय के साथ-साथ होता हुआ संस्कृत-साहित्य में चला आया था। जिससे मुक्तक श्रृंगारी साहित्य और नायक-नायिका-भेद का रसानुकूल विवेचन समयानुकल परिवर्तनों के साथ संस्कृत-साहित्य में हुआ। इस विकास की सारी प्रवृत्ति विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में आ चुकी थी। इस संस्कृत-साहित्य के विकास का प्रभाव हिंदी के कवियों पर भी पड़ा, किंतु वे उससे पूरा लाभ न उठा सके। संस्कृत के प्रकांड पंडित केशवदास को पांडित्य-प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति ने अलंकारों के जाल में ही भटका दिया। कृष्ण-चरित्र में सब रसों की सामग्री[1] देख लेने पर भी वे उसका उपयोग न कर सके। अपने समय से ऊँचे उठने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी, वरन अपनी शक्ति, पांडित्य और पद के कारण उन्होंने साहित्य की धारा को ही अलंकार-चमत्कार की ओर मोड़ दिया। भक्ति की प्रेरणा न होने तथा इंद्रजीत के अखाड़े में रहने के कारण केशव ने राधा-कृष्ण के चरित्र को कुत्सित भावनाओं के प्रकट करने का साधन मात्र बना दिया। कवियों की विकृत भावना को प्रबल करने में फारसी काव्य-धारा भी कम सहायक न हुई। फलस्वरूप कृष्ण और राधा के पवित्र चरित्र से अलौकिक देवत्व की भावना जाती रही। आध्यात्मिकता के दूर हो जाने पर वे अब कविता करने के बहाने मात्र रह गये[2]।

१. श्री बृषभानु कुमारि हेतु सिंगार रूप मय।
बास, हास, रस, हेर, मात बंधन करुनामय ॥
केसी प्रति अति रौद्र, बीर मारौ बच्छासुर।
भय दावानल पान कियौ, बीभत्स बकी उर ॥
अति अदभुत बंचि बिरंचीमति, सांत संततै सोच चित।
कहि 'केसव' सेवहु रसिक-जन, नव-रस में ब्रजराज नित ॥

२. आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई, न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन कौ बहानौं है।
—दास

रसिक रीझि हैं जानि, तौ ह्वै है कविता सफल।
न तरु सदाँ सुखदाँनि, श्री राधा-हरि कौ सुजस ॥
—द्विजदेव

सरस-मंजावली

श्री सहचरि शरण

निरवै ह्वै न होहु मनोहर, सदै रहौ मन भावन।
नवल मोहिलौ मोहि तजै जिन, तोहि सोंह प्रिय-पावन॥
रसिक 'सहचरी-सरन' स्याँम-घन, रस-बरषावन सावन।
दरस देहु वर बदन-चंद्रमा, चख-चकोर बिलसावन॥१॥

बाँकी पाग चंद्रिका ता पर तुर्रा रुरकि रहा है।
बर सिरपेच, माल उर बाँकी, पटकी चटक ग्रहा है॥
बाँके नैंन मैंनसर बाँके, बैंन बिनोद महा है।
बाँके की बाँकी झाँकी करि बाकी रही कहा है॥२॥

कटि किंकनि, सिर मोर-मुकट, बर, उर बनमाल परी है।
करि मुसक्याँन चकाचोंधी चित, चितवनि रंग-भरी है॥
'सहचरिसरन' सु बिस्व-बिमोहनि, मुरली अधर धरी है।
ललित त्रिभंगी सजल मेघ-तन, मूरति मंजु खरी है॥३॥

मलयज तिलक ललाट पटल पट, अटल सनेह सटक सौ।
मदन बिजै जनु करत पुरट मै, कटि किंकनी कटक सौ॥
'सहचरिसरन' तरनि-तनया-तट, नटवर मुकट लटक सौ।
चित-चुरली मुरली-धुनि गावत, आवत चटक-मटक सौ॥४॥

दृग जलजात रसीलें हँसि-हँसि, ललचत नहिं मन काके।
उर चटपटी लगावत छिन-छिन, बैंन मैंन मै ताके॥
बरबस प्रांन हरत निरखौ री, मुख-बिलास मधु-छाके।
'सहचरिसरन' दौरि कोउ रोकौ, डारत फंद प्रभा के॥५॥

अधिक सलोंना टोंना करिकैं, बैंन बजाइ गयौ री।
हुतो कोंन कौ, कोंन कहै किन, कैसें गाइ गयौ री॥
'सहचरिसरन' रंग-भरि अखियाँ, चायँन चाइ गयौ री।
मदन मई मैं भई बिलोकत, मुख-मटकाइ गयौ री॥६॥

प्रफुलित अंग मिलावत चोंचनि, मृदु कूजनि जनु टोंनाँ।
ओघ निकुंज घेंसुबनि सीखें रस-खिल कोटि सलोंनाँ॥
स्याँम बिहंग, बिहंगिनि गोरी, जिमि उरझौ गुन गोंनाँ।
'सहचरिसरन' अचागर नागर, बर खिलवार खिलोंनाँ॥७॥

कनक-जटित केकी कल कुंडल, भव भुजंग बिष-भंजन।
मन-मोंहन बर बाज भोंह, नख, अज नख गाली गंजन॥
रतन अमोल अमल दृग आयत, बिपति-दलन मन-रंजन।
'सहचरिसरन' त्रिताप तिमिर हर, बदन चंद मति मंजन॥८॥

छिति-पति लेत मौल पसु-पच्छिन इहि बिधि कबै लहौगे।
रबि-दुहिता सुर-सरित भूमि जिमि, रस उर कबै बहौगे॥
पकरत भृंग कीट कों जैसें, तैसें कबै गहौगे।
'सहचरिसरन' मराल मानसर मन इमि कबै रहौगे॥९॥

गोस्वामी तुलसीदास की ब्रजभाषा-साहित्य को देन

श्री रामदत्त, कृष्णदत्त भारद्वाज

ब्रज-क्षेत्र की तट-सीमा पर आविर्भूत हो कर[१] प्रातःस्मरणीय गोस्वामी 'तुलसीदास' ने अपने काव्य-चषक में पुराण, निगम, आगम, रामायण और 'क्वचिदन्यतोऽपि' का जो पंचामृत भरा वह इतना अक्षय बना कि तुलसी को तो उससे अंतःसुख मिला ही, परवर्ती सहस्रशः भावुक भक्तों की भी उससे तृप्ति हुई है, हो रही है और आगे होती रहेगी। इस कवि की साधना ने अनेकानेक जीवों की साधनाओं को सफल कर दिया। तुलसी ने जो कुछ लिखा सब उपर्युक्त पुराण-आदि आर्ष-प्रमाणों के आधार पर ही कहा है। जितना ही तुलसी-साहित्य का अध्ययन किया जाता है, उतना ही इस तथ्य पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता है।

निगम-संमत—इंद्र, यम, वरुण, कुबेर आदि बहुत से देवताओं की सत्ता ऋगादि वेदों से प्रतिपादित हुई है। तुलसी का उन सबके अस्तित्व में विश्वास था। देवताओं के आकार-चिंतन में यास्क[२] ने जो कई विकल्प प्रदर्शित किये हैं, कहना न होगा कि तुलसीदास उनमें से पुरुषविधता के विकल्प को मानते थे।

पुराण-संमत—तुलसी ने यथास्थान त्रिदेव-वाद का समर्थन किया है। त्रिदेववाद से तात्पर्य है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जगतके कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता हैं। यद्यपि पुराणों के शैव, वैष्णव आदि प्रभेद हैं तथापि त्रिदेववाद उनका समानरूपेण प्रतिपाद्य है[3]। तुलसी के राम-काव्य में अनेकत्र इसका उल्लेख है।

आगम-संमत—श्री राम के रूप का चिन्मय कह कर प्रतिपादन आगमानुकूल है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग दर्शनों में रूप का भौतिकत्व ही स्वीकार किया गया है; अद्वैत वेदांत में ईश्वर-रूप का मायिकत्व भी;[४] किंतु वैष्णव-आगमों और तदनुसारी वैष्णव दर्शन-शास्त्र में उसका चिन्मयत्व भी बताया गया है,[५] अतएव तुलसी-द्वारा श्रीराम के विग्रह की चिन्मयता का प्रतिपादन आगम-संमत है[६]।

१. विशेष परिचय के लिये देखिये श्री रामदत्त भारद्वाज का 'तुलसी का घरबार'
—नेशनल इन्फ़रमेशन एण्ड पब्लिकेशन्स लि० बंबई

२. अथाकारचिंतनंदेवानाम्। पुरुषविधाःस्युरित्येकम्।
—निरुक्त, दैवतकांड १।६

३. सृष्टिस्थित्यंतकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
—विष्णु पुराण

४. स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्।
—ब्रह्मसूत्रे शांकरभाष्यम् १।१।२०

५. षाड्गुण्यविग्रहं देवं।
—सात्वत संहिता, १।२५

सच्चिदानंदसांद्रांगश्चिदानंद घनाकृतिः।
—भक्तिरसामृतसिंधु

६. चिदानंदमय देह तुम्हारी, बिगत-बिकार जान अधिकारी।
—रामचरित-मानस

वाल्मीकि के अनुसार श्रीविष्णुभगवान् ही ब्रह्मादि के निवेदन से इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे—"सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः" (६।११७।२९) तुलसी ने इस रामायण-संमत बाद का उल्लेख किया है—

"भए प्रकट कृपाला, दीन दयाला, कौसल्या हितकारी।
लोचन अभिरामा, तनु घनस्यामा, निज आयुध भुज चारी।।"

और —'क्वचिदन्यतोऽपि' यह स्पष्ट है कि श्रीराम ही परात्पर हैं——

"जग पेखन तुम्ह पेखनहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।।"

तुलसी की प्रतिभा वैदिक बहुदेववाद से पौराणिक त्रिदेववाद की ओर, पौराणिक त्रिदेववाद से आगमिक विष्णुवाद की ओर, आगमिक विष्णुवाद से रामायणीय रामावतार की ओर आकर अंत में 'क्वचिद-न्यतोऽपि' के राम-परत्व में परिनिष्पन्न हुई है। दूसरे शब्दों में, इंद्रादि देवताओं से ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा त्रिदेवांतर्गत विष्णु बड़े हैं, विष्णु के ही अवतार राम हैं, किंतु तुलसी ने राम को विष्णु का अवतार मान कर भी राम के परत्व का भी प्रतिपादन किया है, अर्थात् राम विष्णु से भी बड़े हैं—यह माना है। ब्रजभाषा में श्री कृष्ण की महिमा प्रायः गाई गई है, किंतु ब्रज-साहित्य को राम की परात्परता तुलसीदास की ही देन है।

दार्शनिकता और भक्ति

गोस्वामी जी ऊँची श्रेणी के दार्शनिक थे। उन्होंने जीव, जगत्, माया, ईश्वर आदि विषयों पर अपनी वैदुष्य-पूर्ण, किंतु रोचक शैली में प्रकाश डाला है। विनय पत्रिका का——

"केसव, कहि न जाइ का कहिए।
देखत तब रचना बिचित्र अति, समझि मनहिं मन रहिए।।"

आदि पद में सृष्टि के वैचित्र्य का एक दार्शनिक की दृष्टि से विवेचन करते हुए जो अपनी संमति दी है उससे विदित होता है कि उनकी कल्पना की रेखा किस ऊँचाई की थी। पद के अंत में वे कहते हैं—

"कोउ कह सत्य, झूंठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानें।
'तुलसिदास' परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानें।।"

इसमें उन्होंने जगत् के मिथ्यात्ववाद, सत्यत्ववाद और उभयवाद इन तीनों ही वादों को भ्रांत बता कर साधक को उनके परित्याग की संमति दी है, क्योंकि तुलसी की संमति में तभी आत्म-साक्षात्कार संभव है। यह सिद्धांत अद्वैत वेदांत के 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीयवाद' के समकक्ष है[1]। माया को न सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह त्रिकाल में एक रस नहीं और न असत् ही कह सकते हैं, क्योंकि वह इस समय प्रत्येता की प्रतीति का विषय जो बनी हुई है, एवं युगपत्, सदसत् कह कर भी उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस दशा में एक ही प्रत्येता को युगपत् दृश्य की प्रतीति और अप्रतीति होनी चाहिए जो कि अनुभव-विरुद्ध है। अतएव दृश्य प्रपंच के लिये अनि-र्वचनीय कह कर ही दार्शनिक की कल्पना शांति में समाप्त हो जाती है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अनिर्वचनीयता माया किंवा प्रपंच के लिये ही कही गई है, श्री भगवान् के लिये नहीं। उन्हें तो तुलसी अविगत, गोतीत और मायारहित कह कर सच्चिदानंद ही बताते हैं——

"अविगत गोतीतं, चरित पुनीतं, माया-रहित मुकुंदा।
निसि-बासर ध्यावहिं, गुन गन गावहिं, जयति सच्चिदानंदा।।"

इतनी उच्चकोटि के विचारक होते हुए भी वे उच्चकोटि के भक्त भी थे। भगवान् के स्वरूप, रूप, गुण, लीला और धाम का यथा-प्रसंग जो प्रतिपादन उन्होंने किया है उससे उनकी परम और विशुद्ध भक्ति का परिचय मिलता है। उनकी तो आस्था यही रही है कि 'मंगल-भवन, नव-नील-नीरद-सुंदर श्रीराम' हृदय में बसे रहें, अन्यथा जीवन निरर्थक है—

[1]. **अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम्।**
—वेदांतसार ३४

"पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिऐं ।
नव-नील-कलेवर पीत झगा झलकें पुलकें नृप गोद लिऐं ।।
अरबिंद सौ आँनन रूप मरंद, अनंदित लोचन भृंग पिऐं ।
मन में न बस्यौ अस बालक जो 'तुलसी' जग में फल कौंन जिऐं ।।"

—कवितावली १।२

राम की रूप-माधुरी का वर्णन करते-करते तुलसी थकते ही नहीं । कभी—

"सरद मयंक बदन छवि सींवा । चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ।।
अधर अरुन रद सुंदर नासा । बिधुकर निकर बिनिंदक हासा ।।
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला । पदक हार भूषण मनि जाला ।।"

इत्यादि चौपाइयों-द्वारा अपने आराध्य का आराधन करते हैं तो कभी—

"बिहरत अवध-बीथिन राँम ।
संग अनुज अनेक सिसु, नव नील नीरद स्याँम ।।
तरुन अरुन सरोज पद बनि कनकमय पद-त्रान ।
पीतपट कटि तून बर कर, ललित लघु धनु-बान ।।
लोचनन कौ लहत फल, छबि निरखि पुर-नर-नारि ।
बसत 'तुलसीदास, उर, अवधेस के सुत चारि' ।।"

—गीतावली १।४१

आदि गीतों के द्वारा उसका गान करते हैं, और कभी—

"जयति सिंगार सर तामरस दाम द्युति, देह गुन-गेह बिस्वोपकारी ।
सकल सौभाग्य सौंदर्य सुखमारूप, मनोभव कोटि गरवापहारी ।।"

—विनयपत्रिका ४४

की सेवा में अपना विनय-निवेदन करते हैं—

"कबहुँक अंब, औसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइवी, कछु करुन कथा चलाइ ।।"

—विनयपत्रिका ४१

इत्यादि पद में तो जगज्जननी श्री सीताजी के चरणोंमें अपन उद्धार का भार रखते हुए तुलसी का विनय अत्यंत विनम्र हो गया है । ब्रज साहित्य को तुलसी की यह देन बड़ी सुंदर है ।

उदात्त चरित्र का चित्रण

ब्रजभाषा के किसी ग्रंथ में चरित्र का इतना उदात्त वर्णन नहीं हुआ है जितना मानस में। मानस क्या है ? संस्कृत के श्रीराम-साहित्यरूपी अनेक रमणीय उद्यानों के वचन-कुसुमों का मधुर-मधु है, जिसकी मधुरिमा से ब्रजभाषा-साहित्य शतियों से आमोदित होता चला आ रहा है और जिसने अपनी उत्कृष्टता से अब अमरत्व-लाभ कर लिया है । गोस्वामीजी ने इस नवीन मधु में पुरातन 'कृत'[1] का अमृत मिला कर भावुकों के हृदयों

[1]. कृतं स्मर ।
—ईशोपनिषद

कृतात्ययेऽनुशयवान् इत्यादि ।
—ब्रह्मसूत्र ३।१।८

सुकृत दुष्कृते एवेति तु बादरिः ।
—ब्रह्मसूत्र ३।१।११

को बहुत ही आकर्षित किया है। कृत के ही कर्म,[१] कर्त्तव्य, चरित[२], चरित्र, चरण[३], आचरण, आचार,[४] धर्म,[५] आदि पर्याय हैं। कृत वा चरित्र ही मानव को सांसारिक संकटों से आगे बढ़ाता हुआ दिव्यता के साम्राज्य में पहुँचा देता है। श्रीराम-चरित्र का प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी जी ने मानवमात्र के संमुख मानव-चरित्र का अत्यंत उदात्तरूप में निरूपण किया है। इस चरित्र-निर्झर का उद्गम निःसंशय वैदिक-ऋचाओं में हुआ है और संस्कृत-साहित्य के विविध उच्चावचस्तरों को इसने अपनी झरी के कलकल से प्रचुरमात्रा में मुखरित किया है, किंतु संस्कृत-साहित्य की परिधि से निकाल कर घर-घर तक और जन-जन तक उसके प्रवाह को पहुँचाने का श्रेय गोस्वामीजी को मिला है और अपने इस स्तुत्य प्रयत्न के लिये उन्होंने ब्रजभाषा को ही अधिकांश में उपयुक्त माध्यम के रूप में अंगीकार किया।

चरित्र-संबंधी ऐसी अनेक वैदिक भावनाओं को जो संस्कृत-साहित्य में लिपिबद्ध होने के कारण विद्वानों के ही काम की थीं, अपने समय की प्रधान लोकभाषा, अर्थात ब्रजभाषा में लिख कर गो वामीजी ने सर्वसाधारण तक पहुँचा दिया। तुलसी के साहित्य का अध्ययन अध्येता के मानस-पटल पर जो सबसे गहरी अमिट छाप लगा देता है वह है, चरित्र की छाप। जगत् में मानव रूप से अवतीर्ण सपरिकर श्रीराम के परम स्पृहणीय चरित्र का मनन करने पर मनन करने वाले के मन में अपना भी चरित्र उदात्त बनाने की अभिलाषा का उदय स्वाभाविक है।

समन्वय

हिंदी-साहित्य में समन्वय की भावना तुलसी के काव्य में सर्वांगीण हो गयी है। यह भावना भारत में अनादिकाल से चली आ रही है। ऋग्वेद का—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति' यह वचन इसी का एक प्राचीन निदर्शन है। अनेक आराध्यों में अनुस्यूत एक ही परम चरम सत्ता का दर्शन उस समन्वय का एकमात्र लक्ष्य है। पुराण का त्रिदेव-वाद भी आपाततः तीन विभिन्न मूर्तियों का एक अद्वितीय ईश्वर में समन्वय ही है। 'शिव अथवा विष्णु', ? 'सगुण वा निर्गुण', ? एवम् 'ज्ञान किंवा भक्ति' ? जैसे जटिल विरोधों का मनोरम समन्वय जितना गोस्वामीजी की रामायण ने किया है उतना और किसी ग्रंथ ने नहीं। तुलसीदास समन्वय करने में बड़े सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। विनय-पत्रिका का हरिशंकरीपद प्रसिद्ध है। रामचरितमानस में ——

"सिव-द्रोही मम भक्त कहावा, सो नर सपनेहु मोहिं न भावा।"

तथा—

"जा पर कृपा न करहिं पुरारी, सो न पाव मुनि भक्ति हमारी।"

आदि बचनों से उन्होंने बड़ी सुगमता-पूर्वक शैव-वैष्णवों के पारस्परिक विद्वेष का समूल उन्मूलन करने का प्रशंसनीय यत्न किया था। इसी प्रकार———

१. **यान्यनवद्यानि कर्माणि।**

—तैत्तिरीय १।११।२

चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्।

—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ३।१।११

२. **यान्यस्माकं सुचरितानि।**

—तैत्तिरीय १।११।२

३. **तद्य इह रमणीयचरणाः।**

—छांदोग्य ५।१०।७

४. **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।**

५. **आचारोऽपि च धर्म विशेष एव।**

—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ३।१।११

"सगुनहिं-अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि, पुरान, बुध, बेदा ।"

आदि सुबोध वचनावली से उन्होंने परमात्मा के निर्गुण और सगुण-भाव का बड़ा ही रोचक समन्वय कर दिया था । एवं—

"ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा, उभै हरहिं भव-संभव खेदा ।"

कह कर गोस्वामीजी ने ज्ञान और भक्ति के चिरंतन उग्र विवाद को शांत किया था ।

धर्म-ग्रंथ

ब्रजभाषा-साहित्य को गोस्वामीजी ने एक अनुपम 'धर्म-ग्रंथ' प्रदान किया । रामचरितमानस एक एसा धर्म-ग्रंथ है जिसका मान हिंदू जनता श्रुति, स्मृति, गीता और पुराण के समान ही करती है। इसका प्रत्येक दोहा, प्रत्येक चौपाई एक-एक मंत्र के समान आदरणीय है—

"मंगल भवन अमंगल हारी, द्रवौ सो दसरथ-अजिर बिहारी ।"

आदिक शतशः वचनोंका मंत्रवत् उच्चारण और जप किया जाता है, समस्त ग्रंथ का नवाह्न और मासिक आदि के रूप में पारायण किया जाता है और विशेष-विशेष कामनाओं की पूर्त्ति के लिये विशेष-विशेष चौपाइयों से अनुष्ठान किये जाते हैं। हिंदू-धर्म के प्रायः सभी मुख्य विषयों का—पुनर्जन्म,[१] वेदों की अपौरुषेयता,[२] श्राद्ध,[३] मूर्तिपूजा,[४] अवतार,[५] मुक्ति,[६] भगवत् साक्षात्कार[७] का इस ग्रंथ में परम सौष्ठव से प्रतिपादन हुआ है । इसमें सभी प्रकार के साधकों के लिये सामग्री का सन्निवेश है । गागर में सागर वाली सूक्ति इस ग्रंथ में पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है । इस ग्रंथ-रत्न को पाकर ब्रज-भाषा और ब्रज-साहित्य धन्य हो गये हैं ।

चौपाई

साहित्यिकों की यह धारणा है कि तुलसी को चौपाइयों में राम-चरित्र लिखने की प्रेरणा जायसी से मिली। यह धारणा सत्य हो सकती है, परंतु निश्चयात्मक प्रमाण की अनुपस्थिति में पूर्णरूपेण इसे सत्य नहीं कहा जा सकता । यद्यपि जायसी, तुलसी के पूर्ववर्त्ती थे, अतएव जायसी के द्वारा अपनाये हुए छंद से तुलसी का प्रभावित होना संभाव्य है, तथापि इस दिशा में हमारी एक और ही उत्प्रेक्षा है और वह यह कि जिस प्रांत की भाषा में तुलसी ने अपनी रचना का प्रचुर अंश लिखा उस प्रांत में इस चौपाई का प्रचलन जायसी की उत्पत्ति से भी शता-

१. **जनम-जनम मुनि जतन कराहीं । अंत राम मुख निकसत नाहीं ।।**
—रामचरितमानस, कि०कांड

२. **जाकी सहज स्वांस स्रुति चारी, । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।।**
—वही, बालकांड

३. **तब सुग्रीवहिं आयसु दीन्हा । मृतक-कर्म बिधिवत सब कीन्हा ।।**
—वही, किष्किंधाकांड

४. **सरसमीप गिरिजा-गृह सोहा । बरनि न जाय देखि मन मोहा ।।**

तथा—

खसी माल मूरति मुसकानी ।
—वही, बालकांड

५. **बिप्र धेनु, सुर, संत हित, लीन्ह मनुज अवतार ।**
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार ।।
—वही

६. **अति दुरलभ कैवल्य परम पद । संत पुरान निगम आगम बद ।।**
—वही, उत्तरकांड

७. **भगतवछल प्रभु कृपानिधाना । विस्वबास प्रगटे भगवाना ।।**
—वही, बालकांड

ब्दियों पूर्व रह चुका था। हमारा अभिप्राय श्रीमद्भागवत की चतुष्पदियों से है। महर्षि व्यास, ने ब्रजेंद्र-नंदन श्री कृष्ण की लीला-कथाओं के प्रतिपादन में अनेक 'गीत' भी लिखे थे, जो हमें भागवत में अविकल रूप से उपलब्ध हैं। इन गीतों में से एक का नाम है 'युगल गीत' विज्ञ-जनों से यह तिरोहित नहीं है कि यदि यह युगल-गीत गाया जाय तो इसकी लय ठीक चौपाई के सदृश निकलेगी। उदाहणार्थ इस गीत के इस पद्य को पढ़िये —

"वाम बाहु कृत वामकपोलो, वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलांगुलिभिराश्रित मार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुंदः ।।"

—भागवत १०।३५।२

और अब इसकी तुलना तुलसी की—

"स्याम-तामरस-दाम सरीरं, जटा-मुकुट परिधन मुनि चीरं ।
पानि चाप सर कटि तूनीरं, नौमि निरंतर श्री रघुवीरं ।।"

इस चौपाई से कीजिये। आपको विदित हो जायगा कि युगल-गीत की चतुष्पदी और जायसी-तुलसी की चौपाई में बहुत साम्य है। अंतर केवल अंत्यानुप्रास का है। व्यासजी की रचना में उसका उपयोग नहीं हुआ है, किंतु गोस्वामी जी में हुआ है। *सारांश यह है कि हिंदी-साहित्य में चौपाई का प्रलचन युगल-गीत की चतुष्पदी के आधार पर* हुआ है। अतएव यह प्रतिपादन अयुक्त न होगा कि तुलसी ने भी युगल-गीत की चतुष्पदियों से प्रेरणा पाकर अपने आराध्य पुरुषोत्तम के चरित्र-चित्रण के लिये उसी छंद को अंत्यानुप्रास-पूर्वक अपना कर ब्रजभाषा और साहित्य को भेंट कर दिया।

रामचरितमानस की भाषा

गोस्वामीजी की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ विनय-पत्रिका, गीतावली, कृष्ण-गीता वली और कवित्त-रामायण शुद्ध ब्रजभाषा में है और उनका लोक-प्रिय विश्वविख्यात ग्रंथ 'रामचरितमानस' ब्रजभाषा अथवा ब्रजावधी में है। गोस्वामीजी की जन्मभूमि 'सूकरखेत' (सोरों) ब्रज और 'अवध' प्रांतों की सीमा पर स्थित है, जहाँ ब्रजभाषा इतने शुद्ध रूप से नहीं मिलती जितनी मथुरा-वृंदावन में; सोरों में अवधी की लटक है। बस गोस्वामीजी ने अपने जन्मस्थान की इसी भाषा को अपने इष्टदेव के चरित-गान के लिये अपनाया। इसमें ब्रजभाषा का बाहुल्य है, किंतु अवधी के भी रूप विद्यमान हैं, क्रियाओं के रूप प्रायः ब्रजभाषा के हैं। रामचरित-मानस की सभी प्राचीन पांडु-लिपियों और नागरी प्रचारिणी सभा के छपे संस्करणों में रामचरित-मानस का ब्रजावधीत्व निहित है, यद्यपि कुछ अन्य छपे संस्करणों में लोगों ने भ्रम-वश ब्रजभाषा के रूपों को भी अवधी रूप दे देने की चेष्टा की है। देखिये 'रामचरित-मानस' की सर्व प्रथम हिंदी-पंक्तियाँ किस प्रकार प्रारंभ होती है——

"जिहिं सुमिरत सिधि होइ, गन-नायक करिबर बदन ।
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ गुन-सदन ।।"

❀

"बंदौं गुरु-पद कंज, कृपा-सिंधु नररूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रबि कर निकर ।।"
"बंदौं गुरू-पद पदम-परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।।"

❀

"गुरु-पद मृदु मंजुल रज अंजन, नैंन अमिय दृग-दोष बिभंजन ।
तिहि कर बिमल बिवेक बिवेचन, बरनौं रामचरित भव-मोचन ।"

रामचरितमानस की अंतिम पंक्तियों को भी देखिए—

"जाकी कृपा लवलेस ते, मति मंद तुलसीदास हूँ ।
पायौ परम बिस्राम, राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ।।
मो सम दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर ।।

**कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागौ मोहि राम ।।"**

राम-काव्य का केंद्र

वर्णनीय विषय के रूप में राम-चरित्र का वर्णन करके कवि ने अद्भुत चातुरी को प्रदर्शित किया है। प्रतिपाद्य वस्तु के कथानक-प्रधान होने के कारण कवि की शैली वर्णनात्मक रही है और आदि से अंत तक बड़ी प्रभावशालिनी है। तुलसी का राम-काव्य सजीव तो इतना है कि अपने इस गुण के कारण वह हिंदी-साहित्य का मुकुट-मणि बना हुआ है। सजीवता रसाधीन है और तुलसी की रचना में पद-पद पर पाठक को रसास्वाद का अवसर मिलता है। प्रायः सभी रसों का उसमें यथावसर समावेश है, तथापि शृंगार का ही मुख्य सन्निवेश है। शृंगार में प्रेम स्थायी होता है, जिससे तुलसी की राम-रचना ओतप्रोत है। अन्य रसों का उसमें ही पर्यवसान हुआ है, उसी की श्री-वृद्धि के लिये मानों उनका अस्तित्व हो। आराध्य देवता के प्रति रति (प्रेम) को साहित्यक-परिभाषा में 'भाव' कहा जाता है,[१] और यह भाव ही तुलसी के राम-काव्य का केंद्र है। इसी केंद्र के चारों ओर तुलसी ने काव्य-साहित्य के क्षेत्र में पर्यटन किया है। यह ठीक है कि वे परम भक्त और भजनानंदी थे, किंतु वे रसिक और काव्य के परम मर्मज्ञ भी थे। अनेक लेखकों ने उनकी साहित्यिक उत्कृष्टता पर प्रचुर प्रकाश डाला है, तथापि निम्नलिखित कतिपय उद्धरण 'स्थालीपुलाक न्याय' से पर्याप्त होंगे ।

भगवान् रामचंद्र भगवती सीता को घर रहने के लिए अनेक युक्तियाँ उपस्थित करते हैं, किंतु वह साध्वी नहीं मानती। तुलसीदास के शब्द कितने मार्मिक हैं—

**"मोहि मग चलत न होइहि हारी, छिन-छिन चरन-सरोज निहारी।
सबहिं भाँति पिय सेबा करिहों, मारग-जनित सकल स्रम हरिहों।
पाँइ-पखारि बैठ तरु-छाहीं, करिहों बाउ मुदित मन-माहीं।
स्रम-कन सहित स्याम तन देखें, कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी, पाँइ पलोटिहि सब निसि दासी।
बार-बार मृदु-मूरति जोही, लागहि ताति बयारि न मोही।
को प्रभु-सँग मोहि चितवनि हारा, सिंघ-बधुहि जिमि ससक-सियारा।
मैं सुकुमारि, नाथ बन-जोगू, तुम्हहि उचित तप, मो कहँ भोगू।"**

राम, सीता और लक्ष्मण वन में चले जा रहे हैं, सीताजी थक जाती हैं, उनकी थकावट का वर्णन कवि ने कितना सुंदर किया है—

**"पुरतें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।।
फिरि बूझति है चलिनौब कितौ, पिय परनकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।।**

—कवित्त रामायण

मार्ग में ग्राम-बधुएँ इन तीनों सुंदर मूर्तियों को देख कर मुग्ध हो जाती हैं और सीताजी से पूछ बैठती हैं कि इन श्याम और गौर वर्ण वाले व्यक्तियों से तुम्हारा क्या संबंध है। जानकीजी ने उन ग्राम-बधुओं को जो उत्तर दिया उसमें कवि का कौशल छिपा है—

**"सहज सुभाइ सुभग तन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी, पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।"**

१. **रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजितः भावः प्रोक्तः ।**

—काव्य-प्रकाश ४।३५

कवितावली में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"सुनि सुंदर बैंन सुधारस साँने, सयाँनी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैंन दै सैंन तिन्हें, समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।।"

केवट ने सुन रखा था कि भगवान् राम ने अहल्या को अपने चरणस्पर्शमात्र से तार दिया था। तुलसीदास उसकी भक्तिमयी स्पष्टवादिता का उल्लेख इस प्रकार करते हैं——

"इहि घाट तें थोरिक दूर अहै, कटि लौं जल थाह दिखाइ हौं जू।
परसें पग धूरि तरै तरनी, घरनी-घर क्यों समुझाइ हौं जू।।
'तुलसी' अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइ हौं जू।
बरु मारिए मोहिं बिना पग धोएँ, हौं नाथ न नाव चढ़ाइ हौं जू।।"

—कवित्तरामायण

तुलसी रसिक थे, उनका युवाकाल अपनी विदुषी पत्नी 'रत्नावली' के साथ काव्य के रसास्वादन में व्यतीत हुआ था। गोस्वामीजी की रचना में विनोद-प्रियता का आभास मिलता है। उदाहरणतः जनकजी ने जब रामचंद्रजी के पैर विवाहोत्सव पर छूए थे तो दक्षिणा में सीताजी भेंट की, किंतु केवट तो निःशुल्क ही भगवान् के पादस्पर्श का आनंद लूटना चाहता था——

"सुनि केवट के बैंन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना ऐंन, चितै जानकी-लखन-तन।।"
कृपा-सिंधु बोले मुसुकाई, सोइ करि जेहि तव नाव न जाई।"

इस भाव को कवि ने 'कवितावली' में और भी अधिक स्पष्ट किया है—

"तुलसी सुनि केवट के बर बैंन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है।"

विंध्याचल के तपस्वियों के प्रति तुलसीदासजी की कैसी मीठी चुटकी है——

"बिंध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे।।
ह्वै हैं सिला सब चंद-मुखी, परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन कों पगु धारे।।"

हनुमानजी ने लंका में भयंकर आग लगा दी है, जिससे वहाँ के राक्षस और राक्षसियाँ कितने आतंकित हो रहे हैं—

"लागि-लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहाँ, धीय कों न माइ, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध, कहैं बारे-बूढ़े 'बारि-बारि' बार-बारहीं।।
हय हिंहिनात भागे जात, घहरात गज, भारी भीर ठेलि, पेलि, रौंदि खूंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति, तात-तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं।।"

लंका के युद्धस्थल में योगिनियों के वर्णन में 'वीभत्स' की पराकाष्ठा है——

"ओझरी की झोरी काँधे, आँतन की सेल्ही बाँधें, मूँड के कमंडल, खपर किए कोरि कें।
जोगिनी झुटुंग झुंड-झुंड बनी तापसी-सी, तीर-तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कें।।
सोनित सों साँनि-साँनि गूदा खात सतुआ से, प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कें।
'तुलसी' बेताल-भूत साथ लिएँ भूतनाथ, हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कें।।"

निम्नलिखित पंक्तियों में 'अद्‌भुत रस' कितना स्पष्ट हो चला है————

"लीन्हौं उखारि पहार बिसाल, चल्यौ तेहि काल बिलंब न लायौ।
मारुत नंदन मारुत कौ, मन कौ, खगराज कौ बेग लजायौ।।
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो, पै हिएँ उपमा कौ समाउ न पायौ।।
मानों प्रतच्छ परब्बत की, नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायौ।।"

'सियाराममय सब जग जानी'–रूप प्रत्येक विचार, भाव, कल्पना का पर्यवसान भगवान राम में हो जाता है अतः शांत भाव से तुलसी के साथ गाइए——

"जय राम रमा रमनं समनं, भव-ताप भयाकुल पाहि जनं ।
अवधेस सुरेस रमेस विभो, सरनागत माँगत पाहि प्रभो ।।"

❀

गुनसील कृपा परमायतनं, प्रनमामि निरंतर श्री रमनं ।
रघुनंद निकंदय द्वंद घनं, महिपाल बिलोकय दीनजनं ।।

गोस्वामी तुलसीदास ने राम का बाल रूप, राम का आदर्श चरित, राम की परात्परता, दर्शन की उच्चातिउच्च कल्पना, ज्ञान-भक्ति और हरि-शंकर का समन्वय ब्रज-साहित्य को प्रदान किया। यही नहीं ब्रज-भाषा को चौपाई नामक छंद भी उन्हीं की देन है। तुलसी ने ब्रजभाषा और साहित्य को 'रामचरितमानस' नामक धर्म-ग्रंथ भेंट किया जिसने लाखों नर-नारियों का उपकार किया है–वह धर्म-ग्रंथ जो आज उपनिषद और गीता के समान प्रामाणिक समझा जाता है, जो न केवल भारतवर्ष में अपितु समग्र संसार में अत्यंत आदर से देखा जाता है। ब्रज के दो रत्न हैं—सूर और तुलसी; एक ने मानव-जीवन की सूक्ष्म और कोमल वृत्तियों का विकास किया, दूसरे ने उसे कल्याणमय बनाया। तुलसीदास केवल ब्रज की नहीं विश्व की विभूति हैं।

कुछ विभिन्न पद-रचयिताओं के पद

राग-बिहाग

चलि बसिऐ वा गाँउ, जहाँ न बाजै बाँसुरी।
बन बन डोल कटाऊँ बाँस सब, उपजै न बाँस और बाँजै न बाँसुरी॥
काहे कों बिरह-बिथा तन उपजै, काहे कों नीर बहाउँ आँसुरी।
'रूपरंग' बैरिन यै बँसुरी, कैसें-कैसें दाग मिटाउँ पाँसुरी॥

राग-बिहाग

सखी री, होत कहा समझाएँ।
नैंन, बैंन थकि रहे री निरखि छबि, मन परचौ हाथ पराएँ॥
गड़ी कोर उर बंक-बिलोकँन, कटत न क्यों हूँ कटाएँ।
'ब्रह्मदास'[1] तबहीं भलें जीवन, मोंहन-बदन दिखाएँ॥

राग-आसावरी

आज तोहि न छाँडोंगी, मींड़ोंगी मुखसों गुलाल।
औचक आँन फेंट गहि मेरी, दै गारी गए काल॥
अपनी ओर जोर जुबतिन सों, हँस रस चाखत लाल।
'छबि-नायक' अब बस परे मेरे, छींनोंगी मुरली-माल॥

राग-टोड़ी

मेरी बलाइ आवै, जो घरी-घरी मोहि खिजावै।
ऐसौ लँगर ढीठ काउऐ न देखै, सबँन-छाँड़ि मोही सों नेह जनावै॥
गुरुजन में ठाढ़ी तिन्हँ में मोहि लजावै, सगरी तियनँ में मोहि भौंह चलावै।
'चंचल ससि' प्रभु अति ही बहु नायक, काउऐ भावै यै काउऐ न भावै॥

राग-टोड़ी

ए, गोइ गोइ राखौ री तें ललँन कों आली, अपने रस-बस करि।
रैंन-दिनाँ तोही-तोही कों जपै पिय, सौतिन्ह के तू लेत प्राँन हरि॥
तोही सों हँसत, खेलत, मिलत प्राँन-प्यारौ, पल-पल सकुच रहै गुमाँन भरि।
अहो धन मान अति भाग-सुहाग तेरौ, देखें रीझे री सुजाँन और रहत जरि-जरि॥

राग-टोड़ी

सोच कहा रहे हौ लालन, मन-ही-मन, अब कोंन चितबन आँनि चढ़ी।
नेंक होंहूँ सुनि पाऊँ तौ करों उपज, कोऊ नई कै पुराँनी अड़ी॥
वाहि बेगि लाऊँ मिलाऊँ, परचि राखिऐ गाँठ बाँधि, क्यों न होइ चतुर कढी।
'सदाँरंग' लालँन मोसों न छिपावौ, बात जात है अति बढ़ी॥

राग-देवगांधार

कहियो ऊधौ, तुम्ह जु नेह-बीज वै गमँन कीन्हों सो बिरबा लाग्यौ राधा के मन।
दृग तारे कूप कीन्हे, अँसुवन जल-धार सींचि-सींचि जाते बिरवा भयौ सघन घन॥
भूमि हरी-भरी रोंम-रूख तन छए, काँम की बेलि चढ़ी-बढ़ी तिय-तन।
कुच काछी रखवारे, फूल-फल होंन लागे, आइकें देखिऐ जीवन-धन॥

[1] ब्रह्मदास—महाराज बीरबल।

आलम और रसखान

श्री भवानीशंकर याज्ञिक

आलम

हिंदी के मुसलमान कवियों में जायसी, आलम, रसखान तथा रहीम अग्रगण्य हैं। ये चारों कवि समसामयिक हैं और इनकी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं, जिनके कारण इनके समकक्ष अन्य किसी मुसलमान कवि को स्थान देना कठिन होगा। वास्तव में इन चारों कवियों की चलाई काव्य-परिपाटी इतनी महत्त्वपूर्ण है कि अनेक हिंदू तथा मुसलमान कवियों के लिये ये पथ-प्रदर्शक रहे हैं। इनका अनुसरण करने वाले तथा इनसे प्रभावित होने वाले अनेक कवि हुए पर इनको अपने उच्चासन से डिगा नहीं सके। खेद की बात है कि इन सत्कवियों की वाणी पूर्णतः प्राप्त नहीं है और इनके विषय में जो कुछ जानकारी प्राप्त है वह असंतोषजनक है।

आलम के समय-संबंधी भिन्न-भिन्न मत

आलम के संबंध में सब से अधिक महत्वपूर्ण जानने योग्य बात यही है कि उसका वास्तविक समय क्या है। यदि उसका समय जायसी, नरहरि, गंग, रहीम, ब्रह्म के आसपास प्रमाणित हो सके तो उसका और उसकी रचनाओं का महत्व बहुत बढ़ जायगा। वह अनेक सत्कवियों का परवर्ती न हो कर पूर्वर्ती गिना जा सकेगा और जिन विशेषताओं के लिए अन्य कवियों को श्रेय दिया जाता है उनका न्यायोचित रूप से विचार किया जा सकेगा।

आलम के समय के संबंध में जो धारणा हिंदी-संसार में बँधी हुई है उसका मुख्य आधार 'शिवसिंह सेंगर' कृत 'शिवसिंह सरोज' का एक छंद है। इस छंद में औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह की प्रशंसा है और "आलम" शब्द उसके दूसरे चरण में आया है। शिवसिंह जी ने इस छंद को आलम-रचित मान कर कवि का समय मुअज्जमशाह के समय के आस-पास "सं० १७१२ में उ०" माना। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह समय 'विक्रम संवत्' है या 'ईस्वी सन्'। इसी प्रकार 'उ०' अक्षर से 'उत्पन्न' अथवा 'उपस्थित' किसे सार्थक माना जाय।

सं० १७६४ (सन् १७०७ ई०) में औरंगजेब के निधन के अनंतर मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से राज्यासीन हुआ और सं० १७६९ (सन् १७१२ ई०) में जाजऊ के युद्ध में मारा गया। सरोज-कार-द्वारा दिया हुआ आलम कवि का काल हिंदी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने ठीक मान लिया। इससे ऐसा भ्रम उत्पन्न हो गया जिसका निवारण अभी तक निश्चित रूप से नहीं हो पाया।

'मिश्रबंधु विनोद' का प्रथम संस्करण सं० १९७० वि० (सन् १९१३ ई०) में प्रकाशित हुआ था। उसमें "सरोज" के आधार पर मुअज्जम के राज्यकाल (सं० १७६४-१७६९) से मेल रखते हुए आलम कवि का समय सं० १७६० के लगभग निर्धारित किया गया था। इस ग्रंथ-रत्न की समालोचना तथा भूलों का प्रदर्शन अनेक सामयिक पत्रिकाओं में हम समय-समय पर करते रहे हैं। सर्व प्रथम सं० १९७२ में हमारे पितृव्य सद्गत 'मयाशंकर' जी याज्ञिक ने प्रयाग से प्रकाशित 'मर्यादा' पत्रिका (भाग १० अंक ३, भाद्रपद १९७२, सितंबर १९१५) में आलम रचित 'माधवानल-कामकंदला' के आधार पर इस कवि का कविता-काल अकबर के समय में निश्चित किया था। जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ़ भी इसी मत के पुष्टिदाता थे।

इस भूल-सुधार की ओर साहित्य-मर्मज्ञों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। 'सरोज' के कथन पर 'विनोद' की छाप लग जाने से 'आलम' का भ्रमपूर्ण सं० १७६० का समय प्रायः सभी को सत्य-सा प्रतीत होने लगा और हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में इस भ्रामक बात को अटल स्थान मिल गया।

नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा की गई प्राचीन ग्रंथों की खोज में 'माधवानल-कामकंदला' की एक प्रति काशी-नरेश के पुस्तकालय में सन् १९०४ ई० में उपलब्ध हुई थी। उसके आधार पर आलम का समय अकबर के राज्य-काल में सिद्ध हो जाना चाहिए था, परंतु खोज-विवरण के संपादक बाबू 'श्यामसुंदरदास'जी ने आलम नाम के दो भिन्न व्यक्ति, एक अकबर के समय में और दूसरे मुअज्जम के समय में घोषित कर दिए, परंतु वे स्वयं ही इस भ्रम-जाल से बाहर न निकल सके। सं० १९८० में उन्हीं के द्वारा संपादित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग) में सं० १७५३ के लगभग वर्तमान माने जाने वाले आलम को ही 'माधवानल-कामकंदला' का रचयिता मान लिया गया। अकबर तथा टोडरमल के समय वाले 'माधवानल-कामकंदलाकार आलम' को ही सं० १७५३ वाले मुअज्जम (बहादुरशाह) का आश्रित मान कर समस्या अधिक जटिल कर दी। दो आलम मानते हुए भी उनके रचित ग्रंथों का घोल-मेल कर दिया। इस भ्रम के निवारण के हेतु हमने इस ग्रंथ की आलोचना एक लेखद्वारा सं० १९८१ वि० में की। यह लेख माधुरी (ज्येष्ठ तु० सं० ३००, जून १९२४ ई०) में प्रकाशित हुआ था।

इसके अनंतर मिश्रबंधु विनोद के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के पूर्व लखनऊ से प्रकाशित माधुरी (मार्गशीर्ष तु० सं० ३०१ दिसंबर १९२४ ई०) में एक लेख-द्वारा "अनेक सत्कविराजोक्ति सार संग्रह (दोहा सार संग्रह)" के सं० १७२० वि० वाले संस्करण के आधार पर प्रमाणित किया था कि सं० १७५३ वा १७६० के कई वर्ष पूर्व आलम कवि विद्यमान थे। हमारी धारणा निरंतर यही रही कि मुअज्जम के समय में न होकर आलम अकबर के समय में हुए थे। इन लेखों द्वारा भ्रम-निवारण करने के प्रयास में हमें पूरी-पूरी सफलता नहीं मिली और 'सरोज', 'विनोद' तथा 'खोज-विवरण'-द्वारा पुष्ट भ्रमपूर्ण समय ही साहित्य-नेताओं ने सत्य मान लिया। इस प्रकार एक के बाद दूसरी भूलों के समावेश से आलम के समय-संबंधी गड़बड़ी का निराकरण अब तक ठीक प्रकार से नहीं हो पाया।

लाला 'भगवान दीन' ने सं० १७५३ वि० की एक प्रति के आधार पर संपादित 'आलमकेलि' के कर्ता आलम का कविता-काल सं० १७४० से १७६० तक माना है। पं० रामनरेश त्रिपाठी अपनी 'कविता कौमुदी' में सरोज के अनुसार सं० १७१२ में जन्म मानते हैं। बाबू श्यामसुंदरदास जी ने सं० १९८० में स्वसंपादित "हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण" में आलम को सं० १७५३ के लगभग वर्तमान माना। इसी प्रकार सौराष्ट्र-वासी 'कहानजी धर्मसिंह' ने भी 'सरोज'-संमत सं० १७१२ में जन्म माना। सं० १९८६ में 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका में भी एक ही आलम की स्थिति मानी गई है जो मुअज्जम के समय में थे।

'माधवानल-कामकंदला' के आधार पर अकबर-कालीन आलम का पता चलने पर आलम नामक दो कवियों की स्थिति अनुमानित की गई। एक थे माधवानल-कामकंदला नामक प्रेम-कथा को दोहा-चौपाई-सोरठा में रचने वाले अकबर-कालीन आलम और दूसरे थे मुक्तक कवित्त-सवैयाकार आलम जो 'सरोज' के अनुसार मुअज्जमशाह (सं० १७६४-६९) के आश्रित समझे जाते थे।

सं० १९९४ में प्रकाशित मिश्रबंधु विनोद में आलम नामधारी दो भिन्न व्यक्तियों की कल्पना की गई। डा० 'पीतांबरदत्त बड़थ्वाल' ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४५ अंक ४ पृ० ३२७ में आलम-द्वारा 'सुदामा-चरित्र' की रचना का उल्लेख करते हुए दो 'आलम' की स्थिति मानी है। पं० 'रामचंद्र शुक्ल' ने भी अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९) में दो आलम स्वीकार किये हैं। हिंदुस्तानी एकेडमी से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित 'हिंदी के कवि और काव्य' भाग ३ में गणेश प्रसाद द्विवेदी ने दो आलम होने का फ़तवा जारी कर अपनी अनधिकार चेष्टा का प्रदर्शन किया।

माधवानल-कामकंदला के आधार पर अकबर के समय में एक आलम का होना तो निर्विवाद है, परंतु सरोज-कथित मुअज्ज़म के आश्रित आलम केवल शिवसिंहजी की 'अटकल'-द्वारा संभूत हैं । ऐसा होने पर भी मिश्रबंधुओं ने पूर्वालंकृत काल (सं० १६८१-१७६०) के अंतर्गत आदिम देवकाल (१७५१-७०) में ही आलम की स्थिति मानी । वास्तव में आलम का समय, जैसा आगे सिद्ध किया जायगा, इससे १००-१२५ वर्ष पूर्व होना चाहिए ।

क्या आलम नामधारी दो भिन्न कवि थे ?

आलम नाम हिंदू-मुसलमानों दोनों में प्रचलित है । आलमसिंह, आलमखाँ, आलमशाह, आलमगीर आदि उसके उदाहरण हैं। 'आलम' स्त्रियों का नाम भी होता है । अवध के अंतिम नवाब वाजिदअलीशाह की एक बेगम का नाम 'आलम' था जिसके नाम से लखनऊ में 'आलमबाग' नाम का स्थान है । वह हिंदी में पद-रचना भी करती थी । "कुल्लियातअख्तर" नामक वाजिदअलीशाह की रचनाओं के संग्रह में 'आलम बेगम' रचित पद भी हैं। **(देखो माधुरी वर्ष ७ खंड १ भाग २)**

चाँद सुत आलम कृत "ग्रंथ संजीवन" नामक एक वैद्यक ग्रंथ खोज में मिला है । अतएव आलम नामधारी एक से अधिक कवियों का होना असंभव अथवा असंगत नहीं है, परंतु मूल प्रश्न तो यह है कि मुक्तक कवित्त-सवैयाकार 'आलम' तथा माधवानल-कामकंदलाकार 'आलम' एक ही व्यक्ति हैं अथवा दो भिन्न-भिन्न ।

मुअज्ज़म की प्रशंसा का छंद जिसे सरोजकार ने आलम-रचित माना है इस प्रकार है—

"जानत औलि किताबन कों जे निसाफ़ के माने कहे हैं ते चींन्हे ।
पालत हौ इत 'आलम' कों उत नींके रहीम के नाम कों लींन्हे ।।
मौजमसाह तुम्हें करता, करिबे कों दिलीपति है बर बींन्हे ।
काबिल हैं ते रहे कितहूँ, कहूँ काबिल होत हैं काबिल कींन्हे ।।"

उपरोक्त छंद के दूसरे चरण में 'आलम' शब्द 'संसार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आलम कवि की छाप नहीं है । इस छंद को आलम-रचित ही क्यों माना जाय ? उसी चरण में रहीम का नाम भी तो है। हमने इस छंद को आलम-रचित कभी नहीं माना। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे पास आलम-रचित जो सामग्री है उसमें यह छंद नहीं है। दूसरे ऐसे प्राचीन स्फुट संग्रह-ग्रंथों में आलम के छंद प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनका लिपि-काल मुअज्ज़म के समय के पूर्व का सहज ही अनुमानित किया जा सकता है । राजस्थान, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में सर्वत्र ही आलम के ग्रंथ मिलते हैं । कदाचित् ही कोई प्राचीन स्फुट संग्रह-ग्रंथ हो जिसमें आलम के दो चार छंद न दिये हों । आलम के छंद अनंत, प्रसिद्ध, गंग, ब्रह्म, मंडन आदि अकबर-जहाँगीर-कालीन कवियों के छंदों के साथ संग्रह-ग्रंथों में मिलते हैं।

हमारी ३५ वर्ष पुरानी धारणा अब सत्य प्रमाणित हो चुकी है। उपरोक्त विवादपूर्ण छंद आलम-रचित नहीं है, किंतु 'जैत कवि' का है । जैत कवि ने मुअज्ज़म के नाम पर 'माजम-प्रभाव' नामक एक अलंकार-ग्रंथ की रचना की थी । इस ग्रंथ में उपरोक्त छंद दिया है ; जिससे यह पूर्णतया निश्चित हो गया कि जो विवादपूर्ण छंद आलम-रचित माना जाता था वह वास्तव में जैतसिंह महापात्र का है। सरोजकार का अंधानुसरण करने वाले इतिहासकारों की धारणा निर्मूल सिद्ध हुई । हिंदी-साहित्य में इस प्रकार का अंधानुसरण का अन्य उदाहरण कदाचित् ही देखने को मिले । जब मुअज्जम के आश्रित किसी आलम का वर्तमान होना निश्चित रूप से असत्य सिद्ध हो गया तो प्रश्न उठता है कि मुक्तक कवित्त-सवैयाकार आलम का वास्तविक काल क्या है ? यदि उसका कविता-काल भी अकबर के समय तक सिद्ध हो सके और वाह्य तथा अंतर्प्रमाणों-द्वारा उसे ही माधवानल-कामकंदला-कार सिद्ध किया जा सके तो दो आलम मानने की कल्पना भी निर्मूल सिद्ध हो सकेगी । हम अब कुछ ऐसी ज्ञातव्य बातों का उल्लेख करते हैं जो आलम की प्राचीनता सिद्ध करने में सहायक हो सकती हैं ।

सर्वप्रथम यह मानना पड़ेगा कि 'माधवानल-कामकंदला' के कर्ता आलम एक विख्यात कवि थे। उनकी रचना का बहुत आदर हुआ। कई स्थानों से इस ग्रंथ-रत्न की प्रतियाँ मिली हैं। इसके दोहे दारा-शिकोह की आज्ञा से संकलित 'दोहासार संग्रह' में मिलते हैं। इस ग्रंथ के छोटे तथा बड़े दो प्रकार के संस्करण मिलते हैं और दोनों संस्करणों की कई प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि इस ग्रंथ में कामकंदला के नृत्य-गान के वर्णन में कवि ने जो संगीत-शास्त्र-संमत राग-रागिनियों का वर्गीकरण किया है वह गुरु-ग्रंथ-साहब जैसे संमानित धार्मिक-ग्रंथ में 'रागमाला' के नाम से दिया हुआ है। गुरु-ग्रंथ-साहब में 'रागमाला' ग्रंथ के अंतिम भाग में दी गई है। आलम की यह रचना गुरु-मुख-वाणी के रूप में समादृत हुई, इससे स्पष्ट है कि माधवानव-कामकंदला के कर्त्ता आलम एक लब्धप्रतिष्ठ कवि थे।

आलम के कुछ पद्य 'रागमाला' के नाम से गुरु-ग्रंथ-साहब में हैं। इस संबंध में सिक्ख-संप्रदाय में एक समस्या उत्पन्न हो गई। मुअज्जम के आश्रित भी एक आलम की कल्पना होने से रागमाला का अंश गुरु-ग्रंथसाहब में प्रक्षिप्त समझा जाने लगा। गुरु नानक के पदों का संग्रह अकबर के राज्यकाल में गुरु श्री अर्जुनदेवजी ने सं० १६६१ वि० (किसी के मत से सं० १६३८) में कराया था। यही 'आदि ग्रंथ' अथवा 'गुरु-ग्रंथसाहब' के नाम से प्रसिद्ध है। अंतिम और दसवें गुरु थे गुरु गोविंदसिंहजी। कहा जाता है कि सं० १६६१ वि० के पश्चात कोई भी अंश ग्रंथसाहब में नहीं बढ़ाया गया और गुरु गोविंदसिंह के अनंतर तो यह असंभव था। मुअज्जम के समय वाले कल्पित आलम की रचना गुरु गोविंदसिंहजी के बाद की ठहरती है, इस प्रकार कुछ कट्टर सिक्ख रागमाला वाला आलम-रचित अंश प्रक्षिप्त मानने लगे और उसे गुरु-ग्रंथसाहब से निकाल देने का प्रश्न उठाने लगे। इस संबंध में हम से सं० २००३ में पूछताछ भी की गई थी और हमने अपना निश्चित मत देकर इस झूठी कल्पना के आधार पर उठी हुई उलझन को यथासाध्य सुलझाया। इसका परिणाम यह हुआ कि सिक्खों के समाधान के लिए माधवानल-कामकंदला का एक संस्करण गुरुमुखी में छपवाया गया।

कवित्त-सवैयाकार आलम की प्राचीनता तथा लोक-प्रियता का वास्तविक दिग्दर्शन कराने की इच्छा से अन्य कवियों के ग्रंथों में जो आलम-संबंधी उल्लेख मिलते हैं उनका सूक्ष्म कथन इस प्रकार है। नवीन कवि के 'प्रबोध रस सुधासागर' के सं० १८८१ और १८६५ वाले दोनों संस्करणों में आलम तथा शेख छाप के छंद दिये गये हैं। सूदन कवि (सं० १८०२-१०) ने भी आलम तथा शेख दोनों के नाम अपने सुजान-चरित्र में १७५ कवियों के साथ गिनाये हैं। 'दलपतिराय बंसीधर' ने स्वरचित 'अलंकार-रत्नाकर' (सं० १७९८) में आलम के छंद दिये हैं। कृष्णकवि कृत बिहारी-सतसई की टीका (सं० १७८२) में शेख तथा आलम की छाप युक्त तीन छंद दिये हैं। कालिदास संकलित 'हजारा' (सं० १७७५) में भी शेख के छंद थे। केशव केशवराय (बिहारी कवि के पिता) के नाती कुलपति मिश्र ने स्वरचित 'युक्ति'-तरंगिणी' (सं० १७४३) में आलम के लिये यह दोहा कहा है——

"नव रसमय मूरति सवौं, जिन बरने नँदलाल।
आलम आलम बस कियौ, दै निज कविता जाल॥"

इसी प्रकार 'नूर' कवि ने अपने नख-शिष में शेख का दोहा दिया है——

"बेसर न्यारी वेह छबि 'सेष' हिए पर दाग।
फूल चुन्यों मनु फूल सों, आभा रही पराग॥"

दोहासार संग्रह (सं० १७२० का संस्करण) में एक दोहा आलम की छाप से तथा दो दोहे शेख की छाप वाले दिये हैं जिन्हें हम माधुरी (मार्गशीर्ष तु० सं० ३०१ दिसम्बर १९२४) में प्रकाशित कर चुके हैं। यही दोहे दारा शिकोह की आज्ञा से संकलित 'दोहासार संग्रह' (सं० १७१० का संस्करण) में दिये हुए हैं। आलम प्रत्येक दोहे में अपनी छाप नहीं रखते थे इस कारण इनके दोहों को 'दोहा सार-संग्रह' में से छाँटना कठिन है। संभव है इसमें आलम के छाप-रहित दोहे भी हों। आलम की कविता मुसलमानों को भी प्रिय थी। आलम के ४०० छंदों की हमारी एक प्रति (रस-कवित्त) खाँ साहिब

हरण रूप से दिया हुआ है । यह दोहा माधवानल-कामकंदला ग्रंथ में 'कंदला-प्रेम-परीक्षा' खंड में थोड़े-से पाठ-भेद से दिया हुआ है। यह दोहा इस प्रकार है—

"आलम ऐसी प्रीति पर, सरबस दीजै वारि ।
गुप्त-प्रघट कैसी रहै, दीजै कपट पिटारि ।।"

माधवानल-कामकंदला के छोटे तथा बड़े दोनों संस्करणों की जितनी प्रतियाँ हमें देखने को मिलीं उन सभी में 'सरोज'-उद्धृत छंद दिया है ।

आलम के कवित्त-सवैया-छंदों का एक संग्रह-ग्रंथ, जिसमें ४७१ छंद दिये हैं, काँकरौली में हैं । इसका बंध नंबर ७७, पुस्तक ५ है और इसमें १६८ पृष्ठ हैं । ग्रंथ के आदि-अंत में "कवि शेष आलम कृत कवित्त" नाम दिया है, परंतु पुस्तकालय वालों ने उसका "अक्षरमालिका" नाम कल्पित-रूप से रख लिया है । इसका कारण यह है कि उसमें छंदों का क्रम वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से है । पहिले व्यंजन हैं और अंत में स्वर । स्वरों में क्रम उलट-पलट गया है । इस प्रति के आदि में मंगलाचरण का प्रथम दोहा इस प्रकार है:—

"नाथ निरंजन निरबिघन, करुनामय निसकाम ।
निस्तारन तारन तरन, रटौं निरंतर नाम ।।"

यह दोहा प्रेम-गाथाकार आलम के रचित 'श्यामसनेही' के मंगलाचरण का है। इसी प्रकार 'अक्षरमालिका' का दूसरा छंद एक छप्पय छंद है जिसका पाठ इस प्रकार है—

"मुख-मंडल पर लसै जोंन्ह-मंडित मयंक जनु ।
जटित जोति अरधंग गौरि मज्जित दरपन तनु ।।
धवल धूरि धरि अंग उच्च सोहत संकर बर ।
फनि-भूषित फनपत्ति चारु बूझिय चंदन तर ।।
जिहि मिलत अंग 'आलम' सुमति, किय जल-थल उज्जल बरन ।
नव करन जोति नव अंग कह, सुभ बिभूति भव उद्धरन ।।"

यह छंद भी 'श्यामसनेही' के मंगलाचरण का प्रथम छंद है । अक्षरमालिका का ६६ वें छंद का पाठ निम्नलिखित है——

"गहरु न लावौ तिय-जन कौ संताप जानि, संकटहरन जानकी ते जान पाए हौ ।
'आलम' सरूप स्याँम करुना के सिंधु स्वाँमी, तेरे गुन तारा हू अहिल्या नींकें गाए हौ ।।
मेरी यों बिपत्ति सुनि प्यारे प्राननाथ पिय, ऐसें पाँउ धारौ जैसे हाथी-काज धाए हौ ।
पाती दीजो पंडित सँदेसौ मुख ऐसौ कहि, आवन की आसा बाढ़ी मेरे जानि आए हौ ।।"

यह छंद भी श्यामसनेही का है । इस छंद-द्वारा रुक्मिणी ने श्री कृष्ण के पास ब्राह्मण-द्वारा एक पत्र के अतिरिक्त मौखिक संदेश भेजा है । इन अवतरणों से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि 'माधवानल-कामकंदला' तथा 'श्यामसनेही' के रचयिता आलम ही मुक्तक कवित्त-सवैयाकार हैं—दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं। इनके रचित एक ग्रंथ के छंद दूसरे में भी पाये जाते हैं और काल-गणना में भी अंतर नहीं है । अत-एव दो आलम मानना भयंकर भूल है । साहित्य-मर्मज्ञों को अपनी पुरानी भूल का परिहार कर आलम कवि को उसके प्राचीन समय और उत्कृष्ट रचनानुसार अधिक गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए । अब तक आलम कवि मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि के परवर्ती माने जाते रहे हैं, परंतु वे उनके पूर्ववर्ती थे ।

आलम का वास्तविक कविता काल

एक ही आलम का अकबर के समय में वर्तमान होना सिद्ध कर देने के अनंतर हमें कवि का वास्तविक काल निर्णय करना अभी शेष रहा है । अकबर का राज्यकाल लगभग ५० वर्ष का था । इस ५० वर्ष के दीर्घकाल में आलम का कविता-काल पूर्वार्ध में था या उत्तरार्ध में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है, कारण कि उनके सम-सामयिक अकबरकालीन कवियों में उनका स्थान निर्णय करने की आवश्यकता है । 'माध-

वानल-कामकंदला' के जिन छंदों के आधार पर कवि का काल निश्चय किया गया है, वे सर्व प्रथम हमारे पितृव्य ने प्रयाग से प्रकाशित मर्यादा में सं० १९७२ वि० (सितंबर १९१५ ई०) में छपवाये थे। उनका पाठ इस प्रकार है:—

"अदली कहौं बखाँन, सुजस प्रघट चहुँ खंड में।
बिद्या अरथ निधाँन, साह अकब्बर जगत गुरु।।
जगपति राज कोटि जुग जीजै। साहि जलाल छत्रपति कीजै।
दिल्लीपति अकबर सुलताँना। सप्त दीप में जाकी आँना।

❀

धरमराज सब देस चलावा। हिंदू, तुरक-पंथ दुइ लावा।
आगें नैव महाबल मंत्री। राजा दीप टोडरमल खत्री।

❀

उतपति बिरह बियोग, कहौं कथा 'आलम' सुमति।
पुनि सिंगार सँजोग, नल-कंदल कारन कहत।।
सन नव से इक्यानव जब हीं। कथा अरंभ कीन्ह यह तब हीं।।"

उपरोक्त उद्धरण सं० १९३५ में लिखी एक प्रति के आधार पर दिये थे। लेख-प्रकाशन (सं० १९७२) के समय तक हमें कोई अन्य प्रति देखने को नहीं मिली थी। वास्तव में मूल पाठ **"सन नव सै इक्यावन जब हीं"** है। सन् ९५१ हि० का समय २५ मार्च सन् १५४४ ई० से १४ मार्च सन् १५४५ ई० (सं० १६०१-१६०२ वि०) तक था, परंतु यह सन् ९५१ हि० का समय अकबर के राज्यकाल से मेल नहीं खाता जैसा कि निम्नलिखित अकबर संबंधी तिथियों से मिलान करने पर प्रतीत होगा—

जन्म—५ रज्जब ५९४९ हि० अथवा १५ अक्टूबर १५४२ ई० (सं० १५९९ वि०)
राज्यारोहण—२ रवी उस्सानी ९६३ हि० अथवा १४ फरवरी १५५६ ई० (सं० १६१३ वि०)
मृत्यु—१३ जमादिल ओखरा १०१४ हि० अथवा १६ अक्टूबर १६०५ ई० (सं० १६६२ वि०)

हिजरी सन् ९५१ अकबर के राज्यकाल से मेल नहीं खाता, इसका कारण हमने लिपिकार की भूल मान कर 'इक्यावन' शब्द का पाठ "इक्यानव" माना और आलम कवि का कविता-काल ९९१ हि० (सन् १५८३ ई० अथवा सं० १६४० वि०)। प्रयाग के प्रोफेसर पं० शिवाधार पांडेय ने भी इस संबंध में हमें सं० १९८० में लिखा था कि ९५१ के स्थान पर ९९१ होगा।

कालांतर में हमें जब अन्य प्रतियाँ भी देखने को मिलीं तो हमने कविता-काल-सूचक चौपाई का शुद्ध पाठ जानने का प्रयास किया। माधवानल कामकंदला के छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के संस्करणों में चौपाई की यह अर्द्धाली मिलती है। भिन्न-भिन्न प्रतियों में जो पाठ मिलता है वह इस प्रकार है——

१. सभा की प्रति २२९ लिपिकाल सं० १८१७ वि०—"सन नोसे इक्यावनु वै आही।"
२. हमारी प्रति ३१३।२२ लिपिकाल सं० १८३६ वि०—"सन नौसै इक्यावन जबहीं।"
३. हमारी प्रति १०४।२२ लिपिकाल सं० १८७० वि०—"सन नवसै इक्यावन आही।"
४. हमारी प्रति ५७५।२२ लिपिकाल सं० १९३५ वि०—"सन नवसै इक्यावन जबहीं।"
५. पंजाब यूनीवर्सिटी ३४८।४९६ लिपिकाल सं० १८८२ वि०—"सन नवसै इक्यावन जबहीं।"

फैज़ाबाद-निवासी निर्भीक जी की प्रति आदि से खंडित होने के कारण समय-सूचक अर्द्धाली का पाठ उसमें अप्राप्य है। उपरोक्त सभी प्रतियों में सन् ९५१ हि० स्पष्ट है। इसे अशुद्ध मानकर ९५१ को ९९१ कर देना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। खोज-द्वारा प्राप्त प्रति में भी 'इक्यावनुवै' पाठ को "इक्या(व)नुवै" कर ग्रंथ-रचना का समय ९९१ हि० (सं० १६४० वि०) माना और 'हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण' में ९९१ हि० (सं० १६४० वि०) ही स्वीकृत किया गया। रामचंद्र शुक्ल ने भी ९५१ के स्थान में ९९१ (सं० १६४० वि०) माना। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का

आलोचनात्मक इतिहास' के पृ० ३३२ पर न जाने किस आधार पर रचनाकाल सं० १६४८ वि० माना है।

इस प्रकार सभी ने समय-सूचक अर्द्धाली के पाठ को अकबर के राज्य-काल से मेल मिलाने के लिए ९५१ हि० को ९९१ हि० कर दिया। सन ९९१ हि० (२५ जनवरी १५८३ ई० से १३ जनवरी १५८४ ई०) कर देने से रचना-काल में ३९ वर्ष का अंतर उत्पन्न कर देना अनुचित है। अनेक प्रतियों की छानबीन कर हमें ९५१ हि० (सं० १६०१ वि०) ही ग्रंथारंभ का समय उपयुक्त जान पड़ता है। यह समय अकबर के राज्यकाल से मेल नहीं खाता, परंतु यह ग्रंथारंभ का समय है, जैसा कि **"कथा अरंभ कीन यह तबही"** से स्पष्ट है। ग्रंथ-समाप्ति के समय अकबर का राजयकाल था इस कारण मसनवी की पद्धति के अनुसार "शाहेवक्त को सूचित करते हुए अकबर-संबंधी पद्य लिख दिये गये।

ठीक इसी प्रकार की समय संबंधी गड़बड़ी 'जायसी' के संबंध में भी है। उनका समय—

"सन नवसै सत्ताईस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।।"

के अनुसार सन् ९२७ हि० शेरशाह के समय से मेल नहीं खाता। इतिहासकारों ने ९२७ हि० को ९४७ हि० कर दिया और समय-संबंधी गड़बड़ी का परिहार किया। आलम के संबंध में भी यही उलझन है और उसका भी ९५१ को ९९१ कर समाधान कर लिया। हमारे मत से ग्रंथारंभ का समय ९५१ हि० (सं० १६०१ वि०) तथा समाप्ति-काल अकबर के राज्यकाल में था। ९५१ हि० में शेरशाह का राज्य था। ग्रंथ-समाप्ति का समय सं० १६३९ से १६४६ वि० के बीच होगा। अकबर-विषयक चौपाइयों से स्पष्ट है कि वह राज्य-विस्तार कर एकछत्र राज्य स्थापित कर चुका था और 'जगद्गुरु' शब्द से सूचित होता है कि 'दीन-इलाही' का संस्थापन हो चुका था। आलम भी 'दीन-इलाही' में संमिलित हो गये होंगे दीन-इलाही की संस्थापना सं० १६३९ (सन् १५८२ ई०) में हुई थी। दूसरे 'नैव महाबल मंत्री' (नायब मंत्री) टोडरमल का उल्लेख होने के कारण ग्रंथ-समाप्ति टोडरमल की मृत्यु (सं० १६४६ वि०) के पूर्व ही होनी चाहिए। अतएव हमारा अनुमान है कि ग्रंथ की समाप्ति सं० १६३९ और सं० १६४६ वि० के बीच में हुई। सं० १६६१ में आलम के कुछ पद 'राग-माला' के नाम से गुरु ग्रंथसाहब में संमिलित किये गये थे। इस कारण सन् ९९१ हि० (सं० १६४० वि०) की अपेक्षा सन् ९५१ हि० (सं० १६०१ वि०) अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

इससे सिद्ध होता है कि आलम का समय अकबर के राज्यकाल के पूर्वार्ध में होना चाहिए इस तर्क से आलम का समय रसखान, रहीम, गंग, ब्रह्म आदि से कुछ वर्ष पूर्व और नरहरि के समकालीन निश्चित किया जा सकता है। जायसी के पद्मावत तथा आलम के माधवानल-कामकंदला के ग्रंथा-रंभ-काल में केवल २४ वर्ष का ही अंतर है। आलम कवि का महत्व उनकी प्राचीनता के कारण बहुत बढ़ जाता है। वास्तव में वे केशवदास, गंग, ब्रह्म, रहीम आदि से पूर्ववर्ती थे।

हमारे इस कथन की पुष्टि में एक प्रमाण यह भी है कि आलम-रचित कई छप्पय छंद 'नर-हरि' के छंदों जैसी भाषा में लिखे हुए मिलते हैं, जिसका चलन उस काल तक प्रायः सीमित-सा था। रासो-पद्धति में लिखे हुए छंद प्रायः उसी काल के मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कवित्त-सवैया की पद्धति के प्रवर्तक गंग के स्थान में आलम को ही मानना चाहिए। आलम का समय ९५१ हि० अथवा ९९१ हि० कुछ भी माना जाय वे गंग से बड़े थे। प्रौढ़ माध्यमिक काल में नरहरि और गंग भाटोपयुक्त-कविता के रचयिता थे, जिसमें 'नरहरि' ने 'छप्पय छंद' और 'गंग' ने 'कवित्त (घनाक्षरी)' को विशेष रूप से अपनाया था। परंतु कवित्त-सवैया की पद्धति में—"नवरसमयी नंदलाल की" प्रेम-शृंगार-युक्त नाना विषयक कविता रचने की प्रवृत्ति सर्व प्रथम आलम में ही पाई जाती है। वे ही इस पद्धति के प्रव-र्तक माने जाने चाहिए। आलम की चलाई हुई पद्धति २००—२५० वर्ष तक कितनी फूली-फली यह सभी जानते हैं। आलम के छंदों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के अनेक उत्कृष्ट कवि आलम के ऋणी हैं। रीति मुक्त-कवियों में आलम का स्थान सर्वोच्च है। इन बातों पर विचार करने से आलम का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। रीति-मुक्त कविताकार होने के कारण उनकी विशेषता और भी बढ़ जाती

है । सच बात तो यह है कि आलम की कविता का अध्ययन बिना किये रीतिकाल की शृंगारमयी कविता की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास अधूरा ही है ।

आलम की कृतियाँ

आलम के नाम से जो ग्रंथ मिलते हैं वे हैं—(१) माधवानल-कामकंदला, (२) श्याम-सनेही और (३) आलम के कवित्त। इसके अतिरिक्त 'सुदामा-चरित्र' भी एक आलम रचित मिला है। सुदामा-चरित्र के संबंध में आगे चल कर विचार किया जायगा। माधवानल-कामकंदला के दो प्रकार के संस्करण मिलते हैं, एक बड़ा और दूसरा छोटा । साहित्यकारों ने यह निश्चय अभी नहीं किया कि कोन सा संस्करण मौलिक है और कोन सा उसका रूपांतर । यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न भी नहीं है । मूलकथा अपभ्रंश काल से चली आती है । 'बोधाकवि' तथा 'हरिनारायण' ने भी यह कथा लिखी है और राजस्थान में मारवाड़ी-दूहा छंद में भी यह कथा लिखी गई थी । श्याम-सनेही में 'रुक्मणी-मंगल' की कथा है और माधवानल-कामकंदला की तरह दोहा, सोरठा, चौपाई-छंदों में यह ग्रंथ आलम ने रचा है । आलम के कवित्त, कवित्त आलम के, रस कवित्त, आलमकेलि, अक्षरमालिका, चतुःशती आदि अनेक नामों से आलम के कवित्त-सवैयों (कुछ छप्पय भी) में रचित मुक्तक छंदों का संग्रह है । 'दूती-विज्ञप्ति', नख-शिष आदि इसी के अंश प्रतीत होते हैं । आलम के ४०० छंदों को चुन कर किसी ने इस संग्रह को क्रमवद्ध किया था जिसका प्रचुर प्रचार हुआ । इस ग्रंथ में 'शेख' छाप-युक्त छंद भी मिलते हैं। इस संग्रह-ग्रंथ का कोई सर्वमान्य नाम नहीं है। 'चतुःशती' और 'अक्षरमालिका' कल्पित नाम हैं । 'आलमकेलि' नाम भी "कवित्त (आलमके) लिख्यते" के कोष्ठांतर्गत दिये हुए अक्षरों के समुदाय से गढ़ा हुआ नाम प्रतीत होता है । आलम कवि ने अपने मुक्तक छंदों का कोई विशेष नाम नहीं दिया। अतएव उन छंदों का क्रमवद्ध संकलन भी आलम ने नहीं किया। यदि ४०० छंदों का संकलन उसी के द्वारा किया हुआ होता तो वह उसका 'नामकरण' भी अवश्य करते ।

आलम-कृत सुदामा-चरित्र की सं० १८६७ के पूर्व की एक खंडित प्रति के आधार पर सर्व प्रथम हमने 'साहित्य समालोचक' (भाग १ अंक २ वैशाख १९८२, अप्रैल १९२५ ई०) में प्रकाशित एक लेख द्वारा साहित्यवेत्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था। तब से हमें इस छोटे से ग्रंथ की कई प्रतियाँ देखने को मिलीं । यह लावनी के ढंग का कुकुभ छंद में रेखता-भाषा का ग्रंथ है । किसी में ५२ छंद हैं, किसी में ५१ और किसी में लगभग ६०। सब प्रतियों के छंदों को एकत्रित करने से तह ६४ छंदों का ग्रंथ होता है। हमारे देखने में कोई भी ऐसी प्राचीन प्रति नहीं आई जिससे रचयिता का समय अकबर-कालीन आलम के समय तक पहुँचाया जा सके। इस ग्रंथ को हम अकबर-कालीन आलम रचित मानने या न मानने के संबंध में कोई निश्चित मत नहीं दे सकते, परंतु इस संबंध में एक भ्रमात्मक बात मथुरा से प्रकाशित "ब्रजभारती" (सं० १९९९ चैत्र पृ० १८) में छपी है। इस अंक में काँकरौली की सुदामा-चरित्र की प्रति का परिचय पो० कंठमणि शास्त्री ने दिया और विचित्र तर्क के द्वारा उस प्रति का लिपिकाल सं० १७२० निश्चित किया है। यह प्रति बंध ७० पुस्तक सं० ८।३ है और हमें भी सं० १९९९ में इसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

प्रति का लिपिकार कुछ विशेष रूप से शिक्षित नहीं था । प्रति बहुत अशुद्ध है। लिपिकार का नाम 'अभमंन' (अभिमन्यु ?) था, उसके हाथ के लिखे निम्न लिखित छोटे-मोटे ग्रंथ उसी पुस्तक में हैं:——

१-करुणा-भरण नाटक, लछीराम कृत—"इति करुणाभरण नाटक संपूर्ण लच्छीराम कृत लिखितं अभमंन, चि० लालजी वाचनार्थं ।"

२-बंबेक वाररी नीसाणी (विवेक वार री नीसाणी)—"इति बंवेक बाररी नीसाणी" पुरी, आसोज सुद पुन लखी, कातिक बदि ३ पुरी (संवत् नहीं दिया) ।"

३-आलम कृत सुदामा चरित्र ।

४-असमेध जग्ग री कथा (अश्वमेध यज्ञ की कथा) मुरली कृत ।

जल पर जु बरन आलम सुमति, लिखि मेंटत पढ़ि लिखित पुनि ।
सोइ सिद्ध सेख जापर सुमति, यह बिवेक बूझै सु मुनि ।।

एक बात और उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसे छंद भी हैं जो आलम अथवा शेख़ दोनों के नाम से भिन्न-भिन्न प्रतियोंमें मिलते हैं। यदि एक प्रति में आलम छाप है तो दूसरी में वही छंद कुछ पाठ-भेद मे शेख़ के नाम से मिलता है। ये प्रतियाँ प्रामाणिक हैं। वैसे तो संग्रह-ग्रंथों में एक कवि का छंद दूसरे के नाम से कभी-कभी देखने को मिलता है, परंतु आलम के ग्रंथों में ही किसी प्रति में शेख़ और किसी में आलम की छाप उसी छंद में होने से यही सार निकलता है कि आलम की ही दो छापें थी।

आलम तथा उनकी रचनाओं के संबंध में और भी विचारणीय बातें हैं, परंतु लेख-विस्तार के भय से इसे यहीं समाप्त किया जाता है। आलम के संदिग्ध छंदों पर विचार एक लेख-द्वारा करना कठिन है। आशा है इस लेख-द्वारा आलम-संबंधी भ्रामक बातों का निराकरण होगा और साहित्य के मंच पर आलम को उचित स्थान प्राप्त होगा। साहित्य-मर्मज्ञों ने अभी तक आलम की रचनाओं का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया। उसके ग्रंथों का प्रामाणिक रूप से प्रकाशन भी नहीं हो पाया और इस कारण आलम के साथ अभी तक न्याय भी नहीं हो पाया।

२

भक्तकवि 'रसखान'

भक्त कवि 'रसखान' के जीवन वृत्त जानने के लिए उपयोगी सामग्री का सर्वथा अभाव है। इधर-उधर से प्राप्त स्फुट उल्लेखों के आधार पर अथवा कल्पना की सहायता से इनके जीवन की घटनाओं का कुछ पता इतिहासकारों ने लगाने की चेष्टा की, परंतु अनेक आवश्यक बातों का विश्वस्त रूप से कुछ पता नहीं चल पाया। अभी तक उनकी रचनाएँ भी पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकीं। ऐसी अवस्था में इनकी जीवन की मुख्य घटनाओं का प्रामाणिक विवरण देना दुष्कर सा है।

'प्रेमबाटिका' नामक ग्रंथ में भक्तकवि रसखान ने अपने विषय में केवल चार दोहे लिखे हैं। वे इस प्रकार हैं—

"देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसाँन।
छिनहिं बादसा बंस की, ठसक छोरि रसखाँन॥
प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आइ गोबरधन धाँम।
लह्यौ सरन चित चाहि कें, जुगल सरूप ललाँम॥
तोरि मानिनी तें हियौ, फोरि मोंहिनी माँन।
प्रेम-देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखाँन॥
बिधु १ सागर७ रस६ इंदु १ सुभ, बरस सरस रसखाँन।
प्रेम-बाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरष बखाँन॥"

इस से स्पष्ट है कि राज्यलिप्साजन्य-विप्लव के कारण दिल्ली नगर की श्मशानवत् दुर्दशा देख कर शाही वंश का गर्व क्षण भर में छोड़ कर और एक मानिनी प्रेयसी से अपना मन फेर कर रसखान ब्रज में आये। एवं संवत् १६७१ वि० (बिधु० १, सागर, रस ६, इंदु, १) में 'प्रेमबाटिका' की रचना की। भक्त कवि रसखान की रचनाओं में इस अंतर्साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख नहीं है। कुछ वाह्य स्रोतों द्वारा या अन्य ग्रंथों में वर्णित कथाओं से भी रसखान-विषयक कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्राचीन ग्रंथों में रसखान विषयक जो विवरण मिलते हैं, उनका उल्लेख ऐतिहासिक परीक्षा सहित इस प्रकार है—

१—दो सौ बावन वैश्णव की वार्ता—वल्लभ-संप्रदाय में यह एक प्रतिष्ठित ग्रंथ है। जिस प्रकार 'चौरासी वैश्णव की वार्ता' में आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्यों का वर्णन है उसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्यों तथा सेवकों का वर्णन है। इस प्रकार के वार्ता-साहित्य अथवा सांप्रदायिक ग्रंथों का ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह कहना तो कठिन है, परंतु इन्हें कल्पित एवं अप्रामाणिक मान कर एक दम अग्राह्य भी नहीं कहा जा सकता। ये वार्ताएँ श्री गोस्वामी गोकुलनाथ जी (सं० १६०८-१६९७) के श्रीमुख से उच्चारित हुईं और प्रायः उसी समय लिपिबद्ध हो गईं। समस्त वार्ताओं की 'भाव प्रकाश' नामक व्याख्या के कर्ता श्री हरिराय जी का समय सं० १६४७ से १७२ (आयु १२७५ वर्ष) माना जाता है। इन वार्ताओं की कई हस्तलिखित प्रतियाँ और प्रकाशित संस्करण मिलते हैं। यद्यपि उनमें पाठ और भाषा-भेद दृष्टि गोचर होता है, परंतु मूल कथानक एक सा ही है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में २१८ वीं वार्ता भक्तकवि रसखान संबंधी है। एक प्रामाणिक प्रतिके अनुसार यह वार्ता इस प्रकार है —

"अब श्री गुसाईं जी के सेवक रसखाँन पठाँन दिल्ली में रहते तिनकी वार्ता। सो दिल्ली में एक साहूकार रहतो हतो। सो वा साहूकार कौ बेटा बहुत सुंदर हतो। वा छोरा सों रसखाँन कौ मन बहुत लग गयौ। वाही के पाछें फिरचौ करै और वाकौ झूठौ खाइ और आठ पहर वाही की नोंकरी करै। पगार कछू लेवै नाहीं, दिन-रात वाही में आसक्त रहै। दूसरे बड़ी जात के (मुसलमान) रसखाँन की निंदा बहुत करते हते। पर रसख़ाँन काहू की सुनते नाहीं हते। और अष्ट प्रहर वा साहूकार के बेटा में चित्त लग्यौ रहतो। एक दिनां चार वैष्णव मिल कें भगवद-वार्ता करते हते। करते-करते ऐसी बात निकसी जो प्रभु में चित्त ऐसौ लगावनों जैसे रसखाँन कौ चित्त साहूकार

के बेटा में लग्यौ हैं। इतने में रसखाँन वा रस्ता निकस्यौ, बिननें ये बात सुनीं। तब रसखाँन नें कही जो तुम मेरी कहा बात करौ हौ। तब वैष्णवन नें जो बात हती सो कही। तब रसखाँन बोले, प्रभु कौ स्वरूप दीखै तौ चित्त लगाइयै। तब वा वैष्णव नें श्रीनाथजी कौ चित्र दिखायौ। सो देखत ही रसखाँन नें वो चित्र लै लियौ और मन में ऐसौ संकल्प करचौ जो ऐसौ स्वरूप देखनों जब अन्न खानों और उहाँ सूँ घोड़ा पै बैठ कें एक रात में बृंदाबन आयौ और सबरे दिन सब मंदिरन में भेष बदल कें फिरचौ और सब मंदिरन में दरसन किये पर वैसे दरसन नाहीं भए। तब गुपाल पुर में गयौ। और भेष बदल कें श्रीनाथजी के दरसन करबे कूँ गयौ। तब सिंघपौरिया ने भगवदिच्छा सूं वा के चिन्ह बड़ी जात वारे (मुसलमान) के पहिचाँने। तब वाकूं धक्का मार निकास दियौ। भीतर पेंठन न दियौ। सो जाइ कें 'गोबिंद कुंड' पर रह्यौ। तीन दिनाँ ताँईं परचौ रह्यौ। खायबे-पीबे की कछू अपेक्षा राखी नाहीं। तब श्रीनाथजी नें जानी यह जीव दैवी है और शुद्ध है, और सात्विक है, और मेरौ भक्त है, याकूं दरसन देऊँ तो ठीक है। तब श्रीनाथजी ने दरसन दिये। तब वै उठि कें श्रीनाथजी कूं पकरवे दौरचौ। सो श्रीनाथजी भाज गए। फेर श्रीनाथजी नें श्री गुसाँईं जी सूं कही ये जीव दैवी है और म्लेच्छ योनि कूं पायौ है, जासूँ याके ऊपर कृपा करौ याकूं सरन लेऔ। जहाँ ताँईं तुम्हारौ संबंध जीव कूं नाहीं होवै तहाँ ताँईं में वा जीव कूं स्पर्श नाहीं करूँ हूँ, वा सूं बोलूं नाहीं हूँ और वाके हाथ कौ खाऊँ नाहीं, जासूं अब याकों अँगीकार करौ। तब श्री गुसाँईं जी श्रीनाथजी के बचन सुन कें गोबिंद कुंड पै पधारे और वाकूं नाम सुनायौ और साक्षात श्रीनाथजी के दरसन श्री गुसाँईंजी के स्वरूप में वाकूं भए। तब श्रीगुसाँईं जी बिन कूं संग लै पधारे और उत्थापन के दरसन कराए। महाप्रसाद लिवायौ। तब रसखाँन जी श्रीनाथ जी के स्वरूप में आसक्त भए। तब रसखाँन नें अनेक कीर्तन और कविता और दोहा बहुत प्रकार के बनाए। जैसे-जैसे लीला के दरसन बिनकूं भए वैसें ही बरनन किए। सो वे रसखाँन श्रीगुसाँईं जी के ऐसे कृपापात्र हते। जिनकूं चित्रके दरसन करत मात्र ही संसार सूं चित्त खिचकें श्रीनाथजी में लग्यौ। इनके भाग्य की कहा बड़ाई करनीं। वार्ता संपूर्ण।"

अन्य संस्करणों के पाठों से मिलान करने पर मूल कथा में कोई विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता, परंतु एक पाठ के अनुसार इन्हें केवल 'पठान' न लिख कर 'सैयद पठान' लिखा है और उसमें दिल्ली-निवासी होने का उल्लेख नहीं है। इस कथा में तथा भक्तमाल-टीका में कथित रहीम की कथा में कुछ अंशों में साम्य प्रतीत होता है। दोनों का श्रीनाथजी के दर्शन की उत्कट इच्छा से गोवर्द्धन जाना, मुसलमान होने के कारण दोनों की प्रवेश-द्वार पर रुकावट, गोविंदकुंड पर भगवान का स्वयं दोनों को दर्शन देना और फिर गोस्वामी विट्ठलनाथजी का दोनोंको अंगीकार करना और दोनोंही द्वारा, हिंदी-काव्य में श्री कृष्ण का गुणगान किया जाना आदि सभी बातें एक सी हैं। वार्ता में कथित विवरण सर्वथा निराधार नहीं हो सकता। वार्ता से इतना अवश्य ही पता चलता है कि रसखान दिल्ली के पठान थे और प्रेमी स्वभाव के थे। किसी घटनावश रातोंरात घोड़े पर सवार होकर ब्रज पहुँचे और श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य होकर कवित्त-कीर्तनों-द्वारा कृष्ण-गुणगान करने लगे। वार्ता के अनुसार इन्हें श्री कृष्ण लीला के दर्शन होते थे, अर्थात् उन्हें श्रीकृष्ण की नित्य लीला—गोचारण, वंशीनाद, रास आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता था और जैसा देखते थे वैसा ही काव्य-गान करते थे। इनकी कविता में कृष्ण लीला का और एक-एक दिन की गोपी-कृष्ण-संबंधी घटनाओं का जीता-जागता स्वाभाविक वर्णन इनके काव्य की विशेषता की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

चित्र-द्वारा कृष्ण-दर्शन की लालसा होने की बात 'वार्ता' में बताई गई है, इसका आभास रसखान की कविता में भी मिलता है। "छबि" शब्द का साधारण अर्थ "शोभा" होता है, किंतु कुछ प्रादेशिक भाषाओं में इस शब्द का अर्थ 'चित्र' भी होता है। "प्रेम देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखाँन" में यदि 'छबि' शब्द का अर्थ 'चित्र' लिया जाय तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के विवरण की पुष्टि रसखान के उपरोक्त दोहे से हो जाती है।

२—मूल गुसाँईं चरित—संवत् १६८७ में रचित 'बाबा बेणीमाधवदास' कृत 'मूल गुसाँईं चरित' में भी रसखान का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि 'रामचरितमानस' की रचना २ वर्ष ७ मास और २६ दिवस में सं० १६३३ में समाप्त हुई। सबसे पहिले मिथिला के रूपारण्य स्वामी ने अयोध्या में उसे श्रवण किया। फिर संडीले के (हरदोई ज़िला) के स्वामी 'नंदलाल' के शिष्य 'दयालदास' अथवा 'दलालदास' ने उसकी एक प्रति लिखी और अपने स्थान पर लौट कर तीन वर्ष तक 'यमुना-तट' पर 'मानस' को अपने गुरु को और रसखान को सुनाया। मूल ग्रंथ का यह अंश इस प्रकार है—

"मिथिला के सुसंत सुजान हते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते।।
सुचि नाम रुपारुन स्वाँमि जु तो। तिहिं औसर[1] औध में आयौ हुतो।।
प्रथमै यह मानस तेई सुने। तिनहीं अधिकारि गुसाँईं गुने।।
स्वाँमी नँद (सु) लाल[2] कौ सिष्य पुनी। तिसु नाम 'दलाल' सुदास गुनी।।
लिखिकें सोई पोथि स्व-ठाँम गयौ। गुरु के ढिंग जाइ सुनाइ दयौ।।
जमुना-तट पै त्रय बत्सर लों। रसखाँनहिं जाइ सुनावत भौ।।"

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि संवत १६३४ से १६३७ पर्यंत तीन वर्ष तक रसखान ने रामचरितमानस की कथा सुनी। 'मूल गुसाँईं चरित' की प्रामाणिकता पर संदेह किया जाता है। ग्रंथ के कुछ अंश संदेहास्पद हो सकते हैं, परंतु रसखान संबंधी उल्लेख पर संदेह करने का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता। रसखान 'मानस'-प्रेमी भी अवश्य रहे होंगे। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त शिव जी तथा गंगा आदि पर भी छंद-रचना करनेवाले रसखान राम-भक्त तथा 'मानस'-प्रेमी भी हों तो आश्चर्य की क्या बात है? 'गीता प्रेस' से प्रकाशित "कल्याण" (वर्ष ५ खंड १ श्रावण-१९८७, जुलाई १९३०) के रामायणांक के पृष्ठ २२९ पर रामचरितमानस की प्रशंसा में रसखान के नाम से रचित एक छंद दिया हुआ है जिससे रसखान का मानस-प्रेमी होना संभव है। वह छंद इस प्रकार है—

"सुरतरु-लताँन चारुफल है फलित किधों, कामधेनु-धारा सम नेह उपजावनी।
कैधों चिंतामनिन की माल उर सोभित बिसाल कंठ में धरे हैं जोति-झलकावनी।
प्रभु की कहाँनी ते गुसाँईं की मधुर बाँनी, मुक्ति सुखदाँनी 'रसखाँनि' मन-भावनी।
खाँड की खिजावनी-सी, कंद की कुढ़ावनी-सी, सिता कों सतावनी-सी सुधा-सकुचावनी।।"

इस छंद की प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, किसी भी प्रकाशित ग्रंथ या हस्तलिखित प्रति में यह छंद देखने को नहीं मिला। 'रसखाँनि' शब्द कवि की छाप न होकर 'रस की खानि' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो यह संभव है। इस प्रकार के छंद रसखान रचित न होने पर भी सहज ही में रसखान के मान लेने की भल संभव है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहा रसखान रचित न होकर बाबा बेणीमाधवदास रचित है, परंतु छंद की बनावट से इसे सहज ही रसखान का माना जा सकता है।

"परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ दाँनि।
तुलसी कृत रघुपति कथा, कै सुरसरि-रसखाँनि।।"

हमें रसखान को मानस-प्रेमी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। 'मूल गुसाँईं चरित' के अनुसार तीन वर्ष तक यमुना तट पर 'मानस' की कथा रसखान ने श्रवण की इसमें तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं है।

३-'भक्तमाल'—नाभादास रचित भक्तमाल में रसखान का नाम तक नहीं है और न प्रियादास जी की टीका में ही कुछ वर्णन है। ऐसा कहा जाता है कि भक्तमाल में नाभादास जी ने सं० १६४३ तक के भक्तों का ही उल्लेख किया है। अनुमानतः सं० १६४३ से पूर्व रसखान की ख्याति अधिक

[1]. रामचरित मानस की रचना समाप्त होने पर सं० १६३३ में।
[2]. संडीला तें आइकें, बसु स्वाँमी नँदलाल।

नहीं हुई। नाभादास जी के भक्तमाल में रसखान का नाम न होते हुए भी शिवसिंह जी ने स्वरचित 'शिव-सिंह सरोज' में लिखा है कि 'इनकी कथा भक्तमाल' में पढ़ने योग्य है । इस विरोध को दूर करने के लिए 'रसखान और उनका काव्य' (प्रकाशक—हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग) के लेखक पं० चंद्रशेखर पाँडे ने तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' को ही भक्तमाल मान लिया ! वास्तव में कोई विरोध है ही नहीं। गलता (आमेर-जयपुर) निवासी 'अग्रदास' जी के शिष्य नारायणदास (नाभादास) रचित भक्तमाल केवल १९५ छप्पय, १७ दोहे तथा १ कुंडलिया छंद युक्त ग्रंथ था, परंतु इसकी कलेवर वृद्धि उनके शिष्यों द्वारा होती रही'। मूल ग्रंथ में सब मिला कर १२१० पंक्तियाँ अथवा चरण थे। नाभादास जी की शिष्य-परंपरा के प्रियादासजी ने "भक्तरसबोधिनी" नामक ६३४ कवित्तों की भक्तमाल की टीका सं० १७६९ में रच कर ग्रंथ में ३७४६ पंक्तियाँ कर दी। प्रियादासी टीका तो मूल भक्तमाल का अंग ही बन गई। दोनों में से किसी की पृथक सत्ता रही ही नहीं। प्रियादासी टीका रहित भक्तमाल की कोई प्रति देखने को नहीं मिलती । इसी प्रकार प्रियादासजी के पुत्र (अथवा पौत्र) वैष्णवदासजी ने भी गद्य-पद्य-मिश्रित 'भक्तमाल-प्रसंग' की रचना कर भक्तमाल का आकार बढ़ाया। वैष्णवदासजी ने भक्तमाल के प्रचारार्थ बड़ा परिश्रम किया । इन्होंने काँधला निवासी लक्ष्मणदासजी-द्वारा सन् ११५८ हिजरी में भक्तमाल के आधार पर "भक्तमाल उरबसी" नामक फारसी ग्रंथ रचवाया। इन्हीं ग्रंथों के आधार पर फारसी, उर्दू तथा हिंदी में भक्तों के चरित्र-संबंधी अन्य ग्रंथ भी रचे गये। इस प्रकार मूल भक्तमाल का रूपांतर होता रहा । नाभादासजी तथा प्रियादासजी ने रसखान का उल्लेख नहीं किया, परंतु वैष्णवदासजी ने अपने "भक्तमाल-प्रसंग" (रचना काल सं० १८४४) में इनकी कथा इस प्रकार दी है—

"पातस्याह नें देखी तुरक कंठी पैहरन लगे। तब रसखाँन बुलाए। देखें तौ सो कंठी नार में परी है। तब पूंछी रसखाँन, कंठी क्यों राखै है? तब यै बोले—हजरत! काठ की नाव पै पत्थर तिरै याते में राखी है। यै काठ है, में पत्थर हों। यातें राख्यौ हों। तब कही—भलें राखौ, परंतु इतेक तो हिंदू हूँ नाहीं राखें। तब रसखाँन बोल्यौ वे हलके हैं। मैं भारी पत्थर हों।"

यह कथा 'भक्तमाल-प्रसंग' में ही नहीं है, किंतु उसके आधार पर रचित 'भक्त कल्पद्रुम' (भक्तमाल) तथा उर्दू भक्तमालों में भी दी हुई है । शिवसिंहजी का उल्लेख इसी कथा की ओर संकेत करता है । रसखान के उत्तर का भाव 'बिहारी' के निम्नलिखित दोहे में कितना खरा उतरा है—

"पतवारी-माला-पकरि, और न कछू उपाउ ।
तरि संसार-पयोधि कों, हरि-नामें करि नाउ ॥"

अंबाला-निवासी तुलसीरामजी ने भक्तमाल तथा उसकी टीका के आधार पर फारसी-उर्दू में 'भक्तमाल प्रदीपन' की सं० १९१३ में रचना की और उसका हिंदी रूपांतर संबत् १९२३ में 'भक्त कल्पद्रुम' (भक्तमाल) के नाम से किया गया । उसमें रसखान-संबंधी कथा में कंठी-माला के प्रसंग के साथ लिखा है कि वे मुसलमान थे । अपने पीर के साथ वृंदावन में आ पहुँचे और वहीं श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त होते ही वहीं रह गये । अपने पीर के समझाने-बुझाने पर भी ब्रज नहीं छोड़ा । इससे स्पष्ट है कि शिवसिंहजी का कथन निराधार नहीं था और रसखान भक्तों की श्रेणी में स्थान पा चुके थे । भक्तमाल की कथा में कंठी-माला-धारण करने के संबंध में राज्याधिकारियों-द्वारा निषेध करने का उल्लेख है, परंतु क्या यह इतिहास-सिद्ध बात है ?

कंठी-माला-धारण के निषेध-संबंधी विश्वस्त ऐतिहासिक प्रमाण खोज निकालने की भरपूर चेष्टा की, परंतु सफलता नहीं मिली। नाभाजी ने भी एक भक्त की कथा में इसका उल्लेख किया है। वल्लभ-संप्रदाय के इतिहास में जहाँगीर-द्वारा इस प्रकार की आज्ञा निकाली जाने और गोस्वामी गोकुल-नाथजी-द्वारा उस आज्ञा का विरोध करने का वर्णन "माला-प्रसंग" के नाम से अवश्य मिलता है। इस प्रकार की आज्ञा निकाल देने की बात वैष्णव-समुदाय में सच्ची मानी जाती है, यद्यपि इतिहास-ग्रंथ इस

संबंध में मौन हैं। कंठी-माला के लिए गोस्वामी गोकुलनाथजी ने जो सफल प्रयास किया वह उनके जीवन की एक मुख्य घटना मानी जाती है।

संक्षेप में माला-प्रसंग की घटना इस प्रकार कही जाती है कि जहाँगीर बादशाह ने चिद्रूप (जदरूप अथवा जड़रूप ?) संन्यासी के कहने से कंठी-माला-धारण के विरोध में एक आदेश निकाल दिया। इसका घोर विरोध होना स्वाभाविक था। गोस्वामी गोकुलनाथजी ने ७० वर्ष की वृद्धावस्था में काश्मीर-यात्रा कर जहाँगीर से भेंट की और इस आज्ञा को हटवा दिया। जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी से प्रथम बार भेंट उज्जैन में माघ शुल्क पूर्णिमा सं० १६७३ को की थी। मथुरा की भेंट आश्विन शुक्ल दशमी सं० १६७६ को हुई थी। चिद्रूप से अकबर ने भी एक बार भेंट की थी और ये दाराशिकोह के भी मित्र थे। जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी की प्रशंसा अपनी दिन चर्य्या की पुस्तक "तुजुक जहाँगीरी" में विस्तार पूर्वक की है। चिद्रूप संन्यासी का कुँवर ध्यानसिंह-द्वारा चित्रित सत्रहवीं शताब्दी का एक प्राचीन चित्र श्री कन्नोमलजी ने 'सुधा' नामक मासिक पत्रिका (वर्ष १ खंड २ संख्या ३ पृ० ३२५-२६) में छपवाया था और मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ ने 'श्री शारदा' (वर्ष १ संख्या २ पृ० १०२-१०५) में चिद्रूप संन्यासी संबंधी एक लेख छपवाया था। कंठीमाला-धारण करने के निषेध में चिद्रूप का हाथ था या नहीं यह सिद्ध करना कठिन है।

'मालाप्रसंग' के संबंध में श्री हरिरायजी ने गोस्वामी गोकुलनाथजी की प्रशंसा में यह कहा है——

"जयति बिट्ठल-सुवन, प्रगट बल्लभ बली, प्रबल पन करि तिलक-माल राखी।"

इस घटना से संबंध रखने वाले हमें एक 'प्रसिद्ध' कवि के १६ छंद खोज में मिले हैं। कंठी-माला-निषेध की प्रामाणिकता सिद्ध करने के हेतु केवल दो-चार छंद यहाँ दिये जाते हैं। 'प्रसिद्ध' कवि रहीम, जहाँगीर आदि के समकालीन थे और इनके रचित रहीम की प्रशंसा के छंद मिलते हैं, अस्तु——

"जती[1] के हुकुमते लगाई न रतीक[2] बेर, हुकुम हजूर ही ते साहि[3] के कितै भए।
दूर करौ माल, ततकाल टीके भालन तें, काल हू ते बिकराल दौरि हहदी[4] गए॥
बिट्ठलेस-सुवन[5] दुवन[6] दलि भुवन में, जगत 'प्रसिद्ध' जस समयाँने[7] लै छए।
साखि परमेसुर है, भाखि कौन सकै मुख, नाखि[8] कें हुकम माला-राखि सुख कों दए॥

माल तजौ साहि के कहत ही हजूर[9] गयौ, नैंक हू न नयौ[10] एक साँच ही कों भाख्यौ है।
ऐंड़[11] भरे बेद-मेंड[12] की न कहूं पेंड[13] तजी, जगत 'प्रसिद्ध' मरजाद कों न नाख्यौ है॥
जान[14] जहाँगीर देखि धीर तन काँप उठ्यौ, गाँउं-छारि तीरथ कों जाहु यहै भाख्यौ है।
बिट्ठलेस के सपूत गोकुलेस[15] के हुलास, माल-राखि सो कलेस काहु में न राख्यौ है॥

गए कसमीर न समीर-सीत गन्यों कहूँ, ठौर ठौर परचौ सोर जोर पारावार[16] लों।
साहि के हजूर उमराव ठाढ़े सुनत हैं, ऐसी बात कही गोकुलेस केती बार लों॥
कंठ तें न माला छारों, भाल न तिलक टारों, जगत 'प्रसिद्ध' छन डारोंतन छार[17] लों।
तेही छन कीरति धरनि चहूँ ओर फिरी, जाइ देव लोक फिर पैंठिगी[18] पतार लों॥

साह सराहि कही बतियाँ, छतियाँ में गही रिस कै उसरचौ[19] ना।
कंठ तें माल दिखाइ कें याहि, तजों न लजों न बजाइ[20] करचौ ना॥

[1] चिद्रूप नामक यती संन्यासी, [2] एक रत्ती भर भी, [3] जहाँगीर बादशाह, [4] संदेशवाहक सेनिक, अहदी, [5] गो० विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथ जी, [6] दुष्ट, खल, [7] वितान, शामयाना, [8] उल्लंघन कर, [9] बादशाह के समक्ष, [10] झुके, [11] गर्व, [12] मर्यादा, [13] मार्ग, [14] चतुर-विज्ञ, [15] गो० गोकुलनाथ जी, [16] सिंधुपार, आरपार, [17] भस्म, क्षार, [18] समा गई, व्याप्त हुई, [19] दूर हटाना, [20] आज्ञा पालन, हुकुम-बजा लाना।

ऐसी सभा में प्रभा इनके मुख, धरम धुरंधर जीय डरचौ ना।
गोकुलनाथ जु टेक तें ए जग माँझ 'प्रसिद्ध' सु नेंक टरचौ ना।।

उपर्युक्त अवतरणों से रसखान की भक्तमाल-वर्णित कथा की पुष्टि होती है। चिद्रूप संन्यासी से जहाँगीर की भेंट सं० १६७३ तथा १६७६ में हुई थी। प्रेमबाटिका का रचना-काल सं० १६७१ है। इस कारण माला-प्रसंग के समय का रसखान के समय से मेल खाता है। गोकुलनाथजी की काश्मीर-यात्रा तथा जहाँगीर-द्वारा आज्ञा रद्द करने की बात जहाँगीर की मृत्यु (सं० १६८४) के पूर्व ही घटी होगी।

अनुमानतः जहाँगीर या उसके ब्रज-प्रदेश के उच्च पदाधिकारी ने केवल मुसलमानों-द्वारा कंठीमाला-धारण करने का निषेध किया होगा। भक्तमाल-प्रसंग में "तुरक कंठी पहिरन लगे" शब्दों में यही संकेत है। मुसलमानों-द्वारा कंठीमाला-धारण कर हिंदू-वेश-भूषा में फिरना कट्टर मुसलमानों को अवश्य ही असह्य हुआ होगा। राजद्रोह में संलग्न मुसलमान हिंदू-वेशभूषा में विचर कर गुप्त रूप से राजद्रोहात्मक विचारों का प्रचार करते थे, इसलिये राजनैतिक कारणों से भी मुसलमानों का कंठीमाला-धारण करना राज्याधिकारियों को सह्य नहीं हो सकता था। कंठीमाला-निषेध की आज्ञा इन कारणों से दी गई प्रतीत होती है। इस आज्ञा की चपेट में रसखान भी फँस गये हों तो आश्चर्य ही क्या? चिद्रूप संन्यासी का सगुणोपासक कृष्ण-भक्तों से धार्मिक मतभेद होना निश्चय है। उस पर बादशाह से मान पाना वैष्णवों को खटका होगा। चिद्रूप के नाम को कलुषित करने के लिये कुछ मनचले वैष्णवों ने शाही आज्ञा का दोष चिद्रूप के मत्थे मढ़ दिया होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तमाल की कथा में ऐतिहासिक पुट होना संभव है। यह कथा सर्वांश में कल्पित अथवा अग्राह्य नहीं मानी जा सकती। कोई शाही आज्ञा न भी दी गई हो, परंतु कृष्ण-भक्तों में ऐसी आज्ञा पर सबको विश्वास था।

इन वहिर्साक्ष्य-पूर्ण अवतरणों के अतिरिक्त आधुनिक काल से पूर्व के लेखकों-द्वारा रसखान के विषय में कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं मिलता। कवि-कोविदों ने काव्य के स्फुट संग्रह-ग्रंथों में भक्त-कवि रसखान रचित दो-चार छंदों का समावेश कर इनकी काव्य-प्रतिभा के प्रति संमान अवश्य प्रदर्शित किया है। भक्तों ने रसखान को भक्तश्रेणी में गौरवपूर्ण स्थान दिया और प्रातःस्मरणीय भक्त-नामावली में इनकी गणना भी कर ली गई। आगे चल कर "भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र" ने अपने 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में तथा पं० 'राधाचरण गोस्वामी' ने अपने "नव भक्तमाल" में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर ही इनका उल्लेख किया, परंतु व्यापक खोज-द्वारा इनके काव्य-संग्रह के लिये कोई सफल प्रयास नहीं किया। भारतेंदुजी इनकी कविता के अत्यंत प्रेमी थे। आपने भी अपने एक छप्पय छंद में अन्य मुसलमान भक्तों के साथ रसखान का केवल नाम ही गिनाया, पर कोई विशेष परिचय नहीं दिया। वास्तव में '**इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिंदू वारियै**' इन थोड़े से शब्दों में सभी कुछ कह डाला। पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'नव भक्तमाल' में नाभादास जी के ढंग पर रसखान का परिचय एक छप्पय छंद में 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के मुख्य आधार पर इस प्रकार दिया है——

दिल्ली नगर निवास बादसा-बंस बिभाकर।
चित्र-देखि मन हरौ भरौ पन प्रेम सुधाकर।।
श्री गोबरधन आइ जबै दरसन नहिं पाए।
टेढ़े-मेढ़े-बचन-रचन निरभय ह्वै गाए।।
तब आप आइ सु मनाइ करि, सुस्रूषा महमाँन की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्री नाथ-साथ रसखाँन की।।

इस वर्णन में तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' की कथा में मुख्य अंतर यही है कि 'नव भक्त-माल' के कर्त्ता के अनुसार रसखान ने दर्शन न पाने पर व्यंग रचना कर भगवान से कुछ उपालंभ-पूर्ण वचन कहे। भक्त-माल टीका के अनुसार रहीम ने ऐसी ही परिस्थिति में व्यंग पूर्ण दोहे रचे थे। अनुमानतः गोस्वामीजी ने ऐसी ही बात रसखान के संबंध में भी कह डाली। ऐसा भी कहा जाता है कि रसखान की

प्रेयसी बहुत मानिनी थी । उससे वे असंतुष्ट से हो चले थे । एक बार श्रीमद्भागवत के फ़ारसी अनुवाद में गोपियों का कृष्ण-प्रति प्रेम का वर्णन पढ़ कर वे कृष्ण प्रेम की ओर आसक्त हो कर ब्रज में चले आये ।

इन सब बातों से यही सार निकलता है कि रसखान दिल्ली-निवासी थे और पठान बादशाहों के वंश में जन्मे थे । राजनैतिक षडयंत्रों की चपेट में आकर दिल्ली की गृह-कलह और दुर्भिक्ष के कारण श्मशानवत्-दशा देख कर शाही ठाट-बाट और अपनी प्रेयसी को छोड़ ब्रज में आ बसे । भगवान का चित्र देख कर उन्हें श्री कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा हुई और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अंगीकार करने पर हिंदू-मंदिरों मे प्रवेश पा हिंदू-भक्त के समान कंठी-माला-धारण कर जीवन व्यतीत करने लगे । सं० १६३४ से १६३७ पर्यंत तीन वर्ष तक रामचरितमानस की कथा सुनी और संवत् १६७१ में प्रेमबाटिका की रचना की ।

भक्त कवि रसखान के कविता-काल संबंधी भिन्न-भिन्न मत

रसखान के जन्म-मरण के संवतों के विषय में अभी तक कोई मत स्थिर नहीं हो पाया है। शिव-सिंहजी ने स्वरचित-'शिवसिंह सरोज' में रसखान का जन्म सं० १६३० में माना है। इसी के आधार पर बाबू 'राधाकृष्णदास' जी ने व्यंक्टेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' की भूमिका में रसखान का जन्म सं० १६३१ में माना है । शिवसिंहजी ने कवियों के जो समय दिये हैं वे अटकल से दिये हैं । ये अनेकांश में संदिग्ध सिद्ध हो चुके हैं । शिवसिंहजी-द्वारा अनुमानित संवत उचित् परीक्षा के बिना मान्य नहीं होने चाहिए, परंतु अभी तक बिना परीक्षा के ही 'सरोज' के दिये हुए संवतों को शुद्ध मान लेने की भूल होती आई है ।

रसखान की कविता का सर्व प्रथम प्रकाशन कराने का श्रेय पं० 'किशोरीलाल गोस्वामी' (वृंदावन) को है । उन्होंने पं० 'प्रताप नारायण मिश्र' से संपादन करा के १०५ छंदों सहित 'रसखान शतक' छपवाया था फिर 'सुजान रसखान' के नाम से स्वयं भी संपादन किया था । 'सुजान रसखान' में पहले गोस्वामी जी ने रसखान का जन्म-समय; 'प्रेमबाटिका' के रचना-काल, सं० १६७१ से २५ वर्ष पूर्व माना था । इस अनुमान से रसखान का गोस्वामी विट्ठलनाथजी (सं० १५७२-१६४२) का सेवक होना असंभव हो जाता है। रसखान का निधन-काल पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने पहिले सं० १६७० माना था। यह भी भ्रमात्मक था, कारण कि सं० १६७१ में प्रेमवाटिका की रचना के कर्ता रसखान की मृत्यु सं० १६७० में संभव नहीं हो सकती। इसके पश्चात स्वसंपादित 'प्रेमाबटिका' के द्वितीय संस्करण (सन् १६०६-०७ ई०) की भूमिका में अपने पूर्व विचारों को बदल कर गोस्वामीजी ने रसखान का जन्म सं० १६७१ से तीस-चालीस या पचास वर्ष पूर्व मानने की राय दी और विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में रसखान का जन्म, कविता-काल तथा मरण माना । सं० १६०० वि० के बाद के १६६६ तक के वर्षों को सोलहवीं शताब्दी न कह कर सत्रहवीं शताब्दी कहना चाहिए । स्पष्ट बात तो यह है कि गोस्वामीजी रसखान का समय ठीक-ठीक निर्णय करने में असफल रहे । स्वर्गीय बाबू 'अमीरसिंह' जी ने (सन् १६२८ ई०) 'रसखान और घनानंद' नामक पुस्तक (प्रकाशक——नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) में पं० किशोरीलाल गोस्वामी के मतानुसार रसखान का समय सं० १६७१ से तीस या चालीस वर्ष पूर्व और मरण भी उसी शताब्दी में माना है ।

मिश्रबंधुओं (सं०१६७०) ने भी रसखान का वास्तविक समय निश्चित करने की चेष्टा की। रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी । मिश्रबंधुओं के मत से यह दीक्षा सं० १६४० के लगभग ली गई थी । उनके मत से विट्ठलनाथजी का गोलोक-वास सं० १६४३ में हुआ था उसके कुछ वर्ष पूर्व ही यह दीक्षा ली गई होगी । उस समय उनकी आयु २५ वर्ष की मान कर रसखान का जन्म सं० १६१५ के लगभग और मरण ७० वर्ष की अवस्था में सं० १६८५ में माना । गोस्वामी विट्ठलनाथजी

का नित्यलीला-प्रवेश' सं० १६४३ में मानना ठीक नहीं है । वास्तविक समय माघ कृ० ७ सं० १६४२ था। यह एक वर्ष की भूल 'मिश्रबंधु विनोद' का आधार लेने वाले अन्य साहित्यकारों-द्वारा भी हुई है ।

शुद्धाद्वैत-संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान् पं० वसंतराम हरिकृष्ण शास्त्री (अहमदाबाद निवासी) ने अपने गुजराती ग्रंथ 'पुष्टि मार्गनो इतिहास' में रसखान का विस्तृत चरित्र बड़े रोचक ढंग से दिया है। यह चरित्र सं० १९७६ में 'वैष्णव-धर्म पताका' के गुजराती तथा हिंदी दोनों संस्करणों में छपा था। शास्त्री जी ने रसखान का चरित्र एक गल्प के रूप में लिखा था । उसमें ऐतिहासिक समीक्षा का अभाव है । शास्त्री जी ने मिश्रबंधुओं द्वारा रचित 'मिश्रबंधु विनोद' के आधार पर ही रसखान का जन्म सं० १६१५ में माना है और यह समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय से मेल भी खा जाता है ।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने पहिले अपनी "कविता कौमुदी" में रसखान का जन्म सं० १६४० में और निधन सं० १६८५ में माना था । अनुमानतः पं० किशोरीलाल गोस्वामी के पुराने मत के आधार पर ही ये संवत् माने गये थे । त्रिपाठी जी ने अपने संपादित 'रामचरितमानस सटीक' की भूमिका के पृष्ठ ६२ पर अपना पूर्व निश्चित मत बदल-सा दिया और सं० १६४० में रसखान का जन्म न मान कर अनुमानतः मिश्रबंधु विनोद' के आधार पर उसे वैष्णव धर्म-ग्रहण करने का समय माना ।

पं० वियोगी हरि ने 'विनोद' के आधार पर रसखान का जन्म सं० १६१५ माना। पं० रामचंद्र शुक्ल ने इनका कविता-काल सं० १६४० माना और डाक्टर रामकुमार वर्मा ने सं० १६७१ । पं० प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने अपनी संपादित 'रसखान पदावली' (हिंदी प्रेस प्रयाग) में रसखान का जन्म सं० १६१५ से १६४० के बीच में और निधन १६८० से १६८५ के बीच में माना। इन्होंने उस समय प्रचलित भिन्न मतों का समन्वय करने की चेष्टा की, परंतु यह नहीं बताया कि जन्म-समय सं० १६१५ के कुछ वर्ष पूर्व और निधन १६८५ के कुछ वर्ष पूर्व मानने में क्या शंका उपस्थित होती है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने जुलाई १९२७ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने एक लेख में 'रसखान' के समय के संबंध में छान-बीन करने की चेष्टा न कर केवल स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की सत्रहवी शताब्दी माना।

उपर्युक्त विद्वानों में से किसी ने भी रसखान रचित 'प्रेमबाटिका' में दिये हुए आत्म-परिचय संबंधी चार दोहे में से प्रथम दोहे पर वास्तविक विचार नहीं किया । रसखान ने दिल्ली को 'गदर' के कारण श्मशान के समान देखा और शाही वंश का मोह छोड़ ब्रजवास किया। मिश्र बंधु तथा उनके अनुयायियों-द्वारा मान्य सं० १६१५ में जन्म और १६४० में वैष्णव धर्म ग्रहण करने के कालों को स्वीकार करने में हमे सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि १६१५-१६४० पचीस वर्ष के समय में ऐसा कोई गदर, उपद्रव या दुर्घटना होने का उल्लेख इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलता जिसके फलस्वरूप दिल्ली नगर श्मशानवत् हो गया हो ।

श्री अमृतलाल शील ने 'सरस्वती' (अगस्त १९२७ ई०) में प्रकाशित एक लेख-द्वारा दिल्ली की इस दुर्घटना को नादिरशाह के भीषण आक्रमण से मेल मिलाते हुए रसखान का समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय के १५० वर्ष पश्चात् सं० १८०० के लगभग कर दिया। अपने इस कथन के समर्थन के लिये 'प्रेमबाटिका' के रचना काल का सं० १६७१ को विक्रम संवत् के स्थान में शक संवत् बताया । उन्होंने यह विचार करना आवश्यक नहीं समझा कि नादिरशाह के आक्रमण के समय (सं० १७९५वि० शक १६६० सन् १७३९ ई०) में रसखान गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से किस प्रकार दीक्षा ले सकते थे ? इतिहास के साथ मनमानी खिलवाड़ करना अनुचित है ।

दिल्ली की दुरवस्था और राजनैतिक विप्लवों के कारण रसखान दिल्ली छोड़ ब्रज में आये थे। इस कारण सं० १६१५ से १६४० के अंतर्काल (अकबर के राज्यकाल) में एक भीषण विप्लव की खोज की गई। सामयिक इतिहास ग्रंथों को उलट-पुलट कर एक साधारण सी घटना खोज निकाली गयी और उसे ही रसखान कथित 'गदर' मान लिया गया । पं० चंद्रशेखर पांडे ने अपनी पुस्तक 'रसखान और उनका काव्य' (हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग) में इस प्रकार के गदर का उल्लेख किया है। उन्होंने अकबर

की काबुल-विजय को दिल्ली के गदर का रूप दिया है। अकबर के धार्मिक विचार कट्टर मुल्लाओं को पसंद न थे। इस कारण वे अकबर और उसके धार्मिक सिद्धांतों का विरोध करते थे। वे अकबर से असंतुष्ट होकर विप्लव की चेष्टा करने लगे, पर कभी सफल न हो पाये। काबुल का शासक मिर्जा मुहम्मद हकीम अकबर का सौतेला भाई था। मुल्लाओं ने उसे अकबर के विरुद्ध उभारा। उसने पंजाब पर चढ़ाई कर दी। अकबर ने बंगाल में उपद्रव शांत कर सं० १६८३ में पंजाब की ओर कूच किया, परंतु उसका भाई युद्ध से मुँह छिपाता रहा। वह बड़ा व्यसनी और शराबी था। ६ अगस्त सन १५८१ ई० (सं० १६३८) को काबुल-विजय कर काबुल में २० दिवस रहकर, अकबर लाहौर वापिस आ गया और १ दिसंबर १५८१ ई० को दिल्ली पहुँच गया। अत्यधिक शराब पीने के कारण मुहम्मद हकीम की मृत्यु सं० १६४२ (जुलाई सन् १५८५ ई०) में होने पर अफगानिस्तान मुगलराज्य में मिला लिया गया। इस घटना में ऐसी कोई बात नहीं हुई जिसे 'दिल्ली का गदर' कहा जा सके। दिल्ली में तो कदाचित् एक भी गोली न चली हो। इस घटना को दिल्ली का गदर मानना एक क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्या इस गदर से दिल्ली श्मशानवत् हो गई थी?

यह अनुपम सूझ वास्तव में किसकी है यह कहना कठिन है। पं० चंद्रशेखर पाँडे की पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व भारतवासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग से प्रकाशित 'रसखान रत्नावली' में 'कवि किंकर' ने भी इसी घटना को ही दिल्ली का गदर माना है। किसी की भी सूझ हो पर है अनुपम। संवत् १६३८ की इस घटना को दिल्ली का गदर मानने में एक आपत्ति यह भी है कि उस समय रसखान की आयु लगभग २३ की होती है और उससे पूर्व ही सं० १६३४-१६३७ में उसने मानस की कथा सुनी। संवत् १६३८ के गदर के बाद दिल्ली छोड़ने वाले रसखान सं० १६३४-१६३७ में मानस की कथा किस प्रकार सुन पाये? सं० १६१५ में जन्म मानने से मानस-कथा-श्रवण के समय रसखान की आयु केवल १६ वर्ष की आती है। ये सब बातें असंगत ही हैं और इन्हें मान्यता नहीं दी जा सकती।

पं० चंद्रशेखर पाँडे ने 'प्रेमबाटिका' के रचना काल के दोहे में **'विधु सागर रस इंदु'** शब्दों में 'सागर' का अर्थ ७ न मान कर ४ माना है और ग्रंथ का रचना-काल सं० १६७१ के स्थान में १६४१ माना है। यह इसलिये किया गया प्रतीत होता है कि उनकी धारणा के अनुसार 'प्रेमबाटिका' कवि की प्रारंभिक काल की रचना है और उसके लिये उन्हें एक प्रमाण चाहिए था। ग्रंथ की रचना के समय का अपने मत से विरोध दूर करने के लिये रचना काल में ३० वर्ष का अंतर कर दिया। इस अनधिकार चेष्टा ने कवि के कविता-काल में और भी अधिक धाँधली उत्पन्न कर दी है।

रसखान के जन्म-मरण के समयों में जो धाँधली फैली हुई है उसका निराकरण करने के हेतु हमने एक छोटा लेख माधुरी (फाल्गुन सं० २००१-मार्च १९४५ ई०) में प्रकाशित कराया था। उस लेख में विस्तार से सभी बातों का उल्लेख न कर केवल सार बातों का ही उल्लेख किया था, परंतु रसखान का समय ठीक निर्णय करने की ओर ठीक-ठीक ध्यान अभी तक किसी ने नहीं दिया। विश्वविद्यालयों में ऊँची डिगरियाँ प्राप्त करने के हेतु जो निबंध लिखे जाते हैं उन में खोज संबंधी कुछ चर्चा होती है। इन निबंधकारों ने मनमानी खोज कर समस्या को और भी जटिल कर दिया है।

रसखान के विषय में एक बात और विचारणीय है। शिवसिंह जी ने उन्हें पिहानी-निवासी बताया है और नाम सैयद इब्राहीम लिखा है। 'सुजान रसखान' के संपादक श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने भी यही माना है। 'प्रेमबाटिका' में रसखान ने अपने को दिल्ली-निवासी बादशाह वंश का लिखा है। इस कारण इन्हें पिहानी-निवासी सैयद इब्राहीम मानना असंगत प्रतीत होता है। रसखान सैयद थे या नहीं, इस पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे पठान थे। सैयद होना न होना दोनों ही संभव हैं।

रसखान का वास्तविक समय

अब तक जिन बातों का उल्लेख किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रसखान के वास्तविक कविता-काल-निर्णय के संबंध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका। केवल एक या दो

बातों के आधार पर समय निश्चित करने की चेष्टा तो की गई, परंतु इतिहास-सिद्ध प्रमाणों की कसौटी पर खरा उतरने वाला कविता-काल कोई भी निश्चित नहीं कर पाया । अशुद्ध काल-निर्णय के दो मुख्य कारण हैं । एक तो यह है कि नारद-भक्तिसूत्र तथा अन्य भक्तियोग-संबंधी संमानित ग्रंथों के आधार पर सं० १६७१ वि० में रचित 'प्रेमबाटिका' जैसे उत्कृष्ट ग्रंथ को एक साधारण रचना मान कर उसे कवि के जीवन-काल की प्रारंभिक रचना मान लिया गया है । दूसरा कारण यह है कि "प्रेमबाटिका" में दिये हुए दोहों पर ठीक-ठीक विचार नहीं किया गया । "देखि गदर हित साहिवी, दिल्ली नगर मसान" से जिस समय का संकेत मिलता है उसकी छानबीन आवश्यक है । किन ऐतिहासिक घटनाओं के कारण कब "गदर" हुआ और दिल्ली नगर कब श्मशानवत् हुआ, वही समय रसखान-द्वारा बादशाह-वंश की ठसक छोड़ ब्रज में आने का हो सकता है । इस प्रकार से निश्चित किया हुआ समय 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'मूल गुसाँई चरित' तथा 'भक्तमाल प्रसंग' में वर्णित विवरणों के अनुकूल सिद्ध होने पर ही ग्रहण करने योग्य माना जा सकता है ।

चौसा तथा कन्नौज के युद्धों में शेरशाह से पराजित हो कर हुमायू को सं० १५९५ वि० में भारत छोड़ जाना पड़ा और कुछ वर्षों के लिये शेरशाह का राज्य स्थापित हो गया । उसकी नींव दृढ़ भी न होने पाई थी कि सं० १६०२ (सन १५४५ ई०) में शेरशाह सूर की मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् उसके बड़े पुत्र आदिलखाँ के स्थान पर छोटे पुत्र 'सलीमशाह' उपनाम 'इसलाम शाह' ने राज्य पर अधिकार कर लिया । उसी समय से राज्य-लिप्सा-जन्य गृह-कलह का श्रीगणेश हुआ । सलीमशाह अत्यंत ईर्ष्यालु था और किसी का विश्वास नहीं करता था । शेरशाह के समय के पुराने विश्वस्त सरदार उसे एक-एक कर छोड़ने लगे । उसका बड़ा भाई आदिल खाँ व्यसनी था और आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहता था । उसने राज्य प्राप्ति की कोई विशेष चेष्टा नहीं की और केवल बयाना की जागीर लेकर संतुष्ट हो गया, परंतु सलीमशाह राज्य-प्राप्त कर लेने पर भी अपने बड़े भाई की हत्या में सदैव प्रयत्नशील था । बिचारे आदिल खाँ को अपने प्राणों की रक्षा के हेतु भागना पड़ा । सलीमशाह ने उसके पुत्र (अपने भतीजे) महमूद खाँ को नजरबंद किया और कुतुब खाँ सूर का दमन किया । अन्य कई संबंधियों को दबाया । जलाल खाँ का बध कराया और उसके भाई को हाथी के नीचे कुचलवाया । कुछ सर्दारों ने सलीमशाह की हत्या का षड्यंत्र रचा और उसके चचा के पुत्र मुबारिज़ खाँ को गद्दी पर बैठाने का मंतव्य किया । मुबारिज़ खाँ शेरशाह का भतीजा (निज़ाम शाह सूर का पुत्र) और सलीमशाह का चचेरा भाई और साला भी था, परंतु इसी अवसर पर राज्य-प्राप्ति के आठ-नौ वर्ष बाद सलीमशाह ग्वालियर में अचानक बीमार पड़ गया और वहीं सं० १६११ (सन् १५५४ ई०) में मर गया । मरते समय अपने १२ वर्ष के पुत्र का राज्य निष्कंटक करने की इच्छा से अपनी बेगम 'बीबी बाई' से अपने साले मुबारिज़ खाँ की हत्या का प्रस्ताव किया, परंतु उसकी स्त्री ने अपने भाई की हत्या न होने दी । सलीमशाह की मृत्यु (नवंबर सन् १५५४ ई०) के बाद तुरंत ही ग्वालियर में ही बारह वर्ष का राजकुमार फ़ीरोज़ गद्दी पर बैठा दिया गया । केवल तीन दिन बाद ही 'मुबारिज़ खाँ' ग्वालियर पहुँच गया और अपने भाँजे फ़िरोज़ को उसकी माँ तथा अपनी बहिन 'बीबी बाई' की गोद से छीन कर बड़ी क्रूरता से उसका बध किया और स्वयं मुहम्मद आदिल शाह (महमूद शाह आदिल) का नाम धारण कर संवत् १६११ वि० में राज्य हस्तगत कर लिया । इतने पर भी राज्य-लिप्सा-जन्य हत्याकांड का अंत न हुआ और उसने शीघ्र ही और भी अधिक उग्र रूप धारण किया ।

महमूद आदिल शाह (पूर्व नाम मुबारिज़ खाँ) ने सलीमशाह के समय के बाज़ार--चौधरी के पद पर स्थित हेमू नामक एक हिंदू व्यक्ति को राज्य का पूर्ण कार्य-भार सौंप दिया । हेमू का प्रभुत्व नित्यप्रति बढ़ने लगा जिससे चिढ़ कर अन्य सरदारों ने विप्लव किया । उस समय सभी दलबंदी में लगे हुए थे और शक्ति-संपन्न करने में जुटे हुए थे । महमूद आदिल शाह के चचेरे भाई और साले इब्राहीम खाँ ने राज्य हस्तगत कर महमूद आदिल शाह को पूर्व की ओर खदेड़ दिया । उसने भाग कर चुनारगढ़ में शरण ली और पूर्वी प्रदेशों पर अपनी सत्ता न्यूनाधिक रूप से जमाये रखी । पश्चिमी प्रदेशों पर इब्राहीम खाँ का ही अधिकार हो गया ।

इस प्रकार कुछ ही महीनों में अपने भाँजे का बध कर जो राज्य महमूद आदिल शाह ने प्राप्त किया था उसे वह सं० १६१२ वि० (सन् १५५५ ई०) में खो बैठा।

इसी समय पंजाब के अहमद खाँ ने इब्राहीम खाँ को परास्त कर दिल्ली और आगरा जीत लिया और सिकंदरशाह का नाम धारण कर गद्दी पर आरूढ़ हो गया। इब्राहीम खाँ संभल में मारा गया। सिकंदर शाह (पंजाब का अहमद खाँ) शेरशाह का भतीजा था और इसकी बहिन का विवाह महमूद शाह आदिल (पूर्व नाम मुबारिज़ खाँ) से हुआ था जो इब्राहीम खाँ से परास्त होकर चुनारगढ़ में जा छिपा था। इस विकट गृह-कलह का सुअवसर पाकर हुमायूं ने अपनी शक्ति पुनःसंचित कर पंजाब में सरहिंद पर अधिकार कर लिया और दिल्ली की ओर कूच कर सं० १६१२ (सन् १५५५ ई०) में अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त किया। इस प्रकार नवंबर १५५४ ई० से जनवरी १५५६ ई० के सवा वर्ष के अल्प समय में राज्य की लालसा-वश दिल्ली में ऐसा भीषण गृह-कलह हुआ कि फ़ीरोज़, आदिलशाह, इब्राहीमशाह और सिकंदरशाह ये चार सुलतान हुए और अंत में सभी राज्य सत्ता खो बैठे।

ठीक इसी समय संवत् १६१२ (२३ जनवरी सन् १५५६ ई०) में अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिर पड़ने के कारण हुमायूं की अचानक मृत्यु हो गई और अकबर १४ फर्वरी सन् १५५६ ई० (सं० १६१३वि०) को गद्दी पर बैठा। उसने पठानों को खदेड़-खदेड़ कर अशक्त कर दिया और कुछ ही वर्षों में सबका दमन कर सूरवंश का नाम मिटा दिया। सिकंदरशाह सूर अकबर से प्राणों की भिक्षा पाकर शेष जीवन बंगाल में व्यतीत करने लगा और तीन वर्ष बाद मर गया। महमूदशाह आदिल को, जो चुनारगढ़ में था, बंगाल के महमूद खाँ के पुत्र ख़िज़िर खाँ ने अपने पिता के बध का बदला लेने के लिए बिहार में सूरजगढ़ में परास्त कर सं० १६१७ में मरवा डाला। इब्राहीम खाँ जो संभल को भाग गया था, हेमूं से बार-बार पराजित होकर बुंदेल खंड और फिर उड़ीसा भाग गया और कुछ वर्षों में मर गया। हुमायूं की मृत्यु का समाचार मिलते ही हेमूं मुगल-सेना से लड़ने गया और ५ नवंबर १५५६ ई० को तीर की चोट से अंधा होकर बंदी हुआ और बैराम-खाँ-द्वारा मारा गया।

उपरोक्त इतिहास प्रसिद्ध गृह-कलह को ही रसखान ने 'गदर' का नाम दिया है। इसी गृह-कलह ने दिल्ली को श्मशानवत् कर दिया था। यह राज्य-लिप्सा-जन्य परस्पर का कलह रसखान के निकट-संबंधियों के बीच ही हुआ था। वे स्वयं बादशाह वंश के पठान थे और अपने संबंधियों में मारकाट मची देख कर व्याकुल हो गए थे। सं० १६०२ में इस कलह का बीजारोपण सलीमशाह के द्वारा बड़े भाई का राज्य हड़पने के कारण हुआ और सं० १६११-१२ में भयंकर रूप से फैल गया जिसकी लपेट में सूरवंश के पठानों का सर्वनाश हो गया। इस लगातार दो वर्षों के युद्धों के कारण दिल्ली नगर श्मशानवत् हो गया था और ठीक इसी वर्ष सं० १६१२ वि० में भीषण अकाल के कारण जनता की बड़ी दुर्दशा हुई। सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। युद्ध और दुर्भिक्ष ने पीड़ित जनता में हाहाकार मचा दिया। बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य मरने लगे। उस समय के इतिहासकार 'बदायुनी' ने इस दुर्भिक्ष और युद्ध-पीड़ित जनता का बड़ा हृदय-विदारक वर्णन किया है—

"इस समय (सं० १६१३ वि०) एक भयंकर अकाल पड़ा जो आगरा, बयाना तथा दिल्ली में विशेष रूप से प्रचंड था। एक सेर ज्वारी का मूल्य २।। टंक तक हो गया था और इस ऊँचे भाव पर भी वह अप्राप्य था। बहुतों ने विवश होकर मरने के लिए उद्यत हो अपने घरों के द्वार बंद कर लिये जिसमें दस-दस, बीस-बीस या इससे भी अधिक संख्या में प्राणी मरने लगे। अनेकों को न कफ्फन मिला न क़ब्र। हिंदू-जनता भी इसी प्रकार मरी। साधारण मनुष्य काँटेदार बबूल आदि वृक्षों के बीज, जंगली घास और पशुओं की खाल पर जो धनिक वर्ग-द्वारा बेची जाती थी, निर्वाह करते थे। कुछ दिनों में हाथ-पैरों में सूजन आ जाने पर मृत्यु होती थी। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि मनुष्य नरमाँस-भक्षी हो गये थे। दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की मुखाकृति इतनी भयंकर हो गई थी कि उनकी ओर देखना कठिन था। वर्षा की कमी, दुर्भिक्ष और अन्न का अभाव तथा दो

वर्ष के लगातार युद्ध के कारण समस्त देश मरुस्थल हो गया था। कृषि के लिये कृषक नहीं बचे थे। लुटेरों ने भी नगरों को खूब लूटा।"

रसखान के दोहे में उपरोक्त ऐतिहासिक घटना का ही उल्लेख है। गदर और दिल्ली की श्मशान-वत दशा देख कर रसखान के मन में वैराग्य-संचार हुआ और वे बादशाह वंश की ठसक छोड़ ब्रज में चले गये। इसमें कोई संदेह नहीं कि दोहे में उल्लिखित घटना सं० १६१२ वि० के आसपास की है। संवत् १६११ में अपने आश्रयदाता सलीमशाह की मृत्यु के बाद की देश की दुरवस्था का कुछ आभास हमें 'नरहरि' कवि के निम्नलिखित छंद में भी मिलता है,—जिसमें खेती का सूखना, अन्न-फसल का न उपजना, सेना-द्वारा प्रजा-पीड़न, फूट के कारण पठानों का नाश, धन और धर्म का अभाव और हिंदू-मुसलमान दोनों की आकुलता-व्याकुलता का उल्लेख है—

> **"उदक-बनिज सुखि गयेउ,[1] भयेउ नहिं पुहुमि[2] अन्न-फल।**
> **प्रजा दुखित दल मलित गयेउ फटि फुटि पठाँन-दल॥**
> **दत्त सत्त गरुबत्त रहेउ धन धरम किति नति[3]।**
> **मँडन सोर चहुँ ओर[4] बहुरि सँवरेउ मुगुल-पति॥**
> **जगदीस दिखावहि दिख्खिऐ, कहि' नरहरि' निस-दिन षुरक[5]।**
> **सूरन बिन, साहि सलेम बिन, अकल-बिकल हिंदू-तुरक।"**

कहने का तात्पर्य यह है कि रसखान ने संवत् १६१२ वि० की घटना से त्रस्त होकर अपने प्राण-रक्षार्थ या संसार से एकदम विरक्त होकर दिल्ली छोड़ी। इस तथ्य में संदेह का कोई कारण नहीं है। अकबर-द्वारा काबुल विजय की तुच्छ घटना को दिल्ली का गदर मानना भूल है। रसखान पठान थे। पठान वंश के गदर से ही उन्हें घृणा हो सकती थी। मुगलवंश का गृह-कलह उनके वैराग्य का कारण नहीं हो सकता था।

राजनैतिक कारणों से किये जाने वाले हत्याकांडों से व्यथित होकर अपने प्राण-रक्षार्थ रसखान अपनी शाही वेशभूषा तथा गर्व को त्याग और अपनी मानिनी प्रेयसी को छोड़ सं० १६१२ में दिल्ली से ब्रज भाग आये थे। भेष बदल कर हिंदू साधु या भक्त बन कर वे अपना नाम-गाँव छिपाते हुए ब्रज में छिपे रहे और धीरे-धीरे हिंदू-से ही बन गये। उन्हें हज्ज करने की स्वयं इच्छा हुई या किसी पीर का आदेश मिला, पर घटनावश न जा सके। हज्ज पर जाना सुगम भी न था। उसी समय के आस-पास बैराम खाँ को हज्ज-प्रयाण करने में ही प्राण-त्याग करने पड़े थे। आत्म-रक्षार्थ अपना परिचय उन्होंने किसी को न दिया होगा। न जाने कितने वर्षों तक उन्हें छद्मवेश में मारे-मारे फिरना पड़ा होगा। मुगल सेना निरंतर शाही वंश के पठानों के दमन में संलग्न थी। रसखान को गुप्त रूप से जीवन यापन करना पड़ा, इसी कारण उनका निवास-स्थान, माता-पिता का नाम तथा उनके वास्तविक नाम तक का भी किसी को पता नहीं चल सका। जो उन्हें पिहानी-निवासी सैयद इब्राहीम नाम से मानते हैं वे भूल करते हैं। रसखान का कल्याण अपने आप को गुप्त रखने में था। कालांतर में वातावरण शुद्ध होने पर वृद्धावस्था में 'प्रेमबाटिका' में रसखान ने अपने रहस्यपूर्ण जीवन का सूक्ष्म परिचय दिया।

लगभग सं० १६१२ में जब रसखान दिल्ली छोड़ ब्रज में आये उनकी अवस्था बीस-बाइस वर्ष की होगी। शाही ठाट-बाट में रहने वाले विषयासक्त व्यक्ति के लिए वणिक-पुत्र तथा किसी प्रेयसी में आसक्त

[1]. जल तथा बनिज (व्यापार योग्य खेत में उपजा हुआ माल) सूख गया।
[2]. पृथ्वी पर।
[3]. दाता, सत्ताधारी और गौरव तथा धन और धर्म कहीं नहीं रहा।
[4]. चारो ओर शोर मँडरा गया।
[5]. खटका, भय, अंदेशा।

होने की यही अवस्था उपयुक्त जान पड़ती है। इस अनुमान से इनका जन्म सं० १५९० के लगभग माना जा सकता है।

दिल्ली छोड़ कर रसखान ब्रज में सं० १६१२ के आस-पास आये यह सिद्ध होने के बाद अब यह विचार करना है कि उन्होंने वैष्णव-धर्म कब ग्रहण किया। मिश्रबंधुओं ने रसखान-द्वारा दीक्षा-ग्रहण का समय सं० १६४० माना है। यह केवल अनुमान मात्र है। यदि यह बात दस-पंद्रह वर्ष पूर्व भी हुई हो तो कोई बाधा नहीं पड़ती। हमारी धारणा है कि रसखान में हिंदूधर्म के प्रति आस्था सं० १६४० के पूर्व ही हो चुकी थी। यमुनातट पर सं० १६३४ से तीन वर्ष तक निरंतर रामचरितमानस की कथा श्रवण करने की बात हमारी धारणा को पुष्ट भी करती है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी (सं० १५७२-१६४२) के चरित्र की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि वे प्रयाग के समीप अड़ेल में रहते थे और उन्होंने छः बार सुदूर द्वारिका की यात्रा की। सं० १६२२-२३ में वे पहिली बार थोड़े समय के लिये ब्रज में पधारे थे। अकबर के एक शाही फ़रमान से सिद्ध होता है कि गोकुल की ज़मीन उन्हें सं० १६२३ में मिली थी। फाल्गुण कृष्ण ७ सं० १६२७ के दिन से वे सपरिवार गोकुल में स्थायी रूप से वास करने लगे थे। भूतल पर उनकी स्थिति ७० वर्ष २८ दिवस की रही और माघ कृष्ण ७ सं० १६४२ में लीला विस्तारी। इससे ज्ञात होगा कि रसखान को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ग्रहण करने का अवसर उनके गोकुल में स्थायी वास करने पर सं० १६२७ के बाद मिला होगा।

सारांश में हमारे मत से रसखान का जन्म सं० १५९० के लगभग हुआ। सं० १६१२ के लगभग दिल्ली छोड़ ब्रज में आये। सं० १६२७ के बाद वैष्णव-धर्म ग्रहण किया। सं० १६३४ से १६३७ तक तीन वर्ष पर्यंत मानस की कथा सुनी और सं० १६७१ में 'प्रेमबाटिका' रची। उनकी मृत्यु इसके कुछ वर्ष बाद लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में सं० १६७५ के आसपास हुई होगी। इस प्रकार इनका जीवनकाल गो० 'तुलसीदास' जी और 'गंग' कवि के समय से पाँच-सात वर्षों के हेर-फेर से मेल खाता है। अष्टछाप के गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चार शिष्य उनके समकालीन थे, परंतु रसखान के निधन के ३०-३५ वर्ष पूर्व अष्टछाप के सभी कवियों की मृत्यु हो चुकी थी। 'रहीम' कवि रसखान से आयु में छोटे थे और 'तानसेन' तथा 'बीरबल' के निधन के बाद भी रसखान जीवित थे।

रसखान की रचनाएँ

रसखान रचित 'प्रेमबाटिका' उनके यौवनकाल की रचना कदापि नहीं हो सकती। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। इस भ्रमात्मक धारणा के आधार पर कविता-काल निश्चय करने के कारण रसखान का समय ठीक-ठीक निश्चि नहीं हो पाया। नारद-शांडिल्य आदि के भक्ति संबंधी प्रतिष्ठित ग्रंथों और श्रीमद्भागवत का मनन करने के बाद ही इसकी रचना रसखान ने की। ध्यान से 'प्रेमबाटिका' को पढ़ने से हमारी धारणा की सत्यता सुगमता से सिद्ध हो जाती है। भक्तियोग के रहस्यपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन तथा गोपी-भाव की प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता का प्रदर्शन सरल दोहों में करना कवि की विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। इस प्रकार की रचना पूर्ण प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर ही हुई होगी। वह तरुणावस्था की रचना नहीं हो सकती।

रसखान के सवैये इतने श्रुति-मधुर और भाव-भरे हैं कि जो कोई भी उन्हें पढ़ता है मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है। हिंदी-प्रेमी सर्वदा ही रसखान की कविता के प्रेमी रहे हैं। कुछ बातों में तो उनकी अपनी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अनुकरण करने पर भी अन्य कवि उनकी बराबरी नहीं कर सके। एक मुसलमान-द्वारा ऐसी रचना करना जो भक्ति-रस से ओतप्रोत हो और माधुर्य भाव के कारण अनुपम हो, कोई साधारण बात नहीं है। साहित्य के मंच पर रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है, परंतु खेद है कि उनकी रचित 'प्रेम-बाटिका' और कुछ स्फुट छंदों के अतिरिक्त अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं है। रसखान ने स्फुट छंद पर्याप्त संख्या में लिखे होंगे, परंतु सौ सवा सौ सवैयों के लगभग ही प्रकाश में आये हैं। जो कुछ प्राप्त हैं उसके

लिये हिंदी-प्रेमी पं० किशोरीलाल गोस्वामी के चिरकाल तक ऋणी रहेंगे। उन्हीं के प्रयास से हमें रसखान की कविता का आनंद प्राप्त हो सका है।

भक्त कवि रसखान की कविता की खोज के लिये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू राधाकृष्णदास, पं० राधाचरण गोस्वामी आदि ने यथेष्ट प्रयत्न किया था, परंतु पं० किशोरीलाल गोस्वामी-द्वारा संचित सामग्री से अधिक कुछ प्राप्त न हो सका। अन्य सज्जनों ने भी प्रयास किया। लखनऊ से प्रकाशित मासिक पत्रिका सुधा, (वर्ष १ खंड २ संख्या ५) में 'रसखान-शतक' तथा रसखान के छंदों को प्राप्त करने के लिये एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित हुई थी, परंतु कुछ नई सामग्री हाथ न लगी।

सबसे पहिले पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने कानपुर के पं० प्रतापनारायण मिश्र से संपादित करा कर १०५ छंदों का संग्रह 'रसखान-शतक' के नाम से प्रकाशित कराया था। तदुपरांत 'सुजान रसखान' सं० १९४८ में और दूसरी बार १९७६ में छपवाया। सं० १९४८ में उन्हें 'प्रेमबाटिका' की प्रति मिली जिसे वह दो बार छपवा चुके हैं। दूसरा संस्करण सं० १९६३ में छपा था। व्यंक्टेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित 'राग रत्नाकर' में जालंधर निवासी 'लाला भक्तराम' ने भी रसखान के १०९ छंद प्रकाशित किये। इसी प्रकार लखनऊ निवासी लाला 'केदारनाथ' ने १०५ छंदों का संकलन "रसखान के कवित्त-सवैया" नाम से दो बार छपवाया। दूसरी बार उनका प्रकाशन सं० १९७१ में हुआ था। इस प्रकार रसखान के छंदों के तीन स्वतंत्र संकलन छपे जो एक दूसरे से मेल नहीं खाते परंतु छंद-संख्या में अधिक अंतर नहीं है। 'सुजान रसखान' और 'राग रत्नाकर' में संकलित छंदों के आधार पर अन्य संस्करण छपे, परंतु लखनऊ से दो बार छपने पर भी लाला केदारनाथ के संग्रह से हिंदी-संसार अनभिज्ञ ही रहा। इन तीनों में प्रकाशित छंद संख्या इस प्रकार है—

	'सुजान रसखान'	'रागरत्नाकर'	'लालाकेदारनाथ' का संग्रह	'संमिलितसंख्या'
स्फुट दोहे-सोरठे	१४	१	—	१४
सवैया	१०३	९८	९६	१२६
कवित्त	१२	११	९	१३
योग—	१२९	११०	१०५	१५३

इसके बाद नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित अमीरसिंह जी का संस्करण सं० १९८६ में, हिंदी-प्रेस प्रयाग से श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी की 'रसखान पदावली' सं० १९८६ में, भारतवासी-प्रेस, प्रयाग से किंकर जी की 'रसखान रत्नावली' सं० १९९७ में और हिंदी-साहित्य संमेलन प्रयाग से चंद्रशेखर पाँडे का 'रसखान' सं० १९९९ में प्रकाशित हुए। अहमदाबाद से भक्तिग्रंथमाला में 'महानुभाव रसखान' प्रकाशित हुआ। इन सब संस्करणों में किसी नवीन सामग्री का समावेश नहीं हो सका। 'प्रेमबाटिका' के ५२-५३ दोहे मिला कर सभी प्रकाशित संस्करणों की संमिलित छंद-संख्या ६४ दोहे, ३ सोरठा, १२६ सवैया, १३ कवित्त और १ पद, इस प्रकार केवल २०७ छंद-पद-आदि से अधिक प्राप्त नहीं हैं। भारतेंदु जी के समय से आज तक अधिक छंदों को खोज निकालने में किसी को भी विशेष सफलता नहीं मिली।

हमने मथुरा, वृंदावन, गोकुल, कामवन, नाथद्वारा, काँकरौली, बूंदी, कोटा, सूरत आदि स्थानों में खोज की। मंदिरों के तथा अन्य पुस्तकालयों में छानबीन की। गुजरात और राजस्थान में भी प्रयत्न किया। मु० देवीप्रसाद जी जोधपुर, पुरोहित हरिनारायण शर्मा जयपुर, गोविंद गिललाभाई सौराष्ट्र, वसंतराम हरिकृष्ण शास्त्री अहमदाबाद (गुजरात), डाक्टर सरजू प्रसाद इंदौर आदि की सहायता ली, परंतु गत ३० वर्ष के परिश्रम से कोई संतोषजनक सफलता न मिली। संग्रह-ग्रंथों में से दो-दो चार-चार छंदों का संकलन भी विशेष रूप से सहायक न हुआ। इस खोज के फलस्वरूप हम जो सामग्री एकत्र कर सके वह

संतोषजनक न होते हुए भी उससे इस समय प्राप्त संख्या में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। इस सामग्री में 'प्रेमबाटिका' के ५३ दोहे संमिलित करने पर जो छंद-संख्या निकलती है उसका वितरण इस प्रकार है—

	सभी प्रकाशित पुस्तकों से प्राप्त छंद	हमारी खोजसे प्राप्त अप्रकाशित अतिरिक्त छंद	पूर्णयोग
दोहा	६४	२	६६
सोरठा	३	१	४
सवैया	१२६	८६	१२५
कवित्त	१३	७	२०
पद	१	४	५
योग	२०७	१०३	३१०

हमारे प्राप्त छंदों से संख्या में ही डेढ़ गुनी वृद्धि नहीं हुई, परंतु प्राप्त छंदों के पाठ मिलने में भी बड़ी सुविधा प्राप्त हुई। विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा दी गई और जिससे जैसा बना इन छंदों का उपयोग किया और कुछ छंदों को छपवाया भी। दो-दो चार-चार बिखरे हुए छंद प्राचीन हस्त-लिखित संग्रह-ग्रंथों में अवश्य मिले, परंतु सबसे अधिक छंद हमें सं० १८७७ की हस्तलिखित प्रति 'कवित्त रसखान के' से सं० १९८२ में प्राप्त हुए। इसमें १७६ छंद हैं जिनमें लगभग १०० छंद ऐसे हैं जो 'सुजान रसखान' में नहीं हैं। इससे अधिक सामग्री प्राप्त होने की आशा नहीं है। हिंदी-प्रेमियों को कदाचित् इतनी ही सामग्री से संतोष करना पड़ेगा। आवश्यकता तो एक प्रामाणिक संस्करण के प्रकाशन की है।

श्री भगवतरसिक जी की वाणी

राग-देवगांधार

सखी, यै सुनों अलौकिक बात ।
स्यांम-तमाल-असकंधन फूले द्वै सुंदर जलजात ।।
तिन्ह के दलँन अग्र-अग्रहि लखि, उड़पति तिनहिं लजात ।
तिन्ह पै ब्याल-सुबँन, बरही-सुत, खेलत हिलिमिलि गात ।।
तिन्ह के कोस अरुनता अविचल, वारों अरुन प्रभात ।
तिन्ह के मूल मराल-मंडली, उछरि-उछरि किलकात ।।
तिन्ह के निकट निवास स्रुतिन्हुँ कौ, कलरब सुनत सिहात ।
'भगवत रसिक' कहति नहिं आवै, निरखत नैंन सिरात ।।

राग-आसावरी

अलौकिक वृच्छ बिलोक्यौ आज ।
फूल्यौ,-फस्यौ, हरयौ नव रँग-रँग, मंजुल, मृदुल समाज ।।
थर पर कमल, कमल पर कदली, कदली ऊपर सुरूं ।
सुरूं ऊपर सुभग मनोहर, नारकेल-रस पुरूं ।।
नारिकेल पर फूल्यौ रबि-मुख, पाँच फूल ता माँही ।
जया, कुंद, तिल, महुवर, अंबुज, उपमा कों कछु नाँही ।।
आलबाल रसिया 'भगवत' भुज, देखत भाबुक नैंना ।
सेबत, सींचत रहत रैंन-दिन, बिमल-बारि उर ऐंना ।।

राग-झंझोटी

राधा-बदन पर जलजात ।
चिकुर नभ सीमंत बर कबि पाँत कल जलजात ।।
रूप रस ते प्रघट बर सोहैं नैंन जलजात ।
हास-रस बचनावली बरषत मधुर जलजात ।।
कंठ कलित त्रिरेख देखत जलत बर जलजात ।।
बितँन-बेदँन हरँन कों हरि बैद बर जलजात ।।
वारिऐ छबि धरनि पै त्रैलोक-मनि जलजात ।
'रसिक भगवत' स्वाँमिनी बर, दाँन-तक जलजात ।।

राग-राछरौ

हो प्यारी राधे, साँमन मन-भाँमन भयौ, चलि सुरति-हिंडोरें झूलि ।।
हो प्यारी राधे, माँथे मुकट सुहाँमनों अरु नचत सिखिर-चढ़ि मोर ।।
हो प्यारी राधे, घँन गरजत, मुरली बजै, अरु दाँमिन मुरि मुसिकाँन ।।
हो प्यारी राधे, बचँन-रचँन कल कोकिला अरु मुक्तावलि बग-पाँति ।।
हो प्यारी राधे, स्याँम-घटा-तन अति बन्यों, अरु इंद्र-धनुष बनमाल ।।
हो प्यारी राधे, छूटे कच टूटे धुरा, औ दादुर मृदु मंजीर ।।
हो प्यारी राधे, अरुँन-बरँन बादर कसे, अनुकूली बर माँझ ।।
हो प्यारी राधे, हरित भूमि हरिखी-हुखी, अरु इंद्र-बधू अवतंस ।।
हो प्यारी राधे, नवल नेह उलही लता, अरु किसलै-दल-पद-पाँन ।।
हो प्य री राधे, संतत रास-बिलास की, अरु चलत पवन झकझोर ।।
हो प्यारी राधे, प्रेंम-पुलक रस बरखि-हीं, अरु सरसत सरित अनंग ।।
हो प्यारी राधे, 'भगवत'-उर-सरबर भरयौ अरु फूले दृग-जलजात ।।

ब्रजभाषा के गुजराती पद-प्रणेता

श्री जगदीश गुप्त

किसी एक प्रदेश के साहित्य में जब किसी अन्य प्रदेश की भाषा का प्रयोग मिलता है तो निश्चय ही उसके पीछे कोई न कोई सांस्कृतिक आधार रहाता है जो कभी राजनीतिक, कभी धार्मिक और कभी साहित्यिक कारणों से अद्भुत होता है। गुजरात के कवियों-द्वारा ब्रजभाषा का जो प्रयोग मिलता है उसका कारण राजनीतिक न होकर पूर्णतया धार्मिक एवं साहित्यिक है। गुजरात तथा शूरसेन-प्रदेश का सांस्कृतिक संबंध अज्ञात काल से रहा है। कृष्ण का यादवों सहित मथुरा छोड़ना और सामुहिक रूप से द्वारावती अथवा द्वारका को अपनी राजधानी बना लेना दोनों प्रांतों के सांस्कृतिक इतिहास की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना रही है जिसका परोक्ष प्रभाव गुजराती और ब्रज के साहित्यक संबंधों पर भी पड़ा है। एक महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थानके रूप में द्वारका की मान्यता के प्रभाव १० वीं, ११ वीं शती से मिलने लगते हैं और लगभग इसी समय तक प्रभास तथा सोमनाथ आदि का भी सार्वदेशिक महत्व स्थापित हो चुका था। १३ वीं, १४ वीं शती के चालुक्यों तथा सोलंकियों का शासन कन्नौज तक फैला था और इस समय सूरसेन-प्रदेश से गुजरात का सांस्कृतिक संबंध और भी विकसित हो चुका था। १६ वीं शताब्दी के भक्ति-आंदोलनों ने राजस्थान और गुजरात को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया, किंतु यह प्रभाव उनके साहित्य में पूर्ण रूप से १८ वीं शती के कवि 'दयाराम' में प्रकट हो सका; इस से पूर्व के साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति स्फुट रूप से ही मिलती है। शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक वल्लभाचार्य ने संपूर्ण गुजरात की यात्रा की। 'चौरासी बैठकन के चरित्र' के आधार पर ज्ञात होता है कि उन्होंने द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि अनेक स्थानों का पर्यटन किया और वहाँ से लौटने के बाद सं० १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना की। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक गोस्वामी विट्ठलनाथ ने सं० १६१० से १६२८ तक छै बार गुजरात की यात्रा की[1]। इन यात्राओं का उद्देश्य ब्रज में स्थापित पुष्टिमार्ग का भक्ति-संप्रदाय के रूप में व्यापक प्रचार करना था। वल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों की गुजरात की संस्कृति से इतनी अनुकूलता रही कि कालांतर में गुजरात में 'वैष्णव' शब्द पुष्टिमार्गी भक्त का पर्याय हो गया और गुजरात वल्लभ-मत का घर ही बन गया[2]। गोकुल और ब्रज कृष्ण की लीला-भूमि होने के नाते कृष्ण-भक्तों के लिये ऐसे ही पूज्य स्थान थे, संप्रदाय के प्रधान पीठ होने के नाते उसकी मान्यता गुजरात में और भी बढ़ गयी। जहाँ तक ब्रजभाषा का प्रश्न है, इस ब्रज-प्रदेश की भाषा का जन-भाषा होने के कारण, साहित्य-निर्माण से पहले भी एक लोक-व्यापक रूप था, परंतु उसका साहित्यिक स्वरूप अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर १६ वीं शती से पूर्व ही स्थिर हो चुका था। १६ वीं तथा १७ वीं शती में तो ब्रजभाषा-साहित्य ने चरम उत्कर्ष प्राप्त किया। समस्त उत्तर भारत में उसको आदर प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि बंगाल में कृष्ण-काव्य की भाषा का नाम ही 'ब्रजबूलि' पड़ गया। गुजरात में भी लगभग इसी काल में अनेक ऐसे कवि उपलब्ध होते हैं जिन्होंने

१. (१) अडेल से गुजरात। (२) सं० १६१३ में पुनः अडेल से गुजरात। (३) सं० १६१९ गढा से। (४) सं० १६२३ में मथुरा से। (५) सं० १६३१ में गोकुल से। (६) सं० १६३८ में।
—गुजराती-साहित्य, खंड ५, (मध्यकाल नों साहित्य-प्रवाह) पृ० ३६५,

२. 'टुकां मा वल्लभ मतनुं धामज गुजरात थइ गयुं।'—वैष्णवधर्म नों संक्षिप्त इतिहास,
—दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, पृ० १८४

ब्रजभाषा में कुछ पद रचना की। १७ वीं शती तक का गुजराती-साहित्य एक प्रकार से संप्रदाय-मुक्त साहित्य है। वल्लभ संप्रदाय के सिद्धांतों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति गुजरात में १८ वीं शती से ही यथार्थतः प्रारंभ हुई, यद्यपि ब्रज में वह १६ वीं शती से पूर्व प्रकट होने लगी थी। अतएव यहाँ जिन कवियों का उल्लेख किया जा रहा है। वे सब के सब स्वतंत्र रूप मे पौराणिक-आधारोंको लेकर कृष्ण-काव्य के निर्माण में प्रवृत्त होने वाले कवि हैं। संप्रदाय से संबद्ध कवियों-द्वारा यदि ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया होता तो वह धार्मिक कारण से होता, परंतु ऐसा नहीं हुआ जिससे स्पष्ट है कि १७ वीं शती तक जिन कवियों ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया उन्होंने साहित्यिक कारणों से किया। सूरदास आदि के पद उस समय तक गुजरात में प्रचलित हो चुके थे, जिसके प्रमाण हैं उस काल के अनेक हस्तलिखित पद-संग्रह जो गुजरात के विविध स्थानों मे प्राप्त हुए हैं।

गुजराती के एक दो नहीं पाँच-छै ऐसे कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनमें 'भालण' तथा 'केशवदास' दो ऐसे कवि हैं जो अब तक १५ वीं शती में स्थान पाते रहे हैं। शेष कवि 'लक्ष्मीदास', 'कृष्णदास', ब्रेहदेव' तथा 'विष्णुदास' १६ वीं तथा १७ वीं शती के अंतर्गत आते हैं। भालण तथा केशवदास का जो समय गुजरातीसाहित्य के इतिहासकारों ने निर्धारित किया है वह त्रुटिपूर्ण है। केशवदास के संबद्ध की त्रुटि तो (Indian Chronology) के आधार पर बार और तिथि की गणना करने से प्रकट हो जाती है और उनकी रचना श्रीकृष्ण-क्रीड़ा-काव्य के समय सं० १५२९ से हट कर सं० १५९२ सिद्ध हो जाता है, परंतु भालण के संबंध में कोई भी ऐसा ज्वलंत प्रमाण नहीं मिलता, किंतु दूसरी ओर जिन आधारों पर भालण का समय निर्णीत किया गया है, उनका भी कोई अकाटच प्रमाण नहीं है और विद्वानोंमें मतैक्य भी नहीं है[1]। गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् 'केशवराम काशीराम' शास्त्री का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने भी भालण के १६ वीं शती में होने की संभावना की है, जो उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—

> **"१४९५-१५९५ (ई० स० १४३९-१५३९) नों सौ वर्षनों समय एना पूर्वार्ध माँ भालण नाँ अस्तित्व नें पुरवार करी सकवानी स्थिति माँ न होइ, उत्तरकाल नें माटें एटलें के सं० १५५०-१५९५ अथवा विक्रमनी १६ मीं सदीनाँ उत्तरार्ध माँ परिणत थइ सके छै खरो[2]।"**

शास्त्री जी ने अपने लेख का शीर्षक—'भालण : ब्रजभाषानो आदि कवि' दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे भालण को समयच्युत करके भी 'सूर का पूर्ववर्ती' मानते हैं, क्योंकि उसी स्थिति में भालण ब्रजभाषा के आदि कवि कहला सकेंगे ; परंतु अपने ही लेख में आगे चल कर वे इस विषय में जो कुछ कहते हैं उससे उन्हीं की मान्यता संदेहास्पद हो जाती है। वे लिखते हैं —

> **"ब्रजभाषानाँ" आदि कविनुं स्थान गुजरातनाँ बै कविओ भालण अनें केशव लइ जइ शके एवा छै। तेमाँथी केशवनुं स्थान खसी जाय छै। एटले आपरणे अहीं भालणनें ब्रजभाषानों आदि कवि कहिवानों रहे। जो एम न स्वीकारिएँ तो केशवनी जेम भालण पण सूरदास नों अनुगामी ठरे[3]।"**

और इसीके साथ वह यह भी मानते हैं कि भालण के काव्य पर ब्रजभाषा-काव्य की छाया है—

> **"परंतु दशम स्कंधनाँ कडवारूपे पदो अनें शुद्ध गेय गुजराती पदोमाँ ब्रजभाषा कवितानी कई छाया आवी जाय छै।"**

ऐसी अवस्था में जब कि भालण के काव्य पर ब्रजभाषा-काव्य की छाया भी सिद्ध होती है और उनका समय भी अनिश्चित है, यही संभावना अधिक प्रतीत होती है कि भालण भी केशवदास की तरह सूर के परवर्ती ही रहे होंगे।

१. मुंशी—सं० १४८२-१५५६—ई० (१४२६-१५००)। झवेरी—सं० १४९५-१५९५—ई० (१४३९-१५३९)। रा० चु० मोदी—सं० १४६१-१५४५—ई० (१४०५-१४९५)।

२. हिंदुस्तान (गुजराती दैनिक) मुंबई, आवृत्ति—११-११-४९, पानुं ८

३. हिंदुस्तान (गुजराती दैनिक) मुंबई, आवृत्ति,—२५-११-४९, पानुं ४

भालण के दशमस्कंध में ब्रजभाषा के अनेक पद मिलते हैं, जिनमें से छै पद भालण की छाप वाले हैं। शेष में से तीन पद 'सूरदास' के, तीन 'विष्णुदास' के, एक 'मेहा' का तथा एक 'शीतलनाथ' अथवा 'रसातलनाथ' का है। प्रक्षिप्त पद ग्रंथ की सभी हस्तलिखित प्रतियों में समान रूप से नहीं मिलते। जो प्रतियाँ प्राचीन हैं उनमें सूरदस का केवल एक पद मिलता है और विष्णुदास के ब्रजभाषा के पदों के स्थान पर अन्य गुजराती कवियों के पद प्राप्त होते हैं[1], किंतु जहाँ तक भालण की छाप वाले पदों का संबंध है वे नवीन-प्राचीन सभी हस्तप्रतियों में उपलब्ध होते हैं। इससे उनके भालण कृत होने की ही संभावना अधिक प्रतीत होती है। भालण के छहों पद निम्नलिखित हैं—

"कौन तप कीनों री माई नँद-घरणी।
लै उछंग हरिकूँ पय प्यावत, मुख चुंबन मुख भींनों री॥
तृपत भए मोंहन जु हसत हैं, तब उगमत अधर ही फींनों री।
(जशोमती) लटपट पूंछन लागी, बदन खेंचि तब लींनों री॥
रिदे लगाये बद जु मोहि तू कुलदेवा दींनों री।
सुंदरता अंग-अंग कहा बरनूं, तेज ही सब जुग हींनों री॥
अंतरिच्छ सुर इंद्रादिक बोलत, ब्रज-जन कौ दुख खींनों री।
इह रससिंधु गान करी गाहत है 'भालण' जन-मन-भींनों री॥

—पृ० ५३-५४

मैया, मोहे भावे दधि भात।
निद्रा में हरि असो बोले, ठाडी सुनत देवकी मात॥
तब आगे दंतधावन कीनों, निकट आय जननी कहें प्रात।
दधि ओदन भोजन करौ लालन, जो मन में रुचि सामल गात॥
मैया सो तो ग्वाल कौ खेबौ अब मेंरे मनने भात।
कहौ गोकुलीउँ ते लालन असो कहे जननी मुसकात॥
कहाँ संगी कहाँ दधि-यमुना तट, कहाँ वे रुचि कहाँ अंबुज पात।
'भालण' प्रभु रघुनाथ बदत हे, बरस की रही ब्रज में बात॥

—पृ० १९९-२००

ब्रज को सुख समरत स्याम।
परनकुटी सो बीसरत नाहीं, नाहींन भावत सुंदर धाम॥
बदीर मात्र नवनीत के कारन, ऊखल बाँधे ते बहु दाम।
चित्त में वेजु चुभी रही है, चोर-चोर कहते हे नाम॥
निस दिन फीरतो जु सुरभि के संगे, सिर पर परत शीत घन घाम।
निस फुनि दोहन-बंधन को सुख, करि बेठत नाहीं जो नाम॥
मोरपिच्छ गुंजाफल ले ले, बेख बनावत रुचिर ललाम।
'भालण' प्रभु बिधाता की गति, चरित्र, तुमारे हे सब बाम॥

—पृ० २००-२०१

कहो मैया, केसे सुख पाउँ।
नाहिंन सो लोक श्रीदामा खेलन संग कोन में जाउँ॥
नाहिंन गृहे वे ब्रजबासीन के, जहाँ चोर-चोर दधि माखन खाउँ।
नाहिंन बृंदाबन अति बल्लभ, जा कारन हुं गौ चराउँ॥

1. हिंदुस्तान (गुजराती दैनिक) मुंबई, आवृत्ति १८-११-४९" पानुं ४

नाहिंन बृंद जु गोपीजन को, जा कारन मृदु बेन बजाउँ।
नाहिंन जमलार्जुन बृख दोऊं, जा कारन हुँ आप बँधाउँ।।
नाहिन प्रेम असो कोउकुं, जाकुं मेरी कथा सुनाउँ।
'भालण' को उर सीक जु नाहीं, अहिंयां के आगे ब्रज के गुन गाउँ।

अब पढबे कौ आयौ दिन।
अते बरख पढे गने नाहीं, कीडा कीनी नंद-भुवन।।
सुत कौ सुख पायौ जसोदा, मेरे पूरब नाहीं जु पुन्न।
आऐं दो दिन भए जु नाहीं, उठ चले फुन जुग-जीवन।।
अहि बाजकर हरि जु चले फुनि, देखन हु कहाँ बृंदाबन।
हम पर प्रीत नाहिंन मोहन की, जेसौ ब्रज ऊपर हे मन।।
कहाँ कुमति आनकदुंदुभि की, पठब रहे जो सावर-घन।
पाछे आए की कहाँ आसा, राम संग चले पीत-बसन।।
जहाँ सिधावें गिरिधर वे, अवनी लोक सब धन।
बिरह बेदना हरि नहिं जानत, जानत हैं वे 'भालण' जन।।

सुत, में सुनित लोक में बात।
मेरे सों तुम सत्य कहौ, सुंदर स्यामल गात।।
संदीपन कौ सुत मृत्यु भयौ, उदधि जल में पात।
बहोत दिवस ताकुं निबड गए तें रोइ रहे वे मात।।
तम पे गुरु दच्छना माँगी, आँन दीयौ बिख्यात।
खट सुत कंसे बधे हैं मेरे, जेष्ट तिहारे भ्रात।।
सो मोकुं को देत जु नाहीं, जो कछु बल्लभ मात।
'भालण' प्रभु बिरद अति ताते, मेरो मन उकलात।।"

—पृ० २०१,२०७

भालण के यह सभी पद कृष्ण के बाल अथवा किशोर रूप से संबंधित हैं और इनमें या तो यशोदा का या देवकी का वात्सल्य-भाव अंकित है। भालण ने कृष्ण की बाललीला के विषय में अनेक पद गुजराती में भी लिखे हैं। यह वस्तु-सत्य इस बात की संभावना को और भी बढ़ा देता है कि कदाचित् सूरदास के ब्रजभाषा के वात्सल्य विषयक पदों से उनका परिचय पर्याप्त रूप में रहा होगा। सूरदास ने इस तरह के पदों की रचना संप्रदाय-प्रवेश अर्थात् सं० १५६७ के पश्चात् की। अतएव यदि भालण पर सूरदास का प्रभाव स्वीकार किया जाय तो उनका कविता-काल १६ वीं शती ई० का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है।

विष्णुदास तथा मेहा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे गुजराती के कवि थे। यही संभावना अधिक है वे ब्रजभाषा के ही कवि रहे होंगे। यों विष्णुदास नामक दो-एक गुजराती कवि भी हुए हैं। मेहा का नाम ब्रजभाषा के कवियों के साथ गिनाया गया है—

"सूरदास, मेहा, परमानँद, नृत्य करें ततथेई।"

केशवदास के कृष्ण-क्रीड़ा-काव्य में केवल एक स्थल पर ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। पहले राधा की मान लीला के संबंध का एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

गीत, राग-आसावरी

"बिरह भावे भजताँ निशी भामिनी, जाणी जगदाधार।
साद करे प्रेम 'राधा राधा' तोहे ने खोले द्वार[1]।।

[1] दो गुजराती पंक्तियाँ।

त्यज अभिमान गोवाली ! घरय आयो श्री बनमाली । (ध्रुवपद)
याके चरण चतुर्मुख सेवे, किंकर होय कपाली ।।
जो बनमाली तो फूल बेचजै चुंबे बेल गुलालाँ ।
सुण्य चतुरी ! हूं चक्री तूं काण कवण कुलालाँ ।।
अरे, अरे अनंग हूं अबला "नाग तमें हम नारी ।
हूँ हरि हेलां हश महि रखणी, तू माँकड़ बन मुरारी ।।
प्रेम कलह प्रेम पस्य पस्य मंडे, जम होय कोयक कामी ।
वार उघाड़ी मल्यौ मधुसूदन, 'केजवदास' चो स्वामी ।।"

इसके आगे फिर चौपै की दो पंक्तियाँ गुजराती की हैं, जो वर्ण्य-विषय की सूचना देती हैं, जैसे उपर्युक्त पद में—

"एक बार आवी गोलणी, रात करी केशव नी घणी ।
मात ! माँड न वारो तस्ने, एम करनाँ क्यम बसिऐ अहो ।।"

तदुपरांत एक निश्चित क्रम से कारिका की एक-एक पंक्ति के पश्चात् त्रोटक की चर-चार पंक्तियाँ दी गयी हैं। इस प्रकार ४० पंक्तियों का यह ब्रजभाषा का एक दूसरा पद प्राप्त होता है, जो यशोदा और गोपी के संबाद के रूप में पहिले पद के तत्काल बाद में दिया हुआ है। जैसे—

कारिका

"सुन हो जसोमति माय ! कृष्ण करत है अति अनिआय ।

त्रोटक

कृष्ण करत है अनियाय, अतलीबल गोपी कौ कह्यौ न मानें ।
देखत लोक लाज कुछु नाहीं, नारच बोलावत ही शानें ?
हम गुनवती सती सुलखणी, यह बिध्य रह्यौ न जाय ।
कोपहि काल्य सुनेंगौ कंसासुर, सुन हो जसोमति माय ।।

कारिका

अरे, अरे बाउरी गोपी ! तें लाज हमारी लोपी ।

त्रोटक

लाज हमारी लोपी, तुमही सब मिल बाल भूलायौ ।
जहाँ जहाँ फिरौं गहन बन गोचर, तहाँ तहाँ संग आयौ ।।
अंजी अँखियाँ कीयौ तुम अंजन ! "कहे इम माता कोपी ।
छाँड़ौ सब चतूरी चतुराई, अरे, अरे बाउरी गोपी ।।

कारिका

कपट करे हे तुम आगे, सेज सूये नहीं जागे ।

त्रोटक

सेज सूये नहीं जागे, सुंदर बालक आय बोलावे ।
जमुना-तीर तरुन सब देखत, मोहन बेनु बजावे ।।
लीना चित्त चूराइ 'चत्रभुज', कहते कछु न लागे ।
हम अबला अे धीर धरनीधर, कपट कर ही तम आगे ।।

कारिका

कुँअर मेरौ री छोटौ, माननी बोल नाँ इम खोटौ ।

त्रोटक

क्यों कर चित्त चोरायो, हूं बोलत कुछ॒ न आवे।
कल परसुं कौ जायौ तुम चित्त किस्त बिध्य चुरावे।।
ग्रही अंगुली चलाबूं गोबिंद, नाहं माधौ मोहोटौ।
स्त्री को चरित करो अम आगे, कुँअर मेरौ छोटौ।।

कारिका

माता! कहनों न मानें, कामणगारो ताहारो कान।

त्रोटक

कामणगारो काहानउ कहीये, बहु बिध रूप दिखावे।
हम आगे होय मयण मनोहर, बालक होकर आवे।।
बूझो नहीं यह पूत के प्राक्रम, जो लहीअे भगवाने।
जीनकौ भेद कलहि नहीं कन हो, माता कहनो न माने।।

कारिका

ये धाता सरजी नारी, सहि ते रूप से हारी।

त्रोटक

सहि ते रूप से हारी, सुनी हैं अघटित घाट घटावें।
माया करके विश्वकूं मोहैं, अबला अचल चलावें।।
कहाँ तुम सह सगने हो सुंदरि, कहाँ यह अेक मुरारी।
त्रिभुवन माँहि नहीं को तोले, धाता सरजी नारी।।

कारिका

न रुचे नंद की रानी! मत कहौ मात रिसानी।

त्रोटक

मत कहौ मात रीसानी, बोलै यह अपराध हमारौ।
घर में रहे सदाँ गुनसागर, कोमल कुँवर तह्मारौ।।
सबही सखी तम्हारी पूर्वे, हम अहिरी अजानी।
बडे से हेली अेसी बात न कीजें, न रुचे नंद की रानी।।

कारिका

यह बिद्ध करही अनुदिन क्रीड़ा, बनिता छाँडयन व्रीडा।

त्रोटक

बनिता व्रीडा छाँडय हि बोले, हर्षे मात हँसावे।
मिंदर काज करे नही केसे, मिस कर माननी आवे।
'केसोदास' कहे धन्य गोपी, धन्य युब सहेनीडा।
चरण्यकी रेण चतुर्मुख बंछे, यह बिध अनुदिन क्रीडा।" —पृ० १०९-१

इसका संवादात्मक रूप, सिंहावलोकन पद्धति, गुजराती पन लिये हुए शब्दावली तथा पद-विन्यास इसे ब्रजभाषा की पदशैली से भिन्न कर देते हैं। लगता है कि कवि को ब्रजभाषा का ऊपरी ज्ञान है और वह उसे काव्य में प्रयुक्त करने का प्रयास सा कर रहा है इसी लिये दोनों का मिश्रण हो गया।

केशवदास पर अष्टसखाओं के काव्य का प्रभाव स्वीकार करने के विषय में गुजराती विद्वानों में मतभेद है। रामलाल चू० मोदी ने इसे स्वीकार किया है और केशवराम काशीराम शास्त्री ने अस्वीकार[1],

[1]. 'ब्रजभाषामां रचेला .... न गई होय।' —कवि-चरित भाग १. पृ० ८३

यद्यपि अब शास्त्री जी भी दूसरी ओर झुक गये हैं। 'भालण : ब्रजभाषा नो आदिकवि' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने भालण के आदिकवि होने की ही बात कही है, केशवदास को छोड़ दिया है।

इन कवियों के बाद 'लक्ष्मीदास', कृष्णदास' तथा 'ब्रेहदेव' पर विचार करना शेष रह जाता है जिनके विषय में समय की संगति-असंगति का कोई प्रश्न नहीं उठता।

ब्रेहदेव की 'भ्रमरगीता' नामक प्रति में भी एक पद ब्रजभाषा का प्राप्त होता है। पद का विषय वही है जो समस्त कृति का। पूर्वापर प्रसंग की दृष्टि से भी यह पद उचित स्थान पर ही प्राप्त होता है। पद निम्नोक्त है—

"प्रीत बनी हैं ऐसी नींकी।
नाहीं री ऊधो दिवस चार की, मोहे तौ पेले भवकी।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।
दिन-दिन प्रीत बढ़ी जाए ऊधौ तिल क्यों आ तन छूटे।
अब निसि गाँठ पड़ी माधौ सुं नवि छूटे तन तूटे।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।
माधौ बिन मेरे हैऐ ऊधौ, उर ना कोय सुहाए।
बिबिध रूप छाँरी मेरे नयनाँ, स्वरूप स्याम को चाहे।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।
बचन पराए सुनत दुःख उपजै, हरि-लीला-बिन सोई।
'ब्रेहदे' प्रभु बिना री ऊधौ, बानी सफल न होई।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।"

—भ्रमरगीता कडबूं २५ बृहद्काव्य दोहन भा० १. पृ० ६७५

इस पद के अंत में 'सूरदास प्रभु' की तरह ब्रेहदेव ने भी अपने नाम की छाप "ब्रेहदेव" के रूप में अंकित कर दी है। अन्य अनेक भक्त-कवियों के पदों में भी इसी प्रकार की शैली मिलती है। ब्रेहदेव की ब्रजभाषा में केशवदास की अपेक्षा गुजराती का बहुत कम मिश्रण है।

लक्ष्मीदास नामक गुजराती कवि ने भी कृष्ण-भक्ति के अनेक स्फुट पदों की रचना की, जिनमें ब्रजभाषा का पर्याप्त मिश्रण है। कुछ पद तो शुद्ध ब्रजभाषा में ही रचे गये हैं जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है—

"आजु सरे सफल भए नेंन।
कोटि मनमथ रूप चतर जु, निरखे गिरिधर चेंन।।
कोटि रबि-छबि जोति आनन, अंबर कोटिक मेंन।
'जन लखिमिदास' बिचित्र तरूनी, लिखी चित्र से ऐंन।।"

इसके अनंतर चार और पद एक पद 'केदारा' का, एक 'रामगरी' का, एक 'बसंत' का तथा एक 'कानरा' का प्राप्त होते हैं।

कृष्णदास नामक एक अन्य कवि की एक 'श्री रुक्मणी-विवाह नाँ पदो' नामक रचना में भी कुछ पद ब्रजभाषा के प्राप्त होते हैं। यह रचना वस्तुतः विभिन्न विषयों के पदों का एक लघु संग्रहमात्र लगती है। सूर आदि कुछ ब्रजभाषा के कवियों के पद भी इसमें प्रक्षिप्त रूप से मिलते हैं। इन पदों की प्रामाणिकता का पूर्णतया मिर्धारण संभव नहीं है।

विष्णुदास और मेहा के पद

राग-देवगांधार

कर मोदक माँखन-मिसरी लै, कुँवर के सँग डोलत नँदराँनी ।
मिस करि पकर न्हवायौ चाँहत, बोलत मधुरी बाँनी ।।
कँनक-पटा आँगन में राख्यौ, सीत-उस्न धरि पाँनी ।
रतँन-कटोरा सोंधौ-उबटँन, चँदन कांकसी आँनी ।।
यों लाई मंजन-हित जननी, चित्त चतुरई ठाँनी ।
मन में मतौ करत उठ भाजे, दुखित केस-अरुझाँनी ।।
निरख नेंन-भरि देखत राँनी, सोभा कहत न बाँनी ।।
गात सचिक्कन यों राजत हैं, ज्यों घन बिजु लपटाँनी ।।
आऔ मनमोंहन मेरे ढिंग, बात कहों इक छाँनी ।
एक खिलोंनाँ तात जु लाए, बल अजहूँ नहिं जाँनी ।।
राजकुँवर इक न्हात तें भाज्यौ, ताकी कहों कहाँनी ।
बढ़ी न बेंनी रही जु तनक-सी, वाकी दुलहिन देखि हँसानी ।।
बैठे आइ न्हाइ पट पैहरे, आँनद मन में आँनी ।
'बिस्नुदास' गिरिधरँन सयाँने, मात कही सोई माँनी ।।

राग-केदारौ

छाँडिदै तू माँनिनी, स्याँम-संग रूठिबौ ।
रहत तुब-लींन, जल-मींन ज्यों सुंदरी, करौ क्यों न कृपा नवरंग पर तूठिबौ ।।
बेगि चलि जाँमिनी जात पल-छिन घटत, कुंज में केलि करि अमी-रस-घूंटिबौ ।
बलि 'बिस्नुदास' नाथ नंद-नंदन कुँवर, सेज-चढ़ि ललँन-संग मदन-गढ़ लूटिबौ ।।

राग-सारंग

आँगन नंद के दधिकाँदौ ।
छिरकत गोपी-ग्वाल परसपर, प्रघटे जग में जादौ ।।
दूध लियौ, दधि लियौ, लियौ घृत, माँखन-माँट सँजूत ।
घर-घर तें सब गावत आवत, भयौ मैहेर कें पूत ।।
बाजत तूर करत कोलाहल, वारि-वारि देंइ दाँन ।
जियौ जसोधा पूत तिहारौ, या घर सदाँ कल्याँन ।।
छिरके लोग रँगीले दीसें, हरदी पति जु सुबास ।
'मेहा' आँनद-पुंज सु मंगल, या ब्रज सदाँ हुलास ।।

राग-बिलावल

हमारौ देव गोबरधँन परबत, गो-धँन जहाँ सुखारौ ।
मघवा कों बलि-भाग न दीजे, सुनिऐं मतौ हमारौ ।।
बड़रे बैठ बिचार मतौ कर, परबत कों बलि दीजै ।
नंदराइ कौ कुँमर लाड़िलौ काँन्ह कहे सो कीजै ।।
पाबक, पबन, चंद, जल, सूरज, बरतत आग्या लींन्हें ।
या ईस्वर कौ कियौ होत है, कहा इंद्र के दींन्हें ।।
जाके आस-पास सब ब्रज-कुल सुखी रहैं पसु-पारैं ।
जोरौ सकट अछूते लै-लै, भलौ मतौ कोउ टारै ।।
माँखन, दूध, दह्यौ, घृत, घृत-पक, लै जु चले ब्रजबासी ।
अदभुत रूप धरें बलि भुगतत, परबत सदाँ निबासी ।।
मिट्यौ भाग सुरपति जब जाँन्यों, मेघ दए हँकराई ।
'मेहा' प्रभु गिरि कर-धरि राख्यौ, नंद-सुवन सुखदाई ।।

भ्रमरगीत की परंपरा

श्री सरला शुक्ल

हिंदी-साहित्य में भ्रमरगीतों की परंपरा का आरंभ भक्तिकाल में अष्टछाप कवियों के द्वारा हुआ। इस परंपरा का मूलाधार भागवत है, किंतु हिंदी-भ्रमरगीतों और भागवत के भ्रमरगीत में मूलतः अंतर है। भागवत के भ्रमरगीत में अध्यात्म की झलक है, उसमें गोपी-हृदय की विरह-विह्वलता तथा यशोदा के मातृ-प्रेम की उत्कटता का अधिक वर्णन नहीं और न व्रज के अन्य उपकरणों का शोभाहीन होना, उतना वर्णित है। भागवतकार का ध्येय भक्ति और ममत्व के ऊपर ज्ञान की प्रतिष्ठा करना ही ज्ञात होता है। भागवत के उद्धव गोपियों के उत्कट प्रेम की प्रशंसा तो करते हैं, किंतु उससे प्रभावित नहीं होते, विजय ज्ञान की ही होती है। उद्धव की ज्ञान-चर्चा के बाद भागवत की गोपियाँ एकदम शांत हो जाती हैं, उन्हें कृष्ण के सर्वव्यापकत्व का विश्वास हो जाता है और किसी प्रकार का प्रतिरोध किए बिना ही वे उद्धव के मत से सहमत हो जाती हैं। यहाँ गोपी-विरह की व्यापकता तथा गंभीरता का दर्शन नहीं होता, ऐसा ज्ञात होता है कि भागवतकार अपने विचारों की बलात् प्रतिष्ठा कर रहा है। भागवत की इस कथा का आधार लेकर भ्रमरगीतों की रचना करने वाले हिंदी-कवियों ने अपने भ्रमरगीतों की दिशा ही परिवर्तित कर दी। भागवतकार ने मातृ-हृदय यशोदा तथा सरल प्रेमिका गोपियों का मुँह ज्ञान-चर्चा से बंद कर दिया, किंतु बाद के कवियों ने ऐसा नहीं किया। परवर्ती सभी भ्रमरगीतों में भक्तियोग की प्रतिष्ठा ज्ञानयोग पर होती है। ज्ञानी उद्धव भी भक्ति से प्रभावित होकर ही लौटते हैं। हिंदी-भ्रमरगीतों में काव्य-सौंदर्य भी अधिक है, वे मनोविज्ञान की दृष्टि से भी सफल हैं, इनमें गोपी-प्रेम की वह प्रबल तथा अनंत धारा बह निकली है, जिसमें ज्ञानयोग के झाड़-झंखाड़ बहते चले जाते हैं। वास्तव में गोपियों की अवस्था किसी योगी से कम नहीं है, सभी कवियों ने इस प्रसंग के अंतर्गत "गोपी-उद्धव-संवाद" को लिया है, उसी प्रसंग में मधुकर के प्रवेश के पश्चात् वे उसी को लक्षित कर अपनी वेदना-विवृति करने लगती हैं। किन्हीं कवियों ने मधुप का प्रवेश बिना कराये ही केवल मधुकर शब्द से संबोधित करा के अपना कथन प्रारंभ कर दिया है, किंतु लगभग सभी भ्रमरगीतों में यशोदा के मातृ-हृदय का अभाव है, केवल 'सत्यनारायण जी कविरत्न' ने यशोदा को प्रधानता दी है। उनके भ्रमरगीत में गोपियाँ नहीं श्री यशोदा जी दुखी हैं तथा वे ही मधुकर को अपने लाड़ले के पास से आया हुआ जान कृष्ण के प्रति अपनी व्यथा कहने लगती हैं, इनके काव्य में उद्धव का भी अभाव है। श्री कृष्ण स्वयं भ्रमर के रूप में यशोदा के संमुख प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रमरगीतों की यह परंपरा समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित अवश्य होती गई, किंतु इसके प्रवाह में किंचित् भी व्यवधान नहीं आया है।

इस परंपरा के अंतर्गत आने वाले कविगणों में 'अष्टछाप' के कवि प्रमुख हैं। इस प्रसंग की रचना ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही हुई है। ब्रजभाषा में रचना करने वाले कवियों में सूरदास, नंददास, परमानंददास, सत्यनारायण कविरत्न जी, जगन्नाथदास, रत्नाकर, तथा रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का नाम प्रमुख है। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त ने भी खड़ीबोली में भ्रमरगीतों की रचना की है।

भ्रमरगीत की परंपरा का यह संक्षिप्त विवेचन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण होने के साथ ही काव्य की एक परंपरा विशेष की कथा व्यंजित करता है। भ्रमरगीत के अंतर-विकास में साहित्य, दर्शन समाज एवं राजनीति का जो हाथ रहा है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भ्रमरगीत काव्य का मधुर और सरस अंग बन गया। कृष्ण-भक्त कवियों ने इसके द्वारा मनोभावों का जो चित्र प्रस्तुत किया उसमें उनके हृदय का राग और बुद्धि की वक्रता दोनों का संकेत मिलता

है। भ्रमरगीत काव्य-परंपरा को प्रबंधात्मक मुक्तक काव्य कहा जा सकता है। इस काव्य में एक कथा-प्रवाह का अनवरत स्रोत प्रवाहित है। छंद-योजना भी मुक्तक के ही अनुकूल है, उनमें प्रत्येक भाव स्वतः पूर्ण है। सजीव कथनोपकथन, परिचित भावव्यंजना और अद्वितीय काव्य-कौशल के कारण इस काव्य-परंपरा में चित्रोपमता भी उपलब्ध है। काव्याध्ययन के पश्चात् प्रत्येक चित्र मानस-पटल पर स्पष्ट हो जाता है। इस चित्रोपमता तथा सजीवता का कारण है पात्रों के द्वारा की गई सजीव भाव-व्यंजना, जो अमूर्त भावनाओं को भी मूर्तरूप प्रदान करने में समर्थ है।

यद्यपि भ्रमरगीत की रचना खड़ी बोली में भी हुई है, किंतु ब्रजभाषा के लालित्य में इस काव्य-विषय का कलेवर अत्यंत ललित हो उठा है। अष्टछाप के इन कृष्ण-कवियों के काव्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का भावात्मक चित्रण है। इन कवियों ने कृष्ण चरित्र के केवल उन भावात्मक स्थलों को ही चुना है जिनमें उनकी अंतरात्मा की अनुभूति गहरी उतर सकी है। इन कवियों ने वाह्य विषयात्मक शैली का अनुकरण न करके आत्म विषयात्मक शैली को ही अपनाया है यही कारण है कि उनमें तन्मय करने वाली हृदय-द्रावक शक्ति है। महाकवि भवभूति ने वाणी को "आत्मा की कला" कहा है। अष्टछाप कवियों के केवल इसी प्रसंग को पढ़कर पाठक इस उक्ति की सत्यता का अनुभव कर लेंगे। प्रत्येक भाव की व्यंजना इस प्रकार हुई है कि वह स्वतः संपूर्ण रूप से पूर्ण प्रतीत हो। संपर्क होते ही वह एक प्रकार के अवर्णनीय आनंद को उल्लसित कर देती है। कवि के भाव जिस मूर्ति का सहारा लेते हैं, उससे फिर अलग नहीं हो सकते। भावाभिव्यंजक, ध्वन्यात्मक, उपयुक्त शब्दों में प्रकट भाव जब अनुभूत होता है तब अपने चारों ओर वह एक नये संसार की सृष्टि कर देता है जहाँ केवल वही प्रकाशित होता है और किसी प्रकार की रिक्तता का अनुभाव नहीं होता।

तल्लीनता ही गीतिकाव्य की कसौटी है, जिसकी पूर्ण प्राप्ति हमें भ्रमरगीत-प्रसंग में हो जाती है। गीति-काव्य हमारे मन में बहुत दिनों का संचित अव्यक्त भाव होता है जो किसी सुयोग का आश्रय लेकर फूट उठता है। भाद्रमास में भरे बादलों में सूने घर की वेदना कितने लोगों के हृदय में कितने दिनों तक चुपचाप चक्कर लगाती रही है। विद्यापति के उपयुक्त छंद ने उसे मूर्त रूप प्रदान कर दिया—

"भरा बादर, माह भादर, सून्य मंदिर मोर।"

कुमारसंभव में कवि ने नारी के प्रेम की सबसे अधिक कमनीय मूर्ति तपस्या की अग्नि-द्वारा उज्ज्वल करके दिखाई है, उसी कवि ने 'मेघदूत' में प्रिय को प्रियतमा के वियोग में व्याकुल भी देख लिया। काव्यगत तल्लीनता ही उसे हृदय की वस्तु बना देती है। यह तल्लीनता विरह-वर्णन में और अधिक सजग हो जाती है, क्योंकि यही वह सात्विकोद्रेक की अवस्था है जब मानव, समस्त विश्व को, जड़-प्रकृति को भी अपनी भावनाओं से अनुरंजित देखता है; यही वह अवस्था है जिसमें ऊँच-नीच, धनवान—निर्धन प्रत्येक व्यक्ति के मनोभावों में साम्य हो जाता है। विप्रलंभ शृंगार का प्रसरण जीवन के अपेक्षाकृत कोमल तथा गंभीर क्षेत्र में है, इसके अंतर्गत मानव के मनोभावों और गुह्यतम विचारों का जैसा मनोवैज्ञानिक व्यक्तीकरण होता है वैसा और किसी अवस्था में नहीं। विरह की ऐसी कोई दशा या भावना नहीं है जिसकी अभिव्यक्ति भ्रमरगीत प्रसंग में न हुई हो। केवल सूर के भ्रमरगीत में ही विरह की दश दशाएँ तथा असौष्ठव, मलीनता-आदि अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

इन कवियों ने वेदना के स्वरूप का विश्लेषण किया है, वेदना की विवृति के हेतु कवि ने स्वभावोक्तियों तथा परिचित उपमानों का आश्रय लिया है। कहीं-कहीं दूरारूढ़ कल्पना भी की गई है, किंतु वह इतनी कम तथा बुद्धि-गम्य है कि किसी भी प्रकार से रसाभास नहीं कर पाती। उस कल्पना में भावों का पूर्ण ध्यान रखा गया है। बिहारी की कल्पना की भाँति वह केवल पाठक को स्तब्ध ही करके नहीं रह जाती प्रत्युत हृदय पर एक अमिट चित्रांकन कर जाती है।

भावाभिव्यंजन की पृष्ठभूमि में प्रकृति का वर्णन भी आता है। प्रकृति का वर्णन केवल उद्दीपन रूप में किया गया है। गोपियों के लिये प्रातः और संध्या रंग-हीन हो गईं, उनमें कोई सार न रहा—

"मदनगुपाल बिना या तन की, सबै बात बदली।"

इसी प्रकार पृष्ठभूमि के रूप में कवियों ने लगभग प्रत्येक मास का वर्णन किया है। प्रकृति के इस रूप का विशेष दर्शन सूर और रत्नाकर के भ्रमरगीतों में होता है। सत्यनारायण कविरत्न तथा मैथिलीशरण गुप्त के प्रकृति-वर्णन भी सजीव हैं। हरिऔध जी का पूरा भ्रमरगीत प्रसंग इतिवृतात्मक है। केशव की भाँति हरिऔध जी ने भी प्रकृति के उपकरणों का वर्णन करके संतोष कर लिया है।

भावों के साथ ही भाषा, छंद, अलंकार-आदि की दृष्टि से भी भ्रमरगीत पूर्ण हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि भावों की पूर्ण व्यंजना के हेतु ये उपकरण स्वतः उनसे आ मिले हैं। सुंदर मनोभावों के साथ ही उनमें चमत्कृत शैली, शब्द चयन, सरस पदावली, स्वाभाविक कल्पना, वर्णन में मौक्तिक क्रम सजीव साकारता और मधुर संगीतात्मकता के भी दर्शन होते हैं।

भ्रमरगीत में कवियों की तन्मयता और आलोचनात्मक प्रकृति के दर्शन होते हैं। सगुण एवं निर्गुण विचारधारा का खंडन-मंडन भी मिलता है। उस समय की इस खंडन-मंडन परंपरा का सामाजिक महत्व है। पूर्ववर्ती कवि कबीर-आदि निर्गुणोपासना पर जोर दे चुके थे, किंतु उनके उपदेश तथा भर्त्सना से जनता का कोई लाभ न हुआ। लोग भक्ति तथा उपासना के वास्तविक मर्म को न समझ कर केवल शाब्दिक इंद्रजाल में फँसे थे। रहस्यात्मकता के कारण जनता की मनोवृत्तियों में विश्रृंखलता उत्पन्न हो गई थी। न तो उन्हें ज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में आता था और न वे भक्ति की रसात्मकता का अनुभव कर पाते थे। उनकी इसी अवस्था को लक्ष्य करके गोस्वामी जी ने कहा है—

"अंतरजाँमिहु तें बड़ बाहिर जामी।"

भ्रमरगीतकारों ने सगुणोपासना की बड़ी सफल प्रतिष्ठा की है। इन कवियों ने निराकार ब्रह्म की उपासना का खंडन नहीं किया, किंतु सुलभता और उपयोगिता के आधार पर सगुणोपासना की महत्ता स्वीकार की है। रहस्यात्मकता का आधार लेकर विकसित हुआ निर्गुण पंथ अधिक उपयोगी है या हृदय की गंभीर तथा विस्तृत-वृत्ति पर आधारित सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। यह प्रश्न दार्शनिक न रहकर व्यावहारिक हो गया था। तत्कालीन साहित्य में इस विवाद का दर्शन सर्वत्र हो जाता है। राजस्थान में भी ऐसे ही भ्रमरगीतों तथा सगुण-निर्गुण विवाद-संबंधी पदों की रचना हुई है।

कृष्ण की स्थापना इष्टदेव के रूप में हुई। भक्त अपनी समस्त सद्-असद् वृत्तियों को केवल कृष्ण की ओर प्रेरित कर अपने मनोविकारों और चित्त-वृत्तियों के उन्नयन का प्रयास करता है। गोपियों ने अपनी समस्त भावनाओं को कृष्णार्पण कर दिया था। राधा तो कृष्ण को रटते-रटते कृष्ण ही हो गई। इस भावचित्र में कवि ने इसी (Sublimation) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। गोपियों की प्रत्येक वृत्ति का नग्न चित्र कृष्ण के संमुख था। वे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखतीं, वे अपने समस्त भावों (बाल, दांपत्य, सख्य) का आरोपण कृष्ण पर करती हैं और आरोप्य-पदार्थ अलौकिक होने के कारण उनकी भावनाएँ भी अलौकिक हो जाती हैं।

गोपियों का प्रेम एकांगी भक्ति का प्रतीक है। प्रेम का प्रतिदान न लेकर वह अलौकिक त्यागमय प्रेम है, जिसकी आवश्यकता समाज को सदैव रही है। आज की अहिंसा तथा क्राइस्ट की परहित-तत्परता इसी निस्वार्थ प्रेम की प्रतीक है। इस प्रकार कृष्ण के सगुण रूप का आधार लेकर कवियों ने समाज संस्कार का प्रयास किया। कल्पना के विमान पर बैठ लीलाधाम की विभिन्न लीलाओं का दर्शन करने वाले अंधे कवि 'सूरदास' उस समय की राजनीतिक परिस्थिति से अभिज्ञ नहीं थे। राजसत्ता के साथ जनता का सहयोग न होने पर उसका निर्वाह कठिन है—

"राज-धरम सब भए 'सूर' जहँ प्रजा न जाइ सताएँ।।

तथा—

'सूर' स्याम कैसें निबहैंगी, अँधाधुंध सरकार।।"

इस प्रकार के कथनों से उस समय की जनता तथा शासकों की मनोवृत्तियों का कुछ आभास हो जाता है।

आधुनिक भ्रमरगीतों पर तो सामयिक सामाजिक परिस्थिति का स्पष्ट प्रभाव है। बुद्धिवादी युग के क्यों और कैसे प्रश्नों का आरोपण कृष्ण-लीलाओं पर भी हुआ। कृष्ण के गोपियों के साथ किये गये विहार (रास) के औचित्यानौचित्त्य पर वहुत पहले ही लोक-दृष्टि गई थी और उसे आध्यात्मिक चूनरी का आवरण प्रदान कर उसका समाधान कर दिया गया था, किंतु ऐसे आश्चर्यजनक प्रभाव तथा परोक्ष तत्वों का आधुनिक समाज सहसा विश्वास नहीं कर पाया। हरिऔध जी ने इसे समझा और उसका समाधान भी किया। सतोगुण प्रधान शरद ऋतु की पूर्णिमा में जब रास हुआ था उस समय केवल गोपियाँ ही कृष्ण की वेणु से मोहित न हुई थीं। गोपियाँ और ग्वाले सब समान रूप से उस रसास्वादन में रत थे। उपाध्याय जी ने 'राधा' को जो नवीन चरित्र प्रदान किया है वह भी उस समय के समाज की आवश्यकता थी। उन्हों ने भक्ति की ग्यारह आसक्तियों को भी समाज-सेवा के विभिन्न रूपों में देखा है।

कविरत्न जी का भ्रमरगीत समाजके गीत का ही प्रतिविंब है, उसमें दार्शनिक-विचारधारा का प्रायः लोप-सा है। यशोदा की कृष्ण-विरह-अवस्था में कवि स्वातंत्र्य-विहीन भारत का ही चित्रण करता है, उसके बाद कवि यशोदा की निरक्षरता की ओर संकेत करता है जो पूर्णतः उस समय की स्त्री-शिक्षा के अभाव का स्पष्टीकरण है। भारतीय समाज सदियों से प्राचीनता का पक्षपाती है, कवि ने उसकी इस मनोवृत्ति से यथास्थान लाभ भी उठाया है तथा स्त्री-शिक्षा के पक्ष में वह प्राचीन शिक्षित स्त्रियों के ही उदाहरण देता है।

इसी प्रकार नारी-वर्ग के समाज में समानाधिकारों की चर्चा चल रही थी, मुग़लकाल में जो नारी केवल उपभोग की वस्तु बन कर रह गई थी, वही अब पुनः अर्धांगिनी का रूप धारण कर रही थी। समाजोद्धार और स्वदेशोद्धार, स्त्री शिक्षा के अभावं में असंभव माना जाने लगा था।

उस समय समाज में स्वतंत्रता, समता, सहभ्रातृता की विशेष चर्चा थी, सारा समाज इन तीन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये लालायित था। छूतछात, परतंत्रता, विषम व्यवहार समाज में निराहृत थे, इन भावनाओं का प्रकाशन भी 'कविरत्न' जी ने अपने 'भ्रमरदूत' में किया है।

विदेशी वस्तुओं के प्रति विशेष कर पाश्चात्य-सभ्यता और वस्तुओं के प्रति उस समय का समाज विशेष अनुरक्त था। पूर्वीय सभ्यता, आचार-विचार, सामाजिक रहन-सहन प्रत्येक के प्रति शिक्षित लोगों के विचार सराहनीय नहीं थे। स्त्रियों का पाश्चात्यों का अनुकरण करना, अपने स्वाभाविक गुण नम्रता को भुला देना इन सभी बातों का संकेत 'भ्रमरदूत' में प्राप्त होता है। स्वदेशी भेष और भाषा का प्रश्न भी उग्र रूप धारण कर रहा था। कुछ लोग इनका सर्वथा त्याग करके पाश्चात्य अनुकरण करना चाहते थे और कुछ केवल विचार परिवर्तन के समर्थक थे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा का प्रश्न, काले-गोरे का भेद, इन सभी सामाजिक तत्वों की ओर कविरत्न जी ने संकेत किया है।

नये-नये आविष्कारों ने देश के प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट कर दिया था। अकाल, कुवृष्टि, अति वृष्टि-आदि से समाज पीड़ित था, शासक वर्ग को केवल शोषण की चिंता थी। इन सभी समस्याओं की ओर कविरत्न जी ने संकेत किया है। कविरत्न जी के भ्रमरदूत में जो दार्शनिक पक्ष का अभाव है वह भी समाज का अभाव है, आज के बौद्धिक युग में लोग आध्यात्मिक उन्नति की अपेक्षा लौकिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देते हैं। इस प्रकार आरंभ में भ्रमरगीत कवियों के व्यक्तित्व और युग के निर्माण तत्वों का चित्र बन गया।

आधुनिक युग के प्रारंभ में भ्रमरगीत की इस परंपरा ने नया परिधान धारण किया और सामाजिक जागरण का संदेश दिया।

इस प्रकार भ्रमरगीत हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार, काव्य की पद्धति विशेष, उपकरण एवं परंपरा और रूढ़ि बना। आगे चल कर यही राजनीतिक और सामाजिक विचारों का संदेश वाहक बना। काव्य की एक ही वस्तु किस प्रकार कवि तथा युग के प्रभाव से भिन्न प्रकार के भावों के वहन का साधन बन जाती है इसकी सुंदर तथा रोचक कथा हमें भ्रमरगीत की परंपरा में प्राप्त होती है।

भ्रमरगीतों में दार्शनिक-पक्ष

मानव एक सीमित शक्ति, बुद्धि और व्यापारों का केंद्र है। वह चेतन अवश्य है, किंतु आनंद से परे। वह अपनी संपूर्ण शक्ति से इसी "आनंद" की खोज में तत्पर रहता है, किंतु ऐश्वर्यादि षड्‌गुणों के अभाव में वह अपने प्रयास में सतत तो नहीं, किंतु अधिकांश असफल ही रहा है। उसे सांसारिक आधिव्याधियाँ, मोह बंधन आकर जकड़ लेते हैं और वह अपने को असहाय, निरवलंब तथा अशक्त पाकर सर्व शक्तिमान् का संबल ढूँढ़ता है। विभिन्न बौद्धिक विचार धाराओं ने उस शक्ति को निराकार ब्रह्म अथवा साकार ईश्वर मान कर भिन्न-भिन्न रूपों में परखा।

भारतीय दर्शन के दो भाग सदैव दृष्टिगोचर होते हैं—"भावपक्ष" और "ज्ञानपक्ष", एक में हृदय की प्रधानता है दूसरे में मस्तिष्क की। वह ईश्वर जिसका सभी सहारा खोजते हैं, सभी जिसके आश्रय को पाने के हेतु लालायित रहते हैं, केवल ज्ञानियों के तर्क का विषय हो कर नहीं रह सकता। उपनिषद् जिसे 'नेति-नेति' कह कर अपनी असमर्थता प्रकट करके शांत हो जाते हैं, भावुक भक्त उसी की एक साकार प्रतिमा बना कर अपनी सारी भावनाओं की बागडोर उसे थमा देता है और वह तन, मन, धन से पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। उसे अपने आराध्य में भी सदय-हृदय के दर्शन होते हैं, जो विपन्नों, विपदग्रस्तों तथा निराश्रयों का संबल है। वर्णाश्रम-धर्म से नियमित भारतीय जीवन किसी न किसी रूप में दर्शन के निकट रहता ही है। कवि-हृदय जो स्वभाव से ही भावुक होता है यदि शील, शक्ति और सौंदर्य के अधिष्ठाता भगवान् की ओर उन्मुख हो उठा तो उसका गान सर्वश्रेष्ठ आश्रय को पाकर सर्व जनहितोपकारक हो उठता है। हिंदी-साहित्य के भक्तिकाल को जन्म देनेवाली परिस्थितियों में राजनीतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत निराश्रयता का भी बड़ा हाथ है। व्यक्ति को जब कोई आश्रय न रहा तो वह अपनी विपत्ति में संवेदनात्मक हृदय की खोज में निकला और उसे भगवान् का आनंद और ऐश्वर्य स्वरूप अपने वरदहस्त से उसकी रक्षा करता हुआ दिखाई दिया। वह तार्किकों तथा तांत्रिकों के वहन को छोड़ अपने उपास्य मर्यादा-पुरुषोत्तम राम या लीलावतार आनंद-स्वरूप श्री कृष्ण के गुणगान में लीन हो गया। अतः भक्ति काल की रचनाओं में में दर्शन का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक स्थान पर होता है।

भ्रमरगीत भी विरह-काव्य होते हुये भी दार्शनिक विचारधारा से पूर्ण है। सभी धर्म-ग्रंथों में श्रेष्ठ भागवत के क्रोड़ में इस प्रसंग का जन्म हुआ और फिर काव्य-क्षेत्र में इसका विस्तार हुआ। विभिन्न कवियों ने जिन्होंने इस विषय पर कुछ लिखा है ज्ञान और भाव दोनों ही पक्षों का उद्‌घाटन किया है।

कुछ कवियों की कृतियों में निर्गुण-सगुण का विवाद तथा ज्ञानयोग और भक्तियोग की महत्ता का विशेष दर्शन होता है। सूरदास, नंददास तथा जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के भ्रमरगीतों में दार्शनिक पक्ष विशेष रूप से है।

दार्शनिक पक्ष के विवेचन में इसके दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम तो "दार्शनिकपक्ष' और दूसरा "साधनपक्ष"।

सिद्धांत पक्ष के अंतर्गत उद्धव के निर्गुण, निराकार ब्रह्म-संबंधी विचार तथा गोपियों की सगुण-सरलता संबंधी विचार-धारा का विवेचन आता है। साधन पक्ष के अंतर्गत गोपियों का सगुण साकार भगवान की प्राप्ति के लिये भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करना, उद्धव की निर्गुण ब्रह्मोपासना तथा प्राप्ति-विधि के पक्ष में ज्ञानयोग का समर्थन आता है।

धर्म के तीन प्रधान अंग हैं, ज्ञान, भक्ति और कर्म। इनमें से किसी एक के अभाव में धर्म विकलांग हो जाता है। इन तीनों अंगों या परब्रह्म-प्राप्ति के मार्गों का ध्येयच्युत होना भी संभव है,

जब इन मार्गों में रहस्य या गुह्य का प्रवेश हो जाता है तो यही मार्ग लोक संग्रह न करके लोक-बाधक हो जाता है।

"सूरदास" के आविर्भावकाल की स्थिति का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि उनके पूर्व, सिद्ध, साधू, तथा योगी अपने विचार जनता के संमुख प्रकट कर चुके थे। जनता का मन तथा उन विचारों में पूर्णतः लीन न हो सका। किसी में शारीरिक कठिन यातना थी तो किसी में शून्य निराकार तथा निर्गुण का ध्यान। ये दोनों ही बातें जनता के लिये कष्टसाध्य थीं, उनके लिये एक निश्चित मार्ग न था। जनता की इस समस्या को सुलझा कर "सूर" ने सीधा, सरल तथा सहज भक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया। उन्हों ने निर्गुण का खंडन करके सगुण की स्थापना नहीं की है और न ज्ञान को ही भक्ति के संमुख निरर्थक सिद्ध किया है—वरन् भक्ति के द्वारा सगुण ईश्वर की उपासना को सहज तथा सुलभ बता कर ही अधिक श्रेयशालिनी घोषित किया है। कुछ आलोचकों ने उनके भ्रमरगीत में योगियों की वेषभूषा तथा नियमों का सांगोपांग वर्णन पा कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सूरदास जी पहले 'बज्रयान-संप्रयदाय' में थे, किंतु सत्य यह है कि सूरदास जी अपने समय की स्थिति से पूर्ण परिचित थे और उन्हें योगियों और सिद्धों के सिद्धांतों का भी ज्ञान था।

प्रत्येक भ्रमरगीत-रचयिता ने सगुण-निर्गुण के विवाद को उठाया है और अंत में तुलसी के अनुसार—

"ग्यानिहिं, भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥"

की समभूमि पर पहुँच कर समन्वय कर दिया है। यद्यपि भक्ति की सरलता और उपयोगिता को ही अधिक श्रेष्ठ बताया है।

वल्लभाचार्य से पूर्व शंकराचार्य जी अपने विवर्तवाद का प्रतिपादन कर चुके थे। उन्होंने ब्रह्म को निरुपाधि, निर्गुण और निर्विशेष ही माना है। वे न ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं, न उपादान। ब्रह्म नित्य एक रस, अविकारी है, वह न कर्त्ता है न भोक्ता।

वल्लभाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यों और वादरायण के ब्रह्म-सूत्रों को लेकर ही ब्रह्म को उभय-लिंग-युक्त तथा निर्गुण और सगुण दोनों ही माना है। उन्हों ने ब्रह्म में मनुष्य की बुद्धि को विपरीत जान पड़ते हुये धर्म का आरोप किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के सोपाधि, निरुपाधि ; सगुण, निर्गुण और व्यावहारिक और परमार्थिक ऐसे दो भेद स्वीकार किये हैं। उपनिषद् के ज्ञानकांड में भी ब्रह्म के स्वरूप का कथन कई ढंग का है। कहीं ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगंध, अदृश्य, अग्राह्य, अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है और कहीं सर्वकर्मा, सर्वरस, सर्वकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अर्थात् सगुण और सर्वस्व। इसके अतिरिक्त बहुत जगह वह उभयात्मक भी कहा गया है।

शंकराचार्य जी ने निर्गुण और अव्यक्त को ही ब्रह्म का लक्षण स्वीकार किया है, निरंतर बदलते रहने वाले नाम रूपात्मक जगत् को ब्रह्म की सत्ता से भिन्न मिथ्या प्रतीति या भ्रांति रूप में माना है। जगत की वास्तविक सत्ता न होते हुये भी मन की जिस वृत्ति-द्वारा यह मिथ्या प्रतीति होती है, वह 'विवर्त' कही गई है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के अतिरिक्त सर्वजगत को मिथ्या स्वीकार किया है, अतः इनके विचारों को 'अद्वैतवाद' की संज्ञा दी गई है, इसे 'विवर्तवाद' भी कहते हैं। इस विवर्तवाद की प्रतिष्ठा शंकराचार्य जी ने परिणामवाद के विरोध में की। उनके अनुसार ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप नित्य एकरस और अविकारी है, उसका परिमाण या विकार संभव ही नहीं है, अतः ब्रह्म जगत का उपादान कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वकामना-रहित, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर, निमित्तकारण भी नहीं हो सकता। ब्रह्म न कर्ता है न भोक्ता। शंकराचार्य ने उपनिषदों-द्वारा प्रतिपादित सर्वज्ञ, सर्वकर्मा, ईश्वर को ब्रह्म का परमार्थिक रूप न मान कर अविद्यात्मक सोपाधि रूप माना है। इस प्रकार उन्हों ने ब्रह्म के दो रूप माने, एक—

"नामरूपादि भेदोपविष्ट" या सगुण और दूसरा **"सर्वोपाधिविवर्जित"** या निर्गुण। दूसरे प्रकार के निर्गुण, निराकार और निर्विरोध रूप को ही ब्रह्मका वास्तविक या पारमार्थिक स्वरूप माना है[1]। सोपाधि सगुण रूप को उन्होंने केवल व्यावहारिक, अर्थात् उपासना के व्यवहार के लिये माना।

शंकराचार्य ने जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप में कई भेद नहीं माना है, वे ब्रह्म के समान आत्मा को भी नित्य, ज्ञान-स्वरूप और विभु मानते हैं। वे जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता नहीं मानते। जीवात्मा में कर्तव्य को भी वे स्वाभाविक नहीं मानते, क्योंकि यदि कर्तव्य स्वाभाविक हो तो वह जीव से उसी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता जिस प्रकार ताप अग्नि से पृथक् नहीं हो सकता। कर्तृत्व दुःख रूप है, अतः जीवात्मा का दुःख-मुक्त होना असंभव हो जायगा।

वल्लभाचार्य का सिद्धांत शंकराचार्य के विरोध में है। वल्लभाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यों और वादरायण के ब्रह्मसूत्रों को ही लेकर ब्रह्म को उभयलिंग-युक्त, अर्थात् 'निर्गुण' और 'सगुण' दोनों माना[2]। उनके अनुसार श्रुति-वाक्यों का समन्वय वारदायण के ब्रह्मसूत्रों में है, इन सूत्रों के आरंभ में जिज्ञासा के उपरांत "जन्माद्यस्य यतः" (जिससे इस जग् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है) द्वारा जिस ब्रह्म का निर्देश किया है वह केवल निर्विशेष और निर्गुण नहीं हो सकता, सर्व शक्तिमान् और सर्वधर्मा ही हो सकता है। यही सर्वशक्तिमान् ब्रह्म कारण रूप में सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है। वल्लभाचार्य के अनुसार यही सारी सृष्टि ब्रह्म की ही आत्मकृति है। इस सारी सृष्टि को वह "लीला" के लिये ही रचता है[3]। ब्रह्म का यह परिणाम रूप जगत असत् या मिथ्या नहीं है।

"उसने अपने को स्वयम् किया" "बहुत हो जाना चाहिये" "एक मैं हूँ बहुत हो जाऊँ"[4] आदि श्रुति-वाक्यों से ब्रह्म का कर्तव्य और कर्मत्व दोनों ही सिद्ध होता है। ब्रह्म का विचार, यह सृष्टि ब्रह्म से अनन्य है; उसी प्रकार जिस प्रकार मिट्टी, मिट्टी के घड़ से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की भाँति ब्रह्म और जीव के स्वरूप में अभिन्नत्व नहीं माना है। वे **"पदोऽस्य-सर्व भूतानि"** इस वेद वाक्य तथा "अंशो नानाव्यपदेशात्" इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म को सावयव मानते हैं और जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से जीव निकलते हैं[5]। वल्लभाचार्य जी ने इसी अणुत्व का प्रतिपादन किया है, इसी कारण उनका भाष्य—**"अणुभाष्य"** कहलाता है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को निरावयव माना है और जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप कहा है। वल्लभाचार्य ने जीवात्मा को ज्ञाता माना है। जीवात्मा ब्रह्म से अनन्य भी है और भिन्न भी। यह भिन्नत्व अधिकत्व का है। ब्रह्म जीवात्मा से अधिक है[6]।

१, द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते। नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपं उपदिश्यते भवति तत्र शास्त्रम्।

—शारीरकभाष्य

२. उभय व्यपदेशात्वहिकुंडलवत्। इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार उन्होंने कहा—'यथा सर्पो ऋजुरनेकाकारःकुंडलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्व प्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। तस्मात् सकलविरुद्ध-धर्मा भगवत्येव वर्त्तन्त इति न कापि श्रुतिरूपचरितार्थेति सिद्धम्"

—अणुभाष्य

३, आत्मकृतेः परिणामात्। "लोकवत् तु लीला कैवल्यम्"।

४, तदात्मानं स्वयमकुरुत। "बहु स्यां प्रजायेय"। "एकोऽहं बहु स्याम्।"

५. यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः।

६. अधिक तु भेदनिर्देशात्ः।

—ब्रह्मसूत्र,

दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जी की सबसे गहरी पहुँच उनके आविर्भाव-तिरोभाव के सिद्धांत में हैं। अक्षर ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनंद इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता है। तीनों स्वरूपों का विकास तीन भिन्न-भिन्न शक्तियों से होता है। सत् का प्रकाश "संधिनी" से, चित्त का "संवित" से और आनंद का "ह्लादिनी" से। पुरुषोत्तम ब्रह्म में ये तीनों शक्तियाँ अनावृत्त रहती हैं, जीव में संधिनी और संवित् अनावृत तथा ह्लादिनी आवृत् रहती है। इस व्यवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म को ग्रस्त करने वाली उससे अन्य कोई दूसरी वस्तु "माया" है और न जीवात्मा को ही। जीवात्मा भी वस्तुतः ब्रह्म ही है जिसमें 'आनंद' स्वरूप आवृत रहता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने से यह सिद्धांत **"शुद्धाद्वैतवाद"** कहलाता है। भ्रमरगीतों के सिद्धांत-पक्ष में शंकराचार्य के मत का आभास केवल ज्ञान-चर्चा तथा निर्गुण-मतप्रतिपादन में प्राप्त होता है। वल्लभाचार्य के सगुण और सोपाधि ब्रह्म का प्रतिपादन गोपियाँ करती हैं। गोपियों के द्वारा ही सूरदास, नंददास तथा रत्नाकर अपने विचारों की विवृत्ति करवाते हैं, जो परोक्ष रूप से वल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रतिपादन ही है।

"सूरदास" "परमानंददास" नंददास आदि सभी अष्टछापके कवि कृष्ण को ब्रह्म का अवतार या सगुण और साकार रूप मानते हैं। उनके पदों में निर्गुण-ब्रह्म का ही पृथ्वी पर सगुण रूप में अवतरित होना मान्य है।

"बेद-उपनिषद जस कहैं, निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन होइ नंद की, दाँवरी बधावै॥"

—सूरसागर

उद्धव शंकराचार्य के "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" सिद्धांत से प्रभावित ज्ञात होते हैं। वे गोपियों को निर्गुण, निराकार तथा निर्विकार ब्रह्म की आराधना करने को कहते हैं, किंतु वल्लभ-संप्रदायी 'सूर' के विचारों की प्रतिनिधि स्वरूपा गोपियाँ उद्धव के सिद्धांतों से सहमत नहीं होतीं।

"गोपी, सुनहुँ हरि कौ संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावौ त्रिगुन मिथ्या-भेष॥

❀

मात-पित कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या ल्याइ।
'सूर' सुख-दुख नाहिं जाकें, भजौ ताकों जाइ[1]॥"

गोपियाँ इस जगत को सत्य मानती हैं वे जगत के मिथ्यत्व और मिथ्यावाद के भाव को अस्वीकार करती हैं, किंतु उनके विचारों का आधार, उनकी भावनायें ही हैं। वे केवल इतना ही कह पाती हैं—

"यै मत जाइ तिनहिं तुम्ह सिखवहु, जिन हीं यै मत सोहत।
'सूर' आजु लौं सुनी न देखी, पोत सूतरी-पोहत॥"

[1]**गोपी, सुनौं हरि-संदेस।**
कह्यौ पूरँन ब्रह्म ध्यावौ, त्रिगुन मिथ्या भेष॥
मैं कह्यौ सो सत्य मानौं, सगुन डारौ नाँखि।
पंच-त्रय-गुन सकल देही, जगत ऐसौ भाँखि॥
ग्याँन-बिन नर-मुक्ति नाहीं, यै बिषै संसार।
रूप, रेख न नाम जल-थल, बरँन-अबरँनसार॥
मात-पित कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्याँ लाइ।
'सूर' सुख-दुख नाहिं जाकें, भजौ ताकों जाइ॥

—सूरसागर १४६६ ४३०३

नंददास की गोपियाँ भी जगत को सत्य मानती हैं। यह सारी सृष्टि ब्रह्म-स्वरूप है, केवल अविद्या-माया के कारण भिन्न ज्ञात होती है। वास्तव में जगत ब्रह्म के सत् अंश का परिणाम है। ब्रह्म सत्य है, अतः जगत भी सत्य है—

"मोमें उनमें अंतरौ, एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यों देखौ मो माँहि वे, तौ मैं उनहीं माँहि ।।
—तरंगनि बारि ज्यों ।।"

इस प्रकार नंददास भी 'शुद्धाद्वैत' तथा 'अविकृत परिणामवाद' का समर्थन करते हैं। उद्धव इस सारे जगत को मिथ्या तथा प्रपंच बताते हैं,[1] किंतु गोपियाँ इस मत का समर्थन किस भाँति कर सकती हैं; जबकि उन्हें इसी जगत के बीच ब्रह्म के अवतार कृष्ण का दर्शन हुआ है। कृष्ण के संसर्ग के कारण उन्हें अपने चारों ओर की सृष्टि सजीव ज्ञात होती है। उस प्रवृत्ति के अंदर भी उन्हें एक अपने समान ही स्पंदन करता हुआ हृदय दृष्टिगोचर होता है। उनके मतानुसार असत्य वस्तुएँ केवल दो हैं, एक तो "अविद्या—माया" और दूसरा "संसार"। यह माया भी दो प्रकार की है—एक तो ब्रह्म की आदि शक्ति स्वरूपा माया जो सृष्टि का सृजन, पालन और लय करती है दूसरी वह माया जो मनुष्य से अहंता-ममतात्मक संसार की सृष्टि कराके उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है।

उद्धव ब्रह्म के निर्गुण होने की चर्चा करते हैं, गोपियाँ प्रत्युत्तर में उसकी सगुणता प्रतिपादित करती हैं तथा विद्या और अविद्या माया का परिचय देती हैं। वे कहती हैं—

"जो उनकें गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमें मोहिं तुम्ह कहौ कहाँ ते।।
वा गुन की परछाहँ री, माया-दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भए अमल बारि मिलि कीच।।
—सखा सुन स्याँम के ।।"

ईश्वर यदि निर्गुण है तो इस सृष्टि में गुण कहाँ से दिखाई देते हैं, जबकि समस्त विश्व उसी का अंशमात्र है। वस्तुतः ईश्वर सगुण है और उसके गुणों की परछाहीं ही उसकी छाया के दर्पण में पड़ रही है। ईश्वरीय गुणों से प्रवृत्ति के गुण अविद्या—माया के संसर्ग के कारण भिन्न दिखाई देते हैं। स्वच्छ जल के समान शुद्ध ईश्वरीय गुणों को, जो प्रकृति माया के माध्यम में परिणाम स्वरूप व्यक्त हो रहे हैं, अविद्या—माया की कीच में सान दिया है और इन्हीं सने हुये गुणों को संसारी-जन अपनाते हैं। नंददास ने परिणामवाद के साथ ही अविद्या–माया के द्वारा उपस्थित किये गये भ्रम को भी स्वीकार किया है। मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है—"सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य।" भक्त जब चरम विरह की व्याकुलता में आत्म-विस्मृति कर देता है तब भक्त और भगवान का एकीकरण हो जाता है, यह अवस्था जीवनमुक्त होने पर प्रेम-भक्ति-द्वारा इसी शरीर के रहते हुये एक प्रकार की 'सायुज्य' अवस्था है। इसी लिये सूर आदि वल्लभ-भक्तों ने —"विरह की सायुज्य अवस्था तथा परमार्थ भक्ति की सायुज्य अवस्था में ही सायुज्य माना है। सूर की गोपियाँ उद्धव की परमार्थ-चर्चा से ऊब कर कहती हैं "कि तुम्हें विरह और परमार्थ के सामीप्य का ज्ञान ही नहीं है"—

"ऊधौ, ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछें यै सिद्धि आपनी, जोग-कथा बिस्तारौ।।
※
कितनों बीच बिरह-परमारथ, जाँनति हौ कै नाहीं।"

[1]. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

गोपियाँ योग, ज्ञान, ब्रह्म तथा समाधि के विभेद को भी उसी प्रकार निरर्थक समझती हैं, जस प्रकार इस संसार के सारे कर्तव्य। मोह और ममत्व के दृढ़ पास में ही मुक्ति पाकर वे कहती हैं—

"जोगी होइ सो जोग बखानें, नवधा भक्ति दास रति मानें।
भजनानंद अली, हम प्यारौ, ब्रह्मानँद-सुख कोंन बिचारौ॥"

परमानंददास तो यहाँ तक कहते हैं—

"सेबा मदनगुपाल की, मुक्ति हुँ ते मींठी।"

इन अनेक प्रकार के आध्यात्मिक सुख और मोक्ष-अवस्था विषयक विचारों के साथ-साथ 'सूर' का यह भी मत है कि जो जिस भाव से भगवान् को भजता है उसको भगवान् उसी प्रकार से मिलते हैं तथा उसे इच्छित मोक्ष प्राप्त होता है—

"मधुकर, कोंन मनायौ मानें।
सिखबौ जाइ समाधि-जोग-रस, जहँ सब लोग सयानें॥

❀

जिन्ह के तन, मन, प्राँन, 'सूर' सुनि मुख-मुसकाँनि बिकानें।
परी जु पय-निधि अल्प बूंद-जल, सो पुनि को पहिचाँनें॥"[1]

सूर के इस प्रकार के भाव भगवद्गीता के—"ये यथा मां प्रपद्यंते तां स्तथैव भजाम्यहम्" से साम्य रखते हैं।

गोपियों को कृष्ण-ध्यान में ही तथा सगुण ईश्वर की सेवा में ही चारों प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं—

"ऊधौ, सूधें नेंकु निहारौ।
हम अबलाँन कों सिखवन आए, सुनों सयाँन तिहारौ॥
सेवत सगुन स्याँमसुंदर कों, मुक्ति लहीं हम चारी॥
हम सालोक, सरूप, सरोज्यौ, रहत समीप सदाँई।
सो तजि कहत और की औरें, तुम्ह अलि बड़े अदाई॥"

❀

"ऊधौ, सूधें नेंक निहारौ।
हम अबलँन कों सिखबत आऐ, सुन्यों सयाँन तिहारौ॥
निरगुन कहौ कहा कहियतु है, तुम्ह निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याँम सुंदर कों, मुक्ति लही हम चारी॥
हम सालोक, सरूप, सयुज्यौ, रहत समीप सदाँई।
सो तज कहत और की औरें, तुम्ह अलि बड़े अदाँई॥

[1]. **मधुकर, कोंन मनायौ मानें।**
अविनासी, अति अगँम तुम्हारौ, कहा प्रीति-रस जानें॥
सिखवौ जाइ समाधि-जोग-रस, जहँ सब लोग सयाँने।
हम अपने ब्रज ऐसें हीं रहि हैं, बिरह-बाइ-बौरानें॥
जागत, सोवत, सुपन रेंन-दिन, बहै रूप उर-आँनें।
बालमुकंद-किसोर जु लीला, सोभा-सिंधु-समानें॥
जिन्ह के तन, मन, प्राँन 'सूर' सुन, मृदु-मुसिकाँन-बिकाँनें।
परै पयोध जु अलप बूंद-जल, सो कहौ को पैहचाँनें॥
—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी)

हम मूरख, तुम्ह बड़े चतुर हौ, बौहौत कहा अब कहिऐ ।
बे ही काज फिरत भटकत कित, अब मारग निज गहिऐ ।।
तुम्ह अग्यांन कतहिं उपदेसत, ग्यांन-रूप जब हम हीं ।
निस-दिन ध्यांन 'सूर' प्रभु कौ अलि, देखत हम जित-तित हीं ।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५६२

कृष्ण ने गोपियों के पास उद्धव को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने के लिये साभिप्राय भेजा था। कृष्ण चाहते थे कि गोपियों की प्रीति और तन्मयता देख कर उद्धव शिक्षा-ग्रहण करें और सगुण-मार्ग की सरसता तथा सुगमता के सामने निर्गुण-ज्ञान-गर्व दूर हो—

"त्रिगुन तन करि लखति हम कों, ब्रह्म माँनत और ।"

इसी भ्रम का निवारण कृष्ण करना चाहते थे। जगत् से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत् की नाना-विभूतियों में उसे न स्वीकार करना भक्ति-मार्गियों के निकट बड़ी भारी भ्रांति है। वे तो—

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।"

—गीता १०।२०

इस भगवद्वाक्य के संबल के सहारे जीवन-यात्रा पूर्ण करते हैं।

उद्धव बात-बात में केवल एक ब्रह्म या अद्वैतवाद का राग अलापते हैं, किंतु रस-विहीन उपदेश से लोक-व्यवहार नहीं चलता और न साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिये ऐसे उपदेश हितकारक ही होते हैं। निर्गुण ब्रह्म की इसी क्लिष्टता तथा नीरसता का परिचय गोपियों के वाक्यों-द्वारा प्रकट होता है। ज्ञानी उद्धव को उचित था कि वे सगुणोपासक गोपियों की श्रद्धा चलायमान न करें,—श्री कृष्ण स्वयं इस मत के समर्थक हैं—

"प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।"

—गीता, ३।२६

सारे सांसारिक कर्तव्यों से विमुख कृष्ण-विरह में सारी आपदाओं को सहन करते हुए गोपियाँ कृष्ण की अनुयायिनी तथा आज्ञाकारिणी शिष्याओं की भाँति ज्ञात होती हैं। कृष्ण ने स्वयं कहा है—

"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धचस्व विगतज्वरः ।।"

—गीता, ३।३०

गोपियों को—प्रेम-वियोगिनियों को मुक्ति से क्या काम। उद्धव का उपदेश उनके लिये निरर्थक था। श्री कृष्ण उनके लिये प्रत्यक्ष थे। उन्हें छोड़कर एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करके उसकी उपासना करना उन्हें उसी प्रकार उपहासास्पद ज्ञात होता है जैसे दीवाल पर चित्रांकन करने के पश्चात् उसी कल्पित चित्र की उपासना करना—

"नंदनँदन-ब्रत छांड़िकें हो, को लिखि पूंजै भीति ।"

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२३

उद्धव गोपियों को सहजोपासना का उपदेश देते हैं—

"एकै अलख अपार, आदि अवगत है सोई ।
आदि निरंजन नाम, ताहि रीझें सब कोई ।।
नैंन, नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म कौ बास ।
अविनासी बिनसै नहीं हो, सहज जोति-परकास ।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२३-२४

गोपियों को इस "सहज-ज्योति" का ज्ञान समझ में नहीं आता है, उन्होंने अपने उपास्य को, अवतारी ब्रह्म, प्रत्यक्ष और साकार देखा है, फिर भला वे उद्धव की निराकारोपासना का समर्थन किस प्रकार कर सकती हैं—

"जौ वहि कर-पग नाहिं, कहौ ऊखल क्यों बाँध्यौ।
नैंन, नासिका, मुख न, चोरि दधि कोंनें खाँध्यौ।।
कोंन खिलायौ गोद लै, किन्ह कहे तोतरे-बैंन।
ऊधौ, ताकौ न्याउ है, जाहि न सूझै नैंन।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२४

गोपियोंको उद्धव की ज्ञान-चर्चा अंधे के न्याव जैसी लगती है जिसे स्वयं तो कुछ दृष्टिगत होता नहीं, पर स्पर्श-द्वारा वस्तु के जिस अंश का अनुभव करता है उसे वैसा ही बता देता है। वास्तव में उसका ज्ञान अपूर्ण है। गोपियाँ कृष्ण को प्रत्यक्ष देखती हैं, वे उनके अंतर, बाह्य प्रत्येक रूप से परिचित हैं, फिर भला इस अपूर्ण ज्ञान-चर्चा से कैसे संतुष्ट हो सकती हैं। उन्होंने कृष्ण को विविध बार क्रीड़ाएँ करते तथा किशोरावस्था में चापल्ययुक्त भावभंगिमाओं में रत देखा था। वे एक ऐसी साकार और क्रियाशील मनोहर छवि के संमुख निर्गुण ब्रह्म की अव्यक्तता को कैसे स्वीकार करतीं। वे उद्धव को उन्हीं के तर्क-द्वारा परास्त करती हैं—

"तू का की है करत प्रसंसा, कोंनें घोष पठायौ।"

ऐसी पंक्तियों में उद्धव के अज्ञान को ही लक्षित किया गया है।

गोपियाँ अपने लिये योग-चर्चा को सर्वथा निरर्थक समझती हैं। उनको "जोग अपनाने को कहना" उसी भाँति है जिस प्रकार—

"बूचिहि खुभी, आँधरी काजर, नकटी पैहरै बेसरि।"

ऊधौ, जगत को मिथ्या बताते हैं तथा केवल ब्रह्म को सत्य मान कर उसी सत्य ब्रह्म की आराधना करने को कहते हैं, किंतु गोपियाँ कृष्ण को सत्य मानती हैं, सारे जगत को सत्य मानती हैं। वे ब्रह्म को ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण मानती हैं।

"कहाँ लों कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध, अपार, अगोचर, मनसा तहाँ न जाई।।
जल बिन तरंग, भीति बिन चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह, ऊधौ आँनि चलाई।।
रूप न रेख बरन बपु जाकें, संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सों प्रीति निरंतर, क्यों निबहै री माई।।
मन चुभि रही माधुरी मूरति, रोंम-रोंम अरुझाई।
हौं बलि गई 'सूर' प्रभु ताके, जाके स्यांम सदाँ सुखदाई।।"[1]

[1]. **कहा लै, कीजै बौहौत बड़ाई।**
अति अगाध, स्तुति-बचँन अगोचर, मनसा तहाँ न जाई।।
जाकें रूप न रेख बरँन बपु, संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सों नेह निरंतर, क्यों निबहै-री माई।।
जल-बिन तरँग, चित्र-बिन भीतहिं, बिन-चेतहिं चतुराई।
अब या ब्रज में नई रीति यै ऊधौ आँन चलाई।।
मन हरि लियौ माधुरी मूरत, रोंम-रोंम उरझाई।
स्यांम सुभग तन सुंदर लोचन, 'सूर' निरखि बलि जाई।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५७१

गोपियों ने तप के सारे उपकरणों को प्रेमयोग में अपना लिया है, वे मन, वचन तथा कर्म से केवल कृष्ण की हो गई हैं। सांसारिक संबंधों के साथ ही साथ उनके सुख-दुख की अनुभूति भी लुप्त हो गई थी। मानापमान के द्वंद्व में भी अपने चित्त को स्थिर रख सकती हैं। गोपियों ने मानापमान को प्रेमयोग में—प्राणायाम में श्वास के समान स्थिर कर वश में कर लिया है। उनके चारों ओर लोक-मर्यादा तथा गुरुजनों का संकोच और शील अग्नि की भाँति तप्त हो रहा है। कृष्ण का अदर्शन तरणि के समान है, इस प्रकार वे पंचाग्नि तप कर रही हैं। अपने शरीर की सुध-बुध गँवा कर केवल कृष्ण की अंग-माधुरी का ही ध्यान करती हैं। इस क्रिया में वे निर्निमेष हो गई हैं, इसी प्रकार वे—

"त्रिकुटी संग भ्रू भंग तराटक, नैंन नैंन-लगि लागे ।
हँसन प्रकास सुमुख कुंडल मिलि, चंद-'सूर' अनुरागे ।।"

इस पद में प्रेमयोग और तप का साम्य प्रदर्शित करती हैं। उद्धव को गोपियों का लौकिक प्रेम अनुचित जान पड़ता है, निदान वे कृष्ण की सर्वज्ञता और व्यापकता का बोध गोपियों को कराना चाहते हैं। उनके अनुसार कृष्ण अपने ब्रह्म स्वरूप से अणुमात्र में व्याप्त हैं। उनकी एक व्यक्ति विशेष के रूप में आराधना करना अल्प ज्ञान तथा संकीर्णता है। इसके विपरीत गोपियों को कृष्ण का अंतर्यामी होना मान्य नहीं है—

"जौ पै हिरदे माँझ हरी ।
तौ कहि इती अवग्या उन्ह पैं, कैसे सही परी ।।
❀
उर ते निकसि नंद-नंदन हम सीतल क्यों न करीं ।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५२८

किंतु उद्धव इन भावनाओं को क्या समझें, वे अपनी निर्गुण-चर्चा से विरत नहीं होते, निरंतर अपनी ब्रह्म-चर्चा से गोपियों की प्रेम-ज्वाला को और भी तीव्रतर कर देते हैं। उद्धव की वह ज्ञान-चर्चा ब्रज-वासियों के लिये न तो उपयोगी ही थी और न हृदय-हारिणी। जब वे व्यंग्य, खीझ, झुँझलाहट आदि मानसिक अस्त्रों को विफल होते देखती हैं, तो बड़ी शांति-पूर्वक उन्हें समझाती हैं—

"या ब्रज सगुन-दीप परगास्यौ ।
सुनि ऊधौ ! भृकुटी त्रिवेदि तर, निस-दिन प्रघट अभास्यौ ।।
सब के उर सरबनि सनेह भरि, सुमन तिलौ कौ बास्यौ ।
गुन अनेक ते गुन कपूर सम परमल बारह भास्यौ ।।
❀
गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यौ ।
'सूर' करम की खीर परोसी, फिरि-फिरि चरत जबास्यौ ।।"

नंददास जी के भ्रमरगीत का आरंभ ही ज्ञानोपदेश से होता है। इनके उद्धव उपदेश देने में अधिक चतुर ज्ञात होते हैं। वे पहले गोपियों की प्रशंसा करते हैं, फिर क्रमशः मुख्य प्रसंग पर आते हैं। इस प्रकार वे पहले अपने को गोपियों के संमुख उनका शुभचिंतक तथा विश्वासपात्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि गोपियाँ उनसे प्रभावित हो सकें। कृष्ण और बलराम की कुशलता का समाचार देते हुये उद्धव उनके शीघ्र आने की संभावना बतला कर गोपियों में आशा का संचार करते हैं। गोपियों को कृष्ण का नाम सुनते ही उनका स्मरण हो आता है और वे मूर्च्छित हो जाती हैं। "नंददास" ने इस प्रसंग का समावेश बड़ी चतुराई से किया है, क्योंकि इसके पश्चात् जब वे गोपियों को प्रबोधन दिलवाते हैं तो वह भी सांत्वना का ही स्वरूप ज्ञात होता है। नंददास कहते हैं कि कृष्ण सर्वव्यापक तथा सर्वात्मा हैं, वे गोपियों के पास हैं तथा सर्वत्र विश्व में व्याप्त हैं, अतः उनके लिये

सांसारिक मोह और ममता का प्रदर्शन उचित नहीं है। गोपियों को अपने चर्म चक्षुओं-द्वारा नहीं प्रत्युत विवेक चक्षुओं से उन्हें देखने का प्रयास करना चाहिये—

"वे तुम्हतें नहिं दूर, ग्यांन की आँखिन देखौ।"

गोपियाँ अपने प्रेम में मग्न हैं और वे ब्रह्म-ज्योति तथा ज्ञान-मार्ग से सर्वथा अपरिचित हैं। उन्हें उसकी आवश्यकता भी नहीं ज्ञात होती, क्योंकि गोपियों का प्रेम-मार्ग अत्यंत सरल तथा सहज है। वे कृष्ण के सुंदर रूप और गुणों के चिंतन में पूर्ण आत्म-विस्मृत हैं। गोपियों के इस रूप, गुण-गान को सुन कर उद्धव जी निरुपाधिब्रह्म का ज्ञानोपदेश देते हैं, उनके इस प्रयास में शंकराचार्य के मिथ्यावाद की झलक दृष्टिगोचर होती है। उद्धव कहते हैं कि ब्रह्म का सोपाधि तथा सगुणत्व होना वास्तविक नहीं है, वे तो—

"यै सब सगुन उपाधि, रूप निरगुन है उनकौ।
निरबिकार, निरलेप, लगत नहिं तीनों गुन कौ।।
हाथ न पाँइ, न नासिका, नेंन, बेंन नहिं काँन।
अच्युत ज्योति प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्राँन।।
—सुनों ब्रज-नागरी।।"

ब्रह्म का लीला के हेतु अवतार ग्रहण करने का सिद्धांत प्रतिपादन करते हुए उद्धव, वल्लभ-मतानुयायी ज्ञात होते हैं। वे ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बताते हुए 'पुष्टिमार्ग' का प्रतिपादन करते हैं। योग-साधन के द्वारा ही ब्रह्मत्व प्राप्त हो सकता है, अतः गोपियों को प्रेमयोग त्याग कर ज्ञानयोग धारण करना चाहिये। गोपियों को अपना प्रेमयोग तथा सगुणोपासना उद्धव के सदृश हितकर और सुखकर प्रतीत होती है, वे उद्धव के ब्रह्मज्ञान को धारण करना तथा धूरि को समेटना इन दोनों क्रियाओं को समान महत्व देती हैं। उद्धव धूरि को भी महत्व देते हैं—

"धूर बुरी जो होइ, ईस क्यों सीस चढ़ावै।
धूर-छेत्र में आइ, क़रम करि हरि-पद पावै।।
धूरहिं तें यै तन भयौ, धूरहिं सों ब्रह्मंड।
लोक चतुरदस धूर तें, सप्त-दीप, नव खंड।।
—सुनों ब्रज-नागरी।।"

अथवा—

"पंचतत्व यै अधम सरीरा। छिति, जल, पावक, गगन, समीरा।।"

तुलसीदास की भाँति उद्धव भी इस संपूर्ण ब्रह्मांड को पंचतत्वों-द्वारा निर्मित मानते हैं और धूरि का—पृथ्वी का उसमें महत्वपूर्ण स्थान है। अपने "धूरहिं तें यै तन भयौ" विचार के व्यक्तिकरण में उद्धव किसी आँग्ल भाषा के कवि की भाँति Dust thou art to Dust returnest. की समीक्षा करते हुए-से ज्ञात होते हैं।

परब्रह्म प्राप्ति या ईश्वर प्राप्ति के तीन साधन कर्म, ज्ञान और भक्ति में उद्धव कर्म और ज्ञानमार्ग के अनुयायी हैं तथा गोपियाँ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करती हैं। शुद्ध ज्ञानोपदेश देने के पश्चात् उद्धव गोपियों को नियत कर्म करने का आदेश देते हैं, इस स्थल पर उनका मत गीता के कर्म योग के सिद्धांत से साम्य रखता है—

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।"

—गीता, ३।८

उद्धव भी "करम करि हरि पद पावै" ही कहते हैं। वास्तव में पूर्ण योगी तो गोपियाँ ही हैं। वे कर्म, धर्म सब कुछ त्याग कर केवल एक कृष्ण के ध्यान में मग्न हैं, उनकी चित्तवृत्तियों का निरोध भी उद्धव की अपेक्षा अधिक दृढ़ है। उनका कर्म के संबंध में भी एक ही विचार है—

"तब ही लों सब करम हैं, जब लगि हरि उर नाहिं।"

श्याम-दर्शन के पश्चात् तो सभी कुछ श्याममय हो जाता है, किसी भी वस्तु का कोई अलग अस्तित्व नहीं रह सकता। गोपियाँ कर्म को बंधन मानती हैं, एक कर्म दूसरे कर्म को जन्म देता है। इस प्रकार कार्य-कारण की शृंखला सदैव चला करती है और जीव उससे मुक्त नहीं हो पाता। "प्रसाद जी" ने भी एक स्थल पर ऐसा विचार व्यक्त किया है—

"कर्म का भोग, भोग का कर्म—
यही जड़ चेतन का आनंद।।"

—कामायनी

उद्धव अपने योगासन-आदि की महिमा का वर्णन करते नहीं थकते तथा ब्रह्म को निर्गुण बताते हैं, किंतु गोपियाँ इस सगुण-सृष्टि के कारण ब्रह्म को निर्गुण मानने के लिये तैयार नहीं हैं। यदि कर्ता गुणवान नहीं है तो उसकी कृति में गुण कहाँ से आ सकते हैं? अपने इस तर्क की पुष्टि के हेतु वे कहती हैं कि जो बीज बोया जायगा उसीके अनुरूप वृक्ष लगेगा और यहीं पर वे "वल्लभ-मतानुसार" विद्या और अविद्या (माया) का भी परिचय देती हैं। यह जगत सत्य है, किंतु अविद्या (माया) के संसर्ग के कारण ही असत्य भाषित होता है—

"जो उनकें गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ ते।
बीज-बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ ते।।
वा गुन की परछाँह री, माया-दरपन-बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए, अमल-बारि मिलि कीच।।"

—सखा सुन स्याँम के।।"

—भँवरगीत : नंददास

उद्धव उन्हें निष्काम कर्म करने को कहते हैं, वे कहते हैं कर्म करना श्रेय है, किंतु उसके फल की इच्छा त्यागकर तथा सब कुछ ब्रह्मार्पण या कृष्णार्पण करके ही करना चाहिये। ऐसा करने से कर्म का कारण होना नष्ट हो जाता है और फिर वह नये कार्यों को जन्म नहीं दे पाता। प्रत्यक्ष कृष्ण-दृष्टा गोपियाँ सत्य ही—"निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिं" के सिद्धांत को मानती हैं। उद्धव की बेसिर-पैर की बातें सुनकर गोपियाँ उन्हें नास्तिक मानती हैं तथा उन्हें उद्धव का ज्ञान थोथा प्रतीत होता है। तत्व-ग्रहण करने में असमर्थ "प्रघट भाँनु कों छाँड़ि गहै परछाँहीं धूपै" कहती हैं। "सूरदास" और "नंददास" दोनों ही अपनी गोपियों-द्वारा निर्गुण ब्रह्म की दुरूहता तथा गहनता का प्रतिपादन करते हैं। सूरदास ने तो सगुण लीला-गायन के कारण को पहले ही प्रकट कर दिया है—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।

※

रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति-बिन निरालंब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारै तातै 'सूर' सगुन लीला पद गावै।।"

इसी प्रकार नंददास की गोपियाँ भी ब्रह्म को केवल दिव्य-दृष्टि के द्वारा दर्शनीय मानती हैं और सभी प्राणियों को विवेक-चक्षु उपलब्ध नहीं है। वे व्यक्ति कर्म के कूप में टक्करें मारते हुये सत्य से कोसों दूर हैं, ऐसे व्यक्तियों की अपेक्षा तो सगुणोपासक व्यक्ति ही भले हैं—

"जिनकीं वै आँखें नहीं, देखें कब वे रूप।
तिन्हें साँच क्यों उपजै, जे परे करम के कूप।।"

जैसा कि हम ने पीछे कहा है, आधुनिक युग के भ्रमरगीतकारों में "रत्नाकर" के भ्रमरगीत में ही दार्शनिक तत्व प्राप्त होता है। यद्यपि विचार सभी प्राचीन और चिर प्रसिद्ध हैं, किंतु उनके संगुंफन का ढंग सर्वथा मौलिक और स्तुत्य है। 'उद्धवशतक' के उद्धव तो पहले कृष्ण को ही ज्ञानोपदेश

देते हैं। वे **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति"** तथा **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"** का सिद्धांत कृष्ण को बताते हैं और तत्वज्ञान के साथ ब्रह्मज्ञान की भी महत्ता मानते हैं। वे कहते हैं—

"पाँचौ तत्व माँहि एक सत्व की ही सत्ता सत्य, याही तत्व-ग्याँन कौ महत्व स्रुति गायौ है।"

तथा वे इस संसार को स्वप्नवत् ही मिथ्या मानते हैं। इस प्रकार कृष्ण को अपने विचारों से अवगत कराकर उद्धव कृष्ण के आग्रहानुसार गोकुल जाते हैं, किंतु मार्गमें ही उनका नीरस, शुष्क, ज्ञानी हृदय सरस हो चलता है। गोपियों के समक्ष पहुँचते ही उनका समस्त ज्ञान-गर्व विगलित हो जाता है; उनकी इस दशा का बड़ा सुंदर वर्णन इस कवित्त में है—

"दीन-दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ, गरि गौ गुमाँन-ग्याँन-गौरव गुठाँने से।"

किंतु फिर भी उद्धव अपने ज्ञानार्क का दिव्यालोक प्रसारित करना चाहते हैं, वे गोपियों को कृष्ण संयोग-प्राप्त करने का साधन बताते हैं, योग की महत्ता उनका प्रिय विषय है। योग के द्वारा अंतर्दृष्टि करने और हृत्कमल पर जगने वाली ब्रह्म-ज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् कृष्ण का संयोग प्राप्त होता हैं। जड़ और चेतन के विलास का विकास होकर अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। गोपियाँ कृष्ण को 'मोहा-भिरत' होने के कारण ही अपने से विलग मान रही हैं, अन्यथा कृष्ण तो सर्वत्र, सब में निरंतर ही निवास करते हैं—

"मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोह, सो तौ सब अंतर निरंतर बस्यौ रहै।"

वे ब्रह्म की व्यापकता—"कान्ह सब ही में, कान्ह ही में सब कोई है" के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए काँच के टुकड़े में पड़े प्रतिबिंब का उदाहरण देते हैं। यह सब माया का ही प्रपंच है जिसके कारण सच्चिदानंद का वह सत्य तत्व (जो पंचतत्व-निर्मित इस संसार में एक सा है) अपने सत्य रूप में नहीं प्रकट होता। संसार की सभी वस्तुओं में उसी एक ब्रह्म का रूप है, किंतु उस रूप का दर्शन विवेक चक्षुओं से होता है इसी लिये भ्रम का निवारण अत्यंत आवश्यक है। इस सारे संसार के अनेकत्व में उसी ब्रह्म के एकत्व का दर्शन होता है तथा उस एक ब्रह्म में यह सारा नामरूपात्मक विश्व समा-विष्ट है, Unity in diversity and diversity in Unity का सिद्धांत उद्धव जी गोपियों के संमुख रखते हैं—

"माया के प्रपंच ही सों भासत प्रभेद सबै, काँच-फलकनि ज्यों अनेक एक सोई है।"

उद्धव उन्हें योग की कष्ट-साध्य-साधना का उपदेश देते हैं। कृष्ण में भी वही ब्रह्म है, गोपियों में भी वही, सर्वत्र प्रत्येक अणु में वही ब्रह्म व्याप्त है। यदि गोपियाँ उसी सर्वात्मा से अविचल मिलाप चाहती हैं तो उन्हें योगाभ्यास के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिये तथा मन को दीन न करके शरीर को योग की कष्ट-साधना के द्वारा क्षीण कर देना चाहिये। गोपियाँ जो निरंतर कृष्ण का ही ध्यान करती हैं तथा उद्धव के मुँह से भी कृष्ण का प्रिय संदेश ही सुनना चाहती हैं, यह सब सुनकर मूर्च्छित हो जाती हैं। उनकी उस व्यथित दशा का मार्मिक और भाव-पूर्ण चित्रण 'रत्नाकर जी' ने किया है। गोपियों का जीवन रसमय तथा प्रेममय था, वे उद्धव की बात नहीं समझ पाती हैं—

"ह्याँ तौ विषम-ज्वर-बियोग की चढ़ाई, यह पाती कौंन रोग की पठावत दवाई हैं।।"

यदि कृष्ण अपने पूर्व उपकरणों की,—स्थानों की याद करते हैं तो अवश्य गोपियों को भी याद करते होंगे, इसी आशा पर वे उद्धव से पूछती हैं—

"जाइ जमुना तट पै काहू बट-छाँह माँहि, पाँसुरी उँमाहि कबौ बाँसुरी बजावें हैं।"

उद्धव बार-बार ब्रह्म ही का गुणगान करते हैं, उनकी इस वृत्ति का उपहास गोपियाँ इस प्रकार करती हैं—

"कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप....।"

गोपियाँ न तो एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व के सिद्धांत को समझ ही पाती हैं और न उन्हें यह प्रिय ही है। वे तो कृष्ण को अपने से पृथक् सौंदर्य, शील के आगार के रूप में देखना चाहती हैं। गोपियाँ प्रत्यक्ष के हेतु प्रमाण, अनुमान की आवश्यकता नहीं समझतीं, वे तो—

"देखति सो मानति हैं सूधौ न्याव जानति हैं....।"

इसी कारण—

"लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म, हम न कहेंगीं तुम लाख कहिबौ करौ।"

अनंग के ही कारण गोपियाँ विकल थीं और ब्रह्म भी अनंग है, अतः वे उसकी आराधना नहीं करना चाहतीं—

"एक ही अनंग साधि, साध सब पूरीं अब और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा।।"

गोपियों को अपना सहायक, रक्षक तथा सहयोगी ब्रह्म चाहिये। वे निराकार ब्रह्म को अपने लिये निरर्थक बताती हैं—

"रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म, ऊधौ कहौ कौंन धौं हमारे कांम आइ है।"

ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक मानते हुए भी जगत् को स्वप्नवत् असत्य मानना उपहासास्पद है। चेतन जगत् को स्वप्न तथा मिथ्या मानना ही अपनी निद्रावस्था प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है, अतः गोपियाँ सज्ञानी उद्धव को निद्रित तथा विवेक-हीन मानती हैं—

"जग सपनों-सौ सब परत दिखाई तुम्हें, तातैं तुम ऊधौ, हमैं सोवत लखात हौ।"

❀

जग सपनों-सौ सब परत दिखाई तुम्हें, तातैं तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हौ।
कहै 'रतनाकर' सुनैं को बात सोवत की, जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ।।
सोवत मैं जागत लखत अपने कों जिमि, त्यों हीं तुम आप हीं सुग्यांनी समुझात हौ।
जोग-जोग कबहुँ न जांनैं कहा जोहि जाकौ, ब्रह्म-ब्रह्म कबहुं बहकि बररात हौ।।

वे इसी जन्म में नहीं अपने अन्य जन्मों में भी कृष्ण-मिलन की आशा रखती हैं। वे अपना अहं, श्रद्धा, स्नेह तथा भक्ति सब कुछ कृष्ण को अर्पित कर चुकी हैं। अतः किसी योगी से उनकी समानता हो सकती है। उद्धव ब्रज के प्राकृतिक सौंदर्य तथा गोपियों की भावमयी स्थिति को देख कर अपना ज्ञान-गर्व भूल गये और अपने सिद्धांतों का सम्यक् प्रत्यक्षी करण नहीं कर सके। उनका ज्ञान गोपियों की अथाह भक्ति में लुप्त हो गया। ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय हुई। भक्तोंने भक्ति को सदैव श्रेष्ठ माना है। तात्विक दृष्टि से ज्ञानी और भक्त में विशेष अंतर भी नहीं—

"ग्यानिहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।"

योग और ज्ञान की अपेक्षा गोपियों के प्रेम को महत्ता प्रदान करना मनोवैज्ञानिक सत्य है। मानसिक भावनाओं की अनुभूति में मनोवृत्तियों और वोध-वृत्तियों दोनों का सामंजस्य रहता है। वोध-वृत्तियों में मानसिक भावनाओं की अनुभूति परक व्यंजना आवश्यक नहीं है, इसी लिये वह एक देशीय कही है। योग ऐसे शुष्क साधन में सभी चित्त-वृत्तियों का नितांत निरोध हो जाता है। यही कारण है कि मानसिक भावनाओं की अनुभूति से संभावित मनोवृत्तियाँ वोध-वृत्तियों की अपेक्षा अधिक गुरुतर और गंभीर होती हैं। इसी सिद्धांत के आधार पर प्रेम और भक्ति की विजय ज्ञान और योग पर बताई गई।

भक्तियोग और ज्ञानयोग

निष्कपट रूप से ईश्वरानुसंधान ही भक्ति योग है, प्रेम ही इसका आदि, मध्य और अवसान है। 'नारद सूत्र', 'शांडिल्य सूत्र' और 'नारद पांचरात्र' प्रभृति शास्त्रोंने स्नेह को ही भक्ति-शब्दार्थ माना है। "भगवान् का परम प्रेम ही भक्ति है, जीव इसे प्राप्त करके प्राणिमात्र के प्रति घृणा-शून्य हो जाता है। उसके सारे कर्म प्रेमोभूत होते हैं। इस प्रेम के द्वारा काम्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह

कर्म ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि साध्य विशेष ही उनका लक्ष्य है और भक्ति स्वयं साध्य एवं साधन रूप है[१]।

शांडिल्य भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही बताया गया है। पांचरात्र में इसका कुछ अधिक विवेचन है। भक्ति के पूर्व ईश्वर के माहात्म्य-ज्ञान की आवश्यकता है। उसकी महत्ता जान लेने के पश्चात् जो दृढ़ और सर्वाधिक स्नेह उनके चरणों में हो जाता है, वही भक्ति है।

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दें तो भी यही बात सिद्ध होती है। भज—ति = भज प्रकृति और ति = प्रत्यय अर्थात् भज् = सेवा; ति = भाव—भाव-सहित सेवा को ही भक्ति कहते हैं। इसी प्रेम और परानुरक्ति के भाव को गोपियों ने अपना आश्रय चुन लिया। गोपियाँ साध्य या पराभक्ति की अनुयायिनी हैं। प्रेम-लक्षणा भक्ति की अधिकारिणी वे केवल कृष्ण-प्रेम में मग्न हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि मेरा भक्त केवल मेरी कामना करता है—

"न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥"

—भागवत ११।१४।१४

भक्ति रस पाँच प्रकार का है और इन्हीं के आधार पर भक्ति भी पाँच प्रकार की है। सख्य, शांत, दास्य, सेव्य और माधुर्य। स्नेह का उद्रेग प्रत्येक रस तथा भक्ति में होता है, किंतु रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस में होती है। आधुनिक भक्ति इसके विकास की चरमावस्था है। इसमें सब मर्यादा और संकोच दूर हो जाते हैं। शृंगार रस की इस सर्वोच्च स्थिति का एक बौद्धिक और तात्विक आधार भी है। "प्लैटो" ने अपने सिंपोजियम (Symposium) में काम को मानव आदर्श के प्रति मनुष्य की वह सहज प्रवृत्ति बताया है जिसकी चरितार्थता प्रेम से अथवा मान, ज्ञान या अधिकार प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्न से होती है। इसी बात को वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि शृंगार चाहे वह इंद्रियजन्य हो चाहे अतींद्रिय उसका आधार काम ही होता है। वैष्णव भक्तों ने भक्ति-भाव का ऐसा क्रम बाँधा है जिससे यह भाव अधिकाधिक प्रगाढ़ होकर उच्च से उच्चतर स्तर को प्राप्त कर अंत में उस उच्चतम भाव को प्राप्त होता है जिसे 'महाभाव' कहते हैं। गोपियाँ इस महाभाव की अवस्था में सदा रहती हैं। तुलसीदास की भाँति चातक के प्रेम को वे भी श्रेष्ठ मानती हैं और उद्धव के उपदेश से उसे त्यागने से इंकार करती हैं। वे विवश हैं, कृष्ण से प्रेम करना ही उनका धर्म हो गया है। "जिस प्रकार नर्तकी सिर पर घड़ा रख कर नाना प्रकार के तालों से अंग लचकाती हुई नृत्य करती हैं, किंतु ध्यान सिर पर रक्खे घड़े की ओर ही रहता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त कर्मों में उलझा रहने पर भी हमेशा प्रभु-चरणों में निमग्न रहता है।" भक्ति-रस की अनुभूति भी अपूर्व है, वह भक्तों के हृदय में कृष्ण के रूप तथा लीला-गुण से संबंधित रागानुगाभक्ति के उद्रेक से उत्पन्न होती है। भक्ति रस के विभाव, अनुभाव भी भिन्न होते हैं। रस-रूप-ब्रह्म के विविध संबंधों-द्वारा अनुभूत भक्ति रस भक्तों के हृदय का अपूर्व रस है, मम्मटादि अलंकारिक भक्ति रस को केवल भाव की सीमा तक ही रखते हैं और वैष्णव भक्त उसे पूर्ण रस मानते हैं, भक्ति-काव्य तो रस से ओतप्रोत है।

[१]. **सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। ॐ सा कर्मे परमप्रेमरूपा।**

—अनुवाक १, सूत्र २

ॐ सा कामयमाना निरोध रूपत्वात्।
ॐ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा।
ॐ स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः।

—नारद : भक्ति-सूत्र

वल्लभाचार्य जी ने तथा अन्य कृष्ण-भक्तों ने नवधा भक्ति[1] को प्रेम-भक्ति का साधन कहा है। वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति के अतिरिक्त दसवीं "प्रेम-लक्षणा-भक्ति" भी मानी है तथा वे इसे सर्वप्रधान मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् के स्वरूपानंद की प्राप्ति होती है तथा नवधा भक्ति का साधन वैकल्पिक नहीं अनिवार्य है। अष्टछाप के भक्तों ने भी इन नौ साधनों में वात्सल्य तथा मधुर भावों को और जोड़ दिया है। इन्हीं साधनों के आश्रय से अनन्य भक्ति सुभल बताई है।

'भ्रमर-गीतों' के अंतर्गत आनेवाली भक्ति में "श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आत्मनिवेदन"—आदि भावों का पूर्ण परिचय है, अन्य भावों के उदाहरण भी गोपी-प्रेम में सुलभ हैं। गोपियाँ निरंतर कृष्ण-ध्यान में लीन रहती हैं, कृष्ण के रूप-गुण का ध्यान ही उनका आधार है। आपस में कृष्ण-चर्चा का कीर्तन तथा श्रवण ही उन्हें सांत्वना प्रदान करता है। अपनी प्रीति तथा विरह-दुख का निवेदन ही उनका जीवन है।

पंचधा-भक्तियों में से गोपी-प्रेम माधुर्य भक्ति के अंतर्गत आता है। शृंगार-भाव की भाँति मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—संयोगात्मक और वियोगात्मक। भ्रमरगीतों के अंतर्गत वियोगात्मक मधुर भाव है। नवधा भक्ति के अंतर्गत जो अंतिम "आत्म-निवेदन" का भाव है वह कांता या माधुर्य-भक्ति में ही पूर्णता प्राप्त करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सर्वाधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। इसके अंतर्गत भी परकीय प्रेम में अधिक तीव्रता और गहनता होती है। चैतन्य महाप्रभु भी परकीय प्रेम को ही अधिक महत्व देते हैं[2]।

लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध की व्यापकता को देखकर ज्ञानी साधकों ने आध्यात्मिक-प्रेमानुभूतियों को भी लौकिक अन्योक्तियों-द्वारा प्रकट किया है।

गोपियाँ श्रीकृष्ण से,—अपने प्रियतम से बिछुड़ गई थीं। भक्तों ने कृष्ण-प्रेम की विरह अवस्था की अनुभूति को बहुत महत्वशाली माना है। प्रिय-मिलन, कृष्ण-मिलन या ईश्वर-मिलन की व्याकुलता का भक्ति क्षेत्र में अधिक महत्व है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी व्याकुलता की मधुर-भावना पतित पावनी गंगा की भाँति भक्त की हृदय-भूमि में उसके भावों को और कर्मों को पवित्र करती हुई विराट् प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है। विरह-व्याकुलता की महत्ता के विषय में भी यथेष्ट उक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

"जदुपति, जाँनि उद्धव-रीति।

❀

बिरह-दुख जहाँ नाँहि जामत, नहीं उपजै प्रेम।"

तथा—

"ऊधौ, बिरही प्रेम करै।
ज्यों बिन पुट पट गहत न रँग कों, रंगन रसै परै।।
'सूर' गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यों दुख-सुखन डरै।।"

विरह-तन्मयता में गोपियों ने अपनी सब भावनाओं को कृष्ण में ही लगा दिया है। श्री वल्लभाचार्य भी इसी मत को पुष्टि करते हैं—**"सर्वथा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिपः"**। श्रीकृष्ण भी अर्जुन से

[1]. **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
—भागवत ७।५।२३

[2]. **परकीया भावे अति रसेर उल्लास।**
ब्रज बिना इहार, अन्यत्र नाँहि बास।।
—श्री चैतन्य-चरितामृत

शरणागत भाव की महत्ता का वर्णन करते हैं, गोपियाँ अपने शरीरों की चिंता भी केवल कृष्ण को प्रसन्न करने के हेतु करती हैं—

"निजांगमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ।।"

गोपी-भाव में पाँच प्रधान बातें हैं—(१) श्री भगवान् के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान, (२) श्री भगवान् में प्रियतम भाव, (३) श्री भगवान् में सर्वस्व अर्पण, (४) निज सुख की इच्छा का पूर्ण त्याग, (५) भगवत्प्रीत्यर्थ जीवन धारण।

श्री भगवान् की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं—"संवित्, संधिनी और ह्लादिनी। भगवान् का मधुर अवतार ह्लादिनी नामक आनंदमयी प्रेम-शक्ति के ही निमित्त हुआ करता है। ह्लादिनी शक्ति स्वयं "श्री राधिका जी" हैं। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्ति की ही अनंत विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है, उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। "उनके चित्त भगवान् के चित्त हो गये थे, वे उन्हीं की चर्चा करती थीं, उन्हीं के लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थीं। इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गई थीं और भगवान् का गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरों की भी सुधि नहीं रहीं थी।"

"तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायंत्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ।।"

—भागवत १०।३०।४४

घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान इन आठों पाशों से वे मुक्त थीं। उनका एक-एक निमेष कृष्णार्पण था। मधुर भाव की सर्व व्यापकता मधुर भावापन्न पत्नी को मंत्री, दासी, माता, रंभा तथा सखी इन सभी का रूप मानने से ही सिद्ध होती है। इस भाव में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य सभी भावों का समावेश है। हनुमानप्रसाद जी पोद्दार संपादक-'कल्याण' ने अपनी पुस्तक "गोपी-प्रेम" में लिखा है कि परकीया प्रेम तीन कारणों से अधिक उच्च है—(१) प्रिय का निरंतर ध्यान, (२) प्रिय-मिलन की तीव्र और न तृप्त होने वाली आकांक्षा, (३) प्रिय के अवगुणों का पूर्ण विस्मरण। ये तीनों ही अवस्थाएँ विरहिणी गोपियों के कृष्ण-प्रेम में सुलभ हैं। गोपियों का प्रेम काम-कालिमा से शून्य है। काम और प्रेम में बड़ा अंतर है—काम विष मिला हुआ मधु और प्रेम स्वर्गीय सुधा है। काम में इंद्रिय-तृप्ति सुख रूप दीखने पर भी परिणाम में दुःख रूप है, प्रेम सदा अतृप्त होने पर भी नित्य परम सुख रूप है। प्रेम में तन्मयता, प्रियतम-सुख की नित्य प्रबल आकांक्षा है। काम खंड और प्रेम अखंड है। काम का लक्ष्य आत्म-तृप्ति है और प्रेम परम आत्मविस्मृति है। गौतमीय तंत्र में भी गोपी-प्रेम की महत्ता प्रदर्शित है। गोपियों के प्रेम का नाम काम होने पर भी वास्तव में काम नहीं, किंतु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव भी इसी "काम" नामक प्रेम की अभिलाषा करते हैं। श्री चैतन्य चारितामृत में इन विषयाशक्ति शून्य कृष्ण-गत-प्राणा गोपियों के संबंध में कहा है—"अपने तन, मन, धन, रूप, यौवन, लोक-परलोक सब को कृष्ण की सुख-सामग्री समझ कर कृष्ण-सुख के लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपी-भाव है।

निजेंद्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य,
कृष्ण-सुख तात्पर्य गोपी-भाव वर्य।

❀

कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग,
कृष्ण-सुख हेतु करि शुद्ध अनुराग ।।

गोपी प्रेम में काम-वासना की तृप्ति या रमणाभिलाषा का तनिक भी आभास नहीं, प्रत्युत गोपी-कृष्ण-लीला का उद्देश्य ही काम विजय है। बालक जैसे दर्पण में अपने प्रतिबिंब से स्वच्छंद क्रीड़ा

करता है उसी प्रकार कृष्ण ने योगमाया के द्वारा अपनी छाया स्वरूप गोपियों के साथ क्रीड़ा की।

गोपी-प्रेम में भक्ति का प्रत्येक रूप उपलब्ध है। "नारद-भक्ति-सूत्र" में प्रेम-भक्ति के ग्यारह प्रकार दिये हैं, इनमें प्रत्येक गोपी-विरह या भ्रमरगीत में उपलब्ध हैं। अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने तो भक्ति के इन प्रकारों में भी नवीनता का समावेश कर दिया है। "उपाध्याय" जी की राधा के लिये आर्तों का करुण क्रंदन सुनना ही श्रवण-भक्ति है, विद्वानों और लोकोपकारकों के प्रति विनय ही वंदन भक्ति है आदि। उनकी राधा ने संसार की सेवा करना ही प्रभु की भक्ति समझ लिया है। गुणमाहात्म्यासक्ति के उदाहरण भ्रमरगीत में प्रचुर तथा सर्वत्र हैं। गोपियों के वल्लभ श्रीकृष्ण अनुपम रूप तथा गुणों के आगार हैं। गोपियाँ उनके रूप तथा गुण पर मोहित हैं। अतः गुणमाहात्म्यासक्ति और रूपासक्ति तो उनके प्रेम की प्रथम सीढ़ी ही है। पूजासक्ति, दास्यासक्ति और सख्यासक्ति का रूप भ्रमरगीत में गौण है। स्मरणासक्ति तो उनका अवलंब ही था, वे स्मृति का संबल लिए हुए अपने विरह-दिवस व्यतीत करती रहीं। **चरमेदा** विरह तथा मातृ-हृदया गोपियों का कृष्ण विरह वात्सल्यासक्ति के अंतर्गत आता है। विरह की अस्वस्था में जब गोपियाँ कृष्ण बन कर उन्हीं के से व्यापार करने लगती हैं तथा राधा का कृष्ण रटते-रटते कृष्णमय ही हो जाना तन्मयतासक्तिके अंतर्गत है। संपूर्ण भ्रमरगीत तो परमविरहासक्ति से ओतप्रोत है।

"इहि बिधि बँन-घँन बूझि, ढूंढि उनमत की नाई।
करँन लगीं मन-हरँन-लाल-लीला मन-भाई॥"
मोंहन लाल रसाल की लीला, इन्हहीं सोहै।
केवल तन-मइ भईं कछु न जाँनत हम को है॥
भृंगी-भै ते भृंग होत ज्यों कीट महा जड़।
कृष्ण-भगति तें कृष्ण भईं, नहिं कछु अचरज बड़॥"

अथवा—

आपनी ओर की चाँहें लिख्यौ, लिखि जाति कथा उत मोंहन ओर की।
प्यारी, दया करि बेगि मिलौ, सहि जाति बिथा नहिं मेंन मरोर की॥
आपु हीं बाँचि लगावति अंग, अहो किन्ह आँनी चिठी चित-चोर की।
राधिका, राधे रही जकि भोर लों, ह्वै गई मूरति नंदकिशोर की॥

गोपी-प्रेम की महानता उद्धव ऐसे ज्ञानी भी मानते हैं। सूरदास ऐसे विरक्त भक्त ने भी गोपी-भाव की महिमा गायी है। चतुर्भुजदास जी ने सूरदास के महाप्रयाण के समय उनसे पूछा था कि **"सो कौन प्रकार सों पुष्टिमारग के रस कौ अनुभव करिए।"** तब सूर ने एक पद गाकर बताया कि गोपी-जनों के भाव से भावक भगवान् कृष्ण को भजने से **"पुष्टि-मारग"** के रस का अनुभव होता है। इस 'मार्ग' में वेद-विधि (मर्यादा) का नियम नहीं है। केवल एक प्रेम की ही पहिचान है —

"भजि सखि, भाव भावक देव।
कोटि साधन करौ कोऊ, तऊ न मानें सेव।

❀

बेद बिधि कौ नेंम नाहीं न प्रीति की पैहचाँन।
ब्रज-बधू बस किए मोंहन, 'सूर' चतुर सुजाँन॥

❀

"भजि, सखि-भाव-भाविक देव।
कोटि साधँन करौ कोऊ, तौऊ न माँने सेव॥
धूंमकेत कुँमार माँग्यौ, कौंन मारग प्रीति।
पुरुष तें तिय-भाव उपज्यौ, सबै उलटी रीति॥

बसँन, भषँन पलटि पैहरे, भाव सों संजोइ ।
उलटि मुद्रा दई अंगन, बरँन सूधे होइ ।।
बेद-बिधि कौ नेंम नाहिं, जहँ प्रेंम की पैहचाँन ।
ब्रज-बधू बस किए मोंहन,' सूर' चतुर सुजाँन ।।

गोपी-प्रेम की सर्वश्रेष्ठता सर्वमान्य है[१] ।

[१]. भ्रमरगीत-संबंधी काव्य निम्न-लिखित कवियों का मिलता है—"अक्षर अनन्य (प्रेम-दीपिका), अग्रदास, (फुटकल छंद), आनंदघन (फुटकल काव्य), कालिदास (भ्रमरगीत), केशव—'ये आचार्य केशवदास नहीं, राजपूताने के दूसरे केशव हैं—(भ्रमरगीत), गौरीशंकर (उद्धवलीला), ग्वाल—ब्रजवासी—(गोपी पच्चीसी तथा फुटकल छंद), घनश्याम कवि (प्रेमरस-सागर), दास—भिखारीदास—(फुटकल छंद), देव कवि (फुटकल छंद), नंददास—अष्टछाप—(भँवरगीत), नवनीत—मथुरा—(गोपी-प्रेम-पीयूष प्रवाह, गोपी पच्चीसी), नारायणदास (उद्धव ब्रज-गमन लीला), पद्माकार (फुटकल छंद), परमानंददास—अष्टछाप—(भ्रमरगीत), प्रागन—(भ्रमरगीत), प्रेमघन (फुटकल काव्य), बिंदु (फुटकल काव्य), भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र (फुटकल छंद), मतिराम (फुटकल छंद), मथुरानाथ (बिरह बत्तीसी), महाराज रघुराज सिंह रीवाँ (भ्रमरगीत—भागवत-अनुवाद), मैथिलीशरण (खड़ीबोली फुटकल), रत्नाकर (उद्धव शतक), रसनायक—(भ्रमरगीत), रसरूप (वियोगवल्ली, उपालंभ-सतक), रसाल (फुटकल छंद), रसिकराय (रसिक पचीसी), रहीम (फुटकल छंद), लक्ष्मीनारायण (प्रेम-तरंगिणी), बचनेश (फुटकल छंद), बृंदाबनदास—प्राचीन—(भ्रमरगीत), बृंदाबनदास—दूसरे रीवाँ वाले—(गोपी-पचीसी), शिवराम (प्रेम-पचीसी), सत्यनारायण कविरत्न (भ्रमरगीत), सूरदास—अष्टछाप—(भ्रमरगीत), सेन कवि (एक छंद, पर अति सुंदर), सेवाराम (फुटकल छंद), हरिऔध (प्रियप्रवास), हरिराय गोस्वामी—उपनाम 'रसिकराय'—(सनहे लीला) आदि" .... और भी अनेक कवियों ने इस विषय को अपनाया है। जहाँ-तहाँ उनके सुंदर छंद यदा-कदा मिल जाते हैं।

—जवाहरलाल चतुर्वेदी

ब्रजविलास

श्री संकठाप्रसाद सिंह
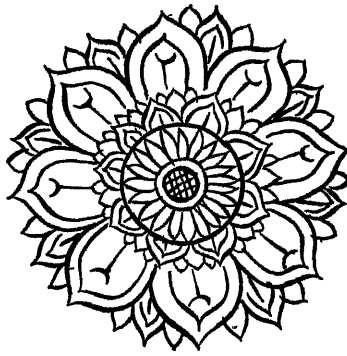
प्रबंध के क्षेत्र में कृष्ण-चरित्र की प्रतिष्ठा का श्रेय एकमात्र 'ब्रजबासी' दास को है। पूर्वापर प्रसंगों के अनुबंधन में ब्रजविलास की कथा द्रुत-बिलंबित गति से प्रवाहित होती है। कहीं उसका आयास विस्तृत है, कहीं संकुचित, परंतु अंतरंग तथा बहिरंग में प्रबंधत्व का अभाव दो-चार स्थलों में ही दृष्टि-गोचर होता है। ब्रजविलास के प्रति "पं० रामचंद्र शुक्ल" की निष्ठुरता तथा आलोचकों की उदासीनता, आवश्यकता से अधिक गंभीर है।

ब्रजविलास, अपने ढंग का अनूठा काव्य-ग्रंथ है। इसका सृजन समन्वय की उत्कट प्रेरणा का परिणाम है। ग्रंथ-रचना संवत् १८०६ वि० में प्रारंभ हुई[1]। इस समय तक काव्य के क्षेत्र में रीति और भक्ति-काव्यों का समन्वय पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। प्रबंध के अंतर्गत कवि ने कथा-प्रसंग को लीलाओं में विभक्त किया है, कांडों और सर्गों में नहीं। अस्तु, फारसी की 'मसनवी-शैली' का प्रभाव नहीं है। भगवान् श्री कृष्ण की लगभग अस्सी, 'लीलाओं'[2] को कवि ने भागवत की भाँति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में संकलित किया है। अंत में कवि कहता है—

"ब्रजबिलास ब्रजराज कौ, को कहि पावै पार।
भगत-भाव गावत भगत, भजन-प्रभाव बिचार॥"

अस्तु, इन लीलाओं में ब्रज की लीलाएँ ही हैं। मथुरा-गमन लीला के साथ-साथ कंसादिक असुर-संहार का कार्य पूर्ण होने पर जब उद्धव गोपियों को कृष्ण का संदेश देकर और उससे भी अधिक स्वयं भक्ति का मार्ग लेकर ब्रज से कृष्ण के पास मथुरा लौट आते हैं और उन्हें ब्रज की दशा का परिचय करा देते हैं, तभी 'ब्रजविलास' समाप्त हो जाता है।

[1]. **संबत सुभ पुरानँ सत जाँनों, ता पै और नछत्रहिं आँनों।**
माघ सुमास पच्छ उजियारा, तिथि पंचमी सुभग ससि बारा।

[2]. **वे लीलायें प्रायः ये हैं:—बंदना, कथा-प्रसंग, पूतना बध, कागासुर बध, तृणावर्त बध, अन्न-प्रासन, नामकरण, वर्षगाँठ, ब्राह्मणलीला, चंद्रप्रस्ताव, पुरातन कथा, कर्णछेदन, माँटी भक्षण, शालिग्रामलीला, ह्लवावन लीला, माखन चोरी, दाँबरी बंधन, बृंदावन गमन, बत्सासुर बध, धेनु दुहुन, मोतीबोवन लीला, बकासुर बध, चकई-भौरा खेलन, राधा प्रथम मिलन, अघासुर बध, ब्रह्मा मोह, गोदोहन, धेनुक बध, कालीय-दमन, दावानल पान, प्रलंबासुर बध, पनघट लीला, चीर-हरण, वृंदावन वर्णन, द्विजपत्नि याचन, गोबर्धन-लीला, नंद वरुण-द्वारा हरण, वैकुंठ दर्शन, दानलीला, गोपी-प्रेम, स्नानलीला, बाट में मिलन, संकेत मिलन. प्यारी के घर मिलन, गर्वव्याज-विरह, परस्पर अभिलाष, शृंगार भूषण, नैन अनुराग, मुरली वर्णन, रासलीला अंतर्ध्यान, महामंगल रास, मान चरित्र, मध्यम मान, गुरु मान, हिंडोरा, फागुन (होरी), सुदर्शन शाप-मोचन, शंखचूड़ बध, बृषभासुर बध, केशी बध, व्योमासुर बध, मथुरा गमन, रजक बध, मल्लयुद्ध, कंस बध, वसुदेव गृह उत्सव, कुब्जा-गृह गमन, नंद-बिदा, ब्रज-विरह वर्णन, यज्ञोपवीत, उद्धव ब्रज गमन, उद्धव ब्रज-आगमन, उद्धव-गोपी संवाद, उद्धव बिदा।**

—ब्रजविलास (नवलकिशोर प्रे० लखनऊ)

'ब्रजविलास' के ग्रंत में कवि ने जिस प्रकार कथा को समाप्त किया है, उसे जानने के लिए कुछ ग्रंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"यों कहि सब ब्रज-बाँम, भईं बिरह-सागर-मगँन।
करि ऊधौ परनाँम, ग्राए जसुमति-नंद पै ॥"

माँगी बिदा जोरि कर दोऊ, तुम्ह-सम धन्य ग्रौर नहिं कोऊ।

क्योंकि—

राम-कृष्ण करि सुत जिन्ह पाए, बाल-भाव करि गोद खिलाए।

ग्रौर—

ग्रब तुम्ह मोकों देहु निदेसू, जाइ कृष्ण सों कहों सँदेसू।
सुनि सप्रीति ऊधौ की बाता, नंद बबा ग्रौ जसुमति माता।
उँमग्यौ प्रेंम नेंन जल बाढ़े, भए जोर कर ग्रागे ठाढ़े।
उरबर स्याँम-बिरह की पीरा, कहत सँदेस बहत दृग-नीरा।

नंद दोंहनीं भरि दई (ग्रौ) कह्यौ नेंन-भरि नीर।
वा धौरी कौ दूध है, भावत जो बल-बीर ॥

सोरठा

दई जसोमति माइ, मुरली ललित गुपाल की।
ऊधौ, दीजो जाइ, प्यारी ही ग्रति लाल की ॥

मथुरा लौटने पर कृष्ण उद्धव से पूछते हैं—

कहिऐ सखा, कुसल सों ग्राए, ब्रज में जाइ बौहौत दिन लाए।

❋

कहौं कहा प्रभु तुम्हें सुनाई, ब्रज की रीति कही नहीं जाई।

यद्यपि में बोधे बहुत, तुम्ह-बिन कछु न सुहात।
तिन्ह की दसा बिलोकि मोहि जुग-सम बीती रात ॥

सोरठा

नंद-जसोदहि पाइ, गयौ प्रात बृषभाँनपुर।
सुनि सब ग्राँईं धाइ, धाँम-काँम तजि बाँम तहँ ॥

❋

जब में कह्यौ सँदेस तुम्हारौ, सुनतहि ग्रायौ सबन्हँ तमारौ।

ग्रतिहि दुखित तन छींन, ब्रजवासी तुम्ह-बिरह-बस।
तुम्ह तन-धन मन लींन, रटत चातकी लों सबै ॥

❋

सुनिकें प्रभु ऊग्रौ के बेंनाँ, उँमग्यौ प्रेंम भरे दोऊ नेंनाँ।
ब्रज-जन-प्रीति ग्राइ उर साली, भए बिबस जन-प्रन प्रतिपाली।

पुनि हा ब्रज कहि छाँड़ि उसासू, पोंछि पीत-पट नेंनन-ग्रासू।
ऊधौ सों यों बचन उचारे, भले सखा सीख दै ग्राए।

मन करि हरि ब्रज में रहे, मिलि ब्रज-जन-मन साथ ।
तन कहि देबन-काज हित, भए द्वारिकानाथ ।।"

ब्रजविलास की रीति-मत्ता उसकी शृंगारिकता में मुखरित है। भक्ति के अंतर्गत कवि ने कृष्ण की लोकोत्तरता स्थान-स्थान पर प्रतिपादित की है—

"कीन्हीं तींन पेंड जिन्ह बसुधा, देहरि ताहि लँघावत जसुधा ।

❀

भुजा चारि धरि दरस दिखायौ, ग्वालिनि लखि अति अचरज पायौ ।
दधि-माँखन के बुंद सुहाए, सुभग स्याँम-उर अति छबि छाए ।
मानहुँ जमुना जल के माँहीं, दीख परत उड़गन-परछाँहीं ।
यै छबि निरखि रही छकि ग्वाली, बौहरों भए द्वि-भुज बनमाली ।"

—आदि,

इस प्रकार लीलाओं में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक संकेत हैं। कवि की भक्ति-भावना अमर्यादित है, जिसकी समालोचना लौकिक दृष्टि के स्थान पर पारलौकिक दृष्टि से होनी चाहिये।

ब्रजविलास में केवल भक्ति और रीति का ही समन्वय नहीं, उसमें सूर, नंददास और तुलसी का समन्वय भी है। कवि की अनेक उक्तियों में सूर, नंददास तथा तुलसी के स्वर झंकृत हैं। सूर से भाव, नंददास से युक्ति और तुलसी से काव्य का रूप कवि ने ग्रहण किया है। सूरदास के प्रति तो कवि ने स्पष्टतः अपनी कृतज्ञता प्रकट की है, पर तुलसी के प्रति उसकी कृतज्ञता उसकी छंद-प्रणाली और कवि की शब्दावली स्थान-स्थान पर प्रकट कर रही है। कवि स्वयं मौलिकता का श्रेयार्थी बनना नहीं चाहता! वह कहता है—

"या में कछु क बुद्धि नहिं मेरी, उक्ति-जुक्ति सब 'सूर' हिं केरी ।
कियौ 'सूर' रस-सिंधु उधारा, तामें प्रेंम-तरंग अपारा ।
हरि के चरित-रतन बिधि नाना, ब्रजबिलास सो सुधा समाना ।
पद-रचना करि 'सूर' बखाँन्यों, कोंमल, बिमल मधुर-रस-साँन्यों ।"

फिर इस (ब्रजविलास) की रचना के उद्देश्य-रूप में कवि कहता है—

"अतिसै करि मोहत मनहिं, गँधरब गुन के संग ।
कहत बनत तामें नहीं, क्रम सों कथा-प्रसंग ।।

★

मेरे मन अभिलाष, प्रभु-प्रेरित ऐसौ भयौ ।
कहि हों सो रस भाष, क्रम सों कथा प्रसंग सब ।।"

अस्तु, इसके लिए कवि ने तुलसी की दोहा-चौपाई की पद्धति को अधिक सतर्कता से ग्रहण किया है—

"द्वादस चौपाई प्रति दोहा, तहँ पुनि एक सोरठा सोहा ।
कहुँ-कहुँ सुभ छंद सुहाई, भाषा सरल, न अरथ दुराई ।"

और इन चौपाइयों तथा छंदों में स्थान-स्थान पर तुलसी की शब्दावली भी चमक उठी है। यथा—

"संतन-हितकारी, असुर सँघारी, आबत छिति सुख छाए ।

❀

गुन-गन सब गाबें, प्रभुहि सुनाबें, आँनद उर न सँमाता ।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ०२१

"पति देवता सुतीय कहँ, बेद-बचन परमाँन ।
जाहु बेगि तुम्ह पतिन्ह पहँ, ताते यै जिय जाँन ।।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० १६१

इस प्रकार रीति-युग में प्रणीत कथा-काव्यों में प्रबंधत्व के समीप यही ग्रंथ पहुँचता है।

प्रबंध-काव्यों की प्राचीन परंपरा के अनुसार कवि ने कथा-प्रसंग के अंतर्गत कृष्ण की कथा संक्षेप में वर्णित कर दी है। इस कृष्ण-कथा की परंपरा का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है —

"श्री सुखदेव कही हरि लीला, सुनीं परीच्छित सब गुन सीला ।
सूरदास सोई रस-सागर, गायौ बहु बिध प्रेम-उजागर ।"

❀

"सो तौ कथा अमित बिस्तारा, मो पै पायौ जात न पारा ।
ता में 'ब्रजबिलास' सुखदाई, सो कछु कहि हों करि चौपाई ।
भाषा की भाषा करों, छमिऐ सब अपराध ।
जिहि-तिहि बिध हरि गाईऐ, कहत सकल स्रुति-साध ।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३,

कवि ने जिन प्राकृतिक दृश्यों के मध्य में "ब्रजविलास' की अवतारणा की है वे प्राकृति, अति प्राकृत तथा मानवीय सौंदर्य से परिपूर्ण है । रास, जिसके संबंध में कवि की उक्ति है—

"बेदब्यास जो रास बखाँनों, सो गंधरब-ब्याह-बिधि जाँनों ।"

वह रास वृंदावन की जिस रम्य स्थली में अवतरित हुआ है, उसके सौंदर्य का वर्णन कवि ने स प्रकार किया है—

"श्री बृंदाबन छबि समुदाई, सम्यक बरनि कोंन पै जाई ।
जा की पटतर कों नहिं आँना, बन अनूप अद्वैत बखाँना ।
ऐसी कछू परत है हेरी, है असथूल बपुष प्रभु-केरी ।
गोपीजँन इंद्रिय-गन ताँमें, हैं चेतन्न आप हरि जाँमें ।
नित्त धाँम ताही ते गायौ, यै पटतर मेरे मन भायौ ।
सुख-निधि, रस-निधि, रूप-निधि, बृंदा-बिपिन उदार ।
सारद, नारद, सेस, सिब, बरनत बिधि, स्रुति-चार ।।"

—ब्रजविलास (० कि० प्रे० ल०) पृ० ३४२,

यह सौंदर्य कथानक का आध्यात्मिक दिव्य सौंदर्य है, जिसमें प्राकृतिक उपादान प्रतीकवत् किसी अलौकिक स्थिति की अनुभूति कराते हैं, किंतु ऐसी दिव्य कथा के प्रतीकों के प्राकृतिक सौंदर्य की भी कवि ने उपेक्षा नहीं की। यह अवश्य है कि ऐसे वर्णनों में कवि ने प्राकृतिक श्री के ऐश्वर्य पर ही विशेष ध्यान दिया है। जैसे निम्न अवतरण में—

"बहत समीर त्रिबिध सुखदाई, कुसुम-धूरि-धूंधरि छबि-छाई ।
उड़त सुगंध-लपट चहुँ ओरा, गुंजत भँवर चारु चित चोरा ।

❀

भई भूमि कपूर-मनि-मै रज बरखि जल कुँमकुँम-सिंची ।
परँम कोंमल सुभग सीतल, ज्योति मनि-कंचन-खिंची ।।
हरखि तहँ घनस्याँम सुंदर, रास-मंडल-बिधि रची ।
बरनि का पै जाइ सो छबि, निरखि सारद गति लची ।।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३४२-३४६

इस रास वर्णन में कवि (ब्रजवासीदास) पर अष्टछाप के उस भक्त कवि का काफी प्रभाव पड़ा है, जिसके संबंध में उक्ति है—**"और कवि गढ़िया, 'नंददास' जड़िया ।**

अस्तु, ब्रजविलास की ऊपर की पंक्तियाँ—"बहत समीर त्रिबिध सुखदाई, कुसुम-धूरि धूँधरि छबि छाई" और नंददास जी की निम्न उक्तियाँ साथ-साथ देखें, जैसे—

"कुसुम-धूरि धूँधरी कुंज, छबि-पुंजन छाई ।
गुंजत मंजु मलिंद, बेंनु जनु बजत सुहाई ।।"

—रासपंचाध्यायी : नंददास

अथवा—

"तब कर-लई सकल गुन जुरली, ललित जोगमाया-सी मुरली ।
नाँद ब्रह्म की उतपति जासों, निगँम-अगँम उपजे पुनि तासों ।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३४३

और—

"तब लीन्हीं कर-कँमल जोगमाया-सी मुरली ।
अघटित-घटना चतुर, बहुरि अधरँन-रस-जुरली ।।
जा की धुनि तें अगँम-निगँम, प्रघटे बड़ नागर ।
नाँद ब्रह्म की जननि, मोंहिनी सब सुख-सागर ।।"

—रासपंचाध्यायी : नंददास

सगुण-भक्ति-काव्यों में उपास्य के रूप-सौंदर्य के वर्णन उपलब्ध होते हैं। ब्रजविलास में गतिमान सौंदर्य का एक मनोहर वर्णन इन पंक्तियों में है—

"नचत माँनों मोर-जूथँन, मुकट-लटकँन यों फबै ।
चलत गति लै नागरिन्हँ सँग, स्याँम नटनागर जबै ।।
धरनि पग-पटकँन, झटकि कर, भोंह-मटक न कहि परै ।
ग्रीव-चालँन, हलँन कुंडल, कर जु फेरन मन-हरै ।।"

कभी-कभी कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के भाव और भाषा के सहारे उनसे कहीं आगे बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए, जहाँ नंददास जी श्री गोपीजनों द्वारा भगवान् श्री कृष्ण को उनके पास से अंतर्ध्यान होनेपर उनका पता वृक्ष-लतादि से पूछने तथा उनके जड़ होने के कारण कुछ उत्तर न देने पर 'तीर्थवासियों' की निष्ठुरता पर एक मृदु कटाक्ष करते हैं—

"जमुना तट के बिटप पूंछि भईं निपट उदासी ।
क्यों कहि हैं सखि, महा कठिन तीरथ के बासी ।।"

—रासपंचाध्यायी : नंददास

वहाँ ब्रजवासीदास जी व्यापक उदारता के भाव का समावेश करके उत्प्रेक्षा का भावानुकूल चमत्कार प्रस्तुत कर देते हैं। वे कहते हैं—

"बोलत नहिं कोउ कहत तरुँन कों, लै गए स्याँम इनहुँ के मन कों ।'

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३५७

अथवा—

"इहि बिधि प्रेंम-सुधा-निधि बढ़ गई अधिक कलोलें ।
ह्वै गईं बिह्वल बाल, लाल सों अलिबल बोलें ।।
तब तिनहीं में प्रघटे, सुंदर नंद-नँदन यों ।
दृष्टि बंद करि दुरै, बहुरि प्रघटै नटवर ज्यों ।।"

—रासपंचाध्यायी : नंददास

"अंतर नेंक रह्यौ नहिं, भईं स्यांम ब्रज-बाँम।
तब अंतर नहिं कर सके, भए निरंतर स्याँम।।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३५६

"मनि कंठ मुक्ता-माल उर, बनमाल चरनँन लों बनीं।
बदँन पंकज अलक स्रम-कँन-झलक छबि सकि को भनीं।।
पट पीत फरकँन, काछिनीं कटि लाल किंकिनि सोहई।
मलै चित्रित बाहु-भूषँन, स्याँम तन-मन मोहई।।"

❀

"जटित माल, जराब बेंदी, उदित दुति भुव-बंक की।
ललित बेसर नाक, अंजन नेंन, स्रुति ताटंक की।।
अधर, दसँन, कपोल, चिबुकँन, कंठ-भूषँन अति बने।
करत रास-बिलास अदभुत, हरत मनमोंहन मने।।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३-५०

समस्त काव्य में कवि का उद्देश्य उपमा अथवा रूपकों के वर्णन से काव्य को अनुरंजित करना न होकर वस्तु को ही वास्तविक तथा प्रभविष्णु रूप में उपस्थित करना है। यही कारण है कि कवि ने रूप-सौंदर्य की तीव्रता और प्रभावोत्पादकता के लिए अलंकारों की विशेष योजना पर ध्यान नहीं दिया है। उसने उतने ही अलंकारों का उपयोग किया है, जितने से लक्ष्य की यथार्थ सिद्धि हो जाती है। कहीं भी अतिशय अलंकारों का घटाटोप नहीं है। उदाहरणार्थ राधा पर विमुग्ध श्याम की दशा का चित्र तीन उपमानों से ही प्रस्तुत कर दिया है—

"भए स्यांम नागरि-बस ऐसें, फिरत छाँह सँग-ही-सँग जैसें।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

'छाँह' उपमान के द्वारा श्री कृष्ण को राधा के पीछे-पीछे निरंतर फिरते रहने का भाव पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इससे अधिक सुंदर उपमान किसी 'पिछलग्गू' के लिए नहीं हो सकता। अथवा—

"बदँन-कँमल-रस-रूप लुभाँने, रहत सिलीमुख ज्यों मड़राँने।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

यहाँ रूप का लोभ भ्रमर-वृत्ति से प्रकट किया है। तदनंतर—

"बचन-नाँद-रस मृग ज्यों गोधे, नेंन-कटाच्छ-बंक-सर-बींधे।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

वचन की माधुरी पर—वंशीनाद पर रीझे मृग की भाँति कृष्ण को रीझा बताकर परंपरित प्रणाली से कटाक्ष-बाण से भी कृष्ण को बिद्ध कर दिया है। बस इसके उपरांत कवि अलंकार छोड़ कर प्रकृत-वर्णन में रस-परिपाक की दृष्टि से संचारियों का उल्लेख करने लग गया है। इस प्रकार की संयत, किंतु प्रभविष्णु अलंकार-योजना और रस-पोषण की प्रणाली इस रचना में सर्वत्र मिलती है। इससे कवि के मस्तिष्क और हृदय की संतुलित सौंदर्य-वृत्ति का पता चलता है।

कवि ने अपने वर्णन में परंपरागत उक्तियों से भी यथेष्ट सहायता ली है—

"भली दिखाई आज यै, अदभुत छबि अभिरांम।
सूर-उदै-लोचन-कँमल, चंद्र उए पै स्याँम।।"

❀

"उर-कुच-कुंमकुंम-दाग, अधर-दसँन छबि राज हीं।
रँगी महाबर पाग, यै सोभा अनुपम बनीं।।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

सूर की अपेक्षा ब्रजविलास की राधा और गोपियाँ अधिक मुखर हैं। कृष्ण भी अधिक क्रीड़ाशील परिलक्षित होते हैं। गोपियों की मुखरता विरह में भी मौन नहीं दिखलाई पड़ती। उद्धव के प्रति गोपियों की तार्किकता कार्य-कारण परंपरा पर आधारित नहीं, वह तो अपना बल भावुकता से प्राप्त करती है। वे स्वयं अपने संबंध में निवेदित करती हैं—

अंध आरसी, बधिर धुनि, रोग ग्रसित तन भोग।
उद्धव तिनकौ न्याव है, हमें सिखावत जोग।।

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

ब्रजविलास में कवि का ध्यान कृष्ण की बाल-लीला की अपेक्षा उनकी किशोर-लीला पर अधिक स्थिर है। यह किशोर-लीला अपनी समस्त प्रबंधता में भी गीतों की सरलता से उद्वेलित है। स्थल-स्थल पर सुकुमार सूक्तियाँ हैं—

"सनमुख सर सहि सूर, जब रवि-रथ बेधत जाइ।
प्रथम बीज अंकुरन माँहि, पुनि फल फरत अघाइ।।

❀

बिन ही तोइ तरंग अरु, बिन चेतँन चतुराइ।
अब लों ब्रज में नहिं हुती, मधुप करी तुम आइ।।

❀

लोचँन रूप अधींन, सगुन सलोंने स्यांम के!
क्यों सुख पावै मींन, जल-बिन डारें दूध में।।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

ब्रजविलास का अध्ययन सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से संप्रति आवश्यक है। आशा है इस ओर साहित्य सेवियों का ध्यान आकर्षित होगा।

आनंदघन और रूपमती (बाजबहादुर) के पद

राग-टोड़ी

ए मेरे मन-नेंनन, रोंम-रोंम मधि कृष्ण रम्यों है।
कहुँ बेचत कहुँ लेत गुपाल गोरस, सो घर-घर—
फिरत बिकात जात कहूँ नींकें नेह जम्यों है।।
गोकुल प्रेम की पेंठ सुहाई, जहाँ जग-जीवन पाँइ-भ्रम्यों है।
'आँनदघन' अचरज सनकादिक, संकर-गिरिजा-सीस नम्यों है।।

राग-धनाश्री

एरी, बन-बाजी बाँसुरिया, कैसें रहों घर दैया।
कलमलात जियरा मिलवे कों, है कोऊ धीर-धरैया।।
गाज परौ या लाज निगोड़ी, करि हैं कहा चवैया।
'आँनदघन' पिय उघरि मिलोंगीं, अब डर करै-बलैया।।

राग-बिहाग

मोंहन, प्रीति करी में जाँनी।
दै बिसवास गयौ तजि मथुरा, राति कुब्जा सों माँनी।।
कपट-भरौ अति-कारौ तँन कौ, कपट-भरी सब बाँनी।
'आँनदघन' हित-चित की बातें जाँनत नाहिँ बिराँनी।।

राग-बिहाग

स्याँम-बिनाँ उँमगे री, बहु बदरा।
बरखत रहत रन औ बासर, हिऐ कियौ अति कदरा।।
कासों कहों, सुनें को मेरी, जोहत बैठी पिय कौ मगरा।
'रूपमती' कौ बाजबहादुर, तजि दियौ गोकुल मिट गयौ झगरा।।

राग-देवगंधार

तू जो अब मुखदेखँन कहत, एतौ गुमाँन करें रीझे ललना भावै।
बाद ही बकिवौ करत, पूंछेते उत्तर न देति, कंचन की सम काँच क्यों मावै।।
साह कसौटी के नाह मेरे जाँन, तही की मैहमाँ जो मन में रहे जावै।
'रूपमती' कहै ताही कौ लैहनों, जो बाजबहादुर कों आइ रिझावै।।

राग-टोड़ी

देखौ री, वौ आवत बगर में, होरी खेलत स्याँम-सँलोंनाँ।
छिन में मन बस करत सबन कौ, वाकी मुरली में है कछु टोंनाँ।।
मोर-मुकट कुंडल की अति छबि, अरुँन नेंन अंजन धरें कोंनाँ।
'रूपमती' मन होत बिरागी, बाजबहादुर कै नंद-ढिटोंनाँ।।

वल्लभ-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य की खोज

श्री प्रभुदयाल मीतल

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों के कारण ब्रजभाषा-साहित्य पर वल्लभ-संप्रदाय का प्रभाव सर्व विदित है, किंतु इसका यथार्थ स्वरूप अभी तक हिंदी-जगत् के संमुख नहीं आ पाया है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में भी इसका वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया गया है। इधर जो ब्रजभाषा-साहित्य की नयी खोज हुई है, उसके फलस्वरूप इस संप्रदाय का अपार साहित्य उपलब्ध हुआ है। जिसे देखकर किसी भी ब्रजभाषा-प्रेमी को हर्ष और आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। निंबार्क, हरिदास, हितहरिवंश और चैतन्य आदि वैष्णव-संप्रदायों ने भी ब्रजभाषा-साहित्य की उन्नति में महत्वपूर्ण कार्य किया है, किंतु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर अन्य संप्रदायों की अपेक्षा वल्लभ-संप्रदाय के महत्व का पलड़ा भारी दिखलाई देता है। अन्य संप्रदायों ने ब्रजभाषा के पद्य-साहित्य की ही अभिवृद्धि की है, किंतु वल्लभ-संप्रदाय ने पद्य के साथ गद्य पर भी अपना व्यापक प्रभाव डाला है।

पुष्टि-संप्रदाय के संस्थापक 'महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य' जी ने अपने कतिपय सेवकों को श्रीनाथजी के कीर्तनार्थ ब्रजभाषा में पद-रचना करने की प्रेरणा दी थी। उन सेवकों में सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास मुख्य थे, जिनको बाद में विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप में संमिलित किया था। अष्टछाप के इन कवियों को प्रेरित करने के कारण ही हिंदी के इतिहास ग्रंथों में वल्लभाचार्य जी का नामोल्लेख किया गया है, किंतु स्वयं वल्लभाचार्य जी ने ब्रजभाषा में रचना की या नहीं तथा उनके अष्टछापी सेवकों के अतिरिक्त अन्य कितने शिष्य-सेवक ब्रजभाषा के काव्य रचयिता थे, इस संबंध में हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया है। यह बात सर्व विदित है कि श्री वल्लभाचार्य जी के सहस्रों सेवकों में चौरासी प्रमुख थे, जिनका वृतांत ब्रजभाषा-गद्य की प्राचीन रचना 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। इस वार्ता-ग्रंथ का कोई सुसंपादित संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है, अतः हिंदी के साहित्यकारों को उसके वास्तविक स्वरूप का अभी तक बहुत कम ज्ञान है। 'चौरासी वार्ता' पर श्री हरिराय जी ने 'भाव-प्रकाश' नामक टिप्पणी की है। इस टिप्पणी के साथ उक्त वार्ता 'लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्ता' कहलाती है। हिंदी-साहित्यकारों को इस दुर्लभ ग्रंथ का परिचय अभी तक नहीं था। यह ग्रंथ सं० १७५२ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर अभी छप कर प्रकाशित हुआ है। इससे श्री वल्लभाचार्य जी के सेवकों के सांप्रदायिक महत्व पर तो अच्छा प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही उनकी साहित्य-सेवा के विशेष संकेत भी मिलते हैं। लीला-भावना वाली इस 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि अष्टछाप के पूर्वोक्त चार कवियों के अतिरिक्त निम्न लिखित महानुभाव भी ब्रजभाषा के कवि थे —

१. गोपालदास काशीवाले, २. गदाधरदास, ३. मुकुंददास, ४. प्रभुदास भाट, ५. त्रिपुरदास, ६. कृष्णदास घघरी, ७. कृष्णादासी, ८. रामदास मेवाड़ी, ९. भगवानदास साँचौरा, १०. लघु पुरुषोत्तमदास ११. कविराज भाट, १२. गोपालदास ईंटोडा क्षत्री, १३ गोपालदास नरोड़ावाले, १४. रामदास मुखिया।

इनके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के कतिपय अन्य सेवकों के कबि होने की सूचना चौरासी-वार्ता से तो नहीं मिलती, पर अन्य वार्ताओं और अंतःसाक्ष्यादि से उनका कवि होना प्रमाणित है। उन कवियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. दामोदरदास हरसानी, २. पद्मनाभदास, ३. विष्णुदास छीपा, ४. जीवनदास क्षत्री, ५. कन्हैया शाल, ६. अवधूतदास।

उपर्युक्त सभी महानुभावों के नाम तथा उनका विवरण 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता में' दिया हुआ है, चाहे वार्ता में उनके कवि होने का संकेत न मिलता हो। इनके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के निम्नलिखित सेवक ऐसे हैं, जिनका विवरण अथवा नाम उक्त वार्ता में नहीं दिया गया है, किंतु खोज में उनकी ब्रजभाषा की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—

१. अग्रदास, (छाप—अगर, अगरदास) २. यादवेंद्र, ३. लकुटी, ४. ज्ञानचंद्र, ५. विष्णुदास, ६. श्रीभट्ट।

इनमें अग्रदास और लकुटी विष्णुस्वामी-संप्रदाय में दीक्षित होते हुए भी वल्लभाचार्य जी के सेवक थे। शेष सब पुष्टि-संप्रदाय के अनुयायी थे। जिन 'श्रीभट्ट' का नाम ऊपर लिखा गया है, वे निंबार्क-संप्रदायी श्रीभट्ट से भिन्न व्यक्ति हैं। उपर्युक्त सभी महानुभावों की ब्रजभाषा-रचनाएँ खोज में प्राप्त हुई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे उत्कृष्ट कवि थे। आश्चर्य की बात है कि हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में उनके नाम का भी उल्लेख नहीं है।

कुछ लेखकों ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के रचे हुए 'विष्णु-पद' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। यह ग्रंथ ब्रजभाषा का कहा जाता है। हमारी खोज के अनुसार यह ग्रंथ वल्लभाचार्य जी रचित नहीं है। उनके नाम से प्रसिद्ध 'चौरासी अपराध' नामक ब्रजभाषा गद्य की भी एक रचना प्राप्त हुई है, किंतु यह इसी रूप में उनकी लिखी हुई हो, इसमें भारी संदेह है। संभव है, मौखिक प्रवचन के रूप में इसकी रचना वल्लभाचार्य जी द्वारा हुई हो, किंतु अन्य अनेक वार्ता-ग्रंथों की तरह इसको लिखित रूप बाद में गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी द्वारा ही दिया गया होगा। पुष्टि-संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य जी अपने ग्रंथों में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, किंतु अपने व्याख्यान और प्रचार-कार्य में ब्रजभाषा का उपयोग करते थे। उनको ब्रजभाषा इसलिए भी प्रिय थी कि यह उनके इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-भूमि से संबंधित है। वे इसको 'पुरुषोत्तम-भाषा' कहा करते थे। उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ और उत्तर भारत के अनेक दूरस्थ स्थानों में इस भाषा का व्यापक प्रचार किया था। अस्तु, वल्लभाचार्य जी ने भी ब्रजभाषा की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया था।

वल्लभाचार्य जी के सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा ब्रजभाषा-साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। उन्होंने विक्रम की १७ वीं शताब्दी के आदि में सूरदासादि चार अपने पिता के और गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास एवं नंददास आदि चार अपने शिष्यों की एक मंडली बनायी, जो 'अष्टछाप' के नाम से विख्यात है। अष्टछाप की रचनाओं का ब्रजभाषा-साहित्य पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

अष्टछाप के अतिरिक्त विट्ठलनाथ जी के अनेक शिष्य-सेवकों की ऐसी ब्रजभाषा रचनाएँ खोज में प्राप्त हुई हैं, जिनके कारण उनका सुकवि होना सिद्ध होता है। पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहस्रों शिष्य-सेवक थे, जिनमें २५२ मुख्य थे। उन प्रमुख सेवकों का वृतांत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। हम यहाँ पर विट्ठलनाथ जी के कुछ ऐसे सेवकों की तालिका देते हैं, जिनके सुकवि होने का निश्चित प्रमाण मिल चुका है। उनमें से अधिकांश का नामोल्लेख हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में नहीं हुआ है। यह तालिका अकारादि क्रम से इस प्रकार है—

१. अलीखाँन, २. ऋषीकेश (हृषीकेश), ३. कटहरिया, ४. कान्हरदास, ५. कृष्णदास जाड़ा ६. गदाधर मिश्र, ७. गोपालदास (वल्लाभाख्यान के रचयिता), ८. लघुगोपाल, ९. गोवर्धनदास, १०. गंगाबाई (जिसने श्रीविट्ठल-गिरिधरन की छाप से काव्य-रचना की है), ११. गोकुलनाथ जी (सुप्रसिद्ध वार्ताकार), १२. घनश्याम जी (गोस्वामी जी के सप्तम पुत्र) १३. चतुर्भुज मिश्र, १४. कृष्णजीवन लच्छीराम, १५. चतुरबिहारी, १६. चरणदास, १७. जगजीवन, १८. जगन्नाथ-

कविराय (गोस्वामी जी के दौहित्र), १९. यादुनाथदास, २०. तुलसीदास जलधरिया (लालदास की छाप), २१. ताज (अकबर की बेगम), २२. थिरदास, २३. दयाल, २४. ध्यानदास, २५. २५. धर्मदास, २६. धोंधी, २७. राजा पर्वतसेन, २८. राजा पृथ्वीसिंह, २९. बीरदास, ३०. बंकट, ३१. भानु, ३२. मान-सुत, ३३. भीमराजा, ३४. मथुरामल्ल, ३५. मदनमोहन, ३६. माणिकचंद्र, ३७. माधवदास, ३८. लघु माधव, ३९. मदनगोपाल, ४०. मुरारीदास, ४१. मुरली, ४२. मेहा, ४३. मोहनदास, ४४. रघुनाथ जी (गोस्वामी जी के पंचम पुत्र), ४५. राघवदास, ४६. राघवदास की बेटी, ४७. रामदास, ४८. रामदास दूसरे, ४९. रूपमुरारी, ५०. बृंदाबन, ५१. व्यास, ५२.विनय ५३. श्यामदास, ५४. लीलाधर, ५५. सगुणदास, ५६. हरजीवन, ५७. त्रिलोक, ५८. रामराय, ५९. भगवान हित, ६०. जन भगवान ६१. भगवान दूसरे, ६२. मनोहर।

हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में सुप्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन और भक्त कवि रसखान के अतिरिक्त अकबर के सुप्रसिद्ध मुसाहब बीरबल और टोडरमल का नामोल्लेख हुआ है, किंतु पुष्टि-संप्रदाय के इतिहास से विदित होता है कि ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के भी कृपापात्र थे। राजा आसकरण को 'भक्तमाल' में किसी अन्य संप्रदाय का अनुयायी लिखा गया है, पर उनकी जो रचनाएँ हैं वे पुष्टमार्गीय हैं।

वल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी से पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य का अस्तित्व नाम मात्र को था, अस्तु, उनके प्रोत्साहन से इसकी यथेष्ट उन्नति हुई। उक्त दोनों महानुभावों के प्रोत्साहन के कारण ही ब्रजभाषा में पद-रचना के रूप में जो पद्यात्मक साहित्य निर्मित हुआ, उसने कई शताब्दियों तक हिंदी-साहित्य को प्रभावित किया तथा आज भी उसके गौरव का कारण माना जाता है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् भी इस प्रकार के पद-रचयिता कवियों की अटूट शृंखला चलती रही। इन कवियों की अगणित रचनाएँ पुष्टि-संप्रदायी मंदिरों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने समय में ही संप्रदाय के मंदिरों की दर्शन-झाँकी में पद-गायन की आवश्यक व्यवस्था कर दी थी, जिसका पालन आज तक समस्त भारतवर्ष के पुष्टि-संप्रदायी मंदिरों में होता है। इसके फलस्वरूप समस्त देश में जहाँ भी इस संप्रदाय के मंदिर और अनुयायी हैं, वहाँ ब्रजभाषा-काव्य की लहरी प्रतिदिन अबाध गति से प्रवाहित होती रहती है। यह क्रम कई शताब्दियों से प्रचलित है और जब तक पुष्टि-संप्रदाय का अस्तित्व रहेगा, तब तक यह क्रम प्रचलित रहेगा। इसके अनुकरण पर वैष्णव-धर्म के कई अन्य संप्रदायों ने भी ब्रजभाषा-काव्य को आश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घ काल तक ब्रजभाषा-साहित्य की अतीव उन्नति होती रही।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के विकास और उसकी उन्नति का तो एक मात्र श्रेय वल्लभ-संप्रदाय के वार्त्ता साहित्य को है। हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी का नाम वार्त्ताओं के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध है; किंतु कुछ समय से हिंदी के कतिपय विद्वान् इन वार्त्ताओं की प्रामाणिकता और इनके गोकुलनाथ जी कृत होने में संदेह प्रकट करने लगे हैं। इन विद्वानों के सर पर संदेह का ऐसा भूत चढ़ा है कि उनको पुष्टि-संप्रदाय का समस्त वार्त्ता—साहित्य अप्रामाणिक ही नहीं, साहित्यिक जाल भी मालूम होता है। वास्तविक बात यह है कि इन विद्वानों को समस्त वार्त्ता साहित्य के अवलोकन करने का अभी अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। इन्हों ने इस संबंध की जो थोड़ी-बहुत सामग्री इधर-उधर से देख ली है, उसका भी इन्होंने गंभीर अध्ययन नहीं किया है। इस प्रकार अपने अधूरे ज्ञान के आधार पर इन्होंने अपना भ्रमात्मक मत बना लिया है। श्री द्वारकादास परीख, श्री कंठमणि शास्त्री और डा० दीनदयाल गुप्त प्रभृति कुछ ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने वार्त्ता-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है, वे सब इसको प्रामाणिक मानते हैं। इस विषय के अल्प ज्ञान के आधार पर मेरा निश्चित मत है कि पुष्टि-संप्रदाय का वार्त्ता-साहित्य ब्रजभाषा-साहित्य की अमूल्य निधि है। इससे ब्रजभाषा के आरंभिक गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। इसके साथ ही इसमें सत्रहवीं एवं

अठारहवीं शतियों के उत्तरी भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार वार्त्ताओं का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व स्वयं सिद्ध है।

वार्त्ता-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसका अधिकांश भाग श्री गोकुलनाथ जी एवं श्री हरिराय-द्वारा कथित एवं रचित है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी अपने समय में पुष्टि-संप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता एवं मार्मिक वक्ता थे। वे सिद्धांत-ग्रंथों की व्याख्या और सुबोधिनी की कथा के अनंतर वल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी के सेवकों की जीवन-घटनाओं की चर्चा भी किया करते थे। गोकुलनाथ जी के मौखिक प्रवचन अत्यंत रोचक और शिक्षाप्रद होते थे और कल्याण भट्ट आदि उनके अंतरंग सेवकों-द्वारा वे उसी समय लिपिबद्ध कर लिये जाते थे। खोज में इस प्रकार के लिपिबद्ध विवरण 'वचनामृत' रूप में अत्यधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं। इन वचनामृतों में कहीं-कहीं पर इनके लेखन का समय, स्थान, प्रसंग और दिनांक का भी उल्लेख मिलता है, जिनके कारण इनका धार्मिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व ज्ञात होता है।

श्री गोकुलनाथ के मौखिक प्रवचन रूप 'वचनामृत' जिन वार्त्ताओं के मूल रूप हैं, उनमें 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' मुख्य हैं। इन वार्ताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनको स्वयं गोकुलनाथ जी ने कभी नहीं लिखा था। इनके गोकुलनाथ जी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि इनके मूल वचन सर्व प्रथम उनके श्री मुख से निकले थे। इन वार्त्ताओं का यथार्थ रूप में संकलन और संपादन वाद में गोकुलनाथ जी के ज्येष्ठ भ्राता गोविंदराय जी के पौत्र और कल्याणराय जी के पुत्र श्री हरिराय जी ने किया था। 'चौरासी वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वार्त्ताओं' के अतिरिक्त श्री गोकुलनाथ जी के नाम से जो अन्य वार्त्ताएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें निम्न लिखित मुख्य हैं:—

१. श्री गुसाँई जी और दामोदरदास जी का संवाद, २. बन-यात्रा, ३. नित्य-सेवा-प्रकार, ४. बैठक चरित्र, ५. घरू वार्त्ता, भावना और हास्य प्रसंग विषयक अनेक वचनामृत।

गोकुनाथ जी के अंतिम समय में और उन्हीं के तत्वावधान में श्री हरिराय जी ने वार्ताओं का संकलन और संपादन किया था। उसी समय वार्त्ताओं के प्रसंगों की पूर्ति के लिए जहाँ-तहाँ उनमें गोकुलनाथ जी के नाम का भी समावेश किया गया, जो हरिराय जी ने अपनी ओर से किया था। चौरासी और दो सौ बावन वार्त्ताओं के संपादन के अतिरिक्त हरिराय जी ने 'निजवार्त्ता', 'घरूवार्त्ता', 'महाप्रभु जी की प्रागट्य वार्त्ता' आदि अनेक वार्त्ता-ग्रंथों की स्वयं भी रचना की थी। उन्होंने अपने अंतिम समय में वार्त्ताओं के प्रसंगों की पूर्ति और उनके स्पष्टीकरण के लिए उन पर टिप्पणियाँ भी लगायीं थीं। ये टिप्पणियाँ 'भाव' नाम से प्रसिद्ध हैं। हरिराय जी कृत कई 'भाव' युक्त वार्त्ताएँ खोज में प्राप्त हुई हैं, जिनमें 'तीन जन्म की लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णव की वार्त्ता' और 'अष्टसखान की वार्त्ता' मुख्य है।

पुष्टि-संप्रदाय के वार्त्ता-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'ब्रजभाषा-गद्य' के लेखक के रूप में जो श्रेय श्री गोकुलनाथ जी को दिया जाता है, वह वास्तव में श्री हरिराय जी को देना चाहिए, क्योंकि ब्रजभाषा-गद्य की वार्त्ता पुस्तकों के यथार्थ रचयिता वे ही थे। खेद है, इतने बड़े साहित्यकार होने पर भी हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनके महत्त्व का दिग्दर्श नहीं कराया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डा० श्यामसुंदरदास जैसे धुरंधर विद्वानों के इतिहास-ग्रंथों में हरिराय जी के नाम का भी उल्लेख नहीं है और मिश्रबंधुओं एवं 'रसाल' जी के इतिहास-ग्रंथों में उनका वर्णन अधूरी सूचनाओं के साथ दिया गया है।

'मिश्रबंधु-विनोद' में हरिराय जी का जीवन वृतांत न देकर उनकी कुछ रचनाओं का नामोल्लेख मात्र किया गया है। इस ग्रंथ में उनका रचनाकाल सं० १६०७ लिखा गया है, जो खोज से अशुद्ध सिद्ध होता है। हरिराय जी का जन्म सं० १६४७ में और देहावसान सं० १७७२ में हुआ था।

यदि उन्होंने बीस वर्ष की आयु में ग्रंथ-रचना आरंभ की हो, तब भी उनका रचनाकाल सं० १६६७ से पूर्व नहीं आता है। रसाल जी ने गोकुलनाथ जी कृत गद्य-ग्रंथों के उल्लेख के अनंतर अपने इतिहास के पृ०३७४ में लिखा है—

"जान पड़ता है कि वार्त्ता लिखने की शैली सी चल पड़ी थी, क्योंकि इसी प्रकार की वार्त्ताएँ श्री हितहरि जी ने भी लिखी हैं"।

श्री हितहरि जी से अभिप्राय साधारणतया श्री हित हरिवंश से होता है, क्योंकि 'हित' शब्द का प्रयोग 'राधावल्लभीय संप्रदाय' के संस्थापक हरिवंश जी के साथ ही किया जाता है। यह सिद्ध है कि हितहरिवंश जी ने किसी वार्ता पुस्तक की रचना नहीं की थी, अतः रसाल जी का अभिप्राय 'श्री हितहरि' से श्री हरिराय जी से ही ज्ञात होता है। पुष्टि-संप्रदाय के कुछ अध्ययनशील व्यक्तियों के अतिरिक्त श्री हरिराय जी इतने बड़े साहित्यकार होते हुए भी, हिंदी-संसार के विद्वानों तथा प्रेमियों के लिए अपरिचित ही बने हुए हैं। हिंदी-जगत् को उनके नाम का परिचय सर्व प्रथम, अभी कुछ वर्ष पूर्व सं० १९९६ में हुआ, जब काँकरौली विद्याविभाग-द्वारा 'प्राचीन वार्त्ता-रहस्य' प्रथम भाग छप कर प्रकाशित हुआ। 'लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के संपादक श्री द्वारकादास जी परीख ने उसके आरंभ में पुष्टि-संप्रदाय के विभिन्न लेखकों की ८९ वार्त्ता-पुस्तकों का नामोल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि वल्लभ-संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा के पद्य-साहित्य के साथ ही साथ उसके गद्य-साहित्य की भी अतीव उन्नति हुई थी और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ था। ब्रजभाषा-वार्त्ता-साहित्य के रूप में हिंदी की ऐसी व्यवस्थित एवं पुष्ट शैली रहते हुए हिंदी गद्य के लिये खड़ी बोली क्यों स्वीकृत हुई, यह एक ऐतिहासिक उलझन है, जिसको यथार्थ रूप में सुलझाने की चेष्टा हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में नहीं की गयी है।

वल्लभ-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य की खोज करने पर यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि इस संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा पद्य और गद्य दोनों प्रकार के साहित्य की यथेष्ट अभिवृद्धि हुई थी। ऐसी दशा में हिंदी-साहित्य का पूर्ण रूपेण अध्ययन करने वाले विद्वानों का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे पुष्टि-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य का गंभीरतापूर्वक अवलोकन करें। खेद की बात है कि हिंदी के अधिकांश विद्वानों ने इस साहित्य को अभी तक उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। जिन कतिपय साहित्य-कारों ने इसके अध्ययन की चेष्टा की है, उनका दृष्टिकोण सहानुभूति-रहित ही नहीं, बल्कि शंकापूर्ण रहा है।

इस साहित्य के यथासाध्य अवलोकन और मनन करने के उपरांत मेरा निश्चित मत है कि यदि सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से इस साहित्य का अनुसंधान एवं अध्ययन किया जाय, तो इसमें से ऐसी अमूल्य-सामग्री संकलित की जा सकती है, जो प्राचीन हिंदी-साहित्य के महत्त्व की वृद्धि कई गुना अधिक कर सकती है, साथ ही वह हिंदी-साहित्य के इतिहास में क्रांतिकारी परिवर्तन कर सकती है[1]।

1. श्रीवल्लभ-संप्रदाय में 'नित्य-कीर्त्तन' और 'वर्षोत्सव' के उपलक्ष्यमें नित्य प्रति सवेरे—'मंगला' से लेकर रात्रि—'शयन-पर्यंत' तथा भगवान् श्री कृष्णके 'जन्म' से लेकर 'हिंडोले' के उत्सव तक जो पद गाये जाते हैं उनमें अष्टछाप के कवियों को भी संमिलित करते हुए अन्य पद (कीर्त्तन) रचयिताओं की सूची, उनकी अपनी विविध-छाप के अनुसार इस प्रकार है—

"अंग, अग्रदास (अगरदास), अलीखाँन, अलीदीन, अनुचरदास,, आनंदघन, आसकरण, इच्छा-राम, उदयराम (उदय), ऋषीकेश (हृषीकेश), कटहरिया, कल्याण, कल्याण (दूसरे मुकुंद-तात), कविराज भाट, कान्हर (कान्हरदास), किशोरीदास, कुंजविहारी, कुंभनदास (अष्टछाप), कृष्णकमल, कृष्णजीवन लच्छीराम, कृष्णदास (अष्टछाप), कृष्णदास गगरी, कृष्णादासी, केशवकिशोर, केशुकिसोरी, केसौराम (केसौ, केसव), गंग, गंगग्वाल, गंगा दास, गदाधर, गदाधरमिश्र, गदाधरराय, गरीबदास, गिरि-

धर, गिरिधर जन, गिरिधरलाल, गुनरूप, गोकुल, गोकुलचंद, गोकुलनाथ (प्रख्यात वार्त्ता-रचयिता), गोकुलनाथ जू प्यारे, गोकुलपति, गोपाल, गोपालदास (मदनमोहन), गोपालदास (लघुगोपाल), गोवर्धन, गोवर्धनदास, गोवर्धनेश, गोविंद, गोविंददास, गोविंददास (दूसरे), गोविंदस्वामी (अष्टछाप), ग्वाल, घनश्याम प्रभु, घनश्याम सनाढ्य, चंचल (शशि), चतुर, चतुरविहारी, चतुरानन, चतुर्भुजदास (अष्टछाप), चरणदास, छविनाथ (छविनायक) कन्नौजिया, छीतस्वामी (अष्टछाप), जगजीवन (जग), जगत-जनक, जगतानंद, जगन्नाथ कविराय, जगन्नाथ प्रभु, जन, जन भगवान, जन हरिया, जयदेव, जुगल, ठाकुरदास, ताज, तानसेन, तुलसी, दयाराम भाई, दयाल प्रिय, दामोदर वल्लभ (पद किंकर), दामोदर हित, दाससखी (दास-सरण), द्वारिकादास (दास), द्वारिकानाथ, द्वारिकेश, धर्मदास, धर्मराज, धीरज, धोंधी, नंददास (अष्टछाप), नवनीत, नवल सखी, नागरीदास (कृष्णजढ़), नाथ, नारायण, निज-जन, निज-जन कौ दास, निजदास, निजदासन, निजदासी, निर्भयराम, पद्मनाभदास, परमानंददास (अष्टछाप—छाप, परमानंद, परमानंददास, परमानंद स्वामी), पर्वत, पर्वतसेन, पियविहारी, पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तमदास (लघु), पुरुषोत्तम प्रभु, पुरुषोत्तम सेठ, प्रभुदास (भाट), प्रवीण, प्रह्लाद, प्रानजीवन (प्रान), प्रेमदास, प्रेम प्रभुदास, बंशीधर, बलराम, बलिदास, बलिनंद, बहादुर सिंह (कृष्णगढ़), बालकेश, बालकृष्ण (गोस्वामी), बालिकी, बिहारिनदास, ब्रह्म (ब्रह्मदास—महाराज बीरबल), भगवानदास, भगवान हित रामराय, भीम (भीमा), मथुराजन, मथुरानाथ, मदनमोहन (श्याम), मधुकर, मधुप, मनोहरदास, मराल, महीपति पाँडे, माधुरीदास, माधौ, माधौदास, मानदास, मानिकचंद, मुकुंद प्रभु (माधौ), मुरली, मुरारीदास, मेहा, मोहन, यादवेंद्र (जादौं), रघुनंदन, रघुनाथ (रघुनाथदास), रघुवीर, रतनारे, रसखाँन, रसिक (गोस्वामी श्रीहरिराय-प्रसिद्ध), रसिकदास, रसिकन कौ दास, रसिक विहारी, रहसे, राघव (राघौ) दास, राजाराम, रामकृष्ण, रामदास, रामराय (रामराय के प्रभु), रूपमाधुरी, लच्छीदास, लच्छीराम, ललित, ललितादि, लालगुपाल, लालदास, लाल-लड़ैती, वल्लभ (गिरिधरन), वल्लभ (वल्लभदास), वासुदेव (लाल कल्याण), विचित्रविहारी, विट्ठल, विट्ठलगिरिधरन, विट्ठलदास, विट्ठलविपिन-विहारी, विट्ठलविपुल, विष्णुदास, वेणुबाबा, वृंदावन (वृंदावन कौ चंद), वृंदावन हित-माधुरी, वेणीमाधव, व्यास, व्रजईश, व्रजजन (ब्रजजन-सिरताज), व्रज जीवन, व्रजनाथ, व्रजपति, व्रजभूप, व्रजभूषण, व्रजराज, व्रजाधीश, श्याम, श्यामघन, श्यामदास, श्यामदास हरिनारायण, श्यामसहाय, श्यामसुंदर, श्रीभट्ट, श्रुतिरूपा आभीर, सगुणदास, सरसरंग, सुंदरदास, सुखसाज (सुजान), सुघरराय, सूरजपुर, सूरदास (अष्ट-छाप—सूर, सूरज, सूरजदास, सूरजप्रभु, सूर के प्रभु, सूरदास, सूर के प्रभु, सूरश्याम, सूरस्वामी-आदि) सूरदास मदनमोहन, सूरसेन, हरि, हरिजीवन, हरिदास, हरिदास, (हरिदास के स्वाँमी के स्वाँमी स्याँमा कुंजविहारी), हरिनारायण-श्यामदास, हरिवंश, हरिवंश (व्यास), हित हरिवंश, त्रिपुरजन, त्रिलोकजन, ज्ञान, ज्ञानचंद।"

इन कवियों अथवा कीर्त्तन-कर्त्ताओं को वल्लभ-संप्रदाय में आठ-श्रेणियों में विभाजित किया गया है, अर्थात् अष्टछाप के प्रत्येक कवि के अंतर्गत आठ-आठ कवि (पद-रचयिता और गायक) अंग-भाव से नियोजित किये गये है। जैसे—

"सूरदास" (अंग)—"तानसेन, अलीखाँन, जगन्नाथ कविराय, हरिनारायण-श्यामदास, मुरारीदास, मुकुंददास, जन भगवान, कृष्णजीवन लच्छीराम।"

"कुंभनदास" (अंग)—"हित हरिवंश, हरिदास, रसखाँन, लघु गोपाल, किशोरी, माधुरीदास, वास (वैष्णव), रसिक।"

"परमानंददास" (अंग)—"पद्मनाभदास, गोपालदास, आसकरण, गदाधरदास, सगुनदास, हरजीवनदास, मानिकचंद, रसिकविहारी।"

"नंददास" (अंग)—"हरिदास, ताज, कटहरिया, रामदास, धोंधी, भगवानहित-रामराय, रघुनाथदास, जन हरिया।"

"गोविंद स्वामी" (अंग)—"हरिराय, काका वल्लभजी (दास छाप), द्वारिकेश, व्रजाधीश, व्रजपति, गंगाबाई (श्री विट्ठल गिरिधरन छाप), कृष्णदास (दूसरे), कल्याण के प्रभु।"

"चतुर्भुजदास" (अंग)—"व्यासदास, मानदास, दामोदरहित, विचित्रविहारी, श्रीभट्ट, प्रेमप्रभु, जगजीवन, विहारीदास।"

"छीतवामी" (अंग)—"श्यामदास, सुघरराय, केशकिशोरी, अग्रदास, भगवानदास, हृषीकेश, माधुरीदास, जन गिरिधर।"

"कृष्णदास" (अंग)—"रामराय, गोपालदास (भाईला), चतुरविहारी, जन त्रैलोक, दास-माधौ, जगजीवन, रूपमाधुरी, नागरीदास।"

—जवाहरलाल चतुर्वेदी

मुगलसम्राटों की ब्रजभाषा-गेय-पद-रचनाएँ

राग-भैरव

लाल के संग ललनाँ रैंन-जागी, भए लाल लोचँन लगों हे आली, माँनों बधू-पसीठे ।
ता-मधि पूरी ऐसी सोभा माँनों भँवर लपटात उन्ह मधि, उड़ि परे रंग-मँजीठे ।।
उन्ह के देखें भूँख न रही री मेरे जाँन, खंजन, कँमल, मींन, मृग लागे बसीठे ।
'साह अकबर' पिय मोंहन अरसाँनें नींदन, अलख लड़े पुनि बाँट छबि-ढीली चितवत मींठे ।।

राग-टोड़ी

बार-बार बरजी तोहिं यें कोंन चतुराई ।
ज्यों-ज्यों प्यारे की प्रकृति, त्यों हीं पेंच लए याही में बड़ाई ।।
धन तेरौ रूप, सुहाग, भाग जाँनें, सौतिन्ह घट लागत माई ।
'साह आजम' कहत री धन तेरौ लैहनों, तेरी कृपा सुखदाई ।।

राग-आसावरी

प्यारी, बोली तू चलि री, होंहूँ तो सों कहति हों माँन जिन गहै ।
नीची नार कहा कर रही री सुंदरि, ऊँचे चितै नेंक मो-तन मत जिय में दहै ।।
सबरी तियँन में तुही सुभाइ रही पिय-जिय में, क्यों हठ हिऐं रहै ।
'साह बहादुर' तू अति बिचित्र री, ता सों रस-ही-रस निबहै ।।

राग-भैरव

बनि बनिता आई, पिय मन-भाई, सौतिन्ह मधि माँनों फूली फुलवारी ।
एकँन सों नेंन-सेंन, एकँन सों मींठे बेंन, पाछे तें अंक भरत भई दूनीं छबि माई ।।
उत्तम मधु-रितु फूली, इत काम-बेली, पिय-तिय दोऊ भाँति इकदाई ।
अति सुख दियौ दोऊ बिबसँन राई, 'सुलताँन सलेंम' पिय रूसी मनाई ।।

ख्याल-भैरव

ऐसें देखियतु लालँन, जागे भाग हमारे आज रस-भींने ।
एक बसंत जाँन सब कों उतै देखत, कृपा ते करि सुगंध नबींने ।।
उदै भऐं गरभ दोऊ औ रीते आए, अंजन अधर लगाइ लींने ।
"सदाँरंग' महंमद साह छबि-नायक, या ते मन बस कींने ।।

राग-टोड़ी

अब ही डारि दै रे ईंडुरिया कन्हाई, मेरी पँच-रँग-पाट की ।
हा-हा खात तेरे पैयाँ परति हों, लालच मोहि मथुरा-नगर-हाट की ।।
मेरे संग की दूरि निकसि गईं, हों न रही किहुँ घाट की ।
'ताँन-तरंग' प्रभु झगरौ ठाँन्यों, हँसत लुगाई बाट की ।।

मीरा : पद-विधान

श्री कुमारी जगदीश्वरी सिंह

मीरा-रचित भजन राग-रागिनियों में बँधे पदों के रूप में उपलब्ध होते हैं। मीरा का काव्य मुक्तक-शैली में है, प्रबंध शैली में नहीं। इसलिए उसमें विषय-विस्तार नहीं है; साथ-साथ भावनाओं का घनत्व और वर्ण्य-विषय का संकोच भी है। उनके पदों का विषय कृष्ण तथा उनकी कुछ लीलाएँ हैं। लीलाओं में विशेष रूप से दान-लीला, मान-लीला, पनघट-लीला, कुबरी-लीला, गोवर्धन-लीला, रास-लीला, नाग-लीला आदि हैं। इन लीलाओं का भी वर्णन विस्तार से नहीं किया गया है।

मीरा की छाप से प्रचलित कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें उनकी जीवन-संबंधी घटनाओं का उल्लेख है। ऐसे पद अधिक नहीं हैं। "माता और मीरा का वार्तालाप," "ऊदाबाई और मीरा का वार्त्तालाप" तथा कतिपय भिन्न स्वतंत्र प्रसंगों में ऐसे उल्लख मिलते हैं। कुछ पद राणा' और 'सिसौद्या' को संबोधित करके लिखे गए हैं, जिनमें कृष्णके प्रति मीरा के अटल प्रेम की अभिव्यक्ति है। इनमें से भी कुछ पदों में उसके जीवन की कुछ घटनाओं का संकेत हुआ है: जैसे विष का प्याला पिलाये जाने, गले में सांप डालने जैसी घटनाएँ हैं। ये राणाके कुचक्र की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं।

कुछ ऐसे भी पद मिलते हैं, जिनमें वे गोपी-रूप में अपना प्रेम-निवेदन करती हैं। इन पदों में 'मीरा' उस 'गोपी' से भिन्न नहीं दिखाई देती' जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा था—

"संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्....।"[1]

और अपने को उन पर न्योछावर कर दिया था।

पूर्णतया भक्ति-भावना से संबंधित हैं जिनमें प्रेम तथा विरह की छाया नहीं है, केवल शांत-भाव का प्राधान्य है। ऐसे पदों में ही मीरा के कृष्ण—संबंधी विचार स्पष्ट होते हैं। कुछ अन्य पद ऐसे भी हैं जिनमें वह स्वयं एक योगिनी के रूपमें हैं तथा योगी-रूप कृष्ण से आत्म-निवेदन करती हैं।

निर्गुणी संतों के समान मीरा के पदों में प्रेम की मस्ती, अनहदनाद की झंकार, त्रिकुटी, शून्य, निरंजन, राम, साहब, साईयाँ का संबोधन, गुरुकी महिमा का वर्णन आदि का भी उल्लेख मिलता है।

मीरा के विरह-निवेदन संबंधी पद सर्वोत्कृष्ट हैं। इनमें करुना, वेदना और टीस कूट-कूट कर भरी है। विरह की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण भी है। थोड़े पदों में कृष्ण के रूप-सौंदर्य का चित्रण किया गया है। मीरा के पद उसके सरल हृदय के उच्छ्वास हैं—हृदय की वेदना की अनुभुतियों से परिप्लावित। उनमें आदि से अंत तक कोई कथा नहीं है, हृदय की वेदना का अनुभव है।

मीरा का समस्त काव्य गेय है। गीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हमें उनके पदों में मिलती हैं। गीति-काव्य की प्रधानतया दो विशेषताएँ होती हैं—प्रथम पदों की संगीतात्मकता, द्वितीय स्वानुभूति का प्रकाशन। अतः जिस काव्य में संगीतात्मकता तथा आत्मानुभूति एक साथ पाई जाय वह गीति-काव्य माना जा सकता है। मीरा को गीति-काव्य रचयिताओं में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उसके पद स्वाभाविक वेदना-विकास के द्योतक हैं। संगीत का अविरल प्रवाह आदि से अंत तक पदों में मिलता है।

[1] मैवंविभोऽर्हतिभवान् गादितुं नृशंस संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्देवोयथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

—भागवत १०।२६।३१

मीरा के पदों में अंतर्जगत् का चित्रण ही प्रधान है। मीरा अपने प्रेम और विरह के निवेदन में इतनी तल्लीन हो जाती है कि बहिर्जगत् का प्रभाव अस्पष्ट होने लगता है। इसी प्रकार के पदों में उसकी आत्मा की गहरी वेदना निहित पुकार है।

"कोई कहियो रे, प्रभु-आवन की।
आवन की, मन-भावन की ।।
आप न आवै लिख नहिं भेजै, बाँण पडी ललचावन की।
ए दई नेंणँ कह्यौ नहिं मानैं, नँदिया बहै जैसें सावन की ।।
कहा करूँ कछु बस नहिं मेरौ, पाँख नहीं उड़ जावन की।
'मीरा कहै प्रभु' कबरे मिलौगे, चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ।।"

इस पद में उनकी व्याकुलता, वेदना की तीव्रता और भावों का आलोड़न स्पष्ट होता है। दुःख चरम पर पहुँच गया हैं। शरीर ही बंधन हुआ जा रहा है। निश्चित समय की अवधि व्यतीत हो चुकी है। उसके पास 'पंख' भी तो नहीं हैं जो उड़कर प्रिय के पास पहुँच जाय।

गीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ मीरा के पदों में मिलती हैं। यह माना जाता है कि मध्यकालीन भक्त-कवियों की रचनाओं में गीति-भावना जितने शुद्ध रूप में मीरा के पदों तथा तुलसी की "विनय-पत्रिका" में मिलती है उतनी उस समय की किसी भी रचना में नहीं है।

पदों में अलंकार-योजना स्वाभाविक है। अलंकारों को लाने के लिए मीरा ने विशेष प्रयत्न और कवित्व-शक्ति का व्यय नहीं किया है। उनका उद्देश्य साधारण ढंग से अपने प्रेम और विरह का निवेदन करना रहा है। अतः भावोद्‌गार 'स्वांतः सुखाय' ही व्यक्त हुए हैं। इसी से हृदय-स्थित भाव इनमें सरल ढंग से पद-बद्ध हो गए हैं। इन पदों के सहज, स्वाभाविक अर्थ में ही इतना बल है कि सीधे हृदय को छूते हैं। कृष्ण-भक्त-कवियों ने कृष्ण के जिस रूप-सौंदर्य का वर्णन इतना बढ़ा-बढ़ा कर किया, उसे मीरा ने केवल एक पद की परिधि में ही सीमित कर दिया, जिसमें कृष्ण के यौवन और शैशवावस्था का पूर्ण समन्वय है—

"बस्याँ म्हारे नेंनाण माँ नँदलाल।
मोर-मुगट मकराकृत कुंडल, अरुण तिलक सोहाँ भाल ।।
मोंहण-मूरत साँवराँ सूरत, नेंणाँ बण्या बिसाल।
अधर सुधाँरस मुरली राजाँ, उर बैजँणता माल।
'मीराँ' प्रभु संताँ सुखदायाँ भगत बछल गोपाल ।।"

मीरा ने न प्रबंध-काव्य लिखा और न लिखने की चेष्टा ही की। इधर-उधर कृष्ण की कुछ लीलाओं का उल्लेख पदों में हैं, परंतु उन लीलाओं में से अधिकांश का वर्णन भागवत में वर्णित लीलाओं के समान नहीं है, यद्यपि आधार भागवत का ही है।

मीरा के भाव इतने जटिल नहीं हैं कि उन्हें सुलझाने का बारंबार प्रयत्न किया हो। भावों की पुनरावृत्ति पदों में मिलती हैं जो गीति-काव्य के लक्षण के अनुकूल ही है। एक पद एक संपूर्ण भाव का द्योतक है। पूरे पद में अपने भावों को व्यक्त करके अंतिम पंक्ति में मीरा की छाप देकर अपनी उत्कट अभिलाषा को व्यक्त कर देती है। उसी अंतिम पंक्ति में उसका उद्देश्य और निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है।

पदों की भाषा सरल और सुबोध है। पदों को प्रामाणिक संकलन के अभाव में भाषा-संबंधी प्रश्न को उठाना कठिन है। जनसाधारण में यह पद इतने अधिक प्रचलित रहे हैं कि भाषा में रूपांतर हो गया है। जो संकलन अभी तक प्राप्त हैं उनमें विशेषरूप से राजस्थानी, ब्रजभाषा और गुजराती का संमिश्रण है तथा कहीं-कहीं पर फारसी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। मीरा के पद गीति-शैली की दृष्टि से पूर्ण सफल हैं।

किसी-किसी संकलन में मीरा के पदों में रागों का निर्देश मिलता है। मीरा ने उन पदों को स्वयं गाकर और ताल में बैठाकर उन-उन रागों का निर्देश किया था, यह कहना कठिन है। ये पद इतने लोक-प्रिय

हैं कि गायक और साधु-मंडली आज भी इन्हें गाती रहती है। विदित यह होता है कि संग्रह-कर्त्ताओं ने स्वयं मनमाने ढंग से इन रागों का निर्देश किया है, क्योंकि एक ही पद विभिन्न संकलनों में विभिन्न रागों के अंतर्गत मिलता है। जो कुछ भी हो संगीतात्मकता इन पदों का प्राण है। कमला देवी गर्ग का कथन है—

"लोक-गीतों की भाँति उन्हों (मीरा) ने भी विशेष राग-रागनियों की धुन अपनाई होगी। इसके अतिरिक्त, राजस्थान में प्रचलित रागनियों एवं पद्धतियों को ही प्रथम श्रेय मिला होगा। राजस्थान में मारू (कुछ संगीतज्ञ मारवा को मारू मानते हैं, और कुछ मालव को मारू कहते हैं। कुछ मालव की भार्या को मारू मानते हैं), मेवाड़, मारवा, माँड आदि का प्रचलन विशेष है। माँड और मेवाड़ा तो पदों की प्रचलित धुन हैं। लोक-गीतों में इसका प्रचार विशेष है। अतः कीर्त्तनों में इनका प्रयोग किया जाना अधिक संभव जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओं एवं अवसरों पर गाए जाने वाले लोक-गीतों की धुन जैसे—'होली', 'कजरी', सावन आदि को भी अपनाया होगा। व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपने गाने के लिए संभवतः उन्होंने अपने भावों के अनुकूल कुछ राग-रागनियों का व्यवहार किया हो। रिषभ, धैवत, मध्यम की कोमलता एवं तीव्रता विभिन्न वृत्तियों एवं मनोदशाओं का संकेत करती हैं। कोमल रिषभ (रे) से वैराग्य की ध्वनि फूटती है। कोमल धैवत (ध) से करुणा का बोध होता है। तीव्र मध्यम (म) हृदय की अभिलाषाओं की तीव्रता की ओर संकेत करता है। अतः 'रे', 'ध', 'म' का प्रयोग जिन राग-रागनियों में होता होगा उनका वे विशेष प्रयोग करती होंगी। भैरवी के सारे कोमल स्वरों ने, संभवतः उन्हें आकृष्ट किया हो। पीलू में आतुरता और व्याकुलता ध्वनित होती है। वेदना के अश्रु उसमें झरते-से प्रतीत होते हैं। वागेश्वरी में करुणा और आश्वासन का बोध होता है। इसी प्रकार सोरठ, मलार, बिहाग, देश के स्वरों में मीरा ने पदों को गाकर अपने को अभिव्यक्त किया होगा[1]।"

उपर्युक्त अनुमान अंशतः ठीक जान पड़ता है। विरह के पदों में अभिव्यक्त होनेवाली पीड़ा की भावना देश, वागेश्वरी आदि रागों से व्यक्त की गई होगी, परंतु साथ ही साथ मीरा के पदों में निरंतर बहने वाले आनंद के स्रोत का भी दर्शन होता रहता है। अतः उन्होंने कुछ इस प्रकार के रागों का भी प्रयोग किया होगा जिनसे आनंद की अधिक अभिव्यक्ति होती है। उनके पदों में कर्ण-कटु-शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता, पद बहुत बड़े भी नहीं हैं। पदों का प्रथम चरण इतना छोटा है कि स्वभावतः उसकी पुनरावृत्ति की जा सकती है।

मीरा ने अधिकांश रूप से पदों में उन्हीं छंदों का उपयोग किया है जिनको उससे पहले के कवि करते चले आए थे। गेय पद राग-रागनियों में होते हैं। उनमें छंद-योजना भी होती है, यद्यपि गेय होने के कारण उनमें आए छंदों में और साधारण छंदों में कुछ अंतर अवश्य होता है। पदों में एक टेक होती है और उस टेक के अनुसार निश्चित छंद चलता है। प्रत्येक चरण के अंत में टेक की पुनरावृत्ति होती है। एक टेक के साथ कई प्रकार के छंद और एक छंद के साथ कई प्रकार की टेकें आ सकती हैं, परंतु टेक का और छंद के अंतिम यति-खंड का स्वरावरोह एक-सा होना चाहिए। कहीं-कहीं पर छंद के पूरे चरण की ही टेक होती है और कहीं-कहीं आंशिक। छंद का अंतिम यति-खंड यति के अंतिम खंड से अनिवार्यतः मिलता है और ऐसी अवस्था में यति के निश्चित अंतिम खंड के पहले कुछ अनुकूल मात्राएँ भी बढ़ाई जा सकती है, किंतु उस अंतिम खंड के पहले एक यति अवश्य होगी।

विष्णु-पद छंद २६ मात्राओं का होता है। १६ और दस के बाद यति का प्रयोग होता है। विष्णु-पद की टेक के साथ १० मात्रा के पहले कितनी ही अनुकुल मात्राएँ आ सकती हैं, जैसे—

"बादल देखाँ झरी स्याँम, बादल देख्याँ झरी।
काला पीला घट्याँ ऊमड़्याँ, बरस्याँ च्यार घरी ।।"

[1]. दे० मीरा-स्मृति ग्रंथ, पृ० १८१,

पदों में सर्वत्र छंदों का ही प्रयोग होता है। छंद और पदों में केवल इतना ही अंतर होता है कि पद में प्रथम पंक्ति टेक की होती है और चरण की अन्य पंक्तियों का अंत्यानुप्रास प्रथम पंक्ति के अनुकूल होता है। टेक का और छंद का अभिन्न संबंध है। कुछ निश्चित टेकों के साथ कुछ निश्चित छंद ही पदों में रखे जा सकते हैं, जिनका स्वरावरोह उसी टेक की गति से साम्य रखता है। १६ मात्रा की टेक के साथ सार छंद (१६-१२) का प्रयोग मीरा ने किया है—

"भज मँण, चरँण कँवल अवणाँसी ।
जे ताँई दीसाँ धरँण गगँण माँ, ते ताँई उठ जासी।"

कहीं-कहीं ३२ मात्राओं की टेक के साथ भी सार छंद का प्रयोग किया है, जैसे—

"निपट बंकट छब अटके, म्हारे नेंणाँ निपट बंकट छब अटके।
देख्याँ रूप मदण मोंहण रौ, पियत पियूखँण मटके।।"

कहीं पर पूरा चरण ही एक टेक के रूप में है—

"स्याँम बिण दुखपावाँ सजणी, कुण म्हाँ धीर बंधावाँ।
यो संसार कुबुध री भाँडौ, साध-संगत ना भावाँ।।
साधाँ जण री निंद्याँ ठाणाँ, करम रा कुगत कुभावाँ।
साध-संगत माँ भूल णा जावाँ मूरिख जणम गुमावाँ।।
'मीराँ, रे प्रभु थारी सरणाँ, जीव परम-पद पावाँ।"

तीस मात्राओं की टेकें भी मीरा के पदों में मिलती हैं—

"थाणें काँई-काँई बोल सुणावाँ, म्हाराँ साँवरा गिरधारी।"

१२ मात्राओं की टेक के साथ सार छंद का प्रयोग मीरा के पदों में विशेष मिलता है, क्योंकि यह १२ मात्राएँ सार छंद की अंतिम १२ मात्राओं के बराबर होती हैं और लय में एक रूप हो जाती हैं—

"म्हाँ, गिरधर रँग-राँती!
पचरँग चोला पहेर्‍याँ सखि म्हाँ, झरमट खेल्याँ जाती।।"

२६ मात्राओं (१४-१२) की टेक का प्रयोग सरसी छंद के साथ एक पद में मिलता है—

"थे मत बरजाँ माई री, साधाँ दरसण जावाँ।
स्याँम रूप हिरदाँ बसाँ म्हारे ओर णा भावाँ।।"

११ मात्राओं की टेक के साथ भी सरसी छंद (१६-११) का प्रयोग हुआ है, क्योंकि इसकी अंतिम ११ मात्राएँ टेक के अनुकूल होती हैं। टेक की ११ मात्राओं में गीतात्मकता के अनुसार मात्राओं में परिवर्द्धन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए—**"साँवरे मारचा तीर"** इसमें १२ मात्राएँ हैं, परंतु उच्चारण ११ मात्राओं के अनुरूप ही होता है, क्योंकि 'साँवरे' शब्द के 'रे' अक्षर को ह्रस्व करके पढ़ा जायगा। इन ११ मात्राओं की टेक के पहले भी कुछ मात्राएँ आ सकती हैं, परंतु ऐसी अवस्था में टेक में अंतिम ११ मात्राओं के पहले यति होगी, जैसे—

"चाणाँ मलवा जमणाँ का तीर।"

इसमें ११ के पहले ६ मात्राएँ हैं। इस प्रकार यह १७ मात्रा की टेक है, परंतु ६ मात्राओं के बाद एक यति लगती है। इसी प्रकार १५ मात्राएँ भी हो सकती हैं, जिनके साथ सरसी छंद का प्रयोग होता है—

"चाणाँ मलवा जमणाँ का तीर।
वा जमणाँ का निरमल पाँणी, सीतल होयाँ सरीर।।"

११ मात्राओं के पहले और १२ मात्रा जोड़ कर २३ मात्राओं की टेक भी मीरा के पदों में मिलती हैं। ऐसी दशा में १२ मात्राओं पर यति का प्रयोग होता है और उसके साथ सरसी छंद का प्रयोग है—

"जाणाँ रे मोहणाँ, जाणाँ थारी प्रीत।
प्रेम-भगति से पैडाँ म्हारो, और ण जाणाँ रीत ।।
इमरत पाइ बिषां क्यूं दीजाँ, कूण गाँव री रीत।
'मीराँ' रे प्रभु हरि अपिणासी, अपणों जण रो मीत ।।"

सरसी छंद के प्रयोग में २४ मात्राओं तक की टेकें आई हैं, परंतु उनके अंतिम भाग की ध्वनि अनुकल होने के कारण गेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती, जैसे—

"प्रभु जी, थे कयाँ गया नेहड़ा लगाइ।
छोड्या म्हाँ बिसबास सँगाती, प्रीत री बाती जगाइ ।।
बिरह समंद माँ छोड गया छो, नेह री नाव उचाइ।
'मीरा' रे प्रभु कबरे मिलोगा, थे विण रह्याँ ण जाइ ।।"

सरसी छंद में ११ मात्राओं के पहले भी टेक में कुछ अधिक मात्राओं का प्रयोग मीरा के पदों में मिलता है, जैसे—

"आवाँ मोहणाँ जी, जोवाँ थारी बाट।
खाण-पाण म्हारे 'णेक' णा भावाँ, नेंणाँ खुलाँ कपाट ।।"

११ के पहले १२ मात्राएँ हैं। अंतिम ११ मात्राएँ सरसी छंद की अंतिम ११ मात्राओं के अनुकल ही हैं, इसलिए लय में कोई अंतर न होने के कारण टेक में ११ मात्राओं के पहले कहीं अनुकूल मात्राओं को भी जोड़ा जा सकता है—

"हेरी म्हाँ तो दरद दिवाणी, म्हारा दरद णा जाण्याँ कोइ।
घायल री गत घायल जाण्याँ हिवड़ो अगँण सँजोइ ।।
जौहर कीमत जौहराँ जाण्याँ, क्या जाण्याँ जिण खोइ।"

इस पद में सरसी छंद के साथ वीर छंद की टेक आई है और इसकी अंतिम ११ मात्राएँ सरसी के अनुकूल पड़ जाती हैं।

रूपमाला (१४—१० अंत में गुरू-लघु) छंद के साथ १४ मात्राओं की टेक का भी प्रयोग हुआ है, जिसमें ४ मात्राओं के वाद यति होती है और शेष रूपमाला की अंतिम १० मात्राओं की लय के अनुकूल होती है। उदाहरण के लिए—

"मँण थें परस, हरि के चरण।
सुगभ सीतल, कँवल कोंमल, जगत ज्वाला-हरण ।।
इण चरण प्रह्लाद परस्याँ, इंद्र-पदवी-धरण।
इण चरण ध्रुव अटल करस्याँ, सरण असरण-सरण ।।"

इस पदमें रूपमाला छंद ही पूरी टेक के रूप में प्रयुक्त हुआ है—

"रास पूणों जणमिया री, राधका अवतार।
ग्यॉंण-चौरस मँडी चौहेट, खेलताँ संसार ।।
गिरधराँ री रची बाजी, जीत भावाँ हार।
साध-संता, ग्याँनवंता, चालताँ उच्चार ।।
दासि 'मीरा' लाल गिरधर जोवणाँ छिण-च्यार।"

मीरा ने अपने पदों की रचना उक्त विशेष छंदों को दृष्टिकोण में रख कर साभिलाष चाहे न की हो, परंतु उस समय के प्रचलित छंद गीतात्मकता के कारण स्वत: पदों में आगए हैं।[1]

[1]. मीरा के पदों के कितने ही पाठ मिलते हैं, जो विविध ग्रंथों में विद्वानों ने दिये हैं। इस लेखिका ने 'मीरा-स्मृति-ग्रंथ' में दिये हुए पाठ को स्वीकार किया है और उस से ही उदाहरण लिये हैं।

संगीत-निपुण बाई मीरा ने गेय-पद-सम्राट् 'सूर' और संगीत-सम्राट् 'तानसेन' की भाँति कुछ नये रागों का निर्माण किया है। संगीतज्ञों में शुद्ध मलार के अतिरिक्त मेघ मलार, नट मलार, गौड़ मलार, देश मलार, साँमेरी मलार, सोरेठ मलार, धूरिया मलार, पावस मलार, श्रावणी मलार, मोहन मलार, गुंड मलार, रूपमंजरी मलार, सूर मलार, चरजू दास की मलार, रामदासी मलार, और मियाँ (तानसेन) की मलार के साथ-साथ "मीरा की मलार" भी प्रसिद्ध है। ये मलार रचयिता 'मीरा' कौन-थीं इस विषय में संगीतज्ञों का भारी मतभेद है। कोई इन्हीं भक्ताग्रगण्य बाई मीरा को मानते हैं और कोई प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'गोपाल नायक' की पुत्री, जिसका नाम भी मीरा था को मानते हैं। बात जो कुछ भी हो, पर है यह मलार स्त्री-गायिका की—रचयिता की उत्पत्ति और उसमें अपनी खास विशेषता है। संगीत के आचार्यों ने मलार, मल्लार या मल्हार को मेघजन्य राग माना है, किंतु 'संगीत दामोदर के लेखक ने इसे संपूर्ण जाति का राग मानते हुए इसकी 'षड् रागों' में स्थापना की है। एवं इसकी—वेलावती, पूर्बी, कानडा, माघवी, कोड़ा और केदारिका पाँच स्त्रियाँ मानी हैं। संगीत दर्पणकार ने भी इसे प्रधान षड् रागों में चौथा स्थान देते हुए लिखा है—

"भैरवः पंचमो नाटो, मल्लारो गौड मालवः।
देशाख्यश्चेते षड्रागाः प्रोच्यते लोकविश्रुतः।।"

राग-विवोध के कर्त्ता ने भी विविध राग-रागनियों का वर्गीकरण करते हुए इसे मेघ-जन्य राग, व्यंकट मुखी ने गौड-जन्य राग, राजन्तरंगिणी के कर्त्ता ने मेघ-जन्य राग, राग-मंजरी के रचयिता ने केदारा-जन्य राग और श्री भातखंडे ने काफी मेल-जन्य राग इसे माना है। मियाँ तानसेन अपनी 'राग माला' में मलार का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"नट-सारंग सँजोगते, मेघराग को ताँन।
मिलै एक करि गाइए, यै 'मल्लार' सुजाँन।।"

अस्तुः मलार में पाँच—"सा, रे, म, प, और ध स्वर लगते हैं। धैवत—'ध' इसका प्राण है। रिषभ —'रे' और धैवत—'ध' तीव्र, षड्ज—'स' वादी, तथा पंचम—'प' संवादी स्वर है।

धुरपद-गायक इसमें निषाद—नि (कोमल) का प्रयोग भी करते हैं और ख्यालिया तीव्र निषाद का। कुछ चाल में भी फरक है। एक ब्रज की मलार भी प्रसिद्ध है, जिसे 'रासधारी' गाया करते हैं और जो संगीतज्ञों में 'अताई मलार' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अन्य मलारों की अपेक्षा मधुर और सुगम है। इसके स्वर हैं—

"सा रे, नीसा सा ध नी प।"

मीरा की मलार में ऋषभ—रे तथा धैवत—ध, चढ़े (तीव्र), गंधार—ग और मध्यम—म तथा निषाद्—'नि' उतरे (कोमल) स्वर लगते हैं। आरोह में गंधार और निषाद छोड़ दिये जाते हैं। अवरोह में भी उसका कम ही व्यवहार होता है। अतएव इसकी चाल है—"रे, मम पप म गप ध सा।" इससे ज्ञात होता है कि श्री 'मीरा' संगीत में कितनी पारंगत थीं।

श्री चैतन्य और साकार-निराकार वाद

श्री राजनारायण कपूर

ईश्वर साकार है या निराकार? इस प्रश्न को लेकर दर्शन-शास्त्र के युद्ध-क्षेत्र में न जाने कितने भयंकर युद्ध हो चुके हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धाओं ने अपने बल और पराक्रम की आज़माइश की है। श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य जैसे महारथियों ने अपने तर्क-कौशल के द्वारा विपरीत दल के योद्धाओं को छिन्न-भिन्न कर डालने के प्रयत्न में कोई कसर नहीं रखी है, परंतु समस्या उतनी ही जटिल होती गई है जितना तर्क-द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। साकारवादियों को निराकारवादियों की बुद्धि पर और निराकारवादियों को साकारवादियों की बुद्धि पर उतना ही खेद और अपने विचारों पर उतना ही दृढ़ विश्वास होता गया है। इस वितंडावाद के अंत न होने का कारण है दोनों ओर के दार्शनिकों का संकीर्ण दृष्टिकोण। दोनों पक्ष के दार्शनिकों के विचार से निराकारत्व और साकारत्व वस्तुओं में परस्पर विरोधी गुण हैं और जिस प्रकार और वस्तुओं में परस्पर विरोधी गुणों का एक साथ होना असंगत है उसी प्रकार ईश्वर में भी परस्पर विरोधी गुणों का आरोप करना युक्तियुक्त नहीं। जितनी शक्ति साकार और निराकार के वितंडावाद में व्यर्थ व्यय की गई है उसका एक अंश भी यदि यह विचार करने में खर्च की गई होती कि ईश्वर के संबंध में परस्पर विरोधी गुणों का एक साथ रहना कहाँ तक असंभव है, तो शायद यह समस्या कभी की सहज में ही हल हो गई होती। क्या ईश्वर साकार होते हुए भी निराकार और निराकार होते हुए भी साकार नहीं हो सकता? क्या वह अनंत, अदृश्य, अरूप और सत्ता-मात्र होते हुए भी अनंत रूपवान, अखिल रसामृतमूर्ति, भुवन-मन-मोहन, प्रेम-पुंज, करुणा-सागर और क्रीड़ा-कौतुक-पूर्ण, चिन्मय लीला-विग्रह नहीं हो सकता?

साधारण बुद्धि से तो यह बात बिल्कुल असंभव-सी ही प्रतीत होती है। जिस वस्तु का कोई रूप नहीं वह फिर रूपवान कैसे हो सकती है और जो रूपवान है वह अरूप कैसे कही जा सकती है? किसी वस्तु में यदि किसी गुण विशेष का होना स्वीकार किया जाय तो उसके विपरीत गुण का उसमें न होना तो अपने आप ही स्वीकृत हो जाता है। किसी वस्तु को यदि सफेद कहा जाय तो यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि वह उसी स्थान पर और उसी समय स्याह नहीं है। इसी प्रकार यदि ईश्वर के संबंध में कहा जाय कि वह ऐसा है तो यह भी कहना ही पड़ता है कि वह वैसा नहीं है, परंतु ईश्वर के संबंध में यह कहना कि वह वैसा नहीं है, उसको अपूर्ण स्वीकार करना है। उसमें किसी न किसी गुण का अभाव मान कर उसे सीमाबद्ध करना है। इसलिये वेदांतियों ने निर्णय किया है कि ईश्वर के संबंध में कुछ न कहना ही ठीक है, उसका सब से श्रेष्ठ वर्णन यही है कि वह अवर्णनीय है।

यदि ईश्वर के लिये यही अंतिम शब्द है तब उसके विषय में कुछ कहना-सुनना अथवा चिंतन करना दूर रहा, उसके प्रति संकेत करना भी असंभव है और जिस वस्तु का चिंतन नहीं किया जा सकता, जिसका कथोपकथन नहीं हो सकता, जिसका अन्य किसी भी प्रकार से निर्देश नहीं किया जा सकता, वह वस्तु ही कहलाने योग्य नहीं रहती, परंतु यह सिद्धांत कहाँ तक सही माना जा सकता है कि ईश्वर के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कहना भी तो उसके विषय में कुछ कहना ही है, दूसरे शब्दों में यदि उसके विषय में जो भी कहा जाय असत्य है तो यह भी असत्य है कि "उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय असत्य है" और यदि यह असत्य है तो स्पष्टतः यह सत्य है कि उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय असत्य नहीं है।

इतना ही नहीं, उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय सब सत्य है, वह सर्वशक्तिमान, सर्वगुणसंपन्न, अनंत और सीमा-हीन है। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसमें न पाई जाती हो, ऐसा कोई गुण नहीं जो उसमें विराजमान न हो। हमें जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ भी हमारे चिंतन का विषय बनता है या बन सकता है सब उसी की अनंत शक्तियों में से किसी न किसी शक्ति का तुच्छ प्रकाश है[१]। उससे कोई वस्तु अथवा गुण पृथक् नहीं। यदि होता तो वह उसी अंश में अपूर्ण होता।

"सर्वैश्वर्य परिपूर्ण स्वयं भगवान।
तारे निराकार करि काह व्याख्यान ॥"

—चै० च०, मध्य ६।१४०

वह तो सभी प्रकार से पूर्ण है। उसकी अनंत शक्तियाँ और अनंत गुण हैं। उसे निराकार या निर्गुण कहना हमारी सबसे बड़ी भूल है।

वह अवर्णनीय अवश्य है, किंतु इस दृष्टि से नहीं कि वह निर्गुण है, बल्कि इस दृष्टि से कि उसके अनंत गुण हैं और उसका कैसा भी वर्णन उसके एक अंश का वर्णन है, उसका नहीं। वह निराकार अवश्य है, पर केवल निराकार नहीं। साकार भी है पर केवल साकार नहीं, उसके अनंत रूप हैं—

"एकई विग्रह तार अनंत स्वरूप।"

—चै० च०, म०, २०।१६४

यही तो ईश्वरत्व है।

शास्त्रों में भी भगवान् के इस पूर्ण रूप का वर्णन है। कहीं साकार पर विशेष जोर दिया गया है, कहीं निराकार पर। जिन शास्त्रों में ईश्वर के साकार रूप का वर्णन है उन्हें निराकारवादी नहीं मानते, जिनमें निराकार ब्रह्म का वर्णन है उन्हें साकारवादी नहीं मानते और यदि मानना ही पड़े तो जहाँ अपने सिद्धांत का खंडन होता देखते हैं वहाँ लक्षणा-वृत्ति-द्वारा शास्त्रों का उलटा-पुलटा अर्थ निकाल कर अपने मत की पुष्टि करने की चेष्टा करते हैं। इसमें उनका दोष भी क्या है? दोष तो है उनकी सांप्रदायिकता का जो उनकी बुद्धि को आच्छादित किए रहती है। सांप्रदायिक और हठधर्मी लोग सत्य की उपलब्धि के हेतु शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते। वे शास्त्रावलोकन तो अपने कल्पित विचारों की शास्त्रों से पुष्टि कराने के लिये करते हैं। शास्त्रों का सरल अर्थ उन्हें तभी तक ग्राह्य होता है जब तक उससे उनका मतलब सिद्ध होता है, अथवा उनके मत की पुष्टि होती है, पर जब शास्त्र किसी विपरीत सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं तब निष्पक्ष भाव से शास्त्रोक्त अन्य सिद्धांतों से उसका समन्वय करने की अपेक्षा शास्त्रों की खींचतान करने लगते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि निराकारवादियों ने समन्वयात्मक वृत्ति का थोड़ा-बहुत आदर किया है, परंतु विशेष ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी समन्वयात्मक वृत्ति कुछ नहीं, वह पूर्ण रूप से सांप्रदायिकता से भरी हुई है। निराकारवादी साकार-निराकार का समन्वय इस प्रकार करते हैं—

"ब्रह्म वास्तव में निराकार है, परंतु भक्तों पर अनुग्रह कर कभी-कभी विशिष्ट रूप से आविर्भूत होता है। जिस प्रकार जल जमने पर बर्फ हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म निराकार होते हुए भी कभी-कभी साकार हो जाता है, परंतु उसका यह साकार रूप मायिक होता है। वह अपनी ही माया में अधिष्ठित हो कर रूप धारण करता है।"

इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह है कि ब्रह्म निराकार है साकार नहीं। साकार रूप यदि मायिक है तो वह कितना ही सुंदर और कितना ही शक्तिमान क्यों न हो ईश्वर का रूप नहीं है, वह

१. कृष्णेर अनंत शक्ति तते तीन प्रधान, चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम।

—चै० च०,

अन्य मायिक पदार्थों के समान तुच्छ है। इसलिये निराकारवादियों का यह कहना कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी, केवल साकारवादियों के लिये रचा हुआ शब्द-जाल-सा प्रतीत होता है; समन्वयात्मक होते हुए भी यह वास्तव में समन्वयात्मक नहीं है। ईश्वर के रूप को मायिक कहना सूर्य में अंधकार का आरोप करने के समान है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में अंधकार नहीं रह सकता, उसी प्रकार चैतन्य-सत्ता-पूर्ण भगवान् में माया का कोई स्थान नहीं हो सकता—

"जहाँ कृष्ण तहाँ नाइ माया अधिकार।"

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थंते ममाहमिति दुर्धियः॥"

—भागवत (गी० प्रे० सं०) २।५।१३

जितनी दूर ईश्वर की दृष्टि जाती है उतनी दूर तक माया पास आते लजाती है, दुर्बुद्धि-जीवगण उस माया से विमोहित हो जाते हैं और 'मैं' और 'मेरेपने' का अभिमान कर नाना प्रकार की बातें किया करते हैं—

"कृष्ण-नाम, कृष्ण-गुण, कृष्ण-लीला-वृंद।
कृष्णेर स्वरूप संग, सब चिदानंद॥"

—चै० च०, म० १७।१३५

भगवान् चिद् वस्तु हैं, इसलिये उनसे संबंध रखने वाली सभी वस्तुएँ उनके रूप, गुण, लीला आदि सभी चिन्मय हैं। बहुत से लोग भगवान् का मनुष्यों की भाँति जन्म-ग्रहण और देह-त्याग करना देख कर उनके शरीर को प्राकृत समझ बैठते हैं, परंतु गीता में भगवान् का वाक्य है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥"

—गीता ४।९

हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म दिव्य, अर्थात् अलौकिक है। इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है वह शरीर त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता, किंतु मुझको प्राप्त होता है।

"अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्॥"

—गीता ९।११

तथा—

"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥"

—गीता १६।१९,

अर्थात्, मूढ़ व्यक्ति मेरी सच्चिदानंद मूर्ति को मानव शरीर समझ कर यह स्थिर करते हैं कि मैं प्रपंच के नियमों में बँध कर मायिक शरीर ग्रहण करता हूँ। वह नहीं जानते कि मेरा शरीर नित्य सच्चिदानंद है। उन क्रूर और अधम मनुष्यों को मैं संसार में आसुरी योनियों में बार-बार फेंका करता हूँ।

ईश्वर के साकार रूप के मायिक होने के विरुद्ध इससे अधिक और क्या शास्त्र-प्रमाण हो सकता है। श्री चैतन्य ने कहा है—

"प्राकृत करिया माने विष्णु कलेवर।
विष्णु निंदा आर नाहिं इहार ऊपरि॥"

—चै० च० आ० ७।११५

भगवान् के शरीर को प्राकृत मानने से बढ़ कर भगवान् के श्री चरणों में दूसरा कोई अपराध नहीं हो सकता[1]।

शास्त्रों में प्रत्येक स्थल पर भगवान् के नित्य सच्चिदानंद-विग्रह के स्पष्ट प्रमाण पाए जाते हैं। निराकारवादियों ने उन्हें लक्षणा-वृत्ति-द्वारा तोड़-मरोड़ कर अपना मतलब निकालने में बड़ी चतुराई दिखलाई है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से शास्त्रार्थ करते समय इस संबंध में अपने विचारों को प्रकट किया है। वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य इस समय के सर्व प्रधान मायावादी पंडित थे। चैतन्य महाप्रभु जब संन्यास-ग्रहण कर जगन्नाथपुरी में श्री जगन्नाथ के दर्शन करने आए उस समय यह घटनाक्रम से श्रीमंदिर में ही उपस्थित थे। वह चैतन्य के रूप, लावण्य, भाव-भंगी को और उनके शरीर से स्पष्ट सात्विक-भावों का निरंतर प्रकाश होते देखकर सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गए। वे उन्हें उसी समय अपने निवास-स्थान पर ले गये और उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। एक दिन श्रीमंदिर से लौट कर भट्टाचार्य जी शिष्यों को वेदांत पढ़ाने बैठे। उन्होंने श्री चैतन्य से भी यह कहते हुए वेदांत सुनने का आग्रह किया कि 'वेदांत-श्रवण' संन्यासी का मुख्य धर्म है। इसका पालन किये बगैर संन्यास कदापि नहीं टिक सकता। श्री चैतन्य बोले—"आप मुझे अपना प्रिय जान कर सदा मेरे ऊपर अनुग्रह किया करते हैं। मैं अवश्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा," और वेदांत सुनने को तत्काल प्रस्तुत हो गए, सात दिन लगातार श्री चैतन्य वेदांत श्रवण करते रहे, लेकिन बिल्कुल मौन रहे। आठवें दिन सार्वभौम ने उनके मौन का कारण पूछा। श्री चैतन्य ने उत्तर दिया—"मैं नितांत मूर्ख हूँ। सत्य-असत्य, भला-बुरा समझने की मुझ में योग्यता नहीं। मैं तो केवल आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर तथा वेदांत-श्रवण संन्यासी का धर्म समझ कर वेदांत-सूत्र का पाठ सुन रहा हूँ। फिर भी विनयपूर्वक यह कहने की आज्ञा चाहता हूँ कि आप जो ईश्वर-तत्व को निराकार, निर्विकार और निःशक्ति बतला रहे हैं, वह वेदांत-सूत्र का कल्पित अर्थ प्रतीत होता है। उपनिषदों के मुख्य अर्थ को वेदव्यास ने निजकृत सूत्र में वर्णन किया है। वही मुख्य अर्थ जानने योग्य है। आप मुख्यार्थ छोड़ कर गौण अर्थ की कल्पना करते हैं। अथवा अभिधा-वृत्ति छोड़ कर गौण लक्षणा-वृत्ति से वेदांत-सूत्रों का अर्थ कहते हैं। वेद-वाक्य स्वतः प्रमाण हैं, इसमें संदेह नहीं; परंतु उसी समय तक जब तक कि उनके मुख्य अर्थ पर ध्यान रखा जाय। सूर्य जिस प्रकार स्वयं प्रकाश होते हुए भी बादलों के घिर आने से छिप जाता है उसी प्रकार लक्षणा-वृत्ति की सहायता से किया हुआ स्वकल्पित भाष्य वेद-सूत्रों के सरल और वास्तविक अर्थ को आच्छादित कर देता है।[2]

'वह कर्म करते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् के मनुष्य जैसी प्राकृतिक कर्मेंद्रियाँ नहीं हैं, बल्कि उनका शरीर और इंद्रियाँ अप्राकृत हैं।

१. **ईश्वरे श्री विग्रह सच्चिदानंदाकार। से विग्रह कह सत्व गुणेर विकार ।।**
जे न माने सेई तो पाखंड। अस्पृश्य, दृश्य सेइ हय यम दंड्य ।।
—चै० च०, म० ६।१६६-१६७

चिदानंद कृष्ण विग्रहे मायिक करि मानि। एई बड़ पाप सत्य चैतन्येर वाणी ।।
—चै० च०, म० २५।३५

२. **उपनिषद शब्दे जेई मुख्य अर्थ हय। सेई अर्थ मुख्य व्यास सूत्रे सब कय ।।**
मुख्यार्थ छाँड़िया कर गौणार्थ कल्पना। अभिधा वृत्ति छाँड़ि कर शब्देर लक्षणा ।।
प्रमानेर मध्ये श्रुति-प्रमान प्रधान। श्रुति जे मुख्यार्थ कहे, सेई से प्रमान ।।
—चै० च० म० ६।१३३-१३५

यही कारण है कि उनका शरीर मनुष्य जैसा दीखने पर भी उससे बिलकुल भिन्न है। उसमें ऐसा विलक्षण सौंदर्य है कि उसे देखते ही जीव सब कुछ भूल कर उसमें तन्मय हो जाता है। अनेकों बार देखने पर भी वह नित्य नवीन और उत्तरोत्तर अधिक सुंदर प्रतीत होता है। उसे जितना देखा जाय उतना ही उसे देखने की और प्रबल इच्छा होती है—

"तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।"

—भागवत (गी० प्रे० सं०) १२।१२।४९

इसीलिए भक्त कहता है—

"जन्म अवधि हम रूप निहारल, नयन ना तिरपित भेल।"

—चै० च०,

जिस प्रकार निराकारवादी निराकार ब्रह्म को सत्य और उसके साकार विग्रह को मायिक मान कर साकार और निराकार का समन्वय करने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार साकारवादी भी कभी-कभी भगवान् के साकार और निराकार दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं, परंतु साकार को सत्य और निराकार को असत्य, अथवा जीव का भ्रम बतला कर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करते हैं। उनका प्रयत्न भी उतना ही निष्फल होता है जितना निराकारवादियों का। यदि एक बार यह स्वीकार कर लिया जाय कि निराकार भी भगवान् का एक रूप है तो उसे किसी भी युक्ति से मायिक नहीं सिद्ध किया जा सकता। भगवान् के सविशेष रूप को उनका रूप मान कर फिर उसे मायिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, सत्य के साथ असत्य का अथवा चित् के साथ जड़ का संबंध नहीं हो सकता।

भगवान् के रूप को ठीक प्रकार से निश्चित करने के लिए दो बातों को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। एक तो साधारण बुद्धि की क्षमता और दूसरे भगवान् की पूर्णता। भगवान् की पूर्णता तो साकारवादी और निराकारवादी दोनों ही स्वीकार करते हैं, पर जिस बुद्धि से भगवान् के रूप का निर्णय किया जाता है उसकी कमजोरी दोनों में से कोई भी ठीक-ठीक स्वीकार नहीं करना चाहता। यद्यपि वेद बार-बार कहते हैं कि भगवान् साधारण बुद्धि की पहुँच से बाहर है और भारतवर्ष के अधिकांश तत्ववेत्तागण तथा बहुत से पाश्चात्य दार्शनिक एक प्रकार से इस बात को स्वीकार भी करते हैं, परंतु फिर भी उनका यह विश्वास मालूम पड़ता है कि कम से कम भगवान् के संबंध में कुछ प्रश्नों का उत्तर हमारी साधारण बुद्धि की सहायता से अवश्य दिया जा सकता है। 'भगवान् साकार है या निराकार', 'एक है या अनेक', 'संसार से पृथक् है या अपृथक्' इन प्रश्नों को साधारण बुद्धि बगैर किसी कठिनाई के हल कर सकती है। 'भगवान् की पूर्णता और उनके रूप को निर्धारित करने की हमारी साधारण बुद्धि में क्षमता' इन दोनों बातों पर पूर्ण रूप से विश्वास कर हम भगवान् का रूप निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं, परंतु जब विचारों के संघर्ष में एक विश्वास की दूसरे पर जबरदस्त ठेस लगती है, जब बुद्धि अन्य पदार्थों की भाँति भगवान् को भी अपने साँचे में ढाल कर उसे एक विशिष्ट रूप देने का प्रयत्न करती है और भगवान् का रूप बुद्धि के सीमित और संकीर्ण साँचे में पूर्णतया नहीं समाता, तब स्वाभिमान के कारण अपनी बुद्धि की कमजोरी स्वीकार न कर भगवान् के रूप में काट-छाँट करने का प्रयत्न करते हैं।[1] यदि वह साकार रूप को स्वीकार करते हैं तो निराकार को अस्वीकार करना पड़ता है और निराकार को स्वीकार करते हैं तो साकार को अस्वीकार कर देते हैं। उनकी तुलना प्राचीन ग्रीस के एक विख्यात डाकू 'प्राक्रस्तस' से की जा सकती है। उसका

१. हस्त पद मुख मोर नाहिंक लोचन.। एई मत बेदे मोर करे बिडंबन ।।
काशी ते पडाय बेता प्रकाशानंद। एई बेटा करे मोर अंग खंड खंड ।।

—चै० मा० म, ३।३६-३७

नियम था कि जब कोई व्यक्ति उसके चंगुल में फँस जाता तो वह उसे अपनी चारपाई पर लिटा दिया करता, यदि उसका शरीर चारपाई से लंबा होता तो उसका सर काट डालता और यदि छोटा होता तो खींच-खींच कर चारपाई के बराबर कर लिया करता। इस खींचतान और काट-छाँट में बेचारे मनुष्य के प्राण निकल जाते और प्राक्रस्तस उसे उठा कर फेंक दिया करता। प्राक्रस्तस और तत्ववेत्ताओं में अंतर केवल इतना ही है कि प्राक्रस्तस उस मरे हुए मनुष्य को फेंक दिया करता था, परंतु तत्ववेत्ता अपने बुद्धि-कौशल से भगवान् के पूर्ण रूप की हत्या करने के पश्चात् उसके रहे-सहे कृत्रिम रूप को ही उसका वास्तविक रूप समझ कर उसकी पूजा करते हैं और यदि कोई विपरीत विचार वाला उसकी ओर उँगली भी उठा देता है तो इस अपमान के कारण उसका सर काटने को उद्यत रहते हैं।

भगवान् के अनंत, अपार और पूर्ण रूप को समझने के लिए हमें अपनी बुद्धि की कमजोरी स्वीकार करनी होगी। साधारण बुद्धि के स्तर से थोड़ा ऊँचा उठना होगा। समस्त प्रकार के दुराग्रहों और काल्पनिक विचारों से मस्तिष्क को खाली करना होगा और यदि भगवान् के रूप को ग्रहण करने की कदाचित् हमारी बुद्धि में सामर्थ्य न हो तो उनकी पूर्णता की हानि न कर हमें अपनी बुद्धि को ही यथाशक्ति उनके पूर्ण रूप को ग्रहण करने के योग्य बनाना होगा। इस उद्देश्य से यदि हमें उन नियमों को भी उल्लंघन करना पड़े, जो हमारी बुद्धि को सर्व-प्रिय है और जिनके बगैर वह एक पग भी नहीं रख सकती, तो वह भी करना होगा। संभव है कि इस क्रिया में हमारी बुद्धि का कायापलट ही हो जाय। हमें इसके लिए भी तैयार रहना होगा। जब हम इतना बलिदान करने को तैयार हो जायँगे तभी भगवान् के रूप का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे अन्यथा नहीं।"

श्री चैतन्य ने इस संबंध में अपूर्व साहस का परिचय दिया है। उन्होंने हमारी जड़ बुद्धि की निर्बलता स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि जिन साधारण नियमों पर हमारी बुद्धि निर्भर करती है उनकी सहायता से हम भगवान् के संबंध में कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते। हमारी बुद्धि का मुख्य नियम है विरोध-न्याय का पालन करना अथवा इस सिद्धांत के अनुकूल चलना कि एक वस्तु में एक ही समय पर दो विरोधी नहीं हो सकते, परंतु भगवान् नियम के आधीन नहीं हैं, उनमें अनंत गुण भी एक साथ रह सकते हैं। वह सभी परस्पर विरोधी गुणों का एक मात्र आश्रय है[१]।

भगवान् की अनंत शक्तियों में (अविचिंत्य) एक 'विरोध-भंजिका' शक्ति भी है जिसका कर्त्तव्य है समस्त विरोधी गुणों का भगवान् के रूप में सुंदर समावेश करना। निम्नोक्त कारिकाओं में इसी शक्ति का सुंदर उल्लेख है—

"विरोधभंजिका शक्ति युक्तस्य सच्चिदात्मनः।
वर्तंते युगपद्धर्माः परस्पर विरोधिनः॥
सरूपत्वमरूपत्वं विभुत्वं मूर्तिरेव च।
निर्लेपत्वं कृपावत्वमजत्वं जायमानता॥
सर्वाराध्यत्वं गोपत्वं सर्वज्ञं नरभावता।
सविशेषत्व संपत्तिस्तथा च निर्विशेषता॥
सीमावादयुक्तियुक्तानामसीमत्व वस्तुनि।
तर्कों हि विफलस्तस्माच्छ्रुद्धाम्नाये फलप्रदा॥"

१. आमि जेछे परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय।
राधा प्रेम सेछे सदा विरुद्ध धर्ममय॥
—चै० च०, आ ६।१२७

और देखिये सर्वसंवादिनी, पृष्ठ ६५।

अर्थात्, सच्चिदानंद स्वरूप श्री भगवान् में 'अविचिंत्य विरोध-भंजिका' नाम की एक शक्ति है, जिसके बल से भगवान् में समस्त विरोधी गुण अविरोध रूप से वर्तमान हैं। सरूपता और अरूपता, विभुता और श्री विग्रह, निर्लेपता और भक्त-कृपालुता, अजत्व और जन्मवत्व, सर्वाराधत्व और गोपनशीलता, सविशेषत्व और निर्विशेषत्व इत्यादि अनेक विरोधी धर्म भगवान् में सुंदर रूप से रह कर अपना कार्य करते हैं। इस विषय में जो तर्क करते हैं वह सत्य से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि नर सीमाविशिष्ट है और सत्य वस्तु असीम। भाग्यवान् व्यक्ति शुद्ध तर्क का परित्याग कर 'आप्त वाक्यों पर ही विश्वास करते हैं।

इस शक्ति के कारण ही भगवान् पूर्ण हैं और इसके अभाव के कारण जीव तथा समस्त जड़ पदार्थ अपूर्ण हैं। भगवान् की भगवत्ता इसी में है कि उनके लिये असंभव भी संभव है और असंगत भी संगत है तथा जीव की क्षुद्रता इसी में है कि उसकी शक्ति सीमाबद्ध है और उसमें किसी एक गुण के होते हुए उसके विपरीत गुण के लिये स्थान नहीं रहता। भगवान् सर्वव्यापक होते हुए भी एक स्थान में विशिष्ट रूप से स्थित रह सकते हैं। जीव एक समय पर एक से अधिक स्थानों में निवास नहीं कर सकता। जीव तथा अन्य जागतिक् वस्तुओं का एक समय में एक ही रूप होता है, परंतु भगवान् एक ही समय अनंत रूप धारण कर सकते हैं। आजकल के कुछ पाश्चात्य दार्शनिक तो जागतिक् वस्तुओं के बारे में भी यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक वस्तु के अनंत रूप हैं, जिनका पृथक्-पृथक् दशा में तथा पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से अनुभव होता है। जब जागतिक् वस्तुओं के बारे में इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है तब भगवान् निराकार, निर्विकार, निष्क्रिय तथा सत्तामात्र होते हुए भी सर्वशक्तिमान् अनंत क्रीड़ा-कौतुक-पूर्ण चिन्मय विग्रह के रूप में देवकी आदि के गर्भ से जन्म लेकर लीला करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

भगवान् देश-कालादि से परिच्छिन्न प्रतीत होने पर भी देशकालादि से परिच्छिन्न नहीं हैं। देहधारी होकर भी मनुष्य के समान सीमित और जड़भावापन्न नहीं हैं। जो असीम शक्ति उनके महान् स्वरूप में है, वही असीम शक्ति उनके खंड-रूप से प्रतीत होने वाले छोटे शरीर में भी है। ब्रह्मांड में वह जिस 'पूर्णात्पूर्णतर' रूप में विराजमान हैं, एक परमाणु में भी उसी प्रकार पूर्णतर रूप से विराजमान हैं। ईषावास्यादि उपनिषदों के इस शांति-मंत्र से भी यही बात सिद्ध है—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

आजकल के प्रमुख गणितज्ञ गणित-शास्त्र-द्वारा इसी बात को सिद्ध करते हैं। 'आस्पेन्स्की' ने अपनी पुस्तक Tertium organum में अनंत संख्याओं की गणित Mathematics of Trans-Infinite Numbers पर जिसे वह यथार्थ गणित Real Mathematics के नामसे पुकारते हैं, प्रकाश डालते हुए कहा है कि अनंत संख्याओं में यह विशेषता है कि उन्हें घटाइये-बढ़ाइये अथवा उनका गुणन या भाग कीजिये, उनमें उसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है और फिर भी वह उतनी की उतनी ही बनी रहती है। जिस प्रकार सुन्न कोई मात्रा नहीं है, उसी प्रकार अगणित संख्या अथवा अनंत भी कोई मात्रा नहीं है। सुन्न जिस प्रकार मात्रा के अभाव का चिन्ह है, उसी प्रकार अनंत उस अविराम सत्ता Continuity of Existence का चिन्ह है, जिसे सीमाबद्ध करने के लिये हमें कल्पनात्मक रूप से स्वतंत्र हिस्सोंमें विभाजित करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'आइन्स्टीन' (Ainstien) ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान के विभिन्न स्थल और विभिन्न दृष्टिकोण (Standards of Reference) होते हैं। जो बात एक स्थल पर असंभव जान पड़ती है, वही दूसरे स्थल पर बिल्कुल संभव हो सकती है। मि० 'हिंटन' (Mr. Hinton) ने भी अपनी पुस्तक Scientific Romances में कई सुंदर उदाहरण देकर विस्तार सहित इस सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया है।

मान लीजिए कि एक जीव-सूची (Microbe) केवल दो परिमाणोंकी दुनियाँ (Two Dimensional World) में रहता है, अर्थात् उसे एक कागज़ के सफ़े पर रख दीजिये और कागज़ के बीच में एक कार्डबोर्ड खड़ा कर दीजिये। जीव-सूची को कार्डबोर्ड की तरफ आने दीजिये। जब वह कार्डबोर्ड तक पहुँच जायगा, तब वह अनेक चेष्टा करने पर भी न समझ पायेगा कि उसका रास्ता क्यों और किस प्रकार बंद हुआ, क्योंकि उसे ऊँचाई का कोई ज्ञान नहीं है। उसके लिये यह एक बहुत आश्चर्यजनक घटना होगी और इस स्थान से आगे बढ़ना उसे असंभव जान पड़ेगा। यदि उसे कार्डबोर्ड से ऊँचा उठा कर कार्डबोर्ड के दूसरी ओर रख दिया जाय तो ऊँचे उठते समय उसे एक प्रकार का विचित्र अनुभव होगा और दूसरी तरफ पहुँच कर वह फिर विस्मय में पड़ जायगा कि यह सब कैसे हुआ! यदि उसे ऊँचाई का ज्ञान होता तो यह बात साधारण प्रतीत होती, जो बात दो परिमाणों की दुनियाँ में असंभव थी वही तीन परिमाणों की दुनिया में बिलकुल संभव हो गई। इसी प्रकार बहुत सी बातें जो तीन परिमाण की दुनियाँ में असंभव हैं तीन से अधिक परिमाण की दुनियाँ में संभव हो सकती हैं। जो बातें वर्तमान में असंभव हैं और आज की अवस्था में हमारे ज्ञान की सीमा के बाहर हैं, उन्हें दर्शन-शास्त्र के मूल-सिद्धांतों से तथा बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की नवीन प्रगति से परिचय रखने वाले लोग मनुष्य के मस्तिष्क की कल्पना-मात्र कह कर नहीं टाल दे सकते, क्योंकि वे कल अपने से अधिक परिमाण के ज्ञान से पूर्ण संभव हो सकती है। 'पाल केरस' (Paul Carus) के अनुसार उस ज्ञानस्थल पर वर्गाकार वृत्त (Squared circle) तथा वृत्ताकार सीधी रेखा भी हो सकती है। वहाँ १ तथा २ भी संभव है और २,२ तथा २ भी संभव है। इस संबंध में आजकल के वैज्ञानिक गणितज्ञ, दार्शनिक तथा रहस्य-वादी सब एक ही भाषा का प्रयोग करते हुए जान पड़ते हैं।

यदि अपने ज्ञान-स्थल से एक ही परिमाण ऊपर उठने पर हमें इस प्रकार की असंभव बातें संभव प्रतीत होती हैं तो भगवान् के विषय में जो अनंत प्रकार से पूर्ण होने के कारण अनंत परिमाण-युक्त हैं क्या-क्या बातें संभव हो सकती हैं, उनकी तो हमारे लिये कल्पना करना भी असंभव है। इसलिये यदि भगवान् के संबंध में कोई बात असंभव अथवा विरोधात्मक जान पड़ती हो तो हमें उसे अपनी बुद्धि का ही दोष समझना चाहिये। यही भगवद्-ज्ञान-प्राप्त करने की पहली सीढ़ी है। इसे पार करते ही हमारी भगवद्-रूप-संबंधी समस्याओं का तथा अनेक प्रकार के वितंडावादों का अपने आप हीं अंत हो जायगा, परंतु जब तक हम भस्मासुर की तरह भगवान् के दिये हुए बुद्धि-रूपी मंत्र को उनके ही ऊपर चला कर उनके रूप में मनमानी काट-छाँट कर उन्हें अपनी बुद्धि के नियमों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते रहेंगे हमें भगवद्-ज्ञान का तुच्छ आभास भी प्राप्त न हो सकेगा।
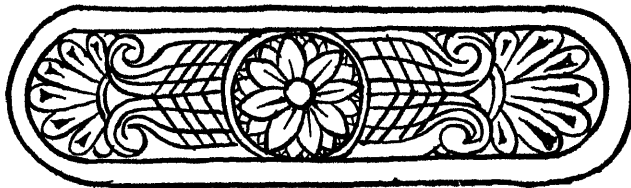
श्री निंबार्क-संप्रदाय के हिंदी कवि

श्री सत्येंद्र

श्री निंबार्काचार्य जी का प्रादुर्भाव संभवतः पाँचवीं शती विक्रमी में हुआ। निंबार्काचार्य जी वैष्णव-संप्रदाय में द्वैताद्वैत-अध्यात्म-दर्शन का आधार प्रस्तुत करने वाले हैं। ये कहा जाता है कि जिस सिद्धांत को लेकर निंबार्काचार्य जी का मत प्रवर्तित हुआ उसकी परंपरा निंबार्काचार्य जी से बहुत पहिले से चली आ रही थी। कुछ लोग तो इसे पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन मानते हैं। जो भी हो द्वैताद्वैत के सिद्धांत पर निंबार्काचार्य जी ने उस वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया जिसमें राधा और कृष्ण का साथ-साथ समभाव से ध्यान और स्मरण किया जाता है। निंबार्काचार्य जी ने 'राधा और कृष्ण' के जिस स्वरूप की उपासना स्वीकृत की वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेष कल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामुनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥"

यदि उपर्युक्त वचन श्री निंबार्काचार्य जी के हैं तो राधा और कृष्ण का इस प्रकार का संयोग, ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से कृष्ण-राधा के पूर्णतः पल्लवित होने के उपरांत ११वीं—१२वीं शती ई० में ही हो सकता है। हमें यहाँ श्री निंबार्काचार्य जी के समय का निरूपण नहीं करना, हमें तो केवल यह जानना है कि वैष्णव-धर्म की प्रधान चार शाखाओं में से जो श्री निंबार्काचार्य जी वाली शाखा थी, उस शाखा ने भी राधा और कृष्ण को इष्ट मान कर हिंदी में ब्रजभाषा-साहित्य का निर्माण किया और वल्लभ-संप्रदाय के जैसे कितने ही उच्चकोटि के कवि प्रदान किए। यों तो 'गीत गोविंद' के प्रसिद्ध कवि जयदेव को भी कुछ महानुभाव निंबार्क-संप्रदाय का मानते हैं, किंतु एक तो इनकी रचनाएँ संस्कृत में हैं और दूसरे इनकी सांप्रदायिक-आस्था संदिग्ध है, इसलिए इस संप्रदाय के सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भक्त 'श्रीभट्ट' जी को ही इस संप्रदाय का सबसे पहला हिंदी का 'महाकवि' माना जा सकता है। श्रीभट्ट जी ने 'युगल-शतक' लिखा। इस 'युगल-शतक' का साधारणतः यह क्रम है कि पहिले एक दोहा है और बाद में दोहे के भाव को पद में विस्तृत किया गया है। श्रीभट्ट जी इस संप्रदाय के प्रथम ब्रज-भाषा कवि हैं और 'युगल-शतक' के द्वारा उन्होंने इस संप्रदाय के सिद्धांतानुकूल वृंदावन और राधा-कृष्ण की माधुर्य-पूर्ण सरस रागानुगाभक्ति का स्वरूप खड़ा किया है। इसीलिए इस 'युगल-शतक' को संप्रदाय में 'आदि वाणी' कहा जाता है। सैद्धांतिक दृष्टि से युगल-स्वरूप राधा-कृष्ण ही इष्ट होने से इस संप्रदाय के समस्त कवियों का क्षेत्र विषय की दृष्टि से बहुत संकुचित हो गया है। कृष्ण की, बाल्य-काल से अंत-समय तक की लीलाओं के विस्तृत क्षेत्र में से यह संप्रदाय केवल राधा और कृष्ण के संयोग-संबंधी 'श्रृंगार रस' से ही अपनी रचनाएँ अभिमंडित कर सकता है, वियोग तक को इसमें कोई स्थान नहीं है, किंतु इस संप्रदाय के कवियों को शब्दों की मधुरता का वरदान मिला हुआ है। इसका आभास हमें श्रीभट्ट जी के 'युगल-शतक' को देखने से ही मिल जाता है। इस एक उदाहरण को लीजिए; राधा और कृष्ण मुकुर (दर्पण) में अपनी छवि देख रहे हैं। श्रीभट्ट जी ने कैसी तन्मयता से कुशल चित्रकार की भाँति एक सजीव गति-मत शब्द-चित्र उतार दिया है—

"सुकर मुकुर निरखत दोऊ, मुख-ससि नैंन-चकोर।
गौर-स्यामँ अभिरामँ अति, छबि न फबी कछु थोर ।।
गौर-स्यामँ, अभिरामँ बिराजैं।
अति उमंग अँग-अंग भरे रँग, सुकर मुकुर निरखत नहिं त्याजैं ।।
गंड सों गंड बाहु-ग्रीबा मिलि, प्रतिबिंबित तन उपमा लाजैं।
नैंन-चकोर बिलोकि बदन-ससि, आँनंद-सिंधु मगँन भए भ्राजैं ।।
नील निचोल, पीत पट के तट, मोंहन मुकट मनोहर राजैं।
घटा छटा आखंडल कौदँड़, दोउ तन एक देस छबि छाजैं ।।
गावत सहित मिलत गति प्यारी, मोंहन मुख मुरली सुर बाजैं।
'श्रीभट' अटकि परे दंपति-दृग, मूरति मनहुँ एकही साजैं ।।"

इस प्रकार श्रीभट्ट जी ने 'युगल-शतक' के द्वारा अपने संप्रदाय के कवियों के लिए विषय और भाव के क्षेत्र का ही निर्देश नहीं किया, काव्य के रूप-सौंदर्य और शब्द तथा स्वर-माधुर्य का भी आदर्श प्रस्तुत किया। इसी परिपाटी को प्रस्तुत करते हुए श्रीभट्ट जी के शिष्य श्री निंबार्क संप्रदाय की आचार्य-गद्दी की इकतीसवीं पीढ़ी के अधिकारी श्री 'हरिव्यास देव' जी ने 'महावाणी' की रचना की। श्री हरिव्यास जी के संबंध में 'नाभादास' जी ने 'भक्तमाल' में यह छप्पय लिखा है—

"खेचर नर कौ सिष्य, निपट यहै अचरज आवै।
बिदित बात संसार संत-मुख कीरति गावै ।।
बैरागिन के बृंद, रहत सँग स्यामँ सनेही।
ज्यों आगें बर मध्य मनों सोमित बैदेही ।।
'हरिब्यास' तेज हरि-भजन बल, देवी कों दीच्छा दई।
'श्रीभट्ट'-चरन-रज-परसि कें, सकल सृष्टि जाकी नई ।।"

इससे यह सिद्ध है कि 'भक्तमाल' की रचना के समय तक श्री 'हरिव्यास' देव जी का यश भली प्रकार व्याप्त हो चुका था। यों तो वैष्णव धर्म का ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से आरंभ होने वाला, यह तृतीय पुनुराहरण शंकर के मायावाद के विरुद्ध था, किंतु उसी के साथ उसे शाक्त-तत्वों का भी विरोध इस काल के भक्त-संप्रदायों को, विशेषतः उनके उत्तर-भारतीय रुपांतरों को करना पड़ा था। हरिव्यास जी के जीवन में भी यह चमत्कार समाविष्ट है कि उन्होंने देवी को वैष्णव बना लिया। साधारण दृष्टि से इसका अर्थ यही होगा कि समस्त शाक्त गाँव को हरिव्यास जी ने वैष्णव बना लिया। जो भी हो, ये श्री हरिव्यास देव जी निंबार्क-संप्रदाय में अत्यंत प्रतिभाशाली आचार्य हुए। यही कारण है कि इनके शिष्यों की परंपरा अलग ही 'हरिव्यासी-संप्रदाय' के नाम से अभिहित होने लगी। इस संप्रदाय का आधार-ग्रंथ यही 'महावाणी' है। इस 'महावाणी' में पाँच अध्याय हैं, जिन्हें 'सुख' कहा गया है। इनमें सेवा, उत्सव, सुरत, सहज और सिद्धांत सुखों का काव्यमय विवरण है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह 'महावाणी' वह भाष्य है जिसे 'हरिव्यास देव' जी ने अपने गुरु श्री श्रीभट्ट जी की आज्ञा से उनके 'युगल-शतक' पर लिखा था; किंतु 'श्री निंबार्क-माधुरी' के संपादक 'ब्रह्मचारी विहारी शरण' के मतानुसार यह 'महावाणी' कई एक विषयों में 'जुगल-शतक' से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र है।" 'युगल-शतक' की रचना में ब्रज एवं नित्य-रस का मिश्रण रूप से वर्णन है; पर महावाणी में शुद्ध नित्य विहार-रस वर्णित है।" महावाणी में उसी प्रणाली को अपनाया गया है, जो प्रणाली 'युगल-शतक' में है। आरंभ में दोहा और उसकी व्याख्या की भाँति पद। इन पदों में हरिव्यास जी ने अपनी छाप 'हरिप्रिया' रखी है। हरिव्यास जी के पदों में भाव-सौंदर्य तो इसलिए मिलता है कि कवि सौंदर्य का मूर्त रूप अपनी कल्पना के द्वारा प्रत्यक्ष देखता है और उसी के अनुकूल उस रूप को शब्दों में उतारने के लिए उसे अपनी रचना में शब्द-

सौंदर्य भी समाविष्ट करना पड़ा है, किंतु भाव और शब्द-सौंदर्य से भी अधिक हरिव्यास जी की रचनाओं में नाद-सौंदर्य मिलता है। रस-मंजरी श्री राधिकाजी के इस वर्णन को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है—

"जै श्रीराधा रसिक रस-मंजरि प्रिय सिर-मौर।
रहसि रसिकिनीं सखी सब, बृंदाबन रस-ठौर।।
जयति जै राधिका रसिक रस-मंजरी, रसिक सिरमौर मोंहन बिराजै।
रसिकिनी रहसि रस-धाँम बृंदा-बिपिन, रसिक-रस-रसी सहचरि समाजै।।
रसिक रस-प्रेम-सिंगार-रंग रँगि रहे, रूप आगार सुखसार साजै।
मधुर माधुर्य सौंदर्यतावर्य पैं, कोटि कोटि ऐस्वर्य की कला लाजै।।
नित्य नव नायिका, नित्य सुख-दायिका, नित्य नव कुंज में नित्य राजै।
नित्य नव केलि, नव नित्य नायक नवल, नित्य नव निपुनता भव्य भ्राजै।।
कसिव कौसेय कोंमल कँमल कँनक-द्युति, चिकुर मेचक मुरित छुरित छाजै।।
दिव्य आभूषनाभूषिता भाँनुनी, अदभुतानंददा जै सदा जै।
चंचला लोचनी, चातुरा चित-हरा, चारुभा-चंद्रिका चंद्रिका जै।।
सच्चिदानंद की सिद्धिदा सक्तिदा, स्याँमा सुधाँमा सुधादा सुभा जै।
चातिकी कृष्ण की, स्वाँति की बारिदा, बारिधा रूप-गुन-गर्विता जै।।
मदन-मद-मोचिनी, रोचिनी रति-कला, रतन-मनि-कुंडला जगमगा जै।
प्राँन प्रियतम प्रिया, प्रियतमा, प्रेयसी, पद-पदमपांसु पावनकरा जै।
परम रस-राखिनी, कराखिनी-चित्त-प्रिय, नित्य हिय-हरखिनी श्रीहरिप्रिया जै।

हरिव्यास देव जी ने भाषा अथवा ब्रज-भाषा में केवल यही ग्रंथ लिखा है। इसके अतिरिक्त पाँच ग्रंथ और हैं, जो संस्कृत में हैं। श्री हरिव्यास देव जी के शिष्यों में से तीन शिष्यों का नाम हिंदी-साहित्य की दृष्टि से विशेष स्मरणीय है। एक श्री 'परशुराम' देव जी, दूसरे श्री 'रूपरसिक' जी, तीसरे श्री 'तत्ववेत्ता' जी। श्री परशुराम देव जी के संबंध में श्री नाभादास जी ने लिखा है—

"जंगली देस के लोग सब, श्री परसुराम किय पारषद।"

❀

ज्यों चंदन कौ पवन, निंब पुनि चंदन करई।
बहुत काल तम-निबिड़, उदै दीपक ज्यों हरई।।
श्रीभट पुनि हरिब्यास, संत मारग अनुसरई।
कथा, कीरतन, नेंम, रसँन हरि गुन उच्चरई।।
गोविंद-भक्ति-गद-रोग गति, तिलक-दाँम सद बैद हद।।
जंगली देस के लोग सब, श्री परसुराम किय पारषद।।"

इनके जीवन के संबंध में इतना ही विदित है कि ये जयपुर राज्य के किसी ग्राम्य में पंच-गौड़ ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए और श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्य हुए। परशुराम देव जी ने 'परशुराम-सागर' नामक एक बृहद् ग्रंथ लिखा। यह अभी तक अप्रकाशित है। श्री विहारी शरण जी के अनुसार इस ग्रंथ में २२०० दोहे, छप्पय, छंद और हजारों पद हैं। इस संप्रदाय में यह पहिले कवि हैं जिन्होंने राधा और कृष्ण की शोभा, शृंगार और स्तुति के अतिरिक्त प्रेम, वैराग्य, सतसंग, गुरु-निष्ठा आदि पर भी पर्याप्त लिखा है। इनके दोहों में कहीं-कहीं कबीर की-सी झलक दिखाई पड़ती है। यद्यपि भाषा में कबीर से अधिक मार्दव है। यह झलक भी गुरु तथा साधु-संबंधी वर्णनों में विशेष मिलती है। इनके पदों में राधा और कृष्ण-संबंधी शृंगार-माधुरी-विषयक मुग्धता और तन्म-

यता नहीं है। इनमें विनय का भाव विशेष है और इस विनय के अंतर्गत वैराग्य अथवा समर्पण की प्रेरणा है। उदाहरण के लिए इनका ऐसा ही एक यह पद है—

"मेरी तुम ही कों सब लाज बड़ाई।
ज्यों जानों त्योंहीं त्यों राखौ, अपनों करि आपन हरि राई।।
करम उपाइ बौहौत करि देखे, मति निरकलप तृपति नहिं आई।
हरी-कल्प-तरुवर की छायाँ-बिन, कबहूँ मन कल्पना न जाई।।
दीनानाथ, अनाथ निवाजन, कृपँन-पाल गोपाल कँन्हाई।
परम पवित्र, पतित पावन प्रभु, अधम उधारँन बिरद सदाई।।
पाप-हरँन, त्रैताप निवारँन, असरँन-सरँन बड़ी सरनाई।
अब न तजों तन, मन ह्वै भजि हों, हरि-अमृत-निधि प्यासै पाई।।
श्री गुरु कही, सुनी में नीकें, कीरति प्रगटि सकल धरि छाई।
सेस आदि निगमादि सु महिमाँ, भव बिरंचि उर-धरि मुख गाई।।
दीनदयाल, कृपाल, कृपानिधि, हरि दुख-हरँन सकल सुखदाई।
लै निबहँन कों 'परसुराम' प्रभु, तुम बिन कोउ सूझै न सहाई।।"

श्रीरूपरसिक देव जी को दक्षिणी पंच द्रविड़-ब्राह्मण कुलोत्पन्न माना जाता है। ३६ वर्ष की अवस्था में मथुरा में इन्होंने श्री हरिव्यास देव जी का शिष्यत्व स्वीकार किया, किंतु यह जनश्रुति है कि श्री रूपरसिक जी जब हरिव्यास देव जी का शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए मथुरा पहुँचे तो वहाँ विदित हुआ कि हरिव्यास जी की मृत्यु हो चुकी है, किंतु इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्य हरिव्यास जी के दर्शन नहीं कर लूंगा कोई कार्य नहीं करूँगा। यह विश्वास किया जाता है, कि इनकी इस प्रतिज्ञा के कारण श्री हरिव्यास जी को प्रकट होना पड़ा और इन्हें विधि-पूर्वक मंत्र-दीक्षा देने के उपरांत उन्होंने अपना दिव्य स्वरूप लुप्त किया। इसके उपरांत 'रूपरसिक देव' जी का संमान इस संप्रदाय में विशेष हुआ। रूपरसिक देव जी ने तीन काव्य-ग्रंथ लिखे। एक 'बृहदोत्सव मणिमाल', दूसरा 'हरिव्यास-यशामृत' और तीसरा 'नित्यविहार-पदावली।' इस संप्रदाय में रूपरसिक जी का जो संमान है, वह अकारण नहीं, क्योंकि इनकी रचना में माधुर्य और वही श्री है जो हरिव्यास जी में मिलती है। यही नहीं, काव्य-मार्दव इनमें अपने गुरु से भी अधिक मिलता है। इनकी कोई भी रचना, कोई भी पद ऐसा नहीं विदित होता, जिसमें कोई प्रमाद हो। जिस सौंदर्य का दर्शन इन्होंने किया है वह गतिमत सौंदर्य है। कृष्ण और वारिद का रूपक बहुत प्रचलित रूपक है, किंतु इस कवि ने 'श्यामघन' का वर्णन करने में जो एक नया सौंदर्य प्रस्तुत किया है, वह इस पद से विदित होता है—

"स्याँम-घन, उमँगि-उमँगि इत आवै।
कीट, मुकुट, कुंडल, पीतांबर, मनु दामिनि दरसावै।।
मोंतिन-माल लसत उर ऊपर, मनु बग-पाँति लखावै।
मुरली-गरज मनोहर धुनि सुनि, स्रवन-मोर सचुपावै।।
हम पर कृपा करी हरि मानों नीर-नेह-झर लावै।
'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, तन, मन, नेंन सिरावै।।"

रास के संबंध में भी इनका यह पद पठनीय है—

"निरतत-रास कँमल-दल-नेंन, सरद सुरेंन अति सुख-देंन।।
श्री बृंदाबन बंसीबट तट, जमुना पुलिन पवित्र।
पूरन चंद अमंद किरनि करि, रंजति रुचिर बिचित्र।।
नवल फूल फूले अनुकले, नाना रंग सुरंग।
मधुकर पुंज लुब्ध-मधु गुंजत, लिऐं संग अरधंग।।

त्रिबिध पवन मन रवन सहायक, सुख-दायक सब काल।
परसत अंग अंग सचुपावत, उपजावत रस-जाल।।
द्वै-द्वै बिच सुचि एक-एक तन, बिहरत स्यांम सुदेस।
कँनक-कँनी बिच मनहुँ नील-मनि, सोहत सुघर सुबेस।।
मध्य जुगल मन-हरँन बिराजत, छाजत छबि जु अपार।
राग-रंग बहु भाँति भेद भर, तरत रंग बिस्तार।।
नूपुर, कंकन, किंकिनि की धुनि, सुनि लज्जित कलहंस।
भुज फरकनि, तरकनि कुंचुकि कच-छुरि जु रहे ढुरि अंस।।
कुंडल झलक, ढलक सीसनि की, भलक भाल-छबि देत।
पलक ललक नग चलक कलक मुख बलक सँगीत स-हेत।।
पग-पटकँन, पट-झटकँन, खटकँन भूखँन नख-चटकाँनि।
लटकँन हार, मुखँन की मटकँन, अंग-अंग लटकाँनि।।
मंद हँसन, भोंहन की लसँन, सु खुलँन कसँन तन-कूल।
रसँन बसँन तन सिथिल सु स्रम-कँन, किरँन सिरँन ते फूल।।
पावनि, धावनि, धरनि सुहावनि, चावनि नृत्य करंते।
गावनि, सुरहिं मिलावनि, पियहिं रिझावनि, बच उचरंते।।
बंसी बजावें, ग्राम जमावें, कल सुर अधिक चढ़ाइ।
निकट आइ परसावें उरवर, अदभुत ताँन बढ़ाई।।
डोलँन मुकुट, सु कुंडल लोलँन, थेई-थेई बोलँन बोल।
पट झट-झोलँन, ओप अतोलँन, ढरि-ढरि दें तँबोल।।
परसत, अरसत, सरसत तन, मन, मधुर सुधा-रस पाइ।
स्रमित जाँनि स्रम-कँन पिय पोंछत, कहि रस-बेंन सुहाइ।।
क्रीड़त बहु-गत रास-बिलासहिं, थकित भए दोउ चंद।
'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, बाढ़त अति आँनंद।।"

मुग्ध और तन्मय करने वाली इस रस-अभिव्यक्ति की प्रचुरता होते हुए भी रूपरसिक जी ने सिद्धांत, उपदेश तथा भक्ति और नीति का वर्णन भी विविध छंदों तथा दोहों में किया है।

इन्हें अपने गुरु श्री हरिव्यास जी में अत्यंत श्रद्धा थी। ये उनसे बढ़ कर किसी दूसरे को योग्य नहीं समझते थे, इन्होंने लिखा है—

"रीति चलावै आपनी, है कलि की यह टेक।
बिना सरँन 'हरिब्यास' की, उपजै कहाँ बिबेक।।"

यही कारण है कि इन्होंने श्री 'हरिव्यास-यशामृत' नाम का ग्रंथ हरिव्यास जी की स्तुति और प्रशंसा से युक्त पदों में लिखा। उनकी यह प्रशंसा अन्य कवियों की ईश्वर की कृपा के समकक्ष प्रतीत होती है—

"रे मन, भजि हरिब्यास उदार।
बिन हरिब्यास न जग में तेरौ, मेरौ बचँन बिचार।।
माँनुस तन अति दुरलभ पायौ, काहे करत खुवार।
बेगि सँम्हारि मूढ़ मति बौरे, अब क्यों करत अवार।।
जो दायक दंपति-सुख-संपति, बृंदा-बिपिन-बिहार।
पतित-उधार-हेत जग प्रघटे, आप जुगल अवतार।।
असरँन सरँन, हरँन संसृति दुख, निराधार आधार।

अगवानी सो रंग धाँम कौ, महा बाँनि करतार ।।
दस-दिसि-जीति भक्ति-बिस्तारी, तिन्ह की कथा अपार ।
कृपा-सिंधु सो दीन-बंधु हैं सगुन-निगुन-आगार ।।
श्री हरि-प्रिया अनूप रूप सो, मूरति रस सिंगार ।
'रूपरसिक' भक्तेस-भूप-बिन, अँनत फजीता चार ।।"

'रूपरसिक' जी के उपरांत 'तत्ववेत्ता' जी का नाम उल्लेखनीय है, तत्ववेत्ता जी भी श्री हरिव्यास जी के शिष्य थे। इनका जन्म मारवाड़ के जेतारेंन (जयतारण) नगर के पास के किसी गाँव में छन्याती ब्राह्मण-वंश में हुआ, ऐसा कहा जाता है। ये हरिद्वार में श्री हरिव्यास देव जी से मिले थे और वहीं श्री हरिव्यास देव जी द्वारा श्री निंबार्क-संप्रदाय में दीक्षित हुए। तत्ववेत्ता जी का अपना क्षेत्र राजस्थान ही था, यहीं इन्होंने निंबार्क-संप्रदाय की गद्दियाँ स्थापित कीं।

तत्ववेत्ता जी ने अधिकांशतः छप्पय लिखे हैं, जिनमें अपने सिद्धांतों का वर्णन किया है। इनकी भाषा में वह मृदुता, मधुरता और सरसता नहीं है, जो इस संप्रदाय के अब तक के कवियों में मिलती रही है। कारण स्पष्ट है, इनका ध्यान काव्य-सौंदर्य की अपेक्षा सिद्धांत के मर्म को स्पष्ट करने का विशेष रहा। उदाहरण के लिए एक छप्पय जो नीचे दिया जा रहा है, संसार के कल्याण के लिए उद्भावित विविध मार्गों का उल्लेख कर परम मार्ग की अनुभूति का संकेत करता है—

"धरम-मार्ग खग-धार, करम-मारग कछु नाहीं ।
साध-मार्ग सिरताज, सिद्ध-मारग मन माहीं ।।
जोग-मार्ग जोगेंद्र, जोगि जोगेस्वर जानें ।
हरि-मारग हरिराइ, बेद-भागवत बखानें ।।
'ततबेत्ता' तिहुँ लोक में, बिबिध मार्ग बिस्तरि रह्या ।
सब मारग कों सुमिरताँ, परम मार्ग परचै भया ।।"

इन्होंने उत्सव के पद भी लिखे हैं।

हरिव्यास जी के इन तीन शिष्यों में से यद्यपि काव्य-प्रतिभा सबसे अधिक श्री रूपरसिक जी में थी, फिर भी श्री परशुराम देव जी की शिष्य परंपरा ने अच्छे कवि प्रदान किए हैं। रूपरसिक तथा तत्ववेत्ता जी की शिष्य परंपरा में भी हो सकता है कुछ अच्छे कवि हुए हों, किंतु उनके नाम और रचनाओं का अभी तक कोई पता नहीं है। परशुराम देव जी की शिष्य-परंपरा में तीसरी पीढ़ी पर श्री 'वृंदावन देव' जी हुए। ये परशुराम देव जी के शिष्य श्री हरिवंश देव जी के शिष्य श्री नारायण देव जी के शिष्य थे। श्री वृंदावन देव जी के जीवन के संबंध में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है, केवल इनना ही विदित है कि ये राजपूताने के किसी गौड़ ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए। इन्होंने पद ही लिखे हैं, जो संग्रह रूप में श्री 'कृष्णामृत-गंगा' कहा जाता है। इनके काव्य में रस की सरस लहर के साथ अलंकारों की झलक भी बहुत सुंदर बन पड़ी है। यह अलंकार-सौंदर्य कवि के भावों को निखारता है। यद्यपि कभी-कभी ऐसा विदित होता है कि कवि भक्ति-भाव की रस-सरिता से निकल कर अलंकारों के शैवाल-जाल में फंस गया हो, उदाहरण के लिए यह पद दिया जा सकता है—

"सुकुमार सिवार से, मरकत-तार से, कज्जल-सार से, बार-निवारि सुकावति बाला ।
मार के जार, सिंगार के चौर से, एड़ी छिएँ पुनि ऐसे बिसाला ।।
स्याँम घटा ते मनों निकसे, मुख-चंद दिएँ तन दामिनि-माला ।
'बृंदाबन' प्रभु ओट भए लखि, पाँनि परी सुत नंद के लाला ।।"

कवि ने अपनी अलंकार-प्रियता में नख-शिख का वर्णन करते हुए सूरदास जी की भाँति 'रुपकातिशयोक्ति' भी लिखी है। जिसमें यथार्थतः नख-शिख न होकर 'शिख-नख' है, यथा—

देखौ, अचरज कँनक-लताचल ता पर पूरन-चंद ।
नील नलिन ता पर द्वै राजत, तिन्ह पर दोइ मिलिंद ।।
नींकें चंपकली इक सोहति, ता पर बिंबी जु दोइ ।
तिन्ह मधि दमकति बीज-दाड़िमी, तरें अंब-फल जोइ ।।
ता तर द्वै लागति अति नींकें, अरुन जु नलिन सनाल ।
तिन्ह-मधि द्वै श्रीफल भल दीसत, तिन्ह तर बेलि सिंवाल ।।
ताके मूल अलौकिक वापी, बँधी कनक-सोपाँन ।
ता तर द्वै कदली, द्वै तिन्ह पर कँनक-केतकी-कली समाँन ।।
तिन्ह तर द्वै पुनि कँमल अधोमुख, तिन्ह दल पर दस इंद ।
'बृंदाबन' प्रभु बनमाली, जिंहि रस सींचत गोंविद ।।

इस प्रकार वृंदावन देव जी में रस, अलंकार तथा शब्द-सौंदर्य की मनोरम त्रिवेणी मिलती है। वृंदावन देव जी की शिष्य-परंपरा में कई कवि हुए हैं। जिनमें से प्रमुख हैं 'श्री गोविंद देव' जी, श्री 'बाँकावति' जी तथा श्री 'सुंदर कुँवरि'।

श्री गोविंद देव जी की रचना 'जयाति चतुर्दशी' नाम से मिलती है। श्री बाँकावति जी कृष्णगढ़-नरेश महाराजा 'राजसिंह' की रानी थीं। कृष्णगढ़ का यह राज-घराना कवियों तथा कवियित्रियों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। साधारणतः यह संपूर्ण घराना 'निंबार्क-संप्रदाय' की परशुराम देव जी की शिष्य-परंपरा में सलेमाबाद की गद्दी का अनुगामी था। बाँकावति जी ने अपनी 'ब्रजदासी-भागवत' में स्पष्टतः अपने गुरु का नामोल्लेख किया है—

"नमो नमो गोपाल लाल, गोबरधन धारी ।
नमो नमो बृषभाँनु कुँवरि, पिय-प्राँन-पियारी ।।
नमो नमो मम गुरु प्रसिद्ध, 'बृंदाबन' नामं ।
नमो नमो हरि-भक्त, रसिक जे अति अभिरामं ।।
नमो नमो श्री भागवत, कृपा-सिंधु मंगल करँन ।
दिनकर-सँमान झलमलत सो, प्रघट जगत अघतम हरँन ।।"

इन्होंने भागवत के ग्यारह स्कंधों का भाषा में अनुवाद किया था। यही भागवत 'ब्रजदासी-भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है।

बाँकावति जी की पुत्री 'सुंदरि कुँवरि' भी इसी गद्दी की शिष्या थीं। चार वर्ष की अवस्था में ही 'श्री वृंदावन देव जी' से इन्होंने मंत्र-दीक्षा ली थी। सुंदरि कुँवरि में अपनी माता से भी कहीं अधिक काव्य-प्रतिभा थी। इन्हें विद्या-दान वृंदावन देव जी के पर-शिष्य 'सर्वेश्वर' जी ने दिया था, क्योंकि वृंदावन देव जी, इनके शैशव-काल में ही इन्हें मंत्र-दीक्षा देकर शरीर त्याग चुके थे। सुंदरि कुँवरि ने स्वयं ही लिखा है—

"श्री बृंदाबन देव प्रभु, जिन्ह की दासि जु छाप ।
लही बाल-बय में तबहिं, उदए भाग अमाप ।।
सो अब यै दरसी प्रघट, महा भाग की ओप ।
श्री सरबेसुर सरँन प्रभु, दिए सुभेव निज गोप ।।
सुथल सलेंमाँबाद की, हौं दासानुज दासि ।
जिंहि प्रभाव यै रहसि किय, मेरे हृदें निवासि ।।"

—मित्र-शिक्षा

श्री सुंदरि कुँवरि-रचित बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। नेह-निधि, (सं० १८१७), वृंदावन-गोपी-माहात्म्य (सं० १८२३), संकेत-सुगल (सं० १८३०), रस-पुंज (सं० १८३४), प्रेम-संपुट (सं०१८४५),

रंग-झर (सं० १८४५), गोपी-माहात्म्य (सं० १८४६), भावना-प्रकाश (सं० १८५०), राम-रहस्य (सं० १८५३), मित्र-शिक्षा (सं० १८६२) तथा फुटकल पद-रचना। इन्होंने पद तो रचे ही हैं, कवित्त, सवैया तथा कुछ अन्य छंदों का भी उपयोग किया है। दोहा छंद तो इनके स्वकुल-परंपरा की देन ही है। भाषा का माधुर्य आपके छंदों में बिखरा पड़ा है, जैसे—

"मेरी प्राँन-सँजीवन राधा।
कब तुब बदँन-सुधाधर दरसों, मो अँखियँन हरैं बाधा।।
ठमकि-ठमकि लरकोंहीं चालँन, आउ साँमुहें मेरे।
रस के बचन पियूष पोषि कें, कर-गहि बैठों तेरे।।
रंग-मैहैल-संकेत सुगल करि, टहलँन करों सहेली।
आग्या लहों रहों तहँ ततपर, बोलत प्रेंम-पहेली।।
मन-मंजरी जु कीन्हों किंकर, अपनावौ किन्ह बेग।
'सुंदरि कुँवरि' स्वाँमिनी राधा, हिय कौ हरौ उदेग।।"

★

"मद ब्रज-बिपिन-रसासव भावै।
जुगल-रूप भरि नेंन-पियाले, छिन-छिन छाक चढ़ावै।।
निभृत नवल निकुंज बिनोदँन, स्वाद बिबिध रुचि पावै।
लगत बिभव बैकुंठ अभावँन, तासों सीस पिरावै।।
इंद्र-लोक ठकुराइ तपावँन, मतवारिन ठुकरावै।
तीन लोक की रचना जेती, कछु न नजर में आवै।।
जमुना-पुलिन, नलिन-रज-रंजित, मत्त पछरि मुसिक्यावै।
नवल नेह मतवारी कों गहि, राधा आँन उठावै।।"

सवैया

"एहो सुजाँन-सिरोमँनि मोंहन, क्यों मन जाँन अजाँन बने अति।
प्रीति प्रतीत रसासब दै छकि, कै हितवारी मैं हारी सबै मति।।
तापै कछु दरसात यहै नँहि, चाहिऐ जैसें सु सोचि लई हति।
तेरी सों तोही सों पूंछति हों, कहि मेरी सों, मेरी सों मेरी कहा गति।।"

यहाँ श्री कृष्णगढाधीश नागरीदास जी की पासवान 'बनीठनी जी' का भी नाम भुलाया नहीं जा सकता। आपका जन्म संवत तो नहीं, पर मृत्यु संवत १८२२ वि० आषाढ़ शुक्ला १५ बुधवार निश्चित है। यह उनकी समाधि के शिला-लेख पर उद्धृत है। बनीठनी जी की ब्रज-भाषा उतनी सुंदर तो नहीं जितनी कि कृष्णगढ़ की अन्य कवयित्रियों की है, पर उसमें भाव और राजस्थानी का मिश्रण बहुत अनूठा है, जिससे वह खिल उठी है। आप स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परंपरा में प्रसिद्ध 'श्री रसिक दास जी' की शिष्या थीं। कविता में आपकी छाप गुरु प्रयुक्त—'रसिक विहारी' है। जैसे—

"मन-मोंहन, सोंहन स्याँम, नंद-ढिठोंनाँ री।
बिन देखें पल कल न परत है, मेरौ जीव लगोंनाँ री।।
होरी में मो पै ठगोरी-सी डारी, हों रिझई रीझि-रिझोंनाँ री।
खेलोंगी मिलि 'रसिक बिहारी' सों, वा बिन खेल अलोंनाँ री।।"

★

ए बँसुरिया वारे, ऐसें जिन्ह बतराइ रे।
यों न बोलिऐ अरे घर-बसे, लाजँन दबि गई हाइ रे।।

हों धाई या गैलहिं सों रे, नेंक चल्यौ धों जाइ रे ।
'रसिक बिहारी' नाम पाइकें, क्यों इतनों इतराइ रे ।।"

इनकी रचना विशेष तो नहीं, जो कुछ है वह 'नागर-समुच्चय' में प्रकाशित है ।

श्री गोविंद देव जी के शिष्य श्री 'गोविंद शरण देव जी' तथा शिष्या छत्रकुँवरि भी अच्छे काव्य-रचयिता हुए हैं । श्री गोविंद देव जी की रचना में शब्द और भाव दोनों का मनोरम संगम है । भावानुभूति का आधार सांप्रदयिक रखते हुए भी आप ने उसकी सीमाएँ विस्तृत कर दी हैं, जिससे अवलंब और आश्रय के रूप में 'राधा-कृष्ण' कितने ही छंदों और उनकी व्यंजना से ग्राह्य होते हैं । गोविंद शरण देव जी की रचना में प्रवाह है और अलंकारों की छटा भी । उपदेश तथा सिद्धांत-संबंधी रचनाओं में यद्यपि ये उतना कला-सौष्ठव नहीं ला सके, पर उनमें भी प्रवाह और हलकी सरसता अवश्य मिलती है । तृष्णा पर लिखते हुए आपने मनुष्य के भ्रम-ग्रस्त उद्योगों का वर्णन इस प्रकार किया है—

"धन कौ भ्रम मन जाँन, महीतल-खोदि निहारचौ ।
भसँम करीं गिरि-धातु, अरथ बित काठ बिगारचौ ।।
सरिता कौ पति सिंधु, सोउ दुसतर रह्यौ भोई ।
सेए बहु नरदेव, कमी राखी नहिं कोई ।।
मंत्र-साधि साधँन थक्यौ, हाथ-जोर हों कहत तोहिं ।
मिली न कौड़ी एक अब, हे तिसनाँ, तू त्यागि मोहिं ।।"

इनके रचे पदों व कवित्त-सवैयों की संख्या बहुत अधिक है, जो इन की सलेमाबाद (राजस्थान) की गद्दी में सुरक्षित है । 'बार है' की समस्यापूर्ति के रूप में इस कविता को लीजिये—

"राजै मृग-नेंनी, पिक-बेंनी, छबि-रेंनी बोरी, लचकत लंक छीन कटि सोभा भार है ।
बेंगनिया सारी पै किनारी जरतारी भारी, देखिकें सु मार भयौ अति सुकुमार है ।।
मानों रूप-सागर में सरस सिवार लसै, कैधों चंद लपटांने पन्नग-कुँमार है ।
कैधों मखतूल स्यांम मरकत के तार किधों, ठाढ़ी फुलवारी माँहिं सुखवत बार है ।।"

छत्र कुँवरि बाई उसी घराने की हैं, जिसकी सुंदरि कुँवरि थीं । 'प्रेम-विनोद' में अपना परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है—

"रूप नगर नृप राजसिंघ, जिन्ह सुत नागरिदास ।
तिन्हँन पुत्र जु सरदारसिंघ, हों तनया मैं जास ।।

❀

छत्र कुँवरि मम नाम है, कहिबे कौ जग माँहिं ।
प्रिया सरन दास्युत्त ते, हों हित-चूर सदाँहिं ।।"

छत्र कुँवरि की रचनाओं में काव्य-सौष्ठव अधिक है । इनमें चित्रमय वर्णन है, इनमें सहज भावुकता का स्पर्श भी है । चौपड़ के खेल में इस कवियित्री ने रूप-निधि में लहर उठा कर मन-मीन को कैसे कौशल से लीन किया है, यह इस रचना से विदित होगा—

"रसिक बिहारी-प्यारी खेलत खिलारी मिलि, बाढ्यौ रँग भारी राँचे रंग रिझवारी है ।
झमकि उठाइ पाँसे, रमकि चलाइ प्रिया, रूप-निधि मानों कर-लैहर पसारी है ।।
ता में मन-मींन पिय लींन ह्वै कलोलत है, निकस न चाहें कैसें मौज सुखकारी है ।
लंपट हैं नेंन आँन पाँन-कंज-संपुट में, कढ़त न लोभी अलि गति मतवारी है ।।"

भावों और अलंकारों का शब्द-सौष्ठव के साथ इस रचना में छत्र कुँवरि जी ने अच्छा संयोग किया है । प्रेम-विनोद की रचना-समाप्ति सं० १८४५ वि० में हुई थी । यह ग्रंथ बूंदी राज्य की राजमाता-द्वारा सुंदरि कुँवरि-कृत ग्यारह ग्रंथों के साथ प्रकाशित हो चुका है ।

श्री परशुराम जी की गद्दी की शिष्य-परंपरा में 'श्री सर्वेश्वर शरण देव जी के शिष्य 'रसिक गोविंद' जी का नाम भी उल्लेखनीय है। रसिक गोविंद जी का साहित्यिक महत्व हिंदी के इतिहास-कारों ने भी स्वीकार किया है। इनके नौ ग्रंथ अभी तक मिले हैं। वे ये हैं—

१, "रामायण सूचनिका"—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से राम-कथा।

२, "रसिक गोविंदानंदघन"—सात-आठ सौ पृष्ठ का रीति-ग्रंथ।

इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसमें—रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, गुण, दोष आदि के लक्षण तथा विस्तृत विवरण और व्याख्या 'गद्य' में हैं। १९वीं शताब्दी की पुष्ट ब्रज-भाषा-गद्य का स्वरूप इस पुस्तक में मिलता है। यथा—

"अन्य-ग्यान-रहित जो आनंद सो रस। प्रश्न—'अन्य-ग्यान-रहित आनंद तौ निद्राहू है। उत्तर—'निद्रा जड़ है, यै चेतन। भरत आचार्य सूत्र-कर्त्ता कौ मत विभाव, अनुभाव, संचारी-भावके जोग ते रस की सिद्धि ....।"

इस पुस्तक में रसिक गोविंद जी ने संस्कृत के आचार्यों के मतों का उल्लेख विविध स्थलों पर करते हुए अपनी काव्य-गत आस्था का सुंदर ढंग से प्रतिपादन किया है।

३, "लछिमन-चंद्रिका"।

यह पुस्तक (सं० १८८६) में किन्हीं 'लछिमन कान्यकुब्ज' के अनुरोध से बनाई गयी। पुस्तक में काव्यांगों के लक्षण जो 'रसिक गोविंदानंद घन' में प्रस्तुत किये गये थे उनका ही संग्रह है।

४, "अष्टदेश-भाषा"।

ब्रजभाषा से लेकर पूर्वी तक आठ भाषाओं में राधा-कृष्ण का शृंगार वर्णन।

५, "पिंगल"—छंद-शास्त्र।

६, "समय-प्रबंध"—सांप्रदायिक, श्री राधा-कृष्ण की ऋतु-चर्या।

७, "कलिजुग रासौ"—१६ कवित्तों में कलियुग-वर्णन। सं० १८६५,

८, "रसिकगोविंद-चंद्रलोक"—अलंकार-पुस्तक, सं० १८९०।

९, "युगल-रस-माधुरी"—राधा-कृष्ण-विहार तथा वृंदावन-वर्णन।

इन रचनाओं के विषयों पर दृष्टिपात करने से वह कारण स्पष्ट हो जाता है, जिससे इनका साहित्य में विशेष महत्त्व बढ़ा। इनकी अधिकांश रचनाएँ "साहित्य-शास्त्र" से संबंधित हैं।

रसिक गोविंद जी को भाषा पर पूर्ण अधिकार है, इसीलिए इनकी रचनाओं में वृत्ति-अनु-कूलता विशेष है। राधा-कृष्ण के वर्णनों में भी इस रीति-कालीनता का कवि पर यह प्रभाव पड़ा है कि उसने प्रत्येक वर्ण्य-विषय को अवर्ण्य के चमत्कार से हृदयंगम कराना चाहा है। उसकी इस शैली में विहारी की झलक झिलमिला उठती है। चिबुक के नीले विंदु का वर्णन जैसे—

**"ललित चिबुक-बिच सुभग स्यामँ लीला सोभित अनु।
गिरयौ गुलाब सुमनस मँझार मधु-छक्यौ मधुप जनु।।"**

नासिका और बेसरि-मुक्ता पर कवि की उक्ति है—

**"दीप-सिखा सी नाक, मुक्त पर मुख-ढिग डोलै।
मनों चंद की गोद, चंद कौ कुँमर किलौलै।।"**

कपोलों की गाढ़ और उसके तिल को देखिए—

**"हँसत कपोलँन गाढ़ परत, पुनि इक तिल स्यामँल।
मनों सुधा-सर-मध्य, खिल्यौ इक नील-कँमल कल।।"**

कानों के तरोनाओं में जो सौंदर्य कवि ने प्रस्तुत किया है, वह तो अद्वितीय है—

**"मुकुर-कपोलँन स्तुति-भूषँन, प्रतिबिंब सुहाए।
अँमल-कँमल बर बदँन, अलक-अलि कौतुक आए।।"**

"करँन-तरोंनाँ तरल, झलमलत नीलांचल में।
परचौ प्रात प्रतिबिंब-भाँनु जनु जमुना-जल में।।"[1]

अनूठी उक्तियों और अलंकारों की छटा कवि ने पद-पद पर प्रस्तुत की है—

"नीलांबर-मधि गौर-बदँन, सोभित स-बिलासा।
जनु पावस-घँन-चोर, सरद ससि कियौ प्रकासा।।"

उपरोक्त उदाहरण कवि की कृति 'युगल-रस-माधुरी' के हैं।

यहाँ तक 'निंबार्क-संप्रदाय' की उस शाखा के कवियों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है जो "हरि व्यासी" कहलाता है। ये समस्त कवि श्री "हरिव्यास देव" जी की शिष्य-परंपरा में हैं।

निंबार्क-संप्रदाय की एक 'दूसरी शाखा' भी है जिसे "हरिदासी" कहते हैं। श्री हरिदासजी स्वामी से हिंदी-प्रेमी ऐसा कोन है जो परिचित न होगा। इनकी तुलना का 'संगीतज्ञ' दूसरा नहीं मिलता[2]। हरिदास जी भी निंबार्क संप्रदाय के हैं। इनकी एक दीर्घ शिष्य-परंपरा है और इस परंपरा में भी अनेक उच्चकोटि के कवि हुए हैं।

श्री स्वामी हरिदास जी के संबंध में यह विख्यात है कि ये वृंदावन के पास 'राजपुर' नामक गाँव में उत्पन्न हुए थे। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम 'चित्रा देवी' और पिता का नाम 'गंगाधर' था। पच्चीस वर्ष की अवस्था में इन्हें वैराग्य हुआ, तभी संभवतः ये श्री आशुधीर जी से दीक्षा लेकर निंबार्क-संप्रदाय में प्रविष्ट हुए। ये प्रतिभाशाली महात्मा थे। अतः इनका अपना अलग ही "हरिदासी"—संप्रदाय चल निकला, जो आगे चल कर "ललित किशोर देव" जी के समय से "टट्टी-संप्रदाय" भी कहा जाने लगा। श्री राधा-कृष्ण-भक्ति की तन्मयता की चरमावस्था श्री हरिदास जी में मिलती है। यही कारण है कि इनके भाव और शब्दों की कोमल सार्थक संयोजना उत्कृष्ट संगीतिता से युक्त होकर मन और शरीर को ही नहीं प्रकृति के अणु-अणु को विमोहित करने वाली प्रतीत होती हैं। अस्तु: इनके विषय में नाभादास जी ने लिखा है—

"जुगल-नाम सों नेंम, जपत नित कुंज-बिहारी।
अवलोकत रस-केलि, सखी-सुख के अधिकारी।।

1. यहाँ विविध कवियों के नीचे लिखे दोहे बरबस अपनी याद दिला रहे हैं, जैसे—

गोरे मुख पै 'तिल' लसत, ताहि करों परनाम।
रूपे के अरघा मनों, पौंढ़े सालिगराम।।
ललित स्याँम लीला ललँन, बढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु-छाक्यौ मधुकर परचौ, मनों गुलाब-प्रसून।।
तिय-कपोल तिल लसँन कौ, मैं जान्यों यह हेत।
रूप-खजाँने की मनों, हबसी चौकी देत।।
तिय-कपोल अनमोल तिल, मनि-बरनत मन-मोद।
गई कहूँ धरि नागिनी, कुँवर इंदु की गोद।।
मोंती हलत बुलाक कौ, ताकी यै तफसील।
मनों नूर भरिपूर की, लटकि रही कंदील।।
छप्यौ छबीलौ मुख लसै, नीले अंचर चीर।
मनों कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर।।

2. ब्रज में दो संगीत की पाठशालाएँ थीं। एक के आचार्य थे श्री स्वामी हरिदास जी, तथा दूसरे के श्री गोविंद स्वामी। ये दोनों ही महात्मा संगीत के प्रकांड पंडित थे।

गाँन-कला गंधरब, स्याँम-स्याँमा के तोषे।
उत्तम भोग लगाइ, मोर-मरकट तिमि पोषे॥
नृपति द्वार-ठाढ़े रहें, दरसन-आसा जासु की।
आसुधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदासु की॥"

इनके संबंध में प्रसिद्ध है कि 'तानसेन' जैसा प्रसिद्ध गवैया इनका शिष्य था। 'बैंजू बावरा' भी इनका शिष्य माना जाता है।

इनके रचना ग्रंथ—"केलि-माला" और "'सिद्धांत के पद" नाम से मिलते हैं। केलि-माला में 'नित्य-विहार' के १०८ पद हैं और सिद्धांत-पद की संख्या १८ है। इनके अतिरिक्त भी आपने स्फुट पद-रचना और भी रची जो आज प्राप्त नहीं हैं। कभी-कभी इधर-उधर से कुछ पद प्राप्त हो जाते हैं।

श्री स्वामी हरिदास जी की रचना में—संगीत की मंथरता, चरणों की दीर्घता और मंदता तथा मादक शब्दों की अल्पाक्षरी योजना से युगल श्री राधा-कृष्ण के सौंदर्य और केलि-क्रीड़ा की उग्रता में अद्भुत संयम आ गया है। इनकी रचना 'केलि-माला' के कुछ उदाहरण जैसे—.

"आज तृन-टूटत हैं री, ललित -त्रिभंगी पर।
चरँन चरँन पर, मुरली अधर धरें, चितवँन बंक, छबीली भ्रू पर॥
चलौ न बेगि राधिका पिय पै, जो भयौ चाहँत सरबोपर।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी कौ समयौ नींकौ—
बन्यों री, 'हिलमिल केलि अटल रति भई धू पर॥"

❀

"प्यारी जू, जब-जब देखों तेरौ मुख, तब-तब नयौ-नयौ लागत।
ऐसौ संभ्रम होत मैं कबहूँ देख्यौ न री, दुति कौ दुति लेखन कागत॥
कोटि चंद तें कहा री दुराए, नए-नए रागत।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी कहत काँम की सांति—
न होइ, न होइ, तृपति रहों निसि-दिन जागत॥"

★

"स्याँमा प्यारी, आगें चलि-आगें चलि, गैहबर-बन-भीतर जहाँ बोलत कोइल री।
अति ही बिचित्र फूल-पत्तन की सैया रची, रुचिर सँवारी तहाँ तू सोइल री॥
छिन-छिन, पल-पल, तेरी यैही कहाँनी, तो मग जोइल री।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कहत छबीलौ, तू काम-रस-भोइल री॥"

❀

"प्यारी तेरौ बदन अंमृत कौ पंक, तामें बींधे नैंन द्वै।
चित चल्यौ काढ़ँन कों, बिकच संधि-संपुट में रह्यौ भ्वै॥
बौहौत उपाइ आहि री प्यारी, पै न करत स्वै।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कुंजबिहारी, ऐसें रहौ ह्वै॥"

एक सिद्धांत पद, जैसे—

"ज्यों हीं, ज्यों हीं तुम्ह राखत हौ, त्यों हीं, त्यों हीं रहियत हो हरि।
और तौ अचरचे पाँइ धरों, सो तौ कहौ कोंन के पेंड़ भरि॥
जदपि हों अपनों मन भायौ कियौ चाँहों, सु तौ कैसें कर सकों जो तुम्ह राखौ पकरि।
कहै श्री 'हरिदास' पिंजरा के जिनावर लों, तरफराइ रह्यौ उड़िवे कों कितौऊ करि॥"

स्वामी जी की शिष्य-परंपरा में ब्रजभाषा-कवियों की सूची इस प्रकार दी जा सकती है—
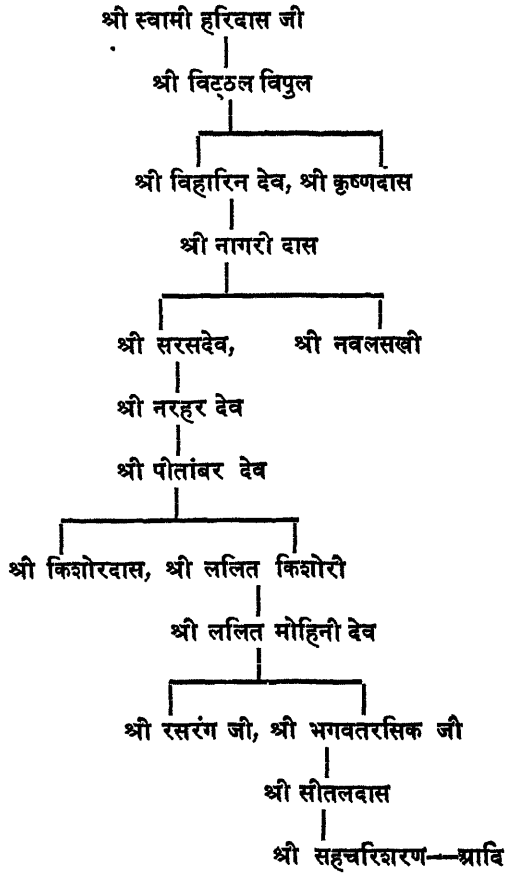
ये सभी महानुभाव उत्कृष्ट कवि हैं, पर इनमें से विशेष प्रतिभाशाली हैं—"श्री विहारिन दास, श्री सरस देव, श्री किशोरीदास, श्री भगवत रसिक, श्री सीतलदास, श्री सहचरिशरण।" इन कवियों की पुनीत प्रतिभा ने अपने विषय को सांप्रदायिक-सीमाओं के रहते हुए भी चमकाया है। राधा-कृष्ण की भावमयी अवतारणा में भक्ति-विह्वल-हृदय उड़ेल दिया है और कल्पना के अलंकारों से सुसज्जित कर दिया है।

श्री विहारिन देव जी ने ७०० दोहा तथा पद रचे हैं, सभी रचना सिद्धांत-विषयक है। नागरीदास जी के १०० पद प्रसिद्ध हैं। सरस देव जी के पदों में प्रवाह तथा गति है, इनकी वाणी भी 'आचार्य-वाणी' की भाँति संप्रदाय में आदृत है। एक उदाहरण से आपकी विशेषता जानी जा सकती है—

"लाल, प्रिया कौ सिंगार बनावत।
कोंमल कर कुसुमॅन कच-गूंथत, मृग-मद-आड़-रचत सुख पावत॥
अंजन मन-रंजन नख बर कर, चित्र बनाइ-बनाइ रिझावत।
लेत बलाइ, भाइ नव उपजत, रीझि रसाल माल पैहरावत॥
अति आतुर आसक्त दीन भए, चितवत कुँवरि, कुँवरि मन-भावत।
नेंनन में मुसिक्यात जात पिय, प्रेंम-बिबस हँस कंठ लगावत॥
रूप, रंग सींवाँ ग्रीवा भुज, हँसत परसपर मदन लड़ावत।
'सरसदास' सुख निरख निहाल भए, गई निसा नव गुन-उपजावत॥"

श्री पीतांबर देव जी के रचे—"रस के पद, सिंगार के पद, श्री स्वामी हरिदासजी कृत 'केलि-माला' की टीका (गद्य), सिद्धांत की साखी और सिंगार की साखी" कहे जाते हैं। श्री रसिक देव जी ने भी १०-११ ग्रंथ रचे। जो—"भक्त-सिद्धांत-मणि, पूजा-विलास, सिद्धांत के पद, रस के पद, रस-सिद्धांत के पद, कुंज-कौतुक, रस-सार, गुरु-मंगल-यश, बाल लीला, ध्यान लीला और बाराह संहिता-नाम से विख्यात हैं।

श्री ललित किशोरी जी ने भी चार सौ दोहा तथा पद रचे हैं। श्री ललित मोहिनी जी की रचना भी व्रजभाषा के पद विशेषों में मिलती है।

श्री किशोर दास जी ने 'निजमत-सिद्धांत' नामक 'महाकाव्य' लिखा तथा एक 'सवैया-पचीसी' भी लिखी। कुछ 'पद' भी रचे। निजमत सिद्धांत दोहे-चौपाइयों में लिखा गया है। श्री भगवत सिरक जी ने पद, छप्पय, कुंडलिया और दोहे लिखे हैं, जिनमें पद-लालित्य के अतिरिक्त भाषा और भावों की की प्रचुर सरसता है। पदों में आपका निम्न पद बहुत प्रसिद्ध है—

"तेरो मुख चंद, चकोरी मेरे नेंना।
अति आतुर, अनुरागी, लंपट, भूल गई गति पलहु लगें ना॥
अरबरात मिलवे कों निसदिन, मिलेई रहें मनों कबहुँ मिले ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें, बिना रसिक, कोऊ समझि सकै ना॥"

सीतल जी ने ख्याल के ढंग की रचना 'इश्क़ चमन' और 'गुलज़ार चमन' वा 'आनंद चमन', 'विहार-चमन' नाम से की है, जो अनूठी है। इनकी भाषा की मादकता बड़ी सुंदर है। भाव बेजोड़ हैं। उदाहरण जैसे—

"पंकज पर भौंरे मधु-माँते, ससि पर अहि-पति की भीरें हैं।
मखतूल, नील-मनि चारु चोंर, उपमा नहिं आवत नीरें हैं॥
कै बरक तिल्लई पै 'सीतल', ए खेंच दईं तहरीरें हैं।
या लाल बिहारी के मुख पर, क्या कहर जुल्फ़-जंजीरें हैं॥"

❀

"छबि सरद-कंज पर पुन्य-पुंज, मकरंद मधुव्रत पिए हुए।
मखतूल, नील-मनि, केकी की गरदन पर दाबा दिए हुए॥
लहराती चोबा चारु चुनीं, ज़ालिम कपोल को छिए हुए।
मुख-सरद-सुधाकर में बैठी अहि-बाल मंडली किए हुए॥"

★

"कारी, सटकारी, लहरदार, छबिदार अतर से पाली हैं।
मखतूल, नील-मनि, चंचरीक, उपमा के जी में साली हैं॥
कर साफ़ अतर से मुखड़े पर बेतरह पेचवाँ डाली हैं।
इस लाल बिहारी की जुल्फ़ें मत छेड़ नागिनी काली हैं॥"

❀

"बँबईं-कानों से कढ़ी हुईं, देखत-ही चित में पैंठीं हैं।
मोती से निकलीं उलझ रहीं, चुन्नी ले मुख में ऐंठीं हैं॥
नीलम के तार सिवार किधौं, छबि चंचरीक की भैंठीं हैं।
जुल्फ़ें इस लाल बिहारी की, मनिदार-नागिनीं बैठीं हैं॥"

★

"मखतूल, नीलमनि, चंचरीक, सब की उपमा को पेलें हैं।
मुख-सरद चंद से लगी हुई, क्या संबुल की-सी बेलें हैं॥

लहराती हुई नजर आईं, दिल में जहरों की रेलें हैं।
रुखसार-हेम के थालों पर दो चढ़ी नागिनी खेलें हैं॥"

❀

"मज्ज्न करने को जमुना पर, जानी उठ-धाया भोर कहीं।
मुख सरद-कंज-सा खिला हुआ, छूटीं जुल्फ़ें दो ओर कहीं॥
दे पेच निचोड़ी लहर-भरीं, टपके मुक्ताहल-कोर कहीं।
ज्यों चंद नाग ने चूस लिया, मधु चुवा पूछ की ओर कहीं॥"

सीतल जी की भाषा में बल है,—ताज़गी है। रूपकों में अनूठापन है और भावों में बहार है। *काव्यगत बारीकियों की खासी घुसपैठ है।*

श्री सहचरि शरण देव जी (जन्म सं० —१८२९ वि०) के दो ग्रंथ—"ललित प्रकाश" और "सरस-मंजावली" प्रसिद्ध हैं। ये टट्टी-स्थान के अधिपति स्वामी श्री राधिका दास जी के शिष्य थे। राधिका दास जी श्री ललित मोहिनी जी के शिष्य थे। सरस-मंजावली में १४० मंज (माँझ—एक प्रकार का छंद विशेष) हैं, जो बड़े सुंदर हैं। वियोगी हरि ने 'सरस-मंजावली' की रचना के विषय में लिखा है—

"इसकी रचना बड़ी-ही उच्चकोटि की है। काव्य-चमत्कार के साथ-साथ ही इसमें 'प्रेम-माधुरी' और 'रसिक-वारुणी' की एक निराली छटा और मादकता है।"

ललित-प्रकाश और सरस-मंजावली दोनों ग्रंथ छप चुके हैं। ललित प्रकाश में श्री स्वामी हरिदास जी से लेकर श्री ललित मोहिनी दास जी तक सभी गद्यस्थों—आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन विविध छंदों में किया गया है। सरस मंजावली के कुछ उदाहरण यहाँ देखिये—

"दामन गहें रहें जामे का, इती अरज़ मुदकंदे।
दरस दिया कर, महर किया कर, महरबान हरफंदे॥
छबि-चिराग रोशन चित चहिए, 'सहचरि सरँन' अमंदे।
ऐ ग़रीब परवर, ग़रीब हम इन कदमों के बंदे॥"

❀

"हरदम याद किया कर हरि की, दरद निदान हरेगा।
मेरा कहा न खाली ऐ दिल, आँनदकंद ढ़रेगा॥
ऐसा नहीं जहाँ-बिच कोई, लंगर लोग लरेगा।
'सहचरि सरँन' शेर दाँ बच्चा, क्या गजराज करेगा॥"

★

"मंद हँसन शमशेर मार, वर इश्क़ बलाइ मरोरें।
रसिक आशिक़ाँ-दिल तमाम गहि, सबज़ रंग बिच बोरें॥
झमक 'सहचरी सरँन' बिदरदाँ, जुल्फ़-जाल झकझोरें।
ब्रज-बृंदाबनदे मतवाले, प्रिय मुख-चंद चकोरें॥"

❀

"समझ लिया महबूब खूब, तुम कहत बात इतराते।
ऐंड़ायल, अलबेले अंगन बर, गुम रख हरखाते॥
रसिक 'सहचरी सरँन' स्याँम-रस-बस जोबन उमदाते।
आशिकान की तरफ नज़र कर, नव दुलहिन मदमाते॥"

★

"जरीदार पगरी उदार, उर मुक्तमाल थहरत है।
ज़रद लपेटा फेंटा कटि से, गुरु गरबीली गत है॥

'सहचरि सरँन' मयंक-बदन की, मदन-मोहनी मूरत है ।
छबि-सागर की छबि को बरनें, कवि की क्या कुदरत है ।।"

इनके अतिरिक्त हिंदी के अत्यंत प्रसिद्ध महाकवि 'घनानंद' भी इसी संप्रदाय के थे। इनके कवित्त, सवैया और पद ब्रजभाषा-प्रेमियों के हृदय के हार हैं।

विहारी शरण जी ने अपने ग्रंथ—"निंबार्क-माधुरी" में महाकवि केशवदास, विद्यापति ठाकुर, महाकवि देव, महाकवि विहारी लाल, कुलपति मिश्र तथा कृष्ण कवि के साथ-साथ रसखान, सेनापति, लाल, वृंद आदि हिंदी के उच्चकोटि के प्रायः सभी कवियों को इसी संप्रदाय का माना है। रसखान और विद्यापति के अतिरिक्त शेष कवियों के संबंध में कहा जा सकता है कि उनके लिए संप्रदाय का निजी महत्त्व कोई भले ही रहा हो, पर उनकी रचनाएँ तो शुद्ध काव्य-प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के लिए हुईं। ये सभी कवि रीति-विषयक रचना करने वाले हैं।

बुंदेलखंड के 'सेन', 'प्राननाथ' जी को भी स्वामी हरिदास जी की शिष्य परंपरा में निंबार्क-संप्रदाय का माना जाता है, फलतः उनका—"प्रणामी" या "धामी" संप्रदाय भी निंबार्क-संप्रदाय के अंतर्गत आ जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि श्री निंबार्क-संप्रदाय की देनं हिंदी-साहित्य के लिए अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है।[1]

[1] यह निबंध मुख्यतः श्री विहारीशरणजी लिखित—"श्री निंबार्क-माधुरी" नाम की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है। इस संप्रदाय के कवियों का अधिकांश साहित्य अप्रकाशित है और अधिकांश कवियों के नाम तक हिंदी-साहित्य के इतिहासकार नहीं जानते हैं। इस दृष्टि से विहारीशरणजी का यह उद्योग प्रशंसनीय है। ब्रज के अन्य संप्रदायों पर भी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

रासपंचाध्यायी : भागवत

श्री गोविंदलाल हरगोविंद भट्ट

श्रीमद्भागवत भगवान् का शब्दात्मक रूप है और "दशम स्कंध" उनका हृदय। कुछ लोगों के मतानुसार दशम स्कंध भगवान् का मुख भी माना जाता है। श्री 'वल्लभाचार्य' जी दशम स्कंध के तीन अध्यायों (१२-१४) को प्रक्षिप्त मानते हैं। अतएव उनका अभिप्राय यह है कि २६ से ३० तक ये पाँचो अध्याय 'रासपंचाध्यायी' नाम से कहे जाने चाहिए। अन्य विचारक १२ से लेकर १४ तक तीन अध्यायों को प्रक्षिप्त नहीं मानते ; अतएव उनके मत से २९ से ३३ तक के पाँचो अध्याय 'रासपंचाध्यायी' नाम से संबोधित होते हैं।

भारतीय दर्शन के इतिहास में इस रासपंचाध्यायी का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्री कृष्ण और गोपियों के प्रसंग का वर्णन इन पाँच अध्यायों में आया है जो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। भगवान् के वेणुनाद से गोपियों का आकर्षण, गोपीजनों का त्याग और सर्वात्मभाव, उनका गर्व और भगवान् का तिरोधान, इनका विलाप और दैन्य, भगवान् का प्रादुर्भाव और गोपीजनों के ऊपर अनुग्रह, रासलीला का आरंभ और भजनानंद का दिव्य अनुभव[1]—ये सब प्रसंग काव्य और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं।

श्रीमद्भागवत के टीकाकारों ने इस 'रासपंचाध्यायी' का और विशेषतः इस 'रासलीला' का तात्पर्य भिन्न-भिन्न दृष्टि से दिखलाया है। **'बोपदेव'** कहते हैं कि गोपिकाएँ सर्वथा शुद्ध हैं और इसीलिए भक्तिरस के अनुभव करनेका अधिकार भोगती हैं। इस भक्तिरस का अनुभव ही 'रासलीला' है। भागवत में जो शृंगार देखने में आता है उसका पर्यवसान भक्ति में है—ऐसा बोपदेव का अभिप्राय है। **'श्रीधरस्वामी'** कहते हैं कि भगवान् की रासक्रीड़ा उनकी 'कामदेव' के ऊपर विजय प्रकट करती है।[2] रासलीला में वर्णित शृंगार रस की कथा का तात्पर्य विशेषतः काम-निवृत्ति में ही है। काम-विजय रूप इस रासक्रीड़ा के श्रवण का फल भी काम-विजय ही है। अतएव शृंगार रस में आसक्त अत्यंत बहिर्मुख पुरुषों को भी भगवन्मय बनाने के लिये ही भगवान् ने यह शृंगार रसवाली लीला की है। श्रीधर-स्वामी का यह मंतव्य अन्य बहुत से टीकाकारों को भी मान्य है।

चैतन्य संप्रदाय वाले **'सनातन गोस्वामी'** के अनुसार भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन व्रज-सुंदरियों के मनोरथ परिपूर्ण कर 'प्रेमरस' का विस्तार करना है। इसी संप्रदाय के **'विश्वनाथ चक्रवर्ती'** कहते हैं कि भगवान् ने आठ वर्ष की अवस्था में रासक्रीड़ा की तथा इस रास से गोपियों को इतना अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वे सर्व शिरोमणि लक्ष्मी जी से भी अधिक संमानित हुईं।[3]

[1]. ब्रह्मानंदात्समसमुद्धृत्य भजनानंदयोजने।
लीला या युज्यते सम्यक् सातुर्येविनिरूप्यते ॥

[2]. ब्रह्मादिजयसंरूढ दर्पकंदर्पदर्पहा।
जयति श्रीर्पतिगोपीरासमंडलमंडनः ॥

—श्रीधर स्वामी

रासो जयति यद्दत सौभाग्या गोपियोषितः।
धरास्था अधरी चक्रुः सर्वोद्ध्वस्थां रमामपि ॥

—विश्वनाथ चक्रवर्ती

मध्वसंप्रदायी टीकाकार—**'विजयध्वज'** कहते हैं कि निर्दोष-भक्ति से उत्पन्न हुआ ब्रह्म-ज्ञान ही मुक्ति का साधन है—इस शास्त्रीय सिद्धांत का समर्थन करने के लिये रासपंचाध्यायी की कथा है। **'धनपतिसूरि'** का अभिप्राय ऐसा है कि भगवान् ने नवें वर्ष में रासलीला की और गोपीजन रूपी असंख्य सेनावाले कामदेव के साथ युद्ध में विजय प्राप्त की। यह रास-वर्णन सब भागवत का सार है। परमहंस शिरोमणि श्री 'शुकदेव जी' ने रास का वर्णन परम प्रेम से किया है, अतएव परमहंसों को भी आदर से उसका श्रवण करना चाहिये। श्रीमद्भागवत भक्ति-रस प्रधान और शांति-रस प्रधान है। इसमें शुकदेव जी ने प्रसंगोपांत शृंगाररस की अवतारणा करके निवृत्तिमार्ग का ही अपना गूढ़ सिद्धांत प्रकट किया है। **श्री वल्लभाचार्य** जी ने अपनी 'सुबोधिनी' नाम की टीका में 'रासपंचाध्यायी' के विषय में बहुत अच्छा विवेचन किया है। मूल भागवत में ही परीक्षित ने रासपंचाध्यायी के विषय में शंका उठायी है और शुकदेव जी ने उसका समाधान दो प्रकार से किया है। एक प्रकार तो लोक-रीति के अनुसार है और दूसरा वस्तु-स्थिति के अनुसार है। श्री वल्लभाचार्य जी भागवत में ही वर्णित इन दोनों प्रकारों को लक्ष्य करके कहते हैं कि भगवान् सर्व-समर्थ और अंतर्यामी हैं। उनको किसी प्रकार का बंधन होता ही नहीं है। वे क्रीड़ा करने के लिये पुरुष देह धारण करते हैं। उनकी इस लीला में किसी प्रकार का लौकिक काम नहीं और जो कोई श्रद्धा से भगवद्-लीला का श्रवण करेगा वह अल्प समय में ही परा-भक्ति प्राप्त करके काम रूप हृदय-रोग से मुक्त होगा।[1]

श्री वल्लभाचार्य जी के मत से भागवत में जो रासलीला का वर्णन आया है वह 'सारस्वत कल्प' की रासलीला है। भगवान् की समस्त लीलाओं में ऐतिहासिक और रूपक इन दोनों दृष्टियों का मिलना सहज है। भगवान् की प्रत्येक लीला का प्रयोजन होता है। भगवान् का प्राकट्य सबके उद्धार के लिये होता है और विशेषतः निस्साधन जीवों के उद्धार के लिये। भगवान् निस्साधन पुरुषों का उद्धार किस प्रकार करते हैं—यह दिखलाने का प्रयोजन ही रासलीला है। गोपियों के समान साधन-रहित जनों का उद्धार करके भगवान्—'पुष्टिमार्ग' (कृपामार्ग) का उपदेश करते हैं और गोपी भगवान् के इस कृपा-मार्ग का प्रवर्तन करती हैं अतएव पुष्टिमार्ग की गुरु मानी जाती हैं।

शुद्धाद्वैत वेदांत में भगवान् का स्वरूप रसात्मक माना जाता है। सब रसों का अंतर्भाव शृंगाररस में होने से भगवान् शृंगार-स्वरूप हैं। जो रसात्मक काम है वह अत्यंत गूढ़ है और उससे 'काम-शास्त्र' तथा 'नाटच-शास्त्र' प्रवृत्त हुए हैं, अर्थात् काम-शास्त्र एवं नाटच-शास्त्र केवल भगवान् के लिये ही हैं। गोपीजनों की निर्दोषिता और श्रेष्ठता भगवान् ने स्वयं कई बार स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है और उद्धव समान ज्ञानी भक्त तो गोपीजनों के चरण में गिर कर कहने लगे थे—

"वंदे नंदव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।

—भागवत १०।४७।६३

रासलीला को वास्तविक प्रसंग मान करके शब्द और तर्क-प्रमाण से उसकी पवित्रता सिद्ध की गई है। रूपक की दृष्टि से भी यह कथा निर्दोष है, ऐसा सिद्ध होता है। इस लीला का सर्वथा गान और श्रवण अलौकिक भजनानंद का अनुभव कराता है।

रासलीला का रूपक की दृष्टि से विचार प्राचीन काल से ही होता आया है। सब वेद भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं—इस सिद्धांत को ही दरसाने के लिये रासलीला का प्रसंग है। गोपियाँ वेद की ऋचाएँ हैं और जिस प्रकार शब्द तथा अर्थ का संबंध नित्य है उसी प्रकार ऋचा रूपी गोपियों और भगवान् का संबंध भी नित्य है। इसी का नाम 'नित्य रासलीला' है।

[1]. **क्रिया सर्वत्र सैवापि परं कामो न विद्यते ।**

भगवान् परमात्मा हैं, अंतर्यामी हैं और गोपियाँ प्रकृति हैं, अंतःकरण की वृत्तियाँ हैं—यह मान करके भी रासलीला का रहस्य रूपक की दृष्टि से समझा जा सकता है। रासलीला ब्रह्मानुभव का रहस्य प्रकट करती है। परमात्मा के साथ अनेकों संबंध बाँधकर जीवात्मा भगतस्वरूप प्राप्त करता है। यह संबंध काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता और भक्ति से सिद्ध होता है। अतएव रासलीला इस जीवात्मा का परमात्मा के साथ का घनिष्ट संबंध प्रकट करती है।

ऋग्वेद में विष्णु देवता के जो विशेषण हैं वही आगे भक्ति-संप्रदायों में कृष्ण के लिए प्रयोग किये गये हैं। कृष्ण वैदिक विष्णु एवं सूर्य के विकसित स्वरूप हैं। सूर्य अखिल चराचर विश्व की आत्मा हैं अतएव वे विश्व के आधार और मध्यबिंदु बने हुए हैं तथा विश्व उनके चारों ओर फिरता है। इसी बात को श्रीकृष्ण की रासलीला का स्वरूप दिया गया है। रासलीला तो मनुष्य तथा विश्व का परमात्मा के साथ का संबंध प्रकट करती है।

कृष्ण सूर्य हैं और गोपीजन किरण हैं। सूर्य की किरणें सूर्य में रहती हैं, सूर्य में से बाहर निकलती हैं और फिर सूर्य में ही प्रवेश कर जाती हैं। सूर्य गोलाकार है और सर्वदा गतिवान् है। यही सुंदर रहस्य रासलीला में सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन तत्त्व-चिंतकों ने रासलीला की उदात्त भावना का विचार किया है। रासलीला की भावना काव्य की दृष्टि से और तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से अत्यंत भव्य और सुंदर है। अतएव इसका स्थान साहित्य और तत्त्व-ज्ञान के इतिहास में चिरंतन है।

—अनु० श्री अनंतराम नागर

रास के पद्

राग-भैरव

मॉंन लाग्यौ, गिरिधर गावै।
ता-ता-थेई, ता-ता थेई, ता ता ता थेई-थेई, भैरों राग-मिलि मुरली बजावै ।।
नाँचत नव बृषभाँन-दुलारी, औघर गति में गति उपजावै।
गिरिधर-पिय-प्यारी की पद-रज, 'कृष्णदास' लै सीस चढ़ावै ।।

ॐ

प्यारी भुज-ग्रीवा मेलि निरतत पिया सुजाँन।
मुदित परसपर लेति गति में गति, गुन-रास राधे गिरिधरँन गुन-निधाँन ।।
सरस मुरली-धुनि मिलै मधुर सुर, रास-रँग-भींने गावें औघर ताँन-बधाँन।
'चतुरभुज' प्रभु स्याँमाँ-स्याँम की नटँन देखि, मोहे खग, मृग बन, थकित ब्योंम-बिमाँन ।।

राग-रामकली

देखौ, देखौ री नागरनट, निरतत कालिंदी-तट, गोपिन के मध्य राजै मुकट लटक।
काछिनी, किंकनी, कटि पीतांबर की चटक, कुंडल किरँन रबि-रथ की अटक ।।
ता-ता-थेई, ता-ता-थेई सबद सकल उघटत, उरप-तिरप गति पग की पटक।
रास में श्री राधे राधे मुरली में एक रट, 'नंददास' गावै तहाँ निपट निकट ।।

राग-टोड़ी

रुचिर रमित रुचि रासम्।
कुसुमित काँनन द्रुम, बेली अति, निज कृत उड़प प्रकासम् ।।
जुवती जुगल जुगल-प्रति माधौ, करत बिनोद बिलासम्।
बेंनु, मृदंग, मंजीर, किंकिनी, क्वनित मधुर मृदु हासम् ।।
जमुना-तीर, भीर खग-मृग की, मंद समीर सुवासम्।
बरखत कुसुम इंद्र-सुर धावत, संकर तजि कैलासम् ।।
निरख नैंन छबि मुरझ्यौ मनमथ, लोचँन पदम-पलासम्।
'बिस्नुदास' प्रभु गिरिधर क्रीड़त, कथा-कथित सुक-ब्यासम् ।।

राग-नट

नागरी, नट-नाराइन गायौ।
ताँन, माँन, बंधाँन सप्त सुर, राग सों राग मिलायौ ।।
चरँन घूंघरू जंत्र भुजँन पर, नींकौ झँमक जमायौ।
'ब्यास' स्वाँमिनी धन-धन श्री राधे, रास में रंग-रचायौ ।।

राग-पूर्वी

निरतत गोपाल लाल, तरनि-तनय-तीरे।
जुबती-जन संग लिऐं, मनमथ-मन करखि किऐं अंग-अंग सुखद किऐं, राजत बल-बीरे ।।
लावन-निधि गुन-आगर, कोक-कला गुन-सागर, त्रिबिध-ताप हरत भरत सीतल समीरे।
'आसकरन' प्रभु मोंहन नागर गुन-निधाँन, संगीत-सार रिझवत ब्रज-बधू नागर फरकत पटपीरे ।।

रीतिकाल : पृष्ठ-भूमि

श्री सत्येंद्र

किसी भी युग के साहित्य का सृजन उस युग की भूमि पर होता है। कवि युग में रहता है। उसकी मुक्त-दृष्टि उस काल की ठोस परिस्थितियों के चक्र में होकर ही ऊपर उठती है। रीति-काल के कवियों का हिंदी-साहित्य में एक विशेष स्थान है। वीर-गाथा-काल के कवियों ने वीर-पुरुषों की प्रशस्तियाँ प्रस्तुत कीं। उनका उस समय यह धर्म था कि राजा और राजनीति की दृष्टि से उस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करें। वे वीर-पूजा के भाव से उद्वेलित थे, ऐसा कहा जा सकता है। संत-कवियों, सूफी-प्रेम-गाथाकारों तथा कृष्ण और राम के भक्त-कवियों ने जो रचनाएँ रचीं उनका उद्देश्य अत्यंत स्पष्ट है। वे सृष्टि के मर्म और जीवन को समझ कर उनके पारस्परिक संबंध का निर्देश करना चाहते थे, जीवन के लिए एक आदर्श देना चाहते थे। ऐसे जीवन-संदेश देने वाले महान् युग के पश्चात् यह रीति-काल! इसका क्या उद्देश्य था?

यह 'काल' रीतिकाल कहा जायगा, ऐसा ज्ञान इस युग के रचयिता कवियों को नहीं था। रीतिकाल से पूर्व के काव्य-आदर्शों को प्रस्तुत करने का जैसे एक विधिवत व्यवस्थित आंदोलन था, इस काल के कवियों के लिए वैसा कोई आंदोलन भी किसी महापुरुष ने—किसी महात्मा वा अवतार जैसे—आचार्य वल्लभ अग्नि के अवतार हैं, ने नहीं किया था। जैसे अपने आप ही कोई पौधा ऊग आता है, उसी प्रकार उस काल की भूमि में से यह रीतिकाल उदय हुआ और एक दीर्घ काल तक पोषित और पल्लवित हुआ, क्यों हुआ? वह भूमि कैसी थी? यह हमें अध्ययन करने की आवश्यकता है। बिना आंदोलन के, बिना किसी नेता के आदेश और निर्देश के स्वयमेव जो वस्तु उदय हो जाय, उसकी जड़ें गहरी ही होनी चाहिये। आज के समालोचक इस कार्य पर एक अनोखी दृष्टि से विचार करते हैं। वे कहते हैं कि यह काव्य कृत्रिम-अभिजात्य काव्य है, स्वाभाविक नहीं, अतः सूर और तुलसी तो युग की भावनाओं को प्रकट और अभिव्यक्त करने वाले—उस युग की आकांक्षाओं को रूप देने वाले प्रगतिवादी कवि हैं, बिहारी और देव वैसे कवि नहीं। रीति-कालीन कवियों ने प्रगति-गामी-काव्य और समाज को तथा जन को पतन की ओर प्रवृत्त किया है। इस दृष्टि का पोषण सर्वत्र ही हुआ है। हमें इस दृष्टि के मर्म को भी समझने की आवश्यकता है, क्योंकि 'सूर' और 'तुलसी' तथा 'कबीर' जो सामयिक आंदोलन के प्रवाह और दबाव में लिख रहे थे, स्वाभाविक और प्रगतिवादी-काव्य के रचयिता हुए और क्यों सहज रूप से, बिना किसी आंदोलन और दबाव के जो रचनाएँ की गयीं वे अस्वाभाविक और अप्रगतिगामी हुईं। इसके लिए इतिहास को, काव्य की पृष्ठ-भूमि को समझने की आवश्यकता है।

इतिहास यह बात बतलाता है कि जन-जीवन के इतिहास के युगों में जो परंपरा मिलती है वह एक की दूसरे के प्रतिक्रिया के रूप में होती है। वैदिक-कर्म-कांड के विरुद्ध बौद्ध और जैन-धर्मों का उदय हुआ और अहिंसा का युग प्रतिष्ठित हुआ। इस बौद्ध-युग की प्रतिक्रिया ब्राह्मण-युग में हुई। इसी प्रकार सर्वत्र। फलतः 'रीतिकाल' भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिये—और वह है भी। भक्तिकाल में प्रेम को जन-जीवन के व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया, उसे अपने से इतर पुरुष—निर्गुण अथवा सगुण के लिये समर्पित कर दिया, उसकी अपनी भावना का अपने ही हाड़-मांस के लिए कोई भी स्थान और उपयोग नहीं रहा।

भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावों में उत्ताल गति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट-दशा सदा नहीं बनी रह सकती, न सदा रुचिकर ही हो सकती है। रीति-काव्य ने उसी प्रेम-तत्त्व को दिव्य धरातल से उतार कर शरीर—हाड़-मांस में अनुरक्त कर दिया, यह एक प्रतिक्रिया थी। ईश्वर में से उन्होंने ईश्वरत्व निकाल कर अपने जैसा नग्न मानव नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।

आंदोलन में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की ओर विशेष आकर्षण होता है, प्रत्येक आंदोलन पूर्ण-मानव के लिए नहीं उठ सकता, वह उसके किसी अंश को संतुष्ट करने के लिए प्रवृत्त होता है। फलतः मल-मानव कभी इन आंदोलनों का विषय नहीं बनता। शाश्वत और कुछ नहीं, मूल-मानव ही है। यही युग-युग में समान रहता है। आंदोलन केवल युग-धर्म को, एक विकार को अथवा एक हानि को प्रस्तुत करता है। वह जब सफल अथवा विफल हो जाता है तो शाश्वत-तत्त्वों की ओर पुनः दृष्टि जाती है और मानव कुछ विराम की ओर आकृष्ट होता है। इसी मनोदशा में रीतिकालीन-साहित्य की प्रेरणा निहित है। प्रत्येक साहित्यक अभिव्यक्ति अपने लिए कोई न कोई रूप चाहती है। भक्तिकाल ने बहुधा प्रबंधात्मकता को प्रश्रय दिया। वह सर्ग-बद्ध रही हो, जैसे—'रामचरित-मानस' में, अथवा खंड-खंड रही हो, जैसे—'सूर-सागर' में। भक्ति-काव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया, शैली को गौण स्थान मिला। रीतिकाल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया। ये कुछ अत्यंत स्थूल और स्पष्ट बातें है, जो यह प्रकट करती है कि रीतिकाल में भक्तिकाल की प्रतिक्रिया हुई। रीतिकाल भक्ति-काल के ह्रास का विकृत रूप नहीं था। इसे और भी स्पष्ट करने के लिये हम यों तुलना कर सकते हैं—

१, भक्ति-काल 'कृष्ण भगवान' को नायक मानता है।	**१, रीति-काल नायक को 'कृष्ण' मानता है।**
२, भक्ति-काल नायक को 'भगवान् ब्रह्म मानता है।	**२, रीति-काल नायक को 'मनुष्य' मानता है।**
३, भक्ति-काल संप्रदाय और आंदोलन का परिणाम है।	**३, रीति-काल असंप्रदायिक तथा स्वभाविक है।**
४, भक्ति-काल प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप देता है।	**४, रीति-काल प्रेम को रति, स्त्री-पुरुष की साधारण स्वभाविक ऐंद्रिक रति के रूप में ग्रहण करता है।**
५, भक्ति-काल प्रेम को अभोग्य, ब्रह्म-समर्पणीय मानता है।	**५, रीति-काल प्रेम को भोग्य और ऐंद्रिक विषय मानता है।**
६, भक्ति-काल सिद्धांत और दर्शन के आधार पर खड़ा होता है।	**६, रीति-काल जीवन को ऐसे किसी माध्यम से नहीं देखना चाहता।**
७. भक्ति-काल विषय और वस्तु को महत्व देता है।	**७, रीति-काल शैली और रूप को महत्व देता है।**
८, भक्ति-काल उपयोगितावादी है।	**८, रीति-काल कलावादी है।**
९. भक्ति-काल प्रबंधात्मकता की ओर आकृष्ट है।	**९, रीति-काल सर्वथा मुक्तक है।**

इस प्रकार और भी तुलना के विषय मिल सकते हैं, जो एक दूसरे के विरुद्ध-स्थिति अभिव्यक्त कर सकते हैं। अतः रीति-काल भक्ति-काल की प्रतिक्रिया तो है ही; हमें उसकी अन्य ऐतिहासिक स्थिति को भी समझ लेना है।

अस्तु, इस काल की ऐतिहासिक प्रवृत्ति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल का आरंभ मुगल-साम्राज्य के वैभव के संपन्न होने के युग में हुआ था। यों तो इस रीतिकाल का बीजारोपण करने के लिये महाकवि 'केशवदास' 'अकबर' के समय में हुए[1], ठीक उस काल में जब भक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी और सूर-तुलसी जैसे महान् कवि अपनी रचना से काव्य को वह स्थान प्रदान कर रहे थे, जो किसी भी साहित्य को कठिनाई से ही मिला करता है। तुलसी और सूर स्वतंत्र कवि थे, केशव राजदरवार के कवि थे। अकबर का समय धार्मिक और साहित्यिक पुनराहरण का युग कहा जा सकता है। इस पुनराहरण में संस्कृत-भाषा के पुराण और धार्मिक ग्रंथों का ही अध्ययन और अनुवाद नहीं हुआ, काव्य-ग्रंथों की ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। केशवदास ने 'अलंकारवादी' संस्कृत आचार्यों का अनुकरण किया। अब उनकी शास्त्रीय रचना के प्रधान आधार 'दंडी' का 'काव्यादर्श', 'अमर' की "काव्यकल्पलतावृत्ति' और 'केशवमिश्र' का 'अलंकार-शेखर' है। आगे के रीतिवादी आचार्यों ने भी संस्कृत-आचार्यों से प्रेरणा और सामिग्री ली। यह पुनराहरण भी इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक स्थिति, व्यवस्था और शांति के अनुकूल होती जा रही थी। आगे दो-तीन पीढ़ियों तक यह व्यवस्था और शांति बनी ही रही; यह स्वाभाविक ही था कि पूर्वकालीन आंदोलनों का वेग आगे चलकर मंद पड़ जाता है, यही हुआ भी। इसी कारण कवियों का ध्यान दूसरी ओर गया। राज्य की व्यवस्था ठीक हो जाने पर राजा में पुनः श्रद्धा लौटी, उनके दरवारों में फिर ऐश्वर्य की भीड़ होने लगी। ऐतिहासिक जीवन में जो पतवार जनता के हाथ में चली गयी प्रतीत होती थी, वह पुनः राजाओं के हाथ में आ गयी। भक्ति-आंदोलन जीवन की वैषम्य-पूर्ण दशा का द्योतक था; रीतिकाल में जीवन में सौम्य-दशा लौटी तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गयी। अब साहित्य माध्यम नहीं रहा, अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की मांसल-छवि या सौंदर्य का निरूपण। इसके लिये उसे वैसे ही अलंकार-रस जैसे काव्य-साधन और उक्तियों का आश्रय लेना पड़ गया।

१. ब्रजभाषा-रीतिकाल की नीम संस्कृत के सुदृढ़ रीति-ग्रंथों के आधार पर केशव के बहुत पहिले पड़ चुकी थी। अब तक की खोज से प्राप्त प्राचीन रीति-विषयक ग्रंथ कृपाराम की हित-तरंगिणी (सं० १५४२ वि०) का उल्लेख किया जाता है। यह ग्रंथ 'भरतमुनि' के प्रसिद्ध 'नाटय-शास्त्र' के आधार पर बना। जैसे—

"कृपाराम यों कहत हैं, भरत-ग्रंथ अनुमान।।"

इसके बाद उदाहरण और लक्षण के ग्रंथों में ब्रजभाषा-साहित्य के सूर्य भी सूरदास की 'साहित्य-लहरी' (सं० १६०७ वा सं० १६१७) का नाम लिया जाता है। श्री सूर का यह लक्षण ग्रंथ न होकर उदाहरण ग्रंथ है। 'स्वकीया, परकीया, स्वकीया के अंतर्गत मुग्धा, मुग्धा के दो भेद—ज्ञात और अज्ञात यौवना, फिर मध्या और प्रौढ़ा, तदनंतर धीरा, ज्येष्ठा-कनिष्ठा, परकीया के—ऊढा-अनूढा भेद के बाद 'सुरतिगुप्ता', विदग्धा, लक्षिता, मुदिता और अनुशयाना के बाद 'अन्य सुरति-दुःखिता, गर्विता, मानवती, प्रोषितभर्त्तृका, खंडिता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारका, पतिगमनी, आगतपतिका और कलहांतरितादि नायिकाओं के उदाहरण लिखे हैं। श्री सूर के बाद 'पोहकर' कवि का 'रसरत्नाकर' (सं० १६१३), लक्ष्मीचंद और मोहनलाल कवि के 'शृंगार-सागर' (सं० १६१६), महाकवि नंददास (अष्टछाप) की रसमंजरी (सं० १६२०), कविंद्र की 'कल्पलतावृत्ति' (सं० १६२२), निवाजी और किसी अज्ञात कवि रचित 'विक्रम-विलास' तथा 'रसमंजरी' (सं० १६४०), गोपाल कवि का 'रसविलास' (सं० १६४४), अबुर्रहीम (रहीम) खानखाना का 'बरवैनायिका भेद' तथा 'नगर शोभा वर्णन' (सं० १६४५), वृंदकवि की 'भाव पंचाशिका (सं० १६४६) और निधान कवि का 'जसवंत-विलास' तथा किन्हीं नरेश कवि का 'नायिका-भेद (सं० १६४७) बन चुके थे।

कोई भी साहित्य बिना आवश्यकता के नहीं पनप सकता, कम से कम उसका युग दीर्घ नहीं हो सकता। रीतिकाल दीर्घ काल है। इस काल में अनेकों कवि हुए। इनमें से अधिकांश राज्याश्रय में रहे, किंतु इनका काव्य सर्वत्र फैला और समादृत हुआ। बिहारी की 'सतसई' पर इतनी टीकाओं का निर्माण यह सिद्ध करता है कि इस रीति-युगीन-साहित्य को गंभीर दृष्टि से अध्ययन का विषय बनाने का एक महत-उद्योग होता रहा। फिर भी प्रश्न यह है कि यह ऐसा अगति-वादी साहित्य क्यों इतना अनिवार्य रहा?

साधारण जन के जीवन में प्रत्येक भाव-धारा अपना एक विशेष स्थान रखती है। वह केवल न भक्त हो सकता है, न केवल वीर। ये उसके जीवन में अपना स्थान रखते हैं, पर इनकी सीमाएँ भी हैं। इस जीवन में उसे मनोरंजन, भक्ति-चमत्कार और ऐंद्रिक-सौंदर्य-विषय की भी आवश्यकता है। इसी रीति-साहित्य ने उसकी इस आवश्यकता को पूर्ण किया। यह रचना बिना काव्य-शिक्षा के नहीं हो सकती थी, यह केवल आत्मानुभूति का उद्गार नहीं थी कि जिस रूप में भी प्रकट हो जायगी उसीमें ग्राह्य हो सकेगी, इसकी सहायता के लिये संगीत भी नहीं आ सकता था। इसे तो अपने रूप की व्यवस्था स्वयं करनी थी। इस आवश्यकता ने साहित्य-शास्त्र की रीति को आवश्यक बना दिया। ये दोनों बातें युग-धर्म बन गयीं। यही कारण है कि इस काल में दोनों प्रकार के कवि मिलते हैं, एक वे जो आचार्य भी हैं, दूसरे वे जो केवल कवि ही हैं। इनकी कविताएँ भी दो प्रकार की हुई। एक रीति-युक्त और दूसरी रीति-मुक्त। रीति-काल के अध्ययन का यह भी एक रूप है।
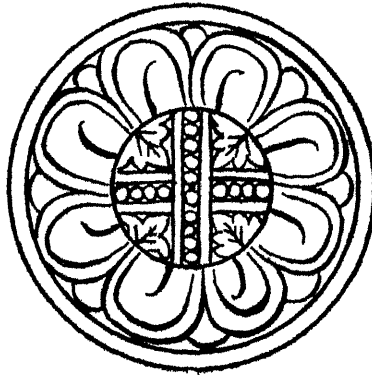
ब्रजभाषा का नायिका-भेद

श्री राकेश गुप्त

ब्रजभाषा-साहित्य का नायिकाभेद अनेक साहित्यिक एवं असाहित्यिक परंपराओं का विकसित रूप है। अतएव इसकी आत्मा तक पहुँचने के लिये उन आधारभूत परंपराओं का, जिन्होंने इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, सम्यक् अध्ययन नितांत आवश्यक है।

नायिकाभेद का विषय सबसे पहले हमें 'नाटचशास्त्र' और 'कामशास्त्र' विषयक ग्रंथों में मिलता है। इन दोनों विषयों के सर्वप्रथम प्राप्य ग्रंथ 'भरत' का 'नाटचशास्त्र' तथा 'वात्स्यायन' का 'कामसूत्र' है। जैसा कि इन ग्रंथों में प्राप्त निर्देशों से ही स्पष्ट है। इन में से प्रत्येक अपने विषय का सर्वप्रथम ग्रंथ न होकर एक प्राचीन परंपरा का अत्यंत प्रौढ़ एवं विकसित रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यद्यपि इन ग्रंथों के रचना-काल के संबंध में विद्वानों में मत-भेद है, पर सामान्यतः हम इनका समय ईस्वी सन् के प्रारंभ के आस-पास मान सकते हैं। इन दोनों ग्रंथों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय के विभेद के कारण इनमें नायिका-भेद की रचना भी दो विभिन्न एवं स्वतंत्र दृष्टिकोणों से हुई है।

भरत का 'नाटचशास्त्र' अभिनय-संबंधी ग्रंथ है। इसमें नायक एवं नायिकाओं का वर्णन नाटकीय पात्रों के रूप में किया गया है। भरत ने यद्यपि शील, स्वभाव[1] तथा सामाजिक-स्थिति[2] के आधार पर अनेक प्रकार की स्त्रियों का कथन किया है, पर शुद्ध नायिकाभेद के रूप में उन्होंने केवल आठ प्रकार की नायिकाओं का ही वर्णन किया है[3]। भरत-कृत प्रत्येक भेद का लक्ष्य, चाहे वह स्त्रियों का हो चाहे नायिकाओं का, स्पष्ट रूप से नाटकीय दृष्टि से पात्रों की ही विभिन्न प्रवृत्तियों, स्थितियों एवं स्तरों का निर्देश करना है। भरत का यही दृष्टिकोण उन्हें उनके परवर्ती आचार्यों से अलग करता है। इसका अकाटच प्रमाण यह है कि यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथ में रस का भी विस्तृत विवेचन किया है, पर नायक एवं नायिकाओं का कथन उन्होंने शृंगार रस के आलंबन विभाव के अंतर्गत नहीं किया; उससे बहुत दूर ग्रंथ के अंतिम अध्यायों में नाटकीय पात्रों की चरचा करते हुए ही किया है।

वात्स्यायन के "कामसूत्र' में स्त्री-पुरुष अथवा नायक-नायिकाओं के जिन भेदों का कथन है, उनका आधार मानव की काम-भावना अथवा उसीसे संबंधित अन्य कोई विषय है। मनुष्य की काम-वासना को अदम्य मानकर उसकी तृप्ति के लिये समाज ने विवाह नाम की संस्था स्वीकृत की है, पर मनुष्य की प्रवृत्ति सदैव स्वीकृत मार्ग पर ही नहीं चलती; फल-स्वरूप पुरुष और स्त्री के बीच में कुछ ऐसे संबंधों की सृष्टि होती है, जिनके अस्तित्व को, समाज के लिये अश्रेयस्कर मानते हुए भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते। पुरुष का इस प्रकार का संबंध जिन स्त्रियों से हो सकता है उन्हें वात्स्यायन ने चार वर्गों में विभाजित किया है—कन्या, पुनर्भू, वेश्या तथा परस्त्री।

1. शील के आधार पर भरत ने स्त्रियों के देवशीला, असुरशीला आदि बाईस भेद किये हैं। स्वभाव अथवा प्रवृत्ति के आधार पर उन्होंने स्त्रियों के उत्तमा मध्यमा तथा अधमा ये तीन भेद किये हैं।

2. स्त्रियों के वेश्या, कुलजा, प्रेष्या, तथा महादेवी, देवी, अनुचारिका आदि भेद उनकी सामाजिक स्थिति अथवा स्तर के आधार पर हैं।

3. नायिकाओं के आठ भेद ये हैं—वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका।

वात्स्यायन-द्वारा किया गया यह विभेद कुछ परिवर्तित रूप में साहित्य-शास्त्र के परवर्ती आचार्यों-द्वारा प्रमुख नायिका-भेद के रूप में गृहीत किया गया है। 'कामशास्त्र' के ग्रंथों में इस भेद के अतिरिक्त शरीर-रचना,[१] मानसिक-आवेश[२] तथा कामेच्छा-काल[३] के आधार पर भी स्त्री-पुरुषों के भेद किये गये हैं। पर ये भेद नायिका-भेद के साहित्यिक आचार्यों-द्वारा प्रायः स्वीकृत नहीं किये गये[४]। वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ में नायक और नायिका को मिलाने में सहायता देने वाले दूत और दूतियों का भी विस्तृत वर्णन किया है तथा उनके कार्य एवं गुणों के संबंध में भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

काव्यशास्त्र में नायिकाभेद के विषय का ग्रहण सर्वप्रथम 'अग्निपुराण' के लेखक-द्वारा किया गया है। इस ग्रंथ में नायक-नायिका भेद संबंधी विषय का प्रतिपादन अत्यंत संक्षिप्त होते हुए भी[५] मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है। नायक और नायिका को, जिनका अब तक रस से कोई संबंध नहीं था, अग्निपुराण के लेखक ने शृंगार-रस के आलंबन-विभाव के अंतर्गत रखकर काव्य-शास्त्र में एक ऐसी परंपरा को जन्म दिया जो आजतक अक्षुण्ण है। आश्चर्य की बात तो यह है कि नाट्यशास्त्र-संबंधी ग्रंथों के लेखकों ने भी इस परंपरा को निर्विरोध रूप में स्वीकार कर लिया। यद्यपि नाटक के नायक की दृष्टि से किये गये नायक के चार प्रमुख भेदों का[६] शृंगार रस अथवा उसके आलंवन-विभाव से कोई सीधा संबंध नहीं है।

अग्निपुराण के पश्चात् संस्कृत के काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र-संबंधी अनेक ग्रंथों में नायिका-भेद के विषय का प्रतिपादन किया गया। इन ग्रंथों के लेखकों ने अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार भरत, वात्स्यायन तथा अपने पूर्ववर्ती अन्य आचार्यो का आधार ग्रहण करते हुए इस विषय का अपने मौलिक योग-द्वारा संवर्द्धन एवं विकास किया[७]। इस विकास की चरम सीमा हमें 'भानुदत्त' मिश्र-कृत 'रसमंजरी' तथा 'विश्वनाथ-कृत' 'साहित्य-दर्पण' में दृष्टिगोचर होती है।[८]

इस प्रकार लगभग सौ वर्षों तक नायिका-भेद की यह धारा काम अथवा शृंगार-संबंधी मनोविज्ञान से अनुप्राणित होकर तथा नाट्यशास्त्र एवं कामशास्त्र के उपकूलों का अभिसिंचन करती हुई अपने शुद्ध शास्त्रीय रूप में प्रवाहित होती रही, पर इसके पश्चात् १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ में इसका मिश्रण एक दूसरी अत्यंत बलवती धारा से हुआ और परिणाम स्वरूप इसने एक सर्वथा नवीन रूप धारण किया। वह दूसरी धारा थी कृष्ण-केलि-वर्णन की। सामग्री तथा विषय-प्रतिपादन के दृष्टिकोणों में विभिन्नता

१. शरीर-रचना के आधार पर स्त्रियों को पद्मिनी, चित्रणी, शंखनी, हस्तिनी में अथवा मृगी, बड़वा, हस्तिनी में तथा पुरुषों को शशक, वृष, अश्व में विभाजित किया गया है।

२. मानसिक आवेश के आधार पर दोनों को मंदवेग, मध्यमवेग तथा चंडवेग में विभाजित किया गया है।

३. कामेच्छा-काल के आधार पर दोनों को शीघ्र, मध्य तथा चिरकाल में विभाजित किया गया है।

४. कुछ हिंदी-आचार्यों ने इन भेदों का भी कथन किया है।

५. अग्निपुराण में नायिका-भेद के संबंध में केवल निम्नांकित एक श्लोक है।

"स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिका।
सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या बहु भेदतः॥" ३३९।४१

६. नायक के चार प्रमुख भेद ये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरशांत।

७. नायिकाभेद की विकास-परंपरा में निम्नांकित ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं—१ रुद्रट कृत काव्यालंकार (नवीं शताब्दी), २. रुद्रभट्ट कृत शृंगारतिलक (ग्यारहवीं शताब्दी), धनंजय कृत दशरूपक (ग्यारहवीं शताब्दी), ४ सरस्वती-कंठाभरण तथा ५ शृंगार-प्रकाश भोजकृत (ग्यारहवीं शताब्दी)। विषय-प्रतिपादन में सबसे अधिक मौलिकता यद्यपि भोज के ग्रंथों में मिलती है, पर भोज का अनुकरण किसी भी पश्चवर्ती लेखक-द्वारा नहीं किया गया।

८. इन ग्रंथों की रचना ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुई।

होते हुए भी इन दोनों धाराओं में एक बहुत बड़ी समानता थी–शृंगार संबंधी विविध परिस्थितियों का चित्रण।

कृष्ण-केलि-वर्णन की धारा का उद्‌गम खोजने के लये जब हम अतीत की ओर बढते हैं तो महाभारत के खिल-पर्व अथवा हरिवंश-पुराण पर पहुँच कर हमें रुक जाना पड़ता है। हरिवंश के अतिरिक्त पद्म, विष्णु, भागवत तथा ब्रह्मवैवत पुराणों में भी कृष्ण की शृंगार-क्रीडाओं का वर्णन है[1]। इन पुराणों में कृष्ण और गोपियों को लेकर शृंगार-संबंधी जिन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उनकी एक संक्षिप्त सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है—

१. हरिवंश पुराण—

शरद पूर्णिमा की रात्रि को कृष्ण के मन में गोपियों के साथ हल्लीश-क्रीडन की इच्छा,-गोपियों का अपने पति आदि के वर्जन करने पर भी परकीया नायिकाओं के रूप में कृष्ण से मिलन—रति का संकेत से वर्णन तथा रति के बाद की शारीरिक अवस्था का वर्णन।

२. पद्म पुराण—

नित्य वृंदावन में कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति तथा आद्या प्रकृति के रूप में राधा का वर्णन।

३. विष्णु पुराण—

कृष्ण की गोपियों के साथ रास-क्रीडा करने की इच्छा, गोपियों का आतुरता-पूर्वक आगमन, कृष्ण के अदृश्य होने पर गोपियों की व्याकुलता और निराशा, रासक्रीडा के पश्चात् गोपियों-द्वारा कृष्ण का आलिंगन और चुंबन, कृष्ण के मथुरा जाते समय प्रवत्स्यत्प्रेयसी के रूप में गोपियों का वर्णन, विरह की अवस्था में पीडित और निराश गोपियों के द्वारा कृष्ण के प्रति तीखे व्यंग।

४. भागवत पुराण—

बालक कृष्ण के प्रति गोपियों के मन में अनुराग का क्रमशः विकास, कृष्ण का दर्शन प्राप्त करने के लिये बेचैनी, कृष्ण की वंशी के प्रति गोपियों का ईर्ष्या पूर्ण सपत्नी-भाव—गोपियों-द्वारा कृष्ण को वरण करने की इच्छा से कात्यायनी देवी की पूजा—यमुना में स्नान करती हुई गोपियों के वस्त्रों का कृष्ण-द्वारा हरण, कृष्ण के आग्रह से गोपियों का उनके समक्ष दिगंबर रूप में उपस्थित होना।

कृष्ण की वंशी का रव सुनकर पिता, पति, भाई के द्वारा रोके जाने पर भी गोपियों का कृष्ण के पास पहुँचना—कृष्ण-द्वारा गोपियों का आलिंगन—जंघा, नीवी आदि का स्पर्श—नखक्षत, गोपियों के गर्व-शमन के लिये कृष्ण का अदृश्य होना, गोपियों की व्याकुलता—कृष्ण के चरण-चिन्हों के साथ एक अन्य गोपी के चरण-चिन्हों को देखकर ईर्ष्या, कृष्ण के प्रकट होने पर उनकी गोपियों के साथ रास-लीला, रास-लीला के पश्चात् जल-विहार तथा वन-विहार।

विरह-पीडित गोपियों को सांत्वना देने के लिये उद्धव का ब्रज में आगमन, प्रेममयी गोपियों-द्वारा कृष्ण के प्रेम की अस्थिरता के प्रति नाना-प्रकार के व्यंग, कुरुक्षेत्र में गोपियों से भेंट होने पर कृष्ण-द्वारा गोपियों का आलिंगन।

५. ब्रह्मवैवर्त पुराण—

"भांडीर-वन में राधा और कृष्ण का विवाह, राधा-कृष्ण की रति का वर्णन, जल-विहार तथा वन-विहार के प्रसंग में अनेक बार गोपियों-द्वारा कृष्ण का वस्त्र-हरण, राधा-कृष्ण की रति का अनेक बार चित्रोपम वर्णन, राधा और गोपियों का विरह वर्णन।"

[1]. इन पुराणों का रचना-काल निर्धारित करना कठिन ही नहीं असंभव है, क्योंकि इनमें अनेक शताब्दियों तक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते रहे हैं। स्थूल रूप से इन सभी पुराणों का समय हम ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक मान सकते हैं।

ऊपर की सूची से यह स्पष्ट है कि पुराणकारों ने कृष्ण, राधा और गोपियोंको लेकर परकी-यत्व एवं स्वकीयत्व, संयोग एवं विरह से संबंध रखने वाली विविधि शृंगारी परिस्थितियों का चित्रण अत्यंत विस्तार-पूर्वक किया है। पुराणों का काल समाप्त होने के पश्चात् ईसा की ग्यारवीं शताब्दी मे हमारे देश में एक प्रबल वैष्णव भक्ति-संप्रदायों का प्रादुर्भाव होना प्रारंभ हुआ। इनमें से कुछ ने हरि अथवा नारायण अथवा राम की उपासना पर बल दिया और कुछ ने राधा और कृष्ण की। राधा और कृष्ण को जनता की भक्ति तथा प्रेम का आलंबन बनानेवालों में निंबाकाचार्य (११ वीं शताब्दी), माध्वाचार्य (१४ वीं शताब्दी), वल्लभाचार्य (१६ वीं शताब्दी) तथा चैतन्य महाप्रभु (१६ वीं शताब्दी) मुख्य हुए। इन्होंने पुराणों के आधार पर नारायण के वैकुंठ-लोक से भी ऊपर कृष्ण के 'गोलोक' की कल्पना की और इस लोक में कृष्ण की ब्रज की लीलाओं को नित्य रूप में माना। भगवान् के प्रति प्रेम तथा नित्य गोलोक में भगवान् की लीलाओं का आस्वाद ही इन्होंने जीवन का परम उद्देश्य माना।

इन धार्मिक एवं दार्शनिक आचार्यों की अथवा इनसे भी बहुत पहले से केवल धार्मिक रूप में चली आती हुई कृष्ण-भक्ति-परंपरा की प्रेरणा से अनेक श्रेष्ठ कवियों की वाणी राधा और कृष्ण के पौराणिक व्यक्तित्व को और भी अधिक मनोरम रूप में प्रस्तुत करने के लिये तत्पर हुई। अपनी कल्पना के द्वारा इन कवियों ने राधा, कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीलाओं में अनेक नवीन एवं हृदयस्पर्शी परिस्थितियों की उद्भावना की और इस प्रकार कृष्ण के शृंगारिक व्यक्तित्व के क्षेत्र को और भी अधिक व्यापक बनाया।

कृष्ण-काव्य की इस परंपरा का आरंभ कदाचित् ग्यारहवीं शताब्दी में उमापति की बंगला में लिखी गई रचनाओं से हुआ। बारहवीं शताब्दी में संस्कृत कवि जयदेव ने अपनी अमृतोपम मधुर वाणी में राधा और कृष्ण के विलास का अत्यंत सजीव चित्र उपस्थित किया। पता नहीं कि हिंदी के रीति-कालीन कवियों पर अश्लीलता का आरोप लगानेवाले आलोचकों की 'जयदेव' के सूक्ष्म विवरण-युक्त विपरीत रति-वर्णन के प्रति क्या भावना होगी। चौदहवीं शताब्दी में 'चंडीदास' ने प्रेमोन्माद की साकार प्रतिमा राधा की मर्म-भेदी व्यथा को शब्दों में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। पंद्रहवीं शताब्दी में विद्यापति[1] ने यौवन और शैशव की संधि पर खडी हुई राधा के अतुल सौंदर्य-संपदा तथा विलास-विभ्रम से पूर्ण व्यक्तित्व को सरस गीतों के सांचे में ढाल दिया।

चंडीदास और विद्यापति के बाद भी कृष्ण-काव्य की यह परंपरा बंगाल और मिथिला में कई शताब्दियों तक चलती रही। इस परंपरा के कवियों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि उन्होंने राधा को परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया। इस परंपरा के विरुद्ध 'सूरदास' ने सोलहवीं शताब्दी में राधिका के स्वकीयत्व की स्थापना करके उनका कृष्ण के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह भी करा दिया। फल-स्वरूप सूर की राधा में हमें प्रेम के उद्वेग और विकलता के दर्शन नहीं होते, इनके स्थान पर मिलती है एक गंभीरता। इस गंभीरता तथा इस अंतर्मुख प्रेम का विशेष परिचय हमें राधा की वियोगावस्था में कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् मिलता है, पर इस गंभीरता का यह अर्थ नहीं कि सूरदास ने राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार के चित्रण में किसी प्रकार का कार्पण्य दिखलाया है। नहीं, इस क्षेत्र में भी जितनी विविध परिस्थितियों की आयोजना उन्होंने की है, उतनी उनसे पहले किसी कवि ने नहीं की। रति के स्पष्ट वर्णन में भी वे अपने पूर्ववर्ती विद्यापति अथवा जयदेव से पीछे नहीं हैं—

[1]. पं० रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार 'विद्यापति' को हम भक्त-कवियों की परंपरा में नहीं रख सकते। संभव है, शुक्ल जी का यह कथन ठीक हो; पर कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विद्यापति की रचना को हम भक्त-कवियों की रचनाओं की परंपरा से किसी प्रकार भी अलग नहीं कर सकते।

"नवल गुपाल, नवेली राधा नये प्रेम-रस पागे ।
अंतर-बन-बिहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे ।।
सोभित सिथिल-बसँन मनमोंहन, सुखवत स्रम के पागे ।
मानहुँ बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारँन लागे ।।
—सूरसागर, दशम स्कंध, ६८६ वाँ पद (का०ना० प्र० सभा-संस्करण)

नायिका-भेद की शास्त्रीय-धारा को कृष्ण-केलि वर्णन की पौराणिक एवं काव्यमय धारा से मिलाने का महान् कार्य चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य 'रूप गोस्वामी' द्वारा सोलहवीं शताब्दी में हुआ[1]। उन्होंने अपने ग्रंथ 'भक्तिरसामृतसिंधु' में शांत, वात्सल्य, दास्य, सख्य तथा मधुर इन पाँचों की भक्ति-रस के अंतर्गत स्थापना की और मधुर अथवा शृंगार को भक्ति-रसों का सम्राट् मानते हुए अपने दूसरे ग्रंथ "उज्ज्वलनीलमणि' में इस रस की विस्तृत व्याख्या भी की थी। अतः उक्त रस के आलंबन विभावों के अंतर्गत उन्होंने कृष्ण का नायक तथा उनकी वल्लभाओं का नायिकाओं के रूप में वर्णन किया[2]। उनके नायिका-भेद में तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१. गणिका के कथन का अभाव, २. मुग्धा, प्रगल्भा भेदों का परकीया के अंतर्गत भी कथन तथा ३. विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप में विभिन्न गोपियों का नामोल्लेख ।

रूप गोस्वामी-द्वारा इन दोनों धाराओं का समन्वय किये जाने के पश्चात् संस्कृत में इस विषय पर किसी महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना नहीं हुई, पर ब्रजभाषा के नायिका-भेद संबंधी विशाल साहित्य का समय रूप गोस्वामी के समय के आसपास से ही प्रारंभ होता है। ब्रजभाषा का नायिका-भेद-संबंधी प्रथम ग्रंथ है कृपाराम-कृत 'हिततरंगिणी'। इस ग्रंथ की रचना १५४१ ई० में हुई और इस प्रकार कृपाराम रूप गोस्वामी के समसामयिक हुए। अतएव जैसा कि स्वाभाविक है, इस ग्रंथ पर हमें "उज्ज्वलनील-मणि' का कोई भी प्रभाव दृष्टि गोचर नहीं होता ।

हिततरंगिणी के पश्चात् १६०० ई० तक नायिका-भेद-संबंधी तीन प्रमुख ग्रंथों की रचना और हुई—नंददास-कृत 'रसमंजरी', रहीम-कृत 'बरवै नायिका-भेद' तथा केशवदास-कृत 'रसिकप्रिया'। इन ग्रंथों में से रसमंजरी में तो केवल विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के लक्षण ही गिनाये गये हैं। बरवै नायिका-भेद में, जिसकी भाषा अवधी है—केवल उदाहरण हैं और इन उदाहरणों पर भी रूप गोस्वामी का कोई भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। रसिकप्रिया हिंदी अथवा ब्रजभाषा का पहला ग्रंथ है जिस पर 'उज्ज्वलनील-मणि' के समन्वित दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

केशवदास रीति-काल के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने केवल नायिका-भेद का ही नहीं, साहित्य-शास्त्र के अन्य सभी अंगों का भी सम्यक् विवेचन अपने ग्रंथों में किया है। उनकी 'रसिकप्रिया' पर उज्ज्वलनीलमणि का प्रभाव निम्नांकित सीमाओं तक दृष्टिगोचर होता है।

१. केशव ने नायिकाओं का वर्णन जग-नायक श्रीकृष्ण की नायिकाओं के रूप में किया है। जैसे—

"जगनायक की नायिका बरनौं केसवदास ।"

१. संभव है कि वैष्णव रस-शास्त्र की यह परंपरा पहले से भी चली आती हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसे निश्चित शास्त्रीय रूप 'रूप गोस्वामी'-द्वारा ही प्रदान किया गया था।

२. उज्ज्वलनीलमणि के पश्चात् संस्कृत में लिखे गये नायक-नायिका-भेद-संबंधी दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। १. केशव मिश्र कृत 'अलंकार-शेखर' (सोलहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) तथा २. अच्युत शर्मन कृत 'साहित्य सार' (सं० १८३१), पर इन ग्रंथों में इस विषय का प्रतिपादन अत्यंत संक्षेप में किया गया है और साथ ही किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन भी इनमें नहीं होते।

२. सामान्या का उन्होंने कथन तो किया है, पर एक बार उसका नाम-मात्र कथन करके फिर उसके संबंध में कोई चरचा नहीं की—उसका लक्षण या उदाहरण यथास्थान नहीं दिया ।

३. नायक-नायिका का वर्णन परंपरागत नौ रसों में से शृंगार-रस के आलंबन विभावों के रूप में है। रूप गोस्वामी के पाँच भक्ति-रसों की उन्होंने कोई चरचा नहीं की ।

४. केशव ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप में विभिन्न गोपियों का नाम से उल्लेख नहीं किया। केवल राधा का नाम कुछ उदाहरणों में पाया जाता है ।

रूप गोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि वास्तव में एक सांप्रदायिक ग्रंथ है। अतएव साहित्यक ग्रंथों पर उसका प्रभाव केवल एक सीमा तक ही पड़ सकता था और वह सीमा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी कि नायिका-भेद के शास्त्रीय ढाँचे में कृष्ण की शृंगार-क्रीड़ाओं का यथासंभव ग्रहण हो। केशव के परवर्ती कवियों ने इसी रूप में इस नये प्रभाव को ग्रहण किया। प्रत्येक नायिका को कृष्ण की ही प्रेयसी के रूप में चित्रित करने के आग्रह को छोडकर उन्होंने "सामान्या' का भी यथावसर यथोचित वर्णन किया । इस प्रकार नायिका-भेद की नाट्यशास्त्र तथा कामशास्त्र से पोषित शास्त्रीय परंपरा को पूर्व निर्दिष्ट कृष्ण-केलि-वर्णन की पौराणिक एवं साहित्यिक परंपरा के योग से उन्होंने और भी अधिक वैभवपूर्ण बनाया। इतना ही नहीं, शास्त्रीय-क्षेत्र में अपनी अनेक मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा तथा काव्य-क्षेत्र में अपनी अनेक मर्मस्पर्शी उक्तियों एवं चुभते हुए भावों के योग से उन्होंने व्रजभाषा-साहित्य की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की ।'

व्रजभाषा के इस वैभव-संपन्न विशाल साहित्य का अध्ययन, इसकी आधारभूत परंपराओं के संबंध में विचार कर चुकने के पश्चात्, तीन दृष्टिकोणों से और किया जा सकता है—

१. काव्योत्कर्ष-संबंधी, २. शास्त्रीयता (विभाजन की मौलिकता तथा वैज्ञानिकता) से तथा ३. सामाजिक ।

इनमें से एक भी दृष्टिकोण से इस साहित्य का, एक सम्यक् अध्ययन से प्रस्तुत निबंध की सीमा के सर्वथा बाहर है[१]। यहाँ पर अत्यंत संक्षेप में इन दृष्टिकोणों से संबंधित कुछ समस्याओं पर प्रकाश इस प्रकार डाला जा सकता है ।

व्रजभाषा के नायिका-भेद-संबंधी साहित्य का महत्व सबसे अधिक उसके काव्योत्कर्ष के कारण ही है, पर इस साहित्य में कला-पक्ष की प्रधानता होने के कारण कुछ समालोचक उसे श्रेष्ठ काव्य अथवा काव्य मानने के लिये तैयार नहीं होते, यों तो मत-स्वातंत्र्य का सबको अधिकार है और कोई भी व्यक्ति, चाहे वह एक विद्वान् आलोचक हो, चाहे एक साधारण पाठक, किसी विशेष मत को मानने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। पर थोडी देर के लिये यदि हम व्यक्तिगत मान्यताओं से ऊपर उठकर देखें तो हमें स्वीकार करना होगा कि काव्य के दो अनिवार्य आधार स्तंभ हैं—कला और भाव । बिना एक के दूसरे का अस्तित्व असंभव भले ही न हो, पर अत्यंत कठिन अवश्य है। यह दूसरी बात है कि किसी काव्य-खंड में एक की प्रधानता हो और किसी में दूसरे की । इसी प्रकार यह भी संभव है कि किसी का आकर्षण भाव-प्रधान-रचना की ओर अधिक हो और किसी का कला-प्रधान रचना की ओर, पर यदि उनमें से कोई भी दूसरी श्रेणी की रचना को काव्य के प्रांत से बहिष्कृत कर सकने की आशा करे तो उसकी यह आशा दुराशामात्र ही होगी ।

वास्तव में काव्य के मुक्तक और प्रबंध जो दो भेद किये गये हैं, उनमें से मुक्तक कला-पक्ष के उत्कर्ष के लिये अधिक उपयुक्त है और प्रबंध भाव-पक्ष के उत्कर्ष के लिये । जीवन की बहु-

[१] इस विषय के विस्तृत एवं विशेष अध्ययन के लिये लेखक का शीघ्र ही प्रकाश में आने वाला ग्रंथ—"स्टडीज इन नायक-नायिका भेद" देखिये ।

है। उदाहरण के लिये वास्तविक जीवन में नायिका के मान के कारण विविध प्रकार के हो सकते हैं, पर नायिका-भेद के संसार में उन कारणों का सीधा संबंध एक मात्र पर-स्त्री-रति से ही होना चाहिये। इसी प्रकार परकीया के अंतर्गत द्वितीय 'अनुशयाना' के उदाहरणों में पितृ-गृह से ससुराल जाती हुई नायिका को उसकी सखियाँ यही सांत्वना देती हुई दिखाई देती है कि तुम्हारी ससुराल में भी 'उपपति' से मिलने के लिये पर्याप्त उपयुक्त 'सहेट-स्थल' हैं, अतः तुम हृदय में धैर्य धारण करके प्रसन्नता के साथ श्वसुरालय को गमन करो। इस प्रकार के उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि उपपति को अपनी प्रेमिका से मिलने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है और वह बहुत आसानी से अपनी प्रेमिका के साथ-साथ उसके श्वसुरालय के नगर में पहुँच जायगा।

दूसरी खटकने वाली बात यह है कि आचार्यों ने नायिकाओं की पूर्ण संख्या का एक दूसरे से गुणित कर दिया है, पर ऐसा करते हुए उन्होंने यह विचार नहीं किया कि एक वर्ग की कोई नायिका अन्य वर्गों में सब प्रकार की हो भी सकती है, या नहीं। उदाहरण के लिये देव ने 'भाव-विलास' में तीन वर्गों की १६, ८, तथा ३ प्रकार की नायिकाओं को मिला कर उनकी संख्या (१६×८×३ =) ३८४ कर दी है। यह संख्या तभी संभव हो सकती है जब कि प्रथम वर्ग की सोलह प्रकार की नायिकाओं में से प्रत्येक दूसरे वर्गके अंतर्गत कहे हुए भेदों के अनुसार आठ प्रकार की हो तथा इस प्रकार प्राप्त १२८ प्रकार की नायिकाओं में प्रत्येक तृतीय वर्ग के अंतर्गत कहे हुए भेदों के अनुसार तीन प्रकार की हो, पर विस्तार करने पर बहुत से योग असंभव प्रतीत होते हैं। प्रथम वर्ग की छः कनिष्ठा नायिकाएँ द्वितीय वर्ग के अंतर्गत 'स्वाधीनपतिका' किस प्रकार होंगी? प्रथम वर्ग की धीरा, अधीरा और मध्यमा नायिकाएँ द्वितीय वर्ग के अंतर्गत खंडिता अवस्था को छोड कर अन्य अवस्थाओं में किस प्रकार रक्खी जा सकेंगी? प्रथम वर्ग की धीरा तृतीय वर्ग में अधमा तथा प्रथम वर्ग की अधीरा तृतीय वर्ग में उत्तमा कैसे हो सकेंगी?

तीसरी आपत्तिजनक बात यह है कि यद्यपि नायिकाओं के विभिन्न वर्गीकरण किसी न किसी सिद्धांत के आधार पर किये गये हैं, पर उन वर्गीकरणों को वैज्ञानिक ढंग से पूर्ण बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। उदाहरणार्थ अवस्था (अथवा परिस्थिति) के आधार पर किया गया नायिकाओं का वर्गीकरण देखिये। इसके अंतर्गत 'स्वाधीनपतिका' का भी एक भेद माना गया है, पर इसे हम किसी नायिका की अवस्था विशेष नहीं कह सकते। इस वर्गीकरण के अंतर्गत संयोग की किसी अवस्था का निर्देश नहीं है, यद्यपि ऐसा होना अत्यंत उचित एवं आवश्यक था। परकीया के छः भेदों में से पाँच (कुलटा को छोड़कर) उसकी विभिन्न परिस्थितियों के ही द्योतक हैं। उन भेदों का कथन भी इसी वर्गीकरण के अंतर्गत होना चाहिये था।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी आपत्तिजनक बातें हैं, पर उन सबका निर्देश यहाँ पर संभव नहीं है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से ब्रजभाषा के आचार्यों ने जो इन त्रुटियों को हटाने का प्रयत्न नहीं किया, इसका एक मात्र कारण उनका संस्कृत के आचार्यों की दीर्घ परंपरा के प्रति मोह तथा प्रेम था, न कि उनमें विवेचन-शक्ति का अभाव।

नायिका-भेद-संबंधी साहित्य तथा उसके लेखकों पर अनेक विज्ञ आलोचकों-द्वारा सामाजिक दृष्टि से कुछ अत्यंत गंभीर आरोप लगाये गए हैं। यहाँ पर संक्षेप में उनका निराकरण करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है।

पहला आरोप यह है कि नायिका-भेद-संबंधी साहित्य की रचना अत्यंत विलासिता के वातावरण में हुई, उसकी सृष्टि कवियों-द्वारा अपने आश्रय-दाताओं की वासनाओं को उत्तेजित करने की दृष्टि से की गई। इस आरोप के संबंध में जब हम गंभीरता पूर्वक विचार करते हैं तो हमें तत्कालीन इतिहास से ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर उस युग के वातावरण को अन्य युगों के वातावरण की अपेक्षा हम अधिक विकासमय मान सकें। भारतवर्ष के प्राचीन कवियों ने

राजाओं तथा राज-दरबारियों के वैभव और विलास का बड़ा विषद एवं ऐश्वर्य पूर्ण चित्र खींचा है। उस वैभव-पूर्ण विलास का एक अंश भी रीति-कालीन राजा-महाराजाओं के दरबार में रहा होगा, यह मानना कठिन है। आश्रय-दाताओं की प्रसन्नता के हेतु उनकी वासना को उत्तेजित करने के लिये शृंगार-रस की वासना-पूर्ण कविता लिखी गई, यह कहने का अर्थ तो यह है कि शृंगार-रस केवल उन वैभव संपन्न राजा-महाराजाओं के ही आकर्षण की वस्तु थी ; न तो स्वयं उन कवियों की उस रस में कोई रुचि थी और न साधारण जनता की, पर ऐसा सोचना अत्यंत भ्रम-मूलक है। शृंगार-रस के प्रति जन-साधारण का भी उतना ही आकर्षण है जितना कि किसी विशिष्ट वर्ग का। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि लोक-गीतों में भी शृंगार-रस को वही प्रधानता मिली है जो कि उसे सुपठित समाज के साहित्य में प्राप्त है। रीति-कालीन नरेशों के प्रति लगाये गए इस निराधार घृणित आक्षेप को त्याग कर हमें उनके काव्य-प्रेम एवं कवि-पोषण के लिये उनका आभार स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उनके सहयोग के अभाव में उस युग में कविता की धारा यदि सर्वथा लुप्त नहीं हो जाती तो मंद तो अवश्य ही पड़ जाती।

दूसरा आरोप यह है कि नायिका-भेद के लेखकों ने राधा और कृष्ण को लेकर, जो कि जनता की भक्ति के आलंबन थे, अश्लील लौकिक शृंगार की सृष्टि की और इस प्रकार उन्होंने अपनी कुरुचि का परिचय तो दिया ही, उनकी रचना का जनता के ऊपर भी अत्यंत दूषित प्रभाव पड़ा। राधा और कृष्ण जनता की भक्ति के आलंबन थे, इसमें तो किसे संदेह हो सकता है, पर उनको नायिका और नायक के रूप में स्वीकार करके नायिका-भेद के लेखकों ने किन्हीं अश्लील उक्तियों का कथन किया, यह बात मानने में जरा संकोच होता है। कृष्ण-केलि-वर्णन की पौराणिक एवं भक्त-कवियों की परंपराओं से, जिनका दिग्दर्शन पहले हो चुका है—परिचित कोई भी व्यक्ति 'नायिका-भेद' के लेखकों पर ऐसा आरोप लगाने का साहस नहीं कर सकता, फिर भी यदि कहा जाय कि भक्त-कवियों का दृष्टिकोण तो पारमार्थिक था और नायिका-भेद के कवियों का लौकिक, तो यह बात भी जरा कम समझ में आती है। पहली बात तो यह है कि नायिका-भेद के कवि भक्त नहीं थे, यह कैसे जाना गया? निश्चय ही वे विरक्त संन्यासी न होते हुए भी भक्ति-भावना से शून्य नहीं थे, इसका प्रमाण हमें उनकी रचनाओं में भी मिल जाता है। दूसरी बात यह है कि जब एक रचना में राधा और कृष्ण का नाम आ गया तो उसके पीछे उसके लेखक की भावना कुछ भी रही हो, पाठक के ऊपर तो उसका प्रभाव पाठक की भावना के आधार पर ही पड़ेगा। विद्यापति को भक्त-कवि नहीं माना गया, पर उनकी रचनाओं को गाते हुए स्वयं चैतन्य महाप्रभु प्रेम-मग्न होकर मूर्छित हो जाते थे और फिर नायिका-भेद की रचना आज के सिनेमा-संगीत की भाँति सुकुमार बालकों अथवा जन-साधारण की जिह्वा पर तो नहीं रहती होगी ; वह तो वयस्क साहित्य-मर्मज्ञों के ही आस्वादन की वस्तु थी। ऐसी परिस्थिति में उस रचना का जनता अथवा समाज पर कोई दूषित प्रभाव पड़ा होगा, यह कल्पना तो संगत अथवा विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती।

इस प्रकार अल्प रूप में ब्रजभाषा के नायिका-भेद-संबंधी-साहित्य की आधार भूत परंपराओं तथा उसके अध्ययन के संभावित दृष्टिकोणों का निदर्शन-मात्र संभव हो सका है। जिस विषय पर लगभग तीन शताब्दियों तक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ, उसके सम्यक् अध्ययन के लिये तो वास्तव में कई ग्रंथों के लिखे जाने की आवश्यकता है। आशा है हिंदी के विद्वान् इस विषय के प्रति अपनी उपेक्षा का भाव हटाकर हिंदी-आलोचना के एक बड़े अभाव की पूर्ति की ओर प्रवृत्त होंगे।[१]

१. नायिका-भेद प्रकृति, अवस्था और स्थिति के अनुसार स्त्रियों के वर्णन को कहते हैं। वय के उतार-चढ़ाव के साथ प्रेम की अवस्था में उनकी विभिन्न दशाओं को अंकित करने के बाद प्रिय के मिलन और विरह तथा आगमन वा प्रतीक्षा के, प्रेम की प्रतिकूलता में अथवा काम के जागृत होने पर लज्जा और

संकोच के द्वंद्व में—और सपत्नी-प्रति ईर्षा के भावों में, स्त्री-मन की क्या-क्या दशाएँ होती हैं, कवियों-द्वारा यह वर्णन ही 'नायिका-भेद' है। व्रजभाषा के कवियों ने संस्कृत-रीति-शास्त्रों के आधार पर इसके सूक्ष्म से सूक्ष्म नये-नये भेद-विभेद करते हुए इसे वर्णनातीत बना डाला है। यदि हम इस नायिका-भेद सागर को गागर में भर कर निरखना-परखना चाहे तो इस प्रकार देख सकते हैं—

१, प्रकृति-अनुसार—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

२, धर्मानुसार—१, स्वकीया (ज्येष्ठा–कनिष्ठा)। २, परकीया–ऊढा (परोढा) अनूढा (उद्बोधिका)। ३, गुप्ता-भूत, भविष्य, वर्तमान। ४, विदग्धा (वचन और क्रिया)। ५, लक्षिता, ६, कुलटा। ७, अनुशयाना (संकेत विघट्टना, भाविसंकेतनष्टा, रमण-गमना)। ८, मुदिता, ९, स्वयंदूतिका। १०, सामान्या (गणिका)।

३, वय-अनुसार—१, मुग्धा (अज्ञात-ज्ञात यौवना,–नवोढ़ा-विश्रब्धनवोढ़ा)। २, मध्या, ३, प्रौढा—मान-भेदानुसार मध्या-प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा, धीराधीरा, क्रियाभेदानुसार–रतिप्रीता, आनंद-संमोहिता, स्वभावानुसार–अन्यसंभोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती, गर्विता–रूप और प्रेम गर्विता।

४, अवस्थानुसार–प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, बासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका (कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका, दिवाभिसारिका) प्रवत्स्यत्पतिका, अगत्पतिका।

५, जाति-अनुसार—पद्मिनी, चित्रणी, शंखनी, हस्तिनी।

६, लोक-भेदानुसार—दिव्य, अदिव्य, दिव्यातिदिव्य वा दिव्यादिव्य।

७, भरत : मतानुसार—देवी, देविरीष, गांधर्वी, मानुषी, शुद्धमानुषी, गौरी, लक्ष्मी, सरस्वती, कन्या, बाला, तरुणी, प्रौढ़ा।

१, रसीलन ने परकीया के असाध्या (सभीता, गुरुजन-सभीता, दूती-वर्जिता, अतिक्रांता, खल-पृष्टनायक), सुखसाध्या–बृद्धवधू, बालवधू, नपुंसकवधू, विधवा, गुनीवधू, रिझवतीवधू और निरंकुशा आदि भेद किये हैं। २, गुप्ता के प्रत्यक्ष और भुविभरत, ३, क्रियाविदग्धा के पतिवंचिता, दूतीवंचिता, लक्षिता के हेतुलक्षिता, सुरतलक्षिता, प्रकाशलक्षिता, रमणगामना के स्वैनाधिष्ठित, संकेतस्यलरचनानुगमन, अस्थानाधिष्टज्ञ, संकेतवर्णवनुगमननष्टमाना, सामान्या के मध्य-स्वतंत्र, जननी आधीना, नेमता, प्रेम-दुःखिता भेद माने हैं। मुग्धा के देव कवि ने–वयःसंधि, नववधू, नवयौवना, नवलअनंगा, सलज्जरतिका, रसलीन ने अंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, अज्ञात तथा दीर्घातियौवना, नवल अनंगा के (अवदित काम-विदितकाम), नवलवधू (नवोढ़ा, लज्जाआसक्तिरतिकोविदा) भेद माने हैं। देव ने मध्या के रूढ-यौवना, प्रादुर्भूतमनोभवा, प्रगल्भवचना, विचित्रसुरता, रसलीन ने उन्नतयौवना उन्नतकाम, प्रगल्भवचना, सुरतविचित्रा, लघुलज्जा भेद किये है। प्रोढ़ा के देव कवि ने–लब्धापति, रतिकोविदा, आक्रांता, सविभ्रमा, रसलीन ने निजपति अनुरागवती, उद्भटयौवना, मदनमाती, लब्धापति, समस्तरतिकोविदा, आनंदसंमोहिता और रतिप्रिया के अनंतर पतिदुःखिता, मूढपतिदुःखिता, बालपतिदुःखिता, बृद्धपति दुःखिता के बाद मध्याधीरा धीरा का आकृतिगोपना भेद माने हैं।

गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

रसमूल ब्रजभाषा की श्रीवृद्धि में, उसके चिर प्रशंसनीय अतुल भंडार को अधिकाधिक भरने में, केवल ब्रजवासियों अथवा उत्तर प्रदेश-निवासियों का ही सहयोग नहीं रहा, अपितु भारत के विभिन्न-प्रांतों— गुजरात, राजस्थान, पंजाब, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण के उस प्रांत का भी, जिसकी भाषा के प्रति इतर प्रांतवासियों का कहना है कि वह 'मिट्टी के पात्र में कंकड़ भर कर बजाने जैसी है, का पूरा सहयोग था। कारण चाहे ब्रजभाषा की कोमलता हो या उसकी भाव-विभूति के प्रति उनका आदर अथवा उसके सांस्कृतिक संदेश तथा साहित्यिक सौष्ठव के प्रति उनकी भूरि-भूरि भक्ति, पर इन सभी का उसके प्रति हार्दिक स्नेह था, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। चौहानराज पृथ्वीराज के प्रसिद्ध कवि चंदबरदाई, सिक्ख-संप्रदाय के आदि प्रवर्त्तक गुरु नानक, गुरु गोविंद सिंह, महाराज रणजीत सिंह, वीर-भूमि मेवाड़ के महाराणा कुंभ, जोधपुर के राठौड़ राज महाराज जसवंतसिंह, बीकानेर के महाराज पृथ्वीसिंह, किशनगढ़ के महाराज भक्ताग्रगण्य सावंतसिंह प्रसिद्ध नाम 'नागरीदास', आपके भ्राता, दासी बनीठनी, जयपुर के महाराज सवाई प्रतापसिंह, मध्यभारत के महाराज इंद्रजीत—ओड़छानरेश, महाकवि केशवदास तथा रायप्रवीण (स्त्री) आदि से लेकर 'छत्रप्रकाश' के रचयिता लालकवि, महाराज छत्रसाल, रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह तथा महाराज रघुराजसिंह, महाराष्ट्र के हिंदुत्व-रक्षक प्रातः स्मरणीय महाराज शिवाजी, संभाजी साहु उपनाम—'नृप शंभु' कवि, बिहार के मैथिल-कोकिल-विद्यापति, बंगाल की 'ब्रजबोली' के गायक—उसके अनन्यतम उपासक—अनंतदास, उद्धवदास, कविरंजन, कवि वल्लभ, कृष्णदास, कृष्णदास कविराज, गिरिधर, गोकुलानंद, गोपालदास, गोविंद घोष, गोविंद चक्रवर्त्ती, गोविंददास, गौरसुंदर, घनश्यामदास, चंडीदास, चंद्रशेखर, चंपतिपति, चाँद काजी, जगदानंद ठाकुर, जगदानंद ठाकुर—द्वितीय, जगन्नाथदास, जगमोहन, ज्ञानदास, दयालदास, दुःखिनी, नरहरि चक्रवर्त्ती, नरोत्तमदास, नृसिंहदास, नेमानंद, परमानंद, प्रेमानंद, भीम द्विज, भूपति, मनोहरदास, माधवदास, माधवेंद्रपुरी, मुरारिदास, मोहन, यदुनंदन, यदुनाथ, रघुनाथदास, राधामोहन, राधावल्लभ, रामानंद, राय-शेखर, लक्ष्मीकांत, लोचनदास, बलराम, वल्लभ, वल्लभीदास, वसंतराय, वंशीदास, वंशीवदन, वासुदेव, वृंदावनदास, शंकर घोष, शचीनंदन, शशिशेखर, शिवराम, शिवा, शिवानंद, सालबेग, सुंदरदास और सैयद मूर्त्तिजा आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात ब्रजभाषा के सेवक हुए हैं जिन्होंने ब्रजभाषा की—उसके साहित्य की तन, मन, धन से उपासना की। उसके श्रुति-मधुर अति कोमल गीत गाये। गुजरात-प्रांत भी ब्रजभाषा की साहित्य-साधना में भारत के किसी प्रांत से पीछे नहीं, अपितु आगे रहा है। उसने भी ब्रजभाषा के कितने ही कोमल-कवि उत्पन्न किए हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा साहित्य के भंडार को अपनी सुंदर रमणीय रचना-रत्नों से भरा है। साथ-ही वह ब्रजभाषा-साहित्य के प्रसार में तथा उसके संरक्षण में भारत के अन्य प्रांतों से कहीं अधिक जागरुक रहा है। उदाहरण के लिए सूरदास, नंददास, परमा-नंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी तथा छीतस्वामी आदि अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त इनके अंग-प्रत्यंग-रूप अन्य अनेकों ब्रजभाषा-गेय-पद-रचयिताओं के नाम लिए जा सकते हैं। गुजरात ने इनके कीर्त्तन रूप समृद्ध-साहित्य का अपने क्रोड़ में आदर के साथ भली-भाँति लालन-पालन किया है। ब्रज से दूर होने के कारण यद्यपि वहाँ ब्रजभाषा का प्रचार और प्रसार होना सुगम न था। मुसलमानों तथा मरहठों के निरंतर आक्रमण हो रहे थे। अशांति का साम्राज्य चारों ओर फैला होने के कारण

साहित्य-सेवा का अभाव था। अन्य प्रांतों की भाँति वहाँ कवियों को आश्रय देने वाले राजा, महाराजा, जमीदार, जागीरदार, सेठ-साहूकार भी न थे। सं० १७४० वि० के लगभग गुजराती-भाषा की भी उन्नति होने लगी थी। उसके प्रसिद्ध कवि प्रेमानंद अपने अनेक अनुयायियों के साथ गुर्जरभाषा को उठाने में तथा उसको निखारने में तन-मन-धन से जुट गए थे। अतः इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी उसने जो ब्रजभाषा की सेवा में सहयोग दिया है, वह अन्य प्रांतों से कम नहीं अपितु अधिक ही कहा जा सकता है।

गुजरात-प्रांत ने ब्रज से दूर बसते हुए भी ब्रजभाषा को जो इतना अपनाया उसके कारण थे। विक्रम संवत् की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व 'गुजराती-भाषा केवल बोलचाल की भाषा थी, वह इतनी प्रौढ़ भी नहीं थी कि उसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भली-भाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती-भाषा के प्रथम कवि जूनागढ़ वासी भक्त प्रवर 'नरसी मेहता' हैं, जिनका कविता-काल संवत् १५१२ वि० माना जाता है। इस समय तथा इसके बाद भी गुर्जरदेश-वासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा-साहित्य को ही उलटा-पलटा करते थे। गुजराती-भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण करने से पूर्व—महाकवि चंद, जल्हण, पद्मनाभ, विद्यापति, गोरखनाथ, रामानंद, कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक कवियों ने शौरसेनी-भाषा के साथ-साथ डिंगल तथा पिंगल अथवा 'ब्रजभाषा' की इतनी अधिक उन्नति कर दी थी तथा उसमें इतनी प्रौढ़ता भर दी थी कि उसके द्वारा प्रत्येक भाव, विशेषतः धार्मिक तथा आध्यात्मिक भाव सुगमता से व्यक्त किए जा सकते थे। अस्तु: गुजरात अपनी अपरिपक्व-भाषा का मोह-त्याग एक उन्नत, संपूर्ण देश-प्रिय तथा भाव-भरी भाषा को अपनाने के लिए स्वाभाविक रूप से ही अग्रसर हुआ था और फिर गुजरात में वैष्णव-धर्म की प्रमुख शाखा 'वल्लभ-संप्रदाय', अर्थात् 'पुष्टिमार्ग' की अधिक प्रवलता रही। पुष्टिमार्ग के आदि प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने स्वसंप्रदाय तथा स्वसिद्धांतों के प्रचारार्थ अति मधुर ब्रजभाषा को ही माध्यम बनाया। फलतः पुष्टिमार्ग का प्रायः समस्त साहित्य ब्रजभाषा में है। इन लोक-नमस्कृत पिता-पुत्र के आठ मुख्य शिष्यों जो 'अष्टछाप' नाम से प्रसिद्ध और ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के सुदृढ़ स्तंभ हैं, सांप्रदायिक सेवा-प्रणाली के अनुसार इन अष्टछाप के महाकवियों के 'कीर्त्तन' नित्य-प्रति सेवाओं के अवसर पर 'हलराये, दुलराये और मल्हराये' जाते हैं। इस कारण भी गुजरात में वैष्णव-धर्म-प्रचार के साथ ब्रजभाषा-प्रचार भी प्रवलता से हुआ। वहाँ उसके प्रति श्रद्धा बढ़ी, मान बढ़ा। फलतः ब्रजभाषा को गौरवान्वित करने वाले श्रीकृष्णदास (अष्टछाप), दयाराम, मुक्तानंद तथा ब्रह्मानंद जी जैसे गेय-पद रचयिता भक्त कवियों के साथ-साथ ब्रजभाषा की रीति-कालीन परिपाटी के भी अनेक कोमल कवि वहाँ उत्पन्न हुए। इनका यश यद्यपि समय के पृष्ठों पर अंकित हुआ फिर भी आज वह धुँधला पड़ चला है।

गुजरात में श्री नरसी मेहता से पूर्व ब्रजभाषा या उस समय की भाषा का कोई कवि हुआ अथवा नहीं, इसका आज पता नहीं चलता। गुजरात में ब्रजभाषा का अभ्युदय, यथार्थतः संवत् १७०० वि० के लगभग हुआ, जिसे हिंदी के इतिहास में 'रीति-काल' के अभ्युदय का समय कहा जाता है। इस समय गुजरात में कितने ही ब्रजभाषा के कवि हुए जिन्होंने अपनी-अपनी सुंदर रचनाओं से ब्रजभाषा-साहित्य के भंडार को भरा। इसी काल में गुजराती भाषा तथा उसके साहित्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी गहरा पड़ा। यदि गुजराती भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव न पड़ता, तो आज उसका दूसरा ही रूप होता। रविदास पटेल के आश्रित 'श्यामल भट्ट' ने तुलसीकृत रामायण को देख कर ही गुजराती में दोहा-चौपाई जैसे ब्रजभाषा के छंदों में काव्य-रचना की। इनकी कविता में ब्रजभाषा का अधिक समावेश है। संवत् १७४० के लगभग कवि प्रेमानंद ने अपने पैंतीस शिष्य-प्रशिष्यों-द्वारा ब्रजभाषा के प्रति अश्रद्धा दर्शाते हुए वर्तमान गुजराती-साहित्य की उन्नति की नींव डाली। इसके बाद ब्रजभाषा का ह्रास वहाँ होता गया। फिर भी सौराष्ट्र में ब्रजभाषा के प्रेमी और कवि अधिक से अधिक हुए। कुछ भावुकों ने तो ब्रजभाषा को धार्मिक-भाषा समझ कर ही उसमें कविताएँ कीं।

विक्रम की १२ वीं शताब्दी के लगभग प्राकृत से शौरसेनी और शौरसेनी से ब्रजभाषा का विकास हो चुका था। उसके अपने इस वाल्यकाल में ही अधिक तो नहीं, पर उँगली पर गिनने योग्य 'पद्मनाभाचार्य', महाराज 'मानसिंह तोमर' (तनवर), 'लाला देवी' बैजू बावला आदि अनेक उद्गायकों का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्होंने अपनी-अपनी शैली में नये-नये शब्दों का समावेश कर भाषा में स्थिरता लाते हुए उसका भंडार-भरना प्रारंभ कर दिया था। उधर गुजरात के तत्कालीन कवियों ने जो कुछ लिखा वह संस्कृत अथवा अपभ्रंश में ही लिखा। प्राकृत-भाषा का अंतिम वैयाकरण 'हेमचंद्र सूरि' गुजरात का था। उसने सं० ११५४ में जन्म लिया और गुर्जरराज 'जयसिंह' की आज्ञा से "सिद्ध हेम-शब्दानुशासन" नाम का प्राकृत-व्याकरण रचा। अन्य लेखकों ने भी 'व्याकरण' तथा 'पिंगल' पर ग्रंथ लिखे। इन में नीचे जो टिप्पणियाँ भावों को सुगमता पूर्वक ग्रहण कराने की इच्छा से दी गयीं हैं, उन में ही उस समय की प्रचलित भाषा मिलती है, इसी में गुजराती का प्राचीन रूप है। 'मुग्धावबोध औक्तिक' नाम का व्याकरण 'देवसुंदरगुरु' के किसी शिष्य ने सं० १४०० वि० के लगभग लिखा था, जिससे वर्त्तमान भाषाओं की उत्पत्ति का ज्ञान-प्राप्त करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

संवत् १४४४ से संवत् १६८० वि० तक ब्रजभाषा की बड़ी उन्नति हुई। सूरदास, तुलसीदास, हितहरिवंश, व्यास जी, स्वामी हरिदास आदि ने अपनी-अपनी ललित-मधुर रचनाओं द्वारा अपूर्व धार्मिक-स्रोत बहा दिया था। मुगल-सम्राट् 'अकबर' ने भी कवियों तथा संगीतज्ञों को संमान और आश्रय दे कर तथा ब्रजभाषा में स्वयं रचना रच कर ब्रजभाषा को अधिकाधिक उत्कृष्ट बनाने में किसी प्रकार की कसर नहीं रखी। इस समय गुजराती-भाषा के पाँच कवि हुए हैं। इन में से तीन तो केवल नाम मात्र के कवि थे। शेष दो ने जो कविताएँ रचीं उन में तत्कालीन उत्तर-भारतीय जैसी पुष्ट ब्रजभाषा का स्वरूप तो देखने में नहीं आता, पर गुजराती-मिश्रित ब्रजभाषा का शैशव रूप अवश्य लक्षित होता है। सच बात तो यह है कि वह समय 'शैव मत' के ह्रास तथा वैष्णव-धर्म के उत्कर्ष का था। वैष्णव-धर्म का मुख्य साधन 'भक्ति' है। अतः इस ब्रजभाषा के यौवन-रूप माध्यमिक-काल में 'भक्त-कवि' ही अधिक हुए, जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी के अमर बचनों—

"स्वांतः सुखाय 'तुलसी' रघुनाथ-गाथा।"

को अपनाते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और विशेष कर लीलापुरुषोत्तम श्री कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त हो कर भक्ति-विषयक लोकोपकारी सरस रचनाएँ रचीं और समस्त भारत में धर्म का प्रचार बढ़ाया।

वैष्णव-धर्म की सभी शाखाओं ने कविता-द्वारा ही अपना-अपना मत फैलाया है, जिससे धर्म-परिवर्द्धन के साथ-साथ ब्रजभाषा-साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। गुजरात में इस समय के तीन ब्रज-भाषा के कवियों का पता चलता है। यों तो इनकी कविता का ढंग कुछ निराला है, पर इन तीनों में से एक ने ब्रजभाषा की अपेक्षा गुजराती में तथा शेष दो ने गुजराती की अपेक्षा ब्रजभाषा में अधिक रचना की।

गुजराती भाषा के प्रथम कवि 'नरसी मेहता' बड़नगरा नागर जाति के कुलीन ब्राह्मण 'झूनागढ़' (सौराष्ट्र) के वासी थे। मेहता जी के कुटुंबी शैव होने के कारण वैष्णव-धर्म के कट्टर विरोधी थे, पर आप की माता वैष्णव-धर्मावलंबनी थीं, जिस से आप को वैष्णव-धर्म का कुछ-कुछ ज्ञान हो गया। एक बार आप अपनी 'भाभी' से अपमानित हो घर-द्वार त्याग कर संगति-द्वारा श्री कृष्ण के पूर्ण भक्त हो गये। कहते हैं, इन के साथी निम्न श्रेणी के हिंदू थे। अतएव संसर्ग-दोष के कारण कुटुंबियों ने इन्हें जाति-च्युत मान अपने जाति-भोज में संमिलित नहीं होने दिया। इस पर आप के साथियों ने उन पर आक्रमण कर मेहता जी को जाति में पुनः लेने को वाध्य किया। यह भी प्रसिद्ध है कि भगवान श्रीकृष्ण ने ही मेहता जी की लाज रखने के लिए इन परगणित जातीय का रूप धारण कर आप की सहायता की थी। गुजरात के वैष्णव-समुदाय में आपके प्रति इस प्रकार की कितनी ही चमत्कार-पूर्ण रोचक कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

नरसी मेहता के काल-निर्णय में मतभेद है। केशवराम-काशीराम जी शास्त्री ने आपका समय सं० १४६९-७० वि० से सं० १५३५ वि० के लगभग माना है। गुजरात के प्रसिद्ध कवीश्वर 'दलपतिराम' के यहाँ हस्त लिखित पुस्तकों का अक्षय-भंडार है, उस में नरसी मेहता कृत 'हारमाला' में 'रचना-काल' इस प्रकार दिया गया है,—

"संबत पंद्रह बहोतरा, सपतमी सोम-बार।
बैसाख उजआली परब, नरसैंयै आपौ हार॥"

नरसी मेहता गुजराती-साहित्य के जन्म-दाता थे। आपने गुजराती में—'हारमाला', 'रास-लीला' तथा 'फुटकल पद' रचे।[1] आप के इन काव्यों में ब्रजभाषा का बहुत कुछ प्रभाव है। इन्होंने ब्रजभाषा में भी कुछ पद तथा 'साँवलदास ना विवाह' नाम से एक काव्य-रचना की। शिव सिंह जी ने अपने 'सरोज' में इनका उल्लेख ब्रजभाषा के कवियों के साथ किया है और 'मिश्र-बंधुओं' ने अपने 'विनोद' में भी। सं० १९०० के लगभग कृष्णानंद व्यास देव ने अपने 'राग-सागरोद्भव' 'राग-कल्पद्रुम' में सूर, तुलसी, मीरा, तानसेन आदि भक्तों और कवियों की कविताओं के साथ इनकी भी रचनाएँ उद्धृत की हैं। राग-कल्पद्रुम, सरोज, तथा विनोद में इनकी जो रचनाएँ दी गयी हैं वही गुजराती में भी मिलती हैं। इस लिए इन्हें ब्रजभाषा का कवि तो नहीं कहा जा सकता, पर इनकी रचना में ब्रजभाषा की सुंदर झलक है, यह निःसंदेह कहा जा सकता है। सं० १६४० वि० में 'प्रेमानंद भट्ट' ने इनके जीवन की मुख्य-मुख्य विलक्षण घटनाओं का वर्णन—"नरसी मेहता नू मामेरू" नामक काव्य-ग्रंथ में बड़ी सुंदरता के साथ किया है। अस्तु, इनकी कविता रस-पूर्ण है और उसका प्रत्येक चरण भगवान् श्री कृष्ण के प्रेम में मत्त तथा आत्म-विस्मृत-भक्त-हृदय के चमत्कृत उद्गार युक्त है।

सं० १५५३ के लगभग 'चलोतर' (गुजरात) में पुष्टमार्गी 'अष्टछाप' के चतुर्थ रत्न 'कृष्ण-दास' का जन्म वहाँ की 'कुनबी' जाति में हुआ। कृष्णदास ब्रजभाषा-साहित्य-सूर्य श्री सूरदास जी के बाद महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के प्रधान शिष्य और उनके परम सेव्य श्री श्रीनाथजी के मंदिर के अधिकारी थे। ये भारतीय संगीत के परंपरा-मूलक गायक, काव्य-मर्मज्ञ और पद-रचना में अग्रणी थे। आप के रचे कोई ग्रंथ-विशेष तो नहीं मिलते, स्फुट-पद अधिक मिलते हैं। श्रीसूर के 'सागर' की भाँति आप की पद-रचनाओं का सागर—'कृष्णसागर' मिला है। संगीत, काव्य और कलाओं के मर्मज्ञ गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने इनकी रचना सौष्ठव को देख कर इन्हें पुष्टिमार्गी आठ प्रधान पद-रचयिताओं में, जिन्हें संप्रदाय में 'अष्टछाप' अथवा भगवान् के 'अष्टसखा' कहा जाता है, संमिलित किया। हिंदी-साहित्य की 'खोज रिपोर्टों' में कई कृष्णदास-कवियों का उल्लेख है और उनके ग्रंथ—

"जुगल मान-चरित्र, भ्रमरगीत, प्रेम-तत्त्व-निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णव-वंदन, प्रेम-रस-रासि, हिंडोरा लीला, दान लीला, और कृष्णदास की बानी"

—आदि लिखे हैं। परंतु उक्त ग्रंथ-रत्न-समुच्चय अभी संदिग्ध हैं। हिंडोला तथा दानलीला इनके रचे पदों का एक प्रकार से संकलन है। कृष्णदास कोरे कवि ही नहीं, अति प्रबंध-पटु भी थे। श्री श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी (व्यवस्थापक) होने के कारण आपने मंदिर की सुव्यवस्था, भोग-राग का प्रबंध बड़े अच्छे ढंग से किया था। इन के पद-साहित्य की भाषा सुंदर, भाव गंभीर और संगीत-पटुता स्पर्द्धा की वस्तु है। दो उदाहरण जैसे—

"मो मन गिरिधर-छबि पैं अटक्यौ।
ललित-त्रिभंगी-अंगँन पै चलि, गयौ तहाँ हीं ठटक्यौ॥

[1], केशवराम-काशीराम जी शास्त्री ने नरसी मेहता के २७ ग्रंथोंकी सूचना दी है। और कवीश्वर दलपतिराम के पुस्तकालय में—"पदसंग्रह, हारसमय के कीर्तन (हारमाला सं० १७६४ की प्रति), चातुरी-छत्री सी" तीन पुस्तकें हैं।

सजल-स्यांम-घँन-चरँन लीन ह्वै, फिर चित ग्रँनत न भटक्यौ ।
'कृष्णदास' कियौ प्रांन-नुछावर, यै तन जग-सिर पटक्यौ ।।"

❀

"ग्वालिन, कृष्ण-दरस सों ग्रटकी ।
बार-बार पनघट पै ग्रावत, सिर जँमुना-जल-मटकी ।।
मनमोंहन कौ रूप-सुधा-निध, पीयत प्रेंम-रस गटकी ।
'कृष्णदास' धनि-धन्य राधिका, लोक-लाज सब पटकी ।।"

—नित्यकीर्त्तन-संग्रह

मेड़तिया राठौड़राज रत्नसिंह की कन्या 'बाई मीरा' का 'द्वारिका' (सौराष्ट्र) में ग्रधिक समय रहने के कारण गुजराती-साहित्यकार उन्हें गुजरात की कवियित्री ही मानते हैं। मीरा का विवाह सं० १५७३ वि० के लगभग चित्तौड़ के प्रसिद्ध सिसोदिया-कुल में हुग्रा था। विवाह के कुछ दिन बाद ही ये विधवा हो गईं, पर इसका उन पर कुछ प्रभाव न पड़ा ग्रौर उन्होंने श्री 'गिरिंधरलाल' से नाता (स्नेह) जोड़ लिया। ये सदा साधु-सेवा ग्रौर भगवद्-भजन में जीवन-व्यतीत करने के लिए चित्तौड़-त्याग कर वृंदावन चलीं ग्राईं। वृंदावन भी थोड़े ही दिन रहीं तथा शेष जीवन द्वारिका में व्यतीत किया। ये रात-दिन 'गिरिधर-गुपाल' के गुण-गान में लीन रहतीं थीं। कहा जाता है तत्कालीन राणा ने इनका चित्त साधु-सेवा ग्रौर भगवद्-गुणानुवाद के गान से विरत करने के लिए कई गुप्त-प्रगट षड्यंत्र रचे, पर ये ग्रपने प्रण से न डिगीं—न डिगीं।

प्रेम-रस-मतवाली मीरा ने द्वारिका में रह कर 'ब्रजभाषा' तथा 'गुजराती' दोनों के साहित्य-क्षेत्र में पूर्ण ग्रमृत-वर्षा की है। ग्रापकी कविता में भक्ति-रस का ग्रजस्त्र-स्रोत बहा है। गुजरात में नरसी मेहता तथा मीरा बाई का बड़ा संमान है। दोनों ने गुजराती-साहित्य को जन्म दे कर उसे ग्रमर कर दिया है। इस लिए ही गुजरात के कवियों में इनकी गणना विशेष कर होती है।[1]

मीरा के समय-निरूपण के संबंध में विभिन्न मत हैं। कोई मीरा को 'राणा कुंभा' की रानी ग्रथवा भक्ति-भावना की पैतृक संपत्ति मान भक्त ग्रौर योद्धा वीर मेडतिया 'जयमल' की कन्या लिखते हुए इसके ग्रनुसार ही जन्म-काल स्थिर करते हैं। चौरासी वैष्णवों की वार्त्तानुसार ग्रापका जन्म सं० १५५५ से १५६० वि०, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक 'मुंशी देवीप्रसाद'—'कर्नल टाड' ग्रौर 'कार्त्तिक प्रसाद खत्री' के मतों का उल्लेख करते हुए सं० १५५० तथा १५५५ वि० के बीच, हरिविलास सारदा, गोरीशंकर-हीराचंद ग्रोझा, डा० रामकुमार वर्मा ग्रौर परसुराम चतुर्वेदी सं० १५५५ वि० के ग्रास-पास का समय मानते हैं। इसी प्रकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, वियोगी हरि सं० १५५७, मेकालिक सं० १५६१, बृहद् काव्य-दोहन के रचयिता—तनसुखराम-मनसुखराम सं० १५५० से १५६० वि० के बीच, कुँवर कृष्ण, विष्णुकुमारी 'मंजु' तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ग्रापका जन्म सं० १५६० वि० मानते हैं। ऊपर उद्धृत जन्म-समय के निर्णयों में विभिन्नता होते हुए भी यह माना जा सकता है कि मीरा बाई का जन्म सं० १५५० से १५६० वा ६१ के बीच का है। तथ्य जो कुछ हो, पर—

'संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्...।'

[1], बाई मीरा ने गुजराती भाषा में भी पद रचना की यह समझ में नहीं ग्राता ; क्योंकि ग्राप की प्राप्त रचनाग्रों का जो भी भंडार मिला है उसे देखने पर उसे 'डिंगल-पिंगल' जो ब्रजभाषा का ही डिंगल की जोड़ का ग्रनुप्रास-युक्त (पिंगल) नाम है, का मधुर मिश्रण ही कहा जा सकता है। साहित्य के इतिहासकारों ने ग्राप की टवर्ग-युक्त तथा सानुनासिक भाषा देख कर ग्रापको गुजराती की कवि-यित्री मान लिया है। ग्रतः—'महाजनो येन गतः स पंथाः' के ग्रनुसार हम ने भी इन्हें गुजराती कवियित्री लिखा है, पर वास्तव में यह बात नहीं है।

की एकमात्र उदाहरण गोपी-रूप 'मीरा बाई' की रम्य-रचनाओं में उनकी अलौकिक भक्ति, भावों का मधुर उद्रेक और रहस्योन्मुखी गंभीर प्रतिभा का सुंदर संयोग है और रचना अद्वितीय। वह सीधे हृदय पर चोट करती है। पदों में न तो कोई कथा की अंतर-धारा है और न किसी साहित्यिक-परंपरा का सहारा, वह तो मुक्तक के रूप में अंतःसलिला सरस्वती की भाँति सीधे-सादे ढंग से बही है। भाषा सरल, स्पष्ट तथा सीधी है। छंद, भाव और अनुभूति का संयोग है। पदों में राग है, अदम्य आवेग है—बंधनों की सीमा उल्लंघन करने का उत्साह है, पर उनमें लोक-लाज और समाज का भय नहीं। नाभादास जी ने ठीक ही तो कहा—

"सदृस-गोपिका-प्रेम, प्रगट कलिजुग दिखरायौ।
निर अंकुस अति निडर, रसिक-जस रसना गायौ॥
दुष्टँन दोष-बिचार, मृत्यु कौ उद्यम कीयौ।
बार न बाँकौ भयौ, गरल अमृत ज्यों पीयौ॥
भक्ति-निसान-बजाइ कें, काहू तें नाहिंन लजी।
लोक-लाज-कुल-सृंखला, तजि 'मीरा' गिरिधर-भजी॥"[१]

—भक्तमाल

मुंशी देवीप्रसाद ने मीरा बाई रचित ग्रंथों की सूची में—'गीतगोविंद की टीका', नरसी मेहता का माहिरा, सोरठ-पद संग्रह और फुटकल पदों का उल्लेख किया है। पं० रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास-ग्रंथ में "राग-गोविंद" का और कृष्णलाल-मोहनलाल झवेरी इनके रचित कुछ 'गर्वा' गीतों के रचने का उल्लेख किया है। गर्वा गुजरात की मधुर वस्तु है। संगीतज्ञों में 'मीरा की मलार' प्रसिद्ध है।[२]

मीरा बाई के पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा, ब्रजभाषा-मिश्रित राजस्थानी अथवा ब्रजभाषा-मिश्रित गुजराती देखने में आती है।

यहाँ मीरा बाई के भाव-मधुर, भाषा-मधुर और समय तथा छंद की—राग की कोमलता से आयुक्त उदाहरण रूप में दो पद यथेष्ट हैं। जैसे—

१. श्री व्यास जी (हरीराम व्यास ओड़छा) ने अपनी 'वाणी' में एक पद-द्वारा अपने सम-सामयिक भक्त-कवियों का वर्णन किया है—

'बिहारैं, स्वाँमी-बिन को गावै।
बिन हरिबंस राधिका-बल्लभ की रस-रीति सुनावै॥
रूपसनातन बिन को बृंदा-बिपिन-माधुरी पावै।
कृष्णदास बिन गिरधरजू कों, को अब लाड़-लड़ावै॥
मीरा के बिन को भक्तँन कों, पिता-जान उर-लावै।
स्वारथ-परमारथ जैमल बिन, को सब-बंधु कहावै॥
परमानंददास बिन को अब, लीला-गाइ सुनावै।
सूरदास बिन पद-रचना कों, कौंन कवी कहि गावै॥

यहाँ 'स्वामी' से मतलब 'श्री हरिदास स्वामी' से है।

२. मीरा की मलार में ऋषभ-धैवत चढ़े, गांधार-मध्यम और निषाद उतरे लगाये जाते हैं। आरोह में गांधार और निषाद को छोड़ देते हैं तथा अवरोह में भी इन्हें कम ही लगाते हैं। मलार राग—के अनेक भेद हैं, जैसे—मेघ मलार, शुद्ध मलार, गौड़ मलार, रामदासी मलार, नट मलार, सूर मलार, धूरिया मलार, मीरा की मलार, चरजूदास की मलार, सोरठ मलार, मोहन मलार, साँमेरी मलार, चंचल मलार, श्रावणी मलार. देश मलार और रूपमंजरी मलार।

"छाँड़ौ लँगर, मोरी बहियाँ गहौ ना।
मैं तो नारि पराए घर की, मेरे भरोसें गुपाल रहौ ना।।
कित मेरी तुम बाँह गहत हौ, नैंन-जोर मेरे प्राँन हरौ ना।

❀

बृंदाबन की कुंज-गलिन में रीति-छाँड़ि अनरीति करौ ना।
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, चरँन कमल चित टारे टरौ ना।।

❀

सखी-री, मेरी नींद नसाँनी हो।
पिय कौ पंथ निहारत सिगरी रैंन-बिहाँनी हो।।
सब सखियँन मिलि सीख दई, मन एक न माँनी हो।
बिन देखें कल नाहीं जिय, ऐसी ठाँनी हो।।
अंग-अंग ब्याकुल भई, मुख पिय, पिय, बाँनी हो।
अंतर बेदँन बिरह की, वौ पीर न जाँनी हो।।
ज्यों चातक घँन कों रटै, मछरी जिमि पाँनी हो।
'मीराँ' ब्याकुल बिरहनी, सुध-बुध बिसराँनी हो।।

भाषा-मणि ब्रजभाषा के ही नहीं, उसकी वर पुत्री 'खड़ी बोली' के नाते भी 'दादू दयाल' का नाम ब्रजभाषा के क्षेत्र में ही लिया जाता है। रामानुज संप्रदाय की एक शाखा विशेष 'दादूपंथी' के नाम से प्रसिद्ध है। दादू उसके संस्थापक कहे जाते हैं। दादू का जन्म समय सं० १६०२ वि० माना जाता है, पर जन्म-स्थान पर मत-भेद है। किंवदंति तो ये है, कि ये—'लोदीराम नागर ब्राह्मण को अमदाबाद की सावरमती नदी में बहते हुए मिले थे।' अतः जाति का निश्चय करना कठिन है। पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन ने दादू और दादू-पंथ के संबंध में अधिक खोज की है। इन विद्वानों की खोज का निष्कर्श अभी कम ही देखने में आया है। पं० सुधाकर द्विवेदी इनका जन्म 'जौनपुर' (उत्तर प्रदेश) मानते हैं, पर उस में कुछ तथ्य नहीं है। दादू दयाल को कोई ब्राह्मण, कोई धुनियाँ और कोई—मोची मानते हैं। धुनियाँ मानने वाले इनका पूर्व नाम—दाऊद जो पीछे दादू के रूप में बदल गया, इनके पिता का नाम—सुलेमान, स्त्री का नाम हब्बा और गुरु का नाम बुरहानुद्दीन बताते हैं। इसी प्रकार इनके पुत्रों के नाम—गरीबदास और मिस्कीनदास तथा पुत्रियों के नाम—अब्बा और सब्बा। कुछ इनके नाम—नानी बाई व माता बाई भी बतलाते हैं।

"गरीब, गरीबी गहि रह्या, मसकीनी मसकीन।"

इनके गुरू के संबंध में भी संदेह है। कोई इनके गुरु कमाल (कबीर के पुत्र) और कोई बुरहानुद्दीन, तथा कोई—वृद्धानंद वा बुड्ढन बाबा का नाम लेते हैं। दादूदयाल भी इस संबंध में चुप हैं। वे इतना ही कहते हैं—

"गैब माँहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरा कर धरा, दछया हमें अगाध।।"

—दादूबानी-दछया : प्रयाग

दादू के इस कथन से गुरु-रूप किसी पुरुष-विशेष की ओर संकेत करना लक्षित नहीं होता। अपितु कई अन्य प्रसंगों-द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी अलौकिक व्यक्ति वा स्वयं भगवान् के लिए यह उद्गार प्रगट किया गया है। लोगों का अनुमान है कि ये बुड्ढन कबीर की शिष्य-परंपरा के थे, जिनका वंश-वृक्ष क्रमशः—कबीर, कमाल, जमाल, विमल और बुड्ढन बताया जाता है।

दादू बड़े दयालु थे, क्षमाशील भी अत्यंत थे, इसी कारण इनका नाम—दादूदयाल पड़ा। इन्हों ने प्रायः समस्त राजपूताने की यात्रा की थी। दादू की कविता में इनके धार्मिक विचार भली-भाँति प्रगट होते हैं। ये हिंदू-मुसलमानों में भेद नहीं मानते थे। मूर्ति-पूजा, अनेकेश्वरवाद के कट्टर विरोधी थे। कबीर के समान इन्होंने भी अपने ज्ञान-मार्ग का प्रचार करने के लिए 'दोहे' और 'साखियाँ' रचीं, पर कबीर और दादू में इतना भेद है कि इन्होंने किसी के मत का खंडन नहीं किया,—विवेक-पूर्ण शब्दों में निर्भय हो कर अपने मत का प्रतिपादन अवश्य किया है। दादू की कविता में छंदोभंग की भरमार है, साथ ही उसमें भावों की उत्कृष्टता तथा सत्योक्ति—किसी से कम नहीं है। अपनी बहुत-सी कृतियों में ये कबीर से कहीं अधिक बढ़ गये हैं। आपने पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी आदि मिश्रित भाषाओं में कविता की है, फिर भी भाषा सरल और शब्दों में यथेष्ट बल के साथ परिवर्त्तन किया गया है। दादू की कविता से पता चलता है कि ये 'राम-भक्त' थे। इनके राम नर-तन-धारी अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र नहीं—निराकार, निराधार, निर्लेप, सर्वज्ञ, व्यापक परब्रह्म हैं। दादू ने इनका संबोधन 'रोम-रोम में रमि रहे' के कारण 'राम-नाम' से किया है।

दादू का संप्रदाय 'परब्रह्म-संप्रदाय' और उनके स्थान को 'अलख दरीबा' कहा जाता था—

"आसिक असली साध सब, अलख दरीबे जाइ।
साहिब दर-दीदार में, सब मिलि बैठे आइ॥"

—परचा-अंग

इस स्थान को दादू ने 'चौगान' की उपाधि भी दी है। इससे ज्ञात होता है कि ये उसे दैनिक प्रपंचों से परे विश्राम का स्थान मानते थे।

दादू की 'बानी' बीस हजार कही जाती है। जिसका अभी तक कोई प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध नहीं है। दादू के शिष्य संतदास और जगन्नाथ ने इनकी 'बानी' का संग्रह वर्गीकरण-रहित 'हरड़े वाणी' नाम से किया था। इनके बाद इनके शिष्य 'रज्जब' ने इस संग्रह को ३७ विभिन्न अंगों वा प्रकरणों में विभक्त कर 'अंग-वधू' नाम से उपस्थित किया। तत्पश्चात् पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'रज्जब-प्रणाली' का अनुकरण करते हुए 'काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा' से २६२३ साखियाँ तथा ४४५ पद प्रकाशित कराये। इसी प्रकार—एक दूसरा संग्रह, डाक्टर राय दलजंगसिंह का भी है, जो जयपुर से प्रकाशित हुआ था। इन सब से प्रामाणिक एक तीसरा संग्रह भी है, जिसे पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी ने संपादित कर अजमेर से प्रकाशित किया। इस में भी रज्जब के अनुसार ३७ अंगों में २६५२ साखियाँ तथा २७ रागानुसार ४४५ पद हैं। प्रयाग के 'वेलवेडियर' प्रेस से भी इनका एक संग्रह निकला है।

दादू की कविता में गुजराती तथा राजस्थानी का बाहुल्य होते हुए भी ब्रजभाषा की झलक बहुत कुछ है। रचना में यथार्थोक्ति, गूढ़ोक्ति, लोकोक्ति और उपमा-उत्प्रेक्षा-आदि का अच्छा जमघट है।

विक्रम सं० १६८० से सं० १८९० तक ब्रजभाषा का 'अलंकृत-काल' माना जाता है। इस दो सौ वर्ष के काल में ब्रजभाषा की प्रभूत उन्नति हुई। इस समय काव्य का प्रवाह धर्म की ओर न बह कर अलौकिक की आड़ में लौकिक शृंगार की ओर बहा। इस प्रवाह के अधिनायक थे' महा-कवि केशवदास'। यों तो इनसे प्रथम रीति-ग्रंथों का प्रणयन होने लगा था, फिर भी रीति-प्रधान-काव्य के ये ही आदि प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस काल में महाकवि-सेनापति, महाराज जसवंतसिंह, मतिराम, बिहारी, सूदन, भूषण देव, दास, बेनी, बेनीप्रवीण, ठाकुर, पद्माकर, ग्वाल-आदि अगणित उत्कृष्ट कवि हुए हैं, जिन्होंने शृंगार-प्रधान रचनाएँ की। सूदन और भूषण ने जहाँ वीर-रस-प्रधान कविता द्वारा निर्जीव प्राणों में वीरता का संचार किया—वहाँ गोपाल, मथुरानाथ, जगन्नाथ, गणेश, गुलाबसिंह, यशवंतसिंह—तिरवा नरेश, नोनेराम, सुखदेव मिश्र, फतेसिंह, गरुदास, द्विज, राजा लक्ष्मणसिंह, भूपति, खुमान आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात कवियों ने ब्रजभाषा के भंडार को—"हाथियों

का सालहोत्र, जवाहरात की तौल-विधि के लिए 'चौसर-चक्र', युद्ध के रीति-रिवाजों का वर्णन, दफ्तर के कार्य-विवरण, पक्षियों की चिकित्सा, धनुर्वेद, वाणिज्य-भेद, बागवानी, शतरंज-खेलने की विधियाँ, जड़ी-बूटियों का वर्णन, रत्न-परीक्षा, शकुन-शास्त्र, पहलवानी, सभाओं के कायदा-कानून, राजनीति, गणित आदि विविध कलाओं पर प्रचुर ग्रंथ रच कर भरा—उसे अति समृद्ध किया, नाटकों की भी रचना हुई। रीति-ग्रंथों का, विशेष कर 'नायिका'-भेद' का निर्माण तो अति विशिष्ट था ही, अलंकार, छंद (पिंगल) आदि साहित्य के विविध अंगों का भी विशेष निर्माण हुआ, जो गिनती की परिधि में नहीं आ सकता। इस काल में अनुप्रास, यमक, श्लेष से ब्रजभाषा देवी को पूर्ण अलंकृत किया गया। इन प्रचुर रचनाओं में अनेकों ने भावों की अपेक्षा शब्द और उसके अलंकारों पर ही अधिक ध्यान दिया। इस समय गुजरात-प्रांत में शृंगार-विषयक रीति-प्रणाली की कविता का प्रचार नहीं हुआ था। वहाँ केवल 'दया-राम' ने सर्व प्रथम राधा-कृष्ण की आड़ में शृंगार-विषयक-विशिष्ठ रचना की, जो केवल गुजरात में ही फलफूल सकी। दयाराम कवि श्रीकृष्ण के पूर्ण भक्त थे, अतः उनकी कविता में विशुद्ध शृंगार का समन्वय है। शृंगार के अतिरिक्त भक्ति, ज्ञान, उपदेश, राजनीति, लोकनीति, सदाचार और पिंगल-आदि पर भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ रचे गए। इसी समय गुर्जर-साहित्य को गौरवान्वित करने और उसे अधिकाधिक समृद्ध बनाने वाले प्रेमानंद, श्यामल भट्ट, वल्लभ, कालिदास (मेघदूत-रचयिता कवि-कुल-गुरु कालिदास से पृथक्), प्रीतम, रेवाशंकर, मुक्तानंद, ब्रह्मानंद और दयाराम आदि प्रथम श्रेणी के अनेक कवि हुए। इन गुर्जर-भाषी कवियों में से अनेकों ने ब्रजभाशा में कविता की जो सुंदर ही नहीं, अति सुंदर है। प्रायः सभी कवियों ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है।

गुजरात में ब्रजभाषा के अलंकृत-काल के सर्व प्रथम कवि के रूप में 'रघुराम' जी का नाम आता है। इनका वर्णन 'शिवसिंह-सरोज' और 'मिश्रबंधु-विनोद' दोनों में मिलता है। रघू जी अम-दाबाद के नागर ब्राह्मण थे। आपका रचना-काल सं० १७५७ वि० माना जाता है। इन्होंने—"सभा-सार" और "माधव-विलास" नाम के नाटक ग्रंथ ब्रजभाषा में रचे। रामाश्वमेध और लवकुश-आख्यान भी आपके कहे-सुने जाते हैं; जो देखने में नहीं आए। 'माधव-विलास' तो ब्रजभाषा के प्राचीन नाटकों में अग्रगण्य कहा जा सकता है। रघुराम जी की ब्रजभाषा साफ-सुथरी और मुहावरे दार है।

मिश्रबंधु-विनोद में रघुराम जी का रचना काल सं० १७०१ वि० लिखा गया है, यह ठीक नहीं है। सभा-सार में आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"दिसि पस्यम गुरजर सुधर, सैहैर अहमदाबाद।
भू-पर के सब नगर-सर, ऊपर मंडित बाद॥
ता-मधि सागरपुर सुभग, सुख-दायक सब धाँम।
नागर बिप्र सु संग-मति, कबि-पद-रज-रघुराँम॥
सत्रै-सै सत्तवनाँ, चैत्र-तीज गुरुबार।
पख उज्जल, उज्जल सुमति, कबि-किय ग्रंथ-बिचार॥"

सभा-सार, रघुराम जी की नीति-उपदेश आदि विभिन्न विषयों की फुटकल रचनाओं का संग्रह है, जिससे इनके ऊँचे काव्य-कौशल, पैनी-दृष्टि और भावुकता का पता चलता है। उदाहरण-रूप "फूटे ढोल के साथ अस्थिर-चित्त मनुष्य की तुलना" वाला एक छंद नीचे देखिये—

"एक सों कहत जात, एक कों बिसरि जात, साँझ के बिचार और, औरहिं प्रभात हैं।
जासों-तासों बात सब अंतर की कहें देत, रीझ-खीझ एक है, न और से जनात हैं॥
जो ही भरमावै ताकी बातें सब माँनत हैं, कहत बुराई तासों अति-ही डरात हैं।
बोलत हैं जेते बोल, एतै सब सोल-पोल, ऐसी बिधि 'फूटे ढोल' ते नर कहात हैं॥"

कवि केवलराम, केशवराम नागर ब्राह्मण (वीसलनगरा) अमदाबाद के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १७५६ वि० में हुआ था। ये जूनागढ़ के नवाब जो 'बाबी' कहलाते थे, के आश्रय में

रहते थे। इन्होंने 'बाबी नवाबों' की प्रशंसा में "बाबी-विलास" नाम का ब्रजभाषा का एक सुंदर ग्रंथ बनाया। जिसमें आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"अमदाबाद जु राजपुर, तहँ तुरसी की पोल।
केसव-सुत केवल बसै, नागर बिप्र अमोल ॥"

केवलराम ने अस्सी वर्ष की वय (सं० १८३६ वि०) में संन्यास ले कर शरीर छोड़ा। कविता विशुद्ध ब्रजभाषा में है। उदाहरण के लिए दिल्ली के फ़खरुद्दीन खां को परास्त करने वाले बाबी नवाब 'जवाँमर्द खाँ' की प्रशंसा में कहा गया एक कवित्त यहां देखिये। जैसे—

"गजब गरूरी गाज दिल्ली ते दलँन साज, लूटिबे के काज पंथ गुज्जर कों लींनों है।
बूंदी कों बिदारी, मारे हाड़ा गाढ़ा जोरँन कै, और राउ-राजा तिन्ह बाँह-बल छीनों है॥
प्रबल पठाँनन सों भिरचौ रन-जीतिवे कों, भारत सौ कीन्हों जुद्ध बीर-रस-भींनों है।
नवल 'नबाब जवाँमर्द' खाँ बहादुर' नें, फ़करू नबाब कों फकीर करि दीनों है॥"

केवलराम जी ने 'लूनवाड़ा' के राणा दीपसिंह की प्रशंसा में भी एक रचना रची थी, जो आज अज्ञात है। उसका एक छंद सुनने में आता है, वह इस प्रकार है—

"मोहि कवीसुर-ईस करचौ, सुतौ माँनत हैं नव-खंड के राजा।
और सबै मुगलाँन-पठाँन, भली-बिधि चाँह करैं सिरताजा॥
हैबर, हैमकड़ा बकसे, सिरपाव दिए सब ही जस-काजा।
दीपसी राँना सुनों बिनती, अब राखिए 'केवलराम' की लाजा॥"

संवत् १७६७ वि० के लगभग 'किसन' कवि ने ब्रजभाषा में 'किसन-बावनी' उद्बोधक-रूप में रची। किसनदास या कृष्णदास—लोकागच्छ गुजरात के जैन साधु थे। कवि ने यह रचना मरण-शैया पर पड़ी किसी "रतनबाई' साधवी के अनुशोचन से प्रेरित हो कर जीव, देह और संसार की नश्वरता का भान करा कर भगवान् पर श्रद्धा रख कर चिंतन और मनन करने वालों के लिए सदुपदेश के रूप में रची। जैसे—

"श्रीय संघराज गुरु लोकागच्छ-सिरताज, तिनकी कृपा ते पाई कविताई पावनी।
संबत सतरै-सत-सठै बिजै दसमी कों, ग्रंथ की समापति भई है मन-भावनी॥
साधवी सग्याँन मा की जाई 'रतनबाई', तज्यौ देह ताके हेत रची परचावनी।
मत की न मति लींनीं, बाचक 'किसन' कींनी,............ उपदेस बाबनी॥"

आप की ब्रजभाषा गुजराती होते हुए भी सुंदर और सरल बन पड़ी है। गुजराती प्रतिलिपि-कर्त्ताओं ने अपने ब्रजभाषा-अज्ञान के कारण उसमें गड़बड़ की है, फिर भी वह प्रांजल है—सुबोध है। जैसे—

"ग्याँन की न गूंझि, सुभ ध्याँन की न सूझि, खाँन-पाँन की-ही बूझि ऐब मुझ मही है।
मोसौ कठोर, गुन-चोर न हरामखोर, तोसौ न गौर ठौर और वौर यही है॥
अपनी-सी कीजै, मेरे फैल पै न दिल दीजै, 'किसन' निबाहि लीजै जो पै ज्यों-हीं त्यों-हीं है।
मैं तो मनमाँने ठाँउ पोंहच्यौ ठिकाँने अब, तेरी गति तू ही जाँनें, मेरी गति तू ही है॥"

रत्नजित् नाम के ब्रजभाषा-कवि ने संवत् १७७० वि० के आस-पास "ब्रजभाषा-व्याकरण" के नाम से तीन-प्रकरणों में—'ब्रजभाषा-व्याकरण, ब्रजभाषा-शब्द-सिंधु और ब्रजभाषा-धातु-माला' रचा। प्रथम प्रकरण-रूप ब्रजभाषा-व्याकरण में कवि ने —"सात विभक्तियाँ, तीन लिंग, तीन क्रियाएँ, तथा उनके भेद-उपभेद, सर्वनाम, विभक्तियों के साथ उनके भेद, काल-विधि, स्वर, व्यंजन, प्रसंग-विचार, दृष्टांतों के साथ शब्दालंकार और अर्थालंकार तथा चित्रालंकारों का वर्णन किया है। भाषा-शब्द-सिंधु-प्रकरण में कवि ने 'ककारांत से लेकर ग्य (ज्ञ)—कारांत तक के शब्दों का वर्णन करते हुए प्रत्येक के ३०-३० शब्दों का उल्लेख करते हुए 'धकारांत' के पाँच शब्द दिए हैं। ब्रजभाषा के उच्चारण के

अनुसार कवि ने 'ङकारांत' के स्थान पर 'नकारांत' शब्दों का वर्णन किया है। ईकारांत शब्द जैसे— झाँई, साँईङवा ञकारांत शब्द जैसे—मांझ, सांझ, बंझा आदि शब्द भी दिए हैं। यही नहीं, कवि ने— मोहन, सोहन को मोंहन, सोंहन और नाम, धाम, काम, राम, गाम, वाम, थाम, दाम आदि को नांम, धांम, कांम, रांम, गांम, बांम, थांम और दांम रूप दिया है, जो ब्रजभाषा-उच्चारण तथा उसकी प्राचीन लेखन-प्रणाली के द्योतक हैं। णकारांत शब्दों का उल्लेख भी नहीं किया है। कवि ने इस प्रकरण में संज्ञा-वाचक-शब्द ही दिए हैं। क्रिया-वाचक शब्द भाषा-धातु-माला नाम के तृतीय-प्रकरण में दिये हैं। इस प्रकरण में कवि ने—'क' से 'ह'-पर्यंत अक्षरांत वाली धातुओं का वर्णन किया है।

यह ग्रंथ दोहा, सवैया आदि छंदों में लिखा गया है। कवि की भाषा प्रसादगुण-संयुक्त, सरल और सुंदर है। गुजराती-भाषा का रंचक भी मिश्रण नहीं है। कवि ने ब्रजभाषा-निंदकों के प्रति कितना सुंदर लिखा है—

"रँचन अगँम, पढ़िवौ सुगँम, ब्रजभाषा कौ ग्रंथ।
ता ते बहु नृप अनुसरत, या भाषा कौ पंथ ।।५

जो पंडित बेखान-बिद, तौ पुनि भाषा चाहि।
निंदत हैं ब्रजभाष कों, पोंहचत बुद्धि न जाहि ।।६

भाषा कौ रस जान-हीं, भाषा-जाँननहार।
ज्यों केसव गिरबाँन कों, जाकी बुद्धि अपार ।।"७

अथवा—

"देव-गिरा अति कठिन है, बहु दिन सों समुझात।
ताते कवि नर-बाँनि सों, बहु-बिधि ग्रंथ बनात ।।२,

सुर-बाँनी गिरिबाँन सो, नर की ब्रज-पैहचाँन।
अवर गिरा सो छुद्र की, भौत प्रवर्ति न जाँन ।।३,

नर-बाँनी नर-लोक में, सुगम पढ़त संसार।
ताकी बोलँन-रीति कों, कहों कछूक बिचार ।।४,

❀

अगनित सागर सबद कौ, कछु दिसि कहुँ समुझाइ।
ज्यों कासी सत-कोस पै, अँगुरी-पंथ बताइ ।।५,

जिहि बाँनी कों ऊचरे, राम[1]-कृष्ण नर-रूप।
सो बाँनी सब देस में, पढ़त-सुनत कवि-भूप ।।६,

देस, काल-अनुसार सों, लोक-गिरा फिरि जात।
सास्त्र-बिग्य कवि-बदन में, सुद्ध सारदा आत ।।७,

❀

"स्यादिक सप्त बिभक्ति सों, पढ़त गिरा गिरबाँन।
कों-आदिक ब्रज-बाँनि में, पंच-बिभक्ति प्रमाँन ।।८,

प्रथमा के प्रत्यय नहीं, दुतिय-चौथि इक अर्थ।
ता बिन एक रु बहु बचँन, प्रत्यै कहत समर्थ ।।९,

[1]. श्री वलदेव जी।

"प्रथम पद्म-भव-पुत्रि[1] कों, पुनि-पुनि करों प्रनाँम ।
जाकी प्रभुता सों रचों, भाषा-धातु कि दाँम ।।
जाकों मित्र जु कवि मिले, अमर भए महिपाल ।
नाँहिं मिले जा कों कवी, ताहि भखि गयो काल ।।
ताहि भख गयो काल, कोट-जुग नाम न जांना ।
कहाँ जनम, कहाँ मरे, उड़ि गए तूर-समाँना ।।
ज्यों निधि में गत नीर रहे, बंधित करि ताकों ।
निज उक्तिन में अमर किए, कवि-मित्र सु जा कों ।।"

※

"देव-कृपा तें कवि बनें, न बनें करि अभ्यास ।
ता ते कवि कों चाँहते, बहु नृप गए निरास ।।"

ककारांत और हकारांत-धातु—

"तरक, खरक, चुक, छिरक, कहुक, अटक, पटक, अवलोक ।
चमक, दमक, बक, चोंक, सक, हुलक, बिलोक-हि रोक ।।"

※

"कह, गह, दह, रह, गुह, लह, मोह, सोह, अवगाह ।
रोह, गाह, अवरोह, ढह, सह, चह, निवह, सराह ।।"

इस समय के आस-पास ही किन्हीं 'कुशलधीर' उपाध्याय ने व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि केशव-दास जी की 'रसिक-प्रिया' का गुजराती अनुवाद किया है। पुस्तक में प्रथम गुजराती-भाषा में वर्णित छंद का विस्तृत अर्थ देकर बाद में रसिक-प्रिया के छंद उद्धृत किये गए हैं। ग्रंथ-कर्ता का 'गुजराती-साहित्य' के इतिहास-ग्रंथों में कुछ पता नहीं लगता। केवल भाषा के सहारे जाना जाता है कि ये कोई काठियावाड़ के जैन-साधु थे। भाषा पुरानी नहीं है, पर उसे अर्वाचीन गुजराती भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी भाषा सुंदर, सरल, सरस और मूल-ग्रंथ-कर्त्ता के भावों को भली-भाँति प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हुई है। भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं संस्कृत तथा व्रजभाषा के रीति-ग्रंथों के अवतरण दिये हैं।

इस प्रकार इसी समय किन्हीं व्रजभाषा के प्रेमी ने 'बिहारी-सतसई' का भी गुजराती-भाषांतर किया है। इस भाषांतर में उक्ति, कथन तथा दोहों में अलंकृत अलंकारों का भी उल्लेख किया गया है। ध्वनि-व्यंजना का भी कहीं-कहीं दिग्दर्शन है, जिससे अनुवादक की काव्य-प्रवीणता का पता चलता है।

दलपतिराम और वंशीधर दोनों कवि अमदाबाद के निवासी थे। दलपतिराम—महाजन (बनियाँ) तथा वंशीधर श्रीमाली ब्राह्मण थे। जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह जी के प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथ—'भाषाभूषण' की टीका करते हुए इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"भाषा-भूषँन अलंकृत, कहुँ-कहुँ लच्छन-हींन ।
स्रम-करि ताहि सुधारि सो 'दलपतिराइ' प्रवींन ।।
अरथ कुवलयानंद को, बाँध्यौ दलपतिराइ ।
बंसीधर कवि नें धरे, कहूँ कबित्त बनाइ ।।
मेदपाट श्रीमालि-कुल बिप्र-महाजन काइ ।
बासी अमदाबाद के, बंसी-दलपतिराइ ।।"

[1]. श्री सरस्वती ।

अस्तु, जैसा कि ऊपर लिखा गया है—वंशीधर-दलपतिराम वा राय ने प्रथक् जाति होते हुए भी अभिन्न बंधु की भाँति युगल नाम से 'भाषाभूषण' की टीका—ब्रजभाषा में 'अलंकार-रत्नाकर' के नाम से सं० १७९८ के लगभग की। इन दोनों कवियों ने बड़े प्रयास से अलंकारों को सरलता से समझाने के लिये ब्रजभाषा-गद्य में ग्रंथ लिखा और उदाहरणों में ब्रजभाषा के चुने हुए ४४ कवियों की चुनी हुई सरस कविताएँ दीं हैं। ये चुने हुए कवि इस प्रकार हैं—

"जसवंतसिंह—भाषाभूषण-कर्त्ता, सेनापति, केशव, बलभद्र, गोप, भगवंतसिंह, गंग, बिहारी, मुकुंद, बदनसिंह, शिरोमणि, सुखदेव, चतुर, सुरति मिश्र, नीलकंठ, मीरन, रामकृष्ण, आलम, देवी, दास, धोरी, कृष्ण, देव, कालिदास, दिनेश, बिट्ठलराम, अनीस, कासीराम, चिंतामणि, पुखी, शिव-कवि, रघुराम, नेही, मुबारक, रहीम, मतिराम, रसखाँन, निरमल, निहाल, निपट निरंजन, नंदराम, महाकवि, राधाकृष्ण और ईश।"

इन दोनों कवियों ने 'छंद-शास्त्र' पर भी एक ग्रंथ—'पिंगल-भाषा' बनाया है। कविता सुंदर और शुद्ध ब्रजभाषा है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अनुप्रास आदि पर पूर्ण ध्यान रखा गया है। उदाहरण जैसे—

"रहै सदाँ बिकसत बिमल, धरैं बास-मृदु-मंज।
उपज्यौ नहिं पै पंक सों, प्यारी तब मुख-कंज॥"

"भौंहैं कुटिल कमाँन-सी, सर-से पैंने नैंन।
बेधत ब्रज-बनिताँन-हिय, 'बंसीधर' दिन-रैंन॥"

—इत्यादि

कवि ने अपने नाम—वंशीधर का कविता में किस प्रकार 'नाजायज-फायदा' उठाया है, जो देखते ही बनता है। दलपतिराम के गुजराती-भाषा में भी दो 'प्रकरण' मिलते हैं—'भूत-निबंध' और 'रास-माला'।

संवत् १८०० के आस-पास—तपागच्छीय 'कनक कुशल' के शिष्य 'कुँवर कुशल' ने 'लखपति-जस-सिंधु' नाम से अलंकार का रीति-ग्रंथ ब्रजभाषा में बनाया। लखपति कच्छ के राजा थे। कच्छ के इतिहास में इनका समय सं० १७९८ से १८१७ वि० बताया गया है। अतः कवि के ग्रंथ का समय इसके आसपास ही होना चाहिये। कच्छ के इतिहास के अनुसार कवि 'कनक कुशल' ने राजा लखपति को ब्रजभाषा के तत्समय प्राप्त काव्य-ग्रंथों का अभ्यास करवाया था। राजधानी में बाहर से जो भी विद्यार्थी ब्रजभाषा पढ़ने को आते थे, उनके भोजनादि का प्रबंध राज्य की ओर से 'पेटिया' (रसोई का कच्चा सामान—आटा-दाल-इत्यादि" के रूप में होता था। कवि की भाषा सरल और सुंदर है—

"सकल देव सिर सेहरा, करत परम परकास।
सविता, कविता दै सफल, इच्छित पूरै आस॥
कविन प्रथम जे-जे कहे, अलंकार उपजाइ।
कुँवर कुसल ते-ते लहे, उदाहरन सुखदाइ॥"

गुजरात के अंतर्गत 'आमोद' जिला भडोंच के निवासी "जसराम" कवि 'राजनीति' विशारद थे। जसराम जी ने अपनी रचना—'ब्रजभाषा-राजनीति' में अपने को 'चारण' जाति का लिखा है। जैसे—

"पढ़वे ते मालुम परत, आछी नीति-अनीति।
'जसूराम' चारँन कही, राजनीति की रीति॥"

यह ग्रंथ सं० १८१४ वि० में लिखा गया। कवि ने इस राजनीति-ग्रंथ को 'आठ अंगों' में विभक्त किया है। जैसे—

"प्रथम अंग भूपाल, राजरानी अंग दूजौ।
तीजौ राजकुमार, मंत्रि चौथौ गनि लीजौ।।
पाँच मुसाहिब-अंग, और रावत खट मानौं।
सातें रैयत-अंग, कवी अस्टांग बखानौं।।
जुग नीति-रीति बरनें 'जसू', बिबिध बिवेक विचार वहु।
जे कर .... समरथ्थ जस, अस्टांग बरनंन सहु।।"

जैसा इस छंद में कहा गया है—राजा, रानी, राजकुमार, मंत्री, मुसाहिब, राव, प्रजा और कवि इन आठों के कर्त्तव्य-नियम बड़ी योग्यता से लिखे हैं, जिससे कवि का पांडित्य और काव्य-चातुर्य भली-भाँति प्रगट होता है। पौराणिक-आख्यायिकाओं से उदाहरण देकर भावों को सुंदर रीति से स्पष्ट किया है। भाषा शुद्ध व्रजभाषा है, कहीं-कहीं गुजराती की झलक है। अन्योक्तियों से इनकी कवित्व-शक्ति सुंदर रूप से प्रगट होती है। साथ ही लोकोक्तियां भी खासी सुंदर बन पड़ी हैं। जैसे—

"राज के बजीरँन सबै लोग 'जसराम', "तँबोरि के पाँन ज्यों संवारिबोई चहिएं।"

✻

"राजनीति राज के बजीरँन कों 'जसराम', "गुर-ही ते मरै ताहि बिष ते न मारिऐं।"

✻

........"पूत-हू के लच्छिन, सुपालनें पैहचाँनिऐं।"

एक स्थान पर आप लिखते हैं—

"जसू न जाँचै जाँम सों, बड़-भाटँन की टेक।
तेरें माँगन बौहौत हैं, मेरें भूप अनेक।।"

इस से प्रतीत होता है कि जसराम जी प्रथम जामनगर (कठियावाड़) के राजदरबार में भी गये थे और पीछे कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण इन्होंने अपने आश्रय-दाता की इस प्रकार भर्त्सना की। आपकी रचना के उदाहरण, जैसे—

"चातक, दादुर, मोर छिति, सदाँ निबाहत नेह।
नृप ऐसौ चहिऐं 'जसू', जैसौ उत्तम मेह।।
कबहूं कलह न कीजिए, अपने घर में आप।
कीजै आप कुटिलता, सत्रुंन कों संताप।।
जो दीजै परधाँन-पद, तौ कीजै इतबार।
जो इतबार न होइ तौ—'जसु' परधाँन निबार।।"

जसराम जी नें अपनें उक्त ग्रंथ की छंद-संख्या का भी उल्लेख किया है, जैसे—

"राजनीति कींन्हीं प्रथम, अंग जु कहिऐं आठ।
छप्पै दस, छाँसठ कवित, बने दोहरा साठ।।"

कवि 'रत्नपाल' नें सं० १८३९ वि० में एक "प्रेम-रत्नाकर" नाम से व्रजभाषा-ग्रंथ की रचना की है। इसकी खंडित प्रति मिली है। कवि ने इसे पाँच तरंगों में विभक्त किया है। रत्नपाल कहाँ के और कौन थे इसका पता नहीं चलता, पर पुस्तक के अंत में कवि नें लिखा है।

"इति श्रीमन्महाराजकुमार जदुवंसावतंस भैआ रतनपाल जू बिरंचते 'प्रेमरतनाकरे' पंचमस्तरंगः।। प्रेमरतनाकर संपूर्णः।। सं० १८ उगणचालीस चईत्र बदे ७ वार बुधे संपूरण लिखौ भरूंच मध्ये।।"

इससे ज्ञात होता है कि ये जाति के सोमवंशी ठाकुर थे और भड़ोंच (गुजरात) के रहने वाले थे। प्रथम तरंग खंडित है, द्वितीय में—"नीर सूरज कौ प्रेम', तीसरी में—"चकोर-चंद्रमा कौ प्रेम', चौथी में—भ्रमर-नलिनी कौ प्रेम, समुद्र-वडवानल कौ प्रेम, और पाँचवीं में—दूध-पानी, सीगी-मच्छी, परेबा आदि" के प्रेम का वर्णन किया है। अंत का छंद इस प्रकार है—

"जुग-जुग कीरति-बढ़ाइवे कों राजँन की, सभा में पृछाइवे कों श्राछौ गुन-गायौ है।
प्रेमिन कौ प्यारौ है, कृपारचौ इन काहू-ही, जगत-भगत सो तौ सब कों सुनायौ है।।
सूरज के बंस राजा सगर के सगरेन, सत्य-जुग-माँहिं जैसें सागर खनायौ है।
त्यों-हीं कुल-माँहि 'सोमबंस के सपूत भैया, रतन जू' नें यै प्रेम-रतनाकर बनायौ है।।"

पुस्तक गुजराती अक्षरों में और वह भी घसीट में लिखी होने से, पढ़ने में बड़ी कठिनाई प्रस्तुत होती है।

संवत् १८५३ वि० में अहमदाबाद के सुखवासी भारद्वाज गोत्री पुष्करणा ब्राह्मण अड़क—सेवक के 'महासिंह' ने ब्रजभाषा में "छंद-सार-पिंगल" नाम से एक ग्रंथ विशेष की रचना की। महासिंह जी प्रथम—मेड़ता (माड़वार) के रहने वाले थे। बाद में ये अमदाबाद में रहने लगे, जैसा कवि ने स्वयं लिखा है—

"भारद्वाज गोत्र पुसकरनाँ, सेवक जात कहावै।
महासिंह कवि नगर मेरता, बसें परम सुख पावै।।"

ग्रंथ-रचना का समय देते हुए कवि लिखता है—

"संबत लोक, पांडव, नग, चंद, नभ मास, धबल तिथि पंचमीं कुजबार ठाँनियो।
स्वाँति-नच्छत्र सुंदर, चंद तुला-रासि आए, मध्य रबि समें इंद्र जोग आँनियो।।
छंद-सिंगार-नाम ग्रंथ जो समापत भयौ, 'नवानगर' सहर निज मन-माँनियो।
कहै कवि 'महासिंघ' जोई पढ़ै-बाँचै सोई, मेरौ नित-प्रति कौ जै श्रीकृष्ण जाँनियो।।"

अन्य उदाहरण में वंदना का 'छप्पय' छंद नीचे दिया जाता है, जिससे इनके ब्रजभाषा-ज्ञान पर काफी प्रकाश पड़ता है। अस्तु—

"अरुन बरन, गज-बदन, सदन-बुधिबर सुख-दायक।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि-बृद्धि, नितप्रति गन-नायक।।
बिमल ग्याँन-बरदाँन, तिमिर-अग्याँन निकंदन।
सब कारज सिधि लहै, प्रसन जासों जग-बंदन।।
गौरी सुनंद आनंद-मय, बिघँन, ब्याधि, भब-भै-हरँन।"

आगे की पंक्ति दीमकों की भेंट है।

कवि कल्याण, वैष्णव-धर्मानुयायियों के गढ़ और प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान 'डाकोर' जी के संत थे। इनका अखाड़ा 'डाकोर' में अब तक प्रसिद्ध है। कविता-काल सं० १८४५ वि०। कल्याण जी ने—'छंद-भाष्कर' तथा 'रस-चंद्रिका' दो ग्रंथ लिखे हैं। कुछ कीर्त्तनों (पदों) का उल्लेख भी मिलता है। इनका एक उद्‌बोधन, जैसे—

"जीवन अपार जाकी जात की न आवै थाह, किए कोंख भाँति-भाँति रतनँन की ढेरी है।
संपति कौ सागर जगत में 'कल्यान' कहै, औरँन कों दीजिए बडाँई सब तेरी है।।
अंग-अंग पूरँन तरंगन ते छाइ रह्यौ, सोहै चंद तात एक बात घट घेरी है।
बाट के बटाऊ प्यासे पूंछें तीर कूप कहाँ, अहो छीर-सागर बडाँई धिक तेरी है।।"

गुजराती के उच्च कोटि के कवियों में 'मुक्तानंद' का नाम गिना जाता है। मुक्तानंद के धार्मिक-विचार और कविता का गुजरात में विशेष आदर है। आप गढहा-निवासी स्वामी नारायण-संप्रदाय, के एक उत्कृष्ट और प्रभावशाली साधु थे। कविता-काल सं० १८६० वि० है। मुक्तानंद जी ने—"विवेक-चिंतामणि, सत्संग-शिरोमणि, उद्धव-गीता, मुख-सिद्धांत, स्त्री-गीता आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है। विशेषकर इन्होंने ज्ञानमार्गी-नीति और उपदेश-विषयक ही अधिक रचना की है, जो उत्तम है। उपमाएँ अनूठी लाये ह। बृंद कवि के समान दोहों के उत्तरपाद में सुंदर दृष्टांत दिए हैं। संस्कृत के भी ये अच्छे ज्ञाता थे। कितने ही संस्कृत-श्लोकों का सुंदर अनुवाद आपने किया है। ब्रज-

भाषा भी आपकी सुंदर है—प्रांजल है। यों तो आपने विशेषकर गुजराती-साहित्य की ही अधिक वृद्धि की है, पर ब्रजभाषा में भी जो कुछ रचना की है वह उपेक्षणीय नहीं है। एक उदाहरण, जैसे—

"चंद सौ सीतल, रूप अनंग सौ, देव गजानन से जग-जाँने।
सिद्ध-सिरोमनि गोरख से, कविराज हू काव्य रचे सुख-साँने।।
सूर जरासँध-रावन से, रिपु-जीति कैं देस सबै घर आँने।
ऐसौ भयौ तौ कहा 'मुक्तानँद', कारन-रूप श्रीकृष्ण न जाँने।।"

प्रारंभिक काल के गुजराती-काव्य रचयिताओं में जो स्थान मीरा और दादूदयाल का है, वही स्थान इस अलंकृत-काल में 'भक्त दयाराम भाई' तथा 'ब्रह्मानंद' का है। मीरा तथा दयाराम और दादू तथा ब्रह्मानंद में बहुत कुछ समानता भी है। दयाराम भाई गुजराती के प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली कवि हैं। गुजराती में इन्होंने श्रीभगवद्गीता-माहात्म्य, भक्तिपोषण-नीति तथा भक्ति के पद, शृंगार-रसात्मक भजन आदि अनेक विषयों पर रोचक रचना की है। ब्रजभाषा में भी आपकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। इन्होंने ब्रजभाषा में 'सतसई' (बिहारी-सतसई के अनुकरण पर), 'वस्तु-वृंद-दीपिका', 'वृंदावन-विलास' तथा अनेक फुटकल पदों की रचना की है। इस कवि-कुल-भूषण ने अपना परिचय जो 'सतसई' के अंत में दिया है, उससे ज्ञात होता है कि ये नर्मदा-तट के चंडीपुर ग्राम के रहने वाले साठोदरा नागर ब्राह्मण थे। सं० १८७२ वि० में आपका जन्म हुआ था। आप श्रीमंत भट्ट के वंशज तथा प्रभुराम के पुत्र वल्लभ-संप्रदायी परम वैष्णव थे। और थे, श्रीकृष्ण भगवान् के पूर्ण भक्त। प्रसिद्ध है कि आपका बाल्यावस्था में अच्छी संगति के अभाव के कारण चरित्र बहुत कुछ बिगड़ गया था, परंतु बाद में सत्संग के प्रभाव से इन्हें ज्ञान हुआ और ये अच्छे तथा कहने-सुनने योग्य वैष्णव बन गये। इनकी शृंगार-रस विषयक कविता भी मिलती है। आपकी ग्रंथ-रचनाओं में 'सतसई' सर्वोत्तम है। यह सतसई बिहारी-सतसई के १५० वर्ष बाद बनी है। जिससे अनुमान होता है कि 'रामसहाय', 'मतिराम' और 'विक्रम' के समान इन्होंने भी बिहारीलाल का अनुकरण किया है। भाई दयाराम को ब्रजभाषा-मुकुट-मणि कवि बिहारी के समान कहना तो धृष्टता होगी, फिर भी इनके रम्य-रचना रूप कुछ दोहे बिहारी की जोड़ के ही नहीं, सरसता तथा भाव-गंभीरता में उनसे कहीं आगे बढ़ गये हैं। कवित्व-शक्ति में श्री बिहारीलाल इनसे कहीं अधिक ऊँचे हैं, इसमें संदेह नहीं, तो भी ये भक्ति-रस-विषयक कविता तथा चित्रालंकार-युक्त नीति-वैराग्य विषय के दोहे रचने में बिहारीलाल जी से बाजी ले गये हैं। कुछ उदाहरण जैसे—

"ललना-लोचन सित-असित, गोलक-डोरे लाल।
यै त्रिबेंनि मज्जन लहौ, मुक्ति बिरह गोपाल।।

मुकुर, मुकुर सब बस्तु भइ, नैंन-ऐंन किय लाल।
दृग-पसारि जित-जित अली, तित-तित लखि गोपाल।।

चाँह बसाएँ हृदे में, धरों त्रिभंगी ध्याँन।
तातें राख्यौ कुटिल-उर, होइ असी ज्यों म्याँन।।"

इन उदाहरणों से ज्ञात होगा कि आपकी ब्रजभाषा कितनी मधुर है। श्लेष-संयुक्त अन्य अलंकारों से सुशोभित दोहों में काव्य-प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। 'वस्तु-वृंद-दीपिका' में संख्या-वाची शब्दों का स्पष्टीकरण तथा गूढार्थ-कोष के समान पद्यों में संख्यायुक्त शब्दों की पूर्णतया व्याख्या की गई है। यह ग्रंथ सं० १८७४ वि० में समाप्त हुआ था। फुटकल पदों की संख्या अधिक है, जो संगीत और काव्य-प्रेमियों के लिए रुचिकर हैं। वृंदावन-विलास बड़ा गूढ है। उसमें वृंदावन की महिमा का वर्णन बड़ी विचित्र रीति से किया गया है। ब्रजभाषा-रसिक श्रीदयाराम भाई के निम्न-लिखित ब्रजभाषा के ग्रंथ देखने में आये हैं—

"पत्रलीला, अजामेल-आख्यान, सतसैया, वस्तु-वृंद-दीपिका, रसिक-रंजन, श्रीमद्भागवत-अनुक्रमणिका, श्रीभगद्गीता-माहात्म्य, ब्रजविलासामृत, रसिकवल्लभ, चतुर चित्त-विलास, कौतुक-रत्नावली, पिंगलसार, छंदरसावली, चरित्र-चंद्रिका, सिद्धांत-सार, संप्रदाय-सार, क्लेश-कुठार, श्रीकृष्ण-स्तवनामृत, पुष्टिपथसार-मणिदाम, विज्ञप्ति-विलास, श्रीकृष्णस्तवन-चंद्रिका, पुष्टिभक्ति रूप दीपिका, मूर्ख-लक्षण सप्तदशी, हरिदास-मणिमाला, ताल-माला, राग-माला, श्रीकृष्ण-नामामृतधारा, श्रीकृष्णाष्टोत्तरशत नाम, श्रीकृष्ण-नाम-माहात्म्य, विश्वासामृत, मंगलानंद-माला, प्रस्ताव-पीयूष, स्वल्पापार प्रभाव, श्रीकृष्ण-नामावली, श्रीकृष्ण-नाम-चंद्रिका, श्रीकृष्ण-अनन्य-चंद्रिका, पुरुषोत्तम-पंचांग, सत्संग-काशी,—श्रीकृष्ण-विवाह,—चीर-हरण,—वेणु-नाद,—विरह-विलाप,—रास और प्रेम की लावनियाँ, वृंदावन-विलास, श्रीहरि स्वप्न-सत्यता, भक्ति-विधान और अनुभव-मंजरी आदि।"

ब्रह्मानंद जी का यथार्थ नाम—'लाड़' था। ये आबू के निकट खाँन ग्राम के थे। इनके पिता का नाम शंभूदान था। संसार से विरक्त होकर ब्रह्मानंद जी ने अपनी जीविका त्याग दी और काठियावाड़ चले आए। कठियावाड़ में इन्होंने 'स्वामी नारायण-संप्रदाय' के उस समय के प्रसिद्ध गरु स्वामी सहजानंद से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद प्रथम तो आपने अपना नाम 'श्रीरंग' रखा, फिर उसे बदल कर "ब्रह्मानंद" नाम धारण किया, जैसा ऊपर है। इन्होंने स्वामी सहजानंद को अपना गुरु बताया है। जैसे—

"संसार-बिघँन सब मेंटिकें, कियौ पार भव-फंद सों।
'ब्रह्मानंद' ममता टरी, सद गुरु सैहजानंद सों।।"

आपकी कविता का विषय धार्मिक तथा सामाजिक है, वह नीति और सदाचार की शिक्षाओं से पूर्ण है। इन्होंने कविता-द्वारा कंठी-धारण, मूर्त्ति-पूजा आदि वैष्णव-धर्म के साधनों को निरर्थक कह कबीर के समान ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन सुंदर रीति से किया है। कबीर की भाँति ही इनकी कविता में छंदोभंग की भरमार है, पर भाव उनसे कहीं उत्कृष्ट हैं।

कविता में गुजराती का मिश्रण अधिक है, जिससे भाषा के सहज माधर्य में कुछ कर्कशता आ गयी है। आप दयाराम, मुक्तानंद आदि गुजरात के ब्रजभाषा-कवियों के समान ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता नहीं थे। उदाहरण जैसे—

"दिन ख्वै गए खेलन-दौरन में।
जुबा होइ रम्यों जुबतिन-रँग, दिन ख्वै गए खावन-पीवन में।।
बृद्ध होइ बँधी अँग ब्याधा, दिन ख्वै गए साधन-सीखन में।
'ब्रह्मानंद' करतार भज्या बिन, धूर तेरे नर-जीवन में।।"

दीन दरवेश, पालनपुर—गुजरात के आस-पास कहीं के रहनेवाले थे। इनका कविता-काल सं० १८८० वि० के लगभग है। मिश्रबंधु-विनोद में एक दीन दर्वेश-बुंदेलखंडी का समय सं० १८७७ दिया गया है। संभव है ये दोनों एक ही हों और वृद्धावस्था में पालनपुर त्यागकर बुंदेलखंड में आ बसे हों। ये जाति के लुहार थे और बालनाथ साधु के शिष्य होकर संन्यासी हो गये थे। बालनाथ बड़नगर के नाथ-पंथी विरक्त साधु थे। दीन दरवेश ऐसे लोगों में से थे, जो परिस्थिति के कारण अपने जीवन की धारा पलट दिया करते हैं। एक समय इन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में काम करते समय तोप का गोला लग गया, जिससे इनकी एक बाँह कट गई तथा नौकरी से भी निकाल दिये गये। इस घटना से इनके जीवन में परिवर्तन आ गया और प्रवृत्ति निवृत्ति के रूप में बदल गयी। पश्चात् दूर-दूर तक भ्रमण कर इन्होंने अपने समय के अनेक साधु-महात्माओं के दर्शन किये और उनसे लाभ उठाया। ये पढ़े-लिखे तो अधिक नहीं थे, पर फारसी और हिंदी का साधारण ज्ञान अवश्य था। इन्होंने अनेक हिंदू-मुस्लिम तीर्थों की यात्रा की थी, जिससे इन दोनों प्रमुख धर्मों का आपको ज्ञान हुआ था। सूफी-संप्रदाय के साथ वेदांत व अन्य मतों का भी रंग गहरा चढ़ा था, पर इन्होंने आत्म-

चिंतन को ही अधिक महत्त्व दिया और स्वतंत्र रूप से अपने सिद्धांत स्थिर किये। फलतः अपने जीवन की पद्धति ही बदल डाली। कहते हैं कि ये अपने जीवन में प्रथम किसी प्रसिद्ध स्थान में रहकर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती में भक्ति-भावना के साथ स्नान किया करते थे। यह स्थान 'सिद्धपुर'—जिसे आज कल 'सीतपुर' कहा जाता है, हो सकता है। वहीं इनके निवासस्थान पालनपुर के निकट था। सिद्धपुर 'कपिलमुनि' का आश्रम, सरस्वती के तट पर है। इसे 'मातृ-गया' भी कहते हैं। दरवेश जी के दैनिक जीवन का कार्यक्रम अपने अनुभवों के अनुसार कुछ न कुछ रचना कर सर्वसाधारण में अपने मत का उपदेश रूप में प्रसार करना था। इस प्रकार उन्होंने अपने हृदय के शुद्ध उद्‌गारों को व्यक्त करते-करते सवा लाख कुंडलियां रच डालीं ; ये आज अप्राप्य हैं। यह 'सवा-लाख' की संख्या बहुतों के साथ जुड़ी हुई है, जिनमें—भक्ताग्रगण्य कविकुल शिरोमणि श्री सूर और ओरछा के श्री हरिराम व्यास जी आदि प्रधान हैं।

दीन जी की उपलब्ध रचनाओं को निरखने-परखने से पता चलता है कि इनके विषय भी प्रायः वही थे जो अन्य संतों की कृतियों में पाये जाते हैं। सरल स्वतंत्र जीवन, संपूर्ण विश्व से प्रेम, परोपकार, ईश्वर की भक्ति, बाह्य विधानों वा प्रदर्शनों के प्रति विरक्ति आदि-आदि....। फलतः हिंदू-मुसलमान का वर्ण-भेद ये नहीं मानते थे। वे अपनी एक रचना में कहते हैं—

"हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हंम।
एक मूंग दो फाड़ हैं, कुण जादा, कुण कंम॥
कुण जादा, कुण कंम, कभी ना करना कजिया।
एक भगत हो राम, दूसरा मानें रजिया॥
कहै 'दीन दरबेस' दोइ सरिता-मिल सिंधू।
सब का साहिब एक, एक मुसलिम और हिंदू॥"

इस प्रकार अपनी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षण भंगुरता के प्रति सचेत करते हुए इन्होंने भाग्यवाद की ओर अग्रसर किया है। पद-पद पर कहा है कि जो कुछ होता है, वह सब करतार के किये ही होता है। बिना उसकी प्रेरणा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अस्तु—

"बंदा-बाजी झूंठ है, मत सांची कर मांन।
कहाँ बीरबल-गंग हैं, कहाँ अकब्बर खांन॥
कहाँ अकब्बर खांन, भले की रहै भलाई।
फतेंसिंघ महाराज, देख उठ चल गए भाई॥
कहै 'दीन दरबेस' सकल माया का धंधा।
मत सांची कर मांन, झूंठ है बाजी-बंदा॥"

कहान या कान अथवा कान्ह—राँधनपुर गुजरात के रहने वाले थे। ये जाति के ब्राह्मण और एक आँख से काने थे। कहा जाता है कि सिद्धपुर के एक मेले में इनसे तथा दीन दर्वेश से एक कुंडलिया की रचना पर वाद-विवाद हो गया था। अतः इनका समय भी सं० १८८० के लगभग कहा जा सकता है। इनकी कविता नीति तथा शिक्षा-परक है। जैसे—

"मिसरी घोरै झूंठ की, ऐसे होंइ हजार।
जैहेर पियावै सांच कौ, सो बिरला-संसार॥
सो बिरला-संसार, पटंभर उनका ऐसा।
मिसरी जैहेर-समांन, जैहेर है मिसरी जैसा॥
कहै 'सुकविया कांन', भूलि मति जैयो भोरें।
तिन के सिर पैजार (जु) झूंठ की मिसरी घोरें॥"

रणछोड़ कवि जाति के नागर ब्राह्मण शैव मतवाले झूनागढ़ के नवाबों के यहाँ प्रधान-अध्यक्ष थे। इन्होंने शिवरहस्य, भाषा शिवपुराण, काम-दहन, सदाशिव-विवाह आदि कई ग्रंथों की रचना ब्रजभाषा में की है। इनकी शिव की स्तुति सुंदर है, जैसे—

"अहि बिन मनि जैसें, महि बिन धनी जैसें, कहे बिन सुनी जैसें, मोंती बिन पाँनी है।
राजा बिन ग्रांम जैसें, लाज बिन बाँम जैसें, दीपक बिन धाँम जैसें सुखमा की हाँनी है।।
बच्छ बिन छीर जैसें, बृच्छ बिन नीर जैसें, लच्छ बिन तीर जैसें, सत्य बिन बाँनी है।
'राइ रंछोर' कथा सरबथा सुनीं सिब की, और कथा बृथा जथा बाल की कहाँनी है।।"

रणछोड़ जी के जन्मादि का समय अभी अज्ञात है। रचना प्रौढ़, मुहावरेदार और अलंकार-युक्त है।

रामानुज-संप्रदाय के संत कवि 'हरिदास' खादड़पुर—काठियावाड़ के वासी थे। इन्होंने सं० १८८१ के आस-पास ब्रजभाषा का एक ग्रंथ—'हरि-विलास' नाम से रचा है, जिसमें लोकाचार तथा धार्मिक विषय के साथ नीति के अच्छे उपदेश हैं। ग्रंथ की 'धार्मिक-तरंग' में आध्यात्मिक विचारों के अतिरिक्त काव्य-चातुर्य की भी अपूर्व छटा है। जैसे—

"चंचल इंद्रपुरी सुख पाइकें, अंत की बेर महा दुख पाँऊँ।
जा सुख में दुख चौगुनों होत है, ता सुख के हों नजीक न जाँऊँ।।
दानों चुगाइ कें पंख मरोरत, ऐसे चुगे पै में न रिझाँऊँ।
कहि 'हरिदास' सुनों सब सज्जन, ना गुर खाँउ न काँन -बिधाँऊँ।।"

हिंदी-क्षेत्र में संवत् १८६० वि० से ब्रजभाषा ने नया रूप धारण किया। उसने शृंगार-वेश त्याग खड़ी बोली का नवीन वस्त्र पहिना। ब्रजभाषा का ह्रास और उसकी पुत्री खड़ी बोली का प्रचार बढ़ने लगा। पत्र-पत्रिकाओं में केवल खड़ी बोली की ही कविताएँ अब लिखी जाने लगीं, पर इधर गुजरात में खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा का ही अच्छा प्रचार रहा। गुर्जर-साहित्य भी खूब फला-फूला। गुजराती कवियों ने अपनी भाषा पर अधिक ध्यान दिया, उसे भली-भाँति सँवारा, जिससे यहाँ—गुजरात में, जैसे गुजराती के प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हुए वैसे ब्रजभाषा के नहीं हुए। फिर भी 'आदित्यराम' और 'गोविंद-गिल्लाभाई'—दोनों ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि हुए हैं। इस समय भी गुजरात में ब्रजभाषा का काफी प्रचार बढ़ा।

काठियावाड़ के 'मूली ग्राम' के रहने वाले चारण 'कालिदास' राजा जसवंतसिंह के राज-कवि थे। चारण जी का कविता-काल सं० १६२५ वि० के लगभग है। इन्होंने अपने आश्रय-दाता महाराज जसवंतसिंह की प्रशंसा में वीर-रस-पूर्ण शुद्ध ब्रजभाषा में सुंदर कविता की है। जैसे—

"साजें चतुरंग-सेंन भूप फतमाल[1] सुत, भाँनु छिप जात आसमाँन रज अटके।
धसकि पहार यों धरनि भार धूजत है, लचक फनिंद मैं कमठ-पींठि कटके[2]।।
कहै 'कालिदास' दल हू तें दाबा दारेंन के, पट्टँन-बुपट्टँन धुंधली कै रूप अटके।
भूप जसबंत तेरे सुँनत निसाँन अहो, भीम-गज खोखा के समाँन रिपु भटके।।"

ठाकुर केशरी सिंह ध्रौल के वासी और भूपसिंह के पुत्र थे। इनकी कविता का समय भी सं० १६२५ वि० ही ठहरता है। ये अपने पिता की मृत्यु के उपरांत पालीताने में अपने मामा के यहाँ रहने लगे थे। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, कविता सुंदर करते थे। केशरीसिंह ने नीति, शृंगार आदि पर शुद्ध ब्रजभाषा में सानुप्रास सरल-सुंदर कविता की है। यथा—

"चंपक, चमेली और केतकी, कन्हैर, जुही, ताके बाँन साजिकें उमंग सरसायौ है।
दाउदी के तुर्रा और मुकट हजारा कौ, हेगल हमेल इस्कपेचा मन-भायौ है।।

1. राजा फतेहमालसिंह।
2. पा०—खटके।

'केसरी' कहत सब फूलँन को सिंगार साजि, मकर कौ धुज सो तौ केवरा बनायौ है।
सैल के करन काज साजिकें समाँन ऐसौ, मानों रितुराज रति-राज बन आयौ है।।"

जेठालाल चारण, वीजापुर के रहने वाले थे। इनका कविता-काल भी सं० १९२५ के आस-पास है। कविता की ब्रजभाषा शुद्ध है। हास्य-रस-प्रधान कविता लिखने में ये अधिक सफल हुए हैं। इनकी कविता में गूढ़ हास्य के साथ काव्य-चातुरी देखने-सुनने लायक है। जैसे—

"गोरे-गोरे भुजदंड, दीरघ बने हैं नेंन, सोभा के ऐंन सब-ही के मन-माँने हैं।
अजब जलेब सों जलेबदार जेबदेंन, द्वारें गज, बाज, हेम-पूरँन खजाँने हैं।।
ऐसे सुन नर-नाह, सुजस की बाढ़ी चाह, ता ते कवि आस-पास आँनि मड़राँने हैं।
हम मरदाँने जाँन जस के कवित्त पढ़े, द्वारें दरबाँन कहैं साहब जनाँने हैं।।"

कवि रविराज भी काठियावाड़ के मूली गाँव के निवासी चारण थे। इन्होंने जाड़ेजा ठाकुर केशरीसिंह की प्रशंसा में कविता की है। कविता का समय सं० १९३५ वि० और मृत्यु सं० १९५१ वि० के आस-पास हुई। रविराज जी की "नर्मदा-लहरी" 'पद्माकर' और 'कवि ग्वाल' की 'गंगा-लहरी' तथा 'यमुना-लहरी' के तोड़ की बेजोड़ रचना है। इन्होंने कुछ फुटकल रचनाएँ भी की हैं, जो साधारणतः सुंदर है। इनकी अन्य रचनाओं का पता नहीं चलता। कविता की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। एक उदाहरण जैसे—

"सुंदर सरीर होइ, महा रनधीर होइ, बीर होइ भीम-सौ लरैया आठों जाँम कौ।
गरबी, गुमाँन होइ, बड़ौ सावधाँन होइ, साँन होइ साहिबी प्रताप पुंज धाँम कौ।।
पढ़त अमाँन जो पै मघवा महीप होइ, दीप होइ बंस कौ जनैया सुख स्याँम कौ।
सर्ब गुन-ग्याता होइ, जदपि बिधाता होइ, दाता जो न होइ तौ हमारे कोंन काँम कौ।।"

काठियावाड़ के अंतर्गत 'लीमड़ी'-राज्य के 'जुगलकिशोर' कवि भी जाति के चारण थे। 'उदर निमित्त' ये राज्यों में आया-जाया करते थे। इनका कविता-काल सं० १९३५ है। इनकी रचना का विशेष पता नहीं चलता। फुटकल छंद ही मिलते हैं। एक उदाहरण जैसे—

"गरजन लागी गुंज गगँन मृदंगँन की, बीजुरी तरनि पातुरीन पाइमाल की।
झर के झरँन-सी परँनि पिचकारिन की, धरँनि में धाई धूँम आँनद रसाल की।।
जैसिंघ महीपति के आज दरबार-बीच, पावस-सी भई रितु फागुन बिसाल की।
घरी-घरी घर में किसोर घनघोर-सम, घूंम, घूंम आई घटा गरद गुलाल की।।"

आदित्यराम—कविता नाम 'रविराय' जामनगर (काठियावाड़) के प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे। ये संगीत और वाद्य के विशेषज्ञ थे। इनका 'संगीतादित्य'[१] ग्रंथ संगीत-शिक्षा के लिये बहुत प्रसिद्ध है। आपकी ब्रजभाषा सुंदर तथा सानुप्रास है। अनुप्रास-प्रेमी होने के कारण आपकी कविता 'पद्माकर' जैसी सुंदर, यमक की ओपनी से ओपी हुई अति चमत्कारपूर्ण है। भक्ति और नीति पर भी आपकी सरस कविताएँ हैं। उदाहरण जैसे—

"गाँन, ताँन, माँन-जुत नाच्यौ नट-भेख धरें, कामिनी बसीकरँन देख्यौ महा फंद में।
करत बिलास, रास, हास सुख-संपति सौं, जमुना के तीर धीर धरै न अनंद में।।
कहत 'रविराँम' तोहि सूझत न कछु काँम, धाँम, धँन, धरा, धनि माँने दुख-दंद में।
सिरी मदनमोंहन जू की माधुरी सु मरति पै, मोह्यौ मन मेरौ ज्यों मलिंद मकरंद में।।"

महारमण[२], राजकोट-गुजरात के ठाकुर थे। इन्होंने अपने कई कवि-मित्रों की सहायता से ब्रजभाषा का एक सुंदर शृंगार-रस-पूर्ण ग्रंथ 'प्रवीण-सागर' रचा है। यह भाव और भाषा दोनों दृष्टियों

[१]. यह ग्रंथ छप चुका है।
[२]. इनका नाम 'महरामण' भी मिलता है।

से सरस है। आप इस ग्रंथ की समाप्ति के पूर्व-ही दुर्भाग्य-वश काल-कवलित हो गये। पीछे 'कवि गोविंद-गिल्ला भाई' ने सं० १९४५ में इसकी समाप्ति की। कवि ने प्रवीन (प्रवीण) सागर सं० १९३८ वि० में बनाना प्रारंभ किया था। 'प्रवीण-सागर' अमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है जो गुजराती अक्षरों में है। काशी से भी इसका कुछ अंश-विशेष लाला भगवानदीन 'दीन' ने बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की सहायता से संपादन कर प्रकाशित किया था। भाषा शुद्ध, सरस तथा कहीं-कहीं गुजराती के शब्दों से सुशोभित है, पर स्वाभाविक है। जैसे—

"जैसें निरमल होत है, कँनक अँनल के संग।
तैसें प्रेमी बिरह-बल, चढ़ै सुरति के रंग।।

❀

बेदरदी जरदी समर, ताकौ लगै न तीर।
दरदी घटपट है नहीं, कैसें बचै सरीर।।"

नीलकंठ कवि के विषय में कुछ पता नहीं चलता। इनके एक छंद के चरण से जाना जाता है कि ये 'श्रीमंत मल्हार राव गायकवाड़' के समय में थे। जैसे—

"महिपति मल्हार सौ ख्वार ह्वै गयौ कैद, या कौ ही बिचारौ भेद तौ हू पर-नारी है।"

मल्हारराव एक उद्दंड शासक होने के कारण सं० १९३२ वि० में बड़ोदा के सिंहासन से अंगरेजों-द्वारा हटा दिये गए थे। मल्हारराव की मृत्यु सं० १९४० के आस-पास मदरास (दक्षिण) में हुई थी। अतः नीलकंठ का कविता-काल सं० १९४० वि० के लगभग होना चाहिये। ये बड़ोदा के ही वासी थे। इनकी ब्रजभाषा-कविता में बहुत सरसता और मधुरता है। वंशी-संबंधी एक छंद जैसे—

"वे जग-अंधन के मगदा, चलिबौ इन नींकन हू कौ बिगारचौ।
वे बलि बास-बसावत हैं, इन बास-उजारि कुबासँन पारचौ।।
सूरँन थाह जताबत वे, इन प्रेम अथाह के बारिधि डारचौ।
देखहु-री, हरि की बँसरी, इन कैसे सुंबस कौ बंस बिडारचौ।।"[1]

हरिजीवन, काठियावाड़—पोरबंदर के निवासी पूर्ण ब्रह्म-निष्ठ थे। समय अज्ञात है। काव्य-दोहन में जो भी कविता इनकी देखने में आती है, वह गुजराती-शब्द-बाहुल्य होते हुए भी सरस है। एक उदाहरण—

"कोउक राँम-हिं-राँम रटै, औरु कोउक कृष्ण-हिं-कृष्ण कों ध्यावै।
कोउक जोग-समाधि धरै, प्रतिमा कोऊ पूंजिकें पूंज दृढावै।।
कोऊ ईमाँन रे, माँन सों जारत, कोउक एक अनंत ठहरावै।
चेतन चाह बन्यों अपनी, 'हरिजीवन' भाव निमित्त धरावै।।"

काठियावाड़ी 'चौरामल्ल' साधारण श्रेणी के ब्रजभाषा-कवि थे। इनका कविता-समय सं० १९४५ के पास है। इन्होंने 'भारत-दुर्दशा' पर कुछ छंद लिखे हैं। जैसे—

"आया है कलू का दौर, घरों-घर काँगारौल, पौर, पौर, ठौर, ठौर, पाप-बेलि जागी है।
केती हुती रिद्धी-सिद्धी, केते हुते संत-बृद्ध, छोड़ा हिंदवाना तुरकाँन हद्द लागी है।।
झूंठ कों जु साँच करें, साँच कों बनावत झूंठ, पैसे बिन बात नहिं लोभ-ज्वाल जागी है।
राजँन की नीति गई, पंचन-प्रतीति गई, अब तौ अनीति सों अनीति होंन लागी है।।"

[1]. यह प्रयाग—दारागंज से प्रकाशित हो चुकी है।

१. वंशी पर सूरदास जी के पद तो दर्शनीय हैं हीं, पर 'कविवर ग्वाल' ने भी 'वंशी-वीसा' रचकर उसे और भी जगमगा दिया है—चमका दिया है।

फकीरुद्दीन सूरत के सीपाही थे। अन्य विवरण अज्ञात है। ब्रजभाषा मध्यम श्रेणी की, फिर भी भावों में ऊहा अच्छी है। एक रचना जैसे—

"सूरत कौ सार गयौ, लोक-ब्यौहार गयौ, रोजगार डूब गयौ, दसा ऐसी आई है।
टूट गए साहूकार, उठि गई धीर-धार, नाँहि कोऊ यार-बास बैरी सगा भाई है।
खाने कों जैहँर नहीं, रहने कों ठौर नहीं, बाल कहा कहों यार सब-ही दुखदाई है।
कहते 'फखीरुद्दीन' सुनों हो चतुर जन, टूट गए तौ भी पक्के सूरती सिपाई हैं।"

काठियावाड़ के हालार जिले के 'मालिया' गाँव के 'मोड़जी' कवि जानि के जाड़ेजा ठाकुर थे। इन्होंने सं० १९५० के आस-पास अफीम की निंदा में 'पोस्त-पचीसी' एक सुंदर रचना की है। ब्रजभाषा अति सरलता से अपने मूल स्रोत में ही बही है। जैसे—

"होती जो में बिधवा तौ सांख्य के सिद्धांत हीते, ध्यांन-धरि ईस्वर में मन कों लगावती।
होती जो सधवा तौ प्रेम-उद्दीपंन ते, प्रेम-लपटाइ अति नाथ कों रिझावती।।
होती जो कुमारिका तौ पेखती न अन्य नर, जोस ते अनूप महा मोच्छ कों मिलावती।
हाइ नाँहि बिधवा, न सधवा, कुमारिका न, अमली-पती ते नहिं ऐकौ पार पावती।।"

कविवर 'गोविंद-गीला भाई' का जन्म भावनगर (काठियावाड़) के पास सीहौर गाँव में सं० १९०५ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम गीला (गिल्ला) भाई था और जानि चौहान-राजपूत थी। ये बड़े ब्रजभाषा के प्रेमी और उसके अजोड़ रचयिता थे। घर में अनेकों उपलब्ध और अनुपलब्ध ब्रजभाषा के ग्रंथ विराज रहे थे। बीसवीं शती के ब्रजभाषा के ह्रास-काल में, गुजराती होते हुए भी उसके हितैषियों में ये अग्रगण्य थे। इन्होंने स्वरचित "राधा-मुख-षोडसी" में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"कौंधत कमन देस काठियाबाड़ ता में जु, सुंदर सिहौरपुर पुनीत प्रख्यात हैं।
कुटँम-कलित वा में रहत सदाँ-ही हम, जाति के खबास खास बिस्व में बिभात हैं।।
बिक्रम संबत बार उनईस पचास मधि, उर में उमंग धरि नेह ते नितात हैं।
'गोविंद' सुकवि रची 'राधा-मुख-षोड़सी' यै, रसिक रिझाइवे कों आछी अबवात हैं।।"

इन्होंने ब्रजभाषा में अनेक रचनाएँ रची हैं, जिनमें प्रमुख हैं—नीति-विनोद, षट्ऋतु-वर्णन, शृंगार-सरोजिनी, राधा-मुख-षोड़सी, विष्णु-विनय-पचीसी, विवेक-विलास, लक्षण-बत्तीसी, प्रवीण-सागर का उत्तरार्ध, पावस-पयोनिधि, समस्यापूर्ति-प्रदीप, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेष-चंद्रिका, गोविंद-ज्ञान-बावनी और प्रारब्ध-पचासा। इन सभी ग्रंथों में प्रायः भक्ति, शृंगार, वैराग्य और नीति-विषयक कविताएँ हैं। भाषा—शुद्ध ब्रजभाषा, सानुप्रास और स्वाभाविक अलंकारों से चमत्कृत है। एक-दो उदाहरण जैसे—

"सुनिऐं चतुरबिधि[1] अरज हमारी एक, आप कों उमंग-धारि चाँहत कहँन कों।
पूरब के पुन्न-पाप जो हू जमे होंइ मेरे, देहु फल ता के मन चाँहें सो सहँन कों।।
चाँहें तौ दरिद्र और कीजिए धनेस पुनि, चाँहें तौ बल सौ बैर बपु में बहँन कों।
'गोविंद' सुकवि पै लिखियो लिलार नाँहि, नीरस-नरँन-पास कविता कहँन कों।।"[2]

प्रसादागुण-युक्त कुछ अन्य छंद, जैसे—

"अंगन पै गज-खाल नहीं, यै अंबर नील हमारौ बिसाल है।
मुंडन की नाँहि माल-गरें, यै हाटक-हार-हमेल रसाल है।।

[1]. ब्रह्मा

[2]. इतर पापफलानि यथेच्छया वितरतानि स हे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्तनिवेदनं शिरसि मालिख मालिख मालिख।।

सीस-जटा 'कवि गोविंद' ए नहिं, श्रोपन सों अति धंमल-जाल है।
रे रतिनाथ, सँह्यारि कें मारियो, ईस नहीं यें कोंमल बाल है।।"

★

"है न जटा, ए बार बिराजत, नील न ग्रीब में मुस्क लगाए।
सीस न चंद-कला यें 'गुविंद' पुस्प-प्रभा बिलसे सुख दाए।।
अंग बिभूत नहीं सितता, हम नाथ-बियोगॅन ते तन-ताए।
रे मनमथ्थ, महेस-भ्रमें, हम बाल कों मारॅन कहाँ धसि आए।।"

संवत् १९१५ में बारौठ 'ब्रज' कवि ने 'हरि-विजय-विलास' नाम का एक ब्रजभाषा ग्रंथ बनाया, जिसमें भावनगर के गोहिलवंशी राजा जसवंतसिंह के दरबार का वर्णन सुंदरता से किया गया है। दीवान गौरीशंकर आदि मुसद्दियों, गौरीशंकर के पुत्र—बजल भाई, साँवलदास और परमानंददास के गुण-लक्षणों का वर्णन करते हुए हरि-विष्णु की महिमा का संवाद लिखा है। ग्रंथ का प्रथम-विलास मात्र ही मिलता है। भाषा ब्रज है; कहीं-कहीं डिंगल से भूषित है। जैसे—

"साइ सप्त साइर करी, करी कलम बनराइ।
तदपि चरित्र हि साह कौ, लै कें कोंन लिखाइ।।
थावर, जंगम आप हैं, सब घट आप-निवास।
चेतन लीनों आप-ही, तऊ भयौ घट नास।।
थावर, जंगम, जल-हिं-थल, मही, तूल आकास।
लख चौरासी बाँन लख, चेतन आप प्रकास।।"

औघड़ उपनाम—उद्धव काठियावाड़ के लख्तर-निवासी जाति के औदीच्य ब्राह्मण थे। इन्होंने कर्णसिंह ठाकुर ने नाम पर—'कर्णजुक्त-मणि' तथा 'कुकवि-कुठार' दो ब्रजभाषा ग्रंथ बनाये हैं।

जीवा भक्त जाति के राजपूत भावनगर के रहने वाले थे। ये ३५ वर्ष की अवस्था में संन्यास लेकर नर्मदा-तट पर रहने लगे थे। इनकी कविता ज्ञान-वैराग्य मय है। रचना भी साधारण है, जैसे—

"धीरज तात, छमा तिम मात, अरु सांति सुलोचन बाँम प्रमाँनों।
सत्य सुपुत्र, दया भगिनी, अरु भ्रात भलें मन संजम आँनों।।
ग्यॉन कौ भोजन, बस्त्र दसों दिसि, भूमि पलंग, सदाँ सुख-साँनों।
'जीवन' ऐसे सगें जग में, तब कष्ट कहा अब जोग कौ जाँनों।।"

कवि भाण जी भाई—गिरिनारा ब्राह्मण, मौन जी के पुत्र और कच्छ-अंतर्गत माँडवी के रहने वाले थे। इन्होंने 'भाण-विलास', 'भाण-बावनी' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। इनकी ब्रजभाषा साधारण है।

कवि अनंत का भी कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इन्होंने 'पीपाजी की कथा' ब्रजभाषा में रची है। रचना दोहा-चौपाई में है। जैसे—

"सब संतन की आग्या पाँऊँ, तौ पीपा की कथा सुनाऊँ।
गाँगरूनपुर पाटन स्थान, कीयौ रास अनंत बखाँन।
गाँगरूनपुर बरनों कैसा, पाप-हि छेदि, धरम तहँ बैसा।

❀

साखि दास अनंत कहै, लहै न सारद ओर।
सेसनाग गावै सदाँ, नौतम गुन उठ भोर।।"

ब्रजभाषा सरस और सरल है। अंत में तुलसीदासजी की प्रशंसा में भी दो छंद लिखे हैं।

कुछ ऐसे ब्रजभाषा-कवियों का और भी उल्लेख मिलता है, जिनके स्थिति-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ये हैं—विष्णुदास, मेहा (गेय-पद रचयिता), हरीसिंह, दीहल, अर्जुन, मोहनदास, कृष्णजित् आदि। हरीसिंह या हरिसिंह खानकोटड़ा-कच्छ के रहने वाले थे। जाति के जाड़ेजा ठाकुर और स्वामी रामदास के शिष्य। इन्होंने 'ज्ञान-कटारी' नाम की ब्रजभाषा-रचना की है। दीहल जाति के मुसलमान काठियावाड़ के कुंडला गाँव में रहते थे। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति में विभोर होकर उन्होंने भी ब्रजभाषा में रचना की है, जो आज अज्ञात है। अर्जुन कवि ने—'दान समय के सवैया' और मोहनदास ने—'जम-फाँसी के पद' तथा 'मूल रामायण-संबंधी पद' ब्रजभाषा में रचे। कृष्णजित् ने 'रत्न मालिका' नाम से ब्रजभाषा में इतिहास-ग्रंथ की रचना की है। यही गुजरात के इतिहास-प्रेमियों के लिये मुख्य आधार-ग्रंथ है। कवि ने गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह के विविध चरित्रों का अपनी ओजपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। जैसे—

"जस सिधरा-जैसिंघ कौ, सब ग्रंथन कौ सार।
पढ़ैं-सुनें जो पुरुष सो, पावै बुद्धि अपार॥"

कवि ने अपने इस ग्रंथ के 'रत्न' नाम से कई विभाग किये हैं, जैसे—

"श्रीमद्गुरु पंकज हृदिधारक द्विजराज कुलोत्पन्न काव्य-कला-कुसल कृष्णजिदाद्वयेन रचित ग्रंथं सिद्धराज जयसिंह चरित्ररत्नमालायां प्रथम रत्नं"—आदि।

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और काव्यों का अच्छा ज्ञान था। कवि ने आनुषंगिक रीति से 'चावड़ा वंश' का आरंभ से लेकर गुजरात का इतिहास संवतों-सहित संक्षिप्त रूप से ब्रजभाषा में लिखा है। कवि का विचार उक्त ग्रंथ की जप-माला की १०८ रत्न-मणिकाओं की भाँति १०८ भागों में लिखने का था। जैसे—

"अष्टोत्तर-सत रतन की, रचि हों मंजुल-माल।
एक रतन कौ मोल पुनि, जानें बुद्धि बिसाल॥"

किंतु इसके सात रत्न पूर्ण और आठवाँ खंडित मिला है। भाषा सुंदर ब्रजभाषा है, पर जहाँ युद्धों तथा जन्मादि का वर्णन कथात्मक रूप से किया है, वहाँ डिंगल का विशेष प्रभाव पड़ा है। उदाहरण जैसे—

"दास कौ प्रनाम मन-धारि कें, दयालु मात, दीजिए हिंमत, बल, कल ब्रह्म-बालिका।
सबद रतन ओंकार ते अनेक कवि, पाए ग्रंथ-रतन तो अधार दीन-पालिका॥
मैं पुनि सुनीं सुबात चाल हू बिख्यात मात, 'रत्न' यों आगें कवि पाइकें प्रनालिका।
तो कौं अबलंब कें सुपुरुष होत कोविद कौंम, नाँम मेरौ रच्छन रची हों रत्न-मालिका॥"

डिंगल-युक्त पुष्पिताग्रा छंद जैसे—

"भवति चुलक-बंस के उजाला, नृप सिधराइ चरित्र रत्न माला।
अनघ कवित्त बंध के जु प्रयत्नं, रचत बिचार उच्चार आदि रत्नं॥"

कृष्णजित् जी ने अपने को—'कविराज कुलोत्पन्न, गुर्जरधर मंडन' और 'कृष्णजिदाह्वय' आदि विशेषण-युक्त लिखा है। ब्रजभाषा-व्याकरण के रचयिता 'रत्नजित्' ने भी अपने ग्रंथ की पुष्पिका में कुछ इसी प्रकार—'श्रीमद्गुरुपदपंकजदृष्टिधारक' .... आदि लिखा है, इनकी शब्दावलि की साम्यता बरबस अपनी ओर ध्यान खींचती है। इन दोनों कवियों का आपस में कुछ संबंध भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इन अज्ञात-कुलशील ब्रजभाषा के कवियों में—'ब्रजनाथ' त्रिविक्रम सुत—भरोंच निवासी और 'बालकृष्ण' भागनगर (अमदाबाद) का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। प्रथम ने 'सरस-रस' नाम से नायिका-भेद और द्वितीय ने—"सूर गढ़ार्थ पद संग्रह सटीक' ब्रजभाषा में रचा। यह टीका सूर के दृष्टिकूट-पदों पर पहली टीका है, इसके बाद सरदार कवि ने टीका की है। सूर-गूढ़ार्थ-पद सटीक प्रकाशित हो चुका है।

अज्ञात-काल की कुछ और रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनके कर्ता वा रचयिताओं का पता नहीं चलता। इनमें 'सोलंकी वंश की वंशावली' भी है, जिसके रचयिता अज्ञात हैं। इस वंशावली में पौराणिक-काल के सूर्य वंशी राजा ''अंबरीष'' से लेकर 'घट टोडर' के सोलंकी राजाओं की वंशावली लिखी है। भाषा सुंदर ब्रज की है। जैसे—

"श्रीमद् श्री नाभाग तनै, असकंद कहायौ।
सूरज बंस प्रताप सुजस, अमरीष जु गायौ॥
दुरबासा-उत्पात चक्र-रच्छा जो कीनौं।
उलटि दिखायौ त्रास, भज्यौ मुनि दीन प्रबीनौं॥
सिब, ब्रह्मा अरु विष्णु-हूं, कोउ न राखि सके सरँन।
भगवंत हु .... ॥

सरमायौ आयौ सरँन, तब पायौ आनंद।
समझायौ नृप चक्र कौ प्रबल छुड़ायौ फंद॥"

—इत्यादि।

चाँद खाँ, याकूब खाँ और राहत के नाम भी ब्रजभाषा-साहित्य रचयिताओं के नाते हृदय-पटल पर अंकित किये जा सकते हैं। बीसवीं सदी में इन मुसलमान कलाकारों नें भी ब्रज-साहित्य की बहुत कुछ सेवा की है।

चाँद खाँ, शेख राहत अली बड़ोदा के माँमू थे। ये शेख संगीत के मधुर जगत में नई ठनगन-युक्त 'ठुमरी-क्षेत्र' के प्रसिद्ध कथक और उसके गायक थे। चाँद खाँ बड़ोदा-गायकबाड़ में ही रहा करते थे। याकूब खाँ भी बड़ोदा के रहने वाले 'जमादार याकूब अली खाँ गरवे वाले' के नाम से प्रसिद्ध थे। विशेष इत्तिवृत्त इनका नहीं मिलता, पर ये बड़े ब्रजभाषा-प्रेमी और अपने समय के प्रसिद्ध गायक तथा ठुमरी रचयिता थे। इनके उदाहरण जैसे—

ठुमरी, राग—तोड़ी-भैरवी, त्रिताल-बिलंबित, विषय-खंडिता नायिका

"भाई रे, तोरी साँवरे लटपटी-चाल।
मानों मद के रस झूंमत, आवत हौ नँदलाल॥
रेंन बीती करत केलि सौतिन सँग, सिंदूर भरि गयौ—
अधरँन 'चाँद' हरि-मुख अंजन गाल॥"

खाँ साहब ने अपने नाम 'चाँद' को हरि-मुख से संबंधित कर एक सुंदर रूपक बाँध दिया है।

गरबा, राग—जंगला ताल-दीपचंदी[1]

"जावौ वहाँ हो गिरिधारी।
जहाँ खट्रितु खोंई हैं सारी, जावौ वहाँ हो गिरिधारी॥
चित चैत में लागी उदासी, मैंने चाँहा था लगाऊँ फाँसी।
बोलें सारे ये ब्रज के बासी, यानें पिया-बिन प्राँन तजा-री॥"

१. कुछ संगीतज्ञों का कहना है कि 'दीपचंदी' ताल का नहीं ठेके का नाम है। ताल का नाम तो 'जत' है और उसके ठेके का नाम दीपचंदी है। जत ताल का दूसरा ठेका झूमरा भी है, पर आज कल इन दोनों—दीपचंदी और झूमरा को ताल ही कहते हैं।

जब मगसिर फूला चंपा, तब जियरा न मोरा झंपा ।
बिन तोरे थरहर कंपा, चंपा-बरन-देह भई कारी ।।

★

मोरे पूस में पास न आए, कहीं औरेंन-संग लुभाए।
तुम आए ना, आए ना, ना आए, हम पाती लिखी कई बारी ।।

❀

रोई फागुन चोरी-चोरी, भई "याकूब" यै गति मोरी ।
सब खेलें सखी मिल होरी, मोहूँ बौरी कहें जग सारी ।।"[१]

प्रसिद्ध ठुमरीकार मियाँ राहत अली लखनऊ के रहने वाले थे, इनके पिता का नाम था घिस्सू भाई। इनको नृत्य-गायन की शिक्षा इनके बड़े मामा और उस समय के प्रसिद्ध नर्त्तक कन्हैया जी से मिली थी। कन्हैया जी का असली नाम 'महम्मद बख्श' और इनके पिता का नाम 'मुराद अली' था, पर प्रसिद्धि इनकी कन्हैया नाम से ही थी। कन्हैया जी को नृत्य 'नल्लू जी नटवे' (नट) ने सिखाया था तथा गायन प्रसिद्ध वीनकार 'अमीरखाँ-उमराव खाँ' ने। लखनऊ की नवाबी के समाप्त होने पर कन्हैया जी तथा इनके गुरु अमीरखाँ लखनऊ छोड़ कर रामपुर के नवाब यसुफ अलीखाँ के दरबार में आ गये। इसके बाद कन्हैया जी की नृत्य-कला की अति प्रशंसा सुनकर बड़ोदा के तत्कालीन महाराज 'खंडेराव' ने इन्हें अपने पास बुला लिया। खंडेराव के बाद जब मल्हारराव बड़ोदा की गद्दी पर बैठे तब कन्हैया जी राहत अली को लखनऊ से बड़ोदा ले आए।

उस समय राहत अली की अवस्था आठ वर्ष की थी और इनकी जोड़ में इनके समवयस्क ममेरे भाई 'अजमद अली' नाचा करते थे। राहत और अजमद अली का साथ-साथ नृत्य देख कर महाराज मल्हारराव बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल एक-एक भारी (कीमती) पोशाक तथा एक-एक हजार रुपया देकर इन्हें पुरस्कृत किया। फिर तो राहत अली बड़ोदा ही में रहने लगे और अंत में १५ मई सन् १९४२ ई० की रात्रि को बड़ोदा ही में अपना यह शरीर छोड़ा।

राहत अली खाँ, नृत्य और गान के विशेषज्ञ तो थे ही, कवि भी अच्छे थे। इनके बनाये भजन और ठुमरियों की संगीत-समाज में भारी कदर है। खाँ साहब के पास प्राचीन संगीत घरानों की मजी हुई चीजों का खासा भंडार था। गाते भी खूब थे। संगीत-विषयक कुछ मौलिक बातें भी आपने कविता-रूप में लिख रखीं थीं। इनकी बनाई ठुमरी का एक उदाहरण, जैसे—

ठुमरी, राग—काफी-सिंदूरा, ताल—त्रिताल

❀

मोरी बँगरी मुरकाइ डारी,—
झट पकर निडर नटवर । ध्रु० ।
कह्यौ न मांनत निलज कछू तनक मेरौ—
सगरे जतँन कर-कर हारी। मोरी बँग०....।।

★

ठुमरी-होरी, राग—काफी, ताल तीन प्रकार के बिलंबित

❀

मन लूटत बहुत कन्हैया ।
बरछी दिखाइ चितबन की तनक ।।ध्रु०।।[२]
तांन के भोंहें कमांन, मारैं जब बांन—

[१]. यह 'गरबा' हमें पूरा नहीं मिला है, जितना सुनने में आया वह दे दिया है।
[२]. ताल—दीपचंदी ।

बने नैन सिपाही लरैया . . . . ।।[1]
सनमुख आवत ठौर रहे सब,—
इन चोटँन कौ कौंन सहैया . . . . ।[2]
लूटे गए बौहौतेरे कटक ।।"[3]

गुजरात में ब्रजभाषा के साथ-साथ उसकी पुत्री खड़ी बोली की भी यत्किंचित् रस-धारा बही, जो ख्याल-लावनी की परंपरा में पाई जाती है। ख्याल-बाजी उत्तर भारत की ही विशेष वस्तु थी, पर कुछ संग्रामों—लड़ाइयों को लेकर दूसरे-दूसरे प्रांतों में भी फैली। इन संग्रामों में 'भरतपुर'—ब्रज का साका (लड़ाई) जो अंग्रेजों के साथ सन् १८०५ ई० में हुआ था, प्रधान विषय रहा। बड़ोदा—गायकबाड़ और अमदाबाद आदि की लड़ाइयों का वर्णन भी ख्याल-लावनियों में अवश्य किया गया है, पर प्रधानता भरतपुर की ही रही। इस इतिहास प्रसिद्ध 'रासे' का किसी 'धर्मा' ब्राह्मण ने जिसका इतिवृत्त कुछ नहीं मिलता, इस प्रकार वर्णन किया है—

"भरतपुर का गढ़ बंका थाना बलदेव का।
करै रंजीत सिंघ राज बहादुर बेटा सूरजमल का।।
स्याबास है सदाराम तुम को रंजीतसिंघ राजा।
हिंदू पद की टेक राखी धन तू महाराजा।।
डीग-ऊपर चढ़ा फिरंगी लेकर सब साजा।
निमक-हराम दीवान दिग्रा सँग नहीं दिल में समझा।।
फितूर कर-कर किला गँमाया, नहीं रन में दूजा।
निमक-हरामी दिवान दिया-सँग जनम का खोजा।।
डीग-ऊपर तँबरा बाजा, देखो फिरंगी का।
करै रंजीतसिंघ राज, बहादुर बेटा सूरजमल का।।"

❀

धामा[4] जी महाराज बलदेव, खबर भई उनकूं।
पैहनाँ पीतांबर तन के ऊपर आए भरतपुर कूं।।

❀

करो भजन सद्‌गुरु का, तुकनगीर किया कहना।
धरमाँ बावन पंथी गाते, दसनामी गाना।।

इसी प्रकार किन्हीं 'हरिबाला' या 'हरिवल्लभ' ने—जसवंतराव सवाई (सन् १८०५ ई०) का पँवाड़ा (लड़ाई) रचा जो गुजरात प्रांत में अति प्रसिद्ध है। जैसे—

"सवाई जसवँत राउ बहादुर, सवाई डंका बजा दिया।
मंद सहर से मारा फिरंगी जा, जमना के पार किया।।
मंद सहर में कूंच किया जब, सैंन चली महा जंगी की।
जमना नदी आए उतर कर, तब गाँठ पड़ी फिरंगी की।।
मुकद्दरे का पकड़ा रास्ता, भाजी फौज फिरंगी की।
उजाड़ खेड़ा वाँ एक नाला, रसबन गोरों पर झंगी की।।

१. ताल—आड़ा चौताला।
२. ताल—धमार।
३. ताल—दीपचंदी।
४. धामाजी—धाऊजी।

महाराज का सिपाही बंदू, खूब करी बीने नक सेरी।
जा कर मारे रसबन गोलें, टोपी पानी में गिरती ।।"

❀

"लीक साहब ने चिट्ठी भेजी, जा पहुंची कलकत्ते कूं।
सब कंपनी मिलकर आया, लगे बाँचने चिट्ठी कूं ।।
बनारस पर मारा फिरंगी, नहीं ठिकाना रहने कूं।
लीक साहब ने भला नहीं किया, लगी कंपनी रोने कूं ।।
आया मीरखाँ नवाब यारों, सभी पिंड़ारा साथ लिया।
सहर फरुक्काबाद के ऊपर महाराज से दगा किया ।।"

यह लावनी बहुत बड़ी है, अंत में रचयिता कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"सवाई खंडेराव प्रसन्न रहें, महाराज पर है छाया ।।
'हरिबाला' ने गाई लड़ाई, तमाम लश्कर खुशी किया ।।
मंद सहर से मारा फिरंगी, जा जमना के पार किया ।।"

यह संक्षिप्त वर्णन उन उपेक्षित कवियों का है, जिन्होंने सुदूर गुजरात-प्रांत में रह कर ब्रज-भाषा की तन-मन से सेवा की है। इनके अतिरिक्त और भी ब्रजभाषा-कवि वहाँ हो सकते हैं तथा ऐसे ज्ञाताज्ञात अन्य विद्वान् भी हैं, जो गुजराती भाषा-भाषी होते हुए वर्तमान समय में भी ब्रजभाषा के दीवाने हैं—उसके सहज माधुर्य पर मिटने वाले हैं। बड़े खेद की बात है कि हम उनके विषय में कुछ नहीं जानते और न उनके जानने का कोई साधन ही है।
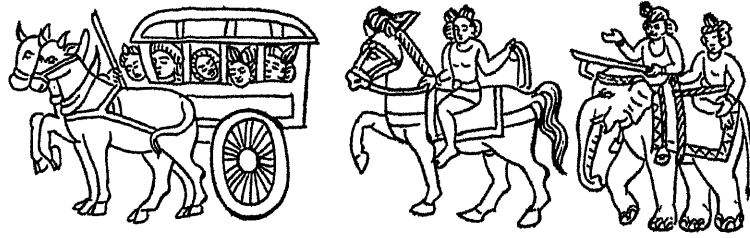
काव्य-साहित्य में अलंकारों का स्थान

श्री मथुरानाथ भट्ट

साहित्य राष्ट्र के उत्कर्ष और सभ्यता की कसौटी है। जिस देश का साहित्य जितना ही उन्नत और विस्तृत होगा उस देश का गौरव और सभ्यता भी उतनी ही उन्नत गिनी जायगी। भारत का साहित्य कितना उन्नत और गंभीर है इसे हम भी नहीं निष्पक्ष विदेशी तक मान चुके हैं। भारतीय साहित्य में भी काव्यों का एक विशेष स्थान है। वेद उपनिषद आदि आध्यात्मिक-शास्त्रों से जिस तरह भारत का गौरव भूमंडल-विख्यात है, उसी तरह काव्यों ने भी इस देश के सभ्यों का मस्तक उन्नत किया है। भला आज ऐसा कौन सा सुशिक्षित देश होगा जिस को भारत के महाकवि 'कालिदास' का थोड़ा भी परिचय नहीं मिला होगा। सात समुद्र-पार की वैदेशिक जातियाँ भी आज कालिदास के काव्यों की कीर्ति उदार हृदय से गा रही हैं। काव्यों की प्रशंसा में कहा जाता है कि 'कवि' की वह उक्ति और तीरंदाज का वह वाण ही क्या जो हृदय पर लगते ही सिर न घुमा दे।[1] वास्तव में काव्य का चमत्कार अलौकिक है। कविता करना यावन्मात्र ललित कलाओं में प्रधान गिनी जाती है। अतः काव्य में ऐसी कौन सी बात है जिसके कारण उसमें ऐसा अद्भुत चमत्कार आ जाता है।

साहित्य में सार है—मार्मिक विचार। साहित्य में जितना ही तल में पैठ कर गंभीर विचार किया जाता है, साहित्य की उतनी ही उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार काव्य में आज रस और भाव भी प्रधान गिने जा रहे हैं। विकासवाद ने आज यह दिन दिखाया है कि हम काव्य की आत्मा 'रस' को मान रहे हैं,[2] किंतु आरंभ से लेकर अब तक काव्य पर जिसका अखंड साम्राज्य चला आ रहा है वह तत्व है 'अलंकार'। काव्य में चमत्कार लाने वाला अलंकार ही एक मात्र सार है। प्राचीन आलंकारिकों में श्रेष्ठ आचार्य वामन का सूत्र है—

"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।"

अर्थात् अलंकार के कारण ही काव्य उपादेय अथवा सर्वसेवनीय हो जाता है। अलंकार शब्द का अर्थ यहाँ जरूर सुंदरता है, जिससे कि रसिकों के लिये काव्य रोचक हो जाता है। केवल यमक उपमादि ही अलंकार नहीं, क्योंकि अलंकार शब्द के दो अर्थ हैं। जिनके द्वारा असाधारण रूप से सुंदरता लाई जाय यों करणव्युत्पत्ति से (अलंक्रियते-अनेन) अलंकार शब्द का अर्थ होता है—यमक, उपमादि और 'अलंकरणम्-अलंकार, अर्थात् सब तरह की वह सुंदरता जो कि गुण-रस-भावादि के रहने से और काव्य दोषों के त्याग से होती है, वह भी अलंकार-पद वाच्य हुआ करती है। ऊपर कहे हुए सूत्र में आचार्य 'वामन' का तात्पर्य सब तरह की सुंदरता से है, अर्थात् काव्य-दोषों के त्याग से और गुण-रस-अलंकारादि के उपनिबंधन से अद्भुत एक सुंदरता आती है और वही सुंदरता काव्य को उपादेय बनाती है।

यह ठीक ही है, पर यदि अलंकार-शास्त्र के इतिहास को गंभीर दृष्टि से खोजा जाय तो बात दूसरी ही सिद्ध होती है। वर्तमान में यह मान लिया गया है कि काव्य में रस-भावादि व्यंग्यार्थ

१. किं कवेस्तेन काव्येन किं कांडेन धनुष्मतः।
परस्य हृदयं लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यं।

ही प्रधान हैं और वही काव्य की आत्मा भी है, किंतु पहले के जितने भी आचार्य हुए हैं, उनका दृष्टि-कोण अलंकारों की प्रधानता पर ही था। अलंकार के इतिहास में सबसे पहले 'दंडी' फिर 'भामह' इसके अनंतर 'भट्टोद् भट्टरुद्रट' और पीछे आचार्य 'वामन' का समय आता है। इन सब ही ने अलंकारों को प्रधान माना है। वामन के समय में ध्वनि का आविर्भाव हो चुका था, अर्थात् ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को साहित्य-शास्त्र में मान्यता मिल गयी थी, किंतु वामन ने उस व्यंग्यार्थ को भी वाच्यार्थ का उपस्कारक (शोभाजनक) बनाकर अलकारों की कुक्षि (कोख) में ही डाल दिया था। इसीलिये वामनादि के मत में ध्वनि का स्वरूप समासोक्ति-अप्रस्तुतप्रशंसा आदि उच्च जाति के अलंकारों पर ही आ ठहरा था और वामन ने रीति को ही, अर्थात् शैली को ही काव्य की आत्मा माना था। दंडी आदि प्राचीन आचार्यों से लेकर आज तक काव्य की शोभा का सर्वस्व अलंकार ही प्रधान रूप से रहा। इसीलिये तो इस शास्त्र का नाम अलंकार के आधार पर "अलंकार-शास्त्र" यही हुआ। गुण-रीति-दोषादि के निरूपण करने पर भी गुणादि के आधार पर नामकरण नहीं हो सका और हो क्या, आज रस, भावादि ध्वनि को काव्य की आत्मा मान लेने पर भी इस शास्त्र का नाम 'रस-शास्त्र' अथवा 'ध्वनि-शास्त्र' न होकर अलंकार-शास्त्र ही स्थिर रहा।

काव्य में अलंकारों की प्रधानता की एक उपपत्ति और भी सुझाई जाती है कि जैसे महर्षि गौतम का बनाया न्याय-शास्त्र प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजनादि षोडश पदार्थों के निरूपण करने पर भी परार्थानुमान रूप न्याय की प्रधानता के कारण आज तक 'न्याय-शास्त्र' नाम से प्रसिद्ध हैं, उसी भाँति दोष-गुण-रीति आदि का प्रतिपादक भी यह शास्त्र अलंकारों की प्रधानता के कारण अलंकार-शास्त्र नाम से ही प्रख्यात हुआ। जो कुछ हो, ध्वनि और व्यंग्य को काव्य की आत्मा मान लेने वालों को भी यह बात स्वीकार करनी पड़ी है कि अलंकार ही काव्य की सुंदरता के लिए एकमात्र आश्रय हैं। ध्वनि के स्थापन करने वाले प्रधान आलंकारिक 'आनंदवर्धनाचार्य' तथा 'मम्मट भट्ट' ने भी कई स्थानों पर अलंकारों की प्रधानता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है। काव्य-व्यवहार के प्रयोजक अलंकार ही हैं, यह बात मम्मट भट्ट ने—

"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ।"

—पंचमोल्लास

अर्थात् काव्य-व्यवहार के संचालक अलंकार ही हैं, इस कारिका से कही है। उद्योतकार ने इसकी टीका भी की है कि "अलंकारों के बिना काव्य बन ही नहीं सकता, क्योंकि काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ का सालंकार, अर्थात् अलंकार सहित होना अनिवार्य है।" मोटी बात है कि शब्द और अर्थ काव्य के रूप में तब ही आ सकते हैं जब शब्दालंकार के कारण शब्द में और अर्थालंकारों के कारण अर्थ में कुछ चमत्कार आ जाय।

ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर सर्वात्मना जोर देने वाले आचार्य मम्मट भट्ट ने एक और स्थान पर भी अलंकारों को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है।

"स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।"

—अष्टमोल्लास

इस पद्य में विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलकारों के कारण ही काव्यता की सिद्धि हुई है, अर्थात् "गुणादि चाहे हों न हों, पर यहाँ अलंकारों के कारण ही यह उक्ति काव्य-कोटि में आने लायक हुई।" एक ध्वनिस्थापक आचार्य के मुख से निकलकर यह बात काव्य में अलंकारों का विशेष स्थान स्पष्ट घोषित कर रही है। देश का साहित्य (अलंकार-शास्त्र) क्रम से परिपुष्ट होता हुआ आज सर्वांग पूर्ण हुआ है और हम रस, भाव, गुण, रीति आदि साहित्यक पदार्थों का विशेष रूप से लक्षण, समन्वय, वर्णन आदि देख रहे हैं, किंतु आदि काल से लेकर आज तक अलंकारों की प्रधानता यों की यों चली आ रही है। जिस मध्यकाल में साहित्य (अलंकार) शास्त्र के संपूर्ण अंग सबल और परि-

पुष्ट नहीं हुए थे, उस समय अलंकार-शास्त्र के पंडित और काव्य-कला के मार्मिक इन अलंकारों पर ही अपना सर्वस्व समर्पित किए हुए थे।

ब्रजभाषा का पुराना साहित्य देखिये—उसमें अलंकार ही एक मात्र काव्य की शोभा के आधार थे। उनमें भी शब्दालंकार की तरफ लोगोंका विशेष आकर्षण था। जो-जो लोकप्रिय प्राचीन कवि सूर, तुलसी, विहारी, पद्माकर आदि हुए हैं उनकी कविता का चमत्कार पहले शब्द पर ही टिकता है, अर्थात् कवि का हार्दिक संरंभ इसी पर होता है कि शब्द-शय्या चमत्कार जनक हो। अतएव उनकी कविता सुनते ही कानों में पहले शब्दालंकार चमत्कार की सृष्टि करते हैं। गुण-भरपूर महात्मा सूर को देखिये—

"तरनि-ताप तलफति चकोर गति, पिवत पियूष पराग।
लोचन-नलिन नए राजत रति, पूरन मधुकर भाग॥"

भक्त कवि तुलसी का बसीकरण मंत्र सुनिये—

"जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज-कुल-दहन कृसानू॥
जय सुर-बिप्र-धेनु उपकारी। जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी॥"

विहारी और पद्माकर तो शब्द चमत्कार के ही आचार्य हैं—

"नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।"
रतिपाली आली अँनत, आए बनमाली न॥
बिहारी : सतसई

को कौन नहीं जानता? फिर इस बसंत में पद्माकर तो—

"बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरयौ बसंत है।"[१]

बोलते हुए बसंत की बहार बगरा ही रहे हैं। यही नहीं, शब्दालंकार इतना प्रिय बना कि उसकी वृद्धि होते-होते, धीरे-धीरे शब्द चित्र, फिर चित्र-बंध-काव्य, खड्ग,-चक्र,-चामर,-धनुष,-पद्म बंधनादि चारों ओर चल पड़े। इनमें भी ब्रजभाषा के साहित्यकारों ने इतनी भरमार की कि अभूतपूर्व नये-नये चित्र-बंधों की अद्भुत सृष्टि कर डाली। भारत विख्यात आयुर्वेदमार्तंड स्वर्गीय श्री लक्ष्मीराम स्वामी जी के यहाँ चित्र-बंधों पर मैंने एक विशालकाय पुस्तक देखी थी जिसमें ऐसा कोई वृक्ष, पशु, पक्षी आदि नहीं जिनके आकार पर उसमें बंध-काव्य नहीं बाँधा गया हो।

मर्म-विचार करने वाले संस्कृत के आलंकारिकों ने—उनमें भी अत्यंत बारीक विमर्ष करने वाले पंडितराज जगन्नाथ ने, विशेषत: जोर दिया है कि—'खड्ग-धनुष-बंधादि चित्रबंध में काव्यत्व ही नहीं। शरीर में जैसे मेद (घेघा) आदि निरर्थक लटका करते हैं, उनमें जीवन-अंगों जैसा स्वारस्य नहीं, उसी तरह खड्गबंध-धनुर्बंध आदि काव्य जैसे दीखने वाले अक्षरगुंफों में भी काव्य का स्वारस्य नहीं, पर

[१] **कूलन में, केलिन में, कछारँन में, कुंजन में, क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।**
कहै 'पद्माकर' परागहूँ में, पौनहूँ में, पातन में पीकन पलासन पंगत है॥
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस-देसन में, देखौ दीप-दीपन में दीपति दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरयौ बसंत है॥
—जगद्विनोद : पद्माकर

तालन पै, ताल पै, तमालन पै, आलन पै, लाल, माल, बाल पै रसाल सरस्यौ परै।
कहै कवि 'रामचंद' कुंद, कंद, बंदन पै, चंदन पै, चंद पै, मलिंद दरस्यौ परै॥
केकी, केलि, केसर, करंज, केतिकी पै कंज, कारकुल, कोकिल, कदंब परस्यौ परै।
रंग-रंग रागन पै, संग ही परागन पै, बृंदाबन-बागन पै बसंत बरस्यौ परै॥
—हजारा : हफीजुल्लाह खाँ

ध्यान देने की बात है—आलोचना करने वाले रुकावट डालते ही रहे, किन्तु चित्र-काव्यों का निर्माण नहीं बंद हुआ। माघ-भारवि से लेकर आज तक के कवियों ने चित्रबंधों में अपनी प्रतिभा का चमत्कार बराबर दिखलाया है। बात यह है कि यदि खड्ग-धनुष-पद्म-बंधों के पद्यों में लोगों को चमत्कार और अद्‌भुतता का अनुभव होता है और यह भी रचना करने वाले की विशेष शक्ति के बिना, साधारण अक्षर जोड़ देनेवाले से नहीं बन सकता तो इसके चमत्कार का अपह्नव (छिपाव) भी कौन कर सकता है? क्योंकि सबका सिद्धांत है कि **'काव्ये सारश्चमत्कारः'** (काव्य में चमत्कार ही सार है)'।

अलंकारों को मध्यम दर्जे की चीज समझनेवाले, वाच्यार्थ को केवल उपाय (साधन) मात्र माननेवाले, व्यंग्यार्थ को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने वाले ध्वनिवादी अलंकारों को चाहे जितना नीचा ढकेलें, परंतु काव्य में उनका आसन शिथिल नहीं होता। ध्यान देने की बात है कि यदि हम रस-भावादि व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा मान भी लेते हैं तो भी जनता के हृदयाकर्षण में अलंकार ही बाजी ले जाते हैं, क्योंकि किसी मनुष्य को पहले पहल देखते ही सबसे पहले उसके शरीर पर ही दृष्टि पड़ती है। वह मन का कैसा है, उसकी आत्मा कितनी उन्नत और शुद्ध है, यह हमें बहुत पीछे मालूम पड़ता है। इस ही तरह, किसी काव्य को सुनते ही सबसे पहले उसके शब्द और अर्थ हमारे हृदय में उतरते हैं। बस, उस ही समय शब्द और अर्थ के साथ-साथ अलंकार—हमारे हृदय पर अधिकार जमा लेते हैं, क्योंकि अलंकार इन शब्द और अर्थों के आश्रित ही तो है। अब आप ही देख लीजिए—काव्य के व्यंग्यार्थ, रस, भाव आदि पर पीछे प्रतिभा पहुँचेगी, पहले शब्द और अर्थ के साथ-साथ अलंकार ही हमारे हृदय को वशीभूत कर सकेंगे।

आप देखेंगे कि ध्वनि-स्थापना के लिये प्रकांड परिश्रम करने वाले आनंदवर्धनाचार्य और मम्मट भट्टादि को भी अलंकारों की प्रधानता कई स्थानों पर सब की अपेक्षा अधिक माननी पड़ी है। यावन्मात्र अलंकारिकों ने काव्य को **'कांतासंमित उपदेश'** माना है। प्रभु की तरह निःशंक आज्ञा देने वाले वेद की आज्ञा पर, मित्र की तरह हित-अहित समझाकर अच्छे मार्ग का उपदेश करने वाले पुराण, धर्म-शास्त्रों की शिक्षा पर, जो लोग आकृष्ट नहीं हो पाते उनको भी यह काव्य की मधुर उक्तियाँ प्रियतमा की हित-शिक्षा की भाँति रसास्वाद से आनंदित बनाकर—

"संसार में राम की तरह बर्ताव करना चाहिए, रावण की तरह नहीं, जिसको कि एक दिन विनाश के घाट उतारना पड़ा।"

यों यह कांता-संमित काव्य के उपदेश वेद-धर्म-शास्त्रादि के उन उपदेशों से भी अधिक लाभ-जनक सिद्ध होते हैं, जिन उपदेशों से किसी तरह भी असन्मार्ग से नहीं मुड़ने वाले विलासी जीव भी अच्छे रास्ते पर चलकर मोक्ष तक के अधिकारी हो जाते हैं। अब आप ही देखिए—जिनने मित्रों (धर्मशास्त्रादि) के उपदेश पर कान नहीं दिया वे अपनी प्रियतमा जिसको कि वे अपने आधीन समझते हैं, उसके उपदेश को, उसकी शिक्षा को उपदेश्य (शिष्य) की तरह सुनने और उस पर अमल करने का अपमान क्या सहसा ही सहन कर सकते हैं? नहीं, बड़ी सावधानी से पहले उनके मन और हृदय को अपनी ओर खींचना पड़ता है। जब वह प्रसन्न होकर उपदेश सुनने के लिये अभिमुख होते हैं तभी वह उपदेश दिया जाता है और वह सफल भी होता है।

कड़वी दवा नहीं लेने वाले बच्चे को जैसे 'गुड़जिह्विका (दवा के साथ साथ मिठाई का लोभ) दिया जाता है उसी भाँति कांता-संमित उपदेश के साथ काव्यस्थ रसाऽऽस्वाद की 'मधुजिह्विका' दी जाती है। जब वह आनंदमग्न होकर प्रियतमा की बात सुनने के लिये आकृष्ट हो जाते हैं, तब उस रसास्वाद में लपेट कर—

"रामादिवद् वर्तितव्यम्।"

अर्थात् इतिहास के अच्छे नायक की तरह हमको चलना चाहिये, यह उपदेश दिया जाता है। यहाँ बिल्कुल मोटी बात है कि यदि कांता की उक्ति सुनते ही कानों को बुरी लगी और उसकी तरफ थोड़ा भी

हृदय न झुका तो बेपरवाही से संसार-यात्रा चलाने वाले विलासी जीव उसकी उक्ति को कम सुनने लगें ? इसी तरह काव्य सुनते ही प्रिय लगे इसलिए काव्य के शब्द और अर्थ में मधुरता भी लाना अत्यंत आवश्यक हो जाता है । शब्द और अर्थ में मधुरता लाना इसका अर्थ ही यह है कि शब्द और अर्थ को मधुर बनाना, उनमें अलंकारों को स्थान देना ।

इनमें भी शब्दालंकारों को बहुत महत्व दिया जाता है । आलंकारिक लोग कहते हैं कि "काव्य के गुण (ओज, प्रसाद आदि) चाहे हमें विदित न हों, किंतु काव्य के अक्षर संगीत की भाँति हमारे कानों को प्रिय लगते हैं तो वह हमारे कानों में अमृत-सा उँड़ेलते हैं । सुंदर मालती के पुष्पों की माला का गंध चाहे हमारे तक न पहुँचा हो, किंतु उनका गुंफन-चातुर्य दूर से देखने पर ही हमारी दृष्टि को आकृष्ट कर लेता है ।"[१]

बस, काव्य में शब्दालंकार यही काम करते हैं कि सुनने वालों के कानों में वे काव्य के अक्षर-संगीत की भाँति मधुरता बरसाता है जिससे आकृष्ट होकर वे उस काव्य के उपदेश को सुनने के लिए बड़े उत्साह से अभिमुख हो जाते हैं । आप ही कहिये, शब्द और अर्थ के अलंकारों का आसन कितना ऊँचा है ?

शरीर में आत्मा सबसे उत्कृष्ट और ऊँची चीज है–यह बात ठीक है, किंतु वह दीखने की चीज नहीं । क्या साधारण और क्या उन्नत पुरुष, सबकी दृष्टि में आने वाला होता है शरीर । शरीर के दृष्टि में आते ही यदि मनुष्यों की श्रद्धा हो जाती है तो फिर धीरे-धीरे आत्मा तक भी पहुँचने का अवसर होता है, किंतु यदि शरीर को देखते ही देखने वालों का मनोयोग न हुआ और उसकी बात सुनने के लिये ध्यान ही न दिया तो आत्मा तक पहुँचने का अवसर ही कहाँ आवेगा ? बस, इसलिये शब्द और अर्थ रूपी काव्य के शरीर को लोकाकर्षक बनाना अलंकारों का काम है । इसीलिये अलंकारों का उत्कर्ष कहा जाता है—

"तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।"

गुण आदि के द्वारा जो कुछ सुंदरता आती है उसका अतिशय (आधिक्य) दिखाने वाले (जिससे कि वह दृष्टि में पड़े) अलंकार ही हैं । इस विषय में विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं । राजानक रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' में, भामह-उद्भट-वामनादि सबके मत संग्रह करके अंत में स्पष्ट अक्षरों से उपसंहार किया है कि—

"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।"

इस तरह अलंकार ही काव्य में प्रधान हैं यह प्राचीनों का मत है ।

हाँ, यह जरूर हुआ कि जैसे-जैसे अलंकारों की प्रधानता और काव्यों में उनके प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके प्रयोग के संबंध में कवियों की ज्यादती भी बढ़ने लगी । अलंकारों की एकदम भर-मार, स्थान-अस्थान न देखकर उनका अंधाधुंध प्रयोग, अर्थ चाहे बिगड़ जाए, परंतु अलंकारों को ठेठ तक घसीटते जाना इत्यादि बहुत कुछ चल पड़ा था । यहाँ तक कि आलंकारिकों को उसकी रोक-थाम करनी पड़ी । 'ध्वन्यालोक' में अलग एक प्रकरण है जिस के आरंभ का शीर्षक है—

"एषा चाऽस्य (अलंकारवर्गस्य) विनिवेशने समीक्षा ।"

अर्थात् यह उन अलंकारों के स्थापन के विषय में आलोचना मीमांसा है । इस शीर्षक में अलंकारों के प्रयोग के नियम बनाने पड़े कि व्यंग्य को प्रधान मानकर उसके अनुकूल अलंकार रखने चाहिये, न कि अलंकारों

१, अविदित गुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलाऽपि हि हरति दृशं मालतीमाला ।।

❀

विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कथंचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्वहणैषिता ।।

—काव्यप्रकाश : द्वितीयोद्योत

को ही प्रधान मान कर। उचित अवसर देखकर ही अलंकार का स्वीकार करें, न कि अवसर-अनवसर सर्वत्र ही। फिर स्वीकार करने पर भी जहां अलंकार से अर्थ बिगड़ता हो उसे निःशंक त्याग दे। यह न करे कि उस अलंकार के पूरे निर्वाह पर ही कमर कस ले—इत्यादि।

अलंकारों के स्थापन के संबंध में ऐसे-ऐसे कई नियम बनाए गए थे जिनके उदाहरण देने से व्यर्थ विस्तार होगा। यह एक अलग नियम का विषय है, किंतु यह सर्वथा सत्य है कि काव्यों में अलंकारों का प्रधान स्थान है। इन अलंकारों के सौंदर्य से आकृष्ट होकर आजकल के उदीयमान साहित्यकार निःशंक सिद्ध करते हैं कि "काव्य-चमत्कार के भेद ही अलंकार हैं," "भावना को मूर्त-स्वरूप देने का साधन ही अलंकार है", आदि।[1]"

[1], 'विचार-वैभव' पृष्ठ ४५ ले० प्रभुनारायण चतुर्वेदी एम. ए.

ब्रज की अलंकार परंपरा

श्री व्रजरत्नदास

सत्रहवीं शताब्दि विक्रमीय के अंत तक हिंदी में बहुत कुछ साहित्य प्रस्तुत हो चुका था और उसके इतिहास के भक्तिकाल के सूर्य, चंद्र आदि प्रमुख कविगण अपनी रचनाओं से इसके भांडार को सजा चुके थे। हिंदी के उसी स्वर्णयुग में साहित्यकारों, साहित्यप्रेमियों तथा पाठकों को काव्य-कला के ग्रंथों की आवश्यकता ज्ञात हो चुकी थी और इसकी पूर्ति की ओर भी कार्य आरंभ कर दिया गया था। जिस प्रकार व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उसी प्रकार रीति-ग्रंथों का प्रणयन भी उच्च कोटि के साहित्य-ग्रंथों के निर्माण के बाद ही होता है। हिंदी के सौभाग्य से उसे उसकी माता संस्कृत का अमूल्य साहित्य-भांडार प्राप्त ही था, जिससे उसके पास इतना अधिक साधन प्रस्तुत था कि उससे वह खूब लाभ उठा सकती थी, पर दैवदुर्विपाक से या अकर्मण्यता से वह उसका उचित उपयोग न कर सकी। हिंदी के आरंभिक कालोंके प्रायः सभी सुकविगण संस्कृत के ज्ञाता थे और हिंदी में वैसे ग्रंथों के अभाव में भी वे काव्यकला के मर्मज्ञ थे। इस कारण इन सुकवियों को यह अभाव नहीं खला, परंतु इसीके अनंतर हिंदी साहित्येतिहास का रीति-काल आरंभ होता है, जो विक्रमीय सं० १७०१ से सं० १९००तक माना जाता है। इस काल में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः सभी ने काव्य-शास्त्र के एक-एक अंग को लेकर उस पर लिखा है, परंतु देखा जाता है कि उनमें बहुत कम कवि आचार्यत्व के उच्चासन तक पहुँच पाए हैं। अधिकतर कवियों ने अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा कहीं-कहीं भ्रामक परिभाषाएँ देकर उनके उदाहरणों को प्रस्तुत करने में अपनी सारी कवित्व-शक्ति दिखलाई है। अलंकार, नायिका-भेद, नखशिख आदि पर बहुत ही रचनाएँ हुईं, पर सभी के रचयिताओं की जो कवित्व-शक्ति उनके रचित पदोंमें प्रस्फुटित हुई वैसी शक्ति विवेचना में नहीं दिखलाई पड़ी। तात्पर्य इतना ही है कि संस्कृत के समान हिंदी में आचार्यवर्ग अलग न हो सका और इसका मुख्य कारण गद्य-साहित्य का अभाव था? गंभीर विवेचना का मुख्य साधन गद्य ही है।

रीति-काल में भाषा का भी नियंत्रण होना चाहिए था, पर वैसा न हो सका। इसके विपरीत यहाँ तक कह दिया गया—

"'भाव अनूठो चाहिए, भाषा कैसिहु होइ।"

ऐसे विचार का यही फल हुआ कि शब्दों को तोड़-मरोड़कर प्रयोग करने का, ब्रज-अवधी आदि भाषाओं के शब्दों का सुविधानुसार मिश्रण करनेका तथा व्यवहार से उठे गले-सड़े शब्दों को व्यवहार में लाने का लोभ कविगण संवरण न कर सकते थे। धनलिप्सा के कारण प्रमुख कविगण तक धनाढ्य-आश्रयदाताओं को प्रसन्न तथा संतुष्ट करने के लिये असंख्य मनुष्यों के हृदयाधार आराध्यदेव श्रीराधाकृष्ण को साधारण नायिका-नायक रूप में मानकर एवं उनकी लीला का वर्णन कर अपने कलुषित हृदयों का परिचय देते थे और इसे धनोपार्जन का सुगम मार्ग बना लेते थे। इसी कारण इस काल में शृंगार रस पर अधिक कविता हुई और यह रस शृंगारिकता के नाम से प्रायः निंद्य सा हो उठा, पर सर्प-मुख में पड़कर दुग्ध के विष हो जाने से दुग्ध विष नहीं हो जाता।

भक्ति-काल ही में काव्यशास्त्र के कुछ अंगों पर रचनाएँ हो चुकी थीं। सं० १५३८ वि० में कोई कृपाराम अपनी 'हिततरंगिणी' में थोड़ा बहुत रस-निरूण कर चुके थे। इन्होंने अपने कुछ पूर्ववर्ती कवियों की ऐसी रचनाओं का उल्लेख भी किया है, जो अभी तक अप्राप्य हैं। चार सौ दोहों में यह

रचना है जो अत्यंत सुंदर, सरस तथा भावमय है। इसके अनंतर सं० १६१६ वि० में 'मोहनलाल मिश्र' ने 'श्रृंगार-सागर' नामक बड़ा ग्रंथ लिखा, जिसमें नायिकाभेद, अलंकार आदि का साधारण विवेचन है। इसकी भाषा भी शिथिल है और कवित्व-शक्ति भी साधारण है। सत्रहवीं शताब्दि विक्रमीय में नौ-दस कवियों ने और भी कई रीति-ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें गोप, महाकविराय सुंदरदास ग्वालियरी, हरीराम, क्षेम, निधान आदि की रचनाएँ प्राप्त हैं। इसी शताब्दि में भक्त सुकवि नंददास जी ने 'रसमंजरी' में नायिका-भेद तथा 'विरहमंजरी' में 'विप्रलंभ श्रृंगार' पर कुछ लिखा है। बलभद्र मिश्र ने 'नखशिख' पर एक छोटी रचना तैयार की और नवाब अब्दुर्रहीम खाँ खानखानाँ ने 'बरवै नायिका-भेद' में केवल उदाहरण प्रस्तुत किए। इतना होते हुए भी महाकवि केशवदासजी ही प्रथम आचार्य-कवि हैं, जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। इनके बाद प्रायः पचास वर्ष तक कोई अच्छा रीति-ग्रंथ नहीं लिखा गया।

केशवदास जी का जन्म सं० १६१२ में तथा मृत्यु सं० १६७४ में हुई थी। ये ओड़छा नरेश वीरसिंह देव तथा उनके भाई इंद्रजीतसिंह के आश्रित थे। ये हिंदी के सुकवि तथा संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के विद्वान थे। इन्हें हिंदी में काव्य-कला पर ग्रंथों का न होना खला और उन्होंने इसकी पूर्ति करने का निश्चय किया। भामह, दंडी, उद्भट आदि प्राचीन अलंकार-शास्त्रियोंके ग्रंथों के परिशीलन से इनकी मनोवृत्ति अलंकार ही को प्राधान्य देने की ओर झुकी और यह भी रस, रीति आदि सभी को अलंकार के अंतर्गत समझने लगे। इन्हीं आचार्यों के ग्रंथों के आधार पर केशवदास जी ने अलंकारों पर 'कविप्रिया' तथा रस पर 'रसिकप्रिया' दो ग्रंथ लिखे। इनका एक ग्रंथ 'नखशिख' पर भी है। 'रामचंद्रिका' यद्यपि प्रबंध-काव्य है, पर यह अनेक प्रकार के छंदों के उदाहरणों के संग्रह-रूप में प्रस्तुत हुआ है। रसिकप्रिया सं० १६४८ की रचना है और इसमें रसों पर, विशेषतया श्रृंगार पर लिखा गया है। इस कारण नायिका-भेद, हाव-भाव आदि की भी विवेचना आ गई है। कविप्रिया सं० १६५८ की रचना है, जिसमें अलंकार, गुण-दोष, नखशिख, चित्र-काव्य आदि की विवेचना है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि केशवदास जी का निज का विवेचन नाम मात्र को है, सारी सामग्री संस्कृत-ग्रंथों से ली गई है। इनके अन्य ग्रंथ 'रीति' पर नहीं हैं।

चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर उपनाम नीलकंठ ये चारों तिकवाँपुर-निवासी 'रत्नाकर' त्रिपाठी के पुत्र थे। इनमें प्रथम तीन हिंदी-साहित्य के विशेष ख्यातिलब्ध कवि हो गए हैं। चिंतामणि ने सं० १७०७ वि० में 'कविकल्पतरु' ग्रंथ लिखा जिसमें गुण, दोष, अलंकार, ध्वनि, भाव आदि का विस्तार के साथ विवरण दिया है। पिंगल पर एक ग्रंथ 'छंदविचार' लिखा है। इनके सिवा 'काव्यविवेक' तथा 'काव्यप्रकाश' भी इनकी रचना कही जाती हैं। खोज में 'रसमंजरी' नाम की भी इनकी एक रचना मिली है। इस प्रकार चिंतामणि जी ने काव्य के सभी अंगों पर लिखा है। इनकी ब्रजभाषा अत्यंत शुद्ध है और सुंदर सानुप्रास है। यह आचार्य तथा कवि दोनों ही थे। भूषण 'वीर-रस' के प्रसिद्ध कवि थे और सौभाग्य से इन्हें शिवाजी, साहूजी तथा छत्रसाल जैसे आश्रयदाता मिल गए थे। ऐसे देशभक्त वीरों के यशकीर्तन से इनकी कविता सारे भारत में लोकप्रिय हो गई। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराजभूषण' अलंकारों पर लिखा गया है। यद्यपि इनकी कविता बड़ी ओजस्विनी है, पर अलंकारोंका निरूपण ऐसे प्रसिद्ध कवि के अनुरूप नहीं हुआ है। अलंकारों की परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं हो पाई हैं और भाषा भी अव्यवस्थित है। मतिराम भी रीतिकाल के प्रमुख कवि हैं। इनके ग्रंथ 'रसराज' तथा 'ललितललाम' रस तथा अलंकार पर बहुत अच्छे बन पड़े हैं। इनमें जो रससिक्त प्रसादमय उदाहरण दिए गए हैं उनसे रस अलंकारादि अच्छी प्रकार समझे जा सकते हैं और इसीलिये अध्ययन के लिये उपयोगी हैं। इनके अन्य ग्रंथ 'छंदसार' (सं० १७५८) 'साहित्यसार', 'लक्षणश्रृंगार' तथा 'अलंकार पंचाशिका' (सं० १७४७) कहे जाते हैं, ये सभी काव्य-कला-संबंधी हैं। इन्होंने शुद्ध सरल स्वच्छ ब्रजभाषा

में अपनी रचना की है, जो सहज स्वाभाविक तथा सरस है। भाषा ही के समान भावों में भी कृत्रिमता का लेश नहीं है और अभिव्यंजना सीधी तथा सरल है।

मारवाड़-नरेश महाराज यशवंतसिंह ने अपनी सारी आयु युद्ध-क्षेत्र ही में व्यतीत की थी। ये ऐसे प्रतापी थे कि औरंगजेब भी इनका पूरा सम्मान करता था। इनका जन्म सं० १६८३ में हुआ था और सं० १७३५ में मृत्यु हुई। ये संस्कृत तथा भाषा के अच्छे ज्ञाता और तत्वज्ञानी थे। ये साहित्य-मर्मज्ञ तथा सुकवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इनकी कई रचनाएँ हैं, पर इनमें विशेष प्रसिद्ध 'भाषाभूषण' नामक अलंकार ग्रंथ है। यह 'चंद्रालोक' की संक्षिप्त प्रणाली पर लिखा गया है, जिसमें दोहे की एक अर्द्धाली में 'परिभाषा' तथा दूसरी में 'उदाहरण' दिया गया है। इस ग्रंथ के कारण ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में गिने जाते हैं और आचार्य के रूप में ही इन्होंने इसकी रचना की है।

कुलपति मिश्र महाकवि बिहारी के भाँजे कहे जाते हैं। यह संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और जयपुर नरेश मिर्जाराजा जयसिंह के पुत्र 'रामसिंह' के आश्रित थे। सं० १७२७ में इन्होंने मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर 'रसरहस्य' नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें कहीं-कहीं गद्य में कुछ टीका-सी भी कर दी गई है। गद्य-पद्य दोनों की भाषा क्लिष्ट हो गई है और इस कारण विषय-प्रतिपादन स्पष्ट रूप से नहीं हो पाया है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखते हुए भी शास्त्रीय-निरुपण में ये विशेष सफल नहीं हुए। इनके अन्य ग्रंथ 'नखशिख', 'द्रोणपर्व,' 'संग्रामसार' तथा 'युक्तितरंगिणी' हैं। ब्रजभाषा पर इनका पूरा अधिकार स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह आगरा के निवासी थे।

सुखदेव मिश्र कंपिला निवासी थे और काशी में भी विद्याध्ययन के लिये बहुत दिन रहे। इन्होंने सात-आठ राजा-बाबुओं का क्रमशः आश्रय लिया और प्रायः इतनी ही रचनाएँ तैयार भी कीं। इनमें 'वृत्त-विचार', 'छंद-विचार', 'रसार्णव' आदि रीति-ग्रंथ हैं, जिनमें दो का रचनाकाल सं० १७२८ तथा सं० १७३३ दिया हुआ है। प्रथम दो में पिंगल का अच्छा वर्णन है और उदाहरण भी बहुत अच्छे भक्ति-रस से भरे दिए गए हैं। 'रसार्णव' में 'नवरस' का सुंदर वर्णन है तथा नायिका-भेद भी वर्णित है। 'फाजिलअली-प्रकाश' में गणागण तथा रस-भेद वर्णित है। इनमें आचार्यत्व तथा कवित्व दोनों ही समान थे और ये साधु प्रकृति के पुरुष थे।

महाकवि 'कालिदास' त्रिवेदी कान्यकुब्ज के निवासी थे। इनके पुत्र 'कवींद्र' तथा पौत्र 'दूलह' भी सुकवि हो गये हैं। सं०१७४९ वि० में इन्होंने 'बारबधू-विनोद' लिखा जिसमें नायिका-भेद का अच्छा वर्णन है। ये शाहजहाँ बादशाह के आश्रित कहे जाते हैं। इन्होंने गोलकुंडा पर औरंगजेब की चढ़ाई का ओजपूर्ण वर्णन किया है। 'जंजीराबंद' बत्तीस कवित्तों का एक छोटा काव्य है तथा इनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनका एक संग्रह-ग्रंथ 'कालिदास-हजारा' भी प्रसिद्ध है, जिसमें २१२ कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। ये सिद्धहस्त निपुण कवि थे।

सुप्रसिद्ध महाकवि 'देव' सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर कुछ लोग इन्हें दुसरिहा कान्यकुब्ज मानते हैं। इनका जन्म सं० १७३० और मृत्यु सं० १७८५ है। सोलह वर्ष की अवस्था ही से ये कविता करने लगे। उदार आश्रयदाताओं की खोज में ये बहुत घूमे और बहुतों के लिये इन्होंने बहुत से ग्रंथ रच डाले। कहा जाता है कि इन्होंने बावन या बहत्तर ग्रंथ लिखे थे, पर नाम केवल छब्बीस के मिलते हैं। इनमें से भी सब प्रकाशित नहीं हुए हैं। देव जी अपने पूर्व-निर्मित ग्रंथों से कुछ पद लेकर तथा कुछ-नये बनाकर अपने नये आश्रयदाता के लिए एक ग्रंथ तैयार कर लेते थे। यद्यपि यह बड़े प्रतिभा-शाली कवि थे, पर इनका आचार्यत्व समयानुसार ही रहा और यह भी उचित, गंभीर तथा विशद विवे-चन एवं व्याख्या नहीं कर पाए। इनकी कविता बहुत उत्कृष्ट है, पर वह लोकप्रिय नहीं हो सकी। इनका काव्यक्षेत्र सौंदर्योपासना ही के भीतर रहा, पर लौकिक प्रेम मात्र होनेके कारण विशेष ऊँचे नहीं उठ सके। भाषा पर पूरा अधिकार होते हुए भी भरती के तथा तोड़े-मरोड़े शब्दों की कमी नहीं है। 'भावविलास', 'भवानीविलास', 'सुजानविनोद', 'सुखसागर-तरंग', 'काव्यरसायन' आदि इनके अच्छे रीति-ग्रंथ हैं।

सुरति मिश्र आगरा-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये सुकवि तथा साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनकी विद्वत्ता इनकी लिखी 'बिहारी-सतसई', 'रसिकप्रिया' आदि की टीकाओं से प्रकट होती है। इन्होंने सं० १७६८ में अलंकारों पर दोहों में 'अलंकार-माला' लिखी और एक-एक दोहे में परिभाषा तथा उदाहरण दोनों दे दिये हैं। नायिका-भेद तथा रसों पर—'रसरत्नमाला' 'सरसरस', 'रसरत्नाकर' आदि लिखे। 'काव्यसिद्धांत', 'नखशिख' आदि भी इनकी ऐसी ही रचनाएं हैं। इनके सिवा कृष्णचरित्र आदि भी इनके अन्य ग्रंथ हैं। इनमें कवित्व तथा आचार्यत्व दोनों ही प्रायः समान हैं।

श्रीपतिजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा काल्पी के रहने वाले थे। भाषा-साहित्य के आचार्यों में वह संमान्य हैं। इनमें कवित्वशक्ति अच्छी थी और इनकी कविता दोष-रहित तथा सरस हुई है। इन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है और अच्छा लिखा है। इनका 'काव्यसरोज' सं० १७७७ वि० की रचना है, जिसमें इनके रचित 'काव्यकल्पद्रुम' का उल्लेख है। अतः यह इसके पहिले की रचना है। खोज तथा मिश्रबंधुविनोद में—'विनोदाय काव्यसरोजे अर्थदोष-निरूपणं' को लेकर एक नया ग्रंथ मान लिया गया है, पर यह अशुद्ध है। एक ही ग्रंथ का पूर्वांश एक ग्रंथ तथा उत्तरांश दूसरा ग्रंथ समझ लिया गया है। खोज में दिये गए उद्धरण को देखा जाता तो यह अशुद्धि न होती। इसी प्रकार 'अनुप्रास' रचना अंग्रेजीमें लिखे जाने के कारण 'अनुपरास' हो गई। यह भी स्वतंत्र ग्रंथ है या किसी का अंश मात्र है, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। इनके सिवा विनोद में 'अलंकारगंगा', 'विक्रमविलास' आदि इनके ग्रंथ कहे गये हैं। श्रीपति जी ने आचार्यों के समान विवेचन करने में विशेष प्रयत्न किया है और बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। 'काव्यसरोज' इनका प्रौढ़ ग्रंथ है। भिखारीदासजी ने अपने ग्रंथों में इनकी रचनाओं से विशेष सहायता ली है।

भिखारीदास 'दास' श्रीवास्तव कायस्थ प्रतापगढ़ के अंतर्गत टचोंगा के निवासी थे। इन्होंने आठ-नौ ग्रंथ लिखे हैं। 'रस सारंग' सं० १७९१ की रचना है, जिसमें प्रधानतः शृंगाररस का तथा अन्य रसों का वर्णन है। 'छंदोर्णव' या 'छंदार्णव' (सं० १७९९), 'काव्यनिर्णय' (सं० १८०३) तथा 'शृंगारनिर्णय' (सं० १८०७) आदि इनके तीन मुख्य रीति-ग्रंथ हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं। ये तीनों विशद ग्रंथ हैं और इनमें क्रमशः पिंगल तथा काव्य के विविध अंगों का विवेचनापूर्ण वर्णन किया गया है। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था तथा ये सरल आडंबरहीन भाषा के पक्षपाती थे। यद्यपि यह भी अपने समयके अनुरूप आचार्यत्व को कवित्व से अलग न रख सके, पर तब भी कह सकते हैं कि इनमें प्रथम के गुण विशेष हैं। दासजी के रीति-ग्रंथ आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। विनोद में इनके रचे अन्य कई ग्रंथों का उल्लेख है, पर वे रीति-ग्रंथ नहीं हैं।

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण तथा जयपुर के निवासी थे। इन्होंने सं० १७९४ वि० में 'रसपीयूषनिधि' नामक एक बड़ा ग्रंथ तैयार किया, जिसमें काव्यकला के प्रायः सभी अंगोंका अच्छा विवेचन किया है। पिंगल, पदार्थनिर्णय, ध्वनि, रस, अलंकार आदि सभी को बड़ी सरल सुगम रीति से समझाया है। ये भावुक तथा सहृदय कवि भी थे और ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। सरल मधुर भाषा में दोष-रहित कविता करते थे और ये उन इने-गिने सुकवियों में से हैं, जो आचार्य कहे जाते हैं। उक्त ग्रंथ के सिवा इन्होंने कई अन्य काव्य-ग्रंथ भी लिखे हैं तथा रामायण के कई कांडों का पद्यमय अनुवाद किया है।

रघुनाथ काशिराज बलवंतसिंह के आश्रित तथा उनके दरबार के राजकवि थे। इन्होंने सं० १७९६ वि० में अलंकारों पर 'रसिकमोहन' सं० १८०२ वि० में; भाव, रस तथा नायिका-भेद पर 'काव्य-कलाधर' और सं० १८०७ वि० में 'अष्टयाम', अर्थात् श्री कृष्ण की दिनचर्या वर्णन करते हुए अनेक विषयों पर 'जगतमोहन' लिखा है। राजनीति, न्याय, ज्योतिष आदि के साथ-साथ रत्न, सेना, अश्व आदि का भी अच्छा वर्णन किया है। 'इश्कमहोत्सव' में खड़ी बोली हिंदी का पुट अधिक है। ये सुकवि थे और काव्य-कला विषय को समझाने का इन्होंने अच्छा प्रयास किया है। इनके पुत्र 'गोकुलनाथ', पौत्र 'गोपीनाथ' तथा शिष्य 'मणिदेव' भी सुकवि हो गए हैं।

कालिदास त्रिवेदी के पुत्र 'उदयनाथ कवींद्र' सहृदय कवि हो गए हैं, जिन्होंने सं० १८०४ वि० में शृंगार पर 'रसचंद्रोदय' ग्रंथ लिखा। कवींद्र के नाम से सं० १७९९ वि० में रचित एक ग्रंथ 'रसदीप' या 'रसदीपाख्य' खोज में और मिला है, जो इन्हीं का हो सकता है। इनके पुत्र 'दूलहराय' का 'कविकुल-कंठाभरण' प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह चंद्रालोक के अनुसार अलंकारों पर लिखा गया है और छोटा होते हुए भी माधुर्य, प्रौढ़ता आदि के कारण लोकप्रिय है। कवित्त, सवैया आदि बड़े छंदों के कारण परिभाषा तथा उदाहरण दोनों के पूर्ण विवरण देनेका अच्छा अवकाश मिला है। इनके स्फुट छंद भी थोड़े से मिलते हैं।

बेनी प्रवीण लखनऊ निवासी वाजपेयी ब्राह्मण थे। इन्होंने 'नवरसतरंग' सं० १८७४ में प्रस्तुत किया और इसके पहिले 'शृंगार-भूषण' लिख चुके थे। इनके अनंतर 'नानाराव-प्रकाश' के नाम से एक विशद अलंकार-ग्रंथ बनाया। प्रथम दोनों ग्रंथ नायिका-भेद, रस, भाव आदि पर लिखे गए हैं। अन्य स्फुट पद भी मिलते हैं। कविता में सरसता तथा माधुर्य है और इस कारण ये रीतिकाल के सुकवियों में माने जाते हैं। इनकी भाषा संयत तथा प्रवाहपूर्ण है।

पद्माकर भट्ट बाँदा के तैलंग ब्राह्मण 'मोहन भट्ट' के पुत्र थे, जो स्वयं विद्वान् तथा सुकवि थे। इन्होंने नागपुर, पन्ना, जयपुर आदि कई राज्यों में सम्मान तथा जागीर पाई थी। पद्माकर का जन्म सं० १८१० में तथा मृत्यु सं० १८९० में हुई थी। इन्होंने भी कई मराठा तथा राजपूत राज्यों में आश्रय प्राप्त किया था। इनकी रचनाओं में 'जगद्विनोद' सं० १८६७ में तैयार हुआ, जिसमें भाव, रस आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनकी यह रचना विशद होते हुए भी बहुत अच्छी बन पड़ी है और बहुत प्रसिद्ध है। इसी समयके लगभग इन्होंने अलंकारों पर 'पद्माभरण' ग्रंथ लिखा, जो दोहों में है। प्रथम ग्रंथ शृंगार रस पर है। दोनों ही ग्रंथ इतने अच्छे बन पड़े हैं कि काव्यरसिकों के कंठहार हो गये हैं। भाषा पर इनका-सा अधिकार कम कवियोंमें मिलता है। इनकी जैसी मधुर स्वाभाविक कल्पना है वैसी ही मूर्त्ति विधायिनी शक्ति भी है। कहीं सरल प्रवाह है, कहीं दर्पपूर्ण ओज है तो कहीं गंभीर स्थिरता भी है। भाषा की ऐसी अनेकरूपता विरले ही कवियों में मिलती है।

चरखारी-नरेश विक्रमशाहि के आश्रित कवि 'प्रतापसाहि' ने आठ-नौ ग्रंथ रीति पर लिखे हैं, जिनमें कई प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सं० १८८२ में 'व्यंग्यार्थकौमुदी' शब्दशक्ति पर लिखी। सं० १८८६ में 'युगल नखशिख' तथा 'काव्यविलास' दो ग्रंथ लिखे। इसके अनंतर सं० १८३२ में शृंगारमंजरी', सं० १८३७ में *'शृंगारशिरोमणि' तथा 'अलंकार-चिंतामणि'* और सं० १८३९ में *'काव्यविनोद' प्रस्तुत किए।* इन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है और सफल कवि होते हुए भी इनमें आचार्यत्व की मात्रा कम नहीं थी। रीतिकाल के यह प्रायः अंतिम प्रसिद्ध कवि हुए हैं। भाषा इनकी कहीं शिथिल नहीं होने पाई है। इन्होंने और भी कई ग्रंथ लिखे हैं।

बा० देवकीनंदन के आश्रित असनी के 'ठाकुर' कवि के पुत्र 'सेवक' भी इसी वंश के आश्रित थे। इन्होंने 'वाग्विलास' नामक नायिका-भेद का एक बड़ा ग्रंथ बनाया है और बरवै छंद में 'नखशिख' नामक एक छोटा ग्रंथ भी लिखा है। इनका जन्म सं० १८७२ में और मृत्यु सं० १९३९ में हुई थी। इनके सवैये आकर्षक तथा मनोहर हैं। पद्य में 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद भी किया था, ऐसा सुना जाता है।

भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र के पिता बा० गोपालचंद्र 'गिरिधरदास' का जन्म सं० १८९० में और मृत्यु सं० १९१७ में हुई थी। इतनी छोटी अवस्था में इन्होंने चालीस ग्रंथ रचे थे। इनका 'भारतीभूषण' अलंकारों पर विशद ग्रंथ है, जिसमें ३७८ दोहे हैं। इन्होंने एक दोहे में लक्षण तथा एक में उदाहरण दिये हैं। हाव, भाव आदि पर 'रसरत्नाकर' ग्रंथ लिखा है, जो अपूर्ण है। ग्रीष्म-वर्णन पर भी एक पुस्तक लिखी है। इन्हें यमक, अनुप्रास बहुत प्रिय थे और क्लिष्ट काव्य करने के पक्षपाती थे।

ललितपुर-निवासी हरिजन के पुत्र 'सरदार' कवि काशीराज 'ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह' के आश्रित थे। ये साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ तथा सुकवि थे। इन्होंने केशवदास जी की 'कविप्रिया' तथा

'रसिकप्रिया' पर विशद टीकाएँ लिखी हैं। इनके सिवा 'साहित्य-सुधाकर' तथा 'व्यंग्यविलास' की रचना की है। ऋतुओं पर 'ऋतुविलास' ग्रंथ लिखा है। इनके अन्य काव्य-ग्रंथ बड़े मनोहर हैं तथा टीकाएँ विद्वत्तापूर्ण हैं। इन्होंने साहित्यिक विवेचन प्राचीन ढंग पर अच्छा किया है।

सं० १९२८ की लिखी हुई 'उक्तिजुक्ति-रस-कौमुदी' नामक एक विशद ग्रंथ की प्रति मिली है, जो श्री चैतन्य संप्रदाय के गोस्वामी श्री कृष्ण चैतन्य उपनाम 'निज' ने तैयार की थी। उसमें काव्य-कला के सभी अंगों का विस्तृत वर्णन ब्रजभाषा-गद्य में दिया है और उदाहरण भी कुछ 'निज' कवि ने स्वरचित दिए हैं, पर अधिकतर पूर्ववर्ती कवियों के चुनकर दिए गए हैं। यह सोलह कलाओं में विभक्त है और क्रमशः भाव, नवरस, नायिकाभेद, षट्ऋतु तथा अलंकारों का एक-एक दो-दो कलाओं में विवरण है। भारतेंदु जी-द्वारा प्रकाशित केवल एक 'प्रथम कला' देखने में आई है, पर ज्ञात होता है कि चार कलाएँ प्रकाशित हुई थीं। भारतेंदु जी ने इन गोस्वामी जी से काव्य-कला का कुछ अध्ययन किया था। यह ग्रंथ अत्यंत सुंदर सारगर्भित है और एक विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ तथा सुकवि के अध्यावसाय के अनुरूप है।

यहाँ तक हिंदी-साहित्येतिहास में प्राचीन-काल की रीति-परंपरा प्रायः समाप्त हो जाती है और वर्त्तमान काल आरंभ होता है। जितने रीतिकारों का ऊपर उल्लेख दिया गया है वे उस काल के प्रायः प्रमुख कवि तथा आचार्य हो गए हैं। इनके सिवा साधारण कोटि के प्रायः एक सौ से अधिक कवि हुए हैं, जिन्होंने काव्य-कला के एक-एक अंग को लेकर रचनाएँ तैयार की हैं। वर्तमान काल के आरंभ में भी 'लाला भगवानदीन' ने 'अलंकार-मंजूषा' तथा 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' और बा० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'छंद-प्रभाकर' तथा 'काव्य-प्रभाकर' लिखे, पर ये सब भी प्राचीन परिपाटी पर लिखे गए हैं, परंतु अब समय गद्य का है और इस प्रकार के ग्रंथ विशेष रूप से गद्य ही में लिखे जाने चाहिए। साथ ही संस्कृत के इस प्रकार के ग्रंथों के अच्छे अनुवाद हिंदी में अपेक्षित हैं; कुछ के हो भी चुके हैं। प्राचीन आचार्यों में दंडी के 'काव्यादर्श' का अनुवाद मूल सहित प्रकाशित हो चुका है। बाद के आचार्यों में जयदेव के चंद्रालोक के, विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा 'पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' के अनुवाद निकल चुके हैं।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम' विशद ग्रंथ है और गद्य में उसमें जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। विवेचन के साथ समझाने का प्रयास स्तुत्य है। अब यह ग्रंथ 'रसमंजरी' तथा 'अलंकारमंजरी' नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ है।[1]

[1]. ब्रजभाषा के अंतिम रीतिकालिक प्रसिद्ध कवि 'श्री ग्वाल' जी का इस लेख में कोई उल्लेख नहीं हुआ है। कविवर ग्वालजी ने—रस और अलंकार पर काफी लिखा है। आपका अलंकार-ग्रंथ "अलंकार-भ्रमभंजन" और रसग्रंथ—"रसिकानंद" बहुत सुंदर हैं। यही नहीं, आपने अपने-से पहले के कवियों के काव्यों की भूलों का, उनकी साहित्यक त्रुटियों का बड़े सुंदर, सरल और विशद ढंग से निराकरण करते हुए एक बृहद् ग्रंथ—'दूषणदर्पण' की भी रचना की है। यह ग्रंथ बड़ा विशद और तत्कालीन आलोचना-क्षेत्र का जगमगाता सूर्य है, जो दीमक-राहु से ग्रसित होते हुए भी बचे-खुचे रूप में अपनी प्रभा से ब्रजभाषा के साहित्याकाश को प्रकाशित कर रहा है।

हिंदी के प्राचीन आलंकारिक आचार्य

श्री रामदहिन मिश्र

पहले वे हीं आचार्य कहलाते थे, जो ऐसे नियमों का निर्धारण करते थे, जिन पर चलने से जन-समाज का जीवन-पथ प्रशस्त होता था। चाहे वे धर्माचार्य हों चाहे शास्त्राचार्य। वे आचार्य अपने निर्माण का कार्य अपने समक्ष जो देखते थे उसीके अनुसार करते थे। वह ऐसा संकलित होता था कि टस से मस नहीं होने देता था। जिन आचार्यों में लोक-शास्त्र के निरीक्षण और परीक्षण की जितनी मार्मिकता होती थी समाज उनका उतना ही अनुगमन करता था। ये नये-नये सिद्धांतों की स्थापना भी करते थे। हमारे संस्कृत के आलंकारिक आचार्य ऐसे ही हुए।

संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों की परंपरा बड़ी लंबी है। महामुनि भरत के नाटच-शास्त्र में ४, अग्निपुराण में १६, दंडी, उद्भट और वामन के समय तक वह संख्या ५२ हो गयी। फिर रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक तक अलंकारों की संख्या १०३ हो गयी। तत्पश्चात् जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ तक अर्थात् १८ वीं शताब्दी तक अलंकारों की संख्या १६१ तक पहुँच जाती है। इनमें ऐसे अनेकों अलंकार हैं जो चमत्कार-शून्य हैं और कुछ में कुछ का अंतर्भाव हो जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समाप्त होते-होते हिंदी-काव्य प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुका था। भाषा परिमार्जित, परिष्कृत और सुसंस्कृत हो चुकी थी। उसमें विचारों की प्रौढ़ता, गंभीरता तथा स्थिरता का समावेश हो चुका था। साथ ही ललित कलाएँ भी उसमें खुलकर खिलने लगी थीं। कला की विदग्धता अपना वैभव दिखलाने लगी थी। सरसता तथा मधुरता सहृदयों को सरस और मुग्ध बनाने लगी थीं। संक्षेप में यह कि काव्य अपने कला-विकास तथा सौंदर्य से परिपूर्ण हो गये थे।

जब लक्ष्य स्वरूप बहुत से काव्य-ग्रंथों का निर्माण हो चुका तो बहुत से कवियों ने उनको शास्त्रीय-दृष्टि से परखना प्रारंभ किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उन्हें नियमबद्ध बनाने की प्रबल प्रेरणा अनुभूत हुई। इतिहास से पता चलता है कि अकबर के दरबारी 'नरहर' कवि के साथी 'करनेश' कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' नामक ग्रंथ लिखे। आभरण और भूषण शब्द इनके अलंकार ग्रंथ होने की सूचना देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इनका मूल संस्कृत के अलंकार ग्रंथ हैं, जिनका भंडार उस समय तक भरपूर हो गया था।

संस्कृत में दो प्रकार के आलंकारिक आचार्य हुए। एक तो वे जिन्होंने काव्यांगों में केवल अलंकारों को ही अपनाया और उसकी विवेचना करके भेदोपभेद किए। ऐसे प्राचीन आचार्यों में 'काव्यालंकार' के कर्त्ता भामह, 'काव्यादर्श' के प्रणेता दंडी और 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' के रचयिता उद्भट प्रधान हैं। 'काव्यालंकार सूत्र' के कर्त्ता वामन और 'काव्यालंकार' के प्रणेता रुद्रट अलंकार ही के पोषक और समर्थक थे। काव्यादर्श को छोड़ कर आचार्यों के अपने ग्रंथों का नामकरण ही काव्य में अलंकारों की प्रधानता को द्योतित करते हैं। इनमें काव्यांगों का प्रतिपादन भी है, पर इनकी मुख्यता नहीं है।

दूसरे आलंकारिक आचार्य वे हैं जिन्होंने पांडित्य-पूर्ण मार्मिक विवेचन से साहित्य-शास्त्र को समुन्नत और सर्वांगपूर्ण बनाया। इनमें 'काव्यप्रकाशकार' मम्मट, 'ध्वन्यालोक' रचयिता आनंदवर्द्धन, 'साहित्य-दर्पणकार' विश्वनाथ आदि हैं।

इसी प्रकार हिंदी के आचार्यों में भी दो दल दीख पड़ते हैं। पहले में आचार्य केशव, जसवंतसिंह, भूषण आदि आते हैं और दूसरे में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने अलंकार के अतिरिक्त अन्यान्य काव्यांगों को भी

अपनाया। इनमें चिंतामणि, कुलपति मिश्र, भिखारीदास आदि हैं। मतिराम, देव और पद्माकर ने काव्यांगों में से रस को लिया,—पर उसमें नायिका-भेद ने प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया।

संस्कृत के कुछ आचार्यों और हिंदी के आचार्यों में दो-एक बातें ध्यान देने योग्य हैं। संस्कृत के आलंकारिक आचार्य बड़े ही उद्भट् विद्वान थे। उन्होंने न्याय-शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण अपने साहित्य-शास्त्र में उन विषयों की अवतारणा बड़ी योग्यता से की है। उनके साहित्य-शास्त्र में सर्वत्र दर्शन-शास्त्र की झलक पाई जाती है। उन्होंने काव्यार्थ-विचारने को अनेक दर्शन-शास्त्रों को अपना लिया है। अर्थ-निर्भर होने के कारण उनके अलंकारों ने अत्यंत संकीर्णता और सूक्ष्मता को प्राप्त कर लिया है। हिंदीके आचार्य ऐसे प्रगाढ़ विद्वान् नहीं थे। इससे उनके ग्रंथों में मौलिकता और विवेक का अभाव बड़ा ही खलता है। दूसरी बात यह कि संस्कृत के आचार्य अपने प्रचंड पांडित्य से सूक्ष्माक्षिकया तार्किक विवेचन से 'अलंकार-संप्रदाय', 'रस-संप्रदाय', 'वक्रोक्ति-संप्रदाय' जैसे अपने-अपने सैद्धांतिक संप्रदाय स्थापित करने में समर्थ हुए, हिंदी के आचार्य वैसे अपना कोई संप्रदाय स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए। इसीमें हिंदी के आलंकारिक आचार्यों के अलंकार ग्रंथोंमें न तो कहीं मौलिकता का आभास है और न स्वतंत्र सत्ता का अस्तित्व ही प्राप्त होता है। इसीसे उनके ग्रंथों में न तो परिपूर्णता है और न संप्रदाय-विशेष की स्थापना का आग्रह।

एक बात और, संस्कृत-साहित्य में आचार्यों की श्रेणी पृथक् थी और कवियों की पृथक्। यद्यपि अनेकों आचार्य काव्य-शक्ति-संपन्न थे, तथापि उनकी प्रतिभा का विकास आचार्यत्व के पोषण में ही था। पंडितराज ही ऐसे थे, जिन्होंने साहंकार कहा था कि अनुरूप उदाहरण बनाकर मैंने यह काव्य बनाया है। इसमें दूसरे का कुछ भी नहीं है। जो कस्तूरी के उत्पादन की सामर्थ रखता है वह क्या फूलों की सुगंध को भी सूंघ सकता है?[१] अस्तु, उनकी प्रतिभा का प्रखर प्रवाह कवित्व और आचार्यत्व के दोनों कूलों को प्लावित करता है। उन्होंने लक्षणों और लक्ष्यों दोनों की रचना में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। एक-दो और भी ऐसे आचार्य हुए। इसी प्रणाली को हिंदी के आचार्यों ने अपना लिया, पर वे दोनों विषयों में सफल न हुए। इन आचार्यों में जैसी कवित्व-शक्ति थी वैसी आचार्यत्व के अनुरूप सूक्ष्म-निरीक्षण और परीक्षण की शक्ति नहीं थी। इसी से इनके द्वारा काव्यांगों का मार्मिक विवेचन न हो सका।

हिंदी के आचार्यमाण कवियों के लिये नायिका-भेद और अलंकार को छोड़ कर अन्य काव्यांग अरुचिकर प्रतीत हुए जिससे उनके वर्णन और विवेचन की ओर जिनकी आंखें नहीं गयीं, भले ही वे प्रगाढ़ विद्वान् न हों पर वे भावुक, सहृदय और प्रतिभाशाली अवश्य थे। उन्होंने उदाहरणों के रूप में स्फुट काव्यों की जो धारा बहायी वह आज भी सहृदयों को आमज्जन-निमज्जन कराती हुई अनिवर्चनीय आनंद प्रदान करती है और करती रहेगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिका-भेद के उदाहरणों में ऐसे पद्यों की बहुलता दीख पड़ती है। हिंदी के आचार्यों ने आचार्यत्व के अनुरूप भले ही अपना कौशल न दिखाया हो, किंतु उक्ति विशेषता में संस्कृत के आचार्यों से वे न्यून नहीं कहे जा सकते।

इस प्रणाली के अपनाने से भले ही और जो कुछ हुआ हो, पर एक नुकसान ऐसा हुआ जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। संस्कृत के आचार्यों ने अपने ग्रंथों में प्रतिपाद्य विषयों के भिन्न-भिन्न कवियों के ग्रंथों से जो उदाहरण दिये हैं, वे ही आज उन कवियों को लुप्त होने से बचाये हुए हैं। उनके ग्रंथ भले ही लुप्त हो गए हों, पर वे सूक्ति-रूप हमारे स्मरणातीत नहीं हुए। उन उदाहरणों के आधार पर ही आज उनके समय का निर्धारण हो रहा है और वे हमारे इतिहास की पूर्णता में सहायक हो रहे हैं। उन उदाहरणों पर अनुसंधान कार्य चल रहा है और इसी के फलस्वरूप अनेक ग्रंथों का उद्धार भी हो रहा है। यही नहीं, उनके तात्कालिक साहित्य की गति-विधि का भी पता लगता है। यदि हिंदी के ये आचार्य अपने ग्रंथों में स्वनिर्मित उदाहरण न देकर तात्कालिक कवियों

१. निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यंमयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यतेसुमनसांमनसापिगंधः कस्तूरिकाजननशक्तिभृतामृगेण॥

—रसगंगाधर

के उदाहरण देते तो उक्त सभी उद्देश्य सिद्ध होते। अच्छा होता कि ये कवि आचार्यत्व का मोह छोड़कर 'सुदामाचरित्र' जैसा छोटा-मोटा काव्य ही लिखते या 'घनानंद' जैसी स्फुट रचना ही करते। अपनी कविता के लिये शास्त्रीय विषयों को नहीं अपनाते। यह नहीं कि इन्होंने ऐसे प्रबंध-काव्य नहीं लिखे। ऐसे आचार्यों में से 'केशव', 'मतिराम', 'भूषण', 'देव' और 'पद्माकर' मुख्य हैं। संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने एक ही पुस्तक में सभी काव्यों का वर्णन किया है, पर उक्त पाँचों आचार्यों में से केशव ने 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया', 'मतिराम' ने 'रसराज' और 'ललित-ललाम' तथा पद्माकर ने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' नामक रस और अलंकार के संबंध में भिन्न-भिन्न ग्रंथ लिखे। देव ने अपने 'काव्य-रसायन' नामक ग्रंथ में सभी काव्यांगों का वर्णन किया है, फिर भी उन्हें इससे संतोष नहीं हुआ तो 'भाव-विलास' नामक रस-ग्रंथ लिखा, जिसमें नायिका-भेद ने प्रधानता ग्रहण कर ली। ऐसे तो कहने को उसमें अलंकारों का भी उल्लेख हो गया है। भूषण ने 'शिवराज-भूष ण' में केवल अलंकारों का ही वर्णन किया है। यद्यपि इनमें से पद्माकर और देव का झुकाव रस के प्रति विशेष दीख पड़ता है, क्योंकि पृथक् रूप से 'भाव-विलास' की रचना तथा जगद्विनोद की विशेषता इसके साथ भी हैं, तथापि इनके अलंकार-ग्रंथों की रचना इन्हें आलंकारिक होने की घोषणा करती है।

आचार्य केशव

यह कहना अनावश्यक है कि हिंदी के आचार्यों ने संस्कृत-अलंकार-शास्त्र के आधार पर ही अपने अलौकिक ग्रंथ रचे हैं, क्योंकि इनके कार्यकाल पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि उस समय तक पंडितराज के 'रस-गंगाधर' तक की रचना हो चुकी थी। इन आचार्यों ने 'चंद्रालोक' जैसे सहज ग्रंथों को ही अपनाया, गंभीर विचार वाले ग्रंथों को नहीं। केशव ने अपनी अलंकार रचना के लिये केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' और अमरचंद्र की 'काव्यकल्पलता वृत्ति' को अपना आधार बनाया।

कविवर केशव के आधारभूत 'काव्यकल्पलता वृत्ति' का दूसरा नाम 'कविशिक्षावृत्ति' भी है। इस नाम से यह ज्ञात होता है कि यह 'काव्यकल्पलता' की वृत्ति, अर्थात् टीका है। इसका रचना-काल १३ वीं शताब्दी माना गया है। इसके पहले मूल पुस्तक की रचना हुई होगी। अलंकारशेखर के ५१ वें पृष्ठ में कविकल्पलताकार का जो उद्धरण है, संभव है, उसी की यह वृत्ति हो, क्योंकि देवेश्वर वा देवेंद्र द्वारा रचित 'कविकल्पलता' में वह अंश नहीं मिलता, जिससे समय निर्देश नहीं किया जा सकता। हो सकता है वृत्ति के पूर्व कोई 'काव्यकल्पलता' नाम की पुस्तक रही हो, क्योंकि ६ वीं शताब्दी की 'काव्यमीमांसा' से यह प्रकट है कि ऐसे कवि-शिक्षा-विषयक ग्रंथों की रचना होती आ रही है। यह भी संभव है कि मूल पुस्तक का ही यह नाम हो, क्योंकि इसकी रचना टीका-ग्रंथ की सी नहीं है।

'काव्यकल्पलतावृत्ति' के प्रथम प्रतान के पंचम स्तवक में और 'काव्यकल्पलता' के प्रथम स्तवक के तृतीय कुसुम में एक ही प्रकार का श्लोक है[1]। उक्त श्लोक अलंकारशेखर में नहीं है। यह कहना कठिन है कि 'काव्यकल्पलतावृत्ति' पर से या 'काव्यकल्पलता' पर से 'अलंकार शेखर' बना है, किंतु यह स्पष्ट है कि अलंकार शेखर' में उनकी अपेक्षा नूतनता है। काव्यकल्पलता और अलंकार शेखर में राजवर्णन का जो श्लोक है वह एक ही सा है[2]। आगे के राजवर्णन के श्लोक भी प्रायः एक ही भाव के हैं, पर एक से नहीं हैं। केशव का यह दोहा उक्त श्लोक के ढंग पर चला है—

> **"प्रजा प्रतिग्या पन्यपन, परम प्रताप प्रसिद्ध।**
> **सासन नासन सत्रु के, बल-बिबेक की बृद्धि॥"**
>
> —कविप्रिया

1. **अथ वर्ण्यानि कथ्यंते तानि यानि कवीश्वरैः।**
   महाकाव्यप्रभृ तिषु प्रबंधेषु बबंधिरे॥
2. **नृपेकीर्तिःप्रतापाज्ञा दुष्टशांन्तिविवेकताः।**
   धर्मप्रयाणसंग्राम शस्त्राभ्यासनयक्षमाः॥

यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि केशव ने अन्यान्य विषयों में काव्यकल्पलतावृत्ति तथा अलंकारशेखर से एवं अलंकारों के विषय में काव्यदर्शन से सहायता ली।

हिंदी के आचार्यों ने अलंकार को क्या समझा और अलंकार के संबंध में उनका क्या आदर्श रहा आदि विषयों का कहीं भी स्पष्ट विवेचन नहीं है। एक-दो आचार्यों ने अलंकार की परिभाषाएं दी हैं, किंतु उनसे अलंकार क्या हैं, इसका बोध होना बड़ा ही कठिन है। संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार की जो परिभाषाएं दी हैं उनमें मुख्य ये हैं। शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाला साधन अलंकार है[1]। उसका उद्देश्य है सौंदर्य-संपादन,[2] जैसा कि इसका शब्दार्थ है। शब्द और अर्थ दोनों के शोभाधायक धर्म अलंकार हैं[3]। काव्य के जायात्मक होने से अलंकार भी दो भागों में विभक्त है। शब्दालंकार और अर्थालंकार। अलंकार के उक्त व्यापक लक्षण के अंतर्गत सभी प्रकार के सौंदर्याधायक साधन आ सकते हैं।

कुछ आचार्यों के जो अलंकार-लक्षण हैं उनसे यह प्रकट होता है कि अलंकारों की इयत्ता नहीं। उनमें कुछ चमत्कार होना आवश्यक है, क्योंकि वाग्विकल्प, कहने के निराले ढंग, अनंत हैं और उनके प्रकार ही अलंकार हैं[4]। इसी बात को इस ढंग से भी कहा गया है कि कथन के प्रकार-विशेष, अर्थात् कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत उक्ति-वैचित्र्य ही अलंकार है[5]। इनमें वाग्विकल्प और प्रकार-विशेष इस बात के द्योतक हैं कि काव्यमें कुछ चमत्कार होना चाहिये। जहाँ ऐसा होगा वहाँ अलंकार का अस्तित्व माना जायगा।

"सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसौदास।"

के अनुसार हिंदी-कविता में केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त है। केशव से पूर्व जो रीति-ग्रंथ बने उनमें एकांगिता की अधिकता रही। इन्होंने ही हिंदी में लक्षण-ग्रंथों की रचना की परिपाटी सुंदर रूप से चलायी। उससे वे आचार्य की उपाधि से विभूषित हुए। इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर अपनी कलम चलायी। 'कविप्रिया' उनके आचार्यत्व की उतनी विधायिका प्रतीत नहीं होती जितनी 'रसिकप्रिया'। यद्यपि उनकी कविता श्रम-साध्य प्रतीत होती है, उसमें प्राकृतिक प्रतिभा का स्फुरण कम दिखायी पड़ता है, तथापि वे अपने को स्वयं 'कविराय' कहने के अधिकारी थे।

केशवदास अलंकार के, अलंकारों में चमत्कार के[6] पक्षपाती थे। इससे वे अपनी अप्रस्तुत-योजना में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाते थे, दूर की कौड़ी लाते थे। उनके सामने यह भी आदर्श था कि 'कांता' का मुख सुंदर होने पर भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होता[7]। यही कारण है कि उन्होंने—

"जदपि सुजात सुलच्छनी, सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।।"

१. अलंकृतिरलंकारः।
२. सौंदर्यमलंकारः।
—काव्यालंकार
३. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
—साहित्यदर्पण
४. अनंताहि वाग्विकल्पाः तत्प्रकारा एवालंकाराः।
—ध्वन्यालोक
५. अभिधानप्रकारविशेषा एवालंकाराः।
—अलंकारसर्वस्व
६. तत्र चमत्कारविशेषकारित्वमिति सामान्यलक्षणम्।
—अलंकारशेखर
७. न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनितामुखम्।
—काव्यालंकार

का सिद्धांत स्थिर कर अपने अलंकारवादी होने का उद्घोष किया! इनके काव्यशास्त्र के प्रधान ग्रंथ 'कविप्रिया' में अलंकार का ही विशेष वर्णन है। अलंकार-विषयक उनका विवेचन प्राचीनों के इस मत को पुष्ट करता है कि काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं।[1]

केशव के उपर्युक्त दोहे में श्लेषगर्भित-वाचक-लुप्ता 'लुप्तोपमा' है। कोई-कोई समालोचक कविता-वनिता में 'रूपक' मानते हैं। इस दशा में पूर्वार्द्ध के पाँचों श्लिष्ट विशेषण अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकते। कविता पर वनिता के आरोप से कविता छिप जाती है और वह उक्त विशेषणों से विशिष्ट नहीं बनती।

केशव ने अपनी अलंकार-योजना में इस बात का ध्यान नहीं रक्खा कि अलंकारों का मुख्य उद्देश्य या तो प्रस्तुत का रूप खड़ा करना है या भावों को तीव्र करना है। केशव ने अपनी अलंकार-प्रियता और पांडित्य-प्रदर्शन के पचड़े में पड़कर अस्थान-स्थान का बिना विचार किये ही जबर्दस्ती अलंकारों की कसरत करायी है। इससे उनके काव्यों में कृत्रिमता, जटिलता, दुरूहता, अस्पष्टता तथा कवियों की जाँच के लिये—"पूछत केशव की कविताई" जैसी उक्ति की चरितार्थता पाई जाती है।

"सुंदर सेत सरोरुह में, करहाटक हाटक की दुति को है।
तापर भौंर भलौ मनरोचन, लोक-बिलोचन की रुचि रो है।।
देखि दई उपमा जल-देविन, दीरघ देवन के मन मोहै।
केसव 'केसवराय' मनों, कमलासन के सिर-ऊपर सोहै।।"

श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे भौंरे पर की गयी यह उक्ति है। इसमें आये 'उपमा' और उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनों' ये दो शब्द दो अलंकारों को सिद्ध करते हैं। ब्रह्मा के सिर पर विष्णु के बैठने की बात ही तो उपमा कही जा सकती है और यदि उसकी संभावना हो तो उत्प्रेक्षा होगी, पर इस कल्पना की उड़ान में कौतूहल ही मालूम होता है। यह हमारे हृदय-राग को उद्दीप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। सरकसी करामात से आश्चर्य ही होता है, उल्लास नहीं।

"भृकुटी बिराजत स्वेत मानहुँ मंत्र अद्भुत साँम के।
जिनके बिलोकत ही बिलात, असेस कामुकि काँम के।।
मुख बास आस प्रकास 'केसव' भौंर भीरँन राज हीं।
जनु साँम के सुभ स्वच्छ अच्छर, व्है समच्छ बिराज हीं।।"

इसकी अप्रस्तुत-योजनाएँ बड़ी ऊटपटांग हैं। भारद्वाज की भौंहें एक ओर तो 'साम' के स्वच्छ मंत्र बनती हैं, दूसरी ओर 'काम' के धनुष को मात करती हैं। शांत और श्रृंगार का गठबंधन किया गया है। काली भौंहें उद्दीपक होने के कारण 'काम कामुकि' की समता करती हैं, सफेद भौंहें नहीं—उसमें भी बुड्ढे भारद्वाज की। मंत्रों के स्वेत होने की बात भी विचारणीय ही है। भारद्वाज के मुख की सुगंध से भौंरों की भीर लगी रहती थी। जान पड़ता है भारद्वाज जी इलायची चबाते होंगे या सुवासित शर्बत पिया होगा। ये भौंरे काले हैं, पर उत्प्रेक्षा है सपक्ष स्वच्छ अक्षरों की। ये अक्षर 'स्वेत मंत्र' से नहीं निकलते। ये अक्षर शायद काले कागज पर हो। इस प्रकार भावों में विषमता पैदा करने वाले अलंकारों को तमाशा दिखाने के सिवा दूसरा क्या कहा जा सकता है।

केशव ने अलंकारों के दो भेद किये हैं—सामान्यालंकार और विशेषालंकार। इनके सामान्यालंकार के चार प्रकार हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री। वर्ण और वर्ण्य में बताया गया है कि कवियों को किन-किन वस्तुओं का किस-किस रंग और किस-किस आकार की होने का वर्णन करना चाहिये। भूश्री और राजश्री में किन-किन प्राकृतिक पदार्थों तथा उनकी किन-किन विशेषताओं का और राजमंत्री आदि का कैसा वर्णन होना चाहिये। जिन ग्रंथों का उद्देश्य कवियों को सांप्रदायिक शिक्षा देना था, उन्हें भी अलंकारों में गिन लिया है। इन्हें अलंकार की व्याख्या देना अनर्थक है। हाँ, विशेषालंकार में केशव ने ३७ अलंकारों का वर्णन किया है।

१. अलंकारा एव काव्ये प्रधानामिति प्राचां मतम्।
—अलंकारसर्वस्व

उपमा, आक्षेप आदि के भेदों तथा आशिष आदि अलंकारों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि काव्यादर्श ही अलंकारों के लिये मार्ग प्रदर्शक रहा, किंतु आश्चर्य ये है कि इन्होंने 'अतिशयोक्ति' जैसा अलंकार, जिसकी अलंकारमात्र में सत्ता मानी जाती है, छूट गया। ज्ञात होता है जिन-संस्कृत ग्रंथों को केशव ने अपना आदर्श बनाया उनको सम्हालने की पूरी चेष्टा नहीं की, क्योंकि इनके लक्षण और उदाहरण ऐसे अस्पष्ट और भ्रामक हैं कि शिक्षार्थी को इनकी तह में पेंठना असंभव ही है। इन्होंने अपने वर्णित अलंकारों में विशेषता लानेकी चेष्टा की, पर सर्वथा असमर्थ रहे। संस्कृत के पंडित होते हुए भी इन्होंने 'काव्यप्रकाश' जैसे प्रौढ ग्रंथों को समक्ष नहीं रक्खा, जिससे उन्हें अलंकारों के संबंध में परिपूर्णता प्राप्त न हो सकी। केशव के 'युक्त' और 'स्वभावोक्ति' अलंकार के एक से लक्षण हो गये हैं—

"जाकौ जैसौ रूप बल, कहिऐ ताही रूप।
ताकों कवि-कुल 'जुक्ति' कहि, बरनत बिबिध सरूप ।।

—युक्ति अलंकार

जाकौ जैसौ रूप गुन, कहिऐ ताही साज।
तासों जानि 'स्वभाव' सब, कहि बरनत कवि राज ।।"

—स्वभावोक्ति

दंडी ने धर्माक्षेप में धर्म से गुण का तात्पर्य लिया है, पर केशव ने धर्म से सीधे धर्म का आशय समझ लिया है। दंडी साफ कहते हैं कि "हे कृशांगी, तुम्हारे अंगों की जो सुकुमारता प्रसिद्ध है वह झूंठ है। यदि सचमुच वह सुकुमार है तो मुझे अकारण क्यों कष्ट देता है। इस प्रकार इसमें प्रेमी सुकुमारता के विरोधी कर्म से नायिका के शरीर सुकुमारता का निषेध करता है, इससे यह धर्माक्षेप है[1]। केशव का यह लक्षण है—

"राखत अपने धरम कौ, जहँ कारज रहि जाइ।
धरमाछेप' सदाँ इहै, बरनत सब सुख पाइ ।।"

यहाँ सीधी धर्म चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि केशव ने धर्माक्षेप का तात्पर्य नहीं समझा। इनका पातिव्रत धर्म का उदाहरण बड़ा सुंदर है——

"जो हों कहों रहिऐ तौ प्रभुता प्रघट होति, चलँन कहों तौ हित-हाँनि नाँहि सहिनों।
भावै सो करौ तौ उदास भाव प्राँनँनाथ, साथ लै चलौ कैसें लोक लाज बहिनों ।।
'केसौराइ' की सौं तुम सुनों हो छबीले लाल, चलेंही बनत जौ पै नाहीं राज रहिनों।
तैसीऐ सिखावौ सीख तुम ही सुजाँन पिय, तुमहिं चलत मोंहि जैसौ कछू कहिनों ।।"

केशव के कुछ अलंकार तो प्राचीन परिपाटी पर हैं, पर अनेक अलंकारों के रूप इन्होंने अपने ढंग पर भी बनाये हैं। दंडी के 'आंशी' अलंकार को केशव ने विस्तृत रूप दिया है। अर्थांतरन्यास अलंकार के उपभेद दंडी के समान हैं, पर लक्षणों और उदाहरणों में साम्यता नहीं है। इस तरह की अन्य कई बातें हैं जो इनके अलंकार-ज्ञान की गंभीरता में संशय उत्पन्न करती हैं।

अलंकार की अलंकारिता को केशव न समझ सके। अलंकारों में गणना की गणना इस बात को सिद्ध करती है। काव्यकल्पलतावृत्ति के चतुर्थ प्रतान के षष्ठ स्तवक में इसका वर्णन है। इसके प्रथम श्लोक में[2] अलं-

[1]. **तव तन्वांगि मिथ्यैव रूढमंगेषु मार्दवम्।**
यदि सत्यं मृदून्येव किमकांडेरुजाशिमाम् ।।
धर्माक्षेपोऽयमाक्षिप्तमंगनागात्रमार्दवम्।
कामुकेन यदत्रैवं कर्मणा तद्विरोधिना।

—काव्यादर्श

[2]. **औचित्यरचितैः संख्या बंधुबंधुरतिक्रमैः।**
उपमाद्यैरलंकारैः सुधीरर्थं समर्थयेत्।

कार का और आगे[1] भी अलंकार शब्द का उल्लेख देखकर केशव ने इसे अलंकारों में रख लिया, परंतु केशव ने केशव मिश्र के इस कथन पर ध्यान नहीं दिया कि काव्य-कर्त्ता को एक से लेकर हजार तक जो-जो वस्तुएँ हैं उन्हें कवि-प्रयोगों से जान लेना चाहिये। अमरचंद्र ने गणना के संबंध में जो उदधरण दिये हैं उनमें यत्र-तत्र संख्या-मूलक 'उपमालंकार' की झलक पायी जाती है,[2] पर केशव ने संख्या-सूचक वस्तुओं की गणना कर दी है।

केशव की कुछ अप्रस्तुत योजनाएँ ऐसी हैं जो हृदय को छूती हैं, जिनमें रागात्मकता है और भाव को तीव्र करने की शक्ति भी। एक उदाहरण लें—

"मातु सबै मिलिबे कहँ आईं, ज्यों सुत कों सुरभी सुलवाई।।"

सद्यःप्रसूता गायें जिस प्रकार अपने बच्चे को दूध पिलाने और चाटने-पोछने को छटपटाती हुई दौड़ती हैं, उसी प्रकार माताएँ भरत से मिलने के लिये अकुलाई हुई दौड़ पड़ती हैं। यहाँ की अप्रस्तुत-योजना भावोत्कर्ष में जीवन डाल देती है।

"सोहैं घनस्यामल घोर घनें, मोहैं तिन में बक-पाँति मनें।
संखावलि पी बहुधाँ जल सों, माँनों तिनकों उगले बल स्यों।।"

समुद्र-जल से बने बादल समुद्र-तट के शंखों को भी पी गये। पानी के साथ मेघ में शंख भी समा गये। बादल के नीचे उड़ने वाले 'बगले' ऐसे मालूम होते हैं जैसे 'मेघ के उगले हुए शंख हों।' ये अलंकार अपने स्वाभाविकता से सहृदय-हृदयावर्जक हो गये हैं।

कवि केशवदास के अनेकों निंदकों के साथ प्रशंसक भी हैं। हिंदी में ऐसा ग्रंथ न होने के कारण ही ये आचार्य नहीं हुए बल्कि इनमें आचार्यत्व के भी कुछ गुण थे।

आचार्य भूषण

कविवर भूषण अपने समय के अनुसार शृंगार के प्रवाह में नहीं बहे, पर रीति-ग्रंथों की रचना के प्रवाह में अवश्य बह गये। उनका उद्देश्य इस दोहे से स्पष्ट है कि वे शिवाजी के सुयश का बखान करने ही को इस ग्रंथ की रचना की, न कि अलंकार-विवेचना के लिये।

"सिव-चरित्र लखि यों भयौ, कवि भूषन के चित्त।
भाँति-भाँति भूषननि सों, भूषित करों कवित्त।।"

इस प्रकार भूषण ने जो कवित्त बनाये उन्हें अलंकारों से ला भिड़ाया और दोहों में उनके लक्षण लिख डाले। यही कारण है कि लक्षणों और उदाहरणों में ऐसी अस्पष्टता आ गयी है कि आलंकारिक भी चक्कर में पड़ जाते हैं। एक उपमा अलंकार के विचार से ही इनके आचार्यत्व की समीक्षा हो जायगी। शिवराज-भूषण में उपमा की यह परिभाषा दी गयी है—

"जहाँ दुहुन की देखिऐ, सोभा बनत समाँन।
उपमा भूषन ताहि कों, भूषन कहत सुजाँन।।"

यह जयदेव के लक्षण का अनुवाद ज्ञात होता है, जिसका यह आशय है कि जहाँ दोनों की सादृश्य लक्ष्मी का विकास हो[3]। यहाँ लक्ष्मी का अर्थ ऐसी शोभा हो जो चमत्कारक हो। ऐसे सादृश्य में ही उपमा होती है। 'उल्लसति' का स्थान 'देखिये' ने ले लिया है और लक्ष्मी का स्थान शोभा ने। बस सब गुड गोबर हो गया है। उक्त लक्षण से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि समान शोभा ही उपमा है या उसके सौंदर्यातिशय का सादृश्यमूलक दर्शन। समान धर्म के कथन में ही उपमा अलंकार होता है।

१. एवमन्येऽपि तत्संख्या अलंकारेण केनापि संकलिताः काव्या संगृह्यंते।
२. पंचेंद्रियाणीवपरध्वजिन्या प्राग् द्रौपदेयान् विधुरीचकार।
—काव्यकल्पलतावृत्ति

३. उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसतिद्वयोः।
—चंद्रालोक : जयदेव

यद्यपि इन्होंने पूर्णोपमा में उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म इन चारों का उल्लेख किया है, पर प्रारंभ में उपमान और उपमेय की बातें ही कह कर छुट्टी पा गये हैं। इसका भी उदाहरण —

"मिलतहि कुरुख चकत्ता कों नरखि कीन्हों, सरजा सुरेस ज्यों दुचित्त ब्रजराज कों।"

समुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि औरंगजेब को कृष्ण के स्थान पर और शिवाजी को इंद्र के स्थान पर रखा गया है। दूसरी बात यह कि इंद्र ही दुचित हुआ था कृष्ण नहीं। यहाँ ब्रजराज को ही दुचित करने की बात कही गयी है। सभी भेदों की बात भी वे भूल गये है। भूषण ने 'भ्रमालंकार' की यह परिभाषा दी है—

"आँन बात कौ आँन में, होत जहाँ भ्रम आइ।
तासों 'भ्रम' सब कहत हैं, भूषन सुकवि बनाइ।।"

अन्य बात का अन्य बात में भ्रम होना 'भ्रमालंकार' है। इस प्रकार सीप में चाँदी का भ्रम होना ही भ्रमालंकार हो जायगा, पर ऐसा नहीं माना जाता। भ्रमालंकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु में उसके सदृश अन्य वस्तु का कवि-प्रतिभा-द्वारा उत्थापित चमत्कार होता है। भूषण का उक्त लक्षण 'विश्वनाथ' के लक्षण का अनुवाद प्रतीत होता है, पर उसमें से सादृश्य और प्रतिभास्थित का भाव छोड़ दिया गया है। यदि इसमें भ्रमवश अन्य वस्तु को अन्य वस्तु समझ लेने की बात होती तो एक प्रकार से लक्षण कोटि में यह आ जाता। अस्तु भ्रमालंकार का उदाहरण है—

"बृंदाबन बिहरत फिरैं, राधा-नंदकिसोर।
नीरद-जामिनि जाँनि सँग डोलैं, बोलैं मोर।।"

राधा-नंदकिशोर को नीरद-यामिनी मान लेना भ्रम है। इसमें सादृश्य भी है और कवि-प्रतिभा का चमत्कार भी। अब भ्रमालंकार का भूषण का उदाहरण लें——

"पीय पहारँन पास न जाहु, यों तीय बहादुर सों कहै सोषें।
कोंन बचै हैं नवाब तुम्हें, भनि 'भूषन' भौंसिला भूप के रोषें।।
बंदि सइस्तख हूँ कों कियौ, जसवंत से भाउ करन्न से दोषें।
सिंघ सिवा के सुबीरन सों, गो अमीरन बीच गुनीजन घोषें।।"

इसमें भ्रमालंकार का अस्तित्व तक नहीं है। यह उदाहरण भ्रमालंकार का हो ही नहीं सकता। जान पड़ता है भूषण को इसीमें भ्रमालंकार का भ्रम हो गया कि पति कहीं पहाड़ पर गया और वहाँ मार न दिया जाय।

भूषण शब्दालंकार के बड़े प्रेमी थे, उनकी भाषा में अनुप्रास और यमक खूब जमे हुए हैं। एक कवित्त देखें———

"साजि चतुरंग बीर रंग में तुरंग चढ़ि, सरजा सिवाजी जंग जीतँन चलत है।
'भूषन' भनत नाँद बिहद नगारन के, नदी, नद, मद, गब्बरँन के रलत है।।
ऐंल, फैल, खैल, भैल, खलक में गैल-गैल, गजँन की ठैल पैल सैल उसलत है।
तारा सी तरनि धूरि-धारा में लगत, जिमि थारा पर पारा पाराबार यों हलत है।।"

इसमें भूषण का अंतिम चरण तो असाधारण है। थाल में पारा जैसे चंचल होता है वैसा ही समुद्र भी चंचल हो जाता है। इसकी दोनों अप्रस्तुत योजनाएँ इतनी स्वाभाविक हैं कि भूषण की कल्पना को दाद दिये बिना नहीं रहा जाता। इस प्रकार भूषण के अधिकांश अलंकार स्वभावतः उनकी रचनाओं में आ पड़े हैं, कहीं भी कष्ट-कल्पित नहीं मालूम पड़ते और कहीं भी कुछ खटका नहीं पैदा करते।

आचार्य मतिराम

मतिराम का 'ललित-ललाम' अलंकार ग्रंथ है। इसकी बड़ी प्रसिद्धि है। अपनी सरसता तथा सरलता से यह पाठकों का बड़ा प्रिय रहा है। इसके उदाहरण अपनी सुबोधता और स्पष्टता के कारण विषय-बोध कराने में सर्वथा समर्थ हैं। मतिराम ने अपने ग्रंथ में शब्दालंकार का भेद स्वीकार करते हुए भी शब्दालंकारों का वर्णन नहीं किया, पर उनके अनेकानेक छंद शब्दालंकारों से परिपूर्ण हैं। एक दोहा ही लीजिये—

"सुधा मधुर तेरे अधर, सुंदर सुमन सुगंध।
पीय जीव के बंधु ए, बंधु जीव कौं बंध।।"

मतिराम ने अलंकार का यह लक्षण लिखा है—

"रस अरथन ते भिन्न जो, सब्द अर्थ के माँहि।
चमत्कार भूषन सरिस, भूषन माँनत ताँहि।।"

यह लक्षण विश्वनाथ के इस लक्षण पर बना मालूम होता है, जिसका आशय है कि "शब्द और और अर्थ के शोभाधायक रस आदि के उपकारक जो अस्थिर धर्म हैं, वे ही अंगद आदि के समान अलंकार कहे जाते हैं"[१], पर इसका उपपादन मतिराम के लक्षण में ठीक से नहीं हो सका है। अर्थ में अर्थ से भिन्न चमत्कार क्या? यह शंका पैदा होती है। शोभातिशायी धर्म के लिए उक्त लक्षण में 'चमत्कार' शब्द लाया गया है। रसादि[२] में जो आदि है उसका भाव अर्थ समझ लिया गया है, पर वहाँ आदि से रसाभास आदि है। अन्य बातों में विश्वनाथ के लक्षण से यह मिल जाता है। जहाँ अन्य आचार्यों ने लक्षण नहीं दिया वहाँ यह बहुत कुछ है।

महाकवियों की कविता में जैसे अनायास वर्णन में अलंकार आ जाते हैं, वैसे ही मतिराम की रचना में अलंकार आ पड़े हैं। उनके लिये कहीं भी आयास नहीं करना पड़ा है। रस, भाव आदि का तात्पर्य ग्रहण करके अलंकारों का जैसा सन्निवेश होना चाहिए वैसी ही इनकी अलंकारिक योजना है। उनके शब्द और भाव ऐसे हैं जिससे अनायास ही आप से आप अलंकार आ पड़े हैं। शब्दार्थावृत्ति 'दीपक' का एक उदाहरण, जैसे—

"सकल सहेलिन के पीछें-पीछें डोलति है, मंद-मंद गौंन आज आप ही करति है।
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जबै, पौंन लागें घूंघट के पट उघरत है।।
जमुना के तट बंसीबट के निकट, नंदलाल कौं सकोचन ते चाहचौ ना परत है।
तन तौ तिया कौ बर भाँवरें भरत, मन साँवरे बदन पर भाँवरें भरत है।।"

इसमें शब्दालंकार का लावण्य तो लबालब भरा ही है। भाँवरें भरना शब्दों की आवृत्ति है, जिसका अर्थ एक स्थान पर चारों ओर घूमना, परिक्रमा करना है और दूसरी जगह श्यामसुंदर पर मुग्ध होना है। इस प्रकार अर्थ की भी आवृत्ति है।

मतिराम ने जयदेव के अनुसार स्मृति, भ्रांति तथा संदेह अलंकारों का एक साथ लक्षण किया, पर स्पष्ट न कर सके। जैसे—

"एक बस्तु लखि आन कौ, सुमरँन, भ्रम, संदेह।
बरनत भूषन तीन बिधि, जे कविजन मति-गेह।।"[३]

क्या एक वस्तु को देख कर स्मरण, भ्रम और संदेह करने से स्मरण, भ्रम तथा संदेह अलंकार हो सकते हैं? आम देखकर क्या इमली का स्मरण, भ्रम, संदेह होना संभव है? जयदेव के लक्षण में ऐसी शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि सादृश्य के कारण स्मरण, भ्रम और संदेह होने से ही इन नामों के अलंकार हो सकते हैं। मतिराम का यह लक्षण भ्रामक ही नहीं, अधूरा भी है। इनका स्मृति का उदाहरण भी ठीक नहीं है।

१. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
२. रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽगंदादिवत् ।।
—साहित्यदर्पण

३. स्यात्स्मृतिभ्रांतिसंदेहैस्तदेवालंकृतित्रयम्।
—चंद्रालोक

इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश आचार्यों की अपेक्षा इनका अलंकार-वर्णन विस्तृत तथा भेदोपभेद-युक्त है और अधिकांश उदाहरण बड़े सुंदर बन पड़े हैं। मतिराम भाषा और भाव के कोमल और कांत कवि थे।

आचार्य देव

अलंकार के संबंध में लिखते समय देव के सामने केशव का उक्त दोहा था जो संस्कृत के आशय पर बना था। यह ठीक वैसा ही है—

"कविता, कामिनि सुखद प्रद, सुबरँन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरें अधिक, अद्भुत रूप लखाति॥"

यह दोहा भी इस[१] श्लोक पर बना हुआ है—

"अलंकार रस-सबद के, सोहत सुबरँन रूप।
अंग-अंग मनि-मानिकै, धरे भरे ब्रज भूप॥"

देव का यह दोहा विचारणीय है—

"अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारन बिषै, परसत प्रघट प्रभाव॥"

इसमें संदेह नहीं कि उपमा अलंकार अलंकारों में सर्व श्रेष्ठ है। केशव मिश्र ने लिखा है कि उपमा काव्य-संपत्ति का सर्वस्व, अलंकारों का शिरोरत्न और कवि-वंश की माता के समान है[२]। भूषण ने भी लिखा है—

"भूषन सब भूषननि में, उपमहिं उत्तम चाहि।"

दंडी ने 'स्वभावोक्ति' अलंकार को प्रथम स्थान दिया है। इससे अलंकारों में इसका महत्त्व माना जा सकता है, पर सभी अलंकारों के मूल में हो यह बात नहीं मानी जा सकती। उपमा भी सभी अलंकारों का नहीं, सादृश्यमूलक अलंकारों का प्राणभूत है। सभी अलंकारों के मूल में, यदि कोई अलंकार है तो अतिशयोक्ति। आचार्यों का यही मंतव्य है[३]। इससे सभी अलंकारों में उपमा और स्वभाव के प्रकट रूप से प्रभाव परसने की बात नहीं जचती। देव ने स्वभावोक्ति के जो लक्षण और उदाहरण दिये हैं, उनसे कोई स्वभावोक्ति को नहीं समझ सकता। इसी समझ से स्यात् देव ने सभी अलंकारों में स्वभावोक्ति के होने की बात कही हो।

देव को शब्दालंकार पसंद नहीं। उन्होंने कई दोहों में इसके विरुद्ध अपना अभिमत प्रकट किया है। इसे अधम काव्य कहा है। उन्होंने—

"जिनहिं न अनुभव अर्थ कौ, मानँत नहिं रस भोग।"

उनके लिए शब्दालंकारों का वर्णन किया है। देव ने अर्थालंकारों के मुख्य और गौण नाम से—जो दो भेद किये हैं वे अनावश्यक प्रतीत होते हैं। पृथक् रूप से गौण अलंकारों का निर्देश भी नहीं किया है। 'इति मुख्यालंकार' लिखकर 'अथ तद्भेद गौणामिश्रित' लिख कर पिंड छुड़ा लिया है।

१. गुणवत्यपिनिर्दोषेऽलंकारैः काव्यराजनि।
जायतेऽत्यैवसुषमाः रत्नालंकारणैरिव॥
—अलंकारशेखर

२. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसंपदाम्।
उपमा कविवंशस्यमातेवेति मतिर्मम॥
—काव्यमीमांसा

३. अलंकान्तारणामप्येकमंकः मनीषिणाम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥
—काव्यादर्श

देव ने शब्दालंकार-प्रेमियों पर बड़ा ही कुटिल कटाक्ष किया है, पर वे स्वयं शब्द-चित्र के फेर में पड़ कर 'बाम सुचाम चबाति' के शिकार बन गये हैं। एक नमूना लें—

"आई बरसाँनें ते बुलाई वृषभाँन-सुता, निरखि प्रभानि प्रभा भाँनु की अथै गई ।
चकि चकवान के चकाएँ चक चोटँन सों, चौंकत चकोर चकाचोंधी सी चकै गई ।।
'देव' नंद-नंदन के नेंनन अनंद भई, नंद जू के मंदरनि चंद मई छै गई ।
कंजनि कलिन मई, कुंजनि नलिन मई, गोकुल की गलिन अलिन मई कै गई ।।"

अद्‌भुत रस का उदाहरण अद्‌भुत है। इसमें चाम चबाने का स्वाद नहीं बल्कि उनके कथनानुसार दधि, घृत, मधु, पायस का ही स्वाद है। शब्दालंकारों की दृष्टि से यह पद्य बड़ा सुंदर है।

देव ने अलंकारों के लक्षण लिखे ही नहीं। केवल अलंकारों के नाम देकर उदाहरण दे दिये हैं। जो लक्षण दिये हैं, वे अस्पष्ट हैं, भ्रामक हैं। उपमा का उदाहरण देखिये—

"गुन औगुन सम तोलि कें, जहाँ एक सम और।
सो उपमा कहि बाच्य यह, सकल अर्थ लघु ठौर।।"

जहाँ उपमान और उपमेय भाव से समान धर्म का कथन हो वहाँ उपमा अलंकार होता है। वस्तुओं में विभिन्नता रहते हुए भी रूप, गुण और धर्म की समता का वर्णन किया जाता है, पर एक समान की बात और वह भी समान तौला हुआ समान होना चाहिये, ऐसा होना जरा कठिन है। जहाँ आकार-प्रकार की समता होती है, वहाँ भी उपमा अलंकार होता है। यह इस लक्षण के अंतर्गत न आयेगा। उनका 'वाक्योपमा' के उदाहरण में उपमा को ढूँढ़ निकालना भी सबके लिये संभव नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि 'काव्य-रसायन' एक उत्तम रीति-ग्रंथ है, पर अलंकार तक पहुँचते-पहुँचते देव कुछ शिथिल से हो गये हैं और अलंकारों के लक्षण लिखने से भी बाज आये हैं। उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि वे अलंकारों पर दृष्टि-पात करके नहीं लिख गये, बल्कि लिखे हुए काव्य को अलंकारों के उदाहरणों पर भिड़ा दिया गया है। भिड़ाने के समय उनके मन में जो भाव हों, पर पाठकों के लिये ये लक्षण और उदाहरण दोनों कठिन ही हो गये।

आचार्य पद्माकर

कोमलकांत पदावली के प्रसिद्ध पुजारी कविवर 'पद्माकर' ने अपनी रीति-परंपरा में 'पद्माभरण' नामक ग्रंथ की रचना की। इनके पूर्व चंद्रालोक के अलंकार प्रकरण का अनुवाद स्वरूप 'भाषाभूषण' की रचना हो गई थी। उसकी छाप पद्माभरण पर भरपूर पड़ी हुई है, क्योंकि उनके अनेकों दोहे ऐसे हैं जिनमें लक्षण और उदाहरण एक साथ ही आये हैं। इनके पहले 'बैरीसाल' क 'भाषाभरण' बन चुका था। यहा भी चंद्रालोक के आधार पर वना था। कहीं-कहीं पद्माभरण और भाषाभरण एक से मिल जाते हैं। जैसे—

"सब्दहूँ तें, कहुँ अर्थ तें, कहुँ दुहूँ तें उर आँनि ।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ, अलंकार सो माँनि ।।"

—पद्माभरण

"कहुँ पद तें, कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुँन ते गोइ ।
अभिप्राय जैसौ जहाँ, अलंकार त्यों होइ ।।"

—भाषाभरण

पद्माकर ने जो अपना उक्त अलंकार का लक्षण लिखा है, वह चंद्रालोक के लक्षण पर ही बना मालूम होता है, क्योंकि उसके लक्षण में शब्दार्थ का उल्लेख है, पर उसका भाव[1] भिन्न है।

१. **शब्दार्थयोःप्रसिद्धयावा कवेः प्रौढिवशेन वा ।**
हारादिवदलंकारःसंन्निवेशोमनोहरः ।।
—चंद्रालोक

इनके लक्षण से ज्ञात होता है कि शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार होते हैं और उनमें अभिप्राय की प्रधानता है। अभिप्राय शब्दालंकार का द्योतक नहीं हो सकता। वह अर्थ का ही—भाव का ही द्योतक हो सकता है। उनके आगे के दूसरे दोहे से—

"अलंकार इक थलहि में, समुझि परें जु अनेक ।
अभिप्राय कवि कौ जहाँ, वहै मुख्य गनि एक ।।"

—पद्माभरण

कवि का अभिप्राय समझा जाय तो अलंकार की लक्षण-कोटि में यह नहीं आ सकता। पद्माकर के पेट में अभिप्राय का जो अभिप्राय हो, पर अलंकार के लक्षण का निरूपक वह नहीं हो सकता। साफ बात यह है कि 'कवेः प्रौढिवर्णन' का भाव बैरीसाल या पद्माकर की समझ में नहीं आया।

फिर भी पद्माकर के लक्षण अधिकांश स्थलों पर भ्रम-जनक नहीं। उनके उदाहरण अपने और सुंदर हैं। उनके लक्षणोदाहरण दोहों और चौपाइयों में ही सीमित हैं। अन्यान्य आचार्यों के समान सवैया और कवित्त को नहीं अपनाया। यह प्रणाली अभ्यासियों के लिये श्रेयस्कर है। थोड़े में अलंकारों का अभ्यास हो जाता है। इनके सवैये और कवित्तों में भी अलंकार योजना अच्छी हुई है। उपमा का उदाहरण लें—

"मंद-मंद उर पै अनंद ही के आँसुन की, बरसें सुबूंदें मुकताँन ही के दाँनें-सी ।
कहै 'पदमाकर' प्रपंची पंचबाँन हू के, सुकाँनन के माँन पै परी त्यों घोर घाँनें-सी ।
ताजी त्रिवलीन में बिराजी छबि छाजी सबै, राजी रोंमराजी करि अमित उठाँनें-सी ।।
सोंहें पेखि पी कों बिहसोंऐं भए दोऊ दृग, सोंहें सुनि भोंहें गई उतरि कमाँनें-सी ।।"

इसमें शब्दों की जैसी मनोहर लड़ियाँ हैं, वैसी ही उपमा की बहार है। चारों उपमाएँ अनुपम हैं। अंतिम उपमा तो भाव को अपनी योजना से आसमान पर पहुँचा देती है। एक रूपक का उदाहरण सवैया—

"जाहिरै जागत सी जमुनाँ, जब बूडै बहै उमहै बर बेंनी ।
त्यों 'पदमाकर' हीर के हारँन, गंग-तरंगनि कों सुखदेंनी ।।
पाँइन के रँग सों रँग जाति-सी, भाँति-हि-भाँति सरसुति-सेंनी ।
पैरै जहाँ ई जहाँ वह बाल, तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबेंनी ।।"

भाषा की कोमलता तथा सजीवता में रूपक की अपरूपता दर्शनीय है। कहीं-कहीं अलंकारों के समझाने और उदाहरणों में पद्माकर से भी भूल हुई है, पर अधिक नहीं। यह सब होने पर भी दूसरों की अपेक्षा पद्माकर के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं।

हिंदी के इन प्राचीन आचार्यों के केवल अलंकार ग्रंथों की आलोचना और संस्कृत के आचार्यों के ग्रंथों के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिये एक-एक पृथक् पुस्तक की आवश्यकता है। फिर भी यह 'स्थालीपुलाक' न्याय से यह अध्ययन अलंकार-प्रेमियों के लिये एक दिशा का अवश्य निर्देश करेगा।

अलंकार : एक अध्ययन

श्री बद्रीप्रसाद वाजपेयी

अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल की विशेष अनुकंपा से आज मुझे श्रद्धेय सेठ "कन्हैयालाल" जी पोद्दार के 'अभिनंदन' का जो यह पुण्य-पर्व प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं 'पोद्दार-अभिनंदन-ग्रंथ' के संपादन-विभाग का चिर ऋणी हूँ। साहित्य-शास्त्र-विषयक जो कुछ भी मेरी पूंजी है, उसका अधिकांश श्री पोद्दार जी का ही उदार दान है, अतः उसके ब्याज-रूप अपने 'सेठ' को यत्किंचित् प्रतिदान करने में मैं 'त्वदीय वस्तु गोविंदः तुभ्यमेव समर्प्यते' के अतिरिक्त और क्या कह सकता हूँ।

भारत की अलंकार-निधि संस्कृत-मंजूषा में ही सदा बंद रही आयी है। समय-समय पर जो समर्थ हिंदी-जन उस मंजूषा में से जो कुछ भी निधि निकाल सकते थे, उसे निकालने का वे प्रयत्न करते रहे हैं। उसका कितना अंश अभी तक निकल कर हिंदी में आ पाया है, यह सब के समक्ष है। मैं तो केवल इतना ही देख पाता हूँ कि अभी तक निकालने लायक हम कुछ भी नहीं निकाल पाये! पर निकालने का कार्य अभी चालू है, इससे कुछ संतोष होता है—भविष्य आशा-प्रद है।

अन्यान्य संप्रदायों के समान भारत का अलंकार-संप्रदाय भी अत्यंत प्राचीन है—कदाचित् अनादि भी कहा जा सकता है। उसका क्रमिक विकास भी होता रहा है और आज भी हो रहा है—विकास की इयत्ता नहीं। विकास-वाद जगत का अनादि और अनंत सिद्धांत माना ही जाता है।

संस्कृत-साहित्य में अलंकार-शास्त्र के तीन उत्थान उपलब्ध होते हैं—१. आदि-काल में अलंकारों का बीज-वपन तथा अंकुरण प्राप्त होता है, जो क्रमशः विकसित होते-होते एक समृद्ध उद्यान का रूप धारण कर रहा था। इस काल के प्रधान मालियों में भामह, उद्भट, रुद्रट आदि उल्लेखनीय हैं। २. माध्यमिक-काल अलंकारोद्यान का रक्षा-काल है। उस समय एक ओर अतिवृष्टि, अनावृष्टि के लिए उपाय सोचे जा रहे थे और दूसरी ओर सभी ओर से उठे हुए झंझावर्त एवं ईति-भीति का प्रत्यवरोध किया जा रहा था। उस समय रीति-गुण-वाद तथा रस-ध्वनि-वाद आदि के विरुद्ध अलंकारोद्यान के चतुर्दिक चहार-दिवाली का निर्माण आवश्यक हो गया था। कुंतक, मम्मट, रुय्यक आदि इस काल के प्रधान संरक्षक थे। ३. उत्तर-काल में पिष्ट-पेषण, संक्षिप्तीकरण अथवा पांडित्य-प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति दिखायी देती है। सभी लोग यथाशक्ति कुछ न कुछ जोड़-धरा कर आचार्य पदवी प्राप्त कर लेने में लगे थे। अलंकारों के अध्ययन की दृष्टि क्षीण पड़ गयी थी—अध्यापन की दृष्टि से सस्ते लक्षण और उदाहरणों के निर्माण का कार्य चालू हो गया था। अपूर्ण एवं अव्यवस्थित विवेचन, अनुपादेय भेदोपभेदों की कल्पना और अनावश्यक विस्तार इस काल की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

हिंदी में अलंकार-संप्रदाय का प्रस्रवण संस्कृत के उक्त उत्तर-काल से ही हुआ और यही स्वाभाविक भी था। अतः हिंदी में अलंकारशास्त्र के उत्थान का क्रम संस्कृत के उत्थान-क्रम का विलोम समझना चाहिए। संस्कृत का उत्तर-काल हिंदी का आदि काल था। उस समय 'कुवलयानंद' और 'चंद्रालोक' की पद्धति पर हिंदी-रीति-ग्रंथों का निर्माण प्रारंभ हुआ। इस काल के पश्चात् हिंदी में अलंकार के माध्यमिक युग की पुनरावृत्ति दिखायी देती है। रीति-कालीन अलंकार-संबंधी अव्यवस्था एवं अपरिपूर्णता को दूर कर व्यवस्थित विवेचन और सामंजस्य-स्थापन इस काल का प्रधान लक्षण है। इस समय मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' आधार-स्तंभ बन चुका है और प्राचीन अलंकार-परंपरा के स्वच्छ, निर्मल एवं स्वस्थ प्रवाह का स्रोत खुल गया है, अधिकांश प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं।

किंतु हिंदी में अलंकारोत्थान का उत्तर-काल अभी नहीं आया। अभी रुय्यक, कुंतक, अभिनवगुप्त, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट आदि की परंपरा हिंदी में नहीं चली—उस प्रकार का मौलिक विवेचन, प्रतिभापूर्ण प्रतिपादन और भिन्न-भिन्न मतमतांतरों का आलोड़न-बिलोड़न नहीं प्रारंभ हुआ। अभी हमने प्राचीन परंपरा के सरण और मम्मट-निर्मित लीक को छोड़कर स्वतंत्र उद्भावना के क्षेत्र में प्रवेश पाने का प्रयत्न नहीं प्रारंभ किया। 'वावा-वाक्यं प्रमाणम्' के कीचड़ में हिंदी-अलंकार—शकट इस तरह धंस रहा है कि

"लीकै लीक गाड़ी जाय, और जाय कपूत।
लीक छोंड़ कें चलत हैं, सायर, सेर सपूत ॥"[1]

की उक्ति अरण्य-रोदन बन गयी है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम अलंकारों के प्राचीन लक्षणों की परीक्षा करें, विभिन्न अलंकारों की सीमा का पर्यवेक्षण करें, उनके वर्गीकरण के सिद्धांतों की खोज करें, भेदोपभेदों की काट-छाँट करें और दुर्गम एवं दुर्भेद्य अलंकारावली की जटिलता को एक सुरम्य उद्यान में सदा के लिए परिणत कर दें। यदि हम अलंकारों के प्राचीन नामों, उनकी रूढ़ि-ग्रस्त परिभाषाओं और रस-वाद, ध्वनि-वाद आदि के सुलहनामों में ही बँधे रहे आये तो अलंकार-परंपरा की मुक्ति असंभव है। अभीतक हम इसी प्रयत्न में पड़े हैं कि आज पर्यंत जितने भी अलंकार प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध हो सकते हैं उन सभी का संकलन कर दिया जावे, उनका एक भी भेदोपभेद छूटने न पावे—यदि संभव हो तो दो-चार अवांतर अनुभेद और जोड़ दिये जावें; कुछ न बन पड़े तो कुछ अलंकारों के विलोम-रूपों की ही उद्भावना कर डालें। हर्ष है कि जिस प्रकार संस्कृत में मम्मटचार्य एक सामंजस्य-पूर्ण व्यवस्था उपस्थित कर 'वाग्देवतावतार' के पद पर आसीन हुए उसी प्रकार हिंदी में "सेठ कन्हैयालाल पोद्दार" अलंकारांधकार को दूर करने के लिए, 'मम्मटावतार' के रूप में अवतरित हो गये। हमें अब आगे बढ़ कर 'पोद्दार' जी के सफल अध्यवसाय से उऋण होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अलंकारों के प्राथमिक वर्गीकरण का आधार शब्द और अर्थ है—शब्दों की चारुता का साधन शब्दालंकार और अर्थ की रमणीयता का साधन अर्थालंकार माना जाता है। यह ठीक ही है; क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ की ही सत्ता तो उपलब्ध है। कवि कुछ शब्दों का प्रयोग कर किसी अर्थ को उपस्थित किया करता है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त काव्य की अन्य कोई स्थूल सामग्री नहीं। कल्पना, भाव, विचार आदि तो मन के सूक्ष्म उपादान हैं, जिनकी सत्ता कवि और श्रोता के अंतःकरण में रहा करती है। अतः अलंकारों का प्राथमिक वर्गीकरण शब्द और अर्थ के ही आधार पर करना सर्वथा तर्क-संगत है। अलंकारों के प्रथम दो भेद माने गये हैं—१. शब्दालंकार २. अर्थालंकार।

अतः शब्दालंकारत्व क्या है और अर्थालंकारत्व क्या है, इसका कोई विवेचन न करके मम्मटाचार्य शब्दालंकार और अर्थालंकार की भेदक कसौटी के निर्धारण में लग गये हैं—वे अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर कुछ अलंकारों को शब्दालंकार और कुछ को अर्थालंकारों के वर्ग में रख देते हैं। वे इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझते कि पहिले अलंकारत्व का स्वरूप स्पष्ट कर दिया जावे। अन्वय-व्यतिरेक[2] के आधार पर किसी शब्द-विशेष के प्रयोग में ही अलंकारता का प्रतीत होना और

[1]. **लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै कपूत।**
लीक छोड़ तीनों चलें, सायर, सूर, सपूत॥

इसके विपरीत यह लोकोक्ति इस प्रकार भी कही जाती है—

लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै सपूत।
लीक छोड़ तीनों चलें, कायर, कूर, कपूत॥

[2]. **शब्दसत्वे अलंकारसत्वः अन्वयः।**
शब्दाभावे अलंकासभावः व्यतिरेकः॥

उसी शब्द के किसी पर्यायवाची का प्रयोग कर देने से उस अलंकारता का नष्ट हो जाना शब्दालंकार की पहिचान है। इसी प्रकार यदि एक शब्द के स्थान पर उसके अन्य पर्यायवाची का प्रयोग कर देने पर भी अलंकारता ज्यों की त्यों बनी रहती है तो वहाँ 'अर्थालंकार' समझना चाहिए। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा हम अलंकार के आश्रय का पता लगा सकते हैं—यह जान सकते हैं कि कोई अलंकार शब्दाश्रित है अथवा अर्थाश्रित, किंतु प्रश्न यह है कि क्या आश्रयाश्रयी-संबंध ही अलंकार-अलंकार्य-संबंध है? क्या आश्रित होना ही अलंकरण करना कहा जाता है? क्या शब्दाश्रित अलंकार को शब्द का और अर्थाश्रित अलंकार को अर्थ का अलंकरण करना ही चाहिए? क्या कोई किसी पर आश्रित भर हो जाने से उसे अलंकृत करने लगता है?

शब्द का अलंकारत्व वस्तुतः है क्या? नाद-सौंदर्य ही न, और शब्दाश्रित अलंकार यदि नाद-सौंदर्य की सृष्टि ही न करे तब भी क्या उसे शब्दालंकार मान लिया जावेगा? इसी प्रकार अर्थालंकारत्व दो अर्थों की सम-अनुभूति अथवा विषय-अनुभूति के अतिरिक्त और क्या है। अतः अर्थाश्रित रहते हुए भी यदि कोई अलंकार दो पदार्थों अथवा वाक्यार्थों की समानुभूति अथवा विषयानुभूति नहीं उत्पन्न करता तो उसकी अर्थालंकारता कैसी? एक उदाहरण ले लीजिए—

"अली, भंवर गूँजन लगे, होंन लगे दल पात।
जहँ-तहँ फूले रूख तरु, प्रिय पीतम कित जात ॥"

यह 'पुनरुक्तिवदाभास' का दृष्टांत है और पुनरुक्तिवदाभास शब्दालंकार भी माना जाता है और अर्थालंकार भी माना जाता है, अर्थात् वह उभयालंकार है। अब जरा इस पुनरुक्तिवदाभास की शब्दालंकारता और अर्थालंकारता का विश्लेषण कीजिए—अली और भँवर, दल और पात, रूख और तरु तथा प्रिय और पीतम शब्द आपाततः पुनरुक्तवत् आभासते हैं, क्योंकि उनका अर्थ एक ही होता है; किंतु यत्किंचित् विचार करने पर प्रतीत हो जाता है कि उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं; किंतु पुनरुक्तवत् आभासित होनेवाले उक्त पदों में से एक ही एक पद परिवृत्ति-सह है, दूसरा पद परिवृत्ति-असह है—एक पद को उसके पर्यायवाची-द्वारा परिवर्तित कर देने से भी अलंकारता बनी रहती है, पर दूसरे पद को उसके पर्यायवाची-द्वारा बदल देने से अलंकारता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार शब्दाश्रित और अर्थाश्रित दोनों होने के कारण 'पुनरुक्तिवदाभास' को उभयालंकार कहना ही चाहिये। कुछ पदोंका परिवृत्ति-सह होना और कुछ का परिवृत्ति-सह न होना ही उभयालंकार की कसौटी है। अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा परिवृत्ति-सहत्व और परिवृत्यसहत्व का निर्णय कर शब्दालंकार और अर्थालंकार का पृथक्करण कर लेना कितना सरल है! शब्द का परिवृत्ति-सहत्व अलंकार के अर्थाश्रित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है और शब्द का परिवृत्य-सहत्व अलंकार के शब्दाश्रित होने का निर्विवाद हेतु है। शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार है और अर्थाश्रित अलंकार अर्थालंकार। आश्रयाश्रायी-संबंध ही अलंकार-अलंकार्य-संबंध है!!

अन्वय-व्यतिरेक की कसौटी में इस बात के विचार की कोई आवश्यकता नहीं कि काव्याश्रित अलंकार में शब्दालंकारत्व और अर्थाश्रित अलंकार में अर्थालंकारत्व भी है अथवा नहीं। शब्द की अलंकारता नाद-सौंदर्य की सृष्टि है और अर्थ की अलंकारता दो अर्थों की समानुभूति या विषयानुभूति है; किंतु पुनरुक्तिवदाभास में कोई नाद-सौंदर्य न रहते हुए भी शब्दालंकारता तथा दो अर्थों की कोई समानुभूति अथवा विषयानुभूति न मिलने पर भी अर्थालंकारता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के अतिरिक्त आज तक अन्य कोई कसौटी ही नहीं बनायी गयी!

मुख-निःसृत ध्वनि को 'शब्द' कहते हैं, शब्द का मुख्यार्थ यही है। मुख-निःसृत ध्वनि को जब कंपित चिन्हों (वर्णों) द्वारा लिखित रूप दे दिया जाता है तब उस लिपि-बद्ध ध्वनि को भी गौण अर्थ में शब्द कह देते हैं। शब्द की अलंकारता उसकी पुनरावृत्ति में है; क्योंकि पुनः-पुनः एक ही ध्वनि जल्दी-जल्दी अथवा एक निश्चित अंतर पर सुनने में अत्यंत रमणीय प्रतीत हुआ करती है। बेंड, भेरी आदि में ध्वनि की सुनिर्दिष्ट आवृत्ति ही तो पायी जाती है। ध्वनि की आवृत्ति-जन्य यह

रमणीयता ही शब्द की अलंकारता है। शब्दावृत्ति से नादात्मक सौंदर्य की सृष्टि होती है और नाद-सौंदर्य शब्द को अलंकृत कर देता है। अतः शब्दालंकार की सूक्ष्म कसौटी नाद-सौंदर्य और स्थूल कसौटी शब्दावृत्ति होनी चाहिए, न कि अन्वय-व्यतिरेक। आश्रयाश्रयी-संबंध ही अलंकारालंकार्य-संबंध कदापि नहीं है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो पुनरुक्तिवदाभास में शब्दालंकारता तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि उसमें शब्द की आवृत्ति ही नहीं पायी जाती—विभिन्न अर्थवाले दो पृथक्-पृथक् शब्दों का उपयोग पाया जाता है और उसे अर्थालंकार भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें वस्तु या व्यापार-रूप दो पदार्थों अथवा दो वाक्यार्थों की समानुभूति या विषयानुभूति भी नहीं पायी जाती।

अब, आभास-मात्र की अलंकारता स्वतंत्रतया विवेचनीय हो सकती है।

अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर तो यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, आवृत्ति-दीपक, निरुक्ति, परंपरित-रूपक आदि अनेक अलंकार उभयालंकार सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनमें भी कुछ पद परिवृत्ति-सह और कुछ परिवृत्ति-असह रहा करते हैं, किंतु यहाँ पर मम्मट एक और सिद्धांत उपस्थित कर देते हैं—

प्राधान्येनव्यपदेशा भवंति।"

अतः अन्वय-व्यक्तिरेक-द्वारा उभयालंकारता रहते हुए भी शब्द अथवा अर्थ की प्रधानता के आधार पर उन्हें शब्दालंकार और अर्थालंकार समझना चाहिए—केवल शब्दार्थ की सम-प्रधानता में ही 'उभयालंकार' कहना चाहिए और इस प्रकार पुनरुक्तिवदाभास के अतिरिक्त अन्य कोई भी अलंकार उभयालंकार नहीं माना जा सकता, पर इस प्रधानता का निर्णय कैसे किया जावे—

"सहृदयानां हृदयमेव प्रमाणं तच्च।"

तात्पर्य यह कि प्राचीन रूढ़ि में जो अलंकार जिस खूंटे से कस दिये गये हैं, बस वे वहीं बँधे रहें।

वस्तुतः उभयालंकारता ही असिद्ध है—अलंकार या तो शब्द को अलंकृत करेगा या अर्थ को अलंकृत करेगा। जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की अलंकारता रहेगी वहाँ अलंकार-'संकर' अथवा अलंकार-'संसृष्टि' हो जायगी। एक अलंकार की उभय अलंकारता विरोधाभास है।

शब्द तीन रूपों में मिला करता है—१. वर्णरूप में, २. पद-रूप में और ३. वाक्य-रूप में; अतः शब्दावृत्ति के भी तीन ही रूप होंगे—१. वर्णावृत्ति, २. पदावृत्ति और ३ वाक्यावृत्ति; इसलिए शब्दालंकार भी तीन ही प्रकार के हो सकते हैं—१ वर्णावृत्ति-मूलक, २. पदावृत्ति-मूलक और ३. वाक्यावृत्ति-मूलक। अब इनके नाम चाहे जो रख लिए जावें।

प्राचीनों ने नाना-नाम रूपात्मक अलंकारों की कल्पना की है और उन्हें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव नामक दोष-त्रय-शून्य परिभाषाओं में जकड़ देने का प्रयत्न किया है। यदि हम उन्हीं रूढ़ि-वादी परिभाषाओं को स्वीकार करते चले जावेंगे तो अलंकारों की मुक्ति त्रिकाल में भी संभव नहीं। अतः हमें अलंकार-शास्त्र के नव विकास के लिए नवीन दृष्टि का उन्मेष करना पड़ेगा। इसे प्राचीन परंपरा में अव्यवस्था उत्पन्न करना नहीं समझना चाहिए। हमें परंपरानुरोध के अंधानुसरण को त्यागना पड़ेगा और राजानक रुय्यक, कुंतक, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट आदि की परंपरा का भी संस्कार करना पड़ेगा।

इस प्रणाली से बहुत से शब्दालंकार अर्थालंकार और बहुत से अर्थालंकार शब्दालंकार सिद्ध होने लगेंगे। बहुत से अलंकार अलंकार ही न रह जावेंगे—वे चित्रालंकार या विचित्रालंकार दिखने लगेंगे। कई एक अलंकार एक ही अलंकार में अंतर्भूत हो जावेंगे और कई भेदोपभेद स्वतंत्र अलंकार बन जावेंगे। अलंकार-शास्त्र में एक सुव्यवस्था स्थापित होगी और अलंकारों के अध्ययनाध्यापन में सुविधा होगी—अलंकार-परंपरा विलुप्त होने से बच जावेगी।

अभी अलंकारों का पठन-पाठन यूक्लिड की ज्यामिति (जामेट्री) की प्राचीन परिपाटी पर हो रहा है। उपपाद्यों का नंबर रट लेने और उदाहरणार्थ दी हुई आकृति-भेद को सिद्ध कर देने के

समान अलंकारों का नाम और उनका लक्षण रट कर दिये हुए उदाहरण में उसे घटा सकने तक ही अलंकार-शास्त्र का अध्ययन आज सीमित हो गया है और इसलिए उसमें सड़ाँद पैदा होने लगी है। जिस प्रकार 'ज्यामिति' के पठन-पाठन में आज न तो उपपाद्यों के नंबर को रटने पर ही बल दिया जाता है और न किसी पिटी-पिटाई आकृति का ही हल पूछ कर संतोष कर लिया जाया करता है, वरन् उसके स्थान पर प्रमेयोपपाद्य के वास्तविक स्वरूप और उसके व्यावहारिक प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया जाया करता है; उसी प्रकार अब हमें विभिन्न अलंकारों के नाम और उनकी रूढ़ परिभाषाओं की अपेक्षा अलंकारों के मौलिक स्वरूप तथा उनके वर्गीकरण के आधारों का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति पर करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। भिन्न-भिन्न अलंकारों और उनके भेदोपभेदों के सूक्ष्म-दर्शक यंत्र बनाने की अपेक्षा आज साम्य, वैषम्य, अतिशय और आलंकारिक वक्रता के स्वरूप को समझने तथा श्लेष, लक्षणा और संकेत के महत्व को जानने की अधिक आवश्यकता है—इन्हीं के आधार अलंकार का भव्य भवन निर्मित है और ये ही काव्य-भाषा की अलौकिकता के आपादक हैं।

श्लेष, वक्रता और अतिशय को तो आज हमने अलंकार-विशेष के कठघरे में परि-बद्ध कर दिया है और लक्षणा-व्यंजना की शब्द शक्तियों से अलंकार को सर्वथा अछूता रखने की एक सफल, किंतु घातक योजना स्वीकार कर रखी है—अलंकार अभिधा-मात्र का विषय है; क्यों? क्योंकि ध्वनि-वाद का भूत पीछे लग गया है! अलंकार-ध्वनि अलंकार थोड़े ही है; क्योंकि प्रतीयमान की गौणता-पर्यंत ही तो अलंकार का क्षेत्र है—उसके आगे बढ़ने से अलंकार पर 'ट्रेस-पास' का अभियोग न चला दिया जायगा ?

अनेककार्थता भाषा की विभूति है और आलंकारिक उक्तियों की तो वह सर्वस्व ही है। इसीलिये काव्य-भाषा में अनेकार्थता का अक्षुण्ण साम्राज्य स्वीकार कर लिया गया है। अब, यह अनेकार्थता रूढि एवं व्युत्पत्ति तथा सामीप्य-समवाय—सादृश्य-वैपरीत्य-क्रियायोग आदि संबंधों और प्रसंगों की सांकेतिकता पर आश्रित रहा करती है। रूढि और व्युत्पत्ति में शब्द की अभिधावृत्ति, सामीप्यादि संबंधों-द्वारा ज्ञात अर्थ, गौणार्थ या लक्ष्यार्थ कहलाता है और प्रसंग-प्राप्त अर्थ प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ माना जाता है। अनेकार्थता उसी समय उपस्थित हुआ करती है जब किसी पद अथवा वाक्य में अनेक वृत्तियों का व्यापार पाया जाता है—अभिधा-अभिधा की अनेकार्थता, अभिधा-लक्षणा की अनेकार्थता अभिधा-व्यंजना की अनेकार्थता और लक्षणा-व्यंजना की अनेकार्थता—अनेकार्थता अनेक प्रकार की हुआ करती है, जिसे अलंकार-संप्रदाय में 'श्लेष' नाम दिया गया है। इस अनेकार्थता में कभी एक अर्थ की प्रधानता और दूसरे की गौणता तथा कभी दूसरे की प्रधानता और पहले की गौणता संभव है। अर्थ की प्रधानता अथवा गौणता के कारण शब्द-शक्तियों की प्रधानता और गौणता भी कह दी जा सकती है; किंतु शब्द-शक्तियों की प्रधानता और गौणता के कारण अनेकार्थता की आलंकारिता में कोई अंतर नहीं आ सकता।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियाँ हैं जो यथावसर उपस्थित हो-होकर अर्थ-बोध कराती रहती हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना अलंकार नहीं हैं—अलंकरण की साधन हैं। अलंकार—अर्थालंकार शब्द और अर्थ के बीच की वस्तु है। शब्द से किसी भी शब्द-शक्ति द्वारा, अर्थ का—पदार्थ और वाक्यार्थ का—बोध हो जाने पर अर्थालंकार प्रारंभ हुआ करता है और विभिन्न शब्द-शक्तियों-द्वारा उपस्थित अनेकार्थता में साम्य अथवा वैषम्य की अनुभूति कराकर सफल हो जाता है। अर्थ तो, चाहे वह अभिधार्थ हो और चाहे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ, सदा वस्तु अथवा तथ्य-रूप ही रहेगा और उसमें जो रमणीयता पायी जावेगी वह उस वस्तु अथवा तथ्य की रमणीयता होगी। इसके विपरीत अलंकार 'लोकातिक्रांतगोचरता वाचाम्' या 'लोक-सीमातिवर्तिनी विवक्षा' है; उसकी रमणीयता उक्ति की रमणीयता होगी। उक्ति की रमणीयता और वस्तु अथवा तथ्य की रमणीयता एक ही चीज नहीं है। वस्तु अथवा तथ्य की रमणीयता स्वयं वस्तु अथवा तथ्य में रहेगी जो भौतिक वस्तुओं और व्याव-हारिक तथ्यों में प्रत्यक्ष होगी—अथवा जो लौकिक वस्तु-व्यापार की प्रतिकृतियों में, रंग-मंचों और रजत-

पटों पर प्रदर्शित हो सकेगी। उक्ति की रमणीयता प्रत्यक्ष अनुभूति या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है—कवि और श्रोता के मानस-प्रत्यक्षीकरण की वस्तु है और वह शब्द से उठकर अर्थ की उपलब्धि-पर्यंत ही पायी जायगी। शब्द-द्वारा कवि के प्रयोजन पर पहुँचते ही अर्थालंकार अंतर्ध्यान हो जायगा। अर्थालंकार शब्द और अर्थ की मध्यवर्तिनी शृंखला है—अतः उसे शब्द-शक्तियों का अनुचर नहीं स्वीकार किया जा सकता। शब्द-शक्तियाँ अलंकार की अग्रचर अवश्य कही जा सकती हैं।

'श्लेष' का अर्थ—श्लिष् (श्लिष्यति) से व्युत्पन्न होने के कारण—चिपकना या जोड़ है; एकता में अनेकता की संधि है। जब एक ही शब्द में अनेक शब्द अथवा अनेक अर्थ चिपके हुए पाये जाते हैं तब वहाँ 'श्लेष' कहा जाता है—एक में अनेक का संश्लेष ही तो श्लेष की श्लेषता या श्लिष्टता है। श्लिष्ट एकता में से अनेकता का उद्घाटन श्लेष-विश्लेषण कहलाता है। राजानक रुय्यक् एक शब्द-गत अनेक शब्दों के संश्लेष का पृथक्करण 'जतुकाष्ठ'-न्याय-द्वारा तथा एक शब्द-गत अनेक अर्थों के संश्लेष का पृथक्करण 'एक वृंत्त फल द्वय'-न्याय-द्वारा करते हैं और उद्भटाचार्य ने शब्दों के संश्लेष को शब्द-श्लेष एवं अर्थों के संश्लेष को अर्थ-श्लेष नाम दिया है। यह नाम-करण सर्वथा अन्वर्थ है, किंतु मम्मटाचार्य की अन्वय-व्यतिरेक वाली कसौटी उद्भटाचार्य के उक्त शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष दोनों को ही शब्दाश्रित सिद्ध कर देती है और मम्मटाचार्य आश्रायाश्रायी-संबंध को ही अलंकार-अलंकार्य-संबंध माना करते हैं; अतः मम्मट के मत में पद की सभंगता एवं अभंगता पर आधारित उक्त शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष शब्द के अलंकार हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि मम्मट ने शब्द की अलंकारता एवं अर्थ की अलंकारता का स्वरूप निर्दिष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया—उन्होंने अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा केवल आश्रयाश्रयी-संबंध देखकर शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का विभाजन कर दिया है।

अस्तु, श्लेष की अलंकारता पर विचार कीजिये। एकता में अनेकता का संश्लेष श्लेष की श्लेषता है, पर एक पद अथवा वाक्य से किसी भी शब्द-शक्ति-द्वारा अनेक अर्थों की उपलब्धि हो जाने ही से तो अलंकारता की योजना हो नहीं जाया करती। जब तक उन अनेक अर्थों में साम्य या वैषम्य का संबंध नहीं स्थापित होगा तब तक श्लेष श्लेष-मात्र रहा आवेगा—उसमें अलंकारता का विधान नहीं हो सकता। कोई अनेक अर्थों का बोध कराने के लिये ही अनेक अर्थों का बोध नहीं कराया करता—वह उन अनेक अर्थों की सम-अनुभूति अथवा विषम-अनुभूति कराने के लिये ही एक साथ अनेक अर्थोंका विधान कर दिया करता है। अतः एक पद अथवा वाक्य के अनेक पदार्थों अथवा वाक्यार्थों की समता या विषमता ही श्लेष की अलंकारता होगी। साम्य-वैषम्य-विहीन अनेकार्थता शब्द-क्रीडा मात्र होगी जो काव्य-कौतुक की वस्तु है, न कि काव्यालंकार की वस्तु।

यहाँ विचारना होगा, कि श्लेषालंकार शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार ? शब्द की अलंकारता नाद-सौंदर्य है, जो श्लेष में पायी नहीं जाती; क्योंकि नाद-सौंदर्य आवृत्ति मूलक है और श्लेष में शब्दा-वृत्ति होती ही नहीं। अतः श्लेष शब्दालंकार कदापि नहीं हो सकता। उद्भटाचार्य का यही मत है—उनके मत में श्लेष जब भी अलंकृत करेगा तब अर्थ को ही अलंकृत करेगा, वह शब्द को कदापि अलंकृत नहीं कर सकता', किंतु मम्मटाचार्य, आश्रायाश्रायी-संबंध को ही अलंकारालंकार्य-संबंध मानने के कारण, श्लेष में शब्दालंकारता और अर्थालंकारता दोनों स्वीकार करते हैं।

मम्मटाचार्य की अर्थालंकार-भूत श्लेष की धारणा भी विचारणीय है। श्लेषार्थालंकार पर मम्मट ने दो प्रतिबंध लगाये हैं—एकवाक्यता का प्रतिबंध और दूसरा एकार्थक प्रतिपादक शब्दता का प्रतिबंध। श्लेषार्थालंकार "एकस्मिन्नेववाक्ये" संभव है। इससे सभंग-पद-श्लेष तो अर्थालंकार हो नहीं सकता; क्योंकि उसके विश्लेषण में अनेक वाक्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकार्थता' वहीं पर वह श्लेष अर्थालंकार हो सकेगा। इससे अभंग-पद-श्लेष भी अर्थालंकार नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें सदा अनेकार्थी ही पद रहा करते हैं।

पर, जब पद एकार्थ-प्रतिपादक ही रहेंगे तब उनसे अनेकार्थता की उपलब्धि कैसे संभव होगी? स्वयं मम्मट-द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में "उदयमयते" आदि पदों के क्या भिन्न-भिन्न अनेक अर्थ नहीं लिए गये? यदि "एकः शब्दः एकार्थप्रतिपादकः" का सिद्धांत लगावें तो भी 'उदयमयते' आदि में अनेकार्थ-वाची विभिन्न पदों का एक पद में संश्लेष ही मानना पड़ेगा और उस दशा में 'उदयमयते' आदि पदों में अनेक अर्थों का न सही, अनेक शब्दों का संश्लेष कह दिया जायगा। इस प्रकार शब्द-श्लेष अथवा अर्थ-श्लेष की सत्ता श्लेषालंकार में सदा बनी ही रहेगी और मम्मट के "एकार्थप्रतिपादकानां एव अनेकार्थता" के विरोधाभास का परिहार असंभव हो जायगा।

इसके अतिरिक्त 'उदयमयते' आदि पदों के मम्मट ने जो अनेक अर्थ लिए हैं वे किस शब्द-शक्ति से निकले हैं, यह भी विवेचनीय है। शब्द के श्रुति-गत होते ही सर्वप्रथम उसकी अभिधा-शक्ति व्यापार किया करती है—रूढिवशात् उस शब्द का रूढार्थ उपस्थित होता है और तत्पश्चात् व्युत्पत्ति-वशात् उसका व्युत्पन्नार्थ उपस्थित हो सकता है। रूढि और व्युत्पत्ति दोनों में अभिधा-वृत्ति मानी गयी है; अतः रूढ और व्युत्पन्न (यौगिक) दोनों अर्थ वाच्यार्थ कहलाते हैं। ये ही दोनों अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ हैं और अभिधा शब्द की मुख्यावृत्ति है, किंतु यहाँ पर भी मम्मट व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ को मुख्य और रूढि-प्राप्त अर्थ को गौण कहते हैं, क्यों? सो मम्मट ही जानें। इसी कारण 'कुशल' आदि शब्दों में मम्मट लक्षणा उठाते हैं। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के इस मत का खंडन किया है।

लक्षणा का उत्थापन अन्वय की अनुपपत्ति के कारण हुआ करता है—जहाँ पर अभिधा-व्यापार-द्वारा अर्थ-बोध नहीं हो पाता वहाँ पर लक्षणा-वृत्ति का व्यापार हुआ करता है। अतः "लक्षणा द्वितीय-स्थानीया गौणी वृत्ति" कहलाती है, किंतु जहाँ पर अन्वय उपपन्न हो जाने पर भी वक्ता के अभीष्ट तात्पर्य का अवगमन नहीं हुआ करता वहाँ पर अभिधा के पश्चात् ही, अथवा अन्वय के अनुपपन्न होने पर लक्षणा के पश्चात् भी, व्यंजना-वृत्ति अपना व्यापार प्रारंभ करती है। इस प्रकार व्यंजना भी, लक्षणा के समान ही एक गौणवृत्ति ही हुई—मुख्यावृत्ति[1] अभिधा ही है।

अब, श्लेष में अनेकार्थता रहती है और इसलिए उन अनेक अर्थों का बोध कराने के लिए अनेक शब्द-शक्तियों का व्यापार अनिवार्य है—एक ही शब्द-वृत्ति से काम नहीं चल सकता, क्योंकि "विरम्य व्यापाराभावः" का नियम है, किंतु श्लेष में व्यंग्यार्थ का रहना साहित्य-संविधान के विरुद्ध है—क्यों? क्योंकि व्यंग्यार्थ ध्वनि का विषय है और श्लेष एक अलंकार-विशेष है। गुणीभूत होकर व्यंग्यार्थ भले ही अलंकार के क्षेत्र में घुस जाय, किंतु अलंकार ध्वनि की सीमा का उल्लंघन कैसे कर सकता है? श्लेष वाच्यार्थ में ही रह सकता है—श्लेष की अनेकार्थता अभिधा की ही अनेकार्थता हो सकती है; लक्षणा और व्यंजना की अनेकार्थता उसके लिए अस्पृश्य है! श्लेष काला आदमी है—मुख्यार्थ जातीय होने से वह गौण और प्रतीयमान जाति के साथ कैसे बैठे—यह ध्वनि-वादी साम्राज्य है।

वास्तविक बात यह है कि श्लेष के यदि अगाड़ी-पिछाड़ी न लगायी जाय तो वह सारे ध्वनि-खेत को रोंद डाले! इसीलिए श्लेष को ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य दोनों से सर्वथा पृथक् रखे रहने के अभिप्राय से उसे एक अलंकार-विशेष के अस्तवल में जकड़ दिया गया है। इसके लिए अनेक प्रयत्न करने पड़े हैं—कई योजनाएँ बनानी पड़ी हैं। यह उद्भावना की गयी है कि अनेकार्थता के विधान में कवि के तीन अभीष्ट हो सकते हैं—१. या तो वह प्रासंगिक ही प्रासंगिक विषयों का वर्णन करेगा, २. या वह अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक विषयों का वर्णन किया करेगा, अथवा फिर ३. वह प्रासंगिक और अप्रासंगिक विषयों का मिला-जुला वर्णन करने लगेगा। प्रासंगिक वर्णनीय विषय को प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ कहते हैं और अप्रासंगिक अवर्ण्य को 'अप्रकृत' या 'अप्रस्तुत' अर्थ कहते हैं, यदि कवि के पास

[1]. मुख्या प्राथमिका न तु प्रधानभूता।

कुछ प्रासंगिक विषय वर्णन करने के लिए है ही नहीं तो वह सब अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक का वर्णन ही क्यों करने चला? इसी प्रकार यदि उसके पास सब प्रासंगिक ही प्रासंगिक विषय हैं और उन प्रासंगिक विषयों की किन्हीं अप्रासंगिक विषयों के साथ सम या विषम अनुभूति कराना उसे अभीष्ट नहीं तो वह एक ही पद अथवा एक ही वाक्य-द्वारा अनेक अर्थों का बोध-मात्र करा देने के अतिरिक्त करता ही क्या है? और अर्थ का बोध-मात्र करा देना कवि-कर्म नहीं। अतः प्रासंगिक और अप्रासंगिक का मिला-जुला वर्णन करना तो समझ में आता है, पर प्रासंगिक ही प्रासंगिक अथवा अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक का वर्णन करना आलंकारिक-दृष्टि से समझ में न आने की ही बात है। भला, यह कौन मानेगा कि मम्मट-प्रदत्त उदाहरण में कवि का अभीष्ट राजा और रवि का एक साथ वर्णन भर कर देना था, न कि राजा और रवि के परस्पर साम्य की अनुभूति कराना था। यदि राजा और रवि का पृथक्-पृथक्' और सर्वथा स्वतंत्र वर्णन करना ही कवि का अभीष्ट था तो उसने केवल दो अर्थों का बोध-मात्र करा दिया—उन अर्थों में अलंकारता का उसने क्या विधान किया? दोनों के एक साथ वर्णन कर देने में उसका अभीष्ट दोनों ही के प्रति उदासीनता कही जा सकती है, तब तो यही कहना चाहिए कि वह काव्य करने नहीं, कवि—कौतुक-वश शब्द-क्रीड़ा भर करने लगा है और इस परिस्थिति में यहाँ श्लेष अलंकार भी नहीं कहा जा सकेगा—अनेकार्थता-मात्र के विधान में अलंकारता कहाँ! क्या अनेकार्थता ही अलंकारता है? मम्मट अनेकार्थता को ही श्लेष की अलंकारता मान लेते हैं। यह सब श्लेष को एक अलंकार-विशेष सिद्ध करने और उसे शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि से पृथक् करने की खुराफात भर है—अन्यथा संपूर्ण शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि श्लेष में ही अंतर्भूत हो जाय, क्योंकि श्लेष और शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि में केवल इतना ही तो अंतर है कि ध्वनि में संयोगादि संबंध-द्वारा अनेकार्थता के एक प्राकरणिक अर्थ में सीमित हो जाने पर भी अन्यान्यार्थ प्रतीत होते रहते हैं और श्लेष में अनेकार्थता संयोगादि संबंध-द्वारा प्रकरण-गत किसी एक अर्थ में सीमित नहीं हुआ करती, प्रत्युत असीमित रही आती है। अब, अनिर्दिष्ट प्रकरण वाली अनेकार्थता में अलंकारता का प्रतिपादन ही मम्मट के अर्थालंकार-भूत श्लेष में मिलता है और इसी से वे श्लेष की अनेकार्थता को अभिधाजन्य सिद्ध कर लेते हैं।

वस्तुतः श्लेष कोई एक अलंकार विशेष नहीं—वह प्रायः सभी अर्थालंकारों का प्राण है—

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।"

इसीलिए तो उद्भटाचार्य को कहना पड़ा है कि श्लेष भिन्न-भिन्न अलंकारों का आधार दिखायी देता है; क्योंकि जहाँ-जहाँ अनेकार्थता होगी वहाँ-वहाँ उन अर्थों में साम्य अथवा वैषम्य का संबंध भी स्थापित हो जायगा और ऐसा हो जाने पर वे अनेक अर्थ केवल प्रकृत ही प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत ही अप्रकृत न रह जायँगे—उनमें से कुछ प्रकृत और कुछ अप्रकृत बन जायँगे और तब वे उपमेय और उपमान होकर किसी न किसी अर्थालंकार-विशेष का रूप धारण कर लेंगे।

पर, इतना होने पर भी आचार्य-गण श्लेष को एक अलंकार-विशेष ही सिद्ध कर डालने की धुन में उसका अन्यान्य अर्थालंकारों से भेद दिखलाने का प्रयत्न करते चले आ रहे हैं।

यही दशा 'वक्रता' और 'अतिशय' की भी कर दी गयी है।

ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

श्री शिवनाथ

यदि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की श्री, समृद्धि का दर्शन करना है तो ब्रजभाषा के मूल स्रोत की एक झलक ले लेनी होगी। भाषा, साहित्य की वाहिका जो ठहरी; बिना भाषा के साहित्य का अस्तित्व कहाँ? किसी भाषा का जो पूर्ण और सुष्ठु रूप दृष्टिगत होता है वह सहसा ही संपन्न नहीं हो जाता, उसकी यह संपन्नता क्रमिक रूप में होती है। किसी भी विकसित भाषा के विषय में यही बात कही जा सकती है। भाषा की संपन्नता में देश-काल की अनुकूलता का भी कम महत्त्व नहीं गिना जा सकता। भाषा न्यूनाधिक रूप में कई पीढ़ियों के उत्तराधिकार को क्रमशः ग्रहण करती हुई पूर्ण विकसित होती है। ब्रज की भाषा के साथ भी यह तथ्य लगा हुआ है।

ब्रज की भाषा को जिन भाषाओं का उत्तराधिकार मिला वे हैं—शौरसेनी प्राकृत, तदोद्भूत अपभ्रंश और अपभ्रंश तथा ब्रज की भाषा के मध्य की भाषा की एक अवस्था जिसे 'पुरानी हिंदी' कहा जाता है। शौरसेनी प्राकृत से यह स्पष्ट है कि इस प्राकृत का संबंध 'शूरसेन-प्रदेश' से है, जो प्रदेश आज 'ब्रज-मंडल' के अंतर्गत आता है। इस प्राकृत का आधार शूरसेन प्रदेश की सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा रही। प्राकृत का अर्थ ही है प्रकृति से संबद्ध, स्वाभाविकता वा अकृत्रिमता से संबद्ध, अर्थात् प्राकृत का संबंध उस भाषा से है जिसका आधार जन-सामान्य की स्वाभाविक बोली है। यद्यपि 'प्राकृत' का संबंध जनता की स्वाभाविक बोली से है तथापि यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि उस बोली में साहित्य-निर्माण भी हुआ। इससे जन-सामान्य की भाषा ने साहित्य-निर्माण का साधन होने का गौरव प्राप्त किया और तब यह 'प्राकृत' भी, जो जनता की स्वाभाविक बोली थी, संस्कृत हुई। उसमें सुधार किया गया, उसका व्याकरण बना, वह इतनी समर्थ बनायी गई कि उसमें साहित्य-निर्माण हो सके। इस पर भी ध्यान रखना है कि जब कोई भाषा साहित्य-निर्माण के लिये गृहीत होती है तब उसका प्रसार कुछ व्यापक होता है, वह अपने मूलस्थान के साहित्यकारों-द्वारा ही व्यवहृत नहीं होती, प्रत्युत अन्य प्रदेश के साहित्यकारों-द्वारा भी व्यवहृत होती है, अर्थात् जब शौरसेनी का व्यवहार साहित्य-निर्माण के लिए हुआ तब उसकी व्याप्ति बढ़ी। शौरसेनी प्राकृत का संबंध मध्यप्रदेश-स्थित शूरसेन प्रदेश की बोलचाल की भाषा से है। उस मध्य देश से जहाँ की संस्कृत भाषा में महत्त्वपूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ था। जहाँ की संस्कृत में 'रामायण', 'महाभारत' और कालिदास आदि के काव्य बने थे। अभिप्राय यह कि इस प्राकृत का क्षेत्र वह प्रदेश था, जहाँ संस्कृत का पूर्ण उत्कर्ष हुआ था। ऐसी अवस्था में हम यह भी देखते हैं कि इस प्राकृत पर संस्कृत का भी अच्छा प्रभाव रहा। इस प्राकृत तथा संस्कृत में साम्य भी विशेष है।

महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी प्राकृतों का व्यवहार नाटकों के लिए विशेष रूपसे होने के कारण इन्हें नाटकीय प्राकृत भी कहते हैं। भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में शौरसेनी के व्यवहार की व्यवस्था इस प्रकार दी गई है—

> **नायिकानां सखीनां च शौरसेन्यविरोधिनी।**
> **यौधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या च दिव्यताम्॥**

—भरत : नाट्यशास्त्र १८।३६

शौरसेनी का व्यवहार उसकी कोमलता के कारण प्रायः नायिकाएँ (स्त्री-पात्र) करती हैं। इसका प्रयोग विदूषक भी करते हुए देखे जाते हैं, जैसे—अभिज्ञान शाकुंतल में। कर्पूरमंजरी में तो राजा भी इसी का प्रयोग करते हैं।

शौरसेनी प्राकृत का एक भेद 'जैन शौरसेनी' भी है, क्योंकि 'दिगंबर-संप्रदाय' के धार्मिक ग्रंथों की भाषा किन्हीं अंशों में 'शौरसेनी प्राकृत' से मिलती-जुलती है।

एक समय ऐसा भी था जब प्राकृत से पूर्व की आर्य-भाषा 'पालि' पर भी शौरसेनी का प्रभाव पड़ा और इसीके अनुसार उस (पालि) में भी ओकारांत रूप की प्रतिष्ठा हुई। जैसे शौरसेनी प्राकृत में ओकारांत रूपों का बाहुल्य है वैसे ही ब्रज की भाषा में भी। इस विवरण से शौरसेनी प्राकृत के प्रसार और प्रभाव का परिचय मिल जाता है।

यद्यपि प्राकृतों में भी काव्यों की रचना हुई, तथापि नाटकों में विभिन्न पात्रों के लिये विभिन्न प्राकृतों के व्यवहार की व्यवस्था होने के कारण भी इसका प्रचुर प्रसार हुआ। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार बौद्धों ने 'पालि' को अपनाया उसी प्रकार जैनों ने 'प्राकृत' को। इनके द्वारा इसकी प्रभूत उन्नति हुई।

प्राकृत के जीवन-काल में एक समय ऐसा भी आया जब वह घोर साहित्यिकता तथा व्याकरण के नियमों से जकड़ गई, सामान्य जनता के लिए वह बोध-गम्य नहीं रह सकी और तब पुनः जनता की व्यावहारिक बोली में साहित्य-निर्माण का श्री गणेश हुआ। आरंभ में जिस व्यावहारिक बोली का आदर न होने के कारण वह 'अपभ्रंश' नाम से पुकारी गई। साहित्यिकता तथा व्याकरण के नियम आदि से उस समय च्युत होने के कारण ही पंडितों ने इसे 'अपभ्रंश' कहा, परंतु जब इसमें भी साहित्य-निर्माण अनवरत रूप से होने लगा तब वैयाकरणों की दृष्टि इसकी ओर गई और 'हेमचंद्र' आदि ने इसका व्याकरण प्रस्तुत किया। अपभ्रंश, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं को मिलाने वाली बीच की कड़ी समझी जाती है। अपभ्रंश के कुछ और विकसित रूप को, जो हिंदी से बहुत ही निकट है, चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' कहा है, परंतु अपभ्रंश और 'पुरानी हिंदी' के बीच में कोई निश्चित सीमा—रेखा नहीं खींची जा सकती, यही कारण है कि गुलेरी जी ने विकसित अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कह दिया है।

शौरसेनी प्राकृत की भाँति 'शौरसेनी अपभ्रंश' का भी अच्छा प्रसार और प्रभाव रहा। विक्रम की लगभग दशवीं शती से लेकर लगभग चौदहवीं शती तक संपूर्ण उत्तरापथ में इस अपभ्रंश का बोलबाला था। मध्यदेश तथा अंतर्वेद के शासक राजपूतों के सशक्त राज्यों ने अपभ्रंश की प्रतिष्ठा में अधिक सहायता की। शौरसेनी प्राकृत की भाँति गुजरात के जैनों-द्वारा भी इसे अच्छी प्रतिष्ठा मिली।

प्राकृतसर्वस्वकार 'मार्कंडेय' ने अपभ्रंश के तीन भेद माने हैं—नागर, उपनागर और ब्राचड़। नागर अपभ्रंश में–जिसे पश्चिमी अपभ्रंश भी कह सकते हैं और जो राजस्थान, गुजरात में प्रचलित थी, पर शौरसेनी अपभ्रंश, अर्थात् मध्यदेशी अपभ्रंश का प्रभाव मिलता है। अपभ्रंश-काल में पूरब के कवियों ने जिस पूर्वी अपभ्रंश का व्यवहार किया वह शौरसेनी अपभ्रंश ही है। इस प्रकार हम देखते यह हैं कि शौरसेनी प्राकृत की भाँति ही शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रचुर प्रसार और प्रभाव था। इसी शौरसेनी अपभ्रंश अथवा इसी का कुछ और विकसित रूप 'पुरानी हिंदी' का उत्तराधिकार ब्रज की भाषा को मिला और इस 'ब्रजभाषा' का भी प्रसार-प्रभाव कम नहीं था।

इसका निर्देश ऊपर हुआ है कि अपभ्रंश और उसकी कुछ विकसित अवस्था 'पुरानी हिंदी' में भेद कम है। इसी 'पुरानी हिंदी' से हिंदी की अनेक बोलियों का उद्भव हुआ जो अपनी सामर्थ्य के कारण भाषा कहलाईं। ब्रज की भाषा उनमें से एक है। अपभ्रंश की ऐसी रचनाएँ जिनमें 'पुरानी हिंदी' का बीज मिलता है, विक्रम की ग्यारहवीं शती से लेकर लगभग चौदहवीं शती तक मिलती हैं। इसमें 'पुरानी हिंदी' के साथ ही ब्रजभाषा के रूप भी मिलते हैं। इन उद्धरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी, जो श्री 'चंद्रधर शर्मा' गुलेरी-द्वारा लिखित और नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'पुरानी हिंदी' नामक प्रबंध से संगृहीत किए गए हैं—

मंजु 'भणइ' मुणालवई जुव्वण 'गयउँ' न झूरि।
बाह बिछोड 'बिजाहि' तुहुँ 'हउँ' तेवँइ को दोसु।

जइयह 'रावणु जाईयउ' 'दहमुह' 'इक्कु सरीरु'।
जणणि वियंभी चिंतवइ कवणु पियावउँ खीरु ॥
'तइं' गडुआ गिरनार, काहूँ मणि 'मत्सरु धरिउ'।

—प्रबंध-चिंतामणि

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जण कर-पल्लविहिं दंसज्जिंतु 'भमिज्ज' ॥
की रवि पईवु सहस्स करु, नगरी मज्झिम सामि।
जइ न रडंतु तइँ 'हरउँ' (तइ) अग्गिहिं पविसामि ॥

❀

बेस बसिट्टह 'बारियइ' जइवि मणोहर-गत्त।
मइँ जाणियउँ पिय विरहि यह कवि धर होइ बियालि।
जे परिरंभहिं पर रमणि ताहं, फुसिज्जइ लीह।

—'कुमारपालप्रतिबोध-कार' सोमप्रभ-द्वारा उद्धृत

नंदु जंपइ 'पढ़इ' पर कब्ब।
कह एस बररुइ सुकइ—
'कहइ' मंति मह धूयसत्त बिवि।

—सिद्धपाल

जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ, सत्तु बि मित्तु बि किहें बि हु आवहु।
'अम्हे निंदहु' कोवि जणु, अम्हइँ वण्णउ कोवि।
'अम्हारउँ' 'तुम्हारउँ' वि एहु ममत्तु न तासु।

—हेमचंद्र

अंगहिं अंग न 'मिलिअउ', अहरें अहरु न पत्तु।

—हेमचंद्र : व्याकरण

उपर्युक्त उद्धरणों में ब्रजभाषा के अनेक रूप मिलते हैं। शौरसेनी प्राकृत तथा ब्रजभाषा की ओकारांत बहुला प्रवृत्ति की चर्चा हम कर चुके हैं। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत, यत्र-तत्र वर्त्तमान कृदंत भी ओकारांत हो जाते हैं, जैसे—घोड़ो, बड़ो, जान्यो (जाणियउं), मिल्यो (मिलिअउ)[1]। ब्रजभाषा की अकारांत संज्ञाएँ और विशेषण उकरांत हो जाते हैं, जैसेः—दोसु, रावणु, एकु (इक्कु), सरीरु, मत्सरु। संस्कृत के स्वार्थे 'क' की भाँति ब्रजभाषा में 'रा' का प्राधान्य है। जैसे—जियरा, हियरा आदि। ऊपर के उद्धरण में 'देसडा' है, जो 'डलयोऽभेंदः' और 'रलयोऽभेंदः' के अनुसार 'रा' के क्षेत्र की ही वस्तु है। शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का 'ण' ब्रजभाषा में 'न' हो जाता है, इसके अनेक प्रमाण ऊपर के उदाहरणों में मिलते हैं। साथ ही 'श' और 'ष' दोनों के लिये 'स' चलता है। ब्रजभाषा में 'ष' का प्रयोग 'ख' के लिये भी होता है। उपर्युक्त उद्धरणों में ब्रजभाषा के और रूपों के मूल भी दृष्टिगत होते हैं, यथा—भनैं (भणइ), गयौ (गयउ) जाहि, हौ (हउं) जायौ (जाईयउ), पियावौ, तैं (तइं), धरयौ (धरिउ), भ्रमीजै (भमिज्ज), हरौं (हरउं), बारियइ (बरजिए), परिरंभहिं, पढ़ै (पढ़इं), कहै (कहइ), आवहु, निदंहु, हमारौ (अम्हारउं), तुम्हारौ (तुम्हारउं) आदि...।

[1] ब्रजभाषा में कृदंतक शब्द—घोड़ो, बड़ो, जान्यो और मिल्यो नहीं बनते, इनका शुद्ध रूप—घोड़ा, बड़ौ, जान्यों और मिल्यौ होता है। इसी प्रकार 'य' भी आदि में ज और अंत इकार हो जाता है।

ब्रजभाषा का प्रसार-प्रभाव उतना ही व्यापक था, जितना उसके प्रदेश की पूर्ववर्तिनी भाषाओं का प्रसार-प्रभाव। ब्रजभाषा सारे उत्तरापथ की काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई। दक्षिण के कुछ कवियों ने भी इसमें रचना की। इसके प्रसार-प्रभाव की इस व्यापकता का प्रधान कारण था कि इसे धर्माश्रय तथा राज्याश्रय दोनों मिले। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश को ये आश्रय एक साथ और पूर्ण रूप में नहीं मिल पाए थे।

ब्रजभाषा का प्रयोग काव्य के लिये ही इतने व्यापक रूप से हुआ, जो प्रधानतः पद्य में लिखा जाता था। इसका प्रयोग 'गद्य' के लिये विरल रूप से ही हुआ, अतः ब्रजभाषा का 'गद्य-साहित्य' उतना अधिक नहीं प्राप्त होता, जितना कि पद्य। ऐसा होने का स्पष्ट कारण है, वह यह कि गद्य में व्यक्त किए जाने वाले विषयों के लिये गद्य का प्रयोग हमारे साहित्यकारों ने नहीं किया। अतः हिंदी-साहित्य को गद्य में साहित्य-निर्माण की परंपरा अच्छी नहीं मिली। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सर्वत्र गद्य का ग्रहण विरल ही है। श्री चंद्रधर शर्मा—गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' में लिखा है—

"प्रबंध-चिंतामणि' में केवल दो प्रसंगों में कुछ गद्य आया है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' में भी गद्य की विरलता है।"

तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य में पद्य के ग्रहण का आधिक्य और गद्य के ग्रहण की विरलता है। सभी विषयों को पद्य में ही व्यक्त करने की चाल थी। हिंदी-साहित्य में भी यही परंपरा चली। अतः ब्रजभाषा का ग्रहण गद्य के लिये कम होने के कारण उसमें साहित्य का निर्माण भी कम हुआ।[१]

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य के भक्ति और शृंगार-काल में ब्रजभाषा-साहित्य का प्रभूत निर्माण हुआ, परंतु इनमें काव्य का ही अधिक निर्माण हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है कि ब्रज-भाषा को धर्माश्रय और राज्याश्रय दोनों पूर्ण रूप से मिले, यह बात पद्य काव्य को ही दृष्टि-पथ में रखकर समझी जानी चाहिए। ब्रजभाषा के गद्य को कोई आश्रय मिला हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। भक्ति-काल में वल्लभ-संप्रदाय के कुछ आचार्यों और भक्तों ने इसका ग्रहण वार्त्ता तथा स्व-स्व संप्रदाय के संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद आदि के लिये किया। भक्ति-काव्य को राजाश्रय भी नहीं मिला, कारण कि उनमें भक्ति-प्रवृति का प्राधान्य न था, विलास-प्रवृत्ति का ही आधिक्य था। शृंगार-काल में भी गद्य का ग्रहण केवल टीकाओं के लिए हुआ। इस काल में काव्य (पद्य) को राजाश्रय मिला, गद्य को नहीं। काव्य-रचना के कारण ही राज-दरबारों में कविगण पूजे जाते थे, जहाँ कलाबाजी दिखाना आवश्यक था। गद्य-द्वारा यह कार्य संभव नहीं था। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह प्रधा-नतः स्वतंत्र वा निरवलंब रूप से। फिर ब्रजभाषा-काव्य के इस आधिपत्य काल में भी उसका जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह एकदम नगण्य तो नहीं कहा जा सकता, वह जितना रचा गया, वही क्या कम है। इसके अतिरिक्त अभी संपूर्ण हिंदी-साहित्य का पूर्ण अनुसंधान भी प्रस्तुत नहीं हो पाया है। संभव है ब्रज-भाषा का गद्य-साहित्य विभिन्न स्थानों में दबा पड़ा हो।[२]

ब्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य हमारे संमुख है उसे हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं—धार्मिक श्रेणी में और साहित्यक श्रेणी में। धार्मिक का संबंध भक्ति-काल से विशेष है, जिसमें वार्ताएँ बनीं, पुराणों एवं धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद हुए, आचार्यों तथा भक्तों ने अपने धर्म को लोगों पर प्रकट करने के लिये भाष्य किए वा गद्य ग्रंथ लिखे। साहित्यक श्रेणी का गद्य शृंगार-काल में प्रधानतः टीकाओं के लिये गृहीत हुआ। इसमें कुछ मौलिक रचनाएँ भी इस काल में हुईं, जिनका संबंध साहित्य से है। इस प्रकार हम देखते हैं

१. ब्रजभाषा में गद्य का प्रयोग 'अनुवादों में प्रधान रहा, अतः गीता, भागवत आदि अनेक पुराणों के गद्यानुवाद हुए। उनमें आज बहुत कुछ मिलते हैं।

२. यह यथार्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि नयी शोध के परिणाम-स्वरूप ब्रजभाषा गद्य के नये ग्रंथों का निरंतर उद्घाटन हो रहा है। यह शोध की रिपोर्टों से विदित होता है।

कि ब्रजभाषा-गद्य का उपयोग धार्मिक साहित्य के लिए भी हुआ और साहित्यक रचनाओं के लिए भी। इसका उपयोग वैद्यक, ज्योतिष, शालहोत्र आदि की रचनाओं के लिये भी हुआ, परंतु ऐसी रचनाएँ कम हुईं।

जिस-जिस ढंग की रचनाओं के लिए ब्रजभाषा के गद्य का उपयोग हुआ है उसके अनुसार भी इस (ब्रजभाषा के गद्य) में निर्मित साहित्य का श्रेणी-विभाजन हो सकता है। प्रधानतः तीन प्रकार की रचनाओं के लिये इसका उपयोग हुआ है—"मौलिक, अनुवाद और टीका-टिप्पणी के लिए।" इन तीनों प्रकार की रचनाओं का एक-एक भेद और हो सकता है। वह यह कि इनमें से प्रत्येक कुछ तो केवल गद्य में हैं और कुछ ऐसी हैं जिनमें गद्य के साथ पद्य भी है। इनमें से किसी में गद्य का प्राधान्य है, किसी में पद्य का। ब्रजभाषा के गद्य में जो मौलिक रचनाएँ हैं, उनमें धार्मिक रचनाएँ भी हैं और साहित्यक रचनाएँ भी। प्राधान्य भी ऐसी ही रचनाओं का है। प्रधान रूप से वल्लभ-संप्रदाय के भक्त-रचनाकारों से इन रचनाओं का संबंध है, जिनमें पुष्टिमार्गी भक्त, वल्लभ-संप्रदाय के महाप्रभुओं और वैष्णवों की वार्त्ता वा उनका जीवन-विवरण तथा श्री कृष्ण की लीला आदि का विवरण है। स्वामी श्री हरिदास जी की संप्रदाय के भी कुछ ग्रंथ ब्रजभाषा-गद्य में बने। वल्लभ-संप्रदाय से संबंध रखने वाले रचनाकारों ने वार्त्ताओं की खूब रचना की। गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी वार्ताएँ लिखीं। गोकुलनाथ जी के समकालीन हरिराय जी ने 'श्री आचार्य महाप्रभून की द्वादस निज वार्ता,' श्री आचार्य महाप्रभून के सेवक चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता की 'टीका', 'श्री आचार्य महाप्रभून की निज वार्ता और घरू वार्त्ता' आदि ग्रंथ लिखे। सं० १८३३ के लगभग किसी ने 'पुष्टिदृढ़ाव भाषा की'[1] रचना की, जिसमें पुष्टिमार्गी-सिद्धांतों का उल्लेख है। सं० १८०० के लगभग टट्टी संप्रदाय से संबद्ध गुरु-शिष्य श्री 'ललित किशोरी' और 'ललित मोहिनी' ने 'श्री स्वामी जी महाराज की बचनिका लिखी। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विठ्ठलनाथ जी ने 'शृंगार-रस-मंडन' लिखा, जिसमें श्री कृष्ण की लीला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा-गद्य में वल्लभ-संप्रदाय से संबद्ध भक्तों, एवं संप्रदाय से संबद्ध श्री कृष्ण की लीला तथा उस के सिद्धांतों आदि का वर्णन खूब हुआ। इन रचनाओं की प्रवृत्ति मूल में प्रधानतः धार्मिक ही रही।

कुछ ऐसी धार्मिक वा पौराणिक रचनाएँ भी हुईं, जिनका संबंध किसी संप्रदाय से नहीं था। जैसे—सं० १६८० के लगभग श्री वैकुंठमणि शुक्ल' ने 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' ओरछा के राजा यशवंतसिंह की रानी 'चंद्रावती' की आज्ञा के अनुसार लिखे। विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य के लगभग 'मीनिराज प्रधान' ने 'हरतालिका की कथा' लिखी। इसी प्रकार सं० १८९७ में 'नवलसिंह' ने 'महाभारत वार्तिक' में 'महाभारत' की कथा कही।

कृष्ण को लेकर ही मौलिक गद्य-ग्रंथ नहीं लिखे गए, राम को भी लेकर लिखे गए। 'नाभादास' (सं० १६५७ के आस-पास तक थे) ने 'अष्टयाम' की रचना की, जिसमें राम की दिनचर्या का वर्णन है।

नाथ-संप्रदाय के भी कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जो गद्य में लिख गए हैं और इनका समय सं० १४०० के आस-पास है, जैसे—'गोरखसार'।

ब्रजभाषा-गद्य में साहित्य-संबंधिनी रचनाएँ भी हुईं। इसमें अलंकार, रस, नायिका-भेद आदि भी लिखे गए। जैसे—'जयगोविंद वाजपेयी' (सं० १७१६-१७६५) का 'कविसर्वस्व'।

शकुन-विचार संबंधी ग्रंथ भी ब्रजभाषा-गद्य में लिखे गए। 'व्यास' ने विक्रम की उन्नीसवीं शती के आरंभ में 'शकुन-विचार-संबंधी ग्रंथ लिखा है।

इस प्रकार विदित होता है कि ब्रजभाषा के गद्य में अनेक ढंग की मौलिक रचनाएँ हुईं, जिनमें धार्मिक विषयों का प्राधान्य है। साहित्यक विषयों पर भी रचनाएँ हुईं।

पहले निर्देश किया गया है कि कुछ मौलिक ग्रंथ ऐसे भी बने जिनमें पद्य के साथ गद्य भी है। ऐसे ग्रंथों का संबंध प्रधानतः साहित्यक विषयों से ही है, जैसे, पिंगल, अलंकार नख-शिख, ऋतु-वर्णन-आदि।

१. पुष्टिदृढ़ाव भाषा श्री हरिराय कृत है।

'बख्शी समनसिंह' (सं० १८७८ के आस-पास) का 'पिंगल-काव्य-भूषण,' मारवाड़ के महाराज 'मान कृत 'नाथ-प्रशंसा' (ऋतु-वर्णन), बनारसीदास' (सं० १६६८) कृत 'बनारसी-विलास', ग्वाल कवि का दृ उल्लास या कवि-दूषण आदि ग्रंथ ऐसे ही हैं।

गद्य-पद्य मय कुछ ग्रंथ ऐसे भी मिलते हैं जिनका विषय कृष्णलीला, वेदांत वा ब्रह्मज्ञान आ है। 'वैष्णवदास' (लगभग सं० १८२६) कृत 'भक्तमाल-प्रसंग' में श्री कृष्ण की लीला का वर्णन है। जो के राजा 'यशवंतसिंह' (विक्रम की १८ वीं शती का मध्य) के 'सिद्धांतबोध' में 'ब्रह्मज्ञान' का विचार

इस विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि ऐसी मौलिक रचनाएँ जो केवल ब्रजभाषा-गद्य उनमें धार्मिक विषयों का प्राधान्य है और ऐसी रचनाएँ जिनमें गद्य-पद्य दोनों हैं, उनमें साहित्यक-वि का प्राधान्य है।

जैसे ब्रजभाषा के कुछ मौलिक गद्य-ग्रंथों में केवल गद्य का उपयोग किया गया है और में गद्य और पद्य दोनों का, वैसे ही कुछ ग्रंथ केवल ब्रजभाषा-गद्य में अनूदित मिलते हैं और कुछ और पद्य दोनों में। अनुवाद प्रायः संस्कृत से किए गए हैं। संस्कृत के अतिरिक्त उस समय, अ भक्ति और शृंगार-काल में किसी अन्य भाषा का भारत में प्रचार भी नहीं था, जिसमें अनुवाद I जाता। कुछ ग्रंथ फारसी से अनूदित भी मिलते हैं। गद्य और गद्य-पद्य मिश्रित दोनों में अनूदित के विषय प्रायः धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, कथा-कहानी, वैद्यक आदि हैं। धार्मिक ग्रंथों में पु के अनुवाद विशेष रूप से मिलते हैं। सं० १६१७ के लगभग किसी 'नंददास' (प्रसिद्ध कवि नंददास न ने 'नासकेतु पुराण' का केवल 'ब्रजभाषा-गद्य में 'नासकेत पुरान-भाषा' के नाम से अनुवाद किया। इ गद्य तथा गद्य-पद्य-मिश्रित गद्य में वेदांत, उपनिषद्, भगवद्गीता आदि तत्त्वज्ञान-संबंधी ग्रंथों का वाद भी हुआ। फारसी में अनूदित उपनिषद् से भी एक हिंदी-अनुवाद मिलता है। सं० १७७ आस-पास किसी ने 'शाहजहाँ' द्वारा (सं० १७१२ में) फारसी में लिखवाए गए कई उपनिषदों का अन हिंदी (ब्रजभाषा) में किया। इसका नाम 'उपनिषद्-भाष्य' है। 'मनोहरदास' निरंजनी ने लगभग १८२३ में वेदांत-विषयक किसी ग्रंथ का अनुवाद 'षट्दर्शनी निर्णय' नाम से गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभा किया। जोधपुर के महाराज मानसिंह के समय में (सं०१८६०-१६००) किसी ने 'गोरखनाथ'-लिखित' सिद्धसिद्धांत-पद्धति' का अनुवाद किया। इसका विषय वेदांत तथा' परमनाथ' की उपासना श्रीमद्भगवद्गीता के अनुवाद भी अधिक मिलते हैं, ब्रजभाषा गद्य में भी और गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में सं० १७५६ में 'भगवानदास' ने 'भाषामृत' नाम से भगवद्गीता का अनुवाद किया। सं० १७६८ के आस किसी ने 'भगवद्गीता भाषा' के नाम से गीता का अनुवाद किया। ये दोनों ग्रंथ केवल गद्य में हैं। 'आ राम' ने सं.१७६१ में गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में गीता का अनुवाद किया।

'प्रबोधचंद्रोदय' जैसे नाटकों का अनुवाद भी ब्रजभाषा गद्य में हुआ। जोधपुर के राजा वंतसिंह-द्वारा इस नाटक का अनुवाद मिलता है।

उपदेशात्मक कथा-कहानी के अनुवाद भी हुए। सं० १८०० के आस-पास का किसी का 'f पदेश-भाषा सटीक' मिलता है। सूरत मिश्र ने "वैतालपंचविंशति' का अनुवाद किया।

चाँद के पुत्र किसी आलम ने सं० १७४६ के बाद किसी वैद्यक ग्रंथ का फारसी से गद मिश्रित ब्रजभाषा में 'ग्रंथ संजीवन' नाम से अनुवाद किया।

टीकाएँ भी मौलिक रचनाओं तथा अनुवादों की भाँति ही केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-मि ब्रजभाषा में बनीं। टीकाओं का समय लगभग विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य से लेकर उन्नी के अंत वा बीसवीं के आरंभ तक समझना चाहिए। विक्रम की अठारहवीं शती के मध्यतक प्रभूत सा निर्मित हो चुका था और ऐसा साहित्य निर्मित हो चुका था, जिसके समझने में कुछ बाधा उप हो सकती थी। ऐसी परिस्थिति में टीकाओं का बनना स्वाभाविक था। जिन ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी निश्चित ही वे दुरूह हैं। जैसे—'बिहारी सतसई', 'केशवदास कृत 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया'। बि

तथा केशव[१] की रचनाओं की अनेक टीकाएँ मिलती हैं। मतिराम कृत 'रसराज' तथा महाराज जशवंत-सिंह कृत 'भाषाभूषण' पर भी टीकाएँ मिलती हैं, परंतु उतनी नहीं, जितनी कि बिहारी और केशव की रचनाओं पर। इन ग्रंथों पर कुछ टीकाओं तथा उनके कर्त्ताओं के नाम इस प्रकार हैं—बिहारी के पुत्र[२] 'कृष्ण कवि' की 'बिहारी सतसई' की टीका (सं० १७८५-१७९० के मध्य), सूरत मिश्र कृत 'अमरचंद्रिका' (सं० १७९४ बिहारीसतसई की टीका)। आपने' कविप्रिया-तिलक' नामसे केशव की 'कविप्रिया' के क्लिष्ट स्थलों की मार्मिक और स्पष्ट टीका की है। केशव की 'रसिकप्रिया' पर आपने 'रसगाहक-चंद्रिका' नाम से टीका की। रघुनाथ (सं०१७९६-१८०७) कृत "बिहारी सतसई' की टीका। काशी के बाबू देवकीनंदन के आश्रित 'ठाकुर कवि' (सं०१८००) की 'सतसैयावरणार्थ' नामक बिहारी सतसई की टीका; हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' तथा 'भाषाभूषण' की टीका। ये टीकाएँ लगभग सं० १८३४-३५ में बनीं। हरिचरणदास जाति के ब्राह्मण तथा कृष्णगढ़ (मारवाड़) के निवासी थे। ईसव खाँ की बिहारी सतसई की टीका; प्रतापसाहि कृत 'रसराज' की टीका (१८९६); याकूब खाँ (सं०१७७५) कृत 'रसिकप्रिया' की टीका; दलपतिराय तथा वंसीधर कृत 'अलंकार रत्नाकर' नामक 'भाषाभूषण' की टीका; ये सभी टीकाएँ ब्रजभाषा-गद्य में हैं। बिहारी सतसई पर कुछ टीकाएँ ऐसी हैं जो गद्य-पद्य दोनों में हैं। जैसे—राधाकृष्ण चौबे कृत बिहारी सतसई की टीका (सं०१७५०), अमरसिंह कायस्थ (सं०१८४५) की बिहारी सतसई की 'अमरचंद्रिका' नामक टीका।

सूरदास के दृष्टिकूट पदों की टीकाएँ भी यत्र-तत्र मिलती हैं। काशीस्थ-वल्लभ-संप्रदाय के गोस्वामी गिरधरलाल के शिष्य वालकृष्ण दास ने 'श्री सूरदास जी कृत कूट (सटीक)' लिखा, जिसमें एक सौ दृष्टि-कूट पदों की टीका है। यह सं० १८८५–१९०० के लगभग लिखा गया।[३]

संस्कृत ग्रंथों पर भी टीकाएँ लिखी गईं। श्री विट्ठलनाथ जी की 'नवरत्न' पर टीका मिलती है[४], जिसमें वल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांत हैं। जिन नंददास ने 'नासकेतु पुराण' का अनुवाद किया उन्होंने ही 'विज्ञा-नार्थ प्रकाशिका' नामक संस्कृत-ग्रंथ की ब्रजभाषा गद्य में टीका लिखी।

कुछ टीकाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें गद्य-पद्य दोनों का उपयोग किया गया है। जैसे—जमुना दास कृत 'गीत रघुनंदन' की टीका, जो रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा सं० १९०१ में लिखी गई। इसका नाम 'गीतरघुनंदन-प्रभाविका टीका' भी है। श्री नाभादास के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका पर टीका और दृष्टांत का नाम 'भक्ति-रस-बोधिनी टीका' है। यह लगभग सं० १८४४ में रची गई। इसमें प्रथम कविता में ग्रंथकर्त्ता का नाम 'अग्रनारायण दास' है और अंत में दृष्टांतकार का नाम "वैष्णव दास' है। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ का रचयिता कौन है। संभवतः टीकाकार अग्रनारायण दास हों और दृष्टांतकार वैष्णव दास।

इस विवरण से ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की गतिविधि का आभास मिल जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की वैसी स्पष्ट और अनवरत परंपरा नहीं चली जैसी आधुनिक काल में खड़ी बोली के गद्य की चल रही है। इसमें बहुत थोड़ी मौलिक रचनाएँ हुईं। जिन्हें हम अभी मौलिक रचनाओं के रूप में स्वीकार करते हैं, वे यथार्थ में मौलिक हैं अथवा अनूदित, अभी इसका निर्णय अनुसंधान-द्वारा नहीं हो पाया है। इसमें अनुवाद भी थोड़े ही हुए। यदि अनुवाद ही प्रभूत मात्रा में होते तो ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य का अच्छा रूप खड़ा हो सकता था। मौलिक और

१. दे० ग्वाल कृत आलोचना जैसे—"सूरत नें केसव की सूरत सुधार दी"।

२. ये बिहारी के पुत्र नहीं, भानजे (बहिन के पुत्र) माने जाते हैं।

३. श्री काशीराज के आश्रित सरदार कवि की टीका भी प्रसिद्ध है।

४. श्री आचार्य के 'नवरत्न' पर ही नहीं उनके प्रायः सभी षोडशादि ग्रंथों पर आपकी, संप्रदाय के अनेक आचार्यों तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों की 'ब्रजभाषा-गद्य' टीकाएँ हैं।

अनूदित रचनाओं में भी कुछ ऐसी हैं, जिनमें पद्य घुसा हुआ है। टीकाओं का भी यही हाल है। बहुत दिनों तक ब्रजभाषा का गद्य टीकाओं में उलझा वा लगा रहा, परंतु परिणाम कुछ नहीं हुआ।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के प्रभूत और अनवरत रूप से निर्मित न होने के कारणों की ओर निर्देश किया जा चुका है। उन कारणों का स्मरण कराते हुए हम यहाँ यह भी कहना चाहते हैं कि गद्य-साहित्य की अनवरत परंपरा प्रायः तभी देखी जाती है जब जनता किसी आंदोलन में सक्रिय रूप से हाथ बटाए—विशेषतः राजनीति में। ब्रजभाषा-काल में राजनीति जनता की नहीं थी, वह शाहंशाहों और छोटे-मोटे राजाओं के बीच चलने वाली राजनीति थी, जनता उसकी तटस्थ दर्शक मात्र थी। ब्रजभाषा-काल में यदा-कदा धार्मिक आंदोलन अवश्य चले, जिसमें जनता उभर नहीं पाती थी, अत्याचार उन्हें दबाए रहता था।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के क्रमिक विकास की रूपरेखा से परिचित होने के लिए उसके प्रमुख रचनाकारों और रचनाओं पर दृष्टि डालनी होगी। ब्रजभाषा-गद्य की प्रथम रचना संवत् १४००के आस-पास मिलती है। इसका नाम 'गोरखसार' है। कुछ लोग इसे गोरखनाथ की रचना मानते हैं, परंतु यह उनकी रचना नहीं है, प्रत्युत उनकी रचनाओं का अनुवाद प्रतीत होता है। संभव है 'गोरख-पंथ' के किसी व्यक्ति-द्वारा इसमें उपर्युक्त पंथ के सिद्धांत कहे गए हों। इस प्रकार यह मौलिक रचना भी हो सकती है। इसकी भाषा इस प्रकार की है—

"सो वह पुरुष संपूरन तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु संपूरन पृथ्वी ब्राह्मननि कों दै चुकौ, अरु सहस्त्र जग्य करि चुकौ, अरु देवता सर्ब पुंजि चुकौ, अरु पितरनि कों संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य कौ मन छिन-मात्र ब्रह्म कों बिचार बैठौ।'. . . 'पराधीन उपरांति बंधन नांहीं, सु आधीन उपरांति मुकति नांहीं, चाहि उपरांति पाप नांहीं, अचाहि उपरांइति पुनि नांहीं, क्रम उपरांति मल नांहीं, निहिक्रम उपरांइति निरमल नांहीं, दुष उपरांति कुबुधि नांहीं, निरदोष उपरांति सुबधि नांहीं, घोर उपरांईति मंत्र नांहीं, नारायण उपरांईति ईसर नांहीं, निरंजन उपरांईति ध्यान नांहीं।"

यह ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीन रूप है, जिसकी वाक्य-रचना तथा शब्द-रूप अवश्य अव्यवस्थित है, अन्यथा भाव स्पष्ट ही हो जाते हैं।

ब्रजभाषा गद्य के दूसरे लेखक श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी निर्धारित होते हैं। इनका जन्म सं० १५७२ और मृत्यु सं० १६४२ में हुई थी। इनका रचना-काल विक्रम की सत्रहवीं शती का आरंभ माना जा सकता है। इन्होंने 'शृंगाररस-मंडन' मौलिक, 'यमुनाष्टक' और 'नवरत्न' पर टीका लिखी है। प्रथम ग्रंथ में श्री राधाकृष्ण का विहार-वर्णन है। इससे एक उदाहरण देखें—

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरन बिषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबि कें इनके मंद हास्य कों जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुंज बिषै शृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनों सो पूर्ण होत भई।"

अंतिम ग्रंथ की भाषा इस प्रकार की है—

"तहाँ प्रथम श्री भगवान कलिजुग में अधर्म विशेष प्रवर्त्त भयौ देखि कें धर्म के स्थापिबे कों आप श्री कृष्ण रूप पूरण प्रगट होत भए, सो धर्म की स्थापना करि पीछें कलि के जीवन कों मोक्ष के अधिकार तें हीन देषि कें भक्तिमार्ग प्रगट करि जो वा समय भक्त हुते तिनकौ उद्धार करि पृथ्वी कौ भार उतार आप बैकुंठ कों पधारत भए।"

प्रथम उदाहरण की भाषा उलझी अवश्य है, परंतु द्वितीय की पूर्णव्यवस्थित और स्पष्ट है। इसे समर्थ ब्रज-भाषा के गद्य की श्रेणी में अवश्य रख सकते हैं।

गोसाईं विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ जी ब्रजभाषा-गद्य के प्रसिद्ध लेखक माने जाते हैं। इन्होंने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दोसौ बावन वैष्णवों की वार्ता' लिखी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि "ये वार्ताएँ उनके द्वारा नहीं, प्रत्युत उन्हीं की संप्रदाय के किसी दूसरे व्यक्ति-द्वारा लिखी गई जान पड़ती हैं।" प्रथम के विषय में उनका मत है कि "यह श्री गोकुलनाथ के किसी गुजराती शिष्य की लिखी हुई हो सकती है। कारण कि इसमें गोकुलनाथ जी द्वारा कही गई बातों का उल्लेख बड़े

आदर और संमान के साथ किया हुआ मिलता है।" द्वितीय के विषय में उनका मत है कि "वह औरंगजेब के समय में लिखी गई होगी। इन वार्ताओं को जीवन-संबंधी विवरण वा कथा के रूप में समझना चाहिये। इनकी भाषा सामान्य बोलचाल की भाषा है।"

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सन् ३२,३३,३४ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्टों में श्री गोकुल नाथद्वारा लिखे ये ग्रंथ भी मिले हैं—बनयात्रा, पुष्टिमार्ग के वचनामृत (लिपि-काल सं० १९०५), रहस्य-भावना (लिपिकाल सं० १९११), सर्वोत्तमस्तोत्र, सिद्धांतरहस्य और वल्लभाष्टक। ये सभी ग्रंथ गद्य में हैं और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धांत तथा भक्ति का वर्णन है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' की भाषा ऐसी है—

"बहुरि श्री आचार्य जी महाप्रभून नें श्री ठाकुर जी के पास यह माँग्यौ जो मेरे आगें दामोदरदास की देह न छूटै और श्री आचार्य जी महाप्रभू दामोदर दास सों कछू गोप्य न राखते और श्री आचार्य जी महाप्रभू श्री भागवत अर्हनिस देखते, कथा कहते और मार्ग कौ सिद्धांत, भगवत-लीला-रहस्य श्री आचार्य जी महाप्रभू आप दामोदर दास के हृदय में स्थापन कीयौ।"

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' की भाषा भी जनता में प्रचलित ऐसी ही बोलचाल की भाषा है। इस भाषा में इतनी शक्ति अवश्य है कि इसमें कथा कही जा सके।[1]

श्री विट्ठलनाथ और श्री गोकुलनाथ के समय के आस-पास ही श्री 'हरिराय जी' (वल्लभीय) हुए। इन्होंने भी ब्रजभाषा-गद्य में अनेक रचनाएँ कीं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सन् १९०९-१०,११ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्टों में इनके इन ग्रंथों का उल्लेख है—'श्री आचार्य महाप्रभून की 'द्वादस निज वार्ता', श्री आचार्य श्री महाप्रभून के सेवक 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', श्री आचार्य महा प्रभून की 'निज वार्ता' और 'घरू वार्ता'। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इनके इन ग्रंथों के अतिरिक्त ये ग्रंथ और उल्लिखित हैं—'ढोलामारु की वार्ता', 'भागवती के लक्षण', 'द्विदलात्मक स्वरूप विचार', 'गद्यार्थ भाषा', 'गुसाईं जी के स्वरूप के चिंतन कौ भाव', 'कृष्णावतार स्वरूप निर्णय', 'सातों स्वरूपन की भावना', 'वल्लभाचार्य जी के स्वरूप कौ चिंतन भाव', 'वर्षोत्सव', 'यमुना जी के नाम'। सभा की सन् १९३२,-३३,-३४, की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्टों में इनके-द्वारा लिखित इन गद्य-ग्रंथों का नाम भी है—'कृष्णप्रेमामृत, 'पुष्टिदृढ़ावन की वार्ता' 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा भेद', 'सेवाविधि', 'वर्षोत्सव की भावना' और 'भाव-भावना'। 'भाव-भावना' से एक उदाहरण देखिए—

"सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं सो सब स्वामिनी जी के भाव ते हैं। ताते मंगला-चरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरन-कमल कों नमस्कार करत हैं जिनकी उपमा देबे कों मन दसों दिसा दौरयौ। परंतु कहूं पायौ नाहीं।"

श्री गोकुलनाथ की रचनाओं में प्रयुक्त गद्य का-सा चलतापन इस गद्य में नहीं है, परंतु ब्रज-भाषापन का अंश अधिक अवश्य लक्षित होता है।

एक नंददास का उल्लेख ऊपर कई स्थलों पर आया है। इनका समय भी लगभग विक्रम की सतरहवीं शती का प्रथम चरण है, अर्थात् सं० १६१७-२० के आस-पास। इनके अनूदित ग्रंथ 'नासकेत पुरान भाषा' का गद्य इस प्रकार का है—

"अहो बिप्र नार्दराजा जन्मेजय नासकेतु पुरान ही कृतारथ होत भयौ है। और नासकेत पुरान' कैसौ है।। महा पवित्र है जैसें कोई प्रानी एकाग्र चित्त दैकरि सुणें-पढ़ै जो पारग्रामी होइ। जैसें राजा जनमेजय पार होत भयौ और सहस गऊ दिये कौ फल होइ।"

१. ब्रज में अब भी जो कथाकार—अर्थात् श्रीमद्भागवतादि की कथा बाचने वाले हैं, उनकी ब्रजभाषा इतनी परिमार्जित तथा मीठी है कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते हैं।

इस गद्य की भाषा में प्रश्नोत्तर वाली संस्कृत की गद्य-शैली विद्यमान है। भाषा में अधिक स्पष्टता नहीं है।

विक्रम की सतरहवीं शती के मध्य के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना नाभादास (सं०१६५७ के–लगभग तक विद्यमान थे) के 'अष्टयाम' में देखा जा सकता है, जो इस प्रकार है—

"तब श्री महाराज-कुमार प्रथम बसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू कों जुहार करि कें श्री महेंद्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

इस गद्य में संस्कृत का पुट विशेष है।

सं० १६६८ के आस-पास के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना 'बनारसीदास' कृत 'बनारसी-विलास' में मिलता है—

"सम्यग्दृष्टि कहा सो सुनों। संसय, बिमोह, बिभ्रम ए तीन भाव जामैं नाहीं सो सम्यग्दृष्टि। संसय, बिमोह, बिभ्रम, कहा ताकौ स्वरूप दृष्टांत करि दिखाइयतु है सो सुनों।"

इसमें भी संस्कृत की प्रश्नोत्तरवाली शैली का आभास मिलता है।

सं०१६७५-८४ के आसपास के ब्रजभाषा-गद्य का रूप वैकुंठमणि शुक्ल कृत 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' में देखा जा सकता है। द्वितीय ग्रंथ से एक उदाहरण देखिए—

"सब देवतन की कृपा तें बैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चंद्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जय रूप ग्रंथ बैसाख महातम भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा सों उठि कें सुमेर पर्वत कों गए।"

इसकी भाषा तथा वाक्य-रचना सुलझी हुई है। अस्पष्टता नहीं है।

इसका निर्देश हो चुका है कि विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य से टीकाओं की रचना का प्राधान्य लक्षित होता है, यद्यपि मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ भी इस समय के आस-पास के मिलते हैं। सं० १७५० में राधाकृष्ण चौबे ने 'बिहारी सतसई' की गद्य-पद्य मयी टीका लिखी, इसका एक उदाहरण देखें—

"यह मंगलाचरन है श्री राधा जू की स्तुती ग्रंथकर्ता कहै है। राधा नामनी और हू हैं यातें 'जा तन की झाँई परें स्याँम हरित-दुति होइ' या पद तें श्री ब्रषभाँन-सुता की प्रतीत भई।"

इस प्रकार की टीका में कोई मार्मिकता लक्षित नहीं होती। कवि की बात को ही टेढ़े-सीधे ढंग से कह दिया गया है।

सं० १७५६ में भगवान दास ने श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद "भाषांमृत' नाम से किया। यह अनुवाद रामानुचार्य के भाष्य के आधार पर है। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

"अरु गीता भाष्य का अर्थ के बिषै बहुत रुचि हे। शरण मात्र हे तिनकूं समझ वे कूं श्री गीताभाष्य। श्री रामानुजाचार्य जी प्रगट करि हे। ताकौ अर्थ रूपी जो अंमृत भगवानदास नाम श्रीवैष्णवन कौ दासानुदास भाषा बिस्तार करचौ है।'

इसकी भाषा सामान्य है। 'है' को 'हे' के रूप में रखा गया है।

सं० १७६१ में आनंदराम ने भी श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद किया। इसमें पद्य भी हैं। यह अनुवाद उज्जैन में लिखा गया था। उदाहरण—

"हे अर्जुन, जो अनन्य चित्त ह्वै कें सदाँ मेरौ सुमिरन करै सो पुरुष नित्य ही जोगजुक्त है, एकाग्रचित्त है, ताते वह मोकों सुष ही ते पावें अरु और पुरुष कोऊ पावै नांहीं।"

इसकी भाषा में संस्कृत का पुट है। भाषा समर्थ जान पड़ती है।

सं० १७७६ में किसी ने फारसी में अनूदित कई उपनिषदों का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद 'उपनिषद्-भाष्य' नाम से किया। फारसी का अनुवाद शाहजहाँ द्वारा सं० १७१२ में करवाया गया था। इसका उदाहरण इस प्रकार का है—

"आत्मा कों केवल ज्ञान ही के मार्ग प्रापत हूज्यत है, काम जो कर्णे के जोग्य है सो यही है। अरु यह मारग ही ब्रह्म है अरु यही सत है। या मार्ग ज्ञान कैसों अज्ञात न चाह्य ।। भाषा ।। अरु या मार्ग कों त्याग कर अवर मार्ग कौ अंगीकार न चाह्यौ की या पुरातन रिषीस्रो ने याही मार्ग का अंगीकार किया हूं।"

इसकी भाषा खिचड़ी और अव्यवस्थित है। भाव स्पष्ट नहीं होते हैं।

विक्रम की अठारहवीं शती के अंतिम चरण के आस-पास ही मीनराज प्रधान ने (१) 'हरतालिका की कथा', किसी ने (२) 'भगवदगीता भाषा' और एक ने (३) 'श्री कृष्ण जी की लीला' लिखी। तीनों के उदाहरण देखें—

(१) श्री गणेशायनमः। अथ हरतालिका कथा लिष्यते। कैसौ है यह व्रत जा व्रत के करे ते अस्त्री भागवती होती है। सु यह व्रत महादेव के गन इंद्रानी आदि दै ते रहत हैं। सो कथा कहत हैं।। एक समऐं विषैं श्री महादेव जू अरु श्री पार्वती जू कैलास पर्वत पर बैठे हते। अरु मंदार की माला श्री पार्वती जू पहिरै हतीं।

(२) श्री राजा धृतराष्ट संजे प्रत पूछत है हमारे पुत्र और पंडव के पुत्र कुरुषेत भिषे मिले हैं हमारे पुत्र और पंडू के पुत्र कहा करत भए सो तुम हम सों कहौ।

(३) श्री राधा जी अपनी सषियन में आई। अर अपनी अपनी मटुकियाँ सिर पर धरी। अर सब सषियन सहित घर कूं चली। तब पैंडा बीच मुषरा मिली। तब मुषरा सब सहेली समेत श्री राधा जी की बाँह गहि कें घर कूं लै चली। इहाँ आनि अबनी कों भोजन करायौ।

अंतिम उद्धरण की भाषा सामान्य है और दोनों की तो बहुत ही अव्यवस्थित है। सूरत मिश्र ने भी अनुवाद और टीकाएँ इसी समय कीं। इनके ब्रजभाषा-गद्य का नमूना देखिए—

"कमल नयन कमल से हैं नैन जिनके, कमलदल बरँन कमलदल कहिऐ मेघ कौ स्याँम स्वरूप है कमलनाभि श्री कृष्ण कौ नाम ही है, कमल जिनकी नाभि तैं उपज्यौ है कमलय कमला लक्ष्मी ताके पति हैं तिनके चरन कमल समेत गुन कौ जाप क्यों हूं मेरे मन में रहौ।"

यह उद्धरण 'रसिकप्रिया' की टीका 'रसगाहक-चंद्रिका' से लिया गया है। इसकी शैली में पंडिताऊपन है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती में भी ब्रजभाषा-गद्य की रचनाएँ होती रहीं। सं० १८२३ के आस-पास मनोहरदास निरंजनी द्वारा गद्य-पद्य में अनूदित 'षटदर्शनी-निर्णय' नाम का ग्रंथ मिलता है। यह वेदांत विषयक है। इसकी भाषा इस प्रकार की है—

"ग्रंथकरता गुरु कूं भी इष्ट देवता सु अभेद करिकें ग्रंथ की बिधनता दूरि करिबे के हेत बहुरि निमसकार करत है।"

इस भाषा में इतनी शक्ति अवश्य लक्षित होती है जिसके द्वारा भाव वा विचार स्पष्टतः अभिव्यक्त किए जा सकें।

सं० १८२५ के लगभग किसी ने 'हितोपदेश-भाषा सटीक' लिखा है। यह भी अनुवाद ही है। इसकी शैली में भी पंडिताऊपन है।

इसी समय के लगभग वैष्णवदास ने गद्य-पद्य में 'भक्तमाल-प्रसंग' लिखा, जिसकी भाषा इस प्रकार है—

"तब श्री कृष्ण ने अघोर बंसी बजाई। ब्रजगोपिकिनि सुनी राधिका, ललिता, बिसाषादि गोपीं आँईं। रासमंडल रच्यौ रागरंग, नृत्यगान, आलाप, आलिंगन, संभासन भयौ। उहाँहि सर में जल क्रीड़ा स्नान गोपी कुच-कुंकुम-केसर छुटयौ सो गोपीचंदन भयौ, गोपी तलाई भई, बृज प्राप्ति।"

इस भाषा में साहित्यकता का कुछ रूप दृष्टिगत होता है।

सं० १८३३ के आस-पास किसी ने 'पुष्टिदृढ़ाव-भाषा' लिखी। उदाहरण—

"और जो माटी ही कौ पात्र होइ और जो उत्तमोत्तम सामग्री सों भर्यौ होइ सो लीजिए तो सुख होइ तातें भीतर ही कौ गुन देखकें संगत करनी। गुन देखे बिना संगत करै तौ दुख पावै यह सिद्धांत पूर्ण भयौ।"

इसकी भाषा में ब्रज तथा खड़ी बोली की खिचड़ी है।

सं०१८३५ के आस-पास व्यास ने 'शकुन विचार' विषयक एक ग्रंथ लिखा। इसकी भाषा इस प्रकार की है —

"सुन भो पृछक तोहि सत्रुन कौ आधीन एक वा.... हाइगौ। पै जो मन चाहि है सो तेरौ कार्ज होयगौ।"

यह बोलचाल की सामान्य भाषा है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती के अंतिम भाग के आस-पास के ब्रजभाषा-गद्य के नमूने भी देख लें। सं० १८९६ में प्रतापसाहि-द्वारा लिखी गई 'रसराज' की टीका के गद्य का रूप ऐसा है—

"कवि मतिराम कहै कै मैंनें जो रसराज ग्रंथ कियौ सो जे रसिक रस के जाननवारे सज्जन अरु कविन के समाज तें सुनि समुझि कैं सब रीझि हैं।"

गद्य का यह रूप स्पष्ट है।

सं० १८९७ में नवलसिंह ने 'महाभारत वार्तिका' लिखी। इसके गद्य का उदाहरण भी देखें—

"पुन भविष्य प्रादुर्भाव में पुष्कर छेत्र की उतपति कौ बर्नन है ताके स्नान, दान, हवन की महिमा है, सत सहश्र संहिता भारत व्यास जी के वोष्ठ् पुठन तें निकसौ है, पुन्य कौ बढ़ावन वारौ महा पवित्र है, पापन कौ हर्त्ता है।"

गद्य का यह रूप कथा कहने में समर्थ है।

इसी समय के आस-पास बालकृष्णदास-द्वारा लिखा गया 'श्री सूरदास जी के दृष्टि-कूट (सटीक)' की भाषामें विचार के कथन का तारतम्य स्पष्ट नहीं हैं, उलझा हुआ है।

कालक्रमानुसार ब्रजभाषा गद्य के कुछ नमूने संमुख उपस्थित हैं। इससे स्पष्ट है कि विक्रम की चौदहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं के अंत वा बीसवीं के आदि तक ब्रजभाषा-गद्य का कुछ न कुछ रूप दृष्टिगत होता है। आधुनिक काल के 'भारतेंदु युग' में खड़ी बोली सशक्त होकर खड़ी हुई। इस खड़ी बोली में भी ब्रजभाषा-गद्य के किन्हीं रूपों का दर्शन होता है। लल्लू जी लाल आदि की भाषा 'ब्रज-रंजित' है। इसे हम भली भाँति जानते हैं। भारतेंदु युग के गद्य लेखकों की भाषा में भी ब्रजभाषा की रंजना प्रायः दिखाई पड़ती है। ऐसा हुआ क्यों? क्या ब्रजभाषा के गद्य का प्रभाव खड़ी बोली के गद्य पर पड़ा? बात ऐसी तो नहीं कही जा सकती। कारण कि उस समय ब्रजभाषा-गद्य का बोलबाला न था कि वह खड़ीबोली के गद्य को छोप रखकर उसे प्रभावित करती। ब्रजभाषा-गद्य की तूती तो कभी नहीं बोली। खड़ी बोली के गद्य के ब्रज-रंजित होने का स्पष्ट कारण यह है कि जिस समय खड़ी बोली गद्य का आरंभ हुआ उस समय ब्रजभाषा-पद्य का प्राधान्य था। काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी। अतः खड़ी बोली के गद्य पर उस समय काव्य-भाषा का कुछ न कुछ पुट होना स्वाभाविक था। खड़ी बोली के गद्य के आरंभ से तात्पर्य है जब से खड़ी बोली में गद्य लिखने की अनवरत परंपरा का श्री गणेश हुआ। अभिप्राय यह कि खड़ी बोली के गद्य पर भी ब्रजभाषा का कुछ प्रभाव कुछ समय तक था, परंतु यह प्रभाव क्रिया आदि के रूपों तक ही सीमित था।

ब्रजभाषा के गद्य का विकास नहीं हुआ। वह भाव तथा विचार की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त तो होता रहा, परंतु प्रयोग में आते-आते मँजा नहीं। ब्रजभाषा के गद्य में वह शक्ति नहीं आई जो शक्ति सूर, बिहारी, घनानंद, रसखान आदि की पद्य-रूप ब्रजभाषा में स्थित है, अर्थात् ब्रजभाषा के काव्य की भाषा मँजी, परंतु उसके गद्य-साहित्य की भाषा नहीं मँजी। इसका कारण ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य की कुछ समय तक अनवरत परंपरा का न चलना ही है। वह छुटपुट रूप से व्यवहृत होती

रही। यदि अनवरत रूप से कुछ काल तक इसमें प्रभूत साहित्य बनता तो निश्चय ही ब्रजभाषा के गद्य में माँज आती—ओप आती। कहना यह है कि ब्रजभाषा के काव्य की भाषा में जो साहित्यकता, जो शक्ति, जो सामर्थ्य का संनिवेश हुआ वह ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की भाषा में नहीं संनिहित हो सका। वह इतनी सशक्त नहीं हो सकी कि भाव तथा विचारों का वहन भली भाँति कर सके। उसकी अक्षमता के कारण उसमें व्यक्त भाव तथा विचार प्रायः उलझे से रहे। ऐसा होने का भी कारण था, जिसका निर्देश हो चुका है। अतः ब्रजभाषा के गद्य-साहित्यकारों को कोसा नहीं जा सकता।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के दर्शन की ओर अभी हमारी दृष्टि लगी भी नहीं है। इसके अनुसंधान की ओर अभी हम भली भाँति प्रवृत्त भी नहीं हुए हैं। संभव है इसका साहित्य अभी पूर्णतः हमारे संमुख न आया हो, वह अनुसंधानित ही हो। यदि इसका संपूर्ण साहित्य संमुख आ जाय तो संभव है कि इसमें सशक्त और साहित्यक ब्रजभाषा के गद्य का भी दर्शन हो जाय। इस कार्य में हम कब से प्रवृत्त हों, इसका निर्णय कर लें।[१]

१. लेखक का अभिमत है कि 'ब्रजभाषा' के 'गद्य-साहित्य' का विकास और परिवर्द्धन संस्कृत के अनुदित ग्रंथों से हुआ और ब्रज से संबंधित संप्रदायों ने इसे काफी आगे बढ़ाया। इन संप्रदायों ने समय-समय पर अपने आचार्यवर्गों तथा सेवकों द्वारा अपनी-अपनी संप्रदायों के संस्कृत के अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथों के अनुवाद ही नहीं, मौलिक ग्रंथ भी रचे। इन ग्रंथ-रत्नों से ब्रज-भारती का गद्य-अंग भी उसके पद्य-अंग की भाँति चमकने लगा। वेद, उपनिषद् और पुराणों के अनुवादों ने तो इसमें चार-चाँद लगाये ही, इन सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथोंने भी इसे बहुत कुछ पूर्ण बना दिया, किंतु समय के प्रवाह ने इसे भी झकझोर डाला। फलस्वरूप ब्रजभाषा-गद्य के अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ साहित्येतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर अपने नामों की छाप छोड़ कर छिप गये—आँखों से ओझल हो गये। जो कुछ बचे, वे आकाश की हीरक-हारावलि की भाँति यदा-कदा भारत के पुस्तकालयों तथा जनता-जनार्दन के घरों में चमक जाते हैं। अस्तु, ब्रजभाषा के इन चमकने वाले गद्य-ग्रंथों में 'श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य-द्वारा स्थापित 'पुष्टि (शुद्धाद्वैत) संप्रदाय के ग्रंथों की ही अधिकता है। ये गद्य-ग्रंथ जो नयी खोज से प्राप्त हुए हैं, निम्न प्रकार हैं—

"श्रीवल्लभाचार्य कृत—चौरासी अपराध। श्री गोपीनाथ (श्री वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र) जी कृत—स्फुट वार्ता। श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी कृत—कोसी (ब्रज) की वार्ता तथा स्फुट वार्ताएँ। श्री गोकुलनाथ जी कृत—चौरासी वैष्णवन की तथा दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ, श्री गुसाँई जी और दामोदर दास कौ संवाद, स्फुट बचनांमृत, श्रीवर वाक्यांमृत रस-रत्न-कोष, बनयात्रा, खट्रितु की वार्ता, भावना वचनांमृत, उत्सव-भावना, नित्य सेवाप्रकार, श्री जी के स्वरूप की भावना, श्रीवल्लभाचार्य की चौरासी बैठकँन के चरित्र, अट्ठाईस बैठकँन के चरित्र, श्री गिरिधर जी की बैठकँन के चरित्र, रहस्य भावना, घरू-वार्त्ता, चरण-चिन्ह भावना, भाव-सिंधु श्री हरिराय जी कृत—द्वादश निकुंज की भावना, चौसठ अपराध वर्णन, निजवार्ता, सात स्वरूपन की भावना, श्री महाप्रभु और श्री गुसाँई जी के स्वरूप कौ बिचार, श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रागटय-वार्ता, चौरासी वैष्णव तथा दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता पर 'भावना' (टीका), श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रागटय-वार्ता पर भावना, निजवार्ता तथा घरूवार्ता की भावनाएँ, चरण-चिन्ह की भावना (द्वितीय), सात स्वरूपन की भावना (द्वितीय), बसंत-होरी, छप्पन-भोग,-छाक,-बीड़ी,-सेवा-नित्यलीला,- उत्सव,-बनयात्रा,—श्री नाथ द्वारा,-नवग्रह,-सातों बालकन के स्वरूप की भावनाएँ, श्री नाथ जी के चरण-चिन्ह वर्णन, भावना त्रय (मूल लीला), समर्पण-गद्यार्थ, रास-प्रसंग, श्री गोकुलनाथ जी की बैठकँन के चरित्र, चौरासी भाषा-शिक्षा के पत्र, जप-प्रकार, ग्रंथात्मक भगवत्स्वरूप, निरूपण, दस मर्म, मार्ग-स्वरूप सिद्धांत, पुष्टिदृढाव, श्री स्वामिनी जी के चरण चिन्हों की भावना, द्विदलात्मक स्वरूप विचार, समर्पण गद्यार्थ (द्वितीय) और स्फुट बचनामृत।

श्री गिरिधरलाल जी कृत—शरण मंत्र-गद्यार्थ तथा उत्सव-मालिका। श्री गोपेश्वर जी कृत—श्री हरिराय जी के 'शिक्षा पत्र' की टीका। श्री काका वल्लभ जी कृत—बावन बचनांमृत। श्री यदुनाथ जी कृत—श्रीमुख की वार्ता। श्री ब्रजभूषण जी कृत—नित्य-विनोद, नीति-विनोद, श्री महाप्रभु तथा श्री गुसाँई जी के चरित्र, श्री द्वारिकाधीश जी की प्रागटच-वार्ता। श्री ब्रजराय जी कृत—नित्यसेवा-विधि। श्री द्वारिकेश जी कृत—श्री आचार्य महाप्रभुन कौ जन्म-प्रकरण। श्री द्वारिकेश जी (द्वितीय) कृत—श्री श्री नाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना, धनुर्मास की भावना, उत्सव भावना, भाव-संग्रह तथा श्री यमुना नाम की टीका। श्री द्वारिकेश जी (गुल्लु जी) कृत—सप्त स्वरूपोत्सव वार्ता। श्री गोपिकालंकार (मट्टू) जी कृत—श्री नाथ जी की सेवा-विधि। श्री ब्रजाभरण जी कृत—वल्लभाख्यान (गोपाल दास कृत) की टीका। श्री पुरुषोत्तम जी कृत—तृतीय घर की सेवा-विधि। श्री गिरिधर लाल जी कृत—एक सौ बीस बचनांमृत। श्री गिरिधर लाल जी (द्वितीय) कृत—सज्ञान पट कौ ख्याल। श्री रमण लाल जी कृत—सेव्य-स्वरूपन की वार्त्ता, तथा प्रकीर्ण उपदेश। श्री बालकृष्ण लाल जी कृत—श्री द्वारिकाधीश जी की प्रागटच वार्ता, श्री वल्लभाचार्य जी कौ जीवन-चरित्र, तथा पौराणिक प्रकीर्ण-रचना। श्री गोकुलाधीश जी कृत—पच्चीस बचनांमृत तथा श्री गोवर्धन लाल जी कृत—बयालीस बचनांमृत" विशेष उल्लेखनीय "। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गद्य-ग्रंथ भी मिले हैं, जो इस प्रकार हैं—"श्री हितहरिवंश जी कृत 'राधासुधा-निधि' की टीका, टीकाकार अज्ञात हैं। श्रीहित-चौरासी की 'टीका'—प्रेमदास कृत। 'व्यवहार पाद' अर्थात् याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्यवहार-पाद की टीका प्रियादास कृत। संस्कृत की 'तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' की टीका, टीकाकार अज्ञात। उत्तर पुराण-भाषा खुस्याल दास कृत। पुण्याश्रव-कथा-कोष-भाषा दौलतराय कृत। कविता-कल्पतरु सागर कवि कृत।"

—ज० च०

ब्रजभाषा के नाटक

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

जिस युग में ब्रजभाषा का बोलवाला था, वह युग आधुनिक युग से ठीक पूर्व से चल कर हिंदी के जन्म-समय तक फैला हुआ है, किंतु इतने दीर्घकाल में भारत की सांस्कृतिक स्थित अत्यंत क्षुब्ध रही। यही कारण है कि 'नाटक' जैसी उपयोगी सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्ति का इस दीर्घ युग में यथार्थतया एकांत-अभाव रहा। ऐसी रचनाएँ तो मिलती है, जिनको नाटक नाम दिया गया है, इतिहासकारों ने ऐसी रचनाओं में 'निवाज' कृत—'शकुंतला नाटक, 'हृदयराम', 'मनजू' तथा 'राम' कवि कृत—'हनुमन्नाटक', ब्रजवासीदास तथा महाराज विश्वनाथ सिंह कृत— 'आनंद रघुनंदन नाटक', गणेश कवि कृत—'प्रद्युम्न नाटक', इच्छादास कृत—'गंगा नाटक, जसवंतसिंह (जोधपुर), ब्रजवासी दास और आनंद कवि कृत—'प्रबोधचंद्रोदय नाटक', रघुराम नागर कृत—'सभासार नाटक', बनारसीदास कृत—'समयसार नाटक', कीर्त्तिकेशव कृत—'सखी-समाज नाटक', प्राण चौहान कृत—'रामायण महा नाटक', मेघनाथ कृत—'यशवर्णन नाटक', देव कवि कृत—'देव-माया प्रपंच नाटक' और प्रभावती नाटक इत्यादि का उल्लेख मिलता है, पर इनमें से अधिक इस लिए नाटक–नाम से अभिहित किए जाते हैं कि वे संस्कृत के उसी नाम के नाटकों के अनुवाद हैं, जिनको इस नये रूप में ब्रजभाषा के प्रबंध-काव्यों के अंतर्गत ही संमिलित किया जा सकता है[1]।

देव कवि कृत 'देवमाया-प्रपंच नाटक अवश्य ही किसी संस्कृत नाटक अनुवाद तो नहीं, पर 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक की शैली पर लिखा हुआ है, इसीलिए देव ने उसे नाटक-नाम दिया प्रतीत होता है। इसके संबंध में मिश्र-बंधुओं ने लिखा है—

> **"यह नाटक नहीं है, यद्यपि नाटकों की भाँति इसमें नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्ध नाटक-सा कह सकते हैं। इसमें छह अंक हैं। आदि...."**
>
> —दे० हिंदी नवरत्न पृ० २९८,

प्रभावती आदि शेष नाटकों को कुछ-कुछ नाटक का रूप ग्रहण करते देखते हैं, यथार्थ नाटकीयता इनमें नहीं है, पर कुछ-कुछ रूप में नाटकीय शैली का प्रयोग इनमें हुआ है। नाटकों का यथार्थ आरंभ तो आधुनिक युग के जन्मदाता श्री भारतेंदु हरिश्चंद्र से हुआ। भारतेंदु जी ने अपनी पुस्तक 'नाटक' में लिखा है कि हिंदी का सबसे पहला नाटक उन्हीं के पिता श्री 'गोपालचंद्र जी' का लिखा 'नहुष-नाटक' था। गोपालचंद्र जी का कवि नाम—'गिरिधरदास' अथवा 'गिरिधर' या गिरिधरन' था। यह हिंदी का प्रथम नाटक ब्रजभाषा में लिखा गया है। कहते हैं कि श्री भारतेंदु जी ने भी प्रथम 'चंद्रावली

१. ब्रजभाषा में इनके अतिरिक्त और भी नाटक मिलते हैं, जैसे—गोविंदसिंह कृत—'चंडी चरित्र', सोमनाथ कृत—'माधव विनोद', लच्छीराम कृत—करुणाभरण नाटक, परमानंद कृत—'हनुमन्नाटक दीपिका (हनुमन्नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद), हरीराम कृत—'जानकीराम-चरित नाटक', अक्षवरप्रशाद शाही कृत—'पुरुश्री नाटक', गौरीशंकर (सुधाकर) कृत—"विश्वविलास नाटक', केदारनाथ कृत—'प्रहलादचरित्र नाटक', भक्तराम (जैपुर) कृत—'मिथ्यत्त्व-खंडन नाटक' और शिवनाथ कृत—'रोशन नाटक।

नाटिका' ब्रजभाषा में ही लिखी थी, जो आज नहीं मिलती है और उसका अभिनव रूप ब्रजभाषा और खड़ी बोली में ही मिलता है[1]।

गिरिधरदास जी के 'नहुष-नाटक' का केवल एक अंक मिलता है[2]। यह प्रथम अंक 'कवि वचन सुधा' के प्रथम वर्ष के अंक में छपा था। इसका रचना-काल जब भारतेंदु जी नव वर्ष के थे, अर्थात् सन् १८४१ ई० कहा जाता है। अस्तु, नहुष-नाटक ब्रजभाषा का ही नहीं हिंदी का भी प्रथम प्रख्यात नाटक का रूप प्रस्तुत करने के लिए उसका प्राप्त कुछ अंश यहाँ प्रकाश किया जा रहा है।

॥ श्रीः ॥

नहुष-नाटक

"महाकवि 'गिरिधरदास' उपनाम—बाबू गोपालचंद्र कृत"

प्रस्तावना

(दोहा)

नागर नट पटपीत-धर, जिमि घन बिज्जु-बिलास ।
भव-आतप कौं भय हरत, होत सुखी सब दास ॥

(मंगलाचरणांतर नांदी—कवित्त)

मेचक बरन बर, जीवन निवास थर, बकुलनि की लसत सुंदर परम दाँम ।
सहित पर भंजन की गति धरें अंबर बिराजै, प्रगटावै तिय-तन काँम ॥
हिय हरखित महा सारँग धनुष धरें, बरसत सर पर पूरें जन अभिराँम ।
'गिरधरदास' देखि नीलकंठ नृत्य करें, ऐसौ बसौ आइ मेरे मन कोऊ घनस्याँम ॥

(अपिच—सवैया)

नित गावत सेस, महेस, सुरेस से, पावत बांछित भृत्य औ भृत्या ।
स्तुति कीरति बिस्तुत जासु महा, जग-पातक बृंदनि पातक कृत्या ॥
भव तारन कों 'गिरधारन' जा मधि, आपुने सों अधिकी धरी सत्या ।
वर आँनद-धाँम मुदाँम गुनाकर,-स्याँम कौ नाँम हतै सब हत्या ॥

(नांद्यंते सूत्रधारः)

सूत्र०—सब कोऊ मौन ह्वै हमारी बात सुनों । बिबिध बिबुध बृंदारक बृंद-बंदित, बृंदाबन-बल्लभ, ब्रजबनिता-बनजवनी बिभाकर, बंसीधर बिधु-बदन-चकोर चारु चतुर चूरामनि चरचित चरन परमहंस प्रसंसित मायाबाद-बिध्वंसकर श्रीमद् बल्लभचार्य बंस अवतंस श्री गिरिधर जी महाराजधिराज नें मोकों आज्ञा दींनी हैं, सो में 'गिरिधरदास' कृत 'नहुष-नाटक' आरंभ करों हों ।

(तब आगें बढ़ि हाथ जोरि कें . . . .)

इहाँ सब सुभ सभ्य सभाध्यच्छ अपने-अपने पच्छन के रच्छन में परम बिचच्छन दच्छ हैं, इनके समच्छ इह ढिठाई है, तथापि कृपा करि सब सुनों ।

(छप्पय)

जदपि मात-पितु भ्रात, बिग्य गुन-गन अधिकाई ।
तदपि तोतरे बोल, सुनत सिसु के मन लाई ॥

१. भारतेंदु जी के बाद 'गोप कवि' ने जो भारतेंदु जी के अभिन्न मित्र थे, इसका अनुवाद ब्रजभाषा में किया था वह भी आज नहीं मिलता ।

२. सुनते हैं 'नहुष-नाटक' संपूर्ण काँकरौली (मेवाड़) के 'सरस्वती-भंडार' में सुरक्षित है ।

जदपि प्रकासक आप, सूर जग और न दूजा ।
तदपि भक्त जो दीप देति, तिहि मानत पूजा ।।
तिमि जदपि सबै पंडित सुघर, गुन बिन कोउ न लेखिऐ ।
यह तदपि हमारी नाटच-बिधि, चित दैकें अब देखिऐ ।।
(तब पारिपाश्र्वक)

(भाव) अहो, तुम्हारी बात सों मेरे गात में आनंद नाहिं समात है। तासों कोंन श्री गिरिधर जी महाराज हैं सो बतावौ।

सूत्रधार (सानंद)—

अहो, तुमनें नाहिं जाने। (तब सामुहें देखि कें) वे सिंहासन पै सूरज समान तेजमान, चंद-समान सीतल सुभाव, मंगल समान मंगल नाम, बुध-समान बुध, गुरु-समान गुरु, कवि-समान कवि, सप्तम ग्रह सों रहित बिराजें हैं।

(छप्पय)

स्तुति-उद्धारक मीन, कमठ निरजर कुल जयकर ।
महि-उद्धरँन बराह, भक्त भय-हर नर-नाहर ।।
असुर मोह कर बटुक, दुष्ट-मद-हरन परसु-धर ।
धरम धीर रघुबीर, सीर-धर ब्रज-जन प्रियबर ।।
बुध सदाँ अहिंसा रति धरन, कलकी कलि-कलमस-हरँन ।
गिरधर-सम दस बपु धर प्रगट, 'गिरधरलाल' कृपा-करँन ।।

पारिपाश्र्वक—तुमने जैसें कृपा करि श्रीमहाराजाधिराज कौ दरस करायौ, तैसें अब कृपा करि नाटक हू दिखानों चाहिऐ।

(सवैया)

थावर, जंगम सृष्टि रची बिधि, न्यारी करी सबहीन की रीतें।
तामें सिरोमनि मानव कौ तन, देवहू गावत जा गुन-गीतें ।।
बिद्या बनी सिगरी इहि हेत, बिचारिकें जा सुख-सार प्रतीतें।
सोई घरी अहै कंचन की धन, जो रस की चरचा-मधि बीतें ।।

सूत्रधार—घर सों सुघर घरनी कों बुलाइ कें यामें प्रबृत्त होंउ हों। (यै कहि नेपथ्य की ओर देखिकें कह्यौ) अरी, यहाँ आउ....

(तब प्रविसि कें नटी कही ....)

आर्यपुत्र, कहा आग्या....।

सूत्रधार—(दोहा)

जा बिधि राजा नहुष नें, कियौ स्वर्ग कौ राज ।
सो नाटक चाँहत करन, हुकम कियौ महाराज ।।

नटी—जो आज्ञा।

सूत्रधार—सो तू सावधान ह्वै कें कारज कों साधि।

(इतने में नेपथ्य में....)

अरे सैलूषाधम,—

(सवैया)

जथा स्तुति में बरन्यों बिसतार, तथा हयमेध करे सतबार।
हजारन पुन्न कै पाप दहे, 'गिरिधारँन' पूँजे अनेक प्रकार ।।

मिलै तब आसन इंद्र कौ स्वर्ग में, आइ करें सुर बृंद जुहार।
कहँ तिहिं बैठिहै मानव छुद्र, अरे नट पापी, गँवार-लबार ।।

सूत्रधार (करन दैकें)—

(सवैया)

गौर सरीर अबीर से लोचन, मस्तक में कसमीर बनाएँ।
सीस किरीट मफीस लसै, बिबि कुंडल काँनन रत्न जराएँ ।।
श्री 'गिरिधारन' के बल सों, बधि बृत्तासुरै सब देत नसाएँ।
मो बतियाँ सुनि कोप भरो, सुर-नायक आवत बज्र उठाएँ ।।

(दोहा)

यह हम सों सब बिधि बड़ौ, निरजर कुल कौ छत्र।
अब इत रहिनों उचित नहिं, तासों चलु अन्यत्र ।।

(यै कहि दोऊ निकरे)

इति प्रस्तावना

प्रथम अंक

स्थान—राजभवन

(तब प्रविस्यौ इंद्र)

अरे सैलूषाधम, (यह कहत फिरन लाग्यौ) इतने में नेपथ्य में....

(सवैया)

देखहु तौ बिपरीतता काल की, जो करतार हू अग्यता ठाँनें।
ऊँचौ सिंघासन देइ अघी कहँ, धर्म-धरै तिहिं दारिद-साँनें ।।
माया बली 'गिरिधारँन' की, जिहि नैंन सहस्रँन सों पैहचाँनें।
काटि कें ब्राह्मन-मस्तक कों, यह आपुने कों धरमातमाँ माँनें ।।

इंद्र (सभय करन—काँन दैकें)—

(कवित्त)

भलौ हू करत हाइ बिपति परत सीस, यह बिपरीति रीति बिधि की कुचाली-सी।
लोक-सोक हरचौ हरि असुर कौ आसु तऊ, कढ़ी ब्रह्म-हत्या दीह साँस लेत ब्याली-सी ।।
मेरे जाँन मेरी जाँन लेंन पाछें आवति है, सूल लिएँ कोप भरी प्रलै-कपाली-सी।
कुमति, कलंकिनि, कुचालिनि, कुचैल, कूर, काल-सी कराल, कालरात की-सी, काली-सी ।।

(यह कहि चल्यौ, तब इंद्र आभूगत)

(दोहा)

एक बार मारचौ गुरु-हिं, तब बिधि मारचौ ताप।
अब दूजी हत्या लगी, हा, किमि जै है पाप ।।

(यह कहि निकस्यौ, तब प्रविसी ब्रह्म-हत्या)

ब्रह्म-हत्या—अरे, निज मुख निज प्रसंसक नृसंस, ब्राह्मन-बध करनवारे, कहाँ भाग्यौ जाय है।

(यै कहि खलित नृत्य कियौ, फेरि निकरी)

(तब प्रबिसे जयंत, कार्त्तिकेय)

जयंत—(सवैया)

मैं जननी घर बैठौ हुतो, तित दूत नें आइ हबाल उचारचौ।
नरमदा-तीर भयौ अति संगर, काल नें दानव देव सँघारचौ ।।

श्री 'गिरिधारँन' के परताप सौं, बासब बृत्र कौ प्रान निकारचौ ।
जानत ता कहँ आप अहो, सो कहौ किमि तात महारिपु-मारचौ ।।

कार्तिकेय (साचरज)—दोहा

सुरपति-सुर यह बचन सुनि, अचरज मोहि बिसाल ।
कहा न तुम रँन में रहे, जो पूंछत हौ हाल ।।

जयंत—(सवैया)

जा दिन सौं अरि के भै भागि कें, त्याग कियौ घर मेरे पिता नें ।
ता दिन सौं जननी नें तज्यौ सब, धारे हिएँ 'गिरिधारँन'-ध्यानें ।।
सेवन तासु लियौ हम प्रीति सौं, सामा प्रसून-फलादिक आँनें ।
संगर में नहिं संग रहे, कछु तासौं न ता के हवालहिं जाँनें ।।

कार्त्तिकेय—जब बृत्रासुर के भय सौं सुर सब भागे, तब छीरनिधि के निकट जाइकें यह कहँन लागे ।

(छप्पय)

जै रमेस, परमेस, सेस, साँई सुरेस हरि ।
जै अनंत, भगवंत, संत बंदित दानव-अरि ।।
जै दयाल, गोपाल, लाल प्रतिपाल दयाकर ।
जै अनन्य गति धन्य, धरमधुर पंचजन्य-धर ।।
बृंदारक बृंद अनंदकर, कृपाकंद भव-फंद-हर ।
हरिबंद्य मनोहर रूप धर, जै मुकुंद दुख-दंद दर ।।

जयंत (सानंद)—तब कहा भयौ ।

कार्त्तिकेय,—जब देवताँन नें ऐसी बीनती करी, तब आकासबाँनी भई ।

(दोहा)

सब सुर जाहु दधीच पै, माँगहु तिन कौ गात ।
तासु अस्थि कौ कुलिस रचि, करहु बृत्र कौ घात ।।

जयंत (सानंद)—तब कहा भयौ ।

कार्त्तिकेय,—यह सुनि प्रनाम करि देवता दधीच पै जाय हाथ जोरि कहन लागे....

(दोहा)

जय मुनि-मंडन धरम धर, पर उपकारक आर्ज ।
दीनबंधु करुना-सदँन, साधहु सुर कौ कार्ज ।।

जयंत,—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—ऐसें सब के बचन सुनि दधीच बोले—

(बरवै)

जौ मोसौं जाँचत सुर, सहित सनेह ।
तौ मन-इच्छित दैहौं, मम ब्रत एह ।।

जयंत (सानंद)—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—ऐसे मुनि के बचन सुनि प्रसन्न होइ देवता बोले.....

(दोहा)

बृत्रासुर-भय-भीत हम, माँगत तुह्मरौ गात ।
बज्र बिरचि कें अस्थि कौ, करि हैं ताकौ घात ।।
जदपि देह बल्लभ सबहिं, चहत जासु जग-स्रेय ।
तदपि धरमधुर धरन कौं, लहि कछु अहै अदेय ।।

जयंत,—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—ऐसे देवताँन के बचन सुनि खिन्न मन होइ कें (मुनि) बोले....

(सवैया)

देखहु तौ जग-जीब की रीति-हिं, आपुनें-ही हित सों हित ठाँनें।
देवहु भूलि रहे इहि में, तब और की बात कहा कहि छाँनें॥
का करतब्य, निसेध कहा, 'गिरिधारँन' कोऊ नहीं पैहचाँनें।
स्वारथ में मन दौरि रह्यौ, परमारथ ता सों अकारथ जाँनें॥

(दोहा)

निज अरि कारन हेत तुम, अस्थि चहँत मम देव।
कैसौ दुख मोहि मरँन कौ, सो नहिं जानत भेव॥
सक्र चाँप टंकारि कें, हने अनेकँन पत्र।
तिनहिं सहत दौरत भयौ, महाकाल-सम बृत्र॥

(छप्पय)

तब सुरपति गहि-गदा, असुर-दिसि भए चलावत।
ताहि पकर कर बाँम, तजी लखि कें ऐरावत॥
तासों ह्वैकें बिकल भयौ गज, भूतल आवत।
चेत खोइ, बल गोइ, तुरत गिरि परचौ महावत॥
सुरनाथ महा संभ्रम सहित, उतरि सँमर ठाढ़े भए।
सो लखि अमरँन हा, हा कियौ, उर अति ही चिंता-मए॥

जयंत (सकंप)—तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

तब मातलि लायौ सु रथ, सुंदर अर्ब लगाइ।
ता पै बैठ सु पर्ब-पति, भिरे बृत्र सों जाइ॥

जयंत—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—

(अरिल्ल)

बृत्रासुर सह-कोपि, सूल कर धारि कें।
धायौ सुरपति-ओर, घोर ललकारि कें॥
सुनासीर, रनधीर, बीर तिंहि डाटि कें।
कुलिस त्यागि सह सूल दियौ भुज-काटि कें॥

जयंत (सानंद)—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

तब दूजें कर परिघ गहि, हन्यों बासवहिं झूँमि।
ता प्रहार तें हाथ सों, कुलिस गिरचौ रन-भूँमि॥

(सोरठा)

लाज सहित सुर-राज, बज्र उठावन नहिं चहैं।
तबहिं दनुज-सिरताज, बिहँसि बचन बोलत भयौ॥

(छप्पय)

देह करम-आधीन, चलै ताके अनुसारहिं ।
तासों बरबस जीव, लहैं सुख-दुख संसारहिं ।।
और चाह अनुसरै, काज तहँ औरहि जोवै ।
कोटि जतन कोउ करौ, जौंन हौंनी सो होवै ।।
द्वै करत जहाँ संगर तहाँ इक जीतत इक मरत ध्रुव ।
यह गुनि बुध इहि चिंतत नहीं, अति असार ब्यौहार भुव ।।

(कवित्त)

जेतें जग-भोग जामें भूलि रहे लोग, ते करहिं सब रोग, कहि सोग कै बताइऐ ।
करम कौ गेह पंचभूत मई देह, नासमान गुनि एह नेह काहे कों बढ़ाइऐ ।।
'गिरिधरदास' कोऊ काहु कौ न संगी स्वांस करि बिसबास बृथाँ त्रास उपजाइऐ ।
दारा, सुत बिरत अहैं सबहि अनित तासों, गुनि निज हित चित स्याँम-पद लाइऐ ।।

(दोहा)

तातें तुम भय लाज तजि, बज्र उठावहु हाथ ।
जो भवितब्य सो होइ है, समर करहु मम साथ ।।

जयंत (साचरज)—वाह,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

बृत्रासुर के बचन सुनि, चकित होइ सुर-राइ ।
सत्रुहि बहुत प्रसंसि कें, कहत महत हरखाइ ।।

(सवैया)

लहि कें यह तामस दानव कौ तन, जामें बिबेक न नेंक रहै ।
मुनि-सी बर बात बखाँनत हौ, गुनि कें जन जो भव-ताप दहै ।।
'गिरिधारँन' भक्ति-प्रभाव महा, कहिऐ किमि जा जस बेद कहै ।
हरि-भक्त अनन्य में गन्य सदाँ, तुम्हरे सम धन्य न अन्य अहै ।।

जयंत (सानंद)—तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

इमि कहि कुलिस उठाइ कें, प्रमुदित चित सुरनाथ ।
परिघ सहित असुरेस कौ, काट्यौ दूजौ हाथ ।।
तब निज बदन पसारि कें, बृत्रासुर अरिकाल ।
बाहँन सहित सुरेस कौं, लील गयौ बिकराल ।।
लखि सहसा सहसाच्छ कहँ, निगलत सँमर मँझार ।
देवँन हा-हाकार किय, असुरन जै-जैकार ।।

(छप्पय)

असुर-उदर में सुरथ-सहित चलि गए पुरंदर ।
जैसें कोऊ जाइ, स्याँम-गिरि-कंदर-अंदर ।।
कृष्ण-कवच परभाव, भयौ असु कौ अभाव नहिं ।
काटि कुलिस सों कुच्छि, कढे तुरतहि ता थल महिं ।।

जिमि फारि महातम निकर कौं, निकरत नभ में नखत-पति ।
तिमि कढ़त भए अरि-अंग सों, सुरपति बर भट बिमल मति ।।

जयंत (सानंद)—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

तब निजकर में कुलिस गहि, रोस सहित सुरनाथ ।
कैउ बरस में काटि कें, महि पारचौ अरि-माथ ।।

(कवित्त)

बृत्रासुर-धर जबै धरनी पै आइ गिरचौ, थर-थर हाले तीन लोक नव खंड ।
मेरे जाँन स्याँम ने अपानी सता धरी लाइ, तासों बची सृष्टि प्रलैकाल ना भयौ अखंड ।।
'गिरिधरदास' ना तौ कोंन जानें कहा होतो, पाइकें प्रहार महाकाल दंड सौ अखंड ।
छूटि जातो गज-प्राँन,टूटि जातो कौल-रद, कूटि जातो सेस-फन, फूटि जातो ब्रह्म-अंड ।।

(दोहा)

बृत्रासुर की ज्योति कढ़ि भई ब्योंम में लींन ।
लखि ब्याकुल भागे असुर, सुरँन नगारे दींन ।।

जयंत (सानंद)—पाप कटचौ, पाप कटचौ,

(दोहा)

अब मोहि उपजी चित्त में, पितु-दरसँन की चाह ।
ते कित, देहु बताइ मोहि, निरजर-सेंना-नाह ।।

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

बृत्रासुर के नास लों, हम देखे अमरेस ।
अब तिन्हकों जाँनत नहीं, अहें कोंन से देस ।।

(इतने में मातलि आइ दोउँन के पाँइ-परि ठाढ़ौ भयौ)

जयंत,—

(दोहा)

कहि मातलि अरि-मारि कें, कित राजत सुरराज ।
में तिनकौ दरसँन चहत, भयौ सिद्ध सब काज ।।

मातलि,—

(दोहा)

बृत्रासुर कों मारिकें, द्विज भय हत्या पागि ।
हम नहिं जानत कोंन थल, गए देव-पति भागि ।।

जयंत,—

(दोहा)

सत्रु मरचौ, हत्या लगी, मनु दुहराँनों रोग ।
अब चलि तिनकों खोजिकें, हरिऐ कोउ बिधि सोग ।।

कार्त्तिकेय, मातलि,—सत्य, सत्य,...

(इमि कहिकें सब निकरे)

इति श्रीनहुष-नाटक के प्रथमोंक:

।। श्रीः ।।

श्री चंद्रावली-नाटिका

(भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र कृत)

दूसरा अंक

स्थान—केरांन कौ बँन

समैं संझा कौ, कछुक बादर छाए भए हैं

(बियोगिनी बनीं भई श्रीचंद्रावलीजी आवें हैं)

(एक बृच्छ के नीचे बैठ कें) वा प्यारे, वा .... तुम्ह और तुम्हारौ प्रेंम दोंनों बिलच्छँन, और निसचें बिनाँ तुम्हारी कृपा के याकौ भेद कोऊ नाहिं जाँन सकै। जाँनें कैसें? सभी तौ वाके अधिकारी नाहिं हैं। जाँनें जैसौ समझौ वानें वैसौ-ही माँन राख्यौ है। हा, यै जो तुम्हारौ अखंड परमानंदमै प्रेंम है और जो ग्याँन-बैराग कों तुच्छ करि परँम सांति दैबे वारौ है वाकौ सरूप कोऊ नाहिं जाँनें सब अपने-अपने सुख में और अभिमाँन में भूले भए हैं। कोऊ काहू स्त्री वा पुरुष सों, वाकौ सुंदर रूप निहारि कें वासों चित्त लगानों और वासों मिलबे के अनेक जतँन करनों याही कों प्रेंम कहै हैं और कोऊ ईस्वर की बड़ी लंबी-चौरी पूंजा करिबे कों प्रेंम कहैं हैं—पर प्यारे, तुम्हारौ प्रेंम तौ इन दोंनोंन सों बिलच्छँन हैं, क्योंकि यै अंमृत तौ वाही कों मिलै है जाहि तुम्ह आप देउ हौ। **(कछु ठैहेरि कें)**—हाइ कोंन सों कहों और कहा कहों, क्यों कहों, कैसें कहों, कोंन सुनें औरु सुनें हूँ तौ कोंन समझै, हाइ ....

(सवैया)

जग जाँनत कोंन है प्रेंम-बिथा, किहिसों चरचा या बियोग की कीजिए।
पुनि को कही माँनें, कहा समझै कोऊ, क्यों बिन बात की रारहि लीजिए।।
नित जो 'हरिचंद' जू बीतै सहै, बकिकें जग क्यों परतीतहि छीजिए।
सब पूंछत मोंन क्यों बैठि रही, पिय प्यारे कहा इन्हें ऊतर दीजिए।।

क्योंकि—

मरँम की पीर न जाँनत कोइ।
कासों कहों कोंन पुनि माँनें, बैठि रहों घर रोइ।।
कोऊ जरँन न जाँननहारी, बे भरमी सब लोइ।
अपनी कहत सुँनत नहिं मेरी, किहि समझाऊँ सोइ।।
लोक-लाज कुल की मरजादा, दींनीं हैं सब खोइ।
'हरीचंद' ऐसें हि निबहैगी, होंनी होइ सो होइ।।

पर प्यारे, तुम्ह तौ सुँनवेवारे हौ, यही तौ अचरज है कि तुम्हारे होत मेरी यै गति होइ। प्यारे, जिनके 'नाथ' नाहिं होंइ वे 'अनाथ' कहा में हैं **(आँखिन सों अँसुवा गिरें हैं)**। **(कछु ठैहेरि कें ....)** प्यारे, जो यैही गति करनी हीं तौ अपनायौ क्यों? ....

(सवैया)

पैहलें मुसकाइ, लजाइ कछू, क्यों चितै मुरि मो तँन छाँम कियौ।
पुनि नेंन लगाइ बढ़ाइ कें प्रीति, निबाहँन कौ क्यों कलाँम कियौ।।
'हरिचंद' भए निरमोही इते निज नेह कौ यों परनाँम कियौ।
मन-माँहि जो तोरँन-ही की हुती, अपनाइ कें क्यों बदनाँम कियौ।।

प्यारे, बड़े निरमोही हौ। हाइ तुम्हें मोह हू तौ नाँहिं आवै ? **(आँखिन में अँसुवाँ भरि कें)** अरे, इतनों तौ वेहू नाहिं सतावें हैं जो पैहलें सुख देंइ हैं, तुम्ह कोंन से नाँते ते इतनौ सताइ रहे हौ ?....

(सवैया)

जिय सूधी चितोंन की साधें रहीं, सदाँ बातँन में अँनखाइ रहे।
हँसि कें 'हरिचंद' न बोले कभू, जिय दूरि-ही सों ललचाइ रहे।।
नाँहि नेक दया उर आवत है, करिकें कहा ऐसे सुभाइ रहे।
सुख कोंन-सौ प्यारे दियौ पैहलें, जिहि के बदलें यों सताइ रहे।।

हाइ, तुम्हें तौ लाज हू नाँहि आवै, लोग तौ सात पेंड़ संग चलें पै जँनम-भरि वाकौ निरबाह करें हैं और तुम्ह...., नित्त की प्रीति कौ हू निरबाह नाँहि करौ ? अरे, तुम्हारौ तौ ऐसौ सुभाव नाँहि हो, यै तौ नई बात है, यै नई बात है या तुम्ह आप नए ह्वै गए हौ, भला कछु तौ लाज करौ....

(सवैया)

कित कों ढरिगौ वौ प्यार सबै, क्यों रुखाई नई यै साजत हौ।
'हरिचंद' भए हौ कहा के कहा, अँनबोलिवे में नाँहि छाजत हौ।।
नित कौ मिलनों तौ किनारें रह्यौ, मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।
पैहलें अपनाइ बढ़ाइ कें प्रीति, न रूसिवे में अब लाजत हौ।।

ब्रजभाषा : साहित्य-शोध

श्री जानकीनाथ सिंह मनोज

ऊपर दिये हुए शीर्षक का अर्थ संदिग्ध है। इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शीर्षक-संबंधी कठिनाई को थोड़ा स्पष्ट कर दिया जाय, जिससे लेख और शीर्षक में पूर्ण साम्य उपस्थित हो जाय, अन्यथा भ्रांति होने की संभावना बनी ही रहेगी। प्रथम ब्रजभाषा-साहित्य के विषय में कुछ कहा जाय, इससे शोध शब्द की व्याख्या कर लेना उचित है। 'शोध' शब्द प्रायः सुधार करना, शुद्ध करना, ठीक करना इत्यादि के अर्थ में लिया जाता है, परंतु प्रयोग-संदर्भ से अनेक अर्थ हो सकते हैं, जैसे—परीक्षा, अन्वेषण, खोज, अनुसंधान इत्यादि। पहले तो यही प्रश्न रहा कि उक्त शीर्षक के उपयुक्त कौन सा अर्थ लिया जाय। यदि प्रथम अर्थ लिये जायँ तो हमें केवल उसी सामग्री का उल्लेख और विवेचन करना होगा जो संपादित है और उसमें भाषा एवं पाठ के स्वरूपों के संबंध में निश्चित ढंग से व्याख्या देनी होगी। इस प्रकार की सामग्री इतनी स्वल्प है और साथ ही साथ दृष्टिकोण भी इतना अवैज्ञानिक है कि इसके द्वारा इस भाषा के मूलस्वरूप का निर्द्धारण करने के लिये कुछ वर्षों का परिश्रम और समय चाहिये। दूसरा अर्थ लेख के लिये अधिक उपयुक्त जान पड़ा। अंततः यह निश्चित किया गया कि इन दोनों का समन्वय कर दिया जाय।

ब्रजभाषा-साहित्य पर भी विचार कर लेना समीचीन है। ब्रजभाषा के दो रूप हैं—एक तो टकसाली शुद्ध ब्रजभाषा, जिसका प्रयोग हमारे ब्रज-प्रदेश के कवियों ने अपनी सुमधुर रचनाओं में किया है और दूसरा ब्रजभाषा—काव्य-भाषा वाला वह रूप जिसको ब्रज में न रहने वाले अथवा बहुत दूर बसने वाले कवियों ने काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया और अपनी प्रखर प्रतिभा और काव्य-कौशल से अपनी रचना का समुज्ज्वल प्रकाश प्रदान कर साहित्य-गगन को जगमगा दिया। ब्रज-भाषा ने हिंदी-साहित्य में काव्य-भाषा के रूप में लगभग ३५० वर्ष एकछत्र राज्य किया, क्योंकि ब्रजभाषा की परंपरा में महाकवि पद्माकर ही अंतिम कवि थे।[१] पद्माकर का समय सं० १८९० तक है, इसके बाद से जो कवि 'ब्रजवाणी' के पुजारी हुए और अब भी हैं, उनपर भाषा की बदलती हुई धारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित है। भारतेंदु बाबू 'हरिश्चंद्र' ने जब देखा कि ब्रजभाषा के परिष्कार की आवश्यकता है, तो उन्होंने रूढ़ियों से चले आते और जनता की रुचि और बुद्धि के बाहर रहने वाले शब्दों को व्यवहार से दूर कर दिया। इस परिष्कार से नवीन भावनाओं और नवीन योजनाओं के शब्दों के प्रयोग से उस काल में ह्रास की ओर जाती हुई ब्रजभाषा एक बार फिर चमक उठी। फिर भी भारतेंदु के समय में खड़ीबोली अपना पदार्पण काव्य-क्षेत्र में धीरे-धीरे कर रही थी। उनके समकालीन विद्वान् उस भाषा में अपनी रचना भी करने लगे थे। दिन पर दिन ब्रजभाषा-कवियों की वह अभिवृद्धि नहीं हो रही थी, जितनी कि नवीन भाषा की हो रही थी। नयी भाषा को लोग साहित्यिक-स्वरूप देने के लिये लालायित थे। गद्य के लिये ब्रजभाषा की अनुपयुक्तता मान्य हो गई थी। भारतेंदुजी ने स्वयं ही गद्य के लिये खड़ीबोली को अपनाया था। यह परिवर्तन सं० १८९० के उपरांत दृष्टिगोचर होता है। तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र में सं० १५५५ से लेकर सं० १८९० तक

१. ब्रजभाषा का रीति-काल—पद्माकर जी पर ही समाप्त नहीं होता है, अपितु वह 'नवीन' और 'श्री ग्वाल' जी पर समाप्त होता है।

एकांत प्रभाव बराबर बना रहा। मैं 'सूरदास' का रचनाकाल सं० १५५५ से ही मानता हूँ। सूरदास और महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य, जन्मोत्सव एवं सांप्रदायिक जनश्रुति के अनुसार समवयस्क थे। सूरदास की दीक्षा का समय सं० १५६१ के बाद पड़ता है। महाप्रभु से दीक्षा लेने के समय 'स्वामी सूरदास' गायक रूप से प्रसिद्ध थे। दीक्षा के अनंतर ही उनके 'सागर' का निर्माण हुआ। आचार्य महाप्रभु के गोलोकवासी होने पर उनके पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने गद्दी को सुशोभित किया और इन्होंने ही 'अष्टछाप' की स्थापना की, जिसमें संप्रदाय के सर्वोत्तम आठ 'कविरत्न' थे। उस समय तक अष्टछाप के कवि प्रचुर मात्रा में अपनी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके होंगे। अतः ब्रजभाषा-साहित्य का वास्तविक प्रारंभ हम सं० १५६० के बाद से मान सकते हैं।

ब्रजभाषा-साहित्य इतना अधिक है कि उसका अभी तक पूर्ण रूप से मूल्यांकन नहीं हो सका है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि साहित्य का यह अपार भंडार बिना अन्वेषण के अभी तक बहुत कुछ यों ही अंधकार में पड़ा हुआ है। इसका उत्तरदायित्व हमारी विगत सरकार पर भी था। साहित्य-संबंधी खोज के संबंध में कुछ इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना चाहिये। साहित्य-सृजन एवं अध्ययन का कार्य बराबर प्राचीन काल से चला आ रहा था और यह एक प्रकार से जीविकोपार्जन का साधन भी था। हमारे देशी नरेशों के पुस्तकालयों में जो प्राचीन कवियों की रचनाओं की पोथियाँ (हस्त-लिखित) विद्यमान हैं वे उन नरेशों के विद्या-प्रेम एवं विद्या-व्यसन का फल है। राजाओं से पुरष्कार पाने के लिये ब्राह्मणों व अन्य विद्वानों व कवियों द्वारा गण्यमान कवियों की रचनाओं की प्रतिलिपियाँ होती रहती थीं। उनके द्वारा दो कार्य पूरे होते थे। एक तो कुछ इस लिये भी लिखी गईं कि वे राजकुमारों के अध्ययन के निमित्त हों और कुछ इसलिये कि वे राजपुस्तकालय के कोष की वृद्धि करें। समय की दुर्दमनीय विनाश-शक्ति से रक्षित रहकर, इन पुस्तकालयों में विद्यमान कतिपय रत्न भारतीय मातृभाषा-सेवकों के कंठहार बने हैं।

सर्व प्रथम हिंदी-कवियों के बारे में एक 'वृत्त संग्रह' सं० १६४० में 'शिवसिंह' सेंगर ने 'सरोज' नाम से उपस्थित किया, जो अब 'शिवसिंह-सरोज' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। सन् १८५७ ई० (सं० १६१४) के बाद भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थापित हुए २५ वर्ष हो चुके थे और वातावरण शांत हो चुका था। कलकत्ते में फोर्ड विलियम कालेज में 'जान गिलक्राइस्ट' की अध्यक्षता में देशी गद्य का निर्माण सं० १८६० से ही प्रारंभ हो चुका था। ध्यान देने की वस्तु है कि विद्रोह होने के कुछ समय पूर्व ही छापेखाने खुलने लगे थे और उनमें पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी थीं, कुछ स्कूल कालेजों के लिए और कुछ ईसाई-संप्रदाय के लिये, पादरियों-द्वारा। प्रेस प्रायः मिशनरियों के ही थे। सं० १६१४ के विद्रोह के पूर्व मिर्जापुर से 'शेरिंग' साहिब के संरक्षण एवं संपादन में 'विद्वान्-संग्रह', 'भूलोक विद्या' आदि पुस्तकें सं० १६१२ से लेकर १६१६ तक प्रकाशित हुईं। इस उल्लेख से हम यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि उस समय लोगों और विदेशियों की भी अभिरुचि भारतीय भाषा में लिखने, प्रचार करने एवं यहाँ के साहित्य की खोज करने की ओर हो रही थी। इस स्तुत्य प्रयास को भारतीय हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा प्राप्त थी और इसके लिये विद्वानों ने अनवरत परिश्रम किया। ऐसे ही समय 'सरोजकार' की कृति आगे आई। इसके ६ वर्ष के ही अनंतर डा० सर जार्ज 'ग्रियर्सन' ने उसी प्रकार का कवियों का वृत्त-संग्रह—'मार्डन वरनाकुलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिंदुस्तान' नाम से सं० १६४६ में प्रकाशित कराया। इसी समय सरकार की आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाने से 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी ने राज-पुस्तकालयों तथा अन्य लोगों के पास से उन हस्त-लिखित प्राचीन प्रतियों का पता लगाने का कार्य उठाया जो अब तक सहस्रों की संख्या में अंधकार में अथवा अज्ञात रूप से पड़ी हुई थीं। नागरी प्रचारिणी-सभा की खोज की रिपोर्टें ८ भागों में सं० १६५७ से लेकर १६६८ तक (या सन् १६०० ई० से सन् ११ तक) प्रकाशित हुई।[1] इनमें बहुत बड़ी संख्या में ज्ञात

[1]. इसके उपरांत भी कई त्रिवर्षी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं।

कवियों की रचनाओं की अनेक प्रतियों एवं विविध पृथक् रचनाओं का पता तो लगा ही साथ ही साथ प्रकाश में न आये हुए सैकड़ों कवियों की बहुमूल्य रचनाओं के स्थान, विषय, उदाहरण आदि का पुस्तक की रूपरेखा सहित पता लगा। डा० ग्रियर्सन के ग्रंथ, सरोज तथा खोज-रिपोर्टों आदि में दी गई संपूर्ण सामग्री का उपयोग करके सं० १९७० में मिश्र बंधुओं ने एक ग्रंथ 'मिश्रबंधु-विनोद' के रूप में प्रकाशित किया। इसमें न केवल प्राचीन लेखकों के बारे में संग्रह किया गया, वरन् वर्तमान काल के लेखकों को भी स्थान मिला। यह बहुमूल्य पथ-प्रदर्शक ग्रंथ ४ भागों में प्रकट हुआ। इस समय से कुछ पूर्व 'मिश्र-बंधुओं' द्वारा 'हिंदी नवरत्न' नामक साहित्यिक समालोचना-युक्त ग्रंथ हिंदी-ग्रंथ-प्रसारक मंडली खँडवा द्वारा सं० १९६८ में प्रकाशित हो चुका था। इसके उपरांत प्राचीन कवियों तथा उनकी रचनाओं को लेकर परिचय-रूप में हिंदी-साहित्य के इतिहासों का निर्माण प्रारंभ हुआ, जिनमें से स्व० श्यामसुंदरदास कृत 'हिंदी-रत्न-माला' सं० १९६६ में, 'मिश्रबंधु-विनोद' से पहले ही प्रकाशित हो चुका था। पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा 'कविता-कौमुदी' के तीनों भाग सं० १९७५ से लेकर सं० १९८० तक प्रकाशित हुए। इसके अनंतर आचार्य शुक्ल जी का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' और बाबू श्यामसुंदरदास का बृहद् इतिहास—'हिंदीभाषा और साहित्य' सं० १९८७ में प्रकाशित हुए। वास्तव में ये कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें कवि एवं रचना-परिचय के साथ-साथ साहित्य-संबंधी खोज और उसके वर्गीकरण को भी स्थान दिया गया। इन पुस्तकों में रचनाओं का परिचय समालोचनात्मक है। इसके बाद तो हिंदी-साहित्य के इतिहासों की परिपाटी-सी चल पड़ी, जिनमें कुछ हेर-फेर के साथ वही बातें दुहरा-सी दी गईं, जो इन इतिहासों में थीं।

ब्रजभाषा के साहित्य का पृथक् परिचय और उसके कतिपय मान्य कवियों की रचनाओं का वास्तविक स्वाद दिलाने का श्रेय श्री 'हरिप्रसाद जी वियोगी हरि' को है। उनका 'ब्रज-माधुरी-सार' ग्रंथ सं० १९८० में ही प्रकाशित हो चुका था। ब्रजभाषा के साहित्य के शोध में यह अमूल्य ग्रंथ है। मिश्रबंधुओं ने 'नवरत्न' लिखकर जो आलोचना की परिपाटी चलाई उससे हमारे साहित्य-सेवियों का ध्यान कवियों की रचना की परख की ओर गया और इस प्रकार का प्रयत्न प्रारंभ हुआ कि प्राचीन कवियों की रचनाओं का अच्छा सुसंपादित संस्करण विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित किया जाय।

यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि एक बार संपूर्ण सामग्री का दिग्दर्शन करा दिया जाय। ब्रजभाषा-साहित्य की सामग्री दो प्रकार की प्राप्त है—एक प्रकाशित और दूसरी अप्रकाशित। अप्रकाशित सामग्री की जो सूचनाएँ खोज-रिपोर्टों में उपलब्ध हुईं, उसको लेकर जैसा ऊपर बताया गया है, हमारे हिंदी-साहित्य के इतिहासों का निर्माण हुआ। लेकिन इन इतिहासों में भाषा-संबंधी कोई वर्गीकरण नहीं किया गया। कवियों की रचनाओं की तिथि एवं उनके जन्म, मरण, जीवन आदि के विवरण के रूप में समयानुसार वर्णन इन इतिहासों में रखा गया। यद्यपि ऐतिहासिक क्रम का वर्णन अपनी महत्ता अवश्य रखता है, पर अमुक भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की उपादेयता पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक था। उदाहरण के लिये हिंदी की विविध बोलियों में कालक्रम निर्धारित करके उनके साहित्य-संबंधी अन्वेषणों का उल्लेख किया जाना चाहिए। इन इतिहासों के पढ़ने से किसी विशेष बोली में कितना साहित्य बना और उसके कौन-कौन से कवि थे, अथवा उस बोली में किस परिमाण में साहित्य-रचना हुई, इस बात का पता नहीं लग सकता, जब तक कि पाठक स्वयं बैठकर प्रत्येक कवि और उसकी रचना की पृथक् सूची न तैयार करे। हमारे इतिहास-लेखकों ने इस दृष्टिकोण को अपने ध्यान में नहीं रखा। अतएव आवश्यक है कि अब इस ढंग पर नये साहित्य के इतिहास की रचना की जाय।

ब्रजभाषा-साहित्य का एक अलग ही इतिहास हो सकता है, जिसमें भाषा के कवियों एवं उनकी रचनाओं का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। साहित्य के इतिहास में जो अप्रकाशित सामग्री

है, उसका विस्तार पूर्वक यहाँ विवरण देना संभव नहीं है, क्योंकि इन ३०० वर्षों के अंतर में कवियों की संख्या सहस्रों के ऊपर है। स्थूल रूप से यदि हम देखें तो पं० रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में हिंदी के काव्य में प्रयुक्त विशेष भाषाओं के आधार पर तो वर्गीकरण नहीं मिलता, पर उसको देखने से यह पता लगा लेना कठिन नहीं है कि किस बोली में कितना साहित्य उपलब्ध है। यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो इस इतिहास से विविध शीर्षकों के अंतर्गत ब्रजभाषा के काव्य-निर्माता कवियों की संख्या १६४ ही आती है। इनका ब्योरेवार वर्णन कवि और उनकी रचना के साथ नीचे दिया जाता है। इसमें प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार की सामग्री संमिलित है। प्रकाशित सामग्री का उल्लेख यथा संभव करने के पहले यह देखना है कि इन १६४ कवियों को शुक्ल जी ने विभिन्न शीर्षकों में किस प्रकार दिया और फिर उनकी प्रकाशित और अप्रकाशित रचना का उल्लेख किया जायगा। ब्रजभाषा में रचना करने वाले कवियों की संख्या रामभक्त-शाखा में ४, कृष्णभक्त-शाखा में १७, भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं में १९, रीति-ग्रंथकार कवियों में ५७, रीति-काल के अन्य कवियों में ४७ और पुरानी धारा के कवियों में २० है।

राम-भक्त शाखा

१. **तुलसीदास**—"रामचरितमानस, रामलला नहछू, वैराग्यसंदीपनी, बरवै रामयण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय-पत्रिका (प्रकाशित)।"

२. **स्वामी अग्रदास**—"हितोपदेश, अपर बारतावानी, ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी, कुंडलियाँ, (अप्रकाशित)।"

३. **नाभादास**—"भक्तमाल (प्रियादास की टीका सहित प्रकाशित), राम-चरित्र-संबंधी पद-संग्रह, अष्टयाम (अप्रकाशित)।"

४. **हृदयराम**—"हनुमन्नाटक (अप्रकाशित)।"

कृष्ण-भक्त शाखा

१. **सूरदास**—"सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, बारहमासा या मासी, गोपालगारी, दानलीला, बिसातिनलीला, चीरहरणलीला, बाँसुरीलीला, मोरध्वजलीला, (प्रकाशित), सूरगीता, सेवाफल (अप्रकाशित)।"

२. **नंददास**—"पाँचौ मंजरी—अनेकार्थ,-मान,-रस,-बिरह और रूप मंजरी, भागवत दशमस्कंध (पूर्वार्द्ध २९ अध्याय तक), रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी, श्यामसगाई, रुक्मिणीमंगल, सुदामाचरित्र, भँवरगीत और पदावली, अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी (प्रकाशित) बाँसुरीलीला (अप्रकाशित)।"

३. **कृष्णदास**—"पद-संग्रह (कृष्णसागर अप्रकाशित)।"

४. **परमानंददास**—"परमानंदसागर (प्रकाशित)[१], दानलीला, दधिलीला, ध्रुवचरित्र (अप्रकाशित)।"

५. **चतुर्भुजदास**—"द्वादश यश, भक्ति-प्रताप, हितजू कौ मंगल पद-संग्रह (अप्रकाशित)[२]।"

६. **छीतस्वामी**—"पद-संग्रह (अप्रकाशित)।"

७. **कुंभनदास**—"पद-संग्रह (अप्रकाशित)।"

८. **गोविंद स्वामी**—"पद-संग्रह (१५२ पद, प्रकाशित)।"

[१]. परमानंद-सागर जयपुर से प्रकाशित हुआ कहा जाता है, पर वह कहीं देखने में नहीं आया। दान और दधिलीला एक ही पुस्तक के दो नाम हैं। ध्रुवचरित्र इन परमानंददास का नहीं किन्हीं और का है।

[२]. द्वादश यश, भक्ति प्रताप और हितजू कौ मंगल ये पुस्तकें अष्टछाप के चतुर्भुजदास की कृतियाँ नहीं हैं।

९. **हित हरिवंश**—"राधा-सुधानिधि, हित-चौरासी, बृंदावन-सतक, हित-सुधा-सागर (प्रकाशित) ।"

१०. **गदाधर भट्ट**—"केवल पद (अप्रकाशित) ।"

११. **मीराबाई**—"पद (प्रकाशित) ।"

१२. **स्वामी हरिदास**—"हरिदास जी की बानी, हरिदास जी के पद, हरिदास जी कौ ग्रंथ,[1] केलि-माला, सिद्धांत के पद (अप्रकाशित) ।"

१३. **सूरदास मदनमोहन**—"फुटकल पद (अप्रकाशित) ।"

१४. **श्रीभट्ट**—"युगल-सतक (पद), आदिवानी (अप्रकाशित) ।"

१५. **हरिराम व्यास**—"रासपंचाध्यायी, फुटकल पद (अप्रकाशित), व्यासवाणी (प्रकाशित ।"[2]

१६. **रसखान**—"सुजान-रसखान, दोहावली, (प्रकाशित) ।[3]

१७. **ध्रुवदास**—"वृंदावनसत, सिंगारसत, रसरत्नावली, नेहमंजरी, रहस्यमंजरी, सुखमंजरी, रति-मंजरी, बनविहार, रंगविहार, रसविहार, आनंददसा-विनोद, रंगविनोद, नृत्यविलास, रंग-हुलास, मानरसलीला, रहसलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन-कुंडलिया, भक्तनामावली, मनश्रृंगार, भजन-सत, प्रीतिचौवनी, रसमुक्तावली, बृहद् वामन पुराण भाषा, सभामंडली, रसानंदलीला, सिद्धांतविचार, सिहरिवती, हित-श्रृंगारलीला, ब्रजलीला, आनंदलता, अनुरागलता, जीवदशा, वैद्यलीला, ब्याहलौ, भक्तनामावली (अप्रकाशित) ।"[4]

भक्ति-काल के फुटकल कवि

१. **छीहल**—"पंचसहेली (अप्रकाशित) ।"

२. **लालदास**—"हरिचरित्र (अप्रकाशित) ।"

३. **कृपाराम**—"हिततरंगिणी (प्रकाशित) ।"

४. **नरहरि (वंदीजन)**—"रुक्मिणी-मंगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह (अप्रकाशित) ।"

५. **नरोत्तमदास**—"सुदामाचरित्र (प्रकाशित) ।"

६. **महाराजा टोडरमल**—"स्फुट कविता (अप्रकाशित) ।"

७. **महाराजा बीरबल**—"स्फुट कविता (अप्रकाशित) ।"

८. **गंग कवि**—"स्फुट कविता (प्रकाशित) ।"

९. **मनोहर कवि**—"शतप्रश्नोत्तरी (अप्रकाशित) ।"

१०. **बलभद्र मिश्र**—"नीति-श्रृंगार के फुटकल दोहा, नखसिख,[5] हनुमन्नाटक, बलभद्र-व्याकरण, दूषण-विचार (अप्रकाशित) ।"

११. **केशवदास**—"कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, विज्ञानगीता, वीरसिंहदेव-चरित्र, नखसिख[6] (प्रकाशित), रतनबावनी, जहाँगीर-चंद्रिका (अप्रकाशित) ।"

१२. **होलराय**—"फुटकल रचना (अप्रकाशित) ।"

१३. **रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना)**—"बरवै नायिका-भेद, रहीम-सतसई, श्रृंगार-सोरठ, मदनाष्टक,

[1]. हरिदास जी की वाणी, हरिदास के पद वा हरिदास जी कौ ग्रंथ कोई प्रथक् ग्रंथ नहीं है, अपितु ये 'केलिमाला' और सिद्धांत-पद के नाम-रूपांतर हैं। [2]. व्यास जी की वाणी बृंदावन से प्रकाशित हो चुकी है। [3]. रस की खान 'रसखान' के स्फुट छंद—रसखान और घनानंद, रसखान-कवितावली, रसखान : दोहावली, रसखान : पदावली, रसखान : रत्नावली, रसखान : सतक क्रमशः काशी, लखनऊ, मथुरा, प्रयाग और पटना से प्रकाशित हो चुके हैं। [4]. ध्रुवदास के ये सभी ग्रंथ—'ध्रुव-ग्रंथावली' के नाम से भारतजीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुके हैं। [5-6]. ये दोनों नखसिख—भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुके हैं।

रहीम-काव्य, (प्रकाशित), नगर-शोभावर्णन, फुटकल बरवा, फुटकल कवित-सवैया (अप्रकाशित)।"[१]

१४. **कादिर**—"स्फुट कवित्त (अप्रकाशित)।"

१५. **मुबारक**—"अलक सतक—तिल सतक (अप्रकाशित), कुछ स्फुट छंद।"[२]

१६. **बनारसीदास**—"बनारसी विलास, नाटक समयसार, नाममाला कोष, अर्द्ध कथानक, बनारसी-पद्धति, मोक्ष पदी, ध्रुव वंदना, कल्याण मंदिर-भाषा, वेदनिर्णय पंचाशिका, मारण-विद्या (अप्रकाशित)।"

१७. **सेनापति**—'कवित्त-रत्नाकर (प्रकाशित), काव्यकल्पद्रुम (अप्रकाशित)।"

१८. **पुहकर कवि**—"रसरतन (अप्रकाशित)।"

१९. **सुंदर कवि**—"सुंदरश्रृंगार, सिंहासनबत्तीसी, बारहमासा (अप्रकाशित)।"[३]

रीति-काल के ग्रंथकार कवि

१. **चिंतामणि त्रिपाठी**—"छंद-विचार, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, रामायण (अप्रकाशित), कवि-कुल-कल्पतरु (प्रकाशित)।"

२. **बेनी**—"फुटकल कवित्त सुने जाते हैं।"

३. **महाराज जसवंतसिंह**—"अनुभव प्रकाश, आनंद विलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, प्रबोध-चंद्रोदय नाटक (अप्रकाशित), भाषाभूषण (प्रकाशित)।"

४. **बिहारीलाल**—"बिहारी-सतसई (प्रकाशित)।"

५. **मंडन कवि**—"रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू कौ व्याह, नैंन-पचासा (अप्रकाशित)।"

६. **मतिराम**—"छंदसार, साहित्यसार, लक्षणश्रृंगार (अप्रकाशित), रसराज, ललित-ललाम, मतिराम-सतसई (प्रकाशित)।"

७. **भूषण**—"शिवराज भूषण, शिवावावनी, छत्रशाल दशक, (प्रकाशित)।"

८. **कुलपति मिश्र**—"रस-रहस्य, (प्रकाशित), द्रोणपर्व, युक्तितरंगिणी, नखसिख, संग्रहसार, गुणरहस्य (अप्रकाशित)।"

९. **सुखदेव मिश्र**—"वृत्तिविचार, छंदविचार, रसार्णव, श्रृंगार-लता, आध्यात्म-प्रकाश, दशरथराय (अप्रकाशित), फाजिल अली प्रकाश (प्रकाशित)।"

१०. **कालिदास त्रिवेदी**—"बारवधू विनोद, जंजीराबंद, राधा-माधवबुधमिलन विनोद, कालिदास-हजारा (अप्रकाशित)।"

११. **राम कवि**—"श्रृंगारसौरभ, हनुमान नाटक (अप्रकाशित)।"

१२. **निवाज कवि**—"शकुंतला नाटक, (अप्रकाशित), फुटकल कवित्त (यत्र-तत्र प्रकाशित)।"

१३. **देव कवि**—"प्रेमतरंग, रागरत्नाकर, देवचरित्र, सुखसागर-तरंग, वृक्षविलास, देवमाया-प्रपंच नाटक, पावसविलास, ब्रह्मदर्शन पचीसी, तत्त्वदर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, जगदर्शन, प्रेमदीपिका, सुमिल-विनोद, राधिका-विलास, नीतिसतक, नखसिख, प्रेम दर्शन (अप्रकाशित), भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजान विनोद, प्रेम चंद्रिका (प्रकाशित)।"

[१]. रहीम की कविताओं का संग्रह 'रहीम-रत्नावली' नाम से—"दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिक भेद, फुटकल बरवै, मदनाष्टक अन्य फुटकल छंद तथा पद", पं० मयाशंकर याज्ञिक के संपादकत्व में काशी से प्रकाशित हो चुके हैं। [२], [३]. अलक और तिल-सतक भारतजीवन प्रेस काशी में छप चुके हैं। [३]. सुंदरश्रृंगार भी भारतजीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुका है।

१४. श्रीधर या मुरलीधर—"नायिका-भेद, नखसिख (अप्रकाशित), जगनामा (प्रकाशित)।"
१५. सुरत मिश्र—"अलंकार माला, रसरत्न माला, सरसरस, रसगाहक चंद्रिका, नखसिख, काव्य-सिद्धांत, दिन रत्नाकर (पद्य), बिहारी सतसई की टीका, रसिकप्रिया की टीका, कविप्रिया की टीका (गद्य-पद्य), बेताल पचीसी (अप्रकाशित)।"
१६. कविंद्र (उदय)—"रसचंद्रोदय, विनोदचंद्रिका, जोगलीला (अप्रकाशित)।"
१७. श्रीपति—"काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोज-कलिका, अलंकार-गंगा (अप्रकाशित)।"
१८. वीर कवि—"कृष्ण-चंद्रिका (अप्रकाशित)।"
१९. कृष्ण कवि—"बिहारी सतसई की टीका (प्रकाशित)।"
२०. रसिक सुमति—"अलंकार-चंद्रोदय (अप्रकाशित)।"
२१. गंजन कवि—"कमरुद्दीनखाँ हुलास (अप्रकाशित)।"
२२. अलीमुहिब खाँ (प्रीतम कवि)—"खटमल बाईसी, रस-धमार (अप्रकाशित)।"[१]
२३. दास (भिखारी दास)—"रससारांश, शृंगारनिर्णय,[२] नामप्रकाश (कोष), विष्णुपुराण भाषा, छंदप्रकाश, शतरंज शतिका, अमर प्रकाश (अप्रकाशित), छंदार्णव, काव्यनिर्णय (प्रकाशित)।"
२४. भूपति (राजा गुरुदत्त सिंह)—"सतसई,[३] कंठाभूषण, रसरत्नाकर, बारहमासा (अप्रकाशित)।"
२५. तोषनिधि—"सुधानिधि,[४] विनय सतक, नखसिख (अप्रकाशित)।"
२६-२७. दलपतिराय-वंशीधर—"अलंकार रत्नाकर (भाषाभूषण की टीका अप्रकाशित)।"
२८. सोमनाथ—"रसपीयूषनिधि, कृष्णलीलावती, अर्थात् रासपंचाध्यायी,[५] सुजान-विलास (सिंहासन बत्तीसी), माधवविनोद नाटक (अप्रकाशित)।"
२९. रसलीन (सैयद गुलामनवी)—"रसप्रबोध, अंगदर्पण (अप्रकाशित)।"[६]
३०. रघुनाथ—"काव्य-कलाधर, रसिक मोहन,[७] जगत मोहन, इश्क महोत्सव (अप्रकाशित)।"
३१. दूहल कवि—"कविकुलकंठाभरण (प्रकाशित)।"
३२. कुमारिल भट्ट—"रसिक रसाल (अप्रकाशित)।"[८]
३३. शंभुनाथ मिश्र—"रसकल्लोल, रसतरंगिणी, अलंकार दीपक (अप्रकाशित)।"
३४. शिव सहाय—"शिव चौपाई, लोकोक्ति-रस कौमुदी,[९] (अप्रकाशित)।"
३५. रूप सहाय[१०]—"रूप-विलास (अप्रकाशित)।"
३६. ऋषिनाथ—"अलंकार-मणि-मंजरी (अप्रकाशित)।"
३७. बैरीसाल—"भाषाभरण (प्रकाशित)।"
३८. दत्त कवि—"लालित्य-लता (अप्रकाशित)।"
३९. रतन कवि—"फतेह भूषण, अलंकार दर्पण (अप्रकाशित)।"
४०. हरिनाथ (नाथ कवि)—"अलंकार-दर्पण (अप्रकाशित)।"

१. अलीमुहिब खाँ प्रीतम के—अलीमुहीब खाँ तथा अली महबूब खाँ पीतम भी नाम मिलते हैं। २. शृंगार-निर्णय भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुका है। ३. भूपति-सतसई भी छप चुकी है। ४. सुधानिधि भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। ५. सोमनाथ जी की रास-पंचाध्यायी दारागंज प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। ६. ये दोनों ग्रंथ भी—भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुके हैं। ७. रसिक मोहन—भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। ८. कुमारिल भट्ट नाम ठीक नहीं है, आप का नाम है—"कुमारमणि भट्ट', रसिकरसाल छप चुका है—गंगाफाइन आर्ट प्रेस लखनऊ में। ९कवि का नाम—शिव सहाय नहीं 'शिवदास राय' है। १० यह भी सुधार कर द्विवेदी के संपादकत्व में भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। —ज० च०।

४१. **मनीराम**—"छंदछप्पनी, आनंदमंगल (अप्रकाशित)।"

४२. **चंदन कवि**—"शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरीप्रकाश, चंदनसतसई, पथिक-बोधिका, नखसिख, नाममाला (कोष), पत्रिकाबोध, तत्त्वसंग्रह, शीतवसंत (कहानी), कृष्णकाव्य, प्राज्ञविलास (अप्रकाशित)।"

४३. **देवकीनंदन**—"शृंगारचरित्र, अवधूतचरित्र, सरफराजचंद्रिका (अप्रकाशित)।"

४४. **महाराज रामसिंह**—"अलंकार दर्पण, रसनिवास, रसविनोद (अप्रकाशित)।"

४५. **मान कवि**—"नरेंद्रभूषण (अप्रकाशित)।"

४६. **भान कवि**—"दलेलप्रकाश (अप्रकाशित)।"

४७. **बेनी (बंदीजन)**—"टीकैतराय प्रकाश, रसबिलास (अप्रकाशित)।"

४८. **बेनी प्रवीण**—"नवरस-तरंग (प्रकाशित), भड़ौवा संग्रह, शृंगारभूषण (अप्रकाशित)।"

४९. **जसवंतसिंह (द्वितीय)**—"सालिहोत्र (अप्रकाशित)।"

५०. **यशोदानंदन**—"शृंगारशिरोमणि (अप्रकाशित)।"

५१. **करन कवि**—"बरवै नायिका-भेद, साहित्य-रस (अप्रकाशित)।"

५२. **गुरुदीन पाँडे**—"रसकल्लोल, बागमनोहर (अप्रकाशित)।"

५३. **ब्रह्मदत्त**—"विद्वद्विलास (अप्रकाशित)।"

५४. **पद्माकर**—"जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोधपचासा, गंगालहरी, रामरसायन, हिंमतबहादुर विरुदावली (प्रकाशित)।"

५५. **ग्वाल कवि**—"भक्तभावन, दूषण-दर्पण, राधा-माधव मिलन, राधाष्टक (अप्रकाशित), यमुना-लहरी, षट्रितु, कृष्ण जू कौ नख-सिख, कुब्जापच्चीसी (प्रकाशित)।"

५६. **प्रतापसाहि**—"जयसिंह-प्रकाश, काव्यविलास, शृंगारमंजरी, शृंगारशिरोमणि, अलंकार चिंतामणि, काव्यविनोद, रत्नचंद्रिका, रासराज (मतिराम कृत) की टीका, सीताराम-जुगल नखसिख, बलभद्रकृत नखसिख की टीका (अप्रकाशित), व्यंग्यार्थ कौमुदी (प्रकाशित)।"

५७. **रसिक गोविंद**—"रामायण सूचनिका, रसिक गोविंदानंदघन, लछिमनचंद्रिका, अष्टदेश भाषा पिंगल, समयप्रबंध, कलिजुगरासौ, रसिकगोविंद, जुगलरसमाधुरी (अप्रकाशित)।"

रीति-काल के अन्य कवि

१. **बनवारी**—"स्फुट रचना (अप्रकाशित)"

२. **सबलसिंह चौहान**—"महाभारत (प्रकाशित), रूपविलास, पिंगल (अप्रकाशित)।"

३. **वृंद कवि**—"शृंगारशिक्षा, भाव-पंचासिका[1] (अप्रकाशित), वृंदसतसई (प्रकाशित)।"

४. **छत्रसिंह (कायस्थ)**—"विजयमुक्तावली (अप्रकाशित)।"

५. **बेताल**—"कुंडलिया—स्फुट (प्रकाशित)"

६. **आलम कवि**—"माधवानलकामकंदला (अप्रकाशित), आलमकेलि (प्रकाशित)।"

७. **गुरु गोविंदसिंह**—"सुनीति प्रकाश, सर्वलोक प्रकाश, प्रेम सुमार्ग, बुद्धि सागर (अप्रकाशित)।"

८. **श्रीधर वा मुरलीधर**[2]—"चंडीचरित्र, संगीतशिक्षा, नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के पद, चित्रकाव्य (अप्रकाशित), जंगनामा (प्रकाशित)।"

९. **लाल (गोरेलाल)**—"छत्र प्रकाश (प्रकाशित)।"

१०. **घनानंद**—"सुजानसागर, विरहलीला (प्रकाशित), कोकसार (अप्रकाशित)।"

११. **रसनिधि**—"रसकेलि, कृपाकांड, अरिल्ल-हजारा (अप्रकाशित), रतन-हजारा (प्रकाशित)।"

[1] यह ग्रंथ किशनलाल श्रीधर बंबई के छापेखाने में छप चुका है।

[2] श्रीधर-मुरलीधर कवियों के नाम दो बार आए हैं, ग्रंथ भी पृथक् हैं।

१२. **नागरीदास**—"मनोरथमंजरी, सिंगारसमय, गोपीप्रेम-प्रकाश, पद-प्रसंगमाला, ब्रज-बैकुंठ तुला, ब्रजसार, भोरलीला, प्रातरस-मंजरी, बिहारचंद्रिका, भोजनानंद-अष्टक, जुगल-रस माधुरी, फूल-विलास, गोधन-आगमन-दोहन, आनंदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्म-विहार, पावसपचीसी, गोपीनैंन-विलास, रासरस-लता, नैंन-रूप-रस, शीत-सार, इश्कचमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षाऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्ण-जन्मोत्सव के कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोबरधन धारण के कवित्त, होरी के कवित्त, फागु, गोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमग-दीपिका, तीर्थानंद, फागबहार, बालविनोद, बनविनोद, सुजनानंद, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक रत्नावली, कवि-वैराग्य वल्लरी, अरिल्ल पचीसी, छूटक विधि, भागवत पारायण बिधि, सिखनख, छुटक कवित्त, चाँचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मंजरी, रामचरित्र-माला, पद-प्रबोध-माला, जुगल भक्ति-विनोद, रसानुक्रम के दोहा, शरद की माँझ, साँझी-फूलबीनन—संवाद, वसंत वर्णन, रस-अनुक्रम के कवित्त, फाग खेलन समै अनुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास, गोविंद परचई, बनज प्रशंसा, छूटक-दोहा, उत्सव माला और पद मुक्तावली (अप्रकाशित), नागरसमुच्चय (प्रकाशित)।"[1]

१३. **जोधराज**—"हम्मीर रासो (प्रकाशित)।"

१४. **बख्शी हंसराज**—"स्नेहसागर,[2] विरह विलास, रामचंद्रिका, (अप्रकाशित)।"

१५. **जनकराज किशोरीशरण**—"आंदोलन रहस्य दीपिका, तुलसीदास चरित्र, विवेकसारचंद्रिका, सिद्धांत चौतीसी, बारहखड़ी, ललित-शृंगार-दीपक, कवितावली, जानकी-शरणाभरण, सीताराम मुक्तावली, अनन्य तरंगिणी, रामरस तरंगिणी, आत्म-संबंध-दर्पण, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदांतसार, श्रुतिदीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण (अप्रकाशित)।"

१६. **अलबेली अलि**—"श्रीस्तोत्र, समय-प्रबंध पदावली (अप्रकाशित)।"

१७. **चाचा वृंदावनदास**—"बीस हजार पद, जिसमें भगवान कृष्ण के छद्म, अष्टयाम, नखसिख आदि विषय हैं (अप्रकाशित)।"

१८. **गिरिधर कविराय**—"कुंडलिया (प्रकाशित)।"

१९. **भगवत रसिक**—"स्फुट-छंद—पद, छप्पय, कवित्त, कुंडलिया, दोहा तथा ध्यान मंजरी, अनन्य-निश्चयात्मक (प्रकाशित)।"

२०. **हठी जी**—"राधासुधा-शतक, (अप्रकाशित)।"[3]

२१. **गुमान मिश्र**—"कृष्णचंद्रिका (अप्रकाशित), श्री हर्ष के 'नैषध' का पद्यानुवाद (प्रकाशित)।"

२२. **सरजूराम पंडित**—"छंदाटवी (अप्रकाशित)।"

२३. **भगवंतराय खीची**—"हनुमान पचीसी (अप्रकाशित)।"

२४. **सूदन चौबे**—"सुजान चरित्र (प्रकाशित)।"

२५. **हरिनारायण**—"माधवानल-कामकंदला, बेताल पचीसी (अप्रकाशित)।"

२६. **ब्रजवासीदास**—"ब्रजविलास (प्रकाशित)।"

[1]. नागरीदास जी के ये संपूर्ण ग्रंथ—जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है 'नागरसमुच्चय' नामसे बंबई के श्रीधर शिवलाल के ज्ञान सागर प्रेस में छप कर प्रकाशित हो चुके हैं। [2]. यह ग्रंथ ला० भगवानदीन के संपादकत्व में साहित्यभूषण कार्यालय काशी से छप कर प्रकाशित हो चुका है। [3]. यह भी भारत-जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। —ज० च०।

२७. **गोकुलनाथ-गोपीनाथ**—"महाभारत और हरिवंश पुराण का अनुवाद केवल गोकुलनाथ-द्वारा (अप्रकाशित), चेतचंद्रिका (प्रकाशित)।"

२८. **मणिदेव**—"राधाकृष्ण विलास, राधा नखसिख, नामरत्नमाला, सीताराम-गुणार्णव, अमरकोष-भाषा, कवि-मुख-मंडन (अप्रकाशित)।"

२९. **बोधा कवि**—"विरह बारीश, इश्कनामा[1] (प्रकाशित), माधवानल-कामकंदला (अप्रकाशित)।"

३०. **रामचंद्र कवि**—"चरण-चंद्रिका (अप्रकाशित)।"

३१. **मंचित कवि**—"सुरभदीन लीला, कृष्णायन (अप्रकाशित)।"

३२. **मधुसूदन दास**—"रामाश्वमेध (अप्रकाशित)।"

३३. **मनियाँ सिंह**—"महिम्न-भाषा, सौंदर्यलहरी, हनुमतछब्बीसी (अप्रकाशित)।"

३४. **कृष्णदास**—"सुंदरकांड-माधुर्य-लहरी (अप्रकाशित)।"

३५. **गणेश कवि**—"वाल्मीक रामायण-श्लोकार्थ प्रकाश (अप्रकाशित)।"

३६. **संमन कवि**—"स्फुट दोहा (अप्रकाशित)।"

३७. **(अ)**—"स्फुट कवित्त, सतसई-वरणार्थ, ठाकुर-ठसक"

३८. **ललकदास**—"सत्योपाख्यान (अप्रकाशित)।"

३९. **सुभान**—"अमर-प्रकाश, अष्टयाम, लक्ष्मण-शतक, हनुमान-नख-सिख, हनुमान-पंचक, हनुमान-पचीसी, नीतिविधान, समरसार, नृसिंह-चरित्र, नृसिंह-पचीसी (अप्रकाशित)।"

४०. **नवलसिंह कायस्थ**—"रासपंचाध्यायी, रामचंद्र-विलास, संकटमोचन, जौहरिन-तरंग, रसिक-रंजनी, विज्ञानभाष्कर, ब्रजदीपिका, रंभा-शुक संवाद, नामचिंतामणि, मूल भारत, भारत सावित्री, भारत कवितावली, भाषा सप्तसती, कवि जीवन, आल्हा-रामायण, रुक्मिणी मंगल, मूल ढोला, रहस लावनी, अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, नारी प्रकरण, सीता-स्वयंवर, राम-विवाह खंड, भारत वार्तिक, रामायण सुमरिणी, पूर्व श्रृंगार खंड, मिथिला खंड, दान-लोभ संवाद, जन्म खंड (अप्रकाशित)।"

४१. **रामसहाय (कायस्थ)**—"रामसतसई, वाणी भूषण, ककहरा (अप्रकाशित)।"

४२. **चंद्रशेखर कवि**—"हम्मीर हठ, विवेक-विलास, रसिक-विनोद, हरिभक्ति-विलास, नखसिख, वृंदावन शतक, ग्रह-पंचासिका, ग्रहज्योतिश, माधवी-वसंत (अप्रकाशित)।"

४३. **बाबा दीनदयालगिरि**—"अन्योक्तिकल्पद्रुम (प्रकाशित), अनुरागबाग, वैराग्य दिनेश, विश्वनाथ नवरत्न, दृष्टांत तरंगिणी (अप्रकाशित)।"

४४. **पजनेश कवि**—"पजनेश-प्रकाश (प्रकाशित)।"

४५. **गिरिधरदास**—"जरासंध-वध महाकाव्य, भारतीभूषण, भाषाव्याकरण,[2] रसरत्नाकर, ग्रीष्म-वर्णन, मत्स्यकथामृत, वाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुरामकथामृत, कलि-कथामृत, नहुष नाटक,[3] गर्गसंहिता, एकादशी महात्म्य, वाल्मीकि रामायण, छंदार्णवनीति, अद्भुत रामायण, लक्ष्मी-नख-सिख, वार्त्ता संस्कृत, ककारादि, सहस्रनाम, गया-यात्रा, गयाष्टक, द्वादशदलकमल, कीर्त्तन-संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, भगवत स्तोत्र, श्रीराम स्तोत्र, शिव स्तोत्र, गोपाल स्तोत्र, श्री राधा स्तोत्र, रामाष्टक, कालियकथाष्टक, (अप्रकाशित)।"

[1]. बिरहवारीश लखनऊ से तथा इश्कचमन भारतजीवन प्रेस काशी से छप कर प्रकाशित हो चुके हैं।

[2], [3]. ये दोनों ग्रंथ भी 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' में छप चुके हैं।

४६. **द्विजदेव (महाराज मानसिंह)**—"श्रृंगारलतिका, श्रृंगारबत्तीसी (प्रकाशित)।"

आधुनिक-काल पुरानी धारा

१. **सेवक कवि**—"वाग्विलास, नखसिख, (प्रकाशित)।"
२. **महाराज रघुराजसिंह**—"रामस्वयंवर, रुक्मिणीपरिणय, आनंदांबुनिधि,[१] रामाष्टयाम (प्रकाशित)।"
३. **सरदार कवि**—"वाग्विलास, षट्ऋतु, हनुमतभूषण, तुलसीभूषण, श्रृंगारभूषण, श्रृंगार संग्रह,[२] रामरत्नाकर, साहित्यसुधाकर, रामलीला प्रकाश, रसिकप्रिया की टीका, सूर के दृष्टिकूट,[३] बिहारी सतसई की टीका (अप्रकाशित), साहित्य सरसी, कविप्रिया केशवदास की टीका (प्रकाशित)।"
४. **बाबा रघुनाथ दास (रामसनेही)**—"विश्राम सागर (प्रकाशित)।"
५. **ललित किशोरी-ललित माधुरी (लखनऊ वाले)**—"अभिलाष माधुरी–स्फुट रचना (प्रकाशित)।"
६. **राजा लक्ष्मणसिंह**—"संस्कृत मेघदूत और शकुंतला नाटक के अनुवाद (प्रकाशित)।"
७. **लच्छीराम**—"मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, लक्ष्मीश्वररत्नाकर, रावणोवृत्तकल्पतरु, कमलानंदकल्पतरु (प्रकाशित)।"
८. **गोविंद-गिल्लाभाई**—"भूषण, नीतिविनोद, श्रृंगारसरोजिनी, षट्ऋतु, पावसपयोनिधि, समस्यापूर्ति प्रदीप, वक्रोक्तिविनोद, श्लेष-चंद्रिका, प्रारब्धपचीसी, प्रवीणसागर (प्रकाशित)।"
९. **भारतेंदु हरिश्चंद्र**—"हरिश्चंद्र ग्रंथावली[४] (प्रकाशित)।"
१०. **प्रतापनारायण मिश्र**—"स्फुट रचना संग्रह (प्रकाशित)।"
११. **बदरीनारायण चौधरी**—"प्रेमधन सर्वस्व (प्रकाशित)।"
१२. **ठाकुर जगमोहनसिंह**—"मेघदूत का अनुवाद, प्रेम-संपत्ति-कला (प्रकाशित)।"
१३. **अंबिकादत्त व्यास और रामकृष्ण बर्मा (उप० बलवीर)**—"श्यामलता, श्यामासरोजिनी, समस्यापूर्त्ति प्रकाश, बिहारी-विहार (प्रकाशित)।"
१४. **लाला सीताराम (उप० भूप)**—"रघुवंश और मेघदूत के अनुवाद (प्रकाशित)।"
१५. **हरिऔध**—"रसकलस (प्रकाशित)।"
१६. **श्रीधर पाठक**—"ऋतु-संहार का अनुवाद (प्रकाशित)।"
१७. **बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'**—"रत्नाकर-संग्रह, बिहारी सतसई की टीका—बिहारी रत्नाकर, सूरसागर (प्रकाशित)।"
१८. **राय देवीप्रसाद पूर्ण**—"पूर्ण संग्रह (प्रकाशित)।"
१९. **सत्यनारायण कविरत्न**—"भ्रमरदूत, स्फुट रचना—पद, मालती-माधव (प्रकाशित)।"
२०. **वियोगी हरि**—"बीरसतसई (प्रकाशित)।"

१. यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत का पूर्ण अनुवाद है और बंबई के बेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। २, ३. ये ग्रंथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुके हैं। ४. हरिश्चंद्र-ग्रंथावली के दो खंड—द्वितीय और तृतीय छपे हैं। द्वितीय खंड में निम्न- लिखित काव्य ग्रंथ हैं—"भक्तिसर्वस्व, प्रेमाश्रु-वर्षण, प्रेममालिका, कार्तिकस्नान, वैशाख महात्म्य, प्रेम- सरोवर, जैन कुतूहल, प्रेम-माधुरी, प्रेम-तरंग, उत्तरार्ध भक्तमाल, प्रेमप्रलाप, गीतगोविंदानंद, सतसई श्रृंगार (बिहारी सतसई के १०१ दोहों पर कुंडलिया), होली, मधुमुकुल, राग संग्रह, वर्षाविनोद, विनय-प्रेम-पचासा, फूलोंका गुच्छा, प्रेम फुलवारी और कृष्णचरित।" तृतीय भाग में (जो अभी छपा है) आपके लिखे नाटक हैं।

ऊपर कुछ वर्गीकरण के साथ ब्रजभाषा की रचनाओं की सूची प्रस्तुत की गई है। अब यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि ब्रजभाषा में संपादित सामग्री की क्या दशा है और संपादकों ने प्राचीन कवियों की रचना के स्वरूप-निर्धारण में किन सिद्धांतों का उपयोग किया है। प्राचीन कवियों की बहुत सी रचनाएँ नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के सराहनीय प्रयत्न और उसके संरक्षकों एवं कार्य-कर्ताओं की लगन तथा प्राचीन साहित्योद्धार-भावना के फल-स्वरूप प्रकाश में आईं। कुछ ग्रंथ-मालाएँ भी निकाली गईं और इन मालाओं में पूर्ण रूप से प्रमुख कवियों की रचनाओं ने कारागार के निविड़तम से मुक्त होकर जीवन का आलोक देखा और अपनी सुरभि से साहित्योद्यान और रसिक-सहृदयों के कंठहार बन गए। इसके अतिरिक्त प्राचीन रचनाओं को प्रकाश में लाने का श्रेय बाबू 'रामकृष्ण' वर्मा काशी को है, जिन्होंने 'भारत जीवन प्रेस' से मुद्रित करके बहुत बड़ी संख्या में ब्रजभाषाकी पुस्तकों को छापा। इसके अतिरिक्त नवल किशोर प्रेस लखनऊ तथा अन्य प्रांतों के प्रेस और उसके अधिकारियों-द्वारा भी यह महान् कार्य संपन्न हुआ, जिसके लिये हिंदी-संसार इन मातृभाषा-सेवियों से उपकृत है।

जो ग्रंथ इन प्रेसों और संस्थाओं-द्वारा प्रकाशित हुए, वे दो प्रकार के हैं। एक वह जिनमें कोई टीका-टिप्पणी एवं समालोचनात्मक भूमिका नहीं दी गई है। वरन, जैसी उनकी कोई प्रतिलिपि मिली वैसी ही वह प्रकाशित कर दी गई है। इसमें अधिकांश बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित और प्रारंभ में नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित एवं स्वर्गीय बाबू (बाद में डा०) श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित हैं। इन ग्रंथों के विषय में इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि इनके संपादन के संबंध में कोई नियम निर्धारित नहीं किये गए हैं और न अनेक प्रतियों को सामने रखकर भाषा के स्वरूप को स्थिर करने का ही प्रयास किया गया है। इन पुस्तकों के संपादन में कोई दृष्टि नहीं रखी गयी; एक-आध प्रति जो भी उपलब्ध हो सकी उसको उसी प्रकार छाप दिया गया। इस प्रकार की कुछ पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसे—

१. **जसवंतभूषण ग्रंथ**—यह महाराज जसवंतसिंह-द्वारा लिखित और जोधपुर के मारवाड़-स्टेट प्रेस से सं० १९५४ वि० में प्रकाशित हुआ। पं० रामकर्ण-द्वारा इसमें संशोधन भी किया गया है, पर यह संशोधन केवल यत्र-तत्र छापे या हस्तलिखित प्रति के शब्दों का है, कोई नियमपूर्वक भाषा-संबंधी संशोधन नहीं किया गया है।

२. **बिहारी सतसई**—यह कृष्ण कवि के कवित्तों सहित छठींवार मार्च १९०५ ई० में नवल-किशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित हुई। छठे संकरण में भी कोई विशेष बात उल्लेखनीय नहीं है।

३. **ठाकुर शतक**—चरखारी के निवासी ठाकुर कवि की कृति काशी प्रसाद द्वारा संग्रहीत की गई है और सन् १९०४ ई० में भारतजीवन प्रेस काशी से मुद्रित है। कोई टीका-टिप्पणी नहीं है और न भाषा के संबंध में कोई विचार ही उपस्थित किया गया है।

४. **श्री राधासुधा शतक**—यह प्रसिद्ध 'हठी' कवि रचित है। इसके मुख्य संपादक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और हरिप्रकाश यंत्रालय से सन् १८९७ ई० में प्रकाशित है। इसमें केवल मूल पाठ ही दिया गया है।

५. **हम्मीर रासो**—यह नागरी प्रचारिणी-ग्रंथमाला का १३ वाँ पुष्प है। बा० श्यामसुंदरदास इसके संपादक हैं। यह स० १९०८ ई० में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के रचयिता कवि 'जोधराज' हैं। भूमिका तो इस पुस्तक में ७९ पृष्ठ की दी गई है, जिसके अंदर ऐतिहासिक 'हम्मीर' और उनके संबंध में विचार उपस्थित किये गए हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-कला अथवा संपादन के संबंध में कुछ नहीं लिखा गया।

६. **रुक्मिणी स्वयंवर**—यह महाराज रघुराज सिंह जू देव द्वारा अनूदित है और सन् १८८७ ई० में भारत माता यंत्रालय रीवाँ से मुद्रित है।

७. **छत्रप्रकाश**—यह भी नागरी-प्रचारिणी सभा-ग्रंथ-माला का ३४वाँ पुष्प है जो सन् १६१६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक बाबू श्यामसुंदर दास और कृष्णवल्देव वर्मा हैं। भूमिका में केवल इतिहास वर्णित है। संपादन या भाषा के संबंध में एक शब्द भी नहीं दिया गया।

८. **आलमकेलि**—लाला भगवानदीन द्वारा संपादित प्राचीन कवि-माला' का पहिला पुष्प है। इसमें आलम और उनकी पत्नी शेख की रचनाएँ हैं। संपादक महोदय ने केवल यह लिखा है—

> **"अपने विषय में मुझे यह कहना है कि मैंने इस पुस्तक..........देखा है, टिप्पणियाँ लिखी हैं और यत्र-तत्र दोषों का संशोधन किया है, तो भी जहाँ-जहाँ छंदों का अर्थ समझ में नहीं आया वहाँ मैंने पाठ ज्यों का त्यों रहने दिया है।"**

इससे स्पष्ट है कि भाषा के संबंध में कोई विचार नहीं किया गया है।

६. **हिंमत बहादुर विरुदावली**—संपादक लाला भगवानदीन। यह सन् १६१६ ई० में नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से प्रकाशित हुई और उसकी ग्रंथ-माला का १६ वाँ पुष्प है। भूमिका में पद्माकर की जीवनी और हिंमतबहादुर की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। संपादन एवं भाषा-शोधन में कुछ श्रम नहीं किया है।

१०. **दीनदयाल ग्रंथावली**—संपादक श्यामसुंदर दास। यह नागरी प्रचारिणी सभा-ग्रंथ-माला २५ वें के नाम से प्रकाशित है और सन् १६१६ में छपी।

इस प्रकार सन् १८६५ ई० में बाबू रामकृष्ण वर्मा के संपादन में उनके प्रेस भारतजीवन यंत्रालय काशी से अनेक प्राचीन कवियों की कृतियाँ निकलीं, पर इनमें न भूमिका थी और न इनमें किसी प्रकार का भाषा-शोध । 'देव' का अष्टयाम सब से पहले इन्होंने ही छापा। इस प्रकार हम देखत हैं, कि उस समय हिंदी के कितने ही गण्यमान कवियों की रचनाएँ प्रकाशित की गई, पर उस समय इस बात पर विचार नहीं किया गया कि इन कवियों की भाषा के संबंध में भी या तत्कालीन कवियों की भाषा के वास्तविक स्वरूप को निर्धारण करने के लिये भी यत्नशील होना चाहिए। इसके उपरांत हमारे साहित्यक विद्वानों ने कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारंभ किया, बिहारी आदि की रचनाओं को लेकर ग्रंथावलियाँ प्रकाशित की गईं। इनमें प्रायः कवियों की समस्त रचनाओं को देने के साथ ही साथ सुंदर और विस्तृत एवं तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। उदाहरण के लिये 'मतिराम-ग्रंथावली' को लीजिये, इसका संपादन हिंदी के सुयोग्य विद्वान् पं० 'कृष्णविहारी' मिश्र द्वारा हुआ है और गंगा-पुस्तकमाला लखनऊ से प्रकाशित है। प्रथम संस्करण सं० १६८३ वि० में निकला। विस्तृत भूमिका २४८ पृष्ठ की है। इसमें विद्वान् लेखक ने केवल साहित्य एवं मतिराम के काव्योत्कर्ष एवं काव्य-कला के विषय में ही अपने उन्नत और गवेषणात्मक विचार उपस्थित नहीं किये, वरन् तुलनात्मक ढंग से मतिराम की रचना की भी परख की है। मतिराम की तुलना अंग्रेजी और संस्कृत कवियों से भी की गई है। जैसे—मतिराम-बेनीप्रवीन, मतिराम-कालिदास, मतिराम-शेक्सपियर। इस प्रकार की आलोचनाएँ अनेक कवियों की की गई। महाकवि बिहारीलाल पर तो अलग साहित्य-सा ही बन गया—देव और बिहारी, बिहारी और देव, सतसई-संहार इत्यादि अनेक ग्रंथ आए। सबसे प्रथम प्रयास भाषा के संबंध में यदि किसी ने किया तो वह 'मिश्रबंधु' थे। ४ अप्रैल १६०७ ई० को प्रकाशित भूषण-ग्रंथावली की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

> **"सहृदय पाठकों को ग्रंथावलोकन से विदित होगा कि इसमें शब्दों के लिखने में उनको शुद्ध संस्कृत के स्वरूप में न लिखकर बिगड़े हुए (हिंदी) स्वरूप में लिखा गया है, यथा—स्रम (श्रम) सकति (शक्ति) भूखन (भूषण) दुग्ग (दुर्ग) छिति (क्षति') इत्यादि।.......उस विषय में हमें केवल यही वक्तव्य है कि भाषा में जो रूप उत्तम समझा जाता है और जो रूप भूषण जी एवं अन्य कविगण पसंद करते हैं, वही लिखा गया है। भाषा के कविगण केवल कटुता बचाने एवं श्रुति-माधुर्य लाने के लिये ऐसा किया करते हैं और इसमें कोई दूषण भी नहीं है।"**

मिश्रबंधुओं के इस कथन की हमें कोई आलोचना नहीं करनी है। अभिप्राय केवल इतना है कि इन विद्वानों ने वास्तव में कोई उचित प्रयत्न नहीं किया कि भूषण ने वास्तव में कौन से शब्द का कौन-सा स्वरूप रखा और उन्होंने किस आधार पर अपने संपादन में उस रूप को स्थान दिया। हिंदी-साहित्य के प्रकांड पंडित एवं ब्रजभाषा-काव्य के एकमात्र कवि विद्वद्वर 'रत्नाकर' जी ने इस ओर ध्यान दिया और 'बिहारी-रत्नाकर' का संपादन करके भाषा के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर दिया। इसके उपरांत उन्होंने 'सूरसागर' का संपादन भी प्रारंभ कर दिया, पर दैव-कोप से हिंदी-संसार उनके निधन से सूर की रचनाओं का वास्तविक रूप न देख सका और उन्होंने उसे अपूर्ण छोड़कर गोलोकवास किया। बिहारी-रत्नाकर के प्रकाशन के पूर्व भाषा के संबंध में विद्वानों में बहुत विचार-विनिमय हुआ और इस बात की भी आवश्यकता समझी गई कि अभी तक जो कुछ प्राचीन कवियों की सामग्री प्रकाशित हो चुकी है उसे तथा अन्वेषण के उपरांत प्राप्त होनेवाले अन्य प्राचीन कवियों की रचनाओं के संस्करण आधुनिक संपादन-कला के अनुसार निकाले जायँ। सं० १९२६ ई० तक मुद्रित और प्रकाशित संस्करणों का अच्छा परिचय श्री 'दुलारेलाल भार्गव' ने 'बिहारी-रत्नाकर' के संपादकीय निवेदन में दिया है। वे लिखते हैं—

"इसमें संदेह नहीं कि कुछ साहित्यिक गोताखोरों ने बस्तों की कंदराओं से निकाल कर अनेक ग्रंथ-रत्नों का मुद्रण-उद्धार अवश्य किया है, परंतु वे भी प्रकाशन के उस प्राचीन परिच्छेद में प्रकट हुए हैं, जो इस समय बिलकुल प्रचलित नहीं। इसके अतिरिक्त ये ग्रंथ रत्न जिस रूप में प्राप्त हुए हैं, उसीमें प्रायः प्रकाशित कर दिये गये हैं। उनका समुचित संशोधन और संस्करण करके भूमिका-टिप्पणी आदि की ओप तथा डाक देकर सुंदर सुसज्जित स्वरूप में साहित्य-संसार को समर्पित करने का पर्याप्त प्रयत्न नहीं किया गया है।"

पाठ-संशोधन का प्रयास सर्व प्रथम रत्नाकर जी ने ही किया। वे 'बिहारी-रत्नाकर' के प्राक्कथन में लिखते हैं—

"दोहों के पाठ शुद्ध करने में हमको बड़ा श्रम उठाना पड़ा। प्रत्येक दोहे के पाठ का मिलान पाँचों प्राचीन प्रतियों से करने के अतिरिक्त जो शब्द सतसई में अथवा अन्यान्य ब्रजभाषा ग्रंथों में कई-कई रूपों से लिखे मिलते हैं, उनके बिहारी-स्वीकृत रूपों को निर्धारित करने में बहुत समय व्यय हुआ और बड़ी कठिनाई पड़ी।"

इसके आगे के वक्तव्य में स्वरूप-निर्धारण के जिन उपायों को उन्होंने अपनाया है उनका वर्णन दे दिया है। उस समय के उपरांत यद्यपि अनेक प्रतियों के आधार पर अनेक स्वरूप निर्धारित रचनाओं के कुछ अच्छे संस्करण प्रकाशित हो गए हैं, पर ऐसा स्वरूप-निर्धारण जैसा रत्नाकर जी ने किया है किसी भी संपादक ने नहीं किया। मेरा विचार है इस दिशा में कार्य रूप से अवश्य ही हाथ डाला जाय। ब्रज-साहित्य-मंडल के तत्वावधान में ब्रजभाषा के आचार्यों एवं विद्वानों का एक सहयोगी-समाज बनाकर ब्रज-साहित्य के शुद्ध रूप के दर्शन कराए जाएँ। अंत में मैं ब्रजभाषा के कवियों और उन पर लिखी गई आलोचनाओं की एक सूची देना आवश्यक समझता हूँ, जो कि यथा संभव ब्रजभाषा-साहित्य पर प्रकाशित पूरी सामग्री पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर देगी। इससे विदित होगा कि आज तक ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन और अन्वेषण एवं शोधन कहाँ तक हो सका है। लेख का कलेवर अत्यधिक बढ़नेकी आशंका से हम इस सामग्री के विषय में विशेष नहीं लिखना चाहते हैं। पाठकों को इससे अवश्य स्पष्ट हो जायगा कि ब्रज-साहित्य का कितना अंश प्रकाश में आ चुका है। यथा—

१. **उमाशंकर शुक्ल**—नंददास (समालोचना तथा ग्रंथ), प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय, स० १९४२ ई०।

२. **कवि किंकर**—घनानंद रत्नावली, पद्माकर रत्नावली, रसखान रत्नावली (समालोचनात्मक), प्र०—भारतवासी प्रेस दारागंज प्रयाग, स० १९४१।

३. **कृपाराम**—हित-तरंगिणी (साहित्य शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९१५।

४. **कृष्णबिहारी मिश्र**—पूर्णसंग्रह (समालोचना), देव और बिहारी (आलोचना), मतिराम ग्रंथावली (समालोचना-सहित) प्र०—गंगा पुस्तक-माला कार्यालय लखनऊ, मुद्रण समय क्रमशः स० १९२५ तथा १९२६।

५. **कृष्णशंकर शुक्ल**—केशव की काव्य-कला (समालोचना), प्र०—सीताराम प्रेस काशी, स० १९३४। कविवर रत्नाकर (समालोचना) प्र०—देवेंद्रचंद्र काशी, स० १९३५।

६. **केशवदास**—रसिकप्रिया (साहित्य-शास्त्र), प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८७७।
 २. प्र०—नारायण भारती—जसवंत भारती बंबई, स०—१९००।
 ३. सरदार कवि की टीका सहित, प्र० नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८९८
 ४, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १९१४।
 २. कविप्रिया सटीक (साहित्य शास्त्र) प्र०-नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।
 २ " (टीका-हरिचरणदास) प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९०
 ३ कविप्रिया (सटीक) टीका नाम—'प्रियाप्रकाश' टी०—ला० भगवानदीन—प्र० नेशनल प्रेस, काशी स० १९२५
 ३. रामचंद्रिका (काव्य-सटीक), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८२
 २. " (सटीक) जानकी प्रसाद कृत टीका, प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १९०७।
 ३. " सं०—ला० भगवान दीन, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२२।
 ४. " (सटीक—टीका का नाम 'केशव कौमुदी) कर्त्ता—ला० भगवान दीन, प्र०-साहित्य-सेवासदन काशी, स० १९२३, दो भागों में।
 ४. नखशिख सं०—रत्नाकर, प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९२३।
 ५. वीरसिंहदेव चरित, सं०—रत्नाकर, प्र०—ओरछा-दरबार, स० १९४०।
 ६. विज्ञान गीता (धर्म), प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८३४।

७. **गंगाप्रसाद सिंह**—पद्माकर की काव्य-साधना (समालोचना), प्र०—साहित्य सेवा-सदन काशी, स० १९३४।

८. **गजाधर**—छंदोमंजरी (साहित्य-शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८८७।

९. **गिरिधर कविराय**—कुंडलिया (नीति), प्र०-मुस्तफाये प्रेस लखनऊ, स० १८७४।
 २. प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८३।
 ३. प्र०—गुलशन ए पंजाब प्रेस रावलपिंडी, स० १८९६।
 ४. प्र०—जैन प्रेस लखनऊ, स० १८९७।
 ५. प्र०—किशनलाल श्रीधर बंबई, स० १९०२।
 ६. भार्गव बुकडिपो काशी, स० १९०४।

१०. **गिरिधरदास (गोपालचंद्र)**—जरासंध-बध (काव्य), प्र०—चौखंवा काशी, स० १८७४।
 २. भारतीभूषण (साहित्य-शास्त्र), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८१।
 ३. रस-रत्नाकर (साहित्य-शास्त्र), प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १९०६।

११. **गिरिधर गोपाल तथा हरिश्चंद्र**—प्रेमतरंग (काव्य), प्र०—हरिप्रकास प्रेस काशी, स० १८८४।

१२. **गुलाबसिंह (कविराज)**—बृहद्व्यंग्यार्थ-चंद्रिका (साहित्य-शास्त्र), प्र०—रामकृष्ण वर्मा काशी, स० १८८७।

१३. **गोकुलनाथजी गोस्वामी**—वचनामृत (धर्म), प्र०—अंगद शास्त्री अलीगढ़, स० १८७०।
 २. वचनामृत (धर्म), प्र०—हरीदास तेवरदास, वैष्णव अहमदाबाद, स० १९०९।
 ३. चौबीस वचनामृत (धर्म), प्र०—माणिकलाल छोटालाल भाई प्रेस अमदाबाद, स० १८८७।

२. चौबीस बचनामृत (धर्म), लल्लूभाई छगनलाल देसाई अमदाबाद, स० १९२६।
३. गोवर्धनवासी चिंतन (धर्म), प्र०—हरीदास तेवरदास वैष्णव अमदाबाद, स० १९०९।
४. बनयात्रा (धर्म), प्र०—हरिदास तेवरदास वैष्णव, अमदाबाद, स० १९०७।
५. पवित्रा एकादशी नूं धौल (धर्म), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मीदास बंबई, स० १८९५।
६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (धर्म), प्र० रणहर पुस्तकालय डाकौर, स० १९०३।
७. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता (धर्म), प्र०—रणहर पुस्तकालय डाकौर, स० १९०३।

१४. गोरेलाल (कवि)—"छत्रप्रकाश (काव्य), प्र०—नागरीप्रचारिणी सभा काशी, स० १९०३।

१५. ग्वाल कवि—यमुनालहरी (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८१।
२. षट्ऋतुवर्णन (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस, काशी, स० १८९३।
३. नख-सिख (काव्य), प्र०—लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद, स० १९०३।

१६. घनानंद—सुजानसागर (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८८७।
२. विरहलीला (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०७।

१७. चिंतामणि—कविकल्पतरु (साहित्य-शास्त्र), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८५७।

१८. छत्रसिंह (कवि)—विनय मुक्तावली (काव्य), प्र०—मुहम्मद वजीर खाँ आगरा, स० १८६७।
२. प्र०—केशवप्रसाद आगरा, स० १८८१।
३. प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८९६।

१९. जगन्नाथदास (रत्नाकर)—समस्यापूर्ति (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८९४।
२. हिंडोला (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९४।
३. हरिश्चंद्र (काव्य), प्र०—नागरीप्रचारिणी सभा काशी, स० १८९४।
४. गंगावतरण (काव्य), प्र०—इंडियन प्रेस प्रयाग, स० १९२८।
५. उद्धवशतक (काव्य) प्र०—इंडियन प्रेस प्रयाग।

२०. जवाहरलाल चतुर्वेदी—आँख और कविगण (आलोचना-सहित ब्रजभाषा के विविध कवियों के काव्य का तत्संबंधी वृहद् संग्रह), प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १९३२।
२. भक्त और भगवान् (आलोचना-सहित, ब्रजभाषा के विविध कवियों की सूक्तियों का संग्रह), प्र०—हिंदी साहित्य कुटीर काशी, स० १९३८।
३. रास पंचाध्यायी : नंददास (संपादन), प्र०—छात्र हितकारी पुस्तकालय प्रयाग, स० १९३०।
४. शृंगारलतिका-सौरभ : द्विजदेव (संपादन) प्र०—राजसदन अयोध्या, स० १९३८।
५. नंददास : पदावली स०—१९४२।
६. दानलीला श्री हरिराय कृत (आलोचना सहित) प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १९३२।

२१. ठाकुर (कवि)—ठाकुर-सतक (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १९३६।
२. ठाकुर-ठसक (काव्य), प्र०—साहित्य सेवक कार्यालय काशी, स० १८६७।

२२. तुलसीदास गोस्वामी—गीतावली (काव्य), प्र०—चंद्रशेखर प्रेस काशी, स० १८६७।
२. प्र०—इंद्रनारायण घोष कलकत्ता, स० १८६८।
३. प्र०—नृत्यलाल शील कलकत्ता, स० १८७३।
४. सं०—बैजनाथ कुर्मी, प्र०—नवल किशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७८।
५. प्र०—रामकुमार प्रेस काशी, स० १८८३।
२. कृष्ण गीतावली (काव्य) प्र०—रामकुमार प्रेस काशी, स० १८७३।

३. कवित्त-रामायण (काव्य), प्र०—मधुसूदन शील कलकत्ता, स० १८६८ ।
२. प्र०—बजीरखाँ आगरा, स० १८७० ।
४. विनय-पत्रिका (काव्य सटीक), टी०—शिवप्रकाश सिंह काशी, स० १८६८ ।
२. " (सटीक) टीका—ला० भगवानदीन, स० १८२७ ।
३. " (सटीक) टीका—वियोगी हरि, प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १८२३ ।

२३. **दूलह कवि**—कवि-कुल-कंठाभरण (काव्य-शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८८९ ।
२, प्र०—गंगा फाइन आर्ट प्रेस लखनऊ, स० १९०६ ।

२४. **देव (कवि)**—अष्टयाम (काव्य), प्र० भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९२ ।
२. भावविलास (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९३ ।
३, रसविलास (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९३ ।
४, भवानी विलास (सा० शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९०० ।

२५. **नंददास**—बाँसुरीलीला, (काव्य), प्र०—ब्रह्मप्रेस दिल्ली, स० १८७१ ।
२. श्याम-सगाई (काव्य), प्र०—ब्रह्मप्रेस दिल्ली, स० १८७४ ।
२. " प्र०—मोतीलाल फतेहपुर सीकरी, स० १९१० ।
३. " प्र०—अग्रवाल प्रेस प्रयाग, स० १९३४ ।
३. अर्ध चंद्रोदय (भाषा-दर्शन), प्र०—चश्मएकर प्रेस अमृतसर, स० १९०० ।
४. नाममाला (कोष), प्र०—अमीरसिंह बनारस, स० १८७७ ।
५. अनेकार्थ और नाममाला (कोष), प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय ।
६. रास-पंचाध्यायी (काव्य), प्र०—रामस्वरूप शर्मा मुरादाबाद, स० १८९९ ।
७. भँवरगीत (काव्य), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मीदास, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०३ ।
८. रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, (काव्य), सं०—जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्र०—छात्र हितकारी पुस्तकालय प्रयाग ।
९. नंददास (नंददास जी के काव्य ग्रंथ और आलोचना) प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय ।

२६. **नरोत्तमदास**—सुदामा चरित्र (काव्य), प्र०—काशी प्रेस दिल्ली, स० १८८२ ।
२. सं०—लल्लीप्रसाद शुक्ल, प्र०—हिंदी-साहित्य संमेलन प्रयाग, स० १८९० ।

२७. **नागरीदास**—नागरसमुच्चय (काव्य-संग्रह), प्र०—श्रीधर शिवलाल ज्ञानसागर प्रेस बंबई, स० १८९८ ।

२८. **नाभादास**—भक्तमाल (सा०इ०) प्र०—नृत्यलाल शील कलकत्ता, स० १८७३ ।
२. रामाष्टयाम (काव्य), प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८९४ ।

२९. **पजनेश (कवि)**—पजनेश-पचीसा (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९२ ।
२. पजनेश-प्रकाश (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९४ ।

३०. **पद्माकर**—जगद्विनोद (सा० शा०), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७९ ।
२. पद्माभरण, (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९०० ।
३. गंगालहरी (काव्य), प्र०—श्रीधर शिवलाल बंबई, स० १८७४ ।
४. पद्माकर-पंचामृत, (काव्य-संग्रह, आलोचना), सं०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र०—रामरत्न पुस्तकालय काशी, (पद्माकरजी के पाँच ग्रंथ)
५. रामरसायन (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८१४ ।
२ " अयोध्या कांड—स० १८९९ ।

३. " अरण्य कांड—स० १८६५ ।

६. प्रबोधपचासा (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६२ ।

७. हिंमतबहादुर विरुदावली (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६०८ ।

३१. **परमानंददास** (अष्टछाप)—दधि लीला (काव्य), प्र०—असनी प्रेस दिल्ली, स० १८६८ ।

२. परमानंदसागर (काव्य), प्र०-रामचंद्र त्रिवेदी जयपुर, स० १६१४ ।

३२. **पर्मासिंह शर्मा**—सतसई-सौष्ठव और सतसई-संहार (आलोचना) ।

३३. **बेनीप्रवीण**—नवरस-तरंग (सा०शा०), प्र०—एम० एस० मेहता काशी, स० १६२५ ।

३४. **बोधा (कवि)**—बिरह वारीश—माधवानल कामकंदला (काव्य), प्र०—गनेशप्रसाद लखनऊ, स० १८६४ ।

२ कामकंदला-चरित्र, संपा०—ला० भगवान दीन ।

३५. **भगवानदीन**—सूक्तिसरोवर (सा० सं०) प्र०—मिश्रवंधु कार्यालय जबलपुर, स० १६२३ ।

२. बिहारी और देव (आलोचना), बनारस, स० १६२६ ।

३. संपादित ग्रंथ—तुलसीपंचरत्न, सूरपंचरत्न, केशव, रहिमन-सतक आदि...। प्र० नंदकिशोर ब्रदर्श काशी, रामनारायणलाल अग्रवाल प्रयाग, साहित्य भूषण कार्यालय काशी ।

३६. **भिखारीदास (दास कवि)**—छंदार्णव (सा०शा०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६८ ।

२. रससारांस, (सा० शा०), प्र०—राणाप्रतापबहादुरसिंह प्रतापगढ़, स० १८६३ ।

३. शृंगार-निर्णय (सा० शा०), प्र०—गुलशन ए अहमदी प्रेस दिल्ली, स० १८६२ ।

४. काव्यनिर्णय (सा० शा०), प्र०—गुल्शन ए अहमदी प्रेस दिल्ली, स० १८६२ ।

३७. **भूषण**—शिवा-बावनी और छत्रशाल-दशक (काव्य), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मणदास, स० १८६० ।

२. शिवराज-बावनी (काव्य), प्र० ब्रजजीवन मुरारजी त्रिपाठी, स० १८६३ ।

३. शिवराजभूषण (सा० शा०) प्र०—परमानंदसुहाने लखनऊ स० १८६४ ।

२. " प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६०८ ।

३८. **मतिराम**—रसराज(सा० शा०), प्र०—किशनलाल आगरा, स० १८१४ ।

२. ललित-ललाम (सा० शा०), प्र०—भारजीवन प्रेस काशी, स० १८१४ ।

३९. **महाराज 'मानसिंह (द्विजदेव)**—शृंगार-बत्तीसी (काव्य), प्र०—महाराज सर त्रिलोकीनाथ सिंह अयोध्या, स० १८७७ ।

२. शृंगार-लतिका (काव्य), प्र०—ब्रह्मशंकर मिश्र काशी, स० १८८३ ।

३. शृंगारलतिका-सौरभ, सटीक—ब्रजभाषा-टीका-कर्ता पं० जगन्नाथ अवस्थी, हिंदी टीकाकार—महाराज प्रतापनारायण सिंह अयोध्या, सं०—जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा, प्र०—महारानी जगदंबादेवी अयोध्या, मु०—इंडियन प्रेस प्रयाग सं०१६६३ । यह पुस्तक इतनी सुंदर छपी है कि इसके तोल-मोल में हिंदी की कोई पुस्तक आज तक नहीं । संपादन तथा पाठ-निर्णय में बड़ा परिश्रम किया गया है ।

४०. **मिश्रबंधु**—लवकुश चरित्र (काव्य), प्र०—राजकिशोर गोलागंज लखनऊ, स० १८६६ ।

२. देव-ग्रंथावली (समालोचना), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६१० । (प्रेम-चंद्रिका—रसविलास)

३. भूषण-ग्रंथावली (समालोचना सहित), प्र०—नागरी प्रचारणी सभा काशी, स० १६१२ ।

४. देवसुधा (आलोचना और काव्य), प्र०—गंगा फाईन आर्ट प्रेस लखनऊ, स० १६३५ ।

४१. **रणछोड़दास-बरजीवनदास**—पंचमंजरी : नंददास (काव्य), प्र०—सूरतवाला मंदिर भूलेश्वर सामने बंबई, स० १९१६। पंचमंजरी जैसे—अनेकार्थ० नाममाला, विरह०, रस० और रूप०।

४२. **रसखान**—रसखान शतक (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स०—१८९२।

२. सुजान-रसखान (काव्य-संग्रह), प्र०—किशोरीलाल गोस्वामी, वृंदावन (मथुरा), स० १८६७।

३. प्रेमबाटिका (काव्य), प्र०—किशोरीलाल गोस्वामी, वृंदावन, स० १८६७।

४. रसखान-पदावली (काव्य), प्र०—हिंदी प्रेस प्रयाग, स० १९३०।

४३. **रसनिधि**—रतन-हजारा (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८१२।

४४. **रसलीन**—रसप्रबोध (सा० शा०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

२. अंगदर्पण (काव्य० शा०), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८८५।

४५. **रहीम**—नीति कुंडलिया (धर्म), प्र०—बच्चनलाल मिश्र आगरा, स० १८९३।

२. बरवै नायिका-भेद, (सा० शा०), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८९३।

४६. **राधाकृष्णदास**—कविवर बिहारीलाल (समालोचना), प्र०—चंद्रप्रभा प्रेस काशी, स० १८१६।

४७. **रामचंद्र शुक्ल**—(संपादक, तुलसी-ग्रंथावली—समालोचना तथा ग्रंथ), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२३।

२. बुद्धचरित (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२२।

३. भ्रमरगीत-सार (आलोचना), प्र०—गयाप्रसाद शुक्ल काशी, स० १९२३।

४८. **विश्वनाथ प्रसाद मिश्र**—भूषण ग्रंथावली, (समालोचना सहित संपादन) प्र०—साहित्य सेवक कार्यालय काशी, स० १९३१।

२. पद्माकर-पंचामृत (समालोचना, काव्य, संपादन), प्र०—रामरत्न पुस्तकालय काशी, स० १९३५।

३. बिहारी की वाग्भूमि (आलोचना), प्र०—द्वारिकादास काशी, स० १९३६।

४९. **बिहारीलाल**—सतसई (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९०।

५०. **वृंदकवि**—वृंद सतसई (नीति), प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८९८।

५१. **सुंदरदास**—सवैया (धर्म)।

२. सुंदर-ग्रंथावली, सं०—हरिनारायण प्रोहित जैपुर, स० १८९०।

५२. **सूदन**—सुजान चरित्र (काव्य), प्र०—बनारस लायट प्रेस काशी, स० १८६७।

५३. **सूरदास**—सूरसागर-रतन (काव्य), प्र०—बनारस लायट प्रेस काशी, स० १८६७।

२. सूरसंगीत-सार (काव्य), प्र०—अरुणोदय प्रेस कलकत्ता, स० १९०२।

३. विनय-पत्रिका (काव्य), प्र०—ज्ञानसागर प्रेस बंबई, स० १८५७।

२. ,, (सटीक), टी०—सरदार कवि, प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

३. सूर-विनय, सं०—सरदार कवि, प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८७०।

५. सूर-सतक (काव्य), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

६. दृष्टिकूट (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९०।

७. सूरपूर्वार्द्ध (काव्य), सं०—भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८८९।

८. सूर-रामायण (काव्य), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

२. " प्र०—शिवलाल गणेशीलाल मुरादाबाद, स० १८९८।

९. बिसातिनलीला (काव्य), प्र०—हुसेनबक्स फतेगढ़, स० १८७६।

१०. गोपालगारी (काव्य), प्र०—श्रीनाथ ३१९ चितपुर रोड कलकत्ता।

११. भवँरगीत—(काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७८।

१२. मयूरध्वज राजा की कथा (काव्य), प्र०— नंदराम नवलराम, स० १८८३। द्वितीयबार—स० १८९०।

१३. सूर-पचीसी—सूरसाठी (काव्य), प्र०—मनसुखदास शिवलाल मथुरा, स०१९३०।

१४. सूर-वैराग सतक (काव्य), प्र०—मनसुखदास शिवलाल मथुरा, स० १९३०।

१५. सूरसागर (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८२।

२. „ कृष्णलाल आगरा, स० १८८२।

३. „ ईजाद ए किशन प्रेस आगरा, स० १८८९।

४. „ वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १८१७।

५. „ मुंबै उलउलूम प्रेस मथुरा सं० १८७८।

६. „ (सचित्र), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (८ खंड) अपूर्ण, स० १९३४।

५४. सेनापति—कवित्त-रत्नाकर (काव्य), प्र०—हिंदी परिषद् प्रयाग, स० १९३४।

५५. सेवक कवि—नख-सिख (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८९३।

२. वाग्विलास (सा० शा०), प्र०—राजा कमलानंदसिंह पूर्नियाँ, स० १९९५।

५६. सोमनाथ—रासपंचाध्यायी (काव्य), प्र—भारतवासी प्रेस प्रयाग, स० १९३७।

५७. सोमनाथ गुप्त—अष्टछाप-पदावली (संपादन, साहित्य-इतिहास), प्र०—हिंदी भवन लाहौर, स० १९४०।

५८. हजारीप्रसाद द्विवेदी—सूरसाहित्य (समालोचना), प्र०—मध्य भारत हिंदी-साहित्य समिति, इंदौर, स० १९३६।

५९. हफीज्जुल्ला खाँ—नवीन संग्रह (सा० इति०), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, (कानपुर ब्रांच का छपा), स० १८८२।

२. हजारा (संग्रह), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।

३. षट्ऋतु-काव्य-संग्रह (काव्य-संग्रह), प्र०—नवल किशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।

४. प्रेमतरंगिणी (काव्य), प्र०—शिगूफए गुलनार अवध प्रेस बंबई, स० १८९०।

५. मनमोहिनी (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९४।

६०. हरिनारायण प्रोहित—सुंदर-सागर (समालोचना), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९१८।

२. ब्रजनिधि-ग्रंथावली (सा० इति०), प्र०— नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९३१।

३. सुंदर-ग्रंथावली (समालोचना तथा काव्य-संग्रह), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९३६।

६१. हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि)—संक्षिप्त सूरसागर (समालोचना और काव्य-संग्रह), प्र०—हिंदी-साहित्य-संमेलन, प्रयाग, स० १९२२।

२. ब्रजमाधुरी-सार (समालोचना तथा काव्य संग्रह), प्र०—हिंदी-साहित्य-संमेलन प्रयाग, स० १९२३।

३. छत्रसाल-ग्रंथावली, (समालोचना), प्र०—छत्रसाल-स्मारक समिति, छतरपुर,

४. वीरसतसई

६२. हरिरायजी—गोवर्धननाथ जी की प्रागटचवार्ता (धर्म), प्र०—मोहनलाल विष्णुलाल पंडया, बंबई, स० १८७६।

२. नित्यलीला भावना प्रकाश, (धर्म), प्र०—जोशी मूलचंद बंबई, स० १८६८।

३. बड़े शिक्षापत्र (धर्म), प्र०—सुबोधिनी पाठशाला बंबई, स० १८६१।

४. श्रीनाथ जी के प्रागटच की वार्ता (धर्म), प्र०—अधिकारी चरणदास मथुरा स० १९९५।

६३. **हरिश्चंद्र (भारतेंदु)**—विरह सतक (काव्य), प्र०—ज्वालाप्रसाद भार्गव आगरा, स० १८६७।

२. प्रेमतरंग (सा० इति०), प्र०— गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६६।

३. सुंदरी-तिलक (सवैया-संग्रह), प्र०—फौकै काशी प्रेस काशी, स० १८८०।

४. परिहासिनी (काव्य संग्रह), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस, काशी, स० १८८०।

५. पावस कविता-संग्रह (संग्र०), प्र०—खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८९७।

६. रस-बरसात (काव्य-संग्र०), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १९००।

६४. **हित हरिवंश**—वृंदाबन सतक (काव्य), प्र०—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८९४।

२. हित चौरासी (काव्य), प्र०—गो० गोवर्धनलाल वृंदावन (मथुरा) स० १९०६।

३. हित सुधासागर (काव्य), प्र०—श्रीनारायण अलीगढ़, स० १९३६।

मीराजी के पद

(सं० १६४२ की डाकोर वाली प्रति से)

हरि म्हारा जीवण प्राण अधार।[1]
ओर आसिरो णा म्हारा थे बिणा तीणू लोक मझार।
थे बिणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार।
मीराँ रे प्रभु दासी रावली डीज्यो णेक णिहार॥

※

साँवरे मारचा तीर।
री म्हारा पार निकड़गयाँ तीर साँवरे मारचा तीर।
बिरहा अनड़ लागाँ उर अंतर ब्याकुड़ म्हाराँ सरीर।
चंचड़ चित्त चड़शं णा चाड़यां बाँध्यां प्रेम जंजीर।
क्याँ जाणाँ म्हारो प्रीतम प्यारो क्या जाणाँ म्हा पीर।
म्हारो काँई णा बस सजणी नैण झरचां दो नीर।
मीराँ रो प्रभु थे बिछुड्यां बिण प्राण धरत णा धीर॥

※

मण थे परस हरि रे चरण।
सुभग सीतड़ कँवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा हरण।
इण चरण प्रह्लाद परस्याँ इंद्र पदवी धरंण।
इण चरण ध्रुव अटड़ करस्याँ सरण असरण सरण।
इण चरण ब्रह्मांड भेट्याँ णख सिखाँ सिरि भरण।
इण चरण कालियां णाथ्यां, गोपड़ीड़ा करण।
इण चरण धारयां गोवरधण गरब मधवा हरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर अगम तारण तरण॥

※

स्याम शुंदर पर वारां जीवड़ा डारां स्याम।
थारे कारण जग जण त्यागां ड़ोक ड़ाज कुड़ डारां।
थे देख्यां बिण कड़ णा पड़तां णेणा चड़तां धारां।
क्यां सूं कहवां कोण बुझावां कठण बिरह री धारां।
मीराँ रे प्रभु दरशण दीझ्यो थे चरणां आधारां॥

※

सखी म्हारी णीद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारतां शब रैण बिहाणी हो।
सखियाँ शब मिड़ सीख दयां मण एक णा माणी हो।
बिण देख्यां कड़ णा पड़ां मण रोस णा ठाणी हो।
अङ्गखीण व्याकुड़ भयां मुख पिव पिव बाणी हो।
अण्तर बेदण बिरह री म्हारी पीड़ णा जाणी हो।
ज्यूं चातक घण कूं रटां मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीराँ व्याकुड़ बिरहणी सुधबुध बिसराणी हो।

[1]. मीराजी ने 'न' के लिए 'ण' का प्रयोग किया है और 'ल' के लिए 'ड़' का प्रयोग किया है।

ब्रजभाषा के काव्य-ग्रंथों की खोज

श्री किशोरीदास वाजपेयी

अब से लगभग पचास वर्ष पहले 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य अपने सिर लिया था—हिंदी-ग्रंथों की खोज का। इस काम में उसे सरकार से और रजवाड़ों से भी पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली, परंतु खोज का काम जैसा होना चाहिए था, न हुआ। 'सभा' खोज की रिपोर्ट प्रति वर्ष प्रकाशित किया करती थी। उसकी ऐसी ही एक रिपोर्ट की आलोचना करते हुए पं० 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' ने लिखा था—

यह तो मालूम हुआ कि खोज में इतने रुपए खर्च हुए; परंतु (रिपोर्ट से) इसका कोई पता नहीं चलता कि यह खोज किसने की, कहाँ की और कब की।"

द्विवेदी जी की आलोचना बहुत विस्तृत और ब्यौरे-से थी। 'सभा' के अधिकारी इससे बहुत चिढ़ गए थे; परंतु पीछे कुछ सुधार भी हुआ, किंतु वह 'खोज' वस्तुतः बड़ी विचित्र हुई थी! उसी खोज के आधार पर 'मिश्रबंधुओं' ने अपना महाग्रंथ "मिश्रबंधु-विनोद" तैयार किया। जहाँ-जहाँ खोज में गलती है, वहीं 'मिश्रबंधु-विनोद' में हुई, होनी ही थी; फिर मिश्रबंधु-विनोद के आधार पर ही आचार्य पं० श्री 'रामचंद्र' शुक्ल ने हिंदी-साहित्य का इतिहास खड़ा किया। स्वभावतः शुक्ल जी के ग्रंथ में भी वे ही सब भूलें आयीं। उदाहरण के लिए—

'युगल-शतक'

ले सकते हैं। ब्रजभाषा में सुंदर 'सौ दोहे' श्री 'श्रीभट्ट जी' ने लिखे और प्रत्येक दोहे का विकास नीचे मधुर पद्य में किया। सो, सौ दोहे और सौ गेय पदों की समष्टि का नाम है—'युगल-शतक'। 'युगल' से अभिप्रेत हैं श्रीकृष्ण तथा श्री राधिका जी। निश्चय ही खोज करने वाले ब्रज में न पहुँच पाये थे; यद्यपि बीच में न कोई हिमालय था, न कोई महासागर! मरुस्थलीय मैदान भी बीच में नहीं, न दुर्गम जंगल। रेल सीधी गयी है, परंतु 'युगल-शतक' जैसी पुस्तकों की खोज करने उतनी दूर कौन जाय! यह भी न हुआ कि 'पं० किशोरीलाल' गोस्वामी जी से पूछ-ताछ कर ली जाती जो उस समय काशी में ही रहते थे और उसी श्री निंबार्क-संप्रदाय के अनुयायी थे, जिसके आचार्य श्री श्रीभट्ट जी 'युगल-शतक' के लेखक हैं। उस समय कार्ड एक पैसे का ही मिलता था, सो भी खर्च न किया गया; नहीं तो भारतेंदु हरिश्चंद्र के अंतरंग मित्र वृंदावनवासी श्री 'राधाचरण' गोस्वामी से पूछा जा सकता था! यह भी न किया गया और खोज में मन-गढ़ंत बातें लिख दी गयीं। खोज में, मिश्रबंधु-विनोद में तथा साहित्य के इतिहास में 'युगल-शतक' के बारे में जो गपड़चौथ है, उसका सार यह है—

"युगलशतक' श्री श्रीभट्ट जी की रचना है। इस को 'महाबानी' भी कहते हैं।"

इस तरह 'महाबानी' के संबंध में भी खोजी लोगों ने भ्रम फैलाया! वस्तुतः 'महाबानी' एक पृथक् रचना है और उसके रचयिता भी (श्री श्रीभट्ट से) पृथक् हैं—श्री हरिव्यास देव जी! ये श्री श्रीभट्ट के शिष्य थे। 'युगल-शतक' को निंबार्क-संप्रदाय में 'आदि बानी' कहते हैं और श्री हरिव्यास देव जी के इस बड़े ग्रंथ को 'महाबानी'। 'महाबानी' की रचना 'युगलशतक' की ही पद्धति पर है—पहले एक दोहा और फिर नीचे एक (टीका रूप) सुंदर 'पद'। मैंने वृंदावन में अपने हाथ से 'युगल-शतक' की और 'महाबानी' की प्रतिलिपि की थी; इस लिए मेरी खोज को ब्रह्मा भी गलत नहीं बता सकते हैं।

यह एक उदाहरण है उस खोज का! और न जाने कितने ग्रंथों की कहीं खोज-खबर है ही नहीं। मैंने अपने हाथ से 'परशुराम-सागर' की भी प्रतिलिपि की थी। यह बड़ा ग्रंथ श्री परशुरामदास की रचना है, जो निंबार्क-संप्रदाय में हुए हैं। इन्हीं से गोस्वामी 'तुलसीदास' की भेंट का वह गलत वर्णन है, जिसमें प्रचलित है कि परशुरामदास जी ने गोस्वामी जी से राम की उपासना छोड़ देने के लिए कहा था! यदि 'परशुराम-सागर' छप जाय, तो लोग स्वतः समझ जायँ कि वह किंवदंती कितनी झूठ है! भेंट होना ठीक है; पर वह उपासना वाली बात तो कतई झूठ मालूम देती है; क्योंकि 'परशुराम-सागर' तो राम-नाम की महिमा से भरा हुआ है। नीति तथा सदाचार से संबंध रखनेवाले भी बहुत दोहे हैं।

ऐसे और भी बहुत से ब्रजभाषा-काव्य निकल सकते हैं, यदि खोज की जाय। ब्रजभाषा-गद्य-ग्रंथों की तो खोज बिलकुल ही नहीं की गयी है। निंबार्क-संप्रदाय के 'वेदांतकामधेनु' नामक ग्रंथ की टीका ब्रजभाषा-गद्य में बहुत सुंदर है, लगभग ढाई सौ वर्ष की पुरानी और श्रीमद्भगवद्गीता की टीका ब्रजभाषा-गद्य में देखिए—

"यत्र नाम जा पक्ष में, योगेस्वरः नाम सर्वके चित्त कौ नियंता स्वामी ग्रैसौ श्रीकृष्ण वर्तमान है, अरु यत्र नाम जा पक्ष में पार्थ जो अर्जुन जैसौ धनुर्धर नाम गांडीव धनुष कों धारण कर कें स्थित है . . . . ."

यहाँ 'ग्रैसौ' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह टीका ब्रज में नहीं, विंध्याचल के पास गंगा जी के तट पर कहीं लिखी गयी थी—

"बिंध्य निकट सुरतटिनि-तट. . . . ।"

टीकाकार हैं, पं० अनंतराम जी, जो भूमिका में कहते हैं—

"ता गीता-सास्त्र कौ अति गंभीर अर्थ जानि कें अनेक आचार्य अरु तिनके संप्रदायी अनेक पंडित व्याख्या करत भए। ताहू कों व्याकरण, न्याय, वेदांतादि पठित कर कें जे बुद्धिमंत हैं, तेई ग्रहन करि सकें। जिनकें यह सास्त्रन कौ अध्ययन नहीं हैं अरु गीता के पदार्थन की जिज्ञासा है, तिनके उपकार के अर्थ ग्रंथन कौ अर्थ संग्रह करिकें अपनी मति-अनुसार श्री गीतापदार्थ बोधिनी 'बचनिका' भाषा मैंने करी है।"

'अपनी मति-अनुसार' श्री रामचंद्र वर्मा की 'अच्छी हिंदी' के अनुसार गलत है; पर श्री अनंतराम जी के समय में यह परिष्कार हुआ ही न था! गद्य को तब 'बचनिका' कहते थे क्या?

ब्रज-साहित्य मंडल

सो, ब्रजभाषा-ग्रंथों की सुव्यवस्थित खोज का काम अभी ज्यों का त्यों पड़ा है। क्या ही अच्छा हो कि 'ब्रज-साहित्य-मंडल' इस काम को अपने हाथ में ले और पूरी शक्ति लगाकर बरस-दो बरस में पूर्ण करके संपूर्ण सामग्री का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित कर दे। यह एक काम होगा, काशी की 'सभा' का पूरक और हिंदी-साहित्य के इतिहास का आधार।

आशा है, 'पोद्दार-अभिनंदन ग्रंथ' के समर्पण-महोत्सव पर ही हमें 'ब्रज-साहित्य-मंडल' के वैसे शुभसंकल्प की घोषणा सुनने को मिलेगी। अन्यथा, इस अभिनंदन-ग्रंथ में ये पंक्तियाँ पड़ी रहेंगी, तो कभी न कभी, किसी न किसी विशिष्ट व्यक्ति या संस्था का ध्यान इधर जायगा ही। इसी आशा से इतना निवेदन किया है।

ब्रजभाषा का सबसे प्राचीन व्याकरण : एक परिचय

श्री चंद्रभान 'राधे-राधे'

ब्रजभाषा का जादू प्रायः समस्त मुग़ल बादशाहों पर अपनी करामात दिखाता रहा। अकबर से लेकर औरंगजेब तक सभी मुगल-बादशाहों की ब्रजभाषा-रचना की शोध श्री 'चंद्रबली' पाँडे ने की है। अकबर ने दो धर्मों और संस्कृतियों को मिलानेवाली कड़ियों की खोज 'अबुलफ़ज़ल' जैसे अध्येता के माध्यम से कराई। फलतः सांस्कृतिक संघर्ष का तनाव कम हुआ। शुष्क दर्शन-शास्त्र की खोज से ऊबे हुए अकबरी दरबार को 'ब्रजभाषा' के संगीत ने विभोर करदिया। इस युग में ब्रजभाषा का संगीत अपने चरम पर था। इस प्रकार कला के क्षेत्र में भी एक समन्वय-समझौते की झाँकी हुई। अकबर के इन प्रयत्नों ने अनेक उलझनों को सुलझा दिया—समन्वय और एकता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। राजनैतिक दृष्टि से भी मार्ग निर्बाधित था। फलतः शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में ब्रजभाषा-काव्य का जादू सामने आया। ब्रजभाषा-काव्य के माधुर्य से दरबारों की शुष्क दरारें भरने लगीं। काव्य-शास्त्र का गंभीर और बारीक अध्ययन अवकाश-प्राप्त दरबारियों के मनोविनोद का साधन हो गया। अतः काव्यशास्त्र का अध्ययन विशेष रूप से और ब्रजभाषा-संबंधी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन साधारण रूप से हुआ।

औरंगज़ेब, उसके मंत्री अथवा उसके पुत्रों ने ब्रजभाषा-काव्य का किसी न किसी रूप में संरक्षण अवश्य किया। 'कालिदास त्रिवेदी' का नाम औरंगज़ेब के साथ संबद्ध है। स्व० श्री 'रामचंद्र शुक्ल' ने लिखा है कि "उक्त कवि सन् १७४५ वाली गोलकुंडा की चढ़ाई में औरंगजेब की सेना में गया था।" औरंगज़ेब की प्रशंसा में इनका लिखा हुआ एक छंद भी शुक्ल जी ने उद्धृत किया है।[1] 'सुखदेव मिश्र' का संरक्षण कुछ दिनों औरंगज़ेब के मंत्री 'फाज़िलअली शाह' ने किया था। औरंगज़ेब का पुत्र 'आज़मशाह' ब्रजभाषा, ब्रजभाषा के कवियों और ब्रजभाषा-काव्य का बड़ा योग्य संरक्षक था। शुक्ल जी ने इन्हीं आज़मशाह के यहाँ एक 'निवाज' कवि का रहना बतलाया है।[2] अन्य अनेक लेखों में भी आज़मशाह को ब्रजभाषा का अत्यंत प्रेमी बताया गया है।

आज़मशाह 'भाषा' का इतना प्रेमी था कि उसने निवाज कवि से संस्कृत के महाकवि कालिदास के 'शकुंतला नाटक' का 'भाषा' में अनुवाद कराया था।[3] इनकी ही आज्ञा से 'बिहारी-सतसई' का संपादन हुआ, जिसका नाम ही 'सतसई आज़मशाही' प्रसिद्ध हुआ। इसी संपादन के आधार से दोहों का वर्तमान क्रम काफ़ी-कुछ निर्धारित किया गया है। यहाँ जिस ब्रजभाषा के व्याकरण का जिक्र होने जा रहा है, उसके लेखक का संरक्षक भी आज़मशाह ही था। आज़मशाह ने ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही यह 'व्याकरण' लिखवाया था।

यह व्याकरण 'तुहफ़त-उल-हिंद' है ; इसका अर्थ है—'भारतवर्ष का उपहार'। इसके रचयिता थे 'मीरज़ा ख़ाँ', और लिखा हुआ है—फ़ारसी भाषा में।

१. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३१५।

२. वही, हिं० सा० इ०, पृ० ३१७।

३. ज़ियाउद्दीन—'ग्रामर ऑव ब्रजभाषा', पृ० ३।

इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'सर विलियम जोन्स' ने सन् १७८४ में, अपने एक लेख 'ऑन दि मोड्स ऑव हिंदूज़' में किया था।[१] उन्होंने लेखक और पुस्तक का परिचय इस प्रकार दिया है—

"यह फ़ारसी पुस्तक 'भारतवर्ष का उपहार' मीरज़ाखाँ ने आज़मशाह के संरक्षण में लिखी थी। इसमें हिंदू-साहित्य का सूक्ष्म विवरण है।"[२]

जोन्स साहब ने जिस हस्त-लिखित प्रति के आधार पर यह परिचय दिया है, वह 'इंडिया आफ़िस-लाइब्रेरी' में अब भी सुरक्षित है[३]। इस प्रति के हाशियों पर जोन्स साहब की हस्तलिपि में कितने ही संकेत अंकित हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि उक्त विद्वान् ने इस पुस्तक का गंभीर अध्ययन किया था। इस पुस्तक की कई प्रतियाँ अन्य स्थानों पर भी उपलब्ध हैं।

इस 'इंडिया आफ़िस' लायब्रेरी वाली प्रति के पृ० २९८ (अ) पर लिखा है कि "२८वीं रज्जब सन् ११८२ हि० शुक्रवार, ३ घंटे दिन चढ़े पुस्तक समाप्त हुई।" यह लेख किसी 'शहरयार खाँ' की हस्त-लिपि में है। उसी पृष्ठ पर एक दूसरी हस्त-लिपि में लिखा है—"१६ वीं शब्बल ११८२ हि०।" ४३१ वें पृष्ठ पर लिपिकार ने इस कथन के साथ पुस्तक समाप्त की है—"मूल प्रति से तुलना करते हुए, यह प्रतिलिपि बहुत ही सावधानी के साथ की गई है। ५वीं ज़िलक़ादाह ११८२ हि० को समाप्त हुई," किंतु इन सब में सन् ११८२ हि० समान रूप से मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसका रचना-काल लगभग सन् १६७५ ई० से पूर्व माना है।[४] प्रत्येक दृष्टि से यही रचना-काल प्रामाणिक दीखता है।

'तुहफ़त' की भूमिका में लिखा है कि इस पुस्तक की रचना बादशाह औरंगज़ेब के राज्य-काल में हुई। लेखक ने पुस्तक के दो पृष्ठों में बादशाह की प्रशंसा की है। कुछ हस्त-लिखित प्रतियों की भूमिका में इस प्रकार का उल्लेख है कि लेखक का संरक्षक शाहज़ादा आज़मशाह था। इसके विपरीत, कुछ प्रतियों में शाहज़ादा 'मुईजुद्दीन जहाँदारशाह' का नामोल्लेख मिलता है। इसी नाम के साथ-साथ 'कुकुल्ताश ख़ाँ' का नाम भी है जिसके कहने पर पुस्तक लिखी बताई गई है। कुकुल्ताश खाँ के संबंध में थोड़ी प्रशंसा भी की गई है। उसको बादशाह का 'रजी-ए-शाह' कहा गया है। इस प्रकार के विभिन्न उल्लेखों से मीरज़ाखाँ के यथार्थ संरक्षक की समस्या जटिल हो जाती है, किंतु, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, जोन्स साहब ने आज़मशाह को ही यथार्थ संरक्षक माना है।[५] जोन्स साहब के इस मत का समर्थन 'जियाउद्दीन' ने ऐतिहासिक आधार पर किया है।[६] निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँदारशाह और कुकुल्ताश खाँ पीछे से जोड़े गये नाम हैं जो पुस्तक की भूमिका में किसी ने लिख दिये हैं। इसका कारण यह है कि आज़मशाह का नाम जहाँदारशाह के स्थान पर पीछे जुड़ा हुआ नहीं हो सकता, कारण ऐतिहासिक है। आज़मशाह को उसके भाई 'मुअज़्ज़म-शाह' ने सन् १७०७ ई० में अकबराबाद की लड़ाई में हराया था: आज़मशाह इस युद्ध में पराजित ही नहीं हुआ, मारा भी गया। मुअज़्ज़मशाह ने, 'बहादुरशाह' के नाम से ५ वर्ष तक दिल्ली में राज्य किया। ५ वर्ष पश्चात् उसका बेटा 'जहाँदारशाह' गद्दी पर बैठा। इस ऐतिहासिक क्रम को दृष्टि में रखते हुए

१. दे० Asiatic Researches, Vol. III p. 1.

२. The Pershian book, entitled, "A present from India" was composed under the patronage of Azam Shah, by the very delight and ingenious Mirza Khan and contains a minute account of Hindu literature in all or most of its branches'

३. दे० [LXXVIII, 18 × 19½, ff. 431, II, 15, p. 1 06].

४. **दे० ग्रामर ऑव दि 'ब्रजभाखा' (जियाउद्दीन) भूमिका, पृ० ९।१०**

५. दे० 'Asiatic Researches', Vol. III, p. I.

६. दे० Grammar of the Brizbhakha, p. 3.

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज़मशाह का नाम पीछे से जुड़ा हुआ नहीं है। यह संभव अवश्य हो सकता है कि जहाँदारशाह के राज्य-काल में किसी प्रति-लिपिकार ने बादशाह को प्रसन्न करने के लिए उसका नाम जोड़ दिया हो। साथ ही, पहले यह भी देखा जा चुका है कि आज़मशाह 'भाखा' का बड़ा प्रशंसक और हिमायती था। 'भाखा' के कवियों का वह आदर करता था। अतः आज़मशाह ही लेखक का यथार्थ संरक्षक माना जा सकता है।

लेखक के विषय में भी प्रतियों के लेखों से विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। विभिन्न हस्त-लिखित प्रतियों में उसके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। एक में उसका नाम 'मिरजा-जान-अबू-फ़ख़रुद्दीन-मुहम्मद' दिया गया है[1]। ब्रिटिश म्युजियम के 'कैटलग' में—"मिरजा-मुहम्मद-अबू-फ़ख़रुद्दीन-मुहम्मद" पाया जाता है[2]। यही नाम 'बोदलिअन लाइब्रेरी कैटलाग' में मिलता है[3]। इनमें 'खां' और 'जान' का नाम भी नहीं है। जोन्स और ज़ियाउद्दीन साहब ने अपनी सुविधा के लिए 'मीरज़ा खाँ' ही लिखा है। यही लेखक का प्रचलित नाम हो सकता है।

इस पुस्तक में क्या है? सबसे बड़ी कठिनाई एक फ़ारसी बोलने वाले के सामने यह थी कि वह ब्रजभाषा का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ रहता था। इस प्रकार की कठिनाई का अनुभव प्रत्येक नयी भाषा सीखने के इच्छुक व्यक्ति को होता है। इस पुस्तक में सबसे अधिक परिश्रम कठिनाई को दूर करने के लिए किया गया है। ब्रजभाषा का शुद्ध, व्यावहारिक उच्चारण फ़ारसी के माध्यम से समझाया गया है। इस कार्य को पुस्तक के चार छोटे-छोटे अध्यायों में संपादन करने की चेष्टा की गई है। प्रथम भाग में उन १८ ध्वनियों का विवेचन है जो 'भाषा' और अरबी-फारसी में समान हैं। फिर उन १७ ध्वनियों का विवेचन किया गया है जो अरबी-फ़ारसी में नहीं मिलतीं और 'भाषा' में मिलती हैं। इन ध्वनियों को फ़ारसी लिपि में किस प्रकार लिखा जाय, इसकी विधि बताई गई है। आगे के अध्याय में हिंदी अक्षरों की संख्या और परिचय है और उनकी ३२ फ़ारसी अक्षरों से भिन्नता दिखाई गई है। इसी अध्याय के आगे के भाग में इन अक्षरों को फारसी में लिखने की विधि बताई गई है, फिर मात्राओं का परिचय दिया गया है। इसी अध्याय में संयुक्ताक्षरों का भी परिचय है, साथ ही इस अध्याय में विशेष रूप से 'संदाच्छर' (संध्याक्षर); 'बिसरग (विसर्ग), 'बिंजन' (व्यंजन)। अनुनासिक, 'लघ' (लघु), 'दीर' (दीर्घ) और 'पुलित' (प्लुत) मात्राओं का परिचय है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों में भी लेखक ने प्रचलित उच्चारणों को ही लिया है। चतुर्थ अध्याय में स्वरों और उनके १६ प्रतीकों का अध्ययन है। पुस्तक का यह भाग ब्रजभाषा की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए बहुत उपयोगी है। इस प्रकार पुस्तक-विधान के साधारण परिचय से यह ज्ञात हो जाता है कि इस पुस्तक में वैज्ञानिकता और व्यावहारिकता का मिश्रण ठीक प्रकार से किया गया है। पुस्तक के इस विभाग के पश्चात् 'ब्रजभाषा-व्याकरण' पर बिखरे विचार हैं। व्याकरण के सामान्य नियमों का इस प्रकार परिचय देने के पश्चात् पुस्तक में ब्रजभाषा के काव्य-शास्त्र तथा छंदों के संबंध में विस्तार से उल्लेख है। अंत में लगभग ३००० शब्दों का ब्रजभाषा-शब्दकोश जोड़ दिया है। इसमें ब्रजभाषा के शब्दों का फ़ारसी में अर्थ दिया हुआ है।

एक बात यहाँ अवश्य विचारणीय है। श्री 'सी०री' ने इस पुस्तक का जो परिचय दिया है, उसमें उन्होंने ब्रजभाषा-व्याकरण और शब्द-कोष वाले अंतिम अध्याय की कोई चर्चा नहीं की है। कारण समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों? शब्द-कोष पुस्तक के आधे पृष्ठों में है। इसका एक कारण हो सकता है। अंतिम अध्याय का शीर्षक है 'ख़ातिम', यह शीर्षक अवश्य ही भ्रामक है। इसका शायद

[1]. दे० W. Pertsch's Cat. (1888) । नं०—३४,४०,२२४

[2]. दे० MS No. ADD. 16,868.

[3]. दे० पृ० १०२२ b.

उन्होंने 'तमामशुद' अर्थ समझ लिया हो। संभवतः इसी कारण से उन्होंने इसका जिक्र नहीं किया है। अन्य 'कैटलागों' में इसका विवरण मिलता है।

यह तो सर्व विदित है कि अकबर के समय में ब्रजभाषा घरेलू प्रयोग में आने वाली भाषा थी। ब्रजभाषा के काव्य और संगीत की धूम प्रायः सर्वत्र थी। राज्य-कार्य फ़ारसी में अवश्य होता था; फ़ारसी-काव्य का भी दरबार में मान था, किंतु 'भाषा' की लोकप्रियता भी बढ़ रही थी। इसका प्रमाण 'रहीम' का भाषा में काव्य करना है। पीछे के बादशाहों के दरबार में तो 'भाषा-काव्य' पर्याप्त संमान पाने लगा। जब भाषा-कवियों का माधुर्य दरबारों का एक अंग बन गया, तब बादशाहों, उनके वंशजों तथा दरबारियों को ब्रजभाषा का ज्ञान, उसके अलंकृत काव्य की समझ और भाषा तथा व्याकरण-संबंधी कुछ नियमों की जानकारी परम आवश्यक हो गई। इसी दृष्टि से उक्त पुस्तक की रचना हुई, यह एक आवश्यकता की पूर्ति थी।

यह पुस्तक उस वर्ग के लिए लिखी गई जो ब्रजभाषा से नितांत अपरिचित था और जो वर्ग केवल फ़ारसी ही जानता था। अतः लेखक का कार्य काफ़ी कठिन था। ब्रजभाषा की बारीकियाँ उसे फ़ारसी के माध्यम से बतानी थीं। फलतः पुस्तक की शैली चाहे वैज्ञानिक कम हो, पर ठोस व्यावहारिकता पर टिकी है। साथ ही ब्रजभाषा-काव्य अपना लंबा जीवन उस समय तक पार कर चुका था; काव्य के लिए 'भाषा' का रूप निर्धारित हो चुका था और उर्दू-काव्य का वह शैशव-काल था। अतः उर्दू-काव्य ब्रजभाषा के अनेक तत्व और प्रभाव ग्रहण करने लगा, जो तत्कालीन उर्दू-काव्य में स्पष्टतः दीख पड़ते हैं। इसलिए उर्दू के कवि, तथा पाठकों को भी ब्रजभाषा का ज्ञान आवश्यक हो गया। लेखक ने इन सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, उक्त पुस्तक की रचना की और शैली को व्यावहारिक रूप दिया।

इस व्यावहारिक शैली के विषय में एक बात और कही जा सकती है। अलबेरूनी ने भी हिंदू-जीवन का अध्ययन किया, पर उसका दृष्टिकोण यह था कि वह एक विदेशी, विजातीय मनुष्य समाज के जीवन और विचार-धारा के संबंध में शोध कर रहा है। अबुलफ़ज़ल तक आते-आते मनोवृत्तियों में काफ़ी अंतर आ गया। उसने हिंदुओं को विदेशी समझ कर अध्ययन नहीं किया। तब तक बहुत कुछ मेल-भाव दोनों वर्गों में हो चुका था। अकबर स्वयं तथा मुस्लिम-उच्चवर्ग हिंदुओं के जीवन, धर्म और संस्कृति में रुचि रखने लगे थे। अबुलफ़ज़ल ने इसी उच्चवर्ग की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हिंदू-साहित्य, संस्कृति और धर्म का विवरण दिया और विश्लेषण किया। मीरज़ा खाँ की दृष्टि में उक्त पुस्तक लिखते समय निश्चय ही मध्यवर्ग और निम्नवर्ग रहे होंगे। उच्च वर्ग तो पहली शताब्दियों में हिंदू-रहन-सहन से परिचित हो चुका था। साधारण वर्ग और मध्यवर्ग हिंदुओं के जीवन से नित्य-व्यवहार के कारण परिचित हो चुका था। उनकी भाषा से भी साधारण परिचय हो गया था, पर ब्रजभाषा-काव्य के नियमों और ब्रजभाषा के व्याकरण के सामान्य नियमों से इस वर्ग को परिचय नहीं था। इसीलिए व्यावहारिक शैली में 'तुहफ़त' लिखी गई।

इस पुस्तक का अध्ययन करने से लेखक की एक विशेष चेष्टा के दर्शन होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक सबसे अधिक यह स्पष्ट करने का उद्योग कर रहा है कि ब्रजभाषा को फ़ारसी लिपि में किस प्रकार लिखा जाय! कारण यह कि दरबारी भाषा फ़ारसी थी। प्रायः सभी दरबारी इस भाषा को जानते-समझते थे। अतः ब्रजभाषा-काव्य का रसास्वादन दरबार में फारसी लिपि के माध्यम से ही हो सकता था। औरंगज़ेब के अनेक प्रयत्न इस दिशा में मिलते हैं। उसको ब्रजभाषा की 'स्पैलिंग' का सर्वप्रथम सुधारक कहा जाता है[१] यही कारण है कि हिंदी-ध्वनियों और अरबी-फ़ारसी ध्वनियों का तुलनात्मक विवेचन बहुत ही विस्तार से दिया हुआ है।

१. दे० डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या,—'ग्रामर ऑव दि ब्रजभाखा' (जियाउद्दीन) की भूमिका, पृ० ६।

पुस्तक के अध्ययन से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ तक उच्चारण, लेखन तथा ब्रजभाषा-व्याकरण का संबंध है लेखक में पर्याप्त मौलिकता के दर्शन होते हैं। शब्द-कोश में भी एक नयी प्रवृत्ति की झाँकी मिलती है। ध्वनियों के विवेचन में लेखक एक बहुत अच्छा निरीक्षक और व्यावहारिक ज्ञान-युक्त तो दीखता है, पर वैज्ञानिकता उतनी गहरी नहीं—निरीक्षण शुद्ध और समीचीन है, पर निष्कर्ष और परिभाषाएँ अधिक वैज्ञानिक नहीं हैं[1]।"

सबसे पहले इस व्याकरण का ऐतिहासिक महत्त्व है। इससे पहले के किसी भी ब्रजभाषा-व्याकरण की अभी शोध नहीं हुई है। इसलिए मीरज़ा ख़ाँ के ब्रजभाषा-व्याकरण संबंधी विचारों का ऐतिहासिक और शोध-विषयक मूल्य बहुत बढ़ जाता है। इससे पीछे के दो व्याकरणों का तो पता लगता है। एक तो 'केटलार' (John Goshua Katelar) ने लगभग सन् १७१५ ई० में लिखी थी, जिसको सन् १७४३ में 'डेविड मिलिअस' ने प्रकाशित किया था। एक दूसरे व्याकरण का उल्लेख डा० 'ग्रियर्सन' ने किया है। यह लल्लू लाल जी का लिखा हुआ 'मसादिरे भाखा' है।[2] इनके अतिरिक्त और सभी व्याकरण काफ़ी पीछे के हैं। मीरज़ा ख़ाँ के व्याकरण का एक महत्त्व यह भी है कि व्यावहारिक धरातल पर संस्कृत-व्याकरण से प्रभावित न होते हुए, यह व्याकरण लिखा गया है। साथ ही फ़ारसी-व्याकरण और ब्रजभाषा-व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन इसमें प्रस्तुत किया है। अतः सभी दृष्टियों से उक्त ब्रजभाषा-व्याकरण का महत्त्व है।

ब्रज और ब्रजभाषा की सीमाओं के विषय में 'ब्रजसाहित्य मंडल' मथुरा की मुख-पत्रिका 'ब्रज-भारती' में समय-समय पर काफ़ी लिखा गया है। पर, मीरज़ा ख़ाँ की पुस्तक का अभीतक पता न होने के कारण ब्रज की सीमाओं के संबंध में इसकी विचार-धारा का अभी तक उपयोग नहीं हुआ है। व्याकरण-भाग में सबसे पहले लेखक ब्रजभाषा और ब्रज का परिचय देता है। लेखक इस प्रकार आरंभ करता है—

"वैसे तो भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ हैं, पर जिन भाषाओं में पुस्तकें लिखी जाती हैं, काव्य होता है और जिनका संभ्रांत वर्गों में संमान है, ऐसी भाषाएँ तीन हैं[3]—सहंसकिरत (संस्कृत), पराकिरत (प्राकृत) तथा (भाखा)।"

"'सहंसकिरत' वह भाखा है जिसमें कला और विज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। हिंदुओं का विश्वास है कि सहंसकिरत देव-भाखा है। हिंदू इसे 'आकाश-वानी' या 'देव-वानी' के नाम से पुकारते हैं।"....

"दूसरी भाखा 'पराकिरत' (प्राकृत) है। इस भाषा का उपयोग मुख्यतः राजा-महाराजाओं तथा मंत्रियों की प्रशंसा करने में हुआ है। इस भाषा का संबंध पाताल से बताया जाता है और हिंदू इसे 'पाताल-बानी' या 'नाग-बानी' के नाम से पुकारते हैं।......यह भाषा 'सहंसकिरत' और 'भाखा' के मिश्रण से बनी है।

१. मीरजा खाँ के इस ग्रंथ 'तुहफतुल हिंद' में जिन विषयों का वर्णन है, वे तो कुछ और ही हैं। इस लेख के लेखक ने यहाँ तक जो परिचय दिया वह इस ग्रंथ का नहीं, इस ग्रंथ की भूमिका-भाग का परिणाम है। इस ग्रंथ का भूमिका-भाग चार अध्यायों में है। इन्हीं का परिचय ऊपर लेखक दे चुका है। 'व्याकरण' इसी भूमिका-भाग के चौथे अध्याय के दूसरे अंश में दी गयी है। इस भूमिका के उपरांत मूल तक का प्रथम अध्याय छंदशास्त्र (पिंगल) विषयक है। दूसरा 'तुक' विषयक, तीसरा रस-अलंकार विषयक चौथा शृंगार रस तथा नायक-नायिका-भेद पर, पाँचवाँ संगीत शास्त्र पर, छठा काम-शास्त्र विषयक, सातवाँ सामुद्रिक संबंधी है। परिशिष्ट में हिंदी-फारसी कोष है, यह 'तुहफतुल-हिंद' की रुपरेखा है।

२. इसस भी पूर्व सन् १७४५ में 'शुल्ज' नाम के व्यक्ति ने हिंदुस्तानी की व्याकरण लिखी थी—देखिए प्रोसीडिंग्स एसियाटिक सोसाइटी बंगाल, मई १८९५ ई०।

३. Fol. 30 (a).

"तीसरी 'भाखा' है। 'भाखा' में जो काव्य मिलता है, वह अलंकृत काव्य है। उसका मुख्य विषय प्रेमी-प्रेमिका की कथा है। यह व्यवहार की भाखा है। 'सहंसकिरत' और 'पराकिरत' को छोड़कर प्रायः सभी बोली-भाखाओं का इसमें मिश्रण है। विशेषतः यह ब्रजवासियों की भाखा है। ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है जो मथुरा को केंद्र मानकर ८४ कोस के बीच मंडलाकार स्थित है।[१] ब्रजवासियों की भाखा सब भाखाओं से अधिक मधुर, प्रवाहशील और प्रचलित है। गंगा-जमुना के बीच के समस्त प्रदेश की भाखा यही प्रचलित भाखा है। 'चंदवार' (एक प्रसिद्ध जिला) भी इसमें संमिलित है।"[२]

आगे चलकर लेखक उस कारण को स्पष्ट करता है जिससे प्रेरित होकर वह ब्रजभाषा का व्याकरण लिख रहा है। लेखक कहता है—

"क्योंकि ब्रजभाखा में रंगीन और मधुर अभिव्यक्ति-युक्त काव्य मिलता है; क्योंकि उसमें प्रेमी और प्रेमिकाओं की सरस प्रशंसा है और क्योंकि ब्रजभाखा प्रायः सभी कवियों और सभ्य-सुसहंसकिरत समाज में प्रचलित है, इसीलिए मैं ब्रज-भाखा-व्याकरण के नियमों को लिखता हूं।"

ब्रजभाषा के इस व्याकरण का पूर्ण अनुवाद अविकल रूप में यहाँ दे सकना संभव नहीं है, पर उसमें क्या है, इसका एक संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है और इसका विषय विभाजन इस प्रकार है—

प्रथम उप विभाग 'भाषा का परिचय' जिसका संक्षिप्त उल्लेख अभी हो चुका है।

द्वितीय उप विभाग (अ) 'शब्द की परिभाषा और शब्द के प्रकार'।[3]

शब्द के प्रकार—

१. **'संपादन'** (Substantive)
२. **'करतब' (कर्तव्य,** The Verb)
३. **करता (कर्ता,** The Nominative)

(आ) संपादन की परिभाषा। संपादन के दो भेदः—

१. **संपादन, इसे अरबी में 'इस्म' कहते हैं।**
२. **बिर्त, इसे अरबी में 'हरफ़' कहते हैं।[४]**

(इ) 'करतब'—क्रिया को कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

१. **'भूत'**
२. **'बरतमान' (वर्तमान)**
३. **'भविक्ख' (भविष्य)**
४. **'किरिया' (क्रिया)**
५. **'किरत' (कृत)**

इसके पश्चात् काल-विवेचन है—

[१]. पृ० १६५(b) पर लेखक ग्वालियर को भी उस प्रदेश में संमिलित कर लेता है। जिसमें ब्रजभाषा बोली जाती है।

[२]. चंदबार या जनवार का परिचय अबुलफ़ज़ल ने इस प्रकार दिया है—यह एक जिला है। यह मथुरा से इटावा जाने वाली सड़क पर यमुना किनारे, आगरे से २५ मील पूर्व स्थित है। इसमें मुख्यतः चौहान वंशी ठाकुर रहते हैं (jarrets ain-i-Akbari, II, p. 183).

[३]. Fol. 31 (b).

[४]. Fol. 31 (b).

१. भूतकाल ।[1]
२. 'बरतमान'काल
३. भविक्ख काल ।[2]

आगे 'किरिया' (क्रिया) का विवेचन है[3] । उसके ये भेद हैं:—

१. संभाव
२. असंभाव
३. 'भाव'
४. अन-भाव

इसके पश्चात् किर्त (कृत) का विवेचन किया गया है ।

(ई) कर्ता । कर्ता के दो भेद दिये हैं[4]—

१. स्वाधीन ।
२. पराधीन ।

कर्ता का विवेचन काफ़ी विस्तृत है ।

तृतीय उप-विभाग-लिंग-विचार:—

१. 'पुलिंग' (पुल्लिंग) इसके दो भेद किये गये हैं—
(क) निश्चित ।
(ख) अनिश्चित ।

चतुर्थ उप-विभाग : स्त्री लिंग:—

२. 'अस्त्रीलिंग' (स्त्रीलिंग) इसके भी तीन भेद हैं—
(क) निश्चित ।
(ख) अनिश्चित ।

अनिश्चित के फिर दो भेद किये गये हैं—

१. एक वह जिसकी तुलना का 'पुलिंग' हो, जैसे—'तुरंगिनी'-(तुरंग)
२. दूसरा वह जिसकी तुलना का पुलिंग न हो, जैसे—'बयार'
(ग) अनियमि (अस्त्रीलिंग)

इसी उप-विभाग में आगे चलकर पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के नियम दिये गये हैं । इसमें उन 'प्रत्ययों' की एक सूची दी गई है जिन्हें यदि पुल्लिग में जोड़ दिया जाय तो स्त्रीलिंग बन जायगा । वे प्रत्यय ये हैं—

१. 'आ' : जैसे—'बिर्ध' (वृद्ध) से 'बिर्धा' (वृद्धा) ।
२. 'ई' : जैसे'—देव' से 'देवी' ।
३. 'आनी' : जैसे'—रुद्र' से 'रुद्रानी' ।
४. 'नी' : जैसे—तुरंग से 'तुरंगनी' ।

पंचम उपविभाग : 'नपुंसक लिंग'

इसका बहुत ही साधारण-सा परिचय दिया गया है । लेखक लिखता है कि इसका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है । विशेषतः यह लिंग सहंसकिरत (संस्कृत) में प्रयुक्त होता है, भाषा में नहीं ।

१. Fol. 32 (a); 32 (b).
२. Fol. 33 (a); 33 (b).
३. Fol. 34 (a).
४. Fol. 35 (a).

छठवां उपविभाग : ब्रह बचन (बहु बचन)

इस उपविभाग में वचनों पर विस्तार से विचार है। साथ ही इस प्रकार के प्रत्ययों का भी विवेचन है जिनके जोड़ने से एक वचन का बहु बचन बन जाता है। जैसे—

'न' : पग (एक वचन) से 'पगन' (बहु वचन)

सातवाँ उपविभाग : संकेत वाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के सात प्रयोगात्मक उदाहरण दिये गये हैं—

१. 'वा' (that) एक बचन, अन्य पुरुष ।
२. 'ता' (that) एक बचन, अन्य पुरुष ।
३. 'या' (this) एक बचन, मध्यम पुरुष ।
४. 'जा' (whoever) एक बचन, अन्य पुरुष ।
५. 'उन' (they) बहु बचन, अन्य पुरुष ।
६. 'इन' (these) बहु बचन, मध्यम पुरुष ।
७. 'जिन' (whoever) बहु बचन, अन्य पुरुष ।

ये ७ संकेत-वाचक सर्वनाम दोनों लिंगों (स्त्रीलिंग और पुलिंग) में समान रहते हैं।

आठवाँ उपविभाग : 'पदबिर्त्ति' (पद-वृत्ति) वाक्य

इसका अर्थ वाक्य है। इसमें दो तत्व रहते हैं। उदाहरण–'राम आयौ'।

नवाँ उपविभाग : 'संबंध' (The genetive relation)

इसका विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। अरबी से स्थान-स्थान पर तुलना मिलती है।

दसवाँ उपविभाग

इसमें उपसर्ग तथा प्रत्ययों का विवेचन है। साथ ही इनकी एक बड़ी तालिका भी दी गई है।

यह 'तुहफ़त-उल-हिंद' के व्याकरण की स्थूल रूप-रेखा ऊपर दी गई है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यही समस्त व्याकरण का अनुवाद है। यह तो एक मात्र शीर्षकों और मोटे-मोटे विभागों का साधारण परिचय है, जिनकी विवेचना यहाँ नहीं दी जा सकी है।

अभी तक ऐसे किसी भी 'ब्रजभाषा-व्याकरण' की शोध नहीं हुई जो इससे भी प्राचीन हो। उक्त व्याकरण ब्रजभाषा के विद्वान् लेखकों और अधिकारी शोधकों की आँखों से ओझल ही रहा। फ़ारसी भाषा से इस व्याकरण का अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है—उसे श्री जियाउद्दीन ने किया है। यदि इस समस्त पुस्तक का हिंदी में अनुवाद हो जाय, तो ब्रजभाषा और उसके गंभीर अध्येताओं को एक सामग्री मिल जाय। 'ब्रजभाषा' और वर्तमान हिंदी का तुलनात्मक और विकासात्मक अध्ययन करने के लिए उक्त पुस्तक पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इससे ध्वनि-शास्त्र, व्याकरण तथा शब्दार्थ-शास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि 'इंशा अल्ला खाँ' से पहले की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कड़ी मीरज़ा खाँ ही हैं। मीरज़ाखाँ के लिए 'हिंदी' और 'भाखा' दोनों ही समान अर्थ वाले शब्द हैं। जब कि 'इंशा' तक आते-आते दोनों में भेद किया जाने लगा था। यह बात 'रानी केतकी की कहानी' के संबंध में इंशा की घोषणा से और भी स्पष्ट हो जाती है। इस घोषणा में कहा गया है कि मेरी कहानी में 'हिंदुई' के समस्त गुण भी है और 'भाखापन' भी विद्यमान है। इस प्रकार हिंदी के विकास की दो क्रमिक स्थितियों की सूचना मीरज़ाखाँ और इंशाअल्ला खाँ की कृतियों में है। इंशा-अल्ला पर तो थोड़ा बहुत लिखा भी गया है, पर मीरज़ा खाँ पर जो कुछ लिखा गया है वह नगण्य है। मीरज़ाखाँ की उक्त पुस्तक का गंभीर अध्ययन होना आवश्यक है।

———

॥ श्रीः ॥

श्री गोपीजनवल्लभायनमः ।

ब्रजभाषा-व्याकरण

बाबू गोपालचंद्र (गिरिधरदास) विरचित

दोहा

संस्कृत के मधि रहति, जैसें सात बिभक्ति ।
ते भाषा महँ होति हैं, लिखति तिन्हनि की पंक्ति ॥

आडिल्ल (अरिल्ल)

प्रथमा, द्वितिया, बहुरि तृतीया जानिऐं ।
बहुरि चतुरथी, पंचमी, षष्ठी मानिऐं ॥
सप्तमि सात बिभक्ति, इही सिगरे भनें ।
एक बचन, बहु बचन, और संबोधनें ॥

इनके रूप : कवित्त

जो, सो, जे, ते, कौ, नकौ, सों, नसों, कों, नकों, तें, नतें, कों, नकों, में, नमें, ए बिभक्ति सात जाँनिऐं ।
करता, करम, करन, संप्रदान, अपादान, संबंधौ सु अधिकरन सातों नाम माँनिऐं ॥
संबोधन-बीच होत है ओ, ए कथन, पूर्व कहूँ एरी बिभक्ति लोप कहूँ ठाँनिऐं ।
अर्द्ध लोप कहूँ जैसें देव अरे कहें तहाँ, देव देवन कहें हूँ अर्थ आँनिऐं ॥

दोहा

इन बिभक्ति बहु बचन कौ, अहै नकार सु जोइ ।
ता....कहहिं निकार हू, रीति बुधन की दोइ ॥
सब्द हलंतन में अहै, सोभा सहित निकार ।
कै पुनि आकारांत में, अरु थल नाहिं प्रचार ॥
पुंलिगौ स्त्रीलिंग ए, सबद दोइ बिधि जाँन ।
होंहिं हलंत स्वरांत तित, पहिलौ कहों बखाँन ॥
होत हलंत सु सब्द नाँहि, भाषा में कवि-कंत ।
अकारांत कों कहत हैं, तातें इहाँ हलंत ॥
स्याम, राम, तन, मन, गगन, आदिक सब्द हलंत ।
सह बिभक्ति बरनन अबै, उदाहरन कवि-कंत ॥

कवित्त

देव जो सो सुखी देव जे हैं ते सु पूंजनीय, देव कों नमत पूंजें देवन कों मति सित ।
देव सों मिलाप मेरौ देवन सों रमें मन, देव कों सु दींनों चित देवन कों गृह-बित ॥
देव तें न दूजौ साथी, देवन तें बड़ौहू न, देव कौ रसिक दास देवन कौ न गुन हित ।
देव में बिरति नति, देवन में सत गति, करौ कृपा हे देव, हे देवौ द्रवौ नित ॥

दोहा

जहाँ बिभक्ति कौ लोप है, तहँ प्रसंग के जोर ।
प्रथमा आदि बिभक्ति कों, मानहिं कवि सिर मोर ॥
राम बचन सुनि कें इहाँ षष्ठी लोप सु जाँनि ।
राम बचन कों माँनिऐं, इमि औरहुँ अनुमाँनि ॥

जहाँ बिषै संबंध के और कथन कछु होइ ।
षष्ठी कौ को होत तहँ, के जाँनहु सब कोइ ।।
जैसें हरि के दास कों नौमि कहें सब लोग ।
भाषें हरि कौ दास को, अहै असुद्ध प्रयोग ।।

छप्पय

बहुधा कवि की रीति, हलंतहि उकारांत करि ।
बरनहिं पै नहिं अपर अरथ, जहँ होइ तहाँ परि ।।
रामहिं जैसें रामु होइ, धन धनु नहिं होई ।
राम रामु दोउ सुद्ध, असुद्ध सु धनु है सोई ।।
यै ह्रस्व उकारांतहि लखौ, सब बिभक्ति में सुबुध जन ।
सो उ एक बचन में होत है, तहँ न होत जहँ बहु बचन ।।

दोहा

जिमि धन धनु नहिं होत है, तिमि सुर सुरु नहिं होइ ।
पूर्ब उकार निपात तें, स्रवन बिरोधी सोइ ।।
चित्र, जमक, तुक अंत में, सबद हलंत सु जोइ ।
ऊकारांतहु होत है, आकारांतहु होइ ।।
तजि उकार आकार के, ईकारादिक अंत ।
सबद हलंत न होत हैं, नियम गुनहुँ गुनबंत ।।
धन कौ धनु चित्रादि में, सुर कौ सुरु न बिरुद्ध ।
रामू रामा होहि सति, रामी आदि असुद्ध ।।
अब हल स्त्रीलिंग कों, बरनत सहित सनेह ।
माँन, सेंन, दिग, ताँन, तिय आदि सब्द गुन लेहु ।।
प्रथमा के बहु बचन में, साँन, सेंन ही जाँन ।
सोइ संबोधन के बिषें, भेद इतौई माँन ।।
और रूप पुलिंग सो, जानहुँ उर निरधार ।
बरनें 'गिरिधरदास' इमि, सबद हलंत बिचार ।।

अथ आकारांत पुलिंग 'राजा' शब्द....

राजा यै पुलिंग कौ, सबद सु आकारांत ।
बरनत ताकौ रूप अब, समझहु कवि-कुल-कांत ।।
राजा प्रथमा इक बचन, राजे बहु बच होइ ।
राजा कों राजाँन कों, दुतिया जानहुँ सोइ ।।
सों, कों, तें, कौ में गुनों, राजा प्रथम लगाइ ।
त्रितिया सों, सप्तमी कौ, एक बचन कबिराइ ।।
धरि नकार सों आदि कै, आदि बहु बचन होइ ।
हे राजा, राजे कहें, राजाओ हूँ सोइ ।।
द्वितियादिक बहु बचन में, राजा सबद सु जोइ ।
होत राज राजाँन पै, एक बचन में होइ ।।

आकारांत पुलिंग 'बाजा' शब्द

होत सब्द राजा सरिस, बाजा के सब रूप ।
अधिको एक इक बचन में, द्वितीयादि के अनूप ।।

आकारांत हु होइ अरु, एकारांतहु होइ।
बाजे कों ऐसें गुनहुँ, राजे कों नहिं सोइ ।।
दरबाजा, लाजा, मजा, बीरा, चीरा जाँन।
सेंना उपरेंनादि ए, बाजा सम पैहचाँन ।।
होत सु हीरा सब्द के, बाजा सम सब रूप।
याहि हलंतहु कहें तहें, सबै सरिस कवि-भूप ।।

अथ आकारांत 'धाता' शब्द

धाता जो पुंलिग है, आकारांत प्रसिद्ध।
प्रथमा के बहु बचन में, धाते कहें निषिद्ध ।।
द्वितियादिक बहु बचन में, रूप दोइ हीं आँहि।
धातँन कों, धाताँन कों, धातेन कों सु नाँहि ।।
या में राजा सब्द सों, अधिक इतौई जोइ।
हे धाता संबोधनहिं, हे धाताऔ होइ ।।
करता, सहंरता, पिता, हरता, भरता जाँन।
ग्याता, दातादिकँन कों, धाता सम पैहचाँन ।।

अथ आकारांत-स्त्रीलिंग शब्द

सिया, तिया, सेंना, प्रिया, नारि लिंग इन आदि।
होंइ सुधाता सब्द सम, समझौ कवि मरजादि ।।
आकारांत सियादि कों, कहुँ कवि करहिं हलंत।
सात सब्द सम रूप तब, होत लखौ कवि-कंत ।।
गंगा-जमुना कों कहें गंग, जमुन सब कोइ।
दोऊ सिद्ध प्रयोग हैं, जहँ थल जैसौ होइ ।।

अथ आकारांत-'कमला' शब्द

नारि लिंग कमला सबद, आकारांत सु जाँन।
सब बिभक्ति में इक बचन, राजा सम पैहचाँन ।।
प्रथमा के बहु बचन में, सबद सीस अध-बिंदु।
कमलाँ सति, कमले असति, जानों कवि-कुल-इंदु ।।
संबोधन प्रथमा सरिस, ए, हे, दै, कें आदि।
रमा, छमा, पदमा, धरा, कमला तुल्य जरादि।

अथ आकारांत—'गैया' शब्द

गैया आकारांत के, कमला सम सब रूप।
अधिक इतौ द्वितियादि बहु बचन बीच कवि-भूप ।।
आकारांत हलंत ए, दोऊ सिद्ध प्रयोग।
गैयँन कों गैयाँन कों, इमि जाँनहु कवि लोग ।।
कला, बिभा, सोभा, प्रभा, स्वकिया-परकीयादि।
कथा, कृपा, चिंता, दया, इन से सब्द गयादि ।।

आकारांत 'राधा' शब्द में विशेष

गैया सम राधा सबद, पै इक कवि की चाल।
सब थल एकारांत करि, कहैं सुद्ध दोउ हाल ।।

राधा, राधे होत यह, प्रथमा औ संबोध।
राधे कों, राधाँन कों, इमि औरहु कौ बोध ।।

अथ आकारांत 'धारा'—शब्द

धारा प्रथमा के बिषें, सिया सब्द सम होइ।
आकारांत हलंत हू, लखों सुकवि सब कोइ ।।
द्वितिया सों सप्तमि अवधि, गैया सरिस प्रमाँन।
एकारांतहु होत है, तहँ राधा सम जाँन ।।
धारँन कों, धाराँन कों, धारेन कों जु प्रसिद्ध।
संबोधन प्रथमा सरिस, धारा, धार सु सिद्ध ।।
कमला गैया सब्द अरु राधा, सिया कहाँहिं।
धारादिक तिय-लिंग ए, कवि-भाषा के माँहिं ।।
इनके संबोधन बिषें, लै संस्कृत की रीति।
एकारांतहु कहत हैं, कहुँ-कहुँ कवि करि प्रीति ।।
हे कमले, गैये, सिये, राधे, धारे जाँन।
इमि इक के संबोधनें, बहु में नहिं पैहचाँन ।।५१।।

"इत्याकारांत शब्दाः आकारांत शब्दे विशेषाः।"

'भ्रातादि शब्दे'. . .

भ्राता, जामाता, पिता, माता, दुहिता जाँनि।
स्वसा, सब्द पुलिंग-त्रय, नारि लिंग त्रय माँनि ।।
ए सु सब्द इक बचन में, उकारांत हूँ होंहि।
सात बिभक्तिन में लखौ, संबोधन हूँ त्योंहि ।।
पूर्व पिता शब्द-हि कह्यौ, धाता में कवि-भूप।
इन सबदँन कों जानियो, ताते तैसौ रूप ।।

'शंका, लंका शब्दे विशेषः'. . .

संका, लंका सब्द ए, सिया सबद से दोउ।
उकारांत हू होत हैं, एक बचन में सोउ ।।

'दिसा शब्दे विशेष'. . .

दिसा सब्द संका सरिस, इतौ अधिक या माँहिं।
इकारांतहू होत सब, रूपँन बीच सदाँहिं ।।

'इति इकारांत शब्द नियमाः'

अथ इकारांत पुलिंग—'हरि' शब्द. . .

इकारांत हरि सब्द है, पुरुष-लिंग कवि-भूप।
बरनत गिरिधरदास' अब, भाषा में ता रूप ।।
जो, सो आदि बिभक्ति रिषि, बरनी पूर्व अनूप।
हरि पै तिनकों धरि सोई, क्रम सों चौदह रूप ।।
प्रथमा हरि जो, सो बहुरि, हरि जे, ते पैहचाँनि।
द्वितिया हरि कौ, हरिनें कों, औरहु इहि बिधि जाँनि ।।
संबोधन—हे हरि कहें, इक हरि कों सब ठौर।
हे हरियौ बहु बचन कों, कहहिं सुकवि सिरमौर ।।

मुनि, मुरारि, त्रिपुरारि, करि, कपि, कवि, रवि, सनि, बारि।
कलि, बलि, अलि, आराति, अहि, ए सब हरि अनुहारि॥

अथ इकारांत स्त्री लिंग—'सरि' शब्द . . .

इकारांत तिय-लिंग सरि, ताके हरि सम रूप।
सह बिभक्ति संबोधनहुँ, समझहु सत-कवि-भूप॥
कोरि, खोरि, रति, गति, भगति, कांति, पाँति, मति, जाति।
नीति, प्रीति, छिति, छवि, अबलि, ए सब 'सरि' की भाँति॥

ईकारांत पुलिंग—'ग्याँनी' शब्द . . .

ग्याँनी ईकारांत है, सबद पुलिंग सु जोंन।
होत दीर्घ (जो) अंत है, हरि सम सब थल तोंन॥
बनमाली, माली, छली, माँनी, दाँनी, जाँनि।
बली, धँनी, चक्री, गृही, ग्याँनी सम पैहचाँनि॥

ईकारांत स्त्री लिंग—'नदी' शब्द . . .

ईकारांत नदी सबद, नारि लिंग है जोइ।
ग्यानी के सम रूप सब, ताके भाषा होइ॥
समी, लच्छमी, मोंहनी, बाँनी, राँनी और।
लाली, काली, काँमिनी, नदी सरिस सब ठौर॥

इतीकारांत शब्दाः। अथ इकारांत शब्द-नियमाः

होइ दीर्घ ईकार लघु, लघुहू दीर्घ न दोस।
भाषा में, दोऊ लिंग में, इमि बरनहिं दोउ कोस॥
हरी, सरी ज्यों ग्याँनि, नदि, तहँ हू इतौ बिसेस।
ताहि कहत संछेप में, समझहु सुकवि-नरेस॥
आरातिँन से सब्द ए, आराती नहीं होंहि।
जोति आदि जोती नहीं, बली नहीं बलि त्योंहि॥
राँनी राँनि न होइ पै, एक बचन में एहु।
नेंम नाँहि बहु बचन में भाषा में बुधि-गेहु॥
अनुप्रास तुक अंत में, चित्र, जमक के माँहि।
थल संकीर्न इकार लघु-दीर्घ-दोस है नाँहि॥

इतीकारांत शब्द नियमाः

अथ उकारांत पुलिंग—'भाँनु' शब्दः . . .

भाँनु सब्द पुलिंग है, उकारांत ता रूप।
क्रम सों होत बिभक्ति-जुत, हरि सम गुनहुँ अनूप॥
कटु, पटु, गुरु, उरु, साधु, बिधु, बिभु, प्रभु, मनु, धनु जाँन।
असु, बसु, संभु, स्वयंभु, मधु, भाँनु सरिस पैहचाँन॥

उकारांत स्त्री लिंग—'धेंनु' शब्द. . .

उकारांत तिय लिंग जो, धेंनु भाँनु सम तासु।
संबोधन सह रूप सब, बरनत 'गिरधरदासु'॥
बेंनु, रेंनु, रंभोरु, रितु, चंचु, बिज्जु, दँनु जाँनि।
कद्रु, बस्तु अरु सासु ए, धेंनु सरिस पैहचाँनि॥

'ऊकारांत पुलिंग—'दाऊ' शब्द. . .

दाऊ ऊकारांत है, सबद पुलिंग प्रसिद्ध।
होत दीर्घ ऊ अंत सो, भाँनु सरिस सब सिद्ध।।
भालू, सालू, कम...भू, बाजू, आँसू जाँनि।
तिरसंकू, गेंहू, लहू, दाऊ सम ए माँनि।।

ऊकारांत स्त्री लिंग—'गऊ' शब्द. . .

गऊ सब्द स्त्री लिंग है, दीरघ ऊकारांत।
दाऊ सम ताके सकल, रूप लखहु कवि-कांत।।
बहू, बधू, सुभ्रू, भटू, आफू, जोरू जाँनि।
दारू, रू, बू भू, चमू, गऊ सरिस अनुमाँनि।।
संभू, सासू, आँसु, बधु, बिन चित्रादिहु ठीक।
धनू, रितू, चित्रादि में, कमलु, भु, भटु, कवि-लीक।।
लघु-दीरघ ईकार के, नेंम कहे जे सोइ।
तैंसौई अहै उकार कौ चित्रादिहु में सोइ।।

इत्युकारांत शब्दा:

चरना : दोहा

इकारांत औ उकारांत लघु-दीरघ लिंग है जोइ।
इनमें किते हलंत, किते नहिं, होंहि कहों अब सोइ।।

दोहा

बिना प्रयोजन सब्द ए, तजें न अपनों रूप।
स्वल्प होत कहुँ मध्य हित, अति हित कहुँ कवि-भूप।।
स्वल्प होत जिमि बार कहि, जात, भाँन, औ धेंन।
दीरघ ई, ऊकार ए, तजहिं रूप मति ऐंन।।
मध्यम हित आरात, छित, बाल, नार इमि जाँनि।
तरु अरु संभु सुआँस कहि, दार लेहु पैहचाँनि।।
सुकव, भगत अत्यंत में, मानसु रागिँन होइ।
साध, बिज्ज औ भाल ए, आफ गिनहुँ सम सोइ।।
सन कह मुन सर औगुनी, चक्राँन सम काल।
पट, उर, बिध, रंभोर, दन, गोंह, लोह औ साल।।
कमल, भवाज, त्रिसंक, वह, बध, चम आदि सदैव।
होंहि हलंत कदापि नहिं, आइ करें जो दैव।।

अथ एकारांत पुलिंग—शब्द . . .

चौबे एकारांत है, पुरुष लिंग बिख्यात।
क्रम सों धरें बिभक्ति कों, रूप होत द्वै-सात।।
प्रथमा चौबे जो कहे, बहु कों जेते जाँन।
चौबैंन कों, चौबेन कों, इमि औरहु अनुमाँन।।
द्वितिया आदि बिभक्ति के, बहुत बचन में एहु।
होत हलंतहु सो जथा, चौबैंन कों गुनि-लेहु।।
हे चौबे, संबोधन हिं, हे चौबेऔ होत।
चौबे सम पाँडे, दुबे, इमि जानहुँ मति-पोत।।

अथ एकारांत स्त्रीलिंग—'स्याँमदे' शब्द ...

नारि लिंग ए अंत है, सब्द 'स्याँमदे' जोंन।
बिन हलंत बहु बचन सब, चौबे के सम तोंन।।
एकहि बहु कौ स्याँमदे, संबोधन बुध-केतु।
ग्राँम रीति तिय नाम के, पाछें दे-दे देतु।।
उभै लिंग ए अंत नहीं, जदपि अहें ग्रंथस्थ।
तदपि कहँ ग्राँमीन लै, क्रम हित करि मति-स्वस्थ।।

अथ ऐकारांत पुलिंग—'हृदै' शब्द ...

हृदै सब्द पुलिंग है, भाषा में कवि-कांत।
होत स्याँमदे सरिस सो, सब थल ऐकारांत।।
संस्कृत में बहुधा जदपि, नहिं 'ऐ' अंत लखाँहि।
यकारांत सु हलंत बहु, तदपि इहाँ है जाँहि।।
बिजै, धनंजै, है सदै, निरदै, हिरदै तूल।
राय, पीय, जिय, तोय ए, ऐकारांत अमूल।।
ऐकारांत सु होंहि बहु, एकारांतहु अत्र।
हृदे जथा पै नहिं सदे, मध्य प्रयोजन तत्र।।
हृदयादिक ऐ अत जहाँ, तहँ है ऐसौ रूप।
जहँ हलंत तहँ देव सम, इमि बरनहिं कवि-भूप।।

अथ 'पै' शब्द ...

पयस सब्द संस्कृत बिषै, सोउ पय ह्वै 'पै' होइ।
इक पै सब्द परंतु कौ, बाचक अब्यै सोइ।।

अथ ऐकारांत स्त्रीलिंग—पै शब्द . . .

नारि लिंग 'पै' खोट कौ, सूचक ऐकारांत।
हृदै सब्द सम रूप सब, ताके कवि-कुल-कांत।।
हृदै सरिस तिय लिंग बहु, हैं हलंत ऐ अंत।
जै, लै, आसै, भै, प्रलै, पै सम सबै समंत।।

अथ ओकारांत पुलिंग—'प्यारो' शब्द , . .

प्यारो ओकारांत है, पुरुष लिंग कवि-भूप।
इक प्रथमा इक बचन में, राखै अपनों रूप।।
प्रथमा के बहु बचन सों, सब थल एकारांत।
हे प्यारे, संबोधनहिं, बहुतँन कों औ अांत।।
उरदू कौ मत लै कहूँ, महा प्रयोजन पाइ।
आकारांत सु होत है 'प्यारा' पंडित राइ।।
सब प्रथमा बहु बचन सों पूरब सम मत सोइ।
द्वितिया सो आ अंत कहुँ, यै बारह थल होइ।।

अथ ओकारांत पुलिंग में विशेष नियमाः . . .

हिंदी आकारांत जे, ते ब्रज औकारांत।
होत बिसेसन में बहुत, सँमझहु कवि-कुल-कांत।।
खड़ौ, बड़ौ, लाँबौ, पड़ौ, प्यारौ आदिक जाँन।
भाँखे आकारांत ए, उरदू होत सुजाँन।।

बाजादिक बहु सब्द के, दोऊ होत सरूप ।
बाजा, बाजौ सुद्ध दोउ, सँमझहु कवि-कुल-भूप ।।
हीरा, राजादिक सबद, होत न औकारांत ।
कहें असुद्ध बखानिऐं, यह समझहुँ मति भाँति ।।

अथ ओकारांत स्त्रीलिंग-'बन्नो' शब्द . . .

बनी सुद्ध है जदपि तउ, कहुँ बन्नो हू होइ ।
सब बिभक्ति में एक ही, रूप राखि है सोइ ।।
जदपि लगत बहु बचन में, या में अंत नकार ।
पै सो सुंदर होत नहिं, लीजै मन-हिं बिचार ।।
यासों दोऊ बचन में, ए सब एक सँमान ।
राखें सुंदर होत है, जाँनहु कवि मति-माँन ।।
लाड़ो, मुन्नो आदि सब, जानहुँ याही रीति ।
नियम सु ओकारांत के, कवि-जन करि अति प्रीति ।।

अथ औकारांत शब्द-नियमाः . . .

वकारांत करि होत हैं, सब्द सु औकारांत ।
होत बिभक्ति हलंत सो, यह समझहु कवि-कांत ।।
राघौ, जादौ आदि सब, राघब, जादब होइ ।
बरनहिं तिन कहँ राँम सम, यह जानहुँ सब कोइ ।।
वकारांत जौ होइ नहिं, कहुँ संजोग सरूप ।
तौ सब थल निज रूप में, रहि हैं पंडित-भूप ।।
पासौं, भादौं आदि जे, सब्द सु सानुस्वार ।
तिनहूँ कों इमि जानिऐं, एकहि रूप बिचार ।।

अथ अनुस्वार बिसर्गांत-नियमाः . . .

अनुस्वार नहिं अंत में, कहुँ भाषा-मधि होइ ।
तैसेंहि होत बिसर्ग नहिं, ए संस्कृत के दोइ ।।
होइ अनुस्वारांत जो, तौ है जाइ नकार ।
रांत, सांत, अरु हांत तिमि, अंत बिसर्ग बिचार ।।
चित्र-काव्य में होत सोउ, साधु कथँन में नाँहि ।
ए इन दोउँन के नियम, जानहुँ भाषा-माँहि ।।

अथ अन्य स्फुट नियमाः . . .

ऋ, ॠ, लृ, ॡ होत हैं, सब इकार ईकार ।
तैसेंहि होत हलंत सब, आकारांत निरधार ।।
भाषा के इमि जानिऐं, सब्द-नियम-परकास ।
लिखहु, पढ़हु, कबिता करहु, बरनत 'गिरधरदास' ।।

इति भाषा-व्याकरन संपूर्ण

ब्रजभाषा के कोष-ग्रंथ

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

कोष ग्रंथ भाषा-विज्ञान तथा भाषा-शास्त्र के महत्त्वपूर्ण और उपयोगी अंग हैं। मानव को व्याकरण के बिना अंधा और कोष के बिना बधिर (बहरा) कहा जाता है।[1] व्याकरण यौगिक शब्दों की सिद्धि करता है, किंतु रूड तथा योगरूढ शब्दों के लिए हमें कोषों का ही सहारा लेना पड़ता है। कोष का अर्थ है—

"कोषानामार्थरासीनां जातं समूहो येन तं कोषः।"

—रघुवंश ५।१

भारत में वैदिक-काल से ही कोषों का महत्त्व स्वीकार किया गया है, वैदिक वाङ्मय में कोषों का 'निघंटु' नाम था। वेदों पर निरुक्त रचने वाले 'यास्क मुनि' से पहिले 'निघंटु' नाम के पाँच पृथक्-पृथक् कोष संग्रह थे। इन पाँचों में पहिले तीन में एकार्थ वाले विविध शब्द संग्रहीत हैं। चौथे में अनेकार्थ शब्द और पाँचवे में वेद के देवताओं का वर्गीकरण करते हुए उनके नामों का संग्रह किया गया है। यों तो ये निघंटु-कोष बाद की पद्धति-सर के लौकिक शब्द-कोषों से पृथक् पड़ते हैं, पर इनसे वेदादि संहिता-ग्रंथों के अस्पष्ट अर्थों को समझने में जो सहायता मिलती है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लौकिक कोषों में कवियों एवं अन्य शास्त्र-रचयिताओं द्वारा प्रयुक्त इच्छित, उपयोगी, विविध विषयों के शब्दों का संचय है, निघंटु में केवल नाम और धातुओं का। लौकिक कोषों में—नाम, अव्यय तथा लिंग-बोध कराने वाले अपार शब्द संग्रहीत हैं। अस्तुः वैदिक कोष-ग्रंथ (निघंटु) वैदिक ग्रंथों में वर्णित विषयों तथा संदर्भों की पूर्ति करने वाले हैं और बाद के कोष संस्कृत-वाङमय के संपूर्ण शब्दों के अर्थ को स्फुट करने वाले शब्द-भांडार हैं।

निघंटु के पीछे 'यास्क' के 'निरुक्त' में विशिष्ट शब्दों का और 'पाणिनि' की 'अष्टाध्यायी' में यौगिक शब्दों का विशाल समूह कोष की समृद्धि का विकास करता हुआ हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है। पाणिनि के समय तक जितने भी कोष ग्रंथ मिलते हैं वे सब गद्य रूप में ही उपलब्ध हैं। इसके बाद कोषों की रचना अनुष्टुप्-आर्या आदि वृत्तों (छंदों) में हुई। यह छंद-बद्ध पद्धति शब्दों को कंठस्थ करने में अधिक सुगम और सफल हुई। इन कोष-ग्रंथों में शब्दों के शोध की कोई पद्धति नहीं है, जिससे आधुनिक पद्धति-अनुसार आकारादि क्रम की अनुक्रमणिका आदि का अभाव खटकता है। प्रो० 'कीथ' का कहना है कि "इस प्रकार की रचना कदाच धातु-पाठ तथा व्याकरण की अन्य सूचियों के अस्तित्वकाल से विकसित हुई है।"

देव-भाषा संस्कृत के कितने ही प्राचीन कोष-रचयिताओं के नाम अर्वाचीन कोषों तथा काव्य-ग्रंथों की टीकाओं में मिलते हैं। कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'संसारावर्त्त', व्याडि की 'उत्पलिनी', भागुर का 'त्रिकांड' तथा धन्वंतरि का निघंटु। इनके अतिरिक्त वाण, मयूर, मुरारि और श्रीहर्ष के–'श्लेषार्थ-पद-संग्रह' हैं, जो एक ही शब्द के दो या अधिक अर्थों के द्योतन करने वाले हैं, पर आज धन्वंतरि के निघंटु के अतिरिक्त अन्य कोष उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध कोषों में 'अमरसिंह' का 'नामलिंगानुशासन', अर्थात् 'अमरकोष' ही प्राचीन है जो सुंदर तथा अभूतपूर्व उपादेय है।

१. **अवैयाकरणस्त्वंधो बधिरः कोषवर्जितः।**

अमरसिंह से पहिले जो भी कोष-ग्रंथ थे, वे नामानुशासन अथवा लिंगानुशासन दरसाने वाले थे। साथ ही वे इतने अस्तव्यस्त थे कि उनसे किसी अंश तक लाभ नहीं उठाया जा सकता था। अमरसिंह के अमरकोष में—नामानुशासन, लिंगानुशासन, अव्यय तथा नानार्थ शब्दों का समावेश किया गया है। इस स्तुत्य प्रयत्न को गागर में सागर भरने जैसा कहा जा सकता है। अमरकोष के प्रथम कांड में—स्वर्ग, व्योम, दिग् काल, धी, शब्द, नाट्य, पाताल, नरक तथा वारि", द्वितीय कांड में—"भूमि, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि जंतु, मनुष्य, ब्रह्म (ब्राह्मण), क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र" तथा तृतीय कांड में—विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय और लिंगादि वर्गों में संपूर्ण उपयोगी शब्दों का समावेश किया गया है। इस प्रकार लगभग १५०० अनुष्टुप् छंदों—श्लोकों में यह कोष ग्रंथ बड़ा ही सुंदर बन पड़ा है। लोगों ने जहाँ अमर की निंदा—

"अमरसिंहो हि पापीयान्सर्वं भाष्यमचूचुरत् ।"

जैसी उक्तियों से की है वहाँ इनकी सरस-मधुर रचना से प्रभावित हो इन्हें प्रातःस्मरणीय बनाते हुए २६ कोष-ग्रंथ-कर्त्ताओं में गिनाकर अमर कर दिया है—

"मेदिन्यामरमाला च त्रिकांडो रत्नमालिका ।
रंति देवो भागुरिश्च व्याडिशब्दार्णवस्तथा ।।
द्विरूपश्च कलिंगश्च रभसः पुरुषोत्तमः ।
दुर्गोऽभिधानमाला च संसारावर्त शाश्वतौ ।।
विश्वो बोपालितश्चैव वाचस्पति हलायुधौ ।
हारावली साहसांको विक्रमादित्य एव च ।।
हेमचंद्रश्च रुद्रश्चाप्यमरोऽयं सनातनः ।
एते कोषाः समाख्याताः संख्या षड्विंशति स्मृताः ।।"

अमरकोष संस्कृताभ्यासी विद्यानुरागियों को कितना प्रिय है, इसका ज्ञान उसकी अनेक टीकाओं से होता है। ये टीकाएँ निम्न प्रकार है—

१ अमरकोषोद्घाटनम्,—क्षीरस्वामी ।
२ अमरदीपिका,—वंद्यगतीय सर्वानंद ।
३ पदचंद्रिका,—रायमुकुट (१४३२) ।
४ बुधमनोहरा,—वेदांती महादेव (स्वयंप्रकाश के शिष्य) ।
५ पीयूषव्याख्या,—रामकृष्ण दीक्षित ।
६ अमरचंद्रिका,—परमानंद मैथिल ।
७ पदविवृत्ति,—लिंगसूरि ।
८ व्याख्या सुधा,—भानु दीक्षित ।
९ अमरविवेक,—महेश्वर ।

इन पुरानी टीकाओं के अतिरिक्त नयी टीकाएँ भी हैं, जो उसको अधिक उपादेय बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

अमरकोष के बाद् कोष-ग्रंथों की रचना में बाढ़-सी आई। अस्तु: विशिष्ट शब्दों की अनुपूर्ति में रचा हुआ पुरुषोत्तम का—'त्रिकांडशेष', बारह वर्ष के विशेष प्रयत्न पूर्ण एकार्थ तथा अनेकार्थ शब्दोंका छोटा सा संग्रह—'हारावलि' तथा शाश्वत का—'अनेकार्थ समुच्चय' अमरकोष जैसे ही प्राचीन कोष-ग्रंथ हैं। अनेकार्थसमुच्चय में अनेकार्थ शब्द तथा पूर्ण, अर्द्ध तथा चतुर्थांश श्लोकों में भी समाहित हो जाँय ऐसे अल्प अनेकार्थ-वाची शब्दों के साथ अव्यय शब्दों का भी संग्रह किया गया है। इसके बाद हलायुध (९५०ई०) का 'अभिधानरत्नमाला', इसके एक शताब्दी बाद यादवप्रकाश का 'वैजयंती कोष'

जिसमें श्रुति, लिंग तथा आद्यवर्ण से लेकर व्यंजनांत तक संपूर्ण शब्दों का क्रमपूर्वक संग्रह है। यह 'कोष' एक अनोखी रचना माना जाता है।

सन् १०८८ ई० में हेमचंद्राचार्य ने पूर्व-अनुश्रुत एक महान् कोष—"अभिधानचिंतामणि" नाम से रचा। इसके बाद—'निघंटु', 'अनेकार्थ संग्रह', 'हेमलिंगानुशासन', 'उणादिसूत्र' तथा 'देशी नाममाला' आदि कोष-ग्रंथ रचे गये। देशीनाममाला, देश्य शब्दों का संग्रह है, जो प्राकृत शब्दों के विकास पर अच्छा प्रकाश डालता है। हेमचंद्र ने अपने इस कोष-ग्रंथ में अपने से पूर्व के देशी कोष-कर्त्ताओं की सूची में—अभिमानचिन्ह, गोपाल, देवराज, धनपाल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक और शीलांक आदि के नाम दिये हैं। धनपाल का 'पाइअलच्छी नाम माला' अति उपादेय कोष है। उसमें आधुनिक पद्धति के अनुसार अकारादि से लिखे शब्दों के साथ, एकाक्षरी, द्वाक्षरी—आदि क्रम भी सुंदरता से दिया गया है। जिस अक्षर से प्रारंभ होने वाला शब्द जहाँ दिया है, वहीं उसके नानार्थ शब्दों का संग्रह भी दे दिया गया है। यही नहीं, कोष में उस समय के रीति-रिवाज, तथा विनोद सूचक शब्दों का भी संकलन है। इसके-बाद, धनंजय की 'नाममाला' ११२३ ई० के लगभग बनी, जिसमें २५० छंदों में अपने समय के प्रचलित शब्दों का सरस रीति से संकलन किया गया है। विश्वलोचन कोष तथा साधु सुंदरगणि के 'शब्द-रत्नाकर' की भी काफी ख्याति है। महेश्वर का 'विश्वप्रकाश' (११११ई०), मंख का स्वोपयज्ञ टीका युक्त 'अनेकार्थ कोष' (११५० ई०), केशव स्वामी का 'नानार्थार्णव'—संक्षेप (१२००ई०), मेदिनीकार का 'अनेकार्थ शब्द कोष' (१४ वीं शती) तथा इरुगुप्त द्वारा रचित 'नानार्थरत्नमाला' का विशेष महत्त्व है। अनिश्चित् काल के अज्ञात-नामा कोषों में एक श्रुतिवाले 'एकाक्षरी कोष', पृथक्-पृथक् रूपों वाले द्विरूप, त्रिरूप कोषों का भी उल्लेख मिलता है, जो समय के पलड़े पर तुलकर अदृश्य हो अपनी स्मृति मात्र छोड़ गये हैं।

❀

ब्रजभाषा का कोष-अंग भी उसके 'रीति-शास्त्र' की भाँति देववाणी संस्कृत के कोष-ग्रंथ-रूप स्वस्थ तरुवर पर अमरवेलि की तरह पल्लवित हुआ और फूला-फला है। समय-समय पर इसमें भी अनेक कोष-ग्रंथ रचे गये, जो संस्कृत के कोष-ग्रंथों के समान परिपूर्ण, उपादेय तथा लोकप्रिय तो न बन सके, पर सरसता में उनकी बराबरी अवश्य कर सके हैं। ब्रजभाषा के कोष-ग्रंथ-रचयिताओं ने भी 'अमर' की भाँति ही छोटे छंद वाली सरस-सरल शैली अपनाई, जो अद्वितीय सिद्ध हो चुकी थी। शीघ्र कंठस्थ होने वाले अल्प 'अनुष्टुप्-वृत्त' के समान इन्होंने भी 'दोहा' जैसा छोटा छंद चुना। ब्रजभाषा के कवियों ने और उसके विद्वान ग्रंथ-प्रणेताओं ने श्रृंगार-रस के भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के निरूपण में—विभावांतर्गत आश्रय-अवलंब स्वरूप नायक-नायिका के भेदोपभेदों तथा उनके सर्वांग नख-शिख के उद्दीप्त वर्णनों के साथ-साथ दूत-दूतियों की सृष्टि में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जो बुद्धि का वैभव दिखलाया है, इनकी बारीकी दिखाने में जिस तबीअतदारी का परिचय दिया है; वह गंगा-यमुना की भाँति अति पावन, सरस, सुंदर सिद्ध होने में अपनी धातृ-रूपा संस्कृत से भी चढ़-बढ़ गया है। श्रृंगार-रस के संग्रह-ग्रंथ-प्रणयन में भी अति चातुर्य दिखलाया गया है। नये-पुराने अनेक कवियों के अपनी-अपनी दृष्टि से चोटी के छंद इन संग्रह ग्रंथों में चुनकर रखे गये हैं, पर कोष तथा व्याकरण जैसे उपादेय ग्रंथ-प्रणयन में जितना चाहिये था उतना ध्यान ब्रजभाषा के कविवर्गों ने नहीं दिया है। कारण ब्रजभाषा का वह समय श्रृंगारपूर्ण था, उसके बनने-सँवरने का था, भक्त कवियों द्वारा अपने-अपने इष्ट देवों के चरणों में नित्य नये रूप से अपने-अपने अंतर्गत भावों को उलटने-पलटने का था। प्रातःस्मरणीय ब्रज-भाषा के इन भक्त-कवियों को छोड़कर उस समय के और जो भी कवि थे वे नपुंसक-दरबारों की ही शोभा थे, अतः उस समय का प्रभाव ब्रजभाषा-साहित्य के सभी अंगों पर पड़ा। कोष-ग्रंथ-प्रणयन में भी बाधक रहा, फिर भी इस अंग की जो कुछ भी पूर्त्ति हुई वह साधारण होते हुए भी असाधारण ही कही जा

सकती है। इन कोष-ग्रंथ प्रणेताओं में जिनका सर्व प्रथम नाम-वंदन किया जा सकता है, वे हैं अष्टछाप के प्रसिद्ध, अति विशिष्ट, मधुर कवि—

"और कवि गढ़िया, 'नंददास' जड़िया।"

नंददास जी ने कोष-ग्रंथ-प्रणयन जैसे नीरस विषय को संस्कृत के अमरकोष की भाँति सरस ही नहीं बनाया, उसे भगवच्चरित्र-गान-विषयक अपने ध्येय के अनुकूल ढाल कर एक नयी स्फूर्त्ति उत्पन्न की—एक नयी-ही बंदिश बाँधी।

श्री नंददास ने—नाम-माला (मान-मंजरी) तथा अनेकार्थनाम-माला (अनेकार्थ-मंजरी) नाम से दो कोष ग्रंथों का प्रणयन किया जो अति प्रसिद्ध हैं। इनसे पूर्व ब्रजभाषा का कोई अन्य कोप-ग्रंथ न तो इतिहास प्रसिद्ध है और न अभी तक हमारे देखने-सुनने में ही आया है। इन दोनों कोष-ग्रंथों के प्रणयन में नंददास जी ने संस्कृत के अमरकोष को ही अपना आधार बताया है, जैसे—

"उचर सकत नहिं संस्कृत, जान्यों चाँहत नाँम।
तिन्ह-हित 'नंद' सुमति लगि, रचत नाँम की दाँम।।

❀

ग्रंथँन्ह नाना नाँम के अमरकोस के भाइ।
माँनवती के नाँम पै, मिले अरथ सब आइ।।"

—नाममाला,

अनेकार्थनाम-माला में बताया गया है कि "जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते उनके लिये मैंने (नंददास ने) अनेकार्थी संस्कृत-कोष को भाषा में लिखा।" कहने को तो नंददास जी ने अपने दोनों कोष-ग्रंथों के लिए "ग्रंथँन्ह नाना नाँम के अमरकोस के भाइ" को ही आधार बताया है, पर वास्तव में केवल आपकी 'नाम-माला' और 'अमरकोष' में ही विशेष साम्य है। अनेकार्थ-माला, शाश्वत के 'अनेकार्थसमुच्चय' के अधिक समीप है। नाम-माला में श्री नंददास ने—"मान, सखी, बुद्धि, सरस्वती, शीघ्र, धाम, सुवर्ण, रूपा (चाँदी), उज्ज्वल, शोभा, किरण, मोर, सिंह, अश्व, हाथी, सिद्धि, नवनिधि, मुक्ति, राजा, इंद्र, देव, अमृतादि" २०७ दो सौ सात शब्दों का संग्रह उनके पर्यायवाची शब्दों के साथ २६४ दो सौ चोंसठ दोहा छंदों में वर्णन किया है। इसी प्रकार 'अनेकार्थनाममाला' में भी—"गो, सुरभी, मधु, कलि, आत्मा, अर्जुन, धनंजय, पत्र, पत्री, बरही, धाम, काम—आदि ११३ एक सौ तेरह शब्दों के विविध अर्थ १२० एक सौ बीस दोहों में वर्णन किया है। इन लोकप्रिय दोनों कोष-ग्रंथों की सैकड़ों-हजारों प्रतियाँ यत्र-तत्र मिलती हैं, जिनमें लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बहुत कुछ शब्दों और दोहों में घटाबढ़ी की है। जिससे आज इनका मूलस्वरूप स्थिर करने में—शब्दों तथा छंदों की संख्या का निर्णय करने में बड़ी कठिनाई आ गयी है, परंतु इन सब कारणों के होते हुए भी उसकी सरसता और उपादेयता में कोई कमी नहीं आ पाई है। नाममाला की सबसे बड़ी प्रति में शब्दों की संख्या २५७ तथा छंद संख्या ३२४ पाई जाती है। नंददासजी के इन दोनों कोष-ग्रंथों के नामों (पुस्तक-शीर्षक) में बड़ी भिन्नता मिलती है। 'नाममाला' के—"नाममंजरी, नाममणि-मंजरी, नाम-चितागणिमाला" तथा 'अनेकार्थमाला' के—अनेकार्थमंजरी, अनेकार्थमणिमंजरी, अनेकार्थध्वनिमंजरी और अनेकार्थ नाम-चितामणिमाला" नाम मिलते हैं। शिवसिंह, मिश्रबंधु, पं० रामचंद्र शुक्ल, बा० श्यामसुंदरदास, डा० रामकुमार वर्मा, पं० चतुरसेन शास्त्री आदि हिंदी साहित्य के इतिहास-रचयिताओं ने इन नामों के साथ खासी खिलवाड़ की है। इन सभी महानुभावों ने नंददास जी के रचना-समुच्चय में इनका उल्लेख कर प्रत्येक को पृथक्-पृथक् ग्रंथ माना है। उक्त ग्रंथों को तनिक भी मिलाकर वा समीप से देखने का कष्ट नहीं उठाया है। बराबर एक के पीछे दूसरे, तीसरे—"मक्षिकास्थाने मक्षिका पातः" करते चले आये हैं।

श्री नंददास के इन दोनों ग्रंथों में उनके अगाध भाषा-पांडित्य तथा सुंदर काव्य-कौशल का अच्छा परिचय मिलता है। इन दोनों कोष-ग्रंथों में नंददास जी ने अपने कल्पनात्मक कथानक को जिस

सुंदरता से सटाया है वह एक कलात्मक कार्य है। कवि की कल्पना स्थान-स्थान पर अनुपम उपमा और उत्प्रेक्षा के सुमधुर रूपों में अनिर्वचनीय सुंदरता के साथ निखरी है। वाक्चतुर सखी के शिक्षा और उपालंभ से सने मधुर वाक्य छंदों के अंतिम चरणों में कुछ इस प्रकार मिलते-जुलते चलते हैं कि उनसे कवि की काव्यमयी मधुर-भाषा के परिचय के साथ-साथ उनकी वर्णन-शक्ति की महत्ता की छाप रसिक हृदयों पर बरबस पड़ती जाती है। उदाहरण-रूप में दो नाम, जैसे—

"गो इंद्री, दिबि, बाक, जल, सरग, बज्र, खग छंद।
गो धरु, गो तरु, गो किरँन, गो-पालक, गोबिंद ।।"[1]

—अनेकार्थमंजरी

बाँनी, बाक, सरस्वती, गिरा सारदा नाँम ।[2]
चली मनाँमन भारती, बचँन-चातुरी काँम ।।"

—मानमंजरी

सं० १६८५ में फतेपुर (मारवाड़) के कवि 'भीखजन' ने 'भारती नाम-माला' नाम का एक ब्रजभाषा-कोष ग्रंथ रचा। कवि पुष्करणा आचारज (आचार्य) ब्राह्मण देवीसहाय के पुत्र तथा दादू-पंथी संतदास के शिष्य थे।

सं० १७०० के लगभग शिरोमणि मिश्र ने "उर्वशी-कोष" नाम से ब्रजभाषा का कोष-ग्रंथ रचा। मिश्र जी मुगल-सम्राट् 'शाहजहाँ' के दरबार में थे। ये मथुरा-निवासी मोहन कवि के पुत्र तथा शतावधानी परमानंद जी के पौत्र थे।

अंचल गच्छीय कल्याण सागर सूरि के समय 'विनयसागर' ने सं० १७०२ में 'नाम-माला', 'अनेकार्थनाम-माला' कोष-ग्रंथ ब्रजभाषा में बनाये, जैसा कि आप कहते हैं—

"अनेकार्थ जो अनेक बिधि, प्रबल बुद्धि-परकास।
सास्त्र-समूहँन सोधि कें, बिरच्यौ बिनय-बिलास ।।"

किन्हीं 'बद्रीदास' कवि ने 'नंददास जी' की नाममाला के आधार पर उन्हीं की भाँति 'नाम-माला' अर्थात् 'मान-मंजरी' लिखी। जैसे—

"बहु बिध नाम निहारि, अरथ अमर जू कोष कै।
सरब सुभाव बिचारि, माँन छुड़ावति राधिका ।।"

प्राप्त पुस्तक पर सं० १७२५ लिखा है। यह प्रति 'जेतारँन (माड़वार) में लिखी गयी है। भाषा सुंदर तथा प्रांजल है। उदाहरण स्वरूप एक छंद 'मान-नाम', जैसे—

"दरपक, मद, अहँकार, माँन, गरभ, मति छोह-भरि।
'बद्रीदास' अधार, माँनिनि कौ अभिमाँन सुभ ।।"

कवि 'महासिंह' ने भी श्री नंददास की 'अनेकार्थ-नाम-माला' को लक्ष्य में रखकर सं० १७६० में अपनी 'अनेकार्थ-नाम-माला" रची। ये सभी महाकवि नंददास जी की भाँति अपनी कृति में 'अमरकोष' को आधार मानते हुए कहते हैं—

"अमर-आदि जो कोस अति, तिन्ह कौ सत ह्याँ लीँन।
'महासिंघ' कबि यों भनें, अनेकार्थ यह कीँन ।।"

यही नहीं, कवि ने नंददासजी की अनेकार्थ-मंजरी को ज्यों की त्यों अपना ली है, रत्तीभर भी हेर-फेर नहीं किया है। उदाहरण के लिये दोनों—नंददास और महासिंह के 'धनंजय' नाम के छंद देखिये, जैसे—

१. पाठांतर—सरग सुदीठि अनिंद।
२. ,, —इला, सारदा नाँम।

"अग्नि, धनंजै कहत कबि, पवन धनंजै आहि ।
अरजुन बौहौरि धनंजै, कृष्ण सारथी जाहि ।।"
—अनेकार्थ : नंददास

"अग्नि धनंजय कहत कबि, पवन धनंजय आहि ।
अरजुन बहुरचौ धनंजय, कृष्ण सारथी जाहि ।।"
—अनेकार्थ : महासिंह

संवत् १७७० में किन्हीं गुजराती कवि 'रत्नजित्' ने ब्रजभाषा-व्याकरण के साथ-साथ 'भाषा-शब्द-सिंधु' तथा 'भाषा-धातु-माला' नाम से कोष ग्रंथ रचे । इनका विवरण—ये कौन और कहाँ के थे, आदि कुछ भी नहीं मिलता । केवल नाम से 'जैन' ज्ञात होते हैं । आपने अपनी इस (ब्रजभाषा-व्याकरण) पुस्तक में ब्रज-भाषा की बड़ी प्रशंसा की है । जैसे—

"रचैंन अगॅम, पढ़िवौ सुगॅम, ब्रजभाषा के ग्रंथ ।
तातें बहु नृप अँनुसरत, या भाषा कौ पंथ ।।"
जो पंडित बैखाँनबिद, तौ पुनि भाषा चाहि ।
निंदति हैं ब्रज-बाँनि कों, पहुँचत बुद्धि न जाहि ।।
भाषा कौ रस जाँन-हीं, भाषा जाँनन-हार ।
ज्यों केसव गिरबाँन कों, जाकी बुद्धि अपार ।।"

"ते नैवोक्तं रसिकप्रियायां श्लोके"—
"गीर्वाणवाणीषु विशेष बुद्धिस्तथापि भाषा रस लोलुपोऽहम् ।
यथाऽमराणाममृतेषुसत्सुस्वर्गांगना नामधरेषु लुब्धिः ।।"

रत्नजित् ने अपने 'भाषा-शब्द-सिंधु' में 'ककारांत' शब्दों से लेकर 'ज्ञकारांत' तक संपूर्ण शब्दों का संग्रह अनुक्रमणिकानुसार विविध वृत्तों में वर्णन किया है । ये शब्दनाम, अर्थात् संज्ञा-वाचक हैं, क्रिया-वाचक शब्दों का संग्रह अपनी 'धातु-माला' में किया है । पुस्तक का आरंभ इस प्रकार है—

"अथ भाषा शब्द सिंधु लिख्यते । बचनिका । ककारांत शब्दाः—
तिलक, किलक, पलक, गनक, तनक, नरक, बक, बूक, कंटक, मसक, ससक .... आदि ।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द (अक्षर) के तीस-तीस भेद दिये हैं । धातु-माला में "अथ 'देख' वा वाचक (सकर्मक) धातु यथा—

देख, अवदेख, लख, झाँख, अवलोक, बिलोक, निरख, निहार, परेख, हेर, चितव (चितै) ।"

और अकर्मक धातु जथा—**दरस, दीस . . .**

ककारांत जथा—

"तरक, खरक, चुक, छिरक, कुहुँक, अटक, पटक, अवलोक ।
चमक, दमक, बक, चोंक, सक, हुलक, बिलोक हि रोक ।।"

(अंत) अथ हकारांत जथा—

"कह, गह, दह, रह, गुह, लहहु, मोह, सोह, अवगाह ।
रोह, गाह, अवरोह, ढह, सह, चह, निवह, सराह ।।"

सारंगधर कवि ने 'विराहचंद्रिका' नाम से एक कोष ग्रंथ लिखा है, जिसमें विविध अन्य शब्दों के साथ-साथ 'स्वर्णकारी'–विद्या-संबंधी पारिभाषिक शब्दों का भी संकलन किया गया है । इसकी प्रति सं० १७७४ की मिलती है । कवि के इतिवृत्त का कुछ पता नहीं चलता ।

संवत् १७९२ में हरिजू मिश्र ने 'अमरकोष' का ब्रजभाषानुवाद किया । आपकी भाषा प्रांजल है—साफ-सुथरी है । हरिजू मिश्र आगरा के थे ।

खंडन कवि ने 'नाम-प्रकाश' नाम से एक कोष ग्रंथ सं० १८१५, विक्रमी में लिखा है। खंडन जी जाति के कायस्थ और दतिया के रहनेवाले थे।

कविवर 'भिखारीदास' उपनाज—'दास' ने सं० १७९५ में 'नाम-प्रकाश' नाम से अमरकोष का अनुवाद ब्रजभाषा में किया। आप वहीवार शाखा के श्रीवास्तव कायस्थ थे। पिता का नाम कृपालदास और पितामह वीरभानु थे। ये प्रतापगढ़ (अवध) के समीप मौजा टेंउगाँ के निवासी थे। नाम-प्रकाश की रचना विविध छंदों में हुई है।

. तपागच्छीय साधु 'ऋद्धिविजय' जैन के शिष्य 'चेतनविजय' ने सं० १८४७ में 'आत्मबोध-नाम-माला' नाम से एक कोष लिखा है। इन्होंने अपनी 'लघु-पिंगल' नाम की पुस्तक में अपने को बंगाल का होना बताया है, पर कहाँ और किस ग्राम में—इसका कुछ पता नहीं है। आप 'आत्मबोध' में कहते हैं—

"भाषा आतम बोध की, रचना रचों सुदाँम।
बहुत बस्तु हैं जगत में, तिनकों कहों बखाँन॥"

संवत् १८६३ में भिनगा के राजा जगतसिंह ने 'रत्न-मंजरी' नाम से एकाक्षरी कोष लिखा। आपके इस कोष में 'क' से 'ह' तक तथा 'क्ष' 'ब' स्वरों की नाम-संज्ञा का भी वर्णन है, जैसे—

"सास्त्र-धातु अभिधाँन अरु अँमित सबद ते साधि।
भाषा करि 'एकाच्छरी', समझौ बुद्धि अगाधि॥"

और 'क': नाम, यथा—

"ब्रह्मा, बायू, आतमा, अरु प्रकार परकास।
ए पाँचौ कः जाँनवी, बरनत बुद्धि-बिलास॥"

सं० १८६४ विक्रमी में 'सुवंश' कवि ने 'उमरावकोष' रचा। ये जाति के ब्राह्मण शुक्ल टेढा-बिगहापुर जिला उन्नाव के रहनेवाले अमेठी के राजा उमरावसिंह बघेल के आश्रित थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता उमरावसिंह के नाम पर 'उमरावकोष' लिखा। भाषा सुंदर और मधुर है, इससे पता चलता है कि कवि का ब्रजभाषा पर यथेष्ट अधिकार है।

सन् १६७५ ई० के लगभग 'मीरज़ाखाँ' ने 'तुहफतुल-हिंद' नाम के फारसी ग्रंथ में परिशिष्ट की भाँति 'लुगत-ए-हिंदी' (हिंदी-फारसी) कोष दिया है। आधुनिक परिभाषा में कोष का जो रूप होता है उसके अनुसार 'मीरज़ाखाँ' का कोष पहला 'हिंदी-फ़ारसी' कोष विदित होता है। इस कोष में तीन हजार से अधिक हिंदी शब्दों के अर्थ दिए हुए हैं। यहाँ हिंदी से 'ब्रजभाषा का मतलब है।

सन् १७०४ में फ्राँसिस्कस एम० तुरोनीसिस Franciscus M. Turonesis ने हिंदोस्तानी भाषा की डिक्सनरी लिखी जो सन् १७६१ ई० तक रोम की 'प्रोपागेंडा लाइब्रेरी' में थी। सन् १७४० ई० में दयाराम त्रिपाठी ने एक हिंदी कोष लिखा।[1]

इस समय के लगभग ही 'उदोत' कवि ग्वालियर वासी ने टीकमगढ़ में 'अनेकार्थ-मंजरी' नाम से ब्रजभाषा का कोष-ग्रंथ रचा। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। औरंगजेब के दरबार में भी आपका जाना-आना था। इनकी इस 'अनेकार्थ मंजरी' की रचना में पद-पद पर श्री नंददास जी की 'अनेकार्थ-नाम-माला' की छाप है। प्रयागदास ने सं० १८६९ में संस्कृत के अमरकोष का ब्रजभाषानुवाद 'शब्दरत्नावली' नाम से किया—

"संबत नव, खट्, बसु, ससी, साँमन सुदि बुधबार।
भई 'सबद-रतनावली', तिथि द्वादसी प्रचार॥"

संवत् १८७० में काशी के गोकुलनाथ भट्ट ने संस्कृत अमरकोष को भाषा-बद्ध 'रत्न-माला' नाम से किया। गोकुल भट्ट बंदीजन रघुनाथ कवीश्वर के पुत्र थे। रघुनाथ कवि को काशी-नरेश ने चौरा ग्राम दिया था। वहीं इनका कुटुंब रहने लगा। कवि ने अपने ग्रंथ का रचना-काल इस प्रकार लिखा है—

[1]. दे० 'ए ग्रामर आँव दी ब्रजभाखा : भूमिका, पृ० ८'।

"गगन, श्राद्र, बसु, बिधु संबत बर, कातिक पुन्य कदंभ ।
सुकुल पंचमी पाइ पुन्य भव, कियौ कोष प्रारंभ ।।"

उदाहरण-रूप "कमल-केसर" नाम जैसे—

"केसर, श्रक, किंजलद कहत हैं, होत जो बारिज-बीच ।"

श्रौर नाममाला में 'विष्णु-नाम', जैसे—

"बिष्नु, नराइन, नरपती, बनमाली, हरि, स्याँम ।
मधुसूदन श्ररु दैत्य-रिपु, रावन-श्ररि श्री राँम ।।"

उन्नीसवीं शती के आरंभ में 'सागर' कवि ने 'अनेकार्थी' तथा 'धनजी-नाम-माला' नाम से दो उपादेय कोष-ग्रंथ रचे, जो नंददास जी की अनेकार्थ और नाममाला जैसे हैं। कवि के जन्म, स्थानादि का विवरण नहीं मिलता। अनेकार्थी में ६० और नाम-माला में १४५ पद्य हैं। उदाहरण रूप 'सारंग' नाम, जैसे—

"कँमल, कुरंग, मराल, ससि, पावस, कुसुम, श्रनंग ।
चातक, केहरि, दीप, पिक, हँस, राग सारंग ।।"

—अनेकार्थी,

अमरकोष-भाषा नाम से 'शिवप्रसाद' कायस्थ भिनगा-वासी ने सं० १८७४ में एक कोष-ग्रंथ लिखा। जैसे—

"श्रमरकोष भाषा कियौ, लीजै सुकवि बिचारि ।
सुर-बाँनी बुध-लोग कों, भाषा श्रबुध निहारि ।।
छंद श्रधिक बहु ग्रंथ में, है पढ़िबौ श्रति क्लिष्ट ।
ताते द्वै श्रति सरल लखि, पढ़त सबै करि इष्ट ।।
चौपाई श्रौ दोहरा, ए द्वै छंद प्रसिद्ध ।
हों इन हीं में ग्रंथ किय, है दोहँन की बृद्धि ।।"

श्रौर उदाहरण, जैसे—

"श्रमर तीसरे कांड में श्राठ बर्ग कों देख ।
चारि बरग भाषा बिषै, श्रावत काज बिसेख ।।
सो मैं भाषा करि कह्यौ, दोहा छंदँन माँहि ।
भाषा बिषै प्रबींन सो, पढ़ि हैं जो करि चाँहि ।।
चार बरग जो लिंग के, भाषा में नहिं होइ ।
स्त्री, पुंस, नपुंसकहि, इस्त्रि-नपुंसक सोइ ।।
ताते भाषा नहिं किए, नाम मात्र कौ काज ।
संस्कृत सबद जु होत हैं, श्रावत जे तब काज ।।
लिंग-भेद भाषा बिषै, बिन कारज के पेखि ।
ताते छाँड़े चाहिऐं, स्वार्थ-रहित कों देखि ।।"

खोज रिपोर्ट सन् १९२३-२५ के पृष्ठ १३६२ तथा ६६ पर इस पुस्तक का दो बार उल्लेख किया गया है। प्रथम उल्लेख में यह पुस्तक जैसा कि ऊपर विवरण दिया है—"शिवप्रसाद कायस्थ" के नाम से तथा द्वितीय में 'शिवसिंह' के नाम से है। निर्माणकाल दोनों में एक है, अर्थात् १८७४ ही लिखा है। पृ० ६६ के विवरण में शिवप्रसाद जी के चौथे छंद—

"'श्रमरकोष भाषा कियौ, लीजै सुकवि बिचारि ।"

को इस प्रकार बदल दिया गया है—

"अमरकोष भाषा कियौ श्री सिवसिंह बिचार।"

और पुस्तक के अंत में इति श्री स्वरूप—"इति श्रीमहाराजकुमार बिसेनवंशावतंश बरिबंडसिंहात्मज सर्वदमनसिंह तनुज शिवसिंह कृते अमरकोष भाषायां तृतीय खंड:" लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि "या तो यह ग्रंथ शिवप्रसाद कायस्थ ने जो इन महाराज के आश्रित कवि हों, अपने पालक-आश्रयदाता के नाम से लिखा, अथवा शिवप्रसाद जी इसके लिपिकर्त्ता हों।

सं० १८७४ में ही 'मातादीन' शुक्ल' ने "नानार्थनवसंग्रहावली' नाम का एक कोष-ग्रंथ रचा तथा झाँसी-निवासी श्रीवास्तव 'नवलसिंह प्रधान' ने भी 'नामचिंतामणि' और 'नामरामायण' दो ब्रजभाषा-कोष ग्रंथ लिखे। प्रधान जी, समथर-नरेश हिंदूपति तथा दतिया और टीकमगढ़ के (मध्यप्रदेश) राज्यों में—उनके दरवार में आते-जाते थे। ये सं० १६०६ वि० में विद्यमान् थे।

किन्हीं 'लाडिलीप्रसाद' ने सं० १६०६ में 'नाममाला' नाम से ब्रजभाषा कोष-ग्रंथ रचा। 'रत्नहरि' ने सं० १६२१ में 'दूरादूरार्थ दोहावली' नाम से अनेक-अर्थात्मिक एक कोष-ग्रंथ रचा। जैसे—

"संबत ससि, दृग, खंड ससि, चैत दरस ससिबार।
दूरादूरारथ दई, दोहावलि दातार॥"

और उदाहरण, जैसे—

"भज भव, भै करतार तें भज भज भै करतार।
तज भव भय भरतार कों, तज भव भय भरतार॥"

❀

"भजन भजन तें भजन भव, तब भव भवम बहोइ।
भजन भजन कौ भय दहै, है अभयद कों जोइ॥"

अज्ञात-कुलशील ब्रजभाषा कोष-ग्रंथ रचयिताओं में—चंदनराम के अनेकार्थ और नामार्णव, सुबुद्धि कवि की 'नाम-माला' वा 'आरंभ-नाम-माला', विष्णुदत्त के पुत्र रघुनाथ का 'प्रदीपिका-नाम-माला', चंदनराय का 'तत्त्वसंज्ञा' कोष तथा राय साहिबसिंह का 'तुलसीरामायण' कोष भी प्रसिद्ध हैं। सुबुद्धि कवि नाम-माला में कहते हैं—

"अमर-ग्रंथ में जे कहे, सुने, लहे करि सुद्ध।
कुछ उपजाए अर्थ सों, नए नाम निज बुद्ध॥
भाषा-महिमाँ अधिक है, दिन-दिन गुन अधिकाहिं।
मृतक (जु) जीबित मंत्र सों, तु हौ तौ भाषा माहिं॥
जो कबित्त भाषा पढ़ें, जो रत भाषा सुद्ध।
तिन्ह के समुझँन कों इते, बरने बिबिध सुबुद्ध॥"

उदाहरण—'जम'-नाम, जैसे—

"सूरज-सुत, जँम जगत-अरि, जिय-निपात करि जाँन।
सिष्ट-भखी, निरदई, अयुनि, रबितन जो परिबाँन॥"

रघुनाथ कवि ने 'प्रदीपिका-नाम-माला' का प्रारंभ इस प्रकार किया है—

"अविरल मद-रेखा दिएँ, गनपति ललित कपोल।
गंध-लुब्ध मनु मगन ह्वै, षटपद करत कलोल॥
अब हों बरनों सबद-निधि, पार होंन की आस।
चित बिलसत 'रघुनाथ' कवि, नाना-उकति प्रकास॥
बिबिध नाम-रत्नावली, सुनत हरै दुख दंद।
कृत 'रघुनाथ' प्रदीपिका, विष्णुदत्त के नंद॥"

चंदनराय कृत 'तत्त्व-संज्ञा कोष' में—त्रिगुण नाम, ज्ञानेंद्रिय नाम, सूक्ष्य इंद्रिय नाम, ज्ञानेंद्रिय-देवता नाम तथा कर्मेंद्रिय नाम–आदि विभिन्न विषय-रूप शब्द दिये हैं और राय साहिबसिंह के 'तुलसीरामायण-कोष' में आकारादि-क्रम से आधुनिक पद्धति-अनुसार गो० तुलसीदास जी कृत 'मानस' के संपूर्ण शब्द तथा उनके अर्थ दिये हैं।

किसी अज्ञात कवि ने 'अनेकार्थ-नामावलि' नाम से ब्रजभाषा कोष-ग्रंथ रचा, जिसका पता रिपोर्ट सन् १९०२ से लगता है। रिपोर्ट में इस ग्रंथ के प्रति–रचयिता के लिये लिखा है—

"शायद यह कोष जोधपुर निवासी जालंधरनाथ के किसी भक्त ने रचा हो।"

दौलतराम ने 'पुण्याश्रव-कथा-कोष लिखा, जिसमें केवल कथाओं का संग्रह है। यही नहीं, ब्रजभाषा में वैद्यक के 'निघंटु' कोष भी अनेक लिखे गये। इन निघंटु कोषों में' लक्ष्मण प्रसाद' का 'नाम-चक्र' तथा 'मदनपाल' का 'निघंटु-भाषा' अति प्रसिद्ध हैं।

ब्रजभाषा में संस्कृत कोषों का ही नहीं अपितु अरबी-फारसी के खालिकवारी' और 'गुलिश्ता' आदि के अनुवाद; अथवा वे हिंदी-लिपि में लिखे ही नहीं गये, किंतु उनमें नूतनता लायी गयी—मधुरता भरी गयी। जैसे—

"खालिक बारी सिरजनहार, वाहद एक बिदा करतार।
रसूल पैगंबर जान बसीठ, यार-दोस्त बोले जाँइ ईठ।।"

यहाँ 'बसीठ' और 'ईठ' शब्द बिचारणीय हैं। बसीठ का अर्थ—'संदेशवाहक', अर्थात् संदेश लाने और ले जानेवाला (चिट्ठीरसा) होता है, जो उपयुक्त है, पर 'ईठ' का अर्थ 'यार-दोस्त' के पर्याय रूप हिंदी में उचित नहीं बैठता। अतः ब्रजभाषा के कवियों—उसके अनुवाद-कर्ताओं ने बसीठ को 'वसिष्ठ' और ईठ को 'इष्ट' कर जो सार्थक रूप दिया है वह ईठ की कष्ट कल्पना से परे है।

"तमन्ना, बहम्, आरजू, चाह कहिए।
इदोवस्त, हाथों, कदम पाइ गहिए।।"

हिंदी में शब्द-समस्या

श्री रामचंद्र वर्मा

हमारे यहाँ शब्दों को ब्रह्म कहा गया है। जिस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप समझना और उस तक पहुँचना बहुत कठिन है, उसी प्रकार शब्द का स्वरूप समझना और उसकी आत्मा तक पहुँचना भी बहुत कठिन है। बोलने को तो सभी लोग सदा कुछ न कुछ बोलते ही रहते हैं और सुननेवाले अपनी समझ से उनकी बातों का कुछ न कुछ अर्थ लगा ही लेते हैं, पर शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ समझ कर उनके मूल तक पहुँचनेवाले लोग बहुत कम होते हैं। तुलसी-कृत रामायण को ही लीजिए—सारे भारत में उसका नित्य थोड़ा-बहुत पाठ करनेवालों की संख्या लाखों-करोड़ों तक पहुँचती है, पर उसका ठीक आशय समझनेवालों की संख्या सैंकड़ों या हजारों तक ही पहुँच कर रह जाती है। कबीर, सूर, मीरा, जायसी आदि प्राचीन कवियों की कृतियों के संबंध में भी यही बात है।

हमारा देश भारतवर्ष अपनी और सब बातों की तरह आकार-प्रकार आदि में भी बहुत विस्तृत और विशाल है। इसे एक छोटा महादेश ही समझना चाहिए। इसके अंतर्गत अनेक प्रदेश या छोटे देश, अनेक जातियाँ, अनेक धर्म, अनेक आचार-विचार, अनेक भाषाएँ और अनेक बोलियाँ हैं और उन सबका मिला-जुला एक ऐसा संहत रूप है, जो अनेकता में एकता का बहुत बड़ा प्रतीक है। उस एकता का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिये सारी अनेकताओं पर ध्यान रखना पड़ता है—यह देखना पड़ता है कि वे अनेकताएँ कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुईं और उनमें परस्पर कैसा संबंध है। तभी हम उसकी आत्मा तक पहुँच कर उनके समष्टिगत रूप के दर्शन पा सकते हैं। फिर प्राचीन कवियोंकी कृतियों का ठीक अर्थ समझना कई कारणों से और भी कठिन होता है। एक तो अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि अनेक स्थानिक भाषाओं में प्राचीन हिंदी साहित्य लिखा गया है, तिसपर पुराने शब्दों का प्रयोग दिन-पर-दिन कम होता जाता है। भाषा नया रूप धारण करती रहती है—पुराने शब्द छूटते जाते हैं और नये आते या बनते रहते हैं। कवि और लेखक अपनी मातृ-भाषा के तथा अपने यहाँ के स्थानिक शब्दों का उपयोग भी करते हैं। अन्य भाषा-भाषी या दूसरे स्थानों के लोग उन शब्दों के ठीक-ठीक रूप और अर्थ सहज में नहीं समझ पाते। हमारे यहाँ के प्राचीन कवि और महात्मा, बहुत कुछ आजकल के कवियों और महात्माओं की तरह अन्यान्य प्रदेशों और तीर्थों की यात्रा भी करते थे और सब जगह के लोगों से मिल-जुलकर विचार-विनिमय भी करते थे—उनमें शब्दों और विचारों या भावों का आदान-प्रदान भी होता था। यदि उन्हें कहीं से नये या अच्छे विचार अथवा अधिक सुंदर और भाव-व्यंजक शब्द मिलते थे, तो उन्हें ग्रहण करके अपनी कृतियों में उनका प्रयोग करनेमें वे कभी संकोच नहीं करते थे। यही कारण है कि बहुत से प्राचीन कवियों में अनेक प्रकार की स्थानिक बोलियों के शब्द भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। आज-कल के आलोचक तो ढूंढ-ढूंढ कर इस बात का पता लगाते हैं कि हमारे आलोच्य कवि ने किन-किन भाषाओं और किन-किन बोलियों के कैसे-कैसे शब्दों का प्रयोग किया है और इसी आधारपर उन्हें बहुज्ञ और बहुश्रुत तथा अनुभवी पर्यटक के रूप में उपस्थित करते हैं वास्तव में इस प्रकार की प्रस्थापनाएँ हमें उन कवियों की आत्मा तक पहुँचाने में बहुत अधिक सहायक होती हैं।

'प्रामाणिक हिंदी-कोष' का काम करने में मुझे प्रायः प्राचीन कवियों के प्रयुक्त किये हुए बहुत से शब्दों की छान-बीन करनी पड़ती है। 'हिंदी शब्द-सागर' के प्रणयन के समय तो प्रामाणिक

और अच्छा साहित्य बहुत कम था ; पर अब बात दूसरी हो गई है। आज-कल अनेक प्राचीन कवियों की कृतियों के कई ऐसे सुंदर संस्करण प्राप्य हैं, जो बहुत ही परिश्रम तथा योग्यतापूर्वक संपादित हुए हैं और ऐसे संस्करणों से वास्तविक और शुद्ध अर्थ जानने में बहुत कुछ सहायता मिलती है, पर कोई विद्वान् सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। भाषा के स्वरूप के संबंध में ऊपर जो बातें कही गई हैं, उनके कारण अच्छे संपादकों की कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं! सभी लोगों से कहीं न कहीं भूलें हो ही जाती हैं, पर ऐसी भूलों के लिए न तो विद्वान् लोग दोषी समझे जाते हैं, न अल्पज्ञ। यदि कहीं किसी से कोई भूल हो तो और लोग जाँच-पड़ताल करके, बिना किसी फालतू अभिमान के, वे भूलें सुधार सकते हैं। ज्ञान का क्षेत्र सदा से इसी प्रकार परिष्कृत और विस्तृत होता आया है और होता रहेगा।

शब्दों और अर्थों की छान-बीन करते समय बहुत सी बातें ध्यान में आती रहती हैं; पर समय के अभाव से मैं उन सब बातों का कोई शृंखलाबद्ध संग्रह नहीं करने पाता। मेरे पास प्राचीन कवियों-द्वारा प्रयुक्त अनेक ऐसे शब्दों और प्रयोगों का एक अच्छा-खासा संग्रह तैयार हो गया है, जिनके अर्थ स्पष्ट नहीं होते और जो विद्वानों के लिए विचारणीय हैं। ऐसे शब्द बिना किसी निराकरण के प्रायः मेरे पास पड़े रहते हैं; और कभी-कभी महीनों बाद संयोग अथवा प्रसंग से ऐसे शब्द स्वयं ही अपना अर्थ प्रकट कर देते हैं। यहाँ मैं कुछ ऐसे ही शब्दों की चर्चा करना चाहता हूँ।

कोई छः मास पूर्व मीरा के शब्द संग्रहीत करते समय मुझे "दोवड़ी" शब्द मिला। मीरा का पद है—

'गैणों तो म्हारो माला, दोवड़ी और चंदन की कुटकी।'

एक सुयोग्य टीकाकार ने दोवड़ी को 'एक प्रकार का गहना' बतलाया था, पर मुझे यह अर्थ इसलिए ठीक नहीं जँचा कि गहनों का तो मीरा तिरस्कार ही कर रही है—फिर दूसरा गहना कहाँ से आया 'दोवड़ी' तो गहने से भिन्न कोई चीज होनी चाहिए। इधर हाल में जब 'कबीर साहित्य का अध्ययन' प्रकाशित हुआ और मैं उसमें के शब्द लेने लगा; तो उसमें मुझे कबीर का पद मिला—'पाँच गज दोवटी माँगी, चून लीयौ सानि।' यहाँ आकर पता चला कि दोवटी और दोवड़ी दोनों एक हैं; और 'दोवड़ी' का अर्थ चादर, दुपट्टा या और कोई कपड़ा होना चाहिए। एक सुयोग्य मित्र से बात-चीत करने पर पता चला कि राजपूताने में 'दोवड़ी' साधारण मोटे देशी कपड़े को कहते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल में इसी अर्थ में 'द्विपट्ट' शब्द प्रचलित था, इसके विपरीत बढ़िया रेशमी कपड़ा 'दुकूल' कहलाता था। इस प्रकार 'दोवड़ी' की गुत्थी जैसे-तैसे सुलझ गई है।

मीरा के एक और पद में आया है—'मोती-माणिक परत न पहरूँ, मैं कब की नटकी।' उसी टीका में मुझे 'परत' का अर्थ 'इकहरे-दोहरे गहने अथवा जड़ाऊ गहने' मिला और 'नटकी' का अर्थ 'अस्वीकार कर दिया।' साधारणतः राजस्थानी में 'का' का प्रयोग अपत्य के अर्थ में होता है, जैसे—राँड़का; अर्थात् राँड़ (विधवा) के पुत्र की तरह अनाथ और दीन-हीन। व्रज में भी यह शब्द इसी अर्थ में अबतक बोला जाता है। इसलिए यह तो समझमें आ गया कि 'नटकी' शब्द 'नटका' का स्त्रीलिंग रूप है और 'नटका' का अर्थ नट जाति का पुरुष, पर 'परत' वाली समस्या बनी रही। महीनों वाद, मातृ-भाषा पंजाबी होने के नाते, इस 'परत' का भी अर्थ एक वातचीत के प्रसंग में ध्यान में आ गया। पंजाबी में 'परतना' के अर्थ होते हैं—(क) लौटना या वापस आना और (ख) पीछे की ओर मुड़ना या मुड़कर देखना। पंजाबी मुहावरे के अनुसार 'परतकर कोई काम न करना' का अर्थ होता है—भूल कर भी कोई काम न करना। अतः मीराँ के उक्त चरण का अर्थ हुआ—"मैं भूलकर भी मोती-मानिक नहीं पहनती, क्योंकि मैं कोई नटनी (नट जाति की स्त्री) नहीं हूँ।" और सारे पद के प्रसंग में यही अर्थ बिलकुल ठीक घटता है।

महात्मा कबीरदास के स्थलों का स्पष्टीकरण भी कुछ इसी प्रकार, पंजाबी भाषा के सहारे हुआ। उदाहरणार्थ 'सुति मुकलाई अपनी माउ' का अर्थ एक प्रतिष्ठित और सुयोग्य मित्र ने किया है 'लड़के ने अपनी माता को मुक्त कराया' (अज्ञान-रूपी पुत्र ने माया-रूपी माता को मुक्त कराया है, वह उसे संसार में ले आया है), पर पंजाबी में (मुकलावा) कहते हैं द्विरागमन को और 'मुकलाना' का अर्थ है—वर का बहू को ससुराल से पहले-पहल विदा कराके अपने घर लाना। इसलिए उक्त पंक्ति का सीधा अर्थ हुआ—लड़का अपनी माँ का द्विरागमन कराके (अपनी बहू के रूप में) अपने घर लाया है। अब पूरा पद लीजिए और आदि से अंत तक उसकी संगति मिलाइए तो अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। पद इस प्रकार है—

"जोइ खसमु है जाइया,
पति बापु खिलाइया।
देखहु लोगा कलि का भाउ,
सुति मुकलाई अपनी माउ॥"

यहाँ उलटवाँसी के विचार से पुत्र का अपनी माता का गौना करा लाना ही ठीक बैठता है। ठीक यही बात **'पाहू घर आए मुकलाऊ आए'** के संबंध में भी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पाहुने बिदा कराने के लिए घर आये हुए हैं। यहाँ 'पाहू' ठीक उसी प्रकार 'दामाद' के अर्थ में आया है, जिस प्रकार आज भी अनेक स्थानों में दामाद के लिए 'पहुना' 'मेहमान' आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। इस चरण का वास्तविक अर्थ है—प्रियतम गौना ले जाने के लिए घर आये हैं। इसी प्रकार कबीर के एक पद में आया है—

'गजी न मिनिअै, तोलिन तुलीअै पाँचन सेर अढ़ाई।'

इसमें का 'मिनिअै' पंजाबी के 'मिनना' का विकृत रूप है। पंजाबी में 'मिनना' का प्रयोग नापने के अर्थ में आज-तक होता है। कपड़ा तो मिना (नापा) जाता ही है; बरतनों में भरकर पदार्थ भी मिने जाते हैं। जैसे—गेहूं मिनना, तेल मिनना, दूध मिनना आदि। अतः उक्त पंक्ति का अर्थ है—वह नापा नहीं जा सकता, तौलना चाहे तो तौला नहीं जा सकता, आदि। इसी प्रकार—

'तुलि नहीं चढ़ै जाइ न मुकाती हलुकी लगै न भारी'॥

में 'मुकाती' भी पंजाबी 'मुकाना' का ही रूप है, जिसका अर्थ है—समाप्त या पूरा करना। अतः इसका अर्थ 'वह छोड़ी नहीं जा सकती' के बदले होगा—वह समाप्त नहीं की जा सकती, उसका अंत या इति नहीं की जा सकती।

अब कुछ और प्रकार के शब्द लीजिए। सूरदासजी का एक बहुत बड़ा पद है—

प्रभु जू, हौं तौ महा अधरमी।
अपत, उतार, अभागौ, काँमी, बिषई, निपट कुकरमी॥
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी, कुमति, जुलाई।'

इस पद में सूरदास जी ने अपने आपको परम तुच्छ और हीन बतलाते हुए अपने संबंध में पचासों निकृष्ट विशेषणों का प्रयोग किया है। इसमें बहुत-से विशेषण ऐसे हैं जिनका अर्थ शायद इसलिए नहीं खुलता कि अब लोक में उनका प्रयोग उठ गया है, यथा—जुलाई, लौंद, पढ़ैलौ, टूँडक, मूकू आदि। इनमें से 'पढ़ैलौ' शायद उसी प्रकार का शब्द है, जिस प्रकार का शब्द आज-कल का 'घुटा' हुआ है और 'मूकू' शायद मचलता की तरह शब्द है, पर ये सब अनुमान ही अनुमान हैं। शायद ब्रज में पता लगाने पर इनके ठीक-ठीक अर्थ मिलें। 'सूरसागर' में ऐसे हजारों शब्द भरे पड़े हैं और सैकड़ों शब्दों की सूची भी मेरे पास कहीं पड़ी होगी। यही बात कबीर, तुलसी, जायसी, मीरा आदि के संबंध में है। प्रायः सभी ने अपने यहाँ के स्थानिक बोलचाल के शब्दों और मुहावरों का यथेष्ट प्रयोग किया

है। आज-कल अनेक सुयोग्य विद्वान प्राचीन कवियों की कृतियों का संपादन करते समय बहुत कुछ परिश्रम और खोज तो करते हैं, पर अनेक स्थानों पर उन्हें कल्पना का सहारा भी लेना पड़ता है। कभी तो तीर निशाने पर बैठता है और कभी चूक जाता है। धीरे-धीरे बहुतसे शब्दों पर प्रकाश तो पड़ेगा। ऐसे पुराने शब्दों तथा मुहावरों के ठीक अर्थ जानने के लिए सारे भारत में खोज करनेकी आवश्यकता होगी और फिर भी अनेक ठीक अर्थ मिलेंगे या नहीं; इसमें संदेह ही है और यदि यह खोज आज न करके सौ-पचास वर्ष बाद की गई तो शब्दोंके अर्थ मिलना बहुत कुछ असंभव हो जायगा।

राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा हो जाने के कारण हिंदी का सारे भारत में प्रचार हो रहा है। हजारों अन्य भाषा-भाषी हिंदी की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। ऐसे लोगों के हिंदी-अध्ययन में एक और प्रकार की समस्या बाधक होती है। खड़ी बोली या आधुनिक गद्य हिंदी तो वे सहज में समझने लग जाते हैं, पर हिंदी के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने में उन्हें इसलिए बहुत अधिक कठिनाई होती है कि अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि की प्रकृति और प्रवृत्तियों से वे परिचित नहीं होते। हमारे यहाँ के अनेक कवियों ने शब्दों को इतना अधिक तोड़ा-मरोड़ा है कि कभी-कभी हिंदी भाषियों तक को उनके ठीक रूप का जल्दी पता नहीं चलता औरों की तो बात ही क्या है, यदि तुलसीदासजी 'अतिदीन' को मिलाकर 'तिदीन' बनाते हैं तो भूषण 'कहा अब' से 'कहाब' और 'सो अब' से 'सोब' बना डालते हैं। पद्माकर, केशव आदि ने भी खूब तोड़-मरोड़ की है। कभी-कभी छंदों के विचार से भी कवियों को शब्दों के विकट रूप बनाने पड़ते हैं। अमृत-ध्वनि छंद में तो बिना शब्द तोड़े-मरोड़े और साधारण वर्णों को द्वित्व वर्णों का रूप दिये रचना हो ही नहीं सकती। उलटबाँसियों और कूटों की कृपा से भी कविताएँ परम दुरुह हो जाती हैं। श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी कविताओं को जटिल बनाने में सहायक होता है। फिर कुछ शब्द कुछ विशिष्ट प्रसंगों में कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते हैं; और बिना उन प्रसंगों का पूरा-पूरा उल्लेख किए शब्दों के अर्थ बतलाए ही नहीं जा सकते। इस प्रकार की कठिनाइयाँ शब्द-कोषों में तो दूर हो नहीं सकतीं। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के प्रामाणिक, सुसंपादित और सटीक संस्करणों से ही उक्त समस्याओं का निराकरण हो सकता है। सुयोग्य विद्वानों को इस काममें अधिक तत्परता से लगना चाहिए।

शब्दों के संबंध की अंतिम समस्या यदि बिलकुल नई नहीं तो भी बहुत कुछ हाल की है और वह है—अंग्रेजी से सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण शब्दों के लिए हिंदी के उपयुक्त पर्याय ढूंढना और स्थिर करना। इस संबंध में कई प्रकार के लोगों ने कई तरह के काम किये हैं और अपने-अपने अनुभव से इसके लिए लोगों ने कई तरह के उपाय सुझाये हैं। कुछ लोगों की समझ में यह काम अलग-अलग क्षेत्रों में होना चाहिए। कुछ लोगों के विचार से एक केंद्र में होना ठीक होगा। बहुत-से लोग यह चाहते हैं कि यह काम एक-साथ और जितनी जल्दी हो सके, हो जाय; और कुछ लोग यह समझते हैं कि यह धीरे-धीरे और क्रम से ही होगा। मेरी समझ में इस काम के दो अंग होने चाहिएँ—एक साधारण और नित्य व्यवहार के शब्दों का और दूसरा वैज्ञानिक शब्दों का। पहले अंग का जो काम अब तक कुछ राज्य-सरकारों या केंद्रीय सरकार ने किया-कराया है, वह प्रायः बहुत महंगा भी पड़ा है; और बहुत कुछ असंतोषजनक भी हुआ है। यह काम अंग्रेजी और संस्कृत के कोरे विद्वान् उतना अच्छा नहीं कर सकते, जितना अच्छा तपे-तपाये और अनुभवी साहित्य-सेवी कर सकते हैं। जिन सुयोग्य साहित्य-सेवियों की इस ओर विशेष रुचि हो, उन्हें स्वयं अपने शौक से इस काम में लगना चाहिए और सरकारों की ओर से उन्हें उपयुक्त प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। इससे काम जल्दी और थोड़े खर्च में होगा। वैज्ञानिक शब्दावलियों का काम अलग-अलग विज्ञानों के विशेषज्ञों पर छोड़ देना चाहिए; पर उन्हें भी उसी प्रकार प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए हमें कई बातों का ध्यान रखना होगा। सभी नये शब्द गढ़े जाते ही काम में आने के योग्य नहीं हो जाते। प्रायः प्रयोग में आने पर उनमें कुछ परिवर्त्तन की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। उच्चारण

लेखन आदि के विचार से सुगम होने चाहिए, नहीं तो जल्दी ही या तो उनके अपभ्रष्ट रूप बनने लगेंगे या वे टकसाल-बाहर समझे जायेंगे। अतः नये शब्द ऐसे होने चाहिए जो प्रयोग की कसौटी पर पूरे उतरें और प्रयोग की कसौटी शब्दों को कसने के लिए कुछ समय लेती है। इधर हाल में अंग्रेजी शब्दों के कुछ ऐसे हिंदी पर्याय भी चल गये हैं, जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध या अव्याप्ति दोष से युक्त हैं और अब उन्हें बदलना कठिन है। अतः नये शब्द पहले से ही खूब सोच समझकर बनाये जाने चाहिए। हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि अंग्रेजी कई सौ वर्षों के व्यवहार के बाद इतने उन्नत रूप तक पहुँची है। हम दस-पाँच वर्षों में अपनी भाषा को उसका समकक्ष नहीं बना सकते। हाँ, उसके दिखलाये हुए मार्ग का अनुसरण करके हम अपेक्षाकृत कुछ जल्दी उसकी बराबरी करनेका प्रयत्न कर सकते हैं।[1]

[1]. ब्रजभाषा के कवि-प्रयुक्त शब्दों, यथार्थ रूपों और उनके वास्तविक अर्थों को जानने की एक कठिन समस्या है। हिंदी के शब्द-कोषों से जो अबतक प्रकाशित हुए हैं, जहाँ इनके सुलझाने की अवश्यकता थी वहाँ उन्होंने उसे और भी दूरूह ही बनाया है। ये कोष-कर्त्ता अपने आलोचकों-द्वारा शब्द विशेषों का ठीक-ठीक अर्थ बतलाने पर भी उसपर विचार नहीं करते—उसे नहीं अपनाते। उदाहरण के लिए ऐसे ही श्री सूरदास और गो० तुलसीदास प्रयुक्त दो शब्दों–"अतरौटा" और पात-भरी "सहरी" का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जिसपर साहित्य-संसार में काफी चरचा रही है। स्वर्गीय बा० जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' की जिज्ञासा के अनुसार ब्रज में खोज करने पर श्री सूर के 'अतरौटा' का अर्थ—उदर-आच्छादन के प्रयोग में आनेवाला वह वस्त्र विशेष है जो कंचुकी (अँगिया) के साथ संबंधित रहकर कमर के नीचे और घुटनों से कुछ ऊपर रहता है, किंतु इसका अर्थ अब भी वही शब्द के विकृत रूप के साथ जैसे—"अंतरौटा" (संज्ञा पु०) (हि०) महीन साड़ी के नीचे पहनने का कपड़ा—"पेटीकोट" ही माना जाता है। यहाँ यह बिचार नहीं किया जाता है कि 'अष्टछाप' के कवियों के समय ब्रज में पेटी-कोट जिसे आजकल चनियाँ, साया आदि भी कहते हैं, चलन था, या नहीं। ब्रज के स्त्री-वस्त्रों में 'ओढ़ना, 'अँगिया' और 'लहँगा' तीन ही वस्त्र प्रधान थे और इनका ही चलन था। साड़ी का भी उल्लेख कवियों द्वारा मिलता है, पर पेटीकोट का चलन ब्रज के स्त्री-वर्ग में तब भी नहीं था और आज भी नहीं है। शहराई स्त्रियाँ ही आज इसका प्रयोग करती हैं, वह भी साड़ी के साथ—'लहँगे के साथ नहीं। हाँ, मुगल काल के राग-रंग-प्रधान समय में लहँगा के नीचे 'पाजामे' का प्रयोग स्त्रियाँ अवश्य करती थीं। इसी प्रकार गो० तुलसीदासजी के 'शहरी' या 'सहरी' शब्द की अवस्था है। गोस्वामी जी 'केवट' की क्षुद्रता, दीन-हीन अवस्था के साथ प्रकट करते हुए उसकी आजीविका (रोजी) की साधन "नौका" की भी क्षुद्रता, अल्पता—हलकापन प्रकट करना है। सहरी का वास्तविक अर्थ जल में चलने वा रहनेवाला होता है, अतः सहरी का अर्थ 'मछली' ही क्यों माना जाय? जबकि जल में चलने वा रहने के कारण उसका अर्थ नौका (नाव) भी हो सकता है, जोकि यहाँ अभीष्ट है। भरी का अर्थ भी तुल्य, बराबर और हलके पने का द्योतक है। अस्तु, गो० तुलसीदासजी ने–'पाँहन ते न काठ कठिनाई' द्वारा नाव के हलके पने की ओर इशारा करते हुए उस (नाव) के, प्रभु के रज-रंजित पाद-स्पर्श से सुंदरी बन जाने का भय दिखलाते हुए भक्त की चरण-अर्चना की उत्कट अभिलाषा को प्रकट किया है, जो कि उनका अभीष्ट अर्थ है, पर आज भी इसके प्रति वही धाँधली चल रही है—उसका नौका अर्थ न मान कर 'मछली' ही अर्थ माना जा रहा है, जो सार-हीन है, व्यंजना-रहित है और अर्थ के चमत्कार से शून्य है। अतः जो शब्द अर्थ की ऐसी गूढता से गुंफित हों, उन्हें उन भाषा के विशेष जानकारों, वहाँ की संस्थाओं अथवा वहाँ जाकर जिज्ञासा करनी चाहिये, पर होता विपरीत है और उससे शब्दों के अर्थ की गुत्थी सुलझने के बजाय उलझती ही अधिक है।

शिकार-साहित्य के रचयिता और विशाल-भारत कलकत्ता के वर्तमान संपादक श्री पं० श्री-राम शर्मा का ब्रजभाषा का एक शब्द 'ढेमचरा' जो ब्रज के क्रीड़ा-प्रांगण में कोई खेल (क्रीड़ा) विशेष

हैं और जिसकी पत्रों में प्रायः चर्चा हो चुकी है, अभी अपने अर्थकी बाट जोह रहा है। इसी प्रकार--लुकंदा, गेंत आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने-अपने अर्थ की आकांक्षा अपने अंक में छिपाए हुए अज्ञात-कुलशील के रूप में पड़े हुए हैं। सूर-प्रयुक्त शब्दों का तो कहना ही क्या....., क्योंकि उनके 'सागर' का अभी तक कोई प्रामाणिक संस्करण नहीं है, जो भी हैं वे अपने से आगेवाले की समकक्षता में अधिक भ्रष्ट के रूप में ही उल्लेखनीय हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्रजावधी' के शब्दों, उनके कवि प्रयुक्त रूपों और अर्थों की एक बिकट समस्या है, जिसे यदि चाहें तो काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' और ब्रज का 'अखिल भारतीय--'ब्रज-साहित्य-मंडल' सुलझा सकता है। आवश्यकता है, सहयोग की--उपेक्षा की नहीं। ब्रज-साहित्य-मंडल को अपने ग्रंथों और शब्द-कोषों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

कवि-समय

श्री गुलाब राय

बहुत प्राचीन काल से कवि लोग अपनी बात को विशेष चुभनेवाली बनाने के अर्थ कुछ ऐसे विश्वासों, प्रसिद्धियों या प्रशस्तियों से काम लेते आए हैं कि जिनके पीछे एक पुरानी परंपरा लगी हुई हो और जिनके द्वारा कविता के मर्म जानने वालों पर गहरा प्रभाव डाला जा सके। इन विश्वासों और प्रसिद्धियों का आधार चाहे प्राकृतिक सत्य न हो, परंतु इनके संबंध में सब सहृदय समाज एकमत रहता है और एक परंपरागत बिना लिखा-पढ़ी का समझौता-सा बन जाता है कि कम से कम कविता में इन बातों का इसी प्रकार से वर्णन किया जाय। ये रेखागणित की पूर्व स्वीकृतियों (Postulates) की भाँति मान-सी ली जाती हैं।

ऐसे विश्वासों को पारिभाषिक शब्दावली में 'कवि-समय' कहते हैं। समय—वायदे वा समझौते को कहते हैं। बानर-राज सुग्रीव जब राज और स्त्री-पाकर सीता जी की खोज-खबर लेना भूल गए थे तब श्री रामचंद्रजी ने रोष कर सुग्रीव से कहा था **'समये तिष्ठ सुग्रीव'**, अर्थात् अपने वाइदे पर रहो। समय, वह बात है जो सबके लिये सम, अर्थात् एक-सी हो। कवियों के आपस के समझौते को कवि-समय कहते हैं।

एक उदाहरण देकर यह बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है। सांसारिक मिलन का सुख कमल के पत्ते के ऊपर की पानी की बूंद की भाँति क्षणिक और बहजाने वाला होता है। उसमें वियोग की बाधा लगी रहती है, किंतु परमात्मा के साथ आध्यात्मिक मिलन में यह बात नहीं होती। कवि यदि उस दैवी मिलन की चाह को प्रकट करना चाहे तो केवल इतना कह देने से न वक्ता को संतोष होगा और न श्रोता को ही पूरा-पूरा आनंद मिलेगा कि परमात्मा के साथ मिलन में वियोग का भय नहीं, किंतु वह चकवी और चकवे के संबंध में इस विश्वास का सहारा ले कि रात में इस जोड़े का वियोग हो जाता है और यदि नर-पक्षी नदी के इस पार रहता है तो मादा दूसरी पार, यह कहे—

"चल चकई वा सर विषय जहँ नहिं रैन-बिछोह।"

तो बात का कुछ गहरा प्रभाव पड़ेगा और हमारे सामने चिर मिलन की एक तसवीर-सी खिंच जायगी।

कवियों के ऐसे विश्वास प्रत्येक भाषा के साहित्य में वर्तमान हैं। वे कविता को कुछ और गौरव पूर्ण बना देते हैं। अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी परंपरागत इस विश्वास से परिचित हैं कि 'स्वान' (Swan), अर्थात् राजहंस मरते समय गीत गाया करता है। इसीलिए मरने से पहले किसी मनुष्य की लुभावनी बातों को 'स्वान सोंग' (Swansong) कह देते हैं। इसी प्रकार अरब के रेगिस्तान की फिनिक्स (Phoenix) नाम की चिड़िया के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि मरते समय उसके शरीर से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और उसी चिता में उसका शरीर भस्म हो जाता है। फिर उसी भस्म से एक अंडा निकलता है और उसके द्वारा चिड़िया पुनः जन्म लेकर अपनी जीवन यात्रा एक नए सिरे से चलाती है। यह कवि-प्रसिद्धि किसी संस्था के शिथिल होकर नष्ट होने और उसके पश्चात् फिर जन्म लेकर नये उत्साह के साथ काम करने की बात को बड़ी सुविधा के साथ व्यक्त कर देती है।

झूठे दिखावटी आँसुओं को अंग्रेजी में 'क्रोकोडाइल टीअर्स' (Crocodile Tears) कहते हैं। इसके पीछे यह विश्वास है कि घड़ियाल बनावटी आँसू बहा कर अपने शिकार को आकर्षित कर लेता

है और उसका भक्षण करते हुए भी वह रोता ही रहता है। फारसी साहित्य में 'हुमा' नाम की एक चिड़िया का जिक्र आता है। वह हड्डी खाती है, किंतु इसकी छाया जिस आदमी पर पड़ती है वह बादशाह हो जाता है।

संस्कृत और हिंदी के कवियों में कुछ ऐसी ही प्रसिद्धियाँ चिरकाल से चली आ रही हैं। राजशेखर जैसे 'काव्य-शास्त्र' के व्याख्याताओं ने इन कवि-समयों का विशद वर्णन किया है। उन्होंने पृथ्वी (भौम), पाताल और आकाश की वस्तुओं के संबंध में अलग-अलग कवि-समय माने हैं। इन तीनों के भी तीन प्रकार के कवि-समय हैं—

१. असत् बात का कहना।

२. सत् बात का न कहना।

३. अनियत को नियत करना।

इनमें पृथ्वी से संबंध रखने वाले कवि-समय मुख्य हैं। अस्तु, असत् बात को कहने के उदाहरण हैं—कमल का नदी में वर्णन करना, पर कमल झील या तालाब के बँधे हुए पानी में ही होता है, नदी के बहते पानी में नहीं। स्त्री की कमर को **'मुष्टि-ग्राह्य'**, अर्थात् मुट्ठी में आजाने वाली कहना और अंधकार को **'सूची-भेद्य'**—सुई से छेदे जाने योग्य कहना। यह शायद उसकी प्रगाढ़ता के कारण ऐसा कहा जाता हो।

सत् के न कहने के उदाहरण हैं—चंदन के फूलों और अशोक के फलों का वर्णन न करना। वास्तव में चंदन में फूल और अशोक में भी फल होते हैं, किंतु चंदन में फूल न मान कर कवियों को ब्रह्मा की अकल पर टीका-टिप्पणी करने का अवसर मिल जाता है। चंदन के संबंध में यह सुना जाता है कि उसके तने पर साँप लिपटे रहते हैं[१] और उसकी खुशबू से नीम कटुक आदि वृक्ष भी चंदन हो जाते हैं। चंदन के संबंध में एक विचित्र बात है कि उसके सूखने पर ही उसमें खुशबू निकलती है। इसी प्रकार यद्यपि शुक्ल पक्ष के उत्तरार्ध में अंधकार होता है और कृष्ण पक्ष के उत्तरार्ध में उजाला होता है, तथापि कवि लोग न शुक्ल पक्ष में अंधेरे का वर्णन करते हैं और न कृष्ण पक्ष में उजेले का। गोस्वामी तुलसीदास जी का इस ओर ध्यान गया था, देखिए—

"सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि पोसक सोसक समझि, जग जस अपजस दीन्ह।।"

—दोहावली, ३७२

अनियत को नियत कर देने के उदाहरण हैं—मगर का केवल 'गंगा' में और मोतियों का केवल 'ताम्रपर्णी' नदी में वर्णन करना। चंदन वृक्ष यद्यपि बहुत से स्थानों में होते हैं तथापि उनका वर्णन केवल 'मलयागिरि' पर ही किया जाता है। इसी प्रकार भोज-पत्र का वर्णन केवल हिमालय पर्वत पर किया जाता है और कोयल के बोलने का केवल वसंत में उल्लेख होता है। बरसात में कोयल का मौन धारण कर लेना कहा जाता है।

पशु-पक्षियों के संबंध में भी कवि-प्रयुक्त प्रसिद्धियाँ हैं और वृक्ष तथा पौधों के विषय में भी। हंस कवियों का बड़ा प्यारा पक्षी है। वह सरस्वती जी का जो विद्या की देवी हैं, वाहन माना गया है। इसके बारे में कवियों का विस्वास है कि वह मोती चुगता है। तभी तो यह कहावत है—

'कै हंसा मोती चुगै कै फाँके मर जाइ'।

यह ऐसे आदमियों के लिए कहा जाता है जो, या तो अपने आदर्श के अनुकूल अच्छी से अच्छी वस्तु लेंगे, या कुछ न लेंगे। हंस के संबंध में दूसरी प्रसिद्धि यह है कि वह दूध और पानी को अलग कर देता है, इसी लिये वह आलोचक का प्रतीक माना गया है। वह पानीसे अलग

[१]. **चंदन बिष-ब्यापै नहीं, लिपटै रहत भुजंग।**

कर दूध को पी लेता है। तुलसीदास जी ने उसकी सज्जनों से उपमा दी है, जो दुनियाँ में बुराई छोड़ देते हैं और भलाई को ग्रहण कर लेते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं—

"जड़ चेतन गुँन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस-गुँन गहहिं पर, परिहरि बारि बिकार।।"

हंस के लिये यह भी कहा जाता है कि इसकी जगह हिमालय—पर्वत पर 'मानसरोवर' है। वास्तव में उनका मोती चुगना और मानसरोवर में होना दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। मोती तो समुद्र में होता है और सीप के भीतर से निकलता है। पंडित 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' का यह विचार है कि मानसरोवर का जल मोती की तरह निर्मल होता है, इसीलिये हंस के मोती चुगने की बात चल पड़ी है। ऐसी ही बात उसके दूध पीने की है, नहीं तो मानसरोवर में उसके लिये गाय-भैंस कहाँ रक्खी हैं? इस संबंध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने बहुत कुछ छान-बीन की है। उनका कहना है कि कमल की डंडी से निकलने वाले तंतुओं को वह बड़े चाव से खाता है। उनके चबाने में दूध-सा रस निकलता है और उसी के आधार पर यह 'कवि-प्रसिद्धि' चल पड़ी है कि हंस दूध-दूध पी लेता है और पानी-पानी छोड़ देता है। हंस के संबंध में यह भी प्रसिद्धि है कि वह वर्षा ऋतु में साधारण तालाबों को छोड़ कर मानसरोवर चला जाता है।

वर्षा में 'खंजनों' का भी अभाव हो जाता है और कमल भी विलीन हो जाते हैं, तभी तो आचार्य केशवदास जी ने श्री रामचंद्र जी से कहलाया है कि जो वस्तुएँ श्री सीता जी की याद दिला सकती थी वे भी वर्षा में विलीन हो गईं, अब वे किसका सहारा लेकर जियें—

"कलहंस, कलानिधि, खंजन, कंज, कछू दिन 'केसब' देखि जिए।
गति, आँनन, लोचँन, पाँइन, के अनुरूपक से मन माँनि लिए।।
यहि काल कराल ते सोधि सबै, हठि कै बरषा-मिस दूरि किए।
अब धों बिन प्राँन प्रिया रहि हैं, कहि कौंन हितू अबलंब हिए।।"[1]

—रामचंद्रिका, १३।२२

चकवी-चकवे की बात हम पहले बता चुके हैं। इस विश्वास को लेकर भी कविता में बड़ी सुंदर-सुंदर उक्तियाँ आई हैं। भरत जी के संबंध में तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि कोई बहेलिया चकवी-चकवे को रात में एक पिंजड़े में बंद कर दे तो भी वे एक दूसरे को नहीं देखेंगे। उसी प्रकार भरत जी ने भरद्वाज मुनि द्वारा उपस्थित की हुई राज-भोग की सामग्री की ओर नहीं देखा—

"संपति चकई, भरत चक, मुनि आयुस खिलवार।
तिहि निसि आस्रँम-पींजरा, राखे करि भिनुसार।।"

—दोहावली २।६

चकवी-चकवे के अलग रहने के संबंध में 'स्टुआर्ट बेकर' (Stuart Baker) तथा 'ह्विसलर' (Whistler) के आधार पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि चकवी-चकवे का जोड़ा दिन में एक साथ रहता दिखाई पड़ता है और रात को अक्सर ये अलग-अलग देखे जाते हैं। संभव है कि इस विश्वास का यही आधार हो। इसके संबंध में एक पौराणिक आख्यान भी है कि चकवी-चकवे ने सीता जी के वियोग में जाते हुए श्री रामचंद्र जी की हँसी उड़ाई थी, तभी तो उनको यह शाप दिया गया था कि वे रात को नहीं मिल सकेंगे। सूर्योदय होते ही चकवा चकवी से मिलन की आशा में प्रसन्न हो उठता है। सूर्योदय के वर्णन के साथ प्रायः कोकी के शोक के दूर होने का वर्णन भी आता है—

"बीत गई सिगरी रजनी, चहुँ ओर सों फैल गई नभ-लाली।
कोक-बियोग मिटचौ परिपूर, उदै भयौ सूर महा छबि-साली।।"

१. पहली दो पंक्तियों में 'क्रम' अलंकार की सुंदर छटा है।

कविवर बिहारी लाल जी ने वर्षा-ऋतु के संबंध में कहा है कि उस ऋतु में दिन और रात का भेद केवल चकवी-चकवा के संयोग-वियोग से ही जाना जाता है—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं जाँन ।
रात द्यौस जाँन्यों परै, लखि चकई-चकवाँन ।।"

पक्षियों में 'चकोर' के संबंध में यह भी 'कवि प्रसिद्धि' है कि चकोर चंद्रमा की ओर देखता है और आग को चुगता है। इस विश्वास को आधुनिक कवि प्रसाद जी ने भी 'सौंदर्य की महिमा' बतलाने के काम में लिया है—

"सौंदर्य सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे ।"

सौंदर्य की उपासना में जो कठिनाइयों के अंगार से चुनने पड़ते हैं उसी के आधारभत रूपक की बात को सत्य मान लेने से यह प्रसिद्धि चल पड़ी होगी। इस संबंध में हिंदी के एक पुराने कवि ने ऊँची उड़ान ली है। वह कहता है कि चकोर इसलिये अंगार चुगता है कि उसका शरीर जल कर भस्म हो जाय और शायद भस्म के रूप में उसको शिव जी अपने माथे से मल लें और इस प्रकार उसकी पहुँच चंद्रमा तक हो जाय—

"चिनगी चुगत चकोर यों, भसँम होइ यह अंग ।
ताहि रमावें सिव तहाँ, मिलै पाँउ ससि-संग ।।"

अपनी कविता में तुलसीदास जी ने भी 'चंद्र' और 'चकोर' के परंपरागत प्रेम का खूब लाभ उठाया है। विनय में वे कहते हैं—**'रामचंद चंद तू, चकोर मोहि कीजिए'**। पुष्प-वाटिका के प्रसंग में उन्होंने सीता जी के मुख को चंद्रमा और रामचंद्र जी के नेत्रों को चकोर बना दिया है—

"असकहि फिर चितए तेहि ओरा। सिय मुख-ससि भे नयन-चकोरा।"

चंद और चकोर के प्रेम का आधार लेकर सूर ने व्यक्तित्व के महत्त्व पर बल दिया है, देखिए—

"दुइ लोचन जो बिरद किये, स्तुति गावत एक समाँन ।
भेद चकोर कियौ ताहू में, बिधु पीतम रिपु भाँन ।।"

—भ्रमरगीत-सार

सेनापति जी ने तो शिशिर-ऋतु के वर्णन में सूर्य को इतना शीतल कर दिया है कि उसमें चंद्रमा का आभास होने लगता है और चकोरी उसकी ओर देखने लगती है।[१] चंद्रोदय के भय से चकवा भी शंकित हो उठता है और उसका धैर्य छूट जाता है। नीचे के छंद में सेनापति ने कई कवि-प्रसिद्धियों से काम लिया है, इसमें चंद्रोदय पर कुमोदिनी के प्रसन्न होने की और कमलिनी के संकुचित हो जाने की बात का भी उल्लेख हुआ है, यथा—

"सिसिर में ससि कौ सरूप पावै सबिताहू, घाँमहू में चाँदनी की दुति दॅमकति है ।
'सेंनापति' सीतलता होति है सहस गुनीं, रजनी की झाँई दिनहुँ में झॅमकति है ।।
चाँहत चकोर सूर-ओर दृग जोर करि, चकवा की छाती तजि धीर धसकति है ।
चंद के भरॅम होत मोद है कमोदनि कौं, ससि संक पंकजिनी फूलि ना सकति है ।।"

कोयल के संबंध में भी एक कवि प्रसिद्धि यह है कि वह अपने अंडे स्वयं नहीं सेती है, वरन् वह कौवों के घोंसलों में रख आती है। कौवों के बच्चों के साथ कोयल के बच्चे भी बड़े होने लगते हैं। वसंत ऋतु आने पर जब कोयल के बच्चे दूसरी बोली बोलते हैं तब या तो वे खुद ही जाति-भेद समझ कर भाग जाते हैं या कौवे मार-मार कर उनको भगा देते हैं। इसीलिये कोयल को 'काक-पाली' भी कहते हैं।

१. **'तेरौ मुख चंद, चकोरी मेरे नेंनाँ।'**
—भगवत रसिक

इस कोयल विषयक कवि-समय का सूर की गोपियों ने कृष्ण के प्रति उपालंभ देने में बड़ा अच्छा उपयोग किया है। कृष्ण को भी तो वसुदेव जी नंद-यशोदा के घर रख आए थे और बाद में वे भी कोयल-बच्चों की भाँति अपने कुल के लोगों के साथ जा मिले थे। देखिए गोपियाँ क्या कहती हैं—

"ज्यों कोइल-सुत काग जियावत, भाव-भगति-भोजनहिं खवाइ ।
कुहकुहाँइ आएँ बसंत रितु, अंत मिलें कुल अपने जाइ ।।"

पपीहे के संबंध में कवियों का यह विश्वास है कि वह बारहों मास 'पिउ-पिउ' पुकारा करता है, किंतु उसकी यह आन है कि वह स्वाँति के नक्षत्र में जो वर्षा की दो-चार बूंदें मिल जाती है उसीसे अपनी प्यास बुझाता है। स्वाँति की बूंद के आगे वह गंगाजल के पानी को भी तुच्छ समझता है। वह प्रेम की प्यास का प्रतीक और मछली की भाँति प्रेम की अनन्यता का द्योतक है। गोस्वामी तुलसीदास जीने भी "चातक-चोंतीसी" लिखकर उसको भक्ति की अनन्यता का आदर्श बनाया है—

"रटत-रटत रसनाँ लटी, तृषा सूखिगे अंग।
'तुलसी' चातक-प्रेम कौ, नित नूतन रुचि रंग ।।
चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय-पयोद के दोख।
'तुलसी' प्रेम-पयोधि की, तातें नाँप न जोख ।।
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ-तजि, कबहुँ दूसरी ओर ।।"

—दोहावली, २८०,२८१,२८३

सूर की गोपियों ने भी 'चातक-रट' का सहारा लिया है—

"बरखा बरखत निसि-दिन ऊधौ, पुहुमी पूरि अघात ।
स्वाँति-बूंद के काज पपीहा, छिन-छिन रहत रटात ।।"

स्वाँति-बूंद के विषय में यह भी प्रसिद्धि है कि जब स्वाँति नक्षत्र का वर्षा हुआ जल केले पर पड़ता है तो उससे कपूर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बाँस से बंसलोचन, सीप से मोती और साँप में मणि या विष (स्वाँति बूंद से) उत्पन्न होते हैं। संगति के प्रभाव के संबंध में 'रहीम' ने स्वाँति-बूंद का उदाहरण दिया है—

"कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक, गुँन तींन ।
जैसी संगति बैठिऐ, वैसौई गुन दींन ।।"

चिड़ियों की भाँति पौदों के संबंध में भी 'कवि-समय' है। पीली चंपा से सुंदरियों के वर्ण की उपमा दी जाती है। चंपा के विषय में कवियों का यह विश्वास है कि उसके पास भौंरा नहीं आता है। इस संबंध में एक दोहा प्रचलित है—

"चंपा तो में तींन गुँन, रूप, रंग अरु बास।
औगुँन तो में एक है, भँवर न आवत पास ।।"

महाकवि भूषण ने इसी प्रसिद्धि के आधार पर और राजाओं को दूसरे-दूसरे फूल बताया है, जिनसे औरंगजेब रूप भौंरा मधु-संचय करता है और शिवाजी महाराज को चंपा बनाया, जिसके पास भौंरा नहीं फटकता है। कवि ने एक अवगुण को गुण बना दिया है, देखिए—

"कूरम कँमल, कँमधुज हैं कदँम-फूल, गौरहे गुलाब, रानाँ केतकी बिराज है ।
पाँडरि पँवार, जूही सोहत है चंद्रावत, सरस बुँदेला सो चमेली साज-बाज है ।।
'भूषन' भँनत मुचकुंद बड़गूजर हैं, बघले बसंत सब कुसुम समाज है ।
लेइ रस एतेन कौ, बैठि न सकत अहै, अलि नबरंगजेब चंपा सिवराज है ।।"

—शिवा-बावनी, १९

कुंद की कलियों से कवि लोग दाँतों की उपमा दिया करते हैं—"**कुंद-कली दाड़िम दसन**"। इसलिये वे उनको हमेशा सफेद ही मानते हैं, यद्यपि वास्तव में उसमें कुछ लालिमा भी होती है।

रंगों के संबंध में भी कवियों का कुछ समझौता-सा बना हुआ है। 'यश' का वर्णन करते हुए वे उसे 'चाँदनी' की तरह 'सफेद' ही कहेंगे। पाप को 'काला' कहेंगे। अंग्रेजी में भी ऐसी रूढ़ियाँ हैं। शेक्सपियर ने ईर्ष्या को 'हरी आँख' वाला बतलाया है। पाप को उनके यहाँ भी काला ही माना गया है। हमारे यहाँ एक रंग की चीजों की एक लंबी फेहरिस्त गिनाई गई है। उदाहरणतः—क्षत्रियों के धर्म, रौद्र रस, कोकिल और कबूतर के नेत्र, तेज, मंगल, तक्षक-जीभ, जुगनू, बिजली आदि वस्तुओं का रंग लाल माना गया है। इसी प्रकार श्री कृष्ण, चंद्र-चिन्ह, व्यास, राम, अर्जुन, अगरु, पाप, मद और मोर का कंठ नीला माना गया है। ये बातें बिल्कुल निराधार नहीं। कविता में श्याम, नील, कृष्ण एक-दूसरे के पर्याय मान लिये जाते हैं। केशवदास जी ने 'नीले वर्ण' की चीजों की सूची दी है। वह इस प्रकार है—

"दूब, बाँस, कुबलय, नलिन, अनिल, ब्योम, तृ"न, बाल।
मरकत मनि, हय सूर के, नील बरंन सैबाल।।"

सूरदास जी ने तो भगवान कृष्ण के मस्तक पर के लटकन में जड़े हुए रत्नों के रंग के आधार पर शनि, शुक्र, बृहस्पति और मंगल आदि नक्षत्रों के रंग का भी वर्णन कर दिया है। उसमें क्रमालंकार की छटा भी आ जाती है:—

"नील सेत पर पीत लाल मनि, लटकँन माल लुनाई।
सनि गुरु, असुर, देव-गुरु मिलि मनों, भौम-सहित सँमुदाई।।"

इस प्रकार पुरानी कविता में बँधी-बँधाई रुढ़ियों से अधिक काम लिया जाता था। इसमें यद्यपि कविता में नवीनता और निजी निरीक्षण के लिए कम गुंजाइश छोड़ी जाती थी, तथापि साथ में इस बात का भी आनंद रहता था कि बहुत से लोग एक-सी शब्दावली का प्रयोग करते हैं और वह शब्दावली परंपरा से मँज कर साफ हो गई है।

विद्यापति-पद्यावली

प्रे०-श्री सूर्यनारायण झा

(विरह)

माधव, कति परिबोधव राधा ।
हा हरि, हा हरि कहितहिं बेरि-बेरि, अब जिऊ करब समाधा ।।
धरनि धरिए धनि जतनहिं, बइसहिं पुनहिं उठए नहिं पारा ।
सहजहिं बिरहिन जग-मह तापिनि, बौरि मदन-सर धारा ।।
अरुण नयन नोर[१] तितल[२] कलेबर, बिलुलित दीघल केसा ।
मंदिर बाहिर करइत संशय, सहचरि गनतहिं सेसा ।।
आनि अनिल केओ रमनि सुताओल, केओ देई मुख पर नीरे ।
निशबद पेखि केओ साँस निहारए, केओ देई मंद समीरे ।।
की कहब खेद भेद जनि अंतर, घन-घन उतपत सांस ।
भनहिं 'विद्यापति' से हो कलावति, जीव बंधल आस-पास ।।

❀

सखि हे, हमर दुखक नहिं ओर ।
ई भरि भादर माह भादव, सुनि मंदिर मोर ।।
झंफघन[३] गर्जंत संतत, भुवन भर बरसंतिया ।
कंत पाहुन काम दारुण सघन खर[४] सर हंतिया ।।
कुलिश[५] कत शत पात मुदित मोर नाचत मातिया ।
मत्त दादुर डाक डाहुक[६], फाटि जायत छातिया ।।
तिमिर दृग भरि घोर जामिनि, अथिर[७] बिजुरिक पाँतिया ।
'विद्यापति' कहु कोनाक गमायव, हरि बिना दिन-रातिया ।।

अभिसार

माधव, करिए सुमुखि समधाने ।
तुअ अभिसार[८] कएलि जत सुंदरि, कामिनि करु के आने ।।
बरिस पयोधर धरनि बारि भरि, रयनि महा भय भीमा ।
तइओ चललि धनि तुअ गुन मन गुनि, तसु साहस नहिं सीमा ।।
देखि भवन भित लिखल भुजंग-पति, तसु मन परम तरासे ।
से सुवदनि कर झपइत फनि-मनि, बिहुँसि आएलि तुअ पासे ।।
निज परि-हरि आएलि कमल-मुखि, परि-हरि निज कुलगारी[९] ।
तुअ अनुराग मधुर-मद मालित, किछुनई गुनलि बर नारी ।।
ई रस रसिक बिनोदक बिंदक, कवि 'विद्यापति' गावे ।
काम प्रेम दुहु एक मत भए, कखने कीने करावे ।।

[१]. आँसु, [२]. भींगना, [३]. बादल, [४]. तीक्ष्ण, [५]. वज्र, [६]. दुखद, [७]. थिर, [८]. गमन, [९]. पितृगृह ।

आधुनिक ब्रजभाषा के कुछ कवियों का परिचय

श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा

ब्रजभाषा का जो स्वरूप अपभ्रंश और वीरगाथा-काल के अंतराल में संगठित हुआ, तुलसी के पावन प्रयोग से जिसका पल्लवन और संवर्धन हुआ, सूर की मधुर वृत्तियों की शीतल छाया में जिसके पीयूष-माधुर्य को निखार मिला, केशव आदि ने जिसका चमत्कारपूर्ण अलंकरण किया, जिसके मनोरम शृंगार-विधान में योग देने के लिए अनेकानेक उद्भट प्रतिभा-संपन्न वाणी के वरद पुत्रों ने अथक परिश्रम किया और संपूर्ण भारतेंदु-युग ने अपनी सरस चाँदनी से जिसे धवलित किया उसकी अस्तोन्मुख गति बींसवी शताद्वि के आरंभ से ही दिखाई पड़ने लगी थी। उत्तरोत्तर जिस क्रम से हिंदी-कविता के राज्य में खड़ी बोली का प्राधान्य बढ़ता गया उसी क्रम से ब्रजभाषा की निगति उभ-ड़ती आई। फिर भी कई शक्तिशाली प्रौढ़ कवि सर्जना के मैदान में सामने आए और प्राचीन कविता-पद्धति को पुनः उज्जीवित करने के लिए अनेक चमत्कारी प्रयोग सामने रखे। समाज ने भी कुछ दूर तक उनका अच्छी तरह साथ दिया। इस प्रकार समाज-द्वारा अभिनंदित और परिरक्षित होकर इस शताब्दि के तृतीय दशक तक ब्रजभाषा की कविता कही-सुनी गई। तबतक उसमें निर्माता और भावक की संगति साधारणतः समगति से चली आई थी। कवि-संमेलनों में, शिक्षालयों में और सबसे अधिक पत्र-पत्रिकाओं में ब्रजभाषा की कविताएँ निरंतर दिखाई पड़ा करती थीं और समाज के अनुरंजन में योग देती थीं, पर चतुर्थ दशक में आकर वस्तुस्थिति में परिवर्तन होने लगा। लोगों की अभिरुचि धीरे-धीरे उस प्रकार की रचना-प्रणाली की ओर से हटने लगी। पठन-पाठन में तो उसका प्रयोग उसी तरह बना रहा पर समीक्षा और संस्तुति के क्षेत्र में उसकी चर्चा में कोई उत्साह नहीं दिखाई पड़ता था। लिखने वालों में भी 'रत्नाकर' ऐसा उद्भट अन्य कोई कवि पनपा नहीं। दूसरी ओर खड़ी बोली में जो रहस्य-परक छायावाद की प्रवृति बढ़ रही थी उसमें भी काव्य-तत्व का उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया और सरस अभिव्यंजनाओं की अतिशयता बढ़ती गई। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा की उक्ति-भंगिमा और मिठास की ही तरह आकर्षक चीजें खड़ी बोली में भी दिखाई पड़ने लगीं। इस-लिए कवित्त, सवैया और दोहावली रूप छंद-योजना और बँधी-बँधाई मधुर वृत्तियों के उद्घाटन की ऐकांतिकता कुछ पीछे छूटने लगी। इस तरह साहित्य-रचना के ऊपरी सतह पर खड़ी बोली का प्राधान्य ज्यों-ज्यों होता गया उसी क्रम से ब्रजभाषा में कविता बनाने वालों की सामान्य स्थिति दुर्बल और अशक्त होकर विस्मृति के अंतराल में पड़ती गई।

गत दशक में तो आते-आते ब्रजभाषा की बातचीत ही बंद हो गई। शिक्षा की सीमा के भीतर अवश्य उसकी अभ्यर्थना चल रही है, पर निर्माण और आलोचना के क्षेत्र में उसके प्रेमी प्रतिक्रिया-वादी और सामंती-सर्जना के प्रतिनिधि समझे जाने लगे हैं। ब्रजभाषा की शुद्ध—'स्वांतः सुखाय' कविता-लिखनेवाले ही अब रह गए हैं। उनको न तो कोई पूछता है, न सुनता है और न कहीं उनकी कोई चर्चा ही चलती है। यथार्थ में यही दिखाई पड़ता है कि ब्रजभाषा के माध्यम से निर्माण करनेवाले साहित्य-समाज से प्रायः बहिष्कृत से हो गए हैं। न उनका कोई संगठन करने वाला है और न प्रशंसा। इस स्थिति का परिणाम यह दिखाई पड़ता है कि ऊपरी सतह पर से तो ब्रजभाषा-काव्य विलीन-सा हो गया है, पर अंतःसलिला पयस्विनी की भाँति अभी भी उसका मधुर अस्तित्व बना है। अभी भी

न जाने कितने ब्रजभाषा लिखनेवाले ऐसे हैं जो निरंतर रचनाएँ तैयार करने में संलग्न रहते हैं और एक से एक अनूठी कृतियाँ सजा कर अपनी मंजूषाओं की शोभा बढ़ाए चल रहे हैं।

इन पंक्तियों के लेखक को ऐसे उपेक्षित साहित्य-साधकों के प्रति बड़ा ममत्व रहता है। समय-समय पर प्रसंग प्राप्त होने से जब उसका संपर्क इन लोगों से स्थापित होता है तो सहृदयता पुकार उठती है और कहती है कि इनका ऐसा निरादर क्यों? खड़ी बोली की अमित रचनाओं का प्रसार-प्राधान्य और परिष्कार अवश्य हो, पर इसका तात्पर्य यह नहीं होना चाहिए कि जो पुराने हों और पुरानी पद्धति का अनुगमन करने में ही अभ्यस्त और कुशल हों उन्हें उपेक्षा के गर्त में डाल दिया जाय। इसे साहित्य की सच्ची आराधना नहीं कहा जा सकता। सच्ची बात तो यह है कि यदि किसी का अस्तित्व है तो उदारता पूर्वक उसको स्वीकृत करना चाहिए और उसका यथा योग्य ऐतिहासिक महत्त्व निरूपित होना चाहिए। इसीमें सजीव साहित्य का वैशिष्य है, इसीमें साहित्य-प्रेमियों की रसवत्ता की पूरी परीक्षा हो सकती है और इसीमें पूर्वापर की सुसंबद्धता भी सुरक्षित रह सकती है।

मैं इसे समुद्धार का प्रश्न मानता हूँ, इसलिये हिंदी साहित्य के मर्मज्ञों से निवेदन करना चाहता हूँ और उनकी भावुकता और संग्राहक बुद्धि को जगाना चाहता हूँ। चतुर्दिक न जाने कितने ऐसे अनेक कवि और निर्माता आज भी जीवित हैं, अथवा अभी-अभी आँखों से ओझल हुए हैं जिनकी वाणी में बल है, सौंदर्य है, काव्य का सत् स्वरूप निहित है और समय की गति-विधि के अनुरूप सजीवता भी है। उनका संग्रह होना चाहिए, उनकी विशेषताओं का परिचय प्राप्त करना चाहिए और उनका लेखा-जोखा सुरक्षित रखना चाहिए। इस अभिप्राय से कुछ ऐसे ही ब्रजभाषा के लिखने वालों का यहाँ विवरण उपस्थित किया जा रहा है और आशा की जाती है कि साहित्य के सच्चे पारखी अपने-अपने समीप के कुशल निर्माताओं के इतिवृत्तों और उनकी रचनाओं के कुछ नमूनों को संकलित करके प्रकाशित करेंगे। इसका एक साहित्यक अभिप्राय और ऐतिहासिक उपादेयता है। इस प्रयास के परिणाम स्वरूप यह समझा जा सकेगा कि खड़ी बोली के वैभव पूर्ण साम्राज्य में आज भी ब्रजभाषा-काव्य की जर्जरीभूत काया हिल-डोल रही है—अपनी प्राचीन गरिमा को वहन करती हुई और अपनी गत संपूर्ण विभूतियों की ध्वंसावशिष्ट झलक को विखेरती हुई।

पं० अयोध्यानाथ (अवधेश)

काशी के अंतर्गत ईश्वर गंगी (नई वस्ती) में प्रसिद्ध ज्योतिषी और विद्वान् पं० श्यामाचरण त्रिपाठी रहते थे। काशी के समाज में, विद्वानों में और राज-रियासतों में उनका बड़ा संमान था। उनके एक मात्र पुत्र महामहोपाध्याय पं० अयोध्यानाथ जी 'अवधेश' थे। 'अवधेश' जी का जन्म सन् १८६५ में आषाढ़ की पूर्णिमा को हुआ था। पिता के कठोर नियंत्रण में ही इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई, इसलिए बहुत छोटी अवस्था ही में ये पूर्ण पंडित हो गए थे और पिता-द्वारा स्थापित की गई पाठशाला में अध्यापन कार्य भी बड़ी उत्तमता से करने लगे थे। स्वभाव से वे बड़े सरल, दयालु और सचरित्र व्यक्ति थे। सन् १९१० से १९२५ तक इनके जीवन का उत्कर्ष काल था। इनके यश और पांडित्य के आदर में भारत सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि स० १९२१ में दी थी। इनका भविष्य कथन सत्य होता था और इस विषय में इनकी बड़ी ख्याति थी। बीकानेर नरेश महाराज सर 'गंगासिंह' उनके अनन्य भक्तों में से थे। 'युक्त प्रांत के भविष्य-द्रष्टा' के नाम से उनकी प्रसिद्धि थी। कुछ लोग तो उन्हें इष्टवली और सिद्ध पुरुष मानते थे। काशी के तत्कालीन श्रेष्ठ नागरिक भारतेंदु हरिश्चंद्र, रत्नाकर आदि उनके नित्य मिलने और आदर करने वालों में थे। आरंभ से ही उनमें आराधना की ललक दिखाई पड़ती थी और इनका अधिक समय हरि-चिंतन में बीतता था। सीताराम के वे अनन्य उपासक थे और दिन-रात जप किया करते थे। कहा जाता है प्रायः एक लक्ष नित्य जप का उनका लक्ष्य रहता था। उनके दोनों हाथों में तुलसीकी माला और सुमिरिनी दिन भर विद्यमान

दिखाई पड़ती। पूर्वापर उनके घर की यही प्रथा थी। निरंतर प्रयोग में आने के कारण उनकी सुमिरिनी माला घिस गई थी और उर्दू-शायर के शब्दों को चरितार्थ करती थी—

"नाम ऐसा उस बुते काफ़िर ने ज़ाहिद का जपा।
दानये तसवीह सारा 'रामदाना' हो गया।।"

इस प्रकार आराधन-परक दिनचर्या और शुद्ध सत्व से अनुप्राणित होकर 'अवधेश' जी का हृदय भावमय हो गया था। आशु कवियोंकी भाँति काव्य-वाणी उनके भीतर से फूट पड़ा करती थी। संस्कृत के प्रार्थना-श्लोकों के अतिरिक्त हिंदी में कवित्त, सवैया, पद आदि इन्होंने बहुत रचे हैं। उनकी प्रायः सभी रचनाएँ भक्ति प्रधान हैं। उनका एक सामान्य नियम सा हो गया था कि नित्य भक्ति-विषयक कविता लिखकर ही रात्रि में शयन करते थे। उनके काव्य निर्माण के विषय या तो 'जानकी-वल्लभ' होते थे अथवा 'भगवती दुर्गा' के विभिन्न स्वरूप। सरलता से इस विषय का अनुमान लगाया जा सकता है कि जो नियमित रूप में लिखता रहा हो उसने कितना लिखा होगा; परंतु खेद का विषय है कि अभी इतने समीप की बात होने पर भी उनकी लिखी समस्त कृतियों का संकलन ढूँढ-खोज का विषय मालूम पड़ता है। अभी तो 'अवधेश' जी के पुण्य स्वरूप उनका वंश फला-फूला वर्तमान है और इन पंक्तियों के लेखक के प्रति उसका बड़ा प्रेम है, पर फिर भी इस भक्त कवि के कृति-भांडार का दर्शन नहीं हो सका। शुद्ध स्वांतः सुखाय के लिए जो कृति निर्मित होती है, उसमें—**"तपोदानायमानं च मतिमान् न प्रकाशयेत्"** के अनुसार प्रचार की आकांक्षा तो रहती नहीं, अतएव उसकी सुरक्षा की भी उपेक्षा हो जाती है। 'अवधेश' जी जितने संयमित रूप में काव्य-रचना करते थे; उतनी चिंता उसकी व्यवस्था की नहीं करते थे। सैकड़ों पद-कवित्त आदि उनके लिखे हैं, पर प्रकाशित केवल एक छोटी-सी पुस्तिका है—"श्री दुर्गामिख-महोत्सवोपहार" (१९१८)। इसमें दुर्गाराधन के केवल पंद्रह कवित्त और अंत में एक श्लोक है। पूछ-ताँछ करने पर विदित हुआ कि उनके एक शिष्य पं० रामाज्ञा त्रिपाठी (आजमगढ़) के पास 'अवधेश' जी की अधिकांश रचनाओं का संग्रह सुरक्षित है।

उदाहरण रूप में उनकी कुछ कविताओं को सामने रखा जाता है। इतने ही से दो बातों का ज्ञान हो सकता है—अनुभूति की प्रधानता और भाषा का अधिकार। सामान्यतः 'अवधेश' जी भक्त जन थे। इसलिए इनकी रचनाओं में एकनिष्ठ भावुकता का उद्रेक और विनतिपूर्ण आत्म-निवेदन अधिक मिलता है। भाषा का चलता और व्यवहारिक रूप ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः उनमें लाक्षणिक प्रयोगों का अभाव, चमत्कार प्रियता के प्रति अनास्था और उक्ति-भंगिमा की आकांक्षा कम मिलती है। कवि का सारा ध्यान विषय-निवेदन की ओर ही लगा मालूम पड़ता है। थोड़े में कहा जा सकता है कि 'अवधेश' जी में भाव-पक्ष की विशुद्धता और कला-पक्ष की न्यूनता है। यह स्थिति भक्त कवि के लिए उपयुक्त ही है। कवि का निधन-काल ४ जून स० १९२५ है।

कवित्त

"संयम-नियम जप-तप की न सक्ति रही, प्रेम नेम भूल्यौ सब समय सहाएँ देत।
हाइ न पसीजे तऊ निरदय भए धों कैसे, बेद तो अखेद तुम्हें सदय जनाएँ देत।।
आपही अमानी बात राखें औ मनावें हठि, द्विज 'अवधेश' राँम तुमहीं दिखाएँ देत।
कठिन कुठार कौ कराल कलि-काल यामें, अब न निभैगी भक्ति रावरी चिताएँ देत।।"

❀

"सावन सुहावन कों पावन बनावन कों, सीय मन-भावन सु खेलें सखियाँन में।
अमित प्रमोद भरे झूलत हिंडोरे प्रभु, नवल प्रमोद बन दिब्य पंखियाँन में।।
कौंन 'अवधेश' की बिसेसता बखानें कवि, कसक मिटावै कौंन ऐसी लखियाँन में।
जाकी बीठि कोरँन में जगत तमाँम झूलै, सोई राँम झूलत सिया की अखियाँन में।।"

"कब मेरे आँनन कुहर तें कढ़ेंगे अंब, दुरगा सुभ नाँम बसु-जाँम जित जाऊँगो।
कब सब बासनाँ बिहाइ बिंध्य-भूधर पै, माई बिंध्यवासिनी कौ ध्याँन उर लाऊँगो।।
कब 'अवधेस' द्विज दींन तेरे दासँन में, हौं हूँ बैठि तेरौ लघु बालक कहाऊँगो।
कब तेरौ चरँन सरोज मकरंद बिंदु, मंद-मंद पीवत अमंद सुख पाऊँगो।।"

❀

"कछु दिन द्वैक ही तें लंक लचकाँन लागी हौंन लागी छबि त्यों नितंब गरुता की है।
भनि 'अवधेस' त्यों पीतम सँदेस सुनि, होत रुचि कंटकित कँनक-लता-सी है।।
राग, ताँन, गाँन, माँन, भाँन लागे भाँमिनी कों, द्वैलर लरँन लागीं माल मुकता की है।
औरें गति, औरें मति, औरें रंग, औरें ढंग, औरें सब बात भई नई बनिता की है।।"

पद

दींन-जँन कैसें बिनय करै।
थिर न जासु मन चंचल योंही, सोचत दृगँन भरै।।
और बिचार होत उर अंतर, औरें करनि करै।
उलटौई परिनाँम निहारत, सबसों प्रेंम टरै।।
बिना रावरी नेंक दया ते, चाहें कछू करै।
ब्रह्मादिक हू सुख नहिं पावत, यह दृढ़ जोउ धरै।।
निज कृत पाप-पहार बिलोकत, मेरौ चित्त डरै।
चरन भक्ति 'अवधेस'-हिं दीजै, जो सब बिपति हरै।।

डा० बैजनाथ सिंह (किंकर)

ठाकुर श्री बैजनाथसिंहजी 'किंकर' का जन्म काशी के औरंगाबाद स्थान में संवत् १९२८ अगहन सुदी चौदस को हुआ था। आप नगर के प्रतिष्ठित भूमिहार ब्राह्मण ठा० श्री हरनारायणसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपकी प्रारंभिक शिक्षा हिंदी और उर्दू की हुई थी और अनेक वर्षों तक आप काशी के प्रसिद्ध रईस राजा मोतीचंद के यहाँ प्रधान कार्यकर्त्ता के रूप में काम करते थे। जब से महात्मा गाँधी ने असहयोग आंदोलन आरंभ किया तभी से आपकी रुझान राजनीति की ओर हुई। फिर तो आपने छः बार कारावास तक का सामना किया और राजनीतिक गति-विधि के साथ निरंतर चलते रहे। काशी की राजनीतिक मंडली में वयाधिवय के कारण आदर पूर्वक लोग उन्हें दादा नाम से अभिहित करते हैं। काँग्रेस वालों में आप अपरिवर्तनवादी रहे और चरखा-खद्दर की बात को पक्की तबीयत से मानने वाले हैं। स्वभाव से बड़े मिलनसार और मस्त प्रकृति के व्यक्ति हैं। सादे ढंग की रहन-सहन आप को अत्यधिक पसंद है। स्वर्गीय बाबू शिवप्रसादजी गुप्त के अंतिम दिनों में 'किंकर' जी उन्हीं के साथ 'सेवा उपवन' में रहते थे।

श्री किंकरजी अल्पवय से ही ब्रजभाषा की कविताओं के पढ़ने तथा कवियों के सत्संग के प्रेमी रहे हैं। आपकी स्मृति बड़ी अच्छी थी; इससे प्राचीन कवियों की कविताओं को आपने खूब कंठस्थ किया है। इतना सुंदर संग्रह शायद ही किसी के पास हो। आपकी रची हुई कृतियों में भक्ति, शृंगार, राजनीति, अन्योक्ति तथा पुराने श्रेष्ठ कवियों के पद्यों पर पद्यात्मक टीकाएँ हैं। बिहारी सतसई के एक-एक दोहे पर दो-दो और रसलीन के कुछ दोहों पर लिखी आपकी बहुत अच्छी कुंडलियाँ हैं। गंगा की स्तुति, राधा रानी का इजलास और सुदामा-चरित्र आदि अनेक विषयों पर आपने लिखा है। इनके अतिरिक्त विगत स्वतंत्रता युद्ध के वर्णन में ही आपने प्रायः तीन हजार से अधिक छंद लिखे हैं। संख्या के विचार से इतना बहुत कम लोगों ने लिखा होगा। आपकी कविताओं में प्रसाद गुण

पूर्ण प्रवाह अधिक मिलता है और इतिवृत्त-कथन की प्रधानता रहती है। आपकी चुनी हुई कुछ रचनाएँ यहाँ उपस्थित की जाती हैं—

"मुख-छबि निरखि चकोर अरु तँन-पानिप लखि मींन।
पद-पंकज देखत भँवर, होत नयन रस लींन।।[1]
होत नयन रस लींन, बींन भई सुखमा सारी।
भाभरि मारति बैठि रही, समता न बिचारी।।
लखि चकोर मन मींन, भौंर भगि जात देखि रुख।
करैं कितेक छल छंद, चंद तउ लहै न छबि-मुख।।"

❀

"मोरँन-पखौवन कौ रखि कें किरीट भाल, गुंजन बटोर गुहि मालहिं सँवारे हौ।
काँमरी पुराँनी सो चिराँनी नंद रायजू की, तागि-तागि ताकों निज दिवस गुजारे हौ।
घूरनि घुरेते पहिरे ते सब साथ लिये, ब्रज-बीथिकाँनि में कुकीरति पसारे हौ।
सुनों हो कँधाई (अब) लाज हूँ पराई पेखि, राधा सों सगाई हेत होंस हिय धारे हौ।।"

❀

"कोंन भाँति धाए नाँथ गज के गुहार हेत, कोंन भाँति द्रौपदी के चीर में सँमाने हौ।
कोंन भाँति राजा अंबरीष काज महाराज, छाँड़ि कें सुदरसन ऋषिराज पै रिसाँने हौ।।
कोंन भाँति भिच्छुक सुदामाँ कों कुबेर कियौ, कोंन भाँति बाँमन ह्वै बलि सों बिकाँने हौ।
'किंकर' पुकारत है भारत अति आरत सो, तारत न काहे कहौ काहे सों भुलाँने हौ।।"

❀

"जग ना जुरचौ है जोंन संख कों जरूर परी, ग्रस्यौ नाँहि ग्राह नाँहि चक्र कों चलाओगे।
गरुई गदाहू की परि है जरूरत नाँहि, ठाँव-ठाँव ब्यर्थ कहाँ हार्थाहि थकाओगे।।
पद्म की कहा है पद्मासना सदाँ ही संग, जहाँ रुचि होइ तहाँ तुरतहि पाओगे।
'किंकर' पुकारत है भारत अति आरत सो, खाली करि हाथ कबै इसको कढ़ाओगे।।"

❀

"मौखिक सहानुभूति कबहूँ न आवै काँम, लाग बदि जाइ जबै द्वंदी प्रतिद्वंद्वी सो।
'किंकर' छछंदी मन धाहु फरफंदी चालु, ताल कों बजाइ ठाठ होइ निज द्वंद्वी सो।।
देस की सिबकाई जदि भाई है तिहारे चित्त, करिलै कमाई निज हियरा पसंदी सो।
चाहें चढ़ें दार, चाहें तन सों कपार जाइ, भीति में चुनाइ जाँइ चाहें रहु बंदी सो।।"

वलरामप्रसाद मिश्र (द्विजेश)

उत्तर प्रदेश के बस्ती नगर के एक किनारे पर पुरानी बस्ती नाम का एक मुहल्ला है। उसमें राजा साहब बस्ती की हवेली या प्रासाद है। राज-प्रासाद के निकट ही मिसरौलिया ग्राम है। उसमें सरयूपारीण पंक्ति मिश्रों का प्राचीन वंश निवास करता है। इसी वंश में पं० हरिदयालजी मिश्र के पुत्र श्री "वलरामप्रसादजी मिश्र" उपनाम 'द्विजेश' का जन्म सन् १८७२ में हुआ। इस वंश के लोगों का राजा साहब वस्ती के यहाँ बड़ा संमान रहा है और 'द्विजेश' जी के पिता वस्ती-राजगृह में मैनेजर भी रहे। 'द्विजेश' जी की आरंभिक शिक्षा फ़ारसी की हुई है। साथ में उन्होंने संस्कृति और कुछ अँगरेजी भी पढ़ी है। आरंभ से ही उनमें सत्य निष्ठा और अभिमान के प्रति ममत्व दिखाई पड़ने लगा था। यों तो आप बड़े मिलनसार और प्रेमी जीव हैं, पर टेक की भावना

[1]. अंग-दर्पण : रसलीन।

आपमें प्रबल है। इनके टेक-पालन के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। टेक में पड़कर ही घर की सारी जमींदारी खो बैठे थे और अनवरत परेशानियाँ उठाकर इधर आकर पुनः उसे प्राप्त किया। एक मित्र के व्यंग से क्षुब्ध होकर उन्होंने अधिक वय में गाना और सितार बजाना सीखा और अब तो अध्यवसाय पूर्वक इस विद्या में आपने सफलता भी प्राप्त कर ली है। उनके जीवन में लाग ने बहुत कुछ किया है। यही लाग उनके जीवन की कुंजी है।

यों तो 'द्विजेश' जी आरंभ से ही ब्रजभाषा-काव्य के रसिक प्रेमी थे और स्वयं भी रचना-कार्य में प्रवृत्त थे, पर जब से आप तीस वर्ष की अवस्था में उस प्रांत के प्रसिद्ध कवि 'यशराज' की संगति में आए तब से साहित्यकता उनमें बढ़ी। उन्हीं से 'द्विजेश' जी ने 'काव्य-निर्णय' और 'भाषा-भूषण' का अध्ययन किया और कवि-कर्म का पूरा ज्ञान आप में तभी से हुआ। आपके रचना-कौशल का एक मर्म रहा है। आपकी छंद-योजना मन में ही गढ़ी जाती रही है। सारी काट-छाँट भीतर ही संपूर्ण होती रही। उसपर मीना की पच्चीकारी भी भीतर ही समाप्त करके रसना उसे वहिर्गत होने देती है। यही कारण है कि आपकी अनेकानेक रचनाएँ आज तक लिखित रूपमें एकत्र नहीं हो सकीं। प्रायः आपके प्रेमी मित्र समय-समय पर जो चीजें लिख लेते रहे हैं, वहीं ठीक से सुरक्षित हैं। उनके प्रमुख मिलने वालों में औरंगाबाद काशी के पं० 'काशीपति' जी त्रिपाठी हैं। उनके पास 'द्विजेश' जी की कृतियों का अच्छा संग्रह है। इस संग्रह के आधार पर ही अब कुछ छपाने की फिक्र हो रही है। काव्य-निर्माण के अतिरिक्त असन-वसन दोनों की ओर आपकी सुंदर अभिरुचि दिखाई पड़ती है। भोजन की उतमोत्तम सामग्री प्रस्तुत करने में आप विशेष कुशल हैं और आपके हाथ की कटी टोपियाँ देख कर लोग तर्जदारी सीखते हैं। लखनवी नवाबों की दरबारी ठसक आपमें अधिक उभड़ी नजर आती है—"पल्ला टोपी की बहार, चुस्त लंबी अचकन और पायजामा की बंदिश तथा तिरकोनी रूमाली की लटक आज भी वृद्धावस्था में खूब रंग लाती है।"

'द्विजेश' जी के प्रशंसकों में स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी प्रमुख थे। इन पंक्तियों के लेखक के सामने ही कई बार रत्नाकर जी ने उनकी कविताओं में प्राप्त वर्ण-मैत्री और अलंकरण-पद्धति की स्तुति की थी। बात वस्तुतः सत्य भी है। 'द्विजेश' जी की मार्मिकता भाव-पक्ष में उतनी स्फुट नहीं है, जितनी उक्त-वैचित्र और चमत्कार-प्रदर्शन में। रीति कालीन कविता-शैली का प्रभाव आपकी रचनाओं में अधिक दिखाई पड़ता है। पद-लालित्य और कारीगरी की अन्य बातों की ओर ही आपका अधिक ध्यान जाता है। कहीं-कहीं तो उनकी कृति इसलिये क्लिष्ट-सी हो गई है कि अनेक प्रकार की चमत्कार-भंगिमा एक ही में उलझी मिलती है। काव्य-मर्मज्ञ विद्वद्जनों में आप की बड़ी स्तुति होती रही है। आपके पढ़ने में भी ओज की अच्छी झलक रहती है। आपने उर्दू की भी बहुत शायरी की है। इतना सब होने पर भी समय की बलवत्ता प्रधान है। ऐसा प्रौढ़ और सरस कवि अपना ८० वर्ष का बूढ़ा वय लिए एक कोने में पड़ा है। आज तक किसी समालोचक और प्रशंसक ने उसकी ओर आँख उठाकर देखा नहीं। इतिहास में नाम तो उन्हीं का होता है जिनके ग्रंथ सामने हों और कुछ लोगों की 'वाह-वाह' साथ लगी हो। इस भीड़-भाड़ के युग में, उपेक्षा के अंतराल में दबी पड़ी कृतियों अथवा कृतिकारों की ओर जाने की फुर्सत किसे है?

'द्विजेश' जी की रचनाओं में मुख्यतः भक्ति, शृंगार और नीति विषयक कविताएँ अधिक हैं। नर-स्तुति भी आपने बहुत की है और अच्छी की है। कुछ छंद तो ऐसे भी आपने रचे हैं जिनमें प्रौढ़ चमत्कार की झलक है। बानगी रूप में निम्नलिखित कविताएँ देखिए—

वसंत का वर्णन

"दौरे पै नए रितु के द्रुमँन सुमँन वौरे, बौरे अंब बैरी हूँ बियोगी बनिताँन के।
जरनैल ज्यों अँनार, करनैल कचनार, सुमँन कनेर-कला कीँने कपताँन के ।।
झुंडन के झुंड ए 'द्विजेस' लाले मुंडन के, पुलिस पलास लाव लीने यों लताँन के।
बाँधि अब जात प्राँन कीबे कों चलाँन मानों हुकुँम इलाँन है बसंत सुलताँन के ।।"

"यारौ या सुराज पाइबेते फल पैहौ कहा, यांमें है जरूर कछु रावरे बिचारों की।
ब्राह्मन अरु छत्री, सूद्र, खत्री ह्वै एकत्री सबै, कीन्हों सहभोज देखि पत्री लेक्चरारों की ।।
देखौ या सुराज के प्रतच्छ फल ये ई चार, जातें हिंद राज में अकाज है हजारों की।
नित की निजा है, किते जीवों की कजा है, कास्तकारों की मजा है और सजा है जमींदारों की ।।"

मध्या नायिका

"भूमि तँन ती के भूमि भागी हैं भए 'द्विजेस', लाज औ मनोज क्रम अंग में समाँने के ।
सो बिधि अमींन तखमींन कींन ऐसौ कछु, राख्यौ है कमीं न बेस काहूऐ समाँने के ।।
ऊँचौ भाग उर तें उरोजँन तें नीचौ भाग-बीचों द्वै उरोज पींन इमि उपमाँने के ।
माँनों द्वै जमीपति के झगरे निवारिबे कों गाड़ि दींन्हे पृथक पखाँन द्वै सिवाँने के ।।"

वचन-विदग्धा

"पथ की थकी हों मनमथ के अरथ की ना मथ की मटूकि भरी है 'द्विजेस' लखि लै ।
छलकी परति याते हलकी करँन चाहों छल की कहूँना बलकि चाहें तू चखि लै ।।
जैहों अब, ऐहों पुनि, सोंह तेरे तेरी सोंह, करैना रिसोंह भोंह मेरी या परखि लै ।
माँनत नहीं तौ जमाँनत में काँन्ह जाँनि, मेरी आँग-आँगी तू अमाँनत में रखिलै ।।"

कृष्ण-जन्म

"अलख निरंजन, मुनीन मन-रंजन, भंजन-बिपत्ति के 'द्विजेस' हैं न यामें संस ।
आइ ब्रज-बीच यों प्रतच्छ परखाई सबै, बरखाइ आँनंद, कहाइ काँन्ह-जदुबंस ।।
काई कस गोद 'जसुदा' की यों निकाई करी; निज लरिकाई में तकाई अस पूरी अंस ।
परकाई पूतनै, कुछीर कंठ सरकाई, गज दंत दरकाई, करकाई छाती कंस ।।"

❀

"पावन पतित पुरसोत्तम सो पारब्रह्म, परँम 'द्विजेस' प्रजा पीर हरबर हौ ।
कृष्णचंद, केसव कृपाल, करुना के सिंधु, गुरु गुबिंद गिरिवर गरीब परबर हौ ।।
धाँमन के धीस, ईस अमित अराँमन के, काँमन के तुमही कलप तरुबर हौ ।
करद कुकालन के, पुंज प्रतिपालन के, मुकुती-मरालन के माँन सरबर हौ ।।"

गंगा की स्तुति

"आचमन कीन्हें आचमन कौ समन होत, साँच मन होत तो तें जाँच मन कीन्हे ते ।
कीन्हे ते सकल्प होत प्रानिन कौ काया कल्प जीबै अल्प जीबी कोटि कल्प बास लीन्हे ते ।।
तेरे दरसँन जम-दरस न होत फेर, परस न पाबै पाप परसँन कीन्हे ते ।
अरपँन कीन्हें दरपँन सौ दिखात चित्र, नरपँन जात तो में तरपँन कीन्हे ते ।।"

राजा साहिब मझौली की अग्नि से मृत्यु होने पर—

"ताँनें साहम्याँने में जरी के नमगीर ताँनें, ताँनें चोज चाँदनी बिचित्र छत्र ताँने हैं ।
सेर सम सिर ताँनें समसेर कर ताँने, तिय सों नजर ताँनें मद सों मताँने हैं ।।
एतौ सब ताँनें अंत आनि धरि ताँनें जबै, तब तो 'द्विजेस' माँनों कछू ये न ताँने हैं ।
दीप सो बुताँनें, सो दखिन प्राँय ताँने ताँनें, ताँनें एक चादर ते सोबत उताँने हैं ।।"

पं० काशीपति त्रिपाठी "प्रेमीहरि"

सरयूपारीण कुलावतंश 'विद्यारत्न' पंडित प्रवर श्री नारायणपति जी त्रिपाठी काशी की पंडित मंडली में बड़े संमानित व्यक्ति थे । उनके कुल में पांडित्य की अति प्राचीन परंपरा चली आ रही थी। उसे अपने सात्विक जीवनचर्या और पंडिताई से उन्होंने अक्षुण बना रखा था । इनके

घराने के लोग दारा शिकोह के गुरू थे। इस प्रकार उनके कुल की प्राचीनता का अंदाज लगाया जा सकता है। दूसरी ओर भारत विख्यात महामहोपाध्याय पं० शिवकुमारजी शास्त्री के वे जामाता थे। उन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र पं० 'काशीपति' जी त्रिपाठी हैं। इनका जन्म सन् १८९३ में हुआ तथा बाल-जीवन सब प्रकार की संपन्नता और दिव्य-संस्कारों के बीच आरंभ हुआ था। घर की परंपरा के अनुसार इनकी संस्कृत एवं हिंदी की पढ़ाई तो हुई ही साथ में युग-धर्म के अनुरूप अँगरेजी की भी शिक्षा पूरी दी गई। स्थानीय 'क्वींस कालेज' में अध्ययन कर इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। काशी विद्यापीठ की स्थापना के उपरांत त्रिपाठीजी उसमें अध्यापन-कार्य करते रहे और आगे चलकर उसके 'पीठ-स्थविर' (रजिस्ट्रार) बनाए गए। साथ में घर की जमींदारी और प्रबंध-कार्य भी करते रहे।

आप में आरंभ से ही साहित्य का अनुराग दिखाई पड़ा। निरंतर अध्ययन-अध्यापन के कार्यों से संबंध रहने के कारण आपकी अभिरुचि परिष्कृत होती गई। काशी के धुरंधर विद्वान् डा० 'भगवान दास' की आप पर विशेष कृपा रही है, क्योंकि दर्शन में भी आपका अच्छा प्रवेश है। इसके अतिरिक्त अपने समय के काशी के श्रेष्ठ साहित्यकों के समागम का आपको सुयोग प्राप्त था। समय के प्रसार में आप बाबू 'देवकीनंदन' खत्री, पं० 'किशोरीलाल' गोस्वामी, श्रीलाला 'भगवानदीन', बाबू 'जगन्नाथ दास' 'रत्नाकर', पं० 'रामचंद्रशुक्ल और बाबू 'जयशंकर प्रसाद' के संपर्क में अधिक आ चुके हैं। इसलिए काव्यानुराग को इनमें पनपने का खूब अवसर मिला। आप स्वयं तो कविता लिखते ही हैं; साथ ही रीति-कालीन कविता के अनुशीलन की प्रवृत्ति भी आप में अच्छी है। इसलिए कवि-कर्म की विशेषताओं से आप परिचित हैं। आपके लिखे हिंदी-अँगरेजी के लेखादि तो बहुत हैं, पर ब्रजभाषा में कवित्त-सवैया लिखने की ओर आप की विशेष रुचि है। आपकी लिखी 'स्नेह' नामक पुस्तक में विवेचना और काव्य दोनों का अच्छा समन्वय हुआ है। आपकी लिखी अधिकांश कविताएँ या तो भक्ति मूलक हैं, अथवा रीति काल की परंपराओं को लिए हुए। भाषा में कहीं प्रसाद माधुर्य है और कहीं ओज, सामान्यतः आपकी गति इतिवृत्त की ओर रहती है। भक्ति-परक कविताओं में दैन्यपूर्ण निवेदन और ममत्व कथन का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। विषय-कथन में अलंकरण की भी रुझान झलकती है। घर के वातावरण का प्रभाव आप पर काफी पड़ा है। आरंभ से ही जो मातृ-विछोह हुआ और पूजा-पाठ, देवी-देवता, गुरुजन-वंदना चली उसने भक्ति-भावना जगाई और स्वस्थ सुडौल शरीर, पुष्प वाटिकादि का प्रेम, जीवन के सामान्य सुख-सुपास की संतुष्टि ने स्वभाव में एकांत प्रेम तथा संकोच उत्पन्न कर दिया। इसलिए कहा जा सकता है कि आपमें काव्य-प्रेम संस्कार-गत है और इसीलिए काव्य-रचना का शास्त्रीय पक्ष अथवा वहिरंग उतना निखार नहीं पा सका जितना भाव-पक्ष। आपकी कुछ रचनाएँ सामने रखी जाती हैं—

वाणी-वंदना

"अंब दै जगाइ झँनकार बिस्वनाँद बीँन, लीँन करि जग मन मोँहन करावै है।
'प्रेमीहरि' सुचि सुभ्र आपु ग्याँन-जोति रूप, करिबे सचेत हेत बीँन धुनि गावै है।।
बिस्व-सिरमौर नर, नरमौर मनि ग्याँन, चेतन जु एक तोर मोर जो जतावै है।
कब मन हंस मोर करत कलोर तोर, पद-कंज पोर लै सुठौर सहरावै है।।

बिंधेश्वरी-स्तुति

दास दुख दारिद दबे सोँ देखि 'प्रेमीहरि', नेह मेह बारिद कौ रूप दरसावै है।
षटरिपु प्रबल चढ़ाई लखि धाई कस, घेरि-घेरि घँन घोर घुँमड़ति आवै है।।
करक करेजौ करैं टूक सो बिपच्छिन कौ, मूक हिय हरषि सपच्छिन मैं लावै है।
सरसति आवै करुना की भरी बूंदन तैं, बिंध-गिरि 'काली' घटा बरसति आवै है।।"

नंद-नंदिनी—महिला

"प्रेम के दिवाँने हेरों कोऊ अभिराँम नेंन, कीनों ब्रज-धाँम हेत प्रीत सो हमारी कौ।
तरनि-तनूजा-तीर तरुन तमाल कुंज, झूलत झमाल जित नित ही बिहारी कौ।।
होड़ करें रूप में जो ग्वाल बाल 'प्रेमीहरि', गजब गुवारिन मुकुट मनि नारी कौ।
चेरे फिरों चहुधाँ एकै कत के हम सब, चेरी अरु चेरे वृषभाँन की दुलारी कौ।।

ब्रजेश-स्मरण

भलौ बुरौ तजि कें बिचार हम देंइ परें, चित-बित आपुनों वे बाँकुरे बिहारी पें।
एकते हैं एक रूपबंत जाकौ नाहीं अंत, काछनी जु काछें वारों कंत बनवारी पें।।
काह चहौ तोतें नहिं जानों बस्यौ 'प्रेमीहरि', चेंन हित जात चित सुरति तुम्हारी पें।
मोकों काँम तोसों हों निकाँम तौहूँ तेरौ, अहौ द्रवि हौं न स्याँम कबों दीनता हँमारी पें।।

नायक-वर्णन

गोर गोर गात सुठि सुंदर सलोंन ग्वाल, अंग-अंग राचे हैं अनंग रुचिराई के।
पींन बच्छ, केहरि कटि, पटुतर पोढ़ पीठि, छड़ छड़कीले रगरेसैंन कलाई के।।
खंभ सम जंघ, खँमदार पेंडुली हैं खची, ठमकि मतंग मतबारी बीरताई के।
बोल मीठि, सीलबंत, दीरघ दृगंत देखैं, रसिक सुभागि कंत पैयै तरुनाई के।।

आधुनिक उद्यान

सुखद समीर नीर-बिंदु लै फुहारन सों, हारन सों कुसुम कियारिन हिलावै है।
लगत पलाकस भला कस सुरति मेरी कर बर बिना तोहि को नेटसर दिलावै है।।
रंग बेली छाइ ब्रज नोंनियाँ लै 'प्रेमीहरि', आइ-पोमियाँ कों बेगम बेलि तें मिलावै है।
आनँद करन फरन केर जोटन सों, रंजित करोटन कौ खेल सौ खिलावै है।।

कंट्रोल

अधिक सुखै है, दींन पींन ह्वै है घँनवारे, रोल कंट्रोल पै दुकाँनि अन्न सून है।
ग्रीषम बसन जु ब्यर्थ और सिसिर आए, बाधक सहिष्नुता कौ सूत अरु ऊन है।।
संपति धनी कौ करै चित्त कों बिकार आबै, दींनता तै याद ईस बित्त कीनों खून है।
नूनता है चाहू ओर दून-दून निस-दिन, खाँन कों कँनून परिधाँन कों कँनून है।।"

अंत में निवेदन है साहित्य के प्रेमियों से और विशेष कर ब्रजभाषानुरागियों से कि अपने पास-पड़ोस के प्रांतों में निवास करनेवाले कवियों का संक्षिप्त परिचय और रचनाएँ एकत्र करें और उक्त पद्धति से लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दें, अथवा मेरे पास ही भेज देने की कृपा करें।[1]

[1]. इस विस्मृति और अनादर की बहिया में डूबने-उतरानेवाले ब्रजभाषा के ऐसे अनेक नये-पुराने उत्तमोत्तम कवि हैं, जिनकी सुमधुर सूक्तियाँ साहित्य-जगत और सहृदय ब्रजभाषा-प्रेमियों में आज भी समादृत हैं, पर उनके रचनेवाले अज्ञात-कुलशील हैं। उदाहरण के लिए निम्न छंद ही लीजिये—

"आगँम बसंत कौ बिचारि कें बिदेस-तजि, आयौ मन-भावँन मदँन सरसेंनी सों।
आँनद अनंत भयौ नेंनन-बिलोकति ही, आँनन अरुँन अँनुराग रंग-रेंनी सों।।
नौतिय बियोग रूखि बिरह कौ त्राँन ताहि, काढ़यौ मन मोंहन सनेह-सुख-छेंनी सों।
जौलों प्यारौ पीतम बिहार करै उर बर, तौ लों उर-हार तू बिहार कारि बेंनी सों।"

यह 'आगतपतिका' नायिका का प्रशंसनीय छंद है। इस की तुलना किसी उच्च कोटि के कवि की उपयुक्त रचना से की जा सकती है। इधर खोज-खबर से जाना गया है कि उक्त रम्य-रचना 'करौली' (राजपूताना) के राजा 'सुजानसिंह' उपनाम—'फकीरसिंह जी की है। सुजानसिंह जी ने लग-

भग सं० १७८१-१८१२ वि० में 'सुजानविलास' नाम से ब्रजभाषा में एक सुंदर रीति-ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ अभी देखने में आया है और उससे ज्ञात हुआ है कि उपरोक्त सुप्रसिद्ध छंद आपकी ही अनोखी रचना है। आपका एक और छंद जैसे—

"कंचन कौ री किधों जरिया बिधि, नीलम कौ काँनिका जरचौ पाबका।
कै रबि कौ सुत जीब की गोद में, मोद भरचौ दरसै रस-नाबका।।
आँनन चंद, चकोर से नैंन, लगै पुतरींन की कांति सुहाबका।
गूजरी ऊजरी के ठोड़ी कौ बिंदु, गुलाब कौ फूल मलिंद कौ साबका।।"

इसी प्रकार भोजपुराधीश महाराज प्रबल सिंह जी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आपका ब्रजभाषा का ग्रंथ—'बारहमासा' बहुत ही सुंदर है। उदाहरण रूप एक छंद इसका भी देखिये—

"माघ नहीं है निदाघ प्रचंड यै, चंद नहीं तँन भाँन दहैं री।
राति नहीं दिनैं बाढ़चौ अपार, सो सीरे सँमीरन लूंवें बहैं री।।
फूले-री बारिज हैं सर में, अँम-भूलि कँमोदिनि ताहि कहैं री।
जाड़ौ नहीं यै आतप है 'प्रबलेस' बिनाँ दुख कैसें सहैं री।।
—इत्यादि,

ब्रजभाषा के आधुनिक कवि[1]

श्री रामनारायण अग्रवाल

एक समय था, जब ब्रजभाषा लगभग संपूर्ण भारतवर्ष की सर्वसंमत काव्य-भाषा थी, परंतु हिंदी-गद्य के विकास के साथ ही साहित्य पर से ब्रजभाषा का एकक्षत्र राज्य समाप्त हो गया। इसके अनेक कारण थे, परंतु प्रमुख कारण जिसे प्रायः सभी हिंदी इतिहासकारों ने मान्य किया है, वह था कि मधुरिमा की मंजुल मूर्त्ति 'ब्रजनागरी' आज के संघर्षशील युग की विभिषिका के द्वंद्वों और थपेड़ों को सहन करने के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकी थी और इसीलिए उसने अपने स्थान पर खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के पद पर स्वेच्छा से ही अभिषिक्त कर दिया, किंतु यह होने पर भी आज तक ब्रजभाषा के अनुरागी देश में एक छोर से दूसरे छोर तक अभी-भी यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं और निरंतर 'ब्रजभारती' का भंडार भर रहे हैं। हमें दुःख है कि अपने साधनों के अभाव में हम ऐसे अनेक विगत और वर्त्तमान कवि-कोविदों का उल्लेख इस स्थान पर नहीं कर सके होंगे, जिनका उल्लेख इस लेख की श्री वृद्धि के लिए आवश्यक था, अतः हम अपनी अल्पज्ञता से विवश होने के कारण उनके प्रति विनम्रतापूर्वक क्षमा प्रार्थी हैं।

हम यहाँ रीतिकाल के उपरांत हुए वर्त्तमान युग के ब्रजभाषा-काव्यकारों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे हैं, जिन्होंने ब्रज-साहित्य की संलग्नता से सेवा की है। मोटे रूप से इन कवियों के काव्य को हम तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं, (१) पूर्व भारतेंदु काल—जिसमें भारतेंदु जी से पूर्व के उन कवियों का उल्लेख हमने किया है जो प्रायः रीति-कालीन परंपरा से ही अधिक प्रभावित रहे हैं। जिन कवियों का विवरण यहाँ हमने दिया है उनमें ऐसे अनेक ब्रजवासी व अन्य प्रसिद्ध कविगण हैं जिनका उल्लेख हिंदी के इतिहास में नहीं हुआ है। (२) भारतेंदु युग है, जिसमें ब्रजभाषा-काव्य को नई प्रेरणा मिली। (३) तीसरा युग—वर्तमान काल है जिसमें उन कवियों के विवरण हैं जो आज भी संलग्नतापूर्वक ब्रजभाषा-काव्य साधना में संलग्न हैं। भारतेंदु मंडल का युग समाप्त होते ही हमें पं० श्रीधर पाठक के दर्शन होते हैं, जो प्रकृति के प्रति एक नया दृष्टिकोण और कुछ नई प्रेरणा लेकर साहित्य में अवतीर्ण हुए थे। वह खड़ी बोली के साथ-साथ ब्रजभाषा के भी कुशल कवि थे। अतः हमने उन्हीं से वर्तमान काल का आरंभ किया है। हमें आशा है कि ब्रजभाषा साहित्य की यह काव्य-सुधा-निर्झरिणी आगे भी इसी प्रकार अपनी मधुरिमा-वर्षिणी काव्य-धारा को प्रवाहित रखेगी और भावुक रसिकगण इससे आगे भी रुचि से छकते रहेंगे।

हम रीतिकाल के अंतिम स्तंभ और महाकवि 'ग्वालजी' से इस परिचय विवरण को आरंभ करके रीतिकाल के उपरांत हुए अन्य ब्रजभाषा-कवियों का काल-क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण उपस्थित करने का यहाँ प्रयत्न करते हैं।

१. इस लेख की सामग्री एकत्रित करने में लेखक को, मथुरा के वयोवृद्ध साहित्यसेवी श्री पुरुषोत्तमदास सैयाँ, पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, कविवर रामललाजी और श्री गोविंद जी तथा दरबार कालिज के हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल से पर्याप्त सहयोग मिला है, जिसके लिए लेखक उक्त सज्जनों का आभारी है।

—लेखक

पूर्व भारतेंदु काल

कविवर ग्वाल (रचना काल लगभग १८७९ से १९२५ तक)

रीतिकालीन परंपरा के अंतिम स्तंभ कविवर 'ग्वाल' जी ने अपना परिचय स्वयं निम्न प्रकार दिया है—

"बासी बृंदाबिपन के, श्री मथुरा सुखबास।
श्री जगदंब दई हमें, कविता बिमल बिकास।।
बिदित बिप्र बंदी बिसद, बरने ब्यास पुराँन।
ता कुल सेवारॉम कौ, सुत कवि ग्वाल सुजाँन।।"

आपके काव्य-गुरु राधारमण जी के गोस्वामी श्री 'दयानिधि' जी थे। ग्वाल जी ने अपने जीवन में अनेक यात्राएँ की थीं और महाराज 'रणजीतसिंह', 'लहनासिंह' तथा 'शेरसिंह' के दरबारों में भी आप रहे थे। ग्वाल जी उन महा कवियों में से थे—जिन्होंने 'पद्माकर' की शैली पर सुंदर रचना करके ब्रजभाषा का मस्तक उन्नत किया है। आपकी वाग्विद्वत्ता और भाषा की चुस्ती दर्शनीय है। ग्वाल जी के बहुत से छंद बाजारू भी हैं, परंतु वे निस्संदेह एक उच्चकोटि के कवि थे। उनके मुख्य ग्रंथों में—"रसकानंद, रसरंग, कृष्णजू कौ नखसिख, दूषण-दर्पण, अलंकार-भ्रम-भंजन, गोपी-पच्चीसी, राधा-माधव मिलन, राधा-अष्टक, कवि-हृदय-विनोद, रसिकोल्लास, भक्त-भावन, हम्मीरहठ" आदि सुने जाते हैं, जिनमें से अभी तक कई ग्रंथ अप्राप्य हैं।

ग्वाल जी के ब्रज में अनेक शिष्य थे, जिनके कारण ब्रज में काव्य-रसिकों का एक सुदृढ़ गढ़ स्थापित था, जो उनके बाद भी निरंतर बना रहा। दुःख है कि अधिक समय न होने पर भी उनके शिष्यवर्ग में से अनेकों के नाम और रचनाओं का विवरण अब उपलब्ध नहीं है। ग्वाल जी के एक गुरुभाई श्री 'नवीन' जी थे, जिनसे ग्वाल जी की प्रतिद्वंदिता रहती थी। ग्वाल जी के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—'खेमचंद और खूबचंद'। यह दोनों ही अच्छे कवि थे।

ग्वाल जी मथुरा की चूनाकंकड़ गली में निवास करते थे, जहाँ उनकी हवेली आज भी बनी हुई है। आपने अपने घर के पास ही एक 'ग्वालेश्वर' महादेव की स्थापना भी की थी। इसी स्थान पर ग्वाल जी का स्मारक बनाने के लिए 'ब्रज-साहित्य-मंडल' प्रयत्न कर रहा है। आपका एक छंद नीति-विषयक यहाँ उद्धृत करते हैं—

"जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ, ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में, ताकी बदजाती बदजाती ह्वाँ उराहना।।
'ग्वाल कवि' वे ही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग, वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ वहाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाह ना हैं, ताकी वहाँ चाह ना हैं, जाकी यहाँ चाहना हैं, ताकी वहाँ चाहना।।"

कवि उरदाम (उड़दाम) जी चौबे

उरदाम जी का जन्म और मृत्यु संवत् यद्यपि हमें ठीक रूप से ज्ञात नहीं हो सका, परंतु यह निश्चित है कि 'उरदाम' जी ग्वाल जी के समकालीन थे और दोनों में बड़ी प्रतिस्पर्द्धा रहती थी। यद्यपि उरदाम जी की कविता किसी प्रकार भी 'ग्वाल' जी से निकृष्ट कोटि की नहीं है, परंतु उन्होंने उतनी प्रचुर मात्रा में नहीं लिखा, जितना ग्वाल जी ने लिखा है। इसके अतिरिक्त उरदाम जी मथुरा या करौली में ही स्थित रहे, जबकि ग्वाल जी ने राजदरबारों में आश्रय-प्राप्त करने के साथ देशाटन भी खूब किया था। यही कारण है कि आज ग्वाल जी की सर्वत्र ख्याति है, जबकि उरदाम जी का हिंदी के इतिहास में नामोल्लेख भी नहीं मिलता, फिर भी उनकी महत्ता जब तक ब्रजभाषा-प्रेमी हैं, सदा अक्षुण्ण रहेगी।

कहते हैं कि एक बार ग्वाल जी और उरदाम जी दोनों ने ही भगवान के चरणों के नूपुरों का वर्णन लिखा। ग्वाल जी ने चाँदी के और उरदाम जी ने सोनेके नूपुरों का वर्णन किया। दोनों

ही कवियों के छंद टकसाली थे, किसी एक के छंद को श्रेष्ठ कहना कठिन था। अंत में दोनों कवियों ने स्वयं ही निश्चय किया कि भगवान के मंदिर में चलकर देखा जाय और जिसके वर्णन के अनुसार भगवान ने नूपुर धारण कर रखे होंगे उसी का छंद श्रेष्ठ समझा जाय। फिर क्या था, दोनों कवि तत्काल ही मंदिर में जा पहुँचे। जैसे ही कपाट खुले तो देखा गया कि भगवान ने स्वर्ण के नूपुर धारण कर रखे हैं।

इसी प्रकार की अनेक रोचक किंवदंतियाँ इन दोनों कवि महोदयों के संबंध में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उरदाम जी को 'भैरों' का इष्ट था और आप प्रातःकाल ४ बजे उठकर 'चतुष्पथ' पर शौच जाया करते थे। इसपर बिगड़कर कालिकाप्रसाद नामक किसी चुंगी के कर्मचारी ने कवि जी का चालान कर दिया, जिससे इन्हें बहुत कष्ट हुआ। अतः आपने एक छंद काली को संबोधन करते हुए लिखा, जिसका अंतिम चरण था—

"कालिका प्रसाद कौ कलेबा कर कालिका।"

कहते हैं कि इस छंद के लिखे जाने के दूसरे दिन ही कालिकाप्रसाद का स्वर्गवास हो गया।

इसी प्रकार मथुरा के वयोवृद्ध साहित्य-मर्मज्ञ श्री पुरुषोत्तमदास 'सैंयाँ' ने हमें बतलाया कि उरदाम जी मथुरा की चूंड़ीवाली गली में रहने वाली एक 'रँगरेजिन' पर अनुरक्त थे, जिसका विवाह करौली में हुआ था। उरदाम जी का यह नित्य-नियम था कि प्रतिदिन एकबार जाकर उस रँगरेजिन को अवश्य देखना। वह प्रतिदिन उसके द्वार पर जाकर उसे आवाज़ देते और जब वह उनके सामने आ खड़ी होती तो वह उसे देखकर लौट आते, पहिले तो कुछ दिन रँगरेजिन के घरवालों ने उरदाम जी को रोकने की बड़ी चेष्टा की, परंतु उनके हठ के कारण उन्हें अंत में झुकना ही पड़ा। इस प्रकार जब वह रँगरेजिन मथुरा रहती तो उरदाम जी भी मथुरा रहते, किंतु जब वह रँगरेजिन अपनी ससुराल करौली जाती तो कवि जी भी करौली ही रहा करते थे। उरदाम जी का उर अपनी प्रेमिका के काँटेदार-नयनों से कैसा विदीर्ण था यह निम्न छंदों से प्रगट होता है—

"नैंन नवला के नैंक निरखें निहाल होत, हेरें रहि जात मृग-मींन लट गए हैं।
कहँ 'उरदाँम' काँम बाँनन की नोंकन पै, कहाँ यह रंग कवि कोटि रट गए हैं।।
भोंह रूप सरस-सरोबर में सुख सँनै, कँमल दलँन-डर-डार डट गए हैं।
आँन अवलाँन के गुमाँन घट गए माँनों सेंन चढ़ि केतिक सुजाँन कट गए हैं।।"

❀

"जोबन-मुलक लहि मदँन महीप जू नें, मींन-छाप दैकें राखे भट जुग जोरदार।
उरज-बुरज दै मवासी छल रासी मनों, पीय-मन चंचल बनीं के नींके मोरदार।।
'उरदाँम' सिसुता सहर चढ़ि लूटि लीन्हों, सरँम, धरँम, रह्यौ एकहू न छोरदार।
ये न कंज खंजन चकोर भौंर गंजन सो, करत कजाकी कजरारे नैंन कोरदार।।"

'मालती वसंत'—औषधि विशेष के निर्माण की 'रासायनिक क्रिया' को इन कवि ने अपनी नायिका में कितनी सुंदरता से घटाया है, यह देखिये—

"लगत अतँन तँन, कंचन जरद पीरी, मदँन-मरद खूबी खपरी रलाई है।
माँखन-मिलँन-मोद मुकता-मनोरथँन, चाँह की मिरच चटपटी चित्त लाई है।।
सौतिन के मन मनों निबुआ निचोरि दीनें, 'उरदाँम' याही सों सरस सुहाई है।
बिरह बिषम जुर जाँनिकें हमारे जाँन, यह बाल 'मालती बसंत' बनि आई है।।"

आपकी अधिकांश कविताएँ अतीत के अंतस्तल में विलीन हो गई हैं। केवल नवनीत जी के सुपुत्र कविरत्न 'गोविंद' जी चतुर्वेदी के यहाँ आपका कुछ संग्रह अभी वर्त्तमान है। अच्छा हो कि उसे अंतर्ध्यान होने से पूर्व प्रकाशित करा दिया जाय।

नवीन कवि (वृंदावन)

कवि नवीन संवत् १६०० के लगभग वर्त्तमान थे और ग्वाल जी के गुरु भाई थे। इनके परिवार-वंश आदि के विवरण के संबंध में कोई प्रामाणिक बात अभी नहीं कही जा सकती। यह नाभा नरेश महाराज देवेंद्रसिंह जी के यहाँ थे और वहाँ आपने एक प्रकार का राजकीय संमान प्राप्त किया था। मिश्रबंधुओं ने इनके 'सरस-रस' 'सुधासर', ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनका एक ग्रंथ 'रंग-तरंग' मिश्रबंधुओंके निजी संग्रह में भी था। ब्रज में इनके बहुत से स्फुट छंद प्राचीन लोगों को याद हैं। मिश्र-बंधुओं ने इन्हें पद्माकर की कोटि का कवि माना है। संवत् १६०५ की शोध में 'नेह-निदान' नामक एक ग्रंथ नवीन कवि का और मिला है, जिसे मिश्रबंधु इन्हीं नवीन जी का समझते हैं, किंतु हमारे विचार से ये नवीन इनसे भिन्न और पूर्ववर्त्ती हैं। नवीन जी का एक छंद यहाँ उद्धृत है—

वह मनमाँनी सो बखाँनी हैं रसिक जन, यह पटराँनी जग जाँनी जस नींकौ है।
वाके अनुकूल याके कूल पै किलोल करें, वह स्याँमा नाँम यह स्याँम -रंग पीकौ है।।
दोऊ ए अनूप ब्रज-भूप के छकँन छकीं, दोउँन के भाग में सुहाग ही कौ टीकौ है।
आसरौ हमें तो निसि-बासर 'नवीन' सदाँ, भाँनु-नंदिनी कै बृषभाँनु-नंदनी कौ है।।

हरदेव

हरदेव जी भी ग्वाल जी के गुरुभाई और जाति के वैश्य थे। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी। पिंगल-शास्त्र के आप पंडित थे। आपने एक बृहद् रीति-ग्रंथ लिखा है, जिसकी एक प्रति मथुरा में "श्री सैंयाँ जी" के पास है। हरदेव जी वृंदावन के निवासी थे और अपने गुरु गोस्वामी दयानिधि जी के बहुत निकट रहने के कारण उनके विशेष कृपापात्र थे। इसलिए ग्वाल जी से इनकी कुछ कम बनती थी। आपकी 'मुदिता नायिका' का एक वर्णन दिखिये—

"गंग-नहावन कों नर नारि, चले हैं अरौस-परौस के सोऊ।
दासी औ दास जिते 'हरदेव जू' रोकिऐ ताहि रुकै नहिं कोऊ।।
सास कही सुनरी दुलही, घर तू रहि और रहैं ननदोऊ।
यों सुनिकें उँमग्यौ अँनुराग, समात न कुंचकी में कुच दोऊ।।"

लाला साधूराम

लाला 'साधूराम' भी अग्रवाल वैश्य और कविवर ग्वाल जी के शिष्य थे, जो मथुरा के चौक बाजार में कपड़े की दुकान करते थे। आप बड़े ही सरल स्वभाव के काव्य प्रेमी जीव थे। इनका जन्म संवत् ज्ञात नहीं है। आपकी मृत्यु १६४३ में हुई। सुना जाता है कि इन्होंने बहुत प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना की थी, परंतु वह अब अप्राप्य है। बड़ी कठिनता से हम केवल उनके कुछ ही छंदों का संग्रह कर पाये हैं, जो उनके परिवार के ही एक वयोवृद्ध सज्जन को स्मरण थे। गोपीचंद के योगी होनेकी कथा को लेकर आपने १०८ विविध छंदों में एक सुंदर 'प्रबंध-काव्य' भी लिखा है। यद्यपि यह अधिक पढ़े लिखे न थे, परंतु पिंगल-शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनकी भाषा में फारसी का पुट पर्याप्त है, एक उदाहरण—

"जाँनदै री, जमुनाँ के कूल फूल-बीनवे कों, रोकै मत गैल, सैल बागँन कूं जाँन दै।
जाँनदै री, झूलनाँ झुलाँमन कूं आज नेंक, गढ़ौ है हिंडोरा बट ताके तट जाँन दै।।
जाँनदै री, बरसा बुढात दिन द्वै-इक में 'साधू' यों कहत री घटाँन घटि जाँन दै।
जाँनदै री, साँमरे सँलोंने नंद-नंदन पै, चूंदरी चुचात याकौ रंग बहि जाँन दै।।

किशोर

कवि 'किशोर' ग्वाल जी के शिष्य और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। यह लाला साधूरामजी के समकालीन थे और उन्हीं की दुकान के पास चौक बाजार मथुरा में ही आपकी दुकान थी, जिसका वर्णन आपने

भरतपुर की एक पढ़ंत में भाग लेने के लिए जाने पर, अपना परिचय पूछे जाने पर अनायास ही 'आशु' कविता के रूप में निम्न प्रकार दिया था—

"बास श्री मथुरा, निवास तट जमुनाँ कौ, बिकट चौरायौ पवन आवत चहुँ ओर की।
सेख, सैयद, मुगल, पठाँन तहाँ बाँक देत, ताके तल बैठे बाँनी कहत मरोर की।।
नीम कौ है पेड़, नेंक आगें चल पूँछ लीजै, सुनार की दुकाँन लंग-उत्तर के ओर की।
बोलै मत ताब सों, बदाब क्यों करै है रे, लदाब के नींचें दुकाँन है किसोर की।।"

दुःख है आपकी कोई पुस्तक अभी तक नहीं मिली, परंतु इनके स्फुट छंद वैसे बहुत से महानुभावों को याद हैं। आपकी रचना 'किशोर नाम' के अनेक कवियों के छंदों में इतनी घुल-मिल गयी हैं कि उनका अलग छाँटना कठिन है। संभवतः निम्न छंद इन्हीं किशोर का है—

"भृकुटी-कमाँन ताँन फिरत अनोंखी भटू, बरने 'किसोर' कोए कज्जल-भरे हैं री।
तेरी मुखि-छबि लखि काँन्हर डिगत जासों, मघवा निगोड़ौ औरु रोष पकरै है री।।
कीरति कुमारी, ए दुलारी बृषभाँनु जू की, मेरौ कह्यौ माँन तेरौ कहा बिगरै है री।
चंचल चपल ललचोंहे नेंन मूंद तौलों, जौलों गिरधारी गिरि नख पै धरैं है री।।"[१]

खड्ग कवि

खड्ग कवि जाति के माथुर ब्राह्मण मथुरा के थे। आपका पेशा यजमानी था और 'दतिया नरेश' भी आपके यजमान थे। एक बार कवि जी महाराज'भवानीसिंह' जी से मिलने दतिया गये, उस समय वे मसनद के सहारे बैठे वेश्या का नृत्य देख रहे थे। वे कविजी को देखकर बैठे ही रह गये, उनकी अभ्यर्थना के लिए उठे नहीं। यह देखते ही कविजी बिगड़ गये और उन्होंने उसी समय एक छंद कहा, जिसका अंतिम चरण था—

"देवी कौ बाँहन जाँन कें आए, पै बैठौ है मसनद सीतला-बाँहन।"

इस पर महाराज भवानीसिंह बिगड़ गये और आपको काठ (बेडी) में दे दिया, परंतु महाराज के सिंह के शिकार से लौटने पर आपने उन्हें देखकर एक दूसरा छंद कहा जिसे सुनकर महाराज आप पर अत्यंत प्रसन्न हो गये और आपको मुक्ति ही नहीं, साथ में कुछ जागीर भी दी।

खड्ग कवि का अपनी चाची से जिसका नाम 'सतिया' था कुछ जायदाद संबंधी झगड़ा था, जिससे दोनों में प्रायः लड़ाई हुआ करती थी। कहते हैं कि सतिया भी कविता लिखती थी इस कारण दोनों की लड़ाई भी कविता में ही होती थी। सतिया और खड्ग जी की लड़ाई में विशेषता थी। लड़ाई देखने के लिये दोनों की ओर से पाल तान दिये जाते थे और खड्ग की ओर से अपने दर्शकों के लिए भाँग की तथा सतिया के समर्थकों के लिए शर्बत की प्याऊ लगा दी जाती थी। सतिया के व्यवहार से कुपित होकर खड्ग जी ने एक छंद लिखा था—

"बिनाँ दाँत खाइ गई, लाखँन कों सतिया।"

और इसी के उपरांत कवि की मृत्यु हो गई। आपने बहुत से स्फुट पद और भड़ौआ छंद लिखे हैं, जो ब्रज में बहुत से लोगों को याद है और पं० नकछेदी तिवारी (कविअजान) भड़ौआ संग्रह में छपे भी हैं। यहाँ आपका श्री यमुना जी के माहात्म्य-वर्णन का एक छंद उद्धृत करते हैं—

पाठांतर—

१. बधू, ता पै ए बिसिख कोर...।
तोहि देखि मेरे गुबिंद-मन डोलि उठै, मघबा निगोड़ौ उतै...।।
बलि-बलि जाँउ बृषभाँन की कुँमारी तेरी, मेरौ कह्यौ...।
चंचल चपल ललचोंहे नेंन मूंदि राखि...।।

"जाँन कर बूजा में न पूंजा करी ठौर ठौर, भाँनु की तँनजा नाँम तेरौ एक जाँच्यौ है ।
आठों जाँम करत रहत जो निकाँम काँम, माया, मद, मोह सदाँ मंदता में माँच्यौ है ।।
'खरग कवि' कीन्हों ना बिचार तरिबे कौ कछू तौ पै यें चारु यों बिचार उर आँच्यौहै ।
न्हाइ जमुनाँ में जो पै तरिबौ न साँचौ तो पै पाप करि नर्क हूँ में परिबौ न साँच्यौ है ।।"

राजकुमार रत्नसिंह "नटनागर"

नटनागर जी सीतामऊ नरेश श्री राजसिंह जी के पुत्र और दादूपंथी श्री श्रूपदास जी के शिष्य थे। आपका जन्म संवत् १८६५ वि० और मृत्यु संवत् १९२० में पिता के सामने ही हो गयी। महाराज कुमार बड़े गुरुभक्त, कलाविद्, सहृदय और गुणग्राही थे। आपने शृंगार आदि विषयों की अनेक सरस रचनाएँ की हैं। सितार बजाने में भी आप बड़े निपुण थे और अपने समय के समस्त सत्कवियों से आपका निकट का परिचय था। डिंगल के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल ने इनकी उदारता की कई छंदों में प्रशंसा की है। आपकी रचनाओं का संग्रह 'नटनागर-विनोद' नाम से छप चुका है। डिंगल-पिंगल आदि कई भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार था। बरवै में आपकी कुछ अनूठी विरह-सूक्तियाँ देखिये—

"साजन कथा बिरह की, लिखी न जाइ ।
कहि हैं वह अंबुद उत, कछु समुझाइ ।।
देखहु यह बिपरित मति, करषत मेह ।
तऊ झार नहिं मिटती, पजरत देह ।।
देखहु यह कस लाग्यौ, नेंनन मेह ।
बूड़े जलहिं रहत हैं, सूखति देह ।।"

सेवक

कवि सेवक का जन्म संवत् १८७२ में और मृत्यु १९३८ में हुई थी। यह प्रसिद्ध कवि ठाकुर (असनी वालों) के पौत्र थे। स्वयं आपने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

"श्री रिषिनाथ कौ हों में पनाँती, औ नाँती हों श्री कवि ठाकुर केरौ ।
श्री धनीरांम कौ पूत में 'सेवक' संकर कौ लघु बंधु ज्यों चेरौ ।।
माँन कौ बाप, बबा कसिया कौ, चचा मुरलीधर कृष्ण हू हेरौ ।
आसनी में घर कासिका में, हरिसंकर भूपति रच्छक मेरौ ।।"

आपका 'वाग्विलास' नायिका-भेद का बहुत बड़ा ग्रंथ है। 'बरवा' छंदों में आपने 'नखसिख' भी लिखा है। सेवक जी आजन्म एक ही आश्रयदाता के यहाँ रहे और कई नरेशों के निमंत्रण तक आपने स्वीकार नहीं किये, जहाँ से आपको यथेष्ठ लाभ होता। यह बड़े स्वाभिमानी थे। आपकी 'अन्य-संभोग-दुःखिता' नायिका का एक वर्णन देखिये—

"अँगना में बुलाइ घँनी अँगना, कँगना पहिराइ दै जोसनीं कौ ।
दछिना दिल खोल कै दीजै भटू, सो बधाई सुनाऊँ सँतोसिनीं कौ ।।
कवि 'सेवक' पाँइ परों सब के, बिधि दाहिनों आज सदोसिनीं कौ ।
बिन औषद में तौ अराँम भई, पति आइगौ मेरी परौसिनीं कौ ।।"

रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंह

महाराज रघुराजसिंह अपने समय के बड़े प्रसिद्ध कवियों में से थे। 'राम-स्वयंवर' आपका प्रसिद्ध प्रबंध-ग्रंथ है, जिसमें राम और सीता के विवाह का विस्तार पूर्वक वर्णन है। इसके अतिरिक्त आपने 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनंदांबुनिधि' (संपूर्ण श्रीमद्भागवत का ब्रजभाषा में अनुवाद) 'रामाष्टयाम' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। आपका जन्म संवत् १८८० और अवसान संवत् १९३६ में हुआ था। ये महाशय काव्य-प्रेमियों का बड़ा सत्कार करते थे। रसिक नारायण, रसिक विहारी, श्री गोबिंद, बालगोबिंद व रामचंद्र

शास्त्री आदि अनेक कवि इनके दरबार में रहते थे। इन कवियों ने भी बहुत से ग्रंथ रचे हैं और इनकी कविता महाराज रघुराजसिंह के ग्रंथों में मिल गई हैं। इस प्रकार महाराज रघुराजसिंह के २६ ग्रंथों का उल्लेख मिश्रबंधु-विनोद में हुआ है। आपकी एक रचना यहाँ दी जाती है—

"अनल उदंड कौ प्रकास नवखंड छायौ, ज्वाला चंड मानौं ब्रह्मंड फोरै जाइ-जाइ।
पुरी न लखात ज्वाल-मालै दरसात एक, लोहित पयोधि भयौ छाया इक छाइ-छाइ।।
देवता, मुनीस, सिद्ध, चारँन, गंधर्व जेते, मानि महा प्रलै बेगि ब्योम ओर धाइ-धाइ।
देखि राँमराइ हेत दीन्ही लंक लाइ सबै, चाइ भरे चले कपि राँम-जस गाइ-गाइ।।"

नारायण स्वामी

श्री नारायण स्वामी का जन्म रावलपिंडी में संवत् १८८५ में और मृत्यु फाल्गुन कृष्णा ११ संवत् १६५७ वि० में 'कुसुम सरोवर' (गोवर्धन के निकट) पर हुई। आप जन्म से ही कृष्ण-भक्ति के रंग में रँग गये थे। अतः आप संवत् १६१६ में ही गृहस्थ होते हुए भी वृंदावन में एकाकी निवास करने लगे और यहीं आपने लालाबाबू के मंदिर के कार्यालय में नौकरी कर ली। बाद में उसे भी त्याग कर स्वामी जी विरक्त भाव से संन्यासी होकर 'केशीघाट' पर 'खटपटिया' बाबा के घेरे में निवास करने लगे। संवत् १६५५ में आप गोवर्धन गये और वहाँ की रमणीयता को देखकर वहीं रुक गये। यहीं कुसुम सरोवर पर उद्धव जी के मंदिर में आप रहने लगे और स्वर्गवासी हुए।

पंजाबी होते हुए भी ब्रजभाषा पर आपका असाधारण अधिकार था और आपने प्रसाद-गुण-पूर्ण भाषा में 'ब्रज-बिहार' नामक ग्रंथ की रचना की है, जो भक्तों में बड़ी लोकप्रिय हुई। आपकी सरलता और सहृदयता तथा वाक्पटुता की अनेक कथाएँ कही जाती हैं। भगवान को आप 'लालजी' कह कर पुकारते थे और समदृष्टि के कारण जो भी आपसे मिलता उसी को आप लालजी कहकर संबोधित करते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने आपसे 'हरिद्वार' चल कर गंगा-स्नान कर लेने का आग्रह किया तो आप बोले—

"लालजी, हम तो महलों में रहने वाली प्रिया-प्रियतम की सहचरी हैं, हरि के अंतःपुर में ही रहती हैं, द्वार पर नहीं जातीं।'

आपके संबंध में प्रसिद्ध साहित्य-सेवी विद्वान् गो० राधाचरण जी (वृंदावन) ने अपनी नव-भक्तमाल में निम्न छप्पय लिखा है—

"अच्छर अर्थ अनूप, अलंकारन सु अलंकृत।
भाव हृदय गंभीर, अनुप्रासन-गुन-गुंफित।।
राग नवीन नवीन, प्रवीनन कौ मन मोहै।
नृत्य करत गति भरत, रासमंडल अति सोहैं।।
देस बिदेस प्रचार श्री वृंदाबन बिस्रांम।
श्री नाराइन स्वाँमी नवल (पद) रचना ललित ललाँम।।"

आपका एक बधाई का पद यहाँ उद्धृत करते हैं—

"आज मैहैरि घर देउरी बधाई।
सुभ लच्छिन सुंदर सुत जायौ, बड़भागिन है जसुमति माई।।
बृद्ध बधू सब जुरि मिलि आईं, जथा जोग कुल-रीति कराई।
दाँन, माँन, बिप्रन कों दीनों, मनि-मुक्ता पट भूषनताई।।
मृग-नेंनी, कल कोकिल बेंनी, करि सिंगार बैठीं अँगनाई।
लै-लै नाम नंद-जसुमति कौ, गावत गारी परम सुहाई।।
धुजा पताक, तोरन, मनि-जाला, द्वारन बंदनवार बँधाई।
'नाराइन' ब्रज आँनद छायौ, प्रघट भए जहाँ कुँवर कन्हाई।।"

रंगीलाल

रंगीलाल जी का असली नाम खैरातीलाल था और यह 'ब्रजबिहार' के लेखक श्री 'नारायण स्वामी' के समकालीन थे। इनके जन्म काल और मृत्यु-समय का ठीक पता हमें नहीं लग सका। रंगीलाल जी कुशल कवि तो थे ही, साथ ही शतरंज के भी प्रसिद्ध खिलाड़ी थे और मथुरा के प्रसिद्ध राजाजी वालों के वंशजों के यहाँ आपका इसीलिए बड़ा आदर था। आप मथुरा के पुराने छापेखाने 'श्यामकाशी' प्रेस में लीथो की कापी लिखने का कार्य करते थे।

श्री रंगीलाल जी भावुक भक्त थे और श्री राधाकृष्ण की अनेक लीला और पौराणिक कथाओं को काव्य-वद्ध करके उन्होंने अपने समय में साहित्य की श्री वृद्धि की। अब उनकी अधिकांश रचनाएँ नहीं मिलती, परंतु उनका 'ब्रजबिहार' मिलता है। आपकी रचना का एक उदाहरण लीजिये—

"ए अँखियाँ मोंहन सों अटकीं ॥
एक दिना की बात स्याँम की, सुधि नहिं भूलत बंसीवट की।
डोलत फिरी दिएँ गलबैयाँ, त्रिबिध पवन कालिंदी-तट की॥
कब धों भर-भर नेंन सखी री, हम देखें छबि नागर-नट की।
तबतें भोर जात बृंदाबन, सीस धरी गोरस की मटकी॥
निस-दिन आठों जाँम सखी री, बैरिन बंसी-धुनि उर-खटकी।
'रंगीलाल' सब सुधि-बुधि त्यागी, कुल-मरजाद लाज घूंघटकी॥"

राजा लक्ष्मणसिंह संवत् १८८७ से १९५६

राजा साहब आगरा में जन्मे थे। इन्होंने कालिदास के ग्रंथों के सरस अनुवाद करके सदा के लिए अपने को हिंदी-साहित्य में अमर बना लिया है। सबसे पहिले आपने गद्य में शकुंतला का अनुवाद किया था, जिसकी योरोप तक में धूम रही। इसके बाद राजा साहब ने गद्य-पद्य-युक्त शकुंतला का अनुवाद किया। 'मेघदूत' और 'रघुवंश' के भी आपके अनुवाद बड़े सरस हैं। इन अनुवादों के कारण जहाँ राजा साहब का नाम हिंदी-गद्य-निर्माताओं में अग्रगण्य है वहाँ आप एक सरस और भावुक ब्रजभाषा-कवि के रूप में भी सदा स्मरण किये जायेंगे। शकुंतला-नाटक में बालक भरत का भव्य चित्र कवि ने निम्न घनाक्षरी में अंकित किया है—

"हाँसी बिन-हेत माँहि दीखति बतीसी कछु, निकसी मनों है पाँति ओछी कलिकाँन की।
बोलँन चहत बात निकसि जाति टूटी-सी, लागति अनूंठी मींठी बाँनी तुतलाँन की॥
गोद तें न प्यारी और भावें मन कोऊ ठाँव, दौरि-दौरि बैठें छोड़ि भूमि अंगनाँन की।
धन्य-धन्य वे हैं नर मैंले जो करत गात, कनियाँ लगाइ धूरि ऐसे सुवनाँन की॥"

बेनी द्विज

आपका जन्म संवत् १९०० के लगभग कहा जाता है और आप काशी के निवासी थे। यह रीतिकालीन परंपरा की कविता करने वाले साधारण कोटि के कवि थे। आपकी कुछ रचनाएँ पंडित 'कृष्णशंकर' शुक्ल एम० ए० के पास हैं। आपका एक छंद नीचे दिया जाता है—

"सीता-राँम-लखँन बिलोक ग्राँम-नारी-नर, मोहित ह्वै ठाड़े इक टक लाइ कें।
तामें जे सयाँनी नारी अरज गुजारी इम जँनक, दुलारी आगें सीसँन नवाइ कें॥
काकी हौ पियारी दोऊ राजहंस-बंसिन में, 'बेंनी द्विज' दीजिए दया सों समुझाइ कें।
लाजँन लजाइ अकुलाइ तबै नेंनन सों, दीन्हे हैं लखाइ राँमें मुरि मुसिकाइ कें॥"

सरदार

सरदार कवि का कविता काल संवत् १९०२ से संवत् १९४० तक कहा जाता है और कवि की कविता से आपका 'सरदार' नाम भली प्रकार सार्थक होता है। आप काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद-

नारायणसिंह के आश्रित थे। आपने अपने मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त केशव, सूर और बिहारी के ग्रंथों पर टीकाएँ भी बड़ी सुंदर लिखी हैं। इनके ग्रंथ हैं 'साहित्य-सरसी', 'वाग्विलास', 'षट्-ऋतु', 'हनुमत-भूषण', 'शृंगार-संग्रह', 'राम-रत्नाकर', "साहित्य-सुधाकर' और 'रामलीला-प्रकाश'। आपका एक छंद यहाँ उद्धृत करते हैं—

"वा दिन तें निकसौ न बहोरि कें, जा दिन आगि-दै अंदर बैठौ।
हाँकत हूँकत ताकत है मन, माँखत मार-मरोर-उमैठौ॥
पीर सहों न कहों तुमसों 'सरदार' बिचारत चार कुटैठौ।
ना कुच-कंचुकी छोरौ लला, कुच-कंदर-अंदर बंदर बैठौ॥"

गोविंद गिल्ला भाई

आप गुजरात के उन कवियों में अग्रगण्य हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा में सुंदर रचना की हैं। आपका जन्म संवत् १९०५ है। भूषण की कविताओं का प्रामाणिक संस्करण निकालने के अतिरिक्त आपने निम्न ग्रंथ लिखे हैं—"नीति-विनोद, शृंगार-सरोजिनी, षट्ऋतु, पावस-पयोनिधि, समस्या-पूर्त्ति, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेष-चंद्रिका, प्रारब्ध-पचासा, प्रवीन-सागर, राधा-मुख-षोड़सी आदि। काशी के कवि समाज में इनकी समस्या-पूर्त्तियों की बड़ी धूम थी। एक पूर्त्ति नीचे दी जाती है—

"बारिद के बुंद मंद-मंद बरसत अरु मंद-मंद बोलत मयूर मन भावनों।
चंचला चँमक चहूँ ओर लसै मंद-मंद, मंद-मंद मारुत सुहात सुख छावनों॥
मंद-मंद झूलत हिंडोरें नर-नारी सबै, मंद-मंद पपिहा पुकारै पिय-आवनों।
'गोबिंद' अनेक ऐसे कौतुक उपावन कों, आयौ मन भावन ये सावन-सुहावनों॥"[1]

बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही'

रामसनेही जी अयोध्या के महंत थे और वहीं रामघाट के निकट 'रामनिवास' नामक स्थान पर रहते थे। आपका रचना काल संवत् १९११ के आस-पास है। आपका एक ग्रंथ 'विश्राम सागर' श्री रामचरित मानस के अनुकरण पर रचा हुआ मिलता है। यह ग्रंथ दोहा-चौपाइयों में है, जिसमें रामचरित के साथ कृष्ण-चरित और कुछ पौराणिक कथाएँ वर्णित हैं। ग्रंथ में कवि-कल्पना या मौलिकता यद्यपि नहीं है, परंतु धार्मिक-समाज में इस ग्रंथ का काफी आदर है। स्त्रियाँ इसे बड़े प्रेम से पढ़ती हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है। कंस कहता है—

"नंद संग जे गोप हैं, लूट लेहु तुम झारि।
उग्रसेन बसुदेव कों, अबहीं डारौ मारि॥
सुनत कृष्ण ढिंग पहुँचे जाई। पकरि सिखा महिं-दीन गिराई॥
काढ़े प्राँन घसीट घसीटी। डारे सकल निसाचर पीटी॥
लखि सुर हरषि सुँमन बरषाए। कढ़िलावत जमुनाँ-तट आए॥
तहँ बिस्राम कीन मन भावा। सोइ बिस्रामघाट कहावा॥"

हनुमान

हनुमान कवि प्रसिद्ध कवि मणिदेव वंदीजन के पुत्र थे और बड़ी श्रेष्ठ कविता करते थे। कविता पढ़ने का ढंग भी इनका बड़ा प्रभावोत्पादक था, जिससे प्रसन्न होकर भारतेंदु जी ने आपको एक बहुमूल्य दुशाला और हीरा-जड़ी अंगूठी भेंट की थी। दुःख है कि ३८ वर्ष की अल्पायु में ही (संवत् १९३६ में) आपका देहावसान हो गया। आपका कोई ग्रंथ तो नहीं मिलता किंतु स्फुट-छंद आपने बहुत से लिखे हैं। एक उदाहरण लीजिए—

१. यहाँ, ं० नकछेदी तिवारी—उपनाम 'अजान' कवि जो ब्रजभाषा-काव्य के प्राचीन ग्रंथों के संग्रहकर्त्ता और उनके संपादक के रूप में भी प्रसिद्ध थे, उनका उल्लेख छूट गया है।

"निज चालसों और जे बाल तिन्हें, कुल की कुलकाँनि सिखावती है।
ननदी औ जिठाँनी हँसावें तऊ, हँसी ओठँन ही लों बितावती है।।
'हनुमाँन' न नेंकौ निहारै कहूँ, दृग नींचे किएँ सुख पावती है।
बड़-भागिन पी के सुहाग-भरी, कबों आँगनहूँ लों न आवती है।।"

ललित किशोरी

भक्त कवि ललित किशोरी जी लखनऊ निवासी शाह बिहारीलाल जी के पौत्र थे। आपका नाम शाह 'कुंदनलाल' था। संवत् १९१३ में आप वृंदावन आये और वहीं संवत् १९३० में आपकी मृत्यु हो गई। आपने कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें कृष्ण भक्ति और प्रेम का हृदयग्राही वर्णन है। आपने ब्रज-वर्णन के अतिरिक्त कृष्ण के ब्रज-गमन के उपरांत के चरित्र पर एक पंक्ति भी नहीं लिखी है। आपने कुछ कूट और खड़ी बोली की कविता भी लिखी है। वृंदावन का सुविख्यात शाहजी का मंदिर आपका ही बनवाया हुआ है। आपकी कविता में कृष्ण भक्ति की मार्मिकता और विह्वलता की छटा दर्शनीय है। आपका एक 'प्रभाती' पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"कँमल-मुख खोलौ आज पियारे ।।
बिकसित कँमल, कुमोदनी मुकलित, अलिगँन मत्त गुंजारे ।
प्राचीदिसि रवि-थार आरती, लिऐं ठँनी छबि छारे ।।
'ललितकिसोरी' सुनि यह बाँनी, कुरकुट बिसद पुकारे ।
रजनी राज बिदा माँगै बलि, निरखौ पलक उघारे ।।"

ललित माधुरी

आपका नाम शाह फुंदनलाल था और आप 'ललित किशोरी' जी के छोटे भाई थे। उन्हीं के साथ वृंदावन आये तथा काव्य रचना भी की। इनकी कविता भी बिल्कुल ललितकिशोरी जी जैसी ही है और उसे पृथक् छाँटना कठिन है। हाँ, जिन पदों में ललित माधुरी नाम (जो आपका—उपनाम था) आता है वे अवश्य पहँचाने जा सकते हैं। ललित किशोरी जी की मृत्यु के उपरांत उनके अपूर्ण ग्रंथ आपने ही पूर्ण किये थे। आपका एक पद यहाँ उद्धृत है—

"प्रिया-मुख राजत कुटिनी अलकें ।
माँनहुँ चिबुक-कुंड-रस चाखँन, द्वै नागिनि अति उँमगी थलकें ।।
बेंनी छूट परी ऐंड़ी लों, बिथुरी लट घुँघरारी हलकें।
मैं अरबिंद सुधारस कारँन, भँवर बृंद जुरि माँनहुँ ललकें ।।
चंदन भाल कुटिल भ्रू मोरीं, ता पर यह उपमा हैं झलकें।
गै चढ़ि आध चंद-तट अहिनी, अँमी लूटिबे मन करि चलकें ।।
पुहुँप सचित उरँमाल बिराजत, चरन-कँमल परसत ढ़ल-ढ़ल कें।
मॅनहुँ तरंग उठत पुनि ठिठुकत, रूप-सरोबर माँहिं बिमल कें ।।
'ललितमाधुरी' बदन-सरोजहि, रास करत प्रिय स्रॅम-कँन झलकें।
भृंग दृगनि पिय छबि मकरंदहि, घूंटत मुदित परत नहिं पलकें ।।"

लच्छीराम (ब्रह्मभट्ट)

इनका जन्म अमोढ़ा गाँव जिला बस्ती में संवत् १८९८ में हुआ था। ये अयोध्या के महाराज मानसिंह (सुप्रसिद्ध कवि द्विजदेव) तथा अन्य कई नरेशों के आश्रय में रहे और सब की ही प्रशस्ति में इन्होंने कुछ न कुछ लिखा। समस्या-पूर्ति में यह महानुभाव बड़े कुशल थे। सभी रसों पर इन्होंने थोड़ा बहुत लिखा है। इनकी रचनाओं में 'प्रताप-रत्नाकर', 'मानसिंहाष्टक', 'प्रेम-रत्नाकर', 'लक्ष्मी-श्वर-रत्नाकर', 'रावणेश्वर-कल्पतरु' व 'कमलानंद-कल्पतरु' आदि अनेक ग्रंथ हैं। इनकी मृत्यु अयोध्या में संवत् १९६१ में हुई। आपका वसंत वर्णन देखिए—

"चैत चंद चाँदनी प्रकास छोरि छिति पर, मंजुल मरीचिका तरंग रंग बरसौ।
कोकनद, किंसुक, अनार, कचनार, लाल, बेला, कुंद, बकुल, चमेली, मोती लरसौ।।
श्रीपति सरस स्याँम सुंदरी बिहार थल, 'लछिराँम' राजै द्रुज आँनद अँमर सौ।
यों ही ब्रज बागन बिथोरत रतन फैल्यौ, नागर बसंत रतनाकर सुघर सौ।।"

गोप भट्ट (गोकुल निवासी)

गोकुल निवासी गोप[1] कवि भट्ट परिवार के थे और चित्रकला तथा काव्यकला के मर्मज्ञ थे। कई नरेशों के दरबार में भी आप संमानित हुए थे। आपका जन्म संवत् १९०० से कुछ पूर्व हुआ था और आप लगभग ९५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी हुए। वल्लभ-संप्रदाय में आप अपने समय के सर्वमान्य कवि थे। आपका एक सवैया यहाँ दिया जाता है—

"चंपक काँनन मध्य हरी तट, ता मधि देख बिरंच हू भूलौ।
सुक-सँनकादिक, नारद, सारद, ब्यासहु के मुख जात न हूलौ।।
ता छबि कों कवि 'गोप' कहै, बड़वानल होइ रह्यौ अँनुकूलौ।
भक्तन के हित बल्लभ कौ मुख, पावक-पुंज में पंकज फूलौ।।"

लाल बलवीर

इनका जन्म नाम बद्रीदास था और यह वृंदावन निवासी अग्रवाल वैश्य थे। आपकी तंबाकू की दूकान थी। पढ़ंत-संमेलनों में लाल बलवीर जी बड़े उत्साह से भाग लेते थे। आपकी कविताएँ बहुत अधिक हैं। आपका ग्रंथ 'ब्रज-विनोद-हजारा' बहुत समय पूर्व मथुरा के श्यामकाशी प्रेस से छप चुका है, जो अब अप्राप्य है। आपका एक 'राधाष्टक' भी छपा था। इधर ब्रज-साहित्य-मंडल की शोध में भी आपकी 'बाल-विनोद-पचीसिका' मिली है।

राधिका जी के आप अनन्य भक्त थे और पहलवानी का आप को बड़ा शौक था। आपकी मृत्यु को लगभग ३० वर्ष हो चुके हैं। आपने अपना परिचय एक छंद में यों लिखा है—

"बाबा बनखंडी महादेव जग जाहिर हैं, ब्यासजू कौ घेरौ सो अनूप छबि छायौ है।
चारों ओर सदँन बने हैं लाल-लाड़िली के, चंद से दुचंद तेज दिव्य दरसायौ है।।
सदाँ ब्रजबासी रूप माधुरी निहारौ करै, और सों न काँम स्याँम-स्याँमा-गुँन गायौ है।
'लाल बलबीर' नाम लै-लै सब टेरत हैं, राधिका-कृपा सों बास बृंदाबन पायौ है।।"

नवनीत जी चतुर्वेदी (सं० १९१५ से १९७९ तक)

श्री नवनीत जी का स्थान आधुनिक ब्रजभाषा-काव्यकारों में बहुत ऊँचा है, परंतु उनकी रचनाओं का कोई ऐसा संग्रह प्रकाशित नहीं हो पाया है जिससे उनके कमनीय काव्य का ठीक स्वरूप सामने उपस्थित हो। नवनीत जी ब्रजभाषा के रस-सिद्ध कवि थे। कहते हैं कि काशी कवि-समाज में आपने किसी विषय पर एक बार चालीस कवियों की बोलती बंद कर दी थी। जिस पर प्रसन्न होकर काँकरौली नरेश गो० बालकृष्णलाल जी ने आपको "कवींद्र" की उपाधि दी थी। विदेशी विद्वान डाक्टर ग्रियर्सन व मैक्समूलर ने स्वयं नवनीत जी के घर जाकर आपसे काव्य-रस का आस्वादन किया था। नवनीत जी की कविता से प्रभावित होकर तत्कालीन मथुरा के जिलाधीश 'फ्रीमेंटल' ने भी आपको एक स्वर्णपदक प्रदान किया था। नवनीत जी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला ५ संवत् १९१५ व मृत्यु आषाढ़ पूर्णिमा संवत् १९७६ में हुई। आपका गणराज-वसंत का एक रूपक यहाँ उद्धृत करते हैं—

[1]. ब्रज में इस नाम के दो कवि हुए हैं—प्रथम हैं आप और दूसरे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के अभिन्न मित्र "राव कृष्णदेवशरणसिंह" जी उपनाम –'गोप' कवि। ये दोनों ही अपने समय के ब्रजभाषा-कवि-भूषण थे।

"लागत पौंन-प्रमाँन पात ज्यों कौंन हला में ।
कोंमल सुंड रसाल, मौर इक दंत ललामें ।।
गुंजत भोंर बिहंग छु्द्रघंटिका बजाई ।
चार भुजा सोई गंध, थोंद सरसों सुखदाई ।
'नबनीत' चरँन बंदत जुगल, गुल-गुलाब के मोद में ।
खेलत बसंत गँनराज ए, बँन गिरजा की गोद में ।।"

भोलाराम 'भंडारी'

भोलाराम जी भंडारी का जन्म संवत् १६१४ के लगभग हुआ था और आपकी मृत्यु संवत् १६६० के आस पास हुई। भंडारी जी अत्यंत ही विनयी और भगवद्भक्त थे। आपने ६५ वर्ष निरंतर मथुरा में भगवान् द्वारिकाधीश जी के मंदिर में भंडारी पद को सफलतापूर्वक निबाहा। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। भंडारी जी प्रसिद्ध कवि तो थे ही, आपकी स्मरण-शक्ति भी गजब की थी। एक-एक विषय के सहस्रों प्राचीन कवित्त-सवैया आदि आपको कंठस्थ थे। उनकी इस विलक्षण प्रतिभा के कारण ही कविरत्न नवनीत जी ने उन्हें 'कविता का कोष' कहा था—

"छंद कवित्त अनेक बिधि, राखत अपने पास ।
पद-रचना रस-भक्ति की, करत सदाँ परकास ।।

❀

राखत हैं थैली पद छंद औ प्रबंधँन की रतँन अँमोल, नवरस के अदोष हैं ।
अलंकार पूरँन, रीति, ओज, माधुरी, प्रसाद, कंचन रजत, पद पूरन सँतोष हैं ।।
नायिकादि भेद, प्रस्तारादिक लेंन-देंन, करत बिसेष साहूकार के जोष हैं ।
उदर की कोठी में भरे हैं सब्द-सिक्का घँने, भोला जू भँडारी मनों कविता के कोष हैं ।।"

यहाँ भंडारी जी द्वारा रचित उनके 'होली वर्णन' का एक छंद दिया जाता है—

"खेलँन नवेली गई साँवरे सुजाँन जू सों, छबि सों छबीली खेली बेंदी द्युति भाल की ।
मोंहन कौ संग भयौ, रँग रह्यौ खेल बीच, जाँमिनी कौ अंत भयौ, भोंन सुधि हाल की ।।
बसँन उतारि डारे, झारि डारे केस सबै, मोंती पोंछि डारे नथ मूरति रसाल की ।
कंचुकि के बंदन ते झार कें दियौ है रंग, अलिन कपोल गाढ़ गरद गुलाल की ।।"

यद्यपि भोला जी आज इस संसार में नहीं रहे, परंतु उनके सुपुत्र श्री लाड़िलीलाल जी भंडारी एक कुशल कवि और भागवत के अच्छे व्याख्याता हैं।

नारायणदास 'सेंगरिया'

सेंगरिया जी का जन्म वैशाख संवत् १६०१ विक्रमी में हुआ और मार्गशीर्ष, संवत् १६६६ में आप स्वर्गवासी हुए। आपके पिता का नाम 'खुशालीराम' था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। सेंगरिया जी ब्रजभाषा के प्रख्यात आशुकवि थे। इनकी कविता 'कविजीत' या 'नारायण' नाम से हुई है।

आप कविताओं को प्रकाशित कराने के पक्ष में नहीं थे। अतः उनकी रचनाएँ केवल उनकी ही शिष्य-मंडली को स्मरण हैं। आप गिरिराज जी के अनन्य भक्त थे और गोवर्द्धन में ही निवास करते थे। इसी संबंध का एक छंद यहाँ उद्धृत करते हैं—

"बरुँन-कुबेर सेवें, भूमि-गिरि-मेरु सेवें, रँमा-उँमा हेरि सेवें सुँमन सुमंदला ।
गिरिजा-गनेस सेवें, सारदादि सेस सेवें, नारद-महेस सेवें गावें गति छंदला ।।
बुद्धजन धीर सेवें, 'नाराइन' बीर सेवें, सकल अहीर सेवें, ध्याँन मत मंदला ।
सुर-सिरताज सेवें, नंद महाराज सेवें, सेवें ब्रजराज राज गिरिबर की कंदला ।।"

प्रेमी जी (मुखराई-निवासी)

श्री प्रेमी जी मथुरा जिले के बड़े प्रसिद्ध कवि हो गये हैं, उन्हें अन्य कवियों के भी सहस्रों छंद याद थे। इन छंदों को एक बार लिखने का प्रयत्न भी ब्रज-साहित्य-मंडल की ओर से हुआ था और उसकी व्यवस्था हो ही रही थी कि अचानक ६० वर्ष के वयोवृद्ध श्री प्रेमी जी की मृत्यु संवत् २००४ में हो गई।

भारतेंदु-युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (जन्म संवत् १६०७ व अवसान संवत् १६४१)

भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी-काव्याकाश के ऐसे उज्ज्वल नक्षत्र हैं, जिनकी शीतल चंद्रिका से प्रत्येक हिंदी प्रेमी का मन कुमोद सदैव विकसित है। उन्होंने यद्यपि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को स्थिर किया, परंतु काव्य-भाषा के रूप में उनके रसिक हृदय ने अंत तक ब्रजभाषा का साथ नहीं छोड़ा। वह युग-निर्माता महापुरुष थे और आज के ब्रजभाषा-काव्य पर उनके व्यक्तित्त्व का अमिट प्रभाव पड़ा है। भारतेंदु जी ने ब्रजभाषा को भाषा की दृष्टि से परिष्कृत करके उसके उस रीतिकालीन स्वरूप को सम्हाला जो जनता से दूर होता जा रहा था और उसको पुनः जनता के लिये हृदय-गम्य बनाया। उन्होंने कविता को पहली बार नये विषय दिये और कविता-कामनी को नायिका के केश-पाश के बंधन से मुक्त किया।

"आवहु सब मिल रोवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दसा, न देखी जाई॥"

या—

"अंग्रेज-राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात, यहै अति ख्वारी॥"

जैसी बात कह कर उन्होंने ही कवि को समय के साथ चल कर संसार को या स्वदेश को अनुभूतिपूर्ण नेत्रों से देखने के लिये नेतृत्व प्रदान किया और उसे कल्पनाकाश का व्योम-विहारी पक्षीमात्र बन जाने से बचाया। इसके अतिरिक्त भारतेंदु जी ने कवियों के निर्माण में भी बड़ा योग दिया। वह सच्चे गुण-ग्राहक थे और अपने समय के कुशल कलाकारों को मान, धन और हार्दिक प्रेम-प्रदान करके उन्होंने उन्हें हिंदी की सेवा के लिये तैयार किया। कवियों को प्रोत्साहन देने के लिये ही आपने 'कवि-वचन-सुधा पत्रिका' निकाली और 'कविता-वर्द्धनी सभा'[1] की स्थापना की। खेद है कि भारतेंदु-जी का भौतिक शरीर बहुत कम समय तक ही हमारे बीच रहा और वह अपनी अल्पायु में ही सं० १६४२ में हिंदी-जगत को अनाथ छोड़ कर चल बसे, परंतु अपने यशःशरीर से वह सदा ही माता नागरी के मानस-हंस पर आसीन रहेंगे। भारतेंदु जी अपनी छोटी-सी आयु में ही हिंदी का जो कार्य कर या करा गये, वह बहुत समय में कई संस्थाओं-द्वारा भी होना संभव नहीं हुआ। वास्तव में वह स्वयं अपने आप में एक चलती-फिरती संस्था थे। उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

[1]. भारतेंदु जी के समय कविता और समस्या-पूर्त्तियों की काशी नगरी केंद्र थी। भारतेंदु जी द्वारा संस्थापित कवि-सभाओं में गोष्ठियों की परिपाटी खूब पनपी। इन गोष्ठियों में भाग लेने वाले अग्रगण्य कवियों में पं० सुधाकर द्विवेदी, अंबिकादत्त व्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, ब्रजचंद्र जी बल्लभीय, बेनी द्विज आदि थे। वर्मा जी इस समाज के मंत्री थे। इस कवि-समाज में बाहर के भी बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवि उपस्थित होते थे या डाक से ही समस्या-पूर्त्ति करके भेजते थे, जिनमें से निम्न नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—बाबा सुमेरसिंह, श्रीमती चंद्रकला बाई (बूंदी), बाबू शिवनंदन सहाय (सीहौर), गोविंद गिल्ला भाई (काठियावाड़), ठाकुर रामेश्वर बक्ससिंह (सीतापुर), कविराय लछीराम (अयोध्या) और श्री नवनीत जी चतुर्वेदी मथुरा।

"रचि बहु बिधि के बाक्य, पुरानन माँहि घुसाए।
सैव, साक्त, वैष्णव, अनेक मत प्रगट चलाए।।
बिधवा-ब्याह निषेध कियौ, बिभचार प्रचारयौ।
रोकि बिलायत - गँमन कूप-मंडूक बनायौ।
बहु देवी-देवता, भूत-प्रेतादि पुजाई।
ईस्वर सों सब बिमुख किए, हिंदुन घबराई।।
अपरस, सोल्हा, छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाइ।
किये तीन तेरह सबै, चौका चौका लाइ।।"

भक्ति-परक

"ब्रज के लता-पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जाँमें सिर भीजै।।
आवत-जात कुंज की गलियँन, रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे-राधे मुख यह बर, मुँह माँग्यौ हरि दीजै।।"

शृंगार-परक

"बिछुरें पिय के जग सूनों भयौ, अब का करिऐ किहि पेखिऐ का।
सुख-छाँडि कें संगम कौ तुम्हरे, इन तुच्छँन कों अबरखिऐ का।।
'हरिचंद जू' हीरँन कौ ब्यवहार कै, काँचन कों लै परेखिऐ का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यौ, उन आँखिन सों अब देखिऐ का।।"

भारतेंदु जी ने प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ और सभी विषयों पर सुंदर कविता की है, वह भक्ति-काल व रीति-काल के साथ वर्त्तमान-काल का सामंजस्य करके कविता का सर्वांगीण-स्वरूप उपस्थित कर गए हैं।

राव कृष्णदेवशरणसिंह जी 'गोप'

गोप जी, भारतेंदु जी के समकालीन और उनके निकटवर्त्ती मित्रों में थे। आप भरतपुर के राजवंश से संबंधित थे। इनके बाबा 'दुर्जनसाल' ने राज-विप्लव-काल में एक बार भरतपुर राज्य पर अपने को आसीन भी कर लिया, किंतु संवत् १८८१ में वह लार्ड 'एम्हर्स्ट' द्वारा पराजित कर दिये जाने पर ये प्रयाग में रहने के लिये चले गए। सन् १८६८ में काशी आ बसे। राव साहिब का संगीत में भी दखल था।

कृष्ण के आप अनन्य भक्त थे और प्रायः अपने यहाँ रासलीला कराया करते थे। जब काशी में कवि-समाज स्थापित हुआ तो आप भी उसके सदस्य हो गये। इनकी अधिकांश रचना 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' या 'हरिश्चंद्र-मेगजीन' में छपी थीं। इनके निबंधों का एक अंश मिर्जापुर की 'आनंद-कादंविनी' पत्रिका जिसका संपादन भारतेंदु जी की सखी (आप अपने को सखी ही कहा करते थे) पं० बद्रीनारायण चौधरी करते थे—में भी छपा था। आपकी रचनाओं में से 'प्रेम-संदेश', 'मान-चरित्र' हरिश्चंद्र मेगजीन में तथा 'दोहावली' हरिश्चंद्र-चंद्रिका में छपी थी। उदाहरण जैसे—

"प्यारी, मोहि अचंभौ आयौ।
सुनि त्रिभुवन में कोऊ सर नाँहि, देखत ही मन भायौ।।
तो पटतर औरहु कोउ कहुँ तें बिधि दूजौ सिरजायौ।
प्यारी मौ पै रह्यौ गयौ नाँहि, यहि सुनि हों उठि धायौ।
पूंछि देखिऐ सखी संग में, जो में झूंठ कहायौ।
'गोप' स्वामिनी भोरे जीकी, सब साँचौ करि पायौ।।"

—मान-चरित्र, जनवरी सन् १८७४ की हरिश्चंद्र मेगजीन से।

दोहावली

"बिवस करत आगौन पुन, बैरी छुतवत लाज।
बैरिन यै व्रज मुरलिका, जारत जिय बेकाज।।
चलत चूँम ग्रीखँम तनपैं, तरुँन रहत छिन छाँह।
तरफरात बाहर खरी, सोचत आपन नाँह।।"

—हरिश्चंद्र-चंद्रिका संवत् १८७८ दिसंबर संख्या ६ से।

श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

प्रेमघन जी की अनुप्रासमयी ललित रचना भारतेंदु-मंडल में प्रसिद्ध थी। आप केवल काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतेंदु जी से प्रभावित हुए। आपने 'आनंद-कादंविनी' मासिक और 'नागरी-नीरद' साप्ताहिक प्रकाशित किया था। आप नागरी-प्रचार के पक्के समर्थक थे। प्रेमघन जी का जन्म संवत् १९१२ है और आपकी मृत्यु संवत् १९७९ में हुई। आपका अधिकांश जीवन 'मिर्जापुर' में व्यतीत हुआ। आपकी कविता का एक उदाहरण देखिये—

"बगियाँन बसंत बसेरौ कियौ, बसिऐ तिहि त्याग तपाइऐ ना।
दिन काँम कुतूहल के जो बने, तिन-बीच बियोग बुलाइऐ ना।।
'घँनप्रेंम' बढ़ाइ कें प्रेंम अहो, बिथा-बारि बृथाँ बरसाइऐ ना।
चित-चैत की चाँदनी चाँह भरी, चरचा चलवे की चलाइऐ ना।।"

प्रतापनारायण जी मिश्र

प्रतापनारायण जी, भारतेंदु-मंडल के बहुत ही विनोद-प्रिय मस्त और सजीव महाकवि थे। आपने अपनी मन की मौज में सरस सवैयों से लेकर लावनियाँ तक लिखी हैं। मिश्र जी का जन्म संवत् १९१३ में और मृत्यु संवत् १९५१ में हुई। जहाँ आपने अपने को बेजोड़ निबंधों के कारण इतिहास में अमर किया है वहाँ कविता में 'हर गंगा' से लेकर 'गौ रक्षा', 'बुढ़ापा' आदि के सजीव वर्णनों के साथ देश की दुर्दशा पर भी निम्न प्रकार आँसू बहाये हैं—

"तबहिं लख्यौ जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटी कों तरसत।।
जहाँ कृषी, बानिज्य, सिल्प सेवा सब माँहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहुँ नाँहीं।।
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन-भारन।
कहँ तिनकी धन कथा, कोंन जे गही सधारन।।"

पं० नाथूराम जी शर्मा 'शंकर'

श्री शर्मा जी, प्रतापनारायण मिश्र जी के घनिष्ठ मित्र थे। आपका जन्म संवत् १९१६ में और अवसान १९८९ में हुआ। कवि समाजों में 'शंकर' जी की समस्याओं की सर्वत्र धाक थी और उनका सर्वत्र पगड़ी, दुशालों और पदकों से स्वागत होता था। आप व्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे, किंतु बाद में आप खड़ी बोली की ओर आकर्षित हो गये थे। आपका एक वियोग-वर्णन यहाँ दिया जाता है—

"संकर नदी नद नदीसँन के नीरँन की, भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ि जाइगी।
दोनों ध्रुव छोरँन लों पल में पिघल कर, घूँम-घूँम धरनी धुरी सी बढ़ि जाइगी।।
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति, जारेंगे खमंडल में आग मढ़ि जाइगी।
काहू बिधि बिधि की बनावट बचैगी नाँहि, जो पै वा बियोगिनी की आह कढ़ि जाइगी।।"

ठाकुर जगमोहनसिंह

ठाकुर साहब का जन्म संवत् १९१४ और मृत्यु १९९० में हुई। आप भारतेंदु-परिवार के अग्रगण्य कवियों में से थे। आपने लौकिक के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का भक्तिमय सुंदर वर्णन किया है। आलंबन के रूप में प्रकृति की नैसर्गिक छटा के सुंदर शब्द-चित्र भी खींचे हैं, उदाहरण—

"याही मग ह्वै कें गए, दंडक बन श्रीरांम।
तासों पावन देस वह, बिंध्याटवी ललाँम।।
बिंध्याटवी ललाँम, तीर तरुवर सों छाई।
केतकि, कैरव, कुमुद, कमल सब रहे सुहाई।।
भन 'जगमोहनसिंह', न सोभा जात सराही।
ऐसौ बन रँमनीक, गए रघुबर मग याही।।"

❀

"साल, ताल ों तालवर, सोभित तरुन तमाल।
नव कदंब अरु अंब बहु, बिलसत निंब बिसाल।।"

लाला सीताराम बी० ए०

लाला जी का जन्म संवत् १९१५ ई० है। आपने कई अंग्रेजी ग्रंथों का और महाकवि कालिदास के तीनों काव्यों के सफल अनुवाद किये हैं। रघुवंश के अनुवाद का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

"प्रिया फेरि अवधेस कृपाला। रच्छा कींन तासु तिहि काला।।
ब्रत में चले भाइ करि आगे। सेवक सेस सकल नृप त्यागे।।
इन केवल निज बीर्ज अपारा। मनु संतित तन रच्छन-हारा।।
कबहुँक मृदु तृन नोंचि खिआवत। हाँकि माछि कहुँ तनहिं खुजावत।।
जो दिस चलत चलत सोइ राहा। इहि बिधि तिहिं सेवत नरनाहा।।"

श्री राधाचरण जी गोस्वामी

विद्यावागीस गोस्वामी राधाचरण जी भारतेंदु-मंडल के प्रभापूर्ण नक्षत्रों में थे। आपका जन्म संवत् १९१५ है। गोस्वामी जी अपने संप्रदाय के आचार्य व वृंदावन के प्रमुख रईस थे। आप आरंभिक हिंदी-लेखकों में अग्रगण्य माने जाते हैं, परंतु गोस्वामी जी व्रजभाषा के कुशल कवि भी थे। आपकी कविता पुस्तक 'नव-भक्त-माल' व्रज-साहित्य-मंडल के हस्तलिखित-ग्रंथों की शोध में प्राप्त हुई हैं। इसमें गोस्वामी जी ने भारतेंदु जी की गणना नवीन भक्तों में करते हुए लिखा है—

"बनिज बंस अवसंत धैर्ज, धीरज बपु-धारी।
चोंसठ कला प्रबींन, प्रेंम-मारग प्रतिपारी।।
बिद्या, बिनय, बिसिष्ट सिष्ट समुदाइ सभाजित।
कविता कल कमनीय कृष्ण-लीला जग प्लावित।।
कई लच्छ बाँनी भगतमाल उत्तरारध करन।
आदि-अंत सोभित भए, हरीचंद प्रातःस्मरन।।"

शायद यह पुस्तक 'चैतन्य-चरितामृत' खंड २ के अंतर्गत प्रकाशित भी हो चुकी है।

पं० अंबिकादत्त 'व्यास'

व्यास जी का जन्म संवत् १९१५ में और मृत्यु संवत् १९५७ में हुई। आप आशु कवि थे और काशी की 'ब्रह्मामृत-वर्षिणी' सभा ने आपको 'घटिका शतक' की पदवी प्रदान की थी। आपने 'बिहारी' के दोहों पर 'बिहारी-बिहार' लिखा था, जिसमें बिहारी के प्रत्येक दोहे पर आपने 'कुंडलियाँ'

लिखी हैं। हिंदी के साथ आप संस्कृत के भी विद्वान् थे। खड़ी बोली पद्य में भी आपने 'कंस-बध' लिखा था। एक कुंडलिया यहाँ दी जाती है—

"मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तँन की झाँई परें, स्याँम हरित-दुति होइ॥
स्याँम हरित-दुति होइ, परत तँन पीरी-झाँई।
राधा हूँ पुनि हरी होत, लहि स्याँमलताई॥
नेंन हरे लखि होत, रूप रस रंग अगाधा।
'सुकवि' जुगल छबि-धाँम, हरहु मेरी भव-बाधा॥"

बाबू राधाकृष्णदास

आपका जन्म संवत् १९२२ में हुआ था और आप भारतेंदु जी के फुफेरे भाई थे। आपने भारतेंदु जी के काम को आगे बढ़ाने में बड़ा प्रयत्न किया। आप केवल कवि ही नहीं थे वरन् साहित्य के अन्य अंगों में भी अधिकारपूर्वक लेखनी उठाई है। 'रहीम' के दोहों पर आपने सरस 'कुंडलियाँ' लिखी हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह भी 'राधाकृष्ण-ग्रंथावली' नाम से निकला था, परंतु अभी आपकी बहुत-सी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। एक सवैया देखिये—

"मोंहन की यह मोंहिनी मूरति, जीय सों भूलत नाहिं भुलाए।
छोरेंन चहत नेह कौ नातौ, कोउ बिधि छूटत नाहिं छुटाए॥
'दास जू' छोरि कें प्यारे हहा हमें, और के रूप पै जाइ लुभाए।
भूलि सकै अब कोंन जिया, इन तौ हँसिकें पहिलें ही चुराए॥"

ब्रजचंद्र जी वल्लभीय

वल्लभीय जी के कवित्त-सवैया भारतेंदु जी की ही टक्कर के होते थे। यहाँ तक कि कुछ छंद तो 'ब्रजचंद' के स्थान पर 'हरिचंद' करके लोगों ने बाद में हरिश्चंद्र जी के नाम से ही प्रचलित कर दिये। इनका कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। काशी के भारतेंदु-कालीन कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी एक समस्या पूर्त्ति यहाँ दी जाती है—

"आई मैं बिलोकिबे कों दोऊ रघुबंसिन कों, माँनी नहीं कोऊ मुख लोगँन की हरकनि।
चकित निहार छबि थकित भई है गति, जकति भई हों सखि, ठाढ़ी लगी तरकनि॥
मधुराति मुख-श्री सहेलिन निहारत ही, दोऊ सुकुमारँन की लाली छबि छरकनि।
थरकँन लागी देह मेरी दोऊ काँनन में, एरी मीनकेत के धुजा की देख फरकनि॥"

पं० विजयानंद जी

आप बाबू 'रामकृष्ण' वर्मा के मित्र और सहयोगी थे। वर्मा जी को 'भारतजीवन' निकालने में आपने बहुत सहयोग दिया, जिसमें इनके बहुत से छप्पय छपे हैं। ब्रजभाषा के साथ आप संस्कृत में भी कविता करते थे। एक उदाहरण देखिये—

"चुनि कें चूनरी हैं पहिरावत, भाव कै जाबक देति हैं पैया।
आपने हाथँन पाटी सँवारि, सिंगार-सिंगार कें लेत बलैया॥
कैसी भई कछु जान परै नहीं, 'श्री कवि' पूछे पै भाषत हैया।
जीवन नाथ की जीवन-मूरि यै, मेरिउ जीवन-मूरि है दैया॥"

वर्तमान-काल

पं० श्रीधर पाठक

पाठक जी का जन्म संवत् १९१६ में ब्रज के ही 'जोंधरी' नामक ग्राम में हुआ था, जो आगरा जिले में स्थित है। इस कारण ब्रजभाषा पर उनका जन्म जात अधिकार था। इसीलिये खड़ी

बोली काव्य के प्रवृत्तकों में होते हुए भी पाठक जी की अधिक मार्मिक कविताएँ ब्रजभाषा में ही हैं। पाठक जी ने नये शब्द, नये वाक्य-विन्यास और नये विषयों पर लेखनी उठा कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया और 'गोल्डस्मिथ' के 'डेजटेंड विलेज' का ब्रजभाषा में 'ऊजड़गाँव' के नाम से सुंदर अनुवाद किया। पाठक जी प्रकृति-वर्णन में बेजोड़ कवि थे और हिमालय प्रदेश की रमणीय शोभा को शब्दों में अंकित करने में उनकी प्रवृत्तियाँ खूब रमी हैं। सरकारी कार्य से पेंशन लेकर पाठक जी अपने अंतिम समय में प्रयाग रहते थे, जहाँ संवत् १९८५ में आपकी मृत्यु हो गई। आपके 'ऋतु-संहार' से वर्षा-वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"बारि फुहार भरे बदरा, सोई सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी जोति धुजा फहरै, घँन गरजँन सब्द सोई हैं नगारे॥
रोर के घोर कौ ओर न छोर, नरेसँन की-सी छटा छबि धारे।
काँमिन के मन कों प्रिय पावस, आयौ प्रिये नव मोंहिनी डारे॥"

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जन्म सं० १९२२)

हरिऔध जी उन अमर महाकवियों में से हैं, जिन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों का ही काव्य क्षेत्र में समान रूप से प्रतिनिधित्व किया। 'प्रिय-प्रवास' और 'रस-कलश' यदि किसी अपरिचित के सामने एक साथ रख दिये जावें तो सहसा यह विश्वास नहीं होगा कि एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न धारणाओं में इतने अधिकार के साथ मार्ग दर्शन कर गया है। 'हरिऔध जी' ने अपने घर निजामाबाद में ही सिक्ख-संप्रदाय के महंत 'बाबा सुमेरसिंह' की काव्य-गोष्ठी से कविता का अभ्यास आरंभ किया था। तब से अपनी मृत्यु के अंतिम समय तक आप साहित्य-साधना में तल्लीन रहे। रस-कलश में आपने नायिकाओं को सामयिकता का पुट देकर कुछ नये रूप में चित्रित किया है। 'ब्रज-साहित्य-मंडल' पर हरिऔध जी का आरंभ से ही वरद हस्त था। मंडल के द्वितीय दिल्ली-अधिवेशन में आपको 'ताम्रपत्र'-द्वारा संमानित किया जाना निश्चित हुआ था, परंतु आपने सहज संकोच की प्रवृत्ति और स्वास्थ्य की खराबी के कारण उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। दुःख है कि आप हाल ही में संवत् २००३ में इस संसार को त्याग कर गये। आपका जन्म वैशाख कृष्णा ३ संवत् १९२२ में हुआ था। उनका एक छंद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"बसि घरबार में बिसारै घर बारिन कों, घरी-घरी बीच घेर-घारँन के घेरे ते।
तँम में उजारौ किएँ उर कौ उजेरौ लहि, देखि जग-जीवँन के जीवँन कों नेरे ते॥
'हरिऔध' कहै भेद खुलत अभेद कौ है, सारे फेर-फारँन ते मानस कों फेरे ते।
काँनन के काँनन की बातँन कों काँन करि, आँखिन की आँखिन कों आँख माँहि हेरे ते॥"

महापात्र—लाल जी

महापात्र लाल जी का जन्म विक्रमी संवत् १९१४ में 'असनी' जिला फतेहपुर में हुआ। ये व्रजेश जी के चाचा हैं और अच्छे कवि हैं। ये अवध के ताल्लुकेदारों में विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और वहाँ उनका अच्छा संमान है। इन्होंने 'अस्विनी-चरित्र' 'षट्-ऋतु-विनोद' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। कविता का उदाहरण है—

"बरसें घनस्याँम न कैधों वहाँ, गति चारु चकोरँन की टरी है।
उड़े चातक, मोर, मलिंद किधों, मति कोकिल, दादुर की अरी है॥
अब लों घर आए न 'लालजी' हा, धों बिरंचि न भूमि हरी करी है।
हर मार्यौ मनोज कै फेरी छुरी, बिजुरी पै किधों बिजुरी परी है॥

बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आपका जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ था। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और कई रजवाड़ों में उच्चपदों पर कार्य किया। आप पहिले अवागढ़ राज्य में सेक्रेटरी थे और बाद

में अयोध्या नरेश के निजी सेक्रेटरी रहे। अयोध्या नरेश की मृत्यु के उपरांत आप उनकी महारानी के साथ रहे। रत्नाकर जी हिंदी-साहित्य-संमेलन प्रयाग, नागरी-प्रचारिणी सभा काशी, रसिक-मंडल व अन्य अनेक साहित्यिक-संस्थाओं से संबद्ध थे। ब्रजभाषा की आपने बड़ी संलग्नता से सेवा की है। आपने मौलिक ग्रंथों की रचना तो की ही ; साथ ही 'सूरदास' और 'नंददास' के ग्रंथों का संपादन करने की भी उनकी बड़ी इच्छा थी। सूरसागर के संपादन का कार्य बड़ी योग्यता से प्रारंभ किया, किंतु आपका अवसान संवत् १९८९ में हरिद्वार में हो गया और 'सूरसागर' के संपादन का कार्य अधूरा ही रह गया। आपकी काव्य-रचना के दो-एक उदाहरण जैसे—

"नंद-जसुधा की अरु गाय-गोप-गोपिका की, बात बृषभाँन-भौंनहूँ की जनि कीजियो।
कहै 'रत्नाकर' कहत सबै हा-हा खाइ, यहाँ के परपंचँन सों नेंक ना पसीजियो।।
आँसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाइ, ब्रज-दुख-त्रास की न यातें साँस लीजियो।
नाँम कों बताइ नेंन-नीर अवगाहि बस, स्याँम सों हमारी राँम-राँम कहि दीजियो।।"

❀

"छहरावति छबि कबहुँ, काहु सित सघँन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जोंन्ह-छटा हिंम प्रचुर पटा पर।।
तिहिं घँन पर लहराति, लुरति, चपला घँन चँमकै।
जल प्रतिबिंबित दीपि-दाँम, दीपति सी दँमकै।।"

लाला भगवानदीन

लाला जी का जन्म फतेहपुर जिले के बरवटा गाँव में हुआ था। लालाजी कुशल साहित्यकार और सफल अध्यापक थे। आपने छतरपुर सेंट्रल-हिंदू कालेज काशी तथा बाद में विश्व-विद्यालय काशी में भी अध्यापन का कार्य किया। दीन जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप कवि के अतिरिक्त एक कुशल लेखक, समालोचक और संपादक भी थे। 'हिंदी-शब्द-सागर' के संपादन में सहयोग देने के अतिरिक्त आपने गया की 'लक्ष्मी' पत्रिका का भी संपादन किया था। लाला जी खड़ी बोली और ब्रज दोनों में ही सुंदर रचना करते थे तथा उर्दू में भी 'रोशन' नाम से लिखते थे। समस्या-पूर्ति में भी लाला जी बड़े सिद्धहस्त थे। आपका जन्म संवत् १९२३ में व मृत्यु सं० १९८७ में हुई। आपकी प्रसिद्ध कविता 'श्री रामगिर्यश्रिम' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करते हैं—

"रितु बसंत तृन, तरु, बल्लिरि सब नव दल फूलँन छावैं।
ज्यों सुकृती जन राँम कृपा ते सुख-संपति जस पावैं।।
असँन सुच्चिकँन कोंमल-दल-जुत, बिटप बल्लरी सोहैं।
दिनकर किरँन परस चिलकैं अति जग-जँन-दीठिनि मोहैं।
कूंजत पिक, गूंजत अलि-माला, कलरव जन-मन मोहैं।
ज्यों उदार जन-द्वार सदाँ हीं, जय-जय धुनि-जुत सोहैं।
बनवासी खग मृग उमंग जुत दंपति-भाव जनावैं।
जँननी जँनक होंन की इच्छा, सब मन बसै बतावैं।।"

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

'पूर्ण' जी का जन्म संवत् १९२५ में कानपुर में हुआ था। आप यहाँ की सभी साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के केंद्र थे और वहाँ के प्रमुख वकीलों में भी आपकी गणना थी। पूर्ण जी ने 'रसिक-समाज' को नवजीवन देकर उसे जमा दिया। आपने सरस-शृंगार के अतिरिक्त वेदांत व ऋतुओं पर भी लिखा है। प्रकृति की सहज शोभा को हृदयंगम करने और कराने में पूर्ण जी ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। आप प्रकृति वर्णन की पाश्चात्य प्रणाली से भी पूर्णतः परिचित थे। इनकी

भाषा सरस, मुहावरेदार व व्याकरण संमत होती थी। आपका निधन संवत् १९७२ में हुआ। संसार की विविधता का वर्णन आपने एक छंद में निम्न प्रकार किया है—

"कोऊ पाट ही के नींके अंबर जरी के सजे, कोऊ दुःख-मगँन नगँन दींन काया है।
कोऊ स्वाद-पूरें खात बिंजन सुधा सों रूरे, काहू पै बिधाता की न साग हू की दाया है॥
कहूँ सोक छायौ, कहूँ आँनद कौ पायौ रंग, कोऊ अति छुद्र, कोऊ आसमान पाया है।
'पूरँन' बिचित्र हैं चरित्र भूमि-मंडल के, राँमजी की माया कहूँ धूप, कहूँ छाया है॥"

ब्रजेश जी

ब्रजेश जी का जन्म नरहरि वंशीय ब्रह्मभट्ट परिवार में संवत् १९२८ में हुआ था। आपके पूर्वज महापात्र 'नरहरि' जी सम्राट् 'अकबर' के दरबारी कवि थे। महापात्र इन की परंपरागत उपाधि है और इनका वंश 'रीवाँ' नरेशों'-द्वारा बहुत समय से संमानित है। आपने 'रसांग-निर्णय' नाम से एक रीति-ग्रंथ तथा 'रमेश-रत्नाकर' और 'विश्वनाथ-भूषण' दो अलंकार-ग्रंथ लिखे हैं। अन्य ग्रंथों में विरह-वाटिका, शांत-शतक, सोरठ-शतक, रामायण आदि हैं। ब्रजेश जी पद्माकरी शैली के कवि हैं, जो पुराने ठाठ के कवि हैं। अब सत्तर वर्ष से अधिक की अवस्थामें भी आप दाढ़ी में खिजाब लगाते हैं। आप-द्वारा रचित एक नायिका का चित्र यहाँ दिया जाता है—

"सौरभिन सारी सेत, सोहत सुमन-हार, सारदा ते सुषमा सबाई उछरति है।
कहत 'ब्रजेस' बैठी आदरस आठो करि, भा कौ, रँमा कौ रंग-रूप निदरति है॥
आर सों आँगुरी में चंदन लगाइ चाइ, चित्र चारु गोलँन कपोलँन करति है।
आरसी सु छबि स्याँमा, आरसी करँन स्याँमें, आरसी में माँनो जंत्र आरसी भरति है॥"

आपने अपना परिचय स्वयं यों 'गर्वोक्ति' में दिया है—

"साहँन के सुकवि महापात्र हरिनाथ जिन्हें, एक लच्छ दीन्हों राँम बांधव के रबि हैं।
बंसज हैं तिनके 'ब्रजेस' ब्रजभाषाचार्ज, काव्याचार्ज, कोबिद-महीपँन में छबि हैं॥
जानें अलंकार-गूढ़-तत्व-ध्वनि-भाव-भेद, छंद-रचना में दास-देव तें न दबि हैं।
आज हैं नवीन पै प्रबीन कबिराज हँम, बांधव-अधिराज के पुराने राजकबि हैं॥"

बलरामजी मिश्र 'द्विजेश'

द्विजेश जी बस्ती जिले के वर्त्तमान वयोवृद्ध ब्रजभाषा-काव्यकारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। हमें अत्यंत खेद है कि अधिक जानकारी के अभाव में हम यहाँ चेष्टा करने पर भी उनके संबंध में अधिक नहीं लिख सके।

सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार

पोद्दार जी का जन्म संवत् १९२८ में हुआ था। सेठ जी ब्रज की ऐसी अकेली विभूति हैं, जिन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ही समान रूप से काव्य-रचना की है। कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाले 'हिंदुस्थान' में आप की भी कविताएँ आचार्य द्विवेदी जी के साथ छपती थीं। आपका भर्तृहरि-शतक' का अनुवाद भी 'हिंदुस्थान' में ही क्रमशः छपा था, जो ब्रजभाषा का एक सुंदर काव्य था। 'सरस्वती' (पत्रिका) में आपकी खड़ी बोली की अधिकांश रचनाएँ छपी हैं। आपके 'काव्य-कल्पद्रुम' ग्रंथ में आपके आचार्यत्व और कवित्व-शक्ति का यथार्थ रूप प्रकट हुआ है। सेठ जी ने इस ग्रंथ में काव्य-सिद्धांतों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है और उन सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिये अन्य कवियों के साथ ही अपनी स्फुट मार्मिक रचनाओं को भी उदाहरण के रूप में रक्खा है। बसंत के प्रति कवि की एक उक्ति देखिये—

"अलि पुंजन की मद गुंजन सों, बन कुंजन मंजु बनाइ रह्यौ।
लगि अंग अनंग तरँगन सों, रति-रंग-उमंग बढ़ाइ रह्यौ॥

बिकसे सर कंजन कंपित कै, रज-रंजन लै छिरकाइ रह्यौ।
मलयानिल मंद दसों दिस में, मकरंद अमंद बहाइ रह्यौ।।"

आप द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवियों में माने जाते हैं। आपने महाकवि कालिदास के मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद खड़ी बोली में बहुत सुंदर किया है। उसका गद्यानुवाद भी हिंदी भाषा में किया है, जिसमें ऐतिहासिक स्थानों का वृहद् विवेचन है। कालिदास की सूक्तियों के अनुकरण पर संस्कृत के अन्य कवियों द्वारा की गई रचना की तुलनात्मक आलोचना भी की है और 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' दो खंडों में लिखा है, जो अत्यंत पांडित्यपूर्ण है। अब बहुत वृद्ध हो जाने पर भी आप युवकोचित-उल्लास से साहित्य-सेवा में संलग्न हैं।

मिश्रबंधु

यद्यपि मिश्रबंधु मुख्य रूप से समालोचक थे और वही उनका वास्तविक कार्य-क्षेत्र था, फिर भी अपनी सहज भावुकता-वश ब्रजभाषा काव्य रचना की ओर भी वह आकृष्ट हुए हैं। इनकी कविताएँ प्रभावपूर्ण और भाषा प्रौढ़ है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुण इनके काव्य में यत्र-तत्र अपनी-अपनी छटा देते हैं। डा० श्यामाबिहारी मिश्र तो संवत् २००३ में संसार को छोड़ ही गये थे, किंतु गत वर्ष पं० शुकदेव बिहारी मिश्र भी स्वर्गवासी हो गये। आपका युद्ध-वर्णन-संबंधी एक उदाहरण यहाँ दे रहे हैं—

"जब दगें बर बंदूक गाजत मेघ सी तिहिं ठोर।
तब निकसि पावक-ज्वाल तिनसों चलै अरि की ओर।।
मनु धारि रूप कराल दारुँन बीर-गँन कौ कोप।
रिपु ओर धावत तेज तिन्हकौ, गुँनत करिबे लोप।।"

राजा रामसिंह जी सीतामऊ नरेश

राजा रामसिंह जी उन अध्ययनशील व्यक्तियों और कुशल कवियोंमें है, जिन्होंने हिंदी और संस्कृत दोनों में ही सरस रचना की है। आपकी कविताओं को देखकर प्राचीन रीति-कालीन-कवियों का स्मरण हो आता है। विज्ञान और ज्योतिष में भी राजा साहब को बड़ी रुचि है और इन विषयों पर भी आपने लिखा है। राजा रामसिंह जी का जन्म संवत् १९३६ में हुआ था और आप संवत् २०५७ में गद्दी पर बैठे। आपकी कविताओं का संग्रह 'मोहन-विनोद' नाम से छपा है। आपके दोहे उच्च कोटि के होते हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे—

"नैंन बिहीनों नेह है, यहै जथारत बात।
ना तौ क्यों न चकोर कों, बिधु कौ अंक लखात।।
जाँनत हरि की बाँसुरी, उर छेदँन की पीर।
फिर तू मो उर छेदिबे, हा क्यों होत अधीर।।
तब मूरति की लटक नित, अटकि रही इन नैंन।
जिहि ढूंढ़न भटकति फिरों, पटकि सीस दिन-रैंन।।"

वचनेश जी

आप ब्रजभाषा के प्रसिद्ध और पुराने कवि हैं। पहिले आपकी कविताएँ प्रायः 'सुकवि' में प्रकाशित होती रहती थीं। कालाकाँकर नरेश महाराज रमेशसिंह जी के यहाँ आप बहुत रहे हैं, जो स्वयं ब्रजभाषा के एक मर्मज्ञ कवि थे। शृंगार व सामयिक विषयों के अतिरिक्त आपने 'शवरी' नामका एक खंड-काव्य भी लिखा है। उदाहरण—

"हाइ, हाइ आइ कें पराइ गयौ प्यारौ कहाँ, भागी तजि गेह नहिं देह की सुरति है।
खोजै-खोजै खिरक घरीक कल धारै नहीं, कुंज-बँन-कूलँन-कछारँन भ्रमति है।।

बूझै तरु-बेलिन, अरुझै मृग-बृंदन सों, जित को डुलत पात, तित ही कों गति है।
टेरति मुरारी चौंकि हेरत खरक सुनि, छाँह सों सुमति करि रोवति-हँसति है।।"

लाला किशनलाल जी (कृष्ण कवि)

किशनलाल मथुरा के प्रसिद्ध कवि तो थे ही शतरंज के भारत-विख्यात खिलाड़ी भी थे। शतरंज खेलने के लिये आपको दूर-दूर से बुलावे आते थे और आपने बहुत से अंग्रेजों और अन्य विदेशियों को भी शतरंज में हराया था। आपका जन्म संभवतः संवत् १९३१ में और मृत्यु लगभग १९९० के आस-पास हुई। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ 'राधाकृष्ण जी पोद्दार' आपकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे और उन्हीं के कारण वे आर्थिक चिंता से सदा मुक्त रहे। आपने कई ग्रंथ लिखे जो अब नहीं मिलते। बहुत समय हुआ आपके दो बहुत छोटे-छोटे ग्रंथ 'गजेंद्र-मोक्ष' तथा 'कृष्ण-कवितावली' छपे भी थे।

कवि-किशनलाल जाति के माहौर वैश्य थे और आपके पिता का नाम सालिग्राम था। आपने अपने परिचय में दो दोहे लिखे हैं जो आपकी सरल हृदयता के परिचायक हैं—

"लरिकाई ते आज लों, कियौ नहीं कछु बंज।
द्वै बिद्या बस सीख लीं, काव्य और सतरंज।।
'महादेव' सतरंज के, काव्य-गुरू 'नवनीत'।
इन दोउँन सिच्छा दई, राखि पुत्र-सँम प्रीत।।"

आपकी खंडिता नायिका का एक उदाहरण लीजिये—

"आए भोर उठिकैं बिताई प्रिय रैंन कहाँ, आलस उँनीदे दृग लाजँन सों छूटी है।
अंजन अधर छबि देत मैंनो नीलँम की, जावक लिलार प्रभा माँनिक सी तूटी है।।
'कृष्ण कवि' कहैं माल बिन-गुँन मुकतँन की, ठौर-ठौर अंजन में राजत सुटूटी है।
साँच कहि दीजै हा-हा नेंक ना दुराब कीजै, कोंन से नबींन जौहरी की हाट लूटी है।।"

वल्लभ सखा

आपका जन्म मथुरा में सन् १८६० ई० में और मृत्यु सन् १९३५ में हुई थी। वल्लभ जी जाति के मैथिल ब्राह्मण थे और आपके पूर्वज सदूरपुरिया सरसब (जिला दरभंगा) के निवासी थे। इनके पूर्वज श्री भगवानदत्त जी को भरतपुर नरेश श्री सूरजमलसिंह जी के समय वजह की जागीर भी मिली थी, जो वाद में छीन ली गई। तब से इनके पूर्वज मथुरा में ही आकर बस गये।

वल्लभ जी अच्छे चित्रकार, गायक और कवि थे। श्री वियोगीहरि जी ने आपको 'ब्रज के धूल-भरे हीरे' बहुत ही ठीक कहा था। आपकी 'प्रेम-प्रीति-माला' नामक दोहों की एक भक्ति-रस पूर्ण पुस्तिका प्रकाशित हुई थी, किंतु शेष रचना अभी तक अप्रकाशित ही हैं। आपने शकुंतला, देश, कादंबरी, रघुवंश, कृष्ण-जन्म, अभिमन्यु, रुक्मणी-मंगल आदि नाटक भी लिखे थे, जिनमें से अधिकांश अब अप्राप्त हैं। आपका एक गीता का सुंदर अनुवाद भी आपके सुपुत्र के पास सुरक्षित है, जो स्वयं एक भावुक व्यक्ति और सहृदय कवि हैं। यहाँ आपकी कविता के दो उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

"श्री राधा राधा रटें, अलिन अगार-अगार।
तैं देखी मेरी कहूँ, प्यारी प्राँनाधार।।"

"प्यारी प्राँनाधारी तैं निहारी हैं हँमारी कहूँ, कीरति कुँमारी सो सिधारीं रिसियाँन पै।
ओढ़ें नील सारी, जाँमें जरद किनारी जरी, चंद-उजियारी मंद होत मुख-भानँ पै।।
'बल्लभ' बिलासी तू तौ बारिज बरूथँन कौ, बिरँम रह्यौ है मोहि मृदु-मुसक्याँन पै।
भूलिहू तिहारी मति डोलती न मारी, जौ पै होती डीठ डारी तैं पियारी अधराँन पै।।"

सत्यनारायण 'कविरत्न'

'ब्रज-कोकिल' कवि-रत्न सत्यनारायण जी जैसी मधुर काकली उनके उपरांत फिर आज तक नहीं सुनी गई। दुःख है कि उनका जीवन बड़ा विपिन्न था और वह आरंभ से अंत-तक अपनी विष-

मताओं से जूझते रहे। इनकी कविता में सरसता, सरलता और अकृत्रिमता आदि से अंत तक व्याप्त है। महाकवि रवींद्र भी आपकी मर्मस्पर्शी कविताएँ सुनकर मुग्ध हो गये थे। इनका जन्म अलीगढ़ जिले के सराँय नामक ग्राम में संवत् १९४१ में हुआ था और बाबा रघुवरदासजी ने इन्हें आरंभिक शिक्षा दी। धाँधूपुर रहने पर आपने ब्रज के ठेठ निवासी होने के कारण इनके काव्य में कहीं-कहीं ग्राम्य शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। भगवान श्री कृष्ण के प्रति अनन्य निष्ठा आपके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। साथ ही कविरत्नजी के काव्य में समयोचित नव्य भव्य भावों की प्रचुरता विशेष है। 'भ्रमर-दूत' से आपका 'वृंदावन-वर्णन यहाँ उद्धृत करते हैं—

"पैहले कौ सौ अब न तिहारौ यह बृंदाबन।
याके चारों ओर भए बहु-बिधि परिवरतन॥
बने खेत चौरस नए, काटि घने बन-पुंज।
देखँन कों बस रहि गए, निधबन सेबा-कुंज॥
—कहाँ चरि हैं गऊ॥
पहिली-सी नहिं या जमुना हूँ में गैहराई।
जल कौ थल अरु थल कौ जल अब परत लखाई॥
कालीदह कौ ठौर जहँ, चँमकत उज्जल रेत।
काछी-माली करत तहँ, अपने-अपने खेत॥
—घिरे झाउँन सों॥"

आचार्य रामचंद्र जी शुक्ल

हिंदी-साहित्य के अग्रगण्य आलोचक आचार्य पं० रामचंद्र जी शुक्ल से हिंदी-जगत भलीभाँति परिचित है। आचार्य शुक्ल जी का गहन अध्ययन और साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करने की अनुपम सूक्ष्म-दृष्टि भी उनकी भावुक कल्पना और अनुभूति के वेग में किसी प्रकार बाधक नहीं थी, यह उनके प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध-चरित' से प्रगट ही है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त शुक्लजी ने खड़ी बोली में भी थोड़ी कविता की है। आपका जन्म अगोना (जि० बस्ती में) सरयूपारीण गर्ग गोत्रिय ब्राह्मण परिवार में आश्विन पूर्णिमा सं० १९४१ को हुआ और काशी में जब आप हिंदू-विश्व विद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष थे; माघ शुक्ला ६ संवत् १९९७ को रात्रि के ८ बजे अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

यहाँ 'गौतम-बुद्ध' काव्य से चैत्र-पूर्णिमा की रात्रि में कपिलवस्तु के राज-प्रासाद की एक झाँकी उपस्थित की जाती है—

"छिटकी बिमल बिस्राम बन पै, जामिनी मृदुता-भरी।
बासित सुगंध प्रसून परिमल सों, नछत्रन सों जरी॥
ऊँचे उठे हिमवान की हिम-रासि सो मन-भावनी।
संचरित सैल सुबायु सीतल, मंद-मंद सुहावनी॥
चमकाय सृंगन चंद चढ़ि अब अमल अंबर पथ गह्यौ।
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन कों रह्यौ॥
रस-धाम के बाँके मुंडेरन पै रही द्युति छाय है।
जहँ हलत-डोलत नाहिं कोऊ कतहुँ परत लखाय है॥"

श्यामसेवक

आपका जन्म संवत् १९४८ में हुआ था और आप 'मऊगंज'—रीवाँ के निवासी तथा जाति के सनाढय ब्राह्मण थे। आपने प्रेम-फौजदारी, ज्ञान-मंजरी, कीर्ति-मुक्तावली, गृहस्थोपदेश, प्रेम-प्रवाह आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। प्रेम-फौजदारी का एक छंद यहाँ उद्धत है—

"हुती गरें गुंजन की माला, चहुँ दिसि प्रभा-पसार।
मोर-पखँन कौ मुकुट मनोहर, हुते सीस पर धारें।।
पटका पीत हुतौ कटि में, सुचि नटवर भेष बनाएँ।
अँनियारे नेंनन कों काजर, सुंदर साज पिन्हाएँ।।
देखत ही राधा प्यारी कों, दौर परे वे नेंना।
बदल पेंतरा तिरछौंहे ह्वै, हन्यों राधिका सेंना।।"

रामाधीन, रीवाँ

आपका जन्म संवत् १९४१ में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके पिता मुंशी रामचरन लाल "मैहर राज्य' के एकाउन्टेंट थे। सत्तरह वर्ष की अवस्था में ही रामाधीनजी ने 'सुंदरकांड' की कथा कवित्त, घनाक्षरी आदि छंदों में लिखी थी। आजकल आप रीवाँ-नरेशके राजकवि हैं। ओरछा नरेश ने आपको 'अन्योक्त्याचार्य' की उपाधि प्रदान की है। रामाधीन जी के आठ ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। कृष्ण के श्याम होने का कारण आपने यों लिखा है—

"मचौ है बिबाद ठाँव-ठाँवन में मेरी बीरं, पुर प्रति गाँवन में सखि-सखियाँन में।
कहत बतात सबै लोग कृष्ण कारे भए, धारें सीस सघन मयूर-पखियाँन में।।
रामाधींन' मेरी जाँन जब ते भए हैं स्याँम, प्रेंम-प्रन-पालिबे की रुचि रखियाँन में।
जब ते बसायौ राधिका नें गरबीली निज, कुटिल-कटीली-कजरारी-अँखियाँन में।।"

पुरुषोत्तमदास 'सैयाँ'

सैयाँ जी मथुरा में ब्रजभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ माने जाते हैं। आप एक कुशल कवि हैं और समय-समय पर आपने बहुत से स्फुट छंद लिखे हैं। कविता में आपका उपनाम 'उत्तम' है। श्री नवनीत जी चतुर्वेदी से आपने पिंगल पढ़ा था और श्री भोलाराम जी भंडारी की प्रेरणा से उसमें प्रवीणता प्राप्त की थी। अब नेत्र-कष्ट के कारण आप लिखने-पढ़ने में असमर्थ हैं, किंतु आपकी प्रसिद्ध-'साहित्यिक दुकान' आज भी साहित्य-सेवियों का प्रमुख केंद्र बनी हुई है। सैयाँजी अग्रवाल वैश्य हैं। आपका जन्म संवत् १९४२ में हुआ था। यहाँ आपका एक छंद उद्धृत करते हैं, जिसमें राजा विराट के नगर में बृहन्नला के वेष में छिपे हुए अर्जुन का उत्तम के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय का वर्णन है—

"कंकन करेंन कटि, किंकनी बिराज रही, धीरता बिराज रही मन की उमंग में।
'उत्तम' निहार बेंनी, सेंनी मृग-नेंनी रहीं, जॅम को नसेंनी बाँन सोहत निखंग में।।
बीरी, पाँन, हार, जापै बाँधि राखी तरबार, रथ के अगारी बैठयौ केसरी उमंग में।
हीजरा के ढंग में सुबीरता के रंग-रॅंग्यौ, उत्तर के संग जाइ पारथ यों जंग में।।"

नाथूराम माहौर

माहौर जी का जन्म झाँसी में संवत् १९४२ में हुआ और वह ब्रजभाषा में सुंदर काव्य-रचना करते हैं। इनकी वीर-वधू, वीर-वाला, अश्रु-माल आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपके अप्रकाशित ग्रंथों में रस-प्रवाह, षट-ऋतु-दर्शन छत्रसाल गुणावली, सूर-सुधा, द्रोपदी-दुकूल आदि तथा वहुत से स्फुट पद हैं। माहौर जी ब्रजभाषा के उत्साही रोवकों में से हैं। आपकी ब्रजभापा के प्रति अनन्य निष्ठा निम्न छंदों से प्रगट है—

ब्रजनागरी-बंदना

"मधु भावनी हैं मधु-रासि दुहूँ, कवि को बरनें गुन माधुरी के।
दुहूँ कोमल कांति पदावली हैं, लख पंकज लाजें बिभावरी के।।
मनमोहक हैं सुषमा में दुहूँ, निरखे उपमाँन बराबरी के।
ब्रज-नागर के मन माहि रमें, पद बंदों दुहूँ ब्रज-नागरी के।।"

ब्रजनागरी का शृंगार

"तुलसी भए भाग सुहाग के बिंदु, सु देव दृगंजन आगरी के।
कवि केसव अंग के राग भए, मुख-राग भे सूर उजागरी के।।
भए 'माहुर' पंकज पाँइन के, मेंहदी कवि ग्वाल प्रभागरी के।
मतिराम, रहीम, बिहारी घँनानद, भूषँन भे ब्रज-नागरी के।।"

नवीबक्श 'फलक़'

मुंशी नवीबक्श 'फलक़' दतिया के निवासी हैं। यहीं आपका जन्म १९५० में हुआ था। आप ब्रज, ब्रजचंद और ब्रजेश्वरीजी के अनन्य उपासक हैं। राम और कृष्ण दो ही आपके काव्य के अधिष्ठाता हैं और आपका काव्य भक्ति-रस से ओत-प्रोत है। आपने आज भी उस परंपरा को जीवित बनाये रक्खा है, जिसके लिए भारतेंदु जी ने कहा था कि "इन मुसलमाँन हरि-जँनन पै कोटिक हिंदू वारिऐं"। आपके द्वारा रसखान जी की-सी वाणी आज भी प्रतिध्वनित हो रही है, फलक़ जी ने हाल ही में ७०० दोहों में 'फलक-सतसई' नामक ग्रंथ तैयार किया है। यह काव्य अभी अप्रकाशित है। फलक़ जी की रचना का एक उदाहरण यहाँ देते हैं।[1]

"राधा राँनी के चरँन, गहौ बेगि ही जाइ।
बिगरे काज बनाइ लैं, 'फलक' न देर लगाइ।।"

❀

"राज के भरोसें कोऊ, काज के भरोसें कोऊ, साज के भरोसें कोऊ, कोऊ बर बाँनी के।
देह के भरोसें कोऊ, गेह के भरोसें कोऊ, नेह के भरोसें कोऊ, कोऊ गुरु ग्याँनी के।।
नाँम के भरोसें कोऊ, ग्राँम के भरोसें कोऊ, दाँम के भरोसें कोऊ, कीरत कहाँनी के।
ब्रज है भरोसें सदाँ स्याँम-ब्रजराज के तौ, 'फलक' भरोसें एक राधा-ब्रजराँनी के।।"

रामप्रसाद त्रिपाठी

डा० त्रिपाठी जी की वेषभूषा और रहन-सहन से यह तनिक भी भासित नहीं होता कि उनके हृदय में 'ब्रज-साहित्य' के प्रति अनुराग का एक प्रबल सागर तरंगित हो रहा है, परंतु त्रिपाठी जी स्वांत:सुखाय ब्रजभाषा का शृंगार चुपचाप ही करते रहते हैं। आपका जन्म सवत् १९४६ में मुजपफ़रनगर में हुआ था। १९७३ से प्रयाग में इतिहास के अध्यापक थे और अब वे 'सागर-विश्व-विद्यालय' के उपकुलपति हैं। आपने इंगलेंड जाकर 'डी० एस० सी०' की प्रशस्त उपाधि प्राप्त की और अपनी योग्यता की गहरी छाप वहाँ के अध्यापकों पर छोड़ आये। आप कई भाषाओं के पंडित हैं। 'अ०भा० ब्रज-साहित्य-मंडल' ने अपने तृतीय शिकोहाबाद संमेलन में आपको अपना सभापति निर्वाचित किया था। आपकी ब्रजभाषा में कविता बड़ी भावमयी है। जैसे—

"नैंन बुझाइ बुझाइ थके, अँनुराग की आग बरौई करै।
कोटि निरास कुठार चलें, तऊ प्रेंम की बेलि फरौई करै।।
नैंनन नीर बह्यौ करै पै, उर अंतर नेह भरौई करै।
मौंन रहै हिय हारि तऊ, रसना तब नाम ररौई करै।।"

ब्रजनंदन जी 'कविरत्न'

श्री ब्रजनंदन जी का जन्म संवत् १९४९ में जिला रायबरेली के मनुवामऊ ग्राम में हुआ। आपके पिता रामधीन ने कोई संतान न होने के कारण ब्रज आकर श्री गिरिराज जी की परिक्रमा की,

[1]. दुख है कि गत वर्ष श्री फलक़ जी स्वर्गवासी हो गये।

जिसके कुछ ही दिन उपरांत 'ब्रजनंदन' जी का जन्म हुआ। आप ब्रजभाषा के बड़े अनुरागी और काव्य-रसिक हैं।

ब्रजनंदन जी ने संवत् १९६९ से काव्य रचना आरंभ की थी। आपका सर्वप्रथम छंद यह है—

"मन-मोंहन मोहि कें कूबरि पै, निज प्रेमिन सों मुख मोरिऐ ना।
जेहि प्रेम पियूष पियाएहु ताहि, बियोग के बारिध बोरिऐ ना॥
नित नेह कौ नातौ बढ़ाइ कियौ तरु, सो तिनका इव तोरिऐ ना।
ब्रज-जीवन फेरि बसौ ब्रज में, बिसबास में यों बिस-घोरिऐ ना॥"

आप 'बरवै' लिखने में भी सिद्धहस्त हैं, 'वृंदावन-विरहनी-बरवै' के दो-चार नमूने यहाँ दिये जा रहे हैं, यथा—

"श्री बृंदाबन दल-फल, थल-जल जोहि।
आवत सुधि सु स्याँम-छल, पल-पल मोहि॥
बरवै[1] करि[2] बारत हैं, बिरह दवारि।
बर वै[3] बारिद बरसौ, बिनिमय बारि[4]॥
जदि बेला हिय बेला, हार पहार।
हार-हार हरि होत, ह्वै रही हार॥
बैजंती जो आवें, ब्रज ब्रजराइ।
तौ में बिजै जयंती, रमेंहु सनाइ॥"

वियोगी हरि

वियोगी हरिजी का जन्म संवत् १९५३ है, आप 'ब्रजमाधुरी' के अनन्य उपासक और एक भावुक जीव हैं। आजकल आप हरिजन-सेवा का कार्य कर रहे है और 'हरिजन-सेवक' के संपादक हैं। बीच में आपने साहित्य-क्षेत्र से संन्यास ले लिया था, परंतु आप अब फिर से अपने पुराने कार्य-क्षेत्र में लौट आये हैं। आप 'ब्रज-साहित्य-मंडल' की मुखपत्रिका 'ब्रजभारती' के संपादक भी रहे हैं। आपकी 'वीर-सतसई', 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक' और 'प्रेमांजलि' उत्कृष्ट और हृदय-स्पर्शनी रचना है। 'वीर-सतसई' पर आपको 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' भी प्राप्त हो चुका है। आपके 'शूरवीर' वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"खंड खंड ह्वै जाँय बरु, देत न पाछें पेंड़।
लरत सूरमाँ खेत की, मरत न छाँड़त मेंड॥
सहज सूर रन-चूर उर, चहिएें चातक-चाह।
चहिएें हारिल-हठ वहै, चहिएें सती-उमाह॥
खल खंडन, मंडन सुजन, सरल सुहृद सबिबेक।
गुन-गँभीर, रँन सूरमाँ, मिलत लाख मँह एक॥"

हरदयालु सिंह

आप आजकल के ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से हैं, आप संस्कृत ग्रंथों के भावों को ब्रजभाषा-छंदों में इस प्रकार ढालते हैं कि छंद में अनुवाद जैसी शिथिलता कहीं प्रतीत नहीं होती। आपका "दैत्य-वंश" एक मौलिक ब्रजभाषा-काव्य है। आपकी दैत्य-वंश पुस्तक पर 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। दैत्य-वंश से 'लक्ष्मी' का स्वयंवर-मंडप में आते समय का एक दृश्य देखें—

[1]. वेबर [2]. वरण करके [3]. बरवै छंद [4]. पानी।

"ठाढ़ी लजात तहाँ कँमला, न स्वयंबर-भौंन सकी पगु धारी।
भूषँन औ सुषमा-छबि भारँन, जाति हूँ माँनौं दबी सुकुमारी।।
मानस कौ घन हंस कुमारि कौ, लै चलें तैसें चलीं सखी सारी।
लोचन देवँन के उरझे मग, कैसें धरै पग सिंधु-दुलारी।।"

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

रसाल जी का जन्म मऊ (जिला बांदा) में संवत् १९५५ में हुआ था। आजकल आप 'प्रयाग-विश्वविद्यालय' में अध्यापक हैं। आपने इस विद्यालय से 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त की है। रसाल जी योग्य लेखक और कुशल कवि भी हैं। आपके 'भ्रमरगीत' का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

"यह अवसर स्यांम-कथा कौ मिलौ, सो गयौ रसना की रलारली में।
कहिबे-सुनिबे की रही सो रही, इन बातँन ही की बलाबली में।।
मन-मींन मलींन मरे से परे, यहि ग्यांन की कोरी दलादली में।
मन भावती हू कहि जाते कछू, अब ऊधव ऐसी चलाचली में।।"

श्री अमृतलाल जी चतुर्वेदी

पं० अमृतलालजी चतुर्वेदी आजकल के ब्रजभाषा के सरस कवियों में अग्रगण्य हैं। आपके कमनीय कंठ से ब्रजभाषा-काव्य की निर्झरिणी जब प्रवाहित होती है तो श्रोता मंत्रमुग्ध-सा खड़ा रह जाता है। आपकी एक पुस्तक 'श्याम-संदेसौ' इंडियन प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है। चतुर्वेदी जी आगरा में वकालत का व्यवसाय करते हैं।

पं० रामदयाल जी (लोहवन निवासी)

आप मथुरा जिले के वयोवृद्ध कवियों में हैं; ब्राह्मण हैं। इस समय आपकी अवस्था ७० वर्ष के लगभग है, किंतु कवि-संमेलनों में आप आज भी युवकोचित उत्साह से भाग लेते हैं। वीर और हास्य-रस के आप सिद्ध कवि हैं।

उमरावसिंह पाँडे (मैनपुरी)

ये मैनपुरी के जमींदार पं० चिंतामणिजी के पुत्र हैं और खड़ी बोली व ब्रजभाषा दोनों में ही रचना करते हैं। इनका जन्मकाल सं० १९५९ है। मैनपुरी के माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय की स्थापना में आपका मुख्य हाथ रहा है। इनका एक छंद देखिये—

"मोर-पखा राजत, बिराजत उत चंद्रकला, बेसरि सुहाई उत बाँसुरी बनाई है।
बाँनिक बनायौ इतै कृष्ण जदु-नंदन आज, उतै चंद-चंद्रिका सुनैंनी चारु चाई है।।
पीत पट अंग फहरात झहरात उत चूनरी सुचारु चारु चित्रित जुन्हाई है।
गात की गुराई 'उमराव' कवि गाई उतै मुख-मधुराई इत ललित लुनाई है।।"

अंबिकेश

पं० अंबिका प्रसाद भट्ट 'अंबिकेश' का जन्म संवत् १९६० वि० को रीवाँ में हुआ था। अंबिकेशजी रीवाँ-नरेश के तो पुश्तैनी राजकवि हैं ही, आपको ओरछा नरेश और सरगुज्जा-नरेश ने भी अपना राजकवि बनाया। हिंदी-साहित्य-संमेलन ग्वालियर, अखंड-भारतीय-कवि-संमेलन कानपुर तथा रीवाँ नरेश ने आपको 'कवि-मार्त्तंड' की उपाधि प्रदान की है। 'ज्योति' नाम से आपका एक कविता-संग्रह सं० १९४१ में छपा है। आजकल आप विंध्य-सरकार के राजकवि हैं। आपका 'वीर-रस' का एक छंद देखिये—

"जाकी ओर ताकत न ताकत रहत तामें, ताकत कहा है मुरि एक बार हेरें हैं।
पीठ ही दिखात ना दिखात फिर दीठि कबों, भगें ऊँच-नीच भूमि भाँन ना निबेरें हैं।।

झूँमत मतंग से दिखात जुग क्रोध भरे, लीलि जैहें बिस्व लेत तीछँन तरेरें हैं।
दुबन दरेरें दाबि कोल्हू सम पेरें घोर, प्रलै घन घेरें जब बीर दृग फेरें हैं।।"

पं० रूपनारायण पाँडेय

माधुरी के यशस्वी संपादक पं० रूपनारायण पाँडेय ने अनुवादों के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह सर्व विदित है। पाँडेय जी ब्रजभाषा के सुकवि भी हैं। 'शिव-शतक' और श्री कृष्ण-महिमा' के अतिरिक्त आपने 'गीत-गोविंद' की टीका भी की है। पाँडेय जी का जन्म सं० १६६० में हुआ था। आपकी कविता का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

"बुद्धि बिबेक की जोति बुझी, ममता-मद-मोह-घटा-घँनी घेरी।
है न सहारौ, अनेकँन है ठग, पाप के पन्नग की रहै फेरी।।
त्यों अभिमाँन कौ कूप इतै, उतै काँमना-रूप-सिलाँन की ढेरी।
तू चल मूढ़ सँभारि अरे मन, राह न जाँनी है रैंनि-अँधेरी।।"

जगनसिंह सेंगर

ठा० जगनसिंह सेंगर अलीगढ़ जिले के प्रमुख साहित्य-सेवी हैं। आपका जन्म-स्थान सिकंदरा राऊ तहसील के गाँव राजनगर में संवत् १६६० को हुआ था। 'मुरली', 'झाँकी' और अभी हाल में किसान-सतसई नामकी आपकी तीन रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आप अच्छे लेखक और पत्रकार भी हैं। विद्वत्संमेलन ने अपने वार्षिक अधिवेशन में आपको 'साहित्यालंकार' व 'साहित्य-रत्न' की उपाधि प्रदान की है। आपकी 'किसान-सतसई' से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

"नीचे स्याँमल निरबला, ऊपर नभ नीलाभ।
पर दुख कातर, तप निरत, जयतु हली अभिताभ।।
पटबारी, पतरौल अरु, पुलिस, पटैल प्रधाँन।
पंच प्रकार प्रपंच परि, पनप न सकत किसाँन।।
सुर-तरु, सुर-मुनि, सुर-सुरभि, जाँनहु सकल असार।
मेरे मते किसाँन ही, अभिमत फल दातार।।
बिस्वंभरा, बसुंधरा, रसा, उरबरा, भूँमि।
बनति बिनीत किसाँन के, बार-बार पद चूँमि।।"

रामलला—(जन्म संवत् १६६४)

ब्रजकी उन गिनी-चुनी विभूतियों में रामलला जी का प्रथम स्थान है जिनके आकार-प्रकार, वेष-भूषा, बोल-चाल और काव्य-रचना सभी से ब्रज-संस्कृति का स्वरूप नेत्रों के संमुख उपस्थित हो जाता है। श्री रामलला मथुरा के सतीबुर्ज पर प्रायः विजया और साहित्य की साधना में तल्लीन देखे जाते हैं। इस पवित्र ऐतिहासिक स्थल 'सतीबुर्ज' पर कवि रामललाजी ने एक उत्प्रेक्षा लिखी है जो यहाँ दी जाती है—

"कैधों पूतनां कौ एक उरज उत्तंग तुंग, स्याँम नें न पीयौ सोई बाकी रह्यौ ठीकौ है।
'लला कवि' प्यारे कैधों भूमि-सुत ठाढ़ौ, लह्यौ अरुन अनन्य ब्रत भाँनुजा रती कौ है।।
कैधों भरतादिक कौ बीर रस भेलौ भयौ, प्रज्वलित तेज यै अखंड रबि ही कौ है।
पति-भगती कौ स्वाद लहत अँमी कौ कैधों, कंस-नृप-ती कौ नींकौ बुरज-सती कौ है।।"

जाति से आप सनाढय ब्राह्मण हैं। आपने 'द्रोपदी-दुकूल', 'वीर विक्रमाजीत' तथा 'मीरा-द्वादशी' नामक तीन ग्रंथ तथा सैंकड़ों स्फुट छंद लिखे हैं। आपको प्राचीन कवियों के हजारों छंद याद हैं। आपकी रचना के कुछ उदाहरण देखिये—

"जब तौ तिहारे नेंन देखत दुरेहे दौर, अब तौ तिहारे नेंन सेंनेंन सजाए हैं।
'लला कवि' जब तौ तिहारे नेंन ख्याली रहे, अबतौ तिहारे प्रेंम पगेंन पगाए हैं।।

जब तौ तिहारे नेंन कंज हे, निरंजन हे, अब तौ तिहारे नेंन खंजेंन खिसाए हैं ।
जबतौ तिहारे नेंन लाजेंन लजाए अरी, अब तौ तिहारे नेंन नेंन नेंन छाए हैं ॥"

❀

"सुंनि ब्रजरांनी नंदबारे की कहांनी, हूँम राखि-राखि हारी तोऊ राखेंन बचै नहीं ।
'लला कवि' प्यारे की अँनोंखी करतूति, जिन्हें, भाँति-भाँति भाँखें कहा भाँखन बचै नहीं ॥
ताखेंन छिपाइ हारीं, ताखेंन लगाइ हारीं, औचक निकारै रंच चाखेंन बचै नहीं ।
जाखेंन सुजांन कांन्ह घर-घुसि आवै बीर, लाखेंन उपाइ किएँ माँखन बचै नहीं ॥"

सेवकेंद्र त्रिपाठी

आधुनिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ सुकवि श्री 'रामसेवक' त्रिपाठी 'सेवकेंद्र' का जन्म कार्तिक शुक्ला षष्ठी संवत् १९६६ को झाँसी में हुआ। आप के पिता पं० रामचरणजी तिवारी हैं। आपने अंग्रेजी एवं मराठी-कविताओं का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया है। आपके मीरा-मानस, ताजमहल, सूरदास छत्रसाल आदि खंडकाव्य अप्रकाशित हैं। बुंदेलखंड और मध्यभारत के राजदरबारों में सेवकेंद्र जी का अच्छा संमान है। यहाँ 'रास-पूर्णिमा' का एक छंद उद्धृत करते हैं—

"उत सुधासर सुधाधरि बिलसत मंजु, इत सुधाधर बर सुर कौ बिलासु है ।
उत मंद चंद तारिकाँन झिलमिल जोति, इत दृग-तारिकाँन अमित उजासु है ॥
'सेवकेंद्र' सोरह कला कौ उत प्राँन दाँन, सोरह सहस्त्र-कला कौ इत बिकासु है ।
उत नील अंबर जुन्हैया कौ प्रकासु होत, इत पीत-अंबर कन्हैया कौ प्रकासु है ॥"

गोविंद जी चतुर्वेदी

आप ब्रजभाषा काव्य के नवनीत कविवर नवनीतजी के पुत्र हैं। आपने अपने पिताजी से ही काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया है। आठ वर्ष की अवस्था में ही आप सुंदर कविता करने लगे थे। सामवेद का आपने विधिवत् अध्ययन किया है और संस्कृत की शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण हैं। आपको काँकरौली के गो० ब्रजभूषणलालजी ने स्वर्णपदक प्रदान किया था। आपकी कविता ओज से परिपूर्ण है। आपकी 'ब्रजवानी'-पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। आपका जन्म-संवत् १९६६ आश्वनि कृष्णा १४ को हुआ था। आजकल आप 'ध्वन्यालोक' संस्कृत का सरस ब्रजभाषा में अनुवाद कर रहे हैं। उसी के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

मूल

"पथिक नास्त्यत्र संस्तर मनागपि प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥"

अनुवाद

"पथिक गाँव यै लेख, पथरीलौ कछु नाँहि लहत ।
उठे पयोधर पेख, जो बसिबौ चाँहउ बसहु ॥"

मूल प्राकृत

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्ति अंधअ सेज्जाए महणिमज्जहिसि ॥[1]

अनुवाद

"सोवत सास यहाँ अरु हों यहाँ, है दिन देखिलै पंथ अँनारी ।
'गोबिंद' द्वैक घरीक के जात, झुकैगी निसा घँनघोर अँध्यारी ॥
चूक भएँ झुकि हैं गुरु-लोग, सुझावत हों यै बात बिचारी ।
ए रे बटोही रतोंधिया तू, परियो जनि आइकें सेज हमारी ॥"

[1] ध्वन्यालोक १।४

रामनाथ ज्योतिषी

ज्योतिषी जी ब्रजभाषा के एक कुशल कवि हैं। 'रामचंद्रोदय' काव्य पर आपको 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। रामनाथ जी का जन्म भैरमपुर ग्राम में हुआ था। आजकल आप अयोध्या के राजकवि हैं। एक उदाहरण देखिये—

"कैधों अलु-जाल-माल मिथिला नगर की है, कैधों मिथिलेस के मनोरथ की माला है।
कैधों राँम-रूप माँहि सागर सुमेर जुत, कैधों चाप-खंडन कौ सुजस निराला है॥
कैधों मंद-भूपँन के माँनस-कँमल-ऐंचि, गूंथ हिय डारचौ हार 'जोतिसी' बिसाला है।
ताला प्रेम भोंन कौ, बिचित्र मन-माला किधों, बीरँन-बिजै की कैधों कंठ 'जयमाला' है॥"

रामचंद्र शुक्ल 'सरस'

आप डाक्टर रसाल जी के छोटे भाई हैं। आपका जन्म संवत् १९६० में हुआ था। 'सरस' जी ने ब्रजभाषा में 'अभिमन्युवध' नामक एक सरस 'खंड-काव्य' लिखा है। एक शब्द-चित्र देखिये—

"सुभट सुभद्रा-सुत बीरँन की भीरँन में, चारों ओर केसरी-किसोर लों गाजै है।
'सरस' बखानें, देखि भीरि रिपु-बाँनन की, आँनन पै ओप लै सचोप कोप छाजै है॥
रंग बदरंग त्यों बिपच्छिनि कौ ढंग देखि, रंग निज लेखि मंद-हास मुख राजै है।
रौद्र रस राज्यौ त्यों भयानक सों भाज्यौ मनों, बीर-रस हास के बिलास में बिराजै है॥"

स्वर्गीय चौधरी लक्ष्मीनाराण सिंह 'ईश'

ईश जी काशी के निवासी थे। आपने अपने माता-पिता और गुरु के नाम क्रमशः पार्वती, शिवमंगल और 'रसमय-सिद्ध' ग्रंथ लिखें हैं। ईशजी ने 'लंका-दहन' नामक एक सुंदर काव्य लिखा है, जो 'काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस काव्य में आपने काशी में प्रचलित अवधी-मिश्रित ब्रजभाषा को अपनाया है, फिर भी यह काव्य उच्च कोटि का है। हनुमान जी और मेघनाद के युद्ध का एक छंद देखिये—

"ऐंचि-ऐंचि पेचँन पै पेच बाँधि-बाँधि दोऊ, दावँन पै दाव कै कुदाव मैं सँमाने जात।
छूटि-छूटि, जुटि-जुटि, दपटि-दपेट-द्रुति, लपटि-लपेटि कें चपेटि सँमुहाने जात॥
झपटि-झपटि कें झुकाइ झट झोंकन सों, झार दै-दै अरुझि, सुरझि बिरुझाने जात।
जाँने जात बिलग न चक्कर करत दोऊ, चक्कर सँमान एक-एक में अँमाने जात॥"

श्री राजेशदयालु श्रीवास्तव

आप लखनऊ के निवासी हैं और श्री गणेशदयालु श्रीवास्तव के सुपुत्र हैं। राजेश जी हरिस्मरण में ही अपना यौवनकाल व्यतीत कर रहे हैं। आपने ब्रजभाषा में सुंदर भक्ति-रस से ओत-प्रोत काव्य रचना की है। 'श्याम-रसमयी, राजेश-सतसई, गौरांग-चरित्र, बालिका, राजेश-दोहावली' आदि आपकी अनेक सुंदर रचनाएँ हैं। राजेश जी कम लिखते हैं, परंतु जो लिखते हैं वह सुंदर लिखते हैं। इसका कारण आपने स्वयं एक सोरठे में लिख दिया है, जैसे—

"कह बुध बैंनु ललाँमु, गुँन चाहिय, परिमाँनु नाँहि।
गुँनहि करों परनाँमु, गुँन परिमाँनों चाहियै॥
जो पै कलमु चलाइऐ, कबि जू कहों निहोरि।
कि तौ डारिऐ तोरि ही, कि तौ डारिये तोरि॥
सँभरि चलौ साहित्य-मग, है काई कलि-काल।
ए सुख छँन के जाँनिऐं, बिनु मरजाद बिहाल॥
जातें भलौ कहूँ न सो, जाके भाउ न कोइ।
ताहू भाँखें कबि रतनु, पहिलौ मूरख सोइ॥

आता दोहा सोरठा, कविता के संसार ।
सबै गुँननि-सिरमौर ए, सबै गुँननु-भंडार ।।"

अनूप शर्मा

शर्माजी के पिता का नाम 'बदरीप्रसाद' त्रिपाठी है, जो स्वयं ब्रजभाषा के एक सुंदर कवि हैं। अनूप जी सीतापुर के निवासी हैं। इनका जन्म संवत् १६५७ में हुआ था। बहुत समय तक आप धामपुर में प्रधानाध्यापक रह चुके हैं। आप सनेही जी के शिष्य और वीररस के प्रमुख ब्रजभाषा कवि हैं। अनूप जी की 'फेरि-मिलिबो' पुस्तक पर 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। अन्य ग्रंथों में 'कुणाल' और 'सिद्धार्थ-चरित' उल्लेखनीय हैं। आपकी रचना का एक उदाहरण देखिये——

"नाँम रतनाँकर जथारथ परचौ है यातें, चौदहौ रतँन धारें सोहतै रहत हैं।
तरल तरंगनि उमंगनि के संगनि सों, बिस्व-मोंहिनी कौ मन मोहतै रहत हैं।।
निखिल नदी-नद कौ निपुन निधाँन एकै, बोहित के बृंदनि बिमोहतै रहत हैं।
एहो कुंभजात, एतौ बारिधि बढ़चौ तौ कहा, रावरी कृपा की कोर जोहतै रहत हैं।।"

दुलारेलाल भार्गव

श्री दुलारेलाल लखनऊ के निवासी और हिंदी पुस्तकों के प्रमुख व्यवसायी हैं। आपका जन्म संवत् १६५२ में हुआ था। 'माधुरी' और 'सुधा' के संपादक के रूप में आपकी विशेष ख्याति रही है। महाकवि बिहारी के अनुकरण पर आपने 'दुलारे-दोहावली' नामक पुस्तक की रचना की है, जो इनकी प्रथम और अंतिम रचना है। उस पुस्तक पर 'दुलारेलाल जी को 'देव-पुरस्कार' मिल चुका है। कुछ दोहे देखिये——

"पट, मुरली, माला, मुकुट, धरि कटि, कर, उर, माल ।
मंद-मंद हँसि बसि हिऐं, नंद-दुलारे-लाल ।।
हों सखि सीसी आतसी, कहति साँच ही साँच ।
बिरह-आग खाई इती, तऊ न आई आँच ।।
बिन बिबेक यों मन भयौ, ज्यों बिन-लंगर पोत ।
भ्रमत-भ्रमत भव-सिंधु में, छिन न कहूँ थिर होत ।।
होंइ सयाँन अयाँन हू, जुरि गुनवाँन सँमीप ।
जगमग एक प्रदीप सों, जगत अँनेक प्रदीप ।।"

श्री रामलाल श्रीवास्तव 'लाल'

आप जिला गोरखपुर के निवासी हैं और 'सुकवि-मंडल' गोरखपुर के प्रमुख कवियों में से हैं। 'लालजी' ने खड़ी बोली में भी लिखा है और आपकी 'काव्य-सौरभ' और 'विभावरी' प्रकाशित हो चुकी है। ब्रजभाषा में आपकी 'राधारमन-विनोद' प्रकाशित हुई है। आप 'किसान-संदेश' नामक पत्र के संपादक भी हैं। आपकी कविता का उदाहरण जैसे——

"तरनि-तनूजा-तीर हेरि हरि रावरे कों, पाराबार पावरे पै पाव परिबौ कहा।
कोंमल कलित कँमला की केलि-कला पेखि, चंचला चला पै चित्त-चोर धरिबौ कहा ।।
बिरह तपाए पाइ सुलभ सनेहिन कों, पागल-पपीहै पै बिचार करिबौ कहा।
एक घनस्याँम देह-गेह-नेह नातौ छाँरि, दूजौ घनस्याँम-मेह-माँहि तरिबौ कहा।।"

"ब्रज में और विशेष कर मथुरा में ब्रजभाषा के ही नहीं खड़ीबोली के भी ऐसे अनेक 'कवि' इस बींसवीं शती में हो गये हैं, जो—यदि उनकी असमय में ही मृत्यु न हो जाती तो ब्रजभाषा के भंडार को अपनी-अपनी रचनाओं से अधिकाधिक भरते। इन प्रातःस्मरणीय नाम-सूचीज में—"उस्ताद बिरजींसिंह, आपके शिष्य नत्थनलाल जड़िया, उस्ताद छीतूसिंह के अखाड़े के कवि, गुरू मनियाँ भट्ट,

और इन के शिष्य लाला नारायणदास, बाबू श्यामाचरण जी, सोहनलाल जी चतुर्वेदी, हीरालाल जी चतुर्वेदी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आप लोगों ने ब्रजभाषा की रीति-कालिक कविता ही नहीं अपितु खड़ी बोली में भी—ख्याल, लावनी, भगत (नोटंकी), डंडेशाही, लोक-गीत, संस्कृत की उपयोगी पुस्तकों के अनुवाद आदि अनेक सुंदर रचनाएँ कीं। भगत-नाटक-साहित्य तो मथुरा की वह अमर देन है, जिसने विकशित होकर अपने सौरभ से गोवर्धन, वृंदावन, माँट, राया, हाथरस, सासनी, अलीगढ़ मेंडू, आगरा, भरतपुर आदि अनेक ज्ञाताज्ञात स्थानों को भर दिया—उन्हें सुवासित कर दिया। वर्त्तमान समय में भी कभी-कभी इसकी हिलोर समय-असमय आकर अपनी मधुरता से रसिक हृदयों को भर जाती है—मन को मतवाला बना जाती है। उदाहरण रूप—"उद्धव लीला" का स्वांग है, जो अभी-अभी मथुरा के कसेरट-कटरा में बड़े ठाठ से खेला गया था। अस्तु, भगत-साहित्य का अपना अनोखा इतिहास है, जो रोचकता के साथ-साथ मधुरता से भी भरा हुआ है। साथ ही—

"कागद थोरौ, हित घनों"

की बार-बार याद दिला रहा है, फिर भी 'श्री हीरालालजी' चतुर्वेदी की रीति-कालिक एक कविता यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, यथा—

"मन-हिं मनमोहन मधुर मुसिक्याउ कहा, बैठी उत माँनिनी सो माँन-तरु-मूले हौ ।
फबन-फबीले फल पाउगे किए कौ आज, कहौ मन-भाँवते, सु कौन मन-फूले हौ ।।
सुकवि 'रसिक' तेरी अब ना गरैगी दार, परि-परि पाँइन जो मँनाउ मन-तूले हौ ।
अब का करि हौ सो बताउ ना गुपाललाल, "कौन प्रेम-बेलिनि अमर आज भूले हौ ।।"

यह आपकी 'समस्यापूर्ति' मथुरा के सुप्रसिद्ध रीति-काल के अंतिम मधुर कवि स्व० श्री नवनीतजी द्वारा स्थापित 'कवि-समाज' में पढ़ी गयी थी। हीरालालजी की बारह खड़ी—

"कक्का कहि कृष्ण-कृष्ण गाओ प्यारे।"

जो 'कालाकाँकर' (अवध) के राजा श्री रमेशसिंह जी द्वारा प्रशंसित होकर वहीं मुद्रित हुई थी, इतनी प्रसिद्ध है—भजनीकों में इतनी प्रातःस्मरणीय बन गयी है कि उसकी हर समय माँग बनी रहती है। इस अतीत की झाँकी के बाद ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में भी इस लेख में आये हुए कवियों के अनंतर अनेक कवि रह गये हैं, जो ब्रजभाषा के उत्तम कवि हैं और उसकी उन्नति में बराबर संलग्न हैं। इन में कम से कम—विद्दुरदेवजी चौबे, गोपालप्रसाद व्यास, गोपालदत्त एम० ए०, नागर-बंधु और ब्रजभाषा की 'जीती-जागती लायब्रेरी "सैयाँ"—ला० पुरुषोत्तमदास के सुपुत्र चुन्नीलाल 'शेष' को नहीं भुलाया जा सकता। शेषजी ने तो अभी-अभी एक अनूठी रचना—'लक्ष्मी-स्वयंबर' नाम से प्रस्तुत की है, जो कि भाषा, भाव, अलंकारादि भाषा के जितने भी गुण हैं, उन सबसे ओत-प्रोत है।"
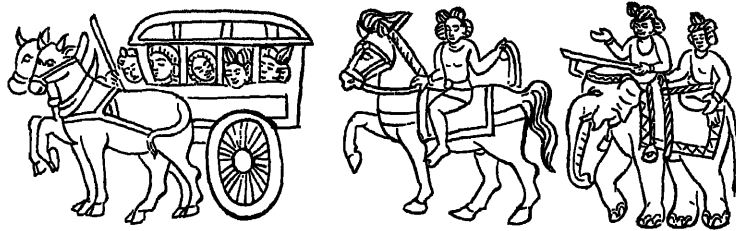
ब्रजभाषा और मुसलमान कवि-गण

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

विभूतमती ब्रजभाषा में मधुरता, मृदुता और सरसता उसके सुंदर बाँकपन के साथ जन्म-काल १२ वीं शती से ही भर गई थी, जब कि वह डिंगल के पलड़े पर तुलकर 'पिंगल' नामसे अवतीर्ण हो चुकी थी, पर उसका सच्चा निखार 'सूर-समय' (१६ वीं शती) में ही हुआ। इस समय उसे—"नंददास (अष्टछाप) जैसे 'जड़िया', 'स्वामी हरिदास' और 'गोविंद स्वामी' जैसे वीत रागी संगीत-सम्राट्, 'रहीम' जैसे गुण-ग्राहक, रस की खान 'रसखान' जैसे प्रेमी-भक्त, 'आनंदघन' जैसे आन के पक्के और 'रसलीन' जैसे सुमधुर सूक्तिकार जिनकी यह रस-निर्झरणी सूक्ति—

"अँमी, हलाहल मद-भरे, सेत, स्याँम, रतनार।
जियत, मरत, झुक-झुक परत, जिहिं चितवत इक बार।।"

आज भी मरु-हृदयों में रस का संचार कर बरबस अपनी ओर खींच लेती है—मिले। ब्रजभाषा का यह समय (१६ वीं शताब्दी) स्वर्ण-युग था। वह मुगल सम्राट् अकबर जैसा सहायक पाकर दिन-दिन फलती-फूलती गयी। उसने अनेक मुसलमान कवि-हृदयों को जिनकी एक लंबी सूची है—अपनी ओर आकर्षित किया। ब्रजभाषा इनकी गोद में पली और खेली। यह सूची दो प्रकार की है,—एक गेय-पद-रचयिताओं—संगीतज्ञों की और दूसरी रीति-परंपरा के कवियों की, जिनके लिए वृंदावनवासी स्व० पं० राधाचरणजी गोस्वामी ने—

"इन मुसलमान-कवि जनन पै, कोटँन हिंदू वारिऐं।"

कह कर उनके रचना-माधुर्य की स्तुति की है। यह स्तुति अकारण नहीं है, वास्तव में अनेक मुसलमान कवि और कलाकारों ने ब्रजभाषा को जो अमर देन दी है, ब्रज के प्रति जो अपार श्रद्धा और निष्ठा दिखलाई है वह आदरणीय और वंदनीय तो है ही, स्पर्धा के योग्य भी है, क्योंकि—

"शायरी जुज़वेस्त अज पैगंबरी।

—यूनानी कवि रूमी

सचमुच, कविता अवतारी होने का एक भाग है, जो इन मुसलमान कवि और कलाकारों–संगीतज्ञों के पद-पद से प्रकट होता है। अस्तु, वह कवि-सूची अकारादि-अनुक्रमण से इस प्रकार है।

गेय पद-गायक और रचयिता

"अंबिया (औलिया), अचगर, अचपल, अजब, अजबरंग, अजमेरी, अजीज्जुदीन, अजीव, अदारंग, अनलहक चिस्ती, अमीर खाँ, अलहक, अलहदाद, अलाउद्दीन शाह, अलावदीन, अली, अली अकबर हुसैन, अली अहमदाली, अली खाँ पठान (रसखान), अली गुलाम शाह हांसानी, अलीमन, अली मुरतजा, अली रतन, अशरफ, असकर या असगर अली खाँ, असलेम शाह (असलम), अहमद अली, अहमद शाह, आगर (आगार), आगा मौतुमद्दौला सखी बहादुर, आजमशाह, आनंद-रंग, आरिफ, आलमगीर, आलम, मदत शाह, आलम शाह, आलमहुसेन, आली, आली म्हारी (भारी), आवसी, आशक, आशकरंग, आशिक, आसफद्दौला, आसान शेख, आसिफ, इच्छाबरस, इन्सा, इनायत अली, इबलिस, इब्राहीम, इमानदीन (ईमान), इमाम खाँ, इमामबक्स, इल्तमास, इश्क, इश्क मुहब्बत, इश्कमुहम्मद, इश्करंग, इसन्ना शाह काजी, इसफ सने, उदोतसेन, उमरबक्स, उस्साक (उश्शाक), ऐगाजुद्दीन हैदर, औरंगजेब, औसान, कबीर खाँ, कमाल, करीम, कलंदर शाह,

कलबरिया, कशम शाह, काजम, काजी अकरम खाँ, कादिर, करीम, कायम खाँ, काले मिर्जा, काशिम शाह, कीरत शाह,[1] कुतुबमुलुक, कुतुबुद्दीन, केसर रंग, कौसर, खान आलम (नबाव), ख्याल खुशाल या खुशाल,[2] ख्वाजा कुतुब, ख्वाजाखिजर, ख्वाजा दीनशकरगंज, ख्वाजा मौज्जुदीन,-कुतुबुद्दीन, ख्वाजा मीर, ख्वाजा हसन, ख्वाजद्दीन, ख्वाजे खिजर, खुशरंग, गफूर, गबरू, गाजी, गामू, गुजर, गुलशन, गुलशन पीर, गुलामी, चाँद शाह, छज्जू खाँ, जगनू-मगनू खाँ, जलाल मुहम्मद, जलालुद्दीन मुहम्मद गाजी, जलालुद्दीन मुहम्मद बाकर, जलील, जहूर, जान खाँ, जानजाना, जाफर खाँ, जाफर पीर, जाफर (जाकर) सादिक, जालिम, जिन्द या जिन्ह, जीवन खाँ, जुलकर नैन, जुल्फकार, जैन लावुद्दीन, जैनुद्दीन, ताज, तामतरंग, तानप्रवीन, तान बरस, तानसेन, तुराब, दरिया खाँ, दारा शिकोह, दिलरंग, दिलाराम, दिलरा शाह, दूल्हे खाँ, दौलत खाँ, नजफ़ शाह, नजीर, नरीमुहम्मद, नवल अजब, नवी मुहमद्, नसीरुद्दीन, नाजमुद्दीन, नाजामदीन, नाशर अली, नाशिर खाँ, नाशिर पीर, निजामी, निजामुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया, निजामुद्दीन औलिया (दूसरे), निजामुद्दीन चिस्ती, निबाज, निबाज खाँ, निशात, न्यामत खाँ, पंथी, पान खाँ, प्यार खाँ, पीर मुरताज अली, प्रेमजान, प्रेमी (शाहबरकत का उपनाम), फकीर हुसेन शाह, फकीर सकरगंज, फजल अली (फलन अली), फजायल खाँ, फरीद, फरीद शकरगंज, फारातुला, बक्स शाबिल, बदरुद्दीन पीर, बहराम खाँ, बाँकाबरस, बागबहार, बाजबहादुर, बाजिदअली शाह (लखनऊ), बानीविलास, बासद खाँ, बेदिल शाह, मजनूं, मदत अली, मदन साहिब, मदन हैदरी, मदनायक, मनरंग, मर्दान अली, मर्दान औलिया, मलिक नूर महम्मद, मस्तान, महताब, महबूब, महबूब पीर, महबूब बाँदा, महम्मदी, महम्मद अली, महम्मद इलाही, महम्मद इश्कदा, महम्मद खाँ, महम्मद नवी, महम्मद बाकर, महम्मद मैदी साहिब जमान, महम्मद शाह, मान खाँ, मारू, मियाँ मिरजा, मीम मुहब्बत, मीर अली शाह (शाह गूदर), मीर माधौ, मीर रुस्तम, मुबारक हजरत औलिया, मुरतजा, मुराद, मुराद अली, मुरशा अली, मुहम्मद नवी, मुहम्मद बाकर (दूसरे), मूरखाँ, मूरत शाह अली, मेंहदी मुहम्मद, मौज, मौजुद्दीन, मौजुद्दीन अजमेरी (मनुद्दीन अजमेरी), मौजुद्दीन ख्वाजा (मौनुद्दीन ख्वाजा), मौजुद्दीन शाह, यूसुफ अली खाँ (उपनाम—'आलम', रामपुर के नवाब), रंगबरस, रंगरस, रज्जब, रसखान, रसरंग, रहमतुल्ला, रहमान, रहीम, रहीम बक्स, रागरस खाँ, रौशनशाह, लतीफ, लाल हुसेन, शाह आजम, शाह आलम, शाह जमन, शाह जमाल, शाह जलाल, शाहजहाँ, शाह जहाँगीर, शाह निबाज, शाह पना, शाह बहादुर, शाह मुहम्मद, शाह मौजुद्दीन, शाह शफी, शाह सवाल, शाह सादी, शाह सिकंदर, शाह हुसेन फकीर, शुकरजामी, शेखगदाई, शेख फरीद, शेख मशायक़ औलिया, शेख शाहजादा, शेख सलीम (सलेम), शौक रंग, शौरी मियाँ, सखन-मखन, सदारंग महम्मदशाह, सदारंग मुहम्मद शाह रँगीले, सरस रंग, सादीखाँ, सालारजंग, साह आलम (दूसरे), साहजी, साहनशाह पीर, साह भीमपलासी, साहब किरान शाहेजहाँ, साहब खाँ, साहबदीन, साहमर्दान, साह सिकंदर (दूसरे), साहूर (सहूर), सुजान अली, सुभान, सुलतान अली खाँ, सुलतान इब्राहीम, सुलतान दूलह, सुलतान मसादिक (मसायिक), सुलतान सलेम, सुलतानी, सुवलशाह, सेख नसीरुद्दीन, सेख फरीद (फकीर), सैयद सालार, सौरोट पचारे, हजरत अली, हजरत अली औलिया, हजरत बरबा औलिया, हजरत मिराज (मिर्जा), हजरत शिराजी, हद्द खाँ, हम-दम, हलखाँ, हसन साहिब, हस्सू खाँ, हाफ़िज, हाफ़िज तुरक, हाशिम बीजापुरी, हिदायत, हिदा-यत अजीज (आजिज), हिम्मत, हिम्मत बहादुर, हुमायू, हुसेन मारहरी, हुसेनशाह, हुसेन हाली खाँ (हलीखाँ), हुसेनी।"

[1]. ये हिंदू थे, पर बाद में मुसलमान हो गये।

[2]. ये भी हिंदू थे, बाद में मुसलमान हुए।

जिन गेय-पद-रचनाकार तथा संगीतज्ञ कवियों का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनकी रचनाएँ विविध संगीत-पुस्तकों में जैसे—रागकल्पद्रुम, संगीत-रत्नाकर आदि में हुआ है। एक ह० लि० पुस्तक काँकरौली के सरस्वती-भंडार में भी—'मुगल सम्राटों के ब्रजभाषा पद' नाम से है।

ब्रजभाषा : रीतिकाल के कवि

"अकबर शाह (सं० १५६६) कवित्त, सवैया और पद, अकबर खाँ (१८८६) योगसार वा योगदर्पण-सार (वैद्यक), अकरमफ़ैज (१२०५) वृत्तरत्नाकर (छंदशास्त्र), अखत्तर (मूलनाम-बाजिद अली शाह लखनऊ) फुटकल छंद-ठुमरी आदि, अजबरंग, अजमत, अजमेरी मुंशी (१९३८), अजीजुद्दीन, अनवर खाँ (१७८५) बिहारी-सतसई पर टीका, अनीस (सं० १९११) स्फुट रचना, अफसोश, अब्दुल अजीज (१७६५) बरवै, अब्दुल जलील (रचना और रचना-काल अज्ञात), अब्दुलरहमान (१७६३) यमक-शतक, अमीर खुशरो (१३१२), अलमस्त, अली महबूब खाँ या मुहीब खाँ (पीतम) आगरा (१७८७) खटमल-बाईसी और रस-धमार,[1] अल्ली खाँ, अहमद (१६६०) रस-विनोद (वैद्यक) और बारहमासा,[2] अहमद्दुल्लाह बहरियाबाद दिल्ली (१७७३) दक्षिण-विलास, आजम (१८६०) नखसिख, षट्रितु-दर्पण, आजम खाँ (१७८६) शृंगार-दर्पण, आजम शाह (१७६४) स्फुट पद, आदिल (१७८५) स्फुट कवित्तादि, आदिलशाह इब्राहीम (१६०८) नवरस, आलम (१७२०) आलमकेलि (स्फुट रचना) तथा माधवानल-कामकंदला-नाटक, आलम—लखनऊ के नबाब बाजिदअली का दूसरा उपनाम, रचना—ठुमरियाँ,[3] आशक, आसिफ खाँ (१७३८) स्फुट रचना, आसी[4] सिकंदरपुर बलिया के (१८६०) स्फुट रचना, इकरंग, इंसाअल्ला (१८७४) रानीकेतिकी की कहानी, इब्राहीम सैयद (१६५१) स्फुट रचना, इमदाद, इश्क, इश्कदीन, उलफतराय राजा (मस्तपिया), उसमान (१६१३) चित्रावली, औरंगजेब (१६७५) स्फुट रचना, कदर—पूरा नाम "अलीकदर", लखनऊ के नबाव बाजिद अली शाह के कोई रिश्तेदार, कदरपिया, कबीर (१४५५) प्रसिद्ध, कमाल (१६२२), करीम (१७५४) स्फुट रचना कवित्त-सवैया, करीम दूसरे (१७५४) स्फुट-रचना[5] करीम बक्स (१९४५) नगमए-मुहब्बत (ब्रज-भाषा में), काजम कायम, काजिम, काजी अशरफ़ महमूद, काजी कदम (१७०६) साखियाँ, कादर, कादर करीम, कादिरबक्स—पिहानी हरदोइ वाले (१६३५) स्फुट रचना, कारेखाँ फकीर रहली—सागर (१८४३) कृष्णस्तव, कासिम शाह दरियाबाद—बाराबंकी (१७८८) हंस-जवाहिर की कहानी, किसबर अली—सार चंद्रिका, कासिम—रसिक-प्रिया (केशवकृत) की टीका, कुतुब, कुतुब अली—स्फुट रचना, कुतुबन शेख (१५६०) मृगावती की कहानी, खलील, खलील दूसरे, खान सुल्तान (१९२५) स्फुट रचना, खालिश, खिरदमंद, खुशहाल, खैराशाह, चाँदखाँ (शेह राहत अली के मामू—बड़ौदा गुजरात) ठुमरियाँ, जमाल (१६२५) जमाल-पचीसी, जहाँगीर बादशाह, (१६२५), जान (कविजान) शुद्ध नाम अलफ़खाँ (१७११) प्रेम कथानक,—७० ग्रंथ,—रसमंजरी, रसवर्णन[6], जायसी (१५६७) पद्मावत, जुल्फिकार (१७१४) बिहारी-सतसई की टीका, जैनदी-

[1]. यह पुस्तक काँकरौली के 'पुस्तक भंडार' में है।

[2]. यह पुस्तक उदयपुर मेवाड़ के पुस्तकालय में है।

[3]. वाजिदअली शाह की प्रथम बेगम का नाम—'आलम' था, उन्हीं के नाम से कुछ ठुमरियाँ ब्रजभाषा में लिखी गई हैं।

[4]. पूरा नाम—मौलाना शाह अब्दुल अलीम आशीं।

[5]. इनका उल्लेख 'सूदन' के सुजान चरित्र में आया है।

[6]. इनके संपूर्ण ग्रंथों का संग्रह स्व० हरिनारायणजी प्रोहित जयपुर के यहाँ है।

मुहम्मद[१] (१७३६) ताज (१७००) स्फुट रचना, गेय-पद[२] तथा कवित्त-सवैया, तानतरंग (१६४०) स्फुट गेय-पद, तानसेन (१६१७) गणेश स्तोत्र, रागमाला, संगीतसार, स्फुट रचना, गेय-पद, तालिब अली (१८०३) स्फुट रचना, तालिब शाह (१७६८) स्फुट रचना, तावाँ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, ताहिर अली (१६७८) कोकसार, तुराब अली, (समय अज्ञात) गेय-पद—ठुमरियाँ, तेग अली (१९५०) बदमास दर्पण, दरिया साहिब (१७३३) साखियाँ, दावन (समय अज्ञात), दानिशमंदखाँ (२७३७) स्फुट रचना, दाराशाह (१७१०) सार-संग्रह, दोहास्तव, दीनदरवेश—पालनपुर गुजरात (१८७५) दीनप्रकाश, स्फुट कुंडलियाँ, भजन-भड़ाका, नज्म (समय अज्ञात), नजीर आगरा (१८३७) स्फुट रचना, नजीर (दूसरे) पूरा नाम—हाफ़िज महम्मद नजीर देवग्रामी लखनऊ (समय अज्ञात) ठुमरियाँ और दादरे, नबीशेख़ (१६७६) ज्ञानदीप, निजामी—पूरा नाम निजामुद्दीन लखनऊ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, निजामुद्दीन औलिया (देहली के ख्वाजा) ठुमरियाँ और दादरा स्फुट, निवाज (१८३०) बिलग्राम-हरदोई, स्फुट रचना, नूर (समय अज्ञात) वृंदावन रचना—नूर संग्रह,[३] नूरमुहम्मद (१८०१) इंद्रावती, प्रेमी यवन (१८३५) कोष—अमर-कोष का अनुवाद, फकीरहुसैन शाह (समय अज्ञात) स्फुट छंद, फकीरद्दीन (१९५०) स्फुट रचना, फरहत (समय अज्ञात) स्फुट रचना, फहीम (१६०७) स्फुट रचना, फाजिल अली (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, फाजिल शाह (१९०५) प्रेमरतन (कहानी), फैजी (१६००) स्फुट छंद, बख्तावर खाँ बिजावरवाले (१९२२) धनुष-समैया, बहजन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, बहादुर-शाह—जफ़र (१६९८) फुट रचना, बहाव (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, बावरी साहिबा (अकबर-काल से प्रथम) सत्यनामी पंथ की आदि प्रवर्त्तिका—स्फुट रचना, बाहिद (समय अज्ञात), स्फुट रचना, बीरू साहिब (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, बुल्ला साहिब (समय अज्ञात) साखियाँ, मंझन (१५६०) मधुमालती, मंसूर (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, मकसूद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मसऊद (समय अज्ञात) दीवान ए हिंदी, महताब (समय अज्ञात) स्फुट रचना, महबूब और काशिम (१७६१) स्फुट रचना—कवित्त-कुंडलिया, मीर अहमद बिलग्रामी (१८००) स्फुट रचना, मीरन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मीर रुस्तम (१७३५) स्फुट रचना—कवित्त-सवैया, मुबारक अली बिलग्रामी, पूरा नाम—'सैयद मुबारक अली' (१६४०) अलक और तिल सतक तथा स्फुट छंद, मुल्तान आलम (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मुल्ला दाऊद (१२६०) स्फुट रचना, मुश्तरी (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मुहम्मद शाह (१७३५) बारहमास, संगीतमालिका,[४] मुहम्मद जलालुद्दीन (१६१५) स्फुट रचना, मुहम्मद शाह रंगीले (१७७६) स्फुट रचना, मुहम्मद गौस (तानसेन के प्रथम गुरु) पूरा नाम—शेख मुहम्मद गौस (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मौजुद्दीन (समय अज्ञात) प्रसिद्ध ठुमरीकार, याकूब खाँ (१७७५) केशवदास कृत 'रसिक प्रिया' की टीका, रसभूषण, याकूब खाँ (दूसरे) बड़ोदा वाले (समय अज्ञात) स्फुट रचना, यारी साहिब (१७२५) साखियाँ, यूसुफ खाँ (१२२०) केशवदास कृत रसिकप्रिया की टीका, रज्जब (१५९५) साखियाँ, रसखाँन (१६४०) स्फुट छंद—कवित्त-सवैया-दोहा तथा प्रेमबाटिका, रसलीन, पूरा नाम—सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' (१७४६) रसप्रबोध (नायिका भेद का ग्रंथ) अंग-दर्पण (नखसिख), स्फुट छंद, रसिया—नजीब खाँ (१८९९) स्फुट छंद, रहीम पूरा नाम—अब्दुल रहीम खानखाना (१६१०) दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिका भेद, शृंगार सोरठ, पद्माष्टक,

१. इनका नायिका की पीठ का वर्णन बड़ा ही सुंदर है।

२. ताज की १२॥ साढ़े बारह धमार प्रसिद्ध हैं।

३. यह संग्रह बड़ा सुंदर है, कवि ने अपने समय के प्रायः सभी कवियों की रचना ली है।

४. ये ग्रंथ 'अनूप-संस्कृत लायब्रेरी' बीकानेर में है।

खेटकौतुक जातक तथा पद, रहीम—दूसरे (१७८०) स्फुट रचना, राहत-बड़ोदा, पूरा नाम—शेख़ राहत अली (समय अज्ञात) स्फुट रचना, रूपमती—बेगम बाजबहादुर (१६३७) स्फुट रचना, रूपरतन—बेगम भूपाल (भारतेंदु-काल) स्फुट रचना, लतीफ (१८३४) स्फुट रचना, लतीफ हुसेन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, लालदास, (समय अज्ञात) स्फुट रचना, वाजिद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शहरयार (१६६२) स्फुट रचना,[१] शाद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शाहजहाँ (१६४७) स्फुट छंद, शाह तुबक अली (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शेख़ रँगरेजिन[२] (१६२०) स्फुट रचना, शेख़ अहमद (समय अज्ञात) वियोग सार, मोहिनी, शोखरंग—देहली के अंतिम बादशाह बहादुरशाह, रचना—स्फुट विशेष कर ठुँमरियाँ, सनद लखनऊ (समय लखनऊ के नवाब बाजिदअली-काल) स्फुट रचनाएँ—ठुंमरी और दादरा, सनद 'पिया' (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सरमद (समय अज्ञात) बैन-सरमद, सुंदर कली[३] (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सुल्तान (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सैयद अमीर अली 'मीर' सागर (१९३०) स्फुट रचना, सैयद छेदाशाह पौहार—कानपुर (१९३७) स्फुट रचना, सैयद बर्कतुल्ला (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हक़ीम हाजी अली खाँ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हफ़ीजुल्लाह खाँ करजई—हरदोईवाले (१९१३) 'नवीन संग्रह' हफ़ीजुल्लाह खाँ का 'हजारा', 'प्रेम तरंगिनी', 'रसिक-संजीवनी', हाफ़िज (समय अज्ञात), हामिद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हिम्मत खाँ (१८३०) स्फुट रचना, हुसेन (१७०८) स्फुट रचना, हुसेन शाह (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हैदर (समय अज्ञात) स्फुट रचना।"

उपरोक्त सूची—नामावलि, अधूरी कही जा सकती है। साथ ही कवि-नामों में पुनिरुक्ति भी उनकी रचना-वैविध्य—गेय-पद-रचना और रीति-कालीन कविता के कारण है। उदाहरण के लिए मुगुल सम्राट् 'अकबर', 'रहीम' और 'ताज' को ले सकते हैं। अकबर की दोनों प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। गेय-पद पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ में अन्यत्र दिये जा चुके हैं। रीति-कालीन कविता जैसे—

"साह 'अकब्बर' एक समैं, चले कान्हि बिनोद-बिलोकँन बालहि।
आहट ते अबला निरख्यौ, चकि-चौंकि चली करि आतुर चालहि॥
त्यौं बलि बैंनी सुधार धरी, सु भई छबि यों ललनाँ अस लालहि।
चंपक चारु कमाँन चढ़ावत, काँम ज्यों हाथ लए अहि-बालहि॥"

रहीम के कवित्त-सवैया कम मिलते हैं, किंतु जो भी मिलते हैं, वे सुंदर ही नहीं अति सुंदर हैं, यथा—

कोंन धों सीख 'रहीम' इहाँ, इन नैंन अँनोंखिए नेह की नाधनि।
प्यारे सों पुन्नन-भेंट भई, पै लोक की लाज बड़ी अपराधनि॥
स्याँम-सुधानिधि-आँनन कों, मरिऐ सखि, सूधें चितैवे की साधनि।
ओट किऐं रहते न बनें, कहते न बनें बिरहानल-दाधनि॥

❀

पुतरी-अँतुरीन कहूं मिलि कें, लगि-लागि गयौ कहुँ काहु करेंटौ।
हिरदौ दहिबे सहिबे ही कों है, कहिबे कों कहा कछु है गहि फेंटौ॥
सूधें चितै तन हा-हा करें हूं, 'रहीम' इतौ दुख जात सँमेंटौ।
ऐसे कठोर सों औ चितचोर सों, कोंन सी हाइ घरी भई भेंटौ॥

१. इनका एक ही छंद मिला है।
२. हिंदी-साहित्य-संसार में आप आलम कवि की स्त्री-रूप में प्रसिद्ध हैं।
३. ये लखनऊ के किसी नवाब की बेगम थीं, आपकी कविता बड़ी सुंदर शुद्ध ब्रजभाषा में है।

दोहे तो परम प्रसिद्ध हैं। एक उदाहरण जैसे—

"धूरि उड़ावत सीस पै, कहु 'रहीम' किहि काज।
जिहि रज मुनि-पतिनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥"

और आप की गेय-पद-रचना—

"कँमल-दल नेंनन की उँनमाँनि।
बिसरत नाँहि सखी मो मन ते, मंद-मंद मुसिकाँनि॥
यँ दसनँन-दुति चपला हू ते, महा चपल चँमकाँनि।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा-पगी बतराँनी॥
चढ़ी रहै चित उर बिसाल की, मुकत-माल पैहराँनि।
नृत्त-समें पीतांबर हू की, फैहैरि-फैहैरि फैहराँनि॥
अनुदिन श्री बृंदाबन में ते, आवन-जावन जाँनि।
अब 'रहीम' चित ते न टरति है, सकल स्याँम की बाँनि॥"

कवि 'ताज' की वल्लभ-संप्रदाय में साढ़े बारह धमारों में से निम्न-लिखित 'धमार' अति प्रसिद्ध है। यथा—

"बहुरि ढफ बाजन लागे हेली।
खेलत मोंहन साँवरौ हो, किहि मिस देखँन जाउ।
सास-नँनद बैरिन भई मेरी, कीजै कोंन उपाउ॥
भरी गागरी ढोरिऐं हो, जमुनाँ-जावन काज।
इहि मिसि बाहर निकसिकें हो, जाइ मिलों तजि लाज॥
आयौ बछरा मेलिए नाँहि, बन कों देंहु बिडारि।
वे वैहैं मोकों पठै, में रहों घरी द्वै-चारि॥
हा-हा री, हों जाति हों, मो पै नाँहिन परत रह्यौ।
तू तो सोचति ही रही, तें मान्यों नाँहि कह्यौ॥
राग-रंग गैहगड़ मच्यौ री, नंदराइ-दरबार।
गाइ, खेल, हँसि लीजिऐ हो, फाग बड़ौ त्यौहार॥
तिन्है में मोंहन अति बने हो, नाचत सँग लै ग्वाल।
बाजे बहु बिधि बाज-हीं हो, रंज, मुरज, ढफ, ताल॥
मुरली अधर बिराजहीं हो, कटि पट-बाँधें पीत।
निरतत आवत 'ताज' के प्रभु, गावत होरी-गीत॥"

और आप की रीति-काल की कविता तो सुंदर है ही। उदाहरण जैसे—

एरे दिलजाँनी, माँड़े दिलदी कहाँनी, तुब दस्त हूँ बिकाँनी, बदनाँमी हूँ सहूँगी में।
देव-पूजा ठाँनी औ निबाज हूँ भुलाँनी, तजे कलमा-कुरान ताजे गुनना गहूँगी में॥
साँवला सलोंना सिर 'ताज' सिर कुल्ले दिऐं, तेरे नेह-दाग में निदाग हो रहूँगी में।
नंद के फरजंद कुरबाँन ताँड़ी सूरत पर, तेरे नाल प्यारे, हिंदुवाँनी हो रहूँगी में॥"

ये अल्प उदाहरण उन मुसलमान कवियों की संगीत-परक कृष्ण-भक्ति-शाखा और रीति-काल के हैं, जिसे—'परधर्मोभयापहः' होते हुए भी इन महानुभावों ने अपनाया और अपनी-अपनी अमर कृतियाँ ब्रजभारती को भेंट की। कृष्ण-भक्ति की इस सीतल-मंद-सुगंधित पावन धारा में आकंठ निमग्न रहते हुए भी इन्होंने अपने परंपरागत मूल धर्म को नहीं त्यागा। उसे संगीत के मंजुल पट में लिपटा कर हृदय से लगाए रहे। उदाहरण, जैसे—

राग-भैरव

"बेचुन, बेचगुन, बेसुवे, बेनमुन, दूसरौ रच्यौ महंमद अचल आखर हकीक।
पुनि कीन्हों चारों यार बासिफत बाकरार प्रथम सदिक सावत हजरत —
अल्ला रसूल कौ पुरदीन दीनपूर, मज्जब जैसें दरिया अगम-अथाह अमीक ।।
कहत सुजान हजरत इमाम पाक इमान, नबी प्रान चाहत अली बली साहब ।
मारफुक रजेर महमदी बलमा कहायौ, सबनें मनायौ वह दूल्हा सरीक ।।

❀

मुसकिल आसाँन कीजै बेगि अल्ला साहब ।
वास्ते रसूल के हैं मेरी सौं मो मन की चिंता बिसर जाइ, दुख-पाप कटैं या रहीम रहमान रब ।।
अरज करत तिहारे दरबार जो, आप वाकों देति एक दिन में राज-पाट, अरब-खरब।
मंगता हों, दाता तुम्ह सुन लीजै कीजै निहाल, अली-बली इबोतुल सफी दीजिए सुख-संपत अब ।।

❀

प्रथम अल्ला हो अकबर कहि रे तू मेरे मन, दूजें रसूल चित-धरि रे।
बेचुन, बेचुगुन, बेसुवे, बेचमुन, परद पोशदाना, पाक-जात याद करि रे ।।
ऐसौ आलम करीम करम कौ करनहार, जो सुधि लेत तेरी नित निसि-बासरि रे।
हिदायत अजीज कों दीजै सुख-संपत, दीन दुनी कुसल-छेम तिहारे नाम के अधरि रे ।।

राग-टोड़ी

जो चाहें सो करै तूही तू, ऐसौ पाक परवरदिगार ।
बेचुन, बेचगुन, बेसुवे, बेनमुन, कुनफे, कुनके कहैं कौंन रचना अपनी मिकार ।।
जीव-जंतु, पवन-पाँनी, आसमाँन सब तोहि रटत, तोही नाँम कौ लिएँ अधार ।
जबते सुने तबते एक महंमद नाम के कारन, कीन्हे नूर महूर रसना चाहत दीदार ।।

राग-गूजरी

हजरत अली की सुदिष्ट भली मोपर जौ, दुख जाइ सब तन ते भाज ।
हों सेबक तिहारौ तुम्ह पाक करीम करम कीजै, राख लीजै जगत में मेरी अब लाज ।।
बेचुन, बेचगुन, बेसुवे बेनमुन पाक, जात रियाज सो न्याज ।
'ताँनसेंन' रब रहमान करीम-रहीम, बिनती सुनिएँ अबाज ।।

राग-आसावरी : ख्याल

महंमदसा पातसा, आज हमसेंन-तुमसेंन भेंट भइली,
कोटि बरस सूरजनुवाँ कजवा पुजील ।
जीवौ, जागौ कोटि बरस लौं ढोटवा तुम्हारा—
कायम दायम रहै 'सदाँ रंगीले' कर मन चीते हुजील ।।

राग-धनाश्री

पाक रसूल महंमद अल्ला तेरौ नूर जहूर ।
धँन-धँन परवरदिगार गुन्हैगार तू बकतन, तूही जग रमि रह्यौ भरपूर ।।
बेचुन, बेचगुन, बेसुवे, बेनमुन, अव्वल-आखिर तुही, निकट तुही दूर ।
जित-तित देखों तुही-तुही ब्यापि रह्यौ, जल थल-धरनी-अकास तू ही हजूर ।।

❀

जाकौ मन अल्ला-संग रहै, जैसें पाछें-पाछें फिरत नरद ।
वौ कौंन है चल्यौ देखियो, हजरत ख्वाजे मीर दरद ।।

जिन्ह भूँख-प्यास मारि राखी, वे कहावत जग में मरद ।
कबहूँ होत हैं सुए-बरँन औ कबहूँ होत है जरद ।।

राग-पूरबी

तुम्ही हौ औलिया निजामी तुम्ह जाँनों नींके,
अल्लाह अबूढे हौ यातें जिकर-फिकर ।
जिकर जाहर सावत करना सुत मल कूत जबरूत,
लाहूत मजकूर सुनों कहूँ गुपत, कहूँ प्रघट ।।
ताकर राखों याते तिहूँ लोक माँनत-जाँनत,
नींकी बिधि घर-घर ही जीय बर ।
कबहूँ अल्ला आसिक होत तुम मासूक,
करत रहत अल्ला-अल्ला एक-एक घरी-पल ।।

—इत्यादि

अस्तु, इस प्रकार की रचनाएँ उतनी सुंदर और सरस तो नहीं, जितनी कि भारतीय रंग में रँगी कृष्ण-भक्ति-शाखा की हैं। यहाँ उन्हें केवल लकीर-पीटनी थी, जो पीटते रहे और उसे भक्ति-शाखा जैसी रोचक न बना सके, कारण आलंबन अलक्ष का था। सरस रचना का आकर्षण वहाँ ही होता है, जहाँ सुंदर आलंबन प्राप्त हो और जिसे वे अलंकार की दृष्टि से उपयोग में ला सकें। बुत-परस्त न होते हुए भी वे इश्क़ के पाक पुजारी थे, अतः भारत के अनुपम आराध्यदेव—

"स्याँम सुंदर मदन-मोंहन...."

और माधुर्य-रस की साकार अधिष्ठात्री ब्रजेश्वरी श्री राधा को कैसे अपनी आखों से ओझिल रख सकते थे। इस युगल-माधुर्यमयी मूर्ति का बरबस आश्रय ले ब्रज-साहित्य को अपनी अनूठी रचनाओं से अधिक से अधिक ऊँचा उठा दिया। भाषा पर तो अधिकार था ही, विषय भी पूर्ण अधिकार के साथ ग्रहण किया।

कृष्ण-भक्ति का मूलाधार प्रेमा-भक्ति ही है। प्रेम ही इसका तात्त्विक मर्मस्थल है, जिसे इन विदेशी कवियों ने अपनी संस्कृति से वरदान-रूप में पाया। प्रेम की परंपरागत तल्लीनता और उसके ऊहात्मक आधार को लेकर ये बिकल मुसलमान कवि राधा-कृष्ण जैसा मनचाहा आश्रय पाकर अपने मजाजी इश्क़ को हक़ीकी में परवर्त्तित कर अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया। फल-रूप ब्रजभाषा को प्रेम-भाव के अंतर्लोक के अनेक चमकते हुए सुंदर भाव-रत्न अनायास ही मिल गये। अस्तु—

"इन्ह मुसलमान कवि-गँनन पै कोटँन हिंदू बारिऐ ।"

श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ

कृष्ण जो न होते . . .

पढ़ते पुराँन कोंन पंडित प्रवीन पाठ, प्रघट न होते रूप-ध्याँन कोंन धरते ।
बूझतो न बात कोऊ समझि न परती कछू बृंदाबन-चंद जो न आँन अबतरते ।।
'दत्तू कवि' सूर और रसिक रस लेते कहा, कूर कंसादिक ते कोंन भाँति तरते ।
नंद कें न होते काँन्ह, राधा बृषभाँन जू कें गुँनी गुँन-गाइ कहा कविताई करते ।।

—दत्तू कवि

श्री कृष्णावतार पर वैज्ञानिक दृष्टि

श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् 'श्री कृष्णचंद्र साक्षात् भगवान् परमेश्वर परब्रह्म हैं'—यह आर्यजाति का अटल विश्वास है। श्रीकृष्ण-चरण से ही भक्तिमंदाकिनी का सुधानिर्झर प्रवाहित होकर शांतिमय प्रवाह से संपूर्ण जगत् को आप्लावित करता हुआ ब्रह्मांड को वेष्टित कर वहीं पहुँच कर लीन होता है, जिसमें डूबकर सनातन धर्मावलंबी समाज सदा से अपने आप को सफलजन्मा कृतकृत्य बनाता आया और आज भी बना रहा है। कृष्णलीला भक्त-जगत् का सर्वस्व है, उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ध्यान और अनुकरण में प्रलीन भक्तचित्त को तर्क, वितर्क, कुतर्क का अवकाश ही नहीं मिलता, उस आनंद-स्रोत में जिन्होंने अपने आप को बहा दिया है, उनके आगे तर्क के तिनकों की कदर ही क्या है? भक्तिरत्नमंच के सामने विज्ञान-दर्पण क्या प्रतिष्ठा रख सकता है? तथापि अपने-अपने अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न जिज्ञासु जन की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है। बहुत-से जिज्ञासु जन प्रतिकूल तर्कों के आघात से विकल होकर 'ईंट का जवाब पत्थर से चाहते हैं', बहुत-से अपनी बुद्धि को संतुष्ट करने के लिये प्रत्येक विचार वा कर्तव्यता को वैज्ञानिक-भित्ति पर ही खड़ा रखना चाहते हैं। किसी को प्रत्येक बात की तह में आध्यात्मिक चासनी का चसका है, तो कोई प्रत्येक विचार को विज्ञान के मसाले से चटपटा बनाना चाहता है। किंतु आश्चर्य यह है कि इन सब की ही साध श्रीकृष्णलीला में पूरी हो जाती है। उसे जिस दृष्टि से देखो, उसी दृष्टि से परिपूर्णता की ओर बढ़ते चले जाओ किसी अधिकारी को वहाँ निराशा की चट्टान से टकराना नहीं पड़ता। वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा अभिप्राय उस दृष्टि से है जिस में केवल श्रद्धा ही अवलंब न हो, शास्त्रों के वाक्य ही एकमात्र आधार न हों, किंतु प्रत्यक्ष और अनुभव का भी जिसमें सहारा लिया जा सके, तर्क के कर्कश प्रहार भी जहाँ कुंठित होते जायँ, प्रथमाधिकारियों की बुद्धि भी जिससे विकसित होती जाय और यों सब लोग जिससे लाभ उठा सकें।

पहले यह भी समझ लेना चाहिये कि मन, बुद्धि से अगम्य निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व में बुद्धि का प्रवेश कराने के जितने उपाय शास्त्रों में निर्धारित हुए हैं, उनमें 'अवतारवाद' सबसे उत्तम कहा जा सकता है। निर्विशेष ब्रह्म जब मन में नहीं आ सकता, तो उसकी उपासना भी नहीं हो सकती। इसलिये शास्त्र निषेधरूप से, उपलक्षण रूप से वा आरोपरूप से उपासना के भिन्न-भिन्न प्रकार बताता हैं। प्रत्यक्ष देखे जानेवाले पदार्थों में परमेश्वर के लक्षण देख कर उन्हें आलंबन मान ब्रह्मभाव से उपासना करना सब अधिकारियों के लिये उपयोगी है, अतएव वह श्रेष्ठ प्रकार है। उनमें भी चेतन में—विशेष कर मनुष्य-रूप में ब्रह्मदृष्टि उपासना का अत्यंत उपयोगी साधन है, क्योंकि उपासक मनुष्य का मन अपने सजातीय में विरोध रूप से प्रेम करे—यह प्रकृतिसिद्ध नियम है और प्रेम के द्वारा चित्तकी स्थिरता अति सुकर है। यही अवतारोपासना कही जाती है। इस उपासना की सिद्धि के लिये ही परम दयासागर परमेश्वर अपने आप को चेतनरूप में विशेषत: मनुष्यरूप में प्रकट करता है और ईश्वर के अनन्य प्रेमी ज्ञानवान् महात्मा शास्त्रोक्त परमेश्वर-लक्षणों की प्रकटता देख परमेश्वर रूप से उसकी उपासना करने लगते हैं, उसे ही परब्रह्म का प्रकटरूप मानते हैं—यही अवतारवाद कहा जाता है। यह अवतारवाद सनातनधर्म का प्राण और उपासना का सर्वस्व कहा जा सकता है। मानुष-अवतारों में भी भगवान श्री कृष्णचंद्र पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर परब्रह्म कहे गए हैं, क्योंकि उनमें

परमेश्वर के सब लक्षण पूर्णतया प्रकट हुए हैं। अच्छा, तो इसी पर विचार[1] किया जाय कि परमेश्वर के कौन-से लक्षण हैं—और वे भगवान् श्रीकृष्ण में किस रूप में पाये गये।

त्रिपुरुष-विज्ञान

भगवान् श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में अपने आप को अव्यय आत्मा कहा है—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्मायया ।।"

—भगवद्गीता ४।६

इसी अव्ययात्म-स्वरूप का आगे पंद्रहवें अध्याय में विशेषरूप से स्पष्टीकरण—

"परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।"

—भगवद्गीता ८।२०—१५।१६,१७,१८

लोक में दो पुरुष हैं—एक क्षर, दूसरा अक्षर। इंद्रियों से जो जाने जाते हैं वे सब भूत क्षर हैं, उनमें कूटस्थ—नित्यरूप से रहनेवाला—विकृत न होनेवाला—पुरुष अक्षर कहा जाता है। वह अक्षर पुरुष भी अव्यक्त है, अर्थात् इंद्रियग्राह्य नहीं, किंतु उससे भी पर और एक अव्यक्त नित्यभाव है, जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका धारण कर रहा है, उसे अव्यय या ईश्वर कहते हैं। मैं क्षर से परे हूँ, और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये (अव्यय पुरुषस्वरूप) मैं लोक में और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।' यह उक्त श्लोकों का तात्पर्य है। इन तीनों पुरुषों का विवेचन ब्राह्मण-ग्रंथों में बहुत कुछ है, उसका संक्षेप यहाँ लिखा जाता है।

पुरुष का अर्थ है पुर में रहनेवाला, जगत् में जो पंचभूतात्मक मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वे पुर हैं। हम पुरों को ही देखते हैं, किंतु यदि इनका उपादानकारण 'पुरुष' इनके भीतर न रहे, तो ये पुर ठहर ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये—दीपशिखा एक पुर है, उसमें तैल पुरुष है, यदि तैल प्रतिक्षण उसे बनाता न रहे, तो दीपशिखा कभी की गायब हो जाय। वृक्षों में रस यदि न हो, तो वृक्ष कभी सूख जायँ, ठहर ही न सकें, तभी तो रस की स्थिरता के लिये उनकी जड़ में बार-बार जल देना पड़ता है। यों ही हमारे शरीरों की रक्षा के लिये अन्न-जलादि की आवश्यकता होती है, वे ही अन्न-जलादि रस, रुधिर आदि रूप में परिणत होकर शरीरों को स्थिर रखते हैं। यही मिट्टी, पत्थर आदि जगत् के सब पदार्थों की गति हैं। तात्पर्य यह कि जगत् के सब पदार्थों की स्थिति 'यज्ञ' पर निर्भर है। 'यज्ञ' पाँच प्रकार की क्रिया का नाम है—आदान, अर्पण, उत्सर्ग, भैषज्य और विकास। अन्य वस्तुओं में से अपना अन्न[1] लेकर उसे अपने स्वरूप में प्रविष्ट कर लेना आदान कहा जाता है, जैसा कि हम लोग वृक्ष, औषधि, नदी आदि से फल, अन्न, जल आदि लेकर उससे अपने स्वरूप की रक्षा करते हैं, वृक्ष जल लेते हैं, दीपक तैल लेता है—आदि-आदि। इसके विरुद्ध अपने स्वरूप में से कुछ पदार्थ दूसरे की रक्षा के लिये अन्न रूप से देना 'अर्पण' कहाता है—जैसे कि दीपक प्रकाश देता है, वृक्ष पुष्प, फल आदि देते हैं। यही दान यदि किसी व्यक्तिविशेष को लक्ष्य कर न हो, किंतु विश्वात्मा के लिये आत्मसमर्पण हो, तो उसे 'उत्सर्ग' कहते हैं, जैसा कि वृक्ष, लता आदि अपने पुष्पों का

[1]. जयपुर-राज-पंडित गुरुवर श्री ६ मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति के 'भगवद्गीताविज्ञान-भाष्य' ग्रंथ के 'कृष्ण-रहस्य' प्रकरण को इस विचार का आधार बनाया गया है।

गंध वायु में देकर जगत् के उपकार में लगा देते हैं, वृक्ष अपने बीज द्वारा एक नया वृक्ष उत्पन्न कर जगत् को दे देता है, प्राणी अपने शरीर के भाग से संतान उत्पन्न कर जगत् को अर्पण कर देते हैं, इत्यादि। अब जो अन्न[1] लिया गया है, वह अर्क, प्राण आदि अवस्थाओं में प्राप्त होकर उस-उस वस्तु की क्षीण होती हुई केंद्रशक्ति (प्रजापति) को जो आप्यायित करता रहता है—वह 'भैषज्य क्रिया' है और उस अन्न के द्वारा किसी नियत परिमाण तक जो उस वस्तु की वृद्धि होती है—वह 'विकास' समझा जाता है, जैसा कि वृक्षों का वा प्राणिशरीरों का अपनी-अपनी मात्रा तक बढ़ना, विद्या पढ़ने से बुद्धि का विकास होना—आदि-आदि। यह यज्ञ बराबर सर्वत्र होता रहता है, इसी प्राकृत यज्ञ के आधार पर हमारे धार्मिक यज्ञ भी अवलंबित हैं। अस्तु, यद्यपि जड़ वस्तु मिट्टी, पत्थर आदि में ये क्रियाएँ स्फुट रूप से नहीं देखी जातीं, किंतु अनुमान से माननी अवश्य पड़ती हैं, तब ही तो ये जड़ वस्तुएँ भी क्रम-क्रम से पुरानी होती हैं, वा कालक्रम से निर्जीव हो जाती हैं। अर्पण की अपेक्षा आदान का अधिक होना जैसे वृद्धि का कारण है, वैसे ही आदान की अपेक्षा अर्पण अधिक होना ह्रास वा क्षीणता का हेतु है। आदान, प्रदान न होता हो, तो वह वस्तु सदा के लिये एक रूप रहे, किंतु ऐसी कोई वस्तु संसार में है नहीं। अतः जड़-वस्तुओं में भी आदान-प्रदान अवश्य है। सब ही वस्तुएँ सूर्य से प्रकाश लेती हैं, मेघों से जल लेती हैं, पृथ्वी से जीवन लेती हैं और अपना-अपना भाग यथोचित सूर्य, वायु, पृथिवी आदि को देती भी हैं। लोहे पर जंग लग जाना, पानी पर झाग आना, पत्थर पर पपड़ी उतरना, मिट्टी का सड़ना आदि तो आदान-प्रदान के स्फुट उदाहरण हैं। अस्तु, यह यज्ञ जिनपर होता है, अर्थात् यज्ञ द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थों के उपादान जो बनते रहते हैं, वे क्षर-पुरुष हैं। वे स्वयं क्षीण होकर पुरों को बनाते हैं, उनका रूप परिवर्तन होता है, इसलिये उन्हें क्षर कहा जाता है। और जो उस यज्ञ-क्रिया के प्रवर्तक हैं, जिनकी प्रेरणा से यज्ञ-क्रिया होती है, जो क्षर-पुरुषों का परिणाम कराते हैं, वे अक्षर-पुरुष हैं। ये परिणाम में निमित्तकारण मात्र हैं, स्वयं विकृत नहीं होते—इसलिये इन्हें अक्षर-पुरुष कहते हैं। ये परिणामी पदार्थ, परिणामरूप यज्ञ-क्रिया और परिणाम के निमित्त—सब जिसके आश्रित हैं—वह सर्वाधार, कार्य-कारणशून्य निर्विकार अव्यय पुरुष कहा जाता है।

इन तीनों पुरुषों को सृष्ट, प्रविष्ट और विविक्त-शब्दों से भी कहते हैं। क्षर-पुरुष की ही भिन्न-भिन्न रूप से सृष्टि होती है, इसलिये वह सृष्ट है, अक्षर उसमें प्रविष्ट और अव्यय विविक्त, अर्थात् सब में रहता हुआ भी सबसे पृथक्—बे-लाग रहनेवाला है। इस विषय को और थोड़ा स्पष्ट करने के लिये ऊपर से नीचे की ओर आइये। इस सब परिवर्तनशील, विकारी, अनित्य, परस्पर भिन्न पदार्थों के समूहरूप जगत् का एक नित्य मूल अवश्य है—यह श्रुति ने निश्चय किया है। इसके अनुकूल तर्क भी श्रुति उपस्थित करती है और अनुभव के प्रकार भी बताती है। प्रकरणांतर हो जाने के भय से इस विषय को यहाँ नहीं बढ़ाया जाता। विकार, परिच्छेद, गुण और धर्म—ये सब जगत् के अंतर्गत हैं, इसलिये संपूर्ण जगत् के एक मूल में इनका होना संभव नहीं। अतएव वह तत्त्व इंद्रियातीत मनोवागतीत, सत्तामात्र निर्विशेष कहा जाता है। यद्यपि निर्धर्मक, निर्गुण होने के कारण उसका कोई नाम नहीं हो सकता, तथापि व्यवहार के लिये उसे शुद्ध ब्रह्म, निर्विशेष वा रस कहा करते हैं। इस रस की जो शक्ति संपूर्ण जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कारण बनती है, उसे बल-शब्द से समझिये। बल की तीन दशाएँ हैं, जब तक वह प्रकट नहीं होता, उस अव्यक्त वा प्रसुप्त दशा में उसे बल ही कहेंगे, जब वह कार्य करने को प्रस्तुत हो, तब प्राण कहावेगा और कार्यरूप में जाकर विनाशोन्मुख होने की दशा में उसे ही क्रिया कहते हैं। बल की अविवक्षा कर शुद्ध-रस का निर्विशेष-शब्द से व्यवहार करते हैं—और प्रसुप्त दशावाले बल-सहित रस का 'परात्पर' शब्द से। ये दोनों विश्वातीत हैं, सृष्टि में ये कोई भाग नहीं ले सकते। न इनका कोई लक्षण कहा जा सकता है। जब वह बल

[1]. अन्न सात प्रकार का होता है, इसका विस्तृत विवरण 'वृहदारण्यक-उपनिषद्' में है।

जागरित—कार्योन्मुख होता है, तो सब से प्रथम असीम रस में सीमा—परिच्छेद (लिमिट) बनाता है, क्योंकि वह (बल) स्वयं परिच्छिन्न और अनित्य है, अतः जहाँ वह रहेगा उस रस को भी परिच्छिन्न रूप में ही दिखावेगा, जैसे कि घट, मठ आदि असीम आकाश को परिच्छिन्न रूप में दिखाते हैं। अमित रस का मान (परिच्छेद, सीमा) यह बल कर देता है, इसीलिये इसे 'माया' (मान का कारण) कहा जाता है। असीम का ससीम से संबंध ही कैसे बना? निर्विकार, शुद्ध एकरस में विकारी, परिच्छिन्न, अनेक बल आये कहाँ से—इत्यादि बातें बुद्धि के द्वारा अगम्य हैं—इसलिये इस बल वा माया को अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। माया द्वारा सीमाबद्ध होने पर मायाविशिष्ट रस का नाम 'अव्यय पुरुष' होता है। अव्यय पुरुष में यद्यपि बल द्वारा परिच्छेद हो गया है, किंतु 'ग्रंथि' नहीं है, बल इसे बंधन में न ले सका, इसलिये यह सृष्टि का उपादान वा निमित्त नहीं बनता, केवल आलंबनमात्र रहता है। विकारात्मक सृष्टि से यह परे ही रहता है, इसलिये इसे पर-पुरुष वा पुरुषोत्तम कहते हैं।

अर्वाचीन वेदांत-ग्रंथों में इसे 'मायाशवलित ब्रह्म' कहा है और पंचदशीकार ने संसार रूपी चित्र के लिये घट्टित (चावल आदि के द्वारा चिकनाया हुआ) पट इसे बताया है। इसमें दो भाग हैं, जिन्हें रस और बल, ज्ञान और कर्म वा अमृत और मृत्यु कह सकते हैं। इसी अव्यय पुरुष का वर्णन यह श्रुति करती है—

> **"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**
> **न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**
> **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,**
> **स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥"**
>
> —श्वेताश्वतर

> **"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।"**
>
> —भगवद्गीता ५।१४

इत्यादि भगवद्गीता-वचन का भी यही प्रतिपाद्य है।

बल के द्वारा परिच्छेद होने पर परिच्छिन्न वस्तु का एक केंद्र भी अवश्य बन जाता है। उस केंद्र में इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे श्रुति ने **'एकोऽहं बहुस्याम्'** (मैं एक ही बहुत रूप में प्रकट होऊँ, सृष्टि करूँ) इन शब्दों में कहा है, इस इच्छा शक्ति के द्वारा मायाबल पर काम, तप और श्रम नाम के तीन बल और उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रुति ने—**'सोऽकामयत' 'सोऽश्राम्यत्' 'सतपोऽतप्यत'** इन शब्दों में स्थान-स्थान पर प्रकट किया है। यों बल[१] पर बल की चिति (चिनाई) आरंभ होती है। यद्यपि प्रत्येक बल क्षणिक है, एक बल दूसरे का आधार बन नहीं सकता, किंतु स्थिर रस के आश्रय से धारावाही होकर वह स्थिर-सा बन जाता है और यों बलों पर बलों की चिति संभव हो जाती है। बल पर बल के संसर्ग का नाम ही सृष्टि है। संसृष्टि में से 'सं' का लोप कर देने पर 'सृष्टि' शब्द बनता है। इस चिति के द्वारा निष्कल अव्यय पुरुष में पाँच कलाएँ प्रकट हो जाती हैं। इच्छाशक्ति उत्पन्न होते ही इसका नाम 'मन'[२] होता है, चिति के कारण इसी मन को 'चित्पुरुष' वा 'चिदात्मा' भी कहा करते हैं। चिति दो प्रकार की होती है, अंतश्चिति और बहिश्चिति। जो सृष्टि की ओर प्रवृत्त करनेवाली है, जिसके द्वारा कर्म का प्राबल्य होकर रस का आवरण हो जाता है, उसे 'बहिश्चिति' कहते हैं, यह 'ग्रंथि' डालनेवाली चिति है और जिसके द्वारा कर्म-ग्रंथि खुलती जाय, कर्म लीन होता जाय

१. जैसे मकान बनाने में ईंट पर ईंट या पत्थर पर पत्थर रखकर चिति (चिनाई) की जाती है, उसी प्रकार बल पर बल की भी चिति होती है। ऊपर-नीचे जमाना ही 'चिति' शब्द का अर्थ है।

२. इंद्रियों में जिस मन की गणना है, वा भूतात्मा रूप जो मन है—वह इससे पृथक् है।

—लेखक

और रस का विकास होता जाय, वह 'अंतश्चिति' कहाती है। गाँठ लगना और गाँठ खुलना—दोनों कर्म के ही फल हैं, अतः दोनों चिति बल की ही हैं। बहिश्चिति सृष्टि का कारण बनती है और अंतश्चिति मुक्ति का। बहिश्चिति से प्राण और वाक्—ये दो कलाएँ प्रकट होती हैं और अंतश्चिति से विज्ञान और आनंद का विकास होता है। यों आनंद, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पाँच कलाएँ अव्यय पुरुष की सिद्ध होती है। इन्हें ही तैत्तिरीय-उपनिषद् में पाँच 'कोश' बताया है। वाक् का नाम वहाँ 'अन्न' आता है और सब नाम यथाक्रम ये ही हैं। कोश, अर्थात् निधान-खजाना। जो अक्षर, क्षर, पुर आदि आगे बनने वाले हैं—उनका आलंबन-निधान—खजाना ये ही अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ हैं, जिनके बिना जगत् की सृष्टि वा स्थिति नहीं हो सकती।

जो पदार्थ परिच्छिन्न—सीमाबद्ध होता है, वह अपूर्ण समझा जाता है और अपूर्ण की प्रवृत्ति पूर्ण होने की ओर रहती है, यह स्वाभाविक है। पूर्ण ही अपूर्ण बना है, इसलिये विज्ञानानुमोदित आकर्षण[1]-सिद्धांत के अनुसार वह अपनी पूर्ण दशा में ही जाना चाहता है। अव्यय पुरुष ज्ञान (रस) और कर्म (बल) उभयात्मक है—यह कहा जा चुका है, अतः रसरूप से यद्यपि वह पूर्ण है, किंतु बलरूप से सीमाबद्ध है। अपूर्ण बल पूर्णरूप में जाना चाहता है—क्योंकि उसका भी विकास पूर्ण से ही हुआ है। पूर्ण होने के लिये यह आवश्यक है कि जो अपने से भिन्न है, उन्हें अपने में लिया जाय—उनको 'अन्न' बनाया जाय—उनका 'अशन' किया जाय। इस प्रवृत्ति का हेतु जो बल होता है, उसे श्रुति में 'अशनाया' बल कहा गया है—**मृत्युनैवेदमावृतमासीत्, अशनायया, अशनाया हि मृत्युः'** (वृहदारण्यक) इत्यादि श्रुति में सृष्टि के आरंभ में इस ही अशनाया बल की स्थिति बतलायी गई है। मरण-धर्मा होने के कारण बल का नाम मृत्यु भी है—यह कहा जा चुका है। अस्तु, अशनाया बल दूसरे बलों पर आक्रमण कर उन्हें अपनी ओर ले लेता है—यह आदान-क्रिया है, आदान के साथ ही निष्क्रमण-विसर्ग भी प्रारंभ हो जाता है। ये आदान और विसर्ग अनवच्छिन्न—निरन्वय रूप में चलें, तो किसी पदार्थ की स्थिति ही न बन सके, इसलिये साथ ही 'प्रतिष्ठा' बल भी रहता है, जो आदान, विसर्ग होते हुए भी वस्तु की सत्ता रखता है। ये सब बल अव्यय पुरुष की 'प्राण' कला को आलंबन बनाकर प्रकट होते हैं और ये ही 'अक्षर' पुरुष कहे जाते हैं। अक्षर पुरुष यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से बल-प्रधान-बलात्मक हैं, किंतु बिना 'रस' के आधार के बल की स्थिति ही नहीं, इसलिये रसात्मक अव्यय पुरुष इसमें अन्वित—अनुस्यूत (भीतर घुसा हुआ) है, वही इन बलों का आधार है, इसलिये अक्षर भी पुरुष है। इस अक्षर पुरुष की भी पाँच कलाएँ हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि और सोम। पूर्वोक्त प्रतिष्ठाबल से अवच्छिन्न रस का नाम ब्रह्मा है, आदान (यज्ञ) बलवाला विष्णु और उत्क्रांति बलवाला इंद्र[2] कहा जाता है। जब आदान बल दूसरे बलों को अपनी तरफ लेता है, तो वहाँ अन्न, अन्नादभाव हो जाता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु के अंतर्गत हो जाती है। जो अंतर्गत होती है, वह अन्न, और जिसके अंतर्गत होती है, वह अन्नाद कहा जाता है। अन्न को सोम और अन्नाद को अग्नि कहते हैं। इन पाँच देवताओं के ही अवांतर भेदों में सब देवता अंतर्गत होते हैं—जैसा कि निम्न निर्दिष्ट श्रुति में कहा गया है—

> **"यदक्षरं पंचविधं समेति**
> **युजो युक्ता अभि यत् संवहंति ।**

१. जो जिसमें से निकला हो, जिसका अवयव हो, वह अपने घन की ओर गति रक्खे—यही आकर्षण-सिद्धांत है। जैसे मिट्टी का ढेला पृथिवी की ओर अप् का विकार धूम अंतरिक्ष की ओर और तेज सूर्य की ओर स्वाभाविक गति रखता है।

२. पौराणिक भाषा में इंद्र के स्थान में रुद्र कहा गया है, अप्रस्तुत होने से यह विचार यहाँ बढ़ाया नहीं जाता।

सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते
तत्र देवाः सर्वं एकीभवंति ।।"

इन पाँच कलाओं में ब्रह्मा, विष्णु और इंद्र—ये तीन हृदय (केंद्र) में रहने के कारण हृद्य कहलाते हैं और अग्नि, सोम बाह्य कहे जाते हैं। जैसे अव्यय की प्राण-कला में अक्षर-पुरुष का विकास हुआ है, ऐसे ही अक्षर की ये अग्नि और सोम नाम की दो कलाएँ क्षर-पुरुष-बाह्यपिंड—भूतात्मा को बनाने में प्रधान भाग लेती हैं। शक्तिरूप अक्षर पुरुष से ही भूतरूप क्षर विकसित होता है, प्राण ही 'रयि' का उत्पादक है, फास् ही मैटर बनाती है, यह वैदिक सिद्धांत है। श्रुति में स्पष्ट कहा है—

"अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम् ।"

अक्षर-पुरुषरूप प्रजापति का अर्द्ध भाग मर्त्य—क्षर होता है और अर्द्ध अमृत—अपने रूप में रहता है। इस क्षर-पुरुष का आलंबन अव्यय की पाँचवीं कला 'वाक्' है। इसी लिये सब भूतों को श्रुति 'वाक्' ही कहती है—

"अथो वागेवेदं सर्वम् ।"

क्षर-पुरुष की भी पाँच कलाएँ हैं, किंतु क्षर-पुरुष ही संपूर्ण सृष्टि का उपादान है, अतः वह अनेक भावों में देखा जाता है। प्रत्येक भाव में उसकी पाँच-पाँच कलाओं के पृथक्-पृथक् नाम हैं। आत्म-क्षर की कलाओं के अक्षर वाले ही नाम रहते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि, वायु। मर्त्य-क्षर वा विकार-क्षर दशा में इन पाँचों से क्रम से प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद—इन पाँच कलाओं का विकास होता है। वेदांत की पंचीकरण-प्रक्रिया के अनुसार इन पाँचों मर्त्य-क्षरों का पंचीकरणात्मक यज्ञ होता है, अर्थात् ये पाँचों परस्पर मिलाये जाते हैं—जिनमें आधा भाग प्रधान का और आधे में शेष चार। इसी पंचीकरण-प्रक्रिया से पिंडों की उत्पत्ति है। जिसमें आधा भाग प्राण का और आधे में समान मात्रा में आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद चारों हों—वह प्राण-प्रधान 'स्वयंभू' मंडल कहा जाता है। जिसमें आधा भाग 'अप' का और आधे में समानमात्रा में प्राण, वाक्, अन्न और अन्नाद चारों हों—वह अप्-प्रधान 'परमेष्ठी' मंडल बनता है। यों ही वाक्-प्रधान 'इंद्र' (सूर्य) मंडल, अन्न-प्रधान 'चंद्र' मंडल और अन्नाद-प्रधान 'पृथिवी' मंडल—पूर्वोक्त पंचीकरण की प्रक्रिया से बनते हैं। इस प्रकार यज्ञ-क्षर की पाँच कलाएँ, स्वयंभू, परमेष्ठी, इंद्र (सूर्य), चंद्रमा और पृथिवी नाम से कही जाती हैं। इसे ही लोक-सृष्टि या भुवन-सृष्टि कहते हैं। इसका विवरण मनुस्मृति के आरंभ में ही इन श्लोकों में है—

"ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ।।
योऽसावतींद्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिंत्यः स एव स्वयमुद्बभौ ।।
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।।
तदंडमभवद्धैमं[१] सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिंजज्ञे स्वयं ब्रह्मा[२] सर्वलोकपितामहः ।।
तस्मिन्नंडे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदंडमकरोद्द्विधा ।।

१. यह हैम-अंड ही सूर्य है, इस मंडल में इंद्र ही की प्रधानता है—'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिंद्रेण गर्भिणी' श्रुति का वचन है। जैसे पृथिवी में अग्नि व्याप्त है, वैसे सूर्यमंडल में इंद्र-प्राण व्याप्त है।

२. यह ब्रह्मा सूर्यमंडलस्थ प्रजापति हैं।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम[1] दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।।"

इनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व की व्याप्ति में उत्पन्न होता है और पूर्व से ही बद्ध उसके वश में रहता है। चंद्रमा पृथिवी की व्याप्ति के अंतर्गत है और पृथिवी से बद्ध है, इसी के चारों ओर घूमता है। पृथिवी सूर्य से बद्ध है। सूर्य परमेष्ठी (इस नाम के मंडल) से बद्ध है, उसकी व्याप्ति में है, उसके चारों ओर घूमता है और परमेष्ठी भी स्वयंभूमंडल से बद्ध है, उसके चारों ओर घूमता है। ये पाँचों मंडल विश्व की एक 'बल्शा' (शाखा) कही जाती है, ऐसी अनंत शाखाएँ अनंत आकाश में परिव्याप्त हैं। इन पाँचों क्षरमंडलों में एक-एक अक्षर-प्राण की प्रधानता है, इसलिये ये उन (अक्षर) नामों से भी कहे जाते हैं। स्वयंभू में ब्रह्मा, परमेष्ठी में विष्णु, सूर्य में इंद्र, पृथिवी में अग्नि और चंद्रमा में सोम प्रधान है, अतएव इन मंडलों को क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि और सोम नाम से भी कहा जाता है। इनमें पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो अंतरिक्ष है, उसमें रहनेवाला चंद्रमा मंडलों की संख्या में ले लिया गया है, किंतु सूर्य और परमेष्ठी के मध्य के अंतरिक्ष के ब्रह्मणस्पति, वरुण आदि मंडल वा परमेष्ठी और सूर्य के मध्य के अंतरिक्ष के विश्वकर्मा आदि का मंडल पृथक् नहीं गिने गये हैं, क्योंकि उनसे हमारा (इस पृथिवी का) साक्षात् संबंध नहीं है, चंद्रमा से घनिष्ठ संबंध है। यदि उन दोनों अंतरिक्षों की भी गणना कर ली जाय तो सात लोक हो जाते हैं, जो कि भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भूः—पृथिवी, भुवः—अंतरिक्ष, स्वः—द्युलोक—सूर्य, महः—अंतरिक्ष (दूसरा), जनः—परमेष्ठी, तपः—अंतरिक्ष (तीसरा), सत्यं—स्वयंभू। इनमें तीन पृथिवी, तीन अंतरिक्ष और तीन दिव (द्युलोक) हैं, किंतु दो जगह दिव और पृथिवी एकरूप हो जाते हैं—इसलिये सात ही लोक रहते हैं। जैसे हमारी पृथिवी की अपेक्षा सूर्य दिव है, किंतु उसे पृथिवी मान कर परमेष्ठी-दिव बनता है और परमेष्ठी को पृथिवी मान कर स्वयंभू-दिव होता है, यों सूर्य और परमेष्ठी पृथिवी रूप भी होते हैं—और दिवरूप भी। अंतरिक्ष तीनों पृथक्-पृथक् रहते हैं। इसी आशय से श्रुति में तीन पृथिवी और तीन द्युलोकों का कई जगह उल्लेख हुआ है—

"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेकः
तिस्रो द्यावो निहिता अंतरस्मिन् ।
तिस्रो भूमीरुपरा षड्विधानाः ।"

—इत्यादि

ये स्वयंभू आदि पाँच 'यज्ञ-क्षर' वा 'अधिदैवत-क्षर कहे जाते हैं—इनसे क्रमसे पाँच 'आध्यात्मिक-क्षर' होते हैं—जो प्रत्येक प्राणी में वर्तमान हैं। इनके नाम अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर हैं। यहाँ शरीरपद से स्थूल-शरीर लिया गया है। प्रज्ञान इंद्रिय-सहित मन का नाम है, विज्ञान बुद्धि को कहते हैं, महान् तीन प्रकार का है—आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान् और अहंकृतिमहान्। पहले के अनुसार प्रत्येक प्राणी का आकार (अवयवसंनिवेश, छोटा-बड़ापन आदि) होता है, जैसा कि श्रीभगवद्गीता में कहा है—

"सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।"

—भागवद्गीता, १४।४

दूसरे के अनुसार प्रत्येक प्राणी की प्रकृति (आदत) होती है, तीसरा अहंकाररूप है। ये तीनों (प्रज्ञान, विज्ञान और महान्) मिल कर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। अव्यक्त कारण शरीर है,

१. व्योम—अंतरिक्ष—अंतरिक्षस्य चंद्रमा।

जिसमें से दोनों शरीरों का विकास है। इन पाँचों आध्यात्मिक क्षरों की समष्टि उक्त पाँचों आधिदैविक क्षर हैं, उन पाँचों मंडलों के 'रस' से क्रम से ये पाँचों उत्पन्न होते हैं। आध्यात्मिक क्षर की पाँच कलाएँ दूसरी प्रक्रिया से भी कहीं-कहीं उल्लिखित हुई हैं—बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त। बीजचिति—कारण शरीर है, देवचिति—सूक्ष्मशरीर, भूतचिति—स्थूलशरीर, प्रजा-पुत्रादि और वित्त-संपत्ति। इस प्रक्रिया में क्षर-आत्मा की व्याप्ति जहाँ तक है, उन सब बाह्य पदार्थों का भी संग्रह हो जाता है। मतांतर में उन्हें 'पशु' शब्द से कहा गया है, तीन पुरुषों की गणना में नहीं लिया गया। अस्तु, इस संक्षिप्त लेख में पुरुषत्रय के संबंध में इससे अधिक नहीं लिखा जा सकता, इसका विस्तार जिन विद्वान् सज्जनों को समझना हो, वे गुरुवर विद्यावाचस्पति श्री६ मधुसूदन जी ओझा का 'भगवद्गीता-वैज्ञानिक भाष्य' वा उनके 'ब्रह्मविज्ञान' का 'सिद्धांतवाद' पढ़ें।

सारांश यह सिद्ध हुआ कि संपूर्ण जगत् का उपादान कारण क्षरपुरुष, उसमें अव्यक्त रूप से रहकर शक्तिविशेष रूप से उसे चलानेवाला निमित्तकारण अक्षरपुरुष और दोनों का आलंबन कार्य-कारणातीत अव्यय पुरुष कहा जाता है। यद्यपि अव्यय-पुरुष सृष्टि में कोई काम नहीं करता, वह निर्विकार, निष्क्रिय है, किंतु वह रसमय है, उसी का रस अक्षर और क्षर दोनों में अनुस्यूत-समन्वित है, उस रस का आश्रय न हो, तो शक्तिरूप अक्षरपुरुष वा उससे उत्पन्न क्षरपुरुष ठहर ही न सकें, इसलिये समन्वय के कारण अव्यय-पुरुष ही सब सृष्टि का मूल कहा जाता है। उछल-कूद सब कुछ लहरों की ही हैं, लहरें ही फेन आदि बनाती हैं, किंतु आधारभूत जल न हो तो लहरें रहें किसपर? जल को धारण करनेवाला घट ही है, किंतु आकाश न हो तो घट और जल दोनों ही कहाँ रहें? अतएव केवल अव्यक्त (अक्षर) से सृष्टि माननेवाले अव्यक्त को ही परतत्त्व कहनेवाले सांख्यवादियों को भगवद्गीता में फटकार बतायी गयी है—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।"

—भगवद्गीता ७।२४

निर्बुद्ध लोग मुझे (परत्त्व, परमात्मा को) अव्यक्त (अक्षर, शक्तिविशेष) रूप कहते हैं—और अव्यक्त की ही व्यक्ति (प्रकटता) को जगत् मानते हैं, वे सबसे उत्तम अव्यय नाम के मेरे पर-भाव (स्व-रूप) को नहीं जानते। इसीलिये परमपुरुष परमात्मा अव्यय अकर्ता होता हुआ भी कर्ता है—

"तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।"

क्षर की पाँच कला, अक्षर की पाँच और अव्यय की पाँच इन पंद्रह कलाओं का श्रुति निष्कल अव्यय (मायाविशिष्ट रस) में ही लीन होना बताती है—

"गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठां
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवंति ।।"

यों यह अव्यय-पुरुष सब में समन्वित होकर भी असंग है। संग नाम आसक्ति का है, जिसे 'बंध' भी कहते हैं। जैसे कि किसी पात्र में तेल डालने पर तेल का संग हो जाता है, कपड़े में मैल का या रंगत का संग हो जाता है—इत्यादि। जिस प्रकार काच में प्रतिबिंब का संग नहीं होता, कमल-पत्र में जल का संग नहीं होता, आकाश में मेघ का संग नहीं होता—वैसे ही अव्यय-पुरुष में अक्षर, क्षर-प्रपंच का संग नहीं होता। वह बेलाग रहता है।

ईश्वर और जीव

इन पंद्रह कलाओं में, सर्वत्र अनुस्यूत-समन्वित, निष्कल 'परात्पर' रस को भी एक कलारूप में जोड़ दिया जाय तो सोलह कलाएँ हो जाती हैं। ये सोलह कलाएँ ईश्वर और जीव दोनों में हैं,

अतएव दोनों ही 'षोड्शी' (सोलहवाले) कहलाते हैं, किंतु भेद इतना ही है कि ईश्वर में (षोडशी) अव्यय-आत्मा का क्षर द्वारा आवरण नहीं होता, किंतु जीव में आनंद, विज्ञान आदि अव्यय-पुरुष की कलाएँ क्षर से आवृत हो जाती हैं। आवरण करनेवाला 'काम' बल है, उसकी जीव में प्रधानता है, अतः जीव में अव्ययात्मा आवृत रहता है। यद्यपि **'सोऽकामयत'**—इत्यादि श्रुतियों से ईश्वर में भी काम सिद्ध होता है, काम न हो, तो सृष्टि ही कैसे करे? किंतु 'सर्ग' काम ही उसमें है, 'भोग' काम नहीं है। आप्तकाम, आत्माराम होने के कारण सुख-दुःख भोग वह नहीं चाहता। इसीलिये काम उसके अव्यय-स्वरूप का आवरण नहीं कर सकता। अनावृत अव्ययात्मा की प्रधानता के कारण ही परमेश्वर अव्यय-स्वरूप कहलाता है। जीव स्वयम् अक्षर होता हुआ भी क्षरानुगामी होने से क्षर-कोटि में अपने को मान लेता है। अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु आदि कलाएँ आपेक्षिक ईश्वर रूप में मानी जाती हैं।

क्षर की आध्यात्मिक कलाओं में—मध्य में जिस विज्ञान (बुद्धि) का नाम आया है वही बंध, मोक्ष का प्रधान कारण है। उसके दो रूप हैं—एक रूप बंधन का हेतु है, वही अव्यय की कलाओं का आवरण करता है, दूसरा रूप मोचन (मोक्ष) का हेतु है, वह आवरण को दूर कर अव्ययात्मा का प्रकाश करता है। मोक्ष-हेतु रूप को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं और बंध-हेतु रूप को अव्यवसायात्मक। काम बल और उससे होनेवाले कर्म वा इन दोनों की वासना–जहाँ प्रबल होकर आवरण कर लेती है—वह अव्यवसायात्मक रूप है और जहाँ ये न हों, वह व्यवसायात्मक। व्यवसायात्मक बुद्धि के चार रूप हैं—धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके विपरीत अव्यवसायात्मक बुद्धिके भी चार रूप हैं—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। ये ही रूप 'पंचक्लेश' कहे गये हैं। ज्ञान के विरोधी अज्ञान (अन्यथा-ज्ञान) का नाम अविद्या है, ऐश्वर्य का विरोधी अनैश्वर्य ही अस्मिता (अहंकार, देहादिरूप से परिच्छिन्नता) रूप से प्रतीत होता है, अवैराग्य—राग और द्वेष दो शब्दों से कहा जाता है और अधर्म रज और तम की बुद्धि के द्वारा अभिनिवेश रूप में परिणत होता है। जीव इन पाँचों क्लेशों से अभिभूत रहता है, किंतु ईश्वरमें इनके विरोधी चारों रूप पूर्ण मात्रा में स्वतःसिद्ध रहते हैं। बुद्धिप्रसादका नाम ज्ञान है, स्वच्छ बुद्धिमें ज्ञान रूप अव्ययात्मा का पूर्ण प्रतिबिंब होता है, यह बुद्धि का रूप अविद्या का निवर्तक है—इसका विवरण **'अमानित्वमदंभित्वम्'** इत्यादि गीता वचनों में किया गया है। बुद्धि का विकास ऐश्वर्य है, इससे शरीरादि परिच्छेदरूप अस्मिता निवृत्त होती है। आसक्ति रूप ग्रंथिबंध का अभाव वैराग्य है। इससे राग, द्वेष हट जाते हैं। सत्त्वगुण की वृद्धि को धर्म कहते हैं, इससे रज और तम का अभिभव होकर अभिनिवेश निवृत्त होता है। बस, क्लेशों की निवृत्ति होने पर अव्ययात्मा का आवरण नहीं रहता और उसकी कलाओं का पूर्ण विकास होता है। जीव में भी यह चतुःस्वरूपा व्यवसायात्मक बुद्धि अष्टांगयोग आदि प्रयत्नों से ईश्वर-भक्त होने पर उत्पन्न हो सकती है, किंतु वह यत्नसाध्य है, ईश्वर की तरह स्वतःसिद्ध नहीं। जीवों में विद्यमान आवेशों की ध्वंस-रूप निवृत्ति करनी पड़ती है, किंतु ईश्वर में क्लेशों का स्वतःसिद्ध अत्यंताभाव है। प्रयत्न करने पर भी जीवों में चारों रूपों की परिपूर्णता नहीं हो पाती। जब तक जीवभाव है तब तक सूक्ष्म वा स्थूल किसी रूप में क्लेशों का अनुबंध रहता ही है, अतः अव्यय की कलाओं का भी पूर्ण विकास जीवों में नहीं हो पाता। योग-सूत्रकार भगवान् पतंजलि ने भी ईश्वर का यही लक्षण किया है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।"

बस, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य जिसमें स्वतःसिद्ध पूर्ण रूप से हों, अविद्या आदि पाँच क्लेशों का जहाँ लेशमात्र न हो, अव्यय पुरुष की कलाएँ जहाँ अनावृत हों—यही परमेश्वर, परमात्मा का लक्षण सिद्ध हुआ।

अवतार का विवरण

वह परमेश्वर परमात्मा स्व-स्वरूप से अविज्ञेय है, स्वरूप-लक्षण द्वारा हम उसे पहिचान नहीं सकते। वह सब में निलीन—निगूढ़ है, किंतु जगत् जो कि प्रत्यक्ष है, वह भी उससे पृथक् नहीं।

वही जगत् है और वही जगत् का नियंता है, इसलिये जगत् में जो-जो रूप उसके जगत् का नियमन करते दिखायी देते हैं, उनके द्वारा ही हम परमात्मा को पहचान सकते हैं, उनके द्वारा ही उपासना कर सकते हैं, वे ही परमेश्वर के 'अवतार' हैं, दूसरे शब्दों में यह कहिये कि क्षर-पुरुष में अव्यय-पुरुष की जो कलाएँ परिचित होती हैं, वे ही 'अवतार' हैं; उनके द्वारा ही अव्यय-पुरुष उपास्य या ध्येय होता है। इसी कारण अवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि में 'आविर्भाव' शब्द भी आया है और जगद्व्यापी विराट्-रूप को ही भागवत में पहला अवतार बताया गया है—

"एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।"

—भागवत १।३।५

जगत् में परमात्मा जो आविर्भूत होता है, सो मानो अपने स्व-स्वरूप—स्वधाम से जगत् में उतरता है, अव्यय-पुरुष ही क्षररूप में उतरकर आया है, इसलिये उसे 'अवतार' कहते हैं। परमात्मा का रूप 'सत्य' है, वह तीनों कालों में, सब देशों में, सब दशाओं में अबाधित रहता है, कारण को सत्य कहते हैं, वह सबका कारण है—इसलिये परम सत्य है। वह सत्य जगत् में 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम काम कर रहा है, जल सदा नीचे की ओर ही जाता है, अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को ही उठती है, वायु सदा तिरछी ही चलती है, सूर्य नियत समय पर ही उदय होता है, हरिण के दोनों सींग बराबर नाप में बढ़ते हुए समान रूप से मुड़ते हैं, बेर के वृक्ष में प्रत्येक पर्व पर दो काँटे पैदा होते हैं—जिनमें एक मुड़ जाता है, एक खड़ा रहता है। वसंत-ऋतु आते ही आम के वृक्षों में मंजरी निकलने लगती है। इस प्रकार सब जगत् को अपने-अपने धर्म में नियत रूप से स्थिर रखनेवाली शक्ति जिसमें कि चेतना भी अनुस्यूत है, अंतर्यामी, नियति वा सत्य-शब्द से कही जाती है। कह सकते हैं कि उस परम सत्य का नियति रूप से यह जगत् में अवतार है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनंद परमात्मा के रूप शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ के रूप में अवतार होता है। सत्ता और विधृति ये दोनों प्रतिष्ठा के रूप हैं, प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है और अपने कार्य को अपने आधार पर धारण करता है। जैसा कि मृत्तिका-घट का वा तंतु पटका—ये सत्ता के 'विश्वचर' रूप हुए। चित् (ज्ञान) का विश्वचर रूप 'ज्योतिः' है, इसके तीन भेद हैं—नाम, रूप और कर्म। इन्हीं से सब पदार्थों का प्रकाश (ज्ञान) होता है, ये ही सब पदार्थों के भेदक हैं। आनंद का विश्वचर रूप 'यज्ञ' है, अन्नाद का अन्न-ग्रहण करना ही यज्ञ कहाता है, इसलिये 'अन्न' नाम से भी इस रूप का व्यवहार करते हैं। अन्न-ग्रहण से वस्तु का विकास होता है और विकास ही आनंद का रूप है, इस 'यज्ञ' का विवरण पूर्व में किया जा चुका है। इन तीनों विश्वचर-रूपों को भी **'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नामरूपे सत्यम्'** इत्यादि श्रुतियों में 'सत्य' शब्द से कहा है—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।।"

इस श्रुति में सर्वज्ञ पर-पुरुष अव्यय से इन्हीं तीन विश्वचर-रूपों की उत्पत्ति कही गयी है। विश्वातीत रूपों का विश्वचर-रूप से अवतार ही उत्पत्ति है, श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और अन्न नाम यज्ञ का है। इन तीनों सत्यों का भी सत्य परमात्मा है, इसलिये वह **'सत्यस्य सत्यम्'** कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की 'गर्भस्तुति' आरंभ करते हुए देवताओं ने कहा है—

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ।।"

जिनके व्रत-कर्म वा संकल्प सत्य हैं, (देवताओं के—अग्नि, वायु, सूर्य आदि के कर्म व्यभिचारी नहीं होते, इस विशेषण से सर्वदेवरूपता भगवान् की बतायी गयी है) सत्य ही जिनका पर—

आश्रय—आधार है (इससे पूर्वोक्त नियति-रूपता भगवान् की कही गयी) जो तीनों काल में सत्य—अबाधित हैं वा तीन रूप से जो सत्य हैं (अंतर्यामी, वेद और सूत्रात्मा—ये तीन भगवान् के सत्य रूप हैं), जो सत्य के (पूर्वोक्त प्रतिष्ठा, नाम-रूप और यज्ञ के) कारण हैं, जो उक्त तीनों सत्यों में निहित-निगूढ़ रूप से प्रविष्ट हैं वा जो अव्यय पुरुष रूप भगवान् परम सत्य—शुद्धरस रूप ब्रह्म में निहित आत्म रूप से स्थित हैं, जो सत्यके भी सत्य हैं, अर्थात् कारणों के भी कारण हैं (कार्य की अपेक्षा कारण को सत्य कहा जाता है), अथवा प्रजापति का नाम सत्य है, उसमें भी जो सत्य है, अर्थात् प्रजापति की सत्यता भी जिन पर अवलंबित है, ऋत और सत्य दोनों जिनके नेत्र (सूत्र) हैं, (जिनका केंद्र न हो, उन्हें ऋत कहते हैं—जैसे वायु, जल आदि और जो केंद्रबद्ध हों, वे सत्य कहाते हैं—जैसे तेज, पृथिवी आदि। इन दोनों प्रकार के नेताओं में (रई चलाने की रस्सियाँ) से जिन्होंने सब प्रपंच को पकड़ रक्खा है, इन दोनों भावों की अभिव्यक्ति परमेष्ठि ंडल में होती है। इससे भगवान् का परमेष्ठी रूप बताया गया) स्वयं भी जो सत्य स्वरूप हैं—उन भगवान् की हम शरण हैं।" इस श्लोक में भगवान् के सत्य रूपों का संक्षिप्त विवरण है।

उक्त (नियति, प्रतिष्ठा, नाम-रूप आदि) रूपों से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयंभू में होता है, वही विश्व का प्रथमोत्पन्न[1] रूप है। अतः सत्य का प्रथम आविर्भाव यही है। आगे परमेष्ठी में, सूर्य में, चंद्रमा में और पृथिवी में क्रमिक अवतार है। पृथिवी द्वारा पृथिवी के सब प्राणियों में भी परमात्मा के विश्वचर-रूपों का आंशिक अवतार होता है। अतः स्वयंभू भगवान् का प्रथमावतार और आगे के परमेष्ठी आदि भी अवतार कहे जाते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व का 'प्राण' उत्तरोत्तर में अनुस्यत होता है, इससे पूर्व-पूर्व के धर्म न्यूनाधिक मात्रा में उत्तरोत्तर में संक्रांत हैं, स्वयंभू का 'प्राण' और उसके धर्म परमेष्ठी में, दोनों के सूर्य में, तीनों के चंद्रमा में, चारों के पृथिवी में और पाँचों के प्राणियों में संक्रांत होते हैं। कौन-कौन मंडल किस-किस 'प्राण' का अन्यत्र संक्रमण करता है—यह भी श्रुतियों से प्रमाणित हो जाता है। स्वयंभू भंडल से सत्य, चित् और सूत्र—(ऋत, सत्य), परमेष्ठि मंडल से भृगु, अंगिरा, अत्रि, सूर्य से ज्योतिः, गौ, आयुः, चंद्रमा से यश, रेत और पृथिवी से वाक्, गौ, द्यौ—ये प्राण निकलते रहते हैं और अन्यत्र संक्रांत होते हैं। इन सबका विवरण इस लेख में नहीं किया जा सकता, संक्षेप में इतना ही कहना है कि प्राणिमात्र में, विशेषतः मनुष्यों में जो शक्तियाँ देखी जाती हैं, वे इन्हीं भगवान् के अवतारों से प्राप्त हैं। भिन्न-भिन्न शक्ति के अधिष्ठान भिन्न-भिन्न आत्माओं का विकास भी प्राणियों में इन मंडलों से प्राप्त प्राणों द्वारा ही होता है, जैसे खनिज आदि में केवल वैश्वानर आत्मा; वृक्षादि में वैश्वानर और तैजस; आगे प्राणियों में वैश्वानर, तैजस और प्रज्ञान ये तीनों भूतात्मा; मनुष्यों में भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते हैं। जहाँ-जहाँ जिस मंडल के प्राण की अधिकता हो, उसीके अनुसार उसमें विशेष शक्ति पायी जाती है और उसे उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार सभी प्राणी एक प्रकार से भगवान् के विभूति-अवतार कहे जा सकते हैं, किंतु जिसमें शक्तियों का जितना अधिक विकास होता हैं, वह उतने ही रूप में औरों का विभूति रूप से उपास्य हो जाता है। जिनमें जीव-कोटि से अधिक शक्तियों का विकास हो, बुद्धि के चारों ऐश्वर-रूप या उनमें से एक, दो या तीन मनुष्य कोटि से अधिक मात्रा में जहाँ प्रकट हुए हों, जीव साधारण आवरण हट कर अव्ययात्मा की कलाएँ जिनमें आविर्भूत दीख पड़े, उन्हें विशेष रूप से अवतार माना जाता है और जहाँ पूर्ण रूप से सब शक्तियों का विकास हो, पूर्ण रूप से अव्ययात्मा की सब कलाएँ प्रकट हो, वे पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर रूप से उपास्य होते हैं।

श्री कृष्णावतार

यह ईश्वर और अवतार का रहस्य दृष्टि में रखकर अब भगवान् श्री कृष्ण के चरित्रों की आलोचना कीजिये तो स्फुट रूप से भासित हो जायगा कि वे '**पूर्णावतार**' हैं। दुराग्रह छोड़ दिया जाय, तो

१. देखिये, पहले क्षर-पुरुष की आधिदैविक कलाओं का निरूपण।

विवश होकर कहना ही पड़ेगा—**'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्'** (श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान्—परब्रह्म परमेश्वर हैं)। पहले बुद्धि के चारों ऐश्वर रूपों को ही देखिये (धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य), इनकी पूर्णता श्रीकृष्ण में स्पष्ट प्रतीत होगी। धर्मकी स्थापना के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार है, उनका प्रत्येक कार्य धर्म की कसौटी है, उनके सब चरित्र शुद्ध, सात्विक हैं, रज और तम का वहाँ स्पर्श भी नहीं है। 'अमानिता', 'अदंभ' आदि बुद्धि के धार्मिक गुणों को पूर्ण मात्रा में वहाँ मिला लीजिये। युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में आगंतुकों के चरण-प्रक्षालन का काम आपने लिया था, महाभारत में अर्जुन के सारथि बने थे। इन बातों से बढ़कर निरभिमानता क्या हो सकती है? भगवान् श्री रामचंद्र इसलिये धार्मिक-शिरोमणि-मर्यादा-पुरुषोत्तम कहाते हैं कि पिता की आज्ञा से उन्होंने राज्य छोड़ दिया था। अब विचारिये—वहाँ साक्षात् पिता की साक्षात् आज्ञा थी, किंतु कंस के मारने पर जब भगवान् श्री कृष्ण से मथुरा का राज्य ग्रहण करने का सब बांधवों ने अनुरोध किया तो आपने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'हमारे पूर्व पुरुष यदु का महाराज ययाति ने वंश-परंपरा तक के लिये राज्याधिकार छीन लिया है—इसलिये हम राजा नहीं हो सकते'। यों आपने बहुत पुराने पूर्वपुरुष की परोक्ष आज्ञा का संमान कर राज्य छोड़ा, इससे आपका धार्मिक आदर्श कितना ऊँचा सिद्ध होता है? धर्म के प्रधान अंग सत्य में आप इतने सुदृढ़ थे कि शिशुपाल की माता को शिशुपाल के सौ अपराध सहन करने का वचन दे दिया था। युधिष्ठिर की यज्ञ-सभा में शिशुपाल के कटुभाषण पर तटस्थों को क्रोध आ गया, किंतु आप सौ की पूर्ति तक चुपचाप रहे, सौ पूर्ण होने पर ही उसे मारा। इसके अतिरिक्त धर्मके नाम पर जो लोग उलटे मार्ग में फँसते हैं, दो धर्मों का परस्पर विरोध दिखायी देने पर उस ग्रंथि को सुलझाने में जो बड़े-बड़े विद्वानों की भी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है और भ्रांतिवश अधर्म को धर्म मान लेती है, उन ग्रंथियों को अपने आचरण और उपदेश दोनों से भगवान् श्री कृष्ण ने खूब सुलझाया है। धर्म के सब अंगों को पूरा निभाया है। धर्म का स्वरूप सदा देश, काल, पात्रसापेक्ष होता है, एक समय एक के लिये जो धर्म है; भिन्न अवसर में वा भिन्न अधिकारी के लिये वही अधर्म हो जाता है। इस अधिकार-भेद—**'श्रेयान् स्वधर्मः'** के आप पूर्ण ज्ञाता थे। धर्म का बलाबल आप खूब देखते थे। दुष्टों का किसी भी प्रकार दमन आप धर्मानुमोदित मानते थे। कर्णार्जुन-युद्ध में रथ का पहिया पृथिवी में चले जाने पर, धर्म की दुहाई देकर अर्जुन से शस्त्र चलाना बंद करने का अनुरोध करते हुए कर्ण को आपने यही कहकर फटकारा था कि 'जिसने अपने जीवन के आचरणों में धर्म का कभी आदर नहीं किया, उसे दूसरे से अपने लिये धर्माचरण की आशा करने का क्या हक है?' कालयवन जब अनुचित रूप से बिना कारण मथुरा पर चढ़ाई कर आया, तो उसे धोखा देने में आपने कुछ भी अनौचित्य नहीं समझा। अधार्मिकों के साथ भी यदि पूर्ण धर्म का पालन किया जाय, तो अधार्मिकों का हौसला बढ़ता है और धर्म की हानि होती है। इसलिये समाज-व्यवस्थापक को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। रथचक्र लेकर भीष्म के सामने दौड़ते हुए आपने जब भीष्म पर आक्षेप किया कि 'तुमने धार्मिक होकर भी अधर्मी दुर्योधन का साथ क्यों दिया' तब भीष्म के—**'राजा परं दैवतम्'** (राजा बड़ा देवता है, उसकी आज्ञा माननी ही चाहिये) रूप उत्तर देने पर आपने स्पष्ट कहा था कि 'दुष्ट राजा कभी माननीय नहीं होता, तभी तो देखो मैंने स्वयं कंस का नियंत्रण किया।' यों सामाजिक नेता के धर्मों की आपने खूब शिक्षा दी है और धर्म के साथ नीति का क्या स्थान है, कहाँ-कहाँ नीति को प्रधानता देनी चाहिये और कहाँ-कहाँ धर्म को—इसे खूब स्पष्ट किया है। नीति का उपयोग जहाँ धर्म रक्षा में होता हो—वहाँ आप नीति को प्रधानता देते हैं। इस व्यवस्था को भूल जाने से ही भारतवर्ष विदेशियों का पादाक्रांत हुआ है और परिणाम में इसे धर्म की दुर्दशा देखनी पड़ी है। अस्तु, कर्ण-पर्व में महाराज युधिष्ठिर के गांडीव-धनुष की निंदा करने पर सत्य-प्रतिज्ञा-निर्वाह के उद्देश्य से युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाने के लिये उद्यत अर्जुन को ऐसे अवसर में सत्य-पालन का अनौचित्य बताते हुए आपने रोका था—और 'बड़ों की निंदा ही उनका हनन है', इस अनुकल्प से सत्य-रक्षा करवायी थी। सौप्तिक-पर्व में अश्वत्थामा ने जब सोते हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों

को मार दिया और अर्जुन उसके बध की प्रतिज्ञा से, बिलखती द्रौपदी को सांत्वना देकर युद्ध में जीत-कर उसे पकड़ लिया—तब युधिष्ठिर और द्रौपदी कह रहे थे कि 'ब्रह्म-हत्या मत करो, इसे छोड़ दो' भीमसेन कह रहे थे 'कि ऐसे दुष्ट को अवश्य मार दो' अर्जुन की प्रतिज्ञा भी मारने के पक्ष में थी—उस समय भी आपने 'धन-हरण मारने के ही सदृश होता है, इसके मस्तक की मणि निकाल लो' यह अनुकल्प बताकर अर्जुन से दोनों गुरुजनों की आज्ञा का पालन कराया था और उसे ब्रह्म-हत्या से बचाकर अनु-कल्परूप से सत्य-रक्षा करवायी थी। ऐसे प्रसंग 'धर्मग्रंथि' सुलझाने में आदर्श उदाहरण हैं। भगवद्गीता के प्रारंभ में अर्जुन के विचार स्थूल दृष्टि से बिल्कुल धर्मानुकूल प्रत्युत एक आदर्श धार्मिक के विचार प्रतीत होते हैं, किंतु आपने 'स्व-धर्म' विरुद्ध कहकर—**'प्रज्ञावादांश्च भाषसे'** के द्वारा उन विचारों को बिल्कुल अनुचित ठहराया और उसे युद्ध में प्रवृत्त किया, जो कि गीता का स्वाध्याय करने पर बिल्कुल ठीक मालूम होता है। बाल्यकाल में ही गोपों द्वारा इंद्र की पूजा हटाकर आपने जो गोवर्धन-पूजा प्रवृत्त की, उसमें भी यही अधिकार-भेद का रहस्य काम कर रहा है। आपका यही अभिप्राय है कि ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तो गोवर्धन जो हमारे समीप है और जिससे हमारी सब प्रकार पालना होती है, उसे ही ईश्वर की मूर्ति मानकर क्यों न पूजा जाय? क्या वह ईश्वर की विभूति नहीं है? 'इंद्र की पूजा करनेसे इंद्र वर्षा करेगा' इस काम्य-धर्म के आप सदा से विरोधी रहे हैं, इसे आपने स्थान-स्थान पर 'दूकानदारी' बताया है और धर्म-सीमा से बहिर्भूत माना है। अपना कर्तव्य समझ धर्म का अनुष्ठान करना—यही श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा है। अस्तु, विस्तार का प्रयोजन नहीं, सर्वांगपूर्ण, बलाबल-विवे-चना-सहित, आदर्श धर्म का आपकी कृति और उपदेशों में पूर्ण निर्वाह है। इसीलिये उस कालके धार्मिक नेता भगवान् व्यास जी, बाल-ब्रह्मचारी भीष्म वा धर्मावतार युधिष्ठिर आदि आपको साक्षात् ईश्वर मानते थे और धर्मग्रंथि सुलझाने में आपको प्रमाणित करते थे। महाराज परीक्षित का जब मृत बालक-दशा में जन्म हुआ, तो उसको जिलाते समय भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी धर्मपरायणता का ही आधार रक्खा है—ऐसा महाभारत में भी आख्यान है। वहाँ उनकी उक्ति यही है कि 'यदि मैंने आजन्म कभी धर्म का वा सत्य का अतिक्रम न किया हो तो यह बालक जी उठे,। इससे अपनी धर्मपरायणता का आदर्श और धर्म की अलौकिक शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रकट की है।

दूसरा बुद्धिका रूप 'ज्ञान' भी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वांगपूर्ण था। क्या व्यावहारिक ज्ञान, क्या राजनैतिक ज्ञान, क्या धार्मिक ज्ञान, क्या दार्शनिक ज्ञान—सबकी आप में पूर्णता थी। आप सर्वज्ञान-निधि थे, इसके लिये आपका एक 'भगवद्गीता' का उपदेश ही पर्याप्त प्रमाण है—जिसके ज्ञान की थाह आज पाँच हजार वर्षतक भी मिल न सकी।

नित्य नये-नये विचार और नये-नये विज्ञान उस ७०० श्लोकों के छोटे-से ग्रंथ-से प्रस्फुटित हो रहे हैं और भी श्रीभागवत-एकादश-स्कंध आदि के आपके कई-एक उपदेश हैं, जो ज्ञान में आपकी पूर्णता के प्रबल प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त व्यवहार में भी आपका पूर्ण ज्ञान विकसित है। व्यावहा-रिक-ज्ञान कार्य-कारण-भाव-ज्ञान का नाम है, किस उपाय से कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है, यह जान लेना ही व्यावहारिक ज्ञान होता है, इसका चिह्न है—सफलता। जितना व्यावहारिक ज्ञान जिसमें होगा, उतनी ही सफलता उसे होगी। जीव-कोटि के बड़े-बड़े विद्वान् और महान् नेता भी खास-खास अवसरों पर धोखा खा जाते हैं और सफलता से हाथ धो बैठते हैं, इसके इतिहासों में सैकड़ों उदाहरण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यावहारिक मार्ग बाल्यकाल से ही कितना कंटकाकीर्ण था, यह उनके चरित के स्वाध्याय करनेवालों से छिपा नहीं है। चारों तरफ आसुर-भाव-पूर्ण राजाओं का दबदबा था, उन सबका दमन करना था, किंतु इस दशा में भी उन्हें वहाँ असफलता नहीं हुई। इतना ही नहीं, किसी दशा में चिंतित होकर सोचना भी न पड़ा, प्रत्येक स्थान में सफलता हाथ बाँधे खड़ी रही। क्या यह विज्ञान की पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है? क्या इससे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व प्रकट नहीं होता? भारत का सम्राट् जरासंध और उसका मित्र कालयवन अपने अतुल सैन्यसागर से मथुरा का घेरा दिये पड़े

हैं, उस दशा में सब यादवों को अपने अक्षत सामान-सहित सुदूर काठियावाड़ के द्वारका-स्थान में ले जाकर बसा देना और समुद्र के मध्य में एक आदर्श नगर बना उसे भारत के सब नगरों से प्रधान कर देना वास्तव में व्यावहारिक ज्ञान की मनुष्य-सीमातीत काष्ठा है। एक छोटे-से यादवों के राज्य का इतना दबदबा जमा देना कि संपूर्ण भारत के महाराजाओं को उनकी आज्ञा माननी पड़े, यह राजनैतिक-ज्ञान की सीमा है। महाभारत में भी आप का राजनैतिक ज्ञान स्थान-स्थान में अपनी अलौकिक छटा दिखा रहा है और वर्तमान युग के राजनैतिक भी आप के राजनैतिक ज्ञान का लोहा मानते हैं। ज्ञान की सर्वांगपूर्णता में किसी विचारक को संदेह नहीं हो सकता। अब ऐश्वर्य लीजिये, कहा जा चुका है कि बुद्धि के विकास का नाम ऐश्वर्य है, उसके प्रतिफल आध्यात्मिक अणिमा, महिमा आदि सिद्धि और बाह्य अलौकिक संपत्ति आदि होते हैं। जिन्होंने द्वारका की समृद्धि का वर्णन पढ़ा है, उन्हें बाह्य अलौकिक संपत्ति की बात बतानी न होगी। बाल्यचरित्रों में—कालि-यदमन, गोवर्धन-धारण आदि वा आगे के चरित्रों में विश्वरूप-प्रदर्शन, अनेक रूप-प्रदर्शन आदि आध्यात्मिक शक्तियों की पराकाष्ठा के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते हैं—जिन्हें आध्यात्मिक-ज्ञानशून्य आजकल की जनता असंभव-कोटि में मानती है। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य जन्मसिद्ध है, आध्यात्मिक शक्तियों की विभूतियों के रूप में ही उनके अलौकिक कार्य हुए हैं। कालवश भारत के दुर्दैव से योगविद्या आज नष्ट हो गयी, आध्यात्मिक-शक्तियों का, जिनके कारण भारत जगद्गुरु था, आज परिचय ही न रहा, इससे आध्यात्मिक शक्तियों के कार्यों को आज असंभव समझा जाय, तो आश्चर्य नहीं, किंतु किसी बात को असंभव बता देना कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। कार्य-कारण-भाव-पूर्वक उपपत्ति सोचना बुद्धिमत्ता का लक्षण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि का चौथा रूप वैराग्य है, जो कि राग-द्वेष का विरोधी है। इसकी पूर्णता का चिन्ह यह है कि सब काम करता हुआ भी—पूर्णरूप से संसार में रहता हुआ भी, सब में अनासक्त रहे, किसी बंधन में न आवे। कमल-पत्र की तरह निर्लिप्त बना रहे। संसार छोड़ कर अलग हो जाना अभ्यासवश जीवों में संभव है, किंतु संसार में रहकर सर्वथा निर्लिप्त रहना शुद्ध ऐश्वर्य-धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों में आदि से अंततक वैराग्य का—राग-द्वेषशून्यता का पूर्ण विकास है। कहाँ बाल्यकाल का गोप-गोपियों के साथ, नंद-यशोदा के साथ वह प्रेम कि जिसमें बँधकर एक क्षण वे बिना श्रीकृष्ण के न रह सकते थे और कहाँ यह आदर्श निष्ठुरता कि अक्रूर के साथ मथुरा जाने के बाद आप एक बार भी वृंदावन नहीं गये। उद्धव को भेजा, बलराम को भेजा, उन्हें सांत्वना दी, किंतु अपना 'बेलाग' पन दिखाने को एक बार भी किसी से मिलने को स्वयं उधर मुख नहीं किया। पहले गोपियों के साथ रासलीला करते समय ही मध्य में अंतर्धान होकर अपनी निरपेक्षता आपने दिखा दी थी, प्रकट होने पर जब गोपियों ने व्यंग्य से प्रश्न किया कि अपने साथ प्रेम करनेवालों से भी जो प्रेम नहीं करते, उनका क्या स्थान? तब आपने कहा था कि वे दो ही हो सकते हैं—

"आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः।"

या तो पूर्ण ज्ञानी या कृतघ्न। साथ ही अपना स्वभाव भी आपने बताया था कि—

"नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जंतून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये।"

बस, इस स्वभाव का पूर्ण निर्वाह आपने किया। यादवों के राज्य का सब काम आप चलाते थे, किंतु बंधनरूप कोई अधिकार आपने नहीं ले रक्खा था, वहाँ भी 'बेलाग' ही रहे। महाभारत-युद्ध अपनी नीति से ही चलाया, किंतु बने रहे 'पार्थ-सारथि।' बहुत-से दुष्ट राजाओं को मारा, किंतु उनके पुत्रों को ही उनके राज्य का अधिकार दे दिया, राज्य-लोलुपता कहीं भी न दिखायी। अपने कुटुंबी यादवों को भी जब उद्धत होते देखा, उनके द्वारा जगत् में अशांति की संभावना हुई, तो उनका भी अपने सामने ही सर्वनाश करा दिया। वैराग्य का—रागद्वेषशून्यता का ही लक्षण 'समता' है सो आपके आचरणों में

ओतप्रोत है, हरएक यही समझता था कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, किंतु वे थे किसी के नहीं, सबके और सबसे स्वतंत्र। पटरानियों में भी यही दशा थी, रुक्मिणी अपने को पटरानी समझती थी, सत्यभामा अपने को अतिप्रिया मानती थी, सब ऐसा ही समझती थी। यह भगवान् श्रीकृष्ण की समता का निदर्शन है। नारद ने परीक्षा करते समय इसी 'समता' पर आश्चर्य प्रकट किया था। आप सत्यभामा का हठ रखने को पारिजातहरण करते हैं, तो जांबवती को पुत्र प्राप्त होने के लिये शिव की आराधना करते हैं, किसी भी प्रकार समता को नहीं जाने देते। महाभारत-युद्ध के उपस्थित होने पर दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही सहायता माँगने आते हैं और दोनों का मनोरथ पूर्ण होता है, अर्जुन से पूर्ण सौहार्द है, किंतु गर्व-भंजन के लिये स्थान-स्थान पर उसका भी शासन किया जाता है। ये सब समता के प्रबल प्रमाण हैं। ये बुद्धि के चारों सात्त्विक रूप जिसमें हों, वही भगवान् कहा जाता है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।
बुद्धयः श्रीर्यशश्चेति षड् वै भगवतो भगाः॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

—इत्यादि

यश और श्री इन दो बाह्य लक्षणों को भग-शब्दार्थ में और अंतर्गत किया गया है, सो इन दोनों का भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्णमात्रा में विकास सर्वप्रसिद्ध है, इसपर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तृतीय श्लोक में जो भगवान् का लक्षण लिखा है—भूतों की उत्पत्ति, प्रलय, लोक-लोकांतर-गति, वहाँ से लौटना, विद्या और अविद्या—इन सब का ज्ञान, सो गीता में इन सब विषयों का विस्पष्ट प्रतिपादन ही बता रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण में इन ज्ञानों की परिपूर्णता है। भगवद्गीता में उक्त चारों सात्विक बुद्धिरूपों का विशद निरूपण है। बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है, उसमें—वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग, यह क्रम रक्खा गया है, इनको क्रम से राजर्षि विद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या-नाम से भी कहते हैं, इनका फल क्रम से अनासक्ति (समता), अनावरण, भक्ति और बंधनमुक्ति द्वारा बुद्धि का अव्ययात्मा में समर्पणरूप योग है—यह सब 'भगवद्गीताविज्ञानभाष्य' में संगतिपूर्वक निरूपित हुआ है। इससे भी उक्त चारों रूपों की पूर्णता गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण में सिद्ध होती है, यों 'भग' लक्षण की पूर्णता से श्रीकृष्ण (अच्युत) भगवान् कहाते हैं। यद्यपि योगसाधन से जीवों में भी ये सात्त्विक-बुद्धि-लक्षण प्रकट हो सकते हैं, किंतु किसी मात्रा में ही होते हैं, एक कोई पूर्णरूप में प्रकट हो जाय—यह भी संभव है और ऐसे ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनि आदि भी 'भगवान्' कहे जाते हैं, किंतु सब रूपों की परिपूर्णता जीव में अंशतः भी जीवभाव रहते असंभव है, सब की पूर्णता ईश्वर में ही होती है। फिर यह भी विलक्षणता है कि जीवों में ये लक्षण प्रयत्नसाध्य होते हैं और ईश्वर में स्वतःसिद्ध। भगवान् श्रीकृष्ण का योग-साधनरूप प्रयत्न किसी इतिहास में नहीं लिखा और बाल्यकाल से ही व्यवसायात्मक-बुद्धि के लक्षण उनमें प्रकट हैं, इससे उक्त बुद्धि-लक्षण उनमें स्वतःसिद्ध है—यही कहना पड़ेगा और उन्हें अच्युत भगवान्, ईश्वर का पूर्णावतार या साक्षात् परमेश्वर ही मानना पड़ेगा।

व्यवसायात्मिका-बुद्धि की पूर्णता के कारण 'अव्ययपुरुष' का आवरण अंशतः भी भगवान् श्रीकृष्ण में नहीं है, अव्ययपुरुष की पाँचों कलाओं का पूर्ण विकास है, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आपको भगवद्गीता में 'अव्ययपुरुष' कहा है। अव्ययपुरुष का लक्षण पूर्व लिखा जा चुका है कि सब में समन्वित रहता हुआ भी, सब का आलंबन होता हुआ भी वह सर्वथा निर्लिप्त रहता है,—बिल्कुल 'बेलाग' रहता है, यह लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण में किस प्रकार समन्वित है, यह हम 'वैराग्य' निरूपण में

दिखा चुके हैं। अब अव्यय की कलाओं के विकास पर भी पाठक विचार करें। आनंद, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये अव्ययपुरुष की कलाएँ पूर्व लिखी जा चुकी हैं—इनको क्रम से नीचे से देखिये। वाक् के विकास के लक्षण हैं भौतिक समृद्धि और वाक्शक्ति। भौतिक समृद्धि की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण में हम दिखा चुके हैं, वाक्शक्ति से भी आपने कई जगह काम लिया है—भगवद्गीता की घटना सुप्रसिद्ध ही है, युद्ध छोड़ कर भागते हुए एक दृढ़प्रतिज्ञ हठी वीर को अपनी वाक्शक्ति से ही आपने स्वधर्म में लगाया, छोटी-सी अवस्था में वाक्शक्ति से ही गोपों से इंद्र-पूजा छुड़वा कर गोवर्धन-पूजा करवा दी। ग्राम की भोलीभाली जनता का विश्वास—धार्मिक विश्वास बदल देना कितना कठिन काम है—वह आपने सात वर्ष की अवस्था में ही वाक्शक्ति के प्रभाव से कर दिखाया। गोप-कन्याओं का नग्न-स्नान रोकने में भी आपने वाक्शक्ति से काम लिया है, ऐसे वाक्शक्ति-विकास के कई-एक उदाहरण हैं। दूसरी प्राणकला के विकास के लक्षण हैं—बल, शौर्य, क्रियाशीलता आदि। जिनने 'शिशु' अवस्था में अपनी लात से बड़े शकट को उलट दिया, कुमारावस्था में पुराने अर्जुन-वृक्षों को एक झटके में उखाड़ फेंका, किशोर-अवस्था में कंस के बड़े-बड़े मल्लों को अखाड़े में पछाड़ दिया, मत्त हाथी को मार गिराया। यौवन में नग्नजित्-राजा के यहाँ सात मत्त वृषभों को एक साथ नाथ दिया, क्षत्रियत्व की पूर्णता के उस समय में—महामहा वीर क्षत्रियों के भारत में विराजमान रहते—जिनके सामने लड़कर कोई न जीत सका, सब दुष्ट राजाओं पर आक्रमण कर सबका दमन जिन्होंने किया, सारे भूमंडल का भार उतारा, इकले इंद्रपुरी पर चढ़ाई कर 'पारिजातहरण' में इंद्रतक का मानभंग किया—उनके बल और शौर्य के अमानुष-विकास में संदेह को स्थान ही कहाँ है? क्रियाशीलता भी आपकी जगद्विदित है। आज द्वारका में हैं, तो कल देहली में, परसों युद्ध में चढ़ाई हो रही है तो अगले दिन तीर्थयात्रा। हजारों रानियों के साथ पूर्ण गार्हस्थ्य-धर्म का निर्वाह, यादव-राज्य का सब प्रबंध कर भूमंडल में उसे आदर्श प्रतिष्ठित राज्य बनाना, पांडवों के प्रत्येक कार्य में सहायक और सलाहकार रूप से उपस्थित रहना, भूभार-हरण का अपना कर्तव्य-पालन भी करते जाना, महाशत्रुओं से द्वारका की रक्षा भी और शत्रुओं पर आक्रमण कर उनका विध्वंस भी, अत्यल्प समय में द्वारका से विदर्भ-देश पहुँच रुक्मिणी का मनोरथ पूर्ण कर देना आदि क्रियाशीलता के अमानुष उदाहरण हैं। यों अव्ययपुरुष की दूसरी कला का विकास पूर्ण रूप में सिद्ध होता है। तीसरी कला 'मन' के विकास के लक्षण हैं—मनस्विता—उत्साहशीलता, मनोमोहकता (मनोहरता) आदि। शिशुपाल-जैसे वीर राजा के मित्रों और सेना-सहित उपस्थित होने का समाचार सुन कर भी अकेले कुंडिनपुर चले जाना, भारत के सम्राट् परम शत्रु जरासंध से लड़ने को केवल भीम और अर्जुन को साथ ले बिना सेना जा पहुँचना, भरी सभा में कूदकर कंस जैसे राजा के केश पकड़ उसे गिरा देना, मणि-चोरी का कलंक लगने पर सबके मना करते रहने पर भी अकेले अपार गुफा में चले जाना, ऐसे मनस्विता-हिम्मत के उदाहरण आपके चरित्रों में सैकड़ों हैं। मनोहरता तो आपकी प्रसिद्ध है, आपका नाम ही 'चितचोर' है। शत्रु भी लड़ने को सामने आकर एक बार आकृष्ट होकर चौकड़ी भूल जाते थे। विदेशीय क्रूर वीर कालयवन को भी अनुताप हुआ था कि 'ऐसे सुंदर नौजवान से लड़ना पड़ेगा।' चौथी कला 'विज्ञान' के संबंध में पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धिप्रसाद रूप 'ज्ञान' के रहते अव्ययपुरुष की इस 'ज्ञान' कला का विकास होता है। यहाँ विज्ञान-संसार-ग्रंथिमोचक आत्मविज्ञान ही अभिप्रेत है, सो उसके विकास में भगवद्गीता के उपदेश से बढ़कर किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

अब पाँचवीं सबसे उत्कृष्ट अव्यय की (प्रथम) कला आनंद है, वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है—**'रसो वै सः।'**

इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारों में भी नहीं देखा जाता। अयोध्या-अधिपति भगवान् श्रीरामचंद्र में अन्य सब कलाओं का विकास है, किंतु आनंद का सर्वांश में विकास नहीं है। उनका जीवन 'उदासीनतामय' है, उनमें शांत्यानंद है, किंतु भगवान् श्रीकृष्ण में आनंद के सब रूपों का पूर्ण

विकास है। आनंद के दो भेद हैं—एक समृद्धयानंद, दूसरा शांत्यानंद। जिस समय मनुष्य को किसी इष्ट वस्तु—धन-पुत्रादि की प्राप्ति होती है, तो उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, उस प्रफुल्लता को मनोवृत्ति रूप आनंद वा समृद्धयानंद कहा जाता है। यह प्रफुल्लता थोड़े काल रहती है, आगे वह इष्ट वस्तु—धन-पुत्रादि मौजूद रहती हैं—किंतु वह चित्तविकास—वह प्रफुल्लता नहीं रहती, अब वह समृद्धयानंद शांत्यानंद रूप में परिणत हो गया, निर्धन की अपेक्षा धनवान् को, अपुत्र की अपेक्षा पुत्रवान् को अधिक आनंद है, किंतु उस आनंद का सर्वदा अनुभव नहीं। चित्तविकास सदा नहीं रहता। बस, अनुभवकाल में—चित्तविकास-दशा में, समृद्धयानंद और अनुभव में न आने वाला, मनोवृत्ति से गृहीत न होने वाला आनंद शांत्यानंद कहाता है। मनमें इच्छारूप तरंग न उत्पन्न होने की दशा में वा दुःख-निवृत्ति-दशा में भी शांत्यानंद ही होता है। शांत्यानंद के ब्रह्मानंद, योगानंद, विद्यानंद आदि भेद पंचदशी आदि ग्रंथों में बताये गये हैं और समृद्धयानंद के मोद, प्रमोद, प्रिय आदि भेद तैत्तिरीयोपनिषद् में आनंदमय के शिर, पक्ष आदि के रूप से कहे गये हैं। अभिमत वस्तु के दर्शन में 'प्रिय' रूप आनंद है, उसके प्राप्त होने में मोद और भोगकाल में प्रमोद होता है—ऐसी भाष्यकारों की व्याख्या है। अस्तु, शांत्यानंद तो ईश्वर के प्रायः सभी अवतारों में रहता है, क्योंकि ईश्वर है ही आनंदरूप, किंतु भोग-लक्षण समृद्धयानंद का भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूर्ण विकास है। चित्तविकास रूप आनंद की पूर्ण मात्रा हमारे चरित-नायक में ही है। अनेक ग्रंथों में संक्षेप या विस्तार से भगवान् श्रीकृष्ण का जीवनचरित लिखा गया है, किंतु कहीं आप के जीवन में ऐसा अवसर दिखाई नहीं देता, जहाँ आप हाथ पर कपोल रख कर किसी चिंता में निमग्न हों, जीवन भर में कोई दिन ऐसा नहीं, जिस दिन आप शोकाक्रांत हो आँसू बहा रहे हों! कैसे भी झंझट सामने आये हों, सब को खेल-तमाशों में ही आपने सुलझाया। भय, चिंता वा शोक को कभी पास न फटकने दिया। बाल्यकाल में ही नित्य कंस के भेजे असुर मारने को आ रहे हैं, किंतु खेल-तमाशों में ही उन्हें ठिकाने लगाया जाता है। कंस-जैसा घोरकर्मा पातकी ताक में है, किंतु यहाँ गोवत्सों को चराने के मिष से गोप-सखाओं के साथ वंशी के स्वरों में राग अलापे जा रहे हैं। गोपियों के घरों का माखन उड़ाया जा रहा है, चीर-हरण का विनोद हो रहा है, रास-लीला रची जा रही है। वर्तमान सभ्यता के अभिमानी जो महाशय इन चरित्रों पर आक्षेप करते हैं वे श्रीकृष्णावतार का रहस्य नहीं समझते। इन लीलाओं में धर्मातिक्रम क्यों नहीं है, इस विवाद को हम इस लेख में नहीं उठा सकते—यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, किंतु इतना अवश्य कहेंगे कि यदि ये लीलाएँ न होतीं तो भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार या साक्षात् भगवान् न कहाते, आनंद की पूर्ण अभिव्यक्ति उनमें न मानी जा सकती। आगे यौवनचरित्रों में भी दुष्टों का संहार भी हो रहा है, राज्य की उन्नति भी हो रही है, और जो-जो सुंदरी अपने में अनुरूप सुनी जाती है, उनके साथ विवाहों का आयोजन भी चल रहा है। सब प्रकार के झंझट भी सुलझाये जा रहे हैं और राजधानी को पूर्ण समृद्धिमय बना कर अनेक रानियों के साथ आदर्श गार्हस्थ्य-सुख का उपभोग भी हो रहा है। पारिजात-वृक्ष लाकर सत्यभामा के मान का भी अनुरोध रक्खा जा रहा है, भूमि को स्वर्गरूप भी बनाया जा रहा है, अर्जुन-जैसे मित्रों के साथ सैर का आनंद भी लूटा जा रहा है। कदाचित् कोई मनचले महाशय प्रश्न करें कि बहुतसे पुरुष मद्यपानादि में वा अनेक स्त्रियों के सहवास में—ऐशोआराम में ही अपना जीवन बिताना जीवन का लक्ष्य मानते हैं—क्या उन्हें भी ईश्वर का पूर्णावतार समझा जाय, तो उत्तर होगा कि हाँ, समझा जा सकता था, यदि वे अपने धर्म से विच्युत न होते, यदि सब प्रकार के ऐशोआराम में रहकर भी उनमें निर्लिप्त रह सकते, यदि विनोदमय रहकर भी अपने कर्तव्य को न भूलते, यदि लौकिक और पारलौकिक उन्नति से हाथ न धोते, यदि सब कुछ भोगते हुए भी क्षणमात्र में सबको छोड़ कर कभी याद न करने की शक्ति रखते, यदि ऐसे भोग के परिणाम-रूप में नाना आधि-व्याधि वा भयानक शोक, मोह आदि से ग्रस्त न होते, यदि पूर्ण समृद्धयानंद भोगते हुए भी शांत्यानंद में निमग्न रहते, यदि उस दशा में भी अपने अनुभव के—

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ।।
—भगवद्गीता, २।७०

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।"
—भगवद्गीता, ३।२२

ऐसे सच्चे उद्गार निकाल कर संसार को शांतिसमुद्र में लहरा सकते। क्या संसार में कोई जीव ऐसा दृष्टांत है जिसके जीवन में दुःख का स्पर्श भी न हुआ हो ? जिसने सब प्रकार के लौकिक सुख भोगते हुए भी अपना पूर्ण कर्तव्य पालन किया हो ? जो संसार में लिप्त दीखता हुआ भी आत्मविद्या का पारंगत हो। जो जगत्‌भर को अन्याय हटाने की चिनौती देता हुआ भी भय और चिंता से दूर रहे ? निःसंदेह ये परमानंद परमात्मा के लक्षण हैं, जीव-कोटि के बाहर की बात है।

वेदांत के ग्रंथों में आनंद का चिह्न 'प्रेमास्पदत्व' को माना है, आत्मा को आनंदरूप इसी युक्ति से सिद्ध किया जाता है कि वह परमप्रेमास्पद है। औरों के साथ प्रेम 'आत्मार्थ' होने पर होता है, आत्मा में निरुपाधिक प्रेम है। भागवत में जब ब्रह्मा ने गोप, गोवत्सहरण किया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने सब गोप-वत्स अपने रूप से प्रकट कर दिये थे, उस प्रसंग में कहा है कि गौओं को वा गोपों के पिताओं को उनमें बहुत अधिक प्रेम हुआ। परीक्षित के कारण पूछने पर शुकाचार्य ने यही कारण बताया कि आत्मा आनंदरूप होने से परम प्रेमास्पद है, भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं, आनंदमय हैं, अतः उनके स्वरूप से प्रकट गोप-वत्सादि में अत्यधिक प्रेम होना ही चाहिये। अस्तु, जिसमें अधिक प्रेम हो, वह आनंदमय होता है। इस लक्षण के अनुसार परीक्षा करें, तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की आनंदमयता पूर्ण रूप से सिद्ध होती है। जैसा प्रेम का प्रवाह उन्होंने बहाया था, ऐसा किसी ने नहीं बहाया। बाल्यकाल से ही सब उनके प्रेम में बँध गये थे। ब्रज के खग, मृग, वृक्ष, लता भी वंशी की ध्वनि से प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। गोप, गोपांगनाएँ अपने कुटुंबियों से प्रेम छोड़ उनसे प्रेम करते थे। जो आसुर भाव से दबे हुए थे उन्हें छोड़ श्रीकृष्ण-प्रेम का प्रवाह भूमंडल को प्लावित कर चुका था। शत्रु भी क्षणमात्र उनके प्रेम से आकृष्ट हो जाते थे—यह हम लिख चुके हैं। उस दिन ही क्यों ? आज भी सब श्रेणी के, सब धर्मों के, सब जाति के मनुष्यों का जितना प्रेम भगवान् श्रीकृष्ण पर देखा जाता है, उतना किसी पर नहीं देखा जाता। एक गवैया यदि गान का अभ्यास करता है, तो पहले श्रीकृष्ण उसकी जबान पर आते हैं, किसी जाति का कोई ऐसा अभागा गायक न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के पद न गाये हों, तुकबंदीवालों तक कोई ऐसा कवि न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के संबंध में कभी अक्षर न जोड़े हों। चित्रकला पर जिसने जरा भी हाथ जमाया है, वह श्री कृष्ण की मूर्ति एकाध बार अवश्य लिख चुका होगा, मूर्त्ति बनाने का शिल्प जानने वाला प्रायः ऐसा नहीं मिलेगा जिसने श्रीकृष्ण की मूर्ति कभी न बनायी हो। धार्मिक, भक्त, विलासी-रसिया, राजनैतिक, रिफार्मर-न्यूजेंटलमैन, दार्शनिक, निरपेक्ष—सबके कमरों में या मकान की दीवारों पर किसी न किसी रूप में आप नजर आ जायँगे, ताना-री-री करने वाले छोटे बच्चे, कुमार, किशोर, मार्ग में अलापते हुए तानसेन को मात देने की इच्छा रखने वाले रसिया, खेतों के किसान, गाँवों की भोली-भाली स्त्रियाँ—सबकी जिह्वा पर किसी न किसी रूप में आपका नाम विराजित सुन पड़ेगा। और तो क्या, होली के उन्माद से उन्मत्त जनता भी आपके ही यश को अपनी वाणी पर नचाती है। भक्त लोग अपना सर्वस्व समझ कर, धार्मिक लोग धर्मरक्षक समझकर, विलासी विलास के आचार्य समझकर, दार्शनिक गीता के प्रवक्ता समझकर, राजनैतिक

नीति के पारंगत समझकर, देशहितैषी देशोद्धारक समझकर और गोसेवक गोपाल समझकर समय-समय पर आपका स्मरण करते हैं। सांप्रदायिक भेद रहते भी वैष्णव विष्णु का पूर्णावतार मानकर, शाक्त आद्याशक्ति का अवतार कहकर और शैव शिव का अनन्य समझकर आपको भजते हैं। शिव, विष्णु, शक्ति की उपासना में चाहे मतभेद रहे, श्रीकृष्ण–मूर्ति की ओर सबका झुकाव है। भारत के ही नहीं, अन्यान्य देशों के लोग भी कृष्ण प्रेम से प्रभावित हुए हैं, आपके उपदेशों का और आपके चरितों का रूपांतर में आदर सब देशों में हुआ है।[१] मुसलमानों में रसखान, खानखाना, निवाज, ताजबेगम आदि की बात तो प्रसिद्ध ही है। वर्तमान युग के ईसाइयों में भी कई विद्वानों ने इस बातकी चेष्टा की है कि क्राइस्ट को श्रीकृष्ण का रूपांतर सिद्ध किया जाय। आजकल के महात्मा गाँधी के अनुयायी महात्मा गाँधीजी का चित्र सुदर्शन हाथ में देकर या गोवर्धन-पर्वत भुजा पर रखकर श्रीकृष्ण रूप में देखने को उत्सुक हैं। यह बात क्या है? क्यों श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह सबको आप्लुत कर रहा है? उत्तर स्पष्ट है कि वे आनंद रूप हैं, सर्वात्मा हैं, परब्रह्म हैं, इसलिये प्राकृतिक रूप से सबको विवश होकर उनसे प्रेम करना पड़ता है। आसुर-भावावेश से जिनके अंतरात्मा पर आवरण है उनकी बात तो सदा ही निराली है। अस्तु, अव्यय पुरुष की पाँचों कलाओं का विकास भगवान् श्रीकृष्ण में परिपूर्ण है, यह संक्षेप में दिखा दिया गया। ब्रह्म के अन्य विश्वचर रूप प्रतिष्ठा, ज्योतिः आदि जो पूर्व लिखे गये हैं उनका विकास पाठक स्वयं विचार सकते हैं। अब क्षर की आध्यात्मिक कलारूप स्वयंभू आदि पाँच अवतार जो पूर्व लिख आये हैं, उनके प्राण रूप शक्तियों का आविर्भाव संक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण में बताकर यह लेख पूर्ण किया जाता है।

पूर्व कहा जा चुका है कि परमेष्ठिमंडल विष्णु प्रधान है और भगवान् श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं, अतः परमेष्ठिमंडल के संबंध पर ही मुख्यतया विचार किया जाता है।

श्री राधा और श्री कृष्ण

बहुतों के चित्त में यह शंका होती है कि द्विजों का गौरवर्ण होना ही प्राकृतिक है, फिर ऐसे प्रतिष्ठित कुल के विशुद्ध क्षत्रिय राम और कृष्ण कृष्णवर्ण क्यों हैं? कदाचित् कहा जाय कि ये विष्णु के अवतार हैं, विष्णु भगवान् कृष्णवर्ण हैं, इसलिये ये भी कृष्णवर्ण हैं, तो वहाँ भी प्रश्न होगा कि सत्त्वगुण के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु भी कृष्णवर्ण क्यों? सत्त्व का रूप शास्त्रों में श्वेत माना गया है, रज का लाल और तम का काला। तमोगुण का अधिष्ठाता कृष्णवर्ण हो सकता है, सत्त्व का अधिष्ठाता श्वेत वर्ण होना चाहिये। आइये, फिर पहिले इसी प्रश्न पर विचार करें। कृष्णवर्ण तीन प्रकारका है—अनुपाख्य-कृष्ण, अनिरुक्त-कृष्ण और निरुक्त-कृष्ण। सृष्टि के पहिले की अवस्था को कृष्ण कहा जाता है **'आसीदिदं तमोभूतम्'** (मनु०), यह अनुपाख्य कृष्ण है। जिसका हमें कुछ ज्ञान न हो सके, उसे कृष्ण और जो हमारी समझ में आ जाय, वह शुक्ल कहाता है। निगूढ़ को कृष्ण और प्रकाशित को शुक्ल कहते हैं। यह औपचारिक प्रयोग है, काला परदा पड़ने पर कुछ नहीं दीखता–इसलिये न दीखनेवाली वस्तु काली कही जाती है, प्रकाश श्वेत मालूम होता है, इसलिये प्रकाशमान् वस्तु को श्वेत कहते हैं। कार्य जबतक उत्पन्न न हो, तबतक अपने कारण में निगूढ़ रहता है, उसका ज्ञान हमें नहीं होता इसलिये कार्य की अपेक्षा से कारणावस्था को कृष्ण और कार्योत्पत्ति-दशा को शुक्ल कहते हैं। सब जगत् जहाँ निगूढ़ है, जहाँ आज दीखनेवाले जगत् का कोई ज्ञान नहीं, उस सब जगत् की कारणावस्था—पूर्वावस्था को दृश्यमान जगत् की अपेक्षा से कृष्ण ही कहना पड़ेगा, इसीलिये सब जगत् के कारण भगवान् विष्णु वा आद्याशक्ति कृष्णवर्ण ही कहे जाते हैं। इस कृष्ण का हमें कभी अनुभव नहीं होता,

१. किस-किस देश में किस-किस रूप से श्रीकृष्णचरित व्याप्त है इसका विस्तृत विवरण जिन्हें देखना हो वे जयपुर के धर्ममित्र जी की लिखी 'धर्मदिवाकर' नाम की पुस्तक देखें।

—लेखक

यह केवल शास्त्र-वेद्य है, इसलिये इसे अनुपाख्य-कृष्ण कहेंगे। दूसरा अनिरुक्त-कृष्ण वह है, जिसका अनुभव तो हो, किंतु इदमित्थम् रूप से एक केंद्र में पकड़ कर निर्वचन न किया जा सके। जैसे—ऊपर आकाश में, अंधकार में वा आँख मींच लेने पर काले रूप का अनुभव होता है, किंतु वह सर्व रूप का अभाव कालेपन से भासित है, किसी केंद्र में पकड़कर उस काले रूप को निरुक्त नहीं किया जा सकता। तीसरा निरुक्त-कृष्ण कोयला आदि पदार्थों में है। इनमें अनुपाख्य-कृष्ण का अनिरुक्त-कृष्ण में और अनिरुक्त-कृष्ण का निरुक्त-कृष्ण में अवतार होता है। या यों कहो कि पूर्व-पूर्व कृष्ण से ही उत्तरोत्तर कृष्ण का विकास होता है। चंद्रमा, पृथिवी और सूर्य ये तीनों मंडल निरुक्त-कृष्ण हैं यह वैदिक सिद्धांत है। पृथिवी को वेद में 'कृष्णा' कहा जाता है, अंधकार पृथिवी के काले किरणों का समूह है यह भी वेद में प्राप्त होता है। **'चंद्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः'** (शतपथ १३।२।१।७) इत्यादि श्रुतियों में चंद्रमा को भी कृष्ण कहा है और **'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्।'** इत्यादि मंत्रों में सूर्यमंडल को भी कृष्ण कहा है और हिरण्मय—प्रकाशभाग को सूर्य का रथ बताया है। तात्पर्य यह कि प्रकाशमंडल संयोगज है, कई प्राणों के संबंध से बनता है, सूर्यमंडल स्वभावतः कृष्ण ही है। आजकल के वैज्ञानिक भी इस सिद्धांत के अनुकूल ही जा रहे हैं। अस्तु, इन तीनों से परे जो परमेष्ठीमंडल है वह अनिरुक्त-कृष्ण है। रूपों का अधिदेवता सूर्य है, सूर्यकिरणों से ही सब रूप बनते हैं, अतः सूर्यमंडल की उत्पत्ति से पूर्व परमेष्ठी-मंडल में कोई रूप नहीं कहा जा सकता। उसे 'आपोमयमंडल' वा 'सोममयमंडल' कहा जाता है। सोम, वायु और आप—तीनों एक ही द्रव्य की अवस्थाएँ मानी जाती हैं, वायु घनीभूत होने पर 'आप'—अवस्था में आ जाता है और तरल होने पर 'सोम'—अवस्था में। इसी द्रव्य में 'अनिरुक्त-कृष्ण' वर्ण प्रतीत हुआ करता है। यह द्रव्य परमेष्ठी की किरणों द्वारा बहुत बड़े आकाश प्रदेश में व्याप्त है। सूर्य यद्यपि हमारे लिये बहुत बड़ा है, किंतु इस सोममंडल की अपेक्षा उसकी पोजीशन ऐसी ही है जैसे घोर अंधकारमय जंगल में एक टिम-टिमाते दीपक की; एक सूर्य का प्रकाश जहाँ तक पहुँचता है, उसकी परिधि कल्पनाकर वहाँ-तक एक ब्रह्मांड समझा जाता है, उस परिधि से बाहर अनंत आकाश में यह 'अनिरुक्त-कृष्ण' सोम वा आप भरा हुआ है। वही अनिरुक्त-कृष्ण काले आकाश के रूप में हमें प्रतीत हुआ करता है। वह कृष्ण है और सूर्य प्रकाश की प्रतिमा 'राधा' है। 'राध' धातु का अर्थ है, 'सिद्धि' सूर्य प्रकाश में ही व्यावहारिक सब कार्य सिद्ध होते हैं—अतः 'राधा' नाम वहाँ अन्वर्थ (सार्थक) है। कृष्ण श्याम तेज है, राधा गौर तेज। कृष्ण के अंक (गोदी में), अर्थात् श्याम तेजोमयमंडल के बीच में राधा विराजित है। ब्रह्मांड की परिधि के भीतर भी वह सोममंडल व्याप्त है। जैसे व्यापक आकाश में कोई दीवार (भित्ति) बनायी जाय, तो हमें प्रतीत होता है कि यहाँ अब आकाश (अवकाश) नहीं रहा, किंतु यह भ्रम है, उस दीवार के आधार रूप से आकाश वहाँ मौजूद है, उसीमें दीवार है और दीवार हटते ही फिर आकाश ही आकाश रह जाता है। इसी प्रकार सूर्य प्रकाश होने पर वह कृष्ण—सोममंडल हमें प्रतीत नहीं होता, किंतु प्रकाश उसीके आधार पर है, वह प्रकाश में अनुस्यूत है और प्रकाश हटते (सूर्यास्त होते) ही फिर वह श्याम तेज प्रतीत होने लग जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर बिना अंधकार के प्रकाश और बिना प्रकाश के अंधकार कहीं नहीं रहता, दोनों दोनों में अनुस्यूत हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहाँ एक दीपक का प्रकाश हो, वहाँ दूसरा दीपक और लाया जाय, तो प्रकाश अधिक प्रतीत होता है और तीसरा दीपक और आवे, तो और भी अधिक। जितने दीपक अधिक होंगे उतनी ही प्रकाश में स्वच्छता आती जायगी। भला यह क्यों? जब एक दीपक के प्रकाश ने अपनी व्याप्ति के प्रदेश में से अंधकार हटा दिया, तो फिर उसी प्रदेश में दूसरे दीपक का प्रकाश क्या विशेषता पैदा कर देता है कि हमें अधिक स्वच्छता प्रतीत होती है? मानना पड़ेगा कि एक दीपक का प्रकाश रहने पर भी उसमें अनुस्यूत अंध-कार था, जिसे दूसरे दीपक ने हटाया, फिर भी जो था, उसे तीसरे ने और चौथे ने। स्मरण रहे कि

श्याम तेज ही अंधकार रूप से प्रतीत हुआ करता है। यों प्रकाश में अनुस्यूत—श्यामतेज, जब सिद्ध हो गया, तो मानना होगा कि हजारों दीपों का वा सूर्य का प्रकाश रहने पर भी आंशिक श्याम तेज की व्याप्ति हट नहीं सकती; वह आकाश की तरह अनुस्यूत रहती ही है। दूसरा प्रमाण यह है कि जिस स्थान में अनेक दीपक हों, वहाँ भी एक दीपक के सम्मुख भाग में कोई लकड़ी आदि आवरक पदार्थ रक्खो, तो उसकी धीमी-सी छाया उसके सम्मुख भाग में प्रतीत होगी। जितने अंश में प्रकाश का आवरण होकर स्वतः सिद्ध तम दीख पड़ता है, उसे ही छाया कहते हैं। जब एक दीप के प्रकाश का आवरण होने पर भी दूसरे दीपों का प्रकाश उसी स्थान में मौजद है, तो यह छाया की प्रतीति क्यों? मानना होगा कि प्रकृत दीपक जिस अंधकार के अंश को हटाता था—उसके प्रकाश का आवरण होने पर वह अंश छाया रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार निविड़ अंधकार में भी प्रकाश का कुछ भी अंश न रहे, तो अंधकार का प्रत्यक्ष ही न हो सके। बिना प्रकाश की सहायता के नेत्ररश्मि कोई कार्य नहीं कर सकती। सिद्ध हुआ कि गौरतेज और श्यामतेज—राधा और कृष्ण, अन्योन्य आलिंगित रूप में ही सदा रहते हैं, कभी कृष्ण के अंक में राधा छिपी हुई हैं, कभी राधा के अंचल में कृष्ण दुबक गये हैं। इसींसे दोनों एक रूप माने जाते हैं, एक ही ज्योति के दो विकास हैं और एक के बिना दूसरे की उपासना निंदित मानी गयी है—

"गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् ।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ।।
तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम् ।"

—संमोहनतंत्र, गोपालसहस्रनाम

इस विष्णु रूप परमेष्ठिमंडल का अवतार होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का श्याम रूप था और गौरवर्णा भगवती श्रीराधा से उनका अन्योन्य तादात्म्य-संबंध था, निरतिशय प्रेम था। वहाँ राधा (प्रकाश भाग) परमेष्ठिमंडल की अपनी नहीं, परकीया है, इसलिये यहाँ भी राधा के साथ कृष्ण का विवाह संबंध नहीं है। परमेष्ठिमंडल को वेद में 'गोसव' और पुराण में 'गोलोक' कहा गया है, इसका कारण है कि गौ—जिन्हें किरण कह सकते हैं, उनकी उत्पत्ति परमेष्ठिमंडल में ही होती है, आगे के मंडलों में उन गौओं का विकास है, अतएव सूर्य और पृथिवी के प्राणों में 'गौ' नाम आया है। इन गौओं का विवरण ब्राह्मणग्रंथों में बहुत है, ये प्राण विशेष हैं। हमारे 'गौ' नामसे प्रसिद्ध पशु में इस प्राण की प्रधानता रहती है, अतएव यह गौ भी हमारी आराध्य है। अस्तु, गौका, उत्पादक और पालक होने से परमेष्ठी गोपाल है, प्रथमतः गौ उसे प्राप्त हुई—इसलिये 'गोविंद' है। अतएव, हमारे चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण भी परमेष्ठी का अवतार होने के कारण गौओं के सहचारी बने और गोपाल वा गोविंद कहलाये। इसी प्रकार परमेष्ठी का इंद्र से सख्य (साहचर्य) है, (देखो, पूर्व आधिदैविक क्षरकलाओं का विवरण, परमेष्ठी के आगे इंद्रमंडल उत्पन्न होता है, और इंद्र परमेष्ठी से ही बद्ध है) इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण का भी इंद्रांश अर्जुन से साहचर्य-पूर्ण सौहार्द रहा।

आगे चंद्रमंडल भी अवतारों में (क्षर की आधिदैविक कलाओं में) आया है, उसके 'प्राणों' का प्रतिफल भी कृष्णचरितों में बहुत कुछ दीख पड़ता है। चंद्रमा समुद्र (आपोमयमंडल [1]) में रहता है—

"चंद्रमा अप्स्वंतरा सुपर्णो धावते दिवि।"

—ऋग्वेद

इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण भी समुद्र के बीच में 'द्वारका' बसाकर रहे। चंद्रमंडल श्रद्धामय है—इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण में भी श्रद्धा बहुत अधिक थी। सामान्य ब्राह्मणों के भी अपने हाथों

१ आपोमय होने के कारण अंतरिक्ष का नाम निघंटु में समुद्र आया है।

से चरण धोना, स्वयं उनके चरण दबाना, देवयजन, शिवाराधन आदि श्रद्धा के बहुत-से निदर्शन हैं। रासलीला का भी चंद्रमा से बहुत संबंध है। चंद्रमा राशिचक्र से रासलीला करता रहता है। प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से की जाती थी, उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रों की मध्यवर्तिनी होने से 'रासेश्वरी' है, उसका दूसरा नाम राधा भी है, अतएव उसके आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहते हैं। विशाखा पर जिस पूर्णिमा को चंद्रमा रहता है—उस दिन सूर्य कृत्तिका पर रहता है। संमुख स्थित सूर्य की सुषुंणारश्मि से विशाखायुत चंद्रमा प्रकाशित होता है, कृत्तिका का सूर्य 'वृष' राशि का है। अतएव यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर जब पूर्णचंद्रमा (पूर्णिमा का चंद्रमा) राधा के ठीक संमुख भाग में कृत्तिका पर आता है, तो कार्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन है—इत्यादि। ये सब घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की 'रासलीला' में भी समन्वित होती है। अब लेख बहुत बढ़ गया—इसलिये इस विषय का विस्तार किसी स्वतंत्र लेख के लिये छोड़ दिया जाता है, और अन्य मंडलों के सादृश्य का विवरण भी विस्तार के भय से छोड़ दिया गया है।

जो यूरोपीय विद्वान् वा उनके शिष्य हमारे इतिहासों को सर्वथा कपोलकल्पना मानते हैं, जिनके विचार में श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि कोई हुए ही नहीं—उन सर्व मिथ्यात्ववादी वेदांतिशिरोमणियों से तो कहा ही क्या जा सकता है? किंतु जो इस प्रकृति के सज्जन हैं कि इतिहास तो मानते हैं—किंतु उनमें आयी हुई 'अवतार' आदि अलौकिक घटनाओं में संदेह करते हैं, वे यदि इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आशा है उन्हें भी भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्णावतार होने में संदेह नहीं रहेगा। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्त भी श्रीकृष्ण के इस गुणानुवाद से 'श्रीकृष्ण-कथा' में कालयापनकर प्रसन्न होंगे, ऐसी आशा है।

प्रकट लीला या नर लीला

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

सच्चिदानंद भगवान् वृंदावन में अवतीर्ण होकर अपनी महिमामयी लीला का विस्तार करते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं,[१] उनके अवतार की क्या आवश्यकता है ।गीता में स्वयं भगवान ने ही अपने श्रीमुख से कहा है कि वे धर्म के संस्थापन के लिये, दुष्टोंके विनाश के लिये और साधुओं के परित्राण के लिये अवतार धारण करते हैं[२], किंतु परवर्ती वैष्णव संप्रदायों का यह विश्वास है कि भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से, अपनी लीला का विस्तार करने के उद्देश्य से प्रकट होते हैं। यही उनके प्रकट होने का उत्तम हेतु है।[३] जब वह अवतीर्ण होते हैं तब दुष्टों का दमन भी हो जाता है, सिष्टों का पालन भी हो जाता है और धर्म की स्थापना भी हो जाती है, पर इन बातों के लिये स्वयं रूप में उनके अवतीर्ण होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह काम तो अंशावतारों से भी हो जाता है। इसके लिये स्वयं रूप में अवतीर्ण होने की क्या जरूरत है। वस्तुतः भगवान में 'रिरंसा वृत्ति' के साथ ही साथ सिस्टक्षावृत्ति और युयुत्सावृत्ति भी रहती है, पर ये दोनों वृत्तियाँ सामयिक होती हैं। रिरंसा वृत्ति ही नित्य होती है। रिरंसा, अर्थात् रमण करने की इच्छा। रिरंसा वृत्ति उस शक्ति का परिणाम है, जिसे 'परा शक्ति' कहते हैं। यह जो भगवान की नित्य रिरंसा वृत्ति है वही सच्चिदानंदमयी लीला में सदा अभिव्यक्त होती रहती है। यह नित्य लीला गोलोक में होती है। गोलोक की नित्य लीला प्रपंच गोचर न होने के कारण 'अप्रकट' लीला कही जाती है। इसमें विरह-भाव का अभाव रहता है। अतएव यह देव-लीला है। भगवान के सभी लीला सहचर इसमें नित्य विराजमान रहते हैं। गोलोक में तो भगवान अपने अनंत प्रकाशों से नित्य क्रीड़ा करते रहते हैं, उनमें से किसी एक प्रकाश के द्वारा अपने सहचरों के साथ वृंदावन में प्रकट हो जाते हैं यह दुर्लभ संयोग है।[४]

१. एते चांसकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।
—भागवत १।३।२८

२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।
—भगवद्गीता ४।७,८

३. स्वलीला कीर्तिविस्तारात् लोकेष्वनु जिघृक्षुता ।
अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तम ।।
—लघु भागवतामृत २४३

४. सदानंतैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति ।
तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदंतरे ।।
सहैव स्वपरीवारैर्जन्मादि कुरुते हरिः ।
—लघु भागवतामृत २५८

परंतु जहाँ विरह की आशंका नहीं, नयनपक्ष्म में अश्रुगल का भार नहीं, हृदय में मिलनोत्कंठा की व्यग्रता नहीं, प्राणों में विरहाशंका की हूक नहीं, वह देव-लीला उतनी मधुर भी नहीं हो सकती। अपने संपूर्ण ऐश्वर्य और महिमा के साथ यह लीला तब प्रकट होती है जब भगवान नर लीला करते हैं। देवताओं को यह सुख अनुभव नहीं हो सकता, जो नर लीला के सहचरों को प्राप्त होता है। ब्रजसुंदरियों को जो सुख मिला उसे पाने के लिये वैकुंठ धामस्थ भगवान की परम प्रिया लक्ष्मी का चित्त भी चंचल हो उठा था। उन्होंने दीर्घकाल तपस्या कर के भगवान से प्रार्थना की कि नाथ, ऐसा प्रसाद हो कि मैं वृंदावन में गोपी रूप में अवतीर्ण होकर तुम्हारा सहवास पा सकूं, परंतु भगवान ने ऐसी अनुमति नहीं दी; फिर लक्ष्मी जी ने कहा कि यदि यह संभव नहीं, तो ऐसा ही करदें कि जब आप वृंदावन में अवतीर्ण हों तो मैं आपके वक्षस्थल में सुवर्ण रेखा बन कर रहूँ। भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। यद्यपि इस प्रकार की कथा भागवत में नहीं आती, तथापि भागवत में ऐसे वचन मिल जाते हैं जो इस कथा का समर्थन करते हैं।[१] उद्धव ने भी यह स्पृहा की थी कि इन गोपियों की चरणरज पाने के लिये कहीं मैं वृंदावन के गुल्म लताओं के रूप में हो सकता।[२]

नर लीला ही प्रकट लीला है। वृंदावन इसका मुख्य क्षेत्र है। मथुरा और द्वारका सहकारी हैं, अतएव गौण हैं। ऐसा कहा जाता है कि भगवान वृंदावन में पूर्णतम, मथुरा में पूर्णतर और द्वारका में पूर्ण रूप में विराजित होते हैं। नर रूप को धारण करने के लिये वे वसुदेव और देवकी के घर में चतुर्भुज रूप में और नंद और यशोदा के घर में द्विभुज रूप में जन्म ग्रहण करते हैं। इनमें वसुदेव और देवकी तो भगवान के वैकुंठ धाम के नित्य माता-पिता हैं और नंद यशोदा गोलोक धाम के नित्य पिता-माता हैं।

भगवान का नित्य धाम गोलोक या कृष्णलोक और वैकुंठ या परम व्योम नाम से दो प्रकार का बताया गया है। ऐसा समझना चाहिए कि गोलोक पुष्प की कर्णिका के समान है और परम व्योम दानों के समान है, परम व्योम के सबसे ऊपर गोलोक का अवस्थान है। यह गोलोक ही वृंदावन के रूप में प्रकट हुआ है। शास्त्रकारों ने बताया है कि गोलोक का ही माधुर्य प्रधान प्रकाश वृंदावन है, माधुर्य और ऐश्वर्य उभय प्रधान प्रकाश मथुरा है। ऐश्वर्य प्रधान प्रकाश द्वारका है। गोलोक और वृंदावन में तात्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है, फिर भी वृंदावन की लीला की विशेषता है। गोलोक की लीला देवलीला है, उसमें विप्रलंभ-भाव नहीं है, इसीलिये श्रीकृष्ण-मिलन रूप वैष्णवजन के परम पुरुषार्थ की लब्धि में जो आनंद मिलना चाहिये वह जैसा वृंदावन में प्राप्त

१. भागवत में नाग-पत्नियों ने कहा—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वांछया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥

—भागवत १०।१६।३६

२. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

—भागवत १०।४७।६१

होता है वैसा अन्यत्र नहीं होता। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान का लोक एक होकर भी लीला-भेद से चतुर्धा प्रकाशित होता है—गोलोक, गोकुल, वृंदावन और मथुरा। भक्तों ने वृंदावन की लीला के उत्कर्ष का बखान किया है, क्योंकि यद्यपि भगवान के लीला, धाम, रूप और गुण सभी नित्य और अनंत हैं तथापि उसका जो प्रकाश वृंदावन में होता है उसमें एक विशेष प्रकार का वैचित्र्य है। श्री वृंदावन की लीला एक ही साथ नित्य भी है और क्रमिक भी है, भूम्न या व्यापक भी है और परिच्छिन्न भी है। इस क्रमिकता और परिच्छिन्नता के कारण इस में प्रेमतत्त्व अधिक गाढ़ और आनंदमूलक होता है। अन्यान्य साधनाओं में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है और इसीलिये जब मनुष्य एक बार परमपद प्राप्त कर लेता है और भगवत् स्वरूप का एकत्व प्राप्त कर लेता है तो उसका सब करणीय समाप्त हो जाता है। इस साधना में भगवान का प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। उनके मिलन का जो अलौकिक-अचिंत्य-अप्राकृत आनंद है, वही नित्य काम्य है। इस प्रेम के लिये क्रमिकत्व भाव पोषण का काम करता है। यही कारण है कि भक्तों में वृंदावन लीला का इतना मान है, नहीं तो लीला का तारतम्य बताना कौतुक-मात्र है। लीला एक है और अनंत प्रकाशमयी है। वह भगवान् के अनंत आनंद का प्रकाश है।

इस प्रपंचगोचर नरलीला को उत्कृष्ट बताकर वैष्णव आचार्यों ने एक बहुत बड़े तत्त्व को स्वीकार किया है। सत्य, जब तक मनुष्य-निरपेक्ष है तब तक वह यथार्थ नहीं होता। जो सत्य मनुष्य की बुद्धि द्वारा, मन द्वारा और इंद्रियों द्वारा अधिगम्य नहीं है वह कैसा है, यह हम नहीं कह सकते। जो कुछ जगत् में दीख रहा है, अनुभव किया जा रहा है वह मनुष्य का जाना हुआ सत्य है और इसीलिये यथार्थ है, अर्थात् हमारा अपना सत्य है। विश्वव्यापक सत्ता का हम स्वरूप नहीं जान सकते हैं, जो हमारे अनुभव में आ सकता है। उसके बिना भी, अर्थात् हमारे अंतःकरण के अनुभवों की कोई अपेक्षा न रख कर जो सत्य है वह केवल बात की बात है। हम ऐसी किसी वस्तु की धारणा तक नहीं कर सकते जो मानव-निरपेक्ष हो। इसीलिये सत्य का वही रूप मनुष्य के काम का है जो उसकी अनुभूतियों का विषय बन सका है। नित्य लीला बहुत बड़ी चीज है, भगवान का शाश्वत रूप और भूम्न रूप निस्संदेह बड़े महत्त्व के हैं, लेकिन मानव रूप का माहात्म्य अधिक है, क्योंकि मनुष्य अपनी सीमाओं के भीतर से, अपने देश-काल परिच्छिन्न मन से, जो अनुभव करता है वही उसका अपना यथार्थ है। जो नित्य-सुख की भावना है, जिसमें केवल आनंद ही आनंद है, वह मनुष्य का स्वप्न हो सकता है, मनुष्य का अपना यथार्थ' नहीं। सब आशाओं, आकांक्षाओं, व्याकुलताओं और आशंकाओं के भीतर से नित्य-सत्य का वह मधुर रूप उपलब्ध होता है जो मनुष्य को चरितार्थता प्रदान करता है। मनुष्य अपनी सीमाओं से बँधा है। सीमाएँ ही उसे वास्तविकता का अनुभव कराती हैं। इसीलिये भगवान के मनुष्य-निरपेक्ष नित्य रूप की अपेक्षा उनका वह रूप मनुष्य के लिये श्रेष्ठ है जिसे वह अपने प्राणों की व्याकुलता के भीतर से प्राप्त करता है। यही वह बहुत बड़ा तत्त्व है जिसका प्रतिपादन वैष्णव आचार्यों ने इतने सुंदर ढंग से किया है। भगवान् का सबसे आकृष्ट रूप जो मनुष्य को चरितार्थता देता है,—नर-रूप है।

ब्रज की लीला में इसी महासत्य की अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ मनुष्य का चरम प्राप्तव्य उसकी समस्त आशाओं—आकांक्षाओं और दुर्बलताओं के भीतर से प्राप्त हुआ है। यहाँ वे जन-निवास हैं, साधारण मनुष्य के साथ एक होकर वास करते हैं। यहाँ वे माता के हृद्याह्लादक पुत्र हैं, पिता की स्नेह वृत्ति को चरितार्थ करने वाले बालक हैं, पुरजन-परिजन के हृदयानंददाता हैं, दुष्टों को दमन करने वाले और शिष्टों का पालन करने वाले धर्म-संस्थापक हैं और सबसे बढ़कर ब्रज-सुंदरियों के प्रेम के आश्रय हैं—सब प्रकार से मानव-सुलभ भावों के आधार। इस ब्रजलीला का उत्कर्ष इसी मान-

त्व के कारण है। देवलीला इसके सामने फीकी है। जय हो इस महिमामयी लीला के आश्रय नर-देह-धारी भगवान् श्री कृष्ण की—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्॥

—भागवत १०।९०।४८

ब्रज का आध्यात्मिक रहस्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

"मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वै ।
मत्सारभूतं यद्यत्स्यान्मथुरा सा निगद्यते ।।"

—गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्

भारतवर्ष के धर्म प्रधान इतिहास में यहाँ के महानगरों ने जो भाग लिया है वह अत्यंत विलक्षण है। सप्त महापुरी यहाँ के विशाल अध्यात्म-साम्राज्य की सप्त राजधानियाँ हैं, जिन्होंने अपने ज्ञानमय वैभव के द्वारा इस राज्य की सीमाओं का अनंत विस्तार किया है। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंतिका, और द्वारका ये हमारे राष्ट्र के सप्त महा प्राण हैं, जिन्होंने सदा जागरूक रह कर राष्ट्रीय जीवन में स्फूर्ति और चैतन्य का संचार किया है। देवयुग में जब विधाता ने भारत-मही की रचना करके उसके श्रोत्रगह्वर में अध्यात्म संदेश का मंत्र फूंका था, तभी मानों इन सप्त पुरियों के लिए भी कर्तव्य निर्धारित कर दिया गया था—अर्थात् तपःपूत जीवन के द्वारा अध्यात्म-भावों का शाश्वत प्रचार। इतिहास इस बात का साक्षी है कि काशी, मथुरा आदि पुरियों ने भौतिक साम्राज्य निर्माण के आसुरी प्रलोभनोंसे अपनी रक्षा करते हुए धर्म और संस्कृति के संवर्धन के लिए ही सदा यत्न किया है। इन सप्त महापुरियों ने सप्त महाप्राणों के सदृश ही राष्ट्र के अध्यात्म शरीर की रक्षा की है। श्रुतियों में कहा है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ।
सत रक्षंति समदप्रमादम् ।।"

शरीर पद से भौतिक देह और राष्ट्र शरीर दोनों ही अभिप्रेत हो सकते हैं। सप्तपुरी रूपी सप्तर्षियों का इतिहास ही भारतवर्ष का सच्चा इतिहास है। जो भावी इतिहासकार इस दृष्टि से इन नगरों के अतीत का लेखा तैयार करेगा, वह अवश्य ही भारतीय प्रजाओं के प्रति अपने कर्तव्य से यथार्थ रूप में उऋण हो जायगा। एथेंस, रोम, परसिपोलिस अथवा पैरिस, लंडन और बर्लिन के जो इतिहास तैयार हुए हैं उनमें राज्यों के उलट फेर की दुःखभरी गाथाएँ हैं, परंतु मथुरा, काशी, कांची के जो अतीत वृत्त संकलित होंगे उनमें सृष्टि और मानवी जीवन के गूढ़ प्रश्नों का समाधान ही प्रधानतया देखने को मिलेगा।

लेख के आदि में उपनिषद् का जो श्लोक है उसमें मथुरा की व्युत्पत्ति जिस ढंग से की गई है उस पर पर निरुक्त शास्त्र के पंडितों का चाहे जो मत हो, परंतु अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से वह निर्वचन यथार्थ है। ब्राह्मणकारों का सिद्धांत है—

"परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः।"

यहाँ भी ऋषि ने परोक्ष शैली के द्वारा यह बताया है कि समस्त विश्व का मथा हुआ जो सारभूत मक्खन, अर्थात् ब्रह्मज्ञान है वही 'मथुरा' है। वह मथित ज्ञान जहाँ हो उपचार से वह ब्रह्मज्ञान-मयी पुरी ही मथुरा है। अथवा मथुरा का ही नामांतर मधुरा है। ब्रह्म विद्या या आत्म विद्या की वैदिक-संज्ञा मधु विद्या है। कारण कि जो रस या मिठास इसमें है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। वह देव-मधु या माधुर्य जहाँ प्रभूत मात्रा में हो वही मधुर प्रदेश है।

मधुरा ही नामांतर से मथुरा है। पूर्ण पुरुष भगवान् कृष्णचंद्र की लीला भूमि मथुरा में भक्त और संतों ने जिस माधुर्य का अनुभव किया है उनका साक्षी हमारा साहित्य है। उनके वर्णनों के अनुसार आध्यात्मिक मथुरापुरी की महिमा अगम्य है।

व्रज, गौएँ, ब्रजगोपाल, गोप, गोपी—कृष्णलीला के ये पाँच सूत्र हैं। उपनिषद् तथा अन्य रहस्य ग्रंथों में इनके अर्थ दिए गए हैं। यह शरीर ब्रजभूमि है, इंद्रियाँ गौएँ हैं, निर्लेप आत्मा गोपाल है, जीव गोप और वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। वैदिक साहित्य में भी सहस्रों स्थानों पर इंद्रियों को 'गौ' की संज्ञा दी गई है। ये गौएँ जहाँ अमृतमय दुग्ध या सोम का प्रस्रवण करके गोपाल को अर्पण करती हैं, वह ब्रजभूमि धन्य है। सब प्रकार के सामंजस्य से समन्वित—स्थिर इंद्रिय धारण से संपन्न—देह ही गोपाल की लीलास्थली है। प्रत्येक नवद्वारयुक्तापुरी में इस लीला के दर्शन हो सकते हैं। यह शरीर ही द्वारकापुरी है। नौ इंद्रिय-द्वार और दसवाँ विदृति-द्वार ये दस फाटक हैं। इन से युक्त पुरी द्वारका है, उसका अधिपति द्वारिकेश या द्वारकाधीश आत्मा है। ब्रह्मज्ञानमयी मथुरा के द्वारिकाधीश का यही रहस्य है।

कृष्णोपनिषद् और गोपालोत्तरतापिनी आदि उपनिषदों में और भी विस्तार से अध्यात्म-रूपकों का वर्णन किया है।

"देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते।
निगमो वासुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः॥"

अर्थात् देवकी ब्रह्मपुत्री है जिसका वेदों में बखान है, वेद वसुदेव और वेदार्थ ही कृष्ण है।

"गोप्यो गाः ऋचस्तस्य।"

अर्थात् वेद की ऋचाएँ ही गोपियाँ और गौएँ हैं। गोकुल नंदनवन है तथा लोभ-क्रोधादिक दैत्य हैं, जिनके साथ गोपाल का गौओं की रक्षा के हेतु अजस्र संग्राम हुआ—

"द्वेषश्चाणूर मल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः चमूपतिः॥"

अर्थात् काम-क्रोधादिक पाप-वृत्तियाँ अनेक असुर हैं। कंस स्वयं कलि या पाप रूप है।

"कंस—कलि—पाप—वृत्र

ब्राह्मण में—

पाप्मा वै वृत्रः।"

अर्थात् पाप की संज्ञा वृत्र है, यह परिभाषा पाई जाती है। शंबर, वृत्र, नमुचि, बल आदि असुरों के साथ इंद्र युद्ध के देवासुरी उपाख्यानों की तरह ही कंस और अघासुर, बकासुर, शकटासुरादि दैत्यों के साथ कृष्ण-संग्राम की कथाएँ हैं। कृष्णोपनिषद् के अनुसार वृंदा भक्ति है, अतएव वृंदावन भक्तिवन है। भक्ति क्षेत्र में अवतरित गोपाल की लीलाएँ कृष्णलीलाएँ हैं। इसी उदात्त भक्तिभाव को अनेक प्रकार से अपने अनुभव से आत्मसात् करके भक्त कवियों ने कृष्ण चरित्र और ब्रज-भूमि का गान किया है। उनके आदर्श काव्य के वर्ण्य विषय कृष्ण हैं।

नवीन संशोधक इस अध्यात्म स्वरूप के अतिरिक्त मथुरा का एक ऐतिहासिक रूप भी स्वीकार करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे आदर्श तथा अखंड कृष्ण का बुद्धि और तर्क द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण के नाम पर उन्होंने वामन और खंड युक्त वर्णन किया है। सत्य के संशोधक इतिहासज्ञ उद्धव के वंशज हैं। सत्य का रूप वामन और कल्पना का विराट् है। ब्रज भूमि की महिमा उद्धव के आदर्शों में नहीं वरन् गोपियों के कल्पनामय भावादर्श में है।

वेदों में ब्रजलीला

श्री नीरजाकांत चौधुरी देव शर्मा

"श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि ते।"

—श्रीधर स्वामी

परब्रह्म स्वयं श्रीभगवान् श्री कृष्ण भक्तों के प्रति अनुग्रह करके द्वापर के अंत में माया-मानुष रूप से ब्रजमंडल में अवतीर्ण हुए थे।

भगवान् की लीला दो प्रकार की है—ऐश्वर्यमयी और माधुर्यमयी। जिस लीला में वे कभी जन्म ग्रहण नहीं करते अथवा किसी के भी साथ पिता-माता-भ्राता आदि संबंध नहीं रखते, केवल अपने अचिंत्य ऐश्वर्य के प्रभाव से भक्त का मनोरथ पूर्ण करने के लिये अवतीर्ण होते हैं, श्री भगवान् की उस लीला को 'ऐश्वर्यमयी' कहते हैं। श्रीमत्स्य, श्रीवराह, श्रीनृसिंह आदि में इसी प्रकार की ऐश्वर्यमयी लीला है। जिस लीला में वे जन्म ग्रहण करते हैं, एवं पिता-माता आदि संबंधों के अनुगत रहकर भक्त का मनोरथ पूर्ण करते हैं, वह माधुर्यमयी लीला है। श्री राम, श्री कृष्ण, श्री संकर्षण-रूप में ऐसी लीला है।

श्री भगवान् का धाम—गोलोक

श्री भगवान् चिन्मय निर्विशेष ब्रह्म के रूप में सर्वत्र और अंतर्यामी रूप में संपूर्ण जीवों के हृदयों में स्थित हैं; परंतु ब्रह्मांड या जीव-हृदय उनका लोक अथवा धाम नहीं है। श्री भगवान् का धाम ब्रह्मांड की भाँति मायिक नहीं है, वह प्रकृति से अतीत सच्चिदानंदमय है। अनंत ब्रह्मांडों में अनंत जीव अपना-अपना कर्मफल भोग करते हैं। श्री भगवान् भी अनंत वैकुंठों में अनंत श्री-मूर्ति प्रकट करके लीला-रसास्वादन करते हैं।

"स हि भगवान् कुत्र तिष्ठति ? महिम्नि स्वे।"

—गोपालतापनी उपनिषद्

अनंत वैकुंठों में गोलोक नामक वैकुंठ में ही उनकी लीला की परिपूर्णता है। वहाँ सभी पार्षद ऐश्वर्य-ज्ञानहीन विशुद्ध माधुर्यमय हैं। इसीसे उनके गोलोकधाम को 'परमलोक' अथवा 'श्रेष्ठधाम' कहा जाता है—

"परिपूर्णतमः साक्षात् श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम्।
असंख्यब्रह्मांडपतिर्गोलोके धाम्नि राजते॥"

—गर्गसंहिता गो० खं० १।१८

असंख्य ब्रह्मांडपति परिपूर्णतम साक्षात् भगवान् स्वयं श्री कृष्ण गोलोकधाम में विराजित हैं—

"सर्वोपरि श्रीगोकुल ब्रजलोकधाम।
गोलोक श्वेतद्वीप वृंदावन नाम॥
सर्वग अनंत विभु कृष्णतनुसम।
ऊपर्यधे व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्मांडे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकई स्वरूप तार नाहि दुइ काय॥"

—चैतन्यचरितामृत

इस गोलोकधाम में श्री भगवान् गो, गोप और गोपियों के साथ नित्य लीलाविलास करते हैं—

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्वृतः ।
वृंदावनांतरगतः सदा क्रीडति कंसहा ।।"

—स्कांदे.

कंस-निषूदन श्री कृष्ण-बलदेवजी, गोप-बालक तथा वत्सादि के साथ वृंदावन में नित्यविहार किया करते हैं ।

किसी-किसी समय जगत् को कृतार्थ करने के लिये यह धाम, पार्षद और लीला किसी-किसी ब्रह्मांड में प्रकट होती है । इस ब्रह्मांड में—

"अष्टाविंश चतुर्युगे द्वापरेर शेषे ।
ब्रजेर सहित हय कृष्णेर प्रकाशे ।।"

—चैतन्यचरितामृत

"वेदनागक्रोशभूमिं स्वधाम्नः श्रीहरिः स्वयम् ।
गोवर्धनं च यमुनां प्रेषयामास भूपरि ।।"

—गर्गसंहिता वृं० खं० ३।३

स्वयं श्री हरि ने निजधाम (गोलोक) से चौरासी कोस भूमि गोवर्द्धनगिरि और यमुना को भूतल पर भेजा ।

श्री भगवान् नराकृति में प्रपंच से अतीत धाम में नित्य लीला किया करते हैं। उनकी लीलाएँ अनंत होने पर भी उनमें यही लीला सर्वोत्तम है—

"कृष्णेर यतेक खेला सर्वोत्तम नरलीला ।
नरवपु ताँहार स्वरूप ।।
गोपवेश वेणु कर नवकिशोर नटवर ।
नर लीलार हय अनुरूप ।।"

—श्रीचैतन्यचरितामृत

श्री कृष्ण रूप में एक ही साथ ऐश्वर्य, माधुर्य, अवतारभाव और अवतारी भाव प्रकट करके श्री भगवान् अपने लीलाविलास से जगत् को कृतार्थ करते हैं।

जगत् के जीवों को योगमाया का वैभव दिखलाने के लिये भगवान् ने इस मायामानुषदेह को स्वेच्छा से ग्रहण किया है—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।"

—भागवत ३।२।१२

श्रीकृष्ण हमारे सदृश मनुष्य न होने पर भी माया साधारण जीवों के मन में यही धारणा उत्पन्न कर देती है कि ये मनुष्य हैं। साधारण जीव इस लीला के अप्राकृत अंश को ग्रहण नहीं कर सकते—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्व योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।"

—गीता ७।२५

"महायोगमायाविशेषानुयुक्तः विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।"

—अ० रामायण क० १३ । २८

हे ईश्वर, महान् योगमाया के गुण विशेष से युक्त होकर आप लीलामानुष रूप में विराजमान हैं। यह जो अप्राकृत में प्राकृतबोध है, इसीमें मानो उनकी लीला का माधुर्य प्रकट होता है—

"धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।"

—गीता ४ । ८

भगवान्, धर्मग्लानि के अवसर पर धर्मसंस्थापन के लिये अवतीर्ण होते हैं—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
तदाहं संप्रसूयामि गहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥
कर्मकाले पुनर्देहमविचिंत्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबंधकारणात् ॥"

(महा० वन० १८९ । २७-३१)

मुनि मार्कंडेय से वटपत्र पर शयन किये हुए श्रीभगवान् ने कहा था—'जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं अपने को सृजन करता हूँ। मैं उस समय मनुष्य-देह धारण करके शुभकर्म करनेवालों के घर में उत्पन्न होकर सबका प्रशमन करता हूँ। कर्म के समय पुनः मर्यादा-बंधन के निमित्त मनुष्यरूप ग्रहण करके अचिंत्य शरीरों का सृजन करता हूँ, परंतु मूढ़ और असुर प्रकृति के जीव केवल मायामनुष्य-रूपधारी भगवान् को पहचान नहीं पाते। इतना ही नहीं है—दुर्योधनादि श्री व्यास, भीष्म, विदुर तथा ऋषियों के सैकड़ों तरह से उपदेश करने पर भी, यहाँ तक कि कौरव-सभा में श्री कृष्ण का विश्वरूप देखकर भी, उनको नहीं पहचान सके और उनके प्रति द्वेष तथा अवज्ञा ही की।

खृष्टी-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में ग्रीक दूत 'मेगास्थिनीज' ने सौरसेनों के द्वारा यमुना-तट पर स्थित मथुरा नगरी में 'हरकेलस' की उपासना का उल्लेख किया है।[१] यह श्रीकृष्ण-पूजा ही है। इसको Cambridge History of India में भी स्वीकार किया गया है।

अनेक विद्वानों के मतानुसार पाणिनि का काल १२०० खृष्टी पूर्व है। उन्होंने वासुदेव-अर्जुन का उल्लेख (वासुदेवार्जुनाभ्याम्) किया है। भारत-युद्ध की बात भी आयी है।[२] पातंजल-महाभाष्य में भी महाभारत और श्री कृष्ण के संबंध की बहुत-सी बातें मिलती हैं (अक्रूरो ददते मणिम्)। महर्षि पतंजलि का समय द्वितीय शताब्दी के बाद नहीं है।

राजपूताना के घोसुंडी-शिलालिपि में (Luders, Brahmi Inscriptions no. 6) राजा 'सर्वंतात' के द्वारा वासुदेव-संकर्षण के लिये शिलाप्राकार बनाने की बात आयी है। यह अनुमानतः खृष्टी-पूर्व तीसरी शताब्दी की बात है।

वेशनगर में 'हेलिओडोरा' के प्रसिद्ध गरुड़ध्वज के लेख में वासुदेव और भागवत धर्म के प्रति ग्रीकों की भक्ति का प्रमाण मिलता है। यह अनुमानतः खृष्टी पूर्व दूसरी शताब्दी है।

नानाघाट में १ नंबर की गुफा में वासुदेव-संकर्षण की पूजा का उल्लेख है। यह संभवतः खृष्टी-पूर्व पहली शताब्दी का है।

महाकवि भास का समय ईसा से पूर्व का माना जाता है। उनके बहुत से नाटकों में कृष्ण, बलराम और महाभारत का प्रसंग है। कालिदास का काल खृष्टी-पूर्व प्रथम शताब्दी का होना चाहिये।

१. "This Heracles is held in special honour by the Sourasenoi, an Indian tribe, who possess two large cities Methora and Cleisobora."

(Megasthenes quoted by Arrian—Mc Crindle p. 206)

२. "There are satisfactory proofs of the anti-Christian growth of a Krishna legend in the *Mahabharata story*."

(Seal : *Comparative Studies*, p. 8)

"Patanjali's *Mahabhasya* (1. 4. 92, 4. 1. 14, 5. 3. 99) also conclusively establishes the fact that Krishna was worshipped as a God or Avatara long before the commencement of the Christian era." (Seal: *Comparative Studies*, p. 9.)

उनके 'काव्यों' में व्रज के श्री कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख है—**'बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः'**—(मेघदूतम् १५)। **'सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्।'** (रघु० ६।४६)

शाकाब्दप्रवर्तक राजा शालिवाहन या सातवाहन ने 'गाथासप्तशती' की रचना खृष्टी प्रथम शताब्दी में की थी। इसमें श्रीकृष्ण और गोपीलीला का उल्लेख है—

"मुखमारुएण तं कन्ह गोरअं राहिआए अवणेंतो।
एताणं वल्लवीणं अण्णाणँ वि गोरअं हरसि ॥"

—गाथासप्तशती १।८६

'हे कृष्ण, तुम मुख-मारुत के द्वारा (फूँक मारकर) राधिका की आँखों से धूल निकाल रहे हो, इसके द्वारा अन्यान्य गोपियों का भी गौरव हरण कर रहे हो।'

"अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इअजंपिए जसोदाए।
कण्हमुहपेसिअच्छं निहुणं हसिणं बअवहूहिं ॥"

—गाथासप्तशती २।१२

यशोदाजी कहती हैं कि दामोदर अब भी बालक हैं। इससे व्रज-वधुएँ छिपकर श्री कृष्ण-मुख देखकर हँस रही हैं।

उपर्युक्त श्लोकों से केवल गोपी-लीला ही नहीं, राधाकृष्ण-लीला की प्राचीनता भी सिद्ध हो जाती है।

ज्योतिष और विभिन्न पुराणों को देखने से महाभारत-युद्ध का समय ३१०० वर्ष खृष्टी-पूर्व प्रमाणित होता है। अंततः १५०० खृष्टी-पूर्व से बाद तो है ही नहीं।

सर जी० हिगिंस (Sir G. Higgins) ने कहा है कि कृष्ण ईसा के बहुत पहले हुए हैं, यह बात भास्कर्य से और ग्रंथों से निःसंदिग्ध रूप में प्रमाणित है।[1] वे यह भी कहते हैं कि ब्राह्मणों ने एक नयी कहानी रचकर उसे शास्त्रों में घुसेड़कर एक नये देवता को सर्वोच्च आसन पर बैठाकर सब का समन्वय करके समझा दिया और करोड़ों लोगों को मिथ्या जानकर भी इसी को मानकर उपासना करने लगे, यह क्या संभव है?

असल में देखा जाय तो खृष्ट की जन्म-कथा, जीवन की घटनाएँ और धर्म-मत के साथ श्री कृष्ण-चरित्र की तुलना करने पर हेरड' की शिशु-हत्या आदि दो-एक गौण प्रसंगों के अतिरिक्त और किसी बात में सादृश्य ही नहीं मिलता।

खृष्ट का असली नाम 'येशुआ' (हिब्रू) या जेसस (Jesus) था। अंग्रेजी क्राइस्ट (Christ) शब्द बना ग्रीक क्राइस्टस् से। यह एक उपाधिविशेष है—अर्थ है, मसीहा या अभिषिक्त। ग्रीक क्राइस्टस् शब्द को किसी कारीगरी से भी कृष्ण में परिणत नहीं किया जा सकता। वर्ण का परिवर्तन करके भांडारकर और उन्होंने जिनकी प्रतिध्वनि की है उन पाश्चात्य विद्वानों का कृष्ण और क्राइस्ट के एकीकरण का प्रयास नितांत नगण्य है। सौ वर्ष से भी पहले 'मौरिस' ने कहा था कि 'भाषातत्त्व की दृष्टि से इस व्युत्पत्ति की कोई सत्ता नहीं है। कारण 'कृष्ण' शब्द के साथ ग्रीक 'क्राइस्टस्' शब्द का कोई भी साम्य नहीं है।'

पंडित-कुल-धुरंधर श्रीमत् 'नीलकंठ सूरि' ने अपनी प्रसिद्ध 'खिलहरिवंश-टीका' में कुछ वेद-मंत्रों का उल्लेख व्याख्या-सहित किया है। इन मंत्रों का सायण-भाष्य भिन्न है, परंतु नीलकंठ का

[1] "In fact, the sculptures on the walls of the most ancient temples......as well as written works equally old prove, beyond the possibility of doubt, the superior antiquity of the history of Cristna to that of Jesus." *Anacalypsis*, Vol.

पांडित्य भी सर्वसंमत है और उनकी व्याख्या भी सर्वजनग्राह्य है। इससे पता लगता है श्रीकृष्ण की प्रायः प्रत्येक ब्रजलीला का ही वेद में उल्लेख है। यहाँ उन मंत्रों को नीलकंठीय टीका-सहित दिया जाता है—

१—शकटभंजन (हरिवंश विष्णु० ६।४७)

"पृथु रथो दक्षिणाया अयोज्येनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्या विहायश्चिकित्संती मानुषाय क्षयायैतेन।।"

—ऋग्वेद १।१२३।१

(पृथ) महान् (रथो) शकटं (दक्षिणायाः) दिशः संबंधी मृत्युकरमित्यर्थः (अयोजि) योजितः शत्रुभिरित्यर्थाल्लभ्यते। तम् (एनं) रथं (देवासो) देवाः (अमृतासो) अमृताः आसमंतात् (अस्थुः) परिवार्य स्थितवंतः। एतस्मिन्नंतरे सः रथः (कृष्णात्) कृष्णं प्राप्य तत्प्रेरणेन (उदस्थात्) उत्थितः (विहायः) आकाशमाश्रितः विशेषेण हयते गच्छतीति वा, यंत्रोत्क्षिप्तगोलकवदाकाशमार्गेणोत्थाय पतितः सन्नष्ट इत्यर्थः। ततश्च (अर्या) ईश्वरी स्वामिनी माता तत्रत्यप्रजा वा, (चिकित्संती) संशयवती (मानुषाय) मानुषस्य (क्षयाय) नाशाय एतेन पतता रथेनायं बालकः कथं न नाशित इत्यत्र कारणविशेषमपश्यंती संदिहानैवातिष्ठत्स्वीश्वरकृत्यमेतदित्यवेदीति भावः। एवमेव सर्वेषामर्थानां प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वमुन्नेयं वेदोपबृंहणत्वादस्य शास्त्रस्य।

शत्रुओं ने उस बृहत् और भयंकर शकट को योजित किया था। अमर देवगण शकट को घेरे हुए थे। इसी बीच में कृष्ण के द्वारा प्रेरित शकट आकाश में यंत्र से फेंके हुए गोलक की भाँति उत्क्षिप्त होकर गिरा और नष्ट हो गया। तदंतर माता या वहाँ के लोग 'जिससे मनुष्य मर सकते हैं' इस प्रकारसे पड़े हुए रथ के द्वारा वह बालक क्यों नहीं मरा? इसका कारण न समझकर संदेह में ही रह गये। यह ईश्वर का कृत्य है, ऐसा नहीं समझ सके।

इसी प्रकार सभी अर्थों को प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक समझना चाहिये; क्योंकि यह शास्त्र वेद के ही अर्थका विस्तार पूर्वक निरूपण करता है।

२—पूतनावध (विष्णु० ६।३०-३४)

"हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मा-
नाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने।
शन्नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु
मा नो हिंसीदिह देवाः कपोत।।"

—ऋग्वेद १०।१६५।३, अथर्ववेद ६।२७।३

(हेतिः) आयुद्धवद्वधकारिणी (पक्षिणी) पूतनारूपा (अस्मान्) व्रजस्थान् (न दभ्रति) नाभिभवति प्रत्युत (अग्निधाने) जाठराग्नेर्धाने निमित्ते शिशोर्जाठरमग्निं स्तनद्रावेत तर्पयितुम् (आष्ट्र्याम्) 'आष गतिदीप्त्यादानेषु' आषयति परलोकं गमयति मृत्युना ग्राहयति वा देहं दीपयति वा आष्ट्री कृष्णतनुस्तस्यां (पदं) स्थानं (कृणुते) कृष्णं पाययितुं स्वमृत्युरूपां तां तनुं स्पृशति स्मेत्यर्थः।

३—यमलार्जुन-उद्धार (विस्णु० ७।१७-२१)

"यत्र मन्थां विवध्नते रश्मीन् यमितवा इव। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः, ता नो अद्य वनस्पती, ऋष्वावृष्वेभिः सोतृभिः इंद्राय मधुमत् सुतम्।।"

—ऋग्वेद १।२८।४-८

(यत्र) उलूखले (मन्थां) मन्थानमिव मन्थानं लोक क्लेशकरं मां (विवध्नंते) विशेषेण बध्नंति मातरः (रश्मीन्) आदाय रश्मिभिरित्यर्थः (यमितवा इव) निगृहीतुमिव न तु वस्तुतो निगृहीतुं मातृत्वेन मयि

(उलूखलेन सुतानां) पीडितानां कर्मणि षष्ठी । उलूखलपीडितान् अस्मान् हे (इंद्र) स्निग्धत्वात्, तेन (उलूखलेन सुतानां) पीडितानां कर्मणि षष्ठी । उलूखलपीडितान् अस्मान् हे (इंद्र)
मोचनसमर्थं (अव) रक्ष। पादादित्वादा द्युदात्तमाख्यातम्। (इंदु) एवमेव त्वं (जल्गुलः) असि एनम् मुंचा-
मोचनसमर्थं (अव) रक्ष। पादादित्वादा द्युदात्तमाख्यातम्। (इंदु) एवमेव त्वं (जल्गुलः) असि एनम् मुंचा-
मीति जल्पितुं मां च गोपितुं त्रातुं लातुम् आदातुम् स्वाधीनं कर्तुं च समर्थोऽसि यत अतः अव मामित्यर्थः।
एवं यदा सर्वान् प्रार्थयन्नपि न मोचनं लभते ततो वनस्पत्योरंतरा गत्वा बंधनदाम त्रोटितुं यावद्बलं करोति
तावद्वनस्पती एव उन्मूलितौ दृष्ट्वा वदंति—(ता नो) इति। एतौ (नो) अस्माकं व्रजवासिनां वनस्पतिभूतौ
अतिप्रसिद्धौ यमलौअर्जुनजातीयौ भो (वनस्पति अद्य इंद्राय) इंद्रं प्रति गंतुं (सुतं) तदुन्मूलनेन आत्मानं
पीडयंतं तदेव (मधुमत्) अमृतयुक्तम् अतिसम्यगित्यर्थः। यतः (ऋष्वौ) गतिमंतौ युवां स्थावरत्वान्मुक्तौ
स्थ इत्यर्थः। (ऋष्वेभिः) गतिमद्भिर्जंगमैः जनैः (सोतृभिः) अस्मद्बन्धनकरैरुपलक्षितौ।

श्री कृष्ण का लीला-वपु

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

साहित्य अध्यात्म संस्कृति का विकास है, साहित्य को पाकर मनुष्य के मन का मैल धुल जाता है, पहले से भरी हुई मन की संकीर्णता मिट जाती है। साहित्य तपते हुए सूर्य के समान है, जिस के संपर्क में आकर मन में भरा हुआ अंधकार दूर किया जा सकता है। मानस व्याधियों की परम औषधि साहित्य के भंडार में भरी हुई है। ऐसे पवित्र, प्रभावशील और जीवन के लिए मूल्यवान् साहित्य रूपी तत्त्व के निकट कौन न आना चाहेगा ? सूर और तुलसी दोनों हमारे आदर्श हैं। दोनों ने ही स्पष्ट कहा है कि जिस साहित्य का उन्होंने सृजन किया उसकी रचना में उनका मुख्य हेतु मन के अंधेरे को हटाना ही था। मन का अंधकार ही कर्मों में प्रकट होता है। अतएव समाज के विचारों और कर्मों में पवित्रता, नियमितता, सुव्यवस्था और संप्रीति का भाव लाने के लिए सुंदर साहित्य से बढ़ कर और कोई साधन नहीं है। साहित्य सेवी के मन का आनंदमय प्रकाश साहित्य का स्रोत होता है। समाज प्रत्येक युग में और प्रत्येक दशा में अपने ही विकसित सूक्ष्म मानस को साहित्य सेवी के रूप में पाता है। जब समाज में उत्तम साहित्य सेवियों को जन्म देने या उनका निर्माण करने की क्षमता घट जाती है तब समाज का नाता रस के समुद्र से टूट जाता है। साहित्य समाज की प्रगति का—**'अट्ठांगिक मग्ग'** कहा जा सकता है।

बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, सूर, तुलसी आदि के अमर काव्यों के साथ प्रत्येक पीढ़ी को फिर से नया परिचय प्राप्त करना पड़ता है। हमारे पूर्वजों के लिए वे अच्छे थे, इससे हमें संतोष नहीं मिल सकता। हमें तो अपने ज्ञान-तंतुओं की फैली हुई शक्ति से स्वयं उनके रस-स्रोत तक पहुँचना होगा, उनकी व्याख्या करनी होगी और उनसे मिलनेवाली जो आनंद-धारा है, उस गंगा को अपने भूतल पर स्वयं लाना होगा। प्रत्येक पीढ़ी को इस 'गंगावतरण' की आवश्यकता होती है और ज्ञान की इस गंगा का अवतरण कराने वाले साहित्य सेवी ही होते हैं। साहित्य सेवियों के मानस के द्वारा ही प्राचीन काव्यों के रस-स्रोतों तक पहुँचा जा सकता है। साहित्य का अनुशीलन करने वाले व्यक्ति ही उन काव्यों में छिपे हुए रस के सोतों को ढूँढ़ निकालते हैं। सूर, तुलसी, जायसी का अध्ययन नयी शक्ति से और रुचि से वर्तमान पीढ़ी में होने लगे इसके लिये नवीन प्रयत्न की आवश्यकता है। एक भी सच्चा साहित्य-सेवी अपने ध्यान की संचित शक्ति से 'सूरसागर' का अनुशीलन कर सके तो अवश्य वह उस अमृत-तत्त्व तक पहुँच सकेगा, जिसे सूरदास ने अपने भक्त-हृदय की तृप्ति के लिए उसमें भर दिया था। सूरदास और उनके एक सौ एक बंधु कवि ब्रजभाषा में जिस काव्य की रचना कर गए हैं वह उनका तत्त्व दर्शन हृदय से किया हुआ शुद्ध प्रयत्न था। ब्रजभाषा की भक्ति रस की कविता ने कई सौ वर्षों तक ज्ञान-तत्त्व की रक्षा के लिए समाज में वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था जैसा किसी समय उपनिषदों ने प्राप्त किया था। अनेक संत, महात्मा, साधक, आचार-शुद्ध भक्तों के ध्यान की साकार प्रतिमूर्त्ति ब्रजभाषा की कविता है। इस काव्य और तुलसी के रामचरितमानस काव्य में एक अविनाशी अचिंत्य ब्रह्म-तत्त्व की ही उपासना की गई है। जो व्यक्ति कृष्ण और राम को उस रूप में देखने या मानने में असमर्थ है, जिसमें सूर और तुलसी ने उन्हें देखा था वह इस काव्य के वाह्य रूप से तो परिचित हो सकता है, पर इसमें अंतर्निहित आनंद-तत्त्व या रस-सिंधु से उसका सान्निध्य नहीं हो सकता, अर्थात् मन नहीं जुड़ सकता।

सूर के कृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। वैदिक साहित्य से लेकर भारतीय मस्तिष्क ने जिस चैतन्य-तत्त्व की बराबर खोज की है, युग-युग में नये-नये नामों और रूपों में समाज ने जिसका अनुभव किया है, जनता के मानस को जिसने प्राणवंत, उत्साहित और आनंदित बनाया है। उसी आनंदघन चैतन्य तत्त्व को सूर ने 'कृष्ण' संज्ञा प्रदान की। सूरसागर में वे इस सत्य को कहते हुए नहीं थकते। कृष्ण के आनंद रूपी ब्रह्म-पक्ष का तिरोभाव हो जाये तो उनकी लीला का रस ही जाता रहे, वह तो जड़ शरीर से होने वाली चेष्टाओं की एक निरर्थक लड़ी बन कर रह जा सकती है।

कृष्ण के इस नित्य स्वरूप के साथ इतिहास को उलझन है। इतिहास मनुष्य को देश-काल में जड़कर पकड़ना चाहता है। वह सत्य घटनाओं को ढूँढ़ता है। लीला मानवी जीव की नित्य व्याख्या प्रस्तुत करती है। लीलावपु रसमय और आनंदी होता है। इतिहास का व्यक्ति काल के गाल में पड़ा हुआ बापुरा प्राणी है। जिन अभिप्रायों (मोटिफ्स) के अनुसार जीवन रूपी कमल अपने आनंद केंद्र आकाश स्थित सूर्य की प्रेरणा पाकर निज पंखड़ियों का विकास करता है, वे सदा सर्वत्र सबके लिए एक हैं, एक सत्य उनका नियामक है। कमल के विकास के लिए अंधकार का तिरोभाव चाहिए। उसे आंतरिक जीवन, प्रेरणा, आनंद, उल्लास, सौंदर्य और रूप मिलना चाहिए, तभी उसका विकास संभव है। यह आदर्श स्थिति कमल की जीवन लीला है, जो सब पद्मों के लिए आधारभूत सत्य है। एक कमल के जीवन में कौन सा सरोवर था, कितने जल में वह खड़ा था, उसे पुष्ट करने वाले कर्दम में कितने रासायनिक तत्त्व थे, उनके कारण किस पंखुड़ी ने सूर्य-दर्शन के लिए पहले अपने नेत्र खोले और किस भौंरे ने उसका चुंबन किया इस प्रकार का लेखा इतिहास की उत्सुकता को अवश्य शांत कर सकता है, किंतु कमल की नित-नित घटने वाली जीवन लीला इससे अधिक व्यापक और अमृतमय है। आज हमारा शिक्षित मस्तिष्क ऐतिहासिक कृष्ण को पकड़ना चाहता है। हमारे मन के किसी परदे में ऐसी आशंका बनी रहती है कि जिस कृष्ण का जंजाल सूर ने खड़ा किया है, वह हमारी बुद्धि को ठगने के लिए है। वैज्ञानिक बुद्धि बार-बार सूर के कृष्ण से टकराकर वापिस लौट आती है। यह हमारे लिए बड़ा असमंजस बन जाता है। न तो हम अपनी सत्यानुसंधान की नयी पद्धति को ही छोड़कर जी सकते हैं और न उसके द्वारा चैतन्य को ही पकड़ पा सकते हैं। यह उलझन सच्ची है और मैं समझता हूँ इससे इन्कार करना बुद्धि की ईमानदारी न होगी, परंतु ब्रह्म-तत्त्व, चैतन्य या नित्य आत्म-तत्त्व, इसी प्रकार की एक पहेली रही है जो पहले भी थी और आज भी है। हमारे लिए बुद्धिमानी यही होगी कि सूर ने कृष्ण का जो आदर्श लिया था उसे ही अपने मन की शक्ति से जीवित या प्राणमय बनाने का प्रयत्न करें। कम से कम सूर के मन में तो कृष्ण उस ब्रह्म रूप में ही सत्य प्रतिष्ठित थे और उसी स्रोत से ही सूरसागर का जगत् निर्मित हुआ है। अथवा यों मान लें कि सूर का सत्य भी तो किसी मानस में अपनी सत्ता रखता था, जो उनका अनुभव था उसकी खोज और पहचान भी तो वैज्ञानिक पद्धति का अंग है। वस्तुतः कवि के सत्य को उसी के नेत्र से देख सकना ही सच्ची वैज्ञानिक बुद्धि कही जा सकती है।

सूर के मानस का मानचित्र कुछ इस प्रकार खींचा जा सकता है। संसार में एक अमृत ब्रह्मात्मक सत्य है जो आनंद से परिपूर्ण, रस से तृप्त और ज्योति से भरा हुआ है। उस अमृत सत्य की प्राप्ति मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है और उसके पाने का एक मार्ग है। उस सत्य के साथ एक अनृत पक्ष भी है, जो सत्य से विपरीत है वही अनृत है। जो ज्योति का प्रति पक्षी है वही तम है। तम को हटा कर ही ज्योति प्रतिष्ठापित होती है। यह निर्गुण वाचना हुई। इसी तीन पेंड सत्य की सगुण वाचना भी है। सूर के शब्दों में, वह इस प्रकार है—कृष्ण ही परब्रह्म के पूर्ण प्रतीक या रूप हैं। वे लीला से मानव पर वस्तुतः परब्रह्म हैं। उनमें अक्षय आनंद या रस परिपूर्ण है। कृष्ण आनंद के छूटते हुए फव्वारे हैं। ब्रज के ढीठ बालक के रूप में वे संचरणशील ज्योति के स्फुलिंग हैं जो अंधेरे को हटाकर सर्वत्र प्रकाश भरते हैं। जहाँ कृष्ण प्रकट होते हैं वहीं

वे शांति, तृप्ति, सौहार्द के वरदान से मनुष्य के मन को सींच देते हैं। कृष्ण को पा लेने पर और कुछ पाने की इच्छा शेष नहीं रहती। कृष्ण जीवन के रसात्मक आनंदी निर्झर हैं। वे इंद्रियों के संसार के भीतर से उठती हुई आनंद ज्योति हैं। वे चैतन्य की सरसता हैं, जिससे समस्त जड़ जगत पुलकित और प्रफुल्लित होता है। सूर-दर्शन का यह प्रथम पद है।

कृष्ण रूपी इस अमृत सत्य को प्राप्त करने का मार्ग सूर दर्शन का दूसरा सत्य है। यह मार्ग हृदय की श्रद्धा है, वही भक्ति है। इसी एक रस्सी से चैतन्य तत्त्व बाँधा जा सकता है, अथवा यों कह सकते हैं कि चैतन्य को बंधन में लाने के लिए प्रकृति ने श्रद्धा के अतिरिक्त और कोई रस्सी बनाई ही नहीं। बाँधने के लिए मनुष्य के हाथ केवल एक यही रस्सी आई है। मन को चाहे देवता के साथ बाँधो, चाहे मातृ-भूमि या राष्ट्र के साथ, श्रद्धा या प्रेम की दोमरी के सिवा और कोई उपाय नहीं है। लोभ या बल के बंधन सब निकृष्ट हैं। कृष्ण को यशोदा बहुत सी रस्सियों में बाँधने लगी, पर सब व्यर्थ हुईं। वे तो अंत में एक ही रस्सी से बाँधे जा सके। उस रस्सी का वैदिक नाम श्रद्धा और लौकिक नाम भक्ति है। निरुक्त के अनुसार श्रत् सत्य का पर्याय है (सत्य नामसु-पठितम्) या सत्य जिसमें रक्खा हो वह श्रद्धा है। बिना जीवन-सत्य के श्रद्धा की आग नहीं जलती। यही जीवन ध्रुव अविचाली नियम है। जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वही है—

योयच्छ्रद्धः स एव सः।

श्रद्धा ही जीवन को निष्ठा प्रदान करती है और श्रद्धा ही उसमें प्रेरणा भरती है। चैतन्य तत्त्व को पकड़ने, अनुभव करने या आत्मसात् करने का एकमात्र उपाय सुंदर सात्विकी श्रद्धा है, यही सूर के मानचित्र की दूसरी रेखा है।

सूर के मंदिर की तीसरी पैंडी ज्योति के विरोधी तम की स्वीकृति है। यही कृष्ण के विरोधी असुरों के विनाश की कथा अथवा आसुरी तत्त्व के पराभव की लीला है। देवासुर संग्राम में देवों के साथ असुरों की भिड़ंत के वर्णन ऋग्वेद से आरंभ होते हैं। इंद्र और वृत्र के युद्ध को ज्योति और तम, आनंद और विषाद, अमृत और मृत्यु के संघर्ष का रूपक बता कर बहुत रोचना के साथ वेदों में कहा गया है। ब्राह्मणकारों ने उसे ढक्कन के परे देखते हुए स्पष्ट कहा है कि यह देवासुरी युद्ध कोई इतिहास की घटना नहीं है।[1] यह तो प्रकाश और उसका आवरण करनेवाले पाप की लड़ाई है। 'पाप्मा वै वृत्रः', पाप ही वृत्रासुर है—यह वैदिक परिभाषा है। इसी का नाना रूपों में विस्तार (उपबृंहण) पुराणों में पाया जाता है। सूर की कृष्ण लीला भी उसी का एक नवीनतम संस्करण प्रस्तुत करती है। यही सूर के दार्शनिक त्रिकोण की तीसरी भुजा है। यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि आसुरी शक्तियों से युद्ध और उनका पराभव सृष्टि-प्रक्रिया का अत्यंत आवश्यक धर्म है। इंद्र अथवा कृष्ण दोनों के जीवन में इसे प्रकट होना ही चाहिए। श्री 'कुमार स्वामी' के अनुसार असुर आदि के प्रतीक तत्त्वज्ञान की भाषा के लिए वैसे ही अत्यावश्यक बारहखड़ी है जैसे दर्शन शास्त्र के लिए शब्द।[2]

१. न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न ते ऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्सः॥
—शतपथ ब्राह्मण; ११।१।६।१७

हे इंद्र, तुम किसी दिन लड़े नहीं; न तुम्हारा कोई शत्रु है; तुम्हारे युद्धों की बात माया (रूपक लीला) है।'

२. .....Visual symbols being essentially the language of metaphysics, as words are of philosophy?—Angel and Titan (Diavasuram) निबंध, पृ०४१४ पाद-टिप्पणी।

कृष्ण के जीवन की लीलाएँ तत्त्व-ज्ञान की बारहखड़ी या अछरौटी (अक्षरवर्तिका, हिज्जे) के रूप में ही सार्थक हो सकती हैं, अन्यथा वे बच्चों के मन बहलाव के उदाहरण हैं। वन में लगी हुई भीषण अग्नि का पान कृष्ण के जीवन की एक उभरी हुई लीला है। दावानल-आचमन का सूर सागर में अत्यंत चमत्कारी वर्णन है।[1] **"दावानल अचयौ ब्रजराज, ब्रज-जन जरत बचायौ।"**

यह घटना भौतिक ब्रज तक सीमित नहीं है यह दावानल तो जीवन की कराल अग्नि है, जो उसे भस्म करने के लिए कहीं भी प्रकट हो सकती है। अभी-अभी हमारे राष्ट्रीय जगत् में एक कठोर दावानल फैल गया था। उसने मनुष्य मात्र के हृदयों को झुलसा डाला था, उसके आतंक से सभी प्राणी व्याकुल थे। इस दावानल का आचमन एक तपस्वी महात्मा ने किया और राष्ट्र के भस्म होते हुए शरीर और मन को उबार लिया। उस घटना को मानवी कहें या अति मानवी? हम सब उस चमत्कार के साक्षी रहे हैं।

इस प्रकार के दावानल को स्वतेज या शक्ति से शांत करने का अभिप्राय या अलंकार अर्जुन के जीवन में भी आता है। दावानल या विष की अग्नि स्थूल रूप में भले ही भिन्न दीख पड़ें, पर अध्यात्म-भाषा की दृष्टि से दोनों एक ही सूक्ष्म तत्त्व के प्रतीक हैं। समुद्र मंथन से उत्पन्न विष की दाहक ज्वालाओं से जिस समय सब देवता जल रहे थे, उस समय 'शिव संज्ञक' दैवी तत्त्व ने उस (विष) का पान कर लिया था—**"जरत सकल सुर-बृंद, बिषम गरल जिंहि पान किय।"**

शिव जी विष पान न कर जाते तो समुद्र मंथन से उत्पन्न अमृत देवों की बाँट में कभी न आता। आता भी तो उसका शांत उपयोग वे कभी न कर सकते। जो शांति के रस से सिक्त नहीं वह अमृत नहीं रह जाता। हमारे विगत राष्ट्रीय मंथन से उत्पन्न जो अमृत था उसके आस्वादन के लिए दावानल के आचमन या विषपान की अनिवार्य आवश्यकता थी। समाज या राष्ट्र के जीवन का जो सत्य है वही व्यक्ति के जीवन का सत्य भी है। एकोदय और सर्वोदय दोनों धर्म एक ही दैवी विशेषता से प्रेरणा पाते हैं।

यमलार्जुन को उखाड़ फेंकने की छोटी-सी लीला भी आध्यात्मिक-भाषा के साँचे में ढली है। हम सभी यमलार्जुन से बँधे हैं, नाम रूप के ये दो ठाड़े वृक्ष हमारे जीवन को रोके खड़े हैं। कृष्ण-लीला की परिभाषा में यमलार्जुन यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे, जो निज स्वरूप खोकर शाप से वृक्ष बने थे। वैदिक परिभाषा में नाम रूप दो महान् यक्ष हैं—

"ते (नामरूपे) ह महती यक्षे महती अभ्वे।"

अर्थात् नाम और रूप ये दो बड़े यक्ष हैं, पर ऐसे यक्ष जिनकी सत्ता नहीं, जो अभ्व हैं, दिखाई पड़ने पर भी जो हैं नहीं। जीवन को बाँधने वाले इन खूँटों को जड़ामूल से उखाड़ फेंकना ही पुराना अध्यात्म का मार्ग है। श्री कुमार स्वामी ने वैदिक परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए 'मुच्यु' को वरुण-पाश या मृत्यु का रूप कहा है और बताया है कि इस मुच्यु या मृत्यु पर विजय पाना अध्यात्म शास्त्र की आवश्यक सीढ़ी है। उनके अनुसार मुचलिंद नाग के ऊपर बुद्ध की विजय और मुचुकुंद के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही तत्त्व को कहने की दो परिभाषाएँ हैं।

[1] चकित देखि यह कहि नर नारी।
घर आकास बराबरि ज्वाला, झपटत लपट करारी।
नहिं बरष्यौ, नहिं छिरक्यौ काहू, कहुँ धों गयौ बिलाई।
अति आघात करत बन भीतर, कैसें गयौ बुझाई।।
तृन की आग बरत ही बुझ गइ, हँसि-हँसि कहत गुपाल।
सुनहुँ 'सूर' वह करनि, कहनि यह, कैसे प्रभु के ख्याल।।

वरुण या आवरणात्मक पाश डालने वाली शक्ति ही अहि-वृत्र है। उस वरुण से छुटकारा पाना वैदिक अध्यात्म शास्त्र का अत्यंत प्राचीन संकेत था। वरुण के पाशों में जकड़ा हुआ रोहित उनसे छूटने का प्रयत्न करता है। यूरुप के उत्तराखंडी देशों के 'नार्डिक-गाथा' शास्त्र में भी समंदरी बुड्ढे (**ओल्ड मैन ऑव दी सी**) से छुटकारा पाने की कल्पना पाई जाती है। समुद्र-वासी यह जरठ बुड्ढा जब पीठ पर सवार होता है, कठिनाई से उससे छुटकारा मिलता है। वरुण ही समुद्र वासी बुड्ढे हैं। वे नंद को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नंद का उद्धार करते हैं। कालिय-दमन कृष्ण के जीवन की अन्य प्रसिद्ध लीला है। वैदिक परिभाषा में आकाशचारी प्रकाश शक्तियों की संज्ञा गरुड़ और भूतल पर रेंगने वाली अंधकार प्रधान वृत्तियों की संज्ञा सर्प है। जीवन जल के सब सोतों पर नागों का अधिकार है। जीवन के जितने जल, कमल या शक्ति चक्र हैं; सब कालिय नाग के अधिकार में है। शक्ति का प्रतीक यह कालिय नाग सब के भीतर बैठकर जीवनी शक्ति को अपने ही वश में रखना चाहता है और अपने ही ढंग से चलाना चाहता है, किंतु उसके कालीदह में जीवन नहीं, वहाँ तो मृत्यु का निवास है। नाग-नथैया कृष्ण उन कमलों का उद्धार करते हैं जो जीवन के रूप हैं। नाग-नाथन या कालिय-दमन भारतीय अध्यात्म शास्त्र की परंपरा की प्रसन्न परिभाषा है जिसके पीछे रक्खा हुआ अर्थ सरलता से समझा जा सकता है।

इन लीलाओं का अध्यात्म अर्थ समझते हुए हम कृष्ण को खोते नहीं, वरन् उन्हें एक नए लोक में प्राप्त करते हैं, जिस लोक में हमारे अध्यात्म शास्त्र की प्राचीन धारा का सारस्वत जल भरा हुआ है।

कृष्णलीला इस रूप में अकेली नहीं है, रामलीला और बुद्धलीला भी उसी अध्यात्म शैली पर निर्मित हैं। बुद्ध का मानवी रूप उनके लीला विग्रह में कहीं छिपा पड़ा है। श्रीमती 'राइस डेविड्स' ने 'गौतम दी मैन' पुस्तक में बुद्ध के मानवी रूप का आग्रह करके उसे उद्घाटित करने का प्रयत्न किया, किंतु बुद्ध का लीला विग्रह मानवी रूप का पदे-पदे निराकरण करके शताब्दियों में बड़े प्रयत्न और कौशल से अध्यात्म-अर्थों का ताना-बाना बुन कर बनाया गया था। बुद्ध के तीन रूप हैं—मानवी (ह्यमन), अति मानवी (सुपर-ह्यमन) और अलौकिक (सुपर-मंडेन)। मानवी रूप का आज तक पुरातत्त्व में कोई भी समसामयिक प्रमाण नहीं मिला। पिपरावा गाँव (बस्ती—गोरखपुर की सीमा) के स्तूप से मिली हुई धातु-गर्भ-मंजूषा के लेख से ज्ञात होता है कि सुकीर्ति आदि शाक्यों ने बुद्ध के शरीर से संबंधित कुछ चिह्न (सलिल निधने बुधस भगवतो) उसमें रखे थे। बस बुद्ध के इतने ही मानवी प्रमाण से पुरातत्त्व धनी है। शेष परंपरागत अनुश्रुति और साहित्यिक प्रमाण हैं, जिसमें बुद्ध की अति मानवी लीला है—माता की दाहिनी कोख से जन्म लेना, जन्मते ही सात पैर चलना—बातें कब मानवी हुई हैं? इससे भी आगे एक युग ऐसा आया जब महायान संप्रदाय के आचार्यों ने बुद्ध के धर्म कार्य की व्याख्या करते हुए यहाँ तक कहा—वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि बुद्ध का भी हाड़-मांस का शरीर कभी रहा होगा, वस्तुतः बुद्ध पृथ्वी पर कभी हुए ही नहीं, वे तो धर्म शरीर से सत्य हैं जो अनादि अनंत है। मानवी ढाँचे पर बुद्ध का लीला-विग्रह तैयार करने की एक युक्ति भारतीय अध्यात्म-परिभाषाओं के अनुसार जान बूझ-कर बनाई गई। उस युक्ति को निखोलना और उसके अभीष्ट अर्थ को समझना उन्हीं परिभाषाओं के अनुसार संभव है।

यही प्रक्रिया और तथ्य कृष्णलीला के विषय में भी घटते हैं। कृष्ण के तीन विग्रह हैं जिन्हें मूर्ति शास्त्र के भाषा में—द्विभुजी, चतुर्भुजी और सहस्रभुजी कह सकते हैं। मानवी कृष्ण द्विभुजी हैं या उन्हें होना चाहिए। उनका इतिहास-पुरातत्त्व-गत बहुत दूर का प्रमाण, बस एक वृष्णि-गण का बचा हुआ सिक्का है जो काल के गाल से छटक कर हम तक आ पहुँचा है। वृष्णि-गण-राज्य के अर्ध भोक्ता राजन्य की कुछ झलक महाभारत के शांति पर्व में है, जब अपने-अपने दलों का गण सभा में नेतृत्व करते हुए कृष्ण और अक्रूर की नोंक-झोंक भी हो जाती थी। कृष्ण के मानवी रूप के उद्धार

का प्रयत्न श्री 'बंकिमचंद्र' ने अपने 'कृष्ण चरित' में किया पर वैज्ञानिक इतिहास की आधार शिला तो उसे प्राप्त नहीं हो सकी।

दूसरा अवतारी कृष्ण का लीला विग्रह है जो चतुर्भुजी है। भागवत की आधार-भित्ति वही है। वह भक्ति से जन्मा है। इससे भी ऊपर कृष्ण का ऐश्वर रूप है जो सहस्रभुजी है और गीता के ९, १०, ११ वें अध्याय का विषय है। गीता के शब्दों में वह रूप अनंत, अव्यय, शतसहस्र नानाविध, अद्भुत, उग्र, सदसत्, कालरूप, सुदुर्दश, विराट् और विश्व रूप है। उसे नरलोक में मनुष्य की आँखों ने पहले कभी नहीं देखा। ठीक उस बुद्ध विग्रह की तरह जिसके लिए महायान संप्रदाय के लोकोत्तर वादी आचार्यों ने डपट कर कहा था कि बुद्ध मानव धर्म-नेत्र से कैसे देख सकते थे। कृष्ण का ऐश्वर रूप भी चर्म चक्षुओं का विषय नहीं उसे देखने के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए गए। मनुष्य तो क्या देवता भी उसे देखना चाहते हैं, पर देख नहीं पाते। वह दिव्य शाश्वत पुरुष सहस्रभुजी रूप केवल भक्ति से देखा जा सकता है। गीता की साक्षी के अनुसार ही जान पड़ता है कि नारद, असित, देवल, व्यास की परंपरा ने पंचरात्र दर्शन में कृष्ण के इस अनंत विराट् विग्रह के निर्माण में भाग लिया। गीता में इस विराट् रूप से घबरा कर अर्जुन उसी सौम्य रूप को देखना चाहता है। वह 'तदेव' (वही) रूप कौन-सा था दो हाथों वाला मानवी नहीं, बल्कि गदा और चक्र लिए चतुर्भुजी रूप—

"किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टु महं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥"

—गीता ११।४६

भागवत में मिट्टी खाते हुए कृष्ण ने और रामलीला में राम ने माताओं को क्षण भर के लिए इस विराट् रूप की झाँकी दी थी। दुर्योधन को भी कृष्ण ने एक बार विराट् रूप की झलक दिखलाई थी, किंतु यह विराट् या सहस्रभुजी रूप हमारे लिए ऐसे ही काम (या बेकाम) का है जैसे सृष्टि का निर्गुण, निराकार तत्त्व। मधुर रस अपने परमाणु रूप से सृष्टि में ही है; पर वह किस काम का? मनुष्य को तो अणु-परमाणु से आगे बढ़कर मिस्री की डली चाहिए। इस मीठी डली के निर्माण का ही नाम लीला वपु है। प्रकृति का सूक्ष्म अंतरंगी ठाठ तो शायद कोर-कोर गणित के नियमों में समाप्त हो जाता है, पर वह अलभ्य है। उससे निर्मित स्थूल रूप मानव के काम का है। गणित का मधु तत्त्व गन्ने और गुड़ रूप में आना ही चाहिए। यही बात सगुण के विषय में है। राम कृष्ण जो भी उसका रूप बनाना चाहो बनाओ, सगुण के लिए लीला-वपु आवश्यक है और उसका प्रयोजन भी पदे-पदे निर्गुण-तत्त्व की महिमा की ख्याति ही है। निर्गुण की महिमा के वरदान से ही सगुण पर अतिमानवी आवरण चढ़ता जाता है। उदाहरण के लिए शकटलीला को लें। बच्चे के जीवन में सामान्य रूप से छोटी गाड़ी का सभी को परिचय है। उसे ही शकटासुर मान कर बाल रूप द्वारा उसका वध लीला वपु का निर्माण करता है। लीला वपु की कल्पना में अध्यात्म-परिभाषाओं की सहायता लेनी पड़ती है।

वैदिक साहित्य में मानवी शरीर की कई संज्ञाएँ हैं, जैसे—पूर्णघट, दैवी-नाव, देव-रथ या शकट। प्राण रूपी बैल इस शरीर के छकड़े को चला रहा है। इसीलिए प्राण को 'अनडवान्' (अनट् या छकड़ेवाला) कहा गया है—

"अनडवान् प्राण उच्यते।"

—अथर्व

इस शरीर रूपी शकट या शकटासुर को बाल-कृष्ण ने बिलट दिया। इसके गान कीर्तन-कल्पना से एक मधुर लीला बनी। छोटी गाड़ी के उलटने-पुलटने में कोई वैचित्र्य या माधुर्य नहीं है, पर शकटासुर के बालकृष्ण द्वारा ध्वस्त होने में लीला का माधुर्य है। लीला आनंद घन है। मनुष्य

के मन को आनंद-घन वस्तु की आवश्यकता है। इसी तत्त्व पर लीला वपु का निर्माण होता है। आनंद घन लीला चाहे वह कृष्ण की हो चाहे बुद्ध की माधुर्यमय या मिस्री की डली का रूप है। हमारा अपना जीवन जो उसी लीला के ठाठ पर बना है, उस मिस्री को चखने वाली जिह्वा है। मानव को यह विश्वास या श्रद्धा रखनी ही पड़ती है कि लीला वपु माधुर्य और आनंद घन है, जितना मिठास उससे हम अपने जीवन की पुत्र-कलत्रमयी लीला में ले सकें वही हमारे काम का है। इस प्रकारजीवन की आवश्यकता के भीतर से भक्तों ने प्राचीन अध्यात्म परिभाषाओं का सहारा ले कर लीला का विकास किया।

लीला का स्थुल रूप ही कवि के लिए अत्यावश्यक है। इसीलिए उद्धव की भाँति कृष्ण को ध्यान अथवा योग-गम्य बनाना सूर अथवा व्रजबासियों को रुचिकर नहीं। सूर का बड़ा साका इस बात में नहीं है कि उन्होंने पुरानी परिभाषाओं की बारीक शल्य-क्रिया करके उनके भीतर छिपे हुए अध्यात्म को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सूर की सफलता इस बात में है कि उन्होंने देश-संमत परिभाषाओं के स्थूल रूप की मातृका या साँचे को जैसा उन्होंने पाया वैसा स्वीकार करके चतुर शिल्पी या चितेरे की भाँति अनेक सुंदर रूप या आलेखन प्रस्तुत किए। सूर के चित्र अत्यंत सजीव हैं, उनकी वर्णना शक्ति की प्रयत्न करने पर भी थाह नहीं मिलती। एक ही कृष्ण के चित्र को रंगों और तूलिका की शक्ति से कितने अपरिमित भावों में वे सजा सके हैं, इससे उनके कवि रूप की महिमा प्रकट होती है। सूरसागर का 'भ्रमरगीत' तो कविता की पराकाष्ठा है। वह शुद्ध आनंद का अक्षय सोता है। सहृदय के लिए उसमें रस-प्राप्ति की अतुल सामग्री है। हमारी दृष्टि में भ्रमर-गीत की तुलना में रखने के लिए विश्व साहित्य में हमारे पास बहुत कम कृतियाँ हैं। मन और बुद्धि के शाश्वत द्वंद या तारतम्य का इससे अधिक काव्यपूर्ण, पल्लवित, सरल और श्रद्धा से किया हुआ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है, किंतु भ्रमरगीत तर्क की कैंची से तत्त्व की कतर-ब्योंत नहीं है। मानवीय आत्मा में चैतन्य की साक्षात् प्राप्ति के लिए जो जन्म-जन्म की आकुलता है वह भ्रमर-गीत का सार, उसका प्राण और रस है। स्त्री के मन में पुरुष के लिए जो सर्वात्म समर्पण का भाव प्रकृति ने स्वयं भरा है, उसमें जो अचिंत्य और अपरिमेय प्रेम तत्त्व है—इसमें संदेह है कि विश्व में पूरी तरह उसकी थाह कभी लग सकेगी—और जो शरीर के स्थूल रक्त-मांस से लेकर मानस के सूक्ष्म तंतुओं तक में प्रेम का स्वयं अनुभव करने की जो उत्सुकता या छटपटाहट है, आत्मा की चैतन्य के लिए जाग्रत् आकुलता की उपमा यदि किसी से दी जा सकती है तो केवल उससे ही। इसी सुंदर, स्वस्थ प्राणमय तत्त्व से भ्रमरगीत का निर्माण हुआ है। सूर ने भ्रमरगीत के भीतर इस मणि को कहीं रख दिया है, जिसका प्रकाश धुंधला नहीं पड़ता। भ्रमरगीत में ऐसा सोता उनके हाथ लग गया है जिसमें से कभी न छीजने वाली आनंद की रसझड़ी सदा निकलती जान पड़ती है। भ्रमरगीत के वर्णन साहित्यिक ठाठ से सँवारे हुए हैं, फिर भी उनमें दायें-बायें नए-नए हेर-फेर की अद्भुत शक्ति सर्वत्र मिलती है। उसकी भाषा की टकसाली गठन ब्रजभाषा के प्रति नूतन श्रद्धा उत्पन्न करती है। उसके अर्थों की पैनी शक्ति दूर तक बेधती है—

"बिलग मति मानों ऊधौ प्यारे।
वौ मथुरा काजर की उबरी, जे आवें ते कारे।।
तुम कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनहूँ माँझ अधिक छबि उपजत, कमल-नैन मनियारे।
मानों नील माँट में बोरे, लै जमुनाँ जु पखारे।
ता गुन स्यांम भई कालिंदी, 'सूर' स्यांम गुन न्यारे।।

अथवा—

"ऊधौ, तुम बेग हीं ब्रज जाहु।
सुरति सँदेस सुनाइ मेटौ वल्लभनि कौ दाहु।।

काँम पावक तुलित मन में, बिरह खास सँमीर ।
भसँम नाहिन होंन पावत, लोचननि के नीर ।।"

इस पद को लिखते समय मानो सूर-तुलसी ने एक दूसरे के साथ टीपने मिलाई हों। तुलसी की प्रसिद्ध उक्ति है—

"बिरह अँगिनि तन तूल समीरा । स्वास जरै छन माँह सरीरा ।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी । जरै न पाव देह बिरहागी ।।"

सूर के विनोदी मधुबनियाँ श्याम ने उद्धव के अद्वैत दर्शी रंग के साथ विनोद का एक अति शिष्ट रूप भ्रमरगीत में रचा है। उसमें गोपियों की अपरिमित कसक और करुणा का व्यंग भरा है। उसके भीतर से सूरदास के भक्त हृदय की अमर वाणी आज भी सुनाई पड़ती है—

"कहौ सँदेस 'सूर' के प्रभु के, यह निरगुन अँधियारौ ।
अपनौं बोयौ आप लौंनिऐं, तुम आपहि निरुवारौ ।।

अर्थात् हे ऊधो, सूर के सगुण प्रभु की बात कहो (तो भला) निर्गुण तो अँधियाला है। निर्गुण की अपनी खेती बोई है तो आप ही काटो,—निर्गुण को गाँठ लगाई है तो आप ही सुलझाओ।

सूर की यह माँग व्यक्ति के हृदय की माँग तो है ही, हो सकता है निर्गुण की गाँठ न सुलझने पर कभी युग की माँग भी बन जाय। सगुण और निर्गुण की उलझन का लोक पक्ष भी है। राष्ट्र (स्टेट) निर्गुण, व्यक्ति या जन सगुण और प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसी के कल्याण में रस है। कोरा सिद्धांत या वाद निर्गुण या अमूर्त है, किंतु जन का जीवन मूर्त और प्रेम का पात्र है। हमारे समस्त सिद्धांतों या मतवादों को सगुण जन-जीवन की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये। जीवन से पराङमुख मतवाद उद्धव के रूप हैं। जीवन स्वयं गोपियों की भाँति रस तृप्ति का इच्छुक है। सच्ची ब्रज-संस्कृति मध्य युग के बहके हुए व्यक्तियों का कर्म से बच निकलने का मार्ग नहीं है। यह तो भारतवर्ष के कई सहस्र वर्षों के धार्मिक इतिहास के प्रचंड मन्थन से उत्पन्न हुआ मक्खन था, अथवा उस समुद्र में तैरता हुआ सुंदर कमल था जिसने देश को समन्वय, संप्रीति और समवाय का सुंदर संदेश दिया। यह वह महायान या चौड़ा मार्ग था जिस पर संकीर्णता को दूर करके सबको चलने का निमंत्रण दिया गया। उस महायान की पताका पर यह मंत्र लिखा था—**"हरि कौं भजै सो हरि कौ होई।"**

इन्हीं दीप्तिपटों से तो समाज के मन में नया प्रकाश भरा जाता रहा जिसके भरने वाले अनेक ध्यानी, ज्ञानी, आचार-पूत तपस्वी संत महात्मा और भक्त थे। वे ही ब्रज-संस्कृति के संस्थापक थे। इसी संस्कृति के मार्ग से लोक के छटपटाते हुए मन को नया प्राणवायु पहुँचता रहा। मतवाद की चारदीवारी के लौह-प्राचीरों ने जब जीवन को रूँध दिया, तब ब्रज की प्रेम-भक्ति-प्रधान संस्कृति ने सब प्राणियों के लिये जीवन को रहने के योग्य बनाया और मानव को मानव के प्रति श्रद्धा का पाठ पढ़ाया। समाज में जो सहस्रों वर्षों से पंगु बने थे वे इस संस्कृति की कृपा से पर्वत लाँघने लगे; जो अँधे बने थे वे सब कुछ देखने लगे; जो बहरे थे उनके कान कर्तव्य, संमान, मर्यादा के संदेश सुनने के लिये खुल गए और जो गूंगे थे उनके कंठों में स्वर आ गया। ऐसे बंधन-मुक्त कंठों के गान आज भी भारत की सांस्कृतिक निधि में रत्नों की भाँति सुपूजित हैं—इस संस्कृति के द्वारा की गई ईश्वर के चरणों की वंदना ऐसी सुखदाई और सिद्धि की देने वाली हुई—

"बंदौं श्री हरि-पद सुखदाई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौं सब कछु दरसाई ।
बहिरौ सुनें, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।"

मनुष्य ने जहाँ आपस में विभेद डाला था वहीं ईश्वर के चरणों की करुणा उन्हें मिलाने वाली सुधा सिद्ध हुई।

रासलीला

श्री मुंशीराम शर्मा 'सोम'

रास शब्द रस से बना है। रसो वै सः, अर्थात् भगवान् स्वयं रस रूप हैं—आनंद रूप हैं। उपनिषद् में कहा है—आनंद रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रसरूप ब्रह्म केंद्र है और उसकी परिधि है ब्रह्मांड का यह चक्र, जिसे उसकी 'लीला' कहा जाता है। कहाँ तो वैष्णव भक्ति का आचार्यों द्वारा वर्णित यह आनंद रूप जिसके मूल में आनंद और परिणाम में भी आनंद और कहाँ ईसाइयों का वह घोर दुःखवाद एवं पाप-बोध की भावना ? मालूम नहीं पाश्चात्य विद्वानों ने भागवत-भक्ति को ईसाइयों की प्रायश्चित वाली भावना से कैसे मिला दिया। एखार्ट नामक ईसाई संत ने ईसाइयों की आध्यात्मिकता प्रिय वृत्ति को शास्त्रसंमत रूप अवश्य दिया था, जिसमें पाप-बोध, संस्कारों का सुधार, पवित्रीकरण, महनीय भाव की अनुभूति और अंत में प्रभु के साथ तादात्म्य भाव की प्रधानता थी, परंतु ईसाइयों का यह भाव वैष्णव धर्म की आनंद भावना से एकदम विपरीत है। वैष्णवों की रासलीला, इसी आनंद-भावना के अनुभव करने का नाम है।

बंगीय विद्वानों ने जहाँ वैष्णव भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, वहाँ उन्होंने 'रासलीला' को भी विज्ञान संमत सिद्ध किया है। इन विद्वानों की संमति में वाह्य जगत् में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनंत आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए हैं, सूर्य केंद्र में है और वे समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। आकर्षण की शक्ति इनको परस्पर संबद्ध किए है, इधर-उधर गिरने नहीं देती। रासलीला में कृष्ण केंद्रस्थ सूर्य हैं, राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह और उपग्रहों के रूप में हैं।

इस विचार से भी अद्भुत एक और विचार है। भौतिक शास्त्र के आधुनिक अनुसंधान-कर्त्ताओं ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समूह का नाम है। अणु का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक केंद्र बिंदु है, जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे हैं। इनमें अनंत लहरें और अपरिमित कंपन हैं। रासलीला में वह केंद्रीभूत कृष्ण अपने चारों ओर गोपियों के रूप में ऐसी ही तो लहरें उत्पन्न कर रहे हैं।

किसी-किसी विद्वान् ने रासलीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में किया है, वे कहते हैं—यही तो शिव का नृत्य है। डम-डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अनंत शब्द ध्वनियाँ हैं और शिव के पद तल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एवं तांडव नाम के नृत्य को जन्म दे रही है। नृत्य का यही शाश्वत रूप रासलीला-द्वारा प्रकट किया गया है।

एक विचार और भी रासलीला के साथ संबद्ध है, जिसके अनुसार यह लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म-क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा है और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव, वृंदावन (वल्लभार्यों का गोकुल) सहस्र दल कमल है। यहीं तो आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है, परंतु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टिमार्गीय विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं, उसकी लीला में भाग लेते हैं। गोपिकाएँ भी रासलीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती हैं।

उपरोक्त विचार से कम से कम एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि रासलीला एक प्रकार का रूपक है। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का एक नाम 'राधा' भी दिया है। यह नक्षत्र कृतिका नक्षत्र से चौदहवाँ

नक्षत्र है। पहले नक्षत्र-गणना कृतिका से होती थी। इस गणना के अनुसार विशाखा, अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पड़ता है। वैष्णव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास-मंडल के मध्य में स्थित होने के कारण, कम से कम, रासमंडल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।

रास में राधा का पारकीया रूप

यह प्रश्न होता है कि लौकिक परिवेश में कृष्ण का राधा के साथ क्या संबंध है? वह स्वकीया है अथवा परकीया? महाभारत, विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण में कृष्णकी पत्नियों के नाम दिये हैं। जिनमें सत्यभामा, रुक्मिणी जांबवंती आदि नाम आते हैं, परंतु राधा का नाम नहीं आता। राधा को किसी भी प्राचीन ग्रंथ में कृष्ण की पत्नी नहीं कहा गया है। तो क्या राधा परकीया हैं? 'सूर' ने ऐसा नहीं कहा। उसने अपने 'सूरसागर' में राधा और कृष्ण का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ कराया है, परंतु चैतन्य-संप्रदाय में राधा को परकीया ही माना गया है। यही वासना को कर्दम से निकाल कर भगवद्भक्ति रूपी परिमल में परिवर्तित कर देना है। दूसरा विचार है वैराग्य को निवृत्ति-परायणता में परिणत कर देना। वैराग्य की यह भावना, जिसने हमारे हृदयों में घर कर रक्खा था और जिसके कारण हम संसार को मिथ्या समझने लगे थे, भक्ति की इस प्रबल धारा में बहकर न जाने कहाँ विलीन हो गई। कृष्ण की बाललीला एवं रासलीला में मग्न होकर मानव-मन खिन्नता से पृथक्, उदासीनता से दूर और नैराश्य से हटकर घर के कार्यों में तत्पर होकर भाग लेने लगा। वैष्णव धर्म की यह देन आर्य जाति के लिये रामबाण की औषधि सिद्ध हुई है। धन्य हैं वे कवि जिन्होंने अपनी वाणी द्वारा इस भक्ति का जनता में प्रचार किया।

सूर की रास लीला

ऊपर जिस लीला के संबंध में हमने कुछ विचार प्रकट किये हैं, उसका वर्णन विष्णु-पुराण, हरिवंश, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी पाया जाता है। सूर ने इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी से लिया है पर, जैसा हम लिख चुके हैं, भागवत में राधा का नाम नहीं आता। भगवान् की एक ऐसी आराधिका गोपी का वर्णन अवश्य आता है जिसे वे सर्वाधिक प्यार करते थे। सूर ने इसी गोपी को राधा नाम दिया है।

यद्यपि वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायियों ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्व दिया है, परंतु व्यवहार के क्षेत्र में बंगीय वैष्णव-शाखा से भी प्रभावित जान पड़ते हैं। तभी तो उस शरत्-चंद्रिका-धौत निर्मल बिभावरी में जब रास प्रारंभ होने से पूर्व मोहन की मुरली बजती है, तो गोपिकाएँ अपने समस्त गृह-कार्यों को परित्याग करके, आर्य-मर्यादा का उल्लंघन करती हुई, अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, शीतल, मंद, सुगंध समीर से मादक-तरंग-संकुल यमुना तट पर जा पहुँचती हैं। सूर इस समय का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"जब मोंहन मुरली अधर-धरी।
गृह ब्यौहार थके आरज पथ, तजत न संक करी॥
पद-रिपु-पट अटक्यौ आतुर ज्यों-ज्यों उलटि-उलटि उबरी॥"

❀

"जबहि बन मुरली स्रबन परी।
चकित भईं गोप-कन्या सब, कांम धांम बिसरी॥
कुल-मरजाद बेद की आग्या, नेंकहु नांहि डरी।
स्यांम-सिंधु, सरिता-ललनां-गॅन, जल के ढरॅन ढरी॥
जो जिहि भाँति चली सो तैसेंई, निसि बन कों जु खरी।
सुत-पति-नेह, भवन-जन-संका, लज्जा नांहि करी॥"

"मुरली, मधुर बजाई स्यांम।
मन हरि लियौ भवन नहिं भावै, ब्याकुल ब्रज की बांम।।
भोजन, भूषन की सुधि नाहीं, तन की नाहिं सँभार।
गृह-गुरु-लाज सूत सौं तोरचौ, डरी नहीं ब्यौहार।।"

❀

"मुरली सुनत भईं सब बौरी,
छुटि सब लाज गई कुल-कानी, सुति, पति, आरज-पंथ भुलानी।।"

—सूरसागर

इन गीतों से श्री सूर ने जिस आर्य-पथ, कुल-मर्यादा, वेद की आज्ञा, सुत-पति-स्नेह, भवन, जन-शंका, गुरु, गृह, लज्जा आदि के परित्याग का उल्लेख किया है, वह परकीया प्रेम को ही अभिव्यंजित कर रहा है। नीचे लिखे पदों में विश्वमोहक मुरली ध्वनि के प्रभाव को देखिये—

"जब हरि, मुरली-नाँद, प्रकास्यौ।
जंगम, जड़, थावर चर कीन्हें, पाहँन जलज बिकास्यौ।।
सरग-पताल दसों दिसि पूरँन, धुनि आच्छादित कीन्हों।
निसि वर कल्प समाँन बढ़ाई, गोपिन कों सुख दीन्हों।।
मैमत भए जीव जल-थल के, तन की सुधि न सँभार।
'सूर' स्यांम-मुख बेंन मधुर सुनि, उलटे सब ब्यौहार।।"

❀

"मुरली, गति बिपरीत कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाँद सँमान्यों, राधा-रमन बजाई।।
बछुरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृन धेंनु।
जमुनाँ उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेंनु।।"

—सूरसागर

मुरली की इस ध्वनि को सुनकर ऐसी किसमें सामर्थ्य थी जो चुपचाप बैठा रहता? जो मुरली यमुना की धारा को उलट कर बहा सकती है, पवन को मूक, चंद्र को स्तब्ध और सुर-गंधर्वों को व्याकुल बना सकती है, जिसकी ध्वनि को सुन कर गायें चरना छोड़ देती हैं, बछड़े दूध नहीं पीते, शिव की समाधि भंग हो जाती है, खग, मृग, तरु, सुर, नर, मुनि आदि सब पर जिसका अबाध अधिकार है, उसकी ध्वनि कान में पड़ते ही गोपिकाएँ कुल-लज्जा को दूर करती हुई कृष्ण के पास पहुँच ही तो गईं। कैसा जादू है इस मुरलिका में। सूर कहते हैं—

"लै-लै नाम सबनि कौ टेरें, मुरली-धुनि घर ही के नेरें।।"

तथा—

"राधिका-रवन बन-भवन-सुख देखि कें, अधर धरि बेंनु सु ललित बजाई।
नाँम लै-लै सकल गोप-कन्याँन के, सबन के स्रवन वह धुनि सुनाई।।"

—सूरसागर

अर्थात् मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही प्रत्येक गोपी ने अनुभव किया जैसे उसी का नाम ले-लेकर मुरली उसे ही बुला रही है। सोलह सहस्र गोपिकाएँ[1] और प्रत्येक का नाम पुकारती हुई

१. गईं सोलह-सहस हरि पैं, छाँड़ि सुत-पति-नेह।

—सूरसागर

वंशी की एक-एक ध्वनि। संदेश भी सब के लिए पृथक्-पृथक्—अद्‌भुत है यह मुरली। यह जिसको जिस ढंग से चाहती है, वह वैसा ही संदेश उसके कानों में अपनी ध्वनि से डाल देती है। मुरली क्या है, मानो भगवान् की कार्य-साधिका यंत्र रूप माया है, जो विश्व के समग्र भूतों को अपने-अपने कार्य में निरत कर रही है और यह कार्य क्या है? संसार के इस संसरण का, प्रत्येक व्यक्ति के स्व-कर्तव्य पालन का क्या भाव है? यह भाव एक ही है, अपना-अपना कार्य करते हुए उधर ही दौड़ लगाना, उसी केंद्र में समा जाना। गोपिकाओं का कृष्ण के पास जाना अध्यात्म-पक्ष में जीवात्माओं का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है, जो धारा संसार की ओर बह रही थी, उसे उलट कर ईश्वर की ओर बहाना है। तभी तो सूर लिखते हैं—

"मुरली स्याँम अनूप बजाई। बिधि-मरजादा सबनि भुलाई ।।
निसि बन कों जुबती सब धाँई। उलटे अंग अभूषन ठाँई ।।
कोउ चलि चरन हार लपटाई। काहू चौकी भुजनि बनाई ।।
अँगिया कटि, लहँगा उर लाई। यै सोभा बरनी नहिं जाई ।।"

—सूरसागर

अर्थात् गोपियों की जो वृत्ति गृहस्थी में, संसार में, रमण कर रही थी वह मुरली-नाद सुनते ही इधर से हट परमार्थ की ओर लग गई। साधक साधना करता हुआ कभी-कभी अनुभव करता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। गोपिकाओं को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वे चल पड़ीं। नशे में चूर, मतवाले मनुष्य को अपने तन-वसन का स्मरण नहीं रहता, गोपियों की भी ऐसी ही दशा है, वे भी कृष्ण दर्शन के नशे में मतवाली बनी हुई हैं, तभी तो हार चरणों में लिपटाया जा रहा है और चौकी भुजाओं में पहनी जा रही है। सब अंगों में उलटे आभूषण धारण किये जा रहे हैं, पर यह सब हो रहा है, घर की निशा से निकल कर कृष्ण की चाँदनी के दर्शन करने की धुन में, अँधेरे में भला कौन रहना चाहेगा?

"जा कौ मन हरि लियौ स्याँमघँन, ताहि सँभारै कौंन ?"

जिसकी वृत्ति इधर फिर गई है, वह इधर की सँभाल क्यों करने लगा? गोपिकाएँ चल पड़ीं, पद-रिपु (कंटकादि) रूपी विघ्नों को जैसे-तैसे पार करती हुई कृष्ण के पास पहुँची, परंतु यह क्या? कृष्ण तो उन्हें डाट रहे हैं, कहते हैं—निशीथकाल में अपने पतियों को छोड़ कर तुम यहाँ कैसे आ गईं? आर्य-मर्यादा की यह अवहेलना? जाओ, जाओ, लौट जाओ, जाकर घर में पति की सेवा करो। यही नहीं, कृष्ण गोपियों को मर्यादा-पालन का उपदेश भी देते हुए कहते हैं—

"इह बिधि बेद-मारग सुनों।
कपट-तजि पति करौ पूंजा, कह्यौ तुम जिय गुनों ।।
कंत मानहुँ भव तरौगी, और नाहिं उपाइ।
ताहि तजि क्यों बिपिन आईं, कहा पायौ आइ ।।
बिरध अरु बिन भागहू कौ, पतित जौ पति होइ।
जऊ मुरख होई रोगी, तजै नाहीं जोइ ।।
इहै में पुनि कहत तुम्ह सों, जगत में यै सार।
'सूर' पति-सेवा बिना क्यों, तरौगी संसार ।।"

—सूरसागर

एक आर्य सद्‌गृहस्थ की मर्यादा यही है जो सूर के इस पद में प्रकट हुई है। सूरसागर के रासलीला-अध्याय में यहाँ तक गोपियों का परकीया-भाव ही प्रकट हुआ है, पर कृष्ण द्वारा की हुई परकीया-भाव रूपी भर्त्सना को क्यों गोपियों ने आँख मीचकर स्वीकार कर लिया? नहीं, गोपियों को

इन पदों में व्यावहारिक रूप से परकीया कहा गया है जो प्रातिभासिक सत्ता के अंदर स्थान पाता है। वास्तव में उनका प्रेम पारमार्थिक दृष्टि से स्वकीया का ही प्रेम है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं—

"तुम पावत हम घोष न जाहिं।
कहा जाइ लैहें ब्रज में हम, यै दरसन त्रिभुवन में नाहिं।।
तुम हूँ ते ब्रज हितू कोउ नहिं, कोटि कहौ नहिं मानें।
काके पिता, मात है काकी, काहू हम नहिं जानें।।
काके पति, सुत, मोह कौंन कौ, घर है कहाँ पठावत।
कैसौ धरम, पाप है कैसौ, ग्रास निरास करावत।।
हम जानें केवल तुम ही कों, ग्रौर बृथाँ संसार।
'सूर' स्याँम निठुराई तजिऐ, तजिय बचन बिन-सार।।"

धाड़-मार कर रोती हुई गोपियों की इस कातर एवं व्याकुल वाणी को सुनकर कृष्ण ने उनके ग्रनन्य प्रेम का ग्रनुभव किया—

"हरि सुनि दीन-बचन रसाल।
बिरह-ब्याकुल देखि बाला, भरे नेंन बिसाल।।"

❀

"हरखि बाँनी कहत पुनि-पुनि धन्य धनि ब्रज-बाल।
'सूर' प्रभु करि कृपा जोह्यौ, सदय भए गोपाल।।"

—सूरसागर

भक्त की वेदना का ग्रनुभव करके भगवान् द्रवित हो गये ग्रौर गोपियों के प्रेम को धन्य धन्य कहने लगे।

रास प्रारंभ हुग्रा। कितना सुहावना समय है, शरद कालीन निर्मल नभ में पूर्ण चंद्र का प्रकाश, रोम-रोम में मादकता की तरंगें उत्पन्न करने वाली शीतल मंद सुगंधित वायु, परम रुचिकर यमुना का तट, सूर कहते हैं—

"ग्राज निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै, रोंम-रोंम सुखदाई।।
जमुनाँ-पुलिन पुनीत परम रुचि, रुचि मंडली बनाई।
राधा बाँम ग्रंग पर कर धरि, मध्यहि कुँवर कन्हाई।।"

—सूरसागर

राधा ग्रौर कृष्ण बीच में हैं। चारों ग्रोर गोपियाँ हैं, वैसा ही समय, वैसा ही सौंदर्य, ग्रौर वैसी ही हार्दिक प्रेम की उमंग, रासलीला क्या है, मानो भगवान का एक-एक ग्रात्मा के साथ तद्रूप हो जाना है, पहले राधा के साथ नृत्य प्रारंभ हुग्रा। उसे सूर के शब्दों में ही सुनिये—

"कुंडल सँग ताटंक एक भए, जुगल कपोलनि झाँई।
एक उरग मानों गिरि ऊपर, द्वै ससि उदै कराँई।।
चारि चकोर परे मनों फंदा, चलत हैं चंचलताई।
उरपति-गति तजि रह्यौ निरखि लजि, 'सूरदास' बलि जाई।।"

—सूरसागर

रास में राधा ग्रौर कृष्ण दो नहीं मालूम पड़ते; दोनों मिल कर एक हो गये हैं। कृष्ण के कुंडल ग्रौर राधा के ताटंक ग्रब पृथक्-पृथक् दिखलाई नहीं देते। दोनों कपोलों पर उनकी झलक भर पड़ रही है, यह झलक सर्प के समान लहरें ले रही है। राधा के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर राधा ग्रौर कृष्ण दोनों के दो मुख दो चंद्रमाग्रों के समान उदय हो रहे हैं। दोनों की दो-दो मिल कर चार

आँखें चंचल हो रही हैं। एक दूसरे के जाल में फँसी हुई हैं और वह वास्तविक चंद्रमा? वह देखता है, मेरे जैसे दो-दो चंद्र आज पृथ्वी मंडल पर अपूर्व लीला कर रहे हैं। अतः वह देखते ही लज्जित हो जाता है और अपना चलना छोड़ कर चुपचाप खड़ा हो जाता है। हाँ, यह रासलीला ऐसी ही है। वह देखो, विमानों में बैठ कर देवता भी इस रास-दृश्य को देखन के लिये आ गये और ब्रजबालाओं को धन्य-धन्य कहते हुए उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा करने लगे। धन्य है वह वृंदावन धाम, जहाँ उस लीला पुरुषोत्तम ने ऐसा अद्भुत रास किया।

शिव, शारदा और नारद, किन्नर, गंधर्व और मुनि सभी तो इस रास-दृश्य के दृष्टा बने हुए हैं। देवांगनाएँ तो तरस रही हैं, चाहती हैं—वे भी ब्रजबालाएँ होतीं, तो इस रसिक शिरोमणि के साथ कुछ तो रस का आस्वादन कर सकतीं। अरे, यह नहीं तो वृंदावन की लताएँ और वृक्ष ही वे बन जातीं, किसी प्रकार उस नटनागर का सामीप्य तो प्राप्त हो—

"हम कों बिधि ब्रज-बधू न कीन्हीं, कहा अमरपुर-बास भऐं।
बार-बार पछितावत कहि-कहि, सुख हो तो हरि-संग रऐं॥
कहा जनम जो नहीं हमारौ, फिर-फिरि ब्रज अवतार भलौ।
बृंदावन द्रुम-लता हूजिऐ, करता सों माँगिऐ चलौ॥"

रास अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। सोलह सहस्र गोपियाँ, पर नृत्य की द्रुति गति द्वारा सबको कृष्ण अपने ही साथ क्रीड़ा करते दिखाई पड़ते हैं, एक गोपी में समाया हुआ एक कृष्ण और एक कृष्ण में समायी हुई एक गोपी। उस अंतर्यामी, घट-घट व्यापक छबीले की सर्वत्र फैली हुई छबि का कुछ ठिकाना है? सूर जैसा क्रांतदर्शी कवि ही उसे कुछ-कुछ समझ और समझा सकता है। नीचे के पद से उस अलौकिक पारखी द्वारा अनुभूत रासलीला का दृश्य देखिये—

"मानों माई, घन-घन-अंतर-दाँमिनि।
घन दाँमिनि, दाँमिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज-भाँमिनि।
जमुनाँ-पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जाँमिनि।
सुंदर ससि गुन रूप राग निधि, अंग-अंग अभिराँमिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिकराइ सों, मुदित भई गुन-ग्राँमिनि।
रूप निधाँन स्याँमसुंदर घँन, आँनद मन बिस्राँमिनि।
खंजन, मीन, मराल हिरन छबि, भाइ भेद गज-गाँमिनि।
को गति गुनै 'सूर' स्याँम सँग, काँम बिमोह्यौ काँमिनि॥"

एक बादल अपनी उमड़-घुमड़ के साथ श्याम कांति लिये हुए प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, जिसमें क्षण-क्षण क्षणदा का प्रकाश हो आता है, यह विद्युत् प्रभा अपनी चमक-दमक को लिये हुए राधा और गोपियों का ही तो रूप है, घनश्याम तो घन रूप है ही, इस दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य में निमग्न हो रहे हों, रसिकराज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप बनी हुई ब्रजबालाएँ हर्षपुलक से ओतप्रोत हो रही हैं। खंजन, मीन तथा मराल की शोभा को अपनी अमंद छवि से पराजित करने वाली इन अनिंद्य रास-विह्वला गोपियों की गति का कोई क्या वर्णन करेगा।

रास लीला की कला ताल का तारतम्य भी देखियेः—

"बिराजत, मोंहन मंडल-रास।
स्याँमाँ-सुधा-सरोवर मानों, क्रीडत बिबिध बिलास॥
ब्रज-जुवती सत जूथ मंडली, मिलि कर परस करे।
भुज-मृनाल-भूषन तोरन जुत, कंचन-खंभ खरे॥
मृदु पद-न्यास, मंद मलयानिल, बिगलित सीस-निचोल।

नील, पीत, सित, अरुन धुजाचल, सीर-सँमीर झकोल ।।
बिपुल पुलक कंचुकि बंद छूटे, हृदै अनंद भए।
कुच जुग चक्रवाक अवनी तजि, अंतर रैंन गए ।।
दसन-कुंद-दाडिम द्युति-दामिनि, प्रगटत औ दुरिजात ।
अधर-बिंब मधु अमी जलद-कन, पीतम बदन समात ।।
गिरत कुसुम कबरी केसन ते, टूटत हैं उर हार।
सरद जलद मनु मंद किरन-कँन कहूँ-कहूँ जलधार ।।
प्रफुलित बदन सरोज सुंदरी, अति रस-रंग रँगे।
पुहुकर पुंडरीक पूरन मनु खंजन केलि खगे ।।
पृथु नितंब पर भीर, कमल पद, नख मनि चंद अनूप ।
मानौं लुब्ध भयौ बारिज-दल, इंदु किए दस रूप ।।
स्रुति कुंडल धर गिरत न जानति, अति आनंद भरी ।
चरन-परस ते चलत चहूँ दिसि, मानहुँ मीन करी ।।
चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिनि, करतल ताल रसाल ।
तरुनी नेंन समेत सहज सुख, मुखरति मधुर मराल ।।
सकल बिनोद सहित सुर-ललनाँ, मोहे सुर, नर, नाग ।
बिथकित उरपति-बिंब बिराजत, श्री गुपाल-अनुराग ।।
जाचक दास आस चरनन की, अपनी सरन बसाव ।
मन अभिलाष स्रवन जस पूरित, 'सूर' हि सुधा पिआव ।।"

—सूरसागर : बेंकटेश्वर

ऊपर के पद में ब्रज की युवतियों का हाथ पर हाथ रखे हुए मृदुल पद विन्यास पढ़ते ही बनता है, जिसमें रास करते हुए कभी उनके सिर से वस्त्र नीचे खिसक जाता है, केशपाशों में गुथी हुई कुसुमों की माला नीचे गिर पड़ती हैं, हार में पिरोये हुए मोती इधर-उधर बिखर जाते हैं और कानों के कुंडल पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। चरणों की गति से नूपुरों की शिंजन नव रुनझुन करने लगती है, तो कटि में पड़ी हुई किंकणी उसके साथ ताल मिलाने लगती है और करताल से उत्पन्न सुंदर तालिका की ध्वनि उसके साथ समवेत स्वर हो स्वर्गीय समाँ बाँध देती है। साथ ही मृदंग, मुरज, मुरली आदि अनेक बाद्य बज रहे हैं, रासलीला के इस रसीले राग से व्योम में विमान-स्थित देव-वृंद आश्चर्य चकित हो रहा है और तारकावलि टकटकी लगाये इस नृत्य के निरखने में निमग्न है और अंधा सूरदास? वह भी चाहता है—इस अमृत का अनवरत आस्वादन करता रहे।

कितना अद्‌भुत इस रास का प्रभाव है। संत सूर की तो संपत्ति ही कितनी। इस रासलीला ने तो नारद जैसे मुनीश्वर, शारदा जैसी विद्या की अधिष्ठातृ देवी और शिव जैसे योगेश्वर तक को आत्मविस्मृत कर दिया। शिव जी ही नहीं, नारायण तक मुग्ध हो गये और अपनी प्रियतमा रमा से कहने लगे—प्यारी, सुनो, सुनो, आज श्याम बन में बिहार कर रहे हैं, जिस सुख-विलास में आज, ब्रजांगनाएँ मग्न हैं, वह सुख हमारे भाग्य में कहाँ? धन्य हैं ये ब्रजवामाएँ!

"रास-रस मुरली ही तें जान्यौं ।
स्यांम-अधर पर बैठि नाँद कियौ, मारग चंद हिरान्यौं ।।
धरनि जीव जल-थल के मोहे, नभ-मंडल सुर थाके।
तृन, द्रुम, सलिल, पवन गति भूले, स्रवन सब्द पर्‌यौ जाके ।।
बच्यौ नाहिं पाताल-रसातल, कितिक उदै लौं भाँन?
नारद-सारद सिव यै भाँखत, कछु तन रह्यौ न स्याँन ।।

यै अपार रस रास उपायौ, सुन्यों न देख्यौ नैंन।
नाराइन धुनि सुनि ललचाँने, स्यांम अधर सुनि बैंन।।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी, बिहरत हैं बन स्यांम।
'सूर' कहा हमकों वैसौ सुख, जो बिलसति ब्रज-बाँम।।"

और सब से बढ़ कर तो रास रस का स्वाद मुरली को मिला। वही तो श्याम-अधरों पर बैठी हुई शब्द कर रही है। चंद्रमा का मार्ग विस्मृत हो जाना तो साधारण बात है, देवताओं के मुग्ध होने में भी कोई विशेषता नहीं, पर तिनकों और वृक्षावलियों से तो पूछो, इन्हें काठ क्यों मार गया? अरे, ये बिचारे क्या करें, जल और पवन तक अपना बहना भूल इस नाद-निनादिनी में बहने लगे हैं। पाताल, रसातल और तलातल भी तो न बच सके, इस रस प्रवाह में वरवश बहे जा रहे हैं।

इसी रास के बीच में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह कराया है। इस विवाह का सूर ने बड़ा ही सांगोपांग वर्णन किया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिये राधा व्रत रखती है, यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनाती है। कुंज मंडप का कार्य करते हैं। मुरली निमंत्रण देकर गोपिकाओं को बुला लाती है। गोपियाँ वर-वधू का ग्रंथि बंधन करती हैं। भाँवरे पड़ती हैं और बड़ी धूमधाम के साथ विवाह की विधि समाप्त होती है। सूर ने यहाँ गालियाँ भी दिलवाई हैं, जिन्हें पढ़कर केशव-कृत 'रामचंद्रिका' की याद आ जाती हैं। कंकन-खोलने के समय का दृश्य भी चमत्कार युक्त है। विवाह के इस प्रसंग का समावेश करके सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट रूप से निराकरण कर दिया है। विवाह के पश्चात् फिर रासलीला प्रारंभ होती है।

विवाह होने के पश्चात् राधा को गर्व हुआ। उसने समझा, यह रासलीला उसीके लिये हुई है, यह सारा समाँ उसीके लिये जोड़ा गया है। वह है समस्त गोपियों की पटरानी, फिर गर्व का क्यों न अनुभव करे। सूर लिखते हैं—

"तब नागरि, जिय गरब बढ़ायौ।
मो समाँन तिय और न कोऊ, गिरिधर में हीं बस करि पायौ।।
जोइ-जोइ कहत, करत सोइ-सोइ पिय, मेरे हित यै रास उपायौ।
सुंदर, चतुर और नहिं मो-सी, देह धरे कौ भाव बनायौ।।"

और इस गर्व में भूली हुई राधा कुछ धृष्ठ भी हो गई। भक्ति पक्ष में साधक अभिमानी बन बैठा, उदंडता करने लगा। सूर के शब्दों में ही सुनिये:—

"कहै भाँमिनी कंत सों, मोहि कंध चढ़ावहु।
निरत करत अति स्रँम भयौ, ता स्रँमहि मिटावहु।।
धरनी धरत बनै नहीं, पग अतिहि पिराँने।
तिया-बचन सुनि गरब के, पिय मन-मुसकाँने।।"

राधा कहती है—नृत्य करते हुए मैं थक गई हूँ। पैरों में पीड़ा होने लगी है। पृथ्वी पर चलते नहीं बनता। जरा अपने कंधों पर बिठा लो, थोड़ी देर विश्राम कर लूँ, जिससे थकावट दूर हो जाय। राधा के इन गर्वीले वचनों को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुसकराने लगे।

कृष्ण की यह मुसकान राधा के लिये अमृत के स्थान पर विष बन गई। थोड़ी ही देर में कृष्ण अंतर्धान हो गयें।

कृष्ण को न पाकर राधा विलखती हुई एक वृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पड़ी। गोपियाँ रुदन करने लगीं—

"व्याकुल भई घोष-कुमारि।
स्यांम तजि सँग ते कहाँ गए, यै कहति ब्रजनारि।।

व्याकुल बनीं हुई गोपिकाओं ने कुछ साहस एकत्रित किया और लताओं, कुंजों एवं वृक्षों के झुरमुटों में कृष्ण को ढूँढ़ने लगीं। पर—

"इक बन ढूंढ़ि, सकल बन ढूंढ़ौ, कतहुँ न स्यांम लह्यौ ।"

श्याम कहीं न मिले। विरह की आँच से पिघले हुए हृदयवाली गोपिकाओं ने बन की लताओं से पूछा, पर किसी ने भी कृष्ण का वृतांत न बताया, गोपियाँ बिलख उठीं, बिसूर-बिसूर कर रोने लगीं। राधा और गोपियों की इस व्यथित दशा में क्या कृष्ण चुपचाप बैठे रहेंगे ?

भक्त आँसू बहावे और भगवान् आँखों-कानों पर पट्टी बाँध कर देखा-अनदेखा और सुना-अनसुना करते रहें। भारतीय साधना का पथ भगवान् के इस कूटस्थ रूप तक नहीं पहुँचता। यहाँ तो भक्त के एक आँसू पर भगवान् हजार आँसू गिराने वाले हैं। यह है वैष्णव-धर्म का पुष्टि-मार्ग—भगवान् के अपार अनुग्रह का अनुभव। माँ जैसे अपने रोते हुए बच्चे को दौड़ कर उठा लेती है, उसके अपराधों पर विचार नहीं करती, वैसे ही कृष्ण भगवान् राधा के गर्व आदि को भूल कर दौड़े चले आये, हमारी साधना का कितना आश्वासनप्रद स्थल है यह।

हमारे भगवान् के बीच में कौन परदा खड़ा करता है ? यही गर्व, दर्प और अहंकार। जहाँ एक बार हमने पश्चाताप की अग्नि में इस आवरण को दग्ध किया, रोकर आँसुओं की धारा में इसे बहा दिया, वहाँ भगवान् के प्रकट होने में देर नहीं लगती। कृष्ण आ गये। रासलीला फिर चलने लगी—

"बहुरि स्यांम सुख रास कियौ ।
भुज-भुज जोरि जुरीं ब्रज-बाला, वैसे हीं रस उँमगि हियौ ।।"

रास करने से फिर वैसी ही पूर्व की-सी अवस्था उत्पन्न हो गई। सुर, नर, मुनि वैसे ही वशीभूत, नक्षत्र और चंद्रमा उसी प्रकार मार्ग भूले हुए, यमुना और पवन वैसे ही गति विहीन जैसे प्रथम रास के अवसर पर थे।

रासलीला समाप्त हुई। गोपियाँ, राधा, कृष्ण सब के सब थके-माँदे यमुना के जल में थकावट दूर करने के लिये स्नान करने लगे। रात्रि व्यतीत होने आई—पर यह अकेली रात्रि भागवत के अनुसार छह महीने के बराबर थी और सूर के शब्दों में तो वह एक[1] कल्प के काल से कम नहीं थी। सूर कहते हैं,—इस रासलीला का वर्णन मेरी सामर्थ्य के तो बाहर है। जो इसका वर्णन कर सके, वह वंदनीय है—

"रास रस लीला गाइ सुनाऊँ ।
यै जस कहै-सुनें मुख-स्रवननि, तिन्ह चरननि सिर नाऊँ ।।"

तथा—

"रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै ।
कहाँ वह बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ इह चित्त जिय भ्रम भुलावै ।।
जो कहौं कौंन मानें निगम अगम जो, कृपा बिनु नहीं यह रसहि पावै ।
भाव सों भजै, बिनु भाव में यै नहीं, भाव ही माँहि भाव यै बसावै ।।"

❀

"यहै निज मंत्र, यै ध्यांन, यै ग्यांन है, दरस दंपति भजन सार गाऊँ ।
यहै माँगों बार-बार प्रभु 'सूर' के, नैंन दोऊ रहें नर देह पाऊँ ।।"

यह रासलीला जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, विश्व की विराट् कार्य-प्रणाली का मधुर आभास है। इसका रूप क्षणिक नहीं,—शाश्वत है। सूरसारावली के एक पद में इस बात की ओर सूर ने संकेत भी किया है—

1. **निसि वर कलप समाँन बढाई, गोपिन कों सुख दीन्हों।**

"बृंदावन हरि यहि बिधि क्रीडत, सदाँ राधिका-संग ।
भोर-निसा कबहूँ नहिं जानत, सदाँ रहत इक रंग ।।"

वह रास जिसमें हरि एवं राधा दोनों में से किसी भी खेलनेवाले को न रात्रि का पता चलता है, न प्रभात का। जिसमें सर्वदा एक रस क्रीड़ा बनी रहती है, वह भगवान् का नित्य रास है,—शाश्वत लीला है।[1] सूरसागर के दशम-स्कंध में इसी भाव का एक पद और आता है—

"नित्य धाम बृंदाबन स्याँम । नित्य रूप राधा ब्रजबाँम ।।
नित्य रास, जल नित्य बिहार । नित्य माँन खंडिताभिसार ।।
ब्रह्म रूप एही करतार । करनहार त्रिभुवन संसार ।।
नित्य कुंज सुख, नित्य हिंडोर । नित्यहिं त्रिबिध समीर-झकोर ।।"

वृंदावन भी शाश्वत धाम है और उसमें होने वाला राधा और कृष्ण का रास भी नित्य है। रास की इस नित्यता को सूर ने भगवान् की 'शाश्वत लीला' कहा है । आचार्य बल्लभ ने इसी शाश्वत लीला के सूर को दर्शन कराये थे ।

निर्गुण लीला का अंत नहीं है, फिर भी उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है, गोलोक में यह लीला नित्य और सूक्ष्म रूप से कल्प के अंत में भी होती रहती है । जो जीव रस-मार्गीय और नित्य लीला के आकांक्षी हैं, वे विष्णु की कृपा से इसे करते हैं, रास रसाविष्ट मुरलीधर मुक्त जीवों से सेवित हुआ रमा के साथ नित्य रमण करता रहता है। काल की भी यहाँ गति नहीं होती, प्रभु की साक्षात् एक इच्छा ही वहाँ कार्य करती है। श्लोक १४८ में लीला रूपिणी राधा का भी उल्लेख है, वृंदा को कमल-संभवा लक्ष्मी और सुष्मुना में प्रविष्ट भक्तों की वैष्णवी गति को ही विमुक्ति कहा गया है।

फिर लिखा है—

योहं सामम लीला, या तु लीला सो स्म्यहं पुनः ।
अंतरं नैव पश्यामि यथा वै शेष शेषिणो : ।।

हरि में और लीला में कोई अंतर नहीं है। दोनों एक हैं।

१. बृहद् ब्रह्मसंहिता में नित्य लीला का इस प्रकार वर्णन है । ब्रह्मा ने पूछा भगवान्, वृंदावन किस प्रकार आपकी नित्य लीला भूमि है ? वृंदा क्या है ? परमानंद नाम की विमुक्ति क्या है ? लीला क्या है ? (२,४,६८) श्रीनारायण ने उत्तर दिया—

निर्गुणायास्तुलीलाया यद्यप्यंतीन विद्यते ।
आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना ।।

❀

गोलोक गोकुलोद्भूत श्वेतद्वीपादि केलिवत् ।
नित्या सूक्ष्म स्वरूपेण कल्पांते चाति वर्तते ।।
ये जीवाः कृपया विष्णोर्वीक्षिताः सुरसत्तम ।
वसंति रसमार्गीया नित्यलीलाभिकांक्षिणः ।।
सदा रास रसाविष्टो वेणुवाद्यधरो हरिः ।
मयूरपिच्छाभरणः कोटिकंदर्प सुंदरः ।।
रमते रमया साकं नित्यं मुक्तैरुपाश्रित ।
नात्र कालगतिः साक्षादिच्छै का परमात्मनः ।।

———

पहाड़ी लोक-गीतों में कृष्ण-लीला

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

(अ)

"जा मेरा कान्हा, भैंसियूं दुह्याल, हे मेरा, गौ को ऐंडाट सुण्याल ।
दूहण कू बुलोंदी त्वे थें गुपाल, जा मेरा कान्हा, भैंसियूं दुह्याल ।।
हे मेरा बालम, छाँछ छोल्याल, झटपट कर तों मेरों मोठयाल ।
देर व्हैगे कन्हैया, माखन खैयाल, ग्वैर छोरा बोदा बौण चल्याल ।।
चल भुला क्रिस्न, मुरली छोरयाल, चल भुला क्रिस्न, दोंखी पैरियाल ।
लाठी भी हाथू लियाल, गोपी खड़ी दोब देखियाल ।।
गोऊ लि जौला जमुना किनारा, दीन-दोफरी व्हृणा घर सूना सारा—
तब क्रिस्न बंसी बजै गोरू बुलैं, बंसी सुणी लोक समझला होणू खेलैं ।
और ग्वैर छोरा हम लुकी-लुकी जौला, चौण चोरी तब देख अभी लौला ।।"

जा मेरे (लाड़ले) कन्हैया भैंसों को दुहले। हे मेरे (प्रिय) गोपाल, गायों का रँभाना सुन। दुहे जाने के लिए वे उत्सुक हैं। तुम्हें बुला रही हैं। हे मेरे दुलारे, दही बिलो (मथ) कर छांछ (मट्ठा) तैयार कर ली। जल्दी ही बंधी-वेढों को छानी से बाहर कर दो। बड़ी देर हो गई है, जल्दी से मक्खन खा लो। गो-रक्षक गोपाल, छोहरे (छोकड़े) बन चलने को जल्दी गुहार रहे हैं। चलो भइया कृष्ण, मुरली साथ रख लो, (भंग-छाल, पट छाल की बनी) दोंखी (कंबल) पहन लो। लकुटी भी ले लो। गोपी तुम्हारी ताक में छिपी खड़ी हैं, उसे भी देख लो, गायों को यमुना किनारे ले चलेंगे। मध्यान्ह दुपहरी को जब सारे घर सुनसान पड़े हुए होंगे तब तुम बाँसुरी बजाकर गायों को बुला लेना। बंसी सुनकर लोग समझेंगे खेल में ग्वाले मस्त हैं और इधर हम सब ग्वाल लुक-छिप कर घरों में पहुँच जायँगे। तनिक-सी देर में मक्खन उड़ा लावेंगे।

(आ)

खेल गेंदूवा, खेल गेंदूवा, कनो खेलदो गेंदूवा चाँद जून वाँ।
चाँदी न मढयं छ रमा सोना का घुंघर, छम छम बाजद कनो, चम चम सुंदर।

गेंद खेला जा रहा है। खेलो, खेलो, खेले जाओ। वह चंद्र जैसा (कृष्ण) कैसा अच्छा खेल रहा है। वह रुपहली शोभा से आच्छादित है। खेलते समय तेजी से चलते पावों में सुवर्ण के रमणीय घुंघरू छम-छम कैसे सुंदर बज रहे हैं।

(इ)

हम नी जाणदा तुम्हारी कख गै चादरी स्या नारी।
बगै लीगे वीं तै या त जमुना धारी, या त गौन चबैले वा चादरी ।।
बोल, बोल, बोल क्या करन हे बनवारी ?

कृष्ण को छितरी गायों को बटोरने भेज दिया गया। इधर ग्वालों ने उनकी कंबल लुका दी। लौटने पर कृष्ण कंबल ढूंढ़ने लगते हैं। न पाकर ग्वालों से पूछते हैं तुम ने भी देखी मेरी कंबल ? उत्तर में एक कहता है—"हमने नहीं देखी तुम्हारी वह सुंदर चादर, हमने तो नहीं देखी।" दूसरा कहता है—"उसे जमुना की धारा बहा ले गई"। तीसरा कहता है—"गाय उसे खा गई है।"

महारास

महाकवि श्री सूरदास

(ए, ए, ए, ए, ए, ए...)[1] श्रीनंद-नँदन नचत सुधंग, (नचत सुधंग)।[2]
बृंदाबन जमुनाँ तट, अमित मनमथ मद-बिमरदन,
सघन कुंजन मंजु अभिनव जलज सुंदर अंग ।।
(ए), तन दिपत दामिनि द्युतिकारी[3] सुख सुधाकर-मानहारी—
भृकुटी कुटिल कटाच्छ-संजुत चपल नैंन कुरंग ।।
(ए) संग गोपिन बीच राजत, भूषन मनिमय किरन झलकत,
स्रवन कुंडल गंड मंडित, सुभग बसन सुरंग ।।
(ए) कठ-ताल (अ)रु मंजीर, बंसी, मुरज, बीन, रबाब ;
ढफ, आनक,[4] महुवर, उपंग, झाँझ, किन्नरी, मुखचंग ।।
तत्ततातिक, दिमक द्रिम द्रिम, मृदंग—
बाजत थेइ ताथेइ ता तत्ततादि द्रुरंग ।।
सुर-गन बिमाननि चढे ब्रह्मा, रुद्र, नारद, इंद्र, पुलकित[5]—
'सूर' जय, जय, जयति, जय, जय, जयति ललित त्रिभंग ।।

राग-ईमन

ललनाँ-सँग रास-रंग लेति मॉन रसिक रँमन—
अ अ त्ता, अ अ त्ता ततत-ततत थई-थेई गति लींने।
सा री ग म प ध नी-धुँनि सुँनि ब्रजराज कुँवर—
गावत री अति जति संगीत-निपुन—
तनन, तनन, तनन आँन आँन गति चींनें ।।
उदित मुदित सरद-चंद, बंद टूटे कंचुकि के—
बैंभव निरखि-निरखि कोटि मदन हींने ।
बिरहत बन रास-बिलास, दंपति मन ईषद हास—
'छीत स्वाँमि' गिरिवरधर रस-बस तब कींने ।।

1. ताल और स्वर मिलाने के लिये कोष्ठांतर्गत ध्वनि का उच्चारण।
2. पुनरुक्ति में पुनः उच्चारण।
3. पाठ भेद में अन्य भी होगा।
4. 'आवज' भी पाठ हो सकता है।
5. प्राचीन रास के चित्रों में विमानारूढ़ इन देवों की ही उपस्थति बतलाई गई है, अतः अधिकांशतः यही पाठ होगा।

श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक समय

श्री तिलकधर शर्मा

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास महाभारत और रामायण में उपलब्ध होता है। वेदों का काल इससे भी पहिले का है।

भारतीय धार्मिक परंपरा के अनुसार प्रत्येक कर्तव्य-परायण व्यक्ति कर्तव्य-अनुष्ठान के लिए संकल्प किया करता था और उसमें देश, काल, व्यक्ति, कर्म और कर्म के उद्देश्य का निर्देश करता था। यह संकल्प-प्रथा आज तक प्रचलित है और इससे सबसे बड़ा लाभ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश, काल और उद्देश्य तथा कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान रहता है। इतना ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक घटनाओं के संकलन में भी संकल्प सहायक होते हैं। बहुत प्राचीन काल में जब इस देश में लिखने और छापने की प्रथा न थी तब इन संकल्पों के सहारे बहुत सी घटनाएँ अमर रहती थीं।

महाभारत में भगवान् श्री कृष्ण की धर्म-संस्थापना का संकल्प, एक राष्ट्रीयसत्ता-निर्माण करने का संकल्प, कुरुकुल-पितामह भीष्म का आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प और उत्तरायण में निश्चित तिथि पर शरीर त्याग का संकल्प तथा इसी प्रकार के अन्य संकल्प महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं। उनसे परंपरागत श्रीकृष्ण के समय की ऐतिहासिकता बनी रही। उन्हीं के द्वारा चित्र, मूर्त्ति आदि निर्मित हुए तथा उन्हीं का संकलन करके कवियों द्वारा कुछ लिखा गया।

भगवान् श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के प्रमाण में चार विषयों का स्पष्टीकरण चाहिये—

(१) **श्रीकृष्ण किस देश में हुए,**
(२) **श्रीकृष्ण किस काल में हुए,**
(३) **श्रीकृष्ण का क्या ध्येय था,**
(४) **श्रीकृष्ण ने अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए क्या किया।**

महाभारत तथा अन्य ग्रंथों में श्रीकृष्ण के जन्म, जन्म-स्थान, कर्म आदि का संपूर्ण इतिहास प्राप्त होता है। अतः यहाँ केवल श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक काल का अनुसंधान करना ही हमारा मुख्य विषय है।

श्रीकृष्ण के काल का अन्वेषण करने में भारतीय धर्म-ग्रंथों से जो साधन उपलब्ध होते हैं, उनके अनुसार श्रीकृष्ण को हुए ५००० वर्षों से अधिक हो गए हैं। कलियुग के प्रारंभ से पहिले महाभारत और श्रीकृष्ण हुए थे; परंतु पश्चिमीय लेखकों ने भारतीय इतिहास तथा संस्कृति को अल्पकालीन सिद्ध करने के लिए जो प्रयत्न किये उनसे प्रभावित होकर उनकी सभ्यता के अनुयायी अपने इतिहास को बहुत अल्पकाल का मानते हैं। वास्तविकता का निश्चय करने के लिए प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मतों की समालोचना करते हुए श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता और समय पर जुटाए हुए प्रमाण हम पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं।

पुराणों द्वारा सृष्टि-काल का समय लगभग दो अरब वर्ष पूर्व है और आज रेडियम के आविष्कर्ता भी पृथ्वी का जन्म पुराण-निर्दिष्ट मानने को तैयार हैं। विज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि आज से ५००० वर्ष पूर्व चतुर्थ 'हिमयुग' की सीमा थी। यह 'हिमयुग' एक प्रकार की प्रलय कही जाती है। वह प्रलय महाभारत के युद्ध के समय हुई थी, जिसका निर्देश महाभारत में इस प्रकार किया गया है—

"प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः।
फेनायमाणाः कूपाश्च कूर्दंति वृषभा इव।।
पतंत्युल्का सनिर्घाताः शक्रा शनिसमप्रभाः।
कैलाशमंदराभ्यांतु तदा हिमवता विभो।।
सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतंति च।
महाभूता भूमिकंपे चत्वारो सागराः पृथक्।।
वेलामुद्वर्तयंतीव क्षोभयंतो वसुंधराम्।
वृक्षानुन्मूल्य वात्युग्राः वाताः शर्करवर्षिणः।।"

नदियाँ उल्टी बहने लगीं, नदियों का जल लाल (मृत्तिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया; कूओं का पानी उफनने लगा और उनमें से बैल के हिंबाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बड़े-बड़े हिम-खंड हजारों भागों में विभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूकंप में चारों ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आँधियाँ वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर फेंकने लगीं। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयंकर भूकंप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से इसी भूकंप का हाल बतलाते हुए कहा—

"समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरींच प्लावयिष्यति।"

—भागवत ११।७।३

हे उद्धव! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डुबा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकंप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योंकि भूकंप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियों से कह रहे थे कि—

"एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठंतीह सर्वतः।"

आज द्वारका में चारों ओर से महा-उत्पात, आँधी, तूफान आदि उठ रहे हैं।

इस प्रकार यह भूकंप दो स्थानों में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान 'उर नगर' में भी इसी भूकंप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-लेखों से उस भूकंप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में 'उफ्रात' नदी के किनारे एक 'उर' नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उजाड़ है। अनुसंधान कार्य के लिये स० १९२९ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के, जनवरी मास में उन अन्वेषकों के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के चित्र अमेरिका के मुख्य पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगज़ीन' में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का आवश्यकीय अंश यह है—

"बैबिलोनियन जनता में यह एक पुरानी आख्यायिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था।"

बैबिलोनिया की 'कीलाक्षरी' लिपि में लिखा हुआ एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला लेख में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"छै दिन एवं छै रातों तक मूसलधार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आँधी का वेग तनिक घट गया। ज्योंही मैंने खिड़की खोल दीं त्यों ही मेरे मुख पर सूर्य-प्रकाश तनिक जा गिरा। समूचे खेत और मेंड जल से लबालब भरे दीख पड़ते थे।"

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चाँदी आदि के आभूषण भी प्राप्त हुए हैं, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते हैं, ईराक में सोने वा चाँदी की खानें बिल्कुल नहीं है। भारत में निर्मित सुवर्णादि की वस्तुएँ ही वहाँ पायी गई हैं। उर नगर की खुदाई में (भारत-

निर्मित) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुहरों में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यज्ञीय-स्तंभ से बँधे बैल का चित्र है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में भी यज्ञस्तंभ से बँधे बैल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनों स्थानों की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन मुद्राओं का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकंप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और बगदाद दोनों एक अक्षांश पर स्थित हैं। समान अक्षांशों के स्थान में एक साथ भूकंप का आना प्रकृति-सिद्ध है।

अमेरिका के उपनिवेशों में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' के अगस्त स० १९३९ के अंक में उस खोज के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का संवत् ५००० वर्षों के कुछ पहिले का पाया जाता है। भूगर्भ से बाहिर आये हुए पाषणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। भूशास्त्रवेत्ताओं ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारका के अक्षांश पर स्थित है, संभवतया द्वारका के भूकंप के समय मैक्सिको में भी भूकंप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन दब गया हो।

इन चारों भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ भूकंप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के बाद हस्तिनापुर में, द्वारका में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकंप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अतः श्रीकृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

❀

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का प्रारंभ चैत्र से होता है और महीनों की गणना करते समय चैत्र से मासों की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का आरंभ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनों की गिनती की जाती थी।

अरकोषकार ने जहाँ मासों की गिनती की है वहाँ लिखा है—

"मार्गशीर्ष सहामार्ग आग्रहायणिकश्च सः।"

मागशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का आरंभ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

'काल-माधवकार' ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

"मार्गमासादिकैस्त्रिभिर्ऋतुभिः कल्पितःकाल षणमासात्मकमुत्तरायणम्।"

मंगशिर से लेकर तीन ऋतुओंवाला छै महीनों का समय उत्तरायण होता है। काल-माधवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके समय में वर्ष का आरंभ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मृगशिरा नक्षत्र युक्त पौर्णमासी को, अर्थात् मंगशिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अतः पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अग्रगण्य वस्तु को महत्त्व देने की बहुत पुरानी प्रथा है। अकार वर्णों का प्रथम अक्षर है, अतः इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता में—'अक्षराणामकारोऽस्मि' कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—'ऋतूनां कुसुमाकरः' कहकर प्रथम ऋतु वसंत को विभूति कहा है।

मार्गशीर्ष मास वर्ष का प्रारंभिक मास है, अतएव इसे भी श्रीकृष्ण अपनी विभूति बतलाते हैं।

प्रसिद्ध 'परमार्थप्रपा' टीकाकार सूर्य पंडित—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मार्गशीर्षः मृगशीरः पूर्णिमासंबंधे वर्षादिरभिहितः तस्मिन्नेवाऽग्रहायणीत्यभिधानात् । आग्रहायणं यस्यां सा आग्रहायणी, अत आग्रहायणक इति मार्गशीर्षं नाम । अतोऽस्य मासस्य मुख्यत्वाद् विभूतिमत्वम् ।"

मृगशिर नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा के संबंध से मार्गशीर्ष नाम है, यह आरंभिक मास है, अतएव इसका नाम आग्रहायणिक है। सब मासों में मुख्य होने से इसे 'विभूति' कहा है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जिस समय श्रीकृष्ण पवित्र यमुना के किनारे विहार किया करते थे, जिन दिनों भारत-समराग्नि भारत-वीरों को स्वाहा करने को प्रस्तुत थी, उन दिनों वसंत-संपात मार्गशीर्ष में होता था यही वर्षारंभ का मास था।

अब हमें देखना है कि ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वह काल कितने वर्ष पहिले हो सकता है, जिसमें मार्गशीर्ष से वर्षारंभ होता था।

श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय 'ज्योतिःशास्त्र' नामक ग्रंथ में लिखा है—

"मार्गशीर्षांत बसंत संपात शक पूर्वी सुमारे ४००० हजार वर्षे या कालीं होता।"

अर्थात् मार्गशीर्ष में वसंत-संपात शकारंभ के पहिले लगभग ४००० वर्ष पूर्व था और पृ० ३४ पर सारांश निकालते हुए लिखा है कि शकारंभ से लगभग ३००० वर्ष पहिले जब कृत्तिकादि नक्षत्रों की गणना होती थी तब मार्गशीर्ष से वर्षारंभ होता था।

महाभारत में अन्य कई स्थानों पर भी मार्गशीर्ष से मासों की गणना की गई है।

इस प्रकार वर्तमान शक में यदि ३००० वर्ष और जोड़ दिये जांय तो १८७३+३०००=४८७३ वर्ष आते हैं, इन्हीं दिनों मार्गशीर्षादि मास गिने जाते थे। अतः सिद्ध होता है कि ४८७३ वर्ष के लगभग का समय श्रीकृष्ण का समय है।

गीता में 'मार्गशीर्षोऽहम्' के साथ-साथ 'ऋतूनां कुसुमाकरः' भी लिखा है। जबकि मार्गशीर्ष से वर्ष का आरंभ होता था तब वसंत-संपात भी मार्गशीर्ष में होता था।

उस समय संवत्सर यज्ञ किया जाता था, जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों में उपलब्ध होता है।[1]

यह 'संवत्सर' यज्ञ आग्रहायणी के प्रयोग में ही होता है। इस यज्ञ में जौ का सत्तू ही खाया जाता था। भारतवर्ष के प्राकृतिक नियमानुसार 'जौ' वसंत में ही पकता है। उस समय मार्गशीर्ष में बसंत-संपात होता था और उसी समय संवत्सरयज्ञ होता था और उसके लिये पके हुए जौ प्राप्त हो जाते थे, इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि वसंत का आरंभ भी आज से ५००० वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष में ही होता था।

श्रीकृष्ण ने गीता में जो—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतुनां कुसुमाकरः' कहा है, वह ५००० वर्ष पहिले ही कहा जा सकता था।

पुराण-वर्णित, ज्योतिष-शास्त्र की गणना-पद्धति से सिद्ध और भी प्रमाण हैं।

भारतवर्ष के ज्योतिष-शास्त्रविद् काल-गणना आकाशस्थित सप्त ऋषियों के आधार पर किया करते थे। शुकदेव परीक्षित से कहते हैं—

"ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः।"

—भागवत १२।२।२८

[1]. शत ०४।२।३१

अर्थात् सप्तर्षि तुम्हारे जन्म-समय में और अब भी मघा नक्षत्र में स्थित हैं।

सप्त-ऋषि एक नक्षत्र पर सौ वर्ष रहते हैं। नक्षत्र सत्ताईस हैं, अतः संपूर्ण नक्षत्रों का एक पूरा चक्कर २७ X १०० = २७०० वर्षों में होता है। आजकल सप्त-ऋषि कृत्तिका नक्षत्र में पाये जाते हैं। मघा से कृत्तिका नक्षत्र २१ वाँ है, अतः मघा से कृत्तिका तक आने में सप्त-ऋषियों को २१०० वर्ष लगते हैं। यह समय महाभारत का काल नहीं हो सकता, अतः प्रतीत होता है कि मघा से मघा तक सप्त-ऋषि पूरा एक चक्कर लगा चुके हैं और दूसरी बार के इस चक्कर में कृत्तिका तक पहुँच गये हैं। इस प्रकार २७००+२१००=४८०० वर्ष होते हैं। यह परीक्षित के समय का वर्णन है। श्रीकृष्ण इससे भी कुछ पहिले थे, अतः आज से ५००० वर्ष पूर्व में श्री कृष्ण-काल कहा जा सकता है।

आज से २२३४ वर्ष पूर्व वृद्ध गर्ग नामक एक ज्योतिषी हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि युधिष्ठिर संवत् के आज २५६६ वर्ष बीत चुके हैं। आज भी सप्त-ऋषि मघा नक्षत्र पर हैं।

उपरोक्त गर्ग का वचन भागवत के कथन और हमारी युक्ति का समर्थक है।

श्रीयुत् बंकिमचंद्र इस सप्तर्षि-भ्रमण-काल की समालोचना करते हुए लिखते हैं कि "सप्तर्षि-मंडल मघा नक्षत्र में कभी रह नहीं सकता, क्योंकि मघा नक्षत्र सिंह राशि में है। राशि-चक्र के भीतर बारह राशि हैं। सप्तर्षि-मंडल राशि-चक्र से बाहर है। जैसे इंगलेंड भारतवर्ष में नहीं हो सकता वैसे ही सप्तर्षि-मंडल मघा नक्षत्र में नहीं हो सकता।...पुराणकार ने क्या समझकर ऐसा लिखा यह हम नहीं समझ सकते।"

इससे पहिले श्री बंकिमचंद्र ने विष्णुपुराण के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका अर्थ लिखते हुए उन्होंने लिखा है—

"सप्तर्षि-मंडल के जो दो तारे आकाश में पूर्व की ओर उदय होते हैं, उनसे समानांतर पर बीच में जो नक्षत्र दिखाई पड़ता है उसी में सप्तर्षि सौ वर्ष रहते हैं। परीक्षित के समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे, उस समय कलि को लगे १२०० वर्ष हुए थे।"

उक्त श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है, हम नहीं समझते कि श्री बंकिमचंद्र इनको क्यों न समझ पाये। 'द्वादशाब्दशतात्मकः' का अर्थ करने में तो बंकिम बाबू बड़ी भारी भूल कर गये हैं, क्योंकि १२०० वर्ष प्रमाणवाला कलियुग प्रारंभ हुआ, यह पूर्वोक्त पद का अर्थ है।

कलियुग १२०० वर्ष का नहीं होता, अपितु ४३२००० वर्ष का होता हैं, परंतु १२०० वर्ष-यहाँ पर देवताओं के वर्ष लिये गये हैं, क्योंकि इसी अध्याय के ११५ के श्लोक में कलि का मान बतलाते हुए विष्णुपुराण में ही लिखा है—

"शतानि तानि दिव्यानां सप्तपंच च संख्यया।
निश्शेषेण गते तस्मिन् भविष्यति पुनः कृतम्॥"

अर्थात् १२०० दिव्य वर्षों के संपूर्ण कलि के बीतने पर 'कृतयुग' का आरंभ होगा।

तीन सौ साठ मानवी वर्षों का एक दिव्य वर्ष होता है (विष्णु० ६।३।१०)। इस प्रकार १२०० X ३६० = ४३२००० मानव-वर्ष कलि का मान सिद्ध होता है।

यदि श्री बंकिमचंद्र के ही अर्थ को मान लिया जाय तो कलियुग के लगभग ११०० वर्ष बीतने पर श्रीकृष्ण का होना प्रमाणित हो जायगा, जो किसी भी इतिहासज्ञ को मान्य नहीं है। अब सप्तर्षि-मंडल की मघा स्थिति पर विचार किया जाता है।

मरीची, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यह आकाशस्थित-सप्तर्षि-मंडल है। इसमें से पुलह और क्रतु नामक दो तारों को अन्य पाँच तारों से प्रथम दृष्टिगोचर होने के कारण 'सूचक' कहा जाता है। सप्तर्षि-मंडल के समीपस्थ ध्रुव से विपरीत, अर्थात् दक्षिण दिशा में एक सीधी रेखा खींची जाय तो वह रेखा अपने समानांतर में स्थित जिस नक्षत्र के सामने पड़ जाय वही सप्तर्षि-मंडल का नक्षत्र माना जाता है।

सप्तर्षि-मंडल में सात तारे हैं, उनमें से नक्षत्र-साधन पुलह अथवा ऋतु से ही किया जाता है, क्योंकि विष्णु पुराण के तथा श्रीमद्भागवत के कथनानुसार ये सप्तर्षि-मंडल के मध्य में स्थित है।

श्रीमद्भागवत के उक्त अभिप्राय के श्लोकों (भा०१२।२।२७,२८) की व्याख्या करते हुए श्रीस्वामी श्रीधर ने भी हमारी उक्ति का समर्थन किया हैं।

प्रयाग प्रांत के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पं० इंद्रनारायण जी द्विवेदी ने आज से कुछ वर्ष पूर्व उक्त रीति से गणित करके यह बतलाया था कि आजकल सप्तर्षि-मंडल उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में है। परीक्षित के समय से आज तक सप्तर्षि-मंडल ने मघा से मघा तक दो पूरे चक्कर काट लिये हैं, इस समय उत्तरा फाल्गुनी में हैं। इस प्रकार इनके मत में—२७००+२७००+१००=५५०० वर्ष परीक्षित से अब तक बीत चुके हैं। अयन गति के कारण लगभग ४०० वर्ष का इसमें अंतर पड़ गया है अतः आज से ५००० वर्ष पूर्व ही महाभारत काल कहना चाहिये, यही श्रीकृष्ण का काल है।

इसी प्रकार पं० बद्रीनारायण मिश्र ने भी पं० हरिनंदन मिश्र नामक ज्योतिषी का मत दिखाते हुए सं० १९७२ में पुलह और ऋतु नामक तारों के मध्य बिंदु से रेखा खींच कर बतलाया कि आज कल सप्तऋषि पुनर्वसु नक्षत्र पर हैं। इस प्रकार इनके मत से भी २७००+२५००=५२०० वर्ष पूर्व का समय महाभारत काल होता है यही हमारा कृष्ण-काल है।

बहुत से गणितज्ञ सप्तर्षि-मंडल के पुलह और ऋतु ताराओं से रेखा न खींच कर सातों में से मन माने तारे से रेखा खींच लेते हैं, अतः उनके काल में अंतर आ जाता है। जैसा कि श्री हरिमंगल मिश्र एम० ए० ने अपनी 'प्राचीन भारत' नामक पुस्तक में एक ज्योतिषी का मत दिखाया है। उन्होंने मरीची और वसिष्ठ नामक तारोंसे रेखा खींचकर गणित किया है। अतः उनका समय पुराणों से नहीं मिलता। इस प्रकार हम इस निकर्ष पर पहुँचते हैं कि सप्तर्षि-मंडल यद्यपि किसी राशि में स्थित नहीं होता और राशि, चक्र से बाहर ही रहता है, तथापि मघा आदि नक्षत्रों के समानांतर पर स्थित होने के कारण उन्हें नक्षत्रस्थित कह दिया जाता है। हम वह कारण नहीं जानते जिससे यह सब कुछ होते हुए भी श्री बंकिम बाबू इसकी उपेक्षा करते हैं।

यूनान के प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीय अपना इतिहास ६४६२ वर्ष पहले से शुरु करते हैं। मेगस्थनीज़ महाराज चंद्रगुप्त के समय भारत में आया था। चंद्रगुप्त का समय ३२६ ई० पूर्व है।

मेगस्थनीज़ के इस वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि भारतीय अपना इतिहास श्रीकृष्ण तक ही नहीं जानते थे, अपितु उससे भी पहिले का इतिहास उन्हें ज्ञात था। एक दूसरे स्थान पर मथुरा का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज़ ने लिखा है—

'यहाँ शौरसेनी जाति के लोग रहते हैं और ये हरक्युलीस के उपासक हैं।' हरक्युलीस स्पष्टतया श्रीकृष्ण ही हैं। वह आगे चल कर उस समय के दृढ़ आधारों एवं प्रमाण के द्वारा लिखता है—हरक्युलीस डायोनिसियस से १५ पीढ़ी पीछे हुए हैं। चंद्रगुप्त और डायोनिसियस में वह १५३ पीढ़ियों का अंतर बताता है। इस प्रकार मेगस्थनीज़ के वर्णन से पता चलता है कि श्रीकृष्ण और चंद्रगुप्त में १३८ पीढ़ियों का अंतर है। यदि ऐतिहासिकों की प्रथा का आश्रय लेकर प्रत्येक पीढ़ी २० वर्ष की मान ली जाय तो १३८+२०=२७६० वर्ष हुए। हम पहिले बतला चुके हैं कि चंद्रगुप्त का समय ईसा पूर्व ३२६ वर्ष है। इस काल को तथा आज के ई० सन् को यदि उक्त संख्या से युक्त कर दें तो २७६० + ३२६+१९५२=५०३८ वर्ष होते हैं। यही भारत-युद्ध काल और यही कृष्ण-काल है।

श्री बंकिमचंद्र भीष्म की मृत्यु के प्रसंग को लेकर 'चंद्राकौं' यत्र साक्षिणौ' कहकर अपना एक अकाट्य प्रमाण देते हुए लिखते हैं—'उस समय आश्विन मास से वर्षारंभ होता था।''''फसली सन् अब भी आश्विन से शुरू होता है। ''''४४ अंश ४ कला मान लेने से ईस्वी सन् से १२६३ वर्ष पहिले होते हैं। इससे पहिले कुरुक्षेत्र का युद्ध कभी भी नहीं हो सकता।

हम प्रथम ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि महाभारत-काल में वर्षारंभ (वसंत-संपात) मार्गशीर्ष से होता था, आश्विन से नहीं और वहीं पर काल-माधवकार का प्रमाण देते हुए हमने बतलाया है कि मार्गशीर्ष में ही सूर्य उत्तरायण हो जाता था। भीष्म ने—'माघोऽयं समनुप्राप्तो' कह कर यह बतलाया है कि अब तो माघ भी आ गया, अर्थात् सूर्य तीन मास में पूर्ण उत्तर में पहुँच चुके हैं ; अतः अब मुझे शरीर-त्याग करना चाहिये ।

श्रीनारायण शास्त्रिवर ने अपनी पुस्तक 'शंकर का समय' में बतलाया है कि जिस दिन भीष्म ने शरीरांत किया था उस दिन माघ मास, उत्तरायण सूर्य, शुक्ल पक्ष, अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र था। महाभारत में भी भीष्म के शरीर-त्याग का यही अवसर लिखा है (महा० शां० ४६।५,४) । उक्त समय का, हस्तिनापुर से श्रीकृष्ण का द्वारका प्रस्थान, महाभारत आरंभांत तिथियों आदि का समन्वय करके श्री दीक्षित ने यह प्रमाणित किया है कि उक्त समय ३१३६ ई० पूर्व ही हो सकता है । इस प्रकार इनके मतानुसार भी ३१३६+१६५२=५०६१ वर्ष महाभारत युद्ध को हुए व्यतीत हुए हैं, यही कृष्ण-काल भी है ।

आर्य भट्ट ने २३ वर्ष की अवस्था में संवत् ५४६ में कलियुग का आरंभ अपने से ३६०० वर्ष पहिले माना है, इस प्रकार इनके मतानुसार भी २००२–५५६+३६००=५०४६ वर्ष होते हैं यही महाभारत तथा श्रीकृष्ण-काल भी है ।

श्री लोकमान्य तिलक ने भी गीता रहस्य के 'भागवत धर्म का उदय और गीता' नामक शीर्षक में लिखा है कि 'ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहिले भारतीय-युद्ध और पांडव हुए होंगे, अर्थात् श्रीकृष्ण का अवतार काल भी यही है।'

उसी प्रकरण में एक दूसरे स्थान पर मैत्र्युपनिषद् का वर्णन करते हुए मैत्र्युपनिषद् के ६।१४ के मंत्र—'मघाद्यं श्रविष्ठार्धम्' द्वारा प्राप्त उदगयन (प्राचीदिग्साधन, अर्थात् पूर्व-दिशा का सिद्ध करना) से वेदांग ज्योतिष के उदगयन का अंतर स्पष्ट करते हैं।

'ज्योतिर्गणित से यह सिद्ध होता है कि वेदांग-ज्योतिष में कही गयी 'उदगयन' स्थित ईसाई सन् के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहिले की है और आधे नक्षत्र से उदगयन के पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं, इसलिये गणित से यह बात निष्पन्न होती है कि मैत्र्युपनिषद् ईसा के पहिले १८८० से १६८० वर्ष के बीच कभी न कभी बना होगा और कुछ नहीं तो यह उपनिषद् निस्संदेह वेदांग-ज्योतिष से पहिले का है। अब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि छांदोग्यादि जिन उपनिषदों के अवतरण मैत्र्युपनिषद् में दिये गये हैं, वे उससे भी प्राचीन हैं।

श्री लोकमान्य के मत में मैत्र्युपनिषद् आज से ३८२५ वर्ष पूर्व का है, तब छांदोग्यादि चार अथवा साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व के सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। छांदोग्य के निर्माण-काल से पूर्व कृष्ण विद्यमान थे, क्योंकि उसमें देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का घोर आंगिरस से शिक्षा पाने का उल्लेख है ।

विद्वानों की संमति में 'शतपथ ब्राह्मण' और 'छंदोग्य' समकालीन ग्रंथ हैं। शतपथ ब्राह्मण में—

'कृत्तिका स्वादधीत । एता ह वै प्राच्यै न च्यवंते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्रानि प्राच्यै दिशश्च्यवंते ।'

अर्थात् कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करे; यह नक्षत्र और नक्षत्रों की भाँति पूर्वदिशा से च्युत नहीं होता, लिखा है।

श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने आज की और शतपथ-वर्णित खगोल स्थिति की ज्योतिष-नियमानुसार तुलना करके यह निश्चित किया है कि यह स्थिति ३००० वर्ष ई० पूर्व में थी।

इस प्रकार विदित होता है छंदोग्य उपनिषद् शतपथ के समकालीन होने से ३००० ई० पूर्व का है, अर्थात् ४६४५ वर्ष पूर्व का है, श्रीकृष्ण का उसमें उल्लेख है अतः वे उससे भी ५०,६० वर्ष पूर्व के थे ऐसा सिद्ध होता है, परंतु लोकमान्य इस धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए भी श्रीकृष्ण-काल को न जाने कैसे ३३४५ वर्ष पूर्व ही मानते हैं।

हमारे मत में श्रीकृष्ण का काल आज से ५००० वर्ष पूर्व ही है और उसके लिये यथेष्ट प्रमाण भी हमने दिये हैं। इतने पर भी बहुत से विद्वान् श्रीकृष्ण का समय आज से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व ही मानते हैं। पुरातत्त्व-विभाग के अन्वेषणों से भी श्रीकृष्ण ३५०० वर्ष के पहिले होने सिद्ध किये जाते हैं। ये अन्वेषण अभी चल रहे हैं और आशा है कि इनकी खोज होते-होते ५००० वर्ष तक पहुँच जायगी।

माखन चोरी-रहस्य

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

भगवान् की लीला पर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् का लीला-धाम, भगवान् के लीला-पात्र, भगवान् का लीला-शरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। भगवान् में देह-देही का भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

> **"न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।**
> **यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥**
> **स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।**
> **मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥"**

'परमात्मा का शरीर भूतसमुदाय से बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मा के शरीर को भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मों से बहिष्कार कर देना चाहिए, अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि उसका मुँह देखने पर भी सचैल (वस्त्र-सहित) स्नान करना चाहिए।'

श्रीमद्भागवत में ही ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है—

> **"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।"**
>
> —भागवत १०।१४।२

'आप ने मुझ पर कृपा करने के लिए ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानंद स्वरूप प्रकट किया है, यह पांचभौतिक कदापि नहीं है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् का सभी कुछ अप्राकृतिक होता है। इसी प्रकार यह "माखन-चोरी की लीला" भी अप्राकृत—दिव्य ही है।

यदि भगवान् के नित्य परम धाम में अभिन्न रूप से नित्य निवास करने वाली नित्य-सिद्धा गोपियों की दृष्टि से न देख कर केवल साधन-सिद्धा गोपियों की दृष्टि से देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवांछाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचाने के लिए 'माखनचोरी' की लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करें, 'चीरहरण' करके उनके रहे-सहे व्यवधान का परदा उठा दें और 'रासलीला' करके उनको दिव्य सुख पहुँचाएँ तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान् की नित्य-सिद्धा चिदानंदमयी गोपियों के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधना के फलस्वरूप भगवान् की मुक्तजन-वांछित सेवा करने के लिए गोपियों के रूप में अवतीर्ण हुई थीं। उनमें से कुछ पूर्वजन्म की 'देवकन्याएँ' थीं, कुछ 'श्रुतियाँ' थीं, कुछ 'तपस्वी ऋषि' थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणों में मिलती हैं। श्रुतिरूपा गोपियाँ, जो 'नेति-नेति' के द्वारा निरंतर परमात्मा का वर्णन करते रहने पर भी उन्हें साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियों के साथ भगवान् के दिव्य रसमय विहार की बात जानकर गोपियों की उपासना करती हैं और अंत में स्वयं गोपीरूप में परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्ण को साक्षात् अपने प्रियतम

रूप से प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियों के नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकंठिका और विपंची आदि।

भगवान् के श्रीरामावतार में उन्हें देख कर मुग्ध होनेवाले—अपने-आप को उनके स्वरूप-सौंदर्य पर न्यौछावर कर देनेवाले सिद्ध ऋषिगण, जिनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करने का वर दिया था, ब्रज में गोपी-रूप से अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिला की गोपी, कोसल की गोपी, अयोध्या की गोपी—पुलिंद गोपी, रमावैकुंठ, श्वेत-द्वीप आदि की गोपियाँ और जालंधरी गोपी आदि गोपियों के अनेकों यूथ थे, जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान् से वरदान पाकर गोपी रूप में अवतीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराण के पातालखंड में बहुत-से ऐसे ऋषियों का वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पों के बाद गोपी-स्वरूप को प्राप्त किया था। उनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक 'उग्रतपा' नाम के ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े दृढ़व्रती थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होंने पंचदशाक्षर मंत्र का जाप और रासोन्मत्त नवकिशोर श्यामसुंदर श्रीकृष्ण का ध्यान किया था। सौ कल्पों के बाद वे 'सुनंद' नामक गोप की कन्या 'सुनंदा' हुए।

२—एक 'सत्यतपा' नाम के मुनि थे। वे सूखे पत्तों पर रह कर दशाक्षर मंत्र का जाप और श्रीराधाजी के दोनों हाथ पकड़ कर नाचते हुए श्रीकृष्ण का ध्यान करते थे। दस कल्प के बाद वे 'सुभद्र' नामक गोप की कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—'हरिधामा' नाम के एक ऋषि थे। वे निराहार रह कर 'क्लीं' कामबीज से युक्त विंशाक्षरी मंत्र का जाप करते थे और माधवीमंडप में कोमल-कोमल पत्तों की शय्या पर लेटे हुए युगल-सरकार का ध्यान करते थे। तीन कल्प के पश्चात् वे 'सारंग' नामक गोप के घर 'रंगवेणी' नाम से अवतीर्ण हुए।

४—'जावालि' नाम के एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वन में विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावली के पश्चिम तट पर बड़ के नीचे एक तेजस्विनी युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुंदर थी। चंद्रमा की शुभ्र किरणों के समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमर पर था और दाहिने हाथ से वह ज्ञानमुद्रा धारण किए हुए थी। जाबालि के बड़ी नम्रता के साथ पूछने पर उस तापसी ने बतलाया—

"ब्रह्मविद्याहमतुला योगींद्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदांभोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
ब्रह्मानंदेन पूर्णाहं तेनानंदेन तृप्तधीः।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायंती पुरुषोत्तमम्॥"

"तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना॥"

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्ण के चरणकमलों की प्राप्ति के लिए इस घोर वन में उन पुरुषोत्तम का ध्यान करती हुई दीर्घकाल से तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानंद से परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनंद से परितृप्त है, परंतु श्रीकृष्ण का प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपने को शून्य देखती हूँ।' ब्रह्मज्ञानी जाबालि ने उसके चरणों पर गिर कर दीक्षा ली और फिर ब्रजवीथियों में विहरनेवाले भगवान् का ध्यान करते हुए वे एक पैर से खड़े हो कर बड़ी कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पों के बाद 'प्रचंड' नामक गोप के घर वे 'चित्रगंधा' के रूप में प्रकट हुए।

५—'कुशध्वज' नामक ब्रह्मर्षि के पुत्र 'शुचिश्रवा' और 'सुवर्ण' देवतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मंत्र का जाप करते हुए और सुंदर कंदर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्ष की उम्र के भगवान्

श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्प के बाद वे ब्रज में 'सुधीर' नामक गोप के घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियों के पूर्वजन्म की कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभय से उन सब का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान् के लिए इतनी तपस्या करके इतनी लगन के साथ कल्पों तक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियों ने गोपियों का तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए—उन्हें आनंद-दान देने के लिए यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं, तो इसमें आश्चर्य और अनाचार की कौन-सी बात है? रासलीला के प्रसंग में स्वयं भगवान् ने श्री गोपियों से कहा है—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतयातु साधुना॥"

—भागवत १०।३२।२२

'गोपियो' तुमने लोक और परलोक के सारे बंधनों को काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममें से प्रत्येक के लिये अलग-अलग अनंत कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभाव से ऋण-रहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी रहना चाहते हैं, उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिए तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियों के मन की क्या स्थिति थी। गोपियों का तन, मन, धन—सभी कुछ प्राण-प्रियतम श्रीकृष्ण का था। वे संसार में जीती थीं श्रीकृष्ण के लिये, घर में रहती थीं श्रीकृष्ण के लिये और घर के सारे काम करती थीं श्रीकृष्ण के लिये। उनकी निर्मल और योगींद्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्ण के सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्ण के लिये ही, श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिये ही, श्रीकृष्ण की निज सामग्री से ही श्रीकृष्ण को पूजकर—श्रीकृष्ण को सुखी देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटने के समय से लेकर रात को सोने तक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये ही करती थीं। यहाँ तक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्ण में ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनों में ही वे श्रीकृष्ण की मधुर और शांत लीला देखतीं और अनुभव करती थीं। रात को दही जमाते समय श्यामसुंदर की माधुरी छवि का ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुंदर जमे, श्रीकृष्ण के लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीके पर रक्खूँ, जितने पर श्रीकृष्ण के हाथ आसानी से पहुँच सकें। फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओं को साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घर में पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरों को लुटाएँ, आनंद में मत्त होकर मेरे आँगन में नाचें और मैं किसी कोने में छिपकर इस लीला को अपनी आँखों से देखकर जीवन को सफल करूँ और फिर अचानक ही पकड़ कर हृदय से लगा लूँ। सूरदासजी ने गाया है—

"मैया री, मोहि माँखन भावै।
जो मेवा, पकवाँन कहति तू, मोहि नाहिं रुचि आवै॥
ब्रज-जुवती इक पाछें ठाढ़ी, सुनत स्याँम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपने घर, देखौं माखन-खात॥

बैठें जाइ मथनियाँ के ढिंग, मैं तब रहौं छिपाँनी।
'सूरदास' प्रभु अंतरजाँमी, ग्वालिनि-मन की जाँनी ।।"

एक दिन श्याम सुंदर कह रहे थे, "मैया, मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवान के लिये कहती है, परंतु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।' वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्याममुंदर की बात सुन रही थी। उसने मन ही मन कामना की—"मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी; ये मथानी के पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी?' प्रभु तो अंतर्यामी हैं, गोपी के मन की जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घर का माखन खाकर उसे सुख दिया—

'गए स्याँम तिहिं ग्वालिनि के घर।'

और तब उसे इतना आनंद हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

"फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूँछति सखीं परसपर बातें, पायौ परयौ कछू कहूँ तेंरी?
पुलकित रोंम रोंम, गदगद मुख-बाँनी कहत न आवै।
ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कों क्यों न सुनावै।।
तन न्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
'सूरदास' कहै ग्वालि सखिनि सों, देख्यौ रूप अनूप।।"

वह खुशी से छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनंद उसके हृदय में समा नहीं रहा था। सहेलियों ने पूछा—'अरी' तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेम विह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्गद् हो गयी, मुँह से बोली नहीं निकली। सखियों ने कहा—'सखि, ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपाने की कौन-सी बात है?' तब उसके मुँह से इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेम के आँसू बहने लगे! सभी गोपियों की यही दशा थी।

"ब्रज घर-घर प्रघटी यै बात।
दधि-माँखन-चोरी करि कें हरि, ग्वाल-सखा-सँग खात।।
ब्रज-बनिता यै सुनि मन हरषति, सदँन हमारे आवें।
माँखन खात अचाँनक पावें, भुज-भरि उरहिं छिपावें।"
मन हीं मन अभिलाष करति सब, हृदें धरति यै ध्याँन।
'सूरदास' प्रभु कों घर में लै, दैहौं माँखन खाँन।।"

❀

"चली ब्रज घर-घरनि यै बात।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरि माँखन खात।।
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैंठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ।।
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कों, देखों अपने धाँम।
हेरि माँखन देहुँ आछौ, खाँइ जितनों स्याँम।।
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ, भरि धरों अँकवार।
कोउ कहति मैं बाँधि राखों, को सकै निरवार।।
'सूर' प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार।
जोरि कर बिधि कों मनावति पुरुष नंद-कुँमार।।"

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रातःकाल होने की बाट देखतीं। उनका मन श्रीकृष्ण में लगा रहता। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छींके पर रखतीं; कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करतीं और श्यामसुंदर की प्रतीक्षा में व्याकुल होती हुई मन ही मन सोचतीं—'हा, आज प्राण प्रियतम क्यों नहीं आये ? इतनी देर क्यों हो गयी ? क्या आज इस दासी का घर पवित्र न करेंगे ? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखन का भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे ? कहीं यशोदा मैया ने तो उन्हें नहीं रोक लिया ? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखन की क्या कमी है ! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं !' इन्हीं विचारों में आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षण में दौड़कर दरवाजे पर जाती, लाज छोड़कर रास्ते की ओर देखती, सखियों से पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युग के समान हो जाता ! ऐसी भाग्यवती गोपियों की मनःकामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते। सूरदास जी ने गाया है—

"प्रथम करी हरि माँखन-चोरी।
ग्वालिनि मन-इच्छा करि पूँरन, आपु भजे ब्रज-खोरी ।।
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकें माँखन खाउँ ।।
बाल रूप जसुमति मोहि जानें, गोपिनि मिलि सुख-भोग।
'सूरदास' प्रभु कहत प्रेम सों, ए मेरे ब्रज लोग ।।"

—सूरसागर ३५२।८८६

अपने निज जन ब्रजवासियों को सुखी करने के लिये ही तो भगवान् गोकुल में पधारे थे माखन तो नंदबाबा के घर पर कम न था, लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते, परंतु वे तो केवल नंदबाबा के ही नहीं, सभी ब्रजवासियों के अपने थे, सभी को सुख देना चाहते थे। गोपियों की लालसा पूरी करने के लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तव में चोरी नहीं, यह तो गोपियों की पूजा-पद्धति का भगवान् के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्त की पूजा स्वीकार कैसे न करें ?

भगवान् की इस दिव्यलीला—माखन चोरी का रहस्य न जानने के कारण ही कुछ लोग इसे आदर्श के विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किस की होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरे की कोई चीज, उसकी इच्छा के बिना, उसके अनजान में और आगे भी वह न जान पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के घर से माखन लेते थे उनकी इच्छा से, गोपियों के अनजान में नहीं—उनकी जान में, उनके देखते-देखते और आगे जनाने की कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्व की यह है कि संसार में या संसार के बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान् की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियों का तो सर्वस्व श्रीभगवान् का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं ? हाँ चोर तो वास्तव में वे लोग हैं, जो भगवान् की वस्तु को अपनी मानकर ममता-आसक्ति में फँसे रहते हैं और दंड के पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियों से यही सिद्ध होता है कि माखन-चोरी चोरी न थी, भगवान् की दिव्य लीला थी। असल में गोपियों ने प्रेम की अधिकता से ही भगवान् का प्रेम का नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके 'चित्तचोर' तो थे ही।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् की लीला पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है, परंतु उनकी दृष्टि से भी इस प्रसंग में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्ष के बच्चे थे और

गोपियाँ अत्यधिक स्नेह के कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं। आशा है, इससे शंका करनेवालों को कुछ संतोष होगा।[1]

[1]. श्रीसूर ने गोपियों के घरों में माखन-चुरा कर खाते हुए 'श्रीमाखन-चोर' का बड़ा सुंदर वर्णन किया है, जैसे—

"आज सखी, मनि-खंब-निकट हरि जहाँ गोरस कौं गो-री।
निज प्रतिबिंब सिखावत ज्यों सिसु, प्रघट करै जिन चोरी॥
अरध-विभाग आज ते हँम-तुम्हें, भली बनीं हैं जोरी।
माँखन खाहु कित-हिं डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी॥
बाँट न लेहु, सबै चाँहत हौ, इहै बात है थोरी।
मींठौ अधिक परँम रुचि लागै, तौ भरि लेहु कँमोरी॥
प्रेंम-उँमगि धीरज न रह्यौ तब, प्रघट हँसी मुख-मोरी।
'सूरदास' प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी॥

अथवा—

गोपाल, दुरें-दुरें माँखन-खात।
देखि सखी, सोभा जु बनीं है, स्यांम-मनोहर-गात॥
उठि अवलोकि ओट ठाढ़ी ह्वै, जिहिं बिधि नहिं लखि लेत।
चकित नैंन, चहूँ दिसि चितवत, और सखँन कौं देत॥
सुंदर कर-आँनन-सँमीप अति राजत या आकार।
जलरुह मँनौं बैर बिधु सौं तजि, मिलत लएँ उपहार॥
गिरि-गिरि परत बदँन ते उर पर, दुधि-सुत के कछु बिंद।
मौंनों सुभग सुधा-कँन बरखत, प्रिय-जँन-आगँम इंद॥
बाल-बिनोद बिलोकि 'सूर' प्रभु, सिथिल भई ब्रज-नारि।
फुरै न बचँन बरजिबे-कारँन, रही बिचारि-बिचारि॥

* राग—गूजरी।
† राग—धनाश्री।

महाभारत और श्रीकृष्ण

श्री मुंशीराम शर्मा

महाभारत मुख्य रूप से कौरवों और पांडवों के वृत्तांतों से भरा पड़ा है, पर प्रासंगिक रूप से उसमें श्रीकृष्ण का चरित्र भी आ गया है। इस चरित्र का जितना और जैसा रूप महाभारत में अंकित हुआ है, उसको उसी रूपमें प्रस्तुत करना इस लेख का लक्ष्य है।

आदिपर्व

श्रीकृष्ण के प्रारंभिक बालचरित्र का उल्लेख स्वभावतः महाभारत में नहीं किया गया। उनके जीवन का जितना संबंध कौरवों और पांडवों के जीवन वृत्तों के साथ है, उतना ही महाभारत में पाया जाता है। श्रीकृष्ण का नाम सर्वप्रथम 'आदिपर्व' के अंतर्गत द्रौपदी-स्वयंवर में आया है। इस स्वयंवर को देखने के लिये अनेक क्षत्रिय रंगभूमि में एकत्रित हुए थे। रुद्र, आदित्य, वसु आदि देवगण और सुपर्ण, उरग, गुह्यक, चारण, विश्वावसु, देवर्षि आदि गंधर्व भी आये थे।[1] बलराम और कृष्ण आदि यदुवंशी वीर भी वहाँ पहुँचे। महाभारत के अनुसार इसी स्वयंवर भूमि में श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम पांडवों को देखा और संकेत द्वारा उनकी उपस्थिति बलराम को सूचित की।[2] अर्जुन के लक्ष्यभेद के उपरांत श्रीकृष्ण पुनः पांडवों का परिचय देते हुए बलराम से कहने लगे—

> "य एष सिंहर्षभखेलगामी महद्धनुः कर्षति तालमात्रम्।
> एषोऽर्जुनो नाऽत्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः।।
> यस्त्वेष वृक्षं तरसाऽवभज्य राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः।
> वृकोदरान्नाऽन्य इहैतदद्य कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम्।।
> योऽसौ पुरस्तात्कमलायताक्षस्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः।
> गौरः प्रलंबोज्ज्वलचारुघोणो विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः।।"
>
> —महाभारत, आ० प० १९१। २०,२१,२२

"श्रेष्ठ सिंह की भाँति गतिवाले और लगभग पाँच हाथ के धनुष को खींचनेवाले निस्संदेह अर्जुन ही हैं। जिन्होंने शीघ्रता से वृक्ष उखाड़ लिया है और राजाओं का अंत करने में प्रवृत्त हुए हैं, वे भीम के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं। इनके पूर्व जो कमल के समान प्रशस्त नेत्रवाले, सिंह के सदृश गतिवाले, विनीत, गौर वर्ण, लंबी-उज्ज्वल और सुंदर नासिकावाले महापुरुष यहाँ से चले गये हैं, वे ही धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं।"

इसके पश्चात् जब राजाओं ने उपद्रव मचाया, तो श्रीकृष्ण ने ही समझाया और युद्ध से विरत किया।[3] पांडवों को श्रीकृष्ण का परिचय इसके उपरांत ही हुआ।

1. आदिपर्व १८९। ६,७।
2. " १८९। १०।
3. निवारयामास महीपतींस्तान् धर्मेणलब्धेत्यनुनीय सर्वान्।।
—आदिपर्व १९२।३८

द्रौपदी-स्वयंवर के अनंतर महात्मा विदुर पांडवों को हस्तिनापुर लाने के लिये महाराज द्रुपद के पास पहुँचे, तो उन्होंने बलराम तथा श्रीकृष्ण को भी वहाँ देखा।[१] इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण स्वयंवर के पश्चात् बराबर पांडवों के साथ लगे रहे और जब महाराज द्रुपद से आज्ञा पाकर पांडव द्रौपदी, कुंती तथा विदुर के साथ हस्तिनापुर को चल दिये तो श्रीकृष्ण भी उनके साथ गये।

श्रीकृष्ण पांडवों की हित-चिंतना में सदैव निरत रहते थे, यह बात द्रुपद ने स्वयं अपने शब्दों में स्वीकार की है—

"यथैव हि महाभागाः कौंतेया मम सांप्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पांडुपुत्रा न संशयः ।।
न तद्ध्यायति कौंतेयः पांडुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ।।"

—आदिपर्व २०६।८,६

"हे विदुर, जिस प्रकार ये महाभाग पांडव मेरे प्रेमपात्र हैं, उसी प्रकार ये कृष्ण के भी प्रिय हैं। पांडवों के हित की चिंता इनकी पांडु-पुत्र युधिष्ठिर को भी नहीं है, जितनी इन पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्ण को है।"

पांडवों के हस्तिनापुर पहुँचने पर धृतराष्ट्र ने संघर्ष बचाने के लिये इन्हें आधा राज्य दे दिया। पांडवों ने 'खांडवप्रस्थ' को अपनी राजधानी बनाया और श्रीकृष्ण की सहायता से उस नगर को स्वर्ग के समान सुसज्जित कर लिया। यही खांडवप्रस्थ 'इंद्रप्रस्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब पांडव खांडवप्रस्थ में सुखपूर्वक निवास करने लगे, तो उनकी अनुमति प्राप्त करके श्रीकृष्ण बलराम के साथ द्वारकापुरी को चले गये।

इस प्रसंग के पश्चात् अर्जुन और श्रीकृष्ण का मिलाप प्रभास क्षेत्र में हुआ—

"आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी।"

——आदिपर्व २२०।५

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रिय सखा पूर्व जन्म में नर और नारायण नाम के ऋषि थे।[२]

प्रभास क्षेत्र से श्रीकृष्ण और अर्जुन 'रैवतक' पर्वत पर चले गये। रात भर यहाँ विश्राम करके, प्रातःकाल होते ही अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ द्वारका पहुँचे और वहाँ के राजभवन में उन्होंने अनेक दिन निवास किया। महाभारत में इस स्थल पर रैवतक पर्वत पर जुड़े हुए 'वृष्णि' और 'अंधक' वंश के वीरों के उत्सव का भी मनोरम वर्णन किया है। इसी उत्सव में अर्जुन श्रीकृष्ण की बहिन और बलराम की सहोदरा सुभद्रा को देख कर कामासक्त हुए। श्रीकृष्ण ने उनके इस भाव को जान लिया और कहा—

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्याऽनिमित्ततः ।।
प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ।।
स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ।।

—आदिपर्व २२१।२१,२२,२३

१. आदिपर्व २०८। ११

२. वनपर्व अध्याय १२ में श्लोक ११ से २० तक, तथा श्लोक २५, २८ और ४२ से ४४ तक श्रीकृष्ण के विविध योनियों में जन्म लेने, असुरों का वध करने और दान, यज्ञ एवं तप करने का भी वर्णन पाया जाता है।

"हे अर्जुन, क्षत्रियों में स्वयंवर विवाह का विधान है, पर इसमें संशय है कि सुभद्रा इस रीति से तुम्हारा वरण करेगी या नहीं, क्योंकि इस विषय में मनुष्य की रुचि के लिये कोई कारण नहीं होता। क्षत्रियों में बलपूर्वक अपहरण करके ले जाना भी विवाह का हेतु माना गया है। अतः तुम मेरी इस कल्याणी बहिन को हरकर ले जाओ।"

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से भी इस विवाह के लिये अनुमति मँगा ली और उनके संकेत से देवार्चन के पश्चात् द्वारका जाती हुई 'सुभद्रा' को बलात् अपने रथ में बिठाकर अर्जुन चल दिया। सुभद्रा के अपहरण से वृष्णी वीर उत्तेजित हो उठे। बलराम को भी यह कृत्य असह्य लगने लगा, पर वे श्रीकृष्ण के चुप रहने से कुछ न कर सके। श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया भी—

"नावमानं कुलस्याऽस्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान्।
संमानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः॥
उचितश्चैव संबंधः सुभद्रा च यशस्विनी।
एष चाऽपीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति॥"

—आदिपर्व २२३।२,६

"अर्जुन के इस कृत्य से हमारे कुल का अपमान नहीं, प्रत्युत संमानवर्धन हुआ है। यह संबंध भी उचित ही है। जैसी सुभद्रा यशस्विनी है, वैसा ही अर्जुन भी यशस्वी है।" परिणामतः परमेष्ठी पुरोहित अर्जुन को लौटा लाये और अर्जुन तथा सुभद्रा का विवाह विधिवत् हुआ।

महाभारत में आदिपर्व के अध्याय २२३ का नाम 'हरणाहरण' पर्व है। इस पर्व के अनुसार जब अर्जुन सुभद्रा के साथ इंद्रप्रस्थ पहुँच गए तो श्रीकृष्ण, बलराम आदि दहेज की विपुल सामग्री लेकर वहाँ गये। इस दहेज को महाभारतकार ने 'सुभद्रा का हरण' नाम दिया है, (**हरणं वै सुभद्रायाः ....श्लोक ४४**) अर्थात् ऐसा धन जिसे कन्या अपने मातृ-गृह से पति-गृह को हरण करके ले जाती है। कौरवों से संमानित होकर बलराम आदि तो द्वारकापुरी को लौट आये, परंतु श्रीकृष्ण वहीं पर रह गये और जब सुभद्रा से अभिमन्यु ने जन्म लिया, तो श्रीकृष्ण ने उसके जातिकर्म प्रभृति सभी मंगल संस्कार कराये। महाभारत में लिखा है—

"कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ।"

—आदिपर्व २२३।७७

अर्थात् अभिमन्यु शौर्य, वीर्य, रूप तथा आकृति में कृष्ण के ही सदृश था।

श्रीकृष्ण को मृगया तथा आखेट में विशेष रुचि थी। वे बाहर कानन, पर्वत आदि पर विहार करने के भी प्रेमी थे। महाभारत में इस स्थल पर तथा अन्य कई और भी स्थलों पर इस विषय का उल्लेख हुआ है।[1]

खांडव वन इंद्र से रक्षित था, उसका सखा 'तक्षक' नाग भी अपने गणों के साथ इसी वन में रहता था। प्रजा इन सब के कारण संत्रस्त थी। अतः खांडव वन को जला देने का कार्य प्रारंभ कर दिया गया। कृष्ण और अर्जुन दोनों महारथी बन के दोनों ओर खड़े हो गये और चारों ओर भागते हुए भयानक प्राणियों का विध्वंस करने लगे। महा बलवान् नागराज तक्षक उस समय वहाँ पर नहीं था[2] और बच गया। तक्षक के भवन से निकल कर 'मय' नाम का असुर भी भागा जा रहा

१. **व्यचरद्यमुनातीरे मृगयांस महायशाः।**
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना॥

—आदिपर्व २२३।६४

२. **आदिपर्व २२६।४**

था, पर वह पकड़ गया। यह दानवों का श्रेष्ठ शिल्पी था। अर्जुन की शरण ग्रहण करने से यह बच गया।[१]

सभापर्व

मय ने अर्जुन से कहा—'महाभाग, आपने मेरे प्राण बचाये हैं। कहिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' अर्जुन ने कहा—

"कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि।"

—सभापर्व १।८

'तुम श्रीकृष्ण का कोई कार्य कर दो, वही मेरे लिय प्रत्युपकार होगा।' इसके अनंतर मय ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया, तो श्रीकृष्ण बोले—'हे शिल्पियों में श्रेष्ठ, यदि तुम मेरा प्रिय कार्य करना चाहते हो, तो युधिष्ठिर के लिये अपनी इच्छानुरूप एक सभा बना दो। वह सभा[२] ऐसी हो जिसे देखकर पृथ्वी का कोई मनुष्य वैसी दूसरी सभा न बना सके। मय ने एक उत्तम राजसभा का निर्माण किया। यह सभा चौदह महीनों से भी कुछ अधिक दिनों में बनकर तैयार हुई थी।"[३]

इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने 'राजसूय यज्ञ' पर विचार-विमर्ष करने के लिये श्रीकृष्ण को, जो द्वारका चले गये थे, बुलाया। श्रीकृष्ण ने आकर युधिष्ठिर से कहा—

"राजन्, जब तक 'जरासंध' जीवित है, तब तक तुम मेरे विचार में राजसूययज्ञ नहीं कर सकते। इस जरासंध ने एल तथा इक्ष्वाकु-वंश के एक सौ राजाओं को गिरि-व्रज में बंदी कर रखा है और उनकी राज्यलक्ष्मी को जीतकर सुर तथा असुर सबके लिये अपराजेय बन गया है। इसे प्राणांतकारी मल्लयुद्ध द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। जैसे तीन अग्नियों से यज्ञ संपादित होता है, वैसे ही मेरी नीति, भीम का बल और अर्जुन का रक्षा कार्य—इन तीनों से ही जरासंध मारा जा सकेगा।" महाभारतकार ने यहाँ स्पष्ट शब्दों में श्रीकृष्ण की नीतिज्ञता का उल्लेख किया है। युधिष्ठिर ने भी श्रीकृष्ण की बात का अनुमोदन करते हुए कहा—

"गोविंद, जिनसे लक्ष्मी विरुद्ध हो जाती है, उनके अग्रणी आप कभी नहीं बनते अतः आपकी नीति से हम निस्संदेह सिद्धि को प्राप्त करेंगे।"[४]

श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन ने तेजस्वी स्नातकों का वेष धारण किया और वे 'गिरिव्रज' पहुँच गये। यहाँ सर्वप्रथम उन्होंने अपनी विशाल भुजाओं के आघात से मागधों के अत्यंत प्रिय 'चैत्यक' के प्राचीन, दृढ़ एवं विशाल शृंग को तोड़कर नीचे गिरा दिया (२१।२१)। फिर तीनों ने गेरुए वस्त्र, माला और कुंडल धारण कर जरासंध के भवन में प्रवेश किया। इन वीरों को देखकर मगध-निवासियों को अत्यंत आश्चर्य हुआ (२१।३१)।

जरासंध के साथ वार्तालाप करते हुए श्रीकृष्ण ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया और कहा—"राजन्, तुमने भिन्न-भिन्न देशों में रहनेवाले क्षत्रियों को बंधन में डालकर जो पाप किया है वह हमें लगेगा, यदि हम उसका निराकरण न करें; क्योंकि धर्मपूर्वक आचरण करनेवाले हम धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं। जाति के अभ्युदय का ध्यान करके हम तुम्हारे जैसे जाति-नाशक का वध करने के लिये ही यहाँ आये हैं (२२।१०, १४)।

१. आदिपर्व २३०।४३
२. सभापर्व १।११,१२
३. सभापर्व ६६।३,३८
४. सभापर्व १४।५३, २०।२, ३
५. सभापर्व २०।१८

"त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुंच वा नृपतीन्सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ।।"

—सभापर्व २२।२७

अतः युद्ध के लिये हम तुम्हें आहूत करते हैं। या तो तुम समस्त क्षत्रियों को छोड़ो, नहीं तो यमराज के घर जाओ।

भीम तथा जरासंध में युद्ध प्रारंभ हुआ। यह युद्ध कार्तिक मास की प्रतिपदा को आरंभ हुआ और बिना भोजन किये चतुर्दशी की रात्रि तक चलता रहा।[1] जरासंध मारा गया। बंदी क्षत्रिय कारागार से मुक्त किये गये। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी बुद्धिमता से प्रथम राजनैतिक विजय प्राप्त की और भारत के एक बड़े भाग के क्षत्रियों को अपनी ओर कर लिया। इन क्षत्रियों ने महाराज युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ में सहायता की।

जरासंध का आश्रय पाकर 'चेदि देश' के अधिपति 'शिशुपाल' ने भी राजसूय यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करना चाहा। युधिष्ठिर के इस यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया था।[2] जब योग्य राजाओं के सत्कार करने का प्रश्न आया, तो भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को अर्घ देने के लिये कहा। इस क्रिया पर शिशुपाल ने आपत्ति की[3] और श्रीकृष्ण को ऋत्विक, आचार्य तथा राजा के सभी लक्षणों से रहित बतलाया। भीष्मपितामह उसकी बातों का उत्तर देते हुए बोले:—

"ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ।।
वैश्यानां धान्यधनवान् शूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविंदे हेतू द्वावपि संस्थितौ ।।
वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाऽप्यधिकं तथा ।
नृणां हि लोके कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ।।"

—सभापर्व ३८।१७,१८,१९

"ब्राह्मणों में विद्वान्, क्षत्रियों में बलवान्, वैश्यों में धनवान् और शूद्रों में जन्म से पूज्य माना जाता है। श्रीकृष्ण की पूजा में दो हेतु बड़े प्रबल हैं—एक तो इनमें बल की अधिकता है और दूसरे ये वेद—वेदांगों के विद्वान् हैं। अतः कृष्ण के अतिरिक्त मनुष्यों में इस समय अन्य कौन श्रेष्ठ हो सकता है।"

"दानं दाक्ष्यं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते ।।
तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हम् सर्वे संक्षंतुमर्हथ ।।"

—सभापर्व ३८।२०,२१

[1]. कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रांतमवर्तत ।।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ।।

—सभापर्व २३।२९,३०

[2]. चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।।

—सभापर्व ३५।११

[3]. शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ।।

—सभापर्व ३६।३१

अर्थात् दान, चतुरता, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनम्रता, श्री, धैर्य, संतोष, पुष्टि—ये सब बातें श्रीकृष्ण में विद्यमान् हैं। अतः लोकसंपन्न, आचार्य, पालक, पूजनीय, अर्घ देने के योग्य और[1] पूजा के योग्य पूजित हुए श्रीकृष्ण की पूजा करना सबके लिये उचित ही है।

इन शब्दों को सुनकर शिशुपाल भीष्मपितामह पर कटूक्तियों की वर्षा करने लगा। उसने युद्ध के लिये श्रीकृष्ण का आह्वान किया। श्रीकृष्ण बोले:—

"एष नः शत्रुरत्यंतं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
अपराध शतम् क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने॥
दत्तं मया याचितंच तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम्॥"

—सभापर्व ४५। ७,२४,२५

"यह 'सात्वती' का पुत्र शिशुपाल हम सात्वतों का बड़ा भारी शत्रु है। इसकी माता के वर माँगने पर मैं ने इसके सौ अपराध क्षमा करने का वचन दिया था। वह अब पूरा हो चुका है। अब मैं आप सब राजाओं के सामने ही इसका वध करूँगा।" यह कह कर श्रीकृष्ण ने उसी क्षण शिशुपाल का शिर चक्र से काट डाला। इस प्रकार जरासंध के पश्चात् अनार्य पद्धति के प्रबल अनुयायी इस शिशुपाल की मृत्यु से आर्य मर्यादा के प्रचार का पथ श्रीकृष्ण ने और भी अधिक प्रशस्त कर दिया।

वनपर्व

श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विराजमान् थे, उसी समय अपने भ्राता शिशुपाल का उनके द्वारा मारा जाना सुनकर 'सौभ' नगर के अधिपति 'शाल्व' ने द्वारका पर आक्रमण कर दिया और वृष्णि वंश के अनेक वीरों को मारकर नगर और बगीचों को नष्ट कर डाला। जब श्रीकृष्ण द्वारका पहुँचे, तो उन्होंने सौभ नगर पर चढ़ाई कर दी और मायावी शाल्व को मारकर समस्त सौभ नगर को धराशायी कर दिया। इसी समय द्यूत-क्रीड़ा में अपना सर्वस्व हारकर पांडव वनवासी हुए थे। श्रीकृष्ण वन में ही पांडवों से मिले। द्यूत के साथ उन्होंने व्यभिचार, शिकार और सुरापान की निंदा की[2] और पांडवों को आपत्ति में ग्रसित देखकर अत्यंत दुखी हुए पर, अब कुछ हो नहीं सकता था, अतः वे सुभद्रा तथा अभिमन्यु को लेकर द्वारका लौट गये।

विराटपर्व

जब पांडव वनवास के तेरहवें वर्ष में अपना नाम तथा वेष बदलकर अज्ञात रूप से 'मत्स्य' देश के राजा विराट् के यहाँ रहने लगे, तो गोहरण-प्रसंग को लेकर विराट् और कौरवों में युद्ध छिड़ गया। अर्जुन विराट् के पुत्र उत्तर के सारथी बने और उन्होंने विराट् की ओर से युद्ध करते हुए दुर्योधन की विपुल वाहिनी को मार भगाया तथा गोधन का उद्धार किया। विराट् ने इस विजय से प्रभावित होकर अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन से करना चाहा। अर्जुन ने इसे अस्वीकार किया और अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव किया। श्रीकृष्ण की अनुमति से महाराज युधिष्ठिर ने उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया।

उद्योगपर्व

विवाह के उपरांत श्रीकृष्ण ने समागत राजाओं की सभा की और उसमें यह प्रस्ताव रखा कि पांडवों ने तेरह वर्ष के वनवास की अवधि पूरी कर ली है, अतः—

[1] सभापर्व ४५।१,२

[2] स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतद् कामसमुत्थितम्।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः॥

—वनपर्व १३।७

"तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ।।
दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।।"

—उद्योगपर्व १।२४, २५

यहाँ से धर्मात्मा, आचारवान, कुलीन, अप्रमादी एवं समर्थ एक दूत कौरवों को शांत करने और युधिष्ठिर को उनका आधा राज्य दिलाने का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर भेजा जाय। ऐसा प्रस्ताव करके श्रीकृष्ण पुनः द्वारका लौट गये।

दुर्योधन को अपने गुप्तचरों से पता लगा कि श्रीकृष्ण भावी युद्ध में पांडवों का साथ देंगे, तो वह उन्हें अपनी ओर करने और उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये द्वारकापुरी पहुँचा। इधर अर्जुन भी उसी दिन द्वारका पहुँच गये। महाभारतकार कहता है—

श्रीकृष्ण उस समय सो रहे थे। उनके शयन की अवस्था में ही दुर्योधन उनके भवन में चला गया और श्रीकृष्ण के शिर की ओर बिछे हुए उत्तम आसन पर जा बैठा। अर्जुन भी दुर्योधन के पीछे-पीछे श्रीकृष्ण के भवन में गये और उनके पैताने खड़े रहे।[1] श्रीकृष्ण के जगने पर उनकी सर्व-प्रथम दृष्टि अर्जुन पर गयी, फिर भी उन्होंने दोनों को सहायता देनेका आश्वासन दिया और कहा—

"मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ।।
ते वा युधि दुराधर्षा भवंत्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ।।"

इस कथन के अनुसार सहायता रूप में एक श्रीकृष्ण को ले सकता था जो युद्ध करने से विरत और निरस्त्र रहेंगे और दूसरा उनकी एक अरब गोपों से बनी समस्त 'नारायणी' नाम की सेना को जो उन्हीं के समान युद्ध करने वाली थी। अर्जुन ने निरस्त्र श्रीकृष्ण को और दुर्योधन ने उनकी सेना को स्वीकार किया (७।२१,२३)।

इधर धृतराष्ट्र ने सूत-पुत्र संजय को युधिष्ठिर के पास भेजा। उस समय श्रीकृष्ण भी पांडवों के पास आ गये थे। उन्होंने संजय से कहा—

"अविनाशं संजय पांडवानामिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च ।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ।।
जानासि त्वं संजय सर्वमेतद् द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् ।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गंतुं समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ।।"

"संजय, मैं पांडव और कौरव दोनों का हित चाहता हूँ। धर्म-प्राण युधिष्ठिर के साथ कौरवों ने जैसा व्यवहार किया है, उसे तुम जानते हो। फिर भी मैं इस बिगड़े हुए काम को बनाने के लिये स्वयं हस्तिनापुर जाना चाहता हूँ।"[2]

"हे संजय, धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के साथ वन के समान हैं और पांडव व्याघ्र के समान हैं। तुम न वन को काटो और न व्याघ्र को वन से निकालो। वन के बिना व्याघ्र मारा जाता है और व्याघ्र के बिना वन काटा जाता है। अतः व्याघ्र को वन की और वन को व्याघ्र की रक्षा करनी चाहिये। कौरव यदि लता हैं, तो पांडव शाल वृक्ष हैं। लता वृक्ष के बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार कौरव भी पांडवों की सहायता के बिना सुरक्षित नहीं रह सकते। जाओ और धृतराष्ट्र से हमारा यह संदेश कह दो।[3]

1. उद्योगपर्व ७।८,९
2. उद्योगपर्व २९।१,४७
3. उद्योगपर्व २९।५२-५५

संजय के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर जाने का निश्चय किया। कार्तिक मास का प्रारंभ था। खेतों में धनधान्य की समृद्धि फैली हुई थी। ऐसे उत्तम समय में ब्राह्मणों की मांगलिक मधुर वाणी सुनते हुए, प्रातःकाल का नित्यकृत्य, स्नान, शुद्ध वस्त्र-धारण और संध्या-हवन समाप्त करके भगवान् कृष्ण ने वृषभ की पीठ का स्पर्श और ब्राह्मणों को प्रणाम किया।[1] इसके अनंतर रथ पर सवार होकर वे हस्तिनापुर को चल दिये।

सभा पर्व अध्याय ४५ श्लोक ६२ में श्रीकृष्ण के रथ का नाम 'मेघवपु' लिखा है—

"ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यंदनं च सुकल्पितम्।"

इस रथ पर गरुड़ ध्वज था। यह रथ पर्जन्य के समान घोष करता था और आदित्य के समान चमक रखता था (वनपर्व १२।३१)। उद्योगपर्व अध्याय ८३ के श्लोक १७,१८ और २१ में भी श्रीकृष्ण के रथ के लिये इसी प्रकार के विशेषण दिये हुए हैं। यह भी लिखा है कि यह रथ विमान के समान क़ामग, अर्थात् इच्छानुसार चलनेवाला और व्याघ्र चर्म से मढ़ा हुआ था। इस रथ में चार घोड़े, जुते हुए थे जिनके नाम—शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक थे।

"वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।"

—उद्योगपर्व ८३।१९

श्रीकृष्ण के आने का समाचार सुनकर दुर्योधन के अतिरिक्त अन्य धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म, द्रोण, कृप आदि के साथ उनका स्वागत करने के लिये आगे आये। श्रीकृष्ण के स्वागत में नगर तथा राजमार्ग अलंकृत किये गये। नगर के स्त्री, बालक तथा वृद्ध श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए लालायित हो उठे। भीष्म, द्रोणादि से घिरे हुए श्रीकृष्ण ने अट्टालिकाओं से शोभायमान श्वेतभवन में प्रवेश किया। श्रीकृष्ण राजमंदिर की चौथी कक्षा में राजा धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। जब श्रीकृष्ण स्वर्ण के विशाल आसन पर बैठ गये, तो धृतराष्ट्र के पुरोहितों ने जल, मधुपर्क और दूध द्वारा नियमानुसार उनका स्वागत किया। इसके पश्चात् वे विदुर के भवन में पहुँचे और वहाँ से अपनी बुआ कुंती के पास गये। कुंती ने इस अवसर पर श्रीकृष्ण के द्वारा अपने पुत्रों को यह संदेश भेजा कि क्षत्राणी जिस कार्य के लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसका समय अब आ गया है।[2] श्रीकृष्ण ने कुंती को आश्वासन दिया और कहा कि वे शीघ्र ही अपने पुत्रों को ऐश्वर्य से युक्त और राज्यलक्ष्मी से मंडित देखेंगी।[3]

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण कौरवों के भवन में पहुँचे। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को भोजन के लिये निमंत्रण दिया, पर उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि भोजन दो प्रकार से ही किया जाता

१. मंगल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः॥
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः।
उपतस्थे विवस्वंतं पावकं च जनार्दनः॥
वृषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्यच॥

—उद्योगपर्व ८३।८,९,१०

२. यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।

—उद्योगपर्व ९०।७५

३. अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पांडवान्।
ईश्वरान्सर्वं लोकस्य हतामित्रान् श्रिया वृतान्॥

—उद्योगपर्व ९०।९९

है—या तो कोई प्रेमपूर्वक भोजन करावे या विपत्ति में ग्रसित कोई व्यक्ति किसी के यहाँ भोजन करे। यहाँ दो में से एक भी प्रकार नहीं है।[1]

श्रीकृष्ण ने विदुर के यहाँ भोजन किया। विदुर ने इस समय दुर्योधन की समस्त कुचालों का उल्लेख करते हुए कहा—'केशव, आप का यहाँ आना उचित नहीं था। दुर्योधन नीति और धर्म का उल्लंघन कर रहा है और उससे कुछ भी कहना निरर्थक प्रतीत होता है (९२।१,२,१५)।' श्रीकृष्ण विदुर से बोले—

"मैं दुर्योधन की दुष्टता और क्षत्रियों के वैरभाव को जानता हूँ, फिर भी कौरवों की सभा में आया हूँ। इस समय समस्त पृथ्वी मृत्यु के मुख की ओर जा रही है। जो मानव इस पृथ्वी को मृत्युपाश से छुड़ा दे, वह उत्तम पुण्य प्राप्त करेगा। धर्म कार्य में शक्ति भर प्रयत्न करने के उपरांत भी यदि कोई मानव सफल न हो सके, तो भी वह उसके पुण्य को प्राप्त कर लेता है। अतः धृतराष्ट्र के पुत्रों को मेरी धर्म-संमत एवं हितकारी बात मान लेनी चाहिये।"[2]

इसके अनंतर श्रीकृष्ण राजसभा में पहुँचे। उनके पहुँचते ही धृतराष्ट्र उनका स्वागत करते हुए अन्य वीर तथा राजाओं के साथ उठ खड़े हुए। श्रीकृष्ण के बैठने पर सब अपने-अपने आसन पर बैठ गये। राजसभा में मेघ के समान गरजते हुए श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र की ओर मुख करके सारी सभा को सुना कर कहने लगे—

"राजन्, कौरवों और पांडवों में संधि हो जावे तथा वीरों का भावी विनाश रुक जावे, मैं इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिये यहाँ आया हूँ। आपके पुत्रों का अपने धर्मात्मा भाई पांडवों के साथ अनुचित व्यवहार महाभयंकर विपत्ति को खड़ा कर रहा है। यदि आपने इसकी उपेक्षा की, तो यह समस्त पृथ्वी का विनाश कर डालेगी। इस समय शांति की स्थापना करना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रों को रोक लें, मैं पांडवों को रोक दूंगा। आप पांडवों के ज्येष्ठ पिता हैं। अतः उनके साथ की गयी शर्त का आप पालन करें। पांडवों के सहयोग से आप समग्र संसार का राज्य प्राप्त कर लेंगे और शत्रुओं से निर्भय हो जावेंगे। पांडव आपकी सेवा करने के लिये भी तैयार हैं और युद्ध के लिये भी। आपको जिस कार्य में अपना हित दिखाई दे, आप वही कार्य करें (उद्योगपर्व ९३।३,९,१०,११,१३,२२)।"

धृतराष्ट्र बोले—

"न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम्।
अंग दुर्योधनं कृष्ण मंदं शास्त्रातिगं मम॥
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम।
न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम्॥"

—उद्योगपर्व १२४।३,४

"केशव, आप का कथन यथार्थ है, पर मैं इस समय स्वाधीन नहीं हूँ और जो कुछ किया जा रहा है वह भी मेरे लिये प्रिय नहीं है। आप इस दुर्बुद्धि दुर्योधन को समझाइये, जो न शास्त्र की बात मानता है और न सत्पुरुषों के कथन को स्वीकार करता है।"

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को भी समझाया, पर उसने बार-बार यही कहा—

1. **संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।**
   न च संप्रीयसे राजन्नचैवाऽऽपद्गता वयम्॥
   —उद्योगपर्व ९१।२५

2. **उद्योगपर्व ९३।४,५,६,१२**

"मेरे जीवित रहते तीक्ष्ण सुई की नोंक के बराबर भी भूमि पांडवों को नहीं दी जा सकती।"[1]

जब दुर्योधन क्रुद्ध होकर शर्प की तरह श्वास लेता हुआ अशिष्ट की भाँति खड़ा होकर राजसभा सें चल दिया (१२८।२५, २७), तो श्रीकृष्ण भी धृतराष्ट्र आदि को समझाते हुए हस्तिनापुर से चल दिये और कुंती के पास होते हुए उपप्लव नगर में पांडवों के पास पहुँच गये (१४७।१)।

पांडवों के समक्ष उन्होंने कौरव-सभा का समस्त वृतांत संक्षेप में सुनाते हुए कहा—

"भीष्म, द्रोण, विदुर, गांधारी और धृतराष्ट्र के बहुत समझाने पर भी मूर्ख दुर्योधन न माना। मैंने संधि का प्रस्ताव किया, पर उसने मेरे इस हितकारी प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। जब साम नीति से काम निकलता न देखा, तो मैंने भेद द्वारा तुम लोगों के दैवी एवं मानवी कर्मों का कथन करके उसे भयभीत करना चाहा। फिर शांति की वार्ता करके आधा राज्य देने का प्रताव किया। मैंने यह भी कहा कि सारा राज्य कौरव ही लें, केवल पांच ग्राम पांडवों को निर्वाह के लिये दे दें, पर दुष्ट दुर्योधन इन्हें कुछ भी भाग देने को उद्यत न हुआ। अब इन पापियों के प्रति चतुर्थ उपाय दंड का प्रयोग करना ही उचित है।"[2]

परिणामतः दोनों दलों में युद्ध की तैयारी हुई। पांडव दल में द्रुपद, विराट्, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, शिखंडी और मगधराज सहदेव—ये सात महारथी सेनापति के पद पर अभिषिक्त हुए। महासेनापति का अधिकार धृष्टद्युम्न को प्राप्त हुआ। इन सबके भी ऊपर अर्जुन को सेनापतियों का अधिपति बनाया गया और अर्जुन के भी ऊपर अर्जुन के रथ को चलानेवाले महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण को नेतापद दिया गया।[3]

भीष्मपर्व

महाभारत में भीष्मपर्व के अंतर्गत अध्याय २५ से ४२ तक अर्जुन के मोह और श्रीकृष्ण के उस उपदेश का वर्णन है जिसे 'भगवद्गीत' कहते हैं। इसमें श्रीकृष्ण ने आत्मा के अमरत्व की उच्च स्वर से घोषणा की है और अर्जुन को मोह छोड़कर क्षत्रियोचित कर्तव्य का पालन करते हुए युद्ध करने के लिये सन्नद्ध किया है।

श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए गीता के कुछ महत्वपूर्ण वाक्य नीचे अंकित किये जाते हैं—

श्रीकृष्ण के अवतार लेने का हेतु

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिये जन्म लेता हूँ।

उद्बोधन

"कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥"

1. उद्योगपर्व १२७।२५
2. उद्योगपर्व १५०।१,२,३,१८,९,१७
3. उद्योगपर्व १५७।११,१२,१३,१४,१५,१६

अरे अर्जुन, युद्ध के समय यह कश्मल कहाँ से आ गया? यह तो अनार्यों को होता है। यह दुखद और अकीर्तिकर है। तुम कायर मत बनो। यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता छोड़कर, खड़े हो जाओ।

आत्म-ज्ञान

"नजायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।"

आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है और न ऐसा ही है कि यह पहले थी और फिर न रहेगी। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और सर्वदा रहनेवाली है। शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरती।

इसी संबंध में गीता के द्वितीय अध्याय के १२, १३, १६, १९, २२, २३, तथा अध्याय ६ का ५ वाँ श्लोक भी देखने योग्य हैं।

योग

"योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समे भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।"

—गीता २।४८,५०

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्युते तदा।।"

—गीता ६।१७,१८

"सिद्धि और असिद्धि में समान रहने का नाम योग है। योग कर्मों के करने में कुशलता है। युक्ताहार-विहार, कर्मों में युक्त चेष्टा, युक्त स्वप्नावबोध वाले को ही सुखद योग प्राप्त होता है। जब नियत चित्त आत्मा में स्थिर होता है और मानव समस्त कामनाओं से निस्पृह हो जाता है, तभी वह योगी कहलाता है।"

विनाश

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्‌भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

—गीता २।६२,६३

"विषयों के ध्यान से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति भ्रंश, उससे बुद्धिनाश और बुद्धि के नष्ट होने से विनाश हो जाता है।"

शांति

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी।।
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति।।"

—गीता २।७०, ७१

"अचल रूप से स्थित, चारों ओर से ऊपर तक भरे हुए समुद्र में जैसे नदियों का जल समा जाता है, वैसे ही कामनाएँ जिस व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाती हैं (पर उसके अंदर कोई हलचल या

उपद्रव उत्पन्न नहीं कर पातीं) उसी को शांति प्राप्त होती है, कामनाओं के पीछे भागनेवाले को नहीं।"

"जो व्यक्ति समस्त कामनाओं को छोड़कर निःस्पृह होकर विचरता है, ममत्व और अहंकार से रहित हो जाता है, वही शांति प्राप्त करता है।"

ज्ञानयोग

"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ।।"

—गीता ४।३६, ३७'३८, ३९

"ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान की नौका पर चढ़कर मानव पाप के समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान से परम शांति शीघ्र ही प्राप्त होती है।"

कर्मयोग

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ।।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।"

—गीता २।४७, ३।८, ९, ३५

"करणीय कर्म के करने में ही मानव का अधिकार है, उसकी फल-प्राप्ति में नहीं। अतः न तो कर्मफल को कर्म करने का प्रेरक हेतु बनाओ और न अकर्म करो। अपने लिये नियत कर्म को करो। कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। यज्ञ अथवा परोपकार के लिये किये गये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म बंधन का कारण हैं। अतः आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिये। अपना गुणरहित कर्तव्य दूसरे के भली-भाँति संपादित कर्तव्य की अपेक्षा श्रेयस्कर है। अपने लिये निश्चित कर्तव्य का पालन करते हुए मर जाना अच्छा है, पर दूसरे के लिये नियत किये हुए कर्म को कभी ग्रहण न करना चाहिए।"

भक्ति-योग

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंतिते ।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजंदेहं स याति परमां गतिम् ।।
सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।
अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।"

—गीता ७।१४, ८।१३, ९।१४, २२

"मेरी दैवी गुणमयी माया अनुल्लंघनीय है, परंतु जो मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं। ओ३म् अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर को छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। लगातार मेरे नाम को जपता हुआ, दृढ़-व्रती बनकर मेरी सेवा करता हुआ और भक्तिपूर्वक मुझे प्रणाम करता हुआ जो व्यक्ति नित्य भक्ति-योग में निरत रहता है, वही मेरा सामीप्य प्राप्त करता है। अनन्य रूप से मेरा ही चिंतन करते हुए जो भक्त उपासना करते हैं, उनके योग क्षेम को मैं ही वहन करता हूँ।

इसी संबंध में १२ वें अध्याय के २, ८ तथा १३से लेकर २० तक के श्लोक ध्यान देने योग्य हैं।

अध्याय १३ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेचन; अध्याय १४ में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की व्याख्या; अध्याय १५ में क्षर और अक्षर पुरुष का ज्ञान; अध्याय १६ में दैवी और आसुरी संपत् का वर्णन; अध्याय १७ में श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि का त्रिविध विभाजन और अध्याय १८ में संन्यास से कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। गीता समस्त औपनिषद्-ज्ञान का सार कहलाती है। श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये ज्ञान से अर्जुन प्रबुद्ध हो उठा। उसका मोह नष्ट हो गया और वह युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

भीष्मपर्व से मौसलपर्व तक

इस युद्ध में भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, द्रोण और दुर्योधन की मत्यु श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता के कारण ही संभव हो सकी। महापराक्रमी भीष्म को मारने के लिये तो श्रीकृष्ण अत्यंत तीक्ष्ण चक्र सुदर्शन को लेकर और रथ को छोड़कर स्वयं आगे बढ़ गये थे।[१] उनके उस समय के क्रोधावेग को रोकने में अर्जुन भी असमर्थ प्राय हो गया था। जैसे आँधी में वृक्ष उड़ा चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण रोकनेवाले अर्जुन को अपने साथ लिये हुए वेगपूर्वक बढ़े चले जा रहे थे। बड़ी कठिनाई से अपने पैरों को अड़ाकर अर्जुन ने दसवें कदम पर उन्हें रोक पाया।[२]

जयद्रथ-वध श्रीकृष्ण की योगजन्य माया और चातुर्य का ही परिणाम था। कर्ण के रथ के पहिये जब कीचड़ में धस गये और वह उनको निकालने के लिये रथ से नीचे कूद पड़ा, तो श्रीकृष्ण अर्जुन को वाण चलाने के लिये प्रेरित करते रहे। कर्ण ने धर्म की दुहाई दी, तो श्रीकृष्ण ने ही उसे आड़े हाथों लिया और उसके धार्मिक पाखंड को दूर किया। इस प्रकार मानसिक बल में आहत होकर जब कर्ण अर्जुन से युद्ध में पुनः प्रवृत्त हुआ, तो श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन ने महान् ब्रह्मास्त्र से अभिमंत्रित 'अंजलिक' नाम का वाण चलाकर सूर्यपुत्र कर्ण का शिर काट डाला।[३]

"द्रोणाचार्य जब तक शस्त्र धारण किये हैं, तब तक उन्हें कोई नहीं जीत सकता। जब वे शस्त्र रख दें, तभी मारे जा सकते हैं। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का संवाद किसी विश्वसनीय व्यक्ति से सुनकर ही वे अस्त्र रख रख सकते हैं।"—आचार्य द्रोण की मृत्यु का यह उपाय भी श्रीकृष्ण ने ही बतलाया था।[४]

दुर्योधन का अंत भी श्रीकृष्ण ने माया (छल) द्वारा कराया, क्योंकि धर्मयुद्ध में भीम दुर्योधन को अपनी गदा द्वारा पराजित नहीं कर सकता था। अतः मायावी दुर्योधन माया द्वारा ही निहत हो सका।[५]

इन सब बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि पांडवों का पराक्रम, श्रीकृष्ण की बुद्धि से संयुक्त होकर ही कौरव-पक्ष के महान् वीरों को समाप्त करने में समर्थ हुआ।

वास्तव में पांडवों की विजय के मूल में श्रीकृष्ण ही थे। महाभारतकार कहता है—

१. भीष्मपर्व ५९।८८-९५। २. भीष्मपर्व ५९।१००-१०१। ३. कर्णपर्व ९०।१०८-११६ तथा ९१।१ से १२ और ५०। ४. द्रोणपर्व १४६।६४-१२२। ५. शल्यपर्व ७८।७,८

कृष्णो हि मूलं पांडूनां पार्थः स्कंध इवोद्गतः ।
शाखा इवेतरे पार्थाः पांचालाः पत्र संज्ञितः ।।

—द्रोणपर्व १८२-२३

"जैसे किसी वृक्ष का मूल उसका समस्त बोझ वहन करता है, उसका एक मात्र आश्रय होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण पांडवों की विजय रूप वृक्ष के मूल थे। अर्जुन इस वृक्ष का स्कंध (तना) था। अन्य पांडव शाखा और पांचाल पत्तों के समान थे।" श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता और अर्जुन के गांडीव ने मिलकर समस्त अनार्य प्रवृत्तिवालों को समाप्त किया और आर्यत्व की प्रतिष्ठा की। कौरवों-की पराजय और पांडवों की विजय में इन दोनों शक्तियों का ही विशेष हाथ था।

समरभूमि में श्रीकृष्ण ने अर्जुन तथा अन्य पांडवों की भी कई वार रक्षा की। जब प्राग्ज्यो-तिष के राजा भगदत्त ने अर्जुन के वाणों से पीड़ित होकर वैष्णवास्त्र उठाया और उससे अपने अंकुश को अभिमंत्रित करके अर्जुन की छाती पर दे मारा, तो श्रीकृष्ण ने ही अर्जुन को अपने पीछे करके उसे स्वयं अपनी छाती पर ग्रहण कर लिया था, अन्यथा इस अंकुश से अर्जुन का प्राणांत होने में कोई संदेह नहीं था।[1]

अर्जुन के वाणों का निराकरण करनेमें अशक्त होकर जब क्षत-विक्षत कर्ण ने अपना समस्त पौरुष एकत्रित करके सर्प के समान प्रज्ज्वलित, अत्यंत तीक्ष्ण एक शत्रुनाशक वाण धनुष पर चढ़ाया जिसे उसने अर्जुन को मारने के लिये सुरक्षित रख छोड़ा था, उस समय श्रीकृष्ण ने उस प्रदीप्त वाण को अर्जुन की ओर वेग से आते हुए देखकर बड़ी शीघ्रता से अश्वों को अपने पैरों से दबाकर घुटनोंके बल बैठा दिया। इस क्रिया-कौशल से रथ का बहुत सा भाग पृथ्वी में दब गया। रथ के नीचे झुक जाने से वह वाण अर्जुन के इंद्र प्रदत्त किरीट को ही बींध सका।[2] इस प्रकार कर्ण का छोड़ा हुआ वह वाण श्रीकृष्ण के कौशल के कारण व्यर्थ हो गया। अर्जुन बाल-बाल बच गये।

कर्ण को जो अमोघ शक्ति इंद्र ने दी थी उसे भी श्रीकृष्ण की नीति ने ही घटोत्कच पर चलवाकर अर्जुन के प्राण बचा लिये थे।[3]

युद्ध की समाप्ति पर, प्रथम दिन की रात्रि के समय श्रीकृष्ण ने समस्त पांडव-दल को शिविरों के बाहर रहने का आदेश दिया था और सब ने सरस्वती नदी के तट पर रात्रि व्यतीत की थी।[4] इस नीति ने भी पांडवों की रक्षा की।

जब पांडव, युद्धके अंत में, धृतराष्ट्र से मिलने गये, तो धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा प्रगट की। श्रीकृष्ण उनकी पुत्र-शोक से धधकती हुई कोपाग्नि को समझ गये और उन्होंने भीम की लौह-मूर्ति धृतराष्ट्र के सामने प्रस्तुत कर दी, जो उनकी भीषण बाहुओं में पड़कर चकनाचूर हो गयी।[5] इस प्रकार श्रीकृष्ण ने भीम को मृत्यु के मुख में से निकाल लिया।

जब युधिष्ठिर वैराग्य के हिंडोले में झूलते हुए राज्य करनसे इनकार करने लगे, तो श्री-कृष्ण ने ही उनका शोक-शमन किया और निष्काम होकर प्रजा का अनुरंजन करते हुए कल्याण मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया।[6]

अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों सखा कहलाते हैं। महासमर के पूर्व जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण और उनकी सेना में से अपने लिये केवल श्रीकृष्ण को ही चुना, तो श्रीकृष्ण ने इसका कारण पूछा। अर्जुन बोले—

[1]. द्रोणपर्व २९।१८। [2]. कर्णपर्व ९०।२७,२९,३२। [3]. द्रोणपर्व १७९।५७। [4]. शल्यपर्व ६२।-३७,३९। [5]. स्त्रीपर्व १२।१५,१६,१७। [6]. आश्वमेधिकपर्व २।१,८

"भवांस्तु कीर्तिमांल्लोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाहमाप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥"

—उद्योगपर्व ७।३६

"आपकी कीर्ति संसार में फैली हुई है। आपके हमारी ओर हो जाने से वह यश भी हमारी ओर आ जायगा। इसी हेतु मैंने आपको चुना है।" इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण अपने सद्गुणों के कारण उस समय विश्व विख्यात हो रहे थे। विश्व-ख्याति का ऐसा महापुरुष जिसके साथ होगा, उसकी कीर्ति निस्संदेह दिग्दिगंत व्यापिनी होगी। अर्जुन के संबंध में यही हुआ भी। उसका नाम आज तक श्रीकृष्ण के साथ लिया जाता है। महाभारत (भगवद्गीता) में लिखा है—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिमम ॥"

—भीष्मपर्व ४२।७८

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गांडीवधारी अर्जुन है, वहीं श्री है, वैभव है और विजय है।"

श्रीकृष्ण के ऐसे लोकोत्तर, पावन चरित्र पर कतिपय छिद्रान्वेषियों ने अनेक लांछन लगाये हैं। उन्हें व्यभिचारी, असत्यभाषी आदि कहकर अपमानित करने की चेष्टा की है पर, यह सब अनर्गल प्रलाप है। वे वास्तवमें उच्च कोटि के उज्ज्वल तथा तेजस्वी-चरित्रवाले थे और शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों दृष्टियों से अत्यंत विकसित उदात्त कोटि के मानव रूप में साक्षात् ईश्वर थे।[1] महाभारत के अनेक स्थलों पर उन्हें बलिष्ठ शरीर वाले योद्धा, नीति-निपुण राजदूत, अत्यंत दक्ष सारथी, समर विद्या में पारंगत, वेदों के विद्वान्, योगाचार्य, सत्यवादी, इंद्रियजयी और अत्यंत विनय संपन्न महापुरुष कहा गया है। परीक्षित को जीवित करने के समय उनके मुख से जो वाक्य निकले हैं, वे उनके जीवन की समस्त साधना को नितांत स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं—

"नोक्तं पूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात्परावृत्तः तथा संजीवतामयम् ॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥
यथा सत्यंच धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालो हि पुनः संजीवतामयम् ॥
इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ !
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पंदत सचेतनः ॥"

—आश्वमेधिकपर्व ६९।१९, २०, २२, २३, २४

"मैंने खेलकूद में भी कभी मिथ्याभाषण नहीं किया है और युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखायी है। मेरे इस पुण्य के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो उठे। यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष रूप से प्रिय हैं, यदि सत्य और धर्म मुझ में सदैव प्रतिष्ठित रहे हैं, यदि कंस और केशी

१. द्रोणपर्व अध्याय ११ में धृतराष्ट्र ने संजय से श्रीकृष्ण के बल-पराक्रम का वर्णन किया है, जिसमें उनके बाल्यावस्था में ही अश्वराज, वृषभासुर, प्रलंब, नरकासुर, कंस आदि के मारने का उल्लेख है।

भीष्मपर्व में अध्याय ६५ से ६७ तक विश्वोपाख्यान है, जिसमें श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक-विकास का चित्रण ईश्वर के रूप में किया गया है।

धर्म पूर्वक हमारे हाथ से मारे गये हैं, तो, उस सत्य और धर्म के प्रभाव से यह बालक जीवित हो उठे। वासुदेव के ऐसा कहने पर बालक धीरे-धीरे साँस लेने लगा।"

यदि वाणी में सत्य का बल है, तो वह निस्संदेह फलवती होती है। श्रीकृष्ण के वचन सफल हुए और परीक्षित के निर्जीव मांसपिंड में चेतना का संचार हो उठा। जीवन-संचार का यह प्रभाव श्रीकृष्ण के निर्मल चरित्र और उज्ज्वल आध्यात्मिक शक्ति का ही परिणाम था।

श्रीकृष्ण का जो चरित्र आशा और उल्लास का प्रतीक है, जिसने एक बार समस्त विश्व को अपने यशःसौरभ से व्याप्त एवं प्रभावित किया था, जो सात्वत धर्म का प्रतिष्ठाता तथा अनासक्ति योग का आचार्य था, उस जीवन का पटाक्षेप जिन करुण स्मृतियों के बीच हुआ, उन्हें अनुभव करके मानव-हृदय कराह कर चीख उठता है। जिस महाप्राण ने महाभारतीय समर में पांडवों को विजय दिलायी, वह दैवाधीन हो अपने ही यादव-वंश को विनाश की कराल दाढ़ों में जाने से न बचा सका। उसकी आँखों के ही सामने उसके पुत्र-पौत्रादि, पारिवारिक बंधु-बांधवादि पारस्परिक संघर्ष की अग्नि में पड़कर भस्मीभूत हो गये। अधिकांश उन्हींके हाथों से मारे गये। अंत में वे स्वयं भी एक बहेलिये के वाण से आहत होकर अपने लीला-धाम में प्रविष्ट हुए।[1] उनके पश्चात् अर्जुन जैसे धनुर्धर के रहते हुए भी यदुकुल की स्त्रियों की जो दुर्दशा हुई[2] उसे पढ़कर मानव का हृदय विचलित हो उठता है। तो क्या भारत ग्रीक-ग्रंथों जैसा विषादांत काव्य है?

महाभारत में सब कुछ है, यह सत्य है, पर उसके पढ़ने से गृह-युद्ध की जो विभीषिका खड़ी हो जाती है, आत्म संहार का जो वीभत्स चित्र उपस्थित हो जाता है, वह हृदय-गगन को भेदकर निकली हुई हाहाकार की करुण ध्वनि से इस व्योमविवर को आप्लुत भी कर देता है। जो यथार्थ है, इतिहास (ऐसा ही निश्चय हुआ) है, उससे मानव अपनी आँखें कैसे मूँद सकता है?

महाभारत की कथा और श्रीकृष्ण का चरित्र हमारे सामने जीवन का कठोर सत्य उपस्थित करते हैं। जीवन का यह यथार्थवाद रामायण के आदर्शवाद से नीचे ही सही, पर वह हमारी आँखें खोलने के लिये पर्याप्त सामग्री रखता है। आदर्शवाद हमारी आँखों को ऊपर ले जाता है, पर प्रत्यक्ष-वाद उन्हें सामने, पीछे और अगल-बगल देखने के लिये विवश कर देता है।

[1]. **मौसलपर्व, अध्याय ४।**

[2]. **मौसलपर्व, अध्याय ७।**

गीता-ज्ञान

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

गीता-ज्ञान मनुष्य के लिये है। मनुष्य के जीवन की समस्याओं को सुलझाने की सामग्री गीता में है, यही इसके नित्य-मूल्य का कारण है। आज भी वह जीवन के निकट की वस्तु है, इसी-लिये उसमें रस है। जीवन से परे किसी अनजाने स्वर्ग की टोह में गीताकार ने अपना प्रयत्न नहीं किया। नित्य प्रति जीवन में जो समस्याओं का जमघट है—जिसे संघर्ष कहा जाता है, उसे बुद्धि की सहायता से सुलझा कर निर्मल मन और स्पष्ट कर्म के द्वारा जीवन-यात्रा में अग्रसर होना इसी लक्ष्य के साथ गीताकार बार-बार हर सिद्धांत का सूत्र मिलाते हैं। यही उनका अविचल केंद्र है, जिस पर व्यक्ति को खड़ा करके वे विश्व के साथ समता प्राप्त कराना चाहते हैं। यह दृष्टिकोण मानवी-बुद्धि को ग्राह्य है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने लिये अपना कर उसके साथ तन्मय हो सकता है। गीता न केवल योगी के लिये है, न संसार छोड़कर वैराग्य-साधनेवालों के लिये है, न कर्म-कांड में रुचि रखनेवालों के लिये है और न नाम जपनेवाले भक्तों के लिये है, वह इन सब के लिये एवं इनसे भी अधिक उन सब मानवों के लिये है जो जीवन के मार्ग पर कहीं न कहीं चल रहे हैं। उनमें से हरएक के जीवन की समस्या तय करने के लिये प्रकृति के दिये हुए साधनों में हमारे पास मन, शरीर, इंद्रियाँ और बुद्धि है। इनसे ठीक प्रकार काम लेकर मनुष्य अपनी मानवोचित महिमा को प्राप्त करता है और जीवन में कठिनाइयों पर विजय पाता है। यह प्रश्न लगभग वैज्ञानिक स्वरूप रखता है और गीता उसके समाधान का वैज्ञानिक कर्म शास्त्र है।

गीताकार का दृष्टिकोण स्पष्ट, निश्चित और सरल ढंग से व्यक्त किया गया है, उसमें काव्य का सौंदर्य है। मानवी जीवन में भी एक छिपा हुआ सौंदर्य है जिसे प्रकट करना जीवन की कला है। गीताकार ने इस साहित्यिक शैली को भली प्रकार समझा था, अतएव उन्होंने 'यह करो, यह न करो' के उपदेशों की लड़ी गूँथने के बजाय जीवन की सरलता से भरा हुआ काव्य ही प्रस्तुत कर दिया है। गीता को प्राचीन परिभाषा में 'अमृत-तुल्य दूध' कहा गया है। यह दूध ज्ञान की उन बड़ी-बड़ी वेदोप-निषद् रूपी गौओं से दुहा गया था, जिन्होंने सैकड़ों वर्षों तक भारतीय ज्ञान-कांतार में स्वच्छंद विचरण और पोषण प्राप्त किया था। इस देश में जो तत्व-चिंतन हुआ वह वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन आदि ग्रंथों में और लोक के मन में भरा हुआ था। उसके एकत्र स्पष्ट कथन की आवश्यकता थी, जिससे यह ज्ञात हो सके कि परिभाषाओं के घटाटोप के मूल में सच्चा अर्थ क्या है। गीता इस प्रकार के स्पष्ट-निश्चित कथन का सर्वोत्तम रूप है। जहाँ तक पूर्ववर्ती साहित्य का संबंध है गीता का दृष्टिकोण सम-न्वय-प्रधान है। दार्शनिक उखाड़-पछाड़ में गीताकार को कोई रुचि नहीं है। उनकी एक ही दृष्टि है—वे ज्ञान को व्यवहार के निकटतम लाकर उसे सरस और जीवन के लिये अधिक उपयोगी बनाना चाहते हैं, उस सब की कुंजी मन है, जो मन अपने आप से जूझ रहा है, उसकी शक्ति बिखरी हुई है, वह अशांत है, वह समाधान नहीं—एक समस्या है। अतएव गीता की दृष्टि में पहली आवश्यकता मन में पड़ी हुई गाँठों को सुलझाना है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अपने मन का संस्कार करे—स्वयं अपना मित्र बने, तब वह दूसरों के लिये उपयोगी बन सकता है।

हर एक व्यक्ति को प्रकृति ने इंद्रियाँ, शरीर और मन ये साधन प्रदान किए हैं। इंद्रियों के विषय में कृष्ण का दृष्टिकोण एक शब्द में यह है कि उन्हें 'युक्त' बनाना चाहिए, अर्थात् उचित

मध्यम वृत्ति के अनुसार चलाना चाहिए। न तो त्रिकाल संयम का कनटोप चढ़ाने से इंद्रियाँ वश में आती हैं और न एक दम ढील छोड़ देने से ही। बुद्ध ने भी यह अनुभव किया था। ठीक आहार, ठीक विहार ; ठीक सोना, ठीक जागना, कामों में ठीक प्रवृत्ति—इस मार्ग से मनुष्य इंद्रियों और विषयों के बीच की कशमकश को बहुत अंशों में सुलझा कर मन-बुद्धि के तनाव को कम कर सकता है।

शरीर के विषय में कृष्ण का मत है कि शरीर एक क्षेत्र है, इस क्षेत्र का जो पेचीदा ठाठ है उसे ठीक तरह से पहिचानना, यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जो इस क्षेत्र को अच्छी तरह जानता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। अंतःकरण का साक्षी अपना आत्मा प्रत्येक क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के पारस्परिक संबंध, बलाबल और महत्त्व को जान लेता है और व्यवहार में उससे काम लेता है, वही सच्चा क्षेत्रज्ञ है। शरीर की 'क्षेत्र-संज्ञा' पुरानी वैदिक परिभाषा थी। कहा है—

"अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।"

—ऋग्वेद, १०।३२।७

"जो क्षेत्र को नहीं जानता वह जाननेवाले से पूछता है और उसकी सीख के अनुसार काम करता है।"

बुद्ध ने भी आध्यात्मिक अर्थों के लिये खेत, खेती और किसान के रूपक को स्वीकार करके कई तरह से उसे पल्लवित किया था, किंतु कृष्ण का जो सबसे महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है वह मन से संबंध रखता है। मन को ठीक करने के लिये उन्होंने जो युक्तियुक्त दृष्टिकोण बताया है, वही गीता-ज्ञान का जगमगाता हुआ हीरा है। मन सबसे मूल्यवान् तत्त्व है, मन सबके भीतर बैठा हुआ अपूर्व यक्ष है। मन को मित्र बनाने से काम चल सकता है। यदि मन के नाम बाकी निकलती रही तो हलके होकर जीवन-यात्रा करना कठिन है। बुद्ध ने भी सब कर्मों के मूल में मन को ही श्रेष्ठ कहा है—

"मनो पुब्बंगमा धंमा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततोनं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदम्॥"

—धम्मपद

"सब धर्म या अवस्थाएँ पहले मन में उत्पन्न होती हैं, उनमें मन ही मुख्य है, वे मनोमय हैं। यदि हम दुष्ट मन से बोलते या काम करते हैं तो दुःख पीछे-पीछे चलता है, जैसे बैल के पीछे—**पजिया**।"

मन की ठीक स्थिति प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए? इस विषय में श्रीकृष्ण का अभिमत संक्षेप में यह है कि मन इच्छाओं की भूमि है, कोई ही मन ऐसा होगा जो कामनाओं का लीला-क्षेत्र न हो। कामनाओं को लेकर हम जब कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो मन पर एक बोझ रहता है। वैज्ञानिक शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि कामना से भरा हुआ मन तनाव की स्थिति में हो जाता है। यह तनाव हटाना आवश्यक है। तनाव के कारण मन की धारा कुटिल हो जाती है। तनाव मन की—**'ऋजुगति'** को डावाँडोल कर देता है, या दायें-बाये झुका देता है। मन को ऐसी तनाव की स्थिति से बचाना आवश्यक है, तभी हम कर्म को परिशुद्ध बना सकते हैं, नहीं तो कर्म पर स्वार्थ की छाया पड़ जाती है और कर्म बहका हुआ हो जाता है। यह तनाव की स्थिति किस कारण से उत्पन्न होती है, इसका उत्तर यह है कि कर्म करते समय मन जब फल पर जाकर अटकता है, तब कर्म परिशुद्ध नहीं रह जाता। कर्म करने की इच्छा या कामना होना बुरा नहीं, वह तो स्वाभाविक और आवश्यक है, किंतु कर्म-क्षेत्र से बाहर जाकर जब हम उसके फल की लालसा मन में ले आते हैं, तब मन पर बोझ पड़ जाता है और भय, शंका, लोभ, स्वार्थ आदि वृत्तियाँ हमारे समस्त व्यक्तित्त्व को तनाव से भर देती है। फल के लिये लीलुप न होना यही कर्म करने का सच्चा ढंग है, इसी

का नाम 'निष्काम कर्म' है। कर्म का त्याग करना कर्म-संन्यास नहीं, कर्म के फल की आशा से ऊपर उठ कर कर्म करना यही कर्म-संन्यास है और यही सच्चा कर्म-योग है। कोई कर्म शुरू ही न करे तो क्या वह इतने से ही बड़ा निष्कर्मी बन जायेगा?

"न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।"

—गीता ३।४

कोई क्षण भर भी तो बिना कर्म के रह नहीं सकता। जनक आदि राजर्षियों की लंबी परंपरा में जिन्हें हम आदर्श मानते हैं, सभी ने तो कर्म किया, फिर कर्म से झिझक क्यों? इत्यादि अनेक काव्यमय प्रश्न पूछकर हर एक पहलू से श्रीकृष्ण ने मूल प्रश्न को झकझोरा है। जीवन है तो कर्म भी साथ जुड़ा है। कर्म-त्यागा जाय तो यह लोक ही ठप हो जाय। इससे ज्ञात होता है कि कर्म तो शरीरधारी को करना ही पड़ेगा। जब कर्म के बिना छुटकारा नहीं तो बुद्धि-पूर्वक उसका महत्त्व और उसकी युक्ति का निर्णय किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से गीता संसार के समस्त धार्मिक ग्रंथों में अकेली है, वह कर्म का शास्त्र है। प्राचीन या अर्वाचीन, चाहे जिस कसौटी से कसें, कर्म की आवश्यकता माननी पड़ती है, फिर उसके करने का युक्तियुक्त ढंग जानना भी जीवन का आवश्यक और अनिवार्य प्रश्न बन जाता है। गीता इस प्रश्न का उत्तर है।

कर्म अनंत हैं। एक समय ऐसा था जब यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म मानते थे। अशोक ने धर्मानुशासन को श्रेष्ठ कर्म कहा—

"एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनम् ।"

कर्म के प्रकार युगधर्म के अनुसार परिवर्तनशील हैं। देश, काल और व्यक्ति के अनुसार कर्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं और रहेंगे, किंतु उन सब की सामान्य विशेषता है, फल की आशा के साथ करनेवाले का संबंध। फल का महत्त्व कर्ता की दृष्टि में जहाँ बढ़ा वहीं कर्म के शुद्ध रूप को ग्रहण लग जाता है। इस दृष्टि से कृष्ण के निष्काम कर्मयोग का जीवन के लिये बहुत मूल्य है।

प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य के लिये इस प्रकार का निष्काम कर्म संभव है? जैसा हमने आरंभ में ही कहा है—'गीताज्ञान मनुष्य के लिये है'। अतएव इस प्रश्न का सच्चा उत्तर यही है कि कर्म करते हुए भी कर्म के तनाव और बोझ से बचने के लिये गीताकार ने जो निष्काम कर्म या कर्म-फल में लिप्त न होने की युक्ति बताई है वह भी मनुष्य के लिये संभव है। सब उसे प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः जीवन में जो कर्म उज्ज्वल हैं, जो कर्म गुणवान् हैं, जो कर्म भव्य हैं, वे इसी ऊँचे धरातल से किये जाते हैं। कर्मी का सौरभ उनके निष्काम गुण की मात्रा पर ही निर्भर है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जब कर्म निष्काम धर्म बन जाता है, जब कर्म बिना फल की आशा के किया जाता है, तब समाज और विश्व के संस्थान के साथ मनुष्य की क्या स्थिति होती है? किस कारण से ऐसे व्यक्ति के कर्म में बड़प्पन आ जाता है? इस प्रश्न का जो उत्तर गीता में दिया गया है, वह गीताज्ञान का खिला हुआ पुष्प है। गीता में कई प्रकार की और काव्यात्मक शैली से इसे समझाया गया है। जब मनुष्य फल की इच्छा से ऊपर उठ कर अपने आपको तनाव से मुक्त कर लेता है तो वह प्रकृति के ही विराट् संस्थान का अंग बन जाता है। प्रकृति मनुष्य से बलवान् है, वह जगत् की प्रेरक शक्ति है, सुख-दुःख, शांति-क्षोभ, प्रकृति ही इनकी नियामक है। प्रकृति की स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है, राग और द्वेष, हानि और लाभ, लोभ और त्याग के प्रभावों से प्रकृति ऊपर है। मनुष्य को भी उसी ब्राह्मी स्थिति के आदर्श के अनुसार अपने आपको ढालना होगा। भारी दुःख हो या सुख हो—दोनों अवस्थाओं में जो समता रख सकता है, वह ब्राह्मी स्थिति के निकट है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ ही गीताकार का आदर्श व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति हर-एक युग के लिये उपयोगी और आवश्यक हैं। प्रत्येक समाज और जन-समुदाय उन्हें चाहता है। जिस क्षेत्र में ऐसा व्यक्ति काम

करता है उसे ही उलझनों से रहित बनाता है। प्रत्येक संस्कृति, धर्म और दर्शन में युग-युग से जिस प्रकार के आदर्श पुरुष की कल्पना की गई है, उस तरह का आदर्श गीता के स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के गुणों में बहुत कुछ चरितार्थ हुआ है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति मानवमात्र के नैतिक आदर्श की पूर्ति है। हमारे अपने युग में गीता की जो प्रधान व्याख्याएँ हुई हैं, उनमें लोकमान्य तिलक ने तो निष्काम-कर्मयोग को गीता के मथित अर्थ के रूप में समझाने का प्रयत्न किया था एवं महात्मा गाँधी ने स्थित-प्रज्ञ के रूप में गीता के सारांश को समझाने का प्रयत्न किया। दोनों ही अर्थ गीताकार को मान्य हैं और वे एक दूसरे के पूरक हैं। लोक के लिये गीता का उपयोग है। गीताकार की दृष्टि में लोक का बहुत महत्त्व है। वेदव्यास के शब्दों में श्रीकृष्ण को—'लोकविधानवित्' कहा जाय तो ठीक होगा। लोक के विषय में श्रीकृष्ण का बहुत ही सुलझा हुआ और नवीन युग का-सा दृष्टिकोण है—

"लोक-व्यवहार के लिये कर्म करना आवश्यक है, मैं स्वयं इसी दृष्टि से कर्म करता हूँ। कर्म से भाग कर, जीवन के कर्त्तव्यों से मुँह मोड़ कर, अपनी परिस्थितियों से अलग शांति ढूँढ़ना निरर्थक है। वैसी शांति यहाँ है ही नहीं, वह मृगमरीचिका है।" संघर्ष में कर्त्तव्य-पालन से जो समस्थिति मिलेगी वह सच्ची शांति की स्थिति होगी। हम यह मानते हैं कि लोक में सभी कुछ अच्छा नहीं, यहाँ गुण हैं तो दोष भी हैं। हमें लोक के प्रति सहिष्णु बनना होगा। यदि यहाँ सब कुछ हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं तो खीझ कर लोक का परित्याग करना अनुचित है। वस्तुतः जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है—

"जड़-चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस-गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार॥"

—रामचरितमानस

कृष्ण ने जगत् के संबंध में वैदिक दृष्टिकोण को ही जो पुराना दार्शनिक मत था, स्वीकार किया है—यह संसार त्रिगुणात्मक है। सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से इसका प्रत्येक अंश नियंत्रित है। सत्-असत् के मेल से विश्व बना है। जगत् की रचना के भीतर ही उसकी त्रिगुणमयी विषमता का ज्ञान भी हमें होता है। संसार की इस प्रकार सरल सुबोध व्याख्या सांख्य-शास्त्र की पुरानी विशेषता थी। वस्तुतः सांख्य शब्द गिनती परक संख्या शब्द से न होकर ज्ञान-परक संख्या शब्द से बना था। त्रिगुणात्मक जगत् का ज्ञान ही सच्चा चक्षु है। चक्षु धातु के स्थान पर 'ख्या' आदेश करके संख्या और उससे 'सांख्य' शब्द की सिद्धि ऐतिहासिक सत्य के अधिक निकट जान पड़ती है। महाभारत में सांख्य ही प्रमुख दार्शनिक दृष्टिकोण है, किंतु सांख्य की परंपरा आरंभ से ही भिक्षु-धर्म को साथ लेकर चली थी। इस कारण से यद्यपि सांख्य के दार्शनिक दृष्टिकोण को गीता में स्वीकार किया गया, किंतु जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को गीताकार स्वीकार न कर सके। इस विषय में गीताकार ने एक नया और उच्चतर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और वह 'कर्मयोग' का मार्ग था। गीता में कई स्थानों पर कर्मयोग को केवल 'योग' ही कहा गया है—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

—गीता ६।४६

इस श्लोक में चार तरह के मार्गों का उल्लेख है—

१. ज्ञान, अर्थात् सांख्य, २. तप, अर्थात् उग्र शरीर-साधना, ३. कर्म, अर्थात् वैदिक कर्मकांड और ४. योग, अर्थात् कर्म-फल का संन्यास या निष्काम कर्म-योग।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम जानते हैं कि पहले तीन मार्ग प्राचीन धार्मिक जगत् में प्रचलित थे। कठिन तपश्चर्या से सिद्धि प्राप्त करने के पीछे बुद्ध ने भी बहुत धक्के खाए थे। उस काल के इतिहास में बड़े-बड़े विहंगम तप-साधनों का उल्लेख मिलता है। ज्ञानवादी भिक्षु या सांख्य प्रसिद्ध ही हैं।

यज्ञों पर आश्रित वैदिक कर्मकांड के बारे में जहाँ एक ओर विस्तृत ब्राह्मण और श्रौत साहित्य उपलब्ध है वहाँ स्वयं कृष्ण ने भोग, ऐश्वर्य और स्वर्ग के लिये किये जानेवाले कर्मकांडों का उल्लेख किया है। वैदिक वाणी की यही उस समय सजी हुई फुलवाड़ी (पुष्पितावाक्) थी। कृष्ण ने इन तीनों मार्गों से ऊपर निष्काम कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है, किंतु उनका मौलिक दृष्टिकोण समन्वय प्रधान था, दूसरे मत के केवल निराकरण में उनकी रुचि न थी। सांख्य और वेद इन दोनों की आलोचना वे ऊँचे स्तर से करते हैं।

कृष्ण ने कहा कि सांख्य के त्रिगुणात्मक दृष्टिकोण को और निष्काम कर्मयोग के दृष्टिकोण को जो पृथक् या विरोधी समझते हैं, उनका दृष्टिकोण बच्चों का है, बुद्धिमानों का नहीं। बाल-बुद्धि व्यक्ति को भेद में कुतूहल होता है, किंतु पंडित भेद के मूल में छिपी हुई एकता को देखता है। मिथ्याचार या बाहरी ढोंग को छोड़कर उचित ढंग से यदि सांख्य और योग इन दो में से एक का भी पालन किया जाय तो दोनों का फल मिलता है—

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥" —गीता ५।४

वेद के विषय में भी गीताकार ने स्थान-स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है—

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।"

सब वेदों या अंतर्यामी अर्थ या ईश्वर का ज्ञान कराना ही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में स्पष्ट एक ईश्वर के अनुभव का उल्लेख हुआ है—

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं सर्वं यच्चमाव्यम्।"

भूत और भविष्य सब ईश्वर ही है। अथवा—

"वेदाहमेतं पुरुषं महांतमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।"

स्पष्ट रूप से वेदों के सारभूत अध्यात्म-पुरुष का वर्णन करता है। वेद के विषय में यह उच्चतर दृष्टिकोण 'यास्क' के समय में भी पल्लवित हो रहा था, वहाँ कहा गया है कि मंत्रों के द्वारा एक आत्मा का ही गुणगान किया जाता है—

"एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।"

इंद्र, अग्नि आदि सब उसी के नाम हैं। वैदिक यज्ञों के संबंध में सजे हुए शब्दों की कृष्ण ने उपेक्षा की और यही उस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी। उपनिषद् भी कह रहे थे—

"अदृढा ह्येते प्लवा यज्ञरूपाः।"

जब कि गीताकार ब्रह्मज्ञान, ब्राह्मीस्थिति, स्थितप्रज्ञ अवस्था को सच्चा सार मानते हैं, निरुक्त और ब्राह्मण ग्रंथों में हम पढ़ते हैं—"जो अर्थ को नहीं मानता, केवल वेद के शब्द पर ध्यान देता है, वह भारवाही है।" उस समय भारतीय अध्यात्मज्ञान शब्दों के जिस दलदल में फँस रहा था, उससे कृष्ण ने उसे निकाला।

कृष्ण ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से जिन कई प्रश्नों का समाधान किया, उनमें देवताओं का प्रश्न भी एक था। बहु देवतावाद धर्म का लोकपक्ष है। लोक में अनेक देवताओं की पूजा और विश्वास प्रचलित हैं। लोक को उनमें भक्ति और प्रतीति होती है और संभवतः आगे भी रहेगी। अनेक देवों में न एक अच्छा है, न दूसरा बुरा। वे सभी ईश्वर की विभूति हैं। यह विभूति शब्द पीछे से (पंचरात्र संप्रदाय में) विविध अवतारों के लिये पारिभाषिक ही बन गया था। गीता का 'विभूति-योग' नामक दसवाँ अध्याय ठेठ लोक पर आश्रित है। भूत, प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष, पीपल, पर्वत, नदी, समुद्र, मगर, मछली आदि जल के प्रतीक, सूर्य, चंद्र, तारे इस प्रकार का एक बहुमुखी देवतावाद लोक-धर्म के रूप में फैला हुआ था जिसकी जड़ें भूमि के साथ संबंधित थीं। इस धर्म के अस्तित्व का सबसे अच्छा प्रमाण 'साँची' और 'भरहुत' के स्तंभों पर अंकित देवी-देवताओं में मिलता है, जिनमें कितने

ही यक्ष और नाग हैं। महाभारत के सभापर्व में यक्ष, नाग और नदी देवताओं की लंबी सूचियाँ मिलती हैं। बौद्धों के 'आटानटीय सुत्तंत' में भी कितने ही यक्षों के नाम आते हैं जिनकी लोक में मान्यता थी। 'महामायूरी ग्रंथ' में भिन्न-भिन्न स्थानों के यक्षों की सूचियाँ हैं। भारतीय पुरातत्त्व में मणिभद्र, वैश्रवण आदि यक्ष, दधिकर्ण, एलापत्र आदि नाग, एवं नदी, देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि लोक-जीवन की जो वास्तविक सच्चाई थी उसके तत्वों से गीता के दसवें अध्याय की रचना हुई, किंतु उसमें गीताकार का समन्वय-प्रधान दृष्टिकोण मुख्य है। वे कहते हैं कि इस बहुदेवतावाद के भीतर ईश्वर के विराट् स्वरूप का दर्शन हमें करना चाहिए। अनेक *विभूतियों के रूप में ईश्वर ही इस लोक में व्याप्त हो रहा है। इस दृष्टि से गीता के दशम अध्याय* का ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ जाता है। वस्तुतः इस दृष्टिकोण को स्वीकृत और विकसित करके भागवतों ने धार्मिक समन्वय की दिशा में इस देश में बड़ा कदम उठाया। धीरे-धीरे सभी संप्रदायों को यह मत मान लेना पड़ा। ऐतिहासिक कशमकश के भीतर से होता हुआ यह दृष्टिकोण धर्म के विषय में राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही बन गया।

गीता में जो जीवन के प्रति नीतिमत्ता और बुद्धिपूर्वक व्यवहार का दृष्टिकोण है, उसकी कुछ गूँज लोक-साहित्य में भी मिलती है। यह सर्व विदित है कि गीता का उपदेश कुरुक्षेत्र में हुआ। कुरुजन-पद की एक पुरानी कहानी 'कुरुधंम-जातक' के नाम से पाली जातकों के संग्रह में बची रह गई है।[1] उस कहानी का ठाठ कुछ अपूर्व है। उसमें राजा से लेकर रंक तक लोक-जीवन के ११ प्रतिनिधि व्यक्ति लिये गये हैं। वे अपने केंद्र में रहते हुए कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श अपने सामने रखते हैं। उनका मुख्य दृष्टिकोण यह है कि शील या गुणों का बाह्य रूप में पालन अधिक महत्त्व का नहीं, मन का भाव विशुद्ध होना चाहिए। यदि मन का भाव बिगड़ा हुआ है तो धर्म या शील आडंबरमात्र है। ये ११ व्यक्ति और इनके धर्म इस प्रकार है—

१.	**राजा**	**अहिंसा**
२.	**राजमाता**	**समत्व**
३.	**राजमहिषी**	**ब्रह्मचर्य**
४.	**उपराजा**	**स्वामिधर्म**
५.	**पुरोहित**	**अलोभ**
६.	**रज्जुग्राहक**	**परदुःख-निवृत्ति**
७.	**सारथी**	**पशुओं पर दयाभाव**
८.	**श्रेष्ठी**	**परद्रव्य के विषय में सूक्ष्म विवेक।**
९.	**द्रोणमापक-महामात्य**	**प्रजानुकंपा**
१०.	**द्वारपाल**	**निष्ठुरवाक् का परित्याग।**
११.	**वेश्या**	**कर्त्तव्य से उऋण होना।**

यह जातक ११ कहानियों का संग्रह है जो सब समान दृष्टिकोण की परिचायक हैं। जातक की भूमिका में कहा गया है कि बुद्ध के जन्म से पहले ही पुराने पंडितों ने स्त्री-सहित घर में रहते हुए अल्पमात्र भी शील के अतिक्रमण करने में हिचकिचाहट प्रकट की थी। यह भिक्षु-धर्म के मुकाबले में गृहस्थ-धर्म का आदर्श था जो 'कुरुजनपद' के साथ विशेष रूप से संबंधित दिखाया गया है। इन दृष्टांतों का मर्म समझने के लिये एक दृष्टांत पर्याप्त होगा।

"कलिंग के ब्राह्मण अपने देश में वर्षा न होने के कारण 'कुरुजनपद में' शील का आदर्श-ग्रहण करने के लिये भेजे गये। उन्होंने जनपद के श्रेष्ठी के पास पहुँच कर धर्म की याचना की।

[1]. जातक संग्रह भाग ३।

वह भी एक दिन जब धान की बाली निकल आई थी अपने धान के खेत में पहुँचा। देखकर उसने सोचा कि धान को बँधवाऊँगा और धान के पूंजे बँधवाकर मणनी के खंभे के पास रखवा दिए। तब उसे ध्यान आया कि इस खेत में से मुझे राजा का हिस्सा देना था, बिना लगान दिए गए खेत में से ही मैंने धान ले लिए। मैं कुरुधर्म का पालन करता हूँ, वह भंग हो गया होगा। उसने यह बात सुन कर कहा—

'हे ब्राह्मणो, इस कारण मेरे मन में कुरुधर्म के प्रति, संदेह है, इसलिये मैं उसे आपको सिखाने के योग्य नहीं हूँ। ब्राह्मणों ने कहा—'आपकी चोरी की नीयत नहीं थी, बिना नीयत के चोरी का दोष घोषित नहीं किया जा सकता। कुछ न करने पर भी जब आप इस प्रकार संदेह करते हैं, तब आप किसी की चीज़ कैसे ले सकते हैं? ब्राह्मणों ने उससे शील ग्रहण कर सोने की पट्टी पर लिख लिया।' इस जातक में कुरुधर्म के विषय में तीन बातें विशेष रूप से ज्ञात होती हैं। प्रथम यह कि कुरुधर्म सारे जनपद का धर्म था। राजा, ऋषि, मुनि, या केवल भिक्षुओं के लिये ही वह मार्ग न था। वेश्या, नौकर-चाकर, सेठ-मुनीम सभी इसका पालन कर सकते थे। यह गीता के—

"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परांगतिम्।"

—गीता

के अति निकट है।

दूसरी बात यह है कि कुरुधर्म गृहस्थ-जीवन का धर्म था। घर में रहते हुए शीलधर्म पालन सबके लिये करना संभव है और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य कर्म को ही इस धर्म के पालन का विषय बना सकता है।

तीसरी बात यह है कि कुरुधर्म का संबंध स्वर्ग, नरक से न होकर सीधे-सादे नीतिप्रधान जीवन-मार्ग से था। ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही इसकी विशेषता है।

इस कुरुधर्म या गृहपतियों के आदर्श के लिये ही संभवतः लोक में—'कुरुगार्हपतं' यह सार्थक शब्द प्रचलित हो गया था, जिसका उल्लेख 'पाणिनि' ने (लगभग ५०० ई० पू०) अपनी अष्टाध्यायी में किया है। ज्ञात होता है कर्म योग का कुरुधर्म-आदर्श ही कुरुदेश में कहे जानेवाले गीताधर्म के रूप में प्रकट हुआ था। भिक्षुधर्म से पृथक् यह गृहस्थों का जीवनमार्ग था। एक लोक कहानी के रूप में गीता के दृष्टिकोण की यह प्रतिध्वनि कम आश्चर्य-कारक नहीं।

गीता भारतीय जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित रही है। हमारी उदयोन्मुखी राष्ट्रीयता के निर्माण में भी गीता के दृष्टिकोण से सहायता मिली है। गीता-ज्ञान ने प्रेरक शक्ति के रूप में राष्ट्र का मार्ग-दर्शन किया है। यह इस शास्त्र की पर्याप्त प्रशंसा है कि अर्वाचीन जीवन के लिये भी इसकी उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई।

प्राचीन जैनग्रंथों में कृष्ण-चरित्र

श्री अगरचंद नाहटा

भारतवर्ष में श्रीकृष्ण और राम एवं बुद्ध और महावीर बहुत ही श्रद्धेय महापुरुष माने जाते हैं। प्राचीन ग्रंथों के अनुशीलन से पता चलता है कि वास्तव में इनका व्यक्तित्व असाधारण था। श्रीकृष्ण और राम के चरित्र ने तो लोक-मानस एवं साहित्य पर बड़ा भारी प्रभाव डाला। फलतः लोक-मानस में भक्ति की धारा उमड़ चली। इनका गुण-वर्णन कवियों का एक प्रिय विषय हो गया। कवियों की अलंकारिक भाषा एवं विलक्षण प्रतिभा ने इस दशा में खूब काम किया, अतः श्रीकृष्ण के संबंध में तो इतना विशाल एवं विविध साहित्य का निर्माण हुआ है कि उसकी सूची बनावें तो भी एक स्वतंत्र ग्रंथ बन सकता है। आज तो श्रीकृष्ण के वास्तविक इतिवृत्त का पता लगाना भी बड़ा कठिन कार्य हो गया है।

श्रीकृष्ण के चरित्र-संबंधी जैनेतर साहित्य में सब से प्राचीन ग्रंथ महाभारत है। जिसका उपलब्ध वर्तमान् रूप पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ईस्वी की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है।[1] इसके बाद श्रीमद्भागवतादि में तो कृष्ण-चरित्र बहुत विकसित रूप से उपलब्ध है। अतः इस निबंध में उन्हीं प्राचीन जैन-ग्रंथों का आधार लिया गया है, जोकि एतद्विषयक जैनेतर प्राचीन से प्राचीन ग्रंथों के समकालीन या उनसे प्राचीन हों। जैन-साहित्य में सब से प्राचीन ग्रंथ 'आगम' है, जोकि भगवान् महावीर के कथित कहे जाते हैं। अंततः उनका वर्तमान रूप—लेखन-काल ई० सन् ३५३ होने से उससे पूर्ववर्ती है। इसके परवर्ती ग्रंथों में 'वसुदेव हिंडी' प्रधान हैं, जोकि ४-५ वीं शती का महत्त्वपूर्ण तथा कथा-ग्रंथ है। अतः श्रीकृष्ण के चरित्र का रहस्य जानने एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिये ये साधन महत्त्वपूर्ण हैं। आशा है कि जैनेतर विद्वान् मेरे इस प्रयत्न से समुचित लाभ उठावेंगे और जैनागमों के अध्ययन में विशेष रस लेने लगेंगे।

प्रसंगवश यहाँ जैनागमों के महात्म्य पर भी दो शब्द लिख देना आवश्यक समझता हूँ। प्राचीन जैनागम भारतीय प्राचीन संस्कृति, सामाजिक परिस्थिति, रीति-मर्यादा, साहित्य, कला, दर्शन आदि विविध विषयों की जानकारी के लिये महान भांडागार हैं। ऐतिहासिक, साहित्यिक, भाषा-विज्ञान आदि सभी दृष्टियों से उनका बहुत महत्त्व है। इस बात का वास्तविक पता तो जब शोधक विद्वान् इनका गंभीर अध्ययन करने में प्रवृत्त होंगे तभी विदित होगा; मैंने तो प्रसंगवश केवल निर्देशमात्र कर दिया है। मूल आगमों के साथ उनकी निर्युक्ति, भाषा पूर्ण व टीकाओं में इतनी मूल्यवान् सामग्री भरी पड़ी है कि अनुभवी ही उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। खेद है कि इस ओर हमारे विद्वानों का ध्यान बहुत ही कम गया है।[2]

१. महाभारत के निर्माण काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का यह मत नितांत भ्रामक है। महाभारत का निर्माण काल ईस्वी सन् के पूर्व ३१०१ वर्ष है, जैसा कि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार कृत "संस्कृत साहित्य का इतिहास" में स्पष्ट किया गया है। —सं०

२. पचास वर्ष हुए बंगाल के ख्यातनाम विद्वान् 'बंकिमचंद्र' ने बड़ी छानबीन कर 'कृष्ण-चरित' प्रकाशित किया था, खेद है कि विगत पचास वर्षों में वह कार्य और आगे नहीं बढ़ सका। इस ग्रंथ के गुजराती अनुवाद की गवेषणा में 'मनसुखलाल रत्नजी भाई मेहता' ने लिखा है कि यदि बंकिम बाबू जैन-साहित्य का उपयोग करते तो उनको तथ्य पाने में अधिक सफलता होती।

श्रीकृष्ण को जैनेतर लोग अवतार रूप से पूज्य मानते हैं, तब जैन उन्हें भावी तीर्थंकर के रूप में पूज्य मानते हैं। अतः जैनागमों में भी उनका महत्त्व कम नहीं है। जैनागमों में जैनों के बाईसवें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' का जहाँ भी वर्णन आता है, श्रीकृष्ण को वहाँ उस समय के प्रधान पुरुष के रूप में उल्लिखित किया है। जैनागमों के वर्णनों को पढ़ते हुए सहज यही विश्वास होता है कि श्रीकृष्ण महापुरुष थे। जब कभी भी नेमिनाथ द्वारका आते श्रीकृष्ण उनके वचनों को श्रद्धा से सुनते, उनके त्याग-मार्ग को आदर्श मानते थे। ऐसा होने का एक प्रधान कारण भी था, जिससे जैनागमों के कथन की प्राणामिकता में जोर दिया जा सकता है। वह यह है कि नेमिनाथ उन्हीं के (कृष्ण के पिता वसुदेव के बड़े भाई 'समुद्रविजय' के पुत्र) भाई थे। उनका त्याग महान् था, जिसके कारण श्रीकृष्ण को उनके प्रति विशेष आदर होना स्वाभाविक ही है।

जैनागमों की वर्णनात्मक शैली विस्तार से है। यहाँ उनका सार-मात्र ही दिया जाता है।

श्रीकृष्ण के माता पिता

"सौरियपुर नगर में वसुदेव नामक महर्द्धिक राजा थे, उनके 'रोहिणी' एवं 'देवकी' नामक दो भार्याएँ थीं, जिनमें से रोहिणी से बलराम और देवकी से केशव, अर्थात् कृष्ण का जन्म हुआ था।"

द्वारकानगरी

उस समय में "द्वारका" नगरी बारह योजन (९७ मील) लंबी और नव योजन (७२ मील) चौड़ी (विस्तारवाली) थी। वह धनपति (कुबेर) की बुद्धि-द्वारा निर्मित स्वर्ण के प्राकारवाली, नानाविधि पाँच रंग के मणिमय कांगरों से सुशोभित मनोहर, अलकापुरी के समान सुंदर प्रमुदित क्रीड़ावाली, प्रत्यक्ष देवलोक रूप प्रसन्नता प्रदायक, दर्शनीय अभिरूप रमणीय थी।

[1]वतपर्वत

उपरोक्त द्वारकानगरी के बाहर, उत्तर-पश्चिम भाग में 'रैवत' नामक पर्वत था। वह ऊँचाई में गगन-तल का अवलंबन कर रहा था, जहाँ नाना-विधि वृक्ष, गुल्म-लता, वल्लियों से अभिराम, हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, मैना, साल, कोकिल, आदि पक्षी-कुलों से व्याप्त, तालाब, झरने, पर्वत-शिखर से जल का प्रचुर मात्रा में प्रपात, अप्सराओं, देवसंघ, विद्याधरों के समूह ऊपर से नीचे उतर रहे हैं—क्रीड़ा कर रहे हैं। दशार्ह वीर, पुरुषतिलक जहाँ बहुधा पधारते हैं। ऐसा वह पर्वत शोम्य, प्रियदर्शन स्वरूप प्रसन्नता-दायक एवं प्रतिरूप था।

नंदनवन

उस रैवत पर्वत के समीप ही 'नंदनवन' था जिसमें सर्व ऋतुओं में पुष्पादि उत्पन्न होने से दर्शनीय था।

उस द्वारका नगरी में श्रीकृष्ण—वासुदेव राज्य करते थे। उनके समुद्रविजयादि १० दशार्ह, बलदेवादि ५ महावीर, प्रद्युम्नादि ३१।२ क्रोड़ कुमार, सांबादिक ६० हजार दुर्दांतकुमार, महासेनादि ५६ हजार, बलवान् वीरसेनादित् २१ हजार वीर पुरुष, उग्रसेनादि १६००० हजार राजा, रुक्मिणी आदि १६००० रानियाँ, अनेकों गणिकाएँ एवं और भी बहुत से राजेश्वर, श्रेष्ठि, सेनापति, तलवर, माड़ाविय, कौटुंबिक एवं सार्थवाह वहाँ रहते थे। श्रीकृष्ण द्वारका नगरी एवं वैताढ्य पर्वत से सागर-पर्यंत दक्षिण (अर्द्ध) भारत का आधिपत्य करते रहते थे।

अरिष्टनेमि का आगमन

एक बार 'अरिष्टनेमि' भगवान् १० धनुष के शरीर वाले द्वारका नगरी में—समवसरे ; परिषदा वंदनार्थ आए। भगवान् का आगमन सुनकर श्रीकृष्ण बहुत हर्षित हुए और उनका बड़ा सत्कार किया।

[1]. उत्तराध्यायन सूत्र अध्यापन २२ की प्रथम गाथा।

श्रीकृष्ण के जीवन से पांडवों एवं द्रौपदी का चरित्र भी संबंधित है, अतः 'ज्ञातासूत्रानुसार' उसे भी यहाँ दे दिया जा रहा है।

द्रौपदी-चरित्र

(द्रौपदी का जन्म एवं विवाह)

जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र के पांचाल देश में कांपिल्यपुर नगर था। वहाँ के नृपति 'द्रुपद' के 'चुलणी' नाम की रानी थी। उसके 'धृष्टार्जुन' नामक (युवराज) पुत्र एवं द्रौपदी' नामक पुत्री थी। द्रौपदी के यौवनावस्था-प्राप्त होने पर द्रुपद राजाने स्वयंवर मंडप की रचना की एवं द्वारका के श्रीकृष्ण समुद्रविजयादि, हस्तिनापुर के पाँचों पांडव—युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधनादि १०० भ्राता, गांगेय, विदुर, द्रौण, जयद्रथ, शकुन क्लीव, अश्वथामा, चंपा नगरी के कर्ण अंगराज सल्यनंदि, सोक्तिमती नगरी के राजा शिशुपाल दमघोषादि ५०० पुत्रों के साथ, हस्तिशीर्ष नगर के दमदंत राजा, मथुरा के धरराजा, राजगृह के राजा जरासंध के पुत्र सहदेव, कौडिन्य नगर के भीष्मक पुत्र रुप्पि राजा, विराट् के कीचक राजा को १०० भाइयों के साथ, एवं अवशेष ग्राम, नगरों के राजाओं को (द्रौपदी के स्वयंवर में पधारन के लिये) आमंत्रणार्थ दूत भेजे। आमंत्रण पाकर कृष्णादि बहुत से राजा वहाँ पधारे। द्रुपद राजा ने गंगा नदी के पास अनेक स्तंभोंवाला सुंदर स्वयंवर-मंडप बनवाया। कृष्णादि अतिथियों के ठहरने के लिये अतिथि-गृह बनवाये गये थे। चारों प्रकार के आहार, पुष्प, वस्त्र, गंध, माला, अलंकारादि से वासुदेवादि की भक्ति की।

नियत समय में स्वयंवर की उद्घोषणा की जाने के बाद सभी राजागण स्वयंवर में आये। द्रौपदी भी आई। वहाँ से दासियों के साथ उपस्थान शाला में जाकर ४ घंटवाले अश्वरथ पर स्वयंवर मंडप में प्रवेश कर द्रौपदी ने वासुदेवादि सब को प्रणाम किया। सुरूपा दासी न बाँए हाथ में स्वच्छ दर्पण रखा, जिसमें राजाओं के रूप-प्रतिबिंबित हों और दाहिने हाथ से उनका परिचय कराने लगी। प्रथम यादव-वंशीय १० दशार्हों आदि का, फिर उग्रसेन आदि के गुणादि वर्णन किये। द्रौपदी वह सुनती हुई जब पाँचों पांडवों के पास आई तो पाँचों पांडवों के गले में पंचवर्ण वाली माला डाल दी और कहने लगी मैंने इन पाँचों पांडवों को बरा। यह सुनकर कृष्ण—वासुदेवादि हजारों राजाओं ने बड़े जोर के शब्दों में कहा कि हे द्रौपदी, तूने अच्छा बरा। ऐसा कहकर वे अपने-अपने आवासों में चले गये। इधर धृष्टार्जुन कुमार ४ घंटवाले अश्वरथ में द्रौपदी एवं पाँचों पांडवों को बैठा कर अपने भवन में लाया। द्रुपद राजा ने द्रौपदी के साथ पाँचों पांडवों को पट्ट पर बैठा कर श्वेत, पीत कलशों से स्नान कराया। अग्नि-होम कराके पाँचों पांडवों के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण करवाया। द्रुपद राजा ने प्रतिदान में ८ करोड़ हिरण्य, प्रेषणकारी दासियाँ एवं विपुल धन एवं कनक दिया। वासुदेवादि आगत राजाओं को अशनादि से सत्कृत व संमानित कर विर्सजित किया। उस समय पांडु राजा ने वासुदेवादि राजाओं से प्रार्थना की कि हस्तिनापुर में पाँचो पांडव एवं द्रौपदी का कल्याणकारी उत्सव होगा, अतएव कृपा कर आप सब उसमें संमिलित हों। पांडु राजा के आग्रह से वासुदेवादि हस्तिनापुर पधारे। शुभ महूर्त में पाँचों पांडवों को द्रौपदी के साथ पट्ट पर बैठा कर पूर्ववत् उत्सव किया। तदंतर पाँचों पांडव द्रौपदी के साथ बारी-बारी से भोग भोगते रहने लगे।

द्रौपदी-अपहरण

एक समय पांडुराजा, पाँचों पांडव, कुंती एवं द्रौपदी आदि परिवार-सहित अंतःपुर में सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छुल्ल नारद वहाँ पधारे। नारदजी को आते देख पाँचों पांडव, कुंती एवं पांडुराजा ने खड़े होकर वंदन, नमस्कार करते हुए आसन देकर अभ्यर्थना की। तब नारदजी जल से पृथ्वी को छिड़क दर्भासन पर बैठे और पांडुराजा से कुशल-क्षेम पूछा। नारदजी का पांडुराजा ने आदर सत्कार किया, पर द्रौपदी ने उनका सत्कार नहीं किया। अतः नारद ने अपने असंमान से रुष्ट होकर द्रौपदी को विपत्ति में डालने का निश्चय किया और

वहाँ से वे विद्याधर-गति से धात की खंडवर्ती 'अमरकंदा' नगरी में पधारे। वहाँ पद्मनाभ राजा जिनके ७०० रानियाँ एवं सुनाम युवराज कुमार था, अंतःपुर में रानियों के साथ सिंहासन पर बैठे हुए थे। नारद को आते देख पद्मनाभ ने भी सत्कार किया और गर्विष्ठ होकर राजा ने पूछा कि क्या आपने मेरी रानियों के सदृश रुपवान् स्त्रियों का समुदाय कहीं देखा है। नारदजी ने मृदु हास्य पूर्वक कहा—हे पद्मनाभ, पांडवों की पत्नी द्रौपदी के पैर के अंगूठे की समता करनेवाली भी तुम्हारी रानियों में कोई नहीं है। वह ऐसी अद्भूत रूपवती है। इन वचनों से उत्कंठित होकर पद्मनाभ ने अपने परिचित मित्रदेव का आराधन किया, देव ने द्रौपदी के सती होने की बात कही, पर अंत में पद्मनाभ के अनुरोध से युधिष्ठिर के साथ सोई द्रौपदी को अवस्वापिनी निद्रा देकर वहाँ से उठाई और पद्मनाभ के भवन में लाके रख दी। जागृत होने पर द्रौपदी अपरचित स्थान में अपने को देख कर विस्मित हुई। उसी समय पद्मनाभ ने उपस्थित होकर अपना कुत्सित अभिप्राय विदित किया। द्रौपदी ने उससे ६ महीने की अवधि माँगी और तप करना प्रारंभ कर दिया।

इधर थोड़ी देर बाद युधिष्ठिर ने जागृत होकर द्रौपदी को वहाँ नहीं देख चारों ओर तलाश शुरु की। फिर भी न मिलने पर उसने सारा वृतांत पांडु राजा को कहा, उन्होंने भी द्रौपदी का पता लगानेवालों को विपुल धन देने की घोषणा करवाई। फिर भी कोई पता न लगने पर उन्होंने कुंती को श्रीकृष्ण के पास भेजकर द्रौपदी का पता लगाने का निवेदन किया। कुंती ने द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को सारी घटना कहते हुए द्रौपदी के अन्वेषण के लिये कहा। कृष्ण जी ने भी आश्वासन देकर कुंती को विदा कर उद्घोषणा करवाई, पर पता नहीं चला।

द्रौपदी-अनुसंधान एवं आनयन

एक बार नारदजी के आने पर कृष्ण ने द्रौपदी के संबंध में उनसे पूछा, उन्होंने कहा—अमरकंश के राजा पद्मनाभ के भवन में द्रौपदी जैसी कोई स्त्री देखने में तो आई थी। कृष्ण ने आंतरिक रहस्य जानकर नारदजी से कहा—यह करतूत आप ही की प्रतीत होती है। अस्तु, नारद के चले जाने पर कृष्ण ने अपने दूत को हस्तिनापुर भेजा और पांडु राजा से पाँचों पांडवों को सेना-सह वैतालिक समुद्र के पास भेजकर वहाँ अपनी प्रतीक्षा करने को कहलवाया। इधर से श्रीकृष्ण भी ससैन्य नियत स्थान पर पहुँच कर पांडवों के साथ रथों-सह अमरकंकड पहुँचे। राजनीति के अनुसार श्रीकृष्ण ने सारथी को पद्मनाभ के पास दूत के रूपमें भेजा। उसके समझाने पर भी पद्मनाभ के न मानने पर युद्ध प्रारंभ हुआ। प्रथम युद्ध पांडवों ने किया और वे हारे। भाग कर पांडवों ने सारा हाल कृष्ण से कहा। तत्काल कृष्ण रथारूढ़ हो युद्ध में पधारे। सर्व प्रथम शंखनाद किया। उसके शब्द-श्रवण मात्र से पद्मनाभ की तिहाई सेना भाग खड़ी हुई, फिर धनुष के टंकार से तिहाई सेना और भाग खड़ी हुई, तब हताश हो पद्मनाभ ने अपनी राजधानी में घुसकर नगरके द्वार बंद कर दिये। यह देखकर श्रीकृष्ण नगर के समीप आये और 'नृसिंह' रूप धारण किया और बड़े शब्दों के साथ पावों से आस्फालन करने लगे। इससे नगरी में मकान आदि गिरने लगे। अतः नगर में हा-हाकार-सा मच गया। इससे भयभीत हो पद्मनाभ द्रौपदी की शरण में आया। द्रौपदीने कहा—हे देवानुप्रिय (मूर्ख), तुमने पहिले नहीं जाना कि तुम कृष्ण से बैर बाँध रहे हो। अब भी अविलंब स्नान कर भीगी साड़ी पाँव तक पहिन, अंतःपुर की स्त्रियों एवं रत्नों के साथ मुझे आगे रख कर कृष्ण के चरणों में चलके उनकी शरण लो। वे उत्तम पुरुष हैं, संभव है कि ऐसा करने पर तुम्हें जीता छोड़ देंगे। पद्मनाभ ने अन्य उपाय न देख द्रौपदी के कथनानुसार वासुदेव के चरणों में पड़ कर कहने लगा कि "कृपया मेरी भूल क्षमा करिये, यों कहते हुए उसने द्रौपदी को कृष्ण के सुपुर्द की। कृष्ण ने भी उपालंभ देते हुए कहा, असमय की मृत्यु के प्रार्थी हे पद्मनाभ, तूने मेरी भगिनी (सदृश) द्रौपदी का हरण करते हुए तनिक भी विचार नहीं किया, जा चला जा। तदनंतर कृष्ण ने द्रौपदी को रथ में बैठा कर पांडवों के सुपुर्द की। पाँचों पांडव एवं द्रौपदी के साथ लवण समुद्र को पार कर जंबू द्वीप

के भरत क्षेत्र में पधारे। गंगा के समीप आकर कृष्ण ने पांडवों से कहा कि तुम गंगा के उस पार पहुँचो, मैं जरा सुस्थित देव से मिल के आता हूँ।

श्रीकृष्ण के चरित्र की अन्य घटनाएँ

जैनागमों के अनंतर कृष्ण-चरित संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंमें 'वसुदेव हिंडी' सबसे प्राचीन एवं उल्लेखनीय ग्रंथ है, जिसकी रचना 'संघदास' गणिवाचक ने ५ वीं शदी के लगभग की है। उक्त ग्रंथ में प्रधानता तो कृष्ण के पिता वसुदेव के १०० वर्षों तक परिभ्रमण कर अनेक विवाह करनेके वृतांत की है, पर कृष्ण, उनकी रानियों व पुत्रादि का भी उसमें अच्छा वर्णन पाया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म हरिवंश यादव कुल में हुआ था। इस वंश में एक 'हरि' नामक राजा हुआ उसकी रानी का नाम हरिणी था। इसी हरि राजा का वंश आगे चलकर 'हरिवंश' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

हरि के वंश में एक 'यदु' नामक राजा हुए। यदु के नामसे ही यादव प्रसिद्ध हुए। यदु के वंश में 'शौरि' और 'वीर' राजा बड़े भ्रातृ-प्रेमी हुए, जिनमें से शौरि ने शौरीपुर बसाया और वीर ने सौवीर। सौवीर के अंधकवृष्णि और वीर के भोजवृष्णि ये दो पुत्र हुए। इनमें से अंधकवृष्णि के भद्रा देवी से समुद्रविजय अक्षोभ, स्तिमिति, सागर, हिमवंत, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद्र और वसुदेव ये १० पुत्र एवं कुंती एवं मद्री दो पुत्रियाँ हुई और भोजवृष्णि के पुत्र उग्रसेन हुआ, जिसके बंधु, सुबंधु, कंस आदि पुत्र हुए।

प्रस्तुत ग्रंथ में उपर्युक्त वसुदेव के पूर्वभव व अनेक कन्याओं से विवाह के वृतांत के पश्चात् कृष्ण की माता देवकी से विवाहादि का उल्लेख आता है।

मुतिकावलि के राजा देवक के देवकी नामक पुत्री थी। उससे विवाह करके वसुदेव वापिस मथुरा पधारकर कंस, जो कि उनका बाल मित्र था—के यहाँ रहने लगे। एक बार कंस ने मुनि-बचन से अपनी मृत्यु देवकी के सातवें गर्भ से होना ज्ञात कर वसुदेवजी की प्रसन्नता के प्रसंग में उनसे देवकी के सात गर्भों की याचना की, उन्होंने भी सरलभाव से (मूल रहस्य को न जानकर) उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। देवकी से इसकी चर्चा होने पर उसने अतिमुक्त मुनि के वचन का सारा वृतांत वसुदेवजी को बतलाया। इससे वसुदेवजी को भी बड़ा पश्चाताप हुआ, पर उन्होंने अपने बचन-प्रतिपालनार्थ 'देवकी' के ६ गर्भ-जात पुत्रों को कंस को समर्पित कर दिये और कंस ने उन्हें मार डाला। इसके पश्चात् देवकी के गर्भ में कृष्ण अवतरित हुए। इससे उसने सात महास्वप्न देखे। अतः उसको भावी महापुरुष जान कर देवकी ने वसुदेव से अनुरोध किया कि जिस किसी प्रकार भी इस गर्भ की रक्षा कीजिये। दैवयोग से प्रसव के समय कंस के प्रेषित कंचुकी (विश्वासी पहरेदार) गाढ़ निद्रा में सो गये। इधर कृष्ण का जन्म हुआ, वसुदेव बालक को लेकर यमुना पर जाने लगे। उस समय चंद्र श्रवण नक्षत्र के योग में था। बालक को ले जाते हुए को उग्रसेन ने पूछा कि इस अद्भुत बालक को कहाँ ले जा रहे हो। वसुदेव ने कहा इसके प्रभाव से आप पुनः राजा होंगे। अतः इस बात को गुप्त रखिये। आगे जाने पर यमुना नदी ने भी मार्ग दे दिया। अतः उसे पारकर ब्रज—गोकुल में, वसुदेव पहुँचे। वहाँ नंद गोप की पत्नी यशोदा के थोड़े समय पूर्व ही कन्या उत्पन्न हुई थी। वसुदेव ने कुमार को उसे सोंपा और कन्या को स्वयं लेकर देवकी को सोंप दी और तब वसुदेव शीघ्र ही बाहर चले गये। इसी समय कंस की परिचारिकाओं की निद्रा भंग हुई और कन्या होने की कंस को खबर दी गई। कंसने उसकी नाक काट के उसे नाक हीन बना दी।

कुछ समय बाद गौ-पूजा के बहाने से पुत्र के निरीक्षणार्थ देवकी ब्रजमें गई। उसी समय से गौ-पूजा की परिपाटी चालू हो गई। इस प्रकार समय-समय पर देवकी ब्रज में जाकर कृष्ण को खिलाने लगी। इधर कंस ने नैमित्यक से अपने शत्रु के संबंध में पूछा तो उसने—ब्रज में वृद्धि पा रहा है, बतलाया। कंस ने कृष्ण को मारने के उद्देश्य से—यक्षोंको आदेश दिया कि वे नंद गोप के गोकुल में पहुँचें और गधे, घोड़े खुले छोड़ देवें। तदनुसार उनके खुले छोड़ने पर वे लोगों को कष्ट देने लगे। इससे

कृष्ण ने उनको मार डाला। कृष्ण के कलाभ्यास के लिये वसुदेव ने संकर्षण उपाध्याय को वहाँ भेजा। कृष्ण ने उससे कलाओं का अभ्यास किया।

कंस ने अपना पहला प्रयत्न विफल गया देख देवाधिष्ठित धनुष सत्यभामा के गृहमें रखवा कर उद्घोषणा करवाई कि जो इस धनुष को चढ़ावेगा उसके साथ सत्यभामा का विवाह किया जायगा। इस सूचना को पाकर सत्यभामा से विवाह करने का इच्छुक 'अनाधृष्टि कुमार' के ब्रज में आने पर बल-देव एवं कृष्ण उनके साथ हो गये। मथुरा पहुँच कर अनाधृष्टि धनुष को चढ़ाने में असफल रहे, तब कृष्ण ने उसे चढ़ा दिया। अनाधृष्टि ने वसुदेव को जाकर कहा मैंने धनुष चढ़ाया है। वसुदेवजी ने कहा अच्छा किया। पूर्व उद्घोषणानुसार धनुष चढ़ानेवाले से सत्यभामा का विवाह होगा। वसुदेव हिंडी का प्रथम खंड वर्तमान में यहीं तक उपलब्ध होता है, अतएव पूर्ति के लिये उसे आचार्य हेमचंद्र के त्रिपाष्टि शाला का पुरुष चरित[1] से यहाँ दे दिया जाता है।

आचार्य हेमचंद्र ने कृष्ण की जन्म-तिथि, गोकुल में बाल-लीला व कृष्ण के साथ गोपियों का बलदेव को भेजना, प्रेम होना, शकुनी और पूतना को मारना, कंस के प्रेषित अरिष्ट बैल, केशी अश्व, खर और मेष को मारना, धनुष चढ़ाने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वसुदेव ने अनाधृष्टि को कहा कि यदि तुमने धनुष चढ़ाया है तो शीघ्र यहाँ से चला जा, अन्यथा तुम्हें कंस मरवा देगा। इससे भयभीत होकर वह कृष्ण के साथ गोकुल आया व कृष्ण को वहाँ छोड़ कर स्वयं गौरीपुर चला गया।

कंस ने इस दावपेंच में भी अपनी विफलता देख कर मल्लयुद्ध की उद्घोषणा करवाई, जिसे सुनकर बलराम ने कृष्ण से कहा चलो, मल्लयुद्ध मथुरा चलकर देख आवें। बलराम ने यशोदा को स्नानादि के लिये गरम जल तैयार करने के लिये कहा, पर अन्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण उसने देरी कर दी। तब बलराम ने यशोदा से कहा कि तुम मेरे भाई का पालन करने से रानी हो गई हो क्या? क्या तू अपना दासीपन भूल गई? कृष्ण अब तक यशोदा को अपनी सगी माता समझ रहे थे। अतः बलराम का यह बचन उन्हें बहुत अखरा। कृष्ण के साथ यमुना में स्नान करने को जाते हुए रास्ते में बलराम ने सारा वृतांत बतलाते हुए यशोदा से उनका वास्तिविक संबंध प्रगट किया। कृष्ण ने बलदेव को कंस के अन्याय व अपने ६ भ्राताओं के मारने का वृतांत ज्ञातकर तत्काल कंस को मारने की प्रतिज्ञा की। यमुना में स्नान करते हुए कालियनाग को फुंकार करते हुए देख कृष्ण ने कमल की नाल के सदृश उसको पकड़ कर ऊपर स्वयं चढ़ बैठे। उसका दमन कर दोनों भ्राता मथुरा के द्वार पर पहुँचे तो वहाँ 'पद्मोत्तर' व 'चंपक' नामक दो हाथी उपद्रव मचा रहे थे। अतः पहले को कृष्ण ने और दूसरे को बलदेव ने मार डाला।

तदनंतर दोनों भाई कंस के मल्लयुद्ध के स्थान पर पहुँचे। कंस की आज्ञा से 'चाणूर मल्ल' कृष्ण से मल्ल युद्ध करने लगा, और 'मुष्टिक' बलराम से युद्ध करने लगा। अंत में दोनों भाइयों ने दोनों मल्लों को मारकर धराशायी कर दिया। यह देखकर कंस ने कृष्ण बलराम को पकड़ने के लिये सेवकों को आज्ञा दी। तब कृष्ण ने कंस के मस्तक पर पैर रखकर उसे मार डाला। तदनंतर कंस की रानी वहाँ से राजगृह जाकर रुदन करते हुए अपने पिता जरासंध से सारा वृतांत कहा। पिता ने आश्वासन देते हुए कृष्णादि यादवोंको सपरिवार मारने को कहा। सोमक राजा के द्वारा जरासंध ने समुद्रविजयी को कहलाया कि कंस के द्रोही राम व कृष्ण को मुझे सौंप दो, पर समुद्रविजयी इसे कैसे स्वीकार करते। सोमक ने जरासंध के सेना, पराक्रमादि का भय बतलाया तो कृष्ण ने साफ कह दिया कि पिता के पास पुत्रों की याचना करते जरासंध व तुम्हें शर्म नहीं आती, जावो अब से जरासंध हमारा स्वामी नहीं, कंस के समान शत्रु है। हमारे भ्राताओं को कंस ने मारा, यह हम अभी भूले नहीं हैं।

कृष्ण और अनाधृष्टि से तिरस्कृत हो सोमक ने जरासंध के पास जाकर सारा वृतांत कह सुनाया।

१. जैन-धर्म प्रसारक सभा भावनगर से इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इधर उग्रसेन राजा ने अपनी सत्यभामा कन्या को कृष्ण से विवाह दी। सोमक के जाने के बाद दशार्हों ने इकट्ठे होकर कौष्टुकि नैमित्तिक से पूछा कि अब त्रिखंडपति जरासंध से हमारा विग्रह खड़ा हुआ है कहो, इसका क्या परिणाम होगा। नैमित्तिक ने कहा—"राम और कृष्ण थोड़े समय में उसे मारकर त्रिखंड-पति बनेंगे। फिर भी आप लोग पश्चिम दिशा के समुद्र-तट की ओर चले जावो और जहाँ सत्यभामा के युगलिक उत्पन्न हो वहीं नगर बसा के रहो।" कौष्टिक के वचन पर विश्वास होने से समुद्रविज-यादि ग्यारह कुलकोटि के साथ मथुरा से रवाना हो शौरीपुर आये और वहाँ से पाँच कुल कोटि यादवों को साथ ले उन्होंने पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया।

इधर जरासंध सोमक से सर्व वृतांत जानकर क्रोधित हुआ, इसी समय उसके पुत्र काल-कुमार ने कहा कि यादव हमारे सामने क्या हैं, मुझे आज्ञा दीजिये मैं उन्हें समुद्र, अग्नि व आकाश में भी होंगे तो पकड़ के ले आऊँगा। जरासंध ने ५०० राजाओं की विशाल सेना के साथ कालकुमार को चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी। तदनुसार कालकुमार ने यादवों का पीछा किया। चलते-चलते विंध्या-चल के समीप पहुँचने पर यादव थोड़ी दूर रह गये, तब यादवों की कुल देवी ने कालकुमार को छल द्वारा वहीं भस्म कर दिया। इससे यादव निर्विघ्न आगे बढ़े और सत्यभामा के युगलिक उत्पन्न होने के स्थान पर ठहर गये। युगलिक पुत्रों का नाम 'भानु' और 'भ्रामर' रखा गया। कृष्ण ने स्नान कर 'अट्ठम तप' द्वारा लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का आराधन किया। उसने प्रसन्न होकर कृष्ण को 'पांचजन्य' शंख व राम को 'सुघोष' शंख देते हुए अपने को स्मरण करने का कारण पूछा। कृष्ण ने नगर बसाने के लिये प्रार्थना की। तब देव ने इंद्र से निवेदन किया। इंद्र की आज्ञा से कुवेर ने १२ योजन लंबी ६ योजन चौड़ी रत्नमयी द्वारका नगरी बसाई। कुवेर ने कृष्ण को पीतांबर, नक्षत्र माला, हार, मुकुट, कौस्तुभमणि, शार्ङ्गधनुष, अक्षय वाणवाले भाथे, नंदक खंग, कौमोदकी गदा, गरुड़ध्वज रथ और राम को नील वस्त्र, लाल ध्वजादि दिये। कृष्ण ने दारुक नामक सारथि वाले रथ में बैठ कर द्वारका में प्रवेश किया। यादव अब वहाँ सुखपूर्वक रहने व बढ़ने लगे।

त्रिषष्ठी सलाका पुरुष चरित्र में इसके पश्चात् कृष्ण के विवाहादि का उल्लेख आता है, वह वर्णन वसुदेव हिंडीमें भी आता है।

बलराम के 'रेवती' नामक पटरानी थी, जो उसके मामा 'रेवत' की पुत्री थी। कृष्ण के उग्रसेन की पुत्री सत्यभामा प्रिय पटरानी थी। समवायांग सूत्र में भी कृष्ण की आठ पटरानियों के नाम हैं, यथा—

१. रिंटपुर के राजा रुधिर की पुत्री 'पद्मावती' जिसको स्वयंवर-मंडप से श्रीकृष्ण ने हरण कर के विवाह किया था।
२. सिंधु देश के मेरु राजा की पुत्री 'गौरी'।
३. गांधार-जनपद के राजा नग्नजित की पुत्री 'गांधारी'।
४. सिंघल द्वीप के राजा हिरण्यलेस की पुत्री 'लक्ष्मणा'।
५. अराकरी नगरी के राजा राष्ट्रवर्धन की पुत्री 'सुसीमा'।
६. गगनंदन नगर के विद्याधर राजा की पुत्री 'जांबवती'।
७. विदर्भ जनपद के कुंडिनपुर नगर के राजा मेषक की पुत्री 'रुक्मिणी'।

रुक्मिणी का संबंध रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ निश्चित कर दिया था, पर रुक्मिणी की बुआ और रुक्मिणी कृष्ण के साथ विवाह करना चाहती थी। अतः उनके द्वारा कृष्ण को सूचना देने पर विवाह के अवसर पर द्वारका से श्रीकृष्ण और बलराम कुंडिनपुर आकर रुक्मिणी का हरण करके ले जाने लगे तब रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने श्रीकृष्ण-बलराम के साथ घोर युद्ध किया और उनसे परास्त हो गया। तदनंतर श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारका के समीप पहुँचे तो यक्षों ने उनका विवाह संबंध कर दिया। इस प्रकार सत्यभामा के पश्चात् उपर्युक्त सात कन्याओं से पाणिग्रहण कर इन आठों को श्रीकृष्ण ने पटरानी-पद पर आसीन कर दिया।

इसके पश्चात् वसुदेव हिंडी में भी श्रीकृष्ण के पुत्रों के जन्म होने की कथा है, जिसमें रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के प्रथम उत्पन्न होने, उसके हरण, शोध, पुनर्मिलन, चमत्कार दर्शन, रुक्मी की पुत्री वैदर्भी से विवाहादि का वृतांत जो कि वसुदेव हिंडी से संक्षेप में दिया जाने पर भी कृष्ण-चरित्र की महत्त्व-पूर्ण एक घटना बाकी रह जाती है। अतः उसे 'त्रिषष्ठी सलाका पुरुष चरित' से संक्षेप में यहाँ देकर लेख समाप्त किया जाता है। वह घटना यह है—

"जरासंध को मार कर श्रीकृष्ण का अर्द्ध भरताधिपति वासुदेव होना, कालकुमार के साथियों के वापिस लौट कर आने पर उनके कथनानुसार यादवों के विनाश को जानकर जरासंध और जीवयशा निश्चिंत हो गये थे, पर एक दिन कुछ व्यापारी यवन द्वीप जाते हुए जल-मार्ग से राजगृह पहुँचे और उनके द्वारा जरासंध की पुत्री जीवयशा (कंस की विधवा स्त्री) को ज्ञात हुआ कि कृष्ण जीवित हैं, इस पर वह जरासंध के पास जाकर कहने लगी कि मैं जलकर भस्म हो जाऊँगी। तब जरासंध ने उसको आश्वासन देकर मंत्रियों के निषेध करने पर भी द्वारका पर चढ़ाई कर दी और उसका श्रीकृष्ण से घोर युद्ध हुआ। अंत में जरासंध ने अपनी विजय होते न देख कर कृष्ण पर चक्र फेंका। चक्र, श्रीकृष्ण ने हाथ में ले लिया और उसी चक्र से जरासंध का बध कर दिया। तदनंतर श्रीकृष्ण नवम वसुदेव अर्द्ध-भरताधिपति हुए और देवताओंने पुष्प वर्षा की।"

कृष्णचरित-संबंधी जैन-ग्रंथ

जैनागमों एवं वसुदेव हिंडी के परवर्ती जैन-ग्रंथों में निर्युक्तिचूर्णि भाषा आदि जैनागमों की प्राचीन टीकाओं का स्थान है। प्रथमानुयोग ग्रंथ में महापुरुषों के चरित थे, वे ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध स्वतंत्र महापुरुष चरित ग्रंथों में 'पंडप चरित' ही सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जिसमें रामायण की कथा भी वर्णित है। इसके रचयिता विमल सूरिने 'हरिवंश ग्रंथ' भी बनाया था, पर वह अब अनुपलब्ध है। उपलब्ध कृष्ण-चरित-संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों में 'दि० पुनाटसंघीय जिनसेन रचित 'हरिवंश पुराण' है जो कि शक सं० ७०५ में रचित है।

कृष्ण-चरित-संबंधी परवर्ती जैन-ग्रंथों में हरिवंश पुराण, चउपन्न महर त्रिषष्ठी पुरुष चरित, नेमिचरित एवं प्रद्युम्न चरित संज्ञक ग्रंथ हैं। ये ८ वीं सदी से १६ वीं तक रचे गये हैं और वैसे अब भी नेमिचरित्रादि ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। उन ग्रंथों-द्वारा कृष्ण-चरित-संबंधी विशाल जैन-साहित्य का परिचय पाठकों को प्राप्त हो सकता है। ये ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, गुजराती, राजस्थानी यावत् कन्नड भाषा तक में लिखे गये हैं। उनकी सूची जिनसेन कोष, जैनगुर्जर कवियों अनेकादि में प्रकाशित, दिगंबर-ग्रंथ-सूची आदि के आधार से तैयार की गई है।
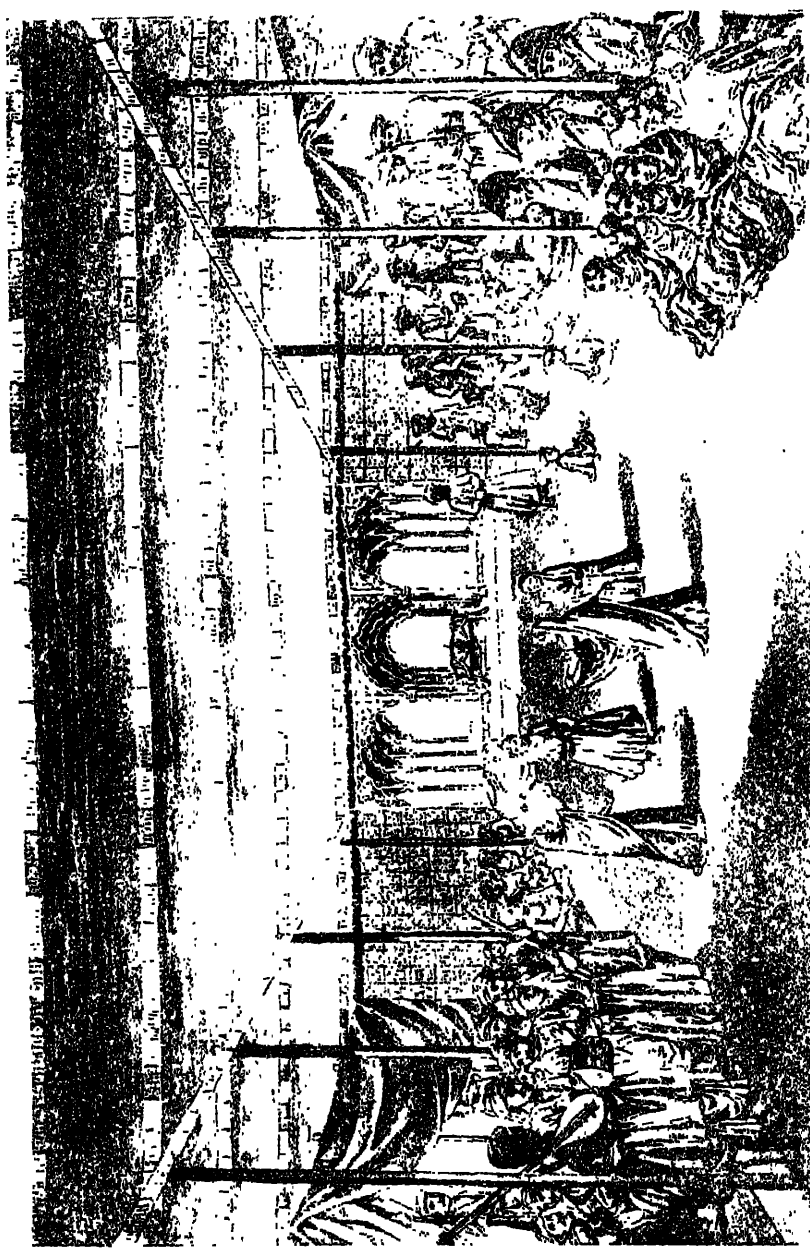
रासलीला के विदेशी-दर्शक

रासलीला के विदेशी दर्शक

श्री नारविन हईन हेवन

रासलीला मथुरा मंडल की अपनी विशेषता है, जिसमें ब्रज की भक्ति, कला, संगीत और नृत्य धर्म-काव्य के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। इन पंक्तियों के लेखक को हिंदी भाषा-भाषियों से रासलीला के संबंध में कुछ कहने में संकोच हो रहा है, क्योंकि अनेकों ने प्रत्यक्ष रूप से रासलीलाएँ देखी हैं, अथवा उनके विषय में पर्याप्त सुना है और वाल्यवस्था से ही रास-संबंधी गीत वे गाते रहे हैं, किंतु तब ऐसे बहुश्रुत व्यक्तियों को भी रासलीला से संबंधित अंग्रेजी साहित्य के विवरण अत्यधिक रोचक प्रतीत होंगे तथा योरुप के उन आदि यात्रियों के विवरणों का स्वागत करेंगे, जिनको ब्रज के रास देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

रासलीला धार्मिक कृत्य है, अतः विद्वानों को विस्मय होगा कि विदेशियों को ये लीलाएँ देखने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ। रासलीलाएँ खुले राज-मार्गों और जन-वीथिकाओं में नहीं होती। सर्वसाधारण उन्हें देखने का अवसर भी नहीं पा सकता। रासधारी-वर्ग इन लीलाओं का प्रदर्शन कौतूहल मात्र के लिये भी नहीं करता। कृष्ण-भक्तों का यह आनंद रहस्य है, जिसे वे खुले मार्ग में सर्व-साधारण स्थल, सिनेमाघरों में नहीं दिखा सकते। कुंजविहारी के मंदिर में अथवा रसिक भक्तों के निवास-स्थानों में रासलीलाएँ की जाती हैं। विद्वान् से विद्वान् यात्री भी जो उत्तरी भारत में दीर्घकाल तक रहे हैं और जिन्होंने यहाँ का पर्याप्त पर्यटन किया है, रास के आनंद-दायक दर्शनों से वंचित रहे हैं; वे नहीं जान सके हैं कि 'सूरसेन' की इस प्राचीन नगरी में भारतीय 'नाटच' की अनुकृति अपनी परंपरा सदा से बनाये हुए हैं और भारतीय-कलाओं में अपना विशेष स्थान रखती है। केवल थोड़े से विदेशी यात्री भाग्यवश अथवा अपनी प्रकृति के सौहार्द्र से इन रासलीलाओं का आनंद-लाभ कर सके हैं और उन्होंने अपनी अक्षुण्ण स्मृति को लेख-बद्ध किया है। यह सब विद्वान् यात्री एक मत हैं कि "रासलीला निश्चय रूप से अतीव आनंददायी दृश्य-काव्य है और साधारण नाच-तमाशों से श्रेष्ठ है।"

इन विवरणों का पूर्वापर आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लिखा गया है। अंग्रेजी भाषा में रास-लीला का सर्वप्रथम उल्लेख 'जेम्स टाड' की कृति "दि टानल्स एंड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान" (१८२९ में प्रकाशित) में मिलता है। सन् १८०५ में मि० टाड को उनकी सरकार द्वारा डिप्लोमैटिक सर्विस में राजस्थान भेजा गया था। आप इंदौर में श्रीमंत 'दौलतराव सिंधिया' के दरबार में दस वर्ष तक रहे। टाड लिखते हैं कि रासधारी वर्ग रास प्रदर्शन के लिये प्रत्येक वर्ष जन्माष्टमी के अवसर पर मथुरा से आया करता था तथा दरबार में जन्माष्टमी के दिन गोपी तथा कृष्ण-कन्हैया के प्रसंग का दृश्य उपस्थित करता था। यही निश्चित रूप से रासलीला थी। यद्यपि टाड साहब इस उत्सव का विषय उल्लेख नहीं करते, फिर भी वह लिखते हैं कि 'रासमंडल-नृत्य' हुआ था तथा ब्रज की लय-धारा में मौखिक अभिनय हुआ था, अनेकों अवसरों के विवरणों का टाड साहब इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

> **"उन पात्रों की जो कृष्ण तथा उनके सखाओं और सखियों का अभिनय करते हैं, भाव-गीत अत्यंत प्रभावपूर्ण होते हैं, उनके कथोपकथन अत्यंत हृदयस्पर्शी होते हैं। मथुरा और वृंदावन के चौबे संगीत-विद्या में पारंगत हैं। इन गायक-अभिनेताओं की करुणार्द्र स्वर-लहरियों में जब**

भक्त-हृदयों का आनंद-रस संमिलित हो जाता है तो मुरली के स्वर में यह राग अत्यंत आह्लाद-कारी प्रतीत होता है ।"

इस उल्लेख ने दूसरे विदेशी यात्रियों के विवरणों का पर्याप्त समर्थन पाया है ।

दूसरा अत्यंत रोचक एवं पूर्ण रासलीला-संबंधी उल्लेख सन् १८०९ में 'टामस डूएर ब्रोटन' द्वारा लिखा गया था। ये माधोजी सिंधिया के कैंप में ब्रिटिश रेजिडेंस के प्रधान अंग-रक्षक थे। ये विवरण "लैटर्स रिटिन इन ए मरहैठा कैंप ड्यूरिंग दी इयर १८०९" में मिलता है। ३० अगस्त सन् १८०९ का पत्र जो उदयपुर की उत्तरी सीमा पर 'रुपहली' नामक स्थान पर लिखा गया था, इस संबंध में महत्त्वपूर्ण है। जन्माष्टमी का पर्व था, शिविर में इस महोत्सव की सज्जाएँ हो रही थीं। महाराजा ने इस वर्ष भी एक बड़ा शामियाना बनवाया था। मथुरा से रासधारी आये हुए थे। रासधारियों के कृत्य के संबंध में वह लिखता है—

"वे प्रायः किशोर होते हैं, ब्राह्मण होते हैं। मथुरा में रास-संबंधी शिक्षा पाते हैं, जहाँ एक बड़ा भूभाग उनकी आजीविका का साधन है। इस ऋतु में वे देश के विभिन्न भागों में हिंदू राजाओं के दरबारों में रास करने के लिये निकल पड़ते हैं। गायकों के अतिरिक्त चार अभिनेता भी हैं और सब सुंदर वदन हैं।"

महाराजा ने शिविर के प्रभावशाली व्यक्तियों को जन्माष्टमी के उत्सव में रात्रि को निमंत्रित किया। ब्रोटन भी बुलाये गये और उन्होंने जिस उत्सव में भाग लिया, उसका उल्लेख वह इस प्रकार करते हैं—

"जिस शामियाने में हमें विठाया गया था, वह १५० फीट लंबा था। वह तीन भागों में विभाजित था, बाँसों और बल्लियों पर रंगीन कागज चढ़ा कर एक बाड़ खड़ी कर दी गई थी, जिन पर दीपक जल रहे थे। सामने दो फीट ऊँचा रंगमंच था। इसके स्तंभ और शिविकाएँ भली प्रकार चित्र-वेष्ठित थीं, इसे सिंहासन कहते हैं। इसके मध्य में फूलडोल था। फूलडोल में पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य मणियाँ सुसज्जित थीं। पुष्प-गुच्छ, पुष्प-मालाएँ फूलडोल में विहँसते हुए बालगोविंद को ढकेल रहीं थीं। पंडितों, ब्राह्मणों का समुदाय अर्चना कर रहा था। कुछ व्यक्ति पंखा खींच रहे थे। शामियाने का मध्यभाग नर्तकों के लिये छोड़ दिया गया था। शेष दोनों ओर का स्थल दर्शकों से परिपूर्ण था।"

मि० ब्रोटन उस दृश्य का उल्लेख शब्दों में ही नहीं करते, वरन् इस अवसर का तैल-चित्र भी उन्होंने रेखांकित किया है, जिसमें रंगमंच तथा पात्रों के वाद्य, आभूषण आदि सभी कुछ चित्रित हैं, शब्दों में उसका चित्रण इस प्रकार है—'शामियाने के मध्य में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही हैं, उनके वस्त्र वैसे ही हैं, जैसे आज भी ब्रज की रासलीला में प्रचलित हैं। उनके बाईं ओर संगीत-समाज सुशोभित है, उसमें कुछ गायक ऐसे वाद्य बजाते हैं जिनका प्रचलन अब नहीं रहा है। दाईं ओर महाराजा अपने सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके निकट उनके शरीर रक्षक खड़े हैं और विशेष अतिथि बैठे हुए हैं। अतिथियों में हमें लालकोट पहिने तीन ब्रिटिश अफसर बैठे दिखाई पड़ते हैं जो अपने समय का परिधान किये हुए हैं उनमें से एक संभवत ब्रोटन साहब हैं', जिन्होंने उस रात्रि का वर्णन इस प्रकार किया है—

"एक या दो नृत्य होने के उपरांत रासधारी जो सामने की ओर एक ऊँचे मंच पर बैठे थे और जिनके चारों ओर चोबदारों, चौरीवर्दारों तथा अन्य सेवकों का समूह था—आगे-आगे उनमें जो तरुण किशोर था वह कन्हैया के स्वरूप में था—कन्हैया, कृष्ण का—ब्रज का और बाल-लीला का नाम है। सबसे छोटा किशोर कन्हैया की प्रेयसी—राधिका बिना था। रास 'बैलेट' (समूह-नृत्य) के समान हुआ, इसमें प्रेम की भावना और चांचल्य का प्रादुर्भाव था, किंतु सब

कुछ रोचक और दिव्य था, गोपियों के साथ—गोकुल की बालाओं के साथ—भाषा में, जो ब्रज-प्रांत में बोली जाती है—गायन हुआ। ब्रज, मथुरा के आसपास का भू-प्रांत है, यहाँ कृष्ण का प्रारंभिक जीवन व्यतीत हुआ था। उस प्रदेश की भाषा का ज्ञान यूरोपवासियों को अधिक नहीं है, फिर भी सुनने में भी यह कर्ण प्रिय नहीं लगती—सुनी हुई-सी भी नहीं जान पड़ती, किंतु प्राचीन हिंदू-कवियों की अधिकतम निधियाँ इस भाषा में सुरक्षित हैं और मुझे विश्वास है कि इस भाषा के किसी भी विद्यार्थी के लिये यह आकर्षण और रुचि की वस्तु है।"

मि० ब्रोटन ने इस अवसर पर गाये हुए, दो पदों की भी प्रतिलिपि लेकर उन्हें अपने 'पत्रों' में संकलित कर दिया। पदों का अंग्रेजी-अनुवाद अत्यंत सुंदर है। रासधारियों की यह रासलीला इस तथ्य की द्योतक है, आज से एक सौ-पचास वर्ष पूर्व भी रासलीला पूर्णतः भारतीय विद्या थी, क्योंकि उसका स्वरूप भारतीय कथोपकथन के समान था। गीत, कृष्ण और गोपियों के प्रेमानुद्दीपिका हैं और इसी में गोपियाँ यशोदा को कृष्ण की माखन-चोरी का उपालंभ देती हैं—वैसे ही जैसा आजकल की 'दानलीला' और 'माखनचोरीलीला' में होता है। यद्यपि अंग्रेजी के अनूदित पदों में भी पर्याप्त सौंदर्य है तथापि उनका पूर्नानुवाद देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है ऐसा करने से वस्तु की आत्मा खो जायगी।

मि० ब्रोटन ने जिस सौंदर्य से चित्रण किया है, मि० टाड भी उसका अनुमोदन करते हैं—

"रासधारियों का संगीत और नृत्य दोनों साधारण कलाकारों से उत्कृष्ट था। उनके हाव-भाव आकर्षक थे और उनका स्वर स्वाभाविकता का अतिक्रमण नहीं करता था। उनका परिधान रुचि पूर्ण और समुचित था—विशेष रूप से कन्हैया जिनके सिर पर सूर्यकांत मणि थी, गले में रत्नों की माला थी; अत्यंत भव्य लग रहे थे। समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने हुए थे महाराजा के भंडार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरांत कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओं का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और संयत हुआ कि इतने छोटे बालकों में वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पड़ी। रासधारियों के साथ जितने वादक थे और बालक थे—सभी ब्राह्मण थे और यह अत्यंत आनंद का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरांत उनमें से प्रत्येक राजा के संमुख विनत होने के स्थान पर एक-एक करके महाराज के सामने आया—और अपने छोटे-छोटे हाथ उठा कर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिये उनके संमुख विनत हुए। उसके उपरांत शीघ्र ही हम चले आये। इस संध्या के उत्सव से हम अत्यंत प्रमुदित थे।"

ब्रोटन के पत्र उन विद्वानों का ध्यान 'रासलीला' की ओर आकर्षित नहीं कर सके जिन्होंने भारतीय नाटकों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके उपरांत सन् १८७४ ई० में दूसरा साक्ष्य अंग्रेजी-साहित्य में हमें प्राप्त होता है—'एफ० एस० ग्रूस, मथुरा डिस्ट्रिक्ट मोमाया, गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद' का, लेखक ने इसमें रासधारियों और रासलीला को समझाने का प्रयत्न किया है। रासधारियों के विषय में वह कहता है—

"ब्राह्मणों का एक वर्ग जो मुख्यतः 'करहला' और 'पिसाये' के ग्रामों में निवास करता है और जिनका मुख्य कार्य रास-लीलाओं का निरीक्षण है। रास अलिखित धार्मिक रूपक है, जिसमें कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएँ व्यक्त होती हैं, यह मध्य कालीन यूरोप के 'मिरेकिल-प्लेज' के सम रूप है। संपूर्ण रास एक या उससे अधिक समय में समाप्त होता है। प्रत्येक दृश्य अपने मौलिक रूप में, मौलिक स्थल पर प्रदर्शित होता है। जिस दृश्य को बड़े सौभाग्य से मैं देख सका विवाह का दृश्य था, जो संकेत में व्यक्त किया गया था। रंगमंच के स्थान पर एक वाटिका थी, पृष्ठ-भूमि में एक लाल पत्थर का मंदिर था, ऊपर पूर्णिमा का चंद्रमा था, सामने से अनेकों दीप-रश्मियों का प्रकाश पात्रों के मुख पर बिखर कर एक अपूर्व दीप्ति फैला देता

था। दृश्य अत्यंत मनोहारी था और प्रेम की लीला में भी किसी प्रकार के अविचार का आभास नहीं था।"

मि० ग्रूस के कथन का यह अभिप्राय है कि यद्यपि रासलीला कृष्ण और गोपियों के प्रेम-तत्व का निर्वाह करती है और इसीलिये अनैतिकता संबंधी प्रश्न उन पर उठाया जा सकता है, किंतु ये लीलाएँ वैसी समस्त कलुषित भावनाओं से परे हैं।

हमारे इन तीनों लेखकों का रास-संबंधी विवरण वास्तव में अपर्याप्त है और वे कुछ ऐसे विचार व्यक्त कर गये हैं—जो भ्रांति-पूर्ण हैं। उदाहरण के लिये टाड ने लिखा है कि 'जन्माष्टमी पर रास में जो गीत गाये जाते हैं वे जयदेव के 'गीतगोविंद' का भाषानुवाद हैं'। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि रासधारी सदियों तक गीतगोविंद का ही अभिनय करते रहें, यद्यपि रासलीला में कभी-कभी जयदेव के संस्कृत के पद भी गाये जाते हैं। मि० ग्रूस ने रासलीला को मथुरा प्रांत की ही वस्तु मानी है और विश्वास प्रकट किया है कि रास 'वनयात्रा' के अवसर पर ही—

जो मथुरा की सीमा में ही विचरती है, होते थे।

जबकि हम देख चुके हैं कि ग्रूस के समय में वे ही रास-मंडलियाँ देश के विभिन्न भागों में रास करने जातीं थीं। दूसरे अवतरण में जो यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है, ग्रूस ने यह लिख कर भूल की है कि रासलीला के अभिनेता मूक अभिनय करते थे और मंडली का स्वामी कथनोपकथनों की पूर्ति करता था। ब्रूटन और टाड के लेख इस बात के साक्षी हैं कि गत ई० शताब्दी के प्रारंभ में ही रासलीला कथोपकथन-पूर्ण अभिनय के रूप में थी और उसके सब पात्र कथोपकथनों में भाग लेते थे।

इन तीनों लेखकों की कृतियोंका मूल्य इस बात में नहीं है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते हैं, वरन् वे हमारे ध्यान को मथुरा-प्रांत की इस अपूर्व 'नाट्य-कला' की ओर आकर्षित करते हैं, जो परंपरा से वहाँ चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका परम मूल्य है। वे लेखक अत्यंत विद्वान् और प्रतिभाशील मनुष्य थे। इनका कथन प्रभाव पूर्ण है। इन तीनों ने रासलीला की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। जिन लीलाओं को उन्होंने देखा, वे सांगोपांग उन्हें अच्छी लगीं। वस्त्र, परिधान के विषय में वे लिखते हैं कि "वह अत्यन्त आकर्षक, रंग-बिरंगी और सुंदर थीं, मंडली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह-पूर्ण रीति से करता था।" रासधारियों के संगीत पर तो हमारे लेखक मुग्ध थे। हम जानते हैं कि विदेशियों के लिये किसी देशका सुंदर से सुंदर और भाव-पूर्ण संगीत भी कोई अर्थ नहीं रखता। वह उसका आनंद उपलब्ध नहीं कर सकते और न अपने शब्दों में उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते हैं। विदेशी संगीत सदैव प्रशंसा और श्रद्धा से वंचित रहता है, किंतु रासलीला को इसका गर्व है। इन लेखकों ने उसके संगीत की प्रशंसा में कहा है कि "रासधारियों का स्वर कोमल है, मजा हुआ है और आकर्षक है।" मुझे यह और कहने का साहस है कि इन लेखकों ने ऐसा लिखकर कोई अतिशयोक्ति अथवा भूल नहीं की है—नहीं इससे भी अधिक यह कहना भी आवश्यक है,—"बालक अभिनेताओं के कथोपकथन अत्यंत शुद्ध और पूर्ण होते थे—वे भाव के शुद्ध वाहक थे। जिस स्वाभाविक उत्साह से ये बालक अभिनय करते थे—वार्तालाप करते थे, उसमें इन बालकों के शिक्षकों का धैर्य और प्रतिभा परिलक्षित होती थी और अंत में यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि यद्यपि ये लीलाएँ अतीव भक्ति पूर्ण हैं तथापि इनमें आनंद और प्रमोद का पर्याप्त अवकाश है।"

बीती हुई शताब्दी के अन्य जन-प्रिय विनोदों में रास का क्या तुलनात्मक महत्व है? अठारह और उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनों निम्न स्तर पर थे। विद्वद्वर्ग भी अपने प्राचीन साहित्य को भूल गया था, सामान्य जीवन में प्राचीन कलाओं का कोई सूत्र तत्संबंधित नहीं था। जन-रुचि कुंठित हो गई थी, किंतु ऐसे समय भी रासलीला ने जनता से

संमान और श्रद्धा प्राप्त की। भारतीय नाट्य के अंधकार युग से रासलीला क्यों अप्रभावित—अक्षत रही? इसके कई कारण हो सकते हैं, किंतु दो कारणों का उल्लेख निःसंकोच किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि रासलीला अंततः धार्मिक रूपक है। भारतवर्ष के सभी प्राचीन नाटक,—यह सत्य है नाम से तो धार्मिक है, किंतु रासलीला में केवल रूढ़ि के लिये ही धर्म की छाया नहीं रहती, वह नितांत भक्ति-पूर्ण भावावेशों का समीकरण है। इसके दर्शक भी वे भक्त-हृदय होते हैं, जो अपने इष्टदेव का लीलामृत पान करने के इच्छुक होते हैं ऐंद्रिक आमोद-प्रमोद ग्रहण करने वाले नहीं। इस प्रकार रासलीला सामूहिक उल्लास के कुप्रभाव से सदा सुरक्षित रही है।

रासलीला को दूसरा संलाभ यह था कि इसे विद्वान् और मेधावी व्यक्तियों का नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिन्हें जन-संमान और पर्याप्त धन प्राप्त था। भारतीय अभिनेता को कालांतर से अत्यंत कठिन-जीवन व्यतीत करना पड़ा है। समाज में न उनका संमान था न उन्हें अपने परिश्रम का पर्याप्त पारितोषक मिलता था, समाज के उच्चतर और विद्वद्वर्ग में उन्हें समता प्राप्त नहीं थी। समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति भी आत्म-संमान को ठेस लगाये बिना अभिनेता का जीवन नहीं अपना सकते थे। अतः भारतीय रंगमंच नितांत रूप से अशिक्षित वर्ग के हाथ में दे दिया गया और इसका नैतिक तथा कलात्मक स्वरूप नष्ट हो गया। रासलीला का ऐसा नैतिक और सांस्कृतिक पतन अपने शिष्ट नेतृत्व के कारण संभव न हो सका। रासलीला के दिग्दर्शक और अभिनेता विद्याभ्यासी व्यक्ति थे, वे रास में सुंदर एवं उत्कृष्ट काव्य का प्रयोग करते थे। उनकी आय भी पर्याप्त थी और दीनता-दरिद्रता के अभिशाप से वे मुक्त थे। सभी प्रकार के समाज में उनकी पहुँच थी। ऐसे सुसंस्कृत और आत्मसंमानी विद्वानों के नेतृत्व में रासलीला कला के दुर्द्धर्ष युग में भी सुरक्षित और सुसंपन्न रही है।

कृष्ण की बुंदेलखंडी रास-मंडली

श्री कृष्णानंद गुप्त

"कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।
तुलसाँ, रुकमिन, पुनियाँ, मुनियाँ,
सुनियाँ और खुमनियाँ,
वा[1] तो ओढें कुसुम-रंग-चुँनरिया--
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।।
चतुरा, मथुरा, बेटी बैया,[2]
रँमबैया, हरबैया, जेंबैया
वा तौ पैरें बजनूं नोंनीं[3] घुंघरिया--
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरिज की गुजरिया।।
लछिया, मंनी, बिरज की गोरी,
हरकुरिया रँमकुरिया, मोरी,
रोजई[4] करैं सास की चोरी--
वा तौ पैरें चिलकनीं[5] नोंनीं मुंदरिया[6]--
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।।
जमुनाँ, सरसुतिया, परबतिया,
तिजिया, पुतिया, सुतिया, बुँदिया,
पेरैं नाक में नोंनीं पुंगरिया[7]--
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।।
छूंम छूंम छँना न न नाँ हँम चले आवें,
तुम कों गीत-मलार सुनावें।
नाँच, गावें, ताल-बजावें,
हँम तुंम हिल-मिल रास-रचावें,
घर के लोग कुटँम खिसयावें।
सिर सें उड़-उड़ जावें मोरी, चुंनरिया,
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।।
कृष्णा प्यारे, बंसी-बारे,
जसुमत-बारे, नंद-दुलारे,
सब के प्यारे, सबसें न्यारे,
सब हि के हौ तुंम रखवारे।
तुंमनें गिरिबर नख पै धारे,
तुंम पैहलाद भक्त से तारे,
ऐसे दीन दयाल के प्यारे,
फिर से ऊसियई[8] बजा दै धुंन की मुरलिया,
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।।"

[1]. वा तौ--वह तो। [2]. बेटी बैया--बेटी बाई। [3]. नोंनीं--भली, अच्छी, शोभन। [4]. रौजई--नित्य-ही। [5]. चिलकनीं--चिलकदार। [6]. मुंदरिया--मुंदरी, अंगूठी। [7]. पुंगरिया--पूंगरिया, नाक की कील। [8]. ऊसियई--उसी तरह की, वैसी ही।

प्राचीन गुजराती-साहित्य में श्रीकृष्ण

श्री बेचरदास, दोषी

गुजराती भाषा के तीन युग माने जाते हैं, प्राचीन युग की गुजराती, मध्यम युग की गुजराती और अर्वाचीन युग की गुजराती—प्रस्तुत लेख में केवल प्राचीन और मध्ययुग की गुजराती-भाषा में जो साहित्य लिखा गया है, उसमें श्रीकृष्ण के साथ सीधा या परंपरा से जो साहित्य पद्य या गद्य में लिखा गया है उसका कुछ परिचय दिया जाता है।

प्राचीन युग की गुजराती में लिखा गया साहित्य केवल जैन पंडितों का ही लिखा हुआ है। जैन कवियों की दृष्टि में श्रीकृष्ण उत्तम प्रकार के मानव, बड़े वीर, बड़े पराक्रमी और प्रजा पालक थे। लगभग बारहवीं शताब्दी के महान् वैयाकरण, आलंकारिक और अपने देश की भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण बनाने वाले गुजराती के महा ज्योतिर्धर आचार्य 'हेमचंद्र' ने गुजराती व्याकरण में बहुत से उदाहरण ऐसे दिये हैं, जिनका संबंध श्रीकृष्ण के साथ है। देखिये—

"बलिमभ्यर्थने मधुमथनः लघुकी भूतः सोऽपि।
यदि इच्छति वृद्धत्वं वदत मा मार्गयतः कस्यापि ।।"[1]

अर्थात्, जब मधु-मथन नारायण बलिराज के पास अभ्यर्थना के लिये गये तब वे भी लघु (छोटे) होकर ही गये थे, जो अभ्यर्थना करनेवाला है उसे छोटा होना ही पड़ता है। इसी प्रसंग का एक पद्य इस प्रकार लिखा है—

"मया भणितः बलिराजत्वं कीदृशः मार्गणो ह्येषः।
यादृशः तादृशः क्वापि भवति मूढ स्वयं नारायण एषः ।।"

हे बलिराज, मैंने तुमको कहा कि यह मिदुक कैसा है, बलिराज कहते हैं कि यह मिदुक कैसा भी है, किंतु हे मूढ़, यह तो स्वयं नारायण हैं और —

"एकामेकां यद्यपि पश्यति हरिः सुष्ठु सर्वादरेण।
तथापि दृष्टिं यत्र क्वापि राधाकःशक्नोति संवरीतुं दृढ नयनां स्नेहेन प्रक्षिप्ताम् ।।"

अर्थात्, श्रीहरि प्रत्येक गोपी को बड़े स्नेह भाव से आदर के साथ देख रहे हैं, तो भी जहाँ कहीं राधा जाती हैं वहाँ ही श्रीहरि की स्नेह दृष्टि जाती है, ऐसी स्नेह-दृष्टि को कौन छिपा सकता है।

जैन-संप्रदाय में चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं; उसमें तेईसवें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' को श्रीकृष्ण के चचेरे भाई माने गये हैं। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव थे और माता देवकी थी, नेमिनाथ के पिता 'समुद्रविजय' थे और माता 'शिवा' देवी थी। नेमिनाथ बड़े बलिष्ठ थे, बालब्रह्मचारी थे, श्रीकृष्ण का पांचजन्य नाम का शंख कोई नहीं फूंक सकता था। उस शंख को नेमिनाथ ने फूंक कर बजा दिया था। तब श्रीकृष्ण को इनके विवाह की चिंता हुई कि इतना जबरदस्त बलिष्ठ भाई क्यों अविवाहित रहे, अतः उनको विवाह के लिये मनाने को श्रीकृष्ण अंतःपुर-उद्यान-क्रीड़ा करने के लिये उपवन में ले गये, उसका सरस वर्णन 'श्रीनेमिनाथ-फाग' में है।

१. लेखक महाशय ने जो पद्य लिखे हैं वे प्राकृत और उसका संस्कृत-रूपांतर दोनों लिखे हैं, यहाँ केवल संस्कृत का रूपांतर ही दिया गया है।—सं०

उसके अनुसार नेमिनाथ जब विवाह के रथ में बैठ कर गये तब मार्ग में एक घेरे में पशुओं को बँधे देख कर तथा सारथि से पूछने पर और यह ज्ञात होने पर कि इन पशुओं से आपके लिये भोज्य-सामग्री बनेगी तो नेमिनाथ रथ को लौटा कर गिरनार पर्वत पर जाकर तप करने लगे और वहीं उनका निर्वाण हो गया। श्रीनेमिनाथ के फाग का समय वि० सं० १४०५ का और उसके रचयिता 'राजेश्वर सूरि' हैं।

वैदिक-परंपरा के गुजराती कवियों ने कृष्ण के संबंध में जो काव्य प्राचीन अथवा मध्य-युग की गुजराती भाषा में लिखे हैं उनका नाम निर्देश मात्र यहाँ दिया जाता है। वैदिक परंपरा में श्री-कृष्ण को परमात्मा का अवतार माना गया है—

१—भक्त कवि 'नरसिंह (नरसी) महता' ने श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव माना है और उनके संबंध में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने हार, हुंडी, बोसालो और विवाह नामक काव्य लिखे हैं। नरसिंह महता की सभी कविताओं में श्रीकृष्ण का स्तवन-वंदन प्रमुख है। यह कवि काठिया-बाड़ में तलाजा गाँव के थे, उनका समय १४७०—१५३६ वि० है। गाँधी जी का प्रिय भजन—

'वैष्णव जण तौ तेंणें कहिए, जे पीर पराई जाणें रे।"

नरसीजी का ही है।

२—"कवि-चरित्र"। लेखक-केशवराम-काशीराम शास्त्री।

३—"मयण छंद"। लेखक—कवि मयण, इसमें श्रीराधिका जी के शृंगार का वर्णन है। समय लगभग वि० १४५०—१५०० है।

४—"उषा-हरण"। लेखक—कवि वीरसिंह, समय लगभग वि० १५२०-१५२५ है।

५—"कृष्ण-क्रीड़ा-काव्य"। लेखक—केशवदास कायस्थ, समय वि० १५२९ है। यह कवि प्रभास-पाटण का रहने वाला था। यह काव्य चालीस सर्ग का है और प्रत्येक सर्ग अनेक छंदों में रचा गया है तथा इस काव्य में कवि ने ब्रजभाषा के भी बहुत सुंदर पद लिखे हैं, जैसे—

"मत कहौ मात रिसानी, बोलै, यह अपराध हमारौ।
घर में रहै सदाँ गुन-सागर, कोंमल कुँमर तुम्हारौ॥"

६—"सतभामा नूं रूसणों"। लेखक—कवि माँडण बंधारो, समय वि० १६ वीं शताब्दी। इसमें सत्यभामा का रूठना वर्णित है। इस काव्य में जैसे महाराष्ट्र में श्रीकृष्ण को विट्ठोवा कहते हैं, उसी प्रकार 'विठला' कहा गया है और इस काव्य में मरैठी-भाषा का भी पुट मालूम होता है।

७—"श्रीभागवत दसमस्कंध"। लेखक—पाटन नगर निवासी 'कवि भालन ब्राह्मण', समय लगभग १५४०—१५४५ वि०। इस ग्रंथ में ४५७ पद हैं। इस कवि ने अपने समय की गुजराती में अनेक ग्रंथ लिखे हैं और ब्रजभाषा में भी सुंदर कविता लिखी है, जैसे—

"ब्रज कौ सुख सुमरन स्याँम।
परम कुटी सो बिसरत नाहीं, नाहिंन भावत सुंदर धाँम॥
नवीरे (?) मात नवनीत के कारन, उखले बाँधे ते बहु दाँम।
चित में वे जु चुभी रही है, चोर-चोर कहत है नाँम॥
निसदिन फिरतो जु सुरभी के संगे, द्वार पर परत सीत घन घाँम।"

८—"हरिलीला षोडस कला"। लेखक—कवि 'भीम', समय वि० १५४१—१५४६। कहा जाता है कि यह कवि काठियावाड़ में सुप्रसिद्ध तीर्थ 'प्रभास-पाटण' का था।

९—"ऊषा-हरण"। लेखक—'जनार्दन' तिवारी, वि० १५४८। इसमें ऊषा के पिता वाणासुर के साथ कृष्ण के युद्ध का और ऊषा के विवाह का वर्णन है। यह कवि गुजरात में नड़ियाद के पास उमरैठ का रहने वाला ब्राह्मण था।

१०—"मीराबाई"। वि० १५६५-१६०३। मीरा की कृष्ण-भक्ति और उनके रचित अनेक पद प्रसिद्ध हैं, जैसे—

"बंसीवाला आजो म्हारा देस ।।
आजो म्हारा देस, हो बंसीवाला आजो म्हारा देस।
थारी साँवली सूरत हृदय बसै, बंसीवाला आजो म्हारा देस ।।
आवन, आवन कह गए, कर गए कौल अनेक।
गणताँ-गणताँ घिस गई जीभाँ, म्हारी आँगलियों नी रेख ।।
एक बन ढूँढी, सकल बन ढूँढी, ढूँढौ सारौ देस।
थारे कारन जोगिन हूँगी, करुँगी भगवाँ भेस ।।
कागद नाहीं, म्हारे स्याही नाहीं, कलम नाहीं लवलेस।
पंखी नूँ परवेस नाहीं, किण लिखूँ संदेस ।।
मोर मुकट सिर छत्र बिराजै, घूँघरवाला केस।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, आवौ नी जणै बेस ।।"

❀

"म्हाँनें, चाकर राखो जी, गिरिधारी लाला, चाकर राखो जी।
चाकर रहस्यूं, बाग लगास्यूं, नित उठ दरसण पास्यूं।
बिंद्राबण री कुंज-गैल माँ, गोबिंद-लीला गास्यूं ।।
चाकरी माँ दरसण पास्यूं, सुमरण पास्यूं खरची।
भाव-भगत-जागीराँ पास्यूं, जणम-जणम री तरसी ।।
मोर-मुकुट पीतांबर सोहाँ, गल बैजणताँ-मालो।
बिंद्राबण माँ धेण चरावाँ, मोहण मुरली वालो ।।
हरे-हरे नवाँ कुंज लगास्यूं, बीचाँ-बीचाँ बारी।
साँवरिया रो दरसण पास्यूं, पैहण कसुंबी सारी ।।
आधी रात प्रभु दरसण दीस्यौ, जमणा जी रे तीराँ।
'मीरा' रे प्रभु गिरिधर नागर, हिबड़ो घणों अधीराँ ।।"

११—"ओखा-हरण"। लेखक—'कवि 'नाकर', वि० १५७२–१६२४। ये कवि बड़ौदा का रहनेवाला वीसावाल वैश्य था, इसकी कई और कृतियाँ भी हैं।

१२—"भ्रमर-गीत फाग"। लेखक—कवि 'चतुर्भुज', वि० १५७६।

१३—"विष्णु-पद"। लेखक—'आखा भगत', वि० १८ वीं शताब्दी।

१४—"राधाजी नों गर्वो"। विष्णु-पद, विष्णु-विचार, राधा-कृष्ण नी चातुरी, लेखक—कवि 'अज्ञराम'।

१५—"कृष्ण-चरित"। लेखक—कवि 'आत्माराम'।

१६—"राधाजी नों गर्वो"। लेखक—कवि 'उदयराम'।

१७—"कृष्ण-जन्म-बधाई"। कवि—'करनदास'।

१८—"गीत-गोविंद"। लेखक—'महादेव', वि० १६२५।

१९—"गजेंद्र-मोक्ष"। लेखक—'लक्ष्मीदास', वि० १६३८।

२०—"बाल-लीला"। लेखक—'शिवदास', वि० १६६७।

२१—"दशमस्कंध"। लेखक—'लक्ष्मीदास', वि० १६७४।

२२—"कृष्ण-चरित ना श्लोका"। लेखक—'डोसी वालाजी', वि० १७००।

२३—"सुदामा-चरित"। लेखक—'प्रेमानंद', वि० १७३१।

२४—"नाग-संबाद"। लेखक—'ब्रह्मानंद', वि० १७३१।
२५—"मथुरा-लीला"। लेखक—'केशवदास', वि० १७३३।
२६—"मथुरा नों काजल"। लेखक—'रघुराम', वि० १७७२।
२७—"रसिक-वल्लभ"। लेखक—'दयाराम', वि० १८८४।

इसके सिवा और भी अनेक कृतियाँ गुजराती कविगणों ने श्रीकृष्ण के विषय में लिखी हैं, उन सब का संपूर्ण निर्देश यहाँ संभव नहीं, प्रस्तुत लेख में जिस सामग्री का उपयोग किया है, वह यह है—

१. कवि-चरित्र भाग—१, लेखक-केशवराम-काशीराव शास्त्री।
२. गुजराती—हस्त-लिखित ग्रंथों की संकलित यादी।
३. कृष्ण-लीला-काव्य—संबालालजी जानी।
४. हस्त-लिखित पुस्तकों की नामावली—संबालालजी।
५. प्राचीन विनोद-काव्य—छगनलाल रावत।
६. कवियो, भाग—१,२। संपादक—स्वर्गीय मोहनलाल भाई देसाई।

इस लेख में जिस-जिस ग्रंथ और ग्रंथकार का उल्लेख हुआ है उनका कृतज्ञता के साथ स्मरण करता हूँ।
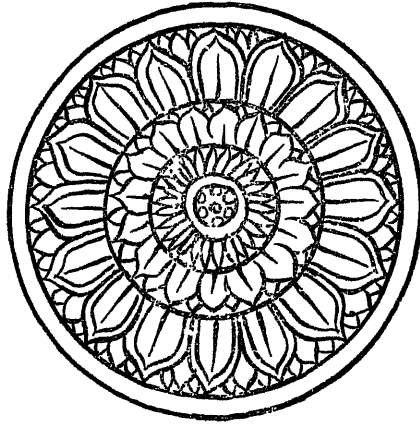
इतिहास, पुरातत्त्व और कला

राग-केदारा

"ललित ब्रज-देस, गिरिराज राजै ।

घोष-सीमंतनी-संग गिरिवरधरँन, करत नित केलि तहाँ काँम लाजै ।।

त्रिबिध-पोंन संचरै, सुखद झरनाँ झरै, ललित सौरभ, सरस मधुप गाजै ।

ललित तरु, फूल, फल-फलित खट-रितु सदाँ, 'चत्रभुजदास' गिरिधर-समाजै ।।"

—चतुर्भुजदास (अष्टछाप)

किशनगढ़ चित्र-शैली में बनीठनो राधा[1]

श्री एरिक सी० डिकिंसन

"यह एक ऐसी कला हमारे सामने है, जिसका वर्णन नारी-रूप में उचित होगा, क्योंकि अधिकांशतः स्त्री-सौंदर्य के चित्रण के लिये ही यह समर्पित की गई है। यह कला निश्चय ही मानवोन्मुख और प्रेम-रस से भरी है। वन-देवताओं की कल्पना प्रसूत सुंदर छवियों से अलंकृत यह कला परिष्कार की उस सीमा को पहुँच गई थी, जहाँ से फिर वह ह्रास का किनारा छूने लगती है।"

—इवान श्चुकिन कृत 'भारतीय चित्रकला' (ल पांत्यूर आंदिन्न)

"........सुंदरतम कला प्रायः उस कल्पना-शील युग में प्रस्फुटित होती है, जिसमें कल्पना-लोक में जन्म लेनेवाले सौंदर्य का प्रवाह पृथ्वी पर उतर कर कुछ धीमा पड़ जाता है और वास्तविक विषयोन्मुख सौंदर्य का प्रवाह उमड़ने लगता है और ये दोनों धाराएँ एक दूसरे में घुल-मिल जाती हैं। इसके फलस्वरूप एक उदात्त कला की सृष्टि होती है जो एक ओर कल्पना के सूत्रों से जुड़ी रहती है और दूसरी ओर चकाचौंध करनेवाले उदार, निर्मल एवं इंद्रिय-प्रत्यक्ष में आनेवाले नारी-सौंदर्य का चित्रण करती है।"

—पी० ए० सोसोकिन कृत 'कला के रूपों की लोल गति' फ्लक्चुएशंस इन फार्म्स ऑव आर्ट, भाग १

मेरा किशनगढ़ (शुद्धरूप—कृष्णगढ़) से प्रथम संपर्क सितंबर सन् १९४३ में हुआ। उस समय संयोग से ही वह बहुमूल्य वस्तु हाथ लगी, जिसका वर्णन इस लेख का उद्देश्य है। किशनगढ़ के पुराने किले में चित्रों के संरक्षक प्रशंसनीय गर्व के साथ हमें किशनगढ़ के मुगल-कालीन चित्रों का संग्रह दिखा रहे थे। वैसे तो उसे देखने के बाद किसी नई वस्तु को पाए बिना ही हम किशनगढ़ से लौट आते, पर हिमाचल-शैली के चित्रों की मोहनी मेरे मन पर पहले पड़ चुकी थी। अतएव मैंने पूछा—जब राज्य का नाम किशनगढ़ है, तो क्या भगवान् कृष्ण के नाम के साथ इसका कोई आनंदप्रद संबंध नहीं है? यदि है, तो क्या कृष्ण-लीला-संबंधी कुछ चित्र भी यहाँ हैं?

अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। यह बताया गया कि ऐसे चित्र तो स्थानीय कलाकारों की ही कृतियाँ हैं और उनकी तुलना संभवतः उन मुगल कालीन विशिष्ट चित्रों से नहीं हो सकती, जिन्हें हम देख रहे थे और अधिक जाँच-पड़ताल करने पर संग्रहालय के संरक्षक महोदय अनिच्छापूर्वक वहाँ से गए और चपरासी के साथ एक बड़ा-सा गट्ठर लादे हुए लौटे। यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय किशनगढ़ के पुराने महल में एकत्र हम लोगों में से किसी को यह पूर्वाभास नहीं था कि शीघ्र ही हम क्या देखनेवाले थे और किस प्रकार पार्थिव जगत् से ऊपर उठकर क्षण भर में ही हम एक दूसरे अपार्थिव लोक में पहुँच जानेवाले थे, पर हुआ यही; जब कि नीले आवरण के भीतर से एक-एक बड़े आकार के चित्र निकलने लगे। जिन्हें देखकर हममें से प्रत्येक हर्ष से प्रफुल्लित होकर आह्लाद-ध्वनि करने लगा। हमने ऐसा अनुभव किया जैसे हम भगवान् कृष्ण के संमोहक स्वर्ग में प्रवेश पा गए हों।

अब हमारे नेत्रों के सामने चित्रों का ऐसा दृश्य उपस्थित था जो नितांत, नया, विमुग्धकारी और रहस्यपूर्ण था और जैसा हम में से किसी ने पहले न देखा था। इन चित्रों के स्वर्ग लोक में निर्मल

[1]. अंग्रेजी का भावानुवाद, अनुवादक—वासुदेवशरण।

भरी बापियाँ, सघन वन, संगमर्मर की वेदियाँ और सुंदर आवासों से परिपूर्ण थे। उसकी अगणित सहायक सामग्रियों में सेवा-निरत सखियों के सुंदर झिलमिल परिधान भी थे, जिनके बीच में कृष्ण और राधा की युगल मूर्ति विराजमान थी और दोनों एक दूसरे के साथ हास-विलास और सुगंधित पान-फूल के आदान-प्रदान में व्यस्त दिखाए गए थे।

उस समय की हमारी यह चित्र-झाँकी क्षणिक ही रही और कर्तव्य के आदेश से प्रेरित होकर बीस मिनट बाद हम अजमेर लौट आए। किशनगढ़ के चित्रों का यही प्रथम परिचय था।

राज्य का संग्रह

किशनगढ़ के तत्कालीन दीवान डाक्टर आर० के० सिंकद के आमंत्रण पर सन् १९४३ ई० में बड़े दिन की छुट्टियों में मैं फिर किशनगढ़ गया। उद्देश्य यह था कि किशनगढ़ के चित्र-संग्रह का निरीक्षण अधिक अवकाश के साथ कर पाऊँगा और उसकी विविधता और विस्तार से परिचित होने के साथ ही भारत की सांस्कृतिक थाती में उसके स्थान का मूल्यांकन भी कर सकूँगा।

हमारे मन में एक गुप्त प्रश्न बार-बार चक्कर काट रहा था 'क्या अचिर-प्राप्त किशनगढ़ के चित्र राजस्थानी चित्र-कला की किसी अनजानी शैली के प्रमाण हैं? यदि हाँ, तो उसकी पहचान के कौन-कौन से विशेष लक्षण हैं? ऐसा मन में आया कि इन प्रश्नों के उत्तर को मुख्य रूप से और बातों से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

हमारा दैनिक कार्यक्रम राज्य के चित्र संग्रह में से सैकड़ों चित्रों का निरीक्षण करना था। चित्रों के बस्ते बराबर सामने आते-जाते थे और विषय के हिसाब से चित्रों को सरियाने का काम हो रहा था।

पहले थी 'शबीहा' या प्रतिकृति की श्रेणी, जो संख्या में सबसे अधिक थी। इसमें प्रसिद्ध संत, दरवेश, गायक, राजा-महाराजा, नवाब-बादशाह और नायिकाओं के चित्र थे। भिन्न समयों पर किशनगढ़ की चित्रशाला में ये चित्र लिखे गए थे और काफी विश्वसनीय थे, किंतु ये कृतियाँ राजपूत कालीन चित्रकला की 'राजस्थानी' शबीहों की भाँति ही थीं। राजा और उमरावों के चित्रों में उदयपुर, जोधपुर और जयपुर का विशेष स्थान था। संभवत: इनमें से कुछ चित्र प्रेमोपहार के रूप में किशनगढ़ आए होंगे।[1]

एक श्रेणी ऐसे चित्रों की थी जिनमें शिकार के दृश्य थे। इनसे प्रकट होता था कि किशनगढ़ के अनेक राजा जंगली सूअरों के पीछे घोड़ा डालकर शिकार करने के शौकीन थे। उसके लिये घुड़सवारी की निपुणता चाहिए। इस श्रेणी के चित्रों में पशुओं का चित्रण विशेष रूप से रहता है, जिनमें 'राजवल्लभ तुरंग' और शाही हाथियों के चित्र बहुत से मिले। संख्या की दृष्टि से ये चित्र जितने प्रभाव-जनक थे, कला की दृष्टि से उतने अच्छे न थे।

केवल एक श्रेणी के चित्रों में शैली की विशिष्ट छाप अंकित थी और वह थी नायिकाओं के चित्रों में। इनमें भी एक विशेष प्रकार के चित्र अत्यंत आश्चर्य-जनक थे जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

कृष्ण-लीला के चित्र

कृष्ण-लीला-संबंधी चित्रों में मौलिकता की छाप थी और उनकी शैली में भी एक निजी विशेषता थी। ये चित्र आकार में बड़े थे और चित्रकार के साहस-पूर्ण अंकन के परिणाम थे। उनके

[1]. किशनगढ़ का चित्र-संग्रह हमें अभी नवंबर सन् १९४९ में देखने को प्राप्त हुआ। उसके प्रतिकृति चित्रों में एक विशिष्ट संग्रह पुष्टिमार्गीय आचार्य एवं अष्टछाप के कवियों के चित्रों का है। सूरदास, मीरा, कबीर, हित हरिवंश, बल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, उनके परिवार के गुसाँई आचार्य, एवं स्वयं महाराज सावंतसिंह या 'नागरीदास' के चित्र इस संग्रह में हैं। —वासुदेवशरण

विषय संपुजन और वर्ण-सौष्ठव में भी काफी आकर्षण था, लेकिन सबसे अधिक आकर्षक उनकी अपनी 'अंकन-शैली' थी। अंकन की यह निजी विशेषता न तो चित्रों के विशेष प्रकार के पहनावे में थी और न आभूषणों में, यद्यपि इनके लिखने में भी चित्रकार ने बहुत ही सावधानी से काम लिया था। युगल-छवि के परिधान एवं राधा जी की चोली के ऊपर लहराते हुए मोतियों के बड़े-बड़े हारों में चित्रकार ने काफी निपुणता से काम लिया था, जैसी कि जयपुरीय 'रासलीला' के चित्रों में देखा जाता है, परंतु इसमें से किसी भी अलंकार या शृंगार की आकर्षण-शक्ति ऐसी न थी जैसी कि दुलहिन राधा या दूल्हा माधव के 'एक चश्मी' चित्रों की विशिष्ट अंकन-शैली की मोहिनी छवि थी। चित्रों की शैली प्रचलित राजस्थानी-विधि के अनुसार होते हुए भी उसका एक अपना आकर्षक प्रकार था। इस अंकन-शैली की विशेषताओं को हमें विशेष रूप से देखना आवश्यक है, क्योंकि कृष्णगढ़ के कृष्ण-लीला-संबंधी चित्रों की पहचान इन्हीं गुणों से की जा सकती है।

सामान्यतः जिसे हम राजस्थानी अंकन-विधि समझते हैं, उससे कुछ विशेष परे हटकर किशन-गढ़ के चितेरों ने अपने ये चित्र लिखे। ज्ञात होता है कि किसी अनुभवी उस्ताद के हाथों में कोई बड़ा भावाविष्ट गुरुमंत्र उतर आया था, जिसका प्रयोग उसने राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के चित्रण के लिये ही किया है। किशनगढ़ जिसे हम 'किशनढ़ग की अंकन-शैली' का नाम देते हैं, उसमें निजी आकर्षक विशेषता के अतिरिक्त बड़ा जीवन और प्राण है और वह अनजाने ढंग से अपनी मोहिनी शक्ति बिखेरती हुई जान पड़ती है। जिन मुरक्कों में नायिकाओं के चित्र थे उनको देखते-देखते शीघ्र ही हमें किशनगढ़-शैली की इस विशेषता का पुष्ट परिचय मिल गया।

लगभग आठ सौ चित्र जब हम देख चुके थे तब एक बड़े लिफाफे में १६"×२२" का एक बड़ा चित्र हमारे सामने आया। इस प्रकार कृष्णगढ़ की राधा हमारे आश्चर्य-चकित दृष्टिपथ पर अवतीर्ण हुई और उसके सौंदर्य के समवेग ने हमारे मन की समाधि को छितरा दिया।[१] किशनगढ़ की जिस निजी अंकन-शैली और सजधज का सौंदर्य-प्रधान अंकन-शैली और सजधज का अनुभव हमें दूसरे चित्रों में मिल चुका था, उन्हीं की एक निकट की झाँकी राधा के इस चित्र में हमारे लिये सुलभ हो गई।

किशनगढ़ की अनुपम कृति—'राधा'

किशनगढ़ की राधा किसी बड़े कलाकार की एक अनोखी कृति है। इसकी अपनी धज है और अपनी बनठन है। कमान-सी तनी हुई ऊँची भौंहों के ऊपर पीछे को ढलता हुआ माथा इसकी पहली विशेषता है। सुए-सी लंबी नाक और आगे को झुकी हुई ठोड़ी दोनों बहुत ही अनोखी बन पड़ी हैं, पर सुंदरता में चार चाँद लगाने वाली बाँकी मछली के जैसी कटावदार आँख हैं। उसका अपांग भाग ऊपर की ओर झुकता हुआ भों की बंकिम-कमानी के साथ छूता हुआ जान पड़ता है। किशनगढ़ की इस राधा के लिये एक उपयुक्त विशेषण होगा—**"कटाक्षवती नायिका"**। निपुण चित्रकार ने उसे सँवारने के लिये एक और अनोखी कलम लगाई है, वह है ठोडी के पास तक लहराती हुई काली लट जो कपोल के प्रांत-भाग को सीमित करने की रेखा सी जान पड़ती है।

किशनगढ़-शैली की इस छबीली नारी-कृति को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि इसके चित्रकर्ता ने अपनी सूझ-बूझ के साथ शृंगार की परंपरा का खूब मिलान किया है। संस्कृत और हिंदी-काव्यों में शृंगार-सौंदर्य का जो चित्रण किया गया है, चित्रकार ने मानों चित्र में लिख दिया

१. सौंदर्य की अनुभूति से उत्पन्न होनेवाले इस प्रकार के मानसिक धक्के (इस्थेटिक शौक) को 'संवेग' कहा है। चित्र-सौंदर्य को जानने की दूसरी परिपाटी बौद्धिक है, जिसके द्वारा आचार्य या पंडित (विचक्षण) लोग चित्र की परख करते हैं, लेकिन रसिक-जन तो चित्र के सौंदर्य का रसानुभव करके लाहालोट हो जाते हैं।

है। कर्णांत को छूनेवाले विशाल लोचनों का आदर्श चित्र में साकार हो उठा है। स्त्री के लिये 'उत्पलाक्षी' विशेषण इस चित्र में सत्य होता जान पड़ता है।

अब हममें से अनेकों के हृदय इस बात की साक्षी देते होंगे कि सचमुच इस कृति के द्वारा कोई एक महान् चित्रकार हमारे संमुख उपस्थित हुआ है। उसकी अनुपम राधा की यह एक चश्मी शबीह इटली देश के पंद्रहवीं शताब्दी के अभ्युत्थान-काल में उत्पन्न होने वाले 'पिसनेलो' और 'बल्दोविनेती' जैसे चित्रकारों की कृतियों से लोहा लेने वाली है। प्रश्न यह है कि क्या इस तरह का कोई विशिष्ट चित्रकार किशनगढ़-शैली के इतिहास में पाया जाता है? अपनी खोज के फलस्वरूप हमें जो ज्ञात हुआ उसके अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है।

किशनगढ़ का उस्ताद चितेरा

यह बात सहज मानी जा सकती है कि जब किशनगढ़ में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उसकी चित्रशैली की कोई ऐसी निजी विशेषता होनी चाहिए जो पास-पड़ोस के रजवाड़ों में विशेषतः—जयपुर, जोधपुर, बीकानेर के बड़े तिगड्डे में कहीं भी देखने को न मिलती हो, तो इस प्रकार की एक विशेष रूपाकृति-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और हमारा विश्वास है कि उसका उत्तर किशनगढ़ के राधा और कृष्ण की इस विशेष प्रकार की मुखाकृति में प्राप्त हुआ। ऐसी मौलिक रचना किसी रहतवा-भरतवा चित्रकार के मान की न थी। प्रश्न होता है कि क्या किशनगढ़ के इतिहास में इस काम के लिये समर्थ किसी के सचिव श्री 'अली फैयाज़खाँ' से मुझे जो सूचना मिली उससे इसकी पुष्टि होती है।

कृष्ण-लीला के दो आकर्षक चित्रों पर लिखे हुए सुंदर नस्तालीक अक्षरों की ओर जब मैंने ध्यान दिया तब उनपर यह लिखा हुआ था—**"अमल सुरधज निहालचंद"**, अर्थात् सुरहज निहालचंद (चितेरे) का लिखा हुआ (चित्र)। दोनों ही चित्रों में उसी प्रकार की विशेष शैली थी, जैसी कि कृष्ण और राधा की युगल मूर्ति के लिये इस कला में मिली थी। इस कला के सुंदरतम् चित्रों में शैली की जो निजी विशेषता है वह उस सूक्ष्म सीमा तक है, जिसका अतिक्रमण करने पर चित्र कजदार हो जाता है या भड़ऊवा बन जाता है।

निहालचंद चितेरे का नाम ज्ञात होने के बाद कुछ सामग्री जिस पर किशनगढ़-शैली के समय पर प्रकाश पड़ा, एक बड़े चित्र में श्री 'शुकदेव' जी गंगा के किनारे राजा परीक्षित और ऋषि-मुनियों को कथा सुना रहे हैं। चित्र उतना सुंदर नहीं था, पर उस पर लिखा हुआ था कि उसे संवत् १७०० (१७५७) में 'सुरधज निहालचंद' ने बनाया, इससे यह निश्चित हुआ कि १८ वीं शती के दूसरे भाग के आरंभ में निहालचंद दरबार के लिये सुंदरतम् चित्रों के लिखने का काम कर रहे थे। निहालचंद की कलम की अपनी खूबी थी। किसी कच्चे उस्ताद के हाथों में पड़ कर उस कलम की किरकिरी हुए बिना न रहती। यह शंका किशनगढ़ के ही 'अमरचंद' और 'सीताराम' नामक दो लिखे हुए अन्य चितेरों के लिखे हुए चित्रों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। संभवतः वे निहालचंद के ही सहायक थे, पर उस्ताद निहालचंद की हठौती की अपनी शान है और वह अलग-अलग पहिचानी जाती है।

निहालचंद के बाद दूसरों के हाथ में पड़कर जब यह कलम कमजोर हुई, तब चेहरे में नाक और ठुड्डी के एक ही ओर बढ़ाव के कारण शशक की आकृति का कुछ आभास आ गया। निहालचंद की कलम का पैनापन दूसरे चित्रों में प्रायः जाता रहा है। किशनगढ़ के चित्राधारों (मुरक्कों) में सुरक्षित नायिकाओं के चित्र इस बात के साक्षी हैं। बड़ोदा-संग्रहालय में बल्लभाचारी के दो चित्रपट या पिछवाई हैं। मेरा अनुमान है कि ये किसी समय 'कल्याणराय' की मूर्ति के दोनों ओर दीवार पर टाँगे जाते थे। कल्याणराय, कृष्ण के उस स्वरूप का नाम था जिसे महाराजा रूपसिंह ने किशनगढ़ के पुराने राजमहिलों के मंदिर में संवत् १७११ में स्थापित किया। मेरे मित्र प्रो० गौरी-

शंकर ने किसी समय उन दो चित्रपट पिछवाइयों को वहीं लगा हुआ देखा भी था। किशनगढ़ किसी समय बल्लभ-संप्रदाय का अच्छा केंद्र था।

एक प्रश्न मेरे मन में यह भी उत्पन्न हुआ कि शैली की यह निजी विशेषता निहालचंद की कलम में स्वयं उत्पन्न हुई या उसने कहीं से उसे प्राप्त किया। किशनगढ़ के राजाओं के जो चित्र उपलब्ध थे उनमें महाराज 'सहसमल' (१६१६ ई०) के चित्र की छवि देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे निहालचंद ने किशनगढ़ के नरेशों में सबसे सुंदर सहसमल की प्रतिकृति या छवि को अपना आदर्श माना हो। मैंने सहसमल का यह चित्र 'हेंडले' की पुस्तक 'भारतीय नरेश' (रूलर्स आफ इंडिया) के फलक १६ पर देखा, पर संभव है कि सहसमल का यह चित्र असली न हो, निहालचंद के बाद बनाया गया हो।

निहालचंद के समय में किशनगढ़ के शासक महाराजा 'सावंतसिंह' जी थे। निहालचंद के साथ उनका अनूठा संबंध था।

कवि-नरेश

किशनगढ़ में सुरक्षित पत्रों से ज्ञात होता है कि निहालचंद को एक जागीर मिली थी। राजकीय चित्रशाला में काम करनेवाले चितेरों को तीन रुपया रोज मिलता था। संभवतः यह वृत्ति सहायकों के लिये थी। निहालचंद को इससे दूना या और अधिक मिलता होगा। उनका घर अब भी किशनगढ़ में है और उनकी शबीह भी जो उनके सहयोगी अमरचंद ने बनाई थी,—जिसमें 'रूपनगर' के राजमहल में महाराज 'सरदारसिंह' की राजसभा में दूसरे दरबारियों के साथ निहालचंद भी दिखाए गए हैं। संभवतः निहालचंद की कलम का यश अन्य रजवाड़ों में भी पहुँचा, जैसे बूंदी के महल में बने हुए एक भित्ति-चित्र में निहालचंदी कलम की छाप दिखाई पड़ती है। यों तो किशनगढ़ के कई राजाओं की निहालचंद पर कृपा रही, पर महाराज सावंतसिंह उसपर विशेष रूप से ढरे थे।

किशनगढ़ के चित्रों को देखकर मेरे मन में जो सौंदर्य-बोध उत्पन्न हुआ उससे मुझे कुछ ऐसा लगा कि इन चित्रों का प्राण और भाव-स्रोत किसी साहित्यिक की आत्म-प्रेरित मुक्तक कृति में होना चाहिए। शीघ्र ही मुझे इसका प्रमाण भी मिल गया। दरबार की कृपा से कृष्णगढ़ के बीस चित्र इस विचार से अपने साथ ले आया था कि मैं उन्हें प्रकशित करूँगा। एक चित्र के पीछे कुछ कविता लिखी हुई थी। मेरे मित्र पं० 'बालसहाय शास्त्री' ने जो स्वयं पुष्टि संप्रदाय के हैं, उसका पता-ठिकाना 'नागर-समुच्चय' नामक ग्रंथ में निकाल लिया। उन बीस चित्रों में से निश्चय ही राधा, दीवाली, तिरात्री, प्रेम की नौका और बन-भेंट—नागर-समुच्चय पर आश्रित थे।

और चित्रों के वर्णन का यहाँ स्थान नहीं, परंतु 'दीवाली की रात' नमक चित्र का जिस पर वह कविता लिखी हुई थी—परिचय आवश्यक जान पड़ता है। काली जमीन पर दीपकों की झिलमिल में कुछ भवन बने हैं और सामने की ओर एक सरोवर के तट पर ऊँचे आसन पर दिव्य दंपति रूप में राधा और कृष्ण पूर्ण श्रृंगारी वेश में विराजमान् हैं। सामने सखियों के मध्य में एक सखी अंजलि से फूलझड़ी देखती हुई दिखाई गई है। कैसा सुंदर अनुपम दृश्य है। चित्र में मानो कृष्ण के लीला-लोक की एक झाँकी साकार हो उठी और स्वयं चित्र की आत्मा ज्योति के पंख लगाकर सौंदर्य के भाव-लोक में विचरण करती-सी जान पड़ती है।

किशनगढ़ के महाराज सावंतसिंह ही कवि 'नागरीदास' थे, जिन्होंने समुच्चय की रचना की। महाराज सावंतसिंह कृष्ण के अनन्य भक्त और लीलाओं में अत्यधिक रस लेनेवाले थे। उनके मन में भक्ति और वैराग्य का उदय हुआ और वे राजपाट त्याग कर वृंदावन-बास करने लगे। कहते हैं, उनकी एक दासी जिसका नाम 'बनीठनी' था, जो अंत तक वृंदावन में महाराज की सेवा में रही। किशनगढ़ शैली में निर्मित राधा की छवि एक अत्यंत यशस्वी कृति है। मुगल-चित्र-कला के रास के

बाद राजस्थानी-कला और राजस्थान की यात्रा का जो सगर्व उत्थान हुआ, उसकी पूरी झलक किशनगढ़-चित्र-शैली में है।

किशनगढ़ के चित्रों की विशेषताएँ उनके रंग हैं, जो राजस्थानी शैली के चटकीले रंगों की अपेक्षा कुछ ठंडे हैं और इस बात में कुछ-कुछ मिलते हैं। इन चित्रों की दूसरी विशेषता राजदरबारों के ठाठ-बाट हैं। जान पड़ता है मानों दर्शक बे रोक-टोक महलों के अंतःपुर के वैभव को विश्रब्ध होकर देखने की अनुमति पा गया हो। इन चित्रों की तीसरी विशेषता भक्ति के साथ भोग-शृंगर का मेल है। भौतिक जीवन के राग-भोग को पूरी तरह सँवार कर धार्मिक जीवन के साथ साधने की प्रवृत्ति वल्लभ-संप्रदाय की विशेष रीति थी। वही इन चित्रों की प्राण-दायिनी सुंदरता है। इन चित्रों में शृंगार का पक्ष बहुत प्रबल है, लेकिन वह हमारे मन में जमे हुए शृंगारी मैल को बाहर उड़ेलने में सहायक बनता है और निजी (अपनी-अपनी) मानसिक तैयारी के अनुसार हमें विश्व से भी हुए प्रेम, सौंदर्य और कल्याण के साक्षात् दर्शन के योग्य बनाता है।
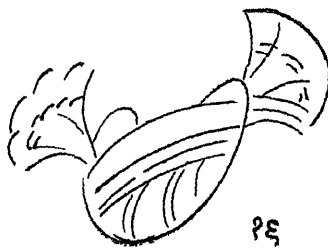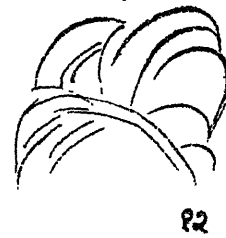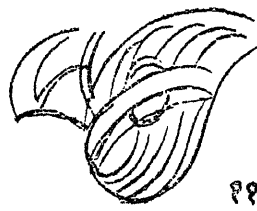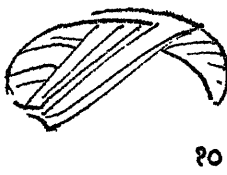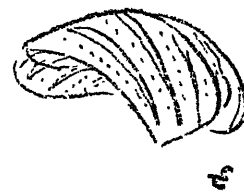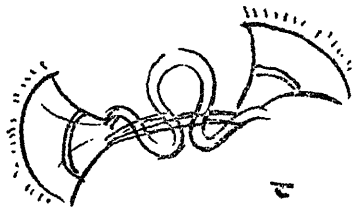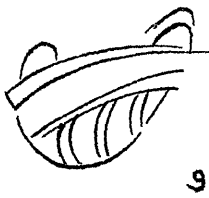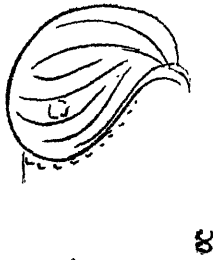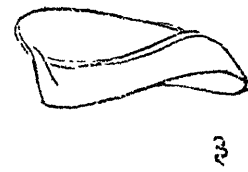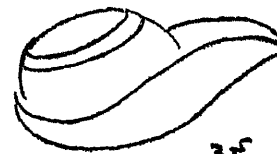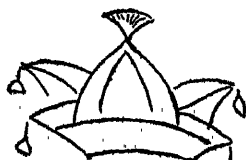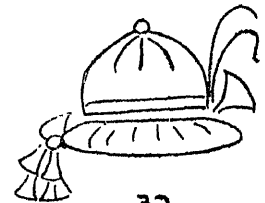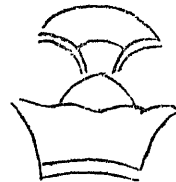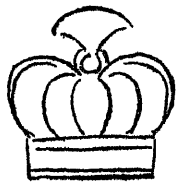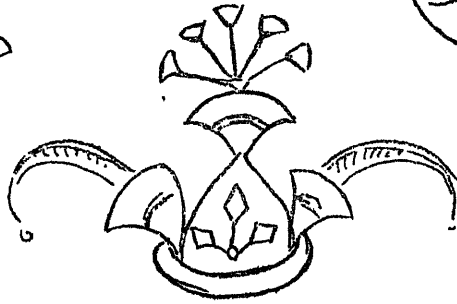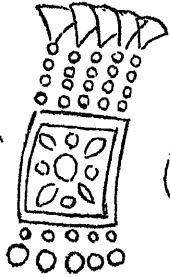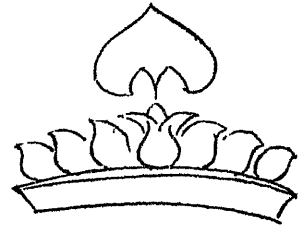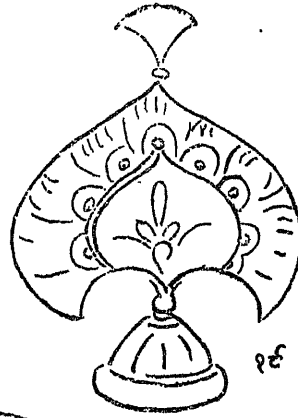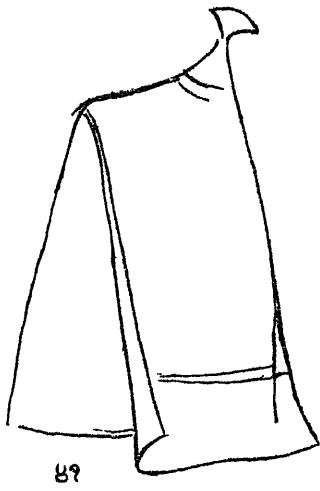
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
१४
१५
१६
१७

१८
१८ अ
१९
२०
२१
२२ अ
२३
२२ आ
२४
२५
२६
२७
२८
२९
३०
३१
३२
३३
३४
३५
३६
३७
३८
३९
४०

४१
४२
४३
४४
४५
४६
४७
४८
४९
५०
५१
५२
५३
५४
५५
५६
५७
५८
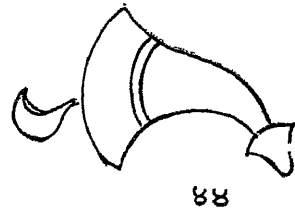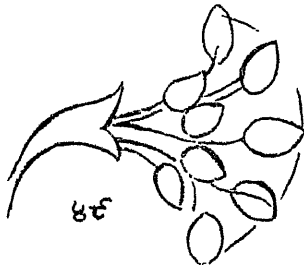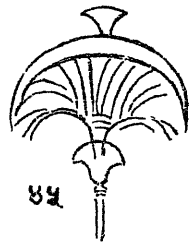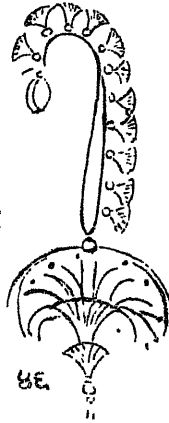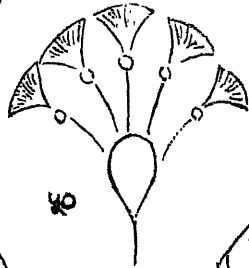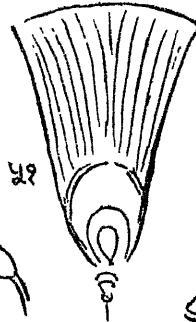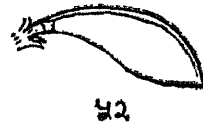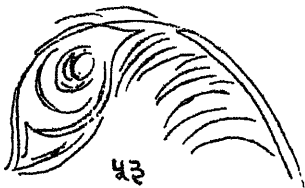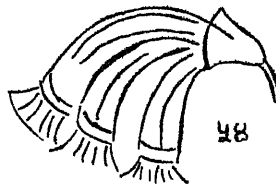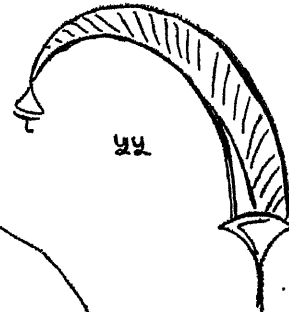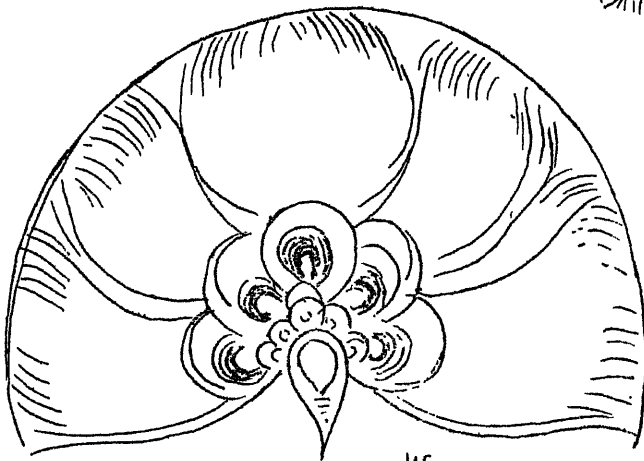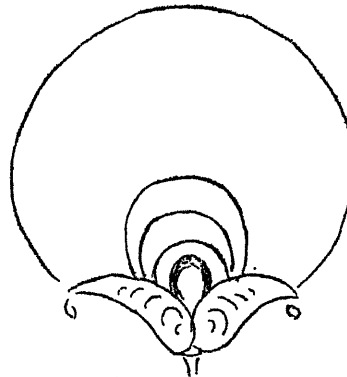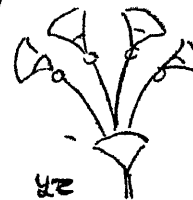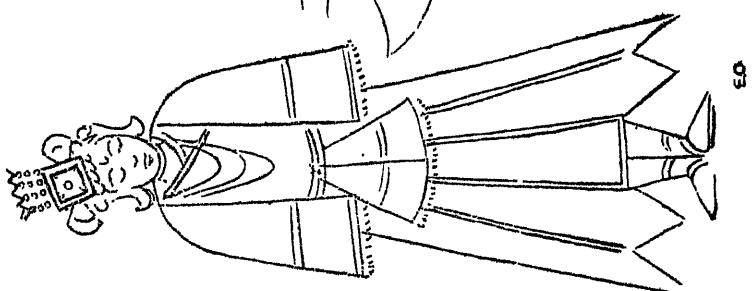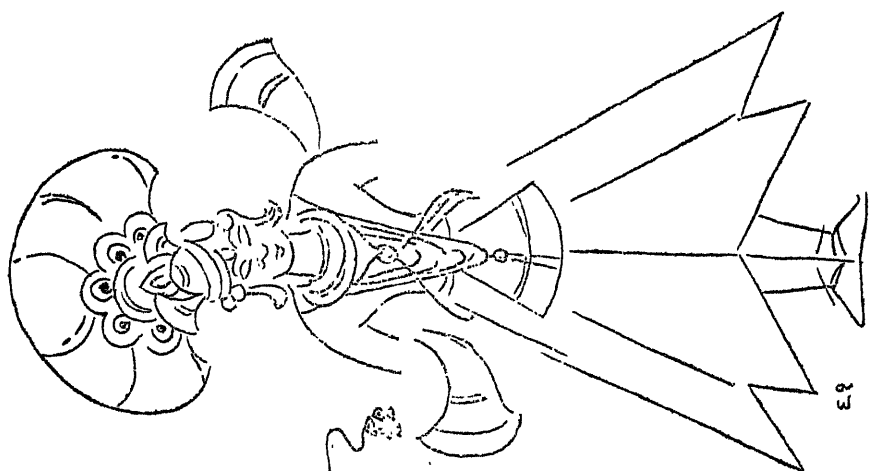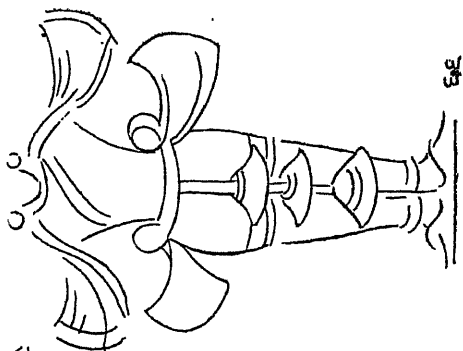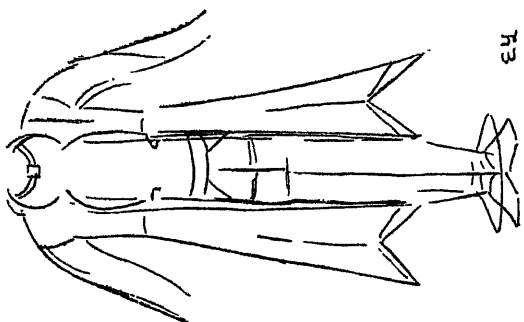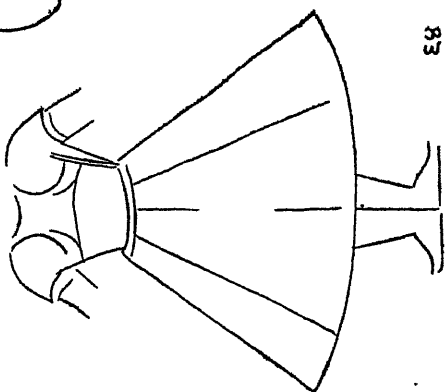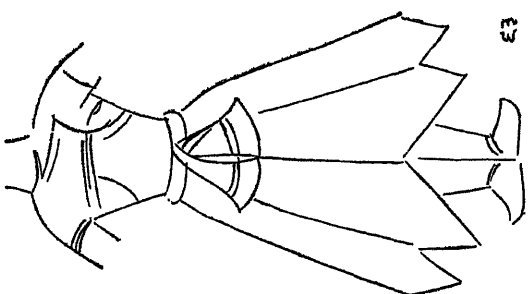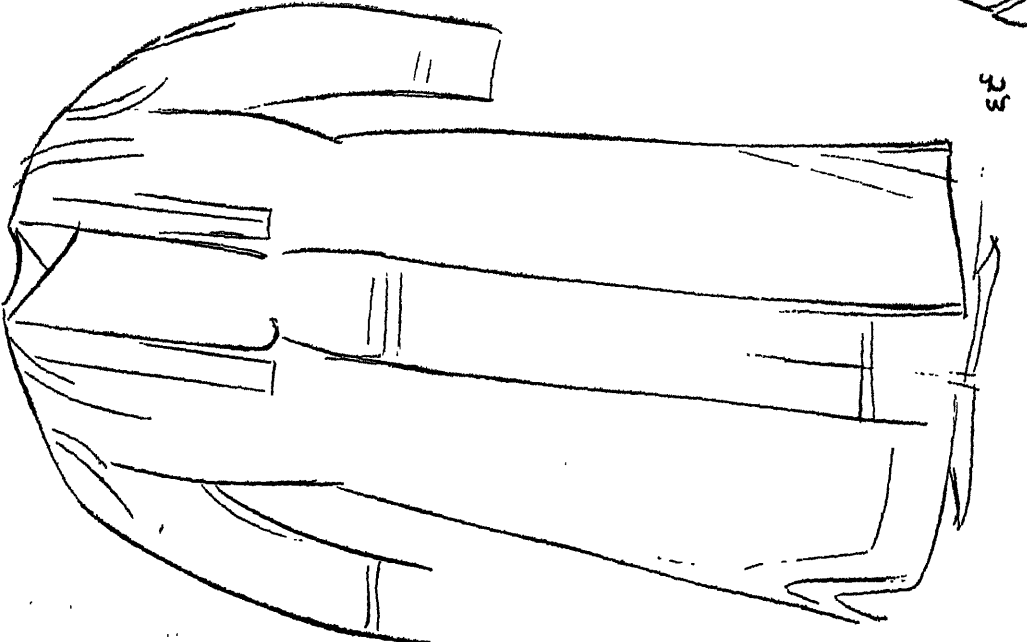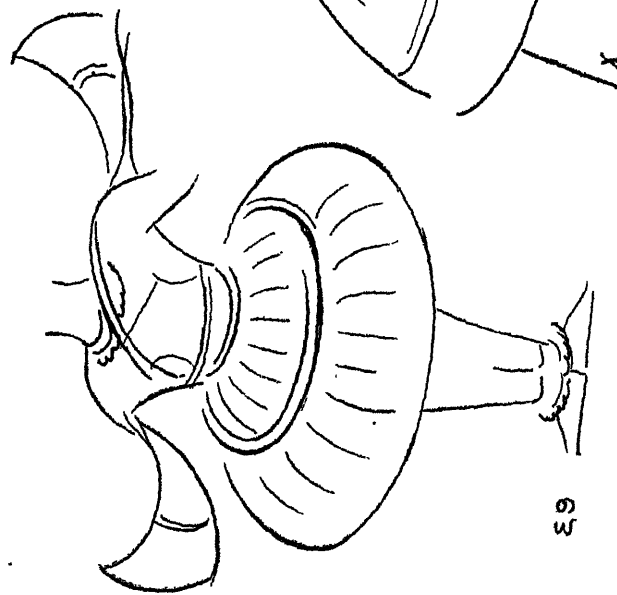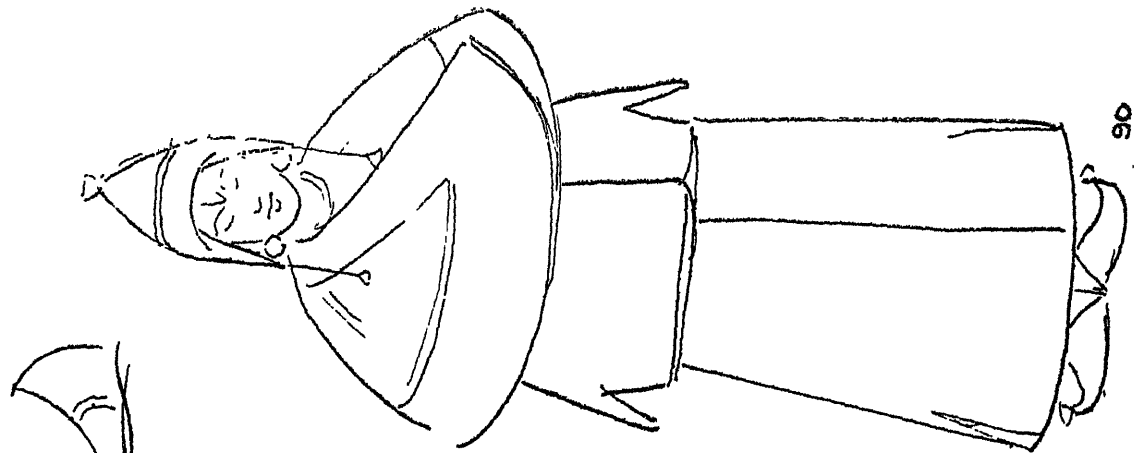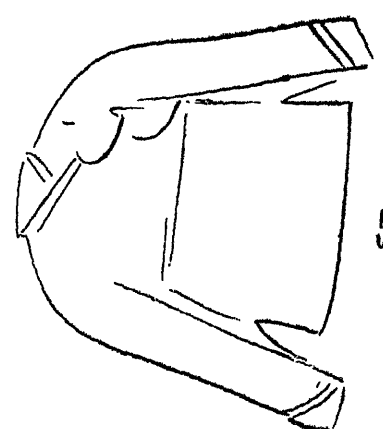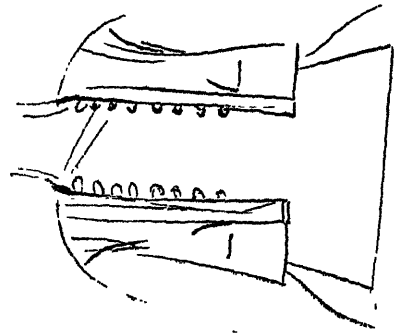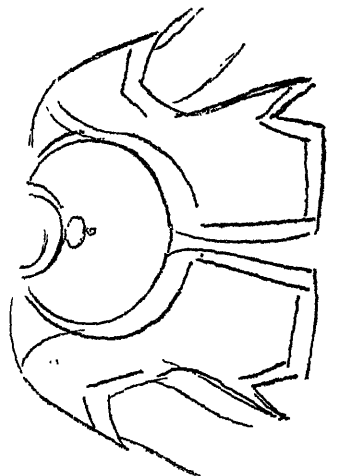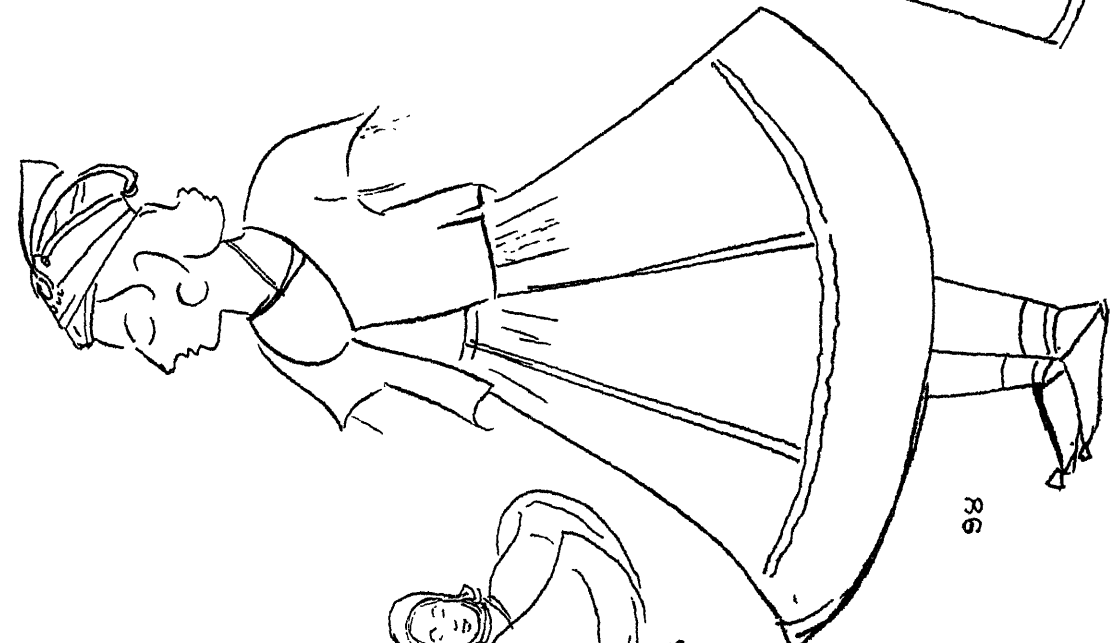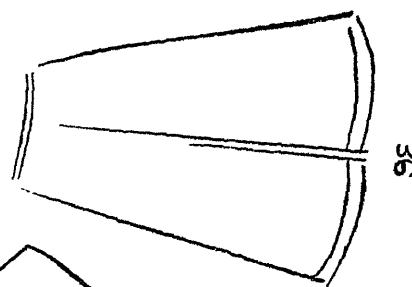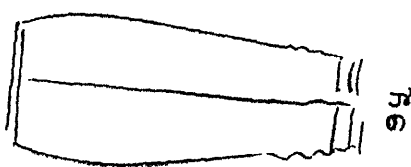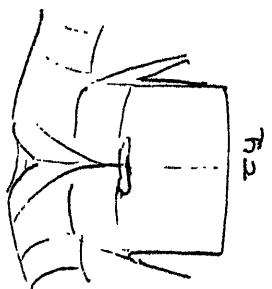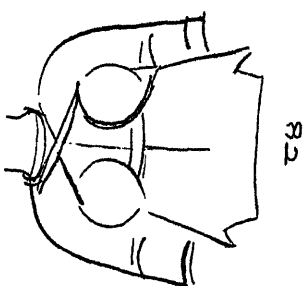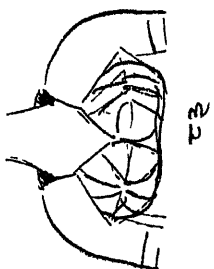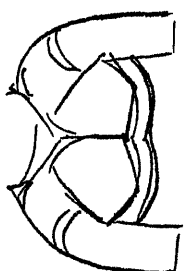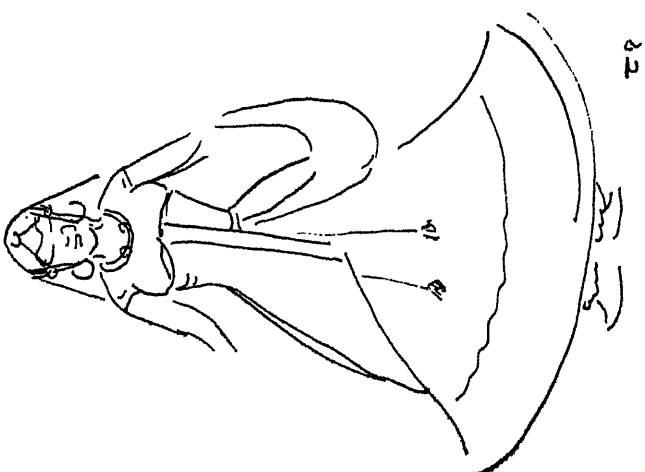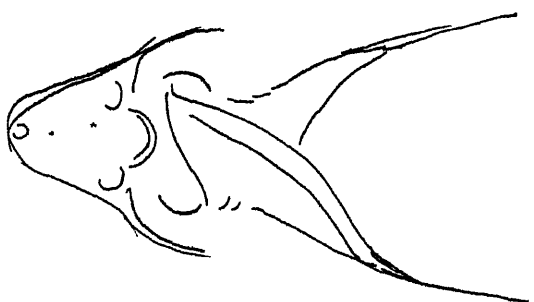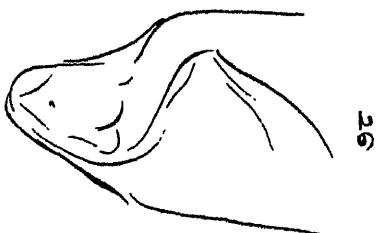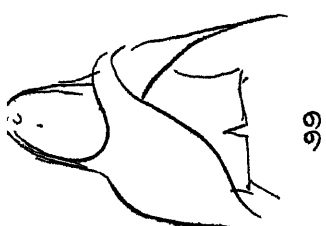
छिन-छिन बानिक और-ही-और

श्री जगन्नाथ अहिवासी

गुप्त-समय के पीछें सोरहवीं शताब्दी में श्रीमद्वल्लभाचार्य के पुत्र श्री बिट्ठलनाथ (गुसाँईं जी) प्रगट भए। तैलंग-संस्कृति कूं लैकें आप ब्रज में पधारे और ब्रजवास करिकें ब्रजवासी बने। आपने जो भगवद्-रस बहायौ वौ—

"ना परस्यौ करमठ और जोगी, अटक रह्यौ रसिकन के मन में।"

वा रस सागर में जो कोई आयौ वौ तराबोर ह्वै गयौ, यहाँ लों कि वा समय अकबरशाह तथा वाके दर-बार के कछु रसिक-जन हू नें वामें गोता लगाए।

आपनें 'अष्ट-छाप' की स्थापना करी, तामें भक्त शिरोमणि श्री 'सूरदास' जी प्रभृति अष्ट सखाँन नें जो भगवद्-रस गायौ वौ हरें-हरें सारे भारतवर्ष में फैल्यौ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी तौ परम त्यागी हते और आपनें श्रीजी की सेवा-सिंगार प्रणाली बड़ी-ही सूच्छम बाँधी, जैसे सिंगार में मोर-पिच्छ कौ मुकुट और गुंजा की माला, वस्त्रन में हार-सिंगार के फूलन की डाँड़ी सूं रँगे भए केसरी वस्त्र और मृत्तिका की झारी और भोग में भींजे भए छोला (चना), परंतु जब श्री गुसाँई जी के अनेक राजा और धनिक शिष्य भए और आपकी सरन में आए तथा स्वयं श्री गुसाँई जी हू अपने दीक्षित नाम के संग ही महाराज-पद पै सुशोभित भए और सरनागत आए भए राजा-महाराजान के तथा वैष्णवन के द्वारा सेवा करे भए द्रव्य कूं श्रीमद् बल्लभाचार्य जी की आज्ञानुसार—

"धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत् प्रयुंजीत कृष्णोऽनर्थश्च वारकः॥"

प्रभु में विनियोग कियौ। अपने उपास्य श्री ठाकुर नंदकुमार-लाड़िलौ, ठकुराइन वृषभाँन-लली कूं मध्य राखिकें अनेक प्रकार के मनोरथन की रचना करी और बिबिध-भाँति के भोग-सिंगार, रंग-राग, सुगंधन[1] आदि, पलना, हिंडोरा, रथ, हठरी, सुखपाल, सिंहासन, चौकी, चौपड़, गेंद चौगाँन, सतरंज आदि खेल-खिलोना, आरती, साँझी आदि की रचना, हाथी-दाँत, चाँदी-सोंने और अनेक रतनँन की कला-त्मक वस्तुएँ आपने जहाँ सू देखीं और मिलीं वे सब प्रभुन कूं अंगीकार कराईं। मंदिर की बनगत हू तत्कालीन समय की 'हवेलीन' के अनुसार बनवाई। पोशाक में हूँ आपनें वा समय के राजाँन के तथा शाही पोशाक में सूं सुंदर कलात्मक वस्त्र प्रभून कूं अंगीकार कराए। रागँन में हू राँगन की बिबिध-रचना समयानुकूल राग, ऋतु और संधि के रागन की योजना करी। आपने संप्रदाय के भक्तँन के सिवाय अन्य भक्तँन के हू जैसें—स्वामी श्री हरिदास जी, श्री हितहरिवंश जी, श्री व्यासजी, श्रीभट्ट जी, श्री गदाधर जी भट्ट आदि वृंदावन के महानुभाव और अन्य हूँ हरिजन गायकन के पद जैसे—तानसेंन, धोंधी, रसखान, घनानंद आदि के पद हू अपनाए। वास्तव में आपने जहाँ सूं सुंदर सरस और भाव-

१. श्रीवल्लभ संप्रदाय में चार सुंगधित-द्रव्यों—'सोंधौ', 'अरगजा', 'झखकरदम' (यक्षकर्दम) और 'जबाद' का प्रयोग प्रभुकी सेवा में होता था, अष्टछाप के कवियों ने भी इनका वर्णन अपनी रचनाओं में किया है और बाद में भी इनके प्रयोग कवि-रचनाओं में मिलते हैं, जैसे—"लाल तिहारौ 'अरगजा', उर ह्वै लग्यौ अबीर"—आदि, पर ये क्या हैं? कैसे बनते हैं? इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

—ज० चतुर्वेदी

भरी वस्तु देखी लई और प्रभून कूं अर्पण करी। यह है आपकी विशाल हृदय और परम दयालुता। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में एक प्रसंग आयौ है—जब तानसेन गोकुल आए हते और वहीं गुसाँई जी ने उनकौ गाँन सुन्यों तब अति प्रसन्न ह्वै कें एक सहस्र मुद्रान के संग एक कौड़ी धरि कें तानसेन कौ संमान कियौ। कोड़ी कूं देखिकें तानसेन नें बिनती करी जो जैराज, या कौड़ी कौ कहा कारन है? तब आपनें आज्ञा करी—

"जो तुम गुनी हौ, राज्य-गायक हौ, याके संमानार्थ तो एक सहस्र मुद्रा हैं, परंतु ऐसौ सुंदर संगीत यदि प्रभून में बिनियोग न भयौ तौ एक कौड़ी के ही मूल्य कौ है।"

तब तानसेन नें आपसूं दीक्षा के लिएँ प्रार्थना करी और आपनें वाकूं दीक्षा दई। तब सूं जितने पद तानसेन नें गाए वे सब पद प्रभु कूं संबोधन करकें ही गाए, जैसे हरेक पद में—

"तानसेन के प्रभु तुम बहुनायक...।"

कौ आभोग राख्यौ। परमानंद दास जी ने कही है—

"सोई कुलीन 'दास परमानँद', जो हरि सनमुख जाई।"

विद्या, कला, चतुराई, सुघरता, रूप, गुन आदि वही उत्तम है जो प्रभून कूं अंगीकार होइ।

आपनें जा मार्मिकता सूं सेवा की परिपाटी बाँधी है सो ऐसी तौ सुंदर, कलात्मक और समझिवे लायक है, वाके लिएँ तौ एक अलग ही ग्रंथ लिख्यौ जाय सकै है। या लेख कौ विषय तो 'श्रीअंग' के वस्त्र बाघादिकन कौ ही है, उनकौ वर्णन नीचे प्रमान है। जैसें—

पाग-अनेक प्रकार की

छज्जेदार पाग—(चित्र १-३) यह पाग राजपूत राजाँन के तथा बादशाहन के प्राचीन चित्रन में दीखवे में आवै है। पीछे की ओर छज्जे जैसौ आकार निकारिवे सूं 'छज्जेदार पाग' कहें हैं।

या पाग के कछु और हू भेद हैं, जैसे—'खिड़की' की और 'भीतर की खिड़की' की। **खिड़की** की पाग दो अलग-अलग पेचन सूं बाँधी जाइ है, तामें एक गहरौ और एक हलकौ रंग होइ है। जो खिड़की की रीति सूं बीच-बीच में दीखते रहें हैं। जैसे शाहजादा 'दारा शिकोह' के चित्र में है।

भीतर की खिड़की—गर्मी के दिनाँन में गहरे रंग के पेच कूं महीन वस्त्र सूं गौण करकें पाग बाँधी जाइ है, जासूं याकूं भीतर की खिड़की की पाग कहें हैं।

गोल पाग—तौ अभी तक हू ब्रज में बाँधी जाइ है, जो एक आड़ी विशेष ढरकौं-हीं रहे है (चित्र ४)। जथा—

"रही धसि पाग लाल-आधे सिर।"

लटपटी पाग—यह ढीली-ढाली बाँधी जाइ है और वाकौ ऊपर कों एक ही पेच कस्यौ जाइ है। जैसें—बादशाह जहाँगीर के चित्र में है (चित्र ५, ६)।

खूंट की पाग—या में दोनों आड़ी खूंट के-से आकार निकरें हैं (चित्र ७)। उदयपुर के महाराणान की पाग ऐसी ही है।

सुरंग-दुरंग पाग—या में एक ही पेच दो रंग में रँग कें बाँधी जाइ है। जैसे लाल और हरचौ। कोई जगह दुर जाइ और कोई जगह दीसै।

दुपेची पाग—यह पाग गरमीन में रात कूं बाँधी जाइ है और इतनी छोटी होइ है कि दो ही पेच आवें हैं (चित्र ८)।

चीरा—यह छोटी पाग होइ है और जरी की होइ है (चित्र ९)। पागन में छोर नहीं दिखाए जाँइ हैं। छोरन के हेर-फेर सूं और हू अनेक प्रकार के भेद है जाँइ हैं। जैसें—स्वरन के हेर-फेर सूं रागन में भेद है जाइ हैं।

पेच या पेचौ—यह पाग के ऊपर कौ पेच होइ है। वौ और हू रंग कौ तथा जरी कौ हू होइ है। राजा-महाराजा जड़ाऊ रतनँन कौ पेच हू बाँधें हैं। याकूं 'पेची' हू कहें हैं। तदुपरांत

पागन पै मोंतिन की लर, सिरपेच, कलगी, तुर्रा, लूम, कतरा, पंख, ताइत, चंद्र इत्यादि अनेक अलंकार हू पहरे जाँइ हैं। 'शिखा-वस्त्र' ठंड में पहरयौ जाइ है। जो रुई कौ होइ है और पाग के नीचें रहै है।

फेंटा—यह पाग जैसौ ही होइ है, या कौ केवल एक छोर बगल में निकारि कें बाँध्यौ जाइ है (चित्र १०)।

ऐंठवाँ फेटा—जो ऐंठ कें बाँध्यौ जाइ, याकूं 'मरोड़ी' कौ फेंटा हू कहें हैं (चित्र ११)।

पगा—पाग के मध्य में छोर दीखतौ रहै है तौ या कूं 'पगा' अथवा—'ग्वाल-पगा' कहें हैं (चित्र १२)।

गोटी-पगा—पाग के बीच में गोटी जैसे गोल आकार निकरें है। यासूं याकूं 'गोटी-पगा' कहें हैं (चित्र १३)।

कुलह-पगा—कुलहा टोपी पहरिकें चारों आड़ी सूं ऐसी पाग बाँधनों कि कुलहा दीखतौ रहै और वाकौ एक छोर बाहर कूं निकरतौ रहै (चित्र १४, १५)।

दुमाला खूंट कौ—यह ग्वारियान की पोशाक है। काठियावाड़ में याकूं "धोवाला' कहें है। याके छोड़ दोनों आड़ी निकरते रहें हैं और पाग की भाँति बाँध्यौ जाइ है (चित्र १६)। याके ऊपर 'मयूर-पिच्छ', मयूर-पिच्छन के 'कतरा' उरसे जाँइ हैं। गायन कूं खिलाइवे के लिएँ गाय के काँन के आकार के 'गोकर्ण' हूं दुमाले पै उरसे जाँइ हैं।

दुमाला बीच कौ—एक छोर बगल में और एक छोर बीच में आइवे सूं 'बीच कौ दुमाला' बाजै है (चित्र १७)।

श्री मस्तक के मुख्य शृंगार

(कुलह वा कुल्हैया मुकुट, टिपारौ और सेहरौ)

कुलह वा कुल्हैया—यह शृंगार शाही है (चित्र १८ और १८ अ)। कुलह टोपी कौ नाम है, जो समयानुकूल जरी की, रतनँन की, मोंती की, चंदन के चित्र की होइ है। टोपी पैहरि कें गोटी दीसती रहै है और चारों ओर पाग बाँधी जाइ है। या पाग कूं 'कुल्हा की मेंड' हूँ कहें हैं। दोनों आड़ी दोनों छोर बाहर राखे जाँइ हैं। जैसें—पंजाबी या पठान बाँधें हैं। यह कुलह गुसाँई जी कूं बड़ी सुंदर जँची और हरेक बड़े उत्सवन पै याही कौ मुख्य सिंगार राख्यौ गयौ है। छोटे बालकन कूं जब यह पहरायौ जाइ है तब या कूं कुलही व कुल्हैया कहें हैं।[1]

मुकुट—मुकुट (चित्र १९) तौ श्री कृष्ण के सिंगारन में मुख्य है। यामें मोर-मुकुट "बर्हापीड" मुख्य है। यदि मयूर-पंख बिना कौ मुकुट होइ तो वाकूं 'खूंप कौ मुकुट' कह्यौ जाइ है।

किरीट—यह राजान कौ मुकुट है (चित्र २०)। कांगरा के चित्रन में बहुतायत सूं दीसै है।

सेहरौ—यह ब्याह कौ सूचक पोशाक है[2]। याकौ नाम 'मौर' हू कहें हैं (चित्र २१)।

[1]. आज की बाँनक कही न जाइ।
रही धँसि पाग लाल-आधे सिर, कुलह-चंपक-भरी ता मधि हीरा लटकाइ।।
बरुनी पीत पैहरें, छूटे बंद अरगजा मौजें, तन बिंबित स्यांम झाइ।
दरसनीय बनमाल, तिलक, निरखि बिथके कोटि मदन, 'गोंबिंद' बलि-बलि जाइ।।
—गोविंद स्वामी (अष्टछाप)

[2]. जुगल बर आवत हैं गठ-जोरें।
सँग सोहत बृषभाँन-नंदिनी, ललितादिक तृन तोरें।।
सीस 'सेहरौ' बन्योंरी लालन के, हरखि, निरखि चित-चोरें।
निरखि-निरखि बलि जाइ 'गदधार', छबि न बढ़ी कछु थोरें।।
—गदाधर भट्ट

टिपारौ[1]—यह ग्वारियान कौ शिरोभूषण है। मल्ल-काछ के संग पहरचौ जाइ है। छोर-दार एक टोपी पैहरकें ताके उपर पाग की मेंढ कूं बाँध कें दोनों आड़ी दोनों छोरन कूं राखे जाँइ हैं, अर्थात् दो बगल के और एक टोपी के ऊपर ऐसें मिल कें तीन छोरन कौ टिपारो बाजै है। टिपारे के उपर मयूर-चंद्रिका, मोर-शिखा व मयूर के पंखन के कतरा धरे जाँइ हैं। प्राचीन चित्रन में श्री कृष्ण के श्री मस्तक के उपर गोधन के संग देखिबे में आवे है (चित्र २२-२२ 'अ')। और हू—टोपी (चित्र २५), टोपा (चित्र ३८), टोप (चित्र ३४), खोई आदि श्री मस्तक के सिंगार हैं। जैसें—

कुंजा की टोपी (चित्र ३१), शमला (चित्र ३२), दुपल्ली (चित्र ३५), चौगोशिया (चित्र ३६), ग्वाल टोपी (चित्र ३०), बाबरी की टोपी (चित्र ३३) और मुकुट की टोपी (चित्र २४)।

टोप—यह स्वर्ण को होय है और रुई के टोपा के उपर पहरचौ जाइ है (चित्र ३४)।

टोपा—सादा (चित्र ३८), बृंदाबनी (चित्र ४०) और कानदार (चित्र ३८) ये तीन प्रकार के होंइ हैं।

अंग-वस्त्र बाघा (बागा)

चाकदार या चौबगला बाघा,—यह राजपूती पोशाक है (चित्र ६३)। जहाँगीर के समय के चित्रन में बहुधा दीसै है। कमर के नीचे के भाग कूं दामन और ऊपर के भाग कूं चोली कहें हैं। चोली समयानुकूल अनेक रंगीन वस्त्रन की, चित्र की, चंदन की, अबीर-गुलाल की पैहरी जाइ है।

घेरदार बाघा,—यै हू राजपूती पोशाक है, घोंटूं सूं नीचे ताँइं होइ है और या में थोड़ौ घेर होइ है (चित्र ६४)।

छूटे बंद कौ—चाकदार बाघा कूं बिना तनी बाँधें पहिरिवे सूं 'छूटे बंद कौ बाघौ' कहें हैं (चित्र ६५)।

कछनी (काछिनी)—यह नृत्य की पोशाक है और छाती सूं ऊपर कसिकें पैहरी जाइ है। याके घेर में दो-तीन रंग होंइ हैं और मुकुट के नीचें रास में खास पैहरें हैं। यामें घेर विशेष होइ है (चित्र ६७)। मयूर की समता के लियें माथें-मुकुट और घेरदार काछनी पैहरी जाइ है। जथा—

"इन मोरँन की भाँति देखौ नाचत गोपाला।"

फ़तवी या फ़तूरी—यै कब्जा के ढंग की होइ है। बिना बाँह की व आधी बाँह की हू होइ है और बाघा के ऊपर पैहरी जाइ है (चित्र ७१-७२)।

आतम-सुख—याहि ठंड में रूई के गद्दल के नीचें पहरें हैं।

गद्दल—यह रुईदार अँगरखी कौ नाम है (चित्र ६८)।

फरगुल—यह शाही पोशाक है और ठंड में उपर सूं पैहरि लई जाइ है, याकौ आकार पूर्ण गोल होइवे सूं कदाचित या कौ नाम फरगुल परचौ होइगौ (चित्र७३)।

बंद—यह यावनी पोशाक है और कब्जा की भाँति एक आड़ी कुंदा और एक आड़ी घुंडी-दार होइ है। ठंड में बाघा के ऊपर पैहरें हैं (चित्र ७१-७२)।

कबाय—यह पाँइ तक कौ अँगरखा होइ है, यामें तनीं नहीं होंइ हैं और सब पोशाकन के ऊपर पैहरि लियौ जाइ है (चित्र ६९)। यदि रुईदार होइ तौ वाकूं 'लबादौ' कहें हैं।

[1]. गायँन के पाछें-पाछें नटवर काछें-काछें, बन्यों हैं 'टिपारौ' आछौ लाल गिरधारी कें।
धातु कौ तिलक किएं, बनी गुंजमाल हिएं, बन के सिंगार आछे बिपिन-बिहारी कें।।
नटवर-भेष किएं, ग्वाल-मंडली संग लिएं, गावत-बजावत देत कर तारी कें।
'गोबिंद' प्रभु बनतें ब्रज-आवत, पौर-दौर ब्रज-नारी झाँकत मधि जारी कें।।

कटि सूं नीचे के वस्त्र

धोती, परधनी, आड़बंध, जोगिया आड़बंध, जाँघिया, मल्लकाछ (चित्र ६६), पटका, पिछौरा, सूथन (चित्र ७५), तमाम (चित्र ७६) और तनियाँ। नीचे सूं चौड़े सूथन कौ नाम 'तमाम' है और तनियाँ लँगोटी की भाँति सूथन (चित्र ७६) के भीतर पहरयौ जाइ है।

मोजा—ठंड में रुईदार मोजा पाँइन में पैहरे जाँइ हैं (चित्र ६५)।

याही प्रकार हरेक सिंगार के संग गहने कुंडलादिक, हार, हस्त और चरणन के भूषण हूं पृथक्-पृथक् पैहरे जाँइ हैं। इन वस्तुन के विशेष परिचय के लिये पुष्टि-संप्रदाय के मर्मज्ञ वैष्णवन द्वारा समझ लैनों चहिऐं। सेवा-सिंगार की और हूँ अनेक ऐसी वस्तुऐं हैं जिनकौ संग्रह कर लैनों अति आवश्यक है।

भक्ति-पथ में मनोनिग्रह कौ यह एक सरल उपाय है, जाके द्वारा वैष्णव-जन अपने प्रभून कूं सहज ही पाइ सकें हैं। जथा—

"आज और काल्ह और दिन प्रति और और, देखिऐ रसिक श्री गिरिराज-धरँन।
छिन-छिन प्रति नई छबि बरनें सो कौंन कवि, नित ही सिंगरि बाघौ बरँन-बरँन।।
सोभा-सिंधु अंग-अंग, मोहत कोटि अनंग, छबि की उठत तरंग, बिस्व कौ मन-हरँन।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर कौ सरूप सुधा-पान कीजै, जीजै रहिऐ सदाँ हीं सरँन।।"[1]

❀

"श्री अहिवासी जी ने 'वल्लभ-संप्रदाय' की जो शृंगार-प्रसाधन सामग्री—वस्त्र-विशेषों का यहाँ उल्लेख किया है उसमें कुछ वस्तुएँ और हैं, जैसे पाग—गोखड़ादार, बत्तीदार, चूंदड़ी की, गुलाबी, हरी, लाल, नीली आदि विविध रंगों की, तिकोनी, चौखूटी, बत्ती की, मंदील (मंडील), दुमाला, गुच्छा, पिछौरा, पीतांबर, काछा, बागा—कटावदार, खड़ौ, चौबगला, पटका, चौतनियाँ (चौतनी), झगुली, तनियाँ, गाती, नीमा, सेला इत्यादि और आभूषण—मुकुट (आडा-और खड़ा), मोर-मुकुट, क्रीट-मुकुट, टोपीदार मुकुट, मोरचंद्रिका, जोड़ की चंद्रिका, कारचौबी की, डाक की, पिटारा, कतारे, बाँक, टिकरा, थेकड़ा, पान, चखौड़ा, दुमाला, पगा, छोर (टिपारे के दोनों ओर धराया जानेवाला आभूषण), लटकन (यह प्रिया-प्रीतम दोनों की धराये जाते हैं), मोरशिखा, पतुवा (कलंगी के पास धराने का आभूषण), सीका (यह टीका के दोनों ओर धराया जाता है), दाढ़ी (कलंगी के साथ धरायी जाती है), चीड़ा (पक्षी के समान आभरण जो मस्तक पर धराया जाता है), पूगोटी (कुल्है के साथ धरायी जाती है), टकमा (यह जड़ाऊ होता है और बीच में ठेकड़ा भी होता है), तुर्रा, पानतुर्रा, आदि...। ये सब आभूषण श्री ठाकुर जी के मस्तक के शृंगार हैं। श्री प्रियाजी के —शीशफूल, बंदियाँ, बेंड़ी-बंदी (बेंनाबंदी), लर (यह प्रिया-प्रीतम दोनों को धरायी जाती है), अलकावली, चंद्रमा, चोटी, पानड़ी, झूमर और चाक, शीश के शृंगार हैं। कान के आभूषण जैसे—कुंडल (मकराकृति, मीनाकृति, मयूराकृति और शुकाकृति), लोलबंदी, मुरकी, बाला, छैलकड़ी या बिचकनी। श्री प्रियाजी के कर्णाभूषण—बारी, झेला, कर्णफूल, तरकी, पीपलपत्ता, झूमका, झूमकी, पत्ते, चौकड़ा, काँव, दूद, लरझर और झौरा आदि...। नासिका के आभूषण प्रिया-प्रीतम के—बेसर, बुलाक, चौकड़ी, सींक, फूल, भोगली, नथ, नथुनी। ठोड़ी का आभूषण,—चिबुक। कंठ के भूषण—ठुस्सी, गोप, हार, जंत्रहार (एक प्रकार का कठला), माला, त्रिबल, कंठी, कंठा, पदक, हाँस, कंठाभरण, कंठमाल, कंठमणि (कौस्तुभ मणि), कंठी बिजौरा की, बघनखा (केहरि-नख), ढोलना (इसे तायत भी कहते हैं), कठला, बज्रमाल

१. या लेख में बंबईवारे गोस्वामी श्री गोपीनाथजी ने शृंगारन के भेदन कौ सुझाव दीयौ है।

(हीरा की), तोड़ा, सिकरी, चौकी, त्रिसेठिया, धुगधुगी (धुकधुकी), बद्दी, बादला, चकती, चंद्रमा की कंठी, तिलकहार, हाथसा का हार, नवग्रही-हार, हँसुलिया, तिमनियाँ। हस्त-कमल के आभूषण—बरा, बाँकड़ा, जोसन, थपिया, बाजूबंद, बाजू, पोंहची, छन्न, दूवा, बंगली, ककना-ककनी, चरा, कड़े, रतनचौक, पछेली, गूजरी, साँकड़ा, चाँगट, जोड़ी, हथफूल (हस्त-साँकला), बेंड़, आरसी, छाप, छल्ला, अँगूठी (मुद्रिका), कंकण, नख-भूषण। कमर के—कटिपेच, छुद्रघंटिका, किंकणी, करधनी (कंधनी-कंदोरा), मल्लकाछ और मेखला जो कंघनी से विशेष चौड़ी होती है। पद-आभूषण—चूरा (ठोस व पोले), रूरा, जेहर, तेहर, साँकड़ा, पायल, पायजेब (इसे पेंजनी भी कहते हैं), गूजरी लच्छे, झाँझन, झाँझरी, पद-पान, तोड़ा, अनबट, बिछिया, नूपुर, छल्ला, छल्ली, (इन्हें मट्ठर भी कहते हैं) और चीप इत्यादि अनेक प्रकार के होते हैं।

संप्रदाय में ये आभूषण—हीरा, पन्ना, माणिक मोती, मूगा, नीलम के अबाजदार और खुले अर्थात् जड़े हुए होते हैं। मोती के आभूषण जड़े हुए और पोए हुए होते हैं। यही नहीं, ये आभरण सोने-चाँदी के और विविध रंग की 'मीना' के साथ-साथ जरी—(सुनहली और रुपहली) के और सीप के भी होते हैं।"

—ज० चतुर्वेदी

छिन-छिन बानिक और-ही-और : चित्र-परिचय

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मित्रवर श्री अहिवासी जी ने मंदिरों में ठाकुर जी के वेष और शृंगार के विषय में यह सुंदर लेख २३ जून १९५० को भेजने की कृपा की थी। ३० अक्तूबर १९५० को अपनी बंबई-यात्रा में इस लेख के चित्रों को मुझे उन्हीं से समझने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय जो स्पष्टीकरण मिला वह यहाँ दिया जाता है। कृष्ण-संबंधी साहित्य में ब्रजभाषा के कवियों ने वेष-भूषा-संबंधी जिन अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, उनका सचित्र परिचय श्री 'अहिवासी' जी के लेख से प्राप्त होता है। जैसे—

चित्र १—'छज्जेदार' पाग। यह पाग मुगलकालीन पहनावे की एक विशेषता थी। शाहजहाँ से बहादुरशाह के समय तक इसका प्रयोग रहा। अकबर के समय में 'लटपटी पाग' का रिवाज था। जहाँगीर के समय में लटपटी पाग में डेढ़पेच या लपेट पाया जाता है। उसके बाद शाहजहाँ (१६२७-१६५८) कालीन चित्रों में छज्जेदार पाग मिलने लगती है। पाग के पीछे गुद्दी की रेखा से निकलते हुए जो लपेट हैं उन्हीं का नाम 'छज्जा' है, जो कुछ नीचे की ओर झुका हुआ है। सिर पर पट्टेदार बालों के कारण पाग को थोड़ा पीछे तक निकलता हुआ बाँधना आवश्यक था।

चित्र में देखिए, पाग के ऊपर कलगी है। 'कलगी' में खोंसा हुआ 'तुर्रा' है। तुर्रे से पीछे की ओर लटकता हुआ 'मखतूल' है। कलगी और तुर्रा पूरे शृंगार के साथ चलते हैं। शयन के समय सादा पाग रहती है। छज्जेदार पाग में कुछ समय बाद एक जड़ाऊ 'सरपेंच' या चौड़ी 'पेची' बाँधी जाने लगी। सिरपेच में तीन नग या पाँच नग लगाए जाते थे और वह पाग के ऊपर डोरियों से बाँधा जाता था।

छज्जेदार पाग का ही भेद 'खिड़की की पाग' है। पाग का हरएक लंबा वस्त्र पेच कहलाता है। जब अलग-अलग दो रंगों के पेचों की पाग बाँधी जाती है तब वह खिड़कीदार कही जाती है। इसके दो प्रकार हैं—'बाहर की खिड़की और भीतर की खिड़की।' जब नीचे के पेच का रंग प्रधान हो और ऊपर के पेच का गौण तब बाहर की खिड़की हुई, जैसे—'दाराशिकोह' के प्रसिद्ध चित्र में है। गहरे रंग का पेच प्रधान और हल्के रंग का गौण समझा जाता है। हल्के रंग का पेच ही 'खिड़की' समझनी चाहिए। जैसे हरी पाग पर लाल रंग की खिड़की देनी हो तो नीचे हरे रंग का पेच बाँधा जाय और उसके ऊपर लाल रंग का पेच बाँधना चाहिए। यह बाहर की खिड़की हुई। इसके विपरीत जब नीचे खिड़की का रंग गौण हो और उसके ऊपर की पाग का रंग प्रधान हो तो भीतर की खिड़की हुई। बाहर और भीतर की खिड़की के चित्र यहाँ नहीं दिए गए, क्योंकि यह भेद रंगीन चित्र में अधिक स्पष्ट होता है।

चित्र २—छज्जेदार पाग सामने से दिखाई गई है। सरपेंच के ऊपर पाग में सामने तीन कलगियाँ लगी हुई हैं।

चित्र ३—छज्जेदार पाग बड़े बूंदे की, अर्थात् जिसका छज्जेवाला भाग कुछ बड़ा है।

चित्र ४—'गोल पाग'। यह पाग सिर के आधी ओर को ढरकी हुई बाँधी जाती थी। इसे—'ढरकौंही पाग' भी कहते हैं।

चित्र ५—'लटपटी' पाग। जहाँगीर के समय में इसे 'डेढ़पेची पाग' भी कहने लगे। पूरी पाग ढीली बाँधी जाती है। अंत का डेढ़ पेच कसकर बाँधा जाता है। आखिर का पेच थोड़ी जगह छोड़ते हुए जरा ऊपर कसा जाता है, जिससे बाल दीखते रहें। चित्र में यह स्पष्ट दिखाया गया है।

चित्र ६—लटपटी पाग का सामने का भाग।

चित्र ७—'खूँटादार पाग'। इसके दो भेद हैं—एक खूँटे की जो सिर्फ 'खूँटादार' कहलाती है और दूसरी दो खूँटे की जो 'दो खूँटादार' कही जाती है। उदयपुर के महाराणा खूँटादार पाग पहनते हैं।

चित्र ८—'दुपेची'। इसमें छोटा 'पिछौरा' लेकर ही पाग की तरह बाँध लिया जाता है। बाँधने के ढंग में पाग का पेच दो बार ऊपर से लपेटा हुआ दिखाई पड़ता है। बड़े दाऊ जी के सिर पर शयन के समय हल्की 'दुपेची पाग' लपेट दी जाती है। ठंड के समय में टोपे के ऊपर भी दुपेची बाँध लेते हैं।

चित्र ९—'चीरा'। छोटी जरी की पाग।

चित्र १०—'छोटा फेंटा'। जिसे कभी-कभी 'बड़ी पाग' के अभाव में पहनते हैं।

चित्र ११—'फेंटा'। वह पाग जिसमें एक छोर हो। यही 'मुरोरी का फेंटा' या 'ऐंठवाँ फेंटा' भी कहलाता है।

चित्र १२—'बड़ा फेंटा'। जिसे गवैये और ग्वालिये आदि बाँधते हैं। इसमें भी सामने की ओर एक छोर है।

चित्र १३—'गोटी पगा'। इसके बीच में गोटी के से आकार की छोटी टोपी रहती है, जो चित्र में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

चित्र १४—'कुलह पगा'। वह पाग जिसमें बीच में 'कुलह टोपी' मुख्य रहती है। हिंदी कुलह ईरानी 'कुलह' से निकला है। यह टोपी गुप्त काल में सासानवंशी ईरान की संस्कृति के संपर्क में आने से हमारे देश में भी चल गई थी। बाणभट्ट ने कुलह का संस्कृत रूप 'खोल' हर्षचरित में दिया है। हिंदी का 'कुल्हिया' (कुल्हैया) शब्द इसी कुलह से बना ज्ञात होता है। आज भी पठानों में कुलहे की टोपी का व्यापक प्रचार है।

चित्र १५—यह भी कुलह पगा ही है। पहले की भाँति इसमें भी एक ही छोर है, किंतु बीच में कुलहे की गोटी दर्शनीय है। गोटी के नीचे चारों ओर जरी का काम दिखाई पड़ता है। गर्मियों में जो ठाकुर जी का शृंगार होता है, उसमें कुल्है के ऊपर चंदन से ही यह सजावट बना दी जाती है।

चित्र १६—'दुमाला खूँट का'। दुमाला दो छोर का नाम है। ग्वालिये लोग दुमाले का पगा पहनते हैं। पगा पाग से बड़ा होता है। पाग छोटी होती है। पाग में छोर गौण होते हैं; छोरों को उन्स लेते हैं, लेकिन पगा में छोर अवश्य रहते हैं और प्रायः दो होते हैं। खूँट के दुमाले में दोनों छोर दो कोने या खूँट में दिखाए गए हैं।

चित्र १७—'दुमाला बीच का'। इसमें एक छोर तो खूँट या कोने में है और दूसरा छोर बीचों-बीच दिखाया गया है।

चित्र १८—'कुलह'। सामने का दर्शन है। बीच में पान और कोनों में दो छोर हैं। कुलह के ऊपर बीच में गोटी है। बेलन की तरह घूमा हुआ किनारा 'मेंड' कहलाता है।

वल्लभाचार्य जी ने उत्सवों में ठाकुर जी के शृंगार के लिये 'मुकुट' रखा था। 'बिट्ठल-नाथ' जी ने उत्सव-शृंगार में 'कुलह' कर दिया और उसके ऊपर वल्लभाचार्य जी वाला शृंगार भी शामिल कर लिया।

चित्र १९—'मुकुट'। इसमें सब से नीचे मुकुट की टोपी है। उसके ऊपर पान के आकार का मुकुट है और उसके भीतर मयूर-पंख हैं, जिनमें चंद्रक साफ दिखाई पड़ते हैं। सबसे ऊपर छोर या तुर्रा है।

चित्र २०—'किरीट-मुकुट'। नीचे किरीट और ऊपर मुकुट है। राजाओं के लिये 'किरीट-मुकुट' का बाना है। रामनवमी के उत्सव में ठाकुरजी को किरीट धारण कराते हैं।

चित्र २१—'सेहरा'। यह विवाह में पाग के ऊपर बाँधा जाता है। सेहरे के बीच में चौकोर टिकरा है; जो जड़ाऊ होता है या जरी के काम का काढ़कर बनाया जाता है। टिकरे के ऊपर मोतियों की पाँच लड़ हैं। हर एक लड़ के अंत में तुर्रा है। टिकरे के नीचे भी लटकते दोहरे मोती हैं।

चित्र २२—'टिपारा तीन छोर का'। एक छोर बीच में, दो कोनों में हैं। बीचों-बीच तिकोनी औंधे कुल्हड़ जैसी आकृति ही 'टिपारा' है। उसके ऊपर पाग की मेड़ लिपटी हुई है। टिपारे के छोर के ऊपर 'मोरशिखा' है। मोरशिखा वास्तविक मोर के पंखों से बनाई जाती है और देखने में बड़ी कलात्मक मालूम होती है। श्री अहिवासी जी ने अपने ठाकुर जी के शृंगार की असली मोरशिखा हमें दिखाई। कवियों ने कृष्ण की शिरोभूषा में प्रायः मोरशिखा का वर्णन किया है।

चित्र २२ (आ)—'टिपारा पाँच छोर का'। एक छोर तो बीच में टिपारे की टोपी का हो। दो रंगों की दो पाग बाँधने से चार छोर और हैं।

चित्र २३—यह प्राचीन पग्गड़ या पगड़ा है। बीच में टोपी है। उसकी जड़ में मेड़ के रूप में पाग लिपटी हुई है। पाग में छोर नहीं दिखाई देते।

चित्र २४—'किरीट की टोपी'। नीचे किरीट की, ऊपर पाँच कँगूरे और हरएक कंगूरे के सिरे पर गोल टिकरे जड़े हुए हैं।

चित्र २५—'टोपी बनारसी'।

चित्र २६—'छोर की टोपी'। इसे ही 'छोगा' की टोपी भी कहते हैं। टोपी के ऊपर छोर है।

चित्र २७—'किश्तीनुमा टोपी'। इसे ही 'नोकदार' टोपी भी कहते हैं।

चित्र २८—'सादा टोपी'। नीचे टोपी की बाड़, ऊपर छोटे कँगूरे और ऊपर फुन्गी है।

चित्र २९—'शाही टोपी'। बादशाहों के पहनने की 'ताजनुमा' टोपी है। नीचे बाड़ और ऊपर 'खरबुजिया' आकृति की फाँकदार टोपी है। उसके ऊपर तुर्रा है।

चित्र ३०—'ग्वाल टोपी'। प्रायः पहाड़ी चित्रों में ग्वालवालों के सिर पर देखी जाती है। टोपी की पीछे को मुड़ी हुई नोक के सिर पर गोल लटकन है।

चित्र ३१—'कुंजा की टोपी'। मिस्री के कुंजे की आकृति की होने से यह नाम पड़ा। फारसी *कूज़ा, हिंदी कुंजा से ब्रजभाषा का कुंजा शब्द बना है।* चित्र में टोपी के ऊपर छोर है।

चित्र ३२—'शमला की टोपी'। इसमें बीच में टोपी है। टोपी के आगे तुर्रा और पीछे लूम रहते हैं। तुर्रे के आगे छोर या शमला है।

चित्र ३३—'बाबरी की टोपी'। यह बच्चों के लिये होती है। टोपी के पीछे गर्दन को ढकने के लिये रेशम के काले बाल लटकते रहते हैं। शेर की अयाल की तरह होने के कारण इन्हें 'बब्बरी' या 'बाबरी' कहते हैं। चित्र में टोपी की चोटी पर फूंदा लगा है।

चित्र ३४—'टोप'। ठंड के समय में टोपा पहनकर ऊपर टोप पहनते हैं। सोने के बने टोप पर

बीच में मीने का काम रहता है। टोप के ऊपर छतरी है और छतरी के नीचे मोती लटकते दिखाए गए हैं।

चित्र ३५—'दुपल्ली टोपी'। दो पल्लों को बीच में सींकर नीचे गोल बाड़ लगा कर बनाई जाती है। पहले इसका देहातों में आम रिवाज था।

चित्र ३६—'चौगोशिया टोपी'। इस टोपी में बीच में कुलह जैसा चँदोवा, उसके ऊपर तुर्रा और टोपी की चार खूँटों में चार कान निकले हुए हैं। चित्र ३६ में ये कान ऊपर की ओर मुड़े हैं।

चित्र ३७—'चौगोशिया'। इसमें चारों कान बाहर की ओर निकले हुए हैं। बच्चों के ओढ़ने के लिये इसका बहुत रिवाज था।

चित्र ३८—'टोपा सादा'। टोपे में कान अवश्य ढकने चाहिए। उसी के लिये दोनों ओर कनपटे लटकते हैं जो तनी से बाँध लिये जाते हैं।

चित्र ३९—'टोपा मुड़ा हुआ'। जब कान न ढकने हों तब कनपटों को ऊपर की ओर मोड़ लेते हैं।

चित्र ४०—'वृंदावनी टोपा'। इससे सिर का अगला भाग ही ढकते हैं। कान गर्दन नहीं ढकते यह कुछ टेढ़ा ओढ़ा जाता है।

चित्र ४१—'खोई'। इसे घोघी (घुग्घी) भी कहते हैं। यह मेह बरसते में ग्वालबालों के सिर पर ढकने के काम में आती है।

चित्र ४२—'कतरा'। चित्र में दुहरा कतरा दिखाया गया है। हर कतरे की नोक पर एक मोती की लटकन है।

चित्र ४३—'कतरा दूसरा'। इस कतरे में चार तारों में चार मोती लटकते दिखाए गए हैं।

चित्र ४४—'तुर्रा'। यह पगड़ी के ऊपर लगाने का बादले का गुच्छा होता है।

चित्र ४५—'तुर्रा दूसरा'। यह तुर्रा सामने की ओर फैला हुआ है।

चित्र ४६—'तुर्रा-कलगी'। नीचे तुर्रा है और उसके ऊपर बीच में से कलगी निकली है।

चित्र ४७—'लूम'। लूम का अर्थ पूछ है। जरी या जड़ाऊ काम के फूँदनों का लंबा गुच्छा जो टोपी, पगड़ी आदि में लटकता हुआ लगाया जाता है।

चित्र ४८—'लूम दूसरी'। अपेक्षाकृत सादा।

चित्र ४९—'मोरशिखा'।

चित्र ५०—'मोरशिखा' (दूसरी)। इस चित्र में तुर्रे बाँधकर उनसे मोर-शिखा बनाई गई है।

चित्र ५१—'मोरचंद्रिका डाँक की'। जरी के बाल जैसे महीन तारों को डाँक कहते हैं। डाँकों का गुच्छा बाँध कर मूल में मोरपंख के चंद्रक की आकृति रखकर मोरचंद्रिका बनाई गई है।

चित्र ५२—'गोकर्ण'। गायों के साथ खेल के लिये बन में जाते समय 'गोकर्ण' पाग के ऊपर पहरे जाते हैं। अन्नकूट के दिन भी गोकर्ण कुलह के ऊपर पहने जाते हैं।

चित्र ५३—'खंडेला'। डंडी के एक ही तरफ का आधा मोरपंख 'खंडेला' कहा जाता है।

चित्र ५४—'लूम का कतरा'। इसमें शुरू में तुर्रा, फिर तीन कतरे और उनके अंत में लूम है। यह 'तिहेरा लूम का कतरा' कहा जाता है।

चित्र ५५—'जरी की लूम'।

चित्र ५६—'मोरचंद्रिका का जोड़ या मुकुट'। पाँच मोरपंख जोड़कर बनाए जाने के कारण इसका नाम 'पाँच का जोड़' है।

चित्र ५७—'मोर की गरदन के पंखों का जोड़ या मुकुट'। यह बिल्कुल 'मेघनील' होता है। इसे कुलह के ऊपर उत्सवों में धारण कराते हैं।

चित्र ५८—'मोरशिखा'। मोर के सिर पर जो सुकुमार कलगी होती है उसी की असली मोर-शिखा बनती है। उसके अभाव में रेशमी या जरी की या जड़ाऊ मोरशिखा भी बनाई जाती है। सब की आकृति हूबहू असली मोरशिखा जैसी बनाते हैं।

चित्र ५९—'मुकुट काछनी का शृंगार'। सिर पर पहले टोपी है, फिर मुकुट है, उसके ऊपर छोर हैं। बाहों पर पिछौरे की फहरान है। कटि में दो रंग की कांछनी है। पहले घेर तक एक रंग है; दूसरे घेर तक दूसरा रंग है। नृत्य के समय कटि-काछनी का शृंगार बहुत मनोहर होता है। साहित्य में काछनी का बहुत वर्णन आता है। रास-नृत्य में भी मुकुट-काछनी का शृंगार धरा जाता है।

चित्र ६०—'दूल्हे या ब्याहले का शृंगार'। सिर पर सेहरा है। कंधों पर उपरना सीधा पहना जाता है। कमर में पटका है। नीचे चाकदार बाघा है।

चित्र ६१—'कुलह का शृंगार'। इसमें श्रीकृष्णजी के सिर पर टोपी, उसके दोनों ओर दो छोर, बीच में पान ऊपर पाँच मोर के पंख और सबसे ऊपर मुकुट है। दाहिनी बगल से बाएँ कंधे के पीछे तक उपरने के छोर फहरा रहे हैं। कमर में पटका बँधा है जिसके दो छोर सामने लटके हुए हैं। नीचे चाकदार बाघा या चाकदार जामा पहने हुए हैं। जहाँगीर ने चाकदार जामा चलाया। राजपूतों के साथ ठाकुर जी के शृंगार में इसका चलन हुआ।

चित्र ६२—'मल्लकाछ और टिपारे का शृंगार' किए हुए कृष्ण जी। इस चित्र का शृंगार अत्यंत सुंदर है। सिर पर बीच में तिकोनिया टिपारा है जो बाँकेपन से धरा है। टिपारे के सामने की ओर जरी का फूल है। इसे बाहरी चित्र का टिपारा कहते हैं। टिपारे के नीचे पाग की मेड़ है। टिपारे के ऊपर बीचों-बीच में एक छोर या छोगा है। दोनों खूटों में दो छोर या छोग और हैं। बगल के छोगों में एक-एक कतरा है। बीच के छोगे में मोरशिखा है। मोरशिखा असली, जरी की या जड़ाऊ भी हो सकती है।

कृष्णजी के कंधों पर उपरना पड़ा है, जिसका दाहिना छोर बगल के नीचे से और बायाँ कंधे के ऊपर से होता हुआ बाँह के नीचे की ओर फहरा रहा है। बाईं ओर चोटी गूँथी हुई लहरा रही है। चोटी के अंत में फूंदना है। कमर में पटका या पिछौरा बँधा है। वह दोनों कूल्हों के पास गठियाया जाकर दाएँ-बाएँ छूटे छोरों के साथ फहरा रहा है। कमर में क्षुद्रघंटिका बँधी है। इन्हें ही साहित्य में 'कटि-किंकिणी' भी कहा गया है। पैरों में नूपुर पहने हैं—

"पाँइन नूपुर मंजु बजें, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
माथें किरीट बड़े दृग चंचल, मंद हंसी मुख-चंद-जुन्हाई॥"

सामने की ओर तीन छोर दिखाए गए हैं, जो टाँगों के बीच में लटके हुए हैं।

चित्र ६३—'चाकदार बाघा या जामा'। बाघा और जामा एक ही वस्तु है। जिस बाघे में कोनें निकले रहते हैं उसे 'चाकदार बाघा' या 'जामा' कहते हैं।

चित्र ६४—'घेरदार बाघा'। कमर से ऊपर चोली या चोलना है और नीचे दामन है। चोली और दामन मिलकर बाघा या जामा बनता है। बाघे से नीचे सूथना पहना जाता है। सूथने के ऊपर घुटने से ऊपर तक की दुरंगी, तिरंगी कछनी पहनी जाती थी। मयूर-नृत्य में मोरपंखों की बनी कछनी पहनते थे। यदि कछनी घुटने से नीचे तक की हो तो वही घेरदार 'बागा' कहा जाता है, जो मुगल चित्रों में प्रायः मिलता है।

चित्र ६५—'खुलेबंद का चाकदार बाघा'। इसे 'छूटे बंद' का बाघा भी कहते हैं, क्योंकि बंद खुले रहते हैं, बाँधे नहीं जाते। टाँगों में सूथना, पैरों में मोजा पहने हुए हैं।

चित्र ६६—'श्रृंगार मल्लकाछ का'। कंधे पर उपरना, कमर में पिछौरा है। बिना नृत्य के समय का सीधा मल्लकाछ घुटनों से ऊपर तक पहना हुआ है। सामने तीन छोर हैं।

चित्र ६७—'श्रृंगार काछनी का'। घेरदार दो हरे रंग की काछनी घुटने से ऊपर तक पहने हुई दिखाई गई है।

चित्र ६८—'गद्दल'। रुईदार 'अंगरखी' जो कमर में आधी दूर तक रहती है और अकेली पहनी जाती है। इसके सामने के परत एक दूसरे के ऊपर चढ़े रहते हैं। बंद बगल में बाँधे जाते हैं। यह सर्दी की पोशाक है।

चित्र ६९—'कबा'। यह भी ठंड की पोशाक है। इन विविध वस्त्रों का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए। सबसे नीचे बाघा, उसके ऊपर फतुही और उसके ऊपर कबा। कबा बाँह-दार होती है। कभी-कभी बाँहें पहनते नहीं, यों ही लटका ली जाती हैं।

चित्र ७०—'ठंड की पोशाक'। बिना रुई भरा हुआ पैर के टखनों तक का अँगरखा कबा हुआ। वही यदि रुईदार हो तो 'लबादा' हुआ। रुईदार अँगरखी लंबान में यदि आधी हो तो 'गद्दल' कहलाती है (चित्र-६८)। गद्दल के ऊपर कड़ाके की सर्दी में दोनों बाहों को ढकनेवाला जो रुईदार वस्त्र पहना जाता था वह 'फरगुल' कहलाता था।

बाघा, फतुही, कबा या लबादा, गद्दल, फरगुल यही इन कपड़ों का उत्तरोत्तर क्रम था। चित्र ७० में सिर के ऊपर टोपा है। पैरों में मोजे हैं। शरीर पर सबसे नीचे टखनों तक लंबी कबा है। कबा के ऊपर रुईदार आधी दूर तक का गद्दल है। उसके ऊपर लपेटा हुआ फरगुल है।

चित्र ७१—'फतवी'। इसे फतूरी या कब्जा भी कहते हैं। अधिक ठंड के समय नीचे बाघा, ऊपर फतवी पहनते हैं। इसमें सामने दाहिनी ओर कुंदे और बाईं ओर घुंडी लगी हैं, पर उन्हें लगाते नहीं खुला रखते हैं। चित्र ७१ में बिना बाँह की फतवी है।

चित्र ७२—इस चित्र में आधी बाँह की फतवी है। बाँहें कोहनी से ऊपर कोनेदार कटाव लिये खुली रक्खी जाती हैं।

चित्र ७३—'फरगुल'। ठंड की पोशाक जो बाँहों की नीचाई तक गद्दल के ऊपर पहनी जाती थी। फरगुल साटन का बनाकर उसमें रुई भरते थे। किमखाब की भी दो परत की बिना रुई की फरगुल हो सकती है। लेकिन ऊनी कपड़े की नहीं। कहते हैं कि ऊनी कपड़ा, लाल मिर्च और गोरोचन ये तीन वस्तुएँ कभी मंदिर में नहीं आतीं।

चित्र ७४—'छज्जेदारपाग, घेरदार बाघा और बिना बाँह की फतवी या कुरती की पोशाक।' जैसे ऊपर कहा जा चुका है, बाघे के ऊपर फतवी पहनी जाती थी। चोली और दामन मिलकर बाघा या जामा कहलाता था।

चित्र ७५—'सूथन'। टाँगों में कसा हुआ पाजामा। पाजामे को 'मानसोल्लास' में 'द्विपदी' कहा है।

चित्र ७६—'तमाम'। खोलीदार ढीली मोहरी का पाजामा। नीचे से चौड़ा जिसे पीछे के बाद-शाहों ने चलाया। ठंड के समय एक दिन ठाकुर जी को 'तमाम' का श्रृंगार पहनाते हैं। मुगलों के निशान या झंडों के रखने का खोल 'तूमान' कहलाता था। उसी से संभवतः यह शब्द निकला है।

चित्र ७७—'धोती या साड़ी ओढ़ने का प्रकार'। पल्ला या मुरगाँटा बाँए कंधे पर डाला हुआ है।

चित्र ७८—इस वेष में साड़ी का पल्ला बाईं बगल में खोंसा हुआ है।

चित्र ७९—इस भाँति में साड़ी का छोर चोली में उन्सा हुआ है। यह गूंजरी स्त्रियों का रिवाज था।

चित्र ८०—इसमें साड़ी का पल्ला एक लपेटा लेकर सिर के ऊपर ओढ़ा हुआ है।

चित्र ८१—इसे गुजरानी वेष कहेंगे। सिर पर ग्रोढ़नी है, जिसका एक ठोक (छोर) चोली में उन्सा हुग्रा है। ग्रंग में ग्राधी बाँह की चोली है। कटिप्रदेश से नीचे लहँगा या घाघरा है। इस चोली का यथार्थनाम 'ग्रँगिया'—सं० ग्रंगिका है। ग्रहिच्छत्रा (बरेली) से प्राप्त सप्तम शती की स्त्री-मूर्तियों में ग्रँगिया का पहनावा पाया गया है। ग्रँगिया का साहित्यिक पद ग्रहिवासी जी ने इस प्रकार सुनाया—

"ग्रँगिया खँमक खऐं बनीं, कुच सूं भरमारे।
बदत नाहिंन ग्वालिनी, जोबन के मारे।।"

चित्र ८२—'चोली'। यह मुलकट के कटाव की 'ग्राँगी' कहलाती है। इसमें स्तन के नीचे का भाग खुला दीखता है।

चित्र ८३—'खरबूजा की चोली'। इसमें ग्रलग-ग्रलग टुकड़े या कलियाँ सींकर चोली सीं जाती है।

चित्र ८४—'ग्रँगरखी की चोली'। यह बहुत ही चुस्त स्त्री-वेष है।

चित्र ८५—'ग्रँतरौटा की ग्रँगिया'। इसमें बीच का कपड़ा (ग्रंतरपट) स्तनों के बीच से लटकता रहता है।

मथुरा-महिमा

श्री बहादुरसिंहचंद छावड़ा

जयतितरां व्रजभूमिर्धन्या पुण्याप्यनन्यसामान्या ।
सकलकलासंपूर्णो भगवान् अवतीर्णवान् यस्याम् ।।

२

जयति पुनर्मथुराख्या व्रजभूमेः सारभूता सा ।
अनुयमुनं विनिविष्टा स्फीता रम्या महानगरी ।।

३

श्रीकृष्णबाललीलास्थलीति साद्यापि तीर्थरूपेण ।
धर्मार्थकाममोक्ष प्रवणैः संश्रीयते भक्त्या ।।

४

भुवनं भूषति कृष्णे मथुरा सुतरां बभूव संपन्ना ।
कालक्रमेण किंतु प्राप्नोत्सोच्चावचान् भावान् ।।

५

संवत्कर्तरि शासति भूपे श्रीविक्रमादित्ये ।
पुनरेकदाथ लोके भाग्यं ह्यु दियाय मथुरायाः ।।

६

समवर्ततैकमयनं नानाधर्मानुयायिनां मथुरा ।
येषां मुख्या आसंछ्रौता बौद्धाश्च जैनाश्च ।।

७

तेषामेव महिम्ना सालंकारेव सा पुरी भेजे ।
मंदिरविहारचैत्यैर्यूपस्तूपादिभिश्चापि ।।

८

किंचोत्तरापथीये महापथे सुस्थितं निविष्टेति ।
मथुरा बभूव नूनं वाणिज्यस्यापि गुरु केंद्रम् ।।

९

सर्वासु दिक्षु ददृशे यातायातं हि सार्थवाहानाम् ।
शकटैरनिशं वहतां मथुरागामीनि भांडानि ।।

१०

तद्वल्ललितकलानां मथुरैवासीत्तदा सदावासः ।
मूर्तिकला तु विशेषात् तत्रारोहत्परां काष्ठाम् ।।

११

मथुरां निकषा लब्धा भग्नाभग्नाः सहस्रशः प्रतिमाः ।
मुखरं प्रमाणयंति प्राचीनं तत्कलोत्कर्षम् ।।

१२

एतादृशी समृद्धा मथुरा कर्षीद्द्रष्टुंजिगीषून् यत् ।
तत्स्वाभाविकमासीन्मल्लीं भ्रमराः कथं जह्यु: ।।

१३

मौर्याः शुंगा यवनाः शकाः कुषाणास्तथान्यराजन्याः ।
क्रमशः शशासुरेतां मथुरां निजविक्रमाक्रांताम् ।।

१४

यावद्विक्रमवंतः संत्यधुना हंत नामशेषास्ते ।
तावत्सैषा मथुरा महीयते पूर्ववल्लोके ।।

श्रीकृष्ण : जन्मभूमि या कटरा केशवदेव

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि 'मथुरापुरी' भारतवर्ष की सप्तमहापुरियों में एक विख्यात नगरी है। भारतीय धर्म-प्राण जनता के हृदय में मथुरा नगरी का एक अद्भुत प्रभाव रहा है। त्रेतायुग में यहाँ मधु नामक असुरवंशीय राजा की राजधानी—'मधुपुरी' में थी। यही स्थान आजकल 'महोली गाँव' के नाम से वर्तमान शहर के दक्षिण-पश्चिम में करीब ४ मील दूर है। साहित्यिक किंवदंती यह है कि जब शत्रुघ्नजी ने लवण दैत्य का दमन कर दिया तब उन्होंने मधुपुरी के नाम से नगर की स्थापना यमुना के किनारे पर की। यह मधुपुरी या मधुरा ही 'मथुरा' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राकृत उच्चारण-के नियमों के अनुसार मथुरा और मधुरा दोनों ही शब्द मान्य हैं।[1]

इस नवीन स्थापना के बाद मधुपुरी का उत्कर्ष बहुत बढ़ा। यहीं यमुना के तट पर महाभारत कालीन मथुरापुरी बसी हुई थी, जिस समय कि भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का जन्म इस पुण्यभूमि पर हुआ। विद्वानों के अनुसार इस प्राचीन मथुरा नगरी का केंद्र 'कटरा केशवदेव' होना चाहिये। 'कनिंघम साहब' ने स्वलिखित पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्टों में इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करने के बाद यही संमति निश्चय की है कि कटरा केशवदेव के उत्तर-पश्चिम की ओर फैले हुए खँडहरों का सिलसिला ही प्राचीन मथुरा नगर है।

श्रीयुत 'ग्राउस' महोदय का भी जो मथुरा के प्रसिद्ध कलक्टर और स्थानीय संग्रहालय के संस्थापक थे और जिन्होंने मथुरा पर एक अमर ग्रंथ की रचना की है, यही मत था कि कटरा केशवदेव ही पुरानी बस्ती है। कटरा केशवदेव की भूमि के सिलसिले में ही कम से कम दो सहस्र वर्ष के पुराने स्थान जैसे—चौरासी, कंकाली, चौबारा, गणेशरा, पालीखेड़ा आदि का ताँता है। सैकड़ों टीले मीलों तक फैले हुए प्राचीन नगर के भग्नावशेषों का स्मरण दिलाते हैं।

कटरा केशवदेव के संबंध में जिस प्राचीनतम जनश्रुति का श्री कनिंघम साहब ने ऊपर उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि में लाखों हिंदू जनता का सनातन काल से चला आता यह विश्वास है कि कटरा केशवदेव ही भगवान् श्री कृष्णचंद्र की 'जन्मभूमि' है। इसी स्थान से लगा हुआ 'पोतराकुंड' है जो एक बहुत ही विशाल और पक्का सरोवर है। जन्मभूमि के पास ही पोतराकुंड का होना भी स्वाभाविक है। कनिंघम साहब ने कटरा के प्राचीन इतिहास पर विचार करते हुए अपनी संमति इस प्रकार दी है—

> **"वर्तमान केशौपुरा मुहल्ले में कटरा स्थान है। इसमें संदेह नहीं कि केशवदेव का प्राचीन मंदिर इसी स्थान पर बना हुआ था। यह मंदिर कितनी ही बार नष्ट हुआ है। मेरे विचार से केशौपुरा ही वह स्थान है जिसका नाम 'एरायन' ने 'किलसोबोरा' या 'केसोबोरा' और 'प्लिनी' ने 'किलसोबोरा' लिखा है।"**

इस प्रकार किलसोबोरा या कृष्णपुरा और केसोबोरा या केशवपुरा पर्यायवाची शब्द हैं। यदि कनिंघम साहब का यह अनुमान ठीक है तो यह सिद्ध हो जाता है कि केशवपुरा का अस्तित्व यूनानियों के आगमन काल, अर्थात् ईस्वी चौथी शताब्दी में अवश्य था। कटरा केशवदेव की भूमि से जो प्राचीन मूर्ति और पत्थर के टुकड़े मिले हैं उनके आधार पर भी इसी बात की पुष्टि होती है कि केशवदेव का स्थान अवश्य ही इतना प्राचीन माना जा सकता है।

१. देखिये—माधुरिय सुत्तांत मज्झिमनिकाय २।४।४

सन् १६१८ में पुराने सिक्के ढालने के तीन जोड़ साँचे स्व० पं०राधाकृष्णजी को खुदाई कराते समय प्राप्त हुए थे। श्री पन्नालाल जी आई०सी०एस० ने जून सन् १८ के हिस्टोरिकल सोसाइटी के जनरल में इन साँचों के संबंध में एक विस्तृत लेख लिखकर उनका समय निर्धारित किया था, अर्थात् पुराण नामक प्राचीन भारतवर्षीय सिक्के ढालने के यह साँचे कम से कम छठी शताब्दी ई० पूर्व से भी पहले के होने चाहिये। मनु, कौटिल्य और पाणिनि ने इन सिक्कों को 'पुराण कहा है।' बुद्ध के जीवन काल में भी यह पाली-ग्रंथो के अनुसार पुराण ही कहलाते थे। श्री दुर्गाप्रसाद जी ने हाल ही में पुराण-मुद्रा के ऊपर विशेष अनुसंधान करते हुए उनका प्रचलन काल १००० ई० पूर्व तक माना है। कम से कम शुंग काल के पूर्व तक अवश्य ही इन सिक्कों का प्रचार रहा। यदि उस समय भी उनके ढालने-वाले साँचे बनाए गए हों तो भी कटरे का प्राचीन स्थान तीसरी शताब्दी के आस-पास अवश्य था।

मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित वहिर्द्वार तोरण की सिरदल का पत्थर है। यह तोरण जनरल कनिंघम को १८६२ की शीत ऋतु में कटरे की खुदाई कराते समय मिला था। उसके एक ओर नौ ऊँचे तोरण खुदे हुए हैं, जिनमें से स्त्री और पुरुषों की भीड़ झाँक कर देख रही है। दूसरी ओर नौ बुद्ध भिक्षु हैं जो विहार के अंदर भोजनशाला में भोजन प्राप्त कर रहे हैं, उनके पास ही स्तंभ स्तूप और बोधि-वृक्षक अंकित हैं। यह तोरण लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व या शुंग काल का होना चाहिये। इससे विदित होता है कि शुंग काल में कटरे की भूमि में बौद्ध-विहारों का अस्तित्व अवश्य था। इसका एक अकाट्य प्रमाण यह भी है कि कटरा से महाराजा वासुक कुषाण सम्राट् 'वाशिष्क' का एक लेख मिला है जिसमें संवत् ७६, अर्थात् १५४ ई० ? में एक बौद्ध स्तूप के जीर्णोद्धार का वर्णन है। सम्राट् वाशिष्क द्वितीय शताब्दी के प्रारंभ में हुए, जिस स्तूप के जीर्णोद्धार का वर्णन कुषाण काल में हो उसका—निर्माण अवश्य ही शुंग काल में हुआ होगा।

कटरा में खुदाई के अवशेषों का जो वर्तमान रूप है उनके आधार पर वहाँ एक से अधिक लगभग चार-पाँच स्तूपों के अस्तित्व का अनुमान होता है। स्तूपों की शृंखला केशवदेव के हिंदू-मंदिर की कुर्सी से उत्तर की ओर थी। मालूम होता है कि मंदिर के स्थान के पास ही बौद्धों को भी स्तूप और विहार बनाने का स्थान दे दिया गया था, उस समय की धार्मिक सहिष्णुता तो प्रसिद्ध ही है। एक ही स्थान पर बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों के देवस्थान बनाए गए, कंकाली-टीला इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यद्यपि यहाँ जैनों का सबसे बड़ा स्तूप था तथा वहीं बौद्धों के चैत्य और हिंदुओं के मंदिर भी थे, जैसा कि उस स्थान से मिली हुई बौद्ध और विष्णु-मूर्तियों से सिद्ध होता है। कटरा केशवदेव से भी जैन-मूर्तियाँ मिली हैं, जिसको 'सगर' और 'सागरिक' नामक भाइयों ने स्थापित किया था। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कटरा केशवदेव केवल बौद्धों का ही स्थान नहीं बल्कि यहाँ पर जैन-मंदिर भी थे। चूंकि जैन और बौद्ध स्तूपों का स्थान वर्तमान केशवदेव के मंदिर या कृष्ण-चबूतरे से हट कर उत्तर की ओर है, इससे यह भी अनुमान होता है कि ब्राह्मण-धर्म-संबंधी मंदिर प्राचीन काल में अपने वर्तमान स्थान पर ही था, उस भूमि के विशेष महत्त्व और पवित्रता के कारण बौद्ध और जैनों ने भी उसे अपनाया। भगवान् बुद्ध भी मथुरा जी में आए और 'ह्वेनसांग' के लेख के अनुसार बुद्ध भगवान् के बाद यहाँ स्तूपों का निर्माण हुआ। गुप्त काल में यह स्थान बहुत ही समृद्ध दशा में था। एक बुद्ध-मूर्ति पर खुदा हुआ गुप्त काल का एक प्रसिद्ध लेख इस समय 'लखनऊ-संग्रहालय' में सुरक्षित है। उससे मालूम होता है कि भिक्षुणी 'जयभट्टा' ने गुप्त संवत् ५३०, ४४६, ५५० ई० में एक बुद्ध-प्रतिमा 'यशोविहार' को दान में दी। इसके अतिरिक्त चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तक की वंशावली का उल्लेख करने वाला एक प्रसिद्ध लेख भी कटरा से ही जनरल कनिंघम को सन् १८५३ में मिला था। वह लेख इस प्रकार है—

पंक्ति, १—सर्वं राजोच्छेत्तु:पृथिव्य मिप्रतिरथ

" २—स्य चतुरुदधि सलिलो स्वादित यशसो ध

पंक्ति, ३—नद वरुणेंद्रांतकस मस्य कृतांत पपर्शोः
" ४—न्यायागतानेकगो हिरण्य कोटि प्रदस्य चिरो
" ५—त्सन्नाश्वमेधाहर्तुर्महाराज श्री गुप्त प्रपौत्र स्य
" ६—महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज
" ७—श्री चंद्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महा दे
" ८—व्यासकुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज
" ९—श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृ
" १०—हीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्ने
" ११—न परम भागवतेन महाराजाधिराज
" १२—श्री चंद्रगुप्तेन.............................

गुप्त सम्राटों के अन्य लेखों के अनुसार ही यह वंशावली भी है, परंतु इसमें मार्के की बात यह है कि महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त तक समाप्ति करके चंद्रगुप्त के द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के होने का वर्णन इसमें था। परम भागवत महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त ने अपने अनुरूप कौन-सा कार्य इस कटरा केशवदेव की पुण्यभूमि पर किया होगा, इसका अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं मालूम होता। समस्त उत्तरापथ के राजाओं का उच्छेद करके जिनमें देव पुत्र शाहानुशाही 'शकमुरुंड' भी शामिल थे,[1] विजयी समुद्रगुप्त ने मथुरा के राजा 'नागसेन'को परास्त करके मथुरा को भी गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया था। उनके परम भागवत पुत्र ने अवश्य ही अपने नये विरुद को चरितार्थ करने के लिए यहाँ पर कोई विशेष धर्म-संबंधी कार्य किया। कटरा केशवदेव-स्थान ही उस कार्य के लिए चुना गया; इस बात से हमें भागवत शिरोमणि विक्रमांक चंद्रगुप्त के देय-धर्म का अनुमान करने में सहायता मिलती है।

हमारी संमति में हिंदू धर्म और संस्कृति का सब प्रकार से नवाभ्युत्थान करनेवाले सूर्य के समान तेजस्वी महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने जिन्होंने अपने पराक्रम का मूल्य देकर मानो समस्त पृथ्वी को मोल ले लिया, अपने 'राजाधिराजर्षि' और 'परम भागवत' इन नवोत्पत्ति उपाधियों को अन्वर्थ करने के लिए पुराकाल से विश्रुत श्री कृष्ण की जन्मभूमि के स्थान पर अवश्य एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया, वह देव-स्थान अत्यंत विशाल और कला का एक अद्भुत उदाहरण होगा।

कटरे की तत्कालीन बौद्ध-प्रतिमाओं से सूचित बौद्ध-कला के समान ही ब्राह्मण मंदिर की कला भी सर्वगुण संपन्न रही होगी। शिला लेख में अवशिष्टाक्षर—

"श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नेन...।"

इन तृतीयांत पदों से निकलनेवाली जिस ध्वनि के आधार पर हमने चंद्रगुप्त के देय-धर्म की कल्पना की है उसका समर्थन भी एक प्रकार से मिल जाता है। कटरा केशवदेव से मिली हुई मूर्तियों से उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है। अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए हम दो मूर्तियों का वर्णन करेंगे जो कटरा केशवदेव से ही प्राप्त हुई हैं, यह दोनों ही निःसंदेह गुप्त-काल की ब्राह्मण-कला में है।

पहली रायबहादुर 'पं० राधाकृष्ण' को सन् १९११-१२ ई० में कटरा की खुदाई करते समय मिली थी।[2] यह एक मंदिर के द्वार का उपरी भाग है, जिस पर जल-मार्ग, कीर्ति-मुख और सिंह-मुखों की शृंखलाएँ हैं, हो न हो यह पत्थर केशवदेव पर बने हुए किसी ब्राह्मण मंदिर का भाग है, यह सब प्रकार से ठेठ गुप्त-कला का नमूना है। इससे भी अधिक निश्चयात्मक दूसरी मूर्ति गुप्त-कालीन स्तंभ'

1. समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति। 2. म्यूजियम नं० के० टी० २४३।

का एक टुकड़ा है जो इसी वर्ष हमें कटरा केशवदेव के स्थंडिल पर बसे हुए एक घर से मिला था[1] यह दरवाजे की चौखट का बगली खंभा या तमंचे का टुकड़ा है, जिसके सामने की ओर कच्छप वाहन पर खड़ी हुई यमुना जी की मूर्ति है, दाहिने हाथ में पूर्ण घट और बाँये हाथ में फूलों की डाली है। गुप्त-कालीन केश-विन्यास कंठ में एकावली माला और सूक्ष्म विमल वस्त्र—इनसे स्तंभ और मूर्ति के समय-निर्धारण में संदेह नहीं रहता।

कच्छप वाहन पर आरूढ़ नदी की अधिष्टात्री देवी (यमुना) का मथुरा से कितना घनिष्ठ संबंध है, यह भी अनुमान किया जा सकता है। पुरातत्त्व और काव्य दोनों इस बात के साक्षी हैं कि द्वार के पार्श्व स्तंभों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ चित्रित करने की प्रथा सर्वप्रथम हिंदुत्त्व के अनुप्राणित गुप्त-कालीन मंदिरों में ही मिलती है[2]। कालिदास की निम्नलिखित पंक्तियों से इसी प्रकार का संकेत मिलता है—

"मूर्ते च गंगा यमुने तदानीं सचामरं देवमसेविषाताम् ।।"

—कुमारसंभव ७।४२

अर्थात्, गंगा और यमुना अपने नदी रूप को त्याग कर—'समुद्रगारूप विपर्ययेऽपि' मनुष्य-विग्रह में चामर-ग्राहिणी बन कर देव की सेवा करने लगीं।

उपरोक्त दोनों मूर्तियाँ इस बात के अकाटच प्रमाण हैं कि गुप्त-काल में कटरा केशवदेव की भूमि पर एक अत्यंत विशाल और भव्य हिंदू मंदिर का निर्माण हुआ। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के असमाप्त लेख के साथ उसका संबंध दिखाते हुए हम यह दिखा चुके हैं कि गुप्त सम्राटों में परम भागवत महाराजाधिराजर्षि की यश-गाथा से विश्रुत श्री चंद्रगुप्त द्वितीय ने ही इस परम विशिष्ठ धार्मिक कार्य का सूत्रपात किया होगा। हमारा विश्वास है कि भविष्य की खुदाई में इस मंदिर के संबंध के अन्य प्रमाण भी अवश्य मिलने चाहिये। कम से कम यह तो प्रतीत होता है कि वर्तमान ऊँचे स्थंडिल से भी नीचे जो कुर्सी है, वह इसी मंदिर की रही हो। उस कुर्सी के चतुर्दिक नक्काशीदार गोले दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान 'कृष्ण-चबूतरे' से दस फीट नीची और चौड़ाई में उससे उत्तर की ओर लगभग २० फुट निकली हुई पुराने मंदिर की कुर्सी है, इस चौकी के चारों तरफ खुदाई करने से इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश पड़ने की आशा है।

चंद्रगुप्त द्वितीय (३७५ से ४१३ तक) के बाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त (४१३ से ४४५ ई० तक) और उसके बाद स्कंदगुप्त का शासन हुआ। कुमारगुप्त के अंतिम वर्षों में हूणों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे, पर गुप्तों की विजयी सेना के समक्ष वे ठहर न सके। स्कंदगुप्त ने समरांगण में लोहा लेकर अपने भुजदंडों से मेदिनी को कंपायमान ही कर दिया था।

"हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धिरः कंपिता।"

—भीतरी शिलालेख

गुप्त-वंशक वीर सेनानी ने अपने विपुल पराक्रम से हूणों की धारा को रोकने के लिये तीक्ष्ण 'कुंतप्रास' और 'भालों' की एक अभेद्य प्राचीर ही खड़ी कर दी थी। फल यह हुआ कि मथुरा के देवस्थान उस समय में सुरक्षित रह गए। हूणों की आँधी छठी शताब्दी के प्रारंभ में समाप्त हो गई। हमें सन् ५५० ई० की मूर्ति में भिक्षुणी जयभट्टा के यशोविहार का वर्णन मिलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि हूणों के बाद तक वहाँ बौद्ध विहार और मंदिर अक्षुण्ण बने रहे। 'फ़ाहियान' ने मथुरा में (४०० ई०) तीन हजार भिक्षु और बीस विहार तथा छै स्तूपों का वर्णन किया है, उसके सिवा

[1]. म्यूजियम नं० २६५६।

[2]. देखिए—चंद्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरी-गुफा का विष्णु-मंदिर।

दो सौ वर्ष बाद 'हर्ष' राजा के राज्य-काल में चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' (६३० से ६४५) भी मथुरा आया। उसने यहाँ २००० भिक्षु और पाँच ब्राह्मण-धर्म संबंधी देवालय देखे।

हमारा अनुमान है कि इन मंदिरों में एक मंदिर कटरा केशवदेव का गुप्त-कालीन मंदिर भी होगा, जो हूणों के बाद भी सुरक्षित रह गया था, परंतु भिक्षुणी जयभट्टा की मूर्ति गुप्त-मंदिर से लगे हुए उत्तर-पश्चिम के कोने में स्थित कुँए में पड़ी हुई मिली थी। जिससे यह ज्ञात होता है कि यशोविहार और उसके साथ के अन्य देवालय भी छठी शताब्दी के बाद किसी समय विध्वंसकारियों-द्वारा नष्ट कर दिए गए थे।

गजनी का आक्रमण

इतिहास में मथुरा के आक्रमणों का जो वृतांत मिलता है उससे तो यही ज्ञात होता है कि गुप्त-काल के अभ्युदय का प्रवाह 'महमूद गजनी' के समय में आकर टूटा। सन् १०१७ ई० में उसने केशवदेव के मंदिर को आकर लूटा। अलउत्वी जो महमूद का मीरमुंशी था, अपनी 'तारीख यामिनी' में कटरा केशवदेव के विषय में लिखता है और मि० ग्राउस साहब ने उसका अवतरण यों दिया है—

"शहर में सुलतान ने एक इमारत देखी जिसे लोग देवताओं की बनाई हुई कहते थे।"

वह आगे चलकर कहता है—

"और शहर के बीच में एक मंदिर सबसे बड़ा और सुंदर था, चित्र से या शब्द से उसका पूरा वर्णन असंभव है, सुलतान ने उसे देख कर कहा कि अगर कोई ऐसी इमारत बनवाये तो लगभग दस करोड़ दीनार खर्च होंगे और बनने में दो सौ वर्ष लगेंगे।"

बीस दिन की लूट

महमूद का आँखों देखा वर्णन और उसके आधार पर किया हुआ अनुमान दोनों ही सत्य हैं, क्योंकि गुप्त काल से १००० ई० तक लगभग ६०० वर्षों की अवधि में केशवदेव का विराट् मंदिर सँवारा गया था और इस दीर्घ समय में वहाँ अतुल धन-संपत्ति और सुवर्ण-राशि एकत्र हो चुकी थी। उसका वर्णन भी यथार्थ ही महमूद के मीरमुंशी ने किया है। बीस दिन की लूट में पाँच सोने की प्रतिमाएँ मिलीं, जिनमें माणिक्य की आँखें जड़ी हुई थीं। उनका मूल्य ५० हजार दीनार था। एक और सोने की मूर्ति मिली जिसका वजन ६८३०० निष्कल या लगभग १४ मन था इसमें करीब डेढ़ सेर का एक नीलम जड़ा हुआ था। चाँदी की सौ भारी-भारी मूर्तियाँ सौ ऊँटों पर लाद कर ले जाई जा सकीं। इस मेरु-तुल्य राशि या कुवेर के कोष को, जिसे देख कर लुटेरों की आँखें फट गई थीं और उन्होंने समझा था कि रत्नों की खान ही हाथ आ गई। शनैः-शनैः संचय करने का श्रेय महा वैभवशाली हिंदू-सम्राट् और धर्म-प्राण प्रजा को था। लगभग ६०० वर्षों तक वे विविध-रीति से मधुमक्षिका की भाँति इस कोष का संचय करते आ रहे थे। अंत में डंड-बल के क्षीण पड़ जाने के कारण उन्हें उससे हाथ धोना पड़ा।

इसी आपत्ति-काल में अनेकानेक बौद्ध तथा हिंदू मूर्तियों को कुओं में फेंक दिया गया। जयभट्टा की मूर्ति भी उसी समय केशवदेव के कुँए में फेंक दी गई होगी, अभी इस कुँए में सफाई कराने से अन्य अनेक मूर्तियों के मिलने की आशा है। महमूद के कुछ काल बाद शांति और व्यवस्था स्थापित होने पर मथुरा फिर से आबाद हुई। गुप्त-कालीन कुर्सी के ऊपर बनी हुई कुर्सी का मंदिर महमूद के बाद किसी समय बना।

सिकंदर लोदी द्वारा विध्वंस

उसका विध्वंस आगे चलकर फिर हुआ। इस मंदिर के जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण का समय निश्चित करने के लिये भी कुछ साधन उपलब्ध होते हैं। सन् १८८६ के फर्वरी मास में डा० 'ब्यूहरर' ने मथुरा में कई स्थानों पर खुदाई कराई थी, उस समय कटरे के टीले को काट कर

मथुरा-वृंदावन रेलवे की लाइन बनायी जा रही थी। १० फरवरी सन् १८८६ को खोदने वाले मजदूरों को कटरे के टीले में एक लेख प्राप्त हुआ, जो इस समय लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। लेख संस्कृत पद्य में है और उसमें २६ पंक्तियाँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि संवत् ११०७ अर्थात्, सन् १०५० ई० में इस स्थान पर एक विष्णु के विशाल मंदिर (**विष्णोर्हर्म्यमनल्प...**) का निर्माण हुआ, उस समय मथुरा में महाराज 'विजयपाल देव' का राज्य था। उन्हीं के किसी प्रतिष्ठित अधिकारी ने मंदिर की रचना में विशेष भाग लिया। उस व्यक्ति का नाम 'जज्ज' अथवा 'यज्ञ' था। मंदिर के प्रबंध के लिये एक गोष्ठी (सभा) थी, जिसमें १४ सदस्य थे। उनके नाम भी इसी शिला लेख में अंकित हैं। जज्ज उसका प्रधान था। मंदिर के बनवाने के बाद देवता की पूजा के लिए वृत्ति का भी प्रबंध किया गया था, जिसमें उस समय के राजा और प्रजा ने दान दिया था। छः दुकानें और एक बड़ी बाटिका यह मंदिर की संपत्ति थी। इस लेख का संपादन डा० 'बूलर' ने 'एपिग्रैफिका' इंडिक पत्र की पहली जिल्द (नवंबर १८६० के पृष्ठ २०७ से २६३) में किया है। इस प्रकार जो मंदिर श्री विष्णु का वहाँ बनाया गया उसका विध्वंस सुलतान सिकंदर लोदी के हाथों (सन् १४८८-१५६१) हुआ, उसके १२५ वर्षों बाद जहाँगीर के शासन-काल में हिंदुत्व के अभिमानी ओरछा के बुंदेले राजा 'वीरसिंह देव' ने करीब ३३ लाख रुपया लगाकर केशवदेव के विशाल मंदिर का निर्माण कराया। इस मंदिर को सन् १६५६ ई० के लगभग 'टेवर्नियर' ने और सन् १६६३ ई० में 'बर्नियर' ने देखा था, टेवर्नियर लिखता है—

> **"बनारस और जगन्नाथ के बाद सबसे प्रसिद्ध मंदिर मथुरा का है। यहाँ का मंदिर इतना बड़ा है कि वह छः कोस दूर से ही दिखाई देता है। इसकी बड़ी कुरसी अठपहल बनी है। मंदिर के चारों ओर पत्थरों पर नक्काशी है, जिसमें भाँति-भाँति के जानवर खुदे हुए हैं। चित्रों की एक पट्टी जमीन से दो फुट ऊँची और दूसरी शिखर से दो फीट नीचे है। विशाल चबूतरे पर आधे में मंदिर और आधे में 'जगमोहन' बना है, बीच में एक बड़ा मंडप बना है। मंदिर में अनेक खिड़कियाँ और गौख हैं, मंडप के भीतर बनी हुई जाली की दीवार के पास से मुझे पुजारियों ने मूर्ति का दर्शन कराया। मैंने देखा कि मूर्ति काले पत्थर की बनी हुई है और आभूषण तथा वस्त्र पहने है।"**

संक्षेप में हमारा अनुमान है कि इस मंदिर की रचना वृंदावन के गोविंददेव जी के सदृश ही थी जो अकबर के समय में बना था।

यह मंदिर सन् १६६६ ई० में औरंगजेब की कट्टरता का शिकार बना। उस समय मंदिर के मंडप और जगमोहन को विध्वंस करके सब मूर्तियाँ आगरे भेज दी गईं। मंदिर की जो विशाल कुर्सी रह गई उसके पूर्वी भाग पर औरंगजेब ने मसजिद बनवा दी।

मसजिद के फर्श में दो देवनागरी के लेख जड़े हुए हैं, जिनमें संवत् १७१३, अर्थात् सन् १६५६ ई० और संवत् १७२०, अर्थात् १६६३ ई० खुदा हुआ है। मंदिर का ही मशाला मसजिद के काम में लाया गया। बहुत से खुदे हुए पत्थर अब भी उसकी चौकी में जाबजा लगे हुए हैं। मसजिद की पक्की कुर्सी ७२ फीट लंबी और ८६ फीट चौड़ी है, जिसपर मसजिद की चौड़ाई ६० फीट तक है। पाँच फीट नीचे एक कच्ची कुर्सी है, जो लंबाई-चौड़ाई में २६८×२५८ फीट है। मसजिद का नाम 'ईजाद' है और इसके पीछे करीब १७० फीट लंबी मंदिर की पुरानी कुर्सी पूर्व-पश्चिम है। उत्तर-दक्षिण के सीध में उसकी चौड़ाई ६६ फीट है। इसमें दोनों तरफ १६×१६ फीट चौड़ा पुश्ता है, जिसे सिकंदर लोदी से पहले की कुर्सी की सीध में राजा 'वीरसिंह देव' ने बढ़ा कर परिक्रमा-पथ का काम देने के लिए बनवाया था। इससे करीब १० फीट नीची गुप्त-कालीन मंदिर की कुर्सी है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

फिर मरहठों ने बनवाया

औरंगजेब के बाद कटरा केशवदेव मरहठों की अमलदारी में आया। किंवदंती है कि मरहठों ने केशवदेव के प्राचीन मंदिर को श्रीकृष्ण-जन्मभूमि की मान्यता के कारण प्राचीन कृष्ण-चबूतरे पर फिर मंदिर बनवाना चाहा। मथुरा के पंडितों ने उसके लिए अपनी संमति भी दे दी, परंतु काशी के पंडितों से मतभेद हो जाने के कारण यह विचार स्थगित हो गया।

ईस्ट इंडिया के द्वारा नीलाम

जिस समय सन् १८०२ में मरहठों की पराजय के बाद मथुरा अंग्रेजी राज्य में आया; उस समय कटरा केशवदेव की भूमि को ईस्ट 'इंडिया कंपनी' ने निलाम चढ़ाकर 'राजा पटनीमल' के नाम तमाम कटरे की बोली छोड़ दी। श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या चबूतरे पर अधिकार पाकर राजा पटनीमल की जन्म-पर्यंत यह अभिलाषा रही कि फिर से केशवदेव के मंदिर का निर्माण करावें, परंतु अपने जीवन-काल में वे इसे पूर्ण नहीं देख सके। तब से अब तक उस भूमि पर राजा पटनीमल के वंशजों का अधिकार चला आता है। कई बार सरकारी अदालतों से भी इस प्रकार के निर्णय हुए हैं।

इसी वर्णन से यह भी ज्ञात हो जाता है कि कटरा केशवदेव का स्थान पुरातत्त्व की दृष्टि से लगभग ढाई हजार वर्ष प्राचीन अवश्य है। साहित्यिक सामग्री के आधार पर श्रीकृष्ण के अवतार को ५००० वर्ष हुए। स्थानीय परंपरा इस बात को सदा से मानती रही है कि कटरा ही प्राचीन कृष्ण-जन्म-भूमि है। उसका समर्थन इस बात से होता है कि ऐतिहासिक काल में अनेक बार कृष्ण या विष्णु-मंदिरों का बारंबार इसी स्थान पर निर्माण हुआ। जैसा 'ग्राउस मैमौयर' पृष्ठ ६४ में लिखा है कि "कई युगों से केशवदेव के अनेक मंदिरों का निर्माण इसी भूमि पर हुआ।" चंद्रगुप्त द्वितीय के मंदिर का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। गुप्त-समय की कई सुंदर मूर्तियाँ इस समय मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, उनमें से एक चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति है, जो सुंदर किरीट, मकरिका, कुंडल, अंगद, वैजंती, यज्ञोपवीत, स्थूल-मुक्ताकलाप चंद्रहार, मेखला और सूक्ष्म परिधानीय धोती पहने हुए है। यह मूर्ति गुप्त-कालीन विष्णु-मूर्तियों में सर्वोत्तम कही जा सकती है। दुर्भाग्य से इसके प्राप्ति-स्थान का कुछ उल्लेख अजायबघर के पुराने रजिस्टरों या रिपोर्टों में लिखा नहीं मिलता। इस मूर्ति का नंबर 'ई० ६' है। डा० 'वोगल' ने अपनी सूची में इस पर यथोचित प्रकाश नहीं डाला। इस मूर्ति से मिलती हुई मूर्ति कटरे की पूर्वी दीवार के सहारे एक चबूतरे पर अभी तक स्थापित है। बहुत संभव है कि यह अजायबघरवाली मूर्ति भी कटरे की खुदाई में या उसी स्थान पर किसी जगह मिली हो। उस हालत में इस मूर्ति का संबंध गुप्त-कालीन मंदिर के साथ ही रहा होगा।

विष्णु की मूर्तियों का आदि रूप हमको कुषाण-काल से पहिले की एक भी विष्णु-मूर्ति में अभी तक मथुरा या भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला है। ऐसा मालूम होता है कि मथुरा के भक्ति-प्रधान क्षेत्र में ही सर्वप्रथम विष्णु-मूर्तियों का निर्माण हुआ, पुरातत्त्व-विभाग की साक्षी भी इसी के अनुकूल है। कुषाण-काल में शिव-मूर्तियों की भी अधिकांश प्रतिष्ठा हुई। वेमकैडफसिज कनिष्क, हुविष्क आदि सम्राट् 'परम माहेश्वर' थे। उनके सिक्कों पर शिव और वृष की मूर्तियाँ पायी जाती हैं। अंतिम सम्राट् 'वासुदेव' के नाम से ही विदित होता है कि उसके राज्यकाल में विष्णु वासुदेव की प्रबल पूजा हुई। संभव है कुषाण-युग, अर्थात् ईस्वी प्रथम और द्वितीय शताब्दी में कोई नया विष्णु मंदिर बना हो। अभी तक कुषाण-काल के एक शिला-पट्ट पर वासुदेव का कृष्ण को लेकर यमुना पार करने का दृश्य अंकित पाया गया है।[1] यह शिला-पट्ट कुषाण-कालीन किसी ब्राह्मण-मंदिर में लगा हुआ होगा।

१. मथुरा—संग्रहालय नं० १३४५।

इससे पहिले प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में 'महाक्षत्रप सुदास' के समय मथुरा में भगवान् वासुदेव का एक स्थान अवश्य था। उसके प्रमाण स्वरूप सुदास का तोरण मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित है। भारतवर्ष में अब तक के मिले हुए संस्कृत लेखों में भगवान् वासुदेव के महास्थान से संबंध रखनेवाला यह लेख सबसे पुराना है। यथा—

पंक्ति–६ वसुना भगव (तो वासुदे)
" ७ वस्य महास्थान (चतुःशा)
" ८ लं तोरणं व (दिकः प्रति)
" ९ ष्ठापितो प्रीतो ! (वतु वासु)
" १० देवः स्वासिस्य (महाक्षत्र)
" ११ पस्य शोडास (स्य)
" १२ संवर्तेयाम् ।

अर्थात्, "भगवान् वासुदेव के महास्थान में चतुःशाल तोरण और वेदिका 'वसु' के द्वारा स्थापित की गई। वासुदेव प्रसन्न हों। स्वामी महाक्षत्रप सुदास शोडास का राज्य स्थायी हो।" इस तोरण-लेख का प्राप्ति स्थान भी संदिग्ध है। यह नगर से पूर्व की ओर एक कुँए में से पं० राधाकृष्ण जी को मिला हुआ बताया जाता है। करीब ८ फीट लंबे तोरण का कुँए में गिर कर साबित रहना संभव नहीं मालूम होता। हमारा अनुमान यह है कि भगवान् वासुदेव का महास्थान कटरा केशवदेव में ही होना चाहिये। शुंगकाल में और उसके आस-पास नगरी में वासुदेव और संकर्षण के मंदिरों का लेख और वेश नगर में गरुणध्वज-संबंधी लेख मिल चुके हैं। मथुरा में भी उसी प्रकार के लेख की प्राप्ति बहुत स्वाभाविक है और चूंकि कटरा ही अत्यंत प्राचीन काल से कृष्ण-जन्म-भूमि की तरह प्रसिद्ध रहा है। अतएव कृष्ण-मंदिर का पुरातन स्थान यही होना चाहिये। इस प्रकार संभावना यही है कि रायबहादुर पं० राधाकृष्ण जी को यह महत्त्वपूर्ण लेख कटरे से ही प्राप्त हुआ हो। शुंगकाल में मथुरा एक समृद्धशाली नगरी थी। भाष्यकार पातंजलि ने लिखा है—

"सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।"

—सूत्र ५।३।५७

अर्थात्, सांकश्य (वर्तमान संकिसा) और पाटलिपुत्र (पटना) के निवासियों से भी मथुरा के रहनेवाले अधिक सुंदर और समृद्ध हैं। इस काल में ब्रह्मणत्वाभिशुंग नृपतियों के साम्राज्य में मथुरा संमिलित थी। जब अन्यत्र वासुदेव के मंदिर बने तब मथुरा में भी उनका बनना अनुमान किया जा सकता है। विशेषतः जबकि यही स्थान भागवत-संप्रदाय का प्राणभूत केंद्र था। वाराहपुराण में लिखा है—

"न केशवसमो देवः न माथुरसमो द्विजः।"

अर्थात्, केशव के समान कोई देव महात्म्य-युक्त नहीं है और माथुर ब्राह्मणों के समान और ब्राह्मण नहीं है। कृष्ण-जन्म-भूमि होने के कारण ही कटरा केशवदेव को यह गौरव प्राप्त हुआ समझा जा सकता है। इस प्रकार ढाई सहस्र वर्षों का इतिहास कटरा केशवदेव का प्राप्त होता है। इतिहास और पुरातत्त्व दोनों की संमिलित साक्षी से हमारे अनुमानों की पुष्टि होती है कि यह स्थान ही पुरातन **"कृष्ण-जन्म-भूमि"** है और उसका वर्तमान 'कृष्ण-चबूतरा' नाम अन्वर्थक ही है।

गुर्जर-चित्रशैली में लिखित गीतगोविंद : एक सचित्र प्रति[1]

श्री नान्हालाल चमनलाल मेहता

पश्चिमी भारत की चित्र-शैली जो 'गुर्जर-चित्रशैली' के नाम से भी विख्यात है, भारतीय चित्र-कला में अपना विशेष स्थान रखती है। लगभग ११०० से १६०० तक की पाँच शताब्दियों में पश्चिमी भारत एवं मध्यभारत में इस चित्र-शैली का प्रमुख महत्त्व रहा और सैकड़ों की संख्या में अत्यंत सुंदर सुवर्णाक्षरी-कल्पसूत्र इस शैली में लिखे गए। जैन-कल्पसूत्रों के अतिरिक्त कालकाचार्य-कथानक, निशीथ चूर्णि, उत्तराध्ययनसूत्र, संग्रहणीसूत्र आदि की सचित्र प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। इधर हाल में जैनधर्म-ग्रंथों के क्षेत्र से बाहर के ग्रंथ भी इस चित्र-शैली में प्राप्त हुए हैं। उनमें श्री मंजुलाल जी मजूमदार ने गीतगोविंद, बालगोपालस्तुति, देवीमाहात्म्य, रति-रहस्य और श्रीमद्भागवत के कुछ फुटकर चित्रों का (१६१० ई० में लिखित) अध्ययन प्रस्तुत किया है। स्वयं मुझे 'वसंत-विलास' नामक एक 'कुंडलित पट' प्राप्त हुआ था, जिसमें ७९ चित्र लिखे हुए थे। सबसे बड़े चित्र की माप ५.७" × ७.६" थी। यह चित्रपट १४५१ ई० में लिखा गया था। वनमें वसंत का अवतार एवं नर-नारियों के उद्दाम यौवन को प्रदीप्त करने वाली उसकी कल्याणी शोभा का अत्यंत सजीव चित्रण इस पट के चित्रों में हुआ है और उसी के अनुरूप भाव-बोधक संस्कृत-गुजराती छंद भी लिखे गए हैं।

गुर्जर-चित्र-शैली को महिमा प्रदान करनेवाला एक अन्य ग्रंथ कवि 'बिल्हण' कृत 'चौर-पंचाशिका' भी मुझे प्राप्त हुआ है, जिसमें कविराज बिल्हण और उनकी प्रेयसी 'चंपावती' की प्रणय-लीला का आलेखन है।

प्रस्तुत लेख का विषय गीतगोविंद की एक आदर्श प्रति है। डा० मंजु मजूमदार ने जिस गीतगोविंद का अध्ययन किया था, उसमें कृष्ण के दस में से केवल छः अवतारों का उल्लेख है और आरंभ में शारदा का आलेखन है। डा० 'स्टे ला क्रेमरिश' ने 'जर्नल ऑव दी इंडिया सोसाइटी ऑव ओरियंटल आर्ट' की पत्रिका के दिसंबर १९३४ के अंक में गीतगोविंद की अन्य उपलब्ध प्राचीन सचित्र प्रतियों का वर्णन किया था। जो प्रति मुझे उपलब्ध हुई है वह गीतगोविंद की समस्त आलिखित प्रतियों में संभवतः सिरमौर है। उसमें १५९ पत्रे हैं, चार पत्रे गुम गए हैं। प्रति संभवतः १६ वीं शती के आरंभ में लिखी गई थी और अभी तक बहुत अच्छी दशा में है। पत्रों की माप १२$\frac{3}{4}$" + ७" है।

महाकवि जयदेव कृत 'गीतगोविंद काव्य' अति विचित्र है। उसमें राधा और माधव की विलास-लीलाओं का सरस काव्यमय वर्णन है। साथ ही कवि ने भक्ति के उन्मुक्त भाव से उस शृंगार को अध्यात्म की भूमिका प्रदान की है। यही जयदेव के गीतगोविंद का महत्त्व है। मानवी-पृष्ठभूमि में दैवी पात्रों की केलि स्वयं एक वैचित्र्य है, जिसका जयदेव ने काव्य-कौशल से अपने वर्णनों को सजाने में लाभ उठाया है। बंगाल के राजा 'लक्ष्मणसेन' की राजसभा में (१२ वीं शती) गीतगोविंद-काव्य की रचना हुई थी। जयदेव के अवसान के दो सौ वर्षों के भीतर ही गीतगोविंद पश्चिमी भारत, अर्थात् गुजरात-राजपूताने में लोकप्रिय हो गया। वैष्णव धर्म की भक्ति-प्रधान शाखा का जो उत्थान इस समय हो रहा था, गीतगोविंद उस उत्थान के प्रारंभ में प्रकट हुआ और उसके पंख

१. भावानुवादक—वासुदेवशरण।

लगाकर चारों ओर फैल गया। यही वैष्णव-धर्म भारत वर्ष के मनस्तत्त्व को पोषण देनेवाला मुख्य धर्म बन गया और लगभग सत्तरहवीं शती तक पल्लवित होता रहा। न केवल संस्कृत के प्रेमी और वैष्णव भक्त-जन गीतगोविंद के अनुरक्त थे, बल्कि चित्र-कला के प्रेमी चितेरे भी गीतगोविंद को अपने आलेखन से १८ वीं शती के अंत तक अथवा १९ वीं शती के आरंभ तक अलंकृत करते रहे। बंबई के श्री 'कवस जी जहाँगीर' के संग्रह में मुझे गीतगोविंद के कुछ पत्रे देखने को मिले थे, जो लगभग अकबर के समय की मुगल-शैली के चित्रों से युक्त थे। महाराज टीहरी के यहाँ गीतगोविंद की एक अति भव्य सचित्र प्रति है जिसके कुछ चित्र मैंने अपने ग्रंथ 'स्टैडिज इन इंडियन पेंटिंग' में प्रकाशित किये थे। गीतगोविंद की एक दूसरी विलक्षण प्रति वह है जिसके कुछ पत्रे 'लाहौर संग्रहालय' में प्रदर्शित थे। यह प्रति 'बसोहली' चित्र-शैली में लिखी गई और इसका चित्रकार 'माणकू' था, जिसने संवत् १७८७ (१७३० ई०) में यह प्रति लिखी।

उत्तरकालीन राजस्थानी शैली में भी गीतगोविंद की कुछ अत्यधिक साज-सजावटवाली प्रतियाँ मेरे देखने में आई हैं, किंतु 'टीहरी नरेश' अथवा 'लाहौर संग्रहालय' की प्रतियों के जोड़ के सुंदर चित्र उनमें नहीं हैं। गीतगोविंद की जिस प्रति का यहाँ वर्णन कर रहा हूँ उसमें गुजराती शैली के चित्रों की संख्या संभवतः सबसे अधिक है। हरएक पत्रे के ऊपरी भाग में संस्कृत पद का कुछ अंश लिखा हुआ है, शेष पत्रे भर में चित्र बने हैं। चित्र के चारों ओर लाल लकीरों से चौखटा बनाया गया है। पत्रे के केवल एक ओर चित्र लिखे गए हैं।

शैली और सौंदर्य की दृष्टि से चित्र ध्यान देने योग्य हैं। रेखाओं में गति, निश्चित्ता और जीवन है। चितेरा आत्मविश्वास से एक दृष्य से दूसरे दृष्य का चित्रण करता बढ़ता है। चित्रों में एक प्रकार की सजीवता है जो प्रत्युतः गुजराती शैली के चित्रों में नहीं पाई जाती। रंग चटकीले हैं और बड़े तर हैं। लाल, नीले, सफेद और हरे रंग का प्रयोग हुआ है। रंगों को फैला कर मिश्रित रंगतें दिखाने का प्रयत्न इन चित्रों में नहीं पाया जाता। चित्रों में रेखा और रंगों की सरसता है जिससे चितेरे और पाठक दोनों ही परिचित जान पड़ते हैं। प्रायः प्रत्येक चित्र को बढ़ाकर प्रभावशाली भित्ति-चित्र का रूप दिया जा सकता है। ऐसा ज्ञात होता है मानों भित्ति-चित्र सिकुड़ कर पुस्तक के छोटे पत्रों में समा गए हों। सचित्र पत्रे इस प्रकार हैं—

सर्ग,—	पत्र-संख्या,—
१	१-४०
२	४१-५१
३	५२-५८
४	५९-७०
५	७१-८४
६	८५-८९
७	९०-११०
८	१११-११५
९	११६-११९
१०	१२०-१२८
११	१२९-१४१
१२	१४२-१६३

चित्रों में यमुना-तट का अंकन हुआ है। यमुना की धारा शांत है, जिसके किनारे कदंब के वृक्ष फैले हैं और जल में मछलियाँ भरी हैं। यह जमुना पहाड़ी चित्रकारों की जमुना से भिन्न है, जिनमें नदी की धारा पहाड़ी ढोकों पर उछलती-कूदती अत्यंत रमणीय वृक्ष-लता और पुष्पों से भरे वनों के

भीतर होकर बहती है। गुजराती चित्रकार की जमुना ब्रजमंडल की शांत और धीर ग्रहस्थी पुरखिन जैसी है। इन चित्रों में चित्रकारों ने गीतगोविंद का एक सुबोध रंग भरा और सपाटेदार अंकन किया है। इन चित्रों की आकृतियों को देखकर ऐसा जान पड़ता है मानों किसी 'स्वांग' या' भावई' नामक देहाती नाटक-मंडली के पात्रों को देख रहे हों।

चित्रों में बनी आकृतियों के चेहरे लगभग एक से हैं। चितेरे ने उनमें जो अर्थ भरा है वह उनके शरीर की मुद्राओं या अंग-संचालन की अभिव्यक्ति के द्वारा किया गया है। हाथों की मुद्राएँ और शरीर के विभिन्न कैंड़े चित्रकार की बारहखड़ी का काम देते हैं। प्रेम के अधिदेवता कामदेव का प्रायः चित्रण विशिष्टता के साथ हुआ, एक पैर से खड़े होकर वह अपने पुष्प-बाणों को चलाते हुए दिखाया गया है।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव का भी पत्रों में चित्रण हुआ है। वे धोती, दुपट्टा और टोपी पहने और एकतारा बजाते हुए दिखाए गए हैं। यह उनकी प्रतिकृति (शबीह) न होकर केवल परंपरा के अनुसार एक विनीत भक्त की छवि है। चौड़े पत्तों से लदे हुए वृक्ष, उनकी झुकी हुई डालें, गुंजारते हुए भौंरे और चहचहाती हुई चिड़ियाँ इन के द्वारा मेघाच्छन्न आकाश के नीचे राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया गया है। जब अँधेरी रात में भीरु कृष्ण जमुना के उस पार अपने घर अकेले लौटने में भय खाते थे। भौंरे और कोयल चित्रों में वसंत की आगमन की सूचना देते हैं।

मुगलों से पहले लोगों की जो वेश-भूषा थी उसका कुछ परिचय इन चित्रों से होता है। मर्द झीना चाकदार जामा पहने हुए हैं और स्त्रियाँ महीन चूनड़ी ओढ़े हैं। इस प्रकार का चाकदार अँगरखा आरंभिक अकबरकाल के चित्रों में पाया जाता है, विशेषतः हिंदुओं की पोशाक में। ज्ञात होता है कि यह राजस्थान की पोशाक थी, आगरा और दिल्ली के दरबारों में जिसे ग्रहण कर लिया था। पुरुष देशी जूता, टोपी और कमरबंद पहने हुए हैं। नोकदार उठी हुई टोपी 'वसंत-विलास' के चित्रों में भी पाई गई है। बारहवीं शताब्दी के 'अभिलषितार्थ चिंतामणि' ग्रंथ में 'टोपिका' शब्द आया है जो विशेषतः वर्षा ऋतु में ओढ़ी जाती थी। स्त्रियाँ सिर पर चूनड़ी ओढ़े, उनके बालों की वेणी बँधी है और कलाइयों में काले फुँदने बँधे हैं। इस प्रकार के काले फुँदने अकबर-कालीन चित्रों में तो मिलते हैं, पर सोलहवीं शती के बाद प्रायः नहीं पाए जाते। माथे पर बिंदी लगाने का रिवाज बस आरंभ ही हुआ था। स्त्रियों के वेष को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यह ग्रंथ नाथद्वारा-सदृश राजस्थान के किसी एक केंद्र में रखा गया। पुरुष दुपट्टा, पाजामा और साफा पहने भी दिखाए गए हैं।

गीतगोविंद की इस पोथी का समय निश्चित करना कठिन है। सब बातों पर विचार करके मैं समझता हूँ कि ये चित्र सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में लिखे गए होंगे, लेकिन फिर भी इस विषय में सावधानी रखने की आवश्यकता है। साड़ी का पल्ला सिर के ऊपर आया हुआ है। यह प्रथा सोलहवीं शती के शुरू में चली, उससे पहले सिर नंगा या मुकुट पहनने की प्रथा थी। इसमें संदेह नहीं कि इस संस्करण के किसी निपुण चित्रकार ने जयदेव के गीतगोविंद का अनूठा भाष्य चित्रों के द्वारा प्रस्तुत किया।

——o——

गीतगोविंद : एक पद

भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र

राग-बसंत

हरि बिहरत लखि रसमय बसंत ।
जो बिरही-जन कहँ अति दुरंत ।।

बृंदाबन-कुंजन सुख-समंत । नाचत-गावत कामिनी-कंत ।।
लैं ललित लवंग-लता सुबास ।
डोलत कोंमल मलयज बतास ।।
अलि-पिक-कलरब लहि आस-पास ।
रह्यौ गूंज कुंज-गँहबर अवास ।।

उँनमादित ह्वै तपि मदन-ताप । मिलि पथिक-बधू ठाँनहिं बिलाप ।।
अलि-कुल कल कुसुम-समूह-दाप ।
बन सोहत मौरसरी-कलाप ।।
मृगमद-सौरभ के आलबाल ।
सोहत बहु नव चलदल तमाल ।।

फूले पलास बन लाल, लाल । जुव-हृदै-बिदारन नख-कराल ।।
बन प्रफुलित केसर-कुसुम आँन ।
मनु कनक-छरी लिएँ मदन राँन ।।
अलि, सह गुलाब लागे सुहाँन ।
बिष-बुझे मैंन के मनों बाँन ।।

नव नीबू-फूलन कर बिकास । जग निलज निरख मनु करत हास ।।
तिमि बिरही हिय-छेदत हतास ।
बरछी-से केतिक-पत्र पास ।।
लपटत यों माधविका सुबास ।
फूली मल्ली मिल कर उजास ।।

मोहे मुनि-जन कर काँम-आस । लखि, तरुन-सहायक रितु-प्रकास ।।
पुसपित लतिका नव संग पाइ ।
पुलकित बौराँने आँम आइ ।।
लहि सीतल जमुना-लैहैर बाइ ।
पावन बृंदाबन रह्यौ सुहाइ ।।

'जयदेव'-रचित यह सरस गीत । रितु-पति बिहरन हरि-जस पुनीत ।।
गावत जे करि 'हरिचंद' प्रीत ।
ते लहत प्रेंम, तजि काँम-भीत ।।

—::०::—

वल्लभ-सम्प्रदाय के देवालयों में ललित कलाएँ

वल्लभ-संप्रदाय के देवालयों में ललित कलाएँ

श्री रमणलाल नागर मेहता

मूर्ति-भंजक यवनों के विरुद्ध अविरत एवं अप्रिय संघर्षों ने पराक्रमी हिंदू-रक्षक को पराभूत तथा ध्वस्त कर दिया था और उसके सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक निर्माण में नियोजन तथा विनाश का समावेश होने लगा था। वस्तुतः अंतर में अब भी वीर-भावना संचरित थी, परंतु मानवी सीमाओं का आभास होना आरंभ हो गया था और इसका स्वाभाविक परिणाम हुआ सर्व-शक्तिशाली दैव-इच्छा के संमुख नतमस्तक होना। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत एवं सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में 'वीर-काव्य' का स्थान, कबीर, नानक, दादू, मीरा, चैतन्य और अन्य अनेक संतों के भक्ति-काव्य ने ग्रहण किया। भक्ति-संप्रदाय का उत्कर्ष हो रहा था और अगणित साधारण व्यक्तियों ने, जो दुर्भिक्ष एवं अनवरत द्वंद्व से पीड़ित थे द्वितीय जीवन के आनंद के विचार का आश्रय लिया।

ऐसे युग में अनेक महात्मा धार्मिक जीवन का उपदेश दे रहे थे। संभवतः पूर्व में चैतन्य सर्व अधिक सफल उपदेशक थे और पश्चिम में पुष्टिमार्ग के समर्थक वल्लभाचार्य अत्यधिक अनुगामियों पर स्वाधिकार उद्घोषित करने लगे थे। वल्लभाचार्य (१५२९ व १५३५-१५८७ वि० स०) कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्रीय साखा के ब्राह्मण थे। उन्होंने कृष्ण भगवान् की आराधना का उपदेश दिया और उनके मतानुसार परब्रह्म[१] कृष्ण के प्रति संपूर्ण भक्ति-सहित आत्म-समर्पण इस कलियुग में मोक्ष[२] प्राप्त करने का एक आदर्श उपाय था। उन्होंने ब्रज के स्वामी एवं बाल गोपाला रूप में कृष्ण की वंदना तथा भक्ति का परामर्श दिया।[३] उपासक को अपने अंतस्तल में नंद, यशोदा तथा गोपियों[४] के सुख और दुख का अनुभव करने का प्रयास करना चाहिये और विभिन्न रूपों में कृष्ण की आराधना करनी चाहिये, उदाहरणार्थ—दर्शन, श्रवण, पादसेवन, कीर्तन इत्यादि।[५]

१. परं ब्रह्म तु कृष्णोऽहि सच्चिदानंदकं बृहत्।
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ॥
—सिद्धांतमुक्तावली ३-१४

२. सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि।
पाखंडप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ —कृष्णाश्रय १

३. सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
—चतुःश्लोकी १

४. यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥

५. हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
—निरोधलक्षण १, २, १७, १८

भक्तों के लिये कृष्ण एक भयावह देवता नहीं हैं, जिनका रोप भय कारक है, पर वे एक अति सुंदर देवता हैं। भगवान् का समस्त शरीर एवं कार्य, अलंकार एवं गति, गौ एवं गोपाल, क्रीड़ा एवं संगीत–उनकी और उनसे संबंधित प्रत्येक वस्तु मनमोहक है।[१] ऐसे आकर्षक स्वामी की अर्चना-हेतु, जो विश्व की समस्त मनोरम वस्तुओं के प्रभु हैं। एक अति सुंदर सत्कार विधि की आवश्यकता है। कृष्ण और उनसे संबंधित राधा, यमुना तथा ललिता, विशाखा तथा अन्य अष्ट मित्रों की ऐसी उपासना ने वल्लभ-संप्रदाय में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया और उसकी क्रमिक उन्नति होने लगी।

इस सुरूप शारीरिक देवता का—जगत् के पिता का, राजराजेश्वर के सदृश समस्त संमान सहित उचित पूजन होना चाहिये, इस भावना को अपना कर ज्यों-ज्यों इस संप्रदायके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गयी त्यों-त्यों दैनिक उपासना में ललित कलाओं के उपयोग, उन्नति तथा उत्साह का अवसर प्राप्त होता गया। वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र एवं उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ जी (१५७२-१६४२ वि०स०) के जीवनकाल में इस संप्रदाय ने तीव्र गति से उन्नति करना आरंभ कर दिया।

विट्ठलनाथजी की नव पद्धतियाँ नाना-प्रकार की थीं। वे दीक्षा-संस्कार को अधिक गंभीर बना देना चाहते थे और यह गंभीरता दी गयी दीक्षा-मंत्र—**"कृष्ण त्वास्मि"** में अनेक वाक्य खंडों का योग करके। उनमें असीम सौंदर्य की भावना निहित थी और फलस्वरूप उन्होंने वैष्णव-पूजा-विधि को समुन्नत, सुंदर संपूर्णता प्रदान की। अर्वाचीन समय में वैष्णवों के इस पुष्टि-मार्ग-संप्रदाय के देवालयों में पूजन-विधि, यद्यपि वह गत-काल के सप्त गृहों से कुछ विभिन्न है, पर साधारण स्वरूप में वही है जो विट्ठल-नाथजी ने—जो गोसाईं जी के नाम से विख्यात हैं, आविर्भूत की थी। ऐसा कहा जाता है कि गुसाँई जी के सम्राट् अकबर (१५५६-१६०५ ई० प०) से अच्छे संबंध थे। सम्राट् एक बार आश्विन पूर्णिमा के दिन देवालय में गये और प्रस्ताव किया कि मंदिर में पूजन-सामग्री का रंग कृष्ण न होकर श्वेत हो। यह प्रस्ताव साहर्ष स्वीकृत किया गया और आज भी वहाँ श्वेत-वर्णीय वस्तुओं और रजत का प्रयोग किया जाता है।

ईसा-पश्चात् सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संप्रदाय का उत्थान हुआ पर अंतिम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औरंगज़ेब की मूर्ति-नाशक नीति का संप्रदाय पर प्रभाव पड़ा और धर्माध्यक्ष अपनी प्रतिमाओं तथा अपनी रक्षा करने में धर्मोन्मत्त औरंगज़ेब के कोप के भाजन हुए। उनमें से अनेक ने भाग कर वृंदावन एवं मथुरा के समीपवर्ती शक्तिशाली राजपूत-राज्यों में शरण ली। श्रीनाथ जी तथा श्री द्वारकाधीश जी की प्रतिमाएँ मेवाड़ आ गयीं और अन्य कोटा, सूरत तथा दूसरे स्थानों को चली गयीं। पर, देश की राजनीति में अति तीव्रता से यह परिवर्तन हुए। औरंगज़ेब के निधन के साथ ही मुग़लों के अधःपतन ने प्रबल रूप धारण किया और उनके प्रांतीय शासक स्वतंत्र हो गये। महाराष्ट्र, मध्य, पश्चिमी और उत्तरी भारत में मराठे शक्ति-संचय कर रहे थे। पंजाब में सिक्खों का अभ्युत्थान हो रहा था। अंग्रेज़ तथा फ्रांसीसियों की अपनी अलग राजनीतिक आकांक्षाएँ थीं। इन सभी संघर्षों ने सांसारिक अरक्षा का वातावरण अभ्युदित कर दिया और उन्नति का मार्ग अवरोधित हो गया। पारस्परिक नाशकारी संग्राम देश की शांति और समृद्धि के लिये घातक सिद्ध हुए। विभिन्न प्रदेशों एवं प्रांतों के शासक तथा छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों के स्वामी उस निर्धन साधारण जनता की अवहेलना करके, जो युद्ध-प्रिय सेनापतियों तथा विलासी स्थानीय शासकों द्वारा आतंकित थी, भोग विलास में डूब गये। देश की ऐसी परिस्थिति भक्ति-भावना के प्रसार के अनुकूल थी और स्वाभाविकतया

१. **गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम् ॥**
दृष्टं मधुरं सृष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
—मधुराष्टक ७-८

इस युग में वैष्णव-संप्रदाय का समुचित समुत्थान हुआ। उत्तरी भारत में गुजरात, काठियावाड़ (सौराष्ट्र) राजपूताना तथा ब्रज में यह समुन्नत तथा समुत्थित हुआ। इस संप्रदाय के धार्मिक-आचरणों ने सेवा-पद्धति को जन्म दिया, जिसका आज भी पालन किया जाता है।

इस संप्रदाय में शिल्प विद्या, संगीत, नृत्य, नाटच, चित्रकला, कल्पना, साहित्य इत्यादि ईश्वर-उपासना के हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं। आगे की पंक्तियों में इन कलाओं का उपयोग एवं साधारण कला की परंपराओं में उनका स्थान चित्रित करने का—सारांश देने का प्रयास किया गया है।

वैष्णवों ने अपने शरीरधारी परमात्मा के आदर्शानुसार शिल्प-कला की उन्नति की। उनका देवालय शैव, जैन तथा बुद्ध-मंदिरों से मौलिक रूप में भिन्न है। इस संप्रदाय का उत्कर्ष यवनों के अभ्युदय एवं धर्मान्धता के युग में हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप हिंदू धार्मिक केंद्रों का विनाश हो गया। इन अभ्याघातों से सुरक्षा प्राप्त करने के अभिप्राय से जैनियों ने उत्तर मध्यकालीन समय में अपने मंदिरों पर अविज्ञात शिखरों का निर्माण इस हेतु करना प्रारंभ किया कि वे उनको निवास स्थानों का रूप प्रदान कर सकें। कबीर-पंथियों, सिक्खों तथा रामानंदियों के मंदिरो में इसी विधि का अनुकरण किया गया है। वैष्णवों ने भी इसी विधि का अनुगमन किया और उन्होंने अपने पूजा-गृहों को देवालयों के नाम से संबोधित न करके 'हवेली' अथवा 'राजप्रसाद' का नाम दिया। गुजराती में हवेली शब्द का आशय है एक धनी व्यापारी अथवा सामंत का निवास-भवन। काँकरोली तथा नाथद्वारा (जो पूर्व उदयपुर-राज्य में थे) में प्रयुक्त 'महल' शब्द का आशय धनी-कुलीन मनुष्य के निवास-स्थान या भवन से है।

वैष्णव-देवालय में एक विशाल भवन अथवा कमरे में जिसके अग्रभाग में एक खुला प्रकोष्ठ होता है, प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती है। मध्य खुले प्रकोष्ठ के चतुर्दिश हवेली का शेष भाग वल्लभाचार्य के वंशजों अथवा देवालयों के पदाधिकारियों के निवास के लिये प्रयोग किया जाता है। यदि कोई इससे परिचित नहीं है तो वह इसका वाह्य रूप देख कर इसको मंदिर नहीं समझ सकता।[1]

इस संप्रदाय के कुछ देवालय शोभायुक्त अवश्य हैं, परंतु उनकी निर्माण-कला आकर्षक नहीं हैं। जिस निर्माण-कला का व्यवहार किया गया है, वह केवल अलंकृत करने के अभिप्राय से है और वह लौकिक निवास-स्थानों की भवन-निर्माण-शैली के अनुरूप है, पर उसपर कृष्ण की जीवन-कथाओं के चित्रण का बाहुल्य है, पर यह वैष्णव-मंदिरों की विशेषता नहीं है, क्योंकि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के व्यक्तिगत-गृहोंमें इस प्रकार के दृश्य उभड़ी आकृति में दृष्टिगोचर होते हैं।

भवन-निर्माण के अविज्ञात रूप के प्रयोग का कारण यह हो सकता है कि यवन उससे घृणा करते थे और उसे ध्वंस करने के अवसर को हाथ से जाने नहीं देते थे, पर भवन-निर्माण की अपूर्णता

१. यह संप्रदाय निम्नलिखित रूपों में एक रूप की प्रतिमा प्रतिष्ठित करता है—

(१) गोवर्धननाथ जी—कृष्ण अपना वाम हस्त उठा कर अपने भक्तों को निकुंज में आने को आमंत्रित करते हैं।

(२) नवनीत-प्रिया जी—कृष्ण अपने हाथ में मक्खन लिये हुए हैं।

(३) मथुरेश जी—कृष्ण गौओं को चरा रहे हैं।

(४) विट्ठलेश जी—गोपियों के गीत-गाते समय कृष्ण का कटि पर भुजाओं का रखना।

(५) द्वारकानाथ जी—कृष्ण का चतुर्हस्त रूप—तीन भुजाओं में शंख, चक्र और गदा लिये हुए।

(६) गोकुलनाथ जी—कृष्ण एक भुजा से गोवर्धन पर्वत उठाये हुए, दूसरे में शंख लिये हुए और शेष दो से बाँसुरी बजाते हुए।

(७) गोकुल-चंद्रमा जी—रासलीला के कृष्ण।

(८) बालकृष्ण जी—बालक के रूप में कृष्ण, एक हाथ में मोदक लिये हुए।

(९) मदनमोहन जी—कृष्ण बाँसुरी बजाते हुए और गोपियों को आमंत्रित करते हुए।

को चित्रकारी का मुक्त प्रयोग करके पूर्ण कर दिया गया है। अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक उत्पात में यह संप्रदाय दिल्ली, जयपुर, उदयपुर तथा अन्य स्थानों के चित्र-विद्या-विशारदों के आश्रय एवं अवलंबन का प्रदाता हुआ और नाथद्वारा में चित्रकारी का अधिष्ठाता बना।

चित्रकारी का यह विभाग अर्वाचीन समय में चित्रकला की दृष्टि से विभिन्न मूल्य की धार्मिक वस्तुओं की अपरिवर्तनशील प्रतिलिपियाँ निर्मित करता है। वैष्णव अपने देवताओं के प्रतिमा-स्थापन एवं अभ्यर्थना हेतु पत्थर के छापे के चित्र अथवा आलोक-चित्रों का प्रयोग नहीं कर सकते, अपितु विभिन्न रंगों से रंजित ही रंगराज के चित्र के ही प्रयोक्ता होते हैं। पत्थर के छापे के चित्रों अथवा आलोक-चित्रों के अवरोध के फलस्वरूप ही आज भी मौलिक चित्रों की माँग है और इसीलिये ही स्थानीय चितेरों एवं *नाथद्वारा-चित्रकारी के अध्ययन का संरक्षण हो रहा है।* इन चित्रों के अतिरिक्त किरमिच के चित्रों की भी सदैव माँग रहती है, जिनका प्रयोग मंदिरों को सुसज्जित करने में किया जाता है। विभूषित करने की इस सामग्री में सिद्धि, सिंहासन, पिछबाई, पीठिका इत्यादि होते हैं। साधारणतया ये चित्र आकार में बड़े होते हैं और उनमें से अनेक विभिन्न कौतुक-भंडारों में स्थान पा चुके हैं। अंततोगत्वा नाथद्वारा-कला के चित्रकार आज्ञा पर सांसारिक चित्र भी चित्रित कर देते हैं, पर ऐसा केवल गुप्त रूप से ही होता है।

इस संप्रदाय के देवालयों की भित्तियों, चित्रों एवं एक विशेष प्रकार की पिछबाइयों अथवा आवरणों से अलंकृत होती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप इस कला के चितेरों को अपनी योग्यता प्रदर्शन का समुचित अवसर प्राप्त हो जाता है। उदयपुर-राजप्रसाद तथा अन्य पूर्णतया सांसारिक स्थानों में नाथ-द्वार-शिल्पियों की कला की स्पष्ट छाप लगी हुई व्यक्त होती है।

वैष्णव-धर्म में संगीत का भी एक अति विशिष्ट स्थान है। भारतीय संगीत की मधुर ध्वनि प्रायः प्रत्येक देवालयों में कर्णेंद्रिय तक पहुँचती है और प्रायः प्रत्येक मंदिर-संगीतज्ञों के समूह का समय-पालन करना है। ध्रुपद तथा धमार-पद्धति का शास्त्रीय संगीत मंत्र-मुग्ध कर देता है। रामकली ऊषा समय की प्रिय रागिनी है। सारंग, बिलावल एवं अन्य राग-रागनियाँ भी दिवस के निर्दिष्ट समय पर श्रवण की जा सकती हैं।

संगीत एवं सूचना-सहित भक्तों के दर्शनार्थ भगवान् के पट खुलते हैं। इस समय प्रदर्शन तथा परिष्कार का यथेष्ट अवसर प्राप्त होता है। जिस कोष्ठ में प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, वह राजकीय रीति के अनुसार समस्त सौंदर्य-सहित सुसज्जित किया जाता है। यह शृंगार दिवस के विभिन्न दर्शन-अवसरों, विभिन्न पर्वों एवं विभिन्न ऋतुओं पर परिवर्तित होता रहता है। प्रातःकाल के मंगल-दर्शन पूर्णतया सामान्य होते हैं। भगवान् केवल एक धोती और शिर पर पाग धारण किये रहते हैं। उनके आभूषण न्यूनतम होते हैं और वातावरण साधारण। राजभोग-दर्शन में, जो मध्यकालीन दर्शन भी होता है, प्रभु को ऋतु के अनुकूल वस्त्रों एवं अलंकारों से सुसज्जित किया जाता है। वे एक सिंहा-सन पर, जिसके समक्ष सोपान दृष्टिगोचर होता है, आसीन होते हैं। सोपान के निम्नतम भाग के निकट एक काष्ठासन होता है, जिस पर तीन छोटी-छोटी काष्ठ-वेदियाँ रखी रहती हैं और उनमें से एक पर चतुरंग का खेल फैला रहता है। ये सभी आवरण सुवर्णीय वस्त्रों से शोभनीय रहते हैं। सिंहा-सन पर आस्तरण विशेष और दोनों ओर दो उपधान होते हैं। सिंहासन के पार्श्व भाग में पिछबाई अथवा चित्रित, रंजित एव कसीदा किया हुआ आवरक लटका रहता है। इसके दोनों ओर दो दिवाल-गीरियाँ होती हैं और पिछबाई के संमुख प्रतिमा के समीप पीठिका नामक एक सुलंकृत वस्त्र-भाग होता है। ये अति आभूषित वस्त्र-भाग दर्शक को शृंगार की ऋतु, समय एवं अवसर का परिज्ञान प्राप्त कराते हैं। उदाहरणार्थ दानलीला की पिछबाई तथा वृंदावन की दानलीला की घटना भाद्रपद मास प्रस्तावित करती है। इस प्रस्ताव को साँझी[1] नामक सुशोभन से, जो तंडुल, फलों, पुष्पों एवं अन्य

[1]. इसकी तुलना बंगाल एवं महाराष्ट्र के अल्पना तथा रागवती रंगवल्ली या राँगोली से की जा सकती है।

वस्तुओं से किया जाता है और भी गंभीरता प्रदान कर दी जाती है। यह अलंकृत वेष ब्रज-यात्रा की घटना, जो इसी मास में हुई थी, प्रस्तावित करता है। इस अवसर पर गाये हुए गीत भी उपयुक्त संगीत-सहित 'दान-लीला' का वर्णन करते हैं। इन सपूर्ण सौंदर्य-साधनों एवं अराधना की सामग्री के सामंजस्य के फलस्वरूप भक्त के मस्तिष्क पर वांछित प्रभाव प्रबल प्रकार से अधिकार जमा लेता है। ऐसा मेवाड़ के शासक जगतसिंह जी (१६२८-१६५२ ई० प०) के साथ, जो एक बार ग्रीष्म ऋतु में गोकुल के मदिरों में दर्शन करने गये थे, हुआ। वे उस देवालय में गये जो विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र 'बालकृष्ण जी' के पौत्र 'गिरिधर जी' (१६१४-१६६२ ई० प०) के रक्षण में था और वे वहाँ की मनमोहक पूजन-विधि एव सादृश्यता से इतने उल्लसित हुए कि वे इस संप्रदाय के अनुयायी हो गये। इस संबंध ने भविष्य में औरंगज़ेब के क्रोध से दो प्रतिमाओं की रक्षा की, क्योंकि जयसिंह जी के राज्य-काल में उन्हें मेवाड़ में सुरक्षित गुप्त स्थान प्राप्त हुआ।

इन देवालयों में गाये जानेवाले वैष्णव-गीत संस्कृत, ब्रजभाषा अथवा प्राचीन हिंदी में होते हैं।[1] सप्रदाय की अभिवृद्धि के साथ अधिकतम गीतों एव प्रार्थनाओं की आवश्यकता-पूर्ति मुख्यत: आठ संत कवियों के समूह ने की जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस अष्टछाप के अंतर्गत—'सूरदास, कुंभनदास, चर्तुभुजदास, परमानंददास, नंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी एवं गोविंदस्वामी' उच्चकोटि के प्राज्ञ कवि थे। इन कवियों ने सहस्रों अत्युत्तम श्रेष्ठ श्रेणी के भक्ति-गीतों की रचना की है, जिनमें उन्होंने कृष्ण, राधा तथा गोपियों के अनेक प्रकार के कृत्यों का गुण-गान किया है। इन कवियो ने न केवल काव्य-रचना ही की अपितु उसको अपने देवता के समक्ष गाया भी और वे किसी रूप में भी निम्न-प्रकार के संगीतज्ञ न थे, वस्तुत: वे गहन विचार-युक्त थे। इनमें से 'सूरदास' भारत के कोने-कोने में सुविख्यात हैं।

आधुनिक काल में परम पवित्र काँकरोली के महाराज, पंडित कंठमणि शास्त्री, त्रैमासिक वल्लभ-सुधा के संपादक श्री द्वारकादास परीख एवं सर्वाधिक मथुरा के ब्रजभाषाचार्य पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी के सतत प्रयासों द्वारा अष्टछाप कवियों के साहित्य का जनता को परिज्ञान कराया जा रहा है।

कविता के अतिरिक्त इस संप्रदाय ने ब्रजभाषा में गद्य-लेखन को भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया है। ऐसे लेखों में चौरासी एवं दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताएँ विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

इन देवालयों में कृष्ण-जन्म के हर्ष को व्यक्त करने के लिये छोटे-छोटे नाटकों का अभिनय किया जाता है। गोप-गोपिकाओं के वेष में अनेक भक्त नाचते, गाते और कूदते हैं, एवं दर्शकों के ऊपर हरिद्रा-चूर्ण युक्त दधि फेंकते हैं। इसी प्रकार शरद्-पूर्णिमा के दिन कृष्ण की रासलीला का अभिनय होता है। इस प्रकार के प्रदर्शन के लिये ब्रज में एक विशेष प्रकार के नृत्य और गान करनेवाले होते हैं, जो 'रासधारी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस धर्म का कला-संबंधित जीवन विभिन्न भेदों से युक्त तथा अति भावना-पूर्ण है। कला के स्थायी रूपों के अतिरिक्त, हिंडोला अथवा झूला-उत्सवों के अल्पकालिक रूप भी हैं, जिनका श्रावण मास में अवलोकन होता है। जब वर्षा ऋतु में पृथ्वी नव फलों एवं पत्रों से सुवासित रहती है तथा प्रकृति नव वर्षागमन से प्रफुल्लित होती है, तब संगीत की मधुर ध्वनि से निनादित अति आह्लाद-पूर्ण वातावरण में, पुष्पों, फलों तथा पत्तों से सुसज्जित काष्ठ, रजत अथवा सुवर्ण के हिंडोले में प्रभु के झूलने का आनंद लेते हैं।

१. वल्लभ-संप्रदाय के मंदिरों में संस्कृत और ब्रजभाषा के ही पद गाये जाते हैं, प्राचीन हिंदी आदि के नहीं।

इस प्रकार भगवान् के माधुर्य अथवा सौंदर्य को विशेष महत्त्व देकर उनके—'सत्यं, शिवं, सुंदरं' रूप का बोध होता है। प्रभु के प्रति भक्ति मुख्यतः एक भावना-पूर्ण अनुभव है, जिसमें विलीन होकर भक्त ब्रज की गोपिकाओं के सदृश भगवान् को संपूर्ण स्व समर्पण कर देता है।

हिंदू-समाज की सुरक्षा, समुत्थान, संस्कृति एवं सुधर्म के लिये वल्लभ-संप्रदाय की यह अमूल्य देन है, जो वस्तुतः अद्वितीय और अपूर्व है।

अहिल्या : उद्धार

पश्चिमी-शैली में बालगोपाल-स्तुति : एक और प्रति[1]

श्री मंजुलाल रणछोड़लाल मजूमदार

लेख का निमित्त और श्रेय

सन् १९४८ के 'इंडियन 'हिस्टोरिकल रेकर्ड कमीशन' की बैठक पर में दिल्ली आया। तब श्रीमान् डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने पश्चिम-हिंदी शैली में कागज पर चित्रित एक प्रति मुझे दी। उसमें के चित्र प्रसंग और संस्कृत-श्लोकों से उन्होंने बताया था कि यह प्रति जैनेतर विषयक है। बाद में उसके सूक्ष्म अवलोकन से मुझे निश्चय हुआ कि 'कृष्णकर्णामृत' के रचयिता "बिल्वमंगल लीलाशुक स्वामी" रचित 'बाल-गोपाल-स्तुति' नामक प्रकीर्ण और अप्रसिद्ध स्तोत्र संग्रह की यह प्रति है, क्योंकि इसी स्तोत्र की दूसरी ऐसी पाँच सचित्र प्रतियाँ इसके पहले में देख चुका था।

प्रस्तुत प्रति बीकानेरवासी राजस्थानी-भाषा-साहित्य के अपूर्व प्रेमी श्रीयुत अगरचंद जी नाहटा के संग्रह से प्राप्त हुई थी। श्री नाहटा जी की संमति से मेरे अभ्यास की सुविधा के लिये इस सारी प्रति की फोटू कापी परम प्रेमास्पद डा० अग्रवाल जी ने करवाई थी। उसके बाद प्रति की चित्र-शैली के एक लाक्षणिक नमूने के तौर पर उसमें का एक पत्र असल रंग और कद में प्रसिद्ध करने का भी उन्होंने स्वीकार किया। इस तरह प्रस्तुत प्रति की खोज से लेकर यथायोग्य स्वरूप में कला-प्रेमियों तक पहुँचाने की योजना का पूरा श्रेय श्रीमान् डा० अग्रवाल जी को है। लेखक उसमें निमित्त मात्र है।

भारतीय कला का हेतु

आनंद-निर्दोष और निःस्वार्थ-प्राप्त करना मनुष्य-जीवन का परम ध्येय है। ऐसा आनंद-सौंदर्य-दर्शन में से मिलता है। कला और साहित्य-सौंदर्य पैदा करते और अपने-अपने ढंग से मूर्त करते हैं। कला का अंतिम-उद्देश्य आनंद प्राप्ति और अंतःशुद्धि होने से प्रत्येक धर्म और संप्रदाय ने कला को अपनाया और पूजा का साधन बना कर अग्र स्थान दिया।

साहित्यकारों ने पुराण, गाथा, जातक बनाकर कलाकारों के लिये असीम साहित्य-संपत्ति दी है। उसमें से चित्रकार, शिल्पी, नाटचकार, नर्तक और गायकों ने भिन्न-भिन्न समय में प्रचलित धर्म-संप्रदायों के लिये आवश्यक सुंदर कलाकृतियाँ बनाई। उनमें की कुछ कलाकृतियों के मिले हुए अवशेष प्राचीन कला के सुवर्ण युग का स्मरण कराते हैं।

बौद्ध-जातकों का श्रवण, अजंता के भित्ति-चित्र और शिल्प के अवलोकन से अधिक हृदय-स्पर्शी बनता है। इलोरा की शिल्प कृतियाँ देव-देवियों के आख्यानों को विशेष हृदयंगम बनाती हैं। जैन-कल्पसूत्र का परायण उसके कथा-प्रसंगों के चित्र द्वारा विशेष लोक-गम्य और प्रभावोत्पादक बनता है। देवी-महात्म्य (चंडीपाठ) की चित्र-परंपरा श्रोताओं में विशेष भाव-भक्ति भरती है। कृष्ण-चरित्र के प्रसंगों का वर्णन उन प्रसंगों के चित्रपटों के अवलोकन से ही विशेष जीवंत बनता है।

जगत की उत्तमोत्तम वस्तु देव को अर्पण करके कृतार्थ होना मानव की स्वाभाविक अभिलाषा है। इस वृत्ति में से जगत् के मंदिर, महालय, गिरजाघर, मसजिद के स्थापत्य के सुंदर नमूने निर्माण

१. श्री फतेहचंद जी बेलानी द्वारा मूल गुजराती से हिंदी में अनुवादित। अनुवादक महोदय भी गुजराती हैं, अतएव उनकी हिंदी-शैली में गुजराती की झलक रह गई है।

—सं०

हुए। भारतवासियों ने कला को मानवीय संपत्ति और भक्ति का परम साधन माना; इससे देवस्थान कला-केंद्र बने हों यह स्वाभाविक है।

निराकार का साकार स्वरूप-निर्माण

निराकार की साधना आकार द्वारा होती है। इसीसे आकार का हेतु भारतीय शिल्प की आत्मा है और इसीसे ही उसकी मुख्य ध्वनि भी आध्यात्मिक या 'भावात्मक' है।[1] मंदिर हिंदू-धर्म का शरीर है। हिंदुओं का साहित्य, संगीत, शिल्प, स्थापत्य, चित्र-नृत्य इन सब कलाओं का रचना कौशल वहीं इकट्ठा होता है और सारा समाज वहाँ आकर वहाँ की कला-भावना की समझ से और प्रत्यक्ष दर्शन से मिलता आनंद जीवन में भरते हैं। इसी से कला जो मंदिर में थी, वह घर में भी थी, गावों में और नगरों में भी थी। धर्म से जैसे जीवन व्याप्त था वैसे जीवन कला से व्याप्त था।

एशिया की प्राचीनतम चित्र-संपत्ति

एशिया की चित्र-कला के प्राचीनतम अवशेष अजंता की गुहाओं में के भित्ति-चित्र हैं। यद्यपि उसके अस्तित्व का पता जगत् को अकसमात ही सबसे पहले सन् १८१९ में चला। एक ओर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से सातवीं शताब्दी तक के अजंता, बाघ और सितन्नवासल में हिंद के सिगिरिया तथा अनुराधापुर में सिंहल के एवं मध्य-एशिया के भित्ति-चित्रों के संप्रदाय का पता था, दूसरी ओर सोलहवीं शताब्दी से हिंदी, फारसी संप्रदाय से उत्पन्न राजपूत और मुगलकला के छोटे कद के पोथी-चित्रों का अति प्रचार देखने में आया।

सात सौ साल के अंतर का अज्ञान

पर, इन दोनों शताब्दियों के बीच करीब आठ सौ वर्ष के अंतर का हिंदी चित्र-कला का इतिहास ठीक रूप से मिलाया नहीं गया था। अजंता की विकसित स्वरूप में अभिव्यक्त भित्ति-चित्रों की कला सोलहवीं और सत्तरहवीं शताब्दी में 'हिंदू राजपूत कला' के नाम से इतने लंबे अरसे के बाद यकायक छोटे कद के पोथी-चित्रों के रूप में कैसे आ पड़ी यह एक पहेली सी थी।

सचित्र जैन पुस्तक की खोज 'कल्पसूत्र' और 'कालक कथा'

दरमियान, ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के कुछ श्वेतांबर जैन ग्रंथों से ताड़-पत्र और कागज की पुस्तकों के छोटे चित्रों का पता बीसवीं शताब्दी के शुरू में करीब १९२० के आस-पास विद्वानों को चला। ई० सन् १९१३ में 'बर्लिन म्यूजियम' के एक 'सचित्र कल्पसूत्र' का नोट डा० कुमारस्वामी ने 'नोट्स आन जैन आर्टस्' से अमेरिका के वोस्टन म्यूजियम की चित्र सामग्री का परिचय कराया। सन् १९२४ में उन्होंने उसका विस्तृत परिचय दिया।

'वसंत विलास' के चित्रपट्ट की खोज

इसी साल में श्री एन० सी० मेहता ने 'रूपम्' में बताया कि 'वसंत-विलास' के चित्रपट की जिसका विषय धर्मेतर यानी अजैन तदरिक्त वसंत की श्रृंगार-सामग्री का परिचायक है, शैली जैन-कल्पसूत्र से ठीक मिलती है और यह चर्चा शुरू की कि इस संप्रदाय की कला का परिचय किस नाम से दिया जाय? किसी भी धर्म के नाम के वजाय प्रादेशिक नाम देने की भी उन्होंने सूचना की।[2] हिंदी-चित्रकला का विस्तृत प्रकरण इस गुजराती चित्रपट द्वारा मिल गया और मुगल संप्रदाय की चित्रकला के अस्तित्व में आने से पहले के भारतीय चित्र-संप्रदाय की यह महत्त्व की कड़ी है, ऐसा प्रतिपादन किया।

इस अरसे में सन् १९२६ में 'डी० बी० रोमसन' ने 'रूपम्' के २६ वें अंक में इलूरा की गुफा के भित्ति-चित्रों का अस्तित्व खोजा। एक ओर अजंता के भित्ति-चित्र और दूसरी ओर श्वेतांबर

१. न काष्ठे विद्यते देवो न शिलायां न कर्दमे।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥

२. 'रूपम्' के १९२४ के अंक के बाद १९२६ में 'स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग्ज' पुस्तक में एक स्वतंत्र प्रकरण 'सेक्यूलर पेंटिंग्ज आफ गुजरात', इस चित्रपट पर लिखा और उसका सिलसिलेवार अभ्यास सन् १९३१ में 'इंडिया सोसाइटी आफ आर्ट लंदन' के जर्नल में प्रकाशित किया।

८ वीं ९ वीं शताब्दी के इलोरा के भित्ति-चित्रों की खोज

जैन-ग्रंथों के छोटे चित्र इन दोनों के बीच संयोगी कड़ी की तरह इलोरा के भित्ति-चित्र हैं। करीब ८वीं ९वीं शताब्दी में अंकित इन चित्रों में गुजराती चित्रों की मुखाकृतियों का साम्य सबसे पहले नजर आता है। कानों तक पहुँची हुई आँखें, तीन चतुर्थांश चेहरे के आलेखन में दूसरी आधी आँख का निदर्शन, नुकीली नाक और आगे उकसा हुआ सीने का हिस्सा ये सभी लक्षण इलोरा में सबसे पहले मिले हैं। उसकी परंपरा गुजराती ताड़-पत्रीय और कागज की पोथी के चित्रों में मिलती है। इस तरह इलोरा के भित्ति-चित्र गुजराती छोटे कद के चित्रों के पुरोगामी हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

'बाल गोपाल-स्तुति' की वैष्णव पोथी की खोज

इलोरा के चित्रों का पता लगने के बाद दो-तीन वर्ष में ही गुजराती अथवा पश्चिमी हिंदी-चित्रकला का एक और प्रमाण प्रकाश में आया। सन् १९२९ में श्री अर्धेंदुकुमार गांगुली को पश्चिम राजस्थान से 'बाल-गोपाल-स्तुति' (वैष्णव स्तोत्र) की सचित्र प्रति मिली। उसके चित्र 'जैन-कल्पसूत्र' और कालक-कथा' के चित्रों से सर्वांशेन सदृश मिले। तदतिरिक्त उनमें पूरा वैविध्य भी देखा गया। २९ वीं चित्रों वाली खंडित प्रति के विषय में उन्होंने तीन लेख लिखे। बाद में वह प्रति 'बोस्टन म्यूजियम' में अमेरिका चली गई। वहाँ प्रो० 'नार्मन ब्राऊन' ने सन् १९३० के 'ईस्टर्न आर्ट' त्रैमासिक में उन्हीं चित्रों का विस्तार से परिचय कराया।

'बाल-गोपाल-स्तुति' 'विल्वमंगल स्वामी' के वैष्णव स्तोत्र-ग्रंथ की गुजराती शैली के चित्रों-वाली प्रति की खोज से गुजरात में—उस जमाने के विस्तृत गुजरात में, यानी जिसमें राजस्थान और मालवा का भी समावेश था—एक विशिष्ट प्रकार के छोटे कद के पोथी-चित्रों (मिनिएचर) का प्रचार था, ऐसा मानने का कारण मिला। यह प्रादेशिक चित्रशैली किसी एक धर्म या संप्रदाय की नहीं, पर समस्त पश्चिम-हिंद-वासियों की थी, यह भी स्वीकार किया गया।

बाल-गोपाल-स्तुतिकी और सचित्र पोथियाँ

श्री गांगुली की खोज के तीन साल बाद सन् १९३३ में उसी 'बाल-गोपाल-स्तुति' की दूसरी दो सचित्र प्रतियों का परिचय बड़ोदे में हुई 'आल इंडिया ओरियंटल कॉन्फ्रेंस' में प्रस्तुत करने का मुझे मौका मिला। ऐसी अजैन चित्र विपुलता के कारण गुजरात में से प्राप्त जैन-धर्मी, सांसारिक तथा वैष्णव-धर्मी पोथियों में एक-सी चित्र-पद्धति का प्रयोग हुआ है, यह सुलभ और साधार हुआ। बाद में दूसरी तीन विशिष्ट सचित्र प्रतियाँ भी मिलीं। इससे स्पष्ट होता है कि इस दक्षिणी संत की वैष्णव स्तोत्र-ग्रंथ रूपी रचना की पश्चिमी हिंद में कितनी प्रसिद्धि और लोक-प्रियता थी। इस विषय में कलकत्ते के 'जर्नल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ ऑरियंटल आर्ट' १९४२ में और बंबई यूनीवर्सिटी जर्नल १९४८ में मैंने विस्तृत लेख प्रकाशित किये हैं।

पश्चिमी हिंद की चित्र-शैली की यह आठवीं प्रति

गुजराती संप्रदाय की मेरी अपनी खोज में प्राप्त सचित्र अजैन-ग्रंथों में 'दुर्गामिहात्म्य' (चंडी सप्तशती) की तीन प्रतियाँ, 'गीतगोविंद' की तीन, 'भागवत दशम स्कंध' की दो, सांसारिक ग्रंथ 'रतिरहस्य' की दो प्रतियाँ, एवं शकुन-शास्त्र-विषयक 'काकरुत' प्रति के आलेखन संपूर्णतया जैन-चित्रों से मिलते-जुलते हैं। 'माधवानल-कामकंदला-कथा' और 'चौर पंचाशिका' जैसी शृंगार-कथाओं की इस शैली में चित्रित प्रतियाँ मिलने से शैली की व्यापकता स्पष्ट रूप से ध्यान में आती है।

चित्रशैली का नामकरण

ऊपर संक्षेप में देखा कि गुजराती चित्र-शैली की खोज का इतिहास पचीस साल से अधिक पुराना नहीं है। इसलिये इस चित्र संप्रदाय की पहचान के लिये अनेक नामों की सूचना की गई। आज तक तो इन चित्रों का सबसे बड़ा संग्रह जैन-ग्रंथों से मिला। इससे उसे जैन-चित्र-कला के नाम से पहचाना गया, पर जब गुजरात, मारवाड़, मालवा और राजपूताना से भी दूसरे संप्रदायों में और साहित्य-ग्रंथों में इसी शैली के चित्र मिलने लगे तब कला-निष्णातों के समक्ष सारी परंपरा खड़ी हुई।

गुजरात के राजपूत राने और बाद के सुलतानों के जमाने में गुजरात की सीमाएँ विस्तृत थीं। इससे पश्चिम हिंद में सुरक्षित इस कला को 'गुजराती कला' या 'पश्चिमी हिंद की कला' का नाम सूचित हुआ। बौद्ध लेखक 'तारानाथ' के उल्लेख के अनुसार 'स्कूल आफ एंशेंट वेस्ट' मरुभूमि में सातवीं शताब्दी में परिचित था। उसी की एक धारा ताड़-पत्रीय चित्रों की 'वलभी राज्य' के पतन के बाद नेपाल और ब्रह्मदेश में गई। दूसरी पश्चिम हिंद में व्याप्त हुई। पगान (बर्मा) के मंदिर के भित्ति-चित्रों में लंबी नुकीली नाक और डेढ़ आँख का आलेखन इस चित्र-शैली के प्रवास को ध्यान में लिये बिना समझाना शक्य नहीं है। नेपाली ताड़-पत्रों में 'प्रज्ञापारमिता' आदि के चित्रों की शैली और रंग-पूर्ति गुजराती ताड़-पत्र के चित्रों के साथ खूब मिलती-जुलती है।

गुजराती चित्र-शैली का प्रधान उद्देश्य वृतांत-निरूपण का होने से लेखन में जो कार्य शब्दों से बनता है वही कार्य चित्रकार रंग और रेखा से, अधिकतर रेखा से ही साध लेते हैं; इसलिये यह चित्र-शैली भावात्मक सांकेतिक बनी दीखती है। इससे अजंता की भव्य और संस्कृत परंपरा के अनुसंधान में विकसित हुई यह छोटे क़द की चित्र-शैली बड़ी भद्दी और भाव-व्यंजना रहित दिखाई पड़ती है। इससे उसका नाम 'अपभ्रंश शैली' दिया जाय तो सार्थक हो ऐसा श्री 'राय कृष्णदास' का मत है और डा० मोतीचंद के मत से, यह शैली पश्चिम हिंद से दूर-दूर भी पाई जाती है, इसलिये इसका नामकरण फिर सोचना चाहिए, यह भी विचारणीय है।

गुजराती चित्र-संप्रदाय का महत्त्व

सोलहवीं शताब्दी तक विशिष्ट स्वरूप में व्यापक इस ग्रंथस्थ चित्र-भंडार को किसी नाम से पहचानने पर इसका महत्त्व अनेक दृष्टि से ध्यान में आता है, जैसे—

१. शताब्दियों से चली आई अजंता, बाघ और इलोरा की भित्ति-चित्र-परंपरा को समय और साधन-संकोच और परिवर्तन के साथ छोटे कद में ताड़-पत्र पर सुरक्षित रक्खा।

२. भित्ति-चित्र-कला और राजपूत-मुगल-कला के बीच के अंतर को समझाने के लिये यह संप्रदाय ध्यान देने योग्य बना।

३. यह गुजराती चित्र-शैली राजस्थान और रजपूत-कला की जन्मदात्री है। खासकर पंच-महाभूतों का आलेखन पर्वत, जल (नदी-सागर) पृथ्वी, अग्नि, बद्दल, मेघ, क्षितिज, वृक्ष आदि का आलेखन गुजराती चित्रशैली से राजस्थानी में उतर आया और उसके आकार और परंपरागत-चित्र-भावना भी। प्रसिद्ध 'रागमाला' के चित्रों का मूल लाटवासियों की चित्र-कला में है।

४. अकबर की दरबारी चित्र-कला में काम करने वाले हिंदी चित्रकार, ईरानी और फारसी-कला के संस्कार जल्दी ग्रहण कर सके, उसका यही कारण है कि देशज-पद्धति में वे पारंगत थे, इसलिये परदेशी वातावरण का अनुकरण उन्हें सुलभ हुआ। अकबर की शाही चित्रशाला में गुजरात के करीब सात चित्रकार थे। उनमें से केशव, माधव और भीम विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस पूर्व भूमिकावाली चित्र-शैली के तीन दृष्टांत 'बाल-गोपाल-स्तुति' में देकर शैली के लक्षणों का परिचय करेंगे, उससे पहले वैष्णव स्तोत्र-ग्रंथ की रचना के विषय में जान लेना आवश्यक है। भक्ति में वासुदेव की भक्ति कब से शुरू हुई यह भी सोच लें।

नवधा भक्ति-मार्ग की परंपरा अति प्राचीन है। वेद के समय में भी मानव-हृदय भक्तिवाले थे, पर उसका साहित्य वेद में संगृहीत न होकर कुछ अलग रहा। फिर वासुदेव ने 'गीता' कही। तब से भक्ति-मार्ग को स्थिर रूप मिला। धीमे-धीमे उसका विकास, विस्तार, प्रचार बढ़ता गया।

वासुदेव-भक्ति महाभारत में प्रतिपादित हुई हो ऐसा मानने के लिये कारण हैं। उसके एक श्लोक—

**"वासुदेवाऽनंतशक्तिः सृष्टिसंहारकारकः ।
सर्वेश्वरो देव-देवो परमात्मा सनातनः ।।"**

में प्रयुक्त दो विशेषण जिनका उल्लेख ई० पू० दूसरी शताब्दी के बेसनगर (विदिशा) के लेख में देव-देव वासुदेव का गरुड़ध्वज खड़ा करवाया ऐसा उल्लेख है और राजपूताने में घोसूंडी के उसी समय के लेख में सर्वेश्वर भगवान् संकर्षण और वासुदेव का पूजा शिला-प्राकार करवाया, ऐसा उल्लेख है।

इससे यह सिद्ध होता है ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दी में वासुदेव के मंदिर थे और उनकी पूजा का विस्तृत प्रचार था। मेगेस्थनीज़ चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में (ई०पू०३२०) प्रचलित धर्मों के परिचय देते हुए लिखता है कि "हिंदी शौरसेनी-प्रजा में 'हिरेक्लीस' पूजा जाता है। शौरसेनी-प्रजा का एक शहर मथुरा, नदी यमुना और शूरसेन प्रजा क्षत्रिय था।" इससे लगता है कि मेगेस्थिनीज़ का हिरेक्लिस मथुरा के कृष्ण ही होने चाहिए।

बौद्ध-धर्म के पुरातन ग्रंथ 'पालीनिदेश' में अनेक प्रचलित धर्मों में—गो-पूजा, श्वान-पूजा, वासुदेव-पूजा, बलदेव-पूजा आदि को गौण माना है, जो समय के प्रवाह में बौद्ध-धर्म और अन्यमार्गों को दबाकर इस देश में व्यापक हुई। ई० पू० पाँचवी शताब्दी के मध्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी के—

"वासुदेवार्जुनभ्यां वुन्।" (४।३।९८)

सूत्र से कहा जा सकता है कि उनके समय में वासुदेव निःसंशय देव माने जाते थे।

इन आधारों से यह फलित है कि ई० पू० प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम शतक में वार्ष्णेय वासुदेव की पूजा प्रचलित थी। उसका प्रथम दर्शन महाभारत के 'नरायणी पर्व' में होता है।

इस पूजा का मूल भगवद्गीता है। जिस समय तीव्र तपश्चर्या और त्याग से समाज में अव्यवस्था फैल रही थी, तब जनक के द्वारा उज्ज्वल किये हुए निष्काम कर्म रूप आश्वासक और सर्व-संग्राहक धर्म का वासुदेव ने उपदेश किया। परिणामतः भक्तिमार्ग का धर्म लोक-प्रिय हुआ और कुछ समय में गीता के भगवान् वासुदेव परमेश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। क्रमशः उनके उपदेश के बजाय पूजा-धर्म का प्रचार हुआ।

भक्ति-मार्ग का प्रवाह 'गीता' से चला। इस भक्ति-मार्ग के उपदेशक वासुदेव का जो चरित्र मिलता है वह बड़ी उमर का है, बाल्यावस्था का नहीं है। इस कमी को पीछे से महाभारत के 'खिल-पर्व' रूप—'हरिवंश' में पूरा किया गया। पीछे के भक्ति-संप्रदायों में कृष्ण के बाल-चरित्र का अधिक उपयोग हुआ है।

'हरिवंश' का समय ई० स० दूसरी-तीसरी शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है। उसका कुछ भाग शायद इससे भी प्राचीन हो। हरिवंश के दूसरे पर्व में कृष्ण-जन्म से लेकर पूरा चरित्र विस्तार से दिया है।

हरिवंश में जो कथा है वही कुछ घटा-बढ़ाकर ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में है और भागवत और ब्रह्मवैवर्त में 'कुछ अधिक बढ़ावा किया है।

हरिवंश, विष्णुपुराण और भागवत के कृष्ण-चरित्र को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कृष्ण के बाल-चरित्र को भागवतकार ने ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखा। उनकी दृष्टि में भगवान् की भक्ति-प्रेरक कथा है। खासकर गोपियों और कृष्ण की मूल बातों का भक्ति-पोषक कल्पनाओं से विस्तार किया और वस्त्र-हरण जैसे प्रसंग बढ़ाये। उसके द्वारा भक्ति के आवेश में भक्त लोग लोक-लज्जा, लोक-बुद्धि और लोक-व्यवहार को छोड़ देते हैं, इस सिद्धांत का उदाहरण दिया। विष्णुपुराण के रासक्रीड़ा के अध्याय के पंच अध्याय करके प्रसंग को विस्तृत महत्त्व दिया। इतना ही नहीं वर्णन को ऐसी सर-सता दी कि 'रासपंचाध्यायी' पाँच अंकों का गीत-मय नाटक बन गया। भागवतकार का सिद्धांत किसी तरह मन को कृष्ण में जोड़ना है। काम से भी भगवान् में मन जोड़ने का उदाहरण गोपियों का दिया, क्योंकि जार बुद्धि से कृष्ण को भजने पर गोपियाँ भगवान् में लीन हो सकीं। तेरहवीं शताब्दी में 'बिल्वमंगल स्वामी' ने रास-प्रसंग का अष्टक बनाया, जिसके प्रत्येक छंद का ध्रुवपद—

"संजगौ वेणुना देवकीनंदनः।" [१]

यह बालगोपाल-स्तुति के अंतर्गत है।

कृष्ण के साथ राधा का स्मरण कब से होने लगा यह सोचने का विषय है। इष्टदेव के साथ उसकी पत्नी के भजन की प्रथा तो वेद-काल जितनी पुरानी है। विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का उल्लेख मिलता है; दो हजार साल से पुरानी लक्ष्मी की मूर्तियाँ मिलती हैं। रामावतार की पूजा से सीता-राम का युगल रामायण द्वारा पूजा जाने लगा। इसी तरह कृष्ण-पूजा प्रचलित होने से रुक्मिणी-कृष्ण के युगल की पूजा होनी चाहिए थी, पर एक महाराष्ट्र को छोड़कर (और उन्नीसवीं शताब्दी में गुजरात के स्वामीनारायण संप्रदाय में लक्ष्मी-नारायण की पूजा होती है) कृष्ण के साथ रुक्मिणी का स्मरण कहीं प्रचलित नहीं है। रामानुज तथा मध्व-संप्रदाय में विष्णु या वासुदेव के साथ लक्ष्मी का पूजन है, लेकिन सोलहवीं शताब्दी से तो 'गोपीजनवल्लभ-कृष्ण' के साथ राधा का नाम सविशेष जुड़ा हुआ मिलता है।

अब राधा का नाम कहाँ से मिला यह देखें। कृष्ण-चरित्र-प्रधान पुराणों में से हरिवंश, विष्णु-पुराण या भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है, पर ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहिता, पद्मपुराण और स्कंदपुराण के कुछ भागों में है। विष्णुपुराण में जो स्थान लक्ष्मी का है वह ब्रह्मवैवर्त में राधा का है। भागवत में रासलीला-प्रकरण में एक गोपी के विषय में लिखा है—

"अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।"

—भागवत १०।३०।२८

ऐसे, जिसने आराधन (भजन) किया वह 'राधा' है। इस तरह भागवत के बाद विशेष भाग्यवती गोपी 'राधा' नाम से प्रसिद्ध हुई। बारहवीं शताब्दी में जयदेव की राधा-भक्ति प्रसिद्ध है, पर जयदेव से पहले हेमचंद्रसूरि (११४५-१२२९) ने काव्यानुशासन में राधा-कृष्ण के विहार-वर्णन के श्लोक उद्धृत किये हैं। 'औचित्य विचार चर्चा' में क्षेमेंद्र ने अद्भुत रस के उदाहरण रूप—**'कृष्णेनांब०'** प्रतीक उद्धृत किया है।[२] वही हेमचंद्र 'काव्यानुशासन' में देते हैं। वही श्लोक बिल्वमंगल या लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत ग्रंथ' में संकलित है और बाल-गोपाल-स्तुति में भी। बिल्वमंगल भी जयदेव की तरह राधा-कृष्ण के विहार का गान करते हैं।

लीलाशुक का प्रकीर्ण स्तोत्र-ग्रंथ 'बालगोपाल-स्तुति' "खंडित और अप्रकट है। इसकी सात सचित्र प्रतियाँ सिर्फ पश्चिम हिंद से प्राप्त हुई हैं। अंतिम सचित्र प्रति श्री नाहटा जी के संग्रह से मिली है। उसकी चित्रशैली का परिचय इस लेख का प्रयोजन है।

हेमचंद्र से भी प्राचीन रुद्रट् के 'काव्यालंकार' परनमिसाधु (१०६८) की टीका में यह श्लोक है—

"यो गोपीजनवल्लभः स्तनतटव्यासंगलब्धास्पदः।
किं राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणाधिकश्चोलकः॥"

इसी समय के क्षेमेंद्र 'दशावतारचरित्र' में कृष्ण-चरित्र-वर्णन के चार श्लोकों में राधा का उल्लेख करते हैं। तात्पर्य यह कि जयदेव से पहले सौ वर्ष पर कृष्ण के साथ राधा का उल्लेख काश्मीर तक पहुँच गया। लेकिन मध्य-हिंद में राधा के विषय में इससे भी पुराना उल्लेख मिलता है।

भोज (१००४।४५) के 'सरस्वती-कंठाभरण' में राधा-कृष्ण-विषयक चार श्लोक हैं। आनंद-वर्धन (नौवीं शताब्दी) 'ध्वन्यालोक' में उसका उल्लेख करते हैं। ये उल्लेख सांप्रदायिक या धार्मिक-साहित्य में नहीं है, अर्थात् इन लेखकों ने अपने जमाने की प्रचलित मान्यता या सुभाषित उद्धृत किये हैं, यानी राधा-कृष्ण की बात जयदेव या बिल्वमंगल के संस्कार पूर्वजों की अपनी उत्पन्न की हुई नहीं है।

१. इस प्रसंग का, बड़ा बनाकर छपा हुआ रेखांकन 'जर्नल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट' कलकत्ता के सन् १९४२ के अंक में प्रसिद्ध है।

२. इस प्रसंग का रेखांकित चित्र 'बंबई यूनिवर्सिटी जर्नल १९४८ के अंक में प्रकाशित है।

पश्चिमी - शैली में बालगोपाल - स्तुति : एक और प्रति

पंचतंत्र (तंत्र ४) में चमत्कारिक लकड़ी के गरुड़ पर बैठकर वासुदेव के वेष में एक जुलाहा राजकुँवरी से कहता है—

"तुम राधा नाम से गोकुल में जन्मी हुई मेरी स्त्री हो।"

यह उल्लेख पाँचवीं शताब्दी का समझा जाता है। ऐसा दूसरा उल्लेख 'हाल' कवि की 'गाहासत्तसई' में इस अर्थ की गाथा है कि "हे कृष्ण, गौओं के चलने से राधा के मुँह पर पड़ी हुई रज को तुम फूंक से उड़ाते हो, तब और गोपियों के दर्प का हरण करते हो।"

पंचतंत्र या गाहासप्तशती का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अति उपयोगी है, क्योंकि इस समय भागवत जैसे पुराणों में भी राधा का उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण के साथ राधा का प्रयोग सबसे पहले ग्रामीण लोगों में हुआ होगा। आभीरों के राज्यकाल में यह राधा-कृष्ण-कथा, कृष्ण की बाल-कथा के साथ विकसी है। फलित यह कि राधा-कृष्ण की पूजा का मूल लोक-कथा या लोक-कविता में है।

बालगोपाल-स्तुति में पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अवतार-चरित्र के साथ और-और अवतार-कथाओं से प्रसंगों को लेकर मुक्तक रचे या उद्धृत किये हुए मिलते हैं। असल रंग में छपे हुए पत्र में राम-चरित्र से अहल्योद्धार का प्रसंग चित्रकार ने लिया है।

दृष्टांत—चित्र परिचय

प्रथम—सश्लोक चित्र, दोनों श्लोकों में अहल्या का उद्धार राम-चरण-रज-स्पर्श से हुआ, उसका वर्णन है। अनेक वर्षों के बाद गौतम फिर गृहस्थी हुए वह प्रताप राम-चरण-स्पर्श का है। यह उन दोनों का पिंडितार्थ है, जैसे—

"सकृदपि किलजंतुर्यैरभिध्यानमात्रैः परिमृदितकषायः कल्पते मोक्षणाय।
रघुकुलकुमुदेंदोर्हंत तैरेव पुण्यैः पदकमलरजोभिर्गौतमोऽभूत् कुटुंबी॥
चरण नलिन संगानुग्रहं ते भजंती भवतु चिरमियं नः श्रीमती पातपात्री।
उपलतनुरहिल्या गौतमस्यैवशापात् इयमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात्॥

सारी पोथी में यह पत्र इसलिये लाक्षणिक है कि इसमें तीन चतुर्थांश मुख के आलेखन के साथ ही अर्धमुखालेखन की परंपरा मानों बिदा लेती हो, ऐसा एक ही स्थान में प्रतिबिंबित है। वि० सोलहवीं शताब्दी के अंत तक 'डेढ़ चश्म तस्वीर' की पद्धति इसमें देखी जाती है, पर उसी समय की और उसके बाद की राजपूत-कला में निरपवाद देखी जाती एक-चश्म-तस्वीर (प्रोफाइल) ही चित्रकार का विषय बन जाती है, उसकी यहाँ शुरूआत देखी जाती है।

धनुर्धारी राम के पीछे धनुर्धारी लक्ष्मण हैं। सिर पर जटा और श्मश्रुधारी गौतम ऋषि उनके पीछे खड़े हैं। सामने अहल्या माला लेकर राम का अभिवादन करती है। वनवासी राम-लक्ष्मण के मुँह पर पतली श्मश्रुराजि प्रसंग की सचाई को प्रकट करती है। लक्ष्मण की जटा भी दीखती है।

चित्र की पृष्ठभूमि लाक्षणिक ढंग से पक्की ईंट के लाल रंग की है जो प्राचीन परंपरा के अनुसार है। राजस्थानी के बाद राजपूत और मुगल-समय में चित्र की पृष्ठभूमि बदल जाती है। गौतम-आश्रम टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों द्वारा बताया गया है। चित्र की खाली जगह को फूलों के शोभन से भर दिया है।

अहल्या और लक्ष्मण की मुख-मुद्रा के आलेख में दूसरी आँख स्पष्ट दीखती है, पर गौतम और राम के आलेखन एक चश्मी (प्रोफाइल) अर्ध-स्वरूप के हैं।

वस्त्र-परिधान ध्यान देने योग्य हैं। छपा कपड़ा पश्चिम हिंद की प्रशस्त कला मानी गई है, जिसमें फोस्टाट के खंडहर की खुदाई में से हजार वर्ष पहले के ठप्पे से छपे कपड़ों के टुकड़े मिले हैं। वे खंभात-बंदर होकर प्राचीन काल से पश्चिमी देशों में निर्यात होते थे।

गुजराती शैली के ताड़-पत्र, लकड़ी की पाटली, वस्त्र पट या कागज पर आलेखित रंगीन चित्रों में छपा कपड़ा स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे, ऐसा दिखाया गया मिलता है। पुरुष के वेश में धोती और उत्तरीय, स्त्री के वेष में वस्त्र, उत्तरीय और चोली ये तीन वस्त्र अलग-अलग रंग के होते हैं।

अहल्या की खुली वेणी के अंत में काला गुच्छा लटकता है। गुजरात की स्त्रियाँ पंद्रहवीं शताब्दी तक साड़ी सिर पर नहीं ओढ़ती थीं, ऐसा चित्रों का आधार है। मुगल-समय के नये शिष्टाचार में ढका सिर और घूंघट शिष्ट समाज में प्रविष्ट हुआ ऐसा संभव है।

पुरुष और स्त्री के कान में चंद्राकार कर्णफूल का शौक सदियों से परिचित है। गुप्त-समय के बाद के 'चतुर्भाणी' नामक चार भाणों में लाटवासियों के शौक का निरूपण है। शिल्प कृतियों में भी गोल बड़े कर्णफूल पश्चिमी हिंद की आभूषण-शैली की विशिष्टता सँभाले रखे हैं।

'खूंप' जैसा फूल का मुकुट स्त्री-पुरुष दोनों पहनते हों, ऐसा चित्र से मालूम होता है। इतने बाह्यलक्षणों से स्त्री-पुरुष चित्रों में पहचाने जाते हैं, बाकी व्यक्तित्व विशिष्ट भिन्न-भिन्न पात्रों के बजाय इस शैली के चित्रकार एक जैसा आकार स्वरूप ही पेश करते हैं। प्रसंग और वातावरण को समझ कर हमें उसका परिचय पाना होता है, अर्थात् वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व खोजनेवाले को ये चित्र निराश करते हैं।

दूसरा चित्र-प्रसंग--

राधा-कृष्ण मिलन का है। सप्रमाणता के ख्याल से अंकित दो-दो घटादार पेड़ों के झुंड के बीच एक लाल वृक्ष है, जो चित्र की पश्चाद् भूमि में है। पेड़ की घटा छाया-चित्रानुसारी ढंग पर व्यक्त की है।

पीछे को दो-दो पेड़ों के बीच की खाली जगह में दो-दो फूल की आकृति बनाकर चित्रकार ने वृंदावन की घेरी-घटा को समझाने का यत्न किया है। पीछे क्षितिज की समांतर तीन लकीरें सारे आकाश को सीमित करती हुई दिखाई गई है।

कृष्ण और राधा के वस्त्राभूषण प्रथम पत्र से एकदम भिन्न हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, फिर भी राधा और कृष्ण के मुख पर हाथ, पैर, अंगुलियों की मरोड़ में और वातावरण की व्यंजना से जो गीत-तत्व उत्पन्न होता है वह प्रथम चित्र में नहीं है। यानी हकीकत यह है कि पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट और सुरेख एवं छँट कर पकड़ में नहीं आ सकता, फिर भी अवांतर वातावरण से चित्र का मर्म समझ में आ जाता है।

तीसरा चित्र--

यमुना नदी के किनारे 'मधुवन' में ध्रुव के तप का है। चित्रकार ने परंपरागत ढंग से सादी उलटी लकीरों को काटकर जल की तरंगों द्वारा नदी का सूचन किया है। तदतिरिक्त मत्स्य भी उसमें दिखाये हैं। किनारे पर हंस, सारसयुग्म बच्चों के साथ रेत में चलते दिखाकर किनारे को भरा है। दायें कोने में ऊपर तुलसी की क्यारी, किसी बड़े क्यारे में ऊगे हुए घटादार छोड़ के साथ दिखाई गई है। खजूर का पेड़ चित्र के मध्य में चित्र-वस्तु की सप्रमाणता दिखाने के लिये रखा है। आस-पास गोल सुशोभन है।

इस चित्र में सब पात्रों की दोनों आँखें प्रकट हैं। श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप से वर देने आए हैं। ध्यान से जागे हुए बालक ध्रुव की स्वाभाविक निर्दोषिता और अंजलि करके एवं घुटने को नीचा करके बैठने का ढंग भक्ति जगाता है।

इन तीनों चित्रों को देखने के बाद ऐसा असर होता है मानो यह भित्ति-चित्र का विषय है और संयोजना भी इसी ढंग पर की है। केवल कागज के छोटे साधन में इतना विस्तृत विषय

भर दिया है, यह चित्रकार की खूबी है। इस चित्र को अधिक विस्तार से देखा जाय तो वह भित्त-चित्र ही मालूम हो।

इन उदाहरणों से गुजराती चित्र-संप्रदाय के सामान्य लक्षण ध्यान में लिये जायँ तो लगता है कि उसकी खास खूबी, सरल रेखाओं में हूबहू कथा-निरूपण करने की उसकी शक्ति में है। वाङमय के साथ चित्र-कला का सुमेल दिखाने में यह शैली बहुत कामयाब होती है। आकृति और रंगों के अनेक संकेत-पूर्ण प्रयोग द्वारा इन चित्रों में साहित्य, विचार और दृष्टि को उद्दीपन करने वाली सामग्री है।

गुजराती संप्रदाय सामान्य लक्षण

गुजराती-संप्रदाय के चित्र भाव से अधिक वृतांत निरूपण पर बल देते हैं और इसी से कल्पसूत्र', कालक-कथा', भागवत दशमस्कंध और 'देवी-माहात्म्य' के चित्र देखते हैं तब चित्रों से ही वृतांत समझ में आ जाता है। कथानक का चोखापन और एक-सा चित्रांकन इस शैली के मुख्य लक्षण हैं। इस शैली का चित्राकार किसी तरह चित्र से हकीकत प्रकट करना चाहता है, जिससे पत्थर में खुदी हुई रामायणी-कथा, कृष्ण-कथा या जातक-कथाओं को परंपरा की तरह अनपढ़ को भी इन चित्रों से समझने को और देखने को मिल जाता है। धर्म-प्रचार की सार्थकता यही इन चित्रों का ध्येय और फल है।

इस संप्रदाय के पोथी-चित्र सभी एक-से उच्च कक्षा के नहीं होते, फिर भी चित्रों की महत्ता जितनी वृतांत-कथन की ओर है उतनी बल्कि कुछ विशेष तत्कालीन रिवाज, वस्त्राभूषण, घर, मंदिर की स्थापत्य रचना, खान-पान, आसन-शयन उपस्कर इन सब का रस-प्रद खयाल इन चित्रों द्वारा मिल जाता है। वि० सं० ग्यारहवीं से सोलहवीं का पश्चिम हिंद का लोक-जीवन इन चित्रों में मिल सकता है।

रंग-विधान-कला में चित्रकार ने भाव-व्यंजना और रस-ध्वनि का परिचय दिया है। प्रसंगानुसार ऋतु और काल-दर्शक वृक्ष, वेली, मनुष्य, जानवर, पक्षी आदि से सब अनुमान हो सकता है। नदी, सर, कुंड, जल-भँवर रेखाओं से मालूम हो जाता है। जलचर—मत्स्य, कच्छप, सर्प भी दिखाये जाते हैं।

वृक्ष, फल, वनस्पति ठीक पहचानी जाँय इसलिये पत्ते आदि चित्रित दिखाई पड़ते हैं। वास्तव-दर्शन से अधिक ऐसा लाक्षणिक-दर्शन चित्र-कर्म के नियमों में अधिक उपयोगी माना है।

गुजराती चित्र कुछ तेजी से खींचे हुए लगते हैं। उनमें राजपूत-कलम-सी पूर्णता और ओप (फिनीश) का अभाव है। शायद ऐसा हो कि चित्र-कर्म के लिये कुछ खास आधारभूत आकार निश्चित हुए हों, जिनके अनुसार चित्र कैसा बनाना है, उसकी समझ चित्रकार तत्काल पा ले।

एक ही ग्रंथ की भिन्न-भिन्न समय की प्रतियों में वैविध्य कम होता है। फिर भी क्वचित् निरंकुश कलाकार नयी ऊर्मि, नयी छटा, नये प्रसंग लाता है। सामाजिक वातावरण भी अपने समाज का बताता है। इन चित्रों में कुछ विचित्रता भी है। खासकर आँखें प्रकट करने की रीति अजीब ढंग की है। अजंता के चित्रों में अर्धमुखाकृति कम है, राजपूत-कलम में वह विशेष है। गुजरात के चित्रों में अर्धमुखाकृति होते हुए भी दबे हुए अर्धमुख की सूचना के तौर पर आँख और भौंहे आलिखित हैं। उसे दाबकर राजस्थानी कलम का आरंभ होता है।

इन चित्रों में आकाश, बादल, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प आदि के आलेखन के लिये चित्रकार ने अपने रूपकों की कल्पना की है।

गुजरात के ये चित्र वर्णनात्मक हैं। उनमें आलिखित वस्त्र, अलंकरण और अन्य सामग्री में तत्कालीन गुजरात का दिग्दर्शन है। चित्र-कर्म ध्यान से किया गया है, पर भावालेखन से अधिक सूचकध्वनि की व्यंजना विशेष है।

वस्त्र-परिधान की दृष्टि से गुजरात के चित्र रस-दायक हैं। स्त्रियों के वेष में मुगल-समय के पहले के चित्र में सिर खुला है, केशकलाप की शैली वर्तमान् गुजरात में प्रचलित छूटी वेणी जैसी है। वेणी के नीचे सिर पर काला गुच्छ लटक रहा है।

स्त्रियाँ चोली पहनती हैं, पर लँहगा कहीं दीखता नहीं है, वह सबसे पहले राजस्थानी और राजपूत-कलम में दिखाई देता है। उसके साथ चुनरी आती है, पर गुजराती चित्रों में स्त्रियाँ उत्तरीय गले में डालती थीं। पुरुष धोती और उत्तरीय।

बालों की शोभा जितनी स्त्रियों को उतनी पुरुषों को भी प्रिय दिखती है। लंबे बाल, पीछे वेणी या चोटुला, साथ-साथ मूंछ और दाढ़ी। स्त्री-पुरुष दोनों बालों में फूलों के शौकीन हैं। मुगल असर में स्त्रियों ने जैसे सिर ढकना वैसे पुरुषों ने वेणी, दाढ़ी निकालना शुरू किया।

आभूषण में भी दोनों समान शौकीन हैं। दोनों में बड़े गोल कर्णफूल, हाथ में कनक-वलय, पैरों में नुपूर, गले में माला।

पहनावे की रसम तरह-तरह की है। विविध बेल-बूटे, नक्कासीदार छाप-काम अधिक लोक-प्रिय होगा। पुरुष की धोती, स्त्री की साड़ी और दोनों के उत्तरीय यह रस-दायक सामग्री है।

गुजरात की कला प्रधानतया ग्रामवर्ग की है। उसकी प्रेरणा, विकास और पोषण गुजरात के संस्कार जीवन से घुला हुआ है। इसलिये सुखी मध्यमवर्ण के आश्रय से कला फूली-फली है।

अजंता की कला को सुसंस्कृत पंडितों की वाणी कहा जाय तो गुजराती और राजपूत-कला में लोक-गायकों का सुरीलापन और जमावट है, जिसे 'अपभ्रंश-शैली' नाम दिया जा सकता है। उसकी तुलना में राजदरबारी, सयानी और भड़कीली मुगल-कला बिल्कुल अलग हो जाती है।
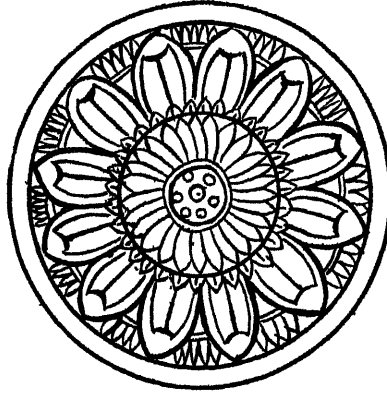
असम लोक-नृत्य में कृष्ण लीला

श्री कमलनारायण

असम प्रदेश मुख्यत: ६५ जातियों का निवास स्थान है। इस नन्हे से प्रदेश में इतनी जातियों का समागम कब और कैसे हुआ, इसका उत्तर तो इतिहासकार दे सकेंगे। एक करोड़ दस लाख की आबादी में जातियों का आ जाना, संभव है समाज-शास्त्रियों को विस्मय में डाले।

इन जातियों का अपना अलग समाज, अलग भाषा, अलग आकृति, अलग पोशाक-पहिनावे-रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, अदब-कायदे, साहित्य, सांस्कृतिक परंपरा, धर्म और विश्वास सब कुछ अलग-अलग है।

सर्वप्रथम हम 'असमीया जाति' को लें। जनसंख्या में यह कोई २५ लाख है। इसमें मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय—कलिता और कायस्थ हैं। इस जाति के अधिकांश लोग उत्तर भारत से आए और अपना उपनिवेश स्थापित कर यहीं रह गए। तेरहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक इस प्रदेश पर 'आहोम' राजाओं का आधिपत्य रहा। यह जाति असम के उत्तर-पूर्व की ओर से आई थी। हिंदू संस्कृति से इसका कोई संबंध न था, पर कुछ ही दिनों के बाद इस शासक जाति ने अपना धर्म-परिवर्तन कर, शासित प्रजा का हिंदू-धर्म स्वीकार कर लिया। किसी शासक ने शासित का धर्म स्वीकार किया हो ऐसा उदाहरण संसार में बिरला ही मिलेगा। जो हो, आहोम जाति भी 'आर्य संस्कृति' के अंतर्भुक्त होकर प्राचीन 'असमीया जाति' का ही एक अंग बन गई।

इस 'सांस्कृतिक समन्वय' के फलस्वरूप असमीया जाति ने भी आहोम लोगों की बहुत-सी छोटी बातें अपनायीं। 'आहोम' जाति के अलावा 'कोच', 'कछारी', 'चुटीया' आदि कुछ छोटी-छोटी आरण्यक जातियों ने भी कुछ दिनों तक असम के कुछ हिस्सों पर राज्य किया और धीरे-धीरे प्रजा-धर्म में विलीनता प्राप्त कर ली। इनका कुछ हिस्सा आज भी आरण्यक अवस्था में ही है।

असमीया जाति चौदहवीं सदी तक शाक्त-धर्म को मानने वाली थी। शाक्त-धर्म असम-प्रदेश में कब से प्रचलित हुआ, इस पर भिन्न-भिन्न ऐतिहासिकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। उत्तर भारत के नवागंतुक प्राय: स्मार्त और बौद्ध थे। यहाँ आने के बाद वे शाक्त हुए। फिर भी उनमें स्मार्त-धर्म की छाप लगी रही। सूर्य, विष्णु, शिव आदि देवताओं के मंदिर जहाँ-तहाँ असम में मिलते हैं। इन मंदिरों से प्रमाणित होता है कि कुछ लोग श्रौत, वैष्णव और शैव रहे हों। पंद्रहवीं सदी में एक विराट् धर्म-क्रांति हुई। क्रांति के अग्रदूत थे महापुरुष 'शंकरदेव'। शंकरदेव असम के 'तुलसी-दास' हैं। आप के ही पुरुषार्थ और एकांत साधना के फलस्वरूप वैष्णव-धर्म असम में आया। आधुनिक असमीया जाति 'महापुरुषीया-धर्म' मानती है। इतना होते हुए भी यहाँ शाक्तों की संख्या कम नहीं है।

धर्म और संस्कृति के इस व्यापक समन्वय का प्रभाव असमीया नृत्य-कला पर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। असमीया समाज में 'ओजापाली', 'देओधनी', 'देओधाइ', 'मंदिर', 'भावना', 'खुलीया', 'ढुलीया', 'पुतला', 'बिहू'—आदि नृत्य विशेष प्रचलित हैं।

इनमें 'भावना' और 'पुतला' को छोड़कर बाकी नृत्य 'आदि निवासियों' के नृत्य से संबंध रखते हैं। आदर्श की दृष्टि से 'भावना' और 'पुतला' वैष्णव-नृत्य हैं। वैष्णव-धर्म के ही साथ इनका आरंभ हुआ। उक्त सभी नृत्यों की अपेक्षा 'ओजपाली' नृत्य आधिक शास्त्रीय है। 'बिहू' नृत्य सर्वापेक्षा

अधिक प्राचीन है। दरअसल यह नृत्य 'मीरा' और 'कछारी' जाति का नृत्य है, जिसे असम के हिंदुओं ने अपना लिया है। रूप सज्जा, आदर्श और 'टेकनिक्' की दृष्टि से इनमें पर्याप्त भेद है।

अगर यह कहा जाय कि 'मधुरा-भक्ति' से परिप्लावित शुद्ध वैष्णव-संस्कृति भारत में कहाँ जीवित है, तो सैकड़ों मीलों में फैले हुए घोर अरण्य और गगनचुंबी पर्वतों को पार कर हमें 'मणिपुर' ही पहुँचना होगा। कहा जाता है—भक्ति द्रविड़ देश में उपजी, वहाँ से उत्तरापथ में उसे 'रामानंद' ले आए और उसका प्रचार 'कबीरदास' ने किया। किसी जमाने में भक्ति-रस के उच्छ्वास से भारत का सारा वायुमंडल उच्छ्वसित हो उठा था, पर आज वह कहाँ पाया जाता है? भारत के वैष्णव साधुओं में? गार्हस्थ्य जीवन में भक्ति का पूर्ण संचार नहीं हो सका। बौद्ध-धर्म की भी यही हालत हुई। भक्ति बेचारी ठोकरें खाती हुई अपनी विहार भूमि को छोड़कर, सैकड़ों मीलों का दुर्गम पथ पार कर मणिपुर की कंदराओं में जा पहुँची। चैतन्य-पंथियों ने मणिपुर को ही अपनी 'मधुरा-भक्ति' का सुरक्षित निराला उपनिवेश बनाया। भक्ति का सागर उमड़ पड़ा। मणिपुरी जनता उसी में गर्क हो गई। गार्हस्थ्य जीवन में उसे सुंदर आसन प्राप्त हुआ। वह वहाँ का जीवन धर्म बना बैठी। अरसा हुआ, मैंने हिंदी कवि निराला जी की एक कविता पढ़ी थी। उनकी पंक्तियाँ अब मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, पर शायद वह—

"चलचरणों का व्याकुल पनघट. . .कहाँ गया वृंदावन धाम।"

कुछ ऐसी रही हों, सो अब 'पनघट' और 'वृंदावनधाम' की रासलीला के लिये उन्हें तड़पने की जरूरत नहीं है। वे कृपया मणिपुरमें तशरीफ लाएँ। यहाँ वे छक कर 'पनघट' की बहार का मजा लूट सकेंगे, 'वृंदावनी रासलीला' का रसास्वादन कर अपने प्यासे हृदय को तृप्त कर सकेंगे।

भारत में जब कभी संमानित शास्त्रीय-नृत्य (क्लासिकल डाँस) की चर्चा होती है, तो सबसे पहले 'मणिपुरी-नृत्य' की ओर इंगित किया जाता है। सच पूछा जाय तो भारत में तीन ही नृत्य आज जीवित हैं। दक्षिणात्य नृत्य, उत्तर भारतीय नृत्य और मणिपुरी नृत्य। आयु के विचार से 'दक्षिणात्य नृत्य' सबसे अधिक प्राचीन है। इसका प्रभाव सुदूर पूर्व के देश जावा, सुमात्रा, लंका, हिंद चीन, बर्मा, श्याम यहाँ तक कि चीन और जापान के नृत्यों पर भी दृष्टिगोचर होता है। 'कामरूपी देव-दासी नृत्य' भी संभव है दक्षिण की ही देन हो, क्योंकि वह नृत्य दक्षिण में ही प्रचलित था। दक्षिणात्य-नृत्यों में मालाबारी 'कथकलि' नृत्य का प्रचार सबसे ज्यादा है।

भारत के तीन शास्त्रीय-नृत्यों में सबसे शुद्ध, सबसे सुसंस्कृत और सबसे महत्त्वपूर्ण नृत्य है—'मणिपुरी नृत्य'। यह विजातीय-प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।

'मणिपुरी नृत्य' भक्ति-मूलक शुद्ध वैष्णव-नृत्य है। गीति-मूलक वैष्णव-साहित्य को अपनी नृत्य-कला द्वारा मूर्त रूप देना ही इसका अपना आदर्श है। मणिपुरी लोक-संप्रदाय कृष्ण का उपासक है। यहाँ की जनता अपनी आंतरिक भक्ति, भिन्न-भिन्न प्रकार की नृत्य-लीलाओं के स्मारक चिन्हों में व्यक्त कर उपास्य देवता कृष्ण को समर्पित करती है। नृत्य के साथ गाये जानेवाले गीत—'कीर्तन' कहलाते हैं। यह नृत्य कृष्ण की संपूर्ण जीवन-लीला अपनी मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करता है।

मणिपुरी नृत्य में गोपियों के अकृत्रिम प्रेम की प्रधानता रहती है। इस प्रेम के रूपकार्थ की तुलना पुरानी इंजील (ओल्ड टेस्टामेंट) के गीतों के गीत (सांग अव सांग्स) से की जा सकती है। यह प्रेम परमात्मा के प्रति जीवात्मा के अकृतिम प्रेम का एक लौकिक रूपक मात्र है। आप अथ से इति तक नृत्य देखते जाइए, कहीं भी वासना या कामोत्तेजना की गंध नहीं मिलेगी। नृत्य में सर्वत्र 'परम प्रेम' और 'पराभक्ति' का वातावरण रहता है। नर्तकों को कठोर विधि-निषेधों का पालन करते हुए नाचना पड़ता है। कमर-लचकाने, नितंब-हिलाने, बाँकी-तिरछी कनखियों, नाज़-नखरे व चोचले-बाजियों पर कड़ा पहरा रहता है। नर्तक बड़ी सावधानी से इनका वहिष्कार करते हुए नाचते हैं। इस नृत्य में दक्षिणात्य-नाटकीय मनोवृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है।

मणिपुरी नृत्य में दूसरी जो लक्ष्य करने की बात है, वह है 'प्राकृतिक-सौंदर्य की हूबहू अभिव्यक्ति।' अनंत प्रकृति में हम सौंदर्य के जिन उठते हुए हिलोरों का दर्शन करते हैं, मणिपुरी नृत्य में उनकी अभिव्यक्ति की चरम भावुकता पाई जाती है। नृत्य देखते समय हमें कभी अनुभव होगा जैसे किसी उद्यान में हम भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों की सुरभि से मतवाले हो रहे हैं, कभी चाँदनी रात की रुपहली-शीतलता का अनुभव होगा, कभी गोधूलि के सुनहले मधुर, स्निग्ध, उष्ण, निर्मल रश्मि-स्रोत में अवगाहन करने का आनंद मिलेगा और कभी शिशिर-स्निग्ध-उषालोक में सिहर उठनेवाले चैतन्य की सनसनी का अनुभव होगा। अठखेलियाँ करती हुई लहरों की तरह मणिपुरी-नर्तकों की लहरदार, घुँघराली नृत्य-भंगमाएँ बरबस हमारे हृदय को ले जाकर सुंदर प्रकृति के हृदय में लीन कर देती हैं।

असम के प्रचलित लोक-नृत्य, जो आरण्यक-जातियों में प्रचलित हैं, अति प्राचीन अनार्य-नृत्य हैं। असम में आर्यों के उपनिवेश स्थापित करने के पश्चात्, अनार्य-नृत्य असम के नवागत आर्यों में भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गए। आज का असमीया 'बिहू नृत्य', जो यहाँ के हिंदुओं में भी प्रचलित है, उन्हीं प्राचीन अनार्य आरण्यक-नृत्यों में से है।

नवीं शताब्दी के भास्कर्य (शिलालेख) में, असम में प्रचलित नृत्य-भंगिमाओं का निदर्शन पाया जाता है। हाजो, डुबि और देरगाँव के मंदिर में जिस नर्तकी के नृत्य की ओर कामाख्य-मंदिर में जिस 'देवधा' और 'देवधनी' के नृत्य की भंगमाएँ अंकित हैं, वे आज भी प्रचलित हैं। असामीया समाज में आज 'अंकीया-भावना' (एकांकी नाटक) और सूत्रधारी नृत्य का विशेष आदर देखा जाता है। इस नृत्य का संबंध वैष्णव-धर्म से प्रत्यक्ष है। कतिपय पुरानी हस्तलिखित पोथियों में भी नृत्य-गीत-परायण नर्तकी के चित्र मिलते हैं। असम में नृत्य-मुद्रा संबंधित 'श्रीहस्त-मुक्तावली' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रंथ भी मिलता है। यह ग्रथ 'शुभकर' नाम के किसी नृत्य-कला-विशारद कवि ने संस्कृत भाषा में लिखा है। खेद है यह उपयोगी ग्रंथ अब तक हस्तलिखित-अवस्था में ही पड़ा है। कामरूप-अनुसंधान समिति अपने मुखपत्र में क्रमशः इसे प्रकाशित कर रही है। सौभाग्य से इसकी एक प्रतिलिपि मेरे पास भी है। आद्यंत पढ़ने से मालूम होता है कि यह ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

सुदूर असम में भरत के 'नाट्यशास्त्र' के टक्कर का यह ग्रंथ इस प्रदेश की प्राचीन नृत्य-कला का शास्त्रीय विवेचना करता है। ६०० से ६५० ई० तक कामरूप पर कुमार 'भास्कर' वर्मा ने राज किया था।

कहा जाता है कि भास्कर वर्मा अपने युग के एक श्रेष्ठ कला-रसिक थे। नृत्य-गीत के प्रति उनका प्रबल आकर्षण था। उन्होंने आजीवन अविवाहित रहकर अपने को 'कुमार' उपाधि से विभूषित किया था। ऐतिहासकों का कहना है कि भास्कर वर्मा ने एक वेश्या को उपपत्नी बनाकर रक्खा था। उसी वेश्या के गर्भ से 'अवंती वर्मा' नाम का एक पुत्र भी हुआ, जो भास्कर वर्मा के पीछे राज-सिंहासन पर बैठा। 'कुमार' के मरने पर उनकी प्रेयसी वेश्या ने भी उन्हीं की चिता में जल कर अपने उज्ज्वल सतीत्व का परिचय दिया। भास्कर वर्मा ने उस वेश्या को केवल नृत्य-गीत की चर्चा के लिये ही रक्खा था। नृत्य-संगीत से राजा की महफिल हमेशा गरम रहती थी। चीन के प्रसिद्ध यात्री 'ह्वेन च्यांग' को भी राजा ने कामरूपी नृत्य दिखलाया था। ह्वेन च्यांग ने यहाँ की नृत्य-कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। कामाख्या में गोधूली के समय 'नृत्य-शिल्पी' का 'आरती-नृत्य' देखकर वह आश्चर्य-चकित हुआ था।

नुमलीगढ़ के देव पर्वत के ध्वंसावशेष में नटराज शिव के 'आनंद तांडव' की एक मूर्ति पाई गई है। इसके साथ वीणावाद्यरता 'पार्वती' की भी एक मूर्ति है। 'प्रलय तांडव' की एक मूर्ति 'तेजपुर' पहाड़ के ध्वंसावशेष में मिली है। वहीं हलेश्वर मौजा में एक तालाब के किनारे पाँच फीट लंबी गणेश के 'आनद नृत्य' की एक मूर्ति पाई गई है, जो भास्कर्य-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऐसी ही एक मूर्ति 'मयूरभंज राज्य' के खिसिंग में भी मिली है। आकाशी गंगा वशिष्ठाश्रम के मंदिर में

भी गणेश की एक नृत्यमान मूर्ति का संधान मिला है। तेजपुर के बामुनी पहाड़ में 'देवदासी नृत्य' की कई भंगिमाओं का निदर्शन है। कामरूप में एक समय नर्तक-नर्तकी के युग्म नृत्य का भी प्रचलन था।' 'देवदासी नृत्य' को यहाँ 'कुमारी-नृत्य', 'पुजारिणी-नृत्य' और 'मंदिर-नृत्य' भी कहते थे। वैष्णव-धर्म के आगमन के पहले यहाँ इसी 'कुमारी-नृत्य' की प्रथा थी। 'कुमारी-पूजन' के महत्त्व को आज भी यहाँ भुलाया नहीं जा सका है।

भावना-नृत्य

असम के वैष्णव संतों में इस नृत्य का प्रचार अधिक है। महापुरुष शंकरदेव स्वयं इसके उद्भावक और संस्थापक हैं। श्रीकृष्ण के जीवन वृत्तांत को लेकर 'भावना' में अभिनेता अभिनय करते हैं। यह 'नाट्य कोटि' की वस्तु है। इसमें शंकरदेव लिखित 'रुक्मिणीहरण', कालियदहन', 'पारिजात-हरण' आदि नाटक अभिनीत होते हैं। इसके नर्तक पहले से ही रंग-मंच पर नृत्य के साथ आते हैं और अंत में नाचते-नाचते ही जाते हैं। नृत्य के साथ मृदंगताल बनाए जाते हैं। अभिनय के बीच-बीच दर्शकों के मनोरंजन के लिये 'बहुआ', 'नतुआ' आदि परिहास-नृत्यों की संयोजना भी की जाती है।

मणिपुरी-नृत्य

मणिपुरी-नृत्य की उत्पत्ति के बारे में एक ऐतिह्य प्रचलित है। वह यों है—

"श्रीकृष्ण की रासलीला के पहरेदार शिवजी थे। रासलीला-समाप्त होने पर शिव कैलाश पहुँचे। पार्वती ने उनसे रासलीला दिखलाने का आग्रह किया। महादेव ने कहा 'वह एक ऐसी गुप्त लीला है, जो दुबारा खेली नहीं जा सकती।' पर पार्वती का त्रिया-हट कैसे दूर हो? न हो तो भी आफत। शिवजी बड़े पेशोपेश में पड़े। बोले—'वह तो एक ऐसी रहस्य-लीला थी, जिसमें आत्मा-परमात्मा की रहस्यमयी मिलन-लीला नृत्य द्वारा दिखलाई गई थी। उसका पुनरायोजन आसान काम नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि सभी देवी-देवता आमंत्रित किए जायें, फिर किसी निराली जगह में रासलीला मैं दिखलाऊँ।' पार्वती खुश हो गई। लीलाभूमि का चुनाव हुआ। शिव जी पार्वती के साथ 'मणिपुर' पधारे। सचमुच वैसी निराली जगह और कहाँ मिल सकती थी—पर्वत-प्राचीरों से आवेष्ठित मणिपुर गंधर्वलोक। देवी-देवता आमंत्रित किए गए। रासलीला आरंभ हुई। शिव अपनी पार्वती के साथ रंगमंच पर आए, पर शिवजी जैसी लीला दिखलाना चाहते थे, वैसी लीला दिखला न सके। उनका नृत्य 'तांडव' हो गया और पार्वती का नृत्य हुआ 'लास्य'। मणिपुरी जनता का विश्वास है कि लास्य और तांडव नृत्य की उत्पत्ति का यही कारण है।"

मणिपुर की प्राकृतिक सुरम्यता को देखकर बेचारे देवता मुग्ध हो गए। सबों ने वहीं अपना-अपना उपनिवेश स्थापित किया। सदाशिव ने गंधर्व नगरी बसा दी। आज की मणिपुरी जाति गंधर्वों की संतति मानी जाती है। गंधर्व राजाओं की परंपरा चल पड़ी। वहीं के गंधर्व राना की कुमारी लड़की 'चित्रांगदा' के अनुपम सौंदर्य पर मोहित होकर अर्जुन ने 'बभ्रुवाहन को जन्म दिया था। आज तक उसी बभ्रुवाहन की संतति मणिपुर-राज्य पर शासन करती चली आई है। वर्तमान राजा उसी वंश का है।

इसी प्रसंग में एक और आख्यायिका प्रचलित है। कहा जाता है मणिपुर के महाराज 'भगीषचंद्र' (जिन्हें महाराज जयसिंह भी कहते हैं) ने एक बार सन् १७७६ ई० के लगभग रासलीला-भूमि वृंदावन की यात्रा की। वहाँ से वे श्रीकृष्ण के प्रेम की मस्ती लेकर वापस आए। एक दिन रात को राजा ने सपना देखा। सपने में श्रीकृष्ण ने बतलाया—'राजा, अमुक जगह एक कटहल का पेड़ है। उसे काटकर मेरी एक मूर्ति तैयार कर किसी मंदिर में प्राण-प्रतिष्ठा करो और साथ ही तुम ऐसा प्रयत्न करो कि दुनिया में 'रास-नृत्य' का प्रचलन हो।' श्रीकृष्ण ने सपने में रासलीला के विभिन्न नृत्यों की तरकीबें भी बतलाई। महाराज जयसिंह ने श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन किया। सन् १७७६ ई० में

मार्गशीर्ष महीने की 'शुक्ला एकादशी के दिन स्वप्नानुसार मूर्ति स्थापित हुई। प्राण-प्रतिष्ठा के समय जो पाँच रातों तक नृत्य हुआ, वही मणिपुरी रासलीला-नृत्य का प्रारंभ माना जाता है। शिवजी ने जो रासलीला दिखलाई थी, उसे 'लाइहराउबा' कहते हैं। जयसिंह द्वारा अनुष्ठित रास-नृत्य उसी 'लाइह-राउबा' की श्रेणी का नृत्य हुआ। 'रसपन चेइथेइ' की तरह महारास-नृत्य हुआ। गीतगोविंद के अनु-सरण पर 'वसंत-रास' हुआ। इस रास-नृत्य की ये तीन अवस्थाएँ हैं।

(क) 'लाइहराउबा'

इसके संबंध में एक और अंतर कथा है। मणिपुरियों का विश्वास है कि सृष्टि के रहस्य का एक काल्पनिक रूप है। 'लाइहराउबा' या रास-नृत्य उसी का एक अंशमात्र है। मणिपुरी मानते हैं कि सृष्टि के आरंभ में 'सिदवा' नाम के एक गुरु थे। सीमाहीन, देदीप्यमान् शून्य-मंडल में वे घिरे हुए थे। अकस्मात् उस विराट् शून्य में इंद्र-धनुष-जैसी चमचमाती सतरंगी किरणें दिखाई दीं। किरणों से उत्पन्न होते ही वह इंद्र-धनुष अंधकार और आलोक के दो टुकड़ों में बँट गया। तब सदगुरु ने उसमें प्रवेश किया। उन्होंने लता-गुल्म, जन-प्राणियों से परिपूर्ण एक महान् विश्व के देखने का संकल्प किया। संकल्प के साथ ही उनके दायें कंधे से ९ पुरुष और बायें कंधे से ७ नारियाँ पैदा हुईं। सद्गुरु ने इन १६ पुत्र-पुत्रियों को सृष्टि का कार्य करने का आदेश दिया। इसी कल्पना की याददाश्त के लिये मणिपुरी लोग 'रास-नृत्य' करते हैं।

सृष्टि के इस रहस्य को लेकर 'लाइहराउबा' नृत्य के १२ प्रकार हैं। पहला रूप है—'नंदाई जो गाई'। शून्य के दो टुकड़े हो जाने का रहस्य इस नृत्य में व्यक्त किया जाता है। नाचने के समय नर्त्तक अपने हाथों को आकाश की ओर उठाकर भिन्न-भिन्न मुद्राओं द्वारा उस दो टुकड़ेवाले शून्य में सृष्टि पैदा होने की लीला दिखलाते हैं।

'लेकेन'

लेकेन-नृत्य में कटि प्रदेश वर्तुलाकार घुमाकर गोल भूमंडल की सृष्टि का अभिनय किया जाता है। लेनेत—नृत्य में पैर के अँगूठे पर खड़ा रह कर बतलाया जाता है कि पृथ्वी किसी आधार पर टिकी नहीं है। 'लेइतेइ' में महाशून्य के कई भागों में विभक्त होने की स्फुट मुद्राएँ दिखलाई हैं। 'लाइहराउबा' के १२ स्तवकों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

१. **'लेइंकोबा'**—पहले दिन का नृत्य है। इस स्तवक में पुजारी और पुजारिन दोनों आत्मा का अह्वान कर रूप-धारण करने की प्रार्थना कर नाट्य करते हैं।

२. **'हेलेवा'**—सृष्टि के प्रारंभ होने पर गुरु 'सिदवा' के महान् आनंद का नृत्य है।

३. **'अमन कथौ कोफया'**—आह्वान् के पश्चात् आत्मा के रूप धारण के उपलक्ष्य में आनंद का अभिनय है।

४. **'चौथा नृत्य'**—'पुजारिन का नृत्य' है। गुरु 'सिदवा' ने सृष्टि के किसी संकट पर एक देवी को भेजा था, उसी की स्मृति में यह नृत्य होता है।

५. **'पाँचवाँ नृत्य'**—गुरु 'सिदवा' के रुष्ट होने का नृत्य है। यह नृत्य बहुत-सी रमणियों द्वारा होता है।

६. **'छठा नृत्य'**—पुरुषों का है, जो 'सिदवा' की सृष्टि को स्थायी रूप देने के उपलक्ष्य में होता है।

७. **'परिहास नृत्य'**—यह देवी-देवताओं के पारस्परिक हास-परिहास का नृत्य है।

८. **'हेरावो'**—सबसे कठिन नृत्य है। अंग-भंगी और ताल की दृष्टि से कठिन नहीं, बल्कि इसलिये कि इसमें जरा सी भी त्रुटि हुई, कि देवता का अभिषाप पड़ा। यह 'सिदवा' के सृष्टि-संबंधी प्रयास का नृत्य है।

९. **'लेबाओ'**—कथोपकथन और अंग-भंगी द्वारा शरीर के अवयवों की रचना का नृत्य है।

१०. **'फाँगारेल'**—फाँगा का अर्थ है अग्नि। मनुष्य के पारस्परिक जीवन के आरंभ होने में 'अग्नि' की आवश्यकता को लेकर यह नृत्य किया जाता है।

११. **'ऊग्री हांजेन'**—मानव जीवन के इतिहास का यह नृत्य है।

१२. **'लाइरेल मथेक'**—(वक्र सर्प)। इस नृत्य में सर्प की गति पर सृष्टि को निर्धारित करके समाप्त किया जाता है।

'लाइहराउबा' नृत्य को संपूर्ण करने में १५ दिन लगते हैं।

पहले मणिपुर-राज्य के तीन हिस्से थे—'मोइराँ', 'खुमन' और 'मैते'। 'लाइहराउबा-नृत्य का जन्म 'मोइराँ' में हुआ था। यहीं शिव की रासलीला हुई थी। नृत्य के बीच-बीच में गान भी होता जाता है। पुरुष पगड़ी बाँधते हैं, स्त्रियाँ मेखला पहनती हैं। यह मणिपुर का शास्त्रीय नृत्य है। विभिन्न मुद्राओं द्वारा गूढ़ भावों की व्यंजना की जाती है। नृत्य की समाप्ति के दिन स्त्री-पुरुष दोनों की शोभा यात्रा होती है। लगातार दो-तीन दिनों तक स्त्री-पुरुषों में कुश्ती दंगल होता रहता है।

(ख) 'थाबल-चोंबा'

यह 'लाइहराउबा' की एक शाखा है। होली के समय रात में यह नृत्य होता है। इस नृत्य में स्त्री-पुरुष एक दूसरे का हाथ पकड़ कर मृदंग के ताल-ताल पर उछलते हुए मंडलाकृति में नाचते हैं। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं द्वारा सृष्टि के छोटे-बड़े सभी प्राणियों की गति-विधि की व्यंजना की जाती है।

(ग) संकीर्तन या गौर-लीला

यह चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित नृत्य-भंगिमा है। चैतन्य महाप्रभु के वैरागी हो जाने पर 'विष्णुप्रिया' को जो विरह हुआ था, उसी विरह की गूढ़ भावनाओं को नृत्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह चार भागों में विभक्त है—(१) निपापाला, (२) नूपीपाला, (३) निपाखुबाक इशे, (४) नूपी खुबाक इशे।

१. **निपापाला**—इसमें तीस या चालीस आदमी सिर पर विशाल पगड़ी बाँधे करताल के साथ नाचते और गाना भी गाते जाते हैं। इसमें मृदंग बजानेवाले कमाल कर देते हैं। ताल पर विशेष दृष्टि रक्खी जाती है। ताल चाहे जितना द्रुत हो, पर मजाल क्या कि एक भी मात्रा इधर-उधर हो जाय।

२. **नू ीपाला**—इसका प्रचलन कम है। औरतें करताल लेकर मृदंग के साथ नाचती-गाती हैं।

३. **निपाखुबाक इशे**—यह नृत्य रथ-यात्रा के समय होता है। नृत्य के साथ 'गीतगोविंद' के पद गाए जाते हैं। दल के दल आदमी एक से पहिनावे, एक से आभूषण पहनकर अभिनय करते हैं, तालियाँ बजाते हैं, चुटकियाँ बजाते हैं और कठिन से कठिन मुद्राएँ दिखलाते हैं। यह एक दिल दहलानेवाला मतवाला नृत्य है।

४. **नूपीखुबाक इशे**—यह महिलाओं का एक मनोहर नृत्य है। अपनी कोमलता, और मार्मिकता को लेकर यह नृत्य अपना सानी नहीं रखता। कृष्ण, कंस-वध के लिये रथ पर सवार होकर मथुरा जा रहे हैं। गोपियाँ जाने देना नहीं चाहतीं। विरह असहनीय है। वे लाख चेष्टाएँ करती हैं, पर कृष्ण नहीं मानते। रथ के घोड़े चल पड़ते हैं। गोपियाँ उन्हें रोकने के लिये रथ के आगे सड़क पर लेट जाती हैं, अपनी आलुलायित केशराशि से रथ के पहिए बाँध देना चाहती हैं। कितना करुण दृश्य है यह। इस नृत्य में यही दृश्य दिखलाया जाता है। इस नृत्य में कृष्ण की शैशव-क्रीड़ा भी दिखलाई जाती है। यह इतना करुण नृत्य है कि देखनेवालों की आँखों से बरबस आँसू ढुलक पड़ते हैं। खास कर यह नृत्य आषाढ़ और श्रावण के महीने में होता है।

(घ.) ज्ञनषेणवा

यह श्रीकृष्ण की बाल्य-लीलाओं का एक महत्त्वपूर्ण नृत्य है। फाल्गुण में इसका आयोजन होता है। तीस-चालीस गोप-साखाओं के साथ हाथ में बाँसुरी लेकर कुमार कृष्ण के नाचने की अभिव्यक्ति इस नृत्य द्वारा होती है। 'मैदान' में ही यह नृत्य दिखलाया जाता है। 'गोचारण', 'चोरी', 'असुर-बध' आदि के दृश्य नृत्य द्वारा दिखलाए जाते हैं। नृत्य में 'वात्सल्य रस' का पूर्ण समावेश रहता है। कभी-कभी रौद्र रस की रसात्मक लीलाएँ भी होती हैं। मणिपुरियों का यह बहुत प्यारा नृत्य है। साल भर में कई बार इसका आयोजन होता है। यह नृत्य विशेष कर लड़कों द्वारा दिखलाया जाता है। लड़के रंग-बिरंग की वेष-भूषा धारण करते हैं। मृदंग बजते हैं। एक गायक गाना गाता है। करताल बजानेवाले अलग होते हैं। एक सूत्रधार भी होता है। एक प्रौढ़ा स्त्री यशोदा सजती है। इनके अलावा कई महिलाएँ गोपिकाओं की भूमिका में उतरती हैं। लड़कों की पोशाक एक ढंग की होती है। नृत्य सबेरे आठ बजे शुरू होकर शाम को पाँच बजे खतम होता है।

(ङ) 'रासलीला'

यह उच्च कोटि का कलात्मक मणिपुरी-नृत्य है। पहले रासमंडल सजाया जाता है। उसकी सजावट अनुपम होती है। सारा मंडल मृन्मय प्रदीपों से जगमग हो उठता है। पहले संकीर्तन होता है। संकीर्तन के समाप्त होने पर स्त्रियाँ गोपियों के रूप में आकर मंडप के एक कोने में बैठती हैं। दो नायिकाएँ दूसरी तरफ बैठती हैं। गोपिकाओं के पास ही दो मृदंग-बजानेवाले होते हैं। नृत्य में शुरू से आखिर तक ताल-मृदंग और गाने का प्राबल्य रहता है। जब शंखध्वनि सुनाई पड़ती है, तो श्रीकृष्ण की अभिसार-यात्रा आरंभ होती है। कृष्ण का अभिनय करने वाला लड़का ९-१० साल का होता है। नृत्य में अभिसार की रहस्यमयी गूढ़ लीलाओं को देखकर दर्शक आत्महारा हो जाते हैं। मिलनकुंज में पहुँचने पर कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाने लगते हैं। साथ ही शंखध्वनि भी गूँज उठती है। तब राधा को बीच में लेकर गोपियाँ मृदु-मंथर गति से नाचती हुई कृष्ण से मिलने आती हैं। कृष्ण को सजाने के लिये फूल चुनते समय प्रधान गोपी का 'मयूरी-नृत्य' देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इसके बाद राधा कृष्ण के चरणों में पुष्पांजलि चढ़ाती है। कृष्ण उसे उठाकर जब आलिंगन करते हैं, जनता ब्रह्मानंद में डूब जाती है। उस मिलन को मणिपुरी लोग जीवात्मा-परमात्मा का मिलन समझते हैं। यह जितना पवित्र है, उतना ही उदात्त, उतना ही आह्लाद-जनक। रास-नृत्य के तीन प्रकार हैं—(१) वसंत-रास, (२) महारास और (३) नृत्तरास। वसंत-रास, वसंत ऋतु में, महारास आषाढ़-श्रावण में और 'नृत्तरास' प्रायः सदा हुआ करता है।

वस्तुतः श्रीकृष्ण के 'रासलीला-नृत्य' का जन्म मणिपुर में ही हुआ। गोपियों ने श्रीराधा की प्राण-पीड़ा की सहचरी होकर न जाने कितना रुदन-विलाप किया है, किंतु फिर भी कृष्ण का हृदय नहीं पसीजा। मणिपुर शहर या गाँव के प्रत्येक मुहल्ले में एक-एक देवमंदिर है। किसी में राधा-कृष्ण, किसी में कृष्ण-बलराम, किसी में चैतन्य-महाप्रभु के विग्रह मिलेंगे। मंदिर के सामने दिखलाई पड़ेगा एक सुसज्जित मंडप। उसी के पास नाट्य-मंदिर भी रहता है। सभा-समिति, गान-नृत्य आदि सामाजिक उत्सव उन्हीं नाट्य-मंदिरों में हुआ करते हैं।

झूलन-यात्रा और रासपूर्णिमा ये नृत्य के दो बड़े-बड़े उत्सव हैं। सुर-शिल्पियों के सुकंठ-निसृत भक्ति-विह्वल गानों से वैष्णव-धर्मावलंबी मणिपुरियों का मन उन्माद से भर जाता है। राधा के विरह-गाथा-गान के समय जन-मंडली के बीच में भावोन्मत्त नर-नारियों को सिसक-सिसक कर रोते देखकर हृदय करुणा से विह्वल हो जाता है। रास-नृत्यों में कुमारियों की रूप-सज्जा देखते बनती है।

नृत्य-नाट्य और नृत्याभिनय से जो समझा जाता है उसका पूर्ण विकास मणिपुरी नृत्य में देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण के रासलीला-नृत्याभिनय के समय रंगमंच की सजावट, गोपिकाओं

की वेशभूषा, रूपसज्जा, सिर की समाभूषित मुकुट-चूड़ाएँ, चाक-चिक्यर्तमय सुवर्ण-रंजित घाघरा आदि साज-सज्जाओं से आभूषित होकर बीस या उससे भी अधिक रास-शिल्पी जिस वक्त रंगमंच पर अपनी-अपनी गाथाओं के साथ समयोपयोगी गान माधुर्य की सृष्टि करते हैं तथा नियमित ताल और छंद के साथ नृत्य करते हैं तो यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि संसार के नृत्याभिनयों में मणि-पुरी-नृत्य का क्या स्थान है। मणिपुरी युवक-युवतियों की कला-निपुणता उनका श्रेष्ठ अवदान है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त यमलार्जुन-दृश्य : मिट्टी-गुटिका

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मोहेंजोदड़ो से मिट्टी की तीन लंबोतरी गुटिकाएँ मिली हैं, जिनमें से एक यहाँ सचित्र, प्रकाशित की जाती है। श्रीयुत 'मैके' महोदय ने अपनी सन् १९२७।३१ की खुदाई में इन्हें पाया था और अपनी पुस्तक 'फर्दर एक्सवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ो' में इनका वर्णन करते हुए इन पर अंकित दृश्य को 'यमलार्जुन-घटना' अनुमान किया है (जिल्द १, पृष्ठ ३५४।५५ : जिल्द २, प्लेट ९०, चित्र २३,२४)। आरंभ में श्री मैके के शब्दों में ही इनका प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

"फलक ९० पर चित्र २३ (डी० के० १०२३७) एक अत्यंत रोचक रक्षा-गुटिका का है जिस पर अंकित दृश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनके समझने में कठिनाई नहीं होती।

चौकोर गुटिका के दो ओर दृश्य अंकित हैं। उनके दो भाग अलग-अलग साँचों में दबाकर निकाले गए थे और बाद में जोड़ मिला कर एक कर दिए गए।

पहली ओर—शुरू में एक नए ढंग का 'गोरखधंधा' है। उस तरह का दूसरा मेरे देखने में नहीं आया, यद्यपि उसकी पेचक लगश से प्राप्त लुगल-अंदा की एक मुद्रा से मिलता-जुलता है। गोरखधंधे की रेखाओं से बाहर निकलते हुए फंदे हैं, जैसे प्रायः मोहेंजोदड़ो में नहीं मिले। इस तरह के फंदेदार पेचक प्राचीन 'सुमेर' में देखे जाते हैं और हो सकता है कि ये वहीं से भारत में लाए गए हों। अवश्य ही उनका महत्त्व रक्षात्मक या तावीज-परक था। इसके बाद चित्रात्मक लिपि के चार अक्षरों वाला कोई शब्द है, अंत में एक व्यक्ति वृक्ष-देवता के लिये कुछ चढ़ा रहा है।

दूसरी ओर—गुटिका की दूसरी ओर के दृश्य और भी रोचक हैं। बाईं ओर शुरू में एक लंबोतरा ढक्कनदार चंमू है। इस तरह के गिलास मिट्टी, ताँबे और चाँदी के बने हुए मोहेंजोदड़ो से मिले हैं।

इसके बाद के दृश्य में एक व्यक्ति पेड़ पर चढ़ा हुआ है और बाँईं ओर जमीन पर खड़ा हुआ एक बाघ गर्दन घुमाकर उसे घूर रहा है। हमारी समझ से यह भी कोई धार्मिक दृश्य है।

दाहिनी ओर के तीसरे दृश्य में दो व्यक्ति दिखाए गए हैं, जो अपने हाथों में दो उखाड़े हुए पेड़ किसी वृक्ष-देवता को बंधन-मुक्त करने के लिये पकड़े हुए हैं, अथवा जो उन वृक्षों को रोपना चाहते हैं। वृक्ष-देवता ने उनकी ओर अपने दोनों हाथ बढ़ा रक्खे हैं, जो मुद्रा उसके आशीर्वाद या प्रसन्नता को प्रकट करती है। वृक्ष-देवता की भुजाएँ गोल-गोल कड़ों से भरी हुई हैं। उन्हें पत्ते न समझ लेना चाहिए। इस दृश्य में दो वृक्षों का वैवाहिक गठबंधन मानना मुझे उपयुक्त नहीं जँचता। भारत के कई भागों में यह प्रथा प्रचलित है, पर उसमें दोनों वृक्ष अलग-अलग जाति के होते हैं।

मैं समझता हूँ कि इस दृश्य की तुलना भागवत के उस दृश्य से की जा सकती है जिसमें कुबेर के दो पुत्र 'नलवकूर' और 'मणिग्रीव' नारद के शाप से अर्जुन के दो वृक्षों के रूप में बदल गए थे और जिन्हें कृष्ण ने 'यमलार्जुनोद्धार-लीला' के द्वारा शाप-मुक्त किया था। कृष्ण-लीला की यह कथा अनुमानतः किसी अति प्राचीन कथा का अवशेष है।"

श्री मैके ने जिस दृश्य में यमलार्जुन लीला का अनुमान किया है उसकी व्याख्या भारतीय प्राचीन अध्यात्म-परंपराओं से और भी अच्छी तरह समझी जा सकती है। इनकी कुछ व्याख्या हमने अन्यत्र प्रकाशित अपने 'श्रीकृष्ण का लीला वपु' शीर्षक लेख में प्रस्तुत की है। पुराण के अनुसार नलकूवर और मणिग्रीव यक्ष-परंपरा के अंग हुए, जिसकी मान्यता जातक और पाणिनि के समय में सारे लोक-जीवन में फैली हुई थी। बुद्ध से भी पूर्व उपनिषदों और अथर्ववेद के समय में भी यक्षों और नागों की पूजा लोक-संमत थी। कुवेर इंद्र, वरुण, अर्यमा ये सब अपने-अपने क्षेत्र में महान् यक्ष समझे जाते थे। 'भरहुत' की लोक-शिल्पकला में कुवेर यक्ष (कुपिरोयखो) की एक मूर्ति भी मिली है। गीता के अनुसार यक्षों में भी कुवेर भगवान् की विभूति है। अब इसी प्रकार की जो बहुत सी विभूतियाँ कही गई हैं वे लोक में मान्य देवी-देवताओं के रूप हैं, जिन्हें सात्वत धर्म ने भगवान् के अवतार रूप में स्वीकार करके उनका समन्वय श्रुति-संमत धर्म के साथ स्थापित किया।

यमलार्जुन यक्षों की तुलना उन दो यक्षों से की जा सकती है जिन्हें 'शतपथ ब्राह्मण' में 'नाम-रूप' कहा गया है—

"अथ ब्रह्मैपरार्द्धमगच्छता तत्परार्द्धंगत्वा ऐक्षत कथंचेन्माल्लोकान् प्रत्यवेयमिति। तद्द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत् रूपेण चैव नाम्ना च॥"

—शत० ११।२।३

अर्थात्, ब्रह्म का त्रिपाद, अमृत या परार्ध-भाग तीन लोकों से बाहर निकला हुआ था, उसने सोचा किस प्रकार इन लोकों में फिर लौट कर जाऊँ। तब वह इन दो के द्वारा वापिस आया, नाम के द्वारा और रूप के द्वारा। नाम और रूप ही दो बड़े यक्ष हैं, जो हैं नहीं, पर फिर भी हुए से जान पड़ते हैं।
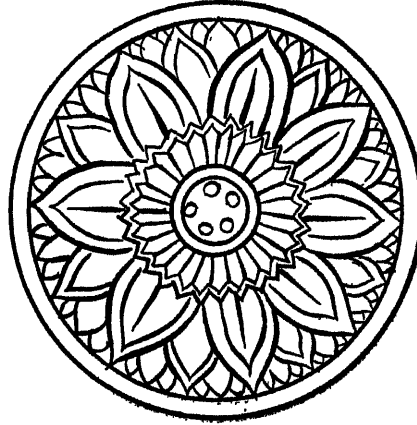
मथुरा-कला

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राचीन शूरसेन-जनपद की राजधानी 'मथुरा' भारत की सप्त महापुरियों में विख्यात है, उत्तरापथ को अलंकृत करने वाला गंगा-यमुना का जो कंठहार है, उसमें सुंदर मुक्ताफल की तरह यमुना के दक्षिण तट पर मथुरापुरी का सन्निवेश है। किसी पूर्व युग में आर्यों का लोक-संनादन चक्र पूर्व से पश्चिम तक पृथ्वी को आत्मसात् करता हुआ फैल रहा था। उस समय पाँच नदियों के वाहीक देश और गंगा-यमुना के मध्यदेश की मिलती हुई सीमाओं पर जहाँ उनके रथ का पहिया भू-मापन के लिये ठहरा होगा, वह स्थान 'मथुरा' ही हो सकता है। देश के पूर्व और पश्चिम-भागों के बीच में यातायात की जो धमनी थी, उस पर जैसी महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति मथुरा की थी, वैसी अन्य किसी नगर की नहीं। मध्यप्रदेश के पश्चिमाभिमुखी ललाट पर मथुरा सुंदर तिलक कहा जा सकता है।

यह भौगोलिक स्थिति मथुरा के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई। पूर्व और पश्चिम के समन्वय का मंत्र मथुरा के भाल पर लिख गया था। समन्वय ही मथुरा की संस्कृति का बीज है। उससे जो अंकुर पल्लवित हुए उनसे समस्त देश का हित हुआ। मथुरा के बहुविध इतिहास का अंतर्यामी सूत्र अनेक संस्कृतियों का मेल या समन्वय है, जिसके द्वारा अनेक प्रकार की विविधता को स्वीकार करते हुए जनता ने उसके भीतर से पारस्परिक प्रेम, संमिलन और एकता को प्राप्त किया। मथुरा से इतिहास और शिल्प की जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे इस समन्वय के संबंध में कई बातें स्पष्टतया ज्ञात होती हैं।

मथुरा की भूमि में पहला समन्वय भारतीय, यूनानी और ईरानी संस्कृतियों के संमिलन के रूप में हुआ। ये तीनों धाराएँ ऐतिहासिक क्रम से मथुरा में एक दूसरे के साथ टकराईं, परंतु दो-एक शताब्दियों में ही वह संघर्ष समन्वय के रूप में बदल गया और फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की मूल-धारा ईरानी और यूनानी-प्रभावों को अपने भीतर समेट कर और भी अधिक वेग से आगे बढ़ी। इस सांस्कृतिक समन्वय का स्पष्ट परिणाम मथुरा की कला में लक्षित होता है। भारतीय कला की धार्मिक सत्यता, ईरानी कला की स्पष्ट सरलता और यूनानी कला की बाह्य सुंदरता एवं मानवीय शरीर के बाहरी आकर्षण को चित्रित करने की प्रवृत्ति, इन तीन गुणों के एकत्र होने से मथुरा कला का सौंदर्य और आकर्षण निखर कर अभूतपूर्व हो गया। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी में मौर्यों के राज-संगठन के टूटने पर यूनानीराज्य-शक्ति के पीछे-पीछे यूनानी संस्कृति और कला ने भी प्रसार पाने के लिये इस देश में पैर फैलाए। लगभग सौ वर्ष बाद प्रथम शती ई० पूर्व से प्रथम शती ई० तक ईरान के शकों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी अंचल पर विशेष रूप से प्रसार पाया, पर मथुरा तक पहुँचते-पहुँचते ये दोनों कलाएँ और संस्कृतियाँ शुद्ध भारतीय संस्कृति के सामने नतमस्तक हो गईं। जान पड़ता है मानों मध्यदेश की प्राणवंत संस्कृति ने उन्हें पचा लिया हो। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियों में शक और कुषाणवंशी राजाओं का राज्य मथुरा में स्थापित हुआ, पर उससे भारतीय कला अभिभूत होनेके स्थान में और भी अधिक तेजस्वी बनकर प्रकट हुई। भारतीय कला के इस प्रभावशाली अस्तित्व के कारण ही आगंतुक शक, यवन-संस्कृति और कला की गुणमयी विशेषताएँ उसमें पच गईं। ईरानी, यूनानी, भारतीय इन तीन संस्कृतियों और कलाओं के मिलन की पहली त्रिवेणी मथुरा की समन्वय-प्रधान भूमि में प्रकट हुई।

प्राचीन भारत की तीन बड़ी धार्मिक विचार-धाराओं का संमिलन, मथुरा के इतिहास की दूसरी विशेष घटना है। ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म ये तीनों मथुरा के समन्वय-प्रधान वातावरण में कई शताब्दियों तक एक साथ मिलकर फूलते-फलते रहे। भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा दूसरा स्थान हो, जहाँ तीनों धर्मों की एक साथ इतनी भारी हलचल इतने अधिक दिनों तक एक साथ चलती रही हो। प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से लगभग पाँचवीं शताब्दी तक तीनों धर्मों के आचार्यों ने अपने-अपने अभ्युदय के लिये यहाँ भरसक प्रयत्न किया। बौद्धों के सर्वास्तिवादी, महासंघिक और धर्मगुप्तक संप्रदायों के केंद्र मथुरा में थे, यह यहाँ के शिलालेखों से ज्ञात होता है। सर्वास्तिवादी आचार्यों का जो एक समय गंधार से लेकर सारे उत्तर भारत में फैले हुए थे मथुरा ही बड़ा अड्डा था। सम्राट् कनिष्क स्वयं सर्वास्तिवादियों के पोषक थे। बौद्धों के ये विभिन्न संप्रदाय थोड़ा-थोड़ा मतभेद रखते हुए भी आपस में मिलकर रहते और मथुरा के धार्मिक जीवन में चहल-पहल बनाए रखते थे। इसी प्रकार जैनधर्म के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि मथुरा के देव-निर्मित जैन-स्तूप में जैन-संघ के अनेक गण, शाखाएँ और कुल मिलकर विद्या और धर्म की उन्नति के लिये काम कर रहे थे।

ब्राह्मण धर्म का मथुरा के साथ संबंध भगवान् कृष्ण के युग से था। मथुरा में प्राप्त जो पुरातत्त्व की सबसे पुरानी सामग्री है, उससे इतनी बातें तो निश्चित रूप से जान पड़ती हैं कि प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से मथुरा ब्राह्मण-धर्म का एक बड़ा केंद्र बन गया था। मथुरा से लगभग ढाई सौ मील दक्षिण में स्थित बेस नगर में यवन राजदूत हेलियोदोर ने भगवान् वासुदेव का 'गरुड़ध्वज' स्थापित किया। बेस नगर के पास ही साँची में मथुरा के लाल पत्थर की बौद्ध-मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मथुरा का प्रभाव-क्षेत्र वहाँ तक विस्तृत था। पश्चिम की ओर राजपूताने के 'घोसूंडी' नामक गाँव से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ संकर्षण और वासुदेव के मंदिर थे। स्वयं मथुरा में वासुदेव के एक मंदिर की सिरदल पर लिखा हुआ शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो शोडास के राज्य-काल (प्रथम शती ई० पूर्व) का है। इससे सिद्ध होता है कि वासुदेव और संकर्षण की भक्ति पर आश्रित भागवत-धर्म का प्रभाव मथुरा से लेकर पश्चिम में चित्तौड़ और दक्षिण में साँची-भेलसा तक के बड़े प्रदेश में फैला हुआ था। समय के साथ यह प्रभाव बराबर बढ़ता गया और धार्मिक जीवन के जो उपयोगी तत्त्व हैं उन्हें साथ समेटकर भक्ति-प्रधान भागवत धर्म के रूप में प्रकट हुआ। परम-भागवत गुप्त राजाओं के समय में धर्म का यह रूप बहुत अधिक विस्तार और प्रभाव को प्राप्त हुआ। जान पड़ता है कि भागवत धर्म के निर्माणकारी तत्त्वों ने सहिष्णुता और समन्वय के प्रचार में सबसे अधिक योग दिया। इनकी छाप संभवतया महायान-बौद्ध-धर्म पर भी पड़ी, जो सर्वथा भक्ति-प्रधान और लोक-संग्रह का समर्थन करनेवाला मार्ग था। न केवल ब्राह्मण, जैन और बौद्ध इन तीन धर्मों को हम मथुरा की भूमि में पनपते हुए देखते हैं, बल्कि ब्राह्मण-धर्म के अंतर्गत भी जो शैव और वैष्णवों के भेद हैं, उन दोनों ने भी मथुरा को अपना केंद्र बनाया। शैव और उनके भेद पाशुपत धर्म की महत्त्वपूर्ण सामग्री मथुरा के पुरातत्त्व में पाई गई है।

तीन प्रधान भारतीय धर्मों का विचार केंद्र होने के कारण यह स्वाभाविक है कि मथुरा में जिस शिल्पकला का निर्माण हुआ उसको इन धर्मों से प्रेरणा मिली। मथुरा-कला—ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध धर्म और जैन-धर्म इन तीनों धर्मों से अनुप्राणित है। उन धर्मों के माननेवालों की जो भक्ति-भावनाएँ थीं, उनकी स्पष्ट व्याख्या आज तक हम उन मूर्तियों के रूप में अंकित देखते हैं जो मथुरा में मिली हैं। यद्यपि शैली की दृष्टि से मथुरा-कला का अखंड व्यक्तित्व है, फिर भी धार्मिक भेदों के अनुसार मथुरा की शिल्प-सामग्री के तीन विभाग सरलता से हो जाते हैं—

"बौद्ध, जैन और ब्राह्मण।"

मथुरा के भक्ति-प्रधान वातावरण का ही यह फल मालूम होता है कि इतने विभिन्न तत्त्व एक साथ मिलकर यहाँ रह सके और एक समन्वय-प्रधान संस्कृति का निर्माण करने में समर्थ हुए।

पारस्परिक सद्भाव की नींव पर विकसित उस समन्वयात्मक संस्कृति ने गुप्तकाल में समस्त देश में फैलकर राष्ट्रीय संस्कृति का ही रूप धारण कर लिया। आज तक वही सहिष्णुता-प्रधान विचार-धारा भारतवर्ष की मूल संस्कृति के रूप में देश में व्याप्त है।

मध्यदेश की यह समन्वयात्मक संस्कृति ही हमारी राष्ट्रीय संस्कृति है। भेदों को मिलाकर एक करने की इसमें अद्भुत विशेषता है। भारतवर्ष के धार्मिक, सांस्कृतिक और शिल्प-स्थापत्य संबंधों के इतिहास में मथुरा का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण यहाँ से प्राप्त शिल्प की सामग्री में मिलता है। अतएव मथुरा की 'शिल्प-कला' का विशेष अध्ययन आवश्यक है। उससे अपने प्राचीन सांस्कृतिक विकास को समझने में सहायता मिलती है।

संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय

पुराणों की अनुश्रुति के अनुसार मधु नाम के असुर ने एक पुरी की स्थापना की थी, जो उसके नाम से 'मधुपुरी' कहलाई। उसका पुत्र लवणासुर हुआ। मधु के नाम से अभी तक मथुरा से लगभग चार मील हटकर 'महोली' नाम का गाँव बसा हुआ है और उसी के पास लवणासुर से संबंधित 'नोनासुर की गुफा' भी बताई जाती है। लवणासुर को परास्त करके शत्रुघ्न ने वर्तमान मथुरापुरी की स्थापना की। संभवतः इस अनुश्रुति के पीछे निषाद-संस्कृति-संबंधी प्रागैतिहासिक इतिहास का सत्य छिपा है। लवणासुर की राजधानी ही पीछे चलकर मथुरा या मधुपुरी नामक आर्य-सन्निवेश बनी। उच्चारण-भेद से 'मधुरा' ही 'मथुरा' कहलाई। जैन और बौद्ध-ग्रंथों में इसका नाम 'मधुरा' या 'महुरा' ही पाया जाता है।

मथुरा के इतिहास की दूसरी बड़ी घटना भगवान् कृष्ण का जन्म है, जिसके कारण यह पुरी अमर हो गई।

महाभारत के बाद महाजनपदों के युग में मथुरा के इतिहास पर प्रकाश की किरणें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। छठी शती ई० पूर्व में मथुरा का संबंध 'अवंति' के राजघराने से था। अवंति के राजा प्रद्योत की एक कन्या वासवदत्ता वत्सराज उदयन को ब्याही थी। दूसरी कन्या का विवाह मथुरा के राजा के साथ हुआ था। इस प्रकार मथुरा का राजा अवंति-पुत्र वासवदत्ता की बहिन का लड़का था। माधुरिय सुत्तंत के अनुसार अवंति-पुत्र ने बुद्ध के शिष्य महाकात्यायन से मथुरा के गुंदवन में भेंट की। बुद्ध के दूसरे शिष्य महाकाश्यप की स्त्री भद्रा कपिलानी मथुरा की ही थीं। यद्यपि त्रिपिटक सूत्रों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता कि भगवान् बुद्ध ने मथुरा में निवास किया हो, फिर भी एक बार हम उन्हें मथुरा और 'वेरंजा' के रास्ते पर जाते हुए देखते हैं। संभावना तो यही है कि शूरसेन जैसे महाजनपद की राजधानी को भगवान् बुद्ध ने अपनी दीर्घकालीन यात्राओं में अवश्य देखा होगा। बाद की बौद्ध-अनुश्रुति बुद्ध की मथुरा-यात्रा को निश्चित रूप से मानती है। दिव्यावदान के अनुसार बुद्ध ने यह भविष्य वाणी की थी कि आगे चलकर मथुरा बड़ी नगरी होगी (पृ० ३४७)।

पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों में मथुरा का नाम नहीं है, किंतु—"**वरणादिभ्यश्च**" (४।२।८२) सूत्र के गणपाठ में मथुरा की भी गणना है।

मौर्य काल में मथुरा का बौद्ध-धर्म के साथ विशेष संबंध हुआ। शोणवासी नामक आचार्य ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये एक विहार की स्थापना की जिसका नाम 'नटभट विहार' था। इस आचार्य के शिष्य मथुरावासी उपगुप्त ने सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। कहा जाता है कि अशोक ने मथुरा में बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के नाम से कई बड़े स्तूप बनवाए थे, जिनका वर्णन चीनी यात्री य्युआन चुआङ ने किया है।

शुंग काल में मथुरा के महत्त्व का कुछ आभास पतंजलि के नम्नलिखित उदाहरणों से चलता है—

"सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति। सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुराः अभिरूपतरा इति ॥"

—महाभाष्य ५।३।५७

अर्थात्, सांकाश्य के नागरिकों से पाटलिपुत्र के निवासी अधिक सुंदर हैं। एवं मथुरा के नागरिक सांकाश्य और पाटलिपुत्र दोनों स्थानों के नागरिकों से शोभा में बढ़चढ़ कर हैं।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के लगभग मथुरा पर क्षहरातवंशी शकों का अधिकार हुआ। उन महाक्षत्रप रञ्जुवुल और उसके पुत्र महाक्षत्रप शोडास के नाम ज्ञात हैं। सिक्कों से क्षत्रप हगामश का नाम भी मिलता है। क्षहरात शकों के बाद मथुरा में कुछ समय के लिये दत्त-वंश का अधिकार हुआ जिस के राजाओं के नाम के सिक्के मथुरा में पाये गए हैं। शकों के सिक्कों से ही मिलते-जुलते कुछ और सिक्के मथुरा में और उसके आस-पास मिले हैं, जो 'राजन्य जनपद' (राजञ जनपदस) के हैं।

इसके बाद मथुरा के इतिहास में एक भारी परिवर्तन हुआ और ईस्वी सन् के प्रारंभ के लगभग शक-वंशी राजाओं ने मथुरा को किसी तरह अपने अधिकार में चाँप लिया। इन राजाओं की तालिका इस प्रकार है—

कदफ प्रथम (कुजुल कर), कदफ द्वितीय (वेमतक्षम) इन दोनों राजाओं ने प्रथम शताब्दी के आरंभ से ७८ ई० तक राज्य किया।

कनिष्क,	७८	ई०	से	१०२	ई०	तक,
वासिष्क,	१०२	ई०	से	१०६	ई०	तक,
हुविष्क,	१०६	ई०	से	१३८	ई०	तक,
वासुदेव,	१३८	ई०	से	१७६	ई०	तक,

ये सम्राट् शकों की कुशाण शाखा से संबंधित होने के कारण कुषाणवंशी कहलाते हैं। वासुदेव के राज्यकाल के बाद भी उत्तरकालीन कुषाणों की शाखा चलती रही, अतएव मथुरा के इतिहास में ईसा की आरंभिक शताब्दियों का समय 'शक-कुषाण'-काल के नाम से प्रसिद्ध है। कला की दृष्टि से पहली-दूसरी शताब्दी का समय मथुरा का स्वर्ण-काल माना जाता है। इस समय की कला ने नव निर्माण की अद्भुत शक्ति प्रदर्शित की। कुषाणकालीन शिल्पकला में नेत्र और मन दोनों को प्रसन्न करने की अद्भुत क्षमता और पर्याप्त सामग्री है। तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक का प्रदेश कुषाण सम्राटों के राज्य विस्तार या राजनैतिक प्रभाव के अंतर्गत था। मथुरा उस प्रभाव का सबसे बड़ा मध्यवर्ती केंद्र था।

मथुरा के शिल्पियों ने इस समय कला के क्षेत्र में बड़ा साका किया। उन्होंने जिस नई शिल्पकला-शैली को जन्म दिया वह उत्तरी भारत में सर्वत्र फैल गई। मथुरा की बनाई हुई बौद्ध-मूर्तियाँ और शिल्प के अन्य उदाहरण साँची, सारनाथ और श्रावस्ती जैसे दूर के स्थानों में पाए गए हैं।

कुषाणों के बाद लगभग ३०० ई० से ६०० ई० तक का समय 'गुप्त-युग' कहलाता है। मथुरा-कला की परंपरा गुप्त-युग में और भी विस्तृत हुई। परम भागवत महाराजाधिराज श्री चद्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल के दो लेख मथुरा से मिले हैं। गुप्तों का मथुरा के साथ घनिष्ट संबंध ज्ञात होता है। ४०० ई० के लगभग चीनी यात्री फाहियान मथुरा में आया था। उस समय उसने मथुरा के चारों ओर के प्रदेशों को मध्यदेश कहा है। चंद्रगुप्त के समय में मथुरा सचमुच मध्य-देश की संस्कृति का केंद्र था। उस समय यहाँ बौद्ध और जैन-विहारों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के भी कई देव-मंदिर थे। विष्णु आदि देवताओं की उपलब्ध गुप्त-कालीन प्रतिमाओं से यह बात सिद्ध होती है। सातवीं शताब्दी के लगभग मथुरा की शिल्पकला का प्रवाह मंद पड़ जाता है। उसमें न तो जीवन की दृष्टि से नवीन कल्पना करने की शक्ति दिखाई देती है और न कला की दृष्टि से ही कोई विशेषता रह जाती है। शिल्पी मानों ललित कला का संदेश भूल जाते हैं और कुछ गिने-गिनाए लक्षणों के अनुसार स्फूर्ति-हीन मूर्तियों का निर्माण कर संतोष मान लेते हैं। मथुरा में सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी का समय कला-निर्माण की दृष्टि से शून्य है। उसमें किसी प्रकार से विचित्र नई प्रतिमाओं के दर्शन नहीं होते। उस युग में कला-निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केंद्र

मथुरा से बाहर अन्यत्र स्थापित हो जाते हैं, एवं मध्यकालीन शिल्पकला की बागडोर उनके हाथ में चली जाती है।

बुद्ध की मूर्ति

मथुरा-कला की सबसे बड़ी विशेषता बुद्ध की मूर्ति का निर्माण है। बुद्ध की मूर्ति का आविष्कार कुषाण-काल के आरंभ में प्रथम शती ई० के लगभग हुआ। इससे पहले शुंग काल की कला में बुद्ध का चित्रण मनुष्य रूप में नहीं पाया जाता। भूपाल के निकट साँची नामक स्थान में और मध्यभारत की नागोद रियासत के भरहुत नामक स्थान में शुंग-कालीन कला के दो बड़े केंद्र पाए गए हैं। साँची और भरहुत की कला भारतीय बुद्ध-कला में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वहाँ के स्तूपों की चहर दीवारी के खंभों (वेदिका स्तंभों) पर और तोरणों पर बुद्ध की जीवन-घटनाएँ और उनके पूर्व जन्म की कथाएँ जिन्हें 'जातक' कहते हैं, अनेक प्रकार से अंकित की गई हैं। उन सब में बुद्ध का चित्रण केवल प्रतीक रूप में दिया गया है। बुद्ध के प्रतीक की कल्पना कई प्रकार के चिन्हों द्वारा की गई है। उदाहरण के लिये बोधगया में संबोधि प्राप्त करनेवाले बुद्ध के प्रदर्शन के लिये बोधिवृक्ष का संकेत काम में लाया गया है। सारनाथ में उपदेश देते हुए बुद्ध का चित्रण धर्मचक्र अंकित करके बताया गया है। बुद्ध ने जो धार्मिक उपदेश सारनाथ में दिया था, उसे बौद्ध-साहित्य में धर्मचक्र-प्रवर्तन कहा गया है। इस घटना के चित्रण के लिये धर्मचक्र सुंदर और उपयुक्त चिह्न समझा गया। इसी प्रकार बुद्ध के परिनिर्माण का संकेत चिह्न स्तूप था। कहीं-कहीं पर बुद्ध की चरण-पादुका की छाप भी चिह्न रूप में प्रयुक्त हुई है। बोधि वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, चरण-पादुका, उष्णीष, बोधिमंड, भिक्षापात्र आदि चिह्नों के द्वारा बुद्ध को व्यक्त करने की युक्ति भरहुत, साँची, बोधगया की कला में प्रयुक्त हुई है।

अशोक (तीसरी शताब्दी ई० पू०) के समय से लेकर शक राजाओं के आने तक जो बीच का काल है उसमें बौद्ध-कला ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये विलक्षण कार्य किया। शुंग कालीन तोरण और वेदिका, प्राचीन भारतीय कला के महाकोश की तरह हैं, जिनमें प्राचीन जीवन का अनेक प्रकार से चित्रण हुआ है, पर केवल सांसारिक जीवन का चित्रण उस कला का उद्देश्य न था, उसकी मूल भावना बौद्ध-धर्म से प्रेरित है। बुद्ध के महान् जीवन की अनेक रोचक घटनाओं को शिल्प में गूँथने पर भी कहीं बुद्ध को मूर्ति रूप में व्यक्त करने की आवश्यकता शिल्पी को नहीं जान पड़ी। यह बात नहीं है कि शुंग-कला में मनुष्य की मूर्तियों का बिलकुल अभाव हो। वह कला अनेक प्रकार के यक्ष, नाग, मनुष्य, राजा और तपस्वियों की मूर्तियों से भरी पड़ी है। जो शिल्पी अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी मानवीय मूर्तियाँ बना सकते थे, उन्होंने बुद्ध-मूर्ति का निर्माण क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का सच्चा उत्तर 'थेर वाद' की धार्मिक भावना में ही पाया जाता है। हीनयान की मूल विचारधारा नकारात्मक थी। व्यक्ति का निर्वाण में पहुँचना जीवन का अंतिम लक्ष्य समझा जाता था। निर्वाण तक पहुँचने के लिये ही बीच के जीवन की हलचल है। जो बुद्ध एक बार निर्वाण स्थिति में जा चुके हैं, उनका संपर्क स्थूल मूर्तभूतों के साथ से किसी तरह हो ही नहीं सकता। बुद्ध की मूर्ति की कल्पना प्रचलित धार्मिक भावना पर सबसे बड़ा कुठाराघात होता। शास्ता का पंच भौतिक शरीर जब एकबार विशीर्ण हो गया तब तीन लोक और तीन काल में भी उसके उस दिव्य रूप का दर्शन असंभव है। देवता और मनुष्यों में कहीं भी कोई उसे फिर नहीं देख सकता। इस भावना के समर्थन में सबसे प्रामाणिक वचन भगवान् बुद्ध के मुख से ब्रह्मजाल सूत्र में कहलाया गया है—

"उच्छिन्नभवनेमित्तिको भिक्खवे तथागतस्स कायो तिट्ठति। यावस्स कायो ठस्सति ताव नं दक्खिंति देव मनुस्सा। कायस्स भेदा उद्धं जीवित-परियादाना न दक्खिंति देवमनुस्सा।"

—दीघनिकाय-ब्रह्मजाल सुत्त २।३।२३।

अर्थात् 'ऐ भिक्षुओ, तथागत का स्थूल शरीर तुम्हारे सामने है, पर जो उसको फिर भव-बंधन में बाँधने का कारण है वह कट चुका है। जब तक उसकी यह काया ठहरेगी तभी तक देवता और मनुष्य उसे देखेंगे। काया के नष्ट होने पर जीवन की परिसमाप्ति के बाद, न उसे देवता देख पायँगे न मनुष्य।'[१]

निर्वाण पर अधिक से अधिक गौरव देने का अर्थ ही मूर्तरूप का सर्वथा निराकरण है। निर्वाण किसी भी प्रकार के भौतिक और अभौतिक संस्थान को सहन नहीं कर सकता। यह विचार-धारा पूरे वेग के साथ आरंभिक बौद्ध धर्म को प्रेरित कर रही थी। इसी कारण हम देखते हैं कि लगभग तीन शताब्दियों तक कला का निर्माण करते रहने पर भी शिल्पियों को बुद्ध की मूर्ति बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। उस युग के इस मूल धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता थी।

बुद्ध-मूर्ति का निर्माण पहले मथुरा में हुआ या गंधार में, इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। बहुधा यूरोपीय विद्वान् इस पक्ष में हैं कि यूनानी कला के प्रभाव से गांधार-कला में पहले-पहल बुद्ध-प्रतिमा का आविष्कार किया गया, उसी की देखा-देखी मथुरा के शिल्पियों ने भी बुद्ध की मूर्ति गढ़ डाली। भारतीय विद्वान् जिनमें श्री 'कुमार स्वामी' अग्रणी हैं, बुद्ध-मूर्ति की सर्वप्रथम रचना मथुरा में मानते हैं;[२] उनके अनुसार मथुरा की कला में बुद्ध-मूर्ति को बनाने के सारे तत्त्व और सूत्र वर्तमान थे। वस्तुतः प्रश्न गंधार के शिल्पियों की सामर्थ्य और मथुरा के शिल्पियों की असामर्थ्य का नहीं है, जैसा कि श्री फूशे मानते हैं। मथुरा के शिल्पी अच्छी से अच्छी यक्ष-मूर्ति बना ही रहे थे, तब बुद्ध-मूर्ति बनाने में उनकी अयोग्यता की दलील में क्या सार है? असली बात यह है कि जब तक बौद्ध-धर्म की ऊपर कही हुई मूल विचार-धारा में क्रांतिकारी परिवर्तन पूरा न हो लेता तब तक बुद्ध के अनुयायी किसी प्रकार मूर्ति का स्वागत करने के लिये तैयार न थे। यदि गंधार के कुछ शिल्पी बुद्ध की प्रतिमा बना भी लेते तो भी मथुरा के कलाकार उसका ग्रहण कभी न करते, यदि मथुरा के बौद्धों के हृदयों में उसके लिये धर्मानुमोदित स्वागत की भावना उत्पन्न न हुई होती। हीनयान की निर्वाण-प्रधान विचार-पद्धति में सर्वप्रथम मौलिक क्रांति की आवश्यकता थी, जिससे बुद्ध की मूर्ति को अंगीकार किया जा सकता।

विचारों के इस परिवर्तन का श्रेय भागवत-धर्म को है, जिसका अशोक मौर्य के बाद प्रति-क्रिया-रूप में दूसरी पहली शती ई० पू० में विकास हुआ। शुंगों के राज्य-काल में उत्तरी भारत में वैदिक यज्ञ-प्रधान कर्मकांड ने भागवत-धर्म के साथ मिलकर हिंदू-धर्म का एक नया लोक-ग्राह्य रूप सामने रक्खा। स्वयं पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था और उसी के समय में पतंजलि ने महाभाष्य में 'कृष्ण' और 'संकर्षण' का उल्लेख किया है—

"संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।"

अर्थात्, संकर्षण के साथ कृष्ण की सेना की जय हो। पतंजलि ने यह भी लिखा है कि 'कंसवध-नाटक' का अभिनय उनके समय में होता था (भाष्य २।३६)। केशव और राम के मंदिरों का भी भाष्य में उल्लेख है—'प्रासादे धनपति राम केशवानाम्',(भाष्य २।४३६)। नगरी (प्राचीन मध्यमिका) से मिले हुए लेख से (जिसकी एक प्रति घोसुंडी गांव में भी मिली थी) अश्वमेधयाजी भागवत राजा

१. श्री अर्धेंदुकुमार 'गांगुली कृत—'दी ऐंटीक्विटी ऑव दी बुद्ध इमेज', दी कल्ट ऑव दी बुद्ध, पृ०४३ (औस्ट आसियाटिशे त्साइतश्रिफ्ट, भाग १४)।

२. आनंदकुमार स्वामी—'दी ओरिजिन ऑव दि बुद्ध इमेज', आर्ट बुलेटिन (१९२७) ६। २८७-३१७, चित्र २-६७।

सर्वतात के द्वारा स्थापित संकर्षण और वासुदेव की पूजाशिला के चारों ओर बनी हुई पत्थर की 'वेदिका' (पूजा-शिला-प्राकार) और 'नारायण वाटिका' का स्पष्ट उल्लेख है।[1] बेसनगर में महाराज भागभद्र की सभा में समागत यवन-दूत भागवत हेलिओदर ने वासुदेव के प्रासादोत्तम के संमुख एक गरुड़ध्वज स्थापित किया। भेलसा से प्राप्त एक दूसरे लेख में महाराज भागवत के बारहवें वर्ष में भगवान् के प्रासादोत्तम में गरुड़ध्वज की स्थापना का वर्णन है। मथुरा के एक तोरण पर उत्कीर्ण लेख में महाक्षत्रप शोडास के समय में भगवान् वासुदेव के महास्थान में तोरण, वेदिका और चतुःशाल की स्थापना का उल्लेख है। शोडास के समय में ही 'मोरा' नामक गाँव से मिले एक लेख में पाँच वृष्णि वीरों की मूर्तियों के एक मंदिर (शैलदेव गृह) में स्थापित किए जाने का वर्णन है। सौभाग्य से वृष्णि वीरों की पाँच प्रतिमाओं में से तीन खंडित प्रतिमाएँ भी मिली हैं। यह सब प्रमाण-सामग्री प्रथम शती ई० पूर्व की है। इससे यह ज्ञात होता है कि भागवत धर्म राजस्थान-मथुरा-भेलसा के प्रदेश में एक लोक-व्यापी आंदोलन के रूप में फैल रहा था। भक्ति का आदर्श लोक-संग्रह की भावना के साथ मिलकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न कर रहा था। इस विचार-धारा ने जनता को दूर तक प्रभावित किया। आनेवाले युग का धर्म व्यक्तिगत देवता में केंद्रित भक्ति के रूप में परिणत हुआ, परंतु यह भक्ति अपने आपको देवता में लीन करके केवल अपने लिये मोक्ष प्राप्त करने का उपाय न था। यह एक सामूहिक कल्याण का धर्म था, जिसके मूल में कर्म और लोक-संग्रह की भावना बहुत प्रबल थी। इस दृष्टिकोण का प्रभाव देश के सब संप्रदायों और धर्मों पर पड़ा। बुद्ध के प्राचीन धर्म पर इस भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, जो प्रथम शती ई० में महायान संप्रदाय के रूप में प्रकट हुआ। महायान-धर्म भागवत-धर्म का बौद्ध रूपांतर कहा जा सकता है। इन दोनों धर्मों की समान विशेषताएँ थीं। गृहस्थ-आश्रम की महत्ता, व्यक्तिगत कल्याण की अपेक्षा सामूहिक लोक-हित या सर्वजन-हित भावना, एवं भक्ति इस क्रांति में बौद्धों के संप्रदायों ने आगे बढ़कर भाग लिया। महायान का दृष्टिकोण व्यक्ति के निर्वाण से हटकर 'सर्व सत्वों के हित सुख' (सब जीवों के कल्याण) पर केंद्रित हुआ।

"सर्व सत्वानां हित सुखाय, सर्व सत्वानां हित सुखार्थम्।"

यह वाक्य बहुधा कुषाण-कालीन बुद्ध-मूर्तियों की चौकी पर खुदा हुआ मिलता है। समाज के हित की भावना ज्ञान--प्रधान निर्वाण धर्म से तृप्त न होकर भक्ति-प्रधान-धर्म की ओर प्रवृत्त हुई। बुद्ध के जिस भौतिक शरीर को लोग सदा के लिये नितांत असुलभ और कल्पना से बाहर समझते थे, उसके दर्शन की उन्हें हर समय आवश्यकता जान पड़ने लगी। निर्वाण का मार्ग मन को शून्य करता हुआ जीवन को रीता बना देता है। सामाजिक कल्याण का मार्ग मानवी जीवन को चारों ओर से भरा-पूरा देखना चाहता है। समृद्ध जीवन की खोज में बुद्ध का अपना जीवन ही लोगों को सबसे बड़ा आदर्श जान पड़ा। जनता की दृष्टि में बुद्ध का जन्म, कुल, शरीर, अलंकरण, वेष, मुद्रा सब लोकोत्तर सौंदर्य और आकर्षण से भरे हुए दिखाई दिए। बुद्ध के सारे निर्गुण-विचारों का सगुण प्रतीक उनका अपना शरीर ही तो था। बुद्ध का वह भौतिक स्वरूप नाश या निराकरण के लिये न था, वह तो सांनिध्य, साक्षात्कार और स्वागत की वस्तु थी। जनता के मन का सामाजिक आदर्श बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन में केंद्रित हुआ। व्यक्ति के लौकिक जीवन का प्रतिमान बुद्ध का जीवन बना और बुद्ध के जीवन के प्रति लोक का मानस नए उत्साह और उमंग से उमड़ पड़ा।

सम्राट् कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित' उसी सार्वजनिक माँग की साहित्यिक पूर्ति थी। कनिष्क के समय में निर्मित बुद्ध की पाषाण-मूर्ति उसी माँग का कलात्मक उत्तर

१. कारितो यं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरी पुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्-भयां संकर्षण वासुदेवाभ्यां अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारे---'नारायण वाटिका'।

था। अश्वघोष का काव्य ठेठ भारतीय है, उसके सारे उपकरण इसी देश के थे, और वे जनता के जाने-पहचाने हुए थे। ठीक उसी प्रकार बुद्ध की मूर्ति भी ठेठ भारतीय थी। जब हम बुद्ध-मूर्ति के उपकरणों को देखते हैं तो उनकी भारतीयता स्पष्ट हो जाती है। पद्मासन, ध्यान-मुद्रा या अभय-मुद्रा, नासाग्र-दृष्टि, योगी की प्रशांत मुखाकृति, भ्रुकुटि के बीच का मध्यबिंदु या ऊर्णा, उष्णीष, एकांसिक उत्तरीय, हाथ पैरों में अंकित धर्मचक्र, त्रिरत्न आदि महापुरुष-लक्षण, कुषाण-कालीन बुद्ध-मूर्ति के ये ही मुख्य उपकरण हैं। इनमें से किस अंश को हम बाहर से उधार लिया हुआ कहें? इनमें से प्रत्येक की परंपरा भारतीय है। अश्वघोष ने बुद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है—

"महर्षि असित ने धात्री की गोद में आश्चर्य-चकित होकर बालक बुद्ध के दर्शन किए। उनके पैरों के तलुवों पर चक्र-चिह्न था, हाथ और पैर की अंगुलियाँ त्वचा से जुड़ी हुई थीं। भौंहों के बीच में रोंए का आवर्त या उर्णा का निशान था; उनके वृषण-कोश हाथी की तरह गुप्त थे।"[1]

कुषाण-काल से पुराने बौद्ध या संस्कृत-साहित्य में भी इन उपकरणों का अस्तित्व प्राप्त होता है। बुद्ध योगी थे, बोधगया में समाधि और ध्यान के द्वारा उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था। योगी बुद्ध की मूर्ति की कल्पना विदेशी परिभाषाओं की सहायता से बननी संभव ही नहीं है। प्रथम शती ई० पू० की धार्मिक पृष्ठभूमि और बुद्ध-मूर्ति के उपकरण दोनों इसी बात का संकेत करते हैं कि बुद्ध-मूर्ति भारतीय धार्मिक विकास की स्वाभाविक देन है। वह विदेशी यूनानी विचार-धारा या कला से प्राप्त कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

गंधार-कला में जो उपलब्ध सामग्री है, उससे भी इस प्रश्न पर सचाई के साथ विचार करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार के विवाद में पुरातत्व की साक्षी वस्तुस्थिति को निश्चित करने का सबसे प्रबल साधन मानना चाहिए। गंधार-कला में अभी तक एक भी बुद्ध की मूर्ति ऐसी नहीं मिली जिसे हम निश्चय के साथ कुषाणों से पूर्व की कह सकें। प्रथम तो गांधार-कला की बुद्ध-मूर्तियों में निश्चित संवत् या तिथि में उत्कीर्ण मूर्तियों की संख्या बहुत ही कम है। श्री स्टेन-कोनो के खरोष्ठी लेख संग्रह में केवल तीन मूर्तियों पर संवत् पाए गए हैं—

"लोरियाँ तागें की मूर्ति संवत् ३१८ (लेख ४०)। हश्त नगर की मूर्ति सं० ३८४ (लेख सं० ५३)। स्कार ढेरी की मूर्ति सं० ३९९ (लेख ६०)।"

यह गणना पुराने शक-संवत् के अनुसार मानी गई है, जिसका आरंभ डा० स्टेनकोनो के मतानुसार ई० पूर्व ८८ के लगभग हुआ। इस प्रकार ये मूर्तियाँ तीसरी-चौथी शताब्दी ई० की हैं और इनसे गांधार-मूर्ति के पौर्वापर्य का निर्णय करने में हमें कुछ सहायता नहीं मिलती। स्टेनकोनो ने इस प्रश्न पर पूरी तरह विचार करते हुए लिखा है कि 'गंधार-कला[२] में सन्-संवत् वाली बुद्ध की मूर्तियाँ बहुत बाद की हैं। 'टार्न' के अनुसार गंधार की कला-शैली कुषाणों के बाद शुरू होती है।'[२]

[1]. **चक्रांकपादं स तथा महर्षिर्जालावनद्धांगुलिपाणि पादम्।**
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श॥
—बुद्धचरित १।६५

२. All dated statues of Buddha are very late in Gandhāra.... The Gandhāra school begins after the Kushāna period. (Tarn, *Greeks in Bactria and India*, p. 399).

कार्डरिंग्टन का मत है कि फूशे के तिथि-क्रम में एक भी तारीख दृढ़रूप से निश्चित नहीं है जिससे हम बुद्ध-मूर्ति को गंधार से आई हुई कह सकें। स्वयं गंधार-कला को मथुरा से पहले मानने का कोई भी कारण नहीं है।[1]

'हर्जफील्ड' के मतानुसार भी गंधार-कला के अवशेष बाल्हीक के यूनानी राजाओं से कई शताब्दी बाद के हैं।[2]

कला की शैली की दृष्टि से मथुरा-कला में जो श्री या सौंदर्य है, वैसी उत्कृष्ट शोभा का गंधार-कृतियों में नितांत अभाव है। गंधार-कला भारतीय-कला का श्री-हीन रूप जान पड़ती है। मथुरा की स्मित वदन कुषाणकालीन बोधिसत्व-मूर्ति (मथुरा संग्रहालय ए १) की तुलना में रखने के लिये एक भी मूर्ति गंधार-शैली के पास नहीं। मथुरा की वेदिकाओं पर जो 'शालभंजिका' रूप में स्त्रियों की विविध मूर्तियाँ हैं, गंधार-कला में उसी मुद्रा की स्त्री-मूर्तियाँ नौसिखियों की हथौटी से निकली हुई जान पड़ती हैं। विविधता, मौलिकता और रूप-विधान की दृष्टि से मथुरा-कला को कुबेर का कोष कहें तो गंधार-कला रंक की कौड़ी-सी लगती है। मथुरा का शिल्प-सौंदर्य उसकी निजी विशेषता है। साँची, भरहुत की प्राचीन शालभंजिका-मूर्तियों में जो शोभा का अमित भंडार और शृंगार-प्रधान लीलाओं का अंकन है, वही नए सौष्ठव से परिष्कृत होकर मथुरा की वेदिका-स्त्रियों में प्रकट हुआ है। अशोक-पुष्प-प्रचायिका आदि क्रीड़ाओं के विषय भी दोनों में एक जैसे हैं। तात्पर्य यह है कि विषय और शैली दोनों दृष्टियों से मथुरा का कुषाण-शिल्प मुख्यतः भारतीय है और वह अपनी निजी विकास की धारा के सर्वथा अनुकूल है।

जब कि गंधार में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियों पर उत्कीर्ण तिथियों से हम उनकी प्राचीनता नहीं सिद्ध कर पाते, मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ इस विषय में निश्चित प्रमाण उपस्थित करती हैं। मटियाली चित्तियोंवाले लाल पत्थर की बनी हुई मथुरा-शैली की मूर्तियाँ मथुरा से बाहर कौशांबी, श्रावस्ती, सारनाथ और साँची तक से मिली हैं। कौशांबी की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में, और सारनाथ की विशाल बोधिसत्वमूर्ति कनिष्क के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य 'भिक्षुबल' के द्वारा स्थापित की गई थी। स्वयं मथुरा में कनिष्क और हुविष्क के राज्यकाल की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। इनसे निश्चय है कि कनिष्क का राज्यकाल जैसे ही प्रारंभ हुआ, बुद्ध की मूर्तियाँ मथुरा में बननी प्रारंभ हो गई थीं। कनिष्क के पूर्वकाल की संवत् के साथ उत्कीर्ण कोई बुद्ध-मूर्ति अब तक नहीं पाई गई। अतएव प्रामाणिक रीति से कोई यह नहीं कह सकता कि मथुरा की बुद्ध-प्रतिमा का प्रादुर्भाव कनिष्क से पहले हो चुका था। कनिष्क के सिक्के के एक ओर बुद्ध की मूर्ति पाई गई है। कनिष्क से पहले राजा **'वेमतक्षम्'** थे, जिनकी बैठी हुई एक बड़ी प्रतिमा मथुरा में मिली है। उनके एक सिक्के पर भी बुद्ध की आकृति बताई जाती है; किंतु अभी तक कोई सिक्का इतनी अच्छी हालत में नहीं मिला, जिससे इस बात को पक्के रूप में मान लिया जाय। स्वयं सम्राट् वेमतक्षम शैव थे। सिक्कों पर बड़े गर्व से उसने अपने लिये 'माहेश्वर' विरुद का प्रयोग किया है।[3] उनका एक भी सिक्का ऐसा नहीं है जिसके पटदाँव (पीछे की ओर) शिव अथवा नंदी की मूर्ति न बनी हो। इस बात से

१. Foucher's chronology does not contain a single fixed point and there is no reason to antedate Gandhara art in order to provide a borrowed origin for the the Graeco—Bactrian empire. (टार्न, वही, पृ० ३९८)

२. Herzfeld has put the Gandhara monuments later by many centuries than Graeco—Bactrian empire. (टार्न, वही, पृ० ३९९)

३. वेमतक्षम की मुद्रा पर पूरा खरोष्ठी लेख इस प्रकार है—

"महरजस रजधिरजस सर्वलोगइश्वरस माहिश्वरस विमकदफिशस त्रदर।"

यह तो निश्चित रूप से प्रकट होता है कि कनिष्क से पहले ही शकों का हिंदू-धर्म के साथ बहुत घनिष्ट परिचय हो चुका था और उन्होंने हिंदू-धर्म की पूजा-पद्धति और देवताओं को अपना लिया था। ऐसी स्थिति में भागवत-धर्म के द्वारा जिस भक्ति-प्रधान मार्ग का हिंदू-धर्म में प्रचार हो रहा था, उसे बाहर से आनेवाले शकों ने भी अपनाया होगा ; यही स्वाभाविक जान पड़ता है। वेमतक्षम् ने उस भक्ति-प्रधान मार्ग के द्वारा शैव-धर्म को स्वीकार किया। ज्ञात होता है कि उसके बाद आनेवाले सम्राट् कनिष्क ने अपने जीवन में वही स्थान बौद्ध-धर्म को दिया जो वेमतक्षम् के जीवन में शैव-धर्म को मिला हुआ था। इन सब ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करते हुए यही सत्य जान पड़ता है कि कनिष्क के समय में ही प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति का निर्माण मथुरा-शैली में हुआ।

श्री कोहन[१] का मत है कि अंतःसाक्षी के आधार पर बुद्ध-प्रतिमा ठेट भारतीय आविष्कार जान पड़ती है। 'शेरमान' के अनुसार किसी समय मथुरा ही बुद्ध-मूर्ति के निर्माण का प्रथम स्थान सिद्ध होगा ; यद्यपि अभी इसके लिये निश्चित साक्षी नहीं है।[२]

यह कहा जा चुका है कि मथुरा की कला में पहले से ही वे तत्व मौजूद थे, जिनकी सहायता से बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सरलता से किया जा सकता था। मथुरा में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियाँ दो तरह की हैं—

१. विशालकाय खड़ी हुई मूर्तियाँ, जिनकी ऊँचाई कभी तो आदमकद और कभी मानवी के काय-परिमाण से भी अधिक है।

२. पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ।

पहले प्रकार की मूर्तियों की परंपरा मथुरा-कला की उन पुरानी मूर्तियों के साथ संबंध रखती है, जिनमें परखम गाँव से मिली हुई यक्ष की विशाल मूर्ति सिरमौर है। ये यक्ष-मूर्तियाँ मौर्य-शुंग-कालीन कला के उदाहरण हैं। मथुरा, पटना, ग्वालियर आदि स्थानों में इस प्राचीन कला के उदाहरण पाए गए हैं। किसी समय यह कला उत्तरी भारत भर में फैली हुई थी। जिस समय भक्ति-धर्म के उदय के साथ मूर्तियों का निर्माण होने लगा, पहली मूर्तियाँ इसी कला-शैली में बनाई गईं। इन मूर्तियों का ठाठ यह था—

"ऊँचा कद और भारी डील-डौल, दाहिना हाथ चमर या फूल लिये हुए या अभय-मुद्रा में, बाँया हाथ लता-हस्त-मुद्रा में शरीर के साथ सटा हुआ, या कटि-विन्यस्त-मुद्रा में कमर पर रक्खा हुआ; कानों में भारी कुंडल, गले में कंठा और तिखूँटा चपटा हार, हाथों में कड़े या कंगन, कंधे पर उत्तरीय, और नीचे धोती की वेष-भूषा।"

ये सब लक्षण पूरी तरह मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्तियों में घटित होते हैं। सारनाथ से मिली हुई बोधिसत्व की मूर्ति मथुरा की परखम-यक्ष-मूर्ति की कला-शैली को व्यक्त करती है। दोनों की अनुहार एक है और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मथुरा की खड़ी हुई प्रथम बोधिसत्व-मूर्ति परखम-यक्ष के उत्तराधिकार को सर्वांश में प्रकट करती है। दोनों में एक जैसा डील-डौल और उद्दाम-शक्ति का प्रदर्शन है। शैली की दृष्टि से परखम यक्ष और सारनाथ-बोधिसत्व का सूत्र बुद्ध-मूर्ति के प्रथम विकास की पूरी व्याख्या कर देता है। इस सूत्र में श्री कुमार स्वामी के मतानुसार रत्ती-भर भी विदेशी प्रभाव की संभावना या उसके लिये स्थान नहीं है।

१. On internal grounds the Buddha statue must be a purely Indian invention—

—टार्न द्वारा उद्धृत, पृ० ३९७।

२. 'The time will come when Mathura will stand forth as the sole place of origin of the Buddha statue, even though it cannot be proved.'

—टार्न द्वारा उद्धृत, पृ० ३९७।

मथुरा-शैली की दूसरे प्रकार की बुद्ध-मूर्तियाँ 'बोधिवृक्ष' के नीचे पद्मासन में बैठी हुई हैं। इनमें सबसे उत्कृष्ट बोधिसत्व की एक मूर्ति है जो कटरा केशवदेव से मिली थी (मथुरा संग्रहालय ए १)। उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

१. बुद्ध सिंहासन पर बैठे हैं।
२. उनके दोनों पैर पलोथी लगाए हुए पद्मासन-मुद्रा में हैं।
३. दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में है और बायाँ हाथ घुटने के पास रक्खा है।
४. हथेली और तलुवों पर 'त्रिरत्न' और 'धर्म-चक्र' आदि महापुरुष-लक्षण बने हुए हैं।
५. शरीर पर कोई आभूषण नहीं है।
६. बाँये कंधे पर सलवटदार उत्तरीय पड़ा हुआ है और नीचे धोती पहने हुए हैं। छाती पर वस्त्रांत-सूचक यज्ञोपवीत के ढंग की रेखाएँ हैं।
७. मस्तक पर उठा हुआ उष्णीष है जो केशों से ढका है।
८. बाकी सिर का हिस्सा सपाट है, माथे पर बालों को सूचित करनेवाली केवल एक रेखा है।
९. भौहों के बीच उर्णा-बिंदु है।
१०. सिर के पीछे गोल प्रभा-मंडल है, जो बिलकुल सादा है। उसके चारों ओर चुडी-नुमा कटाव की (बंगड़ीदार) किनारी है।[१]
११. मूर्ति के पीछे पीपल के पत्ते और शाखाएँ अंकित हैं, इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे बैठा हुआ दिखाया गया है।
१२. बुद्ध के दाईं-बाईं ओर एक-एक पार्श्वचर हैं जो चँवर लिये हैं। पार्श्वचरों का वेष साधारण गृहस्थों जैसा है। वे मुकुट, कुंडल, हार, कड़े, उत्तरीय एवं धोती पहने हुए हैं। न तो उन्हें 'इंद्र' और 'ब्रह्मा' कह सकते हैं और न 'मैत्रेय' तथा 'अवलोकितेश्वर'। इस प्रकार के गृहस्थ-वेषधारी पार्श्वचर इन प्रारंभिक मूर्तियों में पाए जाते हैं।
१३. मूर्ति के ऊपर के कोनों में दिव्य पुष्प-वृष्टि करते हुए दो व्योमचारी देव हैं।
१४. मूर्ति की मुखमुद्रा भावपूर्ण है। उसकी मंद-मुसकान आंतरिक शांति को प्रकट करती है, किंतु यह आध्यात्मिक शांति बाह्य-जगत् से पराङमुख नहीं है। यह मूर्ति इस कारण से अपने समय की ठीक उपज है और महायान के धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रकट करती है।

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार बनी हुई यह बुद्ध-मूर्ति ठेठ भारतीय शैली में है और मथुरा की अत्यंत प्राचीन मूर्तियों में है। डा० वोगल के अनुसार यह मूर्ति कुषाण-काल के आरंभिक काल की है। इस मूर्ति की चौकी पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

१. बुध रखितस मातरे अमोह आसिये बोधिसचो पतिठापितो।
२. साहा मातापितिहि सके विहारे
३. सव सत्वाना हित सुखाये

अर्थात्, बुद्ध रक्षित की माता अमोहा ने जो ऋषिक जाति की (आर्षी) थी, अपने माता-पिता के साथ स्वकीय विहार में सब सत्वों के सुख के लिये 'बोधिसत्व' की स्थापना की।

बुद्ध और बोधिसत्व

उपरोक्त कटरा की मूर्ति की तरह की ही आन्यौर गाँव से मिली दूसरी मूर्ति के लेख में उसे बुद्ध की मूर्ति कहा गया है। मूर्ति-कला की दृष्टि से बुद्ध और बोधिसत्व के अंकन में अंतर है।

१. अंग्रेजी स्केलपड् बार्डर (scalloped border) ; अद्धा चूड़ियों की बेल (बंगड़ी-चूड़ी)।

बोधि प्राप्त करने से पहले गौतम बुद्ध की संज्ञा बोधिसत्व है, अर्थात् वे बोधि प्राप्त करने के मार्ग में बढ़ रहे हैं। बोधि या ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद वे 'बुद्ध' कहलाते हैं। बोधिसत्व की मूर्तियाँ राजकुमारों की तरह मुकुट और आभूषण पहने रहती हैं, परंतु बुद्ध की मूर्तियाँ, सादे वेश में चीवर पहने दिखाई जाती हैं। वस्तुतः मूर्तियों में यह भेद कुछ काल पश्चात् उत्पन्न हुआ होगा। शुरू में जनता का ध्यान मूर्ति द्वारा गौतम बुद्ध की वास्तविक प्रतिकृति प्रकट करने की ओर था। अतएव बोधिसत्व की मूर्तियों में भी गौतम बुद्ध को आभूषणों से रहित दिखाया गया था, क्योंकि बोध-गया में बोधि-प्राप्त करने से पहले ही जब गौतम बुद्ध ने घरबार से विदा ली थी, तभी से वे अपना राजसी वेष छोड़ चुके थे। संन्यासी का वेष ही गौतम के लिये उपयुक्त वेष था। मथुरा-कला के आरंभ में बुद्ध और बोधिसत्व का भेद निराभरण और साभरण मूर्ति का भेद नहीं है। केवल चौकी पर खुदे हुए लेख बताते हैं कि मूर्ति बुद्ध की है, या बोधिसत्व की। सारनाथ में प्राप्त भिक्षुबल की मूर्ति सादा वेश में है, पर वह बुद्ध नहीं बोधिसत्व कही गई है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में 'बोधिवृक्ष' का चित्रण उन्हें गौतम बुद्ध के जीवन की एक वास्तविक घटना से संबंधित कर देता है। बुद्ध के नाम से और बोधिसत्व के नाम से शिल्पी को गौतम बुद्ध का ही चित्रण अभीष्ट था। अन्य अनेक बोधिसत्व और बुद्धों के चित्रण की परिपाटी का उदय गौतम बुद्ध की मूर्ति के कुछ काल बाद, संभवतः हुविष्क के राज्यकाल में हुआ। यहाँ पर मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित एक खंडित मूर्ति (ए ६६) की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, जो कटरा और आन्यौर के बोधिसत्वों से मिलती हुई है। चौकी पर खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति बोधिसत्व की है और 'सर्वास्तिवादी संप्रदाय' के आचार्यों के लिये समर्पित की गई थी। मूर्ति की स्थापना किसी क्षत्रप के राज्यकाल में की गई थी, जिसका नाम अब खंडित है। मूर्ति की शैली बिल्कुल आरंभिक काल की है, और यदि इसमें शासक का नाम मिल जाता तो यह मूर्ति इस जटिल प्रश्न पर बहुत कुछ प्रकाश डाल सकती। इतना अवश्य सूचित होता है कि सर्वास्तिवादी बौद्ध-आचार्यों की प्रेरणा से ही कटरा से प्राप्त बोधिसत्व-शैली की अभयमुद्रा और पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ बनाई गई थीं।

मथुरा में कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें पीपल का पेड़ मूर्ति के शिलापट्ट के पीठ-पीछे चित्रित है। इस प्रकार के अंकन की मूर्तियों का दर्शन संमुख और पीठ-पीछे दोनों तरफ से होता था और वे खुले हुए बोधि-मंड पर रख कर पूजी जाती होंगी। यही विशेषता लिये हुए एक दूसरी मूर्ति है (मथुरा सं० ५१४), जिसमें गौतम बुद्ध की प्रतिकृति के साथ उसका सादृश्य सूचित करने का और भी अधिक प्रयत्न किया गया है। इसमें बुद्ध की संघाटी कथरी की तरह वस्त्र-खंडों को सीकर बनाई गई है। बौद्ध-साहित्य में गौतम बुद्ध के वस्त्र की उपमा मगधदेश में फैले हुए धान के खेतों से दी गई है। जैसे एक बड़े चक्क के भीतर मेंड़ बँधे हुए अलग-अलग खेत और खेतों में क्यारियाँ होती हैं, उसी तरह लंबे चौकोर पैबंदों को जोड़कर बुद्ध का परिधान बनाया गया था (विनय-पिटक ८।१२।१ महावग्ग)। इस साहित्यिक वर्णन से लाभ उठाकर ऐसी मूर्ति बनाने की कोशिश की गई जिसे देखते ही बुद्ध-रूप में उसके पहचाने जाने में किसी को संदेह न रहे।

मथुरा में एक वर्ग ऐसी मूर्तियों का है जो मुकुट, वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत राजसी वेष में हैं। ये खड़ी हुई और बैठी हुई दोनों मुद्राओं में हैं। खेद है कि इस प्रकार की मूर्तियों पर भी लेख नहीं है, जिससे कटरा-मूर्ति से उनके पहले या पीछे होने का निश्चय किया जा सके। इसमें से खड़ी हुई मूर्तियों की वेष-भूषा और सज्जा मथुरा की अन्य गृहस्थ-मूर्तियों के जैसी हैं। बैठी हुई मूर्तियों में आभूषणों का प्रयोग बहुत अधिक है। गले में मोतियों की माला, हार, पदक और रक्षा करंडकों[१] से युक्त रक्षा-सूत्र पहने हुए हैं। अंतिम विशेषता साधारणतया गंधार की मूर्तियों में पाई

[१]. तावीज या अंग्रेजी के 'एम्यूलेट' के लिये संस्कृत का शब्द 'रक्षाकरंडक' कालिदास द्वारा 'शकुंतला' में प्रयुक्त हुआ है।

जाती है। मथुरा-कला में इस प्रकार की मूर्तियाँ संभवतः बाद को बनाई गई, लेकिन उनके निश्चित तिथि-क्रम के विषय में लेखों के अभाव से ठीक निर्णय संभव नहीं।

अन्य बुद्ध और बोधिसत्व प्रतिमाएँ

मथुरा-कला में बुद्ध-मूर्ति का चित्रण गौतम बुद्ध तक ही सीमित नहीं रहा। गौतम बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ दूसरे बुद्ध और बोधिसत्वों की भी हैं। बुद्ध से पूर्ववर्ती दूसरे बुद्धों की मान्यता पुरानी थी। राजा अशोक ने 'कनक मुनि' नामक एक पूर्व बुद्ध के स्तूप का जीर्णोद्धार कराया था, ऐसा उनके एक स्तंभ लेख से विदित होता है। बौद्धों के अनुसार विपश्चित्, शिखी, विश्वामित, क्रकुच्छंद, कनक मुनि, काश्यप और शाक्य मुनि ये सात बुद्ध हुए हैं। आठवें अभी भविष्य में जन्म लेंगे, जो इस समय बोधिसत्व मैत्रेय की अवस्था में हैं। काश्यप नामक छठवें बुद्ध की एक खड़ी मूर्ति मथुरा की कुषाण-कला में मिली है। सप्त बुद्धों से चित्रित कई शिलापट्ट भी पाये गए हैं। मैत्रेय बोधिसत्व की भी कई मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी विशेष पहचान यह है कि मैत्रेय एक हाथ में एक अमृत-घट लिए रहते हैं (मथुरा सं० ८६८)। मथुरा के लाल पत्थर की बनी हुई कुषाण-काल की एक मूर्ति अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई है। उसकी चौकी पर उत्कीर्ण लेख में मूर्ति को 'मैत्रेय-प्रतिमा' कहा गया है।

महायान-बौद्ध-धर्म में अन्य अनेक प्रकार के बुद्ध और बोधिसत्वों की कल्पना का विकास हुआ। इनमें पाँच बोधिसत्व और उनके उत्पादक पाँच ध्यानी बुद्ध मुख्य हैं।

भूमिका

बौद्ध-धर्म के अनुसार देवलोक के उत्तरोत्तर ऊपर सोलह ब्रह्मलोक हैं। जो साधक पहले, दूसरे और तीसरे ध्यान में परिपूर्ण हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोकों के प्राथमिक लोकों में क्रमशः जन्म लेते हैं। एक-एक ध्यान के लिये तीन-तीन ब्रह्मलोक हैं। जो चौथे ध्यान की साधना में परिपक्व हो जाते हैं, वे दसवें और ग्यारहवें ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं। अंतिम पाँच ब्रह्मलोक उन साधकों के लिये हैं जो पृथ्वी पर ध्यान की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं और अगले जन्म में निर्वाण प्राप्त करने के अधिकारी बनते हैं। ध्यान की इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक को फिर संसार में नहीं आना पड़ता, एवं उसके भीतर विषय और पाप-बुद्धि का सर्वथा लोप हो जाता है। महायान धर्म के अनुसार इन अंतिम पाँच ब्रह्म लोकों में एक-एक बुद्ध रहता है जिसे 'ध्यानी बुद्ध' कहते हैं। ये पाँच ध्यानी बुद्ध जिन पाँच मानवी बुद्धों के रूपांतर हैं वे गौतम बुद्ध समेत चार अंतिम बुद्ध, एवं पाँचवें भविष्य में जन्म लेनेवाले मैत्रेय हैं। प्रत्येक मानवी बुद्ध अपने समकक्ष बोधिसत्व और ध्यानी बुद्ध से संयुक्त है। ध्यानी बुद्ध ब्रह्मलोक में उसका तेजस्वी स्वरूप है जो भौतिक जीवन की सब पापावस्थाओं से रहित है। मानवी बुद्ध उस ध्यानी बुद्ध का रूपांतर होता है जो सदा ब्रह्मलोक में ध्यानावस्था में लीन रहता है। इन बुद्ध और बोधिसत्वों की तालिका इस प्रकार है—

ध्यानी बुद्ध	बोधिसत्व	मानुषी बुद्ध	मुद्रा	वाहन	स्कंध-रूप में स्थान	वर्ग	मस्तक पर चिह्न
१. वैरोचन	सामंतभद्र	क्रकुच्छंद	धर्मचक्र	नाग	रूप, मध्य	कवर्ग	चक्र
२. अक्षोभ्य	वज्रपाणि	कनकमुनि	भूमिस्पर्श	हाथी	विज्ञान, पूर्व	चवर्ग	वज्र
३. रत्नसंभव	रत्नपाणि	काश्यप	वरद	सिंह	वेदना, दक्षिण	तवर्ग	रत्न
४. अमिताभ	पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर	गौतम	समाधि	मयूर	संज्ञा, पश्चिम	टवर्ग	पद्म
५. अमोघसिद्धि	विश्वपाणि	मैत्रेय	अभय	गरुड़	संस्कार, उत्तर	पवर्ग	विश्ववज्र (दोहरा वज्र)

यह जटिल कल्पना हिंदुओं के प्राचीन दार्शनिक मूलभूत पंचतत्त्व, पंचप्राण, पंचविषय, पंच-इंद्रियाँ आदि के साथ बुद्ध-दर्शन का मेल मिलाने के लिये की गई। इसी के जोड़ की कल्पना शैवों में भी विकसित हुई, जिसके अनुसार पंचमुखी शिव की मूर्तियों का निर्माण हुआ। वे पंचमुख क्रमशः—'ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात' कहलाते हैं। मथुरा में पंचमुखी शिव की कई मूर्तियाँ मिली हैं। वस्तुतः इस पंचात्मक मूर्ति-भेद की कल्पना का प्रारंभ भागवतों के चतुर्व्यूह और पंच वृष्णि-वीरों की कल्पना से ज्ञात होता है। मथुरा के 'मोरा'-शिलालेख में, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, पंच वृष्णि-वीरों की मूर्तियों का स्पष्ट वर्णन है। चतुर्व्यूह में भगवान्—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की गणना है। इनके साथ पाँचवें सांब को मिलाकर पंच वृष्णि-वीरों की कल्पना प्रथम शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुकी थी। विष्णु, शिव और बुद्ध के अनुयायी भक्त अपनी-अपनी मूर्तियों का चतुर्व्यूहात्मक या पंचात्मक विभेद करते हुए एक ही मूल-प्रवृत्ति या विचार-धारा का अनुसरण कर रहे थे। वैष्णवों में जैसे चतुर्व्यूह हैं, शैवों में उसी प्रकार चतुर्मुखी शिवलिंग है। बौद्धों के चतुर्बुद्धात्मक स्तूप जिनमें स्तूप की एक-एक दिशा में एक-एक बुद्ध अंकित किया गया है, उसी शैली के हैं। उसी समय की मथुरा-कला में जैन चौमुखी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें लेखों में प्रतिमा 'सर्वतोभद्रिका' कहा गया है। उनकी एक-एक दिशा में एक-एक तीर्थंकर अंकित हैं। ये मूर्तियाँ भी उसी दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। जान पड़ता है कि इस समस्त धार्मिक प्रपंच के मूल में एक योग-प्रधान या तांत्रिक दृष्टिकोण काम कर रहा था। मनुष्य का शरीर पंचात्मक है। पाँच तत्वों या पंचभूतों के अनुसार शरीर के पाँच चक्र, पाँच इंद्रियाँ, पंच विषय, पंच प्राण कार्य करते हैं। पाँच चक्रों और सृष्टि के पंच महाभूतों के अनुसार देवताओं की व्याख्या और वर्गीकरण, धर्म का तांत्रिक विकास है। उपलब्ध मूर्तियों के देखने से ज्ञात होता है कि कुषाण-काल में इस प्रकार का तांत्रिक विवेचन बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव इन चारों संप्रदायों में विकसित हो चुका था। मथुरा से प्राप्त ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्ति-सामग्री उत्तर प्रदेश इतिहास-पत्रिका (१९३८) में वर्णित है।

मथुरा की गुप्त-कला

कुषाण-काल में मथुरा की शिल्प-कला सब दिशाओं में उन्नति को प्राप्त हुई, किंतु उसके बाद भी उसका प्रवाह आगे बढ़ा और गुप्त-काल में मथुरा की कला अपने उस श्रेष्ठरूप में विकसित हुई जो उस स्वर्णयुग की कला की देश-व्यापी विशेषता थी।

कला के साथ साहित्य और धर्म भी अपने निखरे हुए स्वच्छ और संस्कृत रूप में उन्नति को प्राप्त हुए। उस युग का आदर्श 'अनुत्तर ज्ञान' या 'अनुत्तर सम्यक् संबोधि' की प्राप्ति थी, जिसके लिये सैकड़ों, सहस्रों की संख्या में उच्च घराने के नवयुवक अपने यौवन और धन का समर्पण करते हुए सामने आए। सद्धर्म पुंडरीक[1] के कुछ अवतरणों में हमें युग की आत्मा के दर्शन होते हैं। प्रवरमहर्षि, परमार्थदर्शी, लोक-विनायक भगवान् बुद्ध ने चारों ओर दृष्टि डालकर (समंत चक्षुः) लोक-हित की कामना से (लोकहितानुकंपी) कुल-पुत्रों का आवाहन किया—'हे कुलपुत्रो, 'धर्म-प्रकाशन-रूप दुष्कर कर्म के लिये कटिबद्ध हो जाओ।' 'जिसके हृदय में इस धर्म को प्रकाशित करने का संकल्प उत्पन्न हुआ हो मैं उसका सिंहनाद सुनना चाहता हूँ। अखिन्न और अविश्रांत भाव से जो इस व्रत को धारण करेगा, वह तथागत के पुत्रों में अगुआ (धुरावह) समझा जायगा। अनुत्तर सम्यक् संबोधि में एक बार मन लगाकर फिर मैंने अपने मन को उधर से नहीं घुमाया। अतएव जो सच्चा शूर है

[1]. सद्धर्म पुंडरीक ११।११—४०।

"चिंतेथ कुलपुत्राहो सर्वं सत्वानुकंपया।
सुदुष्करमिदं स्थानमुत्सहंति विनायका।"

—संदर्भ ३१।१६

वह इस कठिन कर्म को धारण करे।' व्यक्तिगत रूप में परमोच्च ज्ञान की प्राप्ति और सामाजिक क्षेत्र में लोकहित के साधन इन दोनों ने गुप्तकालीन बुद्ध-धर्म को विलक्षण सरसता प्रदान की। इसी की तरह गुप्त-कला में भी दो अन्य तत्वों सौंदर्य और अध्यात्म का समन्वय हुआ। बुद्ध की मूर्ति एक ओर सौंदर्य की प्रतीक है और दूसरी ओर जिस व्यक्ति को सर्वोच्च संबोधि प्राप्त हुई है उसकी प्रशांत मुखाकृति को भी पूर्णतया व्यक्त करती है।

गुप्त-काल की बुद्ध मूर्तियों में भिक्षु यशदिन्न द्वारा स्थापित खड़ी हुई मूर्ति अत्यंत सुंदर और भव्य है। भारतवर्ष की चुनी हुई सुंदर मूर्तियों में इसकी गणना है। बुद्ध की प्रशांत मुख-मुद्रा के अंकन में शिल्पी को विशेष सफलता मिली है और हम प्रथम बार अनुत्तर ज्ञानावाप्त अथवा सम्यक् संबुद्ध योगी को कला में प्रत्यक्ष देखते हैं।

बुद्ध के दोनों कंधों पर (उभयांसिक) संघाटी पड़ी हुई है। उसके सूक्ष्म विमल वस्त्र के भीतर से मेखला और शरीर झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। नासाग्र-दृष्टि, जुड़वाँ भौंहें, लंबे कर्ण-पाश, चौड़ा ललाट, कुंचित केशों से ढँका हुआ छत्राकार सिर, ये सब गुप्तकालीन कला के स्पष्ट लक्षण हैं जो इस मूर्ति की विशेषता हैं। सिर के पीछे जो अलंकृत प्रभा-मंडल है उसके कारण मूर्ति और भी भव्य जँचती है। रघुवंश में इस प्रकार के 'प्रभा-चक्र' के लिये 'पद्मात-पत्र छाया-मंडल' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसा कि रघु के वर्णन में कवि ने लिखा है—

"छायामंडललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥"

—रघुवंश ४।५

'रघु के मस्तक के पीछे जो प्रभा-मंडल था, उसमें उस कमल के छाते की परछाईं व्यक्त हो रही थी, जिसे अदृश्य लक्ष्मी उसके ऊपर लगाए थी।' गुप्तकालीन प्रभा-मंडल को कालिदास ने 'स्फुरत् प्रभामंडल' भी कहा है।[1]

कमल की पँखुड़ियाँ, फुल्लावली और पत्र-लता, बीच-बीच में मोरनी, इन अलंकरणों से गुप्त-कालीन प्रभा-मंडल सजाए रहते हैं। कुषाणकालीन प्रभा-मंडल बहुत सादा था, जिसके बाहरी कोर पर एक बँगड़ीदार किनार रहती थी। भिक्षु यशदिन्न की यह बुद्ध-मूर्ति उस समय की है जब कि गुप्त-कला अपने सर्वोच्च रूप में थी। पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध इसका समय ज्ञात होता है। इसके सौ वर्ष बाद की एक दूसरी बुद्ध-मूर्ति 'कटरा केशवदेव' से मिली थी, जिस पर गुप्त संवत् २३० का एक लेख उत्कीर्ण है। लेख के अनुसार भिक्षुणी 'जयभट्टा' ने 'यशोविहार' में इस मूर्ति की स्थापना ५४९-५० ई० में की थी।

मथुरा में बौद्धों के अनेक विहार थे। शिला-लेखों के आधार पर अब तक निम्नलिखित विहारों के नाम मिल चुके हैं—

१. **हुविष्क-विहार**— यह जमालपुर टीले के स्थान पर था, जिसकी स्थापना हुविष्क ने की थी।
२. **स्वर्णकर-विहार**—यहाँ के महोपदेशक आचार्य कुषाण-काल में प्रसिद्ध थे (मथुरा संग्रहालय सं० २६०)।
३. **श्री-विहार**— इसमें संमितीय संप्रदाय के आचार्य रहते थे (मथुरा संग्रहालय सं० ४६२)।
४. **चेतिय-विहार**— यह विहार धर्मगुप्तक (धर्मगुतिक) संप्रदाय के आचार्यों का था (मथुरा संग्रह सं० १२१)।
५. **चुतक-विहार**— यह विहार महासंघिक संप्रदाय के भिक्षुओं का था। (मथुरा संग्रहालय संस्था १३५०)।

[1] **कुमारसंभव १।२४**

६. **अपानक-विहार**—यह विहार भी महासंघिक संप्रदाय के भिक्षुओं का था। (मथुरा संग्रहालय १६१२)। महासंघीय विहार का एक केंद्र मथुरा में था और दूसरा पालीखेड़ा गाँव में, जैसा कि वहाँ से प्राप्त पत्थर की कूंडी पर लिखे हुए लेख से विदित होता है (मथुरा संग्रहालय सं० ६६२)।

७. **मिहिर-विहार**— यह विहार सर्वास्तिवादी आचार्यों का था। इसकी एक शाखा कामवन में थी, जैसा कि वहाँ से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है (ल्यूडर्स लेख-सूची, सं० १२; एपिग्राफिया इंडिका भाग २, पृ० २१२)। मिहिर-विहार का मुख्य केंद्र मथुरा में था। अभी हाल में कंकाली टीले के कुँए से प्राप्त कुबेर यक्ष की चौकी पर उत्कीर्ण लेख में मिहिरगृह का उल्लेख पाया गया है, जहाँ वह मूर्ति पधराई गई थी।

८. **गुहा-विहार**—

९. **कौष्टिकीय-विहार**—यह विहार महासंघिक आचार्यों का था। मथुरा के कंसखार मुहल्ले से प्राप्त एक लेख में इसका उल्लेख मिला है (मथुरा संग्रहालय सं० २७-४०)।

१०. **रोषिक-विहार**—मथुरा की एक बौद्ध-चौकी पर उत्कीर्ण लेखमें यह नाम आया है। वह मूर्ति इस समय बंबई के संग्रहालय में सुरक्षित है (जर्नल बी० बी० आर० एस० या० २० पृ० २६६)।

११. **ककाटिका-विहार**—(ल्यूडर्स लेखसूची, सं० १४०)।

१२. **प्रावारिक-विहार**—इस विहार का एक केंद्र कटरा केशवदेव में था (मथुरा संग्रहालय स० के० टी० १३२)। इसकी दूसरी शाखा गिरधरपुर गाँव में थी (मथुरा संग्रहालय १३१६, नागी प्रतिमा)।

१३. **यशा-विहार**— यह विहार कटरा केशवदेव की भूमि पर गुप्त-काल में विद्यमान था, जैसा कि ऊपर लिखे हुए भिक्षुणी जयभट्टा के लेख से ज्ञात होता है।

१४. **खंडविहार**— यह विहार महोली गाँव में था (मथुरा संग्रहालय २७६८)।

विहारों की इस सूची से हम इस बात का कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मथुरा में धार्मिक जीवन की हलचल कुषाण और गुप्तकाल में कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। प्रत्येक विहार शिक्षा और संस्कृति का विशिष्ट केंद्र था। बौद्धों की कला, धर्म और संस्कृति के अतिरिक्त जैनों का भी मथुरा में इसी समय सबसे बड़ा केंद्र था। इसके कारण मथुरा उत्तर भारत में धर्म और संस्कृति का सबसे महान् केंद्र बन गया था। मथुरा-कला में बौद्ध, जैन और वैष्णव-धर्मों के देवताओं की जो मूर्तियाँ बनाई गई उनसे आगे आनेवाली एक सहस्राब्दी के लिये उन कृतियों का रूप और आदर्श निर्धारित हो गया।
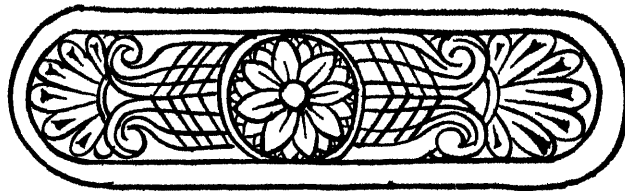
अंकोरवाट के मंदिर में कृष्णलीला के दृश्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

अंकोरवाट का प्राचीन नाम 'यशोधरपुर' था। यह कंबोडिया (प्राचीन कंबुज) देश की पुरानी राजधानी थी। यहाँ बारहवीं शती के आरंभ (लगभग ११२५ ई०) में विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ, इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मंदिर सम्राट् 'सूर्य वर्मन्' द्वितीय का बनवाया हुआ है, जिसमें रामायण और महाभारत के अनेक दृश्य शिलापट्टों पर अंकित हैं। वेगवान् चित्रण की दृष्टि से ये मूर्त्तियाँ 'जावा' के 'बोरु बुदुर' की मूर्तियों से कहीं अधिक प्राणवंत हैं।

इस मंदिर में महाभारत-युद्ध के प्रधान अंकनों में वीर नेता कृष्ण भी हैं, परंतु मंदिर के मंडप के दक्षिण-पश्चिमी कोने में कृष्ण की बाललीला के कई दृश्य अंकित हैं। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं[१]—

१, यमलार्जुन-उद्धार—चकित यशोदा के सामने बालकृष्ण घिसटते हुए देख रहे हैं। पीछे दो गोपियाँ खड़ी हैं। उनके पीछे बाईं ओर यमलार्जुन वृक्ष और उनसे उत्पन्न कुबेर के दो पुत्र नल-कूबर बने हैं।

२, गोवर्धनधारी कृष्ण—यह दृश्य बड़ा प्रभावोत्पादक है। कृष्ण की मूर्ति सबसे बड़ी है। बीच में खड़े हुए वे दहिने हाथ के ऊपर पर्वत उठा रहे हैं, बाँए हाथ में एक मोड़दार छड़ी है। उनके समीप एक सखा है। नीचे दो पंक्तियों में ग्वाल-बाल और गाय-बछड़े अत्यंत चकित मुद्रा में भक्ति-भाव से कृष्ण की ओर देख रहे हैं और कुछ उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

३, एक ही शिलापट्ट पर अंकित दो दृश्यों में एक दावानल-आचमन का है और दूसरे में कृष्ण प्रलंबासुर का वध कर रहे हैं। कृष्ण का रूप चतुर्भुज है। हिरन-बाघ आदि जंगली जीव घबरा कर भाग रहे हैं, आग की लपटें बढ़ रही हैं, कृष्ण अविचल भाव से अग्नि की ओर देख रहे हैं।

४, इंद्र के लिये जो भोज्य-पदार्थ लाए गए थे, उन्हें कृष्ण चतुर्भुजी रूप से प्रकट होकर खा रहे हैं। ग्वाल-बाल भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

---

१. "La Legende de Krishna dans les bas-reliefs d' Augkor-Vat" by J. Przyluski, pp. 91-97, pl. xxviii-xxix, figs. 1-4, *Revue des Arts Asiatiques,* Vol. V, No. 2.

एक : पद

संस्कृत : गीतगोविंद का व्रजभाषानुवाद

राग-मालव

जय, जय जगदीस हरे ।।

प्रलै भयानक जलनिधि जल-धँसि, प्रभु तुम बेद-उधारे ।
करि पतवार पुच्छ निज बिहरे, मींन-सरीरहिं धारे ।।
जय जगदीस हरे ।।

कठिन पींठ मंदर मंथन किन छिति-भर तिल-सँम राजै।
गिरि-घूँमन-सुहराँन नींद-बस, कमठ-रूप अति छाजै ।।
जय जगदीस हरे ।

कँनक-नेंन-बध-रुधिर-छींट-मिलि, कँनक-बरँन छबि छायौ ।
रद-आगें धरि ससि-कलंक मनु, रूप बराह सुहायौ ।।
जय जगदीस हरे ।।

कर-नख-केतिक-पत्र अग्र अलि, कँनक-कसिपु-तन-फारचौ ।
खंब-फारि निज-जन-रच्छन-हित हरि नरहरि-बपु धारचौ ।।
जय जगदीस हरे ।।

अदभुत बाँमन बनि बलि छलि कें, तींन पेंड़ जग-नाँप्यौ ।
दरसँन, मज्जन, पाँन समन अघ, निज-नख जल थिर थाप्यौ ।।
जय जगदीस हरे ।।

अभिमाँनी छत्री-गँन बधि तिन रुधिर सींचि धर सारी ।
इकइस बार निछत्र करी भुव, हरि भृगुपति-बपु-धारी ।।
जय जगदीस हरे ।।

दस-दिसि दस सिर मौल दियौ बलि, सब सुरगँन-भै-हारे ।
सिय-लछमँन-सह सोहत सुंदर, राँम-रूप हरि धारे ।।
जय जगदीस हरे ।।

सुंदर गौर सरीर नील-पट, ससि मैं घँन लपटायौ ।
करसन कर हल सों जमुनाँ-जल, हलधर-रूप सुहायौ ।।
जयजगदीस हरे ।।

अति करुनाँ करि दीन पसुन पै, निंदे निज-मुख बेदा ।
कलिजुग-धरँम कहे हरि ह्वै कें, बुद्ध-रूप हर-खेदा ।।
जय जगदीस हरे ।

म्लेच्छ-बधँन-हित कठिन-धार-तरबार-धारि कर भारी ।
नासे जवन सत्यजुग थाप्यौ, कल्कि-रूप हरि धारी ।।
जय जगदीस हरे ।।

नँद-नंदन जग-बंदन दस बपु, धरि लीला-बिस्तारी ।
गाई कवि 'जैदेव' सोई 'हरिचंद' भक्त-भै-हारी ।।
जय जगदीस हरे ।।

——:०:——

चँदकला चुनि चूँनरी चारु, दई पँहराइ सुनाइ सु होरी।
बेंदी बिसाख्या रचीं पदमाकर, अँजन-ऑजि समाज करोरी॥
लागी जबै ललिता पँहरॉमनि, स्याँम कों कंचुकी केसरि-बोरी।
हेरि हरें मुसिकाइ रहीं, अँचरा मुख दै बृषभान-किसोरी॥

—पद्माकर

ब्रजजनपदीय

ब्रजजनपदीय-भाषा : महिमा

हमारें ब्रज-बानी ही बेद ।
भावभरी या मधुबानी कौ, नाँइ मिल्यौ रस-भेद ।।
निगमागम-कृत सबद-जाल में वा सुख की कहँ आस ।
जो सुख मिलत चाखि ब्रज-पद-रस, सोंधी सहज मिठास ।।
जा बानी में मचलि कन्हैया, कहै मैहैरि सों रोइ ।
"ना मैया, अब ही मँगाइ दै, चंद-खिलोंनाँ मोइ ।।"
जा बानी मैं जसुमति रानी, हरि सों कहत रिसाइ ।
"दारी कौ इत-उत भाजै है, दींनों मोइ थकाइ ।।"
जा बानी मैं कहैं छबीली,-छोहरियाँ इठलाइ ।
"पाँइ काँकरी गड़ै साँकरी-खोर, माइ-री-माइ ।।"
जा बानी मैं अष्टछाप सुभ, थाप्यौ ब्रह्मानंद ।
प्रेंम-प्रवाहित कियौ चराचर, दियौ सबै रसकंद ।।
जा बानी मैं बन-बिहार कौ गायौ रस 'हरिदास' ।
'हित हरिबंस' कियौ नित जामें, हित कौ पंथ-प्रकास ।।
जा बानी की ललित-कुंज में कविता करति बिहार ।
जावै 'हरि' वा ब्रज-बानी पै, बलि-बलि सौ-सौ बार ।।

—वियोगी हरि

अष्टादश पुराणों में मथुरा

श्री भास्करनाथ मिश्र

मथुरा का गौरवमय इतिहास अति प्राचीन है। इसका उल्लेख रामायण, महाभारत, गर्ग-संहिता, अष्टादश पुराण तथा अनेकानेक उत्कीर्ण संस्कृत-अभिलेखों में हुआ है, किंतु पुराणों में 'मथुरापुरी' का वर्णन जितने विशद रूप में पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं। पुराणों में भी वराहपुराण, पद्मपुराण, आदिपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, देवीभागवत आदि इस संबंध में विशेष सहायक हैं। मथुरा-मंडल और मथुरा के इतिहास का सुंदर परिचय आदिपुराण और देवीभागवत पुराण में दिया गया है। इसके भौगोलिक परिचय के लिए विष्णुपुराण, वराहपुराण और पद्मपुराण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वनों और तीर्थों का इतिहास वराहपुराण और पद्मपुराण में अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक मिलता है। मथुरा-मंडल की परिक्रमा के लिए वराहपुराण में दी हुई परिक्रमा-सूची पूर्ण और वैज्ञानिक है। वनों में श्रेष्ठ वृंदावन-विषयक सामग्री पद्मपुराण में सबसे अधिक मिलती है। गोवर्धन-संबंधी सामग्री वराहपुराण में भौगोलिक स्थिति का वैज्ञानिक अनुमान लगाकर दी गई है। यमुना-माहात्म्य के लिए वराहपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, शिवपुराण तथा पद्मपुराण विशेष उपयोगी हैं। गोकुल-संबंधी इतिहास के लिए पद्मपुराण ही एक सहायक ग्रंथ जान पड़ता है, वैसे इसका उल्लेख लगभग सभी पुराणोंमें हुआ है।

पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से तत्कालीन मथुरा-मंडल का सुस्पष्ट, सजीव तथा प्रामाणिक इतिहास प्राप्त होता है। भौगोलिक दृष्टि से तो पुराण और भी उपयोगी हैं और यदि मथुरा के समान ही अन्य क्षेत्रों, तीर्थों, नगरों, नदियों, पर्वतों एवं मंडलों का इतिहास लिखा जाय तो पुराण इस विषय में बड़े सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

यही नहीं, मथुरा का प्रचुर वर्णन बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, ग्रीक-साहित्य आदि भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रों में भी हुआ है। फाहियान तथा 'ह्वेन सांग' नामक चीनी यात्रियों ने (४०० और ६५० ई० पू० क्रमशः) मथुरा को बौद्धों का तीर्थ माना है। जनरल 'कनिंघम' की पुरातत्त्व-संबंधी रिपोर्टें इस संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। जिस समय पुष्यमित्र शुंग (१८७-१५१ ई० पू०,) पाटलिपुर में राज्य कर रहा था, उस समय यूनानी राजा मिनांडर ने (१५५ई० पू०) सिंधु तलहटी, काठियावाड़, (सौराष्ट्र) और यमुना-तट पर स्थित मथुरा को अपने आधिपत्य में कर लिया था। मथुरा के क्षत्रप राजाओं में से शोडास (११० ई० पू०) का एक उत्कीर्ण अभिलेख अभी तक मथुरा में है।

कुशाण राजाओं के समय में मथुरा उनके कब्जे में रही, किंतु उस समय वहाँ जैनियों का बोलबाला था। कुशाण-काल के कुछ अवशेष अब भी मथुरा में अवशिष्टावस्था में हैं।

गुप्त-कालीन स्वर्णयुग के दिन भी मथुरा ने देखे और संपत्तिशालिनी बनीं ; किंतु बाद में हर्षवर्धन-काल समाप्त होते ही ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमान आक्रमणों ने उसके अंजर-पंजर ढीले कर दिये। सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने २० दिन तक और १५०० ई० में सिकंदर लोदी ने मथुरा तथा उसके आसपास की बस्तियों को खूब लूटा। मुगलों और मराठों, मराठों और राजपूतों तथा अंग्रेजों और देशी राज्यों के संघर्षों का मथुरा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। दिल्ली और आगरे के बीच में होने के कारण मथुरा सदियों तक इसी प्रकार पीसी जाती रही ; तो भी धर्मप्राण और भारतीय संस्कृति की प्रतीक यह नगरी शून्य में विलीन नहीं हुई।

मथुरा-मंडल

वैसे तो मथुरा-मंडल का वर्णन लगभग सभी पुराणों में कमोवेश मिलता है ; किंतु पद्मपुराण और वराहपुराण में इसका जैसा विशद वर्णन हुआ है, वैसा और किसी पुराण में नहीं है। इन दोनों पुराणों में भी वराहपुराण तो इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पद्मपुराण का पातालखंड कई दृष्टियों से बड़े काम का है। मथुरा-मंडल के संबंध में भगवान् कहते हैं—

"तस्मात्त्रैलोक्यमध्येतु पृथ्वीधन्येति विश्रुता ।
यस्मान्माथुरकंनाम विष्णोरेकांतवल्लभम् ।।
स्वस्थानमधिकं नाम ध्येयं माथुरमंडलम् ।
विष्णुचक्रपरिमाण द्धाम वैष्णवमद्भुतम् ।।"

—पद्म० पृ० ५८३, श्लो० १२, १३

"अर्थात् त्रैलोक्य के मध्य में स्थित यह पृथ्वी (मथुरा-मंडल) धन्य है और बहुविश्रुत है। यह विष्णु भगवान् का अति प्यारा मथुरा नामक स्थान है। यह मेरा स्थान है और मैं इस मथुरा-मंडल की आराधना करता हूँ। इसका परिमाण विष्णुचक्र के जितना है और वैष्णवों का अद्भुत धाम है।" आगे भगवान् मथुरा-माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"अहो न जानंति नरादुराशयाः पुरींमदीयां परमांसनातनीम् ।
सुरेंद्रनागेंद्रमुनींद्रसंस्तुतां मनोरमां तां मथुरां सनातनीम् ।।
काश्यादयो यद्यपि संति पुर्यस्तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या ।
यज्जन्ममौंजीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम् ।।"

—पद्म० पृ० ५९९ ; श्लो० ४३-४४

"इतनी महात्म्यवाली सनातनी मेरी पुरी (मथुरा) को दुराशयी लोग नहीं जानते। वे नहीं समझते कि सनातनी मनोरमा मथुरापुरी की स्तुति इंद्र, शेष और मुनींद्रगण तक करते हैं। यद्यपि काशी आदि अन्य नगरियाँ संतों को अतिप्रिय है, किंतु ऐसी अनेक पुरियों में मथुरापुरी धन्य है, सेवन करने योग्य है। यहाँ यदि भक्तगण यावज्जीवन व्रतादिकों का अनुष्ठान करते रहें, निवास करते रहें ; तो मृत्यु, दाह आदि चार प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाते हैं।"

भगवान् अपने परमभक्त बालक ध्रुव के बारे में कहते हैं—

"बालकोऽपि ध्रुवो यत्र ममाऽऽराधनतत्परः ।
प्राप स्थानं परं शुद्धं यन्न युक्तं पितामहैः ।।"

—पद्म० पृ० ६०० ; श्लो० ५३

"यहीं (इसी मथुरा में) राजा उत्तानपाद के पुत्र बालक ध्रुव ने मेरी आराधना तन्मय एवं तत्पर होकर की और इतनी निष्ठा के साथ अपने उद्देश्य में सफल हुआ कि वह उन्मुक्त होकर परम शुद्ध पितामह ब्रह्मा के लोक को प्राप्त कर गया।"

कृष्ण और बलराम की लीलाभूमि का उल्लेख करते हुए भगवान् कहते हैं—

"कदंबमूल आसीनं पीतवाससमद्भुतम् ।
वनं वृंदावनं नाम नवपल्लवमंडितम् ।।
कोकिलभ्रमरारावं मनोभवमनोहरम् ।
नदीमपश्यं कालिंदीमिंदीवरधरप्रभाम् ।।
गोवर्धनं तथापश्यं कृष्णरामकरोद्धृतम् ।
महेंद्रदर्पनाशाय गोगोपालसुखावहम् ।।"

—पद्म० पृ० ५९८ ; श्लो० १९, २०, २१

अर्थात्, "(इस मथुरा में) नवपल्लवों से मंडित वृंदावन नाम का प्रसिद्ध वन है। इसमें कदंब की एक डाल पर पीतांबरधारी श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं। इस वन में कोकिला (कोयल) और भौंरा मनोहर स्वरों में चहचहाया करते हैं। पास ही कमल-दलों से सुशोभित कालिंदी (यमुना) प्रवाहित होती दीख पड़ती है और इसके अनंतर कृष्ण-बलराम की इहलोक लीला का साक्षी गोवर्धन पर्वत भी इस मंडल में विद्यमान है; यहीं श्रीकृष्ण ने महेंद्र (इंद्र) के गर्व का खर्व किया था और गो तथा गोपालकों की सुख-समृद्धि की थी।"

वराहपुराण में मथुरा का सबसे अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। धरणी के यह पूछने पर कि मथुरा जैसे दुर्लभ तीर्थ का तत्त्व (माहात्म्य) क्या है, भगवान् महावराह बोले—"मुझे इस वसुंधरा में पाताल अथवा अंतरिक्ष से भी प्रिय मथुरा है।" यह पूछे जाने पर कि पुष्कर, नैमिषतीर्थ एवं वाराणसी की तुलना में मथुरा की क्या महत्ता है, भगवान् बोले—"ऐ देवि वसुंधरे, सुनो—**सा रम्या च सुशस्ता च जन्मभूमिस्तथा मम'**। मथुरा अति रमणीय, प्रशस्त और मेरी जन्मभूमि' है। ...यही मथुरा मेरा मंडल है—

'माथुरं मम मंडलम्'

—व० पु० ; अ० १५२, श्लोक—१७

भगवान् ने आगे कहा—"कोटितीर्थ से आधकोस की दूरी पर स्थित शिवक्षेत्र है। वहाँ बैठकर भगवान् हर मथुरा की रक्षा करते हैं (अ० १५४। ३४)। मेरे मथुरा-मंडल का प्रमाण बीस योजन है—'विशंतिर्योजनानांतु माथुरं मम मंडलम्' (१५८। १)। मथुरा-मंडल पुण्यक्षेत्रों में भी पुण्यक्षेत्र है (१५८।२)। सातों द्वीपों के जितने तीर्थ और आयतन (मंदिर अथवा भूमि) हैं, वे मेरे विश्राम करने के समय मथुरा-मंडल में आते हैं (१५८।३)। जो व्यक्ति मथुरा आकर केशव के दर्शन और मथुरा की प्रदक्षिणा करता है वह मानो 'सप्तद्विपावसुंधरा' की प्रदक्षिणा करता है (१५८।८)।

"मथुरा की रक्षा पूर्व में इंद्र, दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण और उत्तर में कुबेर तथा नगरी के मध्य में अवस्थित उमापति शिव करते हैं (१५८।१८-१९)। मथुरा की भूमि का चप्पा-चप्पा स्थान तीर्थमय है—'पदे पदे तीर्थफलं मथुरायां वसुंधरे' (१५८।२६)।

मथुरा की परिक्रमा

कुमुद मास में शुक्लपक्ष की नवमी के दिन मथुरा की परिक्रमा करने से यात्री को सब पापों से मुक्ति मिलती है (१५९।२३)।

"कार्तिक शुक्ल पक्षकी अष्टमी से मथुरा की परिक्रमा आरंभ की जाए। पहले विश्रांति नामक तीर्थ में स्नान करे, फिर पितरों और देवों की अर्चना करे (१६०।१)। नवमी के दिन शुचित होकर रात्रि में जागरण करे; तत्पश्चात् ब्राह्म मुहूर्त में उठकर यात्रा आरंभ करे (१६०।८)। तब दक्षिण कोटि नामक तीर्थ में प्रातः स्नान करे (१६०।९)। गणेश्वर, हनुमान की दीप-पुष्पहार से पूजा करके (१६०।१३) दीर्घविष्णु, पद्मनाभ के दर्शन करे (१६०।१४)। अपराजिता देवि वसुमति के दर्शन करके (१६०।१५) कंसवासनिका देवि, उग्रसेना देवि, चरच्चिका देवि, वधौटी देवि एवं दानवों का क्षय करनेवाली देवि के दर्शन करे (१६००।१५)। वहाँ से फिर दक्षिण कोटि तीर्थ जाकर (१६०।१८) तब वत्सपुत्र तीर्थ जाए। वहाँ से अर्कस्थल, वीरस्थल और कुशस्थल जाए (१६०।२०)। वहाँ से पुण्यस्थल और महास्थल को जाए। ये पांचों स्थल सर्वपापहारी हैं (१६०।२१)।

वहाँ से हयमुक्ति को जाकर—**'ऋषिभिर्गाथा गीता पुरातनी'** को सुने (१६०।२३) फिर अश्वमुक्ति को जाकर (१६०।२४) विख्यात शिवकुंड (१६०।२६) को जाए। वहाँ मल्लिका के दर्शन करके कदंबखंड को जाए (१६०।२७)। वहाँ से कृष्ण की रक्षा के लिए दक्षिण में स्थित रहनेवाली देवी चरच्चिका के दर्शन करे (१६०।२८) और तब पापहर वर्षखातकुंड को जाए (१६०।३०)। तत्पश्चात् भूतेश्वर के स्थान क्षेत्रपाल जाकर उनके दर्शन करे तब मथुरा की परिक्रमा सफल होती है (१६०। ३०)।

वहाँ से बलिहृद को जाए जहाँ कृष्ण क्रीड़ा करते थे। उनके दर्शन करके (१६०।३४) उस स्थान को जाए जहाँ कृष्ण और कुकुट ने मिलकर क्रीड़ा की थी। तदनंतर नारायण के स्थान की परिक्रमा कर (१६०।३९) आगे कृष्ण की पाली-पोसी हुई दो ब्राह्मण-स्त्रियों—कुब्जिका (कुबरी) और वामना के दर्शन करके वहीं गर्तेश्वर भगवान् के दर्शन करे (१६०।४१)। आगे महाविघेश्वरी[1] देवी के दर्शन करे, जिन्होंने कृष्ण की रक्षा की थी (१६०।४२-४३)। वहाँ से संकेतकेश्वरी के स्थान को जाकर उनके दर्शन पाए (१६०।४६)। वहीं महादेव गोकर्णेश्वर के दर्शन प्राप्त करे (१६०।४७) फिर सरस्वती नदी के दर्शन करके (१६०।४८) वहाँ साध्वी और महापातक नाशिनी गंगा के दर्शन करे, उनका स्पर्श करे, ध्यान करे और अपने सभी कार्य सफल बनावे (१६०।५०)।

तदनंतर भगवान् रुद्र के महादेव मुखाकार नामक मंदिर में जाए। फिर क्षेत्रपंत नामक क्षेत्र में वास करे (१६०।५१) और आगे जाकर उत्तर कोटि तीर्थ में गणेश्वरदेव के दर्शन करे (१६०।५२)। वहाँ से यमुना-जल में स्थित महातीर्थ को जाए (१६०।५६) फिर गार्ग्य तीर्थ को जाकर भद्रेश्वर के महातीर्थ सोमतीर्थ को जाए (१६०।५७)। सोमेश्वर के दर्शन करके वहाँ से सरस्वती संगम को जाए। तत्पश्चात् घंटाभरणतीर्थ, गरुड़तीर्थ (१६०।५९) होता हुआ धारालोटनतीर्थ, वैकुंठतीर्थ, खंडवेलकतीर्थ, मंदाकिनी और संयमनतीर्थ, असिकुंडतीर्थ को जाए (१६०।६०)।

फिर गोपीतीर्थ, मुक्तिकेश्वरतीर्थ, वयलक्ष, गरुड़तीर्थ को जाकर (१६०।६१) विश्रांति-संज्ञक तीर्थ को जाए। वहाँ से सप्तऋषियों द्वारा स्थापित अविमुक्तेशदेव के दर्शन करता हुआ (१६०।६३) अपनी मथुरा-परिक्रमा को सफल एवं पूर्ण करे (१६०।६४)। वहाँ से चलकर विश्रांतितीर्थ में फिर स्नान करना चाहिए और सुमंगला देवी के दर्शन लाभ करना चाहिए (१६०।६६)।"

भगवान् वराह बोले—"मैं मथुरा में चार रूपों द्वारा निवास करता हूं। (१) वाराह (१६०।४), (२) नारायण (१६०।११), (३) वामन (१६०।११) और (४) बलभद्र (१६०।३३)। जो मनुष्य असिकुंड (१६०।३३) में स्नान करके इन मूर्तियों का दर्शन-लाभ करता है, वह चारों समुद्रों-समेत पृथ्वी-परिक्रमा का फल पाता है।

इतिहास

आदिपुराण के ७४ व ७५ वें अध्याय में लिखा है ब्रह्मादिक देवताओं ने क्षीरसागराधिपति गरुड़ध्वज भगवान् की स्तुति की और भू-भार उतारने के लिए उनसे विनय की। भगवान्ने तथास्तु कहा। यह सुनकर कि देवकी के आठवें गर्भ में भगवान् जन्म लेंगे, कंस ने वसुदेव और देवकी को वंदी-गृह में डाल दिया। कृष्ण-जन्म होने के पश्चात् जो कन्या देवकी के हुई उसने कंस के हाथ से छूट कर और अष्टभुजी मूर्ति-धारण कर के कंस को चेतावनी दी कि तेरा नाश करने वाला जन्म ले चुका है। ७६ वें और ७७ वें अध्याय में लिखा है कि कंस ने तदनंतर देवकी और वसुदेव को कैद से मुक्त कर दिया। कृष्ण ने पूतना को मारा और राक्षसों के डर से सब लोग गोकुल छोड़ कर वृंदावन में जा बसे। ७८ वें, ७९ वें और ८० वें अध्याय में गोवर्धन पर्वत द्वारा अतिवृष्टि से गो-व्रज की रक्षा, धेनुकासुर और प्रलंबासुर का बध आदि की लीलाएँ हुईं। ८२ वें अध्याय में कंस द्वारा बलराम और कृष्ण को बलवान् बनने के पहले ही विचार करने की बात का उल्लेख है। ८५ वें अध्याय में कृष्ण द्वारा कंस का बध होता है, कृष्ण और बलराम वसुदेव-देवकी के पास जाते हैं, उग्रसेन को कारागृह से छुड़ाकर सिंहासनारुढ़ करते और अवंतिपुर निवासी सांदीपनि गुरु से छः दिनों में सभी विद्याएँ पढ़ लेते हैं। ८७ वें अध्याय में मगधाधीश जरासंध की कृष्ण से १७ बार पराजित होने की कथा है। जब वह १८ वीं बार युद्ध करने आया तो उसी समय दक्षिण समुद्र से कालयवन भी ससैन्य कृष्ण से लड़ने आ पहुँचा। कृष्ण ने अपने को इस समय निर्बल जान काठियावाड़ जाकर अम-

[1], यह आजकल 'महाविद्या देवी' के नाम से प्रसिद्ध है।

रावती के समान द्वारकापुरी बसाई और वहीं एक सुदृढ़ किला भी निर्माण कराया। मथुरावासियों को वहाँ बसाकर कृष्ण मथुरा वापस आए और कालयवन को राजा मुचुकुंद की गुफा में ले गए। मुचुकुंद की क्रोधाग्नि से कालयवन भस्म हो गया। ८८वें अध्याय में बलराम और रेवती के विवाह आदि का वर्णन है। ८९ वें अध्याय में रुक्मिणी-हरण, ९३ वें में उषा-अनिरुद्ध के विवाह का, ९६ वें अध्याय में सांब और दुर्योधन-पुत्री के विवाह का, ९८ वें में लौह-मूषल का समुद्र में फेंका जाना और एक टूटे हुए अंश को मछली का निगलना व मछली का एक लुब्धक द्वारा पकड़ा जाना, यादवों का आपस में कट मरना, कृष्ण की लुब्धक द्वारा हत्या, बलराम की यौगिक मृत्यु आदि का मार्मिक वर्णन है। साथ ही कृष्ण की रानियों, बलराम की रानियों तथा उग्रसेन आदि की रानियों का स्वर्गारोहण भी अंकित है। अर्जुन का द्वारका जाकर बचे-खुचे यादवों को पंचनद लाना, वहाँ आभीरों द्वारा उनका अपमान और यादव-स्त्रियों की छिछालेदर होने की गाथा भी उल्लिखित है। कृष्ण के संपूर्ण जीवन का इतिहास प्रत्येक पुराण में किसी न किसी रूप में विस्तार अथवा संक्षेप में दिया गया। पुराणों में से श्रीमद्भागवत आदि ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में तो कृष्ण-चरित्र का विशद वर्णन है। मथुरा और द्वारका प्रमुख रूप से और साथ ही भारत के अन्य नदी-नद पहाड़-पर्वत, ग्राम तथा नगर भी पुराणों में स्थान-स्थान पर आए हैं। कृष्ण-चरित का इतिहास ही मथुरा का इतिहास है, अन्यथा मथुरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही क्या है? शौरसेनी माथुर लोगों की पुण्यभूमि होनेवाली और यादवों का प्रथम चरण चिह्न पहचाननेवाली मथुरा नगरी ही है।

भौगोलिक परिचय

(मथुरा-मंडल)

वराहपुराण (अध्याय १५२, १५७ और १६२) के अनुसार 'मथुरा-मंडल' का प्रमाण २० योजन अर्थात् ८४ कोस का है। १५७ वें अध्याय में लिखा है कि इस मंडल को 'कमलवत्' मानना चाहिए, जिसके कर्णिका-स्थान में केशव भगवान् (श्लोक १८) स्थित हैं। मथुरा रूपी कमल के पश्चिमी दल में गोवर्धन-निवासी भगवान् (श्लोक ७), उत्तरी दल में श्री गोविंद भगवान् (श्लोक ५), पूर्वी दल में विश्रांति नामक ईश्वर और दक्षिणी दल में वराह भगवान् (श्लोक ४) हैं।

मथुरा-मंडल में मथुरा, वृंदावन, गोकुल, गोवर्धन आदि नगर और ग्राम एवं वन, कुंड, तड़ाग, मंदिर और असंख्य तीर्थों का विधान है। पुराणों में उनका विशद वर्णन है। साथ ही गंगा के समान ही गौरवशालिनी यमुना का भी पर्याप्त विवेचन किया गया है।

मथुरा

लगभग सभी पुराणों में स्थान-स्थान पर मथुरापुरी का उल्लेख किया गया है। इसकी भौगोलिक स्थिति पर भी बड़ा ही प्रामाणिक और युक्ति-युक्त प्रकाश डाला गया है, जिसकी पुष्टि भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रों से भी होती है। वराहपुराण में मथुरा की स्थिति पर निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण श्लोक आया है—

"गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी।
तयोर्मध्ये पुरीरम्या मथुरा लोकविश्रुता।।

—अध्याय १६५, श्लोक २३

वराहपुराण में वर्णन आया है कि मथुरा के पश्चिम भाग में दो योजन (अर्थात् ८ कोस) की दूरी पर—**'मथुरा पश्चिमेभागे अदूराद्योजन द्वयम्'** के अनुसार गोवर्धन नामक क्षेत्र परम दुर्लभ क्षेत्र है (१६४।१)। यहाँ 'वैवस्वत-सुता रम्या यमुना' बहती है (१५२।३४)। मथरा और गोवर्धन के बीच का आधुनिक अंतर १४ मील का है। बाबू साधुचरण प्रसाद विरचित 'भारत-भ्रमण' (प्रथमखंड) के

पृ० २४६ पर लिखा है कि ब्रजमंडल का कोस पुराणों के कोस के अनुसार माना जाता है। 'पुराण में चार हाथ का धनुष और एक सहस्र धनुष का कोस लिखा है'। इस दृष्टि से मथुरा और गोवर्धन की दूरी दो योजन = ८ कोस = ३२,००० हाथ के हुई और आधुनिक दूरी १४ मील = ७ कोस = ७३,९२० हाथ हुई। इन आँकड़ों के अनुसार यह विदित होता है कि आधुनिक मथुरा से प्राचीन काल की मथुरा का विस्तार गोवर्धन गिरि की ओर पश्चिम में काफी दूर तक था और वही विस्तृत मथुरा-मंडल अब अत्यंत सीमित हो जाने के कारण गोवर्धन गिरि से दूर होता चला गया। संभव है कि आधुनिक मथुरा और गोवर्धन गिरि के बीच में यदि पुरातत्त्व विभाग द्वारा खनन-कार्य कराया जाय तो प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश डालने वाली नवीन शोधों का सुराग लगे।

वराहपुराण (अध्याय १६३) में लिखा है—"अयोध्यापति राम ने रावण को मार कर वराह की मूर्ति को अयोध्या में स्थापित किया। जब शत्रुघ्न ने लवणासुर का वध किया तो इस मूर्ति को ले जाकर मथुरा में स्थापित की (श्लोक ६४)। पद्मपुराण के सृष्टि-खंड में लिखा है कि गंगा जी के दक्षिण किनारे श्री वामन भगवान् की प्रतिमा स्थापित करके श्री रामचंद्रजी ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और पुष्पक विमान पर चढ़ कर मथुरापुरी की यात्रा की। वहाँ सपरिवार ठहरे हुए शत्रुघ्न से मिलकर श्री रामचंद्रजी संतुष्ट हुए। उनका आगमन सुनकर समस्त मथुरावासी जिनमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी, उनके दर्शन करने आए। भगवान् मथुरा में पाँच दिन रहे और चलते समय शत्रुघ्न से बोले अब मथुरा के राज्य पर अपने दोनों पुत्रों का अभिषेक करो।

बाल्मीकि रामायण (सर्ग ६२) में लिखा है कि शत्रुघ्न को युद्ध-यात्रा में तत्पर देख कर भगवान् राम ने उनसे कहा कि मैं तुमको मधुनगर का राजा नियक्त करूँगा। तुम वहाँ जाकर यमुना के किनारे सुंदर-सुंदर जनपद और नगर बसाओ (श्लोक १५,१६,१७,१८)। विष्णुपुराण के अंश चार में स्पष्ट लिखा है कि शत्रुघ्न ने मधु-पुत्र लवण राक्षस का जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी था, हनन किया और मथुरा नामक नगर बसाया—'शत्रुघ्नेनाप्यमितबलपराक्रमो मधुपुत्रो लवणो नाम राक्षसो निहतो मथुरा च निवेशिता' (४।४।१०१)।

देवी भागवत (स्कंध चार अध्याय २०) में लिखा है कि यमुना नदी के किनारे मधुवन में लवण रहता था, शत्रुघ्न ने उसको मारकर मधुरा नामक नगरी बसाई और बाद में अपने पुत्रों को वहाँ का राज्य देकर स्वयं स्वर्ग को सिधारे।

विष्णपुराण के निम्नलिखित श्लोक भी इस बात की ओर पुष्टि करते हैं—

"कृत्य कृत्यमिवात्मानं मन्यमानस्ततो द्विज।
मधुसंज्ञं महापुण्यं जगाम यमुनातटम्॥
पुनश्च मधुसंज्ञेन दैत्येनाधिष्ठितं यतः।
ततो मधुवनं नाम्ना ख्यातमत्र महीतले॥
हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्।
शत्रुघ्नो मधुरां नाम पुरीं यत्र चकार वै॥"

अर्थात्, अपने को कृत-कृत्य-सा मानकर वह यमुना-तटवर्ती अति पवित्र मधुरा नामक वन में आया; क्योंकि पीछे उस वन में मधु नामक दैत्य रहने लगा था, इसलिये वह इस पृथ्वी-तल में 'मधुवन' नाम से विख्यात हुआ। वहीं मधु के पुत्र लवण नामक महाबली राक्षस को मारकर शत्रुघ्न ने मधुरा (मथुरा) नाम का पुरी बसाई।

गरुणपुराण में मथुरा को सात मोक्षदायिनी पुरियों में गिना गया है—

"अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरीं द्वारावतीं चैव सप्तैता मोक्षदायकाः॥"

जरासंध के आक्रमणों से पीड़ित होकर जब कृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका जाते हैं, तब का उल्लेख महाभारत में हुआ है।[1]

ललितविस्तर (पृ० २१) नामक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ में मथुरा को वैभवशालिनी और घनी आबादीवाली तथा कंस के वंशज राजा सुबाहु की राजधानी बताया है।[2] दिव्यावदान में मथुरा की रहनेवाली प्रख्यात गणिका 'वासदत्ता' का उल्लेख आया है—

"मथुरायां वासवदत्ता नाम गणिका तस्य दासी उपगुप्तसकाशं गत्वा गंधान क्रीणीति।।"[3]

यूनानी राजदूत मेगास्थनीज की प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडिका' के एक गद्यांश का अनुवाद करते हुए प्रिंसिपल एम० सी० क्रिंडिल कहते हैं—

"But that Hercules who is currently reported to have come as a stranger into the country, is said to have been in reality a native of India; that this Hercules is held in especial honour by the Souraseni, an Indian tribe possessing two large cities, Methora and Cleisobora, while a navigable river called the Iobares flows through their country."[4]

अर्थात्, लेकिन वह हर्कुलीज (कृष्ण) जिसे इस देश में आया हुआ एक अनजान व्यक्ति बताया गया है, वास्तव में भारत का ही निवासी है। इस हर्कुलीज को मेथोरा (मथुरा) और क्लेसोबोरा[5] (कृष्णपुर), जहाँ से होकर जहाजरानी के उपयुक्त नदी आयोबैरस (यमुना) बहती है, के अधिनायक शूरसेन लोग बड़े आदर और भक्ति-भाव से देखते हैं।

वैवस्वत मनु ने भी अपनी स्मृति में मथुरा के शूरसेन लोगों का उल्लेख किया है—

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशोवै ब्रह्मावर्तादनंतरः।।"

—खंड १ ; पृ० ११३-२।१६

यमुना

वराहपुराण में 'यमुना' को 'वैवस्वतसुता' कहा गया है (१५२।३४)। इसका दूसरा पर्याय 'कालिंदी' नाम से आया है (१५३।७)। कहा जाता है कि पांचाल-विषय में एक कांपिल्य नामक पुर था जो धन-धान्य से युक्त था और जहाँ राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। वहाँ के एक तिंदुक नाम के एक नाई ने कालांतर में अपने परिवार के विनष्ट हो जाने पर मथुरा आकर दृढ़व्रती होकर यमुना में स्नान करने लगा। उसके नहाने का स्थान बाद में 'तिंदुकतीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ (१५२।४८)। संयमनतीर्थ की कथा इस प्रकार है—एक दुष्ट स्वभाववाला पापी निषाद था। वह नैमिषारण्य में रहता था। किसी समय वह मथुरा गया और कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन कालिंदी के तट पर पहुँचा। यमुना में स्नान करने पर उसका मन संयम-पूर्ण (पवित्र) हो गया। तभी से संयमन तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ (१५३।५-८)। यमुना नदी के 'धारापतन-तीर्थ' में स्नान करने से 'नागलोक' मिलता है (१५४।१२-१३) और दिव्यमूर्ति चतुर्भुज भगवान् विष्णु का लोक प्राप्त होता है (१५४।१४)। यमुना और गोवर्धन के बीच में मथुरा है—

१. महाभारत (पूना-संस्करण) सभापर्व, अ० १३, श्लो० ६५।
२. डा० विमलचरण लॉ—ज्योग्रैफ़िकल एसेज, पृ० २६।
३. दिव्यावदान (कावेल और नीलवाला संस्करण) पृ० ३५२।
४. एम० सी० क्रिंडिल—'दि इंडिका आव एरियाना', पृ० १६-१७।
५. प्लाइनी ने इसे 'Charisobora' लिखा है। दे० वही, पृ० ६८ (फुटनोट)।

"गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी।
तयोर्मध्ये पुरीरम्या मथुरा लोकविश्रुता ॥"

—व० पु० १६५।२३

इसका अर्थ स्पष्ट है—'मथरापश्चिमेभागे अदूराद्योजन द्वयम्' के अनुसार गोवर्धन गिरि ठीक मथुरा के पश्चिम है और मथुरा के ठीक पूर्व में यमुना है। गोवर्धन और मथुरा की स्पष्ट दूरी का पुराणकार ने स्पष्ट उल्लेख करके मथुरा और यमुना की बीच की दूरी के संबंध में कहीं कुछ नहीं कहा, इसे उसकी उपेक्षा या भूल नहीं कह सकते हैं। वराहपुराण (अ० १५२।३४) में स्पष्ट इस बात का संकेत है कि यहाँ (मथुरा में ही) वैवस्वतसुता रम्या यमुना बहती है।

विष्णुपुराण में यमुना को—'सागरंगमा' (अंश ५।७।७) और 'कालिंदी लोलकल्लोलशालिनीम्' कहा है (अं० ५।७।२)। वसुदेव जब भगवान् कृष्ण को लेकर यशोदा के यहाँ जाने लगे तब रास्ते में यमुना पार करनी पड़ी थी। यमुना उस ओर गहरी थी और हहराती हुई बह रही थी; किंतु भगवान् के चरण का स्पर्श पाते ही वह गम्या हो गई—

"यमुना चातिगंभीरां नानावर्त्तशताकुलाम्।
वसुदेवो वहन्विष्णुं जानुमात्रवहां ययौ ॥"

—वि० पु० ५।३।१८

हलायुध बलराम एक बार वृंदावन में रमण कर रहे थे। उस समय उन्होंने यमुना को वृंदावन में बुलाना चाहा, पर उसके इनकार करने पर उन्होंने अपने हल से उसे खींचा। तब वह वृंदावन के पास बहने लगीं (५।२५।१४)।

जेष्ठ शुक्ल की द्वादशी के दिन यमुना-जल में स्नान करके मथुरा में हरि का दर्शन करे तो पुरुष को अत्यंत फल-प्राप्ति होती है (६।८।३१-४०)। यमुना में स्नान करके पितृगण का आदरपूर्वक अर्चन करने से मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं (३।१४।१८)।

ब्रह्मपुराण में यमुना-समेत सभी नदियों को—**'विश्वमातरः सर्वाः सर्वाः पापहराः स्मृताः'** कहा है (२७।४०)। सागरंगमा और—'कालिंदी लोलकल्लोलशालिनीम्' के भी उल्लेख आए हैं।

शिवपुराण (खंड ८ अध्याय ११ वाँ) में वर्णन है कि सूर्य की पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव और यम नामक दो पुत्र और यमुना नामक एक कन्या उत्पन्न हुई।

पद्मपुराण में यमुना-छवि का वर्णन इस प्रकार दिया है—

"कालिंदी चाकरोद्यस्य कर्णिकायाः प्रदक्षिणाम्।
लीलानिर्वाणगंभीरं जलं सौरभमोहनम् ॥
आनंदामृततन्मि (संमि) श्रमकरंदघनालयम्।
पद्मोत्पलाद्यैः कुसुमैर्नानावर्णसमुज्ज्वलम् ॥
चक्रवाकादिविहगैः मंजुनानाकलस्वनैः।
शोभमानं जलं रम्यं तरंगातिमनोहरम् ॥
तस्योभयतटीरम्या शुद्धकांचननिर्मिता।
गंगाकोटिगुणः प्रोक्तो यत्र स्पर्शवराटकः ॥
कर्णिकायां कोटिगुणो यत्र क्रीडारता हरिः।
कालिंदीकर्णिका कृष्णमभिन्नमेकविग्रहम् ॥

—प० पु० पृ० ५८५, श्लोक ७४-७८

अर्थात्, "कालिंदी के दक्षिण में 'कर्णिका तीर्थ' स्थित है। यहाँ कालिंदी का जल गंभीर और सौरभ-युक्त होता है। रक्तवर्ण के कमल तथा भाँति-भाँति के पुष्प अपनी-अपनी छटा लिए मकरंद की सुगंध बघार रहे हैं। चक्रवाक (चकवा) आदि पक्षीगण नाना-प्रकार का कलरव कर रहे हैं और

तरंगें लेते हुए, लहरें मारते हुए कालिंदी के शोभित जल में रमण कर रहे हैं, जो अपने दोनों तटों-समेत ऐसी लगती हैं मानो सोने की निर्माण की गई हो। इस पवित्र तीर्थ के जल को स्पर्श करने से ऐसा फल प्राप्त होता है, जो गंगा-जल के स्पर्श करने के फल का कोटि-गुणा है। इस तीर्थ में भगवान् हरि क्रीड़ा किया करते हैं। यथार्थ है कि कालिंदी और कर्णिका अभिन्न हैं—भगवान् कृष्ण के लिए भी अभिन्न हैं।

यूनानी इतिहासकार मेगास्थनीज़ ने यमुना को 'Jobares'[1] अथवा 'Jobares'[2] लिखा है। प्लाइनी इसे 'Jomanes'[3] के नाम से पुकारता है और टालेमी ने इसका नाम 'Diamounas' दिया है।[4]

वन

(१) **तालवन**—यहाँ धेनुकासुर को बलराम ने मारा था (व० पु० १५३।३५)। यह वन मथुरा के पश्चिम में अर्धयोजन (२ कोस) की दूरी पर स्थित है, जिसकी रक्षा धेनुकासुर करता था। यहाँ के कुंड में नील कमल खिलते हैं और स्नान करने से मनुष्य को मनोवांछित फल मिलता है (व० पु० १५७।३६-४०)। यह वन ताल-वृक्षों से पूरित था (विष्णुपुराण (५।८।१)। ब्रह्मपुराण (१८६।१-१२) में लिखा है कि तालवन में राम और केशव गायों को चराते हुए वन में भ्रमण करते हुए घूमने लगे। वहाँ खर एवं गर्दभाकृतिवाला मांसाहारी दानव धेनुक रहता था। उस वन में ताड़ (ताल) वृक्ष होते थे, जिनमें फल लगते थे—'तालवनं रम्यं फलसंपत्समन्वितम्' जो वृक्ष से गिरकर पृथ्वी पर ढेर के ढेर लग जाते थे—'क्षणेनोलंकृता पृथ्वी पक्वेस्ताल फलस्ताय' (१८६।१२)। इसे देखने से यात्री नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)।

(२) **मधुवन**—मथुरा में विष्णु-स्थान रूप यह एक प्रसिद्ध और रमणीक वन है। इसके कुंड में स्नान करने का, विशेषकर भाद्रपद शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन बड़ा माहात्म्य होता है (वराहपुराण—१५३।३३-३४)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। मथुरा का मधुवन अत्यंत उत्तम है (पद्म पु० पातालखंड—६९ वाँ अध्याय)।

(३) **कुंदवन**[5]—यहाँ भाद्रपद कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन कुंड में स्नान करने से मनुष्य को रुद्रलोक की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।३६)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। कुमुदवन (पद्मपुराण-पातालखंड-६९ वाँ अध्याय) संभवतः कुंदनवन का ही पर्याय है।

(४) **काम्यकवन**[6]—यह वन अन्य वनों से श्रेष्ठ है। इस वन में सर्व पापों से मोक्ष देनेवाला 'विमल कुंड' है (व० पु० १५३।३७-३८)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। काम्यवन (पद्मपुराण, पातालखंड-६९ वाँ अध्याय) संभवतः काम्यकवन ही है।

1. जे० डब्ल्यू० एम० सी० क्रिंडिल—'दि इंडिका ऑव एरियन' १८७६ (संस्करण); पृ० १६-१७।
2. वही, पृ० ८९।
3. "Amnis Jomanes in Gangem per Palibothros decurrit inter oppida Methora et Charisobora." —वही, पृ० ९८।
4. वही, पृ० ९८।
5. इसे आजकल 'कमोदवन' कहते हैं।
6. कामवन।

(५) **बकुलवन**—यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को अग्निलोक प्राप्त होता है (व० पु० १५३।३९)। पद्मपुराण (पातालखंड-६९ अध्याय) में इसका उल्लेख है। संभवतः वराहपुराण १७।१-३ का बहुलवन यही बकुलवन है, जो यमुना-पार के मलयार्जुन तीर्थ के पास ही स्थित है।

(६) **भद्रवणवन**—यह यमुना के उस पार स्थित है। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य भगवान् वराह का भक्त और तद्रूप—मत्परायण हो जाता है और इस वन के प्रभाव से यात्री को नागलोक की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।४०-४१)। यहाँ जाते यात्री नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१ और पद्मपुराण-पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय)।

(७) **खदिरवन**—यह लोक-विश्रुत तीर्थ है। यहाँ की यात्रा करने से नर को भगवान् वराह का लोक प्राप्त होता है (व० पु० १५३।४२)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। (पद्मपुराण पातालखंड-६९ वाँ अध्याय) में भी इसका उल्लेख है।

(८) **महावन**—भगवान् वराह को यह वन अति प्रिय है। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को इंद्रलोक की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।४३)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। पद्मपुराण (पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय) में इसे गोकुल का अत्युत्तम वन कहा गया है। बाबू साधुचरण का कथन है कि 'गोकुल' (वर्तमान गोकुल) से लगभग एक मील दूर महावन (पुराना गोकुल) स्थित है (भारत-भ्रमण, प्रथम खंड पृ० २८७)।

(९) **भांडीरवन**—यहाँ वासुदेव भगवान् के दर्शन करने से यात्री को पुनर्जन्म से मुक्ति मिल जाती है (व० पु० १५३।४७)। भांडीरक नामक तीर्थ अति उत्तम है (व० पु० १५६।३)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। विष्णपुराण (५।९।२) में 'भांडीरवट' नामक एक वृक्ष का उल्लेख आया है और पद्मपुराण के (पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय) में भी।

(१०) **लोह-जंघवन**—यह वन सर्वपातक विनष्ट करनेवाला है (व० पु० १५३।४४)। लोहार्गल वन में जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। पद्मपुराण (पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय) में इसे लोहवन कहा गया है।

(११) **बिल्ववन**—इसे देवगण तक पूजते हैं। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को ब्रह्मलोक का लाभ होता है (व० पु० १५३।४५)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)।

(१२) **वृंदावन**—वृंदावन तीर्थ में केशी नामक राक्षस मारा गया था। यहाँ पिंडदान करने से गया में किये गए पिंडदान का-सा पुण्य-फल मिलता है। यहाँ कालिंदी के प्रसिद्ध सूर्यतीर्थ में कालिय नाग रहता था (१५६।१०-१४-व० पु०)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। वृंदावन-वासी गोविंद मथुरा के उत्तर में बसते हैं (व० पु० १६३)। भगवान् वराह पृथ्वी से कहते हैं—

"वृंदावनं द्वादशकं वृंदया परिरक्षितम्।
मम चैव प्रियं भूमे महापातकनाशनम्॥
वृंदावनंच गोविंदं ये पश्यंति वसुंधरे।
न ते यमपुरं यांति यांति पुण्यकृतां गतिम्॥"

—व० पु० १५३।४८-४९

अर्थात् हे वसुंधरे, ब्रज के द्वादश वनों में वृंदावन भी है, जो सदैव वृंदा देवी द्वारा रक्षित रहता है। जो जन महा पातक-विनाशी वृंदावन और वहाँ के श्री गोविंदजी के दर्शन करते हैं, वे कदापि यमपुर नहीं जाते, प्रत्युत् सद्गति को प्राप्त होते हैं।"

विष्णुपुराण (अंश ५।६।२८ और अंश ५।७।१) में वृंदावन का उल्लेख है। लगभग सभी पुराणों में वृंदावन को गोविंद भगवान् का आवास कहा गया है। वृंदावन में अधिकतर कदंब के वृक्ष होते हैं (वि० पु० ५।२५।४)।

ब्रह्मपुराण (१८५।१ और १८६।२३-२४) में भी वृंदावन का रमणीक वर्णन किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण (कृष्ण जन्म खंड, ११ वाँ अध्याय) में लिखा है कि सत्ययुग के एक राजा केदार की पुत्री वृंदा ने जिस वन में तप करके वृंदावन-विहारी कृष्ण को पतिरूप में प्राप्त किया था, वही वन 'वृंदावन' कहलाया।

श्रीमद्भागवत (स्कंध १०—अध्याय ११) में कालिय-दमन की वृंदावन स्थित कालीदह में संपन्न लीला का उल्लेख है।

पद्मपुराण में भी वृंदावन विषयक पर्याप्त सामग्री दी गई है। भगवान् कृष्ण को वृंदावनेश्वर (पृ० ५८६) और राधा को वृंदावनेश्वरी (पृ० ५८७) की उपाधियों से विभूषित किया गया है। वृंदावन का वर्णन करते हुए पुराणकार ने लिखा है कि रमणीक वृंदावन में बड़े-बड़े वृक्ष झूमते हैं। जिनके नीचे सुरभी गाएँ बैठकर विश्राम किया करती हैं। यहाँ स्त्री-रूप लक्ष्मी और पुरुष-रूप विष्णु का वास है (प० ५८५।६१)। मदमाती कोकिलें और भौंरे मनोहर रूप से कूजन करते हैं। कपोत और शुक सहस्रों की संख्या में संगीत अलापा करते हैं। मोद में विभोर होकर मोर-गण (भुजंगशत्रु) यहाँ खूब नर्तन करते हैं। सुगंधित पराग (रेणु) से परिपूरित नाना-प्रकार के पुष्प विकासमान होते रहते हैं (प० ५८५।६४-६५)।

इसी पुराण में अन्यत्र लिखा है—

"सहस्रदलपद्मस्य वृंदारण्यं वराटकम्।
यस्यस्पर्शनमात्रेण पृथ्वी धन्या जगत्त्रेय ।।
गुह्याद्गुह्यतरं रम्यं मध्ये वृंदावनं भुवि।
अक्षरं परमानंदं गोविंदस्थानमव्ययम् ।।"

—प० पु० ५८५।७०-७१

अर्थात् वृंदावन रूपी कमल सहस्रदली है। इसके स्पर्शमात्र से ही पृथवी त्रैलोक्य में धन्या कह कर मानी गई है। पृथवी के मध्य में स्थित यह वृंदावन अति रहस्य-मय और रमणीक स्थल है। यह गोविंद का अक्षर, अव्यय एवं परमानंदमय स्थान है।

इस वृंदावन में इसके अंश के अंश वैकुंठ आदि सभी लोक विद्यमान रहते हैं—**'वैकुंठादि-तदंशांशं स्वयं वृंदावन भुवि'** (पद्म० प० ५८३।६)। श्री वृंदावन की स्थिति यमुना के दक्षिण में है। इसमें गोपेश्वर नामक एक शिवलिंग की प्रतिष्ठापना भी की गई है—

"श्रीमद्वृंदावनं रम्यं यमुनायाः प्रदक्षिणम्।
शिवलिंगमधिष्ठानं दृष्टं गोपीश्वराभिधेम् ।।"

—पद्म०; पृ० ५८४।३६

एक अन्य स्थान पर लिखा है—

"पूर्णामृतनिधेर्मध्ये द्वीपं ज्योतिर्मयं स्मरेत्।
कालिद्यावेष्टितं तत्र ध्याये वृंदावनं वनम् ।।"

—पद्म०; पृ० ५९७।१३५

अर्थात्, "कालिंदी से घिरा हुआ वृंदावन एक ज्योतिर्मय द्वीप के समान है।"

(१३) **श्रीवन**—इसका उल्लेख पद्मपुराण के पाताल खंड, अध्याय इस में आया है।

पद्मपुराण (पाताल खंड—६९ अध्याय) में लिखा है कि बारह वनों (भद्रवन, श्रीवन, लोहवन, भांडीरवन, महावन, तालवन, खदिरवन, नकुलवन, कुमुदवन, काम्यवन, मधुवन और वृंदावन) में से सात यमुनाजी के पश्चिमी तट पर और पाँच पूर्वी तट पर अवस्थित हैं। उन में भी गोकुल का महावन, मथुरा का मधुवन और वृंदावन अत्यंत श्रेष्ठ वन हैं। इन बारहों को छोड़कर और भी बहुत से वन हैं।

"कर्णिकापर्णविस्तारं रहस्यद्रुममीरितम् ।
प्रधानं द्वादशारण्यं माहात्म्यं कथितंक्रमात् ।।
भद्रश्रीलोहभांडीरमहातालखदीरकाः (?) ।
बकुलं कुमुदं काम्यं मधुवृंदावनं तथा ।।
द्वादशैतावती संख्या कालिंद्याः सप्तपश्चिमे ।
पूर्वे पंचवनं प्रोक्तं तत्राऽस्ति गुह्यमुत्तमम् ।।
महारण्यं गोकुलाख्यं मधुवृंदावनं तथा ।
अन्यच्चोपवनं प्रोक्तं कृष्णक्रीडारसस्थलम् ।।"

—प० पु० ५८३ श्लो० १५,१६,१७,१८

गोकुल

पुराणों में कृष्ण-चरित्र के सिलसिले में गोकुल का उल्लेख हुआ है, परंतु इसके विषय में विस्तृत सामग्री का अभाव है। पद्मपुराण (पृ० ५८४, श्लो० २१-२६) में गोकुल को सहस्रपत्री कमल की उपमा दी गई है—

"सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।"

तीर्थ-माहात्म्य

(१) **विश्रांति तीर्थ**—यह त्रैलोक्य-विश्रुत तीर्थ है। हे देवि, इसमें स्नान करने से मनुष्य को मेरा लोक प्राप्त होता है (व० पु० १५२।३४-)। सब तीर्थों में स्नान करने का फल एक साथ केवल यहीं स्नान करने से प्राप्त हो जाता है (व० पु० १५२।३५)। मथुरा-परिक्रमा यहीं से आरंभ की जाती है (व० पु० १६०)। मथुरा नगर के ५ कोस की परिक्रमा विश्राम घाट से आरंभ होकर करीब ६ घंटे में फिर उसी जगह समाप्त होती है (साधुचरण कृत भारत-भ्रमण, प्रथम खंड, पृ० २४१)।

(२) **प्रयाग तीर्थ**—इस तीर्थ में स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है और मोक्ष-पाकर स्नान करनेवाला भक्त मेरे लोक को जाता है (व०पु० १५२।३५-३६)। 'यहाँ वेणीमाधव की मूर्ति है (भारत-भ्रमण, प्र०खं० पृ० २४२)।

(३) **कनखल तीर्थ**—यह परम गुह्य तीर्थ है (व० पु० १५२।४०)। आधुनिक श्यामघाट में यह है (भा० भ्र०, प्र०खं० पृ० २४२)।[१]

(४) **तिंदुक तीर्थ**—आधुनिक श्यामघाट में यह तीर्थ है (भा० भ्र०, प्र०खं० पृ० २४२)।[२] देखिए यमुना-वर्णन।

(५) **सूर्य तीर्थ**—यह तिंदुक तीर्थ के पास है। यहाँ वैरोचन-पुत्र राजा बलि ने सूर्य की आराधना की थी और भगवान् सूर्य से 'चिंतामणि' नामक एक दिव्य मणि प्राप्त की थी। इस तीर्थ में स्नान करने से राजसूय यज्ञ संपन्न करने का फल मिलता है (व०पु० १५२।५६-५९)। 'यहाँ सूर्य की मूर्ति है' (भा०भ्र०, प्र०खं० पृ० २४२)।[३]

(६) **ध्रुव तीर्थ**—इस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को ध्रुवलोक मिलता है। यहाँ लोग श्राद्ध-आदि शुचि-कर्म करते हैं (व० पु० १५२।५९-६०)। 'यहां पिंडदान होता है। घाट के पास एक टीले पर छोटे मंदिर में ध्रुवजी की शुक्ल मूर्ति है। इसी स्थान पर उन्होंने तप किया था (भा० भ्र०, खं० पृ० २४२)।

[१]. यह श्यामघाट से ही नहीं, रामघाट से भी दक्षिण में आगे है।
[२]. यह भी श्यामघाट, रामघाट और कनखल तीर्थ (क्षेत्र) से आगे है।
[३]. यहाँ श्रीकृष्ण-पुत्र 'सांब' ने भी तपस्या की है।

(७) **ऋषि तीर्थ**—यह तीर्थ ध्रुव तीर्थ के दक्षिण में स्थित है (व० पु० १५२।६४)।

(८) **मोक्ष तीर्थ**—यह तीर्थ ऋषि तीर्थ के दक्षिण में स्थित है (व०पु० १५२।६४)। 'यहाँ से यमुना जी छूट जाती हैं। दाहिने घूमना होता है। यहाँ सप्तर्षियों का टीला है, जहाँ सफेद मिट्टी (भस्म) मिलती है, जिसको लोग यज्ञ की विभूति कहते हैं। टीले पर साधुओं का मठ है (भा०अ०, प्र० खं० पृ० २४२)।

(९) **कोटि तीर्थ**—यह देव-दुर्लभ तीर्थ मोक्ष तीर्थ के समीप ही है। यहाँ पितरों और देवताओं को जलांजलि दी जाती है (व०पु० १५२।६५-६६)।

(१०) **वायु तीर्थ**—यहाँ पिंडदान देने से मनुष्य पितृ-लोक को जाता है। यदि जेठ मास में यहाँ पिंडदान किया जाय तो गया में किये गए पिंडदान के समान पितृगणों की तृप्ति होती है (व० पु० १५२।६७-६८)।

(११) **संयमन तीर्थ**—देखिए यमुना वर्णन। यह तीर्थ शिवकुंड के उत्तर में नौ तीर्थों के पास है (व० पु० १५३।१-३) और देखिए (व० पु० १५९।६०)

(१२) **विमल कुंड**—यह कुंड कांम्यक वन में स्थित है और सब पापों से मोक्ष देने वाला है (व० पु०-१५३।३७-३८)।

(१३) **धारापतन तीर्थ**—यह तीर्थ यमुना नदी पर है। इसमें स्नान करने से नागलोक की प्राप्ति होती है और मनुष्य दिव्यमूर्ति चतुर्भुज विष्णु-लोक को जाता है (व०पु० १५४।१२-१४)। 'पत्थर का घाट बना है' (भा० अ०, प्र० खं० पृ० २८४)।

(१४) **नाग तीर्थ**—यह तीर्थ अन्य तीर्थों में उत्तम है। इसमें स्नान कर लेने से पुनर्जन्म की यातना मनुष्य को नहीं भोगनी पड़ती (व०पु० १५४।१५-१६)।

(१५) **घंटाभरण तीर्थ**—यह सर्व पाप-प्रमोचन तीर्थ है। इसके जल में डुबकी लेने से सूर्य-लोक मिलता है और अंत समय में मनुष्य मेरे लोक को जाता है व० पु० १५४। १६-१७) और देखिए (व० पु० १५९।५९)।

(१६) **ब्रह्मलोक तीर्थ**—यह अत्यंत प्रसिद्ध और तीर्थोत्तम है। यहाँ स्नान करने तथा यहाँ का जल-पान करने से मनुष्य विष्णु-लोक को जाता है (१५४।१९-व०पु०)।

(१७) **सोम तीर्थ**—यमुना-तट पर स्थित यह एक पवित्र तीर्थ है। यहाँ द्वापर-युग में सोम (चंद्रमा) को विष्णु के दर्शन हुए थे (व०पु० १५४।२०)। 'यहाँ सोमतीर्थ और पत्थर के घाट के ऊपर सोमेश्वर महादेव हैं' (भा०अ०, प्र० खं०, पृ० २४४)।

(१८) **सरस्वती-पतन तीर्थ**—इस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य योगी (यति) हो जाता है (व० पु० १५४।२२-२३)।

(१९) **दशाश्वमेध तीर्थ**—यह तीर्थ ऋषियों द्वारा पूजा जाता है। इसमें नियमपूर्वक स्नान करने से स्वर्ग-प्राप्ति दुर्लभ नहीं होती (व० पु० १५०।२५-२६)। 'एक ओर थोड़ा घाट बंधा हुआ है। वर्षा-काल में यमुना यहाँ आती हैं।' (भा०अ०, प्र० पृ० २४४)।

(२०) **मानस तीर्थ**—यह तीर्थ मथुरा के पश्चिम में स्थित है। ब्रह्मा द्वारा इसका निर्माण होने के कारण ऋषिगण इसकी आराधना करते हैं (व० पु० पु० १५४।२६-२७)।

(२१) **विघ्नराज तीर्थ**—गणपति गजानन का यह तीर्थ मानस तीर्थ के पास ही है। अपने जल में स्नान करनेवालों को विघ्नों से मुक्त करता है (व० पु० १५४।२८-२९)।

(२२) **कोटि तीर्थ (द्वितीय)**—इस परम पवित्र तीर्थ में स्नान मात्र से एक करोड़ गौवें दान करने का फल मिलता है।

(२३) **शिवक्षेत्र तीर्थ**—कोटि तीर्थ (द्वितीय) से आध कोस की दूरी पर यह तीर्थ स्थित है। यहीं बैठकर भगवान् हर मथुरा की रक्षा करते हैं। यहाँ के जल में स्नान करने से व जल पीने से मथुरा-मंडल

के सभी तीर्थों का फल प्राप्त होता है (व० पु० १५४।३४-३५)। इस वर्णन से प्रगट है कि उस समय भी वैष्णव-संप्रदाय शैव-संप्रदाय के प्रति कितना सहिष्णु एवं उदार था।

(२४) **अक्रूर तीर्थ**—भगवान् वराह का यह अत्यंत प्रसिद्ध तीर्थ है।' यहाँ स्नान-लाभ करनेवाले मनुष्य को राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के संपन्न करने का फल प्राप्त होता है। यह तीर्थ तीर्थराज है और गुह्य तीर्थों से भी गुह्य है। जो फल प्रयाग तीर्थ में स्नान करने से होते हैं, वे ही यहाँ प्राप्त होते हैं। इस तीर्थ के समान तीर्थ न हुआ है न होगा (व० पु० १५५।५-६ ; १५५।७१)।

(२५) **वत्सक्रीड़न तीर्थ**—यह तीर्थ भगवान् को प्रिय है। यहाँ स्नान करने से वायुलोक की प्राप्ति होती है (व०पु० १५६।१-२)।

(२६) **भांडीरक तीर्थ**—संभवतः यह तीर्थ भाँडीरवन का है। इसे (व० पु० १५६।१०) में अति उत्तम तीर्थ कहा गया है।

(२७) **वृंदावन तीर्थ**—संभवतः यह तीर्थ वृंदावन का है। यहीं केशी नामक राक्षस का बध हुआ था। यहाँ पिंडदान करने से गया-तुल्य फल होता है। यहाँ के एक अन्य (सूर्य तीर्थ) में जो कालिंदी-तट पर है, कालिय-दमन-लीला हुई थी (व० पु० १५६।१०-१४)।'

(२८) **मलयार्जुनकुंड तीर्थ**—यह जमुना-पार है। यहाँ जेठमास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को स्नान करने का बड़ा माहात्म्य है। यहीं पास ही बहुलवन है (व०पु० १५७।१-८)।

(२९) **भांडह्रद तीर्थ**—(व० पु० १५७।१०)।

(३०) **अर्कस्थल कुंड**—भांडह्रद के पास स्थित है (व० पु० १५७।११))। यह मथुरा-परिक्रमा की यात्रा में पड़ता है (व० पु० १६०।२०)।

(३१) **विमलोदक कूप**—इसका नाम सप्त सामुद्रिक कूप भी है (व०पु० १५७।१३)। इसका जल जाड़े में गर्म और गर्मी में ठंढा रहता है और न वर्षा-काल में बढ़ता है और न गर्मी में सूखता है। जैसे—

> **"हेमंते तु भवेच्चोष्णां सीतलं ग्रीष्मके भवेत् ।**
> **न वर्धते च वर्षासु ग्रीष्मे चापि न हीयते ।।"**
>
> —व० पु० १५७।२४।२५।

(३२) **विरस्थल क्षेत्र**—भगवान् वराह का परम गुह्य क्षेत्र हैं। यहाँ जल में कमल खिले हुए हैं (व० पु० १५७।२८-२९)। यह क्षेत्र मथुरा की परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है (व०पु० १६०।२०)

(३३) **कुशस्थल क्षेत्र**—यह विरस्थल के पास ही है (व० पु० १५७।१७)। यह क्षेत्र मथुरा की परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है (व० पु० १६०।२७)।

(३४) **पुष्पस्थल क्षेत्र**—यह शिव का क्षेत्र है और कुशस्थल क्षेत्र के समीप है (व. पु. १५७।१९)।

(३५) **गोपीश्वर तीर्थ**—यह तीर्थ महापातकों का नाश करने वाला है। यहाँ कृष्ण सोलह हजार गोपियों के साथ स्मरण करते थे (व० पु० १५७।२१)।

(३६) **वसुपत्र तीर्थ**—यह तीर्थ परमोत्तम और पुण्यमय है (व०पु० १५७।३५)।

(३७) **फाल्गुन तीर्थ**—यह मथुरा के दक्षिण में है (व० पु० १५७।३६)।

(३८) **वृषभांजन तीर्थ**—यह दुर्लभ तीर्थ है (व० पु० १५७।३७)।

(३९) **तालवनकुंड तीर्थ**—देखिए तालवन-प्रकरण। इस तीर्थ में स्नान करने से मनवांछित फल मिलता है (व०पु० १५७।४०)।

(४०) **संपीठक क्षेत्र**—भगवान् वराह का यह क्षेत्र है। यहाँ के कुंड का जल मंगलमय और उत्साहवर्धक है। यहाँ स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है (व० पु० १५७।४१)।

(४१) **मुचुकुंद तीर्थ**—(व० पु० १५८।५९)

(४२) **चतुःसामुद्रिक कूप तीर्थ**—(व० पु० १५८।४२)। यह तीर्थ त्रैलोक्य विश्रुत है और इसमें स्नान करने से मनुष्य को देवताओं के साथ रहने का लाभ मिलता है।

(४३) **दक्षिणकोटि तीर्थ**—(व०पु० १६०।१९)। यह मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है।

(४४) **वत्सपुत्र तीर्थ**—(व०पु० १६०।२०) यह मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है।

(४५) **महास्थल तीर्थ**—(व० पु० १६०।२१)। यह क्षेत्र मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है।

(४६) **हयमुक्ति तीर्थ**—व० पु० १६०।२४)। यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है।

(४७) **अश्वमुक्ति तीर्थ**—(व० पु० १६०।२४)। यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है।

(४८) **शिवकुंड तीर्थ**—(व० पु० १६०।२६)। यहाँ मल्लिका देवी के दर्शन होते हैं। यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है।

(४९) **कदंबखंड तीर्थ**—(व० पु० १६०।२७)। मथुरा-परिक्रमा करनेवाले यहाँ योगिनी चर्चिका देवी के दर्शन करते हैं। यथा—

"कदंबखंडकं नंदं वनं नंदीश्वरं तथा।
नंदनं वनखंडं च पलाशाशोककेतकी ॥"

—पद्म० पा० खं० पृ० ५८४, १९.

(५०) **वर्षखात कुंड**—यह पापहर तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है (व०पु०-१६०।३०)।

(५१) **क्षेत्रपाल तीर्थ**—(व० पु० १६०।३०)। यह भूतेश्वर शिव का स्थान है। मथुरा-परिक्रमा की यात्रा में यह पड़ता है।

(५२) **बलिहद तीर्थ**—यहाँ कृष्ण जल-क्रीड़ा करते हैं। (व० पु० १६०।३४) मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में यह पड़ता है।

(५३) **नारायण-स्थान तीर्थ**—(व० पु० १६०।३९) मथुरा-परिक्रमा में पड़ता है।

(५४) **संकेतकेश्वरी तीर्थ**—(व० पु० १६०।४६) मथुरा-परिक्रमा में यहीं महादेव गोकर्णेश्वर के दर्शन होते हैं।

(५५) **विघ्नराज तीर्थ**—(व० पु० १६०।४९) मथुरा-परिक्रमा।

(५६) **महादेवमुखाकार मंदिर तीर्थ**—(व० पु० १६०।५१) मथुरा परिक्रमा।

(५७) **क्षेत्रपंत तीर्थ**—(व० पु० १६०।५१) मथुरा-परिक्रमा।

(५८) **उत्तर-कोटि तीर्थ**—(व० पु० १६०।५२) मथुरा परिक्रमा।

(५९) **महातीर्थ**—यह यमुना तट पर है (व० पु० १६०।५६)। मथुरा-परिक्रमा।

(६०) **गार्ग्य तीर्थ**—(व० पु० १६०।५७) मथुरा-परिक्रमा।

(६१) **सोम तीर्थ**—(व० पु० १६०।५७) मथुरा परिक्रमा।

(६२) **सरस्वती-संगम तीर्थ**—(व० पु० १६०।५९) मथुरा परिक्रमा और देखिए,—व० पु० १६०।४८।

(६३) **गरुड़ तीर्थ**—(व० पु० १६०।५९) मथुरा-परिक्रमा।

(६४) **धारालोपन तीर्थ**—(व० पु० १६०।६०) मथुरा -परिक्रमा।

(६५) **वैकुंठ तीर्थ**—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा। यहाँ एक मिथिलावासी को यहीं शांति मिली थी जो ब्रह्म हत्या का पातकी था (व० पु० १६३।१-१०)। 'यह पत्थर का घाट है, जिस पर पानी में निकले हुए पांच व छः सुंदर पुस्ते हैं' (भा० अ०, प्र० खं० पृ० २४५)।

(६६) **खंडवेलक तीर्थ**—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा।

(६७) **मंदाकिनी तीर्थ**—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा।

(६८) **असिकुंड तीर्थ**[१]—(वि० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा और देखिए (व० पु० १६३।१३)।

चारों सागरों से घिरी हुई पृथ्वी पर जितने तीर्थ हैं, उनमें मथुरा के तीर्थ अधिक फल देने-

वाले हैं, पर इनमें से भी असिकुंड तीर्थ महत्तर है (व० पु० १६६।२८)।

(६९) **गोपी तीर्थ**—(व० पु० १६०।६१) मथुरा-परिक्रमा।

(७०) **मुक्तिकेश्वर तीर्थ**—(व० पु० १६०।६१) मथुरा-परिक्रमा।

(७१) **गरुड़ तीर्थ**—(व० पु० १६०।६१) मथुरा-परिक्रमा।

(७२) **चक्रतीर्थ**—यह तीर्थ मथुरा के उत्तर में स्थित है। यहाँ भद्रेश्वर महादेव के दर्शन होते हैं (व० पु० १६२।१, ४६, ५७)। यहाँ आने पर शहर और यमुना मिल जाती हैं। घाट पत्थर से बना है (भा० अ०, प्र० खं० पृ० २४४)।

(७३) **सौकरव तीर्थ**—(व० पु० १६३।३)।

(७४) **गंधर्व तीर्थ**—(व० पु० १६३।१३)।

(७५) **गोवर्धन क्षेत्र**—(व० पु० १६४)। "यह मथुरा के पश्चिम में दो योजन (आठ कोस) पर स्थित है। वहाँ एक तालाब है जिसमें चार तीर्थ हैं—(१) पूर्व में इंद्र तीर्थ है, (२) दक्षिण में यम तीर्थ है, (३) पश्चिम में वरुण तीर्थ और (४) उत्तर में कुवेर तीर्थ है। जो व्यक्ति इस तालाब में जिसका नाम—'मानसगंगा' है, स्नान करके गोवर्धन में हरि के दर्शन करता है और वहीं अन्नकूट (पर्वत) की परिक्रमा करता है, वह सभी चिंताओं से मुक्त हो जाता है। यहाँ पुंडरीक तीर्थ और आप्सराकुंड है। शंकर्षण तीर्थ की रक्षा बलराम स्वयं करते हैं। अन्नकूट के पास ही इंद्र तीर्थ है। एक समय जब कृष्ण ने यहाँ इंद्र की पूजा रोक दी तो इंद्र ने रुष्ट होकर खूब पानी बरसाया, किंतु कृष्ण ने गिरि को ऊपर उठाकर उसके नीचे सबकी रक्षा की। तभी से यह पर्वत अन्नकूट नाम से प्रसिद्ध हो गया।

"यहीं पर कदंबखंड नामक कुंड है। यहाँ का राधाकुंड सभी पापों को हरनेवाला है। अरिष्ट, राधाकुंड और मोक्षराज तीर्थ मुक्ति प्रदायक हैं। अरिष्ट, राधाकुंड के पूर्व में इंद्रध्वज तीर्थ है। इंद्रध्वज तीर्थ से जाकर चक्रतीर्थ में स्नान करना चाहिए और अन्नकूट पर्वत की परिक्रमा करनी चाहिए।"

गोवर्धन-क्षेत्र—(व० पु० १६५)। 'गोवर्धन-गिरि और यमुना के बीच में रमणीक और लोकविश्रुता मथुरा नगरी स्थित है।' (व० पु० १६८)—गोवर्धन और अक्रूर तीर्थ (मथुरा) की उत्तर-दक्षिण-स्थित दो कोटियाँ हैं।

विष्णुपुराण (अंश ५।१०।३८) में गोवर्धन शैल का उल्लेख आया है। ब्रह्मपुराण (२७।४४ और ९१।१) में गोवर्धन को महात्मा भार्गव का रंभ्य एवं पुण्य स्थान बताया है। ब्रह्मपुराण (१८७ और १८९ अध्याय) में गोवर्धनलीला का वर्णन है। अधिकांश पुराणों में कृष्ण-चरित्र का समावेश होने से मथुरा, गोकुल, गोवर्धन का विभिन्न प्रकार से और बार-बार वर्णन किया गया है।

सारांश में इस विशाल भारतवर्ष में मथुरा का अन्यान्य तीर्थों में विशेष स्थान है। भारत भूमि का एक-एक कण अपना निजी इतिहास अपने अंतर में छिपाए है। वह इतिहास उस गौरवमय स्वर्णिम दिनों का है और यही कारण है कि भारतवासी अनंत सौभाग्य और अक्षय पुण्य वाले हैं। भारतवासी धन्य हैं और मथुरापुरी से अलंकृत यह भारतवर्ष धन्य है, जिसकी वंदना करते हुए पुराणादि नहीं अघाते—

"अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जंबूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः॥

१. इसे अब असकुंडा घाट कहते हैं। 'यह पत्थर का घाट है जिस पर पानी में निकले हुए कई पुस्ते हैं। इस स्थान को 'वाराह क्षेत्र' भी कहते हैं। यहाँ एक मंदिर में वाराह जी और गणेश जी की मूर्ति और शिवताल कुंड है (भा० अ०, प्र० खं० पृ० २४५)।

अत्र जन्मसहस्त्राणां सहस्रैरपि संतमम् ।
कदाचिल्लभतेजंतुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ।।"

❀

"गायंति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवंति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

❀

कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संनस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनंते तस्मिँल्लयं ये त्वमलाः प्रयांति ।।"

—विष्णुपुराण २।३।२२-२५

श्री मथुरा : महिमा

साहित्य-सूर्य—सूरदास

राग-मलार

जै, जै, जै श्री मथुरा सुखकारी।
चक्र सुदरसन-ऊपर राजति, केसव जू की प्यारी।।
हाटक कोट कँगूरा राजत, हीरा रतन जरे।
मनि-मै . भवन उतंग सुहाए, नवधा-भक्ति भरे।।
घर-घर मंगल महा महोच्छब, हरि-रस-माँते लोग।
मधु मेवा पकवाँन मिठाई, खट-रस-बिंजन-भोग।।
दही-दूध के ढेर सु जित-तित, सुरभी सबै सुदेस।
अष्ट महा सिधि बीथिन-बीथिन, सुमन गहें सुर केस।।
परँम धाँम बैकुंठ ते आगर, श्री बाराह बखाँनी।
भक्ति-मुक्ति के बाजन बाजें, क्रीड़त सारँग-पाँनी।।
तीरथ सकल मधुपुरी-सेबत, सुर, नर, मुनि-जन आवें।
सदाँ प्रीति-हित काँह्न बिराजें, नारदादि गुन गावें।।
अखिल भुवन की सोभा मथुरा, महिमा कही न जाइ।
धनि-धनि मथुरापुरी-सिरोमनि, निज मुख करी बड़ाइ।।
अगतिनकी गति (जै) श्री मथुरा, हरि-दरसन-रजधाँनी।
मथुरा-छाँड़ि अँनत रति करिऐ, जाते और न हाँनी।।
मथुरा निकट कबहुँ नहिं निरखें, ते मतिमंद अभागे।
जननी बोझ बृथाँ ही मारी, जम के कागर दागे।।
निमिष एक मथुरा कौ बासी, जननी-जठर न आवै।
जे बड़ भागी रहें निरंतर, तिन की कौन चलावै।।
मथुरा-सरन सदाँ मोहि राखौ, बिनती करौं सो दीजै।
'सूरदास' द्वारें ह्वै गावै, कृष्ण-चरँन-रति कीजै।।

ब्रज और राजस्थान

श्री श्रीपतराम गौड

वैदिक-सरस्वती राजस्थान के टीलों में लीन हो गई; पर उसके रंग से शाकंभरी के रूप का लावण्य 'सुकुमार-मधुरा काल-भगिनी' में फूट पड़ा। शमी की समिधा ने 'अर्बुद' के यज्ञकुंड से छत्तीस राजकुलों को जन्म दिया और ब्रज के करील-कुंजों में जो आचार बनाया गया उसका उपयोग संपूर्ण आर्यावर्त्त ने किया। कूर्म का हृदय और मत्स्य का जीवन एक ही 'सरस्वान्' है। ब्रज-धन के भक्तों की शरण विराट् राजस्थान है; यहीं पर उनकी लोह-अर्गलाएँ गलती हैं। ब्रजकिशोर के चरणों की धूल इकट्ठी करते-करते यह राजस्थान रजस्थान बना—वह महिमामयी रज जिसमें निराकार को आकार मिला। ब्रज तो संसार को कहते हैं। वह स्वयं एक विराट् भूमंडल है—अपने में ही त्रिलोकी है—बल्कि तीन लोक से भी न्यारी है; पर यदि पृथ्वी से ऊपर उठी हुई त्रिलोकी का दर्शन आप करना चाहते हैं तो श्याम के मुख की रज देखिये। इसीलिए ब्रज और रज के इस अभिन्न संबंध से दो प्रदेश धन्य हुए—एक ब्रजमंडल और दूसरा राजस्थान—

"यह ब्रज रज है वह रज-ब्रज है।"

ब्रज-रज में तो रज ही मुख्य और यदि आप कहते हैं कि **"गोकुल गाँव को पैंडो ही न्यारौ"**—तो महर्षि विश्वामित्र-विनिर्मित 'मार्गहीन यह रेगिस्तान' भी तो ब्रह्मा के विश्वसे अलग ही है। पुष्कर और गोकुल एक ही विश्वात्मा की दो शक्तियों के रूप हैं।

आभीर देश की एक आभीर-बाला ने अपने आपको एक आर्यपुत्र की दासी बना डाला। विराट् के स्वर-संकेत पर वह आँधी की तरह उस श्यामघन से मिलने गई और उसमें मिलकर एक हो गई। राधा के बिना कृष्ण और कृष्ण के बिना राधा की कल्पना भी कौन कर सकता है? कृष्ण चले गये—राधा को अकेली छोड़कर। राधा ने एक आँसू भी न गिराया—ब्रज में। उसने **'रूठी रानी'** बन कर अपने आँसू अपने नैहर की धूल में तीन सौ हाथ गहरे गाड़ दिये। ब्रज आज राधा के विरह को भूल गया है; पर हम राजस्थानी जब 'अपनी राधा को याद करते हैं' और उसके आँसुओं को जेठ की गर्म-गर्म आहों के साथ पीते हैं तो हम भी 'बिरा' जाते हैं, अर्थात् विरहा जाते हैं—यानी विरह की पीर से मर जाते हैं।[1]

प्यास, राजस्थान का एक मात्र धन है और धन्य हैं वह प्यास जो ब्रजकिशोर की रूप-माधुरी से ही बुझती है। राजस्थान की अनेक पूतात्माओं ने अपने आप को इस प्यास पर न्यौछावर किया। प्रेम-विह्वला मीरा ने—'आँसुओं के जल से सींच-सींच कर प्रेम की बेलि बोई और उन्नीसवें पुराण तथा पाँचवें वेद के वक्ता महाराज पृथ्वीराज ने उस बेलि का ललित विलास दिखलाया।

ब्रज और राजस्थान का स्वर यहाँ एक है, भाषा एक है, भाव एक हैं। राजस्थानी और ब्रज में अंतर ही क्या है? राजस्थान के षड्भाषा-प्रवीणों ने ब्रज-भाषा को तो 'घर की रोटी राबड़ी' समझा और सबसे अधिक उसी में लिखा और कुछ ने अपनी मातृ-बोली को भुला कर काव्य केवल 'पिंगल' में ही रचा तो कोई बराबर दोनों में लिखता रहा; पर एक क्षण के लिए भी राजस्थान ब्रज को

[1] राजस्थानी में बिराने का अर्थ है खारे पानी के विष से मरना। इसमें शरीर काला हो जाता है और प्यास बढ़ जाती है। संभवतः यह बिराना विरह से ही बना हो।

भूल नहीं सका। इसीलिए ब्रज और राजस्थानी दोनों मिलकर एक हो गयीं और उनका इतिहास एक साथ लिखा गया। सूर आदि भक्तों की छाप राजस्थान के भक्तों पर स्पष्ट है और डिंगल के वीर-कवियों का प्रभाव भूषण, लाल, सूदन आदि पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता था। ब्रज की अमूल्य साहित्य-निधि राजस्थान के कीटों का कलेवा बन रही है और राजस्थान के गौरवपूर्ण साहित्य के बिना संपूर्ण हिंदी-साहित्य प्राणों की प्रतीक्षा कर रहा है—इस विषय पर बहुत कम लोग सोचते हैं।

भारतीय संस्कृति में समन्वय पाया जाता है। समन्वय विभिन्न घटको होता है। राजस्थान और ब्रज ने इस समन्वय में योग दिया। राजस्थान ने समर्पण सीखा है, ब्रज ने भी आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण सीखा है। राजस्थान ज्वाला है जिसकी चिंगारी ब्रज में है। राजस्थान में जो होली के साज सजाये गये—वे अनंत दूरी के दीपक—'काल-जाह्नवी की तरंगों' में कभी बुझ न सकेंगे। राजस्थान ने अपने दीर्घ तपस्या-काल में उपासना सीखी है। राजस्थान ने शक्ति की उपासना की थी, आज भी वह शक्ति का ही उपासक है। पहले रणचंडी की उपासना की थी, अब लक्ष्मी की उपासना कर रहा है और भैरवी-चक्रों में त्रिपुर-सुंदरी की उपासना भी कर चुका है। ब्रज उपास्य देवों की भूमि है—महाकाल, इंद्र, गोवर्द्धन और नटनागर की भूमि है।

राजपूती-जीवन का सार है—वीरत्व और ब्रज-जीवन का सार है—नटनागर से प्रेम। वीरत्व और प्रेम दोनों मिल कर राजपूती जीवन का आदर्श बनते हैं:—

"तीखा तुरी न माणवा, भड़ सिर खग्ग न भग्ग।
जलम अकारथ ही गयो, गौरी गले न लग्ग॥"

राजस्थान और ब्रज का संबंध वीरत्व और प्रेम का संबंध है।" एकलिंग और श्रीनाथजी में दूरी ही क्या? अर्बुद की चोटियाँ तो केवल गोवर्द्धनधारी के चरणोंमें ही झुकी हैं।

राजस्थान ने अपने रक्त से मृत्यु की उपासना की और ब्रज ने अपने हृदय से अमृत की और दोनों की संमिलित उपासना ने आर्यावर्त्त को सदा के लिए अमर बना दिया। प्रेम की पीर के घायल वीरों ने हृदय के रक्त से जिस दिव्य संदेश के लिए स्याही तैयार की थी; उसको तलवार की नोंक से काल की छाती पर वे सदा के लिए लिख गये।

प्राचीन जैन-साहित्य में मथुरा

श्री जगदीशचंद्र जैन

जैन छेद सूत्रों के अंतर्गत बृहत्कल्प सूत्र (१। ५०) में कहा गया है—"निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिनी साकेत (अयोध्या) के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाबी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणाला (उत्तर कोशल) तक विहार कर सकते हैं, इसके आगे नहीं। इतने ही आर्य-क्षेत्र हैं, क्योंकि इन्हीं क्षेत्रों में साधुओं के ज्ञान, दर्शन और चरित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।" इससे मालूम होता है कि आरंभ में जैन-श्रमणों का विहार-क्षेत्र आधुनिक विहार और पूर्वीय और पश्चिमीय उत्तर प्रदेश के कुछ भागों तक ही सीमित था। जैन-सूत्रों से पता लगता है कि अशोक के पुत्र तथा आर्य 'सुहस्ती' और आर्य 'महागिरी' के समकालीन 'उज्जयिनी' के राजा 'संप्रति' ने इस सीमा में अभिवृद्धि की। संप्रति ने साढ़े पच्चीस देशों को 'आर्य-क्षेत्र' घोषित किया। इनमें अधिकतर विहार तथा पूर्वीय उत्तर प्रदेश के ही स्थान गर्भित हैं। पश्चिमीय उत्तर प्रदेश कुरु, कुशावर्त (आगरा के आस-पास का प्रदेश), पांचाल (रुहेल खंड), जांगल (गंगा और उत्तर पांचाल के बीच का प्रदेश), वरणा (बुलंद शहर) और शूरसेन (मथुरा के आस-पास का प्रदेश) नामक प्रदेशों की गणना भी उक्त साढ़े पच्चीस देशों में की गई है। इससे मालूम होता है कि मथुरा तक जैन-धर्म पहुँचने में काफ़ी समय लग गया।

निशीथ सूत्र (९।१९) और ठाणांग सूत्र (१०।७१८) में चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, कांपिल्यपुर, कौशांबी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह ये भारत की दस मुख्य राजधानियाँ गिनाई गई हैं। जैन-ग्रंथों में मथुरा अथवा उत्तर मथुरा (दक्षिण की मथुरा—मदुरा से भिन्न) को उत्तरापथ का महत्त्वपूर्ण नगर बताते हुए उसे 'अर्हंत-प्रतिष्ठित', 'चिरकाल-प्रतिष्ठित' आदि रूप में उल्लिखित किया गया है। इस नगर में खेती नहीं होती थी और यह व्यापार का केंद्र-स्थल था, इसलिये मथुरा को 'स्थल-पट्टन' के उदाहरणों में गिनाया है। मथुरा वस्त्र के लिये प्रसिद्ध था।

जैन-सूत्रों में मथुरा को 'पाखंडिगर्भ' कहा है, इससे मालूम होता है कि यहाँ अनेक साधु-संन्यासी रहा करते थे। आवश्यक चूर्णि (१, पृ० ४११) से पता लगता है कि युग-प्रधान आर्य-रक्षित आचार्य विहार करते हुए मथुरा में आये और वे 'भूतगुहा' नामक चैत्य में ठहरे। यहाँ आर्य मंगु काल-धर्म को प्राप्त हुए और मरकर निद्धवण यक्ष हुए। यहाँ उनका चैत्य निर्माण किया गया (वही २, पृ० ८०)।

मथुरा 'भंडीरवन'[1] की यात्रा के लिये प्रसिद्ध था। भंडीर नाम का एक वट-वृक्ष था। महाभारत (२।५३।८) और हरिवंश पुराण (२।११।२३) में भी भंडीर नामक 'न्यग्रोध-वृक्ष' का उल्लेख मिलता है। यह वृक्ष पर्वत के अग्र भाग के समान विशाल (पर्वताग्राभं) था और इसपर कृष्ण अपने साथियों के साथ क्रीड़ा किया करते थे। आवश्यक चूर्णि (२, पृ० २८०।१) में मथुरा के 'जिनदास श्रावक' की कथा आती है। जिनदास बड़ा धर्मात्मा था और वह व्रत-प्रत्याख्यान किया करता था। उसके घर एक अहीरन (आभीरी) दूध बेचने आती थी। एक बार की बात है, अहीरन के लड़के का विवाह होनेवाला था। उसने जिनदास को विवाह में संमिलित होने का निमंत्रण दिया। जिनदास विवाह में तो संमिलित नहीं हो सका, परंतु उसने वर-वधु के लिये नाना-प्रकार के वस्त्र और आभरण भेंट दिये। कुछ समय बाद अहीरन ने जिनदास को दो-तीन वर्ष के हृष्ट-पुष्ट दो बछड़े भेंट में भेजे। जिनदास के

[1]. शुद्ध नाम—भांडीरवन।

मना करने पर भी वह इन बछड़ों को जबर्दस्ती जिनदास के घर बाँध कर चली गई। एक बछड़े का नाम था 'कंवल', दूसरे का 'शंवल'। एक बार श्रावक का कोई मित्र भंडीरवट[1] की यात्रा के लिये जा रहा था। वह इन बैलों को गाड़ी में जोतकर ले गया। इस प्रकार और भी बहुत से लोग जिनदास के बैलों को माँग कर ले जाते। इससे बैल बहुत अशक्त हो गये और घास-चारा न मिलने के कारण मर गये। दोनों बैल मरकर 'नाग कुमार' देवों की योनि में उत्पन्न हुए और महावीर भगवान् की रक्षा करने लगे। स्मरण रखने की बात है कि ब्राह्मणों के हरिवंश पुराण (२।२६।५५) में भी हाथ में चामर लिये हुए 'कंवल' और 'अश्वतर' नामक दो नागों का उल्लेख आता है, जो कृष्ण भगवान् की पूजा-उपासना में दत्तचित्त रहते थे। दीघनिकाय (२।२५८) और जातक (६।१६५) में भी सुमेरु पर्वत के पादतल में रहने वाले 'नागवंशीय' कंवल और अश्वतर का उल्लेख मिलता है।

विविध तीर्थ-कल्प (६) के अनुसार मथुरा में 'अक्कस्थल', 'वीरस्थल', 'पद्मस्थल', 'कुशस्थल', 'महास्थल' नामके पाँच स्थल और 'लोहजंघवन', 'मधुवन', 'बिल्ववन', 'तालवन', 'कुमुदवन', 'वृंदावन', 'भंडीर वन', 'खदिरवन', 'कामियवन', 'कोलवन', 'बहुलावन' और 'महावन' नाम के बारह वन[2] थे। मथुरा के 'विश्रांतिक', 'असिकुंड', 'वैकुंठ', 'कालिंजर' और 'चक्रतीर्थ' नामके पाँच तीर्थों का उल्लेख भी उक्त ग्रंथ में मिलता है।

जैन-सूत्रों में मथुरा में देव-निर्मित (रामायण ७।७०।५ में भी मथुरा को देव-निर्मित कहा गया है) 'रत्न-स्तूप' होने का उल्लेख मिलता है। वृहत्कल्प भाष्य (५।१५३६) में कहा है कि जैसे 'धर्म-चक्र' के लिये उत्तरापथ और 'जीवंत स्वामी' प्रतिमा के लिये कोशल प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार देव-निर्मित स्तूप के लिये मथुरा प्रसिद्ध है। मथुरा के इस स्तूप का सब से प्राचीन उल्लेख व्यवहार भाष्य (५।२७।२८) में उपलब्ध होता है। एक बार किसी क्षपक (जैन-श्रमण) ने मथुरा में आकर तपस्या की। देवता ने प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहा, परंतु क्षपक ने कहा कि तुम असंयती हो, इसलिये तुमसे मेरा प्रयोजन सिद्ध न होगा। देवता ने मथुरा में एक रत्नमय स्तूप का निर्माण किया। इस स्तूप को रक्तपट (बौद्ध) अपना बताने लगे। बौद्धों के साथ जैन-संघ का छः महीने तक विवाद चलता रहा। संघ ने क्षपक से देवता का आसन कंपायमान करने को कहा। देवता ने उपस्थित होकर संघ से कहा—

"तुम लोग राजा के पास जाकर निवेदन करो कि यदि कल स्तूप पर रक्त पताका फहरेगी तो वह रक्तपटों का है और यदि शुक्ल पताका दिखाई देगी तो वह जन-संघ का है।"

देवता ने स्तूप पर शुक्ल पताका फहरा दी। इस पर राजा ने स्तूप जैनों को दे दिया। वृहत्कल्पसूत्र भाष्य (६।६२७५) से मालूम होता है कि एक बार कुछ साध्वियाँ और श्राविकायें इस स्तूप की पूजा के लिये जा रही थीं कि उन्हें बोधिक चोर भगा कर ले गये।

मथुरा में जैन-धर्म का बड़ा प्रभाव था, जिसके फलस्वरूप मथुरा नगरी में जो नये गृहों का निर्माण होता था; उनके आलों (उत्तरंग) में मंगलार्थ 'अर्हंत-प्रतिमा' स्थापित की जाती थी, अन्यथा उन घरों के गिर जाने की शंका रहती थी। इस प्रकार के 'मंगलचैत्य' मथुरा नगरी और उसके आस-पास के छियानवें ग्रामों (ग्रामार्ध) के घरों और चौराहों पर बनाये जाते थे (वही, १।१७७४ आदि)।

मथुरा के जैन-स्तूप की कथा 'विविध तीर्थ-कल्प' में भी उल्लिखित है। एक बार की बात है कि 'धर्मरुचि' और 'धर्मघोष' नाम के दो मुनि विहार करते हुए मथुरा में आये। यह नगरी धवल गृह, देवकुल, वापी, कूप, पोक्खरिणी, जिन-भवन, हाट आदि से सुशोभित थी[3] और यहाँ ब्राह्मण पंडित

[1]. भांडीरवट।

[2]. मथुरा में अभी भी महावन, कदंबवन, पीलुवन, मधुवन, खदिरवन, तालवन और वृंदावन नामके वन मौजूद हैं। देखिये आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, रिपोर्ट १८८२-३, जिल्द २०, पृ० ३, कनिंघम।

[3]. मथुरा नगरी के वर्णन के लिये देखिये ब्राह्मणों का हरिवंश पुराण (१।५४।५६ इत्यादि)।

निवास करते थे। ये मुनि चातुर्मास व्यतीत करने के लिये 'भूत रमण' नामक एक उपवन में ठहर गये। मुनियों की तपस्या से प्रसन्न होकर कुबेर देवता उनके समक्ष प्रकट हुई और वर माँगने को कहा, परंतु साधुओं ने मना कर दिया। साधुओं ने संघ-सहित मेरु पर्वत के चैत्यों की वंदना कराने का देवता से अनुरोध किया, परंतु देवता ने कहा कि वह केवल दो व्यक्तियों को मेरु की वंदना करा सकती है। इस पर देवता ने वहीं पर प्रतिमाओं सहित मेरुआकार प्रदर्शित करने के लिये सोने का एक रत्न-जटित स्तूप बना दिया जो तोरण, ध्वजा, मालाओं और तीन छत्रों से अलंकृत तथा तीन मेखलाओं में विभाजित था। प्रत्येक मेखला में चारों ओर पंच वर्ण के रत्नमय बिंब बनाये गये, जिनमें प्रधान मूर्ति 'सुपार्श्व स्वामी' की थी। प्रातःकाल स्तूप देखकर लोग परस्पर कलह करने लगे। कोई उसे 'वासुकि-लांछन स्वयंभू' कहता, कोई 'शेषशायी नारायण', कोई 'ब्रह्म', कोई 'धरणेंद्र', कोई 'सूर्य', कोई 'चंद्र' और कोई उसे 'बुद्धांड' बताता। अंत में निश्चय किया गया कि सब अपने-अपने देवों को चित्रपट लिखकर स्तूप पर लगाएँ; जिस देव की मूर्ति स्तूप में होगी, उस देव का पट बच जायगा, बाक़ी पट नष्ट हो जायेंगे। जैन-संघ ने सुपार्श्व स्वामी का चित्र पट बनाया। आधी रातको बहुत ज़ोर का अंधड़ आया जिसमें सब पट फट-फट कर गिर पड़े, केवल सुपार्श्व का पट बाकी बचा। इस पट को नगर में घुमाया गया; पट का अभिषेक किया गया और पुष्प, धूप, वस्त्र, महाध्वज आदि से उसकी पूजा की गयी। इस समय 'धर्म घोष' और 'धर्म रुचि' नामक दोनों मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की और उस समय से मथुरा 'सिद्ध-क्षेत्र' माना जाने लगा। बहुत काल तक यह स्तूप अनावृत्त पड़ा रहा। आगे चलकर इसे ईंटों से ढक दिया गया।

महावीर के मोक्ष प्राप्त करने के १३०० वर्ष पश्चात् (लगभग ७५० ईसवी सन्) वप्पभट्टि का जन्म हुआ। उन्होंने इस तीर्थ का उद्धार किया और इसे कानन, कूप, कोह आदि से मंडित किया[१] तथा चौरासी[२] एणिका (स्तूप) बनवाई। जब इस स्तूप की ईंटें गिरने लगीं तो इसे पत्थरों से वेष्टित किया गया। इसमें हज़ारों मूत्तियाँ, देवकुल, रहने के स्थान (आवासणिआपएस) और गंध-कुटी से सज्जित किया तथा 'नर वाहना' 'कुबेरा', 'सिंहवाहना' 'अंबिका', और कुत्ते की सवारी किये हुए 'क्षेत्रपाल' इसकी रक्षा करने लगे।

दिगंबर परंपरा में मथुरा के जैन स्तूप की दूसरी कथा दी गई है। मथुरा में 'पूतिमुख' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम 'उर्विल्ला' था। उर्विल्ला जैन-धर्म की अनुयायिनी थी। एक बार राजा किसी बौद्ध-आचार्य द्वारा पोषित 'दरिद्रिका' नामक एक सुंदर कन्या को देख कर मोहित हो गया। राजा ने बौद्ध-भिक्षुओं को बहुत-सी दान-दक्षिणा देकर कन्या के साथ विवाह कर लिया और उसे पटरानी बना दिया। एक बार की बात है, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन उर्विल्ला 'जैन-रथ-यात्रा' निकालना चाहती थी, परंतु बौद्ध पटरानी ने इसका विरोध किया और कहा कि पहले बौद्ध-रथ निकलने के बाद ही जैन-रथ निकल सकेगा। उर्विल्ला 'सोमदत्त' मुनि के पास पहुँची। सोमदत्त ने 'वैर कुमार' के पास जाकर सब हाल कहा। इस पर वैर कुमार 'अमरावती' गये और वहाँ से देव और विद्याधरों को अपने साथ लेकर मथुरा आये। देव और विद्याधर भीषण-रूप धारण कर आकाश में छा गये। उन्होंने बौद्ध-रथ को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उर्विल्ला के सोने के रथ को नगर में घुमाया। इस अवसर पर जिन-गृह के सामने महा रजत निर्मित पाँच

१. देखिये प्रबंध कोश में वप्पभट्टि सूरि-प्रबंध।

२. मथुरा के कंकाली टीले के पास चौरासी टीला है। इसकी खुदाई से चौरासी स्तूपों पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। मथुरा में चौरासी नामक स्थान आज भी दिगंबर जैनों द्वारा पवित्र धाम माना जाता है।

स्तूपों का निर्माण किया गया। इन स्तूपों की पूजा-उपासना करके देव और विद्याधर अपने-अपने स्थानों को लौट आये (बृहत्कथा-कोष १२)।

दूसरी परंपरा कवि 'राजमल्ल' विरचित 'जंबू स्वामि-चरित' (१) में दी गयी है। एक बार भटानिया (कोल-अलीगढ़) के निवासी 'साहु टोडर' सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने के लिये मथुरा आये। यहाँ अंत्यकेवली जंबू स्वामी का निःसही स्थान (नशियाँ) बना हुआ था और उनके चरणों में 'विद्युच्चर' नामक मुनि का स्तूप विद्यमान था। उसके आसपास 'मोक्षगामी' अन्य अनेक मुनियों के स्तूप मौजूद थे। ये स्तूप कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस, और कहीं बीस की संख्या में बने हुए थे। स्तूप जीर्ण हो गये थे। साहु टोडर को इनका जीर्णोद्धार कराने की प्रबल इच्छा हुई। उन्होंने इस कार्य में बहुत-सा धन व्यय करके ५०१ स्तूपों का एक समूह और १३ स्तूपों का दूसरा, इस प्रकार ५१४ स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के पास १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। स्तूपों की प्रतिमा का यह कार्य विक्रम संवत् १६३० में ज्येष्ठ शुक्ला १२ को बुधवार के दिन संपन्न हुआ।

मथुरा के जैन-स्तूप की अनुश्रुति की सत्यता उत्कीर्ण लेखों से प्रमाणित होती है। कनिंघम आदि पुरातत्त्व-वेत्ता विद्वानों की खोजों से इस बात का पता लग गया है कि मथुरा में स्थित 'कंकाली टीला' ही प्राचीन काल का जैन-स्तूप है। यहाँ से अनेक जैन-मूर्तियाँ, आयागपट्ट और उत्कीर्ण लेख पाये गये हैं। इन उत्कीर्ण लेखों में जो विभिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख है वह उल्लेख 'भद्रबाहु' के कल्प सूत्र की 'स्थविरावलि' से मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जैनों का काफ़ी प्रभाव था[1]। बौद्ध-परंपरा के अनुसार 'बुद्ध भगवान्' जब विहार करते हुए मथुरा आये तो कहते हैं कि 'नक्षत्ररात्र' नामक देवता नग्न होकर उनके सामने खड़ी हो गयी। इससे भी मथुरा में 'नग्न जैन-श्रमणों' का प्राबल्य मालूम होता है।[2]

मथुरा जैन-आगमों की बाचना के लिये भी प्रसिद्ध था। इन आगमों की 'पाटलिपुत्र' में प्रथम बाचना होने के पश्चात् जब कालक्रम से जैन-आगमों का विच्छेद होने लगा तो महावीर निर्वाण के ८२७-८४० (३६०-३७३ ई० स०) वर्ष पश्चात् 'आर्य स्कंदिल' की अध्यक्षता में मथुरा में दूसरी परिषद् बुलाई गई। नंदि चूर्णि (पृ० ८) से मालूम होता है कि इस समय महान् दुष्काल पड़ा जिससे जैन-श्रमणों को भिक्षा प्राप्त होना दुष्कर हो गया जिससे अनेक श्रमण कालधर्म को प्राप्त हो गये और आगमों का अध्यापन रुक जाने के कारण जैन-सूत्रों का अधिकांश भाग विनष्ट हो गया। दुष्काल के समाप्त हो जाने पर मथुरा में परिषद् बुलायी गयी, जिसमें इधर-उधर से जो आगम के अंश एकचित किए जा सके उन्हें एकत्रित किया गया। विविध तीर्थकल्प के अनुसार 'जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण' ने यहाँ दीमकों से खाए हुए 'महानिशीथ' नामक आगम को जोड़-तोड़ कर ठीक किया था।

१. देखिये आर्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट्स,—भाग ३, प्लेट्स १३-१५ ; बुहलर, दी इंडियन सेक्ट ऑव दी जैन्स, पृ० ४२-६० ; वियना ओरिंटियल जनरल जिल्द ३, पृ० २३३-४० ; जिल्द ४, पृ० ३२३-३३२

२. देखिये, मूल सर्वास्ति वाद—विनय वस्तु, गिलगिट मैनस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १, पृ० १४. यहाँ पर मथुरा को आदिराज्य कहकर उल्लिखित किया है। बुद्ध यहाँ पर चातुर्वर्णविशुद्धि का उपदेश देने आये थे। यहाँ हजारों यक्ष-यक्षिणी निवास करते थे। मथुरा में पाँच अलाभ (आदीनव) बताये गये हैं—यहाँ की भूमि पत्थर आदि के कारण विषम थी, यहाँ बहुत धूल उड़ती थी, भयानक कुत्ते थे, भयंकर यक्षों का वास था और भिक्षा मिलने में कठिनाई होती थी। देखिये अंगुत्तर निकाय, ३, पृ० २५६।

——०——

विदेशी लेखकों का मथुरा-वर्णन

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी

प्राचीन मथुरा-जनपद तथा नगर का वर्णन भारत आनेवाले या यहाँ के संबंध में अन्य प्रकार से जानकारी प्राप्त करनेवाले अनेक विदेशी लेखकों ने किया है। इन लेखकों में यूनानी, चीनी, मुसलमान, फ्रांसीसी तथा अंग्रेज मुख्य हैं। इन्होंने मथुरा के विषय में जो कुछ लिखा है उससे इस नगर के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण एवं मनोरंजक बातों का पता चलता है। इस लेख में हम इन लेखकों के वृत्तांतों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

मथुरा-संबंधी सबसे पुराने लेख यूनानी लेखकों के मिले हैं। ई० पू० चौथी शती के अंत में 'मेगास्थनीज' नामक यात्री चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में पाटलिपुत्र (पटना) आया था। उसने भारत के संबंध में कितनी ही बातें लिखी हैं। उनमें शूरसेन प्रदेश का भी उल्लेख आया है। ई० दूसरी शती के लेखक 'एरियन' ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में मेगास्थनीज के इस उल्लेख की चर्चा की है। इस ग्रंथ में लिखा है—

"शौरसेनाइ (Sourasenoi) लोग 'हेराक्लीज' को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। शौरसेनाइ लोगों के दो बड़े नगर हैं—मेथोरा (Methora) और क्लीसोबोरा (Kleisobora)। उनके राज्य में जोबरेस (Jobares)[१] नदी बहती है, जिसमें नावें चल सकती हैं।"[२]

प्लिनी नामक एक दूसरे यूनानी लेखक ने लिखा है—

"जोमनेस (Jomanes) नदी मेथोरा और क्लीसोबोरा (Clisobora) के बीच से बहती है।"[3]

इस लेख का भी आधार मेगास्थनीज का उपर्युक्त लेख है।

टॉलमी नाम के लेखक ने मथुरा का नाम 'मोदूरा' Modura दिया है और उसकी स्थिति १२५´-२७´३०´ पर लिखी है। उसने मथुरा को 'देवताओं का नगर' कहा है।[४]

यूनानी इतिहासकारों के इन वर्णनों पर विचार करने से पता चलता है कि मेगास्थनीज के समय में मथुरा-जनपद 'शूरसेन'[५] कहाता था और उसके निवासी शौरसेन। हेराक्लीज से यहाँ तात्पर्य श्री कृष्ण से है। ई० पू० चौथी शती में शूरसेन-जनपद के सात्वत लोग श्रीकृष्ण को यदि देव के रूप में नहीं तो महापुरुष के रूप में अवश्य मानते रहे होंगे और उनके प्रति बड़े आदर का भाव रखते रहे होंगे।

शौरसेन लोगों के जिन दो बड़े नगरों का उल्लेख किया है उनमें पहला तो स्पष्ट ही मथुरा है। दूसरा क्लीसोबोरा कौन-सा नगर था, यह विवादास्पद है। जनरल 'एलेक्जेंडर कनिंघम' ने अब से

[१] किसी-किसी प्रति में यह नाम Jobares मिलता है।

[२] इंडिका, ८ मैक्क्रिंडल—एंश्यंट इंडिया, मेगास्थनीज ऐंड एरियन, पृ० २०६ (कलकत्ता, १९२६ ई०)

[3] प्लिनी—नेचुरल हिस्ट्री, ६, २२।

[४] मैक्क्रिंडल—एंश्यंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ टॉलमी (कलकत्ता, १९२७) पृ० १२४

[५] जनपद का यह नाम शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर पड़ा और लगभग ईस्वी सन् के प्रारंभ तक जारी रहा। इसके अनंतर जनपद का नाम उसकी राजधानी मथुरा के नाम पर 'मथुरा प्रचा-लित हो गया।

लगभग ८० वर्ष पूर्व अपना भारतीय भूगोल लिखते समय यह स्थापना की कि क्लीसोबोरा वृंदावन के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसकी पुष्टि में उन्होंने लिखा है कि कालिक नाग के वृंदावन में रहने के कारण इस नगर का नाम 'कालिकावर्त्त' था। यूनानी लेखकों के क्लीसोबोरा का शुद्ध पाठ वे कालिसोबोर्क (Kalisoborka) या कालिकोबोर्त (Kalikoborta) समझते हैं। उन्हें इंडिका की एक पुरानी प्रति में 'काइरिसोबोर्क' (Cyrisoborka) पाठ मिला, जिससे उन्हें इस अनुमान को बल मिला,[1] परंतु कनिंघम का यह अनुमान ठीक नहीं है। वृंदावन में रहनेवाले नाग का, जिसका श्रीकृष्ण ने दमन किया नाम कालिय मिलता है, न कि कालिक। पुराणों या अन्य किसी साहित्य में वृंदावन की संज्ञा कालियावर्त्त या कालिकावर्त्त मिल सके, इसमें भी संदेह है। कनिंघम ने कालिकावर्त्त नाम किस पुस्तक में देखा, यह उन्होंने नहीं लिखा है। यदि हम क्लीसोबोरा को वर्तमान वृंदावन मानें तो 'प्लिनी' का यह लिखना कि मथुरा और क्लीसोबोरा के बीच से यमुना नदी बहती थी असंगत सिद्ध होगा, क्योंकि वृंदावन और मथुरा दोनों ही यमुना नदी के एक ही ओर स्थित हैं।

कनिंघम ने अपनी सन् १८८२-८३ की खोज रिपोर्ट में क्लीसोबोरा के संबंध में अपना उपर्युक्त मत बदलकर इस शब्द का मूल रूप 'केशवपुरा'[2] माना और उसकी पहचान उन्होंने मथुरा के केशवपुरा या कटरा केशवदेव मुहल्ले से की। केशव या श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान यहाँ होने के कारण यह स्थान केशवपुरा कहलाया। कनिंघम का कहना है कि यूनानी लेखकों के समय में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा वर्तमान कटरा केशवदेव की पूर्वी दीवाल के नीचे से बहती रही होगी और उसके दूसरी ओर मथुरा शहर रहा होगा। उन्होंने इस दीवाल के नीचे की आधुनिक निचली भूमि की ओर संकेत किया है, जो उत्तर में सीधी 'संगम तीर्थ-घाट' तक दिखाई पड़ती है और लिखा है कि यह उस प्राचीन धारा की सूचिका है जो प्राचीन काल में इधर से बहती थी और कटरा के कुछ आगे से दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़कर यमुना की वर्तमान बड़ी धारा में मिलती रही होगी।[3] जनरल कनिंघम का यह मत भी विचारणीय है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि किसी काल में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा वर्तमान कटरा के नीचे से बहती रही होगी, पर इस धारा के दोनों ओर एक-एक बड़ा नगर रहा हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। यदि मथुरा से भिन्न केशवपुर या कृष्णपुर नाम का बड़ा नगर वास्तव में वर्तमान कटरा केशवदेव और उसके आस-पास होता तो कोई कारण नहीं कि उसका नाम पुराणों या अन्य साहित्य में न दिया जाता प्राचीन साहित्य में 'मधुरा' या 'मथुरा' का नाम तो बहुत मिलता है, पर कृष्णपुर या केशवपुर नामक नगर का पृथक् रूप से उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अतः ठीक यही जान पड़ता है कि यूनानी लेखकों ने भूल से मथुरा और कृष्णपुर (या केशवपुर) को, जो वास्तव में एक ही थे, अलग-अलग लिख दिया है। भारतीय लोगों ने मेगास्थनीज़ को बताया होगा कि शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा'कृष्ण-पुरी' है। उसने इन दोनों नामों को एक-दूसरे से पृथक् समझ कर उनका उल्लेख अलग-अलग नगर के रूप में किया होगा। यदि शूरसेन-जनपद में मथुरा और कृष्णपुर नाम के दो प्रसिद्ध नगर होते तो मेगास्थनीज़ के कुछ समय पहले उत्तर भारत के जनपदों के

१. देखिए कनिंघम्स एंश्यंट जिओग्रफ़ी ऑफ़ इंडिया (सं०—एस० एन० मजुमदार कलकत्ता, १९२४), पृ० ४२९।

२. लैसन ने भाषाविज्ञान के आधार पर क्लीसोबोरा का मूल संस्कृत रूप 'कृष्णपुर' माना है। उनका अनुमान है कि यह स्थान आगरा में रहा होगा (इंडिश्चे आल्टरटुम्स्कुंडे' बॉन, १८६९, जिल्द १, पृ० १२७, नोट ३)।

३. कनिंघम—आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०, (१८८२-३) पृ० ३१-३२।

जो वर्णन भारतीय साहित्य (विशेषकर बौद्ध एवं जैन ग्रंथों)[१] में मिलते हैं उनमें जहाँ शूरसेन जनपद के मथुरा नगर का उल्लेख है वहाँ इस जनपद के कृष्णपुर या केशवपुर[२] नगर का भी उल्लेख किया जाता, परंतु इन ग्रंथों में कहीं इस दूसरे नगर की चर्चा नहीं है।

यूनानियों के बाद चीनी-यात्रियों के द्वारा मथुरा का वर्णन मिलता है। इन यात्रियों में 'फ़ाह्यान' तथा 'ह्यूआन्-चुआङ' बहुत प्रसिद्ध हैं। फ़ाह्यान पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत पहुँचा और ४०० ई० के लगभग मथुरा नगर में आया और यहाँ लगभग एक मास तक रहा। इस ने लिखा है—

"यहाँ (मथुरा) के छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। शाक्यमुनि (बुद्ध) के बाद से यहाँ के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। मोटुलो (मथुरा) नगर तथा उसके आस-पास पूना (यमुना) नदी के दोनों ओर २० संघाराम (बौद्धमठ) हैं, जिनमें लगभग ३००० भिक्षु निवास करते हैं। छः बौद्ध स्तूप भी हैं। सारिपुत्र के संमान में बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनंद के तथा तीसरा मुद्गल-पुत्र की याद में बनाया गया है। शेष तीनों क्रमशः अभिधर्म, सूत्र और विनय के लिये निर्मित किये गये हैं, जो बौद्ध-धर्म के तीन अंग (त्रिपिटक हैं।"

फ़ाह्यान के इस वर्णन से पता चलता है कि उसके समय में मथुरा में बौद्ध-धर्म उन्नति पर था, यद्यपि उसका यह कहना ठीक नहीं मालूम देता कि शाक्यमुनि के बाद से यहाँ के लोग इस धर्म का पालन करते आ रहे थे। भगवान् बुद्ध के बाद मथुरा में हिंदू-धर्म ज़ोर पर था, न कि बौद्ध-धर्म। फ़ाह्यान ने जिन बौद्ध-संघारामों का उल्लेख किया है वे वर्तमान मथुरा नगर के दोनों ओर काफ़ी दूर तक फैले रहे होंगे। 'ग्राउज़' का अनुमान है कि इनमें से कुछ स्तूप वर्तमान महावन तक रहे होंगे।[३]

फ़ाह्यान के बाद ई० सन् ६३५ के लगभग 'ह्यूआन्-चुआङ' मथुरा-राज्य में आया। उसने इस राज्य का विस्तार ५००० ली (लगभग ८३३ मील) तथा उसकी राजधानी (मथुरा नगर) का विस्तार २० ली (लग० ३॥ मील) लिखा है। यहाँ की भूमि की बाबत उसने लिखा है—

"वह अच्छी और उपजाऊ है। यहाँ आम बहुत पैदा होता है, जो छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है। पहले प्रकारवाला आम छुटपन में हरा रहता है और पकने पर पीला हो जाता है। बड़ी किस्मवाला आम सदा हरा रहता है। इस राज्य में उत्तम कपास और पीला सोना उत्पन्न होता है।"

यहाँ के निवासियों की बाबत उसने लिखा है कि—

"उनका स्वभाव कोमल है और वे दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। ये लोग तत्त्वज्ञान का गुप्त रूप से अध्ययन करना पसंद करते हैं। ये परोपकारी हैं और विद्या के प्रति बड़े संमान का भाव रखते हैं।"

मथुरा की तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचय 'ह्यूआन्-चुआङ' के निम्नलिखित वर्णन से प्राप्त होगा—

१. देखिए अंगुत्तरनिकाय १, २१३; २५२-५६; भगवतीसूत्र आदि।

२. श्री एफ़० एस० ग्राउज़ का अनुमान है कि यूनानियों का क्लीसोबोरा वर्तमान महावन है, देखिए—ग्राउज़—मथुरा मेंवायर (द्वितीय सं०, इलाहाबाद, १८८०), पृ० २५७-८। फ्रांसिस विलफ़ोर्ड का मत है कि क्लिसोबोरा वह स्थान है जिसे मुसलमान 'मूगू नगर' और हिंदू 'कलिसपुर' कहते हैं—एशियाटिक रिसर्चेज (लंदन, १७९९), जि० ५, पृ० २७०, परंतु उसने यह नहीं लिखा कि यह मूगूनगर कौन-सा है। कर्नल टॉड ने क्लीसोबोरा की पहचान आगरा ज़िले के बटेश्वर से की है (ग्राउज़—वही, पृ० २५८)

३. ग्राउज़—वही, पृ० २५७।

"इस नगर में लगभग २० संघाराम हैं, जिनमें २,००० भिक्षु रहते हैं। इन भिक्षुओं में 'हीनयान' और 'महायान'—इन दोनों मतों के माननेवाले हैं। यहाँ पाँच देवमंदिर भी हैं, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते हैं। राजा 'अशोक' के बनवाये हुए तीन स्तूप यहाँ विद्यमान हैं। विगत चारों बुद्धों के भी अनेक चिह्न यहाँ दिखाई देते हैं। तथागत भगवान् के साथियों के पवित्र अवशेषों पर भी स्मारक रूप में कई स्तूप बने हुए हैं।....विभिन्न धार्मिक अवसरों पर संन्यासी लोग बड़ी संख्या में इन स्तूपों का दर्शन करने आते हैं और बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट में चढ़ाते हैं। ये लोग अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार अलग-अलग पवित्र स्थानों का दर्शन-पूजन करते हैं।....विशेष उत्सवों पर झंडे और बहुमूल्य छत्र चारों ओर प्रदर्शित किये जाते हैं। सुगंधित पदार्थों का धुँआ बादलों के समान छा जाता है और सब ओर से फूलों की वृष्टि होने लगती है। सूर्य और चंद्रमा बिल्कुल छिप जाते हैं और पहाड़ों की घाटियाँ तुमुल घोष से निनादित हो उठती हैं। देश का राजा तथा उसके मंत्री लोग भी बड़े उत्साह के साथ धार्मिक कार्यों को करते हैं।"

"नगर के पूर्व ५-६ ली (लगभग १ मील) चलने पर एक ऊँचे संघाराम में पहुँचते हैं। उसके अगल-बगल गुफ़ाएँ बनी हैं।....यह संघाराम पूज्य 'उपगुप्त' के द्वारा बनवाया गया था। इसके भीतर एक स्तूप है जिसमें तथागत के नाखून रखे हैं। संघाराम के उत्तर में २० फुट ऊँची और ३० फुट चौड़ी एक गुफ़ा है। इसमें चार इंच लंबे लकड़ी के टुकड़े भरे हैं। महात्मा उपगुप्त जिन लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर उन्हें अर्हत् पद प्राप्त कराते थे (उनकी संख्या मालूम रहे, इसलिये) उनमें से प्रत्येक विवाहित युग्म एक टुकड़ा उस कमरे में डाल देता था। जो लोग अविवाहित होते थे, उनके अर्हत् हो जाने पर भी उनकी कोई गणना नहीं रखी जाती थी।"

"यहाँ से २४-२५ ली (लगभग ५ मील) दक्षिण-पूर्व एक बड़ा सूखा तालाब है, जिसके पास ही एक स्तूप है। यहीं पर जब भगवान् बुद्ध घूमघाम रहे थे, एक बंदर ने उन्हें थोड़ा शहद दिया, जिसे बुद्ध ने थोड़े जल के साथ मिश्रित कर उसे अपने शिष्यों में बँटवा दिया। इससे बंदर को इतनी अधिक खुशी हुई कि वह एक खड्डे में गिर कर मर गया और अपने पूर्वोक्त पुण्यजन्य-कृत के कारण अगले जन्म मनुष्य-योनि प्राप्त की। इस सूखे तालाब के उत्तर में थोड़ी-ही दूर पर एक घना जंगल है, जिसमें पिछले चार बुद्धों के चरण-चिह्न सुरक्षित हैं। इसके निकट ही उन स्थानों पर बने हुए स्तूप हैं, जहाँ सारिपुत्र तथा बुद्ध के अन्य १२५० महान् शिष्यों ने कठोर तपस्या की थी। यहीं धर्म-प्रचारार्थ आये हुए भगवान् बुद्ध के स्मारक स्थान हैं।"[1]

ह्यूआन्-चुआङ के उपर्युक्त लंबे वर्णन से कई बातों का पता चलता है। उसके समय में मथुरा-राज्य का विस्तार काफ़ी था। कनिंघम का अनुमान है कि तत्कालीन मथुरा-राज्य में वर्तमान 'बैराट' और 'अतरंजीखेड़ा' के बीच का सारा प्रदेश ही नहीं अपितु आगरा के दक्षिण में 'नरवर' और 'शिव-पुरी' तक का तथा पूर्व में 'काली सिंध' नदी तक का भू-भाग रहा होगा। इस प्रकार इस राज्य में मथुरा आगरा जिलों के अतिरिक्त भरतपुर करौली और धौलपुर तथा ग्वालियर राज्य का उत्तरी आधा भाग शामिल रहा होगा। पूर्व में मथुरा-राज्य की सीमा 'जिझौती' से तथा दक्षिण में 'मालवा' की सीमा से मिलती रही होगी।[2]

[1]. टामस वाटर्स—ऑन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया (लंदन, १९०४), जिल्द १, पृ० ३०१-११

[2]. कनिंघम्स जिऑग्रफ़ी, पृ० ४२७-२८

इस यात्री के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि ई० सातवीं शती में मथुरा की भूमि अधिक उपजाऊ थी। वर्तमान समय में यहाँ आम नाममात्र को होता है और कपास की उपज भी बहुत कम होती है। संभव है कि अब से १३०० वर्ष पहले यहाँ इन वस्तुओं की तथा अन्न की पैदावार अधिक होती रही हो, परंतु हुएनसांग ने सोने की उत्पत्ति के बारे में जो लिखा है वह बड़ा आश्चर्य जनक प्रतीत होता है, क्योंकि मथुरा की जमीन में कहीं भी सोना नहीं निकलता।

श्यूआन्-चुआङ का वर्णन मथुरा की धार्मिक स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराता है। सातवीं शती के पूर्वार्ध में भी यहाँ बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार था, पर फ़ाह्यान के समय (ई० ४००) को देखते हुए अब यहाँ के बौद्ध-मतावलंबियों की संख्या में कमी आ गई थी। फ़ाह्यान ने मथुरा के बीस बौद्ध-संघारामों का उल्लेख किया, जिनमें लगभग ३,००० बौद्ध सन्यासी रहते थे। श्यूआन् चुआङ के समय यहाँ संघारामों की संख्या तो उतनी ही रही पर बौद्ध-संन्यासियों की संख्या घटकर २,००० के ही लगभग रह गयी। मथुरा में बौद्ध धर्म की क्रमशः अवनति का प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि हिंदू-धर्म की यहाँ उन्नति हो रही थी। हुएन सांग ने मथुरा के पाँच बड़े हिंदू-मंदिरों का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से पुजारी थे।

श्यूआन्-चुआङ ने मथुरा राज्य के किसी भी नगर का जिक्र नहीं किया। यहाँ तक कि राजधानी मथुरा नगर का भी नाम उसके वर्णन में नहीं आया और न प्रसिद्ध यमुना नदी या यहाँ के पहाड़-वनों आदि का ही। उसने मथुरा-राज्य का बहुत ही अपर्याप्त वर्णन दिया है। बौद्ध-धर्म-संबंधी जो बातें इस यात्री ने लिखी हैं, वे भी अपूर्ण हैं और कई बातें तो भ्रामक हैं; जैसे विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी बौद्ध-संन्यासियों द्वारा विशेष अवसरों पर पूजन का वर्णन, बंदरवाला किस्सा, १२५० शिष्यों की समाधि तथा बुद्ध के कई बार मथुरा आने का कथन। यदि हम केवल पिछले तथ्य को लें तो हमें बौद्ध-ग्रंथों से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध केवल एक बार मथुरा पधारे थे, न कि अनेक बार। श्यूआन्-चुआङ ने मथुरा के बड़े बौद्ध-विहारों का नाम नहीं दिया, उसके वर्णन से केवल इतना ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत से बौद्ध-स्तूप एवं विहार थे। एक बात जिस पर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है वह है— श्यूआन्-चुआङ द्वारा वर्णित उपगुप्त के संघाराम की पहचान। इस यात्री के लेखानुसार मथुरा नगर के पूर्व में लगभग एक मील चलने पर यह संघाराम मिलता था। कनिंघम ने 'पूर्व' की जगह 'पश्चिम' पाठ ठीक माना है और इस प्रकार उक्त संघाराम की स्थिति वर्तमान कटरा मुहल्ले में प्राचीन 'यशो-विहार' के स्थान पर मानी है, परंतु इस पूर्व की जगह पश्चिम पाठ क्यों माना जाय, यह समझ में नहीं आता। ग्राउज का कहना है कि 'उपगुप्त' वाला विहार 'कंकाली टीला' पर रहा होगा,[1] परंतु इस संबंध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। कंकाली टीला बहुत प्राचीन काल से जैनियों का बड़ा केंद्र था और ऐसा कम से कम ई० ११ वीं शती तक रहा। उस स्थान पर बौद्धों के किसी बड़े स्तूप या विहार का पता नहीं चलता, यह दूसरी बात है कि एकाध छोटी बौद्ध-मूर्तियाँ इस जगह से प्राप्त हुई हैं। अधिक संभव यही दिखाई पड़ता है कि उपगुप्तवाला संघाराम या तो वर्तमान 'सप्तर्षि-टीला[2]' पर था और या उससे पूर्व की ओर कुछ आगे उस स्थान पर जिसे आजकल 'बुद्ध तीर्थ' कहते हैं।

चीनी यात्रियों के अनंतर मुसलमान यात्रियों ने भी मथुरा का थोड़ा-बहुत वर्णन किया है। इनमें सबसे पहला लेखक 'अल-उत्बी' ज्ञात होता है। यह महमूद ग़ज़नवी का मंत्री था। इसने अपनी किताब 'तारीखे यामिनी' में महमूद के द्वारा सन् १०१७ ई० में भारत पर किये गये नवें हमले का वर्णन

1. ग्राउज—वही, पृ० ११२

2. इस टीले पर एक खंभे का अभिलिखित शीर्षभाग पाया गया है। उसपर के लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ गुहा विहार नामक बौद्धों का प्रसिद्ध विहार ई० पू० पहली शती में था, जिसका निर्माण मथुरा के शक-क्षत्रपों ने कराया था।

करते हुए मथरा की चर्चा की है। यह हमला विशेष रूप से मथुरा को बर्बाद करने के लिये ही किया गया। उत्बी ने मथुरा को एक स्थान पर 'महरतुल हिंद' लिखा है।[१] उसने लिखा है—

"महावन में उस समय 'कूलचंद नामक राजा का क़िला था।[२] यह राजा बड़ा शक्तिशाली था और उससे कोई विजय नहीं प्राप्त कर सका था। उसका राज्य बहुत बड़ा था, वह अपार धन तथा एक बड़ी सेना का स्वामी था और उसके सुदृढ़ किले को कोई भी दुश्मन नहीं ढहा सका था। जब उसने सुलतान (महमूद) की चढ़ाई की बाबत जाना तो अपनी फ़ौज इकट्ठी करके मुक़ाबले के लिये तैयार हो गया, परंतु उसकी सेना शत्रु को हटाने में असफल रही और सैनिक मैदान छोड़कर भग गये, जिससे नदी पार निकल जावें। जब कूलचंद के लगभग ५०,००० आदमी मारे गये या नदी में डूब गये तब राजा ने एक खंजर लेकर पहले अपनी स्त्री को समाप्त कर दिया और फिर उसी के द्वारा अपना भी अंत कर लिया। सुलतान को इस विजय से १८५ बढ़िया हाथी तथा अन्य माल हाथ लगा।"

इसके बाद सुलतान महमूद की फ़ौज मथुरा पहुँची। यहाँ का वर्णन करते हुए उत्बी लिखता है—

"इस शहर में सुलतान ने निहायत उम्दा ढंग की बनी हुई एक इमारत देखी, जिसे स्थानीय लोगों ने मनुष्यों की रचना न बताकर देवताओं की कृति बताई। नगर का परकोटा पत्थर का बना हुआ था, उसमें नदी की ओर ऊँचे तथा मजबूत आधार-स्तंभों पर बने हुए दो दर्वाजे थे। शहर के दोनों ओर हजारों मकान बने हुए थे, जिनसे लगे हुए देवमंदिर थे। ये सब पत्थर के बने थे और लोहे की छड़ों द्वारा मजबूत कर दिये गये थे। उनके सामने दूसरी इमारतें बनी थीं, जो सुदृढ़ लकड़ी के खंभों पर आधारित थीं। शहर के बीच में सभी मंदिरों से ऊँचा एवं सुंदर एक मंदिर था जिसका पूरा वर्णन न तो चित्र-रचना द्वारा और न लेखनी द्वारा किया जा सकता है।[३] सुलतान महमूद ने स्वयं उस मंदिर के बारे में लिखा कि 'यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे तो उसे दस करोड़ दीनार (स्वर्ण-मुद्रा) से कम न खर्च करने पड़ेंगे और उसके निर्माण में २०० वर्ष लगेंगे, चाहे उसमें बहुत ही योग्य तथा अनुभवी कारीगरों को ही क्यों न लगा दिया जावे।' सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरों को जला कर उन्हें धराशायी कर दिया जाय।[४] बीस दिनों तक बराबर शहर की लूट होती रही।[५]"

महमूद के आक्रमण के कुछ समय बाद ही 'अलबेरूनी' नामक प्रसिद्ध मुसलमान यात्री भारत आया। इसने यहाँ संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और भारत में कुछ दिन ठहरने के बाद इस देश के संबंध में १०३० में 'तहकीके हिंद' नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने भारतीय इतिहास, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष आदि के संबंध में तथा यहाँ के लोगों के विषय में विस्तृत विवरण लिखा है। अपने इस ग्रंथ में अलबेरूनी ने वायुपुराण, बृहत्संहिता आदि पुस्तकों की भौगोलिक सूचियों के आधारपर शूरसेन तथा मथुरा का उल्लेख किया है।[६] उसने लिखा है कि मथुरा नगर यमुना-

१. कनिंघम—आर्कोओलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०, पृ० ३४।

२. संभवतः उस समय मथुरा-राज्य की राजधानी महावन में थी।

३. यह मंदिर भगवान् कृष्ण का प्रतीत होता है और वर्तमान कटरा केशवदेव में जन्म-स्थान पर रहा होगा। शायद इस मंदिर का निर्माण गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय हुआ था। हुएनसांग ने जिन पाँच बड़े देवमंदिरों का उल्लेख किया है उनमें एक यह भी रहा होगा।

४. पिछले मुसलमान लेखकों के वर्णनों से पता चलता है कि महमूद ने कुछ भव्य इमारतों को उनके सौंदर्य से अत्यधिक प्रभावित ो जाने के कारण भग्न नहीं कराया।

५. ग्राउज—वही, पृ० ३१-३२।

६. ई० सी० साचौ—अलबेरूनीज़ इंडिया (लंदन १९१४), जिल्द १, पृ० ३००, ३०८।

तट पर बसा है। भगवान् वासुदेव (कृष्ण) के मथुरा में जन्म का तथा उनके चरित का वर्णन अलबेरूनी ने विस्तार से किया है,[१] परंतु उसने कई बातें भ्रामक लिखी हैं। एक जगह पर वह लिखता है कि कृष्ण के पिता वसुदेव शूद्र थे और वे जट्टवंश के पशुपाल थे।[२] अपनी पुस्तक में अलबेरूनी ने मथुरा में व्यवहृत संवत् का उल्लेख किया है और लिखा है कि मथुरा तथा कन्नौज के राज्यों में श्रीहर्ष (कन्नौज के सम्राट् हर्षशीलादित्य) का संवत् चलता था।[३]

अन्य कई मुसलमान लेखकों ने भी अपने ग्रंथों में मथुरा की चर्चा की है।[४] इनमें से विशेष उल्लेखनीय १६ वीं शताब्दी के 'अलबदाऊनी' तथा 'मोहम्मद कासिम फ़रिश्ता' के विवरण हैं। पहले लेखक ने अपनी किताब मुंतखबुत्तवारीख' में मथुरा का ज़िक्र करते हुए लिखा है—

"मथुरा काफ़िरों के पूजा की जगह है। यहाँ वसुदेव के लड़के कृष्ण पैदा हुए। यहाँ पर असंख्य देव-मंदिर हैं। सुलतान (महमूद गज़नवी) ने मथुरा को फ़तह किया और उसे बर्बाद कर डाला। मुसलमानों के हाथ बड़ी दौलत लगी। सुलतान की आज्ञा से उन्होंने एक देवमूर्ति को तोड़ा, जिसका वज़न ९८,३०० मिश्कल[५] खरा सोना था। एक बेशक़ीमती पत्थर मिला, जो तोल में ४५० मिश्कल था। इन सबके अतिरिक्त एक बड़ा हाथी मिला, जो पहाड़ के मानिंद था। यह हाथी राजा गोविंदचंद का था।[६]"

१६०० ई० के लगभग फ़ारिश्ता ने भारत का विस्तृत वर्णन लिखा। मथुरा के सबंध में उसने कई उल्लेख किये हैं। महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाई का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि महमूद मेरठ से महावन[७] पहुँचा था। महावन को लूटने के बाद वह मथुरा पहुँचा। फ़ारिश्ता ने लिखा है—

"सुलतान ने मथुरा में मूर्तियों को भग्न करवाया और बहुत सा सोना-चाँदी प्राप्त किया। वह मंदिरों को भी तोड़ना चाहता था, पर उसने यह देख कर कि यह काम बड़ा श्रमसाध्य है, अपना विचार बदल दिया।[८] कुछ लोगों का अनुमान है कि मंदिरों के सौंदर्य से प्रभावित होकर सुलतान ने उन्हें नष्ट करने का ख़याल छोड़ दिया। उसने गज़नी के गवर्नर को मथुरा की बाबत जो लिखा उससे प्रमाणित होता है कि इस शहर तथा यहाँ की इमारतों का उसके चित्त पर बड़ा असर पड़ा। सुलतान मथुरा में बीस दिन तक ठहरा। इस अवधि में शहर की बड़ी बर्बादी की गयी।"[९]

फ़रिश्ता ने दूसरे बड़े मूर्ति-भंजक सिकंदर लोदी के द्वारा भी मथुरा की बर्बादी का हाल लिखा है। वह लिखता है—

१. देखिए साचौ—वही, पृ० ४०१–४०५।

२. वही, पृ० ४०१।

३. वही, जिल्द २, पृ० ५।

४. उदाहरणार्थ—निज़ामुद्दीन, इब्न असीर, अलबदाऊँनी, फ़रिश्ता आदि।

५. एक मिश्कल तोल में ९६ जौ की तोल के बराबर होता है।

६. जी० रैंकिंग—मुंतख़बुत्तवारीख ऑफ़ अलबदाऊँनी (कलकत्ता, १८४५), जिल्द १, पृ० २४-५। यह राजा गोविंदचंद कौन था, यह बताना कठिन है। निस्संदेह वह कन्नौज के गाहड़वाल राजा गोविंदचंद्र से भिन्न था।

७. अल उत्बी ने 'महावन' नाम नहीं लिखा, यद्यपि उसका अभिप्राय इसी नगर से था।

८. परंतु उत्बी ने लिखा है कि सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरों को जलाकर धराशायी कर दिया जाय। फ़रिश्ता का कथन ठीक मालूम पड़ता है।

९. जॉन ब्रिग्स—हिस्ट्री ऑफ़ दि राइज़, ऑफ़ दि मोहेमेडन इन इंडिया (कलकत्ता, १९०८), जि० १, पृ० ५७-५९।

हैं। इसके बीच के भाग पर एक बहुत ही ऊँचा शिविर है, जिसके दोनों ओर एक-एक छोटा शिविर है। इमारत का सारा बाहरी भाग नीचे से ऊपर तक मेढ़ा, बंदर, हाथी आदि जानवरों की प्रस्तर-मूर्तियों से अलंकृत है। चारों ओर आले ही आले दिखाई पड़ते हैं, जिनमें विभिन्न दानवों[1] की प्रतिमाएँ हैं। तीनों शिखरों में नीचे से लेकर ऊपर तक जगह-जगह ५-६ फ़ुट ऊँची खिड़कियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक के सामने इतने चौड़े छज्जे लगे हैं कि उन पर चार व्यक्ति बैठ सकते हैं। प्रत्येक छज्जे के ऊपर एक छोटा चँदोआ बना है। छज्जों को थामने के लिये उनके नीचे ४-४ या ८-८ जोड़ीदार खंभे एक-दूसरे को छूते हुए लगाये गये हैं। शिखरों के चारों ओर भी आले बने हैं, जिनमें दानवों की मूर्तियाँ भरी हैं। एक दानव के चार हाथ हैं, दूसरे के चार पैर हैं। कुछ मानवों के सिर पशुओं के ऊपर प्रदर्शित हैं। ये पशु सींगोंवाले हैं और उनकी लंबी पूँछें उनकी टाँगों में लिपटी हुई हैं। बंदरों की तो बेशुमार मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार दानवों के भारी दल का दृश्य देखनेवाले को भयभीत कर देता है!"

"मंदिर में प्रवेश करने के लिये केवल एक ही द्वार है, जो बहुत ही ऊँचा है। उसमें बहुत से खंभे लगे हैं और दोनों ओर जानवरों तथा मानवों की कितनी ही प्रतिमाएँ हैं। मंदिर के भीतरी भाग में चारों ओर ५-६ इंच व्यासवाले पत्थर के खंभों की एक पूरी जाली बनी है। उसके अंदर मुख्य ब्राह्मण पुजारियों को छोड़ कोई नहीं जा सकता। ये पुजारी किसी गुप्त-द्वार से भीतर पहुँचते हैं, जिसे मैं नहीं देख सका।"

"जब मैं मंदिर में गया और कुछ ब्राह्मणों से पूछा कि क्या मैं बड़े "रामराम" (बड़ी मूर्ति) को देख सकता हूँ तो उन्होंने जवाब दिया कि कुछ मिलने पर वे अपने प्रधान अधिकारी से अनुमति प्राप्त कर सकते हैं। मैंने उन्हें कुछ रुपये दिये और वे अनुमति ले आये। लगभग आध घंटे के बाद ब्राह्मणों ने जालीदार घेरे के बीच का एक भीतरी दरवाजा खोला यह घेरा अन्य सभी तरफ़ से बंद था।"

"दरवाज़े से मैंने भीतर की ओर देखा कि कोई १५-१६ फ़ुट की दूरी पर एक चौकोर चौकी है, जिसपर सोनें-चाँदी के कामवाला पुराना वस्त्र बिछा था और उसके ऊपर बड़ी मूर्ति थी, जिसे 'रामराम' कहते हैं। इस मूर्ति का केवल सिर दिखलाई पड़ता था, जो बड़े काले संगमरमर का बना था और जिसमें आँखों की जगह दो लाल मणि जड़ी हुई थीं। गरदन से लेकर पैरों तक मूर्ति का सारा शरीर कढ़े हुए लाल मखमली कपड़े से ढँका था। मूर्ति के हाथ नहीं दिखाई पड़ते थे। बड़ी मूर्ति के दोनों ओर एक-एक और मूर्ति थी, जो ऊँचाई में लगभग २ फ़ुट की थीं। उनकी बनावट बड़ी मूर्ति जैसी ही थी, केवल भेद इतना था कि उन दोनों के चेहरे सफ़ेद थे। इन दोनों मूर्तियों को 'बेच्छोर'[2] कहते हैं।"

"मैंने मंदिर में १५-१६ फ़ुट की एक चौकोर वस्तु और देखी, जो ऊँचाई में १२ से १५ फ़ुट तक होगी। यह एक रंगीन वस्त्र से ढँकी थी, जिस पर सभी प्रकार के दानवों के चित्र बने थे। इससे चार छोटे पहिओं के ऊपर खड़ा किया गया था। लोगों ने मुझे बताया कि यह चल-सकने वाली वस्तु है,[3] जिस पर बड़े पर्वों के अवसरों पर बड़े देवता को सवार कराते हैं और

१. ये वास्तव में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ थीं, जिन्हें टैवर्नियर ने कई जगह अज्ञान-वश दानव कहा है।

२. शायद 'बलदेव' की मूर्ति से अभिप्राय है।

३. यह वास्तव में रथ था, जिसपर विशेष अवसरों पर प्रधान मूर्ति को बैठाकर बाहर ले जाते थे। वृंदावन के रंगजी के मंदिर में यह 'रथोत्सव' अब भी धूमधाम से मनाया जाता है।

उसे अन्य देवताओं से मिलने के लिये ले जाते हैं। मुख्य उत्सवों पर इसे मूर्ति-सहित लोगों के समुदाय के साथ-साथ नदी तक ले जाते हैं।"

टैवर्नियर का यह विस्तृत वर्णन तत्कालीन मथुरा के सर्वोत्तम मंदिर का एक भव्य स्वरूप सामने खड़ा कर देता है। इस यात्री के लगभग १३ वर्ष बाद १६६३ ई० में बर्नियर नामक दूसरे यात्री ने भी इस महान् मंदिर का उल्लेख किया है। वह लिखता है—

"दिल्ली और आगरे के बीच में, जिसका फ़ासला ५० या ६० मील होगा, कोई अच्छा नगर नहीं है। यह सारी सड़क उल्लास-रहित एवं नीरस है। केवल मथुरा ही एक उल्लेखनीय स्थान है, जहाँ अब भी एक प्राचीन एवं विशाल देव-मंदिर दिखायी पड़ता है।"[1]

बर्नियर के इस लेख के कोई ६ वर्ष बाद ही यह देव-मंदिर औरंगज़ेब की कट्टरता का शिकार बन गया।

सन् १७४३ ई० में 'जॉसेफ़ टीफ़ेंथैलर' नामक फ्रांसीसी यात्री भारत आया और यहाँ लगभग ४२ वर्ष तक रहा। वह मथुरा में भी आया और यहाँ के अनेक स्थानों का उसने वर्णन किया है। गोकुल की बावत वह लिखता है

"यहाँ की स्त्रियों की शादी यहीं हो जाती है, बाहर नहीं की जाती।"[2]

शायद उसने भूल से मथुरा के स्थान पर गोकुल लिख दिया है, पर हो सकता है कि अब से लगभग दो सौ वर्ष पहले गोकुल में भी वह प्रथा रही हो, जो अब तक मथुरा के चौबों में चली आती है। मथुरा नगर का वर्णन करते हुए यह यात्री लिखता है—

"यहाँ की गलियाँ सकड़ी और गंदी हैं और शहर की अधिकांश इमारतें टूटी-फूटी हैं। किला बहुत बड़ा और विशाल है, मानों कामदार पत्थरों का पर्वत हो। उस पर एक वेधशाला है, जो जयपुर की वेधशाला की एक छोटी प्रतिकृति है, पर इसमें एक खूबी यह है कि यह बहुत ऊँचाई पर स्थित है।"[3]

इस यात्री ने मथुरा के 'विश्रांत घाट' की भी प्रशंसा की है।[4] वृंदावन की बावत 'टीफ़ेंथैलर' लिखता है—

"इस नगर में केवल एक बड़ी सड़क है, जिसके दोनों ओर सुंदरता के साथ उकेरे हुए पत्थर की बढ़िया इमारतें हैं। ये हिंदू राजाओं तथा सरदारों के द्वारा या तो केवल शोभा के लिये और या कभी-कभी निवास करने या धार्मिक प्रयोजन के लिये बनवाई गईं थीं।"

इस यात्री को वृंदावन की धार्मिकता अच्छी नहीं लगी और इसने यहाँ धर्मार्थ आनेवाले यात्रियों की तीखी एवं कटु आलोचना की है।[5]

१९ वीं शताब्दी में अनेक युरोपीय यात्रियों ने मथुरा आने पर यहाँ का थोड़ा-बहुत वर्णन लिखा है। इनमें से 'बिशप हेबर' तथा 'विक्टर जैकेमांट' नामक दो यात्रियों के वर्णन देकर हम इस लेख

[1]. ग्राउज़—वही, पृ० ११८; इटालियन यात्री मनूची ने केशवदेव-मंदिर की बावत लिखा है कि इसका सुवर्णाच्छादित शिखर इतना ऊँचा था कि वह १८ कोस दूर आगरा से भी दिखाई पड़ता था।

[2]. ग्राउज़—वही, पृ० १० (नोट)।

[3]. इस यात्री के समय में मानसिंह द्वारा १६ वीं शती के अंत में निर्मित किले की दशा अवश्य ही अच्छी रही होगी। सवाई राजा जयसिंह जयपुर (१६९९-१७४३ ई०) द्वारा उसके ऊपर बनवाई गई वेधशाला तो यात्री के मथुरा-आगमन के समय बिलकुल नवीन अवस्था में रही होगी।

[4]. ग्राउज़—वही, पृ० १४१ नोट।

[5]. ग्राउज़—वही, पृ० १७४।

को समाप्त करेंगे। हेबर १८२५ ई० में मथुरा आया। इसने मथुरा के प्रसिद्ध द्वारकाधीश मंदिर का मनोरंजक वर्णन किया है। वह लिखता है—

"शहर के लगभग बीचोबीच एक सुंदर मंदिर है, जो आवास-स्थान का भी काम देता है। यह मंदिर हाल में ही बना है और अभी तक पूर्ण नहीं हुआ। सिंधिया के कोषाध्यक्ष 'गोकुलपति सिंह' ने इसे बनवाया है।...इमारत का दर्वाजा यद्यपि छोटा है पर बहुत अलंकृत है। उसमें पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं। सड़क से सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद चौकोर आँगन मिलता है, जो चारों ओर से घिरा हुआ है। आँगन के बीच में एक चौकोर इमारत है, जो खंभों की तिहरी पंक्ति पर बनी है। खंभे तथा छत बड़ी सुंदरता के साथ उत्कीर्ण एवं चित्रित हैं।[1] बाहर की ओर का पत्थर का कटाव अत्यंत सुंदर है...।"[2]

हेबर ने अपने लेख में 'दोतना गाँव' का तथा सिर पर घड़ा रखकर नाचने वाली ग्वालिनों का भी उल्लेख किया है।[3]

जैकेमांट सन् १८२९-३० ई० में ब्रज आया था। उसने इस प्रदेश का वर्णन करते हुए लिखा है—

"यहाँ की जमीन रेतीली है। खेती के योग्य जो जमीन है उसके आस-पास ऊसर भी बहुत है। जमुना नदी में कोई आकर्षण नहीं है। यहाँ के गाँव एक दूसरे से काफ़ी दूर हैं। उनकी हालत बिगड़ती जा रही है। बहुत से गावों के चारों ओर मजबूत दीवालें हैं।"[4]

द्वारकाधीश-मंदिर के संबंध में यह यात्री लिखता है कि "वह ऐसा लगता था मानों एक बैरक हो अथवा रुई का कारखाना हो![5] वृंदावन के संबंध में इस यात्री ने लिखा है—

"यह बहुत ही प्राचीन शहर है और मथुरा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण नगर कहा जा सकता है। हिंदुओं के जितने बड़े पवित्र तीर्थ हैं उनमें से यह एक है। यहाँ के मंदिरों में बड़ी संख्या में यात्री आते हैं और नदी के किनारे सुंदर घाटों में पूजा करते हैं। सभी इमारतें लाल पत्थर की बनी हैं, जो आगरा के पत्थर से उम्दा है.....। वृंदावन में मुझे एक भी मस्जिद नहीं दिखायी दी। नगर के छोरों पर अच्छे पेड़ों के घने कुंज हैं, जो बहुत ही सुंदर लगते हैं।[6]"

मथुरा-वृंदावन को छोड़कर इस यात्री को ब्रज के किसी अन्य स्थान में सौंदर्य नहीं दिखायी पड़ा। मथुरा की गलियाँ भी इसे बिलकुल नहीं भाईं। वह लिखता है—

"ऐसी सँकड़ी, टेढ़ी-मेढ़ी, ढालू और गंदी गलियाँ मैंने कहीं नहीं देखीं।"[7]

१. खेद है कि यह प्राचीन चित्रकारी अब नष्ट हो गई है।

२. ग्राउज—वही, पृ० १४५

३. वही, पृ० ३४०। यह नृत्य अब भी ब्रज में प्रचलित है। इसका 'चरकला' नामक रूप सबसे अधिक मनोहर है।

४. ग्राउज—वही, पृ० ६८-९।

५. वही, पृ० १४५।

६. ग्राउज—वही, पृ० १७४-७५।

७. ग्राउज—वही, पृ० १४१ (नोट)।

भगवान् श्री कृष्ण के ब्रज : नाम

(श्री नागरीदास)

राग-सारंग

ब्रज-सँम और न कोऊ धाँम।
या ब्रज में परमेसुर हू के, सुधरे सुंदर नाँम ।।
कृष्ण नाँम यें सुन्यों गरग ते, काँन्ह-काँन्ह कहि बोलें।
बाल-केलि-रस-मगँन भए सब, आँनद-सिंधु-झकोलें ।।
जसुधा-नंदन, दाँमोदर, नवनीत-प्रिय दधि-चोर।
चोर-चोर, चित-चोर चिकनियाँ, चातुर नवल-किसोर ।।
राधा-चंद-चकोर साँवरौ, गोकुलचँद, दधि-दाँनी।
श्री वृंदाबन-चंद, चतुर चित, प्रेंम-रूप-अभिमाँनी ।।
राधा-रमँन सु राधा-बल्लभ, राधा-कांत रसाल।
बल्लभ-सुत, गोपी-जन-बल्लभ, गिरिवर-धर, छबि-जाल ।।
रास-बिहारी, रसिक-बिहारी, कुंज-बिहारी स्याँम।
बिपिन-बिहारी, बंक-बिहारी, अटल-बिहारी राँम ।।
छैल-बिहारी, लाल-बिहारी, बनवारी, रस-कंद।
गोपीनाथ, मदनमोंहन पुनि, बंसीधर, गोबिंद ।।
ब्रज-लोचन, ब्रज-रमँन मनोहर, ब्रज-उच्छब, ब्रज-नाथ।
ब्रज-जीवन, ब्रज-बल्लभ सब के, ब्रज-किसोर सुभ गाथ ।।
ब्रज-भूषन, ब्रज-मोंहन, सोंहन, ब्रज-नायक, ब्रज-चंद।
ब्रज-नागर, ब्रज-छैल-छबीलौ, ब्रजबर सो नँद-नंद ।।
ब्रज-आँनद ब्रज-दूल्हे नित ही, अति सुंदर ब्रज-लाल।
ब्रज-गौवन के पाछें-आछें, सोहत ब्रज-गोपाल ।।
ब्रज-संबंधी नाँम लेत ए, ब्रज की लीला गावै।
'नागरिदास' हि मुरलीवारौ, ब्रज कौ ठाकुर भावै ।।

—o—

अन्नकूट

श्री कृष्णकांत बागोरा

भारतवर्ष में अन्य धार्मिक समारोहों की भाँति प्रतिवर्ष सनातन धर्मावलंबी जनता द्वारा मनाया जानेवाला 'अन्नकूटोत्सव' भी अपना एक विशिष्ट इतिहास लिये हुए है। इसका प्रारंभ-काल महाभारत के समय से माना जाता है।

जिस प्रकार प्राचीन समय में किसान व गोप राजाओं को राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि बनाये रखने को कर दिया करते थे, उसी प्रकार वर्षा के अंत में इंद्र को बलि (भेंट) दिया करते थे, किंतु भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उस समय की जनता को इंद्र की पूजा से भी महत्त्वपूर्ण गौ-ब्राह्मण और देवताओं का पूजन कर श्री गिरिराज को बलि (भेंट) देने की आवश्यकता बतलाई और निम्न-विधि द्वारा उत्सव समारंभ करने की प्रेरणा दी गई—

"धृत्वार्थं सर्व संभारं भक्तियुक्तोजितेंद्रियः। सहस्र शीर्षामंत्रेणह्रदे स्नानं च कारयेत् ।।
गंगाजलेनयमुनाजलेनापि द्विजैः सह। शुक्लगोदुग्धधाराभिस्ततः पंचामृतैर्गिरिम् ।।
स्नापयित्वा गंधपुष्पैः पुनः कृष्णाजलेनवै। वस्त्रं दिव्यं च नैवेद्यमासनंसर्वतोधिकम् ।।
मालाऽलंकारनिचयं दत्वा दीपावलिपराम्। ततः प्रदक्षिणांकुर्यान्नमस्कुर्यात्ततः परम् ।।
कृतांजलिपुटो भूत्वात्विदमेव मुदीरयेत्। नमो वृंदावनांकाय तुभ्यं गोलोकमौलिने ।।
पूर्णब्रह्मातपत्रायनमोगोवर्द्धनाय च। पुष्पांजलिंततःकुर्यान्नीराजनमतः परम् ।।
घंटाकांस्य मदंगाद्यैर्वादित्रैर्मधुरस्वनैः। वेदाहमेतं[1] मंत्रेण वर्षं लाजैः समाचरेत् ।।
तत्समापे चान्नकूटं कुर्याच्छ्रद्धा समन्वितः ।।"

—गर्गसंहिता—गि० खं० १५—२२

उपरोक्त ग्रंथ में एक स्थान पर उल्लेख है, कि "कलियुग की आदि में चार हजार आठ सौ वर्ष पीछे गिरिराज की गुहा के मध्य से सब के देखते-देखते भगवान् का एक स्वरूप स्वतः सिद्ध प्रगट होगा। उस रूप को श्रीनाथ जी, देवदमन सर्वश्रेष्ठ जन वर्णन करेंगे।"[2] इस लेखानुसार श्रावण सुदी नागपंचमी संवत् १४६६ के दिन श्रीनाथ जी की उर्ध्वभुजा का प्राकट्य होकर कार्तिक १५ पूर्णमासी संवत् १७२८ से श्रीजी मेवाडांतर्गत श्रीनाथद्वार (सिंहाड़) नगर में विराजमान हैं। जहाँ प्रतिवर्ष 'दीप मालिका' के अवसर पर जगद्-विख्यात अन्नकूटोत्सव समारंभ में भाग लेने के लिये देश-विदेश से असंख्य नर-नारी आकर श्री देवदमन के दर्शन पाकर अनुपम सौख्य को प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं।

श्रीनाथद्वार में प्रतिवर्ष कार्तिक मास की दीपावली के दिन श्रीजी की गौ माता जी गौ-शाला से मंदिर के सानिध्य में आती हैं। वहाँ विश्राम कर प्रतिपदा के दिन श्रीजी की परिक्रमा कर श्रीजी के मंदिर में जहाँ श्री गिरिराज का स्वरूप प्रतिष्ठापित रहता है आकर पुष्टि-मार्ग के प्रधान गोस्वामी तिलकायित द्वारा पूजित होती हैं।

[1]. वेदाहमेतं पुरुषं महानमादित्यवर्णंतमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्यु मेतिनान्यःपंथाविद्यतेयनाय ।।

[2]. गर्गसंहिता—गिरिराज खंड।

श्री जी के संमुख जहाँ अन्नकूट का स्वरूप स्थित होता है उसके नीचे रोपन (स्वेत चावल और हल्दी मिला हुआ) द्वारा स्थान को रेखांकित किया जाकर घास का मूढा (चौकी) बनता है। फिर उसे बड़ी-बड़ी पत्तलों से ढक दिया जाता है। उसके ऊपर दो सौ मन स्वेत पके हुए चाँवलों का श्री गिरिराज की आकृति के अनुसार ढेर किया जाता है। श्रीजी के चारों आयुधों की तरह चार गूंझे (जिन चारों की शंख, चक्र, गदा, पद्म की आकृति होती है) भात के मध्य में शिखर-जैसे रोपे जाते हैं। कोट के ऊपर तुलसी की माला इतनी बड़ी होती है कि वह समग्र सामग्री को ढक ले। भात के साथ आरोगने के लिये घी की चार मिट्टी की चपटिया आती हैं। श्रीजी के डाबी (दाईं) बगल में मोंढे के ऊपर एक जल का चौड़ा पात्र आता है और सकड़ी सामग्री निम्न प्रकार की आरोगाई जाती है—

बड़ा, मँगोड़ा, तिल-बड़ी, रोचक, पापड़, ढेबरी, पान-बड़ा, पतर-बड़ा, टेंटी की कचरिया, ग्वार की कचरिया, चिबड़ा की कचरिया, खरबूजे की कचरिया, करेले की कचरिया, तोरमी की कचरिया, भिंडी की कचरिया, कमल की कचरिया, निता की कचरिया, जितने तरह के फीके बन सकते हैं उतने, जितने तरह के साग प्राप्त होसकें सब। बेंगन देव-सोते होने पर भी अरोगते हैं।

कंद

सूरन, रतालू, अरबी, सकरकंद, आलू।

मिष्टान्न

थूली, सेव (छत्तीस-छत्तीस नावें) चोंसठ चपटिया छाछ जिनके अंदर आठ में बड़ा, आठ में मँगोडा, आठ में पतर-बड़ा, आठ में पान-बड़ा, आठ में बूंदी, आठ में बूंदी के झारे की सेव, आठ में बेंगन के भुजीने, आठ में पकोड़ी। आखे मूँग, मूँग की दाल (दोनों तरह की), तूअर (अड़हर) की दाल, चने की दाल। कढ़ी ३ कूंड़े, बड़ी का साग ३ कूंड़े, कमरख का साग ३ कूंड़े, सूरन का कचूमर ३ कूंड़े। खीर चार तरह की—रवा, मनका, सेव और चाँवल की। पाँच तरह के भात—मेवा-भात, सिकरन-भात, दही-भात, राई-भात और बड़ी-भात। पेठे का बिलसारु, केले का बिलसारु। रायते चार तरह के—दाख (मीठा), बेंगन, नीता और कोले (मीठा) का। नोंन, सँधानों, नींबू, आदा-पाचरी, माखन-मिश्री।

अनसकड़ी

सेव के लड्डू, गूंझा, मठरी, मेवा-बाटी, फेनी (केसरिया और सफेद), खरमंडा, इंदरसा (अँदरसा), कपूर-नारी, सकरपारा, छूटी बूंदी, मनोहर, पूवा (कठपूवा, मालपूवा), जलेबी, बाबर (सफेद और केसरिया), श्रीखंड-बड़ी, तेल के संधाने की चपटिया, बदाम, पिस्ते, खोपरा (गोला), चिरोंजी इन चारों की ढालनी याने मोहनथाल।

दूध-घर की सामग्री

बर्फी, पेड़ा, दूध-पूड़ी, गुजिया, बासूंदी, साग-घर के मीठे चार तरह के—अमरस, अनार, नारँगी, सेव, खोआ मिलमा, बदाम, पिस्ता, चिरोंजी और कोले की बर्फी, पेठे की बर्फी, सूरन की बर्फी, कोले के बीज की, खरबूजे के बीज की, दूध खूब औंटा हुआ आदि।

शास्त्रोक्त रीति से पूजन होने व जन-साधारण के दर्शन कर लेने के बाद रात को १२ बजे राजस्थान के विभिन्न भागों से आये हुए सैकड़ों भील एकमात्र लँगोटी लगाकर अन्नकूट के विशाल दहकते हुए ढेर को लूटने के लिये टूट पड़ते हैं, जिसे गले में लटकती झोली में भरकर थोड़े ही समय में साफ कर देते हैं। इस लूटे हुए प्रसाद को ये लोग दूर-दूर अपने हितुओं को भेजते हैं। इस दृश्य को देखने के लिये देश के सब भागों से भक्तगण आते हैं।

—o—

अन्नकूट की सांस्कृतिक परंपरा

श्री कृष्णचंद्र

इसे सभी जानते हैं कि जब सृष्टि उत्पन्न हुई और उसका शनैः शनैः विस्तार बढ़ा तो उसके साथ ही मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ीं, एवं उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कार्य-प्रणालियाँ बनती गईं। प्रकृति के जिन तत्त्वों से उन्हें भय ज्ञात हुआ, एवं जिनसे आनंद एवं पोषण-तत्त्व मिले उन्हीं से वे प्रसन्नता का अनुभव कर उन तत्त्वों को देव रूप से मान उनकी पूजा के लिए प्रवृत्त हुए। वर्षा के न होने से उसके अधि देवता इंद्र की एवं जल, सूर्य, वायु की उपासना में संलग्न हुए। आर्यों के द्वारा जो उपासना इस प्रकार आरंभ हुई, वह किसी न किसी रूप से अनवरत चलती रही।

कृष्णावतार का समय

कृष्णावतार का समय—द्वापर के अंत और कलि के आदि में जब भगवान् श्री कृष्ण लोकोपकार एवं धर्माभ्युत्थान और समाज-रक्षा के लिए ब्रज-भूमि में देवकी के गर्भ से जन्म ले गोकुल में नंद-रानी के यहाँ बाललीला करने पधारे तो एक बार परंपरागत इंद्र-पूजन के प्रसंग पर भी आपकी दृष्टि गई और सात वर्ष के आपने नंदराय जी से इसका महत्त्व पूछ ही लिया कि तात, यह सामग्रियों का संभार क्यों तैयार हो रहा है ? क्या कोई महान् देव का पूजन-समारंभ है ? या अन्य कोई उत्सव ! इस पर नंदराय ने अपने भोले लाल को गोदी में बैठाकर पुचकारते हुए कहा कि लाल, हम ब्रजवासी अनेक वर्षों से अपनी सुरक्षा, गोधन की पूर्णता, सद्वृष्टि, सस्य-धान्य की वृद्धि के लिए देवाधिदेव इंद्र की पूजा करते हैं और उनसे हमें सब प्रकार का आनंद मिलता है। नंदनंदन ने बाबा की बात को बड़ी शांति से सुना और अपनी कोमल-आकर्षक वाणी से इंद्र के विरुद्ध वास्तविक विचार प्रकट करते हुए कहा तात, हम ब्रजवासी हैं, वन एवं पर्वत ही हमारे सब कुछ हैं, यहाँ हमारी गौएँ चरती हैं, हमें सुंदर तृण, झरनों का शीतल जल मिलता है, अतः इस सामग्री से यदि इंद्र की पूजा न कर पर्वत राज 'गिरिराज' की पूजा करें तो श्रेयस्कर है, इससे हमें सर्वथा लाभ और सुख होगा। श्री कृष्ण की सार-भरी वाणी ने विश्वासी ब्रजवासियों के हृदय में असर किया और संचित-संभार से उन्होंने इंद्र की पूजा मेट गिरिराज की पूजा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। वह समय सुख-समृद्धि का था। प्रत्येक में ममता, सह-भ्रातृता, प्रेम का साम्राज्य था, अन्न-धन की पुष्कलता थी। श्री कृष्ण सब के प्राण-धन थे अतः द्विगुणित उत्साह से कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को विविध भाँति के पकवानों को गाड़ों में भरकर अपनी गायों को सजा, स्वयं सजधज ब्रज-रमणियों को साथ ले, गिरिराज की पूजा के लिये चल पड़े। पर्वत के समीप आ सबों ने आनंद-मग्न हो गिरिराज को प्रणाम किया। अनंतर विविध भाँति से स्वच्छ कर गिरिवर की परिसर भूमि को गोमय से लीप गाद्य-वाद्यों से परिक्रमा कर पूजा करने लगे। प्रथम स्वच्छ जल, पश्चात् दूध, दही, हरिद्रा, रोली (कुंकुम) और स्वच्छ जल से स्नान करा वस्त्र, चंदन आदि से भूषित कर सुगंधित पुष्प-माला समर्पित की। धूप-दीप के बाद भोग समर्पण किया। पकवानों का समूह इतना था कि एक प्रकार से अन्न का कूट (कोट—पर्वत) बन गया और उसमें गिरिराज भी छुप गये।[1] श्री कृष्ण ने एक स्वरूप से ब्रजवासियों के साथ गिरि का पूजन किया और अपने दूसरे रूप से अनेकों भुजाओं के

1. **भयौ भात कौ कोट ओट, गिरिराज छिपानों।**

—सूरसागर

द्वारा गिरिराज से संभूत हो ब्रजवासियों के पकवानों का भोग लगाया। इस प्रकार भगवान् का गिरिराज से प्रकट होकर भोग-लगाना देख ब्रजवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। भोग के बाद बचे प्रसाद को अपने परिवार, ब्राह्मणों से लेकर सभी जातियों में बाँट दिया और सानंद अपने घरों को चल पड़े।

इधर जब समय बीत गया और पूजा न हुई तो इंद्र के हृदय में विचार उठा और उसने प्रकारांतर से किये हुए ब्रजवासियों के सारे कृत्य को समझ लिया और अभिमान में भरकर अपने निकटस्थ मेघों को बुला आदेश दिया कि आज एक साधारण से घोष-कुमार के कहने से मेरी पूजा मेंट ब्रजवासियों ने 'गिरि' की पूजा की है, अतः इनके बढ़े मद को चूर कर देना है और ब्रज-मंडल को डुबाकर ही शांति लेनी है। आज्ञानुसार ब्रज पर मूसलाधार वर्षा होने लगी। इंद्र का कोप देख सब ब्रजवासी संत्रस्त हो इधर-उधर दौड़ने लगे और अपने सहायक नेता श्री कृष्ण को पुकार कर सारी कथा कह सुनाई। मृदुल हास्य करते हुए श्री कृष्ण ने घबड़ाहट-भरी ब्रजवासियों की दशा का अवलोकन कर उनके भय को दूर करते हुए कहा तुम सभी भय-रहित हो सपरिवार गोधन के सहित गिरिराज के समीप चलो, वही तुम्हारी रक्षा करेगा। गोप-गोपियों ने अपने परम प्रिय श्री कृष्ण की जब बात मानी और सब के सब शीघ्र वहाँ पहुँच गये, तब अतुल बलशाली श्री कृष्ण ने सबों के देखते-देखते गिरिराज-पर्वत को सहसा उठा लिया और सात दिन तक उसे धारण कर अपने ब्रजवासियों की उसके नीचे रक्षा कर चकित कर दिया। इंद्र अपनी सारी शक्ति लगाकर थक गया और ब्रज का कुछ भी न बिगाड़ सका, तब सुरभि को साथ ले ब्रज भूमि में आया और श्री कृष्ण की अनुपम रूप-माधुरी को देख लोटपोट हो गया तथा 'गोविंद' नाम रख विनीत हो क्षमा माँगी। इस कृत्य से ब्रजवासी बड़े ही प्रमुदित हुए और गिरिराज की महत्ता कहने लगे।

गिरिराज की उत्पत्ति

गिरिराज की उत्पत्ति के विषय में पुराणांतरों में यही उपलब्ध होता है कि गो-लोक-धाम-स्थित श्री कृष्ण के हृदय में एक समय 'रास-विहार' की इच्छा उत्पन्न हुई, परंतु विहार के लिए स्थल चाहिए, तब मुकुंद ने सजल-प्रेम-पूरित तेज को प्रकट किया, वही गिरिराज है। जब पूर्णावतार श्री कृष्ण गोलोक से लोक-रक्षार्थ ब्रज-भूमि में पधारे तब वृंदावन आया, श्रुति-रूपा गोपियों ने जन्म-ग्रहण किया तो वही गिरिराज शालमलि द्वीप के बीच द्रोणाचल पर्वत की स्त्री से उत्पन्न हुआ और ब्रजभूमि में लाया गया। किसीके द्वारा इसे प्रतिदिन घटने का शाप भी मिला।

अनेक वर्षों के बाद श्री कृष्णावतार के समय इसकी महानता बढ़ी और यह भगवद्-विग्रह के रूप में माना तथा पूजा जाने लगा। कृष्ण-द्वारा संचालित पूजा का क्रम सदियों तक चलता रहा और 'अन्न-कूट' होता रहा, पर बौद्धों एवं यवनों के आक्रमणों से इसमें न्यूनता आई और पूजा का क्रम बंद हो गया। भक्ति-मार्ग का स्थान ज्ञान और कर्म-मार्ग ने ग्रहण कर लिया। काल-क्रम से भगवान् शंकराचार्य ने बौद्धों का मूलोच्छेदन किया और रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निंबार्काचार्य ने भक्ति की पुनः सुर-सरिता बहाई, परंतु समुचित भक्ति का प्रचार और ब्रज-मंडल का उद्धार जैसा होना चाहिए—वह न हो सका।

श्री वल्लभाचार्य का समय

कालांतर में संवत् १५३५ वै० कृ ११ को चंपारण्य-स्थान में 'श्री वल्लभाचार्य' का जन्म हुआ और इधर उसी दिन संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण एकादशी को गर्गसंहिता के 'नारद-बहुलाश्व' संवाद' के निम्न श्लोकों के अनुसार श्री श्रीनाथ—'देवदमन' का प्राकट्य हुआ। यथा—

"येन रूपेण कृष्णेन धृतो गोवर्द्धनोगिरिः।
तद्रूपं विद्यते तत्र नृपः श्रृंगारमंडलम्॥
अब्दाश्चतुःसहस्राणि तथा चाष्टौशतानिच।
गतास्तत्र कलेरादौ क्षेत्रे श्रृंगारमंडले॥
गिरिराजगुहा मध्यात् सर्वेषां पश्यतां नृप।

स्वतः सिद्धं च तद्रूपं हरे प्रादुर्भविष्यति ।।
श्रीनाथं 'देवदमनं' तं वदिष्यंति सज्जनाः ।"

—गर्गसंहिता—गि० खं० २८-३१

इस प्रकार आपने प्रादुर्भूत होने के कुछ वर्षों बाद झारखंड में श्री वल्लभाचार्य को अपने उत्पन्न होने का स्वप्न दिया। आचार्य मथुरा होते हुए गिरिराज पधारे और वहाँ श्रीनाथ के दर्शन कर अपने को कृतार्थ माना तथा एक छोटा मंदिर बनवा सेवा का क्रम प्रारंभ कर दिया। आपके सं० १५७२ में विट्ठलनाथ जी का जन्म हुआ और बड़े होकर आपने श्रीजी के सेवा-क्रम को व्यवस्थित रूप दिया। जो गिरिराज की पूजा और अन्नकूट छिन्न-भिन्न हो गया था, उसका कार्य-क्रम भी पुनः प्रारंभ किया। संवत् १६२८ में गिरिराज पर्वत पर अपने संप्रदाय के—

(१) मथुरानाथ जी—कोटा ।
(२) विट्ठलनाथ जी—नाथद्वारा ।
(३) द्वारकाधीश जी—काँकरोली ।
(४) गोकुलनाथ जी—गोकुल ।
(५) गोकुलचंद्रमा जी—कामवन ।
(६) बालकृष्ण जी—सूरत ।
(७) मदनमोहन जी—कामवन ।

जो संप्रति विराजते हैं इन सात सेव्य-स्वरुपों के साथ श्रीनाथजी की गोद में नवनीतप्रिय जी को पधरा अन्नकूट का उत्सव किया, तब से यह परंपरा अविच्छिन्न चल रही है।

यवनों के आक्रमण

संवत् १७२२ या २३ में औरंगजेब की क्रांति हुई और उसने मंदिरों को तोड़ मसजिदें बनाने, हिंदुओं को धर्म-भ्रष्टकर मूर्तियों के तोड़ने का आयोजन किया। उस समय सभी प्राचीन हिंदू-संस्कृति के उपासक घबड़ा गए और इधर-उधर रक्षा के लिए स्थान ढूँढ़ने लगे। श्रीनाथजी ने भी पूर्व-प्रार्थना के अनुसार मेवाड़ में आने की बात कही और सं० १७२६ में आप ब्रजधाम से श्री दाऊजी, श्री गोविंदजी एवं गंगाबाई के साथ चले। बीच में आगरा प्रदेश में आपका 'अन्नकूट-उत्सव' हुआ। यहाँ गोमय का गिरिराज बना, उसके बीच में गिरिराज की शिला रख पूजन किया गया तथा अन्नकूट भोग धरा। यहाँ से चलकर श्रीनाथ जी अनेक स्थानों में परिभ्रमण करते हुए सिंहाड़ ग्राम में आकर बिराजे और यह उत्सव हुआ। गोवर्द्धनेश जी ने यहाँ के सेव्य सात स्वरूपों को पधराये। संवत् १८३५ से १८५८ तक मेवाड़ में मेरों और हॉल्करों का उपद्रव हुआ, उस बीच अन्नकूट का उत्सव उदयपुर और ''घसियार" में पूर्व-क्रम से होता रहा। सं० १८६४ में श्रीनाथजी घसियार से वापस सिंहाड़ (नाथद्वार) पधारे और राणा भीमसिंह जी के समय दाऊजी महाराज ने उपर्युक्त उत्सव सेव्य छह स्वरूपों को पधराकर किया। इसके अनंतर गोवर्द्धनलाल जी महाराज ने, जिनका जन्म संवत् १९१७ है, चार सेव्य स्वरूपों को पधराकर उत्सव किया। उधर ब्रज-भूमि में यवनों के आक्रमण कुछ न्यून हुए और गिरिराज की विशेष रूप से प्रतिष्ठा तथा कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को पूजन का क्रम श्रीगोकुलनाथ जी द्वारा वल्लभ-संप्रदाय के सेव्य स्वरूप के साथ अन्नकूट का उत्सव प्रचलित हुआ। वह अद्यावधि चल रहा है, किंतु जो वास्तविकता और संस्कृति का पूर्णत्व हमें नाथद्वार में प्राप्त होता है—वह अन्यत्र नहीं। यहाँ अन्नकूट के एक-दो मास पूर्व से ही यात्रियों, राजा-महाराजाओं का आगमन शुरू हो जाता है और सेवा का क्रम भी तभी से होने लगता है।

अन्नकूट का उपक्रम

नाथद्वार में वस्तुओं का संग्रह अनेक मास पूर्व से होने लगता है, किंतु विजय दशमी के दिन से ठीक कार्य प्रारंभ होता है। इस दिन यहाँ श्रीनाथ जी के बाल-भोग की भट्ठी का पूजन कर पकवानों का बनना प्रारंभ हो जाता है। ये पकवान आज से लेकर दीपावली तक बनते रहते हैं। दूध-घर और

साग-घर की वस्तुएँ भी दशमी से ही बनने लगती हैं। ये पकवान मनों के रूप में बनते हैं और सभी प्रकार के बनते हैं। पकवानों के बनाने के लिये एक लकड़ियों का ढ़ेर गोवर्धन पूजा के चौक में लगता है, उसमें हजारों मन लकड़ियाँ रहती हैं और मुहुर्त से यहाँ के अधिकारी एवं सभी आबाल-वृद्ध-वैष्णव उन्हें पकवान-गृह तक पहुँचाते हैं। शरद्-पूर्णिमा के दूसरे दिन से मंदिर में नवीन चित्रकारी प्रारंभ होती है और उसमें यहाँ के गण्यमान्य चित्रकार भाग लेते हैं। कार्तिक कृष्ण में अन्नकूट की रसोई में कच्चा अन्न (सखड़ी) बनना प्रारंभ होता है। इसके बनाने के लिए सैंकड़ों भट्ट मेवाड़ा-जाति के व्यक्ति उदयपुर से और साँचीहर गिरनारा अन्य देशों से आमंत्रित किये जाते हैं। उनके साथ यहाँ के सेवक भी सेवा में भाग लेते हैं। यह सामग्री अखंड रूप से अन्नकूट तक बनती रहती है। कार्तिक कृष्ण-पक्ष में ही मूहूर्त से घण (पापड़) की सेवा होती है।

कार्तिक वदी १० के दिन से यहाँ के 'टीकेती शृंगार' प्रारंभ होते हैं और अन्नकूट-उत्सव का आरंभ आज से ही मान लिया जाता है। प्रत्येक दर्शनों पर नौबत (नक्कारे) बजती है तथा गो-पूजन गौ के शृंगार करने एवं उनके खिलाने के अष्टछाप के कवियों के कीर्तन यहाँ के प्रसिद्ध कीर्तनियाँ करते हैं। श्रीजी की डोल-तिवारी—मणिकोठा में काँच की हँडियों में शयन के समय रोशनी होती है। यह रोशनी का क्रम धन-त्रयोदशी (धनतेरस) तक चलता रहता है। रुप-चतुर्दशी को रोशनी नवनीतप्रिय के मंदिर में होती हैं और नवनीतप्रिय अपने निज के चबूतरे पर काँच के बँगले में विराजते हैं। रुप चतुर्दशी को हरे शाक की सेवा सारे दिन असंख्यों वैष्णव करते रहते हैं। एक प्रकार से शाक का कूट-सा लग जाता है। रात्रि-भर इनके सिद्ध करने की सेवा होती है। दीपावली को श्रीजी का मंगला के अनंतर अभ्यंग होकर शृंगार होता है। आज श्वेत जरी का चाकदार बागा, लाल सूथन, श्वेत कुल्हे तथा मस्तक पर मयूर-पच्छ का पाँच का जोड़ धारण कराया जाता है। केशरी ठाड़ावस्त्र कंदरा पर, तथा मोती, माणिक, हीरा और विभिन्न रत्न-जटित आभूषणों का शृंगार होता है तथा शृंगार के अनंतर यहाँ की विधि के अनुसार भोगादि आने पर ग्वाल एवं राजभोग के दर्शन होते हैं। राजभोग के बाद यहाँ के टीकैत, सेवक-वृंद, वैष्णव-समाज एकत्रित हो खासा-भंडार पहुँचते हैं और वहाँ से चावल की टोकरियाँ लेकर अन्नकूट की रसोई तक जाते हैं। यह चावलों के पधराने का क्रम बहुत समय तक चलता रहता है। इसमें बड़ी भीड़ होती है, सभी सेवा कर अपने को कृतार्थ करना चाहते हैं। इस समय श्रीजी के अनोसर (शयन) हो जाते हैं, फिर समय-क्रम से उत्थापन, भोग, संध्या-आरती के दर्शन होते हैं। आरती में श्रीजी गायों के घेरने के भाव से ठाड़ा वेत्र धारण करते हैं।

उसी दिन रतन-चौक में एक विशाल काँचों के टुकड़ों का बड़ा ही सुंदर बँगला बनता है और उसके सामने चाँदी के बड़े-बड़े हाथी, गायें, सखी साजी जाती हैं और गोवर्द्धन-चौक के थोड़े स्थान में कटहरा लगा दिया जाता है, जहाँ नवनीतप्रिय जी विराजते हैं, बाकी हिस्सा गायों के लिये छोड़ दिया जाता है, वहाँ गौएँ एकत्रित होती हैं तथा खेलती हैं। सायं ५ बजे यहाँ की गोशाला के गोप जो कि ब्रजवासी होते हैं, अपनी पागपर मयूर-पच्छ की कलंगी धारण कर गायों को रंग-बिरंगी सजा उनके शीश पर मयूर-पच्छ की पट्टिया बाँध लाते हैं। पहिले गायों को यहाँ एक विशाल चौक में छोड़ देते हैं और गोप-गण एकत्रित 'हो हीरा'—जो कि एक अन्नकूट-समय का गोपों का प्रधान गीत होता है गाते हुए श्रीजी की परिक्रमा करते हैं। जब समय हो जाता है, यहाँ के टीकैत, सजातीय सेवक-वृंद, वैष्णव-समाज, स्थानीय कीर्तनियाँ गाते-बजाते खुले हुए सुवर्ण के सुखपाल में श्री नवनीतप्रिय को विराजमान कर पधराते हैं और सूरजपोल की सीढियों पर उन्हें विराजमान कर पान आरोगाते हैं। इधर गोप बाजार में गायों को खिलाते हुए गोवर्द्धन चौक में लाकर इकट्ठी करते हैं तथा यहाँ आकर खिलाते हैं। नवनीतप्रिय को पान के बाद दूध के मटके आरोगाए जाते हैं, फिर यहाँ के टीकैत नंदवंश की गाय का पूजन कर कान में 'कल खेलने को बेगी आना' यह कहते हैं। गोप अधिक उत्साह से गायों को खिलाते हैं। इसे ही 'कान्ह (कान) जगाई' कहते हैं।

इसके बाद नवनीतप्रिय रतन-चौक' के विशाल बँगले में विराजते हैं और दर्शन खोले जाते हैं। सर्वत्र दीपावली जोड़ी जाती है। दर्शनानंतर शयन होते हैं और श्रीजी के मस्तक से मयूर-पच्छ का जोड़, आधा शृंगार बड़ा कर लिया जाता है। रात भर नवनीतप्रिय वहीं रहते हैं।

अन्नकूट

आज का दिन बड़ा ही सुंदर होता है तथा खास रूप से आनंद-प्रद। प्रातः नवनीतप्रिय के अपने निज मंदिर में पधारने पर यहाँ काँच का बँगला उठा लिया जाता है और श्रीनाथ जी के मंगला के दर्शन होते हैं तथा कंदरा पर गद्दल धराया जाता है। इसके अनंतर शृंगार, ग्वाल, राजभोग के दर्शन होते हैं और मस्तक पर गोकर्ण, हस्त में पीत पिछोरी, गायों को घेरने के लिये ठाड़ा वेत्र धारण कराया जाता है। दर्शन हो चुकने पर अनोसर हो जाते हैं।

डोल-तिवारी में मंगला के बाद से ही सफेद चँदोवा तथा काँच की हाँड़ियाँ तेल भरकर जोड़ कर लटका दी जाती हैं। गोल देहली के यहाँ पाटिये लगा दिये जाते हैं। नीचे हरिद्रा से चौक पूर दिया जाता है। सभी दरवाजों से चाँदी के किवाड़ उतारकर लकड़ी के किवाड़ चढा दिये जाते हैं, फिर रतन-चौक में घास का पीढा रस्सों से बाँधकर तैयार किया जाता है। उसे डोल तिवारी में ले जाकर गोल बाँधते हैं। इसकी सेवा भी सभी वैष्णव एवं यहाँ के सेवक करते हैं। इसमें मनों चोखे (चावल) भरे जाते हैं। यह एक पुरुष ऊँचा और करीबन ३-४ गज की गोलाई से कम नहीं होता, इसके ऊपर पत्तलें लगायी जाती हैं। डोल-तीवारी और रतन-चौक में घास बिछा दिया जाता है।

इधर गोवर्द्धन-पूजा के चौक में कटहडे के भीतर गो-मय का गोवर्द्धन बनाया जाता है, जो अच्छा बड़ा होता है। उसमें कई झाड़ (वृक्ष) लगाये जाते हैं तथा ऊपर रुई डाली जाती हैं। अन्य आवश्यक उपकरणों से उसे सजाया जाता है। बीच में एक स्थान गिरिराज की शिला पधराने को रक्खा जाता है। पीछे गली छोड़ी जाती है, जहाँ पूजन के समय कीर्तनिये खड़े होकर कीर्तन—गोवर्द्धन-पूजा के करते हैं। पूर्व दिन की भाँति सूरजपोल की सिढ़ियों एवं नीचे के स्थान पर चालनी माँड़ दी जाती है[1] तथा पूजन के योग्य सादे पदार्थ सेवक-गण लाकर साज देते हैं।

श्रीजी के मंदिर में अन्नकूट का भोग-सजना प्रारंभ हो जाता है। केवल एक गली छोड़ दी जाती है, जिसमें होकर स्वरूप पधराये जाते हैं। निज मंदिर मणि-कोठा में दूध-घर, शाक-घर, अन-सखड़ी के पदार्थ और डोल-तिवारी में एवं रतन-चौक में सखड़ी सजने लग जाती है। इसमें करीबन ५-६ घंटे लगते हैं और जिसमें सैकड़ों व्यक्ति काम करते हैं।

ठीक डेढ़-दो बजे के समय यहाँ के अधिकारी समाधानी, छड़ीदार, कीर्तनियाँ एवं वैष्णव-समाज को साथ ले संप्रदाय के सेव्य स्वरूपों को पधराने जाते हैं और गादियों के क्रम से सब स्वरूपों को पधराते हैं। सब स्वरूप बंद-सुखपाल से पधारते हैं। अन्यत्र से पधारनेवाले स्वरूपों के लिये स्थानीय फौज, हाथी, घोड़े, बाजा और सरकारी प्रबंध नाथद्वारा पधारने तक भेजा जाता है। सब स्वरूपों के पधारने के अनंतर नवनीतप्रिय को सभी एकत्रित हो पधराकर लाते हैं और पूर्व दिन के अनुसार सीढ़ियों पर सुखपाल को विराजमान करते हैं। वहाँ पान और दूध का भोग धर यहाँ के तिलकायित गोस्वामी जी गिरिराज का पूजन करते हैं। सर्वप्रथम गो-मय के गिरिराज में गिरिराज की शिला पधरायी जाती है, फिर शुद्ध जल, दूध, हरिद्रा, कुंकुम आदि के बाद शुद्ध जल, दूध, से स्नान करा वस्त्र, माला, तुलसी धारण करायी जाती है तथा गिरिराज-शिला को चंदन-चर्चित की जाती है। धूप-दीप कर भोग धराया जाता है। भोग के पश्चात् आचमन करा बीड़ा धर आरती की जाती है। यहाँ के ग्वालों और सेव्य-स्वरूपों के ग्वालों को तिलककर प्रसादी उपरना बाँध और गिरिराज का भोग दिया जाता है। उनके हाथ के थापे लगाये जाते हैं। गोवर्द्धन पर गाय चढ़ाई जाती हैं और नवनीतप्रिय श्रीजी

१. ये चालनी विविध रंगों से भरी होती हैं।

के मंदिर में पधारते हैं[१] बाकी का अवशिष्ट भोग श्रीजी के समक्ष रख दिया जाता है। यहाँ की विधि के अनुसार धूप-दीप हो जाता है। गाऐं गोशाला भेज दी जाती हैं। भोग धरने के अनंतर टीकैत, अधिकारी-वर्ग, कीर्तनियाँ, गोप-गण, वैष्णव-समाज, स्त्रियाँ, बालक सहस्रों की संख्या में श्रीजी की बड़ी परिक्रमा करते हैं।

भील लोग अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ उन्मत्त हो गाते-नाचते हुए अधिक से अधिक परिक्रमा देते हैं और महान् आनंद का अनुभव करते हैं। वे मस्त होकर नाचते व गाते हैं।

दो घंटे के अनंतर मंदिर एवं अन्नकूट की रसोई के धुल जाने पर पक्वान का भोग सरना प्रारंभ होता है। यह भोग मणि-कोठा, छठी-कोठा, माला-गली होता हुआ अन्नकूट की रसोई में पहुँचाया जाता है। भोग के टोकड़े उठाकर नहीं रक्खे जाते, सरकाये जाते हैं; तब कहीं अनेक व्यक्तियों से यह भोग सरता है, फिर दर्शन खुलते हैं। स्त्रियाँ अलग मार्ग से और पुरुष अलग मार्ग से आकर दर्शन करते हैं और उन्हें रोक-रोक कर व्यवस्था-पूर्वक यहाँ के अधिकारी वर्गों के द्वारा दर्शन कराये जाते हैं।

श्रीनाथ जी के दोनों ओर मथुराधीश, द्वारकाधीश एवं विट्ठलनाथ जी आदि स्वरूप विराजते हैं। सामने अनेकों टोकरे पक्वान के रक्खे रहते हैं और सखड़ी का भोग सजा रहता है। एक ओर वैष्णव श्रीनाथ जी के दर्शन एवं दूसरी ओर सखड़ी भोग के दर्शन करते हैं। ये दर्शन बहुत समय तक होते रहते हैं। बीच-बीच में आरतियाँ उतरती है। फिर क्रम से द्वारकाधीश, विट्ठलनाथ जी आदि अपने-अपने मंदिरों में पधारते हैं। बाहर गोवर्द्धन-पूजा के चौक की एक कोठडी में अनसखड़ी-भोग सरने लगता है, जो कि राजा-महाराजाओं, और वैष्णव-समाज में बाँटा जाता है और इसके बाँटने में एक मास लग जाता है। इसके बाद कुछ प्रसाद पीढ़ा बाँधनेवाले अंदर जाकर लेते हैं और फिर दरवाजा खोल दिया जाता है। दरवाजे के खुलते ही मेवाड़ के भील सहस्रों की संख्या में डोल-तिवारी, रतन-चौक में घुस पड़ते हैं। उनकी स्त्रियाँ बाहर अपने टोकरे लेकर बैठ जाती हैं। भील चावल में लथपथ हुए झोली भरकर आते हैं और "म्हाँ-वाली" इस प्रकार पुकार-पुकार कर अपनी-अपनी स्त्रियों के टोकरे में चोखे (चावल-भात) डाल जाते हैं। कोई गिरता है, कोई पड़ता है, परंतु भील इतनी मस्ती में सराबोर रहते हैं कि उन्हें देह का ध्यान भी नहीं रहता। एक ओर भात का लूटना, दूसरी ओर श्रीनाथ जी के दर्शन करना, यही उनका कृत्य हो जाता है। यह लीला घंटों चलती रहती है, फिर भीलों का पता भी नहीं लगता। भीलों के लूटने के बाद नवनीतप्रिय अपने मंदिर में पधारते हैं और श्रीनाथ जी के उत्थापन, भोग, संध्या-आरती, शयन की सेवा होती है। सारा मंदिर धुलता है।

इस प्रकार यहाँ प्राचीन संस्कृति का पोषक 'अन्नकूट-महोत्सव' होता है, जिसमें गोधन का पूजन, गायों का शृंगार, गोपों का पूजन-शृंगार एवं अपने आराध्य गिरिराज और अशरण-शरण श्रीनाथ जी को विविध भाँति के पक्वानों का भोग धर सर्वतोभावेन प्रसन्न करते हैं। संप्रदाय में यह एक प्रकार का यज्ञ माना जाता है। इन दिनों में बालक से लेकर वृद्ध तक अपने कार्यों को भूल जाते हैं और वही पाँच हजार वर्ष पूर्व का श्री कृष्ण के समय के गिरिराज-पूजन और अन्नकूट का समाँ नेत्रों के सामने बँध जाता है। सहस्रों नर-नारी भीड़ की अधिकता से दब उठते हैं, पर उन्हें उस दबने में भी आनंद ही होता है। इस तरह के विविध भोगों की तैयारी भी अन्यत्र दुर्लभ है, क्योंकि लक्षावधिद्रव्य चाहिये। वैष्णव-जन इस उत्सव के दर्शन से अपने अहोभाग्य समझते हैं और सहस्रों रुपये खर्च कर-कर आते हैं। इन दिनों जिधर देखिये उधर ब्रज-भूमि, वही आनंद, वही प्रेम, वही उन्मत्तता दीख पड़ती है। अंत में यह निर्विवाद रूप से कहना पड़ता है कि जिसके हृदय में भक्ति का अंकुर है, जो हिंदु-संस्कृति का श्रद्धालु है वह एकबार यहाँ के इस उत्सव के दर्शन कर अपने को कृतार्थ करे।

——::००::——

१. चावलों (भात) पर पाँच गूंझा पधराये जाते हैं।

यमुना का प्रदेश

श्री अमृतबसंत पंड्या

यमुना का महत्त्व

आर्यवर्त की नदियों में सरस्वती और सिंधु की महिमा वेदो के मंत्र-दृष्टा ऋषियों ने गायी है। गंगा का सुयश सूतों ने और महर्षि वेदव्यास ने पुराणों में विस्तार-पूर्वक बखाना है और यमुना? भारतवर्ष का ऐसा कौन-सा कवि होगा जिसने भगवान् श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं के साथ 'यमुना' की कीर्ति का बखान कर अपनी लेखनी को धन्य नहीं बनाया होगा। यमुना तो भारत-वासियों के कंठ-कंठ पर रम रही हैं। भारतीय इतिहास के महत्तम-पुरुष, गीता के गायक भगवान् श्री कृष्ण जिसके तट पर जन्मे, विचरे, खेले और अपनी बाल-लीलाओं की स्वयं क्रीडा-स्थली बनायी वह यमुना वास्तव में धन्य है। भारतीय आर्य-संस्कृति के विकास में यमुना का एक बड़ा भाग है। इस यमुना और गंगा के मध्यवर्ती प्रदेश ने भारतीय इतिहास-चित्र में विविध रंग पूरित किये हैं और आगे करेगा। आर्यावर्त के आँगन में आर्य-संस्कृति का आदि ध्वज जहाँ फहराया वह प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान झूसी जो प्रयाग के समीप है) यमुना के तट पर गंगा-यमुना के संगम के समीप ही बसा हुआ था। इसी यमुना के तट पर 'मधुवन' से 'सौराष्ट्र' तक राज्य का विस्तार करनेवाले मधु ने मधुपुरी (मथुरा) नगरी बसायी थी। जैन-साहित्य का प्राचीन नगर सौरिपुर भी इस यमुना के ही तट प्रदेश पर बसा था और महान् नगरी कौशांबी भी इसी यमुना के तट पर बसायी गयी थी।

प्राचीन साहित्य में यमुना

पुराणों में लिखा है कि यमुना विवस्वान् (सूर्य) की पुत्री तथा यम और वैवस्वत मनु की बहिन थी। यम और यमुना दोनों एक ही माता—'संज्ञा' से जन्मे थे। यमुना का दूसरा नाम 'यमी' भी है। ऋग्वेद में यम और यमी का संवाद मिलता है। हिमालय के 'कलिंद' पर्वत से निकलने के कारण यह 'कालिंदी' (कलिंद-पर्वत की पुत्री) भी कहलाती है। इसके अन्य नाम सूर्य-तनया, तरणि-तनया, सूर्यजा, त्रियामा भी हैं। ऋग्वेद के दशम मंडल के ७५ वें सूक्त में यमुना का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (४-९-१०), शतपथ ब्राह्मण (१३-५-४-११), ऐत ब्राह्मण (८-१३), जैमिनीय ब्राह्मण (३-२३), ताँडच ब्राह्मण (९-४-१०) इत्यादि ग्रंथों में भी यमुना के उल्लेख हैं। पुराण, महाभारतादि इतिहास-ग्रंथों में तो यमुना के वर्णन पर्याप्तरूप में मिलते हैं।

यमुना की उपत्यिका

यमुना, गंगा की मुख्य सहायक नदी है। यह उत्तर से हिमालय के अंदर पूंछ पर्वत (प्राचीन-कलिंद) गढ़वाल जिले से निकल कर ८५ मील का मार्ग तै कर प्रयाग में गंगा से जा मिलती है। उत्तर-प्रदेश के पश्चिमीय भाग में उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई कालसी (जहाँ अशोक का लेख है) से शाहपुर (कोसी के पास) तक पूर्व पंजाब और दिल्ली प्रांत के साथ उत्तर प्रदेश की सीमा बाँधती है। उत्तर प्रदेश—गढ़वाल, देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलंदशहर, अलीगढ़, मथुरा आगरा, मेनपुरी, इटावा, जालौन, हमीरपुर, बाँदा और इलाहाबाद जिलों में यह यमुना नदी बहती है। भारत की ऐतिहासिक राजधानी 'दिल्ली' इस यमुना के ही तट पर है। अन्य व्यापार के नगर—मथुरा, आगरा इटावा, काल्पी, हमीरपुर और प्रयाग आदि नगर हैं। वृंदावन, मथुरा, गोकुल, महावन, सौरिपुर—बटेश्वर और प्रयाग जैसे तीर्थ भी यमुना के तट पर हैं। सौरिपुर एक जैन-तीर्थ है और मथुरा भी कई अंशोंमें

जैन लोगों द्वारा तीर्थ माना जाता है। बौद्ध-इतिहास में भी मथुरा का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक स्थानों में कालसी (जहाँ अशोक का लेख है) बाघपत (प्राचीन व्याघ्रप्रस्थ), दिल्ली, इंद्रप्रस्थ, प्राचीन इंद्रप्रस्थ जो नयी दिल्ली के बन जाने से समाप्त हो गया है, वृंदावन, मथुरा, आगरा, कोट, कौसांबी (प्राचीन कौशांबी) पभोसा (जहाँ अशोका लेख है), भोटा और प्रयाग आदि स्थान हैं। इसकी सहायक नदियाँ टोंस, हिंदन, चंबल, बेतवा और केन हैं और दो नहर हैं—अपर जमुना और लोअर जमुना। यमुना के जल में टाइफाइड ज्वर के जंतुओं के नाश कर देने के गुण हैं!

यमुना की उत्पत्ति

उत्तर भारत की नदियाँ मानव जाति के देखते-देखते उत्पन्न हुई हैं। पुरातत्त्व के अंतिम से अंतिम शोध और अनुसंधान बतलाते हैं कि पौने पाँच लाख वर्ष पूर्व मानव जाति ने हिंद में प्रवेश किया था [१] और उस समय उत्तर भारत में हिमालय की तलेटी में जहाँ आज 'शिवालिक' पर्वत-माला है एक तीन हजार मील लंबी बड़ी नदी आसाम से पश्चिम पंजाब तक बहती थी, जिसको भूस्तर-शास्त्रियों ने 'इंडोब्रह्मा' (Indo-Brahma) नाम दिया है। [२]

उस समय सिंधु, सरस्वती, सतलज, गंगा, यमुना इत्यादि आधुनिक उत्तर भारत की नदियाँ नहीं थी। मानव जाति उस समय इसी इंडोब्रह्मा नदी की उपत्यिका में रहती थी और उसकी संस्कृति पूर्व-प्रस्तर युग (Palaeolithic age) की थी। लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व भूकंपों की परंपरा यहाँ आई। ये भूकंप इतने प्रलयंकर थे कि इनके असर से इंडोब्रह्म नदी का पट ऊँचा उठने लगा और उठते-उठते यह शिवालिक पर्वत-श्रेणी बन गया। यह शिवालिक पर्वत-श्रेणी हिमालय की तीसरी पर्वत-माला गिनी जाती है और इसके पाषाणों में से जलचर प्राणियों के अस्थि-अवशेष आज भी मिल जाते हैं। इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप इंडोब्रह्म महा नदी नाश को प्राप्त हुई और उसके तीन भाग हो गये। पहला भाग ब्रह्मपुत्रा, दूसरा गंगा—यमुना और तीसरा सिंध-सतलज बना। इस तरह यमुना-गंगा आदि नदियाँ मनुष्य के देखते-देखते तीन लाख वर्ष पूर्व उत्पन्न हुई हैं। यह हिमयुग (Ice Age) के समय की बात है। हिमयुग का अंत आज से २५ हजार वर्ष पूर्व ही हुआ है।

यमुना-तट पर पूर्व-प्रस्तर युग का मानव

हिमयुग-कालीन फौसिल (अश्मीभूत प्राणी का अवशेष) तथा तत्कालीन मानव जाति के पत्थर के औजार यमुना तट के प्रदेश में मिल जाते हैं। इनके विषय में मि० ए० सी० लोगन लिखते हैं—

"The gravels (कंकड़ो की स्तर) of the Jamna contains much the same fossils as those of the Narbada and after no doubt of the same age. Mr. Cockburn collected the fossil of several extinct species in these gravels in Hinavati in the Banda district, and found some chart and quartzite implements in association with the bones."

यमुना-तट प्रदेश में खास कर उत्तर प्रदेश के बाँदा जिलेमें हिम-युग (यह युग ६ लाख वर्ष से २५ हजार वर्ष पूर्व तक रहा था) कालीन प्राणियों और मानवियों की अश्मीभूत अस्थियाँ सन् १८३३ ई० से मिलने लगी हैं। गंगा-तट प्रदेश में ऐसे अवशेष अभी नहीं मिले हैं। 'मि० ई० स्मिथ, आर० डी० ओल्डहाम, आर० सी० डेकर, ई० डीन और टी० एस० बर्ट आदि विद्वानों ने इन पर अपने लेख जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायिटी ऑफ बंगाल के सन् १८३३, १८३६, १८५५, १८७५, १८८५ और १८८४ के अंकों में प्रगट किये हैं।

१. Ice age in India and associated Cultures by Terra and Paterson, 1939 Carnegie Inst. Washington.

२. Quart-Journal-Geog-Soc-London १९१९ LXXV.

३. Old chipped stones of India by A. G. Logan P. 31.

यमुना-प्रदेश की रचना

हिमालय पर्वत भी समुद्र की सतह से भूकंप के परिणाम से ही निकला है, यह प्रसिद्ध बात है। जब हिमालय पर्वत की तीसरी शृंखला शिवालिक पर्वत-माला खड़ी हुई तब इसकी तलहटी में एक खाई बन गई थी और इस खाई में गंगा-यमुना एवं अन्य नयी नदियों ने हिमालय के ढौल, कंकड़-पत्थर, मिट्टी आदि डालना प्रारंभ किया, शनैः शनैः यह खाई पटने लगी और इस प्रकार सहस्रों वर्षों में जाकर गंगा-यमुना का यह मैदान बन गया है।[1]

इस प्रकार नदियों द्वारा बनायी गयी मिट्टी 'एल्युवियम' (Alluvium) कहलाती है। गंगा का प्रदेश इसी 'एल्युवियम' मिट्टी का है, किंतु यमुना के प्रदेश में एक अन्य प्रकार की और मिट्टी भी मिलती है जिसे 'भूड़' (loess —लोइस) कहते हैं। यमुना तट के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में यह मिट्टी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। यह मिट्टी हिम-युग के अंतिम काल में दूर देशों से आँधियों में उड़-उड़ कर आई थी और यमुना-प्रदेश तथा पूर्व राजपूताना में फैली थी। इस प्रकार हिम-युग के अंतिम काल में अब से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व यमुना-प्रदेश की रचना पूरी हुई थी।

यमुना और सरस्वती

भूस्तर-शास्त्रियों (Geologists) का कहना है कि यमुना नदी पहले सरस्वती नदी में मिलती थी और सरस्वती का प्रवाह प्राग्-ऐतिहासिक काल में सूख जाने से यमुना गंगा में मिली है।[2]

यमुना-तट पर प्राप्त प्राग-ऐतिहासिक अवशेष

यमुना के किनारे मानव-जाति हिम-युग के अंतिम काल में बस चुकी थी, यह बात बाँदा जिले से प्राप्त अवशेषों द्वारा सिद्ध होती है, किंतु इस हिम-युग की मानव-जाति का नाश हो गया है, इसके बाद आज से २५ हजार वर्ष पूर्व यमुना के तट-प्रदेश पर मानव-समुदाय ने बसाहट कब से प्रारंभ की इसका अन्वेषण और अनुसंधान होना अभी बाकी है। जिला बाँदा में यमुना-किनारे सन् १८८२ ई० तक 'जे० कौकवर्न' को लगभग पच्चीस स्थानों पर उत्तर प्रस्तर-युग के (Neolithic Age) पत्थर के औजार (हथियार), मिट्टी के बर्तन एवं अन्य अवशेष मिले थे। इन सब का वर्णन उन्होंने—रायल एशियाटिक सोसायिटी बंगाल के जनरल सन् १८७६, १८८२, १८८४ के कितने ही अंकों में दिया है। सन् १९०७ में मि० 'ए० सिल्वरौड' को इसी बाँदा जिले में पत्थरों पर प्राग-ऐतिहासिक काल के चित्र भी मिले।"[3] सन् १८३७ में कनिंघम को मथुरा के 'चौबारा टीले' (कटरा केशवदेव से उत्तर पश्चिम १।। मील दूरी पर) की खुदाई में ताम्र-युग की ताँबे की बनी कितनी ही वस्तुएँ मिली थीं।

इससे विदित होता है कि मथुरा प्राग-ऐतिहासिक काल में बसा था। यमुना-तट बाँदा जिला से मिले हुए उत्तर प्रस्तर-युग के अवशेष तथा चौबारा-टीला मथुरा से प्राप्त वस्तुएँ ताम्र-युग की होनी चाहिये।

वेद-काल

यमुना-प्रदेश का इतिहास-संबंधी विशेष वृत्त वैदिक-साहित्य में नहीं मिलता है। वेद-मंत्र एक युग के नहीं हैं और उनका इतिहास या प्राचीन परंपरा के साथ संबंध भी नहीं है। वैदिक साहित्य से राजनैतिक इतिहास की शोध करना कठिन है। ऋग्वेद में 'दशिराज्ञ' युद्ध का वर्णन है, जिसमें भरत-

१. The origin of the Indo-Gangetic through Proc. Royal Society 1915 XCL A. - Sir C. G. Burrard.

२. The Saraswati and the lost river of the Indian Desert by C. F. Oldham Journal of the Royal Asiatic Society, 1893, P. 49.

३. J. Asiatic Soc. Beng. 1907 P. 567.

१. आर्कियोलौजिकल सर्वे की रिपोर्ट ३, १८७३, पृ० १३—४६।

वंशी 'सुदास' के साथ 'मथुरा' के यादव लोगों का होना दिखाया है। यमुना-प्रदेश का आरंभिक इतिहास तो पुराणों से मिलता है।

यमुना-तट के प्राचीन प्रदेश

मनुसंहिता (२।१९) से पता लगता है कि सरस्वती और यमुना के बीच का प्रदेश 'ब्रह्मर्षि-देश' कहलाता था। इस काल में यमुना के प्रदेश में घने वन थे। 'मधु' नामक असुर ने यमुना-तट से लेकर आनर्त (गुजरात) तक फैले हुए इन वनों का 'मधुवन' नाम रखा था। इसके पश्चात् यमुना-तट का प्रदेश कुरु, शूरसेन, कारुष और वत्स प्रदेशों में बँट गया था।

पुराण-काल

पुराणों में लिखा है कि मगध में 'चंद्रगुप्त मौर्य' से ३९ वीं पीढ़ी पूर्व में 'जरासंध' नामक राजा 'राजगृह' में हुआ था जो महाभारत-युद्ध के समय होने से श्रीकृष्ण के समकालीन था। वायुपुराण (अ० ९९) और मत्स्यपुराण (अ० ५०) में मगध के 'बृहद्रथ', 'प्रद्योत', शिशुनाग' तथा 'नंदवंश के राजाओं का जो राज्य-काल दिया है, उसके अनुसार जरासंध चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यारंभ (३२३ ई० पूर्व) से १५-९९ वर्ष' पूर्व होना चाहिये। अतः १५९९-३२३=१९२२ ई० पूर्व के लगभग महाभारत-युद्ध होना चाहिए। पुराणों के अन्य राजवंशों के विवरण के आधार पर महाभारत-युद्ध ई० पू० १४५० से ई० पू० ९५० तक होना माना जाता है। इसमें ई० पू० १४५० का वर्ष कुछ प्रामाणिक प्रतीत होता है। ज्योतिष के आधार पर ई० पू० ३१०२ के मत को पुरातत्त्व और इतिहास के विद्वान मान्यता नहीं देते। पुराणों की वंशावलियों का सर्वश्रेष्ठ अभ्यास और ज्ञान अंग्रेज विद्वान् श्री एफ० ई० पार्जिटर का समझा जाता है (ऐंस्यट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन १९२२ आक्सफोर्ड)। वायु आदि पुराणों के आधार पर पार्जिटर द्वारा दिये गये वंशानुक्रमणिका के अनुसार जरासंध, युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण से ९३ पीढी पूर्व 'वैवस्वत-मनु' हुआ था। जल-प्रलय के पश्चात् यह मनु भरतखंड में सर्वप्रथम राजा हुआ था। इसीने सबसे पहली 'अयोध्या' नगरी भारत में बसाई थी। पुराणों के कथनानुसार अयोध्या भारत की प्राचीनतम नगरी है। वैवस्वत मनु मंत्र-दृष्टा थे (ऋग्वेद ८।२७।३१), अतः वे ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनकी पुत्री 'इला' थी, जिसका विवाह चंद्र के पुत्र बुध के साथ हुआ, अतः इनकी संतति चंद्रवंश से प्रसिद्ध हुई। इसे 'ऐलव-वंश' भी कहते हैं। इन मनु के पिता विवस्वान् का दूसरा नाम सूर्य होने से इनका वंश 'सूर्य-वंश' भी कहा जाता है और 'मानव-वंश' भी कहलाता है। इला और बुध को मनु ने गंगा-यमुना के संगम के पास का राज्य दिया था। वहाँ उन्होंने प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग के समीप आधुनिक झूसी) नामक नगर बसाया। मनु ने अपने अन्य नौ पुत्रों को अन्य प्रदेशों का राज्य दिया, जैसे---इक्ष्वाकु को अयोध्या का अपना उत्तराधिकारी बनाया। नाभाग---नृग को यमुना का प्रदेश दिया, कारुष को बघेलखंड, नाभानेदिष्ट को वैशाली प्रदेश, गय---नाभाग को गया का प्रदेश दिया। शर्याति ने गुजरात-सौराष्ट्र में सागर-तट पर राज्य की स्थापना की। धृष्ट-बाहक (बलख) का राजा बना इत्यादि। बुध, नाभानेदिष्ट और शर्याति के रचे हुए मंत्र ऋग्वेद के दशम मंडल में मिलते हैं, अतः ये ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं और ये आर्य थे, क्योंकि इनके नाम-व्युत्पत्ति की दृष्टि से आर्य-भाषा के हैं।

मनु-पुत्र नाभाग और उसका वंश

मनु-पुत्र---नाभाग (नृग) पार्जिटर के अनुसार यमुना प्रदेश का राजा हुआ उसका पुत्र अंबरीश था। ये नाभाग और अंबरीष अयोध्या के नाभाग और अंबरीष से पृथक् थे। सूर्य (मानव) वंश से चंद्र (ऐल) वंश विशेष प्रतापी हुआ है। प्रतिष्ठानपुर में बुध का पुत्र 'पुरुरवा राजा हुआ, जिसका पुत्र 'आयु' और उसका 'नहुष' हुआ। नहुष का पुत्र 'ययाति' 'सम्राट्' कहलाया। जिसने गंगा-यमुना के संगम से लेकर पश्चिम में सरस्वती नदी तक अपने राज्य का विस्तार किया था। अतः इसके इस दिग्विजय के परिणाम स्वरूप ही संभवतः यमुना के प्रदेश से नाभाग के वंशजों की सत्ता समाप्त हो गयी थी।

यदु-कुल

ययाति के पाँच पुत्र हुए—पुरु, अनु, द्रुह्य, तुर्वसु और यदु। इन पाँचों में ययाति द्वारा जीता हुआ विशाल राज्य बाँट लिया गया। पुरु—प्रतिष्ठानपुर में ययाति का उत्तराधिकारी हुआ। अनु को यमुना के उत्तरी भाग का राज्य मिला, द्रुह्य को पश्चिम का भाग, तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व और यदु को मध्य-भाग का राज्य मिला था। यदु जिस प्रदेश का राजा हुआ बाद में उसी का विशेषांश 'शूरसेन' प्रदेश कहलाया। उस समय मथुरा का अस्तित्व नहीं था? यमुना से लेकर चंबल (चर्मवती), बेतवा (वेत्रवती) और केन (शुक्तिमति) के प्रदेशों तक यदु का राज्य था। इन राजाओं की शाखा उनके नामसे प्रसिद्ध हुई और ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञि युद्ध में उनके नाम आते हैं। यदु के ही वंशज 'यादव' कहलाये। यदु के दूसरे पुत्र से जो वंश चला वह 'हैहय वंश' कहलाया। हैहय लोग बेतवा नदी के दक्षिण प्रदेश में चले गये जहाँ आज के मालवा और अनूप (नर्मदा-उपत्यिका) प्रदेश में वे अपना राज्य चलाने लगे। इनकी राजधानी 'माहिष्मती' थी, जिसे हैहयवंशी राजा महिष्मान् ने बसायी थी। मोहेंजोदड़े से भी प्राचीन महत्त्वपूर्ण इस नगरी के अवशेष हाल ही में मिले हैं। यादवों की इस हैहय-शाखा में 'सहस्रार्जुन' बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ है, जिसका वध भार्गव 'परशुराम' ने किया था। सहस्रार्जुन से तीन वंश चले। एक पुत्र 'जयध्वज' अवंति (मालवा) देश का राजा हुआ। दूसरे पुत्र शूरसेन के नाम से यमुना-तट का प्रदेश जहाँ यादव लोग राज्य करते थे—शूरसेन कहलाया।

भरत खंड के बहुत बड़े भाग पर चंद्रवंश की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फैल गयी थीं। सहस्रार्जुन के समय से चंद्रवंश की बहुत वृद्धि हुई। माहिष्मती के हैहयों ने समस्त आर्य राजाओं को जीत कर उत्तर हिमालय से लेकर दक्षिण में 'ताप्ती' तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। इन हैहयों को अयोध्या के 'सगर' राजा ने हराया और माहिष्मती नगरी का नाश हुआ। वैवस्वत् मनु से ४१ वीं पीढ़ी में 'सगर' हुआ था। सगर की एक ही पीढ़ी बाद प्रतिष्ठानपुर में दुष्यंत राजा हुआ जिसका पुत्र भरत हुआ, जिससे यह वंश 'भरत-वंश' कहलाया। भरत से ८ वीं पीढ़ी में 'हस्तिन्' राजा हुआ जिसने हस्तिनापुर बसाकर वहाँ अपनी राजधानी की। हस्तिनापुर के अवशेष मेरठ जिले में 'मवाना' के समीप हैं। सूर्यवंशी रघु के काल में स्वयंवर में मथुरा के राजा 'सुषेण' ने भाग लिया था।[१]

लगभग इसी काल में यादव शूरसेन के वंश में सात्वत आदि राजा हुए और इसी यदुवंश में मधु हुआ जो यमुना-तट के प्रदेश पर राज्य करता था और इसके राज्य का विस्तार यमुना-तट के प्रदेश से लगाकर गुजरात-सौराष्ट्र तक फैला हुआ अति विस्तृत था तथा इस प्रदेश में बड़े भारी वन थे। यह सब मधुवन कहलाता था और उसने अपनी राजधानी यमुना-तट पर मधुपुरी-नाम से बसायी थी। वह मधुपुरी आज की मथुरा के उत्तर में बसी 'महोली' ग्राम में थी। इस मधु के वंशज होने से ही श्रीकृष्ण 'माधव' कहलाये। हरिवंशपुराण (अध्याय ९४) में यदु-वंश की उत्पत्ति के विषय में कुछ और ही कथा वर्णित है। इस पुराण के अनुसार मधु दानव ययाति के वंश में था। इसकी एक कन्या थी। 'इक्ष्वाकु कुल' के निर्वासित राजकुमार 'हर्यश्व' को मधु ने अपनी कन्या 'मधुमती' विवाहित की और उसे अपने राज्य-विस्तार में से आनर्त-सुराष्ट्र (गुजरात-सौराष्ट्र) प्रदेश का राज्य दे दिया। उसने 'कुशस्थली' नगरी बसाकर वहाँ राजधानी बनायी। हर्यश्व का पुत्र 'यदु' हुआ जिसके वंशज यादव कहलाये। मधु का राज्य भी सुराष्ट्र के इन यादवों को मिला जो कालांतर में आनर्त-सुराष्ट्र पर अन्य भीषण आक्रमण होने से यादवों ने सौराष्ट्र से आकर यमुना-तट पर बसी मथुरा को अपनी राजधानी बनाया और यहाँ राज्य करने लगे।

---

१. रघुवंश ६ ठा सर्ग

श्री यमुनाजी के पद

राग—विभास

दोऊ कूल-खंभ, तरंग-सिढ़ी, जमुना-जगत बैंकुंठ की निसेंनी।
अति अँनुकूल कलोलँन के भर लिएँ जात हरि के चरँन सुख-दँनी।।
जँनम-जँनम के पाप दूरि-करि काटत करँम धरँम-धार पेंनी।
'छीतस्वाँमि' गिरिधर जू की प्यारी, साँवरे अंग कँमल-दल-नँनी।।

प्रफुलित बन बिबिध रंग, झलकत जमुना-तरंग, सौरभ घँन मुदित अति सुहाँमनों।
चिंतामनि कँनक-भूमि छबि अदभुत, लता झूँमि सीतल मंद अति सुगंध मरुत आँमनों।।
सारस, हंस, सुक, चकोर चित्रित निरतत सु मोर, कल-कपोत कोकिला मधुर गाँमनों।
जुगल रसिक बर बिहार, 'परमानँद' छबि अपार, जयति चारु बृंदाबन परँम भाँमनों।।

राग—रामकली

श्री जमुना जू, पतित-पावन करे।
प्रथम ही जब दियौ दरसन, सकल पातक हरे।।
जल-तरंग जब परस कीन्हों, पाँन सों मुख भरे।
नाम-सुमरति गई दुरमति, कृष्ण-जस बिस्तरे।।
गोप-कन्याँ कियौ मज्जन, लाल गिरिधर-बरे।
'सूर' श्री गोपाल-सुमरत, सकल कारज सरे।।

पिय-संग रंग-भरि करि बिलासैं।
सुरत-रस-सिंधु में अति ही हरखित भई, कँमल ज्यों फूलत रबि-प्रकासैं।।
तँन ते, मँन ते, प्राँन ते सरबदाँ, करति है हरि-संग मृदुल-हासैं।
कहत 'ब्रजपति' अहो सबँन सों समझाइ, मिटैं जँम-त्रास इनहिं उपासैं।।

राग—असावरी

दिनकर-घर आँनंद उदित बढचौ, चलि सखि आज बधाँएँ।
प्रघट भई जमुना जग-तारँन, सब मिलि मंगल गाँएँ।।
धन्य कोंख संज्ञा राँनी की, ऐसी सुता जु जाई।
कृष्ण-प्रिया पटराँनि जनम-सुनि, जित-तित बजत बधाई।।
चैत-मास सुभ लगँन महूरत, छठ गुरुबार उजेरी।
घुरत निसाँन नचत नर-नारी, गावत दै-दै हेरी।।
घर-घर मंगल मुदित मनावें, मोंतिन-चौक पुरावें।
धुजा, पताका, कदली रोपत, बंदनवार बधावें।।
अधँम-उधारँन-कारँन भू पर भागँन दै दरसाई।
मँहमाँ अपरंपार कहा कहों, बेद-पुराँनन गाई।।
मज्जन-करत हरत अघ-ओघँन, भक्ति-मुक्ति की देंनी।
मानों बिधि बैंकुंठ-चढ़ँन कों, द्वै तट रची निसेंनी।।
सोभा श्री मथुरा-मंडल की, चरँन-सरँन रहों ता की।
माथुर-मुनि पोखत-तोखत नित, जिएँ भरोसें जा की।।
श्री बिसरांत-निकट बहत है, लागत धार सुहाई।
जा के दरस-परस जम-किंकर, कबहूँ न देति दिखाई।।
कीजै कृपा निज-दास जाँन कें, मन-बाँछित-फलपाई।
'इच्छाराम' मधुपुरी-बसिकें, जनम-करँम-गुन-गाई।।
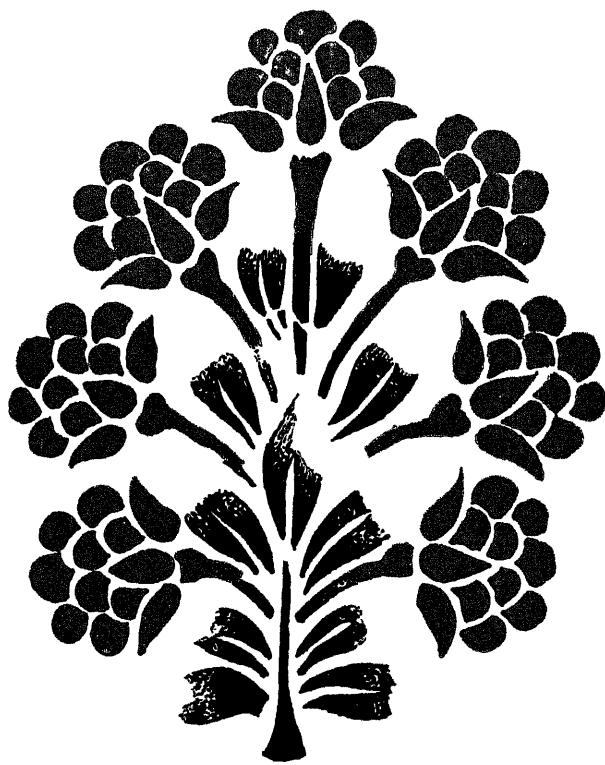
ब्रजकी साँझी - कला

व्रजकी साँझी - कला

साँझी-कला

श्री ज्योतिषी राधेश्याम द्विवेदी

भारतीय चित्र-कला में ब्रज की साँझी-कला और उसका प्रदर्शन एक अत्यंत उपयोगी और मनोरम कला-प्रदर्शन है। चित्र-कला के क्षेत्र में तथा इस कला की शिक्षा और विकास के लिये साँझी-कला सबसे सुलभ और सरल साधन है। साँझी-कला वस्तुत: रूप-सर्जन या रूपांकन (डिज़ाइन) कला की जननी है। केवल हस्त-कला-कौशल तक ही सीमित न रहते हुए यह कला भौमितक-ज्ञान एवं नैसर्गिक संपर्क-ज्ञान और अनुभूति की भी अपेक्षा रखती है। इसके रूपांकन शिल्प, स्थापत्य, वस्त्र-छपाई, आभूषण-निर्माण और नक्काशी तथा अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों के लिये महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं।

प्रारंभ

साँझी-कला-प्रदर्शन श्री कृष्ण के समय से ही ब्रज में चला आता है। साँझी शब्द 'संध्या' या 'साँझ' से बना है। पौराणिक आख्यान के अनुसार श्री कृष्ण ने राधिका जी को प्रसन्न करने के लिये शरद्-काल में सायंकाल के समय साँझी बनाई थी। सायंकाल को जब श्री कृष्ण और राधिका तथा अन्य गोपिकाएँ उपवनों में विहार करने जाते थे; वहाँ वे विविध प्रकार के फूल-चयन करते थे और यमुना-कूल पर अथवा किसी उपवन या उद्यान में उन पुष्पों को भूमि पर कलात्मक रूप में प्रदर्शित करते थे। साँझी बनाने के अवसर पर वे अपना सुंदर, कलात्मक श्रृंगार बनाकर जाते थे और पुष्पों की सुंदर प्रदर्शनी करते थे। इस प्रकार यह कला श्री कृष्ण से तथा 'साँझ' शब्द से संबंध रखती है। तभी से यह कला-प्रदर्शन शरद्-काल में (आश्विन कृ० ११ से ३० तक) पाँच दिन का ब्रजवासियों का एक सांस्कृतिक किंबा कलानुरंजन पर्व-काल है। शनैः शनैः ब्रजवासी कलाकारों ने इस कला को उन्नत करते-करते पूर्ण विकसित एवं सुसंस्कृत-स्थिति को पहुँचा दिया। ब्रज के निकटवर्ती अन्य प्रांतीय कलाकारों ने भी इसे अपनाया और इसके विकास में अपना योग दिया। राजस्थानी कलाकार इसमें सिद्धहस्त हो गये। ब्रज के कलानुरागियों ने इसको अनेक प्रकार से प्रदर्शन का रूप दिया, फूलों की साँझी, राँग के फूलों की साँझी, पानी पर रंग की साँझी, सूखे रंग की साँझी आदि अनेक प्रकार से साँझी-कला ब्रज-प्रदेश में विशेष कर, श्री कृष्ण के लीला-धाम मथुरा-वृंदावन में प्रदर्शित होती थी। ग्रामों में ब्रज-बालक-बालिकाओं ने गोबर की साँझी बनाकर अपने अनुराग और संस्कृति को जीवित रखा। ब्रज में ही नहीं, राजस्थान के ग्रामों में भी इन दिनों गोबर की साँझी बनाई जाती है। वल्लभकुल-संप्रदाय ने इस कला की रक्षा और विकास में अपना पूर्ण योग दिया। वल्लभकुल-संप्रदाय के मंदिरों में, उनके उत्सवों में इस कला-प्रदर्शन के लिये ऊपर लिखे गये दिवस नियत किये गए और इस समय के कीर्तन के लिये साँझी के सुंदर साहित्यिक, भावात्मक पद बनाये गए। प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्रीस्वामी हरिदास जी कृत साँझी का एक लंबा पद है जिसका कुछ अंश यहाँ देते हैं—

> **"सखी-बृंद सब आइ जुरीं, बृषभाँन-नृपति के द्वारि।**
> **बींननि-फूल चलौ बन राधे, नव सत साजि सिंगारि ।।**
> **यै सुनि कीरति जू हँसिकें, प्यारी कौ कियौ सिंगारि।**
> **कबरी-कुसुम गुही है मानों उरगँन की अनुहारि ।।**
> **चलति चाल मराल-बाल सी राधा सखियँन-माँझ।**
> **बींनति फूलनि जमुना-कूलनि, खेलति 'साँझी' साँझ ।।**

जाल-रंध्र देखत मनमोंहन, दृष्टि परीं ब्रज-बाल।
तिरिया रूप कियौ है तबहीं, आइ मिले ततकाल ।।
छबि-निरखति बृषभाँनु-दुलारी, भौत करी मनुहारि।
बींनति फूल अकेली हेली ; को है तू सुकुमारि ।।
कोंनें गाँउ बसति हौ सुंदरि, कहा तिहारौ नाँम।
आजु अबारि भई है प्यारी, चलौ हमारे धाँम ।।
नंदगाँउ में बास बसति हों, 'साँवरि' मेरौ नाँम।
साँझी-मिसि आई हों या बन, पूंजे मन के काँम ।।
सोंनजुही, चमेली, चंपा, राइबेलि औ बेलि।
गुलाबाँस के गेंद करे कर, करत परसपरि केलि ।।
कँमल, कँनैर, केतकी, निबारौ, सेबति सदाँ गुलाब।
गुलतुर्रा औ सदाँसुहागिनि, फूलँन की भरि छाब ।।
ललिता, चंपकलता, बिसाखा, स्याँमा, भाँमा जेह।
चंद्रभगा, तुंगा, चंद्राबलि, आँई करि अति नेह ।।
ठौर-ठौर सब कहति सखिन सों, चलौ भटू घर-जाँहि।
स्याँमा जू औ नवल सखी दोउ, गही परसपरि बाँहि ।।

❀

फूल-गेंद सबहिन लिए कर, गावत साँझी-गीति।
गज-गति चाल चलति ब्रज-सुंदरि, बढ़ी परँम रस-प्रीति ।।

❀

केसर, चंदन और अरगजा, मृग-मद, कुंमकुंम गारि।
काँमधेंनु कौ गोबर लै कें, 'साँझी' धरित सँम्हारि ।।

अंत में—

बरनों कहा अल्प मति मेरी, रसनाँ एक बनाइ।
श्री 'हरिदास' प्रभु की यै सोभा, निरखति मन न अघाइ ।।

उक्त पद से 'साँझी' के कलात्मक और सांस्कृतिक पर्व की विशेषता स्पष्ट होती है कि इस पर्व पर ब्रज के गोप-गोपियाँ कितना कलात्मक पर्व मनाती थीं। पराधीनता के युग में विदेशी शिक्षा, संस्कृति और कला के प्रचार से इस विशुद्ध भारतीय कला का उस रूप में ह्रास होता चला गया, किंतु वह रंग-द्वारा प्रदर्शन के रूप में आ गई।

आधुनिक साँझी का प्रकार

संप्रति यह कला कागज के कटे हुए साँचों द्वारा सूखे रंगों से भूमि पर मिट्टी (गारे) के ८-६ इंच ऊँचे अष्टकोण या आठ पहलवाले चोंतरे पर प्रदर्शित की जाती है। यह चोंतरा घुटा हुआ, किंतु कुछ तर रहता है जिससे रंग जमा रहे। साँझी का चोंतरा अत्यंत कलात्मक, गल्लेदार, भौमितिक ठीक नाप का अष्टकोण या अठपहला बनाया जाता है। चोंतरे का कोई भी भाग या पहल रंच-मात्र छोटा बड़ा नहीं होता। चोंतरे पर साँझी बनाने से पूर्व सिंदूर से रँगी हुई पतली डोरी से एक नक्शा जैसा नीचे बतलाया गया है, बनाया जाता है, जिसमें मारवाड़ी (किनारे की सबसे छोटी बेल), अन्य छोटी-बड़ी बेल, जाल-फूल, बेलों की लपेट के भाग एवं मध्य में किसी लीलाविशेष के प्रदर्शन का स्थान निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। मध्य-स्थान श्री राम, कृष्ण अथवा अन्य देवताओं की लीला सूखे रंग से बनाने के लिये रखा जाता है। बेल-बूटे, फूल, जाल चारों ओर और मध्य में कोई लीला की मूर्त्तियाँ और स्थल, जलाशय, वृक्षावली, मकान सब उचित रीति से अत्यंत आकर्षक
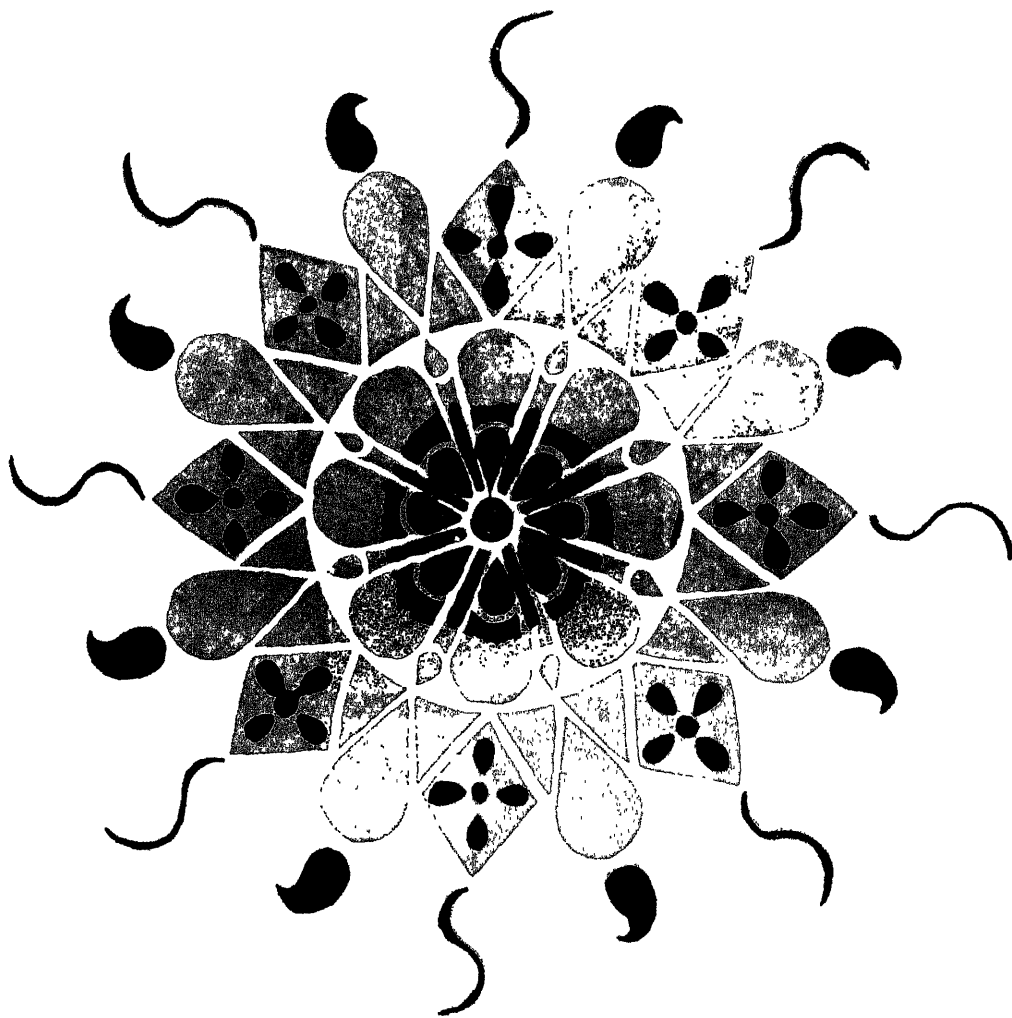
व्रज की साँझी-कला

और कलात्मक रूप से बनाये जाते हैं। प्राकृतिक दृश्य, आकाश, जलाशय वृक्षावली को छोड़कर अन्य वस्तुएँ बेल-बूँटे, जाल, मकान, वृक्ष, पशु, पक्षी, नर-नारी, देवताओं के कागज के कटे हुए कई खाके (अंग्रेजी स्टेंसिल, संस्कृत—पत्रच्छेद्य) रहते हैं, जो बड़ी कारीगरी और योग्यता पूर्वक बनाये और काटे जाते हैं, परंतु रंग द्वारा इनसे चित्र बनाये जाने में रंगों की मिलावट, वस्तु का यथोचित निर्देश और उपयुक्त रंग कलाकार की योग्यता, अनुभव और ज्ञान पर अवलंबित रहता है। इसी प्रकार चौंतरे पर सरूप या नक्शों के बनाने का काम भी कलाकार के भौमितिक एवं स्थापत्य-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। विविध प्रकार की बेलों की लपेट और जाल की बिछावट के नक्शे साँझी के कलाकार के मस्तिष्क में रहते हैं, जिनकी एक पृथक् पुस्तक ही बन सकती है। साँझी-कला के लिये यह ज्ञान सबसे आवश्यक है और सबसे कठिन है। स्थानाभाव से हम यहाँ प्राचीन और अर्वाचीन कलाकारों के २-४ खाके देते हैं। नं० १ नक्शा अष्टकोण के चौंतरे पर बनाये जानेवाले अनेक नक्शों में से एक है और नं० २, ३, ४ के नक्शे एक ही अठपहले नक्शे में अठपहले चौतरे के नक्शों में हैं।

खाके

साँझी बनाने का मुख्य माध्यम कागज पर कटे हुए 'साँचे' होते हैं। अनेक बेल-बूँटे, जाल, फूल, वृक्ष, पशु, पक्षी, पुरुष, स्त्री, देवताओं की अनेक लीलाओं के ये साँचे मोटे कागज पर बनाये जाकर एक विशेष प्रकार की कैंची से काटे जाते हैं। इनका बनाना कुशल चित्रकारी और काटना कुशल कारीगरी का ही काम है। ये साँचे १ से लेकर ४० खाके तक के बनाये गए हैं। चित्र में बनाई गयी प्रत्येक वस्तु साँचे में लाने को अनेक खाके बनाये जाते हैं। बेल और जालों के, फूल-पत्तियों के ५-५ और ४-४ खाके होते हैं। देवताओं और उनकी लीला से संबंध रखनेवाली मूर्तियों के अनेक खाकों में अंग, वस्त्र, आभूषण, अंगों की शेड, लाइट, आदि जहाँ जैसा उपयुक्त होता है उस खाके में काटा जाता है, जिससे वस्तु यथार्थ स्वरूप में प्रदर्शित हो सके। रूपांकन (डिजाइनिंग) और साँचे (स्टेंसिल्स) बनाने की यह कला भी परिश्रम-साध्य होने से और गुण-ग्राहता की कमी से अब लुप्त हो रही है। कला के प्रत्येक क्षेत्र में रूपांकन का तत्त्व थोड़े-बहुत अंशों में विद्यमान रहता ही है। प्रत्येक कला, चाहे वह शिल्प-कला हो, चाहे स्थापत्य-कला हो, चाहे चित्र-कला हो, सभी में रूपांकन का खास महत्त्व है। रूप-सर्जन और कला के प्रकार इस देशमें ही नहीं विदेशों में भी मूल्यवान् और कला की संग्रहणीय सामग्री समझे जाते हैं। काश्मीरी दुशालों पर की बेलें, साड़ियों के बूँटे और बाँधनी, विदेशों में अत्यंत आदर की वस्तु मानी जाती हैं। काश्मीरी शाल और गलीचे, सूती-ऊँनी छींटें, छपी हुई साड़ियाँ और चादरें, जाजम, शतरंजी आदि वस्तुओं पर बनाये गए बूँटे और बेल के नमूने हमको साँझी-कला के प्रदर्शन में सहज देखने को मिलते हैं। साँझी के लिये बनाये गये इन साँचों से सहज पता लगता है कि ब्रज के कलाकारों में चित्र-कला का कितना ज्ञान और मौलिकता थी। ये साँचे वास्तव में इन कलाकारों के अत्यंत परिश्रम का फल है और चित्रकला के भंडार की अमूल्य निधि है, जो सर्वथा संग्रहणीय है। ब्रज में साँचे का अपूर्व भंडार है, जो आज इस कला के लोप होने से प्राचीन पुस्तकों (ग्रंथों) की भाँति कौड़ियों के मोल बेंचा जाता है। इनकी रक्षा और संग्रह ब्रज की ही नहीं, एक विशिष्ट भारतीय-कला की रक्षा करना है।

बनाते समय का लक्ष्य

साँझी का कलाकार साँझी-प्रदर्शन द्वारा अपनी कल्पना से थोड़े ही समय में इच्छित नैसर्गिक, काल्पनिक, आलंकारिक, भौमितिक, विविध रूप की कला का सुंदर प्रदर्शन करता है। साँझी बनाने में छः से आठ घंटे का समय लगता है। इसकी मनोहरता, सुंदरता होने से और चौंतरे की तरी कम हो जाने के बाद ये सूखे रंग फीके पड़ जाने से दिन में प्रदर्शन में मंदता लगती है। दिन में यह प्रदर्शन इतना शोभनीय और मनोहारी नहीं होता जितना रात्रि के दीपकों के प्रकाश में। साँझी बनाते समय साँचों का ठीक-ठीक मिलान करना, साँचों में काटे हुए स्थानों का स्मरण रखना, उनपर

उपयुक्त रंग छानना और रंग की मिलावट ठीक-ठीक करना कुशल कलाकार का ही काम है। किंचित् भी बेमेल रंग होने से या रंग की मिलावट न होने से सब रंग फीका जँचता है और सारी साँझी में फीकापन आ जाता है। अतः साँझी के कलाकार के लिये संयोजन-चातुर्य और रंग-विधान की कला का पूर्ण ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। साँचे द्वारा कोई भी आकृति बनाने में यह पूर्व ही निश्चय करना पड़ता है कि कैसे रंग दिये जायँ, जिससे आकृति के रंग खिल उठें और उसमें वास्तविकता आ जाय। गीले रंग की चित्रकला में हम अनेक बार वास्तविकता लाने के लिये उपयुक्त रंग की कलम (कूँची) काम में ला सकते हैं, परंतु साँझी के कलाकार को एक ही बार मस्तिष्क में निश्चय करके अपनी कृति पर वह रंग छानना पड़ेगा। अधिक रंग छानने से कृति भद्दी हो जाती है और कलात्मकता जाती रहती है, अतः रंग छानना भी चातुर्य और ज्ञान की अपेक्षा रखता है। साँझी के कलाकार को प्रकृति का संपर्क साधकर उसकी सुंदरता और रंगों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर रंग उसी प्रकार के बनाकर अपनी कलाकृति को तद्रूप देना होता है। इसके कलाकार का अपने हाथ की पहली उँगली पर पूरा अधिकार होना चाहिए। जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार या फोटोग्राफर के लिये उसके हाथ पर काबू होना आवश्यक है, इसी प्रकार इस कला में भी अपेक्षित है। जितनी मात्रा में जितना रंग डालना है उतना ही तर्जनी उँगली से छानकर डाला जाय, समीप की अन्य कृति या साँचे के अन्य भाग पर विशेष क्या लेशमात्र रंग उड़कर न जाय, यह साँझी के कलाकार के लिये खास लक्ष्य रखने की बात है। जितना ध्यान रंग उड़कर न जाने का और सफाई का रखा जायगा उतनी ही अधिक सुंदरता उस कृति में आयेगी और प्रदर्शन प्रशंसा-पात्र होगा।

वस्तु-नाम

साँझी में जो बेल-बूँटे बनाये जाते हैं, उनके अपने नाम हैं। बीच में तो किसी देवता की लीला प्रदर्शित होती है, उसके चारों ओर नक्शे के अनुसार यथास्थान फूलों के जाल और छोटी-बड़ी बेलें लपेट के साथ बनाई जाती हैं। अंत में चारों ओर एक बेल सँकड़ी बनाई जाती है, जिसे 'मारवाड़ी' कहते हैं और सबसे नीचे 'गल्ता' बनाई जाती है। इस प्रकार ठेठ नीचे से ऊपर तक मिट्टी का सारा चबूतरा सूखे रंग से अद्भुत प्रकार से चित्रित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ एक-दो नमूने इन वस्तुओं के देते हैं।

साँझी में प्रयोग किये जानेवाले सूखे रंग भी पूर्णतः भारतीय होते हैं। वे अति सरलता से बहुत कम व्यय में घरों में ही बना लिये जाते हैं। सफेद रंग चावल पिसाकर, काला रंग कोयले पिसाकर, पीली, सफेद मिट्टी छनी हुई, ईंट पीसी हुई का मलयागिरी, सफेद में काला कुछ मात्रा में मिलाने से खाकी, सफेद में थोड़ा लाल मिलाने से कंजई, चहरई आदि रंग, हरा मिलाने से कपूरी, नीला मिलाने से आसमानी आदि-आदि रंग बना लिये जाते हैं। हाँ थोड़ा पीला, हरा, नीला और सिंदूर विशेष सुंदर बनाने के लिये अवश्य प्रयोग में लिये जाते हैं।

अभी कुछ वर्षों पूर्व तक ब्रज के बालक घर-घर अपनी-अपनी साँझी बनाया करते थे। कुछ खास मंदिरों में और कलानुरागियों के यहाँ बड़े रूप में विशेष कलात्मक रूप में साँझी बनाई जाती थी। ये कलाकार स्वयं ही साँचें बनाते थे और साँचों में काटी गयी चित्र-कला को सूखें रंग से साँझी में स्वयं ही परिश्रम करके अत्यंत उत्साहपूर्वक प्रदर्शित करते थे। दुःख है कि वह कलानुराग इस भीषण मँहगाई और गुणग्राहकता की न्यूनतावश लोप हो गया और हो रहा है, जिसके संरक्षण की अति आवश्यकता है। आज प्राचीन कढे हुए और कटे हुए सैकड़ों साँचे तो विद्यमान हैं, परंतु ये प्रदर्शन लोप हो गये, जिनके अभाव में वे साँचे भी नष्ट हो जायँगे। ब्रज के कलानुरागियों का, सांस्कृतिक संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे इस पर्व-काल को जीवित रखें और साँझी-कला-प्रदर्शन के साथ साँचों की भी प्रदर्शनी की जाने की योजना करें, जिससे ब्रज की ही नहीं, भारत की यह कला अमर रहे और इससे संस्कृति, कला और उद्योग विकसित हों।

ब्रज की साँझी - कला
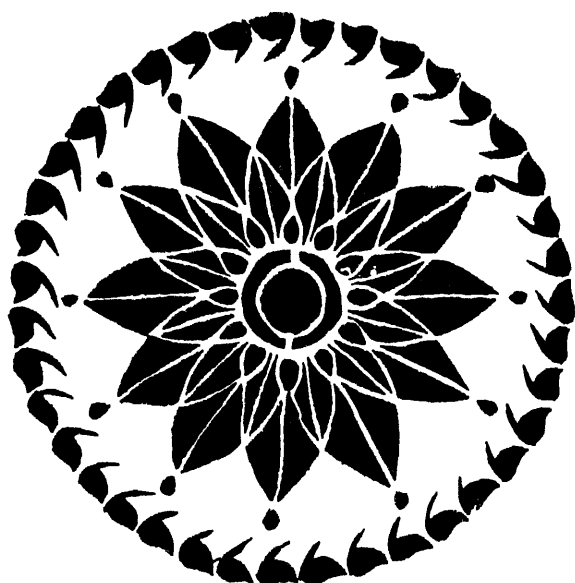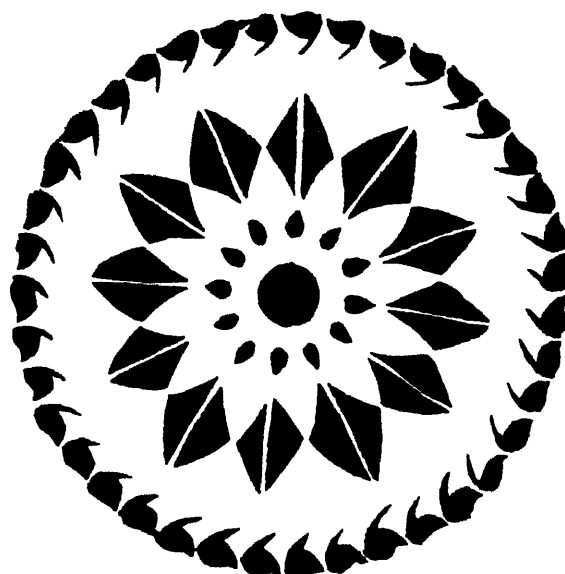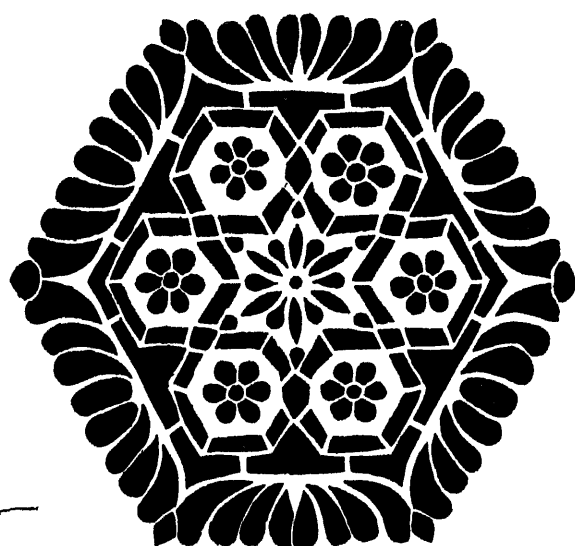
ब्रजवाटिका के पशु-पक्षी

श्री सुरेशसिंह

कालिंदी के स्नेहपाश से आबद्ध हमारी पवित्र 'ब्रज-भूमि' हमारे साहित्योद्यान का सबसे सुरभित अंग है। राधा-माधव की इस पवित्र लीलास्थली के कण-कण में कृष्ण-प्रेम की सुगंधि व्याप्त है और इसी पवित्र धूलि से अंकुरित होकर कृष्ण-भक्ति की बेल सारे देश में फैली है।

जिस प्रकार ब्रज-भूमि की पवित्र रज को भक्त जन माथे पर चढ़ा कर अपने को धन्य मानते हैं, उसी प्रकार ब्रज-भाषा के भक्त-कवियों की रसमयी वाणी को सुन कर प्रेमी जन आनंद विभोर हो उठते हैं।

कृष्ण-वियोग से तप्त और मलिन भूमि पर इन भक्त-कवियों ने प्रेम और भक्ति की ऐसी गंगा-यमुना बहाई कि सारी ब्रज-बाटिका इस रस-प्लावन से लहलहा उठी और सारे देश के प्रेमी-भ्रमर यहीं आकर मँडराने लगे।

इस आनंदमयी भूमि के बीच से यमुना मंथर गति से बह रही है, जिसका नीला जल जैसे श्याम से प्रतिबिंबित हो रहा है। किनारे पर कदंब की सघन छाया में रासलीला हो रही है, ढफ, मृदंग और करताल से चारों दिशाएँ गूँज रही हैं। बीच-बीच में जब श्याम की मुरली बज उठती है तो सब की जो दशा हो जाती है उसका वर्णन सुनिए—

"सुनि थके देव बिमाँन, सुर-बधू चित्र-समाँन।
झरना झरत पाषाँन, गंधरब मोहे गाँन॥
सुनि खग, मृग मौन धरे, फल, दल, तृन सुधि बिसरे।
सुनि धेंनु थकित रहे, तृन दंतहुँ नहिं गहे॥
बछवा न पीवें छीर, पंछी न मन में धीर।
द्रुम बेली चपल भए, सुनि पल्लव प्रगटि नए॥
धुनि सुनि चली ब्रज-नारि, सुत, देहा गेह बिसारि।
सुनि थकित भयौ सँमीर, बहै उलटौ जमुना-नीर॥"

सारे ब्रज-मंडल में कृष्ण-प्रेम की धवल चाँदनी छिटक रही है और कृष्ण-भक्ति की यमुना कूल-किनारों को तोड़ कर ऐसी उमड़ रही है कि जान पड़ता है कि सारे ब्रज को डुबो देगी। चारों ओर आनंद ही आनंद है।

ब्रज के इस सुख-समृद्धि-पूर्ण प्रदेश में प्रत्येक युवती की शोभा किसी वाटिका से कम नहीं है। इसका सुंदर वर्णन सूरदासजी के शब्दों में सुनिए—

"अद्भुत एक अँनूपम बाग।
जुगुल कँमल पर गजबर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरबर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज पराग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग॥
खंजन धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक फनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताकौ करत न त्याग।
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, माँनहु अधरँन कौ बड़ भाग॥"

और श्री राधाजी की शोभा तो और भी अपूर्व है। गदाधर भट्टजी से उसका वर्णन सुनिए—

"राधे-रूप, अद्भुत-रीति।
सहज जे प्रतिकूल तो तन, रहे छाँड़ि अनीति।।
कचँन रचना राहु ढिग ही, मुदित बदन मयंक।
तिलक-बाँन, कमाँन-दृग, मृग रहें निपट निसंक।।
अधर सुधर सु पक्व बिंबा, सुभग दसँन अँनार।
धीर धरिकें कीर-नासा, करत नहिं संचार।।
निकट ही कटि केहरी पै, गज-गति न मेंटी जात।
प्रघट गज-गति जहाँ जंघा, कदलि रुचि हुलसाति।।"

लेकिन यह आनंदोल्लास अचानक रुक क्यों गया? ढोल, ढफ और मृदंग अचानक नीरव क्यों हो गए? श्री कृष्ण कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रेम-बंधनों को तोड़ कर मथुरा चले गए और सारा वृंदावन कृष्ण-वियोग की दावाग्नि और गोपियों की उसांसों से झुलस गया।

श्याम के विरह से राधा की दशा सबसे शोचनीय हो गई। "अद्भुत अनूपम बाग" की समानता करनेवाले शरीर की क्या हालत हो गई, यह सूरदासजी के शब्दों में सुनें—

"राधे, बिधि बिपरीत ठई।
कदलि-पत्र सी पीठि मनोहर, सो जनु उलटि दई।।"

लेकिन कृष्ण फिर अपनी क्रीड़ास्थली को न लौटें तो न लौटें, लेकिन क्या उन्होंने अपनी गोपियों को भुला दिया? नहीं गोपियों को वे भला कैसे भुला देते। देखिए कोई मथुरा से आ तो रहा है। यह तो उद्धवजी हैं, जो गोपियों को कृष्ण का संदेश सुनाने आ रहे हैं। लेकिन गोपियाँ उनसे कहती हैं—

"सँदेसँन, मधुवन-कूप भरे।
जे कोई पथिक गए हैं ह्याँते, फिर नहिं गवन करे।।
मसि खूंटी, कागद जल भींज्यौ, सर दौं-लागि जरे।
पाती लिखें कहौ क्यों करि जो, पलक कपाट अरे।।"

फिर जब उद्धव उनको निर्गुण की उपासना का उपदेश देते हैं, तो वे उनसे पूछती हैं—

"निरगुन कौंन देस कौ बासी?"

और अपनी असमर्थता इन शब्दों में व्यक्त करती हैं—

"ऊधौ, मन न होंहि दस-बीस।
एक हुतो, सो गयौ स्याँम-सँग, को आराधँ ईस?"

अंत में उद्धव को चुप देख कर वे उन्हीं को प्रेम की महत्ता बताने लगती हैं—

"ऊधौ, प्रीति न मरँन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक-परि, जरत अंग नहिं टारै।।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम-बसि, कंटक आपु सहारै।
प्रीति कुरंग नाँद-रस-लुब्धक, ताँनि-ताँनि सर-मारै।
'सूर' स्याँम सों प्रीति गोपिन की, कहु कैसें निरवारै।।"

सत्य ही तो जिस सगुण मूर्त्ति की वे उपासिका हैं, वह निर्गुण ब्रह्म से कम श्रेष्ठ नहीं है और जिसको योगी योग और समाधि के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उसे उन्होंने अपनी प्रेम-पूजा से ही प्राप्त कर लिया है।

हमने व्रज-वाटिका की एक झाँकी देख ली, अब आइए कुछ देर इसकी सैर की जावे। हमारे आज के इस भ्रमण का एक तात्पर्य भी है, हमें देखना है कि हमारे भक्त-कवियों ने इस वाटिका

की शोभा बढ़ाने के लिए कौन-कौन से पशु-पक्षी यहाँ एकत्र किए हैं और उनसे अपने सौंदर्य-वर्णन में क्या-क्या सहायता ली है।

सबसे पहले सूरदासजी का एक पद देखें, जिसमें उन्होंने आत्मा को पक्षी मानकर बहुत सुंदर रूपक खींचा है—

"जा दिन, मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के, सबै पात झरि जैहै।।
घर के कहैं बेगि ही काढ़ौ, भूत भएँ कोउ खैहै।
जा पीतम सों प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहै।।
कहँ वह ताल, कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहै।
भाई-बंधु अरु कुटुंब-कबीला, सुमरि-सुमरि पछितैहै।।
बिन-गुपाल कोऊ नहिं अपनों, जसु-अपजसु रहि जैहै।
जो 'सूरज' दुरलभ देवन कों, सत-संगत में पैहै।।"

जीवन की यथार्थता का कैसा सुंदर चित्र है।

चलिए अब हम लोग ब्रजवाटिका में चलें, लेकिन यहाँ तो वर्षा होने लगी। कुछ चिंता न कीजिए, ब्रज में तो इस प्रकार स्नेह के बादल उमड़ कर बरसते ही रहते हैं। थोड़ी देर इस कदंब के तले बैठ कर इन कवियों का वर्षा-वर्णन सुनिए, आपको इसमें भी बहुत से पशु-पक्षी देखने को मिल जावेंगे। पहल 'हरिरामजी व्यास' का एक पद सुनिए—

"आजु कछु कुंजन में बरखा-सी।
बादर-दल में देखि सखी री, चमकत है चपला-सी।।
नान्हीं-नान्हीं बूंदन कछु धुरवा-से, पवन बहै पुरबा-सी।
मंद-मंद गरजनि सी सुनियतु, नाँचति मोर-सभा-सी।।
इंद्र-धनुष बग-पंगति डोलति, बोलत कोक-कला-सी।
इंद्र-बधू छबि-छाइ रही मनु गिरि पर अरुँन-घटा-सी।।
उमँगि महीरुह-सी महि फूली, भूली मृग-माला-सी।
रटति 'ब्यास' चातक ज्यों रसनाँ, रस-पीवत ही प्यासी।।"

इस वर्णन में वर्षा से संबंधित बहुत से पक्षी आ गए। काली-काली घटाओं के बीच धवल बक-पंक्ति की शोभा और मेघ के गरजने पर मोर का आनंद-मत्त होकर नाचने का सुंदर दृश्य वर्षा-ऋतु की एक विशेषता है। अब सत्यनारायणजी का वर्णन सुनिए—

"अलबेली कहुँ बेलि, द्रुमन सों लपटि सुहाई।
धोए-धोए पातँन की, अनुपम कँमनाई।।
चातक चलि, कोइल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि-कूकि केकी ललित, कुंजन करत किलोल।।
—निरखि घँन की घटा।।"

देवजी का वर्णन भी किसी से कम नहीं है, सुनिए—

"सुनिकें धुंनि चातक मोरन की, चहुंओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग-भरे हरि बागँन में, सखि रागँन-राग-अचूकनि सों।।
कबि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती सँमीर के झूकनि सों।।"

कैसा स्वाभाविक वर्णन है। वर्षा-ऋतु के सभी प्रमुख पक्षी इस काल्पनिक चित्र में विराजमान हैं। लेकिन सूरदासजी को यह चिंता है कि मथुरा में वर्षा हो रही है या नहीं, जो श्री कृष्णचंद्र को गोपियों के निकट आने के लिए प्रेरित करे। सुनिए वे क्या कहते हैं—

"किधौं घँन गरजत नहिं, उन देसँन।
किधौं वहि इंद्र हठिहिं हरि बरज्यौ, दादुर खाए सेसँन ।।
किधौं वहि देस बकँन मग-छाँड्यौ, घर-बूड़त न प्रवेसँन।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक, बधिकन बधे बिसेसँन ।।
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति, गावति गीत सहेसन।
पथिक न चलत 'सूर' के प्रभु पैं, जासों कहौं सँदेसन ।।"

प्रेम की आतुरता का कैसा सुंदर वर्णन है। मोर, पिक, चातक, दादुर, वक और सर्प सभी वर्षा से संबंध रखने वाले पशु-पक्षी तो आ गए।

'आलम' का भी इसी ढंग का एक कवित्त है, उसे भी सुन लीजिए। उन्हीं को क्यों शिकायत रह जावे—

"कैधों मोर सोर-तजि गए री अँनत भजि, कैधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधों पिक, चातक बधिक काहू मारि डारे, कैधों बग-पाँति उत अंत गति ह्वै गई ।।
'आलम' कहत आली अजहूँ न आए कंत, कैधों उत रीति बिपरीति बिधि नें ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही, जूझि गए मेघ, किधों बीजुरी सती भई ।।"

लीजिए वर्षा भी थम गई, आइए चलिए अब इस प्रेम-नगरी में प्रवेश किया जावे, लेकिन कबीर ने प्रेम के बारे में जो कहा है, उस पर पहले सोच लीजिए—

"प्रेंम न बाड़ी ऊपजै, प्रेंम न हाट बिकाइ।
राजा-परजा जो चहैं, सीस देइ लै जाइ ।।"

सूरदासजी भी पहले आगाह करते हैं—

"प्रीति करि, काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै प्राँन दह्यौ ।।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाँद सों, सनमुख बाँन सह्यौ ।।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यौ।
'सूरदास' प्रभु-बिन दुख दूनों, नेंनन-नीर बह्यौ ।।"

इससे ज़रा सोच-समझ कर आगे बढ़िये, क्योंकि यह प्रेम-पंथ बहुत कँटीला है, लेकिन सच्चे प्रेमी को बाधाओं की परवाह नहीं होती। सुनिए सूरदासजी क्या कहते हैं—

"सब जग तजे प्रेंम के नाते।
चातक स्वाँति-बूंद नहि छाँड़त, प्रघट पुकारत ताते ।।
समुझत मींन नीर की बातें, तजत प्राँन हठि हारत।
जाँनि कुरंग प्रेंम नहिं त्यागत, जदपि ब्याध सर-मारत ।।
निमिष चकोर नेंन नहिं लावत, ससि-जोवत जुग बीते।
जोति पतंग देखि बपु जारत, भए न प्रेंम-घट रीते ।।
कहि अलि क्यों बिसरत वे बातें, सँग जो करी ब्रजराजै।
कैसें 'सूर' स्यांम हम छाँड़ें, एक नेंह कें काजै ।।"

सच है, सच्चा प्रेमी अपने आराध्य को कैसे छोड़ सकता है। वह तो आजीवन प्रेम के पथ का पथिक बना रहना चाहता है, लेकिन प्रेमी भक्त 'रसखान' की कामना और आगे बढ़ गई है—

"मानुस होंउँ तौ वही रसखाँन, बसों ब्रज-गोकुल-गाँव के ग्वारँन।
जौ पसु होंउँ तौ कहा बस मेरौ, चरों नित नंद की धेंनु-मँझारँन।।
पाँहन होंउँ तौ वही गिरि कौ, जो धरचौ कर छत्र पुरंदर धारँन।
जो खग होंउँ तौ बसेरौ करों, मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारँन।।"

आइए, अब आगे चलें। देखिए सामने जो सुंदर सरोवर है वह 'भारतेंदु हरिश्चंद्रजी' का बनवाया हुआ है। उन्होंने उसकी शोभा बढ़ाने के लिए तरह-तरह के पक्षी इसमें एकत्र किए हैं। आइए, थोड़ी देर यहाँ भी विश्राम करके उन्हीं के मुख से इसका वर्णन सुनें—

"कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत।।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान-लगावत।
सुक-पिक जल कहुँ पिवत, कहूँ भ्रमरावलि गावत।।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पच्छी करत।
जल-पाँन न्हाँन-करि सुख भरे, तट-सोभा सब जिय धरत।।"

कैसा स्वाभाविक वर्णन है, कहीं ज़रा भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई। 'कलहंस' (सोना बतक) और 'कारंडव—बतक' पानी में तैर रहे हैं और कबूतर आ-आकर सरोवर में पानी पी जाते हैं। ताल के एक किनारे चक्रवाक (चकई-चकवा) का जोड़ा बैठा है और पानी की सतह पर इधर से उधर जल-मुरगियों का झुंड दौड़ता हुआ चला जाता है। सुक और पिक भी बीच-बीच में आ-आकर पानी पीते हैं और किनारे पर मोर अपने नाच ही में मस्त हैं। सारा वातावरण भौंरों की गुंजार से और पक्षियों के कलरव से गूंज रहा है।

आइए, अब आगे बढ़ें। सामने की डाल पर हमारा चिर परिचित 'कौआ' बैठा है। इसको भला कौंन नहीं पहचानता। हमारे नित्य के जीवन में इसने जिस प्रकार अपना एक स्थान बना लिया है, साहित्योद्यान में भी उसी प्रकार इसकी अपनी एक सत्ता है ही। इसकी कर्कश बोली हमें भले ही नापसंद हो और सर्वभक्षी होने के कारण भले ही हम इसको घृणित समझें, लेकिन हमारे कवियों ने इसको जो संमान दिया है वह और किसी पक्षी को संभव नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो सारी रामायण 'काकभुशुंडजी' के मुख से कहला कर इनको अमर हीं कर दिया है। ब्रज-वाटिका में भी जहाँ डाल-डाल पर कोयल की कुहू-कुहू और पपीहे की पी कहाँ! पी कहाँ! सुनाई पड़ती है, कवि लोग इसे नहीं भूले हैं। सूरदासजी तो इसके उड़-उड़कर फिर उसी स्थान पर लौट आने के कारण इसकी तुलना नेत्रों से करते हैं। सुनिए—

"नेंन भए बोहित के काग।
उड़ि-उड़ि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग।।"

लेकिन 'सत्यनारायण'जी कौए से प्रिय के आगमन की सूचना देने का काम लेते हैं। सुनिए—

"कहु रे कागा परम प्रिय, पिय-आवन की बात।
तिन्ह आऐं हौं देंउँगी, तोहि दूध अरु भात।।"

लेकिन 'रसखानजी' का काग दूध-भात की प्रतीक्षा नहीं करता और कृष्णजी के हाथ से माखन-रोटी छीन कर भाग जाता है। उसके भाग्य की सराहना करते हुए रसखानजी ने कहते हैं—

"धूरि-भरे अति सोहत स्यांम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरें आँगना, पग-पेंजनी बाजती, पीरी-कछोटी।।
वा छबि कों 'रसखाँन' बिलोकत, बारत काँम कलानिधि-कोटी।
काग के भाग कहा कहिऐ, हरि-हाथ सों लै गयौ माँखन-रोटी।।"

रत्नाकर जी का कौआ गंगा-तट-वासी है। उसे गंगाजी पर ऐसा विश्वास है कि वह उसे छोड़ कर इंद्रासन भी नहीं चाहत—

"लोटि-लोटि लेत सुख कलित कछाँरन कौ, सुरतरु-डाँरन कौ गौरव गहै नहीं।
कहै 'रतनाकर' त्यों काँकर औ साँक चुनि, चारु मुकताफल पै नेंक उँमहै नहीं।।
हेम-हंस होंन की न राखत हिए मैं होंस, नंदन के कोकिल कौ कलित कहै नहीं।
गंगा-जल तोषि, दोषि सुकृति सुधासन कौ, काक पाकसासन कौ आसन चहै नहीं।।"

चलिए, आगे चलिए और इनकौ गंगा-सेवन करने दीजिए। आगे आम पर जो काली चिड़िया बैठी है उसको भी कहीं कौआ न समझ लीजिएगा। यह हमारे यहाँ की प्रसिद्ध 'कोकिल' है, जो हमें वसंत के आगमन की सूचना देती है और जिससे विरहिणी नायिकाओं की विरह-वेदना और बढ़ जाती है। 'पद्माकरजी' इन काली और कुरूप चिड़ियों को कोसते हुए कहते हैं—

"ए ब्रजचंद्र चलौ किन वा ब्रज, लूकें बसंत की ऊकँन लागी।
त्यों 'पदमाकर' पेखौ पलासन, पावक-सी मनों फूँकँन लागी।।
वै ब्रजनारी बिचारी बूध, बन बावरी लों हिएँ हूकँन लागी।
कारी कुरूप कसाइन पै सु कुहू-कुहू क्वैलिया कूकँन लागी।"

लेकिन सूरदास कोयल की कुहू-कुहू से ऊबते नहीं, बल्कि वे उससे प्रार्थना करते हैं कि वह श्री कृष्ण के पास जाकर बोले, जिससे वे फिर अपने ब्रज को लौट आवें। सुनिए—

"कोकिल, हरि कों बोल सुनाव।
मधुबन तें उचटाइ स्याँम कहँ, या ब्रज-महँ लै आव।।
कीजै कछु उपकार परायौ, यहै सयाँनों काज।
'सूरदास' प्रभु कहु या अवसर, बन-बन बसत बिराज।।"

पता नहीं कोयल सूरदासजी की प्रार्थना स्वीकार करके मथुरा गई या नहीं, लेकिन कृष्ण ने इसके कुहू-कुहू की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, यह तो मालूम ही है।

कोयल की तरह पपीहा भी विरही-जनों को अपने 'पी कहाँ, पी कहाँ' के शब्द से व्याकुल कर देता है। इसके लिए कवियों ने कल्पना यह की है कि यह केवल स्वाति-नक्षत्र का जल पीता है, चाहे जान क्यों न चली जावे। सूरदासजी का एक पद सुनिए—

"बहुत दिन जियौ पपीहा प्यारौ।
बासर-रैंनि नाँम लै बोलत, भयौ विरह-जरि कारौ।।
आप दुखित, पर दुखित जाँनि जिय, चातक नाँम तुम्हारौ।
देखौ सकल बिचारि सखा जिय, बिछुरन कौ दुख न्यारौ।।
जाहि लगै सोई पै जाँनैं, प्रेम-बाँन अँनियारौ।
'सूरदास' प्रभु स्वाँति-बूंद-लगि, तज्यौ सिंधु करि खारौ।।"

अरे बचिये, देखिए सामने कैसा भयंकर साँप है। यह तो बड़ी जहरीली काली नागिन है। सूरदासजी ने इसकी उपमा काली रात से की है। देखिए उनका कैसा सुंदर वर्णन है—

"पिय-बिन नागिन कारी रात।
जौ कबहूँ कहुँ उअति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।।"

काली रात विरहिणी के लिए काली नागिन की तरह है, लेकिन चाँदनी रात तो विरह को और भी बढ़ा देती है। उस समय यह जान पड़ता है कि काली नागिन काट कर उलट गई है और उसका सफ़ेद पेट दिखाई पड़ रहा है, कैसा सुंदर वर्णन है। जहरीले साँपों के लिए प्रसिद्ध है कि जब वे काट कर उलट जाते हैं तो फिर आदमी लहर भी नहीं लेता और उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है।

यह नागिन जिस झाड़ी में जाकर घुसी थी, उससे यह कौन सुंदर पक्षी निकल कर भागा जा रहा है। अरे, यह तो चकोर है। ब्रज-वाटिका का बहुत परिचित पक्षी। इसका चंद्रमा के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। कवियों ने कल्पना की है कि चंद्रमा के प्रति चकोर का ऐसा आकर्षण होता है कि वह बराबर उसी की ओर देखा करता है और अंगारे को चंद्रमा के टुकड़े समझ कर उसे प्रेम-वश खा लेता है। इसी कल्पना के आधार पर प्रेमी का प्रेम-प्रदर्शन करने के लिए 'चंद्र-चकोर' का सहारा कवियों ने लिया है और प्रेमी के मुख को 'चंद्रमा' और नैनों को 'चकोर' मान कर बड़ी भाव-पूर्ण रचनाएँ की हैं। देखिए 'भगवत रसिक' जी क्या कहते हैं—

"तेरौ मुख-चंद, चकोरी मेरे नैंना।
अति आरत, अँनुरागी लंपट, भूलि गई गति पलहूँ लगें ना।।
अरबरात मिलिबे कों निस-दिन, मिले रहत मनों कबों मिले ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें, रसिक-बिना कोऊ समुझि सकैं ना।।"

'ललित किशोरी' की भी इसी प्रकार प्रार्थना है—

"रे निरमोही, दरस दिखाइ जा।
'ललित किसोरी' नैंन-चकोरँन, दुति-मुख-चंद दिखाइ जा।।"

'सत्यनारायण'जी की भी सुनिए—

"सोहत राधा चंद-मुख, किरन-हँसी, मृदु-कोर।
लागति जनु घनस्याँम के, ससि थिर नैंन-चकोर।।"

'रत्नाकर' जी का वर्णन भी किसी से कम नहीं है, सुनिए—

"वाही मुख मंजुल की चहति मरीचैं सदाँ, हम कों तिहारी ब्रह्म-जोति करिबौ कहा।
कहै 'रतनाकर' सुधाकर-उपासनि कों, भाँनु की प्रभानि कों जुहारि जरिबौ कहा।।
भोगि रहीं बिरचे बिरंचि के सँजोग सबै, ताते सोग सारन कों जोग चरिबौ कहा।
जब ब्रज-चंद कौ चकोर चित्त चारु भयौ, बिरह-चिंगारिन सों फेरि डरिबौ कहा।।"

नैनों के लिए चकोर के अलावा एक और पक्षी का सहारा कवि लोग लेते हैं। वह है 'खंजन', देखिए पानी के किनारे जो छोटी-सी चितकबरी चंचल चिड़िया इधर से उधर दौड़ रही है, यही खंजन या 'खड़रिच' पक्षी है। जिस कवि ने पहले-पहल इसकी तुलना नेत्रों से की है उसकी जितनी तारीफ़ की जावै वह थोड़ी है। सिवा 'सूरदास' जी के और कौन इतना ऊँची उड़ान भर सकता है। सुनिए उनका प्रसिद्ध पद—

"खंजन-नैन रूप-रसमाँते।
अति सै चारु चपल अँनियारे, पल-पिंजरा न समाँते।।
चलि-चलि जात निकट स्रबनँन के, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन-गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते।।"

नैनों के लिए मृग भी कवियों द्वारा बहुत याद किए जाते हैं। सामने देखिए, एक मृग और मृगा खड़े तो हैं। कैसी सुंदर आँखें हैं। इनको देखकर कैसे इनकी तुलना नायिकाओं के नेत्रों से न करते? बिहारी ने ठीक ही लिखा है:—

"बर जीते सर मैंन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैंनाँन तें, हरि नीके ए नैंन।।"

'सूरदास'जी ने भी इसी प्रकार वर्णन किया है:—

देखि री, हरि के चंचल नैंन।
खंजन, मीन मृगज, चपलाई, नहिं पटतर इक सैंन।।

नैनों के लिए कवि लोग 'भ्रमर' की भी कम याद नहीं करते। 'सूरदास'जी कहते हैं—

"लोचन, भृंग भए री मेरे ।
लोक-लाज बँन-घँन-बेली तजि, आतुर ह्वै जु गड़े रे ।।
स्यांम-रूप-रस बारिज-लोचन, तहाँ जाइ लुब्धे रे !
लपटे लटकि पराग बिलोकनि, संपुट लोभ परे रे ।।
हँसनि-प्रक.स बिभास देखिकें, निकसति पुनि तहँ बैठत ।
'सूर' स्यांम अंबुज-कर-चरनँन, तहँ-तहँ भ्रमि-भ्रमि पैंठत ।।"

धन्य हैं सूरदासजी, क्यों न हों; आपने तो पूरा चित्र उतार दिया है। चाचा हित वृंदावनदास जी देखिए क्या कहते हैं—

"छबि भरे नव कंज-दल से, नेह पूरित नैंन ।
पूतरी मधु मधुप-छौंना, बैठि भूले गेंन ।।"

बिहारीलाल जी भला ऐसा अवसर कैसे छोड़ देते। नैनों के वर्णन में उनकी दो पंक्तियाँ न सुनना उनके साथ अन्याय करना होगा। देखिए, वे अपने छोटे दोहे में कैसा गंभीर भाव भर देते हैं—

"वारों बलि तो दृगँन पै, अलि, खंजन, मृग, मींन ।
आधी दीठि चितौंन जिन, किए लाल आधींन ।।"

वाह, बिहारीलाल जी, क्यों नहीं, आपके दोहों के बारे में ठीक ही कहा गया है—

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर ।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर ।।"

नेत्रों के बारे में आपका एक दोहा और देखिए—

"लाज-लगाँम न माँनहीं, नैंनाँ मो-बस नाँहि ।
ए मुँहजोर-तुरंग-लों, ऐंचत हूँ चलि जाँहि ।।"

कैसा सजीव वर्णन है, ब्रज-वाटिका में ऐसे मुँहजोर तुरंगों की कमी नहीं है, लेकिन 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' जी ने इन नैनों की तुलना मतवाले हाथियों से की है। सुनिए—

"सखी ऐ, अति उरझोंहे नैंन ।
उरझि परत, सुरझ्यौ नाँहि जाँनत, सोचत-समुझत हैं न ।।
कोऊ जौ बरजै जो इनकों, बने मत्त जिमि गैंन ।
'हरीचंद' इन बैरिन पाछें, भए लैंन के दैंन ।।"

बड़े अनुभव की बात कह रहे हैं हरिचंद जी, लेकिन यह अनुभव तो बाद में होता है, पहले जो होता है उसका वर्णन देवजी से सुन लीजिए—

"धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाइ फँसी उकसी न अँधेरी ।
री अंगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरें-फिरीं न घिरीं नाँहि घेरी ।।
'देव' कछू अपनों बस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी ।
बेगि ही बूड़ि गईं पखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ।।"

नेत्रों के वर्णन से आप ऊब गए होंगे, लेकिन आपने इन्हीं के बहाने खंजन, मीन, भृंग, कुरंग, तुरंग और गयंद आदि को इस ब्रज-वाटिका में एक ही जगह देख लिया, नहीं तो इनको ढूंढ़ने में बहुत दिक्कत पड़ती।

देखिए सामने के पेड़ पर 'तोतों' का झुंड कैसा शोर मचा रहा है। इनके बिना तो बाग़ की शोभा ही नहीं बढ़ती, फिर हमारे कवि लोग भला इनको कैसे भुला देते। ये नाक की तुलना के लिए याद किए जाते हैं। देखिए 'सूरदास' जी का कैसा कवित्त्व-पूर्ण वर्णन है—

"देखि सखी, अधरँन की लाली ।
मनि मरकत तें सुभग कलेबर, ऐसे हैं बनमाली ।।

कैधों तरुन-तमाल-बेलि-चढ़ि, जुग-फल-बिंब सु पाक्यौ।
नासा कीर आइ मनों बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताक्यौ ।।"

'नंददास' जी भी इसी प्रकार कहते हैं—

"उन्नत नासा, अधर बिंब, सुक की छबि छींनी।
तिन्ह-बिच अदभुत भाँति लसत कछु इक मसि भींनी ।।"

लेकिन सूरदासजी शुक महाशय को दूसरा ही उपदेश देते हैं, सुनिए—

"सुआ, चल वा बन कौ रस लीजै।
जा बन कृष्ण-नाम-अँमरित-रस, स्रबन-पात्र भरि पीजै ।।
को तेरौ पुत्र, पिता तू काकौ, मिथ्या भ्रम जग केरौ।
काल-मँजार लै जैहै तोकों, तू कहै मेरौ-मेरौ ।।"

जीवन के विषय में ऐसा नग्न-सत्य सूरदासजी के ही मुख से अच्छा लगता है, लेकिन तोते को बालक-वसंत को किस्से-कहानी सुनाने से फ़ुरसत तो मिले। देखिए, देवजी कहते हैं—

"पवन झुलावैं, केकी-कीर बतरावै 'देव', कोकिल हलावैं, हुलसावैं करतारी दै।
मदन महीप जू कौ बालक-बसंत ताहि, प्रात हिऐं लावत गुलाब चटकारी दै ।।"

आप चलते-चलते थक गए होंगे, आइए, चल कर किसी सरोवर के किनारे थोड़ा विश्राम किया जावे। वहीं बैठ कर हम पशु-पक्षी-निरीक्षण भी करेंगे। देखिए, कुछ दूर पर जो कमल से भरा हुआ तालाब दिखाई दे रहा है आइए, उसी के किनारे चलें।

यह कौन पक्षी अपने चंगुल में लकड़ी लिए उड़ा जा रहा है? यह तो 'हारिल' है। इसके बारे में यह कहावत है कि यह हमेशा उड़ते समय अपने चंगुल में लकड़ी पकड़े रहता है। सूरदासजी ने इसी को लक्ष करके कहा है—'हमारे हरि, हारिल की लकरी।' हारिल को जाने दीजिए, देखिए सामने मोर नाच रहा है, कैसा सुंदर दृश्य है, देखिए बिहारीजी क्या कहते हैं:—

"नाँचि अचाँनक ही उठे, बिन-पावस बँन मोर।
जानति हों नंदित करी, इहि दिसि नंद किसोर ।।"

लीजिए तालाब का किनारा आ गया। आइए, इसी तालाब के नीचे बैठ कर हम लोग इसकी शोभा देखें। ताल में कैसे सुंदर कमल के पुष्प खिले हुए हैं और उनके ऊपर भौंरों की भीड़ लगी हुई है। इन भ्रमरावलियों को देख कर भला प्रेमी कवियों की वाणी कैसे नीरव रहती। सुनिए सूरदास जी क्या कहते हैं—

"अलकनि की छबि, अलि-कुल गावत।
खंजन, मींन, मृगज लज्जित भए, नैंन-नचावनि गतिहिं न पावत ।।"

नंददास जी की सुनिए—

"नीलोत्पल-दल-स्याँम,- अंग नव जोबन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख-कँमल, मनों अलि-अवलि बिराजै ।।"

सरोवर के निर्मल जल में जो चपल मछलियाँ इधर-धर दौड़ रही हैं, इनको कवियों ने नेत्रों के वर्णन में याद ज़रूर किया है, लेकिन ये अधिकतर अपने जल के वियोग में अपने प्राण दे-देने के लिए स्मरण की जाती हैं। 'सूरदास' जी से इनका वर्णन सुनिए—

"नैंनाँ, भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल वहाँ ते सजनी, सुनियतु दूरि सिधारे ।।
वै हरि जल, हम मींन बापुरी, कैसे जिऐं निनारे।
'सूर' स्याँम कीन्हीं पिय ऐसी, मृतकहुँ तें पुनि मारे ।।"

इन्हीं से एक पद और सुनिए—

"ऊधौ, ना हम बिरहिन, ना तुम दास ।
कहत-सुनत घट प्राँन रहत हैं, हरि तजि भजहु अकास ।।
बिरही-मींन मरै जल-बिछुरें, छाँडि जियन की आस ।
दास-भाव नहिं तजत पपीहा, बरु सहि रहत पिआस ।।"

'ध्रुवदास' जी ने भी 'मीन' के प्रेम की तुलना करते हुए 'दादुर' को याद किया है। सुनिए—

"जिन नहिं समझ्यो प्रेम यह, तिन सों कोंन अलाप ।
दादुर हूँ जल में रहै, जानें मींन मिलाप ।।"

सरोवर के बीच में हंसों की पंक्ति कैसी भली लग रही है। सूरदासजी ने इनको कई स्थलों पर याद किया है। देखिए—

"नटवर-भेष काछें स्याँम ।
पद-कँमल-नख इंदु-सोभा, ध्याँन पूरन काँम ।।
कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि के भीर ।
मनों हंस-रसाल-पंगति, रहे हैं ह्रद-तीर ।।"

और देखिए—

"थकित भई, राधा ब्रज-नारि ।
जो मन ध्याँन करति अवलोकति, ते अंतरजामी बनवारि ।।
रतन-जटित पग सुभग पाँवरी, नूपुर-धुनि-कल परम रसाल ।
माँनहुँ चरन-कमल-दल-लोभी, निकटहिं बैठे बाल-मराल ।।"

अब तो संध्या होने को आई, आप भी थक गए होंगे, अतः अब लौटना चाहिए। यह कौन पक्षी इतने कातर स्वर में बोल रहा है? अरे इसे तो हम लोगोंने एकदम भुला ही दिया था। यही तो हमारा प्रसिद्ध परिचित पक्षी चक्रवाक है। हमारे साहित्य में इसके—कोक, चक्र, चक्रनाम, रथांग, सुर्खाब आदि अनेकों नाम हैं, लेकिन ग्रामीण जनता इसको 'चकई-चकवा' के नाम से ही जानती है। इसके लिए हमारे कवियों ने यह कल्पना की है कि इनका जोड़ा दिन-भर तो साथ रहता है लेकिन रात होते ही ये दोनों रात-भर के लिए अलग-अलग हो जाते हैं। यह कल्पना केवल कल्पना ही है, लेकिन इसी के सहारे हमारे कवियों ने विछोह का बहुत करुण और हृदय-ग्राही चित्र खींचा है। चलते-चलते दो-चार पदों में इन पक्षियों की भी वियोग-कथा सुन लीजिए। सेनापतिजी शीत-काल में कोक-कोकी का क्षणिक मिलन भी संभव न देख कर दुखी हैं, क्योंकि शीतकाल में दिन इतने छोटे होते हैं कि जब तक कोक कोकी के पास तक पहुँचे तब तक रात हो जाती है और चकवा बेचारा अध-बीच से ही लौट आता है। सुनिए—

"सीत के सहसकर सहस-चरन ह्वै कें, ऐसें भागि जातु तम आवत है घिरि कें।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति, कोक अध-बीच ही ते आवत है फिरि कें ।।"

बिहारीलाल जी तो और भी आगे बढ़ गए हैं। वर्षा-ऋतु में ऐसा घोर अंधकार छा गया कि दिन और रात में कोई भेद ही नहीं रह गया है और लोग चकई और चकवा देख कर ही जान पाते हैं कि रात है या दिन। उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं आँन ।
राति-द्यौस जान्यौं परत, लखि चकई-चकवाँन ।।"

वाह बिहारीलाल जी, क्यों न हो, आपकी उड़ान को कौन पहुँच सकता है। देवजी का भी वर्णन किसी से कम नहीं है। सुनिए—

"वा चकई कौ भयौ चित-चीतौ, चितौत चहूँ-दिसि चाइ सों नाँची ।
ह्वै गई छींन छपाकर की छबि, जाँमिनि जोंन्ह मनों जँम जाँची ।।

बोलत बैरी बिहंगम 'देव', सु बैरिन के घर संपति साँची।
लोहू पियौ जु बियोगिनी कौ, सु कियौ मुंह लाल पिसाचिनी प्राची।।"

प्रभात का कैसा अनुपम वर्णन है। रस का कैसा सुंदर परिपाक हुआ है।

'गंग' कवि का भी प्रभात-वर्णन सुनिए। उनकी मानिनी नायिका नायक से मिलने के लिए जाने को तैयार नहीं है और सबेरा होनेवाला है। चतुर सखी प्रभात होने के सब चिन्हों की ओर संकेत करके उसको नायक के पास चलने का अनुरोध करती है। सुनिए—

"चकई बिछुरि मिली, तू न मिली पीतम सों, 'गंग कबि' कहै ऐसौ कियौ माँन ठाँन री।
अथए नखत-ससि, अथई न तेरी रिस, तू न परसन्न परसन्न भयौ भाँन री।।
तू न खोल्यौ मुख, खोल्यौ कंज औ गुलाब मुख, चली सीरी बाइ, तू न चली भौ बिहाँन री।
राति सब घटी, नाहीं करनी री घटी तेरी, दीपक मलीन, ना मलीन तेरौ माँन री।।"

बहुत ही सुंदर वर्णन है। ऐसा मनोहर चित्र उतार देना कवि 'गंग' ही के लिए संभव है। अब हमारी यात्रा भी समाप्त हो गई और हमने थोड़े ही समय में इस ब्रज-वाटिका के बहुत से पशु-पक्षियों को देख भी लिया। आइए, अब हम इन सब प्रेमी जीवों से छुट्टी लेकर अपने स्थान को चलें और इनको इसी वाटिका की शोभा बढ़ाने दें।

गली साँकरी माय, काँकरी पाँइ गड़त है

रामनिवास विद्यार्थी

जो अतीत संगीत गुंजाती है उरमाँही।
जिहि सों सरस रसायन आन धरा पर नाहीं।।
अमिय घुला बानी में भाषा रतन जड़ित हैं।
रसिक-जनन-मन अब लों सहज सुलभ मोहत हैं।।

२

जिहि में नटवर गिरिवरधर की छटा बिराजै।
गोकुल-बृंदाधाम-मधुपुरी हू छबि-छाजै।।
अगम सूर-सागर में रसगागरि ढरकत है।
स्याम जोंन बोली में रूँठत, नटत, मनत है।।

३

तरनि-तनूजा सरसाहू कल-कल धुनि सोहै।
प्राणों को बरबस मुरली मुरलीधर मोहै।।
मदिर भामिनी रास लास कौ साज सजत है।
जिहिसों जड़-जंगम पुलकित हरखित-उँमगत है।।

४

मीरां दरद-दिवाणी के सरबस जिहि माहीं।
किहि कों सूर पदावलि बरबस मोहत नाहीं।।
सूर प्रवर सौं भारतेंदु-पर्जंत लसत है।
कबहुँ न सो मनभावन मोहि उर सों बिसरत है।।

५

जिहि उदार नें छाँड़ि भेद सबहू अपनायौ।
रसिक बिहारी, घनानंद, रसनिधि सरसायौ।।
जिहि सों अगनित बिरस प्रान रसखान बनत है।
आलम वा रसलीन, रहीम, निवाज लसत है।।

६

जो साहित्य-माधुरी में सर्वोत्तम नीकी।
बीना-बानि बिनंदक, पावन मूरि अमी की।।
स्रोत पुटन में सरस सुधा-धारा उमड़त है।
गली साँकरी माय, काँकरी पाँइ गड़त है।।

——:०:——

गैयों के तकवैया : एक बुंदेलखंडी लोक-गीत

श्री कृष्णानंद

बन में धौरी[1] गैया, लएँ कुँवर कन्हैया।
कृस्नचंद उठ बड़े सबेरें, बिंद्राबन सें गाय उबेरें[2] ;
गोबरधन पै जाइ कें घेरें, उसरन[3] से सब सुरभी फेरें।
सँग बलदाऊ जी भैया, बन में धौरी गैया ।।
(सरमन[4], टीकुल[5], बेंदी[6], गेंदी[7], भोंड़ऊ[8], पट्टिन[9], बई[10], बगुरेंदी[11];
कारी[12], कजरी[13], कजल[14], करोंदी[15], लंबू[16], लँमछर[17], फुलइ[18], गुलेंदी[19]।
नंदलाल तकबैया[20], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
मुंडी[21], मेंडी[22], भेंड़ी[23], बरई[24], खोंडू[25], घोंसू[26], स्याँमा[27], भौंरई[28] ;
केंडी[29], ड़ुंडी[30], खिलौंनी[31], खेरई[32], चंचल[33], चपला[34], चीकन[35], चेंरई[36]-
चंदसखा छिकबैया[37], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
लक्खी[38], लाल [39], लखैरी[40], लीली[41], बँदरी[42], बदक[43], बदासी [44], हंसी [45];
पीरी[46], पड़ई[47], रसीली[48], छीमर[49]; छरकन[50], छिपट[51], छबीली[52], ।
छत्री छैल छिवबैया[53], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
बगुली[54], बगला[55], बिचक[56], बगैली[57], कबरी[58], कामधेंनु [59], अलबेली[60];
कनफर[61], करछल[62], तिलई[63], चमेली[64], मोतिन[65], मुकटऊ[66], खरई[67], हमेली[68];
बाघन[69], संग लिबैया[70], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
केसर[71], रेसम[72], रोजी[73], राजन[74], मरक[75], मतवारी[76], बघराजन[77];
मस्तानी[78], गदूल[79], गजराजन[80]; हिथाई[81], झबूर[82], सिंहासन[83] ।
कँह फेरी बड़े भैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।
सुरहिन[84], सुरई[85], सुकरतन[86], डाँसी[87], चटकुल[88], मटकुल[89], उजरऊ[90], बाँसी[91];
सूरत[92], मूरत[93], कपला[94], लासी[95] ; पदमिन[96] गोपिन[97], भँड़ऊ[98], बतासी[99] ;
तकें बंसी के बजबैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।
सरजू[100], सुपतू[101], नरबद[102], नागर[103], घूंमर[104], झूंमर[105], दरसन[106] सागर[107]
जमनी[108], गुर्गी,[109] बंटी[110], बोड़न[111], मरगज[112], बागर[113], मोर[114], मुनागर[115]
लै पकवान गे घरैया[116], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
सखन-सहित मिल करें कलेबा, पुरी-कचौरी अउर जु मेबा ;
प्रभु की देव करें सब सेबा, सुमुनि बसिष्ठहु ध्यावें देवा।
कहें धन्न जसोदा मैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।
दरसन पाकें जे ब्रज-नारी, गावें लगीं[117] स्याँम कों गारी;
मन मुसक्यावें कुंजबिहारी, हीरालाल प्रभु सरन तिहारी।
पार लगादेव नैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।*

* गरौठा के दीना अहीर से प्राप्त--लोकगीत।

अर्थों की टिप्पणी

१. सफेद।
२. निकालें, हाकें, छोरें।
३. उसरा का बहुवचन उसरन, दालान, सामबान।
४. सरमन, शिरोमणि से बना जान पड़ता है। बहुधा पुरुषों का नाम होता है।
५. जिसके माथे पर शरीर के रंग से भिन्न रंग का बड़ा टीका हो।
६. माथे पर छोटा टीका हो, जो बेंदी की तरह जान पड़े।
७. गेंद की तरह छोटी, ठिगनी, गोल-मटोल। अथवा गेंद जैसी नहीं, बल्कि गेंदा के फूल जैसी हलकी-फुलकी, गोल-मटोल और मन को लुभानेवाली से ही मतलब होना चाहिए। इसके अतिरिक्त गेंदा की एक छोटी जाति को भी गेंदी कहते हैं।
८. भोंड़े अथवा मटमैले रंग की। जो देखने में भोंड़ी हो उसे भी भौंड़ऊ कह सकते हैं। नोट लिखते-लिखते एक अहीर ने बताया कि यह शब्द भौंरऊ होना चाहिए। जिसके माथे पर भौंरी हो वह भौंरऊ। टीकुल और बेंदी के साथ इसकी संगति अधिक ठीक बैठती है और यहीं ठीक है।
९. जिसके माथे पर सींगों के मध्यस्थल से लेकर थुथरी तक भिन्न रंग की पट्टी हो। पट्टिन, पट्टी-वाली।
१०. अहीर लोग बताते हैं कि पच्छिम (मारवाड़-देश) से जो गायें आती हैं 'बई' कहलाती हैं। उनके कान कोंसमारे (मुलायम), बीच में चौड़े, सिरे पर नुकीले, लंबे, माथा चौड़ा, सींग पीछे को। बई के साथ प्रायः बोड़न का नाम लेते हैं। देशी, ऊँची, बड़ी गाय बोड़न कहलाती है।
११. बगुरदी, अहीर लोग इसका ठीक गुणवाचक अर्थ नहीं बता सके। एक ने बताया कि छोटी के लिये बगुरदी शब्द का प्रयोग होता है। दूसरे ने बताया कि महुए को कुचल कर गेंद बनाते हैं। उसमें घुमचू चिपकाते हैं। इसे बगुरदा कहते हैं। इसमें रस्सी डाल कर फेंकते हैं तो गेंद भनभनाती हुई ऊपर जाती है। इसका कहना है कि संभव है कि यह बगुरदी शब्द उसी बगुरदा से बना हो। गायों के लिये इस शब्द का प्रयोग खूब होता है।

    बगुरदा एक हथियार का भी नाम है। दीना भी इसे स्वीकार करता है। कहता है कि बगुरदा शायद एक छोटा पैना हथियार होता है, जिसे मूंठ की जगह हाथ में पहिनकर और छिपाकर रक्खा जा सकता है। मैंने जब उससे कहा कि तो फिर बगुरदी का यह अर्थ तो नहीं कि जिसके सींग बगुरदा की तरह पैने हों ; तो कहता है हाँ, बिलकुल ठीक, ऐसा भी हो सकता है।
१२. काली।
१३. कजरी, जिसकी आँख के नीचे काजल की तरह काली रेखाएँ हों।
१४. कजल, कजरी के ही अर्थ में। जिसकी आँखें कुछ अधिक कजरारी हों।
१५. करोंदी, जंगली करोंदा (जिसे करोंदी भी कहते हैं) के अधपके फल की तरह जिसका रंग गहरी ललाई लिये हुए घनकृष्ण हो। बगीचे का बड़ा करोंदा तो पकने पर लाल हो जाता है, परंतु करोंदी पहले गहरी लाल और फिर धीरे-धीरे गहरी काली हो जाती है। उसी अधपके रंग से मतलब है।
१६. लंबू, लंबी।
१७. लमछर, लंबोतरी, एकहरे बदन की लंबी, पतली।
१८. फुलई, जिसके बदन पर भिन्न रंग की फूल जैसी छोटी-छोटी बुंदकियाँ हों।

१९. गुलेंदी, गुलेंदा का स्त्री-वाचक गुलेंदी। महुए के फल को गुलेंदा कहते हैं। उसके भीतर जो बीज निकलता है वह गुली कहलाती है। दोनों से ही इस शब्द का संबंध हो सकता है, चिकनी, छोटी, गोल-मटोल। गुली को अनार लिया जाये तो उसके चिकने बादामी रंग का चित्र भी सामने आ जाता है।

२०. तकबैया, देखने वाले।

२१. मुंड़ी, जिसके सींग न हों, अथवा जिसके सींग बहुत ही छोटे हों, केवल दिखाई देते हों।

२२. मेंड़ी, जिसके सींग मेंड़ा की तरह आगे की ओर आकर फिर पीछे मुड़ गए हों।

२३. भूँड़ी, जिसके सींग भेंड़े—टेढ़े-मेढ़े अथवा नमे हुए हों। एक सींग आगे एक सींग पीछे।

२४. बेरई, बड़े सींगों की। एक दूसरे अहीर के अनुसार जिसके सींग बड़े और पीछे को मुड़े हों।

२५. खोंडू, जिसके सींग आगे को झुके हों।

२६. धोंसू, कुछ सफेद कुछ मटमैले रंग की अथवा जो धाँसती हो। किसी वजह से जानवर का गला खराब होने पर अथवा सर्दी लगने पर वह धाँसने लगता है। अतः इस धाँसने से धोंसू का संबंध हो सकता है।

धोंसू का संबंध धूसर से भी हो सकता है। मटमैली धूल को धोंस कहते हैं। छप्पर में मकर-जारा और धोंस लगी रहती है, जिसे बाँस में झाड़ बाँधकर छुड़ाते हैं। अनाज में धोंस निकलती है। दीना अहीर का कहना है कि भूरा—सफेद, अर्थात् एक रोम काला और एक सफेद वह धोंसू।

२७. मोंरइ, जो सबसे आगे आगे चलती हो। बोलचाल की भाषा में पैले मोंरा, पैले हल्ला इत्यादि मुहावरों का प्रयोग पहले नंबर के अर्थ में होता है।

२८. कोंडी, जिसका एक सींग आँख के पास आकर ईंठ गया हो, दूसरा आगे निकला हो।

२९. डुंडी, जिसका एक सींग टूटा हो। एक सींग-टूटे बैल को डूंडा कहते हैं।

३०. खिलोंनी, जो छुटपन में बहुत खेल-कूद करनेवाली रही हो। देखने में सुंदर, सुडौल।

३१. खेरई, खैर (कत्था) के रंगवाली।

३२, ३३. अर्थ स्पष्ट है।

३४. ३५. चीकन, चिकलनी या चिलकनी।

३६. चेंरई, जिसकी पूंछ सफेद बालों का चँवर जैसा गुच्छा हो।

३७. छिकबैया, कैंनेवाले।

३८. लक्खी, लाल के रंग की।

३९. अर्थ स्पष्ट है।

४०. लखैरी, लाख के रंग की, अधिक गहरी।

४१. अर्थ स्पष्ट है।

४२. बँदरी, बंदर के रंग जैसी भूरे रंग की। एक दूसरे अहीर के अनुसार जिसकी पूंछ का झोंरा लाल, बरौनी लाल तथा रोमावली लाल हो, यह अधिक ठीक जान पड़ता है।[1]

४३. बदक, बतख-जैसी छोटी।[2]

४४. बदासी, बादामी। दीना बतलाता है कि यह तो बतासी होना चाहिए।

४५. अर्थ स्पष्ट है।

४६. अर्थ स्पष्ट है।

१. ब्रज में बँदरी या बदरी—बादल के-से रंगवाली को कहते हैं।

२. बदक का अर्थ भी ब्रज में बिचकनेवाली होता है।

४७. पड़ई, पड़ेलू रंग की ।
४८. अर्थ स्पष्ट है ।
४९. छीमर, चितकबरी, विशेषकर जिसकी घाँटी (गर्दन) पर सफेद बुँदके हों ।
५०. छरकन, छरकनेवाली या बिचकनेवाली ।
५१. छिपट, एकहरे बदन की पतली । लकड़ी की पतली फंच को छिपट कहते हैं ।
५२. छबीली, सुंदर ।
५३. ५४. ५५. अर्थ स्पष्ट हैं ।
५६. बिचक, बिचकनेवाली । दुहते समय जो बिचक जाती है और दूध न देती हो । छरकन शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हो सकता है ।
५७. बगैली, बगला जैसी ।
५८. ५९. ६०. स्पष्ट हैं ।
६१. कनफर, जिसके कान कटे हों । कभी-कभी पहचान के लिये गाय के कान फाड़ डालते हैं ।
६२. करछल, करिया (काली) छालवाली । काले हिरन जैसी छालवाली ।
६३. तिलई, जिसके कान पर तिल हो ।
६४. ६५. अर्थ स्पष्ट हैं ।
६६. मुकटऊ, जिसके सींग एक दूसरे की ओर मुड़े हों । मुकुट जैसे सींगवाली ।
६७. खरई, जिसके सींग मोटे, कान बड़े हों (खरहा जैसे) अथवा जो खरहा जैसी छोटी ।
६८. हमेली, जिसकी गर्दन में शरीर से भिन्न रंग की कंठी (हमेल) सी पड़ी हो वह हमेली । हमेल एक गहना विशेष है जो हमारे बुंदेलखंड में भी पहना जाता है ।[1]
६९. बाघन, बाघ से बाघन ।
७०. लिबँया, लेनेवाले अथवा हाँकनेवाले ।
७१. ७२. अर्थ स्पष्ट हैं ।
७३. रोजी, रोज के रंग की ।
७४. राजन, राजा से बना है ।
७५. मरक या मरकू, मारनेवाली ।
७६. ७७. ७८. अर्थ स्पष्ट हैं ।
७९. गदूल, मोटी-ताजी, ठिनगी, जिसकी खाल मोटी हो । गदूल कमल की तरह का फूल होता है, जो पोखरों—तलैयों में पाया जाता है, कमल से छोटा । उस खिले हुए फूल की तरह गोल-मटोल, फूली हुई और ठिनगी के अर्थ में ।
८०. अर्थ स्पष्ट है ।
८१. हिन्नाई, जिसके हिरन-जैसे सींग हों अथवा जिसकी बनावट हिरन-जैसी हो । अथवा जिसके सींग खड़े हुए, सीधे अथवा थोड़े पीछे की ओर मुड़े हों ।
८२. झबूर या झबरू, बड़े और मुलायम बालवाली ।
८३. ८४. अर्थ स्पष्ट हैं ।
८५. सुरई, जिसकी पूछ सुरा गाय की तरह हो । चँवर जैसी पूछवाली ।
८६. सुकरतन, सुकृती का स्त्री-वाची सुकरतन । जो सीधी-सादी, संतोषी और अधिक दूध देनेवाली हो । स्वयं सुकरतन होने से जिसके रखने से पुण्य हो ।

[1]. **बुंदेलखंड में ही नहीं ब्रज का यह प्रमुख आभूषण है ।**

८७. डाँसी, इसका ठीक गुण-वाचक अर्थ समझ में नहीं आता। वैसे डाँस तो बड़े जंगली मच्छर को कहते हैं, जो बहुधा जानवरों को ही काटता है। संभव है यहाँ पर कोई दूसरा शब्द हो। जो दूसरे को बहुत सताता है उसे 'डाँस' कहते हैं। ऐसी दशा में सुरहिन, सुरई और सुकतरन के साथ एक डाँसी का होना भी आश्चर्य की बात नहीं, फिर भी शब्द खटकता है।

८८. ८९. चटकुल मटकुल चटकीली-मटकीली। बहुत चंचल (चटकीली) मटकनेवाली (मटकीली) बोल चाल में। जो लड़की काम करने में बहुत तेज़ हो, दौड़-दौड़ कर काम करती हो उसे चटकीली कहेंगे।

९०. उजरऊ, उजार करनेवाली। चोरी से खड़ी फसल चरनेवाली।

९१. बाँसी, जिसका बाँसा (नाक की हड्डी) लंबा उठा हुआ और मज़बूत हो।

९२. ९३. ९४. अर्थ स्पष्ट हैं।

९५. लासी, जिसके बदन पर लहसुन (काले तिल की तरह का बड़ा चिह्न) हो।

९६. ९७. अर्थ स्पष्ट हैं।

९८. भँड़ऊ, चोर।

९९. बतासी, बताशा से बतासी। प्यार का नाम।[1]

१००. सरूज, नदी विशेष के नाम पर।

१०१. सुपतू, सफ़ेद।

१०२. नरबद, सरजू की भाँति, नदी विशेष के नाम पर।

१०३. नागर, अर्थ स्पष्ट है।

१०४. घूँमर, यह शब्द घूँमर के स्थान पर घूँमर ही होना चाहिए। घूंमर, घूंम-घूंम कर चलनेवाली।

१०५. झूंमर, झूंम-झूंम कर चलनेवाली।

१०६. १०७. दरसन-सागर एक शब्द भी हो सकता है और दो अलग-अलग भी। अहीर लोग अच्छी नस्ल की बड़ी, सुडौल गायों के लिये दरसन[2] शब्द का प्रयोग करते हैं।

१०८. जमनी, अर्थ स्पष्ट है।

१०९. गुर्गी, छोटी।

११०. बंटी, बंटा से बंटी।

१११. बोड़न, देशी बड़े डील की गाय।

११२. मरगज, बड़ी भारी कम के अर्थ में।

११३. बागर, जो बगर जाती हो, झुंड से अलग हो जाती हो।

११४. मोर, अर्थ स्पष्ट है।

११५. मुनागर, ठीक गुण-वाची अर्थ समझ में नहीं आता। ऐसा जान पड़ता है कि मोर का अनुप्रास मिलाने के लिये उजागर या मुनागर की ध्वनि के सादृश्य पर कवि ने मुनागर शब्द यहाँ रख दिया है।

११६. घरैया, घर के लोग।

११७. लगीं, (गाँवें लगी स्याँम कों गारी) लेकर अथवा जोड़कर (श्याम का नाम लेकर गाती हैं)।

---

[1]. ब्रज में बतासी--बतासे जैसे रंगवाली (सफेद में कुछ पीलापन हो) को कहते हैं।

[2]. दरसन-दर्शनीय--देखने योग्य।

गोचारन के पद

राग-सारंग

टेरत, ऊँची-टेर गुपाल।
दूर जात गैयाँ भैया हो, सब मिल घेरौ ग्वाल।।
लै-लै नाम धूँमरी, धौरी, मुरली मधुर रसाल।
चढ़ि कदंब चहुँ-दिसि कों हेरत, अंबुज-नेंन-बिसाल।।
सुनत सबद सुरभी सँमुहानीं, उलटि पिछौरी चाल।
'चतुरभुज' प्रभु पीतांबर फेरचौ गोबरधँन-धर लाल।।

राग-पूर्वी

आगें गाय, पाछें गाय, इत गाय, उत गाय, गोबिंद कों गायँन में बसिवौई भावै।
गायँन के संग धावै, गायँन में सचु पावै, गायँन की खुर-रेंनु अंग-लपटावै।।
गायँन सों ब्रज छायौ, बैकुंठ हूँ बिसरायौ, गायँन के हित करि गिरि लै उठावै।
'छीतस्वाँमि' गिरिधारी, बिट्ठलेस-बपुधारी, ग्वारिया कौ भेष धरें गायँन-सँग आवै।।

हाँकत हटक-हटक, गाय रहीं ठठक-ठठक, गोकुल की गैल अति साँकरी।
जारी, अटारी, झरोखँन, मोखँन झाँकत दुरि-दुरि, ठौर-ठौर ते परत काँकरी।।
चंपकली, कुंदकली बरखत रस-भरी, तामें देखियत कछु लिखे हैं आँकरी।
'नंददास' प्रभु जहीं-जहीं द्वारें ठाढ़े होत, तहीं-तहीं बचन माँगत लटक-लटक जात—
काहू सों हाँ करी, काहू सों नाँ करी।।

राग-गौरी

आवै माई, ब्रज-ललनाँ-दुख-मोचँन।
गोधँन-संग क्वनित कर मुरली, सरद-कँमल-दल-लोचँन।।
कटि-तट लाल काछिनी काछें, ओढ़ें पीत पिछौरी।
आपँन हँसत हँसावत ग्वालँन, राग अलापत गौरी।।
तुलसी-पत्र पौहौप की माला, गुहि ग्वालँन पैहरावै।
बाल गुपाल नंदजू के ढोठा, मधुरी बेंनु बजावै।।
बरखत कुसुम देब-मुनि हरखत, मोहीं ब्रज की नारी।
"कृष्णदास' प्रभु रसिक-मुकटमनि, लाल गोबरधँन-धारी।।

मैया, या तें भई अबेर।
आवत भाजि गई इक गैया, जाइ धँसी-बँन फेर।।
दौरे ग्वाल सब वाके पाछें, पकरँन की करि आस।
चढ़ि-कदंब पीतांबर फेरचौ, आइ गई मो पास।।
मैं चुचकार पींठ-कर परस्यौ, लेंहड़े लई लगाइ।
बतियाँ सुँनत 'रसिक'-पीतम की, फूली जसुमति माइ।।

वे देखौ, आवत हैं गिरिधारी।
कछुक गाय आगें अरु पाछें, सोहत संग सखा री।।
खसि रही पाग-लटपटी सुंदर, अपने हाथ सँवारी।
मौंतिन की लर उर ऊपर दरकत औ बँन-माला री।।
अंग-अंग छबि उठत तरंगँन, कापै जात निहारी।
'श्री बिट्ठल गिरिधरँन' सबँन में, चाँह तिहारी न्यारी।।

——::०::——

रसिया की भाव-भूमि

श्री देवेंद्र सत्यार्थी

ब्रज की प्राचीन मौलिक परंपरा में 'रसिया' का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वैसे तो ब्रज में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। बालकों के खेल-गीतों में लोरी के स्वर घुले हुए प्रतीत होंगे। खेल-गीतों में स्वर कंपन से कहीं अधिक विशेषता रखते हैं। जीवन के अनेक चित्र जो शृंखलाबद्ध न होते हुए भी बालक का दृष्टिकोण बड़ी सफलता से हमारे संमुख प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसे गीत भी मिलेंगे जो व्रत और पूजा से संबद्ध हैं। देवी और माता के भजन; तीर्थ और पर्व-स्नानादि के गीत; त्योहारों के गीत; धोबियों, कुम्हारों और मछेरों आदि विभिन्न-वर्गों के गीत; कड़खे और जिकड़ी के भजन; सावन में झूले के गीत—यह सब सामग्री ब्रज-लोक-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। विवाह के गीत तो इतने विस्तृत हैं कि इनके साथ विवाह की एक-एक क्रिया गुँथी हुई है। बालक के जन्म पर गाये जानेवाले सोहर की भी ब्रज में कुछ कमी नहीं। होली की फागों के लिए तो ब्रज विशेष रूप से प्रसिद्ध ही है, पर सच पूछो तो ब्रज के 'रसिया' की अपनी ही विशेषता है।

"रसिया की क्या बात है।" ब्रज के एक लोक-गीत-प्रेमी ने हँसकर कहा था, "जब आप रसिया सुनेंगे तब और सब गीत भूल जायँगे।"

"रसिया की प्रशंसा पीछे कीजिए", मैंने उत्सुक होकर कहा था,—"पहले यह प्रबंध कीजिए कि कोई गायक 'रसिया' गा-गाकर मेरी झोली भर दे।"

"यहाँ आप को असंख्य 'रसिया' मिलेंगे, जितने चाहो लिखते चले जाओ।"

"रसिया शब्द ही को लीजिए, कितना प्रिय है। नाम से तो यही सूचना मिलती है कि इस गीत में इसका झरना बहता है।"

उस लोक-गीत-प्रेमी के साथ हुई बातचीत आज भी मानस-पटल पर अंकित है। 'रसिया' की रस-सिद्धि के लिए यह तो आवश्यक है कि किसी अच्छे 'रसिया'-गायक की सहायता ली जाय, जिसके गले से रसिया के बोल पूर्ण प्रतिष्ठा और आस्था के साथ संगीत-लहरियों पर उड़ सकें। मुझे याद है किस प्रकार मेरा वह मित्र स्वयं ही रसिया गाने बैठ गया था, किस प्रकार उसने पंक्ति पर पंक्ति बैठाने की कला दिखा कर मुझे मंत्र-मुग्ध कर दिया था।

इससे पहले दो-चार ऐसे व्यक्ति भी मुझे मिल चुके थे जो 'रसिया' के नाम से ही बिदकते थे। उन्हें यह शिकायत थी कि 'रसिया-गायक', प्रायः अश्लीलता पर उतर आते हैं और बस चलते वे मर्यादा का उलंघन करने से नहीं चूकते और इसी लिए भले लोगों की गोष्ठी में रसिया नहीं गाया जा सकता। यह अच्छा ही हुआ कि मैंने यहं सब सुनकर भी 'रसिया' के प्रति किसी प्रकार की अवहेलना को अपने मन में स्थान नहीं दिया था।

अब रसिया सुनने को मिला तो मैंने देखा कि जैसे सभी लोक-गीत अपनी मर्यादा स्वयं स्थिर करते हैं, रसिया भी स्वयं आगे बढ़ता है। मुझे इस परिणाम पर पहुँचते देर न लगी कि रसिया की विशेषता उसकी सर्वांग सुंदरता में है। यह सत्य है कि रसिया के स्वर कभी-कभी इतने चंचल हो उठते हैं कि उन्हें किसी भी मर्यादा की दीवारें अपने भीतर बंद नहीं कर सकतीं।

'रसिया' के हृदय-स्पर्शी स्वरों की उठान इसकी सुंदरता की प्रतीक है। जी हाँ, 'रसिया' आनंद-विभोर मन की वाणी है और दैनिक जीवन ही इसका धरातल है।

जहाँ तक रसिया की भाव-भूमि का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि स्नेह-धारा और शृंगार-प्रियता ही इसकी विशेषताएँ हैं। विश्व के लोक-संगीत में प्रेम-गीत अपना अलग स्थान रखते हैं और इस क्षेत्र में ब्रज का रसिया किसी भी देश के प्रेम-गीतों से पीछे नहीं। रसिया-गायक एक प्रेमी के रूप में ही शब्दों और स्वरों में तारतम्य स्थापित करता है।

'रसिया' की एक और विशेषता है, इसकी चित्र-सुलभ शैली। हो सकता है कि दो-चार अस्त-व्यस्त-सी रेखाओं में ही पूरा चित्र प्रस्तुत करने का यत्न किया गया हो। भाषा और भावों का जो-जो ओज रसिया में मिलता है, वह ब्रज के लोक-संगीत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। साधारण शब्दों में भी जैसे रसिया के स्पर्श से नये अर्थों का संचार हो उठता है।

रसिया-गायक आगे बढ़कर प्रेयसि के संमुख पहुँचने के लिए उत्सुक रहता है। वह अपने मन पर किसी की अवहेलना नहीं जमने देता। स्नेह ही रसिया का मूल-स्वर है और यही उसकी समूची भाव-धारा पर छाया रहता है। प्रत्येक रसिया-गायक से यही स्वर निकलता है कि स्नेह ही महान् है और स्नेह का पक्ष छोड़कर मानव का कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता।

रसिया की प्रशंसा करते समय बात को रत्ती-भर भी बढ़ा कर कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि रसिया का प्रत्येक बोल कुछ न कुछ नवीनता लिए रहता है; यही नवीनता चित्र में रंग भरती है; यही नवीनता रसिया की भाव-भूमि पर बार-बार मचल उठती है।

रसिया के बोल जब एक बार वातावरण में गूंज उठते हैं तो यह प्रतीत होता है कि चतुर्दिक् रसिया का आधिपत्य हो गया है—

१. "उठीऐ ज्वाँनी या ढब ते, जैसें आँधी में भबूड़ों बल-खाइ !"
२. "मेरे इन हाथँन की मेंहदी, काऊ दिन सुपनों है जाइगी !"
३. "हेल मो पै गोबर की, लडुआ काहे कूँ दिखावै लंबरदार !"
४. "चना के लडुआ चों लायौ, मेरे पीहर में जलेबी रसदार !"
५. "लंबरदार की लुगाई, तो ते राम डरपै !"
६. "तेरौ खसँम दरोगा, अब डर काहे कौ !"
७. "बंबे पै बोली तीतरिया, तू बन परवाइवे कब जाइगी ?"
८. "मँझोली न लइयौ,[1] मेरौ गूंठौ पाँमन जाइ !"
९. "चिलकने गोटे पै, तेरौ सब जोबन लैहराइ !"
१०. "तेरे मंदे बाजें बीछिया, बदलवाइ लै !"
११. "बैठक पोखर पै बनवाइ दै, कलाबती के दादा !"
१२. "कोंधनी सोंने की, बनवाई दै दावेदार !"
१३. "मेरी रातँन जरी मसाल, बगद गयौ पुल पै ते !"
१४. "गैंलऊआ गोला दै जैयो, कैरी[2] हरिअल पक रही ज्वार !"
१५. "लपट आवै निबुअँन की, रस बगिया कितनी दूर !"
१६. "अँगिया गोटादार, भूलि आई जंगल में !"
१७. "पदमा पुजारिन बन बैठी, तुलसी के पात चबाइ !"
१८. "बछेरी डोलै पीहर में, जा पै को होइगौ असवार !"

[1] पाठांतर—मँझोली ना लायौ, अथवा—मँझोली चों ना लायौ।
[2] " —कैसी।

१६. "बल्मा झोक लगै लटकँन की, मो पै अटा चढचौ ना जाइ !"
२०. "हरे की अँगिया जो पैरै, जाइ रीझैं लंबरदार !"
२१. "घटा गई पीहर कूँ, परमेसर है गई माँदी !"
२२. "लंबरदारी में लगाइ दै बैरी आग, परेला लै दै कांचन कौ !"

ये सब रसिया के आरंभिक बोल हैं जो ब्रज के वातावरण में सदैव तैरते रहते हैं। कुछ लोग तो टेक ही में उलझकर रह जाते हैं, परंतु रसिया का पूरा रस पूर्ण रूप में ही पनपता है। रसिया के चार पूरे उदाहरण भी लीजिए—

२३. "तू भँवर बन्यौ बैठचौ रहिओ, चल बस मेरे प्यौसार !"
घोड़ी लै दऊँ नाँवनी, हरचौ बनाती जींन।
—चल बस मेरे प्यौसार !
नथ के गढाइ दऊँ गोखरू, खनवारे की छल्ला छाप ।।
—चल बस मेरे प्यौसार !
दही जमाऊँ भूरी भेंस कौ, औउ पुरा भर खाँड।
—चल बस मेरे प्यौसार !
चंदन-चौकी पै बैठनौं, औउ अँचरन ढोरू बियार ।।
—चल बस मेरे प्यौसार !"

❀

२४. "लै आए हमारे महाराज, आज हमें छल करकें !
ए सइयाँ, तेरे राज में कबहूँ न पैरी चूरियाँ, कलइयाँ भर-भर कें,
लै आए हमारे महाराज, आज हमें छल करकें !"

❀

२५. "कारी चूँदरिया रँगाइ दै, मेरौ जोबन लच्छेदार !
जब ते आई तेरे घर में, गुजर करी टूटे छप्पर में ;
ना देखे तेरे महल तिवारे, ना सोई पलंग-निवार।
—मेरौ जोबन लच्छेदार !"

❀

२६. "ज्वाँनी सरर-सरर सर्रावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !
अँगरेजन कौ राज, जैसें उड़ै हवाई जहाज !
ज्वाँनी सरर-सरर सर्रावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !
काजर दै में का करूँ, मेरे वैसेंई नेंन-कटार !
ज्वाँनी सरर-सरर सर्रावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !

❀

जाते मिल जाइ निगाह, वुही मेरौ है जाइ ताबेदार !
ज्वाँनी सरर-सरर सर्रावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !

❀

उमर-खिंचे पै कोई न पूंछै, ज्वाँनी कौ संसार ;
ज्वाँनी सरर-सरर सर्रावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !"

ब्रज के रसियों का विस्तृत अध्ययन किया जाना चाहिये। क्या यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई माई का लाल ऐसा भी निकलेगा जो सैकड़ों नहीं, हजारों रसिया-संग्रह करने के पश्चात् इन पर एक ग्रंथ लिखने का व्रत पूरा करे ?

मैं यह भी आशा करता हूँ कि रसिया के संगीत-पक्ष को भी भुलाया नहीं जायगा। यह व्यवस्था होनी चाहिए कि चुने हुए रसिया-गीतों के रेकार्ड भर लिए जायँ, पर जहाँ तक रसिया की भाव-भूमि का संबंध है, इसमें इतनी शक्ति अवश्य है कि वह आधुनिक कवियों को भी प्रेरणा दे सके और उनकी थकी, हारी प्रतिभा को अगली मंजिल तक ले चले।

मेरा आग्रह है कि रसिया की शक्ति का साहित्यिक मूल्यांकन किया जाय। कोई कारण नहीं कि आधुनिक हिंदी-कविता में रसिया की शैली और भाव-भूमि से प्रेरणा न ली जाय। आधुनिक चित्रकला में यामिनीराय नें बंगाल की लोक-कला के प्राण-तत्त्व फिर से स्थापित करने में मार्ग-प्रदर्शन का महान् कार्य किया है। कविता के क्षेत्र में भी हम लोक-गीतों से ऐसी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।

रासलीला का उदय और विकास

श्री रामनारायण अग्रवाल

ब्रज की रस-सिक्त भूमि में रसिक-शिरोमणि लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला का आरंभ किया, यह सभी स्वीकार करेंगे। हरिवंशपुराण जिसे कि विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से सब पुराणों में अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीनतम स्वीकार किया है, भगवान् कृष्ण की सरसर रासलीला के वर्णन से युक्त है। हरिवंशपुराण के द्वितीय पर्व के बीसवें अध्याय "हल्लीसक क्रीड़नं" में भगवान् कृष्ण की रासलीला का कलात्मक विवरण उपलब्ध है। ब्रज के सघन वन में शरद्-पूर्णिमा की ज्योत्सना-मयी छबि ने रसिक-शिरोमणि के हृदय में रास-क्रीड़ा की प्रेरणा की थी, यह १५ वें श्लोक से स्पष्ट है। हरिवंशकार कहता है—

"कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चंद्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति।।"

और इसके उपरांत ग्रंथ में रासलीला के लिये गोपिकाओं के आगमन और रासलीला का सरस वर्णन हुआ है।

भगवान् कृष्ण द्वारा रासलीला के आरंभ की यह बात समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य और कलात्मक वातावरण में इतनी रम गई थी कि प्राचीनतम अनेक साहित्यकारों और आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। यही नहीं अजंता की कंदराओं में रास के ही हल्लीशक[1] रूप का एक चित्र मिला

१. "ब्रज की लोक-संस्कृति" पुस्तक के ब्रज की कला—स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र तथा संगीत अध्याय में पृ० १४२ पर पं० श्रीकृष्णदत्त जी वाजपेयी ने लिखा है कि रास का पूर्व रूप हल्लीसक नृत्य है। उनके इस कथन के प्रति आदर रखते हुए हमारा मत है कि 'हल्लीसक नृत्य' रास का ही एक भेद था, उसका पूर्व रूप नहीं। भरतमुनि ने 'रासक' के जो तीन भेद—१. ताल रासक, २. दंड रासक और ३. मंडल रासक किये हैं, उनमें से हल्लीशक नृत्य, 'मंडल रासक' अथवा उसका एक रूप ही है, उसका 'रासक' से भिन्न अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं माना जाना चाहिये। हमारे इस कथन की पुष्टि स्वयं उक्त लेख में दिये हुए श्री वाजपेयीजी के ही उद्धरणों से हो जाता है। वत्स्यायन के कामसूत्र में लिखा है—"हल्लीशक क्रीड़नकैर्गायनैर्नाट्य रासकैः"। अंतर केवल यह है कि जिसे भरतमुनि ने मंडल रासक कहा है उसे वात्स्यायन 'नाट्यरासक' कहते हैं, परंतु कामसूत्र पर की गई टीका से ज्ञात होता है कि वात्स्यायन ने संभवतः इस रासक को 'नाट्यरासक'—किसी गीत विशेष के गाये जाने के कारण लिखा है, जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में प्रचलित था—"नाट्यरासकैरन्योयदेशीयैः तेषां श्राव्यत्वाद् गीत विशेषणमेतत्।" हो सकता है कि यह 'नाट्यरासक' भरत के 'मंडल रासक' का बाद में विकसित कोई उपभेद हो, जो किसी गायन विशेष के आधार पर कर दिया गया होगा, परंतु इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि "हल्लीशक नृत्य" रास या रासक का ही एक रूप था। यशोधर ने अपनी टीका में स्पष्ट रूप से हल्लीशकनृत्य का वर्णन यों किया है—

"मंडलेन च यत्स्त्रीणां नृत्यं हल्लीसकं तु तत्। नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः।।"

यह श्लोक मानो यह घोषणा करने के लिये ही रचा गया है कि हल्लीसक नृत्य मंडल रासक से भिन्न नहीं था।

है जो यह सिद्ध करता है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी कलाकार इस ओर आकर्षित थे और उस समय भी लोग रास-नृत्य का आयोजन करके भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा संस्थापित रास-रस का आस्वादन करते थे।

संस्कृत-साहित्य में रास के लिये 'रासक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईसा की पहली शताब्दी में विद्यमान नाटचशास्त्र के आदि आचार्य 'भरतमुनि' ने अपने प्रसिद्ध 'नाटच-शास्त्र' में 'रासक' का उपरूपकों में उल्लेख किया है। यह रासक साहित्यदर्पणकार के मत से एक अंक में समाप्त होनेवाला नाटक है, परंतु इसकी यह परिभाषा तो इसके विकास-काल की है। आचार्य भरत ने तो रासक के तीन भेद निम्न प्रकार बतलाये हैं—

"तालरासक नामस्यात् तत्रेधा रासकंस्मृतम्।
दंडरासमेकंतु तथा मंडल रासकम्॥"

इस प्रकार 'रासक' या रास के भरतमुनि ने तीन भेद किये हैं—(१) ताल रासक, (२) दंड रासक (जिसे कहीं-कहीं लकुट रासक भी कहा गया है) तथा (३) मंडल रासक। हमारा विश्वास है कि यह रासक शब्द रास से भिन्न नहीं है, क्योंकि इसके यह तीनों भेद आज भी ब्रज के रास में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। वर्तमान रास में तीनों का सुंदर समन्वय है, जैसा कि हम ने आगे उल्लेख किया है, परंतु रास का मूलाधार इतना दृढ़ होने पर भी प्राचीन साहित्य में ऐसे वर्णन नहीं मिलते जिससे रासलीलाओं के मंच पर लाये जाने की किसी प्रकार की परंपरा या शृंखला का पता लगता हो। यों तो यदा-कदा शायद कहीं रास के आयोजन होते रहे होंगे, परंतु रास के लिये एक व्यवस्थित रंगमंच तैयार करने का कोई शृंखला-बद्ध उद्योग कहीं नहीं हुआ और अंततोगत्वा ब्रज में ही रास के रंगमंच की स्थापना का सफल प्रयास किया गया। यह सब क्यों और कैसे हुआ? इसका इतिहास भी बड़ा रोचक और रहस्य-रंजित है।

अब से कई सौ वर्ष पूर्व ब्रज के कलाकारों ने रसिक-शिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण की ललित लीलाओं का अमृत-रस सर्वसाधारण को वितरित करने के लिये इस कलामय ब्रज-भूमि में रासलीलाओं का रंगमंच स्थापित करने का संकल्प किया था, जो आज ब्रज की मधुरिमा का संदेश घर-घर पहुँचाता हुआ ब्रज-संस्कृति के सजीव रूप में विद्यमान है। इन रासलीलाओं का आरंभ यद्यपि धार्मिक उद्देश्य से हुआ था, परंतु ब्रज की लालित्यमयी भूमि और सुरुचि-संपन्न कलाकारों ने इसमें तत्कालीन ब्रज-संस्कृति, कला (जिसमें संगीत का प्राधान्य था) और नाटकीय तत्त्वों का सुंदर संमिश्रण कर के इसे लोक-जीवन के इतने निकट ला दिया कि आज भी ब्रज की जनता का अनुराग इस पर ज्यों का त्यों बना हुआ है।

पूर्व-इतिहास

रास का आरंभ कब और किसके द्वारा हुआ, यह प्रश्न सांप्रदायिक मनोवृत्तिवाले कुछ साधुओं ने बड़े झमेले का विषय बना दिया है। उस विषय की मीमांसा में जाना हमें न तो अभीष्ट ही है और न आवश्यक ही। रास के आरंभिक इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला कोई प्राचीन ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं है, अन्यथा बहुत-सी भ्रांत-धारणाओं को प्रश्रय ही न मिलता। कुछ ग्रंथों में यत्र-तत्र रास का नामोल्लेख मिलता है। स्वर्गीय श्री राधाकृष्णजी ने जो स्वयं ब्रज की एक प्रसिद्ध रास-मंडली के संचालक थे, 'रास-सर्वस्व' नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका प्रस्तुत की थी। वर्तमान समय में केवल इस पुस्तक से ही रास के संबंध में कुछ अपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है।

रास के आरंभ के संबंध में पर्याप्त छानबीन कर के हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रास संवत् १६०० से पूर्व ब्रज में प्रचलित हो चुका था। यह किंवदंती ब्रज के सभी रासधारियों में प्रचलित है कि 'मथुरा के विश्रांतघाट पर रास के आरंभ का सर्वप्रथम निश्चय श्री वल्लभाचार्य जी तथा स्वामी हरिदास जी द्वारा किया गया और माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण भक्तों से आठ बालक माँगकर वहीं

रास का शुभारंभ हुआ। आचार्य जी द्वारा रास का मनोरथ करने पर आकाश से एक मुकुट उतरा और भगवान् कृष्ण के अभिनेता के मस्तक पर इसे धारण कराया गया, किंतु रास में से भगवान् कृष्ण बननेवाले स्वरूप के लोप हो जाने के कारण यह रास पूर्ण न हो सका। और श्री वल्लभाचार्य व स्वामी हरिदासजी ने 'घमंडदेवजी' को फिर से रासमंडली के नये संगठन की आज्ञा दी। तब श्री घमंडदेवजी ने करहला जाकर 'उदयकरण' और 'खेमकरण' नामक दो ब्राह्मणों की सहायता से रास का आरंभ किया।"[1] कहा जाता है कि रासलीलाओं के आरंभ के समय ही करहला में एक मुकुट का मंदिर स्थापित हुआ, जो अभी तक वर्तमान है और उसमें उसी मोर-पंखों के मुकुट के अवशेष रखे बतलाये जाते हैं, जो रासलीला के आरंभ के समय धारण कराया गया था। रासधारियों का यह विश्वास है कि यह मुकुट कलियुग के कारण एक तिल नित्य लोप होता जाता है और जब यह एकदम लोप हो जायगा तो घोर कलियुग आ जायगा और रासलीला की यह परंपरा समाप्त हो जायगी। इसी मंदिर में एक ताम्र लेख है, जिसमें करहलावालों को रास का अधिकारी कहा गया है। यह अधिकार-पत्र भी श्री घमंडदेवजी का माना जाता है।

रास सर्वस्वकार ने भी अपने ग्रंथ में उक्त घटना को प्रामाणिक मानकर इसका उल्लेख किया है, किंतु उसने श्री वल्लभाचार्यजी का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया। केवल विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्य कहकर उनकी ओर अस्पष्ट संकेत मात्र किया है, किंतु स्वामी हरिदासजी का नाम रस के प्रेरक के रूप में उसने स्पष्टता से लिखा है। उसने लिखा है कि "ललिता सखी के अवतार स्वामी हरिदासजी को महल से रास-रस प्रगट करने की आज्ञा हुई, तब उन्होंने मथुरा आकर विष्णुस्वामी-मत के पोषक आचार्यजी से, जो उस समय विश्रांतघाट पर रह रहे थे, सहमति लेकर माथुर भक्तों से आठ बालक माँगे। स्वयं आचार्यजी ने भगवान् कृष्ण और हरिदासजी ने राधा बननेवाले स्वरूप का श्रृंगार किया। इसी समय आकाश से मुकुट उतरा और रासलीला का आरंभ हुआ, किंतु भगवान् कृष्ण के अभिनेता के अंतर्ध्यान हो जाने से हरिदासजी ने स्वयं रास करने का विचार त्याग कर श्री घमंडदेवजी को पुनः रास आरंभ करने को कहा और फिर घमंडदेवजी ने करहला जाकर 'उदय-करण' और 'खेमकरण' नामक ब्राह्मणों की सहायता से रास की वर्तमान परंपरा चलाई।" इस कथन के अतिरिक्त भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादासजी ने भी कई स्थलों पर श्री हरिदासजी के रासलीला से संबंधित होने का उल्लेख किया है, जिससे हरिदासजी का रास से संबंध होना और अधिक प्रमाणित हो जाता है। प्रियादासजी ने कहा है—

"रतन सुदेसमयी अवनि निकुंज धाम, अति अभिराम पिय-प्यारी-केलि-रास है।"

तथा—

"स्वामी हरिदास रसरास को बखान सकै, रसिकता की छाप जोई जाइ मध्य पाईऐ।"

उक्त उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उक्त किंबदंती कल्पना नहीं है। स्वामी हरिदासजी और वल्लभाचार्यजी का रास से अवश्य ही संबंध रहा होगा। बाल-लीलाओं का रास में प्राधान्य होना और अब तक ब्रज की श्रेष्ठ रासमंडली को श्रीनाथजी का मुकुट प्रदान किए जाने की प्रथा भी यह प्रगट करती है कि वल्लभाचार्यजी का रास की स्थापना में सहयोग था।

श्री वल्लभाचार्यजी की जीवनी से यह पता लगता है कि आप संबत् १५४८ में ब्रज आये और मथुरा में विश्रांतघाट पर ठहरे थे[2], अतः रास का आरंभ अवश्य इसी समय हुआ होगा। यदि रास इसके बाद भी आरंभ हुआ हो, तब भी वह संबत् १५८७ से पूर्व अवश्य आरंभ हो चुका होगा, क्योंकि यह वर्ष ही श्री वल्लभाचार्यजी का निर्वाण-काल है।

१, देखिये, ब्रज-भारती वर्ष १ अंक ४ श्रावण १९९८ वि० में पृष्ठ १२ पर प्रकाशित लेख।

२. देखिये, काँकरौली का इतिहास पृ० ३१।

आचार्य शुक्लजी ने स्वामी हरिदासजी का कविता-काल भी अनुमान से संवत् १६०० से १६१७ तक माना[1] है, अतः वह भी अवश्य ही संवत् १५५० के लगभग वृंदावन में विद्यमान रहे होंगे। कौन जानता है कि रासलीला के प्रादुर्भाव ने ही हरिदासजी जैसे महान् संगीतज्ञ को संवत् १६०० के लगभग स्वयं काव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान की हो। उक्त तथ्यों के आधार पर ही हमारी धारणा है कि अधिक से अधिक ब्रज में संवत् १६०० तक अवश्य ही रास प्रचलित हो चुका होगा, क्योंकि २०-२५ वर्ष के अवकाश काल में श्री घमंडदेवजी ने रास का आरंभिक रूप अवश्य निश्चित कर लिया होगा, परंतु श्री 'ग्राउस महोदय' ने श्री 'नारायणभट्ट' को रास का आरंभकर्त्ता कहा है। यह ठीक है कि रास के विकास में नारायणभट्ट जी का भाग बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनके संप्रदायवालों ने उनको अपने कुछ सांप्रदायिक ग्रंथों में रास का आरंभकर्त्ता भी कह दिया है, जिसके आधार पर कुछ महानुभावों को प्रायः भ्रम हो जाता है।[2] शायद ग्राउस महोदय भी कुछ ऐसी ही पुस्तकों के आधार पर अपने 'मेमोयर' में निम्न वाक्य लिख गये हैं—

"..... It was disciple Narayan Bhatt who first established the Banjatra and Raslila......"

किंतु यदि रासलीला के आरंभकर्त्ता श्री नारायणभट्टजी को माना जाय तब रास का आरंभ संवत् १६०० के बाद मानना होगा, क्योंकि स्वयं भट्टजी संवत् १६०२ में ब्रज आये थे। यहाँ आने पर ही तुरंत रास की स्थापना कर देना दक्षिण से आये हुए किसी भी व्यक्ति द्वारा संभव न था। पहले तो उन्हें यहाँ जमने के लिये ही कम से कम ४-५ वर्ष का अवकाश आवश्यक हुआ होगा, फिर वल्लभाचार्यजी का निधन सं० १५८७ में हो चुका था। यदि नारायणभट्टजी को रास का संस्थापक माना जाता है तो फिर वल्लभाचार्यजी से उसके संबंध का कोई सामंजस्य सिद्ध नहीं होता। कुछ महानुभाव 'भक्तमाल' के आधार पर रास के आरंभकर्त्ता श्री नारायणभट्टजी को कहते हैं, परंतु श्री नाभादासजी ने स्वयं भट्टजी के रास से संबंधित होने का कोई उल्लेख नहीं किया है। प्रियादासजी ने अपनी टीका में केवल यही कहा है कि नारायणभट्टजी ने—

"ठौर-ठौर रास के बिलास लै प्रवास किए,... ।"

इसका अर्थ हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यही है कि इन्होंने स्थान-स्थान पर रास के विलास (रास-स्थल) स्थापित कराये। इस उल्लेख से भी यही प्रकट होता है कि रास ब्रज में पहले ही प्रारंभ हो चुका होगा, जिसके प्रचार की ओर ध्यान देकर भट्टजी ने स्थान-स्थान पर रास-मंडल बनवाये होंगे। यदि रास उस समय प्रचलित न होता तो रास-स्थल बनवाने की उन्हें इतनी शीघ्रता न होती, परंतु चाहे भट्टजी रास के संस्थापक न हों फिर भी रास के उत्थान और विकास में भट्टजी की रास के प्रति सेवाएँ रास के संस्थापकों से भी अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण हैं। रास-सर्वस्व से प्रतीत होता है कि भट्टजी ने रास का सारा ढाँचा ही बदल दिया था और उसे केवल संगीत-मात्र ही न रख कर अभिनय का रूप भी आपने ही दिया था। उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख हम आगे करेंगे।

दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक प्रयत्न करने पर भी श्री घमंडदेवजी के जीवनवृत्त की उचित शोध नहीं लग सकी है। जनश्रुति के आधार पर केवल यही निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वे रासलीलाओं के संस्थापक थे। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि करहला गाँव से भी श्री घमंडदेवजी का निकट का संपर्क था और कदाचित् उनकी मृत्यु भी वहीं हुई थी, अन्यथा उनकी

[1]. देखिये, आचार्य शुक्लजी का हिंदी-साहित्य का इतिहास (संवत् १९९१ का संस्करण, पृष्ठ २०८।

[2]. देखिये, ब्रज-भारती वर्ष ४ अंक ४, ५६ संवत् २००३ वि० के पृष्ठ ६ पर प्रकाशित 'नारायण भट्ट' शीर्षक लेख।

समाधि जो अद्यावधि करहला में वर्तमान है, वहाँ न बनाई जाती। रासलीला को करहला जाकर आरंभ करना भी यह सिद्ध करता है कि करहला से उनका अवश्य ही निकट का संपर्क था। कुछ रासधारियों का मत है कि करहला ही घमंडदेवजी का जन्म-स्थान भी है, परंतु कुछ निंबार्क-संप्रदायी सज्जन उनका जन्मस्थान पंजाब को बतलाते हैं। पंजाब में निंबार्क-संप्रदाय के अंतर्गत घमंडदेवजी द्वारा संस्थापित कुछ प्रसिद्ध गद्दियाँ भी हैं, किंतु यह भी अभी शोध का ही विषय है कि करहलावाले घमंडदेवजी और पंजाबवाले घमंडदेवजी एक ही महानुभाव थे या पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। यहाँ हमें इस विवाद में जाने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी हम इस संबंध में इतना तो कह ही सकते हैं कि हमारी रास-लीलाओं के जनक घमंडदेवजी सं० १५४८ के लगभग अवश्य वर्तमान रहे होंगे, अतः यदि वह नारायण भट्ट के पूर्ववर्ती नहीं भी हों तो भी उनसे वयोवृद्ध अवश्य थे। हमारा अनुमान है कि घमंडदेवजी की मृत्यु नारायणभट्टजी के आगमन से पूर्व ही हो चुकी थी, अन्यथा नारायणभट्टजी रास के विकास और संस्कार में अवश्य ही उनका सहयोग प्राप्त करते, किंतु उसका उल्लेख 'रास-सर्वस्व' तथा अन्य ज्ञातव्य-सामग्री में नहीं होता है।

जैसा उल्लेख है कि घमंडदेवजी ने करहला निवासी खेमकरण तथा उदयकरण के सहयोग से रास का आरंभ किया और तभी से करहला गाँव (जो पुराणों में राधिकाजी की अनन्य सहचरी ललिता जी की जन्मभूमि के नाम से उल्लिखित है[1]) रासलीला का केंद्र बना और आज भी है। जब नारा-यणभट्टजी ने रास को शास्त्रीय रूप दिया तो उन्हें भी करहला के ब्राह्मण 'रामराय' और 'कल्याणराय' का सहयोग लेना पड़ा था।

इस विवरण से भी यही प्रगट होता है कि घमंडदेवजी ही नहीं वरन् उनकी पीढ़ी के उदय-करण और खेमकरणजी, नारायण भट्टजी के ब्रज आते-आते अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे, अन्यथा श्री नारायणभट्ट को करहला के ही दूसरे ब्रह्मणों को अपने सहयोग के लिये बुलाने की आव-श्यकता न पड़ती।

यह सोचना भी भ्रमपूर्ण है कि श्री नारायणभट्टजी ने किसी ईर्ष्या या द्वेष के कारण इन लोगों का सहयोग न लिया होगा, क्योंकि वे अत्यंत ही निस्पृही भगवद्भक्त-विभूति थे। साथ ही यदि वह किसी ऐसी भावना से प्रेरित होकर कुछ व्यक्तियों की उपेक्षा करते भी तो उपेक्षित लोगों का एक पृथक् विरोधी दल अवश्य ही उनके विरुद्ध उठ खड़ा होता, जैसे कुछ समय पहले ही दायें-बायें मुकुट के एक व्यर्थ के विवाद को उठाकर ही रासधारियों में घोर द्वंद हो चुका है, परंतु उस समय ऐसी किसी भावना का आभास तक नहीं मिलता। श्री नारायणभट्टजी को तो ब्रजवासी मात्र का सहयोग रास के विकास के लिये प्राप्त हुआ था।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि आज से लगभग ४५० वर्ष पूर्व कला के विकास की दृष्टि से ब्रज में यह कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण हुआ। जिस प्रकार ब्रह्माजी ने ऋग् से पाठ, साम से गायन, यजु से अभिनय और अथर्व से रस लेकर संस्कृत-साहित्य में नाट्य-शास्त्र का पंचम वेद बनाया ठीक उसी प्रकार से ही ब्रज के कलाकारों ने भी भागवत से प्रेरणा, अष्टछाप से गायन, अनुभवी कलाकारों से अभिनय और रसिक शिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण के जीवन से रस लेकर ब्रज-संस्कृति का अमर संदेश घर-घर वितरित करने के लिये 'रासलीला' को अवतीर्ण किया।

श्री घमंडदेवजी के बाद सन्-संबत्वार रास के संस्थापकों का उल्लेख रास-सर्वस्वकार ने किया है। कहते हैं कि घमंडदेवजी के साथी उदयकरण और खेमकरण के बाद 'उदयकरण' के पुत्र 'विक्रम' ने रासलीला की बागडोर सँभाली और रास का चमत्कार दिखाकर न केवल औरंगज़ेब को ही चकित किया वरन् बाद में महाराज जयसिंह को भी प्रभावित कर के करहला के रासधारियों के

१. श्री ललिताजी की जन्म-भूमि करहला नहीं 'रीठौरा' ग्राम है, जो बरसाँने के निकट है।

मकान पक्के बनवाये, जो अब भी वहाँ वर्तमान हैं और 'झूलावारा' मंदिर तथा 'रास-चोंतरा' भी उक्त महाराज से ही बनवाकर अपने आप को 'महल-हवेलीवाले रासधारियों' के नाम से विख्यात किया। इन महल-हवेलियों के खंडहर और उन रासधारियों के वंशज अब भी करहला में विद्यमान हैं और यह अब भी 'महल-हवेलीवाले रासधारी' कहे जाते हैं, परंतु इसके बाद ही भ्रष्टाचार फैल जाने के कारण करहला के रास का प्राचीन गौरव छिन्न-भिन्न हो गया, जो फिर से बिहारीलाल ब्राह्मण (रास-सर्वस्वकार के पिता) द्वारा स्थापित किया गया। ग्रंथ में इन घटनाओं का जो काल दिया गया है, उनका विवेचन स्थानाभाव के कारण यहाँ उचित न होगा फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि 'रास-सर्वस्व' में घटनाओं का जो समय दिया गया है वह अधिकांशतः अनुमान पर ही आधारित प्रतीत होता है। करहला रास का मुख्य गढ़ रहा है, यह उस गाँव के वातावरण से ही स्पष्ट लक्षित होता है, परंतु कालांतर में उसने उसके विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया। वास्तव में उसके व्यापक प्रचार, मौलिक सुधार तथा विकास का सारा श्रेय श्री नारायणभट्ट और उनके परिकर को ही है।

हमारा अनुमान है कि ब्रज में आकर श्री नारायणभट्ट ने रास का जो स्वरुप प्रचलित देखा वह उन्हें अधिक आकर्षक प्रतीत नहीं हुआ। भट्टजी ने करहला के ही दो ब्रह्मण 'रामराय' और 'कल्याणराय' के अतिरिक्त बादशाह की सेवा से अवकाश प्राप्त सुप्रसिद्ध नर्त्तक 'वल्लभ' के सहयोग से रास को शास्त्रीय रूप देकर प्रचलित किया और रास के नव विकास की योजना बनायी। रासलीलाओं की इस शास्त्रीय परंपरा का आरंभ इस बार बरसाने की रस-सिक्त भूमि से—जो करहला के अति निकट रासेश्वरी राधिकाजी का प्रसिद्ध स्थान है, से हुआ। इन रासलीलाओं के आरंभ की स्मृति अब भी बरसाने में प्रत्येक भाद्रपद मास में राधा-अष्टमी के पुण्य-पर्व पर "बूढ़ी लीलाओं" के मेले के रूप में समस्त ब्रजवासियों द्वारा बड़ी श्रद्धा और प्रेम से मनाई जाती है। श्रीनारायणभट्टजी ने ही इस बूढ़ी लीला को आरंभ किया और स्थान-स्थान पर पृथक्-पृथक् लीलाओं का स्थान निर्दिष्ट कर के रास-मंडलों का निर्माण भी कराया, जैसा कि भक्तमाल के अतिरिक्त ध्रुवदासजी के निम्न दोहों से भी प्रकट होता है—

"भट्ट नराइन अति सरस, ब्रज-मंडल सों हेत।
ठौर-ठौर रचना करी, निकट जाँन संकेत॥"

नारायणभट्टजी द्वारा संस्थापित यह परंपरा बड़ी लोकप्रिय सिद्ध हुई और रासलीला का बड़ा विकास हुआ। नर्त्तक वल्लभ का सहयोग रास की सफलता का एक प्रमुख कारण बना। यह नर्त्तक बड़ा गुणी था। वल्लभ की नृत्य-कुशलता की सराहना स्वयं नाभादासजी ने निम्न छप्पय में की है—

नृत्य-गाँन-गुन-निपुन, रास में रस-बरसावत।
अब लीला ललितादि बलित, दंपतिहिं रिझावत॥
अति उदार निस्तार, सुजस ब्रज-मंडल राजत।
महा महोच्छव करत, बहुत सबही सुख साजत॥
श्री नाराइन भट्ट प्रभु, परम प्रीति रस-बस किए।
ब्रज बल्लभ बल्लभ परम, दुरलभ सुख नैंनन दिए॥"

वल्लभजी की नृत्य-कुशलता और नट-नागर भगवान् श्रीकृष्ण के नृत्य-प्रधान व्यक्तित्व का रास पर बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। रास के प्रत्येक संवाद और कथनों में इंगितों और नृत्यों का प्रचलन सर्वत्र व्याप्त रहता है।

इस प्रकार नारायणभट्टजी ने रास के मूल रूप का जीर्णोद्धार कर के उसे शास्त्रीय रूप दिया और इस दृष्टि से वह निश्चित रूप से रास-लीलाओं के एकमात्र आचार्य कहे जाने चाहिये, क्योंकि उनके बाद रास की निश्चित प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन किये गये हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने स्थान-स्थान पर रास-मंडल स्थापित करा कर उनका लोक-जीवन से घनिष्ठ संपर्क तो स्थापित किया ही जैसा कि प्रियादासजी ने लिखा है, साथ ही उन्होंने इस से भी महत्त्वपूर्ण कार्य यह

किया कि रास को केवल संगीत तक ही सीमित न रख कर नृत्य, वादन और गायन के साथ-साथ अंत में उसे अभिनय का रूप भी दे दिया, यद्यपि यह किया उन्होंने धार्मिक-कारणों से ही था। इस प्रसंग को रासधारी 'राधाकृष्णजी' ने निम्न प्रकार लिखा है—

"कुछ दिन पीछें भए विचार। प्रघट्यौ भाव जदपि संसार।।
रास-बिलास स्वाँमिनी प्यारी। सखी-भाव बिन नाँहिं अधिकारी।।
प्राकृत दंपति लीला माँहीं। परिचारक कोउ प्रबसति नाँहीं।।
रहै पास तिहि अवसर दासी। जो स्वाँमिनि की कृपा निवासी।।
प्रभु के भक्त अनेक बिधाना। उज्जल सख्य, दास्य रस-नाना।।
तिनकहँ सुख उपजै जिहि भाँती। प्रभु-पद में मन रह दिन राती।।
अस बिचारि हरि की ललित, लीलँन की अनुहाँरि।
रसिक नाराइन भट्ट नें, ग्रथित कियौ संसार।।
जिहि प्रकार रहि प्रेम दृढ़, निखिल भक्ति जिय होइ।
निज-निज रुचि हरि-भाव कर, सुख पावें सब कोइ।।"

इस प्रकार नित्यरास के साथ होनेवाली भगवान् की जीवन-घटनाओं के अभिनय का सूत्रपात करने का श्रेय भी भट्टजी को ही है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि श्री नारायण भट्ट जी ने यद्यपि रास का स्वरूप एकदम बदल दिया, परंतु फिर भी उन्होंने नित्य-रास की उस प्रणाली को ज्यों की त्यों रास के आरंभ में शीर्ष स्थान दिया, जो श्री घमंडदेवजी द्वारा संस्थापित थी और इन प्रयत्नों का ही यह परिणाम था कि रास लोकप्रिय हो गये और यह लीलाएँ ब्रज की कला के संरक्षण के साथ ही कृष्ण-चरित के प्रचार का मुख्य माध्यम बनीं। इन रासलीलाओं का जनता पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता था। भक्तमाल में लिखा है कि प्रसिद्ध रामोपासक भक्त 'अलि भगवान' रासलीला के देखने मात्र से अपनी सारी कट्टरता छोड़कर कृष्णोपासक हो गये[1] और गुरु के देहावसान से व्यथित हरिदासजी के शिष्य विट्ठल विपुल जिनका कविता-काल सं० १६१५ के लगभग है,—रास देखते ही देखते इतने रस-मग्न हो गये कि उनका शरीरांत[2] ही हो गया। इस घटना से रास में रस की निष्पत्ति की चरमसीमा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची प्रतीत होती है। भक्तों की दृष्टि में तो उस समय यह अभिनय ही भगवान् का वास्तविक रास था, तभी तो शरदपूर्णिमा के रास में नृत्य करते हुए राधा बने हुए स्वरूप के चरण का घूंघरू टूट कर गिर जाने पर सुप्रसिद्ध भक्त कवि श्री व्यासजी नें निस्संकोच अपना जनेऊ तोड़कर बाँध दिया था, जैसा कि भक्तमाल में उल्लेख है[3]—

सरद उज्यारी रास रच्यौ पिय प्यारी तामें, रंग बाढ्यौ भारी कैसें कहि कें सुनाइऐ।
प्रिया अति गति लई, बिजरी सी कौंधि गई, चकाचौंधि भई छबि-मंडल में छाइऐ।।
नपुर सो टूट-छूट पर्यौ अवरेख्यौ मन, तोरिकें जनेऊ कस्यौ वाही भाँति भाइऐ।।
सकल समाज में यों कहें आज काम आयौ, दीयौ हो जनम ताकी बात जिय आइऐ।।"

इस प्रकार ब्रज में ब्रज-संस्कृति और हिंदी का यह प्रथम रंगमंच अपने आरंभकाल से ही रागात्मक, व्यापक और प्रचलित रहा, परंतु आश्चर्य है कि हिंदी का रंगमंच स्थापित करने में इससे कोई प्रेरणा नहीं ली गयी, यद्यपि इसमें सभी नाटकीय तत्वों का उचित संमिश्रण मिल जाता है। वैसे भी रास का रंगमंच बहुत सरल तथा आडंबर हीन है।

१. अलि भगवान राम-सेवा सावधान मन, बृंदाबन आए कछु औरें रति भई है।
देखे रासमंडल में बिहरत रस-रास बाढ़ी छबि-प्यास दृग सुधि-बुधि गई है।।
२. जुगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य-भेद, गाँन, तॉन सुनि रह्यौ न सह्यार है।
मिल गए वाही ठौर, पायौ नाम तन और, कहै रस-सागर सो ताकौ यों बिचार है।।

एक छोटे से आमताकार मंच पर पीछे एक पिछवाई और आगे एक यवनिका डालकर ही रास का मंच तैयार हो जाता है। मंच के ऊपर मध्य में राधाकृष्ण का एक छोटा सिंहासन और पार्श्व में गोपिकाओं के लिये चौकियाँ या आजकल प्रायः कुर्सियाँ डाल दी जाती हैं। मंच के नीचे आगे की ओर मंडलाकार या चतुरस्त्र स्थान नृत्यादि के लिये खाली छोड़ दिया जाता है और इसके बाद सामने फिर रंग-बिरंगी बगलबंदियाँ डाटे और मस्तक पर पागों की पताका-सी फहराता हुआ रास-मंडली का संगीत-समाज बैठता है। पर्दा खुलते ही कटि-काछनी व किरीट-धारण किये भगवान् ब्रजराज की ब्रजांगनाओं से घिरी हुई झाँकी होती है। ब्रज-गोपिकाएँ राधा-सहित यहाँ की प्रसिद्ध पोशाक "लहँगा-फरिया" धारण करती हैं। रासारंभ के पूर्व रास-मंडली का संगीत-समाज विविध-पदों द्वारा मंगलाचारण करता है फिर आरती के उपरांत "नित्यरास" आरंभ होता है, जिसमें गायन व नृत्य का प्राधान्य होता है। नित्यरास के उपरांत किंचित् विश्राम होता है और फिर भगवान् कृष्ण की किसी एक जीवन-घटना का अभिनय होता है।

रास की सब से बड़ी विशेषता है उसका नृत्य प्रधान होना। जैसा कि हम पहले निवेदन कर चुके हैं, यह नृत्य ब्रज के ठेठ नृत्य हैं, जो आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व की ब्रज-संस्कृति के मर्म को छिपाये अपने उसी रूप में किंचित् परिवर्तनों के साथ विद्यमान हैं, परंतु इन सब नृत्यों का आधार भी अति प्राचीन 'भरतमुनि' के 'नाट्य-शास्त्र' में उल्लिखित "रासक" के ही अनुसार है। भरत ने रासक को एक उपरूपक माना है और उसके तीन भेद किये हैं। इन तीनों भेदों का मिश्रण रास के वर्तमान नृत्यों में मिल जाता है। ताल के अनुसार विभिन्न नृत्यों द्वारा रास में—"ताल-रासक" और हाथ में डंडा ले कर उन्हें बजाते हुए नृत्य में—"दंडरासक" और "द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधव" का मंडलाकार नृत्य द्वारा प्राचीन "मंडलरासक" का स्वरूप रासलीलाओं में आज भी दृष्टिगम्य है।

रास के इतिहास और विकास से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अब तक रास का ब्रज के लोक-जीवन से घनिष्ट संपर्क रहा है, परंतु दुर्भाग्य की बात है कि अब धीरे-धीरे यह संपर्क घटता जा रहा है। इसका कारण यह है कि रास पर धार्मिकता का जो भारी आवरण पड़ा है वह नव-शिक्षित महानुभावों की दृष्टि सहज ही इस ओर आकर्षित नहीं होने देता। साथ ही रास-मंडलियों के गढ़ गाँवों में होने के कारण नगर की परिवर्तनशील रुचि के अनुसार रासलीला-प्रणाली में कोई घुमाव नहीं दिया जा सका है। रास को दीर्घजीवी बनाने के लिये अब शीघ्र ही कोई प्रयास होना अत्यावश्यक है।
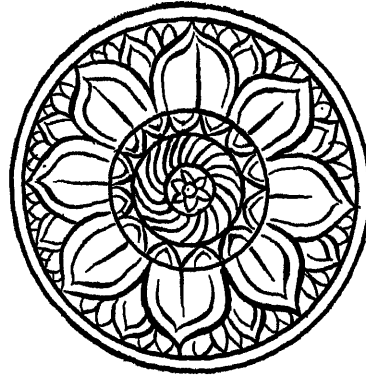
ब्रज-जनपद की एक विशेष काव्यधारा : ख्याल-लावनी

श्री रतनलाल बंसल

ब्रज-जनपद की यदि हम उन काव्य-धाराओं का पर्यवेक्षण करें, जिन्होंने साधारण जनता की रसानुभूति को जाग्रत रक्खा और उस पर धार चढ़ाई तो हमें ज्ञात होगा कि ख्याल या लावनी ने इस महत् कार्य में कितना महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

ख्याल या लावनी मुख्यतः उस वर्ग का साहित्य है जिसे हम नगरों में रहनेवाला श्रमजीवी-वर्ग कह सकते हैं। यह वर्ग ग्रामों से दूर पड़ जाने के कारण एक ओर राजपूती होली, जिकड़ी के भजन, ढोला, रसिया आदि ग्रामीण-साहित्य के उपादानों से अपनी तृप्ति करने में असमर्थ था तो दूसरी ओर अपनी शिक्षा-संबंधी विशेष स्थिति के कारण पद्माकर-बिहारी जैसे कवियों के काव्यामृत से भी लाभ न उठा सकता था। ऐसी स्थिति में ख्याल-लावनी-साहित्य की उत्पत्ति हुई और उसके प्रचार, प्रसार का भी मुख्य क्षेत्र जनता का यही वर्ग रहा है।

ख्याल-लावनी का ब्रज से संबंध

आज भारतवर्ष और पाकिस्तान के उन सभी भागों में ख्याल-लावनी के कहने-सुननेवाले मिलते हैं जहाँ हिंदी-उर्दू बोली—समझी जाती है। यह स्थिति इस शंका को उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त है कि फिर भी क्या हम ख्याल-लावनी-शैली की जन्म-भूमि ब्रज को मान सकते हैं।

इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि ख्याल-लावनी-शैली की उत्पत्ति और विकास का कोई ऐतिहासिक और प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, किंतु यह निश्चित है कि आगरा और उसके आस-पास ही इस शैली का जन्म और विकास हुआ है। ख्याल-गोई के एक पुराने आचार्य श्री रिसालगिरी जी आगरे में ही थे और आज भी ख्याल-बाजों के एक प्रधान संप्रदाय तुर्रेवालों के प्रधान गुरू जनाब मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब 'आशिक' आगरे की इस विशेषता और महत्त्व को कायम रक्खे हुए हैं। इसके अतिरिक्त ख्याल-गोई के जितने संप्रदाय हैं, जैसे—'कलगीवाले', 'तुर्रेवाले' 'सेहरावाले', 'छतरवाले', 'मुकुटवाले', 'डंडावाले', 'दंतवाले', 'तोड़ेवाले' आदि उन सबकी यदि गुरु-परंपरा का अन्वेषण किया जाय, तो इन सबका निकास 'ब्रज-जनपद' से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं है कि ख्याल-लावनी की जन्म-भूमि होने का गौरव ब्रज-भूमि को ही प्राप्त है।

भिन्न-भिन्न संप्रदायों का आधार

ऊपर ख्याल-गोई के अनेक संप्रदायों के नाम दिये गये हैं। वास्तव में मुख्य संप्रदाय दो ही हैं—(१) तुर्रेवाले, (२) कलगीवाले। तुर्रेवाले अपने को 'ब्रह्मवादी' और कलगीवाले अपने को 'मायावादी' कहते हैं। यह मान्यता इस अन्वेषण की अपेक्षा रखती है कि कहीं इस विभिन्नता का प्रारंभिक संबंध योगी-संप्रदाय के पुराने मत-मतांतरों से तो नहीं है? पर इतना स्पष्ट है कि दार्शनिक सिद्धांतों संबंधी मत-भेद यदि कभी इस विभिन्नता का आधार रहा भी, तो वे कुछ ही दिन चले और बाद में तो इनका आधार केवल भिन्न गुरु-परंपरा ही रहा है। इनके अतिरिक्त जो अन्य संप्रदाय हैं, वे प्रायः इन दोनों संप्रदायों से ही निकले हुए कुछ ऐसे विद्रोही प्रकृति के आचार्यों की देन हैं, जिन्होंने अपने गुरू से थोड़ा-सा मतभेद उत्पन्न होते ही उनकी छाप अपनी रचनाओं पर लगानी छोड़ दी और अपना एक स्वतंत्र 'अखाड़ा' कायम कर लिया।

ख्याल : लावनी-शैली की लोक प्रियता का रहस्य

वास्तव में ख्याल-लावनी की शैली ही हमारे काव्य-साहित्य की एक मात्र ऐसी शैली है, जो यद्यपि एक विशेष जनपद में उत्पन्न हुई, फिर भी वह शीघ्र ही समग्र हिंदी-उर्दू-भाषा-भाषियों के मध्य लोक-प्रिय हो गई। भाषा संबंधी बड़े-बड़े कटु विवाद चले, राजनैतिक कारणों से भी सांप्रदायिक उत्तेजना अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची और उसने समस्त देश को जला डाला, किंतु क्या यह कुछ कम गौरव और आश्चर्य की बात है कि 'माँ सरस्वती' के उपासकों का यह छोटा-सा वर्ग इस आग से न केवल अछूता ही रहा, बल्कि निरंतर इस आग को बुझाने में प्रयत्नशील रहा है।

इसका एकमात्र कारण यह है कि ख्याल-लावनी-शैली का जन्म ही साधारण जनता के लिये सुबोध-सरल-साहित्य को जुटाने के उद्देश्य से हुआ था। बोल-चाल की भाषा ही इस साहित्य की भाषा थी, अतः न कहीं हिंदी-उर्दू का प्रश्न था और न हिंदू-मुसलमान का। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक जन-पद के एक विशेष वर्ग ने इस शैली का स्वागत किया और इसके कलाकार उत्पन्न किये।

ख्याल-लावनी-शैली की लोक-प्रियता का दूसरा आधार उसकी निरंतर प्रगतिशीलता है। ऊपर कहा जा चुका है, कि इस शैली का क्षेत्र नागरिक श्रमिक-समाज रहा है। देश की राजनैतिक, सामाजिक प्रगतियों का इस समाज से सीधा संपर्क रहता ही है अतः उसका प्रभाव इस शैली की रचनाओं पर भी पड़ता रहा। यही कारण है कि आपको प्रत्येक ख्याल-गो से दो चार ऐसे ख्याल सुनने को मिल सकते हैं, जो देश और समाज की वर्तमानस्थिति से संबंधित होंगे।

कुछ उदाहरण

ख्याल-लावनी-शैली के इस विवरण को जान लेने के पश्चात् अब उत्कृष्ट ख्यालों के कुछ उदाहरण सुनिये। ये विरह-प्रधान एक ख्याल के कुछ अंश हैं—

"तकूँ हूँ मारग, मैं बन बियोगन खबर हमारे न कंत की है।
तड़प रहे हैं ये प्रान पी-बिन, अनीति ता पै बसंत की है।।
तजी है पीतम ने प्रीति मेरी, सखी ये लीला लिखंत की है।
लगन बुझाऊँ मैं मन की कैसे, लगी ये अगिनी इकंत की है।।
तपन बढ़ावे मदन बिलासी, बिचल गही गति जपंत की है।
तनी है तन में मदन की गरमी, जहाँ न हिंमत हिमंत की है।।
त्रिकाल मो पै प्रबल चढ़ाई, इतै तो इति पति असंत की है।
तरल गनी उत बसंत की है, रितु में होली के तंत की है।।
तमाल फूले अनेक तिन पै, अनीति मधुकर अनंत की है।
तरु पलासन पै जोग छायौ, मदन की गद्दी महंत की है।।"

वियोग के इस वर्णन के पश्चात् एक सुंदरी का नख-शिख-वर्णन सुनिये—

"तोहि रूप की रासि बिरंचि-रची, चितचोर चपल चपला रदनी।
चंपक-बरनी, मुनि-मन-हरनी, रतिनाथ-बिमोहन ससि-बदनी।।
अति कोमल अंग अनंग-भरी, कल-कंचन-रंग सुगंध सनी।
कच कुंचित कृस्न कपोलन पै, लट लटकत जनु लहरात फनी।।
भृकुटी बर बंक बिसाल बिसद, बिलसत बसनी अति तीव्र तनी।
मनु विस्व-बिजै-हित कोप किये, कुटिलंकृत काम कमान तनी।।

शेर

कहूं क्या-क्या मैं इन आँखों की करनी,
किये मृग मीन बस कर-कर के भरनी।

निरख अंजन छुपे खंजन बिचारे,
ये अंजन मान, रंजन प्रान बरुनी ।।
नासा तिल-कुसुम-समान सुभग, सुक-तुंड-निखंडन सुख-सदनी ।
चंपक-बरनी, मुनि-मन-हरनी, रतिनाथ-बिमोहन ससि-बदनी ।।"

इसी प्रकार किसी सुंदरी के शीशफूल का वर्णन करते हुए ख्याल-गोई के एक पुराने आचार्य 'रूपकिशोर'जी ने कहा है—

"है सीस पर ससिफूल सोभित, सरूप आभा अखंड का है ।
मनों भुजंगों की भूमिका पै, निबास श्री मारतंड का है ।।
सजाये तेंनें बिचित्र भूषन कि जैसी भूषित तू सुंदरी है ।
खिला है जमना में पीत-पंकज कि जिसमें दिनकर की दुति भरी है ।।
ये फूल तेरे ने आज उपमा, गगन में गुरु की हरन करी है ।
कनक-सिखर पर कि वासुकी ने, उगल के मस्तक पै मनि धरी है ।।

शेर

घृताची औ सची रति काम चेरी,
कोई यह कर सकें समता न तेरी ।
रची तू बाल बिधि ने बिस्व-मोहन,
भये हैं स्याम बस मुख बंद हेरी ।।
बनाया किसने ये फूल जिसमें, प्रकास मनि-गन प्रचंड का है ।
मनों भुजंगों की भूमिका पै, निवास श्री मारतंड का है ।।

(२)

उदित अंधेरी में आज भृगु हैं कि जिनमें आभा है सोबरन की ।
मयंक हो निष्कलंक बैठा, बिछा के पर्जंक नीलमन की ।।
चढ़ें हैं काली के सीस केसव, सपथ उठा के प्रकासपन की ।
किया है मंगल ने बास चौकी-बिछा के मरकत कनों के गन की ।।

शेर

किधों कर बास गोलाकार चन में,
चपल थिर हो के बैठी स्याम-घन में ।
तेरे भूषन ने सौ दूषन लगा के,
कलंकित कर दिये गहने धरन में ।।
धरन टटोले है आ तरन सब, न बल किसी में घमंड का है ।
मनों भुजंगों की भूमि का पै, निवास श्री मारतंड का है ।।

(३)

दिया सुदरसन ने दिव्य दरसन, वो आके कज्जल के कूट-ऊपर ।
कि नील परवत की इक सिखर पर, गिरा है नच्छत्र टूट ऊपर ।।
या निसिचरों ने समूह सज के, समर में सुरपति से लूट ऊपर ।
सुधा-भरित सोबरन का कलसा, धरा धरन कालकूट-ऊपर ।।

शेर

सुमन की जोति ऐसी जगमगी है,
अँधेरी रात में अगिनी लगी है ।

किधों अलि-माल पै तारा-गनन-जुत,
प्रधानक आइ अरुनोदय जगी है।।
कहीं है सिर सीसफूल चंदा, ये राति आधी निखंड का है।
मनों भुजंगों की भमिका पै, निवास श्री मारतंड का है।।"

सहृदय पाठक अनुभव करेंगे कि उपमा-उत्प्रेक्षादि अलंकारों की दृष्टि से यह रचना हमारे साहित्य की अच्छी से अच्छी रचनाओं से टक्कर ले सकती है। शृंगार के पश्चात् अब मन की चंचलता पर भी कुछ पंक्तियाँ सुनिये—

"फिरै है चहुँ ओर मन ये चंचल, घिरै तो घिरना इसे नहीं है।
भ्रमै है भौंरे की भाँति निसि-दिन, कभी कहीं और कभी कहीं है।।
कभी तो कूदै सुमेर-ऊपर, कभी गिरै अंधकूप में यह।
कभी गहै छाँह उपबनों की, कभी जलै ज्वाल-धूप में यह।।
कभी बनै धर्म-ध्यान की धुज, कभी मिलै पाप रूप में यह।
कभी तो दुख-दाह भूरि भोगै, कभी बसै सुख अनूप में यह।।

शेर

कभी चैतन्यता तज के, जो मूरखता में आता है,
तो सोना फेंक देता है, उठा मिट्टी को लाता है।
कभी हो काम-बस अंधा, बिषय-बन में बिचरता है,
जती, सुरपति सरिस तज के, दरिद्री इसको भाता है।।
न ऊँच देखै, न नीच देखै, लगै जहाँ रम रहै वहीं है।
भ्रमै है भौंरे की भाँति निस-दिन, कभी कहीं और कभी कहीं है।।"

स्वानुभूति

ख्याल-लावनी-पद्धति पर रीति-कालीन काव्य की भी छाप प्रमुखता से दीख पड़ती है, इसी लिये पुराने ख्यालों में प्रायः वही राधा-कृष्ण की प्रणय-कथाएँ या नायिका का नख-शिख-वर्णन है, किंतु कभी-कभी किसी ख्याल से स्वानुभूति-परक भी बड़े सुंदर खयाल सुनने को मिल जाते हैं, जिसमें कवि अपने निज का सुख-दुख गाकर अपने मन का भार हलका करता है। ऐसे ही एक ख्याल में कोई कवि मायके (पीहर) गई हुई अपनी पत्नी के वियोग से आहत होकर गा उठा था—

"प्रभात परसों से प्रान प्यारी, गई है पीहर बियोग करके।
बिरह के बारिधि में प्रान मेरे, बिकल हैं प्यारी-बियोग करके।।
रही न नैनों में नींद बैरिन, लगे पलक पर पलक न मेरे।
सताई संताप-ताप तन में, बिनोद सब तज गये बसेरे।।
बिलास बिसरे निरास करने, हुलास अपने रहे न मेरे।।
न अंग में कुछ उमंग छोड़ी, न संग छोड़े, फिरे है घेरे।
अरे बिसासी बियोग बैरी, बने हैं बानक बिचित्र तेरे।।
लगे न जप-तप में चित्त अपना, जो तुझ को जीतूँ प्रयोग करके।
बिरह के बारिधि में प्रान मेरे, बिकल है प्यारी-बियोग करके।।

तड़ित घटा-घन, मराल, मधुकर, कुरंग, मातंग, मीन, खंजन।
कपोत, करमंड, कीर, केकी, चकोर, चकवा, कमोद, कंजन।।
प्रयंक, मुक्ता, प्रबाल, उड़गन, गुलाब, कदली, अनार, चंदन।
सरोज, श्रीफल, मनोज, मृग-मद, प्रिया, भये हैं बिना मुदित मन।।

ये आज सब मन-मगन हैं जैसे, जनम दरिद्री को मिल गया धन।
करे न लज्जित तू इनको आके, ये मान मेरे करें हैं खंडन।।
बियोग तेरे में बन को जाऊँ, तो कैसे जीऊँगा जोग करके।
बिरह के बारिधि में प्रान मेरे, बिकल हैं प्यारी-बियोग करके।।"

हास्य

हास्य-विनोद की भी ख्याल-लावनी में कमी नहीं है। शिष्ट हास्य का एक नमूना देखिये। कवि कल्पना करता है कि श्री कृष्ण जी एक रात को देर से राधा जी के द्वार पर पहुँच कर उनके किवाड़ खट-खटाते हैं। माननी राधा समझ जाती हैं कि किवाड़ खटखटानेवाला कौन है, पर वे चुप हो जाती हैं। तब श्री कृष्ण जी उनको आवाज़ देते हैं और इस पर राधा से उनका कैसा विनोद-पूर्ण वार्तालाप होता है—

"हे प्रान प्रिया, उठ, खोलौ कँनक-किवारे। तुम को हौ, पिछली रात पुकारन-हारे ?
हम माधव हैं, मधुरी धुनि-धारन हारे। तो बसौ जाइ, तिरबेंनी नदी किनारे।।
हम हैं ब्रज नायक, ब्रज-बन-बिचरन-हारे। जाग्रो टोडे में, जहाँ बसे बनजारे।।
हम हैं स्योंन, तो घर-घर करौ उतारे। तुम को हौ, पिछली रात पुकारन-हारे।।

हे प्यारी, हम तो हैं घनस्याम पियारे। तो बरसौ, बन-बागन में गरज-सहारे।।
हम भोगी हैं, बस भोग-बिलास हमारे। तो चहिये बन में बास, इकंत तुम्हारे।।
हम हैं बनवारी, बन में करौ गुजारे। तुम को हौ पिछली रात पुकारन-हारे।।

हम रागी हैं, अनुरागी पुरुष बिचारे। तौ राग-अलापौ, द्वार बजा इकतारे।।
हम हैं बिरही, ब्रजचंद बिरह के मारे। तो बसौ, बिरहनी-ललिता के घर न्यारे।।
हैं हरी, तो क्यों बैकुंठ बिहार-बिसारे। तुम को हौ पिछली रात पुकारन-हारे।।"

इस प्रकार श्री कृष्ण एक के पश्चात् एक नाम और संबोधन बताते गये और राधा अनजानी-बनी उनको यथोचित उत्तर देती गयीं, पर अंत में यह समस्या कैसे सुलझी, इस संबंध में कवि चुप रह गया है।

सामयिक

ऊपर कहा जा चुका है कि ख्याल-लावनी-शैली की एक विशेषता उसकी निरंतर प्रगतिशीलता है। वह जिस समाज का साहित्य है, उस राष्ट्र और समाज के अंतर्गत चलनेवाले प्रत्येक संघर्ष में उसका मुख्य भाग रहता है, अतः सामयिक समस्याओं और घटनाओं से यह साहित्य अछूता रह भी कैसे सकता था ?

सामयिक घटनाओं पर भी ख्याल व लावनी के कवि की अभिव्यक्ति कैसी सफल होती है, उसका प्रमाण निम्नांकित पंक्तियाँ हैं, जो किसी ख्याल-बाज ने 'राष्ट्र-पिता' के बलिदान पर लिखीं थी—

"एक बधिक जाचक बन आया, दे जीवन का दान चले।
इंद्रप्रस्थ से इंद्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले।।
तीन गोलियों के लगते ही, सरीर को तज प्रान चले।
गगन-मही थरथरा उठे और अस्ताचल को भान चले।
चंद्रकला बिलगाइ गई, उड़गन भी कर प्रस्थान चले।।
सर-सरिता श्री-हत से निरखें, मीनादिक दुख मान चले।
इंद्रप्रस्थ से इंद्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले।।

(२)

ब्रह्मा, विष्णु, अखंड अजन्मे, अखंड ज्योति-निधान चले।
अपने को आपे में मिलाने, आप रूप भगवान चले।।
भारत माँ की बंध छुड़ाई, पाके पद-निर्वान चले।
मुक्त हुआ जब देस आप भी, ले मुक्ति का मान चले।।

अग्नि, धरन, आकास, पवन, पानी का कर भुकतान चले।
इंद्रप्रस्थ से इंद्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले।।

अथवा——

न टूटे क्यों हाथ वो सितम गर, चलाई थीं गोलियाँ जी भर के।
हिला न जालिम का किस लिये दिल, हुए न टुकड़े रिवालवर के।।
बना कलेजे को अपना पत्थर, चला तमंचे को ध्यान करके।
छिपाया हाथों के बीच उसको, झुका था पावों पै शीश धर के।।
यह पास आने का था बहाना कि सीढ़ियों पै से चढ़-उतर के।
कठोरता के बिचार बदले, अभागे उस नारकीय नर के।।

शेर

महत्मा को अपने निसाना बनाके,
किया अंग छलनी तमंचा चलाके।
रहे हाथ जोड़े खड़े वो सभा में,
हरे राम, हरे राम की रट लगा के।।

खबर किसी को हुई न इसकी, जो वार थे इन बे-खबर के।
हिला न जालिम का किस लिये दिल, हुए न टुकड़े रिवालवर के।।"

ख्याल-लावनी-शैली के भविष्य के संबंध में आज कोई आशाप्रद बात नहीं कही जा सकती। रास-लीलाओं में आज जनता को वैसा आकर्षण नहीं रहा, जैसा १५-२० वर्ष पहिले था। होली, ढोला, आल्हा आदि के भी पहिले जैसे अखाड़े अब नहीं जमते। मानव-स्वभाव ही परिवर्तन प्रिय है और वह प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन चाहता है। पिछले दस वर्षों में ख्याल-लावनी के प्रति जनता के आकर्षण में भी न्यूनता ही आई है, पर यह कोई चिंता की बात नहीं है। चिंता का विषय केवल यह है कि ख्याल-लावनी-शैली में तो उच्चकोटि की रचनाएँ हैं, वे कहीं काल-समुद्र में लुप्त न हो जाँय। इस शैली के प्रधान-प्रधान आचार्यों की स्मृति-रक्षा का भी प्रयत्न होना चाहिये। खेद है कि इस संबंध में हमने ही कम ध्यान दिया है। आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व श्री 'अयोध्या प्रसाद'जी पाठक[१] और श्री 'स्वामी नारायणानंद'जी ने 'विशाल-भारत' में दो लेख इस संबंध में अवश्य लिखे थे, किंतु इसके पश्चात् इस विषय पर कोई दूसरा लेख देखने में नहीं आया।

ख्याल-लावनी-शैली अधिक से अधिक आगामी पच्चीस वर्षों में विगत स्मृति का विषय बन जावेगी, पर पिछली अनेक शताब्दियों में इसने इस का जो अक्षय दान किया है, उसके लिये हमारे साहित्य का इतिहास इसे कभी भुला न सकेगा। विशेषत: 'ब्रज-जनपद' के इतिहास में तो इसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार भी नहीं की जा सकती, क्योंकि इस शैली की रचनाएँ हमको साधारण जनता की मानस-धारा के वास्तविक क्षय का परिचय देने की सामर्थ्य रखती हैं।

——::००::——

[१]. प्रस्तुत लेख में पाठकजी के लेख से बहुत सी सामग्री ली गई है, जिसके लिये लेखक श्री पाठकजी का आभारी है।—लेखक

सत्यनारायण : कविरत्न

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

"जो मोसों हँसि मिलै, होत मैं तासु निरंतर चेरौ।
बस गुन ही गुन निरखत तिहिं मिधि, सरल प्रकृति कौ प्रेरौ ।।
यह सुभाव कौ रोग जानिएँ, मेरौ बस कछु नाँहीं।
नित नव बिकल रहत याही सों, सहृदय-बिछुरन माँहीं ।।
सदाँ दारु-योषित-सम बेबस, आग्या मुदित-प्रमानें।
कोरौ सत्य ग्राँम कौ बासी, कहा 'तकल्लुफ' जानें ?

—सत्यनारायण

चालीस-इकतालीस वर्ष पहले की बात है। श्रीमान् 'दरभंगा-नरेश' के साथ महामना 'मालवीय' जी 'हिंदू-विश्वविद्यालय' का चंदा करने के लिए आगरे पधारे थे। सैकड़ों ही विद्यार्थी उनका भाषण सुनने के लिए गये थे। मैं भी इन दिनों आगरा में ही नवें दर्जे में पढ़ता था और श्रोताओं की भीड़ के पीछे दूर खड़ा हुआ था। माननीय अतिथियों के स्वागतार्थ कविताएँ पढ़ी गई। खास तौर पर एक कविता ने जादू जैसा असर कर दिया। गजी की मिर्जई और दुपल्लू टोपी पहने हुए युवक ने जब अपने मधुर स्वर में पढ़ा—

"सरल हृदय सहृदय सुख पोंहन, अखिल दुरित दल दूषन ।
श्री सदगुन-गन-सदन-मदन-मोंहन मालवि कुल-भूषन ।।
जासों ये पाँहुने हमारे, निज-स्रम कौ फल चाखें।
पूरन होंइ सकल बिधि सों तिन उत्तम हिय अभिलाखें ।।
सकल अभ्युदय सूर्य देव की, किरन-माल परकासै।
हृदय-सरस-सर ओज भरै, नित मोद-सरोज-बिकासै ।।
जिमि बसंत के राज मुदित मन, बृच्छावलि चहुँ फूलै।
नेह निरंतर मगन रहै सब, निज पतझर-दुख भूलै ।।
तिमि सुठि सुजन रसाल फरै, मृदु मंजु मंजरी छावै।
उपकृत मधुप रसिक गुंजारत, तिन्न कौ सुजस सुनावै ।।"

उस समय सहस्रों की जनता मंत्र-मुग्ध-सी उस कविता को सुन रही थी। महामना मालवीयजी को भी वह कविता बहुत पसंद आई थी। जब सभा समाप्त हुई तो श्रीमान् मालवीयजी ने उस युवक को अपने पास बुलाकर प्रोत्साहन प्रदान किया। कुछ दूरी पर खड़े हुए हम विद्यार्थी लोग यह दृश्य देख रहे थे। मैंने अपने एक साथी से पूछा, "ये कौन हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "आगरे में रहते साल भर हो गया है, तुम इन्हें नहीं जानते, ये—'सत्यनारायण' हैं।"

सत्यनारायणजी की सादगी पर और उनके मधुर स्वर पर यद्यपि मैं उसी दिन मुग्ध हो गया था, पर उनसे साक्षात परिचय-प्राप्त करने का सौभाग्य 'भारतीय-भवन' फीरोज़ाबाद में ही प्राप्त हुआ था। पिछले चालीस वर्षों में यद्यपि सैकड़ों ही साहित्य-सेवियों के दर्शन करने तथा परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य हमें मिला है, पर सत्यनारायणजी जैसा सहृदय, उन जैसा भोलापन कहीं नहीं दीख पड़ा। उनके व्यक्तित्व में एक विशेष आकर्षण था और उसका विश्लेषण करना कठिन है।

सत्यनारायणजी के जीवन की जो बात हमें सबसे अधिक आकर्षित करती है वह है उनकी निस्वार्थ साहित्य-सेवा।

उन्होंने अपने जीवन में कभी रुपये, आने, पाई की हिसाबी-वृत्ति से काम नहीं लिया और वे उस वणिक-वृत्ति से जो हमारे अनेक साहित्य-सेवियों को असमय में ही ग्रस लेती है, सर्वथा दूर ही रहे। जहाँ तक हम जानते हैं उन्होंने अपनी किसी पुस्तक से एक भी पैसा नहीं कमाया। उनकी कविताएँ—स्वांत: सुखाय होती थीं और यद्यपि उन्हें कभी-कभी दूसरों के दबाव में आकर व्यक्ति-विशेषों की प्रशंसा में तुकबंदी करनी पड़ती थी, पर वे अपने १५ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उस कोकिल की तरह ही रहे जो अपने मधुर गीतों के बदले कभी पैसे की इच्छा नहीं करती। वह गाती है, क्योंकि गाना उसका कर्त्तव्य है, गाये बिना वह रह नहीं सकती—गाना उसका स्वभाव है।

स्व० सत्यनारायण की कविता के विषय में फैसला देते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि वे कुल ३८ वर्ष ही जीवित रहे। २४ फरवरी सन् १८८० में उनका जन्म हुआ और १६ अप्रैल सन् १९१८ को उनकी मृत्यु। इसमें सन् १९१० तक तो उनकी शिक्षा ही चलती रही। इस प्रकार अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद केवल ८ वर्ष ही उनके स्वाधीन साहित्यिक जीवन के शेष रहे। इस बीच उन्होंने सैकड़ों समयोपयोगी कविताएँ और गीत लिखे, 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' नाटकों का अनुवाद किया और रघुवंश के कुछ सर्गों का भी रूपांतर किया। अंग्रेजी कवि 'टेनीसन' की कुछ कविताओं का और 'होरेशन' का भी अनुवाद किया। वास्तव में उनकी कविता का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। लेकिन जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं सत्यनारायणजी के कवित्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनका व्यक्तित्त्व था। घोर से घोर शारीरिक और आर्थिक कष्ट, गार्हस्थिक दुश्चिंताएँ और भयंकर से भयंकर मानसिक संताप भी उनके स्वभाव की सरलता, सरसता तथा कोमलता को नष्ट नहीं कर सके। उन्होंने अपने हृदय-पटल को कभी कलुषित नहीं होने दिया, वह सदा स्फटिक की भाँति स्वच्छ रहा। उनके स्वाभाविक माधुर्य को कठोर कटुता स्पर्श भी नहीं कर सकी।

ठेठ-ब्रजवासी

सत्यनारायणजी सच्चे अर्थों में—जनपदीय व्यक्ति थे, पृथिवी-पुत्र थे। कविवर नवीनजी ने अपने विषय में जो कहा है—

> **"तुम पृथ्वी के सुवन अरे, तुम ओ मृत्तिका प्रसूत निरे।**
> **तुम खेतों एवं खलहानों के सुत, तुम धरती के पूत निरे॥**
> **घास और कड़वी सँग शैशव काल बिताने वाले ओ।**
> **तुम हो मक्का, ज्वार, चनों के, संग-संग संभूत निरे॥"**

वह सत्यनारायण पर भी ज्यों का त्यों लागू होता है। सत्यनारायणजी की कविताओं में यत्र-तत्र जो ग्रामीण शब्द तथा ग्रामीण दृश्य छिटके पड़े हैं, उनका पूर्ण आनंद ब्रजवासी-सज्जन ही उठा सकते हैं। अपने भ्रमर दूत में 'जसोदा मैया' द्वारा भगवान् कृष्ण के पास संदेश भिजवाते हुए वह कहते हैं—

> **"याही कारँन निज प्यारे ढिग तोहि पठाऊँ।**
> **कहियो वासों बिथा सबै, जो अबै सुनाऊँ॥**
> **जैयो षट्पद धाइकें, धरि निज कृपा बिसेस।**
> **सो यों काज बनाइकें, दै मो यह संदेस॥**
> **—सिदौसौ लौटियो।"**

सिदौसे[1] में (जो शायद सद्यशः का बिगड़ा हुआ या सुधरा हुआ रूप है?) जो लावण्य है, उसका जायका किसी ब्रजवासी से ही पूछा जा सकता है। वर्षाऋतु में एक ग्रामीण दृश्य देख लीजिये—

1. **सिदौसौ=समय रहते, शीघ्र।**

"सुखद सुरीलौ गाँमन में, ललनाँ-गँन-गाँमन।
भरि उछाह घर सों तिन आँमन, झूलन जाँमन।।
पवन उड़त खसि ए पट कों, झटपटहिं सँभारँन।
मंजुल लोल-कलोलनि, बोलनि-बिबिध-मल्हारँन।।
एक-एक कों पकरि बुलावन, करि-गहि लावन।
जोरावरी चलावन, झूला झमकि झुलावन।।
मधुर 'मिसमिसी' सों मिचकी दै, जाहि हिलावन।
"राखौ, मेरी सोंह, मरी" कहि तासु रखावन।।"

होली के अवसर पर वसंत का स्वागत करते हुए—

"कोऊ सरसों-सुमन फूल, जौ सिर सों बाँधत।
गरियारन गोरिन-सँग कोऊ चुहल मचावत।।
कोउ बावरे भये गुलालहिं गगँन उड़ावत।
करि फगुवारन लाल, गीत फागुन के गावत।।
हुरिहारिन की धूंम और रँग-रेलनि पेलनि।
देखहु तिनकी उमँग, खेल-खेलनि झकझेलनि।।
ऊँधम उमड़्यौ परत रँग्यौ, जग सब रस रागत।
गारी, पिचकारी, तारिन सों तेरौ स्वागत।।"

यद्यपि ब्रजभाषा अपने प्राचीन गौरव को कदापि प्राप्त नहीं कर सकती, समय की गति उसे बहुत पीछे छोड़ चुकी है और वह क्लासिक की श्रेणी को प्राप्त कर चुकी है, तथापि 'जनपदीय-बोली' के रूप में उसका महत्त्व ब्रज की भूमि में तो अवश्य रहेगा।

खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के पक्षपातियों में जो साहित्यिक वाद-विवाद छिड़ा हुआ था वह अब हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक अध्याय बन चुका है और उसके बारे में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ, इतना तो कहना ही पड़ेगा कि ऐसे समय में, जब कि पं० 'श्रीधर पाठक' मुख्यतया खड़ी बोली में ही कविता करते थे और कविवर 'रत्नाकर' जी अयोध्याराज्य की मुकदमेंबाजी में व्यस्त थे, सत्यनारायण कविरत्न ने ही ब्रजभाषा का प्रबल पक्ष-समर्थन किया था। बड़े मर्म-स्पर्शी शब्दों में उन्होंने लखनऊ के हिंदी-साहित्य-संमेलन के अवसर पर कहा था—

"क्यों या सों मन फिरचौ, कृपा करि कछुक बतावौ।
बृथा आतमा या ब्रजभाषा की न सतावौ।।
जिनके तुम बस परे, अहहिं ते सकल बिमाता।
ब्रजभाषा ही सुद्ध संस्कृत, साँची माता।
टपकावति प्रेमास्रु पुलकि, तन पूत प्रेम सों।
भरि-भरि देखत नेंन तुमहिं, जो सत्य नेंम सों।
काज जु जब कछु करत, सिथिलता तन में ब्यापत।
यही सोचि, जननी ब्रजभाषा निसि-दिन काँपत।।
सुत-सेवा-हित तासु रुचिर, रुचि रहत सदाँ हीं।
जनमें पूत-कपूत, कुमाता माता नाहीं।।
को बरनन करि सकत, भला ब्रजभाषा कोटी।
मचलि-मचलि माँगी, हरि जाँमें माँखन-रोटी।।"

यद्यपि सत्यनारायणजी स्वयं इस बात को समझ गए थे कि वे एक ऐसे युद्ध में संलग्न हैं जिसमें उनकी हार निश्चित है, तथापि उन्होंने अंत तक ब्रजभाषा के झंडे को उठाये रखा।

अपनी मत्यु के बीस-पच्चीस दिन पूर्व जब उन्होंने 'इंदौर-संमेलन' के अवसर पर ब्रजभाषा में अपनी कविता 'गाँधीस्तव' सुनाई थी, दस-बारह हजार व्यक्ति मंत्र-मुग्ध से रह गये थे। महात्मा गांधीजी की ओर भक्ति पूर्वक नमस्कार करके जब उन्होंने कहा था—

"तुम से बस तुम हीं लसत और कहा कहि चित भरें।
सिबि, प्रताप अरु मेजिनी, किन-किन सों तुलना करें?"

तो उपस्थित जनता का हृदय प्रेम से विह्वल हो गया था। गाँधीस्तव का अंतिम पद अब भी हमारे कानों में गूंज रहा है—

"आपहिं सारथि बने, कमल-दल आयत लोचन।
अर्जुन सों बतरात बिहँसि, त्रयताप-बिमोचन॥
धीरज सब बिधि देत, यही पुनि-पुनि समझावत।
'दैन्य', 'पलायन' एकहु ना, मोहि रन में भावत॥
इक निमित्त मात्र है तू अहो, फिर क्यों चित-बिस्मय धरै।
गोपाल कृष्ण, मोहन मदन, सो तुम्हरी रच्छा करै॥"

समय की बढ़ती हुई गति को कौन रोक सकता है? ब्रजभाषा में उतनी दम नहीं थी कि वह प्रगतिशील बन सकती और इस कारण उसकी हार अवश्यंभावी थी, पर इससे सत्यनारायणजी कविरत्न का गौरव कुछ भी कम नहीं होता, क्योंकि वे स्वयं तो समय की गति के साथ निरंतर चल रहे थे। न जाने कितने भारतीय नेताओं को उन्होंने अपनी 'विनम्र श्रद्धांजलि' अर्पित की थी। उनकी रवींद्र-वंदना, तिलक-वंदना, सरोजिनी-षट्पदी, रामतीर्थाष्टक, गाँधीस्तव इत्यादि रचनाएँ आज भी सुपाठ्य हैं। इनके अतिरिक्त कुली-प्रथा, दक्षिण-अफ्रीका के प्रवासी भारतीय और कोमागाटामारू-दुर्घटना इत्यादि बीसियों सामयिक प्रश्नों पर भी उन्होंने लिखा था।

अंतिम दिन

श्री गोस्वामी लक्ष्मणाचार्यजी ने सत्यनारायणजी के संस्मरण लिखते हुए लिखा था—
"सत्यनारायणजी ने इंदौर-संमेलन के अवसर पर अपनी कविता पढ़ने के पूर्व रसखान के कवित्त पढ़े थे—

"जो खग हों तौ बसेरौ करों वहि कालिंदी-कूल कदंब की डारनि।"

कविता-पाठ करने के बाद आप मेरे पास आकर मेरी आधी कुर्सी पर बैठ गए। मैंने कहा "आपने रसखान के कवित्त क्यों पढ़े? उनका यहाँ क्या अवसर था?" कविरत्नजी बोले—

"मैंने संमेलन के भ्राताओं के सामने ये कवित्त इसलिए कहे हैं कि जिससे ये सब साक्षी हों कि चलती बार अवश्य भगवान् से 'सत्य' ने चाहे किसी रूप में हो, ब्रजवास ही माँगा था।" मैंने कहा "बस रहने दीजिए, मत्यु का विनोद मुझे नहीं सुहाता" आपने कहा—'हरि-इच्छा' इस घटना के २०-२५ पख बाद ही १६ अप्रैल सन् १९३८ को कविरत्नजी अपने ग्राम धाँधपुर में ही स्वर्गवासी हुए।"

अंतिम पत्र और अंतिम कविता

इंदौर में मैंने सत्यनारायणजी से निवेदन किया था कि मेरी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी' के टाइटिल पृष्ठ के लिए कोई पद्य बना कर भेज दें। ८ अप्रैल सन् १९१८ को कविरत्नजी का निम्न-लिखित पत्र मुझे मिला—

श्रीमान् भाई बनारसीदास जी,

प्रणाम, यहाँ सकुशल आ पहुँचा। आपके अनुग्रह का इसे फल समझिये। आप लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। आपकी आज्ञानुसार टाइटिल के लिए दो पंक्ति भेजता हूँ। पसंद आने पर काम में लाना। बहुत सोचा, किंतु इसके सिवाय कुछ न सूझा—

"कोई मंत्र[1] हो, कोई तंत्र[2] हो, कैसा ही हो काज।
सत्याग्रह स्वरूप ही केवल, सबका एक इलाज ॥"

यहाँ प्लेग का बड़ा प्रकोप है, इसलिए अकल घास-चरने चली गई है। क्षमा करिये और कृपा बनाये रखिये। श्रीमान् 'द्वारिकाप्रसाद' से सेवक का प्रणाम-नमस्ते कह दीजिये। करवे आदि प्रेमियों को प्रणाम।

आपका—
सत्यनारायण

सत्यनारायण कविरत्न की स्मृति-रक्षा के लिए चार-पाँच कार्य सोचे गये थे, जैसे—

१. सत्यनारायण-कुटीर-निर्माण।
२. कविताओं का संग्रह।
३. जीवन चरित।
४. चित्रोद्घाटन।
५. उनके समस्त ग्रंथों का एक जिल्द में प्रकाशन।

इनमें पहले चार कार्य संपन्न हो चुके हैं। सत्यनारायण कुटीर संमेलन-कार्यालय प्रयाग में बन चुकी है। हृदय-तरंग तथा जीवन-चरित भी छप चुके हैं और भारतीय-भवन फीरोज़ाबाद, धाँधूपुर तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा आगरा में उनके चित्रों का उद्घाटन भी हो चुका है। पाँचवाँ कार्य अभी बाकी है। ब्रज-साहित्य-मंडल का कर्त्तव्य है कि वह अपने ब्रज-कोकिल की समस्त रचनाओं को एक जिल्द में प्रकाशित कर दे।*

* ब्रजभाषा के भवभूति वा करुणरस की साक्षात मूर्ति स्व० श्री सत्यनारायण जी का—'मोंहन कब लों मोंन गहौगे' गुन-गुनाते आना और दादी, 'पकौरिन कौ झोर' कहकर खिलखिला पड़ना अब भी बिसारने की नहीं, हृदय में सँजोकर रखने की वस्तु है। यही नहीं—

माधव, आप सदाँ के कोरे।
दीन-दुखी जो तुव कों जाँचत, सो दाँनिन के भोरे ॥
किंतु बात यै तुव सुभाव वे नेंकहुँ जाँनत नाहीं।
सुन-सुन सुजस रावरौ तुव ढिंग, आवन कों ललचाहीं ॥
नाम धरें तुमकों जग-मोंहन, मोह न तुम कों आवै।
करुनाँ-निधि तब ह्वें न नेंकहु, करुनाँ-बिंदु समावै ॥
लेत एक कौ देत दूसरेंहि, दाँनी बन जग-माँहीं।
ऐसौ हेर-फेर नित नूतन, लाग्यौ रहत सदाँहीं ॥
भाँति-भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर-चुराए।
अति उदारता सों लै वे ही, द्रोपदि कों पैंहराए ॥
रतनाकर कों मथत सुधा कौ कलस आप जो पायौ।
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सो देवँन कों प्यायौ ॥
मत्त-गयंद-कुवलिया के जो खेल-प्राँन हरि लीने।
बड़ी दया दरसाइ दयानिधि ; सो गजेंद्र कों दीने ॥

[1]. मंत्र, मंत्रि-मंडल।
[2]. तंत्र, शासन-पद्धति, राजतंत्र, प्रजातंत्र।

करिकें निधँन बालि-राँमन कौ राज-पाट जो आयौ।
तहँ सुग्रीब-बिभीषँन कों करि अति ऐहसाँन बिठायौ।।
पुंडरीक कौ सर्बनास करि माल-मता जो लीयौ।
ताकों बिप्र सुदाँमा के सिर, कर सनेह मढ़ि दीयौ।।
ऐसी तूँमा-पलटी के गुँन, नेति-नेति स्त्रुति गावें।
सेस, महेस, सुरेस, गँनेसहु, सहसा पार न पावें।।
इत माया अगाध-सागर तुम, डोवौ भारत-नैया।
रचि महभारत कहूँ लरावत, आप-आप में भैया।।
या कारँन जग में प्रसिद्ध तुम, 'निबटी-रकँम' कहाऔ।
बड़े-बड़े तुम मठा-धुँगारे, क्यों साँची खुलवाऔ।।

अथवा—

माधव, तुमहुँ भए बे-साख।
वुही ढाक के तीन-पात हौ, करै क्यों न कोऊ लाख।।
भक्त-अभक्त एक-से निरखत, कहा होत गुँन-गाएँ।
जैसेंई खीर-खवाएँ तुमकों वैसेंई सींग दिखाएँ।।
सबै धान 'बाईस पँसेरी, नित तोलँन सों काँम।
बलिहारी, नहिं नेंक बिदित तुम्हें, ऊँच-नींच कौ नाँम।।
बे-पेंदी के लोटा के सँम, तब मति-गति दरसावै।
कछु कौ कछु प्रभु काज-करँन में तुम्हें लाज नहिं आवै।।
जगत-पिता कहि बाइ, भए क्यों अब ऐसे बे-पीर।
दिन-दिन दुगुँन बढ़ावत जो नित द्रोह-द्रोपदी-चीर।।
जुगकर-जोरि प्रार्थना यैही निज माया धरि राखौ।
'सत्य' दीँन-दुखियँन के हित कों सदै-हृदै अभिलाखौ।।

आदि उपालंभ से भरे गेय-साहित्य को लोकोक्तियों की ललित सान पर चढ़ाकर जब वे रखा करते थे उस समय की कथा अकथ-कथा ही कही जा सकती है। वास्तवमें आपका नाम 'ब्रजकोकिल' सत्य ही था, जिसे काल ने असमय में ही मरोर डाला। ब्रजभाषा का वसंत आज उसके बिना फीका है और आगे भी फीका ही रहेगा।
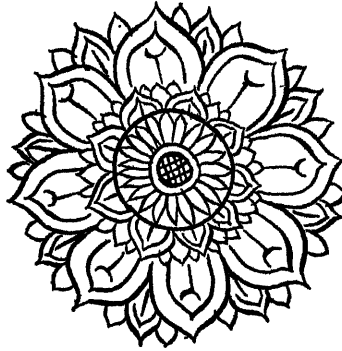
प्राचीन मध्यमिका की नारायण-वाटिका

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

उदयपुर में चित्तौरगढ़ से आठ मील उत्तर 'नगरी' नामक प्राचीन स्थान है। यहाँ से प्राप्त 'शिवि-जनपद' के सिक्कों से इस स्थान का पुराना नाम 'मझमिक' या 'मध्यमिका' ज्ञात होता है। किसी समय यह स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। पतंजलिने महाभाष्य में लिखा है—

"अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।"

—सूत्र ३।२।१११ पर वार्तिक २ का उदाहरण

अर्थात्, यवन राजा ने मध्यमिका नगरी का घेरा डालकर उस पर अधिकार कर लिया। यह घटना पतंजलि की समकालीन थी, क्योंकि जिस व्याकरण के नियम के लिये पतंजलि ने यह उदाहरण दिया है, उसके अनुसार यह कोई लोक-प्रसिद्ध एवं वक्ता की सम-सामयिक घटना होनी चाहिए। सौभाग्य से भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रों से इस घटना का पता चल जाता है। दूसरी शती ई० पू० में यवनराज 'मीनंडर' और उसके सेनापति "डिमिट्रिअस' ने पंजाब पर अधिकार करके मद्र-जनपद के प्रधान नगर 'शाकल' को अपनी राजधानी बनाया और तब उसने मध्य देश की ओर हाथ-पैर फैलाए। उसके इस सैनिक अभियान का पंजा एक ओर मथुरा और साकेत की तरफ बढ़ा और दूसरी ओर राजस्थान में मध्यमिका की तरफ। इन दोनों घटनाओं की स्मृति व्याकरण के उदाहरणों में बच गई है। इसी सूत्र में पतंजलि का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

"अरुणद् यवनः साकेतम् ।"

महाभाष्य के अतिरिक्त जैनेंद्र व्याकरण सूत्र २।२।९२ की अभयनंदि कृत महावृत्ति में भी दो उदाहरण बच गए हैं—

"अरुणद् यवनः साकेतम् ।
अरुणन्महेंद्रो मथुराम् ॥"

इसमें यवन के द्वारा साकेत के घेरे का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही किसी महेंद्र के द्वारा मथुरा के अवरोध का भी वर्णन है। वस्तुतः राजा का नाम महेंद्र नहीं था, बल्कि मेनंद्र था जो मीनंडर का ही भारतीय नाम था, जैसा उसके सिक्कों पर मिला है। पीछे के लेखकों ने मेनंद्र नाम की ठीक पहचान न समझकर उसका पाठ महेंद्र कर डाला। इस उदाहरण से यह निश्चित हो जाता है कि यवन राज मीनंडर ने मध्य देश में घुसकर पहले मथुरा और फिर साकेत को छेक लिया था। साथ ही उसकी बढ़ती हुई सेना की दूसरी बाँह मध्यमिका के चारों ओर कस गई थी। ज्ञात होता है कि उसका दाँत उज्जयिनी पर रहा होगा, क्योंकि मध्यमिका पर अधिकार जमाने के बाद उज्जयिनी का राज्य स्वयं ही उसकी गोद में आ टपकता। उस काल में शुंगों का अधिकार विदिशा पर था। इस क्षेत्र में मध्यमिका, उज्जयिनी और विदिशा ये तीन बड़े केंद्र थे। ज्ञात होता है मध्यमिका पर अधिकार करके उज्जैन-विदिशा पर दाँत गड़ानेवाली यवनसेना की भिड़ंत विदिशा के शुंगों की प्रबल सेना से काली सिंध के कछारों में हुई जिसमें यवन परास्त हुए। अंतिम कड़ी जानने का साधन कालिदास का—'मालविकाग्निमित्र नाटक' है।

राजनीतिक महत्त्व के अतिरिक्त मध्यमिका का सांस्कृतिक और धार्मिक महत्त्व भी कम न था। वस्तुतः राजस्थान में अर्बुद पर्वत के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश में मध्यमिका में ही तत्कालीन धार्मिक आंदोलन के चिह्न पाए गए हैं।

मथुरा-मध्यमिका-विदिशा का भौगोलिक-त्रिकोण भागवत आंदोलन का प्रधान स्थल था। मथुरा इस नवीन भक्ति-प्रधान धार्मिक हलचल का मख्य केंद्र था और उसी की धाराएँ उफन कर विदिशा एवं मध्यमिका तक पहुँच रही थी। मथुरा में भगवान् कृष्ण या वासुदेव और उनके भाई संकर्षण—बलराम की पूजा के कई पुरातत्त्व-गत प्रमाण पाए गए हैं। मोरा गाँव से प्राप्त लेख में वृष्णियों के पंचवीरों के एक मंदिर और उसमें प्रतिष्ठित मूर्तियों का उल्लेख है। यह शैल-गृह महाक्षत्रप राजुवुल (प्रथम शती ई० पू०) के समय का है। उसके पुत्र महाक्षत्रप शोडास के राज्य-काल का मथुरा से दूसरा लेख मिला है, जिसमें भगवान् वासुदेव के महास्थान में बने हुए तोरण और वेदिका का उल्लेख है। उस युग में भागवत धर्म के प्रधान पूज्य पुरुष भगवान् कृष्ण थे। उस काल के अन्य देवों के मंदिर स्थान कहलाते थे, किंतु महिमा में उनसे अधिक कृष्ण के मंदिर महास्थान कहे जाते थे।

मथुरा की तरह विदिशा भी भागवत-धर्म का केंद्र थी। विदिशा (आधुनिक भेलसा) के पास बेसनगर नामक स्थान में (जहाँ बेस नदी और वेत्रवती का संगम है) यवन राजदूत हीलिओदोर ने—जिसने भागवत धर्म स्वीकार कर लिया था, विष्णु का गरुड-ध्वज स्थापित किया। वैष्णव धर्म के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। भेलसा में एक दूसरा अठपहल गरुड-स्तंभ भी पाया गया है, जिस पर निम्नलिखित लेख है—

"गोतमीपुतेन भागवतेन....भगवतो प्रासादोत्तमस
गरुडध्वजकारितो द्वादश वसभिषिते भागवते....।"

अर्थात् भागवत् गौतमी पुत्र ने किसी भागवत महाराज के १२ वें वर्ष में गरुड-ध्वज स्थापित किया।

ऊपर के त्रिकोण के तीसरे बिंदु अर्थात् मध्यमिका में भी वैष्णव पूजा का एक विशिष्ट केंद्र शुंग-काल प्रथम शती ईस्वी पूर्व में स्थापित हो चुका था, चित्तौड़ के पास आधुनिक नगरी गाँव में यह स्थान 'हाथी-बाड़ा' कहलाता है। जब सम्राट् अकबर की सेना ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी तब इसी बड़े बाड़े में उसके हाथी रक्खे गए थे। तब से लोक में यह हाथी-बाड़ा नाम से मशहूर हो गया, किंतु यह बाड़ा मुस्लिम-काल से बहुत पहले का था। इसका प्राचीन नाम 'नारायण-वाटिका' था जिसकी स्थापना अकबर से १६ सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

हाथी-बाड़ा, नगरी गाँव से पूर्वदिशा में आध मील की दूरी पर है। यहाँ एक खुला, चौकोर बाड़ा अभी तक है, जिसकी लंबाई २९६' १०" है और चौड़ाई १५१" है। इसकी दीवार पत्थर की थी। उस चार दीवारी के ऊपर एक मुंडेरी या उष्णीष थी, जिसे मिलाकर भीत की ऊँचाई ९।२ फुट थी। इस दीवार के भारी पत्थरों पर तीन जगह एक ही लेख खोदा गया था। सौभाग्य से उसकी तीनों प्रतियाँ प्राप्त हो गई हैं। एक लेख तो हाथीबाड़े की दीवार में ही लगे हुए पत्थर पर खुदा है। दूसरा लेख नगरी से ६ मील दूर घोसूंडी गाँव के एक कुएँ में किसी समय लोगों ने ले जाकर लगा दिया था। कवि राजा श्यामलदास ने सबसे पहले उसे ढूँढ़ निकाला और प्रकाशित किया, अब वह कुएँ से हटवाकर उदयपुर के संग्रहालय में रखवा दिया गया है। लेख की तीसरी प्रति जिस पत्थर पर थी वह हाथीबाड़े की दीवार से निकालकर घोसूंडी गाँव की सीमा पर लगा दिया गया था। उसके तीन टुकड़े १९१५-१६ में डा० डी० आर० भंडारकर को मिले थे और उनके बाद १९२६-२७ में श्री गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने पुनः उन्हें ढूँढकर प्रकाशित किया। तीनों प्रतियों पर एक ही लेख था जो तीनों प्रतियों को मिलाकर डा० भंडारकर ने पूरा पढ़ लिया और प्रकाशित किया। लेख इस प्रकार है—

"पंक्ति १. (कारितो यं राज्ञा भागव)तेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण स—
पंक्ति २. र्व तातेन अश्वमेधयाजिना भगव (* द्) भ्यां संकर्षण–वासुदेवाभ्यां
पंक्ति ३. अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो नारायणवाटिका।"

अर्थ

'यह पूजाशिला, प्राकार और नारायण-वाटिका सबके स्वामी अपराजित भगवान् संकर्षण और वासुदेव के लिये अश्वमेध याजी भागवत राजा सर्वतात ने जो पाराशरी के पुत्र और गाजायन गोत्र के थे, बनवाई।'[१]

लेख के खुदवानेवाले राजा सर्वतात थे। उनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिला, किंतु वे कण्व-वंश के होने चाहिए ऐसा डा० भंडारकर ने अनुमान किया है, क्योंकि उनका जो गोत्र था वह गाजायन गोत्र मत्स्यपुराण की गोत्र-सूची के अंतर्गत आंगिरस गोत्रगण के अंतर्गत काण्व-शाखा में मिलता है। पाराशरी उनकी माता का नाम था। राजा सर्वतात प्रतापी जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसकी परंपरा पुष्यमित्र शुंग के राज्य-काल से पुनः आरंभ हो गई थी।

लेख में स्पष्ट कहा है कि वह स्थान भगवान् संकर्षण और वासुदेव के लिये बनवाया गया था। संकर्षण-वासुदेव इन दो नामों का जोड़ा शुंग-काल में साथ-साथ प्रसिद्ध हो गया था। पतंजलि ने महाभाष्य में—

"संकर्षण द्वितीयस्य बलं कृष्णास्य वर्धताम्।"

—सूत्र २।२।२५,

इस वाक्य में संकर्षण और कृष्ण को द्वंद्व रूप में साथ माना है। महाभारत-उद्योगपर्व (४७।७२) में कृष्ण को 'बलदेव द्वितीय' कहा गया है और आरण्यक पर्व (१३।३६) में कृष्ण को 'बलदेव सहायवान्' कहा है। पाणिनि सूत्र ८।१।१५ पर द्वंद्व या दो नामों का ऐसा उदाहरण देने के लिये जिसमें उनकी एक साथ लोक-प्रसिद्धि (साहचर्येण अभिव्यक्ति) प्रकट हो, काशिका में—

"संकर्षण-वासुदेवौ"

कहा गया है। निश्चय ही यह उदाहरण काशिका से बहुत प्राचीन था। उसका स्तर पतंजलि के महाभाष्य के युग में ही रक्खा जाना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि शुंग-काल में कृष्ण-बलदेव की पूजा एक साथ होने लगी थी। महावीर के पाँचवे वर्ष के विचरण का वर्णन करते हुए उनके वासुदेव-मंदिर और बलदेव-मंदिर में ठहरने का उल्लेख आता है। मथुरा के पुरातत्त्व में भी इसका प्रमाण पाया जाता है कि जहाँ वासुदेव का मंदिर था उसीके आस-पास बलराम के मंदिर भी थे। मोर गाँव में वृष्णि-पंचवीरों की प्रतिमाएँ मिली हैं। उसीके समीप जुनसुटी गाँव में बलराम की शुंग-कालीन मूर्ति मिली है, जो इस समय लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है।

लेख में वासुदेव-संकर्षण के दो विशेषण दिए गए हैं। एक में उन्हें 'सर्वेश्वर' अर्थात् अन्य सब देवों में अधिपति कहा है। वस्तुतः इस युग के धार्मिक आंदोलन में यक्ष, नाग, नदी, पर्वत आदि जितने देवी-देवता थे उनमें सबसे अधिक मान्यता 'कृष्ण-बलराम' की हो गई थी। यही भागवत-धर्म की सिद्धि थी। इसने कृष्ण को केंद्र में रखकर अन्य देवों का भागवत-दृष्टिकोण के साथ समन्वय कर दिया। उन देवों का निराकरण नहीं किया गया, किंतु भगवान् वासुदेव की पूजा के साथ उनका मेल मिला दिया

१. देखिए, श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर का लेख—
"नगरी का हाथी-बाड़ा ब्राह्मी 'अभिलेख', एपिग्राफिआ इंडिका, भाग २२ (१९३३-३७), पृ०१९८-२०५। मैं इस लेख की अधिकांश सामग्री के लिये श्री भंडारकर जी का ऋणी हूँ।"
—ले०

गया। गीता के दसवें अध्याय में जो 'विभूति योग' का वर्णन है वह कृष्ण को केंद्र में रखकर अन्य छुटभैये देवी-देवताओं को उनकी विभूति बताकर दोनों में समन्वय स्थापित करने के लिये ही है, किंतु मेल-जोल का मार्ग अपना लेने पर भी कृष्ण उन सब में प्रधान थे। इसी कारण और देवताओं के मंदिर 'स्थान' या 'थान' कहलाते थे, किंतु कृष्ण के मंदिर को शोडास के मथुरा के लेख में 'महास्थान' कहा गया है। इसी प्रकार भेलसा के दूसरे लेख में जो ऊपर उद्धृत किया गया है भगवान् वासुदेव के मंदिर को 'प्रासादोत्तम' अर्थात् अन्य मंदिरों में उत्तम कहा है। 'सर्वेश्वर' पद का संकेत भी तत्कालीन धार्मिक भाषा में यही था।

लेख में कृष्ण-बलराम को 'अनिहत्' अर्थात् अविजित् विशेषण दिया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि उस युग की धार्मिक कशमकश में भागवत-धर्म की और उनके पूज्य देवों की विजय का दृढ़ विश्वास जनता में था।

लेख का—'पूजाशिलाप्राकारः' पद वास्तुशास्त्र और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भंडारकर ने 'पूजा के लिये पत्थर की दीवार' ऐसा अर्थ माना जो ठीक नहीं जँचता। वस्तुतः 'पूजा-शिला' पद अलग है और 'प्राकार' अलग है। नारायण-वाटिका में दो चीजें बनवाई गई, एक पूजा का शिला पट्ट और दूसरी उस स्थान को घेरनेवाली ऊँची चार दीवारी, जिसे 'प्राकार' कहा गया। बौद्ध-स्तूपों के चारों ओर जो स्थान वेदिका का था वही यहाँ प्राकार का है। प्राचीनतम मंदिरों का यही स्वरूप था। बीच में एक स्थंडिल, मंडप या चबूतरे पर पूजन का शिलापट्ट रक्खा जाता था और उसके चारों ओर थान को घेरने के लिये बाड़ा या वेदिका या प्राकार बना दी जाती थी। बौद्ध-स्तूपों के भी वास्तु का ढाँचा यही है। बीच के स्तूप के चारों ओर वेदिका बनाई मिलती है। यहाँ पूजा-शिला ही पूजन का मुख्य साधन थी। 'पूजा-शिला' वही है जिसे मथुरा से प्राप्त जैन लेखों में 'आयाग-पट्ट' या 'आयक पट्ट' कहा गया है। आयाग पट्ट का अर्थ आर्यक पट्ट या पूजन का पट्ट किया जाता है (टेबलट ऑफ होमेज, ब्यूहलर)। 'पूजा-शिला' का भी वही अर्थ है। डा० भंडारकर ने हाथी-बाड़ा या नारायण-वाटिका की जो खुदाई कराई थी उसमें हाथी-बाड़ा के पश्चिमी हिस्से में ईंटों का एक छोटा चबूतरा या स्थंडिल प्राप्त हुआ था। उसी पर पूजाशिला रक्खी जाती थी। यही आरंभिक देवा-पूजन का प्रकार था। मूर्ति-निर्माण से पहले देवता के प्रतीक रूप में एक पत्थर की चौकोर पटिया पर पुष्प-पत्र आदि से पूजन किया जाता था। यह पूजा-विधि संभवतः प्राचीन यक्ष-पूजा की विधि से अपनाई गई।

नगरी या मध्यमिका की नारायण-वाटिका भारतवर्ष भर में अपने ढंग का एक ही अवशेष है। यह प्राचीनतम वैष्णव-मंदिर कहा जा सकता है। हाँ, आरंभक अवस्था में इस मंदिर का स्वरूप निर्माणात्मक नहीं था, किंतु आकाश की खुली छत के नीचे एक छोटे चबूतरे पर पूजा का शिला-पट्ट रखकर और उसके चतुर्दिक एक ऊँची चारदीवारी घेरकर इन आद्य कालीन देवस्थानों का स्वरूप बनाया जाता था।
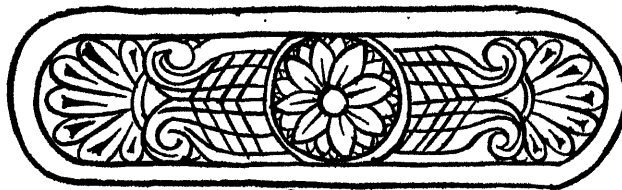
ब्रज का लोक-साहित्य

श्री सत्येंद्र

ब्रज की ऐतिहासिक और भौगोलिक सीमाएँ आज अनिश्चित और विवादास्पद हैं, किंतु ब्रज की छाप समस्त भारत पर पड़ी है, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता। इस ब्रज को, इसकी भाषा को और इसके साहित्य को अभी कुछ विशिष्ट ग्रंथों के द्वारा ही जाना जा सका था, किंतु ब्रज आज भी जीवित है, ब्रज-लोक का एक सुंदर अस्तित्व है। यह ब्रज-लोक प्रकाशित अथवा अप्रकाशित-ग्रंथ-साहित्य में अभिव्यक्त ब्रज से कहीं अधिक अनोखा और प्राणवान है। यह मूल ब्रज युगों-युगों से भाव-संपत्ति को मौखिक-परंपरा द्वारा सुरक्षित किये हुए है। आज उसी मूल ब्रज की लोक-संपत्ति का परिचय कराना हमारा अभीष्ट है।

ब्रज-वाणी की अभिव्यक्ति के दो प्रमुख प्रकार हैं—गीत और कहानियाँ। इन दोनों का ब्रज में अखंड भंडार है। क्या पुरुष, क्या स्त्री और क्या बालक-बालिकाएँ सभी किसी न किसी सरस अभिव्यक्ति में प्रवृत्त मिलेंगे।

प्रातः होते ही चक्की की घरघराहट के साथ और बुहारी की सरसराहट के साथ मंद, मधुर स्वर में गृहलक्ष्मी का कंठ भी फूट पड़ता है। वृक्षों पर चहचहानेवाली चिड़ियाँ ही ब्रज के प्रातः को सवाक् नहीं बनातीं, गृहलक्ष्मियों की स्वर-लहरी उसे मधु-स्नात कर देती है, जब वह गाती है—

"जागिऐ ब्रजराज कुँवर भोर भयौ अँगना।
बाट के बटोही चाले, पँछी चाले चुगना ॥
—हम चले सिरी जमुनाँ ॥"

इन शब्दों को थिरकाती प्रभाती ब्रज के घर-घर को मुखरित कर देती है। इनसे प्रेरित होकर करवटें बदलते हुए पुरुष और आँखें मिलते हुए बालक शय्या-त्याग कर नित्य-कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। घर का समस्त वातावरण प्रफुल्ल प्रार्थना-पूर्ण-विनय के भाव से परिपूर्ण हो जाता है। तभी माताएँ बच्चों को मुँह धुलाती हुई जब आँख का कीचड़ स्वच्छ करती होती हैं, लाड़-भरे स्वर में वे गाती हैं—

"कीची-कीची कौआ खाइ, दूध-बतासे लल्लू-खाइ।"

तब अस्फुट तोतले शब्दों में बालक भी माँ का साथ देता है और दूध-बतासे की स्वाद-कल्पना से उसका मन किलक उठता है। माँ की हृदय-तंत्री भी झंकृत हो उठती है।

पुरुष खेतों पर पहुँच कुँआ चलाता है और 'आइ गए राँम' के साथ पुरहा लेने और राम-मिलने के आनंद और सुख को व्यक्त करता हुआ अपनी आस्तिक भावना सिद्ध करता है। बीच-बीच में वह भी कुछ गा लेता है।

इधर घर से निकलकर बालक खेल में लगते हैं और उन खेलों में भी कहीं न कहीं कुछ न कुछ गेय शब्दों का पुट मिलना अनिवार्य है। कबड्डी तो पूरी साँस का संगीत है। चील-झपट्टा, पानी की मछली आदि कितने ही खेलों में वह शारीरिक गतियों को गेय-स्वर-लहरी से एक प्रकार-ताल देता है।

क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक प्रत्येक के जीवन-क्रम में जैसे गेय-स्वर समा गया हो। ब्रजवासी उस नित्य के गीत से अघाता नहीं, वह ऐसे अवसरों की बाट जोहता है जब वह उत्सवों और अनुष्ठानों पर अपने संगीत-प्रेम को विशेष प्रोत्साहित कर सके। चैत्र के महिने में देवी के गीतों से घर-आँगन गूँज उठता है। देवी 'जालपा' और 'लाँगुरिया' स्त्रियों के कंठों की समस्त श्रद्धा और विनोद को

आकर्षित कर लेते हैं, तो उधर पुरुष 'जागरण' का अनुष्ठान कर तान-तंमूरों के साथ 'भगतों' को, जागरण के गीत गाने और देवी को प्रसन्न करने के लिये निमंत्रित करता है।

चैत्र के ये स्वर ग्रीष्म के बढ़ते उत्ताप में शुष्क हो जाते हैं, किंतु जैसे ही वर्षा का आगमन होता है पृथ्वी में फूटनेवाली हरियाली के अंकुरों की भाँति कंठ-कंठ से मधुर, तरल मल्हारें ब्रज को तरंगित करने लगती हैं।

"परे रे हिंडोला नौलख बाग में जी, एजी कोई झूलत राँनी राज-कुँमारि।"

गाते-गाते गाँव का प्रत्येक पेड़ चंपा-बाग अथवा नौलख-बाग का रूप ग्रहण कर लेता है। झूले पड़ जाते हैं और झूलती रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्र ऋतु के श्याम-सजल वातावरण में फर-फराने लगते हैं, उनके साथ स्वरों के उतार-चढ़ाव से उमगते हुए विविध गीत सुनाई पड़ते हैं—विविध गीत और अनंत गीत, प्रातः से दिन-भर संध्या तक, संध्या से रात में न जाने किस समय तक ये स्वर चलते रहते हैं; इनको पीते-पीते सावन की भयावनी रात मनोरम स्वप्नों में सो जाती है।

कहीं-कहीं गाँवों की चौपालों पर, वर्षा के अवकाश में गरजते बादलों, चमकती बिजली, झनकारती झिल्ली और टर्राते दादुरों के तुमुल में किसानों की भीड़ एकत्रित होकर 'आल्हा' या 'ढोला' का गीत सुनती मिलती है। ढुलैया अथवा अल्हैत का तीखा स्वर सावन-भादों की उस आर्द्र रात्रि को चीरता हुआ श्रोताओं को ही आहत नहीं करता, दूर दिशाओं के अंधकार में झिल्ली को चिनौती देता हुआ चुभता चला जाता है। सावन-भादों के महिनों में यह संगीत 'रक्षा-बंधन' की पूर्णिमा के दिन तो पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच जाता है और कृष्ण-जन्माष्टमी का त्यौहार, जन्मोत्सव के गीतों का आल्हाद उपस्थित कर देता है।

सावन-भादों के इन रसीले गीतों की गूँज मंद होते-होते क्वार के दशहरा और पूर्णिमा के निकट पुनः देवी के गीतों और गंगा-स्नान तथा तीर्थ-यात्रा के गीतों में संजीवित हो उठती है। उधर लड़के-लड़कियाँ टेसू, झाँझी लिये घर-घर में घूमकर गाते दिखाई पड़ते हैं—

"टेसूराइ की सात बौहरियाँ, नाँचे-कूदें चढ़ें अटरियाँ।"[१]

बालक-बालिकाओं के खेल-कूद के गीतों से चंचल हुआ क्वार का वातावरण कार्तिक-स्नान की पवित्र धर्ममयी गीत-ध्वनि से परास्त हो जाता है। प्रातः कार्तिक के शीत में ठिठुरतीं सौभाग्या-कांक्षिणी धर्म-प्राणा स्त्रियाँ अँधेरे ही उठकर कूप वा नदी में स्नान करके राइ-दामोदर के गीत गाने लगती हैं। गाँव के कूँए गा उठते हैं। प्रातः की मंथर मदिर-समीर भक्ति की इस स्वर लहरी को चतुर्दिक् मंद-मंद वितरित करने लगती है। शीत के प्रकोप के बढ़ने पर पुनः कुछ काल के लिये जन-कंठ कुछ मूर्छित-सा हो उठता है, किंतु फाल्गुण के लगने से पहले ही फिर ढ़प-ताल खटकने लगते हैं। इस बार तो स्वर-संगीत में बाढ़ ही आ जाती है। उन्माद से परिपूर्ण मानव के मादक स्वर खयाल, जिकड़ी के भजन और सबसे अधिक होली और रसिया में मचल उठते हैं। ब्रज की प्रकृति का अणु-अणु थिरकने लगता है। होली और रसिया तो ब्रज की बिल्कुल अपनी ही विशेषता है। इसके परुष, उदात्त और सावेग स्वर शरीर को ही रोमांचित नहीं करते मानसिक स्तब्धता प्रस्तुत करते हुए आत्मा को आंदोलित कर देते हैं। यहाँ शब्द नहीं स्वर और उनका लय-विधान ही मार्मिक हो उठता है। होली और रसिया के न जाने कितने प्रकार ब्रज में मिलेंगे, पर 'रजपूती होली' में शरीर की धातुओं को प्रकंपित करने की अनूठी शक्ति है। इस होली से उन्मत्तता मन, वाणी और मस्तिष्क पर छा जाती है।

इस नियमित क्रम के अतिरिक्त ब्रज में संस्कारों के विशेष अवसर जब-तब आते ही रहते हैं। जन्म और विवाह ये दो संस्कार सबसे प्रधान हैं और इन दोनों अवसरों पर गीत उमड़ पड़ते हैं। प्रत्येक कार्य के लिये वह कितना ही छोटे से छोटा क्यों न हो, कोई न कोई गीत अवश्य है और

१. अथवा—"टेसूरा घंटार बजैयो, इक नगरी दस गाँम बसैयो।" ··· इत्यादि।

इन गीतों के साथ मंगल की भावना इतनी घनिष्ठ है कि इनका गाना एक प्रकार से अनिवार्य है। दिन-निकलने के पहले से रात के पिछले पहर तक ये गीत चलते रहते हैं। विवाह में 'रतजगे' के अवसर पर तो रात-भर गीत गाये जाते हैं। नाम ही इस अवसर का—'रत-जगा' या रात्रि-जागरण पड़ गया है।

ब्रज, इसीलिये गीतों का देश है। क्या यह संभव है कि ब्रज के इन समस्त गीतों का संग्रह किया जा सके और उसे प्रकाशित किया जा सके? जो गीत-परंपरा से चले आ रहे हैं वे ही इतने अधिक हैं कि संग्रह करना कठिन है, इस पर गाँव का गायक स्वरकार ही नहीं शब्दकार भी है। ख्याल, होली, रसिया, भजन, जिकड़ी आदि न जाने कितने रागों के गीत वह प्रति वर्ष नये-नये बनाया करता है। जिससे ब्रजभाषा के मौखिक साहित्य में निरंतर नयी वृद्धि होती रहती है। यह भी कठिन है कि इनमें से सर्वोत्तम गीतों का चयन करके कह दिया जाय लीजिए, बस इस समस्त भंडार में इतने ही उच्च कोटि के रत्न हैं। फलतः हमने यहाँ कुछ गीत ही दिये हैं, अधिक के लिये स्थान भी नहीं हो सकता था। ब्रज के जीवन में गीतों की व्यापकता नीचे के चक्र से समझी जा सकती है।

नियमित

चैत्र—होली-फूलडोल। नवदुर्गा—जात के गीत, देवी के गीत, जागरण।

वैशाख—अखतीज (बहुधा विवाह के होते हैं—विवाह संस्कार से संबंधित गीत होते हैं)।

जेष्ठ—गंगा-दशहरा—गंगा-स्नान की यात्रा के कारण यात्रा-संबंधी गीत।

सावन—हिंडोले, मल्हार आदि (सावन-भादों में झूले पड़ जाते हैं दोनों महिनों में गीत-बाहुल्य रहता है)। हरियाली तीज, हरियाली मावस, नाग-पंचमी, रक्षा-बंधन आदि।

भादों—नाग-पंचमी, जाहरपीर (जहारपीर) का जागरण, कृष्ण-जन्माष्टमी—जन्मोत्सव के गीत, अनंत चौदस, चट्टा चौथ—चट्टों के गीत।

क्वार—नौ देवी—देवी के गीत, न्यौरते के गीत प्रातः, टेसू,—टेसू के गीत (लड़कों-द्वारा), झाँझी झाँझी के गीत (लड़कियों-द्वारा)।

कार्तिक—कार्तिक-स्नान पूरे महिने, प्रातः, भक्ति के गीत विशेषतः राई-दमोदर (राधा-दामोदर) के। करवा चौथ के गीत, स्याहू—स्याहू के गीत (दिवाली के दूसरे दिन प्रातः) भैया-दौज के गीत, देवउठान (देवोत्थान) के गीत।

अगहन—गोपी-व्रत (व्रतचर्या) के गीत।

माघ—बसंत-पंचमी,—होली-रसियों का आरंभ।

फाल्गुण—होली का महिना—पूरे महिने होली-रासियों की धूम।

ब्रज में प्रत्येक पूर्णिमा को ब्रज की परिक्रमा होती है। परिक्रमा के गीत अलग हैं। इन नियमित गीतों के साथ विवाह तथा जन्म के गीत यथावसर गाए जाते हैं। फिर ढोला, जिकड़ी के भजन, आल्हा, निहालदे, चौबोले चाहे जब मनोनुकूल गाये-गवाये जा सकते हैं। साधारणतः ढोला, आल्हा और निहालदे वर्षाॠतु में अच्छे जमते हैं। जिकड़ी के भजन और चौबोले फागुन-चैत्र में समाँ बाँधते हैं।

विवाह-जन्मोत्सव आदि के ऐसे अवसर हैं, जिनका संबंध मनुष्य की सत्ता मात्र से है। मानव मात्र इन अवसरों पर बहुत शुभ-अशुभ का विचार करता है। इसका अभिप्राय यही होता है कि जीवन में जन्म और विवाह से जो नयी अवतारणाएँ होती हैं, वे सफल हों और सुखद हों। इन से अदृष्ट भविष्य का संबंध जुड़ जाता है। ऐसे संबंधों के प्रति मनुष्य अपने उद्योग के विश्वास पर निश्चित नहीं हो सकता। उसे अन्य शक्तियोंका भरोसा करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर संस्कृत-सभ्य-समाज में भी मानव के आदिम संस्कार जागृत हो उठते हैं। यही कारण है कि ब्रज में भी जन्म और विवाह के अवसरों के सारे अनुष्ठान स्त्रियों के हाथ में चले जाते हैं, जो बहुधा आज हमें अर्थ-रहित और रहस्यमय विदित होते हैं। ऐसे सभी अनुष्ठान गीतों-सहित होते हैं। इन गीतों में अर्थ

की गहराई नहीं मिलती, न स्वरों में कोई विशेष मधुर ताल-लय का संधान होता है, पर ऐसा प्रत्येक गीत-गानेवालियों की समस्त कल्याण-भावना से निस्कृत होता है। आदिम मानव के जैसे टूटे-फूटे उद्गार इनमें रहते हैं, जिनमें टोने (चार्म) का अभिप्राय अवश्य निहित मिलता है। इन गीतों में मिलनेवाले मानस का प्रतिबिंब समस्त भारतीय समाज में प्रायः समान मिलेगा। इनका संबंध गहन जीवन-तत्व के संरक्षण की मार्मिक मूल मानवीय भावना से होता है।

इन्हीं अवसरों पर इन आनुष्ठानिक टोने-संबंधी गीतों के उपरांत 'खेल के गीत' गाये जाते हैं। इन गीतों में सभी प्रकार के गीतों का समावेश हो सकता है। इनमें युग की नवीनता भी अपना स्थान पा सकती है।

नियमित गीतों की जो व्यापकता ऊपर दिखाई गई है वे प्रायः सभी स्त्रियों के द्वारा गाये जाते हैं। पुरुषों के गीतों में कोई नियमितता नहीं रहती, न इनमें टोने का भाव रहता है। हाँ, देवी के जागरण और जाहरपीर आदि के कुछ गीत ऐसे हैं जो पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं तथा जिनके टोने का मूल्य उतना चाहे न हो पर आनुष्ठानिक मूल्य अवश्य होता है। पुरुष के अन्य गीत—आल्हा, ढोला आदि मनोरंजनार्थ होते हैं, होली, रसिया अधिकांशतः पुरुषों द्वारा ही गाये जाते हैं।

गीतों में विषयों की दृष्टि से यह विशेषता लक्षित होती है—

स्त्रियों के गीत—विवाह-जन्मादि

१. टोने के गीतों में छोटे देवी-देवताओं का उल्लेख होता है।
२. मंगल के गीतों में कृष्ण-रुक्मिणी को भी स्थान मिल जाता है।
३. खेल के गीतों में प्रेम-वृत्तों का बाहुल्य होता है।
४. अनुष्ठान के गीतों में अनुष्ठान की विधि—नेगादि का उल्लेख विशेष रहता है।
५. तीर्थादि के गीत—कृष्ण, राम, गंगा आदि का उल्लेख, दान की और भक्ति की महत्ता।
६. देवी के गीत—देवी, लाँगुरा, मंदिर, यात्रा की कठिनाइयों का, विशेष भक्तों का, जैसे धानूं का, कान्हर का।
७. कार्तिक के गीतों में—राई-दामोदर (राधा-दामोदर), गणेश, भक्ति, विविध देवताओं के गीत।
८. सावन के गीतों में—मल्हार, वर्षा का वर्णन, पति-वियोग, बारहमासा, भाई का प्रेम, झूलने का आनंद, प्रेम की रोमांस के गीत।

पुरुषों के गीत

१. जागरण के गीतों में देवी के भक्तों की चमत्कार पूर्ण गाथाएँ रहती हैं, जैसे—जाहरपीर, जगद्देव आदि की।
२. होली और रसिया में कृष्ण और राधा के प्रेम की प्रधानता रहती है, जिसके साथ किसी भी प्रकार के प्रेम की यहाँ तक कि नग्न और अश्लील वासनाओं की भी रेखाएँ उभर आती हैं।
३. ढोला में नल-मोतिनी वा नल-दमयंती, ढोला-मारू तथा किशनसिंह आदि के विवाह और विपदाओं तथा चमत्कार पूर्ण कार्यों का वर्णन रहता है; रोमांस, साहस, आश्चर्य और विलक्षण बातों से परिपूर्ण। देवी का महत्त्व अंतरतः व्यापक है।
४. आल्हा में वीर रस की प्रधानता, युद्धों के वर्णन, राजपूतकालीन संस्कृति का चित्रण, जादू-टोने के चमत्कारों से परिपूर्ण।
५. जिकड़ी के भजनों में बहुधा रामायण-महाभारत से ऐसे कथा-प्रसंग लिये जाते हैं जो बहु प्रचलित नहीं होते, प्रचलित वृत्तों पर भी रचना होती ही है।

इन गीतों पर सरसरी दृष्टि डालने से ब्रज में आज तीन संस्कृतियों के सार विद्यमान मिलते हैं—

१. आदि मानवीय—केवल स्त्रियों के बीच।

२. देवी की भक्ति—स्त्रियों और पुरुषों दोनों में व्यापक।

३. वैष्णवीय—दोनों में समान रूप से व्यापक।

किंतु ब्रज गीतों का ही देश नहीं, कहानियाँ भी इसे अत्यंत प्रिय हैं। कहानियों में हमें चार प्रकार मिलते हैं—

१. आनुष्ठानिक—ये व्रतों आदि के अवसरों पर कही-सुनी जाती हैं। इसका संबंध स्त्रियों से होता है।

२. कार्तिक में प्रत्येक दिन की एक कहानी होती है, अन्य देवी-देवताओं की कहानियाँ भी कही जाती हैं। भैया दूज, अहोई आठें, करवा चौथ, स्याहू—आसमैया-प्यासमैया, अनंत चौदस, गाज-पूजा आदि ऐसे अवसर हैं जिनपर कहानी सुनना अनिवार्य है।

३. विश्वास-गाथाएँ—किसी भी कार्य के लिये कारण निरूपिणी ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनपर कहनेवाला पूर्ण विश्वास करता है और जिन्हें अंगरेजी में मिथ (Myth) कहा जा सकता है।

४. नीति-कथाएँ—ऐसी कहानियाँ जिनमें अवसरोपयोगी कोई शिक्षा निहित होती है और अवसर विशेष के लिये ही जो बनाई गई प्रतीत होती है।

५. मनोरंजन-संबंधी—ऐसी कहानियाँ जो मनोरंजन के काम में आती हैं। नानी या दादी जो बच्चों को सुनाती हैं, या चौपाल पर बैठकर कहानी-सुनानेवाला श्रोताओं को सुनाता है।

हम उन कथाओं को यहाँ संमिलित नहीं करते जिसे कोई पंडित विशेष निमंत्रण पर धार्मिक-भाव से पूजा-उपचार आदि के उपरांत सुनाता है, जैसे-गणेश जी की कथा या सत्यनारायण की कथा आदि।

ब्रज की मौलिक, मौखिक कहानियों का एक सुंदर संग्रह 'ब्रज-साहित्य-मंडल' प्रकाशित कर चुका है। यहाँ तो हम उदाहरणार्थ और मनोरंजनार्थ ही कुछ कहानियाँ दे रहे हैं।

मुझे ब्रज, जनपद-कहानियों का मूल प्रदेश प्रतीत होता है। विश्व में आज प्रचलित कहानियों के विश्लेषण से अधिकांश विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत ही वह देश है जहाँ से कहानियों का उद्गम हुआ। भारत में ब्रज वह जन-पद है जहाँ से भाषा ने समस्त भारत को ऐक्य प्रदान किया। इसी क्षेत्र में ढली संस्कृत समस्त भारत के अन्य साहित्य का माध्यम बनी। यही वह प्रदेश है जहाँ के कृष्ण-चरित्र से गुँथी अनेकों कहानियाँ देश-देशांतरों में प्रसारित हुई, किंतु यह प्रश्न अभी विशेष खोज-बीन चाहता है और हमें भी इस विषय में कोई विशेष आग्रह नहीं।

ब्रज की कहानियों में हमें चार स्तर मिलने चाहिए। एक आदिम मानव की मौलिक भावना को सुरक्षित रखनेवाला, दूसरा योरोपीय आर्यों से संबंधित; तीसरा सांस्कृतिक चेतना-युक्त, चौथा स्थानीय रंग से रंजित।

आनुष्ठानिक कहानियों में हमें आदिम मानवीय भावना की झाँकी मिल सकती है। यद्यपि वह बहुत कुछ संशोधित हो चुकी है। योरोपीय आर्य-वर्ग की कहानियाँ वे जो समस्त विश्व के आर्यों की मौखिक परंपराओं में आज तक विद्यमान मिलती है। नाम-स्थान के रूपांतर को हटा देने पर समस्त आर्य-जातियों की इन कहानियों का ढाँचा एक-सा मिलता है। ब्रज की समस्त कहानियों का तो इस प्रकार अध्ययन अभी नहीं हो सका है। हमने कुछ ऐसी कहानियों पर विचार किया है, जो इस प्रकार है।

भारतेतर भाषाओं में इस विषय पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किये गए हैं। हम यहाँ इस विषय के अन्य विद्वानों का उल्लेख नहीं करते, केवल 'बर्न' का नाम लेना चाहते हैं। इन्होंने "भारोपीय' क्षेत्रों की कहानियों का तुलनापूर्वक अध्ययन करके सत्तर ऐसे 'रूप' प्रस्तुत किये जो सर्वत्र समान रूप में मिल जाते हैं। इन समस्त रूपों को समझने के लिये तो हमें बर्न की पुस्तक की ही शरण लेनी पड़ेगी। यहाँ तो हम उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ रूपों के संबंध में यह विचार करना चाहते हैं कि वे ब्रज में किस रूप में मिलते हैं। हमने पहले बर्न के रूप दिये हैं, अंग्रेजी से अनुवाद करके उनके नीचे ब्रज की कहानियों का सांकेतिक उल्लेख कर दिया गया है। इससे पाठक का विनोद होगा; वह पाश्चात्य उद्योगों

के रूप को समझेगा, उसे लोक-जीवन में सर्वत्र साम्य का आभास मिलेगा और उसे आगे कुछ इसी दिशा में उद्योग करने की प्रेरणा मिलेगी।

१. क्यूपिड तथा साइक[1]

१. एक सुंदर लड़की को एक दिव्य जाति (Supernatural race) का मनुष्य प्रेम करता है।

२. वह मनुष्य के रूप में रात्रि में प्रकट होता है और लड़की को समझा देता है कि उसे देखे नहीं।

३. वह उसके आदेश का उल्लंघन करती है और उससे हाथ धो बैठती है।

४. वह लड़की उसकी खोज में निकलती है, कितनी ही कठिनाइयों का सामना करती है, कितने ही कठिन कार्यों का उसे संपादन करना पड़ता है।

५. वह अंत में उसे पा लेती है।

यह कहानी पुरुरवा-उर्वशी की वैदिक कहानी के तुल्य है। यद्यपि थोड़ा हेरफेर है। पुरुरवा-उर्वशी की कहानी यजुर्वेद के ब्राह्मण में आती है। उसमें उर्वशी ने पुरुरवा से कहा है कि वह उसे नग्न न देख पाये। पुरुरवा मनुष्य योनि का है, उर्वशी दिव्य योनि की। वस्तुतः 'मेलूसिना' से इसका अधिक साम्य है। पुरुरवा-उर्वशी की कहानी का उत्तरांश विशेष दृष्टव्य है। उसमें पुरुरवा जब प्राण तक देने को सन्नद्ध हुआ तो करुणार्द उर्वशी ने कहा कि वर्षांत में आना तब मैं मिलूँगी। पुरुरवा गया, तब उर्वशी ने कहा तुम गांधर्वों से यह बरदान माँग लेना कि मैं भी तुम में से एक हो जाऊँ। इस उत्त-रांश की घटना लोक-कहानियों में अत्यंत प्रचलित है। एक मनुष्य एक अप्सरा के प्रेम में फँस जाता है। अप्सरा उसे इंद्र के समक्ष ले जाती है। वह नाचती है, पुरुष तबला बजाता है और इंद्र से पुर-स्कार में इस अप्सरा को माँग लेता है। स्पष्ट ही इस लोक वार्ता में यजुर्वेद के ब्राह्मण के 'पुरुरवा-उर्वशी' का रूपांतर ही जीवित है।

२. मेलूसिना

१. एक मनुष्य दिव्य जाति की स्त्री से प्रेम करने लगता है।

२. वह उसके साथ इस शर्त पर रहने के लिये तत्पर हो जाती है कि वह उस स्त्री को सप्ताह के एक विशेष दिन नहीं देखेगा।

३. वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है और उससे हाथ धो बैठता है।

४. वह बहुत ढूंढता है, पर उसे नहीं पाता।

यह कहानी शांतनु-गंगा की कहानी जैसी है। इस पौराणिक कहानी में गंगा की शर्त यह है कि शांतनु उसे कोई भी कार्य करने से नहीं रोकेंगे। जिस समय रोकेंगे उसी समय वह चली जायगी। गंगा अपने पुत्रों को गंगा में बहाती है। अंत में शांतनु रोक देते हैं। गंगा शांतनु को छोड़ जाती है।

लोक कहानियों में ढोला में मोतिनी की कहानी भी इसी प्रकार की है। मोतिनी मनुष्य योनि की नहीं, भौमासुर दाने के पास रहती है। नल से इस शर्त पर विवाह करती है कि वह दूसरा मौहर (विवाह का मुकुट) सिर पर नहीं रखेगा। जब रखेगा तभी मोतिनी से हाथ धो बैठेगा। दमयंती से विवाह के समय वह नल सिर पर मौहर पहनता है, मोतिनी से वियोग हो जाता है।

३. हंसकुमारी

(Swan-Maidu Mype)

१. एक मनुष्य एक स्त्री को स्नान करते देखता है, उस स्त्री की अभिमंत्रित पोशाक (charm dress) किनारे पर है।

[1]. कहानियों के रूपों के ये शीर्षक श्रीमती बर्न की पुस्तक--'ए हैंडबुक आव फोकलोर' में से दिये गए हैं। ये उन्हीं के दिये नाम हैं।

२. वह उसे चुरा लेता है, स्त्री उसके वश में हो जाती है।

३. कुछ वर्षों के उपरांत वह अपनी भूषा—पोशाक हस्तगत करने में सफल होती है और भाग जाती है।

४. वह उस स्त्री को पुनः प्राप्त नहीं कर पाता।

इस कहानी की ऊपर की दो घटनाएँ 'गोपी-चीर-हरण' से मिलती है। यद्यपि इन घटनाओं की व्याख्या पुराणकार ने और ढंग से कर दी है, पर ढाँचा वही है। गोपियाँ वस्त्र-उतार कर स्नान कर रही हैं, कृष्ण उन्हें चुरा लेते हैं। परिणाम वही है, सभी गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पागल हो जाती है। हाँ, यहाँ वस्त्रों को न तो अभिमंत्रित ही बनाया गया है, न कृष्ण ने उन्हें अधिक समय तक ही रखा है।

४. पेनीलोप

१. पुरुष यात्रा पर बाहर जाता है, स्त्री घर रहती है।

२. वह पातिव्रत की रक्षा करती हुई प्रतीक्षा करती है।

३. पुरुष उसके पास लौटकर आता है।

यह कहानी कथा-सरित्सागर की 'उपकोशा' की कहानी है। उपकोशा की कहानी के विश्व-साहित्य और लोक-साहित्य में कितने ही रूपांतर हुए हैं। यही कहानी स्काट की—एडीशनल अरेबियन नाइट्स में लेडी आव कैरौ एंड गैलेंट्स (कैरो की महिला और उसके चार वीर) के नाम से आयी है, शिर्यूस्वरी ने अपने एक संग्रह में इसे 'सौदागर की स्त्री और उसके चार प्रेमी' शीर्षक दिया है। पर्शिया में प्रचलित 'अरौया' भी यही है। भूमि में तो यह अत्यंत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। इसका नाम है—

'कांस्टेंट डु हूंमेल 'अथवा—'ला डेम कुइ एट्प अन पेट्रि, अन प्रिवोट एट अन फारेस्टियर' १

किंतु भारत में भी इसके कई रूपांतर मिलते हैं। ब्रज में यही कहानी 'ठाकुर रामप्रसाद' की कहानी के रूप में है। उपकोशा की कहानी की और 'ठाकुर रामप्रसाद' की कहानी की तुलना बड़ी रोचक है। इससे हमें विदित हो सकता है कि ढाँचे की तीलियों को सुरक्षित रखते हुए भी कहानियाँ किस प्रकार स्थानीय वातावरण और ज्ञान-गरिमा के अनुकूल बन जाती हैं, 'बररुचि' ठाकुर रामप्रसाद बन जाते हैं, उपकोशा ठकुरानी; सारा वातावरण ग्रामीण हो जाता है। राजधानी के प्रधान कर्मचारियों का स्थान ले लेते हैं, पटवारी मुखिया आदि।

५. जेनोनीवा

१. पुरुष युद्ध पर जाता है, स्त्री घर रहती है।

२. स्त्री पर मिथ्या दोषारोपण किया जाता है, वह स्त्री को मृत्युदंड का आदेश देता है।

३. वह मारी नहीं जाती, पर इतस्ततः हो जाती है।

४. लौटने पर पति को अपनी भूल विदित होती है।

५. वह उसे पुनः प्राप्त कर लेता है।

स्त्री पर मिथ्यादोषारोपण और मृत्युदंड तथा अंत में पुनः प्राप्ति की बात कितनी ही लोक कहानियों में है। यथार्थ में इस कहानी का मूलाधार 'दुष्यंत-शकुंतला' की कहानी हो सकती है। ढोला में नल के पिता राजा प्रथम ने इसी प्रकार मिथ्या दोष पर अपनी स्त्री को मृत्यु दंड दिया था। मंझा पर बधिकों को दया आ गई। उन्होंने उसे छोड़ दिया। वह अन्यत्र सेठ के यहाँ चली गई। बाद में राजा को अपनी भूल विदित हुई, वह दुखी हुआ और अंत में उसे उसने पुनः ग्रहण किया। गुरु गुग्गा जाहरपीर की मा के साथ भी ऐसी ही घटना हुई। उसे मारने की आज्ञा नहीं दी गई, घरसे अपमानित कर निकाल दिया गया। राजा को अपनी भूल विदित हुई तो पुनः लिवा लाया।

१. कथा सरित्सागर (अंग्रेजी) सी० एच० टाउनी, एम० ए० द्वारा अनुवादित पृ० २० की दूसरी पाद-टिप्पणी।

६. पंचकिन

(प्राण-प्रतीक—Life-Index Type)

१. एक दाना (दानव) जिसकी आत्मा किसी वाह्य पदार्थ में रहती है, एक ऐसी स्त्री से विवाह कर लेता है जिसका एक प्रेमी है।

२. प्रेमी उस स्त्री को खोजकर पा लेता है और उसे प्रेरित करता है कि वह अपने पति को मार डाले।

३. वह यह जानने की चेष्टा करती है कि पति के प्राण किसमें रहते हैं, दाना बार-बार उसे टाल देता है, पर अंत में रहस्य बता देता है।

४. वह प्राण-प्रतीक वस्तु को नष्ट कर डालती है, जिससे पति मर जाता है।

५. वह प्रेमी के साथ भाग जाती है।

उत्तरी भारत में एसी एकानेक कहानियाँ हैं। एक अंतर उनमें विशेष मिलता है, वह यह है कि यहाँ की कहानियों में बहुधा वह 'लड़की' बेटी की भाँति दाने के यहाँ रहती है वह उस दाने की स्त्री नहीं बनी। पंचकिन की कहानी दक्षिणी भारत की कहानी है। उत्तरी भारत में विशेषत: ब्रज में इस कहानी का एक रूप हमें प्रसिद्ध 'ढोला'–गीत में मिलता है। इसमें राजा नल के बाल्यकालीन कृत्यों में से एक कृत्य 'मोतिनी' के विवाह से संबंधित है। मोतिनी भौमासुर दाने की बेटी है। नल उस दाने को मार कर ले जाता है। उस दाने के प्राण एक बगुली में थे। उस बगुली का भेद मोतिनी ने स्वयं दाने से पूछकर जाना था और राजा नल को बताया था। यह कहानी एक नार्स (नार्वे की) कहानी से बिलकुल मिलती है। नार्वे की कहानी में नायक उसी प्रकार दाने के प्राणों का पता लगाता है और उसे मारता है, जैसे पंचकिन अथवा नल। ब्रज में जो कार्य नल—'ढोला' में करता है, वही 'बूट्स' यूरप की कहानियों में करता है। नार्स कहानी में दानव अपने प्राणों के संबंध में कहते हैं—

"बहुत दूर एक झील में एक द्वीप है, उस द्वीप में एक गिरजाघर है। गिरजा में कुआँ है। कुएँ में एक बतख तैरती है। बतख में एक अंडा है। उस अंडे में मेरा हृदय (प्राण) है।"

गालिक ((Gaelic))कहानी में, जिसका नाम है—"यंग किंग आव इसैघ रुआघ" में भी इसी प्रकार प्राणों का उल्लेख बताया गया है।

७. सेमसन

१. पति की दानवी-शक्ति किसी वाह्य पदार्थ में है।

२. स्त्री जो विश्वासघातिनी है, पति से उसका रहस्य पूछती है, बहुत बार टालने पर भी अंत में वह रहस्य प्रकट कर देता है।

३. वह उसके शत्रुओं को रहस्य बता देती है, वह मारा जाता है।

जे० जे० मेयर द्वारा संग्रहीत 'हिंदू टेल्स' नाम की पुस्तक में एक जैन-कहानी में एक वीर-पुरुष की वीरता तलवार की मूँठ में बताई गई है।

८. सर्प-पुत्र

१. एक माँ के पुत्र नहीं। वह मानता करती है कि उसे कोई पुत्र मिले, भले ही वह साँप हो या या पशु।

२. जैसा उसने चाहा वैसे ही पुत्र का वह प्रसव करती है।

३. उस बच्चे का वह एक स्त्री या पुरुष से विवाह कर देती है। वह रात में मनुष्य का रूप धारण कर लेता है।

४. उसकी माँ उसके चर्म को पा लेती है और जला डालती है, तब उसका लड़का सर्प या पशु का रूप धारण करना त्याग देता है।

यह कहानी ज्यों की त्यों ब्रज में प्रचलित है। जर्मनी की एक कहानी में रीछ की खाल का उल्लेख है। इसमें तो किसी दुष्टात्मा के वश में पड़े होने के कारण सात साल तक शर्त के अनुसार रीछ की खाल ओढ़ कर रहना पड़ता है। इसी अवस्था में वह बादशाह की लड़की से विवाह करता है। 'हस दी हैज होग' में वह रीछ ही है, उसका चर्म जला दिया जाता है, तब वह मानव रूप में रह पाता है। भारत में दक्षिण ओर की कहानियों में ऐसे राजा ा उल्लेख है।

९ रौबर्ट-शैतान

१. माता पिता यह संकल्प करते हैं कि उनके यदि बालक होगा तो वे उसे एक शैतान (evil being) को चढा देंगे। २. बालक पैदा होता है, शैतान माँगता है। ३. बालक बच निकलता है, उससे लड़ता है, या उस दुरात्मा से छल करता है। ४. अंत उस पर विजयी होकर अपने को मुक्त कर लेता है।

इस कहानी का ढाँचा वेद के हरिश्चंद्र की कहानी से मिलता है। हरिश्चंद्र संतान की कामना करता है। जो बालक होगा उसे वरुण को प्रदान करने का वचन देता है। रोहित पैदा होता है, वरुण माँगता है। विविध बहानों से पहले वरुण को टाला जाता है, फिर रोहित बड़ा होने पर जंगलों में भागा जाता है। यह वरुण से छल करने के समान है। अंत में अपने स्थान पर शुनःशेप की बलि देने का विचार करता है। शुनःशेप को विश्वामित्र बचा लेते हैं। बस एक बड़े भेद की बात यह है कि वेदों में वरुण देवता हैं और उसका संपूर्ण चरित्र साधारणतः उदारता से परिपूर्ण है।

ब्रज की लोक कहानी में "द्वै भाई और दाँनौ" नामक कहानी का भी ऐसा ही रूप है। दाने के आशीर्वाद से दो लड़के होते हैं। एक को दाना माँग ले जाता है। पहले लड़के को वह खा जाता है और दूसरा छल से उसे मार डालता है और दाने की लड़की से अमृत लेकर अपने पहले भाई को जीवित कर लेता है।

१० स्वर्ण-पुत्र
(Goldchild Type)

१. एक माँ एक विशेष पदार्थ खाने के लिये माँगती है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। २. उस भोजन का कुछ भाग वह फेंक देती है, जिसमें से कुछ को एक घोड़ी या कुतिया खा लेती है, ये भी गर्भवती हो जाती है, शेष जमीन पर उग आता है। ३. स्त्री का बच्चा, घोड़ी का बछेड़ा या कुतिया का पिल्ला और वह पौधा परस्पर सहजात सहानुभूति रखते हैं। ४. माँ अपने बच्चे को मार डालना चाहती है, पर उसके सहजात बंधु बछेड़ा अथवा पिल्ला उसे बचा लेते हैं। ५. वे और भी साहस का काम करते हैं।

१. जाहरपीर, गुरुगुग्गा की ब्रज में प्रचलित कहानी में लीली बछेड़ी, गुरुगुग्गा के साथ ही पैदा होती है और वही उसकी सवारी में काम आती है। २. ब्रज की एक अन्य कहानी में पुत्र एक घोड़ा खरीद कर लाया है, इससे माँ रुष्ट होकर उसे मार डालना चाहती है, पर घोड़ा उसे हर बार बचाता है। ३. एक जर्मन कहानी में एक दरिद्र मनुष्य को एक मछली पकड़ाई आ जाती है। उसके आते ही वह हैलिग्रौ के भवन का अधिकारी बन जाता है। मछली कहती है मुझे छः टुकड़ों में काट डालो। दो टुकड़े स्त्री को दिये जाते हैं, दो घोड़ी को दो पृथ्वी में गाड़ दिये जाते हैं। दो पुत्र, दो बछेड़े और दो कमल उत्पन्न होते हैं। आगे के सूत्र प्रधान कहानी की भाँति चलते हैं। ४. ब्रज की एक और कहानी में रानी के फेंके हुए पुत्र को घोड़ा पिता की भाँति पालता है।

११. लीअर

१. एक पिता के तीन पुत्री हैं, पिता उनके प्रेम की परीक्षा करता है। छोटी विशेष प्रेम घोषित नहीं करती, अतः उसे निकाल देता है।

२. पिता संकट-ग्रस्त है, पहली दो पुत्रियाँ सहायता नहीं देतीं, छोटी से ही सहायता मिलती है।

इसी कहानी के आधार पर शेक्सपीअर का 'किंग लीअर' नाटक लिखा गया है। यह ब्रज में भी प्रचलित है। इसके दो रूप मिलते हैं। एक तो ठीक ऊपर के ढंग का है, पिता को संकट में सहायता करती है, छोटी परित्यक्त पुत्री। दूसरे ढंग की कहानी में पुत्री अपने भाग्य से राजा की समानता करनेवाला पति प्राप्त करती है। वह पति से कहती है कि राजा को निमंत्रण दे। राजा को भोजन में मिठाई दी जाती है, राजा कहता है नमकीन चाहिए। पुत्री स्वयं नमकीन परोसती है और कहती है पिता नमक अधिक प्रिय है या मीठा। राजा भूल स्वीकार करता है और पुत्री का आदर करता है।

१२. हांप ओ भाई थंबू

१. पिता अत्यंत दरिद्र हैं, बच्चों को त्याग कर चले जाते हैं। २. सबसे छोटा कई बार सबको घर ले जाने का उद्योग करता है, पर असफल रहता है। ३. वे एक दिव्य प्राणी के वश में पड़ जाते हैं, किंतु सबसे छोटा उसे छल लेता है, और वे सब बच निकलते हैं।

इस संविधान से ब्रज की 'गुरु चेला' कहानी कुछ मिलती है। पिता दरिद्र है, दो बच्चे हैं। वह उन्हें एक गुरु के पास पढ़ने छोड़ आता है। छोटा बालक गुरु से सभी विद्यायें सीख लेता है और अंत में गुरु को समाप्त करके गुरु के चंगुल से छूट कर घर आता है।

१३. होल्ले

१. एक सौतेली मां, सौतेली लड़की को घरकी दासी बना लेती है। २. उस लड़की के अच्छे स्वभाव के कारण उसका भाग्य चमक उठता है। ३. दूसरी लड़की को अपने दुःस्वभाव के कारण दुःख झेलने पड़ते हैं।

यह कहानी 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' में आती है। इस कहानी का नाम 'फूलनदेई-कोलनदेई (कानीटिप्पो) रखा गया है। 'कोलनदेई' सौतेली लड़की है। इस कहानी में सौतेली माँ के अत्याचार का चरम वहाँ है जहाँ वह 'कोलनदेई' के सिर पर कील ठोंक कर उसे चिड़िया बना देती है और अपनी लड़की फूलनदेई का विवाह कोलनदेई के स्थान पर कर देती है। अंत में कोलनदेई का रहस्य उद्घाटन हो जाता है। वह अपने रूप में आ जाती है और पति को प्राप्त कर लेती है।

अवकाशाभाव से हम यहाँ रुकते हैं। वस्तुतः मनोरंजन की कहानियों में ठगों से संबंधित ऐसी अनेकों कहानियाँ हैं जो 'मास्टर थीफ'-चोर—सिरताज की कोटि में आती है और जिनके अनेकों रूपांतर योरोपीय देशों में मिल जाते हैं। बुझौअल की अनेकों कहानियाँ ऐसी ही हैं। इस विषय पर विधिवत् अध्ययन की आवश्यकता है। श्री 'वेरियर ऐलविन' ने भारत की आदिम जातियों के मौखिक साहित्य को लिपिबद्ध करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया है, उससे अब भारतीय आदिम मानवीय स्तर की कहानियों के अभिप्रायों का भी मूल्यांकन किया जा सकेगा। ब्रज की इन कहानियों में इन स्तरों के साथ जो अन्य कहानियाँ प्रस्तुत होती हैं उनमें विक्रमादित्य, भोज, इंद्र, शुक्र, शनिश्चर आदि, विष्णु, लक्ष्मी, गौरा—पार्वती, शिव, धर्म आदि तो आते ही हैं, बीरबल और अकबर भी आ जाते हैं, पर आश्चर्य यह है कि राम-लक्ष्मण और राधा-कृष्ण ब्रज की इन लोक कहानियों में स्थान नहीं पा सके हैं।

ब्रज के अनेकों स्थानों से कृष्ण का संबंध रहा है—उन स्थानों से संबंधित कोई न कोई कृष्ण-वार्ता अवश्य है, वह वार्ता विशेषतः सांप्रदायिक वार्ताधिकारियों के पास ही मिलती है। साधारण लोक में कृष्ण के नाम को लेकर चलनेवाली कहानियाँ कम ही मिलेंगी।

कहानियों और गीतों में ही मौखिक लोक-साहित्य समाप्त नहीं होता। उसके अन्य अनेकों भेद हैं, पर न हमने उनका यहाँ संकलन ही किया है, न उन पर यहाँ विशेष वक्तव्य ही दिया जा सकता है। उन पर विशद प्रकाश 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' नामक पुस्तक में डाला जा चुका है।

——::०::——

ब्रज : लोक-गीत

जन्म के गीत

"भारत के सामाजिक जीवन में जन्म के गीतों का वही महत्त्व है, जो किसी वैदिक-संस्कार में मंत्रों का हो सकता है। ब्रज-प्रदेश के जन्म-विवाहादि संबंधी गीतों में से कुछ का यहाँ संग्रह किया जा रहा है। जन्म-संस्कार पुत्र-जन्म के समय से लगभग दस दिन तक विविध नाम, रूप और अनुष्ठानों के साथ चलता है। यहाँ पर तत्संबंधी प्रायः समस्त गीतों का संकलन दिया गया है। इनका अध्ययन मनुष्य समाज की मौलिक मनोवृत्ति के समझने में सहायक होगा। ये गीत—चंद्रभान : लोहवन और ब्रज-गाँवों के अनेक महानुभावों ने संकलित किये हैं।"

आजु महलों के बीच जच्चा[1] नें सोर कियौ ऐ।
आवौ, आवौ, सासु मेरी आवौ, मेरी सोबरि[2] के वीच चरुआ[3] धरावौ ।।[4]
आवौ, आवौ, दाई री मेरी आवौ, नेंक हँसिकें नारु[5] कटावौ।
आवौ, आवौ, नँनद मेरी आवौ, नेंक कौरे[6] से सतिया[7] धरावौ ।।
आवौ, आवौ, जिठाँनी मेरी आवौ, नेंक भीतरि पलंगु बिछावौ ।।
आवौ, आवौ, दौराँनी मेरी आवौ, नेंक हँसिकें व्यारि[8] हलावौ।
आवौ, आवौ, ससुर मेरे आवौ, दरबाजे पै थैली खुलावौ ।।

२

प्रसव

अलबेले कुँवर, तैनें बिरद[9] उठाई। सासु-नँनद वाकी ओली-टोली[10] मारें,
कुत्ता-बिलैया कें टूंक न डारचौ, अब कैसे होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ।।
सासु-नँनद सों बोल जो वोले[11], अब कैसें होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ।।
बैहैंनि-भाँनजी कौ माँनु न राख्यौ, अब कैसें होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ।।
अबऊ ध्याँनु धरौ हरि जू कौ, जब तिहारौ होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ।।
जे नौ, जे दस माँस ब्वाके हुरिल सबद सुनाए, हूँगौ रे निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ।।

३

तगा-बाँधने[12] के दिन गाये जानेवाले गीत

ठाड़ी बहो धँन सीर[13]-दुवार, ए धँन सीर-दुआर।
बाहिर ते आए पातरिया[14] से नाह, ए मजलसिया नाह ।।
मेरी धँन कहा-गुन अनमनी, उपजत ए जरजोधाऊ पूत।

[1]. जनन करनेवाली। [2]. संतान-उत्पन्न होने का स्थान तथा वह स्थान जहाँ बालक और जच्चा छठी तक रहते हैं। [3]. वह मांगलिक घट जो संतान उत्पन्न होते ही अनुष्ठान पूर्वक स्त्रियाँ रखती हैं। इसके नीचे सदा आग रहती है और इसी का पानी छ दिन तक जच्चा को पिलाया जाता है। [4]. धराऔ—चरुआ धराना एक अनुष्ठान है, जिसमें मांगलिक घट पर विविध साँतिये आदि अंकित करके, गीतों के साथ 'सोभर' के पास आग पर रखा जाता है। [5]. नाल। [6]. दो दिवालें जहाँ कोणाकार मिलती हैं उस स्थानके पास की भित्ती। [7]. स्वस्तिक। [8]. हवा। [9]. उत्पात। [10]. व्यंग, ताने। [11]. बोल-बोले—वचन-वाण मारे। [12]. संतान-उत्पन्न होने के उपरांत पूर्णतः शुचि हो जाने के उपरांत प्रायः दसवें दिन नामकरण संस्कार होता है, वहीं संस्कार गाँवों में 'तगा बंधने' का संस्कार कहलाता है। [13]. कहाँ से। [14]. पतला दुबला।

ए कुल-माँड़न पूत, उनके करति उकाँमनें[1], तिहारी धँन जा गुन अँनमनी ।
ए पिया, हमें पीअरे[2] की साध, पीअरौ चों न रँगाइऐ ।
ए पिया, हमें ऐ खीचरी की साध, खिचरी चों न मँगाइऐ ।।
ए पिया, हमें लडुअरे की साध, लडुआ चों न बँधाइऐ ।
ए धँन, पीअरो बीरँन पै ते माँगि, हम पर राती माँगिऐ ।।
खिचरी भवज पै माँगि, लडुअरे माइ पै ते माँगिऐ ।
हम पर केवकी[3] माँगिऐ ।।

ए पिया, धनियों धनौंली ते लाइऐ ।
अजमाइन अजमेर ते लाइऐ, जीरौ जिरौली ते लाइऐ ।।
ए धँन, हम पै इतनों न होइ, तौ होरिलु[4] कैसें खिलाइऐ ।
ए पिया, पिछवारें ऊ सूर[5] बखेर, ए पिया, बैरिअरा सब झुरि मरें ।
ए पिया, आँगन उरद बखेरि । भाई अरे सबु रुरि मिलें ।।[6]

४

तगा का दूसरा गीत

ए पिया, काँहर ऊनरे[7] औरु काँहर बरस्यौ जाइ ।
ए पिया, बरस्यौ ए बबुलरे के खेत, ए पिया, बरस्यौ बाबुलजी के देस में ।।
ए पिया, मेरे मन भाई ऐ चूंदरी[8], ए धँन[9], अपने बिरँन[10] पे माँगि ।
ए भैना, काँहर के छीपिअरा[11] बुलाउँ, काँहर बैठि रँगाइऐ ।।
ए भैया, नेंहनीं-नेंहनीं बँधनि बँधाइऐ, पचरंगौ डोबु लगाइऐ ।
ए मैं तौ ओढ़ुँगी अपने हुरिल के चौक, अपने कुँवर के सोइले[12] ।।

५

जंति के गीत

बाँटि लेउ कोई पीर[13] हमारी ।
तुम सुनिओं सासु हमारी, मेरी नारि[14] कौ हँसुला[15] भारी ।।
तुम सुनिओं जिठाँनी हमारी, मेरे बाँह बाजूबँद भारी ।
तुम लीजों द्यौराँनी हमारी, मेरे हाथ अरसिया[16] भारी ।।
तुम लीजों नँनद हमारी, मेरे हाथ ककँनवा[17] भारी ।
तुम लीजों दिवर हमारे मेरे हाथ अँगूठी भारी ।।
ब्वाके होरिलु सबदु सुनाए, बाँटि लई सब पीर हमारी ।

१. कै, उलटी । २. पीले रंग का वस्त्र, पोंमचा । ३. जच्चा के लिए घी बूरे और गीत में नीचे वर्णित धनियाँ सोंठ इत्यादि मसालों के लड्डू । ४. हाल का हुआ शिशु । ५. कांटे । 'सूर-बखेरने' और 'उरद बखेरने' के परस्पर विरोधी मुहाविरे दृष्टव्य हैं । ६. रूठे हुएमिल जायँ । 'रुरि' शब्द 'रोरना' क्रिया का रूपांतर है । ब्रज में 'रोरना' क्रिया का एक विशेष अर्थ है—मिट्टी अथवा दाल या अनाज में से अच्छी वस्तु छाँट कर एकत्र करनी होती है, तो दोनों हाथों को फैला कर बिखरी वस्तु को एकत्र किया जाता है । यह क्रिया रोरने की क्रिया कहलाती है इसी से बिखरे हुए अथवा रूठे हुओं के मिलने का भाव यहाँ होता है । ७. उठे । ८. रंग-बिरंगी ओढ़नी । ९. स्त्री, पत्नी । १०. भाई । ११. 'छीपी' का लघु-वाचक ग्राम्य-रूप कपड़े छापनेवाला । १२. सोहिले—सोभर के गीत । १३. पीड़ा । १४. ग्रीवा, गरदन । १५. ग्रीवा में पहने जानेवाला एक आभूषण । १६. आरसी । १७. कंगन ।

तैनें सासु कहा कीयौ, मेरौ लल्ला रांँम नें दीयौ, फेरिजा[1] मेरी हँसुला हजारी ।।
तैनें जिठाँनी कहा कीयौ, मेरौ लल्ला रांँम नें दीयौ, फेरिजा मेरे बजुआ[2] हजारी ।
तैनें द्यौराँनी कहा कीयौ, मेरौ लल्ला रांँम नें दीयौ, फेरिजा मेरी अरसी[3] हजारी ।।
तैनें नँनद कहा कीयौ, मेरौ लल्ला रांँम नें दीयौ, फेरिजा मेरे ककनाँ हजारी ।
तैनें दिवर कहा कीयौ, मेरौ लल्ला रांँम नें दीयौ, फेरिजा मेरी अँगूठी हजारी ।।

६

आजु आँनंद भए, आँनंद भए जा नगरी, आजु आँनंद भए ।
ननँद[4]-भवज[5] दोऊ पानी कूँ निकरीं, भावज बात चलाई ।। आजु०
जौ बीबी मेरें हुंगे नँद लाला,[6] तौ में दुंगी गले की दुलरी[7] औरु कमरि की तगड़ी ।
गगरी[8] उतारि धरनि धरि दीनीं, ब्वाके होरिल सबदु सुनाइ, आजु आँनंद० .... ।।
वाहिर तें नँनद (नँद) राँनी झगरें, भाभी दै देउ गरे की दुलरी औरु कमरिकी तगड़ी । आजु आनंद०
भाजि-भाजि याँते[9] जारी नँनदिया, छीड़ौ[10] छिनारि[11] की घँघरौ[12] औरु छिनारि की उढ़नी[13] ।।
बाहिर ते आए प्यारे-से भैया, हमरी बैहिन चों[14] झगरी । आजु आँनंद०
तिहारी घनाँ[15] नें भैया, बदनि[16] बदी ई, तुमें दुंगी गरे की दुलरी औरु कमरि की तगड़ी ।। आजु०
भैया, छींड़ै हमारौ घाँघरौ, भैया छींड़ै चाँद[17] की चुँदरी । आजु आनंद०
अपनी बैहिन कूँ दुलरी गढ़ाइ दऊँ औरु कमरि की तगड़ी ।। आजु आँनंद०
याँ ते निकरि तू जच्चा दारी[18] छिनरी, हमरी बैहेंन ते चों अटकी ।
आजु आँनंद भए, आँनंद भए जा नगरी, आजु आँनंद भए ।।

७

जच्चा मेरी भोरी-भारी रे ।
स्याँपें[19] मारि बगल में सोवै, बीछी धरि सिरहाँनें, जच्चा मेरी मच्छर सें डरपी रे ।।
चारि चरस[20] पाँनी के पीवै, नौ बोतल सरबत की पी गई, जच्चा मेरी पीनों न जाँनें रे ।
चारि कनस्तर घी के खाइ गई, द्वै बोरी मेबा री, जच्चा मेरी खानों[21] न जाँनें रे ।।
सासु-नँनद के लैहँगा फारे, बड़ी जिठाँनी की फरिआ[22], जच्चा मेरी लड़नों न जाँनें रे ।
जच्चा मेरी कछू न जानें री, जच्चा मेरी भोरी-भारी रे ।।।

८

तुम खोलौ जसरथ फाटका, तिहारे वह[23] ठाड़ीऐ द्वार, हिरनी जौ चरै ।
वह रीती[24] जाउ कुम्हार कें, भरिअ[25] हमारें आउ, हिरनी जौ चरै ।।
तुम खोलौ राँम जी फाटका, तिहारे वह ठाड़ीऐ द्वार, हिरनी जौ चरै ।
वह रीति जाउ कुम्हार कें, भरिअ हमारें आउ, हिरनी जौ चरै ।।

१. लौटा जा । २. बाजूबंद नामका आभूषण । ३. हाथ का आभूषण। । ४. पति की बहिन । ५. भाई की पत्नी । ६. पुत्र । ७. गले का दोलड़ोंवाला आभूषण । ८. छोटा घड़ा, पानी भरने का । ९. यहाँ से । १०. छीनना क्रिया का यह रूपांतर भाषा-वैज्ञानिकों के लिए विचारणीय है । छीनों, छीड़ौ हो गया है । ११. छिनाल एक गाली, अर्थ है परपुरुषों से, एक से अधिक से संबंध रखनेवाली । १२घँघरिया—लहँगा-घुमावदार कटि से बँधकर पैरों तक आच्छादित करनेवाला वस्त्र । १३. ओढ़नी, फरिया । १४. क्यों । १५. स्त्री । १६. शर्त-बदना । १७. सिर । १८. एक गाली । १९. सर्प को । २०. खेतों को सींचने के लिए कुँए से पानी निकालने वाला चमड़े का एक बड़ा डोल । २१. कुछ भोजन भी । २२. ओढ़नी, चुनरी । २३. वह, संतान देनेवाली शक्ति । २४. रिक्त । २५. भरी हुई ।

९

राजे, गंगा किनारें एक तिरिया, सु ठाड़ी अरज करै ।
गंगे, एक लैहैरि हमें देउ तौ जाँमें डूबि जैएँ, अरे जाँमें डूबि जैऐ ।।
कै दुखुरी तोइ सासु री ससुर कौ, कै तेरे पीया परदेस ।
कै दुखुरी तोइ मात-पिता कौ, कै तेरे मा-जाए बीर, काए[1] दुख डूबि जैऐ ।।
नाँ दुखुरी मोइ मात-पिता कौ, नाँ मा-जाए बीर ।
नाँ दुखुरी मोए सासु री सुसर कौ, नाँऐ मेरे पिया परदेस ।।
सासु, बहू-कहि नाँ बोलै, नँनद, भाभी नाँ कहै, नँनद भाभी नाँ कहै ।
नहो राजे, वे हरि[2] बाँझ कहि टेरें[3] तौ छतियाँ जु फटि गई ।।
जाई दुख डूबिहों सो जाई दुख डूबि हों ।
राजे, लौटि-उलटि घर जाउ' लाल तिहारें होंइ, ललँन तिहारें होंइ ।।
आई धँन तँन-मँन-मारि ; राजे, मेरे पिछवारें बढ़ई कौ ।
लाला, तू मेरौ देवरु-जेठु, राजे, एकु कह्यौ मेरौ कीजिऐ ।।
काठ-पुतर[4] गढ़ि देउ, सो ब्वाइ लैकें उठि हौं, ब्वाइ लैकें वैठि हों ।
राजे, न्हाइ-धोइ भई ठाढ़ी, तौ सुरजु मनामें ।।
राजे, काठ-पुतर जिउ डारौ, तौ जाइ लैकें उठि हों, जाइ लैकें सोइऐ ।
राजे, जे नौ, जे दस माँस बीते गरभ के, तौ होरिल-सबद सुनाइऐ ।।
राजे, सासु बहू-कहि बोलै, नँनद भाभी कहि बोलै, नँनद-भाभी वोलै ।
बे हरि, जच्चा कहि बोलें, तो छतियाँ जुड़ि गई ।।
सुनि-सुनि रे मेरे दिवर छतारी, तौ बंनसी-बजाओ, मुरली-बजाओ ।
भैया ऐ लाओ जगाइ, तौ देखें मेरौ सोइलौ ।
बाजँन लागे बाजे, घुरँन[5] लागे तबल-निसाँन, गवँन लागे मंगलचार ।
धनि-धनि गंगे तोइ धन्नि ऐ, तुमनें बढ़ायौ मेरी माँन ।।

१०

चौकी पै बैठे राजा दसरथ अए, नीचें कौसिल्या ।
राजे, हमें ओ संपति की ऐ साध[6], संपति फलु देउ, कुँमरु तुम्हारें होइ ।।
बोलौ अजुध्या के पंडित, हाल चले आँमें, तुरत चले आँमें ।
साठी के आछत[7] डारौ, कुँमरु मेरें होंइ, लाल तुम्हारें होंइ ।।
चिट्ठी तौ होइ जाऐ बाँचि सुनाऊँ, करमु मो पै नाँ बँचै ।
कूआ रे होइ जाइ पाटूँ, सँमुद मोपै ना पटै ।।
बोलौ अजुध्या के माली, हाल चले आँमें, तुरत चले आँमें ।
राजे, जँनम-घुटी दै जाउ, औखदि बतलाओ, दबा बतलाओ न रे ।।
पहलें तौ पीई ऐ कौसिल्या, पीछें सुमित्रा, सिल-धोइ पीई ऐ केकइया, तीन्यों गरभ सूँ न रे ।
कौसिल्या कें भए राजा राँम, सुमित्रा कें लछिमन—केकई कें चरत-भरत दोनों भए, तौ चारि कुँमर भए ।।
तौ बाजत तबल-निसाँन, गवँन लागे सोइले, राजा जसरथ थैली लुटाइ, गौअन-दाँन कराइऐ ।।
भीतर ते बोलीं केकइया, राजा थोरी-थोरी द्रब्ब लुटाओ, जे लाला बन कूं जौ जाँइगे ।
ऐसे बोल मति बोलौ केकइया, घुरि रहे तबल-निसाँन ।।

[1]. किस । [2]. पति । [3]. बुलावें--पुकारते हैं । [4]. पुतली अथवा पुत्र । [5]. घोर होना । [6]. इच्छा, मनोरथ । [7]. साठी के चावल ।

११

पाँच पाँन पँच बिरियाँ[१], अए पाँच सुपरियाँ, न हो राजे ।
सो मेरी नँनदएे देउ, तौ बिरँन जगाइ लाँमें, सो भैयाऐ जगाइ लाँमें, न हो राजे ।।
उठि, उठि बिरँन छतारे 'मेरी आँखिन-तारे, मेरे जगत-उजारे ।
राजे, तिहारे मैहैंल कछु सोरु, तौ भवज बुलावै, सो भाभी बुलावै, न हो राजे ।।
सो चिनि-चिन बाँध[२] 'पगड़िया' बेगें[३] से उठि आए, हाल उठि आए ।
आगें, आगें डोला बैहिन कौ, सो पीछें ते भैया जु आए, सो पीछें ते बिरँन चले आए ।।
राजे, एक पगु घर्‌चौऐ पलिकिया' दूजौ देहरिया ।
राजे, लई धँन हियरा लगाइ, कहौ धँन बँधैन[४] होइ ।।
राजे, लाज-सरँम कीऐ बात, हाकिम तुम ते नाँ कहूँ, साहिब तुम ते नाँ कहूँ ।
राजे, बाँधति किन हूँ न जाँनी, राजे खुलति सग जग-जाँनीऐ ।।
गोरी, छप्परु होइ उठाऊँ, जने दस लाऊँ, भैया दसै बुलाऊँ ।
गोरी, जे करतार-गठरिया, सखिन-बिच खोलौ, जाइ राँमु छुड़ावै' जाइ कृष्ण छुड़ावै ।।
ए ब्रज-वासी के बालक, बेगी जनमु लै, तुरत जनमु लै न रे ।
तेरी मैया बहुत दुखारी, तौ बेगि जनमु लै ।।
राजे, मैं कैसें बेगि जनमु लेंउ, तुरत जनमु लेंउ ।
माटी के कुड़िल[५] न्हवाऔ' झटोले[६] सुलाऔ ।।
फाटी गुदरिया[७] बिछाऔ, छोरा[८] कहि-कहि बोलौ ।
ब्रजवासी के बालक वेगि जनमु लै, तुरत जनमु लै ।।
सोंने के कुड़िल न्हवाऊँ, सूत के पलिका सुबाऊँ ।
राजे, पीतांबरें बिछाऊँ , ललँन कहि बोलूँ, हुरिल कहि बोलूँ ।।
जो जा जच्चाऐ गाँमें, गाइ-सुनाँमें, जच्चाए रिझावें, बच्चा ऐ सुनाँमें ।
कटें जँनम के पाप, संपति-सुख पावें, गोद लै खिलाँवें ।

१२

जेठ के अँगना निबरिया[९], सो झिलिर-मिलिर करै ।
जेठ की नारि गरभ ते 'सो कुनुर-कुनुर करै[१०], सो चिरैंयाँ चुहुँक-चुहुँक करैं ।।
राजे, जेठ की नारि दुखारी, तौ हम पर हुकमु करै ।
राजे, बिना बुलाई मति जाउ, अदरु[११] नहिं होइ ।।
सासु मेरी आई लैंनहार, नँनद मेरी फिरि गई ।
राजे, जेठ खड़े दहलीज[१२] बुलाऐं ते जाइऐ ।।
सासु कूँ डारचौ पीढ़ुला[१३], नँनद कूँ डारचौ मूढ़िला[१४] ।
राजे, द्यौराँनी कूँ पँचरँगु पलँगु, ललँन दुबकाइऐ ।।
राजे, सोईऐ चादरि-ताँनि, ललँनु दुबकाइऐ ।
राजे, उलटि लौटि घर आइऐ, राजे, नैंनन-बहाए नीर, ललैंन दुबकाइऐ ।
राजे, दिबर के अँगना निबरिया, सो झलर-मलर करै ।
राजे, दिबर की नारि गरभ ते, सो कुनुर-कुनुर करै ।।

१. पान की बीड़ी । २. चुनचुनकर । ३. शीघ्रता से । ४. वेदना । ५. स्नान कराने का पात्र । ६. वह खाट (पलंग) जिसकी बुनावट टूट कर ढीली हो गई हो । ७. गुदड़ी, फटे-पुराने वस्त्र । ८. बालक के लिए एक ग्राम्य शब्द । ९. नीम का वृक्ष । १०. पीड़ा से कराहती है । ११. आदर । १२. पौरी । १३. पीढ़ा । १४. मूढ़ा ।

राजे, दिबर की नारि गरभ ते, सो हम पर हुकुम चढ़ाइऐ।
धनियाँ, बिना बुलाई मति जाऊ, अदरु नँई होइ,
सासु मेरी आई लैनहार, नँनद मेरी फिरि गई।
राजे, दिबर जो ठाड़ैं दहलीज, बुलाएं ते जाइऐ।।
सासु कूँ डारचौ पीढ़ला, नँनद कूँ डारचौ मूढ़िला।
राजे, जिठानी कूँ पँचरँग पलँगु, ललँन लुढ़काइऐ।।
जीजी, लट छोड़ि लागुँगी पाँइ, ललँन दुँगी गोद में।
जीजी, तुमनें तौ लीएऐं छिपाइ, तिहारौई, हैकें जी परै।।

१३

अरी भाभी, हौलें-हौलें बोलि, अँगनाँ में भैया ठाड़े।
ऊपर ठाड़ी भवजिया, नीचें ठाड़ी नँनदिया।।
अरी बीबी, सुपनों जु देख्यौ राति, 'मालिन लाई गल-हार।
चुप रहि भवजिया', चुप रहि' बैरीन, सुनि पाँमें तिहारें नौए महीनाँ हुँगे लाल।।
जौ बीबी, मेरें हुँगे लाल, नँदलाल, तुमें दुँगी गल-हारु'।
जे नौ, जे दस मास,' बाके होरिल सबद सुनाए।।
ढोलिअरा के[१] हौलें-हौलें ढोलु बजाइ, नँनदी न सुनि लइ' मो पै माँगैगी गल-हारु।
नँनदुलि सुनत जु भाजिऐ, भाभी, दै देउ गल-हारु।।
लाली, ज हरबा मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढ़ायौ सोई लेउ।
पूत-जनंती भावजी, जनियौ[२] नौ-दस धीअ।।
मेरे बिरँन के चलति इकहरी सीर, चलिऔ चौहरी सीर।
बगदौ नँनदिया, बगदौ[३], हरबा पैहैरि घर जाउ।
धीअ-जनंती भावजी, जनियौ नौ-दस पूत, अँगना में०।।

१४

हमरे बिरँन कें लाल भए ऐं, खबरि परी सई-साँझ।'
अबई मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
एक मौहर के कुर्ता-टोपी, असी मुहर खँगवारौ।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
कचहरी बैठते बाबुल पाए, भलीं भई धीअ आई।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
मदरसा-पढँते बीरँन पाए, भली भई बैहिन आई।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
मुढ़िला बैठंती माइल पाईं, भली भई बेटी आई।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
सोभरि में ते भावज बोली, किन्नें नँनद बुलाई।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
राति की राति डटँन दै[४] भाभी, भोरु भएँ उठि जाँउ।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।।
तोइ बाँधू, तेरे लरिकँन बाँधू, औरु छिनरी कौ भैया।।

[१]. ढोल-बजाने वाले। [२]. पैदा करना। [३]. लौटो। [४]. रहने दे।

एक रुपैया कौ रस्सा मगाऊँ, और अधेली कौ खूंटा।
चों री भेंना तैनें देखी, नँनदुलि जाँती देखी।।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनराकें जाइ।
एक रुपैया के रस्साऐ लै गई, और अधैली कौ खूंटा।।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।
हाँ, हाँ, बैहिनाँ हमनें देखी, खूंटा लटकतु जाइ।।
अबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरें को सुनरा कें जाइ।

१५

आयौ जेठ-असाढ़ राजे, नँनद-भवज पाँनी-नीकरी।
राजे, मूँत्यौ[1] ऐ बरद-बिजार, राजे नँनदुलि, हाथ-पखारिऐ।।
हात-पखारत लाग्यौऐ दोसु, अब कहा कीजै मेरी भावजी री?
पहलौ महींनाँ जब लागिऐ, ब्वाकौ फूलु गह्यौ फलु लागिऐ।। अब कहा कीजै०
ए ब्वाइ दूजौ महींनाँ जब लागिऐ,
राजे, तीजौ महींनाँ जब लागिऐ, ब्वाकौ खीर-खाँड़ मन आइऐ।
अपुबिस[2], अपुबिस खीर रँधाइऐ, लज्जा राखूँ नँनद की।।
राजे, चौथौ महींनाँ जब लागिऐ, ए ब्वाकूँ कोल[3] के आँम मँगाइऐ।
ए ब्वाइ पँचयौ महींनाँ जब लागिऐ, ए मैं अपुबिस आँम मँगाइऐ, मन जौ राखूँ नँनद कौ।।
राजे, छटयौ महींनाँ जब लागिऐ, ए ब्वाइ सातयौ महींनाँ जब लागिऐ।
ए मैं अपुबिस, अपुबिस साधु[4] पुजाऊँ, तौ लज्जा राखूँ नँनद की।।
राजे, अठयों महींनाँ जब लागिऐ, ए मैं अपबिस, अपबिस महल झराऊँ, लज्जा राखूँ नँनद की।
ए ब्वाइ नौयों महींनाँ जब लागिऐ, ए मैं अपबिस, अपबिस दाई बुलाऊँ, तौ हुरिल जनाऊँ नँनद कौ।।
ब्वाकी दाई देहरि[5] आइऐ, ब्वाकें गाइ कौ बच्छा है परचौ।
बाहिर ते 'आए पतुरिया[6] नाह,[7] तौ गोरी, हमरी बैहिन कहाँ गई।
राजे, तिहारी बैहिन की दूखें आँख, लैरे भतीजे ऐ सोइ रहीं।
राजे, आयौ ऐ जेठ-असाढ़, हरहारे[8], नें हरु रे सम्हारिऐ।
राजे, बोलीऐ गोरी धँन आइ, सुनि-सुनि रे मेरे समरथ साहिबा?
राजे, बछराऐ गारी न दीजिऐ, बछरा तौ लागै तिहारौ भाँनजौ।।
गोरी, तिहारौ तौ काटुंगो मूँड़, राजे, जाकौ अरथ बताइऐ।
राजा, काए कूँ काटौगे मूँड़, लज्जा राखी तिहारी बैहिन की।।
राजे, मूत्यौ ओ बरध-बिजार तौ नँनदुलि हाथ-पखारिऐ।
राजे, हात-पखारत लग्यौ ऐ दोसु, तौ लज्जा राखी तिहारी बैहिन की।
गोरी, तेरौ ऊँ असल गुलाँम, लज्जा राखी मेरी बैहिन की।।

१६

राजे, नँनद-भवज दोऊ बैठिऐ, भाभी कैसी सुरति देखी, राँमनु चित्तिरु लिखि दिखराइऐ।
भाभी, भैया की नारि गरभ ते, ठाड़े है कें काढ़िऐ।।
लाली, तिहारे बिरँन कौ ऐ बैरी, राजे, जौ सुनि पाइऐ, घर ते हाल निकारिऐ।

[1]. पेशाब किया। [2]. अपने बहाने। [3]. अलीगढ़ का पुराना नाम। [4]. साधु या साध-पुजाना एक संस्कार होता है, जो गर्भ के सातवें महीने में संपन्न होता है। [5]. देहली, दहलीज। [6]. स्त्री। [7]. पति। [8]. हलधर, कृषक-अभिप्राय गृह-पति से है।

भाभी नें बुहतेरी समुझाइऐ, हठीली हट परि गई ।।
राजे, पूरौ जौ राँमनु लिखि दयौ, भवज जु ड्योढ़ी करि दई, राजे, बीरँन चित्र-दिखाइऐ।
बोलौ ओ छोटे भैया ओ लछिमन, राजे, सीता ऐ बनखँड मारिऐ, नेंनुन लाओ निकारिऐ ।।
चंदनु-रथ जुरबाइऐ, लछिमन भए रखवार ।
राजे, इक बनु नाँखि, दूजौ बनु नाँख्यौ तीजै बनु पहुँच्यौऐ जाइ ।।
राजे, सीताऐ लगि आई प्यास, देवरु पाँनी लाइऐ ।
भाभी, बैठौ तरबर की छाँह, हमतौ रे पाँनी लाइऐ ।।
सीता सोई ऐ चादरि ताँनि, राजे, लाला जी पाँनी कूँ गए ।
लछिमन लाए ऐं दोनाँ-भरि नीरु, तरबर के टाँगे डार पै ।।
राजे, लछिमन रथ जौ हाँकिऐ, राजे, टपक बूंद मुखड़ा-परी ।
सीता, देखति आँखि पसारिऐ, राजे, रोंमति जार-बेजार ।।
राजे, सुनि-सुनि सबदु कुइलिया, कुटी में ते निकरे बाबा जी ।
बेटी, चलौ हमारे साथ, मेरी कुटीऐ करौ बिसराम जी ।।
राजे, कोइल सबदु सुनाँमती औरु हूँमई जनाँमें नँदलाल ।
बन की कुइलिया दाई बनिंगी, मैंना बनिंगी मेरी सासु, बाबा मेरे करिंगे सहाई ।।

१७ ✓ १.

बधैया, बधैया, म्वाँ हतिनापुर कूँ जाउ, श्री कृष्ण कें बेटा भयौ ।
बे कैसें, बे कैसें आँमें आजु, बिन डोला, बिन पालकी ।।
बधैया, बधैया म्वाँ रुकँम-नगर कूँ जाउ, बेटी रुकमिनि कें बेटा भयौ ।
बे कैसें, बे कैसे आँमें भड़ुआ आजु, बिन रे राते, बिन पीअरे ।।१।।

१८

नरंगफल का गीत—जच्चा

जे नौ, जे दस मास, राजे, राजकुँमरि गरभ ते नरँगफलु माँगिऐ ।
राजे, कोंन दिसा में ब्वा कौ पेड़, कहाँ फलु लागिऐ ?
राजा, पुरब-दिसा में ब्वाकौ पेड़, फुलक[१] फलु लागिऐ ।।
गोरी, ब्वा फलु कौ लाइबौ कठिनऐ, कैसें फलु लाइऐ ?
गोरी, एक लख दिवला[२] जौ जुरत, सबा लख त्याँ कूकरा[३] ।।
राँनी, एक लख हैं पैहरेदार, सबा लख रखवारिऐं !
राजा, जौ रे नरँगफलु नाँइ लाओ, तौ मरूँगी जहरु-बिसु खाइ ।।
राजे, मारि घुड़िल म्वाँ ते चलि दिए, राजे, पहुँचेऐं देस-बिदेस, घरैं-चिंता छाइऐ ।।
मुढ़िला-बैठंती माइ तौ राँमु मनाइ, सुरजु मनाइऐ ।
राजे, कब की बैरिन भई बहुअ, बेटा चोरी तें गए ।।
राजे, गुड़िया खिलंती ऐ बैहिन, सो राँमु मनावै, सुरजु मनावै ।
मेरी कब की बैरिन भई भाभी, बिरँन चोरी गए ।।
राजे, सेज-चढंती ओ धनियाँ,[४] सो राँमु मनामें, सुरजु मनामें,
मेरी कब की बैरिन भई कोंखि, बलँम चोरी गए ।।
राजे, पहुँचि नरँगफल के पास, चढ़े जु घोड़ा खोलिऐ ।
राजे, बढ़ि[५] गए एक लख दीप, सोए सबा लख कूकरा ।।

[१]. वृक्ष के ऊपर की कोटी । [२]. दीपक । [३]. कुत्ते । [४]. स्त्री । [५]. बुझ गये ।

राजे, सोइ गए इक लख पैहरेदार, सबा लख रखवारिया ।।
राजे, घुड़िला की पींठ-लगाइ, पेड़ पै राजा चढ़ि गए ।
राजे, झटकि लियौ फलु तोरि, जेब-रखि लीजिऐ ।।
राजे, सुनिकें झड़ाकौ[1] जागे कूकरा, राजे, जरि गए इक लख दीवला ।।
राजे, आए ऐं एक लख पैहरेदार, सबा लख रखवारिया ।
राजे, चलति खाँड़े की धार, पकरि डारे जेल में ।
राजे, चलौ कचैंहरी के बीच, चोर हैंम पकरिऐ ।।
राज, पूछत बैठे जौ हाकिम, कहौ, कैसें आइऐ ।
राजे, कौंन बताई तुमें थाँग[2], फलु चोरी जो करि लई ।
राजे, कौंन की नारि गरभ ते, नरँगफलु माँगिऐ ।।
राजे, मेरी ई नारि गरभ ते, नरँगफलु माँगिऐ ।
लाला, लै जाऔ आजु उज्जगर[3] काए कूँ दुबकाइऐ ।।
राजे, जो कोई गरभिनी नारि, बाकूँ नाँईं रोकिऐ ।
राजे, लै जाउ द्वै के चारि, बिनईं जाइ कें दीजिऐ ।।
राजे, मारि घुड़िलु म्वाँते चलि दए, राजे, पहुँचे ऐं मैंहलनु आइ, मैंहैंल खुलबाइऐ ।
राजे, छँम-छँम आई ऐ नारि, खोलि दीए मैंहल जी ।।
राजे, दै दीए दोऊ नरँगफल, जाइ तुम लीजिऐ ।
राजे, झटपट सासु जगाई, नरँगफलु देखिऐ ।।
राजे, झटपट नँनद जगाई, नरँगफलु देखिऐ ।
भाभी, खाइ लेउ झटपट जाइ, ललँन तिहारें होंइ, कुँमर तिहारें होंइ ।

१६

छोछक का (भेली लेने के समय का) गीत

उड़ि, उड़ि काग सुलाकने[4], उड़ि मेरे पीहर[5] जाउ ।
मेरी कहिऔ माइ समझाइ, घीअरि माँगे लाड़ुए ।।
मेरे कहिऔ बबुल समझाइ, बेटी तौ माँगे खीचरी ।
मेरे कहिऔ बिरँन समझाइ, भैंना तौ माँगे पीअरौ[6] ।।
मेरी कहिऔ भवज-समझाइ, नँनदुलि तौ माँगे खीचरी ।
बेटी, नित उठि जँनमोंगी पूत, कहाँ ते लाऊँ लाड़ुऐ ।
लाली, नित उठि जँनमोंगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी ।
बीबी, नित उठि जँनमोंगी पूत, कहाँ ते लाऊँ पीअरौ ।।
मेरी बीबी, नित उठि जँनमोंगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी ।।
मरमँनि[7], सोई ऐ चादरि-ताँनि, माइलि बोले बोलने, भावज बोले बोलने ।
जाकी छोटी नँनद बड़ी अचपली[8], भाभी उठि चों[9] न करौ सिंगार—
गरजतु आवै पीअरौ, लुढ़कत आँमें लाड़ुए ।।
टूटत बैहँगीनु[10] बाँस, खीचरी के बोझ ते ।
झूंठौ तिहारौ लाली, मेरौ पीहर-सासुरौ,
जौ तू री भावज, मानति झूंठ, चढ़ि चौबारेनु[11] देखिऐ ।।

[1]. जोर की आहट । [2]. पता । [3]. बिना छिपे । [4]. शुभ (सुलाक्षणिक) । [5]. पितृ-गृह । [6]. पीला वस्त्र, पौंमचा । [7]. दुखियारी । [8]. चंचल । [9]. क्यों । [10]. बँहगी-कहार जिसपर माल ढोते हैं । [11]. चौबारा—चार दरवाजोंवाला दालान ।

साँचौ तिहारौ ऐ बोल, साँचौ पीहर-सासुरौ ।
बीबी, लट-छोड़ि लागूंगी पाँम, गिरी[1] रे-छुआरे त्यारौ मुख-भरूँ ।
मेरी घरूए सजँन की ऐ धीग्र, सो झगड़ि मँगायौ पीग्ररौ ।।

२०

चों ऐ बिधूकी[2] री जाँनकी, चों ऐ बिधूकी री ।
इंद्रपुरी ते नगाड़े मँगामें, तेरे द्वार घुराऊँ[3] री, सीया बेटी चों० ।।
बिरँम-पुरी ते बिरमाँ[4] बुलाँमें, तेरे सुत कौ नाँम धराऊँ, सिया बेटी० ।।
कजरी बन ते हस्ती मगाँऊ, तेरे द्वार झुकाँऊ री, सिया बेटी० ।।

२१

सीता ठाड़ी पछिताइ, कुस बन में भए ।
जो घर होती सासु कुसल्या, चरुए देंती धरबाइ ।।
जौ घर होती नँनद हँमारी, सँतिए देंती धरबाइ ।
जौ घर होंते ससुर हँमारे, नौबति देंते धरबाइ ।।
जौ घर होंते दिबर हँमारे, तीर देंते सँधवाइ; कुस बन में भए ।।

२२

जब पहला नहान निकलता है, उस दिन गोबर के साँतिए धरे जाते हैं और यह गीत गाया जाता है ।

धरती के दरबार, नौहबति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रहीऐ फुलबारी, चंपा मौरि[5] रही ऐ, मरुअरौ मैंहकि रह्यौ ऐ ।।
माता के दरबार नौहबति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रही ऐ फुलबारि, चंपा मौरि रही ऐ ।।
सेढ़-मसानी[6] के दरबार, नौहबति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रही ऐ फुलबारि, चंपा मौरि रही ऐ, मरुअरौ मैंहकि रह्यौ ऐ ।।

२३

साँतिये[7]

ननद, घर के कौरे से साँतिए रखती है । सास एक हँड़िया पर पाँच साँतिए गोबर के रखती है । इसे चरुआ कहते हैं । दस दिन तक जच्चा इसी हँड़िया के पानी को पीती है । इस दिन का नाम चरुआ-सँतिया है । इसी दिन यह गीत गाया जाता है ।

धरहुँ सुहद्रा[8] साँतिए, अपने बिरँन[9] दरबार, बधाई बाजी नंद कें ।
गैहननु में बड़ौ हाँसुला, जो मेरी नँनदी ऐ देउ ।।
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लेंति, हठीली, हठि परि रही ।
पौहेन[10] में बड़ी भैंसि ऐ, सो मेरी नँनदी ऐ देउ ।।
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लेंति, हठीली, हठि परि रही ।
बकुचनि[11] में बड़ी चूंदरी, सो मेरी नँनदी ऐ देउ ।।
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लेंति, हठीली, हठि परि रही ।

१. नारियल की मिंगी । २. दुखी । ३. बजवादूं । ४. ब्रह्मा । ५. मौरना—बौरना—फूलों से युक्त होना । ६. देवी-देवता । ७. स्वस्तिक । पुत्र-जन्म पर घड़े पर गोबर से स्वस्तिक रखना एक आवश्यक अनुष्ठान है । ८. सुभद्रा—यहाँ तात्पर्य 'बहिन' से है । ९. भाई । १०. पशुओं । ११. संदूक या पिटारा ।

बासँन सें बड़ौ टोकनाँ, सो मेरी नँनदी ऐ देउ।
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लेंति, हठीली, हठि परि रही ।।
भाभी, हँसुला तौ देउ अपनी सासु ऐ, चरुआ चढ़ाए कौ नेगु[1] ।।
भाभी, भैंसि भरारेनु[2] देउ, तिहारी सोभरि भरारे कौ नेगु।
भाभी, चूंदरि तौ नाँइन ऐं देउ, नगर बुलाए कौ नेगु ।।
भाभी, टोकनाँ तौ देउ ग्रौरानी ऐं, बिजनु[3] ढुराए[4] कौ नेगु ।
भाभी, हम तौ बुही लिग्गे, बदनि-बदी ऐं ग्राधी राति ।।
भाभी, खोलौ ककँनवा की कील, बदनि-बदी ऐ सोई देउ ।
लाली, जिह[5] ककनाँ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढ़ायौ सोई लेउ ।।

२४

छटी का दूसरा गीत

तेरे हाथ झुंझुना लाल रे।
बाबा के प्यारे खेलि रे, ताऊ के प्यारे खेलि रे ।।
तेरी दादी खिलाबै तू खेलि रे, तेरी ताई खिलावै तू खेलि रे ।
तेरे फूफा[6] लाए झुंझुना, तेरी भूमा[7] खिलावै तू खेलि रे ।।
तेरे नाना कौ टूटचौ झुंझुना खेलि रे, नानी छिनरी खिलावै तू खेलि रे ।।

२५

छटी का तीसरा गीत

धतूरौ, माँचनों रे लाल ।
कोंनें बौयौ, कोंनें जोत्यौ, कोंनें डारचौ ऐ बीजु, धतूरौ माँचनों रे लाल ।।
भरत लाल नें जोत्यौ, लछिमँन नें जोत्यौ, रॉम नें डारचौ ऐ बीजु ।
धतूरौ, माँचनों रे लाल ।।
कोंनें घोंटचौ, कोंनें छाँन्यों, कोंनें भरि लीयौ घूंट ।
स्रुति-कीरति नें घोंटचौ, उरमिला नें छाँन्यों, सीता नें भरि लीयौ घूंट ।
धतूरौ, माँचनों रे लाल ।।

२६

छटी का चौथा गीत

टोडरमल झूलें पालनाँ ।
काए की तेरी चंदन-पलकिया, काए के बाँन[8] बुनाइ ।
काए की अदमाइनि दीजि ऐ, टोडरमल झूलें पालनाँ ।।
जसरथ के चंदन-रूख कटाइऐ, चंदन-पलकिया ठुकाइऐ ।
रेसम बाँन बुनाइऐ, टोडरमल झूलें पालनाँ ।।
टोडरमल दीए ऐं पौढ़ाइ,[9] टोडरमल झूलें पालनाँ ।
वाकी ताई, चाची, भूम्रा झुलावें पालनाँ, टोडरमल झूलें पालनाँ ।।

१. किसी संस्कार अथवा अनुष्ठान में विविध काम करने वालों को उनके अधिकार के रूप में जो कुछ दिया जाता है, वह 'नेग' कहलाता है । २ भड़री जो निकृष्ट दान लेते हैं । ३. पंखा । ४. हिलाने या करने । ५. यह । ६. पिता की बहिन के पति । ७. पिता की बहिन । ८. बान—वह भूंज की रस्सी जिससे पलंग-खाट बुनी जाती है । ९. सुलाना ।

बाबा के प्यारे झूलि रे, चाचा-ताऊ के प्यारे झूलि रे।
तेरी दादी झुलावै तू झूलि रे, टोडरमल झूलें पालनाँ।।

२७

छटी का पाँचवाँ गीत

बिलगु[1] मति माँने री जच्चा, जि तौ भंगी कौ लला।
बिलगु मति माँनें री जच्चा, जितौ कुँम्हार कौ लला।।
बिलगु मति माँने री जच्चा, जितौ चँमार कौ लला।
बिलगु मति माँने री जच्चा, जितौ कोरी[2] कौ लला।।
बिलगु मति माँने री जच्चा, जितौ खटीक[3] कौ लला।
बिलगु मति माँने री जच्चा, जितौ बनियाँ कौ लला।।
बिलगु मति माँने री जच्चा, जितौ धोबी कौ लला।
सबु जगु झूठौ री जच्चा, जितौ साँचौ राँमजी कौ लला।।

२८

छटी का छठवाँ गीत—'दमोदरिया'

पंडितु जचरिया कौ यारु, जाँनें लिखि डारचौ जगु-संसारु, व्वानें एक न लिखी दमोदरी।
कुँह्यार कौ[4] जचरिया कौ यारु, जानें भाँनि[5] डारचौ सबु संसारु, व्वानें एक न भाँनी दमोदरी।।
चमरा कौ जचरिया कौ यारु, जानें गाँठि[6] डारचौ जगु-संसारु, व्वानें एक न गाँठी दमोदरी।
कोरिया जचरिया कौ यारु, जाँनें बुनि डारचौ जगु-संसारु, व्वानें एक न बुनी दमोदरी।।

२९

छटी का सातवाँ गीत—'लपसी'

मन गुरु, मन गुरु, द्वै मन मैदा, करउ कौसल्या लापसी।
सब गुरु, सब गुरु, धरचौऐ उठाइ, तौ निपट अलोंनी लंगर लापसी।।
जेतौ री, जेतौ दारी सुमित्रा के काँम, केकई बिचारी कहा करै।
चूल्हे-पाँछें, चूल्हे-पाछें, धरचौ ऐ खड़ेंरा, लछिमनु जानें मोकूँ लापसी।।
सरपट, सरपट लाला भरि लीयौ गाल, हवकत डोलें सारे देस में।
आँगन, आँगन भैंसि कौ चोथ, नँनदुलि जाँनी मोकूँ सिग धरी।।
सरपट, सरपट लाली भरि लीयौ गालु, थूकि-भरी सब री देहरी।
तेरी, तौ तेरी, खड़ेंरा बोलूँ जाति, निकरि हलक ते बाहिरौ।।
तेरी, तौ तेरी बोलूँ चोथ जाति, निकरि हलक ते बाहिरौ।

३०

छटी का आठवाँ गीत[7]

सोऔ कै जागौ हुरिल के बाबा-ताऊ, गाँमनहारीं राजे घर चलीं।
गाँमन हारिन के लेंहँगा-लुगरा लेउ उतारि, करौ हुरिल की गड़तनी।।
नए-नए देउ पहराइ, पुराँनेन की करि लेउ गड़तनी।
गाँमन-हारिन देउ तँमोल, गोद भरौ तिल-चाँमरी।।

[1]. बुरा। [2]. कपड़े बुनने का काम करने वाली जाति का आदमी। [3]. भेड़, ऊन और तांत का व्यवसाय करने वाली जाति का मनुष्य। [4]. कुम्हार का पुत्र। [5]. भानना—बनाना। [6]. गाँठना—जूता सीने और सँभालने का काम। [7]. यह गीत गानेवालियों को विदा करते समय गाया जाता है।

३१

छठी का नववाँ गीत—'कठुला'

लाला की नानी आवैगी, दरबज्जौ बाँसु गढ़ावैगी, जि थेई-थई नाँचैगी।
जि कौड़ी-कौड़ी जोरैगी, लाला कौ छोछक[१] लावैगी ॥
लाला की माँई आवैगी, अजुध्या जी में सेज बिछावैगी।
बूढ़े-बारेनु[२] मोहैगी, जब रोक-रुपैया लावैगी, लाला कूँ कठुला गढ़ावैगी ॥
लाला कौ मामा आवैगौ, जब धुनि की रुई धुनावैगौ, जब फोग्रा-फोग्रा जोरैगौ।
भैंना कूँ सौरि[३] भरावैगौ, लाला कूँ टोपा भरावैगौ ॥
लाला की मौंसी आवैगी, धवला[४] में सोंठि चुरावैगी।
मौंसी कौ पेटु कबाड़ौ ऐ, दस रोटी कौ एकु निबारौ ऐ ॥
देखी रे लला, तेरी नँनसार, फिट्टि रे लाला, तेरी नँनसार।
लाला की दादी आवैगी, बु हँसुली-खडुग्रा लावैगी, लाला ऐ लै पैहरावैगी ॥
पैहिरै वाकी झाँझनियाँ, पैहरावै वाकी माइ।
पैहिरै कुल-माँड़नियाँ[५], पैहरावै वाकी माइ ॥
छज्जे पै बैठि खिलावैगी, आँगन में बैठि खिलावैगी।
देखी रे लाला, तेरी ददसार, खूबु रे बनीं तेरी ददसार ॥

३२

जगमोहन-लुगरा

एजे, नँनद-भवज दोनों बैठिऐ, एजे रुक्मिनि नौ-दस माँस गरभ ते, एजे नँनदुलि बात चलाइऐ।
एजे, जौ तिहारें होंइ नँदलाल, जगमोंहन-लुगरा दीजिऐ ॥
बीबी, जो मेरें होंइ नँदलाल, जगमोंहन-लुगरा लीजिऐ।
एजे, नँनद चली ऐ अपने सासुरे, बाके होरिलु सबदु सुनाइऐ, जगमोंहन-लुगरा माँगिऐ ॥
एजे, कैसें बचाऊँ अपने प्राँन, नँनदुलि ते छिपाइऐ।
एजे, घुरि गए तबल-निसाँन, बजँन लागे सोहिले ॥
एजे, नौग्रा के ऐ लेउ बुलाइ लुचन[६] लैकें भेजिऐ।
एजे, जाग्रौ मेरी माइ, कहौ समझाइ, रुक्मिनि नें जाए हीरा-लाल।
एजे, इक बनु नाँखि दूजे बनु नाँख्यौ, तीजे बनु पहुँचे ऐं जाइ, रुकिमिनी के बबुलकें।
भरी रे कचहरी बबुल जी की बैठी ऐ।
एजे, बिरँन जो बैठे उनके पास, एजे नौग्रा के नें लुचन दिखाइऐ।
ब्वाके बाबुल खुसी रही उर छाइ, बिरँन ब्वाके सुनि रहे ॥
एजे, हाथी बँधे ऐं हथसार, जरद अंबारी दीजिऐ।
एजे, घोड़ी बँधी ऐं घुड़सार, अच्छौ-सौ जींनु धराइ, झाँझन पहिराइऐ, नौग्रा के ऐ बेग चढ़ाइऐ।
एजे, भरी रे कचहरी बाबुल उठि चले।
एजे, छोटे बिरँन उनके साथ, मैहलनु जाइ पहुँचिऐ ॥
एजे, कही ऐ माइ समुझाइ, भवज उनकी सुनि रही ॥
एजे, रुकिमिनि जाऐ ऐं नँदलाल, बधाई लैकें आइऐ।

१. छोछक—माँ के माता-पिता-भाई-बंधुओं द्वारा भेजी हुई सामग्री, जो पुत्र-उत्पन्न होने की बधाई में आती है। २. छोटे। ३. ओढ़ने की रजाई। ४. लँहगा। ५. कुल-मंडन करने वाला, कुल की शोभा। ६. निमंत्रण का रोचन, रोली।

एजे, षटरस भोजनु बनाइ तौ सोरन[1]-थार लगाइऐ ।।
एजे, तोड़ा[2] देउ पँहिराइ, तौ लाग्रौ पाँचौ कपड़े धेवते[3] के सोहिले ।।
एजे, करौ भोजन रुचिमाँन, बिदा करि दीजिऐ ।
एजे, जगमोंहन-लुगरा श्रौ लाउ, नाऊ ऐ धरि दीजिऐ ।
एजे, लै जाउ बगल दबाइ, काऊ नाहिं दिखाइऐ ।
एजे, बीच में बसति ऐ सुहद्रा[4], तौ उनें न दिखाइऐ ।।

❀ ❦

एजे, इक बनु नाँखि दूजे बनु नाखिए, तीजे बनु श्राइ मँझारि सुहद्रा के मैहल में ।।
एजे, पूँछति पीहर की बात कहा लै श्राइऐ ।
एजे, बाजि रहे तबल-निसाँन, गबत छोड़े सोहिले ।।
एजे, हूँम तो लुचन लैकें भेजे, रुकिमिनि के बबुल कें ।
एजे, तुमकूँ बधाए लैकें श्राए, किसन लैबे श्राइऐ ।।
एजे, सोंने के तोड़ा लाँउ, नाऊ ऐ पहिराइऐ ।
एजे, साल-दुसाल श्रौ लाउ, नाऊऐ उढ़ाइऐ ।।
एजे, उढ़ाऊँ भतीजे के सोहिले ।।
एजे, षटरस भोजन बनाइ, नाऊ ऐ जिमाइऐ ।
नौश्रा के, भोजन करिबे कूँ श्राउ, तो श्रासन बिछाइऐ ।।
नौश्रा के, जिह[5] का बगल[6] तिहारी, तौ जाइ दिखाइऐ ।
लाली, नहन्न-उस्तरा ऐ पेटी, तौ जाकौ कहा देखिऐ ।
नौश्रा के, हूँमते दगा मति खेलै, गाँम कौऐ नाऊ ।
तेरी बगल जगमोंहन-लुगरा दबि रहे, तो हूँमते छिपाइऐ, एजे चों न दिखाइऐ ।
नौश्रा के, चलूँगी तिहारेई, साथ, बदनि पूरी है गई ।।
लाली, तुम तौ बाबरी-गँमारि, मेरे सँग ना चलौ ।
तिहारे बिरँन तो श्राँमें लेंनहार, श्रादरु करि जाइऐ ।।
लाली, बिना रे बुलाऐं मति जाश्रौ, श्रादरु नाँऐं होइ ।
एजे, रुक्मिनि कौ डोला ऐ साथ, नाऊ के सँग चलि दई ।
एजे, एक बनु नाँखि दूजौ बनु नाँखि ऐ, एजे, तीजे बनु पहुँची ऐ जाइ, बबुल जी के मैहल में ।।
एजे, बिरँन जी बैठे चटसार, देखि भैंनाऐं हूँसि दए ।
भैंना, देखि भतीजे को सोहिलौ, भाजहि तुम श्राइ ऐ एजे, मैहलन भावज सुनि रहीं ।
एजे, हथियँन में बड़ौ हाती, जरद ऐ श्रंबारी ।
एजे, अरजुन नँनदेऊ बैठि जाऊ, नँनद सुख पाइऐ ।
एजे, घोड़ियन में बड़ौ घोड़िला—
एजे, चंदा-सूरज से मेरे भाँनजे, जा चढ़ि जाइऐ, नँनद सुख-पाइऐ ।
राजे, बकुचिन में बड़ी चूँदरी, एजे, जाइ नँनदिया ऐ देउ, श्रोढ़ि घर-जाइऐ ।
एजे, गैहनेनु में बड़ौ हाँसुला, सो जाइ नँनदियाऐ दीजिऐ, जाइ पैहरि घर-जाउ ।।
भाभी, हथिया बँधे बहुतेरे, घुड़िल घुड़सार में ।
भाभी, बदनि-बदी ऐ सोई देउ, जगमोंहन-लुगरा दीजिऐ ।।

[1]. सुवर्ण । [2]. सोने की लड़ । [3]. पुत्री का पुत्र । [4]. सुभद्रा—कृष्ण की बहिन । [5]. यह ।
[6]. शरीर के पार्श्व और भुजा के बीच का भाग, जिसे 'काँख' भी कहते हैं ।

भाभी, चुँदरी तो मेरें बौहौत ऐं, सो हँसुला तौ मेरें बहु घँने।
भाभी, बदनि-बदीऐ सोई देउ, जगमोंहन-लुगरा दीजिऐ।।
लाली, जे लुगरा नाँ देंउ, कुँमरजी के सोहिले।
लाली, भेज्यौ ऐ जनम दिखामनि माइ, मजलसिया बाबुल मोलु लै।।
लै आयौ री मेरौ तरकसु-बंदी बीर, एजे, अपनी भवजु कौ ऐ साहिबा।
एजे, जाइ नाइ दुँगी, ओढ़ूँ तौ अपने चौक पै।।
लाली, को तिहारें गए लेंनहार, को तौ छेता[1] धरि गए।
भाभी, ना कोई गए लेंनहार, नाऐं छेता धरि गए।।
भाभी, हमारे बबुलु की अथैंया[2], इन देखिबे आइऐ।
भाभी, हमारी माइ की रसोइया, इन देखँन आइऐ।।
भाभी, हमरे बिरँन घर-सोहिलौ, सुनि कें घर आइऐ।
लाली, लौटि-बगद घर जाउ, तौ फेरि मति आइऐ।।
एजे, नेंनन् भरि लाई नीरु, तौ हिलकिन् रोइऐ।
भाभी, हमरे बबुल के ऐ देस, जनम-भुंमि मेरी रही।।
भाभी, तुम न जँमन देउ आजु, लौटि घर जाइऐ।
लाली, बैठी ऐ तन-मन मारि, नेंनन् जलु छाइऐ।।
एजे, बाहर तें आए मा के जाए बिरँन आए मैहल में, एजे, हमरी बैहिन कैसें अनमनी[3]।
एजे, भीतर ते बोली रुक्मिनी, बैहिन तिहारी रूठिऐ।।
एजे, लाओ जगमोंहन-लुगरा मोल, बैहिन कूँ दीजिऐ।
रुक्मिनि, जो कहूँ बिकते जे मोल, तौ हाल जु लाइऐ।।
चाहें आमें लाख, द्वै लाख, छै लाख, खरीदि कें लाइऐ, बैहिन लै पहिराइऐ।
रुकिमिनि, जुरि रही पटनाँ की पेंठ, माँ तौ रे हम जाइऐ।।
भेंना, लाइ दऊँ दखिनी-सौ चीर, बाइ ओढ़ि घर जाइऐ।
एजे, ब्वाऊ ऐ बैहिन नाँऐ लेंति, हठीली हठि परि रही।।
रुकिमिन, जौ तुम बैहिन न देउ, जाँइ हम पेंठ कूँ।
गोरी, करें दूसरौ ब्याहु, सौति तुम पर लाइऐ।।
रुकिमिनि, करहु सोलहों सिंगार, निकरि पीहर जाइऐ।
रुकिमिनि, धनियाँ बहुत-सी लाऊँ ब्याहि, बैहिन नाऐं पाइऐ।।
रुकिमिनि, निकरि बाहर तुम जाओ, डुलिया तो ठाड़ी द्वार पै।
लाली, बगदौ, बगदि घर आउ, जगमोंहन-लुगरा पहरिऐ।।
लाली, पैंहरि-ओढि घर जाउ, तौ मख-भरि असीस जु दीजिऐ।
भाभी, अमरु रहै तिहारी चुरियाँ, अमरु तिहारे बीछिया।।
भाभी, जीओ तिहारे कुँमरु कँन्हैया।
कुँमरु तिहारे चौक में, खेलें तिहारे अँगन में।।

—::०::—

१. लिवा कर लाने की तिथि का निश्चय और निमंत्रण। २. स्थान। ३. उदास।

(आ)

विवाह के गीत

"भारतीय समाज में मनुष्य के विविध-संस्कारों में विवाह-संस्कार का सबसे अधिक महत्त्व है। लोक-जीवन में किसी संस्कार के महत्त्व के अनुसार ही एक लौकिक अनुष्ठान का राग-रहस्य-मय वातावरण प्रस्तुत होता है। इस अवसर पर होनेवाली प्रवल भावाभिव्यक्ति का जो रूप नारी-लोक के गीतों में प्रस्तुत होता है, उसकी एक झाँकी यहाँ दी जाती है। यह ब्रज के क्षेत्र से संबंधित है। इन गीतों का संकलन-संपादन भी चंद्रभानुजी आदि अनेक महानुभावों ने किया है।"

सगाई

चंदनऊ की चँदन-पलिकिया, गढ़ि ल्याउ लाल लुहार के।
अंचवनि-मंचवनि भँमर डराए, पाटिन अरसीं लगाइ ऐ।।
रेसम-बाँन बुनाई पलिकिया, दौनि लगाई मखतूल की।
आँइत-पाँइत गिडुआऔ लागे, सबाउ दरियाए की सौरि ऐ।।
जा पर बैठि दोउ मिलि साजँन खेलत झुँअना-सारि ऐ।
खिरकी के ओलें-ओलें ओजी औ डोलें, का पिय झुँअना खेलिऐ।।
को जिअ हारौ, को जिअ जीतौ, कोंन के परि गए दाइ ऐं।
आजुल हारे, साजनु जीते, परेऐं दुलहु के दाइ ऐं।।
सूँनु धँनु हारे, रूप धँनु हारे, हारे बछा सों गाइ ऐं।
एकु जौ हारे कुँमरि लाड़िलड़ी, आजी के बसत पिराँन ऐं।।
सूँनु धँनु दै हों, रूप धँनु दै हों, दै हों बछा सों गाइ ऐं।
एकु न दै हों कुँमरि लड़िलड़ी, आजी के बसत पिराँन ऐं।।
खिरकी के ओलें-ओलें मैयाऔ डोलै, का पिय झुँअना खेलिऐ।
खिरकी के ओलें-ओलें चाचीऔ डोलै, का पिय झुँअना खेलिऐ।।
खिरकी के ओलें-ओलें भाभीऔ डोलै, का पिय झुँअना खेलिऐ।
को जिअ हारौ, को जिअ जीतौ, कोंन के परि गए दाइ ऐं।।
बाबुल हारे, साजनु जीते, परे ऐं दुलहु के दाइ ऐं।
चाचुल हारे, साजनु जीते, परे ऐं दुलहु के दाइ ऐं।।
बीरनु हारे, साजनु जीते, परे ऐं दुलहु के दाइ ऐं।
सूँनु धँनु हारे, रूप धँनु हारे, हारे बछा सों गाइऐं।।
एकु जौ हारे कुँमरि लड़िलड़ी, मैया के बसत पिराँन ऐं।
एकु जौ हारे कुँमरि लड़िलड़ी, चाची के बसत पिराँन ऐं।।
एकु जौ हारे कुँमरि लड़िलड़ी, भाभी के बसत पिराँन ऐं।।
सूँनु धँनु दै हों, रूप धँनु दें हों, दै हों बछा सों गाइ ऐं।
एकु न दै हों कुँमरि लड़िलड़ी, मैया के बसत पिराँन ऐं।।
एकु न दै हों कुँमरि लड़िलड़ी, चाची के बसत पिराँन ऐं।
एकु न दै हों कुँमरि लड़िलड़ी, भाभी के बसत पिराँन ऐं।।
औरें औ कौरें गुड़िया औ छोड़ी, रोवत छोड़ीं सहेल रीं।
कोटि तरे तें निकरी पलिकिया, कोइल सबद सुनाइऐ।।
तू का बौले दारी बन की कोइलिया, छूटौ बबुल कौ देसु ऐ।
सिऐ पनारि जनकु घर आए, मंडपु देखौ अँधियार ऐ।।

मैया के रोजनि नदियाँ बहति ऐं, बबुल रोबत दरिआउ ऐ।
बिरँन के रोजनि पटुका औ भींजै, भाभज मौं मसकोरि ऐ।।
अब सुख सोओ मेरी दौरि-जिठाँनी, नँनद गई ऐं परदेस ऐ।।

२

हाथ गडुअरा लेउ वाके बाबा, सतुआ बाँधौ डेढ़ सेर, बरु ढूँढ़न कूँ नीकरे।
अग्गिम ढूँढ़चौ लाड़ौ, पच्छिम ढूँढ़चौ, ढूँढ़ी है सब गुजराति।
तिहारी जोड़ी कौ बरु ना मिलै—
(ऐसे ही नाम ले लेकर सब शहरों के लिए)
एकु न ढूँढ़चौ अगिलास[1] (या जो गाँव हो) तिहारी जोड़ी कौ बरु माँ मिलै।

लगुन

हाथ डंडा, मुख बाँसुरी औरु खेलत ऐं चौहाँन[2], मनोहर साँमरे।
घर आऔ न लाल लड़ाइते, लगुनाइत ऊबें[3] द्वार, मनोहर साँमरे।।
लला, कोंन रुके तुम नाँतिया, अरु कोंन बबुल के पूत, मनोहर साँमरे।
लला, अपने अजुल[4] के नाँतिया, अरु अपने बबुल रजपूत, मनोहर साँमरे।।
लला, कोंन के भाइ-भतीजे रे, औरु कोंन के लौहरे-जेठे बीरु, मनोहर साँमरे।
चाचुल भाइ-भतीजौ औरु बीरँन लौहरे बीरु, मनोहर साँमरे।।
मूँड़[5] नारिअरे[6] कौ मूँड़िऐ, आँखें आँम कै-सी खाँप[7] ऐं, औरु भौंहनि चढ़ि ऐ कमाँन, मनोहर साँमरे।
दात दरों[8] कैसे बीज ऐं, औरु ओठनि रची ऐ तँमोरि[9], मनोहर साँमरे।।
जिबिआ[10] कँमल कैसौ फूल ऐ, औरु नाँक सुआ[11] कैसी चोंचि, मनोहर साँमरे।
काँनन कुँडल खुलि बने, औरु चुन्नी ओलें लेइ, मनोहर साँमरे।।
बाँइ[12] पिपर[13] कैसी डार[14] ऐं, औरु गोड़[15] मरूअरे[16] के खंभ, मनोहर साँमरे।
अँगुरी तो फरियाँ[17] रमास[18] की, छड़ियाँ सोभा देइ, मनोहर साँमरे।।
सिर पर चीरा खुलि बने, औरु कलँगी ओलें लेइ, मनोहर साँमरे।
वदन में कुड़िता खुलि बनौ, करिआ[19] गाई[20] में समाइ, मनोहर साँमरे।।
कटि पीतांबर खुलि बनौ, औरु मोजा ओलें लेइ, मनोहर साँमरे।
सजि बरनाँ ठाड़े भए, औरु सूरज भए हैं अलोप[21], मनोहर साँमरे।।
अब काहे सों करिहौ आरतौ, ना घर में राई-नोंन, मनोहर साँमरे।।
राई बिकति बनारसु, औरु साँमर[22] हाट बिकाइ, मनोहर साँमरे।।
को मेरें जाइ बनारसें, औरु को मेरें हाटें जाइ, मनोहर साँमरे।
बाबुल जाँइ बनारसें, औरु चाचुल हाटें जाँइ, मनोहर साँमरे।।
अब करि मैया, आँचनों; अब घर राई-नोंन, मनोहर साँमरे।
लला, ब्याहि बहूअ लै आइऐ, औ फूली अँग न समाइ, मनोहर साँमरे।।

---

१. उस गाँव का नाम जहाँ वर मिला हो। २. चौगान। ३. उकता रही हैं, थकी जा रही हैं। ४. बाब। ५. मूंड, शिर। ६. नारियल। ७. फाँक। ८. दाड़िम, अनार। ९. तांबूल-पान। १०. जिह्वा। ११. शुक, तोता। १२. बांह। १३. पीयल। १४. डाल, शाखा। १५. टाँग-जानु। १६. मरुआ (एक वृक्ष)। १७. फली। १८. लोबिय। १९. कटि। २०. अंगूठे और उसके पास की उंगली से दूसरे हाथ का अंगूठा और उस के पासवाली उँगली मिलाने पर बीच में जो अवकाश रहता है वह गाई कहलाता है—अंगूठे और उसके पासवाली उँगली के बीच का भाग भी 'गाई' कहलाता है। २१. लुप्त। २२. सांभर, नौन।

अब करि बेंदुल[१] आरतौ, माथे पै तिलकु सँजोइ, मनोहर साँमरे।
राँम-सिया जोड़ी बनीं, औरु सोभा बरनी न जाइ, मनोहर साँमरे।।

बधाया

राँम आए अजुध्या अँनंद भए, अँनंद भए माई, सुख-चैंन भए।
माई, राजा जसरत[२] कें चारि बेटा भए, चारों घूंमें अजुध्या अँनंद भए।।
माई, राजा जसरत कें चारि हाती[३] हुए, चारों ठाड़े दरवाजें, अँनंद भए।
राजा जसरत कें चारि बहुअलि[४] हुए, चारों तवें[५] रसोई, अँनंद भए।।
राजा जसरत कें चारि बेटी हुए, चारयों लाईं बधाई, अँनंद भए।
माई, राजा जसरत कें चारि नाँती हुए, चारों खेलें आँगनवा अँनंद भए।।

१

चित्तरसारी में रामचंद्र पौढ़िए[६], इनकी चंद-बदन-सुख-सेज।
धँनउ नबै कछु साहिबु नवै, सिढ़यिँन में भगिनी अड़ि रही।।
भाभी, जे बटुआ हमें देउ, धँनउ नवै कछू साहिबु नवै।
लाली, जे बटुआ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढ़ायौ सोई लेउ।।
चित्तरसारी में लछिमन पौढ़िए, इनकी चंद्र-बदँन-सुख-सेज।
धँनउ नबै कछु साहिबु नबै, सिढ़ियँन में भगिनी अड़ि रही।।
भाभी, जे बटुआ हमें देउ, धँनउ नबै कछू साहिबु नवै।
लाली, जे बटुआ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढ़ायौ सोई लेउ।

२

आई, आई नंद जू की पौरि[७], बधाई लाई मालिनियाँ:
कहा लाई लल्ला की बधाई, सुघड़-पट मालिनियाँ।।
फूल लाई मालिन, तो पाँन तमोलिनियाँ।
गदका[८] लाई लल्ला की बधाई, सुघड़-पट मालिनियाँ।।
हरे-हरे गोबर अँगन लिपाऔ कि सुघड़-पट मालिनियाँ।
गज-मोंतिन के चौक-पुराऔ, सुघड़-पट मालिनियाँ। आई-आई०
कुंम-कलस इमिरितु भरि लाए, चंपे की डार झकोरौ, सुघड़-पट मालिनियाँ।
ऐंपनु-घोरि पटा गहि मारौ, साटी के आछत डारौ, सुघड़-पट मालिनियाँ। आई-आई०
जा चौक बैठे रामचंद्र, संग सजन की जाई, सुघट-पट०
भूआ-भैंना करें आरतौ[९], झगरति अपनों नेगु, सुघड़-पट मालिनियाँ।। आई-आई०
मोंतिन के गजरे बेटी सुभद्रा ऐ लै पहिराऔ, सुघड़-पट मालिनियाँ।
देंत असीस चली मधुबन कूं, जिऔ तेरौ कुँमरु कँन्हाई, सुघड़-पट मालिनियाँ। आई-आई०

३

सुनि, सुनि रे मेरे समरथ साहिब, नँनद परौसि न राखिऐ।
सोई, सोई देखै, सोई सोई माँगे, नित उठि कोसै राजा बीर।।
छज्जेनु-छज्जे मेरे कुँमर जु डोलें, आँगन डोलें मेरे भाँनजे।
सोंने कौ तोड़ा मेरे कुँमर जो पैहिरें, चाँदी कौ पैहिरें मेरे भाँनजे।।

[१]. बहिन। [२]. आरतौ। [३]. दशरथ। [४]. हाथी। [५]. बहुएँ। [६]. करें। [७]. सोये। [८]. पौली, देहली, देहलीज। [९]. बच्चे को हाथों, पैरों और कमर में काले डोरे पहनाये जाते हैं, यही काले डोरे के पहुँची, कोंधनी और गदका कहलाते हैं। [१०]. आरती की भाँति का एक अनुष्ठान।

सोरँन-थार मेरे कुँमर जौ जैमें, बेलँनु जैमें मेरे भाँनजे।
अँगिया बखेरी मेरी नँनद बहुतेरी, टोपी बखेरूँ नँनदऊ बहुतेरे।
रुपया बखेरूँ धँना बहुतेरी, माँ की रे जाई कहाँ पाइऐं ।।

४

आजु की घड़ी मेरें अँनंद-बधाए जी राज।
भूरी-सी हथिनी जरद अंबारी, जा चढ़ि आए मेरे पंच हजारी, जी राज ।। आजु की०
सुभ की घड़िनु साहिब घर आए जी राज, सुसर-बिआई मेरी सासु कहाई जी, राज
सासु के जाए देबर-जेठ कहाए, जी राज ।।
जेठ बिआही मेरी जिठाँनी कहाई जी राज, जिठाँनी के जाए जेठौत कहाए, जी राज।
नंद कूं ब्याहे नँनदेऊ कहाए जी राज, नँनद के जाए भाँनैज कहाए, जी राज ।।

५

यह गौने को जाते समय गाया जाता है।

खोलुँगी डिब्बा में पैहिरूँगी गहनों, जी राज।
खोलुँगी बकुचा में पैहिरूँगी कपड़े जी राज, पैहरि दिखाऊँ छोटी बाई जी के बीरा जी राज।
लोंग की लकड़ी साहिब हूँम मारे जी राज, कछु मारे, कछु लाड़-लड़ाए जी राज।

६

कोकिला, बनि जइयौ नँनदिया।
जइयौ नँनदिया, बधाई लैकें अइयौ नँनदिया ।।
काँनों में ऐरन-तरकी सोहैं, बिजली की साही दैकें अइयौ नँनदिया।
नारि में हरवा-निकलस सोहै, लौकट की साही दैकें अइयौ नँनदिया।
बाँह में बाजू-जोसन सोहै, अंतों पै नग जड़बइयौ नँनदिया ।। कोकिला बनि०
हाथों में दस्ते-खड़ला सोहैं, झड़ियों की साही दैकें अइयौ, नँनदिया।
कमरि में पेटी-तगड़ी सोहै, मच्छी में नग जड़वइयौ नँनदिया ।।
कोकिला बनि जइयौ नँनदिया
पैरों में छल्ले-छागल सोहैं, पाइल पै नग जड़बइयौ नँनदिया।
अंग में साड़ी-जंफल सोहै, बौड़ी की साही दैकें अइयौ नँनदिया ।।

७

जसरत के चारों लाल, दिन-दिन नींकौ लगै।
कोंन कें बाजें ढोलक-मँजीरा, कौसल्या के घुरत निसाँन।
केकई कें बाजे ढोलक-मजीरा, कौसल्या के घुरत निसाँन ।।
कोंन नें बाटे बीड़ा-बतासे, कोंन नें नागर पाँन। दिन-दिन ०
केकई नें बाटे बीरा-बतासे, कौसल्या नें नागर पाँन ।। दिन-दिन०
केकई नें पूंजे कुआ-बावरी, कौसल्या नें सागर-ताल। दिन-दिन नींकौ०
केकई कें बाजे नौबत-नगारे, कौसल्या कें घुरत निसाँन ।। दिन-दिन नींकौ लगै।

८ ४

हरे, हरे गोबरु अँगनु लिपायौ, रंग-मैहल में।
अरी, चूंनन चौक पुराए री माई, अरी आजु तौ बधाई बाजी रंग-मैहैल में ।।
अरी कूंम-करस इमिरत भरि लाए, ऐंपन मोर पटा धरि दीए, रंग-महल में।
कृस्न पटा पै बैठेरी, संग सजन की जाई री माई, रंग-मैहैल में ।।

अरी भूआ-बैहिन करति आरतौ, उन री झगरनि अपनों नेगु, रंग-मैहैल में।
देति असीस चले ब्रज-बन कूँ, जियौ तुम्हारे कुँमर कँन्हाई री माई, रंग-मैहैल में।।

६

आजु बड़ी कौ ओसरौ[१] रे, अरे रस भोंरा रे।
रचि-पचि[२] कीयौ ऐ सिंगारु, अरे रस भोंरा रे।।
सासु पै माँग्यौ कोरौ[३] दीवला,[४] नँनद पै तेलु-फुलेलु।
सासु नें दै दीयौ फूट्यौ-सौ दिवला, नँनद नें करुऔ-सौ तेलु।।
रचि-पचि कीयौ ऐ सिंगारु, पाटी[५] तौ पारी चोखे मोंम की।
हाथ-पलँग' सिर-सौरि[६], धँमकि अटरिया चढ़ि गई।।
खोलौ तौ खोलौ किवरिया, नाहिं उलटि घर जाउँ अरे, रस भोंरा रे।।
आई धँन तँन-मँन मारि, सासु-नँनद पूछें बात, कहौ बहू रैंनि की बात।
सेजँन पै पथरा परे, और पिय पै परची ऐ तुसार।।
आजु ल्हौरी[७] कौ ओसरौरे, अरे रस भोंरा रे।
सासु पै माँग्यौ कोरौ दीवला, नँनद पै तेलु-फुलेलु।
सासु नें दै दीयौ फूट्यौ दीवला, नँनद नें तेलु-फुलेलु।।
रचि-पचि कीयौ ऐ सिंगारु, पटिया तौ पारी चोखे मोंम की।
हाथ-पलँग, सिर-सौरि, धँमकि अटरिया चढ़ि गई।।
खोलौ पति झँझन-किबार, नहिं तौ उलटि घर जाउँ।
झटपट खोलीऐं किबार, काए कूँ उलटि घर जाउ।।
आई धँन रहसी[८] री फूली, ब्वाकी चौर[९] जिठाँनी पूँछें बात।
सेजनिराँ[१०] फुलवा परे, कोई पिउ पै उड़त गुलाल।। अरे रस भौरा रे।

भात

जानें कैसौ कागा बोलौ रे, नींबा तेरी डारिआ।
भैंनि चलीऐ बीर कें कोई गुर की गोंनि भराइ।। जाने कैसौ कागा०
गैल-बटोई नीकरौ, कोई द्वै बतियाँ सुनि लेउ रे।
हँमरे बिरँन सों यों कहौ, त्यारी बैहैंन-घर ब्याहु रे।। नींबा तेरी डारिआ।
कब कौ रे भैंनि तेरें माँड़औ, औरु कब कौ छिकौ है बिआहु रे।
परिबा कौ रे माँड़औ औरु मेरें दौज को छिकौ ऐ बिआहु रे।। नींबा तेरी डारिआ।
गेंउआँ ई गेउआँ मति करै, मैं तौ लाऊँ बोरा-लदाइ रे।
कपड़े ई कपड़े मति करै, मैं तौ लाऊँ बकस-भराइ रे।। नींबा तेरी डारिआ।
रुपिया ई रुपिया मति करै, मैं तौ लाऊँ बसनी-भराइ रे।
हँम तौ बुलाए बीर माँड़ ऐं, तुम आए बड़हार रे।। नींबा तेरी डारिआ।
जो खरचें तेरे माँड़ए, औरु सोइ खरचूँ तेरी बड़हार रे।
भातु तो उलदौ माँड़ ऐ, औरु छाल गई पिछवार रे।। नींबा तेरी डारिआ।

[१]. अवसर, बारी। [२]. भली प्रकार, सँभाल कर। [३]. शुद्ध, जिससे कोई काम न लिया गया हो। [४]. दीपक का मिट्टी का पात्र। [५]. पाटी पारना, पटिया पारना, बालों की माँग निकालना। [६]. ओढ़ने की रजाई। [७]. छोटी। [८]. आनंद मान। [९]. द्यौरानी, देवरानी। [१०]. सेज पर।

२

आजु मेरे बागनि रँग चूऐ रे, बाग की फूली फुलवाड़ि, कलियाँ तुरावै[1] राजा भातई रे।
आजु मेरे तालनि रँग, चूऐ रे, ताल की ऊँची-नीची पारि, करहा[2]-पियावै मेरौ भातई रे।।
आजु मेरे ऊसरनि रँग, चूऐ रे, ऊसरा की हरी-हरी दूब, करहा-चुगावै मेरौ भातई रे।।
आजु मेरी गलियँनि रँग चूऐ रे, गलियँनि की नैंन्ही-नैंन्ही धूरि, करहा नचावै मेरौ भातई रे।
आजु मेरे द्वारँनि रँग चूऐ रे, बैठे हैं देवर, जेठ सीस-नबावै राजा भातई रे।।
आजु मेरे मँड़इनि रँग चूऐ रे, बैठी हैं दौर-जिठाँनी, भातु पैरावै राजा भातई रे।
आजु मेरी रसोइनि रँग चूऐ रे, परसति लौहरी-सी नंद, भातु-मलोरै[3], राजा भातई रे।।
परसति लौहरी-सी नंद, सैंन-चलावै राजा भातई रे।।

३

भैंनि चली ऐ बीर कें रे, चौपट चादरि ओढ़ि, राजा भातई रे।
एकु बनु नाखौ, दूसरौ रे, तीजे बनु पहुँची है जाइ, राजा भातई रे।।
नौआ कौ बोलै बोलने रे, अजुध्या में परत न पाँइ, राजा भातई रे।
जब बेटी पहुँची ऐ द्वार पै रे, भाबज जड़े ऐं किवार, राजा भातई रे।।
जौ तुम कुल की औ भाबजी रे, खोलि देउ बजुर-किवार, राजा भातई रे।
ककुल[4] बबूल सिब[5] देखिऐ रे, बीरँनु कहूँ न दिखाँइ, राजा भातई रे।।
पितीआ के बोलत बोलने रे, त्यारे[6] बिरँन दस मास, राजा भातई रे।
लौहरौ भतीजौ अचपलौ रे, खोलि दए बजुर-किवार, राजा भातई रे।।
नँनद-भबज दोऊ भेंटि ऐ रे, जैसें साँमन कौ ऐ मेउ, राजा भातई रे।
त्यारे बिरँन द्वै बिरछ लगाए, एकु महुआ एकु आँम, राजा भातई रे।।
आँमु मिली है रोइ कें रे, महुआ ऐ छाती फारि, राजा भातई रे।
महुआ की फटि किरचें[7] भईं रे, बैठे हैं गुँजलक[8] मारि, राजा भातई रे।।
जिअतँन[9] पथरा परे रे, मरेनु पै माँग्यौ ऐ भातु, राजा भातई रे।।
कब कौ भैंनि तेरें माड़औ रे, औरु कब कौ छिकौ ऐ[10] ब्याहु, राजा भातई रे।
परिबा-दौज कौ माड़औ रे, औरु तीज कौ छिकौऐ ब्याहु, राजा भातई रे।।
जाउ भैंनि घर आपने रे, औरु हम पैरामिगो भातु, राजा भातई रे।
एक बचनु बेटी मानिऐं रे, महुआ पटा न चौकें डारि, राजा[11] भातई रे।।
पैलें तौ आबैगी आँधिया रे, ता पीछें आबैगौ मेउ, ता पीछें आमिगे बीरु, राजा भातई रे।
भातु खरीदत बिरमिऐं रे, बकुचा-बँधत भई देर, राजा भातई रे।।
गेंहू खरीदत बिरमिऐं रे, गाड़ी-लदत भई देर, राजा भातई रे।।
अवसरु आयौ मेरौ भातु कौ, रोवति अनीं-अनीं भाँति, राजा भातई रे।
पै लें तौ आई भैंना आँधिया रे, तौ पीछें आयौ ऐ मेउ, ता पीछें आए हैं बीरु, राजा भातई रे।।
चारि पैहर बरसा भई रे, औरु पैहरायौ सिबु परिवार, राजा भातई रे।
नौआ कौ छत्तीसिआ रे, महुआ पटा चौंकें डारि, राजा भातई रे।।
सरपटि भए हैं अलोप, राजा भातई रे।
एकु अँदेसौ मेरे मन रह्यौ रे, मिलती रे जिअरा हिलोरि, राजा भातई रे।।

१. तुड़वा रहा है। २. ऊँट। ३. खाते हैं। ४. चाका। ५. सब, समस्त। ६. आप के। ७. टुकड़े। ८. सर्प की गुंजल के। ९. जीवितों पर। १०. छिका है, पंडित द्वारा शोध कर निश्चित किया गया है। ११. छत्तीसिया—छत्तीसा-चतुर।

अबका भैंनि मेरी मन पछिताश्रौ भैंटिलै वेदी कौ खंमु, राजा भातई रे।
मति रे बिरँनु भइया भैंटिऐ रे, मैंना भेंटू बेदी खंमु, राजा भातई ।।

बरनी पै तेल चढ़ाने के समय के गीत।

अलबेली तमोलिनि, मेरी लाड़ी कूं पाँन चववाइ ।
जब मेरी लाड़ी ने हल्दी सँजोई, रोरी पै अजब बहार ।।
जब मेरी लाड़ी नें मेंहदी सँजोई, कंकन पै अजब बहार।
जब मेरी लाड़ी नें गेंहनों सँजोयौ, कपड़ा पै अजब बहार ।।
जब मेरी लाड़ी नें सुरमाँ सँजोयौ, मिस्सी पै अजब बहार।
जब मेरी लाड़ी नें डोला सँजोयौ, दूलै पै अजब बहार ।।

रतजगे

सई[१] साँझ कौ तिलवा पटकि लै मेरी नँनदी, नातौ घरी उठाइ ।
तेरौ तौ भैया अलबेलौ बारी नँनदी, गुरु चोरी कौ खाइ।
बरज्यौ जाइ बरजि लै नँनदी, तेरौ भैया पर घर जाइ।
बारौ होइ तौ बरजूं मेरी भावी, भैया ते लगति ऐ लाज ।।
घरकी खीर किरकिरी लागै भाभी, पर-घर की महेरी खाइवे जाइ।
घर की खाँड किरकिरी लागै भाभी, पर-घर सक्कार खाइवे जाइ ।।
बारौ होइ तौ बरजूं मेरी भाभी, बिजरा न बरज्यौ जाइ।
कूआ होइ तौ पाटूं मेरी भाभी, सँमद न पाट्यौ जाइ ।।
चिठिया होइ जाइ बाँचूं मेरी भाभी, करँमु न बाँच्यौ जाइ ।।

२

बरद-भरी मेंहदी पिरै ऐ कोई मेंहदी ऐ लेइ, मेंहदी राँचनीं ।
लिग्गे हमारे रामचंद से भोगिया, जिनकी सीता जीऐ जोगु, मेंहदी राँचनी ।।
चरत-भरत से भोगिया, जिनकी माता ऐ जोगु, मेंहदी राँचनी ।।

तेल—विवाह

रतजगे से दूसरे दिन तेल चढ़ता है, उस समय के गीत, भाभी दो बहनें या भूआ गाती हैं। इन्हें 'हथलग' कहते हैं।

तेलिन बिटिया तेल मेरौ, राँम चमेली कौ तेल ऐ।
बहू सीता तेल चढ़ाइऐ, बेटी रामेसुरी तेल चढ़इऐ ।।
घरई लछिमन जी बावइयाँ, बहू उरमिला तेल चढ़ाइऐ ।
तेलिन बिटिया तेल मेरौ, राँम-चमेली कौ तेलु ऐ, भैया बेंहन (नाम) तेल चढ़ाइऐ ।।

घोड़ी

एक मथुरा सहरु[२] नजीक,[३] नई तेजनि[४] आई ऐ।
ब्वाके बाबा खरचिग्गे दाँम, सौदागरु लाई ऐ ।।
घोड़ी बाँधुग्गो सीर-दुआर, दरों[५] के पेड़ ते।
घोड़ी नीरुँग्गो[६] नागर पाँन, चना के खेत में ।।

१. सांझ। २. शहर। ३. नजदीक (पास) का रूपांतर। ४. घोड़ी। ५. अनार, दाड़िम। ६. सत्कार करूंगा।

घोड़ी खाइगी हरी ऐ चना की दारि, कटोरा दूधे के ।।
राई बर[१] हुए असबार, चाबुक और जीन ते ।
चंचल बर हुए असबार, चाबुक और जीन ते ।।
घोड़ी लै चलु अचक[२] बैठारि, सजँन के खेत[३] में ।
चंचल बरै जु लाउ जिताइ, सँजन[४] के दुआर ते ।।[५]

घुड़-चढ़ी का गीत

बीर, कहाँ हर की तू मालिनि ऐ और सेहरौ किस घर जाइ री ?
भेंनि बँन्यौ री कुँमर कौ सेहरौ ।।
बीर, अजुध्या की हुँम मालिनी, औरु सेहरौ रजँन-घर जाइ ।
री बैहनि, बँन्यौ री कुँमर कौ सेहरौ ।।
बीर, कोंन रजँन की मालिनी, औरु सेहरौ कौन कूं जाइ ?
री बैहनि, बँन्यौ ऐं कुँमर कौ सेहरौ ।।
लाला, जसरत की हम मालिनी, औरु सेहरौ उन घर जाइ ।
री बैहनि, बँन्यौरी कुँमर कौ सेहरौ ।।
लाला, बाबा के नाँती सिरी[६] चढ़ै, जसरत के बेटा सिरी चढ़ै—
लछिमन के भैया सिरी चढ़ै और सेहरौ उँन-घर जाइ ।।
री बैहनि, बँन्यौरी कुँमर कौ सेहरौ ।।
औरु मालिनि, गुह्यौ री गुह्यायौ सेहरौ ।
औरु धरयौ ऐ राँम जी के सीस, री बैहनि बन्यौ ऐं कुँमर कौ सेहरौ ।।

बरना (विवाह) का गीत

सो अवधपुरी में बरनाँ गाँमें ।
नाँहिन[७] नगर बुलाए[८] देंति, लगुन राँम-घर धरवाँमें ।।
सबु सखियाँ जुरि मिलि कें आँमें, कौसल-भँमन[९] भरति आँमें ।[१०]
मधुर-मधुर सब सुर गाँमें, सो अवध पुरी बरनाँ गाँमें ।।
झुंड के झुंड सखिन के आँमें, भरि-भरि डला[११] चाव[१२] लाँमें ।
हीरा, लाल, जवाहर, मोती, भरि-भरि डला चाव लाँमें ।।
चंचल नारि नचति अँगना में, झँनर-झँनर नेबर[१३] बाजें ।
जब रघबर की राति जगाँमें[१४], मेंहदी हातँनु रचवाँमें, सब सखियाँ मंगल गाँमें ।।
जब रघबर पै तेलु चढ़ाँमें, हरद तेल में लिपटाँमें ।
भूआ-भेंना करें आरतौ, माँथें मरुअटि[१५] लगवाँमें, ऊपर चाँमर चुपटाँमें ।।

१. राधावर-कृष्ण। राधा का रूप 'राई' हो जाता है, यथा—राधा दामोदर के लिए 'राई-दामोदर। २. बिना हिले-डुले। ३. देश। ४. समधी (सज्जन) का विशेषार्थ। ५. पाठांतर—मेरे, रहिवर लाइगी जिताइ सजनि की धौम्र ते। ६. श्री। ७. नाँइनि। ८. निमंत्रण। ९. भवन। १०. आती हैं। ११. डलिया से बड़ा—अरहर की लकड़ियों—लौधों का बना हुआ वस्तुऐं रखने का एक बड़ा पात्र—पला। १२. बधाई-स्वरूप प्रसन्नता प्रकट करने के लिए बूआ या बहिन जो भेंट लाती है, वह 'चाव' कहलाता है। १३. नूपुर। १४. रतजगा करती हैं। विवाह के संबंध में कुछ विशेष क्रियाएँ करने के लिए एक रात स्त्रियाँ जागरण करती हैं। १५. हलदी चढ़ जाने के बाद रोली के टीके मुख पर लगाये जाते हैं, यह रोली मरुअट कहलाती है।

रघबर की निकरौसी[१] कींनीं, मौहरु[२] रॉम पै बँधवाँमें ।।
छचन चुरी मोतिन के गजरे, बैहिनँन लै कें पैहराँमें ।
दूल्हे की निकरौसी कींनीं, घोड़ी रॉम कूँ मँगवाँमें ।।
पिता जु जसरथ लिएँ संग में, थैली ऊपर लुटवाँमें ।
माइ कौसिल्या लिए गोद में, मंदिर-मंदिर उझकाँमें वे ऊभट[३] ऊभट उझकाँमें ।।
कुग्रा-बाबरी उझकाँमें, जब धूप-सरँयाँ[४] फुरवाँमें, बाग वैहिन पै मुरवाँमें ।
माइ कौसिल्या ठाड़ी समझाँमें, सो जनक पुरी सूं जल्दी ग्रइयो ।।
सो ब्याहि जानकी ऐ घर लइयो ।
नाऊ-नेगी ग्रासामेदी[५], सब कौ सँनमुख धरि ग्रइयों ।।
राजा जसरथ कौ नामु बड़ौ ऐ, नेग चुकाइ कें घर ग्रइयों ।
सारी-सरहज ठट्ठा करिग्गी, सबु के ग्रागें हँसि जइयौ ।।

बारौठी—विवाह

बारौठी है रही द्वार पै, तिरियँन मँगल गाए, रँगु बरसैगो ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगौ ।।
धन्य-धन्य वौ पिता तिहारे, धन्य मातु जिन जाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगौ ।।
कारी-कारी मात तिहारी, तुम मलूक[६] च्यों जाए, रँग बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगौ ।।
तीजे पनमें ब्याह रच्यायौ, हमऊँ ग्राइ लजाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगौ ।।
मैं तौ जानूँ पीहर ते लाई, समधिन लाला जाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगो ।।
सबरी परजा हँसी करै, तुम बूढ़े ब्याहँन ग्राए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगौ ।।
एक जनी तों न्यों[७] उठि बोली, ग्रपनी मैया ऐ च्यों नाँ लाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेड़ फरकैगौ ।।

२

सिर तेरे ककरेजी चीरा बरनाँ, पेचों से लागी ग्रंबर-बेल, चमेली कौ तेल ।।
बरनी[८] कौ राजा बरनाँ, तेरी उमेद मैंने सच्चे मोती पोऐ बरनाँ ।
कान तेरे नौटंकी कौ मोती बरनाँ, लौरों से लागी ग्रंबर बेल[९] ।।

१. दूलह को श्वसुराल भेजने के लिए जो समस्त गाँव की प्रदक्षिणा की जाती है वह 'निकरौसी' कहलाती है । २. मुकुट । ३. जब लड़का विवाह करने के लिए ग्रपना गाँव छोड़ने को प्रस्तुत होता है तो उससे कुग्रा उझकवाया जाता है । माँ कुँए में एक पैर डाल के बैठ जाती है ग्रौर कहती है मैं कुएँ में गिरती हूँ । लड़का कहता है गिरे मत मैं तो तेरे लिए बहू लाऊँगा । ४. कुँग्रा झाकने के उपरांत लड़के को श्वसुराल जाने की दिशा में रखी हुई कच्ची मिट्टी की सरँयों (सरवों) को पैर रखकर फोड़ते हुए ग्रागे बढ़ना होता है । इसके उपरांत वर पीछे घर की ग्रोर नहीं देख सकता ग्रौर बिना बहू-लाए लौट नहीं सकता । ५. ग्राशा करनेवाले । ६. सुंदर । ७. पाठांतर—ग्रों । ८. बरली, बरेली । ९. बेलि ।

३

बरनाँ, धीरें चलौ सुसराल-गलियाँ ।
तिहारी पैचें सँभारेंगी बेई सखियाँ ।।
जिनके लंबे लंबे केस, सलोंनी अँखियाँ ।
म्वाँ तौ सोइ रहे स्याँम बनाइ बतियाँ ।।—बरनाँ धीरे चलौ० ।।

गारी—ज्यौनार

जेठ जौ उतरचौऐ असाढ़ जी लाग्यौ, इंदरु सूखा डारी ।
रँग-बरसैगौ, हाँ, हाँ, राँम रँग-बरसैगौ ।।
राजा जनक नें पंडित बुलाए, किस बिधि सूखा डारी ।
देस-देस के पंडित बुलाए, करि रहे सोच बिचारी ।। रँग-बरसैगौ ।
राजा जनक जी, बुरौ न मानों, सुनि लेउ अरज हमारी ।
राजा जनक तुँम हर लै निकरौ, राँनी ऐ चकरारी ।। रँग-बरसैगौ ।
आक-ढाक कौ हरु बनबाऔ, पीपर की पनिहारी ।
सुरई गऊन के हर जुरबाऔ, सत की कुसि डरवाई ।। रँग-बरसैगौ ।
राजा जनक जी हरु लै निकरे, राँनी है चकरारी ।
राजा जनक नें हरु हाँक्यौ, तब कुस कन्याँ आई ।। रँग-बरसैगौ ।
राजा जनक नें कन्याँ लेकें, राँनी गोद गहाई ।
राजा-राँनी लै घर आए, घर-घर बटति बधाई ।। रँग-बरसैगौ ।
तीनि दिनाँ की बे भई कन्याँ, जब सोभरि खुलवाई ।
छटए दिन की जब भई कन्याँ, व्व की छटी पुजाई ।। रँग-बरसैगौ ।
दसए दिन की जब भई कन्याँ, जब व्वा कौ नामु धरायौ ।
छै महीनाँ की जब भई कन्याँ, सब नें गोद खिलाई ।। रँग-बरसैगौ ।
एक बरस की बे भई कन्याँ, सरकि कचैहरी आई ।
तीन बरस की बे भई कन्याँ, गलियँन खेलँन आई ।। रँग-बरसैगौ ।
सात बरस की बे भई कन्याँ, सखियँन खेलँन आई ।
सुनों बराती प्रेम-प्यार तें, जगत मातु गुन गाई ।। रँग-बरसैगौ ।

२

गारी

जौ हरि आजु हँमारें आँमें, केसरि अँगनु बुहारूँगी, फूलँन-माला डारूँगी ।
चंदन-चौकी दऊँ बैठनों, दूधँन पाँम-पखारूँगी ।।
हरे-हरे गोबरु अँगनु लिपाऊँ, मोंतिन चौक-पुराऊँगी ।
कूँम-करस इमिरितु भरि लाए, चंपे-डार झकोरूँगी ।।
सकल घीर आँगन बैठारूँ, साठी के आखत डारूँगी ।
जनक के अँगनाँ भीर भई भारी, जुरि आई सबु नारी ।।
चारयों भूप बराबरि बैठे, कहा परस्यौ मैंहतारी ।
जौ कंगन की गाँठि न खूटै, बोलि लेउ मैंहतारी जी ।।
अंचर-ओट सिया मुसिक्याँनी, च्यों सकुची तुम नारी जी ।
तोरत धनुस पलक नाँ लाग्यौ, कंगन-गाँठि कहा भारी जी ।।
ऊनी और रेसिमी, सूती, दिए कुसासँन डारी जी ।
थार, गिलास, कटोरा, लोटा, धोइ-धोइ धरे अगारी जी ।

सीता कौ मंगलु

रॉंमु अहेरें[1] नीकरे लछिमनु लागे हैं साथ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
मति चलौ लछिमनु, मति चलौ ; मरि हौ भूँक-पियास, सीताकौ मंगलु गाइऐ ।।
ना हमें भूँक ना प्यास ऐ, चलि हैं तुमारे ई साथ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
एकु बन नाखौ, दूसरौ नाख्यौ, तीजे बन लागी ऐ पियास ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
ना ऑं कुअटा, ना बावरी, ना ऊॉं जसरथ के ऐं ताल ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
डूंड़ी[2] पीपरि झकझालरी माँ[3] चढ़ि लछिमनु देखिऐ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
तनिक बिटरिया[4] भाट की, रखावति ऐ जौ को खेतु, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
तनिक तलैया जल-भरी, माँ चलौ जलु पी लेंइ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
प्यासे होउ तो जलु पियौ, भूँकें जौ रे चबाउ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
भाट-बिटरिया जानुकी औरु जे हैं गे श्रीरॉंम ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
रॉंम-सिया जोड़ी बनी, दोउ मिलि होइगौ ब्याउ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
जसरथु पाती लिखि दई है, रखी है जनक जू के हाथ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
बिन-[5] घर क्वारी हैं जानुकी, अरु हम घर हैं श्रीरॉंम ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
जनक ने पाती लिखि दई, धरी ऐ जसरथु हाथ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
हम तौ रे भाट-भिखारिया औरु तुम राजा-महाराज, हमें-तुमें कैसें होइगी सजनई ।
कोरे से कागद मँगाइऐ, हरदी, दूब मँगाइ, सीता की लगुन लिखाइऐ ।।
पाँच सुपारी औरु नारियर, मोहरें दई हैं धराइ ; सीता की लगुन पठाइऐ ।
लगुन चढ़ी बाजे बजे, सजा ऐ बरायत जाइ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
नाँ मो पै दैंनी-दाइजौ[6] ना कलसनि के ऐं जोट ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
रॉंम-सिया भाँमरि परीं, बिरमाँ बेद उचारि ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
ब्याह चलौ री जसरथ कौ छोरा, अवधिपुरी कूँ जाइ, सीता कौ मंगुलु गाइऐ ।
हाथ-जोरि जनक भए ठाड़े, मो पै कछू बनि नहीं आई, सीता कौ मंगल गाइऐ ।।
रसोई-तपँन कूँ सीता दींनीं, जैंमें सिबु-परिवारु, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
सीता की मैया यों कहै, मेरी सिया अकिली न होइ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
दौस[7] सहेलिन-झुंड हैं, राति कौसिल्या की गोद ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
सीता की मैया यों कहैं मेरी सिया भूँखी न होइ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
दिन कूं तौ जैमें सुखपुरी, राति कटोरनि दूध ; सीता कौ मंगलु गाइए ।।
सीता की मैया यों कहैं, मेरी सिय प्यासी न होइ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
दिन कूं तौ पीवै पानियाँ, औरु राति कूँ सरजू कौ नीरु ; सीता कौ मंगल गाइऐ ।।

२

बेटी सितलदे[8] ने लिपनों डारौ[9], धनुष धरचौ ऐ उठाइ, न हो ।
बाहिर ते रे जनकु घर आए तौ किन्नें जिअ धनुष उठाऔ न हो ।।
सीता की मैया यों उठि बोलीं, बेटी सितलदे नें लिपनों डारौ, तौ धनुष धरचौ ऐ उठाइ न हो ।
राजा जनकु मन अतिरजु[10] माँनों, तौ भई ऐ ब्याह के जोग, न हो ।।
देस-देस के पंडित जोरे, तौ देस-देस परिमाँने, न हो ।
देस-देस के राजा आए, भूप जुरे अभिमाँनी, न हो ।।

1. शिकार के लिए। 2. जिसका एक ओर का भाग टूट गया हो। 3. वहाँ। 4. बेटी। 5. उनके। 6. दहेज। 7. द्यौस, दिवस, दिन। 8. सीता देवी। 9. लीप रही थीं। 10. आश्चर्य।

जो जा धनुष कूँ टोरै, सोई सिया-बरु होइ, न हो ।।
बिस्वामित्तर जनक-घर आए, सँग जसरथ के ढोटा, न हो ।
सिगरे[1] राजा बलु करि-करि हारे, परि तिलु भरि टारें-टरौ, न हो ।।
बिस्वामितर जब आग्या दीनीं, राँम उठे हरखाइ, न हो ।
दाँईं भुजा सूं धनुष उठायौ, तौ करि दए न्यारे-न्यारे टूँक, न हो ।।
धनुष री टूटनि, बदरा की गरजनि, घोर भई तीनों लोक, न हो ।
राँम-सिया की भाँमरि परी, बिरमाँ बेद उचारै, न हो ।
ब्याह चले जसरथ के छोंनाँ[2], देव करें जै जै, न हो ।।

छ्लौचारी ✓ ५

कुंद-कुल्हाड़ी धरी रे कँन्हैयाँ, दवँन लागे नाँइ काँन्हा कदरी-से बन कूँ ।
कोंन से बन कूँ राँम सिधारे, कोंन बन कूँ मेरे लछिमनु दिवर ।
कजरी से बन कूँ राँम सिधारे, नंदन बन कूँ मेरे लछिमनु दिवर ।।
पात-पात कजरी बन ढूँढ्यौ, कहूँ न पायौ आली चंदनार पिंडुला ।
सीरी-सीरी ब्यारि चलै पुरबैया, महकि रह्यौ चंदनार पिंडुला ।।
काटि-कूटि काँन्हा नैया बनाई, जाइ डारौ जाइ जँमुन-जल घटवा ।
बूड़ी-बूड़ी काँन्हा पार रे उतारौ, जमाँन पठिया ऐ राखौ घर बिरमाइ ।।
एक लँगु धरी काँन्हा दधि की चपटिया, एक लँगु धरि साढ़े सोलै सै गुजरिया ।
गोरी धनाँ की काँन्हा बइँया रे मरोरी, सँमल धँन के चुरिला डारौ मसकोरि ।।[3]

२

ढब-ढब डोंरू बजि रह्यौ, बिकट बनी के बीच, बन मे हरी ऐं सीया जाँनुकी ।
लंका ते राँमनु चल्यौ, कोई धरि जोगी कौ भेखु ।।
सीता भिच्छा डारिदै, तेरे जोगी ठाढ़ौ द्वार ।। बन में० ।
मैं कैसें भिच्छा डारि दूं घर, देवर दै गए आँनि ।।
सीता भिच्छा डारि दै तेरे जोगी ठाड़ौ द्वार । बन में० ।
थर[4] भरि मोती सीया लाइऐ, कोई लै जोगी के भीखु ।।
आँनि की भिच्छा ना लऊँ, रेखा ते बाहिर आउ । बन में० ।
सीता भिच्छा लाइऐ, भीतर लई ऐ झोरिया[5] में डारि । बन में.० ।।

विवाह

भूआ-भतीजी दोऊ पाँनी कूँ चाली, धरि गागरि पै लेजु, बेटी अरजुन की ।
ए जी, भूआ तौ उचि कें चलि दई, दीनीं भतीजी पल्लीपारि, बेटी अरजुन की ।।
ए जी, जाइ उतारी बाग में, निबुअँन ते भरि लाई झोद ।
ए जी, जाइ उतारी बजार में, लड़ुअँन ते भरि लाई गोद ।। बेटी अरजुन की ।
ए जी, जाइ उतारी पेंठ में, कोई बिछुअँन भरि लाई झोद ।
ए जी, जाइ उतारी बारू रेत में, बिछूअँन भरि गयौ रेत ।। बेटी अरजुन की ।
ए जी, कुची ते निखारूं तिहारे बीछिया, कोई दुपटा ते पोंछूं तिहारे पाँम ।
ए जी, जाइ उतारी मेंहल में औरु मैहल झिगारै ल्हौरी सौति ।। बेटी अरजुन की ।
ए जी, कै तुम लाए ल्हौरी दूसरी औरु कै लाए मैहमाँन ।
ए जी, ना में लायौ ल्हौरी दूसरी औरु नाँहि लायौ मैहमाँन ।। बेटी अरजुन की ।

[1]. समस्त । [2]. पुत्र । [3]. यह गीत कहारों में ही गाया जाता है । [4]. थाल । [5]. झोली ।

ए जी, राति पिसाश्रौ इन पीसनों श्रौरु द्यौस खिलावै नँदलाल।
ए जी, बगर बरकेरूं तिहारौ पीसनों श्रौरु धरि-पटकूं नँदलाल।। बेटी श्ररजुन की।

भाँमर पड़ने के समय का गीत

जुरि श्राईं नर-नारि, जनक जी के श्रँगना में सखियाँ।
हरे-हरे गोबर श्रँगन लिपाए, मोंतिन-चौक पुराए। जनक जी के०।
कूंम[1]-कलस इमरत भरि लाश्रौ, ऊपर मरूए की डार। जनक जी के०।
सिया-रघुबर की जोरी बैठी, रामचंद दोऊ भाई। जनक जी के०।
रामचंद की होति निछावर, हीरा, लाल, जवाहर। जनक जी के०।
पाँनन मढ़श्रौ[2] छवाइ[3] मेरे बाबुल, लोंगन गूँथि दिबाश्रौ। जनक जी के०।
सिया-रघवर की परें भँमरिया, बिन माइल, बिन बाप। जनक जी के०।
कंगन-गाँठि[4] खुलै हति[5] नाऐं[6], सखियाँ हँसें दै-दै तारी। जनक जी के०।
कंगन-गाँठि खुलै हति नाँऐं, एक माइ, द्वै बाप। जनक जी के०।

२

धनुष कैसे तोरौगे हरि बारे।[7]
हरे-हरे गोबर श्रँगन लिपाए, मोंतिन-चौक-पुराए।।
कुंम-कलस इमिरित[8] भरि लाए, चंपे की डार झकोरि।
श्राज मेरी सीता ऐ रघुवर ब्याहँन श्राए।।
ऐंमनु[9] घोरि यहाँ गहि मारौ, साही[10] के श्राखत[11] डारौ।
श्राज मेरी सीता ऐ, रघुनंदन ब्याहँन श्राए।।
कजरी बन के खंम मँगाए, गाढ़े ऐं सीश्र दुश्रारे—श्राज मेरी सीता ऐं०।
खंमन-खंमन दिबला जोरे, जग-मग जोति सबाइ—श्राज मेरी सीता ऐं०।।
सीता-सिरीपति[12] फिरत भँमरिया[13] सखिश्रँन मंगल-गाए—श्राज मेरी सीता ऐं०।
पंडित बेद पढ़ैं श्रति निरमल, श्रच्छे-श्रच्छे सगुन बिचारे—श्राज मेरी सीता ऐं०।।

पट्टे पर बैठने का गीत

ए श्रब बोलि न रे हरे हरे सुश्रनाँ, लाड़ी चौकें बैठी।
ए ब्याके बाबा नें ब्याहु सँजोयौ, लाड़ी कलसँन जोड़ी।।
ए तेरे पिंजरा में मोंतीश्ररा बिखेरूं, सुश्रनाँ रुगि-चुगि जाइ।
ए ब्याके भैया नें ब्याहु सँजोयौ, बासन्न जोड़ी।।
बाबुल नें पाँति सँजोई, लाड़ी लड़ुश्रँन जोड़ी।
एक हींसनी, एक पीसनी, राति की रतमानियाँ।।
इतनों तौ रे मेरे बाबुल दीयौ, सजँन भलौ न माँनिऐं।

[1]. कुंभ। [2]. मंडप, मांढ़वा। [3]. छवा दे—लड़की के विवाह के अवसर पर भाँवरें पड़ने की वेदी के ऊपर छप्पर जैसी छोटी छान छवाई जाती है। [4]. कंकण की गांठ खोलने का एक अनुष्ठान विवाह के अवसर पर होता है। ब्रज में दुलहा और दुलहिन दोनों के विवाह से पूर्व मंडप के दिन हाथ में विशेष विधि और पूजा के साथ कंकण बाँधा जाता है। विवाहोपरांत, कहीं-कहीं भाँवरें पड़ने के बाद ही श्वसुराल में ही, कहीं घर आने पर कंकण की गाँठ खोलने का अनुष्ठान होता है। लड़की लड़के का कंकण खोलती हैं, लड़का लड़की का। इस अवसर पर सखी-सहेलियाँ मजाक भी करती हैं। [5]. है। [6]. नहीं। [7]. हरिवारे छोटे हरि। [8]. अमृत। [9]. चावल के आटे का घोल। शुद्ध नाम—ऐंपन [10]. शु० पा०—साठी। [11]. अक्षत, चावल—दूसरा पाठ आधत। [12]. श्रीपति—राम। [13]. भाँवरें।

दूधाबाती

भाँवरों के समय घीग्राबाती खिलाया जाता है। उस समय का गीत

खा मेरे दुलहा घीग्रा-बाती।
भूँखी कौ जायौ ऐ, लप-लप लै गयौ ॥
ग्रघाँनी की जाई ऐ, जोरति[१] जाँति ऐ ॥
बँन[२]-बीनत जायौ ऐ कारौ खेंकरौ।
मेरी मरमँन जाई ऐ, गोरी दँमदँमी ॥
बँन-ग्रोटतु[३] जायौ री कि छीमत[४] गिरि-परचौ।
मैंहलँन बेटी री जाई, री कि नच-कूदनी ॥

सबेरे का कूकर

जागौ, जागौ, लाड़लढ़ी[५] के बबुल, तौ ग्रब झरि लागौ कूकुरा।
जागौ, जागौ लाढ़लढ़ी के चचुल, तौ ग्रब झरि लागौ कूकुरा ॥
राजे, लै गडुग्रा[६] मुख धोइऐं, उठि देउँ न गन के दाँन।
त्यारे द्वार पेहरुग्रा[७] जागिऐं ग्रौरु तुम तौ रे सोबौ सुख-नींद ॥
राजे, तुम्हें कैसें ग्रावै सुख नींद, तौ ग्रब झरि लागौ कूकुरा।
ग्रौरु तुम घर पसरी बीधि, तौ ग्रब झरि लागौ कूकरा ॥
राजे, कोंन रजनि कौ कूकुरा[८] ग्रौरु कोंन कुटँम घँन मोरि[९]।
राजे, राज-रजिन कौ कूकुरा ग्रौरु सँमधी-कुटँम घँन मोरि ॥
राजे, कँहरि[१०] बसैरे कूकुरा ग्रौरु कहाँ रे बसै घँन मोरि।
राजे, द्वार बसैगौ कूकुरा ग्रौरु बाग बसै घँन मोरि ॥
राजे, कँहरि[११] पिऐंगौ कूकुरा ग्रौरु कँहरि चुनें[१२] बन मोरि।
राजे, दूध पिऐगौ कूकुरा ग्रौरु दाख चुनें बन मोरि ॥
राजे, कँहरि करैगौ कूकुरा ग्रौरु कँहरि करै बन मोरि।
राजे, घूंसत ग्राबै कूकुरा ग्रौरु कौहकति ग्रावै बन मोरि ॥

❀

काए कूँ[१३] धाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे।
काए के कारन बाबुल मैहैल चिनाए, काए कूँ गए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे ॥
बेटा के कारन लाड़ो मैहैल चिनाए, तुम कूँ धाए परदेस री, सुनि लाड़ो मेरी।
हम तौ रे बाबुल तेरी ग्रँगना की चिरियाँ[१४], रुगि-चुगि कें उड़ि जाँइ रे, सुनि बाबुल मेरे ॥
हम तौ रे बाबुल तेरे ग्रँगना कौ कूरौ[१५], झरि-पुछि कें फिकि जाँइ रे, सुनि बाबुल मेरे।
हम तौ रे बाबुल, खूँटा की गइयाँ[१६], जित हाँकौ हँकि जाँइ रे, सुनि बाबुल मेरे ॥
भैया के कारन बाबुल, मैहैल चों चिनाए, हम कूं चों धाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे।
एकई पेट में जनम लियौ सुनि बाबुल मेरे, एक सँग खेले ग्राँगन में रे, सुनि बाबुल मेरे—
हम कूँ धाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे ॥
जा दिन लाड़ो मेरें तुम जु भई इँ, भई बज्जुर की राति, सुनि लाड़ो मेरी।
जा दिन तिहारे, बिरँन भए ऐं, भई सोंनें की राति, सुनि लाड़ो मेरी ॥

१. जोड़ती जाती है, खाती नहीं। २. कपास। ३. कपास से बिनौले प्रथक् करना। ४. छूते ही—स्पर्श करते ही। ५. होनहार दुलहिन, लड़ैती। ६. लोटा, झारी। ७. पहरेदार। ८. कुत्ता। ९. मोर। १०. कहाँ। ११. क्या। १२. चुगेगा। १३. क्यों। १४. चिड़ियाँ। १५. कूड़ा-करकट। १६. गाय।

बहू कौ बिदा का गीत

हूँ तोइ[1] बूझों बारी रे भौंरा, कौंन बिरछ तेरे मन-बसौ।
सब रे बिरछ मेरे अनी-अनी भाँति, बौहौत नींकी भाँति अकिलौ सदाँफल मन-बसौ।
हूँ तोइ बूझों ए बहुअ-बौहरिआ[2], कौंन सजंन[3] तेरे मन-बसौ।
सब रे सजंन मेरे अनी-अनी भाँति, बहुत नींकी भाँति, बेई भरत में बसौ।
बेई रॉम मेरे मन-बसौ ॥

बहू-आगमन

बहू के आते समय का गीत

तू तौ निकरि चैचूंदरि[4] बाहिरी, तू तौ निकरि री सासुलि बाहिरी।
घरबारु बहू कौ ऐ, कि छेंड़ी[5] सासु की ॥

❀

गोने का गीत

मेरी बारी-सी लाड़लड़ी, सुहाग-भागि माँगै।
बाबा छतारे. एकु जस लीजों, लैहटूबारौ चोरु पकरि चों न लीजों ॥
काए कौ लैहटू काए की ऐ डोरि।
सोंने कौ लैहटू, रेसम की ऐ डोरि, मेरी बारी सी० ॥
लैहटूबारे चोरु अजुध्या बसत ऐं।
म्वाँऊ[6] ते पकरि बुलाइ चों न लेउ, मेरी बारी सी० ॥

❀

चमारों की लगुन का गीत

जौ तू रे मारू बेंगन अति बड़ौ, बारी-बिन सोभा न होइ, कै बेंगन अति बड़ौ।
जौ तू रे बाबुल मेरे अति बड़ौ, भैअँन-बिन सोभा न होइ, कै मारू बेंगन अति बड़ौ ॥
जौ तू रे पंडित अति बड़ौ, पोथी-बिन सोभा न होइ कै मारू बेंगन अति बड़ौ।
जौ तू री माइल मेरी अति बड़ी, द्यौर-जिठांनी-बिन सोभा न होइ, कै मारू बेंगन अति बड़ौ ॥

❀

भंगियों का गीत

तिलिया कौ तेल बनेंनियाँ की हरदी।
मेरी लाड़लड़ी अति सुकबार, सही न जाइ तेल की धार ॥
तुम बैठौ लाड़लड़े चौक, तुमारी भुआ जी करिंगी आरतौ ॥

---

[1]. तुझे। [2]. वधू। [3]. पति। [4]. छछूंदर। [5]. पाखाना अथवा कूड़ा-करकट या ईंधन रखने की गंदी कोठरी। [6]. वहाँ से।

(इ)

सामन के गीत

मनिरा

कोंन-दिसा ते मँनिरा[1] आइऐ और कोंन दिसा कूँ जाइ ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
पूरब-दिसा ते आइऐ और पच्छिम-दिसा कूँ जाँइ ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
गलिन-गलिन मँनिरा फिरै बीबी, मँनिरा कूँ लाउ बुलाइ ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
हरी-जंगाली[2] मँनिरा, नाँ पैहनूँ, मँनिरा हरे ऐं राजा जी के बाग ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
लीली-जंगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, माँनिरा, लीलौ ऐ राजा जी कौ घोड़ा ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
कारी-जंगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, मँनिरा, कारे ऐं राजा जी के केस ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
पीरी-जंगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, मँनिरा, पीरे ऐं राजा जी के तोड़े ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
ऊदी-जंगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, मँनिरा, ऊदे मेरे राजा जीके दाँत ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
लाल-जंगाली मँनिरा, नाँ पैहनूँ मँनिरा लाल मेरे राजा जी के होठ ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
पैहैरि-ओढ़ ठाड़ी भई, मँनिरा, कह दै चुरींन कौ मोल ।
चूड़ौ तौ मेरी जाँन, चूड़ौ तौ हाती-दाँत कौ ।।

२

अँगना बुहारत सींक जौ टूटी, रुति[3] साँमन की ।
सासुलि-मैया गारी देंइ, सो आई रुति साँमन की ।।
उड़ि जा रे कागा दखिन-देस कूं, सो आई रुति साँमन की ।
बिरँन खबरि लै आओ, सो आई रुति साँमन की ।।
कागा बिचारौ उड़न न पायौ, सो आई रुति साँमन की ।
आइ गए मैया-जाए बीर, सो आई रुति साँमन की ।।
कहाँ-बैठारूँ बीरँन भैया, सो आई रुति साँमन की ।
चौका बैठारूँ बीरँन भैया, सो आई रुति साँमन की ।।
खुटीन (धराई) सुई पाग[4], सो आई रुति साँमन की ।
सजि गई डुलिया, सजि गए कहरवा[5], सो आई, रुति साँमन की ।।
सजि गई भैया-सँग भैनि, सो आई रुति साँमन की ।
जमुना किनाँरें डुलिया उतारी, सो आई रुति साँमन की ।।

[1]. मनिहार—चूड़ी पहनाने वाला । [2]. चूड़ी । [3]. ऋतु । [4]. सूही-पाग । [5]. कहार ।

मोइ देउ भैंना वन की लकड़िया, सो आई रुति साँमन की ।
लै आऊँ जँमुना की थाह, सो आई रुति साँमन की ।।
डूबी ऐ डुलिया, डूबै कहरवा, सो आई रुति साँमन की ।
डूबी ऐ भैया-सँग भैंनि, सो आई रुति साँमन की ।।
माइ कहति बेटा धीम्र लिबौआ, सो आई रुति साँमन की ।
सासु कहति प्यौसार, सो आई रुति साँमन की ।।

३

साँमन आयौ सुगढ़[1] सुहाँमनों जी, एजी कोई आई है अजब बहार ।
धँन कूँ रे रँगाइ दै अंमा मेरी सींकिया जी, पचरंगौ छबिदार ।।
झूला तौ झूलें सखियाँ बाग में जी, एजी कोई गाबत गीत-मलार ।
घर-घर टूटें अंमा मेरी सेंमरी[2] जी, राजा, आयौ तीजँन कौ त्यौहार ।।
बूरौ-खाइबे पाहुँन चल दिए जी, राजा, पहुँचे अपनी-अपनी सुसरार ।
पेंड़ौ-[3] देखत नैंना दोउ थक गए जी, एजी नहिं आए मेरे भरतार ।।
रच्छा-बंधन भैंना मेरी देखिकें जी, एजी कोई मन में खुसी अपार ।
जो नहीं आएँ भैंना मेरे बालमाँ जी, एजी गलें मारि मरूँगी तरबार ।।
प्यारे 'बुद्धू' भैंना मेरी यों कहें जी, एजी हम तौ बरमा के ताबेदार ।।

४

गढ़चौ री हिंडोला, चंपा-बाग में जी।
सैयाँ मोइ जाँन न देइ, गड़े रे हिंडोरे ०।।
सासु जी कहें बहुअलि मति जइयौ जी, नँनद कहै भाभी जाउ।
छोटौ-सौ दिबरा[4] मेरे सँग चलै जी ।।
सासुलि जी ते कहियों मेरी मीनती[5], सैयाँ सों कहियों मेरी सलाँम ।
नँनद जू सें कहियों मेरी मीनती ।।
राजा जी सों कहियों करि लेउ दूसरौ ब्याहु ।
मेरे भरोसें साँई ना रहें जी ।।

५

झूला पै राँनी राधिका जी, एजी कोई गाबत गीत-मलार।
नैंन्ही-नैंन्हीं बुँदियाँ, देखौ झर लग्यौ जी, एजी कोई बरसत मूसल-धार।
पटुली-पकरि कर झोंटा दै रहे जी, एजी कोई झुकि-झुकि कृष्णमुरार ।।
पिहू-पिहू पपिहा देखौ री करि रह्यौ जी, एजी कोई पग-पाइल की झँनकार।
कारे-कारे बदरा बैहनाँ मेरी चढ़ि रहे जी, एजी कोई डरपी काँमिनि नार ।।

६

मल्हार

साँमन-महिनाँ मलार गावें काँमनी जी, एजी कोई घटा उठति घनघोर।
पपिहा पी-पी करै थेरी-थाँम में जी, एजी कोई बन में कोंहकत मोर ।।
आँम की डारँन बैठी कुहलिया जी, एजी कोई करति निराले सोर।

[1]. सुघड़। [2]. सेमरी (सेंमई)—मैंदा या आटे की पतली लंबी बत्तियाँ जैसी, जो रक्षाबंधन पर पका कर खायी जाती हैं। [3]. बाट जोहना। [4]. देवर। [5]. विनती।

राधा अभागिन घर.बैठी रोवती जी, एजी कोई आए न नंदकिसोर।
को समझाबै ब्याकुलता बढ़ि रही जी, एजी कोई रहि-रहि उठत मरोर।।

७

बियोग

कारी-सी आई बादरी जी, झक-झल्लरि आयौ मेह।
बरसै असाढ़ी मेहरा, एजी कोई इत बालँम परदेस।।
भींजै तंबू-ताइफौ, एजी कोई भींजै लसकरिया लोग।
साहिब-सिर भींजै पागड़ी एजी कोई चूऐ कसूंमी रंग।।
सोंने की बुँदियाँ उत परौ जी, एजी कोई उत मेरी मा के जाए बीर।
पाँनी की ुँदियाँ इत परौ जी, एजी कोई इत नँनदुल के बीर।।
अंचर-फारि ागज करूँ, एजी कोई उँगली तराच[1] कलम।
नैंनन की स्याई[2] करूं, एजी कोई लिखूं सँदेसौ भेज।।
पगड़ी के पेचु लचपचे, एजी कोई बैठे मारू तखत बिछाइ।
चिट्ठी तौ आई बड़नारि की, एजी कोई बाँचत भए दिलगीर।।
पाँच मुहर खर्ची दई जी, एजी कोई चिठिया तौ दई बगदाइ।
हमरी धनियाँ से यों कहौ, एजी कोई दिन दस आँमन नाँइ।।
आँमन-आँमन है रह्यौ जी, एजी कोई बीते बारें माँस।
छप्पर पुराँने परि गए जी, एजी कोई तड़कन लागे बाँस।।

८

मल्हार

गाँमें गीत मल्हार महींनाँ साँमन कौ।
तीज सँनूनों[3] झूलें प्यारी, ओढ़ें सूआ-कसूंमी सारी।
है नींकौ त्यौहार, सँनूनों भाँमिनि कौ। गाँमें०।।
मुख पै ठिढ़ी[4] बिंदनी सोहैं, करनफूल-झुंमिका मन-मोहै।
परचौ गले-बिच हार, कीमती दाँमन कौ। गाँमें०।।
करि सिंगारु बड़ी मन-फूलें, हिलि-मिलि कें सबु झूला-झूलें।
बाग नौलखा डार, रेसमी काँमन कौ। गाँमें०।।
गाँमें गीत लहरुआ आँमें, कोइल कुहुँक-कुहुँक रहि जाँमें।
'भागीरथी' बिचार, धाँमु जिह बाँमन कौ। गाँमें०।।

९

मैया कौ प्यारौ रे लाला भैया कौ प्यारौ, अति कौ प्यारौ लाला सुसरारि कौ जी।
मैया बरजै लाला, भैनाँऊ बरजै, बिन गौंने सुसरारि मति जाओ जी।।
कहाँ री धरे ऐं अंमा पाँचौरी कापड़े, कहाँ री धरे पाँचौ हथियार।
बकस धरे ऐं पाँचौ कापड़े, खूँटी टँगे हथियार।।
छींकत पहिरे बेटा मेरे कापड़े, औ बरजत बाँधे हथियार।
छींकत खोल्यौ लाला मेरे घोड़िला रे, बरजत भयौ असवार।।
लाला, सोचि-समझि बगदि घर आओ रे।।
पैहलौ बनु नाख्यौ रे लाला, दूजौ बनु नाख्यौ।

[1]. तराश। [2]. काजल की स्याही। [3]. सलूना। [4]. डिठी।

सरपु अगारी काटि जाइ, लाला हिरनु अगारी काटि जाइ।
बेटा, सोचि-समझि बगदि घर आओ रे।।
तीजौ बनु नख्यौ रे लाला, पहुँचे सुसर-दरबार।
छोटौ-सौ सारौ रे लाला, भौतु अचपलौ, सो बेगि सें हुक्का-भरि लायौ।
छोटे-से जीजा मेरे हुक्का तौ पीओ जी।।
सुसर जौ भीतर उठि दए जी।
बिस में तौ सेकौ री राँनी पूरियाँ, बिसई में खीरि रँधाओ।
बिसई में छोंकौ सागु जी।।
सँग की सहेलिनु में चलि दई जी, कहि देउ भैंनाँ मेरी मन-गुनि बात।
आजु बिरोधी[1] आयौ भैंनाँ मेरी पाँहुने जी।।
अकलि बतैयौ री भैंनाँ, मूँड़े लगैयौ, जा परदेसी की जाँनि बचैयौ री।
बिसई में सेकीं भैंनाँ मेरी पूरियाँ, बिसई में खीरि-रँधाइ।
बिसई में छोंक्यौ भैंनाँ मेरी सागु री।।

१०

छोटौ-सी सारौ री भैंना भौत अचपलौ, छोटे-से जीजा मेरे रोटी तौ खाइ लेउ जी।
एकास्सी बरतु रहे ऐं सारे, रोटी न जैंमें तेरे हात की।।
कचैहरी ते सुसर जौ आइऐ जी, छोटौ जमैया लियौ साथ, न्हवान कूं जी।
खाँड़े की धार जौ बाबुल हाथ दबाई जी, छिनक में मारचौ रे लाला बन में पछारचौ—
भौंरें में दीयौ गड़बाइ, बिरोधी जी।।
उठि-उठि बेटी मेरी फिबरी जौ खोलौ जी, हाथ धुबैयों री लाड़ो पाँनी जु लाओ जी।।
कैतौ रे बाबुल मेरे हिरनु बिनास्यौ, कै कोई जीब सतायौ जी।
काए रँगी ऐ बाबुल, तेरी पगड़िया रे, काए रँगे दोऊ हात जी।।
रकत-रँगी ऐ बेटी मेरी पागड़ी, छोटे जमैया दोंनों हात, बिरोधी जी।।
तेरौ तो जैयौ सत्यानास बाबुल जी, बन की हिरनियाँ तैंनें भौतु सताई जी।
चंदन-चौकी पै बेटी मेरी बैठियौ जी, चारचौ भौजैया तिहारी हुकुमु बजाँमें जी।।
सँमद[2] बहाऊँ रे बाबुल चंदन-चौकिया रे, मोई-सी डोलें रे बाबुल चारचौ भौजैया जी।
घर ते तौ बेटी मेरी चलि दई जी, एकु ग्वारिया भैया पौरी[3] चराबै जी ।।
तैंनें जौ देख्यौ रे भैया, परदेसी बिनासतु जी।
छिन में तौ मारचौ री लाली, बन में पछारचौ री, भौंरे[4] में दीयौ गड़बाइ बिरोधी जी।।
बन में तौ बीनूं रे भैया सूखी लकड़िया रे, चिता चिनाऊँ भैया, परदेसी के संग जी।
आँच तौ लैयौ रे भैया, मोइ मँगैयौ जी, तेरौ न गुँन भूलूं ब्वाऊ जँनम में जी।।
एक अँगारी री भैंनाँ गड़ि रही खेत में जी, अपनेई हात री भैंनाँ उखारि कें लैयौ री।
सुनि सुनि रे मेरे बन के भैया रे, बिजयी जौ आवै मेरौ जेठु जी।
पतौ जौ पूछें रे आइ बतैयौ रे भैया, मेरी चिताऐ रे।।
सुनि-सुनि री मेरी भगिनी भैंनाँ री, जौ जूं न आवै भैंनाँ बिजयी जेठ जी।
तौजूं चिता मेरी बुझैंन न पावै जी।।

[1]. विरोगी। [2]. समुद्र। [3]. पौहारि। [4]. कुँए का वह भाग जहाँ चरस खींच कर ले जाने वाले बैल चरस नीचे खींच ले जाने के लिए ठहरते हैं।

सोल्हें दिनाँ भैंनाँ बीति गए जी, अबई न आयौ तेरौ बिजई जेठ जी।
छिन री पलक में भैंनाँ आइ गए री, पूंछत डोलें भैंनाँ सब रे सैहरु में जी ।।
थुनकी परदेसी कौ पतौ हमेंऊ बतैयौ जी ।।
बुही ग्वारिया भैया आइ जौ पायौ री।
आऔ रे भैया, मेरे परदेसी कौ पतौ बताऊँ जी ।।
जितौ चिता रे भैया, तेरे परदेसी की जी ।।
इमिरितु छिरक्यौ रे भैया जै कारे बोले जी।
हरे-हरे करि कें ठाड़े भए ऐं जी, बैयाँ-पसारि कें दोंनों ऊ भैंटे जी ।।

१०

खेलत रूप-सरूप राँनी के दोंनों बालिका।
जुरि-मिलि बालकु खेलु बनायौ रामाँ, आइ गए लछिमन-राँम—
राँनी के दोंनों बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
माँजि-धोइ लोटा भरि लाए राँमा, पाँनी तौ पीऔ भगवाँन।
राँनी के दोंनों बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
तिहारे हात जलु नाँ पीमें बालिका, जाति बताऔ माई-बापु।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
मात हमारी सीता जौ कहियँतु राँमा, पिता की सुधि नाहिं।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
बा सीता कूं हमें रे दिखइयों राँमा, कहाँ रे बसति तिहारी माइ ।।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
ठाड़ी सीता केस सुखावै राँमा, आइ रहे लछिमन-राँम ।।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
फटि जाइ धरती, समाइ जाइ सीता राँमा, जीमत दियौ बन-बास।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
फटि गई धरती, समाइ गई सीता राँमा, केस राँमु जी के हात।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।

११

ऊँची-ऊँची मथुरा, हरे-हरे बाँस, इन बाँसन कौ पींजरा बेटी चंद्रावलि लई रखबाइ।
सात सहेलिन झुंड, चंद्रावलि पाँनी-नीकरी जी।
आगें डेरा पठाँन के, चंद्रावलि लइ ऐ छिपाइ ।।
सरग-उड़ंती चीलिया[1], उड़ि मेरे पीहर जाउ।
जाउ बबुल ते यों कहौ, बेटी चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ;
जाउ बिरँन ते यों कहौ, भैंना चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ।।
बबुल जो सुनिकें रोइऐ जी, माइ लै खाई ऐ पछार।
बिरँन जो सुनि कें रोइऐ जी, भावज खाई ऐ पछार ;
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
थैली तौ बाँधी डेड़ सै जी, रुपिअँनु ओरु न छोरु।
लै रे मुगल के छोहरा, हमरी चंद्रावलि देउ छुड़ाइ ;

1. चिरहुली।

ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
गिन्नी तौ बाँधी डेढ़ सै, मोहरँनु ग्रोरु न छोरु ।
लैकें बिरँन जौ चलि दए, बैहनाएँ लाँमें छुड़ाइ ;
लै रे मुगल के छोहरा, हमरी चंद्रावलि देउ छुड़ाइ ।।
रुपिया तौ मेरें बहुत ऐं, थैलीन् ग्रोरु न छोरु ।
गिन्नी तौ मेरें बहुत ऐं, मौहरँनु ग्रोरु न छोरु,
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
जाग्रौ बबुल घर ग्रापने, जाउ बिरँन घर ग्रापने, राखूँगी दोउ कुल-लाज ।
पाँनी न पीऊँ पठाँन कौ, सेजँनु धरूँगी न पाँउ ।।
सरग-उड़ंती चीलिया, जा मेरे सासुरें जाउ ।
मेरे कहियौ सुसर सँमझाइ, बहू चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ।।
मेरे कहियौ दिवर सँमझाइ, भाभी चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ।।
मेरे कहियौ बलँम-सँमझाइ, धनियाँ लई ऐ छिपाइ ।।
मेरे कहियौ जेठ सँमझाइ, बहुग्ररि लई ऐ छिपाइ ।।
सुसर जौ सुनि कें रोइऐ जी, सासुलि खाई ऐ पछार ।
जेठ जौ सुनि कें रोई ऐ, जिठाँनी खाई ऐ पछार ।
दिबर जु सुनि कें रोईऐ, द्यौराँनी खाई ऐ पछार ।।
हतिया लै ससुर चालिए जी, बहुग्ररि लाँमें छुड़ाइ ।
लै घुड़िला जेठै चले, बहुग्ररि लाँमें छुड़ाइ ;
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
लै उँटिला बालँम चले जी, धँनियाएँ लाँमें छुड़ाइ ।
गेंद लै दिबरा चले जी, भाभी ऐ लाँमें छुड़ाइ ।
लै रे मुगल के छोहरा, हमारी चंद्रावलि देउ छुड़ाइ ।।
हतिया तौ ह्यारें भौतु ऐं, हतिनिनु ग्रोरु न छोरु ।
घुड़िला तौ ह्यारें भौतु ऐं, घोड़ीन ग्रोरु न छोरु ;
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
ऊँट तौ हमारे भौतु ऐं, उँटियँनु ग्रोरु न छोरु ।
गेंद तौ ह्यारें भौतु ऐं, बल्लँनु ग्रोरु न छोरु ।
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
जाग्रौ सुसर घर ग्रापने, जाउ जेठ घर ग्रापने, राखूँगी पगड़ी की लाज ।
खाँनों न खाऊँ पठाँन कौ, सेजँनु धरूँगी न पाँउ ।।
जाग्रौ दिबर घर ग्रापने, राखूँगी टोपी की लाज ।
जाग्रौ बलँम घर ग्रापने, राखूँगी दोऊ कुल-लाज ।
खाँनों न खाऊँ पठाँन कौ, सेजँनु धरूँगी न पाँउ ।।
सुनि रे पठाँन के छोहरा, पाँनी तौ भरि लाउ ।
माँजि-धोइ लोटा भरि लाउ, ऐसी चंद्रावलि प्यासी मरी जाइ ।।
मुगलँनु पीठि जौ फेरिऐ, तमुग्रँन दै लई ग्रागि ।
ऐसी चंद्रावलि जरि गई, जैसें राज-कुँमारि ।।
हाड़ जरें जैसें लाकड़ी, केस जरें जैसें दूब ।
हाइ-हाइ मुगला करें, तोबा करै पठाँनु ।।

१२

गीत-चंद्रावलि

ऊँचौ नगरु गढ़ ग्वालिग्ररौ, नींचें हरे-हरे बाँस, सासु पसीजे ग्रोबारें, बहू बिजनाँ री ल्याउ।
ढूँढ़ें बिजनु नहीं पाइऐ, बहू बिजनाँ री ल्याउ ।।
पहलें तौ ग्राईं जल-माछरी, खिरकनि ग्रायौ है दूध, फौज तो ग्राई पठाँन की, ग्रौरु पटनाँ लीग्रौ ऐ घेरि ।
चीरि न पाई जल-माछरी ग्रौरु ग्रौंटि न पाई दूध, खाँन न पाई खीचरी, पटनाँ लीग्रौ ऐ घेरि ।।
सासु गई ऐं माइ कें ग्रौर ससुर गए ऐं लेंनहार, जेठ महौबे की चाकरी ग्रौरु दिबर पढ़ें चटसार।
फौज तो ग्राई पठाँन की, पटना लीग्रौ ऐ घेरि ।।

सरग-उड़ंती चीलरी, सरगै रहौ मँड़राइ, मेरे सुसर ते यों कहौ बहू बंदि परी।
सरग-उड़ंती चीलरी, सरगै रहौ मँड़राइ, मेरे जेठ ते यों कहौ बहू बंदि परी ।।
सरग-उड़ंती चीलरी, सरगै रहौ मँड़राइ, मेरे दिवर ते यों कहौ बहू बंदि परी।
सरग-उड़ंती चीलरी, सरगै रहौ मँड़राइ, मेरे साहिब ते यों कहौ गोरी बंदि परी ।।
सरग-उड़ंती चीलरी, सरगै रहौ मँड़राइ, मेरे बबुल ते यों कहौ बेटी बंदि परी।
सरग-उड़ंती चीलरी, सरगै रहौ मँड़राइ, मेरे बिरँन ते यों कहौ भैंनि बंदि परी ।।
लै हतिया ससुरै गए सो हाती एक लाखु, बहूऐ छुड़ाऊँ चंद्रावलि, बिन के लंबे-लंबे केस ।
जिग्र लै मुगल के छोहरा, हतिया इक लाखु, बहुग्र छुड़ाऊँ चंद्रावलि, वा के लंबे-लंबे केस ।।
काह रे करूँ तेरे हातिया, हतिया मेरेईं भौतु, बीबी भली चंद्रावलि बैठी पाँन-चबाइ ।
लै करहा जेठै चले, सो करहा एक लाखु, बहुग्र छुड़ाऊँ चंद्रावलि जाके लंबे-लंबे केस ।।
जिग्र लै मुगल के छोहरा, करहा एकु लाखु, बहुग्र छुड़ाऊँ चंद्रावलि जाके लंबे-लंबे केस।
कहा रे करूँ तेरे कारहा, करहा मेरेंई भौतु, बीबी भली चंद्रावलि बैठी पाँन-चबाइ ।।
लै घुड़िला देवर चले, सो घुड़िला एक लाखु, भाभी छुड़ाऊँ चंद्रावलि जैसी राज-कुँमारि।
काह रे करूँ तेरे घोड़िला, घुड़िला मेरें ई भौतु, बीबी भली चंद्रावलि बैठी पाँन चबाइ ।।
लै डोला साहिब चलौ, सो डोला एक लाखु, गोरी छुड़ाऊँ चंद्रावलि जैसी राज-कुँमारि।
जिग्र ले मुगल के छोहरा, डोला एक लाखु, गोरी भली चंद्रावलि जैसे राज-कुँमारि।
काहरे करूँ तेरे डोलाँनु कों, डोला मेरेंई भौतु, बीबी भली चंद्रावलि बैठी पाँन-चबाइ ।।

१३

पाँच पेड़ मेंहदी बए[१] केसरिया लाल, ए उपजे ऐं नौ दस पेड़ कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।।
बा लसकरिया ते यों कहौ, माइ मरें घर-ग्राउ, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।
माइ मरी तौ भली भई, घर के दिलिद्दर[२] जाँइ, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।।
बा लसकरिया ते यों कहौ, भैंन-मरी घर-ग्राउ, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।
भैंन मरी तौ बुरी भई, ग्राए सजँन फिरि जाँइ, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।।
बा लसकरिया ते यों कहौ, बहू मरी घर ग्राउ, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज।
बहू मरी तौ बुरी भई, कोई लरिका बारैबाट[३], कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।।
माइल गाढ़ौ देहरी कोई ऊपर ग्राँमन जाइ, भैंदुल[४] गाढ़ौ खेत में कोई ऊपर सूर-बबूर[५] ।
धँनहुलि गाढ़ौ बाग में कोई ऊपरि फूल गुलाब, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।।
मायल पाई कातती ग्रौर भैंन सहेलिन-बीच ।
लरिका पाए पालनें ग्रौर धनाँ[६] रसोई-बीच, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ।।

[१]. बोये। [२]. दरिद्रता, गंदगी। [३]. बारह बाट—नष्ट-भ्रष्ट। [४]. बहिन। [५]. कांटे। [६]. पत्नी।

१४

ग्रायौ है जेठु-ग्रसाढ़ करेला मारू जी, साँमन ग्रायौ घँन को नीहरी जी।
सब-सब पीहर जाँइ करेला मारू जी, हमेंऊँ पठै देउ हमरे बाप कें जी।।
को जौ ग्रायौ लेंनहार समल-धँन गोरी जी, गोरी जी, कोंन ग्रायौ छेना धरि गयौ जी।
बीरु मेरे ग्राए लेंनहार करेला मारू जी, मारू जी, नउग्रा को ग्रायौ छेता धरि गयौ जी।।
काऐ की बगडोर करेला मारू जी, मारू जी, काए[1] की कैंए[2] पटुली लचपची जी।
रेसँम की बगडोर समलधँन गोरी जी, गोरी जी, सोंने की कैऐ पटुली लचपची जी।।
झूलेंगी बिज-नारि करेला मारू जी, मारू जी, झोंटा तौ दिग्गे उनके साहिबा जी।
लैगई मचक बढ़ाइ करेला मारू जी, मारू जी, लागौ झटोका मरमँन गिरि परीं जी।।
बिग्राह करूं द्वै-चारि समलधँन गोरी जी, गोरी जी तुम-सी हो मरमँन ना मिलै जी।
जैयौ हमारे प्यौसार करेला मारू जी, मारू जी, हम हूँ ते ल्हौरी बैहिनाँ दो परीं जी।
कै तिल रूप-सरूप समलधँन गोरी जी, गोरी जी, कै तिल ग्रागरी जी।
इक तिल रूप-सरूप करेला मारू जी, मारू जी, दो तिल कैऐ ग्रागरी जी।।
चंदन-रूख कटाइ करेला मारू जी, मारू जी नदिया-किनारें भसँम करैग्रौ जी।

१५

संयोग

बैठे मारू तखत बिछाइ, चिठिया तौ ग्राई दक्खिन देस ते जी महाराज।
उठि धँनि दिबला हो जोरि, चिठिया तौ ग्राई दक्खिन देस ते जी महाराज।।
मेरी तौ उठैगी बलाइ, चंदा-उजारी चिठिया बाँचिऐ जी महाराज।
ढ़िग-ढ़िग लिखी ऐ जुहार, बीच लिखी बैरिन नोंकरी जी महाराज।।
ग्रबकें ससुर जी कूँ भेज, ग्रब कें चौमासे राजा घर रहौ जी महाराज।
गलिग्रँन परैगौ चबाब, बाप-पठाए, बेटा घर रहे जी महाराज।।
ग्रबकें जेठ जी कूँ भेज, ग्रबकें हरियाली तीजें राजा घर करौ जी महाराज।
भैग्रा जी की कुँवारी कन्या धीग्र, ब्याह सँजोमें ग्रपने घर रहैं जी महाराज।।
ग्रब कें पड़ौसीऐ भेज, ग्रब कें जनमठमीं राजा घर करौ जी महाराज।
पड़ौसी की लड़िहाई नारि, साँज[3]-सबेरें बौ तौ लड़ि परै जी महाराज।।
ग्रब कें मित्तर जी कूँ भेज, ग्रब कें ग्रँनत-चौदस घर करौ जी महाराज।
मित्तर की चमकँन नारि, ए ग्रनवट-बिछुग्रा माँगै नित नए जी महाराज।।
ग्रब धँन देउ ग्रसीस, कैसी लगैगी ए चकरिया की चाकरी जी महाराज।
सँगकेन कूं मिलियौ गाँम, तुम कूँ मिलिग्रौ हजारी राजा परगने जी महाराज।।

१६

मोरा

भर भादों की मोरा रैंन ग्रँधेर, राजा की राँनी पाँनी-नीकरी जी।
काए की गगरी रे मोरा, काए की लेज, काए जड़ाऊ धँन की ईंड़री जी।।
सोंने की गगरी रे मोरा, रेसँमु की लेज, रतँन-जड़ाऊ धँन की ईंड़री जी।
ग्रागें-ग्रागें मोरा चाले, पीछे पनहारि, जा पीछें राजा जी के पैहरुग्रा जी।।
एक बन नाँघौ मोरा, दूजौ बन नाँघि, तीजे बन पहुँची ऐ जाइकें जी।
जोई भरे गागरि मोरा देइ लुढ़काइ, पंख-पसारि मोरा जल पिऐ जी।।

[1]. काहे। [2]. कहिये। [3]. सांझ।

परें रे सरँकि जा मोरा, भरँन दै नीर, मो घर सासु रिसाइगी जी ।।
त्यारी तौ सासुल धँनियाँ हमारी हो माइ, आज बसेरौ हरियल बाग में जी ।
परें रे सरकि जा मोरा, भरँन दै नीर, मो घर नँनद रिसाइगी जी ।।
त्यारी तौ नँनदुल धँनियाँ हमरी हो भैंन, आज बसेरौ हरियल बाग में जी ।
उठि-उठि सासुल ह्मारी गगरी उतारि, ना तौ फोड़ूँ चौड़े चौक में जी ।।
किन तौ रे बहुअल तो सें बोले ऐं बोल, कौंनें दीने तोइ ताँइने जी ।
ना काऊ सासुल मोसें बोले ऐं बोल, नाँ काऊ दीने ऐं ताँइने जी ।।
बँन कौ मोरा सासुल बँन में ही रहत है, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।
उठि-उठि बेटा मेरे मोरै पछारि, तेरी धँन रीझी बँन के मोरला जी ।।
मोइ देउ अंमा म्हारी पाँचौ हथियार, मोइ देउ पाँचौ कापड़े जी ।
एक बँन नाँघौ राजा दूजौ बँन नाँघि, तीजे बँन मोर पछारिऐ जी ।।
मारि-मूरि राजा लाए लटकाइ, लाइ धरौ ऐ धँन की देहरी जी ।
उठि-उठि धँनियाँ मेरी हरदी जो पीस, मोरा छौंकि बनाइऐ जी ।।
हरदी के पीसें राजा जल्दी न होइ, मोरा के छौंकें मेरौ जी जलै जी ।
बँन कौ हो मोरा राजा बँन ही में रैहत, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें रँनियाँ मेरी, मोरा की साधि, कौरे पै मोर कढ़ाइऐ जी ।
कौरे कौ मोरा राजा लिपि-पुति जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें धँनियाँ मेरी मोरा की साधि, सोंने कौ मोर गढ़ाइऐ जी ।
सोंने कौ मोरा रे राजा, चोरी में जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें धँनियाँ मेरी, मोरा की साधि, काठ कौ मोर बनाइऐ जी ।
काठ कौ मोरा रे राजा, जरि-बरि जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साधि, छाती पै मोर गुदाइऐ जी ।
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।[१]

१७

हरिअल साँवन आयौ मेरी सोहनों जी, एजी कोई बरसै गोला-ढार ।।
गई सहेली अंमा मेरी संग की जी, एजी कोई झूला डारूँ बर की डार ।
हरिअल चंपा अंमा मेरे बाग में जी, एजी कोई भौंर करत गुंजार ।।
ता पर झूलें कुंमारी निहालदे जी, ऐजी सँग झूलत कुँमरि-कुँमार ।।
पूरब ते बादल अंमा मेरी छाइ गयौ री, एजी कोई बरसै मूसल-धार ।।

१८

अरी भैंनाँ, सातों सहेली चलौ संग, झूला पै चलि कें झूलनाँ ।
कैसें खड़ी हौ री भैंनाँ अँनमनीं, अरी बीबी कैसौ तिहारौ सतसंग ।।
इतनी सुनि कें सातों चलि दईं, अरी भैंनाँ मन में भरी ऐ उमंग ।
चंपा-चमँन के अंदर जाइ कें, अरी भैंनाँ, सातों सहेली बैठी संग ।।
कारे-कारे बादर भैंनाँ छाइ रहे, अरी भैंनाँ, मेहा कौ है रह्यौ ढंग ।
न्हेंनीं-न्हेंनीं बूंदें री पड़ि रहीं, अरी भैंनाँ, चूँदरि कौ छुटि गयौ रंग ।।

१. स्व० उर्मिला—सत्येंद्र-द्वारा

१९

बाग बहाली आली है रही जी, है रही मेरे महाराज ।।
गेंदा हजारी रौसनु खिलि रह्यौ, चंपा खिलौ है अपार ।
बेला-चमेली फूलौ मोतिया, फूली हारसिंगार ।।
अजब सुगंधी आली उड़ि रही, झुकी है कंदम की डार ।
हिलि-मिल झूलूं सखिअँनु-साथ में, गाओ मिल गीत-मल्हार ।।

२०

मोरली रंगनारी जी, जैपुर में झोका लै रही जी, ऊँचौ सौ खेरा बहेली भैंनां में सुनी जी ।
भईया जी आए बहेली भैंना में सुनी जी, ऐजी कोई, लिल घोड़-असवार, मोरली० ।।
घोड़ा तौ बाँधौ भईया घुड़सार में जी, एजी कोई तँन बैठौ चौपार, मोरली० ।
चाँमर राँधूं भईया जी कूं ऊजरे जी, एजी कोई हरी मँगौरी, धोवा दारि, मोरली० ।।
पूरी तौ सेकूं भईया जी कूं लपझपी जी, एजी कोई साग करूं दस-बीस, मोरली० ।
और करीं ऐं भईया जी कूं सेंमरी जी, एजी कोई घेवर मँगाऊँ भईया जी कूं खूब सौ जी ।
एजी कोई फेंनीं मँगाईं दस-बीस, मोरली० ।।
चंदन-चौकी भईया जी बैठिऐ जी, एजी कोई दूध पखारूं त्यारे पाँइ, मोरली० ।
मथुरा के थार भईयाजी जेंमिऐं जी, एजी कोई अँचरन ढोरूँगी ब्यारि, मोरली० ।।
का तुम देउगे भईया जी मेरे लाड़िले जी, एजी कोई दिग्गे मोहर पचास, मोरली० ।
ऊँचौ सौ खेरा बहेली भैंनाँ बैठनों जी, एजी कोई देवर जी आए बहेली भैंना में सुनी जी ।
एजी कोई काँनी गधईया असवार, मोरली० ।।
चाँमर राधूं देवर जी कूं किसकिने जी, एजी कोई हरी ऐ मँगोड़ी, धोवादार, मोरली० ।
पूरी तौ सकूं देवर जी कूं लचपचीजी, एजी कोई साग करे दस-बीस, मोरली० ।।
घेवर मँगाऊँ देवर जी कूं दूरि तें जी, एजी कोई फेंनी कोस पच्चीस, मोरली० ।
आज तौ आए देवर जी मेरे पाहुँने जी ।
चंदन-चौकी देवर जी मेरे बैठिऐ जी । एजी कोई पाँनी ते धोऊं त्यारे पाँइ; मोरली० ।।
सोरन-थार देवर जी जेंमिऐं जी, एजी कोई पंखन ढोरूँगी बियार, मोरली० ।
का तुम देउगे देवर जी मेरे लाड़िले, एजी कोई दिग्गे लट्ठ पचास, मोरली० ।।

२१

चमारों के सामन का गीत

बर के रे गोदें झूलती, मेरी ढाबर नेंनी, सात सहेलीनु बीच ।।
सातौंन के मुख ऊजरे बहुअरि, तिहारौ चौं मैलौ भेखु ।
सातौंन के ढोला घर रहें जी, हमरे गए ऐं परदेस ।।
एक बटोही यों कहै, मेरी ढाबर नैनी, चलौ हमारे साथ ।
सोंनेनु करि दऊँ पीअरी जी, औरु चाँदीनु-सेतु सुपेत ।।
ठाड़ी तौ रहियौ जाई गैल में, बटाऊ ढोला, सासु-नँनद आऊं पूँछि ।
एक बटोही यों कहै मेरी सासुलि राँनी, चलौ हमारे साथ ।
कैसी सूरति कौ बटौहिया, मेरी बहुअल राँनी, कैसी घोड़ी असबार ।।
लीलौ तौ बापै घोड़िला सासुल, छोटे दिबर-उनहारि ।
ग्वे तौ ऐं तिहारे साहिबा, मेरी बहुल राँनी, ग्वे ऊ गए ऐं परदेस ।।
डाढ़ी तौ झारूं ब्वाके बाप की, मेरी सासुल, गोंछन धरूँगी अँगार ।
नेंना तौ फोरूं ब्वाके रस-भरे, मेरी सासुल, तकतु बिराँनी-नार ।।

२२

एक झूलती लड़की से सुना हुआ गीत

रुँमझुँम-रुँमझुँम[1] मेहा बरसै, जि[2] पाँनी कित जाइजी ।
आधौ पाँनी नदी किनारें, आधे में मेरौ भैया न्हाइ जी। ।।
आप कूँ लाए, बाप कूँ लाए, माँ की तीअर लाए जी ।
बैहैन कूँ तीअर ना लाए तौ, सौ-सौ नाँम धराए जी ।।
रुँमझुँम-रुँमझुँम मेहा बरसै, जि पाँनी कित जाइ जी ।
आप कूँ कठला, बाप कूँ कठला, मा कूँ हुँसला लाए जी ।।
बैहिन कूँ हुँसला जब मा लाए, तौ सौ-सौ नाँम धराए जी ।
रुँमझुँम-रुँमझुँम मेहा बरसै, जि पाँनी कित जाइ जी ।।[3]

२३

भर[4] भादों की मोरा रैंन[5] अँधेरी, राजा की राँनी पाँनी नीकरी जी ।।
काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेज, काहे जड़ाऊ धँन की इँडरी[6] जी ।
सोंने की गगरी रे मोरा रेसँम की लेज, रतँन-जड़ाऊ धँन की इँड़री जी ।।
आगें-आगें मोरा चालै पीछें पनहारि[7], जा[8] पीछें राजाजी के पैहरुआ जी ।
एक बँन नाँघौ मोरा, दूजे बन नाँघ[9], तीजे बँन[10] पहुँची ऐ जाइकें[11] जी ।।
जोई भरै मोरा देइ लुढ़काइ, पंख पसारि मोरा जल[12] पिऐ जी ।
परें रे सरकि जा मोरा भरँन[13] दै नीर, मो घर सासु रिसाँइगीं[14] जी ।
त्यारी तौ सासुल धँनियाँ हमरी हो माइ[15], आज[16] बसेरौ[17] हरिअल[18] बाग में जी ।।
परें रे सरकि जा मोरा भरँन दै नीर, मो घर नँनद रिसाइगी जी ।
त्यारी तौ नंनदुल धँनियाँ हमरी हो भैंनाँ, आज बसेरौ हरिअल बाग में जी ।।
उठि-उठि सासुल म्हारी गगरी उतारि, ना तौ[19] फोरूँ[20] चौड़े[21] चौक में जी ।।

१. रिमझिम-रिमझिम । २. यह ।

३. बाबाजी के बाग में-दो चिड़ियाँ चूँ चूँ करती थीं ।
बाबाजी के बाग में हम झल्ल-मल्लरि झूलती थीं ।।
उतते आए भईया-काका, का-का सौदा लाए जी ।
आपकूँ घोड़ा, बापकूँ घोड़ा, माँकूँ जोड़ा लाए जी ।।
भैंन की चुंदरी भूलि आए, तौ सौ-सौ नाँम धराए जी ।
बहू कूँ लाए अटकन-बटकन, लेउ बहू तुम खेलौ जी ।।
बहू कूँ लाए पाँन-सुपारी, लेउ बहुअल तुम चाबौ जी ।
हम क्यों खेलें इकली-दुकली, सु जाता नंद बुलाऔ जी ।।
हम क्यों चाबें इकली-दुकली, सुजाता नंद बुलाऔ जी ।।
आऔ नँनदुल, बैठौ नँनदुल, मुतियँन-माँग भराऔ जी ।
जौ नँनदुलि तुम लड़ौ-भिड़ौगी, सोटँन[22] ते धमकाऊँगी ।।

४. उच्चारण शोध—भरि। ५. रैंन । ६. इँड़ुरी । ७. पनिहारि। ८. ता । ९. नाँधि । १०. जाइ । ११. कैं । १२. जलु । १३. भरने । १४. रिसा वूँगी, रिसामनी । १५. मा । १६. आजु (साधारण 'उ' ध्वनि से लघु, जो अ के निकट पहुँचती है)। १७. बसेरा । १८. हरिअल, । १९. नाँएँ तौ । २०. फोड़ू । २१. चौरे । २२ .मूसल ।

किन तौ रे बहुग्रल तो सें[१] बोले हैं[२] बोल, कौंनें दींने[३] तोइ ताँइने जी ।
ना काऊ सासुल मोसें[४] बोलें ऐं[५] बोल, ना काऊ दींने ऐं ताँइने जी ।।
बँन कौ मोरा सासुल बन में ही रहत[६] ऐं[७], बाकी कौहक[८] मेरे मन बसी जी ।
उठि-उठि बेटा मेरे मोरें पछारि, तेरी धँन रीझी बन के मोरला जी ।।
मोइ[९] देउ अंमा म्हारी[१०] पाँचौ हथियार[११], मोइ देउ पाँचौ कापड़े जी ।
एक[१२] बन नाँघौ राजा दूजौ बन नाँधि, तीजे बन मोरा पछारिऐ जी ।।
मारि-मूरि राजा लाऐ[१३] लटकाइ[१४], लाइ धरौ ऐ धँन की[१५], देहरी जी ।
उठि-उठि धनियाँ मेरी हल्दी जो[१६] पीसि, मेरा छौंकि बनाइऐ जी ।।
हल्दी के पीसें राजा जल्दी न होइ[१७], मोरा के छाँकें मेरी जी[१८] जलै जी ।
बन कौ ही मोरा राजा बन ही में रैहत, बा की कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें रँनियाँ मेरी मोरा की साधि[१९], कौरे पै मोर कढ़ाइऐ जी ।
कौरे कौ मोरा राजा लिपि-पुत जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साधि, सोंने[२०] कौ मोर गढ़ाइऐ जी ।
सोंने कौ मोरा रे राजा चोरी में जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें[२१] धनियाँ मेरी मोरा की साधि, काठ कौ मोर बनाइऐ जी ।
काठ कौ मोरा रे राजा जरि-बरि जाइ, बाकी कौहौक मेरे बन वसी जी ।।
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साधि, छाती पै मोर गुदाइऐ जी ।
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल, बाकी कौहौक मेरे मन वसी जी ।।

२४

मेरे सिर पै बिराजै गोबर-हेल, ए ढोला नें ब्याइ लई दूसरी ।
हूँ तौ लेंउँगी बबुल बुलबाइ, काहे कूँ ब्याइ लई दूसरी ।।
हूँ तौ लेंउँगी पटबारी अपने साथ, आगरे में अरजी देउँगी ।
ढोला, हाकिम पूंछै तोइ बात काहे पै ब्याइ लई दूसरी ।।
गोरी, गुन थोरे ऐं औगुन भौतु, ए जाई पै ब्याइ लई दूसरी ।
तेरे ब्याह कूँ आयौ आँधी-मेउ, ए गौंने[२२] कूँ ओरे परि गए ।।
तेरे रौंने[२३] कूँ है गए बारें बाट, चाले[२४] कूँ सूखा परि गई ।
ढोला, मर्दनि बढ़ि गए भारी सोच, लुगाई बाँझें है गई ।।
ढोला, दूँआँ पै परौ ऐं तुसारु, सरसों कूँ, ए सरसों कूँ माँऊ[२५] लै गई ।
ढोला, चन्ना पै परौ ऐ तुसारु, बेझरि पै, ए बेझरि पै ओरे परि गए ।।
ढोला, मटरा कूँ खाइ गई सुड़िया,[२६] सगु गेंहुँनु कूँ, ए गेंहुँनु कूँ रतुआ[२७] लगि गयौ ।।

२५

बड़ौ निब्बू बड़ौ-री गँमारु, छोटौ-सौ निब्बू रस-भरौ ।
हौं तुमें पूछति सासु, हमारौ पति कौंन सौ ?

१. ने । २. एं । ३. दए एं । ४. मोतें । ५ ऐ । ६. एं । ७. रैहत । ८. कुहक-कुहुक । ९. मोइ । १०. मेरी । ११. हतियार । १२. इक । १३. लाए । १४. लटकाइ । १५. की । १६. जु । १७. होइ । १८. साद । १९. सौंने । २०. तुमें । २१. गौना—ब्याह के उपरांत जब दूसरी बार बहू को पति अपनी ससुराल से लेने जाता है, तो वह संस्कार गौना कहलाता है । २२. गौने की उपरांत की बिदा 'रौना' कहलाता है । २३. रौने की उपरांत की बिदा चाला । २४, २५, २६, २७.—कृमि कीट जो फसलों को नष्ट करते हैं ।

सिर मलमल सुई[1] पाग कंधे पै नागिन झुकि रही।
हौं तुमें बरजति माइ, गरमी में गौंनों मति करै ।।
गरमी कौ मारौ भरतार, जरद पीरौ परि गयौ।
जाड़े की प्यारी बेटा सौरि,[2] गरमी कौ प्यारौ बींजनाँ[3] ।।
सिबु-सिबु[4] परिग्रौ ग्रकालु, चौंतीसा[5] बैरी मति परै।
चौंतीसा कौ मारौ भरतारु, बरैंदा[6] कूँ भजि गयौ ।।
मन के बिकाइ गए बेर, सबा मन के गोंखुरू।
नर्रे[7] कौ बिकाइ गयौ सागु, गाजरि, मूरी है गईं ।।
धरौ ऐ ढरा[8] भरि चून, बीरँनु भूँखे उठि गए।
सिबु-सिबु परिग्रो ग्रकालु, चौंतीसा बैरी मति परै ।।

२६

गाँम पिछौड़े ए मेरे प्यारे नीबरी।
लखु ग्राबै लखु जाँइ, एकु न ग्रायौ मेरौ साहिबा, मैं तौ मरूँ रे जैहर-बिस खाइ ।।
सासु-बिना तौ मेरो सबरँग फीकौ सासुरौ ग्रौरु सुसर-बिनाँ कैसी लाज।
दिबर-बिनाँ होरी नहीं, मेरें पिया-बिन बिकट उजार ।।
हंबै, माइ-बिनाँ तौ मेरौ सब रँग फीकौ माइकौ।
ग्रौरु बबुल-बिनाँ कैसौ लाड़, बिरन-बिनाँ मिलिबौ नहीं।
मेरे पिया-बिन बिकट उजार ।।

२७

ज्याँतें जब च्यों न खिसिल्यौ लेंमनाँ[9] ग्रौरु ग्रब खिसिलँन लागी ईंट।
दरबाजें बुध[10] बाप के ग्रबकें बकसि भरतार ।।
जाँमें बगल में मंदिर बनवाइ देंऊँ दीनानाथ कौ।
ग्ररु पधराइ देंऊ सालिगराँम, दरबाजें बुध बाप के ।।
ज्याँतें बलि चाहें तौ छेरी[11] कौ चढाइ देंऊ बोकरा।
ग्ररु मध[12] की दिबाइ देंऊ धार, दरबाजें बुध बाप के ।।
ज्याँते सोंने में मढ़ाइ देंऊ दरबाजे तेरौ काँगुरा[13]।
बिधवा कौ दोसु मिटि जाइ, दरबाजें बुध बाप के ।।

२८

ग्ररे ढ़रा रे भरि कें करौ पीसनों पीसत-पीसत हौं हारी।
समुझत नाँइ बलँमु ग्रँनारी, साझे में नारि दुखारी ।।
हंबै तब तें गोरी तैंनें चों न कही, तोइ दौहरौ लेहँगा लै देंतौ, तोइ दौहरी उढ़नियाँ लै देंतौ।
चौपटिया चादरि लै देंतौ, चादरि पै चेंन टकाइ देंतौ ।।
हंबै तब तें ढोला तेंने चों न कही, तोइ लीली-धौरी बधियाँ लै देंती।
हर पै हर-हारौ करि देंती, ग्रौरु पाँनी लगाइबे पै हौं रेंती ।।

[1]. सूहो, हरी। [2]. रजाई। [3]. पंखा। [4]. समस्त। [5]. संवत् ३४। [6]. एक स्थान। [7]. नर्रा साग या मूली वह होता है जिसकी नसें इतनी पक जाती और कठोर हो जाती है कि पकाने से गल नहीं पाती। [8]. डला-पला, (मूंज ग्रथवा कागज कपड़ा की लुगदी से बनाया हुग्रा छबरा)। [9]. दीवाल पर लीपने से बना हुग्रा भारी पर्त। [10]. 'मारू' के पिता का नाम। [11]. बकरी। [12]. मद्य, शराब। [13]. कंगूरा।

२९

सरसों फटकि न जाँनें नल की नारि, तेलिनिग्राँ गारी दै रही। हरे०
तेरे का रे सिखायौ माई-बाप, कहा रे तेरी भाभजें ।।
भैंनाँ, समुद चराऐ मैंने हंस, सखिन-सँग खेली हेलुम्रा रे।
भैंनाँ, मेरौ-सौ नाँ ग्रो माई-बाप, मेरौ-सौ नाँ ग्रो सासुरौ ।। हरे०
भैंनाँ, बिगरि गई ऐ तकदीर, बोली तौ तैनें कहि लई।
भैंना, नौलखु[१] खुटिया चबाइ, मछली तौ तालें रिंगि गई ।।
भैंनाँ, भूँक मरें रे दिनु-राति, बिपता तौ हम पै परि गई ।। हरे०

३०

मेरे घर बैठौ रे मेंहमाँनु, गेंहूं तो ठाड़े खेत में। हरे०
तू तौ बैठौई रहि मेंहमाँनु, ए रोटी तौ देंउंगी जेठ में ।।
मेरे रथ पै पठाइ दै रथमाँनु[२], ए रोटी तौ, ए रोटी तौ दीजै जेठ में।
मेरी चूलि गई ऐ गंगा-पार, ए चाकी तौ, ए चाकी तौ चंमिल[३] पार कूं ।। हरे०
मेरी पीसनहारी पौसार,[४] ए पमनहारी पेट सौं।
हूँ तौ राँधन कैती[५] रस-खीर, ए भैंसि तौ, ए भैंसें तौ ढिलि गईं झील कूँ।
हूँ तौ राँधन कैती धोवा दारि, चौकलिग्राई[६] रँधि गई ।।

३१

ढोला, हुकुँम करौ तौ पीहर-जाउँ, मिलि ग्राऊँ माई-बाप सों ।
गोरी को तोकूँ ग्रायौ लेंमनहार, को तेरौ छेता धरि गयौ ।।
ढोला, लौहरे बिरँन ग्राए लेंन, नौम्रा कौ छेता धरि गयौ।
गोरी, भरि-भाँदों की रैंनि (ग्रँधेरि), ग्रकेली मति सोइयो ।
लौहरे बिरँन लीजौ साथ, हिलि-मिलि कें दोंनों सोइऐ ।।
ढोला, भरि भादों की रैंनि (ग्रँधेरी), ग्रकेले तुम मति सोइयौ ।
ढोला, लौहरी नँनद लीजौ साथ, हिलिमिलि कें दोंनों सोइऐ ।।
लाजो, चौरे में काटू तेरौ मूँड़, सैंहेज गारी दै चली ।
ढोला, कहिकूँ काटौ मेरौ मूंड़, ग्रदले कौ बदलौ दै चली ।।

[१]. नौलखा हार जिसे खूँटी निगल गयी थी, (नल की कहानी में)। [२]. रथवान। [३]. चंबल नदी। [४]. माइके। [५]. कहती, चाहती। [६]. छिलकेदार।

(ई)

अवसरों के गीत

विविध अवसरों पर गीत गाये जाते हैं, ऐसे ही कुछ अवसरों के गीत यहाँ दिये जा रहे हैं।

परभाती

(बुहारी)

उठौ री सुहागिल नारि, बुहारी दै लेउ अंगनाँ ।
धीअ मेरी सासु कें, बहू मेरी बाप कें ।
कौंन बुहारै मेरौ बासौ घर अंगनाँ ।। उठौरी०
बहू ऐ बुलाइ लेउ, धीअ ऐ रहँन देउ ।
बुही बुहारै तिहारौ बासौ घर अंगनाँ ।। उठौरी०
दीए की लोइ फीकी, चाँदनी कौ चंदनाँ ।
मुख कौ तँमोल फीकौ, नैंन में कौ सुरमाँ ।। उठौरी०
गैअँन के गल-बंदन छूटे, पंछी चले चुगनाँ ।
उठौ री सुहागिल नारि, हँम चले जमुनाँ ।। उठौरी०

२ ✓ ८

फाँगुन सुदी दौज को घरों में घरघुली खोदी जाती है। उसको सजाते समय स्त्रियाँ यह गाती हैं।

राजा बलि के द्वार मढ़ी ऐ होरी, राजा बलि के ।
कौंन के हाथ रँगीलौ ढपु सोहै, कौंन के हाथ गुलाब की छड़ी, राजा बलि०।।
किस्न के हाथ रँगीलौ ढपु सोहै, दाऊ जी के हात गुलाब की छड़ी, राजा बलि०.।।

१. घरघुली या घरगुली—यह शब्द 'गृह-होली' से विकसित हुआ प्रतीत होता है। ब्रज में एक होली तो समस्त गाँव की एक स्थान पर रखी जाती है। इस होली की वृद्धि गाँव का प्रत्येक व्यक्ति करता है। घर-घर से कंडे-लकड़ी इसे बढ़ाने के लिए दिये जाते हैं। इसी के साथ प्रत्येक घर में भी एक होली जलाई जाती है, इसके लिए गोबर की गूलरियाँ तय्यार की जाती हैं। गूलरियाँ गोल-गोल गोबर की टिकुलियाँ बनाकर बीच में ऊँगली से छेद करके बनती हैं। प्रतिदिन नियम से कुछ गूलरियाँ तय्यार की जाती हैं। साथ ही गोबर से एक ढाल, तलवार, चंद्र, सूर्य आदि भी बनाये जाते हैं। जिस दिन होली जलाई जाती है, उसी दिन गूलरियों की कुछ मालाएँ तय्यार की जाती हैं। ढाल-तलवार-चंद्र-सूर्य की भी एक माला अलग बनाई जाती है। घर के आँगन में एक स्थान पर इन्हें एक के ऊपर एक रख कर सूच्याकार छोटी होली तय्यार कर ली जाती है। जिस स्थान पर इन्हें रखा जाता है। उस स्थान पर 'घरगुली' खुदी होती है। इस घर की होली की पूजा हो जाने के बाद ढाल-तलवारवाली माला तो कहीं सुरक्षित रख दी जाती है, शेष में गाँव की होली से आग ला कर गृह-होली प्रज्वलित की जाती है।

घरगुली, फागुन सुदी दौज को खोदी जाती है। उसकी आकृति भट्टी जैसी होती है। उसे चंद्राकार चून की टिकुलियों से भरा जाता है और ओर-पास चंद्र तथा सूर्य बनाए जाते हैं। यह घरगुली इस प्रकार प्रति संध्या-समय सजाई जाती है, चून से। एकादशी को गुलाल से भरी जाती है।

३

न्यौरता[1] का गीत

गौरि री गौरि[2] खोलि किबरिया, बाहिर ठाढ़ी तेरी पूँजनहारी।
गौरि पुजंतरि बेटी आई सुभद्रा ॥
गौरि पुजंतरि बेटी कहा फलु माँगै ।
मातु-पिता कौ राजु जु[3] माँगै, भैअँनु की जोड़ी माँगै, भाभी-गोद भतीजौ माँगै ॥
गौरि री गौरा बेटी, खोलि किबरिया, बाहिर ठाढ़ी तेरी पूँजनहारी ।
गौरि पुजंतरि बहू आई एँ सीता ।
गौरि पुजंतरि बहू कहा फलु माँगै ।
सासु-सुसर कौ राजु जौ माँगै, होरी-खिलन छोटे दिवरा माँगै ।
हरी-हरी चुरियाँ, मुतियन भरि माँग जु माँगै ।
अमर बोलि के बिछुआ[4] माँगै, अपनी गोद झँडूला[5] माँगै ॥

४

करवा चौथि पर अर्घ्य देते समय का गीत

मैं तौ बरतु रही ऊँ करबा-चौथि, दहीन के अरघ दीए ॥
मैं नें माँग्यौ ऐ अजुध्या कौ राजु, सुसर राजा जसरथ-से ।
मैं नें माँगी कौसल्या-सी सासु, सुसर राजा जसरथ-से ॥
मैंनें बर माँगे एँ सिरी राँम, दिबर छोटे लछिमँन-से ।
मेरे चरत-भरत देबर-जेठ, नँनद छोटी भगिनी-सी ॥

५

सिले का गीत[6]

धनि-धनि री कौसल्या की कोंख, जिन जाए रामचंद से लाल, माँग सुहाग-भरी ।
बैठी ऐ राँनी तखतु बिछाइ, धीअ बहू संग लिएँ, माँग सुहाग-भरी ॥

६

पुरहा लेने तथा पैर चलाने के गीत

कारी फरिया चटकु रँगु प्यारे, भौं[7] कारे नेंनाँ ॥
अँधे-गूँगे बाबरे सो प्यारे, अँनकहनी केहनाँ ।
इरिझ्यौ[8] हार हँमेल में प्यारे, सुरझाँमें नेंनाँ ॥
कारी फरिया चटकु रँगु प्यारे, भौं कारे नेंनाँ ।
उछिटि धार धरती परी, सो प्यारे तेरे कहाँ लागे नेंना ॥
जलु आढ़ें काँमिनी खड़ी, करि केसन की छाँह ।
भूलेनु डगरु[9] बताइ दै नेंकु करि ऊपर कूँ बाँह ॥

[1]. न्यौरता—'नवरात्र' से बिकसित हुआ प्रतीत होता है। ब्रज में क्वार के महीने में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक न्यौरता खेला जाता है। यह गौरी-पूजन या देवी-पूजन का ही एक रूप है। दीवाल के सहारे एक छोटा-सा मिट्टी का घर जैसा 'न्यौरता' बनाया जाता है। प्रति दिन प्रातः गीत-गाकर उस पर मिट्टी की गौरें चढ़ाई जाती हैं। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही कर लिया जाता है। [2]. गौरी रे गौरा। [3]. जौ। [4]. चूड़ी, मांग और बिछुए सौभाग्य के चिह्न हैं। [5]. पुत्र। [6]. खेत कट जाने के उपरांत जो खेत में अन्न बिखरा रह जाता है, वह 'सिला' कहलाता है। उसे बीनते समय यह गीत गाया जाता है। [7]. भौंर—भ्रमर जैसे। [8]. इरिझयौ—उलझ गया। [9]. मार्ग।

गाँम पँछाई[१] पीपरी, बाकी सीतलु छाँह।
म्बाँ ह्वै कें तेरी गैल है, सो मेरी दूखै बाँह।।
ऊँची पारि समंद की प्यारे, नीर हिलोरें लेइ।
प्यासेनु पाँनी प्याइ कें, जसु अपनों करि लेइ।।
द्वै गोरी, द्वै साँमरी, द्वै बिरहुलि, द्वै बाँझ।
इन पै जोबन जबु चढ़े, जब होती आबै साँझ।।
काग पढ़ायौ पींजरा पढ़ि गयौ चारयों बेद।
जब सुधि आई कुटँम की, रह्यौ ढेढ़ कौ ढेढ़।।
राँम बढ़ाए सबु बढ़े, बलु करि बढ़यौ न कोइ।
बलु करिकें राँमनु बढ्यौ, छिन में डारयौ खोइ।।
राँम-नाँम लीयौ नहीं, कियौ न हरि सें हेत।
बे नर यों ही जाँइगे, मूरा[२] कौ-सौ खेत।।
राँम-नाँम जपते रहौ, जब लग घट में प्राँन।
कबहूँ दीन दयाल के, भँनक परैगी काँन।।

देवी के गीत

ब्रज में देवी की बहुत मान्यता है। कितने ही स्थानों की देवियों की जात करने ब्रज के लोग जाते हैं। वर्ष में दो बार—क्वार और चैत में प्रत्येक घर में नौदुर्गा, नौदेवी अथवा नवरात्र के व्रत रखे जाते हैं और पूजा होती है। अष्टमी को 'कन्या-लाँगुरा' नौंते जाते हैं। इन दिनों घर में देवी के गीत गाये जाते हैं। इन्हीं में से कुछ गीत यहाँ दिये जा रहे हैं।

कन्याँ-रूप भमाँनीं मैंने आजु देखी।
बरु अगवारें मैया, बरु पिछवारें, पीपरु धरँम दुआर, मैंने आजु देखी।
मैया के द्वारें एक बाँझ पुकारै, रोढ़ी की काया करि देउ, मैंनें आजु देखी।।
मैया के द्वारें एक कोढ़ी पुकारै, रोढ़ी की काया करि देउ, मैंने आजु देखी।।
मैया के द्वारें एक अँधरा पुकारै, अँधरे की आँखे करि देउ, मैंनें आजु देखी।।
मैया के द्वारें एक निरधँन पुकारै, निरधँन कूँ अन्न-धँन देउ, मैंनें आजु देखी।
तोइ सुमिरूँ मैया तेरौ छँदु गाँऊ, असने[३] में होउ, सहाई, मैंनें आज देखी।।

२

मैया रहीं ऐ नंदन-बन छाइ, फूलँन की लोभिनियाँ।।
माता के द्वारें एक आँधरौ पुकारै, मैया देउ नैंन घर जाएँ, फुलँन की लोभिनियाँ।
माता के द्वारें एक कोढ़ी पुकारै ठाड़ौ, मैया देउ काया घर जाएँ, फूलँन की लोभिनियाँ।।
मैया के द्वारें एक बाँझ पुकारै ठाड़ी, मैया देउ पूत[४] घर जाएँ, फूलँन की लोभिनियाँ।
मैया के द्वारें एक निरधँन पुकारै ठाड़ो, मैया देउ अन्न-धँन घर जाएँ, फूलँन की लोभनियाँ।।

३

मेरे पिछवारें गैल, गाड़ी-ढरकँन मैं सुनीं हो माइ।
चलौ पिया, दोऊ मिलि जाँइ परसें देबी झालिफा[५] हो माइ।।
घर घोड़ी, घर भैंसि, बाऊ ऐ[६] छोड़ें नाँ बनें हो माइ।
घर दूध, घर पूतु, बाऊ ऐ, छोड़ें नाँ बनें हो माइ।।
दूधु गुजरिया देउ, लड़िकँनि धाइ लगाइऐ हो माइ।।

१. पिछाई। २. मूरा—मूली। ३. विपत्ति। ४. पुत्र। ५. जालिपा। ६. उसे भी।

घर बउअरि[1], घर धीअ[2], बाऊ ऐ छोड़ें नाँ बनें हो माइ ।
धिअरि पठइ देउ ससुरारि, बऊअरि घर-बरु सौंपिऐ हो माइ ।।
देखि पराए-से नाहु, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जो मनु डुगलँनु हारु, बीरनु महिकें हेरिऐ हो माइ ।।
देखि पराई सुंदरि नारि, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जौ मनु डुगलँन हारु, भैंना[3] कहि कें टेरिऐ हो माइ ।।
देखि पराए सुंदर लालु, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जौ मनु डुगलँन हारु, गोद लै खिलाइऐ हो माइ ।।
देखि चँननि कौ खेतु, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जो मनु डुगिलँन हारु, मोल लै कें खाइऐ हो माइ ।।

४

अगिम भारी, सो मैया तेरौ पंथु कठिन भारी ।।
को ग्याँ आवै डोली-डाली[4], को जा असवार ।
को ग्याँ आवै नंगे पाँमन, मैया के दरबार, अगिम० ।।
राँनी आवैं डोली-डाली, राजा असवार ।
रैअत आवै नंगे पाँमन, मैया के दरबार, अगिम० ।।
को ग्याँ चढ़ावै हीरा-मोती, को ग्याँ नरियार-फूल-सुपारी ।
को ग्याँ चढ़ावै सोंने कौ छत्तरु, मैया के दरबार, अगिम० ।।
राजा चढ़ावैं हीरा-मोती (औ) रैअत नरियार ।
और रँनियाँ चढ़ावें सोंने कौ छत्तरु मैया के दरबार, अगिम० ।।

५

मैया, भुवन में आउ, मेरी आस लागी तेरे दरसँन की ।
एक बनु कहियतु फूलनि कौ, फूल रहे मेंहकाइ, देबी जी बिरमि रहीं बाई[5] बन में ।।
एक बनु कहियतु लौंगनि कौ, लौंगें रहीं मेंहकाइ, देबी बिरामि रहीं बाई बन में ।।
एक बनु कहियतु संतँनि कौ संत बोलें राधेस्याँम, देबी जी बिरमि रहीं बाई बन में ।
एकु बनु कहियतु भक्तनि कौ, भगत बोलें जै-जैकार, देबी जी बिरमि रहीं बाई बन में ।।

६

सो धँन मेरी ज्वाला मैया, जै-जै राँनी ।
पत्थरु-फोरि पहाड़ै निकरीं, अगिनि जोति-सी हैहराँनी ।।
ऊँचौ आसनु अटल सिंघासनु, तीनि लोक नों जग-जाँनी ।
सिंघ-पौरि पै सिंघ ढ़हारै, लँगुरा[6] जोधा अभिमाँनी ।।

७

नींकौ[7] री मैया, त्यारौ भवँनु बडौ नींकौ ।
टेरौ पंडित पोथी खोलै, कोंन सौ है दिनु नींकौ ।।
और दौज-तीज कूँ चलनु न होइगौ, सातें सँनीचर दिनु नींकौ ।
तिरियाँ[8] बिन की अगँनु लिपावै, माइल चौकु पुरावै, भैंनि सँजोवै उनकी टीकौ ।।
घरही में बाबुल बरजँन लागे, कठिन पंथु देबी कौ, देबी कौ मैया, सिंघ ढ़हाइ कजरी कौ ।

[1]. बहुअरि । [2]. धिअरि—बेटी । [3]. बहिन । [4]. पालकी । [5]. उसी । [6]. लाँगुर । [7]. नीका—अच्छा । [8]. तिरिया ।

बारह कोस बन ई बन कहिऐ, सिंघ ढहाऐ कजरी कौ ; और सिंघ-मारि जालिफा परसों ।
तौ बालकु जननी कौ, नींकौ री मैया० ।।

८

लेउ मैया बीरा,[1] मैं कब की ठाड़ी ।।
कौंनें चढ़ाए मैया धजा[2]-नारियर, कौंनें चढ़ाए लाल-हीरा, मैं कब की ठाड़ी ।
रजबा चढ़ाए मैया, धजा-नारियर, रनियाँ चढ़ाए लाल-हीरा, मैं कब की ठाड़ी ।।
माँगन होइ सो माँगि लै राँनी, जो मन-भावनि होइ, मैं कब की ठाड़ी ।
राजु-पाटु मैया तुमरौ दिओ[3] है, रजो अमर करि दीऔ[4], मैं कब की ठाड़ी ।।
जा धरती पै राँनी कोई ना अमर है, रजबा अमरु कैसें होई है, मैं कब की ठाड़ी ।
अमरु जलफदे[5] की चुंदरी कहिऐ, अमरु लँगुरिया की पगिया, मैं कब की ठाड़ी ।।

९

एक हरी लौंगँनु कौ बागु, मैया लकड़िनि कों[6] निकरीं ।
एक-एक लकड़ी बीनि मैया, जूँने[7] गठरी बाँधीं ।।
इतते आयौ असुर, असुर बाकी लकड़ी बखेरी ।
सुनि रे लाँगुरिया बीरु, असुर मेरी लकड़ी बखेरी ।।
नौ-नौ ठोकौ कील, दरदु नेंकौ[8] मति करिओ ।
असुर की चतुरा नारि, असुर सँमझाइ दए ।।
मैया जू के चरननि जाउ, सुंदरि जू के चरन पलोटौ ।
एक-एक लकड़ी बीनि, मैया जू कों गठरी बाँधौ ।।
सुनि रे लाँगुरिया बीरु, असुर मेरे चरननु आयौ ।
नौ-नौ खेंचौ कील, कसरि नेंकौ मति राखौ ।।

१०

धाँनूं की धँनुअलि ज्यों[9] कहै, कैसे पिया वे देस कि जिन भूमि तुम गए ।
टाटी तौ लगी ऐं पहार की, लगे ऐं धरँम के खंम, सुरति बाई देस की ।।
रामचंद जी की धँनउलि[10] ज्यों कहै, कैसे पिया वे देस कि जिन भूमि तुम गए ।
अंधेनु नेत्तर दै रही, कोढ़िन काया दै रही, बाँझन पुत्तर दै रही, सुरति बाई देस की ।।

११

मैया, लेजु कसनि कसि डारि, जिअरा मेरौ तोई सों लगौ ।
परबत चढ़ि देखै भोरी माइ, जाती मेरौ कहाँ बिलमों ।।
बाके बाबुल राखे बिलमाइ, खरचु बँधाबत में ।
बाके चाचुल राखे बिलमाइ, तौ रुपैया गिनाबत में ।।
बाके बीरँनु राखे बिलमाइ, तुरिया[11] सजाबत में ।
बाकी माइल राखे बिलमाइ, पुरियाँ सिकाबत में ।।
बाकी चाची राखै बिलमाइ, तौ लड़ुआ बँधाबत में ।
बाकी बेंदुलि[12] राखे बिलमाइ, देवी-छँद गाबत में ।।
बाकी बधुआ नें राखे बिलमाइ, तो पंथु सिराबत में ।
मैया, लेजु कसनि कसि डारि, जिअरा मेरौ तोई सों लगौ ।।

१. बीड़ा । २. धुजा । ३. दिया हुआ । ४. देउ । ५. जालपा देवी । ६. कूं । ७. जूना— मूंज की या घास की मोटी रस्सी । ८. किंचित भी, नेंक भी । ९. ज्यों । १०. धनहुलि । ११. घोड़े । १२. बहिन ।

१२

चलि पीया, दोऊ मिलि जाँइ परसें देवी जालिपा ऐ ओ माइ।
घर घोड़ी, घर भैंसि, दोऊन चालें नाँ बनें ओ माइ।।
घोड़ी तौ देउ घुड़सारें, भैंसि ग्वारिअँन सोंपिऐ ओ माइ।
घर बहुअरि, घर धीअ, दोऊन चालें नाँ बनें ओ माइ।।
धीअ पठै देउ सुसरारि, बहुअरि सोंपौ घरबार, परसें देवी जालिपा ओ माइ।
घरै दूध औरु पूत, दोऊन चालें नाँ बनें ओ माइ।।
दूध गुजरियनु देउ, बालक संग लगाइऐ ओ माइ।
चलि पीया, दोऊ मिलि जाँइ, परसें देवी जालिपा ओ माइ।।

१३

जाती पंडित बोलौ रे आपुने औरु निरमल घड़ीऐ बताइ, आयौ लाड़ो चैत सुहाँमनी।।
जाती बाबुल बोलौ रे आपुने, औरु पूरी सौ खरचु बँधाइ।
जाती, माइल बोलैं री आपनी, सिअरी सौ पंथु सिराइ, आयौ लाड़ो०।।
जाती, नहँदुलि बोलौ री आपनी, औरु केसरि-तिलक सँजोइ।
जाती, भावज बोलौ रे आपनी, औरु अच्छे-अच्छे देवी छंद गाइ, आयौ लाडो०।।
जाती, धँनउलि बोलौ रे आपनी, जाती बालक बोली रे आपने।
और जिन पर बोली ऐ जात, आयौ लाड़ो चैत सुहाँमनों।।

१४

करि लीए दूसरौ ब्याहु लँगुरिया, मेरे भरोसें मति रहिए।
मोइ लीपि न आवै लीपनों औरु काढ़ि न आवै खूँट, लँगुरिया मेरे भरोसें०।।
मोइ पीसि न आवै पीसनों औरु डारि न आवै कौरु।
मोइ राँधि न आवै राँधनों औरु मोइ परसि न आवै थारु, लँगुरिया मेरे भरोसें०।।

१५

माता बैठी भवँन में लाँगुरा ढोरै ब्यार।
अगारी कँदम है मेरी प्यारी, पीछें बर की डारी, दै ग्याँन सेंमरीबारी।।
ठाड़ी नदिया के तीर महल पै दे रही हेला[1]।
मल्हा के डोंगा डारि, जुरौ जनकपुर-मेला, उतरे गुरु औरु चेला।।

१६

भैया लँगुरा रे, अपनी जाति बताउ।
कोंन सखस के बालका, उपजे कोंन के पेड़।
बंमन के हम बालका रे, उपजे तुलसी के पेड़, भैया०।।
लँगुरा की माँ न्यों (यों) कहै रे, लाँगुर[2] कछुअ न खाइ।
बारा बाटी मदु पियै, सौ रे बुकरा[3] खाइ।।
लँगुरा की माँ न्यों कहै रे लँगुरा सोबतु नाँइ।
छै महीना की राति है रे, लँगुरा सोबतु नाँइ, भैया०।।

१७

मेरी चिलम-भरत दिनु जाइ, लँगुरिया बड़ौ पिबैया गाँजे कौ।
कै बीघा गाँजौ बओ, कै बीघा बइ दई भाँग, लँगुरिया बड़ौ०।।

[1]. हेला देना—पुकारना। [2]. लँगुरा। [3]. बकरा।

हाँ, दस बीघा गाँजौ बम्रौ, नौ बीघा बइ दई भाँग, लँगुरिया बड़ौ० ।
हाँ, लाँगुरु तौ गाँजौ पिएँ महादेब नें पी लई भाँग, लँगुरिया बड़ौ० ।।

१८

देख्यौ तेरौ सेंहुरु सँलोंनौ रोरी चौपर कौ बाजारु ।
जाँमें बेचत मालु पसारी पूरौ साहूकारु ।।
तेरे री भँमन कारीगरु आयौ, जानें सूतु लगायौ ।
टाँकी-टाँकी परबतु काट्यौ, डंडा जाँमें छेके चारि, देख्यौ० ।।
तेरे री भँमन एक रहति सुहागिल, पाइल बाजें, जाके पग नेबर बाजें ।
सीसफूल सिर बेंदा सोलह रानी कीयौ ऐ सिंगार, देख्यौ० ।।
तेरी रे महल एक चंदन-पलकिया, रेसम-बान बुनाई, जाकी हरी ऐ डलाई ।
पौढ़ें मेरी आदि भँमानी, लाँगुर ढोरें ब्यारि, देख्यौ० ।।

१९

लँगुरिया ढूँढ़त डोलै, मोरी माइ ।
कै मेरी मैया सोइ गई है, कै गई धरनीं-समाइ, लँगुरिया० ।।
ना तेरी मैया सोइ गई है, परि ना गई धरनीं-समाइ, लँगुरिया० ।
कनही[1] जाती कें होम रचौ ऐ, परि माँ हरि जागी सिब[2] रात ।
धुजा[3] औ नारियर, लोंग, सुपारी, वे मो दए ऐं चढ़ाइ ।।
सोंने कौ दिअला कपूर की बाती, परि आरति लई ऐ उतारि, लँगुरिया० ।।
तोइ सुमिर मैया तेरौ छँद गाऊ, परि संकट होउ सहाइ, लँगुरिया० ।।

तीर्थ-व्रत-संबंधी गीत

ब्रज की परिक्रमा देते समय गंगा-स्नान अथवा कातिक-स्नान अथवा किसी अन्य तीर्थ करने के समय गीत गाये जाते हैं। उनमें से कुछ यहाँ दिए जा रहे हैं।

सिंघ पौरि के निकट सरोबर छाचि कुंड की छबि न्यारी ।
मोंतीकुंड मनोहर दाता, पास औरु म्वाँ फुलवारी ।।
टेर कदँम और बट कदँम, सारस की अरु ब्यापारी ।
कूआ, कीकू केस बिराजै, अंग भबूत जटाधारी ।।
बरनों मैहमाँ क्रस्नकुंड की, संतन की बैठक न्यारी ।
निरत गुपाल बिराजें ठाकुर, सुंदर मूरति है प्यारी ।।
कोई घोंटै, कोई रंग लगावै, कोई-कोई छुट्टै त्यों नारी ।
भरि-भरि लोटा पीमँन लागे, नंद भँमन के पूंजारी ।।
चंद्रकुंड चितवन प्यारी कौ, जँह पौढ़े श्री गिरधारी ।
जल-बिहार जगमगौ जगत में, टेर-कदँम लीला न्यारी ।।
सप्ताह होंइ बचें पाराइन होंइ जीव जँह उद्धारी ।
आसेसुर महादेब बिराजें, गरें फूल-माला न्यारी ।।
बहकौ जोग ग्नाँन झगरा की, भंडारौ कीयौ भारी ।
लेपन बन में सखा-मंडली, बटै छाक न्यारी-न्यारी ।।
बैठक तौ अकरूर भगत की, आइ बिराजे गिरधारी ।
बस्तरकुंड बने नव माली, पाँउर खंडी है प्यारी ।।

१. प्रसिद्ध भक्त । २. सब—संपूर्ण । ३. ध्वजा ।

सूरजकुंड बने सर सुंदर, गऊअँन की बैठक न्यारी।
उद्धवकुंड कहाँ तक बरनों, छप्पन चौक छिके प्यारी।।
पूरनमाँसी परि पूरन जी, दोऊ मिलि रासु रच्यौ भारी।
रुनकी-झुनकीकुंड बने हैं, तिनकी मैहिमा अति भारी।।
बैठक के पै गऊ चराँई, कुंड जसोदा छबि छाई।
सेंम-कैंम कौ और रावरी, माँट विलोबन जसुधारी।।
बेलनबन और कोठेली, मकसूदनकुंड लता प्यारी।
पनिहारीकुंड की दै परिकंमा, रोझोखर की करि त्यारी।।[1]

२

ब्रज-बनिता बैंन करिवे धाँई।
मधुबन, ताल, कँमोद, बौहलाबल, सांतुनकुंड जो न्हाईं।।
राधाकुंड कुंड की मैहमाँ, कछु बरनी नहीं जाई।
गोबरधँन की करि परिकंमा मानसी-गंगा न्हाई।।
परमदरौ और आदि बद्री[2], संकर खोह रचाई।
काँमों काँम काँमनाँ-पूरन, जिह बन है सुखदाई।।
बसि बरसाँनों-नंदगाँमु, बसि कोकिल दाहन आई।
बट संकेत, खिदरबन बसि कें, तब यह जैंरन बुझाई।।
जाब और बठेंन की मैहमाँ, कही कोंन पै जाई।
चरँन-पहाड़ी दरसँन करिकें, तब दधि गाँम पठाई।।
सेसनाग-सिज्जा हरि दरसे, जहाँ पौढ़े श्री जदुराई।
खेलनबन और चीरघाट, नंदघाट सुखदाई।।
औ भैराँम रच्यौ बलदाऊ, उत्तर जमुनाँ बहि आई।
बलभद्दर, भाँडीर, कुदरबन, माँनसरोवर न्हाई।।
करि बिस्राँम लोहबन बसि कें, दाऊ जी परिस्यौ आई।
गोकुल और महाबन की छबि, सारद लिखी न जाई।।
धनि बिंदाबन धनि श्री मथुरा, धन्न जसोदा माअई।
तिनकी मैहिमाँ कहाँ तक बरनूँ, प्रघटे कुँमर कँन्हाई।।
बारह बन और बारह उपबन, तिनकी लीला गाइ सुनाई।
कृस्नदास, प्रभु करिय सफल तँन, आबागँमन-मिटाई।।

३

कार्तिक-स्नान या तीर्थ-यात्रा के समय गाया जाने वाला गीत

हरे राँमा, गंगाजी में बाँसु गढ़चौ ऐ, बापरि चढ़ि गयौ कछनी कछि कें।
भाएली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें, सहेली, मेरें आयौ री स्याँम नट बनि कें।।
हरे राँमा, मथुरा जी में बाँसु गढ़चौ ऐ, बापरि चढ़ि गयौ कछनी कछि कें।
भाएली मेरें, आयौ री कँन्हैयाँ, नट बनि कें, भाएली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें।।
हरे राँमा, अधर कला खा गयौ कँन्हैयाँ, बापरि चित्तु चुरायौ हँसि-हँसि कें।
भाएली मेरें, आयौ री कँन्हैयाँ नट बनि कें, सहेली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें।।

[1]. यह गीत नंद गाँव की परिक्रमा का है, वहीं के सब तीर्थों का उल्लेख किया गया है।
[2]. बद्री—बद्रीनाथ।

हरे राँमा, गैहबरबन में बाँसु गढ़यौ ऐ, बापरि चढ़ि गयौ कछनी कछि कें।
भाएली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें, सहेली मेरें आयौ री कँन्हैयाँ नट बनि कें।।
हरे राँमा, नई-नई तौ रे ताँन कँन्हैयाँ, बापरि नाँचु दिखावै नबि-नबि कें।
भाएली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें, भाएली मेरें आयौ री स्याँम नट बनि कें।।
हरे राँमा, नई-नई धुनि ते बंसी बाजै, बापरि रसिया मारै भरि-भरि कें।
सहेली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें, भाएली मेरें, आयौ री कँन्हैयाँ नट बनि कें।
हरे राँमा, सुधि गई सबरी भूलि बदन की, बापरि डोलूँ पगली बनि कें।
भाएली मेरें, आयौ री स्याँम नट बनि कें, सहेली मेरें आयौ री स्याँम नट बनि कें।।

४ १०

काँन्हा बरसाँने में आइ जइयौ, बुलाइ गई राधा प्यारी।
जौ काँन्हा, तोइ गैल न पावै, सिड्डिन-सिड्डिन चढ़ि अइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।। (दो बार)
पतरी-पतरी पोई ऐं फुलकियाँ, गरज परै तौ जें[1] जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
जौ काँन्हा तोइ गैल न पावै, खोर में ह्वै कें आइ जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
सोंने कौ लोटा गंगा-जल-पाँनी, गरज परै तौ पी जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
जौ काँन्हा, तोइ गैल न पावै, भाँनोखर ह्वै कें आइ जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
पाँच-पचीस कौ बीड़ा लगायौ, गरज परै तौ चबाइ[2] जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
जौ काँन्हा, तोइ गैल न पावै, राधा-बागि में ह्वै कें आइ जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
कोरी-सी हँड़िया में दही जमायौ, गरज परै तौ खाइ जइयौ।
—बुलाइ गई राधा०।।
काँन्हा, बरसाँने में आइ जइयौ, बुलाइ गई राधा प्यारी।

५ ११

बनि गयौ बैद आप बनबारी।
गली-गलींन में काँन्हा डोलै, निरखत डोलै नारी, बनि गयौ०।।
इत्तें आई कुँमरि राधिका, लै देखौ नबज हमारी, बनि गयौ०।।
सरद-गरम भौत भई तिहारें भारी, बनि गयौ०।।
सँग की सहेलिन बाहिर काढ़ौ, मूँदौ मैहैल-किबारी, बनि गयौ बैद०।।
एक जड़ी तोइ ऐसी री दुंगौ, मिटि जाइ अजक[3] तिहारी, बनि गयौ०।।
सँग की सहेली बाहिर काढ़ीं, मूँदी मैहल-अटारी।
काँनन कुंडल सिर पै मुकट हो, बंसी की छबि न्यारी बनि गयौ बैद०।।

६ १२

मेरे किसनाँ, एक कदम कौ ऐ पेड़, फूलन लरफरि है रह्यौ भगवान।
मेरे किसनाँ, झोरी भरि तोरे ऐं फूल, मंदिर में चढ़ाइऐ भगवान।।

१. खाइ। २. खाइ। ३. रोग-पीड़ा।

मेरे किसनाँ, सब मंदिर चढ़ाऐ, राधा कौ मंदिर छेकिऐ भगवान।
मेरे किसनाँ, राधा ऐ आयौ रोस, किवरिया जड़ लई मेरे भगवान ।।
मेरी सखी, रिमझिम बरसत मेह, कृस्न भींजें द्वार पै भगवान।
मेरी सखी, मोइ दै लुटिया डोर, कृस्न जाइऐ द्वारिका भगवान ।।
मेरी सखी, झटपट खोलिऐ किवार, काँमरिया गहि लई भगवान ध
मेरी सखी, बिनईं कँदमन की छाँह, कृस्न बिलखाइ गए भगवान ।।

७

मैं तो गोबरधंन कूँ जाऊँ मेरी बीर, नाँइ-मानें मेरौ मनुआँ।
सात सेर की करूँ करहैया, अरी मैं तो पेंड़-पेंड़ पै खाऊँ मेरी बीर।
नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ, मैं तौ गोबरधंन० ।
सात कोस की दै परिकंमा, अरी मैं तौ मानसी-गंगा न्हाऊँ मेरी बीर।
नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ, मैं तौ गोबरधंन कूं० ।
चकलेसुर के दरसँन करिकें, गाँम लौटि कें आऊँ बीर, नाँइ माँनें मेरौ अनुआँ।
मैं तौ गोबरधंन कूं जाऊँ मेरी बीर, नाँइँ माँनें मेरौ मनुआँ ।।

८

नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ, मैं तौ गोवरधंन कूँ जाऊँ मेरी बीर। टेक—।
सौमोंती कौ न्हाँनु परचौ ऐ, परमी न्हाइवे जाऊँ मेरी बीर ।। नाँइ० ।
पाँच सेर की करूँ कोथरी, पेंड़-पेंड़ पै खाऊँ मेरी बीर। नाँइ० ।
राधाकुंड की राधा राँनी, कुसुम सरोबरि न्हाऊँ मेरी बीर ।। नाँइ० .
गोबरधंन, आँन्यौर, पूंछरी, जतीपुरा लौटि आऊँ मेरी बीर। नाइ० ।
जतीपुरा ते आइ गोबरधंन, मानसी-गंगा न्हाऊँ मेरी बीर ।। नाइ० ।
गोबरधंन ते राधाकुंड में, आइ कें नाँच दिजाऊँ मेरी बीर। नाइ० ।
सात कोस की दै परिकंमा, बाँम्हान-न्योंति जिमाऊँ मेरी बीर ।। नाइ० ।

९ ✓ १२

सखी री, चलै तौ दरसँन करि आँमें, रोप्यौ-रोप्यौ ऐ नंद के नें रासु। सखी री०
कौंन बरँन राँनीं राधिका, औरु कौंन बरँन नँदलाल ।। सखी री०
कोई गोरे बरँन राँनीं राधिका, औरु स्याँम बरँन नँदलाल। सखी री०
कौंन गाँम राँनीं राधिका, औरु कौंन गाँम नँदलाल ।। सखी री०
कोई बरसाँने की राँनीं राधिका, औरु नंद-गाँम नँदलाल। सखी री०
बृषभाँनु-दुलारी राँनीं राधिका, औरु नंद-दुलारे घनस्याँम ।। सखी री०

१० ✓ १८

बरसाँने ते चली गुजरिया सिर पै धरि लीइ मटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी ।।[१]
मथुरा-छोड़ि बृंदाबन छोड़्यौ, मैं सूधी बरसाँने माँई सटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी ।।
तातौ पाँनी धरचौ तर्तेरा, अरे कि मेरी न्हाने ते कहा अटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकीं ।।
पतरी रे पतरी पोंईं[२] फुलकियाँ, अरे कि मेरी खाँने ते कहा अटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी ।।

[१]. ब्रज बन भटकौ। [२]. पबीं—वा करीं।

तातौ दूध धरयौ वेला में, अरे कि कान्हा मेरी पीबे ते कहा अटकी।
में तेरे काजें स्यांम ब्रज बन भटकी ॥
बरसाँने ते चली गुजरिया, सिर पर धर लई मटकी।
में तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी ॥

११

जुरयौ रथु राँमजी कौ जाँमें[1] सीआ बैठी जाइ। टेक
एकु रथु तौ जा की भाभी नें सजायौ, प्यारे भैया नें जोरे दोंनों बैल।
जुरयौ रथु राँमजी कौ, जाँमें सीआ बैठी जाइ ॥
एकु रथु तौ याकूँ चाची नें सजायौ, चाचा नें जोरे दोंनों बैल।
जुरयौ रथु राँमजी कौ, जाँमें सीआ बैठी जाइ ॥

१२

सखी री, नँदगाँम अनोंखौ नंद कौ, जहँ चपल-चबाई लोग। सखी री, नँदगाँम०
सखी री, पाँन सरोवर हम गईं हो, अरे कोई मिल सखिअँन के झुंड।
निपट अँनैड़ौ साँवरौ रे, मोते हँसिकें लड़ावै दोऊ नेंन ॥ सखी री, नँदगाँम अनोंखौ०
रोकै-टोकै गैल में, मोते बोलै रसीले बोल। सखी री, नँदगाँम अनोंखौ०
जब देखूँ पनघट पै अड़ौ रहै रे, अरे मोऐ भर-भर देइ उचाइ ॥ सखी री, नँदगाँम०
काँन काहु की ना करे री, अरी या कौ रसिया सगरौ गाँम।
सग[2] के री दिल में बसै हो, यै मूरति घनस्याँम ॥ सखी री, नँदगाँम अनोंखौ नंद कौ।

१३

घर आइ गए लछिमँन-राँम पुरी में आँनंद भए। टेक
हरे-हरे गोबर अँगनु लिपाए, मुतियँन चौक-पुराए।
अरी, माँतु कौसल्या करै आरतौ, तिरियँन मँगल-गाए ॥ पुरी में०
मात कौसल्या पूँछन लागी, कहौ लंक की बात।
कैसें तौ गढ़ लंका तोरी, कैसें तौ लाए सीआ नारि ॥ पुरी में०
आठ घाट लछिमँन नें घेरे, औघट घेरे राँम।
दरवाजौ अंगद नें घेरयौ, लंका में कूदे हँनुमान ॥ पुरी में०
राँम भजौ, सिया राँम भजौ, गुरु चरनँन चित लाइ।
चारों भैया हैं इकठौ रे, फूलँन की होइ बरसात। पुरी में०

१४

राँम, राँम, राँम, रतँन[3] लागी डिबिया[4]।
पाँव कहें कछु करलै रे तीरथ, हाथ कहें कछु करलै रे दाँन।
काँन कहें कछु करलै रे ग्याँन ॥ रतँन लागी० ॥
दाँत कहें कछु करलै रे भोजँन, आँख कहै कछु करलै दरसँन। रतँन लागी० ॥

१५

आपु राँम नें बागु लगायौ, एरी बे आपु भए रखबारी, जलु-भरँन राति में आई।
अरी बु कोंन चतुर पँनिहारी, जलु-भरँन राति में आई ॥ हरे०
आपु राँम नें तालु खुदायौ, एरी बे आपु भए रखबारी। जलु-भरँन राति में आई।
आपु राँम नें महैलु चिनायौ, एरी बे आपु भए रखबारी। जलु-भरँन राति में आई ॥ हरे०

[1]. यामें। [2]. सभी। [3]. रटँन। [4]. जिभिया।

१६

चलँन-चलँन बे हरि करें अरु सीता चलँन न देइ, हँमारे मन राँम जी बसें।
जो तुम हरि मेरे जात औ मन राँमजी बसें, अरु हमहिं कहा बुधि देउ मन राँम जी बसें ।।
कँनिक-कुठीला घीउ कूपिया अरु करिओ भोग-बिलासु, हँमारे मन राँम जी बसें ।
एक अँदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँमजी बसें, और सासु न ज्याए देवर-जेठ हँमारे मन राँम जी बसें ।।
औरु न सरँन में बैठती रे, अरु लड़ती रे बैंइयाँ-पसारि, हँमारे मन राँम जी बसें ।
औरु अँदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँमजी बसें, माइ न ज्याए राजा बीरु, हँमारे मन राँम जी बसें ।।
गोद में लैकें खिलावती, सासुरे में हेरति बाट, हँमारे मन राँम जी बसें ।
औरु अँदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँम जी बसें, कोंखि न जाए नँदलाल, हँमारे मन राँम जी बसें ।।
चलत फिरत रे देखती, करतु अजुध्या कौ बासु, हँमारे मन राँम जी बसें ।।

१७

पग हौलें धरौ रे धनुष-धारी ।
आगें-आगें राँम चलत हैं, पीछें लछिमँन बलधारी ।
बीच-बीच में चलें सिया जी, सोभा लगै अधिक प्यारी ।।
ग्वा बनखँड में प्यास लगी ऐ, कुँभिलाइ गई जैसें फुलवारी ।
देवर लछिमँन जल भरि लाओ, भरि लाऔ जल की झारी ।।
'तुलसीदास' आस रघुबर की हरि-चरनँन चित बलिहारी ।
जाके घर सें तीनों निकरे, कैसें जी में इनकी मैहतारी ।।

१८

उठि मिलि लेउ राँम, भरत आए ।
बिंदाबन में करी रे तपस्या राँमा, मथुरा जी में फल पाए । हरे,
उठि मिलि लेउ राँम, भरत आए ।।
हरे-हरे गोबर अँगन लिपाए राँमा, मोंतिन चौक पुरत आए ।
उठि मिलि लेउ राँम, भरत आए ।।
हाती के हौदा चढ़े री चारों भैया राँमा, ऊपर चोंर ढुरत आए ।
उठि मिलि लेउ राँम भरत आए ।।
बईयाँ[1] पसारि मिले री चारयौ भैया राँमा, नैंनन-नीर ढरत आए ।
उठि मिलि लेउ राँम भरत आए ।।

१९

गंगे कहती ऐं, मोइ दुखी करै संसार ।।
याँ बाँझुलि नारी आती ऐं, आकर कें रुदनु मचाँमति ऐं ।
मैं कहाँ ते लाऊँ नंदलाल, गंगे कहती ऐं, मोइ दुखी० ।।
याँ बिधवा नारी आँमति ऐं, आकरि कें रुदनु मचाँमति ऐं ।
मैं कहाँ ते लाऊँ भरतार, गंगे कहती ऐं, मोइ दुखी० ।।
याँ कोढ़ी-कलंकी आँमत ऐं, आकरि कें रुदनु मचाँमति ऐं ।
मैं कहाँ ते लाऊँ निरमल काया, गंगे कहती ऐं, मोइ दुखी० ।।
याँ अंधे-धुंधे आते ऐं, आकरि कें रुदनु मचाँमति ऐं ।
मैं कहाँ ते लाऊँ बड़बड़ी आँखि, गंगे कहती ऐं, मोइ दुखी० ।।

[1]. बहियाँ ।

२० ✓ १६.

गंगा जी की उन रेतिन में राँमा, बंसी बजावै घंन घोर।
सखी री, मैंनें मोंहन लै लए मोल।।
काहे के पलरा, काहे की डाँडी राँमा, काहे में लै लए तोल।
सखी री, मैंनें मोंहन लै लए मोल।।
मोंहन की डाँडी, नेंनन के पलरा राँमा, हिरदे में लै लए तोल।
सखी री, मैंनें मोंहन लै लए मोल, हरि आली[1] मैंनें मोंहन लै लए मोल।। हरे०।।

२१ ✓ १७.

आपन जाइ गंगा जी में छाए राँमा, सुधि न लई घर-आँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की, हरि-आँमन की, मन-भाँमन की।।
आपन जाइ गोकुल जी में छाए राँमा, सुधि न लई घर-आँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की।।
ए दोऊ नेंन कह्यौ नाँइ मानें राँमा, घटा उठी ऐ जैसें साँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की।।
आप नहिं आए, खरच नहिं भेज्यौ राँमा, ए अँखियाँ तौ साँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की।।

२२

ए तिरबैनी गंगा, करि दै तू सबु दुख-दूरि, निस्तारिनि मैया, करि दै तू सबु दुखु दूरि।
जो जा गंगा जी ऐ भोरें ई गावै, सोंने कौ लोटा-झारी दाँतिन पावै।। तिरबैनी०
जो जा गंगा जी ऐ धौपर कूं गावै, खीर-खंड के भोजन पावै। तिरबैनी०
जो जा गंगा ऐ राति कूं गावै, तोसक-तकिया-गद्दा बिछावै।। तिरबैनी०

२३

गंगा जी कौ ब्याहु

कंठ सुरसुती-सुमिरि सहरि आँनंद मनाऊँ, मेरी मात-पिता डंडौत, सभा कूं सीसु नमाऊँ।
आपु बुद्धि परगट भई, गुरु-गन्नेस मनाइ, गंगा-ब्याहु सुनें जो कोई, सुनत पापु कटिजाइ।।
बन ते जंबू चलौ तीर-गंगा के आयौ, पाँनी पियौ अघाइ, कूदि गंगा में न्हायौ।
पूंछ मरोरै, सिर धुँनें, कर-मींड़े पछिताइ, देखि सरूप गंगा राँनी कौ जंबू गयौ ऐ लुभाइ।।
जब गंगा नें कही स्यार, तू बैंनु-बैंनु डोलै, तेरे मन में कहा आइ, नित हमसें[2] बोलै।
इमिरित लोक पाताल में, निकट बहूँ बैकुंठ, जौ तेरे घर भीतर जंबू, जाइ तू हमते कहै निसंक।।
तू तौ गंगा आँसी जँनम की मेरे अंतर जाँमी, मेरे मन में बसी बरूँ गंगा-सी राँनी।
गंगा तेरे कारनें मैंनें सबु धंनु दीयौ खोइ, कै तौ प्राँन तजूं ठाकुर पै, कै ब्याहूँ गंगा तोइ।।
जंबू भारी बन्यों मलूक काम अच्छे करि आवै, गाँम-साँमुईं[3] परै कालु जब तेरौ आवै।
बैठे चूतर टेकि कें तेरे कुल कौ जिही सुभाउ, करि ऊपर कूं थूथरी, देइ ऊकरी आइ।।
गंगा, जा नग्गर में जाउँ नगर की दुनियाँ मोहै, पाँनी-पींमन जाउँ देखि पँनिहारी मोहै।
लूलौ नाऊँ, लँगड़ौ नाऊँ, बने हात औरु पाँइ, हूँम सौ कुँमरु छोड़ि कें गंगा और बरौगी काइ।।
जंबू, सिब-संकर से जती, सीस-धरि उननें राखी, गंगा राज-कुँमारि, यार कहा तेरी दासी।
मोइ भागीरथ लै गयौ कुटँमु-उधारँन-काज, हूँम तौ बैठी भजंन करति ऐं, क्या ब्याहौगे स्यार? [4]

[1]. पाठां—हेरी आली। [2]. ते। [3]. सामुहीं। [4]. यह गीत अधूरा यहीं तक मिला है।

२४

सिबा मोरी माँनों साधूरा संन्यासी ।।

पूंजा मोरी मानों गनपति गुरु, ग्रौ खोलौ मेरे हिरदे का ताला जी ।

ग्रन्न चढ़ाऊँ देबा ग्रन्न ना ग्रछूतौ, ग्रन्न माँखी ने दिया है बिड़ाइ, सिबा मोरी० ।।

जल तौ चढ़ाऊँ देबा जल ना ग्रछूतौ, जल तौ मछली ने दिया है बिड़ाइ, सिबा मोरी० ।

फूल चढ़ाऊँ देबा फूल नाँ ग्रछूतौ, फूल तौ भौंरा नें दिया है बिड़ाइ, सिबा मोरी० ।।

२५

गरभु[१] कीयौ चंदा-सूरज नें हरी, जा के माँन गँहन[२] नें मारे ।
गरभु कीयौ जोइ हारचौ हरे ।।

गरभु कीयौ गंगा-जमुनाँ नें, ग्ररी जाके माँन परब नें मारे ।
गरभु कीयौ जोइ हारचौ हरे ।।

गरभु कीयौ बेटा की माँ नें, ग्ररी जा के माँन बहू नें मारे ।
गरभु कीयौ जोई हारचौ हरे ।।

गरभु कीयौ ऐ दूध-दही नें, ग्ररी जा के माँन जीभ नें मारे ।
गरभु कीयौ जोई हारचौ हरे ।।

गरभु कीयौ मायाबारे नें, ग्ररी जा के माँन चोर नें मारे ।
गरभु कीयौ जोई हारचौ हरे ।।

गरभु कीयौ बेटी की मा नें, ग्ररी जाके माँन जँमाई नें मारे ।
गरभु कीयौ जोई हारचौ हरे ।।

२५

तिरिया, तीनों पँन बिगरौगी, जौ तुम पति ते दगा करौगी ।

पैहले पँन तुम चील्ह बनोंगी, तिरिया ग्राधे-सरग उड़ौगी, जौ तुम० ।:

दूजे पँन तुम बनौ गधैया, तिरिया पराई गौंनि लदौगी, जौ तुम० ।

तीजे पँन तुम बनौ टैहलिनी, तिरिया करि-करि काँम मरौगी, जौ तुम० ।।

कथा-गीत

यहाँ कुछ ऐसे गीत दिये जा रहे हैं, जिनमें किसी न किसी कथा का वर्णन है। इनमें से ग्रधिकांश देवी के जागरण में गाये जाते हैं।

लव-कुश-जन्म

उड़ी बिहंगम चिड़ी जाइ सीता समझाई, जा बँन रही बिलखाइ कौंन की नारि कहाई ।

कौंन पुरख की नारि कहा तो पै बनि ग्राई, जा बँन दई ऐ निकारि ।।

जब सीता नें कही बिपति की कहियों जाई, बर पाए रघुराइ ग्रजुध्या ब्याही ग्राई ।

जसरत-बहू, जनक की बेटी, राँमचंद की नारि, बिनई खूँन ग्रमूरख कंता, जाबँन दई निकारि ।।

तू तिरिया बड़ नारि बचनु एक मेरौ लीजै, बाल-जती बँन रहें, सरँन उनकी जाइ लीजै ।

मोइ कहत ग्राबै नहीं तोइ मारग देउँ बताइ, काऊं दिनाँ राँमचंद जी, तेरे करें निहोरे ग्राइ ।।

ग्रागें बिहंगम चिड़ी पाछें ते सीता राँनी, बनखँड पोंहची जाइ जहाँ तपसीनु की सारी ।

तपसी बैठचौ भजँन पै धरि ठाकुर कौ ध्याँनु, सीता सरकि मढ़ी में बैठी खेंचि ग्रापनी ग्राँनि ।।

धरि ठाकुर कौ ध्याँनु, मढ़ी के जौरें ग्राए, फिरि ग्राए चहुँग्रोर मढ़ी कौ द्वार न पाए ।

ठाड़ौ तपसी यों कहै मेरे सिला जु बसकी नाँइ, ऐसौ बली ग्रब कौ घुसि ग्रायौ लींनी मढ़ी छिड़ाइ ।।

[१]. गर्व । [२]. ग्रहण ।

बाबा, बँन में लीयौ जनम, आजु अजुध्या में होते, देते दिरब लुटाइ लछिमँन देवर होते।
लाख बुरी मेरी भगनी-नँनदुलि धरति साँतिए द्वार, ऐसे में कौसल्या होतीं गाँमतीं मंगलचार ।।
बालजती नें कही, सुनों मेरी सीता बेटी, निधरक बैठी रहौ कहूँ ना बिन ते खोटी।
कहै धरवाऊँ सातिए, कहै तौ मंगलचार, कै निसाँन घुराऊँ बेटी, तपसीन के दरबार ।।

२

सीता-ब्याहुलौ

कंठ सुरसुती-सुमिरि प्रेम आँनंद मनाँमें, जौ गुरु अग्या देइ, कै हरि के गुन गाँमें।
आँन बुद्धि परगत[१], भई, गुर-गन्नेस मनाइ, सीता-ब्याह राँम की चरचा जाँमें हर-जसु कहूँ बनाई ।।
राजा अपने नाँम, जँनकपुर-गाँम बसायौ, सीया लियौ औतार पिता कौ नाँमु चलायौ।
चारचौ कोंने झारि कें लीप्यौ चौका लियौ बनाइ, दै रूमाल मगँनं भई राँनी म्वाँ हँसै जँनक तेरी नारि ।।
राँनी-राजा बैठि बोलि एकु मतौ कमायौ, अपु कूँ मूढ़ा डारि, राज कूँ पलँग नबायौ।
आजु की बात कहा कहूँ राजा, अतरज[२] मेरे गात, परसराँम कौ बाँनु[३] कुँमरि नें धरचौ एक ई हात ।।
जब राजा नें कही मोइ परतीति न आवै, जे बेटी चौका देइ बाँन कूँ फेरि उठावै ।
परसराँम के बाँन कूँ सीया लावै अधर उठाइ, जो कोई बाँन सभा में ताँनें मैं सीया ऐ दुंगो ब्याहि ।।
राँनी, कहा ओस कौ नीरु, कहा बादर की छाया, कहा ओछे ते प्रीति, कहा सपने की माया।
सपने साँचे ना भए मेरी राँनी राज-कुँमारि, परसराँम कौ बाँनु उठै नाँ जे तीन लोक कौ भारु ।।
राजा जे सपने की नाँहिं, कहूँ मैं आँखिन देखी, लीयौ बाँनु उठाइ कुँमरि तेरी सीता बेटी ।
सीता सत की आगरी, बित की कही न जाइ, तीन लोक कर पै धरि राखे, कुँमरि तेरी मंदमंद-मुसकाइ ।।
राँनी, कोंन कूँ टीकौ करूँ कोंन बर ब्याहँन आवै, राजा, घर-बर लेउ पैहचाँनि जाँनि बर समरथु ढूंढ़ौ ।
सिया भई बर-जोग, ब्याह बर मारग भेजौ ।।
सिया संत-गुन-आगरी भई ब्याह संजोग, जुरि-मिलि मतौ करौ मैहलँन में सबु, राजु जँनक कौ लोगु ।।
राँनी, कोंन कूँ टीकौ करूँ कोंन बर ब्याहन आवै ? बड़े भूप कौ पूत फेरि माता ना ज्यावै ।
आगें साह्यौ[४] सूझतु नाँएँ, सीया भई बर चूक, घरई बैठे बोलि लुंगो सब देब, सकल मुनि, भूप ।।
राजा, करचौ जग्य कौ ठाटु भूप सबु नौंति बुलाए, देस-देस के भूप छोड़ि सिंगासँन[५] आए ।
तीन लोक चिट्ठी फिकी, सब देबनु माँनी आँनि, उँमहे कटक, छए दल-बादल म्वाँ जँनक तिहारे गाँम ।।
आगे बेखामित्र[६] पाछें ते लछिमँन बारे, जे दोऊ आए बीर, लगें सबु देबँनु प्यारे ।
जोगिनु पै मृग-छाला कहिऐं, सोभा कही न जाइ, पहुँचे निकट जँनकपुर-गौंड़े[७], जोति दई छुड़काइ ।।
जुरि आए सब भूप बाँन के सँनमुख धाए, साठिक जोधा गए बाँन के जौरें आए।
कठिन बाँन गंभीर कौ कबु लाए अधर उठाइ, उतरि गयौ जोबँन कौ पाँनी सबु भूप गए कुँम्हिलाइ ।।
जौ जूं न आए दोऊ बीर, बाँन किनऊं नाँ ताँन्यों, बीस भुजा, दस सीस, गरबु राँमन कौ भाँन्यौ ।
असलि जीब संचै परचौ, कठिन बाँन गंभीर, सुनतई पैज सूखिगौ राँमनु म्वाँ ढरचौ नेंन ते नीर ।।
जब मंदोदरि कहै सुने राँमन बलदाँनी, सेज सुकँन गए भूलि संखि[८] तैनें कोंन की माँनी ।
जल-बिन कमल, तेल-बिन बाती, तलपि-तलपि बुझिजाइ, कोंन की संखि करी पिया राँमन, तेरौ बदँनु रह्यौ-कुँम्हिलाई ।।
जबु राँमन नें कही, सुनों मंदोदरि राँनी, रुपी जँनकपुर पैज, संखि मैंने म्वाँ ते माँनी।

१. परगट। २. आश्चर्य। ३. प्रसिद्ध शिव-धनुष के स्थान पर यहाँ परशुराम का बाण हो गया है। लोक-मानस शिव-धनुष के लिए परशुराम की व्यग्रता का समाधान नहीं कर सका, अतः शिव-धनुष के लिए परशुराम का बाण हो गया। ४. सायौ, साह्यौ विवाह का दिन। ५. सिंहासन। ६. विश्वामित्र। ७. पार्श्व। ८. शंका, आशंका, भय।

जोधँन आगें बाँन पर्यौ, घर बैठि रह्यौ नाँ जाइ, तँनिऐ[1] नाँइ भुजा बीसँनु ते, मेरौ मरँमु भरोसौ जाइ ।।
बलँम, बिरध रे भए, बुद्धि ओछी वनि आई, मुखते निकरै बात, छिनक में होइ पराई ।
मैं तोते ऐसी कहूँ सुनि बिसवा के वंस, कूमकरँन[2] कूं भेजि दीजों, तुम घरई रहियौ कंत ।।
कूमकरँन से बली काँम मेरे कब-कब आए, कब के काँमी भए, काँम मेरौ सर करिलाए।
बार-बार मेरें को कहै रानी, बचँन कहूँ समझाइ, तेरौ कहन्यों करुंगो तिरिया व्वाई ऐ देउ खँदाइ ।।
कूमकरँन रहे टेरि कंठ ते कंठ लगायौ, व्वाकी ठोकी पीठिं नेंन राते करि लायौ ।
ऐसे बाँन बहुत घर मेरें, खेलत निपन अजाँन, खंड-खंड करि देंउ बाँन के मोइ बिरप[3] की आँनि ।।
कूमकरँन से बली जाइ के दल में दाले, हातेंनु छीयौ नाँहि चरँन ते बाँन निहारे ।
बैठि गयौ धरनी में जोधा, इत-उत करिकें घूरि, औरु बाँन के धोकें डोलै बाँन रह्यौ जर पूरि ।।
आजु कहा सो हरि पै धँनुष तनें नाँ, जिन पै धँनुष तनें नाँ जे दोऊ बारे जी ।
देस-देस के भूपति आए लंबे परे बिछौंना, बेस्वामित्र संग गुरु जिनके जे आए जसरत जी के छौंना।
जिन पै धँनुष तँने नाँ, जे दोऊ बारे जी ।।
पीतंबर की कछनी काँछें हातँन में कड़े मुरेंमाँ[4], माँथे मुकटु खौरि चंदन की स्याँम-बरन हरि के दोऊ नेंनाँ ।
जिनपै धँनुष तनें नाँ, जे दोऊ बारे जी ।।
कहति सुनेंनाँ सुनि मेरी भेंनाँ, जादू चलै न टोंनाँ ।
जौ आजु हरि पै धँनुष न टूटै, मरूँगी जहर-बिसु खाइ मेरी भेंनाँ—दोऊ बालक ऐं ।।
इतनी सुनि कें लछिमँन बोले, ठाकुर हुकमु करौ नाँ ।
तुलसी दास आस रघबर की तोरि धँनुष द्वै टूंक करौ नाँ ।।—जिनपै धँनुष तनें नाँ, जे दोऊ बारे जी ।।
राजा माला लेउ मँगाइ जोरि सीया ऐ गहाऔ, जापै देगी डारि कुँमरि ज्याई[5] कूं ब्याहौ ।
भरे कटक में सीया डोलै, नजरि नईं ठहराइ, देखि रूप लछिमँन बारे कौ दई राँम पै डारि ।।

३

जगदेव कौ पमारौ

जग्गि[6] रची रँनधौर-भूप, सबु नौंति बुलाए, देस-देस के भूप आइ धारा-तँन छाए ।
बाँमन गढ़ चिट्ठी फिकीं सबु भैया लए बुलाइ, जगरदेव सौ भैया छोड़्यौ, जाइ रही खबरि हुति नाँइ, सीस देवी रहै ।।
सगु भैयनु जुरि कही बचँन एक माँनि हँमारौ, भैया ऐ लेउ बुलाइ जग्गि में होइ सहारौ ।
सौ सोती एकु गोत कौ मेरी सुनि भैया रनँधौर, ऊँच-नींच तोतें है जाइगी, बे करें और ते और, सीस देवी रहै ।।
नाऊ दियौ खँदाइ मैहँल जगदेव के आयौ, सुनि दादा जगदेव, कुँमर तो कूं नोंतौ लायौ ।
पाटमदे[7] डोला सज्यौ करि सोलह-सिंगार, पाटमदे और कुँमर जगदेव पहुँचे जग्गि-मँझारि, सीस देवी रहै ।।
डोला में ते उतरि पाँउ मैहलँन में दीयौ, दीबलदे[8] मुख-मोरि नाँइ जाकौ आदरु कीयौ ।
मैं तौ बैठीं भजँन पै मेरौ देवर लिपट अजाँन, जग्गि रची रँनधौर-कुँमर नें मेरी पति राखौ भगमाँन ।।
आधी राति मौंहड़ौ ढक्यौ, रोंमति अनी-अनी भाँति, धारा तौ नगरी पँमार की ।
बोलै, या कौ बेटा न्यों[9] कहै, मेरी सुनि लै माता बात, धारा तौ नगरी पँमार की ।।
माता, कै काऊ नें गारी दई, कै काऊ बोले बोल, धारा तौ नगरी पँमार की ।
बेटा, ना काऊ नें गारी दई, ना काऊ बोले ऐं बोल, धारा तौ नगरी पँमार की ।।
बेटा, मैहल गईं रँनधौर के म्वां मोते बोले बोल, धारा तौ नगरी पँमार की ।
सुनि री माता, बात कहौ जोई करि डारूं, मारूंगो रँनधौर राज धारा कौ पाऊं ।।

[1]. तनें कै। [2]. कुंभकर्ण। [3]. निरप—नृप। [4]. मुरेंमाँ—मुड़े हुए। [5]. जाई। [6]. जागि—यज्ञ। [7]. जगदेव की माँ। [8]. रनधौर की माँ।

मारूँगो रँनधौर-कुँमर कूँ गादी पै परभात, दीबलदे और लरिका-बारे, मैं करि दऊँ बारह बाट ।
अरी माता, दाँत-खुरपिया, जोरि कें, एक छोटी-सी गढ़ाइ दै सांग ।।
बेटा, नाँइ बाँने कीनीं लाँमनी, नाँइ ब्यानें की ए नराव—धारा तौ नगरी पँमार की ।
अरे बेटा, तेरे पिता की तोप ऐ, बु धरी ऐ लखैरी बुर्ज ।।
न्याँते मेरौ राजा चलि दयौ कोई साहिर गहि लई गैल, इढ़ियनु-सिढ़ियनु चढ़ि गयौ दै-दै भँमर कलीन में पाऊँ ।
सैरी ऐ भँमानी हिंगुलाज की, जाकी बैठी ऐ भुजँन पै आइ ।।
हातु लगाऊँ मेरौ सिरु नवै, मेरी पति बाँने की जाइ ।
ठोकर मारी दाँए पाँइ की, तकुआ सी लई ऐ उठाइ, देदी ने साँग बनाई ।।

लुहार का वृतांत

तयौ-कठौटी बेचि कें चलि अंत करिग्गें गुजराँन ।।

जगदेव रनधौर के यहाँ जाता है।

भाई मेरे, सगु भैयँन कूँ रमरमी,[1] भैया कू सात सलाँम ।
बैठे ऐं सहेली गंगा-पार के, जिनकी नगिन धरी ऐं तरबारि ।।

साँग का गाड़ना-उखाड़ना ।

पनघट पै हाती लड़ैं, हातिन कौ करि दै बीच, धारा तौ नगरी पँमारकी ।
भैया, कै मारूं तरबारि ते कै फेंकि दऊँ असमाँन ।।
भाई, मारे ते मरि जाँइगे न्योंई मालु पिता कौ जाइ, धारा तौ नगरी पँमार की ।

उन दोनों का पिता अनबोला राँनी के यहाँ बँधा था। अब जगदेव छुड़ाने को चलते हैं।

माता, हम तौ जात परदेस कूँ, फूलँमदे की लरजा तोइ ।
बेटा, मूर ते प्यारी ब्याज ऐ, कोई तोउर ते प्यारी तेरी नारि ।।
बेटा, राजु बुरौ ऐ रँनधौर कौ, तू तौ लैजा संग लिबाइ ।

फूलमदे इंद्र से

दै परिकंमा खेरे खूंट की नवि-नवि करत सलाँम ।
जींमत रहिग्गे फ़ेरि मिलिग्गे, नरबर कोट जुहार ।।
घोड़ा भींजें, तंगु चुगै, भीजति जींन लगाँम ।
तिहारी तौ भीजै सूई पगड़ी, मेरी रँगु चूँनरि कौ जाइ ।।

८४

अमरसिंह कौ साकौ

सारद माइ सुरत करि गाऊँ, गुरु-उस्ताद मनाऊँ ।
पंच पीर और सबै औलियाँ, सबई कूं माँथौ नाऊँ, खेरे की चाँमुंडी माता, पहिलें तोइ मनाऊँ ।
बीरा-बतासे और रेबड़ी, हरि की भेंट चढ़ाऊँ ।।

❀

अमरसिंह नें कियौ पँमारौ, कहौ तौ गाइ सुनाऊँ ।।
कहाँ तें उनिपन्नि भई, कहाँ ते भई ऐ लड़ाई । दीघ सैहैरु उतिपन्नि भई, आगरे ते भई ऐ लड़ाई ।।
काए की तेरी बँनी कचैहरी, काए कौ बँगला छायौ ।
कंचन की तेरी बँनी कचैहरी, कंचनु-काटि लगायौ ।।
बिसकरमा[2] तेरी सोभा बरनी, ढिंग-ढिंग पदँमु लगायौ ।
ढिंग-ढिंग पदँमु लगाइ कि बँगला पाँनन ई तें छायौ ।।

[1]. राम-राम । [2]. विश्वकर्मा ।

जल में खंभु, खंभ में जलहल, जाँमें कमँलु बिराजै ।
जगमग जोति जरै ठाकुर की, सिकिलि घिड़ाघिड़ु बाजै ।।
काऊ नें लादी लौंग-सुपाड़ी, काऊ नें लादी गाई ।
कबिरा लादी राँम-नाँम, बैकुंठ की गादी पाई ।।

❀

बास्याइ निकरि तखत पै बैठ्यौ, सबु उँमराइ बुलाए ।
सबु उँमराइ नजरि भरि देखे, अमरसींग नहिं आए ।।
बारह हजारी, तेरह हजारी, बेऊ तौ मुजरे कूँ आए ।
सत्तरि खाँनि बहत्तरि उँमरा, बे मुजरे कूँ आए ।।
चुगल-खोर कौ चुगलई खाई, तेरौ अमरसिंग काए कौ राउ ।
तेरे मुजरें आवै नाँ जाइ, बाईस परगने बैठ्यौ खाइ ।।
द्वै दगरे दिल्ली के खाइ, सब अगरे की चौधर खाइ ।
गाँम जोधपुर बैठ्यौ खाइ, सुनि कें बास्या गयौ रिस्याइ ।।
राउ अँमेड़ौ करै जुबाब, है कोई मेरौ उँमराइ ।
'चोबदार कूँ लियौ बुलाइ, सुनि रे चोबा मेरे ज्वाब ।।
ऐंदी के कूँ जल्दी लाउ, ज्यों बैठ्यौ त्यौंई लै आउ ।
चोबदार कौ भाज्यौ जाइ, ऐंदी के डेरेंन पौंहृच्यौ जाइ ।।
चोबदार कौ करै जुबाब, सुनिरे ऐंदी मेरे ज्वाब, यादि कियौ बास्या-दरबार ।।
ताते से पाँनी ऐंदी न्हाइ, न्हाइ-धोइ कें हूँगौ त्यार ।
सबजा घोड़ा लियौ-सजाइ, जींन सुनैरी धरी जमाइ ।।
मुहरौ, पट्टौ, लगाँम चढ़ाइ, धँमकि भयौ ऐंदी असबार ।
गलिअँनु-गलिअँनु ऐंदी जाइ, ऐंदी कौ सबजा नाँचतु जाइ ।।
नाँचतु जाइ और कूदतु जाइ, चौक-चाँदनी झुलम्यौं जाइ ।।
चोबदार कूँ भेजि कें जानें ऐंदी हाल बुलायौ ।
करी सलाँम धस्यौ भीतर कूँ, दरबाजे पै आयौ ।।

❀

राउ अँमैड़ौ करै जुबाब , है कोई मेरौ उँमराव ।
जोई मँगाऊँ जोई लै-लै आउ , कौरौ-सौ कागदु लियौ मँगाइ ।।
दबात-कलम-स्याही मँगबाई, धौरे पै रुक्का धर्यौ बनाइ ।
पहलें लिखि दई राँम-राँम, दूजें लिख्यौ खुदा कौ नाउँ ।।
तीजें लिखिदई बुरी काइ, चौथे कूँ लिखि दई सात सलाँम ।
पाँचएँ अमरसींग धरे बनाइ, लिखि परमानों दियौ गहाइ ।।
लै रे ऐंदी जोधपुर जा, अमरसिंग कूँ जल्दी ला, ज्यों बैठ्यौ त्यों ईं लै आ ।।
जब ऐंदी कौ करै जुबाब, अमरसिंग भारी सिरदार ।
मेरे कहे कूँ माने नाँ, ढिंग ते जँमदरि देइ चलाइ ।।
मेरे सीस कूँ लेगौ काटि, मेरी खलरी डारै कटबाइ, खाल-काढ़ि भुस दे भरबाइ ।
राइ अँमेंड़ौ करै जुबाब, एकु रुक्का हम पै भिजबाइ ।।
सब तनु पलटनि देउ सजाइ, दारू-गोला देउ भरबाइ, तोप पै तोप देउ जुतबाइ ।।
पाँच तोप और बारह हाती, हजरत हाल खँदायौ ।
हुकँम भयौ बास्याइ कौ, जब राठौरी बुलबायौ ।।

तातें पाँनी धरी ततेंरा, मलि माँथे ते न्हायौ ।
पीतंबर की करी धोबती, सूरज-ध्याँन लगायौ ।।
सबा पैहैर सुमिरँन करचौ, जल सूरज ढरकायौ ।
मलियागिरि ते चंदनु लायौ, घिसि-घिसि अंग लगायौ ।।
हीरा पाँडे तपै रसोई, महाराजा जेंमन आयौ ।
पैहलौ ग्रास दियौ धरती कूँ, दूजौ गऊ चढ़ायौ ।।
तीजौ ग्रास दियौ कुत्ते कूँ, चौथौ राँम चढ़ायौ ।
पाँच ग्रास किए राजा नें, थारु परें सरकायौ ।।

❀

हीरा पाँडे थर-थर काँपै, राजा ऐ अन्नु न भायौ ।
कै तौ मेरी कची रसोई, कै रही दारि अलोंनीं ।।
नाँइ पाँडे तेरी कची रसोई, नाँ रही दारि अलोंनीं ।
अंमखास पै भीर परी, म्वाँ पेट भरें नाँ होंनी ।।
हिंदू पारें तीतरु मैंना, मुसलमान घर दूती ।
बैठि रहूँ दरबार ते मेरी, डूबि जाइ रजपूती ।।

किसुनाँ नाई लियौ बुलाइ, अमरसींग हँसि-हँसि बतराइ, मैं तोइ लै चलूँ संग लिवाइ ।
किसुनाँ नाई करै जुबाब, मैं तौ तिहारौ तावेदार, मारौ चाँहें छोड़ौ सरकार ।।
राउ अँमैड़ौ करै जुबाव, पाँचौ कपड़े लाउ निकारि ।
लाओ पाँचौ जल्द हतियार, हनि-हनि राजा बाँधै हतियार, घोड़ा तीन लए सजवाइ ।।
लीलौ बछेरा लीलौ तंग, बाँधि दई सोंने की जंग ।
मखमल-फूल सुनहरी जींन, ऐसे सजे बछेरा तींन, अमरसिंग के पैंने तीर ।।
हुकमु अमरसिंग दियौ सुनाइ, घोड़ँन बीर भए असबार ।
न्याँऊ ते राजा चलतौ जाइ, मंजिल-मंजिल राजा जाइ, किले-आगरे पहुँचे जाइ ।।
दरबाने पै पहुँच्यौ जाइ, दरबनियाँ ते करै जुबाब ।
सुन दरबनियाँ मेरे ज्वाब, दरबनियाँ दरबाजौ खोलि ।
मोइ बास्याइ ते मिलने दै, मोकूँ पल-पल होइ अबार ।।
जब दरबनियाँ करै जुबाब, सुनि रे राजा इस[1] गँमार ।
दरबनियाँ की सुनिकें बात, अँमरसींग ने दींनी लात ।।
अमरसिंग ठोकर किले लगाइ, नाई के किसुनाँ कूँ घोड़ा सोंपि गयौ बलदाइ ।
कसी कमरि तरबार, साह की कुलसि[2] नहीं बजाई ।।
बादस्याइ के पास जाइ पाजी यों चुगली खाई ।
देखौ तौ सिरकार बंदिगी तक भी नहीं सुनाई ।।
बाँधि ढाल-तरबार आप के जौरें ठाड़ौ आई ।
अमरसिंग कूँ बड़ा गरूर, जाकूँ दैनी सजा जरूर ।।
सुनी सलाँमत खाँ की बात, मींड़ौ बास्या दोऊ हात ।
सात लाख जुरमाँनों लेउ, नईं तौ होल जेल में देउ ।।
इतनी सुनीं सँलामत बात, फूल्यौ नहीं जु अंग सँमाइ ।
राठौरी के कितनौ जोर, देखूँ तेरी आजु मरोर ।।

[1]. हेच । [2]. कुन्नस ।

हुकमु बास्या दीयौ मोड़, आजु जेल में दुंगो तोड़ ।
सात लाख जुरमाँनों देउ, नहीं तौ ठाँसि जेल में देंउ ।।
सुनीं सलाँमत खाँ की बात, अमरसींग कौ जरि गौ गात ।
इतनी कहीं खेंचि तरवारि, मीयाँ जी की काटी नारि ।।
मीयाँ ऐं मारि चल्यौ रजपूत, नाऐं परति गुसा की कूत ।
बास्याइ के जौरें जाइ, कहँन लग्यौ ऐसें समझाइ ।।
बादस्या लेउ ल्हास सम्हारि, परचौ ऐ सारौ गाँड़ि उठाइ ।
देखि पँमारौ अमरसींग कौ, बादस्याइ घबड़ायौ ।
छोड़ि कचैहरी रँनमासँन में, पास हुरँम के आयौ ।।

(५) सरमन[1]

कास-बास दोऊ अँधा बसें, अमर-लोक नाराँइन बसें ।
अँधी कहति अंध ते बात, हँम-तुम चलें राँम के पास ।।
कहा राँम हरि तेरौ लयौ, रूकुँ न बालक हमकूँ दयौ ।
बालक देउ भलौ-सौ जाँन, मात-पितँन की राखै काँन ।।
नाँइ मेरी कंधा नाँइ मेरी गोद, पूत सरकनों कहाँ ते होइ ।
पहले माँचे मंचे नीर, दूजें कला पलटि गए खीर ।।
तीन माँस तिरबेनीं रची, चौथे माँस गरब में परी ।
पाँच माँस पँव अँगुरी रची, छठए माँस मुकलाँने केस ।।
सात माँस संतोसी होइ, औरु आठ माँस कौ जीवै न कोइ ।
जीवै तो बलधारी होइ, औरु बड़ नछत्तरधारी होइ ।।
नौए माँस दुनियाँ संसार, दसए माँस सरमँनि औतार ।
ज्या दिन सरमँनि बेटा भए, भैंनि-भाँनजी मंगल कहे ।।
कोरें सींक-साँतिए धरे, भैंन-भाँनजी तीअरि दईं, ब्राह्मँन कूँ गायँन के दाँन ।।
दिन-दिन बालक बढ़बे लगे, मात-पिता-कुल प्यारे भए ।
बर्सु दिनाँ के सरमँनि भए, धरती माता जाँनि गई ।
दोई बर्स के सरमँनि भए, जब चंदा-सूरज माँनि गए ।
तीनि बर्स के सरमँनि भए, जब तीन्यों लौकनु माँने गए ।।
चारि बर्स के सरमँनि भए, पाँचो पंडनि जाँनि गए ।
छैई बर्स के सरमँनि भए, जब छटे नराँइन माँनि गए ।।
सात बर्स के सरमँनि भए, जब सातों समंदुर न्हाबे गए ।
आठ बर्स के सरमँनि भए, जब अष्ट कुली नागँन नें लिखे ।।
नौई बर्स के सरमँनि भए, जब नौऊ नाथँन जाँनि गए ।
दसईं बर्स के सरमँनि भए, लै पोथी ब्रह्मा-घर गए ।।
ब्रह्मा बचन कही दोइ-चार, बिद्या देऊ अरथ-बल-धार ।
खेती करें न बंजी जाँइ, बिद्या के बल बैठे खाँइ ।।
ग्यारह बर्स के सरमँनि भए, जब बिद्या में भरपूरँन भए ।
बारैं बर्स के सरमँनि भए, गज-घोड़ँन पै पाखर परे ।।
खेलँन पूत कुँनज बन गए, कुँज-सरवा उठी धराइ ।

[1]. श्रवण कुमार,—यह गीत सावन के महीने में कुछ विशेष व्यक्ति गा-गाकर भिक्षा माँगते हैं ।

कुलँग राजा पूछै बात, कोंन तेरी माता कोंन तेरौ पिता।
कोंन राज में है नँनसार, मात-पितँन के नाम बता।।
तुम कूँ बर दें साँमिल नारि, अँनसुख माता धँनसुख पिता, रघबसीन में है ननसार।
आक-ढाक के सँमद मँगाई, हरे-हरे पातँनु मंडप छाई।।
कुलँग राजा टीकौ करै, सरमँनि के मुख बीरा भरै।
आक-ढाक के समँद मँगाइ, हरे-हरे पातँनु मंडप छाइ।।
केरन के दए खंभ लगाइ, सुरै गऊन के घीअ मँगवाइ।
हवनकुंड दीए भरबाइ, घरई के ब्रह्मा लए बुलबाइ।।
बिरमा दी बारक पढ़ै भैमाता ग्वाँ मंगल करै।
कुलँग राजा टीकौ करे, सरमँनिसुत की भाँमरि परै।।
ब्याह बरनि बुड निच्चू भए, भाँटनु कूँ ज्याँनें गौंडा दए।
डोंमन कूँ हाती दै दए, बिरमन कूँ गाइन के दाँन।
और डोला में बैठारी नारि, ब्याह-बरनि गल[१] लाए नारि।।
जब लग तिरिया आनें लही, सासु-सुसर के कहनें रही।
ज्यों-ज्यों तिरिया स्याँनी भई, त्यों-त्यों सीख बिराँनी लई।।
जब तिरिया है गई बर-जोग, झुकि बोले सरमँनि ते बोल।
सुन लै पीया, सुनि भरतार, ज्याइ कहूँ ज्याइ मानें आज।।
कहदै तिरिया जो मन होंइ, सोंने कौ हार गढ़ाइ दउँ तोइ।
कहा माँगूं कहा देउगे धँनी, कोंन बात मैहलँन में कमी।।
अन्न-धन्न ते सब दिन सुखी, दोइ पुरिखँन नें कल्लई दुखी।
समिया-रातें खों-खों करें, भरि अँगना में थूकें भरें।।
सौतेली बुढ़िया ज्ये मरिजाइ, सौतेला बुढ़रा ज्ये मरि जाइ, जिते सैंहैज फंदु कटि जाइ।
मोई लै चलौ मेरे प्योसार, मेरे पीअर खार-बखार, बैठे पीया खेलौ सार।।
कँमरि कोंदनी दऊँ गढ़बाइ, नारि ढोलनाँ दऊँ बनबाइ।।
कोठे-ऊपर अट्टा करूँ, मुँआई बलम मैं न्यारी रहूँ।
चुपरी फुलकियाँ पै-पै धरूँ, धोबा दारि उर्द की करूँ।।
जेंओं करूँ जिमायौ करूँ, और भरि-भरि हुक्का प्यायौ करूँ।
भरि-भरि बेला दूध के देंउँ, कुठिला ते मोंटौ करि लेंउँ।।
ना पीवै दोइ गुल्चा देंउँ, मुमुरिहा[२] तोइ बस में करूँ।
जब सरमँनि नें दयौ जुबाव, चुप्प रे तिरिया लच्छि गँमार।।
मा-बापँन कौ कोंन हवाल, अंधी मैया धुरबल[३] पिता।
जौ गारूँ मैं अंधी माइ, पीयौ दूध बाद है जाय।।
जौ त्यागूँ मैं धुरबल पिता, तीनि लोक में ठौरु जु नाँइ।
नाँइ मारी नाँइ गारी दई, फूलि नारि कुप्पा है गई, रूठि नारि अट्टा चढ़ि गई।।
मूँगा बाँदी लई बुलाइ, रंग-मैहल में दीपक बारि, गोधन पुरजा लिखै बनाइ।
पहलें लिखे श्री भगवान, जा पीछें कुँम्हरा कौ नाँम।।
कुँम्हरा कहूँ कै देबर-जेठ[४], एकु करि हँडिया द्वै करू पेट, पाँच टका कोरचा के लेउ।
लिख पुरजा बाँदी कूँ दयौ, बाँदी नें डारि जब में लयौ।।

[१]. घर। [२]. ग्वाँ—वहाँ। [३]. दुर्बल। [४]. पाठां०—कुँम्हरा के मेरे देबर-जेठ।

कुँम्हरा के घर पौंहची जाइ, कुँम्हरा ऐ परचा दीश्रौ गहाइ, कुँम्हरा बाँच खुस ह्वै जाइ ।
कुँम्हरा कौ बू चतुर सुजाँन, लै बैठचो हँड़िया कौ ग्याँन ।।
गोंदा ग्वानें लयौ बनाइ, पीट-पाट कियौ तैय्यार ।
पाँनी कौ पौचारौ दयौ, बीच में श्राढ़ौ पर्दा दयौ ।।
ठोकि-ठाकि म्हौंड़ौ करचौ एक, नैंक फरैरी हँड़िया भई, दंमका-दंमाँ बीतन लगी ।
दाबि कुँम्हरिया मैहलँन गई, कैसें धसूं महल के बीच, राजँन कें पर्दन की रीति ।।
मूला बाँदी लई बुलाइ, रंग मैहल में हँड़िया जाइ ।
जब चातुरि के श्रागें धरी, चातुरि देख मगँन ह्वै गई ।।
कर्तबहारी नें करतबु करे, छींकत चौका बर्तन धरे, छींक सौति मेरौ कहा करि लेइ ।
कै साँमल कौ जियरा नाइ, डुकरी-डुकरँनु लेउ लुढ़काइ ।।
एक में राँधी निरमलि खीरि, एक में घोरि महेरी धरी, निरमलि खीरि ग्वाकौ बलमाँ खाइ ।
खट्टी महेरी दुंश्राँ कौ तेलु, जे बाँध्यौ पुरिखँन कौ नेगु ।।
खाइ लेउ बुढरा रेलँम-पेल, कबऊ न चले तुम्हारे पेट ।
खात-पीत दिन भौतक भए, मरिबे के दिन सातक रहे ।।
सरमँनि फूलि कुठीला भए, तिरिया फूलि गोंनि ह्वै जाइ ।
एक दिन सरमँनि पूछै बात, कैसें पिता धुरबले गात ।।
जब श्रंधा ने दीश्रौ जुबाब, कछु दुख मति पूछै मेरे लाल ।
जा दिन बिहा तुम्हारे भए, श्रादर-भाव मैहल तें गए ।।
जा दिन श्राइ गई साँमलि नारि, कबऊँ न खाई खीरि श्रघाइ ।
सरमँनि नें तब दयौ जुवाब, एकई तिरिया एकई नारि, एकई नारि परोसँन हार ।।
एकई नारि मैहलँन में रही, तोकूँ दूजी को करि गई ।
जब श्रंधे नें दयौ जुबाब, साँचौ ऐ तू सरमँनि लाल, हँम दोंनों झूंठे सिरदार ।।
इक दिन बेटा करनी करै, जब लाला तोइ मालूम परै ।
इक दिन सरमँनि परचौ लेइ, काढ़ि दूध मैहलँन में देइ ।।
खिरक दुहाइ लईं तीसों गाइ, माँट भरे मटुका भरवाइ ।
टेब न छूटे बाँनि न जाइ, कुत्ता मूंतै टाँग-उठाइ ।
दुहरे चटुश्रा दए जमाइ, सरमँनि पोंहचि पिता पै जाइ ।।
एक कंधा पै श्रंधी माइ, एक कंधा पै धुरबलि पिता ।
मैंहलँन में जब दए उतारि, चंदन-चौकी दई जमाइ ।।
जब भोजँन ह्वै गए तैयार, श्रपनों थारु मातु कूँ दयौ, दूजौ थारु श्राप लै लयौ ।
चल्हे ते घूंनाँनी नारि, श्ररे बलम तेरौ कहा सुभाउ ।।
श्रपनौ थारु श्राप लै लेउ, जिनें के थारु जिनें दै देउ ।
जौ श्रंधनु कौ झूंटौ खाउ, तुमऊं बलम श्रंधे ह्वै जाउ, त्याई श्रँध लकड़ियाए को लै जाइ ।।
इतनी बात डुकरिया सुनी, लेहा-लेहु खीरि की करी ।
जुग-जुग जीश्रौ सरमँनि पूत, बारैह बर्स में खाई ऐ खीरि ।।
मारि गुस्सा के सरमँनि ज्वाँन, खूंटी खेंचि दुधारा लयौ ।
तिरिया मारन कूँ चलदयौ, जब बुड्ढे ने पकरचौ हात ।।
मति मारै मति गारी देउ, तिरिश्रा मारें लगै श्रपराधु ।
ज्याके पीहर रच्यौ ऐ बिभाउ, ज्याइ करि श्राश्रौ ज्याके प्यौसार ।।
पीहर की उदमाँदी नारि, पति ते पहलें ह्वै गई त्यार ।

कारे डोला कारे कहार, कारे बानें दए पैहराइ, लील के काँटे दए लगाइ।
डोला में बैठारी नारि, आपु भए घोड़ा असवार ।।
इक बन नाँखि दूसरे नाँखु, तीजे बन में बिकट उजार ।
उतरौ तिरिया राज-कुँमारि, ज्याँ आइ गयौ निहारी प्यौसार ।।
डोला में ते देखै नारि, जानति ऊँ बलमा भरतार, ज्याँ कैसी मेरी प्यौसार।
अबकें लै चलौ सँग लिवाइ, मात-पितँन की सेवा करूँ, दानों-दरिया दरियौ करूँ।
इतनी बात सरमँनि नें सुनी, म्वाँ लातँन की मारें दई ।
नाँक काटि नकटी करि दई, कंभ कुढ़ारी सरमँनि धरी, जाइ काटी चंदन की भिरी ।।
चंदन बिरबा लियौ झुकाइ, खेंचि-खाँचि खाती के द्वार ।
खाती के मेरे चतुर सुजाँन, काँबरि गढ़ि दै जुग परमाँन ।।
काँबरि गढ़ि दै चितम-चित, मात-पिता बैठें निहचिंत ।
बढ़ई कौ वौ चतुर सुजाँन, लै बैठ्यौ काँवरि कौ ग्याँन ।।
गढ़ि-गढ़ाइ कें सूधि करी, लै सरमँनि के आगें धरी ।
गंगा-जँमना लिखीं बनाइ, कालंदी बामें धार बनाइ ।।
अड़सठि तीरथ दए लिखबाइ, लै काँवरि मैहलँन में जाइ ।
हरे-हरे गोबर अँगन लिपाइ, मोंतीन चौक दीए पुरबाइ ।।
मात-पिता दोऊ दए अन्हबाइ, चंदन-खौरि दई लगवाइ ।
अगले पल्ला धुरबल पिता, पिछले पल्ला अंधी माइ ।।
कंठी बाँधी तूमी लई, सब नंगर परिकंमा दई, कंधा पै काँवरि धरि लई।
म्वाँ ते सरमँनि सूधें जाइ, बिंदरावन में पौंहचे आइ, जमुनाँ-जल ते दए न्हबाइ ।।
बिंदराबँन ते सूधें जाइ, भाँड़ीलबन में पौंहचे जाइ, परिकंमा मुआँ दई लगबाइ।
कुंड-कुंड चिन्नामित लाइ, माँनसी गंगा दए न्हबाइ ।।
दाऊजी में पौंहचे जाइ, दरसँन गुनकूँ दए करबाइ ।
कासी-गैया[1] पौंहचे जाइ, गैया पिंड दए भरबाइ, बद्रीनाथ में भटके जाइ।।
इक बन नाँखि दोसरे में जाइ, तीजे बन में बिकट उज्यारि ।
म्वाँ कोंहौकी ऐ अंधी माइ, पूत सरमनाँ पाँनी प्याइ, प्यास के मारें जिअरा जाइ ।।
न्याँ पाँनी कहाँ ऐं मेरी माँइ, ज्याँ तौ बनी ऐं बिकट उज्यारि ।
कै पाँनी गंगा की धार, कै पाँनी माँमाँ के ताल ।।
माँमाँ पाँनी भरँन न देइ, माँमाँ ताल कौ पैंहरौ देइ ।
सूनी काँवरि कैसें धरूँ, मैं तौ सिंघ की म्हँमा डरूँ ।।
कदँम ते काँमरि दई लटकाइ, पत्तँन में बानें दई दुबकाइ ।
लै लोटा जब सरमँनि जाइ, माँमाँ के जब ताल में आइ ।।
पैहलौ लोटा सरमँनि भरयौ, हात-धोइ म्हों-कुल्ला करयौ ।
दूजौ लोटा सरमँनि भरयौ, खेंचि बाँन जसरत नें दयौ ।।
जब हाली जसरत की डोरि, सग्यौ भाँनजौ डारयौ कोरि ।
अबकें जीओ भाँनजे लाल, सौ लखि गऊएँ करूँ निहाल ।।
जब सरमँनि नें दयौ जुबाव, मेरे मरे कूं मति पछिताइ, मात-पितँन कूँ पाँनी प्याइ।
लै लोटा जब जसरत जाइ, पौंहचि गयौ काँवरि के पास ।।
पी लै री मेरी अंधी माइ, पूत सरमनाँ पाँनी लाइ ।
जब अंधी नें दियौ जुबाब, नाँइ मेरौ सरमँनि, नाँइ मेरौ लाल ।।

तू तौ रे परदेसी लाल, तू आयौ मेरे सरमँनि मारि।
जाई हाल ते सरमँनि मरचौ, जाई सोग में हम मरि जइ, औरु ज्याई हाल ते तू मरि जाइ।
म्वाँ जसरत कूँ दयौ सरापु, राँमु-राँमु कही अंधी मरी, कृष्ण-कृष्ण करि अंधौ मरचौ।।
सरमँनि लीला पूरी भई, लटी धोवती बिरफँनु दई।
सुनबैइया जे सुनिबौ करें, औरु गबैया जे गायौ करें।।
सरमँनि-कथा अंत के द्वार, गए दिलिद्दर पल्ली पार।
गुरू नवलकिसोर कथा गाँमे, औरु जे सरमँनि लीला सबै सुनाँमें।।

(६)

गुरु-उस्ताद सुमिरि लऊँ अपनों, सुमिरूँ सारद माई।
तोइ सुमिरि फिरि कोनें सुमिरूँ, जसुदा जी के कुँमर कँन्हाई।।
सुमिरूँ ब्रह्मा, बिस्नु, महेस, गवरी गनपति सुमिरूँ लाड़िले, जिन दीनीं मोइ बुद्धि बिसेस।
गनपति के चरननि की बलिहारी,
में तेरौई धरि रह्यौ ध्यानु, सिव-सँकर से पिता गवरि जिन की सैहतारी।।
गवरी के सुत गिरजा के लाड़िले, नेंक राखि सभामें आइ कें माँन।
तोइ सुमिरि फिरि कोंनें सुमिरूँ मेरी रखि पंचनमें लाज।।
बड़े परभात करँन कौ पैहरौ, राजा पिरथम नें अपनें घोड़ा संजबायौ।
सबु सिंगारु करचौ घोड़ा कौ औरु सोंने की उड़ाऊ जीन धरबायौ।
गमकि बान्यौ असबार, नरवरबारौ गढ़पती कैसें खेलँन जातु सिकार।
करी चलिने की त्यारी औरु दीनोंएं हुकम सुनाइ सार ते संग लगि लीयौ स्वानु सिकारी।
घोड़ा हाँकि दीयौ छत्तरुधारी, होंन हार बलवाँन करँम-गति टरै न टारी।।
इत-उत देखतु जाइ अगारी भंगिनि आई, तौरु तीन पोत गई थूकि पाँम ते धूरि उड़ाई।।
घोड़ा पै सोचै छत्तरधारी, भंगिनि पीठि फेरि भई ठाड़ी।।
राजा मन ही में रह्यौ बिचारि, नरबरबारे भूप नें घोड़ा दीऔ ऐ पिछमनों अपनों डारि।
सो घोड़ा तौ घुड़सार लगायौ राजा बैठचौ कचहरी जोरि कें सोच रह्यौ ऐ छाइ।
नरबरबारे भूप नें अब भूप लीयौ ऐ बुलाइ, कहि रह्यौ हीयौ खोलि!
चिंता भंगी की घरवारी एं लाओ सिपाही नेंक जल्दी बोलि।।
सुनत खेंम अब नोंकरु धायौ, पल ना करी अबार द्वार, भंगी के आयौ।
औरु भंगी लीयौ बुलाइ, अपनी घरबारी ऐ भेजि दै, नेंक ब्वाइ लै जाऊँ संग लिबाइ।।
कहा कहि आई जाँने तेरी घरबारी, औरु बोलि रहे ब्वाइ छत्तरुधारी।
इतनी सुनि कें भंगी घर अपने में धँसि गयौ, भंगिनि लई बुलाइ, कहा कह आई भूप ते।
मेरे माऊँ तिरिया चाहि, सो तोइ बोलिबे कूँ आयौ सिपाई, आजु नरबरबारे भूप कौ, अब कहि कैसें होइ।।
आपु मरैगी नारि हमारी, मेरे जाँनें लै बैठैगी ब्याँहता मोइ।
सबरी भाइ पेट की खोली, फिरि भंगी ते भंगिनि बोली।
अंबर बास कूँ अबई जाऊँ, द्वै-द्वै जुबाब जाते करि आऊँ।।
कै राजा मोइ मरबाइ देगौ, नहिं बचन ते राजा ऐ हराऊँ।
मति जिय में घबराइ, सबु संक्या ऐ छोड़ि दै, घर-बैठौ मौज उड़ाइ।।
इतनी कहिकें भंगिनि आई, नेंक न कीनीं देर संग नौकर के आई, ब्वाँनें धरचौ कचहरी में पाँम।।
नरबरबारे भूप कूँ सो दीयौ ऐ सीसु नवाइ।
जब राजा नें बात सुनाई, मोइ नारि मारग में पाई।।
तीनि पोत गई थूकि पाँम ते धूरि उड़ाई, दीजो भेद बताइ, जौ तू खैरि जीय की चाहें, तौ मोइ सबरौ हाल सुनाई।

हात जोरि भंगिनि भई ठाड़ी, नीच जाति बैसें सुपच हमारी, तुम राजा, हम रैयत त्यारी।
मैं राजा तुमें साँचु बताऊँ जौ जीव-दाँनु देउ छत्तरधारी ।।
जब राजा कौ लरज्यौ हीयौ, जीह-दांन हमनें तोइ दीयौ।
इतनी सुनि भंगिनि बतराई, फिरि राजा ऐ बात सुनाई, ब्याकुल करिकें गात ।।
निरबंसिन कौ मौंह नाँ देखूं, मैं बड़े भोर परभात।
तम राजा परबीन, बिन बेटा सुनि नरबरवारे तेरो दरसंन नाएँ करिबो लीन ।।
अलफ-दिसा तिहारे चलत अगारी, ओरु ज्याई ते राजा में है गई ठाड़ी, दीनीं धूरि उड़ाइ।
निरबंसी आगें ते आयौ, मति मेरी अलफ दिसा टरि जाइ।
सो आइ गई मेरी बचूं न बचाएँ, धरि ऐ कालु अधरमी लै उड़े ।।
राजाऐ है गयौ होसु भंगिनि की तें कहि रह्यौ, जा तेरो नाएँ तिरिया दोमु।
नाँइ कछु बात सुपचिनी मैली, करँम-छींट उघरी मेरी पैहली संका ऐं दूरि हटाइ।
सबु दुबिधाएँ छोड़ि दै, घर बैठी मौज उड़ाइ।
सो करँम-छींट हँम ही कूं लागी, जाँमें दोस कोंन कूं दियो जाइ ।।

लड़के-लड़कियों के गीत

लड़के-लड़कियों के लिए भी ऐसे अवसर आते हैं, जब उन्हें गीत गाने पड़ते हैं। ऐसे अवसर विशेषतः दो आते हैं। एक अवसर क्वार में दशहरे के अवसर पर टेसू-झाँझी खेलने का : लड़के टेसू लेकर घर-घर जाते हैं, गीत गाते हैं और भीख माँगते हैं। लड़कियाँ झाँझी लेकर घर-घर जाती हैं।

दूसरा अवसर चट्टाचौथ का आता है। इस दिन बच्चे अपने-अपने विद्यालय से एकत्रित होकर चट्टा डंडा बजाते हुए घर-घर जाते हैं और गुरू के लिए दक्षिणा माँगते हैं। ऐसे ही अवसरों के कुछ गीत यहाँ संकलित हैं। चट्टों के गीतों में खड़ी बोली का पुट रहता है।

भइया को-को बनकूं चाले रे, बनराइ केसूरा[१] ।।
भइया कहा-कहा बन जी ते लायौ रे, बनराइ केसूरा ।।
माइ कूं तौ हँसुला, बैहैन कूं कठुला, तौ गोरीधँन कारी-कंठी लायौ रे, बनराइ केसूरा ।
माइ बाकी खिलकै, बहैन बाकी खिलकै, तो गोरीधँन रोंमति डोलै रे, बनराइ केसूरा ।।
माइ पै ते छींड़ि, बैहैन पै ते छींड़ौ, तौ गोरीधँन जाइ पहिराई रे, बनराइ केसूरा ।
माइ बाकी रोवै, बैहैन बाकी ठिनकै, तौ गोरीधँन खिलकति डोलै रे, बनराइ केसूरा ।।

२

इमिली की जर में धतूरे की माला म्वाँ खेलैं गँनगौर के लाला।
कोई खेलै सात काँकरी, कोई खेलै खाई ।।
कूद परे लछिमँन के लड़का, नौ सै गऊ चराई।
बिन गऊँन के लाल झूंमका, पीरी गर्द उड़ाई ।।
आगरे में छंमक-छंमक, दिल्ली में सकराई।
पेंचऊ में नाहर मारे, करै रॉम बढ़ाई ।।

३

इमली की जर में तेउड़ी पतंग, नौसै मोती नौ सै जंग ।
जंग-जंग में ने खीर पकाई, खीरजु में ने मोराऐ चटाई ।।
मोरा भईया पंखा दै, पंखा नें मोइ हाती दियौ ।

१. टेसूरा।

हाती नें मोइ कुतपाल दियौ, कुतपाल नें मोइ बजाज दियौ।
बजाज नें मोइ धोवती दई, फारि-तोरि लंगोटी भई।।

४

कोई कारी-सौ घोड़ा, करिहलु-सौ घोड़ा, करकर लोह-चबाइ।
साँकर तोरै गजा बेल की, कोई नरबरगढ़ कूँ जाइ।।
भेड़ परोसै भात, बकरिया सक्कर ई माँगै।
नबिजा बेटा गौदुआ,[१] नाँचत ही आँमें।।
नरबरगढ़ दो चिरौटियाँ, दो चिरौटियाँ कोई दुंमी-दुंमा लादें जाइ।।

५

छोटी-सी गैया, कचपैंदरिया, अस्सी डला भुस खाइ।
बड़े ताल कौ पाँनी पीवै, हँगन बटेसुर जाइ।।
छोटी-सी गैया, छुटमासी, कोई छोटौ सौ चामर खाइ।
पीवै पाँनी समुंदर कौ, कोई नगर दुहाँमन जाइ।।
दूधँन ते पोखर भरी, घीअँन जँम गई पार।
लैहैर-लैहैर गाँड़र काटूँ, कोई काटूँ सल्ले बाँस।।
हरे बाँस की बाँसुरी, कोई खेलूँ बारौ माँस।
खेलत-खालत कहाँ पौंहुँचे, कै राजा के दरबार।।
घोड़ा चढ़ूँ तौ गिर पड़ूँ, कोई ऊँट चढ़ूँ डुगलाऊँ।
कोई हाती लै दै मौजे कौ, कोई घूँमत-घूँमत जाऊँ।।

६

केसूरा बगरें नकबेंना, बारह मोती, बारह गैंना।
गैंन-गैंन की पतर चलाई, पतर चलाँमत कौड़ी पाई।।
कौड़ी लै मैंनें गंग बहाई, गंगा माता रेती दई।
रेती लै मैंने भरभूँजा ऐ दीनीं, भरभूँजा नें ठुड्डी दीनीं।।
ठुड्डी लै मैंनें मोर चुगाए, मोर नें मोइ धोती दीनीं।
धोती मैंने फारि-चीरि लँगोटी कीनीं।।

७

सँन में ते सँनबरिया निकस्यौ, लाओ तँमाखू पीवे कूँ।
तेरी तँमाखू जरि-बुझि जइयौ, में तौ बैठी न्हावे कूँ।।
चारि कुतंगा इत धरि बैठी, चारि कुतंगा उत धरि बैठी, रूँठि चली धँन पीहर कूँ।
मेरौ केसु रंग-बिरँगों, कैसें जाइ मनाइबे कूँ।।

८

केसूरा, केसूरा घंटार बजैयौ, दस नगरी दस गाँम बसैयौ।
बसे-बसाए कोर गली, इन कोर गलींन ते टके मँगैयौ, इन गलियँन में चिनते जैयौ।।
चित-मित कौ करौ सिंगार, सूँमन के मूँह देउ अँगार।
सूँम-सोम तिहारी चतुराई, हाती के डेरे लै गई काई।।
बा काई कौ बड़ौ तलाब, वाँमें पौढ़े केसूला।
केसूला की सात बहौरिया[२] मँन-मँन पीसें मँन-मँन खाँइ, बड़े मल्ल सें जूझनि जाँइ

१. ग्हौदुआ। २. बहौरिया—पत्नियाँ।

बड़े मल्ल की पतंगुरी, बात काढी अलापुरी, अलापुरी में सौ-सौ तीर।
एक तीर मोइ माँगो दै रे माँगो दै, दिल्ली जाइ पुकारूँगो ।।
दिल्ली कौ तौ कच्चो कोट, जाइ परो चूले की ओट।
चूलौ माँगै नौ-नौ रोट, एक रोट घटिगौ, चूलौ बेटा लटिगौ ।।

९

पातरिया रे पातरिया, तेरी पतरी तीर-कँमान रे।
गाइ ऊँ आई, भैंस ऊँ आई, भैंसा चौं नईं आयौ रे ।।
आधी रात नगाड़ौ बाज्यौ, भैंसा रेंकतु आयौ रे।
हरीराँम की प्याऊ चलती, वापै जाइ झुकायौ रे ।।
पीमत, पीमत होटौ नाएँ, दै भालौ हौटायौ है।
भाली कौ तो भालौ टूटौ, लाखा बैल मंगायौ है ।।[1]
लाखा बैल में दियौ साँटौ, संनगौ चौ बजायौ है ।।

१०

केसुला[2] घंटार बजइयों, दस नगरी, दस गाँम बसैयों।
बस गए तीतुर बस गए मोर, सरी डुकरिया ऐ लै गए चोर ।।
चोरँन के घर खेती भई, खाइ-खाइ डुकरी मोटी भई।
बाऊ कूं लै गयौ बंडा लियारौ ।।
बंडा लियारी नें खीर पकाई, सबरे ग्वारिया नौंति जिमाए।
डुकरी बैठी क्यारी में, लिरिया[3] बैठौ कूंड़ में, दे सारे के मूंड़ में ।।

११

चिकनी मलरिया चिकने लड्डू, जाइ परे सरमँन के टट्टू।
टाटिम टांम[4] मँजीरा बाजें—
लाग्रौ मनिका सँन की डोर, मारूँगो गिरधारी डोर[5] ।।
गिर्द्ध-गिर्द्ध की ईंट पसार।[6]
एक राई सूआ, एक राई परेवा ।।
लाइ-लाइ हर जोतँन जइयों, चिल्लक चोंटि गिलोंदे लइयों।
कछु खाई, कछु बाँधी पोट, जाइ परी चिल्लों की चोट, चिल्लों डोलैं लइयों-पइयौ ।।
घेरत-घारत चली पुकार, चलियौ रे मेरे आसा ग्वार।
आसा ग्वार की लीली घोड़ी, दाँनों खात किरोड़ी[7] कोरी ।।
फोरी ऐ जी, फोरी ऐ, दिल्ली जाइ पुकारी ऐ।
दिल्ली कौ है कारौ कोट, जाइ दुबकी चूल्हे की ओट।
चूल्हौ माँगै सौ-सौ रोट, एक रोट घटि गयो, चूल्हौ बेटा लटि गयौ ।।

[1]. इससे आगे एक पाठांतर ये मिलता है—
लड्डुँन पै लड्डु टूटि गए, सेलँन ते अरकायौ रे।
चौंतरा पै खील-बातसे, बंडा मोर नचायौ रे ।।
बंडा मोर में मारचौ-साँटौ, तार सौ झमायौ रे।
तार मारौ खेत में, तरबारि मारी रेत में ।।

[2]. टेसुरा। [3]. लिरिया-भेड़िया। [4]. टाटमटाट। [5]. चोट। [6]. पकाई। [7]. कमोरी।

लड़कियों की गीत

फूहरि पीसै पीसनों, मेरी रावरिया, जैसौ गिरारे कौ रेतु, भली मेरी रावरिया।
फूहरि छाँनें छाँननों मेरी रावरिया, जैसौ गिरारे कौ रेतु, भली मेरी रावरिया।।
फूहरि माड़ें माँड़नौ मेरी रावरिया, जैसी भादों की कीच, री मेरी रावरिया।
फूहरि पवै पैवनों मेरी रावरिया, जैसौ कुँम्हार कौ चाकु, री मेरी रावरिया।।
पैहलौ बिटौरा खोलती मेरी रावरिया, तऊ न सिकौ मेरौ अंगा, भली मेरी रावरिया।
दूजौ बिटौरा खोलती मेरी रावरिया, तऊ न सिको मेरौ अंगा, भली मेरी रावरिया।।
तीजौ बिटौरा खोलती मेरी रावरिया, भलौ सिकौ मेरौ अंगा, भली मेरी रावरिया।
पैहली कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, तऊ न चुपरौ मेरौ अंगा, भली मेरी रावरिया।।
दूजी कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, तऊ न चुपरौ मेरौ अंगा, भली मेरी रावरिया।
तीजी कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, भलौ चुपरौ मेरौ अंगा, भली मेरी रावरिया।।
पैहली गगरी फाँसती मेरी रावरिया, सरकि परी बहचंद, भली मेरी रावरिया।
सुसरई-सुसर पुकारती मेरी रावरिया, सुसर कचैहरी बीच, भली मेरी रावरिया।।
जेठु ई जेठ पुकारती मेरी रावरिया, जेठु दुहत ऐं भैंसि, भली मेरी रावरिया।
दिवरु ई दिवरु पुकारती मेरी रावरिया, देवरु खेलतु ऐ गेंद, भली मेरी रावरिया।।

२

माँ, भैया कहाँ ब्याहे, परेबरिया, बेटा, दिल्ली-आगरे ब्याहे, परेबरिया।
माँ, भावी कैसी आई परेबरिया, बेटा, कौआ ऊँ तें कारी आई, परेबरिया।।
माँ, भाभी को मोंहड़ौ कैसौ, परेबरिया।
नाँक चनाँ-सी, म्हों बटुआ-सौ, घूँघट में मन लाई रे परेबरिया।।
थौरौ खाँनी, बहुत कमाँनी, जे जगु जीती आई, परेबरिया।।
माँ, दरवज्जें कहा-कहा दीयौ परेबरिया, आठ बिलैया, नौ चकचूँदरि, सोल्हें मूँसे लाई परेबरिया।
माँ, भाभी कहा-कहा लाई परेबरिया, बेटा देहरि-से गूंजा, छप्पर-सी पूरी लाई परेबरिया।।
माँ, भाभी कैसौ खाँती[1] परेबरिया, बेटा, चका पै चका उड़ाती[2] परेबिया।
माँ पाँनी कित्ती पीती[3] परेबरिया, बेटी कल्सा पै कल्सा झुकाती[4], परेबरिया।।
माँ, रोटी कैसी करती[5] परेबरिया, बेटा, चकला से सरकाती[6] परेबरिया।

३

औलाती तर जौ बए, सुगनाँ, उपजे नौ-दस पेड़ सुगनाँ।
एक ललाजू कें सात बहुरिया, तौ एक ते एक मलूक सुगनाँ।।
एक ललाजू की गोबरु करति ऐ, तौ एक उचाँमन जाइ सुगनाँ।
तीजी लला जू की पाँनी भरति ऐ, तौ चौथी खेंचन जाइ सुगनाँ।।
पाँचई लला जू कूं रोटी पँमति ए, तौ छटई परोसँन जाइ सुगनाँ।
एक लला जू को बौहौतई प्यारी, तौ पलिका ते पाँम न देइ सुगनाँ।।
फूलि बिटौरा है गई सुगनाँ, तौ घर के द्वार न सँमाइ सुगनाँ।
ज्याई गाँम के बढ़ई ऐ बोलौ, तौ घर कौ द्वार छिलाइ सुगनाँ।।

१. पाठांतर—खाँत्यै। २. उड़ाँत्यै। ३. पीवै। ४. झुकाँत्यै। ५. करित्यै। ६. सरकाँत्यै।

४

अँगन लिपाँमत द्वै मोंती मोइ पाए (री) माँ, वे मोंती मैंने सासु कूँ गहाए (री) माँ।
सासु निपूती नें घरि पत्थर पै फोरे (री) माँ, फूटेऊ फुटाए मैंने माइ कूँ दै घाले (री) माँ।
माइ बिचारी नें गंगा-जमुनाँ बहाए (री) माँ, गंगा-सी मेरी माइल कहिए (री) माँ।
और जमनाँ-से मेरे भईया जो कहिएँ माँ, सोंने की लौठी मेरे बीरँन कहिएँ (री) माँ ।।
कंजरिया-सी द्यौराँनी जो कहिऐ (री) माँ।
जौ के खेत कंडुआ उपजे, हल-मूसर मेरे नँनदेऊ (री) माँ।
कँमल-फूल मेरी भौजइया जो कहिऐ (री) माँ, कारे ई कारे मेरे देवर कहिऐ (री) माँ ।।

५

झाँझी

बाबाजी के चेली-चेला, भिच्छा माँगन आए जी।
भरि चुटकी[1] मैंने भिच्छा डारी, चूँदरिया[2] रँगि लाए जी ।।
चूँदरिया की उरकँनि-मुरकँनि[3], द्वै मोंती मोइ पाए जी।
वे मोंती मैंने सासु ऐ दिखाए जी, सासु निपूती ने धरि पत्थर पै फोरे जी ।।
फूटे-फाटे मैंने माइ कें दै घाले[4] जी, माइ बिचारी नें वे गंगा-जमनाँ बहाए जी।
गंगा से मेरे बीरँन कहिऐं, कँमल-फूल भौजाई जी।
कारे-कारे देवरु कहिऐं, कंजरिया द्यौराँनी जी ।।

६

सातों रे भैया जुरि बैठते, रँगीली झाँझी।
जिनमें हमारे भैया कोंन से, रँगीली झाँझी ।।
पगड़ी तौ बाँधी भैया लचपची, रँगीली झाँझी।
सातों री भावज जुरि बैठतीं, रँगीली झाँझी।
सातों री भावज जुरि बैठतीं, रँगीली झाँझी ।।
इनमें हँमारी भाभी कोंन सी, रँगीली झाँझी।
बिछुआ तौ पैहिरौ भाभी, रँगीली झाँझी ।।

७

तुँम सुखवार कै हूँम सुखवार ।।
इमिली की जर मेंते निकरी पतंग, ताकी हवा लगी मेरे अंग।
जौ नाँ देती झपटि किबार, तो उड़ि जाती कोस हजार ।। तुम०
मेरी परोसिन कूटै धाँन, ताकी भँनक परी मेरे काँन।
वा रँड़िया नें ऐंसे छरे, मेरे हातनि छाले परे ।। तुम०
एकु मिलौ खसखस कौ दाँनों, नौ दिन कूटों, दस दिन छाँनों।
ताकी मैंने राँधी खीरि, नौ दिन मरी पेट की पीर ।। तुम सुखवार०

८

बाँमन के घर बनियाँ आया, आकर उसने सीस नवाया।
पालागें मिस्सरु महाराज, न्योंतौ करूँ तुम्हारौ आज ।।

[1]. चुकटी—अंगूठा और एक ऊंगलियों से जितनी वस्तु उठाई जा सके, उतनी 'चुटकी' कहलाती है। [2]. चूंदरिया। [3]. उरकनि-मुरकनि। [4]. दै घाले।

उस से कह बजार को आया, हलवाई से सौदा लाया।
मालपुआ, रबड़ी, पकवाँन, सभी तरह की भाजी जाँन ।।
मिस्सर जी फिर दौड़े आए, जल्दी से फिर पाँव धुवाए।
चौके में बिठलाए जाइ, सबही माल परोसे जाइ ।।
बनियाँ थाली भरि-भरि देइ, बाँमन खाली करि-करि देइ।
जब बनियाँ ने पीटा पेट, कहै बनेंनी सुनि लै सेठ ।।
ऐसौ बाँमन कबहुँ न न्योंतूँ, आज होइ सो वैसी भुगतूँ।
आयौ बसंत कि फूली जाँमन, हारचौ बनियाँ जीत्यौ बाँमन ।।

९

भावी नें देबर ललकारचौ, गारी दई और गुलचा मारचौ।
जाइ भइया पै करी पुकार, भइया बोल्यौ अरे गँमार ।।
तू कहा जानें भावी की सार, कीयौ होगौ तो पै प्यार।
एक लात मोऊ में दई, सरँम के मारें में ना कही ।।
आ भइया, उठि बै मेरे प्यारे, हूँम-तुँम दोनों हुंग्गे न्यारे ।।

१०

बड़-भागिनि जो होवै नारि, चट्टा आमें ताके द्वार।
हँसि मुसिकाइ सबँन ते बोलै, रँसी फूली आँगन डोलै ।।
हमरे धन्य भाग त्रिपुरारी पूरँन आसा भई हमारी।
ऐसे चट्टा नित-नित आँमें, मन हमरे की कली खिलाँमें ।।
सेबा सब की करूँ बनाइ, चिरजीवौ सबके लरकाइ।
मन-बिचारि हिय सें अस बोलै, पुत्र-खुसी में सब तिय डोलें ।।
पुत्र-दुःख जा तिय कूँ होइ, ताकी गति प्रभु जाँनें सोइ।
सो तिय गनपति पूजा करै, ताके सब दुख गनपति हरै ।।

११

गुरु गोबिंद का कर ध्यांन, सेठ-चूही का करूँ बयाँन।
एक चूही नाँ मन में डरी, उछरि सेठ की धोती परी ।।
चूं, चूं, चूं धोती में करै, बनियाँ धोती-पकरें फिरै।
जब बनिए नें दई दुहाई, घर सें दौड़ बनेंनी आई ।।
हुआ सोर कोलाहल भारी, भीर हुई बनियों की भारी।
कोई लेवै सेर-दुसेरी, कोई ले पक्की पँसेरी ।।
कोई देवता सुमिरँन लागे, सब नें मिलि पंचायत कीनीं, बार-फेर चूही कूँ दीनीं ।।
आ चूही तू बाहर आ, घी-सक्कर का भोगु लगा।
जब चूही नें दाँत दिखाए, सात-पाँच बनियाँ लुढ़काए ।।
जब चूही नें दियौ झटोका, खुलि गई धोती चलें पिटोका ।।
होस भयौ बिल में गई चूही, कहन लगे अब हारी तू ही।
आयौ बसंतक सुनि लेउ सही, बीर सेठ की चौपई कही ।।

१२

सरसुती का धर कर ध्यांन, एक फूअर का करूं बयाँन।
फूहर बोली पति अपने सें, कबहुँ निकासु भयौ ना घर सें ।।

अब तौ मैं पीहर[1] कूँ जाँऊं, करि कें भोजँन तुम्हें जिमाँऊ।
अब फूहर नें न्हाँनु सँजोयौ, तातो-सीरो नीर मिलोयौ।।
न्हाय-धोइ चौका में आई, धोती-फाड़ि आगि-सिलगाइ।
जब फूहर नें राँधी कढ़ी, जब उफनें तब रोवै खड़ी।।
म्हों की फूंक उफाँन में मारें, दोउ हातँन ते माँखी मारै।
फिर फूहर नें पिया बुलाए, अपने ल्हँगा पै बैठाए।।
फिर फहर नें कियौ सिंगारु, माथे पै बिंदा असल अँगारु।
जब फूहर नें सुरमाँ सारचौ[2], सुरमा बहि होठँन पै आयौ।।
फिर फूहर पीहर कूँ गई, फरिया[3] नीचें लटकति रई।
बाप कहै मेरी लाढ़ो आई, सिर के बार कहाँ धरि आई।।
ऐ बाबुल, मैंने दोऊ कुल तारे, सास-सुसर हातँन ते मारे।
बड़े जेठ ते करी लड़ाई, नँनदेऊ की डाढ़ी जारी।।
एकु रह्यौ मेरें अरमाँन, खसँम निगट्टू के काटूँ काँन।
आ यौ बसंतक सुनि लेउ सही, फूहर राँट की चौपाई कही।।

१३

उठ, उठ री मोंहन की मा, भीतर ते तू बाहर आ।
गढ़े-गढ़ाए रुपिया ला, पंडित जी कूँ बागौ ला।।
मिसराँनी कूँ तीहर ला, चट्टँन[4] कूँ मिठाई ला।
चट्टा दिग्गे बड़ी असीस, बेटा हुंग्गे नौ सौ तीस।।
आयौ बसंतक सुन चकपैया, अब का देखौ लाओ रुपैया।

खेल के गीत

विवाह, जन्म आदि के उत्सवों पर स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, उनके दो प्रकार होते हैं। एक तो अनुष्ठान संबंधी होते हैं—जो परंपरा से बँधे हुए हैं, जिनका गाया जाना अनिवार्य है। इन गीतों के हो जाने के उपरांत फिर उन्हें यह अवकास मिलता है कि वे चाहे जैसे गीत गाएँ। यही दूसरे प्रकार के गीत 'खेल के गीत' कहे जाते हैं।

अरे मेरौ चरखा हल्लेदार, परौसिन सुनियो बैंहनाँ।
जा दिन ते मैंने करी कताई, नथु सोंने की बनवाई,
बनवायौ गरे कौ हारु, परौसिन सुनियो बैंहनाँ।। मेरौ चरखा०
लकड़ी दिसि पच्छिम ते आई, पाए नए-नए रंग चढ़ाई,
ये तकुआ पै अजब बहार, परौसिन सुनियो बैंहनाँ।। मेरौ चरखा०
जा दिन मेरौ चरखा चटकै, मोइ भरी खाट पै पटकै,
या पै लूटों मौज बहार, परौसिन सुनियो बैंहनाँ।। मेरौ चरखा०

२

सिआ, लछिमन औरु राँम, तजि कें चले अजुध्या-धाँम, पूंजे मात-पिता के पाँम, चले री बन कूँ।
ए जी परचौ नगर में सोर, सबरी बस्ती रही ऐ रोक, ऐसौ लाग्यौ ऐ जी तोख, बिन के तन कूँ।।
दोउ कुँमरि उँमरि के बारे, बे तौ नंगे ई पाँम सिधारे, जसरत की आँखिन के तारे, छोड़ि चले रजधाँनी कूँ।
रोइ-रोइ कहै सुमित्रा मैया, तरपूँ ज्यों बछरा बिन गैइया, बादर फारे हाइ केकँइया, अब कहाँ ढूंढूं मन मोंहन कूँ।।

[1]. पीहर—मातृ-गृह। [2]. सारचौ—लगाया—'सारना' क्रिया से। [3]. फरिया—ओढ़नी। [4]. चट्टँन—विद्यार्थी।

३

सामयिक

या बनखँड़ में मेरे भैया नाँऐं, बाबुलनाँऐं राँमा, नाँइ भैया रघुबीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ-रोइ भींजै हरि कौ पीरौ-सौ दुपट्टा राँमा, कौन बँधावै हरि कूं धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे
या बनखँड़ में मेरे चाची नाँऐं चाचा राँमा, नाँइ भैया रघुबीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ-रोइ बहि रही हरि की अँसुअन धारा राँमा, कोंन बँधावै हरि कूँ धीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगिगयौ तीर, बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।।
या बनखँड़ में मेरे भैया नाँऐं भाभी राँमा, नाँइ भैया रघुबीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ-रोइ भींजै हरि कौ पीरौ-सौ दुपटा राँमा, कोंन बँधावै हरि कूँ धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ ।। हरे
मात कैकई ते कैसें कहिगे राँमा, कहाँ छोड़ि आयौ अपनों बीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ ।। हरे
रोइ-रोइ भींज्यौ हरि कौ पीरौ-सौ दुपटा राँमा, कोंन बँधावै हरि कूँ धीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे
मात सुमंत्रा ते कैसें कहुँगौ राँमा, सीआ कार्जे दै आयौ बीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, बारे लछिमन, कहां तेरें लगि गयौ ।। हरे
रोमें हरि छाती फारि अकेले राँमा, कोंन बँधावै हरि कूँ धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे

४

पिया आँवन कहि गए परसों, कब आवैगी बैरिन परसों।
मन चाँहत लोग-संग जाइ मिलों में, मोपै उड़ौ ऊ न जाइ बिनाँ परसों ।। पिया आँवन०
कोई आज कहै, कोई काल कहै, परसों कब आवैगी बैरिन परसों।
मन चाँहत अब छोड़ लाज-सरम सब, खोल किबरिया मिलौं हर सों पिया-आँवन कहि गए परसों ।।

५

मैंनें ओढ़ी स्याँम रजाई जबते, जग-जड़ी चढ़ि आई।
सील-सूत कतबाइ बुनाई, धरमँ के धोबी पै धुलबाई ।।
कारीगर करतार, आप छेंपी नें करी छपाई।
सत्त की सुई, प्रेम की पेचक, मगजी मोन्छ लगाई ।। मैंने ओढ़ी०
पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, लंबाई-चौड़ाई।
'हरीदास' नें ऐसी ओढ़ी, तीन लोक में छाई ।। मैंने ०

६ ✓ १८

तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।। टेक
चलि कृष्णा, बागों में चलिंगे, तुम माली हम मालिन बनिंगे।
दोनों मिलि फुलवा तोड़िंगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।
चलि कृष्णा, तालों पै चलिंगे, हम धोबिन तुम धोबी बनिंगे।
दोनों मिलि साड़ी धोविंगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।

चलि कृष्णा, मैहलों में चलिंगे, तुम राजा हूँम राँनी बनिंगे।
दोनों मिलि सेज बिछाविंगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।
चलि कृष्णा, रसोई में चलिंगे, तुम बाँमन हम बाँमनी बनिंगे।
दोनों मिलि सेकें फुलकिया रे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।
चलि कृष्णा हम मंदिर में चलिंगे, तुँम पुजारी, हूँम पुजारिन बनिंगे।
दोनों मिलि पूजा करिंगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।

सामयिक गीत

री बैंहिन मेरी, भारत में फिरंगी डाकू धँसि गए।
जिन नें डारी ऐं लूट-मचाइ, बैंहिन मेरी भारत में ० ।।
री बैंहिन मेरी, माल-खजाँने सबु लै लए ।
जिन्नें दींने ऐं लोटु चलाइ, री बैंहिन मेरी भारत में ० ।।
री बैंहिन मेरी, गायँन के खिरक खाली है गए।
जिन्नें दीनीं ऐं सबु कटवाइ, री बैंहिन मेरी भारत में० ।।
री बैंहिन मेरी, दधु-दही सुपनों है गयी।
ग्रौरु दुरलभ है गई छाछ, री बैंहिन मेरी भारत में० ।।
री बैंहिन मेरी, जाँनें सत्य-नीति नहिं जाँनी।
ग्रौरु करि दीयौ सकतल गाँन, री बैंहिन मेरी भारत में० ।।
री बैंहिन मेरी, माल हराँमी खन रहे।
जिन्नें करि दए तंग-किसाँन, बैंहिन मेरी भारत में० ।।
री बैंहिन मेरी, मन कपट, छल-बसि रह्यौ,
जाकौ करि रहे बिमखाँन, बैंहिन मेरी भारत में फिरंगी डाकूँ धँसि गए।

२

मेरे दिल के अंदर जादू जाँनें डारचौ किनें ।।
दुनियाँ कहति गेंहूं-गेंहूं, चाँवल कोंन चीज ऐ।
संगु तौ जाइगौ जी कौ ग्राटौ खावै कोंन ऐ ।।
दुनियाँ कहति रुपैया-रुपैया, मौहर कोंन चीज ऐ।
संग तौ जाइगौ कच्चौ-पईसा, बिलसै कोंन ऐ ।।
दुनियाँ कहती बेटा-नाती कोंन चीज ऐं।
उड़ि जाइगौ हंसु ग्रकेलौ, मनखति मानें कोंन ऐ ।।
दुनियाँ कहतीं मैहला-मैहला, कबरा कोंन चीज ऐ।
उड़ि जाइगौ हंसु ग्रकेलौ, जाइ बिलसै कोंन ऐ ।।

३

बंदे ऊँच-नींच नाँइ सोचै, तोइ ऐसौ राँम दबोचै।
मति करै देही पै गुमाँन, काऊ दिन धरती में मिलि जाइगौ ।।
तू पापु करै ग्रोटक में, तो ईस्वर देखै सरग में। काऊ दिन धरती में०
जब पापु-घड़ा फूटैगौ, जब सिर ग्रपनों कूटैगौ। काऊ दिन धरती में०
लीला कौ नाँमु जौ लै-लै, ईसुर से हेतु लगाइ लै, फिरिऊ मिलें भगमाँन ।। काऊ दिन०

चाहे जब गाए जाते हैं ४.

मैंनें सबु-सबु गैहने पैहिरे री सासुलि, पाँनीरा न जाँउ। टेक
एक चलतौ मुसाफिर ग्रायौ री भैनाँ, पाँनीरा पिबाइ ।।

तोइ पाँनीरा कैसें पिबाऊँ लाला, यै ब्याहे कौ डोलु ।।
ब्याहौ-ब्याहो मति करे भैंनाँ, मैं तेरौ मा कौ जायौ बीर।
मा कौ जायौ बीरा रे भैया अरथु बताइ।।
तेरौ सबु कुनवा अच्छे ऐं री, मैया बीमार।
मैंनें डोल कुएँ में छोड़चौ, सासुलि मैया बीमार।।
मैं कोस चली नाँ द्वै कोस, बीरा लगि आई मोइ प्यास।
भैया-भैया मति करै, गोरी मैं तेरौ भरतार ।।
तू झँझन किबरिया खोलि री मैया, मैं लायौ बढ़ नारि।
तेरौ ब्याहु भयौ न सगाई लाला, कहाँ ते लायौ लिवाइ।।
कुएँ की पनिहारी अंमा, मैं लायौ लिवाइ।
सोचि-समझि कें रहियौ रे बेटा, बहू ऐ जवाँन ।।
मैंने कच्चे दूध पीए जो सासुलि, है गई जवाँन।
तैनें खट्टी छाछि पिवाई री सासुलि, जाते है गए नादाँन ।।

५

काँन्हा, गागरिया मति फोरै, मेरी सासु लड़ैगी रे। टेक
सासु डुकरिया मोरी खोटी, गारी देइ न देगी रोटी। हरे०
नंद बड़ी छरछंदी मेरी सुबा धरैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।
द्वै की चारि, चारि की सोलै, कहि-कहि झूँठ पिया ते बोलै। हरे
सौति बड़ी खेहारी पिया के काँन भरैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।
कछू न बिगरै स्याँम तिहारौ, मैरौ होइगौ देस-निकारौ।
दै-दै तारी बिरँन की परजा, हँसी करैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।
हा-हा खाऊँ, परूँ तिहारे पैयाँ, डारौ मती गले गल-बैइयाँ
'हुकमसिंग' मोंतीन की लरी मेरी टूटि परैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।

६

एक बिरछ तर दुखिया रोबै राँमा, सुखिया मनाँवन जाइ री, भाएली मेरी कोंन के लाल हरे।
कहा दुखु री तोइ मैयारी-बबुल कौ राँमा, कै दुख मा-जाए बीर कौ, भाएली मेरी, कोंन के लाल हरे ।।
कै दुखु री तोइ सासु री सुसर कौ राँमा, कै परघरिया नाह कौ, भाएली मेरी कोंन के लाल हरे।
ना दुखु री मोइ सासुरी-सुसर कौ राँमा, ना परघरिया नाह कौ, भाएली मेरी कोंन के लाल हरे ।।
ना दुखु री मोइ मैया री बबुल कौ राँमा, ना दुखु मा-जाए बीर कौ, भाएली मेरी कोंन के लाल हरे।
तेरें भैंनि मेरी नौ-दस बेटा राँमा, एकु उधारौ देउ री, भाएली मेरी कोंन के लाल हरे ।।
एकु दुखु री मोए कूखि री बैरिनि कौ राँमा, जाँने मारे मेरे माँनरी, भाएली मेरी कोंन के लाल हरे।

७

पति, न्यारौ है जा, रोजु रँधैगी रस-खीरि।। टेक
पति, खाँनों लाई, खाँने में लाई पूरी चारि।
पति, खाँनों खाइलै, छोटी नँनदिया के बीर।। पति न्यारौ०
पति, प्यालौ लाई, प्याले में लाई सरबत-चोरि।
पति, प्यालौ पी लेउ, छोटी नँनदिया के बीर।। पति हिंदू है जा०
पति, दोनाँ लाई, दोनाँ में लड्डू लाई चारि।
पति, लडुआ खाइ लेउ, छोटी नँनदिया के बीर।। पति हिंदू है जा०
पति, चौपड़ लाई, चौपड़ पै लाई गोटें आठ।

पति, बाजी जीती, छोटी नँनदिया के बीर।। पति न्यारौ०
पति, सेज बिछाई, सेजों पै लगि रहे तकिया चारि।
पति, पलिकनु सोइ जाउ, छोटी नँनदिया के बीर।। पति हिंदू०
पति, ताँगे मँगाए, ताँगे पै आए इक्का चारि।
पति, मोटर बैठौ, छोटी नँनदिया के बीर।। पति हिंदू०।

८

अब रँगवाइ दै सुरख चुँदरिया, अब रँगवाइ दै।
जाँना, जाँना सैहैर कूँ राई लाँना, मेरे राजा की है गई सगाई।। अब०
जाँना, जाँना सैहैर कूँ लाँना पेड़ा, मेरे राजा के परि गए फेरा। अब०
जाँना, जाँना सैहैर कूँ लाँना सोंना, मेरे राजा का हैगा गोंना।। अब०

९

सासुलि, सँमरौअलि मिलि आजु, अखीरी बिदा कराइ दै री।
हरे-हरे गोबर अँगन लिपाइ, मोंतियनु चौक पुराइ लै री।।
नाँइनि बुलाइ मेरौ सिर खुलवाइ, मेरौ सिर धुलवाइ दै री।
चंदन-रूख कटाइ मेरी सासुलि, चिता चिनाइ दै री।।
बार बरें जैसें रेसँम-से, हाड़ जरें जैसें चंदन की-सी लकड़ी।
भैया-भैंना रोइबे आँमें, उनकूँ धीर बँधाइ दै री।।

❀

सासुलि सँमरौअलि मिलि आजु अखीरी बिदा कराइ दै री।
हात कंगी डोरा बाँदी पै गुभाए बार, सुरई कौ कीसु कौड़ीन ते झूरे बार।।
माथे ऊपर बेंना-बिंदी, बिंदिया सें लागे लाल।
नाँक में बुलाक मेरी अजब बनीऐं लाल, सासुलि लै देउ झाले आजु, फेरि नहिं आँने की।।
काँनन में करँनफूल बालेन में लागे लाल, सासुलि लै देउ झल्ले आजु, फेरि नहिं आँने की।
नारों हरबा-हंसुली, चंपाकली लागे लाल, वीर की जंजीर मेरे गरे में परी ऐ लाल।।
सासुलि, लै देउ लोंगन हारु मैं फेरि नहिं आँने की।
बाँहन में बाजूबंद, हथफूल सें लागे लाल, सासुलि लै देउ मुँदरी आजु फेरि नहिं आँने की।।
कमरों में साड़ी साजे, पेटी सें लागे लाल, सासुलि जोबन की झंनकार, मोगै गैल चल्यौ नाजाइ,
पाँमन में छागल-लच्छे, बिछुअन ते लागे लाल, सासुलि बिछुअनि की झँनकार, फेरि नहिं आँनेकी,
हरीचंद के हात मेरी भाएली बुलाइ दै लाल, भैंना मिलि लेउ हात पसार, फेर नहिं आँने की।।
रामचंद के हातँन मेरौ रथु दीयौ जुरबाइ।
संग की सहेली न्यों उठि बोली, एक दिनाँ सबई को जाँना।
ऐसी सुलोचनि अब न मिलैगी, अखीरी बिदा कराइ दै री।।

१०

चल-चल पिया, तू बाग कूँ, क्या-क्या बसौ तेरे ध्याँन में।
माली-मलिनियाँ दो जने, नीबू बसे मेरे ध्याँन में रे।।
चल-चल पिया तू ताल कूँ, क्या-क्या बसौ तेरे ध्याँन में।
धींमर-धिमरिया दो जने, मछली बसी मेरे ध्याँन में।।
घ नी ए में छोटी नागिनी चल-चल पिया, बिए कुए पै, क्या-क्या बसौ तेरे ध्याँन में

मकिन[1] मकिनियाँ दो जने, मरुए[2] बसौ मेरे ध्यांन में ।।
चल-चल पिया बिस मैहल कूँ, क्या-क्या बसौ तेरे ध्यांन में ।
रजवा-रजनियाँ दो जने, खिड़की बसी मेरे ध्यांन में ।।
चल-चल पिया, बिस रसोई में, क्या-क्या बसै तेरे ध्यांन में ।
बाँमन-बँमनियाँ दो जने, काँसौ बसै मेरे ध्यांन में ।।

११

राजा सिलबिल्ला, मैं तेरी गँम खाँऊ रे ।
जब मेरे राजा ऐ प्यास लगैगी, फूटी कुल्हरिया, पुखरिया कौ पाँनी रे ।।
जब मेरे राजा ऐ भूख लगैगी, जौ की फुलकियाँ, चौरैया कौ साग रे ।
जौ मेरे सैयाँ ऐ सुरमाँ चहिऐगौ, सोंने की सराई, अलीगढ़ कौ सुरमाँ रे ।।
जब मेरे राजा ऐ जाड़ौ लगैगौ, फाटी गुदरिया, कँमरिया कौ झूरौ रे ।
जब मेरे राजा ऐं ओंघ लगैगी, टूट्यौ झटोलौ, कँमरिया कौ झूरौ रे ।।

१२

उरद की दारि गेंहूंन के फुलका अब जेंमन में कहा बीजुरी परै ।
हवेली ते बचि-बचि कें निकरै, अब कहा मेरे भैया कौ सारौ लगै ।।
तातौ पाँनी धरचौ रे ततेंड़ा[3] अब कहा न्हाइबे पै बीजुरी परै ।
आधी राति छिटकि रहे तारे, खेलत में कहा बीजुरी परै ।।
फूलँन की सेज मैहेल में बिछि रही, सोंमत में कहा बीजुरी परै ।।

१३

कबऊ न बोयौ ज्वारि-बाजरौ कबऊ न लाए लढ़ा-भरि कें ।
अब कें लावै ज्वारि-बाजरौ, अब कें लाँमें लढ़ा-भरि कें ।।
कबऊँ न बाध्यौ हरचौ-हरचौ स्वाफा, कबऊ न आए जमाई बनि कें ।
अब कें बाधूँ हरचौ-हरचौ स्वाफा, अब कें आँमें जमाई बनि कें ।।
कबऊ न लाए गाड़ी-बैहली, कबऊ न बैठी मनु-कर कें ।
अब कें लाँऊँ गाड़ी-बैहली, अब कें बैठी मनु करकें ।।
कबऊ न लाए स्वाफी में लडुआ, कबऊ न खाए मनु करकें ।
कबऊ न रोई मैया-मैया करि कें, कबऊ न आई मनु करकें ।।
अब कें अइयौ मैया-मैया करिकें, अबकें अइयौ मनु करकें ।।
कबऊ न आए सूत के पलिका, कबऊ न सोई मनु करकें ।
अब कें लाऊँ सूत के पलिका, अब कें सोओ मनु करकें ।।
कबऊ न जाए लाली-लाला, कबऊ न बैठी गोद-भरि कें ।
अब कें जाओ लाली-लाला, अब कें बैठौ गोद-भरि कें ।।

१४

रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।। टेक
चींटी चढ़ी पहाड़ पै रे, नौ मन काजर सार ।
हाती तो बानें गोद लियौ ऐ, ऊँट लियौ लटकाइ ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया मे नदिया डूबी जाइ ।।
एक अचंभौ मैं सुन्यों जंगल में उपज्यौ डूड़ ।

1. मक्षि । 2. समय । 3. ततैया (पाठ्य-भेद) ।

चीटी के थँन पाँसुरे, कोई पीमँन लागे ऊँट, रे मन ऐसी आवे ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
एक अचंभौ मैं सुन्यों पोखरि में लगी गई आगि।
पाँनी-पाँनी जरि गयी, जामें मछली खेलें फाग ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
एक अचंभौ मैं सुन्यों कूआ में लगि गई आगि।
धरती के क्योला भए, अंबर की है गई राखि ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
पैहिलें तौ रे मैं भई, जा पीछें दोउ भाई।
जाके पिछें पिता हमारे, जा पीछें मैहतारी ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
सुसर हँमारे अस्सी बरस के, सास हँमारी क्वारी।
सास-सुसर की परें भँमरियाँ, जेठ करे अग्यारी ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
चौर-जिठाँनी वैठि कें रे, करि रहीं सोच-विचार।
बलँम हमारे पालनें रे, मैंई झुलामन हार ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
सई-साँझ बेटा भयौ, औरु आधी पै है गयौ बाप।
ग्याँनी होइ सो ग्याँन बताऔ, भोरई है गई माइ।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।

१५

सैयाँ मिले मन-घुँमनाँ, हाइ मेरौ ऐसौ नसीब। टेक
मारि-मारि मैंनें पनियाँ कूँ पठाए, फोरि आए गगरी, सँमेटि ल्याए लेज ।। सैयाँ०
मारि-मारि मैंनें हरु लै कें पठाए, टोरि आए जुआ, बखेरि आए बीजु ।। सैयाँ०
मारि-मारि मैंनें सुसरारि पठाए, टोरि आए नातौ, लिवाइ लाए मोइ। सैयाँ०
मारि-मारि मैंनें सेजों पै पठाए [१], टोरि आए पलिका, ढकेलि आए मोइ ।। मेरौ ऐसौ नसीब।

१६

मेरी जीजी, मैं तौ न्यारीअ रहूँगी ।।
मैहला-दुमैहला सब लै लऊँगी, फूटी मड़ैया ददा जू कूँ दऊँगी।
दऊँगी तौ दऊँगी, नहीं बऔ लै लऊँगी, फूटी मड़ैया मेरी सौबरि कूँ होइगी ।।
गैया-भैंसिया सब लै लऊँगी, डूंडी-सी छिरिया ददा जू कूँ दऊँगी।
दऊँगी तौ दऊँगी, नहीं बऔ लै लऊँगी, डूंडी-सी छिरिया मेरे लरिकँनु कूँ होइगी ।।
साल-दुसाला सिब लै लऊँगी, फटी गुदरिया ददा जू कूँ दऊँगी ।।
दऊँगी तौ दऊँगी, नहीं बौऊ लै लऊँगी, फटी गुदरिया मेरे जनने कूँ होइगी।
थरिया-बिलिया ब्वऊ लै लऊँगी, फूटी कटुरिया ददा जू कूँ दऊँगी।
दऊँगी तौ दऊँगी, नहीं बऔ लै लऊँगी, फूटी कटुरिया मेरी छोरी कूँ होइगी ।।
गैहने-गुरिया सिब लै लऊँगी, टूटी अरसिया ददा जू कूँ दऊँगी ।
दऊँगी तौ दऊँगी, नहीं बऔ लै लऊँगी, टूटी अरसिया मेरी ननँदी कूँ होइगी ।।

[१]. पाठांतर—पौढाए।

१७

लेते क्यों नहीं आए पिया, मेरी झंझल सुरमाँ दाँनी।
कोंन के जे बाग-बगीचा, कोंन की हबेली, कोंन की जिअ लाल अटरिया, खिचगई रेसम डोरी।
जेठ के जे बाग-बगीचा, देवर की हबेली, बिनई पिया की लाल अटरिया, खिचि गई रेसम डोरी।। लेते चौं०
कोंन हँमारौ पिसनों-कुटनों, कोंन भरैगौ पाँनी, कोंन हमारी तपै रसुइया हँम फूलंदे राँनी। लेते क्यों०
जेठ हमारौ पिसनों-कुटनों, दिवरु भरैगौ पाँनी, साहबु हमारे तपें रसुइया हँम फूलंदे राँनी।। लेते क्यों०
कोंन के जे पेरा-लड्डू, कोंन की जलेबी, कोंन की जे बालूसाही, धरि सिरहाँनें सोई।
पेरा खाए, लड्डू खाए, खाइ लई और जलेबी, बालूसाही कुतिया खाइ गई बैठि पलँग पै रोई।। तुम लेते क्यों०

१८

सुख सोइले की बतियाँ भैया, सुनते जाइयो रे।।
भैया, भाभी के-से निकिलिस-हरबा लेते अइयो रे।
भैंनि क्या पागल है गई हौ, भैंनि क्या सिर्रिन है गई हौ।
भैंनि क्या छिड़िखा फाँदिगे, भैंनि क्या लरिका बेंचिगे।। सुख सोइले की०
भैया, भाभी के-से दस्ते-घड़िया लेते अइयो रे।
भैंनि का पागल है गई हौ, भैंनि का सिर्रिन है गई हौ।
भैंनि का छिड़िखा फाँदिगे, भैंनि का डाँकौ डारिगे।। सुख सोइले की०
भैया, भाभी कै-सी तगड़ी-पेटी लेते अइयो रे।
भैंनि का सिर्रिन है गई हौ, भैंनि का पागल है गई हौ।।
भैंनि का लरिका बेंचिगे, भैंनि का तिरिया बेंचिगे।। सुख सोइले०
भैया, भाभी कै-सी पाइल-लच्छे लेते अइयो रे।
भैंनि का सिर्रिन है गई हौ, भैंनि का पागल है गई हौ।।
भैंनि का छिड़िखा फाँदिगे, भैंनि का लरिका बेंचिगे।। सुख सोइले०
भैया, भाभी कै-सी साड़ी-जंफर लेते अइयो रे।
भैंनि का पागल है गई हौ, भैंनि का सिर्रिन है गई हौ।।
भैंनि का डाँकौ डारिगे, भैंनि का छिड़िखा फाँदिगे।। सुख सोइले०

१९

साँई सिलबिल्ला, मैं तेरे मारें मरी रे।।
जब सिलिबिल्ला नें कपड़े पहिरे, पासी कौ जाँमा, मुसीका कौ टोप रे।
जब सिलिबिल्ला नें बाँधे हथियार रे, सूजा की बरछी, सिरकिया की तोप रे।।
जब सिलिबिल्ला नें घुड़िला सजायौ रे, चरखा कौ घुड़िला, दौनि की लगाँम रे।
जब सिलिबिल्ला चलौ री ससुरारि रे, राति-दिन चलै बु तौ ढाई-तीन कोस रे।।
जब सिलिबिल्ला बु पहुँचौ बजार रे, पैरनि के धोकें खपट्टा लै आयौ रे।
जब सिलिबिल्ला मेरे ढिंग आयौ रे, पैरनि के धोकें खपट्टा चबाइ रे।।
जब सिलिबिल्ला खपट्टा चबाए रे, मारी जौ लात गिरौ ऐ तर-खाट रे।
जब सिलिबिल्ला गिरौ है खाट-तर, तब जोरै हात कि तू मेरी जोड़ू हूं तेरा गुलाम रे।।

२०

अरी मैं बाई बाप की बेटी।।
जाके आठ बरष नौ घोड़ी, बाकें इकसठ चलें मँझोली, मैं बाई बाप की बेटी
जेठ की प्यारी, जिठाँनी की प्यारी, अरी मैया-बाप की बहुत पियारी।। हरे०

मा की प्यारी, बाप की प्यारी, भाभी की बौहौत ई प्यारी।
राजा नल नें मन ते उतारी, मैं बाई बाप की बेटी ।।

२१

लगँन तो तें लगि गई रे, अरे लगबार, लगँन तो तें लगि गई रे।
झँमक अटरिया चढ़ि गई रे, रिपट्यौ है पाँव, किवरिया खुलि गई रे ।।
चढ़त अटरिया हाकिम देखी रे, उतरत देखी कुतवाल, उज्जगर है गई रे, अरे लगबार ।।
पाँच रुपया या के हाकिम माँगें रे, अरे कोई दस माँगै कुतबाल,
बदरिया फट गई रे। अरे लगबार ०
पाँच रुपैया याके यार नें दीनें रे, अरे कोई दस में बिकाइ दई भेंस, रसाँइन पट गई रे।
अरे लगबार, लगँन तो तें लगि गई रे, अरे लगबार, लगँन तो तें लगि गई रे ।।

२२

अरे कँमरा के नींचे ठाड़ौ, तौ बालम हा-हा खाइ।
अरे, नेंक आइ जा मरमँनि गोरी, हियरा तौ लरज्यौ आधी राति ।।
अरे मैं नाँइ आँऊं प्यारे, सासुलि जगैगी आधी रात ।।
अरे तौ कहि दै गोरी, मैया ऐ डारूँ मरवाइ।
अरे नाँइ-नाँइ मेरे प्यारे, अँगना की, चरखा की सोभा जाइ ।।
अरे कँमरा के नीचें ठाड़ौ, तौ बालम हा-हा रह्यौ खाइ ।।
अरे मैं नाँइ आँऊं ढोला, नँनदुलि जगैगी आधी राति।
अरे तू कह दै मरमँनि, बैंहनाँ कूँ डारूँ मरवाइ ।।
अरे नाइँ-नाइँ मेरे प्यारे, साँमन की, झूला की सोभा जाइ ।।
अरे कँमरा के नींचें ठाड़ौ, बालम हा-हा रह्यौ खाइ।
अरे नेंक आइजा गोरी, हियरा तौ लरज्यौ आधीरात ।।
अरे मैं नाँइ आँऊँ प्यारे, जिठाँनी जगैगी आधी रात ।।
अरे तू कह दै गोरी, भाभी ऐ डारूँ मरवाइ।
अरे-अरे नाँइ-नाँइ ढोला, अँगना की, बैठक की सोभा जाइ ।।
अरे कँमरा के नीचे, ठाड़ौ, बालम हा-हा रह्यौ खाइ ।।

२३

तातौ पाँनी धर्‌यौ रे 'ततैरा, न्हाइबे नाँ आयौ मन कौ प्यारौ।
भाए ली याँ तें कित गयौ बलमु हमारौ ।।
उजरी बतीसी चोंपन बारी, भाएली मेरी उड़ि-उड़ि खाइ गिरारौ ।।
उरद की दारि किनक के फुलका, जेंमे न आयौ बलमु हमारौ।
भाएली मेरी उड़ि-उड़ि खाइ गिरारौ ।।
लंबी नारि कौ तोराबारौ, भाएली मेरी, कित गयौ बलमु हमारौ ।।
सोंने कौ लोटा गंगा-जलु पाँनी, पीबे नाँ दिल कौ प्यारौ।
भाएली मेरी, उड़ि-उड़ि खाइ गिरारौ ।।
पतरी कमरि बु तगरी बारौ, भाएली मेरी कित गयौ बलमु हमारौ ।।
पाँन पचासी कौ बीड़ा लगायौ, चावन नाँ आयौ बलमु हमारौ।
भाएली मेरी उड़ि-उड़ि खाइ गिरारौ ।।
फूलों की सेज अतर ते छिरकी, सोइबे नाँ आयौ दिल कौ प्यारौ।
भाएली मेरी उड़ि-उड़ि खाइ गिरारौ ।।

२४ ✓ २०

मुकट-धर साँवरे रे, लाला द्वै बापन कौ जाँम।
एक बाप मथुरा बसै, कोई दूजौ गोकुल गाँम ।। मुकट-धर०
कौंन माइनें उर धरे रे, राँनी गरभ रही दस माँस।
माइ जसोदा नें उर धरे रे, राँनी गरभ रही दस माँस ।। मुकट०
कहाँ रे कँन्हैया औतरे, लाला कहाँ रे घुरे ऐं निसाँन ।।
मथुरा कँन्हैया औतरे रे, लाला गोकुल घुरे ऐं निसाँन ।। मुकट०

२५

नाच का गीत

लड़ाई पै कूँ मति जइयौ, दिन राति लड़ाई होइ[१] ।
सासु-सुसर मेरे जँनम के बैरी, संग मोइ लै चलियौ ।। दिन०
तोप चलें, बँदूक चलैं म्वां, चलें हवाई जहाज।
जेठ-जिठाँनी मोइ न्यारौ चाहें, मैं कौंन की लूँगी ओठ ।।

(ऊ)

होली-रसिया

ब्रज इन दोनों के लिए अत्यंत प्रसिद्ध है। इन दो गीतों में ब्रज की निजी विशेषता है।

रजपूती होरी

हनुमाँन, सजीवन लइयौ रे, नेंक दोंनागिरि लों जइयौ।
बैंद नें कहि दई ऐसें टेर, है जाइ देर इत ऊगै भाँन, लछिमन के प्राँन ।।
घर नारी, नारी घर छोड़ि गई ऐ कुहनी पै बोलि रही ऐ, आधी ते भयौ भुरारौ ।।
इस्त्री-पुत्र मिलि जाँगे जरूर दुस्वार मिलनों ऐ भैया-सी मूर ।
दुनियाँ में कितेक काँम है मेरी सब सों राँम राँम है ।।[२]

२. ✓ २१

कोइलिया बाँगन डोलै, डोलै रे मींठे बोल बोलै।
पपीहा नें करि दियौ सोर डाली ।। मोर०
मोइ कल न परति बिंदाबन, बिंदाबन में फिरि आइजा।
वौई ताँन फिर सुनाइ जा, बंसी बजाने बाले ।।
गोरी-गोरी बईयाँ, जाके लंबे-लंबे केस राधा कूँ छोड़ि आयौ कुबरी के देस।
ऐसी कहा भई ऐ करुई, जा पै नींम छई ऐ ।।

३

आँमलिया के पात पै, दो जने सोंमत जाँइ ।।
फटौ दिल नाँ मिलें मेरी प्यारी, फटौ दिल ना मिलें ।।
पलका पै न समाँनी, करकें प्रीति पछिताँनी ।।

४

मरि गई होंती रात, घोंट-पिबाइ दई भँगिया।
उठौ न बैठौ जाइ, लै गई सौत नँनदिया, भूली सेज पै अँगिया ।।

१. पाठांतर—दिन-रात लड़ाई होइ, चलै जब लै चलियौ। २. पतोला जिला आगरा : परिचय—
"मेरी द्वै पूरी की भूँक सूखि गयौ चोला, जाते परि गयौ नाम पतोला।"

५

नैंनाँ भरत उड़ाँन, गोरी धँन लै डोरी में।
इस्क बुरौ जंजार, काऊ दिन फँसि जाँगे चोरी में, रँग भरें फिरें झोरी में ।।

६

ओ मो नींदी खिलाल, जुल्फों की धूर झारि ड़ार रे ।।
सोंमत देर भई गुलसँन में, अब तौ जगिजा कुँमर हजारी।
बेटा, करमँन की गति न्यारी, सो लाला मेरौ दुख ना निबटैगौ, मेरौ रोंमत जँनमु कटैगौ ।।

७

रँग डारूँ रे तो पै रँग डारूँ, नैंकु आगें आ।
नैंकु आगें आ स्याँम तो पै रँग डारूँ, नैंकु आगें आ ।।
रँग डारूँ तेरे अंगँन सारूँ, अरे तेरे गालँन पै गुलचा मारूँ चार। नैंकु आगें आ०
एढ़ी-टेढ़ी पगिया बाँधें, अरे तेरी पगिया पै फूल री पारूँ यार ।। नैंकु आगें आ०।
ब्रज दूल्है यै छैल अनोंखौ, अरे तोपै तँन-मँन-जोबन बारूँ मेरे यार। नैंक आगें आ०
नैंक आगें आ स्याँम, तो पै रँग डारूँ, नैंक आगें आ ।।

८

होरी-खेल स्याँम घर आए।
मातु जसोदा करति आरती, सब सखियन मंगल गाए, होरी-खेल स्याँम घर आए ।।

९

काँन्हा, धरें रे मुकट खेलै होरी, काँन्हा धरें रे।
इक ओर खेलें कुँमर कँन्हाई, इक ओर राधा गोरी रे ।।
काँन्हा, धरें रे मुकट खेलै होरी ।।

१०

ऐसी होरी मचाई दीनानाथ, बिरज-आँनंद भए।
उड़त गुलाल लाल भए बादर, सब रँग होत नए ।।
सगरी सखी रंग में बोरी, भूषँन भींज गए।
झटका-पटकी मत कर मोंहन, होइ उतपात नए ।।
कब-कब के दाँनी भए मोंहन, कब-कब दाँन लए।
बिरज-आँनंद भए, ऐसी होरी मचाई० ।।
दधि की मटकी सिर ते पटकी कब-कब दाँन दए।
मीरा सखी, फागुन के महिनाँ, उच्छब होत नए ।।
सब ब्रज-बासी आँनद-मंगल, होरी तौ खेल रहे।
बिरज-आँनंद भए, ऐसी होरी मचाई दीनानाथ बिरज-आँनंद भए।

११

चूँदरिया रँग में बोर गयौ काँन्हा बंसीबारौ
भर पिचकारी सनमुख मारी, मो पै केसर गागर ढोर गयौ ।। काँन्हा बंसी०
बिंदाबन की कुंज गलिन में नथ-दुलरी ऐ तोर गयौ। काँन्हा बंसी०
गैहबर बन अरु खोर-साँकरी दधि की मटकी फोर गयौ ।। काँन्हा०
चंद सखी भजि बालकृष्ण छबि, चितबन में चित चोर गयौ ।।
काँन्हा, बंसी बारौ, चुंदरियां रँग में बोर गयौ, काँन्हा बंसी बारौ।

१२ ✓ २८

अइयो, अइयो रे कँन्हैया नँदलाल, रँगीली होरी में ।।
ऊँचौ गाँम धाँम बरसाँनों, खेलें गोपी-ग्वाल ।
दुलहँन प्यारी राधिका रे, दूलह नंद-कुमार ।।
रँगीली होरी में, अइयो-अइयो कँन्हैया नँदलाल ।।
फेंट-गुलाल, हाथ-पिचकारी, रँग की उड़ै फुहार ।
पिचकारी याकी छींनकें रे, गाल-मल्यौ ऐ गुलाल ।।
रँगीली होरी में, अइयौ-अइयौ रे कँन्हैया नँदलाल ।।
जो सुख रमाँ तनिक नहिं पायौ, जदपि पलोटत[१] पाँइ ।
श्री वृषभाँनु-सुता-पद-अंबुज जिनके सदाँ सहाइ ।।
रँगीली होरी में, अइयौ-अइयौ रे कँन्हैया नँदलाल, रँगीली होरी में ।।

१३ ✓ २८

को भैया खेलै होरी-फाग, को भैया ठाड़े ई डोलें ।
कृष्न जी खेलें होरी-फाग, दाऊ जी ठाड़े ई डोलें ।।
खेलौ भैया फागु-सुहागु, तुमें भाई राँम-दुहाई ।
खेलत-खेलत जाँइ बिंदाबन की कुंज-गलिनु में ।।
बिंदाबन की कुंज-गलिनु में, चंपा मौरि रही ऐं ।
चंपा के नौ दस पेड़, अनार की एक कली ऐ ।
ददा जू की गेंद गई ऐ, गेंद गई असमाँन कँन्हैया जी नें लति लई ऐ ।।

१४

लड़का, मस्त महींना फागुन कौ, कोई जीबै सो खेलै होरी-फाग ।
मुख पर टेढ़ी बदनी सोहै, झुमकिन अजब बहार ।। मस्त०
नाँक चुनी नकबेसरि सोहै, तेरे भलुका अजब बहार । मस्त०
हारु-हमेल, गुदी-खँगवाए, जाकी चौकी अजब बहार ।।
बाँह बरा-बाजूबँद सोहें, जाकी घुंडिनु अजब बहार । मस्त०
लड़िकें लै चलि पलँग-अटरिया में रे, चौबरिया में, मेरी पौरी में सोबैगी बलाइ ।। मस्त०

१५ ✓ २/

काँन्हा धरें रे मुकट खेलै होरी ।
खेलै होरी रे, खेलै होरी काँन्हा धरें री ० ।।
एक लँग खेलै जाकौ कुँमरु कँन्हैया प्यारे, एक लँग खेलै राधा गोरी । काँन्हा धरें०
कै मँन रंग भरे मैहलँन में, कै मँन केसरि घोरी । काँन्हा ०
नौ मँन रंग भरे मैहलँन में, नो मँन लै केसरि घोरी ।। काँन्हा०

१६ ✓ ३०

काँन्हा, बरसाँने में आइ जइयौ, बुलाइ गई राधा प्यारी ।
जौ काँन्हा तू गैल न जाँनें, सरँक-सरँक आइ जइयौ ।। बुलाइ गई०
जौ काँन्हा तू ठौर न जाँनें, अरे बिषभाँन की पौरी आइ जइयौ । बुलाइ गई ०
काँन्हा, बरसाँने में आइ जइयौ, बुलाइ गई राधा प्यारी ।।

१. पलोटना—दबाना । "जो सुख रमाँ तनक नहिं पायौ"० .... यह नंददास (अष्टछाप) कृत 'नवलकिशोरी' की धमार से ज्यों का त्यों लिया गया है ।

१७

तनक दही पिवा जइयौ, सुनि बरसाँने-वारी ।
सद ल्योंनी माँखन की लइयौ, अपने ई हात खवा जइयौ ।। सुनि बरसाँने-वारी ।
जौ तेरी सास लड़ै घर तोते, बाऊऐ सींग-दिखा अइयो । सुनि बरसाँने-वारी ।
जौ तेरौ पती सती तोइ बरजै, बाऊ ऐ खिरक बताइ अइयौ ।। सुनि बरसाँने-वारी ।
चंदसखी भजि बालकृस्न-छबि, हरि-चरनँन-चित लाइ जइयौ ।। सुनि बरसाँने-वारी ।

१८

बनि गए नंदलाल लिलहार, कै लीला गुदबाइ लेउ प्यारी ।।
लैहँगा पैहरि, ओढ़ि सिर सारी, अँगिया पैहरी जरद किनारी ।
सीस पै सीसफूल अरु बेंना, लगाइ लियौ काजर दोऊ नैंना ।
पैहरि लियौ नख-सिख ते गेंहना ।।
बलिहारी वा कृष्न की, आप बने लिलहार ।
सीस-लिख गिरधारी रे, माथे पै मोंहन-मुरारि ।।
लिखौ तुम दृगँन पै दीनदयाल, कपोलँन पै श्री कृष्नगुपाल, नासिका पै लिखि दै नंदलाल ।।
स्रबनँन पै लिखि साँमरौ, अरध नारि निज कंत ।
ठोड़ी पै ठाकुर लिखौ तौ गल में गोकुल चंद ।।
छतियँन पै लिखि छैल तौ, बाँहन पै लिखौ बिहारी ।। बनि०
हातँन में हलधरजू कौ भईया, लिखौ अंगुलीन पै तुम गैया ।
पेट पै लिखि दै परमानंद, जाँघ पै लिखि दै जै गोबिंद ।।
लिखौ घोंटुन पै केसवचंद रोंम-रोंम पै लिखौ रमापति, राधे-स्याँम बनवारी ।। बनि०

१९

काँटौ लाग्यौ रे देबरिया, मोपै गैल चल्यौ नाँ जाइ । टेक
काँटौ निकारी कहा दऊँ, मो पै कछू हतु नाइ ।।
नाऊ के कूँ नौ टका, देबर कूँ छोरी भैंन ।
काँटौ लाग्यौ रे देबरिया, मो पै गैल चल्यौ नाँ जा ।।
जौ मेरौ काँटौ जेठु निकारै, जोवँनु दऊँ गहाइ ।
काँटौ लाग्यौ रे देबरिया, मो पै गैल चल्यौ नाँ जाइ ।।
काँटौ लाग्यौ रे देबरिया, मो पै गैल चल्यौ नाँ जाइ ।।

२०

मींठी लागै मठा की रावड़ी रे।
घोल-घाल चूल्हे पर रख दी, अरे दो लगाती लकड़ी रे, मींठी लागै मठा की रावड़ी ।
राँध-रूँध चूल्हे पर रख दी, अरे भुरस गई जावड़ी रे, मींठी लागै मठा की रावड़ी ।।

२१

भमँर कारे रे भमँर कारे, छिटकाइ आई केस भमँर कारे ।।
कौंन पै पैहरीं तैंनें हरी-हरी चुरियाँ ।
कौंन पै नैंन करे कारे ।। छिटकाइ०
दिबर पै पैहरीं मैंनें हरी-हरी चुरियाँ प्यारे ।
यार पै नैंन करे कारे ।। छिटकाइ०

२२

अलबेली कौ रे, अलबेली कौ, न्योंई जाइगौ जुबन अलबेली कौ।
गोरी बनीं एँ मथुरा की-सी बरफी प्यारे, रसिया ऐ साँखु जलेबी कौ। न्योंई जाइगौ०
गोरी बनीं चोखट की-सी बाजू प्यारे, रसिया ऐ खंमु हबेली कौ।। न्योंई जाइगौ०

विविध

गीतों के कुछ अन्य अटपटे प्रकार ब्रज में प्रचलित हैं। उनमें से कुछ के नाम और उदाहरण ये हैं —

टप्पे

मिरग की, मिरग-छाल बिछाऐं बैठे बंसी राघौराइ।
हात लीनें बीरा हनुमाँन ते कहैं समझाइ।।
जाश्रौ रे जाश्रौ बीर, हमारे काज सारौगे।
सुंदर से सरीर मैंन लोचन बहत ऐं, जानुकी-बिनाँ हम बिपता सहत ऐं।।

२

काए कूँ दुखियाश्रौ राँम, देखौ चों न मेरौ काँम, छिनँक ऊ में खबरि लाऊँ हग चारों देस की।
कागद से फारि डारूँ, समुंदर से बिलोइ डारूँ, बूंद न छोड़ूँ वा पाँनी के पलेछ की।।
श्राग्या देउ तौ राँम, लंका उठाइ लाऊँ राँमन से नरेस की।।

३

चामिल-पार[1] जाँन की ठाँनी।।

चामिल-पार जाँन की ठाँनी, जब नाँ बचति दिखाँनी।
सो सुनि पाई देबसिंग ने, तब मन में अति करी गलाँनी।। चामिल०
तुरतई चले गाँम अपने ते, मिले बनी में आँनी।
का करि दै ऐ पुलिस तुम्हारो, नाहक में भैया भै माँनी।। चामिल०
धणि बिजई पुहपी बोलै, जब नाँ बचति दिखाँनी।
पुलिस हमारे पीछें परि गई, लीहै पकरि खूब हैंम जाँनी।। चामिल०
दाबति कालि खाउ मेरे घर, कही देबसिंग बाँनी।
इतनी सुनि कें डाकूँ बोले, हँमनें बात मित्र की माँनी।। चामिल०

४

में हरि-बिन ना जीऊँ माई।
पाँन ते पीरी भई मीरा, बिथा तन छाई।
श्रौखधि-मूल असर नहिं लावै, बैद फिरि जाई, में हरि-बिन ना जीऊँ।।
साँकर टूटि, जंजीरउ टूटी, तोप ऊ खँम खाई।
ऐसी गाँसी मारि सतगुर, पार है जाई, में हरि-बिन ना जीऊँ०।।
लाल गिरधर की दासी मीरा, उपजी सुखदाई।
अबकें दरसँन देहु मोंहन मुक्ति है जाई, में हरि-बिन ना जीऊँ०।।

५

नंदगाँम चहु ओर ते, फूल रही फुलबार।
मालिन माला गूँथती, नंदराइ के द्वार।।

[1]. पाठांतर—चंमिल-पार।

सिंगपौर ब्रजराज कौ, ढाँढ़ी ग्रोल्यौ ग्राइ।
जो माँगै सो देउ गो, गोपँन के जस गाइ ।।
नंद नंदीस्वर राज ही, बरसानें बृपभाँन।
दौंनों कुल दीपक बरें, बाँचै बेद-पुराँन।।
गोधँन पूजँन नीकसी, रैयाँ सब के हाथ।
कै तौ पूजूँ एकली, कै काँन्हा के साथ ।।

६

तेरौ बीत्यौ ऐ फागुन माँसु, ग्राइ गयौ चैत सुहाँमनों।
न्याँ तौ सत्य कथा ऐं सत की खाँनि, सभा में होइगौ ग्राँमनों ।।
मारे सुंम-ग्रसूंम ग्रसुर महिकासुर, रोप्यौ जाँनें धरि ज्वाला कौ समुंद रतनाँगर सोख्यौ।
गहि लिए ग्रष्ट भुजँन में बाँन।
निरधनियनु कूँ धँनु दीयौ, ग्रग्यानिनु दीयौ ग्याँन ।।

७

कौंन कहाँ पर रहति है, क्यों रोती क्या बात।
मृतक ग्रंग सँग कौंन है, लाई ग्राधी रात ।।
ए ग्रजुध्या के राजा चक्रवर्ती मेरे प्राँनपति।
यें ग्रौ राज-कुँमार, एक मैं थी राँनी तारावति ।।
धनि-धनि रे बिधनाँ तेरी कौंन जाँनें न्यारी गति।
ग्राए साधू एक सुजाँन, पति ते करी याचना ग्राँन, सारा राजपाट किया दाँन, द्विज को दीना है ।।
बाकी रह गया कर्ज, जब कि छोड़ि चुके राजपाट।
कासी में बिक तीनों प्राँनी, है गयौ कुनबा बारह-बाट ।।
मरि गयौ राज-दुलारौ, जाते ग्राई मैं तिहारे घाट।
बिधि नें दुख दिखायौ, तोरँन फूल बाग में धायौ,
मेरौ किसियर नें डसि खायौ, कुँमर नगीना है ।।
जगिजा मेरे लाल, मुख ते मैया-मैया कहि कें टेरि।
जानें कहाँ होंइ पिता तिहारे, पूँछें तौ कहा कहि हूँ फेरि ।।
मो ग्रबला निरभागिनी पै क्या विधि नें दीनों संकट गेरि ।।
जाग लाड़िले जाग, कर-बिन कैसे दऊँ तोइ दाग।
मेरौ ग्रंचल भरौ सुहाग, बिधि नें छीना है ।।
कहती है क्या सत्य मेरी तू पटराँनी क्या तारा है।
मृतक-सरीर संग तेरे क्या, रोहित राज-दुलारा है ।।
भानबंस का प्रिय तारा क्या हो गया ग्रस्त सितारा है।
दंपति भए निरास, लखि लई सुत ग्रपने की ल्हास,
'कल्लन' बिना कुमँर रोहितास, बिरथाँ जीना है ।।

(ए)

कहानियाँ

"ब्रज में कहानियों का अखंड भंडार है। इन कहानियों में से कुछ का संग्रह ब्रज-साहित्य-मंडल मथुरा द्वारा प्रकाशित हो चुका है, जिसका नाम है—'ब्रज की लोक-कहानियाँ'। ब्रज की कहानियों के विशेष परिचय के लिए उसे पढ़ा जा सकता है। यहाँ केवल कुछ कहानियाँ उदाहरण स्वरूप दी जा रही हैं।"

बिल्ली कौ बौहरौ

चारों यार सौखीन ए। एक यार नें पारौ मुर्गा। एक नें पारौ कुत्ता। एक यार नें पारी बिल्ली, एकु यार डंड-कुस्ती करै।

एक दिनाँ मुर्गा कुत्ता ते बोल्यौ—"कै हे यार, कै मोकूँ बिल्ली मारबे कूँ डोलै ए। जो मो पै परबस्ती राखौ तौ मेरे दिन गुजराँन है जाँइ।"

एक दिनाँ सबेरे की बखत मुर्गा चुगती डोलै औ। सो बिल्ली नें बापै झपट करी, सो मुर्गा किल्लायौ सो यार अइयो। सो कुत्ता कूँ मालिम परी, सो कुत्ता नें बिल्ली घेरी। घिरतें-घिरतें कुत्ता में बिल्ली जंगल कूँ चल दई। भाजतें-भाजतें एक गैंदुआ की भाटि में घुस गई। जो बिल्ली भीतर देखै तौ गैंदुआ सोइ रह्यौ ऐ। सो गैंदुआ जाग्यौ का, सो बिल्ली देखी। सो गैंदुआ बोल्यौ—"कै तू कैसें आई।" जब बिल्ली बोली—"मैं जेठजी, आपके पास एक काँमु आई ऊँ"। गैंदुआ बिल्ली ते बोल्यौ—"कि तेरौ कहा काँम परचौ।" सो बिल्ली बोली गैंदुआ ते—"तिहारौ भैया तौ घर है नाँ। बरात कूँ गए हैं। सो मेरे पास बोहरौ[1] आयौ। मैं उनते बोलूँ नाऊँ और तिहारे भैया बरात कूँ गए हैं। सो बोहरे ए तुम समझाइ देउ।"

सो गैंदुआ बाहर कूँ निकरौ। सो कुत्ता दरबज्जे पै ठाड़ौ। सो गीदरा नें बाहर कूँ मुँह कियो। सो कुत्ता नें मोंहड़ो भर लियौ। कुत्ता बाहर कूँ ऐंचै और गीदड़ भीतर कूँ ऐंचै। ऐंचतें-ऐंचतें घंटा दो घंटा है गए। एक बखत कुत्ता कौ मुँह ढीलौ परि गयौ। सो गैंदुआ भीतर कूँ भागौ। सो गैंदुआ बिल्ली नें बोल्यौ—"कि गुरू की लोंड़ी ऐसे ते लेंन-देंन कियौ। बोलै न बोलैंनु देइ और चुप-चाप लै।"

सो बिल्ली की गाँड़ै दो लात दईं। निकर गुरू की लोंड़ी। सो बिल्ली वहाँ ते भागि आई।[2]

२

न्यौरा भइया

एक राजा कें सात लड़का[3] ऐं[4]। सो सातोंन कौ ब्याहु है गयौ। सो छैंन कें तौ छोरा भए और एक कें न्यौरा भयौ।

तौ छैऊ कुँमर घोड़ा पै चढ़िकें सिकार खेलिबे गए। तौ न्यौरा बोल्यौ—"अंमा, अंमा, मैं ऊं सिकार खेलिबे कूँ जाऊँगो[5]।" तौ बाकी माता बोली—"कै तोइ को लै जाइगौ।" न्यौरा बोल्यौ—"मैं इनके पीछें-पीछें चल्यौ जाऊँगो।" बाकी अंमा बोली—"कि बेटा, जा।"

तौ चलत-चलत आँम कौ पेड़ मिलौ। तौ बे छैऊ कुँमर बोले—"कि हमारौ न्यौरा भईया ह्यां तो तौ आँम तोरतौ।" न्यौरा बोल्यौ—"भईया, ठाड़े रहियों। मैं आइ रह्यौ ऊँ।" तौ न्यौरा आँम के पेड़ पै चढ़िकें आँम तोरिबे लग्यौ, तौ पके-पके आँम आप खावै और कच्चे-कच्चे बिनकूँ तोरै। सो कुँमर बोले—"कै मुसर, नीचें उतर। याई माटी में मारि कें गाढ़ि दिगे।" सो बु नीचें उतरि आयौ, तौ फिर चलिबे लगे।

१. बौहारौ। २. सं० क०—झंमनलाल अग्रवाल, बिलौठी। ३. लरिका। ४. है। ५. जाँगो।

सो चलत-चलत जाँमुन कौ पेड़ मिल्यौ। तौ छैऔ कुँमर बोले—"कै न्यौरा भईया होंतौ तौ जाँमुन तोरतौ।" न्यौरा बोल्यौ—"ठाड़े रहियों में आइ रह्यौ ऊँ।" तौ न्यौरा जाँमुन के पेड़ पै चढ़ि गयौ। सो पकी-पकी जाँमुन आप खावै और कच्ची-कच्ची बिनकूँ डारै। वे छैऊ कुँमर बोले—"कि आ सुसर, नीचे उतर तोइ यहीं[1] मार चलें।" तौ मारत-मारत अधमरी करि दियौ। सो परे तें एक कुँम्हार आइ रह्यौ। सो वाऐ अपने घर कूँ लैगौ[2]। सो वाऐ खूब खवायौ करै। सो कुँम्हार के नें कही—"कि न्यौरा, न्यौरा, या छौराऐ निभटा ला[3]।" सो बु गयो, तौ छोरा ने बोल्यौ—"पेसाब करै तौ निभटै मत। निभटै तौ पेसाब मति करै।" सो छोरा उल्टौ अपने घर कूँ बगदि गयौ। सो फिर अपने बाप ते बोल्यौ —"कि काका, ई तौ कहै कि पेसाबु मनि करै।" वानें कही—"चल तौ।' फिर बोल्यौ—"कि छोरा पेसाबु करै तौ निभटै मत और निभटै तौ पेसाब मनि करै।" सो वा छोरा की आफत आइ गई। सो न्यौरा बोल्यौ—"अच्छौ या बात कूँ बता कि तेरी माँ के रुपैया कहाँ गढ़ि रहे हैं और तेरे बाप के रुपैया कहाँ गढ़ि रहे हैं।" सो बु छोरा बोल्यौ—"कि माँ के रुपैया तौ चाखी (चाकी) के कोंने में गढ़ि रहे हैं और काका के रुपैया चूले की बगल में गढ़ि रहे हैं।" सो वा छोराऐ निभटाइ लायौ।

फिर व्बा न्यौरा नें अपने पंजेन ते सब रुपैया खोदि लिए और वे रुपैया वाँ नें काँनी गधैया ऐ खवाइ दिए। सो परें ते वे छैऊ कुँमर आइ रहे। सो वे बोले—"न्यौरा भईया, घर कूँ चलें?' सो बानें कही कै चलौ भईया।" तौ कुँम्हार बोल्यौ—"न्यौरा, कछू लेइ सो लै-लै।" वानें कही—"मैं तौ काँनी गधैया ऐ लुँग्गो।" सो कुँम्हार बोल्यौ—"कि अच्छी-सी लै जा।" बु बोल्यौ—"मैं तो काँनी गधैया ऐ ई लुँग्गो।" सो दै दई।

सो बे तौ घोड़ाँन पै बैठे जाँइ, औरु बु गधैया पै बैठी जाइ। सो बैठी-बैठी यों कहै कि—

"अगँन लिपैयौ अंमा, चगँन लिपैयौ अंमा!
कुँम्हार के ते मोंगरी मँगैयौ अंमा!"

सो बाकी माँ नें आँगन लीप राखौ औरु कुँम्हार कौ एक डंडा धरि राखौ। सो अपने घर जाकें[4] वा गधैया में खूब सोटा लगाए। सो दाइरी[5] खूब लीदु करै। सो रुपैयाँन ते आँगन भरि गयौ सो फिर वे छैऊँ कुँमर बोले—"कि या गधैया कूँ बेचैगौ" न्यौरा बोल्यौ कै—"बेचुँगो।" सो बिन कुँमरनु नें बु गधैया लै लई।

सो बे वा गधैया में सोटा दैवे लगे। सो कछू न डारै। बु जानते मारि दई परि कछु न निकरौ। वे बाके माँस ऐ बेचिबे गए सो यों कहे—"कि लेउ गधैया कौ माँसुन" सो काऊ नें न लियौ। बिनते बु न्यौरा बोल्यौ—"कि लाओ मैं बेचि कें आऊँ।" सो यों कहतौ डोलै—"कै लेउ कोई बकरा कौ माँसु। सो लै लियौ। बेचकें अपने घर कूँ आइ गयौ। सो रुपैया बिनकूँ दै दिए।

३

गीदड़ की चालाकी

एक ऊँट औरु गीदड़ु की यारी ई। सो एक दिन[6] ऊँट एक बारी में जाइ लग्यौ। सो दूसरे दिन वाके यार गीदड़ु कूँ खबरि परी। सो गीदरा बोल्यौ—"यार, यार, तू कहाँ कूँ जाइ[7] करै?" सो ऊँट बोल्यौ—"कै हूँम तौ चरिबे कूँ जायौ करें।" बु बोल्यौ—"कहाँ चरौ करै?" ऊँट बोल्यौ—"जमुनाँ-पार।" सो बु बोल्यौ—"हूँम हूँ चलिगे[8]।" सो वे दोऊ चरिबे चले।

जब बीच में जमुनाँ परी का सो गीदरा बोल्यौ—"भाई, मोइ पीठ पै बैठा[9] लै चलु," सो ऊँट बैठा लै गयौ। जब बारी आई का जब उतार दियौ। सो गीदड़ु एक फूँट में छिकि[10]

[1]. जहीं। [2]. गओ। [3]. निभटाइ। [4]. जाइकें। [5]. दारी। [6]. दिनाँ। [7]. जायौ। [8]. चलिगो। [9]. बैठाइ। [10]. खूब पेट भर कर।

गयौ, ऊँट नाँइ झिकौ। सो गीदरा बोलौ—"भाई, मेरी हुकहुकी कौ बखत ग्राइ गयौ। सो मैं तौ हुकहुकी लगाऊँ।" सो ऊँट बोल्यौ—"भाई, मोइ एक फूंट ग्रौर खा[१] लिंदै[२] ।" सो वानें एक फूंट खाइ लियौ। फिर गीदरा बोल्यौ—"ग्रब मेरी बोली कौ बखतु ग्राइ गयौ।" तौ ऊँट बोलौ—"भाई, एक फूंट ग्रौर खा लिंदै।" तौ गीदरा न मान्यौ। सो बारी-बारे की खाट के नीचें जाइ कें हुकहुकी लगाई, सो बारी-बारी जागि परौ, सो बारी माऊँ भग्यौ। माँ ऊँट चरि रह्यौ ग्रो। सो ऊँट मारत-मारत ग्रधमरौ कर दियौ। ऊँट भग्यौ चल्यौ गयौ ग्रौरु परे तें गीदरा भग्यौ चलौ ग्राइ रह्यौ। सो बाकौ यार नदी पै ठाड़ौ मिलि गयौ। सो ऊँट बोल्यौ कै—"चलि यार घर कूँ चलें।" सो गीदरा बोल्यौ—"कै यार, मोइ लै पीठ पै बैठार लै।" सो बैठाइ लियौ। बीच धार में जाइ कें ऊँट बोल्यौ—"कि मेरी लुटलुटी कौ बखत ग्राइ रह्यौ ऐ।" सो गीदरा बोल्यौ—"कै भाई मर जाऊँगो।" ऊँट न मान्यों। लुटलुटी लेंत खेंम गीदरु बह्यौ चल्यौ गयौ।

फिर वाऐ एक गहा[३] मिलौ। सो बु गीदर बोल्यौ "कै भाई मोइ निकार लै।" सो वानें निकार लियौ। वाकी ग्रौर वाकी यारी ई जुर गई। सो एक दिनाँ गहा नें गीदर ते कही—"कै भाई, ग्राज तोइ हमारी माँ बोल रही है।" सो गीदर खूब पके-पके तीन-चार बेर लै गयौ।

सो गीदरा नें जाकें[४] वाकी माँ तें राँम-राँम करी। सो वा नें राँम-राँम लै लई, सो गीदरा नें वाकूं बेर दिए। सो वाकी माँ खाकें[५] खुस ह्वै गई। सो बु गहा तें बोली—"कै बेटा, याके बेर इतेक मींठे हैं सो याकौ करेजा कितेक मींठौ होगौ[६] ।"

सो ब्वा नें ग्रपने यार ते कही—"कि चों यार तेरे बेर इतेक मींठे हैं सो तेरौ करेजा कितनों मींठौ होगौ।" सो गीदरा सोच्यौ कै भाई, यानें मारे।

सो वानें कहा काँम करौ कि यों कहि दई कि "ई, जबतें चों नाँइ कही। ग्रब तौ मैं ग्रपने करेजा कूं झार पै सुखाइ ग्रायौ ऊँ। ई, जब ते कह दें तौ तौ नाँइ सुकाँतौ।" सो फिर गीदरा बोल्यौ—"कै मैं लै ग्राऊँ।" सो घर में ते निकरि कें कहै कि कहूँ करेजा झारँन पै नाँइ सूखें।" तौ गहा बोल्यौ—"कै देखौ जाइगौ।"

सो फिर दूसरे दिनाँ ग्रायौ का पाँनी पीबे सो गहा नें वाकी टाँग पकरि लई, सो गीदरा बोल्यौ—"कै यै तौ बर की जर पकरि राखी है।" सो टाँग तौ छोड़ि दई ग्रौर बर की जर पकरि लई। सो कहै—"कि लै सुसर, टाँग पकर लै।" तौ फिर गहा बोल्यौ—"कै देखौ जाइगौ।"

सो फिर एक दिनाँ वाके घर में गहा जाइ घुसौ। सो गीदरा चरिकें ग्रायौ। वाऐ वाकी घिसरामँन दीख गई। सो कहै—"कि घर राँम-राँम", सो बोल्यौ—"कै ग्रौर दिनाँ तौ हमारौ घर बोलै ग्रो ग्राज क्यों ना बोलै।" सो गहा बोल्यौ—"राँम, राँम" तौ फिर गीदरा बोल्यौ—"कै कहूँ घरु बोलो नाँइ करें।"

४

तीन चोरु ग्रौर एक राजा

एक दिनाँ तीनि चोरु चोरी करिबे कूं चले। सैहेर कौ राजा वाई बखत गस्त लगाइबे कूं भेसु बदलि कें निकरचौ। ब्वानें तीन्यों चोट्टा देखे। राजा नें उनतें जाइ कें पूछी—"भाई तुम को ग्रौ?" उननें कही—"भाई हूँम चोरु ऐं, ग्रौरु चोरी करिबे कूं ग्राए ऐं।" फिरि उन नें राजा ते पूछी—"ग्रौरु तू को ऐ भाई?" तौ राजा नें कही—"मैं ऊ चोरु ई ऊँ।"

फिरि राजा नें पूछी—"भाई तुम में गुन कोंन-कोंन से ऐं?"

एक नें कही—"मैं भरि नजरि तारे माँऊ देखि दंऊ तौ तारे खुल जाँइ।"

दूसरे नें कही—"मैं धरती ऐं सूंघि कें बताइ सकतूं कि ज्याँ धँनु ऐ।"

१. खाइ। २. लिनदं, लिंदै। ३. मगर। ४. जाइकें। ५. खाइकें। ६. होइगौ।

तीसरे नें कही—"मैं जा आदमी ऐ देखि लुंगो, ब्वाइ सौ बर्स पीछेंऊँ पैहिचांनि सकतूँ।"

तीन्यों चोट्टाँन नें अपने-अपने गुँन बताइ दिए। अब बिन नें राजा ते पूँछी—"भाई नए चोरु, अब तूऊ बताइ कि तो पै कहा गुँन ऐं?" राजा नें ज्वाबु दीयौ—"जौ इनमें नारि-हलाद दूँ[1] तौ फाँसी पै चढ़ाइ दूँ औरु जौ[2] इतमें हलाइ दूँ तौ फाँसी पै ते उतारि दूँ। औरु जौ तुम मोइ अपने संग लेउ तौ चोरी के माल में ते आधौ मालु मैं लुंगो।"

चोट्टाँन नें सोची—"भाई, हमें फाँसी ते जादानरु काम परतु[3] ऐ। जाइ लिवाइ चलौ।" झट्ट बुहू अपने संग लगाइ लीयौ।

राजा उनें अपनेई खजाँने में लिवाइ गयौ। पैहले नें तारे खोलि दए, दूसरे नें धँनु बनाइ दियौ। सब धँनुऐं लैकें चोट्टा निकरि आए। राजा तौ उलकैयाँ-बिलुकैयाँ दै कें निकरि आयौ औरु अपने सिपाइन नें इसारौ दैकें बे तीन्यौ चोट्टा गिरफ्तार करवाइ दिए।

दूसरे दिनाँ राजा की कचैहरी जुरी। तीन्यों चोट्टा दरबार में आए। अब द्वै चोट्टाँन नें तीसरे ते कही—"भाई हँम तौ अपनों-अपनों काँमु करि चुके। अब तू अपनों काँमु करि औरु बताइ बु रातिबारौ कहूँ दीखतु ऐ।" ब्वानें देखि-भारि कें कही—"कि होइ न होइ जी राजाई औ।"

अब राजा नें फाँसी कौ हुकमु सुनाइ दीयौ। चोरंनु नें ब्वाने कही—"राजा, हम तौ तीन्यों जँने अपनों-अपनों काँमु करि चुकें। अब तू अपनों काँमु करि। राजा नें झट्ट अपनी नारि इतमें हलाइ दई। सोई फाँसी हटि गई।

चोरी कौ आधौ मालु तौ राजा नें अपने खजाँने में डरवाइ दीयौ औरु आधौ चोट्टाँन नें दैकें उनतें कही—"जाऔ अब कबऊ ऐसौ मति करियौ[4]।"

५

फूलनदेई : कौलनदेई

एक फूलँनदेई औरु कौलँनदेई दो बैहन थीं[5]। फूलँनदेई की माँ हती[6] औरु कौलँनदेई की माँ नाईं। कौलँनदेई गैया चरायौ करै ई। तौ वाकी मोंसी ऊपर-ऊपर चून औरु नीचें गोबरु की रोटी करिकें भेजै ई। तौ कौलँनदेई चून-चून तौ चाट लेई औरु गोबरु ऐ गाँढ़ि देई। तौ एक दिनाँ वाकी माँ, वाइ सुपने में दीखी। तौ वाकी मानें पूछी—"बेटी, दुखी कै सुखी?" वानें कही—"मैया, बहुत दुखी।" वाकी अंमा नें कही—"मैं बंबे पै बेरिया बनूंगी।" वानें कही—"माँ, फूलँनदेई न खाँन देगी।" कौलँनदेई की मा नें कही—"कि तू बेर खाइगी तौ पीरे-पीरे औरु फूलँनदेई खाइगी तौ वही[7] हरे—कच्च।

एक दिन कौलँनदेई बेर खाइ[8] रही ई। तौ फूलँनदेई रोटी लैकें आई। वानें पूंछी—"बीबी, का खा रई ऐ।" बानें कही—"बीबी, बेर खा रई ऊँ, तूबी खा लै।" जब कौलँनदेई खाइ तौ पीरे-पीरे औरु फूलँनदेई खाइ जब हरे—कच्च। जब वौ[9] फूलँनदेई घर गई तौ वानें अपनी माँ ते कही—"या बंबे पै एक बेरिया ऐ। जब कौलँनदेई खाइ तौ पीरे-पीरे पके औरु जब मैं बेर उठाँऊँ तौ वौ हरौ—कच्चंद। तौ वाकी मा अंसटपाटी[10] लैकें परि गई।

जब फूलँनदेई कौ चाचा आयौ तौ वानें पूछी—"कि तू कैसें पड़ी ऐ।" वानें कही—"बंबे पै जो बेरियाऐ बाऐ कटबावै तौ रोटी खाऊँ, नहीं तौ रोटी न खाऊँ।" वाके चाचा नें बेरिया कटवाई। जब बु बेरिया कटि गई तौ कौलँनदेई की माँ सुपने में फिरि आई। बानें पूँछी—"बेटी, अब दुखी कै सुखी।" बानें कही—"माँ, अब मैं औरबी दुखी।" वानें कही—"देखि बेटी, मैं तेरे घर में 'मोखी' बनूंगी बामें जब तू खायौ करैगी तो लड्डू-पेड़ा औरु जब बु फूलँनदेई खाउ करैगी तौ कंकड़-पत्थर।"

१. दऊँ। २. जो। ३. पर्तु-पत्तु। ४. सं० क०—चंद्रभान, लोहवन के संग्रह से। ५. ई। ६. ही। ७. मैंई। ८. खाइ रई ऐ। ९. बु। १०. खटपाटी।

एक दिन कौलँनदेई लड्डू-पेड़ा खा रई। इतने में आ गई फूलँनदेई। तौ वानें कही—"बीबी, का खा रईऐ।" कौलँनदेई नें कही—"बीबी, लड्डू-पेड़ा खा रई ऊँ। आजा, तू बी खा लै।" जब कौलँनदेई खावै तौ लड्डू-पेड़ा और फूलँनदेई खाइ तौ कंकड़-पत्थर। फूलँनदेई नें अपनी अंमा ते जाइकें न्यों कहि दई—"कि अंमा, कौलँनदेई तौ लड्डु-पेड़ा खाइ करै।" वाकी अंमा फिरि अनसटपाटी लैकें परि पई। फूलँनदेई कौ चाचा आयौ तौ वानें पूछी—"कि तू चों अबकें कैसें पड़ी।" वानें कही—'कि हमारी या मोखी ऐ बंद करा देऔ तौ अंजल-पाँनी[1] करूँ, नईं तौमें मरुंगी।' वानें मोखी भी बंद करा दई।

एक दिन फूलँनदेई की मानें कही—"कि तुम कौलँनदेई की ऐसी जगें सगाई करियौ कि जो लकड़ी बेचती हो! और मेरी बेटी की ऐसी जगह सगाई करियौ जो राजा-महाराजा हो।" तौ ब्वानें ऐसीई जगें सगाई करी।

तौ फूलँनदेई की बरात खूब सजधज कें आई और कौलँनदेई की बरात मामूली आई। फूलँनदेई की बरात में खरखोरिया मचिगौ और कौलँनदेई की बरात में खूबु झमझमाहट आ[2] गयौ। फूलँनदेई पै कछु बी गैहनों न रह्यौ और कौलँनदेई पै खूबु गैहनों हैगौ। तौ वाकी मौंसी नें कही—"कि कौलँनदेई, तू कछु गैहनों अपनी बैहन कूँ दै-दै।"

जब फूलँनदेई की माँ नें कौलँनदेई कौ सिर बाँधौ तौ वाकौ सिर बाँधती जाइ और कील ठोकती जाइ। तौ जब सबरी कीलु ठुकि चुकी तो वौह चिड़िया बनि कें उड़ि गई। तौ कौलँनदेई की जगें वानें फूलँनदेई भेजि देई। तब वाके पती नें पूछी—"कि तू तौ कारी नाँई, अब तू कारी क्यों है गई।" तौ वानें कही—कि मेरी मौंसी मोपै कोला पिसवायौ करै ई। सो में कारी है गई।" ब्वानें कही—"अच्छा।"

जो चिड़िया बनकें कौलँनदेई उड़ गई तौ बु रोज उनके घर पै बैठि कें न्यों कह्यौ करै ई—"कि कौलँनदेई डोलै मारी-मारी। फूलँनदेई सोवै चित्तरसारी।"

तौ एक दिनाँ बु चिड़िया कौलँनदेई के पती नें पकड़ लई, जब वाके सिर में सें कील निकारी तौ देखी तौ कौलँनदेई। जब कौलँनदेई नें यह बात देखी तो वानें कही—"कै फूलँनदेई ऐ देस निकारौ दे दो।" तो कौलँनदेई मैहलँनु में रहँन लगी औरु फूलँनदेई कूँ देस निकारौ दै दीयौ।[3]

६

ठाकुर रामपरसाद

ठाकुर रामपरसादु और उँनकी ठकुराँनी जे घर में खाली[4] द्वै पिराँनी ए। हलुकौ-पतरौ खेतुऊ करत्वे। वापै एक भैंसि, द्वै बरध ए। भैंसिया दूध देती। खेत में कछू ऐसी नैदा न भई। ऐसें करिकें तीन बरस की वापै भेज रुकि गई। कारिंदा, पटबारी औरु लंबरदार कौ नित्त तगादौ आयौ करै। जब कारिंदा कौ सिपाई तगादे कूँ आवै, जबई नित्त छाछि लै जायौ करै औरु जब पटबारी तगादे कूँ आवै तौ बाकौ सबु दहीऐ लै जायौ करै और जब कबऊ कारिंदा कौ चक्कर होइ तौ बु सबु दूधै लै जाइ। विचारौ रामपरसादु बड़ौ तंगु है गयौ औरु भूँखनु मरँन लग्यौ।

अब कारिंदा-पटबारी बोले—"कै तौ तीन बरस की मालगुजारी दै जा, नहीं कुड़कमीन लाइकें हम कुड़क करींगे।" रामपरसादु आइकें अपनी बहू ते बोल्यौ—"कै आजु कुड़कमींन आवैगौ सो मैं तौ दुबकि जाऊँ औरु तू तारौ दैकें घर में बैठि जइयौ। मैं अबेरौ-सौ राति में आउँगौ।" रामपरसादु दुबकि गयौ।

[1]. भाषा विज्ञान का एक विचित्र उदाहरण है—"अन्न-जल = अंजल"। इसका एक अर्थ रह गया और यह अन्न का पर्याय बन गया। पानी तब और जोड़ना पड़ा। [2]. आइ। [3]. जगदीश प्रसाद कोसी कलाँ, मु० तालाबशाही, मथुरा के संग्रह से। [4]. केवल।

अब रामपरसादु की बहू हात-पाँम धोइकें, नई फरिया ओढ़िकें पाँनी भरिबे गई। गैल में पटवारी मिल्यौ। बोल्यौ—"कै कोऐ, रामपरसादु की-सी वोहौटिया ?"

'येजी हूंबै', फिरिकें ठाड़ी है गई।

"रामपरसादु कहाँ गयौ ऐ। भेजि देइ, नहीं कुड़की होगी।" ठकुरानी बोली—"ये जी, वे तौ तिहारे डर के मारें कैऊ दिनाँ के भगि गए।

"भलौ !"

"हाँ जी !"

"तो पौहे-ढोरँन की कैसें होंति होगी ?"

"ये जी, मेंई करतूँ।"

"कोई चिंता मति कर। हूँम आजायौ करिंगे।"

आगें चली तौ कारिंदा पायौ। बोल्यौ—"कै, को जाँति ऐं। रामपरसादु की-सी बहू।" बहू, फिरिकें ठाड़ी है गई—"ये जी, हूंबै।"

"तौ रामपरसादु कहाँ गयौ ऐ। भेज-फेज दै-दाइ दे नहीं कुड़की होगी।"

'ये जी, वे तौ कैऊ दिनाँ के भाजि गए।'

"भलौ ?"

"हाँ जी।"

"तौ ढोर-पौहेन की को करि रह्यौ है।"

"ये जी, सबु मैं ई करि रई हूँ।"

"कोई चिंता मति करियौ, राति कूँ हम आइ जांइगे।"

आगें चली तौ सिपाई पायौ। बोल्यौ—"कै ठकुरानी ऐं का।"

बोली—"हूँबै जी।"

"रामपरसादु कहाँ ऐं ?"

"ये जी, बे तौ भागि गए।'

"भेज-फेज को देगौ? नहीं कुड़की आवैगी। परि कोई बात नाऐं। घबड़ैयौ मति, राति-बिराति कूँ हम आइ जायो करिंगे। और भेजऊ की देखी जाइगी।"

अब दिन मुद्यौ, राति भई, तौ सिपाई आयौ। फाँटिकु खटखटायौ। बोल्यौ—"कै रामपरसादु हत्वै का ?" ठकुरानी बोली—"ठैरियों, आई।" फाँटिकु खोल्यौ, भीतर गए, खाट बिछाइ दई सिपाई बैठि गयौ, बोल्यौ—"कै, रामपरसादु भगि चों गयौ। मैं भेज दै देंतौ।"

इतेकई में पटवारी आइ गयौ। बोल्यौ—"कै, रामपरसादु हत्वै का।" ठकुरानी बोली—"ठैरियों आई।"

सिपाई बोल्यौ—"को ऐ ?"

"पटवारी जी ऐं।"

"तौ बीर, तू मोइ दुबकाइ। तू मेरी धरँम की बैंहनु, मैं तेरौ भईया। मोइ बचाइ।"

ठकुरानी बोली—"कै, सबु लत्ता उतारौ।"

बानें सबु लत्ता उतारे। ठकुरानी नें पोतनाँ लैकें सबरौ पोति दयौ और मूँड़ु पै माटी धरिकें और ऊपर दीयौ धरि कें कोंने में ठाड़ौ कर दीयौ। अब फाटिकु खोल्यो। पटवारी आए। खाट पै बैठि गए। बोले—"चिंता मति करियौ। तीन्यों बरस की भेज स्याहे में दाखिल करि दुंगो।" इतेकई में कारिंदा आयौ। बोल्यौ—"रामपरसादु हत्वै का ?" ठकुरानी बोली—"ठैरियों जी, आई।"

पटवारी बोल्यौ—"को ऐ ?"

"यें जी, कारिंदा ऐं।"

पटबारी बोल्यौ—"भागमाँनु, मोइ दुबकाइ।"

वानें कही—"सबु लत्ता उतारौ।"

वानें अट्ठई उतारि दियें। बु बोली—"कोठी की छाँनि के नीचें घुसि जाग्रौ। परि मूँडु नेंकु नीचोई राखियों, ज्या में एकु कारौ स्यांपु कैऊ दिनाँ कौ बैठ्यौ ऐ। जानें कहूँ आँधरौ है गयौ का। कितऊ कूँ जाइ[१] नाएँ।" वानें कही—"भागमाँनु, काँन तौ हलाउँगोई नाँ।"

ठकुराँनी नें फाटिकु खोल्यौ। कारिंदा आयौ और खाट पै बैठि गयौ। बोल्यौ—"कै, रामपरसादु कबते नाँएँ। ठकुराँनी बोली—"ये जी, बिन्नें तौ अठबारेनु है गए।" कारिंदा बोल्यौ—"कोई बात नाँएँ। मैं सबु देखि-भारि लुंगो और तीन साल अगिली और तीन साल पिछली सबु भेज माँफु करि दुँगो बु बोली—"ये जी, बे तौ गए। अब तुम्हें दीखै जैसें करौ।" इतेकई में रामपरसादु आइ गयौ बोल्यौ—"कै, फाटिकु खोलियौ।" ठकुराँनी बोली—"ठैरियों, दूधै धरि आऊँ, आई।"

कारिंदा बोले—"को ऐ ?"

ठकुराँनी बोली—"बेई एँ।"

"को, "रामपरसादु?"

"हाँ जी।"

"अरी तौ पैंनमेसुरी, मोइ दुबकाइ।"

"ये जी, कहाँ दुबकाऊँ ?"

"अरी बीर ! तू मेरी धरँम की बेटी ऐ। परि मोइ दुबकाइ। नहीं मेरी बड़ी जाति बिगारैगौ।"

"अच्छौ तौ, लत्ता-पिछौरा बेगि उतारौ।"

वानें डर के मारें सबु उतारि दए। बु बोली—"देखौ तुम कोठी में घुसि जाग्रौ। परि एक काँमु करियों यामें मेरी परु की दबाईन कौ तेलु धरचौ ऐ, कहूँ हलियों-झुलियों मति। नहीं सबु तेल फैलि जाइगौ। चुप बैठे रहियों। मेरें गठिया कौ दुख कबऊँ-कबऊ है जातु ऐ। फैलि गयौ तौ कोंन पै मँगाउँगी।" कारिंदा बोल्यौ—"भागमाँनु, उसासऊँ तौ लुंगोई नाँ और की कहा चलाई।"

अब फाटिकु खोल्यौ। रामपरसादु आयौ। बोल्यौ—"भाई, मैं दिन भरि कौ भूखौ ऊँ कोई रोटी-फोटी, दरिया-महेरी होइ तौ दै। परि जि तौ बताइ, कोई तगादे-फगादे कूँ तौ नाँइ आयौ।" बु बोली—"आए तौ हते। अबेरे-से आए।" ठकुराँनी नें महेरो परोसि दई और ब्याई में दूधु करि दीयौ। रामपरसादु बोल्यौ—"भाई, जितौ नेंक तातौ ऐ।" बु बोली—"बीजनाँ लै लेउ। सीरौ करि लेउ।"

अब बु मन में बोली कै न जाँनें पटबारी कहूँ भूँखौ है का। बड़ी देरते इतई कूँ छाँनि में ते देखि रह्यौ ऐ। न होइ तौ ज्याइ दूधु दै आऊँ। पटबारी ते बलाइ काँमु परत्वै। बेला में दूधु लैकें गई और कोठी के ऊपर दैंन लगी। बु तौ बिचारी डरके मारें चुपु बैठ्यौ ओ, तातौ बेला हात में ते छूटि गयौ। कोठी के ऊपर फैलि गयौ। बिचारौ पटबारी भुरसि गयौ। फफोला परि गए और धँमारे में ह्वैकें कोठी में भीतर गयौ। म्वाँ कारिंदा बैठ्यौ ओ, बाकी पीठि पै परचौ। सबु सरीर पै परचौ, बाऊ के सबु सरीर में फफोला परि गए। बोल्यौ—'भागमाँनु, मैंनें नाहिं फैलायौ जि तेरौ तेलु, आपई फैलि गयौ ऐ, परि बड़ौ गरँमु एँ।" पटबारी बोल्यौ—"हल्यौ में ऊँ नाऊँ। मो ताँई कैसें आइ गयौ।" रामपरसादु बोल्यौ—"महेरी तौ पीछेंई खाउँगौ, परि जि को कोठी में बबरचौ बैठ्यौ ऐ। ज्याइ देखूँ।" बु गयौ और कारिंदा कौ हातु पकरि कें खैंचि लयौ। वानें कही—"कै, तैनें बड़े पाँम उखारे। अब बताइ दै ?" कारिंदा नें हात जोरे और बोल्यौ—"कै भाई, जन्म-भरि भेज मति दीजौ परि मोइ छोड़ि दै।" कारिंदा जी छोड़ि दीए।

फिर बोल्यौ—"कै, जि छाँनि में को हलि बे बारौ ऐ, ज्याइ देखूँ।" बिचारौ पटबारी पाँम पकरि कें खेंचि लयौ और खूब मारि लगाई। पटबारी बोल्यौ—"कै भाई, तेरौ खातौ माँफीदार में करि दुंगो। तू मो ऐ छोड़ि दै।" पटबारीऊ छोड़ि दयौ।

१. जाता ही।

अब बोल्यौ भाई, मैंने जे बड़े-बड़े आदमी मारे ऐं। जे अब मोइ पिटबामिगे। सो चलि राति मेंई भगि चलें। सबु सांमानु बांध्यौ। बोल्यौ—"सोटि-लकड़ियाऐं को लै चलै, मरैन दै, परि एकु कांमु करि; मेरौ डंडा ला। देखि जि तैनें दीवटि कैसी नीठि ते रचि-पचि कें बनाई ऐ ग्रोरु कांन, नांक, आंख, भोंह कैसे बढ़िया बनाए ऐं। कोई वैसेंई तो लै जाइगौ। ज्याइ फोरि चलें।" इननी सुनिकें सिपाई बोल्यौ—"कै अजी ठाकुर साब, मरि जाउगो।"

ठाकुर बोल्यौ,—"कि अरे कै सारे, मेरी छाछऊ तक नांइ छोड़तो।"

"अजी में ज्या नौकरीऐ ई न करैंगो। कबऊँ न आउँगो मोइ छांड़ि देउ।" वाऊ कूं छोड़ि दयौ। धेला काऊ कूं न दयौ।[१]

७

ठगों को ठगनेवाला

एकु राजा ओ। व्वाकें एकु बेटा ओ। व्वा बेटा पै व्वाकौ बौहौत भारी प्यारु ओ। परि व्वाकौ मनु नाँ ग्रो लगतु। एकु दिनाँ राति कूं उठि कें बु चलि दीयौ। चलाचल-चलाचल बु एकु ग्रौरु दूसरे सैहैरु में पौंहँच्यौ। व्वा सैहैरु में एकु साहूकार रह्यौ करतो। बु साहूकार बहुत धंनी ओ। व्वाके धँन कौ कछू बार-पार नांग्रो। परि व्वाकें कोई बेटा नांग्रो।

जब राजा कौ बेटा व्वा नगर में पौंहँच्यौ तौ व्वा साहूकार ऐ खबरि परी। व्वानें बु बुलायौ, बु गयौ तौ साहूकार नें व्वाते पूछी—"कि रे तू को ऐ, कहाँ ते आयौ ऐ?" व्वानें अपनी सबरी ग्रेह-बालु कहि दीनों। साहूकार नें बु राखि लींनों।

साहूकार के सैहैरु में एकु सरोबरि ई। साहूकार की जि हुकँमु ओ कि कोई आदिमी व्वा सरोबरि में न अन्हावै। साहूकार जब जाइकें व्वामें डुबकी लगाग्रो करतु ओ, तौ व्वाके हाथँन में हीरा, पन्नाँ, जबाहिराति आइ जायौ करत ई। परि व्वानें राजा के बेटा ते तौ न्हाइवे की कहि राखी ई। राजा कौ बेटा जब व्वा में डुबकी लगावै तौ कंकर-पत्थर ई व्वा के हात में आमैं।

भौतु दिनाँ राजा के बेटा ऐ म्वाँ रहत-रहत है गए। एक दिनाँ वानें साहूकार ते कही—"पिता जी, अब हमें अपने मा-बाप की यादि आइ रई ऐ। अब हम उनके जौरें ह्वै जांगे।" साहूकार नें कही—"भौतु अच्छा बेटा, परि लै कहा जाउगे।" व्वानें कही—"एक घोड़ा देउ ग्रौर पोसाक पैहरिवे कूं देउ ग्रौरु द्वै-चारि लाल दै देउ।" साहूकार नें सबु चीज व्वाकी भेंट करी। अब राजा कौ बेटा चलि दीनों।

(२)

दर कूंच, दर मंजिल तै करतु भौ बु अपने नगर कूं चलिबे लग्यौ। आगें जाइकें व्वाइ एकु ठगँन की नगरी परी। एकु ठगु जो सबु ठगँनु कौ सिरदारु हतुकाग्रौ, समझि गौ कि जितौ कोई सौंने की चिरैया ऐ। बु व्वाते झूंठी-सांची बात बनाइ कें अपने घरकूं लिबाइ लैगौ।

व्वा ठग की द्वै बेटी ईं। व्वानें अपनी बेटीन ते कही—"देखी जि सौंने की चिरैया ऐ, जैसें बनें तैसें जाइ ठगौ। बेटीनुनें कही—"अच्छा पिताजी!"

राति भई, राजा कौ बेटा ऊपर चित्तरसारी में सोइबे कूं भेज्यौ। अब एक बेटी चौमुख-दिबला एक हात में लैकें ग्रौरु तरबारि लैकें व्वाके जौरें गई। जाँतखँम व्वाकी छाती पै चढ़ि बैठी, ग्रौरु व्वाते कही—"तो पै जो कछू होइ सो धरि दै, नईं तौ तोइ मारतिऊँ।" व्वानें कही—"भागिमांन, मो पै कछू नाँऐं। जौ तू मोइ मारि देगी तौ ऐसेंई पछिताबैगी जैसें लाखा बंजारौ अपने कुत्ता ऐ मारि कें पछितायौ का ओ।" व्वानें कही—"लाखा बंजारौ कैसें पछितायौ।" व्वानें कही—"जौ तू मेरी छाती पै ते उतरि परै तौ बताऊँ।" सोई बु छाती पै ते उतरि परी। अबु बु कहिबे लग्यौ—

[१]. पातीराम—अकबरपुर के संग्रह से।

"देखि ठग की बेटी, एकु लाखा बंजारौ ओ। ब्वापै एकु कुत्ता ओ। एक पोत ब्वापै ओखा परी। ब्वानें पाँनसौ रुपया में अपनौ कुत्ता गैहनें धरि दीयौ, एकु साहूकार के याँ।

ब्वा साहूकार के एक दिनाँ चोरु चोरी करिबे आए। कुत्ता उन चोरँनु कूँ देखि रह्यौ ओ। ब्वानें सोची—"जौ, जौ मैं भूँसतु ऊँ, तौ-तौ जे मोइ मारि दिंगे। जातें ला चुप्पु-चापुई देखतु रहूँ कि जे कहा करत एँ।" चोरँनु नें सबु मालु-असबाबु निकारि लीयौ। सबु रुप्या औरु माल-असबाबु उन चोरँनु नें जाइकें एक ताल में गाड़ि दियौ। कुत्ता नें सब बात देखि लीनीं।

सवेरें भएँ हल्ला-सोरु मँच्यौ। कुत्ता सबँन के लत्तानु कूं पकरि कें खेंचै। परि काऊ की समझ में ब्वाकी बनाई न आवै। फिरि एकु डोकरा नें कही—"भाई, जा कुत्ता के संग चलौ, जि कछू बतावैगौ।" सोई सबु जने ब्वा कुत्ता के पीछें-पीछें चलिबे लगे। कुत्ता ब्वाई ताल में जाइकें कूदि पर्‌यौ। लोगँनु सोची—"कुत्ता करतु कहा ऐ।" कुत्ता नें डूबक मारी औरु अपने म्हों में एक रुप्याँन की थैली उठाइ लायौ। लोगँनु नें सोची—"भाई, मालु जाई में ऐ," कै ते उननें घुसि कें ब्वा में ढूँड़ा-खँखोरी मँचाई, सोई उनें सबु मालु-मता पाइ गयौ अब बु साहूकार कुत्ता पै बड़ौ राजी भयौ औरु ब्वाते कही—"जा, अब तू अपने मालिक के जौरें जा।" ब्वानें सब बात एक चिट्‌ठी में लिखिकें ब्वाकी नारि में बाँधि दीनीं।

अब बु कुत्ता, लाखा बंजारे के जौरें चल्यौ। जब लाखा बंजारे ने कुत्ता आँमतु देख्यौ तौ ब्वानें अपने मन में सोची—"कि, कुत्ता साहूकार ते दगा करिकें चल्यौ आयौ ऐ।" सोई ब्वानें तरबारि निकारि कें कुत्ता कौ मूड़ काटि दियौ।

जब ब्वाइ ब्वाकी नारि में चिट्‌ठी दीखी तौ ब्वानें बु खोलि कें पढ़ी। पढ़िकें एकु दम ब्वाइ भ्रमा आइ गयौ औरु बु हाइ कुत्ता, हाइ कुत्ता करिकें रोइबे लग्यौ। सो ए ठग की बेटी, जौ तू मोइ मारि देगी तौ तुहू ऐसें ई पछिताइगी, चौंकि मेरे पास कछू हतु नाँएँ।"

❀

ब्वा राजकुँमार नें वे लाल अपनी जाँघ-चीरि कें ब्वा में भरि लए ए।

दूसरे दिनाँ दूसरी ठग की बेटी आई औरु बु ऊ ब्वाकी छाती पै चढ़ि बैठी। राजा के बेटा नें ब्वाते कही—"जौ तू मेरी जाँनि लै लेगी तौ तू ऐसेंई पछितावैगी जैसें राजा अपने बाज ऐ मारिकें पछितायौ काओ।" ब्वानें पूंछी —"राजा कैसें पछितायौ ?" ब्वानें कहीं—"मेरी छाती पै ते उतरि तव तोइ बताऊँ।" बु छाती पै ते उतर परी। राजा कौ बेटा कहिबे लग्यौ —

"देखि ठग की बेटी, एक राजा नें एकु बाजु पारि राख्यौ ओ। जब राजा सिकार खेलिबे जायौ करतौ तब बु अपने पंखन ते ब्वाकी छायाँ करतु जायौ करतु ओ। एक दिनाँ राजा ऐ बड़ी प्यास लगी, परि पाँनी कहूँ नाँ। ब्वाई बखत एक चील एक स्याँप ऐ मारिकें एक पेड़ पै डारि गई, ब्वाके म्हों में ते जहर की बूंद झरचौ करैं। राजा नें समझी कि ईसुर नें मेरे काजें पाँनी बरसायौ ऐं। सोई एक कटोरा में उन बूंदनु कूं लैवे लग्यौ। बाज ऐ सब बातँन की खबरि ई। सोई ब्वानें राजा के कटोरा पै झपट्टा मार्‌यौ, सो कटोरा गिरि पर्‌यौ। राजा ऐ बड़ी रिस आई। ब्वानें तीर-कमाँन ते झट्ट बाजु मारि दीयौ।

जब बु ऊपर कूं चाह्यौ सोई ब्वाइ स्याँपु दीख्यौ। अबु बु हाइ बाज, हाइ बाज करिकें रोइबे लग्यौ। सो ए ठग की बेटी, मेरे पास कछू ऊँ नाँ ऐं। जौ तू मोइ मारि देगी तौ तूऊ ऐसेंई पछिताबैगी।"

बु ब्वा दिनाँ लौटि गई औरु अपने पिता ते जाइकें कही—"पिताजी, जाके पास कछू नाँएँ।" बापु नें कही—"हतु कैसें नाँएँ।"

❀

तीसरे दिनाँ बु पैहली ठग की बेटी फिरि आई। ब्वानें आइकें ब्वाते कही—"देखि राजा के बेटा, हमारौ बापु ठगु ऐ। ब्वाके चंगुल में ते तू बचि नाँइ सकतु। जाते तू मेरौ एकु कैहनौं

माँनि। मेरे बाप की द्वै ऊँटिनी ऍं। एक अस्सी कोस जाँनि ऍ औरु एक साठ कोस जाँनि ऍ। तू अस्सी कोस बारी ऊँटिनीं ऍं खोलि लीजौ औरु मोऊ ऍ अपने संग बैठारि कें भाजि निकरिश्रौ।"

राजा के बेटा नें हाँमी भरि लई। अबु बु ऊँटिनी ऍ खोलिबे चल्यौ। परि ब्वाऊ पैहचाँनि न परी कि कुनसी ऊँटिनी अस्सी कोस चलनि ऍ। ब्वानें साठि कोस-चलिबे बारी ऊँटनीं खोलि लई।

अब वे दोऊ ब्वा पै बैठिकें भागि निकरे। आगें जाइकें साठि कोस पै ऊँटिनी बैठि गई। अब ठग की बेटी नें कही—"मेरौ बापु आइकें अब्हाल पकरें लेंनु ऍ। चौंकि बापै अस्सी कोस-बारी ऊँटिनी रहि गई ऍ। सो तू तौ अब जा पेड़ पै चढ़ि जा औरु मैं नीचें ठाड़ी ऊं।

पीछें ते ब्वाकौ बापु आइ ई चौं न गयौ। अब ब्वाकी बेटी नें कही—"पिता, बु ज्यां ते अब्हाल ई भाजि कें गयौ ऍ। तुँम साठि कोस-बारी ऊँटिनीं पै चढ़िकें जाओ औरु ब्वाइ पकरि लाओ। मैं जब तक जा अस्सी कोसबारी पै चढ़िकें अपने घर कूं जांनि ऊं।" ठग नें कही—"अच्छी बात ऍ।"

ठगु ब्वाइ ढूंड़िबे चल्यौ। ब्वाकी बेटी अस्सी कोस-बारी ऊँटिनीं पै बैठी औरु राजकुँमारु ऊ बैठारचौ। अब राजा कौ बेटा ऊँटिनी पै चढ़िकें अपने मैहैर कूं चल्यौ। रस्ता में ब्वानें अपने मन में सोची—"जौ जि अपने बाप की ई नाँइ भई तौ मेरी कहा होगी।" सोई ब्वानें तरवारि ते ब्वाऊ की नाकि उड़ाइ दई।

अब बु अपने घर आइ गयौ औरु राज-पाटु करिबे लग्यौ।[1]

८

चोर घरी में जनम

एकु साहूकारु बड़ौ मालदारु औ। परि ब्वाकें कोई संतान नाँई। भगमाँनु की ऐसी करनी भई कै बुढ़ापे में बिनुकें एकु लरिका पैदा भयौ। साहूकारु नें बड़ी खुसी मनाई। खूब डट्ठौनु[2] कियौ। माया गोबिंद की ऐसी भई कै ज्या दिन ते लरिका पैदा भयौ ब्वा दिन ते पईसा में घटोतरा होंन लगी औरु धीरें-धीरें जब बु लरिका स्यानों[3] भयौ तौ अनेक बुरी आदतनि ब्वामें परेंन लगीं। पढ़िबे ते ज्यौ[4] चुराँमन लग्यौ। नसेबाजी, सराफखोरी, जुआखेलिबौ बौहौत-सी बुरी टेव ब्वा में परि गईं। धीरें-धीरें घर कौ पईसा जब बरबादु है गयौ, तौ चोरी करेंन लग्यौ।

ब्वानें कहा काँमु करचौ कै एकु लुहार कें जाइकें लोहे की एकु मेख बनवाई औरु एकु हतौरा लयौ। राजा के मैहलँन में चोरी करिबे जाइ। भीत में मेख गाढ़ि दे औरु चढ़ि जाइ। ऐसेंई ऊपर चढ़ि गयौ। औरु ऊपर चढ़िकें मोरी में लेजु[5] बाँधिकें भीतर मैहलँन में उतरि गयौ। औरु राजा की छोरी की चीज-बस्त[6] गैहनें-गाँठे ऍ लै आयौ। धौंतायौ[7] भयौ तौ मैहलँन में हल्ला मच्यौ कै राजा की बेटी कौ जेवर चोरी चल्यौ गयौ।

राजा नें सुनीं। राजा नें सुनिकें पैहरेदारँनु ते कही। पैहरेदार बोले—"महाराज, तारौ[8] टूटचौ नाँ, औहँड़ौ[9] लग्यौ नाँ, अब औरु बात कौ कहा इंतजाम करें।" राजा नें कहा काँमु करचौ अपने पैहरेदार औरु सिपाही सबु बुलाए औरु बुलाइकें हुकमु दीयौ कै चोरु कूं को पकरेंगो। दरोगा जी बोले—"कै, आजु पहरौ मैं दूंगो औरु मैं ईं चोरु ऍ पकरूँगो।"

इतमें साहूकार के लरिका की एक सिपाही ते यारी ई। सिपाई ब्वाके ढिंग गयौ औरु ब्वाते सबु किस्सा कहि दियौ कि—"आजु तोइ पकरिबे कौ बीरा दरोगा जी नें खायौ ऍ।" बु बोल्यौ—"देखी जागी[10]।" दरोगा नें कहा काँमु करचौ कै चौराहे के खरंजा पै रुपईया बखेर दए। औरु हतकड़ी-बेड़ी लैकें पैहरौ देंन लग्यौ।

---

[1]. सं० क०—चंद्रभान, लोहबन। [2]. डष्टौन-नाम-करण संस्कार का भोज। [3]. बड़ा। [4]. जी। [5]. रस्सी। [6]. बस्तु। [7]. प्रातःकाल। [8]. ताला। [9]. औंडा—दीवाल को खोदकर जाने लायक मार्ग बनाना। [10]. जाइगी।

जब आधी रात की गमैया भयो तौ चोर नें कहा काँमु करचौ कै जँनानों भेष बनायौ औरु खूब बढ़िया लैहँगा पैहरचौ, औरु खूब बढ़िया फरिया ओढ़ी औरु सोलह ऊँ सिंगार बनायौ। औरु पाँमन में गुर की लपटी लंगटी औरु हात में चौमुख दिबला जोरि कें ब्वा दरोगा कें जौरें चलि दीयो। जब ब्वा दरोगा के जोरें पौहच्यो तो दरोगा बोल्यौ—"कौन, आधी राति पै कहाँ जाइ ?" बु बोल्यौ —"श्री महाराज, आज हँम श्री दुरगाजी को बरतु रहीं, सो जाती-बाती करिकें पथवारी ऐ पूजँन करिबे जाइ रही ऊँ।" इतनी बात सुनिकें दरोगाजी नें ब्वाकूं छोड़ि दीयौ। परें ते जब बापिस ह्वैकें आई तौ दूसरी सड़क की गैल आइकें सब रुपईया पाँमन में चुपचाइ लए औरु फिरि दरोगा के ढिंग आयौ औरु दरोगा जी ते घूँघट की ओट करकें धीरें-धीरें बोली—"श्री महाराज, तिहारे हात में जि कहा ऐ ?" दरोगा जी बोले—"जि हात-पाँमन की हतकड़ी-बेड़ी एँ।" सो बु दरोगा जी पै ते लैकें अपने हात-पाँमन में पैहरँन लगी औरु कहँन लगी—"श्री महाराज, कैसें पैहरत एँ ?" दरोगा जी बोले —"नेकबक्त, ऐसें नाँइ पैहरें। देखि, जि हातँनमें पैहराई जाति एँ और जि पाँमन में पैहराई जाति एँ औरु ऐसें तारौ लगायौ जात्वै।" दरोगा जी या सबु काँम कूं अपनेई हात-पाँमन में करँन लगे और तारौ लगाइ कें बोले—'लेउ, तुम खोलि देउ।" ए, सब ऐसें पैहरी जाँति एँ।"

लै तारी कूं बु लंबी परी। दरोगा हतकड़ी-बेड़ी में बँधे पड़े रहे। सबेरे भएँ खबरि लगी कै दरोगाजी हतकड़ी-बेड़ी में बँधे परे एँ और कहँन लगे कै धोकौ ह्वै गयौ।

दूसरे दिन दीमाँनु साब नें बीरा खायो। कै आजु हँम पकरिंगे[1]। सिपाई नें ब्वाते जाइकें कही—"कै, आजु दीमाँनु साब नें पकरिबे कौ बीरा खायौ ऐ!" बु बोल्यौ—"देखी जागी।"

चोरु नें कहा काँमु करचौ कै फटे-पुराँने लत्ता बाँधि कें और धोबिनि कौ भेष बनाइकें ताल पै लत्ता जाइ धोए। आधी-सी राति पै दीमाँनु साबु आहट सुनिकें ताल पै पहुँचे औरु धोबिनि ते बोले—"तू इतनें रतँन क्यों लत्ता धोइ रही ऐ।" धोबिनि बोली—"महराज, फसल कटिबे कौ बखतु ऐ। दिन में नाज-पाँनी की आस में डोलें, याते महाराज, याई खँन सोफतौ परत्वै।" दीमाँनु बोल्यौ—"इतै[2] कहूँ तैंनें[3] कोई आदिमी देख्यो। धोबिनि बोली—"महाराज, कहा बताऊँ मेरी एक धोबती यै पटबारी की धोबनी धोइबे लाई सो लै गयौ।" दीमाँनु बोल्यौ—"कहाँ गयौ?" बु बोली—"महाराज, अब्हाल[4] ई जाई गली में घुसि गयौ ऐ। परि साहबु[5], तिहारे या भेष और घोड़ा कौ टापँन कौ आहटै सुनिकें तौ भागि जाइगौ[6]। एकु काँम करौ, कै ज्या भेष ऐ तौ उतारि देउ औरु तुँम मेरे बाँने ऐ पहरि कें लत्ता धोओ। न्याईं मिलि जाइगौ।" दीमाँनु की समझ में आइ गई। अपनों भेषु तौ उतारि दीयौ और ब्वाके लत्ता पहरिकें लत्ता-धोमँन लग्यौ।

बु चोर लै ब्वाके लत्तान्नें[7] लै चढ़ि घोड़ा पै भगि गयौ। धोंताईं खबरि मिली कै दीमाँन साबु पै खूबु लत्ता धुबाएँ एँ। सबेरें भएँ कोतबाल साबु नें बीरा खायौ। कै आजु हम पकरिंगे। सिपाई नें आइ कें कही—"कै आजु कोतवाल साब नें पकरिबे कौ बीरा खायौ ऐ।" चोरु बोल्यौ—'देखी जागी।[8]"

कोतवाल साब नें कहा काँमु करचौ कै एक ऊँट पै खूबु धँन-माल लादि कें छोड़चौ और कही कै देखें याइ कौ पकरै। घूँमतु-घूँमतु जब ऊँटु आयौ तौ झट ब्वानें घर में घुसाइ[9] लियौ और धँनु-माल लैकें फूँ से घर में ऊँट काटि कें दाबि दिओ।

अब कोतवाल नें ऊँटु ढुँड़वायौ। म्वाँ कहूँ होइ तौ ऊँटु पावै। बड़ी-सी भारी ढूँड़-खोज करी, परि पते न चले। राजानें एक दूती बुलाई और ब्वाते कही—"कै, तू ऊँट कौ पतौ लगाइ दै,

१. पकरिंगे। २. इधर। ३. तैनें। ४. अभाल। ५. साब। ६. जाइगौ। ७. कपड़े। ससान एँ यह ब्रज-बोली में चल रही नवीन संश्लिष्टता की प्रवृत्ति का द्योतक है। यथार्थ में इसका उच्चारण साधारण 'नें' से भिन्न है, यह एँकार 'उदात्त स्वर' से बोला जायगा। ८. जायगी। ९. घुसाय।

जो माँगै सो दुंगो।" दूती चली, और ठौर-ठोर बईयरंन में बैठि-बैठि कें कसोड़ा[1] लगामति डोलै। एक ठौर ब्वानें सुनी --"कै बैहनाँ, ब्वाइ तौ उरु ई नाँइ लगै, परि देखियो काऊ दिनां अजामकई[2] जाँन जाइगी।" इतनी बात सुनिकें दूती म्वाँई बैठि गई और बोली—बैहनाँ, मेरी आँखिनें दो महीना है गए। धूँआ मारते-मारते। बौहौतेरौ ऐलाजु करवाइ लयौ परि कोई फाइदा ई नाँइ[3] परै।" इतेकई[4] में म्वाँ चोट्टा की माँ बोली—"कै बैहिन[5] कोई दबाई करि।" बु बोली--"दबाई कहा करूं। बैद ऐसी अँनखटोंटी दबाई बतामतें जो कहूँ न मिलि सकै।" बु बोली—"कहा दबाई बताई ऐ।" दूती बोली "ऊँट कौ खूनु बतायौ ऐ। काजर की तरै आँजिलै।" बु चोर की माँ बोली--"तू को ऐ।" दूती बोली—"बैहिन मैं गैल चलती ऊँ।" चोर की मा बोली--"काऊ ते किस्सा मति करियो। कल्लई मेरे छोरानें एकु ऊँट काट्यौ ऐ। चलि मैं दऊँ।" दूती बोली—"बीर, तेरी रांमु भलो करै। तैनें मे बचा लई।" ब्वानें एक खीपरा भरिकें खूनु दे दीयौ। दूती नें कहा काँमु करयो, लगायौ सो लगायौ ब्वाकी के ते ब्वाके दरबज्जे पै साँतिए काढ़ि आई। इतेकई में ब्वाकौ छोरा आयौ। ब्वानें बु गांतियौ कढ्यौ देख्यौ। ब्वानें कहा. काँमु करयौ कै लै खीपरा में खून गली-गली में घर-घर पै सांतिए काढि दए[6]। बाँदी कोतवाल कूँ लै कें आई। कै महाराज, मैं ब्वाके दरबज्जे पै सांतिए कौ निसांन बना आई ऊँ। अब कोतबाल साबु और दूती दोऊ देखतु डोलें। म्वाँ[7] गली-गली में घर-घर पै निसांन बनि रए। दूती चकराइ गई। हारि कें लौटि आई।

अब राजा साबु नें फिरि बीरा डारयौ। बीरा काऊ नें न उठा ो तो सिपट्टर[8] साब नें बीरा खायौ और कही कै आज हँम पकरिंगे। सिपट्टर ने हुकँम दीयौ कै हँम चोट्टा की जब तारीफ जाँनें जब हँमारे हात में हात पकराइ दे। राति के समैया पै चार्यों ओर रोसनी कराइ दई और एक कोंने पै डेरा ताँनि कें सिपट्टर साब नें अपनी चोकी लगाइ लई और ठौर-ठौर सिपाही पैहरे पै करि दीए। चोर के यार न खबरि दई—"कै, आज सिपट्टर साब नें बीड़ा खायौ ऐ। और जि सरारति[9] ठहराई ऐ कै जब जाँनें तब हात में हात पकराइ दे।" बु बोल्यौ—"देखी जागी।'

आधी-सी राति के अरसा में बु चल्यौ। एक हात में तरवार लई और एकु मरे-से महा गरीब बनियाँ की दूकान पै आयौ। ब्वाते बोल्यो—"कै बनियाँ के।" बनियाँ डरपतु-काँपतु बेगि-सीनां[10] बोल्यौ—"हाँ जी।" "तेरें बूरौ हतु ऐ।" बनियाँ बोल्यौ—"हतु ऐ जी!" बु बोल्यौ—"दै तो एक रुपईया कौ।" बनियाँ बिचारौ बूरौ तौलिकें लायौ और ब्वाऊ कें आगें तौल्यौ। ब्वानें कहा काँमु करयौ कै तरबारि ते ब्वाकी कुहनी पै ते बाँह काटि दई। लै बाँह कूँ चलि दीयौ और सिपट्टर के डेराँन की ओर चल्यो, एकु ओर ते डेराँन में ईंट फेंकी।

ईंट के लगत ई सिपाई ब्वा ओर भगे। इतमें सिपट्टर साबु अकेले रहि गए। बु झट्ट तंबू में घुसि गयौ और सिपट्टर साब ते बोल्यौ—"लेउ मेरी बाँह पकरौ, मैं चोट्टाऊँ।" और ब्वा बनियाँ-वारी बाँह लंबी करिकें पकराइ दई और आपु भाग गयौ।

इतनेई[11] में सिपट्टर साब नें हल्ला मचायौ कै चले आऔ, मैं नें चोट्टा की बाँह कतर लई ऐ। अब बु बोल्यौ कै सँमेरें[12] एकु-एकु आदिमी की जाँच करौ। ज्या काऊ की बाँह कटी मिलै तौ सँमझौ कै बुई चोट्टा ऐ।

जब धौंतायौ भयौ तौ एकु-एकु आदमी देख्यौ गयौ। बु बनियाँ देख्यौ तौ ब्वाकी बाँह कटी पाई। बे बोले—"तेरी बाँह कहाँ गई।" बु बोल्यौ—"महाराज, राति एकु बूरौ-लिबैया आयौ, सो बूरौ-

१. टोह-खोज। २. अचानक ही। ३. नाँइ। ४. इतने ही। ५. बैहिन-भैन। ६. बनाइ। ७. मुआँ—मुँहाँ। ८. इंस्पैक्टर। ९. 'शर्त्त' का सादृश्य-साम्य से 'सरारति' हो गया है। १०. से। ११. इत्ते। १२. प्रातःकाल।

फूरी तौ कहा लीयौ मेरी बाँहैं काटि लैगौ।" राजा बोल्यौ—"बड़े अचंभे की बात ऐ, चोट्टा हात नाँइ आवै।" राजा बोल्यौ—"आजु हँम पैहरौ दिग्गे।

चोरु के यार ने खबरि दई कै आज राजा तुमें पकरिंगे। बु बोल्यौ—"देखी जाइगी।"

व्वानें कहा कामु कर्यौ कै एक बोरी नाजु भरि कें और एक दतरा[1] लैकें चमरिया कौ भेसु बनाइकें एक दुकाँन पै दाँनों दरँन लग्यौ। जब राजा पैहरौ देंतु आयौ तौ व्वाते बोल्यौ—"तू को ऐ। जो इतनें बखत चाकी चलाइ रही ऐ?" बु बोली—"महाराज, दिन में तौ किसाँननु कौ खेतु काटिबे जाँनों परत्वै और इनकौ दाँने कौ भारी तगादौ हों त्वै। सो श्री महाराज, ज्यातें याई बखत दरिबे आई हूं।" राजा बोल्यौ—"कोई और आदिमी तौ नाँ देख्यौ?" चमरिया बोली—"महाराज, अभैंनई न्याँ ह्वैकें एकु आदिमी गयौ ऐ। चों तुम कहा करते?" "अरे बु चोरु ऐ, हँम व्वाइ पकरिंगे।" बु बोली—"महाराज, चोरु ज्या तरह ते तिहारे हात न आवैगौ। हाँ, एक तरें ते हात आइ सकत्वै, कै तुम मेरे बाँने कूँ पहरि लेउ और ज्याई ठौर पै बैठि जाऔ। भलें दाँनों मति दरियों। मैं तो फिक्रि दरि लुंगी। परि आवैगौ ऐसेंई हात। औरु मैं तिहारे घोड़ा-फोड़ा ऐ तिहारे मैहैंल पै पोंहोंचाइ आऊँ।"

राजा की समझ में आइ गई औरु व्वाकौ बाँनों पैहरि कें दाँनों दरँन लग्यौ। सँमेरे की होंनि में खबरि लगी कै राजा पै राति-भरि दाँनों दरबायौ ऐ। राजा के कपड़ा और घोड़ा कूँ लैकें रमतो भयौ।

राजा बोल्यो—"भाई, हँम हारे और चोर जीत्यौ, परि अबु बु हमते मिलि जाइ। हम व्वाकूँ आधौ राजु दिग्गे।" चोट्टा, राजा के ढिंग या बात ऐ सुनि रह्यौ ओ। बु बोल्यौ—"राजा साबु, निरबाचा भरौ। मैं लाऊँ वाकूँ।" राजा तिरबाचा भरि गयौ। बु बोल्यौ—"मारौ चाहें छोड़ौ मैं ऊ चोर।" राजा नें पीठ ठोंकी ओर आधौ राजु दै दियौ।[2]

९

सुपने कौ देसु

गाम ते बाहिर एक बहेलिया की झोंपड़ी ई। बहेलिया कें एकु बेटा ओ। बहेलिया रोजु सिकार खेलिबे कूँ जायौ करै। जब व्वाकौ बेटा कछू समरथ भयौ, व्वानें बुही एक दिनाँ सिकार कूँ भेज्यो। बु छोरा, लै तीर-कँमान बनखंड में चल्यौ जाइ रह्यौ। एक पेड़ की डार पै व्वाई एक हंस-हंसिनी कौ जोड़ा दीस्यौ। बा छोरा नें हंसु तौ पकरि लीयौ, हंसिनी उड़ि गई।

हंसऐ लैकें बहेलिया कौ छोरा अपने घर कूँ आयौ। व्वाकी माँ औरु व्वाकौ बापु बड़े खुस भए। बहेलिया नें कही अपनी बहू ते—"देखि, आजु ई तौ हमारौ लाला सिकार खेलिबे कूँ गयौ और आजुई ऐसौ सुंदर पंछी पकरि लायौ। आजु तौ अपने बेटा की सिकार ऐ घर ई राँधियौ, बेचिबे नाएँ जाँनें।" बहू नें कही—"बड़ी अच्छी बात ऐ।" पींजरा में बंद करिकें हंसु छप्पर ते टाँगि दीयौ। पींजरा में टँगें-ई-टँगे व्वा हंस ने बहेलिया की भौटिया[3] ते कही—"अरी तू जौ मेरे प्राँन बचाइदे तो मैं तोइ सौ रुप्या दिबाइ दऊँ।"

बहेलिया ते जाइकें व्वाकी बहू नें सबरी बात कहीं। बहेलिया नें ज्वाबु दीयौ—"हमारी कहा अटकी ऐ सो जाइ मारें। हमें तौ सो रुप्या मिलि जाँगे तौ औरु काँमु चलैगौ।"

हंस नें कही—"अब मोइ तू बजार कूँ लै चलि। म्वाई कोई न कोई सौ रुप्या में मोल लै जाइगौ।"

[1]. दँतरा—दाँल दलने की चक्की। [2]. कन्हैयालाल अकबरपुर के संग्रह से। [3]. स्त्री, बहू। बधू-बहू-(घनिष्टता-द्योतक)—बहूटिया-बहुटिया—ब-ह-अ-ऊ=भौटिया। इसी 'टिया' प्रत्यय का और भी ऐसा ही उदाहरण—'छोट्टिया'।

वहेलिया ब्वाके पींजरा ऐ लैंकें सबरे बजार में डोल्यो। सबु लोग ज्यों नी कहें कि भाई, जि तौ कोई बड़ौ सुंदर पंछी ऐ। परि सौ रुप्या काऊ नें न लगाए। ब्वाई सैहेर की राजा ब्वाई बखत की हौंनि पै आइ निकरयो। राजा नें सोची—"ला लै चलूं। सुंदर पंछी ऐ। मैहलंन में टँग्यौ रहैगौ।" ब्वानें झट्ट ब्वाइ सौ रुप्या दै दए ओरु बु हंस मोल लै लयो।

(२)

राजा के याँ हंस ऐ रहत-रहायत बहुत दिनां है गए।

एक दिनाँ राजा नें राति कूं सुपनों देख्यौ—"सात समुंदर-पार एक बहुत कछू सुंदर एक परीनु कौ देसु ऐ। म्वाँ के राजा की लड़िकी ऐसी सुंदर जैसी चंदा की-सी किरनि। रोजु सबेरें ई कँमलन के फूलँन ते बु तौली जायौ करै। गोरी-गोरो ब्वाको बदनु ओरु आंखि ऐसी जैसें आम की-सी फाँक। बु फूलँन की सेज पै सोयौ करै।

राजा जब दूसरे दिनाँ जग्यो। कचैहरी अझुझड़ाई। सबु सूर, सामंत, बजीरजादे इकिट्ठे भए। भरी सभा में पाँन कौ बीड़ा डारि दयो ओरु राजा नें हुकमु चढ़ायो—"जा बीड़ा ऐ बुही चबाबै, जो जा परीजादी ऐ दिखावै।" छै दिनाँ बीड़ा ऐ परें-परें है गए, परि कोई ऐसो माई को लालु न निकस्यौ जो ब्वा बीड़ा ऐ चाबै। इनमें तो बीड़ा कुम्हिलायौ ओरु उनमें राजा के प्रांन सुखिबे लगे। राजा नें कही—"अब मैं द्वै-एक दिनाँ में अपने प्रांन छोड़ि दूंगो।"

हंसु टँग्यो-टँग्यौ जि सबरी बात देखि रह्यो ओ। ब्वानें अपने मन में सोची—"भई, हमनें राजा के काजें कछू ना करयो।" ब्वानें राजा अपने पास बुलायौ ओर ब्वानें कही—"राजा, ऐसें प्रांन छोड़िबौ ठीक नाँऐं। तू मेरी पीठि पै असवार हैजा ओरु मैं ओरु तू दोऊ ज्यां ते उड़ि चलें। देखें बु सैहेरु कहाँ ऐं ओरु कहाँ बु परीजादी ऐ।" राजा नें हंस को मतौ मानि लीयो ओरु चलिबे की तैयारी करि लई। एक दिनाँ सुभ-घड़ी में हंसु राजा ऐ लैकें उड़ि दियौ।

(३)

कूँच, दर कूँच, मंजिल, दर मंजिल, हंसु उड़चोई चल्यौ जाइ। सातों समुंदर चलत-चलाँमत पार है गए। सात सँमुंदर-पार जाइकें राजा नें एकु सैहेरु दीस्यौ। कँगूरनदार, छज्जेनदार, ब्वा सैहेरु के घर बनि रहे। चारयौ ओर सरोबरि बनि रहीं। मोर कोंहोंकि रहे। सिरैयां कलोल करि रहीं। राजा नें हंस ते कही—"भाई, होइ न होइ, मेरे सुपने को देसु तौ जिही मालिम परतु ऐ, ज्याँई उतरि परि।" हंस उतरयौ। राजा ओरु हंसु दोऊ एक भटिआरिन की सराइ में ठैरि गए।

हंस नें राजा ते कही—"राजा, तुमतो याँई रहौ ओर मैं जाँनूं ओरु ब्वा परीजादी कौ पतौ लगाँगो।" जि बात सुनिकें हंसु तौ उड़ि गयौ ओरु राजा म्वाँई रहि गयौ।

हंस नें जाइकें कहा देखौ कि चित्तरसारी पै बुही परीजादी अपने केस सुखाइ रही। जैसें कारी नागिन लहराइ रही होइ। हंस ब्वाइ देखिकें झट्ट लौटि आयौ ओरु राजा ते आइकें सबु बात कहि सुनाई।

राति के बारह बजे हंस पै चढ़िकें राजा परीजादी की चित्तरसारी पै पौंहुँच्यौ। म्वाँ जाइकें देखें तौ परीजादी फूलँन की सेज पै अचेत सोइ रही। राजा नें ब्वाकी तौ अँगूठी उतारि लई ओर अपनी अँगूठी पैहराइ दई। झट्ट म्वाँ ते दोऊ लौटि आए।

सबेरें परीजादी फूलँन ते तौली गई। परि काऊ तरें बु पूरी ई न बैठी। सबु लोग बड़े ससपंज में कि "भाई आजु कहा बात भई, जौ जु राँनी नाएं तुलति।" परीजादी की नजरि ब्वा अँगूठा पै परी। सोई सबनें समझि लई कि "भाई, कोई टोंगा लगि गयौ।" परीन के राजा नें हुकुम चढ़ायौ—"आजु ते मैहल के चारयौ ओर संगीनँन कौ पैहरौ लगै।" पैहरौ लगाइ दीयौ।

दूसरे दिनाँ राति कूं हंस पै चढ़ि कें राजा फिरि पराजादी की चित्तरंसारी पै पौंहुँच्यौ। ईस्वर की करनी, हौंनी बलवाँनु; पैहरेदार सोइ गए। राजा नें अपनी जूती ब्वा के पाँइन में पैहराइ

दई और ब्वाकी जूती ऐ उतारि कें लै आयौ। दूसरे दिनाँ सबु जगे और जि बखुआ देख्यौ। अब सबु लोग बड़े गमगंज में। कछू समझि में ई न आवै।

(४)

कछू सोचि-समझि कें राजा नें अपना बेटी की सेज के जौरें लीले रंग कौ एकु हौजु भरवायौ। कमजोर लकड़ियँन ते वु हौजु पटवायौ। पैहरौऊ और कड़ौ करबाइ दीयौ।

दूसरे दिनाँ राजा हंस की पीठि पै सवार ह्वै कें फिरि ब्वाई चित्तरसारी पै पौंहँचौ। कै तौ ब्वा हौज पै पाँउ परचौ, सोई ब्वाकी लकड़ियाँ गई टूटि और गंम राजा ब्वा हौद में। सबरे कपड़ा ब्वाके लीले रंग में तरबतर ह्वै गए। जैसें-तैसें करिकें बु ब्वा हौद के ऊपर आयौ और ब्वा हंस पै चढ़िकें फिरि सराइ में लौटि आए।

लौटि कें सबरें लत्ता धोबी कें डारि दए।

राजा के रेसिमी लत्ता, लपट छूटि रही। धोबी के मन में आई कि ला एक दिनाँ इन लत्तान नें पैहरि कें सबरे सैहैर में डोलि लऊँ। धोबी नें न्हाइ-धोइ कें बु लत्ता पहरे औरु सैहैर में घूमिवे निकरचौ। राजा नें अपने सिपाइन ते कहि ई राखी कि जो लीले लत्ता पैहरें दीखै ब्वाई ऐ पकरि लाओ। राजा के सिपाइन नें गंम धोबी कूँ पकरि लीयौ। धोबी के ऐ राजा के जौरें बाँधि कें लै आए। धोबी नें सबरो कच्चौ हालु बताइ दीयौ।

राजा नें सराइ में अपने हरकारे भेजे और बु राजा पकरबाइ मँगायौ और ब्वा देस के राजा नें हुकमु दीयौ--"जाइ बिनाँ कछू पूछें-गाछें आजुई फाँसी पै चढ़ाइ देउ।"

(५)

फाँसी दैवे की तैयारी भई। हंस म्वाँ जौरें ई एक पेड़ पै बैठचौ दिरगँन ते आँसू भरि रह्यौ।

फाँसी ते पहलें राजा ते कही गई—"तोइ एक घंटा भरि में जो कछू करनों होइ सो करि लै। एक घंटा की तोइ मौलति ऐ।" राजा नें ज्वाबु दीयौ—"कि, भाइयौ, बचपँन ते मोइ पेड़ पै चढ़िबे की चावु रह्यौ ऐ। मोइ इजाजति देउ तौ मैं जा पेड़ पै चढ़ि लूँ।" राजा नें पेड़ पै चढ़िबे की हुकँमु दै दीयौ।

राजा पेड़ पै चढ़चौ। म्वाँ हंसु बैठचौ ई ओ। झट्ट ब्वाकी पीठि पै राजा बैठि गयौ और हंसु ब्वाएं बैठारि कें उड़ि चल्यौ। राजा के सिपाई देखत के देखत ई रहि गए।

~~हंस~~ राजा ऐ लैकें सैहैरपनाँ ते बाहिर लायौ औरु राजा ते बचन उचारे—"राजा, अब अपने नगर कूँ लौटि चलौ।" राजा नें कही—"भाई, ऐसौ नाँऐं है सकतु। नेहार कूँ तौ जा राँनी ऐ लैके ई चलिंगे। चलि जाई सैहैर कूँ फिरि लौटि चलि।"

हंस औरु राजा दोऊ ब्वा सैहैर में लौटि आए और एक दूसरी सराइ में ठैरि गए। हंस नें ब्वा ते कही—"राजा मेरी हंसिनी मोते बलाइ दिनाँ कि बिछुड़ी ऐ। हमारी माँनसरोबरि ऊ ज्याँ जौरें ई ऐं। कहै तौ ब्वाऊ ऐ लै आऊँ।" राजा ने कही—"लै आ भैया।"

उतमें ब्वा परीजादी नें सोची—"जि कोई मेरौ बड़ौ सच्चौ प्रेमी ऐ। मेरे पीछें अपनी जाँनि की ऊ संका नाइ करी। ब्याहु करुँगी तौ मैं जाई ते करुँगी।"

इतमें हंस ऐ अपनी हंसिनी मिलि गई। बु ब्वाइ लैकें राजा के जौरें लौटि आयौ। अब बु राजा ते पूछि कें अकेलौई परीजादी के जौरें गयौ औरु ब्वाते बातचीत करीं। परीजादी ऊ जुदाई की आगि में जरि रही। ब्वानें कही—"जैसें बनें जैसें तुम मोइ ज्याँति लै चलौ।" हंसु ब्वाते राति के बारह बजे कौ नाम लै आयौ और फिरि राजा के जौरें बापिस चल्यौ गयौ।

राति के बारह बजे पै हंसु, हंसिनी औरु राजा ब्वाकी चित्तरसारी पै आए। हंसिनी नें परीजादी बैठारी हंस नें राजा बैठारचौ और तीनों प्राँनी चलि दीए। चलत-चलत एकु पीपर कौ

पेड़ पायौ। हंस-हंसिनी नें कही कि ला थोरी देर जा पेड़ के नीचें बिसराम करि लें। राजा-राँनी उतारि दए। राजा-राँनी नें कही—"कि हंस-हंसिनिऔ, तुम तौ जाऔ सोइ, हम पैहरौ लगाए रहे एँ।" हंस-हंसिनी नें कही—"राजा, तुमई सोइ जाऔ। चौंकि ज्हाँ जंगली मूंस रहत एँ। जो नेंक ऊ हमारी झपकी लगि गई तौ बे हमारे पंखँन नें काटि जांगे। जाते तुमई सोइ जाऔ। हम जागि रहे एँ।" राजा-राँनी नें न माँनी और हंस-हंसिनी स्वाइ दीए। दोऊ थोरी देर तौ जागे, फिर नेंक सोइ गए। मूँसे निकरे औरु हंस-हंसिनी के पंखँनु कूँ काटि गए। सबेरें जब जगे तौ हंसनें कही—"देखि लै राजा, हमनें कही सोई भई। अब हमारे पंख तौ छै महीनाँ तक आमगे न। अब तुम दोऊ आऊ नगर नें चले जाऔ। लिखी-बदी होगी तौ फिरि कबऊ मिलि भेंरी है जाइ।" राजा-राँनी नें कही—"अच्छा!"

राजा नें द्वै काठ की किस्ती बनाई और दोऊ जोरि दईं। एक में राजा बैठ्यौ और दूसरी में राँनी बैठारी। दोऊ किस्ती सँमुदर के दरम्याँन छोड़ि दईं।

(६)

आगें चलि कें कहा भयौ कि एक मच्छी कौ धगेटा लग्यौ और दोऊ किस्ती अलग-अलग ह्वै गईं।

राँनी तौ एक मछुआ नें पकरी। बहुत सुंदर जांनि कें ब्वानें सोची—"भाई, जि तौ राजा के लाइक ऐ।" सोई ब्वाइ बु राजा कें दै आयौ।

राजा एकु भरभूंजा नें पकरि लीयौ और भार-भुंजवाइबे कूँ ब्वा पै कूरा-कचरा मंगायौ करै। राजा भार झोंवयौ करै।

ब्वा राजा नें राँनी ते ब्याहु करिबे की कही। रानी नें ज्वाब दीयौ—"राजा, छै महीनाँ तक मैं चिरैअँन कूँ चुगौ डारूँगी औरु बाद छै महीनाँ के मैं तोते ब्याह करि लंगी।" राजा नें जि बात मानि लई। अब राँनी रोजु छत्ति पै चुगौ डारयौ करै।

इतमें हंस-हंसिनी कें पंख जमि गए। वे एक पेड़ पै बैठे। ब्वा पच्छी आए। उननें हंस-हंसिनी ते कही—"रे, ब्वाँ फलाँनी राँनी चुगौ डारि रई ए और तुम ज्हांई बैठे औ।" जि बात सुनिकें हंस-हंसिनी ब्वाँ पौहंचे। बु ही रानी ब्वाँ पाई। राँनी नें सब हाल उनें बताइ दियौ। उननें राँनी ते कही—"कि री, तू धीरज धारि। हम राजा ऊ ऐ ढूँढ़ि कें ल्यावत एँ।"

(७)

हंस-हंसिनी बिचारे मारे-मारे फिरें। एक दिना ब्वाई सैहैर में जाइ निकरे जामें बु राजा भारु झोंकतु का औ। हंस-हंसिनी तौ एक पेड़ पै बैठे ए और बु राजा ब्वाई बगल डूरौ बटोरिबे आ ो। हंस नें राजा पैहचाँन लीयौ और ब्वाइ राँनी को पतो बतायौ। राजा नें भरभूजा ते कही कि भाई अब हम जाँत एँ गे। भरभूआ नें जाइबे की कह दई। हंसु राजा ऐ बैठारि कें फिरि उड़ि गयौ। राँनी के जौरें तीनों प्राँनी चलि दीए।

राजा ऐ तौ सैहैर के बाहिर छोड़ि गयौ और हंसु राँनी ऐ ब्वाई लै आयौ। राजा-राँनी दोऊ मिलि गए। राजा-राँनी नें हंस-हंसिनी ते कही—"भाई तुम्हारे जा अहसाँन ऐ हँम जीवन भरि नाएँ भूलि सकत।"

राजा हंस पै असवार भयौ, रानी हंसिनी की पीठि पै बैठी और अपने नगर कूँ आए। नगर में आइ कें खूब धूँम-धाम भई। राजा-राँनी अपनें मैहलँन्न कूँ चले गए।

अब हंस नें राजा ते कही—"राजा, तोइ तौ परीजादी मिलि गई। मोइ मेरी हंसिनी मिलि गई। अब तू अपने महैलँन में सुख ते रहि। हँम दोऊ अपनी सरोवर कूँ उड़े जाँत एँ।"

राजा नें हंस की जि बाँनी सुनीं। ब्वाकी आँखिन में ते नीर चुचाइबे लग्यौ। हिलकी भरि-भरि कें रोइबे लग्यौ।

हंस नें राजा ते राँमु-राँमु करी।

हंस-हंसिनी दोऊ अपनी सरोवरि कूँ उड़ि गए और राजा-राँनी अपने मैहैलँन में रहिबे लगे।[1]

१०

रानी हिरनावती

एकु राजा कें सात बेटी थीं। समय ने फैर खाया, राजा के दिन बुरे आ गये। एकु दिन वे रांनी से बोले—"आज तौ पुआ करो", रानी बोली—"ए सात बेटी तुम्हें कैसें पुए खा लेने देंगी।" राजा नें अक्ल बनाई कै बेटियों को सुला कर पुए करियो। रानी नें सातों बेटी सुला दी और पुए करनें बैठ गई। दो-चार ही कर पाई होगी कि एक बेटी ने करवट बदली और उठकर बोली लाओ मां बर्तन मैं मांज दूं। रानी नें इस डर से कि और न जग जावें उसे दो पुए देकर कहा कि यह ले दो पुए और सो जा दो पुए खाकर। वह सो गई। थोड़ी देरमें दूसरी उठकर बोली माँ मैं आग अच्छी तरह जला दूं, माँ ने उसे भी दो पुए देकर सुला दिया। इसी भाँति सातों को सुला दिया सब पुए खा लिए गए राजा के लिए कुछ न बचा।

राजा ने लौटकर पुए माँगे तो राँनी नें सब हाल बताया। राजा ने कहा कल मैं इन्हें बीरा-बनखंड-उजाड़ में बेर खिलाने ले जाऊँगा और इन्हें वहीं छोड़ आऊँगा अब हम पर पेट पलता नहीं है, सो कहीं चली जावेंगी। तुम पुए करके रख लेना आकर मैं खा लूँगा। रानी रोकर के चुप्प रह गई। दूसरे दिन राजा बेटियों को वन में ले गया। वन में झरबेरियों के पेड़ लाल-लाल बैरों से लदे झूम रहे थे। उनको देखकर राजा बोला देखो बेटी, ये बेर बड़े मीठे हैं। इन्हें तोड़कर खाओ, मैं यह कंबल ओढ़कर यहाँ बैठा हूँ, शाम को तुम्हें घर लिवा चलूँगा। ऐसा कहकर वह काले कंबर को ओढ़कर एक ऊँचे स्थान पर बैठ गया, सातों बेटी बड़े चावसे बेर तोड़ने और खाने लगीं। बालिकाएँ अपनी माँको बड़ी पचती हैं। वे सुंदर बेर तो माँको अपनी झोली में रखती जाती थी और खराब बेर खाती जाती थीं। उधर राजा ने जब देखा कि लड़कियाँ बेर तोड़ते-तोड़ते दूर पहुँच चुकी हैं तो वह उठा और कंबल को एक ऊँचे स्थान पर बैठा चलता बना। लड़कियाँ कंबल को एक पेड़ पर टंगा जानकर यह समझती रहीं कि हमारा दादा वहाँ बैठा हुआ है।

जब शाम हो गई और लड़की भर-भर झोली बेर तोड़ चुकीं तो खुश होकर उस स्थान को चलीं जहां कंबल ओढ़कर उनका पिता बैठा हुआ था, परंतु वहाँ लौटकर देखा कि कंबल एक पेड़ पर पड़ा हुआ है और उनका पिता कहीं पर नहीं है। वे चिल्ला कर उसे बन में रोकर ढूंढ़ने लगी और मार्ग भटक गई।

उन सात बेटियों में छै तो बड़ी थीं, किंतु सातवी छोटी उम्र की थी, जब वे अपने पिता को न पा [illegible] पांच तो पास के गाँम में चली गईं, परंतु सातवीं लड़की एक साफ स्थान पर बैठ गई। रात हो गई थी, रात को हिरणों का टोल आया और उस लड़की के चारों ओर गोला बना बैठ गया। रात को वह रानी रही तथा भूख लगने पर बेर खाती रही। सुबह हुआ बन में एक राजा शिकार खेलने आया, राजा को देख कर सब हिरण भग गए। लड़की उसे देखकर खड़ी हो गई। लड़की बड़ी सुंदर थी। राजा के आदमियों ने सलाह दी कि राजा उसे अपनी रानी बना लें। राजा उसकी सुंदरता को देखकर राजी हो गया और उसे अपने साथ हाथी पर बिठाकर घर ले आया राजा को वह हिरनों के मध्य बैठी मिली थी इस लिए उसका नाम—"हिरणावती" रक्खा था। और प्रेम से रहने लगे। राजा के कोई लड़का नहीं था, रानी तो बहुत थीं। कछु समय बाद हिरणावती रानी के पेट में बच्चा पड़ा, राजा को बड़ी खुशी हुई। उसने उसके महल में सोंने का घंटा लटका दिया कि जब लड़का हो तो रानी उसे बजा दे मैं तुरंत उसके पास आ जाऊँगा। रानी ने वैसेंईं एक दिन यह देखने के लिए कि राजा दरबार कर रहा हो तो आवेगा कि नहीं, दरबार के समय बजा दिया, राजा ने तुरंत ही दरबार बरखास्त किया और रानी के पास दौड़ा चला आया

[1]. सं० कं०—चंद्रभान : लोहवन।

रानी बड़ी खुश हुई और बोली कि मैंने तो केवल देखने के हेतु कि आप आवेंगे कि नहीं घंटा बजाया था, सच्ची बातपर तो अबके घंटा बजाऊंगी। राजा बड़ा नाराज हुआ और यह कहता हुआ चला गया कि चाहे वह अब सारा दिन घंटा बजाए वह नहीं आवेगा।

जब बच्चा पैदा होने के कुछ ही दिन अवशेष थे रानी हिरणावती ने अपनी और रानियों से पूछा कि बच्चा कैसे पैदा होता है। वे तो सब इससे जली थीं उन्होंने उपाय सुनाया कि आंखों पर पट्टी बाँध लो और कोठी में मुँह दे लो। रानी बड़ी सीधी थी, उसने वही किया जो कहा था। जब बच्चा हुआ तो रानी ने घंटा बजाया, किंतु राजा ने समझा कि घंटा अंटसंट बजाया जा रहा है और नहीं आया। रानी के एक लड़का हुआ और एक लड़की हुई. पटरानी ने सोचा कि राजा अब इसे पटरानी बना देगा क्योंकि इसे तो बालक है और हमारे कुछ नहीं, तो उसने भंगिन बुलवाई और उसे एक असर्फियों से भरी थैली देकर बोली कि तु इन बच्चों को कहीं फेंक दे और कंकड़-पत्थर इनकी जगह लाकर रख दे। भंगिन ने वही किया। शाम को राजा आया और रानी से पूछा कि क्या हुआ तो पटरानी ऊपर से आकर बोली हुआ क्या यह कंकड़-पत्थर हुए हैं। राजा ने हिरणावती रानी को उसी वक्त काग-बिड़ारी कर दिया। हिरणावती को बड़ा दुख हुआ कि कहां तो राजा उसे इतना प्यार करते थे कहाँ अब महल के कौए उड़वाते हैं। यह काम उसे करते-करते दो ही माह हुए होंगे कि उसकी सुंदरता और भोलापन कुरूपता तथा कड़ेपन में बदल गई, रानी विक्षिप्त-सी दशा में काग-बिड़ारने का काम करती रही।

इधर भंगिन उन भाई-बहिनों को एक कुम्हार के मिट्टी खोदने के गढ़े में फेंक गई थी। दूसरे दिन जब कुम्हार मिट्टी खोदने आया तो उसने उनको पड़ा देखा कुम्हार के संतान न थी इसलिए उसने इन्हें दैवी बरदान समझ कर और अपने घर ले आया जब वे कुछ बड़े हो गए तो कुम्हार ने लड़के को एक मिट्टी का घोड़ा तथा लड़की को मिट्टी की एक चाकी तथा तोता बना दिया। सारे दिन वे इन्हीं वस्तुओं से खेला करते थे। रानी की एक दासी कुएँ पर पानी भरने आया करती थी। एक दिन उसे ये लड़के-लड़की कुए पर मिले लड़का घोड़े से कह रहा था चल रे माटी के घोड़ा पानी पी ले, यह सुन कर दासी बोली—"अरे कुँम्हार के, क्यों इतरावै रे, कहीं माटी के घोड़ा पानी नहीं पिया करते हैं"। लड़का ठुनक कर बोला—अरी बाँदी, क्यों इतरात है, कहीं रानी कंकड़-पत्थर नहीं जना करती।" दासी यह सुन कर सुन्न रह गई, वह समझ गई कि ये वही लड़के-लड़की हैं। उसने सारा हाल पटरानी को सुनाया पटरानी बहुत बड़ी घबड़ाई अंत में उसने एक तरकीब उन्हें नष्ट करने की सोची। उसने बहाना किया कि मैं बड़ी बीमार हूँ और करिया हिरन के दिल से अच्छी ~~हो~~ सकती हूँ। राजा ने करिया हिरन का दिल मँगा दिया, रानी ने उसमें मीठा मिलाय तथा जादू के मंत्र पढ़कर दो लड्डू बनाये। दो डोरों पर भी उसने मंत्र पढ़ा फिर इनको उसने दासी को देकर कहा कि वह इन्हें कुम्हार के लड़की-लड़के को खिला कर उनके गले में ये डोरे बाँध दे। यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो उसे जिंदा कोल्हू में पिसवा दिया जावेगा। दासी सब सामान लेकर लड़के-लड़की के पास पहुँची और दोनों के हाथ में एक-एक लड्डू रखते हुए बोली बड़े मीठे लड्डू हैं इन्हें खा लो और ये तार में गंडे बाँध लो। लड़के ने लड्डू खा लिया और गंडा जैसे ही गले में बाँधा वह काला हिरन बन गया। लड़की ने अपना लड्डू तौले में रख लिया, जब उसका भाई बन को भागने लगा तो वह भी साथ-साथ चली गई। बन में जाकर वह रात को एक पेड़ पर चढ़ गई, उसका भाई मुँह में कभी ककड़ी, कभी और जंगली फल-फूल ले आया करता था वो उन्हें खा लेती थी।

एक दिन वही राजा जिसके कि ये बच्चे थे उसी वन में शिकार खेलने आया। सारे दिन उसने शिकार खेला, रात को उसने उसी पेड़-तले डेरा डाला जिसपर वह लड़की चढ़ी बैठी थी। ऊपर लड़की बड़ी दुखी हुई, वह सोचने लगी कि और दिन तो मेरा भाई शाम को फल-फूल दे जाता था, यदि आज आया तो यह राजा मार लेगा। वह फूट-फूट कर रोने लगी, परंतु चुपचाप से। उसकी

आँसुओं की बूँदें राजा की छाती पर पड़ीं, वह उठ कर बोला—"पेड़ पर कौन है ?" आदमियों ने बतलाया—"हुजूर, एक सुंदर लड़की पेड़ पर बैठी रो रही है।" राजा ने नीचे लड़की को उतरवाया और पूछा कि "वह वहां क्यों बैठी रोती थी तथा कौन है," कहाँ रहती है, लड़की ने बताया कि "मैं और मेरा भाई थे, एक दिन राजा की दासी हमें मलीदा खिलाने आई, मेरे भाई ने उसे खा लिया और हिरन हो गया, जब वह हिरन हो कर भागा तो मैं भी साथ-साथ चली आई। इस बन में आकर मैं इस पेड़ पर चढ़ गई और अब रोती यों हूँ कि यदि मेरा भाई मेरे लिए कुछ खाने को लावेगा तो तुम उसे मार लोगे।" राजा ने उसे पुचकारा तथा उससे पूछा कि यदि बहुत से हिरन लाकर खड़े कर दिए जाय तो वह अपने भाई को पहचान लेगी। लड़की ने कहा—"हाँ।" तब राजा ने बरधयों को हुक्म दिया कि सब हिरनों को जिंदे ही पकड़ लो।

सब हिरन पकड़ने पर राजा ने लड़की को कहा—"पहिचान लो, तुम्हारा भाई कौन है।" लड़की ने एक काले हिरन की ओर इसारा करके कहा कि—"यह मेरा भाई है" और वह उसके गले से लटक गई। ऐसा करने से उसके गले का डोरा टूट गया और वह हिरन से लड़का हो गया। भाई-बहिन खूब मिले। राजा ने लड़के से सब हाल पूछा तो उसने बताया कि—"मैं कुए पर घोड़े से यह कह रहा था कि चल पानी पी ले, इसपर एक बाँदी ने मुझसे कहा कि कहीं माटी के घोड़ा पानी नहीं पीते हैं। मैंने उससे कहा कि यदि मिट्टी के घोड़े पानी नहीं पीते तो रानी भी कंकड़-पत्थर नहीं पैदा कर सकती। इस पर वह स्त्री घर चली गयी तथा दूसरे दिन उसने हमें एक मालीदा खिलाया जिससे मैं हिरन हो गया। मेरी बहिन ने वह मलीदा अपने तौला में रख छोड़ा है। और ऐसा कहके उसने अपनी बहिन वाला मलीदा राजा के हाथ पर रख दिया। राजा ने उसे जाँन कर कहा कि यह तो करिया हिरन का दिल है जिसमें मीठा मिलाया है और उसे पुरानी बातें याद आने लगीं। उसे अपनी पटरानी का भेद ज्ञात हो गया। राजा जंगल से महल में उन्हें ले आया वहाँ उसने कुम्हार को बुला कर पूछा कि उसे ये सब कहाँ मिले थे ? उसने बतलाया कि आज से ११ वर्ष पहिले। ठीक ११ वर्ष पहिले रानी ने दूसरा घंटा बजाया था और पटरानी ने कंकड़-पत्थर रखवा दिये थे। राजा को खूब विश्वास हो गया कि ये उसीके लड़के-लड़की हैं और दूसरे दिन उसने दरबार में आकर यह हुक्म सुनाया—

ये लड़के तथा लड़की मेरे हैं। तथा मेरी हिरणावती रानी जो आज कल काग-बिड़ारने का काम कर रही है इसकी संतान हैं। पटरानी की नीचतापूर्ण चाल से मैंने उसे काग-बिड़ारनी बना डाला। इसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ और पटरानी के लिए यह आज्ञा देता हूँ कि उसे जिंदी ~~को~~ जमीन में गाड़ दिया जाय और प्रत्येक दरबारी उसके सिरपर दो-दो ठोकर लगाए।

रानी को जमीन में जिंदी गाड़ दिया गया और हरएक नें उसमें ठोकर लगाई। इधर काग-बिड़ारनी हिरणावती रानी हुई। अब वह पटरानी हुई. राजा-रानी सुख से सैकड़ों वर्षों तक राज करते रहे। बाद को लड़का शाहंशाह हुआ।

११

आदमी की उँमरि

परमात्मा नें पैहलें चार चीजु पैदा करीं, एक आदमो, एक बरधु, एक कुत्ता और एकु घुग्घू। चारयों की उँमरि चालीस-चालीस वर्ष की धरी। पैहलें बर्ध नें कही इतनी उँमरि चलाइबौ मेरे बस की बात नाँएँ। ईस्वर नें पूँछी कि तू कितनी उँमरि चलाइ सकतु ऐ। बाँनें कही बीस बर्स। आदिमी नें कही कि लाओ जिन बीस बर्सनु नें मोई ऐ दै देउ। ईस्वर नें वे बीस बर्स आदमीऐं दै दईं। अब आदमी की उँमरि साठ बर्स की है गई।

फिरि कुत्ता नें कही—"कि महाराज, चलनी चालीस बर्स मोऊ पै नाँएँ।

चों कि मोइ पेट-भरिबे कूँ दर-दर भटकनों परतु ऐ।" कुत्ता नें बारह बर्स माँगी। आदमी नें बाऊ की २८ बर्स लै लईं।

अब घुग्घू नें ऊ कही—कि महाराज, मैं ऊ बीस बर्स ई राखि सकतु। आदमी नें तेऊ बीस बर्स लै लई"। आदमी की उँमरि अब १०८ बर्स की है गई।

२

चालीस बर्स तक तो बुही अवस्था रहति ऐ, जो आदिम की मिली कारि। चालीस बर्स तें ऊपर बर्ध-बारी उँमरि लगि जाति ऐ, फिरि बु दिन-राति कमातु ऐ। तिनका बोझ ढोतु ऐ। बैल की नैयाँ बहिबे लगतु ऐ। जो साठि ते ऊपर जीवै तो स्वान-बारी उँमरि आवति ऐ, जाँ में बक-बाद जाँतु ऐ औरु कुत्ता की तरह घुंघियातु ऐ, काऊ ऐ गारी दै, काऊ ऐ फटकारि। जाऊ उँमरि ऐ पार करि जाइ तौ फिर घुग्घू-बारी उँमरि लगि आति ऐ। फिर बाकौ नाऊ ऐंठ मिलिबे पै आति ऐ। बैठ्यौ-बै घौ फिरि बु चाह्यौ करतु ऐ। न कछू कहिबे कौ, न सुनिबे कौ।

जिही आदमी की चारि तरें की उमरि ऐ।

१२

सगुनियाँ कोरी

एकु कोरी राजा ओ, बु सुसरारि कूँ चल्यो। ब्वानें अपनी मा ते कही कि—"अमा मेरे काजैं सतुआ बाँधि दै।" सतुआ लैकें बु चल्यो। मा नें वा ते कहि दई कि—"बेटा, जो आदिमी रस्ता में मिलै बाते राँमु-राँमु करियो।" कोरिया चलि दीयो।

रस्ता में एकु कपासु कौ खेतु मिल्यो। वा में कपासु के ढेंड खिलि रहे। बाने सतुआ-पानी औरु सब पेड़ँन पै छिरकि दीओ औरु सबते रामु-राम् करनु लगै। सतुआ सब निमिटि गयो। फिरि चलि दीयो चलत-चलत अपनी सुसरारि पौंहुँच्यो। सुसरारि के द्वारें एकु गधैया बँधि रही और द्वारें एकु अँधौआ कूआ ओ। गधैया के गोड़ बाँधिकें बानें अँधोआ कूआ में डारि दई, अब न आगें चल्यो। राति है गई, घर के पिछवार जाइकें बु ठैरि गयो। सुसरारि में रोटी पई जा रही। एकु चँदिया औरु पाँच रोटी पईं। कोरिया कौ सबरी बात सुनि रह्यौ। अब बाकी सासु नें बटवारा कर्यो। ख्वारी तू लै, एक तू लै। चँदिया तू लै। खाइ-पी कें सब सोइ गए। सासु ऐ आधी राति पै मुतास लगी। कोरिया पनारे-तर पर्यो ई ओ। सासु नें पनारे पै तें मूतौ औरु एकु पदरका मारि दीयो। कोरी राजा ने अपने मन में कही बरस्यौ सो बरस्यौ परि तड़क्यौ ऊ खूब।

सबेरौ भयौ। कोरिया उठि कें अपनी सुसरारि में आइ गयौ। बाकी सासु नें पूछी—"लाला, कब के आए।" बाँने कही—"हम तौ जब ई आइ गए, जब चँदिया और पाँच रोटीन कौ बाट है रह्यौ ओ। सुसरारि में नाँमवरी फैली कि कोरिया कौ जँमाई बड़ौ सगुनियाँ ऐ।

अब कुँम्हार के ऐ खबरि परी। वा की गधैया खोइ गई। बु कोरी जँमाई के ढोरें आयो। बा नें आइ कें अपनी गधैया की बात पूँछी। कोरिया नें कही जंगल-झाड़ौ फिरि आवैं, रोटी-पानी खाइकें बताँगे। सब ते फारिग है कें बानें कुँम्हार ने कही—जा तेरी गधैया अँधौआ कूआ में गोड़-बधी परी ऐ। कुँम्हार गयौ, बाइ अपनी गधैया पाइ गई, अब बाकी बड़ी नामवरी फैली।

२

म्वाँई के राजा कौ हारु खोइ गयौ, बानें ऊ कोरिया की बात सुनीं। बानें कोरिया बुलायौ औरु बा नें कोरिया ते कही कि—"जौ तू हमारे हार कौ खोजु देगौ तौ तोइ एकु हजार रुप्या दिंगे औरु जौ न बताबैगौ तौ जाँन तें मरवाइ दयौ जाइगौ। कोरी राजा नें कही—"सबेरें बताँगे।

कोरिया के ऐ राति-भरि नींद न आई। सबेरौ भयौ। सिपाई टेरिबे आए। बानें कही कै—"कुल्ला-दाँतनि करि कें बताँगे।" राजा नें सिपाईन ते कही—"जाओ, जल्दी लिवाइ लाओ।" कोरी नें जाइकें राजा पै ते एकु दिनाँ की औरु मौलति माँगी। राजा नें एकु दिनाँ की मौलति दै दई।

कोरिया घर लौटि कें आयौ। जगत-जगत बाए आधी राति है गई। जानें हारु चुरायौ का औ बा कौ नाँमु नींदरिया' ओ। कोरिया कहै—"आइ जैऔ नींदरिया, तेरी भोर कटैगी मूँड़रिया।"

अब नींदरिया भजति आई। वानें कही—"हारु तौ मोई पै ऐ। परि मोइ जैसें बनें तैसें मरिबे ते बचाइ।" कोरिया नें पूंछी—"हारु कहाँ ऐं।" बाँनें कही—"राजा के आँगन में घिरोंची है, वाके नींचे गड़ि रह्यौ ऐ।" कोरिया नें कही—"जा तेरी नारि न कटैगी।"

अब कोरिया तन्नाइ कें सोयौ। सबेरें सिपाई बोलिबे आए, बाँनें खबरि भेजी आँमत ऐं अब हाल। थोरी देर में राजा के दरबार में गयौ। बानें बतायौ हारु घिरोंची[1] के नींचें गढ़ि रह्यौ ऐ। राजा नें खुदाई करबाई हारु पाइ गयौ। राजा नें हुकमु दीयौ जितनों जि रुप्या माँगै उतनों रुप्या दै देउ।

फिरि बु एकु हाती पै बैठारयौ गयौ। अब बु हाती पै बैठिकें अपने घर कूं चल्यौ। हाती पै हचका लगतें ई ऐं। कोरिया ऐ अब डरु लग्यौ। बु किल्लायौ—

"चार पाँइ जाके थामक-थैया, एकु पाँइ नँचकैया।
ता पै चढ़ि के सरगु दिखायो, तऊ न मरयौ मेरी मैया।।
—भैंटौ, भैंटौ रे मेरे भैया।।"[2]

१३

कोरिया की मैंहमानी

एक कोरिया गरमी के दिनँनु में ठाकुर के संग बाकी सुसरारि कूं गयौ। ठाकुर की सुसरारि में बड़ी-बड़ी खातिरि भई। जात ई भाँग-ठंडाई, छिरकाबु करबायौ। बढ़िया पलका बिछबायौ। दरी और दरी के ऊपर पिछौरा और पिछौरा ई उढ़ईया दयौ। खूबु खीर-पूरी, बूरौ, घ्यौ ते मैंहमाँनी करी। तीन दिनाँ तक बड़ी मैंहमाँनी करी। फिर गाँम कूं आए। कोरिया मन में बोल्यौ कै—"मैं ऊँ सुसरारि में जाइ कें ऐंसी ई खातरि करबाउँगो।"

वाकौ जेठमास में तौ छुटकारौ न भयौ। जाड़ेन में गयौ। पैहलें तौ बानें छिरकाबु करबायौ। फिरि पलिका बिछबायौ और दरी बिछाई और दरी के ऊपर पिछौरा बिछायौ। पिछौराई ओढ़िबे कूं लयौ और खूबु खीरि-पूरी ते मैंहमाँनी करबाई। राति कूं जब सोयौ तौ घरबारेन नें कही कै उढ़ैया और लाँमें जी। वाँ नें नाहीं करि दई, बिरकुलि ठाकुर की नकल करी।

जब आधी राति पै जाड़ौ लग्यौ तौ गजी बुनबे के गड्डा में जाइ दुबक्यौ। राति में वाकी सासु पेसाबु करिबे आई। तौ गड्ढाई में पेसाबु करि गई और पादि ऊ गई।

जब धौंनायौ भयौ तौ वाके घर के बोले—"मैंहमाँन पलिका तौ खाली परयौ रह्यौ ऐ, तुम कहाँ सोए।" बु बोल्यौ—"अजी, हम म्वाँ सो रहे जहाँ बरस्यौ तौ बरस्यौ, परि गरज्यौ बड़ो।" बाकी सासु सुनिकें नैंक है गई।[3]

१४

मिश्र और मिश्रानी

एकु मिसरु और मिसराँनी ए। सो मिसराँनी मिसर ते बोली—"कै हे महाराज, तुम झूँठ मत बोलौ।" जब मिसरु मिसराँनी ते बोल्यौ—"मोकूं रोटी कर दै, मैं झूठँनें छोड़ि आऊँ। सो मिसराँनी नें वाके काजें रोटी करदई। सो मिसर रोटींनें लैकें चलि दीयौ।

सो गाँव ते बाहर बगीचा में आइ सोयौ। रोटी खाइकें, पी ठंडौ जल दुपैरी बिरमाई। साँम के बखत बगीचा में ते घर कूं आयौ। जब मिसराँनी बोली—"कै महाराज, झूठँनें छोड़ि आए।" मिसरु बोले—"कै तैनें, रोटी थोरी कर दईं सो बे बौहौत दूर नाँइ पौहँची, सो मैं बापस आइ गयौ।" मिसराँनी बोली मिसर ते—"कै तुम्हारी झूँठ बोले बिनाँ नाँइ निठै।" तौ मिसराँनी नें बिचार कियौ कि इनके लिये एक कुंजा सतुआ घोरि कें दऊँ, बानें सतुआ घोरि कें कुंजा में भरि दियौ।

सो सबेरें मिसराँनी बोली—"कै लेउ महाराज, छोड़ आऔ सबु।" मिसर लै कुंजा कूं चलौ

[1]. पानी रखने की पड़हरी। [2]. सं० क०—चंद्रभान लोहबन। [3]. सं० क०—पातीराम अकबरपुर के संग्रह से।

सो कुंजा कौ म्हौं एक उँगरिया की बराबर चौरौ। सो मिसरु का ही वा मनुआ पै उँगरिया ने खाद, सो मिसरु कौ पेटु ई न भरेबे में आवै। सो मिसरु नें रिसाइ कें कुंजा पेड़ ते दै मारौ। सो वामें, ते कछु खाइ-पी कें साँम कूँ अपने घर कूँ चलौ। सो मिसरानी के पास आयौ।

जब मिसराँनी बोली—"महाराज, भूँडन कूँ छोड़ि आए।" तब मिसरु बोल्यो कै—"मैं भूँडन कूँ छोड़ि आयौ, औरु मोइ तेरौ भैया मिल्यौ।" जब मिसरानी बोली—"कै मेरे भैया की राजी-खुसी बताओ।" तब मिसरु बोल्यौ—"कै राजी-खुसी जब बताऊंगो पैलें मोकूँ न्हाइबे कूँ पानी तातौ कर, फिरु रोटी करियौ। जब खाकें राजी-खुसी बताऊंगो।" सो मिसरानी नें न्हाबे कूँ पानी तातो कर दियौ औरु रसोई करि दई। सो मिस्र जी रोटी जेंबे कूँ बुलाए। जब मिस्र आए, तब मिस्रानी बोली—"अब मेरे पीहर की राजी-खुसी बताइ देओ।" मिस्र बोलो—"कै मैं रसोई जैंकें तैयार है जाऊं औरु तूऊ रसोई जैलें, चारपाई बिछाई कें मैं लेट जाऊं, तब तू मेरे काजें हुक्का भरि कें लइयो, तू मेरे पास पाँव दाबती रहियौ मैं हुक्का पीतौ रहूँगो, तब कहूँगो।"

जब बानें रोटी जें लई और चारपाई बिछा दई औरु हुक्का भर दीयौ। बु लेट गयौ। मिस्रानी पाँव दाबबे लगि गई। जब मिस्रानी बोली—"अब मेरे पीहर की बात बताइ देउ।" मिस्रु बोलौ—"मैं हुक्का पी लऊँ तू पाँव दाबि कें निदरक है लै।" मिस्रानी बोली—"अब तूं अपने हुक्काऊ पी लियौ, अब बताओ।"

अब बु बोलौ—"कै मैं बीयावाँन जंगल के बीच में पहुँचो सो मैंने भूँडन की गठरिया बाँध-बाँध कें चारौ दिसान कूँ फेंकी। फेंकते-फेंकते मैं थकि गयौ, सो मेरी नजर एक रीछ परयौ, सो रीछ मेरे माऊँ आइ रह्यौ। सो मैं रीछ की देंहसति के मारें भाज्यौ। सो मेरे पीछें रीछऊ भज्यौ। सो मैं भजिकें एक बेर के पेड़ पै चढ़ि गयौ। सो रीछ पेड़ के नीचें बैठि गयौ। सो देंहसत के मारें मेरौ मूत निकरि गयौ। जो बु रीछ पेसाब-पकरि कें चढ़िबे, लग्यौ सो बू मोते चार-छै आँगुर दूर रह्यौ। सो मैंने पेसाब बंद कर लीयौ औरु रीछ गिरौ और भाग निकरि गयौ। मैं पेड़ पै ते उतरि कें चल्यौ ई आइ रह्यौ ऊँ।" मिसरानी बोली—"कै निपूते, इन टल्लननें रैहून दै, औरु नई-नई मति पथरावै।"[1]

१५

चार यार

चारि यार ए, एकु बैहरौ और एकु आँधरौ एकु लँगड़ौ औरु एकु गरीब। चारयौ कहूँ कूँ मनसुआ करिकें जाइ रहे। तौ कछु दूरि चलिकें रस्ता में बैहरौ बोल्यौ—"कै भाई, मोइ कछु ऐसौ सुनाई दै रह्यौ ऐ, मति कहूँ कोई फौज गोला-से चलामति आइ रही ऐ।" आँधरौ बोल्यौ—"भाई, मोऊ ऐ धुआँधार-सौ कछू गर्द-मर्द-सी मालूम परि रही ऐ।"

लँगड़ौ बोल्यौ—"भाई आँमति ऊ दीखैगी तौ है ई फुदक मे म्वां दीखैगो।" गरीब बोल्यौ—"कै भाई, तिहारौ कछू न बिगरैगो, तुम मोइ लुटबाओगे।"[2]

१६

निन्यानवें का फेर

एकु बनियाँ ओ, परि लोभी भौतु। साढ़े तीनि पैसा कौ साग लायौ करै औरु आइ द्वै दिनाँ कूँ करयौ करै। कबऊँ न मिठाई लावै औरु न अच्छौ खाइवे कूँ लावै।

ब्वा के परौसु में एकु नित-लावा, नित-खावा कौ घरु ओ। बु रोज कँमाइ कें लावै औरु सबरी कँमाई ऐ रोजु खाइ लें। खूब साग करबावै औरु खूब मीठौ लावै।

सेठाँनी सेठ जी ते बोली—"हम तौ कछू नाँइ, जि रोजु कँमाइ कें लावै औरु सबरी कँमाई ऐ रोजु खाँमतु ऐ, परि हमतौ जाके अगार न काऊ गिती में न दरोज में। हमारे मागिमाँन ह्वैबे

1. झंमनलाल अग्रवाल : बिलौठी के संग्रह से। 2. सं० क०—पातीराम अकबरपुर के संग्रह से।

कूँ धरकार ऐ।" सेठजी बोले—"अबई जापै निन्यानबें कौ फेरु नाँइ परचौ। जा आजु जाकूँ की छत्ति पै ६६ रुपया धरिआ और फिरि देखि तँमासौ।" बनैंनी नें जिही काँमु कियौ।

अब वा मजूर की बहू ऐ निन्यानबें रुपया पाइ गए। संजा कूँ बाँनें अपने मालिक ते रुपया पाइबे की बात कही। बाँनें कही—"बोल मति, कल्लि की मँजूरी मेंते एकु रुप्या बचाइ कें जाँमें औरु मिलाइ दिगे औरु सौ रुपया करिकें गाढ़ि दिगे।

दूसरे दिनाँ बाके ज्याँ आधौई साँमान आयौ औरु एकु रुपैया बचायौ, जा तरें सौ रुपया ते सवासौ, सवासौ ते डेढ़ सौ करिबे की सोचत जाँइ और खाँन-पाँन में घाटौ आँमतु जाइ।

बनियाँ नें कही—"देखिलै री, परि गयौ सारौ निन्यानबें के चक्कर में।"[1]

१७

जाट की कहानी

काई गाँम में एकु मेव रहै ओ। वापै घर कौ कोई काँम नहीं होंतो। यालें बानें घर के काँम-धंधे सँभारिबे कूँ एकु जाट रखि लियौ। वा मेव के और बी भैया-बंद ए। सबु आलसी ए।

एकु दिनाँ बाके घर में ते एकु आदिमी मरि गयौ, सो भैया, वे बाऐ रोंमते-पीटते औरु कबरस्तान में गाढ़िबे कूँ लै चले। वाके घर में साँझ कूँ आदमी मरौ ओ परि कबरि तक लै ज्यावे में उन्हननें राति ह्वै गई। जब वे बाऐ गाढ़ चुके तौ ख्यासु कियौ कै भाई, कोई जीव-जंतु या ऐ नाँइ खोद कें निकार लै जाइ। याते तुम एकु काँमु करौ, आज राति कूँ जाट के ऐ जो हमारे य्हाँ ठौरी काँम करै ऐ, बाऐ रखवारी पै करि देउ। कै याऐ कोऊ जीवु नाँइ उखारि कें भागि जाइ। राति कूँ जाट कौ रखवारौ कबरि कौ बनाइ दयौ।

बे तौ घर कूँ चले गए और वहाँ जाट रहि गयौ। जाड़े के भईया दिनाँ ए औरु जाट के ऐ आइ गई कबरि के ढौरें औंघ, सो बु तौ एक पेड़ की जर के जौरें सोइ गयौ। आधी राति कूँ आयौ भइयैंन के ह्वाँ एकु जरखु सो वा मीयाँ कूँ उखारि कें लै भग्यौ। सबेरें बु जाट कौ जागौ तौ कवरि खुदी पाई और वाँमें कोऊ मुंर्दा न फुर्दा, बड़े ख्यास में डूब्यौ।

अब तौ कै उँन मेवँन ते कहा कहुँगो। इतने में मेव भी घर ते वहाँ कबरि के ढौरें आइ पौंहँचे। वहाँ कवरि खुदी परी, सो भैया, अब मीयाँ भी सोच में। उन्होंने वा जाट के ते कहीं—"ओ जाट के, इस कवरि कों कून उखारि के हियाँ डाल गयौ और मुर्दा कूँ लै गयौ।।" जाट नें कही—"जी, मोंहै बी पतौ नाँएँ। यहाँ एक लै जाँतो तो मैंनें ऊँ देख्यौ ओ।" इतने में वा मेव के भईया और [illegible] बोले कै—"अब्वा जाँन, कोई खुदा का फिरिस्ता लेगा होगा।" जाट कौ भी कहँन लगौ—"हूँबे जी, खुदा कौई फिरिस्तौ लै गयौ। मोहै बी जब ते याद ना रही। अब तुम्हारे कहें ते मोहै बी याद आ गई है।" अब म्याँ ओ सबै खुशी भई, इतने में जाटु बोलौ कै—

"बात आई, बात आई, बात में परिगौ फरक।
तुम कहौ वाऐ खुदा कौ फिरिस्तौ, हम कहें वाइ जरख।।"[2]

१८

गधा ते आदमी

एकु चटसार में एकु पंडितु पढ़ाऔ करतो। बाकी चटसार में एकु छोरा पढ़तौ। बु चालीस-सेरौ गमारु ओ। पंडित नें एक दिनाँ बु बौहौत मारचौ। छोरा बहुत भारी रोइबे लग्यौ। पंडित नें कही—"अरे मूरिख, मैंनें तू गधा ते आदिमी बनाइ दीयौ।"

एकु कुँम्हारु म्वाँ वाहिर अपने गधा चराइ रह्यौ। बाकें कोई औलादि नाँई, बु पंडित जी के जौरें गयौ, औरु पालागन करी। पंडित जी नें बाते पूँछी—"कि भाई, कहा बात ऐ।" बा नें कही—

१, २. सं० क०—चंद्रभान-लोहबन।

"महाराज, एकु किरपा तौ मोऊ पै करि देउ। मैं तुमैं एकु गधा दै जांगो, बाइ मेरैं काजें आदिमी बनाइ देउ। मैं तिहारौ कबऊ गुनु न भुलूंगो।" पंडित जी नें समझि लई कि जि निरकुल्लि ई गंमारु ऐ। उँननें कुँम्हार ते कही—"कि ला लेआ अपने गधा ऐ, छोरा बनाइ कें दै दुंगो।" कुँम्हारु एकु चाक सौ गधा लाइ कें पंडित जी कूँ दै गयौ। पंडित जी नें कही—"जा, आठ महीना पाछें अपने छोरा ऐ लै जैयो।" कुँम्हारु चल्यौ आयो।

(२)

आठ महीनाँ जैसें-तैसें करि कें कुँम्हार नें काटे, जब आठ महीनाँ बीति गए का सोई बु पैहलें ई बेचि दीयौ। कुँम्हार ऐ देखत खँम पंडित जी नें बातें फटकारि कें कही—"अरे, तू इतनी देर करिकें आयौ ऐ। बु गधा तौ तेरो मैंनें आदिमी बनाइ दीयो औरु बु तौ जज्जु बनाइ कें भेजि ऊ दीयौ। देखि फलाने सैहॅरु में बु जज्जु ऐ, औरु बा कौ नामु ऊ बताइ दीयौ।"

(३)

कुँम्हार मारें खुसी कें फूलि गयौ औरु बाई सैहॅरु कूँ चल्यो। इजलास में पहुँच्यौ। सिपाई नें रोका-राकी करी। कुँम्हार नें कही—"अरे, तुमें खबरि न सुधि, ज्याँ जाई के पीछें बरबाद है गए, तुमें अपनी ई अपनी परी ऐ। आठ महीना ते मैं जाई ऐ ढूँढ़ि रह्यौ ऊँ।" सिपाई विचारे चुपु-चाप है गए। बु कुँम्हारु बा जज्ज के इजलास में पहुँच्यो औरु बाते कही—"अरे मेरे बेटा, तेरे काजें मैंनें कूअँन में बास डारि दिए, चलि अब अपने घर कूँ चलि। मैंने ई तू गधा ते आदिमी बनवायौ ऐ।" जज्ज ऐ आई रिस। बानें वाँमें लात मारिबौ सुरू करयो। कुँम्हार नें कही—"अरे गधा ते आदिमी बँनबायौ, परि अबई बु पुरानी लात मारिबे की टेव नाँइ छूटी।"

१६

सत्त की जड़हरी

एकु डोकरी महादेव जी की भगतनि ई। बा की एकु नाँतिनी ई औरु काँई हतु नाँ ओ। अपने घर ते ई बु महादेव कूँ झारी में जलु भरि कें लै जायौ करती। एकु दिनाँ बु पाँनी भरि कें लै गई, म्वाँ डाँकेबारे बैठे। उनें बड़ी जोर की तिरखा लगि रही ई, उननें कही—"डोकरी हमें पाँनी प्याइ।" डोकरी नें कही—"जौमें तुमें पाँनी प्यामति ऊँ तौ मेरो नित्त नेंमु छूटतु ऐ।" झट्ट बानें नाँई करि दई। डाँकेबारेनु नें कही—"जाँन दै मैया, तेरी राजी।"

अब बानें महादेव के ऊपर लोटा औंधौ करिदीयो, परि जलु निकरै ई नाँ। बानें कही, आजु कहा बातै, ला उनें पाँनी ई प्याइ आँऊँ। बु पाँनी प्याइबे लगी, सबनें पाँनी पी लियौ औरु महादेव जी पै चढ़ाइ बे कूँ फिरि ऊ पाँनी बचि रह्यौ।

डाँकेबारेनु नें पूंछी—"तेरें औरु को ऐ।" बाँनें कही—"बेटाओ, मेरें एक क्वारी नाँतिनी ऐं।" डाँकेबारेनु नें कही—"जब बाकौ ब्याहु होइ तब हँम पै खबरि करि दीजौ।" डोकरी नें कही—"अच्छौ बेटा।"

(२)

छोरी कौ ब्याहु आयौ। डोकरी ऐ तौ कछू यादि ऊ न रही। डाँकेबारेनु नें कहूं ते सुनि लई। बिनें ऊँट, हाथी, घोड़ा औरु गऊ, गाढ़ीन पै साँमानु लदबाइ दीयौ औरु आइ गए। डोकरी ऐ यादि ऊ न रही। बा के सबु काँम ऐ बेई करि दयौ करें, परि डोकरी पहिचाँन न पाई। कन्या-दाँनु करि कें डाकूननें आइ के राँमु-राँमु करी। डोकरी नें कही—"बेटाओ, मैं तौ तुमें पैहॅचान नाँइ पाई।"

डाँकेबारेन कौ बारंटु ओ। बाई बखत सिपाई आए औरु डोकरी के सामुई बु गिरफ्तार करि लिए। डोकरी नें अपने मन में बड़ी धिरकारी माँनी औरु महादेव जी ते बड़ी बीनती करी। महादेव जी की करामाति ते बेड़ी सिपाई डारे औरु बे खुलि जाँइ। फिरि उनें कुतवाल के जोरें लै गए। बानें बे हवालात में बंद करवाइ दिए। जब बु उनें हवालाति में बंद करे सोई झट्ट बा के तारे खुलि जाँइ। फिरि बु डोकरी बुलाई। बाते जब पूंछी-करी कहा बातै तौ डोकरी नें सबु किस्सा कहि दीयौ।

फिरि कुनवाल नें उन डाँकून ते पूछी—"भाई, कहा तुम कहत औ" । उन्नें कही—"साब, सत्त की जर हरी होति एँ, हमनें डोकरी को सत्तु देखि लीयौ। अब हम सिब जी के भगत है जाँगे और अच्छे-अच्छे काम कियौ करिंगे ।"

कोंनवाल नें डाँकेवारे छोड़ दए ।

२०

धरमराज

काऊ गाँम में एकु फकीर और जाट रह्यौ करें। जाट कें एकु छोरा औ। फकीर कें अपनी औलाद न होंनें सें उस जाट के लड़के से अपने हुक्का की चिलँम भरि बायौ करै औ। जब जाट को नाहीं करनों तौ फकीर की कहतो कि—"या तौ मेरी चिलँम भरिजा, नहीं तौ मैं तेरे ऊपर मसाँन छोड़ि दुंगा।" जाई फिकिर में जाट कौ लड़िका सूखिने लगौ। एकु दिनाँ जाट अपने खेत पै ते आइकें जाटिनी ते बोल्यौ—"कि लड़िका क्यों सूखतौ जाइ रह्यौ ऐ। जाहि का दुख है।" जाटिनी बोली—"कि दुखु तौ जाउ कछू बी नाँएँ परि जि फकीर जाते चिलँम भरबावै ऐ औरु जब लड़िका मनें करतवै तब कैहतु ऐ कि चिलँम न भरैगौ तौ मैं तेरे ऊपर मसाँन छोड़ि दुंगो। जाई फिकिर ते लड़िका सूखि गयौ ऐ ।"

फिरि जाट नें फकीर ते कही कि—"क्यों रे फकीर के, तू लड़के को क्यों धमकावै ऐ औरु चिलँम भरबावै ऐ, तेरौ हुँम पै कछु आवै ऐ का।" फकीर नें कही—"कि मैं तो जाई पै भरबाऊँगो औरु न भरैगो तौ मसाँन छोड़ि दुँगो।" जाट नें कही कै तू यों न मानैगौ तौ मैं धरमराज छोड़ि दुँगो। फकीर नें सोची कै जोंई धमकावतु ऐ। कही—"छोड़ि दीजौ।"

फिर जाट नें बाई बरखा पोखरा में ते एक कछुआ लाइकें बाके ऊपर गीली मिट्ठी थोपि कें घर में तैयार करि लियौ। फिरि आधी रात के समे पै कछुआ के ऊपर कँई दीए जोरि कें वा गीली मिट्टी में जमाइ दए औरु कछुआ के पैर में रस्सी बाँधि कें अपने द्वार पै लाइकें रस्सी पकरि कें बैठि गया। फकीर को घर-सामनें ई औ। कछुआ सीधौ फकीर के ई घर लगौ औरु धीरें-धीरें घर में भीतर जाइबे लगौ। इतने में ई वा फकीर की मींयट्टी जगि परी औरु वा कछुआ ऐ देखि कें बोली—"तोबा-तोबा, ओ जुंमा के अब्बा, जाट को धरमराज तो आभी गया, औरु तुम्हारा मसाँन जानें कब छूटैगा।" फकीर ओ मा सूनी, सो जागौ और वा धरमराज ऐ चलतौ देखि घबड़ाइ उठौ और जाट ते बोलौ—"कि जाट के, जा अपने धरमराज कूँ रोक मैंनें बख्शा और मेरे खुदा ने बख्शा। अब तेरे लड़के से मैं अपनी चिलंम नहीं भरवाऊंगा "

फकीर के बोहौत अनुनै-बिनै करिबे पै जाट नें अपनों धरमराज लौटाइ लियौ, कछुआ लौटि आयौ बाइ गोद में लैकें जाट घर में भीतर चलौ गयौ। कछुआ के ऊपर ते मिट्टी हटाइ के सबेरे ही बाई पोखरा में कछुआएँ डारि आयो।[१]

२१

अंधेरे नें घर छोड़ि लयौ

एकु बाप-बेटा ए। अकेले ई ए। कोई बइअर-बाँनी घर में हति ई नाँ। बिचारे एकु छप्पर में ई गुजर करत ए। म्वाँई एकु कोंने में रोटी बनाइ लेंत ए। जाई तरें उनको जीबनु चल्यौ करतु औ।

एकु पौन एकु गाँम ते आदमी आयौ। बु आइकें वा छोरा की सगाई करि गयौ। अब बाप-बेटा नें सोची भाई, अब तौ एक कोठी बनामनों चहिऐं। बहू आवैगी तौ कहाँ बैठैगी। सोई बे कोठी बनाइबे लगे।

१. सं० क०—रामगोपाल शर्मा तुमोला, पो० छाता, जि० मथुरा।

कौठी बनाइ कें वु उननें पाटि दीयौ। दिनु मुँद्यौ, राति आई। राति कूँ छोरा वा कोठे में घुस्यौ। सो देखै तौ म्वां अँधेरो ई अँधेरौ। बानें किल्लाइ कें अपने बाप ते कही—"अरे दादा देखियौ, हमनें तौ इतनी नींठि ते कोठौ बनायौ और जि कोठौ आजु ई अँधेरे नें छींड़ि लयौ। अब कैसें होइ, कितकूँ जाइ।" बाप नें ऊँ आइ कें देख्यौ तौ वाइ अँधेरौ ई अँधेरौ दीस्यौ। अब दोऊ बेचारे डरपि गए। कोई भीतर धँस्यौ ई न। फिरि उन दोऊँन नें सोचा-बिचारी करिकें कही ला लंबरदार के ज्यों चलें। बु कछू करै तौ भलें ई करै।

(२)

दोऊ बाप-बेटा मुकदँम के ज्यों पहुँचे, वा ते जाइ कें कही—"लंबरदार जी, हमनें कल्लि तौ अपनौं कोठौ बनाइकें तैयार करयौ ओ और आजुई बु अँधेरे नें छींड़ि लीयौ, अब कहा करें, कित कूँ जाइ।"

लंबरदार समझि गयौ कि जे चालीस-मेरे गँमार ऐं। उँननें फैसला दीयौ कै अपनें कोठे ऐ खोदि-खोदि कें हमारे खेत में डारि आओ। अँधेरौ तुम्हारे घर ऐ छोंड़ि देगौ। उँननें कही वड़ी अच्छी बात ऐ।

आइ कें वे अपने कोठे ऐ फाँवरे ते खोदिबे लगे। द्वै घंटा खोदा-खादी करी परि बा में उजीतौ ई न भयौ, हार-झखमारि कें बाप नें बेटा ते कही—"कि बेटा जा, और अपनी बहू ऐ लिवाई कें ला, बा पै कोई तरकीब आँमति होइ तौ भलेंई आँमति होइ।" बेटा अपनी सुसरारि कूँ चल्यौ।

(३)

सुसरारि में पहुँचि कें वा नें कही—"हमारौ घरु अँधेरे नें छींड़ि लियौ ऐ। अब मेरी बहू ऐ भेजि देउ। स्याइति जिही बापिस लै ले।" बहू के पीहर बारेनु नें पहलें तौ नाहीं-नूकर करी, परि बु गौंहन परि गयौ कि लिबाई जाँगो। पीहर बारेनु नें भेजि दई।

घर आइ कें बहू नें देखा-भारी करी, बानें उनते कही—"बसि, इतनी-सी बात ऐ। लाओ मैं बापिस लुंगी जा घर ऐ।" बानें उनते कही रुई लाओ, तेल लाओ और एकु सरवा लाओ। बाप-बेटा एक लैहमा में लै आए। बहू नें दीओ बनायौ, जोरयौ और घर में धरि दीयौ। अँधेरौ भागि गौ। बाप-बेटा बड़े खुस भए, जो मिलै वाई ते कहैं—

"अरे भैया, हमारौ घरु अँधेरे नें छींड़ि लियौ ओ, हमारी बहू नें अपनी करामाति नें अँधेरौ हराइ दीयौ और घरु बापिस लै लयौ।[1]

२२

एक ठाकुर की चतुराई

दस बारह जनें मिलिकें काऊ मेले कूँ गए। तीन-चार दिन तक मेलौ खूब देख्यौ। फिर गाँम कूँ आए। मेले में सबु दाँम खर्चु है गए। एकु अधेलाऊ काऊ पै ना रह्यौ।

गैल में बिन्नें भूँख लगी और गाँमु बौहौतु दूर, और साँझ बैसें ई आई। अब वे अँधेर और भूख के मारें बिकल। गैल में एकु गाँमु आयौ। वाई में डटि गए और हलबाई की दुकाँन पै पौंहचे। सबु जने मिठाई तुलबाइ कें खाँमन लगे। खूबु छिकि कें खाई। खाइ-पी कें कुल्ला-दाँतिन करि कें निच्चू है गए। अब बनियाँ बोलौ—"लाओ जी दाँमु।" एकु बोल्यौ—"भाई, दाँम दिंगे धोंताएँ। अब का भांगे जातें। तेरी दुकाँन पै सोमिंगे।" बनियाँ बोल्यौ—"कोई बात नाएँ, धोंताएँ दै दिजौ।" बे बोले—"भाई सेठ, अब सोइबे कूँ कहूँ ठौर बताइ दै।" बनियाँ नें एक दूसरी दुकाँन कौ तारौ खोलि दियौ। और वे वामें सोइ गएँ। बनियाँ नें बाहिर ते तारौ दै दियौ।

अब वे बोलें—"भाई, धोंताएँ कैसें होगी।"

एकु बोल्यौ—"जब दिन निकसाऊ होइ तब द्वै-चारि दर्द कौ मूंड़ौ बनइओं और द्वै-चारि उसासु खचि जैओं। सबु मैं देखि लूंगो।" अब धोंतायौ भयौ, कोई किल्लाइ, कोई कछू करै।

[1]. सं० क०—चंद्रभान : लोहबन।

बनियाँ आयौ, तारौ खोल्यौ। बनियाँ किल्लामनि सुनिकें घबड़ायौ, बोल्यौ—"ठाकुर साब, का बात ऐ"। ठाकुर बोल्यौ—"बातै धूरि, जानें मिठाई में राति तेनें कहा खवाइ दियौ, मेरे तौ चारि आदमी मरे परे ऐं औरु कछून के पाँम टूटे जाँतें, किल्लाइ रहे ऐं कै पाँम टूटि चले। कछु दर्द के मारे ऐंठि रहे ऐं।" अब बनियाँ घबड़ायौ। जि भली भई। मेरी तौ जानि कूँ नौबति आइ गई। वौ ठाकुर ते बोल्यौ—"भाई, अब कहा होंनों चहिऐं।" ठाकुर बोल्यौ—"पँहिलें तौ डाकदर कूँ बुलाइकें लाऊँगो, पीछें कछू करूँगो।" बनियाँ बोल्यौ—"ठाकुर साब, जैसें बनें जैसें न्याँई फैसलौ कर लै। डाकदरै काहे कूँ बोलै। आ फैसलौ करि लऊँ, भाई, सौ-दोसौ रुपईया तू लै-लै।" ठाकुर बोल्यौ—"रुपया लुंगो मानस गैल सों। हम सबु बारह जने हैं। बारह सौ रुपईया लुंगो। नहीं हटि जा, मोइ जौंन दै।" बनियाँ बोल्यौ—"नाँइ ठाकुर, कहूँ मति जाइ, भई तू बारह सौ ई लै जा। अपनी कला समेंट।"

ठाकुर नें लै बारह सौ रुपईया, बिनते कही कै उठौ रे, गाँम में मरियौ चलौ झट्ट।" सबु ठाड़े हैं गए औरु लै सौ-सौ रुपईया अपने घर आए।[1]

२३

धर्म की जर हरी।

एकु बिराँमनु और एक बिराँमनी काऊ गाँम में रहत ऐ। ऐसौ बखतु आइ गयौ कै उनकी गुजर न है वे लगी औरु काऊ दूसरे सैहेर में जाइ कें रहे।

बिराँमनु राजा के न्याँ भीक माँगिबे गयौ। राजा काऊऐ कबऊ भीक नाएँ दैंतो। परि बा दिनाँ जानें बाके मन में कहा आइ गई कै बानें एक गिन्नी बा बिरामनु ऐं दै दई। बिरामैंनु नें कही—"धरैंम की जर सदाँ हरी ऐ"। और अपने घर कूँ लौटि आयौ।

अब बिरामनु गीधि गयौ। सो रोजु बाके न्याँ जाइ और एक गिन्नी लै कें औरु "धरैंम की जर हरी ऐ" कहि कें चल्यौ आवै।

अब राजा नें राँनी ते कही—"जि बिराँमनु तौ बड़ौ गीध्यौ, औरु जा तरह ते खजाँनों खाली हैं जाइगौ।" राँनी नें कही—"कल्लि बाते न्यों कहियों कै भीक जब मिलैगी, जब तू मोइ धर्म की हरी जर दिखाइ देगौ।

राजा नें दूसरे दिनाँ जिही काँमु करयौ। बिराँमनु बिचारौ बिनाँ भींक लर्ये ई चल्यौ आयौ।

(२)

आइ कें बाने बिराँमनी ते सबु बात कही। बिराँमनी नें कही—"कोई बात नाएँ, कल्लि राजा ऐ जंगलु में लिवाइ जइयों, म्वाँ एकु संगमरमर कौ मंदिर पावैगौ। बा में एकु घोड़ा बँध्यौ पावैगौ, बा घोड़ा पै राजा ऐ बैठारि दीजों, सोई बाइ धरम की हरी जर दीखि जाइगी।"

बिराँमनु दूसरे दिनाँ राजा ऐ जंगल में लिबाइ लैगौ। म्वाँ मंदिर पायौ, वा में तारौ लगि रह्यौ ओ। राजा के हात लगामत खेंम तारौ खुलि गयौ म्वाँ देखै तौ एक भौतु अच्छौ घोड़ा बँधि रह्यौ। बिराँमन नें राजा ऐ बा घोड़ा पै बैठारि दयौ औरु कै तौ राजा घोड़ा पै बठयौ सोई बु बाइ लै उड्यौ। लै जाइ कें म्वां पौंहँच्यौ जहाँ सुरग और नरक के दरबज्जे ए। म्वां जाइकें देखै तौ नरक के दरबज्जे में नौ तारे ठुकि रहे औरु सुरग के किवार खुले परे। राजा नें पूछी तौ म्वाँ के लोगँनुनें कही—"फलानौ-फलानौ राजा अब दाँनु-पुन्न करिबे लग्यौ ऐ। बाकूँ सुरग कौ दरबज्जौ खुलि गयौ ऐ औरु नरक कौ बंद हैं गयौ ऐं।" फिरि झट्ट राजा ऐ घोड़ा बाई मंदिर में उतारि लायौ। बिराँमन ते राजा नें कही—"अब कल्लि ते हम तोइ भीक न दिंगे। हमारे काजें अबु सुरग के दरबज्जे खुले हैं।"

बिराँमनु उदास है कें अपने घर कूँ चल्यौ आयौ, औरु राजा खुस है कें अपनी राँनी के जौरें पौंहँच्यौ।

[1]. पातीराम : अकबरपुर के संग्रह से।

बिराँमनु नें दूसरे दिनाँ फिरि कही राजा ते जाइ कें कि "मिरी महाराज, आजु और चलौ और धरम की जर देखि आऔ।" राजा राजी है गयौ, और बिराँमन के संग चलि दीयौ।

मंदिर पै पौंहुँचे। तारौ खोल्यौ सो देखैं तो म्वां एक गधा बँध्यो ओ। गधा ऐ देखत खेंम राजा कौ सीना ठनक्यौ। राजा गधा पै बैठ्यो और गधा उड़ि गयौ। जाइ कें देखै तो नरक कौ दरबज्जौ खुल्यौ परचौ और सुरग के तारे ठुकि गए। राजा नें पूछी—"भाई आज जि कहा बानै।" उननें कही—"बु राजा जैसें-तैसें तौ दाँनु करिबौ सीख्यौ और फिरि बानें बंद करि दीयौ, सो वाकूँ नरक कौ दरबज्जौ खुलि गयौ और सुरग कौ बंद है गैयो ए।" राजा नें पूछी—"अब सुरग कौ रस्ता मेरे काजें कैसें खुलै।" उननें कही—"तू बारह बर्स तौ भिष्टा खाइ और राज बा बिराँमन ऐ दाँनु में दै देइ तब खुलै।" राजा नें कही चाऐं सुरगु भार में जाओ, मैं भिष्टा न खांगो।" गधा आइ फिरि बा मंदिर में लै आऔ।

राजा नें राँनी ते आइ कें सबु हवालु कहि दीयौ। राँनी नें कही—"अच्छा।" राँनी रोजु थारी भरि के राजा कूँ भोजँन करावै और भंगिनि पै सींक ते नेंकु भिष्टा उरवाइ देइ। राजा ऐ कछु खबरि न, और रोजु भोजँन करि जाइ। जा तरह ते बारह बर्स बितीत है गए।

बारह बर्स पीछें राँनी नें राजा भेज्यो कै जा देखि आ। धरम की जर हरी भई कै नाँइ। बु मंदिर में पौंहुँच्यौ। म्वाँ ते बैठि घोड़ा पै म्वां भगवान जी के लोक में पौंहुँच्यौ म्वां जाइ कें देखै तौ सुरग कौ द्वार खुलि रह्यौ और नरक बंद, पर बानें पूछी भाई, जि कहा बात ए। उननें कही—"बा राजा नें बारह बर्स तक भिष्टा खाइ लई, अब वाकूँ सुरग कौ दरबज्जौ खुलि गयौ।" राजा ऐ बड़ौ अचंभौ भयौ, राँनी के जौरें आयौ।

राँनी नें राजा ते सबु बात कहि दई। राजा नें बिराँमनु बुलायौ और बाइ एक गिन्नी दई। बिराँमन नें कही "धरम की जर सदाँ हरी ऐ।"[1]

२४

जि कौंन की बहू होगी।

एकु बाढ़ई के छोरा, एकु सुनार के छोरा, एकु दर्जी के छोरा और एकु बिराँमन के छोरा में यारी ई। एकु पोत वे चारचौ ब्यापारु करिबे कूँ गए। एक सैहर्नपनां के बाहिर एकु बगीचा में राति बसेरौ करचौ, म्वाईं खाबा-पीई करी। खाइ-पी कें जब सोइबे लगे तब उननें सोची—"भाई, जंगल कौ मामलौ ऐ। राति कौ मामलौ ऐ। राति कौ समैया ऐ। द्वै-द्वै घंटा जागि कें सबु जने पैहरौ देउ"। सबु जा बात पै राजी है गए।

पैंहलमपत बढ़ई के छोरा कौ पैहरौ आयौ। बढ़ई कौ बेटा जागि परचौ ही तीनों सोइ गए। बढ़ई के बेटा नें सोची "ला द्वै घंटा में पूतरी ई बनाइ लऊ। बैसेंई बैठ्यौ-बैठ्यौ कहा करूंगौ।" सोई वानें अपने पैहरे में एक बौहौत कछू सलूक काठ की पूतरी बनाइ दई। अपने पैहरे ऐ बजाइ कें बढ़ई कौ बेटा सोइगौ और दर्जी कौ बेटा जागि परचौ।

दर्जी के नें बु पूतरी धरी देखी, बा नें अपने मन में सोची—"ला मैं ई बैठ्यौ-बैठ्यौ कहा करूँगो, ला जा पूतरी के काँजें पोसाकई बनाइ दूँ।" सोई बानें द्वै घंटा में पूतरी के काजें खूबु अच्छी पोसाक बनाई और बाइ पैहराइ दई। फिरि बाऊ कौ पैहरौ खतमु भयौ और सुनार कौ जाग्यौ।

सुनार के नें पूतरी के काजें गैहनौं गढ़चौ और नख-सिख ते गैहनें ते लादि दई, फिरि बाऊ कौ पैहरौ बीति गयौ और बाँम्हन कौ जग्यौ।

[1] सं० क०—चंद्रभान: लोहबन, टौंटा भंगी से सुनी।

बाँम्हन के नें सोची "बढ़ई के नें पूतरी बनाई, दर्जी के नें पोसाक सींई औरु सुनार के नें गँहनों बनाइ कें पैहरायौ, अब मैं कहा करूँ।" बानें कही—"ला, जाँमें में जीऊ ई डारि दऊँ।" सांइ बानें अपनी उँगरिया चीरि कें बा पूतरी के म्हों में निचोरि दई। सोइ बु पूतरी जी उठी।

सबेरें उठि कें चारचौन में लड़ाई है बे लगी, बु कहै जाइ मैं लुंगौ, औरु बु कहै जाइ मैं लुंगौ।

(२)

राजा के ज्याँ न्याउ पौहुँच्यौ। राजा नें सोचि-समझि कें हुकँम सुनायौ—"भाई, बढ़ई के बेटा नें पूतरी बनाई, सो बाकी तौ बेटी रही, बाँम्हन के नें जीउ डारचौ सो बु ऊ बाप थानिक-हीं रह्यौ। दर्जी के बेटा नें सीकें कपड़ा पैहराए, जि काँमु भातई कौ ऐ, सो दर्जी के की बु बैहन लगी। सुनार के नें बु काँमु करचौ ऐ जो मालिक कौ काँमु ऐ। बैइअरबाँनी हमेसाँ ई गैंहने की फिराद अपने मालिक ते करति ऐ। जाते जि बैअर सुनार के की रही।[1]

२५

दीन और दोजखु

एक पंडित जी कासी ते जोतिस पढ़ि कें आइ रहे। रस्ता में एकु सैहेरु परचौ। म्वाँई पंडित जी कूँ राति है गई। पंडित जी नें एक दुकाँन के तखता पै बिस्तरु लगाइ लीयौ औरु सोइ गए। बा दुकाँन के ऊपर एक रंडी रह्यौ करति ई।

पंडित जी थोरी-सी देर ही सोइ पाए कि म्वाँ है कें एक मुरदा निकरचौ। पंडित जी नें 'राँम-राँम सत्ति है' सुनीं। रंडी नें अपनी नोंकराँनी ते कही—"कि देखिऔ री, जि दीन कूँ गयो कि दोजख कूँ।" नोंकराँनी बाहिर निकरी। लौटि के बानें रंडी ते कही—"अरी, जि तौ दोजख कूँ गयौ।"

पंडित जी जि सवरी बात सुनि रए ए। उँननें अपने मन में सोची हमनें बैसई १२ वर्स कासी की धूरि फाँकी और जि विद्या आई ऊ न। जा विद्या के काजें रंडी ई ऐ गुरू बनामें।

पंडित जी जि सोचि कें ऊपर रंडी के अटा पै चढ़ि गए। रंडी ने पंडित जी कौ आदरु-सतकार करचौ। पंडित जी नें अपने मन की बात रंडी ते कही। रंडी ने कही—

"जाकी ल्हास के संग १० आदिमी कानाफुंसी करत जाँइ कि भलौ भयौ जि मरि गयौ। बाइ समझौ कि जि दोजख कूँ गयौ, औरु जाकी ल्हास के संग सबु लोग सोग मनावत जाँइ औरु बाकी तारीफ करत जाँइ बाइ समझौ कि जि दीन कूँ गयौ।"

२६

एक चतुर नारि

एकु गाँम के पास ई एक हरहारौ खेत जोत रह्यौ ओ। बाई गाँम की एक स्त्री बा हरहारे के खेत की मेंड़ पै हैकें ऐसे समे में निकरी जब कि धूप बौहौत तेज पड़रई ई औरु हरहारे में बोली कि—

> "धूप परै धरती जरै, पांव न मिट्टी खाइ।
> हारौ हर मत जोतियौ, जब तक पार बसाइ।।"

तब हरहारे में इसकौ कोई जवाब देते न बनों। स्त्री अपने घर कूँ चली गई औरु हरहारे नें भी समें पै हर छोड़ि कें अपने घर की रहा लई औरु घर जाइकें जि दोहा कह्यौ कि—

> "धूप परै धरती जरै, पांव न मिट्टी खाइ।
> हारौ हर मत जोतियौ, जब तक पार बसाइ।।"

[1] सं० क०—चंद्रभान : सोहबन।

तब बा की स्त्री नें कह्यौ कि—"फिर आपनें कुछ जबाव जा दोहा को दियो कि नांइ" सो तौ बोलौ—"मोते कुछ उत्तर देत नाँइ बनों। तो बाकी घरकी नें द्वै दोहा बना दए कि कल बु फिर आवै तौ पैहलें इस दोहे को और दूसरी बार इस दोहे को कह देनों। हरहारे नें दोऊ दोहा सीखि लए। दूसरे दिनाँ हरहारी नें हर जोड़ दिया और बाई खेत की मेड़ पै है कें जब बु पैहले वारी स्त्री निकसी तौ हारी नें कहा कि—

"लीलौ लहँगा पहरि कें, नारि नगर कूँ जाइ।
सत-बदनी दारी जब बदूँ, हर कौ बयौ न खाइ।।"

स्त्री नें ऊ अपने पहले दिन के कहे भए दोहा की जबाव पाइकें कही कि—

"सीखी-साखी तैं कही, जो कहीं कहतौ कालि।
घर कौ बलँम बिसारि कें, तू पिया में नारि।।"

फिर मर्द ने कहा—

"औंड़ौ जोतूँ धिन बऊँ, ठोकि लगाइ बऊँ बारि।
जौ लगि जाइ मेरौ एक दरौ, तौ तोसी करि लउँ चारि।।"

एसौ कोरौ-सौ जबाव पाइ बु स्त्री अपने घर कूँ चली गई।[१]

२७

जा जुग में रह्यौ, कछु बाऊ के गुन गाऔ

एकु ग्याँनी-ध्याँनी पंडित जी ए। वे एक राजा के ज्याँ रह्यौ करत ए। बा राजा के ज्याँ वे कोई अन्याउ नाँएँ होंन देत ए। सदाँ धरँम की ई बात करबाऔ करत ए।

बे पंडित जी एकु गाँम में रह्यौ करत ए और रोज, राजा के दरबार में आयौ करत ए। एकु दिनाँ रस्ता में उनें कलजुग मिल्यौ, कलजुग नें पंडित में आइकें पाँलागें करी। पंडित जी नें पूछी—"तू को ऐ।" बानें कही—"मैं कलजुग ऊँ, मैं तुमते द्वै बात करनें कहतूँ।" पंडित जी नें कही—"कहा बात है भाई।" जा पै कलजुग नें कही—"महाराज, जि तुम जानत ई औ कि आज की घरी मेरौ ई सबु जगें राजु ऐ। तुम राजा पै कबऊ मेरे मर्जी-मुताबिक काँमु नाएँ होंन देत। जाते मैं तुम्हारे जौरें आयौ ऊँ। कछू पापु, कछू अन्याउ ऊ है जान दै करौ। मेरी पूंजा ई जितने होंनि ए। जा जुग में रहौ कछू बाऊ के गुन गाऔ।"

पंडित जी नें कही—"जांतु नाएँ परे में। हम जहाँ रहिंगे म्वाँ पापु है जान दिगे? जा चल ज्याँ ते। हम कबऊ राजा के ज्याँ पापु न होंन दिगे।"

कलजुग नें कही—"तुम्हारी राजी महाराज, और जि कहि कें कलजुग हटिगौ।

(२)

दूसरे दिनाँ पंडित जी अपने गाँम मेंते राजा के दरबार में जाइ रहे। रस्ता में कलजुग नें कहा काँमु करचौ कि एक बौहौत ई फली-फूली बारी अपनी माया ते लगाइ राखी। बा में बेंगन लगि रहे। कासीफलु लगि रहे। पंडित नें बौहौत सुंदर बेंगन के फल देखिकें सोची—"ज्याँ कोई तो हतु नाएँ और बेंगन जे राजा के लाइक ऐं, अब कहा करूँ।" फिर उननें चार बेंगन तोरि लीए और बा बेगँन के पौदा के जौरें चारि पैसा धरि दीए। जाते धरँमु ऊ न जाइ और काँमु ऊ है जाइ। अब बे उन बेंगँन नें लै कें राजा के ज्याँ पौहँचे और राजा ते कही—"राजा, आजु हम बहुत ई कछू अच्छे फल लाए ऐं।" राजा नें कही—"निकारौ महाराज, देखूँ कैसे ऐं।"

कै तौ पंडित जी नें अपने रूमाल में ते बे फल खोले, सोई ईस्वर-करनी के चारि घेंटा सूअर के बच्चा है गए। अब तौ राजा बड़ौ नाराज भयौ और बानें पंडित जी ते कही—"आई बखत मेरे

[१] सं० क०—रामगोपाल ओछटा, पौ० जुगसाना—मथुरा।

दरबार में ते निकरि जाओ। तुमनें मेरे दरबार में मेरे सँग जा तरह कौ बरताबु करयौ।" पंडित जी बिचारे नारि नींचे कूं करें, बिना कछू कहें-सुनें दरबार में ते निकरि आए और अपने घर की रस्ता गहि लई।

२८

चतुर की चतुराई

किसी गाँम में एक मियाँ और मींयट्टी रहते। समें पाकर उन पर शकीमी आइ गई और मियाँ भी शकीमी आ जाने की बजह से दूर देस में निकरि गए। वहाँ उसनें किसी बादशाह के यहाँ नौकरी कर ली। मियाँ जब घर ते निकलौ औ तब मींयट्टी के पास कुछ तौ अनाज और एकु लोटा, दूसरी डोर, तीजौ छाज, चौथा कुत्ता, पाँचवीं बिल्ली यैई सामाँन छोड़ि गयौ। उस मींयट्टी नें कुछ दिन तौ उस अनाज ते और कछू दिनाँ मेंहनत-मजदूरी करकें काटे, पर उसी अरसे में लोटा तौ डोर-टूट जाने सें कूआ में गिर पड़ौ और बिल्ली मरि गई और कुत्ता भागि गयौ। पैहनने के कपड़े भी ऐसे फटि गए कि बिल्कुल खोंसे गए। सिर्फ एक छाज ई बाके पास रहि गयौ।

बीबी यानी मींयट्टी को इस बात का तो पतौ थौ ही कि मियाँ जी अमुक बादशाह के यहाँ नौकर हिगे। बस बीबी नें सोच-बिचार के मियट्टी नें मियाँ जी के लिए खत लिख दीयौ और खत में ऐसी बातें लिखीं कि उसके खास मियाँ जी ईं समझ सकें। खत में अपनी व मियाँ जी की तौहींन होने की बजह से लोटा का नाम डिब्बन साहब और डोर का नाम रूम साहब, व बिल्ली का नाम बिलाव साहब और कुत्ते का नाम कोतबाल साहब तथा छाज का नाम फटकन साहब लिखकर भेज दिया। खत मियाँ जी के पास पहुँचा तो मियाँ जी खत को बाँच कर बड़े उदास भए। तब बादशाह ने मियाँ से पूछा—"कि मियाँ जी, आज आप इतने उदास क्यों ऐं।" झट्ट मियाँ जी ने खत बादशाह के हाथ में दे दिया। बादशाह खत को पढ़न लाग्यौ तौ बादशाह की समझ में और तौ सब खत आ गयौ, पर खत में जो यह लिखा था—"कि घासीराम नें घर घेर लियौ ऐ, डिब्बन साहब डूब गए। रूम साहब बाकी टूट गए। बिलाब साहब मर गए। नमक हरांमी कोतबाल साहब भागि गए। फटकँन साहब बाकी रहे ऐं। सो घड़िया की लड़ाई इधर से उधर और उधर से इधर दोनों में ले रहे एं।"

इसका मतलब मियाँ तौ समझ गया था कि घासीराम-घास घर में उपज आई होगी और रोटी न मिलने से कुत्ता भाग गया होगा। बाकी रहा छाज सो कपड़े न होने की बजह से मींयट्टी उस छाज को कभी तौ आगे लगा लेती होगी और कभी पीछे। बादशाह नें तौ अपने मन में यही समझा कि यह मियाँ किसी रियासत का मालिक होगा और यह मेरे यहाँ छोटे पद पर रह रहा ऐ। इसके यहाँ तौ कई साहब भी घड़ी में रहते थे। ऐसा सोचकर बादशाह ने मियाँ जी से माँफी माँगी और कहा—"कि यह बहुत ही अनुचित हुआ जो आप मेरे यहाँ इतने छोटे से पद पर ही रहे ऐं। अब आपको जितनी जरूरत हो उतना ही रुपया ले जाओ और जल्दी ही अपने घर की राह लो।"

मियाँ जी बहुत-सा रुपया लेकर अपने घर पहुँचे और अपनी बीबी के साथ सुख पूर्वक दिन बिताने लगे। ठीक तो है चुतरों की चतुराई को चतुर लोग ही जान सकते हैं।[१]

२९

आँधरौ और रचौंदुआ

एकु गाँम के दो आदमी एकु आँधरौ और एकु रचौंदुआ ए वे दोऊ एकु ई गाँम में ब्याहे। एकु दिनाँ वे दोऊ जने आपुस में बोले—"कै भाई, सरत-जींमत अबकें काऊ दिनाँ चलि कें

१. सं० क०—रामगोपाल शर्मा, मु० ओछटा पो० जमुना जिला मथुरा के संग्रह से।

सुसरारि है आँमें। दूसरौ बोल्यौ—"भाई, बात तौ साँची कहत्वै, चलनों चहिएँ परि भाई, भागकमु जरूर चहिएँ। भाई, मेरें तौ बरध हतें और तू अपनी बैहली ए लै चलि।" वानें कही—"भाई, ठीकै।"

अब दोऊ पाग-अँगरखी पैहरि कें टिचेंन[1] है कें बैहली लैकें गए। साँझ कूँ स्वा पौहँच गए। नेंक झुकपुकौ सौ है गयौ। एकु बोल्यौ—"भाई, निबटि-फिवटि चलें नहीं स्वांनें कोई संग न परयौ नी जरकटा अटकैगौ।" दूसरौ बोल्यौ—"भाई, बात तौ ठीकै परि मोइ तौ अब कछु दीसतु नाएँ। निभटि कें आए और बैहली न पाई तौ।" अब बु अब बोल्यौ—"भाई, पाग नै पाग बांधि लें और छोर पकरि लें। निभटि कें जब आँमिगे तब घेरि कें पकरि लिंगे।" बिन्नें जिही काँमु करयौ। निभटि कें हात-पाँनी लैकें बैहली कूँ घेरत डोलें परि बैहली तक न पौहँचें।

इतेकई में बरहे ते कछू आदमी आइ रहे। वे बोले—"तुम कौ औ जी, कहा करि रहे औ। बहली ठाड़ी करि राखी है बरध उकताइ रहे एँ। करि कहा रहे औ तुम।" बे सरँम के मारें बोले—"अजी, ज्या खेतै नाप रहे ऐं। जि तौ कहि रहयौ है के डेढ़ बीघे कौ ए, मैं कहि रहयौ ऊं कै जि बीघे-भरि कौ ऐ।" बे बोले—"अजी आ जाऔ, जि नंबर तौ बीसें कौ ई ए।" वे बोले—"अजी ठैर जाऔ, हमऊं चलतें, बैहली में ई बैठि चलियें।" वे बोले—"आइ जाऔ तौ।" वे बैहली के ढिग बाँस के सहारे ते आइ गए और बैहली में बैठि गए।

अब साँम में आए और चौपारि के सहारें बैहली छोड़ि दई। बरध बाँधि दए। आपु चौपारि में जाइ बैठे। सुसरारिबारेन्नें बरधँन कूँ भुस डारि दयौ और बिनकूँ हुक्का भरि दीयौ, खाट-बिछैया करि दीयौ।

नेंक ठैरि कें एकु छोरा रोटीन कूँ बोलिबे आयौ। बे रोटी जैमें गए। जब वे पौरी में पौंहँचे तौ छोरा छोड़ि कें भगि गयौ, वे बिचारे पौरी में ढिबिरियात डोलें। पौरी में नाज की खौ ई, परि खाली परी। बिन मे तें एकु वा खौ में गिरि परयौ। बड़ी देर भई। घर के बोले—"लाला, मैह-माँन आए नाँ नें।" छोरा बोल्यौ—"आइ गए एँ, पौरी में हुंगे, मेरे संग पौरी तक तौ आए ई हते।" घर के दीयौ लैकें पौरी में गए। देखें तौ एकु खौ में परयौ ए। घर के बोले—"अजी कैसें भई। खौ में कैसें गिरि परे।"

बु बोलौ—"अजी कैसें ऊ नाँ भई, ज्यानें मांनी नाँई। मैंनें कही खौ खाली परी ए और ज्या नें कही कै भरि रही ऐ।" बे बोले—"अजी आजाऔ, अब के संबत कहा ऐ जो खौ भरी आइ, अब कें तौ पेट भरिबे भारी परि रहे ए। चलौ रोटी सीरी भई जाँनिगें।" खौ बारौ बोल्यौ—"नेंकु हातु पकरि लेउ।" हात पकरिकें ऊपरि निकरयौ। अब वे रोटी जैमे गए। थारी परोसि दई, खीर-पूरी की मैंहमांनी करी, बे जेंमँनु लगे।

बिन कौ एकु पड़ेरू खूटयौ डोलि रह्यौ औ। बु बेरि-बेरि जिनके औरें आ जाइ, बे बाइ बेरि-बेरि टारि दियौ करें।

बिन की एकु बूढ़ी सासु ई, बु ऊ बिचारी आँधरी ई। बु खीरि परोसिबे आई और धरती में करिकें चली गई। बे बिचारे धरती में खाँमन लगे। एकु बेर बु डोकरी फिरि खीरि देबे आई। बिन्नें जाँनी कि बु पड़ेरू आइ गयौ। जोर ते एक थप्पड़ मारयौ, डोकरी की कँनपटी ए लग्यौ। थप्पड़ के लगत ई डोकरी गैरहोस है कें गिर परी।

बड़ी देर में होसु भयौ। बोली कै—"मैहमाँन, तुमऊं एँ कमु दीखतु एँ। बेचारे सरँम के मारें नेंकु है गए।[2]

[1]. टिचेंन—तैयार। [2]. पातीराम अकबरपुर के संग्रह से।

३०

जुगती और टल्ली

एक दिनाँ जुगती बोल्यौ टल्ली ते—"कै तू बिनाँ मेरे देखें टल्ल चलाइ ऊ देइ।" टल्ली बोल्यौ—"देखि चलांगे कै नाँ।" टल्ली चल्यौ और एक अवाँने पै दस-बीस आदमी बैठे तापि रहे ए, सो माँ आपु बु ऊ जाइ बैठ्यौ और तापन लग्यौ। नेंक देर पीछें बोल्यौ—"कै सिरदारौ, आजु एकु बड़ौ भारी अचंभौ देख्यौ।" बे बोल्ये—"कहा अचंभौ देख्यौ भाई"। बु बोल्यौ—"अजी राति मैंने आधे सरग कुत्ता रोंमति देख्यौ।" बे बोल्ये—"अरे तौ झूंठा, नेंकु सधि कें ई झूठ बोलि। कहूँ आजु तक ऐसौ भयौऊ ए कै आधे सरग कुत्ता रोयौ होइ, कै राति ई रोयौ ऐ।" टल्ली बिचारौ झकमारि कें म्वाँने डिगरि आयौ।" आइकें उदास बैठि गयौ। जुगती आयौ औरु बातें बोल्यौ—"कहि भाई, टल्ल चली कै नाँ चली। टल्ली बोल्यौ—"भाई, नाँइ चली।" जुगती बोल्यौ—"चलि, अब हमारे साथ चलि, औरु म्वाँई चलि जहाँ कल्लि कही काई औरु बाई बातें फिरि कहियौ।" जुगती औरु टल्ली दोऊ गए और बाई अवाँने पै आइ बैठे। जुगती बोल्यौ—"चोंजी, कल्लि जाँने ऐसी कहाबात कही।" बे बोले—"बात कही याँनें धूरि, कहूँ कुत्ता आधे सरग रोंमत ऊ हुंगे।" जुगती बोल्यौ—"साँची तौ कही, याँमें कहा झूंठ बोल्यौ ऐ जितौ नेंक ऊ नेंक साँची ऐ। देखौ, राति कुतिया ब्याई सो बाके ल्हौरे-ल्हौरे पिल्ला बाके जौरें डोलि रहे, ऊपर ते एक भैराँनी भई चील आई, औरु पंजेन में एक पिल्ला ऐ दबाई लै गई, सो बु पिल्ला आधे सरग काँइ-काँइ कर रह्यौ औ। बताऔ सिरदारौ, बु पिल्ला आधें सरग काँइ-काँइ करि रह्यौ कुत्ता नाऔ तौ कोंन औ। सिरदार बोले—"भाई, साँची कहत्वे। जरूर कुत्ताई रोयौ। ऐसें हमें कहा खबर ई तैनें ई तौ बताई ऐ।" अब जुगती और टल्ली दोऊ आगे-आगे घर कूं आए। जुगती बोल्यो—"कहौ टल्ल चली।" टल्ली बोल्यौ—"चलीं साब, चली।"

३१

जि तौ बु चौं, बु तौ जि चौं

एक बिराँमनु परदेसँन कूं गयौ। बाकी बहू और छोरा घर पै रहि गए बु अपनी बहू ते कहि गयौ कि जा छोरा ऐ खूबु अच्छी तरें राखिओ।

वा बिराँमनी कौ एकु गैर आदिमी ते मेलु औ। बु रोजु बा के जौरें आयौ करतु औ। एकु दिनाँ एकु रस्ता चलतौ बिराँमनु आयौ और बाई की पौरी में ठहरचौ। राति कूं बा लुगाई कौ यारु आयौ। जब वे दोऊ खूबु घुलि-मिलि कें बात करिबे लगे, सोई छोरा रोइ उठचौ। बाँनें कही—"जारी, अपने छोरा ऐ राखि आ।" बु छोरा के जौरें गई औरु दबदोरि कें सुबाइ आई। थोरी देर पीछें बु छोरा मारि दियौ।

जब भौतु देर है गई, तब वा लुगाई के यार नें पूँछी कि—"री, तेरे छोरा ऐ भौतु देर है गई रोयौ चौं नाँएं।" बाँनें कही—"तोइ का फिकिरि परी ऐ, सोइ रह्यौ होइगौ सौतेला।" बानें कही—"अरी नाँ, ला देखि आऊँ।" बु देखिबे गयौ, पीछें ते बु लुगाई ऊ तरबारि ले कें गई औरु झट्ट एक ई हाथ में बाकौ मूंड़ भुट्टा-सौ उड़ाइ दीयौ। फिरि फावरौ लाइ औरु कोठे में गड्ढौ खोदि कें अपनों छोरा औरु अपनौ यारु गाढ़ि दए। बु बिराँमनु जो बाकी पौरी में ठैरचौ का औ जा सबु कौतुक ऐ देखि रह्यौ।

सबेरे होंनें बु बिराँमनु उठि के चलि दीयौ।

(२)

आगें चल्यौ सो जाइ कें एक सराइ में ठैहरचौ। ईसुर की ऐसी करनी भई कै बाई दिनाँ बु बिराँमनु आयौ औरु बाई सराइ में ठहरचौ दोऊँन कौ भेंटौ है गयौ। बा बिराँमनु नें कही—"यार,

जमाँनौ बड़ौ बुरौ आइ गयौ ए। कालु रात्ति कूँ हमनें बड़ौ भैनुकालु[1] देख्यौ ए।" वानें पूँछी—"भाई, कहा बात ऐ।" वाँनें बाते सबु किस्सा कहि दीयौ। अब वा बिरांमनु ऐ कछु सुभा भयौ, वानें कही—"यार, चलि मोइ वा घर पै लै चलि, मोइ दिखाइ आ।"

बे दोउ वा सैहैरपनाँ में आए। वाँनें घरु बतायौ और आपु वा पौरी में ठैरि गयौ।

बाकी लुगाई नें पूछी—"कै आइ गए का।" वानें कही—"आइ गए"। थोरी देर बैठि-उठि कें पूछी—"छोरा कहा गयौ।" वाँनें कही—"याँई कहूँ खेलि रह्यौ होगौ।" फिरि वानें कही—"जा, फाबरौ लै आ। जो मालु-मतौ लायौ काऊँ वाइ गाड़ि दें।" वु फाबरौ लै आई।

बाइ वा जगें की तौ खबरि ई, वानें ख्वोई खोदिबौ सुरू कर्यौ। सोई वा लुगाई नें पीछें ते तरबारि मारी औरु बु ऊ मारि कें गिराइ दीयौ और हल्ला मचायौ कै "मेरौ मालिकु चोट्टाननें मारि दीयौ।" सोइ ख्वाँ लोग-बाग इकट्ठे भए अब वा लुगाई नें कही—"कै, मैं सती हुंगी।" कुनबा-गोताकेन नें नाँहीं-नूंकर करी, परि वु न माँनीं।

चिता रची बा पै बाँम्हन की ल्हास धरि दई और वु बिरामनी ऊ बैठारि दई। अब बिराँमनु पौंहच्यौ औरु वा नें जाइ कें वाते पूछी—"री, तैनें अपनों छोरा मारि दीयौ, अपनों मालिकु औरु अपनौ यारु ऊ मारि दीयौ और अब ऐसी धरमैस्सुरी बनी ए कि अपने मालिक के संग सती होति ऐ, जि कहा बात ऐ।" बाने ज्वाबु दीयौ—"कै, जा बात कौ ब्यौनु[2] मेरी माली की भागनी ए, वु देगी।" बिराँमनु जि सुनि कें बा मालिन के जौरें आयौ।

(३)

मालिन ते जाइकें बाँनें सबरी औखना कही। मालिन नें कही कै तिना मानि करै या कौ म्याँनों मैं दुंगी।"

एक दिनाँ मालिन जादूगरनी नें बिमाँनु मँगायौ और वा में बिरामनु कूं बैठारि कें इंदर के अखाड़े में लै गई औरु बाइ परी और अपसरानु कौ नाँचु दिखायौ। थोरी देर में वा बिरामनु ऐ उतारि लाई।

अब तौ बु बिराँमनु हाइ परी, हाइ परी चिल्लाइबे लग्यौ। मालिन नें कही—"कै वु परी अब नाँइ मिलनी।" बिराँमन नें पूछी—"कब मिलैगी।" तौ मालिनि नें कही—"तुम अपने पैहलौठी के छोरा की चौमुंडी पै बलि चढ़ाइ देउ, जब मिलैगी।" बिरामनु राजी है गयौ।

बाकौ पैहलौठी कौ छोरा अठारें बर्स कौ औ। दूसरे दिनाँ बिरामनु वाइ लैकें चामड़ी के मंदिर में गयौ औरु काटिबे कूं तैयार है गौ। सोई मालिनि नें जाइकें वाकौ हातु पकरि लयौ और कही—"महाराज, लेउ अब मैं तुमें वा बात कौ म्याँनों देति ऊँ। जि आगि ऐसी ई भयौ करति ए। जा अगि कें पीछें तुम अपने ज्वाँन-जमाँन बेटा ऐ मारिबे तैयार है गए, बाई आगि में वानें अपनों बेटा मार्यौ औरु डर के मारें अपनों यारु औरु अपनों खसँमु मारि दीयौ।" बिरामनु चुप है कें अपने घर कूं चल्यौ आयौ[3]।

[1]. भयानक कांड। [2]. विवरण (उत्तर)। [3]. सं० क०—चंद्रभान : सोहबन अपनी अंमा से सुनी।

ब्रज : लोकोक्तियाँ

ब्रज-साहित्य में लोकोक्तियों—कहनावतों का भी अक्षय भंडार है। ये लोकोक्तियाँ ब्रज-साहित्य के आदि रूप 'गेय-पदों' (सूर-काल से भी प्रथम) से लेकर 'रीति-काव्यों' में भरी पड़ी हैं। यहाँ तक कि एक कवि ने तो केवल लोकोक्तियों के सहारे ही रीति-परंपरानुसार 'नायिका-भेद' की रचना कर डाली है। अस्तु, यहाँ उन सबका चयन न कर केवल 'सुकवि जगतानंद' कृत 'सौ बातँन की बात' या 'दशम-स्कंध (भागवत) उपख्यान" की सभी लोकोक्तियाँ दी जा रही हैं। इन सभी कहावतों का चयन और संपादन जवाहरलाल चतुर्वेदी ने किया है।

अ

१. अंधी बाँटै जेंवरी, पाछैं बछरा खाइ।
२. अपनी ओर निबाहिए बाकी वौ जानैं

आ

३. आँखिन देखैं चेतनाँ, मुख देखैं ब्यौहार।
४. आगि-लगंते झोंपरे, जो निकसै सो लाभ।
५. आते कों सँहगा कहैं, जाते कों कहैं मुक्त।
६. आयौ नाग न पूजिऐं, बाँबी-पूजन जाइ।
७. आवैं-जाँइ सु हरि के लेखैं।

ए

८. एक पंथ द्वै काज।

क

९. कंगन देख्यौ हाथ में कहा आरसी नाहि।
१०. करै-करावै आप ही, सिर औरँन के देइ।
११. कहूँ-कहूँ गोपाल की गई सिट्टल्ली भूलि।
१२. किस बिरतें[1] पर तत्ता पाँनी।
१३. कूप-खाँनी, कुरँन-थँन, गल-बाँधें निकसाइ।
१४. कुआ में कौ मेंढ़का, करै सिंधु की बात[2]।
१५. कूकुर बाँह चढ़ाई ए, ताकौ चाटँन जाइ।
१६. कै गुर जानैं कोथरा, कै बनियाँ की हाट।
१७. कोऊ रूख जहाँ नहिं, तहाँ अरंड[3] रूख।
१८. कोड़ी नाहीं गाँठ में करै ऊँट कौ मोल।
१९. कोड़ी नाहीं गाँठ में चलै बाग की सैर।
२०. कोड़ी मार बिटौरा बूकै।

ख

२१. खोरैं-गिरैं बधामनौं, सिर-चुरैं त्यौहार।

ग

२२. गई छठी कौ बाँनियाँ, गुड़ दै पिन्नी खाइ।
२३. गई बात रे पाँहुने, घी-दै, आँन्यौं तेल।
२४. गधा चढ़े पाँचौ असवार।
२५. गाडर आँनी ऊँन की, बाँधी चरै कपास।

घ

२६. घर के घर, बाहर के बाहर।
२७. घर की जोगी जोगनाँ, आँन गाँव की सिद्ध।
२८. घी सोंधौ जौ देखिऐ, कहि गोबर सौ कोथ।

च

२९. चली छाछ कों नागरी, पाछैं पींठि कँमोरि।
३०. चारि दिनाँ की चाँदनी, फेरि अँधेरी रात।
३१. चेरी लातँन-कूटिऐ, दहचौं गुसाँइन खाइ।

छ

३२. छाँड़ैं बनैं न संग्रहै, ज्यों कुल-माँहिं कपूत।
३३. छोटे मुँह बड़ी बात।

ज

३४. जग में देखी रावरे, मुख-देखे की प्रीति।[4]
३५. जाके सिर पै बोझ है, सोई करै निबाह।
३६. जाकों कोऊ गिनैं न गूँथै, सो लाड़ो[5] की भूआ।
३७. जे हरिआई गौं[6] चरैं, ते क्यों चरैं पियारि।
३८. जैसेई कंता घरै रहे, तैसेई रहे बिदेस।
३९. जैसौ देखौ चोल्हरा, तैसौई बन्यौं बनाव।[7]
४०. जैसौ देखौ साँथरौ, तैसौ पाँइ पसारि।[8]
४१. जो दिन जाँइ अँनंद सों, जीवँन को फल सोइ।

[1]. पाठां०—बिसे। [2]. कहै समुद्र कौ०। [3]. तहाँ अंड कौ०। [4]. कहति ग्वालिनी रिसभरी, मुख-देखे०। [5]. सो लाला०। [6]. कौं चरैं। [7]. बन्यौं बिसाहु। [8]. जैसौ देखौ साँथरौ, तैसेई पाँइ०।

४२. जो है दाझ्यौ दूध कौ, पीवै फूंकें छाछ ।
४३. जौ गदहा हर-जोतिऐ, तौ क्यों लीजै बैल ।
४४. ज्यौं-ज्यौं भींजै काँमरी, त्यौं-त्यौं भारी० ।

ट

४५. टट्टू-मारें ताजी त्रास ।[1]

ठ

४६. ठाली नाँइन मूँड़ै पटा ।

ड

४७. डेढ़ बकाँइन देखिऐ, मीयाँ बैठे बाग ।[2]
४८. डेढ़ सुहारी छाक में, परसें ही ते गीत ।

ढ

४९. ढाक चढ़त बारी गिरै, करै राव सों रीस ।

त

५०. तेरे घाले घलि गए, काँदा-खाँनीं राँड़ ।
५१. तोहि बिराँनी का परी, तू अपनी निरबेर ।

द

५२. दुधार गाइ की लातहु भली ।
५३. देत न बनें बुनाँमनी, हरचौ लगावै सूत ।[3]

ध

५४. धोबी कौसौ कूकरा, घर कौ भयौ न घाट ।
५५. धोबी-बेटा चाँद-सौ, सीटी और फटाक ।

न

५६. नए चिकनियाँ, बगल में ईंट ।
५७. नदी-किनारे रुखड़ा, जब-तब होइ बिनास ।
५८. नाँच न आवै, आँगन टेढ़ौ ।
५९. नाँचन निकसी तौ भलें, घूँघट काहे देति ।
६०. नाँचै-कूदै बाँदरा, टूक जोगनाँ खाइ ।
६१. नाऊ बार कितेक हैं, आगें परि हैं आइ ।
६२. नाज बौहरौ लै गयौ, भुस लै गई बियार ।
६३. नाँतरि तोहि सँघारि हों, गुड़ दै कानें साह ।

प

६४. परखैया कौ दोष का, अपनों खोटौ दाँम ।
६५. पाँनी में कौ बास है, करै मगर सों बैर ।
६६. पिसनहारी के छोहरा, चाबैनाँ की लाभ ।

ब

६७. बरस दिनाँ के कातनें, एकै कपरा होइ
६८. बाप न मारी मेंड़िकी, बेटा तीरँनदाज ।
६९. बाप बिनौरा बापुरौ, पूत भयौ चौतार ।
७०. बूढ़ौ बरद, पाट की नाँथ ।
७१. बैठे तें बेगार भली ।
७२. बैल न कूद्यौ, कूदी गौंन ।

भ

७३. भात-लपेट्यौ साग है, साग लपेट्यौ भात ।
७४. भुस-ऊपर कौ लीपनौं, ज्यों बारू की भीत ।
७५. भेंड़ जु मौंती देखिऐ, मेंगनि मौंती देख ।

म

७६. माँगै भैंस रुठामनी, करै पड़ा कौ मोल ।
७७. मार बकानी खीचरी, यै घर आज न काल ।
७८. मार्यौ घोंटू आइ कें, फूट्यौ जाइ लिलार ।
७९. मूँग-मोंठ में कौंन बड़ौ ।
८०. मैहता दुरै पयार में, कौ कहि बैरी होइ ।
८१. मो पिय बात न बूझ हीं, धन्य सुहागिनि-नाँम ।
८२. मुँहों में राम, बगल में छुरी ।

र

८३. रोवै कोऊ मुड़ामनी, कोऊ रोवै मूड़ ।

ल

८४. लगि जैहै तौ तीर, नातर तुक्का जौन ।
८५. लरिका रोवै माँड़ कौं, माँगैं पितर सराध ।
८६. लाड़ें आई डोकरी, लागी गूदर खौन ।
८७. लेहु परोसिन आँगड़ौ, नित उठि करती रार ।
८८. लँहगा-टाट, पाट की तनी ।

स

८९. संपत होइ तौ घर भली, नातर भलौ बिदेस ।
९०. साँप जो मारौ चाहिऐ, दियौ पाहुनें-हाथ ।
९१. सात मामा कौ भानजौ, सदा मरै है भूँख ।
९२. सीखै बेटा नाऊ कौ, कटै बटोही जौन ।
९३. सूने घर कौ पाहुनौं, ज्यों आवै त्यौं जाइ ।
९४. सूनौं घर भिड़यँन कौ राज ।
९५. सोंई नारि सबतें बड़ी, जाकी कोठी ज्वार ।
९६. सोंनौं और सुगंध ।
९७. सौ गाहा सूआ पढ्यौ, अंत बिलाई खाइ ।
९८. सौ बातँन की बात ।

ह

९९. हँसिया निगलत ही सुख पइ है ।
१००. हट्टवा बैठैंन देति नहिं, कहै मुकतौ-सौ तोल ।
१०१. हरियाई के संग में, कपिलाहू कौ नाँम ।

[1]. दूसरा रूप—काजी-मारें, तुर्की काँपै । [2]. भेंड़ बगाइन दे० । [3]. पाठां०—बुनबौ न आवै, हर्‍यौ बतावै० ।

ग्राम्य-लोकोक्तियाँ

संकलन-कर्ता--बालमुकुंद भारद्वाज

अ

१. अधरंम धंनु फलतु ऐ, पाँच बरस या सात बरस ।

२. अन्न-धंन अंनेक धंन, सोंनों-चाँदी आधो धँन, पंछि किरामन नाग-धँन ।

३. अपनी-अपनी तूनी औ अपनों-अपनों राग ।

४. अपनेंई मरें सरग दीखत्वै ।

५. अपनोंई दाँम खोटी तौ, परखँनवारे ऐ कहा दोसु ।[1]

६. आँखि को काजर, नाँक कूं भारी होइ है ।

आ

७. आँनहार बहू, बहेड़ाऐ स्याँप बतावै ।[2]

८. आप काज, महा काज ।

९. आयौ और बरात कों, दूल्है गाजर खाइ ।

१०. आलस-नींद किसाँनें खोवै, चोरै खोवै खाँसी । टका-ब्याज बाबाजी ऐ खोवै, राँड़ै खोवै हाँसी ।।

११. आग बिरांनी जे करें, सो जींमत ई मरि जाँइ ।

उ

१२. उधारिया, पासंगै नाँप देखै ।

ऊ

१३. ऊधौ कौ लेंन, न माधो कौ देंन ।

ए

१४. एकुतौ बुरी, और बुरेई गीत गावै ।

१५. एकु पूत मनि जँनमें माइ, घर रहै कै बाहर [illegible] ।

१६. एकु [illegible] पगाड़, कानी आंख चंमकदार । [illegible] ।।

१७. एकु [illegible] ।

ऐ

१८. ऐसीई [illegible] देवी और ऐसोई पेंडू पुजारी ।

औ

१९. औंदे की ओस, [illegible][3] को तापनों ।

२०. ओछी बास, कुल कौ नास ।

२१. ओड़, गड़रिया, नाऊ, जि भेद न दिगे काऊ ।[4]

क

२२. कंधा-धरि लई झोरी, चँमारु गिनें ना कोरी ।

२३. कँमीनयार, कुंद-हथियार, कबऊँ न उतरै पार ।

२४. करकेंटा की चोट बिटौरा पै ।

२५. करनीं तौ जोई करै, जाकै कुल बनि आई होइ ।

२६. करँम धनी कौ, जसु लटियाई कौ ।

२७. कहे ते कुँम्हारु गधा पै नाँ चढ़ै ।

२८. कागा हंसु न गधा जती ।

२९. काठ की तौ एकु ई पोत चढ़ै ।

३०. कारौ अच्छरु भैंस-बराबरि ।

३१. किसबी किसबु करै तौ छाजै, नाँई तौ मूंड़-मोंगरा बाजै ।

३२. कूआ की माँटी कूआ ई में लगि जाऐ ।

३३. कोरिया की छोरी, केसरु कौ तिलक ।

३४. क्वारी कन्या, सेंस[5] बर ।

३५. कौवा हंस, न बगुला जती । (बनिाँ-ब्यौपारी)

ख

३६. खेती, खसँम सहेती, धँन आस-पास ।

ग

३७. गँमार की टाँटि में अकलि होइ है ।

३८. गधा न कूदी, कूदी कौन ।[6]

३९. गधा ना ओ, रेंगटा ओ ।[7]

४०. गयी मरद जाँनें खाई खटाई, गई राँड जाँनें खाई मिठाई

४१. गई दुकाँनु जहाँ भई अयाँई ।

४२. गाँम की जोगी जोगनाँ, आँन गाँम कौ सिद्ध ।

४३. गाँम में डूमर, बाड़े में ऊपर ।

४४. गाड़ी ऐ देखिकें लाड़ी के पाँम फूल जाँऐं ।

४५. गाड़ीवारे की नारि जँनम दुखिया ।

[1]. अपनोंई दाँम खोटो होइ तौ परखँनवारे ऐ कहा लगत्वै । [2]. जाँनहार बहू बहेड़ा ऐ स्याँप बतावै । [3]. फूंस को तापनों । [4]. अति-संबंधी । [5]. सहस्र का ब्रजभाषा रूप । [6]. पाठां०—गधा न कूदौ, कूदौ गोंन । [7]. गधा नाँऊ, रेंगटाऊँ ।

४६. गिनें न गूँठै में लाला की भूआ ।[१]
४७. गुरु-खाँइ गुलगुलनु तें आँनि करें ।

घ

४८. घर आँए नाग न पूँजिऐ, बाँबी पूँजन जाइ ।
४९. घर खीरु तौ बाहरु खीरु ।
५०. घर-घरु चूल्हे माँटी के ।
५१. घर-घरु देखौ, एकु ही लेखौ ।
५२. घी सँमारै रसोई, नाँमु बहू कौ ।
५३. घुटचौ बाबाजी. पिसी दवाई, इनकी-साख कहा पै भाई ।
५४. घुड़-सवार गिरि परै, गिरै का पीसँनुहारी । मायाधारी लुटै, लुटै का जँनमु-भिकारी ।।
५५. घ्यौ कहाँ गयौ, बैसाँदर में ।
५६. घ्यौ न खायौ कुप्पा ई बजायौ ।

च

५७. चलिबौ तौ सड़कु कौ, चाएँ फेरुई चौं न होइ । रहिबौ तौ भैयाँन कौ, चाएँ बैरुई चौं न होइ ।।
५८. चलिबौ भलौ न कोस कौ, दुहिता भली न एकु । करजा भलौ न बाप कौ, जौ हरि राखै टेकु ।
५९. चारि पैसा की हँड़िया तौ फूटी, परि कुत्ता की जाति पैहचाँनी गई ।
६०. चारि मरिंगी राँमजनी, जब एकु मरैगौ जिंदा ।[२],
६१. चारि महीनाँ ताल कौ, चारि महीनाँ ह्याल कौ ।[३]
६२. चालनी में धार काढ़ै, कर में टटोरै ।
६३. चीजु गँमावै अपनीं, चोरै गारी दे । चोर बिचारौ कहाकरै, जब धँनीं खवरि ना लेइ ।।
६४. चोरुवै तौ पिटतौ देखै, खाँमतौ न देखें ।
६५. चौमाँसे के रिपटे कौ और राज के पिटे कौ डरु नाएँ ।

छ

६६. छाछि-माँगन चली पीठि-पीछें धोंनाँ ।[४]

ज

६७. जब ई भेड़ु पसरु कूँ निकरी, तब ई लै गयौ ल्यारी ।
६८. जब ई मुड़िया नें मूँड़-मुड़ायौ, तब ई परि गए औरे ।
६९. जब गीदरा की मौतु आमन्वै तौ गाँमु-माँमई भागै ।
७०. जबरदस्त कौ ठेंगा सिर-पर ।
७१. जमीन-जोरु जोर की, जोर-घटै पै और की ।
७२ जांन न पैहचांनु, चारि महीनां साझें रहि जांन दै ।
७३. जाकी नौ हरेंनु में ई फूटी गै ।
७४. जाकी नारि सुलाखिनी, जाकें कोठी धांनु ।
७५. जा कौनें जी व्याकें द्वार ।
७६. जाकी बंनियां यार, वाउ दुसमनु का दरकार ।
७७. जा घर-नारि बड्डा, सो घर डिग्गम-डिग्गा ।
७८. जाट, भिखारी, भिड़हरा, द्वार न जांनें कुद्वार ।
७९. जैसी तेरी कौमरी, वैसे मेरे गीत ।[५]
८०. जैसे चलें बाबुला, वैसे चलें काबुला ।
८१. जैसी गुरु डारैगी, वैसीई मीठी होइगी ।
८२. जैसी देसु, वैसौ भेसु ।
८३. जोरु-जोरु मरि जाइगो, मालु जंमाई खाइगो ।

झ

८४. झूठा [illegible] ।

ट

८५. टांट-भिटोंमर्नो ठोकरौ, चूल्हे नूं डंडोत ।

ठ

८६. ठाली बहू कै नोंन पै ई हाथु ।

त

८७. तीनुपा नूँन, गुन पै रसोई ।
८८. तेरी मानें खसंम किया, तूंने करी जो छोड़ दियो ।
८९. तेलु नौ तिलीनु पैं ने ई निकरै ।

थ

९०. थोथो फटिकैं उड़ि-उड़ि जाइ ।

द

९१. दमुला-खसमु की हाँसी न साँसी ।
९२. दस रोकु, न बीसु उधारु ।
९३. दादी धँन्नां, एकुई बेंनों ।
९४. देवी दिनु काटै और पंडा परचो ई माँगै ।
९५. देसा-देसा ठाठ, कुना-कुना ब्यौहार ।

[१]. कोई गिनें न गूठें पर मैं० । [२]. पाठां०—चार मरेंगी रामजनी तब एक मरैगौ बंदा । [३]. पानी के विषय में । [४]. पाठां०—पींठ-पीछें धोंनाँ । [५]. पाठां०—जैसी तेरी तूँमरी० ।

ध

९६. धींगरा धींगरई, बलूके कौ राजु ।
९७. धोबती के भीतरु सब नंगे ।

न

९८. नंगैनु कें नंग आए, पैहरें बैठे झंग ।
९९. नंग बड़े परमेसुर ते ।
१००. नंगा कौ चौरे में मबासो ।
१०१. नंगी कहा न्हाइ, कहा निचोरै ।
१०२. नंगी नाँचै धँमा को होइ ।
१०३. न आँधरे ऐ नौतौ न दो जैंने आमें ।
१०४. नई दुकाँनु तिवरसो गुर माँगै ।
१०५. नई नाँइन बाँसु को नहन्नाँ ।
१०६. नाँचबौ तो जाँनें नाँइ, आँगनु टेढ़ौ बतावै ।
१०७. नाँचा, बाँचा ओरु पुजारी, इन्हें छोड़ि कीजै ब्यौहारी ।
१०८. नाँदान की यारी औरु जी कौ जंजाल ।
१०९. नाँद कौ जबाँन ढोक-सा ।
११०. नाँनी की लच्छि धेबते पै ।
१११. नाँनी तौ पूत करै, धेबतौ डंड भरै ।[१]
११२. नाँ बाबा आवै, नाँ घंटा बाजै ।
११३. नाँमु गरीबा, बगल में ईंट ।[२]
११४. नाँमु दरोगा धद्दें[३], चाएँ तनखा कछुई मति देइ ।
११५. निसकु को, भरमूजँनु ।
११६. निसकुती लुगाई, देसु की भाभी ।
११७. नेंगी एैं तौ पीरे टकाँनु ते काँमु, भलेंई पट्टाई बैठी राँड़ है जाइ ।
११८. नेंगो भलो कै छींके पाँमु ।[४]

प

११९. पढ़्यौ तौ ऐ परु गुँन्यों नाँएँ ।
१२०. पयौ न पीस्यौ, आयौ ई दीख्यौ ।[५]
१२१. पगायौ पूत परदेसी दाखिल होइ ।[६]
१२२. परायौ मनु परदेस-बराबरु ।
१२३. पाँच पंच मिलि कीजै काजु, हारें-जीतें न आवै लाज ।
१२४. पींट में लट्टु भवानी करै,, सबरौ घर पूजा कूँ चलै ।
१२५. पूत के पाँमु पालनें में दीखजाँतें ।
१२६. पैसा स्वाद कूँ, कै बाद कूँ ।

ब

१२७. बर रहै, बराती रहैं, परि माँगें झगाबारौ-क्यों रहै ।
१२८. बाँमन-नाऊ-कूकरा ए जाति-देखि घुर्राऊ ।
१२९. बासी बचै न कुत्ता खाइ ।
१३०. बिटौरा में ते ऊपरा ई निकरें ।
१३१. बिनाँ बुलाएँ जाइ टाड़ें-टाड़ें गावै ।
१३२. बिसु देइ परि बिसबास न देइ ।
१३३. बीनें कंडा, गावै भात ई ।
१३४. बुही छिनरा बुही डोला के संग ।
१३५. ब्याज-भाड़ौ-दच्छिनाँ, पीछें रहै सो कच्छ नाँ ।

भ

१३६. भरै न भरैंनु देइ ।
१३७. भीतु फूटें, भीतनाँ ईं बनें ।
१३८. भूत-बिद्या-मलई, बारह बरस चल लई ।
१३९. भैया काठी में कै लाठी में ।
१४०. मैं सोबैं, भूँखन मरै, जमैं की बैहैन बरात ।

म

१४१. मति बारे की मा मरौ, मति बूढे की जोइ ।
१४२. मन चंगा तौ कठौती में गंगा ।
१४३. मन भोगिया, करैमु दरिद्री ।
१४४. माँनि न माँनि में तेरौ मैहमाँन ।
१४५. माँनें तौ देउ, नाँई तौ भीत को लेउ ।
१४६. मा तौ डोलै पुथी-पुथी कूँ पूत बिटौराई बक्सै ।
१४७. मा तौ मरी धीअ कूँ, धीअ मरी धोंगराँन कूँ ।
१४८. मूँह मारे कौ बागड़ी, बैलाए कौ जार ।
१४९. मैनाँ-गूजर कंजर, कुत्ता-बिल्ली-बंदर ।
जो ए छै नाँ होवें, तौ खोल किबरिया सोवें ।।

र

१५०. रँडुआ की बेटी, कहा जाँनें कुनबा की सारि ।
१५१. रैन जाइ न राउर जूझै ।
१५२. रहिऐ भुक्ख तौ रहिऐ सुक्ख ।
१५३. रहै तौ रँडुआ रोटी खाइ, जाइ तौ रडुआ का लै जाइ ।

[१]. पाठां०—नानी खसँमु कर, धेबतौ० । [२]. पाठां०—नाँम धनिआँ, बगल० । [३]. धरिदै—धरदे । [४]. पाठां०—नंगी भली कै छींकें पाँइ । [५]. जो महमान जल्दी-जल्दी आ जाता है, उस पर । [६]. पाठां०—अपनों पूत लुकायौ, दूसरे कौ धींगरा ।

१५४. राँड़ के पाँम सुहागिलु लागी है जा भैंनाँ मो-सी ।

१५५. राँड़ ते आगें कोसनों नाँ, औरु साँझ ते आगें अबार नाँ ।

१५६. राँड़ तौ बुही जाकौ भैया मरि जाइ, खसँमु तौ दूसरौ ऊ करि ले ।

१५७. राँड़ न मानैं बीनती, चनाँ न मानैं जोत ।

१५८. राँड़ रँड़ापौ जब काटै तब रँडुआ काटँनु देंइ ।

१५९. राँड़, साँड़ अरु अंन्ना भैंसा, बिगरि जाँइ तौ होवै कैसा ।

१६०. राजा कौ दाँन, परजा कौ न्हाँन, बराबरि होइ ।

१६१. राजा है चोरी करै, न्याव कौंन घर जाइ ।

१६२. रिपटि परे की हरि-गंगा ऐ ।

ल

१६३. लठ्ठा मारी पाँसुरी, भरि-भरि धोंनी देइ ।

१६४. लपसी ते तौ भैंटा नाँइ होइ, फिरु दिलद्दर की जेटु क्यों छोड़ै ।

१६५. लाखु जाट पिंगल पढ़ै, परि एकु भुच लागी रहै ।

१६६. लैंनाँ एक, न दैंनाँ द्वै ।

ब

१६७. वा दाना ते सूँम भलौ जो पैहलें ई करि दे नाँईं।

स

१६८. संजोगी कौ जामु, कबऊँ न आवै कामु ।

१६९. सवाई चराई बाम्हनाँ, इनकी बादर माँऊँ पूँछ ।

१७०. सब राति पीस्यौ औरु परिया में सकेरै ।

१७१. सबरी राति रोई परि एकु ई मरयौ ।

१७२. सबेरे कौ मेहु, साँझ कौ मैहमानु टारे ते नाँइ टरै ।

१७३. समुझै सोई हारै ।

१७४. साँमनु के आँधरे ऐ हर्यौ ई हर्यौ सूझै ।

१७५. सात-पाँच की लाकरी, एक जने कौ बोझु ।

१७६. सुनैंमनि तौ बौहोतरी, परि छोंकू का लगैंमु कै हाड़ ।

१७७. सेर के तो लटकने ई आमें ऐ ।[1]

ह

१७८. हूँने कूँ हूँनिएँ, पाप-दोस नाँ गिनिएँ ।

१७९. हाँ कौ मरै, नां कौ जीवै ।

१८०. हाकिमु की अगारी और घोड़ा की पिछारी न आवै ।

[1]. सस्ता—थोड़े मूल्य में बहुत मिलने पर।

(ओ)

ब्रज-मंडल के मेले और उत्सव

यदि हम मथुरा की सीमाओं को 'ब्रज-मंडल' मान लें तो इन मेलों का विवरण एक नवीनता रखता है। विशेष रूप से ये मेले श्री कृष्ण तथा अन्य देवताओं से संबंधित हैं। यही नहीं मेलों के साथ-साथ उत्सव भी बढ़ गये हैं। इसलिये यह उचित होगा कि उनका पृथक्-पृथक् विवरण दिया जाय। ये मेले तिथि और मास में अनेक विधियों से रचे जाते हैं। चैत्र से फाल्गुन तक का ब्यौरा निम्न लिखित है। प्रत्येक मास के अतिरिक्त इनका प्रबंध स्थान से भी होता है। मथुरा-मंडल वनों, उप-वनों का प्राचीन केंद्र और कूपों, नगरों, तड़ागों आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। प्रभु की परम पावन इस जन्म-भूमि की महिमा जानने का किसे चाव न होगा?

"नाराइन ब्रज-भूमि कों सुर-पुर नावें माथ।
जहाँ आइ प्रभु अवतरे, श्री कृष्णचंद्र ब्रजनाथ॥"

यदि इस प्रकार की निष्ठा रखकर इन मेलों का आनंद प्राप्त हो तो उसकी भावना का प्रगट करना असंभव है—

"नाराइन यह प्रेम सुख, मुख सों कह्यौ न जाइ।
ज्यों गूँगौ गुड़ खात है; सैनॅन स्वाद लखाइ॥"

इस दोहे के अनुसार मुख्य स्थान ये हैं—

"ब्रज-चौरासी कोस में, चार गाँम निज धाँम।
बृंदाबन औरु मधुपुरी, बरसाँनों, नँदगाँम॥"

प्रसिद्धि की दृष्टि से यहाँ सर्व प्रथम मथुरा का वर्णन किया जाता है।

मथुरा

चैत्र शुक्ल षष्ठी को श्री यमुना जी का जन्मोत्सव-मेला होता है। श्री विश्रामघाट पर फूल-बंगला व गानों आदि का प्रबंध बड़ी श्रद्धा एवं उत्साह से होता है।

१. राम-नवमी—रामजी-द्वारा।
२. जैन तीर्थंकर महावीर का मेला चौरासी में।
३. गंगा दशहरा—यमुना-स्नान।
४. जन्माष्टमी।
५. दशहरा—पाँच दिन तक महाविद्यालय के मैदान में।
६. दीपावली।
७. यमद्वितिया।
८. मोहर्रम।
९. हर एकादशी को मथुरा की परिक्रमा की जाती है।
१०. गोपाष्टमी-गोचारण का मेला कार्तिक सुदी ८ को होता है।
११. अक्षय नवमी को भी मथुरा की परिक्रमा की जाती है।
१२. देवोत्थान एकादशी को युगल-जोड़ी की परिक्रमा की जाती है।
१३. कार्तिक पूर्णिमा—यमुना-स्नान।
१४. बसंत पंचमी—श्री केशवदेव जी का मंदिर।

१५. सलूना—श्रावण पूर्णिमासी। श्री केशव देव जी का मंदिर।
१६. कार्तिक शुक्ल सप्तमी—धोबी-बध।
१७. कार्तिक शुक्ल दशमी—कंस-बध।
१८. अश्वनि-कृष्ण पक्ष अष्टमी, परिक्रमा मथुरा की पाँच रोज।
१९. साँझी।
२०. राम-लीला।
२१. अश्वनि शुक्ल पक्ष एकादशी—भरत मिलाप।
२२. अश्वनि शुक्ल १५—शरद-पूर्णिमा।
२३. कार्तिक प्रतिपदा अन्नकूट का मेला।
२४. यमदुतिया।
२५. आसाढ़—देव-सोमनी एकादशी।
२६. फाल्गुन शुक्ल पक्ष नवमी—ब्रह्म जी के बाग की होली।
२७. चैत्र कृष्ण पक्ष १—केशव देव जी के मंदिर का मेला।
२८. चैत्र कृष्ण १ से ११ तक—फूल डोल का मेला।
२९. वैशाख कृष्ण ३—अक्षय तृतीया का मेला।

मथुरा में श्री द्वारिकानाथ जी, श्री मदनमोहन जी, तथा श्री दाऊ जी के मंदिरों में उत्सव और मेले होते हैं। ये उत्सव व्रज-वासियों की अभिनंदनीय भगवत्भक्ति के लिये प्रसिद्ध है, जो किसी भी उत्सुक व्यक्ति को आकर्षक और रोचक लगेंगे। एक उत्सव वसंत के दिन से व्रज-विलास के कीर्तन का प्रारंभ होता है और पूरा होने पर नगर कीर्तन होता है।

कार्तिक शुक्ल पक्ष १—अन्नकूट, ९ बजे गिरिराज-पूजा, दो बजे से चार बजे तक परिक्रमा होती है। फिर अन्नकूट के दर्शन। भैया-दूज।

अष्टमी—गोपाष्टमी-उत्सव गायों की पूजा, भगवान का गोचारण। एकादशी और द्वादशी को झाँकी होती है।

अगहन सुदी १२—व्यंजन-द्वादशी।

पौष कृष्ण सप्तमी—श्री द्वारिकानाथ जी का छप्पन भोग।

पौष शुक्ल दशमी—प्रत्येक रविवार, पूर्णिमा और अमावस्या को सूर्योदय से पहले राज-भोग होता है। माघवदी अमावस्या और नवमी को मंगल-भोग होता है।

बसंतोत्सव—श्रीजी की होली का खेल—गुलाल, अबीर और चंदन की होली। शयन के पश्चात् श्री भागवत का पूजन।

माघ-पूर्णिमा—को ढोल-ढप पर स्वाँग होते हैं।

फाल्गुण कृष्ण सप्तमी—श्रीनाथ जी का पाटोत्सव, श्री चरण का दर्शन।

फाल्गुण कृष्ण अष्टमी—श्री यमुना जी पधारती हैं और रंगीली होली का उत्सव।[१]

फाल्गुण कृष्ण एकादशी—कुंजोत्सव।

फाल्गुण कृष्ण त्रयोदशी—बगीचे का उत्सव (मंदिर में)।

फाल्गुणी अमावस्या—होली पूजन।

चैत्र कृष्ण १—डोलोत्सव, ४ झाँकी।

[१]. इस दिन श्री मदनमोहनलाल जी अपने मंदिर से होली खेलते —गुलाल उड़ाते हुए बगीचे पधारते हैं और वहाँ होली खेलकर तथा भोग आरोगकर पुनः अपने मंदिर को बाजारों में घूमते—रंग उड़ाते हुए पधारते हैं।

चैत्र कृष्ण बीज—पाटोत्सव। राजभोग से फूल मंडली में विराजमान वैशाख शुक्ल द्वितीया तक।

वैशाख कृष्ण एकादशी—श्री बल्लभाचारी जी का जन्मोत्सव।

वैशाख सुदी अक्षय तृतीया—राजभोग के समय श्रीभागवत जी का पूजन।

वैशाख चतुर्दशी—श्री नरसिंह जी का उत्सव।

ज्येष्ठ बदी—को सूर्य जिस दिन रोहणी नक्षत्र में हों उस दिन से श्रीजी के बदन में चंदन उत्सव।

ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी—श्री यमुना जी साक्षात् श्रीजी के सामने पधारती हैं। फूल बंगले अक्षय-तृतीया से रथ-यात्रा तक बनते हैं।

ज्येष्ठ शुक्ल दशमी—श्री गंगाजी का उत्सव।

ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी—श्री द्वारिकाधीश जी महाराज का बड़ा उत्सव।

आषाढ़ कृष्ण एकम—जेष्ठा नक्षत्र के प्रारंभ में श्री जी के स्नान का परमोत्सव, स्नान के समय वेद-मंत्रों से स्नान-दर्शन।

आषाढ़ कृष्ण अष्टमी—श्री द्वारिकाधीश जी का पाटोत्सव। श्री पारख जी ने श्रीजी को विराज-मान किया है।

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया—पुष्य-नक्षत्र में रथ-यात्रा का उत्सव।

आषाढ़-पूर्णिमा—पूर्णमासी का उत्सव।

श्रावण कृष्ण एकादशी—श्रीजी का हिंडोला-उत्सव। प्रत्येक दिन हिंडोला झूलते हैं, घटाएँ बनती हैं।

हरयाली अमावस्या का उत्सव—घटा, फुहारे, रोशनी की धूम-धाम रहती है।

श्रावण शुक्ल तृतीया—लाड़ली जी का उत्सव, श्रीजी का फूलों के हिंडोला में विराजना।

श्रावण शुक्ल चतुर्थी—जामुनी घटा।

श्रावण शुक्ल पंचमी—नाग पंचमी-उत्सव।

श्रावण शुक्ल षष्ठी—लाल घटा।

श्रावण शुक्ल अष्टमी—गुलाबी घटा।

श्रावण शुक्ल दशमी—श्याम घटा, चंद्र मंडल, तारागण प्रकाश करते हैं।

श्रावण शुक्ल एकादशी—पवित्रा धारण।

श्रावण शुक्ल द्वादशी—श्री गुरुदेव को पवित्रा रक्खा जाता है। हिंडोला रोहिनी-चौक में पधारना।

श्रावण शुक्ल चतुर्दशी—सफेद घटा का उत्सव।

पूर्णमासी—रक्षा-बंधन।

भाद्रपद अष्टमी—जन्माष्टमी उत्सव। श्रीजी का पंचामृत स्नान, शृंगार, नई ध्वजा, ब्रज का महान् उत्सव।

भाद्रपद कृष्ण नवमी—नव बजे नंदोत्सव, नंद बाबा, गोपी, ग्वाल। श्रीजी पालने में झूलते हैं, यशोदा जी झुलाती हैं। भाद्र पद शुक्ल सप्तमी तक प्रतिदिन श्रीजी पालने में झूलते हैं।

भाद्रपद कृष्ण एकादशी—प्रत्येक एकादशी को जागरण, सावन से रासलीला होती है। नंद-उत्सव का रास होता है। ढाँड़ी-ढाँड़ा नाचते हैं। यह आठ रोज का उत्सव होता है। अनेक जगह प्रभु-लीला होती हैं।

राधा-अष्टमी—श्री राधाजी का छै दिन उत्सव होता है। आठ दिन तक ढाँड़ी-ढाँड़ा नाचते हैं।

भाद्रपद शुक्ल एकादशी—दान-लीला उत्सव। गोपी-ग्वाल का दान-लीला उत्सव।

भाद्रपद शुक्ल द्वादशी—श्री वामन-जयंती-उत्सव।

आश्विन शुक्ल ६ से—नौ दिन का मुकुट-काछनी का शृंगार।

आश्विन शुक्ल १०—श्रीजी शस्त्र धारण करते हैं। घोड़ा-पूजन व अन्नकूट-प्रारंभ होता है।

आश्विन शुक्ल १५—शरद-पूर्णिमा उत्सव के दर्शन।

कार्तिक शुक्ल १५—दीपदान आदि गोवर्धन-पूजन। श्री पुरुषोत्तम मास, कांसा-पात्र दान। नई सामग्री का भोग। यह परम उत्सव नियम पूर्वक एवं भाग्य-वश ब्रज-वासियों को ही मिलते हैं।

श्री वृंदावन

१ **वसंत पंचमी**—वसंत पंचमी के दिन शाह जी का मंदिर कई प्रकार से सजाया जाता है। उसी में एक कमरा वसंती रंग के कपड़ों, झाड़-फानूसों से सजाया जाता है जो कि बड़ा सुंदर लगता है। श्री बाँकेबिहारी जी की झांकी।

२ **शिवरात्रि**—गोपेश्वर महादेव के मंदिर में झांकी होती है।

३ **होली**—श्री बाँकेबिहारी जी के मंदिर में।

४ **रथ का मेला**—श्री रंगनाथ जी का उत्सव १० दिन तक रहता है। ठाकुर जी की सवारी प्रत्येक दिवस निकलती है। नवमी को रथ निकलता है, जो कि श्री मंदिर से निकलकर बगीचे तक जाता है। गीत चलता है—"अब रथ पहुँचौ सांवरिया कौ दूर।" होली बड़े धूम-धाम से होती है। बगीचे में फुहारे भी चलते हैं। चारों ओर से रसियों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। दसमी को घोड़े पर श्री रंगनाथ जी महाराज की सवारी जाती है और बगीचे में पधारती है। रात्रि को आतिशबाजी छूटती है। यह मेला 'रथ का मेला' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री रामानुज-संप्रदाय के भक्त इस उत्सव को मनाने आते हैं और प्रभु के दर्शन पाकर जीवन सफल समझते हैं। ब्रज-मंडल के स्त्री-पुरुष चारों ओर से एकत्रित होकर श्री वृंदावन के वक्षस्थल को सुशोभित करते हैं। श्री रामचंद्र जी के उपासक श्री तुलसीदास जी ने भी श्री बाँकेबिहारी जी से उसी रूप की इच्छा की थी। भगवान् ने उनकी ऐसी इच्छा के अनुसार वैसे ही दर्शन दिये।

"कहा कहौं छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष-बाँन लेउ हाथ॥"

उसी प्रेरणा के अनुसार आज भी श्री रामचंद्र जी की भक्ति की ज्योति प्रकाशित है। यह मंदिर दक्षिण के आधार पर बनाया गया है। सेठ जी के द्वारा श्री विग्रह ने अपने भक्तों की अभिलाषा पूरी की। इसको प्रेमी-जन ही अपने जीवन को सफल बनाने के हेतु प्राप्त करते हैं। यह होली का उत्सव शृंगार-रस के नव अंगों में से है।

"नौ ही अंग सिंगार के, होरी, चोरी, बाँन॥"

—नागरिया

५. **चैत्र शुक्ल अष्टमी**—गंगोर का मेला गणपति-गौरी की पूजा।

६. **चैत्र शुक्ल नवमी**—रामनवमी, राम-जन्मोत्सव।

७. **शुक्ला एकम**—श्री बाँकेबिहारी जी का पंचाग-श्रवण।

८. **पूर्णमासी**—श्री हनुमज्जयंती।

वैशाख

९. **वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया**—श्री बाँकेबिहारी जी महाराज के सर्वांग चरण-दर्शन होते हैं। मथुरा और वृंदावन की परिक्रमा, बन-विहार की की जाती है और रास-लीला-गान इत्यादि के अतिरिक्त हरि-कीर्तन का भी आयोजन होता है। कुछ स्थानों पर साधुओं का—बन-बिहार के लीला का उत्सव आदि होते हैं।

१०. **वैशाख शुक्ल नवमी**—जानकी-नवमी। सीता जी का उत्सव अक्रूर घाट पर।

११. **वैशाख शुक्ल १० मी**—रास-मंडल, हित जी उत्सव, श्री राधावल्लभी संप्रदाय का होता है।
१२. **वैशाख शुक्ल चतुर्दशी**—नृसिंहावतार। श्री नृसिंह-जयंती बड़े धूम-धाम से मनाई जाती है।
१३. **वैशाख सुदी**—सूर्य-जयंती।

जेष्ठ

ब्रज भर में प्रधानत: श्री वृंदावन में फूल-बंगलों का पूर्णमासी के दिन आनंद रहता है।

१४. **ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया**—वन-विहार-परिक्रमा। आज के दिन श्री कृष्णमुरारी सखियों से खेले थे। रास-विहार वृंदावन में बंसी-बजाकर खेले थे। जल-यात्रा का उत्सव होता है, फुहारे चलते हैं। माधोदास जी के स्थान में रासोत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ होता है।
१५. **ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी**—वन-विहार, रात्रि में परिक्रमा होती है।
१६. **ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी**—रास-मंडल का मेला।
१७. **ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी**—निरजला-व्रत रक्खा जाता है।
१८. **ज्येष्ठ पूर्णमासी**—जल-यात्रा होती है। गज-ग्राह की लड़ाई तालाब के ऊपर सेठ जी के मंदिर में होती है।

आषाढ़

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथ यात्रा का उत्सव होता है। श्री वृंदावन में शाम को बड़े रथ पर श्री ठाकुर जी विराजमान होकर 'ज्ञान-गुदड़ी' में पधारते हैं और भक्त जनों को दर्शन देते हैं। ठाकुर जी को चने की दाल और आम-जामुन का भोग लगता है।

आषाढ़ी पूर्णिमा को श्री मदनमोहन जी के मंदिर में भी घीओ का मेला तथा पवन-परीक्षा का मेला होता है।

श्रावण

श्री वृंदावन में हिंडोला के मेलों का उत्सव बड़ी धूम-धाम से होता है। श्रावण में हिंडोला राग (मलार) गाने का महत्त्व है। श्री ठाकुर जी प्रिया जी समेत हिंडोले में पधारते हैं। गायक हिंडोला-राग गा-गा कर हिंडोला में ठाकुर जी को झुलाया करते हैं। श्री स्वामी हरिदास जी महाराज, जिन्होंने श्री विहारी जी को लाड़-लड़ाये थे और जो गान-कला में प्रवीण थे वह इस उत्सव को केवल एक ही दिन मनाया करते थे। भक्ति के कारण हिंडोले के राग में वे स्वत: मुग्ध हो जाते थे। उपस्थित भक्तों को वह सुनने को मिलता था। रास-लीला एवं गीतों से मंदिरों की शोभा और भी बढ़ जाती है। प्रिया जी मान करती हैं और कवि कहता है—

> **"नांहि झूलुंगी नांहि झूलुंगी, स्यांम के संग में नांहि झूलुंगी।**
> **कालिंदी के तीरे-तीरे, हों झूलत हो धीरे-धीरे।।**
> **कंटक ते उरझायौ चीरौ सो नथिया में।**
> **नांहि झूलुंगी, नांहि झूलुंगी स्यांम के संग में नांहि झूलुंगी।।"**

श्री ललितकिशोरी जी भी शाह जी के मंदिर में पदार्पण करतीं हैं। कहते हैं १०८ जोगी श्री श्री १०८ श्रीकृष्ण जी का रास करते थे। आवरण-सेज इत्यादि उसी ढंग से रखते थे। उनके मंदिर का फाटक रासलीला के लिये उसी प्रकार से बनाया गया है। अब रासलीला वहाँ नहीं होती है। वसंती-कमरा में जो कि एकादशी से त्रयोदशी तक खुला रहता है वहीं पर होती है।

श्रावण मास विशेष करके स्त्रियों के प्रफुल्लित होने का समय है। यह ऋतु होली और वसंत का-सा संबंध मनुष्य के उत्साह का समय है। मलार राग इन दिनों में ही गाया जाता है।

> **"सावन आया अजब बहार, रिम-झिम रिम-झिम पड़े फुहार।**
> **सखियाँ गावें मेरी मलार, झुला चमन-चमन में डाले।।"**

श्री वृंदावन के दैनिक मेले और उत्सवों का वर्णन पूर्ण रूप से एक पुस्तक में किया जा सकता है।

"वृंदाबन के राजा दोऊ, स्यांम-राधिका रांनी।
चार पदारथ करत मंजूरी, मुक्त भरै जहँ पांनी॥
करम-धरम जहाँ बटत जेबरी, घर-धाए ब्रह्म-ग्यांनी।
घट-घट प्रेंम-भक्ति की मँहमा, सहचरि ब्यास-बखांनी॥"

१९. श्रावण कृष्ण पंचमी—राधारमण जी का मेला। गोस्वामी गोपाल भट्ट जी का उत्सव।

२०. श्रावण कृष्ण अष्टमी—लोकनाथ गोसाईं जी का उत्सव।

२१. श्रावण शुक्ल तृतीया—दिन में चतुर्दशी तक हिंडोला-झूलन।

२२. श्रावण शुक्ल नवमी—ब्रह्म-कुंड का मेला।

२३. श्रावण शुक्ल एकादशी—पवित्रा धारण।

२४. श्रावण शुक्ल पूर्णमासी—ज्ञानगुदड़ी में मेला।

रास लीला और हिंडोला उत्सव नित्य-प्रति मंदिरों में होता है और गृह सजावटें रहती हैं।

भाद्रपद

श्री राधा-जयंती, श्री रसिक शिरोमणि स्वामी श्री हरिदास जी का पाटोत्सव तथा उसी दिन श्री कुंजविहारी जी महाराज के मंदिर में मध्यान्ह में रासलीला होती है और शाम को मंदिर से आप की सवारी बड़े समारोह से गोस्वामी बालक-समाज श्री निधवन-राजा के समेत पधारती है।

"श्री स्वांमी हरिदास के, प्रान बिहारी लाल।
बांकी-झांकी निरख कैं, छिन-छिन होंइ निहाल॥"

जन्माष्टमी पर श्री बाँकेबिहारी जी के मंदिर में भागवत-पाठ होता है। रात को जन्म होने पर दर्शन नहीं होते हैं। एक ही दिन मंगला-आरती तीन बजे रात को होती है। मंगला आरती प्रति-दिन नहीं होती।

२५. भाद्रपद कृष्ण अष्टमी—बाँकेबिहारी जी के मंदिर में एक बार साल भर में मंगला होती है।

२६. भाद्रपद कृष्ण नवमी—श्री वृंदावन में लठ्ठा का मेला होता है। उसमें रंग जी के मंदिर में लठ्ठे पर चढ़ने के लिये आपस में होड़ होती है। १ थाली, १ लोटा, ५ सेर मिठाई और २५ रुपये उसके सिर में बाँध दिये जाते हैं और जो कोई उस पर चढ़ जाता है उसको ही वह चीजें मिल जाती है।

२७. भाद्रपद शुक्ल अष्टमी—श्री वृंदावन में मौनीदास की टट्टी के स्थान पर मेला होता है। श्री बाँकेबिहारी जी के मंदिर में सिर्फ नाम मात्र को ही रास-लीला केवल एक ही दिन होती है। उसी रोज संध्या समय श्री बाँकेबिहारी जी के साथ आप निधि-वन को जाते हैं। गोसाईं श्री रासबिहारी के साथ जो कि हाथी पर सवार होते हैं, बड़े धूम-धाम के साथ, बाजे-गाजे के साथ निधिवन को जाते हैं। वहाँ रासलीला होती है। उसी दिन श्री राधावल्लभ जी के चबूतरे में रास होता है। यह जुगल उत्सव अत्यंत सुंदर और भक्ति-पूर्ण होता है।

२८. भाद्रपद शुक्ल एकादशी—जल-झूलनी का मेला होता है। विष्णु भगवान् चार मास की निद्रा से करवट बदलते हैं। कल्पवृक्ष की पूजा का मेला होता है।

२९. आश्विन कृष्ण एकादशी—साँझी, ५ दिन तक अनंदी बाई जी के मंदिर में।

३०. आश्विन शुक्ल एकम—दान-लीला, ज्ञान-गुदड़ी।

३१. आश्विन शुक्ल दशमी—दशहरा।

३२. आश्विन शुक्ल एकादशी—परिक्रमा का मेला होता है।

३३. आश्विन शुक्ल पूर्णिमा—शरद-पूर्णिमा। शरदोत्सव बड़ी धूम से होता है। इसी दिन श्री कुंजबिहारी जी महाराज मुरली, मुकुट, काछनी इत्यादि धारण करते हैं।
३४. कार्तिक कृष्ण तृतीया—दीपोत्सव। बिहारी जी के मंदिर में दीपावली उत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ होता है।
३५. कार्तिक शुक्ल एकम—अन्नकूट, झाँकी श्री आनंदी बाई जी के यहाँ।
३६. कार्तिक शुक्ल अष्टमी—परिक्रमा, गौचारण।
३७. कार्तिक शुक्ल द्वादशी—दावानल का मेला।
३८. कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी—केशी दानव-वध, केशीघाट वृंदावन पर।
३९. कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी—काली-मर्दन घाट पर नाग-लीला होती है।
४०. अगहन कृष्ण पक्ष एकम—रासलीला, हंसदास जी के मंदिर में बनखंडी महादेव पर एकादशी से कृष्ण पक्ष से पूर्णिमा तक।
४१. अगहन कृष्ण पक्ष तृतीया—सारे मास कलकत्तेवाले की कुंज में रासलीला होती है।
४२. अगहन शुक्ल पक्ष पंचमी—विहार-पंचमी, जन्मोत्सव, भरत-मिलाप।
४३. अगहन शुक्ल पक्ष एकादशी—दाऊ जी का मेला होता है।
४४. पौष शुक्ल एकादशी से माघ बदी पंचमी—चातुरमासोत्सव, श्री रंगनाथ जी के मंदिर में वैकुंठ-द्वार।
४५. मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी—श्री कुंजविहारी जी का प्रागट्योत्सव तथा श्री स्वामी आशुधीर जी महाराज तथा श्री विट्ठलविपुल जी महाराज का जन्मोत्सव। श्री बाँकेबिहारी जी पंचमी को निधिवन में पधारे थे।
४६ माघ—वसंतोत्सव, वसंती-कमरा, श्री बाँकेबिहारी जी का उत्सव।

"धन्य धन्य होरी अति प्यारी, लाल कपोलन की छबि न्यारी।"

४७ फाल्गुन कृष्ण—महाशिवरात्रि, श्री गोपेश्वर महादेव जी का मेला।

"नाराइन ब्रज-भूमि कों, सुर-पुर नावें माथ।
जहाँ आइ गोपी भए, श्री गोपेस्वर नाथ॥"

४८ फाल्गुन ११—मानसरोवर का मेला हर एक पूर्णिमा को होता है।
४९ फाल्गुन शुक्ल पक्ष ११—फूल-डोल।
५०. एकादशी से पूर्णिमा—बिहारी जी का होली-उत्सव।
५१. चैत्र कृष्ण पक्ष एकम—बिहारी जी का डोल।
५२ चैत्र कृष्ण पक्ष पंचमी—कालीदह, फूल डोल।
५३. चैत्र बदी द्वितीया—ब्रह्मोत्सव। १० दिन का रथ का मेला होता है।

दिव्य दृष्टि सों देखिऐ, ब्रज कौ बैभव मीत।
वही स्याम-वृषभानुजा, वही प्रेम की रीति॥
वही मोर-सुक-सारिका, वही मधुप-गुंजार।
वह मरकट की नटखटी, साँडन की घुंघकार॥
वह पावस मन-मोंहना, वही हिंडोल मलार।
कुंज-गली वह ही भली, सहित सो सेवा-कुंज।
वह ही निधवन राज हीं, धीर-समीर सगुंज॥"

बलदेव, महावन, गोकुल और रावल

१. चैत्र-पूर्णिमा—बलदेव जी में मेला।
२. बलदेव छठ—भाद्रपद शुक्ल पक्ष।
३. गोचारण लीला—गोकुल, महावन, बलदेव।

४. **अखंड कीर्तन**—गोकुल-बलदेव ।

अगहन सुदी पूर्णमासी के दिन सात दिन का मेला लगता है। नंदोत्सव।

गोकुल

१. **भादों कृष्ण पक्ष अष्टमी**—जन्माष्टमी ।

२. **अन्नकूट**—कार्तिक शुक्ल पक्ष एकम ।

३. **मेला तृणाव्रत**—कार्तिक कृष्ण पक्ष चतुर्थी ।

४. **महावन**—आश्विन मास में राम-लीला ।

५. **कार्तिक शुक्ल अष्टमी**—पूला मेला ।

६. **माघ मास**—रविवार, मेला जखैया ।

७. **फाल्गुण शुक्ल एकादशी**—रमणरेती का मेला ।

८. **कार्तिक शुक्ल पंचमी**—परिक्रमा महावन, गोकुल और रावल की ।

चैत्र

बलदेव जी के मंदिर में पूर्णमासी को रावण मारा जाता है और रामनवमी से राम-लीला प्रारंभ होती है ।

गोवर्धन-राधाकुंड

१. **आषाढ़ी पूर्णिमा**—पूजा ।

२. **दीपमालिका**—अन्नकूट ।

प्रत्येक चतुर्दशी और पूर्णिमा को परिक्रमा होती है और मेला भरता है ।

३. **कार्तिक कृष्ण पक्ष अष्टमी**—राधाकुंड में मेला भरता है ।

छाता तहसील

व्रजमंडल का यह खंड विशेष रूप से व्रज-सभ्यता का केंद्र रहा है। यहाँ पर अब भी वही प्राचीन शांति-भाव रूप से भक्ति देवी विराजमान है।

१. **कोसी कलाँ**—यह नंद बाबा का कोशस्थल है। यहाँ के मुख्य मेले तीन हैं। दशहरा—यह मेला ८० वर्ष से होता चला आ रहा है। इसे लालसिंह खत्री और दरबारीसिंह बनियों ने प्रारंभ किया था।

२. **मोहर्रम** ।

३. **फूलडोल**—चैत्र शुक्ल पक्ष की द्वितीया को होता है। आसपास के गाँवों से आदमी मेले में इकट्ठे होते हैं। गोमतीकुंड पर फूल-डोल होता है। यह एक बड़ा भारी तीर्थ और रमणीक स्थान है।

भाद्रपद की पूर्णमासी को जल-यात्रा का भी मेला होता है।

४. **बठैन कलाँ**—चैत्र कृष्ण पक्ष की तृतीया को 'हुरंगा' का मेला होता है। यहाँ पंद्रह-सोलह हजार आदमी इकट्ठा होता है। नटों की स्त्री और पुरुषों में लीला-युद्ध होता है। पुरुषों के पास बबूल की डाली होती है।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की दशमी को यहाँ रास-लीला होती है। लगभग दस-बारह हजार आदमी इकट्ठे होते हैं।

महाराजा 'सूरजमल' का बनवाया हुआ श्री मदनमोहन जी का मंदिर है। [illegible] हैं और चैत्र कृष्ण पक्ष द्वितीया को मेला होता है। फूलडोल में भी सभी इकट्ठे होते हैं।

५. **निघमत्रा**—में ५।६ रवी उससानी को मुसलमानों का मेला होता है।

दधिग्राम के पास भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को मेला होता है। लगभग तीन-चार हजार मनुष्य एकत्रित होते हैं। बंदूक से बनावटी युद्ध होता है। व्रजभूषण ठाकुर जी का मंदिर है, जो कि राजा मान-सिंह का बनवाया हुआ है।

६. सेही—वैशाख और कार्तिक की अमावस्या को दो मेले होते हैं, जिनमें हिंदू और मुसलमान सभी मेलों में जाते हैं। जलेसर के पास जाति बूड़ती है। चढ़ावा हिंदू-मुसलमान दोनों अलग-अलग लेते हैं।

७. गाजीपुर—में भाद्रपद की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को नटवर-लीला होती है। यहाँ पर डोंगा (नाव) प्रेम-सरोवर में पड़ता है।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की अष्टमी को रासलीला और चैत्र शुक्ल पक्ष की पंचमी को फूलडोल होता है।

८. करहला—भाद्र पद शुक्ल सप्तमी को रासलीला होती है। यहाँ ललिताकुंड और कृष्णकुंड हैं।

"हे कामिनी तू कर हिला, स्यांम पियासौ जात ।।"

राधारमण का मंदिर, कदमखंडी हैं। यहाँ पर कृष्णकुंड पर मेला होता है। गोपीनाथ जी का मंदिर टोडरमल-द्वारा निर्मित यहीं पर है।

९. सेंमरी—देवी श्यामजा का मंदिर है। चैत्र की नवरात्रि भर यहाँ मेला रहता है।

१०. सांचौली—चैत्र शुक्ल पक्ष की अष्टमी को ऐसा ही मेला होता है और दूसरा मेला अक्षय तृतीया को होता है।

११. सियारौ—माधवराव सिंधिया के बनवाये हुए तीन छोटे-छोटे मंदिर हैं। यहाँ फाल्गुन सुदी एकादशी को फूलडोल का मेला होता है।

१२. कोकिलावन—पाँडर गंगा और कुंड पर भादों सुदी १० को मेला होता है।

ब्रज-मंडल तथा मथुरा जिले के मेले

सतोहा—शांतनकुंड स्नान, भाद्रपद शुक्ल पक्ष छट्ठ वा द्वादशी।

महोली—बनयात्रा, भाद्रपद।

जैंसिंहपुरा—कार्तिक शुक्ल नवमी—युगाद नवमी। आषाढ़ कृष्ण पक्ष एकादशी से कार्तिक शुक्ल पक्ष एकादशी तक प्रति एकादशी को परिक्रमा होती है।

जतीपुरा—भाद्रपद शुक्ल पक्ष एकादशी को रासलीला, कार्तिक शुक्ल पक्ष एकम को अन्नकूट और प्रत्येक पूर्णमाशी को परिक्रमा होती है।

छटीकरा—धूप का दिन, ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा।

बाटी—भाद्रपद कृष्ण पक्ष द्वादशी।

ऊँचौ गाँव—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को दोपहर से पहले मेला भरता है।

ओवा—चैत्र शुक्ल पंचमी फूलडोल, श्रावण शुक्ल पंचमी को हिंडोला।

तरौली—कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी से पूर्णमासी तक (बूढ़े नाना) का मेल।

सियारौ—फाल्गुण शुक्ल पक्ष एकादशी फूलडोल।

सेंमरी—चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी को मेला, अक्षय तृतीया।

सांखी—भाद्रपद शुक्ल पक्ष पूर्णिमा रासलीला।

पिसायौ—भाद्रपद शुक्ल पक्ष नवमी, बनयात्रा।

पारसौली—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।

मानपुर—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मानलीला, देवता का मेला।

मंडोई—भाद्रपद शुक्ल पक्ष द्वादशी फूलडोल।

आयरौ—मेला-कृष्णकुंड।

करहला—भाद्रपद शुक्ल सप्तमी।

कमई—बनयात्रा, भाद्रपद शुक्ल षष्ठी रासलीला, चैत्र शुक्ल पंचमी को फूलडोल।

गाजीपुर—भाद्रपद शुक्ल पक्ष की द्वादशी।

बिकसौली—भाद्रपद शुक्ल नवमी और त्रयोदशी को मोरकुटी पर मेला।

सेही—वैशाख और कार्तिक पूर्णमासी को मेला।

साँचौली—चैत्र शुक्ल पक्ष सप्तमी, आश्विन शुक्ल सप्तमी को देवी का मेला।

फारैन—फाल्गुन सुदी पूर्णिमा को प्रह्लाद का मेला।

पै गाँव—आश्विन कृष्ण सप्तमी, नरसी नागा जी का मेला।

मंझोई—देवी का मेला, चैत्र शुक्ल अष्टमी, आश्विन शुक्ल अष्टमी।

कोटबन—चैत्र कृष्ण तृतीया हुरंगा का मेला।

खरौल—चैत्र शुक्ल चतुर्दशी आश्विन शुक्ल चतुर्दशी बाराही-मेला।

जाब—बनयात्रा केंद्र, हुरंगा चैत्र कृष्ण द्वितीया।

हसनपुर नगर—चैत्र कृष्ण तृतीया को फूलडोल।

हुलवाना—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी, दाऊ जी का मेला।

गिडौयौ—चैत्र कृष्ण तृतीया, फूलडोल।

धर्मसिंघा—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी रासलीला।

गौहारी—चैत्र कृष्ण पंचमी फूलडोल।

दह गाँव—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को मेला।

निशमवरा—चैत्र में मेला।

बरहनाँ—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, रासलीला।

काँमर—चैत्र कृष्ण द्वितीया—फूलडोल।

कोकिलाबन—हर शनिवार को और भाद्रपद की पूर्णमासी को मेला भरता है। भाद्रपद शुक्ल दशमी रासलीला।

बठैन कलाँ—चैत्र कृष्ण तृतीया, होली का मेला जिसमें लगभग पंद्रह-सोलह हजार मनुष्य इकट्ठे होते हैं।

कोसी कलाँ—भाद्रपद की पूर्णमासी को जलयात्रा, चैत्र शुक्ल द्वितीया को फूलडोल, दशहरा और मुहर्रम को भी मेला भरता है।

खानपुर—फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को फूलडोल।

मानसकुंड—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।

राधाकुंड—कार्तिक कृष्ण अष्टमी को मेला होता है।

तारसी—भाद्रपद शुक्ल एकादशी।

पाँनी गाँव—फाल्गुन कृष्ण एकादशी।

रावल—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी।

कुकर गाँव—चैत्र कृष्ण सप्तमी फूलडोल।

ढारौली—चैत्र शुक्ल एकम।

मरना खुर्द—चैत्र शुक्ल द्वितीया।

अकबरपुर—शाह माधुरीशरण, चैत्र शुक्ल अष्टमी।

अमानुल्लापुर—बूढ़े बाबा का मेला।

नरी-सेंमरी—चैत्र शुक्ल अष्टमी और नवमी।

पसौली—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।

लाड़पुर—मेला सती, बलदेव पूर्णमासी को होता है।

मझौड़—कार्तिकी पूर्णमासी।

मानपुर—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मानलीला का मेला।

चौमुंहा—ब्रह्मा जी का मेला, भाद्रपद शुक्ल पूर्णमासी।

छटीकरा—गरुड़गोविंद का मेला, श्रावण शुक्ल अष्टमी को पंचतीर्थ।

मझोई—चैत्र शुक्ल अष्टमी और आश्विन शुक्ल अष्टमी को मेला होता है।

ब्रज-मंडल के नवीन मेले

मथुरा—गीता का मेला २३ दिसंबर को बिरला-मंदिर जैसिंहपुरा में भरता है।

वृंदावन—गुरुकुल का मेला। २५ दिसंबर से ३१ दिसंबर को होता है।

ब्रज में होली के मेले

ब्रजमंडल में मुख्यतः इस संबंध के मेले फाल्गुन के आरंभ ही से प्रारंभ होने लगते हैं। वसंतोत्सव को मथुरा में गुलाल की होली श्री केशवदेव जी और द्वारिकानाथ जी के मंदिर में होती हैं। वृंदावन में शाह बिहारीलाल जी के मंदिर में वसंती-कमरा खुलता है, जो कि यात्रियों एवं ब्रजवासियों को आकर्षित करता है।

"धन्य धन्य होरी अति प्यारी, लाल कवोलँन की छबि न्यारी ।।
कुंज-भवन में कुंजबिहारी, अबीर-गुलाल उड़ावत हैं।
सुनों सखी यै कुंजबिहारी, राग बसंती-गावत हैं ।।"

मुख्य मेले

वरसाने का हुरंगा (नवमी फाल्गुन शुक्ल)—एक व्यक्ति के अनुभव पर।

"ऐसौ रस बरसै बरसाँनें, सो रस तीन लोक में नाँइ।
सुर तेतीसँन की मत बौरी, भज कें चले सरग की पौरी,
देख देख यै ब्रज की होरी, ब्रह्मा मन-पछताइ ।।
ऐसौ रस बरसै बरसाँनें, सो रस तिरलोकी में नाँइ ।।"

मेला-राधारानी—माँट, राया, खेड़ा के मनुष्य आते हैं।

अखंड कीर्तन—महावन में, लगभग पाँच मील से आदमी आते हैं।

रँगीली होली—बरसाना और नंदगाँव में क्रमशः होती है।

रंगभरनी एकादशी—सुरीर और नौझील में मेला भरता है।

रथ का मेला—वृंदावन में।

फूल-डोल—आयराखेड़ा।

चैत्र पूर्णमासी—बलदेव।

व्यास-पूर्णिमा—गोवर्धन में जो कि कोसी कलाँ से आठ मील है।

बलदेव छट्ठ—बलदाऊ जी सादाबाद, मथुरा और माँट के आदमी जाते हैं।

बूढ़ीलीला—बरसाना।

मेला चतुर्मुखी—चौमुहा, तरौली—सेंटर।

अहोई अष्टमी—राधाकुंड, दूर-दूर से आदमी आते हैं।

गोचारण—गोकुल, नंदगाँव, महावन, बलदेव, बरसाना और सौंख।

बूढ़े बाबा का मेला—तरौली में १० मील के घेरे में

बड़ी सेंमरी—सेंमरी।

ब्रज-मंडल के रासलीलोत्सव

रासलीला श्री ब्रज-मंडल के सब सुखदायनी मेलों में से परम रसदायनी और शृंगार रस का परम आनंद देनेवाली प्रणाली है। श्री नागरीदास ने लिखा है—

"नवरस में कवियन कह्यौ, सरस अधिक सिंगार।
ताहू में पुनि अति सरस, सो यह रास-बिहार ।।"